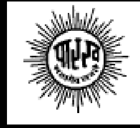
सद्गुरवे नमः

सद्गुरु कबीर विरचित

बीजक

1. रमैनी 2. बीजक



अभिलाष दास

प्रकाशक
कबीर पारख संस्थान
संत कबीर मार्ग, प्रीतम नगर, इलाहाबाद-211011
Visit us : www.kabirparakh.com
E-mail : kabirparakh@yahoo.com

पहली बार से चौथी बार 1969 से 1987 तक
परिशोधित एवं परिवर्द्धित पांचवीं बार वि०सं० 2047 सन् 1990
इक्कीसवीं बार वि०सं० 2073 सन् 2016
सत्कबीराब्द 618

ISBN : 81-8422-005-7

मूल्य : 250.00

लेजरटाइप-सेटर
अमन कम्प्यूटर
बेनीगंज, इलाहाबाद-16
मो. : 9935836794

मुद्रक
इण्डियन प्रेस (प्रा.लि.)
पन्नालाल रोड, इलाहाबाद-1

Bijak Vyakhya : ABHILASH DAS

बीजक : पारख प्रबोधिनी व्याख्या

भाग–1

- ❖ रमैनी
- ❖ शब्द

समर्पित

उन साधु–सज्जनों एवं देवियों के कर–कमलों में
जो अपने मत की विरोधी बातों को सुनने
में भी सक्षम, निष्पक्ष विचारक
एवं सत्यान्वेषी हैं।

आभार और अभिवादन

मैंने पूरे बीजक की टीका सन् 1966 ई. में शंकर भक्त के आश्रम (मुहम्मद नगर, बस्ती, उ. प्र.) में रहकर लिखी थी। वह 1969 ई. में पहली बार छपी ओर उत्तरोत्तर लोकप्रिय होती गयी। परन्तु कुछ दिनों के बाद मुझे उसकी कमियों का अनुभव होने लगा। पंडित परशुराम चतुर्वेदी जो कबीर साहेब पर एकनिष्ठ तथा यशस्वी लेखक हो चुके हैं, उनके अनुज पंडित नर्मदेश्वर चुतर्वेदी ने भी मुझसे कहा था कि आपने बीजक टीका लिखने में अथक परिश्रम किया है, परन्तु उसके हर स्थल के अर्थ विद्वान लोग नहीं मानेंगे।

बीजक पर मेरे निरन्तर चिंतन, मनन और प्रवचन बढ़ते गये। उधर पहली वाली बीजक टीका के संस्करण-पर-संस्करण छपते गये। अंततः करीब बारह वर्षों के परिपाक विचार के बाद बीजक की आदि से अंत तक पुनः व्याख्या लिखने का संकल्प दृढ़ हुआ। वर्ष के प्रायः मेरे आठ-नौ महीने भारत के विविध प्रदेशों के प्रवचन-कार्यक्रमों में भ्रमण करते हुए जाते हैं, और तीन-चार महीने इलाहाबाद कबीर पारख संस्थान में वर्षावास होता है। मैं सब जगह उसको अबाधगति से लिखता गया।

अबकी बार लिखते समय न यह सोचता था कि मेरे पारंपरिक महापुरुषों ने किस पंक्ति का क्या अर्थ किया है और न यह सोचता था कि मैंने स्वतः पहली वाली टीका में क्या लिखा था; अपितु हर पंक्ति पर यह सोचता था कि कबीर साहेब कहना क्या चाहते हैं। अभिधा, लक्षणा और व्यंजना—इन तीन शब्द-शक्तियों को आधार बनाकर लिखता गया। लिखते-लिखते कबीर साहेब के पारदर्शी विचारों से मन गद्‌गद हो जाता था। जब मैं 1988 ई. में भोपाल के कार्यक्रमों में था, एक प्रातः व्याख्या लिखते समय मन ऐसा आनंदित हुआ कि उसी डायरी के अंत के पृष्ठ में लिखा—

"*इस समय का मेरा परम प्रिय विषय है बीजक-व्याख्या लिखना। इस समय समाधि-सुख के बाद मेरा दूसरा सुख यही है। इस समय न मेरा मन किसी से मिलने के लिए कहता है, न प्रवचन देने के लिए, न भ्रमण करके कार्यक्रम देने के लिए और न अन्य विषयों पर लेख लिखने के लिए। इस समय केवल बीजक-व्याख्या लिखने के लिए मन में रुचि है। इसीलिए इन धुआंधार कार्यक्रमों में भी सुबह कुछ समय निकालकर इसे लिखता हूं।*

परन्तु कार्यक्रम देने, प्रवचन देने, यात्रा करने तथा कम-से-कम पारख प्रकाश के लिए लिखने एवं उसके संपादन के लिए भी विवश हूं। सद्‌गुरु कबीर देव के बीजक की पंक्तियां कितनी मार्मिक, कितनी महान भाव वाली, कितनी गहन-गंभीर तथा कितनी तथ्यपूर्ण हैं, यह उन पर सोचने से पता चलता है।"

सन् 1969 ई. में छपी बीजक पारख प्रबोधिनी टीका परिशोधित, परिमार्जित एवं परिवर्धित कर दो खण्डों में बीजक पारख प्रबोधिनी व्याख्या नाम से सन् 1990 ई. में पांचवें संस्करण के रूप में छपी और चारों तरफ फैलने लगी; और तब से गुरुजनों, संतों, भक्तों, स्वमत के पाठकों, परमत के पाठकों, विद्वानों तथा सर्व सामान्य पाठकों की ओर से बीजक व्याख्या की प्रशंसा में मेरे ऊपर चारों तरफ से कृपा, स्नेह, प्रेम, श्रद्धासमर्पण की बारिश होने लगी। पाठकों से लेखक को इससे बड़ा उपहार और क्या मिल सकता है! मेरे गुरुदेव श्री रामसूरत साहेब ने कहा कि अबकी बार बीजक की हर पंक्ति और हर भाव का समाधान हुआ है और यह स्वर हजारों पाठकों के हैं। पंडित नर्मदेश्वर चतुर्वेदी ने बीजक-व्याख्या के दोनों खण्ड पढ़ने के बाद सन् 1990 ई. में ही कबीर पारख संस्थान में आकर कहा—"आपके दो खण्डों वाली बीजक-व्याख्या के लिए आप को शतशः बधाई। अब, इससे अच्छी टीका कोई लिख देगा तब देखा जायेगा।"

कबीर साहेब के आविर्भाव-काल का छह सौवां वर्ष समाप्त हो रहा है। कोई भी टीकाकार उनकी हर पंक्ति के पूर्ण भावप्रकाशन का दावा नहीं कर सकता, फिर हर प्रकार से अकिंचन इन पंक्तियों का लेखन यह दावा कैसे करेगा! वस्तुतः चाहे किसी ग्रंथ की टीका-व्याख्या हो या किसी भावप्रकाशन पर लेख या प्रवचन हो, जो सर्वाधिक अच्छा समाधान प्रस्तुत करे वही सफल माना जाता है। इस भारी भरकम ग्रंथ के सातवें संस्करण का समय आ गया है। सभी पाठकों का उससे संतोष और मेरा अपना भी पूर्ण संतोष मेरे हृदय को सफलता की अनुभूति करा रहे हैं। सभी वर्ग के पाठकों ने जो अपनी प्रसन्नता व्यक्त की है, उसके लिए मैं अपनी ओर से आभार प्रकट करते हुए सबका अभिवादन करता हूं; और जिनकी टीकाओं तथा रचनाओं से मुझे इसको लिखने में सहयोग मिला है उनका आभार हृदय से स्वीकार करता हूं।

विनम्र
अभिलाष दास

कबीर पारख संस्थान
कबीर नगर, इलाहाबाद
दिसम्बर 1997

कबीर साहित्य के मर्मज्ञ तथा आलोचालक विद्वान आचार्य परशुराम चतुर्वेदी की सम्मति

मुझे इस बात का बड़ा खेद है कि अभी तक मैं श्री अभिलाष साहेब जी की अनुपम टीका 'पारख प्रबोधिनी' को पढ़कर उसके विषय में कुछ लिख नहीं पाया था। वास्तव में उसके कुछ महत्त्वपूर्ण अंशों को प्रति प्राप्त करते ही, मैंने देख लिया था और सोचा था कि पूरा ग्रन्थ पढ़ जाने पर कभी अपने विचार प्रकट करूंगा। परन्तु अपना कार्यक्रम प्राय: व्यस्त रहने के कारण ऐसा आज तक भी नहीं कर पाया। पूर्ण ग्रन्थ अवश्य पढ़ जाऊंगा। मैंने जितना देखा है उसके आधार पर भी मैं कह सकता हूं कि प्रस्तुत कार्य बड़े मनोयोगपूर्वक सम्पन्न किया गया है। इसके अन्तर्गत जो कुछ भी कथन किया गया दिखता है वह तर्कसंगत एवं साधार लगता है जिस कारण मुझे आशा है यह कृति 'कबीर बीजक' के गम्भीर अध्ययन के लिए एक महत्त्वपूर्ण देन सिद्ध होगी।

बलिया — आपका

2-2-70 — **परशुराम चतुर्वेदी**

कबीरपंथ-जगत के मूर्द्धन्य विद्वान
पंडित श्री रामेश्वरानंद साहेब जी की सम्मति

आपकी भेजी हुई बीजक टीका समय पर मिल गयी थी, प्राप्ति की सूचना राजादरवाजा वाराणसी को भेज दी गयी थी। पुनरपि अनेक धन्यवाद।

शिक्षण प्रारम्भ में श्री गुरुदयाल साहेब, श्री रामरहस साहेब तथा श्री पूरण साहेब के विचार से परिचित हुआ था। इसके उपरान्त श्री काशी साहेब के विचार भी यथामति मनन किया था। बाकी पारखी संतों के विचार बहुत कम जानने को मिले हैं, जिन लोगों के विचार पर दृष्टि करने का अवसर मिला है उनमें आपके विचार परम उदार प्रतीत हुए। आशा ही नहीं परम विश्वास है कि आपसे साधु समाज को बड़ा लाभ होगा, इस समय भी है। टीका के कई अंशों पर दृष्टि पड़ी, प्रायः सर्वत्र सत्य, शिव, सुन्दर का साक्षात्कार-सा हुआ। स्थाली पुलाक न्याय से मैं मानता हूं कि इस टीका से पारखी जगत सर्वाधिक लाभान्वित होगा। ब्रह्म, राम, हरि आदि शब्दों में समन्वय दृष्टि स्तुत्य है। भाषा प्रांजल तथा मनोरम है, विमत दार्शनिकों पर कटाक्ष कोमलता और शिष्टता के साथ है। आचारांश अधिक प्रशंसनीय है। भावव्यंजना में राग-द्वेष की तीव्रता का अभाव नितांत आकर्षक है। ग्रन्थ-रत्न भेजकर मुझे आपने प्रेमानुगृहीत किया है।

पानी दरवाजा, बड़ोदा
12-3-70

आपका
रामेश्वरानंद

दो शब्द

पारख सिद्धान्त के गम्भीर चिंतक, ज्ञान-वयोवृद्ध, विरक्त संत श्रद्धेय श्री प्रेम साहेब जी के उद्‌गार

सर्व के सच्चे सुहृद, विनम्र, निष्पक्ष विवेक-युक्त सत्य सिद्धान्त का चित्रण करने में अद्‌भुत लेखक साहेब जी ने सुवर्ण-कसौटी एवं तुलनात्मक दृष्टि से मूल ग्रन्थकर्ता गुरुवर कबीर देव के हृदिभाव को खूब ही तौला है। इसमें जो आपका अथक प्रयत्न है वह अनन्त साधुवाद के योग्य है। एक तो इसकी टीका अविभंग युक्तियुक्त है, दूसरे गुरुजन सम्मत है, तीसरे असद् मत का निरसन करते हुए भी विनम्रता-सहित जो सर्वोचित मर्यादा रक्षत्व के दृष्टिकोण से आपका प्रवचन हुआ है वह तो सोने में सुगन्ध का काम किया है। मैं क्या, कोई भी पाठक टीका पढ़ते-पढ़ते इसके रस से जब ज्ञानमग्न होगा तब वह भी मुक्तकण्ठ से यह कहे बिना नहीं रह सकता कि हां, टीका द्वारा बहुत कुछ मूल के सद्‌भाव का समदर्शन किया गया है। टीका पढ़कर सिद्धान्त-रहस्य का चित्र हृदयपट पर आकर्षक ढंग से उभर आता है। उसमें श्रद्धा, विवेक तथा सत्संग जोड़ दिया जाये तो वह सजीव होकर पाठकगण के आदर्श-जीवन का प्रकाशस्तम्भ बन सकता है।

सुस्वादिष्टता के साथ सुपाच्य तथा सुपाच्य के साथ बलप्रद व्यंजन हो तो क्या पूछना! प्रस्तुत टीका कुछ ऐसे ही बन पड़ी है। यह प्रियकर है, ग्राह्य है तथा मानवमात्र के लिए कल्याणकारक है। मानवमात्र के कल्याण की पुनीत दृष्टि तथा उदार चेतृत्व भावना से प्रेरित होकर एवं सक्रिय तत्परतापूर्वक टीका लिखकर तथा प्रकाशन कराकर जनता के सामने जो यह अलौकिक सिद्धान्तव्यंजन उपस्थित किया गया है, इसके लिए पाठकवृन्द का स्वाभाविक (मेरे बिना कहे ही) टीकाकार की प्रतिभा और समाज के प्रति उनकी अनन्त उपकारता सोचकर साधुवाद की ओर ध्यान गये बिना रह नहीं सकता।

प्रस्तुत टीका की भाषा में धारावाहिकता है। कथनशैली में स्पष्टता तथा मधुरता है। आलोचनात्मक होते हुए भी सर्व शुभ मर्यादाओं का संरक्षण है। सबके दोषों का परिहार करते हुए, गुणों का समादर है। सामाजिक ऐक्य तथा उन्नति पर गम्भीर चिंतन है। भौतिकीय साम्यवाद से हटकर चैतन्यपक्षीय

साम्यवाद का समर्थन है। सद्गुरु कबीर के मौलिक पारख-सिद्धान्त का स्पष्ट निदर्शन है। मानव-जीवन का जो परम या चरम लक्ष्य है—विश्वसंघर्ष ज्वाला से रहित परमशान्ति—पारख—ज्ञानस्वरूप की स्थिति; उसका इसमें विशद विवेचन हुआ है।

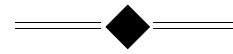
मननकर्ताओं से मेरा अन्तिम निवेदन यह है कि ग्रन्थमूल एवं टीकाकार के सद्भाव पर ध्यान देकर इसका मनन करें तथा सर्वगुणग्राही बनकर स्वयं तरण-तारण बनें।

'दो शब्द ही लिख दीजिये' इस प्रेम भरे सद्भाव से प्रेरित होकर मैंने अपने हृदिभाव को यथा-तथा कह डाला है। आशा है टीकाकार साहेब जी इतने ही में बहुत कुछ सन्तोष मानेंगे और ग्रन्थ मनन करने वाले साधु-सज्जन भी प्रमुदित होंगे।

टीकाकार के सुशील, विनम्र प्रेमयुक्त
सद्भावना का पोषक
प्रेमदास

महामानव-अभिनन्दन

ऐ हो उदार चेता, मानव महान प्रानी।
तू ही तो सर्व हेता, अतिशय महान ज्ञानी।।टेक।।
तू ही तो ऋषि मुनी हो, मन्थन विवेक कर कर।
मथ मथ के घीव काढ़े, विज्ञान ज्ञान खानी।। 1 ।।
तू ही तो आगे शोधा, जड़भास को निरोधा।
होकर कबीर रविवत, तू ही महान दानी।। 2 ।।
तेरी उदार दृष्टी, सबके लिये सुअवसर।
सब के ही प्रति सुमंगल, सद्भाव प्यार आनी।। 3 ।।
तू सत्य शान्त पावन, निर्मल रुचिर सुहावन।
व्यक्तित्व, तेरी रचना, उत्थान सब प्रदानी।। 4 ।।
तू ही विशाल होकर, गुरु संत रूप दर्शे।
तेरी ही शरण जाकर, जन प्रेम नित अघानी।। 5 ।।



भूमिका

1. सद्गुरु कबीर की महत्ता

हिन्दी संत-कवि ही नहीं, अपितु संपूर्ण हिन्दी साहित्य तथा भारतीय संत कवियों में कबीर का अन्यतम स्थान तो है ही, पूरे विश्व की संत-परंपरा में भी वे शीर्ष स्थानीय हैं। उनका अवतरण मध्यकाल में हुआ था। यह वह काल था जब उदात्त भारतीय चिन्तन सरणी स्वतन्त्र चिन्तन की प्रवहमान धारा से हटकर परंपरावाद एवं शास्त्र-प्रमाण की संकीर्ण पंकिल भूमि तक ही सिमट गयी थी। इस काल में धार्मिक संकीर्णता, जातीय संघर्ष, सांप्रदायिक उन्माद एवं सामाजिक भेदभाव चरमसीमा पर थे। तत्कालीन शासकों के साथ मिलकर पंडे-पुजारी और मुल्ला-मौलवी सामान्य जनता का हर तरह से शोषण कर रहे थे। आम जनता की स्थिति "दो पाटन के बीच में, साबुत गया न कोय" जैसी थी। रक्षक ही भक्षक बन रहा था।

मध्ययुग के उस संक्रमण काल में अद्भुत प्रतिभा, साहस एवं व्यक्तित्व लेकर कबीर का अवतरण हुआ। उनकी मर्मभेदी दृष्टि धार्मिक पाखण्ड एवं अंधविश्वासों के कुहासों को चीरकर शाश्वत सत्य एवं मानवता को देख लेने में पूर्णरूपेण सक्षम थी। धार्मिक जड़ता, जाति-व्यवस्था एवं वर्णाभिमान के समर्थकों को उन्होंने खुली चुनौती दी और धार्मिक स्वतंत्रता तथा मानव-समानता पर आधारित समाज-संरचना पर बल दिया। किसी भी प्रकार के असत्य और पाखण्ड के साथ समझौता करना तो वे सीखे ही नहीं थे। इसीलिए उन्होंने शास्त्रानुमोदित परंपरा-पोषित सुखद मार्ग को नहीं अपनाया, अपितु मानवता के उद्धारार्थ सत्य के कंटीले रास्ते को चुना और उस पर वे इकला चल पड़े। उनकी दृष्टि में सत्य सर्वोपरि था। सत्य ही उनका साध्य था और साधन भी।

2. जन्मकाल और जीवन-वृत्त

सद्गुरु कबीर ने अपना कोई जीवन-वृत्त नहीं लिखा है। विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर यह निर्धारित हुआ है कि उनका जन्म विक्रम संवत 1456 में हुआ था और मृत्यु वि.सं. 1575 में। परन्तु जिस तरह श्रद्धेया मां सीता के माता-पिता का पता नहीं चलता, उसी तरह सद्गुरु कबीर के माता-पिता का पता नहीं चलता। जिस तरह राजा जनक ने सीता जी को शिशुरूप में खेत में पाया था, उसी तरह नीरू-नीमा नामक जुलाहे दंपती ने कबीर को लहरतारा

तालाब के किनारे पाया था। सीता जी एवं कबीर साहेब—दोनों के माता-पिता का पता न चलने के कारण श्रद्धालुओं द्वारा दोनों के जीवन में चमत्कारपूर्ण कथानक जोड़कर दोनों को अलौकिक बताया गया, यद्यपि ऐसा करना सत्य का अपलाप करना है। भले ही सीता जी एवं सद्गुरु कबीर दोनों के माता-पिता का पता न चलता हो, परन्तु दोनों अपने-अपने क्षेत्र में महान हैं। लेकिन यह ज्वलंत सत्य है कि हर इनसान मां-बाप से ही पैदा होता है। नीरू-नीमा जुलाहे दंपती के यहां पाले-पोषे जाने के कारण कबीर साहेब के मन में किसी प्रकार की हीन-भावना बिलकुल ही नहीं थी, बल्कि उन्होंने अपने को अनेक जगह जोलाहा कहकर ही व्यक्त किया है, यथा 'जोलहा दास कबीरा हो', 'तू ब्राह्मण मैं काशी का जुलाहा।' आदि। अपनी प्रारंभिक युवावस्था तक वे कपड़ा बुनने का काम करते रहे हों, इसमें किसी को आश्चर्य नहीं करना चाहिए।

3. वे विरक्त संत थे

समस्त कबीर साहित्य में सद्गुरु कबीर का विरक्त रूप ही झलकता है, परन्तु उनके नाम से पायी जाने वाली अनेक वाणियां जो रूपकों एवं प्रतीकों में कही गयी हैं तथा श्लेषात्मक हैं, उनके वास्तविक अर्थ को न समझकर उनका शाब्दिक अर्थ करते हुए अनेक लेखकों ने कबीर साहेब को गृहस्थ ही नहीं सिद्ध किया बल्कि किसी ने तो उनकी दो पत्नियां होने का फतवा दे दिया। परन्तु समस्त कबीरपंथ के साथ-साथ अनेक विद्वान जो उनकी वाणियों के आध्यात्मिक रूपक एवं कथन-शैली को समझते हैं, वे इस मान्यता का समर्थन नहीं करते। कबीर-वाणी में अनेक स्थलों पर प्रयुक्त 'लोई' शब्द जो आम जनता तथा 'लोग' का वाचक है और जो इसी अर्थ में कबीर के पूर्ववर्ती गोरखनाथ तथा नाथपंथियों की वाणियों में भी प्रयुक्त हुआ है, उस 'लोई शब्द को घसीटकर अनेक विद्वानों ने उसे कबीर की पत्नी बना डाला। परन्तु यह ज्वलंत सत्य है कि कबीर साहेब बाल-ब्रह्मचारी आजीवन विरक्त संत थे।

4. उनका राम

कबीर-वाणी में जितनी बार 'राम' शब्द का प्रयोग हुआ है, उतनी बार किसी और शब्द का नहीं। अकेले बीजक में इसका प्रयोग लगभग 170 बार हुआ है। परन्तु यह ध्यान रखना होगा कि जहां इसका प्रयोग घट-घटवासी चेतन तत्त्व, स्वसत्ता के अर्थ में है वहां पर यह विधिपरक है और जहां आत्मतत्त्व से भिन्न किसी लोकवासी के लिए है वहां निषेधपरक। दाशरथि राम का अनेक स्थलों पर उल्लेख करते हुए भी कबीर ने कहीं पर भी उन्हें

अपना इष्ट या उपास्य नहीं माना है, बल्कि दाशरथि राम को उपास्य मानने वालों की उन्होंने आलोचना की है। यथा—''दशरथ सुत तिहुँ लोकहिं जाना। राम नाम का मर्म है आना।''[1] इसी तरह अनेक पदों में भी देखा जा सकता है। यहीं पर स्वामी रामानन्द से उनका विरोध भी दिखाई पड़ता है। किंवदंती के अनुसार स्वामी रामानन्द कबीर के गुरु माने जाते हैं। हो सकता है प्रारंभिक साधनाकाल में कबीर साहेब ने स्वामी रामानन्द से कुछ सीखा-समझा हो, परन्तु आगे चलकर सैद्धान्तिक अन्तर पड़ने से उन्होंने उनकी आलोचना की है। क्योंकि स्वामी रामानन्द दाशरथि राम के प्रेम में मतवाले थे[2] और कबीर साहेब किसी शरीरधारी को संसार का हर्ता-कर्ता मानकर उसे अपना उपास्य मानने एवं उसके प्रेम में मतवाले रहने के सख्त खिलाफ थे। यद्यपि उन्होंने स्वयं भी रामरस पीने की सलाह दी है, यथा—कोई राम रसिक रस पीयहुगे, पीयहुगे युग जीयहुगे (बीजक, शब्द-20), परन्तु यहां उनका रामरस दाशरथि राम या किसी कल्पना लोकवासी राम का प्रेमरस नहीं, अपितु आत्माराम, जो स्वचेतन सत्ता के रूप में प्रत्येक घट में विराजमान है, उसका प्रेमरस है। कबीर-वाणी के अध्येताओं को इस अन्तर को ख्याल में रखना चाहिए।

5. वेद-कितेब पर उनकी दृष्टि

लोकप्रचलित धारणा है कि कबीर साहेब ने वेद-शास्त्रों का केवल खण्डन ही किया है, परन्तु यह धारणा पूर्णतः सही नहीं है। पहले यह याद रखना होगा कि कबीर साहेब किसी के खिलाफ नहीं थे, यदि खिलाफ थे तो अंधविश्वास, पाखण्ड एवं असत्य के। जब समाज के मार्गदर्शक कहे जाने वाले पंडित और मुल्ला समाजहित-विरोधी पाखण्डपूर्ण अलीक धारणाओं को वेद-कितेब समर्थित बताकर एवं उन्हें जनसमाज पर जबर्दस्ती थोपकर जनता को गुमराह कर रहे थे, तब कबीर साहेब को कहना पड़ा—'नौधा वेद कितेब है, झूठे का बाना।' (शब्द 113), 'वेद कितेब दोउ फंद पसारा, तेहि फन्दे परु आप बिचारा।' (शब्द-32) आदि। बीजक में 'वेद' शब्द 52 बार उल्लिखित हुआ है और अनेक जगह आदर के साथ भी—यथा—'लोक वेद मों देऊँ देखाई' (रमैनी-37), 'आधी साखी कबीर की, चारि वेद का जीव' (साखी-131), 'जाके मुनिवर तप करें, वेद थके गुण गाय। सोई देउँ सिखापना, कोई नहीं पतियाय' (साखी-123) आदि। परन्तु यह ध्यान रखना

---

1. शब्द-109।
2. रामानन्द रामरस माते, कहहिं कबीर हम कहि कहि थाके। (शब्द 77)

होगा कि कबीर साहेब ने आंख मूंदकर कहीं भी वेद–कुरान का समर्थन नहीं किया है।

6. शुद्ध मानवीय दृष्टिकोण

तथाकथित ईश्वर और ईश्वर–वाणी के नाम पर अंधविश्वास, भ्रम एवं पाखण्ड फैलाकर मानव समाज का वंचन तो किया ही जा रहा था, मानव–मानव के बीच ईर्ष्या, घृणा एवं सांप्रदायिक भेदभाव की दीवार खड़ी की जा रही थी। अदृश्य ईश्वर के नाम पर प्रत्यक्ष ईश्वर इनसान के खून की होली खेली जा रही थी और निर्जीव पानी–पत्थर के सामने सजीव प्राणियों की बलि दी जा रही थी। कबीर की अन्तरात्मा यह सब देखकर तिलमिला उठी। धर्म के ऐसे ठेकेदारों को उन्होंने आड़े हाथों लिया। परन्तु कबीर की अन्तरात्मा इस बात से सबसे ज्यादा दुखी थी कि ईश्वरीय–वाणी का पाखण्ड रचकर पुरोहितों द्वारा समाज के विशालतम अंग को अछूत तथा शूद्र घोषितकर उसके समस्त मानवीय अधिकारों से उसे वंचित किया जा रहा था। तथाकथित नीची मानी गयी जाति में पैदा होने से कोई मनुष्य नीच, अछूत, अस्पृश्य, अंत्यज है, इसलिए उसे अमुक–अमुक क्षेत्र में उन्नति करने का कोई अधिकार नहीं है, ऐसा फतवा देना जघन्य अपराध है और यह अपराध समाज के मुट्ठीभर तथाकथित उच्चवर्ण के लोग ईश्वर और ईश्वर–वाणी का आधार लेकर हजारों वर्षों से करते चले आ रहे थे। कबीर साहेब ने इसका खुलकर विरोध किया और कहा मानव समाज में उत्पन्न सारे भेदभाव घृणित स्वार्थ–बुद्धि की देन हैं । उनकी दृष्टि में मानव हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मण, शूद्र आदि न होकर केवल मानव है और मानव मात्र को सब दिशा में उन्नति करने का समान अधिकार है।

7. विश्वसत्ता की समझ

ज्यादातर धार्मिकों ने संसार को समझने के लिए विवेक–बुद्धि का नहीं, अपितु भावुकता एवं श्रद्धा का सहारा लिया है। इसलिए संसार के बारे में उनका दृष्टिकोण एवं चिंतन सत्य से बहुत दूर चला गया है। वस्तुतः संसार को समझने के लिए हमें संसार में ही झांकना होगा। संसार जड़–तत्त्वों के असंख्यात परमाणुओं का संव्यूहन है। जड़ द्रव्यों की स्वभावसिद्ध गतिशीलता से ही यहां नानाविध वस्तुओं के उत्पाद–विनाश अनवरत होते रहते हैं और इस प्रकार संसार अबाध गति से निरंतर चल रहा है। जड़ द्रव्यों के स्वयंसिद्ध गुण–धर्मों को न समझकर उनके संचालन के लिए किसी पृथक सुप्रीम सत्ता की कल्पना करना वस्तुतथ्य एवं सत्य से दूर हो जाना तथा अन्धकार में

हाथ-पैर मारना है। जड़ द्रव्यों की न तो किसी काल-विशेष में नये सिरे से सृष्टि होती है और न ही प्रलय। संसार सृष्टि-प्रलय से रहित अनादि-अनंत है। कबीर साहेब की दृष्टि में संसार मन का प्रतिबिम्ब एवं गंधर्वनगर की भांति असत्य न होकर अपने क्षेत्र में ठोस एवं सत्य है। हां, संसार से हमारा सम्बन्ध औपाधिक एवं स्वप्नवत अवश्य है। इसीलिए कबीर साहेब ने कहा है—"झूठ झूठा कै डारहू, मिथ्या यह संसार। तेहि कारण मैं कहत हौं, जाते होय उबार" ॥ र.सा. 60 ॥

8. माया की परिभाषा

साधारण जनता ही नहीं, विद्वत जगत में भी यह धारणा घर कर गयी है कि माया दुस्तरा है, अघटित घटना पटीयसी तथा दुरत्यया है। दार्शनिक जगत में तो माया की ऐसी उलझी हुई व्याख्या की गयी है कि वह अबूझ पहेली बनकर रह गयी है। माया को किसी ईश्वर की ऐसी शक्ति बतायी गयी है कि उससे पार पाना बहुत ही मुश्किल है। जिस मनुष्य पर किसी प्रभु की कृपा हो वही माया से बच सकता है, दूसरा नहीं। इस सम्बन्ध में कबीर साहेब का दृष्टिकोण बहुत ही सरल, सटीक और सहज बोधगम्य है। उन्होंने कहा कि 'संतो आवै जाये सो माया।' वस्तुतः मनुष्य का मन जिसमें मोहित हो जाये वही उसके लिए माया है। मन का मोह ही माया है और माया मन का ही स्वरूप है। बीजक के 59वें शब्द में माया का बहुत ही सटीक चित्रण कबीर साहेब ने किया है। माया से बचने के लिए किसी प्रभु की कृपा नहीं, अपितु विवेक-विचार की आवश्यकता है। इसके लिए साखी 104 से 107 तक की व्याख्या देखें।

9. बीजक उनका सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रन्थ

यह तो नहीं कहा जा सकता कि बीजक के अतिरिक्त कबीर साहेब के नाम से प्रचलित अन्य वाणियां उनके द्वारा ही कही गयी हैं, क्योंकि उनमें प्रक्षेपों की भरमार है। परन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि 120 वर्ष के लम्बे जीवन में उन्होंने बीजक के अतिरिक्त और कुछ कहा ही नहीं है। बीजक के अतिरिक्त भी उनकी बहुत-सारी वाणियां हैं; परन्तु उनकी समस्त वाणियों में बीजक सर्वाधिक प्रामाणिक है। प्रसिद्ध वैष्णव सन्त नाभादास जी महाराज ने कबीर साहेब की प्रशंसा करते हुए जो छप्पय कहा है, उसकी एक पंक्ति है—"हिन्दू तुरुक प्रमान रमैनी शब्दी साखी।" रमैनी, शब्द और साखी का यह क्रम किसी और कबीर-वाणी में नहीं, अपितु बीजक में ही है। बीजक ही ऐसा ग्रन्थ है जिसमें कबीर साहेब का क्रांतिकारी स्वरूप पूर्णरूपेण उभरा है।

10. बीजक के पदों का गूढ़त्व और सूत्रत्व

बीजक में कबीर साहेब ने अपने नामवाची कबीर, कबिरा, कबीरा, कबिरन, कबीरन आदि अनेक शब्दों का प्रयोग किया है। ऐसा उन्होंने क्यों किया, स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। कुछ टीकाकारों के ख्याल से ये सभी शब्द एकार्थबोधक हैं और कबीर साहेब ने इन सबका प्रयोग अपने लिए ही किया है, केवल छंद प्रवाह बनाये रखने के लिए मात्राओं में हेर-फेर है। कुछ अन्य टीकाकारों के ख्याल से उपरोक्त सभी शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ बोधक हैं। परन्तु दोनों दृष्टि एकांगी हैं। उपर्युक्त सभी शब्द हर जगह कबीर साहेब के नाम एवं व्यक्तित्व से भिन्न अर्थ रखते हैं, ऐसी बात नहीं है, परन्तु हर जगह इन सबका एक ही अर्थ किया जाये तो पूरे अर्थ की संगति ही नहीं बैठ सकती। उदाहरणार्थ—भ्रमि भ्रमि कबिरा फिरै उदास; कबिरन ओट राम की पकरी, अन्त चले पछिताई; कबिरन भक्ति बिगारिया, कंकर पत्थर धोय; झूठा खसम कबीरन जाना; कबिरा बनौरी गावै; तथा तामहँ भ्रमि-भ्रमि रहल कबीरा आदि। केवल 86वें शब्द में 1 बार 'कबिरा', 4 बार 'कबीरा' कहकर छठीं बार 'कहहिं कबीर' का प्रयोग हुआ है।

बीजक हमें बरबस ही सूत्र ग्रन्थों की याद दिलाता है, जिसमें छोटा-सा वाक्य बहुत बड़े अर्थगांभीर्य एवं भाव को छिपाये रहता है। बीजक में रूपक, प्रतीक, अन्योक्तिकथन, उलटवांसी शैली, कहीं पूर्वपक्ष की मान्यताओं का दिग्दर्शन कराने के लिए कहे गये वचन आदि होने से हर सिद्धान्त के मानने वालों को अपने दार्शनिक सिद्धान्त की स्थापना के लिए जगह मिल जाती है।

11. बीजक की अनेक टीकाएं

देशी-विदेशी अनेक विद्वानों द्वारा बीजक को प्रामाणिक कबीर साहित्य मानकर उसकी अब तक दर्जनों टीकाएं हो चुकी हैं तथा आज भी होती जा रही हैं। बीजक की अब तक हुई अनेक टीकाएं ऐसी हैं जिनकी भाषा-शैली पुरानी होने से वह आज सबकी समझ में ठीक से नहीं आती। कुछ में तो अर्थ अत्यन्त अस्पष्ट एवं भ्रामक हो गया है। और कुछ टीकाएं तो ऐसी हुई हैं जिनमें सारे पाखण्ड एवं कुरीतियों को जलाकर राख कर देने वाला कबीर का क्रांतिकारी विदग्धात्मक रूप ही ओझल हो गया है और वहां पर कबीर को परम्परापोषित भक्तकवि बनाकर रख दिया गया है तथा उन्हें किसी अदृश्य, अज्ञात शक्ति के आगे गिड़गिड़ाने वाला भावुक भक्त बना डाला गया है।

कोई भी ग्रन्थ चाहे वह मौलिक हो या टीका, यदि वह मनुष्य के आत्मसम्मान एवं आत्मविश्वास को न जगाकर उसे सदैव किसी दूसरे का

सहारा पकड़ने एवं उसकी कृपा पाने के लिए रोने-गिड़गिड़ाने की सीख देता है, तो वह मानव समाज की उन्नति में सहायक न होकर बाधक ही बनेगा। इसके विपरीत जो ग्रन्थ मनुष्य को पशु सामान्य धरातल से उठाकर उसे मानवीय धरातल तक लाता है एवं परमुखापेक्षिता तथा परावलम्बन की बैसाखी छुड़ाकर स्वावलम्बन की प्रेरणा देता है, वही मानव-समाज की उन्नति में सहायक हो सकता है।

12. बीजक की क्रांतिकारी टीकाएं तथा यह व्याख्या

कबीर साहेब के क्रांतिकारी विचार उभारने वाली सद्‌गुरु श्री रामरहस साहेब की भावात्मक टीका 'पंचग्रन्थी' तथा सद्‌गुरु श्री पूरण साहेब की व्याख्यात्मक टीका 'त्रिज्या' आदि से लेकर कई अन्य टीकाएं हुई हैं। इसी सन्दर्भ में पूज्यवर गुरुदेव संत श्री अभिलाष साहेब जी की 'पारख प्रबोधिनी टीका' आज से बीस वर्ष पूर्व लिखी गयी थी जो अत्यन्त लोकप्रिय हुई थी और अब तक उसके चार संस्करण निकल भी चुके हैं। परन्तु बहुत दिनों से टीकाकार पूज्य गुरुदेव जी यह महसूस कर रहे थे कि उस टीका का संशोधन कर उसे और सर्वांगीण, स्वाभाविक तथा समीचीन बनाया जाये। इसके लिए आवश्यक था पूरी टीका नये सिरे से पुनः लिखी जाये, लेकिन ऐसा करना श्रम तथा समय साध्य था। अनेक नये ग्रन्थों के सृजन तथा अन्य कारणों से यह कार्य काफी समय के लिए रोक देना पड़ा, यद्यपि उनके मन में इसकी रूपरेखा काफी पहले बन गयी थी। अंततः लगभग डेढ़ वर्ष के अथक परिश्रम से यह टीका 'पारख प्रबोधिनी व्याख्या' के नाम से 14 अक्टूबर, 1988 को लिखकर पूरी हुई। अधिक विस्तृत होने से यह टीका दो खण्डों में रखी गयी है। रमैनी तथा शब्द प्रकरण प्रथम खण्ड में हैं एवं ज्ञान चौंतीसा से साखी प्रकरण तक दूसरे खण्ड में।

कोई भी लेखक चाहे वह कितना ही महान क्यों न हो उसके सारे के सारे विचार सबको एक समान ग्राह्य और मान्य नहीं हो सकते। प्रस्तुत टीका (व्याख्या) के लिए भी यही बात है। परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह टीका मूल पदों के अधिकतम निकट रखी गयी है तथा उनके भावों को प्रकट करने में अधिक सक्षम है। वर्ण्य विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिए अनेक प्रमाणों से संयुक्त यह टीका इतना आकर्षक बन गयी है कि इसका पूर्ण समर्थन न करने वाले भी इसकी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते।

इस ग्रन्थ के सभी प्रकरण के आदि-अंत में हेतु छंद के रूप में एक छंद तथा दोहा एवं फल छंद के रूप में एक छंद तथा चौपाई दिये गये हैं, जो

प्रथम संस्करण से हैं। ये सभी छंद, दोहे तथा चौपाइयां परम श्रद्धेय श्री प्रेम साहेब जी की रचनाएं हैं।

टीकाकार द्वारा टीका के प्रथम संस्करण के समय विस्तृत भूमिका लिखी गयी थी, जो पूर्व के चारों संस्करणों तक छपती रही। अब वह भूमिका 'कबीर : व्यक्तित्व और कर्तृत्व' के नाम से स्वतन्त्र रूप से पुस्तकाकार में छपी है। अबकी बार पूरी टीका ही विवेचनात्मक एवं विस्तृत होने से वह भूमिका इस संस्करण में नहीं रखी गयी और व्याख्याकार पूज्य गुरुदेव जी द्वारा मेरे लिए आज्ञा हुई कि इस संस्करण के लिए भूमिका लिख दी जाये। उनकी आज्ञा एवं कृपा पाकर यह विनम्र प्रयास किया गया है। आशा है यह व्याख्या सभी वर्ग के पाठकों के लिए समान उपयोगी तथा जाति, वर्ण एवं वर्ग विहीन समाज-संरचना की दिशा में प्रेरणादायी होगी और आध्यात्मिक बोध एवं शांति की प्राप्ति के लिए साधन बनेगी।

कबीर पारख संस्थान, इलाहाबाद — विनम्र

5 नवम्बर, 1989 — **धर्मेन्द्र दास**

विषयानुक्रमणिका

प्रथम प्रकरण : **रमैनी**

द्वितीय प्रकरण : **शब्द**



बीजक-महिमा

यह बीजक ज्ञान कबीर गुरू का, बन्ध नशाने वाला है।
सब जीवों के हित मारग को, स्पष्ट बताने वाला है॥टेक॥

सब जीव सदा से भूले ही, विषयों में रमते आये हैं।
उस रमते राम के बन्धन को, कहि विविध 'रमैनी' टाला है॥ 1॥

खानी वाणी के शब्द जाल में, जीव सभी उलझाये हैं।
कहि 'शब्द' सैन अति अनुभव से, सब बन्धन काटि निकाला है॥ 2॥

विद्वानों के वाणी मद को, हरि 'ज्ञान चौंतीसा' से लीन्हा।
विप्रों की मति-गति शुद्धि हेतु, कहि 'विप्रमतीसी' आला है॥ 3॥

'कहरा' कहि कहर हरे जिव का, कहि 'बसन्त' विषयासक्ति हरे।
मन माया के तम हरे आप, कहि 'चाचर' ज्ञान उजाला है॥ 4॥

अन्तः में स्थिर परम रमैया राम, 'बेलि' में आप कहे।
खानी वाणी की विरह व्यथा, 'बिरहुली' विवेक विशाला है॥ 5॥

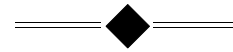
अविनाशी जीव कर्म के वश, जन्मादि हिण्डोले में झूले।
परकरण 'हिण्डोला' कहि विधिवत, पारख पद दिया निराला है॥ 6॥

जड़ साक्ष्य दृश्य से सदा पृथक, साक्षी चिद्रूप सदा अपना।
'साखी' कहि सकल ज्ञान खानी, मत पथ द्वन्द्वों का काला है॥ 7॥

ग्यारह परकरणों से भूषित, है पारख ज्ञान भरा 'बीजक'।
रविवत इसके परकाश किरण, तम मोह नशाने वाला है॥ 8॥

अति गूढ़-अगूढ़ द्विविधि पद्यों, शैली युक्ती से भरा ग्रन्थ।
विद्वान भी हैं टक्कर खाते, 'अभिलाष' अल्प मति वाला है॥ 9॥

गुरु सन्त पारखी के द्वारा, गुरुमुख पढ़ने से भेद खुलै।
बोधक ''सूरत'' की कृपा दृष्टि से, पाया बोध उजाला है॥10॥



गुरु-उपकार स्मृति तथा वन्दना

जिन गुरु कबीर कृपालु के, सच्चिद स्व पारख बोध से।
सब ग्रन्थ पन्थ अनन्त, नाना वेष के परिशोध से॥
भ्रम तम फट्यो, भव भय मिट्यो, निज पद डट्यो अविरोध से।
तिन गुरु कबीर महान के, पद कंज नमूँ प्रमोद से॥ 1॥

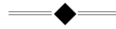
अविकार अक्षय अकाम चेतन, राम जो निज रूप है।
तेहि आप आप बिसारि, मानव भ्रमत भ्रम तम कूप है॥
जड़ मानना जड़ की क्रिया, जड़ दृश्य भास विरूप है।
सबका प्रकाशक भास्कर, पारख स्व चेतन रूप है॥ 2॥

सन्तुष्ट है नित तृप्त है, नित बोधमय प्रज्ञान है।
जेहि जानता तेहि से पृथक, द्रष्टा स्वरूप सुजान है॥
निज बोध बिन इत उत भ्रमै, निज बोध पाय महान है।
इमि गुरु कबीर निदेश से, लहि परम पारख थान है॥ 3॥

सब सन्त हैं श्रद्धेय मन, क्रम वचन जे संयम लिये।
तिन मध्य पारख प्राप्त जे, शिरमौर गुरु सम नित जिये॥
उन सर्व के पद कमल में, करबद्ध नत मस्तक हिये।
बलिहार बारम्बार जो, उपकार शुचि सन्तन किये॥ 4॥

जिनकी कृपा से बोध लहि, सन्देह भ्रम सबही गये।
अरु भेद बीजक का मिल्यो, पद-अर्थ-भाव मनन भये॥
उन प्रेरणा के स्रोत, 'सूरत देव' बोधक चरण में।
करबद्ध नत मस्तक नमूँ, लीजै निभा निज शरण में॥ 5॥

बीजक समुद्र समान, अवगाहन कठिन तिसका करन।
करता प्रवेश ये दास, प्रभु कीजै कृपा अशरन शरन॥
निर्भ्रान्त निर्भय पक्ष-रहित, कबीर-गुरु के बैन की।
व्याख्या सरस शुचि बोधगम्य, चहौ सुअंजन नैन की॥ 6॥



रमैनी

हेतु छन्द

भ्रम मान्यता के ऐन में,
ये जीव सब परवश रहे।
इह ऐन बन्धन बाध्य कर,
ऐनी ये जिव पद किमी लहे।
निज भूल-वश रमते अहो,
दुख मूल जड़ मग में ढहे।
इहि विधि विलोकि व्यथा विध्वंसक,
प्रभु रमैनी तब कहे।

दोहा

दुख दुरूह दुर्मति सबन, दावानल सद्बोध।
सो कबीर गुरु धन्य प्रभु, दिव्य परख अविरोध॥

सद्गुरवे नमः

बीजक

(पारख-प्रबोधिनी व्याख्या-सहित)

प्रथम प्रकरण : रमैनी

ग्रंथ की प्रस्तावना

रमैनी–1

अन्तर ज्योति शब्द एक नारी। हरि ब्रह्मा ताके त्रिपुरारी॥ 1॥
ते तिरिये भग लिंग अनन्ता। तेउ न जानै आदिउ अन्ता॥ 2॥
बाखरि एक बिधाते कीन्हा। चौदह ठहर पाट सो लीन्हा॥ 3॥
हरिहर ब्रह्मा महन्तो नाऊँ। तिन्ह पुनि तीन बसावल गाऊँ॥ 4॥
तिन्ह पुनि रचल खण्ड ब्रह्मण्डा। छौ दर्शन छानबे पाखण्डा॥ 5॥
पेट न काहू वेद पढ़ाया। सुन्नति कराय तुरुक नहिं आया॥ 6॥
नारी मोचित गर्भ प्रसूती। स्वांग धरे बहुतै करतूती॥ 7॥
तहिया हम तुम एकै लोहू। एकै प्राण बियापै मोहू॥ 8॥
एकै जनी जना संसारा। कौन ज्ञान से भयउ निनारा॥ 9॥
भौ बालक भगद्वारे आया। भग भोगी के पुरुष कहाया॥10॥
अविगति की गति काहु न जानी। एक जीव कित कहूँ बखानी॥11॥
जो मुख होय जीभ दश लाखा। तो कोइ आय महन्तो भाखा॥12॥

साखी—कहहिं कबीर पुकारि के, ई ले ऊ ब्यौहार।
राम नाम जानै बिना, भौ बूड़ि मुवा संसार॥ 1॥

शब्दार्थ—अन्तर=भीतर। ज्योति=ज्ञान-ज्योति, चेतन। शब्द=वाक-शक्ति। नारी=कल्पना, माया। त्रिपुरारी=तीन पुर के शत्रु; तारकासुर के तीन पुत्र—तारकाक्ष, कमलाक्ष और विद्युन्माली के पुरों को नष्ट करने वाले महादेव। बाखरि=बखारी, कोठी, संग्रहालय। पाट=विस्तार, फैलाव। महन्तो=महान। सुन्नति=खतना। नारी मोचित=नारी के पेट से खिंचकर। गर्भ प्रसूती=गर्भस्थ

बच्चा पैदा होता है। स्वांग=वेष, दिखावा। करतूती=कर्मकांड। तहिया=गर्भ में। जनी=स्त्री, माया। जना=उत्पन्न किया हुआ; उत्पत्ति। भौ=भव, उत्पन्न। अविगति=अज्ञात। ई=इहलोक, मोटी माया, खानी-जाल। ऊ=परलोक, झीनी माया, वाणी-जाल। राम=हृदय-निवासी चेतन तत्त्व।

भावार्थ—सभी देहधारियों के भीतर एक ज्ञान-ज्योति है, जिसे जीव, चेतन या आत्मा कहते हैं। मानव विवेकशील प्राणी है। उसके पास शब्द-शक्ति तथा कल्पना-शक्ति की विशेषता है। मानव अपनी अंतर्ज्योति एवं ज्ञान-शक्ति से कल्पना का विस्तार करता है तथा अपनी मनःकल्पना को शब्दों में व्यक्त करता है। मानव की मनःकल्पना और शब्द-योजना रूपी नारी या माया से ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव की उत्पत्ति (स्थापना) हुई।[1] अर्थात सृष्टि को समझने के लिए ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव की कल्पना की गयी॥ 1॥ इन तीनों ने बहुत-से पुत्री-पुत्र पैदा किये, परन्तु ये भी सृष्टि का आदि और अंत नहीं जान सके॥ 2॥ ब्रह्मा रजोगुणी होने से क्रियाशील थे, इसलिए उन्होंने तात्कालिक वाणियों का एक बड़ा संग्रह तैयार किया, जिसका पीछे से चौदह विद्याओं के रूप में विस्तार हुआ॥ 3॥ विष्णु, महादेव तथा ब्रह्मा महान प्रसिद्ध नाम वाले हुए। इन्होंने क्रमशः तीन गांव बसाये जिन्हें विष्णुपुर, शिवपुर तथा ब्रह्मपुर कह सकते हैं, अथवा इन्होंने क्रमशः भक्ति, ज्ञान और कर्मकांड चलाये॥ 4॥ फिर इन्होंने ब्रह्मांड को खंडों में बांटा। अर्थात पृथ्वी पर विभागपूर्वक राज्य स्थापित किये। अथवा वाणी का विविध विषयों में विभाजन किया। फिर छह दर्शन और छानबे पाखंडों का विस्तार हुआ॥ 5॥

माता के पेट से कोई न तो वेद पढ़कर आता है जो अपने आप को जन्मजात ब्राह्मण कह सके तथा न कोई सुन्नत कराकर आता है कि वह अपने आप को जन्मजात मुसलमान कह सके॥ 6॥ माता के पेट से पैदा होने के बाद ही लोग नाना स्वांग तथा कर्मकांड करते हैं॥ 7॥ माता के पेट में तो हम और तुम एक ही प्रकार रज-वीर्य से बने हैं, एक ही प्रकार सब में प्राण व्याप्त हुए हैं तथा एक ही प्रकार सब वहां मूढ़ता में पड़े रहे हैं॥ 8॥ एक ही प्रकार माता से संसार के सभी लोग जन्म लेते हैं, फिर किस ज्ञान से भिन्न वर्ण और जाति की कल्पना कर ली जाती है!॥ 9॥ एक ही द्वार से बालक रूप में सब पैदा होते हैं, जिससे पैदा होते हैं उसी में आसक्त होकर पुरुष कहलाते हैं॥ 10॥ अज्ञात की दशा का किसी को पता नहीं है। कितना विवरण देकर कहूं कि एक मनुष्य

1. अंतर्ज्योति, शब्द और एक नारी से ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव पैदा हुए यह एक सरल अर्थ है, परन्तु जादुई है। इससे मानवीय बुद्धि से कोई मतलब नहीं है।

जीव ही श्रेष्ठ है[1] ॥ 11 ॥ यदि किसी के मुख में दस लाख जीभ हों, तो ऐसा महान पुरुष भले आकर अज्ञात की बातें कह सके ॥ 12 ॥

सद्गुरु कबीर पुकारकर कह रहे हैं कि मनुष्य लोक-परलोक, खानी-वाणी एवं मोटी-झीनी माया के व्यवहार को लेकर उसमें उलझ गया है। राम ऐसा नाम किसका है, रामतत्त्व क्या है, इसे जाने बिना संसार के लोग भ्रांति-सागर में डूब रहे हैं ॥ 1 ॥

व्याख्या—पहले यह समझ लेना है कि 'बीजक' का अर्थ क्या है ! सद्गुरु कबीर की इस महान रचना का नाम 'बीजक' है। उन्होंने स्वयं इसका नामकरण करने के साथ अर्थ भी बता दिया है। अतएव 'बीजक' का अर्थ जानने के लिए 'बीजक' से बाहर नहीं जाना है। सद्गुरु ने 37वीं रमैनी की साखी में कहा है—

बीजक बित्त बतावै, जो बित गुप्ता होय।
ऐसे शब्द बतावै जीव को, बूझै बिरला कोय॥

अर्थात बीजक उस धन को बताता है जो कहीं गुप्त रूप से गड़ा हो। इसी प्रकार बीजक के शब्द जीव के वास्तविक स्वरूप को बताते हैं, परन्तु इसे कोई बिरला समझता है।

पहले समय में बैंक तो होते नहीं थे। उस समय लोग अपने धन को चांदी, सोना, रत्नादि के रूप में करके और धातु के पात्र में रखकर किसी गुप्त स्थान में गाड़ देते थे और उसे समझने के लिए ताम्र आदि किसी धातु-पत्र पर सांकेतिक शब्दों (कोडवर्ड) में लिख देते थे, जिसे उनके परिवार तथा अनुगामी लोग ही पढ़कर समझ पाते थे। उसे ही 'बीजक' कहा जाता था। इसलिए बीजक के शब्द गूढ़ एवं रहस्यात्मक कहे जाते थे। सांकेतिक शब्दों में धन का परिचय देने वाला वह ताम्रपत्र ही 'बीजक' कहलाता था। जैसे वह बीजक गड़े हुए गुप्त धन को बताता था, वैसे सद्गुरु कबीर का 'बीजक' ग्रंथ इस शरीर में छिपे हुए जीव-तत्त्व का बोध कराता है और जगत के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन करता है। इसलिए इसका नाम 'बीजक' है। इस ग्रंथ में जगह-जगह गूढ़ प्रयोग भी हैं, इसलिए भी इसका 'बीजक' नाम सार्थक है।

साखी प्रकरण की 27वीं साखी में सद्गुरु कहते हैं—

पाँच तत्त्व के भीतरे, गुप्त बस्तु अस्थान।
बिरला मर्म कोइ पाइहैं, गुरु के शब्द प्रमान॥

---

1. अनेक मूल बीजक में इस प्रथम रमैनी की ग्यारहवीं पंक्ति में "एक जीभ कित कहूँ बखानी" पाठ है, परंतु मैंने मूल बीजक के जिस पाठ को लिया है वह निर्णय मंदिर बुरहानपुर तथा महाराज राघव साहेब का पाठ है और इन दोनों पाठों में "एक जीव कित कहूँ बखानी" है। इसलिए इस पाठ के अनुसार अर्थ किया है।
   वैसे "एक जीभ कित कहूँ बखानी" से अर्थ होगा कि एक जीभ से मैं कितनी व्याख्या करूं।

बीजक ग्रंथ के अंत में किसी बीजक-मर्मी संत ने पाठफल के रूप में नौ साखियां बनाकर अलग से रख दी हैं, जो प्राचीन काल से चली आ रही हैं। उनमें कहा गया है—"बीजक का अर्थ है धन का पता एवं संदेश देने वाला। जिस जगह आत्मा रूपी धन है, कबीर साहेब के बीजक-वचनों के द्वारा वहीं का उपदेश है। अतएव जो अपने हाथों में बीजक लेकर उसे पढ़ेगा, वह आत्म-धन को शोध लेगा। इसलिए इस ग्रन्थ का नाम बीजक है, क्योंकि इसमें आत्मा तथा माया-मन का ज्ञान होता है। आत्मा राम (जीव) सत्य है और मायाकृत मन-मानंदी असत है। बीजक के गुरुमुख वचनों से इसकी यथार्थ परख करना चाहिए। इस ग्रंथ का नाम बीजक है। इसमें सारशब्द (निर्णय वचन) हैं तथा यह टकसार (प्रामाणिक) है। गुरु-कृपा से बीजक द्वारा सत्यासत्य की परख होती है। यहां कबीर साहेब की वाणी पूर्ण होती है।" यथा—

बीजक कहिये साख धन, धन का कहै संदेश।
आतम धन जेहि ठौर है, बचन कबीर उपदेश॥
देखै बीजक हाथ लै, पावै धन तेहि शोध।
याते बीजक नाम भौ, माया मन को बोध॥
अस्ति आत्मा राम है, मन माया कृत नास्ति।
याकी पारख लहै यथा, बीजक गुरुमुख आस्ति॥
सार शब्द टकसार है, बीजक याको नाम।
गुरु की दया से परख भई, बचन कबीर तमाम॥

आज भी व्यापारी लोग जब किसी सामान की बिक्री करते हैं, उसका बिल बनाते हैं, जिसे 'बीजक' कहा जाता है। अतः सम्पत्ति की सूचना बीजक में ही होती है।

बीजक छिपे हुए धन को बताने वाला सार, सत्य एवं गूढ़ वचन है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए मानसमर्मज्ञ श्री जयरामदास दीन जी गीताप्रेस से प्रकाशित 'मानस-शंका-समाधान' में लिखते हैं—"श्री रामचरित मानस ग्रंथ में श्री ग्रन्थकार के शब्द कहीं-कहीं 'बीजक' के तौर पर भी पाए जाते हैं, जिनकी खोज मर्मी जनों को प्राप्त होने से ही यथार्थ तत्त्व का ज्ञान होता है, जिससे अत्यन्त सुख की प्राप्ति होती है।" (पृष्ठ 94)

सद्गुरु कबीर-रचित 'बीजक' कोई किस्सा-कहानी की पुस्तक एवं प्रबंध-काव्य नहीं है, जिसमें नाना प्रकार के विषय-रस का वर्णन होता है। 'बीजक' का राम वैसा संकुचित नहीं है जिसके हाथ, छाती, आंख, मुख आदि के लिए कमलों तथा कामदेव की उपमा देकर उसका श्रृंगारिक वर्णन किया जा सके। कबीरदेव का बीजक सार्वजनिक, सार्वभौमिक स्वरूप-राम का परिचायक है तथा उसके ऊपर लगे हुए भ्रमजालों को छिलके की तरह उखाड़ फेंकने वाला

है, जो सार निर्णयों और गूढ़ प्रयोगों से भरा है। इसका भेद कोई मर्मी पारखी पुरुष ही देते हैं।

इसका अर्थ यह भी नहीं समझना चाहिए कि पूरा बीजक ग्रन्थ गूढ़ प्रयोगों से ही भरा है। पारिवारिक, सामाजिक, नैतिक, चारित्रिक, राष्ट्रीय एवं साधनात्मक विषय जो सर्वसाधारण के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं, अत्यन्त सरल शब्दों में वर्णित हैं। इन्हें बच्चे–बूढ़े, स्त्री–पुरुष, पढ़–अपढ़—सब समझ सकते हैं। अब इसके आगे हम मूल रमैनी की व्याख्या पर विचार करें।

"अन्तर ज्योति" इस रमैनी का महत्त्वपूर्ण शब्द है। अन्तर का अर्थ भीतर तथा ज्योति का अर्थ ज्ञान है। देहोपाधि में ही अन्तर या भीतर शब्द का प्रयोग हो सकता है। यह व्यक्ति के लिए ही कहा जा सकता है कि उसके भीतर ज्ञान–ज्योति है। सद्गुरु ने अगली रमैनी में कहा है "जीव रूप एक अन्तर बासा। अन्तर ज्योति कीन्ह परकासा।" यहां भी अन्तर ज्योति व्यक्ति वाचक ही है। तात्पर्य है कि मनुष्य के भीतर ज्ञान–ज्योति है। यह ज्ञान–ज्योति जीव का गुण है।

वैसे सभी जीव ज्ञानस्वरूप हैं; परन्तु खानियों के अनुसार उनमें बाह्य ज्ञान का संकोच एवं विस्तार होता है। सभी खानियों में केवल मनुष्य एक ऐसी खानि है जहां शब्द–शक्ति तथा कल्पना–शक्ति विकसित हैं। "शब्द एक नारी" में शब्द और नारी—ये दोनों महत्त्वपूर्ण शब्द हैं। शब्द अर्थात शब्द–शक्ति, वाक्–शक्ति और नारी अर्थात कल्पना–शक्ति। यहां नारी शब्द माया का प्रतीक है और माया मन की इच्छा एवं कल्पना ही है। "इच्छा रूपि नारि अवतरी" अगली रमैनी में कहा गया है तथा 72वीं रमैनी में "नारी एक संसारहिं आई" कहकर यही भाव व्यक्त किया गया है। इसके लिए साखी प्रकरण की 90, 94, 104 तथा 105वीं साखियां भी देखने योग्य हैं। कबीर साहेब के ख्याल से माया कोई स्वतन्त्र शक्ति नहीं है। वह केवल मन की कल्पना या मोह है। 59वें शब्द में भी "माया महा ठगिनी हम जानी" कहकर मन के मोह एवं कल्पना का ही संकेत है। मनुष्य को पशु से अलग करने वाली ये दो ही प्रमुख शक्तियां हैं—कल्पना–शक्ति तथा शब्द–शक्ति। सारे ज्ञान–विज्ञान का विकास, भूत–प्रेत, देवी–देवता, ईश्वर–ब्रह्म, लोक–परलोक, पुनर्जन्म–कर्मफलभोग, बंध–मोक्ष आदि की कल्पना मनुष्य ही करता है। पशु, पक्षियों एवं कीड़ों में इन कल्पनाओं की कोई गुंजाइश नहीं है।

ज्ञान–शक्ति–सम्पन्न मानव जीव अपने मन की कल्पना तथा शब्द–योजना से नाना विचार प्रकट करता है। मानव की इसी कल्पना–शक्ति तथा शब्द–शक्ति के द्वारा ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव की स्थापना हुई है। 'बृहत्त्वात् ब्रह्म' जो बढ़े या बड़ा हो वह ब्रह्म। प्राचीन आर्य लोग अग्नि को ब्रह्म मानकर पूजते थे। ब्रह्म

(अग्नि) के चारों ओर बैठकर जो उसकी उपासना करे वह ब्राह्मण कहलाता है। फिर यज्ञ के बड़े पुरोहित को ब्रह्मा कहा गया तथा उसके साथ अन्य तीन को होता, उद्गाता तथा अध्वर्यु कहा गया। इसके बहुत बाद ब्रह्मा नाम के एक देवता की कल्पना कर ली गयी और उसे सृष्टि का देवता माना गया।

वैदिक काल में सूर्य प्रधान देवता था। वही आगे विष्णु नाम ग्रहण कर व्यक्ति-देवता बन गया।[1] पहले अनार्य जातियों में योनि तथा लिंग की पूजा व्याप्त थी। उसे आगे चलकर आर्यों के वैदिक रुद्र से मिलाकर महादेव एवं शिव के रूप में समर्थ देवता की कल्पना कर ली गयी। वैदिक रुद्र तूफान का देवता है। पीछे वह महादेव के रूप में प्रतिष्ठित होकर प्रलय का देवता बन गया। वह सिर पर अर्ध चंद्र एवं गंगा-लहर-धारी, पार्वती-पति तथा बैल पर सवारी करने वाला हो गया। यह सब मनुष्यों की मनःकल्पनाओं और शब्दों के विकास का फल है।

"ते तिरिये भग लिंग अनन्ता। तेउ न जानै आदिउ अन्ता।" पुराणों में बताया गया है कि इन तीनों ने, अर्थात ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव ने बहुत-से नर-नारी पैदा किये, परन्तु वे स्वयं संसार का आदि-अन्त नहीं जान सके। ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव व्यक्ति रूप रहे हों या केवल कल्पना के जीव रहे हों, कोई फरक नहीं पड़ता। इतना सच है कि जगत का आदि और अन्त नहीं है। जगत अनादि तथा अनंत है।

"बाखरि एक बिधाते कीन्हा। चौदह ठहर पाट सो लीन्हा।" सैकड़ों वर्षों के अंतराल में परपितामह, पितामह, पिता, पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, गुरु तथा शिष्यों द्वारा वेद-मंत्र बनते रहे और इन्हें लोग सुनाते-सुनते तथा कंठ करते रहे। इन सबका समय से संपादन हुआ। इस संपादन का श्रेय ब्रह्मा को दिया गया। इसलिए उनके चार मुख बना दिये गये, क्योंकि वे चारों वेदों के संपादक थे। ब्रह्मा ने वेद-मन्त्रों की बखारी बना दी। उन्होंने उन्हें चार वेदों के रूप में बड़ा संग्रह किया।

फिर तो उस वाणी ने "चौदह ठहर पाट सो लीन्हा।" अपना विस्तार चौदह विद्याओं में किया। वेदों के सहित चौदह विद्याओं का विस्तार इस प्रकार है— 'पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, छह वेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद तथा ज्योतिष) और चारों वेद।'[2] चौदह विद्याएं इस प्रकार भी गिनायी जाती हैं—'ब्रह्मज्ञान, रसायन, काव्य, वेद, ज्योतिष, व्याकरण, धनुर्विद्या, जलतरण,

1. डॉ. रांगेय राघव, महायात्रा गाथा 2/2/281-282।
2. पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदास्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

संगीत, वैद्यक, अश्वारोहण, कोकशास्त्र में प्रवीणता, नाटक-चाटक तथा चातुरी।'[1]

"हरिहर ब्रह्मा महन्तो नाऊँ। तिन्ह पुनि तीन बसावल गाऊँ।" पुराणों में कहा गया कि ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव—ये महान नामधारी हुए। इन्होंने तीन गांव बसाये—ब्रह्मपुर, विष्णुपुर तथा शिवपुर। यह भी कहा जाता है कि इन्होंने स्वर्ग, पाताल तथा पृथ्वी को आबाद किया। इनके द्वारा धर्म के प्रसिद्ध तीन कांडों को चलाये जाने की भी बात कही गयी, जैसे ब्रह्मा ने कर्मकांड, विष्णु ने भक्तिकांड तथा महादेव ने ज्ञानकांड चलाया।

"तिन्ह पुनि रचल खण्ड ब्रह्मण्डा। छौ दर्शन छानबे पाखण्डा।" कहा जाता है कि उन त्रिदेवों ने ब्रह्मांड का खंड किया है। खंड तो समझ में आता है कि वह टुकड़ा है; परन्तु ब्रह्मांड क्या है, इसे समझना है। ब्रह्मांड पूरे विश्व को कहते हैं और पूरा विश्व कितना है, इसे कोई नहीं जानता। देश अनंत है, अतः विश्व भी अनंत है। ब्रह्मादि किसी व्यक्ति द्वारा उसके खंड, टुकड़ा तथा विभाग करने की बात एक घोर कल्पना है। हां, इस पृथ्वी को, या कहना चाहिए कि पृथ्वी के जितने हिस्से को वे जानते थे, उसे ब्रह्मांड मानकर उन्होंने उसका राज्यों में विभाजन किया होगा, यह कहा जाये तो ठीक है।

यहां 'ब्रह्मांड' का लाक्षणिक अर्थ वेद मानकर कहा जा सकता है कि ब्रह्मा ने वेद का विभाग किया और उसी को आधार मानकर पीछे छह दर्शन तथा छानबे पाखंडों का विस्तार हुआ। योगी, जंगम, सेवड़ा, संन्यासी, दरवेश तथा ब्राह्मण[2]—ये छह दर्शन हैं। इनमें विभेद इस प्रकार है—दस संन्यासी, बारह योगी, चौदह दरवेश, अठारह ब्राह्मण, अठारह जंगम तथा चौबीस सेवड़ा (जैनी या बौद्ध)।[3]

गिरि, पुरी, भारती, वन, पर्वत, आरण्य, सरस्वती, सागर, आश्रम तथा तीर्थ—ये दसनामी संन्यासी हैं। औघड़-नाथ आदि भेद से बारह प्रकार के योगी

---

1. ब्रह्मज्ञानरसायनं च कविता वेदस्तथा ज्योतिषम्।
व्याकरणं सधनुर्धरं जलतरं सङ्गीतकं वैद्यकम्॥
अश्वारोहणकोकशास्त्रनिपुणं नाट्यं तथा चातुरी।
विद्या नाम चतुर्दश प्रतिदिनं शेषाः कलाः कीर्तिताः॥

2. योगी जंगम सेवड़ा, संन्यासी दरवेश।
छठवाँ कहिये ब्राह्मण, छौ घर छौ उपदेश॥

3. दस संन्यासी बारह योगी, चौदह शेष बखान।
ब्राह्मण अठारह अठारह जंगम, चौबीस सेवड़ा परमान॥
(पंचग्रन्थी, मानुष विचार)
जैनों में चौबीस तीर्थंकर तथा बौद्धों में चौबीस बुद्ध माने जाते हैं।

हैं। इसी प्रकार मुसलिम फकीरों में भी बारह भेद हैं। इसी प्रकार ब्राह्मणों, शैवों तथा सेवड़ों में अपने–अपने भेद–प्रभेद हैं। अब कर्मकाण्डों एवं पाखंडों का विस्तार केवल छानबे में नहीं रहा, किन्तु उनकी गणना करना कठिन होगा। संसार का कोई पंथ, संप्रदाय एवं समाज नहीं है जिसमें पाखंड नहीं घुस आये हैं। पाखंड का अर्थ है ढोंग, ढकोसला, छलावा आदि। सभी संप्रदायों का कर्तव्य है कि वे अपने–अपने मतों में घुस आये पाखंडों का त्याग करते रहें।

इस प्रकार इस प्रथम रमैनी की प्रथम पांच पंक्तियों में सद्गुरु ने हिन्दू परम्परा द्वारा मान्य त्रिदेवों, वेदों, विद्याओं एवं कर्मकांडों के विस्तार का संक्षिप्त समीक्षात्मक परिचय दिया। अब आगे वे मानव एकता के महासूत्र कह रहे हैं—

पेट न काहू वेद पढ़ाया। सुन्नति कराय तुरुक नहिं आया॥
नारी मोचित गर्भ प्रसूती। स्वांग धरे बहुतै करतूती॥
तहिया हम तुम एकै लोहू। एकै प्राण बियापै मोहू॥
एकै जनी जना संसारा। कौन ज्ञान से भयउ निनारा॥
भौ बालक भगद्वारे आया। भग भोगी के पुरुष कहाया॥

महा मानवतावादी कबीर उक्त पांच पंक्तियों में निर्भीकतापूर्वक घोषणा करते हैं कि मानव मूलतः समान है। माता के पेट में से ही न तो कोई यज्ञोपवीत संस्कार कराकर, वेद पढ़कर तथा ब्रह्मज्ञानी एवं ब्राह्मण बनकर आता है और न कोई सुन्नत कराकर एवं मुसलमान बनकर आता है। पैदा होने के बाद जब संसार के भेद–भाव की हवा लग जाती है, तब मनुष्य कल्पित ऊंच–नीच एवं नाना वेषों के स्वांग तथा कर्मकांडों का पाखंड करता है।

तथाकथित ब्राह्मण–शूद्र, हिन्दू–मुसलमान या अन्य लोगों की माताएं एक समान गर्भ धारण करती हैं, एक समान बच्चे पैदा करती हैं, एक समान सबके बच्चे मैले में लिपटे पैदा होते हैं, एक समान सबके बच्चे साफ किये जाते हैं, एक समान दूध पिलाये जाते हैं और एक समान पाले जाते हैं। कोई न तो मूड़ से पैदा होता है, न गोड़ से। सब तो एक ही द्वार से पैदा होते हैं। सभी वर्ग के लोग विषय–वासनाओं में डूबे देखे जाते हैं। सभी वर्गों में पवित्र विचार के नर और नारी भी होते हैं।

चतुर लोगों ने मानवता के साथ छल किया। उसके लिए एक विराट पुरुष (ईश्वर) की कल्पना की। छलावा का काम करने के लिए ईश्वर, धर्म आदि बड़े अच्छे हथकंडे बनते हैं। हर छल के लिए इन्हें आगे रखा जाता है। तो एक प्रभु बनाया गया। कहा गया उसके मुख, हाथ, जंघे तथा पैर से लोग पैदा हुए, जिनमें क्रमशः पहले वाले उच्चतम, पीछे वाले उत्तम एवं उससे पीछे वाले अधम हुए। प्रभु ने यह ऊंच–नीच का भेद स्वयं बनाया है, ऐसा धर्मशास्त्रों में लिख दिया गया। लिखने वालों को त्रिकालज्ञ एवं आप्त होने का फतवा दिया

गया। यह ऊंच-नीच की मानसिकता मनुष्य के मन में बहुत गहरे में बैठा दी गयी। वह निरंतर गहराती गयी। कुछ वर्ग के लोग आचरण-भ्रष्ट होने पर भी पूजे जाते रहे और कुछ वर्ग के लोग ज्ञान तथा सदाचार संपन्न होने पर भी नीच दृष्टि से देखे जाते रहे; और मानवता तथा सत्य के साथ अपराध करने वाले लोग तपःपूत ऋषि, त्रिकालज्ञ, संत-शिरोमणि, आप्त एवं समाज के नायक कहलाते रहे। जन्म से ही किसी वर्ग को नीच या ऊंच कहना सबसे बड़ा पाप है और यह पाप करने वाले सबसे बड़े पुण्यात्मा माने गये। स्वतंत्रचेता कबीर साहेब को यह अत्याचार सहन नहीं हुआ और वे उन्हीं लोगों के बीच में निर्भीकतापूर्वक जोर से बोल पड़े "पेट न काहू वेद पढ़ाया। सुन्नति कराय तुरुक नहिं आया।" और ये तुरुक भी तो अपने को राहेखुदा तथा दूसरे को काफिर समझते हैं, क्योंकि इन्होंने सुन्नत करवा रखी है, इसलिए ये मुसलमान हो गये हैं। परन्तु यह भी प्राकृतिक नहीं है। पेट में से सुन्नत कराकर नहीं आये हैं। ये सब बाहरी हैं। जनेऊ के समान सुन्नत भी बाहरी स्वांग है। इससे कोई बड़ा नहीं होता। पैदा होने में तो सभी मानव एक समान हैं। ज्ञान तथा आचरण के नाते ही मानव का अपना स्तर बनता है। जन्म से सबका स्तर समान है।

"भौ बालक भगद्वारे आया। भग भोगी के पुरुष कहाया।" सद्गुरु कबीर अखंड वैराग्यवान संत थे। अतः इस पंक्ति में उन्होंने बड़ी तीव्रता से अपना वैराग्यभाव व्यक्त किया है। वे कहते हैं कि मनुष्य जिससे पैदा होता है उसी का उपभोग करके पुरुष होने की डींग मारता है। कबीर साहेब के वैरागी ख्याल से सच्चा पुरुष वह है जो नारी मात्र को माता मानकर जीवन पर्यंत विरक्त रहे।

अविगति की गति काहु न जानी। एक जीव कित कहूँ बखानी॥
जो मुख होय जीभ दस लाखा। तो कोइ आय महन्तो भाखा॥

अज्ञात एवं लापता की बात कोई नहीं जानता। कोई ऐसा महान हो जिसके मुख में लाखों जीभ हों वही चाहे कुछ कह सके—यह एक व्यंग्य है। अज्ञात की बात तो लाखों जीभ वाला ही कहता है। आदमी पहले लाखों मुख एवं जीभ वाले की कल्पना करता है, फिर आकाश-पाताल की बातें उसी से कहलायी जाती हैं। तथाकथित धार्मिक संप्रदाय वाले पहले किसी अतिमानवीय शक्ति की कल्पना करते हैं। उसके पश्चात उन्हें अपने कल्पित स्वार्थ की सिद्धि जिन बातों में दिखती है उन बातों को वे अपनी किताबों में लिख लेते हैं और कहते हैं कि यह विराट पुरुष, सुप्रीम पावर एवं जगन्नियंता-प्रभु का कथन है। जगन्नियंता-प्रभु का नाम सुनते ही लोग गाय बनकर अपने सिर झुका देते हैं। क्योंकि उनकी आत्म-शक्ति कुचल दी गयी है। वे प्रश्न करें तो नास्तिक और काफिर कहे जायें। इसलिए धर्म के नाम पर सारी अतिशयोक्तियां, चमत्कार, अवैज्ञानिक प्रस्थापनाएं, भेदभावनाएं आदि चुपचाप स्वीकार ली जाती हैं। अन्य क्षेत्र में बात

समझ में न आये तो प्रश्न कर सकते हो, किन्तु धर्मक्षेत्र में प्रश्न नहीं कर सकते; क्योंकि धर्म की सारी बातों को हजार और लाख मुख वाले ने कहा है। उसमें प्रश्न करना ही बेजा है।

परन्तु यह ठीक से समझ लेना चाहिए कि कोई हजार तथा लाख मुख वाला नहीं है जिसने मानव के ज्ञान तथा आचार के विषय में आज तक कुछ कहा हो। ज्ञान करने वाला तथा मानव की आचार-संहिता बनाने वाला केवल मानव है। "एक जीव कित कहूँ बखानी" कितना वर्णन करके कहूं, एक मानव-जीव ही ज्ञान-विज्ञान-वेत्ता है। यही अतिमानवीय-शक्ति का कल्पित परदा लगाकर लोगों को छलता है, यही छला जाता है। यही सुधर जाये तो सब सुधर जाये। यदि मानव विवेकशील हो जाये, वह एक दूसरे को न ठगे, स्वयं सत्पथ पर चले, तो उसका कल्याण है, समाज का कल्याण है, देश का तथा विश्व का कल्याण है। जिसका पता नहीं, उस ईश्वर से प्रेम करने का दिखावा और मनुष्य जो प्रत्यक्ष है, उसके साथ छलावा—यह पोंगापंथी धर्म मनुष्य का कल्याण नहीं कर सकता। जो कल्पित आकाशीय स्वर्ग से दृष्टि घुमाकर पृथ्वी पर सत्कर्म के बल पर स्वर्ग बसाना चाहता है तथा अज्ञात ईश्वर के पीछे दौड़ना छोड़कर ज्ञात मानव एवं प्राणियों के साथ प्रेम तथा करुणा का व्यवहार करता है, वही सच्चा धार्मिक है। वही सत्य को समझता है।

"कहहिं कबीर पुकारि के, ई ले ऊ ब्यौहार। राम नाम जानै बिना, भौ बूड़ि मुवा संसार।" कबीर साहेब पुकारकर कहते हैं कि मनुष्य 'ई' और 'ऊ' के व्यवहार में उलझा है। 'ई' से अभिप्राय सांसारिक विषयों से है तथा 'ऊ' से स्वर्ग और ईश्वर से है। विषयासक्ति, स्वर्ग की कल्पना तथा ईश्वर की कल्पना छोड़े बिना कोई सही रास्ता नहीं पा सकता। एक कवि ने कितना सुन्दर कहा है—

राह हक़ हरगिज़ न याबी, ता न गीरी चार तर्क।
तर्क दुनिया तर्क उक़बा, तर्क मौला तर्क तर्क॥[1]

अर्थात—मनुष्य को सही रास्ता तब तक नहीं मिल सकता जब तक दुनियादारी, स्वर्ग की कामना और ईश्वर की कल्पना का त्याग तथा इन तीनों के त्याग के अहंकार का त्याग नहीं कर देता।

संस्कृत में 'इहामुत्र' अर्थात 'इह' तथा 'अमुत्र' शब्द लोक और परलोक के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। कबीर साहेब अपना काव्य हिन्दी में कहते हैं, इसलिए

---

1. याबी=प्राप्त होना। ता=तक। न=नहीं। गीरी=पकड़ना, कर लेना। तर्क=त्यागना। उक़बा=स्वर्ग। मौला=ईश्वर।

वे उन्हें 'ई' तथा 'ऊ' कहते हैं। कबीर साहेब पुकार-पुकार कर कहते हैं कि संसार के लोग इस दुनिया के रागरंग में उलझे हैं या परलोक तथा परोक्ष कल्पित देवी-देवता एवं ईश्वरादि की कल्पना में उलझे हैं। कुल मिलाकर वे सत्य एवं सुख को अपने से बाहर ही खोजते हैं। यही जीवन का भटकाव है।

"राम नाम जानै बिना, भौ बूड़ि मुवा संसार।" अर्थात राम ऐसा नाम किसका है, राम किसे कहते हैं, इस तत्त्व को समझे बिना लोग संसार-सागर में डूब रहे हैं।

कबीर साहेब के समय से सैंकड़ों वर्ष के पूर्व से ही राम शब्द का प्रचलन हो चला था जिसके अर्थ अयोध्याधीश दशरथ-सुत राजाराम तथा परमतत्त्व एवं आत्म-अस्तित्व प्रचलित थे। राम शब्द को लेकर ये सारे भाव मिश्रित रूप से चलते थे और जनता में उलझन थी कि वस्तुतः राम शब्द से व्यक्त वह कौन-सा तत्त्व है जो जीव का परम प्राप्तव्य है। लोग राम-राम तो कह रहे थे, परन्तु रामतत्त्व क्या है इसे जानने का प्रयत्न नहीं करते थे।

सद्गुरु कबीर ने 36वीं रमैनी की साखी में कहा है "राम नाम निजु जानि के, छाड़ि देहु बस्तु खोटि।" अर्थात राम ऐसा नाम अपना ही समझकर खोटी वस्तु छोड़ दो। निज चेतन स्वरूप से जो कुछ पृथक है, सब खोटी वस्तु है। यदि व्यक्ति की अपनी आत्मा से अलग राम है तो वह राम नहीं है, किन्तु राम के नाम पर केवल कल्पना है। हम राम, ब्रह्म, परमात्मा, अल्लाह, गॉड या इसी ढंग के अन्य अनेक शब्द गढ़ लें, परन्तु अपनी चेतन आत्मा से अलग कुछ नहीं हो सकता जो हमारा परम विश्राम का निधान हो। हमारी चिरस्थिति हमारे अपने चेतन स्वरूप में ही होगी, अतएव निज चेतन स्वरूप ही राम है।

उक्त भावों को लेकर ही श्रुतियों में अहं ब्रह्मास्मि[1], तत्त्वमसि[2], अयमात्मा ब्रह्म[3] तथा प्रज्ञानं ब्रह्म[4] कहे गये हैं, जिनके सरल अर्थ "मैं ब्रह्म हूं, तू वही है, यह आत्मा ब्रह्म है तथा ज्ञान ही ब्रह्म है" होते हैं। गीता में भी महाराज श्री कृष्ण से कहलाया गया है—"इस देह में निवास करने वाला प्रकृति से परे जो चेतन पुरुष है वही द्रष्टा, अनुमंता (प्रेरक), भर्ता, भोक्ता, महान ईश्वर तथा परमात्मा है।"[5] गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं—"कहा जाता है कि सबके घट में

---

1. बृहदारण्यक उपनिषद् 1/4/10।
2. छांदोग्य उपनिषद् 6/8/7।
3. मांडूक्य उपनिषद् 2।
4. ऐतरेय उपनिषद् 3/1/3।
5. उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥ गीता 13/22॥

राम है, फिर किसलिए बाहर खोजा जाता है। यह तो लज्जाजनक कुमति है।"[1] वे और कहते हैं—"मैं वही हूं यह अखंडवृत्ति ही विज्ञान दीप की परम प्रचंड शिखा है।"[2] बाबा रघुनाथ दास जी भी कहते हैं—"जीव और ईश्वर में कितना अन्तर है? उत्तर है, मात्र इतना ही अन्तर है कि बंधनों की दशा में उसी को जीव कहा जाता है और जब उसके बंधन कट गये, तब वही शिव हो गया।"[3] जनाब मीर साहेब भी कहते हैं—"सिर से पैर तक इच्छाओं में लिपटे हुए होने से हम गुलाम हैं, अन्यथा यदि हम हृदय से इच्छारहित होते तो स्वयं ईश्वर थे।"[4] "जो यह कहता है कि जीव से ईश्वर अलग है वह अधकचरा ज्ञान वाला है। जो आत्मा में परमात्मा का बोध करा दे वही गुरु है।"[5] श्रुति कहती है—"वह तो शरीर के भीतर अपना आत्म स्वरूप है। उसे वह समझता है जो दोषों से मुक्त हो गया है।"[6]

सार यह है कि मनुष्य की आत्मा के अलावा राम कुछ नहीं है। निज आत्मस्वरूप ही राम है। हमारा चिर विश्राम-स्थल निज चेतन स्वरूप ही राम है, खुदा है, ईश्वर है, ब्रह्म है। इसके अलावा खोजना भ्रम है।

इस प्रकार यह प्रथम रमैनी जो इस ग्रन्थ का पहला छंद है, इस ग्रन्थ की प्रस्तावना एवं भूमिका रूप है। पूरे ग्रन्थ में जो कुछ कहा गया है, उसे सार रूप में इस रमैनी में बता दिया गया है और इसके बाद मानो पूरा ग्रन्थ इस एक रमैनी की व्याख्या है।

सद्गुरु ने 'अन्तर ज्योति' कहकर मनुष्य की अन्तश्चेतना को प्रथम एवं मुख्य स्थान दिया है। फिर पांच पंक्तियों में भारतीय ढंग से ब्रह्मादि त्रिदेवों, सृष्टि की अनंतता, वेद, चौदह विद्याएं, तीन लोक, तीन कांड, छह दर्शन, छानबे पाखंड आदि को इंगित किया है।

इसके बाद छठीं से नवीं चौपाई तक मानवीय एकता पर प्रकाश डाला है। जो उनके मुख्य विषयों में से एक है। इसके आगे दसवीं चौपाई

---

1. कहत सकल घट राममय, तो खोजत केहि काज।
   तुलसी कह यह कुमति सुनि, उर आवत अति लाज॥ (तुलसी सतसई)
2. सोहमस्मि इतिवृत्ति अखंडा। दीप सिखा सोइ परम प्रचंडा॥ (मानस)
3. जीव ईश में भेद किं, इतनो अहै सदीव।
   बद्धदशा में जीव कहि, मोक्ष दशा में शीव॥ (विश्रामसागर)
4. सरापा आरजू होने ने बंदा कर दिया मुझको।
   वगर्ना हम खुदा थे गर दिले बेमुद्दवा होते॥
5. कहता है खुदा खुद से जुदा जानो अधूरा है।
   दिखला दे खुद ही में खुदा, पीर उसे कहते हैं॥
6. अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः। (मु.उ.3/1/5)

में वैराग्य की तीव्रता का वर्णन है। फिर अगली दो चौपाइयों में मानव जीव की विशेषता तथा इससे पृथक अज्ञात बातों की उलझी हुई दशा का दिग्दर्शन कराया है। अंत में साहेब ने इस रमैनी की साखी में इस बात पर जोर दिया है कि लोग राम-राम तो कहते हैं, परन्तु उसको तत्त्वतः नहीं समझते और लोक-परलोक के मायाजाल में उलझे रहते हैं। वस्तुतः निज स्वरूप ही राम है। इस तरह यह प्रथम रमैनी इस ग्रन्थ का सार एवं प्रस्तावना स्वरूप है।

जीव और जीव की इच्छा रूपी नारी गायत्री

रमैनी-2

जीव रूप एक अन्तर बासा। अन्तर ज्योति कीन्ह परकासा॥ 1॥
इच्छा रूपि नारि अवतरी। तासु नाम गायत्री धरी॥ 2॥
तेहि नारी के पुत्र तीनि भयऊ। ब्रह्मा विष्णु महेश्वर नाऊँ॥ 3॥
फिर ब्रह्मै पूछल महतारी। को तोर पुरुष केकरि तुम नारी॥ 4॥
तुम हम हम तुम और न कोई। तुमहि से पुरुष हमें तोरि जोई॥ 5॥
साखी—बाप पूत की एकै नारी, एकै माय बियाय।
ऐसा पूत सपूत न देखा, जो बापहि चीन्है धाय॥ 2॥

शब्दार्थ—अन्तर ज्योति=ज्ञान-प्रकाश। बियाय=पैदा करना। सपूत= सुपुत्र। धाय=दौड़कर, खोजकर।

भावार्थ—जीवस्वरूप निजतत्त्व मनुष्य के भीतर निवास करता है। उसने अपना ज्ञान-प्रकाश फैला रखा है ॥ 1॥ मनुष्य के मन से इच्छा रूपी नारी का अवतरण हुआ, अर्थात उसने इच्छा प्रकट की और उसका नाम गायत्री रखा गया॥ 2॥ गायत्री, जो जीव की इच्छा रूपी नारी है, उससे तीन पुत्र पैदा हुए, जिनके नाम हैं ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव॥ 3॥ ब्रह्मा रजोगुणी क्रियाशील होने से उन्होंने माता से पूछा कि तुम्हारा पुरुष कौन है और तुम किनकी नारी हो?॥ 4॥ गायत्री ने उत्तर दिया कि तुम और हम तथा हम और तुम—बस, यही हैं, अन्य नहीं। तुम्हारे सरीखे पुरुष हैं और हम ही तुम्हारी पत्नी हैं॥ 5॥

पिता और पुत्र की पत्नी एक ही नारी-जाति की होती है और एक ही माता-पिता से पिता-पुत्र पैदा होते हैं। ऐसा योग्य पुत्र नहीं देखा जाता, जो खोज करके पिता को पहचाने॥ 2॥

व्याख्या—इसका खुलासा इस प्रकार किया जा सकता है कि सबके भीतर में बसने वाला जीव ही परम तत्त्व है। वह ज्ञानस्वरूप है और वही ज्ञान का प्रकाश करने वाला है। किन्तु जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान न होने से वह

अपने आप में अपूर्णता का आरोप करता है और कल्पना करता है कि मुझे कहीं अलग से तृप्ति मिलेगी। अतः वह ध्यान, योग, कर्म आदि द्वारा अपने से अलग कहीं पूर्णत्व का आधार खोजता है। इसी भ्रम में पड़कर मनुष्यों ने अनेक देवी-देवताओं की कल्पनाएं की हैं।

वैदिक-काल में प्राकृतिक शक्तियों को देवी-देवता मान लिया गया और उनकी प्रार्थनाओं में हजारों मंत्र बने, जो वेदों में भरे हैं। वैदिक ऋषियों ने सभी प्राकृतिक शक्तियों में अग्नि को सर्वोच्च स्थान दिया। इसीलिए प्राचीनतम वेद ऋग्वेद का पहला मंत्र 'अग्नि' शब्द से शुरू किया गया। अग्नि का महा समुच्चय सूर्य है, अतएव सूर्य की उपासना में प्रसिद्ध गायत्री मंत्र बना।

जैसे हिन्दी में सवैया, कवित्त, अरिल, चौपाई, दोहा आदि छंदों के नाम हैं, वैसे वेदों में गायत्री, जगती, त्रिष्टुप, पंक्ति, बृहती, अनुष्टुप् तथा उष्णिक्—ये सात प्रकार के मुख्य छंद हैं। इनके अतिरिक्त भी शक्करी, अष्टि, धृति आदि अनेक प्रकार के छंद हैं।

वेदों में गायत्री छंद हजारों की संख्या में हैं, परन्तु जो द्विजातियों द्वारा मुख्य उपासनीय एवं प्रसिद्ध गायत्री है, वह विश्वामित्र की रचना है तथा ऋग्वेद के तीसरे मंडल के बासठ (62) वें सूक्त का दसवां मंत्र है, जो इस प्रकार है—
तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

गायत्री छंद में चौबीस (24) अक्षर होते हैं। इसमें पूरे अक्षरों को गिना जाता है, आधे को नहीं। उक्त प्रसिद्ध गायत्री मंत्र में चौबीस अक्षर न होकर तेईस ही हैं, अतएव इस छंद में छांदिक दोष है; परन्तु बड़े पुरुषों द्वारा छंदों में किये गये अशुद्ध प्रयोग को 'आर्ष प्रयोग' कहकर उसे दोष नहीं माना जाता।

उक्त गायत्री में तेईस अक्षर इस प्रकार हैं—"तत्, स, वि, तुर्, व, रे, ण्यं, भ, र्गो, दे, व, स्य, धी, म, हि, धि, यो, यो, नः, प्र, चो, द, यात्।" कुछ विद्वान 'वरेण्यं' में 'ण्' को पूरा 'ण' बनाकर 'वरेणियं' पढ़ लेते हैं और इस प्रकार अपनी ओर से चौबीस अक्षर बना लेते हैं।

उक्त गायत्री मंत्र का अक्षरशः अर्थ यह है—"हम उस सविता[1] देवता का ध्यान धारण करते हैं जो वरण करने योग्य तथा प्रकाशस्वरूप है और हमारी बुद्धि को प्रेरित करता है।"

ऋग्वेद में उक्त स्थल पर गायत्री मंत्र में "ॐ भूर्भुवः स्वः" नहीं है। बहुत पीछे के काल में उसमें इसे मिलाया गया। 'ॐ' में तीन मात्राएं हैं अ, उ, म्। इनके क्रमशः अर्थ हैं रज, सत, तम। ॐ रज, सत, तम का समुच्चय है। 'भूः'

1. सायणाचार्य ने ऋग्वेद (5/81/4) भाष्य में लिखा है-'उदयात्पूर्वभावी सविता उदयास्तमयवर्ती सूर्यः।' उदय के पूर्व सविता कहलाता है और उदय से अस्त तक सूर्य।

का अर्थ पृथ्वी, 'भुव:' का अर्थ अंतरिक्ष तथा 'स्व:' का अर्थ द्युलोक एवं स्वर्ग है। पीछे गायत्री की महिमा बहुत बढ़ायी गयी और कहा गया कि गायत्री ही वेदों की मां है।

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि सबके भीतर निवास करने वाला चेतन जीव जो ज्ञानस्वरूप है, उसी की इच्छा, उसी की कल्पना गायत्री है। गायत्री स्वयं में कोई बड़ी वस्तु नहीं है, किन्तु जो गायत्री की रचना करने वाला है, जिसकी इच्छा से गायत्री निर्मित हुई है, वह जीव श्रेष्ठ है। किसी दिन विश्वामित्र ने गायत्री की रचना प्रकाशस्वरूप सविता से सद्बुद्धि की प्रेरणा लेने के लिए की थी, पीछे से मनुष्य के अज्ञानवश वह पुत्र, धन, राज्य सब कुछ का देने वाली तथा सारे पापों को भस्म करने वाली बन बैठी। हजारों वर्षों से गायत्री का घोर दुरुपयोग किया जा रहा है। आज तो वह मंत्र (शब्द–योजना) से प्रतिमा बन गयी।

प्रश्न होता है कि गायत्री कोई शरीरधारी नारी तो नहीं है जो उससे शरीरधारी ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव पैदा हो जाते। गायत्री तो मनुष्य जीव की इच्छा रूपी नारी है, अर्थात गायत्री केवल जीव की इच्छा से रचित एक वैदिक मंत्र है; अत: उससे किसी शरीरधारी का पैदा होना सर्वथा असंभव है। अर्थ वही होना चाहिए जो सृष्टिक्रम, कारण–कार्य–व्यवस्था एवं लोक–नियम के अनुसार हो। ऐसी स्थिति में शरीरधारी ब्रह्मा, विष्णु तथा शंकर गायत्री के उपासक माने जा सकते हैं और इसलिए उन्हें गायत्री के पुत्र कह दिया जा सकता है। जो गायत्री वेदों की मां मान ली गयी, उसे यदि ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव ने अपनी मां मानकर उसकी घोर उपासना की हो और उसका जनमानस में जोरदार प्रचार किया हो, तो कोई आश्चर्य नहीं लगता। इसी अर्थ में कहा जा सकता है कि ब्रह्मादि गायत्री के पुत्र हुए।

"फिर ब्रह्मै पूछल महतारी..." गायत्री एक मंत्र है, उससे कुछ पूछना ही असंगत है और उसके द्वारा उत्तर दिया जाना असंभव है। तब आखिर यहां का अभिप्राय क्या हो सकता है?

ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव में ब्रह्मा श्रेष्ठ थे। वे रजोगुणी होने से अधिक क्रियाशील एवं उत्साही थे। उन्होंने मानो अपनी उपास्या मांस्वरूपा गायत्री से पूछा हो कि हे मां! तुम्हारा पुरुष कौन है और तुम किसकी नारी हो? इसके बाद मानो गायत्री ने उत्तर दिया हो कि तुम और हम तथा हम और तुम को छोड़कर बीच में अन्य कोई नहीं है। तुम्हारे ही सरीखे पुरुष हैं और हमारी ही सरीखी नारियां हैं।

अभिप्राय है कि ब्रह्मादि जैसे जीव ही ने तो गायत्रीरूपी नारी को अपनी इच्छा से पैदा किया है। अत: गायत्री-जैसे अनेक मंत्रों, धारणाओं, कल्पनाओं

का जन्मदाता परम पुरुष जीव ही है और जीव ही अपनी इच्छारूपी नारी में, कल्पनाओं में विमोहित होकर फंस जाता है। गायत्री ब्रह्मा को मानो उत्तर दे रही हो कि तुम–जैसे चेतन पुरुष ही हम–जैसी कल्पनाओं के जन्मदाता हैं और उन्हीं में फंसकर स्वरूप को भूल जाने वाले हैं।

"बाप पूत की एकै नारी, एकै माय बियाय। ऐसा पूत सपूत न देखा, जो बापहि चीन्है धाय।" लोकव्यवहार में भी देखा जाता है कि पिता और पुत्र—इन दो पदों में ही संसार के सारे पुरुष हैं और इनकी पत्नियां एक जाति की नारी ही हैं। इस दृष्टि से "बाप पूत की एकै नारी" कहना सार्थक है। इसी प्रकार "एकै माय बियाय" का भी अभिप्राय है। एक माता–जाति से ही तो सबका जन्म होता है।

आध्यात्मिक अर्थ होगा कि जीव की इच्छारूपी जो नारी है, वह उलटकर उसको विमोहने वाली है। अर्थात समस्त जीवों को व्यामोहित करने वाली एक इच्छारूपी नारी है। एक ही माया–मोह रूपी माता से सभी जीवों की जन्मादि संसृति चलती है। वही पुत्र सुपुत्र है जो खोज करके पिता को पहचाने। अर्थात वही देहधारी मानव प्रशंसनीय है जो संसृतिस्वरूपा इच्छारूपी नारी के जन्मदाता पिता को पहचाने। इच्छारूपी नारी का जन्मदाता पिता कौन है? इसे समझने के लिए अलग नहीं जाना है। इसी रमैनी के आरम्भ में कहा गया है कि मनुष्य के अन्तर में निवास करने वाला जीवस्वरूप चेतन ही इच्छारूपी नारी का जन्मदाता है।

सद्‌गुरु कबीर इस रमैनी में बताते हैं कि घट–घट वासी जीव ही परम चेतन तत्त्व है। वह ज्ञानस्वरूप है। वह अपने आप को भूलकर इच्छारूपी नारी को जन्म देता है। यह इच्छा चाहे मलिन विषय–वासनाओं के लिए हो और चाहे कल्पित देवी–देवताओं के लिए हो, दृश्य–भास ही में फंसाकर जीव को अपने स्वरूप से भटकाने वाली है। वही मनुष्य प्रशंसनीय है जो इच्छा के जन्मदाता—जीव के शुद्धस्वरूप को पहचानकर इच्छा का त्याग करे और अपने शुद्ध चेतन स्वरूप में स्थित हो।

बीजक एक गहन गम्भीर सागर–जैसा ग्रन्थ है। इसमें जो जितना ही गोता लगाये, वह उतने ही रत्न पाये। इसमें सरल पद भी हैं और गूढ़ार्थ भरे पद भी। इसमें कितने ही शब्द श्लेषात्मक हैं, जिससे सरलता से अनेक अर्थ निकाले जा सकते हैं। इसीलिए भिन्न विचार वालों को बीजक में सरलता से स्थान मिल जाता है। यह गुण बीजक के आयाम को व्यापक बनाता है।

पंडितों का मन दैवी चमत्कारों से भरा है। वे धर्मग्रन्थों के अधिकतम पदों का अर्थ यथासंभव चमत्कारपूर्ण करते हैं, जो कारण–कार्य–व्यवस्था एवं प्रत्यक्ष सृष्टिक्रम के विरुद्ध होता है। वे अपने पंडिताऊ तथा चमत्कारिक अर्थों

की सिद्धि के लिए पुराने धर्मग्रन्थों के उदाहरणों का जाल तो बिछा देते हैं, किन्तु ऐसी युक्ति नहीं दे पाते जिससे मानव मन को दुनिया की मिट्टी से स्पर्श करता हुआ सरल बोध हो। जब तक जड़-चेतन के स्वाभाविक स्वरूपों, विश्व के शाश्वत नियमों एवं कारण-कार्य की व्यवस्थाओं को हम ठीक से नहीं समझ लेते और धर्म तथा अध्यात्म पर लगे हुए दैवीकरण के जाल को काटकर जब तक उन पर मानवीकरण नहीं हो जाता, तब तक हमारा अर्थ-बोध शास्त्रों के स्वप्न का राज्य ही होगा। आज के वैज्ञानिक युग में धार्मिकों एवं आध्यात्मिकों को इस पर ध्यान देना चाहिए। उन्हें शास्त्रप्रमाणों के जाल में न उलझना चाहिए।

इस रमैनी में बताया गया कि गायत्री एक मंत्र है जो जीव की ही इच्छारूपी नारी है। जीव की इच्छा से जीव श्रेष्ठ है। गायत्री कृत्रिम शब्द-योजना है। जीव उसका कर्ता है। अतएव जीव को चाहिए कि वह अपने ही बनाये जालों में न फंसे। वह अपनी गरिमा को पहचाने।

सृष्टि कहां से हुई और राम कौन है?

रमैनी-3

प्रथम आरम्भ कौन को भयऊ। दूसर प्रगट कीन्ह सो ठयऊ॥ 1॥
प्रगटे ब्रह्मा विष्णु शिव शक्ती। प्रथमें भक्ति कीन्ह जिव उक्ती॥ 2॥
प्रगटे पवन पानी औ छाया। बहु विस्तार के प्रगटी माया॥ 3॥
प्रगटे अण्ड पिण्ड ब्रह्मण्डा। पृथ्वी प्रगट कीन्ह नौखण्डा॥ 4॥
प्रगटे सिद्ध साधक संन्यासी। ई सब लागि रहे अविनासी॥ 5॥
प्रगटे सुर नर मुनि सब झारी। तेहि के खोज परे सब हारी॥ 6॥
साखी—जीव शीव सब प्रगटे, वै ठाकुर सब दास।
कबीर और जाने नहीं, एक राम नाम की आस॥ 3॥

शब्दार्थ—आरम्भ=उत्पत्ति। ठयऊ=स्थान। शक्ति=माया, नारी। उक्ति= कथन, अंदाज, कल्पना। छाया=अग्नि, अमर कोश में छाया के चार अर्थ हैं—सूर्यप्रिया, कांति, प्रतिबिंब तथा छांह (3/3/158)। नौखण्डा=इंद्र, नाग, वरुण, गभिस्त, ताम्र, ब्रह्म, भरत, सौम्य एवं कसेरु खंड। दूसरे प्रकार से नौ खंड इस प्रकार गिनाये जाते हैं—कुरु, हिरण्यक, रम्यक, इला, हरि, केतुमाल, भद्रास्व, किन्नर तथा भरत खंड। झारी=सब-के-सब।

भावार्थ—पहले-पहल किसकी उत्पत्ति हुई? दूसरा प्रश्न यह है कि वह कौन जगह है जहां पर ठहरकर किसी ने सृष्टि की?॥ 1॥ ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव शक्ति (किसी नारी) से पैदा हुए और जीव पूर्व कथनानुसार अपने अनुमान से भक्ति करने लगे॥ 2॥ पवन, पानी और अग्नि प्रकट हुए। बहुत

विस्तार से माया प्रगट हुई॥ 3॥ अंड, पिंड और ब्रह्मांड प्रकट हुए और नौ खंडों के सहित पृथ्वी प्रकट हुई॥ 4॥ सिद्ध, साधक, संन्यासी, सुर, नर, मुनि आदि जितने संसार में जन्म लिये, सब किसी अविनाशी तत्त्व की खोज में लगे रहे, और उसी में थक-हारकर परेशान हो गये॥ 5-6॥

जीव से ही शिव (ईश्वर) देवादि की कल्पना प्रकट हुई। पीछे से कल्पित पदार्थ ही स्वामी बन बैठे और कल्पनाकर्ता जीव उनके दास बन गये। कबीर साहेब कहते हैं कि मैं और कुछ नहीं जानता, मुझे केवल उस आत्म-स्वरूप का ही आशा-भरोसा है, जिसका नाम राम है अर्थात मेरा निरंतर विश्राम स्वरूपराम में ही है॥ 3॥

व्याख्या—जो लोग सृष्टि का आरम्भ मानते हैं, सद्‌गुरु कबीर ने उनसे प्रश्न किया है कि सर्वप्रथम किसकी सृष्टि हुई है? आगे सातवीं रमैनी में इस विषय का खुलासा है। किसी ग्रन्थ की एक-दो पंक्ति से सिद्धांत नहीं स्थिर किया जा सकता, किन्तु पूरे ग्रन्थ एवं पूर्वापर का विचार करना पड़ता है। सद्‌गुरु कहते हैं 'सृष्टि कब, किससे और कहां पैदा हो गयी?' अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्ध हुआ कि सद्‌गुरु सृष्टि को अनादि मानते हैं।

ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव यदि देहधारी जीव हैं तो ये किसी नारी से ही पैदा हुए होंगे, इसीलिए शक्ति का अर्थ नारी किया गया है। प्रत्यक्ष देखा जाता है कि शरीरधारी नर-नारी के बिना केवल शक्ति से, ऊर्जा से कोई मनुष्य पैदा नहीं हो जाता। सृष्टि में जो क्रम आज नहीं दिखता, वह पहले रहा होगा, यह केवल कल्पना है और अस्वाभाविक तो है ही।

इस रमैनी के पूर्व, अर्थात दूसरी रमैनी में ब्रह्मादि द्वारा की गयी उपासना-भक्ति की चर्चा हो चुकी है। यहां कहना है कि प्रथम कथनानुसार ब्रह्मादि जीवों ने अपने अनुमान से भक्ति की। 'उक्ति' का अर्थ कहा हुआ होता है और तजबीज, अनुमान, कल्पना आदि भी होते हैं। ब्रह्मादि जीव किसी सृष्टिकर्ता की कल्पना कर उसकी भक्ति करने लगे।

"प्रगटे पवन पानी औ छाया..." छाया से अभिप्राय यहां अग्नि है। बिना अग्नि के प्रकाश नहीं तथा बिना प्रकाश के छाया की सिद्धि नहीं। आपाततः यही लगता है कि कबीर साहेब यहां यही कह रहे हैं कि वायु, जल, अग्नि, पृथ्वी, अंड, पिंड, ब्रह्मांड सब पैदा हुए; किन्तु बात ऐसी नहीं है। इसका खुलासा सातवीं रमैनी में किया जायेगा।

बीजक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें अनेक मतवादियों की बातें बताकर बीच-बीच में उनकी परीक्षा की गयी है।

मनुष्य अपने शुद्धस्वरूप चेतनदेव को न समझकर बाहर देव खोजता है। जीव स्वयं अविनाशी तत्त्व है, किन्तु किसी दूसरे अविनाशी ब्रह्म को खोज रहा है। जीव से पृथक यदि कोई मन, बुद्धि, वाणी से परे वस्तु है, तो उसका मिलना

जीव की दुराशा ही है। जो इन्द्रिय और मन-बुद्धि में नहीं आता, उससे मुलाकात कैसे होगी? वस्तुतः ऐसी वस्तु की केवल कल्पना की जा सकती है। न उसकी प्राप्ति हो सकती है, न बोध। इसीलिए ऋषि थककर स्वयं कहते हैं—"ब्रह्म को जो नहीं जानता, वही जानता है तथा जो उसे जानता है वह नहीं जानता। क्योंकि वह जानने वालों के लिए अज्ञात है और नहीं जानने वालों के लिए ज्ञात है।"[1] तात्पर्य यह है कि उसे जाना नहीं जा सकता है। इसीलिए जो कहता है कि मैं ब्रह्म को नहीं जानता, वही उसे जानता है। अतएव सद्गुरु कबीर का यह कहना सार्थक ही है कि 'तेहि के खोज परे सब हारी' उस ब्रह्म की खोज में सब हार गये। श्री निर्मल साहेब भी कहते हैं—

मन बुद्धि वाणी परे बतावें। पुनि तेहि दर्शन को ललचावें॥

गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं—

अलख कहैं देखन चहैं, ऐसे परम प्रवीन।
तुलसी जग उपदेशहीं, बनि बुध अबुध मलीन॥

तो क्या साधक को निराश हो जाना चाहिए? निराश होने की आवश्यकता नहीं है। जीव जिस परम तत्त्व, परम ब्रह्म एवं परम सुखसागर को खोज रहा है, वह स्वयं है। अतएव साधक को मन की कल्पनाओं से लौटकर अपने चेतनस्वरूप के बोध एवं स्थिति की ओर मुड़ना चाहिए।

"जीव शीव सब प्रगटे, वै ठाकुर सब दास। कबीर और जाने नहीं, एक राम नाम की आस॥" जीव न होता तो शिव की कल्पना कौन करता? अतः यह कहावत सच है कि 'हम न होते तो खुदा न होता'। अफसोस है कि जीव अपनी कल्पना को ही शिव मान बैठा है, जबकि वह स्वयं शिव है। जीव अपनी कल्पित धारणाओं को ही स्वामी मानकर उसके सामने घुटने टेकता है। उसे अपने गरिमामय महत्त्व का भान ही नहीं होता।

'कबीर और जाने नहीं, एक राम नाम की आस' इसका यह स्थूल अर्थ करना कि "कबीर और कुछ नहीं जानते। उन्हें केवल रामनाम की ही आशा है" चिंत्य है। महातार्किक कबीर इतने भोले नहीं हैं कि वे केवल राम-नाम की आशा कर बैठ जायेंगे और अन्य कुछ जानने की चेष्टा ही नहीं करेंगे। यदि वे ऐसे भोले भक्त होते, तो पूरा बीजक राम-नाम की महिमा का ग्रन्थ होता। हां, वे यह अवश्य कहते हैं कि "राम नाम निजु जानि के, छाड़ि देहु बस्तु खोटि" (रमैनी, साखी 36) राम ऐसा नाम तुम अपना ही समझो और खोटी वस्तुएं (बाह्य कल्पनाओं को) छोड़ दो। यदि कबीर का कोई उपासनीय राम है, तो वह अपना चेतन-स्वरूप ही है।

---

1. यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥ (केन उपनिषद् 2/3)

परखकर जाल से बचने वाला ही निर्मल होता है

रमैनी-4

प्रथम चरण गुरु कीन्ह विचारा। कर्ता गावै सिरजनहारा॥ 1॥
कर्महि कै कै जग बौराया। सक्ति भक्ति कै बाँधिनि माया॥ 2॥
अद्बुद रूप जाति की बानी। उपजी प्रीति रमैनी ठानी॥ 3॥
गुणी अनगुणी अर्थ नहिं आया। बहुतक जने चीन्हि नहिं पाया॥ 4॥
जो चीन्हैं ताको निर्मल अंगा। अनचीन्हें नर भये पतंगा॥ 5॥
साखी—चीन्हि चीन्हि का गावहु बौरे, बानी परी न चीन्ह।
आदि अन्त उत्पति परलय, आपूही कहि दीन्ह॥ 4॥

शब्दार्थ—प्रथम चरण=वेद रचने के पूर्व। गुरु=ऋषिगण या ब्रह्मा। कर्ता=ईश्वर। कर्महि=कर्मकांड, यज्ञादि। सक्ति=शक्ति, बल, शक्तिसंपन्न जीव। अद्बुद=अद्भुत। जाति=सिद्धांत, संप्रदाय। रमैनी=प्रार्थना। आपूही=मनुष्य स्वत:।

भावार्थ—ऋषियों तथा ब्रह्मादि गुरुओं ने वेद रचना के प्रथमारंभ में संसार पर विचार किया और वे जगत-रचयिता-कर्ता का गुणगान करने लगे॥ 1॥ गुरुओं ने जीवों को कर्मकांड के जाल में फंसाकर उन्हें उन्मत्त कर दिया और भक्ति की माया में बलपूर्वक बांध दिया, अथवा भक्ति की माया में शक्तिमान जीव को बांध दिया॥ 2॥ इन संप्रदायों की वाणियां अद्भुत रूप हैं। इन्हें सुनकर मनुष्यों के मन में विरह उत्पन्न हुआ और वे उस कल्पित धारणा के लिए प्रार्थना करने लगे॥ 3॥ चाहे कोई गुणी हो चाहे अनगुणी, चाहे कोई विद्वान हो चाहे अविद्वान, वे कथित 'सिरजनहार' के गीत का अर्थ नहीं समझ सके। अधिकतम लोग इस मन के भुलावे को नहीं समझ सके॥ 4॥ जिन्होंने इस माया को पहचान लिया, उनका मन निर्मल हो गया, और जो बे-पारखी रहे, वे माया-मोह की आग में पतिंगे के समान जलकर नष्ट हो गये॥ 5॥

हे पगले! परखो! परखो! बिना परख किये वाणी को क्या गाते हो? तुम वाणीजाल की परख नहीं कर सके। जगत के आदि-अंत तथा उत्पत्ति-प्रलय की बातें तो तुमने अपने आप ही कल्पना कर-करके कह डाली है॥ 4॥

व्याख्या—सृष्टि की सुन्दर धुंधली कल्पना ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में है। यह विषय अपने आप आगे सातवीं रमैनी में आयेगा, अत: इसका विवरण यहां नहीं दिया जा रहा है।

अनंत देश-काल-व्यापी अनंत ब्रह्मांड को देखकर मनुष्य का मन किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। वह भावुक होकर इसके रचयिता किसी देवता की कल्पना करता है। मनुष्य जगत के मूल द्रव्यों तथा उनके अभिन्न गुण-धर्मों का

अध्ययन नहीं करता, जो उत्पत्ति-नाश-रहित अनादि तथा अनंत हैं। वह भावुक बनकर किसी देव को इसका रचयिता मान लेता है।

ऋषियों ने सोचा, काल (समय), स्वभाव, नियति (भाग्य या भवितव्यता), यदृच्छा (स्वयं हो जाना), भूत (तत्त्व), योनि (खानि या कर्म-बीज), पुरुष (चेतन जीव) तथा संयोग—क्या ये आठ संसार के होने में कारण हैं? उत्तर दिया गया कि यह चिंत्य है, विचारणीय है, संदेहयुक्त है; क्योंकि इनमें सात तो सर्वथा जड़ हैं और आठवां पुरुष चेतन तो है, परन्तु सुखी-दुखी होने से असमर्थ है।[1] अतः इन आठों से पृथक एक सर्वसमर्थ देव है जो संसार-सृष्टि का कारण है।[2] उपनिषद् की ये पंक्तियां वैदिक-काल के बहुत पीछे लिखी गयी हैं, परन्तु ये विचार तो बहुत पहले से होते रहे।

काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत, योनि, संयोग तथा पुरुष—इन आठों को ऋषि जो चिंत्य कहते हैं, ये ही वस्तुतः जगत के कारण हैं। परन्तु उक्त मूलाधारों से जगत की व्याख्या पेश करने के लिए मनुष्य को कठोर वैज्ञानिक धरातल पर उतरना पड़ता है। उसे निरस दिखने वाले विवेक की कसौटी पर चढ़ना पड़ता है; अतएव इन तथ्यों से आदमी कतराकर और बच्चों-सरीखा भावुक बनकर किसी देव की, ब्रह्म की कल्पना करता है और कहता है कि उसी ने संकल्प की फूंक से अनंत ब्रह्मांड को बनाकर खड़ा कर दिया।

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि अनुभवगम्य उपलब्ध अनादि जड़-चेतन में उनके अपने अनादि स्वभावसिद्ध गुण-धर्म हैं, जिनसे यह अनंत ब्रह्मांड अनादिकाल से विद्यमान है और अनंतकाल तक विद्यमान रहेगा। जड़-चेतन मूल हैं, क्योंकि वे अनादि-अनंत एवं नित्य हैं। मूल का अन्य मूल नहीं होता। मूल स्वयं अ-मूल होता है—"मूले मूलाभावादमूलं मूलम्" (सांख्य 1/67)। मूल द्रव्य के अपने गुण-धर्म भी अनादि ही होते हैं। अतः उनसे यह जगत भी अनादि ही है। जगत को "लीलावत्तु कैवल्यम्" कहकर किसी जादूगर की फूंक से इसके खड़े हो जाने की व्याख्या एक भोलापन है।

पूर्व के अनेक ऋषियों एवं गुरुओं ने जगत की व्याख्या जगत के गुण-धर्मों में घुसकर नहीं की, प्रत्युत भावुक दैववाद लादकर मनुष्य की चिंतनधारा को सुखा दिया और वे जगत से भिन्न किसी जगत-रचयिता के गीत गाने लगे। सद्गुरु कबीर कितना मधुर व्यंग्य करते हैं—"कर्ता गावै सिरजनहारा"—ये लोग जगत-रचयिता किसी कर्ता को गा रहे हैं।

---

1. कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।
संयोग एषां न त्वनात्मभावादात्माऽप्यनीशः सुखदुःखहेतोः॥
(श्वेताश्वतर उपनिषद् 1/2)

2. वही 1/3-4।

सद्गुरु कबीर यहां उन्हीं गुरुओं को उद्धृत कर रहे हैं जिनसे दैववाद का भ्रम फैल रहा है। ऐसे भी वैदिक ऋषि हैं जो जगत में ही जगत की व्यवस्था खोजते हैं और आत्मा को ही परमात्मा रूप में पाते हैं। एक उदाहरण लें—"द्यावा, पृथ्वी, समस्त लोक, समस्त दिशाएं एवं स्वर्गलोक को सब ओर से समझकर वह तत्काल ही ऋत के फैले हुए तन्तुओं को चीर डालता है। फिर उसको देखता है, वही हो जाता है, क्योंकि वह वही है ही।"[1]

ऋषि द्यावा, पृथ्वी, लोक, दिशा, स्वर्ग—सबके साथ 'परि' विशेषण लगाकर सम्पूर्ण सृष्टि पर संकेत करता है। यहां कहा गया है कि सारे विश्व में ऋत के तन्तु फैले हैं। ऋत विश्वसत्ता के मूल द्रव्यों का गुण-धर्म है, जिससे सारा संसार निरंतर चल रहा है। वैसे वेदों में ऋत के तीन अर्थ लिये गये हैं[2]—

(1) प्रकृति-गति, अखिल ब्रह्मांड में एक सदृश सामान्य क्रम।

(2) यज्ञ के संदर्भ में—देवताओं की पूजा में सम्यक एवं व्यवस्थित विधि।

(3) मानव का नैतिक आचरण।

इसमें पहला और तीसरा बहुत महत्त्वपूर्ण है। जड़-क्षेत्र में उनके गुण-धर्मों से कारण-कार्य की व्यवस्था तथा मानव के नैतिक-क्षेत्र में पवित्र आचरण, यही ऋत है।

यहां ऋषि कहता है कि जो विश्व में सर्वत्र कारण-कार्य की व्यवस्था रूपी ऋत को देखता है और फिर उसके फैले हुए तन्तुओं को चीरकर जड़-क्षेत्र से पार होकर आत्मतत्त्व को समझ लेता है, वह कृतार्थ हो जाता है। ऋषि इसके लिए कथन की तीन उड़ानें करता है—उसको देख लेता है—(तदपश्यत्), वही हो जाता है—(तदभवत्) तथा वही था ही—(तदासीत्)। उसको देख लेता है; यह कथन अपने से, आत्मा से अलग की ओर संकेत करता है, परन्तु संसार के लोगों के परमुखापेक्षी स्वभाव को देखते हुए ऋषि पहले ऐसा ही कहता है। वह पीछे अपने कथन को आत्मतत्त्व के निकट लाता है—वही हो जाता है। किन्तु इसमें भी भ्रम है। हो जाना एक नकलीपन है। अतः ऋषि अन्त में निर्भय होकर कह देता है कि वह तो वही है ही। अर्थात जिस सत्य को, ब्रह्म को, परमात्मा को व्यक्ति खोज रहा है, वह स्वयं वही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर

---

1. परि द्यावापृथिवी सद्यऽइत्वा परि लोकान् परि दिशः परि स्वः।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत्तदभवत्तदासीत्॥ यजुर्वेद 32/12॥

2. ऋग्वेद 4/23/8-10 में बारह बार ऋत का नाम आया है। और ऋत के लिए देखिए ऋग्वेद 1/90/6; 1/105/12; 1/121/4; 1/123/9 1/123/13; 1/124/3; तथा 1/136/2।

साहेब की चिंतनधारा के सत्पुरुष पहले से भी होते आये हैं। इसके प्रमाण वेदों, उपनिषदों तथा शास्त्रों में भरे पड़े हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि जिनको जड़-चेतन का एवं स्व-पर का ठीक बोध नहीं है, वे कर्ता सिरजनहार के ही गीत गाते हैं।

"कर्महि कै कै जग बौराया। सक्ति भक्ति कै बाँधिनि माया।" सूर्य, चन्द्र, मरुत, अग्नि, बादल, वर्षा आदि प्राकृतिक शक्तियों को देव मान लिया गया और समझा गया कि ये देव आकाश से हमें क्रोध या दया की दृष्टि से झांक रहे हैं। यदि हम हवन द्वारा उन्हें सन्तुष्ट रखेंगे, तो हमारे ऊपर क्रोध न कर दया करेंगे। इस विश्वास को लेकर हवन का खूब दौरदौरा चला। अग्नि में घी, समिधा के साथ-साथ पशु, पक्षी आदि का हवन किया जाने लगा। गोमेध, अश्वमेध, नरमेध तक यज्ञ चले। ऋग्वेद के प्रथम मंडल के 162 तथा 163 दोनों सूक्तों के पूरे पैंतीस (35) मंत्र देखने योग्य हैं, जिनमें अश्वमेध का वर्णन है। यजुर्वेद के चौबीसवें अध्याय के पूरे चालीस मंत्रों में अनेक बलि-पशुओं का ही वर्णन है। शतपथ, गोपथ, ऐतरेय, तैत्तिरीय आदि ब्राह्मण ग्रन्थ; आपस्तम्ब, आश्वलायन, बौधायन, कात्यायन, सत्याषाढ़ आदि श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्रों में यज्ञविधियां सविस्तार वर्णित हैं।

कहा गया कि "हजारों ब्राह्मणों का वध तथा अरबों गर्भ-हत्या का पाप कोटि आहुतियों का होम करने से नष्ट हो जाता है।[1] यहां तक "ब्राह्मणों का मारने वाला, विश्व के लोगों का सामूहिक वध करने वाला तथा गाय का मारने वाला भी अश्वमेध करने से शुद्ध हो जाता है।"[2] कहा गया कि सारी ऋद्धियां-सिद्धियां, राज्य, पुत्र, स्वर्ग, विजय यज्ञ करने से मिलते हैं। यह सारा-का-सारा एक महाभुलावन ही है, जिसमें जीवों का भटक जाना स्वाभाविक है। इसीलिए साहेब ने कहा "कर्महि कै कै जग बौराया।"

दूसरी बात, भक्ति भी माया है जिसमें जीव बंधे हैं। सत्पुरुषों तथा सत्यबोध के प्रति भक्ति कल्याणकारी है; परन्तु जड़ मान्यताओं या एक अज्ञात कल्पित धारणा में जीव को भावविभोर कर उलझा देना, यह भक्ति के नाम पर माया ही है। 'सक्ति भक्ति कै बाँधिनि माया' में सक्ति का अर्थ यदि साक्तमत लगाया जाये, तो भी अर्थ में विसंगति नहीं होगी। तब पूरी चौपाई का अर्थ होगा कि कर्मकांड, हिंसक साक्त साधना तथा कल्पित धारणा के प्रति भक्ति—ये तीनों ही जीव को बांधने के लिए माया हैं।

---

1. ब्रह्महत्या सहस्राणि भ्रूणहत्या अर्बुदानि च।
   कोटि होमेन नश्यंति यथावच्छिव भाषितम्॥ (मत्स्य पुराण 93/138)
2. द्विजहा विश्वहागोघ्नो वाजिमेधेन शुद्ध्यति॥ (गर्ग सं.10/7)

"अद्‌बुद रूप जाति की बानी। उपजी प्रीति रमैनी ठानी।" जो इतिहास में न हो, संसार में न हो, जिसकी कहीं कोई सत्ता न हो, ऐसे व्यक्ति तथा वस्तु की व्याख्या कवि लोग ऐसे रसात्मक एवं प्रभावी ढंग से कर देते हैं कि आम समाज उन्हें सत्यवत एवं प्रत्यक्षवत मानकर मनोगत भावधारा में बहने लगता है। इसमें कवियों की कला तो अवश्य महत्त्वपूर्ण होती है, परन्तु वे सत्य का हनन कर मनुष्य को विपथगामी बना देते हैं। भावना का महत्त्व थोड़ी दूर तक ही है। सत्य की अनुभूति केवल भावना से नहीं, बोध से होती है।

"गुणी अनगुणी अर्थ नहिं आया। बहुतक जने चीन्हि नहिं पाया।" सद्‌गुरु ने अन्यत्र भी कहा है—"समुझि न परलि राम की कहानी। निर्बक दूध की सर्बक पानी" (रमैनी 45)। कोई आदमी सदाचारी हो सकता है और विद्वान भी, परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि उसे सत्य का बोध भी हो। अतएव 'सिरजनहार' के गीत का अर्थ गुणी-अनगुणी, विद्वान-अविद्वान कोई नहीं समझ सका। इसे तो कोई पारखी ही समझ सकता है।

"जो चीन्हें ताको निर्मल अंगा। अनचीन्हें नर भये पतंगा " गुरुजनों का मोह, परम्परा का मोह, शास्त्रों का मोह, मन की कल्पनाओं का मोह परख लेना और उनसे ऊपर उठ जाना, बहुत बड़ी बात है। जो बंधनों को देखता है, वही मोक्ष को भी देखता है। जिसे बंधनों की परख नहीं, वह मोक्ष को क्या समझ सकता है।[1] गुरु, परम्परा तथा शास्त्र सब आदरणीय हैं, परन्तु अपने विवेक की बलि चढ़ाकर नहीं। गुरु, परम्परा तथा शास्त्र की सत्य बातों से ही अपना तथा अन्य का कल्याण हो सकता है।

सद्‌गुरु कबीर चीन्हने एवं परखने पर जोर देते हैं, केवल मान लेने पर नहीं। परखने वाले निर्मल होते हैं। न परखने वाले पतिंगे के समान नष्ट हो जाते हैं।

"चीन्हि चीन्हि का गावहु बौरे, बानी परी न चीन्ह। आदि अंत उत्पति परलय, आपूही कहि दीन्ह॥" गुरु की वाणी है, संत की वाणी है, शास्त्र की वाणी है, परम्परा की वाणी है, इस श्रद्धातिरेक में पड़कर मनुष्य उनकी वाणियों पर कसौटी लगाना नास्तिकता एवं पाप समझता है। जब तक मनुष्य में सत्य के लिए निष्ठा नहीं जग जाती, तब तक वह शास्त्रों की वाणियों पर परीक्षा की कसौटी नहीं लगा सकता। और जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक सत्य का मोती नहीं मिल सकता। सद्‌गुरु कहते हैं कि जगत के आदि-अंत, उत्पत्ति-

---

1. बन्धन छिपै न जाहि से, मुक्ति ताहि की दृष्टि।
बन्धन जेहि अनुभव नहीं, तेहि को मुक्ति अदृष्टि॥ (मुक्तिद्वार 6/11)

प्रलय की कल्पना करने वाले भी तुम्हीं हो और ऐसी–ऐसी वाणियों को लिख–पढ़कर उनका प्रचार करने वाले भी तुम्हीं हो, और "आपुहि बरि आपन गर बन्धा" (रमैनी 33) के अनुसार तुम स्वयं अपने वाणीजाल में उलझे हो।

'चीन्हि चीन्हि का गावहु बौरे' इस अंश का अर्थ अन्य ढंग से भी हो सकता है। इसके पहले सद्गुरु ने कहा है कि "जो वाणी को चीन्ह लिया वह निर्मल हो गया और जो नहीं चीन्ह सका, वह पतिंगे के समान जलकर मर गया।" तो मानो लोगों ने कहा हो कि "हम भी वाणी को चीन्हते हैं, पहचानते हैं।" यह सुनकर सद्गुरु ने मानो उत्तर दिया हो कि हे पगले ! तुम चीन्ह–चीन्ह कर क्या गाते हो? तुम्हारा चीन्हना, पहचानना धोखे में है। तुमसे वाणी का जाल पहचाना नहीं जा सका।

हंसदशा भ्रांतियों से परे है

रमैनी–5

कहलौं कहौं युगन की बाता। भूले ब्रह्म न चीन्हैं बाटा॥ 1॥
हरि हर ब्रह्मा के मन भाई। बिबि अक्षर लै युक्ति बनाई॥ 2॥
बिबि अक्षर का कीन्ह बँधाना। अनहद शब्द ज्योति परमाना॥ 3॥
अक्षर पढ़ि गुनि राह चलाई। सनक सनन्दन के मन भाई॥ 4॥
वेद कितेब कीन्ह विस्तारा। फैल गैल मन अगम अपारा॥ 5॥
चहुँ युग भक्तन बाँधल बाटी। समुझि न परलि मोटरी फाटी॥ 6॥
भय भय पृथ्वी दहुँ दिश धावै। अस्थिर होय न औषध पावै॥ 7॥
होय बिहिस्त जो चित न डोलावै। खसमहि छाड़ि दोजख को धावै॥ 8॥
पूरब दिशा हंस गति होई। है समीप सन्धि बूझै कोई॥ 9॥
भक्ता भक्तिक कीन्ह सिंगारा। बूड़ि गैल सब माँझल धारा॥10॥
साखी—बिनु गुरु ज्ञान दुन्द भई, खसम कही मिलि बात।
युग युग सो कहवैया, काहु न मानी बात॥ 5॥

शब्दार्थ—बाटा=रास्ता। भाई=अच्छी लगी। बिबि अक्षर=दो अक्षर—ओ+म्, सो+हं। बँधाना=विधान, नियम, परिपाटी। अनहद शब्द=अनाहत नाद, खोपड़ी में उठती हुई नसों की झनकार। ज्योति=मस्तिष्क की गरमी, आंखों की गरमी। परमाना=सत्य। गैल=गया। बाटी=बाट, भक्ति मार्ग। मोटरी फाटी=भ्रम की गठरी फट पड़ी। औषध=पारख, बोध। बिहिस्त=स्वर्ग, मोक्ष। खसमहि=पति, स्वस्वरूप। दोजख=नरक, विषय–वासना। पूरब दिशा=ज्ञान–दिशा, ज्ञान, परखबुद्धि। हंसगति=विवेक की दशा, स्वरूपस्थिति।

भावार्थ—युगों की बातें कहां तक कहूं, संसार के लोग ब्रह्म के स्वरूप को भूल गये, सही रास्ता नहीं परख सके। अर्थात ब्रह्म की वास्तविकता क्या है, यह नहीं समझ सके॥ 1॥ विष्णु, महादेव तथा ब्रह्मा के मन में भी यही बात अच्छी लगी और वे ओ+म्, सो+हम् आदि दो अक्षर मिलाकर ब्रह्म की व्याख्या करने तथा संसार-सागर से तरने का उपाय बताये॥ 2॥ इस प्रकार ब्रह्म को व्याख्यायित करने के लिए दो अक्षरों की परिपाटी बनायी, और अनाहतनाद-श्रवण तथा ज्योति-दर्शन को ब्रह्म का प्रामाणिक साक्षात्कार मान लिया॥ 3॥ शास्त्रों को पढ़-गुनकर सम्प्रदाय चलाये गये और सनक-सनंदनादि को भी ये मार्ग अच्छे लगे॥ 4॥ वेदों और किताबों का बहुत विस्तार हुआ। इन अगम-अपार वाणियों एवं शब्दजाल में मनुष्यों का मन बिखरकर उलझ गया॥ 5॥ भक्तों ने चारों युगों में भक्ति-मार्ग की योजनाएं बनायी हैं। उनकी समझ में यह बात नहीं आयी कि हमारे ऊपर भ्रम की मोटरी फट पड़ी है॥ 6॥ संसार के मनुष्य भयभीत होकर दसों दिशाओं में भटकते हैं। न वे स्थिर होते हैं और न उन्हें बोध एवं शांति रूपी औषध मिलती है॥ 7॥ यदि मनुष्य अपने मन को चंचल न करे, तो उसको तत्काल स्वर्ग का सुख प्राप्त हो। परन्तु मन तो अपने चेतनदेव प्रभु को छोड़कर विषय-वासना रूपी नरक में दौड़ता है॥ 8॥ हंस की स्थिति ज्ञानपरक दशा में है। यह तत्त्व सबके पास है, परन्तु इसका रहस्य कोई बिरला समझता है॥ 9॥ भक्त लोग भक्ति का शृंगार करते हैं और सब संसार-सागर में डूबकर मरते हैं॥ 10॥

बिना गुरुज्ञान के ही यह झगड़ा मचा है। भक्तजन लोगों से मिलकर जीव के ऊपर किसी भिन्न खसम की बात बताते हैं। इस प्रकार के उपदेश युगानुयुग से चले आ रहे हैं और इन्हीं के प्रभाव में लोग प्रभावित हैं। सही बात मानने वाला कोई नहीं है॥ 5॥

व्याख्या—ब्रह्म का सीधा सादा अर्थ है 'बड़ा'—बृहत्त्वात् ब्रह्म। अपने शुद्ध चेतन स्वरूप का भाव लेकर यह मानना कि मैं ब्रह्म हूं, शुद्ध-बुद्ध हूं, जिस परमतृप्ति की मुझे भूख है, वह मेरे ही अपने शुद्ध स्वरूप में निहित है—यह अध्यात्म का उच्चतम बोध और स्थिति है। परन्तु जब यह मान लिया जाता है कि सारा विश्व-ब्रह्मांड ब्रह्म है और वह मैं ही हूं तब हम एक ऐसी भावुकता में बह जाते हैं जिसका साक्षी बोध नहीं है। मैं अनंत विश्व-ब्रह्मांड हूं, यह किसी का अनुभव नहीं है; किन्तु एक भावुकतापूर्ण जोशीली धारणा है जिसमें सत्य का रास्ता खो जाता है। मैं सबका साक्षी शुद्ध चेतन हूं, यह अनुभव तथ्य है। फिर इसके साथ मैं में ब्रह्म शब्द जोड़ देना कोई बुरा नहीं है। सावधानी यही होनी चाहिए कि मैं में जगत न जोड़ा जाये। अतएव सद्गुरु जड़-चेतन-अभिन्नता

बोधक ब्रह्म को ध्यान में रखते हुए यह ठीक ही कहते हैं कि 'भूले ब्रह्म न चीन्हैं बाटा'। जहां जड़-चेतन का विवेक ही खो गया, जहां चेतन को जड़ से अलग नहीं किया जा सका, वहां निश्चित ही सही रास्ते की पहचान नहीं हुई। वस्तुतः ब्रह्मवादी वास्तविक ब्रह्म को भूल गये। वे चेतन मात्र का बोध और स्थिति छोड़कर अग-जग-व्यापक जड़-चेतन-अभिन्न मान लिये।

ओम्, सोहं, राम आदि मनुष्यों द्वारा कल्पित नाम हैं। इनके जपादि किसी परिपाटी के साधक के लिए साधना में कुछ दूर तक सहायक हो सकते हैं, परन्तु ये नाम किसी साधक का लक्ष्य नहीं हो सकते।

इसी प्रकार अनाहत शब्द और ज्योति की बात है। कान आदि छिद्रों को बन्द करने तथा एकाग्रता होने पर सिर के भीतर ध्वनि सुनाई देती है उसे अनाहतनाद कहते हैं। वह तत्त्व, प्रकृति एवं नसों की झनकार होने से श्रोत्र का श्राव्य है, जड़ है। इसी भांति आंख मीचने, नस दबाने, त्राटक करने या सहज आंख बन्द कर आंखों के भीतर ही गरमी पर ध्यान देने से कुछ समय में ज्योति दिखाई देती है। यह भी दृश्य होने से जड़ है। इस प्रकार शब्द, ज्योति आदि को ब्रह्म एवं अपना स्वरूप मान लेना अपने को धोखे में डालना है।

केन उपनिषद् के ऋषि कहते हैं—"जिसे आंखें नहीं देखतीं, किन्तु जिसकी सत्ता से आंखें देखतीं हैं, उसी को ब्रह्म जान, और आंखों से देखकर जिसकी तू उपासना करता है, वह ब्रह्म नहीं है। जिसे कान नहीं सुनते, किन्तु जिसकी सत्ता से कान सुनते हैं, उसे तू ब्रह्म जान और कानों से सुनकर जिसकी तू उपासना करता है, वह ब्रह्म नहीं है।"[1]

किसी परिपाटी का साधक अपने मन की एकाग्रता के लिए क्रियायोग के रूप में अनाहतनाद-श्रवण तथा ज्योति-दर्शन कर सकता है, परन्तु इसको बीच की ही साधना मानना चाहिए, लक्ष्य नहीं। अनाहतनाद, सारशब्द, ज्योति आदि इस प्रकार जितने नाम लिये जाते हैं सब मन के भास, दृश्य एवं कल्पित हैं। ये मन के संयमन में सहायक हो सकते हैं, वस्तुस्थिति नहीं। समाधि में जब मन की सत्ता ही समाप्त हो जाती है, तब मन से चित्रित शब्द, ज्योति आदि का कहां अस्तित्व ! वहां तो स्वस्वरूप चेतन की शुद्ध सत्ता मात्र है और गहरी शांति है।

भारत में चार वेद बने, पीछे अनेक ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, शास्त्र, महाकाव्य, पुराण, उपपुराण आदि असंख्य ग्रन्थ बने। विदेश में तौरेत, जबूर,

---

1. यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥
यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ (केन उप. 1/6-7)

इंजील, कुरान, हदीस, जिंदावेस्ता आदि असंख्य ग्रन्थ बने। नाना विद्वान और महात्मा नाना ढंग से अपने विचार रखे। इन सबको पढ़कर मनुष्य का मन फैल गया। स्वरूपबोधक वाणियां तो बहुत ही कम होती हैं। इसके बिना कहां बोध और कहां शांति !

हर समय में मनुष्य के मन में भक्ति की भावना रही है। चाहे भय और स्वार्थ लेकर और चाहे किसी के गुणों से प्रभावित होकर प्रेम-वश। अधिकतम मनुष्य भय तथा स्वार्थवश होकर ही भक्ति करते आये हैं, जो घटिया है। भक्तों ने भक्ति-विस्तार के लिए सदैव अनेक रोचक और मिथ्या कथाएं गढ़ी हैं। भक्ति के जोश में मन की धारणाएं ही सर्वोच्च बन बैठीं। यहां तक कि आग, पानी, पत्थर, नदी, पेड़ मनुष्य के कल्याणदाता सर्वश्रेष्ठ बन गये और स्वयं मनुष्य, जिसने इन जड़ पदार्थों को मान्यता दी, इनके सामने घुटने टेकने लगा। मनुष्य समझता है कि मैं भक्ति करता हूं। वह यह नहीं समझता कि मेरे ऊपर भ्रांति की मोटरी फट पड़ी है। वह भयभीत होकर दसों दिशाओं में भटकता है। वह पुत्र, धन, प्रतिष्ठा, मोक्ष एवं भगवान को पाने के लिए नदियों, पहाड़ों एवं तीर्थों की खाक छानता है। भक्ति का जोश उसे स्थिर नहीं होने देता। उसे सब जगह भगवान के सपने दिखते हैं। किन्तु "ज्यों दर्पण की सुन्दरी, गहै न आवै बाँहि" (साखी 279)। शून्य के रोटी, दाल, भात से पेट कैसे भरेगा? मन के क्षणिक आनन्द के लिए भावना का भगवान ठीक है, किन्तु सच्चा भगवान तो अपना चेतन-स्वरूप है, जिसके बोध एवं स्थिति से अनन्त शांति होती है। यही भवव्याधि की औषध है। परन्तु मन के स्थिर हुए बिना यह औषध कैसे मिलेगी !

चित्त की स्थिरता ही स्वर्ग है, मोक्ष है, परमानन्द है और परमपद है। सद्गुरु कहते हैं, हे मनुष्य ! यदि तू स्वर्ग चाहता है, तेरे को मोक्ष इष्ट है, तो तू अपने मन को स्थिर कर। तेरा परमप्रभु तो तेरे अपने हृदय में विराजमान तेरा अपना चेतन-स्वरूप ही है। तू अपने मन को उसी में लगा। विषय-वासना जो नरक है, उसमें न ले जा।

"पूरब दिशा हंस गति होई। है समीप संधि बूझै कोई॥" जिस दिशा में सूर्य उगता है उसे पूर्व कहते हैं। सूर्य प्रकाशस्वरूप है। प्रकाश ज्ञान का प्रतीक है। अतएव पूर्व दिशा का अर्थ ज्ञान की दिशा है। लोकोक्ति के अनुसार हंस नीर-क्षीर-विवेकी होता है। वह जल को छोड़कर केवल दूध लेता है। गति के अर्थ गमन, ज्ञान, प्राप्ति, मोक्ष आदि हैं। अभिप्राय हुआ कि जो ज्ञानपरक बुद्धि वाला एवं विवेकी है वही मन की धारणाओं एवं जड़ाध्यासों को छोड़कर अपने शुद्ध चेतन-स्वरूप में स्थित होता है। 'अहम्' और 'सः' इन दो पदों के जोड़ से 'हंस' शब्द बना है। हंस में अ तथा विसर्ग लुप्त हो गये हैं। अहम्+सः—

मैं+वह, अर्थात जिसे मैं खोज रहा हूं वह मैं ही हूं, यह हंस का हंसत्व है। मिट्टी के खिलौने बेचने वाले हीरे की परख नहीं कर सकते। परोक्ष कल्पित वस्तु की भक्ति-भावना में बहने वाले लोग वस्तुपरक हंस दशा का न बोध प्राप्त कर सकते हैं और न उसमें स्थिर हो सकते हैं। विवेकज्ञान में ही हंसदशा की प्राप्ति होगी। विवेकज्ञान की भूमिका सबके निकट है। निकट कहने का भी एक तरीका है। वस्तुतः सब मनुष्य के हृदय में विवेकज्ञान का बीज है। उसे समझना चाहिए और उसका उपयोग कर स्वरूपस्थिति प्राप्त करना चाहिए।

"भक्ता भक्तिक कीन्ह सिंगारा। बूड़ि गैल सब माँझल धारा।" भक्ति हृदय की एक कोमल भावना है, जो सत्यबोध एवं सत्य में स्थित होने के लिए आवश्यक है। परन्तु यह जब कल्पित मन की धारणाओं एवं जड़ उपासनाओं में उलझ जाती है, तब सत्य का रास्ता अवरुद्ध हो जाता है। कहा जाता है "ठांव गुण कारी, ठांव गुण काजर"। वही जब गाल में लग जाता है तब कारिख कहलाता है और जब आंखों में लगता है तब काजल कहलाता है। जिस भक्ति का फल आत्मज्ञान और आत्मस्थिति है, वह उच्च है और जिस भक्ति का फल केवल भावनाओं के जगत में बहना है, वह संसार-सागर में ही डुबाने वाली है।

"बिन गुरु ज्ञान दुन्द भई, खसम कही मिलि बात। युग युग सो कहवैया, काहु न मानी बात॥" खसम का अर्थ पति या मालिक है। सभी ज्ञान-विज्ञान का पति यह जीव ही है, किन्तु "कहलौं कहौं युगन की बाता" और "युग युग सो कहवैया" सदा से ऐसे ही अधिक होते आये हैं जो जीव के ऊपर अन्य खसम सिद्ध करते हैं और उसकी भक्ति-भावना का शृंगार कर मन की धारा में डूबते हैं। इस झगड़े के मूल में है गुरुज्ञान का अभाव। लोग भक्ति के सम्मोहन में ज्ञान का तिरस्कार करते हैं।

सद्गुरु कहते हैं 'काहु न मानी बात' किसी ने बात नहीं मानी। परन्तु यदि कोई न मानता, तो विवेकमार्ग संसार में कैसे चलता रहता? वस्तुतः वे भ्रांतियों के जोर पर प्रकाश डाल रहे हैं। सच है, सत्य का रास्ता अकेले का है। इसीलिए विश्वकवि टैगोर जी कहते हैं 'एकला चलो रे'।

कल्पनाएं छोड़कर मन को शून्य करो

रमैनी-6

बर्णहु कौन रूप औ रेखा। दूसर कौन आहि जो देखा॥ 1॥
वो ऊँकार आदि नहिं वेदा। ताकर कहहु कौन कुल भेदा॥ 2॥
नहिं तारागण नहिं रवि चन्दा। नहिं कछु होते पिता के बिन्दा॥ 3॥
नहिं जल नहिं थल नहिं थिर पवना। को धरे नाम हुकुम को बरना॥ 4॥
नहिं कछु होते दिवस निजु राती। ताकर कहहु कौन कुल जाती॥ 5॥

साखी—शून्य सहज मन सुमिरते, प्रगट भई एक ज्योत।
ताहि पुरुष की मैं बलिहारी, निरालम्ब जो होत॥ 6॥

शब्दार्थ—रेखा=चिह्न, लक्षण। आदि=मूल। कुल=संपूर्ण। बिन्दा=वीर्य। बलिहारी=प्रशंसा, धन्यवाद। निरालम्ब=निराधार, असंग।

भावार्थ—किस रूप और लक्षण का वर्णन करते हो? तुम्हारे अतिरिक्त उसे किसने देखा है?॥ 1॥ उस प्रणव का मूल तो वेद भी नहीं जानते हैं, बताओ! उसका संपूर्ण रहस्य क्या है?॥ 2॥ कहते हैं "पहले तारागण, सूर्य, चन्द्रमा, पिता के वीर्य, जल, पृथ्वी, आकाश, वायु आदि नहीं थे।" फिर किसने नाम रखा और इन सबको उत्पन्न होने की आज्ञा दी? जिस ब्रह्म के निज स्वरूप में दिन-रात, ज्ञान-अज्ञान कुछ नहीं थे, उसके कुल और जाति अर्थात गुणात्मक लक्षण क्या वर्णन करते हो?॥ 3-5॥

सहज मन से स्मरण करते हुए जब संकल्पों का शून्यत्व हुआ तब हृदय में ज्ञान-ज्योति प्रकट हुई। मैं उस पुरुष की प्रशंसा करता हूं जो असंग हो जाता है॥ 6॥

व्याख्या—"बर्णहु कौन रूप औ रेखा..." अपने चेतन स्वरूप को छोड़कर जो लोग अलग ब्रह्म खोजते हैं, उनसे सद्गुरु पूछते हैं कि तुम्हारे माने हुए ब्रह्म के क्या रूप और लक्षण हैं? यदि उसका कोई बाह्य लक्षण है, तो वह भौतिक है और यदि वह चेतन मात्र है, तो मेरे अपने स्वरूप से भिन्न नहीं। यदि भिन्न है, तो सजाति मात्र है। ऐसी दशा में मेरी स्थिति मेरे अपने चेतन-स्वरूप में ही होगी, न कि अन्य सजाति चेतन में। हर हालत में स्वरूप से भिन्न सत्य का खोजना एक भ्रम है। सद्गुरु कहते हैं कि यदि तुम अलग ब्रह्म खोज रहे हो, तो दूसरा कौन है जो उसे देख रखा है और तुम्हें दिखा देगा।

कहते हैं उसका नाम 'ॐ' अर्थात 'प्रणव' है; परन्तु यह नाम भी मनुष्यों का ही बनाया है। अन्तिम दौड़ वेदों तक है, परन्तु वेद भी उसका भेद नहीं जानते। वे भी नेति-नेति कहकर मौन हो जाते हैं। जो केवल कल्पना का विषय है, उसका निर्धारण कैसे हो सकता है!

जिन्हें नित्य विद्यमान सत्ता के दो मूल तत्त्वों जड़ और चेतन के मूल स्वरूप का विवेक नहीं है और जो किसी ब्रह्म द्वारा अवर्तमान से इस वर्तमान जगत का प्रादुर्भाव मानते हैं, वे संसार के सारे लोग यही कहते हैं कि "पहले चांद, सूर्य, नक्षत्र, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि नहीं थे। किसी दिन शुद्ध ब्रह्म ने स्फुर्णा की और इन असंख्य विशाल ब्रह्मांडों को तुरन्त क्रम से खड़ा कर दिया।" जगत को समझने में मनुष्य की यह बहुत बड़ी कमजोरी है। सद्गुरु प्रश्न करते हैं कि जब यह नानाविध संसार नहीं था, तब किसकी आज्ञा से यह उपस्थित हो गया? जिसने अवस्तु से जगत-वस्तु बना दी, उसका ॐ या प्रणव

नाम किसने रखा? क्योंकि उसके अतिरिक्त तो अन्य कोई था नहीं। जगत के जीव तो जगतकर्ता से मिल नहीं सके, तो यह सिद्धान्त कैसे स्थिर किया गया? जो ज्ञान-अज्ञान से परे तथा त्रिगुण से परे है, उसके कौन-से लक्षण तुम्हें ज्ञात हैं?

"शून्य सहज मन सुमिरते..." जब मन सहज, सरल एवं निर्ग्रंथ हो जाता है तब स्व-स्वरूप का स्मरण करते-करते एक अवस्था ऐसी आती है जहां सारे विचार, सारे संकल्प एवं सारे स्मरण समाप्त होकर चित्त शून्य हो जाता है। ऐसी अवस्था में ज्ञान की ज्योति प्रकट होती है। संकल्प स्वरूपज्ञान को ढांकते हैं। संकल्पों के हट जाने पर स्वरूपज्ञान का उद्‌घाटन होता है। यह स्वरूपज्ञान ही वह ज्योति है जिसमें सारे अज्ञान का अन्त होता है। सद्‌गुरु कहते हैं कि मैं उसकी प्रशंसा करता हूं जो सारे दृश्यों से असंग होकर अपने आप रह जाता है। श्रुति भी कहती है "असंगो ह्ययं पुरुषः।"

सृष्टि अनादि तथा अनंत है

रमैनी-7

तहिया होते पवन नहिं पानी। तहिया सृष्टि कौन उत्पानी॥ 1॥
तहिया होते कली नहिं फूला। तहिया होते गर्भ नहिं मूला॥ 2॥
तहिया होते विद्या नहिं वेदा। तहिया होते शब्द नहिं स्वादा॥ 3॥
तहिया होते पिण्ड नहिं बासू। नहिं धर धरणि न पवन अकासू॥ 4॥
तहिया होते गुरू नहिं चेला। गम्य अगम्य न पन्थ दुहेला॥ 5॥
साखी—अविगति की गति का कहो, जाके गाँव न ठाँव।
गुण बिहूना पेखना, का कहि लीजे नाँव॥ 7॥

शब्दार्थ—तहिया=सृष्टि के पहले। गम्य=सरल। अगम्य=कठिन। दुहेला=कठिन, दो। अविगति=अज्ञात।

भावार्थ—उस समय वायु और जल नहीं थे तो सृष्टि किसने बना दी? उस समय न कली थी न फूल, न गर्भ था न उसका मूल वीर्य, उस समय न विद्या थी न वेद, न शब्द था न स्वाद। न तो तब शरीर था और न उसमें जीव का निवास। उस समय न पर्वत थे न पृथ्वी, न हवा थी न आकाश। उस समय गुरु और शिष्य भी नहीं थे। उस समय सरल और कठिन—दोनों मार्ग भी नहीं थे॥ 1-5॥

फिर जिसका पता-मुकाम कुछ नहीं है उस अज्ञात की बातें क्या करते हो? इस गुणविहीन दर्शन में कर्ता-कारण के क्या नाम कहोगे?॥ 7॥

व्याख्या—जिनको नित्य और अनादि जड़-चेतन के नित्य और अनादि गुण-धर्मों से नित्य एवं अनादि जगत का बोध नहीं होता, वे प्रायः यही कहते हैं

कि कभी ऐसा था कि यह संसार नहीं था। संसार के विभिन्न कोनों में इस प्रकार की भावना वाले लोग हुए हैं। भारत के ही नहीं, प्रत्युत विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में एक उलझी हुई, धुंधली, विनम्र एवं मनोरम कल्पना आयी है, जो इस प्रकार है—

"उस समय असत नहीं था न सत ही था। न पृथ्वी थी न उसके ऊपर आकाश था। आवरण भी कहां था? किसका कहां स्थान था? क्या गहन गम्भीर जल था? ॥ 1 ॥ उस समय न मृत्यु थी और न अमरता थी। रात और दिन का भेद भी नहीं था। वह एक निर्वात अपने स्वभाव से स्थित था। उसके अलावा कुछ नहीं था॥ 2 ॥ उस समय अन्धकार से अन्धकार ढका था अर्थात सर्वत्र अन्धकार था। और यह सब जलमय था। एक अंकुर था जो त्विष (भूसी) से ढका हुआ था, वह तपस् (उष्मा) की शक्ति से पैदा हुआ॥ 3 ॥ पहले काम उत्पन्न हुआ और मन से वीर्य पैदा हुआ। मनीषी कविगण अपने हृदय में विचार कर असत के साथ सत के बन्धन का पता लगाये॥ 4 ॥ उसकी किरणें जो सर्वत्र फैली थीं, ऊपर थीं कि नीचे? वीर्य (बीज) को धारण करने वाले थे और महिमाएं (शक्तियां) भी थीं। आत्मशक्ति नीचे थी और इच्छाशक्ति ऊपर थी॥ 5 ॥ यह सृष्टि कहां से आयी, कैसे बनी, इसे कौन निस्संदेह जानता है और कौन इसकी निर्भ्रान्त घोषणा कर सकता है? देवता लोग भी सृष्टि होने के बाद ही पैदा हुए हैं, फिर कौन जानता है कि सृष्टि कहां से हुई? ॥ 6 ॥ ये सृष्टियां कहां से हुईं, किसने पैदा कीं, किसने नहीं पैदा कीं—यह सब वही जानता होगा जो इसका अध्यक्ष अंतरिक्ष में स्थित है और हो सकता है वह भी यह सब न जानता हो॥ 7 ॥"[1]

---

1. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥ 1 ॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥ 2 ॥
तम आसीत्तमसा गूड्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥ 3 ॥
कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥ 4 ॥
तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामध स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्॥ 5 ॥
को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव॥ 6 ॥
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वान वेद॥ 7 ॥
(ऋग्वेद, मंडल 10, सूक्त 129)

प्राप्त इतिहास में हमारे पूज्य वैदिक ऋषियों की सृष्टि के विषय में यह पहली कोमल कल्पना है। ऋषि उलझी हुई बातें करते हैं। वे कल्पना की उड़ानें भरते हैं कि पहले सत, असत, पृथ्वी, आकाश आदि कुछ नहीं था। फिर वे जल, किरणें आदि का होना मान लेते हैं। वे पहले कामना तथा मन के स्पंदन से रेत (वीर्य) उत्पन्न होना मान लेते हैं। परन्तु यह सब शरीरधारी से ही संभव है, जिसका होना उस तथाकथित शून्य काल में सर्वथा असम्भव है। ऋषिगण व्योम में, आकाश एवं अंतरिक्ष में इन सबका एक अध्यक्ष (निरीक्षक) भी मान लेते हैं और कहते हैं कि हो सकता है वही इस सृष्टि को जानता हो कि यह कहां से तथा किससे उत्पन्न हुई है। ऋषि अन्त में यह भी कह देते हैं कि हो सकता है वह भी यह सब न जानता हो। ऋषि यह कहकर कि हो सकता है वह भी न जानता हो—'न वेद' अध्यक्ष को अल्पज्ञ जीव बना देते हैं। इन महत्त्वपूर्ण मन्त्रों से कई बातें उभरकर सामने आती हैं।

1. पहले संसार नहीं था, सब शून्य था।

2. यह कहां से आया, किसने क्या लेकर बनाया, इसे देवता और अध्यक्ष (निरीक्षक, अधिष्ठाता) भी शायद नहीं जानते हैं।

3. इससे ईश्वर अंतरिक्ष में रहने के कारण एकदेशी है और अल्पज्ञ तथा अल्पशक्तिमान है ही।

4. मंत्रों में ऋषियों की सृष्टि के विषय में अनिश्चयता और ईमानदारी टपकती है।

इस सूक्त के बनते तक ईश्वर की कल्पना पुष्ट नहीं हुई थी। उसे एक देवता के समान अंतरिक्ष से नीचे की ओर झांकने वाला असहाय और अल्पज्ञ जैसे ही मान लिया गया है। ऋषि सृष्टि के विषय में एक कोमल कल्पना करते हैं, परन्तु वे दावा नहीं करते कि जो मैं कहता हूं, पक्का है। पुराण और महाकाव्यों के लेखकों की भांति वैदिक ऋषि मिथ्या साहस और दावा नहीं करते हैं कि सृष्टि अमुक देवता के पेट या मूड़ से निकल आयी या अमुक व्यक्ति ईश्वर का प्रतिनिधि बनकर आ गया और उसकी इच्छा से सब बन गया। वैदिक ऋषि तो यहां तक अपनी सरलता व्यक्त कर देते हैं—"मैं नहीं जानता कि मैं क्या हूं, मेरा उलझा हुआ मूढ़ मन इधर-उधर भटकता है।"[1]

अब मूल बात पर आना है। प्रस्तुत सातवीं रमैनी में सद्गुरु मानो नासदीय सूक्त पर प्रश्न पेश करते हैं और कहते हैं कि जब पहले कोई तत्त्व एवं पदार्थ नहीं था तब सृष्टि कहां से आ गयी? अर्थापत्ति प्रमाण से सद्गुरु कबीर कहना

---

1. न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्य: संनद्धो मनसा चरामि। (ऋग्वेद 1/164/37)

चाहते हैं कि जब वस्तुएं नहीं थीं, तब कहां से आ गयीं? 'असत की सत्ता नहीं तथा सत का अभाव नहीं।'[1]

विज्ञान भी मानता है कि मैटर (मूल द्रव्य) न बनता है और न मिटता है। वह अनादि, अनंत एवं नित्य है। मूल द्रव्यों के जिन गुण-धर्मों से आज सृष्टि संपादित हो रही है उन्हीं गुण-धर्मों से पीछे अनादिकाल से सृष्टि का संपादन होता आया है। क्योंकि अनादि मूल द्रव्यों में सृष्टि-उत्पत्ति के गुण-धर्म बीच में कहीं शून्य से नहीं आ गये हैं, किन्तु उनमें मूलतः अनादि से समवाय-सम्बन्धरूप में हैं। अनादि मूल द्रव्यों में अनादि गुण, धर्म, क्रिया हैं जिनसे अनादिकाल से सृष्टि विद्यमान है। भौतिक कणों का अलग-अलग बिखर जाना तथा एकजुट होकर दृश्य पदार्थ बन जाना—यह प्रक्रिया अनादिकाल से है। क्या अनादि मूल द्रव्य अपने गुण, धर्म, क्रिया छोड़कर पहले स्थिर रहे? कि गुण, धर्म, क्रिया से रहित रहे और बीच में कहीं बाहर से आकर मूल द्रव्यों में गुण, धर्म, क्रिया मिल गये? ये सारी बातें तर्कहीन हैं। अतएव मूल द्रव्य नित्य हैं, उनमें उनके गुण, धर्म तथा क्रिया नित्य हैं और उनसे जगत-सृष्टि नित्य है।

इसी प्रकार असंख्य जीव (चेतन सत्ता) भी नित्य हैं। उनके कर्म-प्रवाह भी अनादि हैं। अतएव सृष्टि भी अनादि है। सद्‌गुरु कहते हैं कि नित्य विद्यमान जगत के प्रति नये सिरे से उत्पन्न होने की ऐसी अज्ञात की बातें मत करो जिसका गांव-ठांव कुछ नहीं है।

प्रश्न हो सकता है कबीर साहेब, जो 'मसि कागद छूवों नहीं, कलम गहौं नहिं हाथ' कहते हैं, वेदों को क्या जानें और वे नासदीय सूक्त के विषय पर तर्क कैसे कर सकते हैं!

वस्तुतः अनेक विद्वान अनेक विषयों पर बहुत छिछली मीमांसा देने लगते हैं। 'मसि कागद छूवों नहीं' को लेकर अनेक विद्वान यही कहने लग गये कि कबीर साहेब तो पढ़े-लिखे नहीं थे। यह ठीक है कि सत्य ज्ञान के लिए लिखना-पढ़ना उतना आवश्यक नहीं है, जितना कि निष्पक्ष प्रगल्भ बुद्धि, संवेदनशीलता, विवेक एवं अंतरात्मा की गहराई में उतरना। ये सारी शक्तियां कबीर साहेब के पास थीं। श्रोताओं, वक्ताओं से शास्त्रों की बहुत-सारी बातें सुनकर उन पर तर्क या विचार किया जा सकता है। परन्तु उक्त "मसि कागद छूवों नहीं" साखी के आधार पर यह नहीं सिद्ध होता कि कबीर साहेब पढ़े-लिखे नहीं थे।

वे उक्त साखी की पहली पंक्ति के बाद कहते हैं "चारिउ युग का महातम, कबीर मुखहि जनाई बात।" वे अपनी बातों को बताने के लिए कलम, कागज

1. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। (गीता 2/16)

तथा स्याही नहीं छूते। वे मुख से ही बोलते थे और शिष्य लोग लिख लेते थे। कहा जाता है कि वेदव्यास महाभारत अपने मुख से बोलते गये हैं और उसे गणेश जी ने लिखा है। आज कितने ही विद्वान मुख से बोलकर अपने कर्मचारियों से लिखवाते हैं। पारख सिद्धान्त के प्रसिद्ध और सिद्ध सन्त श्री विशाल साहेब ने एक अक्षर अपने हाथों से नहीं लिखा। पूरा विशाल वचनामृत आपके मुख से निकला है और शिष्यों ने लिखा है; किन्तु उसमें एक अक्षर भी दूसरे की मिलावट नहीं है।

कबीर साहेब जैसे प्रतिभा के धनी तथा संवेदनशील पुरुष तात्कालिक शास्त्रों की भाषा कामचलाऊ पढ़ लिये हों तो इसमें क्या आश्चर्य है। भले, वे व्याकरणाचार्य न रहे हों। उनका बीजक देखने से ही उनके शास्त्रज्ञान पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इसके अलावा पूर्वपक्ष की बातें सुनकर भी उन पर तर्क किया जा सकता है।

तत्त्वमसि-विचार

रमैनी-8

तत्त्वमसी इनके उपदेशा। ई उपनिषद कहैं सन्देशा॥ 1॥
ई निश्चय इनके बड़भारी। वाहिक वर्णन करें अधिकारी॥ 2॥
परमतत्त्व का निज परमाना। सनकादिक नारद शुक माना॥ 3॥
याज्ञवल्क्य औ जनक सम्बादा। दत्तात्रेय वोहि रस स्वादा॥ 4॥
वोहि बात राम बसिष्ठ मिलि गाई। वोहि बात कृष्ण उद्धव समुझाई॥ 5॥
वोहि बात जो जनक दृढ़ाई। देह धरे विदेह कहाई॥ 6॥
साखी—कुल मर्यादा खोय के, जीवत मुवा न होय।
देखत जो नहिं देखिया, अदृष्ट कहावै सोय॥ 8॥

शब्दार्थ—तत्त्वमसि=वह तू है। इनके=अद्वैत वेदांतियों के। अधिकारी= योग्य पात्र। परमतत्त्व=सर्वोच्च सत्यता, ब्रह्म। परमाना=सत्य।

भावार्थ—वह-तू-है, यही इनके उपदेश हैं। उपनिषदें यही संदेश देती हैं॥ 1॥ इनको इसका बड़ा भारी निश्चय है। अधिकारी सत्पात्र मिलने पर ये इसी की व्याख्या करते हैं॥ 2॥ यही इनका प्रामाणिक परमतत्त्व है। सनक, सनंदन, सनातन, सनत्कुमार, नारद, शुकदेव आदि ने इसी सिद्धांत को माना है॥ 3॥ याज्ञवल्क्य और जनक का संवाद इसी पर हुआ है। दत्तात्रेय जी ने इसी का रसास्वादन किया है॥ 4॥ राम और वसिष्ठ ने परस्पर इसी बात पर बहस की है। इसी बात को कृष्ण ने उद्धव को समझाया है॥ 5॥ जनक को इसी बात का निश्चय कराया गया है। वे देह में रहते हुए भी विदेह कहलाये हैं॥ 6॥

परन्तु केवल कुल की मर्यादा छोड़ देने से कोई जीते जी मुरदा नहीं हो जायेगा। जो देखते हुए भी अनदेखा करता है, वह विवेक नेत्रों से रहित ही कहलायेगा॥ 8॥

व्याख्या—'तत्त्वमसि' शब्द में तीन खंड हैं—तत्-त्वम्-असि। 'तत्' का अर्थ है 'वह', 'त्वम्' का अर्थ है 'तू', 'असि' का अर्थ है 'होना' अर्थात 'वह तू है'। 'तत्' का अर्थ तत्त्व, सार, सत्य भी होता है; अर्थात तू सत्य है, सार है।

जिस सत्य, सार एवं परम तत्त्व को तू खोज रहा है, वह तू ही है—यह अध्यात्म का निचोड़ है। छांदोग्य उपनिषद् के छठें प्रपाठक के सोलहों खंडों में ऋषि उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को इसी तत्त्वमसि का उपदेश विस्तार से किया है। उन्होंने बारंबार कहा है—'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति'—हे श्वेतकेतो! वह आत्मा, वह तू ही है। सनत्कुमार ने छांदोग्य उपनिषद् के सातवें प्रपाठक के छब्बीस खंडों में यह विषय नारद को विस्तार से समझाया है। उन्होंने कहा है भूमा में, निरतिशय में, अनंत में, सत्य में वह सुख है, अल्प में नहीं।[1] यही बात शुकदेव स्वामी ने राजा परीक्षित को श्रीमद्भागवत में समझाया है।[2] इसी विषय पर बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य और जनक का संवाद हुआ है।[3]

श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में दत्तात्रेय जी ने भी इसी का रसास्वादन किया है, जहां उन्होंने अपने चौबीस गुरुओं का वर्णन किया है। महर्षि वसिष्ठ ने श्री राम को इसी तत्त्वमसि महावाक्य का उपदेश योगवासिष्ठ ग्रन्थ में किया है जो बत्तीस हजार श्लोकों में रचित अद्वैतवेदांत का अनूठा ग्रन्थ है। इसी तत्त्वमसि का उपदेश श्रीकृष्ण जी ने भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में उद्धव जी को बहुत विस्तार से दिया है। श्री कृष्ण जी ने कहा है—हे उद्धव! "विश्वमेकात्मकं पश्यन्"[4]—सदैव अद्वैत दृष्टि रखो। याज्ञवल्क्य और अष्टावक्र ने जनक के मन में इस तत्त्वमसि वाक्य के सार को इतना दृढ़ कर दिया था कि वे देहधारी होकर भी विदेह नाम से कहे गये।

जिस ब्रह्म, परमात्मा, निर्वाण, मोक्ष, कैवल्य, परमानन्द, परमशांति को तू खोजता है, वह तू ही है—तत्-त्वम्-असि। यह सचमुच ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वाक्य एवं भाव है। परन्तु उपनिषद्, भागवत, योगवासिष्ठ आदि ग्रन्थों में इसकी

---

1. यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति॥ (छां. उ., प्रपाठक 7, खंड 23)
2. श्रीमद्भागवत, स्कंध 2, अध्याय 9, श्लोक 32-35, चतुःश्लोकी भागवत।
3. देखिये बृहदारण्यक उपनिषद् के तीसरा तथा चौथा अध्याय।
4. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध 11, अध्याय 28, श्लोक 1।

व्याख्या इतनी उलझी हुई है कि उनमें इसका सही समाधान होना ही असम्भव है।

जिस तत्त्व को मैं खोजता हूं, वह मैं ही हूं; यहां तक तो तथ्य है; परंतु जब यह कहा जाने लगता है "अहमेवेदं सर्वम्[1]—अहम् एव इदम् सर्वम्"—यह सब कुछ मैं ही हूं; यह सारा विश्व-ब्रह्माण्ड मैं ही हूं; तब आत्मज्ञान का अतिरेक किया जाता है, जिससे विवेकज्ञान से कोई मतलब नहीं रहता। कहा जाता है कि सर्वोच्च स्थिति में जाने के लिए आनुभविक जगत से ऊपर उठना ही होगा, परन्तु यह आनुभविक जगत से ऊपर उठना तो नहीं हुआ, प्रत्युत उसमें उलझ जाना हुआ। मनुष्य आनुभविक जगत से तो तब ऊपर उठता है जब वह सारे संकल्पों को त्यागकर समाधि में पहुंच जाता है। 'सारा विश्व-ब्रह्मांड मैं ही हूं'—यह तो मन का अयथार्थ व्यायाम है जो जिज्ञासु को भ्रम में डालने वाला तथा ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान के नाम पर जगत में उलझाने वाला है। आत्मज्ञान का सच्चा स्वरूप तो यह है कि साधक विवेक द्वारा अपने आप चेतन-तत्त्व को जड़ जगत से सर्वथा निकाल ले; परन्तु यदि वह अपने आप को सबमें मिलाकर जड़-चेतन एक समझने लगा, तो जानो वह संसार में उलझ गया।

ऊपर, नीचे, दायें, बायें, आगे, पीछे मैं ही हूं[2]—इस धारणा का साक्षी न विवेकबुद्धि है और न यह समाधि का विषय ही है। यह आत्मज्ञान की एक भावुकता है जो स्वरूपज्ञान के जिज्ञासु एवं विद्यार्थी को केवल भ्रम में डालती है।

इसीलिए सद्गुरु कबीर इसको नहीं स्वीकारते हैं। वे कहते हैं "तत्त्वमसी इनके उपदेशा"। 'इनके' शब्द ध्यान देने योग्य है। सद्गुरु कहना चाहते हैं कि यह मेरा मत नहीं है, किन्तु 'इनका—अद्वैतवादियों का' मत है। और "ई निश्चय इनके बड़भारी" कहकर उन पर करारा व्यंग्य करते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि इनका यह "बड़ा भारी" निश्चय है कि अनंत विश्व-ब्रह्माण्ड सब मैं ही हूं। 'बड़भारी' शब्द अधिक ध्यान देने योग्य है। व्यंग्य का पूर्ण जोर इसी शब्द पर पड़ता है। इसीलिए सद्गुरु ने अन्यत्र कहा है "सनकादिक भंवरे पुष्पित वाणी की सुगंधी में भूल गये।"[3]

ब्रह्मज्ञान की सात भूमिकाएं मानी गयी हैं—सुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभावना तथा तुर्यगा (तुरीय)।

---

1. छांदोग्य उ., प्रपाठक 7, खंड 25, मन्त्र 1।
2. छां. उ. 7/25/1।
3. सनकादिक भूले भँवर बोय। (बीजक, बसन्त 1/5)

सुभेच्छा—मोक्ष के इच्छापूर्वक शास्त्र और गुरु की वाणियों का पठन-मनन।

विचारणा—सदाचार में प्रवृत्ति होना।

तनुमानसा—अनासक्त रहना या निदिध्यासन।

सत्त्वापत्ति—आत्माकार वृत्ति रखना।

असंसक्ति—समाधि में आरूढ़ होना।

उपर्युक्त पांच भूमिकाएं तो बुद्धिपूर्वक हैं। छठीं 'पदार्थाभावना' में पहुंचकर कहते हैं कि उसकी गाढ़ी सुषुप्ति के समान स्थिति हो जाती है। दूसरे के प्रेरित करने पर ही उसे बाहरी भान होता है। और 'तुर्यगा (तुरीय)' में पहुंचकर तो उसे कुछ भान ही नहीं रहता। उसमें श्वास अवश्य चलता है, परन्तु उसे बारम्बार जगाने पर भी उसका जागरण नहीं होता।[1] यह निश्चित ही एक अनुभवहीन काल्पनिक आदर्श है।

सद्‌गुरु कबीर यथार्थवादी संत हैं। वे कहते हैं कि यदि कोई कुल-गोत्र का अहंकार त्यागकर आत्मज्ञान में रमने लगा तो ऊंचा काम है; परन्तु वह जीवित आदमी मुरदा के समान अचेत नहीं हो सकता 'जीवत मुवा न होय'।

विवेक से देखने पर जड़ अलग है और चेतन, उसका द्रष्टा अलग है। दोनों एक कदापि नहीं हो सकते। इसी प्रकार आसक्तिविहीन ज्ञानी अचेतन नहीं हो सकता। आत्मज्ञान कोई क्लोरोफार्म नहीं है कि उसे सूंघते ही आदमी अचेत हो जाता है। इन तथ्यों को देखते-समझते हुए इनको अनदेखा कर भावुकतापूर्ण काल्पनिक धारणा बनाये रखना, विवेकसंगत बात नहीं है।

डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही कहा है—"कबीर बहुत-कुछ को अस्वीकार करने का अपार साहस लेकर अवतीर्ण हुए थे।"[2] डॉ० द्विवेदी कबीर-अनुयायियों तथा कबीर-प्रेमियों के लिए लिखते हुए कहते हैं—"इस बात का बराबर प्रयत्न होता रहा है कि अपने इर्द-गिर्द के समाज में कोई यह न कह सके कि इनका अमुक काम सामाजिक दृष्टि से अनुचित है। अर्थात विद्रोही बनने की प्रतिज्ञा भूल गयी, सुलह और समझौते का रास्ता स्वीकार कर लिया गया।"[3]

बीजक की वाणियों का अनुवाद करते हुए ऐसा कर दिया जाता है। कहा जाता है कि कबीर साहेब का मत सनकादि तथा नारद, याज्ञवल्क्यादि से अलग हो नहीं सकता। कबीर साहेब इन महापुरुषों के विचारों की आलोचना कर ही

---

1. योगवासिष्ठ, उत्पत्ति प्रकरण, सर्ग 118।
2. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 25 अगस्त, 1985 ई., पृ. 19।
3. अशोक के फूल, घर जोड़ने की माया।

नहीं सकते। निश्चित ही यह समझौता कबीर देव के प्रज्वलित सत्य पर पानी डाल देता है।

परम्परा, गुरुजन तथा शास्त्रों पर श्रद्धा रखने का अर्थ यह नहीं है कि हम सारासार का विचार ही न करें। स्वयं औपनिषदिक ऋषियों का वैदिक कर्मकांड के प्रति विद्रोही स्वर प्रसिद्ध है। कबीर साहेब यथार्थवादी हैं। वे विवेकरहित ज्ञान तथा झूठे आदर्श के विरोधी हैं।

मैं सारा विश्व-ब्रह्मांड हूं—विवेक-रहित बात है। आत्मज्ञानी अचेती में रहता है—झूठा आदर्श है। मैं सबका द्रष्टा जड़ से सर्वथा पृथक शुद्ध चेतन हूं—विवेकज्ञान है। प्रकृति-माया से अनासक्त रहना मात्र—जीवत मृतक होना है। ज्ञानी समाधिकाल में संकल्प-शून्य होता है, अचेत नहीं।

स्वयं बंधे देवताओं की उपासना से बन्धन नहीं कटेगा

रमैनी-9

बाँधे अष्ट कष्ट नौ सूता। यम बाँधे अँजनी के पूता॥ 1॥
यम के बाहन बाँधे जनी। बाँधे सृष्टि कहाँ लौं गनी॥ 2॥
बाँधेउ देव तैंतीस करोरी। सँबरत लौह बन्द गौ तोरी॥ 3॥
राजा सँबरे तुरिया चढ़ी। पन्थी सँबरे नाम ले बढ़ी॥ 4॥
अर्थ बिहूना सँबरे नारी। परजा सँबरे पुहुमी झारी॥ 5॥
साखी—बन्दि मनावै ते फल पावै, बन्दि दिया सो देय।
कहैं कबीर सो ऊबरै, जो निशिबासर नामहिं लेय॥ 9॥

शब्दार्थ—सूता=रस्सी, बन्धन। अंजनी=माया। जनी=पैदा हुई सृष्टि। सँबरत=स्मरण करते। राजा=ब्रह्मज्ञानी।

भावार्थ—कष्टदायी आठ-नौ रस्सियों में जीव बंधे हैं। वासना ने माया के गुलामों को बांध लिया है॥ 1॥ वासना के हाथों सभी देहधारी बंधे हैं। कहां तक गिनाऊं, सारी सृष्टि ही बंधी है॥ 2॥ संसारियों को जिनके स्मरण से कठिन बन्धन के टूट जाने का भरोसा है, वे तैंतीस करोड़ देवता स्वयं बंधे हैं॥ 3॥ ब्रह्मज्ञानी जन तुरीय अवस्था में आरूढ़ होकर अहं ब्रह्मास्मि का स्मरण करते हैं और नाना संप्रदाय के लोग अपने-अपने मान्य नाम का स्मरण करते हुए अपने साधना-पथ में बढ़ रहे हैं॥ 4॥ अपने में नारीत्व की कल्पना कर माधुर्यभक्ति करने वाले धनादि की कामना से रहित होकर केवल कल्पित पति की प्राप्ति के लिए उसका स्मरण करते हैं। इस प्रकार पृथ्वी की पूरी प्रजा किसी-न-किसी प्रकार किसी देवता की पूजा एवं स्मरण-वन्दन करती है॥ 5॥

जो बंधे हुए की वन्दना करेगा, वह फल में बन्धन ही पायेगा, क्योंकि बंधा हुआ बन्धन ही दे सकता है। सद्‌गुरु कहते हैं कि उपासकों की यही धारणा है कि जो रात-दिन नाम जपेगा वही संसार-सागर से पार होगा॥ 9॥

अथवा वंदि का अर्थ यदि वन्दना माना जाये तो अर्थ होगा कि जो वन्दना कर भगवान को प्रसन्न करेगा वही मुक्ति पायेगा, क्योंकि जिसने बन्धन दिया वही मुक्ति दे सकता है। तुम्हीं ने दर्द दिया, तुम्हीं दवा देना। अतः रात-दिन नाम जपने वाला ही उद्धार पायेगा (यह उपासकों का मत है)।

व्याख्या—पूरी रमैनी पर सरसरी निगाह डालने पर स्पष्ट हो जाता है कि सद्‌गुरु यह बताना चाहते हैं कि सारे जीव बन्धनों में बंधे हैं और उनसे छूटने के लिए वे उनकी ही वन्दना कर रहे हैं जो खुद बन्धनों में बंधे हैं, या वे नाम-जपादि छिछली साधना में पड़े हैं।

कष्टदायी आठ और नौ सूतों-रस्सियों में जीव बंधे हैं। ये आठ-नौ शब्द संख्यावाचक हैं; परन्तु इन शब्दों से सद्‌गुरु किन बन्धनों की संख्या बताना चाहते हैं, स्पष्ट नहीं है। इसलिए इनके अर्थ में टीकाकार जो भी संख्या दें, सर्वसम्मत बन्धन के रूप होना चाहिए। आठ का अर्थ पांच तत्त्व तथा तीन गुण की अष्टधा प्रकृति भी हो सकता है, आठ सिद्धि[1] और हठयोग के आठ अंग[2] भी हो सकते हैं। इसी प्रकार और कुछ। नौ की संख्या में पांच विषय और चतुष्टय अंतःकरण लिए जा सकते हैं, नौ निद्धियां[3] तथा नौधा भक्ति[4] भी ली जा सकती है।

अष्टधा प्रकृति तथा अष्ट सिद्धि तो बन्धनरूप हैं, परन्तु हठ योग के आठ अंग भी अध्यात्म-चिन्तन से हटाकर केवल शारीरिक व्यायाम में लगाते हैं इसलिए बन्धनरूप ही हैं। हां, योगदर्शन के अष्टांग योग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि कल्याणप्रद हैं। पंच विषय और चतुष्टय अन्तःकरण की नौधा तथा नौ निद्धियां बन्धनप्रद हैं ही, किन्तु स्वरूपज्ञान से दूर रखनेवाली नौधा भक्ति भी बन्धनरूप ही है। भक्त लोग दिन भर भगवान (मूर्तियों) को जगाने, नहलाने, कपड़ा पहनाने, खिलाने, आरती उतारने, सुलाने आदि के बालवत खटपट में ही रत्नतुल्य समय बिता देते हैं।

यम उसे कहते हैं कि जो जीव को बन्धन दे। मन की अविद्या एवं विषय-वासनाएं ही जीव को बांधती हैं; अतः यही यम हैं। अंजनी का अर्थ है माया।

---

1. अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्रकाम्य, दर्शित्व तथा वशित्व।
2. लय, तारक, अमनस्क, सांख्य, लंबिका, राज, कुण्डली तथा हठ
3. पद्म, महापद्म, कच्छप, नील, मकर, मुकुन्द, शंख, खर्ब और कुंद। (अमर कोष)
4. श्रवण, कीर्तन, नाम स्मरण, पाद सेवन, अर्चन, वन्दन, दास भाव, सखापन तथा आत्मनिवेदन।

जो अंजनी का पूत है, माया का गुलाम है, वही यम के हाथों, वासनाओं के हाथों में बंधता है। यदि साधक सावधान न रहे तो वे नर-नारी भी बन्धनों में बांधने वाले यम हो जाते हैं जो अविद्या और वासनाओं में डूबे हैं। अविवेकी दूसरों को बन्धन ही देता है।

'जनी' का अर्थ है पैदा हुई। अर्थात पैदा हुई सारी सृष्टि के मनुष्य यम के हाथों एवं वासनाओं के पाशों में बंधे हैं।

लोग देवताओं की प्रार्थना, उपासना एवं पूजा कर अपने कठिन बंधनों से मुक्त होना चाहते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि वे सब देवता स्वयं वासनाओं के बन्धन में बंधे हैं। गुलामों की सेवा कर किसने मुक्ति पायी है !

पुराणों के अनुसार तैंतीस कोटि देवता हैं[1] किन्तु वे सब वासनाओं के अधीन हैं। वाल्मीकि जी कहते हैं—"देवलोक की तो यही स्थिति है और देवताओं का यह शाश्वत मत है कि किसी अप्सरा का कोई पति नहीं होता और देवता भी एक स्त्री से बंधकर नहीं रहते।"[2] देवताओं के राजा स्वयं इन्द्र ने पुलोम नामक दानव की सुन्दरी कन्या शची का अपहरण कर उसे अपनी पत्नी बना ली और शची के संभावित पति की तथा उसके पिता पुलोम की हत्या कर दी। सभी देवताओं में श्रेष्ठ विष्णु वृन्दा के साथ छलपूर्वक यौनाचार करते हैं और जब वृन्दा जान जाती है तब उन्हें कुपित होकर शाप देती हैं। पुराणों को देखिये प्रायः सारे देवता वासना के अधीन होकर क्या-क्या कर्म करते हैं। सद्गुरु कहते हैं इनके पूजा-जप से मनुष्यों के बन्धन टूटेंगे नहीं, प्रत्युत दृढ़ होंगे।

ब्रह्मज्ञानी, जो अपने आप को ज्ञानियों में श्रेष्ठ मानते हैं, तुरीय अवस्था में आरूढ़ होकर अहं ब्रह्मास्मि का स्मरण करते हैं, परन्तु वे अपने शुद्ध चेतन-स्वरूप को जड़ जगत से पृथक नहीं समझते। वे चराचर विश्व को अपना ही

---

1. शतपथ ब्राह्मण के अनुसार देवता तैंतीस हैं—आठ वसु (धर, ध्रुव, सोम, विष्णु, अग्नि, वायु, प्रत्यूष तथा प्रभास); ग्यारह रुद्र (हर, बहुरूप, अम्बक, अपराजित, कपर्दी, रैवत, मृगव्याध, वृषाकपि, शंभु, शर्व और कपाली); बारह आदित्य (धाता, अर्यमा, मित्र, वरुण, इन्द्र, विवस्वान, पूषा, क्रतु, अंश, भग, त्वष्टा तथा विष्णु); इन्द्र एवं प्रजापति। इनमें एक देवता के पीछे निन्यानबे लाख, निन्यानबे हजार, नौ सौ निन्यानबे की संख्या अधिक जोड़कर लोगों ने देवताओं की संख्या तैंतीस करोड़ कर डाली। बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार अग्नि, पृथ्वी, वायु, अंतरिक्ष, सूर्य, देवलोक, चन्द्रमा और नक्षत्रगण—आठ वसु हैं। दस इद्रियां या दस प्राण तथा मन—ग्यारह रुद्र हैं। बारहों महीने आदित्य हैं। गरजने वाला बादल इन्द्र है। यज्ञ प्रजापति है। ये ही तैंतीस देवता हैं। (बृहदारण्यक उपनिषद् 3/9)
2. देवलोक स्थितिरियं सुराणां शाश्वती मता।
पतिरप्सरसां नास्ति न चैक स्त्रीपरिग्रहः॥ (वाल्मीकीय रामायण 7/26/39-40)

स्वरूप मानकर बन्धनों में उलझ जाते हैं। लोग अपने-अपने संप्रदाय की सीमित मान्यताओं में ही अपनी बुद्धि बांध देते हैं। मान्यताओं से ऊपर उठकर सबके मानने वाले अपने चेतन स्वरूप को न समझ पाते हैं और न उसमें स्थित हो पाते हैं।

कुछ ऐसे भी अजीबोगरीब साधक होते हैं जो अपने ऊपर एक पति की कल्पना करते हैं और स्वयं को नारी या उसकी पत्नी मानते हैं। वे 'अर्थ बिहूना' भक्ति करते हैं। अर्थात धन की इच्छा छोड़कर केवल उस कल्पित पति को पाना चाहते हैं। 'अर्थ बिहूना सँबरे नारी' का अर्थ यह भी हो सकता है कि ये पुरुष होकर भी नारी बने भक्त लोगों का सुमिरन-भजन 'अर्थ बिहूना' अर्थात निष्प्रयोजन है।

अपने आप को किसी कल्पित पति की पत्नी मानना भक्ति मार्ग में बहुत घटिया ही नहीं, दूषित चिन्तन है और रसिक मन वालों द्वारा गढ़ा गया है। 'हरि मोर पिउ मैं राम की बहुरिया' बीजक के इस 35वें शब्द की सभी पंक्तियों पर पूर्ण ध्यान न देने से आलोचक लोग कबीर साहेब को भी रसिक भक्ति में सम्मिलित कर देते हैं, जबकि उन्होंने यह शब्द कुसंस्कार-जनित तथाकथित इस भक्ति का खण्डन करने के लिए ही कहा है। श्री मदन साहेब भी ऐसे लोगों की चुटकी लेते हुए कहते हैं—

"सुनो सखी एक बात मोरि तुम, कहां खसम ठहरायव जी॥"[1]

इस रमैनी में दो मुख्य विषयों पर प्रकाश पड़ता है—बन्धन और बंधे हुए की वंदना। अभिप्राय है इन दोनों का त्याग करना। बन्धनों से छुटकारा विवेकज्ञान तथा विषय वासनाओं के त्याग से होता है, किसी दूसरे के स्मरण और नाम-जप से नहीं।

वासनाओं का त्याग अमृतस्थिति है

रमैनी-10

राही ले पिपराही बही। करगी आवत काहु न कही॥ 1॥
आई करगी भौ अजगूता। जन्म जन्म यम पहिरे बूता॥ 2॥
बूता पहिरि यम कीन्ह समाना। तीन लोक में कीन्ह पयाना॥ 3॥
बाँधेउ ब्रह्मा विष्णु महेशू। सुर नर मुनि औ बाँधु गणेशू॥ 4॥
बाँधे पवन पावक औ नीरू। चाँद सूर्य बाँधेउ दोउ बीरू॥ 5॥
साँच मंत्र बाँधे सब झारी। अमृत वस्तु न जानै नारी॥ 6॥

---

1. शब्द विलास, संस्करण 1965।

साखी—अमृत वस्तु जानै नहीं, मगन भया सब लोय।
कहहिं कबीर कामों नहीं, जीवहि मरण न होय॥ 10॥

शब्दार्थ—राही=कर्मी जीव। करगी=माया। अजगूता=आश्चर्य। अमृत वस्तु=अमर जीव।

भावार्थ—हिलते हुए पीपल के पत्ते के समान चंचल मन, कर्मों की राह पर चलने वाले जीवों को लेकर बह गया। परन्तु यह किसी ने नहीं कहा कि यह माया का आक्रमण है॥ 1॥ आश्चर्य हुआ कि माया ने आकर जीव को ढक लिया। जन्म-जन्मान्तरों से या कहना चाहिए अनादिकाल से मन रूपी यम ने वासना का शक्तिशाली जामा पहन रखा है॥ 2॥ अविद्या का बलपूर्ण जामा पहनकर मन सब में समाया हुआ है और त्रिगुणी जीवों के अंत:करण में उसी का निरंतर गमनागमन होता रहता है॥ 3॥ इसने ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सुर, नर, मुनि और गणेश को भी बांध लिया है॥ 4॥ प्राणायाम साधने वाले योगी, अग्नि पूजक कर्मकांडी, तीर्थादि जल का आचरण करने वाले उपासक, इतना ही नहीं, कर्मयोगी और कर्मसंन्यासी रूपी दो वीरों को भी मन ने बांध रखा है॥ 5॥ मन:कल्पित शब्दों के मंत्रजाल ने समस्त जीवों को बांध रखा है। नारी बने लोग अमृत वस्तु से अजानकार हैं॥ 6॥

लोग अमृत वस्तु नहीं जानते, विषय-वासनाओं में डूब रहे हैं। सद्गुरु कबीर कहते हैं कि जीव ही अमृत वस्तु है। न उसमें कामना है और न मृत्यु; अथवा कामना त्याग देने पर जीव अमृत तत्त्व को प्राप्त हो जाता है॥ 10॥

व्याख्या—राही जीव हैं, जो कर्मपथ पर अनादिकाल से भटक रहे हैं। मन पिपराही है, पीपल के पत्ते के समान तनिक-से वासना-वायु में हिलने वाला। यह चंचल मन जीवों को लेकर रात-दिन बहता रहता है। साधारणतया कौन समझता है कि मन का वासनात्मक बहाव करगी है—माया है।

आप करगी का अर्थ चाहे बाढ़ करें, चाहे कर से, हाथ से बनाये हुए बन्धन करें, चाहे और कुछ; परन्तु करगी बांधने वाले को ही कहा गया है। अतएव सारत: करगी का अर्थ माया या बन्धन ही है।

यह बात अचरज की है कि समर्थ चेतन जीव उस मन में बंधा है जिसका स्वरूप ही भासमात्र एवं कल्पनामात्र है। यह कल्पित मन जीव पर कैसे हावी हो गया, सद्गुरु इसका समाधान करते हैं "जन्म-जन्म यम पहिरे बूता" यह मन ही यम है। यह जन्म-जन्मान्तरों से विषय की खुराक पाते-पाते बलवान हो गया है। इसने बूता का, साहस का एवं बल का जामा पहन लिया है। अर्थात अनादिकाल के विषय-अभ्यासवश मन की वासनाएं बलवान हो गयी हैं।

विषय-वासना का मजबूत बख्तर पहनकर मन सब में घुसा है। मन विषय-वासनाओं के कारण बलवान है और सबके अन्दर विद्यमान है। वह रजोगुणी और तमोगुणी जीवों को तो नचाता ही है, स्वरूपज्ञान-रहित सतोगुणी जीवों को भी नचाता है। तीन लोक का अर्थ तीन गुण हैं, जिनके प्रभाव में जीवों की तीन श्रेणियां हैं। जो स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति की प्राप्ति में आड़े आये, रोड़ा बने, वह सात्त्विक कर्म भी मन का बन्धन ही है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेशादि समस्त देवसंज्ञक जन की क्रियाएं भी मन के जाल से बाहर नहीं हैं, फिर ऋषि-मुनि और साधारण मनुष्यों की बातें तो कहना ही क्या !

सारे देवता मन की कल्पना की उपज हैं, परन्तु पुराणों में देवताओं का जहां व्यक्तिकरण किया गया है, वहां उनका चरित्र सर्वथा उज्ज्वल नहीं है। अधिकतम ऋषि-मुनियों की भी यही बातें हैं। अतएव सद्गुरु कबीर कहते हैं कि ये सब मन के बन्धनों में बंधे हैं।

"बाँधे पवन पावक औ नीरू। चाँद सूर्य बाँधेउ दोउ बीरू।" इस चौपाई में पवन, पावक, नीर, चांद और सूर्य के नाम हैं जो सर्वथा जड़ हैं। ये अपने प्राकृतिक नियमों में बंधे हैं। इनमें न चेतना है और इसलिए न मन है। अतः इन पर वासना या मन का बन्धन बन नहीं सकता। वैसे पुराणों में पवन, अग्नि, वरुण (जल), चन्द्रमा और सूर्य नाम के व्यक्ति देवता का भी चित्रण है। सद्गुरु कहते हैं इन्हें भी मन की वासनाओं ने बांध रखा है। इनके चरित्र-चित्रण भी प्रायः उज्ज्वल नहीं है।

बीजक की अपनी विलक्षण शैली है। यहां पवन से अभिप्राय है पवन रोकने वाले, प्राणायाम साधने वाले योगी। पावक से अभिप्राय है अग्नि पूजक एवं हवन-तर्पण करने वाले कर्मकांडी। नीरू का अभिप्राय है नीर—गंगा, यमुना, नर्मदादि नदियों के जल में स्नान कर पापों से छूटने की इच्छा रखने वाले तथा तीर्थ और देवादि की पूजा करने वाले भक्त। सद्गुरु कहते हैं ये सब मन के ही आयाम में बंधे हैं। स्वरूपबोध एवं आत्मबोध में जो पहुंच जाता है, वह मन के आयाम से, मन के बन्धनों से ऊपर उठ जाता है।

"चाँद सूर्य बाँधेउ दोउ बीरू" यहां चांद और सूर्य क्या हैं? चांद शीतल है और सूर्य गरम। चांद का अर्थ कर्मयोगी तथा सूर्य का अर्थ कर्मसंन्यासी किया गया है। कर्मयोगी का अर्थ है कर्म करते हुए अनासक्त रहना और यह काफी सरल रास्ता है, इसलिए इसे चांद शब्द से व्यक्त किया गया, और कर्म-संन्यास का अर्थ है कर्म करना ही नहीं। यह कठिन पथ है, इसलिए इसे सूर्य शब्द से व्यक्त किया गया।

सद्‌गुरु कहते हैं कि यदि अपने अमृत स्वरूप का बोध नहीं है तो उक्त दो वीर कर्मयोगी तथा कर्मसंन्यासी भी मन के जाल में बंधे हैं।

अंततः सद्‌गुरु कहते हैं कि सत्य को शब्दों के जाल ने बांध रखा है। "साँच मंत्र बाँधे सब झारी।" मननात् मन्त्रः, जो मनन से, विवेक से सिद्ध हो, वह मंत्र है, परन्तु मंत्रों के नाम पर बकवास शुरू हो गयी। जिनसे विवेक तथा विश्व के शाश्वत नियमों से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है, ऐसे भावों को व्यक्त करने के लिए मनमाने शब्द गढ़ लिये गये और वे मंत्र के नाम पर चलाये जाने लगे। यहां मंत्र का अभिप्राय है ईश्वर–वचन, शास्त्र–वचन, आप्त–वचन तथा प्रमाण–वचन। चतुर मनुष्यों द्वारा प्रभु–वचन तथा शास्त्र–वचन के नाम पर जनता की बुद्धि का शोषण किया जाने लगा। सत्य ज्ञान तथा मानवता के बिलकुल विरोधी बातों को ईश्वर–वचन और शास्त्र–वचन कहकर मनुष्यों पर बलात थोपा जाने लगा। उन वचनों पर विचार करने वालों को नास्तिक, काफिर, नापाक आदि कहा जाने लगा। मनुष्य अपने ही बनाये वाणीजाल में उलझ गया। "आपुहि बरि आपन गर बंधा।"[1] सत्य चेतन को उसी के बनाये मंत्र ने, शब्द–जाल ने बांध लिया।

"अमृत वस्तु न जानै नारी" नारी बने हुए लोग अपने अमृतस्वरूप को नहीं समझ सकते। 'मृत' में 'अ' उपसर्ग लगाकर 'अमृत' शब्द बना है। मृत कहते हैं जड़ को। उसमें 'अ' उपसर्ग लग जाने पर उसका उलटा अर्थ हो जाता है 'चेतन'। चेतन ही अमृत है, अमर है, अपना शाश्वत स्वरूप है परन्तु जो लोग किसी कल्पित पुरुष को अपना पति मानकर अपने आप को उसकी नारी या पत्नी मानते हैं, उन्हें खाक अपने अमृतस्वरूप का बोध होगा ! वे तो स्वरूपज्ञान के विरोधी एक कुसंस्कार लेकर जीते हैं। इसलिए सद्‌गुरु इस रमैनी में कहते हैं—

अमृत वस्तु जानै नहीं, मगन भया सब लोय।
कहहिं कबीर कामों नहीं, जीवहि मरण न होय॥

जो मन की कल्पित मान्यताओं में डूबे हैं वे अपने गरिमामय अमृत–स्वरूप को नहीं समझ सकते। जो कल्पित देवताओं का पशु बना है, जिसे घुटने टेककर रोना–गिड़गिड़ाना ही भाता है, जो पत्नी बनने का घृणित स्वांग भरता है, वह अपने सर्वोच्च अमृतपद को क्या समझ सकता है ! अपनी महत्तम दशा को समझने के लिए मन–यम के बनाये सारे जालों को तोड़ना पड़ेगा। सारे देवता और पति मानव की अपनी हीनभावना से पैदा हुए मन के ही विकार हैं। इनसे ऊपर उठे बिना अपने अमृतस्वरूप में स्थित नहीं हुआ जा सकता।

---

1. बीजक, रमैनी 33

"कहहिं कबीर कामों नहीं, जीवहि मरण न होय" जीव के शुद्धस्वरूप में कामना-मल नहीं है और उसका मरण नहीं होता। यह है क्रमशः व्यवहार और सिद्धान्त। जीव का मरण नहीं होता, वह अमृत है, यह अमृत का सिद्धान्त है और कामनाओं का त्याग कर देना, यह अमृत का व्यवहार है।

सिद्धान्ततः जीव का स्वरूप अमृत है; परन्तु व्यवहारतः कामनाओं, विषयवासनाओं का त्याग करना अमृत है। हमें अपने अमृतस्वरूप का ज्ञान तो है, परन्तु हम कामना-विजयी नहीं हैं, हमने वासनाओं पर विजय नहीं पायी है, तो हमें अमृतत्व का अनुभव नहीं होगा।

पहली बात है अपने पूर्ण स्वतन्त्र चेतन-स्वरूप का बोध और दूसरी बात है स्वरूप से भिन्न सारी कामनाओं का त्याग—बस यही है अमृत-तत्त्व। यही है मनुष्य का चरम एवं परम लक्ष्य।

इस रमैनी में मुख्य दो बातें उभरकर आती हैं, एक है वासनाओं की प्रबलता में त्रिगुणी जीवों के बहने का चित्रण, और दूसरा है वासनाओं से ऊपर अपने अमृत चेतन-स्वरूप की पहचान तथा स्थिति।

भ्रांति और विषय-वासनाओं की नींद तोड़ो

रमैनी—11

आँधरि गुष्टि सृष्टि भइ बौरी। तीन लोक में लागि ठगौरी॥ 1॥
ब्रह्मा ठगो नाग कहँ जाई। देवता सहित ठगो त्रिपुरारी॥ 2॥
राज ठगौरी विष्णु पर परी। चौदह भुवन केर चौधरी॥ 3॥
आदि अंत जाकी जलक न जानी। ताकी डर तुम काहेक मानी॥ 4॥
वै उतंग तुम जाति पतंगा। यम घर कियेउ जीव को संगा॥ 5॥
नीम कीट जस नीम पियारा। विष को अमृत कहत गँवारा॥ 6॥
विष के संग कौन गुण होई। किंचित लाभ मूल गौ खोई॥ 7॥
विष अमृत गौ एकै सानी। जिन जानी तिन विष कै मानी॥ 8॥
काह भये नर शुद्ध बेशुद्धा। बिन परिचय जग बूड़न बुद्धा॥ 9॥
मति के हीन कौन गुण कहई। लालच लागी आशा रहई॥10॥

साखी—मुवा है मरि जाहुगे, मुये की बाजी ढोल।
सपन सनेही जग भया, सहिदानी रहिगौ बोल॥ 11॥

शब्दार्थ—गुष्टि=गोष्ठी, सभा। जलक=ब्रह्मा। सहिदानी=पहचान।

भावार्थ—सभा अंधी है और दुनिया पगली है। सत, रज, तम तीनों गुणों के मनुष्य ठगे जा रहे हैं॥ 1॥ ब्रह्मा ठगे गये, नाग ठगे गये और देवताओं के सहित महादेव जी ठगे गये॥ 2॥ चौदह भुवनों के चौधरी विष्णु पर राज-काज

चलाने की राजनीतिक ठगौरी पड़ी॥ 3॥ जिसका आरम्भ और अंत ब्रह्मा नहीं जान सके, उसका भय तुम क्यों मानते हो !॥ 4॥ वह ऊंची अग्नि-शिखा है और तुम उसमें कूदकर जलने वाले पतिंगे हो। तुमने अपनी आत्मा को यम के घर में झोंक दिया है॥ 5॥ जैसे नीम के कीड़ों को नीम ही प्यारा लगता है, वैसे मूढ़ जीव विषयों को, जो विषतुल्य हैं, अमृत कहता है॥ 6॥ विषयों के भोगों में क्या लाभ होगा। उसमें क्षणिक इंद्रिय-सुख का भ्रम-जन्य लाभ दिखता है, किन्तु आत्मशांति रूप मूलधन खो जाता है॥ 7॥ अविवेकी आदमी विष और अमृत को एक ही में मिला देता है; किन्तु जिसको सही परख हो जाती है वह विषयों को विष के समान समझकर उन्हें त्याग देता है॥ 8॥ तथाकथित ऊंच और नीच जातियों में पैदा होने से क्या हुआ; बिना सत्यासत्य परख हुए जगत के बड़े-बड़े बुद्धिमान और विद्वान भी मोह-सागर में डूब रहे हैं॥ 9॥ विवेकहीन आदमी सद्गुणों का क्या विचार करेगा ! उसे तो विषयों की लालच और आशा लगी रहती है॥ 10॥

पहले के लोग मर चुके हैं, तुम भी आज-कल में मर जाओगे। मुये चाम का ही तो ढोल बनकर बजता है। संसार तो स्वप्न में मिले हुए मित्र की तरह एक धोखा है। मनुष्य के मर जाने के बाद उसके विषय में अच्छी और बुरी चर्चा ही, कुछ दिनों के लिए उसकी पहचान रह जाती है॥ 11॥

व्याख्या—"आँधरि गुष्टि सृष्टि भइ बौरी"—गुष्टि का अर्थ है गोष्ठी, सभा, मंडली, समाज, समूह, वार्तालाप आदि। सद्गुरु कहते हैं कि अनेक जगह देखा जाता है कि धर्म के नाम पर पूरी सभा ही विवेक छोड़कर अंध-समर्थन में जुट जाती है। सद्गुरु ने जब उक्त पंक्ति कहीं है, तब से आज तक पांच सौ वर्ष बीत गये। आज विज्ञान अपने चरमोत्कर्ष पर है। आश्चर्य होता है कि आज भी धर्म के नाम पर चलने वाले अनेक समूह, सभा और समाज गहरे अंधविश्वास में डूबे हैं। धर्मगुरु लोग ऐसी-ऐसी बातें डंके की चोट पर चलाते हैं, जिनका विवेक, कारण-कार्य-व्यवस्था एवं विश्व के शाश्वत नियमों से दूर का भी सम्बन्ध नहीं रहता। छूमंतर के बल पर सारा काम कर देने का झांसा देकर समाज को जो बेवकूफ बनाया जा रहा है, वह चिंताजनक है। ईश्वर के नाम पर तो संसार को पागल बना दिया गया है। हर मजहब के अपने ईश्वर हैं, ईश्वर के अवतार, पैगम्बर तथा पुत्र हैं। हर मजहब के ईश्वर, भगवान एवं देव प्रार्थना और पूजा के घूस पाकर अपने भक्तों के पापों को माफ करते तथा स्वर्ग के टिकट देते हैं। लोग कर्मों के नियमों को झुठलाने में लगे हैं। चमत्कार, जो एक छल-कपट एवं बेईमानी है, उसी के बल पर मनुष्य भोग और मोक्ष दोनों चाहते हैं। यह संसार का पागलपन नहीं तो क्या है। इस छलावे में तमोगुणी, रजोगुणी

तथा सतोगुणी सभी मारे जा रहे हैं। अच्छे-अच्छे तथा ईमानदार साधक भी विवेक न होने से अन्धविश्वास में ठगे जा रहे हैं।

मन के भ्रम, अविद्या, मोह तथा राग में ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, देवता, नाग, वरुण, यक्ष, राक्षस आदि सब ठगे गये। इनकी कथाएं महाकाव्यों तथा पुराणों में पढ़कर इसके विषय में पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

"आदि अन्त जाकी जलक न जानी। ताकी डर तुम काहेक मानी॥" इस पंक्ति में आया हुआ 'जलक' शब्द ब्रह्मा का वाचक लगता है। 'जनक' पैदा करने वाले को कहते हैं और पुराणों ने ब्रह्मा को सबका जनक कहा है। 'जनक' से ही कहीं पाठभेद होकर 'जलक' हो गया हो तो आश्चर्य नहीं है। वैसे 'क' का अर्थ भी ब्रह्मा माना जाता है। जल से ब्रह्मा की उत्पत्ति की पौराणिक कल्पना ने जलक शब्द ब्रह्मा के लिए उपयुक्त बनाया हो, तो उचित ही है। सद्गुरु कहते हैं कि जिसका आदि और अन्त ब्रह्मा नहीं जानते हैं उसका भय तुम क्यों करते हो!

ऋग्वेद-काल के भी पूर्व जब लोगों ने देखा कि वर्षा, आंधी, भूचाल, अवर्षण, अतिवर्षण, जलप्लावन, दावाग्नि, अवस्थापरिवर्तन, प्रियवियोग, मरण आदि ऐसी घटनाएं हैं जो हमारी बुद्धि और बल के बाहर हैं। इसी प्रकार चांद, सूर्य, असंख्य सितारे, विशाल ब्रह्मांड इन्हें भी नहीं समझ पाते कि ये कब, कैसे, कहां से आ गये! ऋग्वेद का ऋषि भी कह बैठा—"को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः"[1] अर्थात कौन पूरा जानता है और कौन कह सकता है कि यह सृष्टि कहां से आयी!

अतएव मनुष्य ने कल्पना की, कि आकाश में ऐसे देवता बैठे नीचे की ओर हमें झांक रहे हैं जो हम पर कोप और कृपा कर सकते हैं। यदि हम इन्हें खुश कर सकें तो बहुत-से उपद्रवों से बचकर सुख पा सकते हैं। फलतः मनुष्य हवन, तर्पण, बलि आदि के द्वारा उन कल्पित देवताओं की पूजा-उपासना करने लगा। जब आदमी और सभ्य हुआ तब उन सारे देवों को एकबद्ध कर एक महान देव को मान लिया और उसकी पूजा-सेवा कर उसकी नाराजगी से बचने तथा उसके आशीर्वाद को प्राप्त करने की अभिलाषा करने लगा।

कबीर साहेब पवित्र कर्म, नैतिकता तथा आत्मज्ञान के बल से बलवान थे। वे तत्त्वदर्शी तथा निर्भीक पुरुष थे। अतएव वे कहते हैं कि हे मनुष्य! जिस कल्पित देव का आदि-अंत एवं वास्तविकता ब्रह्मा तक नहीं समझ सके उसका भय तुम क्यों करते हो? विश्व में एक कारण-कार्य व्यवस्था है। भौतिक जगत अपने नियमों से चल रहा है और जीव अपने अच्छे-बुरे कर्मों से सुख-दुख पाते हैं। तुम्हें दुख और सुख देने वाला कोई देव नहीं है। अपने ऊपर देव की

---

1. ऋग्वेद, मंडल 10, सूक्त 129, मंत्र 6।

कल्पना ही अज्ञान से उत्पन्न है। उठो, स्वरूपज्ञान में जागो, अपने कर्मों को सुधारो, किसी का भय मत करो !

"वै उतंग तुम जाति पतंगा। यम घर कियेउ जीव को संगा॥" वे तुम्हारे कल्पित देव अग्नि की ऊंची शिखाएं बन गये और तुम उनमें कूद-कूदकर जलने वाले पतिंगे। तूने अपने आप को यम के घर में झोंक दिया। वासना, कल्पना, अज्ञान ही यम हैं और तू इन्हीं में पड़ा है। किसी कल्पित देव के भय की छाया में तुम्हारा आत्म-विकास नहीं हो सकता। देवों की गुलामी से छूटे बिना न स्वरूपज्ञान हो सकता है और न उसमें स्थिति।

बंधन दो प्रकार का होता है—वाणीजाल तथा खानीजाल। सद्‌गुरु ने बीजक भर में इनको परखाया है। इस रमैनी की उक्त पांच चौपाइयों में आपने वाणीजाल का निराकरण किया। अब आगे खानीजाल का निराकरण करते हैं।

नीम के कीड़ों को नीम ही प्रिय है, गोबरैले कीड़े गोबर तथा मल को ही प्रिय मानते हैं। विषयों में डूबे हुए जीवों की दशा यही है। उन्हें इन्द्रियों की उत्तेजना तथा मलिन विषयों का सेवन ही अमृत लगता है। परन्तु इनमें भासता हुआ सुख भ्रमजन्य एवं क्षणिक है और इसके फल में घोर आत्मपतन है। यह अनोखा जीवन मलिन विषयों के सेवन के लिए नहीं है। यह आत्मानन्द का अमृतरस पीने के लिए है। पूज्य श्री रामरहस साहेब की भाषा में आनन्द का सागर वही होता है जो विषयों की अहंता से रहित होता है 'आनंदसिंधु अहंतातीता।'

लोग विष और अमृत के भेद को नहीं समझ पाते। भूल से विषय-विष को ही अमृत माने रहते हैं। वे मनुष्य धन्य हैं, पूजनीय तथा वंदनीय हैं, जो विषयों को विषतुल्य समझकर उनका सर्वथा त्याग करते हैं। शुद्ध और अशुद्ध जाति कहलाने से क्या होता है, बिना विवेक सब विषयों की मलिनता में डूब रहे हैं। अथवा 'काह भये नर शुद्ध बेशुद्धा' शुद्ध मानव शरीर पाकर क्या हुआ, जब वह अशुद्ध विषयों में ही लीन है। बड़े-बड़े विद्वान तथा बुद्धिमान भी बिना यथार्थ परख के घिनौने कर्मों के सागर में गोते लगा रहे हैं और संसार में हास्यास्पद हो रहे हैं। यही है विवेकहीनता। ऐसे जीव विषयों के लोभ और आशा की रस्सी में बंधे हुए संसार भवाटवी में भटकते हैं।

विषयों के प्रति घृणा दिखाकर सद्‌गुरु चेतावनी देते हैं—हे मानव ! जाग ! देख, पहले के सभी लोग मर चुके हैं। बड़े-बड़े नामी-ग्रामी नहीं रहे। जिनकी हांक से दुनिया कांपती थी, उनका कहीं चिह्न नहीं दिखता। इसी प्रकार तू भी मरेगा। सपने में बहुत-कुछ मिला, परन्तु आंखें खुलने पर सपने का सारा राज्य गायब हो जाता है। सपने के प्रेमी से क्या लेना-देना ! संसार के सारे प्राणी-

पदार्थ सपने में मिले हुए के समान बिछुड़ जाने वाले हैं, अतः इनकी मोह-नींद से जागो!

तुम्हारे मर जाने पर समय रूपी बालुका पर तुम्हारे पद-चिह्न कुछ दिनों के लिए रह जायेंगे। अतः तुम ऐसे पद-चिह्न छोड़ो जिस पर चलकर लोग अमृतधाम स्वरूपस्थिति की तरफ पहुंच सकें। यही तुम्हारे जीवन का फल है।

लांगफेलो की महान तथा प्रसिद्ध सूक्ति याद आती है—"सभी महापुरुषों की जीवनियां हमें याद दिलाती हैं कि हम भी अपने जीवन को महान बना सकते हैं। जब हम महान बनकर संसार से जायेंगे, तब समय रूपी बालू पर अपने पदचिह्न छोड़ जायेंगे।"[1]

इस रमैनी में अन्धविश्वास और विषयों के मोह का निराकरण कर वैराग्य की प्रेरणा है।

माया से बचो

रमैनी-12

माटिक कोट पषाण को ताला। सोइक बन सोई रखवाला॥ 1॥
सो बन देखत जीव डेराना। ब्राह्मण वैष्णव एकै जाना॥ 2॥
ज्यों किसान किसानी करई। उपजे खेत बीज नहिं परई॥ 3॥
छाँड़ि देहु नर झेलिक झेला। बूड़े दोऊ गुरू औ चेला॥ 4॥
तीसर बूड़े पारथ भाई। जिन बन डाहे दवाँ लगाई॥ 5॥
भूँकि भूँकि कूकुर मरि गयऊ। काज न एक सियार से भयऊ॥ 6॥
साखी—मूस बिलाई एक संग, कहु कैसे रहि जाय।
अचरज एक देखो हो संतो, हस्ती सिंहहि खाय॥ 12॥

शब्दार्थ—झेलिक झेला=वाणी का धकापेल, प्रापंचिक वाणी। पारथ=पारधी, शिकारी। दवाँ=दावाग्नि। कूकुर=वाचिकज्ञानी। सियार=डरपोक, आचरणहीन।

भावार्थ—जड़ शरीररूपी किला में जड़बुद्धि का ही ताला लगा है। यह जंगल जीव का ही बनाया है और वही इसका रखवाला है॥ 1॥ इस अपने बनाये वन-विस्तार को देखकर इसके सम्भावित विनाश एवं बन्धनों से जीव भयभीत हो गये और उससे उद्धार पाने के लिए ब्राह्मणों और वैष्णवों के पास गये, किन्तु ब्राह्मणों और वैष्णवों को एक ही प्रकार देवी-देवादि की कल्पनाओं

---

1. Lives of greatmen all remind us.
   We can make our lives sublime.
   And departing leave behind us.
   Footprints on the sands of time.

में उलझे हुए समझो॥ 2॥ जैसे किसान खेती करता है और उसकी अनभिज्ञता से खेत में डंठल तो खूब पैदा हों, परन्तु उनमें दानें न लगें, इसी प्रकार गुरुओं के वाक्यजाल का विस्तार तो बहुत हो जाये, किन्तु उसमें तत्त्वबोध एवं स्वरूपज्ञान न हो, तो वाक्यजाल निरर्थक ही है॥ 3॥ अतएव हे कल्याणेच्छुक ! केवल रोचक वाक्यजाल का धकापेल छोड़ो। इसमें पड़कर तो गुरु और चेले दोनों डूब जाते हैं॥ 4॥ हे भाई ! तीसरे वे वंचक उपदेशक रूप शिकारी भी डूबते हैं जो संसार रूपी वन में अज्ञान की अग्नि लगाकर उसे भस्म कर रहे हैं॥ 5॥ वंचक गुरु श्वानवत भूंक-भूंककर मरते हैं, किन्तु डरपोक गीदड़ क्या क्रांति करेंगे !॥ 6॥

कहो भला, बिल्ली के साथ में चूहे की जान कैसे बच सकती है? अर्थात जीव माया से सम्बन्ध कर कैसे सुरक्षित रह सकता है? हे सन्तो ! एक आश्चर्य देखता हूं कि हाथी सिंह को खा रहा है, अर्थात मन-माया जीव को पतित कर रही है॥ 12॥

व्याख्या—यह शरीर मिट्टी का कोट है और इसमें पत्थर का ताला लगा है। शरीर तो जड़ है ही और जब इसमें बुद्धि भी जड़ रहती है, तब कल्याण की क्या उम्मीद की जा सकती है ! आदमी ने अपने जड़ शरीर में जड़बुद्धि का ताला लगा रखा है। जड़बुद्धि का अर्थ है बिना विवेक किये कुछ भी मान लेना। कितने लोग सोचना, विचारना, चिन्तन करना पाप समझते हैं। चोर सूरज से इसलिए नफरत करता है कि उसके उगने पर उसका प्यारा अंधकार गायब हो जायेगा और उसे चौरत्व कर्म करने की गुंजाइश नहीं रह जायेगी। कितने लोग निर्णय-वचन तथा तत्त्व-विवेकपूर्ण सत्संग एवं सद्ग्रन्थों से इसलिए दूर रहते हैं कि इनसे उनका कर्मकांड उड़ जायेगा।

जड़ता मृत्यु है एवं गतिशीलता जीवन। अंधविश्वास जड़ता है, चिंतन गतिशीलता है। सद्गुरु कहते हैं कि जड़बुद्धि का ताला मत लगाओ। सदैव विवेक एवं परख को श्रेय दो। हर जगह असत्य का त्याग तथा सत्य का ग्रहण करो।

"सोइक बन सोई रखवाला" यह शरीर तथा शरीर से सम्बन्धित घर, धन, परिवार तथा मन ही मान्यताएं एक महान वन है, जो जीव का सृजा हुआ है। जीव ही इस वन का पोषक और रक्षक है। परन्तु अपने ही बनाये इस महारण्य को देखकर जीव भयभीत होता है। भय के दो कारण हैं, नाश होने की संभावना और बन्धन।

शरीर नाशवान है, धन नाशवान है, परिवार नाशवान है। जितनी भौतिक चीजें हैं, जो कुछ जीव का बनाया जाल है, वन है, सब तो नाशवान है। इनके नाश की संभावनाओं को लेकर जीव भयभीत हो जाता है। जिनकी थोड़ी शुद्ध

बुद्धि होती है वह इन्हें बन्धनों के रूप में देखता है। वह इनमें बन्ध जाने के भय से भीत होता है।

भयभीत जीव ब्राह्मणों के पास जाते हैं, वैष्णवों के पास जाते हैं कि वे कुछ कृपा कर देंगे और हमारे प्राणी-पदार्थ सुरक्षित रहेंगे या हमारे भवबन्धन कट जायेंगे। परन्तु ब्राह्मण और वैष्णव एक ही इल्लत में गिरफ्त हैं। दोनों ही थोड़ा भेद रखते हुए वही कर्मकांड, वही दैववाद, वही चमत्कार और महिमा में भूलने और भुलाने वाले हैं। सारासार की सर्वथा परख, सारे अवलम्बनों को तोड़कर स्वरूपज्ञान और स्वरूपस्थिति की समझ वहां कहां है?

किसान के खेत में पौधे तो खूब उगें, डंठल बहुत हो जायें किन्तु उनमें दानें न पड़ें, तो खेत में डंठलों का बोझ होने से क्या लाभ! इसी प्रकार शास्त्र बहुत बढ़ जायें, बड़े-बड़े महाकाव्य और पुराण बन जायें, वचनों की सर्वत्र झड़ी लग जाये; परन्तु उनमें सच्चा स्वरूपबोध न हो, तो वाक्यजाल से क्या हुआ। सद्गुरु कहते हैं कि सर्वत्र वाक्यजाल का विस्तार है, किन्तु कारण-कार्य-व्यवस्था एवं विश्व के शाश्वत नियमों की परख नहीं है। धर्म के नाम पर साधक को परमुखापेक्षी ही बनाया जा रहा है। जीव को दैव-गोसैयां का मुहताज बनाकर अपने स्वरूपज्ञान से वंचित ही रखा गया है।

इसलिए सद्गुरु कहते हैं—ऐ साधक नर! तू इस वाणीजाल के झेलिक-झेला को, धकापेल को छोड़ दे। तू वाणीजाल की धकाधुकी में क्यों पड़ता है! मिथ्या महिमा की सारी वाणियां तुम्हें फंसने के जाल हैं। ऐसे वाणीजाल में फंसकर गुरु और चेले दोनों अज्ञान-सागर में डूबे हैं।

"तीसर बूड़े पारथ भाई" यहां पारथ का अर्थ है 'पारधी'। पारधी का अपभ्रंश 'पारथ' है।[1] पारधी का अर्थ है शिकार करने वाला, बधिक। तात्पर्य है धोखेबाज उपदेशक। पुराकाल से आजपर्यन्त ऐसे अनेक उपदेशक हुए और हैं जो जानबूझकर समाज को बेवकूफ बनाने में लगे रहे और लगे हैं। आगे भी वंचक उपदेशक होंगे। ऐसे लोग बुद्धि और प्रतिभा के सागर होते हैं और वे अपनी सारी बुद्धि एवं प्रतिभा जनता को बेवकूफ बनाने में लगाते हैं। वे अनेक जालसाजी अपनाकर वाचासिद्धि, कर्मसिद्धि आदि के झूठे तमाशे सत्यवत दिखाते हैं। वे अपनी वाचाली से लोगों को प्रभावित कर अपना स्वार्थ साधते हैं और जनता को सत्पथ से दूर रखते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि जैसे बधिक जंगल में आग लगाकर शिकार को घेर लेते हैं और उन्हें मारते हैं, वैसे ये वंचक

---

1. बृहत् हिन्दी कोश (ज्ञान मण्डल लिमिटेड वाराणसी) में 'पारथ' शब्द पद्य में प्रयुक्त होने वाला 'पारधी' वाचक माना गया है, जिसका अर्थ होता है शिकारी। "घर घर सावज खेले अहेरा, पारथ ओटा लेई" बीजक, शब्द 31 में भी 'पारथ' पारधी के लिए है।

उपदेशक हैं। ये संसार-वन में आग लगाने वाले और लोगों को विदग्ध करने वाले हैं।

आचरणहीन वक्ता केवल भूंक-भूंककर मरते हैं। रहनी के बिना बक-बक करना श्वानवत भूंकना ही है। अथवा कुत्ते जरा-जरा सी बातों में भूंकते हैं। भ्रमोपदेशक जरा-जरा-सी बातों में हवाई महल बनाते हैं। सार यह है कि ऐसे लोग बातें तो बहुत करते हैं, परन्तु उनमें सार बहुत कम या कुछ नहीं रहता।

'काज न एक सियार से भयऊ' गीदड़ की तरह डरपोक आदमी कौन-सी उन्नति का काम कर सकता है! डरपोक व्यक्ति न गलत बातों के प्रति विद्रोह कर सकता है और न सही रास्ते पर चलने के लिए साहस कर सकता है। ऐसा आदमी कोई भी उन्नति का काम इसलिए नहीं शुरू करता कि उसके असफल होने का भय लगा रहता है। ऐसे लोग सत्य और उन्नति-पथ के राही नहीं होते।

जैसे बिल्ली के साथ रहकर चूहे का कल्याण नहीं है, वैसे माया के साथ रहकर जीव का कल्याण नहीं है। कितने ही ज्ञानी यह समझते हैं कि भोग और योग साथ-साथ बन जायेंगे। वे राजा जनक का काल्पनिक उदाहरण देते हैं। भोगों में लगे आदमी का विवेक सो जाता है। वह योग कैसे साध सकता है! पूर्ण योग के लिए भोगों का सर्वथा त्याग करना ही पड़ेगा। कुसंग में संयम का रह पाना कठिन है। जिन प्राणी, पदार्थों, स्थान, देश, समाज आदि के संपर्क में रहने से मन में विकार आने की सम्भावना हो, उनसे दूर रहकर ही अपनी स्वरूपस्थिति बन सकती है।

सद्गुरु कहते हैं कि मैं एक आश्चर्य देखता हूं कि हाथी सिंह को खा रहा है। संसार में यह देखा जाता है कि सिंह हाथी को मार खाता है, परन्तु यहां तो हाथी ही सिंह को मारकर खा रहा है। मन हाथी है, सिंह जीव है। जीव मन को अपने अधीन रख सकता है, परन्तु उलटा हो रहा है, मन ही जीव को पतित कर रहा है।

हे समर्थ जीव! तू अपनी शक्ति को पहचान। तेरे तेज-प्रकाश के सामने मन-माया रूपी अंधकार कहां टिक सकता है! तू अपने महत्त्व को नहीं समझता, इसलिए माया-मन बलवान लगते हैं। जब तू अपने महान बल को समझकर सावधान हो जायेगा तब माया मर जायेगी और मन तुम्हारे अधीन हो जायेगा।

निस्सार भोगों को त्यागो

रमैनी-13

नहिं परतीत जो यह संसारा। दर्ब की चोट कठिन कै मारा॥ 1॥
सो तो शेषो जाय लुकाई। काहू के परतीत न आई॥ 2॥

चले लोग सब मूल गमाई। यम की बाढ़ि काटि नहिं जाई॥ 3॥
आजु काज जो काल अकाजा। चले लादि दिगन्तर राजा॥ 4॥
सहज बेचारे मूल गमाई। लाभ ते हानि होय रे भाई॥ 5॥
ओछी मति चन्द्रमा गौ अथई। त्रिकुटी संगम स्वामी बसई॥ 6॥
तबही विष्णु कहा समुझाई। मैथुन अष्ट तुम जीतहु जाई॥ 7॥
तब सनकादिक तत्त्व विचारा। जैसे रंक परा धन पारा॥ 8॥
भौ मर्याद बहुत सुख लागा। यहि लेखे सब संशय भागा॥ 9॥
देखत उतपति लागु न बारा। एक मरै एक करै विचारा॥10॥
मुये गये की काहु न कही। झूँठी आश लागि जग रही॥11॥
साखी—जरत जरत ते बाँचहू, काहु न कीन्ह गोहार।
विष विषय के खायहू, राति दिवस मिलि झार॥ 13॥

शब्दार्थ—शेषो=अंत में। लुकाई=छिप जाना, नष्ट हो जाना। बाढ़ि= प्रवाह। चन्द्रमा=मन। पारा=पाया। बारा=देरी।

भावार्थ—संसारी मनुष्यों को यह समझ नहीं पड़ती कि माया की मार कठिन है॥ 1॥ यद्यपि वह अन्त में लुप्त हो जाने वाली है, तथापि किसी को ऐसा विश्वास नहीं होता॥ 2॥ मनुष्य की मौलिकता है विवेक-विचार से जीवन बिताना; परन्तु माया के मोह में पड़कर लोग इसे खो देते हैं। लोग वासना के प्रवाह को काट नहीं पाते॥ 3॥ हे मानव ! आज तू अपना कल्याण कर सकता है। यदि तू उसे कल के भरोसे पर छोड़ता है, तो अपना अकल्याण कर रहा है। संसार के बड़े-बड़े राजे-महाराजे सारी माया यहीं छोड़कर और केवल अपने कर्मों की गठरी लादकर यहां से चले गये॥ 4॥ माया की भूल-भुलैया में पड़कर बेचारे सहज ही विवेक खो बैठते हैं। हे भाई ! माया के लाभ के व्यामोह में पड़ने से आत्मकल्याण की हानि ही होगी॥ 5॥ योगी मानते हैं कि परमतत्त्व का निवास त्रिकुटी के मध्य में रहता है और उसको पाने के लिए वे योगसाधना करते हैं, परन्तु उनमें से जिनकी बुद्धि मलिन रहती है, उनका मन विषयों में लीन हो जाता है॥ 6॥ ऐसे लोगों को विष्णु जी ने या सदाचारियों ने कहा कि तुम लोग पहले जाकर अष्टमैथुनों एवं विषयासक्ति का पूर्णतया त्याग करो॥ 7॥ तब सनकादिकों ने तत्त्वविचार किया। वे इस प्रकार खुश हुए जैसे गरीब को पड़ा हुआ अपार धन मिल जाये॥ 8॥ संसार में उनकी मर्यादा तथा महिमा हुई और उन्हें बड़ा सुख लगा। इस हिसाब से मानो उनके सारे भ्रम मिट गये॥ 9॥ परन्तु विवेक से देखने पर पता चलता है कि इस तत्त्वविचार से जन्म-मरण का दुख नहीं दूर हो सकता। माया के मोह में पड़कर एक आदमी मर रहा है, और दूसरा उसी में उलझने के लिए सोच रहा है॥ 10॥ यह कोई नहीं बताता कि 'जो लोग माया-मोह की भूलभुलैया में पड़कर मर गये, वे

धोखे में चले गये।' जो लोग जीवित रहते हैं, उनको जगत-भोगों की झूठी आशा लगी रहती है॥ 11 ॥

जन्म-मरण के ताप में जलते-जलते यह जीव बचने की भूमिका मानव-शरीर में आता है; परन्तु कोई सद्गुरु की शरण में जाकर पुकार नहीं करता, बल्कि लोग विषस्वरूप विषयों को ही रात-दिन जमकर भोगने में लगे रहते हैं॥ 13 ॥

व्याख्या—दर्ब है द्रव्य, अर्थात धन-दौलत। जब किसी तरह इसका नाश होता है तब मोहग्रस्त आदमी को बड़ी चोट लगती है। इच्छित वस्तु के नाश की चोट बड़ी करारी होती है। धन की मार से आदमी रात-दिन घुलता रहता है। परन्तु संसारी आदमी को यह समझ नहीं आती कि ऐसी दुखदायी माया में हम आसक्त न हों। धन तो सदुपयोग करने की वस्तु है, मोह करने की नहीं। धन-दौलत एवं संसार के प्राणी-पदार्थों में हम चाहे जितनी ममता करें, परन्तु "सो तो शेषो जाय लुकाई" वे तो अन्त में नष्ट होंगे ही। "सारे संग्रहों का अन्त विनाश में है, सारी उन्नतियों का अन्त पतन में है, सारे संयोगों का अन्त वियोग में और जीवन का अन्त मरण में है॥"[1] इसे कौन रोक सकता है ! परन्तु आदमी इस सम्भावित विनाश पर विश्वास नहीं करता। वह घर में लगी आग को नहीं देख पाता।

'मननात् मनुष्यः' मनन करने से यह प्राणी मनुष्य है। मनन का अर्थ है विचार-विवेक। अतः मनुष्य की मौलिकता उसके विवेक में है। मनुष्य जड़-चेतन, कर्तव्य-अकर्तव्य, ग्राह्य-त्याज्य का विवेक कर ऐसा जीवन जीये जो उसके तथा दूसरे के लिए कल्याणकारी हो, यही मनुष्य की मौलिकता है। यही मनुष्य की मनुष्यता है। परन्तु माया-मोह तथा इन्द्रियों के भोगों में उलझकर मनुष्य अपने को खो देता है 'आये थे हरि भजन को ओटन लगे कपास' वाली कहावत चरितार्थ करता है। ऐसे लोग 'यम की बाढ़ि' कैसे काट सकते हैं ! वासना यम है, बाढ़ि उसका प्रवाह है। जो विवेकहीन होकर दुनियादारी में उलझेगा, उसकी वासना का प्रवाह कहां रुक सकता है ! भोगी बनकर आशा-तृष्णा से कहां छुट्टी !

'आजु काज जो काल अकाजा' यह विशेष ध्यान देने योग्य बात है। भूत चाहे जितना आकर्षक रहा हो, वह मर चुका है और भविष्य का हमें कुछ पता नहीं है, वर्तमान ही हमारे हाथों में है। हमें चाहिए कि हम वर्तमान में अपना कल्याण करें।

---

1. सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥ (वाल्मीकीय रामायण 7/52/11)

आज हम अपनी कल्याण-साधना कर सकते हैं, आने वाले कल के भरोसे में तो अपने को खोना है। कौन जानता है कि कल क्या होगा ! इसीलिए सद्गुरु ने अन्यत्र भी कहा है—"जो कल करना है, उसे आज करो और जो आज करना है उसे अभी करो। पल में तो प्रलय हो जायेगा, फिर कब करने का अवसर आयेगा !"[1]

बड़े-बड़े राजे-महाराजे संसार से चले गये। वे क्या ले गये? पूछा गया कि पुराण क्यों लिखे गये? उत्तर दिया गया—"जिसने सूर्यवंश और चन्द्रवंश के इक्ष्वाकु, जन्हु, मांधाता, सगर और रघु के, जो सबके सब नाश को प्राप्त हो चुके हैं; ययाति, नहुष और उनके वंशजों के जो अब नाम शेष रह गये हैं और उन महा बलशाली दुर्धर्ष-विक्रम और अपरिमित वैभव वाले राजर्षियों के, जिन्हें और भी उग्रशक्ति वाले काल ने पचाकर केवल कथा मात्र बना दिया है, चरित सुने हैं, उस व्यक्ति के मन में ज्ञान का उदय होगा और वह अपनी संतान, स्त्री, गृहद्वार, भूमि और धन में ममता न करेगा।"[2]

मोहग्रस्त बने ये दीन जीव सहज ही अपनी विवेकशक्ति खो देते हैं। आत्मकल्याण और परकल्याण के लिए मानव जीवन के क्षण-क्षण दोहन करने योग्य हैं; परन्तु ऐसे रत्न समय को मनुष्य अनर्थकारी विषयस्वाद और बकवाद में गंवा देते हैं। जो संसार का ज्यादा लाभ लेना चाहेगा, उसकी हानि होनी ही है। जो संसार को समेटकर रखना चाहेगा, वह अपने आप को खो देगा। भोगों के मिथ्या आनन्द का इच्छुक चिरंतन आनन्द से वंचित रहेगा ही। विषय-विरक्त व्यक्ति "सो जन सदा अनन्दा" रह सकता है।

नाक के ऊपर तथा दोनों भौहों के बीच को त्रिकुटी कहते हैं। योगी लोग कहते हैं कि यहां ईडा, पिंगला तथा सुषुम्णा—तीनों नाड़ियों का संगम है। यौगिक भाषा में यही त्रिवेणी है। योगी लोग मानते हैं कि यहां परम तत्त्व का निवास है; अतः वे त्राटक-मुद्रा[3] कर यहां ध्यान लगाते हैं। अपने चेतन स्वरूप से पृथक त्रिकुटी में किसी परमतत्त्व की बात है तो केवल कल्पना ही; परन्तु उसमें एकाग्रता भी उसी की होगी, जो विषयों से विरक्त है।

ओछी मति वालों का चन्द्रमा डूब जाता है। चन्द्रमा मन का देवता माना गया है; अतः चन्द्रमा से मन अर्थ है। अभिप्राय है कि विषयों में प्रियता ओछी मति का लक्षण है और ऐसे विषयासक्तों का मन विषयों में लीन होगा ही।

---

1. काल करे सो आज कर, आज करे सो अब्ब।
   पल में परलय होयगा, बहुरि करोगे कब्ब॥
2. विष्णु पुराण 4/240; हिन्दू सभ्यता, पृष्ठ 161।
3. त्राटक मुद्रा का अर्थ है किसी स्थान विशेष में अपने नेत्र लगाकर एकटक देखना।

विषयलीन व्यक्ति साधनालीन नहीं हो सकता। कहा है "कबीर मन तो एक है, भावै तहाँ लगाव। भावै गुरु की भक्ति करु, भावै विषय कमाव॥"

इसीलिए विष्णु भगवान ने साधकों से कहा कि तुम पहले अष्ट मैथुनों को जीतो। "विषय स्मरण, विषय प्रशंसा, विषयोत्तेजक क्रीड़ा, विषयासक्तिपूर्वक देखना, विषयों के प्रति गुप्तवार्ता, विषयसंकल्प, विषयों के लिए निरंतर यत्न तथा स्थूल विषय क्रिया"[1] ये अष्टमैथुन हैं। जब इन सभी से साधक छूट जाता है, तब उसका मन साधना में लग सकता है।

प्रश्न हो सकता है कि विष्णु जो गृहस्थ थे और जो सदैव लक्ष्मी को साथ लेकर रहते थे, वे साधकों को अष्टमैथुन जीतने के उपदेश देने के अधिकारी कहां थे? वस्तुतः अच्छी राय तो कोई किसी को भी दे सकता है। गृहस्थ भी साधु को उन्हें अपने पथ से भटकते देखकर चेतावनी दे सकते हैं।

"रजोगुण ब्रह्मा तमोगुण शंकर सतोगुणी हरि होई।"[2] उक्ति अनुसार सतोगुणी व्यक्ति ही विष्णु है। कोई भी सतोगुणी ब्रह्मचर्य की राय दे सकता है।

उक्त उपदेश को मानकर सनक, सनंदन, सनातन, सनत्कुमार आदि ऋषियों ने पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया और तत्त्वविचार भी किया। तत्त्वविचार का अर्थ है अंतिम सत्य की समझ। सद्गुरु कहते हैं—"सनकादियों ने जो अंतिम सत्य समझा, उससे उन्हें पड़े हुए धन मिल जाने के समान बड़ा लाभ लगा। संसार में उनकी मर्यादा भी हुई। उन्हें अपनी मर्यादा में आनन्द भी आया और उनकी समझ से मानो उनके सारे भ्रम दूर हो गये। परन्तु उनका 'तत्त्वविचार' बंधनों का सर्वथा निवारण करने वाला नहीं है।" यह सब कहकर सद्गुरु कबीर एक क्रान्ति की बात करते हैं। कबीर देव कहते हैं कि सनकादिकों का तत्त्वविचार उनकी दृष्टि से भ्रमनिवारक है, परन्तु वस्तुतः भ्रमनिवारक है नहीं। मूल पंक्तियों पर ध्यान दीजिए—

तब सनकादिक तत्त्व विचारा। जैसे रंक परा धन पारा॥
भौ मर्याद बहुत सुख लागा। यहि लेखे सब संशय भागा॥

इसमें पहली चौपाई की अर्धाली "तब सनकादिक तत्त्व विचारा" है। इसके बाद आगे की डेढ़ चौपाई सनकादिकों के तत्त्वविचार पर व्यंग्य है। व्यंग्य पर पूर्ण जोर पड़ता है दूसरी चौपाई की अंतिम अर्धाली पर "यहि लेखे सब संशय भागा"—इस हिसाब से मानो इनके सब संशय भाग गये। इसका और स्पष्टीकरण होता है अगली चौपाई की पहली अर्धाली में "देखत उतपति लागु न

---

1. स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥ दक्षस्मृति 7/31॥

2. बीजक, शब्द 75।

बारा" विचार से देखने पर इस तत्त्वविचार में जन्मादि चक्कर पड़ने में देरी नहीं लगती।

सनकादिकों का तत्त्वविचार क्या है जिस पर कबीरदेव व्यंग्य करते हैं और कहते हैं कि वह पूर्ण ज्ञान नहीं है तथा वह सर्वथा भ्रम से रहित नहीं है?

वस्तुतः पीछे आठवीं रमैनी में इस पर विस्तार से विचार कर आये हैं। आत्मा की चराचर व्यापकता की अवधारणा तथा जड़-चेतन की अभिन्नता की प्रकल्पना ने सनकादिकों तथा उपनिषदों के तत्त्वविचार को गड्डमड्ड कर दिया है। आत्मा व्यापक है इस शब्द का अर्थ महिमापरक है, वस्तुपरक नहीं। एक आत्मा की व्यापकता के अवरोधक अन्य आत्माएं तथा जड़-तत्त्व हैं। संसार में कोई भी परिनिष्ठित वस्तु सर्वव्यापक हो ही नहीं सकती। यदि एक परिनिष्ठित वस्तु सर्वव्यापक हो, तो न दूसरे किसी जड़-चेतन की सत्ता होगी और न प्रवहमान जगत होगा। जड़-चेतन की अभिन्नता की धारणा तो अविद्यामूलक ही है।

कबीर देव खानी और वाणी दोनों जालों को साथ-साथ परखाते चलते हैं, यह उनकी पारखी-दृष्टि की खूबी है। वे कहते हैं कि माया-मोह एवं अविद्या में पड़कर एक मर रहा है और दूसरा उसी में फंसने के लिए सोच रहा है।

इस संसार से सबको जाना है। किसी का अपना माना हुआ कुछ भी नहीं बच रहता। जो लोग मरकर चले गये, उनका आज क्या रह गया! तो, जो लोग आज जी रहे हैं, उनकी माया की आशा क्या झूठी नहीं है!

मुक्तिदायी साधनधाम मानव-शरीर पाकर कोई सद्गुरु की शरण में जाकर पुकार नहीं करता। तात्पर्य है कि कम लोग मुमुक्षु होते हैं। लोग पतिंगे के समान विषयों में ही उलझते हैं।

इस रमैनी में माया की निस्सारता और दुखरूपता बतायी गयी है। साथ-साथ तत्त्वबोध के भ्रम पर व्यंग्यात्मक संकेत है। अंततः मुमुक्षु को निर्देश किया गया है कि वह विषयों का मोह छोड़कर सद्गुरु की शरण में लग जाये।

पुरोहितों की मानवता-विरोधी व्यवस्था की भर्त्सना

रमैनी-14

बड़ सो पापी आहि गुमानी। पाखण्ड रूप छलेउ नर जानी॥ 1॥
बावन रूप छलेउ बलि राजा। ब्राह्मण कीन्ह कौन को काजा॥ 2॥
ब्राह्मण ही सब कीन्हीं चोरी। ब्राह्मण ही को लागल खोरी॥ 3॥
ब्राह्मण कीन्हों वेद पुराना। कैसेहु कै मोहि मानुष जाना॥ 4॥
एक से ब्रह्मै पन्थ चलाया। एक से हंस गोपालहिं गाया॥ 5॥

एक से शम्भू पन्थ चलाया। एक से भूत प्रेत मन लाया॥ 6॥
एक से पूजा जैनि विचारा। एक से निहुरि निमाज गुजारा॥ 7॥
कोई काहू का हटा न माना। झूठा खसम कबीरन जाना॥ 8॥
तन मन भजि रहु मोरे भक्ता। सत्य कबीर सत्य है वक्ता॥ 9॥
आपुहि देव आपु है पाँती। आपुहि कुल आपू है जाती॥10॥
सर्व भूत संसार निवासी। आपुहि खसम आपु सुखवासी॥11॥
कहइत मोहिं भयल युगचारी। काके आगे कहौं पुकारी॥12॥
साखी—साँचहि कोई न माने, झूठहि के संग जाय।
झूठेहि झूठा मिलि रहा, अहमक खेहा खाय॥ 14॥

शब्दार्थ—खोरी=दोष। हंस गोपालहि गाया=कृष्ण को ब्रह्म कहा। हटा=समझाना, रोकना। खसम=स्वामी। खेहा=धूल।

भावार्थ—वह बड़ा पापी है जो अपने को जन्मजात पवित्र मानकर घमण्ड करता है। उसने पाखण्ड का रूप बनाकर साधारण मनुष्यों को छल लिया है॥ 1॥ एक ब्राह्मण ने अपना वामन रूप बनाकर धर्मात्मा राजा बलि को छल लिया। ब्राह्मणों ने किसका कल्याण किया?॥ 2॥ सारी चोरियां ब्राह्मणों ने ही की हैं, इसलिए उन्हीं के मत्थे सारे दोष भी लगे॥ 3॥ ब्राह्मणों ने इस ढंग से वेद-पुराण एवं शास्त्रों की रचना की कि किसी प्रकार भी लोग हमें अच्छा मनुष्य समझें॥ 4॥ उन्होंने अनेक पुराण तथा शास्त्र लिखे। एक से ब्रह्म अथवा ब्रह्मा का पन्थ चलाया। एक से कृष्ण के अवतार की महिमा की॥ 5॥ एक से शिव का माहात्म्य कर उनका पन्थ चलाया। एक से भूत-प्रेत का ही प्रचार किया॥ 6॥ एक से जैनियों की पूजा का विस्तार किया। एक से झुक-झुककर नमाज पढ़ने का प्रचलन किया॥ 7॥ कोई किसी का कहा नहीं माना। लोगों ने अपने झूठे स्वामित्व का प्रदर्शन किया, अथवा असत्य को ही अपना मालिक मान लिया, या जिसे अपना आराध्य माना उसकी असत्यता न समझ पड़ी॥ 8॥ मेरे सज्जनो! अपने तन, मन, वचन को पवित्र करो। कबीर सत्य का उपासक है, और सत्य का ही वक्ता॥ 9॥ सबके भीतर निवास करने वाले ये चेतन अपने आप देवता हैं और इनके पूजने के लिए वे अपने आप फूल-पत्ते हैं तथा अपने आप उत्तम कुल-जाति हैं॥ 10॥ संसार में निवास करने वाले सब जीव अपने आप अपने स्वामी हैं और अपने स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति को पाकर स्वयं आनन्दकन्द हैं॥ 11। मेरे-जैसे लोगों ने संसार को यह संदेश सभी युगों में दिये हैं। अब किसके आगे पुकारकर कहूं!॥ 12॥

सत्य को कोई नहीं मानता, सब झूठी बातों का समर्थन कर झूठे के ही साथ जाते हैं। झूठे गुरु तथा झूठे चेले मिल रहे हैं और अन्त में अज्ञानी धूल फांकते हैं॥ 14॥

व्याख्या—इस रमैनी में कबीर देव का क्रांतिकारी रूप जाज्वल्यमान होकर सामने आया है। धर्म के नाम पर लोगों को बेवकूफ बनाने वाले गुरुओं की यहां धज्जियां उड़ायी गयी हैं।

झूठे वर्ण और जाति के आधार पर किसी को ऊंच तथा किसी को नीच मानना सचमुच बहुत बड़ा पाप है। जन्मजात किसी को अछूत मानना घोर नैतिक अपराध है।

मानव मात्र का जन्म एक ढंग से होता है। लोग कर्मों से उत्तम-मध्यम हुआ करते हैं। परन्तु ब्राह्मण कहे जाने वाले वर्ग ने अपने आप को जन्म से उत्तम मान लिया और एक बहुत बड़े वर्ग को शूद्र कहकर उन्हें तिरस्कृत कर डाला। जिसने हमें मिट्टी या धातु के बरतन बनाकर दिये, जिसने हमारे कपड़े बुने तथा सिले, जिसने हमारे बाल बनाये, कपड़े धोये, घर बनाये, जिसने हमारे लिए अन्न पैदा किये, तेल पेरे, जिसने हमारी टट्टी फेंकी, उन सबको हमने शूद्र कहकर नीचा माना, यह कितना बड़ा अपराध है।

ब्राह्मणों ने वेद-शास्त्र पढ़ने-पढ़ाने का अधिकार अपने पास रखा। क्षत्रियों को केवल पढ़ने की छूट दी, वैश्यों को और नीचे स्तर पर रखा और शूद्र कहे जाने वाले बन्धुओं के लिए तो भाषा पढ़ने का भी अधिकार नहीं रखा, वेद-शास्त्र पढ़ना तो उनके लिए पाप हो गया। कहा गया—"शूद्र निस्संदेह चलता-फिरता श्मशान है, इसलिए शूद्र के पास वेदों का अध्ययन नहीं करना चाहिए।[1] ब्राह्मण शूद्र को वेद का ज्ञान न दे।[2] शूद्र यदि निकट आकर वेद सुन ले, तो उसके कानों में पिघला हुआ रांगा या लाख भर दे। यदि उसने वेदों का पाठ कर लिया हो तो उसकी जिह्वा काट दे और उसने यदि वेद-मन्त्रों को याद कर लिया हो, तो उसके शरीर को काट दे।[3] शूद्र वह है जो दूसरे की सेवा करे, जिसे सवर्ण जब चाहे उखाड़ फेंके और जब जितना चाहे उसका वध कर दे।"[4]

"विधाता ने गायत्री छन्द से ब्राह्मणों को बनाया, त्रिष्टुप छन्द से क्षत्रियों को तथा जगती छन्द से वैश्यों को बनाया; परन्तु उसने शूद्रों को किसी भी छन्द से

---

1. श्मशानमेतत्प्रत्यक्षं ये शूद्राः पादचारिणः।
तस्माच्छूद्रसमीपे तु नाध्येतव्यं कदाचन॥ (वासिष्ठ. 18/13)
पद्यु ह वा एतच्छमशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्।
2. न शूद्राय मतिं दद्यात्। (मनुस्मृति 4/80) (वेदांत 1/3/38 पर शांकर भाष्य)
3. अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः। गौतम धर्मसूत्र 2/12/4, शांकर भाष्य में भी, इस विषय में और भी देखें—गौतम धर्मसूत्र 16/18/19; आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1/3/9/9; याज्ञवल्क्य 1/148; आदि पर्व 64/20।
4. अनस्य प्रेष्यः, कामोत्थाप्यः, यथाकामवध्यः। (ऐतरेय ब्राह्मण 35/3)

नहीं बनाया; इसलिए शूद्र यज्ञोपवीत संस्कार के लिए अयोग्य है।"[1] कैसी–कैसी षड्यन्त्र भरी बातें लिखी गयीं ! यह सर्वविदित है कि मानव का कोई वर्ग किसी छन्द से नहीं पैदा होता है, किन्तु सब माता–पिता के रज–वीर्य से एक समान पैदा होते हैं। यह जन्मजात उच्चता का पाखण्ड कितना झूठ और कितना बड़ा पाप है, विचारते ही बनता है। कहा गया है "यह शूद्र असत से पैदा हुआ है।"[2] श्री भगवत शरण उपाध्याय ने सच ही लिखा है—"मनु, याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ, शंख, लिखित, नारद तथा बृहस्पति—सभी ने अपने मन्त्र–पूत वाणी से शूद्रों की सुकाट्य गरदन नापी है।"[3]

शंबूक शूद्र होकर भी तप कर रहे थे, इसलिए श्रीराम ने उनकी हत्या कर दी,[4] तथा सूत शूद्र होकर भी नैमिषारण्य में कथा बांच रहे थे, इसलिए बलराम ने उनकी हत्या कर दी[5] ऐसी षड्यन्त्र भरी कल्पित कहानियां भी शूद्र कहे जाने वाले बन्धुओं के शोषण के लिए रची गयीं।

ब्राह्मणों द्वारा जितने धर्मशास्त्र, स्मृति, पुराण, महाकाव्य आदि रचे गये, सबमें उन्होंने अपने स्वार्थ की बातें लिखीं और अपने स्वार्थ के लिए ही अन्य वर्ग को पशु के समान जीने के लिए विवश किया। विद्या, धर्मशास्त्र, धर्मकृत्य, ऊंचे पद, संन्यास आदि का अधिकारी अपने को माना और अन्य को, ज्यादातर तथाकथित शूद्रों को इनसे सर्वथा दूर रखा। यह सब पुरोहितों के द्वारा की जाने

---

1. गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत त्रिष्टुभा राजन्यं जगत्या वैश्यं न केनचिच्छन्दसा शूद्रमित्यसंस्कार्यो विज्ञायते। (वसिष्ठ 4/3)
2. असतो वा एव सम्भूतः यच्छूद्रः। (शतपथ ब्राह्मण)
3. खून के छींटे इतिहास के पन्नों पर, पृष्ठ 103।
   यह विचारणीय विषय है कि भेदभावग्रस्त पण्डितों ने मनु, याज्ञवल्क्य आदि के नाम से अनेक विषमता भरी वाणियां लिखी हैं; परन्तु नाम बदनाम होते हैं मनु आदि के। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है कि वाल्मीकीय रामायण में कबन्ध-वध के समय श्रीराम ने शूद्र कहे जाने वाले बन्धुओं को कुछ भी भला–बुरा नहीं कहा है। किन्तु गोस्वामी तुलसीदास जी के मन में ऐसी बातें थीं, अतः उन्होंने श्रीराम के मुख से कबन्ध के सामने कहलवा दिया—"शापत ताड़त परुष कहंता। बिप्र पूज्य अस गावहिं संता॥ पूजिय विप्र सील गुण हीना। सूद्र न गुन गन ग्यान प्रवीना॥" इसमें दोष श्री राम का नहीं है, किन्तु गोस्वामी जी का है जिन्होंने श्रीराम के कंधे पर बन्दूक रखकर पीछे से स्वयं शूद्रों पर दागी है। इसी प्रकार मनुस्मृति ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग की रचना है, परन्तु मनु नाम के महापुरुष ईसा के हजारों वर्ष पूर्व हुए हैं।
4. वाल्मीकीय रामायण, उत्तरकांड, सर्ग 73 से 76।
5. श्रीमद्भागवत 10/78।
   नोट—शंबूकहत्या तथा सूतहत्या संकुचित ब्राह्मण पुरोहितों की कल्पना मात्र है। इसमें श्रीराम तथा बलराम को घसीटकर कलुषित ब्राह्मणों ने अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहा है। इसके लिए पढ़िये लेखक की 'कबीर पर : शुक्ल की और मेरी दृष्टि' नाम की पुस्तक।

वाली चोरियां ही हैं। ब्राह्मणों के भेदभाव की नीति ने हिन्दू-समाज को कमजोर बनाकर रख दिया है। जाति-पांति का जहर हिन्दू धर्मग्रन्थों में उसी प्रकार समाया है जैसे दूध में पानी। आज भी उसका प्रभाव हिन्दू समाज पर छाया है।

यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि ब्राह्मण नाम का एक वर्ग है और संसार में किसी भी वर्ग के सारे लोग गलत नहीं होते हैं। ब्राह्मण वर्ग में रहे हुए पुरोहितों ने ही भेदभाव तथा छल-छद्म की नीति अपनायी है। इससे पूरा ब्राह्मण-समाज दोषी नहीं है। ब्राह्मणों में भी सदा-सर्वदा से कुछ ऐसे मानवतावादी चिन्तक होते आये हैं, जो ब्राह्मण पुरोहितों की भेदभाव-जनित व्यवस्था के घोर विरोधी तथा मानव-समानता के प्रबल पक्षधर रहे हैं। इस प्रकार ब्राह्मण-समाज में भी ब्राह्मण-व्यवस्था-विरोधी आग यत्र-तत्र सदैव सुलगती रही है, जिसके परिणाम में आचार्य बृहस्पति ने भौतिकवादी पक्ष लेकर ब्राह्मणों के कर्मकांडों की धज्जियां उड़ायी थीं। ब्राह्मण-व्यवस्था के विरोधी स्वर उपनिषद्, महाभारत, गीता आदि धर्मग्रन्थों में यत्र-तत्र देखे जा सकते हैं। ब्राह्मण समाज की संतान जैन, बौद्ध, सिद्ध-नाथ, कबीरपंथ तथा निर्गुणीधारा के नाना संप्रदायों में दीक्षित होकर ब्राह्मणवादी भेदभाव नीति का सदा घोर विरोध करती रही और भविष्य तो अधिक उज्ज्वल है। सद्गुरु कबीर ने तो उन्हीं ब्राह्मणों की यहां आलोचना की है जो विषमताजनित व्यवस्था के संस्थापक तथा परिपोषक रहे हैं। कबीर साहेब का उद्देश्य ब्राह्मण कहे जाने वाले वर्ग को न दुखाना है और न चिढ़ाना है। संत किसी को दुखाते नहीं। वे ब्राह्मणों को एक तथ्य सुझा रहे हैं। उन्हें सावधान कर रहे हैं। वे समझें और अपने आप को जाति और वर्णविहीन शुद्ध मानवतावादी स्तर पर लाने का प्रयत्न करें। इसी की आवश्यकता सब समय थी, आज तो अत्यावश्यक है ही।

केवल ब्राह्मण पुरोहित ही दोषी हों, ऐसी बात नहीं है, जहां कहीं भी, किसी भी परम्परा में पुरोहित होगा वह ऊंच-नीच का भेदभाव डालना शुरू ही करेगा। किसी पुराण में ब्रह्मा की महिमा की गयी, तो किसी पुराण में कृष्णगोपाल को ब्रह्म माना गया, किसी में शिव को सर्वोपरि कहा गया, तो किसी में भूत-प्रेतों की महिमा गायी गयी। जैनियों ने अपने तीर्थंकरों की महिमा कर उनकी पूजा का विधान किया, तो मुसलमानों ने अपनी पद्धति चलाकर नमाज पढ़ना आरम्भ किया। इसी तरह और अनेक गुरुओं-पुरोहितों के मार्ग निकले और वे अपने-अपने को मोक्ष तथा ईश्वर के एकाधिकारी घोषित करते रहे। कोई किसी का 'हटा' रोकना नहीं माना। "झूठा खसम कबीरन जाना" जीवों ने झूठे खसम को सही मान लिया। खसम का अर्थ है मालिक एवं स्वामी। झूठी प्रधानता को सही मान ली। या "झूठा खसम कबीर न जाना" कबीर साहेब कहते हैं कि लोग यह न समझ सके कि यह स्वामी या श्रेष्ठ बनना झूठा है। "ऊँच नीच है

मध्य की बानी। एकै पवन एक है पानी॥"[1] यहां मूलत: "कौन ऊंच है कौन नीच है, सब में एकी आतमा।"

कबीर साहेब कहते हैं कि मैं सत्य की उपासना करता हूं और सत्य की राय देता हूं। हे मानव! तू जड़ देवी-देवताओं के सामने घुटने टेककर गिड़गिड़ा मत। अपने मन, वाणी, कर्मों को पवित्र कर। तू स्वयं देवों का भी देव महादेव है। तेरे सद्गुण ही तेरी पूजा के लिए फूल-पत्ते हैं। तेरे कुल-गोत्र और जाति-वर्ण सब परमदेव चेतनमय स्वयं है। संसार में रहने वाले सभी जीव अपने आप में स्वरूपत: परमदेव हैं। वे स्वयं अपने कर्ता, विधाता और परमात्मा हैं। उनके अपने ऊपर कोई अन्य देव नहीं। सब जीव स्वयं शुद्ध-बुद्ध कल्याण स्वरूप हैं। उन्हें सत्संग-विवेक द्वारा अपनी पहचान करना चाहिए और अपनी स्थिति में आना चाहिए। मानव-मानव में ब्राह्मण-शूद्र कौन है?

ब्राह्मण पुरोहितों का भारतीय समाज पर पुराकाल से वर्चस्व रहा है और उन्होंने अनेक काम अच्छे करते हुए भी अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए मिथ्या दंभ, असत्य, झूठी महिमा, घमंड आदि का आश्रय लेकर समाज को अपनी पकड़ के अन्दर रखने की कोशिश की है। उन्होंने सबके कल्याण की चाबी अपने हाथों में रखने का दावा किया। जैसे ऊपर कहा गया है कि यह दोष केवल ब्राह्मण पुरोहितों का ही नहीं है, किन्तु दुनिया के सारे सम्प्रदायों के पुरोहितों का है। इसीलिए सद्गुरु ने यहां ब्राह्मणों के साथ अनेक पौराणिकों, जैनियों, मुसलमानों के भी नाम लिये हैं। इसी प्रकार बौद्ध, ईसाई आदि सभी सम्प्रदायों के पुरोहितों को समझ लेना चाहिए। कबीरपंथ में भी कतिपय ऐसी शाखाएं हैं जो जीवों की मुक्ति की चाबी अपने हाथों में समझती हैं और वे यही मानती हैं कि हमारे नियम-संस्कार के अनुसार चलने से ही जीव की मुक्ति होगी। वे यहां तक मिथ्या दावा करती हैं कि कबीर साहेब ने स्वयं हमारी शाखा को जीवमुक्ति का एकाधिकार दिया है। कबीर साहेब जीवन भर जिसका विरोध करते रहे, उनके कतिपय अनुगामी उसी का जोरदार समर्थन करते हैं और इस ढंग से कि मानो ऐसा कबीर साहेब ने ही इन्हें आज्ञा दी है। कैसा आश्चर्य है! कबीर साहेब ने जैसे ब्राह्मण-पुरोहितों तथा अन्य पुरोहितों को खरी-खोटी सुनायी है, यदि वे आज आ जायें, तो कबीरपंथी-पुरोहितों को भी उसी प्रकार अवश्य लताड़ेंगे।

भेदभाव उत्पन्न करने वाले पुरोहितों की धारा जैसे पुराकाल से रही है वैसे शुद्ध मानवतावादी, क्रांतिकारी, आत्मचिन्तक विवेकी सन्तों एवं विद्वानों की धारा भी पुराकाल से रही है। कपिल, कणाद, बुद्ध, महावीर अनेक नाम लिये जा सकते हैं; और उपनिषद् के ऋषि भी इसी उदार मानवतावादी तथा आत्मवादी

1. विप्रमतीसी।

पंक्ति में आते हैं। इनमें थोड़ी दार्शनिक व्याख्या का दोष हटा देने पर मानवतावादी तथा आत्मवादी दृष्टिकोण में सर्वथा साम्य हो जाता है।

कबीर देव कहते हैं—"कहइत मोहि भयल युग चारी" यहां 'मोहि' से कबीर का व्यक्तित्व अर्थ नहीं लेना चाहिए और न 'युग चारी' से केवल कल्पित चार युग लेना चाहिए। इस अर्धाली का अर्थ है कबीर-जैसी चिन्तनधारा की देश-काल-व्यापी प्रवहमानता। प्रायः सब समय स्वतन्त्र, मानवतावादी तथा आत्मवादी चिन्तनधारा के महापुरुष रहे हैं और उनके विचार समाज को आंदोलित करते रहे हैं।

अज्ञान-रात्रि में मनुष्य का भटकाव

रमैनी-15

वोनई बदरिया परिगौ संझा। अगुवा भूला बन खण्ड मंझा॥ 1॥
पिय अन्ते धन अन्तै रहई। चौपरि कामरि माथे गहई॥ 2॥
साखी—फुलवा भार न ले सकै, कहै सखियन सों रोय।
ज्यों ज्यों भीजै कामरी, त्यों त्यों भारी होय॥ 15॥

रमैनी-16

चलत-चलत अति चरन पिराना। हारि परे तहाँ अति रे सयाना॥ 1॥
गण गन्धर्व मुनि अन्त न पाया। हरि अलोप जग धन्धे लाया॥ 2॥
गहनी बन्धन बाण न सूझा। थाकि परे तहाँ किछउ न बूझा॥ 3॥
भूलि परे जिय अधिक डेराई। रजनी अन्ध कूप होय आई॥ 4॥
माया मोह उहाँ भरपूरी। दादुर दामिनि पवन अपूरी॥ 5॥
बरसै तपै अखण्डित धारा। रैन भयावन कछु न अधारा॥ 6॥
साखी—सबै लोग जहँड़ाइया, अन्धा सबै भुलान।
कहा कोई ना माने, सब एकै माहिं समान॥ 16॥

शब्दार्थ—बाण=रास्ता, लक्ष्य। दादुर=मेढक। अपूरी=अपूर्व, प्रचंड। जहँड़ाइया=खो दिया।

रूपक—बहुत-से नर-नारी सौदा खरीदने-बेचने के लिए किसी दूर-दराज बाजार चले। कुछ दूर चलने पर उन्होंने देखा कि घनघोर बादल झुक आये हैं तथा रिमझिम बारिश शुरू हो गयी है और चारों ओर संध्या-बेला का दृश्य उपस्थित हो गया है। रास्ते में विराट जंगल है, इसलिए अंधियारी घनी हो गयी है। उस भीड़ के पथ-प्रदर्शक लोग स्वयं रास्ता भूल गये। उस भीड़ में कम्बल का व्यापार करने वाली नारियां भी हैं। उनके साथ उनके पति नहीं हैं, इसलिए वे ज्यादा भयभीत हो गयी हैं। उन्होंने कम्बल के गट्ठे सिर पर ले रखे हैं। उनमें

एक फुलवा नाम की स्त्री है। वह अधिक सुकुमारी होने से सिर पर रखे हुए कम्बलों के गट्ठे को नहीं सम्हाल पा रही है और रोकर सखियों से अपनी व्यथा कहती है 'ज्यों–ज्यों कम्बल भीगते हैं, त्यों–त्यों उनका वजन बढ़ता जाता है।'

चलते–चलते उनके पैर बहुत दुख गये हैं। बड़े–बड़े लोग भी थक गये हैं। उनमें गंधर्वगण (नचैये–गवैये) भी हैं और मुनि (मननशील–समझदार) भी हैं। वे भी जंगल का छोर नहीं पा रहे हैं। वर्षा–पानी से जंगल के पथ खो गये हैं। सब उनकी खोज में लगे हैं। सबके लिए यह गहन बन्धन हो गया। किसी को रास्ता नहीं सूझता। सब थक गये। किसी को कुछ समझ में नहीं आ रहा है कि क्या करें। सब भटक गये। सब का जी डर गया। अब रात का अन्धा–कुप्पा हो गया। सब अपने घर, परिवार, सन्तान इत्यादि की याद कर माया–मोह में निमग्न हो गये। मेढक 'कर्रकों' की आवाज करते हैं, बिजली कड़कती तथा चमकती है और भयंकर हवा चलती है। अखंड धारा से बारिश हो रही है और सभी पथिक मानसिक ताप में तप रहे हैं। रात्रि भयावनी है। जंगल से निकलने का किसी को कोई आधार नहीं मिल रहा है। सभी लोगों ने अपने को बरबाद किया। सब अन्धे होकर भटक गये। कोई किसी का कहा नहीं मानता है। सब एक ही गलत रास्ते पर जा रहे हैं।

भावार्थ—मनुष्य के मन में अज्ञान और भ्रम के बादल झुक आये और अन्तःकरण में घोर अन्धकार छा गया। विविध शास्त्रों की वाणियों के जंगल में पथ–प्रदर्शक गुरु लोग स्वयं भटक गये॥ 1॥ जीव अज्ञानवश परमात्मा को अपने से अलग मानकर जीवनपर्यंत उसे खोजता रहा; और बाल, कुमार, युवा एवं वृद्ध—चार अवस्था वाले शरीर रूपी कम्बल; अथवा अज्ञान एवं विषयासक्ति से बोझिल चतुष्टय अन्तःकरण रूपी कम्बल के बोझ को ढोता रहा॥ 2॥

जब शरीर में बुढ़ापा आ घेरता है और अंग जरजर हो जाते हैं, तब फूल का भी भार लेना कठिन हो जाता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य परस्पर मित्रों से रोकर कहता है कि जैसे–जैसे कम्बल भीगता है वैसे–वैसे वह भारी होता है; अर्थात जैसे–जैसे काया निर्बल होती है, वैसे–वैसे वह असमर्थ होती है॥ 15॥

परमात्मा को आत्मा से अलग मानकर उसकी खोज में लोग थक जाते हैं और बड़े–बड़े ज्ञानी–मुनि भी हताश होकर बैठ जाते हैं॥ 1॥ गंधर्वगण, मुनिगण आदि भी उसका भेद नहीं जान सके। उसे अपने से दूर और गायब समझकर उसकी खोज के धन्धे में पड़े हैं॥ 2॥ अपना गंतव्य अपने से अलग मानना ही कठिन बन्धन है या बन्धन ग्रहण करना है। ऐसे लोगों को अपना लक्ष्य नहीं सूझता। ईश्वर के विषय में लोग हार मानकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं॥ 3॥ नाना मतों के शास्त्रों की वाणियों में लोग भटक गये, और गुरुओं

की इस घोषणा से अत्यन्त भयभीत हो गये कि यदि शास्त्रों की वाणियों में शंका एवं विचार करोगे, तो नास्तिक हो जाओगे। इस तरह लोगों की अज्ञान-रात घनी हो गयी॥ 4॥ भ्रांति और मूढ़ता से हृदय पूर्ण हो रहा है। बरसाती मेढकों की टरटराहट के समान नाना मतवादों की बकबक हो रही है, नाना मतों के वाक्यजाल की चमक-दमक में लोग चौंधिया रहे हैं और कल्पनाओं एवं वाणियों की प्रचण्ड झंझा लोगों को झकझोर रही है॥ 5॥ इस प्रकार कल्पित वाणियों की उत्तप्त और अखण्ड धारा बरस रही है और ऐसे अज्ञान की भयावनी रात में जीव को कुछ नहीं सूझ रहा है॥ 6॥

विवेक की आंखें न होने से सभी जीव अपने स्वरूप को भूल गये हैं और अपनी महत्ता को खो चुके हैं। विवेक की बात को कोई नहीं मानता। सब 'अन्धे अन्धा ठेलिया' की तरह एक ही भ्रांति में डूब रहे हैं॥ 16॥

व्याख्या—सद्‌गुरु ने यहां बादल, वर्षा, बिजली, तूफान, अन्धकार, रास्ता, जंगल, बटोही आदि का बड़ा मनोहर चित्र खींचा है। जैसे बादल आने से अन्धकार छा जाता है, वैसे अज्ञान से हृदय विमोहित हो जाता है। अपने लक्ष्य को अलग खोजना ही अज्ञान है। पांचों विषय जीव से अलग हैं, अतः जीव का लक्ष्य विषय नहीं है; इसी प्रकार यदि शिव की कल्पना, जीव से अलग है, तो वह भी विषय ही है।

लोगों ने जीव को पत्नी तथा उससे पृथक परमात्मा की कल्पना कर उसे पति मान रखा है। इस भावना में बड़े-बड़े पथ-प्रदर्शक भटके हुए हैं। ऐसे लोगों को लक्ष्य रखकर कबीर देव उन पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं 'पिय अन्ते धन अन्तै रहई' पति अलग है और पत्नी अलग, फिर कैसे तृप्ति होगी ! आत्मा से पृथक परमात्मा खोजना बहुत बड़ा मानसिक भ्रम है।

'चौपरि कामरि माथे गहई' चार परत का कम्बल क्या है? वस्तुतः बाल, कुमार, युवा और वृद्ध इन चार अवस्थाओं वाला शरीर ही चार परत का कम्बल है जो निरंतर क्षीण एवं अशक्त होता है। अथवा मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार का चौहरा मनोमय विषयासक्ति, मोह एवं भ्रम से जीव के लिए दुखप्रद हो जाता है। भटकते हुए जीव के लिए उसके तन और मन भारस्वरूप ही हैं।

नाना प्रकार के कल्पित कर्म-उपासनाओं के भ्रम में लोग भटकते हैं। ईश्वर को अपने से कहीं दूर सातवें आसमान पर या गायब मानते हैं। ऐसे लोग कल्याण की तरफ न चलकर गहन बन्धन में उलझ जाते हैं; क्योंकि उन्हें 'बाण' नहीं सूझता, उन्हें 'लक्ष्य' नहीं दिखाई देता।

'भूलि परे जिय अधिक डेराई' बहुत महत्त्वपूर्ण पंक्ति है। लोग अपने स्वरूप को, अपनी गरिमा एवं तत्त्व को भूल गये। फतवा और व्यवस्था देने वाले पुरोहितों एवं गुरुओं की वाणियों से मनुष्य अधिक भयभीत हो गये। इनकी स्वतन्त्र बुद्धि छिन गयी। मतवादी थोड़ी-थोड़ी बातों में अन्य को नास्तिक,

काफिर, बेदीन एवं अपवित्र कहने लगते हैं, अतएव मनुष्य शास्त्रों एवं धर्मग्रन्थों की वाणियों पर विचार नहीं कर पाता। उन्हें आंख मूंदकर मानने की परिपाटी ने मनुष्य को अन्धा बना दिया है। जो लोग एक दूसरे की पूंछ पकड़कर चलने वाले हैं वे स्वतन्त्र चिंतन की बात नहीं मानते। इसके परिणाम में उनका अविवेक बढ़ता जाता है।

भावुकतावश एवं धर्माचार्यों के डर से हम शुद्ध तर्क, अन्वीक्षण, चिंतन एवं विचार जितना छोड़ते जा रहे हैं, उतना विवेकहीन एवं अन्धे होते जा रहे हैं। जड़-चेतन का भेद, कार्य-कारण-व्यवस्था की परख, विश्व के शाश्वत नियमों की पहचान और स्वस्वरूप का ज्ञान न होने से लोग धर्म और भगवान के नाम पर मूढ़ बना दिये गये हैं। श्रद्धा और भक्ति का बहुत बड़ा मूल्य है; किन्तु विवेकज्ञान खोकर नहीं।

तुम स्वयं महान हो, अपने रामरूप का स्मरण करो

रमैनी-17

जस जिव आपु मिले अस कोई। बहुत धर्म सुख हृदया होई॥ 1॥
जासु बात राम की कही। प्रीति न काहू सो निरबही॥ 2॥
एकै भाव सकल जग देखी। बाहर परे सो होय विवेकी॥ 3॥
विषय मोह के फन्द छुड़ाई। तहाँ जाय जहाँ काट कसाई॥ 4॥
अहै कसाई छूरी हाथा। कैसहु आवै काटौं माथा॥ 5॥
मानुष बड़ा बड़ा होय आया। एकै पण्डित सबै पढ़ाया॥ 6॥
पढ़ना पढ़ो धरो जनि गोई। नहिं तो निश्चय जाहु बिगोई॥ 7॥

साखी—सुमिरन करहू राम का, छाड़हु दुख की आस।
तर ऊपर धै चापिहैं, जस कोल्हू कोटि पिचास॥ 17॥

शब्दार्थ—गोई=छिपाना। बिगोई=नष्ट। पिचास=पचास, तात्पर्य में असंख्य।

भावार्थ—जैसा अपना जीव सिद्धांत है यदि वैसा उसे समझने वाला कोई सत्पात्र मिले; अथवा जैसा अपना परमार्थ-प्रेमी दिल है, वैसा प्रेमी जिज्ञासु मिले, तो सच्चर्चा हो और हृदय में धर्मजनित बड़ा सुख हो॥ 1॥ जिससे अविनाशी राम की बात कही जाती है, कोई उस पथ के प्रेम को नहीं निभाता है॥ 2॥ संसार के सारे लोगों को देखा जाता है कि वे अविद्या एवं माया-मोह की एक ही भावधारा में डूब रहे हैं; परन्तु जो इससे बाहर होता है, वही विवेकी है॥ 3॥ जो मुमुक्षु विषय-वासनाओं के बन्धनों को काटकर आगे बढ़ते हैं, वे वहां पहुंच जाते हैं, जहां उनके आत्मज्ञान का वध करने वाले भोले गुरु हैं॥ 4॥ ऐसे भोले गुरुओं के हाथों में तो स्वरूपज्ञान-विरोधी छूरी सदैव

विद्यमान रहती है और वे मानो यही प्रतीक्षा करते रहते हैं कि कोई मेरे पास आवे तो मैं उसका सिर काट लूं, अर्थात उसके विवेक को समाप्त कर दूं॥ 5॥ संसार में बड़े-बड़े कहलाने वाले मनुष्य हुए, परन्तु उन्हें सभी पण्डितों ने प्रायः एक-सी ही बातें पढ़ाई हैं जो स्वरूपज्ञान-रहित स्थूलतम हैं॥ 6॥ पढ़ना-लिखना अच्छी बात है, अतः पढ़ो-लिखो; या अपने गुरु द्वारा बताये हुए मन्त्र-नामादि को भी जपो, परन्तु उन्हें छिपाकर मत रखो। उनकी छानबीन एवं परख करो; अन्यथा निश्चय ही धोखे में पड़कर खो जाओगे॥ 7॥

अविनाशी स्वरूप-राम का स्मरण करो, दुखदायी मनःकल्पनाओं एवं भोगों की आशा छोड़ दो। अन्यथा जैसे कोल्हू के असंख्य फेरे में पिस जाने पर वस्तुओं की जो दशा होती है, वैसे संसार के घनचक्कर में पड़कर तुम्हारी दशा होगी॥ 17॥

व्याख्या—सद्‌गुरु कबीर ने बीजक में आत्मतत्त्व के लिए 'जीव' शब्द का प्रयोग अधिकतम किया है। वस्तुतः जीव ही तो मूल है। यदि प्रकृति-भिन्न अविनाशी जीव का बोध हो जाये तो कर्मफल भोग एवं बन्ध-मोक्ष सहज ही समझा जा सकता है; और यह समझ जाने पर धर्म की वृद्धि होना भी सहज है।

जीव ही शिव है, आत्मा ही परमात्मा है—इस भाव को एकाएक मान तो प्रायः सब लेते हैं, परन्तु इसे समझने वाले कम हैं। यदि इसे कोई समझने वाला मिलता है, तो कहने-सुनने में आनन्द आता है; और इसके आचरण से, इसको रहनी में उतारने से परम सुख होता है। धर्म धर्मी में रहता है, जैसे गरमी आग में, शीतलता जल में। इसी प्रकार ज्ञान जीव में रहता है। ज्ञान जीव का स्वरूप ही है। धर्मी को साफ समझ लेने पर धर्म अपने आप उद्‌घाटित हो जाता है। जिसे अपने चेतन स्वरूप का ठीक से बोध हो जाता है, वह देवी-देवताओं एवं ईश्वर-ब्रह्म की कल्पना में नहीं भटकता। उसकी दृष्टि साफ रहती है कि देवों का देव आत्मदेव है और यही ईश्वर है, यही ब्रह्म है। वह निरन्तर अपने आप में रमता है। उसी के लिए 'बहुत धर्म सुख हृदया होई' वचन चरितार्थ होता है। हृदय-निवासी आत्मदेव के बोध से ही तो हृदय सच्चे सुख से भर सकता है। 38वीं रमैनी में सद्‌गुरु ने कहा है 'सन्तो सन्तोष सुख है, रहहु तो हृदय जुड़ाय।'

जीव को ही शिव मानने वाला सच्चा धर्मी हो सकता है। जो जीव से शिव को अलग मानता है वह सच्चा धर्मी नहीं हो सकता। आप जानते हैं कि संसार के ईश्वरवादियों ने धर्म के नाम पर इंसान एवं अन्य प्राणियों की हत्याएं की हैं। परन्तु जिसने जीव ही को शिव माना उसने धर्म के नाम पर कभी रक्त नहीं बहाया। अतः सच्चा धर्म तभी उदय हो सकता है जब जीव को ही शिव माना जाये।

'जस जिव आपु...' पंक्ति का सहज अर्थ यह किया जा सकता है कि जैसा अपना दिल है, वैसा जब दूसरा मिलता है तब चर्चा में आनन्द आता है और धर्मजनित सच्चा हार्दिक सुख मिलता है। श्री रामरहस साहेब ने कहा है— 'कहंता को सुनंता मिले, तबहि वचन लागै प्रीति।'

राम और काम दो हैं। मनुष्य राम की चर्चा करते–सुनते भी उसमें नहीं रम पाता, किन्तु काम में ही बहता रहता है। राम अपना स्वरूप ही है। यह चेतन ही तो राम है, परन्तु राम से प्रेम तब तक नहीं निभ सकता जब तक काम–कीचड़ से अपने आप को दूर नहीं कर लिया जाता। 'साँची प्रीति विषय माया सो, हरि भक्तन की फाँसी' चालीसवें शब्द की इस पंक्ति का भाव यहां भी लागू होता है। इसीलिए सद्गुरु यहां कहते हैं 'जासु बात राम की कही। प्रीति न काहू सो निरबही॥' यद्यपि राम अपना स्वरूप ही है, और यह हम सत्संग द्वारा जान भी जाते हैं, किन्तु हृदय स्वच्छ कर उस बोधभाव में समर्पित नहीं होते, तो स्वरूपस्थिति कैसे हो !

'एकै भाव सकल जग देखी' मैं देखता हूं कि संसार के सारे लोग एक ही भाव में बह रहे हैं, स्वरूपबोध को छोड़कर बाहर भटक रहे हैं। संसार के अधिकतम लोग तो निरन्तर विषयों में ही डूबे रहते हैं। जो लोग विषयों को छोड़कर ब्रह्म–विचार करते हैं वे भी ब्रह्म की कुछ ऐसी व्याख्या करते हैं जो विषयों से अलग नहीं है। जहां ऐसी मान्यता है कि सारा संसार ब्रह्म ही है, वहां द्रष्टा–दृश्य–विवेक कैसे रह सकता है ! 'जड़ विषय–दृश्य से हटकर अपने द्रष्टा चेतन–स्वरूप में स्थित होना चाहिए' यह भाव वहां कहां है ! अतएव 'बाहर परे सो होय विवेकी' जो इससे बाहर हो जायेगा, वही विवेकी है। 'बाहर परे सो होय विवेकी' बड़ा महत्त्वपूर्ण वाक्य है। विवेकी उसे कहना चाहिए जो विषय और निर्विषय, दृश्य और द्रष्टा, जड़ और चेतन का पृथक्करण करे। यहां 'पारख बिना बिनाश है, कर बिचार होहु भीन' (159वीं) साखी याद आती है। विचार कर विषयों से, दृश्य जड़ से पृथक होना ही तो पारख है और यही विवेकज्ञान है। यही हंसत्व है।

कुछ लोग विषय–भोगों के बन्धनों को तोड़कर उससे अलग हो जाते हैं और सच्चे ज्ञान एवं मोक्ष–प्राप्ति के लिए गुरुजनों की शरण में जाते हैं। खेद है, अधिकतम गुरु ऐसे मिलते हैं जो उन जिज्ञासुओं एवं मुमुक्षुओं के स्वतन्त्र विचार एवं स्वरूपबोध का वध कर देते हैं। वे कहते हैं 'तुम किसी अंशी के अंश हो, किसी व्यापक के व्याप्य हो, किसी पुरुष की पत्नी हो; तुम परिच्छिन्न, प्रतिबिंब, किंचिज्ञ, अल्पज्ञ एवं दीन–हीन हो।' कहते हैं 'जीव लाचार है, यह मनुष्य बेवश है। यह कर ही क्या सकता है।' यह मनुष्य की गरिमा के वध करने का प्रयास है। यह आत्मज्ञान एवं स्वरूपज्ञान की हत्या है। ऐसे गुरुजन

अपने अंजान एवं भोलेपन में पड़कर आत्मघाती एवं परघाती बने हुए हैं। गुरुओं के लिए 'कसाई' शब्द का प्रयोग बड़ा कठोर है। 'तहाँ जाय जहाँ काट कसाई' ऐसा वचन मनुष्य को तिलमिला देने वाला है। व्यवहार की मनोरमता के लिए ऐसे वचनों का प्रयोग उचित नहीं लगता। किन्तु पतनकारी जड़ता को उखाड़ने के लिए कभी-कभी कठोर वचनों का प्रयोग करना पड़ता है। गुरुओं द्वारा मनुष्यों के अवमूल्यन को लेकर कबीर देव का मन कितना पीड़ित हुआ होगा, वे कितने मर्माहत हुए होंगे, तब इस कठोर वचन का प्रयोग किये होंगे, इसका सहज ही अन्दाज लगाया जा सकता है। तलवार से किसी की हत्या कर दी जाये, तो उसका केवल शरीर मिटता है; किन्तु यदि हम किसी को बारम्बार यह कहते हैं कि "तुम नीच हो, अछूत हो, मूल रूप से ही तुच्छ हो; तुम असमर्थ, दीन-हीन, किसी देवी-देवता के गुलाम तथा मूढ़ हो; तुम्हारा कोई मूल्य नहीं है, तुम अपने आप अपना उद्धार कर ही नहीं सकते हो, तुम केवल कठपुतली हो, तुम्हें कोई दूसरा नचा रहा है; तुम पानी-पत्थरों में सिर मारो, रोओ, गिड़गिड़ाओ तब वह कृपा कर देगा तो तुम्हारा कल्याण हो जायेगा।" तो हम उसकी वैचारिक हत्या करते हैं, और यह भाव मनुष्य को जड़ से निकम्मा बनाकर रख देता है। यदि हम बारम्बार किसी को कहते हैं कि "तुम दुर्बल हो, कुछ नहीं कर सकते।" तो हम उसकी बहुत बड़ी हत्या करते हैं। जो विचार एवं उपदेश मनुष्य को परमुखापेक्षी एवं गुलाम बनायें, वे विष के समान त्याज्य होने चाहिए।

"मानुष बड़ा बड़ा होय आया। एकै पण्डित सबै पढ़ाया।" यह पंक्ति बड़ी मर्मभेदी है। प्रतिभावानों एवं बुद्धिमानों की कमी संसार में न पहले थी न आज है। दुनिया में बड़े-बड़े मनुष्य हुए हैं; परन्तु सभी मत के पुरोहित-पंडितों ने उन सबको प्रायः एक ही बात का पाठ पढ़ाया 'तुम तुच्छ हो और तुम्हारा उद्धार किसी दूसरे देवी-देवता के हाथों में है।' इस प्रतिगामी उपदेश ने मानव-मन को पापी, कुण्ठित, हतप्रभ, गुलाम एवं दीन-हीन बना दिया है। जो उपदेश मनुष्य को अपने कदमों पर खड़ा होने की प्रेरणा न देकर उलटे परमुखापेक्षी बनावे, वह मानव समाज के लिए घातक है। गुरुओं द्वारा गलत दिशा पाकर बुद्धिमान एवं प्रतिभावान भी जड़ संस्कारों में फंसकर पंगु बन जाते हैं।

"पढ़ना पढ़ो धरो जनि गोई। नहिं तो निश्चय जाहु बिगोई॥" सद्गुरु कहते हैं कि गुरुजनों, विद्वानों, पण्डितों, सब में श्रद्धा रखो। सबकी विद्याओं एवं उपदेशों का आदर से श्रवण करो और पढ़ो; परन्तु उनकी छान-बीन करो, सभी गुरुजनों की वाणियों को परख की कसौटी से कसो। उनमें जो सार एवं सत्य हो वही ग्रहण करो, शेष को छोड़ दो। यदि ऐसा नहीं करते हो, केवल परम्परा एवं श्रद्धा के जोश में आंखें मूंदकर सब कुछ मानते जाते हो, तो निश्चय ही खो

जाओगे; 'नहिं तो निश्चय जाहु बिगोई।' स्वयं परख दृष्टि के अभाव में धर्म के नाम पर फैले शास्त्रों के वाणीजाल में मनुष्य अपनी गरिमा खो देता है।

हे साधक ! अपने चेतन स्वरूप का स्मरण करो। वही राम है। राम तुमसे अलग नहीं है जिसके सामने तुम्हें रोना पड़े। तुम स्वयं राम हो, 'हृदया बसे तेहि राम न जाना' यह कबीर देव का अमर संदेश है। वे कहते हैं स्वरूप-राम का स्मरण करो और दुखदायी भोगों एवं परावलंबता की आशा छोड़ दो।

संशय-पशु को मारो

रमैनी-18

अद्‌बुद पन्थ वरणि नहिं जाई। भूले राम भूलि दुनियाई॥ 1॥
जो चेतहु तो चेतहु रे भाई। नहिं तो जीव यम लै जाई॥ 2॥
शब्द न माने कथै ज्ञाना। ताते यम दियो है थाना॥ 3॥
संशय सावज बसे शरीरा। तिन खायो अनबेधा हीरा॥ 4॥

साखी—संशय सावज शरीर में, संगहि खेले जुआरि।
ऐसा घायल बापुरा, जीवहि मारे झारि॥ 18॥

शब्दार्थ—अद्‌बुद=अद्‌भुत, विचित्र। दुनियाई=संसार सम्बन्धी, व्यावहारिकता। यम=वासनाएं। सावज=पशु। जुआरि=जुआ।

भावार्थ—संसार में विचित्र सम्प्रदाय हैं जिनका वर्णन करना कठिन है। उनमें पड़कर लोग राम को तो भूल ही जाते हैं संसार की व्यावहारिकता को भी भूल जाते हैं॥ 1॥ हे भाई ! यदि सावधान होना हो तो सावधान हो जाओ, अन्यथा जीव को वासनाएं भटकायेंगी॥ 2॥ लोग निर्णय वचनों को नहीं मानते, केवल परम्परा-पोषित बातों को ही ज्ञान मानकर उनका व्याख्यान करते रहते हैं, इसीलिए उनके मन में वासनाएं स्थान बनाकर जम गयी हैं॥ 3॥ संशय रूपी पशु मनुष्य के हृदय में बसता है, उसने अखण्ड हीरा रूपी जीव को पथभ्रष्ट कर दिया है॥ 4॥

संशय-पशु शरीर में रहता है और जीव के साथ में जुआ खेलता है। जीव बेचारा अनेक चोटों से यों ही आहत है, संशय-पशु उसे और जलाकर मार रहा है॥ 18॥

व्याख्या—'अद्‌बुद' शब्द अद्‌भुत का अपभ्रंश है। अद्‌भुत कहते हैं विचित्र एवं विस्मयकारक को, जिसको देख-सुनकर आश्चर्य होता है। सद्‌गुरु कहते हैं कि संसार में ऐसे-ऐसे पंथ एवं संप्रदाय हैं जिन्हें देख-सुनकर आश्चर्य होता है। ऐसे संप्रदायों एवं पंथों की बातों में आकर लोग राम को अर्थात अपने आत्म स्वरूप को भूल जाते हैं। निजस्वरूप के शोधन की बात ही उनमें नहीं

होती, किन्तु मन-मस्तिष्क आदि के भास-अध्यास एवं अनुमान-कल्पना को ही वे परम तत्त्व मान बैठते हैं। परम तत्त्व तो राम है और वह व्यक्ति का निजस्वरूप चेतन है। उसे जानबूझकर उसमें स्थित होना ही जीवन का लक्ष्य है।

सद्‌गुरु कहते हैं कि ऐसे लोग केवल राम को ही नहीं भूल जाते हैं, किन्तु दुनियाई-दुनियवी एवं संसार की व्यावहारिकता को भी भूल जाते हैं। "भूले राम भूलि दुनियाई।" दुनियाई एवं संसार की व्यावहारिकता को भूल जाना क्या है? प्रत्यक्ष है कि सांप्रदायिकता का जहर जब मनुष्य पर चढ़ जाता है, तब वह भाईचारे का व्यवहार भी भूल जाता है। सांसारिक व्यवहार का मूल तत्त्व यही है कि हम अन्य लोगों से अपने लिए अच्छा व्यवहार चाहते हैं, तो यह समझ सकते हैं कि हमारा व्यवहार भी दूसरे के लिए अच्छा होना चाहिए। सांप्रदायिकता का सारा झगड़ा है मर जाने के बाद की स्थिति को लेकर, जो परोक्ष है। और जीवन-काल के जिस स्वरूपज्ञान, स्वरूपस्थिति, मानवता, सदाचार एवं भाईचारे के व्यवहार की बात प्रत्यक्ष है उसकी अवहेलना की जाती है। इसलिए सद्‌गुरु कहते हैं कि विचित्र-विचित्र सम्प्रदायों में फंसकर लोग अपने स्वरूप-राम को तो भूल ही जाते हैं, सांसारिक व्यवहार जो परस्पर का भाईचारा एवं सदाचार है उसे भी भूल जाते हैं।

"भूले राम भूलि दुनियाई" को दूसरे अर्थ में हम ऐसा भी समझ सकते हैं कि विचित्र सम्प्रदायों में संसार के साधारण लोग तो भूल ही गये, राम भी भूल गये हैं। राम के लिए तथा दुनियाई के लिए 'भूले' शब्द का प्रयोग अलग-अलग है, इसलिए दोनों के भूलने की बात है। इस स्थिति में राम का अर्थ दशरथ-सुत महाराज श्री राम से जोड़ा जा सकता है। ऐसी स्थिति में निम्न प्रकार से विचार रखा जा सकता है।

जड़ और चेतन को कभी अलग-अलग मानना और कभी दोनों को एक ही मानना यह अद्वैत ब्रह्मवाद ही अद्‌भुत पंथ है। योगवासिष्ठ में लिखा गया है "ब्रह्म ही जगत है और जगत ही ब्रह्म है।"[1] यहां जड़-चेतन का कोई निर्णय नहीं है। सांख्य और योग के ख्याल से तथा मानव के सहज विवेक से भी जड़-चेतन की अभिन्न-दृष्टि ही अविद्या है और इसी को अद्वैतब्रह्मवाद में ज्ञान मान लेना एक विस्मयकारक अवधारणा है। योगवासिष्ठ जो बत्तीस हजार श्लोकों का ब्रह्मवादी ग्रन्थ है, इसी मत का प्रतिपादन करता है। यह वसिष्ठ और राम के संवाद के रूप में रचा गया है। इसमें वसिष्ठ ने राम को उपदेश दिया है। इस ग्रन्थ के अनुसार श्री राम ने जड़-चेतन-अभिन्न अद्वैत ब्रह्मवाद स्वीकार

1. योगवासिष्ठ, निर्वाण प्रकरण, सर्ग 46।

लिया है। यह सब लक्ष्य रखकर यदि सद्गुरु ने कहा हो कि इसमें संसार के लोग तो भूले ही, श्री राम भी भूल गये, तो प्रासंगिक है। क्योंकि ब्रह्मवाद की आलोचना करते हुए ग्रन्थकार पीछे आठवीं रमैनी में कह आये हैं 'वोहि बात राम वसिष्ठ मिलि गाई।'

यह भी सच है कि योगवासिष्ठ के लेखक ने श्री राम को बलात घसीटकर अद्वैतब्रह्मवादी बनाया है, क्योंकि रामकथा के प्राचीनतम महाकाव्य वाल्मीकीय रामायण में इसकी गंध भी नहीं है। वाल्मीकि के अनुसार श्री राम की सोलह वर्ष की उम्र में शादी होती है और योगवासिष्ठ के अनुसार इसी उम्र में उनको वैराग्य होता है, जो काल्पनिक है। रामकथा एक प्रिय काव्य हुआ है। इसलिए विभिन्न लेखकों ने उसे अपने मतानुसार घुमाकर ढाला है। मूल वाल्मीकीय रामायण को देखते हुए कहना पड़ता है कि चाहे योगवासिष्ठ के लेखक हों, चाहे अध्यात्म-रामायण के लेखक और चाहे रामचरित मानस के लेखक गोस्वामी तुलसीदास जी हों, सभी ने मूल रामकथा के साथ घोर मनमानी की है और उसे इच्छानुसार घसीटा है और जिसका जितना मन कहा है मूल रामकथा से हटकर नये-नये प्रसंग जोड़े हैं। कबीर साहेब यहां योगवासिष्ठ के अनुसार ही आलोचना करते हैं। किन्तु योगवासिष्ठ के जड़-चेतन अभिन्नवाद का दोष श्री राम पर नहीं मढ़ा जा सकता। यह योगवासिष्ठकार का अपना दोष है। योगवासिष्ठ का रचना-काल ईसा की आठवीं से ग्यारहवीं शताब्दी के बीच है।[1]

योगवासिष्ठ में प्रथम के वैराग्य और मुमुक्षु प्रकरण बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। ग्रन्थ प्रशंसनीय है, किन्तु इसमें जड़-चेतन की अभिन्नता ही अंतिम सिद्धांत है एवं व्यवहार में योग-भोग मिला दिये गये हैं जो कल्याण के लिए घातक हैं।

'जो चेतहु तो चेतहु रे भाई। नहिं तो जीव यम लै जाई॥' यहां आये हुए 'यम' का अर्थ 'वासना' है। यदि मनुष्य विषय-भोगरूप खानीजाल से तथा सांप्रदायिक भ्रांतिरूप वाणीजाल से सावधान होकर उनसे अपने आप को मुक्त नहीं किया तो उसे वासनाएं संसार में भटकाती रहेंगी। अपने चेतन स्वरूप से हटकर जहां तक दृश्य की वासनाएं हैं 'यम' है।

---

1. एम. विंटरनित्स तथा एस. एन. दास गुप्त योगवासिष्ठ को आठवीं शताब्दी ई. का मानते हैं, लेकिन डॉ. वी. राघवन के अनुसार उसकी रचना 1100 ई. और 1250 ई. के बीच में हुई थी। दे. क्रमशः हि. ई. लि. भाग 3, पृष्ठ 443 और हि. इं. फिलॉसफी भाग 2, पृ. 230। तथा दे. जर्नल ऑव ओरियेंटल रिसर्च, भाग 13, पृ. 100-128। शिवप्रसाद भट्टाचार्य इसे अभिनन्द (10वीं श. ई.) की रचना मानते हैं। दे. इं. हि. क्वा. भाग 24, पृ. 201-12। (फादर कामिल बुल्के की रामकथा पृ. 165 से उद्धृत)।

"शब्द न माने कथै ज्ञाना" अर्थात लोग निर्णय शब्द नहीं मानते, परंपरा-प्राप्त अवधारणाओं को ही ज्ञान मानते हैं और उसी की कथा करते हैं, उसी पर बल देते हैं। लोग तर्कयुक्त निर्णय सुनना नहीं चाहते। लोग उन्हीं बातों को सुनना चाहते हैं, जिन्हें वे परम्परा से सुनते आये हैं। ऐसी स्थिति में सत्यज्ञान का होना असम्भव है।

'सावज' अथवा 'साउज' उस पशु को कहते हैं जिसका शिकार किया जाये। 'संशय' सावज है, शिकार है। उसे सब ज्ञानी मारना चाहते हैं, परन्तु वह सावज ही शिकारी को मारता है। संशय अनबेधा हीरा को वेध रहा है। अनबेधा हीरा अविनाशी अखण्ड जीव है। जीव से ही उत्पन्न संशय जीव को खा रहा है। लोक में शिकारी शिकार को मारता है, परन्तु यहां शिकार ही शिकारी को मार रहा है। यह कबीर साहेब की उलटवांसी है; परन्तु अर्थ सीधा है। उनकी सारी उलटवांसियों का अर्थ सीधा होता है। संशय रूपी सावज पशु एवं शिकार को सब ज्ञानी रूपी शिकारी मारना चाहते हैं, किन्तु होता यह है कि ज्ञानी संशयों से स्वयं घिरे रहते हैं। ज्ञानी संशय-पशु के शिकार हो रहे हैं।

हर मनुष्य के हृदय में संशय-पशु निवास करता है और जीव से जुआ खेलता है। आध्यात्मिक संशय और व्यावहारिक संशय से हर मनुष्य हर समय पीड़ित रहता है। मैं कौन हूं, संसार क्या है, कोई ईश्वर है कि नहीं, मेरे कल्याण का रास्ता क्या है, मरने के बाद क्या होगा इत्यादि आध्यात्मिक संशय है।

पत्नी, बच्चे, माता, पिता, भाई-बन्धु, सम्बन्धी, पड़ोसी, मित्र—सबके प्रति मनुष्य के मन में संशय, संदेह, आशंका, भ्रम बने रहते हैं कि वे हमारे लिए क्या ख्याल रखते हैं, वे हमें धोखा तो नहीं दे रहे हैं इत्यादि, यह व्यावहारिक संशय है।

मनुष्य जब तक अपने स्वरूप को नहीं पहचानता, अपने चरित्र को पवित्र नहीं करता; आत्मज्ञानी, आत्मविश्वासी और आत्मजित नहीं होता, तब तक संशयों का शिकार होता है। जिस दिन व्यक्ति अपने स्वरूप को पहचान कर आत्मविश्वासपूर्वक मानवीय चरित्र की ऊंचाई पर पहुंच जाता है, उसके सारे सन्देह समाप्त हो जाते हैं। दूसरे पर सन्देह, संशय, भ्रम आदि का मूल अपने स्वरूप का अज्ञान तथा नैतिकता की कमी ही है।

भ्रांति छोड़ो, राम में रमो

रमैनी–19

अनहद अनुभव की करि आशा। ई विपरीत देखहु तमाशा॥ 1॥
इहै तमाशा देखहु रे भाई। जहँवाँ शून्य तहाँ चलि जाई॥ 2॥

शून्यहि बंछे शून्यहि गयऊ। हाथा छोड़ि बेहाथा भयऊ॥ 3 ॥
संशय सावज सकल संसारा। काल अहेरी साँझ सकारा॥ 4 ॥

साखी—सुमिरन करहू राम का, काल गहे हैं केश।
ना जानों कब मारि हैं, क्या घर क्या परदेश॥ 19 ॥

शब्दार्थ—अनहद=अनाहतनाद। बंछे=वांछा, अभिलाषा।

भावार्थ—लोग अनाहतनाद के अनुभव से कल्याण की आशा करते हैं, यह उलटा तमाशा तो देखो॥ 1 ॥ हे भाई ! यह इनका तमाशा देखो कि ये शून्य में जा रहे हैं॥ 2 ॥ ये शून्य की अभिलाषा रखने वाले शून्य ही में जाते हैं। और हाथ में आये हुए कल्याणदायी अवसर को खोकर धोखा खा रहे हैं॥ 3 ॥ संशय-पशु शिकारी-काल बनकर रात-दिन संसार के सारे लोगों को मार रहा है अथवा संशय-पशु संसार के सारे लोगों के मन को पीड़ित कर रहा है और मृत्यु-शिकारी देहधारियों की देहों को छीनने के लिए रात-दिन उनके पीछे लगा है॥ 4 ॥

हे मानव ! तू अपने अन्तरात्मा-राम का स्मरण कर, तेरी चोटी को काल ने पकड़ रखा है। घर में हो या परदेश में, पता नहीं वह कब तुम्हें मार गिराये॥ 19 ॥

व्याख्या—'अनहद' का शुद्ध शब्द 'अनाहत' है। 'आहत' कहते हैं 'चोट खाये हुए को'। 'अन' उपसर्ग है, जो शब्द का अर्थ उलट देता है। अन-आहत=अनाहत=जो बिना चोट का हो। यहां 'अनाहत' से अर्थ है 'अनाहतनाद'। अभिप्राय है वह शब्द जो बिना चोट के पैदा होता है।

हठयोगी लोग कान आदि छिद्रों को बन्दकर खोपड़ी में होती हुई आवाज को सुनते हैं। वे उसका नाम 'अनाहतनाद' रखते हैं। वे उसे ब्रह्मध्वनि मानते हैं, अतः उसके सुनने से मोक्ष मानते हैं। वे अनाहतनाद का अनुभव करते हैं। 'अनु' कहते हैं 'पीछे' को, 'भव' कहते हैं 'पैदा होने' को; अतएव 'अनुभव' का अर्थ है प्रयोग के पीछे पैदा हुआ ज्ञान। कान आदि छिद्रों को बन्द करने पर खोपड़ी में होती हुई नसों की झनकारें उसी प्रकार सुनाई पड़ती हैं जिस प्रकार तार के खंभों के पास खड़े होने पर तार में दौड़ती विद्युत से निकलती हुई ध्वनि सुनाई पड़ती है। इस ध्वनि में योगी लोग शंख, घंटा, मृदंग, झांझ, करताल, बांसुरी आदि की ध्वनियों की कल्पना कर इसी में मस्त रहते हैं और इसे वे 'अनहद अनुभव' कहकर और इसी में लीन होकर कल्याण की आशा करते हैं।

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि यह हठयोगियों की उलटी बुद्धि का तमाशा है। बिना आघात के शब्द-ध्वनि आदि का पैदा होना ही असंभव है। विश्व में कहीं भी स्वन, शब्द एवं ध्वनि के पैदा होने का कारण है चोट एवं आघात। शरीर के

नसों में किसी प्रकार की क्रियाशीलता, गति आदि से ही उनमें झनकारें उठती हैं। गति का कारण स्वाभाविक धक्का एवं चोट है तभी आवाज होती है। इसलिए योगी लोग जिसे अनाहतनाद कहते हैं, वह वस्तुतः आहतनाद है और जड़ ध्वनि है। उसको कुछ समय के लिए आलंबन मानकर उसमें मन रोका जा सकता है। अर्थात उसे मन रोकने का साधन बनाया जा सकता है; परन्तु वह साधक का लक्ष्य एवं प्राप्तव्य नहीं हो सकता। शब्द से शब्द का श्रोता बड़ा होता है। सद्गुरु ने साखी प्रकरण में कहा है "मैं तोहि पूछौं पण्डिता, शब्द बड़ा की जीव !"[1] वस्तुतः शब्द से उसका श्रोता जीव बड़ा है।

अनेक मतों द्वारा अनाहतनाद, सबद, सारशब्द आदि कहकर जिसे व्यक्त करने की चेष्टा की जाती है, वह श्राव्य एवं जड़ ध्वनि है। इससे ऊपर उठकर अपने स्वरूप में स्थित होना साधक का परम लक्ष्य है।

नाद–श्रवण को ही परम लक्ष्य मानकर उलझे हुए साधक लक्ष्य–शून्य हो जाते हैं। अथवा कुछ साधक शून्य को ही अपना लक्ष्य मानकर शून्य में ही लीन होने का उपक्रम करते हैं। यह सब स्वस्वरूप के अज्ञान का फल है और अपने सुनहले अवसर को खोकर धोखा खाना है।

वस्तुतः अन्तरात्मा की आवाज को ही अनाहतनाद कहा जा सकता है। मनुष्य का मन जितना स्वच्छ एवं शांत होता है, अन्तरात्मा की आवाज उतनी ही साफ सुनाई देती है। अन्तरात्मा की आवाज का अर्थ है अन्दर में उठता हुआ ज्ञान। यदि मनुष्य इसको ठीक से सुने और तदनुकूल आचरण करे, तो महान हो जाये। परन्तु कुछ साधक खोपड़ी की नसों की झनकारों को अनाहतनाद नाम देकर उसको अपना लक्ष्य मान बैठते हैं, जो एक भ्रम है। इसीलिए सद्गुरु ने यहां उसका खण्डन किया है।

'अनहद' का अर्थ हद–रहित व्यापक भी होता है। सद्गुरु कहते हैं कि लोग 'अनहद अनुभव की करि आशा" अर्थात अपनी आत्मा की व्यापकता के अनुभव की आशा करते हैं जो कभी पूरी होने वाली नहीं। यह किसी को अनुभव नहीं होता कि मैं सर्वत्र परिपूर्ण व्याप्त हूं। सद्गुरु कहते हैं कि "ई विपरीत देखहु तमाशा" यह उलटा तमाशा है। आत्मा व्यापक है यह महिमापरक कथन है। इसका अर्थ है आत्मा सर्वोच्च तत्त्व है। कबीर साहेब ऐसी बातें नहीं मानते जो अनुभव की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं। आत्मा सभी काल में विद्यमान रहती है यह तो ठीक है, क्योंकि नित्य वस्तु अक्षुण्ण

1. साखी 22।

रहती है; किन्तु एक परिनिष्ठित आत्मा सर्वत्र व्याप्त है, यह न अनुभव का विषय है और न व्यावहारिक। ऐसी अवधारणा करना अपनी आत्मा को शून्य में भटकाना है। मैं साक्षी शुद्ध चेतन हूं, यह आनुभविक स्थिति ही तथ्यपूर्ण है।

सद्गुरु हठयोग और नाद-श्रवण आदि दृश्य-भासों तथा व्यापकवाद के भ्रम से साधक को हटाकर उसे सहज राम का स्मरण बताते हैं। उनका राम अपना शुद्ध चेतन स्वरूप है। वे साधकों को सावधान करते हैं कि तुम भ्रम में मत रहो। जीवन का कुछ ठिकाना नहीं। घर में, वन में, देश में, विदेश में, कहीं भी काल आ सकता है। तुम्हारी चोटी काल ने पकड़ रखी है। तुम सारा प्रमाद छोड़कर अपने अविनाशी चेतन स्वरूप राम का स्मरण करो।

मन के विकारों से हटकर अविनाशी राम में रमो

रमैनी-20

अब कहु राम नाम अविनाशी। हरि छोड़ि जियरा कतहुँ न जासी॥ 1॥
जहाँ जाहु तहाँ होहु पतंगा। अब जनि जरहु समुझि विष संगा॥ 2॥
रामनाम लौलायसु लीन्हा। भृंगी-कीट समुझि मन दीन्हा॥ 3॥
भौ अस गरुवा दुख के भारी। करु जिय जतन जो देखु विचारी॥ 4॥
मन की बात है लहरि विकारा। ते नहिं सूझै वार न पारा॥ 5॥

साखी—इच्छा करि भवसागर, जामें बोहित राम अधार।
कहैं कबीर हरि शरण गहु, गौ खुर बछ बिस्तार॥ 20॥

शब्दार्थ—गरुवा=कठिन। बोहित=जहाज। बछ=बछड़ा।

भावार्थ—अब अविनाशी राम का नाम कहो। हे जीव! हरि को छोड़कर कहीं अन्यत्र मत जाओ॥ 1॥ अन्यत्र जहां जाओगे वहां तुम्हारी दशा अग्नि में कूदकर मरने वाले पतिंगे की भांति होगी। अतः हे जीव! तथ्य को समझो और विषयों के साथ पड़कर जलो मत॥ 2॥ लोककहावत के अनुसार जैसे भृंगीकीट दूसरे कीड़ों को अपने शब्द सुनाकर उन्हें अपने समान बना लेता है, वैसे साधक रामनामवाची आत्मतत्त्व का चिन्तन करते-करते अपने मन को राममय बना लेते हैं। उनका मन सदैव आत्माराम चेतन स्वरूप में ही लवलीन रहता है॥ 3॥ संसार की आसक्ति ऐसा कठिन एवं भारी दुख है जिससे बचना विवेकवान का काम है। हे जीव! इसे विचारकर समझो और इससे छूटने के लिए यत्न करो॥ 4॥ मन की बातें तो विकारी तरंगें हैं, उनमें पड़कर जीव को वारपार नहीं सूझता॥ 5॥

जीव इच्छा करके ही संसार-सागर में पड़ता है। अथवा इच्छा करना ही संसार-सागर है। इससे बचने के लिए परमाधार है स्वरूप-राम का विचार रूपी

जहाज। कबीर देव कहते हैं कि समस्त अज्ञान को हरने वाले सद्गुरु रूपी हरि की शरण पकड़ो, फिर संसार-सागर का पार करना गो-बच्छ की खुर-चाप को लांघ जाने के समान सरल हो जायेगा॥ 20 ॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर द्वारा प्रतिपादित राम हाथ, पैर, मुख, माथा वाला व्यक्ति विशेष नहीं है जो किसी एक संप्रदाय द्वारा भावुकतापूर्वक मान लिया गया हो। उनका राम अविनाशी चेतन है, जो सबके हृदय में निवास करता है।

सद्गुरु कबीर बीजक में यत्र-तत्र 'अब कहु राम नाम' या 'राम नाम भजु' आदि जनभाषा में कह देते हैं। इसका अर्थ राम-नाम रटना मात्र न समझ लेना चाहिए। उन्होंने स्पष्ट कहा है—रामहि राम पुकारते, जिभ्या परिगौ रौंस।[1] या—राम के कहै जगत गति पावै, खाँड़ कहै मुख मीठा।[2] वे अविनाशी जीव को राम मानते हैं और उस पर विचार करने की राय देते हैं। आत्मचिन्तन एवं स्वरूपचिन्तन ही राम-भजन है।

'हरि छोड़ि जियरा कतहुँ न जासी' वस्तुतः हरि क्या है? जो हमारे दोषों, विकारों एवं अज्ञान को हरणकर दूर कर दे, वही हरि है। ऐसे हरि सद्गुरु और सन्त को छोड़कर कोई नहीं है। हम किसी लोकविशेष में या अदृश्य विभु एवं व्यापक रूप में हरि की केवल कल्पना करते हैं, प्रत्यक्ष या अपरोक्ष बोध नहीं। काल्पनिक आदर्श से काल्पनिक क्षणिक सन्तोष भले हो जाये, सकारात्मक बोध एवं कार्य नहीं हो सकता। नाना मतों द्वारा सर्वज्ञ-सर्वत्र-सर्वशक्तिमान हर्ता-कर्ता का काल्पनिक आदर्श बहुत दिनों से रखा जा रहा है, और उसी के नाम पर सदैव से हत्या, दुराचार एवं सांप्रदायिक क्रूरता का बरताव भी किया जा रहा है; परन्तु उसके द्वारा इसका कोई समाधान कभी नहीं किया जाता। इसलिए काल्पनिक आकाशीय उड़ान छोड़कर हमें व्यवहार की धरती पर उतरना चाहिए। अज्ञान और विषयासक्ति से पूर्ण निवृत्त सद्गुरु-सन्त ही हमारे उद्धार के लिए प्रेरक हो सकते हैं। वे ही हरि हैं। उन्हीं की शरण से कल्याण है।

अंततः हरि अपना चेतन-स्वरूप एवं आत्मदेव है। अपने शुद्ध चेतन-स्वरूप के स्मरण एवं स्थिति में ही सारे विकारों का अन्त है। अतएव साधकों के लिए सद्गुरु, सन्त एवं स्वरूपविचार छोड़कर कहीं अन्यत्र कल्याण का स्थान नहीं है। इनसे हटकर अलग जाने का अर्थ है पतिंगे के समान विषय-वासनाओं की आग में जलना।

लोककहावत है कि भृंगी-कीट दूसरे कीड़ों को अपने शब्द सुनाकर उन्हें अपना रूप बना लेता है। बिहारी कवि लिखते हैं—''डरियतु भृंगी कीट लौं मत

---

1. बीजक, रमैनी-साखी 33।
2. बीजक, शब्द 40।

वहई ह्वै जात।" परन्तु यह सर्वथा काल्पनिक है। वस्तुतः भृंगी, जिसे बिलनी भी कहते हैं, दूसरे छोटे-छोटे कीड़ों को पकड़कर खाने के लिए बिल में लाती है। आवाज करते रहना उसका स्वभाव है। उसके बिल से उसके बच्चे निकलते देखकर लोग भ्रमवश मान लेते हैं कि वे पकड़े गये कीड़े ही भृंगी बन गये हैं। यहां तो उदाहरण से केवल सार यह लेना है कि साधक अपने मन को राम की, निजस्वरूप चेतन की भावना देकर उसे राममय, चेतनमय बना लेते हैं। अर्थात सच्चे साधक के मन में केवल निजस्वरूप चेतन की स्थिति रहती है।

'भव' का अपभ्रंश 'भौ' है जिसका अर्थ है जन्म, होना, संसार, संसृति आदि। सद्गुरु कहते हैं कि भव का भारी दुख है। भव एवं संसार का मुख्य दुख है 'राग'। जहां का सब कुछ छूटने वाला है, वहां राग करना केवल दुखों को निमंत्रित करना है। इसलिए गुरुदेव कहते हैं 'करु जिय जतन जो देखु विचारी' विचारकर देखो और दुखों से छूटने का यत्न करो, साधना करो। यदि मनुष्य इस क्षणभंगुर जीवन में दुखों से रहित रहना चाहता है, तो उसे चाहिए कि वह यत्नपूर्वक सबके मोह का अन्त करे। आदमी यत्नपूर्वक विद्या पढ़ता है, धन कमाता है, परिवार वृद्धि करता है, सम्मान पाने का कार्यक्रम करता है; परन्तु वह राग से छूटने का प्रयास नहीं करता। इसलिए संसार की सारी चीजों से सम्पन्न होने पर भी दुखों में डूबा रहता है। वैराग्य और अनासक्ति ही दुख-रोग को दूर करने की परम औषध है।

राग होने से ही द्वेष होता है और राग-द्वेष में आबद्ध मनुष्य का मन विकारों से भरा होता है। मन की विकारी-लहरों में आत्म-दर्शन होना असंभव है। "मन की बात है लहरि विकारा। ते नहिं सूझै वार न पारा॥" मन की विकारी-लहरों का शांत हो जाना ही भव की शांति एवं संसार से पार हो जाना है।

"इच्छा करि भवसागर, जामें बोहित राम अधार" सांसारिक इच्छाएं भवसागर हैं और राम का आधार लेना ही बोहित है। बोहित कहते हैं जहाज को। राम अपना चेतन स्वरूप है। अपने आप से पृथक कोई ऐसा राम नहीं है जिसका आधार पकड़ा जा सके। स्व-स्वरूपानुसंधान ही राम का आधार पकड़ना है। प्रथम गुरु-सन्त ही हरि है और अंततः अपना आत्मस्वरूप हरि है। साधक को गुरु की शरण में, संतों की शरण में जाना चाहिए और अंततः उसे अपनी ही शरण में जाना है। जो साधक वैराग्यवान सद्गुरु-सन्तों की शरण में रहकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, उसके लिए संसार-सागर को पार करना गौ के बछड़े की खुर-चाप को लांघ जाने के समान सरल है। बाहर सत्संग का पवित्र वातावरण और भीतर वैराग्य एवं बोध का चिंतन साधकों के कल्याण का सरलतम मार्ग है।

राम के ज्ञान से ही दुखों से छुटकारा है

रमैनी-21

बहुत दुःख दुख दुख की खानी। तब बचिहो जब रामहि जानी॥ 1॥
रामहि जानि युक्ति जो चलई। युक्तिहु ते फन्दा नहिं परई॥ 2॥
युक्तिहि युक्ति चला संसारा। निश्चय कहा न मानु हमारा॥ 3॥
कनक कामिनी घोर पटोरा। सम्पति बहुत रहै दिन थोरा॥ 4॥
थोरी सम्पति गौ बौराई। धर्मराय की खबरि न पाई॥ 5॥
देखि त्रास मुख गौ कुम्हिलाई। अमृत धोखे गौ विष खाई॥ 6॥
साखी—मैं सिरजौं मैं मारौं, मैं जारौं मैं खाँव।
जल थल महियाँ रमि रहौं, मोर निरंजन नाँव॥ 21॥

शब्दार्थ—घोरा=घोड़ा। पटोरा=रेशमी वस्त्र। धर्मराय=मृत्यु। खबरि= सन्देश।

भावार्थ—विषयासक्ति एवं अज्ञान अत्यन्त दुखों का उत्पत्ति-स्थान है। इनसे तभी बचोगे, जब राम को जानोगे॥ 1॥ जो व्यक्ति सद्गुरु-सत्संग में राम को ठीक से जानकर युक्तिपूर्वक चलता है, वह विषयासक्ति के बन्धनों में नहीं पड़ता॥ 2॥ वैसे संसार के सभी लोग अपनी-अपनी समझ से युक्तिपूर्वक ही चलते हैं; परन्तु वे गुरु के परिनिष्ठित विचार नहीं मानते॥ 3॥ कनक, कामिनी, घोड़ा आदि वाहन; रेशमी वस्त्र आदि सम्पत्ति चाहे जितने बटोर लें, किन्तु संसार में रहना तो बहुत थोड़े दिन है॥ 4॥ लोग छूटने वाली थोड़ी सम्पत्ति पाकर उसके मद में उन्मत्त हो जाते हैं और मौत का सन्देश नहीं समझ पाते॥ 5॥ अन्ततः मौत का दुख देखकर देहाभिमानी मनुष्य का मुख सूख जाता है। सच है, मनुष्य अमृत के भ्रम में विष खाता है॥ 6॥

धर्मराय कहता है—मैं ही बनाता हूं, मैं ही मारता हूं, मैं ही जलाता हूं और मैं ही खा जाता हूं। मैं जल-स्थल सर्वत्र रम रहा हूं। मेरा नाम निरंजन है॥ 21॥

व्याख्या—ग्रन्थकार विषयासक्ति एवं बेसमझी को दुखों की खानि बताते हैं। खानि कहते हैं किसी चीज के उत्पत्तिस्थान को। विषयासक्ति में केवल दुख ही उत्पन्न होते हैं। इसीलिए वे तीन बार दुख का नाम लेते हैं—"बहुत दुःख दुख दुख की खानी।" किसी बात पर जोर डालने के लिए उसे तीन बार कहा जाता है। असन्तोष सबसे बड़ा दुख है और इसका मूल विषयासक्ति है। विषयासक्ति के वशीभूत होकर ही जीव जन्म-मरण के चक्कर में घूमता है और संसार के सारे दुखों को सहता है। गरीब से धनी, अविद्वान से विद्वान, प्रजा से राजा तक जन्म, बुढ़ापा, रोग, प्रिय-वियोग, अप्रिय-संयोग, अभाव, असन्तोष

एवं मृत्यु के दुख से पीड़ित हैं। इसीलिए गीताकार ने कहा है 'दुःखालयं अशाश्वतम्' अर्थात संसार दुख का घर और क्षणभंगुर है। शास्त्र तो तथ्य की छाया हैं। सब जीव स्वयं रात-दिन अभाव एवं दुखों का अनुभव करते हैं। जवानी और विषयों के संयोग के प्रमाद में अविवेकी आदमी इठलाता है; किन्तु कुछ दिनों में उसे भी दीन होकर दुख भोगना पड़ता है। किसी ने सच कहा है—"अरे मन, अब तो समझ धार अभी बाकी है, पार अभी बाकी है, जीत की हार अभी बाकी है।" अन्ततः सारे दुखों का कारण है अज्ञान एवं नासमझी। क्योंकि मन का दुख सबसे बड़ा दुख है और इसका कारण अज्ञान है।

सद्गुरु कहते हैं "तब बचिहो जब रामहि जानी।" दुखों से बचने का रास्ता है राम को जानना। मनुष्य का अपना असली एवं सारस्वरूप शुद्ध चेतन है। वही राम है। जब मनुष्य यह जान लेता है कि मैं शरीर नहीं हूं, चेतन हूं, अविनाशी राम हूं, तब उसकी दृष्टि बदल जाती है। उसे विषयासक्ति से घृणा हो जाती है। तब वह पर-विषयों से हटकर स्व-राम में रमता है। विषय क्षणभंगुर हैं, राम अविनाशी है। विषय जड़ तथा पराये हैं और राम चेतन तथा अपना स्वरूप है। जो अविनाशी स्वरूप-राम में रमता है, उसकी दृष्टि में विषय-भोग तुच्छ होते हैं। इसलिए उसको विषयों से वैराग्य होता है। उसके हृदय में किसी प्राणी-पदार्थ के लिए लोभ और मोह नहीं होते। इसलिए उसे कभी अभाव और असन्तोष की खटक नहीं होती। वह सदैव अपने अमृतधाम स्वरूप-राम में ही निमग्न रहता है। देहाभिमान छोड़ देने से उसे बुढ़ापा तथा रोग का भी भय नहीं होता। बुढ़ापा तथा रोग आने पर वह सदैव सम रहता है। वह समझता है कि जिस पर बुढ़ापा तथा रोग व्याप्त हो रहा है वह शरीर मैं नहीं हूं। मैं शुद्ध चेतन हूं। न मेरा क्षय है, न मेरी मृत्यु। मैं तो अविनाशी सदैव कल्याण रूप हूं। वह समझता है कि पचास-सौ वर्षों की अवधि से सीमित शारीरिक जीवन मेरा असली जीवन नहीं है। मेरा असली जीवन तो अनादि-अनन्त है। श्री पूरण साहेब के वचनों में वह अपने को समझता है 'तू अविनाशी सुख में कहिए'। इस प्रकार राम को जानने पर ही दुखों का अन्त हो सकता है।

"रामहि जानि युक्ति जो चलई। युक्तिहु ते फन्दा नहिं परई॥" सद्गुरु कबीर यहां केवल राम को जानने की बात नहीं करते हैं, किन्तु राम को जानकर युक्तिपूर्वक चलने को कहते हैं। 'युक्ति' के अनेक अर्थ हैं—मिलन, तर्क, उचित, विचार, हेतु, नीति, चातुर्य, अनुमान, उपाय, योजना, चाल, रीति तथा एक अलंकार जिसमें अपना भेद छिपाने के लिए किसी क्रिया या उपाय द्वारा दूसरे को धोखा दिया जाये। इस अलंकार के सन्दर्भ में कहा गया है 'युक्ति प्रायः छलात्मिका' अर्थात युक्ति प्रायः छलपूर्ण होती है। परन्तु इस रमैनी के सन्दर्भ को देखते हुए युक्ति के अर्थ तर्क, विचार, उचित और उपाय ही लगते

हैं। यहां विषयों से हटकर राम को जानने की बात है। इसमें तर्क तो चाहिए ही। कबीर का राम कोई व्यक्ति विशेष नहीं, किन्तु सबका आत्मस्वरूप है, यह तर्कयुक्त बात है। विषय जड़स्वरूप एवं पर हैं और राम चेतनस्वरूप एवं स्व है, यह विचार है। उचित का अर्थ है ठीक-ठीक, सन्तुलन एवं अपनी दशा में रहना। राम को जानने का मतलब है स्वरूप को जानना और युक्ति से चलने का अर्थ है स्वरूपस्थिति की दशा में रहकर चलना।

'युक्ति' का अर्थ है 'उपाय' जो बहुप्रचलित है। कठिन काम भी युक्ति एवं उपाय से करने पर सहज हो जाता है और बिना युक्ति के सरल काम भी कठिन हो जाता है। यह युक्ति और उपाय का ही फल है जो हजारों तथा लाखों मन का वजन लेकर ट्रेन, हवाई जहाज, जल जहाज एवं बसें दौड़ती रहती हैं। बे-तरीके चार किलो वजन लेकर चलना भी कठिन हो जाता है। युक्ति से बात करने पर बिगड़ा काम बन जाता है और बिना युक्ति से बात करने पर बना काम बिगड़ जाता है। हाथ तथा छूरी में तेल लगाकर कटहल की सब्जी बनाने से उसका लासा हाथ तथा छूरी में नहीं लगता और बिना उपाय के, यों ही कटहल की सब्जी बनायी जाये तो हाथ और छूरी, दोनों लसफस हो जायेंगे। कांटों के झुंड में फंसे हुए अपने वस्त्रों को युक्तिपूर्वक ही छुड़ाया जा सकता है। जोर से जल्दीबाजी में खींचने से वस्त्र फट जायेंगे। अनादिकाल से जीव विषयों में फंसा है। अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर भी कोई हठपूर्वक बन्धनों से नहीं छूट सकता। युक्तिपूर्वक, उपाय से चलने पर ही जीव बन्धनों को तोड़ सकता है। युक्ति से मोटे-मोटे पेड़ भी काटकर गिरा दिये जाते हैं और बिना युक्ति के हठपूर्वक एक छोटा पौधा उखाड़ने में कठिन हो जाता है। अतएव राम को, स्वरूप को जान लेने पर युक्तिपूर्वक चलकर जीव अपने को बन्धनों से जीवन भर बचाये रख सकता है। 'युक्तिहु ते फंदा नहिं परई' वचन बहुत वजनदार है।

"युक्तिहि युक्ति चला संसारा। निश्चय कहा न मानु हमारा॥" संसार के सभी लोगों को यह अहंकार है कि हम तर्क, विचार, उपाय एवं संयम से ही चल रहे हैं। अर्थात हम युक्तिपूर्वक एवं ठीक ही चल रहे हैं। परन्तु यदि लोग ठीक ही चल रहे हैं, तो उनके जीवन में दुख क्यों है? यदि आदमी को सच्चा ज्ञान हो जाये और उसी ज्ञान के मुताबिक जीवन में आचरण करे, तो वह दुखी नहीं हो सकता। मनुष्य की समझ और आचरण गलत होते हुए भी वह उनके प्रति अच्छा होने का अहंकार करता है। वह गुरुजनों की बातों पर ध्यान नहीं देता। 'निश्चय कहा न मानु हमारा' का अर्थ है मनुष्य गुरु के सच्चे उपदेशों पर ध्यान नहीं देता।

जिनके लोभ और मोह में पड़कर मनुष्य गुरुजनों की सच्ची बातों पर ध्यान नहीं देता, वे धन, ऐश्वर्य, परिवार, मान-प्रतिष्ठा बहुत-थोड़े दिन रहने वाले हैं।

संपत्ति और समाज तो हम चाहे जितने जुटा लें किन्तु इनके साथ हमें बहुत ही कम समय रहना है। फिर इनका प्रमाद कैसा ! थोड़ा ऐश्वर्य, सम्मान एवं जन-समाज पाकर आदमी अहंकार के नशा में पागल हो जाता है। उसे मौत की याद नहीं रहती, जो एक ही क्षण में सबसे वियोग करा देगी। उसे मौत की खबर नहीं। बाल पकना, दांत टूटना, आंखों की रोशनी घट जाना और चश्मा लगाने के लिए विवश होना, चाम में सिकन आना आदि मौत की अनेक सूचनाएं हैं। लेकिन विमोहित मानव उन्हें पढ़ नहीं पाता। मौत की खबर एवं संदेश का उसे भान नहीं। इस भूतल पर बड़े-बड़े राजे-महाराजे होकर चले गये। आज उनका नाम-निशान भी नहीं है। सद्गुरु कबीर साखीग्रन्थ में कहते हैं—

कबीर यह संसार है, जैसा सेमर फूल।
दिन दस के ब्यौहार में, झूठे रंग न भूल॥
कबीर धूलि सकेलि के, पुड़ि जो बाँधी येह।
दिवस चार का पेखना, अंत खेह की खेह॥
कबीर मंदिर लाख का, जड़िया हीरा लाल।
दिवस चार का पेखना, बिनसि जायगा काल॥
सपने सोया मानवा, खोलि जो देखै नैन।
जीव परा बहु लूट में, ना कछु लेन न देन॥
मरोगे मरि जाहुगे, कोई न लेगा नाम।
ऊजड़ जाइ बसाहुगे, छोड़ि बसंता गाम॥
कबीर जो दिन आज है, सो दिन नाहीं काल।
चेत सकै तो चेति ले, मीच परी है ख्याल॥

जिसने पहले से ही देहाभिमान एवं मायाभिमान नहीं छोड़ा है, ऐसे मोहासक्त जीव के सामने जब मृत्यु का समय आता है, वह भयभीत हो जाता है। वह देखता है कि मेरा सारा अपना माना हुआ छूट रहा है। जमीन, मकान, रुपये, परिवार, समाज, सम्मान जिन्हें वह अपना मान रखा था उनके छूटने की बात सोचकर मुख सूख जाता है। तब उसे लगता है कि मैंने स्वप्न की संपत्ति के लिए घोर पाप कर डाले हैं। आज सूझ पड़ती है कि मैंने अमृत के धोखे में विष खा लिया। परन्तु "अब पछिताये होत क्या, जब चिड़िया चुग गयी खेत।" आदमी जीवन भर अमृत के धोखे में विष खाता है। विष पांच विषय हैं, अमृत जीव है, जिसे इस रमैनी में राम कहा गया है। व्यक्ति विषयों में डूबा रहता है जो दुखों के कारण बनते हैं। वही समझदार है, जो विषयासक्ति छोड़कर अपने चेतनस्वरूप अमृत में स्थित हो।

इस रमैनी के अन्त की साखी में कहा गया है "मेरा नाम निरंजन है। मैं ही जन्माता, मारता, जलाता और खाता हूं। मैं जल-स्थल सर्वत्र रमता हूं।" यह

निरंजन कौन बला है? निरंजन का शाब्दिक अर्थ है मायातीत एवं निर्दोष। निरंजन ब्रह्म के लिए भी प्रयुक्त होता है। इस रमैनी तथा अगली रमैनी में प्रयुक्त होने वाला 'निरंजन' शब्द दो अर्थों वाला है। एक अर्थ है काल और दूसरा अर्थ उस उलटी हुई ब्रह्म-धारणा के लिए है जिसमें सारी सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय माना गया है। ब्रह्मवादी अपने को सारे संसार का मूल-कारण ब्रह्म मानकर कहते हैं "मैं सबका सृजन करता हूं, मैं सबका संहार करता हूं और मैं सबको जलाकर खा जाता हूं। मैं जल-स्थल सर्वत्र रम रहा हूं। मेरा नाम निरंजन है, गुणातीत ब्रह्म है।" निश्चित है, यह धारणा एक सनक है।

मोह-मन्दिर में मत घुसो

रमैनी-22

अलख निरंजन लखै न कोई। जेहि बन्धे बन्धा सब लोई॥ 1॥
जेहि झूठे सब बाँधु अयाना। झूठा बचन साँच कै माना॥ 2॥
धन्धा बन्दा कीन्ह ब्यवहारा। कर्म विवर्जित बसै निन्यारा॥ 3॥
षट आश्रम औ दर्शन कीन्हा। षटरस बास षटै वस्तु चीन्हा॥ 4॥
चारि वृक्ष छौ शाखा बखानी। विद्या अगणित गनै न जानी॥ 5॥
औरों आगम करे विचारा। ते नहिं सूझै वार न पारा॥ 6॥
जप तीरथ व्रत कीजे बहु पूजा। दान पुण्य कीजे बहु दूजा॥ 7॥

साखी—मन्दिर तो है नेह का, मति कोइ पैठो धाय।
जो कोइ पैठे धाय के, बिन शिर सेती जाय॥ 22॥

शब्दार्थ—धन्धा=व्यवहार। बन्दा=गुलाम। चारि वृक्ष=चार बेद। छौ शाखा=छह वेदांग।

भावार्थ—उस अदृश्य निरंजन की कोई परीक्षा नहीं करता, जिसके बन्धन में सब लोग बंधे हैं॥ 1॥ जिस असत्य धारणा में सब अबोधी जीव बंधे हैं, उस झूठी बात को उन्होंने सत्य समझकर मान रखा है॥ 2॥ यद्यपि जीव का शुद्धस्वरूप कर्मों से सर्वथा रहित है और उसकी स्थिति जड़ से नितांत भिन्न निराधार एवं असंग है, तथापि अपने स्वरूप की भूल से वह गुलामी का धन्धा उठा रखा है और विवशता का व्यवहार कर रहा है॥ 3॥ मनुष्यों ने छह आश्रम और छह दर्शनों की रचना की और छह रस का आस्वादन किया और छह सिद्धान्तों का निरूपण किया॥ 4॥ चार वेद रूपी चार वृक्ष तैयार किये और उसमें छह वेदांग रूप छह शाखाओं का विस्तार किया। इतना ही नहीं मनुष्यों ने अगणित विद्याओं का प्रवर्तन किया, जिनका एक व्यक्ति के लिए जानना असंभव तो है ही, उनकी गणना करना भी सरल काम नहीं

है॥ 5॥ लोग इसके आगे भी आगम शास्त्रों का विचार करते हैं, जिसमें वार–पार नहीं सूझता॥ 6॥ लोग जप, तीर्थ, व्रत, पूजा, दान–पुण्य आदि करते हैं तथा इसके भी अतिरिक्त नाना कर्म करते हैं॥ 7॥

जिस मन्दिर में आदमी कैद होता है वह तो स्नेह एवं मोह का है। हे कल्याणार्थी! उसमें कोई दौड़कर मत घुसो। जो इस मोह–मन्दिर में दौड़कर घुसेगा, वह व्यर्थ में अपना सिर कटा बैठेगा॥ 22॥

व्याख्या—अलख निरंजन अदृश्य काल है। काल के दो रूप हैं एक समय की अवधि तथा दूसरा मन की कल्पना। इस रमैनी में मन की कल्पित अवधारणाओं को ही अलख निरंजन कहा गया है। सद्गुरु कबीर कहते हैं कि लोगों के मन की जो रेखरूपरहित कल्पित अवधारणाएं हैं, उन्हें वे परखने की कोशिश नहीं करते। आदमी का बन्धन उसकी अपनी गलत अवधारणाएं एवं कल्पनाएं ही हैं। आदमी रस्सी, लोह की जंजीर या काष्ठ आदि में बंधा हो, तो उसे अपने बन्धन दिखाई दें, किन्तु बन्धन तो अदृश्य हैं। वे आदमी को सहज दिखाई भी नहीं देते। मन के अदृश्य बन्धनों को तो कोई पारखी ही देखता है।

"जेहि झूठे सब बाँधु अयाना" बन्धन झूठे हैं, किन्तु जिन्हें ज्ञान नहीं है, वे इस झूठे बन्धन को ही सच मान रहे हैं और खुशी–खुशी इसमें बंधे हैं। मोह में बुद्धि भ्रमित होती है। "धन्धा बन्दा कीन्ह व्यवहारा" बन्दा ही बन्धन का धन्धा एवं व्यवहार करता है। बन्दा का अर्थ ही है वशवर्ती एवं गुलाम। स्वतन्त्र जीव मन के मिथ्या बन्धन में पड़कर गुलाम हो गया है।

सद्गुरु कहते हैं "कर्म विवर्जित बसै निन्यारा" जीव कर्मों से अलग और जड़ प्रकृति से सर्वथा पृथक एवं असंग है। अपने असंगत्व का बोध न होने से जीव सब में फंसा है। अपने आप को दृश्यों में मिला देना पीड़ा है और अपने असंगत्व का सदैव भान रहना ही अमृतत्व है। सद्गुरु कहते हैं कि ऐसा शुद्ध असंग जीव सब में मिल–मिलकर बंधा है।

इन बन्धनों से छूटने के लिए मनुष्यों ने छह आश्रम, छह दर्शन, छह रस एवं छह वस्तुओं की अवधारणाएं कीं। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास ये चार आश्रम हैं। इनमें हंस एवं परमहंस जोड़कर छह आश्रमों की अवधारणाएं हुईं। योगी, जंगम, सेवड़ा (जैनी–बौद्ध), संन्यासी, दरवेश (फकीर) और ब्राह्मण ये छह दर्शन हैं।

"षटरस बास" छह रसों का आस्वादन है। यहां प्रसिद्ध षड्रस—मीठा, नमकीन, कड़वा, तीता, कसैला तथा खट्टा अर्थ नहीं है; किन्तु छह नामों का जप है। ब्राह्मणों का 'ॐ', संन्यासियों का 'सोऽहं', दरवेशों–सूफियों का 'हू अल्ला हू', योगियों का 'महीनाद', सेवड़ा का 'तत्त्वनाम' एवं जंगमों का 'निरंजन' जप है। इस प्रकार षड्दर्शनों के छह जप हैं और भक्त–जन अविनाशी

राम-नाम जप करते हैं।[1] ये सब अपने-अपने नाम-जप का आस्वादन करते हैं। इनके अलावा भी अनेक प्रकार नाम एवं मंत्रादि के जप हैं।

"षटै वस्तु चीन्हा" इन्होंने अपने-अपने सिद्धान्त का अलग-अलग निरूपण किया है। ब्रह्मचारी ब्राह्मणों का अद्वैत परमात्मा, संन्यासियों का अहंब्रह्मास्मि, फकीरों का वायु का वायु में मिल जाना, योगियों का पिंड से उठकर ब्रह्मांड में पहुंचना, जैनियों का ऊपर अलोकाकाश में चन्द्रशिला पर मुक्त होकर रहना, जंगमों (शिवाचारियों) का आकाशवत परमात्मा शिव में मिलना—यह छह दर्शनों के सिद्धान्त हैं और भक्तों का यह विलक्षण सिद्धान्त है कि राम पुरुष है और सब जीव नारिरूप हैं ऐसा मानकर माधुर्य भक्ति करना।[2] इसके अतिरिक्त भी नाना मतों द्वारा नाना सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है।

"चारि वृक्ष छौ शाखा बखानी" चार वृक्ष छौ शाखा चारों वेद एवं छहों वेदांग के लिए रूपक हैं। मनुष्यों के कल्याण के लिए ही चारों वेद ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व की और छह वेदांग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष की रचना की गयी। जो वेदाध्ययन तथा वेद मंत्रों के विनियोग एवं संस्कारों में सहायक होते हैं, उन्हें वेदांग कहा जाता है, वे उक्त छह हैं। वेद-मंत्रों के उच्चारण का विज्ञान बताने वाला 'शिक्षा' अंग है। कर्मकांड या अनुष्ठान पद्धति और यज्ञों, संस्कारों की विधियां 'कल्प' में बतायी गयी हैं। 'व्याकरण' वह वेदांग है जिसमें भाषा के शब्दों, उनके रूप, प्रयोगों आदि पर विवेचन है। 'निरुक्त' वह ग्रन्थ है जिसमें वैदिक शब्दों की व्याख्या की गयी है। ईसा पूर्व सातवीं-आठवीं शती के यास्क मुनि की प्रसिद्ध रचना 'निरुक्त' है। छन्दों का रूप बताने वाला 'छन्द' है। 'ज्योतिष' का अर्थ है नक्षत्र विद्या या गणित।

---

1. ॐकार ब्राह्मण उपासी। सोहं ब्रह्म इष्ट संन्यासी॥
हू अल्लाहू सुफी अधारा। महीनाद योगी विस्तारा॥
तत्त्वनाम सेवड़ा परवाना। नाम निरंजन जंगम ध्याना॥
षड्दर्शन षड्अंग उपासी। राम नाम भक्ता अविनाशी॥ (पंचग्रन्थी)

2. अदेव मूल श्रवण को कहिये। अहं ब्रह्म संन्यासी लहिये॥
वायु शेख योगी सो धरणी। शशी अमीरस जाने जैनी॥
महा अकाश जंगम के होई। षट सिद्धान्त जग जानेहु सोई॥
पुरुष राम सब नारि स्वरूपा। यह सिद्धान्त है भक्ति अनूपा॥
(पंचग्रन्थी, मानुष विचार का अन्त)

यहां 'अदेव मूल श्रवण को कहिये' आया है। यहां अदेव से देव रहित नहीं किन्तु अद्वैत परमात्मा अर्थ है तथा श्रवण श्रमण नहीं किन्तु ब्राह्मण है।

"विद्या अगणित गनै न जानी" विद्याएं असंख्य हैं। इतिहास, पुराण, उत्पात-शास्त्र, निधि विद्या, तर्क विद्या, भूत विद्या, धनुर्विद्या, संगीत विद्या, प्राणि विद्या, वनस्पति विज्ञान, मनोविज्ञान, शरीर विज्ञान, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, कहां तक कहा जाये, गिनकर समाप्त करना कठिन, एक व्यक्ति का सबका जानना असंभव। एक घटना याद आयी। गत दिसम्बर (1986) कलकत्ता में प्रेम प्रकाश जी के यहां निवास था। 11 दिसम्बर को कलकत्ता का म्यूजियम देखने गया। दो घण्टे देखने पर भी आधा ही में घूम सका। देखना तो उसे नहीं कह सकता। एक साथी ने कहा कि इसमें सारी चीजें देखने और समझने के लिए चार घण्टे चाहिए। मैंने कहा इसे देखने के लिए महीनों चाहिए और जानने के लिए असंख्य जन्म चाहिए। परन्तु इन्हें गहराई से जानकर करेंगे क्या? बस इतना देख लिया, हो गया। अपने को देखो, अपने को जानो और अपने में स्थित होओ। यहीं विश्रांति है।

"आरौं आगम करे विचारा" मनुष्य और भी आगे बहुत शास्त्रों का विचार करता है। 'आगम' कहते हैं वेदादि मान्य ग्रन्थ, शास्त्र, दर्शन, तंत्रशास्त्र आदि को। 'वाराही तंत्र' नामक ग्रन्थ के अनुसार सृष्टि, प्रलय, देवतार्चन, सर्वसाधन, पुरश्चरण, षटकर्म (शांति, वशीकरण, स्तंभन, विद्वेषण, उच्चाटन और मारण) का साधन तथा ध्यान-योग इन सात लक्षणों से युक्त ग्रन्थों को 'आगम' कहते हैं।[1] इस प्रकार लोग असंख्यात विद्याओं का विचार करते हैं। वाणी-जाल का इतना विस्तार है कि उसमें मनुष्य को 'वारपार' नहीं सूझता। "ते नहिं सूझै वार न पारा" बड़ा वजनदार वचन है। वारपार सूझने का मतलब है अपने लक्ष्य का दिखाई दे जाना। यदि मनुष्य अपने लक्ष्य को न देख सका तो बहुत विद्याएं पढ़कर क्या हुआ ! इसलिए सद्गुरु का महानिर्देश है "सार सार को गहि रहे, थोथा देय उड़ाय।"

लोग कल्याण के लिए नाना नाम एवं मंत्रों का जप करते हैं। देश के बहुत या सभी तीर्थों में बारम्बार भ्रमण करते हैं। एकादशी, अष्टमी, चन्द्रायण इत्यादि व्रत-उपवास करते हैं। पेड़, पहाड़, पानी, पाषाण आदि में देवी-देवता मानकर उनकी पूजा करते हैं। अनेक प्रकार दान-पुण्य करते हैं। ठीक है, अपनी-अपनी समझ-शक्ति के अनुसार कुछ कर्म-धर्म करना अच्छा है। किन्तु इनसे भी कुछ आगे है, इसे सत्संग-विवेक द्वारा समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

---

1. सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां यथार्चनम्।
साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च॥
षट्कर्मसाधनं चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तद् विदुर्बुधाः॥ (बल्देव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृष्ठ 529)

"मन्दिर तो है नेह का, मति कोइ पैठो धाय। जो कोइ पैठे धाय के, बिन शिर सेती जाय॥" बहुत महत्त्वपूर्ण साखी है। सद्‌गुरु कहते हैं कि मोह के मन्दिर में दौड़कर मत घुसो। उपर्युक्त वर्णित सारी विद्याएं एवं सारे खटकरम मोह के मन्दिर हैं। इनमें दौड़-दौड़कर मत घुसो। मोह के मन्दिर में घुसने से मनुष्य का सिर कट जाता है। अर्थात जो मोह से आवृत होता है उसका विवेक सो जाता है। धन-सम्पत्ति का मोह, जमीन-मकान का मोह, परिवार-समाज का मोह, मान-प्रतिष्ठा का मोह, शास्त्र-परम्परा का मोह, विद्या-वाणी का मोह, संप्रदाय-मान्यता का मोह, रस्म-रिवाज का मोह, देह तथा मन के संकल्प-विकल्पों का मोह, कहां तक गिनाया जाये ! यह दृश्य मात्र का मोह ही तो गले की फांसी है। जिसने मोह का परित्याग किया वह अपने शुद्ध चेतनस्वरूप में स्थित हुआ। वह अपने असंगत्व में प्रतिष्ठित हुआ। वही सच्चे अर्थ में मानवता का उन्नायक है 'कहहिं कबीर ते ऊबरे, जाहि न मोह समाय।' (बीजक, चाचर 1)

विषयसुख अल्प है, आत्मसुख नित्य है

रमैनी-23

अल्प सुख दुख आदिउ अन्ता। मन भुलान मैगर मै मन्ता॥ 1 ॥
सुख बिसराय मुक्ति कहाँ पावै। परिहरि साँच झूँठ निज धावै॥ 2 ॥
अनल ज्योति डाहै एक संगा। नैन नेह जस जरै पतंगा॥ 3 ॥
करहु विचार जो सब दुख जाई। परिहरि झूठा केर सगाई॥ 4 ॥
लालच लागी जन्म सिराई। जरा मरण नियरायल आई॥ 5 ॥

साखी—भरम का बाँधा ई जग, यहि बिधि आवै जाय।
मानुष जनम पायके, नर काहे को जहँड़ाय॥ 23 ॥

शब्दार्थ—मैगर=हाथी। मै=समान। मन्ता=उन्मत्त।

भावार्थ—विषयों में सुख थोड़ा है और दुख आदि से अन्त तक भरा है; किन्तु मनुष्य का मन उन्मत्त हाथी के समान उनमें भूला है॥ 1 ॥ यद्यपि सुख की उपेक्षा कर मुक्ति कहां मिल सकती है ! परन्तु सुख के सच्चे और झूठे स्वरूप को समझना होगा। मनुष्य सच्चे एवं स्वरूपस्थितिजनित चिरंतन सुख को छोड़कर असत्य विषय-सुख को ही सच्चा मानकर उसी का ध्यान करता है, उसी के लिए दौड़ता है॥ 2 ॥ मनुष्य विषयों में कूदकर उसी प्रकार अपना विनाश करता है जैसे नैन-नेह एवं रूपासक्ति में पड़कर पतिंगे अग्निशिखा में अपने आप का हवन कर देते हैं॥ 3 ॥ हे कल्याणार्थी ! विचार करो और झूठे विषयों के मोह का परित्याग करो, जिससे सारे दुख दूर हों॥ 4 ॥ विषयों के

लालच में लगकर तुम्हारा जीवन बीता जा रहा है और जरा-मृत्यु निकट आ रही है॥ 5॥

इस प्रकार जीव विषय-सुख-भ्रम में बंधा हुआ बारम्बार जन्म-मरण में आता-जाता रहता है। हे मनुष्य ! विवेकप्रधान मानव जन्म पाकर तू अपने आप को क्यों पतित कर रहा है? ॥ 23॥

व्याख्या—शैशवकालीन माता के गोदजनित सुख, बाल्यकालीन खेलकूद-जनित सुख, तरुणाई के पढ़ने-लिखने का सुख, जवानी के राग-रंग का सुख—सब तो क्षणिक है। और केवल क्षणिक ही नहीं, दुखमिश्रित है। रसभरी जवानी, वैवाहिक उत्सव, सुहागरात के दिन आखिर कितने दिन तक चलेंगे ! शासन, स्वामित्व एवं अधिकारत्व की गद्दी कब तक रह सकती है ! और जब तक है, इन सब में तो चिन्ता की भट्ठी जलती है, सुख है कहां !

संसार में सबसे बड़ा सुख काम-भोग मान रखा है, जिसमें है क्षणिक उत्तेजना, नसों की झनझनाहट, शक्ति का क्षय, मलिनता, शक्तिहीनता और बेवकूफ बनकर पीछे पछताना, यही तो है संसार का माना हुआ सबसे बड़ा सुख ! इसी के पीछे जीवन भर की गुलामी ! इसी के लिए मनुष्य अपनी आधी जिन्दगी तैयारी में लगाता है और शेष आधी जिन्दगी इसके दुखद परिणाम को झेलने में। फिर इसे सुख कहें तो दुख किसे कहें !

यह ठीक है कि एक-दो सन्तान के लिए गृहस्थ को एक-दो बार इस भूल में अपने आप को उतारना चाहिए। किन्तु जो अपना पूर्ण कल्याण चाहे वह इससे एकदम बरी रहे। फिर आज की दुनिया में जहां सन्तानों की भीड़ से शासन विचलित हैं, अधिक से अधिक नर-नारियों को अविवाहित एवं ब्रह्मचारी तथा ब्रह्मचारिणी बनकर रहना चाहिए।

प्रसंग यहां यह नहीं है कि संसार की सामयिक स्थिति क्या है। प्रसंग एक ज्वलंत विषय पर है कि जड़-पंच विषयों के जितने सुख हैं, सब क्षणभंगुर हैं। उनके भोग से इच्छाएं बनकर मनुष्य के चित्त को सदैव उद्वेगित करती रहती हैं। जिससे वह सदैव पीड़ित रहता है। विषयों के निरंतर सेवन से मनुष्य की विवेकशक्ति सो जाती है और वह अन्धा बनकर विषयों के उन्माद में ही प्रमत्त रहता है।

उपर्युक्त सुख का खंडन सुनकर कोई घबरा सकता है कि मुक्ति के चक्कर में पड़कर यदि जीवन में सुख का ही खंडन हो जाये, तो रहा ही क्या ! हर प्राणी दुख से भागता है और सुख चाहता है। सद्‌गुरु कहते हैं "सुख बिसराय मुक्ति कहाँ पावै" सुख को भूलकर, सुख की उपेक्षाकर कोई मुक्ति कहां से पावेगा ! साहेब कहते हैं कि मैं सुख का खंडन नहीं करता हूं, किन्तु 'सुख-भ्रम' का खंडन करता हूं। "परिहरि साँच झूठ निज धावै" मनुष्य जो सच्चे सुख को

छोड़कर झूठे सुख के लिए दौड़ता है, उसका खंडन करता हूं। सद्‌गुरु ने साखी ग्रन्थ में कहा है—"झूठे सुख को सुख कहै, मानत है मन मोद। जगत चबैना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद।" मनुष्य क्षणिक विषयों में सुख कहता है और उसी के उपभोग में आनन्द मानता है। संसार के लोग तो काल के आहार हैं। काल किसी को अपने मुख में ले लिया है और किसी को गोद में ले रखा है और अब मुख में डालने ही वाला है।

विषय के सुख क्षणिक हैं और परिणाम में दुख और बन्धन उत्पन्न करने वाले हैं। इसलिए इनका त्यागा जाना आवश्यक है। सच्चा सुख आत्मजनित है जो चिरंतन है। ऐसा सुख पाना ही मोक्ष पाना है। जब मन में किसी प्रकार के आग्रह, ग्रन्थि, वासना, राग-द्वेष आदि नहीं रहते, तब हर्ष-शोक समाप्त हो जाते हैं, सांसारिक प्राणी-पदार्थ एवं परिस्थितियों के मिलने-बिछुड़ने में कोई मानसिक द्वन्द्व नहीं सताता, हृदय में निरंतर शांति का सागर लहराता रहता है; यही मोक्ष है। यही सच्चा सुख है। यह सच्चा सुख और मोक्ष अलग-अलग चीज नहीं है। ऐसे सुख की उपेक्षाकर मोक्ष क्या वस्तु है जो मिलेगी ! अतएव गुरुदेव मनुष्य को तुच्छ एवं बंधनदायी सुखों से छुड़ाकर अनन्त सुख का रास्ता बताते हैं।

मोह का अर्थ ही है दुख पाते हुए तथा अपना पतन देखते हुए भी उस रास्ते को न छोड़ना। पतिंगे अग्नि-शिखा में रूप के मोह से चिपकते हैं। अग्नि के पास जाने पर उनके पंख जलते हैं, परन्तु वे उससे हटने की अपेक्षा उसमें और चिपककर जल मरते हैं। मोहग्रस्त संसारियों की यही दशा है। मोह-माया और विषय-वासनाओं में अपना पतन देखते हुए भी, उनसे दूर होने की अपेक्षा दिनोदिन उन्हीं में चिपकते जाते हैं और अपने आप को अन्धकार में डुबाते जाते हैं।

सद्‌गुरु कबीर ने बीजक में कई जगह 'सब दुख' से छूटने तथा 'सब सुख' पाने की बातें कही हैं। "मुझ ही ऐसा होय रहो, 'सब सुख' तेरे पास" (साखी 298) तथा "जब लग दिल पर दिल नहीं, तब लग 'सब सुख' नाहिं।" (साखी 296) वे इस रमैनी में कहते हैं "करहु विचार जो 'सब दुख' जाई।" सद्‌गुरु के ख्याल में 'बन्धन' ही 'सब दुख' है तथा 'मोक्ष' ही 'सब सुख' है। इसको सरल बनाकर कहें तो मन की पीड़ा, मन का असंतोष, मन की उलझन ही 'सब दुख' है और मन की शांति ही 'सब सुख' है। 'सब दुख' दूर होकर 'सब सुख' कैसे मिलेगा? इसके लिए सद्‌गुरु कहते हैं "करहु विचार जो 'सब दुख' जाई।" विचार ही सब दुखों से मुक्त होने का रास्ता है। पानी से प्यास का दुख दूर होता है, भोजन से भूख का और दवाई से रोग का दुख दूर होता है; किन्तु सब दुख

सांसारिक साधनों से नहीं दूर होता। यदि सांसारिक साधनों से सब दुख दूर हो जाता तो धनी लोग सभी दुखों से मुक्त होते।

सब जीव पथिक हैं, स्वभाव से स्वतन्त्र हैं, अधिकतम लोग मन के वश हैं। उन पर हमारी क्या स्ववशता है ! भले वे पत्नी, बच्चे, भाई, शिष्य कुछ भी हों, यह विचार करने पर मोह तथा दूसरे को विवश करने का दुराग्रह दूर हो जाता है और ऐसा हो जाने पर किसी मनुष्य के प्रति मन में क्षोभ नहीं होता।

शरीर की रक्षा के लिए रोटी तथा कपड़े के कुछ टुकड़े चाहिए। इसके अलावा धन की सार्थकता तो उसे दूसरे की सेवा में लगाने में ही है। यह विचार होने से लोभ अपने आप तिरोहित हो जाता है।

शरीर स्त्री का हो या पुरुष का, न–विचार करने से वह रमणीय लगता है। थोड़ा विचार कीजिए तो वह हाड़–मांस का ढांचा दिखेगा। थोड़ा और विचार कीजिए तो मिट्टी का पिंड। विचार की गहराई में उतरिए तो इलेक्ट्रान एवं सूक्ष्म कणों का प्रवाह मात्र है। शरीर नाम की स्वतंत्र चीज ही नहीं है। ऐसे सारहीन शरीर में अविद्या–वश ही कामादि वितर्क उत्पन्न होते हैं, जिनका परिणाम इच्छा, वासना, तृष्णा, उद्वेग एवं अशांति है। ऐसे विचार में काम की कहां गुंजाइश !

शरीर नाशवान है, मैं अविनाशी हूं, शुद्ध–बुद्ध–मुक्त एवं असंग चेतन हूं, इस विचार के आते ही दुख का लेश भी कहां रहेगा ! सद्‌गुरु कबीर कहते हैं, विचार करो जिससे सारे दुख दूर हों।

कोई कह सकता है कि मैं तो विचार करता हूं। सद्‌गुरु कहते हैं कि विचार की कसौटी है "परिहरि झूठा केर सगाई।" असत्य का मोह छूट जाना विचार का फल है। कोई सांसारिक राग–रंग में डूबा हो और कहे कि मैं विचारवान हूं। तो यह उसका अपने आप को धोखा देना है। विचार उदय होने पर मोह शेष नहीं रहता।

"लालच लागी जनम सिराई" आदमी लालच में जीवन बिता देता है। कुछ और खा लूं, कुछ और देख लूं, कुछ और कर लूं, कुछ और पा लूं, यह तृष्णा नहीं मिटती है। इसी में बुढ़ापा आ जाता है और मौत आ धमकती है। विवेकप्रधान कल्याणदायी मानवजीवन का सुनहला अवसर माया की मिथ्या लोलुपता में बीत जाता है। इससे बड़ा प्रमाद और क्या हो सकता है !

"भरम का बाँधा ई जग, यहि बिधि आवै जाय।" बड़ा तलस्पर्शी वचन है। इस प्रकार जगत के जीव भ्रम में बंधे हुए आते–जाते हैं। करने, भोगने, देखने, सुनने, खाने, जीने की लालसा रखकर जो शरीर छोड़ेगा, उसे पुनः करने, भोगने आदि के लिए शरीर धारण करना ही पड़ेगा। इच्छा का रह जाना ही लौटने का कारण है। विषय–प्रपंचों में सुख का भ्रम होने से उसके लिए आज मन भटकता है और यही पुनः जन्म धारण करने का कारण बनता है।

सद्गुरु अन्त में सावधान करते हैं "मानुष जनम पाय के, नर काहे को जहँड़ाय॥" विचारप्रधान कल्याण-साधन-सम्पन्न तन पाकर हे मानव ! तू क्यों उसे खो रहा है ! आज के सुनहले अवसर को मत खो। सत्संग, सद्विचार एवं सत्साधना में लगाकर अपना कल्याण कर।

तुम स्वयं सर्वोच्च सत्ता हो

रमैनी-24

चन्द्र चकोर की ऐसी बात जनाई। मानुष बुद्धि दीन्ह पलटाई॥ 1॥
चारि अवस्था सपनेहु कहई। झूठो फूरो जानत रहई॥ 2॥
मिथ्या बात न जानै कोई। यहि बिधि सब गैल बिगोई॥ 3॥
आगे दै दै सबन गमाया। मानुष बुद्धि सपनेहु नहिं पाया॥ 4॥
चौंतिस अक्षर से निकले जोई। पाप पुण्य जानेगा सोई॥ 5॥
साखी—सोई कहन्ता सोइ होउगे, तैं निकरि न बाहिर आव।
हो हजूर ठाढ़ कहत हौं, तैं क्यों धोखे जन्म गमाव॥ 24॥

शब्दार्थ—मानुषबुद्धि=स्वतन्त्र विवेक। आगे=भविष्य काल या भूत काल। चौंतिस अक्षर=क से क्ष तक अक्षर, वाणीजाल।

भावार्थ—गुरुओं ने उपासकों को यह बताकर कि जैसे चकोर चन्द्रमा में ध्यान लगाता है, वैसे तुम आत्मा से पृथक परमात्मा मानकर उसमें ध्यान लगाओ, मनुष्य की बुद्धि उलट दी॥ 1॥ एक तरफ कहते हैं कि चारों अवस्थाएं स्वप्नवत हैं, दूसरी तरफ असत्य को ही सत्य मानते रहते हैं॥ 2॥ लोग झूठी बातों को झूठी करके नहीं जानते। इस प्रकार सबने अपने अपनत्व को खोया एवं खोते हैं॥ 3॥ भविष्य की आशा दे-देकर सबने अपने कल्याण को खोया तथा दूसरे के पतन में सहायक हुए। इसलिए ऐसे लोगों को स्वप्न में भी मनुष्य की बुद्धि नहीं मिली॥ 4॥ जो व्यक्ति चौंतीस अक्षरों अर्थात शास्त्रप्रमाण के मोह-जाल से निकलेगा, वही यह समझेगा कि पाप क्या है और पुण्य क्या है तथा सत्य क्या है और असत्य क्या है॥ 5॥

जो कहोगे, वही हो जाओगे। तू जाल से निकलकर क्यों नहीं बाहर आता ! मैं खड़ा होकर कह रहा हूं कि तू स्वयं हुजूर है, सम्राट है। तू अपने जीवन को धोखे में क्यों खो रहा है ॥ 24॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर इस बात पर बारम्बार जोर देते हैं कि तुम अपना लक्ष्य अपने से अलग मानकर भटको मत। इस रमैनी में कबीर साहेब उन गुरुओं की आलोचना करते हैं जो जीव का लक्ष्य उससे अलग मानते हैं। चकोर

चन्द्रमा का प्रेमी होता है। वह चन्द्रमा को एकटक देखता है। वह उसी में ध्यान लगाता है। जो गुरुजन अपना लक्ष्य अपने से अलग मानते हैं, और कहते हैं कि आत्मा से अलग परमात्मा है, वे अपने श्रोताओं एवं जिज्ञासु-भक्तों को यही बताते हैं कि तुम उस परमात्मा में ध्यान लगाओ। फिर वे मन से परमात्मा का एक रूप गढ़ते हैं। चार हाथों वाला, आठ हाथों वाला, हजार हाथों वाला, मुरली वाला, धनुष वाला, ज्योति रूप, नाद रूप, शब्द रूप या सर्वत्र व्याप्त रूप, किसी प्रकार की मानसिक अवधारणा बनाते हैं और उसी का ध्यान करते हैं।

सद्गुरु कहते हैं—"मानुष बुद्धि दीन्ह पलटाई" गुरुओं ने लोगों की मानुषबुद्धि मननशीलता, विचार एवं विवेकबुद्धि को पलटकर उन्हें न सोचने की स्थिति में ला दिया। पशु प्रायः स्वयं विचारकर काम नहीं कर सकता, वह दूसरों द्वारा हांका जाकर काम करता है। इसी प्रकार गुरुओं ने मनुष्य को पशु बना दिया। उनके सोचने की क्षमता छीन ली। 'मानुषबुद्धि' है स्वतन्त्र चिन्तन, विचार एवं विवेक। हम मन से जितनी अवधारणाएं बनाते हैं, सब मन की उपज होती हैं। साधारण साधक किसी अवधारणा का आलम्बन लेकर मन को एकाग्र करता है यह आरम्भ के लिए किसी हद तक ठीक है; परन्तु वह अवधारणा मनुष्य का अपना लक्ष्य नहीं हो सकती। चकोर से चन्द्रमा सर्वथा पृथक है इसलिए चकोर को चन्द्रमा के विषय में कभी तृप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अलग की वस्तु अलग ही रह जाती है। इसी प्रकार आत्मा-परमात्मा के भिन्नत्व की दृष्टि रखकर साधक कभी तृप्त नहीं हो सकता है। जो गुरुजन साधकों को स्वरूपज्ञान न देकर उसे कहीं बाहर कल्पित परमात्मा में लटकाते हैं, वे स्वयं विवेक का पथ छोड़ चुके हैं और दूसरे का भी छुड़ाते हैं। मन की अवधारणा हमारा लक्ष्य कैसे हो सकती है ! विवेक-ज्ञान यह है कि मन के शांत हो जाने पर जो शेष रह जाता है, वह स्व-चेतन तत्त्व ही अपना स्वरूप है और वही अपना लक्ष्य है।

"चारि अवस्था सपनेहु कहई" गुरुजन यह भी कहते हैं कि जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—ये चारों अवस्थाएं स्वप्नवत हैं। जब ये चार अवस्थाएं तथा इनके व्यवहार स्वप्नवत हैं, तब जिस मन की अवधारणा को परमात्मा मानकर उसमें चन्द्र-चकोरवत ध्यान लगाने की बात करते हैं, क्या वह स्वप्नवत नहीं है ! यह तो "झूठो फूरो जानत रहई" की बात हुई। अर्थात असत्य को सत्य समझने की बात हुई।

"मिथ्या बात न जाने कोई" सद्गुरु कहते हैं कि असत को असत समझना तथा उसे असत ही कहना कोई मामूली बात नहीं है। हजारों वर्षों से जिस

अवधारणा की मन में लीक पड़ी हुई है, उसको काटना विवेक और वीरता का काम है। दीर्घ अभ्यास से असत्य भी सत्य प्रतीत होता है। सभी मनुष्य अपने–अपने मन में अलग–अलग परमात्मा बना लेते हैं। उनका उनमें मोह हो जाता है। इसलिए इन्हें वे सत्य लगते हैं। जब विवेकी–पारखी की संगत से व्यक्ति को विवेक होता है, तब मन की कल्पनाएं क्षीण होती हैं और स्वरूप का ज्ञान होता है। जब विवेक द्वारा मन और उसकी अवधारणाओं एवं कल्पनाओं को अलग समझ लिया जाता है तथा समाधि में मन को शून्य कर दिया जाता है, तब परोक्ष उपासना की लकीर कटती है। तब लगता है कि आत्मा से परमात्मा अलग नहीं। जीव से शिवत्व पृथक नहीं। स्वरूपस्थिति ही जीवन का लक्ष्य है। जो ऐसा नहीं समझते वे अपने महत्त्व को खो देते हैं।

"आगे दै दै सबन गमाया" आगे परमात्मा या मोक्ष मिलेगा, लोगों को ऐसी आशा दे–देकर गुरुओं ने उन्हें सान्त्वना दी; किन्तु इस आशा में लोग अपने दावं को हार चले। आगे की आशा में पड़े हुए वक्ता–श्रोता दोनों धोखे में हैं। ये दोनों मानवीय–बुद्धि एवं विचार–विवेक से दूर हैं। विवेकसम्मत बात है अपने लक्ष्य को वर्तमान में ही प्राप्त करना। "जियत न तरेउ, मुये का तरिहो" (शब्द 14)।

'आगे' का अर्थ पीछे भी होता है। जैसे आगे के लोग कह गये हैं। इससे अर्थ होगा कि पीछे के पुरुषों एवं शास्त्र–वचनों का प्रमाण दे–देकर लोग अपनी कल्पित धारणाओं का समर्थन करते हैं। "मानुष बुद्धि सपनेहु नहिं पाया।" वे भूलकर भी विवेक की बात नहीं करते। धार्मिक क्षेत्र की सबसे बड़ी त्रुटि यही है कि लोग शास्त्र–प्रमाण के आगे विवेक–बुद्धि को बलि चढ़ा देते हैं। शास्त्र, परम्परा, गुरु सब आदरणीय हैं, परन्तु विवेक–बुद्धि की बलि चढ़ाकर नहीं। हम शास्त्रों की बातें भी बुद्धि से ही समझ सकते हैं। ज्ञान–प्राप्ति का साधन मनुष्य की विवेकबुद्धि ही है। केवल शास्त्र–प्रमाण की दोहाई देना निष्पक्ष जिज्ञासु को सन्तोष नहीं दे सकता।

इसीलिए सद्गुरु कहते हैं कि "चौंतिस अक्षर से निकले जोई। पाप पुण्य जानेगा सोई॥" देवनागरी लिपि में क से क्ष तक चौंतीस अक्षर होते हैं। यहां चौंतीस अक्षर से मतलब है वाणी–जाल एवं शास्त्र–प्रमाण का अन्धाधुन्ध जाल। जो इससे निकलेगा वही समझ सकेगा कि पाप क्या है और पुण्य क्या है तथा असत्य क्या है और सत्य क्या है। प्रत्यक्ष है कि शास्त्र–प्रमाण के जोर से अनेक सम्प्रदाय वाले यज्ञ, बलि, कुर्बानी आदि नाम से जीवहत्या को पुण्य कहते रहे और आज भी कहते हैं। इसी प्रकार केवल शास्त्र–प्रमाण के नाम पर असत्य धारणाएं सत्य का जामा पहनाकर खड़ी की जाती हैं। शास्त्र–प्रमाण के बल पर ही जाति–वर्ण आदि का पाखण्ड फैलाकर मानव–मानव के बीच

भेदभाव की भित्ति खड़ी की गयी। "चौंतिस अक्षर से निकले जोई। पाप पुण्य जानेगा सोई॥" बहुत मार्मिक वचन है। शास्त्र–प्रमाण का मोह छोड़े बिना कोई सत्य ज्ञान नहीं पा सकता।

"सोई कहन्ता सोइ होउगे" अर्थात जैसा कहोगे, वैसा हो जाओगे। चोरी की चर्चा करते–करते आदमी चोर बनता है। पर–स्त्री की चर्चा करते–करते व्यभिचारी बनता है। राग की चर्चा करते–करते रागी एवं वैराग्य की चर्चा करते–करते आदमी वैरागी बनता है। क्योंकि चर्चा मन की उपज होती है। बात पहले मन में आती है, तब चर्चा, फिर क्रिया होती है। किसी विषय में बारम्बार बात करने से मन में उसका अभ्यास जमता है।

यह मनुष्य की विशेषता है जो वह वर्णात्मक वाणी बोलता है और सुनकर समझता है। वाणी का मन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि आदमी बार–बार यही कहता और सोचता रहे कि मैं तुच्छ हूं, तो वह निश्चित ही अपने आप को तुच्छ मानकर और कमर पकड़कर बैठ जायेगा। यदि आदमी शास्त्रों के प्रमाण के चक्कर में पड़कर बारम्बार अपने आप को अल्पज्ञ, अंश, प्रतिबिम्ब, तुच्छ आदि ही कहता रहा और अपना पूर्णत्व बाहर खोजता रहा, तो निश्चित ही उसका पतन है, इसलिए सद्गुरु कहते हैं "तैं निकरि न बाहिर आव" तू प्रतिगामी विचारों एवं शास्त्र प्रमाणों के दलदल से निकलकर बाहर आ न!

"हो हजूर ठाढ़ कहत हौं" यह आत्मज्ञान और आत्मविश्वास का सर्वाधिक जोरदार वचन है। सद्गुरु कहते हैं, मैं खड़ा होकर कह रहा हूं कि तुम स्वयं हुजूर हो। हुजूर अरबी भाषा का शब्द है। यह बड़ों के लिए सम्बोधन में कहा जाता है। मनुष्य की चेतना से बड़ा तो कुछ भी नहीं। यह जीव, यह आत्मा चेतन होने से सर्वोच्च सत्ता है। सद्गुरु कहते हैं, हे चेतन देव! तू अपनी सर्वोच्चता को समझ। तू किसी चन्द्रमा का चकोर मत बन। सर्वाधिक प्रकाश और शीतलता तेरे पास ही है। चैतन्य ही तेरा अपना सहज स्वरूप है और अपनी स्वरूपस्थिति में रहना सर्वाधिक सहज साधना एवं तथ्य है।

जिसे खोजते हो वह तुम स्वयं हो

रमैनी–25

चौंतिस अक्षर का इहै विशेषा। सहस्त्रों नाम याहि में देखा॥ 1॥
भूलि भटकि नर फिर घट आया। होत अजान सो सबन गमाया॥ 2॥
खोजहिं ब्रह्मा विष्णु शिव शक्ती। अनन्त लोक खोजहिं बहु भक्ती॥ 3॥
खोजहिं गण गन्धर्व मुनि देवा। अनन्त लोक खोजहिं बहु भेवा॥ 4॥

साखी—जती सती सब खोजहीं, मनहिं न मानै हारि।
बड़ बड़ जीव न बाँचिहैं, कहहिं कबीर पुकारि॥ 25॥

शब्दार्थ—चौंतीस अक्षर=क से क्ष तक अक्षर, वाणी।

भावार्थ—चौंतीस अक्षरों (वर्णात्मक शब्दों) की यही विशेषता है कि व्यक्ति-वस्तुओं के हजारों नाम इन्हीं में देखे जाते हैं॥ 1॥ जीव संसार में भटकते हुए पुनः मानव शरीर में आते हैं; परन्तु सत्यज्ञान से रहित होने से सब अपने जीवन को व्यर्थ में खो देते हैं॥ 2॥ शास्त्रों के जाल में पड़कर ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शक्ति, गंधर्वगण, मुनि, देवता आदि तथा इनके अलावा भी अन्य लोग बड़ी भक्तिभावना तथा नाना प्रकार साधनों से अनन्त लोकों की कल्पना कर अपने लक्ष्य को खोजते हैं॥ 3-4॥

त्यागी, सत्यव्रतधारी एवं पतिव्रताएं भी अपने लक्ष्य की खोज में पड़े हैं। वे मन में हार नहीं मानते। कबीर साहेब उच्च स्वर में कहते हैं कि बड़े-बड़े जीव इस भवचक्र से नहीं बचते॥ 25॥

व्याख्या—ग्रन्थकार 24 वीं रमैनी में कह आये हैं "चौंतिस अक्षर से निकले जोई। पाप पुण्य जानेगा सोई॥" 'चौंतीस अक्षर' का लाक्षणिक अर्थ है वाणीजाल। सद्‌गुरु ने कहा कि जो इनसे निकलेगा वही सत्य समझ सकेगा। अभिप्राय है जो हर जगह शास्त्रों की दोहाई देने की आदत छोड़कर स्वतन्त्र विवेक रखेगा, वही सत्य-असत्य एवं कर्तव्य-अकर्तव्य के भेद को समझ सकेगा।

प्रश्न हो सकता है कि क्या चौंतीस अक्षरों अर्थात वर्णात्मक शब्दों की आवश्यकता नहीं है? साहेब कहते हैं उनकी आवश्यकता का अस्वीकार कौन कर सकता है! ये सारे वाक्य भी चौंतीस अक्षरों में ही लिखे जा रहे हैं। चौंतीस अक्षरों की यही विशेषता है कि जड़-चेतन के हजारों नाम इन्हीं में देखे जाते हैं। सहस्त्रों नाम का अर्थ भी लाक्षणिक है। अर्थ है जड़-चेतन के असंख्य नाम इन्हीं चौंतीस अक्षरों में पाये जाते हैं। अन्य प्राणियों से मानव की यही विशेषता है कि उसके पास विकसित मन और वाणी हैं। यदि मनुष्य इनका सदुपयोग करे तो वह भौतिक तथा आध्यात्मिक दशा के उच्चतम शिखर पर चढ़ जाये, और दुरुपयोग करे तो सर्वाधिक पतित हो जाये।

सद्‌गुरु कहते हैं कि मैं वाणी का महत्त्व मानता हूं, उससे काम लेता हूं और काम लेने की राय देता हूं; परन्तु उसके जाल से बचने के लिए लोगों को सावधान करता हूं।

संसारी जीव इस भवाटवी में अनादिकाल से भटकते हैं। उनमें से कुछ जीव मानव शरीर में आते रहते हैं। मानव शरीर जो प्रकाशरूप एवं ज्ञानरूप है, जहां सारे अज्ञानों का नाश होकर कल्याण हो सकता है, वहीं भटकने का भी खूब साधन है। खानीजाल अर्थात विषय-वासना का प्रबल बन्धन है ही,

वाणीजाल का भी कम बन्धन नहीं है। सद्गुरु ने प्रथम हिंडोले में कहा है "खानी बानी खोजि देखहु, अस्थिर कोइ न रहाय।"

वाणी-जाल का अर्थ है शास्त्र-जाल, साम्प्रदायिक जाल। वाणी-जाल देवत्व, ईश्वरत्व, ब्रह्मत्व, परमात्मत्व, शिवत्व, मोक्षत्व जीव से बाहर बताता है और उसके लिए जीव को भटकाता है। इसलिए ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शक्ति, गंधर्वगण, मुनि, देवता, यती, सती, साधारण मनुष्य सब अपने लक्ष्य को, परमात्मा एवं मोक्ष को बाहर खोज रहे हैं। कितने लोग बड़े सच्चे दिल से भावविह्वल होकर बहुत तरह से परमात्मा को खोजते हैं। परमात्मा और मोक्ष को खोजना, इससे अधिक भोलापन क्या होगा! बाहर खोजने से तो भौतिक वस्तुएं मिलती हैं। जब खोजना छूट जाता है, तब स्वरूप का बोध होता है। सारी इच्छाओं के शांत हो जाने पर अपने आप में ही तृप्ति मिलती है। इससे अधिक परमात्मा या मोक्ष का पाना क्या हो सकता है! बाहर कहीं ऐसा मोक्ष या परमात्मा नहीं, जो मिलता हो। परन्तु शास्त्रों के वचनों के बहकावे में पड़कर भक्तजन उसकी खोज में पड़े हैं। "मनहिं न मानै हारि" यह कबीर साहेब का उनके लिए व्यंग्य है। "बड़ बड़ जीव न बाँचिहैं, कहहिं कबीर पुकारि।" सद्गुरु कहते हैं इस धोखे से बड़े-बड़े जीव नहीं बचते हैं। बड़े-बड़े विद्वान, तपस्वी एवं नामी-ग्रामी लोग भगवान के दर्शन पाने के लिए लालायित हैं। वे अपनी अवधारणाओं के प्रतिबिम्ब अपने मन में देख लेते हैं, यही परमात्म-दर्शन मान लेते हैं। किन्तु जो सारी अवधारणाओं का जनक, उनका द्रष्टा एवं ज्ञाता है, वह चेतन देव ही अपना स्वरूप है। उसके अलावा सब भुलावा है।

निज चेतन स्वरूप को पहचानने वाला सर्वोच्च है

रमैनी-26

आपुहिं कर्ता भये कुलाला। बहु विधि बासन गढ़ै कुम्हारा॥ 1॥
बिधि ने सबै कीन्ह एक ठाऊँ। अनेक जतन के बने कनाऊँ॥ 2॥
जठर अग्नि मों दीन्ह प्रजारी। तामहँ आपु भये प्रतिपाली॥ 3॥
बहुत जतन कै बाहर आया। तब शिव शक्ती नाम धराया॥ 4॥
घर का सुत जो होय अयाना। ताके संग न जाहु सयाना॥ 5॥
साँची बात कही मैं अपनी। भया दिवाना और की पुन्ही॥ 6॥
गुप्त प्रगट है एकै दूधा। काको कहिये ब्राह्मण शूद्रा॥ 7॥
झूठे गर्भ भूलो मति कोई। हिन्दू तुरुक झूठ कुल दोई॥ 8॥
साखी—जिन्ह यह चित्र बनाइया, साँचा सो सूत्रधारि।
कहहिं कबीर ते जन भले, जो चित्रवन्तहिं लेहि निहारि॥ 26॥

शब्दार्थ—आपुहि=जीव ही। कुलाला=कुम्हार। विधि ने= नियम ने, कर्म ने। कनाऊँ=वृक्ष, तात्पर्य में शरीर। शिव-शक्ती=पुरुष-स्त्री। घर का सुत=मन। पुन्हीं=पुनः। चित्रवन्तहि=चितेरा, चेतन जीव।

भावार्थ—जैसे कुम्हार मिट्टी लेकर चाक पर बहुत प्रकार के बरतन बनाता है, वैसे स्वयं जीव वासना-वश कर्ता बनकर गर्भाशय में शरीरों की रचना करता है॥ 1॥ शरीर-रचना के नियम ने माता के गर्भ में सब सामग्री इकट्ठी कर दी और अनेक अंगों से सम्पन्न शरीर की रचना होने लगी॥ 2॥ माता के प्रज्वलित पेट की अग्नि में बच्चे का शरीर पकता एवं बढ़ता है। उसमें जीव के अपने कर्म ही उसके शरीर के प्रतिपालक होते हैं॥ 3॥ माता के सजग रहन-सहन, पेट के रेचन तथा दाई और वैद्य-डॉक्टरों के बहुत यत्न से बच्चा बाहर आता है, तब उसके लिंग जानकर उसके पुरुष या स्त्री वाचक नाम रखे जाते हैं॥ 4॥ यदि अपने घर का लड़का एवं अपना पुत्र अज्ञानी हो और वह अज्ञानयुत काम करता हो, तो उसके साथ गलत कर्म में सयाने पिता को नहीं जाना चाहिए। तात्पर्य है कि यदि मन गलत चीजों में भागता है, तो जीव को उसके साथ नहीं जाना चाहिए॥ 5॥ मैंने अपनी सच्ची बात कह दी; किन्तु लोग दूसरे की भ्रामक बातें सुनकर उन्मत्त हो रहे हैं॥ 6॥ गाय और भैंस के स्तन में हो या दुहकर पात्र में रखा हो, दूध का प्रकार एक ही है। इसी प्रकार माता के गर्भ में या बाहर पैदा होकर इन्सान का तत्त्व एक ही है। फिर किसको ब्राह्मण कहा जाये और किसको शूद्र॥ 7॥ अतः मिथ्या अहंकार में कोई मत भूलो। हिन्दू और मुसलमान दोनों कुल असत्य हैं॥ 8॥

जिसने इस शरीर तथा इसके झूठे जाति, वर्ण एवं नाना कल्पनाओं के चित्र बनाये हैं, वह शरीर के भीतर बैठा सूत्रधार अविनाशी चेतन ही सत्य है। सद्गुरु कहते हैं कि वे ही लोग समझदार हैं जो सारे चित्रों के रचयिता चेतन को समझ लेते हैं॥ 26॥

व्याख्या—इस रमैनी में सद्गुरु कुम्हार, बरतन, आंवा आदि का आकर्षक रूपक प्रस्तुत कर मानव-शरीर की रचना का प्रारूप बताते हैं। इसके बाद वे क्रमशः तीन महत्त्वपूर्ण बातों पर प्रकाश डालते हैं—(1) मन के बुरे पथ में न जाना, (2) मानव मात्र में तात्त्विक एकता एवं (3) सारे दृश्य-चित्रों से द्रष्टा चेतन स्वरूप की सर्वोपरि महत्ता। हम इन बातों पर खुलासा विचार करें।

"आपुहि कर्ता भये कुलाला" यह अविनाशी जीव स्वयं उसी प्रकार शरीर-रचना का कर्ता बनता है जैसे कुम्हार बरतन बनाता है। कुम्हार का उदाहरण उपलक्षण मात्र है। कुम्हार तो मिट्टी लेकर अलग से बरतन बनाता है, परन्तु जीव वासना-वश माता के गर्भ में आकर और रज-वीर्य में सम्मिलित होकर शरीर बनाता है। जीव गर्भ में कोई विचारपूर्वक शरीर नहीं बनाता, किन्तु उसके

वहां रहने से उसके साथ ही कर्म–वासनाओं के संयोग से रज–वीर्य से शरीर की रचना स्वयं होती है। मिट्टी, जल, प्रकाश, ऊष्मा, वायु आदि साधक तत्त्वों को पाकर बीज से अंकुर स्वयमेव फूटते हैं। उसके लिए अलग से किसी देवता की प्रेरणा की जरूरत नहीं होती । इसी प्रकार जीव, जीव के साथ कर्मवासनाएं, माता–पिता के रज–वीर्य एवं समस्त उपयुक्त साधन पाकर देह की रचना स्वयं होती है। इसीलिए सद्गुरु कहते हैं "विधि ने सबै कीन्ह एक ठाऊँ।" यह विधि क्या है? वस्तुतः यहां 'विधि' का अर्थ है 'नियम'। पौराणिक बुद्धि वाले विधि शब्द मन में आते ही ब्रह्मा नाम के किसी व्यक्ति एवं तथाकथित देवता की कल्पना करने लगते हैं, किन्तु विधि एवं ब्रह्मा नाम का कोई देवता न था और न है जो सबकी रचना करता हो। वस्तुतः जड़ और चेतन के संयोग से शरीर की रचना होती है और शरीर–रचना के उनमें अपने नियम हैं। वे नियम ही 'विधि' है। सद्गुरु ने कहा "विधि ने सबै कीन्ह एक ठाऊँ।" सृष्टि के नियमों ने शरीर–रचना की सारी सामग्री इकट्ठी कर दी और अनेक प्रकार के अंगों के सहित शरीर बनने लगा।

जो लोग जड़–चेतन के धर्म–स्वभाव तथा कारण–कार्य–व्यवस्था को नहीं समझते, वे भोले मानते हैं कि माता के गर्भ में कोई देव या ईश्वर बैठकर बच्चे के शरीर को बनाता है। चारों खानियों में असंख्य जीवों के शरीरों की रचना हरक्षण होती है। एक ईश्वर कहां–कहां बैठकर किसका–किसका शरीर बनाता रहेगा? वस्तुतः सृष्टि–नियम ही शरीर रचना में कारण हैं, जो एक ही काल में असंख्य जीवों की शरीर–रचना करने में समर्थ हैं। हिरन के सींग को कौन ऐंठ देता है? पत्तों में नसें, असंख्य वस्तु और प्राणियों की देहों में आकृति और रंग, मयूर के पंखों में विचित्रता कौन करता है? ये सब होने के अपने–अपने नियम हैं। बीजी असर है। यही 'विधि' है और यही 'नियम' है।

"जठर अग्नि मों दीन्ह प्रजारी। तामहँ आपु भये प्रतिपाली।" जिस जठराग्नि में रोटी, पूरी, साग, चबैना आदि कठोर–कठोर खाद्य पदार्थ भी गलकर पच जाते हैं, उसमें जीव का शरीर पकता और बढ़ता है। यह ठीक है कि भोजन पचने की आंत अलग होती है और बच्चादान अलग, परंतु वे दोनों पेट में ही रहते हैं। उसमें उसकी कौन रक्षा करता है? स्वयं जीव के अपने कर्म ही उसके रक्षक हैं। यदि कहो ईश्वर रक्षक है, तो कितने ही गर्भस्थ शिशु अपंग हो जाते हैं या मृत पैदा होते हैं वहां ईश्वर रक्षक नहीं रहा। वस्तुतः जीव के जैसे अपने कर्म होते हैं, वैसे गर्भ से लेकर जन्म, जीवन, बुढ़ापा, मृत्यु एवं पुनः गर्भवास में उसे सुख–दुख की प्राप्ति होती है। यही तथ्य है और यही सिद्धान्त मनुष्यों को कर्म–सुधार के लिए प्रेरित कर सकता है।

"बहुत जतन कै बाहर आया" समझदार गर्भवती माता गर्भकाल में बड़ी सावधानी से एवं बहुत यत्न से रहती है। यत्न कहते हैं साधन या तरीके को। पुरुष से अलग रहना। सुपाच्य, सात्त्विक और स्वल्प भोजन करना। अच्छे विचार रखना। अच्छी वाणी बोलना। सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय और सत्संग कर अच्छे संस्कार बनाना आदि अनेक यत्नों से माता अपने गर्भ का सेवन करती है। गर्भवती माता का खाना, पीना, सांस लेना तथा विचार करना ही गर्भस्थ शिशु का खाना, पीना, सांस लेना तथा विचार करना है। गर्भधारण करना नारी की बहुत बड़ी जिम्मेदारी का काम है। समझदार गर्भवती बहुत यत्न से रहती है। फिर बच्चा के पैदा होने में दाई तथा डॉक्टरों के भी सहयोग हुआ करते हैं।

"तब शिव शक्ती नाम धराया" पैदा होने पर ही पता लगता है कि लड़का है या लड़की। पश्चात उसके शिव या शक्ति अर्थात नर या नारी-व्यंजक नाम रखे जाते हैं।

शिशु अवस्था तो प्रायः बेभान की रहती है। बाल्यकाल और किशोरावस्था में वह संस्कारों को ग्रहण करता और सीखता है। जवानी आते ही वह अपने जीवन में अनेक हस्तक्षेप करने लगता है। उसका मन संसार के विषयों में चलने लगता है। सद्गुरु कहते हैं—"घर का सुत जो होय अयाना। ताके संग न जाहु सयाना॥" जैसे घर के बच्चे यदि कहीं बाहर जाकर झगड़ा कर लें या कोई खोटा कर्म कर लें तो घर के सयाने तथा समझदार लोग उन बच्चों के झगड़े एवं खोटे कर्मों का पक्ष नहीं लेते; बल्कि उन्हें समझाकर सही रास्ते पर लाते हैं; वैसे यह मन घर का सुत है। अर्थात यह मन शरीरधारी जीव का बच्चा है। सद्गुरु कहते हैं कि यदि तुम्हारा मन कहीं गलत जगह में जाये, तो तुम भी उसके साथ मत बह जाओ।

जीवन को काममय देखने वाले प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड ही नहीं सब समय में ऐसे विचार के लोग रहे तथा आज भी हैं, जो यह कहते पाये जाते हैं कि मन में जो कुछ उठे उसे कर लेने से मन में कोई ग्रन्थि, पीड़ा एवं पाप नहीं रह जाते। परन्तु वे स्वयं मन के अनुसार एक दिन भी चलने लगें तो समाज उनका कचूमर निकाल दे। मनुष्य के मन में पता नहीं कैसे-कैसे ऊलजलूल विचार क्षण-क्षण उठ पड़ते हैं। यदि मनुष्य उनके अनुसार काम करने लगे, तो न वह समाज में जी सकता है और न समाज उसे क्षमा कर सकता है। ऐसे लोग समाज के लिए अभिशाप सिद्ध हो जायेंगे। आदमी एकांत में चुपचाप बैठ जाये और मन में जो-जो संकल्प उठें, उन्हें एक कागज पर नोट कर ले, तो उस कागज को वह दूसरे को नहीं दिखा सकेगा। फिर उसके अनुसार वह आचरण करके कैसे जी सकता है? अतएव सद्गुरु का यह कथन अत्यन्त आदरणीय है कि मन के बहकावे में समझदार को नहीं जाना चाहिए। सदैव मन को देखना

चाहिए। उसकी निगरानी रखना चाहिए और उसे अपने वश में रखना चाहिए। यही सुख से जीने तथा समाज के साथ न्याय करने का तरीका है।

सद्‌गुरु कहते हैं "साँची बात कही मैं अपनी। भया दिवाना और की पुन्ही॥" मैंने अपनी सच्ची बातें कह दी हैं। अब दूसरे की प्रमादी बातें सुनकर लोग दिवाने बनते हैं, तो उनके सुधारने का क्या चारा है! 'पुन्हीं' शब्द पुनः के लिए प्रयुक्त है।

"गुप्त प्रगट है एकै दूधा। काको कहिये ब्राह्मण शूद्रा। झूठे गर्भ भूलो मति कोई। हिन्दू तुरुक झूठ कुल दोई॥" ये दोनों चौपाइयां बड़ी मार्मिक हैं। तथाकथित बड़े-बड़े विद्वान, मुल्ला, पण्डित जिस भेदभाव को 'शिव-चाप' समझकर उसके निकट नहीं फटकते, उसे कबीर साहेब तृण के समान तोड़कर फेंक देते हैं। दूध चाहे गाय के स्तन में हो या दुहकर पात्र में रखा हो, एक ही समान है। इसी प्रकार माता के गर्भ में या पैदा होने के बाद, मानव एक समान है। सबकी चेतना का गुण एक है। सबके शरीर में लगे तत्त्व एक से हैं। सबका शरीर माता के गर्भ में रज-वीर्य से बनता है। सभी माताएं बच्चों को एक ढंग से पैदा करती हैं, मल साफ करती हैं, दूध पिलाती हैं तथा रक्षा करती हैं। इस प्रकार सभी मानव एक ही समान हैं, फिर इनमें किसको मूलतः ब्राह्मण कहा जाये, किसको शूद्र, किसको हिन्दू कहा जाये और किसको मुसलमान!

गुरुदेव कहते हैं "झूठे गर्भ भूलो मति कोई।" ब्राह्मण, शूद्र, हिन्दू, मुसलमान होने का अहंकार झूठा है। इस मिथ्याभिमान में कोई मत भूलो। मनुष्य को ब्राह्मण, शूद्र एवं हिन्दू, मुसलमान की दृष्टि से न देखो। एक दूसरे को मानव की दृष्टि से देखो। सब मानव केवल मानव हैं। सबके साथ प्रेम का व्यवहार करना मानवता है।

"जिन्ह यह चित्र बनाइया, साँचा को सूत्रधारि" बड़ा महत्त्वपूर्ण वचन है। ये ब्राह्मण-शूद्र के चित्र, हिन्दू-मुसलमान के चित्र, नाना मान्यताओं के चित्र और अन्ततः कर्मवश शरीर रूप चित्र जिसने बताया है, वह चेतन जीव ही सच्चा सूत्रधार है। परदे के भीतर बैठकर सूत्र के सहारे कठपुतलियों को नचाने वाले को सूत्रधार कहते हैं, अथवा नाट्यशाला के व्यवस्थापक एवं प्रधान नट को सूत्रधार कहते हैं। शरीर के भीतर बैठकर स्मृति-सूत्र के आधार पर इन्द्रिय-मन को नचाने वाला ही सूत्रधार है। मान्यताओं के सारे चित्र यही बनाता है। ज्ञान-विज्ञान का जहां तक फैलाव है, सबका सूत्रधार मनुष्य जीव है। सद्‌गुरु कहते हैं, वे ही भले हैं, "जो चित्रवन्तहि लेहि निहारि।" चित्र रचयिता अपनी रचना में भूल गया है। वही ज्ञानी है, जो अपने चेतन-स्वरूप को पहचान ले। सबका कल्पक, ज्ञाता, बोद्धा, साक्षी चेतन-स्वरूप तुम्हारा है। इसे समझो! सार यह है कि मानव की आत्मा ही सर्वोच्च है।

संसार प्रकृति-पुरुषमय है

रमैनी-27

ब्रह्मा को दीन्हों ब्रह्मण्डा। सप्त दीप पुहुमी नौ खण्डा॥ 1॥
सत्य सत्य कहि विष्णु दृढ़ाई। तीन लोक मा राखिन जाई॥ 2॥
लिंग रूप तब शंकर कीन्हा। धरती खीलि रसातल दीन्हा॥ 3॥
तब अष्टंगी रची कुमारी। तीन लोक मोहा सब झारी॥ 4॥
दुतिया नाम पार्वती को भयऊ। तप कर्ते शंकर कहँ दियऊ॥ 5॥
एकै पुरुष एक है नारी। ताते रची खानि भौ चारी॥ 6॥
सर्वन बर्वन देव औ दासा। रज सत तम गुण धरति अकाशा॥ 7॥
साखी—एक अण्ड ओंकार ते, सब जग भया पसार।
कहहिं कबीर सब नारि राम की, अविचल पुरुष भ्रतार॥ 27॥

शब्दार्थ—सर्वन=शर्मा, ब्राह्मण। बर्वन=वर्मा, क्षत्रिय। देव=वैश्य। दासा=शूद्र।

भावार्थ—अष्टांगी आद्या ने ब्रह्मा को ब्रह्माण्ड दिया, जिसमें यह सात द्वीपों एवं नौ खण्डों वाली पृथ्वी है॥ 1॥ उसने विष्णु को सत्यवादी पाया और उनके सत्यव्रत की प्रशंसा कर तीसरे लोक (स्वर्ग) में उनको स्थान दिया॥ 2॥ तब शंकर ने अपना लिंग रूप बनाकर उसे पृथ्वी में गाड़ दिया और वह पृथ्वी के निचले हिस्से तक चला गया। फलतः रसातल ही उनको स्थान मिला॥ 3॥ फिर अष्टांगी ने तीन कुमारियां रचीं सरस्वती, लक्ष्मी एवं सती। इन्हें देखकर तीन लोक के सभी लोग मोहित हो गये अथवा तीनों गुणों से संयुक्त ब्रह्मा, विष्णु तथा शंकर अत्यन्त मोहित हो गये॥ 4॥ सरस्वती और लक्ष्मी क्रमशः ब्रह्मा तथा विष्णु की पत्नी बनकर उनके साथ सदैव रहीं, और सती महादेव की; किन्तु सती दक्षप्रजापति के यज्ञ में जल मरने से दूसरे जन्म में पार्वती नाम से प्रसिद्ध हुईं, और उन्हें तपस्यालीन शंकर को दे दिया गया॥ 5॥ वस्तुतः पुरुष रूप एक चेतनकोटि है तथा नारीरूप एक प्रकृतिकोटि है। इन्हीं से चारों खानियों की रचना है। अथवा एक नारी और पुरुष के पारस्परिक आसक्तिवश ही जीव चारों खानियों में भटकते हैं॥ 6॥ इस धरती और आकाश के बीच में सतोगुणी ब्राह्मण, रजोगुणी क्षत्रिय, रजतम युक्त वैश्य एवं तम गुण सहित शूद्र का निर्धारण हुआ॥ 7॥

कहते हैं ओंकार ही एक अंड एवं बीज रूप है और उसी से सारे विश्व का फैलाव हुआ। कबीर साहेब कहते हैं कि सब उपासक लोग उस राम एवं ओम को अविचल पुरुष पति मानकर उसकी पत्नी बन रहे हैं॥ 27॥

व्याख्या—उक्त रमैनी में पौराणिक कथा का वर्णन है। इस ढंग से हिन्दू पुराणों में अदल-बदल कर अनेक कथाएं आयी हैं। जो लोग तथाकथित

दैवीशक्ति को ही सर्वोपरि मानते हैं उनके ख्याल से अष्टांगी आद्या या देवी से ही ब्रह्मा, विष्णु, शंकर पैदा होते हैं। उस देवी ने ब्रह्मा को ब्रह्माण्ड या पृथ्वी का राज्य और विष्णु को स्वर्ग का राज्य दिया। इन दोनों को अहंकार हुआ, तब उसने शंकर को लिंग रूप बनाकर पृथ्वी में गाड़ दिया। उस लिंग की अनंतता को देखकर ब्रह्मा और विष्णु का अहंकार दूर हो गया, और आद्या ने पाताल ही शंकर का निवास दे दिया।

एक ओंकार ही अंड है, बीज है और उसी से सारे संसार की उत्पत्ति है। राम पति है और सब जीव उसकी पत्नियां हैं। यह सारी बातें पौराणिक एवं भावुक उपासकों की कल्पनाएं हैं। कबीर साहेब व्यंग्य में कहते हैं "कहहिं कबीर सब नारि राम की, अविचल पुरुष भ्रतार" ये भावुक लोग अपने से पृथक किसी अविचल पुरुष को अपना भ्रतार मानकर उसकी पत्नी बनते हैं, जो एक कुसंस्कार है। बीजक में जगह–जगह सद्गुरु ने दूसरों की कल्पित बातें इसलिए रखी हैं कि उनकी वास्तविकता की परख की जा सके। सद्गुरु ने ज्ञान चौंतीसा के शुरू में ही कहा है कि ओंकार को लिखकर जो उसे काट सकता है वह मानव उससे श्रेष्ठ है। किसी तथाकथित पति की पत्नी बनने की बात का खण्डन शब्द 35 तथा 36 में सद्गुरु ने स्वयं किया है।

सृष्टि का नये सिरे से उत्पन्न होने का खंडन सद्गुरु ने सातवीं रमैनी में प्रश्नवाचक चौपाइयां कहकर स्वयं कर दिया है "तहिया होते पवन नहिं पानी। तहिया सृष्टि कौन उत्पानी॥" अर्थात जड़–चेतन स्वयंभू एवं अनादि हैं। उनके गुण–धर्म भी उनमें अनादि हैं और उनसे सृष्टि भी अनादि है। ब्रह्मा, विष्णु तथा शंकर रज, सत एवं तम गुण के प्रतिनिधित्व करने वाले काल्पनिक देवता हैं। पूरा बीजक पढ़ लेने पर इन बातों का खुलासा हो जाता है।

इस रमैनी की छठीं चौपाई से साफ हो जाता है कि नारी–पुरुष से ही सृष्टि होती है। अथवा पुरुष–प्रकृति, चेतन–जड़ के गुण–धर्मों से संसार–चक्र चलता है।

"सर्वन बर्वन देव औ दासा" अर्थात शर्मा (ब्राह्मण), वर्मा (क्षत्रिय), देव (वैश्य) और दास (शूद्र) को क्रमशः सतोगुण, रजोगुण, रजो–तमो मिश्रित एवं तमोगुण युक्त मान लिया गया। परन्तु देखा जाता है सभी तथाकथित वर्णों में सभी गुण वाले मनुष्य हैं। इससे तो यही सिद्ध होता है कि जो विशेष सतोगुणी है, वह ब्राह्मण है। वह भले ही किसी कुल में पैदा हो। इसी प्रकार जो रजोगुणी है वह क्षत्रिय है, जो रज–तम मिश्रित है वह वैश्य है तथा जो तमोगुणी विशेष है वह शूद्र है, फिर ये किसी भी कुल में पैदा हुए हों।

तथ्य तो यह है कि आज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नाम युगबाह्य हो गये हैं। आज इन नामों की कोई आवश्यकता नहीं हैं। आज तो हर व्यक्ति को अच्छा आदमी बनना चाहिए।

कर्म-पट बीनने वाला जीव-जोलाहा

रमैनी-28

अस जोलहा काहु मर्म न जाना। जिन्ह जग आनि पसारिनि ताना॥ 1॥
धरति अकाश दोउ गाड़ खँदाया। चाँद सूर्य दोउ नरी बनाया॥ 2॥
सहस्त्रतार ले पूरनि पूरी। अजहूँ बिने कठिन है दूरी॥ 3॥
कहैं कबीर कर्म से जोरी। सूत कुसूत बिने भल कोरी॥ 4॥

शब्दार्थ—जोलहा=जीव। गाड़=गड्ढा।

भावार्थ—ऐसे जोलाहा का भेद कोई नहीं जान सका जिसने जगत में आकर ताना फैलाया॥ 1॥ उसने धरती और आकाश दोनों को गड्ढा बनाया, और चांद तथा सूर्य को नरी बनाया॥ 2॥ और हजार सूत लेकर भरना करने लगा। वह आज भी बीनता है। उसकी यह आदत दूर होना कठिन है॥ 3॥ कबीर साहेब कहते हैं कि यह जोलाहा कर्म के बन्धन को जोड़कर अच्छे-बुरे कर्म रूप सूत को अच्छी तरह बुन रहा है॥ 4॥

व्याख्या—विषयों के अध्यास में जकड़ा हुआ संसारी जीव ही जोलाहा है, जो बारम्बार जगत में जन्म लेकर कर्मों के ताना-बाना फैलाता है। परन्तु वह खुद अपने जोलाहेपन को, अर्थात कर्मजाल को नहीं समझ पाता, न वह अपने शुद्ध चेतन स्वरूप को समझता है कि मेरी क्या गरिमा है और न यही समझता है कि मैं क्या कर रहा हूं। मैं ही अपने कर्मजाल का बीनने वाला तथा तोड़ने वाला हूं, इस रहस्य को नहीं जानता। इसीलिए अनादिकाल से कर्मों का पट बुनता जा रहा है।

सद्गुरु जोलाहे के करघे का सुन्दर रूपक उपस्थित करते हैं। वस्त्र बुनने का करघा जहां स्थापित किया जाता है, वहां नीचे गड्ढा होता है, जिसमें पैर डालकर जोलाहा बैठता है और पट बुनता है। 'नरी' उस लकड़ी को कहते हैं जिसमें भरनी के लिए सूत लपेटा रहता है। जैसे प्रकृति ने मानो सृष्टि-पट बुनने के लिए पृथ्वी तथा आकाश को गड्ढा खुदाया हो और चांद तथा सूर्य को एवं रात और दिन को नरी बनाया हो; वैसे कर्मी जीव शरीर का अधोभाग रूपी पृथ्वी तथा ऊर्ध्व एवं शिरोअंग रूपी आकाश के गड्ढे खुदाये हैं, और इडा तथा पिंगला को नरी बनाकर जीवन एवं कर्म रूपी वस्त्र बुन रहा है। नाक के बायें छिद्र के श्वास को इडा तथा चन्द्र नाड़ी कहते हैं और दायें छिद्र के श्वास को पिंगला तथा सूर्य नाड़ी कहते हैं। "चाँद सूर्य दोउ नरी बनाया" का अभिप्राय है इडा तथा पिंगला नाड़ी को नरी बनाया। इसी से जीवन का वस्त्र बुनता है और कर्मों का वस्त्र तैयार होता है।

"सहस्रतार ले पूरनि पूरी" यहां 'सहस्र' का अभिधा अर्थ एवं शब्दार्थ नहीं लेना चाहिए, किन्तु लक्षणा अर्थ लेना चाहिए। सहस्र का लक्षणा अर्थ है असंख्य। जैसे प्रकृति मानो असंख्य तारों एवं नक्षत्रों से सृष्टि-पट सम्पन्न करती है; वैसे जीव असंख्य श्वासों से जीवन-पट सम्पन्न करता है तथा असंख्य कर्मों से कर्मजाल का वस्त्र बुनता एवं भरनी भरता है।

"अजहूँ बिने कठिन है दूरी" सद्गुरु का यह वाक्य प्रपंची जीवों के मोह तोड़ने के लिए मर्मभेदी है। जीव अनादिकाल से कर्मों का वस्त्र बुन रहा है; किन्तु आज भी इसका मोह नहीं गया है। आज भी यह कर्मों का जाल बुनता जाता है। करने, खाने, देखने, सुनने, पाने आदि की तृष्णा समाप्त ही नहीं होती है। सद्गुरु कहते हैं "कठिन है दूरी" इसका दूर होना कठिन है। विषयों का राग इतनी गहराई में गड़ा है कि वह निकल ही नहीं रहा है। जब तक चित्त से राग नहीं निकलता, तब तक कर्मों का वस्त्र बुनना बन्द नहीं हो सकता।

किसी साधक को इसलिए साहसहीन नहीं होना चाहिए कि सद्गुरु तो स्वयं कहते हैं कि "कठिन है दूरी" अर्थात यह कर्म-बन्धन दूर होना ही कठिन है। यहां सद्गुरु संसारियों की राग-लिप्सा पर प्रकाश डालते हैं। सद्गुरु के इस बीजक में साहस के सैकड़ों वचन हैं। केवल एक साखी लें—

तौ लौं तारा जगमगै, जौ लौं उगै न सूर।
तौ लौं जीव कर्म वश डोलै, जौ लौं ज्ञान न पूर॥ (साखी 205)

पूर्ण ज्ञान होने पर कर्मों का जाल भस्म हो जाता है। "कहैं कबीर कर्म से जोरी। सूत कुसूत बिने भल कोरी॥" सद्गुरु कहते हैं कि यह कर्मी जीव रूपी कोरी अर्थात जोलाहा अपने आप को निरन्तर कर्मों से जोड़े रखता है। और 'सूत कुसूत' अर्थात अच्छे और बुरे-सभी कर्मों का वस्त्र बुनता रहता है। इस चौपाई में आया हुआ 'भल' शब्द कर्म वस्त्र बुनने का क्रियाविषेषण है। जोलाहा अच्छे-बुरे सूत को लेकर वस्त्र निपुणता से बुनता है। अर्थात जीव शुभाशुभ कर्मों के धागे को लेकर भव-बन्धन का वस्त्र अच्छी तरह बुनता है और इसी में सदैव उलझा रहता है।

सद्गुरु ने इस रमैनी में जोलाहा, करघा, गड्ढा, नरी, सूत आदि का सुन्दर रूपक दिया है और प्राकृतिक धरती, आकाश, चांद, सूर्य आदि का उदाहरण पेश किया है। गुरुदेव के अनेक वचन श्लेषात्मक, द्वयर्थक एवं अलंकार युक्त होते ही हैं। किन्तु इस रमैनी में सद्गुरु मुख्य बात यह बताना चाहते हैं कि जीव बारम्बार अपने बनाये हुए कर्मजालों में उलझ रहा है। वह आज भी नहीं जाग रहा है। आज भी अच्छे-बुरे कर्मों में उलझा है। उसे अपनी सत्ता और महत्ता का भान नहीं है। मैं ही अपने कर्मों का कर्ता तथा विधाता हूं। मेरे बन्धन मेरे ही

बनाये हैं और मैं ही उन्हें तोड़ सकता हूं, इसका उसे पता नहीं है। "अस जोलहा काहु मर्म न जाना" इसी भाव का उद्भावक है। नाना मत के गुरु लोग भी प्राय: जीव को हरि-इच्छा-अधीन बताकर उसको स्वरूपशोधन एवं पौरुष से दूर ही करते रहते हैं। जब तक जीव स्वयं नहीं जगेगा, उसका बन्धन नहीं छूट सकता।

रजोगुण से उठकर स्वरूपज्ञान में स्थित होओ

रमैनी-29

बज्रहु ते तृण खिन में होई। तृण ते बज्र करै पुनि सोई॥ 1॥
निझरू नीरु जानि परिहरिया। कर्म का बाँधा लालच करिया॥ 2॥
कर्म धर्म मति बुधि परिहरिया। झूठा नाम साँचले धरिया॥ 3॥
रज गति त्रिविधि कीन्ह परकाशा। कर्म धर्म बुधि केर बिनाशा॥ 4॥
रवि के उदय तारा भौ छीना। चर बीहर दूनों में लीना॥ 5॥
विष के खाये विष नहिं जावै। गारुड़ सो जो मरत जियावै॥ 6॥
साखी—अलख जो लागी पलक में, पलकहि में डसि जाय।
विषहर मन्त्र न मानै, तो गारुड़ काह कराय॥ 29॥

शब्दार्थ—खिन=क्षण। निझरू नीरु=जलप्रतात। चर-बीहर=जंगम-स्थावर, चल-अचल। गारुड़=सांप का जहर दूर करने वाली औषध, तात्पर्य में सत्योपदेश या सद्गुरु।

भावार्थ—यह मन क्षण में वज्र को तृण तथा तृण को वज्र बना देता है॥ 1॥ इसलिए विवेकीजन मन को निर्झर-प्रपात समझकर और इसके द्रष्टा बनकर इसका त्याग करते हैं। परन्तु कर्म-बन्धनों में बंधे हुए लोग भोगों के लालच में जीवन खोते हैं॥ 2॥ वे कर्म, धर्म, मति और बुद्धि की उपेक्षा करते हैं, और झूठे नाम को सत्य समझकर उसी की माला फेरने लगते हैं॥ 3॥ ऐसे लोगों के मन में रजोगुण की गति तीव्र, तीव्रतर एवं तीव्रतम हो जाती है, उसमें उनके कर्म, धर्म और बुद्धि का विनाश हो जाता है॥ 4॥ जिस प्रकार चर-अचर में लीन होकर उन्हें प्रकाशित करने वाला तारों का प्रकाश सूर्य के उदय होने पर नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार स्वरूपज्ञान होने पर लौकिकज्ञान का अहंकार नष्ट हो जाता है॥ 5॥ विष का प्रभाव पुन: विष खाने से नहीं मिटता। विष को दूर करने वाली औषध उसे कहते हैं, जो विष के प्रभाव से प्रभावित मरणासन्न व्यक्ति को पुन: जीवन दे दे। अर्थात वह ज्ञान ज्ञान नहीं कहला सकता जो भवव्याधि को बढ़ाये, किन्तु उसे मिटाने वाला ही ज्ञान है॥ 6॥

मनुष्य के लक्ष्य में जो अगम-अगोचर की अवधारणा है, उसी में वह डंसा एवं मारा जा रहा है। यदि अज्ञान विष को दूर करने वाले सत्योपदेश रूपी मन्त्र को व्यक्ति नहीं मानता है, तो सत्योपदेश या उपदेष्टा गुरु क्या करेगा!॥ 29॥

व्याख्या—"बज्रहु ते तृण खिन में होई। तृण ते बज्र करै पुनि सोई॥" यह मन की कल्पना वज्र को तृण तथा तृण को वज्र बना देती है। कभी-कभी मन इस प्रकार सुलझे हुए ढंग से सोचने लगता है कि विकट प्रतीत होने वाली समस्या अत्यन्त सरल दिखने लगती है, और कभी-कभी वह सरल दिखने वाली बात को बड़ी उलझी हुई दुर्गम मान लेता है। मन की दशा ऐसी है कि "कबहिं भरलि बहै कबहिं सुखाय" (शब्द 51)। मन क्षण में अविवेकपूर्ण कल्पना से दुखों का पहाड़ खड़ा कर लेता है और क्षण में कुछ ऐसी बातें सोच लेता है जिससे हृदय खुशी से भर जाता है।

इसलिए विवेकवान पुरुष "निझरू नीरु जानि परिहरिया" मन को एक निर्झर-प्रपात के समान देखते हैं। मन सुषुप्ति तथा समाधि के अतिरिक्त समय में झरने के समान निरन्तर बहता रहता है। विवेकवान मन के प्रवाह को देखकर उसके हर्ष-शोक का त्याग करते हैं। दुखों से छूटने का तरीका यही है कि अपने आप को शुद्ध चेतन समझकर मन से अलग कर लिया जाये।

दूसरे लोग "कर्म का बाँधा लालच करिया" भोगों के लोभ में पड़े रहते हैं, इसलिए वे कर्मों के बन्धनों में बंधे रहते हैं। सारे कर्मों के बन्धनों की जड़ लालच है। वे ही कर्म जीवों को बांधते हैं, जिनमें लालच, लोभ एवं सकाम भावना है। सकामी मनुष्य "कर्म धर्म मति बुधि परिहरिया" कर्म, धर्म, मति, बुद्धि सबका मानो त्याग कर देता है। लालची एवं सकामी मनुष्य न कर्म के स्वरूप को ठीक से समझकर उसे कर सकता है, न धर्म के तत्त्व को ठीक से समझकर उसका आचरण कर सकता है और न उसकी विवेकवती बुद्धि तथा मति ही होती है।

"बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया मतिरागामिगोचरा"

तात्कालिक विषयों पर समीक्षा करने वाली मानसिक शक्ति बुद्धि है और भविष्य के विषय में सही निर्धारण कर लेने वाली मति है। लालची एवं सकामी मन इतना भावुक एवं धुंध भरा होता है कि वह वर्तमान और भविष्य दोनों के विषय में सही निर्णय कम कर पाता है। जब बुद्धि और मति ही दिग्भ्रमित हो तो उनसे कर्म और धर्म के सच्चे स्वरूप को कैसे समझा जा सकता है! सकामी मन निष्काम कर्म समझने से रहा। सकामी मनुष्य का कर्म भी व्यापार होता है और धर्म भी व्यापार होता है। इस प्रकार लालची आदमी कर्म, धर्म, मति, बुद्धि सबकी उपेक्षा करता है।

"झूठा नाम साँच ले धरिया" कहा जाता है वह क्या है, जो सब में है और उसमें कुछ नहीं है? उत्तर है 'नाम'। सारी वस्तुओं को समझने के लिए उनके नाम रख लिये जाते हैं; परन्तु नाम अपने आप में कुछ नहीं है। सारे

नाम काल्पनिक हैं। कोई भी नाम-जप एक साधारण साधन है, परन्तु कितने ही लोग कर्म, धर्म, मति-बुद्धि का परित्यागकर झूठे एवं काल्पनिक नाम को ही परम सत्य मान रात-दिन उसी के जपने में दृढ़ हो जाते हैं। अथवा अविवेकी मनुष्य ऐसी झूठी धारणाओं को मन में स्थान दिये रखता है जिनके केवल नाम हैं, किन्तु उनका तथ्य कहीं नहीं है और नाम अपने आप में स्वयं काल्पनिक है। वाणी जाल को देखिए तो भूत-प्रेत, देवी-देवादि-व्यंजक कितने ही नाम हैं जो मानवीय वातावरण में गूंजते रहते हैं, परन्तु उनका कोई अस्तित्व नहीं है।

"रजगति त्रिविधि कीन्ह परकाशा" सत, रज, तम तीनों गुणों में 'रजगुण' क्रिया-प्रधान है। रजगुण की क्रिया के तीन प्रकार हैं—तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम। रजगुण की जितनी तीव्रता होती है उतनी ही जीव की बहिर्मुखता होती है। रजोगुण से काम, क्रोध और लोभ पैदा होते हैं। रजोगुण जितना बढ़ता है, उतने ही काम, क्रोध और लोभ के उग्ररूप होते हैं। ये तीनों जितने उग्र होते हैं, उतना ही 'कर्म धर्म बुधि केर विनाशा" होता है। पवित्रभाव से लोकमंगलकारी कर्म ही कर्म है। धर्म है विश्व के नियम और मानव के कर्तव्य जिनसे 'स्व' और 'पर' का कल्याण होता है। बुद्धि है अच्छी समझदारी। जहां रजोगुण की वृद्धि में काम, क्रोध तथा लोभ का प्राबल्य है वहां उक्त कर्म, धर्म और बुद्धि का विनाश ही है। रजोगुण की वृद्धि से कामादि और कामादि से आत्मपतन यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है।

रात में तारागण का प्रकाश चर और बीहर में अर्थात गतिशील और गतिहीन सृष्टि में लीन रहता है और वह प्रकाश स्थावर-जंगम को उद्भासित करता है। किन्तु रवि के उदय होने पर वह क्षीण हो जाता है। इसी प्रकार रजोगुण का प्रकाश सांसारिक वस्तुओं को प्रकाशित करता है। एक अति रजोगुणी व्यक्ति को कहो कि समाधि लगाओ, तो यह उसके मान की बात नहीं है। वह तो एक जगह स्थिर होकर कुछ समय बैठ भी नहीं पायेगा। परन्तु उसको रुपये का एक कोष दे दो और कह दो कि यह-यह काम करो, कराओ, तो वह खुशी से करेगा। रजोगुणी मन सांसारिक वस्तुओं को अधिक महत्त्व देता है। किन्तु जब उसमें स्वरूपज्ञान रूपी सूर्य उदय होता है तब स्थावर-जंगमात्मक संसार में डूबा रजोगुण शांत हो जाता है। जीव का शुद्ध चेतनस्वरूप अचल है और रजोगुण क्रियाशील है। अतएव अचल स्वरूप के ज्ञान एवं स्थिति से क्रियाशील रजोगुण का अन्त होना ही है। इसलिए "रवि के उदय तारा भौ छीना" वचन तथ्यपूर्ण है। स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति से रजोगुण शान्त होता है और जितना रजोगुण शान्त होता है, उतनी स्वरूपस्थिति परिपक्व होती है।

"विष के खाये विष नहिं जावै। गारुड़ सो जो मरत जियावै॥" बड़ा महत्त्वपूर्ण वचन है। सद्गुरु कहते हैं कि यदि किसी ने विष खा लिया हो और वह उससे प्रभावित होकर मरणासन्न हो, तो क्या उसे पुनः विष खिला देने से उसका विष दूर होगा? वह तो और बढ़ेगा। संसार के लोग स्वरूपज्ञान से रहित रजोगुण एवं विषय–भोगों में उन्मत्त होकर काम, क्रोध, लोभादि में डूबे हैं। यदि वे पुनः उन्हीं विषयों में डूबते हैं तो उनका उद्धार कहां है!

स्थूल बुद्धि वाले स्थूल भोगों में डूबते हैं। किन्तु स्वरूपज्ञान के बिना सूक्ष्म बुद्धि वाले सूक्ष्म विषयों में उलझ जाते हैं। श्री निर्मल साहेब कहते हैं "स्वरूप के बाद सारा विषय जान।" अर्थात अपने शुद्धस्वरूप चेतन के अलावा जहां तक इन्द्रिय गोचर और मनोगत है, सब विषय है। बाहरी शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध तो विषय हैं ही, देवी–देवादि से लेकर ईश्वर–ब्रह्म की अवधारणाएं भी विषय हैं। क्योंकि अवधारणाएं मन के रूप ही होती हैं जो विषय हैं। अतएव उच्चतम लक्ष्य से देखा जाये तो मन की अवधारणाओं में उलझे रहने से कोई अमृतपद स्वरूपस्थिति नहीं पा सकता है। कितने ही गुरु लोग परमतत्त्व के नाम पर जितना उपदेश करते हैं सब मन की अवधारणाएं ही होती हैं। सद्गुरु कहते हैं "गारुड़ सो जो मरत जियावै" 'गारुड़' वह है जो मरते हुए को जिला ले। सर्प–विष के उतारने वाले मन्त्र[1] को गारुड़ कहते हैं। यहां शाब्दिक अर्थ नहीं, किन्तु लाक्षणिक अर्थ समझना चाहिए। तात्पर्य है कि विषय–विष को दूर करने वाला ही सच्चा उपदेश है जो स्थूल–सूक्ष्म सारे विषयों का निषेधकर व्यक्ति को स्वरूपज्ञान और स्वरूपस्थिति की ओर प्रेरित करता है।

लोग अपनी आत्मा से अलग कहीं अलख अदृश्य ब्रह्म मानते हैं और उसी में पलक लगाते हैं। अर्थात ऐसी अवधारणा को अपना लक्ष्य समझते हैं। पलक लगाना, देखना, तात्पर्य में लक्ष्य लगाना है। सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे पलक में ही अर्थात ऐसे लक्ष्य में ही जीव डंसा जाता है। अपने स्वरूप से अलग लक्ष्य लगाना ही आत्मिकपतन है। अतएव सद्गुरु का यह मार्मिक वचन "अलख जो लागी पलक में, पलकहि में डसि जाय।" समझने योग्य है।

"विषहर मन्त्र न मानै, तो गारुड़ काह कराय।" विषहर कहते हैं विष को दूर करने वाले को, मन्त्र का अर्थ है राय, सम्मति एवं उपदेश। जो स्थूल तथा सूक्ष्म सारे विषयों के विष को दूर करते हैं, ऐसे सत्योपदेश को यदि व्यक्ति नहीं मानता है तो इसमें न उपदेश का दोष है और न उपदेष्टा का। यह तो उस व्यक्ति

---

1. यहां 'गारुड़' शब्द उदाहरण मात्र है। तात्पर्य में सत्योपदेश, पारख वचन एवं पारखी गुरु है। मंत्र से झाड़ने पर सर्पदंश का विष उतरता है, यह एक भ्रम है। सर्पदंश में आपरेशन, दवाई इत्यादि काम करते हैं, 'चल छू' मन्त्र नहीं।

का ही अपना जड़-संस्कारजनित दोष है। उसे स्वयं ही निष्पक्ष होकर पारखी-वचनों पर ध्यान देना चाहिए। पारख ही 'भरमगढ़' तोड़ सकता है।

अविनाशी का बोध पाखंड से बाहर है

रमैनी-30

औ भूले षट दर्शन भाई। पाखण्ड भेष रहा लपटाई॥ 1॥
जीव शीव का आहि नशौना। चारिउ वेद चतुर्गुण मौना॥ 2॥
जैनि धर्म का मर्म न जाना। पाती तोरि देव घर आना॥ 3॥
दवना मरुवा चम्पा के फूला। मानहु जीव कोटि सम तूला॥ 4॥
औ पृथ्वी के रोम उचारे। देखत जन्म आपनो हारे॥ 5॥
मन्मथ बिन्दु करै असरारा। कल्पै बिन्द खसे नहिं द्वारा॥ 6॥
ताकर हाल होय अदबूदा। छौ दर्शन में जैनि बिगुर्चा॥ 7॥
साखी—ज्ञान अमर पद बाहिरे, नियरे ते है दूरि।
जो जाने ताके निकट है, नहिं तो रहा सकल घट पूरि॥ 30॥

शब्दार्थ—षटदर्शन=योगी, जंगम, सेवड़ा (जैनी), संन्यासी, फकीर और ब्राह्मण। शीव=शिव, कल्याण। असरारा=भेद, रहस्य, लगातार, दुष्ट व्यवहार, अमरौली-बज्रोली क्रिया। बिगुर्चा=धोखा, उलझन।

भावार्थ—और हे भाई! षटदर्शन सम्प्रदाय के लोग अपने टंट-घंट में भूल गये। ये अपने-अपने सम्प्रदाय के पाखण्ड और भेष में लिपटे हैं॥ 1॥ यह सब पाखण्ड जीव के कल्याण का नाशक है। चारों वेदों के भी अपने-अपने गुण हैं परमतत्त्व के विषय में मौन रहना॥ 2॥ जैनी लोग धर्म के रहस्य को नहीं जानते। वे फूल-पत्ती तोड़कर देव मन्दिरों में लाकर अपने तीर्थंकरों की मूर्तियों को चढ़ाते हैं॥ 3॥ दौना, मरुवा, चंपा आदि के फूलों को तोड़कर जब मूर्तियों पर चढ़ाते हैं, तब उनको यह नहीं समझ पड़ता कि हम मानो करोड़ों जीवों की हत्या करने के समान पाप करते हैं, क्योंकि जैनमत में फूल-पत्तियों में असंख्य जीवों के होने की कल्पना की गयी है॥ 4॥ और पार्थिव शरीर के, अर्थात सिर-मुख आदि के बाल उखाड़ते हैं, यह भी एक प्रकार आत्महिंसा है। इस प्रकार प्रत्यक्ष ही अपने जीवन को खो रहे हैं॥ 5॥ बज्रोली-क्रियारूप मन्मथ व्यवहार कर वीर्य को साधते हैं। मन में वीर्य के गिरने की कल्पना होती है, परन्तु बज्रोली-अभ्यास के प्रभाव से वह गिरने नहीं पाता॥ 6॥ ऐसे लोगों की दशा अद्‌भुत है। छह दर्शनी वेषधारियों में जो एक जैनी हैं, इनकी स्थिति ज्यादा उलझनपूर्ण है॥ 7॥

ज्ञानस्वरूप चेतन ही परमपद है। वह षटदर्शनों के पाखण्ड से बाहर है। वह निकट होते हुए पाखण्ड के कारण दूर-सा हो गया है। जो उसे तत्त्व से जानता है उसके निकट है। (निकट भी कहने का एक तरीका है। वस्तुतः वह स्वयं स्वरूप ही है।) जो उसे नहीं जानता, उसके मन में तो कल्पना ही परिपूर्ण हो रही है। अथवा न जानने पर भी वह सभी घटों में विद्यमान है ही॥ 30॥

व्याख्या—योगी, जंगम (शिवाचारी), सेवड़ा (जैनी), संन्यासी, दरवेश (फकीर) तथा ब्राह्मण—ये छह[1] दर्शन हैं। इनके छानबे[2] भेद माने जाते हैं। कबीर साहेब ने जब ये पंक्तियां कही हैं तब से आज तक षटदर्शनों के भेद बढ़े ही हैं। सद्गुरु कहते हैं कि षटदर्शन वेषधारी सांप्रदायिक टंट-घंट, पाखण्ड एवं वेष-बाना के चक्कर में आत्मकल्याण तथा लोककल्याण की बातें भूल गये। आज भी एक ही सम्प्रदाय के हर अखाड़ा, गद्दी और शाखा वाला अपने को बड़ा तथा दूसरे को छोटा मानता है। फिर अलग-अलग सम्प्रदायों के नखरों का कहना ही क्या ! किस सम्प्रदाय, अखाड़ा, गद्दी एवं शाखा वाले का कैसा तिलक है, कैसी माला एवं कंठी है, कैसा वस्त्र, उसके पहनने का ढंग और पूजा आदि कैसे-कैसे नियम हैं, बड़ी बारीकी से इनका विचार होता है और सभी अपने-अपने वेष और नियमों को उच्च तथा दूसरों को तुच्छ बताते हैं। उनके वेष, बाह्याचार एवं गद्दी का इतना जोर हो गया है कि उनमें वे अपने असली स्वरूप को ही भूल गये हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि यह तो ''जीव शीव का आहि नशौना'' अर्थात जीव के शीव का नशौना है। 'शिव' कल्याण को कहते हैं। यह पाखण्ड जीव के कल्याण का नाशक है।

''चारिउ वेद चतुर्गुण मौना'' चारों वेदों में भी कर्मकांड का काफी विस्तार है। स्वरूपज्ञान के विषय में वे भी प्रायः मौन हैं। अर्थात चारों वेदों के अपने गुण हैं आत्मज्ञान के विषय में प्रायः मौन रहना। इसीलिए मुंडक उपनिषद् का ऋषि कहता है—''(दो विद्याएं हैं 'अपरा' तथा 'परा') उनमें 'अपरा' विद्या है ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद तथा छह वेदांग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष और जिससे अविनाशी आत्मतत्त्व का बोध होता है वह 'परा' विद्या इन वेद-वेदांगों से परे है।''[3] इसीलिए गीताकार ने कहा—''हे

---

1. योगी जंगम सेवड़ा, संन्यासी दरवेश।
छठवां कहिए ब्राह्मण, छौ घर छौ उपदेश॥
2. दश संन्यासी बारह योगी, चौदह शेष बखान।
ब्राह्मण अठारह अठारह जंगम, चौबीस सेवड़ा परमान॥ (पंचग्रन्थी, मानुष विचार)
3. तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। (मुंडक उप. 1/5)

अर्जुन ! सभी वेद त्रिगुणात्मक जगत का ही ज्ञान कराते हैं। अतएव तुम इनसे रहित निर्द्वन्द्व, नित्य सत्य स्वरूप में स्थित, योग-क्षेम (संग्रह-रक्षा) से उदासीन एवं आत्मपरायण हो जाओ।"[1]

जैनी लोग अहिंसा धर्म पर जोर देते हैं। उनके जीव की व्याख्या में काफी अतिवाद है। वे मिट्टी, जल, अग्नि तथा वायु के कण-कण में जीव मानते हैं। फूल-पत्तों में असंख्य जीवों का निवास मानते हैं। साहेब कहते हैं जैन मतानुसार उन फूल-पत्तों को तोड़कर देवमन्दिरों की मूर्तियों पर चढ़ाना हिंसा है और ऐसी हिंसा करना धर्म नहीं है।

जैनी साधु सिर, दाढ़ी, मूंछ आदि के बाल उखाड़ते हैं और अपने साधु-शिष्यों के बाल उखड़वाने में सहयोग करते हैं। यह भी एक हिंसा है। "औ पृथ्वी के रोम उचारे" का यही अभिप्राय है।

जैनी साधु कच्चा पानी नहीं पीते। कहते हैं पानी के सारे कण जीवधारी हैं। उनके भक्त पानी उबाल देते हैं, भोजन पका देते हैं, तब वे उन्हें ग्रहण करते हैं जिससे उन्हें हिंसा का पाप न लगे। भक्तों को यह भी कहना पड़ता है कि यह गरम जल या भोजन हमारे लिए है, तब साधु लेते हैं। इससे साधु लोग यह मानते हैं कि यह सारा दोष भक्तों पर गया। यदि भक्त साधुओं से कह दें कि आपके लिए है तो पकाने-गरमाने में हुई हिंसा का पाप साधुओं पर चला जायेगा। वर्षा चौमासा में जैनी साधु इकट्ठा रहते हैं। उनके लिए रोज पुष्कल पानी गरमाया जाता है और रोज भक्तों को कहना पड़ता है कि यह हमारे लिए है यह सब पाखण्ड नहीं तो क्या है ! जीवन-निर्वाह सबको करना पड़ता है। उसको सरलता से स्वीकारना चाहिए। अपने निर्वाह के लिए दूसरे को हिंसक बनाकर हम हिंसा के पाप से मुक्त नहीं हो सकते। आडम्बर और दिखावा छोड़कर सरलता ही कल्याण में हेतु है। बड़ा मुश्किल है। धर्म के नाम पर बनी रूढ़ि पत्थर की लकीर बन जाती है। विवेकप्रधान जैनदर्शन मिथ्याचार में उलझा रहे, यह शोभा नहीं देता। आधुनिक युवा जैन साधुओं को इस पर विचार करना चाहिए और हानिकारी रूढ़ियों की बेड़ियों को तोड़ना चाहिए।

'असरार' शब्द अरबी है। इसका अर्थ होता है भेद एवं रहस्य। असरार का अर्थ लगातार भी होता है। सद्गुरु कहते हैं 'मन्मथ बिन्दु करै असरारा' अर्थात काम के वश में होकर वीर्य-स्तम्भन करने का रहस्यात्मक एवं गुप्त अभ्यास करते हैं या लगातार अभ्यास करते हैं। टीकाकारों ने असरार का अर्थ दुष्ट व्यवहार भी माना है। इस प्रसंग में ये सभी अर्थ उपयुक्त लगते हैं।

---

1. त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ (गीता 2/45)

'बज्रोली' एक हठयोग की क्रिया है। इसको साधने वाले विशेष क्रिया द्वारा जननेन्द्रिय से क्रमशः पानी, दूध और शहद खींच लेते हैं। अभ्यास परिपक्व होने पर ऐसे लोग स्त्री का संग करते हुए वीर्य गिरने नहीं देते। इस बज्रोली को भोग तथा मोक्ष का साधन मानते हैं। यह सब वासना-तृप्ति का एक साधन है और कल्याणार्थी साधकों का पतनपथ है। ऐसे लोग अपने आप को सिद्ध योगी बताते हैं। वस्तुतः ऐसे लोग त्याग का दिखावाकर भोगपरायण और मलिन हैं। साधकों को ऐसे-ऐसे मन के धोखे से सदैव दूर रहना चाहिए।

''छौ दर्शन में जैनि बिगुर्चा'' बिगुर्चा एवं बिगूचना का अर्थ है उलझन। सद्गुरु कहते हैं कि योगी-जंगमादि छह दर्शनियों में जैन जो सेवड़ा भी कहलाते हैं ज्यादा उलझे हुए हैं। अर्थात अन्य पांच दर्शनी तो उलझे ही हैं, किन्तु जैनी अधिक उलझे हैं। इसका यह अर्थ न समझकर किसी टीकाकार ने छह दर्शन का अर्थ वैदिक-छह दर्शन—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदान्त लिया है, और अर्थ माना है कि जैनी इन छहों दर्शनों में उलझे हैं। फिर उन्होंने टिप्पणी की है ''कबीर यहां भूल करते हैं, क्योंकि जैनी सांख्यादि छह वैदिक दर्शनों को मानते ही नहीं, तो वे उनमें उलझेंगे क्यों?'' परन्तु भूल कबीर की नहीं, टीकाकार की है। इस रमैनी के शुरू की ही चौपाई है ''औ भूले षटदर्शन भाई। पाखण्ड भेष रहा लपटाई॥'' इत्यादि। ऊपर इसका खुलासा हो गया है।

''ज्ञान अमर पद बाहिरे'' ज्ञान ही अमर पद है जो षटदर्शन के साम्प्रदायिक जंजाल, वेष, बाह्याचार एवं अहं-हीनत्व से परे है। हर मनुष्य के भीतर ज्ञान की एक अखण्ड ज्योति निरन्तर जलती रहती है। 'मैं हूं' यह भाव सबको सब समय बना रहता है। मैं स्वयं ही ज्ञानस्वरूप हूं। सबके भीतर का 'स्व' ही ज्ञान है और ज्ञान ही 'स्व' है। वह अमरपद है। अमरपद का अर्थ अविनाशी स्वरूप है। चेतन का लक्षण जड़तत्त्व से सर्वथा पृथक एवं स्वतन्त्र है। जड़-तत्त्वों में चेतना गुण न होने से चेतन जड़ से सर्वथा भिन्न है। जो स्वतन्त्र है, वह नित्य है। जो नित्य है वह अमर है। इसीलिए कहा जाता है कि जीव एवं आत्मा अमर है। सद्गुरु कहते हैं यह ज्ञानस्वरूप चेतन अमर है और इस स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति को पाने के लिए षटदर्शन के पाखण्ड की जरूरत नहीं है। साम्प्रदायिक पाखण्ड तो इसके अवरोधक हैं। अतएव यह ज्ञान पाखण्ड के बाहर की वस्तु है। इसके लिए तो निष्पक्षता, विवेक, सदाचार, वैराग्य, भक्ति, सरलता आदि की आवश्यकता है।

यह अमरपद निकट होते हुए भी विषयासक्ति, पाखण्ड, पक्षपात आदि में उलझे हुए लोगों के लिए दूर है—''नियरे ते है दूरि।'' यहां 'नियरे' पद का प्रयोग लाक्षणिक है। क्योंकि अपना ज्ञानस्वरूप चेतन व्यक्ति के 'स्व' से अलग

नहीं है। इसलिए वह नियरे नहीं, किन्तु स्वयं है। 'नियरे' तो एक कहने का तरीका है। सद्गुरु कहते हैं "जो जाने ताके निकट है" जिसने समझ लिया कि परमतत्त्व मुझसे अलग नहीं है, उसके लिए वह निकट हो गया है। तात्पर्य में सरल हो गया। अन्यथा "नहिं तो रहा सकल घट पूरि" जिन्हें स्वरूप का ज्ञान नहीं है, उन सबके घट में तो भ्रांति ही भरी है कि परमतत्त्व मुझसे अलग है। अथवा अविनाशी चेतन सब घटों में विद्यमान होते हुए भी अनुभव रहित होने से अविद्यमान के समान है। शराब पी लेने से गले का कंठा भी खोया-जैसा लगता है। अतएव हमें साम्प्रदायिक बाह्याडंबर से हटकर अपने स्वरूप का ज्ञान तथा स्थिति प्राप्त करना चाहिए। यही इस सन्दर्भ का सार है।

क्या धर्मशास्त्रज्ञ होने का फल अहंकार, पाखंड और शोषण है?

रमैनी-31

सुमृति आहि गुणन को चीन्हा। पाप पुण्य को मारग कीन्हा॥ 1॥
सुमृति वेद पढ़ें असरारा। पाखण्ड रूप करें हंकारा॥ 2॥
पढ़ें वेद औ करें बड़ाई। संशय गाँठि अजहुँ नहिं जाई॥ 3॥
पढ़ें शास्त्र जीव बध करई। मूँड़ि काटि अगमन के धरई॥ 4॥
साखी—कहहिं कबीर ई पाखण्ड, बहुतक जीव सताव।
अनुभव भाव न दरशै, जियत न आपु रखाव॥ 31॥

शब्दार्थ—असरारा=(असरार) भेद, रहस्य; लगातार।

भावार्थ—स्मृतियां एवं धर्मशास्त्र गुण-दोषों की पहचान करते हैं और पाप-पुण्य के मार्गों का निर्धारण करते हैं॥ 1॥ लोग वेदों और धर्मशास्त्रों को लगातार पढ़ते हैं तथा उनका भेद जानने की भी उन्हें अहंमन्यता होती है और वे पाखण्ड का रूप खड़ाकर उनका अहंकार करते हैं॥ 2॥ लोग वेद पढ़ते हैं और अपने वेदाध्ययन की बड़ाई करते हैं, परन्तु उस पर भी उनके सन्देह की गांठ नहीं खुलती॥ 3॥ यहां तक पण्डितों का चरित्र है कि शास्त्र पढ़कर एवं शास्त्रोक्त मन्त्र उच्चारण करते हुए बलि के नाम पर जीववध करते हैं और पशुओं के सिर काटकर जड़-मूर्तियों के सामने चढ़ाते हैं॥ 4॥

सद्गुरु कहते हैं इस धर्म के पाखण्ड ने बहुत जीवों को कष्ट दिया है और आज भी दे रहा है। ऐसे लोग अपनी अनुभूत पीड़ा को सामने रखकर दूसरे को दया की दृष्टि से नहीं देखते। जाग्रत जीवन पाकर भी अपनी रक्षा नहीं करते॥ 31॥

व्याख्या—वेदों के बाद ब्राह्मण ग्रन्थ बने, फिर आरण्यक। उसके बाद सूत्रग्रन्थ। सूत्रग्रन्थ श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र हैं। उसके बाद स्मृति ग्रंथों का एक लम्बा क्रम है। जैसे मनुस्मृति, गौतमस्मृति, पराशरस्मृति, नारद-स्मृति[1] आदि। पहले थोड़ी ही स्मृतियां थीं। पीछे बढ़ती गयीं। फिर 18-20 हो गयीं। उसके बाद 100 तक पहुंच गयीं। कुछ स्मृतियां ईसा की चौथी शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक बनती रहीं।

मनुस्मृति में श्रुति और स्मृति के लक्षण इस प्रकार बताये गये हैं—"वेदों को श्रुति तथा धर्मशास्त्रों को स्मृति जानना चाहिए।"[2] मनु, गौतम, आपस्तम्ब, पराशर आदि स्मृतियों में वर्णाश्रम-व्यवस्था, सभी वर्णों एवं आश्रमों के कर्तव्य, राजकाज, विधान-कानून आदि का वर्णन है। इसलिए सद्‌गुरु कहते हैं "सुमृति आहि गुणन को चीन्हा। पाप पुण्य को मारग कीन्हा॥" स्मृतियां वर्णों, आश्रमों एवं राजकाज के गुणों की पहचान करती हैं। वे निर्धारण करती हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के क्या गुण हैं। उन्हें क्या करना चाहिए। पाप और पुण्य क्या हैं; इनका भी वे विधान करती हैं। स्मृतियों में मानवहित की बहुत-सारी बातें हैं, किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि वे निष्पक्ष नहीं हैं।

कहा जाता है कि जब वर्णव्यवस्था हुई थी तब केवल काम का बटवारा हुआ था। आपस में कोई भेदभाव नहीं था। उस समय जो हो, परन्तु वर्णव्यवस्था का वर्णन जहां तक शास्त्रों में है उसको देखते हुए कहना पड़ता है कि यह मानवता के लिए निष्पक्ष नहीं था। यहां तक कि कहीं-कहीं क्रूर था। आगे चलकर तो यह कमजोर वर्ग के शोषण का एक हथकंडा मात्र बनकर रह गया।

धर्मशास्त्रों द्वारा मानव के गुणों की पहचान में कितनी खोट थी, यह इसी से पता लग जाता है कि शूद्र और स्त्री वेद नहीं पढ़ सकते। कोई भी मनुष्य जब संस्कृत भाषा पढ़ लिया हो और बुद्धि रखता हो, तो वेदों को क्यों नहीं पढ़ सकता? वसिष्ठ के मुख से कहलाया गया है—"विधाता ने गायत्री छंद से ब्राह्मण को बनाया, त्रिष्टुप छंद से क्षत्रिय को और जगती छन्द से वैश्य को; परन्तु उसने शूद्र को किसी भी छन्द से नहीं बनाया। अतः शूद्र संस्कार के योग्य नहीं है।"[3] इसलिए वह वेद नहीं पढ़ सकता। स्मृतियों एवं धर्मशास्त्रों ने मनुष्यों

---

1. मुख्य स्मृतिकार हैं—मनु, वृहस्पति, दक्ष, गौतम, यम, अंगिरा, योगीश्वर, प्रचेता, शातातप, पराशर, संवर्त, उशना, शंख, लिखित, अत्रि, विष्णु, आपस्तंब, हारीत। उपस्मृतिकार अन्य बहुत हैं। (धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ. 41)
2. श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः। (मनुस्मृति 2/10)
3. गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत त्रिष्टुभा राजन्यं जगत्या
वैश्यं न केनचिच्छन्दसा शूद्रमित्यसंस्कार्यो विज्ञायते। (वसिष्ठ 4/3)

के उच्च और नीच गुणों का निर्धारण कुल-परम्परा से किया, उनकी योग्यता से नहीं। और धीरे-धीरे शूद्र कहे जाने वाले बन्धुओं को नीच-गुण का बनाये रखने के लिए विद्यादि पढ़ने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। यह भी अद्भुत बात है कि शुक्ल वेद पढ़ सकते थे, शुकुलाइन नहीं, तिवारी वेद पढ़ सकते थे, तिवराइन नहीं। अतएव धर्मशास्त्रों ने मनुष्यों के गुणों को पहचानने में काफी गलतियां ही नहीं की हैं, अपराध भी किया है।

उसने पाप-पुण्य के मार्ग का निर्धारण भी सर्वथा ज्ञानपूर्ण एवं निष्पक्षता से नहीं किया है। धर्मशास्त्रों में यज्ञ, बलि आदि के नाम पर मूक प्राणियों को मारना धर्म बताया। मनुस्मृति में कहा गया—"ब्रह्मा ने पशुओं को यज्ञ में वध करने के लिए ही बनाया है। यज्ञ समस्त प्राणियों के हित के लिए है; इसलिए यज्ञ में पशुवध करना वध नहीं है।"[1] शूद्र न न्यायाधीश हो सकता है और न धर्म की घोषणा कर सकता है।[2] क्षत्रिय की हत्या करने पर छह वर्ष का ब्रह्मचर्य और एक हजार गायों का दान प्रायश्चित है। वैश्य की हत्या करने पर तीन वर्ष ब्रह्मचर्य-पालन एवं सौ गाय-बैलों का दान करना चाहिए। किन्तु शूद्र की हत्या करने पर केवल एक वर्ष का ब्रह्मचर्य तथा दस गायों का दान काफी है।[3] आपस्तम्ब ने तो यहां तक कह डाला है कि शूद्र की हत्या करने पर केवल उतना ही पाप लगता है जितना कौआ, गिरगिट, मोर, चकवा, हंस, भास, मेढक, नेवला, छछून्दर आदि की हत्या करने पर लगता है।[4] अतएव स्मृतियों में पाप-पुण्य के मार्ग का निर्धारण भी सब जगह ठीक नहीं है। हां, इन ग्रन्थों में बहुत-सी बातें मानवमात्र के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। मनुष्य को नीर-क्षीर विवेकी बनकर सार का ग्रहण तथा असार का त्याग करना चाहिए।

परन्तु लोग ऐसा करते नहीं हैं। सद्गुरु कहते हैं "सुमृति वेद पढ़ें असरारा। पाखण्ड रूप करें हंकारा॥" धर्मशास्त्रों के पक्षधर लोग वेद-स्मृति तो लगातार पढ़ते हैं; और उनको घमण्ड भी रहता है कि हम इनके रहस्य जानते हैं, परन्तु वे उनके प्रमाण देकर अपनी मिथ्या वरीयता का अहंकार करते हैं। 'पाखण्ड' कहते हैं बनावटीपन या धोखा को। जन्म के आधार पर छोटा-बड़ा मानना तथा जीव-हत्या को धर्म मानना पाखण्ड है। धर्मशास्त्रों में जीवदया तथा मानवता की बातें भी जगह-जगह कही गयी हैं; परन्तु स्वार्थी लोग ऐसे वचनों

---

1. यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा।
   यज्ञश्च भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः॥ (मनु. 5/39)
2. मनु (8/9 एवं 20), याज्ञ. (1/3) एवं कात्यायन।
3. गौतम (22/14-16), मनु (11/126-130), याज्ञवल्क्य (3/366-367)।
4. आपस्तम्ब (1/9/25/14 तथा 1/9/26/1)। धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृष्ठ 165-166।

पर ध्यान नहीं देते। वे ऐसे ही वचनों को लेते हैं जिनमें उनके मलिन स्वार्थ की पूर्ति है।

"पढ़ें वेद औ करें बड़ाई। संशय गाँठि अजहुँ नहिं जाई॥" लोग वेद पढ़ते हैं और अपनी बड़ाई हांकते हैं कि हम वेदों के ज्ञाता एवं विद्वान हैं। परन्तु उनका जीवन देखा जाये, तो वे नाना संशयों में ग्रसित हैं। वे भूत-प्रेत, देवी-देवता, झाड़-फूंक, लग्न-मुहूर्त, शकुन-अपशकुन आदि तक की सारी भ्रांतियों से ग्रसित हैं। वे स्वरूपज्ञान एवं आत्मबोध से वंचित होकर केवल शास्त्रज्ञान का बोझा लिये घूमते हैं। जीवन में कैसी रहनी रहने से शांति मिल सकती है, न इसका उन्हें ज्ञान है और न आचरण।

विद्वान के तीन प्रकार हैं—छंदोविद्, वेदविद् तथा वेद्यविद्। जो वेदों के छंदों के सारे लक्षण जानकर उनको याद कर ले, वह छंदोविद् एवं छंदों का ज्ञाता है। जो वेदों का अर्थ जानता हो, वह वेदविद् है और जो जानने योग्य को जानता हो वह 'वेद्यविद्' है। अतएव वेद के छंदों एवं अर्थों को जानना मात्र श्रेष्ठता का सूचक नहीं है; किन्तु जीवन में जो जानने योग्य है उसे जानना चाहिए और उसका जीवन में आचरण करना चाहिए। इसी प्रकार सारे शास्त्रों को समझना चाहिए। केवल शास्त्रज्ञान एक बोझा तथा घमण्ड बढ़ाने का कारण है। मनुष्य वेद-शास्त्र एवं ग्रन्थों को पढ़े बिना भी अपने विवेक तथा सत्संग से जानने योग्य को जान सकता है। शास्त्र एवं ग्रन्थ अध्ययन उसमें सहायक अवश्य हैं; परन्तु विवेक तथा आचरण करने पर।

"पढ़ें शास्त्र जीव वध करई" यदि शास्त्र पढ़कर धर्म के नाम पर जीव वध किया जाता है; तो यह शास्त्राध्ययन हास्यास्पद है। जानदार प्राणियों का वध करना तथा बे-जान देवताओं की पूजा करना शास्त्र-अध्ययन का दिवाला पिट जाना है। धर्म का नाम लेकर जीव का वध करना सर्वाधिक पाखंड है। यह पाखंड संसार के अधिकतम मतों में व्याप्त है और इसने बहुत जीवों को दुखाया तथा आज भी दुखा रहा है।

"अनुभव भाव न दरशै" लोगों को रात-दिन का अनुभव है कि पीड़ा किसी जीव को सहन नहीं है। परन्तु उसी भाव से वे दूसरे को नहीं देखते। 'जीयो और जीने दो' का मानवीय विचार जिसके हृदय में होगा, वह अपने ही समान जानकर अन्य प्राणियों को तकलीफ नहीं देगा।

"जियत न आपु रखाव" साखी का अन्तिम अंश बहुत महत्त्वपूर्ण है। जीते तक जो अपनी रक्षा नहीं करता, उसकी रक्षा मरने पर क्या होगी! यह मानव शरीर जाग्रत भूमि है। इसकी सफलता अहिंसा में है। जो दूसरे प्राणी को कष्ट नहीं देता, वही अपने आप की रक्षा करता है। जो दूसरे को कष्ट देता है वह

मानो अपने को असुरक्षित कर रहा है। हमारे जीवन का फल यही है कि दूसरे को पीड़ा न दें। इसी में हमारी सुरक्षा है। हम दूसरे को पीड़ा देने से बचकर ही, स्वयं पीड़ा से रहित हो सकते हैं।

विवेकहीन के लिए वेद-शास्त्र निरर्थक हैं

रमैनी-32

अन्ध सो दर्पण वेद पुराना। दर्बी कहा महारस जाना॥ 1॥
जस खर चन्दन लादेउ भारा। परिमल बास न जानु गँवारा॥ 2॥
कहहिं कबीर खोजे असमाना। सो न मिला जो जाय अभिमाना॥ 3॥

शब्दार्थ—दर्बी=करछुली, चम्मच। खर=गधा। परिमल बास=चंदन की सुगन्धी। असमाना=आकाश। सो=वह, विवेकज्ञान एवं सच्चा बोध।

भावार्थ—जैसे अन्धे आदमी के लिए दर्पण निरर्थक है; वैसे विवेकहीन के लिए वेद-शास्त्र पढ़ना निष्प्रयोजन है। करछुली नाना व्यंजनों में फिरती हुई भी उनके षटरसों को क्या जाने!॥ 1॥ जैसे व्यापारी का गधा चन्दन का बोझा ढोता है; परन्तु वह मूढ़-पशु चन्दन की सुगन्धी नहीं जानता, वैसे कितने पढ़-पशु शास्त्र-अध्ययन का बोझा ढोते हुए भी आत्मज्ञान से वंचित बने रहते हैं॥ 2॥ सद्गुरु कहते हैं कि विद्या और शास्त्र के प्रमादी लोग आकाश नापते हैं। अथवा ये लोग अपना लक्ष्य आकाश में खोजते हैं। इन्हें वह विवेकज्ञान नहीं मिलता जिससे इनका शास्त्र-मद दूर हो॥ 3॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर यहां वेदों तथा पुराणों का आदर करते हैं। वे कहते हैं कि वेदों और पुराणों में बहुत काम की बातें हैं, परन्तु जिनकी आंखें ही फूटी हैं, वे उनसे क्या ले सकते हैं! यहां उनका उन लोगों पर व्यंग्य है जो शास्त्रों एवं ग्रन्थों को तो बहुत पढ़ते हैं परन्तु आचरण की जगह पर कोरे रहते हैं। करछुली सभी व्यंजनों में फिरती है, परन्तु वह उनके रसों को कब जान सकती है! कुछ मनुष्य भी करछुली होते हैं। वे खूब पढ़ते हैं। नाना शास्त्रों को मथ डालते हैं। परन्तु जीवन के स्तर पर कोरे-कोरे रह जाते हैं। पुस्तकों के भीतर कीड़े भी निवास करते हैं; परन्तु वे क्या जानें कि इनमें क्या है। जो शास्त्रों के कीड़े बन जाते हैं, उनकी भी यही दशा है।

गधा चन्दन का बोझा ढोता है। वह उसका महत्त्व नहीं जानता। इसी प्रकार कुछ लोग विद्या और शास्त्र पढ़ने का मद ढोते हैं। एक पण्डित जी संतों की मण्डली में पहुंचे। उन्होंने अन्य सन्तों से प्रमुख सन्त के विषय में पूछा—"महाराज के शास्त्र-अध्ययन की कितनी उपाधियां हैं? उनके पास विश्वविद्यालय से प्राप्त कितनी डिग्रियां हैं?" उन्हें संतों द्वारा अपने मन के

अनुकूल उत्तर नहीं मिला, इसलिए मुख्य सन्त के पास पहुंचने पर भी उन्होंने उनका नमस्कार नहीं किया, और उनके पास बैठते ही असंबद्ध श्लोकों की झड़ी लगाने लगे। ऐसे लोग सत्संग में पहुंचकर भी क्या पा सकते हैं !

"कहहिं कबीर खोजे असमाना।" सद्गुरु कबीर ऐसे लोगों पर व्यंग्य करते हैं कि ये आकाश नापते हैं। असंभव कार्य के लिए आकाश नापना एक मुहावरा है। शास्त्र-अध्ययन का अहंकार कर जो मनुष्यत्व-बोध एवं शांति चाहता है, वह असंभव को संभव बनाना चाहता है।

अथवा शास्त्रों का प्रमाद धारण करने वाले लोग सत्य, परमात्मा एवं मोक्ष को आकाश में खोजते हैं। परन्तु आकाश में न कोई परमात्मा है और न परमात्मा का लोक एवं धाम है। सद्गुरु ने 79वें शब्द में भी कहा है—"जो खोजो सो उहवाँ नाहीं, सो तो आहि अमरपद माहीं॥" जब तक सच्चा बोध नहीं मिलता, तब तक शास्त्राभिमान नहीं जा सकता। श्रुति भी कहती है—"जो लोग अविद्या की उपासना करते हैं, वे अविवेकमय निविड़ अंधकार में प्रवेश करते हैं और जो विद्या अर्थात शास्त्रज्ञान में आसक्त हैं, वे उससे भी घोर अंधकार में प्रवेश करते हैं।"[1]

"जिसको स्वयं विवेक-शक्ति नहीं है, उसके लिए शास्त्र किस काम के ! नेत्रहीन व्यक्ति दर्पण लेकर क्या करेगा ! चारों वेद तथा बहुत शास्त्र पढ़ लिये, किन्तु ब्रह्मज्ञान न हुआ, तो वह वैसे है जैसे व्यंजनों में घूमती हुई करछुली। जैसे गधा केवल चंदन का भार ढोता है न कि उसकी गंध से लाभ ले सकता है, उसी प्रकार वह विद्वान है जो है तो छहों शास्त्रों का ज्ञाता, परन्तु सद्ज्ञान से हीन है और गधे के तुल्य विद्या-मद ढो रहा है।"[2]

इस रमैनी की प्रथम दो पंक्तियां उक्त तीन श्लोकों के भावों एवं शब्दावलियों से पूर्णतया प्रभावित हैं। यह तथ्य है कि कोई मौलिक-से-मौलिक रचनाकार भी अपनी पूर्व परम्परा से सर्वथा अछूता नहीं रह सकता। विचार तो ग्रहण होते ही हैं, शब्द, शैली आदि भी यत्र-तत्र ग्रहण हो जाते हैं। गोस्वामी जी का महाकाव्य इस ढंग के प्रभाव से तो अधिकतम प्रभावित है, कबीर साहेब भी

---

1. अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
तती भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥ (ईशावास्योपनिषद्, 9)

2. यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणं किं करिष्यति॥
अधीत्य चतुरो वेदान् सर्वशास्त्राण्यनेकशः।
ब्रह्मत्वं न जानाति दर्वी पाकरसं यथा॥
यथाखरश्चन्दनभारवाही भारस्यवेत्ता न तु चंदनस्य।
तथैव विप्राः षटशास्त्रयुक्ता सद्ज्ञानहीनाः खरवद् वहन्ति॥

बिलकुल अछूते नहीं हैं। वस्तुतः कोई भी अपनी पुरानी परम्परा से अछूता नहीं रह सकता।

कहा जा सकता है कि रचनाएं दो ढंग की होती हैं अनुभवजन्य एवं अध्ययनजन्य। चिंतन की गहराई तथा चिंतन से परे समाधि में पहुंचकर और बाह्य जगत की घटनाओं को देखकर जो विचार बनते हैं वे अनुभूत विषय होते हैं। ऐसे विषय जब काव्य और निबन्ध में व्यक्त किये जाते हैं, तो यह अनुभवजन्य रचना कही जा सकती है। परन्तु इसमें भी दो रचनाकारों के अनुभव कभी-कभी समान रूप से मिल जाते हैं, जबकि वे एक दूसरे को जानते नहीं।

दूसरी अध्ययनजन्य रचना वह होती है जो पुस्तकें पढ़कर विचार बनते हैं और वे लिखे जाते हैं। जब रचनाकार अध्ययन किये हुए विषयों को अपने में पचाकर उसे अपने ढंग से लिखता है तो उसमें उसकी अपनी मौलिकता आ जाती है और जब वह ज्यादा परिश्रम नहीं करना चाहता या अधीत विषयों की उत्तम युक्तियों को उन्हीं रूपों में रखना चाहता है, तब वह बहुत स्थूल रूप में प्रकट होती है। जिसकी रचनाएं बहुव्यापी एवं विस्तृत होती हैं, उनमें दोनों प्रकार की रचनाएं होती हैं और कहीं-कहीं ऐसी भी होती हैं जो दूसरे ढंग की स्थूलतम विधा है।

शास्त्रजाल का बन्धन

रमैनी-33

वेद की पुत्री सुमृति भाई। सो जेवरी कर लेतहि आई॥ 1॥
आपुहि बरि आपन गर बन्धा। झूठा मोह काल को फन्दा॥ 2॥
बँधवत बन्धा छोरियो न जाई। विषय स्वरूप भूलि दुनियाई॥ 3॥
हमरे देखत सकल जग लूटा। दास कबीर राम कहि छूटा॥ 4॥
साखी—रामहि राम पुकारते, जिभ्या परिगौ रौंस।
सूधा जल पीवै नहीं, खोद पिवन की हौंस॥ 33॥

शब्दार्थ—सुमृति=स्मृति। जेवरी=रस्सी, बन्धन। काल=कल्पना, अज्ञान। दुनियाई=संसार के लोग। दास कबीर=उपासक। रौंस=घट्ठा, निशान, छाले। हौंस=हौस, हौसला, लालसा।

भावार्थ—हे भाई! स्मृतियां वेदों की पुत्रियां हैं। वे लोगों को बांधने के लिए मानो रस्सी लेकर आयी हैं॥ 1॥ मनुष्यों ने अपने हाथों से रस्सी बटकर अपने गले को बांध लिया है। वेद-शास्त्र ईश्वरकृत हैं इसलिए बिना विचार किये उनको स्वतः प्रमाण मान लेना चाहिए, यह मोह व्यर्थ है और कल्पना का

फंदा है, गले की फांसी है॥ 2॥ मनुष्य नित्य नये–नये बन्धनों से अपने को बांधते–बांधते भली–भांति बंध तो जाता है; परन्तु उन बन्धनों को वह खोलकर फेंक नहीं पाता। संसारी लोग विषयों एवं देह ही को अपना रूप मानकर अपने शुद्ध चेतन–स्वरूप को भूल गये॥ 3॥ मेरी समझ में तो संसार के सारे लोग माया द्वारा लूटे गये हैं। परन्तु उपासक लोग राम–राम कहकर छूटने की आशा करते हैं॥ 4॥

किन्तु राम–राम कहते–कहते इनकी जीभ में घट्ठे एवं छाले पड़ गये। ये पात्र में रखा हुआ शुद्ध जल नहीं पीते, कुआं खोदकर पीने की लालसा रखते हैं॥ 33॥

व्याख्या—31वीं रमैनी की व्याख्या के आरम्भ में भी बताया गया है कि वेदों के बाद ब्राह्मण, आरण्यक, सूत्रग्रन्थ बने। इनके पश्चात स्मृति–ग्रन्थ बनने लगे। ईसा के सैकड़ों वर्ष पूर्व से लेकर ईसा के हजार वर्ष बाद तक भी स्मृति–ग्रन्थ बनते रहे। यद्यपि मनुस्मृति के पहले भी स्मृति–ग्रन्थ बन चुके थे, तथापि लगभग ई० पूर्व पहली–दूसरी शताब्दी के बीच में बनी मनुस्मृति अधिक सर्वांगीण है; अतः उसी का पठन–पाठन अधिक होता रहा। ऋग्वेद में मनु को मानव–जाति का पिता कहा गया है।[1] तैत्तिरीय संहिता एवं तांड्य महाब्राह्मण में[2] तथा महाभारत में[3] मनु का आदर से नाम लिया गया है। निश्चित है मनु ऋग्वेद–काल के भी पूर्व के महापुरुष हैं। यह नाम पहले से ही प्रतिष्ठित था, इसलिए इस नाम पर किसी लेखक ने ईसा के सौ–दो सौ वर्ष पहले मनुस्मृति रच डाली। भारतरत्न महामहोपाध्याय डॉ० पांडुरंग वामन काणे जी लिखते हैं "मनुस्मृति का प्रणयन किसने किया, यह कहना कठिन है। यह सत्य है कि मानव के आदि पूर्वज मनु ने इसका प्रणयन नहीं किया है। इसके प्रणेता ने अपना नाम क्यों छिपा रखा, यह कहना दुष्कर ही है। हो सकता है कि इस महान ग्रन्थ को प्राचीनता एवं प्रामाणिकता देने के लिए ही इसे मनुकृत कहा गया है। वर्तमान मनुस्मृति में 12 अध्याय एवं 2694 श्लोक हैं। मनुस्मृति सरल एवं धाराप्रवाह शैली में प्रणीत है। इसका व्याकरण अधिकांश पाणिनि–संमत है। इसके सिद्धान्त गौतम, बोधायन एवं आपस्तंब के धर्मसूत्रों से बहुत कुछ मिलते–जुलते हैं। इसके बहुत–से श्लोक वसिष्ठ एवं विष्णु के धर्मसूत्रों में भी पाये जाते हैं। भाषा एवं सिद्धान्तों में मनुस्मृति एवं कौटिलीय में बहुत–कुछ समानता है।"[4]

---

1. ऋग्वेद 1/80/16; 1/114/2; 2/33/13।
2. तांड्य महाब्राह्मण 23/16/17।
3. महाभारत, शांतिपर्व 21/12; 57/43।
4. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ. 43–44।

सद्‌गुरु कबीर कहते हैं कि स्मृतियां वेदों की पुत्रियां हैं और वे अपने हाथों में रस्सी लेकर लोगों को बांधने के लिए आयी हैं। क्या सचमुच स्मृतियां लोगों को बन्धन ही देती हैं? क्या वे मनुष्यों के पतन के लिए ही बनायी गयी हैं? उत्तर में कहा जा सकता है कि बिलकुल ऐसी बातें नहीं हैं। मनुस्मृति आदि स्मृतियों में धर्म, आचार, राजनीति, दंडविधान, चारवर्ण एवं चार आश्रमों के कर्म आदि पर बहुत प्रकाश डाला गया है। जब शृंगारिक एवं जासूसी उपन्यासों में अच्छी-अच्छी बातें मिल जाती हैं, तब जो धर्मशास्त्र के रूप में हैं उन स्मृतियों में अच्छी एवं काम की बातें क्यों नहीं होंगी !

स्मृतियों में बहुत-सारी भ्रांतियों के साथ दो प्रबल दोष हैं, वर्णव्यवस्था के नाम पर मानव-मानव के बीच में दीवार बनाने की प्रक्रिया तथा कर्मकांडों की उलझन। ऋग्वेद (10/90) में पीछे से मिलाये हुए पुरुष सूक्त में जब एक बार कह दिया गया कि विराट पुरुष के मुख से ब्राह्मण, हाथ से क्षत्रिय, जंघे से वैश्य तथा पैर से शूद्र पैदा हुए, तो इसका विकास पीछे के ग्रन्थों में होना ही था; और शूद्र को पैर से केवल पैदा होने की ही नहीं, उन्हें पैर से रगड़ने की बात की गयी। इन बातों की चर्चा 14वीं एवं 31वीं रमैनी की व्याख्या में कर आये हैं।

स्मृतियां प्रायः पुरोहित-पंडितों की लिखी हैं और उनमें घोर पक्षपात की बातें कही गयी हैं। शूद्रों के नाम भी घृणित रखने की राय दी गयी जैसे झाड़ू, झाखर, बेकारू आदि। उन्हें श्मशान के तुल्य अशुद्ध कहा गया। उन्हें सवर्णों का गुलाम बताया गया और राय दी गयी कि सवर्ण जब चाहे तब शूद्र को उखाड़ फेंके, उन्हें पीट दे या उनका वध भी कर दे।[1] यह स्मृतियों का ही प्रभाव है जो सवर्ण नामधारी लोगों की नाक में शूद्रों की दुर्गंधी समायी हुई है और वे आज भी उन्हें हेय दृष्टि से देखते हैं। स्वामी विवेकानन्द ने ठीक ही लिखा है—'स्मृति और पुराण सीमित बुद्धि वाले व्यक्तियों की रचनाएं हैं और भ्रम, त्रुटि, प्रमाद, भेद तथा द्वेष भाव से परिपूर्ण हैं। पुरोहितों की लिखी हुई पुस्तकों ही में जाति जैसे पागल विचार पाये जाते हैं।"[2] वेद की पुत्री स्मृतियों की जेवरी में जगत के लोग ऐसे बंधे हुए हैं कि आज भी उनसे पूर्ण छुटकारा नहीं मिला है।

जातिवाद की रस्सी से भी मजबूत रस्सी कर्मकांडों की है। ब्राह्मणग्रंथ, धर्मसूत्र, गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र, स्मृति—ये ग्रंथ तो कर्मकांड के विस्तार में बने ही हैं, पुराण तथा महाकाव्यों में भी कथा के माध्यम से भ्रमजनित नाना कर्मकांडों का पचड़ा गाया गया है। धर्मशास्त्रों में अश्वमेध, गोमेध, पशुबंध, अग्निष्टोम, राजसूय, सौत्रामणी, दर्श-पूर्ण-मास आदि अनेक यज्ञों का वर्णन है जिनमें

---

1. देखें चौदहवीं रमैनी की व्याख्या में उद्धरण।
2. विवेकानंद साहित्य, खंड 6, पृ. 326।

पशुओं का वध तथा पुरोहितों की ऊलजलूल क्रियाएं हैं। सैकड़ों ग्रन्थों में फैले अनेक यज्ञों की सैकड़ों विधियों का न यहां वर्णन करने की जगह है और न आवश्यकता। पशुवध और निष्प्रयोजन क्रियाओं के थोड़े उदाहरण लें; "अग्निष्टोम यज्ञ में एक 'प्रवर्ग्य' नाम कृत्य है। इसमें मिट्टी का एक पात्र बनाया जाता है जिसकी 'महावीर' संज्ञा है। इसमें एक छिद्र होता है जिसके द्वारा तरल पदार्थ गिराया जाता है। इसी प्रकार दो अन्य महावीर पात्र होते हैं। 'पिनवन' नामक अन्य दो दुग्ध पात्र होते हैं और 'रौहिण' नामक दो प्यालियां होती हैं जिनमें रोटियां पकायी जाती हैं। महावीर, पिनवन एवं रौहिण गार्हपत्याग्नि से प्रज्वलित घोड़े के गोबर की अग्नि में तपाये जाते हैं (कुछ लोगों के मत से ये पात्र दक्षिणाग्नि में तपाये जाते हैं)। रौहिण में दो पुरोडाश पकाकर प्रातः एवं सायं दिन तथा रात्रि के लिए आहुति रूप में दिये जाते हैं। महावीर पात्र को मिट्टी से बने उच्च स्थल पर रखकर उसके चतुर्दिक अग्नि जलाकर उसमें घी छोड़ा जाता है। प्रमुख महावीर पात्र को प्रथम माना जाता है। अन्य दो महावीर पात्रों को वस्त्र से ढककर सोम वाले स्थान से उत्तर दिशा में बड़ी आसन्दी[1] पर रख दिया जाता है। प्रमुख पात्र के उबलते हुए घी में गाय तथा बकरे वाली बकरी का दूध मिलाकर छोड़ दिया जाता है। इस प्रकार से मिश्रित गर्म दूध को 'घर्म' कहा जाता है जो अश्विनौ, वायु, इन्द्र, सविता, बृहस्पति एवं यम को आहुति रूप में दिया जाता है। यजमान (पुरोहित लोग केवल गन्ध लेते हैं) शेष दूध को उपयमनी से पी जाता है। यह सब करते समय 'होता' मंत्रों का पाठ करता है और प्रस्तोता साम-गान करता है। इस प्रकार इस सम्पूर्ण कृत्य को 'प्रवर्ग्य' कहते हैं।"[2]

कात्यायन, शतपथ, आपस्तंब, बौधायन आदि धर्मग्रन्थों में यज्ञ के लिए 'महावेदी' बनाने का जो विधान है, अद्भुत है। कैसे कितनी-कितनी दूरी पर कितनी खूंटियां गाड़नी चाहिए और कैसे रस्सी बांधनी चाहिए, वह सब नपा-तुला है। एक क्रिया 'सवनीय पशु की आहुति' देकर इस संदर्भ को समाप्त करेंगे।

"सवनीय पशु की आहुति—अग्निष्टोम में सोमरस निकालने के दिन अग्नि के लिए बकरे की बलि दी जाती है। उक्थ्य यज्ञ में इंद्र एवं अग्नि के लिए एक बकरे की बलि होती है। षोडसी यज्ञ में एक तीसरा पशु (कात्या. 9/8/4 के मत से मेष तथा आपस्तंब 12/18/13 के मत से बकरा) काटा जाता है। अतिरात्रि में सरस्वती के लिए बकरा काटा जाता है। इन चार पशुओं को 'स्तोमायन'

---

1. आसन्दी तकियेदार आराम कुर्सी को कहते हैं। यहां अभिप्राय आसन होना चाहिए।
2. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ. 548।

(कात्यायन 8/7/9) एवं ऋतु पशु (आश्वालायन 5/3/4) कहा जाता है। इन पशुओं की बलि निरूढ़ पशुबन्ध के समान ही की जाती है। सभी पुरोहित एवं यजमान सदो में प्रवेश करते हैं और औदुंबरीस्तंभ के पूर्व एवं अपने कतिपय आसनों (धिष्ण्याओं) के पश्चिम भाग में बैठ जाते हैं। वे सभी अपने-अपने सोमरस पात्रों एवं तीनों द्रोणियों, अर्थात अधवनीय, पूतभूत एवं द्रोण कलश तथा घृत पात्रों की ओर मन्त्रों के साथ दृष्टि फेरते हैं। यजमान मन्त्रों (आपस्तंब 12/19/5) के साथ इन सभी पात्रों का सम्मान करता है। इसके उपरांत प्रतिप्रस्थाता पांचों सवनीय आहुतियां—यथा इंद्र के लिए ग्यारह कपालों पर बनी रोटी, इंद्र के दोनों हरि नामक घोड़ों के लिए धाना (भुना हुआ जौ), पूषा के लिए करंभ (दही से मिश्रित जौ का सत्तू), सरस्वती के लिए दही एवं मित्र तथा वरुण के लिए पयस्या लाता है। अध्वर्यु इन आहुतियों को सजाकर एक पात्र में रखता है। इन आहुतियों को देने के उपरांत सोमाहुतियां द्विदेवत्व ग्रहों को अर्थात इंद्र एवं वायु, मित्र एवं वरुण तथा दोनों अश्विनों को (दो-दो देवों के साथ-साथ) दी जाती है। इसके उपरांत चमसोन्नयन कृत्य होता है।"[1] इन स्मृति-विचारों का ही परिणाम है जो दशरथ के पुत्रेष्टि यज्ञ में तीन सौ पशु कटवाये जाते हैं तथा श्रीराम द्वारा चित्रकूट में गृहशांति के नाम पर मृग मरवाकर उसका हवन कराया जाता है।[2]

ग्रह-वाधा, प्रेत-वाधा, शकुन-अपशकुन आदि बहुत सारे भ्रम खड़ाकर उनकी शांति के लिए पूजा-पाठ का प्रपंच खड़ा किया गया, उसमें मनुष्य को उलझा दिया गया है।[3] कहा गया बच्चे पैदा करो, तभी श्राद्धकर्म एवं पिंडोदक क्रिया चलेगी और पितरों का स्वर्गवास होगा, अन्यथा वे नरक में जायेंगे। इन सबके पीछे है पुरोहितों के लिए दक्षिणा की बातें। पुरोहितों के अज्ञान, भ्रम एवं प्रलोभन ने ऊलजलूल कर्मकांडों का इतना विस्तार करवाया कि उनमें पूरा हिन्दू समाज डूब गया।

अद्भुत, उत्पात और निमित्त—तीन प्रकार के अनिष्ट माने गये हैं। इसे हम सरल ढंग से कह सकते हैं कि भूचाल, अंधड़, बाढ़ आदि प्राकृतिक उथल-पुथल अद्भुत है; गिद्ध, कपोत, कौआ आदि का घर में घुस जाना, पशुओं-पक्षियों का विचित्र आवाज करना, छिपकली का शरीर पर गिर जाना तथा अन्य माने गये अपशकुन आदि उत्पात है और पुरुष के बायें तथा नारी के दायें अंगों का फड़कना आदि निमित्त है। इन सब में भूचाल, अंधड़, बाढ़ आदि अवश्य

1. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ. 552।
2. वाल्मीकीय रामायण, बालकांड, सर्ग 14 तथा अयोध्याकांड, सर्ग 56, श्लोक 22-30।
3. देखिये विप्रमतीसी प्रकरण की व्याख्या में डेढ़ दर्जन तक शांति कराने का घनचक्कर।

अनिष्ट हैं, परन्तु पशु–पक्षी की बोली तथा उनका घर में घुसने एवं अंग फड़कने आदि में अनिष्ट मानना अज्ञान है। अंग फड़कने का कारण वायु है। उससे न हानि है न लाभ। भूचाल, बाढ़, अनावृष्टि आदि अनिष्टकर अवश्य हैं, परन्तु पूजा करने से उन अनिष्टों का हटना असंभव है।

भावी कल्पित अनिष्ट–निवारण आदि के चक्कर में पड़कर आज के युग में भी जज, वकील, इंजीनियर, प्रोफेसर, मन्त्री आदि कहलाने वाले लोग भी उसकी शांति के लिए पुरोहितों से हवन–तर्पण, पूजा–पाठ कराने के चक्कर में पड़े रहते हैं।

"आपुहि बरि आपन गर बन्धा। झूठा मोह काल को फन्दा॥" सद्गुरु कहते हैं कि मनुष्यों ने इन बन्धनों की रस्सी अपने हाथों से बटी है और अपने गले में फांसी लगा ली है। पुरोहित–पंडितों ने केवल दूसरों को ठगने के लिए ही कर्मकांड का जाल नहीं फैलाया है, किन्तु वे स्वयं अज्ञान एवं भ्रम में रहे हैं। इसके परिणाम में उन्होंने स्वयं उसमें उलझकर अपना आध्यात्मिक अहित किया है। परिवार, समाज, राष्ट्र तथा प्राणिमात्र के हित के लिए अपना कर्तव्यपालन रूप कर्म तो मानव मात्र के लिए अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु कर्मकांड के नाम पर चलाये गये प्रपंच मानव के कल्याण के रास्ते में अत्यन्त अवरोधक हैं। कर्मकांड ने मनुष्यों के मन को अत्यन्त कमजोर बना दिया है। इससे मनुष्य कापुरुष बनकर भयभीत बना जगह–जगह सिर पटकता है। कल्पित अनिष्टों से बचने के लिए तथा सांसारिक सुखों एवं काल्पनिक स्वर्गीय सुखों के लिए जीव दीन–हीन बना कर्मकांड की रस्सी में बंधा घसिटता जा रहा है। सद्गुरु कहते हैं कि यह तुम्हारा मोह झूठा है। यह काल का फंदा है जिसमें तुम लटके हो। लोगों को यह मोह है कि वेद–शास्त्र ईश्वरकृत या आप्तकृत हैं, इसलिए उनके वचनों को बिना सोचे–विचारे मान लेना चाहिए। साहेब कहते हैं कि यह मिथ्या मोह है, यह गले की फांसी है।

"बँधवत बन्धा छोरियो न जाई। विषय स्वरूप भूलि दुनियाई॥" मनुष्य ने बांधते–बांधते अपने आप को बहुत बांध लिया है। मान लो, कोई आदमी अपने शरीर में एक रस्सी रोज बांध लिया करे, तो उसका शरीर साल भर में 365 रस्सियों से बंध जायेगा; और यदि वह 80 वर्ष जीता है, तो 29,200 रस्सियों से बंध जायेगा। मनुष्य की दशा यही है। वह संसार में आकर जब से होश सम्हालता है नित्य नये–नये बन्धनों में अपने आप को बांधता जाता है।

सद्गुरु कहते हैं कि अपने आप को बांधते जाने में तो सरलता है, परन्तु उन बन्धनों को तोड़ने में कठिनाई होती है। विवाह कर बाल–बच्चे पैदा कर लेना सरल है, परन्तु इन बन्धनों को तोड़ना मामूली बात नहीं है। खैर, यह तो बड़ा बन्धन है, पान–तम्बाकू, बीड़ी–सिगरेट, गांजा–भांग आदि साधारण

वस्तुओं की आदत डाल लेने में देरी नहीं लगती, परन्तु इनकी पड़ी भई आदतों को जड़मूल से उखाड़ फेंकने में पक्का निश्चय एवं बड़ा परिश्रम करना पड़ता है।

सद्गुरु कहते हैं "विषय स्वरूप भूलि दुनियाई" संसारी लोग विषयों के जाल में पड़कर अपने चेतन-स्वरूप को भूल गये। 'मैं कौन हूं' और इन विषयों तथा कर्मकांडों से मेरा क्या प्रयोजन है, इसका मनुष्य को ध्यान ही नहीं रहा। मनुष्य ने देह तथा विषयों को ही अपना स्वरूप मान लिया जबकि उसका अपना मौलिक स्वरूप शुद्ध चेतन है जो पूर्णकाम, पूर्ण सन्तुष्ट एवं अजर-अमर है। ऐसे अपने शुद्ध स्वरूप का बोध न होने से जीव नाना कर्मकांडों एवं विषयों में भटक रहा है।

"हमरे देखत सकल जग लूटा।" सद्गुरु कहते हैं कि मेरी दृष्टि में, मेरी समझ में संसार के सारे लोगों के बोध एवं शांति-धन लुट गये हैं। जो अपनी सत्ता और महत्ता को न समझ सके, जो पदे-पदे भयभीत होकर घुटने टेकता फिरे, जिसे अपने आप का बोध न हुआ हो और जो अपने आप में तृप्त न हो, वह निश्चित है कि लुट गया है। किसी कल्पित देवता एवं ईश्वर की गुलामी भी तो गुलामी ही है। मनुष्य तब तक पूर्ण नहीं होता जब तक उसे दूसरे की आवश्यकता का बोध होता है। पूर्ण तृप्त होने पर, "छाँड़ सकल की आस" की दशा आने पर ही "सब सुख तेरे पास"[1] हो सकता है।

"दास कबीर राम कहि छूटा" उपासकों पर व्यंग्य है। कबीर साहेब कहते हैं कि जो ईश्वर के दास हैं वे राम का नाम लेकर माया के बन्धनों से छूट जाना चाहते हैं। परन्तु सद्गुरु कहते हैं "रामहि राम पुकारते, जिभ्या परिगौ रौंस। सूधा जल पीवै नहीं, खोद पिवन की हौंस॥" राम-राम रटते-रटते जीभ में छाले भले ही पड़ जायें, परन्तु इससे न तो स्वरूपज्ञान मिलेगा और न स्वरूपस्थिति होगी। जो सामने पात्र में रखे स्वच्छ एवं शीतल जल को छोड़, कुआं खोदकर पीना चाहता है, वह कितना भोला है! राम तो अपना चेतन-स्वरूप ही है, उसको जबान से रटने की क्या जरूरत है! मन के विकारों को विचारों से हटाओ और अपने राम-स्वरूप में शांत हो जाओ। अथवा अपने राम-स्वरूप में शांत होओ, मनोविकार अपने आप समाप्त हो जायेंगे।

बीजक भर में 'दास कबीर' जहां कहीं आया है प्रायः खंडनपरक है। इसमें अपवाद कहीं-कहीं हो सकता है। यह तो मानना ही पड़ेगा कि कबीर साहेब ने अपने शारीरिक नाम का प्रयोग मनुष्यों के सम्बोधन में एवं उन्हें समझाने में किया है। केवल एक 86वां शब्द लिया जा सकता है, जिसमें सद्गुरु ने एक

---

1. बीजक, साखी 298।

बार कबिरा, चार बार 'कबीरा' शब्द कहकर सामान्य जीवों को सम्बोधित किया है और छठवीं बार में 'कहहिं कबीर' अपने आप को वक्ता के रूप में रखा है।

मोक्ष विचार

रमैनी-34

पढ़ि पढ़ि पण्डित करु चतुराई। निज मुक्ति मोहि कहो समुझाई॥ 1॥
कहाँ बसै पुरुष कौन सा गाऊँ। सो पण्डित मोहि सुनावहु नाऊँ॥ 2॥
चारि वेद ब्रह्मै निज ठाना। मुक्ति का मर्म उनहु नहिं जाना॥ 3॥
दान पुण्य उन बहुत बखाना। अपने मरण की खबरि न जाना॥ 4॥
एक नाम है अगम गँभीरा। तहवाँ अस्थिर दास कबीरा॥ 5॥
साखी—चिउँटी जहाँ न चढ़ि सकै, राई ना ठहराय।
आवागमन की गम नहीं, तहाँ सकलो जग जाय॥ 34॥

शब्दार्थ—पुरुष=ईश्वर या ब्रह्म। गाऊँ=लोक, धाम। ठाना=मन में निश्चय किया, स्थापित किया। चिउँटी=चींटी, वाणी। राई=राई का दाना, बुद्धि। गम=पता, पहुंच। दास कबीरा=उपासक।

भावार्थ—हे पण्डितो ! तुम शास्त्रों को पढ़-पढ़कर अपनी बड़ी बुद्धिमानी दिखाते हो और दूसरों के सामने मुक्ति की रोचक व्याख्या करते हो, परन्तु यह तो किताबी और बौद्धिक बात हुई, तुम मुझे यह समझाओ कि तुम्हारा अपनी मुक्ति का क्या अनुभव है॥ 1॥ जिस ईश्वर या ब्रह्म से मिलकर तुम मुक्ति मानते हो, वह पुरुष कहां निवास करता है, उसका लोक या धाम कहां है, हे पण्डित ! इसका परिचय दो॥ 2॥ ब्रह्मा ने चारों वेदों को संसार में विशेषरूप से स्थापित किया, परन्तु मुक्ति का रहस्य उन्होंने भी नहीं जाना॥ 3॥ उन्होंने दान-पुण्य करने की बात बहुत कही, परन्तु अपनी मृत्यु क्या है इसका पता उन्हें न लगा॥ 4॥ ॐ इत्यादि किसी एक नाम को अगम और गंभीर मानकर उनमें उपासक लोग स्थित होते हैं॥ 5॥

जहां चींटी नहीं चढ़ सकती और राई का दाना नहीं ठहर सकता, अर्थात जहां वाणी और बुद्धि का प्रवेश नहीं होता और आने-जाने की पहुंच नहीं है, वहां सारा संसार जाना चाहता है॥ 34॥ यह लोकांतर में मुक्ति मानने वालों पर व्यंग्य-कथन है।

व्याख्या—पण्डित शास्त्रों एवं धर्मग्रन्थों के ज्ञाता होते हैं। शास्त्र एवं धर्मग्रन्थ बहुत हैं। वे उनके अध्ययन के आधार पर जनता में मुक्ति के विषय में व्याख्यान देते रहते हैं। यहां पण्डित का अभिप्राय कर्मकांडी एवं कथावार्ता करने वाले पुरोहित-पण्डितों से है। पण्डित शास्त्रों के पढ़ने-पढ़ाने में लगे रहते

हैं। वे प्राय: साधना पर ध्यान नहीं देते। वे शास्त्रों का उदाहरण देकर जनता को मोक्ष-विषय समझाते हैं, परन्तु स्वयं मोक्ष-अनुभव से शून्य होते हैं। पण्डित जानता कुछ अन्य है, मानता कुछ अन्य है तथा करता कुछ दूसरा ही है। पण्डित विद्या-बुद्धि एवं शास्त्रों के अध्ययन के बल पर मोक्ष का वर्णन करता है। सद्गुरु कहते हैं कि शास्त्रों के बल पर बताया गया मोक्ष तो बुद्धिविलास तथा वाक्यचातुरी मात्र है। हे पण्डित ! तुम अपना अनुभव बताओ। तुम्हें मोक्ष का अपना अनुभव क्या है? दूसरों की गायें गिनने वाला, दूध चखने का अनुभव क्या कर सकता है ! बातों या चित्रों के दीपक से प्रकाश कैसे होगा ! अतएव शास्त्रों के बल पर मुक्ति का व्याख्यान पर्याप्त नहीं है, किन्तु विषयों को त्यागकर और वासना-हीन होकर स्वयं मुक्ति का अनुभव करना चाहिए।

पण्डित लोग धर्मग्रन्थों, महाकाव्यों एवं पुराणों के आधार पर श्रोताओं को यह बताते हैं कि अंतरिक्ष में भगवान के विविध लोक एवं धाम हैं। भगवान की उपासना करते-करते शरीर छोड़ने पर उपासना के अनुसार जीव उन लोकों में जाता है, जैसे शिव-उपासक शिवलोक में, राम-उपासक साकेत-धाम में, कृष्ण-उपासक गोलोक में आदि। इस प्रकार भगवान के धाम में पहुंचकर उपासक मोक्ष का अनुभव करता है।

पण्डितों द्वारा कही गयीं उक्त सारी कहानियां मनोरंजन मात्र एवं उनकी बाललीला है। इन कथनों को आड़े हाथों लेते हुए सद्गुरु उनसे पूछते हैं कि हे पण्डित ! बताओ, वह भगवान एवं ब्रह्म-पुरुष कहां निवास करता है? उसका गांव कहां है? यदि वह किसी गांव में, लोक एवं धाम में निवास करने वाला है, तो देहधारी व्यक्ति है। व्यक्ति होने से उसने जन्म लिया होगा और आखिर में वह मरेगा भी। फिर ऐसे ईश्वर से तुम्हें पूर्णता कैसे मिलेगी ! किसी देश और काल में जाकर तथा किसी दूसरे ईश्वर-ब्रह्म से मिलकर मोक्ष मानने की बात, मोक्षतत्त्व से पूर्ण अनभिज्ञता का फल है।

"चारि वेद ब्रह्मै निज ठाना। मुक्ति का मर्म उनहु नहिं जाना॥" ब्रह्मा ने समाज में चारों वेदों की स्थापना की और उसका खूब प्रचार किया; परन्तु मुक्ति का रहस्य वे भी नहीं जान सके। वेदों को रचने वाला एक व्यक्ति ब्रह्मा नहीं है। वेदों की हर ऋचा पर ऋषि, देवता और छन्दों के नाम हैं। अर्थात किस देवता की प्रार्थना में किस ऋषि ने, किन छन्दों की रचना की है, इसका विवरण है। पुलस्त्य, कक्षीवान्, दीर्घतमा, भरद्वाज, वामदेव, अगस्त्य, कण्व, विश्वामित्र, अंगिरस, वसिष्ठ, पराशर, अत्रि, सदापृण, स्वस्ति, श्यावाश्य, ऋजिश्वा, नारद, प्रियमेध, कवष, बन्धु, सप्ति, सुमित्र आदि बहुत ऋषि हैं जिन्होंने वेदों की ऋचाओं को रचा है। ये सैकड़ों या कहना चाहिए हजारों वर्षों के क्रम में पीढ़ी-दर-पीढ़ी के पिता, पितामह, परपितामह एवं पुत्र, पौत्र, परपौत्रों द्वारा प्रणीत हुई

हैं। गुरुओं ने या पिताओं ने रचकर शिष्यों एवं पुत्रों को सुनाया। लोग कंठस्थ करते और गाते रहे। जब उनकी परंपरा में लिखने का ज्ञान हुआ, तब चाम, कपड़े, काष्ठ, वृक्ष के छाल आदि पर लिखने लगे और वे समय-समय से वनवासी झोपड़ियों में आग लगने पर उनकी भेंट चढ़ती रहीं। बचे-खुचे अंश कभी ऋषियों-पंडितों की सभा में संपादित हुए, और वेद नाम से प्रचलित हुए। पहले ऋक्, यजु, साम तीन ही वेद स्वीकृत हुए, पीछे अथर्व भी वेद मान लिया गया। कहा जाता है ब्रह्मा चारों वेदों के प्रचारक तथा वेदव्यास उसके अंतिम संपादक हुए।

सद्गुरु कहते हैं कि चारों वेदों को ब्रह्मा ने 'निज ठाना' अर्थात उन्होंने वेदों में अपनी दृढ़ आस्था प्रकट कर उनका प्रचार किया। चारों वेदों का प्रचारक होने से रूपक में उनके चार हाथ बना दिये गये और चारों हाथों में चारों वेद पकड़ा दिये गये। और चार मुख बना दिये गये जिससे वे उनसे उनकी व्याख्या कर सकें। जैसे दुर्गा नाम की कोई वीर महिला पहले रही हो और वह तलवार, धनुष-बाण, भाला, परशा, पाश आदि कई अस्त्र-शस्त्र से लड़ना जानती रही हो तो रूपक में उसके चित्र में बहुत हाथ बनाकर उन सारे अस्त्र-शस्त्रों को एक ही बार में पकड़ा दिया गया।

कबीर साहेब कहते हैं कि ब्रह्मा वेदों के प्रचारक भले हुए हों, किन्तु मोक्ष का रहस्य उन्हें भी ज्ञात नहीं था। इस कथन की परख आप वेदों को पढ़कर ही कर सकते हैं। वेदों में कर्मकांडों का जाल बुना हुआ है। अनेक प्राकृतिक शक्तियों को देवी-देवता मानकर उनको खुश करने के लिए अधिकतम ऋचाएं एवं सूक्त बने हैं। वेदों के ऋषि बारम्बार उन कल्पित देवताओं से पुत्र, धन, निरोग्यता, अनिष्टों एवं शत्रुओं से रक्षा, दीर्घायु आदि मांगते हैं। वे मिथ्या अवधारणाओं से संबलित क्रियाबाहुल्य यज्ञ करते हैं, छककर सोमरस पीते हैं और यज्ञ में अर्पित बलि का प्रसाद खाते हैं तथा गाते-बजाते और मस्त रहते हैं। वैदिक ऋषि इस लोक में छककर भोग भोगना चाहते हैं तथा मर जाने के बाद स्वर्ग में भी वही सब चाहते हैं। फिर इन वेदों का प्रचारक ब्रह्मा मुक्ति के रहस्य को क्या जान सकता है! वैदिक ऋषि और ब्रह्मा कल्पित देवताओं की उपासना तथा कर्मकांडों में ही लीन हैं। इसलिए वे प्रायः मोक्षतत्त्व से दूर हैं। ब्रह्मा कर्मकांड के ही प्रचारक थे, इसलिए उन्होंने दान-पुण्य करने की ही बात बहुत की। वस्तुतः यज्ञ के बड़े पुरोहित को ब्रह्मा कहा जाता है। इसीलिए मुंडक उपनिषद् का ऋषि कहता है कि चारों वेद तथा छहों वेदांग सांसारिक विद्याएं हैं और जिससे अविनाशी का बोध होता है, वह इससे परे है।[1]

---

1. मुण्डक उपनिषद्, मुण्डक 1, मन्त्र 4-5।

"अपने मरण की खबरि न जाना।" यह बड़ा महत्त्वपूर्ण वचन है। अपने अविनाशी स्वरूप का बोध न होना और विषयों में ही उलझे रहना यही अपनी आध्यात्मिक मौत है। कर्मकांडी लोग विषय-लोलुप होते हैं। उनकी सदैव देहबुद्धि बनी रहती है। उन्हें अपनी आध्यात्मिक मौत का बोध नहीं होता।

"एक नाम है अगम गँभीरा। तहवाँ अस्थिर दास कबीरा॥" कर्मकांडियों ने ॐ को ही एक अगम गंभीर नाम माना है। प्रसंग वही होने से यहां ॐ ही लिया जाना ज्यादा ठीक लगता है। वैसे भिन्न-भिन्न उपासक अपने-अपने मत द्वारा कल्पित नामों को ही सर्वोपरि एवं अगम गंभीर मानते हैं। हर उपासक अपने कल्पित नाम में दृढ़ रहने, उसे जपने आदि में कल्याण मानता है। नाम में स्थिर होने का अर्थ है किसी नाम विशेष में मन लगाना। सारे नाम तो शब्द हैं। परन्तु 'शब्द बड़ा की जीव'[1] सारे शब्दों एवं नामों की रचना करने वाला जीव ही श्रेष्ठ है। हां, यह बात दूसरी है कि अपने चंचल मन को थोड़ा संयत करने के लिए किसी निर्धारित नाम को कुछ समय जपना लाभदायक हो सकता है। परन्तु कोई भी नाम या शब्द जीव की स्थिति का निधान नहीं हो सकता। जीव की स्थिति का निधान जीव ही है। जीव की स्वरूपस्थिति ही उसकी वास्तविकता है। "जीव पाव निज सहज स्वरूपा" यह गोस्वामी जी का वचन परम आदरणीय है।

इस रमैनी की प्रथम चार चौपाइयां कर्मकांडी पंडितों से सम्बन्ध रखती हैं तथा पांचवीं चौपाई नाम-उपासकों पर व्यंग्य में कही गयी लगती है।

"चिउँटी जहाँ न चढ़ि सकै, राई ना ठहराय। आवागमन की गम नहीं, तहाँ सकलो जग जाय॥" चींटी प्रायः कहीं भी चढ़ जाती है और राई का दाना पतले आधारबिन्दु पर भी ठहर जाता है। परन्तु जहां चींटी भी न चढ़ सके और राई का दाना भी न टिक सके, वह बड़ा सूक्ष्म पदार्थ होता है। चींटी वाणी का प्रतीक है तथा राई का दाना बुद्धि का। मोक्ष न वाणी का विषय है और न बुद्धि का। पंडित लोग वाणी और बुद्धि के ही जोर से मोक्ष की व्याख्या करना चाहते हैं, यह उनका कितना भोलापन है! मोक्ष में आवागमन की भी गम नहीं है। अर्थात वहां आने और जाने का पहुंच मार्ग नहीं है। आश्चर्य है 'तहाँ सकलो जग जाय।' वहां सारा संसार जाना चाहता है।

पंडित जन बताते हैं कि जीव मुक्त होकर अमुक लोक में जाता है। सद्‌गुरु कहते हैं कि यह आना-जाना सांसारिक कार्य है। मोक्ष में आना-जाना नहीं होता। इस प्रकार सद्‌गुरु बताते हैं कि मोक्ष केवल वाणी और बुद्धि के जोर से व्याख्या करने की वस्तु नहीं है। वह रहनी-गहनी की बात है। वाणी और बुद्धि

---

1. बीजक, साखी 22।

से हम रसगुल्ला का केवल वर्णन कर सकते हैं। इससे न हमारी जीभ में मिठास लगेगी और न सुनने वाले की जीभ में। किसी को भी रसगुल्ला की मिठास तभी अनुभव में आयेगी, जब वह उसे खायेगा। इसी प्रकार वाणी और बुद्धि के जोर से हम केवल मुक्ति की महिमा का कथन और श्रवण कर सकते हैं। उसका अनुभव तब होगा जब सारी वासनाओं को छोड़कर अपने आप में स्थिति होगी।

मुक्ति का न तो कोई गांव है और न ठांव है और न वहां कोई ईश्वर-ब्रह्म बैठा है जो मुक्त जीवों की व्यवस्था देखता है। मन की सारी वासनाओं का छूट जाना ही मोक्ष है। जो सब तरफ से अनासक्त है, वही मुक्त है। मुक्ति मरने के बाद नहीं, जीवन में ही होती है। जो जीते-जीते मुक्त है, वही मरने पर भी मुक्त है। जीव अविनाशी है। वह वासना-वश भटकता है। वासनाओं के छूट जाने पर जब आज वह अपने स्वरूप में स्थित हो गया, तो शरीर छूट जाने पर भी अपने स्वरूप में स्थित रह जायेगा।

विद्याभिमान तथा वर्णाभिमान का निराकरण

रमैनी-35

पण्डित भूले पढ़ि गुनि वेदा। आप अपन पौ जानु न भेदा॥ 1॥
संझा तर्पण औ षट कर्मा। ई बहु रूप करे अस धर्मा॥ 2॥
गायत्री युग चारि पढ़ाई। पूछहु जाय मुक्ति किन पाई॥ 3॥
और के छिये लेत हो छींचा। तुम सो कहहु कौन है नीचा॥ 4॥
ई गुण गर्व करो अधिकाई। अधिके गर्व न होय भलाई॥ 5॥
जासु नाम है गर्व प्रहारी। सो कस गर्वहि सकै सहारी॥ 6॥
साखी—कुल मर्यादा खोय के, खोजिन पद निर्बान।
अंकुर बीज नशाय के, नर भये विदेही थान॥ 35॥

शब्दार्थ—आप=स्वयं। अपन पौ=स्वरूप-भाव। संझा=संध्योपासना। तर्पण=तृप्त करने की क्रिया; देवताओं, ऋषियों और पितरों को तिल या चावल मिश्रित जल देने की क्रिया। षटकर्मा=छह कर्म—विद्या पढ़ना तथा पढ़ाना, दान देना तथा लेना और यज्ञ करना तथा कराना। इसके अतिरिक्त स्नान, संध्या, पूजा, तर्पण, जप और होम—नित्य छह कर्म हैं। ई=ब्राह्मण। बहुरूप=अनेक प्रकार के। छिये=छूने से। छींचा=जल छिड़कना। सहारी=सह सकना। निर्बान=निर्वाण, बुझा हुआ, वासनाओं का बुझ जाना, मोक्ष। अंकुर-बीज=अहंकार-वासना।

भावार्थ—पंडित लोग वेद-शास्त्रों को पढ़-गुनकर उन्हीं के मद में भूल गये और अपने आत्मस्वरूप के रहस्य को न समझ सके॥ 1॥ वे संध्या, तर्पण और छह कर्म करते हैं और बहुत प्रकार से क्रिया-कांड को धर्मरूप मानकर

करते हैं॥ 2॥ कहते हैं गायत्री-जप से ही कल्याण है और इस पर अधिकार केवल द्विजों का है, स्त्री तथा शूद्र गायत्री नहीं जप सकते। पंडित लोग द्विज नामधारियों को चारों युगों से गायत्री पढ़ा रहे हैं, परन्तु जाकर द्विजों से पूछो कि केवल गायत्री जपने से किसने मुक्ति पायी है?॥ 3॥ हे पंडितो एवं द्विज नामधारियो! जब कोई शूद्र नामधारी तुम्हें छू लेता है तब तुम अपने ऊपर पानी के छींटे मारकर पवित्र होने के लिए मन्त्र पढ़ते हो "ॐ अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा। यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः"। परन्तु मैं पूछता हूं कि कहो भला, तुमसे नीच कौन है?॥ 4॥ हे द्विजो! अपने विद्या, वर्ण एवं जाति का अहंकार ज्यादा न करो। अधिक गर्व करने से किसी की भलाई नहीं होती॥ 5॥ जिसका नाम ही गर्वप्रहारी है, वह तुम्हारे गर्व को कैसे सह सकेगा? वस्तुतः संसार में एक स्वतः कारण-कार्य-व्यवस्था है। जिसके अनुसार हर जीव को अपने कर्म-फल मिलते हैं। उसका उल्लंघन कोई नहीं कर सकता॥ 6॥

पहले के महापुरुषों ने कुल-वर्ण की मर्यादा और उनके अहंकार का त्याग कर मोक्ष-पद की खोज की थी, वे नर-रत्न जाति-वर्ण एवं विद्यादि के अहंकार और वासनाओं को ध्वंसकर विदेह-स्थल एवं मोक्ष को प्राप्त किये थे॥ 35॥

व्याख्या—पंडित लोग वेद-शास्त्रों को पढ़-गुनकर उसी के अहंकार में फूले-फूले घूमते हैं। परन्तु उन्हें समझना चाहिए कि शास्त्र-अध्ययन बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है अपने आप को ठीक से समझना और अपने आप का उद्धार करना। यदि वे 'आप अपनपौ का भेद नहीं जानते' तो वेद-शास्त्रों को पढ़ने का मतलब क्या हुआ? "आप अपन पौ जानु न भेदा।" बड़ा महत्त्वपूर्ण वाक्य है। अपनपौ-अपनापन-अपने स्वरूप का महत्त्व—मैं कौन हूं—यदि यह न जाना गया, तो बहुत विद्या पढ़ी, वेद-शास्त्र सब पढ़ डाले, तो क्या पढ़ा?

जैसे पहले भी कहा गया है कि ज्ञाता तीन प्रकार के होते हैं—छंदोविद्, वेदविद् तथा वेद्यविद्। वेदों के छंदों के सारे भेद जानकर जो उनको कंठ कर लेता है वह छंदोविद् है, छंदों का ज्ञाता है; जो छंदों का अर्थ समझता है, वह वेदविद् है और जो जानने योग्य को जानता है वह 'वेद्यविद्' है। 'वेदविद्' श्रेष्ठ नहीं है किन्तु 'वेद्यविद्' श्रेष्ठ है। जो जीवन में जानने योग्य को जानता है, वही श्रेष्ठ है। सर्वोच्च जानने योग्य विषय है 'अपने आप का भेद।'

मैं शुद्ध चेतन हूं। मैं न किसी का अंश हूं न अंशी, न कारण हूं न कार्य। मैं अजर, अमर, अविनाशी, अखण्ड, शुद्ध चेतन, पूर्णकाम, अकाम, निष्काम, आप्तकाम एवं स्वरूपतः तृप्त हूं। इस प्रकार अपने आप के भेद को समझकर सारी वासनाओं का त्याग करना ही वास्तविक विद्वता है।

यह तो शुद्ध आध्यात्मिक ढंग से अपने आप का भेद जानना हुआ। हमें व्यावहारिक ढंग से भी अपने आप का भेद जानना चाहिए। हमें यह जानना चाहिए कि हमारे स्वभाव में कितनी त्रुटियां हैं। मन में कितने विकार हैं। गत वर्ष से आज तक हमारे मन के विकार बढ़े हैं कि घटे हैं। यदि बढ़े हैं तो ग्लानि कर उन्हें निकालने का प्रयत्न करना चाहिए और यदि घट गये हैं, तो अवशेष विकारों को भी निकालने का प्रयास करना चाहिए।

आत्म-शोध एवं आत्म-उद्धार ही सच्ची विद्या है। प्राचीन नीतिकार अप्पयदीक्षित ने कहा है—"नीति शास्त्र के विद्वान, ज्योतिषी, चतुर्वेदी, शास्त्री और ब्रह्मज्ञानी बहुत मिलते हैं; परन्तु ऐसा बिरला मिलता है जो अपने अज्ञान को जानता हो।"[1] युधिष्ठिर भी कहते हैं—"पढ़ने वाले, पढ़ाने वाले तथा शास्त्रों के चिंतन करने वाले सब व्यसनी और मूर्ख हैं, जो आचरण-सम्पन्न है, वह पंडित है।"[2] गीता भी कहती है—"सभी वेदों का सार है अपने आप को जानना।"[3]

पंडित लोग संध्या, तर्पण, षटकर्म तथा यज्ञ-यागादि बहुत-से धर्मकृत्य करते रहते हैं और गायत्री जपते रहते हैं। उनको यह अहंकार है कि इन सबका विशेषाधिकार हमें ही मिला है, शूद्र और स्त्री तो इन सब के निकट भी नहीं जा सकते। विशेषतः गायत्री मन्त्र तो शूद्र और स्त्री को जपने का सर्वथा अधिकार ही नहीं है। तरस आता है पंडितों की बुद्धि पर जो यह घोषणा करते फिरते हैं कि वेद तथा गायत्री में स्त्री तथा शूद्रों का अधिकार नहीं है। स्त्री और शूद्र भी मनुष्य हैं। जब द्विज लोग वेद तथा गायत्री से लाभान्वित हो सकते हैं, तब स्त्री और शूद्र क्यों नहीं हो सकते !

पंडित लोग कहते हैं गायत्री ही मुक्तिदायिनी है और उस पर अधिकार द्विजों का ही है, स्त्री और शूद्र का नहीं, अतएव वे मुक्ति से वंचित ही रहेंगे। सद्गुरु कहते हैं कि पंडित लोग चारों युगों से द्विजों को गायत्री पढ़ा रहे हैं, परन्तु उनसे जाकर पूछो कि गायत्री-जप मात्र से किसने मुक्ति पायी है? यह एक धोखा है कि गायत्री जपो और मरने के बाद मुक्त हो जाओगे। मुक्ति तो जीवन की वस्तु है। "जियत न तरेउ मुये का तरिहो, जियतहि जो न तरै।"[4] जो व्यक्ति इस जीवन में मुक्त नहीं हुआ है, वह मरने पर क्या तरेगा?

---

1. नीतिज्ञा नियतिज्ञा वेदज्ञा अपि भवन्ति शास्त्रज्ञाः।
   ब्रह्मज्ञा अपि लभ्याः स्वज्ञानज्ञानिनो विरलाः॥
2. पठकाः पाठकाश्चैव चान्ये शास्त्रविचिन्तकाः।
   सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान् स पण्डितः॥ (महाभारत)
3. वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो॥ गीता 15/15॥
4. बीजक, शब्द 14।

"गायत्री युग चारि पढ़ाई। पूछहु जाय मुक्ति किन पाई॥" यह बड़ा मार्मिक वचन है। वेदों में अनेक प्रकार के छंद हैं—जैसे जगती, त्रिष्टुप, पंक्ति, वृहती आदि। उसी में एक प्रकार का छंद गायत्री है जो वेदों में हजारों की संख्या में हैं। जिस गायत्री छंद की उपासना पीछे बड़े जोरों से चली, उसका अभिप्राय इतना ही है "हम उस सविता (सूर्य) देवता का ध्यान धारण करते हैं जो वरण करने योग्य तथा प्रकाशस्वरूप है और हमारी बुद्धि को प्रेरित करता है।"[1] यह छंद विश्वामित्र का रचा है। इसमें प्रकाशस्वरूप सूर्य से बुद्धि के लिए प्रेरणा लेने की बात कही गयी है। बात अच्छी है। परन्तु मुक्ति-प्राप्ति के लिए अपने स्वरूप का ज्ञान चाहिए। विषय-बन्धनों का त्याग चाहिए। अन्य अनेक नाम तथा मन्त्र-जप, जैसे बच्चों को क्षणिक सन्तुष्ट करने के लिए चटुवा मुंह में दे दिया जाता है, वैसे हैं, मन के थोड़ा परिमार्जन के लिए हैं। मोक्ष तो गुरु-भक्ति, बोध एवं वैराग्य का फल है, जिसमें मानव मात्र का अधिकार है। गायत्री छंद की रचना मनुष्य जीव ने की है। गायत्री एक शब्द-समूह है जो कृत्रिम है। मानव उसका कर्ता है। गायत्री से मानव की आत्मा श्रेष्ठ है। मानव को चाहिए कि वह अपने आप को पहचाने और अपने आप को विकारों से ऊपर उठाये।

"और के छिये लेत हो छींचा। तुम सो कहहु कौन है नीचा॥" शूद्र तथा अवर्ण कहे जाने वाले लोग चाहे नहा-धोकर स्वच्छ वस्त्र पहनकर आयें और स्वच्छ हाथों से पंडितों को छू लें, तो कर्मकांडी पंडित अपने आप को अशुद्ध हुआ मान लेते हैं और शुद्ध होने के लिए अपने शरीर पर पानी छिड़कते हैं तथा मन्त्र पढ़ते हैं। सद्गुरु कबीर पंडितों से पूछते हैं कि तुमसे नीच कौन है? दूसरे का शरीर हाड़-मांस से बना है, तो तुम्हारा शरीर भी उन्हीं से बना है। दूसरे के शरीर में टट्टी-पेशाब भरी है, तो तुम्हारे शरीर में भी वही भरी है। जैसे दूसरों में सदाचारी-दुराचारी होते हैं, वैसे ब्राह्मण नामधारी में भी सदाचारी-दुराचारी होते हैं। दूसरे और तुम्हारे में क्या अन्तर है?

निश्चित ही छुआछूत का अपना महत्त्व है और उसका आधार है आचार। इससे कल्पित वर्ण और जाति से कोई प्रयोजन नहीं है। भंगी, मुसलमान तथा क्रिश्चियन का बच्चा भी यदि आचार-विचार से पवित्र है, तो वह भोजन पकाने का अधिकारी है और ब्राह्मण कहे जाने वाले समाज का बच्चा हो, परन्तु आचारहीन है, तो वह रसोई घर में जाने का अधिकारी नहीं है। जिस समय जो व्यक्ति अपवित्र है, उस समय वह अछूत है, जो पवित्र है वह अछूत नहीं।

'हे पंडित ! दूसरे के छूने से तुम छींटे मारकर पवित्र होने का उपक्रम करते हो, भला बताओ, तुमसे नीच कौन है?' यह कितना बड़ा व्यंग्य है, कितना दिल को छूने वाला है ! इस वाक्य में कितनी मानवता भरी है ! मानवता की महामूर्ति

1. तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्। (ऋग्वेद 3/62/10)

कबीर के हृदय ने कितना मर्माहत होकर यह पंक्ति कही होगी ! जो इतनी भी बात नहीं समझ सके क्या उसे पंडित कहना चाहिए ! मानव को अछूत कहना कितना नैतिक अपराध है ! पंचगव्य के नाम पर गाय के दूध, दही तथा घी के साथ उसके मल और मूत्र को भी खा लेने में अपने आप को पवित्र होना मानना, और सर्वोच्च प्राणी मनुष्य के बच्चे को अछूत मानना बुद्धि का दिवाला निकल जाना है।

सद्गुरु कहते हैं कि अपने विद्यादि गुणों का तथा कल्पित वर्णादि का अहंकार मत करो। अहंकार तो किसी चीज का ठीक नहीं है। अहंकार से किसी का भला नहीं हुआ है। अहंकार तो पतन का कारण है। हिन्दू-समाज के पतन में वर्ण-जाति का अहंकार मुख्य कारण रहा है, जिसके कारण शूद्र कहलाने वाले एक बड़े समाज को पशु के समान जीने के लिए विवश किया गया।

"जासु नाम है गर्व प्रहारी। सो कस गर्वहि सकै सहारी॥" जिसका नाम गर्वप्रहारी है, वह तुम्हारे गर्व को कैसे सह सकेगा ! सामान्यतया लोग एक ऐसे व्यक्तिचेतन की कल्पना करते हैं जो सर्वशक्तिमान है और वही गर्वप्रहारी है। परन्तु ऐसा कुछ भी नहीं है। वस्तुतः संसार में एक स्वचालित कारण-कार्य-व्यवस्था है। जो अहंकार करेगा, उस व्यवस्था के अनुसार उसका पतन रखा-रखाया है। आज (1987 ई.) से साढ़े पांच सौ वर्ष पूर्व कबीर साहेब की कही हुई बात आज चरितार्थ हो रही है। आज सर्वाधिक पतन ब्राह्मण-समाज का है। अहंकार का परिणाम ही पतन है।

"कुल मर्यादा खोय के, खोजिन पद निर्बान। अंकुर बीज नशाय के, नर भये विदेही थान॥" सद्गुरु कहते हैं कि पहले के महापुरुषों ने कुल की मर्यादा खोकर निर्वाण-पद की खोज की थी। उन्होंने जाति, वर्ण एवं समस्त भौतिक वरीयता के अंकुर तथा बीज, अर्थात अहंकार एवं वासना को नष्ट कर मोक्ष-दशा की प्राप्ति की थी।

एक बच्चा था 'सत्यकाम'। उसने अपनी मां से पूछा—मेरा गोत्र क्या है? मैं किसी गुरु के पास पढ़ने जाऊंगा, वे गोत्र पूछेंगे, तो मैं क्या बताऊंगा? माता ने कहा—मुझे यह पता नहीं है कि तुम्हारा गोत्र क्या है; क्योंकि मैं अपनी जवानी में विचरती हुई बहुत-से पुरुषों की सेवा करती थी। अनेकों का संयोग हुआ था। उसी बीच में गर्भ रहा। तू पैदा हुआ। बस, इतना कह सकती हूं कि तू मेरा पुत्र है। मेरा नाम 'जबाला' है और तेरा नाम 'सत्यकाम'। गुरुजी से अपना नाम 'सत्यकाम जाबाल' बता देना। मेरा नाम ही तेरे गोत्र का आधार है।[1]

1. छांदोग्य उपनिषद् 4/4/2।

सत्यकाम ने ऋषि गौतम के पास माता की कही हुई बातें ज्यों-की-त्यों बता दीं। गौतम बहुत खुश हुए और उन्होंने कहा—"अ-ब्राह्मण इस तरह सत्य नहीं बोल सकता।" अर्थात जो सत्य बोलता है वह ब्राह्मण है। बेटा, तू ब्राह्मण है। बृहदारण्यक उपनिषद् में पचास ऐसे ऋषियों के नाम हैं जिनके पिता का पता नहीं है, केवल माता का पता है।[1] 'व्यास, कर्ण, शिवि, अष्टक, प्रतर्दन और वसुमान अपनी माताओं से कुंआरी अवस्था में पैदा हुए।'[2] पाणिनि ने कहा है कि पिता का पता न होने से पुत्र का गोत्र माता के नाम से होता है।[3] धीवरीतनय व्यास, भंगिनी-पुत्र पराशर, वेश्यापुत्र वसिष्ठ, दासीपुत्र नारद, शूद्रपुत्र सूत अपने ज्ञान के नाते ही महान थे। महावीर, सिद्धार्थ, भर्तृहरि, गोपीचंद जाति-वर्ण के पक्ष को छोड़कर जन-जन के कल्याण के लिए निकल पड़े थे। राजरानी मीरा देवी ने चमार कहे जाने वाले कुल में पैदा हुए संत रैदास की शिष्यता स्वीकारी थी।

सद्गुरु ने साखी ग्रन्थ में कहा है 'कुल-वर्ण' के अभिमान को छोड़ देने से सब प्रकार से उद्धार होता है और उनका अहंकार रखने से सब प्रकार से अपना पतन होता है। 'राम' तो नि-कुल है। यह आत्मा, यह चेतन जीव किसी कुल का नहीं है। अतएव जिसने राम को पाया, अर्थात अपने आत्मतत्त्व का बोध ग्रहण किया, उसके सारे कुल-वर्ण के अहंकार नष्ट हो गये।[4]

महाभारत-वर्णित युधिष्ठिर के यज्ञ में पंडितों के भोजन करने से घंटा नहीं बजा, श्वपच भक्त के खाने से घंटा बजा—यह उपाख्यान यही दर्शाने के लिए लिखा गया है कि विद्याभिमान एवं वर्णाभिमान से कल्याण नहीं हो सकता। उसके लिए चाहिए विनम्रता एवं शुद्ध हृदय।

पुराकाल के ऋषि-मुनि यदि वर्णाभिमानी होते तो सत्यकाम, व्यास, वसिष्ठ, पराशर, भरद्वाज, नारद, सूत, अगस्त्य, वाल्मीकि आदि को महिमावान एवं पूज्य न मानते, क्योंकि ये सब तथाकथित अ-ब्राह्मण कुल के ही नहीं, किन्तु इनमें कुछ अंत्यज कुल के भी थे। परम वैष्णव शठकोपाचार्य, तिरुभंगै आदि अंत्यज कुल के कहे जाने वाले लोग थे जो परम पूज्य थे। अतएव कबीर साहेब ठीक ही कहते हैं कि पहले के महापुरुषों ने कुल की मर्यादा खोकर ही निर्वाणपद की खोज की थी और उसके अंकुर-बीज को भी नष्ट कर दिये थे। यह तो बीच के पुरोहित-वर्ग ने ऊंच-नीच की भावना के विष-बीज बोये हैं।

---

1. बृहदारण्यक उपनिषद्, अध्याय 6, ब्राह्मण 5।
2. गणपति शंकर, मंथन, भाग 1, पृ. 238।
3. पाणिनि 4/1/14।
4. कुल छोड़े कुल ऊबरे, कुल राखे कुल जाय।
   राम निकुल कुल भेटिया, सब कुल गया बिलाय॥ साखीग्रन्थ॥

जीव ही राम तथा श्रेष्ठ है

रमैनी-36

ज्ञानी चतुर बिचक्षण लोई। एक सयान सयान न होई॥ 1॥
दूसर सयान को मर्म न जाना। उत्पति परलय रैनि बिहाना॥ 2॥
बनिज एक सबन मिलि ठाना। नेम धर्म संयम भगवाना॥ 3॥
हरि अस ठाकुर तजियो न जाई। बालहि बिहिस्त गावहिं दुलहाई॥ 4॥
साखी—ते नर कहाँ गये, जिन दीन्हा गुरु घोंटि।
राम नाम निजु जानि के, छाड़ि देहु बस्तु खोटि॥ 36॥

शब्दार्थ—चतुर=बुद्धिमान। बिचक्षण=सूक्ष्मदर्शी। एक=अद्वैत ब्रह्म। सयान=श्रेष्ठ, सत्य। दूसर=ईश्वर। हरि=ईश्वर। ठाकुर=स्वामी। बालहि=बालकतुल्य, अबोधी। बिहिस्त=स्वर्ग। दुलहाई=दूल्हा (ईश्वर) से मिलने का गीत। घोंटि=सिर मूड़ देना, घोल कर पिला देना, गला घोंट देना, हत्या कर देना।

भावार्थ—हे ज्ञानियो, बुद्धिमानो तथा सूक्ष्मदर्शियो! यह कहना कि सत्ता केवल एक ही तत्त्व की है, सच्चाई नहीं है॥ 1॥ जड़-चेतन से पृथक जो दूसरे ईश्वर की कल्पना कर ली गयी है कि उसी के द्वारा उत्पत्ति-प्रलय और रात-दिन होते हैं, यह ईश्वर के रहस्य को न समझना है॥ 2॥ जीव से अलग एक ईश्वर मानकर सभी मत वालों ने उससे मिलने के लिए अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार नाना प्रकार के नियम, धर्म और संयम का व्यापार बना रखा है॥ 3॥ ईश्वर ऐसा स्वामी बन बैठा कि उसे अब त्यागा जाना कठिन हो गया। भक्त लोग अबोधी बालक बनकर और ईश्वर को एक दूल्हा के रूप में स्वर्ग में मानकर उससे मिलने के लिए गीत गाते हैं॥ 4॥

उन मनुष्यों की स्थिति कहां हुई जिन्हें नाना मत के गुरुओं ने निज स्वरूप से भिन्न किसी कल्पित ईश्वर की चासनी घोंट कर पिलायी थी। अतएव हे कल्याणार्थियो! राम ऐसा नाम तुम्हारी अपनी आत्मा का ही है ऐसा जानकर खोटी वस्तु—भिन्न ईश्वरादि की कल्पना छोड़ दो॥ 36॥

व्याख्या—इस रमैनी में सद्‌गुरु मुख्य दो सिद्धान्तों की आलोचना करते हैं—अद्वैत ब्रह्मवाद की और ईश्वरवाद की। इसको समझने के लिए वे ज्ञानियों, बुद्धिमानों तथा सूक्ष्मदर्शियों को निमंत्रित करते हैं। ऐसे लोग ही धैर्यपूर्वक ऐसे तत्त्वचिन्तन के विषय को समझ सकते हैं। जो भक्ति-भावना में विह्वल भावुक हैं, उन्हें इस विषय को समझना कठिन है।

सद्‌गुरु पहली बात उठाते हैं "एक सयान सयान न होई" अर्थात एक तत्त्व सत्य नहीं हो सकता। कुछ लोगों की धारणा है कि संसार में केवल एक ही

तत्त्व की सत्ता है जो अखंड, अजर, अमर और सर्वत्र व्याप्त है। उसको ब्रह्म नाम दिया गया है। दूसरा नाम भी रखा जा सकता है। नाम चाहे जो रखा जाये, परन्तु यह बात सत्य नहीं हो सकती है। क्योंकि एक अखंड व्याप्त सत्ता में क्रिया, संचालन, स्फूर्ण, परिवर्तन, विकार, गति, निर्माण कुछ नहीं हो सकता है। देखा जाता है कि प्रत्यक्ष संसार इन्हीं सबका समुच्चय है। गति एवं क्रिया ही संसार का स्वरूप है। क्रिया न होती तो संसार न होता।

प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है कि जड़ और चेतन पृथक-पृथक हैं। जड़ में अनेक तत्त्व हैं और चेतन भी एक दूसरे से भिन्न और असंख्य हैं। देहधारी चेतन वासना-वश गतिशील हैं तथा अनेक जड़ तत्त्वों के सूक्ष्म कण निरन्तर गतिशील हैं। इनके बीच में अबाध गति से सृष्टि चल रही है। इन सारी बातों से आंखें मीचकर यह कहना कि सत्ता केवल एक तत्त्व की है, अपने आप में हास्यास्पद है।

सर्वत्र एक ही अखंड तत्त्व के व्याप्त होने पर दूसरे की सत्ता ही नहीं हो सकती; और प्रत्यक्ष है कि सत्ता अनेक की है। गति, सृष्टि, जन्म-मरण, कहना-सुनना, बंध-मोक्ष एक ही तत्त्व में संभव नहीं है। हैकल जैसे भौतिकवादी जब कह देते हैं कि विश्व में सर्वगत एक ही तत्त्व की सत्ता है, तब ब्रह्मवादी बहुत खुश हो जाते हैं कि अब भौतिकवाद भी अद्वैत ब्रह्मवाद की तरफ आ रहा है। परन्तु यह ब्रह्मवादियों की भूल है। भौतिकवादियों का परिभाषित जो एक तत्त्व है, वह गतिशील अणुरूप एवं निरा जड़ है। भौतिकवादी कहते हैं कि सारे जड़ तत्त्व अन्त में सूक्ष्म अणुरूप एवं ऊर्जा रूप हैं। भौतिकवादी चेतन की स्वतन्त्र सत्ता के विषय में कुछ निर्णय ही नहीं कर पाते हैं। अतएव भौतिकवादियों के तथाकथित एक तत्त्व के समर्थन में पड़ना अद्वैत ब्रह्मवादियों के लिए घाटे का सौदा होगा।

साधक जब संकल्पों को छोड़कर समाधि में पहुंच जाता है, तब वह अकेला रह जाता है। यह जीव का अकेलापन कैवल्य है, असंगत्व है और इसी को अद्वैत स्थिति कह सकते हैं। यह विवेकसम्मत है। सारे जड़-चेतन को एक अखंड तत्त्व बताना अद्वैतवाद की भावुकता है, अतएव असत्य है।

दूसरी बात है जो अनेक जड़ तत्त्व तथा असंख्य चेतन जीव अनुभूत सत्य हैं, उनके ऊपर कोई दूसरा कर्ता-धर्ता मानना। सद्गुरु कहते हैं कि यह भी सत्य नहीं है। जड़ और चेतन दोनों अपने-अपने में मूल तत्त्व हैं; और "मूले मूलाभावादमूलं मूलम्"[1] अर्थात मूल का मूल न होने से मूल अ-मूल होता है। जड़ और चेतन दोनों मूल होने से उनका कोई रचयिता नहीं है। इस प्रकार

1. सांख्य दर्शन 1/67।

जड़-चेतन मूल तथा अनादि हैं। उन्हें कोई रचता नहीं है और उनके गुण-धर्मों से सृष्टि चल रही है, फिर तीसरे ईश्वर की कल्पना क्यों की जाये कि उसी से उत्पत्ति-प्रलय तथा रात-दिन हो रहे हैं।

जहां तक आत्मकल्याण के लिए ईश्वर की कल्पना का प्रश्न है, वह हममें दुर्बलता ही उत्पन्न करेगी। हम ईश्वर की कल्पना खड़ी कर लेते हैं और हर भौतिक तथा आध्यात्मिक लाभ के लिए उसके सामने रोने-गिड़गिड़ाने की आदत बना लेते हैं और पुरुषार्थ में आलसी हो जाते हैं। वही सिद्धान्त मनुष्यों के लिए कल्याणकर है, जो उन्हें उनके अपने कदमों पर खड़ा करे, उन्हें स्वावलंबी बनाये। ईश्वरवाद हमें परावलंबी एवं परमुखापेक्षी बनाकर दुर्बल करता है।

नाना मत के गुरुओं ने अपना-अपना एक भगवान खड़ा कर तथा उसको खुशकर नाना लाभ पाने के लिए नियम, धर्म, संयम के नाम पर व्यापार चला रखा है। "बनिज एक सबन मिलि ठाना। नेम धर्म संयम भगवाना॥" इस पंक्ति में 'बनिज' शब्द ध्यान देने योग्य है। ईश्वर एक धार्मिक व्यापार का माध्यम बन गया है। ईश्वर के नाम पर चढ़ावा चढ़ता है। ईश्वर के नाम पर भोग लगता है। ईश्वर के नाम पर रास-रंग होता है तथा मन्दिरों में वेश्याएं नाचती हैं। ईश्वर के नाम पर मुसलमान ऊंट, गाय, बकरे, मुरगे काटते हैं। ईश्वर के नाम पर हिन्दू भैंसे, बकरे, मुरगे, सूअर आदि काटते हैं। ईश्वर के नाम पर एक मजहब वाले दूसरे मजहब वालों का गला काटते हैं। ईश्वर के नाम पर बड़े-बड़े चंदे कर सांप्रदायिक भावना भड़काने का साधन जुटाते हैं। ईश्वर के नाम पर बड़ी-बड़ी जागीरें खड़ी कर मुकदमें चलाते हैं। ईश्वर का नाम लेकर चोर सेंध मारते हैं तथा डाकू डाका डालते हैं। ईश्वर का नाम लेकर साहुकार बिस्तर पर जाता है कि ईश्वर उसे चोरों से बचाये। बड़े-बड़े पाप करके ईश्वर के नाम से उनसे छूटने के लिए प्रार्थना की जाती है। सारा दुराचार करके कह दिया जाता है कि हम तो कठपुतली हैं, ईश्वर सूत्रधार है। वह हमें जैसे नचाता है, हम वैसे नाचते हैं। अतः हमारे द्वारा जो कुछ हो रहा है ईश्वर ही करता है। ईश्वर का नाम लेकर तांत्रिक, फलित ज्योतिषी, सोखा-ओझा, पंडे-पुजारी आदि समाज का वंचन करते हैं। अन्य व्यापार फेल हो सकते हैं, किन्तु ईश्वर के नाम पर चलाया गया व्यापार कभी फेल नहीं होता; क्योंकि वह भावना से जुड़ा है। मनुष्य की भावनाओं को दुर्बलता की तरफ मोड़कर उसका निरन्तर शोषण हो रहा है।

"हरि अस ठाकुर तजियो न जाई।" अर्थात हरि ऐसा ठाकुर हो गया एवं ईश्वर ऐसा स्वामी बन बैठा कि मनुष्य द्वारा उसका त्यागा जाना कठिन हो गया। एक काल्पनिक बात को मन में प्रश्रय देते-देते सत्य-सी प्रतीत होने लगी।

उसके विरोध में बातें करने वाला नास्तिक कहा जाने लगा। मनुष्य को दुर्बल बनाने वाली धारणा आस्तिक बन बैठी तथा उसे स्वावलंबी तथा सबल बनाने वाला तथ्यपूर्ण सिद्धान्त नास्तिक कहा जाने लगा।

"बालहि बिहिस्त गावहिं दुलहाई" सद्गुरु कहते हैं कि लोग भक्ति के नाम पर बालक के समान भोला-भाला बन गये और कल्पना करने लगे कि ऊपर सातवें आकाश या तपक पर स्वर्ग, बैकुण्ठ एवं बिहिश्त हैं। वहां भगवान एवं ईश्वर रहता है। वही हमारा दूल्हा है। हम उसकी दुलहिन हैं। ईश्वरभक्त लोग दुलहिन बनकर उस काल्पनिक स्वर्गस्थ दूल्हा से मिलने के लिए गीत गाने लगे, प्रार्थना-वन्दना करने लगे। सबल चेतन पुरुष होते हुए अविद्यावश दुर्बल-दुलहिन बन गये। स्वरूपबोध एवं आत्मबोध के मार्ग में यह भावना महाविघ्नकारक एवं कुसंस्कार बन गयी।

सद्गुरु ऐसे लोगों पर करारा व्यंग्य करते हुए कहते हैं—"ते नर कहाँ गये, जिन दीन्हा गुरु घोंटि।" अर्थात उन मनुष्यों की स्थिति कहां हुई, जिन्हें नाना मत के गुरुओं ने अपने स्वरूप से भिन्न किसी कल्पित वस्तु की चासनी घोलकर पिलायी थी। अपने चेतन-स्वरूप से अलग ईश्वर मानकर उसकी वन्दना-प्रार्थना एक सात्त्विक भावना को जन्म देती है, एक क्षणिक आनन्द एवं सात्त्विक मनोरंजन हो जाता है, परन्तु पूर्ण सन्तोष, पूर्ण तृप्ति एवं जीव की स्वरूपस्थिति उसमें होना असंभव है। क्योंकि आत्म-भिन्न ईश्वर केवल कल्पना है, केवल मन की अवधारणा है।

इसलिए सद्गुरु अन्त में कहते हैं—"राम नाम निजु जानि के, छाड़ि देहु बस्तु खोटि॥" अर्थात राम, भगवान, ईश्वर, ब्रह्म जितने चेतनपरक नाम लिये जाते हैं, उनकी चरितार्थता तुम्हारे में ही हो सकती है। सद्गुरु कहते हैं हे जीव ! "राम नाम निजु जानि के" तू राम ऐसा नाम अपना ही समझ ! तू ही राम है, तू ही ईश्वर और ब्रह्म है। तुमसे श्रेष्ठ कौन हो सकता है ! तूने ही तो ईश्वर-ब्रह्म जैसे नाम रखे हैं। तू ही सारे ज्ञान-विज्ञान का निधान है। तू अपनी भूल से गीदड़ बना है, अन्यथा तू सिंह है। तू किसी की दुलहिन नहीं है, किन्तु तू ही सबका दूल्हा है। यदि राम, ईश्वर, ब्रह्म तुझसे अलग है तो वह सब तेरी कल्पना होने से उसका तू ही दूल्हा है। क्योंकि तूने ही उसकी कल्पना की है। वस्तुतः तू ही राम है, भगवान है, ब्रह्म है। तू अपने श्रेष्ठत्व को समझ और अपने आप में तृप्त हो।

रमैनी-37

एक सयान सयान न होई। दूसर सयान न जाने कोई॥ 1॥
तीसर सयान सयानहिं खाई। चौथे सयान तहाँ ले जाई॥ 2॥

पँचयें सयान जो जानेउ कोई। छठयें माँ सब गयल बिगोई॥ 3॥
सतयाँ सयान जो जानहु भाई। लोक वेद मों देउँ देखाई॥ 4॥
साखी—बीजक बित्त बतावै, जो बित गुप्ता होय।
ऐसे शब्द बतावै जीवको, बूझै बिरला कोय॥ 37॥

शब्दार्थ—एक सयान=अद्वैत ब्रह्म। दूसर सयान=ईश्वर। तीसर सयान=त्रिगुण। चौथे सयान=चतुष्टय अंतःकरण या मन, चित्त, बुद्धि के बाद चौथा अहंकार। पँचयें सयान=पांच ज्ञानेंद्रिय, पांच विषय। छठयें=मन। सतयाँ=जीव। बीजक=सांकेतिक शब्दों में गुप्त धन का परिचय कराने वाला ताम्रपत्र आदि अभिलेख, खरीदार को दी जाने वाली माल की सूची; बीज का तत्त्व; यह ग्रन्थ।

भावार्थ—एक ही तत्त्व की सत्ता मानना सत्य नहीं है। इस प्रत्यक्ष अनुभूत जड़-चेतनात्मक जगत के ऊपर दूसरा कर्ता मानने की बात एक अनुमान है न कि उसे कोई जानता है॥ 1॥ तीसरा सयान सत, रज तथा तम तीन गुण हैं या त्रिगुणात्मक माया-प्रपंच है। इनकी श्रेष्ठता मानकर इनमें आसक्त होने से मनुष्य का अपना सयानापन, अपनी समझदारी नष्ट हो जाती है। चौथा सयान चतुष्टय अंतःकरण है या मन, चित्त, बुद्धि के बाद चौथा अहंकार है। इस अहंकार की श्रेष्ठता जीव को भ्रम में ही ले जाती है॥ 2॥ जो लोग पांच विषयों तथा पांचों ज्ञानेन्द्रियों के भोगों को ही श्रेष्ठ समझते हैं, वे और अधिक भोले हैं। छठें मन के चक्कर में पड़कर तो सब अपने आप को खो चुके हैं॥ 3॥ हे भाई, यदि तुम लोग सातवें जीव को श्रेष्ठ जानते-मानते हो, तो मैं उसे लोक तथा वेद दोनों से प्रमाणित कर दिखा दूंगा, अर्थात बोध करा दूंगा॥ 4॥

बीजक उस धन को बताता है जो कहीं जमीन आदि में गाड़कर गुप्त रूप से रखा हो। इसी प्रकार इस बीजक ग्रन्थ के शब्द जीवरूपी धन को बताते हैं जो शरीर में गुप्तरूप विद्यमान है परन्तु इसे कोई बिरला ही समझता है॥ 37॥

व्याख्या—36वीं रमैनी में आप पढ़ आये हैं कि एक ही तत्त्व संसार में नहीं है और जड़-चेतन के ऊपर दूसरा कर्ता मानना भी उपयुक्त नहीं है। इसे समझने के लिए पूरी 36वीं रमैनी बड़ी मार्मिक है। इस प्रकार 36वीं रमैनी के एक सयान तथा दूसरा सयान के निराकरण को इस 37वीं रमैनी में भी लेते हुए सद्गुरु ने पहले से छठां सयान तक निषेध में कहा है। आप एक से छठां तक का कुछ भी अर्थ लगायें, परन्तु इतना साफ है कि वे सब रहेंगे निषेध में ही।

वाणी तो ऐसी मोम की नाक होती है कि उसे चाहे जिस तरफ घुमा दो, वह घूम जाती है और जहां सांकेतिक वर्णन हो, वहां शब्दों के अर्थ घुमाने में काफी सरलता रहती है। परन्तु किसी शब्द का अर्थ करने में उसके कर्ता का लक्ष्य

तथा वर्तमान प्रकरण देखना चाहिए। कबीर साहेब इस रमैनी में एक से छह तक के सांकेतिक विषय को सयान, श्रेष्ठ एवं सत्य नहीं मानते हैं; किन्तु सातवें को वे सत्य मानते हैं, जिसकी प्रामाणिकता के लिए वे लोक तथा वेद दोनों के प्रमाण देने के लिए प्रस्तुत हैं और इसी को वे खुलकर साखी में बताते हैं, वह है 'जीव'।

पहले और दूसरे के विषय में 36वीं रमैनी में बहुत-कुछ कहा गया है। हम तीसरे सयान से लेते हैं।

"तीसर सयान सयानहि खाई" सद्गुरु कहते हैं कि तीसरे सयान ने सयान को खा लिया है। सयान का अर्थ होता है समझदार, वृद्ध, श्रेष्ठ आदि। यहां सयान का अर्थ 'सत्य' भी है। यहां तीसर सयान का अर्थ उन सारी तीन बातों में से किसी भी त्रिपुटी के लिए होगा जिसको जीवन का परम सत्य मान लेना अपने अज्ञान का प्रदर्शन करना है। जैसे सत, रज, तम या काम, क्रोध, लोभादि। क्योंकि मूल पद में है कि जो तीसर को सयान एवं सत्य मानता है उसका सयानपन एवं उसकी समझदारी समाप्त हो जाती है। अतएव तीसर का यहां सत, रज, तम—त्रिगुण अर्थ करना ज्यादा उपयुक्त है। अर्थात जो त्रिगुणात्मक माया-प्रपंच को ही परम सत्य मान लेते हैं, उनकी बुद्धि मारी जाती है।

"चौथे सयान तहाँ ले जाई।" अर्थात चौथे में अपना सयानपन दिखाने से, वह भी हमें उसी भ्रम में ले जाता है। यहां चौथे से मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार का चतुष्टय लिया जा सकता है। जो लोग विषयों के मनन, चिंतन, निश्चय एवं करतूति में ही सदैव लगे रहते हैं और बुद्धि-विलास में डूबे रहते हैं, वे भ्रम में हैं। चौथे से केवल अहंकार भी लिया जा सकता है। ज्ञान चौंतीसा में आया है "चौथे वो ना महँ जाई। राम का गद्धा होय खर खाई॥" मन, चित्त, बुद्धि के बाद चौथा अहंकार है। जब किसी विषय का मनन, चिंतन एवं निश्चय परिपक्व होता है, तभी उसमें अहंकार होता है। मन से मनन, चित्त से चिंतन एवं अनुसंधान तथा बुद्धि से निश्चय होता है, तब जाकर उस विषय में अहंकार होता है। जो लोग बुद्धि-विलास तथा संस्कारों में अहंकार कर लेते हैं वे उसी प्रकार भ्रम में जाते हैं जैसे इसके पहले वाले भ्रम में रहे हैं। इस प्रकार संस्कारों में अपना तादात्म्य करने वालों को अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता।

"पंचयें सयान जो जानेउ कोई" जो लोग पांचवें या पांच को सत्य समझते हैं या उन्हीं में अपना सयानपन दिखाते हैं, वे भी समझदारी की बात नहीं करते। पांच के अर्थ में यहां पांच विषय एवं पांच ज्ञानेंद्रियों के भोग लिए जा सकते हैं, जो अत्यन्त प्रासंगिक हैं। जो कान, त्वचा, आंख, जीभ तथा नाक—इन पांच ज्ञानेन्द्रियों से क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गंध में आसक्त हैं और इन

भोगों को ही परम सत्य मानकर इनके भोगने में अपनी सयानी–समझदारी दिखा रहे हैं; उन्हें अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता। विषयलम्पट को स्वरूपज्ञान कहां !

"छठयें माँ सब गयल बिगोई।" यहां छठां मन है। बीजक में जहां कहीं भी लाक्षणिक रूप में छ या छठां कहा गया है, प्रायः मन का अर्थ है। पांच ज्ञानेन्द्रियों के ऊपर छठां मन है। पांच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा पांचों विषयों का ग्रहण होता है और विषयों के ग्रहण के बाद उनके संस्कार जहां रह जाते हैं, वही मन है। इसीलिए बौद्धों ने पांच ज्ञानेन्द्रिय के साथ छठें मन को लेकर 'षडायतन' कहा है। ऊपर कहा गया कि बीजक में लाक्षणिक अर्थ में छठां का अर्थ मन होता है। इसके लिए कुछ उदाहरण लें—

"छठयें माँहि दरश सो पावै"[1] अर्थात वह मन में दर्शन पायेगा। "छठीं तुम्हारी हौं जगा"[2] छठें–मन में तुम्हें अहंकार जगा। "छप्पर बाँचे घर जरे"[3] पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा छठे मन के ऊपर जो जीव है, वह बच गया, उसका कल्याण हो गया और अहंकार का घर जल गया। इस रमैनी में है "छठये माँ सब गयल बिगोई" अर्थात मन के चक्कर में पड़कर सब नष्ट हो गये।

मनुष्य का मन अधिक विकासशील है। उसका संयम हो तो मनुष्य महान हो जाये और उसका दुरुपयोग हो तो मनुष्य का पतन हो जाये। संसार में ज्यादा यही देखा जाता है कि लोग अपने मन में उलझते हैं। इसीलिए सद्गुरु कहते हैं कि "छठयें माँ सब गयल बिगोई" मन के भंवर में पड़कर सबने अपने को खो दिया है। मन के कुहासे में जीव अपने स्वरूप को नहीं पहचान रहा है।

"सतयाँ सयान जो जानहु भाई। लोक वेद मों देउँ देखाई॥" पांच ज्ञानेन्द्रिय, छठां मन और इनके ऊपर सातवां जीव है। सद्गुरु सातवें को अपना विधि–वाक्य एवं प्रतिपाद्य विषय मानते हैं। उसे वे लोक तथा वेद के प्रमाणों से दिखा देने की प्रतिज्ञा करते हैं। अगली साखी में उनका प्रतिपाद्य विषय जीव है और उसी जीव की तरफ सतयां कहकर पहले संकेत है।

जीव की प्रामाणिकता के विषय में लोक और वेद दोनों प्रमाण हैं। लोक में देखा जाता है कि जब जीव शरीर छोड़ देता है, तब अनाड़ी–से–अनाड़ी लोग भी मृत देह को जलाकर, गाड़कर या पानी में फेंककर उसका त्याग कर देते हैं। यहां तक कि जीव की उपस्थिति एवं अनुपस्थिति का बोध पशु–पक्षी को भी हो जाता है।

---

1. बीजक, रमैनी 52।
2. बीजक, साखी 1।
3. बीजक, साखी 68।

यहां वेद का अर्थ शास्त्र-प्रमाण से है। शास्त्रों में यह बातें जगह-जगह भरी ही हैं कि जीव देह से पृथक एवं नित्य है।

"बीजक बित्त बतावै, जो बित गुप्ता होय। ऐसे शब्द बतावै जीव को, बूझै बिरला कोय॥" यह साखी इस ग्रन्थ का प्राण तत्त्व है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि सद्गुरु ने इस ग्रन्थ का नाम स्वयं बीजक रखा था और नाम की परिभाषा भी इस साखी में स्वयं कर दी थी।

बीजक के प्रसिद्ध इंगलिश अनुवादक श्री अहमदशाह ने बीजक की अपनी भूमिका में लिखा है—

This collection of hymns in various metres contains the most authoritative record of Kabir's teaching. The word itself has three distinct meanings : (1) an invoice, (2) essence or seed, (3) a document by which a hidden treasure can be located. The title given to this collection seems to be derived from the third of these uses of the word. In early days near the Benares State there lived a race called Baroh : The district they inhabited is still called Badohi, a corruption of the original Barohi, an aboriginal race of India, when conquered by the Rajputs and forced to do menial work, they buried their treasures out of sight, carefully marking the place of concealment by secret signs on a carefully preserved chart. This chart they called a Bijak or key. When in need of money, they recovered their treasure by means of this Bijak, taking care never to disclose its secret signs to any but their heirs. Kabir himself spoke the dialect of the Mirzapur and Gorakhpur district, and no doubt was familiar with this use of the word, to which he directly described in the Sakhi of the 37th Ramaini."[1]

अर्थात—यह पदों का संग्रह कई प्रकार के छंदों में है और कबीर की शिक्षाओं का सबसे अधिक प्रामाणिक दस्तावेज है। इस (बीजक) शब्द के भी तीन स्पष्ट अलग-अलग अर्थ हैं। 1. बीजक, 2. सार या बीज, 3. एक दस्तावेज जिससे गुप्त धन के स्थान का पता लगाया जा सके। इस संग्रह का शीर्षक इस शब्द के तीसरे व्यावहारिक अर्थ से लिया गया मालूम होता है। पूर्वकाल में बनारस की रियासत के पास एक जाति रहती थी, जिसको बरोह कहते थे। जिस जगह में वे बसे हुए थे अब भी भदोही कहलाता है जो कि आरम्भिक शब्द बरोही का अपभ्रंश है। भारत की एक आदिम जाति को जब राजपूतों ने जीत लिया और उनको निम्न श्रेणी का कार्य करने के लिए बाध्य

1. The Bijak of Kabir, p. 29, Asian publication services. A 28, East of Kailash, New Delhi-110024, India.

किया तो उन्होंने अपनी मूल्यवान वस्तुओं को नजर से दूर जमीन में गाड़ दिया और छिपाने की जगहों पर सावधानी से गुप्त चिह्न बना दिये और उसका मानचित्र सावधानी से सुरक्षित रख दिया। इस मानचित्र को उन्होंने बीजक अथवा कुंजी नाम दिया। जब रुपये की आवश्यकता पड़ती तब वे मानचित्र की सहायता से अपना धन निकाल लेते थे और यह सावधानी रखते थे कि उसके गुप्त चिह्न उनके उत्तराधिकारियों को छोड़कर और किसी को पता न लगे। कबीर स्वयं मिर्जापुर तथा गोरखपुर जिलों की बोली बोलते थे और इसमें कोई शंका नहीं है कि वे इस शब्द के व्यवहार से परिचित थे जिसका उन्होंने 37वीं रमैनी की साखी में सीधा वर्णन किया है।

एक सेठ ने करोड़ों रुपये एक स्थल पर गाड़कर अपने बीजक में सांकेतिक शब्दों में लिख दिया "चैत्र शुक्ल पूर्णिमा के मध्याह्नीय, साठ फीट ऊंचे शिवालय के अन्तिम शिखर पर धन रखा है।"

सेठ के मर जाने पर उसके लड़के ने बहुत दिनों के पश्चात उस बीजक में उपर्युक्त वाक्य पढ़ा और बिना विचार किये रुपये के लिए शिवालय का शिखर तोड़वा दिया। परन्तु धन न पाया। कुछ दिनों में एक महात्मा आये, उस बीजक के वाक्य को देखकर थोड़ा विचार करते ही वे समझ गये। उन्होंने सोचा यदि शिवालय के शिखर में सेठ रुपये रखता तो इतना ही लिखता "शिवालय के शिखर में रुपये रखे हैं।" महीना, पक्ष, तिथि, समय और शिवालय की ऊंचाई लिखने की कुछ आवश्यकता ही नहीं थी। अतएव विचार से यही सिद्ध हुआ कि 'चैत्र महीने शुक्ल पक्ष पूर्णमासी के दोपहर को साठ फीट ऊंचे शिवालय के शिखर की परिछाई जहां जावे वहीं धन होगा।' अतएव शिवालय पुनः साठ फीट ऊंचा बनवा दिया गया और उक्त महीने, पक्ष, तिथि के आने पर दोपहर को शिवालय की जहां परिछाईं पड़ी उस जमीन को खोदवाया गया और धन मिल गया।

जैसे बाहरी बीजक गड़े हुए गुप्त धन को बताता है, वैसे सद्गुरु कबीर का यह बीजक ग्रन्थ शरीर के भीतर छिपे हुए जीव का परिचय कराता है। "ऐसे शब्द बतावै जीव को।" जीव ही तो सारे ज्ञान-विज्ञान एवं सिद्धान्तों का मूल है। इस साखी में बीजक का नामकरण करते समय सद्गुरु कबीर अपने मूल सिद्धान्त का भी परिचय देते हैं। उनका मूल सिद्धान्त जीव है। जीव मूल है। इसे आत्मा तथा राम भी कहा गया है। बीजक-पाठ-फल में कहा गया है "बीजक उसे कहते हैं जो धन का साक्षी दे, धन का संदेश बताये। आत्मा रूपी धन जिस जगह है कबीर-बीजक के वचनों का संकेत उसी ओर है। आत्मा राम की नित्य सत्ता है और मन-माया कृत जो कुछ है वह नाशवान है। बीजक की

वाणियों को गुरुमुख से पढ़कर इसकी परख करें।"[1] साखी प्रकरण की 82वीं साखी में सद्गुरु ने स्वयं कहा है "पारखी से संग करु, गुरुमुख शब्द विचार।" पंचग्रंथी, जो बीजक की भावात्मक टीका मानी जाती है, श्री रामरहस साहेब ने उसमें कहा है—

वचन बसावहु पारखी, बीजक है सो नाम।
अक्षर अक्षर गुरु से लखहु, संशय मेटहु तमाम॥

कोई भी विचारक, दार्शनिक एवं सिद्धांती अपने सिद्धांत का एक वचन में भी खंडन नहीं करता। यदि कबीर साहेब के विचार में जीव एवं अपनी आत्मा से अलग परमात्मा मानने की बात होती, तो वे रमैनी 36 एवं शब्द 10, 22, 32, 36, 37, 115 आदि के भाव न व्यक्त करते। अतएव वे स्वस्वरूप चेतन देव को ही परम तत्त्व मानते हैं।

इस रमैनी में तीसरे, चौथे, पांचवें तथा छठें सयान में क्रमशः त्रिगुण, चतुष्टय अन्तःकरण, पंचविषय या पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा मन माना गया है और यह बताया गया है कि ये श्रेष्ठ नहीं हैं। वस्तुतः इनके ऊपर श्रेष्ठ है जीव, जो सातवां है। पहले और दूसरे सयान में आत्मभिन्न ब्रह्म और ईश्वर लिया गया है कि वे श्रेष्ठ नहीं हैं, जो 36वीं रमैनी के अनुसार प्रकरण-संगत है। परन्तु उन्हें हटाकर उनकी जगह पर क्रमशः देह और माया लेकर इस रमैनी को इस तरह भी समझा जा सकता है। जैसे—

1. देह, 2. माया, 3. त्रिगुण, 4. चतुष्टय अंतःकरण, 5. पांच विषय या पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा छठां मन से श्रेष्ठ जीव है। इसमें पहले के छह तक सयाने या श्रेष्ठ नहीं हैं, किन्तु सातवां जीव ही श्रेष्ठ है। क्योंकि पहले के छह जड़ हैं और सातवां जीव चेतन है।

आत्मसंतोष जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि है

रमैनी-38

यहि बिधि कहौं कहा नहिं माना। मारग माहिं पसारिनि ताना॥ 1॥
राति दिवस मिलि जोरिन तागा। ओटत कातत भरम न भागा॥ 2॥
भरमहि सब जग रहा समाई। भरम छोड़ि कतहूँ नहिं जाई॥ 3॥

---

1. बीजक कहिये साख धन, धन का कहै सन्देश।
आतम धन जेहि ठौर है, वचन कबीर उपदेश॥
अस्ति आत्माराम है, मन माया कृत नास्ति।
याकी पारख लहै यथा, बीजक गुरुमुख आस्ति॥ (बीजक पाठफल)

परै न पूरि दिनहु दिन छीना। तहाँ जाय जहाँ अंग बिहूना॥ 4॥
जो मत आदि अन्त चलि आई। सो मत सब उन्ह प्रगट सुनाई॥ 5॥

साखी—यह संदेशा फुरकै मानेहु, लीन्हेउ शीस चढ़ाय।
सन्तो सन्तोष सुख है, रहहु तो हृदय जुड़ाय॥ 38॥

शब्दार्थ—मारग=कल्याण मार्ग। ताना=सूत, वाणी-जाल। ओटत-कातत=रुई से बिनौले निकालते तथा सूत कातते; तात्पर्य में बातों को बारंबार दोहराते, वाद-विवाद करते। भरम न भागा=अज्ञान नहीं गया। परै न पूरि=संतुष्ट एवं आप्तकाम नहीं होते। अंग बिहूना=शून्य, उपाय-रहित। आदि अन्त=पहले से आज तक। फुरकै=सत्य करके।

भावार्थ—37वीं रमैनी का संदर्भ रखते हुए सद्गुरु कहते हैं कि मैं इस प्रकार कहता हूं, परन्तु लोग कहा नहीं मानते और अपने कल्याण-मार्ग में वाणी-जाल का ताना फैलाकर उसी में उलझ जाते हैं॥ 1॥ वे रात-दिन वाणी के तागे जोड़ते हैं; परन्तु बारम्बार उन्हीं बातों को दोहराते तथा वाद-विवाद करते हुए भी इनके मन का अज्ञान नहीं दूर होता॥ 2॥ संसार के सारे लोग भ्रम में डूबे हैं। ये भ्रांति को छोड़कर वास्तविकता में नहीं जाते॥ 3॥ इसलिए इनके मन में संतोष नहीं आता। ये दिन प्रतिदिन क्षीण एवं ज्ञानहीन होते जाते हैं और अन्त में वहां पहुंचते हैं जहां शून्य है। अर्थात अंततः उपायरहित दशा को पहुंच जाते हैं॥ 4॥ जो भ्रांतिपूर्ण विचार पहले से आज तक फैलते हुए चले आये हैं, उन्हीं बातों को भ्रांत गुरु लोग विवरणपूर्वक लोगों को सुनाते हैं॥ 5॥

संसार के लोग उन्हीं भ्रांत विचारों को सत्य करके मान लेते हैं और उन्हें सिर पर चढ़ा लेते हैं। परन्तु हे सन्तो! स्वरूप-सन्तोष एवं आत्म-सन्तोष में शाश्वत सुख है। यदि स्वरूप में सन्तुष्ट हो रहो, तो हृदय शीतल हो जायेगा॥ 38॥

व्याख्या—सद्गुरु वाणी-जाल की उलझनों को समझाने के लिए जुलाहे के ताने-बाने आदि का रूपक देते हैं। वे कहते हैं कि जुलाहे रुई को ओटकर उससे बिनौले निकालते हैं, फिर सूत कातते हैं और किसी मार्ग के लंबान या खुले स्थान में सूत के ताने फैलाते हैं। इसी प्रकार मतवादी लोग भी रात-दिन वाणी को ओटते-काटते हैं, बारम्बार उन्हीं वाणियों को दोहराते हैं, वाद-विवाद करते हैं, अपने कल्याण-मार्ग में उसके ताने फैला लेते हैं और उन्हीं में उलझ जाते हैं।

सद्गुरु ने 36वीं और 37वीं रमैनी में बताया है कि मनुष्य का अपना मूल स्वरूप चेतन है जिसको हम सरल ढंग से जीव कहते हैं और उसी को राम भी कहते हैं "राम नाम निजु जानि के, छाड़ि बस्तु खोटि॥" बस यही अपनी परम

सत्ता है। यह जीव, यह अपनी चेतना, यह अपना रामरूप आत्मा, यही अपना परम निधान, परम प्राप्तव्य, परमस्थिति की भूमिका है। इसके अलावा पंच भौतिक शरीर तथा भोग-विषय तुच्छ हैं एवं परोक्ष में भटकना भी गलत है।

सद्गुरु कहते हैं कि इस प्रकार मैं अनुमान-कल्पना एवं कर्मकांड के सारे जालों को काटकर जीव के अपने स्वरूप की ओर सबको प्रेरित करता हूं; परंतु लोग तो विषय-भोगों में एवं नाना देवी-देवताओं में उलझे हैं। वे अपने निधान को अपने जीव एवं अपनी आत्मा से पृथक खोजते हैं। जीव के अपने स्वरूप से कहीं दूर एवं पृथक परमात्मा, मोक्ष एवं कल्याण है—इस भावना में संसार के प्रायः अधिकतम लोग डूबे हैं। इस प्रकार की ही नाना वाणियां बनी हैं, लोग उन्हें ही ओट-कात रहे हैं, वाद-विवाद कर रहे हैं। लोग अपने कल्याण-मार्ग में भ्रामक वाणियों का ताना-बाना फैला रखे हैं। मकड़ी के जाल के समान वाणी-जाल बनाकर लोग उसी में उलझ रहे हैं।

"ओटत कातत भरम न भागा" बड़ा हृदयस्पर्शी वचन है। लोग नाना कथा-वार्ता सुनते हैं, स्वयं बड़ी-बड़ी पोथियों को बांचते हैं, आत्मा-परमात्मा पर वाद-विवाद करते हैं, परन्तु उनकी भ्रांति नहीं जाती। बहुत कुछ जान-समझ लेने के बाद भी परमात्मा एवं मोक्ष को अपने से अलग ही खोजते हैं।

"भरमहि सब जग रहा समाई" सारा संसार भ्रम में डूबा है। पलटू साहेब भी कहते हैं, 'भूला एक न दोय, सकल संसार है।' लोग पेड़, पत्थर, पानी में सिर पटकते तथा उनमें देवता खोजते हैं, फिर आकाश में लोक-लोकांतरों की कल्पना कर उनमें भगवान का पता लगाना चाहते हैं। यह भोला मानव बाहर सब जगह भगवान खोजता है, परन्तु अपने हृदय में नहीं खोजता। इनसान पेड़, पत्थर, पानी तथा मन की कल्पनाओं का महत्त्व मानता है, किन्तु अपने आप का महत्त्व नहीं जानता। वह जगह-जगह घुटने टेकता है, परन्तु यह नहीं सोचता 'मैं कौन हूं'। अपनी सत्ता और महत्ता का बोध हुए बिना वह दर-दर भटकता है।

इसीलिए "परै न पूरि दिनहु दिन छीना" मनुष्य को पूर्णता नहीं मिलती। वह संतुष्ट नहीं होता। वह आप्तकाम, अकाम, निष्काम, पूर्णकाम नहीं हो पाता। भला, अपने जीवतत्त्व को, अपने चेतन-स्वरूप एवं आत्माराम को छोड़कर कहां पूर्ण शांति, पूर्ण आनन्द, परमतृप्ति एवं निरन्तर संतोष मिलेगा ! जो अपने आप को नहीं पाया, अपने आप में सन्तुष्ट नहीं हुआ, वह कहां तृप्ति पायेगा ! आत्म-अस्तित्व के बोध एवं तृप्ति के बिना आदमी बाहर भोगों एवं कल्पनाओं में भटकते-भटकते दिन-प्रतिदिन विवेकहीन होता जाता है। कल्पनाओं में दौड़ने वाला अन्त में वहां पहुंचता है जहां 'अंगबिहूना' दशा है। जहां गुरुओं

द्वारा निर्गुण-निराकार, अदेख-अलेख कहकर शून्य में धकेल दिया जाता है। इसी भ्रांति में जीवन का अन्त आ जाता है और आदमी उपायरहित हो जाता है। जिसने अपने स्वरूप को नहीं पहचाना, उसको भटकने के सिवा कुछ नहीं है।

"जो मत आदि अन्त चलि आई। सो मत सब उन्ह प्रगट सुनाई॥" पहले से आज तक सर्वत्र यही मत तो फैला है कि भगवान या मोक्ष कहीं अलग मिलता है। गुरु लोग अबोधी बनकर स्वयं भटक रहे हैं और दूसरों को भटका रहे हैं। इन भ्रामक उपदेशों को लोग सत्य मानकर उन्हें सिर पर चढ़ा रहे हैं, फिर मनुष्य का कैसे कल्याण होगा!

"सन्तो सन्तोष सुख है, रहहु तो हृदय जुड़ाय॥" सद्गुरु कहते हैं कि हे सन्तो! सन्तोष में सुख है। यदि तुम सन्तुष्ट हो जाओ तो तुम्हारा हृदय शीतल हो जायेगा। तुम मन को बाहर भटकाने वाली बातों को मत मानो, न भोगों में भटको और न मन की नाना कल्पनाओं में। सारी कल्पनाएं छोड़कर अपने स्वरूप में सन्तुष्ट होओ। तुम्हारे आत्माराम से पृथक न कहीं भगवान है और न कहीं मोक्ष। तुम अपने स्वरूप में संतुष्ट होओ, फिर सदैव कृतार्थरूप हो जाओगे। सद्गुरु साखी प्रकरण में कहते हैं—"यदि तुम मुझे चाहते हो, मेरी बातों को मानते हो, तो सारी आशाओं को छोड़कर मेरे समान निष्काम हो जाओ। बस, सब सुख तुम्हारे पास उपस्थित हो जायेगा।"[1] महाराज श्री कृष्ण कहते हैं—"जो व्यक्ति आत्मा में ही प्रेम करता है, आत्मा में ही तृप्त होता है तथा आत्मा में ही सन्तुष्ट होता है, उसको कुछ करना बाकी नहीं रहता।"[2] महात्मा बुद्ध कहते हैं—"आत्मा ही आत्मा का स्वामी है तथा आत्मा ही आत्मा की गति है। इसलिए अपनी आत्मा को संयमी बनावे, अपनी आत्मा में तृप्त हो; जैसे सुन्दर घोड़े को बनिया अपने वश में करता है।"[3] यह जीवन का सर्वोच्च सूत्र याद रखो—"सन्तो सन्तोष सुख है, रहहु तो हृदय जुड़ाय॥"

सत्य संप्रदाय तथा जाति-पांति से ऊपर है

रमैनी-39

जिन्ह कलमा कलि माहिं पढ़ाया। कुदरत खोज तिनहुँ नहिं पाया॥ 1॥
कर्मत कर्म करे करतूता। वेद कितेब भये सब रीता॥ 2॥

---

1. जो तू चाहै मूझको, छाँड़ सकल की आस।
मुझ ही ऐसा होय रहो, सब सुख तेरे पास॥ (साखी 298)
2. यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ (गीता 3/17)
3. अत्ता ही अत्तनो नाथो अत्ता हि अत्तनो गति।
तस्मा सञ्ञमयत्तानं अस्सं भद्रंव वाणिजो॥ (धम्मपद 25/21)

कर्मत सो जग भौ अवतरिया। कर्मत सो निमाज को धरिया॥ 3॥
कर्मत सुन्नति और जनेऊ। हिन्दू तुरुक न जाने भेऊ॥ 4॥
साखी—पानी पवन संजोय के, रचिया यह उतपात।
शून्यहि सुरति समोय के, कासों कहिये जात॥ 39॥

शब्दार्थ—कलमा=मुसलमानों के विश्वास का मूलमंत्र 'ला इलाह इल्लिल्लाह मुहम्मद रसूलिल्लाह'—अल्लाह के अलावा कोई पूज्य नहीं, और मुहम्मद अल्लाह का संदेशवाहक है। कुदरत=प्रकृति। कर्मत=कर्म के मत से, कर्म से। रीता=खाली, व्यर्थ। भौ=हुआ। अवतरिया=जन्म। भेऊ=भेद। पानी पवन=रज-वीर्य और प्राण, या लक्षणा अर्थ से समग्र जड़ तत्त्व। संजोय=एकत्र। उतपात=झंझट। सुरति=लक्ष्य, मन। शून्यहि सुरति समोय के=मूर्ख बनकर। जात=जाय या जात-पांत।

भावार्थ—जिन्होंने कलिकाल में कलमा पढ़ाकर लोगों को मुसलमान बनाया, वे भी प्रकृति की शक्ति की खोज नहीं कर सके॥ 1॥ हिन्दू और मुसलमान कर्मकांड के मत खड़ा कर एक के बाद दूसरे कर्म करते चले जाते हैं। इनके लिए वेद और कुरान ज्ञान से खाली ही रह गये॥ 2॥ नाना सकाम कर्मों में उलझकर ही जीव बारम्बार संसार में जन्म धारण करता है। पांच वक्त नमाज पढ़ना कर्मकांड का ही रूप है॥ 3॥ यह कर्मकांड का ही बखेड़ा है जो मुसलमान पेशाब-इंद्रिय की खलड़ी कटाते हैं और हिन्दू द्विज लोग जनेऊ पहनकर गायत्री जपते हैं। ये दोनों ही धर्म के सच्चे रहस्य को नहीं जानते॥ 4॥

कर्माध्यास-वश ही जीव रज-वीर्य और प्राण अथवा जड़तत्त्वों के संयोग से शरीर धारण करता है, जो जीव के लिए एक झंझटरूप खड़ा होता है। यह किससे कहा जाये कि मनुष्य अपने मन को शून्य में खो रहा है।

अथवा पानी-पवन के संयोग से यह झंझट रूपी शरीर खड़ा होता है। मूर्ख बनकर इसे किस जाति का कहा जाये !॥ 39॥

व्याख्या—मुसलमानों को यह गर्व है कि कुरान खुदाई किताब है, इसलाम खुदाई मत है तथा मुहम्मद खुदाई दूत हैं। इन तीनों की शरण में ही संसार की सच्चाई जानी जा सकती है और इनसान को स्वर्ग मिल सकता है। केवल अल्लाह ही पूज्य है तथा उसका रास्ता बताने वाला मात्र मुहम्मद है। सद्गुरु कबीर कहते हैं कि कलिकाल में हजरत मुहम्मद तथा उनके पीछे के मुल्लाओं ने लोगों को कलमा पढ़ा-पढ़ाकर उन्हें मुसलमान तो अवश्य बनाया; परन्तु वे स्वयं कुदरत एवं विश्व-सत्ता का रहस्य नहीं जान सके।

विश्व अनन्त देश–काल–व्यापी है। अर्थात देश भी अनन्त है और काल भी अनन्त है। हम एक यान में चलें, जो एक सेकेंड में अरबों किलोमीटर चलता हो और वह अरबों वर्ष चलता रहे, तो भी देश की—शून्याकाश की सीमा नहीं आयेगी। प्रकाश की गति एक सेकेंड में तीन लाख किलोमीटर है, और ऐसे भी तारे हैं जहां से हमारी पृथ्वी पर प्रकाश आने में अरबों वर्ष लग जायें। परन्तु वह तारा भी मानो एक–दो फर्लांग की दूरी पर ही है; क्योंकि देश (शून्याकाश) अनन्त है। इसी प्रकार खरबों वर्ष भी महाकाल के बीच में एक सेकेंड के तुल्य हैं। देश और काल अनन्त हैं और अनन्त देश–काल–व्यापी विश्व भी अनन्त है। इस अनन्त विश्व के सामने हमारी पृथ्वी एक कण के तुल्य है। इस पृथ्वी पर का कोई मत यह कहे कि इस अनन्त विश्व को चलाने वाली शक्ति उसी के मजहब की धरोहर है, अथवा उस शक्ति ने उसी के मजहब के आदि पुरुष को संसार भर को तारने के लिए भेजा है तो यह सब कुदरत एवं विश्व सत्ता को न समझने का परिणाम है। जितने मत तथाकथित ईश्वर के एकाधिकारी ठेकेदार बनते हैं, यदि वे किसी दूसरे लोक में चले जायें, जहां मनुष्य रहते हों तो वे देखेंगे कि उनके मत का, उनके ग्रन्थ का तथा उनके परिभाषित धर्म का वहां चिह्न एवं पता भी नहीं है। ऐसी स्थिति में कोई मत यह कहे कि हमारे मजहब, पुरुष एवं ग्रन्थ ही मनुष्य के कल्याणकारी हैं, शेष नास्तिकता के मार्ग पर हैं तो यह कुदरत एवं विश्वसत्ता को कहां समझा गया।

दाढ़ी, चोटी, खतना, जनेऊ, रोजा, नमाज, पूजा, मन्दिर, मस्जिद, गिरजा, गुरुद्वारा, छापा, तिलक, राम, रहीम, गॉड आदि शब्द, ये सारे कर्मकांड के विस्तार मनुष्यों ने किये हैं। इनके द्वारा जीवन में एक संयम–सदाचार का बीजारोपण हो सकता है; परन्तु इन्हीं को परम सत्य मानकर और मूलधारा जो मानवीय विवेक एवं मानवीय गुण है उनसे हटकर मनुष्य का कल्याण कैसे हो सकता है ! कर्मकांडों को ही परम सत्य मान लेने से वे मनुष्य को विभाजित करते हैं। खतना और जनेऊ को मुसलमान तथा हिन्दुओं ने लोह की कितनी पक्की लकीर मान ली है ! विश्व की सत्ता वही है, मनुष्य वही हैं, परन्तु अपने–अपने कुछ काल्पनिक परिभाषित शब्द एवं कर्मकांडों को लेकर एक मत वाला दूसरे मत वाले से कितना दूर अपने को मानकर अलग खड़ा है। यह सब देखकर सत्यद्रष्टा कबीर कह बैठते हैं "हिन्दू तुरुक न जाने भेऊ" हिन्दू–तुरुक कबीर साहेब के सामने प्रासंगिक थे। परन्तु यह कहकर वे मानो सारे मतवादियों को कह देते हैं। कबीर साहेब का यह कथन उन सबके लिए समझना चाहिए जो स्थूल नाम–रूपों एवं कर्मकांडों को लेकर सत्य को खण्डित करने लगते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे लोगों के लिए वेद, कुरान, बाइबिल

आदि सब सत्य-ज्ञान से खाली हैं। जो सार्वभौमिक सत्य को नहीं समझ सकता, उसके लिए वेद-कितेब रीते ही हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि जीव नाना कर्माध्यासों एवं मान्यताओं में फंसकर इस संसार में भटक रहा है। उसे और मान्यताओं एवं कर्मकांडों के बन्धनों में मत डालो।

"पानी पवन संजोय के, रचिया यह उतपात। शून्यहि सुरति समोय के, कासों कहिये जात॥" यहां पानी से अर्थ रज-वीर्य तथा पवन से प्राण है, जिनके संयोग से इस उपद्रव रूप शरीर की रचना होती है। लक्षणा दृष्टि से पानी-पवन से सारे जड़ तत्त्व का अर्थ माना जा सकता है। अर्थात जड़ तत्त्वों से शरीर की रचना होती है। हिन्दू हो या मुसलमान या अन्य नामधारी, मानव मात्र के शरीर की रचना का प्रकार एक ही है। सबके शरीर में वही जड़ तत्त्व लगे हैं और सबके अन्दर वही एक-सा चेतन है। इन वास्तविकताओं को न समझना अपनी सुरति को शून्य में समोना है। अर्थात अपने मन को नकारात्मक स्थिति में ले जाना है। उसे मूढ़ बनाना है। परन्तु यह सब किससे कहा जाये ! समझने वाले से ही कहा जा सकता है, जो नहीं समझता उसके आगे सिर मारने से क्या होगा !

"शून्यहि सुरति समोय के, कासों कहिये जात॥" का दूसरा अर्थ थोड़ा भिन्न किया गया है। 'शून्यहि सुरति समोय के' का अभिप्राय है मूढ़ होना। अपने मन को शून्य, जड़ एवं मूढ़ बना देना है यदि मानव में विभिन्न जाति-पांति की कल्पना की जाती है तो। अर्थात मूर्ख बनकर मनुष्य को किस जाति का कहा जाये ! सार यह है कि एक मानव जाति में भिन्न-भिन्न जातियों की कल्पना करना मूढ़ता है। मानव की केवल एक जाति है।

इस रमैनी के आरम्भ में "जिन्ह कलमा कलि माहिं पढ़ाया" हजरत मुहम्मद का संकेत है। उन्होंने ही कलिकाल में कलमा पढ़ाकर लोगों को मुसलमान बनाना शुरू किया था। अतएव उनके विषय में यहां संक्षिप्त परिचय प्राप्त करें।

हजरत मुहम्मद

अरब के प्रधान नगर मक्का में 'अब्दुल्लाह' की पत्नी 'आमना' से 560 ई. में हजरत मुहम्मद का जन्म हुआ। जब वे गर्भ में थे, तभी उनके पिता का देहावसान हो गया था। हजरत मुहम्मद के बाल्यकाल में उनकी माता (आमना) का भी देहावसान हो गया। आठ वर्ष की अवस्था से ही अपने चाचा 'अबूतालिब' पर वे अवलंबित हो गये।

हजरत मुहम्मद एक गरीब घर के बच्चे थे, परन्तु प्रतिभावान पुरुष थे। व्यक्ति के धन, जाति, विद्या आदि का महत्त्व नहीं होता, महत्त्व होता है उसके ज्ञान, आचरण, प्रतिभा एवं मानवता का।

कुरैश वंश की एक धनवान विधवा 'खदीजा' नाम की स्त्री के यहां उन्होंने पचीस वर्ष की अवस्था में नौकरी कर ली। पीछे से 'खदीजा' ने उन्हें पति रूप में वरण कर लिया। इस प्रकार यह उनका पहला विवाह हुआ।

चालीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने कुरान बनाना आरम्भ किया, और दुराचरण तथा मूर्ति-पूजा का विरोध कर सदाचार तथा ईश्वर की पूजा का प्रतिपादन करना आरम्भ किया। इसीलिए विरोधी मत वाले उनके शत्रु बन गये, परन्तु जब तक उनके चाचा 'अबूतालिब' जीवित रहे तब तक उनको कोई खुलकर सता न सका। हजरत मुहम्मद की तिरपन वर्ष की अवस्था हुई, तब उनके चाचा का देहावसान हो गया; अतः विरोधी लोग हजरत को बहुत सताने लगे। इस स्थिति को देखकर वे मदीना चले गये। मदीना जाने के तीन वर्ष पूर्व ही उनकी पहली पत्नी 'खदीजा' की मृत्यु हो चुकी थी। हजरत मुहम्मद की कुल पत्नियां बारह बताई जाती हैं, वे इस प्रकार हैं—

1. खुदैजा-तुल-कुबरा	(खुबैलिद की पुत्री)
2. आयशा	(अबूबक्र की पुत्री)
3. सूदा	(ज़मअः की पुत्री)
4. हफ़्सा	(उमर की पुत्री)
5. जैनब	(ख़जीयः की पुत्री)
6. जवेरिया	(हारस की पुत्री)
7. उम्मेहबीबया	(अबू सुफ़यान की पुत्री)
8. सफ़ीया	(सरदार हुय्यी बिन अख्तब की पुत्री)
9. मारया कबतीया	(मिश्र के बादशाह द्वारा नजराने में प्राप्त)
10. मैनूना	(हारस की पुत्री)
11. उम्मेसलमा	(अबी उम्मयः की पुत्री)
12. रेहाना	(यजीद की पुत्री)[1]

उपर्युक्त स्त्रियों में से 'जैनब' हजरत मुहम्मद के पोष्य पुत्र 'जैद' की पत्नी थी, परन्तु दोनों में न पटती देखकर परिस्थितिवश हजरत मुहम्मद ने उससे

1. मध्यकालीन हिंदी काव्य में सांस्कृतिक समन्वय—डॉ. अब्दुल बिसमिल्लाह। (प्रकाशक—हिंदुस्तान एकैडमी, इलाहाबाद)

अपना विवाह कर लिया। वे पहले यह करने में सकुचाते थे कि लोग कहेंगे कि मुहम्मद ने पतोह से विवाह कर लिया। उनके सन्देहशमन के लिए कुरान में खुदा की आयत (मन्त्र) उतरी, वह इस प्रकार है—

"भगवान से डर, तू मनुष्यों से डरता है, किन्तु परमेश्वर से डरना ही सर्वोत्तम है। जब 'जैद' की उससे इच्छा पूर्ण हो गयी तो हम (ईश्वर) ने उसे (जैनब को) तुझे ब्याह दिया। यह इसलिए कि मुसलमानों पर अपने मौखिक (पुत्रों) की स्त्रियों से ब्याह करने में हरज न हो।"[1]

इस प्रकार अरब देश में इसलाम का पर्याप्त प्रचार कर तिरसठ (63) वर्ष की अवस्था में हजरत मुहम्मद ने अपनी जीवनलीला समाप्त की।

हजरत मुहम्मद के जमाने में अरब में चोरी, हिंसा, व्यभिचार आदि अत्याचार व्याप्त थे। अतः उन्होंने नरक का भय तथा स्वर्ग और ईश्वर-प्राप्ति का लालच देकर लोगों को बुरे मार्ग से छुड़ाकर बहुत-कुछ अच्छे मार्ग पर लाया। उस जमाने के लिए उनका ज्ञान काफी था, परन्तु वर्तमान में प्रिय मुसलमान भाइयों को सत-असत का स्वतन्त्र विवेक करना चाहिए। पुरानी या नयी किताबों के हरफों में अपनी अक्ल को श्रद्धा की जंजीर से बांध नहीं रखना चाहिए। श्रद्धा की दीवार में जब तक विवेक के झरोखे नहीं खोले जायेंगे, तब तक न सत्य के दर्शन होंगे और न मानवता आयेगी।

रमैनी-40

आदम आदि सुधि नहिं पाई। मामा हवा कहाँ ते आई॥ 1॥
तब नहिं होते तुरुक औ हिन्दू। माय के रुधिर पिता के बिन्दू॥ 2॥
तब नहिं होते गाय कसाई। तब बिसमिल्ला किन फुरमाई॥ 3॥
तब नहिं होते कुल और जाती। दोजख बिहिस्त कौन उतपाती॥ 4॥
मन मसले की सुधि नहिं जाना। मति भुलान दुइ दीन बखाना॥ 5॥
साखी—संजोगे का गुण रवै, बिजोगे का गुण जाय।
जिभ्या स्वारथ कारणे, नर कीन्हें बहुत उपाय॥ 40॥

शब्दार्थ—आदम=यहूदियों, इसाइयों तथा मुसलमानों द्वारा माना हुआ (हिन्दुओं के ब्रह्मा के समान) आदि सृष्टि का प्रथम मानव। आदि=सृष्टि का आरम्भ। सुधि=पता। मामा=माता, अरबी में 'मामा' का अर्थ माता या सेविका होता है। हवा=हव्वा (जगज्जननी), आदम की पत्नी। फुरमाई= आज्ञा देना। मन मसले=मनःकल्पित कहावत, कहानी। रवै=प्रकट या विकास होना। जाय=नष्ट।

---

1. (33 : 5 : 3) इसलाम धर्म की रूपरेखा।

भावार्थ—आदम स्वयं अपने जन्म का पता नहीं जानते थे। वे तो इतना भी नहीं जानते थे कि उनकी पत्नी हव्वा कहां से आ गयीं॥ 1॥ सृष्टि के आदि में मुसलमान और हिन्दू नहीं थे और न नारी का रज था एवं न पुरुष का वीर्य था॥ 2॥ उस समय न गाय थी और न कसाई था। तब बिस्मिल्ला कहकर जीव-वध करने की आज्ञा किसने दी?॥ 3॥ उस समय न कुल-परम्परा थी और न कोई जाति एवं मजहब थे, तब नरक[1] और स्वर्ग का निर्धारण किसने किया कि अमुक मजहब वाला स्वर्ग में जायेगा तथा बाकी नरक में जायेंगे॥ 4॥ वस्तुतः लोग अपने मन की कल्पित कहानियों का रहस्य नहीं समझ सके, इसलिए बुद्धि भ्रमित हो गयी और एक मानव में दो दीनों की व्याख्या कर डाली॥ 5॥

अपनी उपयुक्त योग्यता एवं संयोग पाकर किसी कार्य का संपादन होता है और उसके अपने गुणों का प्रकटीकरण तथा विकास होता है। और जब योग्यताओं का बिखराव हो जाता है तब वह कार्य एवं उसके गुण विलीन हो जाते हैं। लोगों ने अपने जीभ-स्वाद के लिए बलि-कुर्बानी आदि नाना उपाय कर रखे हैं॥ 40॥

---

1. मुसलमानों के स्वर्ग-नरक हिन्दुओं के समान ही वर्णन किये गये हैं। स्वर्ग में उत्तम बाग होंगे। मधु आदि मधुर पेय पदार्थों की नहरें होंगी। उत्तम-उत्तम भवन तथा बिस्तर होंगे। सुन्दर-सुन्दर तरुणियां और तरुण भी सेवा में लगे होंगे, इत्यादि।

नरक तो बड़ा भयंकर होगा, वहां सदैव दहकती हुई आग होगी, पापी जीव उसमें जलाये जायेंगे। एक विद्वान ने मुसलमानों के नरक का थोड़ा नमूना इस प्रकार दिया है—

"इसलाम में नरक और स्वर्ग बड़े महत्त्व की वस्तु माने गये हैं। मुसलिम-नरक का वर्णन बड़ा भयानक है। इसके सरदार को मलिक कहते हैं। उसकी सहायता के लिए उन्नीस फरिश्ते हैं। इन फरिश्तों के हर एक के दाहिनी तरफ सत्तर हजार और बायीं तरफ सत्तर हजार हाथ हैं। हर हाथ में सत्तर हजार हथेलियां हैं और हर हथेली पर सत्तर हजार उंगलियाँ हैं। हर उंगली पर एक-एक अजगर हैं। हर अजगर के सिर पर एक-एक सांप है। हर सांप की लम्बाई सत्तर हजार वर्ष की राह है। हर सांप के सिर पर एक बिच्छू है। यदि यह बिच्छू नरकवासियों को एक बार काट खाये, तो सत्तर हजार वर्ष तक दर्द रहे। बायें हाथ की उंगली पर एक-एक आग का खंभा भी है। नरक के सात द्वार हैं। एक द्वार से दूसरे द्वार तक सत्तर हजार वर्ष की राह है। नरक की आग के बारे में यह बताया गया है कि एक हजार वर्ष तक वह दहकायी गयी, तो लाल हुई, फिर एक हजार वर्ष धौंकी गयी तो सफेद हो गयी, फिर एक हजार वर्ष सुलगायी गयी तो काली हो गयी और कयामत तक ऐसी ही रहेगी।" (सरिता, 11/1955)

वास्तव में जैसे दृश्य-जड़ पदार्थ नित्य हैं वैसे द्रष्टा चेतन पदार्थ भी नित्य हैं। कर्मवासना-वश जीव नाना शरीरों को धारण करते रहते हैं। पूर्वजन्मों के कर्मानुसार वे उत्तर-उत्तर के जन्मों को तथा उनमें सुख-दुखों को पाते रहते हैं। यह सुख ही स्वर्ग है और दुख ही नरक है। इसके अतिरिक्त स्वर्ग-नरक का वर्णन केवल कल्पित है।

व्याख्या—यहूदी, ईसाई, इसलामी आदि यह मानते हैं कि हमारे महापुरुष पैगंबर हैं, ईश्वर के संदेशवाहक हैं, हमारी किताबें ईश्वरीय हैं तथा हमारे मजहब ईश्वरीय एवं राहेजन्नत हैं, स्वर्ग-पथ हैं। हमारे बाद सारे मजहब वाले नरक के राही हैं। इस संकुचितता से ब्राह्मण-परम्परा भी नहीं बची है। इस संकुचितता के मूल में है विश्व-सत्ता की समग्रता को न समझना।

उक्त मताभिमान के मर्दन के लिए सत्यद्रष्टा कबीर साहेब सभी मतावलंबियों को उनकी मान्यताओं के मूल तथा विश्व-सत्ता के मूल एवं सहजदशा की ओर ध्यान दिलाते हैं। पीछे 39वीं रमैनी में आप कह आये हैं कि कलिकाल में कलमा पढ़ाकर लोगों को मुसलमान बनाने वाले हजरत मुहम्मद भी विश्व-सत्ता के रहस्य को नहीं जान सके। अन्यथा उनका मजहब यह नहीं कहता कि इसलाम ही स्वर्ग का पथ है, बाकी मतावलंबी काफिर एवं नकरगामी हैं और प्रलय तक मुहम्मद की ही पैगंबरी रहेगी। ये सारी संकुचित विचारधाराएं विश्व-सत्ता एवं ज्ञान की विशालता को न समझने का फल है। इसके बाद कबीर साहेब ने मानव-समाज में विभाजक रेखा पारने वाले कर्मकांडों की भी कसौटी की। उन्होंने खतना तथा जनेऊ को भी मानव-कल्पित बताया।

अब इस रमैनी में वे और पूर्व की परम्परा को लेते हैं जिसमें इसलामियों के साथ-साथ यहूदी तथा ईसाई भी आ जाते हैं। यहूदी, ईसाई तथा इसलामियों का सबसे पहला पैगंबर आदम माना जाता है जैसे हिन्दुओं में ब्रह्मा। बाइबिल में लिखा है कि यहोवा परमेश्वर ने छह दिनों में दुनिया बनायी तथा सातवें दिन विश्राम किया और उस दिन को पवित्र ठहराया। उसके बाद उसने मिट्टी लेकर आदम को बनाया और उसकी नाक में प्राण फूंक दिये। आदम जीवित हो गया। उसके बाद उसने पशु-पक्षी आदि बहुत प्राणी बनाये, किन्तु उनमें कोई आदम के साथ रहने योग्य नहीं था। तब उसने आदम को गहरी नींद में डालकर उसकी बायीं पसली से एक नारी बनायी और उसे आदम को दिया। उसका नाम हव्वा रखा।[1]

कबीर साहेब बाइबिल के अनुसार ही उन्हें बताना चाहते हैं कि जो तुम लोगों का प्रथम पैगंबर है, वह अपनी उत्पत्ति तो जानता ही नहीं था, अपनी पत्नी की उत्पत्ति भी नहीं जानता था। यह कहकर सद्गुरु यह बताना चाहते हैं कि संसार का कोई भी महापुरुष हो ब्रह्मा, विष्णु, महेश, राम, कृष्ण, आदम, मूसा, ईसा, मुहम्मद आदि सब मानव के बच्चे हैं। सब अबोध होकर पैदा होते हैं। इस संसार में आकर वे सीखते-समझते हैं तथा अपनी-अपनी मति के

---

1. बाइबिल, उत्पत्ति प्रकरण, पृ. 1/4।

अनुसार अपने विचार रखते हैं। उनमें से कोई भी आकाश से आया हुआ पुरुष नहीं है। कोई भी अतिमानवीय नहीं है।[1] अतिमानवीय की कल्पना ही मानव के साथ छल करना है, जिसमें सारी सांप्रदायिक विषमताएं फैलती हैं, और ज्ञान की जगह पर अज्ञान फैलता है।

यहूदी, ईसाई, मुसलमान तथा हिन्दू अपने-अपने ढंग से सृष्टि का आरम्भ मानते हैं और बताते हैं कि कोई ऐसा समय था, जब सृष्टि नहीं थी। एक समय सृष्टि शुरू हुई। ईश्वर ने संसार तथा मनुष्यादि को बना दिया। सद्गुरु कहते हैं कि क्या ईश्वर भी सबका अलग-अलग था। यदि ईश्वर एक ही था, तो उसने एक ही प्रकार मनुष्य बनाया होगा। उसने हिन्दू-मुसलमान, यहूदी-ईसाई बनाकर उन्हें आपस में लड़ने के लिए तो नहीं तैयार किया होगा। कोई भी समझदार पिता यह नहीं चाहता है कि उसके बच्चे आपस में लड़ें और वे एक दूसरे को नरकगामी बतावें। फिर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान एवं सर्वत्र व्याप्त कहा जाने वाला ईश्वर कब ऐसा चाहा होगा कि मानव-समाज में नाना संप्रदाय बन जायें और हर संप्रदाय को मैं अलग-अलग किताबें दे दूं और उनके यहां अलग-अलग पैगंबर एवं अवतार भेज दूं, उनके विचार एक दूसरे से न मिलें तथा वे एक दूसरे का विरोध भी करें और एक दूसरे को नास्तिक, काफिर तथा नापाक भी कहें, और इतना ही नहीं, वे एक दूसरे का गला भी काटने के लिए तैयार रहें।

सृष्टि के शुरू में तुरुक और हिन्दू नहीं थे, कुल और जाति नहीं थे, संप्रदाय और मजहब नहीं थे, तब स्वर्ग-नरक की व्याख्या किसने की, कि मेरे मजहब वाले स्वर्ग में जायेंगे तथा बाकी लोग नरक में ! उस समय गाय और कसाई भी नहीं थे, तब बिस्मिल्ला कहकर कुर्बानी के नाम पर जीवहत्या करने की आज्ञा किसने दी? यदि परस्पर विद्वेषात्मक संप्रदायवाद तथा बलि एवं कुर्बानी के नाम पर मूक पशुओं की हत्या का विधान ईश्वर ने ही कर दिया था, तब यह रोग असाध्य है। सुधार की कोई गुंजाइश ही नहीं है। यदि यह सब मानवकृत है, तो उसे चाहिए कि वह अपनी इन गलतियों को स्वीकारे और इनका सुधार करे।

सद्गुरु कहते हैं कि मानव की जातीय एकता, उसकी धार्मिक एकता तथा उसकी आध्यात्मिक एकता परम सत्य है। इस सत्य को विखण्डित करने वाली सांप्रदायिक विभिन्नता, विरोध एवं संकुचितता और धर्म के नाम पर जीव-हत्यादि मनुष्य के अज्ञान का फल है। सद्गुरु कहते हैं ''मन मसले की सुधि

---

1. कबीर साहेब स्वयं को भी दूसरों के समान मानव ही बताते हैं। यथा—
तहिया हम तुम एकै लोहू। एकै प्राण बियापै मोहू॥ (रमैनी 1)

नहिं जाना। मति भुलान दुइ दीन बखाना॥'' मनुष्यों ने अपने मन-मसले की खबर नहीं पायी। इसलिए उसने अपने मन के भुलावे में पड़कर एक मानव में दो दीनों की व्याख्या कर डाली। कबीर साहेब के सामने हिंदू और मुसलमान—इन दो दीनों के द्वंद्व थे। इसलिए वे दो दीन कहते हैं। परन्तु उनके व्यापक अर्थ में यहां दो दीन का शाब्दिक अर्थ न कर उसका लाक्षणिक अर्थ करना चाहिए। दो दीन से अर्थ है अनेक मजहब। वैसे अनेक संप्रदाय होना बुरा नहीं है; किन्तु जब वे यह समझें कि संप्रदाय की उपयोगिता इतनी ही है कि एक संप्रदाय में बहुत-से लोग एक साथ मिलकर सत्य की खोज करें एवं साधना करें। यह नहीं कि वे अपने संप्रदाय को सत्य का एकाधिकारी ठेकेदार मान लें, और शेष को नरकगामी।

पूरे मानव की एक जाति है मानव, पूरे मानव का एक धर्म है मानवता तथा पूरे मानव में एक ही प्रकार की आत्मा है चेतन। अत: संप्रदायों, मजहबों एवं मतों की भिन्नता नकली है। सत्यज्ञान एवं सदाचार ही मानव के लिए कल्याणदायी हैं।

संसार के जितने मूल द्रव्य हैं, वे नित्य हैं। न उनकी उत्पत्ति होती है और न उनका विनाश होता है। वे अनादि हैं तथा अनन्त हैं। अर्थात वे पीछे सदा से रहे हैं और आगे सदा रहेंगे। सद्‌गुरु कहते हैं ''संजोगे का गुण रवै, बिजोगे का गुण जाय।'' अर्थात किसी क्षेत्र में उन मूल द्रव्यों का उचित संयोग होना सृष्टि है और उनका वियोग होना प्रलय है। न तो नये सिरे से सृष्टि होती है और न सब कुछ का प्रलय होता है। मूल जड़ तत्त्व एवं द्रव्य नित्य हैं। उनमें क्रिया एवं गुण-धर्म नित्य हैं। इसलिए उनके द्वारा सृष्टि भी नित्य है। मूल जड़ तत्त्वों का उचित संयोग हुआ तो वर्षा हो गयी, उनकी योग्यताओं का अभाव हो गया, वर्षा नहीं हुई। उपयुक्त योग्यता पाकर वनस्पत्तियां उग आयीं, योग्यताओं का वियोग हो गया, वनस्पतियां सूख गयीं। बस, सृष्टि का यही काम है कि संयोग से गुणों का विकास होता है तथा वियोग से उनका बिखराव होता है। परन्तु योग्यता-अयोग्यता, गुणों एवं कार्यों के उद्‌भव-विनाशादि सब मूल द्रव्यों में ही तो होंगे। उनके रहे बिना यह सब कहां होगा! समुद्र है तो उसमें ज्वार तथा भाटे आते हैं। यदि समुद्र ही न हो तो ज्वार-भाटे कहां आयेंगे। इसी प्रकार मूल द्रव्य जड़ और चेतन न हों तो सृष्टि की घटना कहां घटेगी! जीव अपने कर्म-वश देह धरते हैं तथा प्रकृति अपने स्वभाववश संयोग-वियोग करती है और इसी में सृष्टि फलती है।

''जिभ्या स्वारथ कारणे, नर कीन्हें बहुत उपाय॥'' परन्तु लोग अपने जीभ-स्वाद-वश अपनी-अपनी कल्पना पेश करते हैं कि ईश्वर ने सृष्टि कर दी है।

उसने मनुष्यों के खाने के लिए अन्य जानवरों को बना दिया है कि वे उनकी बलि या कुर्बानी के नाम पर हत्या करें और देव तथा ईश्वर को अर्पित कर उन्हें खा जायें। यह सब जीभ-स्वाद का चक्कर एवं जंगलीपन है।

दुखमय संसार-समुद्र और सुखस्वरूप राम

रमैनी-41

अम्बु कि राशि समुद्र की खाई। रवि-शशि कोटि तैंतीसों भाई॥ 1॥
भँवर जाल में आसन माँड़ा। चाहत सुख, दुख संग न छाड़ा॥ 2॥
दुख को मर्म न काहू पाया। बहुत भाँति के जग भरमाया॥ 3॥
आपुहि बाउर आपु सयाना। हृदया बसै तेहि राम न जाना॥ 4॥
साखी—तेही हरी तेहि ठाकुर, तेही हरी के दास।
ना यम भया न जामिनि, भामिनि चली निरास॥ 41॥

शब्दार्थ—अम्बु कि राशि=पानी की ढेरी, जड़ द्रव्यों का समूह। भँवर=पानी का चक्कर, माया का चक्कर। माँड़ा=जमाया, सजाया। बाउर=पागल। यम=संयम। जामिनि=जामिन, जमानत करने वाला, जिम्मा लेने वाला। भामिनि=भामिनी, अपने आप को ईश्वर की पत्नी मानने वाला।

भावार्थ—जैसे समुद्र की गहराई में पानी का अथाह सागर भरा होता है, वैसे अनंत विश्व-ब्रह्मांड जड़ प्रकृति-कणों से भरा है। अर्थात यह संसार एक विशाल सागर है। हे भाई! इसमें सूर्य, चंद्रमा और तैंतीस करोड़ देवता भी चक्कर काट रहे हैं॥ 1॥ सभी जीवों ने संसार-सागर के भंवर-जाल में आसन जमा रखा है। वे चाहते तो हैं सुख, परन्तु दुख उनका साथ नहीं छोड़ता॥ 2॥ कोई यह नहीं समझ पा रहा है कि दुख का रहस्य क्या है, एवं दुख क्यों हो रहा है। जगत के जीव अनेक प्रकार से उलझे हुए भटक रहे हैं॥ 3॥ मनुष्य अपने स्वरूप को न समझकर स्वयं पागल बना हुआ है और जब अपने स्वरूप को समझ लेता है, तब वह स्वयं ज्ञानी हो जाता है। लोग यह नहीं समझते कि जो हृदय में चेतन निवास करता है, वही राम है॥ 4॥

वही हरि है, वही स्वामी है और वही भूलवश अपने से अलग हरि मानकर उसका सेवक बनता है। परन्तु व्यक्ति की अपनी आत्मा से भिन्न कोई ऐसा हरि नहीं, जो मिलता हो। इसलिए ऐसे लोगों की लक्ष्यप्राप्ति में न उनका संयम काम देता है और न इस विषय में जमानत करने वाले एवं जिम्मा लेने वाले गुरु काम देते हैं। फलतः अपने आप को ईश्वर का दास एवं उसकी बहुरिया मानने वाले भावुक जीव संसार से निराश होकर चल देते हैं॥ 41॥

व्याख्या—आप जानते हैं कि समुद्र अम्बु की राशि है, जल का महान समूह है। इसी प्रकार यह संसार जड़प्रकृति का महासागर है। प्रमेय से प्रमाण सदैव बड़ा होता है। जैसे किसी जल से भरे हुए बड़े तालाब को देखकर लोगों के मुख से निकल पड़ता है कि यह तो सागर की तरह लहरा रहा है। परन्तु यहां प्रमेय से प्रमाण छोटा है। प्रमेय संसार है तथा प्रमाण समुद्र है। संसार अनंत है, समुद्र बहुत बड़ा होने पर भी सीमित है। आखिर समुद्र भी तो संसार का एक क्षुद्र अंश ही है। परन्तु संसार के लिए समुद्र को छोड़कर दूसरा उदाहरण है ही नहीं। इसीलिए सदा से विचारक 'संसार-समुद्र' कहते आये हैं। सद्‌गुरु कहते हैं कि इस संसार-सागर में चांद, सूर्य तथा तैंतीस कोटि देवता भी चक्कर काट रहे हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार अग्नि, पृथ्वी, वायु, अंतरिक्ष, सूर्य, देवलोक, चंद्रमा और नक्षत्र गण—ये आठ वसु हैं। दस इंद्रियां (या दस प्राण) तथा मन—ये ग्यारह रुद्र हैं। बारहों महीने आदित्य हैं। गरजने वाला बादल इंद्र है, यज्ञ प्रजापति है। ये तैंतीस देवता हैं। कोटि का अर्थ श्रेणी भी होता है। अर्थात तैंतीस श्रेणी के देवता। उपर्युक्त जो तैंतीसों देवता माने गये हैं, निरे जड़ हैं।

पुराकाल में लोग चांद, सूर्य एवं तारों को देवता मानते थे। इसके अलावा मनुष्यों की एक जाति थी जिसको देवता कहते थे। ये शायद भारत के उत्तरी छोर हिमालय की तराइयों में बसते थे और बहुत विलासी होते थे। सद्‌गुरु कबीर का कथन दोनों के लिए ही उपयुक्त है। चांद, सूर्य, तारे आदि भी संसार-सागर के भंवर में घूम रहे हैं और देवता नाम से विदित मानव भी संसार-सागर में भटकने वाले ही थे।

सद्‌गुरु ने साखी प्रकरण में "भँवरजाल बगुजाल है, बूड़े बहुत अचेत। कहहिं कबीर ते बाँचि हैं, जाके हृदय विवेक॥"[1] कहकर 'भँवरजाल' तथा 'बगुजाल' दो जालों का वर्णन किया है। 'भँवरजाल' का अर्थ है स्थूल प्राणी-पदार्थों का मोहजाल तथा 'बगुजाल' का अर्थ है वाणीजाल एवं शास्त्र-जाल। जीव भंवरजाल में पड़कर विषयी होता है तथा बगुजाल में पड़कर नाना कल्पनाओं में भ्रांत होता है। भंवरजाल खानीजाल तथा बगुजाल वाणीजाल है। यहां सद्‌गुरु कहते हैं "भँवरजाल में आसन माँड़ा" अर्थात विषय-वासनाओं के जाल में जीव ने आसन जमा रखा है। यहां का 'भंवरजाल' व्यापक अर्थ लिए हुए है। गहरे पानी में जगह-जगह भंवर होते हैं। वहां का पानी गोलाई में चक्कर काटता रहता है। इस संसार-सागर में जड़ परमाणुओं की क्रिया रूपी भंवर में नाना पदार्थों का निरंतर निर्माण एवं विनाश होता रहता है। जैसे समुद्र

1. बीजक, साखी 92।

में निरंतर लहर एवं ज्वार–भाटे उठते रहते हैं, वैसे संसार में निरंतर क्रिया, परिवर्तन एवं निर्माण–विनाश की लीला चलती रहती है। यदि हम शरीर तथा संसार के सारे पदार्थों को रासायनिक दृष्टि से देख पाते तो हमें दिखाई देता कि वे एक भंवर के समान नाच रहे हैं जिनसे अरबों कण निरंतर निकलते और मिलते हैं। जिन अपने या अपने प्रियजनों के शरीर को हम बड़ा सत्य मानते हैं, वे जड़–कणों के एक भंवर हैं। प्राणियों के सारे शरीर, मकान, मशीन एवं सारे दृश्यमान पदार्थ असंख्य सूक्ष्म जड़कणों के भंवर हैं। अतएव हमारे जितने सांसारिक सुख के साधन हैं, सब तो भंवर की तरह बदलने वाले हैं और इन्हीं में हमने अपना आसन जमा रखा है। इसलिए "चाहत सुख, दुख संग न छाड़ा" हम चाहते तो हैं सुख, लेकिन दुख हमारा पिंड नहीं छोड़ता।

कल्पना करें कि 'हहा हहा' करते हुए अथाह समुद्र की निरंतर लहरों के झकझोर में हम पड़ जायें तो हमारी क्या दशा होगी? परन्तु इससे कहीं अधिक जीव संसार की लहरों में पड़ा नाच रहा है। अविद्या–वश उसको कहीं ओर–छोर नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में सुख कहां है? जहां सब कुछ क्षणभंगुर है, वहां पर जमकर जो बैठना चाहेगा और उन समुद्र के फेन सदृश भोगों से स्थायी सुख चाहेगा, उसको केवल दुख मिलने हैं।

"दुख को मर्म न काहू पाया। बहुत भाँति के जग भरमाया॥" सद्गुरु कहते हैं कि कोई यह भेद नहीं जान पाता कि मैं सुख चाहते हुए भी दुख क्यों पा रहा हूं। हर नवयुवक को यह आशा रहती है कि धन, मकान, पत्नी, बच्चे आदि इकट्ठे हो जाने पर मैं पूर्ण सुखी हो जाऊंगा। इस आशा से आदमी आधी जिन्दगी इनको पाने की तैयारी में लगाता है। वह पढ़ता–लिखता है। इसके बाद इन चीजों का संग्रह करता है। संग्रह हो जाने के बाद वह देखता है कि सुख की अपेक्षा दुख बहुत अधिक बढ़ गया है। सामान्य की बात ही छोड़िए, कितने धनी लोग कहते हैं। 'हम बहुत दुखी हैं।' उनसे पूछा जाता है 'किस बात का दुख है?' वे इसका उत्तर नहीं दे पाते। वे कहते हैं 'यह समझ में नहीं आता कि दुख क्यों है। मन अशांत है इसलिए दुख है।' 'मन क्यों अशांत है?' इसका उत्तर भी उन्हें नहीं सूझता।

वस्तुतः मन की अशांति सबसे बड़ा दुख है और मन इसलिए अशांत होता है, क्योंकि हमें हर समय हर प्राणी–पदार्थ के विनाश का भय है। प्रिय लोग विमुख न हो जायें, वे मर न जायें, शरीर में रोग न लग जाये, व्यापार रुक न जाये, नौकरी छूट न जाये, खेती डूब न जाये, धन का नाश न हो जाये, कोई एक्सीडेंट न हो जाये, सारे अनुकूल पदार्थ बढ़ते क्यों नहीं हैं, इत्यादि सदैव सब कुछ की विनश्वरता का भय लगा रहता है। भोगों को भोगते हैं। उनमें मन तृप्त नहीं होता। भोगों की आदतें बनकर मन विषयों की ओर अधिक विवश करता

है। इच्छाओं की ज्वाला धधकती रहती है। भोग पदार्थों को भोगने से इच्छाएं बनती तथा पुष्ट होती हैं और इच्छाओं के वशीभूत होकर जीव पुनः भोगों की क्रियाओं की धारा में बहता है। यह मृगतृष्णा जीव को निरंतर भटकाती है। इसलिए उसका मन सदैव अशांत रहता है। अतएव विषय-भोगों की इच्छा तथा अपने माने गये प्राणी-पदार्थों की विनश्वरता के भय से जीव अशांत रहता है और अशांति ही दुख है।

सद्‌गुरु कहते हैं कि इस दुख का रहस्य कोई अबोधी जीव नहीं जान सकता। केवल प्राणी-पदार्थों का संग्रह सुख का साधन नहीं है। अच्छी समझदारी और यथार्थ बोध से ही मनुष्य दुख से छूट सकता है अथवा सच्चे अर्थ में सुखी हो सकता है। परन्तु इसके अभाव में वह संसार में केवल भटकता है। ''बहुत भाँति के जग भरमाया'' जीव अनेक उलझनों में उलझकर भटकता है। जिसका मन उलझा हो, वह हर जगह उलझता रहता है। अन्दर, बाहर, परिवार में, समाज में हर जगह उसके लिए भटकाव है।

प्रश्न होता है कि क्या इस जीव को कोई शैतान भटका दिया है और क्या कोई भगवान इसे ज्ञानी बना देगा? सद्‌गुरु कहते हैं कि ऐसी बातें नहीं हैं। ''आपुहि बाउर आपु सयाना'' यह जीव अपने स्वरूप को भूलकर स्वयं विषयों के लिए पागल बना भटकता है और सत्संग-विवेक से जग जाये तो स्वयं ज्ञानी हो जायेगा। जीव अपने स्वरूप के अबोधवश स्वयं जाल रचकर उसमें फंसा है, और यदि उसकी अपनी दृष्टि अपनी ओर घूम जाये, तो स्वयं बोधवान होकर कृतार्थ हो जाये। अबोध तो अनादिकाल से है। बारम्बार जीव भूल-वश उसकी पुष्टि करता रहता है। बोध होने के कारण दो होते हैं। एक कारण है कि विवेकवान सन्त-सद्‌गुरु मिल जायें और जीव के अपने शुद्ध संस्कार से उसकी दृष्टि गुरुजनों के उपदेश में लग जाये और दूसरा कारण है कि कोई अनेक जन्मों का बड़ा शुद्ध संस्कारी हो और उसे अनेक घटनाओं के झकझोर में स्वयं की दृष्टि स्वतः अपनी ओर घूम जाये और 'मैं कौन हूं' इस तत्त्व को जानकर स्थिर हो जाये। यह घटना हजारों वर्षों के दरमियान में किसी पर घट सकती है। सरल पथ है गुरुजनों की शरण में बोध प्राप्त करना।

क्या राम कहीं बाहर है जो मिलता है? सद्‌गुरु कहते हैं ''हृदया बसै तेहि राम न जाना'' अर्थात जो हृदय में बसता है, लोग नहीं जानते कि यही राम है। हृदय में कौन बसता है? यह बताने की आवश्यकता नहीं कि सबके हृदय में चेतन निवास करता है, जो ज्ञानस्वरूप है। वही रात-दिन कहता रहता है कि मैं यह काम करूंगा तथा यह काम नहीं करूंगा। 'मैं हूं' यह अस्तित्व-बोध जिसको होता है, वही है चेतन। उसके नाम जीव, आत्मा, रूह, सोल आदि हैं। सद्‌गुरु कहते हैं उसी को मैं राम भी कहता हूं। अब प्रकारांतर से उसी को कोई

ब्रह्म, ईश्वर, परमात्मा आदि भी कह सकता है। जो लोग कहते हैं कि इस हृदय में एक 'जीव' है और उसके अलावा दूसरा 'राम' है, तो ऐसे लोगों से पूछना चाहिए कि एक ही हृदय में जीव तथा राम अलग-अलग हैं, तो कितना प्रतिशत जीव है और कितना प्रतिशत राम है? वस्तुतः विवेक से समझने पर यह साफ हो जाता है कि सबके अपने-अपने हृदय में एक ही चेतन तत्त्व का बोध होता है। 'मैं हूं' यह सबका अपना बोध है। यह हृदय-निवासी मैं तत्त्व ही राम है। सद्गुरु कहते हैं कि यही हरि है, यही स्वामी है, यही सारे ज्ञान-विज्ञान का अधिपति है।

"तेहि हरी तेहि ठाकुर, तेही हरी के दास।" अर्थात यह हृदय-निवासी जीव ही राम है, हरि तथा ठाकुर है। परन्तु यही अपने भूलवश अलग हरि मानकर उसका दास बनता है। मैं चेतन हूं, ज्ञानस्वरूप हूं, यह तो स्वयं प्रत्यक्ष एवं अपरोक्ष अनुभव का विषय है। परन्तु मुझसे अलग कोई मेरा निधान है यह एक मिथ्या धारणा है। अलग चाहे कोई कितनी ही सुन्दर वस्तु हो, वह मेरा निधान नहीं बन सकती। किसी वस्तु का निधान उसका अपना स्वरूप ही हो सकता है। अतएव अपने लक्ष्य एवं निधान को अलग मानने वाले भावुकों को अंततः यहां से निराश होकर ही जाना पड़ता है। ऐसी अवस्था में न उनका संयम काम देता है और न साधना तथा न वे गुरु लोग काम देते हैं जो ईश्वर दर्शन कराने या ईश्वर से मिलाने के लिए जमानतदार बने थे।

लोग अपने से अलग ईश्वर मानकर अपने आप को उसकी पत्नी होने की कल्पना करते हैं। सद्गुरु उन पर व्यंग्य करते हुए उन्हें 'भामिनी' कहते हैं और बताते हैं कि उनको अंततः निराश होकर संसार से जाना पड़ता है—"भामिनि चली निरास।"

कुछ विद्वान इस साखी का यह अर्थ करते हैं—"वही हृदय निवासी राम हरि है, वही स्वामी है, वही स्वामी का सेवक है। इस ज्ञान के होने पर न यमवासना रहती है और न जामिनि-अज्ञान की रात रहती है। फलतः भामिनि माया निराश होकर चली जाती है।" अर्थ मनोरम है। परन्तु 'भया' शब्द ध्यान देने योग्य है। 'न यम भया' भया शब्द साथ देने वाले के लिए प्रयोग किया जाता है, दूर हट जाने वाले के लिए नहीं। दूर हट जाने वाले के लिए 'रहा' शब्द अधिक उपयुक्त होता है। जैसे 'न यम रहा'। परन्तु 'भया' शब्द होने से—'न यम भया' का उचित अर्थ 'नहीं साथ दिया' अधिक ठीक जंचता है। दूसरी बात मूल पद 'जामिनि' है 'यामिनि' नहीं। 'जामिन' जमानत करने वाले, जिम्मा लेने वाले को कहते हैं। रात के लिए 'यामिनी' शब्द का प्रयोग होता है।

इस रमैनी में मुख्य दो बातें हैं जीव दुखी क्यों है और उससे छुटकारा कैसे होता है? सद्गुरु ने बताया कि जीव इसलिए दुखी है, क्योंकि वह संसार-समुद्र

के भंवरजाल में पड़ा है। उसने क्षणभंगुरता के भंवर में आसन जमा रखा है। वह नश्वर भोगों में अनुरक्त है।

सद्गुरु ने दुखों से छूटकर चिरंतन सुख-शांति का रास्ता बताया कि तुम्हारे अपने हृदय में निवास करने वाला तुम्हारा अपना चेतन-स्वरूप ही राम है। वह अविनाशी है। वही परमात्मा है। वही अपने आप का स्वामी है, अतः तुम क्षणभंगुर विषयों का राग छोड़कर अपने अविनाशी राम एवं स्वस्वरूप चेतन में रमो।

अद्वैत-मीमांसा

रमैनी-42

जब हम रहल रहल नहिं कोई। हमरे माहिं रहल सब कोई॥ 1॥
कहहु राम कौन तेरि सेवा। सो समुझाय कहो मोहि देवा॥ 2॥
फुर फुर कहेउ मारु सब कोई। झूठेहि झूठा संगति होई॥ 3॥
आँधर कहैं सबै हम देखा। तहँ दिठियार बैठि मुख पेखा॥ 4॥
यहि विधि कहेउँ मानु जो कोई। जस मुख तस जो हृदया होई॥ 5॥
कहहिं कबीर हंस मुसकाई। हमरे कहल दुष्ट बहु भाई॥ 6॥

शब्दार्थ—जब=सृष्टि के प्रथम। हम=ब्रह्म। नहिं कोई=जगत। राम=ब्रह्म। फुर-फुर=सत्य। दिठियार=आंखवाला, विवेकी। हंस=विवेकी। मुसकाई =हंस कर। दुष्ट=दोषयुक्त, रुष्ट।

भावार्थ—(अद्वैत ब्रह्मवादी कहते हैं)—सृष्टि के प्रथम जब मैं शुद्ध रूप में स्थित था, तब अन्य जगत आदि कुछ भी नहीं था। हां, यह कहा जा सकता है कि सारा विश्वप्रपंच वट-बीज न्याय मेरे में निहित था॥ 1॥ (सद्गुरु कहते हैं—) हे ब्रह्म! हे देव! यह मुझे समझाकर बताओ कि उस समय किसने तुम्हारी सेवा कर तुमको विकसित किया और ब्रह्म से जगत के रूप में लाया?॥ 2॥ यदि सही-सही बात कहता हूं, तो सब कोई मारने दौड़ते हैं। झूठे लोग दूसरे झूठे लोगों के साथ बैठकर झूठी बातें करते हैं और कहते हैं कि हम सत्संग कर रहे हैं॥ 3॥ बिना आंख वाले कहते हैं कि हमने सब कुछ देख लिया है। वहां आंख वाले बैठकर उनके मुख देखते हैं और आश्चर्य करते हैं॥ 4॥ मैं तो इस प्रकार कहता हूं कि जैसे मुख से कथन हो वैसे हृदय में भाव हो और इस प्रकार कथनी और करनी की एकता को कोई माने॥ 5॥ कबीर साहेब विवेकियों से मुसकराकर कहते हैं कि मेरे सत्य कहने पर बहुत-से लोग रुष्ट हो जाते हैं॥ 6॥

व्याख्या—अद्वैत ब्रह्मवाद के ख्याल से यह माना जाता है कि एक समय ऐसा था जब सृष्टि नहीं थी या विश्व-प्रपंच नहीं था। उस समय केवल एक

ब्रह्म था और यह वर्तमान में दिखता हुआ विश्व-प्रपंच उस ब्रह्म में उसी प्रकार निहित था जैसे वट के दाने में वट-वृक्ष सूक्ष्म रूप में रहता है। वट-बीज समय से जल-मिट्टी का संयोग पाकर अंकुरित हो जाता है और एक दिन वही अंकुर एक विशाल वृक्ष के रूप में खड़ा हो जाता है। इसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म में पहले सारा विश्व सूक्ष्म रूप में लीन था, पीछे से यह सारा संसार प्रकट हो गया।

सद्गुरु इस पर प्रश्न करते हैं कि वट का दाना अनेक परमाणुओं का समूह और विकारी है। जब वह मिट्टी, जल, प्रकाश, वायु सब तत्त्वों का संयोग पाता है, तब विशाल वृक्ष बनता है। परन्तु ब्रह्मवाद के ख्याल से ब्रह्म के अलावा तो कुछ नहीं था, तब उसकी किसने सेवा की, जिससे उसमें से संसार-वृक्ष निकल पड़ा? ब्रह्म निरवयव है; सजाति, विजाति तथा स्वगत भेद से रहित एक, अखंड, ठोस और निर्विकार है, फिर उसमें विकारी जड़ संसार कैसे रहा? एक अखंड ब्रह्म कैसे फूटकर जगत हो गया? जिसमें परमाणु होते हैं, वह दूसरे तत्त्वों का संयोग पाकर क्रियाशील होता है। एक अखंड अद्वैत में विकार, स्फूर्ति और संचालन होना असंभव है। फिर अद्वैत ब्रह्म जगत कैसे बन गया? जब वह सर्वसमर्थ, शुद्ध, शांत एवं मुक्त था, तब उसे दुखमय जगत के रूप में फूटने में क्यों प्रसन्नता हुई? सद्-चिद्-आनन्द ब्रह्म असद्-जड़-दुख रूप संसार कैसे बन गया?

गति, क्रिया, स्फूर्ति तथा संचालन के बिना किसी प्रकार का निर्माण नहीं होता और क्रिया तभी होती है जब असंख्य क्रियाशील द्रव्य हों। इतना ही नहीं, एक दूसरे के विरोधी तत्त्व हों। एक अखण्ड ब्रह्म में यह सब असंभव है। केवल वट का दाना जो स्वयं भी विकारी तथा असंख्य परमाणुओं का योग है, तब तक पेड़ नहीं बन सकता, जब तक उससे पृथक जड़ प्रकृति में असंख्य परमाणुओं के ढेरीस्वरूप अनेक तत्त्व न हों और उनका उपयुक्त संयोग उस दाने को न मिले। बीज से वृक्ष होने में मिट्टी, जल, प्रकाश, वायु आदि रूप प्रकृति ने बीज की सेवा की, तब बीज वृक्ष बना। सद्गुरु अद्वैत ब्रह्म से पूछ रहे हैं कि हे देव ! तुम्हारे अलावा तो कोई था नहीं, तो तुम्हारी किसने सेवा की जिससे ब्रह्म से जगत बन गये, निरवयव से सावयव बन गये?

सद्गुरु कहते हैं "फुर फुर कहेउ मारु सब कोई। झूठेहि झूठा संगति होई॥" यदि जैसे जगत है, अनेक जड़ तत्त्व तथा जड़ तत्त्वों से सर्वथा भिन्न अनेक जीव, वैसे ही कहा जाये, तो ये लोग असंतुष्ट होते हैं। जब आदमी कोई धारणा बना लेता है, तब उसके विपरीत बातें सुनकर उसे असन्तोष होता है। हम संसार को देखते हैं कि इसमें अनेक जड़ तत्त्व हैं और सारे तत्त्व असंख्य परमाणुओं के समूह हैं। उनमें अंतर्निहित क्रिया तथा गुण हैं। हर मौलिक तत्त्व

नित्य होता है। अतएव संसार का एक कण भी मिटाया नहीं जा सकता और एक भी नया कण बनाया नहीं जा सकता। अनेक जड़ तत्त्व अपने अंतर्निहित गुण-क्रियाओं से निरन्तर गतिशील हैं। इसलिए संसार में निरन्तर उत्पाद और विनाश लगा रहता है। न नये सिरे से अनन्त विश्व-ब्रह्मांड की उत्पत्ति होते दिखती है और न सबका सर्वथा प्रलय होते दिखता है। बस, जड़ तत्त्वों में निरन्तर क्रिया है और उन क्रियाओं में उत्पाद-विनाश अपने आप फलते रहते हैं।

जड़ तत्त्वों से भिन्न असंख्य चेतन जीव हैं। जड़ तत्त्वों में चेतना के किंचित भी लक्षण न होने से, चेतन जीव उनसे निर्मित नहीं माने जा सकते। अतएव चेतन जीव अपने मूल रूप में जड़ से सर्वथा भिन्न तथा अविनाशी हैं। जैसे जड़ तत्त्वों की न उत्पत्ति है न विनाश, वैसे जीवों की न उत्पत्ति है और न विनाश। जीव वासना-वश शरीर धरते-छोड़ते हैं और कर्म करते तथा उनके फल भोगते हैं। जो जीव ज्ञान द्वारा कर्मों की आसक्ति छोड़ देता है, वह इसी जीवन में कृतार्थ हो जाता है। यह सब प्रत्यक्ष जगत की वास्तविकता है। इस प्रकार मान लेने में क्या अड़चन है! परन्तु लोग बैठकर आपस में झूठी बातें करते हैं और कहते हैं कि हम सत्संग कर रहे हैं, जैसे जड़-चेतन मूलतः एक ही हैं। जगत तीनों काल में नहीं है। केवल एक ठोस ब्रह्म है आदि।

अद्वैतवाद पर तीखा प्रहार करते हुए सद्गुरु कहते हैं—"आँधर कहैं सबै हम देखा। तहँ दिठियार बैठि मुख पेखा॥" बिना आंख वाले कहते हैं कि हमने सब कुछ देखा है। वहां आंख वाले उनके मुंह देखकर और उनकी बातें सुनकर आश्चर्य प्रकट करते हैं। आंखें बन्द कर लेने पर केवल एक काला दिखता है और आंखें खोलने पर विभिन्नता भरा संसार अपनी वास्तविकता में दिखता है। अर्थात आंखें खोलने पर सारा जड़-चेतन अलग-अलग दिखता है। विवेकियों को यह देख-सुनकर हैरानी होती है कि जो जड़-चेतन को एक मानता है, भोग-योग को एक मानता है, उसे लोग ज्ञानी कहते हैं। यह कैसे कहा जाये कि जिसने आंखें बन्द कर ली हैं, जिसको केवल एक काला-काला दिखता है, वह सत्य का ज्ञाता है। सत्य का ज्ञाता तो वह होता है जो आंखें खोलकर देखता है। उसे ही सब कुछ की वास्तविकता दिख सकेगी। विवेकज्ञान से ही जड़-चेतन के भेद को समझकर तथा जड़ की आसक्ति छोड़कर अपने चेतन-स्वरूप में स्थित हुआ जा सकता है। जहां जड़-चेतन मूलतः एक ही हैं, वहां भोग-योग भी एक ही हैं। वहां बन्ध-मोक्ष के भेद का प्रश्न ही नहीं, विधि-निषेध भी कुछ नहीं। फिर सदाचार का भी अवलम्ब नहीं। इन सबको ज्ञान कहना घोर आश्चर्यजनक है।

सघन बादलों से ढकी हुई भादौं की घोर रात में अपने हाथ भी नहीं दिखते। वहां केवल एक कालापन दिखता है। सुबह का प्रकाश होते ही अनेकतापूर्ण संसार ज्यों-का-त्यों दिखता है। कौन समझदार कहेगा कि एक दिखाने वाला घोर अंधकार ज्ञान है और अनेक तथा तथ्यपूर्ण दिखाने वाला प्रकाश अज्ञान है। अतएव जड़-चेतन की एकता मानना ज्ञान नहीं है। यही तो योग दर्शन की भाषा में अविद्या है। वस्तुतः जड़-चेतन का भिन्न विवेक ही ज्ञान है। यह ज्ञान होने पर ही जड़ का मोह छोड़कर अपने चेतन-स्वरूप में स्थिति होती है।

"यहि विधि कहेउँ मानु जो कोई। जस मुख तस जो हृदया होई॥" सद्गुरु कहते हैं कि मैं इस प्रकार जड़-चेतन की भिन्नता बताता हूं। यदि कोई इसे समझ सके तो माने। सच्चा ज्ञान वही है जो दिल और जुबान पर एक हो। हम हृदय से जैसे संसार को जान रहे हैं वैसे उसे वाणी से हमें व्यक्त करना चाहिए। जड़ संसार अपने आप में स्वतः अनादि-अनन्त एवं परिवर्तित होते हुए भी तीनों काल में विद्यमान है। हम इस तरह उसे नित्य देखते हैं, अतएव हमें मुख से भी ऐसे ही कहना चाहिए। परन्तु यदि हम इसे कहें कि यह तीनों काल में मिथ्या है, जड़ संसार है ही नहीं, तो यह अनुभव कुछ है तथा कथन कुछ और ही है। बड़े-बड़े साधु-संन्यासी के बड़े-बड़े मठ-मन्दिर बनते हैं। शंकराचार्यों में गद्दी के लिए मुकदमें तक होते हैं, फिर यह कहना कि जगत है ही नहीं, कितनी गलत बात है।

इन पंक्तियों का लेखक काशी में निवास कर रहा था। अद्वैत विचार के एक सेवामुक्त डिप्टी कलेक्टर मिलने आये, उन्होंने अभिवादन के बाद छूटते हुए कहा—"क्या स्वामी जी, आप जगत को सत मानते हैं? मैंने आपकी जगन्मीमांसा नाम की पुस्तक पढ़ी है। उससे मुझे आभास हुआ कि आप संसार को सत मानते हैं।" मैंने उनसे तुरन्त कहा—"आप ईमानदारी से बताइए, ये पृथ्वी, चांद, सूर्य, सितारे सच दिखते हैं कि नहीं?" वे हंसने लगे।

मैंने कहा देखिए डिप्टी साहब ! हर पदार्थ अपने आप में सत तथा दूसरे पदार्थ में असत होता है। घड़ा अपने में सत है, परन्तु कपड़े में असत है। इसी प्रकार जड़ जगत परिवर्तनशील रहते हुए अपने आप में सत है, परन्तु चेतन के स्थान पर वह असत है। तात्पर्य यह है कि जगत, जगत में सत है, परन्तु वह हमारे चेतन-स्वरूप में सर्वथा असत है।

आदि शंकराचार्य ने भी जगत की सत्यता के प्रश्न को उठाया है। उन्होंने कहा है—"यदि जगत को उसके अपने क्षेत्र में सत्य मान लिया जाये, तो उससे हमारे आत्मतत्त्व की अनन्तता की हानि होती है, जगत को मिथ्या कहने वाले वेद अ-प्रमाणित हो जाते हैं, और वेद रचयिता ईश्वर मिथ्यावादी सिद्ध होता है।

इसलिए वेद को अ-प्रमाणित, ईश्वर को मिथ्यावादी तथा जगत को सत्य कहना—ये तीनों बातें किसी महात्मा को पसन्द नहीं है।"[1]

आश्चर्य होता है स्वामी शंकर के इस कथन पर कि वेद जगत को मिथ्या कहते हैं। वेदों में तो कहीं पता नहीं चलता कि उनमें जगत को मिथ्या कहा गया है। वेदों की तो ऋचा-ऋचा में जगत की सत्यता के ही दर्शन होते हैं। सच है जिस व्यक्ति की जो मान्यता सिद्धांत का रूप ले लेती है, उसे उसी के अनुसार सब कुछ दिखता है। स्वामी शंकराचार्य को वेदों में जगत का मिथ्यात्वकथन दिखता है[2] तथा गोस्वामी तुलसीदास को वेदों में श्रीराम का अवतारकथन मिलता है; परन्तु इन दोनों धारणाओं का वेदों में चिह्न भी नहीं है।

सद्गुरु कहते हैं कि हमें ईमानदार होना चाहिए। हृदय से जो सत्य लगे, वैसा मुख से कहना चाहिए। इसमें शास्त्र-प्रमाण, गुरु-परम्परा एवं लोक-वेद कुछ भी आड़े आये, तो भी परवाह नहीं करनी चाहिए। मनुष्य का विवेक सर्वोपरि है। मनुष्य ही गुरु है, मनुष्य की रचना ही शास्त्र है, अतएव मनुष्य-विवेक सर्वोपरि है।

"कहहिं कबीर हंस मुसकाई। हमरे कहल दुष्ट बहु भाई।" सद्गुरु कबीर हंसों से मुसकरा कर कहते हैं कि भाई, हमारी विवेकपूर्ण बातों से बहुत-से लोग रुष्ट हो जाते हैं। यहां हंस शब्द का प्रयोग जान-बूझकर किया हुआ लगता है। हंस नीर-क्षीर-विवेक का प्रतीक माना जाता है। कहावत है कि यदि पानी और दूध एक में मिला हो, तो हंस पानी छोड़कर उसमें से केवल दूध ले लेता है। उसमें पानी और दूध को अलग करने की शक्ति होती है। इसी प्रकार जो व्यक्ति विवेकशील होता है, वह मिले हुए-से लगते जड़-चेतन का विवेक कर, उनमें से अपने चेतन स्वरूप को अपना समझकर उसकी स्थिति करता है और जड़ को छोड़ देता है।

चावल-कंकड़, दुष्ट-सज्जन, पाप-पुण्य, विधि-निषेध, कर्तव्य-अकर्तव्य, खाद्य-अखाद्य, बंध-मोक्ष का विवेक कर जैसे विवेकवान चावल, सज्जन, पुण्य, विधि, कर्तव्य, खाद्य, मोक्ष लेकर दूसरों को छोड़ देता है; वैसे ही विवेकवान जड़ को छोड़कर अपने चेतन स्वरूप को अपना स्वत्व समझकर उसमें स्थित होता है। यही हंसत्व है। ऐसे हंसों, विवेकियों की ओर देखकर सद्गुरु मुसकरा कर कहते हैं कि भाई, विवेक की बातें सुनकर कोई रुष्ट होता है तो उसको खुश करने का क्या उपाय है! रुष्ट होना तो अपनी कमजोरी का

---

1. सत्यं यदि स्याज्जगदेतदात्मनोऽनन्तत्वहानिर्निगमाप्रमाणता।
   असत्यवादित्वमपीशितुः स्यान्नैतत्त्रयं साधु हितं महात्मनाम्॥ (विवेक चूड़ामणि, 234)
2. हम स्पष्ट देख सकते हैं कि ऋग्वेद के सूक्तों में जगत के मिथ्या होने के विचार का कोई आधार नहीं है। (सर राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन, भाग 1, पृष्ठ 94)

प्रदर्शन है। युक्ति, प्रमाण एवं विवेक से बात कट जाने पर रुष्ट होना अपने आग्रह को प्रकट करना है।

"हमरे कहल दुष्ट बहु भाई।" में 'दुष्ट' का अर्थ 'रुष्ट' है। हो सकता है मूल पाठ 'रुष्ट' ही रहा हो, लिखते-पढ़ते 'दुष्ट' हो गया हो। किन्तु अर्थ में कोई अन्तर नहीं है।

कहीं–कहीं छपे बीजक में पाठभेद है। 'हमरे कहल दुष्ट बहु भाई' की जगह पर 'हमरे कहल छूटि हौ भाई' है। इसका अर्थ होगा कि हे भाई, हमारे उपदेश को मानकर ही छूटोगे। छूटना दूसरे से होता है। एक ही तत्त्व में न बंधना होता है और न छूटना। छूटना तो जड़ बंधन से है और वह विवेकपथ पर चलकर ही सम्भव है।

प्रश्न होता है कि क्या 'अद्वैत' तथा 'जगत-मिथ्यात्व' ये दोनों सिद्धांत सर्वथा असत्य हैं? उत्तर है कि न सर्वथा सत्य हैं और न सर्वथा असत्य। किन्तु सापेक्ष सत्य तथा सापेक्ष असत्य हैं। जड़-चेतनमय विश्व एक ही परिनिष्ठित अखण्ड सत्ता नहीं है। किन्तु जड़ अलग है और चेतन अलग है। जड़ में भी कई तत्त्व हैं और एक-एक तत्त्व में असंख्य परमाणु हैं। और चेतन भी असंख्य हैं। वस्तुतः साधक जब सारी वासनाओं एवं संकल्पों को छोड़कर समाधि में असंग हो जाता है, तब वह अकेला हो जाता है जैसे कि उसकी वास्तविकता है। बस यही 'अद्वैत' है। इसका यह अर्थ नहीं कि यदि मैंने सबको भुला दिया तो जगत ही मिट गया, बल्कि मैं अपने आप में अद्वैत हो गया।

इसी प्रकार जगत के मिथ्यात्व को समझने का प्रयत्न करें। जैसा पहले भी कह आये हैं जगत अपने क्षेत्र में नित्य एवं सत्य है। किन्तु वह हमारे चेतन स्वरूप में सर्वथा असत्य है। जड़ में चेतन नहीं तथा चेतन में जड़ नहीं। दोनों अपने-अपने स्वरूप में हैं। अतः चेतन में जगत तीनों काल में असत्य है। बस, इतना ही जगत-मिथ्यात्व का अर्थ हो सकता है।

स्वेच्छाचारिता का फल पतन

रमैनी–43

जिन्ह जिव कीन्ह आपु विश्वासा। नरक गये तेहि नरकहि बासा॥ 1॥
आवत जात न लागे बारा। काल अहेरी साँझ सकारा॥ 2॥
चौदह विद्या पढ़ि समुझावा। अपने मरण की खबरि न पावा॥ 3॥
जाने जीव को परा अँदेसा। झूठहि आय के कहा सँदेसा॥ 4॥
संगत छाड़ि करे असरारा। उबहै मोट नरक कर भारा॥ 5॥

साखी—गुरु द्रोही मन्मुखी, नारी पुरुष विचार।
ते नर चौरासी भरमिहैं, ज्यौं लौं चन्द्र दिवाकार॥ 43॥

शब्दार्थ—आवत-जात=जन्मते-मरते। बारा=देर। अहेरी=शिकारी। मरण=मृत्यु, पतन। जाने जीव=चतुर लोग। सँदेसा=उपदेश। असरारा= असरार, भेद; लगातार; दुष्ट व्यवहार। उबहै=उलीचता है। मोट=चाम का मोट (कुएं से पानी निकालने का थैला)। मन्मुखी=स्वेच्छाचारी। दिवाकार= दिवाकर, सूर्य।

भावार्थ—गुरु, सत्संग तथा विवेक की अवहेलना कर जिन्होंने अपनी स्वेच्छाचारिता पर ही विश्वास कर लिया है, समझ लो कि वे नरक में गये और उनका आगे नरक में ही निवास होगा॥ 1॥ ऐसे लोगों को जन्मने-मरने में देरी नहीं लगती। अर्थात ऐसे लोग क्षणजीवी कृमि-कीटादि योनियों में भटकते हैं। काल शिकारी बनकर उनके पीछे रात-दिन लगा रहता है॥ 2॥ ऐसे मन्मुखी लोग स्वयं चौदहों विद्याएं[1] पढ़कर दूसरों को भले विधिवत समझाते रहें, परन्तु उन्हें अपने पतन का पता नहीं रहता॥ 3॥ धोखेबाज गुरु लोग संसार में झूठी बातों का प्रचार करते हैं और ऐसी बातें सुनकर चतुर लोग भी संशयग्रसित हो जाते हैं॥ 4॥ लोग अच्छी संगत छोड़कर दुष्ट व्यवहार करते हैं और इतने दुष्कर्मों में लीन रहते हैं कि मानो वे मोट से नरक उलीचते हैं॥ 5॥

चाहे स्त्री हो या पुरुष, जो गुरु-द्रोही और स्वेच्छाचारी है, विचारकर देखो, वे जब तक चांद और सूरज हैं, तब तक चौरासी चक्कर में भटकते रहेंगे॥ 43॥

व्याख्या—पहले इस बात को समझ लेना चाहिए कि यहां सद्गुरु 'आत्मविश्वास' का खंडन नहीं कर रहे हैं। कबीर साहेब आत्मविश्वास में अटल थे। उन्होंने हमें पदे-पदे आत्मविश्वास का पाठ पढ़ाया है।

"जिन्ह जिव कीन्ह आपु विश्वासा।" का अर्थ है अपने मनमानी पर विश्वास। जो मन के उन्माद में, स्वेच्छाचारिता में एवं उच्छृंखलता में विश्वास करता है, वह नरक में ही गिरता है। नरक है पतन। पतन है अपने विवेक, विचार, पवित्र आचार, अच्छी संगत एवं अच्छे रास्ते से अलग होकर कुसंग-कुकर्म में चले जाना।

परिवार में जो लोग पारिवारिक नियम तथा बड़े-बूढ़ों की राय न मानकर तथा उन्मादी होकर मनमाना काम करते हैं, उनका शीघ्र ही पतन हो जाता है। इसी प्रकार साधु-समाज में जो साधक सद्गुरु, सन्त तथा सन्त-समाज के नियमों का उल्लंघन करने लगता है और मनमानी बरताव करने लगता है, यदि उसका यह रवैया बदला नहीं, तो वह धीरे-धीरे पतन की तरफ चला जाता है। एक-दो की नहीं, उन्मादी स्वभाव वाले सभी लोगों की यही दशा है।

---

1. पहली रमैनी की व्याख्या एवं टिप्पणी में देखें।

अनुशासित जीवन में ही व्यवस्थित व्यक्तित्व का निर्माण होता है। स्वतन्त्रता, स्वच्छंदता बहुत प्यारे शब्द हैं, परन्तु गुरु या समाज के अनुशासन का पालन किये बिना कोई अपने जीवन का समुचित विकास नहीं कर सकता है। यह ठीक है कि धोखेबाज गुरु तथा गंदे समाज से हटना चाहिए, परन्तु सच्चे गुरु तथा सही संतसमाज के अनुशासनों का पालनकर अपने जीवन को बनाना चाहिए।

जन्मने-मरने में देरी नहीं लगती। काल शिकारी बनकर तो रात-दिन पीछे पड़ा ही है। कीड़े-मकोड़े भी जन्मते-मरते रहते हैं। अतः जीवन की सफलता है शांति की प्राप्ति में। जो व्यक्ति उन्मादी होकर उच्छृंखल व्यवहार करेगा, वह संसार में भटकने की ही तैयारी करेगा।

"चौदह विद्या पढ़ि समुझावा। अपने मरण की खबरि न पावा॥" बड़े-बड़े विद्वान होते हैं। चौदह विद्याओं के ज्ञाता, कई भाषाओं के मर्मज्ञ, बहुत-से शास्त्रों में पारगत शास्त्री, आचार्य, वेदाचार्य, सर्वदर्शनाचार्य, महामहोपाध्याय, पी-एच.डी. तथा और न जाने किन-किन उपाधियों से भूषित, बैठते-चलते-फिरते उनके मुख से सरस्वती फूटी पड़ती है। अहंकार इतना है कि वे दूसरे को कौड़ी भर भी नहीं समझते। परन्तु वे केवल बांस के पोंगा हैं। न उनकी बुद्धि में वस्तु-बोधजनित स्थिरता है और न मन में शांति। फिर क्या हुआ ज्यादा पढ़ने-लिखने से !

इसका यह अर्थ नहीं है कि जो ज्यादा पढ़े-लिखे होते हैं, वे सब-के-सब ऐसे ही चंचल होते हैं। यहां कहने का अर्थ है कि यदि ज्यादा पढ़-लिखकर जीवन में अस्थिरता, अबोध, संशय, अशांति आदि ही का उपार्जन किया गया, तो क्या पाया गया !

विद्वान लोग दूसरों को चौदह विद्याएं पढ़कर समझाते हैं, परन्तु अपनी मृत्यु की खबर नहीं पाते। 'अपने मरण की खबरि न पावा।' का अभिप्राय क्या हो सकता है? जो बता दे कि मैं कब मरूंगा, और अपने बताये हुए समय पर ही शरीर छोड़े, वह ज्ञानी है—यहां का यह अर्थ मान लेना छिछिलापन है। प्रायः ज्ञानी हो या अज्ञानी, कोई नहीं जानता कि मेरी मृत्यु कब होगी। किसी के अपने विषय में कहे गये मृत्युकथन के समय का तुक बैठ गया हो, यह अलग बात है। इसमें कोई विशेषता भी नहीं है।

वस्तुतः अपनी मृत्यु की खबर उसी को मिली है, जो मृत्यु के डर से छूट गया है। व्यक्ति का पतन ही मृत्यु है। जिसका पतन होना बन्द हो गया, वह मृत्यु से छूट गया। हम क्षण-क्षण काम में, क्रोध में, लोभ में, मोह में, ईर्ष्या-द्वेष में पतित होते रहते हैं। यही व्यक्ति की मौत है। आदमी कितना ही विद्वान

हो जाये, जब तक वह विवेक एवं साधना का अवलम्ब नहीं लेता, उसे अपने इस पतन की खबर नहीं रहती कि मैं पतित हो रहा हूं। जो क्षण-क्षण अपने पतन को देखता है, वही अपने आप को पतन से बचा लेता है। जिसका किसी क्षण पतन नहीं होता, उसको मृत्यु-भय कहां! वह समझता है कि मैं रोज सोता हूं, और सोने में बड़ा आनन्द मानता हूं। एक दिन ऐसा सोऊंगा कि पुनः उठना नहीं होगा। जब छोटी नींद आनन्दप्रद है, तब बड़ी नींद आनन्दप्रद क्यों नहीं! वस्तुतः मौत होती है शरीर की, आत्मा की नहीं। जीव तो अमर है। फिर मृत्यु-भय क्यों!

गुरुपद अत्यन्त श्रेष्ठ है। आध्यात्मिक कल्याण के लिए गुरु चाहिए ही, व्यावहारिक बातों के बोध के लिए भी गुरु की आवश्यकता है। गुरु की यह महिमा देखकर संसार में नकली गुरुओं की भरमार हो गयी है। असली सोना से नकली सोना जैसे ज्यादा चमकता है, वैसे असली गुरु से नकली गुरु ज्यादा चमकते हैं। धोखेबाज गुरुओं ने सदैव अपनी धर्म की दूकानों की उन्नति की है। तन्त्र तथा चमत्कार उनके व्यापार के प्राणतत्त्व होते हैं। चमत्कार, जो एक छलावा है, झूठे गुरुओं का सर्वस्व होता है। ऐसे लोग सनसनीखेज तथा चमत्कार की बातें फैलाते हैं। इनके जाल में बड़े-बड़े चतुर कहलाने वाले फंस जाते हैं। शिक्षित तथा अशिक्षित में कोई खास फरक नहीं होता है। दोनों में वज्र मूढ़ होते हैं तथा दोनों में विवेकी होते हैं। प्रसिद्ध गुरुघंटालों के जाल में तो शिक्षित-मूढ़ ही फंसते हैं। डॉक्टर, वकील, जज, इंजीनियर, प्रोफेसर, राजनेता, सेठ गुरुघंटालों द्वारा अधिक मूढ़ बनाये जाते हैं। अतएव "जाने जीव को पड़ा अँदेसा। झूठहि आय के कहा सँदेसा॥" यह पंक्ति चरितार्थ होती है। भ्रामक गुरुओं का ऐसा प्रचार होता है कि समझदार कहलाने वाले भी संदेह में पड़ जाते हैं, और धीरे-धीरे उनके जाल में फंस जाते हैं।

"संगत छाड़ि करे असरारा। उबहै मोट नरक कर भारा।" जहां से सच्चा बोध मिले, सदाचार की प्रेरणा मिले, ऐसे नम्र संतों की संगत में ऐसे लोग नहीं जाते, बल्कि वे उससे दूर भागते हैं और रात-दिन दुराचरणों में लीन रहते हैं। जैसे लोग चाम के मोट से पानी उलीचते हैं, वैसे वे लोग जीवन में नरक उलीचते हैं। मलिन चिंतन, मलिन वचन तथा मलिन आचरण—यही नरक उलीचना है। साधु-संगत, सत्साहित्य-अध्ययन एवं सद्विचार छोड़कर कुसंग में बहने से जीवन में मलिनता के अतिरिक्त और क्या हो सकता है!

"गुरु द्रोही मन्मुखी, नारी पुरुष विचार। ते नर चौरासी भरमिहैं, ज्यौं लौं चंद्र दिवाकार॥" कबीर साहेब कहते हैं कि भ्रामक गुरुओं से सावधान रहना, परन्तु यथार्थ सद्गुरु का अनादर न करना। यथार्थ सद्गुरु के अनादर का अर्थ होता है विवेक तथा सदाचार की बातों को न मानना। जो विवेक तथा सदाचार

का त्याग करता है, वही गुरुद्रोही है, वही मन्मुखी है, वही स्वेच्छाचारी है। ऐसे लोग चाहे स्त्री हों या पुरुष, उन्हें संसार-नगर में भटकना ही है। उन्हें कब तक भटकना है? यदि वे सत्पथ पर नहीं आते, तो जब तक चांद-सूरज रहेंगे, अर्थात जब तक संसार का अस्तित्व रहेगा, तब तक भटकना है। संसार तो अनंत है। वह सदा ही रहेगा और उनका भटकना भी सदैव रहेगा। हां, यदि वे जग जाते हैं, गुरु-मार्ग पकड़ लेते हैं, तो भटकाव से बच सकते हैं।

अतएव हम भ्रामक गुरुओं से सावधान रहें, परन्तु विवेकी गुरु की विनम्रतापूर्वक शरण पकड़ें। स्वेच्छाचारिता छोड़कर अनुशासित जीवन बितायें। इसी में हमारा कल्याण है।

कुसंग तथा मन की मलिनता रूपी नरक से बचो

रमैनी-44

कबहुँ न भयउ संग औ साथा। ऐसेहि जन्म गमायउ आछा॥ 1॥
बहुरि न पैहो ऐसो थाना। साधु संगति तुम नहिं पहिचाना॥ 2॥
अब तोर होइहैं नरक महँ बासा। निसिदिन बसेउ लबार के पासा॥ 3॥
साखी—जात सबन कहँ देखिया, कहहिं कबीर पुकार।
चेतवा होय तो चेति ले, नहिं तो दिवस परतु हैं धार॥ 44॥

शब्दार्थ—ऐसेहि=व्यर्थ में। आछा=अच्छा, उत्तम। थाना=स्थान, मानव-जीवन। लबार=झूठा; गप्प मारने वाले लंपट। जात=पतित होते, नरक में जाते। धार=डाका।

भावार्थ—हे मानव! तूने विवेकी सद्गुरु एवं सन्तों का संग-साथ नहीं किया। इस उत्तम मानव-जीवन को व्यर्थ में खो दिया॥ 1॥ चूक जाने पर ऐसा उत्तम जन्म शीघ्र नहीं मिलेगा। यह तुम्हारी गहरी भूल है कि तुमने सन्तों की संगत में जाकर अपने आप की परख नहीं की॥ 2॥ अब तुम्हारा नरक में निवास होगा; क्योंकि तुम रात-दिन झूठे और लंपटों के पास रहते हो॥ 3॥

कबीर साहेब जोर देकर कहते हैं कि मैं देखता हूं कि सभी लोग अपने जीवन को धोखे में खोकर नरक में जा रहे हैं। यदि सावधान होना हो तो सावधान हो जाओ, अन्यथा दिन ही में डाका पड़ रहा है। नर-जन्म के उजाले में ही तुम लुटे जा रहे हो॥ 44॥

व्याख्या—प्राणिमात्र में मानव प्राणी सर्वश्रेष्ठ है। यह मानव-शरीर विवेकसंपन्न होने से यहां कल्याण का कार्य संपादित हो सकता है। मानव-जीवन के एक-एक क्षण का जो मूल्य है उसको हीरे-मोती से आंका नहीं जा

सकता। मानव सुपथ पर चलकर इसी जीवन में परम शांति का लाभ ले सकता है। परन्तु खेद है कि मानव केवल कमाने, खाने, भोगों को भोगने एवं व्यर्थ बातचीत में अपने अनमोल जीवन को खो देता है। यह कभी भी विवेकी संतों एवं गुरुजनों की संगत में नहीं बैठता। बिना सत्संग के किसी का जीवन नहीं सुधरता। कितने लोग ऐसे अभागे हैं कि पास में भी सत्संग पाकर वहां नहीं बैठते।

'बार बार न पाइये, मानुष जनम की मौज' यह उत्तम नर-जन्म शीघ्र-शीघ्र मिलना सहज नहीं है। हमारे जीवन का समय सबसे कीमती है। हम अपने जीवन के समय में धन, विद्या, परिवार, कीर्ति आदि पैदा कर सकते हैं, परन्तु इन सबके बल से अपने जीवन के समय को एक क्षण भी बढ़ा नहीं सकते। अतः हमारा पहला काम है कि हम अपने मन, वाणी और शरीर को पवित्र करें। वह व्यक्ति पर-सेवा क्या कर सकता है जिसने अपने आप को पवित्र नहीं किया है।

हे मानव ! यदि तूने साधु-संगत में जाकर अपने आप की परख नहीं की कि मैं कौन हूं, मेरा कर्तव्य क्या है, मेरे जीवन में शांति कैसे आ सकती है इत्यादि, तो तूने क्या किया? बड़े-बड़े वैज्ञानिक, दार्शनिक, विद्वान, धनवान अपने जीवन के समय को खो देने के बाद पश्चाताप करते हैं, परन्तु पीछे पछताने से तो कुछ नहीं होता। यह मानव जीवन केवल पेट तथा भोग के लिए नहीं है। पेट तो शाम तक शूकर-कूकर भी भर लेते हैं और वे भोग भी मनमानी भोग लेते हैं। यह विवेक संपन्न जीवन तो अपने आप की पहचान के लिए है, अपने आप को सारी बुराइयों, विकारों, मलिनताओं तथा दुखों से बचाकर परम शांति-सागर में निरन्तर निमज्जन करने के लिए है। मनुष्य की यह गहरी भूल है कि ऐसा सुनहला अवसर पाकर वह इसे पशु-सदृश खाने-भोगने में बिता रहा है।

आदमी झूठों-लंपटों, गप्पबाजों एवं विवेकहीनों के पास बैठता है। जहां बैठने से बुद्धि खराब हो, वहां तो वह बैठता है, परन्तु वहां नहीं बैठता जहां बैठने से उसको अच्छे संस्कार मिलें। गंदे विचार वालों के पास बैठकर आदमी गंदे संस्कार ग्रहण करता है। गंदे संस्कार ही नरक हैं। अतएव ऐसे लोग नरक में ही निवास करते हैं। जिसके मन में काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, छल, दंभ, चिन्ता, शोक, विकलता एवं अशांति हैं, उसके मन में नरक है। इन बुराइयों में लिपटे रहना नरक में निवास करना है। कुसंग में जाना नरक में प्रवेश करना है तथा कुसंस्कार एवं कुकर्म में लीन होना नरक में डूब जाना है।

"जात सबन कहँ देखिया, कहहिं कबीर पुकार। चेतवा होय तो चेति ले, नहिं तो दिवस परतु हैं धार॥" सद्गुरु कहते हैं कि मैं चिल्लाकर कह रहा हूं

कि सब लोग नरक में जा रहे हैं। आप चौंकिए मत! अपने भीतर झांककर देखिए। आपके मन में कब काम-वासना की मलिनता आती है? जरा मन में देखिए, कब दूसरे के लिए ईर्ष्या की आग लग जाती है? कब क्रोध आकर आपके हृदय-मन्दिर की रोशनी बुझा देता है? जरा देखिए मन को, कब लोभ की मलिनता आपके हृदय को दूषित कर देती है? अपने मन में झांकिए और देखिए कि कब-कब चित्त चिन्ता, शोक, मोह एवं विकलता में डूबा है? जरा मन की घटनाओं के प्रतिक्षण का एक कागज पर लेखा-जोखा कीजिए, तो देखिएगा कि आप अपने जाग्रत-अवस्था के सोलह-अठारह घण्टे में कितने प्रतिशत नरक में रहते हैं और कितने उससे हटकर।

इस प्रकार बारीकी से अपने मन का निरीक्षण करना तथा नरक में फिसलकर गिरने की दुर्घटनाओं से अपने आप को बचाते जाना जीवन की सबसे बड़ी साधना है। मनुष्य जीवन में और सब कुछ करता है, परन्तु केवल यही काम नहीं करता। इसलिए वह बाहर का सब कुछ पाकर भी भीतर की मलिनता के कारण निरन्तर दुखी रहता है। आदमी ताल ठोंककर दूसरों को बुरा कहता है; क्योंकि वह अपने मन की बुराइयों को देख नहीं पाता।

सद्गुरु कहते हैं कि जागना हो तो जाग जाओ, दिन में ही डाका पड़ रहा है। यह मानव-जीवन दिन है। यहां तुम्हें विवेक का प्रकाश मिला है, सत्संग का प्रकाश मिला है। यदि इनसे तुमने स्वयं अपनी आंखें मीच ली हैं, तो उन्हें खोलने के लिए दूसरे का कोई अधिकार नहीं है।

जागो, तुम्हारे ऊपर बाहर-भीतर दोनों तरफ से हमले हो रहे हैं। बाहर के संसारी-बुद्धि के शूरवीर लोग तुम्हें कुसंग, कुकर्म एवं विषय-वासनाओं में डालकर नरक में गिराना चाहते हैं और भीतर मन की मलिनताएं तुम्हें नरक में गिराने के लिए प्रतिक्षण तत्पर हैं। तुम इन सबसे सावधान हो जाओ।

संसार की नश्वरता तथा माया-मोह के खतरे के दर्शन

रमैनी-45

हरणाकुश रावण गौ कंसा। कृष्ण गये सुर नर मुनि बंसा॥ 1॥
ब्रह्मा गये मर्म नहिं जाना। बड़ सब गये जे रहल सयाना॥ 2॥
समुझि न परलि राम की कहानी। निर्बक दूध कि सर्बक पानी॥ 3॥
रहिगौ पन्थ थकित भौ पवना। दशों दिशा उजारि भौ गवना॥ 4॥
मीन जाल भौ ई संसारा। लोह की नाव पषाण को भारा॥ 5॥
खेवैं सबै मर्म हम जानी। तैयों कहैं रहे उतरानी॥ 6॥
साखी—मछरी मुख जस केंचुआ, मुसवन महँ गिरदान।
सर्पन माहिं गहेजुआ, ऐसी जात देखि सबन की जान॥ 45॥

शब्दार्थ—निर्बक=शुद्ध। सर्बक=पूरा। पन्थ=मार्ग। पवना=प्राणवायु। दशोंदिशा=दसों इंद्रियां। उजारि=सुनसान। केंचुआ=बरसाती लम्बे कीड़े जो जमीन में रहते हैं। गिरदान=गिरगिट। गहेजुआ=छछूंदर।

भावार्थ—हिरण्यकश्यपु, रावण और कंस चले गये। श्री कृष्ण जैसे प्रभुताशाली पुरुष चले गये, तथा देवता, मनुष्य और मुनियों के वंशज भी संसार से उठ गये॥ 1॥ जीवन का रहस्य जाने बिना ब्रह्मा चले गये। वे सब चले गये जो बड़े चतुर या समझदार कहलाते थे॥ 2॥ राम की कहानी समझ में नहीं आयी कि वह शुद्ध दूध है या केवल पानी है॥ 3॥ सबके चले हुए रास्ते एवं अच्छे-बुरे आचरणों की केवल चर्चा रह गयी, परन्तु उनके प्राण थककर उड़ गये और दसों इंद्रियों के संयुक्त इस शरीर को सुनसान कर जीव चला गया॥ 4॥ जैसे मछलियों को फंसाने के लिए जाल होता है, वैसे मनुष्यों को फंसाने के लिए यह संसार जाल हो गया। मनुष्य अज्ञानवश लोह की नाव में पत्थर लादकर पार जाना चाहता है। अर्थात अज्ञान की नाव में अहंता-ममता तथा सकाम कर्मों का बोझा लादकर पार जाना चाहता है॥ 5॥ वे सब अपनी अज्ञानरूपी लोह की नावकाएं खेय रहे हैं और कहते हैं कि हम इसका रहस्य जानते हैं। वे भवसागर में डूब रहे हैं, परन्तु उन्हें अहंकार है कि हमारी नावकाएं तैर रही हैं॥ 6॥

बंसी में लगे हुए केंचुए को मुख में लेकर जैसे मछली अपना गला फंसा लेती है, जैसे चूहा अपने मुख में गिरगिट लेकर और सांप अपने मुख में छछूंदर लेकर अपने को संकट में डाल लेते हैं, मैं देखता हूं कि वैसे मनुष्य संसार के आकर्षक दिखने वाले भोगों में उलझकर अपने जीवन को संकट में डाल लेता है॥ 45॥

व्याख्या—सद्गुरु संसार की नश्वरता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि यहां से बड़े-बड़े नामी-ग्रामी चले गये, फिर हमें इस संसार के पदार्थों और शरीर का क्या अहंकार करना चाहिए। पुराणों के अनुसार हिरण्यकश्यपु बहुत प्रतापवान था, परन्तु वह भी इस संसार में न रह गया। रावण की महिमा आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायण में प्रसिद्ध है जिसके सामने सारा संसार नतमस्तक होता था। उसको भी अपने परिवार तथा समाज के साथ संसार से जाना पड़ा। कंस भी बली और प्रतापी राजा थे। वे भी न रहे। महाभारत के अनुसार श्री कृष्ण महान प्रतापवान शासक और राजनेता थे; परन्तु उनका पूरा परिवार गृहयुद्ध करके उनके सामने समाप्त हो गया और वे स्वयं भी संसार से चले गये। सुर, नर, मुनि भी अपने-अपने वंशजों के साथ चले गये।

"ब्रह्मा गये मर्म नहिं जाना" इस पंक्ति को पढ़कर चौंकने की आवश्यकता नहीं है कि क्या ब्रह्मा भी जीवन या सत्य का मर्म नहीं जान सके? इसके

समाधान के लिए तो पुराण ही काफी हैं। पुराणों ने ब्रह्मा को जगह-जगह काम, मोह तथा क्रोधग्रस्त बताया है। ब्रह्मा को कर्मकांडों का ही प्रतिष्ठाता माना गया है जिससे ज्ञान से कोई प्रयोजन नहीं।

"समुझि न परलि राम की कहानी। निर्बक दूध कि सर्बक पानी॥" इस रमैनी में पौराणिक तथा ऐतिहासिक महापुरुषों के नाम होने से यहां 'राम की कहानी' का अर्थ दशरथसुवन श्री रामचंद्र जी महाराज की कथा से ही लगता है। सद्गुरु कहते हैं कि यह बात लोगों की समझ में नहीं आयी कि श्री राम-कथा शुद्ध दूध है या केवल पानी। अर्थात श्री राम ऐतिहासिक पुरुष हैं या केवल वाल्मीकीय महाकाव्य के काल्पनिक नायक !

श्री कृष्ण की ऐतिहासिकता तो निर्विवाद है; क्योंकि उनके विषय में ऋग्वेद[1] तथा छांदोग्य उपनिषद्[2] जैसे प्रामाणिक ग्रंथों में पूर्ण लक्षण मिलते हैं। परन्तु श्री राम के विषय में वेदों तथा उपनिषदों में ऐसा कुछ नहीं मिलता। ऋग्वेद (10/93/14) में राजा दुःशीम, पृथु तथा वेन के साथ एक नाम 'असुर राम'[3] का आता है जिसका अर्थ 'बलवान राम' होता है। परन्तु इस राम के साथ दाशरथी राम के कोई अन्य लक्षण जैसे दशरथ-पुत्र, सीता-पति, अयोध्याधीश, रावण-अरि आदि नहीं आते हैं। ऋग्वेद (10/60/4) में राजा इक्ष्वाकु का नाम आता है और ऋग्वेद (1/126/4) में ही 'दशरथ' शब्द आता है, परन्तु वह दस संख्या में 'रथ' का अर्थ प्रकट करता है। जनक ब्राह्मण-ग्रन्थ तथा प्रामाणिक उपनिषदों में व्याप्त हैं, परन्तु सीता या राम के नाम का वहां कोई उल्लेख नहीं मिलता है।[4]

वेद—ऋक्, यजु, साम, अथर्व तथा वैदिक साहित्य—ब्राह्मण, आरण्यक, सूत्रग्रन्थ (श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र एवं धर्मसूत्र), प्रामाणिक उपनिषदें जिन पर शंकराचार्य आदि आचार्यों ने भाष्य किये हैं, तथा वैदिक छह दर्शनशास्त्र सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, ब्रह्मसूत्र आदि में कहीं भी राम-कथा का उल्लेख नहीं है। इसलिए कितने ही विद्वान मानते हैं कि राम-कथा केवल

---

1. ऋग्वेद 8/85/13-16। ऋग्वेद के जिस संस्करण में 11 सूक्त खिल्य (परिशिष्ट) रूप रहते हैं, उसमें यह सूक्त आठवें मण्डल में 96 वां सूक्त पड़ता है।
2. छांदोग्य उपनिषद् 3/17/6।
3. 'असु' कहते हैं 'प्राण' को तथा 'असुर' कहते हैं 'प्राणवान' को। प्राणवान का अर्थ बलवान है।
4. तैत्तिरीय ब्राह्मण (3/10/9), शतपथ ब्राह्मण (11/3/1/2-4); (11/4/3/20); (11/6/2/1-10); (11/6/3/1); जैमिनि ब्राह्मण (1/19); (2/76-77); बृहदारण्यक उपनिषद् (3/1/1-2); (4/1/1) से (4/4/7); (5/14/8); (2/1/1); कौषीतक उपनिषद् (4/1); शांखायन आरण्यक (6/1) आदि में 'जनक' की विशद चर्चा है। (फादर कामिल बुल्के; रामकथा, पृ. 4-5 से उद्धृत)।

वाल्मीकीय महाकाव्य का विषय मात्र है। यह कोई ऐतिहासिक नहीं हैं।[1] परन्तु इसके विपरीत बहुत-से लोग रामकथा को प्रामाणिक ऐतिहासिक मानते हैं।

हो सकता है कि श्रीराम ऐतिहासिक पुरुष हों, परन्तु वे अपने जीवन-काल में लोगों द्वारा बहुत श्रेय न पाये हों और वेद तथा वैदिक साहित्य के लेखकों ने उनका ज्यादा महत्त्व न समझा हो। इसलिए उन्होंने अपनी रचनाओं में राम-कथा का संकेत नहीं किया। परन्तु राम-कथा लोकगीत के रूप में जनमानस में चली आयी हो, और ईसा पूर्व करीब तीसरी शताब्दी में वाल्मीकि मुनि ने अपने सुन्दर काव्य के माध्यम से उसे जनता की प्रिय वस्तु बना दी। फिर तो बाल्मीकीय रामायण जैसे सुन्दर महाकाव्य से, जिसमें श्री राम का उदात्त चरित वर्णन है, प्रेरणा पाकर अनगिनत कवियों ने विभिन्न भाषाओं में उनका गुणगान किया। इसलिए भारत तथा भारतेतर देशों में भी राम-कथा प्रेरणाप्रद एवं प्रिय कथा सिद्ध हुई।

सारतः तो कोई कैसा ही महापुरुष हो, इस संसार से सबको जाना पड़ता है। सबके पीछे उनकी सुकीर्ति तथा कुकीर्ति ही रह जाती हैं, जो जनमानस में अच्छी तथा बुरी प्रेरणा का स्रोत बनती है।

इस संसार में आकर अपने आप को बन्धनों में न बांधना एवं स्वतंत्र रखना बहुत बड़ी बात है। ऐसा होना यद्यपि स्वाभाविक है, तथापि लोग माया के आकर्षण से अपने आप को बचा नहीं पाते और फंस जाते हैं। सद्‌गुरु कहते हैं—"मीन जाल भौ ई संसारा।" यह संसार तो मनुष्यों के फंसने के लिए 'मीनजाल' हो जाता है। जैसे भोली मछलियां जाल में फंस जाती हैं, वैसे भोले मानव माया के जाल में फंस जाते हैं। उठती जवानी ही कुछ करने योग्य समय है। इसी अवस्था में भक्ति, सेवा, स्वाध्याय, साधना, वैराग्य फलित हो सकते हैं, और इसी समय में मनुष्य के ऊपर माया का आक्रमण होता है। माया का अर्थ है मन का विषयों के प्रति आकर्षण, जो एक भ्रांति है। जवानी-रत्न को विषयों में खो देने के बाद फिर व्यक्ति के अपने पास बचता ही क्या है? मुकदमा से हारे आदमी के समान उसकी दयनीय स्थिति होती है। अपनी

---

1. वाल्मीकीय रामायण के अनुसार ब्रह्मा की चौथी पीढ़ी में रावण, चौबीसवीं पीढ़ी में सीता तथा चालीसवीं पीढ़ी में श्री राम पड़ते हैं। एक पीढ़ी पचीस वर्ष की मानी जाये तो रावण के पांच सौ वर्ष बाद सीता तथा सीता के चार सौ वर्ष बाद श्री राम होते हैं। परन्तु विद्वान लोग रामायण की अपेक्षा पुराणों की वंशावली ज्यादा प्रामाणिक मानते हैं। उनके अनुसार ब्रह्मा की चौथी पीढ़ी में रावण, साठवीं पीढ़ी में राम तथा चौबीसवीं पीढ़ी में सीता ठहरती हैं। इसके अनुसार रावण के पांच सौ वर्ष बाद सीता तथा सीता के नौ सौ वर्ष बाद श्री राम होते हैं। इन तीनों की एक काल में विद्यमानता कैसे हुई? यह एक समस्या है। देखिए 'रामायण रहस्य' के पहले अध्याय में राम, सीता तथा रावण की वंशावली से कालवैषम्य। तथा रजनीकांत शास्त्री कृत मानसमीमांसा, पृ. 63।

जवानी की उष्मा को खोना और पत्नी बच्चों में फंसकर संसार में जीवनभर के लिए उलझ जाना—यही तो विषयों एवं माया के आकर्षण का फल है।

"लोह की नाव पषाण को भारा।" मानव लोह की नाव पर पत्थर लादकर पार जाना चाहता है। वह रात–दिन ऐसे ही कर्म करता जाता है जिससे संसार–सागर में निरंतर नीचे ही डूबता जाये, परन्तु आशा करता है कि हम उबर जायेंगे। यही तो व्यामोह है। लोह की नाव में पत्थर भरकर सब उसे खेय रहे हैं। मोह की नाव में सकाम कर्मों की लादी लादकर पार जाना चाहते हैं। विमोहित मानव संसार–सागर में डूब रहा है; परन्तु उसे गर्व है कि हम तर रहे हैं।

रमैनी के अन्त की साखी में सद्गुरु मछली, चूहा तथा सांप के मार्मिक उदाहरण देते हैं। मछली चारा के लोभ में बंसी (कटिया) में फंसती है और मारी जाती है। गिरगिट अनेक रंग बदलने वाला जंतु होता है। कहा जाता है जब चूहा उसे फल आदि खाने की वस्तु समझकर खाने चलता है, तो गिरगिट चूहे के मुंह पर फूंक मार देता है और चूहा अन्धा हो जाता है। तीसरा उदाहरण सांप का है। सांप चूहे खाता है। परन्तु यदि कभी चूहे के आकार में दिखते हुए छछूंदर को चूहा समझकर मुख में पकड़ता है, तो सांप के ऊपर संकट आ जाता है। कहा जाता है कि यदि सांप छछूंदर को खा ले तो वह उसके जहर से मर जाता है और यदि मुख में पकड़े हुए छछूंदर को छोड़ दे, तो अंधा हो जाता है।[1] इसीलिए कहा गया है—"भई गति सांप छछूंदर केरी। लीलत उगिलत पीर घनेरी॥ "[2]

जैसे खाने के लोभ में पड़कर मछली, चूहा तथा सर्प अपनी जान को जोखिम में डालते हैं, वैसे विषयों के लोभ में पड़कर मनुष्य अपने आप को बन्धनों के संकट में डालता है।

मीन–जाल, लोह की नाव तथा पत्थर का भार, मछली–केंचुआ, चूहा–गिरगिट तथा सांप–छछूंदर के कैसे–कैसे मार्मिक उदाहरण देकर सद्गुरु हमें जगा रहे हैं। इस पर भी नींद न खुले, तो हमारी अकर्मण्यता है। सद्गुरु इस रमैनी में नाना उदाहरण और युक्ति देकर हमें सांसारिक माया–मोह से वैराग्य कराना चाहते हैं। वे इस रमैनी के शुरू में ही कहते हैं कि हिरण्यकश्यपु, रावण, कंस, कृष्ण, सुर, नर, मुनि आदि अपने–अपने परिवार–कुटुम्ब सहित इस संसार से चले गये। हम यहां कब तक रहेंगे ! हम यहां जिस माया–मोह में

---

1. कहा जाता है कि यदि सांप मुख में पकड़े हुए छछूंदर को पानी में डूबकर छोड़े तो वह अंधा होने से बच जाता है।

2. रामचरित मानस।

भूलते हैं, वह तो 'मीन-जाल' है। हम जिस अहंता-ममता की नाव पर बैठे हैं, वह लोह या पत्थर की है और हमें डुबाने वाली है। हम जिन भोगों में विमोहित हैं, वे हमारी शांति, स्वतन्त्रता एवं कल्याण का वध करने वाले हैं। इतने मार्मिक, इतने हृदयस्पर्शी वक्तव्य से हमारे हृदय की मोह-रस्सी नहीं टूटेगी, तो हमारा कब छुटकारा होगा !

रमैनी-46

बिनसे नाग गरुड़ गलि जाई। बिनसे कपटी औ शत भाई॥ 1॥
बिनसे पाप पुण्य जिन्ह कीन्हा। बिनसे गुण निर्गुण जिन्ह चीन्हा॥ 2॥
बिनसे अग्नि पवन औ पानी। बिनसे सृष्टि कहाँ लों गनी॥ 3॥
विष्णु लोक बिनसै छिन माहीं। हौं देखा परलय की छाँहीं॥ 4॥
साखी—मच्छ रूप माया भई, जबरहिं खेले अहेर।
हरिहर ब्रह्मा न ऊबरे, सुर नर मुनि केहि केर॥ 46॥

शब्दार्थ—गनी=गणना करना। अहेर=शिकार।

भावार्थ—नागों का विनाश हो गया और नागों को खाने वाले गरुड़ भी गलकर मिट्टी में मिल गये। छल-छद्म करने में निपुण शकुनि तथा सौ भाई दुर्योधन भी विनष्ट हो गये॥ 1॥ इस संसार में पाप करने वाले मरते हैं और पुण्य करने वाले भी मरते हैं। सगुण की उपासना करने वाले इस संसार से चले जाते हैं, तो जिन्होंने निर्गुणतत्त्व को पहचाना है उन्हें भी यहां से जाना होता है॥ 2॥ अग्नि, पवन, पानी आदि भौतिक तत्त्वों से बनी सारी चीजें नष्ट होती हैं। एक-एक चीज कहां तक गिनायी जाये, सृष्टि की सारी निर्मित चीजें नष्ट होती हैं॥ 3॥ विष्णु-लोक भी क्षण में नष्ट हो जाता है। मैं सारे दृश्य को प्रलय की छाया में देखता हूं॥ 4॥

मनुष्य मछली को सरलता से मार लेता है, परन्तु मछली ही मनुष्य पर आक्रमण कर उसे मार दे, आश्चर्य है। इसी प्रकार माया केवल मन का मोह है, उसे साधक विवेकज्ञान से नष्ट कर सकता है; परन्तु मनुष्य के पास विवेक न होने से माया ही बलात मनुष्य का शिकार कर जाती है। माया के आक्रमण से विष्णु, महादेव और ब्रह्मा भी नहीं बचे, फिर देवता, मनुष्य और मुनि किस खेत की मूली हैं॥ 46॥

व्याख्या—शरीर और संसार की चीजों के प्रति हमारे मन में अत्यन्त मोह, आसक्ति तथा अहंकार हैं और ये ही दुखों के कारण हैं। इसलिए इन्हें ध्वंस करने के लिए सद्गुरु बारम्बार संसार की नश्वरता पर प्रकाश डालते हैं। पूर्व रमैनी में इस पर विस्तार से कह आये हैं। इस रमैनी में विशेषतः यह दिखाते हैं कि जिसे तुम देव-योनि या विष्णु-धाम कहते हो उनका भी विनाश निश्चित है।

"बिनसे नाग गरुड़ गलि जाई।" यहां नाग और गरुड़ की नश्वरता की चर्चा है। नाग और गरुड़ कौन थे? इस पर विचार लें।

नाग—अनन्त, वासुकि, कवल, कर्कोटक्र, पद्म, महापद्म, शंक, कुलिक तथा अपराजित—ये सब नाग कहलाते हैं। इनके पिता का नाम कश्यप तथा माता का नाम कद्रु था। अनन्त, वासुकि आदि नागों के वंशजों की बहुत वृद्धि हुई और ये बहुत क्रूरकर्मी हुए, प्रजा ने जाकर ब्रह्मा से इनके दोष कथन किये। ब्रह्मा ने नागों को बुलाकर समझाया, जब वे नहीं माने तब उन्होंने कहा—जैसे तुम मेरी प्रजा का नाश करते हो, वैसे अपनी माता के शाप से तुम सब स्वयं नष्ट हो जाओगे।

एक बार कद्रु तथा विनता में विवाद हुआ कि सूर्य के घोड़े की पूंछ काली है कि उजली? विनता कहती उजली है और कद्रु कहती काली है। अन्त में शर्त यह हुई कि जिसकी बात झूठी हो वह दूसरी की दासी बनकर रहे। कद्रु से नागों ने कहा कि पूंछ तो उजली है। कद्रु ने कहा—अब क्या होगा? नागों ने कहा—उपाय करेंगे। फलतः प्रातःकाल होते ही सूर्य के रथ के घोड़े उच्चैश्रवा की पूंछ में नाग जाकर लिपट गये। जिससे दूर से पूंछ काली दिखती थी। यह रहस्य विनता जान गयी और उसने नागों को छल के परिणाम में शाप दिया कि तुम सब नष्ट हो जाओ। फिर जनमेजय के यज्ञ में सर्प मारे गये।

जनमेजय के पिता राजा परीक्षित को जब तक्षक अर्थात सर्प ने काट खाया था, तब जनमेजय ने क्रोधित होकर और ब्राह्मणों से सम्मति लेकर एक सर्प-यज्ञ किया। ऋत्विकों (यज्ञ कराने वाले ब्राह्मणों) ने मन्त्र पढ़कर सब सर्पों को हवनकुण्ड में भस्म कर दिया था। आस्तीकि ऋषि ने जनमेजय को समझाया, तब उन्होंने केवल एक सर्प को छोड़ा था।

मनुष्य रूप कश्यप तथा कद्रु से सर्पों का जन्म लेना, मनुष्य-जैसी बात करना, सूर्य के रथ और घोड़े होना, जनमेजय के यज्ञ में मन्त्र पढ़ देने मात्र से सर्पों का अग्निकुण्ड में आ गिरना—यह सब कपोल कल्पित है। वस्तुतः भारत में नाग नाम की मनुष्य की एक जाति थी, जो सुसभ्य और उन्नत थी, आर्यों से उनकी मुठभेड़ होती थी। आर्यों ने उनका सामूहिक दाह किया था। इसी को पीछे सर्पयज्ञ कहा गया।

गरुड—कश्यप की दूसरी पत्नी विनता के पुत्र गरुड थे। ये सब पक्षियों के राजा माने जाते हैं। ये विष्णु के वाहन भी माने जाते हैं। परन्तु मनुष्य से पक्षी का होना यह भी असम्भव कल्पना है।

कहा जाता है कि किसी काल में अमेरिकावासी मनुष्य नाग नाम से पुकारे जाते थे। ये बड़े बलवान थे। ये अत्याचार करने से नष्ट हुए होंगे। ये ही

संभवतः कश्यप के वंशज रहे होंगे। इसी प्रकार यदि विनता से पैदा हुए तो गरुड भी मनुष्य ही रहे होंगे।

पुराणों के अनुसार कश्यप की तेरह पत्नियां थीं। उनमें दिति से दैत्य, अदिति से देवता, दनु से दानव, कद्रु से नाग, विनता से गरुड, इसी प्रकार किसी से कोई तथा किसी से कोई जाति के लोग पैदा हुए। जब कश्यप मनुष्य थे तो उनकी पत्नियां भी मनुष्य ही रही होंगी, तभी उनसे बच्चे पैदा हुए होंगे। अतएव देवता, दैत्य, दानव, नाग, गरुड आदि सब मानव थे।

पुराणों के अनुसार नाग लोग पाताल में रहते थे। इसलिए कुछ लोग कल्पना करते हैं कि अमेरिकावासी नाग कहलाते थे। नग कहते हैं पर्वत को। जो न गमन करे वह न-ग=नग और पर्वतों पर रहने वाले लोग नाग। इसीलिए भारत के पूर्वी छोर पर नाग लोग बसते हैं और वहां नागालैंड प्रदेश ही बन गया है। बंगाल में कुछ जाति के लोग हैं जो अपने को नाग कहते हैं। आसाम क्षेत्र के पर्वतों में अभी भी नाग लोग बसते हैं। विदर्भ में बसा हुआ नागपुर नगर को नागवंशियों का बताया जाता है। भारत के अन्य क्षेत्रों से नाग लोग हिन्दू समाज के चारों वर्णों में मिल गये।

डॉ. रांगेय राघव ने लिखा है—"विष्णु आर्यों का बड़ा देवता है। नाग जाति में प्रसिद्ध शेषनाग उनका प्रसिद्ध राजा था जो विष्णु का मित्र था। शेष के बाद वासुकि राजा था, वह देवों का मित्र था। नाग जाति के लोग सर्प, पत्थर एवं पेड़ पूजते थे।"[1]

"जो नागवंशीय भारतीय समाज में अंतर्भुक्त हो गये, वे सुसभ्य थे। भोगवती (इलाहाबाद) उनकी बड़ी राजधानी थी। वह वासुकि नाग के अधीन थी।...कायस्थों में अस्थाना हैं जिनका संबन्ध संभवतः अहिस्थान से ही है; क्योंकि अस्थाना अपनी परम्पराओं में नाग को मामा मानते हैं। वे मानते हैं कि नाग उन्हें नहीं काटते।"[2]

"नागों ने ही शायद तक्षशिला विश्वविद्यालय स्थापित किया था। महाभारत में तक्षशिला विश्वविद्यालय का नाम नहीं है। बुद्ध और चाणक्य के समय में तक्षशिला विश्वविद्यालय था। तक्षशिला में नागों को मारने जनमेजय गया था। यदि यह माना जाये कि भारत में आर्य ईसा से केवल पंद्रह सौ वर्ष पूर्व आये थे, तब विचारकों के मत को देखते हुए यह आश्चर्य होता है कि वैदिक साहित्य में कहीं भी तक्षशिला विश्वविद्यालय का उल्लेख नहीं है। पांच सौ ईसा पूर्व के लगभग या उससे कुछ पहले छांदोग्य उपनिषद् माना जाता है। उसमें

---

1. रांगेय राघव; महायात्रा गाथा (1/2/61)।
2. वही, (1/3/117)।

बुद्धकालीन तक्षशिला विश्वविद्यालय का कहीं उल्लेख भी नहीं मिलता। यह कैसे हो सकता है कि दुनिया भर की ब्रह्मचर्चा करने वाले उस स्थान का वर्णन तक न करते जहां चाणक्य जैसे विद्वान पढ़कर तैयार हुए थे।"[1]

भारत की प्राचीन मानव जातियां हैं—देवता, दैत्य, दानव, पिशाच, नाग, वरुण, गरुड गंधर्व, किन्नर, मय, पणिय, वानर, रीछ आदि। इनके वंशज आज के हिन्दू-अहिन्दू कहे जाने वाले भरतवंशियों में अंतर्भुक्त हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि इस संसार में कोई क्या गर्व करता है। प्राचीन काल के प्रसिद्ध प्रतापी नागवंशी एवं गरुडवंशी लोग अपनी सत्ता शताब्दियों एवं सहस्राब्दियों पूर्व ही खो चुके हैं। महाभारत को पढ़िये तो छल-कपट करने में कौरव तथा पांडव दोनों ने कसर नहीं रखी थी। स्वयं महाराज कृष्ण ने भी इसमें विशेष रूप से हाथ बटाया था। परन्तु जुआ खेलने में शकुनि ने ज्यादा छल-कपट किया था। सद्गुरु कहते हैं कि कपट करने में निपुण शकुनि चले गये और सौ भाई दुर्योधन भी न रहे।

"बिनसे पाप पुण्य जिन्ह कीन्हा" पाप करने वाले मर जाते हैं, तो यह कोई अहंकार न करे कि पुण्य करने वाले नहीं मरेंगे। उनको भी मरना है 'आये हैं सो जायेंगे, राजा रंक फकीर।' फरक इतना ही है 'एक सिंहासन चढ़ि चला, एक बंधे जात जंजीर।' पाप करने वाले मरते हैं और पुण्य करने वाले मरते हैं। अंतर यही रहता है कि पुण्य करने वाला सिंहासन पर बैठकर जाता है और पाप करने वाला जंजीर में बंधकर जाता है। पवित्र संस्कारों से संपन्न रहकर प्रसन्नतापूर्वक जाना सिंहासन पर बैठकर जाना है, तथा गंदे संस्कारों में लिपटकर दुखपूर्वक जाना जंजीर में बंधकर जाना है। यही तो जीवन का सबसे बड़ा अन्तर है।

"बिनसे गुण निर्गुण जिन्ह चीन्हा।" कोई सगुणवादी है और कोई निर्गुणवादी। लोग कहते हैं कि कबीर निर्गुणवादी हैं। सच पूछा जाये तो कबीर सगुणवाद-निर्गुणवाद के ऊपर हैं। वे कितनी निष्पक्षता से कहते हैं कि जो सगुण की उपासना करते हैं वे भी मरते हैं और जो निर्गुण को पहचानते हैं, वे भी इस संसार से जाते हैं। अतएव सगुणवादी तथा निर्गुणवादी को भी इस संसार की वस्तुओं का अहंकार करने की गुंजाइश नहीं है।

यहां प्रसंगवश सगुण तथा निर्गुण के विषय में भी थोड़ा समझ लेना चाहिए। जहां तक भौतिक तथा मानसिक जगत है, सब सगुण है; क्योंकि इनमें सत, रज तथा तम तीनों गुण विद्यमान रहते हैं। भौतिक जगत में निर्माण रज है, पुष्टि सत है तथा क्षय तम है, और मानसिक जगत में इच्छा तथा क्रिया रज है,

1. वही, (1/3/118)।

ज्ञान तथा प्रसन्नता सत है और आलस्य-निद्रादि तम है। इस प्रकार भौतिक तथा मानसिक जगत सगुण है। इनमें जितनी उपासनाएं होती हैं, सब सगुण-उपासना है। स्थूल प्रतीक-उपासना, मानसिक प्रतीक-उपासना, गुरु-उपासना—सब सगुण उपासनाएं हैं।

शुद्ध चेतन तीनों गुणों से परे होने से वह निर्गुण है। संकल्प समाप्त होने पर साधक की अपने शुद्ध चेतन-स्वरूप में स्थिति हो जाती है, यही निर्गुण दशा है और यही कबीर साहेब का अंतिम सिद्धांत है। परन्तु यहां तक पहुंचने के लिए पहले सगुण-उपासना की उपयोगिता है। गुरु-उपासना के बाद ही स्वरूपस्थिति होती है। अतएव सद्गुरु कबीर निर्गुणवादी होते हुए भी मताग्रही नहीं हैं, वे सगुण के पक्ष को भी समझते हैं। सद्गुरु यहां तो यह बताना चाहते हैं कि इस संसार से सगुणवादी, निर्गुणवादी सभी को जाना है। 'का कोइ गर्व कराय।'

"बिनसे अग्नि पवन औ पानी। बिनसे सृष्टि कहाँ लों गनी॥" क्या मिट्टी, पानी, आग, हवा तत्त्व भी नष्ट हो जाते हैं? विज्ञान की दृष्टि से चारों तत्त्व भी अनेक सूक्ष्म तत्त्वों के योग हैं। फिर भी ये चारों महाभूत हर समय विद्यमान रहते हैं। संसार में कारण-कार्य की एक अटूट शृंखला है। मूल जड़ तत्त्व कारण हैं। उनमें अन्तर्निहित स्वाभाविक क्रियाएं हैं। उन क्रियाओं से अनेक कार्य-पदार्थ निर्मित होते तथा विनशते रहते हैं। मूल जड़ तत्त्वों में अबाध गति से क्रिया होती है। उन्हीं क्रियाओं में निर्माण तथा विनाश अपने आप घटते रहते हैं। यह धारा अनादि है तथा अनन्त भी, अतएव उपर्युक्त पंक्ति का अर्थ यही है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि जड़ तत्त्वों से निर्मित समस्त सृष्टि ही परिवर्तनशील है। अतएव कोई भी कार्य-पदार्थ स्थिर नहीं है।

"विष्णु लोक बिनसै छिन माहीं। हौं देखा परलय की छाहीं॥" सगुण उपासक लोग पुराणों की महिमापरक बातों से प्रभावित होकर आशा लगाये बैठे हैं कि विष्णुलोक में जाकर हम सदैव के लिए सुखी हो जायेंगे; क्योंकि वह अजर-अमर है। सद्गुरु कहते हैं कि पुराण ही उन्हें नाशवान बताते हैं। गीता कहती है—"ब्रह्मलोक से लेकर सारे लोक ऐसे हैं जहां से पुनरागमन होता है। परन्तु हे कुंतीपुत्र! मुझ तक पहुंच जाने के बाद पुनः जन्म नहीं होता।' 'मामुपेत्य'—मेरे को पाकर अर्थात अपनी आत्मा को पाकर पुनर्जन्म नहीं होता।"[1]

वैसे विष्णुलोक, ब्रह्मलोक, साकेतलोक, सत्यलोकादि सब काल्पनिक हैं। मनुष्य इस लोक में तृप्त नहीं होता है, तो अपनी अपूर्ण इच्छाओं की तृप्ति के

1. आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ (गीता 8/16)

लिए अन्य सर्वसंपन्न लोकों (स्वर्ग) की कल्पना करता है; जो केवल दिवास्वप्न एवं मन को बहलाने का चिद्विलास है। दुर्जनतोष न्याय अन्य कोई लोक मान भी लें तो वहां जाकर भी मनुष्य तब तक सुखी नहीं हो सकता, जब तक वह अपने मन की भोग-इच्छाओं को नहीं त्याग देता; और यदि भोग-इच्छाओं को त्याग दे तो इसी पृथ्वी पर वह पूर्ण सुखी हो जायेगा।

सद्गुरु ने यहां इतना ही कहा है कि तुम जहां तक भोग के साधन मान रखे हो, सबका नाश अवश्यंभावी है। "हौं देखा परलय की छाँही" मैं सब कुछ को प्रलय की छाया में देखता हूं। प्रलय की छाया का अर्थ है 'नश्वरता के भीतर।'

"मच्छ रूप माया भई, जबरहिं खेले अहेर।" संसार में देखा जाता है कि शिकारी मछली को सहज ही मार लेता है; परन्तु यहां आश्चर्य की बात हुई कि मछली ने ही बलपूर्वक शिकारी के ऊपर धावा बोल दिया। कबीर साहेब के कहने का तरीका चौंकाने वाला होता है। वे इतने संवेदनशील हैं कि जगत की आश्चर्यमय स्थिति को देख लेते हैं। उनका कथन केवल चौंकाने वाला नहीं है, किन्तु वास्तविकता वही रहती है।

'माया' कोई स्वतन्त्र सत्ता की वस्तु नहीं है। मन का मोह ही माया है। किसी मनुष्य ने बीड़ी पीने में आसक्ति बना ली, अब उसे बीड़ी पीये बिना रहा नहीं जाता। हम जिन-जिन प्राणी-पदार्थों से नहीं जुड़े होते हैं, उनके विषय में हमें कोई बन्धन नहीं होता; और जब नये प्राणी-पदार्थों से जुड़ जाते हैं और उनमें आसक्ति कर लेते हैं, तब उनके बिना रह नहीं पाते। इसी प्रकार सारे मोह हमारे कल्पित होते हैं। अतएव मोह की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है जिसे हम न मिटा सकें। साधक को ठीक से बोध हो जाये कि मैं शरीर, मन एवं सारे दृश्यों से भिन्न शुद्ध चेतन हूं और काम, मोह, लोभ आदि जितने मनोविकार हैं, मेरे मनःकल्पित हैं, मोहादि विकार मेरे शांति के शत्रु हैं, तो उन्हें पूर्णतया ध्वंस कर देने में वह परम समर्थ है। मन का मोह रूप माया अभावात्मक अहंकार मात्र है, जो साधक के स्वरूपज्ञान के तेज के आगे टिक नहीं सकती। परन्तु मनुष्य को स्वरूपज्ञान न होने से वह दीन बना है और तुच्छ माया उस पर बलात हमला कर उसका शिकार करती है। अर्थात माया जीव को भटकाती है।

मछली दीन होते हुए भी वह चेतन प्राणी है। उसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। माया तो ऐसा कुछ नहीं है। मछली का उदाहरण माया के लिए उपलक्षण मात्र है। माया तो केवल मन का मोह है जो विवेक के प्रकाश में समाप्त हो जाती है। विवेक न जगने से माया बलवान-सी लगती है। किसी गुफा में लाखों वर्ष से अंधकार हो, प्रकाश जलाते ही उसका पता न लगेगा कि वह कहां गया। क्योंकि वह कुछ था ही नहीं। वह तो प्रकाश का अभाव मात्र था। वह अंधकार

लाठी, डंडे तथा तलवार-बन्दूक से नष्ट होने वाला नहीं था; किन्तु प्रकाश लाने से उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार विवेक-ज्ञान के अभाव से मोह होता है और यही है माया, जो विवेक आने पर समाप्त हो जाती है।

रमैनी-47

जरासिन्धु शिशुपाल सँघारा। सहस्त्रार्जुन छल सो मारा॥ 1॥
बड़ छल रावण सो गौ बीती। लंका रहल कंचन की भीती॥ 2॥
दुर्योधन अभिमाने गयऊ। पाण्डव केर मर्म नहिं पयऊ॥ 3॥
माया के डिम्भ गयल सब राजा। उत्तम मध्यम बाजन बाजा॥ 4॥
छौ चकवे बिति धरणि समाना। एकौ जीव प्रतीत न आना॥ 5॥
कहाँ लों कहौं अचेतहि गयऊ। चेत अचेत झगरा एक भयऊ॥ 6॥
साखी—ई माया जग मोहिनी, मोहिन सब जग झारि।
हरिचन्द सत्त के कारणे, घर घर सोग बिकाय॥ 47॥

शब्दार्थ—जरासिन्धु=जरासंध। डिम्भ=दंभ, अहंकार, पुत्र। छौ चकवे= छह चक्रवर्ती—जरासंध, शिशुपाल, सहस्रार्जुन, रावण, दुर्योधन, पांडव; या वेन, बलि, कंस, दुर्योधन, पृथु, सहस्रार्जुन; या पृथु, मांधाता, नहुष, सुहोत्र, शिवि तथा मरुत।

भावार्थ—माया-मोह के आवरण और घमंड में पड़कर ही जरासंध तथा शिशुपाल मार डाले गये। छल-बल के कारण ही सहस्रार्जुन मारा गया॥ 1॥ रावण बड़ा छली था, और ऐश्वर्य-बल इतना कि उसकी लंका नगरी की दीवारें सोने की बतायी जाती हैं; परन्तु वह भी मारा गया॥ 2॥ दुर्योधन अभिमान में पड़कर परिवार सहित नष्ट हो गया। उसने प्रमादवश पांडवों का रहस्य नहीं जाना कि इनके रक्षक कूटनीति-निगुण शूरवीर श्रीकृष्ण हैं॥ 3॥ माया के अहंकार में पड़कर सब राजे-महाराजे चले गये। पीछे उनकी सुकीर्ति तथा कुकीर्ति चर्चा का विषय बनी रही॥ 4॥ छह सार्वभौम सम्राट जो समुद्र पर्यंत पृथ्वी के अधिपति थे, मरकर जमीन में मिल गये; परन्तु मोह-माया की ऐसी महिमा है कि एक आदमी भी शरीर की नश्वरता पर विश्वास नहीं करता। वह अपनी देह को अजर-अमर ही माने बैठा रहता है॥ 5॥ कहां तक कहूं, लोग असावधानी ही में संसार से चले जाते हैं। कौन सावधान है कौन असावधान है यह झगड़ा बना रहता है, क्योंकि सब तो अपने आप को सावधान मानते हैं॥ 6॥

यह माया जगत के लोगों को मोहने वाली है। इसने संसार के सारे लोगों को मोह लिया है। हरिश्चंद्र भी सत्य के कारण मायावश काशी की गली-गली में बिकते फिरे॥ 47॥

व्याख्या—इस रमैनी में सद्गुरु ने जरासंध, शिशुपाल, सहस्रार्जुन, रावण, दुर्योधन आदि बड़े-बड़े नरपतियों का नाम लेकर बताया है कि ये प्रसिद्ध राजे माया-मोह एवं अहंकारवश मारे गये। ये बड़े-बड़े कहलाने वाले जीवन भर दूसरों को दुख दिये और अन्त में स्वयं भी दुखी होकर संसार से विदा हुए। यही है प्रमाद का फल। इन राजाओं के विषय में थोड़ा विवरण देखें—

जरासंध

जरासंध मगध नरेश[1] वृहद्रथ का पुत्र था। जब जरासंध राजगद्दी पर बैठा तब यह बड़ा प्रतापवान निकला। इसने बहुत-से राज्यों को जीतकर उनके राजाओं को कैद कर रखा था। शिशुपाल जरासंध का सेनापति था। कुरुष देश तथा पश्चिम के मुर तथा नरक देश के यवन राजा जरासंध के अधीन थे। वंग, पुंड्र, किरात देश के राजा जरासंध की शरण में थे। कृष्ण के सगे श्वसुर रुक्मिणी-पिता भीष्मक भी जरासंध के अनुगामी बने थे। उत्तर दिशा के अधिपति अठारह भोज-परिवार जरासंध के भय से पश्चिम की ओर भाग गये थे। शूरसेन, भद्रकार, शाल्व, योध, पटच्चर, सुस्थल, सुकुट्ट, कुलिंद, कुंति, शाल्वायन, दक्षिण पंचाल, पूर्व कोशल, मत्स्य, संन्यस्तपाद आदि देशों के राजा जरासंध के डर से अपने-अपने राज्य छोड़कर पश्चिम तथा दक्षिण की ओर भाग गये थे।

जरासंध की दो पुत्रियां अस्ति और प्राप्ति दानवराज कंस को व्याही थीं। कंस मथुरानरेश उग्रसेन का पुत्र तथा श्रीकृष्ण का चचेरा मामा था। कंस के दुराचार से कृष्ण ने अपने मामा कंस का वध किया था। कंस की हत्या हो जाने पर उसकी दोनों पत्नियां अपने पिता मगधनरेश जरासंध के पास चली गयीं। जरासंध को अपने दामाद कंस की हत्या सुनकर बड़ा कष्ट हुआ। उसने तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर मथुरा पर चढ़ाई की। परन्तु वह स्वयं कृष्ण को बच्चा समझकर उनसे न युद्ध कर बलराम से किया। उसकी सेना कट गयी। अतः वह मगध लौट गया। इस प्रकार तेईस-तेईस अक्षौहिणी[2] सेना लेकर मथुरा पर सत्रह बार हमला किया और सेना कट जाने से मगध लौटता रहा।

श्रीकृष्ण ने यादवों के सहित मथुरा में रहना खतरे से खाली नहीं देखा, अतः उन्होंने सुदूर समुद्र के पास द्वारका नगर बसा लिया और परिवार के बहुत-से लोगों को वहां भेज दिया। इधर कालयवन ने तीन करोड़ सेना लेकर

---

1. बिहार में गंगा एवं पटना के दक्षिण स्थित क्षेत्र।
2. चतुरंगिणी सेना के एक परिमाण को अक्षौहिणी कहते हैं, जिसमें 1,09,350 पैदल; 65,610 घोड़े; 21,870 रथ और 21, 870 हाथी होते थे। (बृहत् हिन्दी कोश, ज्ञानमंडल लि. कबीर रोड, वाराणसी)।

मथुरा को घेर लिया जो जरासंध से अलग शायद पश्चिम देशीय शूरवीर था। बलराम तथा कृष्ण उसके डर से भाग निकले। कालयवन ने उन्हें खदेड़ा। एक पर्वत में दोनों छिप गये। बीच में मुचुकुंद और कालयवन से मुठभेड़ हो गयी जिसमें कालयवन मारा गया।

श्रीकृष्ण तथा बलराम मथुरा लौट आये और कालयवन की सेना का तहस-नहस कर उसे खदेड़ दिया तथा मथुरा से धन-दौलत मनुष्यों और बैलों पर द्वारका ले जाने की तैयारी होने लगी। इसी बीच अठारहवीं बार जरासंध पुनः तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर मथुरा पर आ धमका। श्रीकृष्ण तथा बलराम जरासंध के भय से वहां से भाग खड़े हुए। जरासंध ने हंसते हुए उनका पीछा किया। श्रीकृष्ण तथा बलराम एक 'प्रवर्षण' नामक पर्वत पर चढ़कर छिप गये। जब जरासंध द्वारा बहुत ढूंढ़ने पर भी वे नहीं मिले, तब उसने पर्वत पर चारों ओर से आग लगवा दी। जरासंध ने समझा कि श्रीकृष्ण तथा बलराम जल मरे होंगे; परन्तु वे दोनों भी कच्चे गोइयां नहीं थे। वे पर्वत से कूदकर द्वारका भाग गये।[1] इधर जरासंध मगध लौट गया।

श्रीकृष्ण के मन में जरासंध के प्रति वैर बना था ही। इन सब घटनाओं के बहुत दिनों बाद जब युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ करना चाहते थे, श्रीकृष्ण ने उन्हें जरासंध के वध करने के लिए उकसाया। युधिष्ठिर ने हिम्मत नहीं की। परन्तु श्रीकृष्ण के बल देने से उन्होंने स्वीकृति दी। श्रीकृष्ण भीम तथा अर्जुन को लेकर मगध की ओर चल दिये। ये तीनों मगधनरेश के किले में पीछे से घुसकर जरासंध के पास पहुंच गये और कृष्ण ने उसे युद्ध के लिए ललकारा। जरासंध अपने मंत्रियों को पुत्र सहदेव का राजतिलक करने की आज्ञा देकर मल्लयुद्ध में डट पड़ा। श्रीकृष्ण ने भीम को भिड़ा दिया। काफी हाथापाई के बाद भीम द्वारा जरासंध मारा गया। श्रीकृष्ण ने भीम और अर्जुन के साथ जाकर जरासंध द्वारा कैद किये गये सारे राजाओं को बंदीगृह से छुड़वाया।[2]

शिशुपाल

गंगा और नर्मदा के बीच का क्षेत्र चेदि देश कहलाता था। इसके राजा दमघोष थे। शिशुपाल दमघोष का पुत्र था। शिशुपाल मगधनरेश जरासंध का सेनापति भी था।

विदर्भ देश (आज के नागपुर का क्षेत्र) का राजा भीष्मक था। उसकी पुत्री रुक्मिणी थी और उसके पांच पुत्र थे जिसमें बड़े पुत्र का नाम रुक्मी था।

1. रण छोड़कर भागने के कारण श्रीकृष्ण का एक नाम रणछोड़ पड़ गया।
2. भागवत, स्कंध 10, अध्याय 50-52 तथा हरिवंश, विष्णु पर्व, 56।

रुक्मिणी के अन्य भाई–बन्धु चाहते थे कि रुक्मिणी का विवाह श्रीकृष्ण से हो; क्योंकि स्वयं रुक्मिणी ने श्रीकृष्ण को ही अपना पति मन से चुन लिया था। परन्तु बड़ा भाई रुक्मी श्रीकृष्ण से वैर रखता था। उसने चेदि–राजपुत्र शिशुपाल से अपनी बहन रुक्मिणी का विवाह रचा।

रुक्मिणी यह सब जानकर घबरा गयी और उसने गुप्त रूप से एक ब्राह्मण को द्वारका भेजकर श्रीकृष्ण से अपने मन की बात बता दी। श्रीकृष्ण इस बात को पहले सुन रखे थे कि रुक्मिणी मुझे चाहती है। इधर शिशुपाल अपने सैकड़ों मित्रों, जरासंध आदि बड़े–बड़े नरेशों एवं सेना के सहित बरात लेकर विदर्भ पहुंचा। उधर श्रीकृष्ण–बलराम अपनी सेना के सहित रुक्मिणी के संदेशानुसार उन्हें हरण करने के लिए विदर्भ पहुंचे। विदर्भनरेश भीष्मक ने समझा कि श्रीकृष्ण रुक्मिणी और शिशुपाल का विवाह देखने आये हैं। उन्होंने तथा अन्य नरेशों ने श्रीकृष्ण का स्वागत किया। जब रुक्मिणी देवी–पूजन के लिए नगर के बाहर गयीं, तब रुक्मिणी के योजनानुसार श्रीकृष्ण उन्हें रथ पर बैठाकर भाग निकले।

शिशुपाल आदि क्षत्रियों को बड़ा कष्ट हुआ। उन्होंने कहा 'हम क्षत्रियों के रहते हुए ये ग्वाले[1] रुक्मिणी को उड़ाये जा रहे हैं, हमें धिक्कार है।' वे उनके पीछे लड़ने दौड़े, परन्तु श्रीकृष्ण की सेना ने उन्हें परास्त कर खदेड़ दिया। इसके बाद रुक्मी बहुत उत्तेजित होकर तथा एक अक्षौहिणी सेना लेकर श्रीकृष्ण का पीछा किया। उसकी सेना भी मारी गयी। अन्त में श्रीकृष्ण ने रुक्मी का वध करना चाहा, परन्तु रुक्मिणी ने भातृ–स्नेह–वश छोड़वा दिया। तब श्रीकृष्ण ने रुक्मी को उसके ही दुपट्टे से बांधकर उसकी दाढ़ी, मूंछ तथा सिर के बाल यत्र–तत्र कटवा दिये। बलराम जब वहां आये तब उन्होंने श्रीकृष्ण को डांटकर रुक्मी को छुड़वा दिया और कहा कि ऐसा विरूपण किसी राजपुरुष को नहीं करना चाहिए। रुक्मी ने लज्जावश विदर्भ न जाकर एक अलग 'भोजकट' नाम की नगरी बसायी और वहां रहने लगा। उधर द्वारका जाकर श्रीकृष्ण तथा रुक्मिणी का विवाह हुआ। इसे राक्षस–विवाह कहते हैं।[2]

चेदिनरेश दमघोष श्रीकृष्ण के फूफा थे। उनकी बुआ का नाम 'सुप्रभा' था जो शिशुपाल की माता थीं। शिशुपाल का दूसरा भाई दंतबक्र था। कहा जाता है जब सुप्रभा की कोख से शिशुपाल पैदा हुआ, तब उसके चार हाथ तथा तीन नेत्र थे। इसे देखकर सुप्रभा डर गयीं; परन्तु आकाशवाणी हुई कि डरो मत, यह लड़का बड़ा बली तथा श्रीमान होगा। सुप्रभा ने आकाशवाणी से पूछा कि इसकी

---

1. गोपैर्हृतम् (भागवत 10/53/57)।
2. राक्षसेन विधानेन (भागवत 10/52/18)।

मृत्यु किसके हाथों होगी? आकाशवाणी ने बताया कि जिसकी गोद में जाने से इसके दो अतिरिक्त हाथ तथा तीसरा नेत्र लुप्त हो जायेगा, उसी के हाथों यह मरेगा।

शिशुपाल को देखने बहुत-से नरेश जाते थे। सुप्रभा उसे सबकी गोद में रखती थी। जब श्रीकृष्ण उसे देखने गये, तब उनकी गोद में रखने से शिशुपाल के दोनों अतिरिक्त हाथ तथा एक अतिरिक्त नेत्र लुप्त हो गया। सुप्रभा श्रीकृष्ण से डर गयी। उसने श्रीकृष्ण से शिशुपाल के अपराधों को क्षमा करने की प्रार्थना की। श्रीकृष्ण ने सुप्रभा से कहा 'बुआ जी, मैं अपने फुफेरे भाई शिशुपाल के सौ अपराध क्षमा कर दूंगा।'

युधिष्ठिर के अपने अनुष्ठित राजसूय-यज्ञ में जब सभा जुड़ी, तब उन्होंने सभासदों से पूछा कि पहली पूजा किसकी हो? इस पर भीष्म पितामह ने श्रीकृष्ण की पूजा करने की राय दी। श्रीकृष्ण की अग्रपूजा देखकर शिशुपाल क्रोधित हो गया और वह भीष्म पितामह तथा युधिष्ठिर को धिक्कारते हुए श्रीकृष्ण को खरी-खोटी सुनाने लगा। शिशुपाल ने कहा—बड़े-बड़े नरपति सम्राटों के रहते हुए उनके सामने कृष्ण अग्रपूजा के पात्र नहीं हैं। पांडव बालक के तुल्य हैं। भीष्मपितामह सठिया गये हैं। कृष्ण कोई राजा नहीं है। यह सम्मान उनके अयोग्य है। वृद्ध वसुदेव, द्रुपद, द्रोणाचार्य, कृष्णद्वैपायन वेदव्यास, भीष्म पितामह, अश्वत्थामा, दुर्योधन, कृप आदि योग्य पुरुषों के रहते हुए कृष्ण की पूजा करना सबका अपमान करना है। हम नरेश लोग तो इसलिए यहां आये कि यह भोलाभाला युधिष्ठिर सम्राट हो जाये तो अच्छा ही है, तो आप लोग हम लोगों का अपमान करने लगे।

शिशुपाल ने श्रीकृष्ण को संबोधित करते हुए कहा—"कृष्ण, मैं मानता हूं कि पांडव बेचारे डरपोक और तपस्वी हैं, इन्होंने यदि ठीक-ठीक नहीं समझा तो तुम्हें जना देना चाहिए था कि तुम किस पूजा के अधिकारी हो। यदि कायरता और मूर्खतावश इन्होंने तुम्हारी पूजा कर भी दी तो तुमने अयोग्य होकर उसे स्वीकार क्यों किया? जैसे कुत्ता लुक-छिपकर जरा-सा घी चाट ले और अपने को धन्य-धन्य मानने लगे, वैसे ही तुम यह अयोग्य पूजा स्वीकार कर अपने को बड़ा मान रहे हो। तुम्हारी इस अनुचित पूजा से हम राजाओं का कोई अपमान नहीं होता। ये पांडव तो स्पष्ट रूप से तुम्हारा ही तिरस्कार कर रहे हैं। नपुंसक का व्याह कराना, अन्धे को रूप दिखाना, राज्यहीनों को राजाओं में बैठा देना जिस प्रकार उन्हीं का अपमान है, वैसे ही तुम्हारी यह पूजा भी तुम्हारा अपमान है। हमने युधिष्ठिर, भीष्म और तुमको देख लिया ! तुम सब एक-से-एक बढ़कर हो।" ऐसा कहकर शिशुपाल अपने आसन से उठ खड़ा हुआ और

कुछ राजाओं को साथ लेकर वहां से जाने के लिए तैयार हो गया।"[1]

इसके बाद युधिष्ठिर ने शिशुपाल के पास जाकर मधुर वाणी में उसे बहुत समझाया, परन्तु वह नहीं समझा। शिशुपाल अन्य विरोधी राजाओं को लेकर यज्ञ तथा युधिष्ठिर का यज्ञान्त-अभिषेक नहीं होने देना चाहता था।

इसके पश्चात भीष्म ने शिशुपाल को भला-बुरा कहा। पीछे पुनः शिशुपाल श्रीकृष्ण की बहुत कटु शब्दों में आलोचना करता रहा। उसने कहा—"भीष्म ! तुम भाट के समान कृष्ण का क्या गुणगान करते हो। दूसरे राजाओं का गुणगान क्यों नहीं करते?... तुम अपने मन से भोजपति कंस के चरवाहे दुरात्मा कृष्ण को ही सब कुछ मानकर बातें बघार रहे हो?...कृष्ण ! मैं तुम्हें ललकारता हूं। आओ मुझसे भिड़ जाओ।"[2]

श्रीकृष्ण ने कहा—"राजाओ ! यह (शिशुपाल) हम लोगों का संबंधी है। फिर भी हमसे बड़ी शत्रुता रखता है। इसने हम यदुवंशियों का सत्तानाश करने में कोई कोरकसर नहीं की। इस दुरात्मा ने मेरे प्राग्ज्योतिषपुर[3] चले जाने पर बिना किसी अपराध के द्वारकापुरी जला देने की चेष्टा की। जिस समय भोजराज रैवतक पर्वत पर विहार करने के लिए गये हुए थे, इसने उनके सभी साथियों को मार डाला अथवा बांधकर अपनी राजधानी में ले गया। जब मेरे पिता अश्वमेध कर रहे थे, तब इस पापात्मा ने उसमें विघ्न डालने के लिए यज्ञीय अश्व को पकड़ लिया था। यदुवंशी तपस्वी वभ्रु की पत्नी जिस समय सौवीर देश के लिए जा रही थी, यह उन्हें देखकर मोहित हो गया और बलपूर्वक हर ले गया। इसकी ममेरी बहन भद्रा करूषराज के लिए तपस्या कर रही थी, परन्तु इसने छल से रूप बदलकर उसे हर लिया। इस सबको देख-सुनकर मुझे बड़ा कष्ट होता था, परन्तु अपनी बुआ की बात मानकर मैं अब तक सहता रहा। आज यह दुष्ट आप लोगों के सामने ही विद्यमान है। यहां इसने भरी सभा में मेरे प्रति जैसा व्यवहार किया है, यह आप लोग देख ही रहे हैं।"[4] अन्ततः श्रीकृष्ण ने चक्र से शिशुपाल का वध कर दिया।

सहस्त्रार्जुन

हैहयवंशी क्षत्रिय सहस्रार्जुन बड़ा प्रतापी राजा था। कहा जाता है कि यह दत्तात्रेय के वर से हजार हाथों वाला हो गया था। तात्पर्य है कि यह बहुत बली था। यह एक बार शिकार खेलने वन में गया। वहां जमदग्नि का आश्रम पड़ा।

1. संक्षिप्त महाभारत अंक, खंड 1, पृ. 198, गीता प्रेस गोरखपुर।
2. संक्षिप्त महाभारत, खंड 1, पृ. 201।
3. आज के असम प्रान्त के गोहाटी का पुराना नाम प्राग्ज्योतिषपुर था।
4. संक्षिप्त महाभारत 1/201।

जमदग्नि ने अर्जुन का सेना सहित आदर किया। जमदग्नि के पास एक गाय थी। उस पर अर्जुन ने लोभ किया और उसे बलपूर्वक अपनी 'राजधानी' ले गया। जब परशुराम अपने पिता जमदग्नि के पास आये, तब यह घटना सुनकर बहुत दुखी हुए। परशुराम क्रोधित होकर और जाकर अर्जुन की सेना का नाश कर अर्जुन को भी मार डाला।

एक बार जमदग्नि अपनी यज्ञशाला में बैठे यज्ञ कर रहे थे। सहस्रार्जुन के लड़के बदला की भावना से प्रेरित होकर आये और उनका सिर काटकर लेकर अपनी राजधानी चले गये। परशुराम जब पिता का वध जान पाये तब वे अर्जुन की राजधानी माहिष्मती में जाकर उसके पुत्रों तथा वहां के लोगों के सिर काटकर नगर के बीच में कटे हुए सिरों का एक पर्वत खड़ा कर दिये, और वे हैहयवंशी क्षत्रियों का इक्कीस बार सामूहिक वध करते रहे।"[1]

रावण

ब्रह्मा का पुत्र पुलस्त्य, पुलस्त्य का विश्रवा तथा विश्रवा का पुत्र रावण है। इस प्रकार रावण ब्रह्मा का प्रपौत्र है। सुमाली राक्षस की लड़की केकसी थी। केकसी और विश्रवा के संयोग से रावण पैदा हुआ था। माता राक्षस तथा पिता ब्राह्मण होने से रावण ब्राह्मण तथा राक्षस दोनों कहा जाता है। श्री राम अपने चौदह वर्ष के वनवासकाल में जब दक्षिणी भारत के दंडकारण्य में रहने लगे थे, तब रावण-शासित उस प्रदेश के लोग श्री राम से शंकित हो गये थे। इसी बीच श्रीराम द्वारा शूर्पणखा-विरूपण तथा खरदूषण-वध आदि से रावण उत्तेजित हो गया था।

रावण ने जब सीता की सुन्दरता का बखान सुना तो वह सब भूलकर उन्हें हरण कर ले गया और विभीषण तथा अपने सहयोगियों के लाख समझाने पर भी सीता को श्री राम के पास नहीं लौटाया। विभीषण की पत्नी सरमा ने सीता से कहा—"बूढ़े मंत्रियों तथा माता के बहुत समझाने पर भी रावण तुम्हें उसी प्रकार नहीं लौटाना चाहता जैसे लोभी धन को नहीं त्यागना चाहता। रावण युद्ध में मरे बिना तुम्हें छोड़ने का साहस नहीं करता।"[2] रावण ने माल्यवान के समझाने पर उससे कहा—"मैं सुन्दरी सीता को वन से लाकर अब मात्र राम से भय खाकर उसे लौटा नहीं सकता।"[3] रावण ने पुनः कहा—"मैं टूटकर दो टुकड़े भले हो जाऊं, परंतु किसी के सामने झुक नहीं सकता। यह मेरा सहज

1. भागवत, स्कंध 9, अध्याय 15-16। महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय 49।
2. वाल्मीकीय रामायण, युद्धकांड, सर्ग 34, श्लोक 23, 24।
3. वाल्मीकीय, युद्धकांड, सर्ग 36, श्लोक 8।

दोष है और स्वभाव को जीतना असंभव है।"[1]

इस प्रकार काम, मोह, क्रोध तथा अहंकार के वश होकर रावण श्रीराम द्वारा मारा गया।

दुर्योधन

वेदव्यास जी ने अपनी माता सत्यवती की आज्ञा से स्वर्गीय विचित्रवीर्य की दो विधवा पत्नियों तथा एक दासी का गर्भाधान किया और अंबिका से धृतराष्ट्र, अंबालिका से पांडु और दासी से विदुर को जन्म दिया। धृतराष्ट्र के सौ पुत्र बताये जाते हैं जिनमें ज्येष्ठ दुर्योधन थे।

पांडु रोगी थे। उनकी पत्नी कुंती और माद्री ने पांडु की आज्ञा से पुत्र उत्पन्न किये। कुंती ने धर्मराज से युधिष्ठिर, पवन से भीम और इन्द्र से अर्जुन को पैदा किया तथा माद्री ने अश्वनीकुमारों से नकुल तथा सहदेव जुड़वा लड़के पैदा किये। आगे चलकर युधिष्ठिर को युवराज पद दिया गया। युधिष्ठिर का गुण-प्रभाव बढ़ने से धृतराष्ट्र को चिन्ता हो गयी। कूटनीति कर पांडवों को वारणावत भेजा गया। उन्हें लाक्षागृह में जलाने की भी योजना बनी। परन्तु पांडव बच निकले। उसके बाद पांचालनरेश द्रुपद की पोष्य पुत्री द्रौपदी के स्वयंवर में अर्जुन ने सफलता पाई। बात धृतराष्ट्र तक गयी, उन्होंने दुर्योधन के विरोध करने पर भी पांडवों को बुलाकर हस्तिनापुर से अलग इन्द्रप्रस्थ में उनकी राजधानी बनवा दी।

पीछे युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया। उसमें कौरव भी सम्मिलित हुए। उसमें जो राजाओं द्वारा चढ़ावा आया, उसे तथा युधिष्ठिर की अन्य कीर्ति देखकर दुर्योधन ईर्ष्या से जल-भुन गया।

दुर्योधन के इस दुख को देखकर उसके मामा शकुनि ने उसे समझाया और कहा कि युधिष्ठिर बड़े जुआड़ी हैं। मैं उनको जुआ में निमंत्रित कर उन्हें छल से हराकर उनका सर्वस्व तुम्हें जिता दूंगा।

जुआ हुआ। जुआ में युधिष्ठिर सर्वस्व हारकर बारह वर्ष के लिए वनवास तथा एक वर्ष के लिए अज्ञातवास में चले गये। दुर्योधन ने यही शर्त रखी थी, कि तेरह वर्ष के बाद आने पर राज्य दिया जा सकेगा। परन्तु पांडवों के आने पर भी दुर्योधन ने उन्हें राज्य नहीं लौटाया और कहा कि बिना युद्ध के सूई के अग्र बराबर जमीन भी नहीं लौटाऊंगा। श्रीकृष्ण ने बहुत समझाया कि पांचों पांडवों

---

1. द्विधा भज्येयमप्येवं न नमेयं तु कस्यचित्।
एष मे सहजो दोषः स्वभावो दुरतिक्रमः॥
(वाल्मीकीय रामायण, युद्धकांड, सर्ग 36, श्लोक 11)

को केवल पांच गांव दे दो। परन्तु दुर्योधन ने नहीं माना, सो नहीं माना। अंततः कौरव-पांडव में अठारह दिन का युद्ध हुआ और दोनों का घोर विनाश हुआ। दुर्योधन तो परिवार सहित नष्ट हो गया।

उपर्युक्त कहानियों में आकाशवाणी, हजार हाथ आदि काल्पनिक हैं तथा जरासंध का तेईस-तेईस अक्षौहिणी सेना अठारह बार लेकर धावा करना, कालयवन का तीन करोड़ सेना लेकर मथुरा घेरना आदि अतिशयोक्तिपूर्ण हैं।

सद्गुरु तो यह बताना चाहते हैं कि ये प्रतापी कहलाने वाले रजवाड़े माया-मोह एवं अहंकार-वश जीवन भर मनस्ताप में जलते रहे, खून-खराबा करते रहे तथा स्वयं भी मारे जाते रहे। सद्गुरु कहते हैं कि सारे राजे-महाराजे माया के दंभ तथा अहंकार में नष्ट हो गये। उनके मरने के बाद उनके अच्छे-बुरे कर्तव्यों के बाजे बजते रहे। उनकी अच्छी-बुरी चर्चाएं होती रहीं।

"छौ चकवे बिति धरणि समाना। एकौ जीव प्रतीत न आना॥" भू-मंडल के छह चक्रवर्ती सम्राट मरकर जमीन में गल गये। छह चक्रवर्ती ही क्यों, अनगिनत राजे-महाराजे एवं सारे प्राणी तो मर-मरकर पृथ्वी में समाये हैं। मिश्र के पिरामिड हजारों वर्ष पूर्व के ऐश्वर्यशाली राजाओं की नश्वरता की साक्षी दे रहे हैं। पुरातत्त्व विभाग की खुदाई में कितने ही विशाल राजभवनों, बौद्ध-अवशेषों एवं प्राचीन संस्कृतियों के साक्ष्य मिलते हैं, जिन सबके निर्माताओं एवं उपभोक्ताओं के नाम तक का पता नहीं चलता। ऐसे क्षणभंगुर संसार में रहकर भी हम यह नहीं ध्यान देते कि हमें भी आज-कल में यहां से जाना है। यही है माया-मोह का प्रमाद !

सद्गुरु कहते हैं कि नाम लेकर कहां तक गिनाया जाये, बड़े-बड़े नामी-ग्रामी लोग माया के उन्माद में पड़कर असावधानी ही में चले गये। परन्तु "चेत अचेत झगरा एक भयऊ" अर्थात संसार में एक झगड़ा है कि चेत कौन है, अचेत कौन है? कौन सावधान है और कौन असावधान है, यह जनमानस में विवाद का विषय है। जो अपने जीवनभर धन, स्त्री, राज्य के लिए या अपने अहंकार में ठेस लगने से मार-काट करता रहा, उसे भी बहुत-से लोग ज्ञानी, योगी तथा मुक्तात्मा मानते हैं, और कितने ज्ञान-वैराग्य-सम्पन्न पूर्ण अहिंसाव्रत में रहने वाले सन्त पुरुष को अपने मत से भिन्न मानकर बंधमान मानते हैं। अतएव कौन सावधान (ज्ञानी) है तथा कौन असावधान (अज्ञानी) है, इसका सर्वसम्मत निर्णय न हुआ है न होगा। परन्तु निष्पक्ष होकर समझा जा सकता है कि जो सांसारिक चीजों के लिए या अहंकारवश उलझा हो, हिंसा, काम, लोभ, मोह में ग्रस्त हो, वह असावधान है, वह चाहे जो हो। सावधान वही है जो मोह-माया तथा अहंकार को त्यागकर स्वरूपस्थिति में शांत है।

यह माया जग–मोहिनी है। यह सबको मोहती है। जो इसके मोह में न पड़े वही श्रेष्ठ है। हरिश्चंद्र सत्य–पालने के चक्कर में बहुत दुखी हुए। यह भी एक माया–मोह ही था।

हरिश्चंद्र

विश्वामित्र ने एक ब्राह्मण का रूप बनाकर अयोध्या–नरेश हरिश्चंद्र से सारा राज्य अपने लिए दान करवा लिया। पीछे विश्वामित्र ने ढाई भार सोना दक्षिणा मांगी। उसको देने के लिए हरिश्चंद्र ने अपनी पत्नी शैव्या तथा पुत्र रोहित को काशी में एक ब्राह्मण के हाथों बेच दिया तथा स्वयं को एक भंगी के हाथों बेचा।

सद्गुरु कहते हैं कि हरिश्चंद्र को ब्राह्मण नामधारी को दान से खुशकर स्वर्ग जाने का मोह था, फिर वह ब्राह्मण चाहे कितना ही छली हो। इस चक्कर में पड़कर वे अपनी तथा अपने बच्चों की बिक्री करने के लिए काशी की गलियों में भटकते फिरे और शोकित रहे। विवेकी पुरुष को कोई भी जालसाज हरिश्चंद्र के समान बेवकूफ नहीं बना सकता। सत्यपालन का अर्थ यह नहीं है कि अपने को ठगा दे। हरिश्चंद्र का सत्यपालन कम, भोलापन ज्यादा था जो इस मोह को लेकर था कि जैसे–कैसे ब्राह्मण को दान से खुशकर स्वर्ग जाना है। कहीं–कहीं लिखा मिलता है कि हरिश्चंद्र ने यह सब स्वप्न में देखा था। वस्तुतः यह ब्राह्मणों द्वारा दान की महिमा में रची गयी काल्पनिक कथा है।

मुसलिम मुल्लाओं से निवेदन

रमैनी–48

मानिकपुर कबीर बसेरी। मद्दति सुनी शेखतकि केरी॥ 1॥
ऊजै सुनी जौनपुर थाना। झूसी सुनी पीरन को नामा॥ 2॥
एकइस पीर लिखें तेहि ठामा। खतमा पढ़ें पैगम्बर नामा॥ 3॥
सुनी बोल मोहिं रहा न जाई। देखि मुकर्बा रहा भुलाई॥ 4॥
हबी नबी नबी के कामा। जहाँ लों अमल सो सबै हरामा॥ 5॥

साखी—शेख अकर्दी शेख सकर्दी, मानहु बचन हमार।
आदि अन्त औ युग युग, देखहु दृष्टि पसार॥ 48॥

शब्दार्थ—मानिकपुर=एक कस्बा, जो इलाहाबाद–कटनी रेलवे लाइन पर पड़ता है; दूसरा मानिकपुर इलाहाबाद–रायबरेली लाइन पर पड़ता है जिसका रेलवे स्टेशन गढ़ी मानिकपुर है। मद्दति=प्रशंसा। शेखतकि=शेख तकी, प्रसिद्ध सूफी संत, सिकन्दर लोदी का गुरु। जौनपुर=वाराणसी के पश्चिमोत्तर दिशा में

वाराणसी-लखनऊ रेलवे लाइन पर स्थित एक शहर। झूसी=प्रयाग (इलाहाबाद) संगम के पूर्व तरफ का एक कस्बा। पीरन=पीर (गुरु) का बहुवचन। खतमा=खुत्वः, धर्मोपदेश, भाषण, नमाज का खुत्वाः, प्रार्थना। पैगम्बरनामा=पैगंबरों की नामावली। मुकर्बा=मकबरा, कब्र। हबी (हबीब)=अतिशय प्रेम करने योग्य, मित्र, खुदा या नबी। नबी=ईश्वर का दूत, पैगंबर, मुसलमानी शास्त्रों के रचयिता, कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय करने वाले। अमल=कार्य, अच्छे या बुरे कृत्य, लोकाचार; जप, मिस्मरेजम का अमल, यहां का अर्थ बाह्याचार जप आदि है। हरामा=हराम, वर्जित। शेख अकर्दी शेख सकर्दी=दो सूफी सन्तों के नाम। शेख=शैख, फकीरों का महंत, दरगाह का अधिपति। युग युग=सब समय।

भावार्थ—कबीर साहेब कहते हैं कि मैं एक समय मानिकपुर में निवास कर रहा था। वहां पर रहते हुए मैंने शेख तकी की प्रशंसा सुनी॥ 1॥ वहीं पर मैंने यह भी सुना कि उनके निवास-स्थान जौनपुर और झूंसी हैं तथा वहां पर बहुत-से पीरों के नाम प्रसिद्ध हैं॥ 2॥ झूंसी में इक्कीस पीरों के नाम कब्रों या दीवारों में खुदे हैं और वहां पर मुल्ला लोग पैगंबरों के नाम लेकर खुत्वः पढ़ते हैं। उनकी प्रशंसा में स्तुति करते हैं॥ 3॥ यह सब सुनकर मुझसे सहन नहीं हुआ और मैं वहां गया तथा उनसे बोला—'तुम लोग (हिन्दुओं की मूर्ति-पूजा को तो नरक का द्वार बताते हो और स्वयं) जड़-कब्रों को देखकर भूल गये और इन्हीं बेजानों की प्रार्थना करने में लग गये हो !॥ 4॥ प्यारे नबियों ने क्या यही कर्तव्य-शिक्षा दी है? वस्तुतः सत्यप्रेमी के लिए सारे बाह्याचार वर्जित हैं। अथवा चाहे प्यारे नबियों के ही काम हों, जहां तक जड़-पूजन सम्बन्धी बाह्याचार हैं, सब त्याज्य हैं॥ 5॥

हे शेख अकरदी तथा शेख सकरदी मठाधीशो ! मेरी बातों को मानो, और अपनी आंखें खोलकर देखो कि आदि-अन्त वाली नाशवान वस्तुएं क्या हैं तथा युग-युग रहने वाली नित्य वस्तु क्या है? वस्तुतः सारी भौतिक चीजें आदि-अन्त वाली एवं नाशवान हैं, अतएव वे उपासनीय नहीं हो सकतीं। उपासनीय तो सब समय रहने वाला अविनाशी आत्मस्वरूप ही है॥ 48॥

व्याख्या—यह 48वीं रमैनी ऐतिहासिक साक्ष्य प्रस्तुत करती है। प्रथम पंक्ति में अन्य पुरुष के रूप में कबीर साहेब की प्रस्तुति है जो प्रबन्ध में कहने का एक प्रकार है। वस्तुतः अन्य पुरुष के रूप में सद्गुरु कबीर स्वयं को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि मैं एक समय मानिकपुर में निवास कर रहा था। वहीं पर रहते हुए शेख तकी की प्रशंसा सुनी।

यह मानिकपुर कौन हो सकता है, साफ नहीं है। जैसा कि शब्दार्थ में बताया गया है कि एक मानिकपुर इलाहाबाद-कटनी रेलवे लाइन पर है तथा

दूसरा मानिकपुर इलाहाबाद-रायबरेली लाइन पर है। ये दोनों ही प्राचीन हैं। कहा जाता है कि पनिका जाति के एक प्राचीन ग्रन्थ 'मानिक खंड' में भी यह बात लिखी है और पनिका जाति में यह माना जाता है। पनिका जाति छत्तीसगढ़ तथा मध्य प्रदेश की एक जाति है जो पूरी कबीरपंथी होती है। ये जन्मजात शाकाहारी एवं शुद्ध आचार-विचार के होते हैं। ये अपने आप को 'मानिकपुरी' भी कहते हैं। 'मानिकपुरी' इनकी प्रसिद्ध उपाधि है।

'जौनपुर' उत्तर प्रदेश का एक प्रसिद्ध शहर है। कहा जाता है कि 1394 से 1493 ई. अर्थात 100 वर्षों तक बदायूं और इटावा से लेकर बिहार तक फैला हुआ देश स्वतन्त्र मुसलिम राज्य की जौनपुर राजधानी था। कहा जाता है कबीर साहेब के समय में सिकन्दर लोदी ने जौनपुर पर हमला कर इसे हड़प लिया था। इसके शासन काल में विद्रोह और उथल-पुथल था। जौनपुर में मुसलमानों के पीर रहा करते थे।

झूंसी जो प्रयाग गंगा-यमुना-संगम के पूर्व छोर पर है, आज के कस्बा के पास दक्षिण तरफ खंडहर तथा कब्र विद्यमान हैं। लगता है शेख तकी जौनपुर तथा झूंसी दोनों जगहों में रहा करते थे। उनके ज्यादा रहने की बात झूंसी ही में बतायी जाती है।

इस रमैनी के अनुसार कबीर साहेब ने मानिकपुर में रहते-रहते शेख तकी तथा वहां के सूफी सन्तों के विषय में प्रशंसा सुनी थी। परन्तु साथ-साथ यह भी सुना कि दरगाहों के मठाधीश लोग कब्रों की प्रार्थना तथा अनेक कर्मकांड में लगे रहते हैं। कबीर साहेब ने झूंसी तथा जौनपुर की यात्रा की थी। इस रमैनी की यह चौपाई "सुनी बोलि मोहि रहा न जाई। देखि मुकर्बा रहा भुलाई॥" ध्यान देने योग्य है। कबीर साहेब ने जब मुल्लाओं की कब्रों के प्रति अधिक उपासना-भक्ति देखी, तब उनसे सहन नहीं हुआ। जो मुल्ला बुतपरस्ती को नरक का रास्ता बताये वही खुद कबरपरस्ती करे, यह कहां का ज्ञान है! उन्होंने कहा 'तुम लोग कब्रों को देखकर भूल रहे हो।' यह एक विडंबना ही है कि जो मूर्ति-पूजा का विरोध करे, वह स्वयं कब्र पूजे, मक्का में जाकर काबे के पत्थर को चूमे, कागज के ताजिये बनाकर उनकी पूजा करे और इस प्रकार के अनेक कर्मकांडों में लिपटा रहे। जनाब अमीर मीनाई ने भी क्या खूब कहा है— "मुल्ला-मौलवी लोग ब्राह्मणों को शैतान या काफिर कहते हैं और ब्राह्मण उनको नास्तिक या म्लेच्छ कहते हैं। परन्तु मैं देखता हूं तो काबा और हिन्दू-मन्दिरों में पत्थर का जवाब पत्थर है। अर्थात हिन्दू-मुसलमान दोनों पत्थर पूजने वाले हैं।"[1]

---

1. शेख कहता है बिरहमन को, बिरहमन वाको सक्त।
   काब और बुतखाने में, पत्थर है पत्थर का जवाब॥

"हबी नबी नबी के कामा। जहाँ लों अमल सो सबै हरामा॥" सद्‌गुरु कहते हैं कि प्यारे नबियों के क्या यही कर्तव्य-निर्देश हैं? सत्य-प्रेमी के लिए तो सारे जड़-पूजन वर्जित होने चाहिए। शब्दार्थ में अमल के कई अर्थ बताये गये हैं। यहां का अर्थ केवल बाह्याचार है। जितना जड़-पूजन का आडंबर है सभी त्याज्य होने चाहिए। अथवा कबीर साहेब कहते हैं कि भले ही प्यारे नबियों ने करने के लिए बताया हो, परन्तु अनात्म वस्तु की उपासना वर्जित होना चाहिए। सत्य इच्छुक को निष्पक्ष और उदार होना चाहिए।

रमैनी के अन्त की साखी में अकरदी तथा सकरदी दो शेखों के नाम आये हैं। शैख का अर्थ मुसलमानों की एक जाति भी होती है, जैसे शेख, सैयद, मुगल तथा पठान। परन्तु शैख मसजिद, दरगाह एवं फकीरों के अधिपति एवं महंत को भी कहते हैं। लगता है जब कबीर साहेब ने झूंसी या जौनपुर जाकर अपना वक्तव्य दिया था, तब ये अकरदी-सकरदी दो बड़े मुल्ला एवं महंत वहां थे जो शैख की उपाधि से जाने जाते थे। कबीर साहेब ने इन्हें जोर देकर कहा था "मानहु वचन हमार" मेरी बातों को मानो। उन्होंने जो अपनी बात कही वह निचली पंक्ति में है "आदि अन्त औ युग युग, देखहु दृष्टि पसार।" इस पंक्ति का भाव बड़ा गंभीर है। सद्‌गुरु कहते हैं कि आंखें खोलकर देखो कि आदि-अन्त वाली वस्तुएं कौन-कौन-सी हैं और युगयुग रहने वाली कौन-सी वस्तु है ! जो कुछ निर्मित होता है उसका आदि तथा अन्त है। वह नाशवान है। अतएव सारे भौतिक कार्य-पदार्थ नाशवान हैं। अर्थात बनने-बिगड़ने वाले हैं। अतएव वे उपासनीय नहीं हैं। उपासनीय तो वह वस्तु है जो 'युग-युग' रहती है। यहां 'युग-युग' से नित्यता का भाव निकलता है। सब समय एकरस रहने वाली अपनी आत्मा है। सारी चीजें छूटती हैं। सारे संयोगों का आदि है और अन्त है, परन्तु अपनी आत्मा का न आदि है और न अन्त है। वह नित्य है। अपनी आत्मा अपने आप से कभी अलग नहीं हो सकती। अतएव सारे जड़ पदार्थ संयोग वाले होने से आदि-अन्त वाले हैं। उनसे उपरत होकर युग-युग रहने वाले अपने चेतन स्वरूप में स्थित होओ।

"आदि अन्त और युग युग' को हम एक दूसरे ढंग से भी समझने की चेष्टा करें। शरीर आदि-अन्त वाला है और जीव युग-युग रहने वाला। हमारा एक शारीरिक जीवन है जिसका आदि-अन्त है। यह जीवन बारंबार मिलता तथा छूटता है। परन्तु आत्मिक जीवन युग-युग रहने वाला है और उसका वियोग कभी नहीं होता। मुल्ला लोग इस बात को नहीं समझना चाहते कि जीव बारंबार शरीर धारण करता तथा छोड़ता है। अर्थात वे पुनर्जन्म नहीं मानते। परन्तु पुनर्जन्म सिद्धान्त को माने बिना आज के बुद्धिमान-बुद्धिहीन, कोढ़ी-सर्वांग-सम्पन्न आदि विषमताओं का समाधान कर ही नहीं सकते। यह कहने से काम

नहीं चल सकता है कि खुदा परीक्षा ले रहा है। यह अनावश्यक परीक्षा क्यों? "न्याव न कीन्ह कीन्ह ठकुराई। बिन कीन्हें लिखि दीन्ह बुराई॥"

'इसलाम धर्म की रूप-रेखा' नामक पुस्तक में राहुल जी ने लिखा है— "हिन्दी धर्म वालों (जैन, बौद्ध, ब्राह्मणधर्मी) ने जिस प्रकार अन्याय रूपी दोष-पात होने के कारण अनेक जन्मों को स्वीकार किया है, वैसे यद्यपि सारे मुसलमानों का मत नहीं है; किन्तु तो भी इसलाम में ऐसे भी संप्रदाय हैं जो पुनर्जन्म मानते हैं। संसार-प्रसिद्ध कवि-दार्शनिक महात्मा रूमी अपनी 'मस्नुई' में लिखते हैं—

"हम चु सब्जा बारहा रोईद अम्।
हफ्त सद् हफ्ताद क़ालिब दीद अम्॥"

अर्थ—मैं उगा नव सस्यवत कितनी ही बार,
सात सौ सत्तर शरीरें देख लीं।

कुरान शरीफ में भी आता है—"जिन पर परमेश्वर कुपित हुआ उनमें से कुछ को वानर और सुअर बना दिया।" (कुरान 5/9/4; 7/21/3)

जिन पर खुदा कुपित हुआ वे जीव शरीरधारी ही रहे होंगे। आगे उन्हें बन्दर तथा सूअर योनियों में जाना पड़ा, इससे पुनर्जन्म सिद्ध हो गया।

रमैनी–49

दर की बात कहो दरबेसा। बादशाह है कौन भेसा॥ 1॥
कहाँ कूच कहाँ करे मुकामा। मैं तोहि पूछौं मूसलमाना॥ 2॥
लाल जर्द की नाना बाना। कौन सुरति को करो सलामा॥ 3॥
काजी काज करहु तुम कैसा। घर जबह करावहु भैंसा॥ 4॥
बकरी मुरगी किन्ह फुरमाया। किसके कहे तुम छुरी चलाया॥ 5॥
दर्द न जानहु पीर कहावहु। बैता पढ़ि पढ़ि जग भरमावहु॥ 6॥
कहहिं कबीर एक सैय्यद बोहावै। आप सरीखा जग कबुलावै॥ 7॥
साखी—दिन को रहत हैं रोजा, राति हनत हैं गाय।
यह खून वह बन्दगी, क्योंकर खुशी खुदाय॥ 49॥

शब्दार्थ—दर=द्वार, पता। दरबेसा=दरवेश, फकीर, सिद्ध संत। बादशाह= अल्लाह, खुदा। जर्द=पीला। नाना=बहुत प्रकार। बाना=वेष। सुरति=सूरत, शक्ल, रूप। काजी=मुसलिम न्यायाधीश। जबह=किसी प्राणी का गला रेतकर काटना, हत्या। फुरमाया=आज्ञा। पीर=गुरु। बैता=बैत, शेर, कविता। बोहावै=पुकारना, बोझा उठाकर दूसरे के सिर पर रखना।

भावार्थ—हे फकीरो ! यह बात बताओ कि अल्लाह का पता क्या है, वह कहां रहता है और किस वेष में रहता है?॥ 1॥ वह कहां से प्रस्थान करता है

तथा कहां अवस्थान करता है? हे मुसलमानो! मैं तुमसे पूछता हूं कि॥ 2॥ वह लाल वेष में रहता है या पीले वेष में अथवा अनेक वेषों में रहता है? तुम किस शक्ल-सूरत का सलाम करते हो?॥ 3॥ हे काजी साहब! तुम भी कैसा काम करते हो, जो घर-घर में भैंसे कटवाते फिरते हो?॥ 4॥ तुम किस ईश्वर की आज्ञा से मासूम बकरी-मुरगी आदि जानवरों के गले पर छूरी चलाते हो?॥ 5॥ प्राणियों की पीड़ा को जानते नहीं हो और पीर कहलाते हो तथा शेर, कविता पढ़-पढ़कर जगत के लोगों को भ्रम में डालते हो कि कुर्बानी नाम से जीववध करना धर्मानुकूल है॥ 6॥ कबीर साहेब कहते हैं कि मुसलमानों में एक सैयद जाति के लोग होते हैं जो अपने आप को श्रेष्ठ मुसलमान मानते हैं। वे अपनी मान्यताओं का बोझा दूसरों पर बलात लादते हैं। वे लोगों से अपने इसलाम-मत को बलपूर्वक स्वीकार कराना चाहते हैं॥ 7॥

मुसलमान बन्धु रमजान महीने में दिन को रोजा रहते हैं, अन्न-पानी छोड़कर उपवास करते हैं और रात होते ही गाय काटते हैं या बकरी-मुरगी काटते हैं। एक तरफ खुदा के नाम पर जीव-हत्या करना और दूसरी तरफ खुदा की प्रार्थना करना, कितना विरोधी काम है? खुदा कैसे खुश हो सकता है?॥ 49॥

व्याख्या—मुसलमान बन्धु समझते हैं कि हमने ईश्वर का पता लगा लिया है; अतः हम लोग स्वर्ग में जायेंगे, बाकी जो गैर-मुसलमान हैं, वे नरक में जायेंगे। इस धारणा को लेकर वे काफी अहंकार में रहते हैं और गैर-मुसलिमों को काफिर एवं नरकगामी कहते हैं। इस धारणा से ही इनमें पुराकाल में, या कहना चाहिए कबीर साहेब के काल में गैर-मुसलमानों को जबर्दस्ती भी मुसलमान बनाने का दुराग्रह था और इसको लेकर वे दूसरे का खून-खराबा भी कर देते थे। इसी भाव को लेकर सातवीं पंक्ति में कहा गया है "आप सरीखा जग कबुलावै।" अतएव इन मिथ्या धारणाओं को दृष्टिगत रखते हुए सद्गुरु मुल्ला और फकीरों से पूछते हैं कि यदि आप लोग ईश्वर के दरवाजे का पता पा गये हैं कि वह अमुक जगह रहता है, तो जरा हमें भी बताइए जिससे हम भी उससे मुलाकात कर सकें। यदि वह एक जगह न रहता हो तथा प्रस्थान एवं अवस्थान करता हो तो उसका भी पता बताइए? उसके वेश को भी बता दीजिए जिससे वह शीघ्र पहचानने में आ जाये?

ये सारी-की-सारी बातें ईश्वर-ज्ञान के अभिमान पर व्यंग्य है। जड़ और चेतन के अपने अंतर्निहित गुण-धर्मों से जगत की व्यवस्था अबाध गति से चल रही है, यह बात समझ में आती है; परन्तु एक ज़ोरावर अल्लाह एवं ईश्वर कहीं बैठा है और वह जो कुछ चाहता है कर सकता है और करता रहता है और उस तक हमारा ही मजहब पहुंचा है, जो हमारे मजहब एवं सम्प्रदाय से चलेगा वही

वहां तक पहुंचेगा, हमारी किताब उसी की भेजी है, यह सब एक मिथ्या धारणा तथा झूठा अहंकार है। ईश्वर का पता तो आज तक किसी ने पाया नहीं, परन्तु उसके लिए नाना मतावलंबी यह झगड़ा करने लगे कि उस ईश्वर के हम ही ठेकेदार हैं। इससे अधिक भोलापन क्या हो सकता है! कुछ लोगों एवं कुछ मजहब वालों को यह अहंकार है कि केवल वे ही उस ईश्वर को समझ सके हैं और उन्हीं के द्वारा जनता उस तक पहुंच सकती है। यह दोष प्राय: सभी ईश्वरवादियों का है। इनमें कुछ नरम भी होते हैं; परन्तु मुसलिम-मुल्लाओं को यह पूरा गर्व है कि ईश्वर उन्हीं के द्वारा मिल सकता है। इसी पर साहेब का व्यंग्य है कि यदि आप उससे मुलाकात कर चुके हैं, तो उसके स्थान, पता, वेष आदि बताइए, क्या हैं?

इस रमैनी में दूसरी उनकी मुख्य बात है ईश्वर के नाम पर मूक, निर्दोष एवं निरीह प्राणियों के वध का विरोध करना। यह एक जंगलीपन है जो पुराकाल से करीब समस्त ईश्वरवादी एवं देववादियों के मत में रहा है। प्राचीन मत में जैन और बौद्ध, मनुष्य के अलावा कोई पूजनीय ईश्वर या देवता नहीं मानते, इसलिए इनके नाम पर इन मतों में जीव-हिंसा करने की बात ही नहीं उठती। ये दोनों अहिंसावादी होते हैं।

ईश्वर और देवता के नाम पर मूक प्राणियों की हत्या करना धर्म का दुरुपयोग है। कबीर साहेब मुल्लाओं से प्रश्न करते हैं कि ईश्वर के नाम पर जीववध करने की आज्ञा किसने दी? यदि किसी पुस्तक में ऐसी बात लिखी है तो उसका लेखक मनुष्य ही है जिसने अपने अल्पज्ञतावश ऐसा लिखा है। यदि कहो किसी ईश्वर ने आज्ञा दी, तो इसका क्या प्रमाण है!

कुरान-शरीफ में खुदा की तरफ से कहलवा लिया गया है—"हमने तुम्हारे लिए कुरबानी के ऊंटों को उन चीजों में कर दिया है जो खुदा के साथ नामजद की जाती हैं। उनमें तुम्हारे लिए फायदे हैं तो उनको खड़ा रखकर उन पर खुदा का नाम लो[1], फिर जब वह किसी पहलू पर गिर पड़े तो उनमें से खाओ और सब्र वालों और फकीरों को खिलाओ। हमने यों तुम्हारे बस में इन जानवरों को कर दिया है ताकि तुम शुक्र करो।"[2] कहना न होगा कि यह सब किसी ईश्वर ने नहीं कहा है, बल्कि मनुष्य ने कहकर अपनी बात चलायी है। लेकिन इसके आगे यह भी लिखा है "खुदा तक न तो इनके गोश्त ही पहुंचते हैं और न इनके खून, बल्कि उस तक तुम्हारी परहेजगारी पहुंचती है।" पहले कुरबानी का खून

1. ऊंट के हलाल करने का तरीका यह है कि उसको काबे की ओर खड़ा करते हैं, फिर उसकी छाती पर भाला मारते हैं ताकि उसका सारा खून निकल जाये और जब गिर पड़ता है तब काटते हैं।
2. हिन्दी कुरान, पृ. 339, श्री प्रभाकर साहित्य लोक, रानी कटरा, लखनऊ।

काबा की दीवारों पर छिड़कते थे। मुसलमानों को ऐसा करने से रोका गया और बताया गया कि खुदा तक केवल परहेजगारी ही पहुंचती है।

पीर (गुरु) तो वह है जो दूसरे के पीर (पीड़ा) को जाने। जो दूसरे की पीड़ा को नहीं समझता, वह तो बे-पीर काफिर है।[1] ईश्वर के नाम पर व्रत रखना तथा उसी के नाम पर जीव-हत्या करना दोनों में कोई मेल नहीं खाता।

जनाब अमीर मीनाई ने ठीक ही कहा है—"कर्तव्य बताने वाले काजी तो बरहना सर (गंजा सिर) अर्थात अविवेकी हैं और मुहतसिब (आचरण-निरीक्षक) जख्मी यानी अंधे हैं। ये अविवेक से ग्रसित बादाखोर (शराबी) शायद आजकल ज्यादा शराब पी गये हैं।"[2] जनाब हाली साहब कहते हैं—"खुदा के पास रहने वाला फरिश्ता (देवता) ही क्यों न हो, परन्तु वह इंसान तब तक नहीं हो सकता जब तक कि उसमें थोड़ी-बहुत दया न आ जाये। खुदा ने इंसान को इसलिए दुनिया में पैदा किया है कि वह दूसरे प्राणियों पर दया करे। नहीं तो ताअत (प्रार्थना) करने के लिए खुदा के पास कर्रेबयां (फरिश्ते) कम नहीं थे।"[3] दूसरे इंसान को पीड़ा देना धर्म नहीं है। किसी ने कैसा अच्छा कहा है—"धर्मयुद्ध उसे नहीं कहते कि जिसमें मानव का रक्तपात हो। जो अपने नफ्स (बुरी इच्छा) रूपी काफिर (शैतान) को मारता है, वही गाजी (वीर) है।"[4]

इस रमैनी का सार दो बातों में है जैसा कि पहले भी बताया गया है। पहली बात है कि ईश्वर मनुष्य की एक अवधारणा है। अब उस अवधारणा को किसी प्रकार का रूप-रंग देकर किसी स्थान-मकान, लोक या आकाश पर उसे अवस्थित कर और केवल अपनी भाषा, रीति-रिवाज आदि में उसे बांधकर कोई उसका एकाधिकारी ठेकेदार बने, तो यह निरा भोलापन है। दूसरी बात उसको खुश करने के लिए मूक प्राणियों की हत्या करे, यह दोहरा भोलापन है। वस्तुतः व्यक्ति की अपनी आत्मा ही परमात्मा है और दूसरों पर करुणा करना ही उसे प्रसन्न रखने का तरीका है। जो दूसरे की आत्मा को दुखाता है, उसकी आत्मा प्रसन्न नहीं हो सकती। परन्तु जो दूसरे की आत्मा के प्रति करुणा रखता है, उसकी अपनी आत्मा सदैव प्रसन्न रहती है।

---

1. कबीर सोई पीर है, जो जाने पर पीर।
 जो पर पीर न जानई, सो काफिर बे पीर॥
2. काजी बरहना सर है, तो जख्मी है मुहतसिब।
 शायद कि पी गये हैं, बहुत बादाखोर आज॥
3. हो फरिश्ता तो भी नहीं इन्सा, दर्द थोड़ा बहुत न हो जिसमें॥
 दर्द दिल के वास्ते पैदा किया इनसान को,
 वर्ना ताअत के लिए कर्रेबयां कुछ कम न थे।
4. जहाद उसको नहीं कहते कि होवे खून इन्सा का।
 करे जो कत्ल अपने नफ्से काफिर को वो गाजी है॥

बन्धनों का मूल ममता

रमैनी-50

कहइत मोहि भयल युगचारी। समुझत नाहिं मोर सुत नारी॥ 1॥
बंसहि आगि लगि बंसहि जरिया। भरम भूल नर धन्धे परिया॥ 2॥
हस्ति के फन्दे हस्ती रहई। मृगा के फन्दे मृगा रहई॥ 3॥
लोहे लोह जस काटु सयाना। त्रिया के तत्त्व त्रिया पहिचाना॥ 4॥
साखी—नारि रचंते पुरुषा, पुरुष रचंते नार।
पुरुषहि पुरुषा जो रचे, ते बिरले संसार॥ 50॥

शब्दार्थ—बंसहि=बांस में। सयाना=समझदार, चतुर। तत्त्व=स्वभाव। रचन्ते=रुचते, प्रिय लगना, प्रेम करना। रचे=प्रेम करे।

भावार्थ—मुझ-जैसे लोगों को उपदेश करते हुए चारों युग बीत गये; परन्तु जो लोग 'मेरा पुत्र, मेरी पत्नी तथा मेरे धन-घर' कहकर और मानकर उनमें आसक्त हैं, वे समझते नहीं॥ 1॥ आदमी उसी प्रकार अपने मन के अन्दर उत्पन्न हुए माया-मोह की आग में जल मरता है, जैसे बांस की कोठी अपने ही बांसों की रगड़ से जलकर भस्म हो जाती है। लोग स्थूल पदार्थों तथा मन की कल्पनाओं में भ्रमित होकर तथा अपने स्वरूप को भूलकर कर्म-बन्धनों के व्यापार में फंस जाते हैं॥ 2॥ जैसे सिखायी हुई हथिनी और मृगी के बन्धनों में जंगली हाथी और मृग फंस जाते हैं; जैसे चतुर लोग एक लोहा से दूसरे लोहे को काट देते हैं, जैसे एक स्त्री का स्वभाव दूसरी स्त्री द्वारा पहचाने जाने के कारण, कुटनी एवं मायावी स्त्रियों द्वारा सीधी स्त्रियां गलत काम करने के लिए फंसा ली जाती हैं, वैसे मनुष्य अपने माने हुए लोगों द्वारा ही भवबन्धनों में फंसाया जाता है। अथवा अपने मन का मोह ही उसे भवबन्धनों में डालता है॥ 3-4॥

स्त्री पुरुष में प्रेम करती है तथा पुरुष स्त्री में प्रेम करता है। परन्तु जो पुरुष-ही-पुरुष (स्वस्वरूप चेतन) में प्रेम करता है, वह संसार में बिरला है॥ 50॥

व्याख्या—सद्गुरु ने इस रमैनी में यह बताया है कि तुम्हें अपने मन के मोह तथा अपने माने हुए प्राणियों से ही बन्धन प्राप्त होते हैं।

"कहइत मोहि भयल युगचारी।" चौपाई की इस प्रथम अर्धाली का आपातत: अर्थ पौराणिक[1] विचार वालों के अनुकूल है। उनको यहां अपने भावुक विचारों के समर्थन में अर्थ लगाने में सरलता है। वे अर्थ लगा सकते हैं

1. पौराणिक कबीरपंथी मानते हैं कि कबीर साहेब सत्युग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग में क्रमश: सत्सुकृत, मुनींद्र, करुणामय और कबीर नाम से अवतार लेते हैं।

'कबीर साहेब कहते हैं कि मुझे उपदेश करते हुए चारों युग बीत गये।' परन्तु ऐसा अर्थ करने वालों को समझना चाहिए कि वे अपनी भावुकता में कबीर साहेब को भी अत्यन्त भावुक बना देना चाहते हैं।

दूसरे ऐसे विद्वान लोग हैं जो बीजक में प्रक्षेप की टोह में रहते हैं। वे इस स्थूल अर्थ को मानकर इसे उन कबीरपंथियों द्वारा किया हुआ प्रक्षेप मानेंगे, जो कबीर साहेब को युग–युग में अवतार लेने वाला मानते हैं। परन्तु इसमें पहली धारणा श्रद्धातिरेक है और दूसरी धारणा बुद्धि–अतिरेक है।

"कहइत मोहि भयल युगचारी" में 'मोहि' शब्द उत्तम पुरुष कर्ता के रूप में कबीर साहेब के लिए होते हुए भी, उसका अर्थ केवल उन्हीं में सीमित नहीं है। किन्तु युग–युगों से होते आये सभी गुरुजनों के लिए है। क्योंकि संसार में सभी गुरुजन इस एक सामान्य विषय पर उपदेश देते आये हैं कि संसार की मोह–माया ही जीव के लिए बंधन है, इसलिए इसे तोड़ो। यह अर्थ स्वाभाविक है तथा इस अर्थ से कबीर साहेब के मन में अनादिकाल से होते आये सभी गुरुजनों के प्रति आदर का भाव भी झलकता है। अतएव इस प्रकार इस चौपाई का अर्थ हुआ कि मुझ–जैसे लोग चारों युगों से उपदेश करते आ रहे हैं; परन्तु पत्नी–बच्चों में मेरा–मेरा भाव रखने वाले लोग इस बात को नहीं समझते।

"समुझत नाहिं मोर सुत नारी॥" इस अर्धाली में, जो विद्वान कबीर साहेब को गृहस्थ सिद्ध करना चाहते हैं, उन्हें अपने ढंग का अर्थ सूझेगा। वे कहना चाहेंगे "इस अर्धाली से कबीर के जीवन पर प्रकाश पड़ता है। कबीर कहते हैं कि मेरे बच्चे तथा पत्नी समझ नहीं रहे हैं। अतएव कबीर पत्नी–बच्चे वाले थे। वे अपनी पत्नी तथा बच्चों को समझाते थे, परन्तु वे उनकी बातें समझते नहीं थे।" परन्तु ऐसे बहादुर विद्वानों से पूछना चाहिए कि कबीर के वे पत्नी–बच्चे क्या चारों युगों से उनके साथ थे? क्योंकि वे कहते हैं "कहइत मोहि भयल युगचारी। समुझत नाहिं मोर सुत नारी॥" कबीर साहेब ने यहां सहज भाव से कहा है कि मुझ–जैसे लोग सदैव से संसार की असारता को समझाते रहे हैं, परन्तु जो सुत–नारी में मेरी–मेरी भावना रखने वाले हैं, वे इस बात को नहीं समझ पाते। कबीर साहेब अखंड बाल–ब्रह्मचारी विरक्तात्मा संत थे। उनके सामान्य उपदेश को उनके ऊपर लगाना अ–समीक्षात्मक बुद्धि का फल है। बीजक के कुछ पाठों में "समुझत नाहिं मोर सुत नारी" में 'मोर' शब्द की जगह पर 'मोह' पाठ है। लगता है यही सही पाठ है, परन्तु लिखावट के दोष से कभी किसी ने 'मोह' की जगह पर 'मोर' लिख लिया। फिर भी अर्थ में कोई फर्क नहीं है।

"बंसहि आगि लगि बंसहि जरिया" अर्थात बांस अपनी ही रगड़ से जल जाते हैं। इसी प्रकार मनुष्य अपने माने हुए लोगों द्वारा उठाये हुए राग-द्वेष के रगड़े में जलकर राख हो जाता है। मनुष्य अपने मन के माया-मोह तथा अपने माने हुए प्राणी-पदार्थों के राग-द्वेष की आग में ही रात-दिन जलता है। हमारे चारों ओर फैले हुए हमारे माने गये प्राणी-पदार्थ, हमारे ही दुरुपयोग से हमारे लिए बन्धन बन जाते हैं। हम अविवेक-वश उनमें राग करते हैं और मन की अनुकूलता न होने पर उनसे द्वेष करते हैं। बस ये ही राग-द्वेष हमारे जी के जंजाल बन जाते हैं। ये ही हमारे गले की फांसी हो जाते हैं।

"भरम भूल नर धन्धे परिया" इस अर्धाली में 'भ्रम' तथा 'भूल' इन दो शब्दों का प्रयोग किया गया है। भ्रम का अर्थ है कुछ का कुछ प्रतीत होना; जैसे रस्सी में सांप, सीपी में चांदी, चांदनी या धूप की लहरियों में पानी आदि ! इसी प्रकार विषयों में सुख-भास महाभ्रम है। अनुकूल माने गये विषयों-भोगों में मनुष्य को सुख का भ्रम होता है कि इनमें आनन्द है। यह शरीर मेरा है, ये प्राणी-पदार्थ मेरे हैं, यह भी भ्रम ही है। क्योंकि यह सब कुछ भी तो साथ नहीं रह जाता है। मेरी अपनी आत्मा से अलग कोई परमात्मा है, उसी से परमानंद मिलेगा, यह सबसे बड़ा भ्रम है। भूल का अर्थ है अपने आपा को न जानना। मैं शुद्ध चेतन हूं, यह एक वास्तविकता है। इसे न समझकर मैं देह हूं, यह भूल है। संक्षेप में कहें तो जो कुछ अपने से अलग है उसमें सुख तथा स्वत्व का भास भ्रम है और अपने अविनाशी चेतन स्वरूप को न समझना भूल है। इस भ्रम तथा भूल के कारण जीव 'धन्धे परिया' कर्म बन्धनों का व्यापार करता है। भ्रम तथा भूल को हम विषयासक्ति तथा अज्ञान कह सकते हैं। इन्हीं के कारण तो जीव भटक रहा है ! कैसे अपने अन्दर की अज्ञान-अग्नि से आदमी जलता है, इसके लिए ऊपर बांस की रगड़ से बांस जलने का उदाहरण दिया गया है। आगे हस्ती, मृगा, लोह और स्त्री—इन चार उदाहरणों से सद्गुरु यह समझाना चाहते हैं कि तुम्हारे बंधन तुम्हारे मन से या तुम्हारे स्वजनों द्वारा ही बनते हैं। लोग सिखायी हुई हस्तिनी तथा मृगी द्वारा हाथी तथा मृग को फंसा लेते हैं, लोह से लोह काट देते हैं तथा कुटनी स्त्री द्वारा सीधी स्त्रियों को फंसा लेते हैं। इन चारों उदाहरणों में अपनी जाति ने ही अपनों को खाया। इसी प्रकार तुम्हारे अपने ही माने गये माता, पिता, भाई, बन्धु, पत्नी, पुत्र, मित्र, गोत्र, सगे-सम्बन्धी लोग तुम्हारे लिए बन्धनों का जाल बुनते हैं। जो जाल से बाहर होना चाहता है उसे समझा-बुझा कर फंसाते हैं। कितने ही मनुष्य अपने स्वजनों को विषय-वासना, चोरी, हिंसा, व्यभिचार आदि का पाठ पढ़ाते हैं। किसी के सामने कोई बात बारंबार दोहरायी जाये तो उसका प्रभाव उस पर पड़ने लगता है।

यह परम सत्य है कि यदि आदमी सतत सावधान रहे, तो उसे कोई दूसरा मनुष्य बंधन नहीं दे सकता। मुख्य बंधन तो अपने भीतर की मोह-माया एवं अहंता-ममता है। जैसे लोहा से उत्पन्न मोरचा उसी लोहे को खा जाता है, वैसे हमारे अपने से उत्पन्न हुए अज्ञान एवं भ्रम हमें खा जाते हैं।

जैसे अपनों द्वारा सुख-सुविधाएं मिलती हैं, वैसे ही अपने लोगों द्वारा दुख तथा बंधन भी मिलते हैं। इसे हम ऐतिहासिक ढंग से भी समझ सकते हैं। राजा दशरथ को अपनी ही प्रिय पत्नी कैकेयी द्वारा मरणांतक कष्ट हुआ। अपने ही भाई विभीषण द्वारा शत्रु पक्ष को भेद देने से रावण का विध्वंस हुआ, "घर का भेदिया लंका ढावै" कहावत हो गयी। प्रचलित धारणानुसार राजा जयचंद विदेशियों से मिलकर देश का घातक हुआ। बादशाह शाहजहां अपने ही पुत्र औरंगजेब द्वारा जेल में डाला गया। यह लिस्ट बड़ी लंबी बनायी जा सकती है।

अंततः साखी की प्रथम पंक्ति में सद्गुरु कहते हैं कि स्त्री पुरुष में प्रेम करती है तथा पुरुष स्त्री में। अर्थात स्त्री और पुरुष एक दूसरे के शरीर में मोह करते हैं जो एक मृगतृष्णा है। यदि स्त्री के शरीर में आनन्द होता तो स्त्री अपने शरीर के आनन्द को लेकर सुखी रहती, परन्तु वह पुरुष के शरीर में आकर्षित है और यदि पुरुष के शरीर में आनन्द होता, तो वह अपने शरीर का आनन्द लेकर तृप्त रहता; परन्तु वह स्त्री के शरीर में आकर्षित है। इसलिए न स्त्री के शरीर में आनन्द है तथा न पुरुष के। स्त्री-पुरुष दोनों ही देहाध्यास की मृगतृष्णा में दौड़ रहे हैं और इस रेगिस्तान में वे दोनों ही जीवन भर प्यासे मर रहे हैं।

"पुरुषहिं पुरुषा जो रचे, ते बिरले संसार॥" यह बड़ा महत्त्वपूर्ण वाक्य है। यहां का 'पुरुष' कोई स्थूल पुरुष की देह नहीं है। किन्तु 'पुरि शेते इति पुरुषः' अर्थात जो शरीर रूपी पुर में शयन करता है, वह पुरुष है। सांख्यदर्शन ने जड़ प्रकृति से भिन्न शुद्ध चेतन को पुरुष कहा है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (4/7) ने भी 'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो' कहकर चेतन के लिए ही पुरुष कहा है। अतएव सद्गुरु कहते हैं "पुरुषहिं पुरुषा जो रचे, ते बिरले संसार" जो केवल पुरुष-ही-पुरुष में प्रेम करता है, अर्थात जो केवल अपने शुद्ध चेतन-स्वरूप में ही लीन है, वह संसार में बिरला है। सारी विषयासक्ति मिट जाने पर ही अपने शुद्ध-चेतन में रति होती है। आत्मरति, आत्मप्रेम, आत्मतृप्ति जीवन की सर्वोच्च दशा है। जिसकी देहासक्ति सर्वथा मिट जाती है, वही अपने शुद्ध पारख चेतन-स्वरूप में स्थित होता है।

स्वरूपस्थिति रहनी का विषय है

रमैनी-51

जाकर नाम अकहुवा रे भाई। ताकर काह रमैनी गाई॥ 1॥

कहैं तात्पर्य एक ऐसा। जस पन्थी बोहित चढ़ि वैसा॥ 2॥
है कछु रहनि गहनि की बाता। बैठा रहै चला पुनि जाता॥ 3॥
रहै बदन नहिं स्वाँग सुभाऊ। मन अस्थिर नहिं बोलै काहू॥ 4॥
साखी—तन राता मन जात है, मन राता तन जाय।
तन मन एकै होय रहै, तब हंस कबीर कहाय॥ 51॥

शब्दार्थ—अकहुवा=कथन में न आने वाला, अनिर्वाच्य। रमैनी=प्रशंसा, प्रार्थना, कीर्तन। तात्पर्य=आशय, मतलब। बोहित=नाव, जहाज। काहू=किसी से। राता=आसक्त। एकै=एकाग्रता। हंस=विवेकी, स्वरूपस्थ।

भावार्थ—हे भाई! जिसका नाम ही कथन में नहीं आता, उसकी क्या कथा, कीर्तन एवं वंदना करते हो?॥ 1॥ विवेकीजन उसका इस प्रकार एक आशय कहते हैं कि जिस प्रकार पथिक नाव पर बैठकर पार हो जाता है उसी प्रकार उसकी स्थिति समझो॥ 2॥ स्वरूपस्थिति की प्राप्ति तो एक रहनी-गहनी की बात है। जैसे नाव में बैठे-बैठे मनुष्य अपने गंतव्य को चला जाता है, वैसे रहनी में रहने वाला साधक स्वयमेव शांति को प्राप्त कर लेता है॥ 3॥ साधक को चाहिए कि वह शरीर में बहुत छापा-तिलक आदि वेष का स्वांग न रचे, मन शांत रखे और किसी से व्यर्थ बातें न करे॥ 4॥

जहां शरीर आसक्त रहता है, वहां मन चला जाता है और जहां मन आसक्त रहता है वहां शरीर चला जाता है। जब शरीर और मन एकाग्र एवं संयत होकर एक स्वरूपस्थिति की रहनि में लग जाते हैं, तब जीव हंस हो जाता है। अर्थात वह सत्य और असत्य का पारखी एवं स्वरूपस्थ हो जाता है॥ 51॥

व्याख्या—मनुष्य अपनी आत्मा से अलग परमात्मा खोजता है, उसे वह अपना निधान ठहराता है और कहता है कि वह 'अकहुआ' है। 'अकहुआ' ग्रामीण शब्द है। इसका संस्कृतनिष्ठ शब्द 'अनिर्वचनीय' है। इन दोनों समानार्थक शब्दों का अभिप्राय है 'जो कहने में न आये'। एक तरफ तो कहा जाता है कि वह कथन में नहीं आ सकता, दूसरी तरफ उसके नाम की कल्पना, उसका जप, कथा, कीर्तन, वंदना आदि सब करने का प्रयत्न किया जाता है। सद्गुरु कहते हैं कि जिसका नाम ही अकहुआ है, उसकी क्या वंदना, प्रार्थना एवं कीर्तन करते हो? वंदना-कीर्तन आदि केवल सात्त्विक मनोरंजन हैं। जिस दशा की प्राप्ति होने पर मनुष्य पूर्ण कृतार्थ होता है, वह वंदना, कीर्तन का विषय नहीं है, और फिर उसकी वंदना, जिसका नाम ही अकहुआ हो, एक हास्यास्पद विषय है। मूल चौपाई कितनी व्यंग्यात्मक है, व्यंजना से भरी है "जाकर नाम अकहुआ रे भाई। ताकर काह रमैनी गाई॥"

परमात्मा, भगवान, मोक्ष, निर्वाण आदि सारे शब्दों का एक ही तात्पर्य है दुखों से अत्यन्त छुटकारा। और यह रहनी-गहनी की बात है। 'रहनी' का अर्थ

है पवित्र आचरण में रहना और अंततः मन का स्थिर हो जाना और 'गहनी' का अर्थ है कल्याण के साधक अंगों को ग्रहण करना। इस प्रकार, रहनी-गहनी जोड़वा शब्द प्रायः एक ही भाव को प्रकट करते हैं। 'गहनी' पकड़ है, और 'रहनी' आचरण है। कल्याण की समझ एवं साधक-अंगों को दृढ़तापूर्वक पकड़ लेना 'गहनी' है और उनका आचरण करना 'रहनी' है। जिनसे दुख उत्पन्न होते हैं, ऐसे मन, वाणी, इंद्रियों के भाव तथा आचरणों का त्याग करने से सद्गुण तथा शांति स्वयं आते हैं। और जिनसे सहज सुख उत्पन्न होता है ऐसे दिव्य गुणों—दया, शील, क्षमा, धैर्य, विवेक, वैराग्य, विनम्रता तथा अपने अविनाशी चेतन-स्वरूप के स्मरण और व्यवहार से स्वतः चिरंतन शांति की अनुभूति होती है। सद्गुरु कहते हैं कि ज्ञान 'रमैनी गाने, कीर्तन करने' का विषय नहीं है, किन्तु 'रहनी-गहनी' का विषय है। रहनी-गहनी का भावार्थ ज्ञान एवं जानकारी को आचरण में लाना है। यह कठिन पड़ता है। इसमें मन-इंद्रियों को वश में करने की बात है। कीर्तन में सरलता है। नाम-जप में सारे पापों का नाश भी मान लिया गया है। आदमी सरलता की ओर जाना चाहता है, चाहे उसका उसमें विनाश ही हो जाये। सरल मार्ग सदैव हितकर नहीं होता। कहावत है 'महंगा रोवै एक बार, सस्ता रोवै बार-बार।

आजकल कीर्तन और अखंड पाठ का नशा बहुत बढ़ गया है। ढोल, मजीरा, हारमोनियम लेकर तथा लाउडस्पीकर लगाकर एक-दो घंटे नहीं, तीन-चार घंटे नहीं; चौबीस-चौबीस घंटे कानफाडू आवाज में कीर्तन तथा अखंड पाठ किया जाता है। यह मानवता के साथ शत्रुता करना है। सबकी शांति एवं नींद हराम की जाती है। पाप धोने के लिए पाप बटोरा जाता है। एक बाजार में तो नित्य के लिए लाउडस्पीकर से अखंड पाठ चल रहा था। इतने दिन के लिए अमुक सेठ की तरफ से तथा इतने दिन के लिए अमुक सेठ की तरफ से पाठ करने वालों को मेहनताना मिलता था। सेठों को तो अपने पाप धोने रहते हैं। पता नहीं, आस-पास वाले श्रोताओं के कौन-से पाप के फल रहते हैं जिससे उनकी शांति और नींद छीन ली जाती है।

सद्गुरु कहते हैं कि मोक्ष, परमशांति एवं परमतत्त्व कीर्तन एवं पाठ का विषय नहीं है। यह आचरण का विषय है। यदि आदमी अपनी प्राप्त जानकारी का आदर करता है, अर्थात वह जो कुछ जानता है, उसका आचरण करता है, तो वह अपने स्थान पर बैठे-बैठे अपने गंतव्य को उसी प्रकार पहुंच जाता है, जैसे जहाज पर बैठा व्यक्ति अपने गंतव्य पर पहुंच जाता है।

चलकर मिलने वाली मंजिल भौतिक होती है। यदि हमें कलकत्ता, दिल्ली या इसी प्रकार अन्य किसी स्थल पर जाना है, तो चलना पड़ेगा, परन्तु यदि हमें

अपने निधान में, अपने आश्रय–स्थान में जाना है, तो चलना नहीं है, केवल रहनी–गहनी की आवश्यकता है। यह वैज्ञानिक तथा विवेकसम्मत तथ्य है कि किसी भी मौलिक वस्तु का निधान (आश्रय स्थल) उसके अपने स्वरूप से अलग नहीं होता। निज चेतन–स्वरूप मौलिक एवं शाश्वत है। अतएव मेरा निधान मेरा अपना स्वरूप ही है। इसलिए मुझे कहीं अलग पहुंचना नहीं है। रहनी–गहनी ठीक न होने से, मैं अपने आप से अलग पड़ा हुआ–सा हूं। जिस दिन व्यक्ति त्याग करने योग्य को त्याग देता है तथा ग्रहण करने योग्य को ग्रहण कर लेता है, उसी दिन वह अपने आप को पा लेता है, अपने आप की भूमिका में पहुंच जाता है। यह "है कछु रहनि गहनि की बाता। बैठा रहै चला पुनि जाता" का मर्म है।

"रहै बदन नहिं स्वाँग सुभाऊ" सद्गुरु कहते हैं कि साधक को चाहिए कि वह अपना स्वांग रचने वाला स्वभाव न बनावे। वह अपने शरीर पर दिखाऊं वेष न बनावे। कितने साधक बहुत माला, चंदन, रंग–बिरंगे कपड़े, जटाजूट आदि बनाकर अपने आप को बहुत बड़ा भक्त, साधक एवं संत सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। अपने आप को समाज से बहुत अधिक भिन्न प्रदर्शित करने के लिए ही तड़क–भड़क के वेष बनाये जाते हैं। और ये साधक के पूजे जाने के साधन बन सकते हैं, कल्याण के नहीं। अतएव साधक जिस श्रेणी में हो साधु या गृहस्थ, उसी के भीतर मध्यवर्तीय वेष रखे।

"मन अस्थिर नहिं बोलै काहू" अर्थात साधक को चाहिए कि वह अपना मन स्थिर रखे और किसी से व्यर्थ बातें न करे। इस अर्धाली में बड़ी महत्त्वपूर्ण बात बतायी गयी है; वह है मन और वाणी का संयम। मन की शांति के लिए वाणी के संयम की बड़ी आवश्यकता है। जो व्यक्ति अधिक बोलता है, वह असत्य बोले बिना रह नहीं सकता। उससे कटु तथा परनिंदा के वचन निकलेंगे ही। इस प्रकार असंयत बोलने वाले के मन में शांति नहीं आ सकती। वाणी के संयम से बहुत–सारे उपद्रव अपने आप शांत हो जाते हैं। जिसका मन संतुलित है और वाणी पर जिसका अधिकार है, उसके आचरण पवित्र रहेंगे ही। जिसके मन, वाणी और कर्म तीनों संतुलित हैं, उसके जीवन में केवल पवित्र संस्कारों का मधु होता है। वह सदैव प्रसन्न रहता है। वही स्वरूपस्थिति का अधिकारी है।

"तन राता मन जात है, मन राता तन जाय।" जहां शरीर तथा इंद्रियां आसक्त हैं, वहां मन दौड़ता है और जहां मन आसक्त है, वहां शरीर जाता है, इंद्रियां उधर ही दौड़ती हैं। इंद्रियों की विषयासक्ति मन को घसीटती है तथा मन की आसक्ति इंद्रियों को घसीटती है। तन–मन के विषयों में आसक्त आदमी

जीवन भर संसार-बाजार का टट्टू बना लादी लादता है। उसके जीवन में शांति कहां है ! परन्तु—

"तन मन एकै होय रहै, तब हंस कबीर कहाय।" अर्थात जिसके तन-मन 'एकै' हो जाते हैं, वह हंस हो जाता है। 'एकै' का अर्थ है 'एकाग्रता'। जिस साधक के शरीर और मन उसके वश में हैं, वह हंस कहलाता है। बीजक में हंस शब्द बारम्बार आता है। हंस एक पक्षी होता है। वह स्वच्छ तालाब में रहता है। उसके लिए कहावत है कि वह नीर-क्षीर विवेक करता है। यहां तात्पर्य यह है कि जो मन और शरीर पर विजयी है, वही जड़-चेतन, सत्य-असत्य, खाद्य-अखाद्य, कर्तव्य-अकर्तव्य, स्व-पर आदि की परख कर सकता है। स्वच्छ तन-मन वाला ही तो पारखी होता है।

जैसा कि इस ग्रन्थ में अन्यत्र भी बताया गया है कि 'हंस' संस्कृत भाषा का शब्द है। इसमें दो पद हैं 'अहम्-सः।' अ तथा विसर्ग लुप्त होकर हंस शब्द बन गया है। इसका अर्थ होता है 'मैं-वह'। अर्थात मैं वही हूं जिसे मैं परमात्मा, ब्रह्म, राम, खुदा, अल्लाह, मोक्ष, निर्वाण आदि शब्दों के आधार पर खोज रहा हूं, शब्द तो सारे कृत्रिम हैं, किन्तु मैं उनका कर्ता अ-कृत्रिम हूं।

इस रमैनी में मुख्य चार बातें बतायी गयी हैं। पहली बात है, जीव की स्वरूपस्थिति कीर्तन, वंदना आदि का विषय नहीं है। दूसरी बात है कि वह रहनी-गहनी का विषय है। तीसरी बात है कि साधक को अपना वेष बहुत विलक्षण नहीं बनाना चाहिए। और चौथी बात है जिसने अपने तन और मन पर विजय पायी है उसी ने हंसत्व पाया है। वही असार को परखकर त्याग देता है और अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, जो सार एवं सत्य है।

परमतत्त्व को अपनी आत्मा से अलग खोजना भ्रम है

रमैनी-52

जेहि कारण शिव अजहुँ वियोगी। अंग विभूति लाय भौ योगी॥ 1॥
शेष सहस्त्र मुख पार न पावै। सो अब खसम सही समुझावै॥ 2॥
ऐसी विधि जो मोकहँ ध्यावै। छठये माँह दरश सो पावै॥ 3॥
कौनेहु भाव देखाई देहों। गुप्तहिं रहों स्वभाव सब लेहों॥ 4॥
साखी—कहहिं कबीर पुकारि के, सबका उहै विचार।
कहा हमार मानै नहीं, कैसे छूटे भ्रमजार॥ 52॥

शब्दार्थ—वियोगी=प्रिय से बिछुड़ा हुआ, विरही। खसम=पति, मालिक, ब्रह्म। ध्यावै=ध्यान करे। छठये माँह=पांच ज्ञानेन्द्रियों के ऊपर छठें मन में। भ्रमजार=भ्रम का जाल।

भावार्थ—जिस परमतत्त्व के लिए शिव जी योगी बनकर शरीर में राख लगाये लोक धारणानुसार आज तक घूमते हैं, परन्तु अभी भी उससे वियोगी बने हैं, आज भी उसे नहीं पा सके हैं॥ 1॥ और शेष जी अपने हजार मुखों से वर्णन कर भी उसका पार नहीं पाये, उसी कुल–मालिक को आज के गुरु लोग सही–सही समझाने का दावा करते हैं॥ 2॥ वे कहते हैं कि इस प्रकार जो मेरा ध्यान करेगा, अथवा मेरी बतायी हुई प्रक्रिया से ध्यान करेगा, वह अपने मन में दर्शन पायेगा॥ 3॥ मैं किसी प्रकार दिखा दूंगा। मैं गुप्त रहकर तुम्हारे मन के स्वभाव की सारी जानकारी रखूंगा॥ 4॥

कबीर साहेब सबके बीच में जोर देकर कहते हैं कि सबका यही विचार है कि गुरु भगवान के दर्शन करा देता है। मेरी इस बात को लोग मानते नहीं कि मन में जो कुछ दर्शन होते हैं वह माया है, फिर इनका भ्रमबंधन कैसे छूटे॥ 52॥

व्याख्या—जिस ब्रह्म एवं मालिक की खोज करते–करते शिव–शेष आदि हार गये और उसके विषय में कोई निर्धारित निर्णय नहीं दे सके तथा न उसको पा सके, आज के गुरु लोग उसके दर्शन झट से करा देने का दावा करते हैं। "सो अब खसम सही समुझावै" वे कहते हैं कि हम उस मालिक की वास्तविकता को जानते हैं और उसको सही–सही समझा रहे हैं। वे कहते हैं कि जिस प्रक्रिया से हम तुम्हें ध्यान करने के लिए बता रहे हैं उसके अनुसार ध्यान करो, तो अपने मन में उसके दर्शन पाओगे।

"मो कहँ ध्यावै, दिखाई देहों, गुप्तहि रहों, स्वभाव सब लेहों"—इन चारों वाक्यांशों में प्रथम पुरुष की क्रिया के रूप में मेरा ध्यान करो, मैं दिखाई दूंगा, मैं गुप्त रहूंगा तथा तुम्हारे स्वभाव की जानकारी रखूंगा—वर्णन है। यह प्रथम पुरुष की क्रिया गुरु तथा ब्रह्म—दोनों के लिए उपयुक्त अर्थ प्रकट करती है। भावुकता से भरे हुए भावनावादी गुरु लोग कहते हैं—'हे शिष्य! मेरा ध्यान करो, मैं तुम्हें मन में किसी भी वेष या रंग–रूप में दिखाई दूंगा और गुप्तरूप से रहकर तुम्हारे मन की सारी जानकारी रखूंगा।' गुरुओं के इस भावुक उपदेश से शिष्यों का कुछ भावनात्मक हित हो सकता है, परन्तु उनका विवेक नहीं जग सकता।

इन उपदेशों को ब्रह्म के प्रथम पुरुष की क्रिया के रूप में मानकर कहा जा सकता है कि मानो ब्रह्म कह रहा हो कि मेरा ध्यान करो, मैं नाद, ज्योति, शब्द आदि किसी रूप में दिखाई दूंगा, मैं गुप्त रहकर तुम्हारे स्वभाव की जानकारी रखूंगा, इत्यादि।

सब मिलाकर इसका अभिप्राय यही है कि जिस ईश्वर या ब्रह्म का पता शिव-शेष नहीं पाये, उसका सत्यवत स्वरूप बताने के लिए आज के गुरु लोग दावा करते हैं। गुरु लोग शिष्यों को ध्यान करने की राय देते हैं। वे अपनी कल्पित प्रक्रिया बताते हैं। कोई कहता है कि उसे चार भुजा वाला समझो। कोई कहता है कि उसे अमुक शक्ल में समझो। कोई कहता है उसे प्रकाश-रूप, ज्योति-रूप, नाद एवं शब्द-रूप में समझो। जब तुम्हें नाद सुनाई दे, समझ लो वही ब्रह्म है। जब तुम्हें ज्योति दिखाई दे, समझ लो वही ईश्वर या ब्रह्म है। तुम कल्पना करो कि तुम्हारे चारों तरफ ब्रह्म फैला है, इत्यादि।

कहना न होगा कि उक्त सारी बातें मन की अवधारणाएं हैं, मन:कल्पित हैं। यह कह सकते हैं कि इन अलीक धारणाओं से भी मनुष्य का कुछ-न-कुछ हित है। परन्तु यह सब सत्य नहीं है। यह सब तो मन का व्यापार है। अपनी आत्मा, अपने चेतन-स्वरूप से अलग परमात्मा खोजना एक भ्रम है और यह भ्रम पुराकाल से चला आया है। यदि शेष-महेश को भी यह भ्रम रहा हो, तो यह सत्य तो नहीं हो सकता।

"कहहिं कबीर पुकारि के, सबका उहै विचार।" कबीर साहेब निर्भयतापूर्वक हल्लाकर कहते हैं कि 'संसार में प्राय: सबका यही विचार है कि गुरु शिष्य को ईश्वर-दर्शन करा देता है और शिष्य कृतार्थ हो जाता है।' परन्तु इससे अधिक भोलापन क्या हो सकता है? वस्तुत: गुरुओं के उपदेशानुसार मनुष्य अपने मन में जो कुछ धारणा बना लेता है, उसे ही ध्यान में देखता रहता है और वह उसे ही ईश्वर-दर्शन मान लेता है। परन्तु व्यक्ति जो कुछ मन में देखता है वह सब मन की अवधारणाएं एवं कल्पनाएं हैं। सच्चा ध्यान तो है संकल्पों का त्याग, और संकल्पों के त्याग हो जाने पर कोई ईश्वर नहीं बचता जिसके दर्शन हों, क्योंकि सारे ईश्वर तो मन की कल्पनाएं हैं और संकल्पों के त्याग में मन ही शांत हो जाता है। इसलिए सारे दृश्य समाप्त हो जाते हैं। फिर रह जाता है चेतन आत्मदेव जो 'स्व' के रूप में विद्यमान रहता है और उसके साथ रहती है शांति, जो उसका अभिन्न स्वरूप है।

"कहा हमार मानै नहीं, कैसे छूटे भ्रमजार॥" सद्गुरु कहते हैं कि मैं कहता हूं कि मन के व्यापार को छोड़ो और अपने स्वरूप में स्थित होओ; परन्तु लोग मन के व्यापार के बाहर नहीं होते, तो इनके भ्रम-बन्धन कैसे कटेंगे!

रमैनी-53

महादेव मुनि अन्त न पाया। उमा सहित उन जन्म गमाया॥ 1॥
उनहूँ ते सिध साधक होई। मन निश्चय कहु कैसे कोई॥ 2॥
जब लग तनमें आहै सोई। तब लग चेति न देखै कोई॥ 3॥

तब चेतिहो जब तजिहो प्राना। भया अयान तब मन पछताना॥ 4॥
इतना सुनत निकट चलि आई। मन का विकार न छूटै भाई॥ 5॥
साखी—तीन लोक मुवा कौवाय के, छूटि न काहु कि आस।
एकै अँधरे जग खाया, सबका भया निपात॥ 53॥

शब्दार्थ—अन्त=रहस्य, वास्तविकता, कल्पना का अन्त। सोई=प्राण। अयान=अज्ञानी। तीन लोक=त्रिगुणी जीव। एकै अँधरे=अविवेकी मन। निपात=पतन, नीचे गिरना।

भावार्थ—महादेव मुनि ने अपनी पत्नी उमा के साथ जीवन गवां दिया, किन्तु वे ईश्वर या ब्रह्म का रहस्य नहीं समझ सके॥ 1॥ क्या उनसे भी अधिक कोई सिद्ध या साधक ईश्वर का खोजी हो सकता है! जब महादेव जैसे योगी ब्रह्म के विषय में किसी निश्चय पर नहीं पहुंच सके, तब पीछे के कहे जाने वाले सिद्ध-साधकों के मन में ब्रह्म के विषय में क्या निश्चय हो सकता है?॥ 2॥ जब तक शरीर में प्राण चलते हैं, यदि तब तक कोई सावधान होकर वास्तविकता की परख नहीं करता है, तो क्या वह तब जग सकेगा, जब प्राण छोड़ने पर तत्पर होगा। तब तो वह मूढ़ बनकर अपने पूरे जीवन के लेखा-जोखा को लेकर मन में पश्चाताप करेगा॥ 3-4॥ सत्संग और शास्त्रों की इतनी सारी ज्ञान की बातें सुनते-गुनते हुए मौत निकट आ जाती है, परन्तु हे भाई, लोगों के मन के विकार नहीं छूटते॥ 5॥

संसार के सारे लोग जीवन-पर्यन्त उसी प्रकार असंबद्ध प्रलाप करते हुए मरते हैं, जैसे मनुष्य स्वप्न में कौआता है; क्योंकि स्वात्म-भिन्न कुछ पाने की आशा मिटती नहीं। एक अविवेकी मन ने संसार के सारे लोगों को ग्रस रखा है। इसी में सबका पतन होता है॥ 53॥

व्याख्या—कबीर साहेब ने सत्य कहने में कभी भय नहीं किया। महादेव की नगरी काशी में रहकर उन्होंने कहा—"महादेव मुनि अन्त न पाया। उमा सहित उन जन्म गमाया॥" ब्रह्म को अपने से अलग मानकर उसकी कल्पना का अन्त हो ही नहीं सकता। मनुष्यों द्वारा अपनी आत्मा से भिन्न ब्रह्म या ईश्वर के जितने रूप मन से गढ़े जायेंगे, वे सब मन के स्वप्न होंगे। उनमें वास्तविकता का बोध असंभव है।

साधारण साधकों की बात तो जाने दीजिए, बड़े-बड़े कहलाने वाले सिद्ध-साधकों के मन डगमगाते रहते हैं। वे ऊपर से ईश्वर-ब्रह्म कहते-सुनते हुए भी भीतर से संदेहशील बने रहते हैं। क्योंकि संसार में नाना अत्याचार एवं विषमताओं को देखते हुए उसकी सर्वज्ञता एवं सर्वशक्तिमत्ता का भी उन्हें प्रदर्शन नहीं होता, और मन के आभासों के अलावा उसका कोई वास्तविक बोध, दर्शन एवं पाना भी नहीं होता।

भावुकों द्वारा लिखी या कही हुई बातों को सुनकर दूसरे भावुकों के मन उद्वेलित होते हैं और वे अपने से अलग आकाश में, बादलों में, बिजली की चमक तथा समुद्र की लहरों में, चांद में, सूरज में या मन की उड़ानों में ईश्वर या ब्रह्म को खोजते हैं। ऐसे लोग मन की कल्पनाओं में आंदोलित होते हुए जीवन को खो देते हैं, और कहीं के नहीं रह जाते।

"जब लग तन में आहै सोई। तब लग चेति न देखै कोई॥" बड़ा मार्मिक वचन है। सद्गुरु कहते हैं कि जब तक शरीर में सांस चल रही है, तब तक ही सावधान होकर सत्य को देखने का प्रयास करना चाहिए। इस सुनहले अवसर को पाकर कोई चेतकर देखता नहीं है। "तब लग चेति न देखै कोई" इस अर्धाली में चेतना और देखना—ये दो शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। कोई सावधान होकर नहीं देखता कि वास्तविकता क्या है। 'देखने' शब्द का प्रयोगकर जिस वास्तविकता की तरफ सद्गुरु संकेत करते हैं वह बीजक में छिपा नहीं है, किन्तु सर्वत्र उजागर है। उनका संकेत है तुम अपनी ओर लौटो। तुम सोचो कि परमात्मा या ब्रह्म को कौन पाना चाहता है? तुम कौन हो? क्या तुमसे भिन्न कोई परमात्मा या ब्रह्म है जो मिलेगा? तुम बाहर की सारी आशाओं को छोड़कर अपने आप को क्यों नहीं समझते तथा अपने आप में क्यों नहीं तृप्त होते हो?

"तब चेतिहो जब तजिहो प्राना" प्राणांत के समय कोई चांस नहीं रह जायेगा चेतने का। स्वस्थ जीवन विषय-वासनाओं की मलिनताओं में तथा मन की भ्रांतियों में पड़कर भटकने में बिता दिया जाता है। जब शरीर का आखिर आ जाता है, तब पैर डगमगाते हैं, हाथ हिलते हैं, आंखों से दिखता कम है, कानों से सुनाई कम देता है, मन से बातें भूल जाती हैं, इस प्रकार जब जीवन की संध्या-बेला आ जाती है, प्राण अब निकले कि तब निकले होता रहता है, तब जागने का कोई अवसर नहीं रह जाता। इस अवस्था में तो "भया अयान तब मन पछताना" मनुष्य मूढ़ बना रहता है और अपने पूरे जीवन के अच्छे-बुरे कर्मों को लेकर उठाव-पटक में पड़ा रहता है। यदि उसने जीवन में अधिकतम अच्छे कर्म किये हैं, तब तो ठीक, अन्यथा अपने गलत कर्मों को लेकर उसकी अंतरात्मा उसे कचोटती रहती है। जिसने स्वस्थ अवस्था में अपने आप को नहीं सम्हाला, वह जरजर अवस्था में पछताने के सिवा क्या करेगा!

"इतना सुनत निकट चलि आई। मन का विकार न छूटे भाई॥" कितने लोग बहुत-से शास्त्रों, पुराणों एवं धर्मग्रन्थों के विचार, कथा एवं महात्माओं के प्रवचन सुन डालते हैं और इसी में उनके जीवन का आखिर आ जाता है, परन्तु उनके मन के विकार नहीं छूटते। सद्गुरु कहते हैं कि यदि कुछ करने की बात है तो यही है कि मनुष्य अपने मन के विकारों को छोड़े। सब शास्त्र पढ़े-सुने,

अनेक प्रकार के सन्तों के सत्संग किये तथा बहुत कुछ धार्मिक कृत्य किये; परन्तु मन के विकार नहीं छूटे, तो क्या हुआ ! मन के विकारों को छोड़ देना ही संतत्व है, जिसका मन निर्मल है, वह जगतीतल पर धन्य है।

"तीन लोक मुवा कौवाय के, छूटि न काहु कि आस।" यह वाक्य हृदय को झकझोर देने वाला है। कुछ लोग स्वप्न में अनुकूल तथा प्रतिकूल दृश्य देखकर आवाज करने लगते हैं। वे स्वप्न में अपने मित्र तथा शत्रु से बातें करते हैं और उनकी बातें मुख से शब्द के रूप में फूट पड़ती हैं। परन्तु वे बातें स्वप्न की हैं। उनमें कुछ सार नहीं है। मान लो, कोई व्यक्ति स्वप्न में अपने मित्र से मिला हो और उसके मित्र ने उसे एक लाख रुपये दिये हों और उसकी चर्चा के हर्षातिरेक में उसके मुख से बातें निकल रही हों, तो क्या उन स्वप्न दृश्यावलियों तथा उन बातों से उसे कोई लाभ है ! कोई लाभ नहीं है। अथवा स्वप्न में किसी दुखातिरेक में वह भयभीत होकर हल्ला करता हो और उसी में उसके मुख से आवाज निकल रही हो, तो उसकी उसमें वस्तुतः हानि भी नहीं है।

ठीक इसी प्रकार मनुष्य जीवनभर हानि और लाभ, शत्रु और मित्र, अनुकूल और प्रतिकूल, सुख और दुख मान-मानकर कौआता है। वह रात-दिन व्यर्थ में बक-बक करता है। सद्गुरु कहते हैं—"तीन लोक मुवा कौवाय के।" तीन लोक का सहज अर्थ होता है पृथ्वी, अंतरिक्ष एवं द्युलोक। अर्थात ऊपर, नीचे और मध्य। भावार्थ है प्राणिमात्र। सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण मानो यही तीन लोक हैं। सभी प्राणी इन तीनों गुणों में बरतते हैं। रजोगुणी तथा तमोगुणी तो कौआते ही हैं, सतोगुणी भी कौआ रहे हैं। क्योंकि "छूटि न काहु कि आस।" किसी की कुछ प्राप्ति की आशा नहीं छूटती है। मनुष्य का मन हर समय कुछ पाने की ललक रखता है। यही इसके मोक्ष में अवरोधक है। "कुछ खाने-पीने-पहनने की चीजें मिल जायें, कुछ जमीन, मकान या रुपये मिल जायें, कुछ मान-बड़ाई मिल जाये, ईश्वर-परमात्मा मिल जाये।" हर समय कुछ पाने की आशा मन में बनी रहती है और यही बंधन का कारण है। सद्गुरु पूरण साहेब ने कहा है—"केवल मुक्ति आशा रहे, तेऊ है बंधमान। सुखिया सदा निराश पद, सुनु वैराग्य निधान॥" मुक्ति की आशा लगी है, तो इसका अर्थ है कि अभी मुक्ति हुई नहीं है, तो बंधन है ही। जब जीव मुक्त हो जायेगा, तब उसे मुक्ति की आशा नहीं रहेगी। मुक्ति पाने की वस्तु नहीं है; क्योंकि जीव से अलग वह कुछ नहीं है। वासना का क्षय ही मोक्ष है।

"छूटि न काहु कि आस।" यह वाक्यांश अबोध के सूक्ष्म स्वरूप का परदाफाश करता है। जो कुछ आत्मा से, अपने चेतन-स्वरूप से अलग है, चाहे वह द्रव्यात्मक हो या भावनात्मक हो, उसको पाने की ललक 'आशा' है और

यही जीव का बंधन है। सांसारिक चीजों को पाने की आशा जीव के लिए जितना बंधन है, उतना ही बंधन है ईश्वर-परमात्मा पाने की आशा। जब हम ईश्वर-परमात्मा पाना चाहते हैं, तो इसका अर्थ यही होता है कि हम उसे अपने से अलग मानते हैं और अलग मानना घोर अज्ञान है। इसीलिए सद्गुरु पिछली रमैनी में कह आये हैं "जेहि कारण शिव अजहुँ वियोगी।" पृथक की वस्तुओं में सदैव वियोग की भावना बनी ही रहेगी। यदि हम आत्मा से भिन्न किसी भी वस्तु की आशा करते रहेंगे, तो उसके विषय में हमें कौआकर मरना ही होगा। भौतिक वस्तुएं, जितना चाहो, एक तो सब मिलती नहीं, और जो मिलती भी हैं वे छूट जाती हैं, और ईश्वर-परमात्मा आदि जो कुछ अपने से भिन्न भावनात्मक रूप में मान रखा है, उनका कभी मिलने का प्रश्न ही नहीं उठता; क्योंकि आत्म-भिन्न उनका कोई तथ्य ही नहीं है। अतएव हम जब तक आत्मा से अलग कुछ भी आशा रखेंगे, कौआकर मरते रहेंगे, भटकते रहेंगे।

"एकै अँधरे जग खाया, सबका भया निपात॥" एक ही अंधे ने सबको खा लिया है और सबका पतन हो गया है। एक अंधा यह अविवेकी मन है। हमारा बनाया अबोधी मन हमारे पतन का कारण बना हुआ है। हम मन को जीतें, मन के व्यापार से ऊपर उठें, बस स्वरूपस्थिति। सबको परखकर छोड़ देना और अपने पारख स्वरूप में स्थित हो जाना, यही तो जीवन का सार है, यही तत्त्व-सार है।

काम-वासना, स्त्री-पुत्रादि-वासना, धन-वासना, प्रसिद्धि-वासना, लोक-लोकान्तर-वासना, विद्या-वासना, ईश्वर-ब्रह्म-वासना—स्वरूपस्थिति के अतिरिक्त जहां तक वासनाएं हैं—सबका त्यागकर स्वतः चेतन पद में जब तक स्थित नहीं होता, तब तक जीव का कल्याण नहीं। जीवन क्षणभंगुर है, मायामोह के भुलावे में फंसना उचित नहीं। आसक्ति बंधन ने जीव को भीतर-बाहर से जकड़ रखा है। तत्परतापूर्वक उसी को काटना कल्याणार्थी का परम कर्तव्य है।

कुछ लोग मानते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव, कृष्ण, राम आदि शरीर से अमर हैं। इसलिए उनसे मिलने के लिए लोग तपस्या करते हैं। इस भ्रम के निवारणार्थ सद्गुरु आगे की दो रमैनियां कहते हैं।

देहधारी मरणधर्मा है

रमैनी-54

मरिगौ ब्रह्मा काशी को बासी। शीव सहित मूये अविनासी॥ 1॥
मथुरा को मरिगौ कृष्ण गोवारा। मरि मरि गये दशों अवतारा॥ 2॥
मरि मरि गये भक्ति जिन्ह ठानी। सर्गुण मा निर्गुण जिन्ह आनी॥ 3॥

साखी—नाथ मछन्दर बाँचे नहीं, गोरख दत्त औ व्यास।
कहहिं कबीर पुकारि के, ई सब परे काल के फाँस॥ 54॥

शब्दार्थ—अविनाशी=विष्णु जी। गोवारा=गोपाल। दशों अवतारा= मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध तथा कल्कि। नाथ मछन्दर=मत्स्येंद्रनाथ, गोरखनाथ के गुरु। दत्त=दत्तात्रेय। व्यास=वेदव्यास।

भावार्थ—ब्रह्मा जी, काशी के निवासी शिव जी के सहित अविनाशी कहलाने वाले विष्णु जी शरीर छोड़कर संसार से चले गये॥ 1॥ मथुरा के गोपाल श्री कृष्ण जी नहीं रहे और दस अवतारों में जिनकी गणना की गयी है वे सब शरीर त्याग-त्याग कर चले गये॥ 2॥ जिन्होंने इनकी भक्ति की और सगुण में ही निर्गुण तत्त्व की कल्पना की, वे सब यहां से चले गये॥ 3॥

मत्स्येंद्रनाथ, गोरखनाथ और दत्तात्रेय-जैसे योगी तथा वेदव्यास-जैसे महापण्डित कालबली से नहीं बचे। कबीर साहेब घोषणा कर कहते हैं कि ये सब काल के फांस में पड़ गये॥ 54॥

व्याख्या—ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव बड़े देवता माने जाते हैं; श्री राम, श्री कृष्ण आदि अवतार माने जाते हैं; मत्स्येंद्रनाथ, गोरखनाथ तथा दत्तात्रेय सिद्धयोगी माने जाते हैं और वेदव्यास त्रिकालदर्शी महर्षि माने जाते हैं। इन सबके लिए प्राय: जनता में यह भ्रम है कि ये शरीर सहित अमर हैं, या ये जब जहां चाहें तब प्रकट हो सकते हैं।

कबीर साहेब धर्म, देवता, ईश्वर, योगी, महर्षि आदि के नाम पर चलाये जाने वाले सारे अंधविश्वासों को दूर कर देना चाहते थे। कोई ऐसा देवता नहीं है जो अदृश्य रूप में रहता हो और जब चाहे तब प्रकट होकर जो चाहे सो कर सकता हो या उसकी वन्दना-पूजा करने से मनुष्यों को वह ऋद्धि-सिद्धि देता हो। ब्रह्मा, विष्णु तथा शंकर यदि कभी रहे होंगे, तो वे निश्चित ही मनुष्य रहे होंगे और अपने काल के महापुरुष रहे होंगे। अब वे नहीं हैं।

मस्त्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध तथा कल्कि—ये दस अवतारों की कल्पना है। इनमें राम, कृष्ण तथा बुद्ध ही ऐतिहासिक पुरुष लगते हैं, शेष सब काल्पनिक प्रतीत होते हैं। राम, कृष्ण तथा बुद्ध के जीवन एवं वचनों से प्रेरणा लेना चाहिए। परन्तु ये सब मनुष्य थे। कभी थे। अब उस रूप में नहीं हैं। उनसे हम केवल सत्प्रेरणा ले सकते हैं, अन्य कुछ भी उनसे मिलने वाला नहीं है। परन्तु सत्प्रेरणा ही तो जीवन के लिए सब कुछ है।

एक बात, यहां आयी है 'मरि मरि गये दशों अवतारा।' तो कल्कि अवतार तो अभी हुआ ही नहीं है। फिर वह कहां मर गया? भई, अवतारवादी मानते हैं

कि ये दसों अवतार चारों युगों में होते रहते हैं, तो कबीर साहेब कहते हैं कि जो हुए, वे मरे।

लोग मानते हैं गुरु गोरखनाथ देह से अमर हैं, दत्तात्रेय अमर हैं। यह सब भ्रम है। कोई भी शरीर से अमर नहीं होता। इसी प्रकार ऋषि-महर्षि भी शरीर से अमर नहीं। सबसे हमें केवल सत्प्रेरणा लेना चाहिए। उनसे ऋद्धि-सिद्धि तथा मुफ्त में मोक्ष पाने की आशा मिथ्या भ्रम है।

"मरि मरि गये भक्ति जिन्ह ठानी। सर्गुण मा निर्गुण जिन्ह आनी॥" किसी देहधारी को सगुण ब्रह्म कहकर उसकी भक्ति की गयी और उसे ही सगुण के रूप में निर्गुण ब्रह्म, जगन्नियंता एवं सुप्रीम पावर मान लिया गया। यह सब श्रद्धातिरेक है। वस्तुतः सभी मनुष्यों की आत्माएं पूर्णतया समान हैं। उनमें से अनेक जन्मों की शुद्ध संस्कारी आत्माएं महानता को लेकर जन्म लेती हैं जैसा कि दूसरी आत्माएं भी अपनी आध्यात्मिक उन्नति द्वारा वैसे तथा उससे भी बढ़कर उच्च स्थिति को प्राप्त कर सकती हैं। स्वरूपस्थिति तो सबकी समान होती है, परन्तु भौतिक प्रतिभा गुण-कर्मों में एक-से-एक घट-बढ़ रूप जीवों की होती रहती है। इन देहधारी मनुष्यों में, भले उनमें से किसी का नाम अवतार रख लिया हो, कोई समस्त विश्व का नियंता नहीं होता। विश्व तो जड़-चेतन के अपने अंतर्निहित गुण-धर्मों से निरंतर चल रहा है। उससे अलग किसी नियंता की अवधारणा वस्तु-विवेक के अभाव का परिणाम है। और फिर किसी देहधारी को अनन्त विश्व का नियंता मान लेना महा भोलापन है।

पाठकों के मन में यह प्रश्न स्वाभाविक उठ सकता है कि कबीर साहेब ने तो सभी बड़े-बड़े लोगों को कह दिया कि ये सब मर गये, तो क्या कबीर स्वयं नहीं मर गये? वे भी तो मर गये। पाठकों को विदित होना चाहिए कि यदि कोई यह कहता है कि कबीर साहेब अपने पूर्व शरीर से आज भी कहीं स्थित हैं या वे जब चाहें तब आकर संसार में जो चाहें वह कर सकते हैं। वे परब्रह्म हैं। विश्व के नियंता हैं। तो ये सारी बातें काल्पनिक हैं। निश्चित है जैसे ब्रह्मादि, कृष्णादि, गोरखादि मर गये, वैसे कबीर भी मर गये। उनका तो यह अमर वाक्य है "आये हैं सो जायेंगे, राजा रंक फकीर। एक सिंहासन चढ़ि चला, एक बंधे जात जंजीर॥" और भी "मरते मरते जग मुवा, मुये न जाना कोय। ऐसा होय के न मुवा, जो बहुरि न मरना होय॥"

इस रमैनी की विषय-वस्तु ही यही है कि अलौकिकता नाम की कोई चीज नहीं है। मनुष्य अपने आप को धर्म और अध्यात्म के नाम पर चलने वाले चमत्कार एवं अतिशयोक्तियों से बचाये तथा मानवीय बुद्धि का विकास करे। मानवीय विवेक एवं वस्तुपरक बुद्धि के अभाव में धर्म तथा अध्यात्म के नाम पर मानव का मानसिक, आर्थिक हर प्रकार का शोषण हो रहा है।

रमैनी–55

गये राम औ गये लछमना। संग न गई सीता ऐसी धना॥ 1॥
जात कौरवे लागु न बारा। गये भोज जिन्ह साजल धारा॥ 2॥
गये पाण्डव कुन्ता ऐसी रानी। गये सहदेव जिन बुधि मति ठानी॥ 3॥
सर्व सोने की लंका उठाई। चलत बार कछु संग न लाई॥ 4॥
जाकर कुरिया अन्तरिक्ष छाई। सो हरिश्चन्द देखल नहिं जाई॥ 5॥
मूरख मनुसा बहुत सँजोई। अपने मरे और लग रोई॥ 6॥
ई न जानै अपनेउ मरि जैबे। टका दश बिढ़ै और ले खैबे॥ 7॥
साखी—अपनी अपनी करि गये, लागि न काहु के साथ।
अपनी करि गये रावणा, अपनी दशरथ नाथ॥ 55॥

शब्दार्थ—धना (धन)=युवती, सुन्दरी वधू। धारा=धार या धारा नगरी। अन्तरिक्ष=आकाश। मनुसा=मनुष्य। सँजोई=संग्रह। बिढ़ै=वृद्धि करना, बढ़ाना।

भावार्थ—लक्ष्मण जी चले गये, श्री राम जी भी चले गये, परन्तु उनके साथ सीता जी-जैसी सुन्दरी युवती या पतिव्रता पत्नी न जा सकीं॥ 1॥ अपार कौरव दल को जाते विलंब न लगा। संपत्ति एवं कला से धारा नगरी को सजाने वाले राजा भोज भी चले गये॥ 2॥ वीर पांडु चले गये और कुन्ती–जैसी उनकी महारानी चली गयीं और बुद्धि तथा मति के अगाध भंडार सहदेव जी भी चले गये॥ 3॥ कहा जाता है प्रसिद्ध प्रतापी महाराज रावण ने लंका के सारे महल सोने के बनवाये थे, परन्तु चलते समय वे भी कुछ न ले जा सके॥ 4॥ जिनके राज–प्रासाद आकाश चूम रहे थे, वे अयोध्याधीश महाराज हरिश्चंद्र दिखाई नहीं देते॥ 5॥ मूर्ख मनुष्य बहुत संग्रह करता है। स्वयं तो मौत के कगार पर है, परन्तु दूसरे स्वजनों के लिए रो रहा है॥ 6॥ यह नहीं जानता कि अन्यों की तरह मैं भी मर जाऊंगा, बल्कि सोचता है कि दस टके धन और बढ़ जाये और उसे लेकर भोग लूं॥ 7॥

सांसारिक प्राणी–पदार्थों को 'मेरा–मेरा' मानकर सब मर गये, परन्तु किसी के साथ कभी कुछ भी नहीं गया। रावण भी 'मेरा–मेरा' कर चले गये और राजा दशरथ भी 'मेरा–मेरा' कर चले गये॥ 55॥

व्याख्या—आदमी जब तक जीता है, तब तक सांसारिक प्राणी–पदार्थों के लिए नामालूम कितने पाप–पुण्य कर्म करता है। वह सारे संसार को मानो समेटकर रख लेना चाहता है। परन्तु मनुष्य की अंतिम दशा क्या होती है यह सब जानते हैं। जब शरीर भी जीव से अलग होकर यहीं रह जाता है तब उसके साथ और क्या जायेगा। हम–तुम जैसे साधारण लोग ही नहीं, अपने जीवन–चरित से दुनिया का इतिहास बनाने वाले लोग भी एक दिन खाली हाथों चले जाते हैं। फिर यहां किस वस्तु को अपनी मानकर अहंकार किया जाये !

इसी संदर्भ में लक्ष्मण, राम, सीता, कौरव, पांडु या पांडव, भोज, सहदेव, हरिश्चन्द्र, रावण, दशरथ आदि प्रसिद्ध नाम गिनाये गये हैं कि इन सबके जाने में देरी नहीं लगी। इनमें से कई के परिचय पीछे 47वीं रमैनी में आ चुके हैं। यहां शेष के परिचय प्राप्त करें—

राजा भोज

भोज उज्जैन के धर्मवान राजा थे। इनके बालकपन में ही इनके पिता का देहावसान हो गया। उस समय इनके चाचा 'मुंज' राजगद्दी पर प्रतिष्ठित थे। पहले मुंज के मन में कुमार भोज के प्रति अगाध स्नेह था। एक दिन राजा पाठशाला में गया, वहां पर अध्यापकों एवं छात्रों द्वारा कुमार भोज की प्रशंसा सुनी और स्वयं भी उसकी प्रतिभा को देखकर वह धीरे-धीरे मन में उसके प्रति ईर्ष्या करने लगा।

राजा मुंज सोचने लगा कि कुमार भोज प्रतिभावान है। आगे यह हमारी गद्दी ले-न-ले; अतः पहले इसे ही समाप्त करा दिया जाये। फिर अपने मंत्रियों के साथ में कुमार भोज को वन में भेज दिया और मंत्रियों से कह दिया कि इसका सिर काटकर लाना। जब वन में ले जाकर मंत्रियों ने भोज का सिर काटना चाहा, तब भोज ने चाचा मुंज के लिए एक श्लोक लिखा; जिसका अर्थ यह था—"सत्युग के राजा मान्धाता, त्रेता के श्रीराम तथा द्वापर के युधिष्ठिर आदि अनेक प्रतापवान राजा काल के गाल में चले गये, परन्तु पृथ्वी किसी के साथ नहीं गयी, अब कलियुग में स्यात् चाचा मुंज के साथ (पृथ्वी) जाये।"

यह श्लोक देखकर मंत्रीजन प्रभावित हो गये और कुमार भोज को कहीं छिपाकर और नकली सिर ले जाकर मुंज को दिखा दिये और साथ-साथ वह श्लोक भी दिखाये। श्लोक पढ़कर मुंज ने बड़ा पश्चाताप किया और आत्महत्या करने को तत्पर हो गया। फिर मंत्रियों ने सच्ची बातें कह सुनायीं और कुमार भोज को लाकर मुंज को सौंप दिया। मुंज ने कुमार भोज से क्षमा मांगी, तथा उसे राजगद्दी देकर स्वयं विरक्त हो गया।

राजा भोज ने अपनी राजधानी धारा नगरी में स्थापित की। राजा भोज का राज्य-प्रबन्ध अत्यन्त उत्तम था। धारा नगरी में विशाल रमणीय भवन थे। सुन्दर सड़कें, विभिन्न विद्याओं के अध्ययन के लिए विभिन्न विद्यालय, अनेक औषधालय, अनाथालय थे तथा प्रत्येक के प्रबन्ध के लिए पृथक-पृथक समितियां भी। राजा भोज की प्रजा सन्तुष्ट थी। राजदरबार में विद्वानों का बड़ा आदर था। संस्कृत भाषा की बहुत बड़ी प्रतिष्ठा थी।

पाण्डव

युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव—ये पांचों पाण्डव कहलाते हैं। ये कुन्ती तथा माद्री के गर्भ से उत्पन्न राजा पाण्डु के पुत्र कहे जाते हैं। ये बड़े वीर थे। श्री कृष्ण की सहायता से इन्होंने महाभारत में विजय पायी थी।

जब यदुवंशियों का सर्वनाश हो गया और श्री कृष्ण भी बधिक के बाण से विंधकर मारे गये, तब यह सुनकर पाण्डवों के मन में बड़ा वैराग्य हुआ और परीक्षित को राज्य देकर द्रौपदी सहित पांचों पाण्डव तीर्थयात्रा के लिए निकल पड़े और हिमालय में जाकर सब गल गये। कहा जाता है केवल युधिष्ठिर बच सके थे, वही इन्द्र के विमान में बैठकर स्वर्ग में गये; परन्तु यह तो कोरी कल्पना है। वास्तविकता यह है कि सबको गलना पड़ा।

सहदेव

ये पांचों पाण्डव में से एक हैं, और सबसे छोटे हैं। कहा जाता है कि ये अश्विनी के वीर्य से तथा माद्री के गर्भ से पैदा हुए थे। ये विद्वान तथा बुद्धिमान माने जाते हैं।

"गये सहदेव जिन बुधि मति ठानी" इस अर्धाली में बुद्धि और मति दो शब्द आये हैं जो पुनरुक्ति जैसे लगते हैं, क्योंकि दोनों का अर्थ सरसरी तौर पर एक ही लगता है। स्थान-भेद से उक्त दोनों का अर्थ एक माना जा सकता है, परन्तु विद्वानों ने इनके अलग-अलग अर्थ माने हैं, वह इस प्रकार हैं—"मन की वह शक्ति जो वर्तमान में निर्णय देती है 'बुद्धि' है, भविष्य के लिए निर्णय देने वाली 'मति' है और बुद्धि में नये-नये भावों का उदय होते रहना 'प्रतिभा' है।"[1]

कहते हैं रावण की नगरी लंका सोने की बनी थी। इसका अर्थ है कि वह धन-धान्य से संपन्न थी। जिस क्षेत्र में ज्यादा दूध होता है, लोग कहते हैं कि वहां तो दूध की नदी बहती है। बस इतना ही अर्थ है।

सद्गुरु कबीर इन महान संपदाशाली राजाओं का विनाश बताकर हमें यह समझाना चाहते हैं कि बताओ, तुम कब तक यहां रहोगे? किसलिए पाप-पर-पाप किये जा रहे हो? किसलिए ममता-मोह में जलते हुए अपना रत्न-जीवन खो रहे हो? वे कहते हैं—"मूरख मनुसा बहुत सँजोई। अपने मरे और लग रोई॥" यह मूर्ख मनुष्य बहुत संग्रह करने में लगा है। स्वयं तो मौत के निकट पहुंच चुका है; परन्तु कुटुम्बियों के लिए रो रहा है कि वे क्या खायेंगे, क्या

---

1. बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया मतिरागामिगोचरा।
बुद्धिर्नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभोच्यते॥

भोगेंगे? मूढ़ मानव ! सबके पुरुषार्थ और प्रारब्ध उनके साथ हैं। तू उनके लिए क्या कर सकता है? "पूत सपूत तो का धन संचै। पूत कुपूत तो का धन संचै॥" कु-पुत्र के लिए धन संचय करना बेकार है। वह शराब-कबाब तथा गलत रास्ते में उसे नष्ट कर देगा। और यदि सु-पुत्र है तो उसकी चिन्ता ही नहीं करनी चाहिए। वह स्वयं कमाकर खायेगा।

आदमी अपने मरने की बात ही नहीं सोचता है कि आज-कल में हमें यहां से जाना है। यदि आदमी अपनी मौत का ख्याल रखे, तो वह भौतिकता से हटकर आध्यात्मिक कमाई करे जो जीवन की सच्ची पूंजी है। वह तो इन बातों से बेहोश है। वह तो इस फिक्र में है "टका दश बिढ़ै और ले खैबे" हमारा धन कुछ और बढ़ जाये और उसे लेकर और भोग-विलास कर लूं। यहां 'दस टका' का अभिधा (शाब्दिक) अर्थ नहीं, किन्तु लक्षणा अर्थ है। मतलब है कुछ धन। आदमी अधिक से अधिक ब्याज लेकर, कालाबाजारी, घूस, चोरी, डाका आदि नाना कुकर्म करके भी धन बढ़ाने तथा उन्हें भोगने की लालसा में डूबा रहता है। परन्तु देखते-देखते उसे काल उठा ले जाता है। तृष्णा की विशेषता का चित्रण करते हुए संत कवि सुन्दर दास जी कहते हैं—

जो दस बीस पचास भये शत, होय हजार तो लाख मंगैगी।
कोटि अरब्ब खरब्ब असंख्य, पृथ्वीपति होन की चाह जगेगी॥
स्वर्ग पताल कै राज करौ, तृष्णा अधिकी अति आगि लगैगी।
सुन्दर एक संतोष बिना शठ, तेरी तो भूख कभी न भगैगी॥

श्री पूरण साहेब कहते हैं—

निर्धनिक कछु धन चहै, धनिक चहै विशेष।
विशेषहू विशेष चहै, होवन चहै नरेश॥
नरेश चहै इन्द्रपद, इन्द्र चहै रणजीत।
असुर चहै सुरपति बनन, यह तृष्णा की रीत॥

"अपनी अपनी करि गये, लागि न काहु के साथ। अपनी करि गये रावणा, अपनी दशरथ नाथ॥" संसार के प्राणी-पदार्थों को सब अपना-अपना कहकर यहां से चले जाते हैं, परन्तु किसी के साथ कुछ नहीं जाता। "इकट्ठे कर जहां के जर, सभी मुल्कों के माली थे। सिकन्दर जब गया दुनिया से, दोनों हाथ खाली थे।"

रावण और दशरथ—इन दोनों राजाओं के आदर्शों में बड़ा अंतर है; परन्तु दोनों ही सांसारिकता में डूबकर और ममता-मोह में फंसकर, हाय-हाय कर चले गये। उनके साथ क्या गया?

अतएव जीवन क्षणभंगुर है। यहां का सब कुछ यहीं रह जायेगा। शरीर भी तो छूटकर जल जाता है या सड़-गल जाता है। हमें इसकी ममता एवं मोह त्यागकर अपने आप का कल्याण करना चाहिए। महाकवि जौक कहते हैं—

ऐ जौक गर है होश तो दुनिया से दूर भाग।
इस मयकदे[1] में काम नहीं होशियार का॥

विषयी जीवन की सारहीनता

रमैनी-56

दिन दिन जरै जलनी के पाऊ। गाड़े जाय न उमँगे काहू॥ 1 ॥
कन्धन देइ मस्खरी करई। कहुधौं कौन भाँति निस्तरई॥ 2 ॥
अकर्म करै औ कर्म को धावै। पढ़ि गुनि बेद जगत समुझावै॥ 3 ॥
छूँछे परै अकारथ जाई। कहहिं कबीर चित चेतहु भाई॥ 4 ॥

शब्दार्थ—जलनी=जलाने वाली। पाऊ=पैर, अधीनता, आसक्ति। उमँगे =उबरना। कन्धन देइ=गला मिलाकर आलिंगन करना। धौं=भला। अकर्म =बुरे कर्म। कर्म=अच्छे कर्म के फल। छूंछे=खाली। अकारथ=व्यर्थ।

भावार्थ—जीव कनक-कामिनी की आसक्ति में पड़कर प्रतिदिन मनस्ताप में जलते हैं। उन्हें मानो कोई उत्तरोत्तर उन्हीं विषय-वासनाओं में गाड़ता जा रहा हो। प्रायः किसी को उससे निकलते नहीं देखा जाता॥ 1 ॥ नर-नारी यहां तक बेशर्म हो जाते हैं कि शील और मर्यादा छोड़कर सरेआम एक दूसरे का आलिंगन करते हुए हंसी-मजाक करते हैं। कहो भला, ऐसे लोगों का कैसे कल्याण होगा॥ 2 ॥ लोग बुरे कर्म करते हैं और अच्छे कर्मों के फल के लिए इच्छा रखते हैं, और वेद-शास्त्रों को पढ़-गुनकर संसार के लोगों को अच्छे कर्म करने का उपदेश देते हैं॥ 3 ॥ ऐसे लोगों के जीवन कल्याण से खाली रह जाते हैं और व्यर्थ चले जाते हैं। सद्गुरु कबीर कहते हैं—हे भाई, मन में सावधान हो जाओ॥ 4 ॥

व्याख्या—सद्गुरु ने पिछली रमैनी में बताया था कि सभी प्राणी-पदार्थ काल के चबैना हैं। फिर भी मनुष्य छूटने वाले प्राणी-पदार्थों को मेरा-मेरा करके पचता है। इस रमैनी में सद्गुरु विषय-वासनाओं के अधीन हुए लोगों की दयनीय दशा का वर्णन करते हैं।

"दिन दिन जरै जलनी के पाऊ" जलनी का अर्थ है जलाने वाली। जलाने वाली मन की विषय-वासना है। इसका प्रतीकात्मक शब्द कनक-कामिनी है। कनक से अर्थ केवल सोना नहीं, किन्तु धन-दौलत है और कामिनी से अर्थ

1. मयकदे=मदिरालय।

केवल कामनायुक्त स्त्री नहीं, किन्तु कल्याणार्थी नारियों को दृष्टि में रखते हुए कामनाबद्ध पुरुष भी है। कामिनी बन्धन है पुरुष के लिए, तो कामी बंधन है नारी के लिए। वस्तुतः दोनों के लिए विषय-कामना ही बंधन है। स्त्री पुरुष की कामना में जलती है और पुरुष स्त्री की कामना में जलता है। वे एक दूसरे के मिलन में क्षणमात्र के लिए भ्रम-वश तृप्ति का अनुभव करते हैं, परन्तु वह तृप्ति नहीं, बल्कि इच्छित विषय में वृत्ति की स्थिरता तथा शक्ति की क्षीणता है। जिस प्रकार दौड़ता हुआ आदमी थककर रुक जाता है और थोड़ा सुस्ताकर दौड़ने की शक्ति अर्जित कर लेता है और पुनः दौड़ता है, इसी प्रकार भोगों की इच्छा वाले आदमी का मन सदैव विषय-चिंतन में दौड़ता है। कुछ काल के लिए भोग-क्रियाओं में रुककर उसे तृप्ति लगती है, परन्तु वह तृप्ति नहीं है बल्कि अतृप्त इच्छाओं के वेग को बढ़ाने वाली शक्ति-अर्जन क्रिया है। भोग-क्रिया के जिस क्षण को मन तृप्ति समझता है, उसी की आसक्ति मन में दृढ़ होकर पीछे उसी के लिए पुनः रात-दिन बेचैनी होती है। बीड़ी-तम्बाकू आदि सेवन के समय लगता है कि मन तृप्त हो गया, परन्तु वह तो बीड़ी-तम्बाकू की तृष्णा बढ़ाने का साधन है। भोगों को भोगने से उसकी तृष्णा की ज्वाला निरंतर बढ़ती है।

अतएव यह काम-वासना, लोभ-वासना, पुत्र-वासना, लोक-वासना एवं विषयों की तृष्णा जीवों के लिए 'जलनी' है, जलाने वाली है। आग में घी डालने से आग कभी ठंडी नहीं होती, इसी प्रकार संसार के भोगों में पचने वाले कभी काम-ज्वाला से बच नहीं सकते।

"गाड़े जाय न उमँगे काहू" संसार के प्रायः सारे लोग मानो इस काम-वासना के दलदल में बलात गाड़े जा रहे हैं। न चाहते हुए भी जीव को कौन वासनाओं में डुबा देता है? दूसरा कोई डुबाने वाला नहीं है। जीव ही ने अपने आप को भूलकर वासनाओं को बलवान बना रखा है और अब वे ही वासनाएं उसे उसी प्रकार बलात खींचती हुई लगती हैं जिस प्रकार झूले में वेग भर देने पर झूलने वाले को न चाहते हुए वह कुछ समय तक झुलाता रहता है। परन्तु यदि झूले वाला व्यक्ति पुनः झूले में वेग न भरे तो झूला कुछ क्षण में अपने आप रुक जायेगा और झूले से मनुष्य सहज उतरकर उससे मुक्त हो सकता है। इसी प्रकार मनुष्य यदि भोग-क्रिया रूपी वेग मन में न भरे, तो धीरे-धीरे वासनाएं शांत हो जायेंगी और जीव वासनाओं से मुक्त हो जायेगा।

सद्गुरु कहते हैं "न उमँगे काहू" कोई इन विषयों के दलदल से निकलता नहीं। प्रश्न होता है कि क्या कोई नहीं निकलता? यदि कोई न निकलता, तो संसार में त्यागी कैसे देखे जाते? उत्तर है कि यहां का लक्षणा अर्थ है कि कोई बिरला ही इस दलदल से निकलता है। शेष सब तो उसी में धंसे जा रहे हैं।

लोग पढ़ते हैं, लिखते हैं, और अपनी आधी जिंदगी तक तैयारी करते हैं उसी संसार के दलदल में धंसने के लिए। कोई बिरला ही इस दलदल में न धंसकर या यदि उसमें पैर पड़ गये हैं, तो झिटककर भाग खड़ा होता है।

पामर नर तथा नारी धीरे-धीरे निर्लज्ज हो जाते हैं। वे सबके बीच में ऐसे हाव-भाव, हंसी-मजाक करते हैं जो सामाजिक मर्यादा को तोड़ने वाले होते हैं। इन भद्दी क्रियाओं का दूसरों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इससे लोगों के संस्कार बिगड़ते हैं। कहा जाता है कम्युनिस्ट देश सोवियत रूस में गाय-भैंस को गर्भवती करने के लिए बन्द जगह होती है। वहां खुली जगह में ऐसा कराना वर्जित है, क्योंकि इससे लोगों पर तथा अधिकतर किशोरों पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

जो पति तथा पत्नी अपने बच्चों या अन्य लोगों के सामने शृंगारिक चर्चा, कुत्सित अंगचालन एवं भद्दी बातें करते हैं, वे यह नहीं समझते कि इससे उनके बच्चे तथा दूसरों में बुरे संस्कार जमेंगे तथा उनकी दृष्टि में वे श्रद्धास्पद नहीं रह जायेंगे। कितने ही माता-पिता अपनी खुली कामुक प्रवृत्ति के कारण ही अपने बच्चों द्वारा घृणा के पात्र हो जाते हैं। पति-पत्नी सम्बन्ध का हेतु है संतान। इसे जल-भोजन की तरह जीवन की आवश्यकता नहीं समझना चाहिए। भोगी होने पर रोगी, शोकी बनकर जीवनभर तृष्णा में जलना ही फल होगा।

साधु-ब्रह्मचारी को तो अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। उन्हें मन से भी विषय-चिंतन नहीं करना चाहिए। परन्तु गृहस्थों को भी यह समझ लेना चाहिए कि वैवाहिक जीवन का अर्थ काम-भोग की चक्की में जीवन भर पिसना नहीं है। मूढ़ मन जिसको परम सुख मानता है वह काम-भोग क्या है, बस, तृष्णा की ज्वाला में जलते हुए दो अस्थि-मांस के पिंजरों का सम्मिलन, नसों की झनझनाहट, शक्ति का क्षय और परिणति—मूढ़ता एवं पश्चाताप। विषयी जीव की विवेकशक्ति खो जाती है। वह सांसारिकता में डूबा हुआ बच्चों की तरह बिलबिलाता है, ऐसे मनुष्यों को जीवन में कहां शांति?

"अकर्म करे औ कर्म को धावै। पढ़ि-गुनि बेद जगत समुझावै॥" अकर्म का अर्थ है निष्क्रियता अर्थात कर्मों का अभाव और दूसरा अर्थ है बुरे कर्म। यहां अकर्म का अभिप्राय बुरे कर्म ही है। विषयी-पामर आदमी बुरे कर्म करता है। विषयों का ऐसा प्रमाद है कि यह जितना बढ़ता है उतना ही व्यक्ति को व्यभिचार, चोरी, हत्या, धोखाधड़ी एवं सारे पाप कर्मों की ओर ले जाता है। विषय-वासनाओं से अविवेक तथा अविवेक से सारे पाप होते हैं। आश्चर्य है कि मनुष्य सारे दुष्कर्म करते हुए भी चाहता है कि इनके फल अच्छे हों। वह आग छूकर शीतलता तथा जहर पीकर जीवन चाहता है।

सद्‌गुरु कहते हैं कि यह मत समझिए कि ऐसे कर्म केवल अनपढ़-अनाड़ी करते हैं, किन्तु बड़े-बड़े शिक्षित, विद्वान ही नहीं, धर्मशास्त्रों के ज्ञाता भी करते हैं, जो रात-दिन वेद-शास्त्रों को पढ़-गुनकर संसार को उपदेश देते फिरते हैं। सद्‌गुरु ने साखी ग्रन्थ में भी कहा है—"पढ़ना गुनना चातुरी, औरों बात सहल्ल। काम दहन मन बस करन, गगन चढ़न मुसकल्ल॥" संसार में लबरे विद्वानों की कमी नहीं है। वे ऊपर से तो विद्या और धर्म के अवतार बने बैठे रहते हैं, किन्तु भीतर घोर मलिनता में डूबे रहते हैं। पामर विद्वानों का सारा शास्त्र-ज्ञान अपने भोगों की सिद्धि के लिए ही होता है। वे प्राप्त ज्ञान से अपने दोषों को ढकने का प्रयत्न करते हैं। वे मसालची के समान दूसरों को प्रकाश दिखाते हैं और स्वयं अंधियारे में रहते हैं।

"छूँछे परै अकारथ जाई" सद्‌गुरु कहते हैं कि ऐसे लोग छूंछे हैं। ऐसे लोग जीवन भर रोते ही रह जाते हैं। जिनमें ईमानदारी एवं सत्यता नहीं है, जो विषयों से ऊपर उठकर संतोष में तृप्त नहीं हुआ है, जिसके भीतर शांति नहीं है, जो शुभाचार से नहीं चलता, ऐसा आदमी खाली-का-खाली है। बाहर से कोई भरा दिखे, परन्तु भीतर से खाली हो, तो क्या मतलब ! संतोष रूपी धन से जो तृप्त है, वह धनी है। वही भरा है। जो भीतर-भीतर काम-वासना, तृष्णा एवं दुष्प्रवृत्तियों से जलता है, वह बाहर से सम्पन्न भी हो, तो भी वह छूंछा ही है। असली धन तो मनुष्य के भीतर है जो पवित्र संस्कारों का है। सुव्यवस्थित व्यक्तित्व, पवित्र संस्कार, अच्छी समझ, संतोष एवं आत्म तृप्ति—ये ही सच्चे धन हैं। जो इनसे सम्पन्न है वह भरा-भरा है। बाकी लोग तो छूंछे हैं। इसलिए उनका जीवन अकारथ है, व्यर्थ है। "आया कबीरा फिर गया, झूठा है हंकार।"

सद्‌गुरु अन्त में चेतावनी देते हैं "चित चेतहु भाई" हे भाई ! मन में सावधान हो जाओ। ज्ञान-प्रकाश में जागो। विषयों की नींद छोड़ो। इसमें तुम लुट जाओगे। तुम्हारी विद्या कुछ काम न आयेगी। तुम्हारा शास्त्र-ज्ञान विषयों के त्याग बिना केवल भूसी पछोरना है। अतः सावधान !

स्वर्ग आकाश में नहीं, मन की पवित्रता में है

रमैनी-57

कृतिया सूत्र लोक एक अहई। लाख पचास की आयू कहई॥ 1॥
विद्या वेद पढ़े पुनि सोई। बचन कहत परतक्षै होई॥ 2॥
पैठी बात विद्या की पेटा। वाहुक भरम भया संकेता॥ 3॥
साखी—खग खोजन को तुम परे, पाछे अगम अपार।
बिन परचै कस जानिहो, कबीर झूठा है हंकार॥ 57॥

शब्दार्थ—कृतिया=कृत्रिम, बनावटी, कल्पित। सूत्र=वाणी, मन्त्र। सोई= वही कल्पित। पेटा=अंतःकरण। वाहुक=सामान्य लोगों को। संकेता=इशारा। खग=पक्षी। पाछे=भूतकाल। बिन परचै=बिना परख।

भावार्थ—धर्मग्रन्थों की कृत्रिम वाणियों ने यह बयान दिया है कि आकाश में एक स्वर्ग-लोक है, जिसमें रहने वालों की आयु पचास लाख वर्षों की होती है अर्थात स्वर्गीय लोग बहुत दिनों तक जीते हैं॥ 1॥ ऐसे ही धर्मग्रन्थों की कल्पित वाणियों को पढ़कर नाना मत के गुरु लोग ऐसा बढ़ा-चढ़ा कर स्वर्ग का वर्णन करने लगे कि मानो वे स्वयं प्रत्यक्ष देखकर आये हैं॥ 2॥ धर्मग्रन्थों की ऐसी कल्पित बातें साधारण जनता के मन में पैठ गयीं। भ्रामक गुरुओं के इशारे से जनता भ्रम में पड़ गयी॥ 3॥

सद्गुरु कहते हैं कि तुम स्वर्ग रूपी कल्पना के उस पक्षी को खोजने के चक्कर में पड़े हो जिसके विषय में पीछे के पण्डितों ने अगम-अपार वाणियां कही हैं। परन्तु बिना परख के तुम इसकी वास्तविकता कैसे जान सकोगे? तुम्हारा स्वर्ग का अहंकार झूठा है॥ 57॥

व्याख्या—सूत्र उस वाणी को कहते हैं जो अपनी विषय-वस्तु को संक्षेप में बता दे। यहां सूत्र का सरल अर्थ मंत्र तथा वाणी है। कृतिया का अर्थ है कृत्रिम एवं बनावटी। धर्मग्रन्थों में यह बनावटी तथा नकली बातें हैं कि आकाश में एक स्वर्गलोक है। यह सूत्र कृतिया है, अर्थात यह वाणी नकली है कि एक स्वर्गलोक है और उसमें रहने वाले पचास लाख वर्ष जीते हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि यहां भारतीय स्वर्ग की कल्पना की ही आलोचना है; क्योंकि भारतीय स्वर्गवादी ही यह मानते हैं कि स्वर्गस्थ जीव चाहे कितने ही युग स्वर्ग में रह ले, उसे पुनर्जन्म में इस पृथ्वी पर आना ही है। अभारतीय स्वर्गवादी जैसे ईसाई, मुसलमान आदि पुनर्जन्म न मानने से वे यह मानते हैं कि जो जीव एक बार स्वर्ग या नरक में गया वह वहां का सदा निवासी हो गया। अतएव उन्हें स्वर्ग से लौटने की बात ही नहीं है। यह तो भारतीय मूल पौराणिकों के स्वर्ग से जीव संसार में आते हैं, वे चाहे ब्राह्मण के स्वर्ग के हों या श्रमण के।

इसका यह अर्थ नहीं है कि कबीर साहेब ईसाई, मुसलमानादिकों के स्वर्ग का खण्डन नहीं करते हैं। उनकी दृष्टि से इस लोक से अलग स्वर्ग की कल्पना ही व्यर्थ है, वह चाहे जिसके द्वारा की गयी हो। भारतीयों के स्वर्ग की समीक्षा यहां इसलिए है, क्योंकि वे भारतीयता एवं विशेषतर हिन्दू संस्कृति, धर्म एवं पौराणिक माहौल में पले थे। उन्होंने इन्हें ही निकट से जाना-समझा था, इसलिए सारी बातें इन्हीं को लेकर अधिकतर कहा था।

नाना मतों द्वारा स्वर्ग की कल्पना क्यों की गयी? क्या इस धरती के बाहर कहीं स्वर्गलोक का अस्तित्व है?

वस्तुतः इस धरती पर रहने वाले मनुष्यों की अपूर्ण इच्छाओं की सृष्टि ही स्वर्ग है। मनुष्य इस पृथ्वी पर अल्पायु है। उसकी अपने जीने की इच्छा पूरी नहीं होती, इसलिए उसने कल्पित स्वर्गलोक में लाखों वर्ष जीते रहने की धारणा कर ली। इस धरती पर जवानी बहुत थोड़े काल की है, सुन्दरता भी मनोनुकूल नहीं, पत्नी की जवानी तथा सुन्दरता भी क्षणभंगुर, भोगने की अन्य वस्तुएं भी बहुत थोड़ी, पृथ्वी भी अनसुहाती धूल, कीचड़, कांटे-खोभरों से भरी। इसलिए मनुष्यों ने कल्पना की कि आकाश में एक लोक है। वह दिव्य तथा चमकता हुआ है। वहां के भवन हीरे-मोती आदि के बने हैं। सड़कें भी चमकती धातुओं की हैं। वहां के रहने वाले लाखों-करोड़ों वर्ष जीते हैं और वे सदा जवान रहते हैं। उनको बड़ी सुन्दर-सुन्दर स्त्रियां मिलती हैं जिनके रूप, सौन्दर्य एवं जवानी स्थिर रहते हैं। वहां इच्छानुसार भोगों को भोगते रहो, कभी इन्द्रियां शिथिल नहीं होतीं इत्यादि। यह सब विषयी मन की कल्पना की उपज है। अविवेकी मनुष्य विषयों में लीन है। वह इन्हीं विषयों का उत्कर्ष रूप कल्पित स्वर्ग में भोगना चाहता है जो मलिन ही हैं। शूकर-शूकरी का भोग तथा इन्द्र-इन्द्राणी का भोग—दोनों एक ही समान मलिन हैं। परन्तु पामर जीव उनका इतना बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करते हैं कि मानो वही जीवन का लक्ष्य हो। वस्तुतः इस पृथ्वी से अलग न कहीं स्वर्गलोक है, न वहां देवता हैं और न दिव्य भोग हैं। यह सब विषयी मनुष्य का मनोराज्य मात्र है।

मुसलमानों के स्वर्ग में तो पानी की नदियां, शराब की नदियां, बड़े-बड़े बाग, हूरें (सुन्दरियां) तथा गिल्में (सुन्दर युवक) मिलते हैं। अरब में ही मुसलमानों के स्वर्ग कल्पे गये। अरब में पानी तथा पेड़ दोनों का काफी अभाव है। इसलिए स्वर्ग में उनका भी प्रबंध कर लिया गया। महाकवि ग़ालिब जन्नत का मजाक उड़ाते हुए लिखते हैं—

यों तो मालूम है हमें भी जन्नत की हक़ीक़त।
लेकिन दिल को बहलाने को ग़ालिब यह ख़याल अच्छा है॥

जितने स्वर्गवादी पण्डित, मुल्ला, पादरी, महंत आदि हैं वे स्वर्ग की कल्पित कहानियों को पढ़-पढ़कर भक्तों के सामने उनका बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करते हैं। वे उसका इतना भावुक होकर वर्णन करते हैं कि मानो प्रत्यक्ष देखकर आये हैं।

इस कल्पित वाणी की बात आम जनता के मन में पैठ गयी है। जब धार्मिक क्षेत्र के अगुवा मुल्ला-पण्डित ही दिग्भ्रमित हैं तब साधारण जनता

बेचारी क्यों न भटकाव में आ जाये। इसी झूठे स्वर्ग की कामना को लेकर वैदिक कर्मकांडियों ने हजारों वर्षों से यज्ञ के नाम पर मूक पशुओं की निर्मम हत्याएं की हैं। इसी के विरोध में भौतिकवादी ऋषि आचार्य बृहस्पति, उपनिषद् के अनेक ऋषि, तथागत बुद्ध तथा महात्मा महावीर ने अपने-अपने अभियान चलाये थे। भारतीय परंपरा विचारों में उदार होने से उसने यज्ञ में हिंसा का त्याग कर दिया; मुसलिम समाज में विचारों की उदारता न होने से वह आज भी कुर्बानी के नाम पर प्रतिवर्ष लाखों पशु काट डालता है, जो अत्यन्त जघन्य है।

सद्गुरु कहते हैं "खग खोजन को तुम परे, पाछे अगम अपार।" अर्थात पीछे हो चुके पण्डितों की स्वर्गविधायक अगम-अपार वाणियों को सुनकर हे मनुष्य ! तुम कल्पना के पक्षी को खोजने के चक्कर में पड़ गये हो। स्वर्ग एक कल्पना का पक्षी है।

अथवा खग का अर्थ आकाश भी माना जा सकता है। ख=आकाश, ग= गति=दशा—जिस स्वर्ग की दशा आकाश के समान अभावात्मक-शून्य है, तुम उसकी खोज के पीछे पड़े हो, जो अगम-अपार मन की कल्पना मात्र है।

"बिन परचै कस जानिहो, कबीर झूठा है हंकार॥" सद्गुरु कहते हैं कि तुम बिना परख के स्वर्ग का मिथ्यात्व नहीं समझ सकते हो। जिनको वस्तु-विवेक है, वे ही समझ सकते हैं कि स्वर्ग मन की एक उड़ान एवं शेखचिल्ली की कहानी है। अतएव तुम्हें यदि यह अहंकार है कि हम अमुक प्रकार तप, दान, यज्ञ, वलि या कुर्बानी के नाम पर जीव-हत्या कर स्वर्ग जायेंगे, तो यह तुम्हारा अहंकार मिथ्या है।

श्री कृष्ण ऋग्वैदिक काल में एक महान क्रांतिकारी पुरुष थे, जिसने आर्यों के नेता इन्द्र से लोहा लिया था। आर्य लोग यज्ञों के नाम पर पशु-वध करते थे। पशुपालक श्री कृष्ण को यह सब गलत लगता था। ऋग्वेद के अनुसार श्री कृष्ण वन्यजाति की दस हजार सेना के नायक थे। उन्होंने आर्यों के इस कृत्य का विरोध किया और इन्द्र से युद्ध किया था।[1] गीता श्री कृष्ण की रचना तो नहीं है, परन्तु गीतालेखक ने यह ध्यान रखा है कि कृष्ण के स्वर कहीं-न-कहीं उसमें अवश्य आयें। कृष्ण का मौलिक स्वर आप गीता के दूसरे अध्याय में देख सकते हैं—

"हे अर्जुन ! जो अज्ञानी हैं, वेद के शब्दों में आसक्त हैं, जो यह कहते हैं कि इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जो विषय-अभिलाषी हैं और स्वर्ग को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं; वे इस प्रकार की सेमलफूल जैसी दिखाऊ वाणियों को कहते

---

1. ऋग्वेद, मंडल 8, सूक्त 85, मंत्र 13 से 16। ऋग्वेद के जिस संस्करण में 11 सूक्त खिल्य (परिशिष्ट) रूप रहते हैं, उसमें यह सूक्त 85 की जगह 96 में पड़ता है।

हैं जिनका निदान कर्मों के फल में पुनर्जन्म की प्राप्ति होती है और जो भोग तथा मायावी शक्तियों की प्राप्ति के लिए नाना प्रकार की विशेष कर्म-विधियां बताती हैं। उपर्युक्त वेद-वाणी द्वारा जिनकी बुद्धि मारी गयी है और जो भोग तथा मायावी वस्तुओं में आसक्त हैं उनकी निश्चयात्मक बुद्धि एकाग्रता में स्थिर नहीं होती। वेदों का सम्बन्ध तीनों गुणों की क्रियाओं से है, अतएव हे अर्जुन! तू त्रिगुणात्मक प्रकृति से मुक्त हो जा और दुनियादारी झगड़ों से स्वतन्त्र होकर नित्य सत्य में स्थित, भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति और रक्षा की इच्छा से निवृत्त एवं स्वरूपनिमग्न हो जा। जब सब ओर से जल ही जल भरा हो तब छोटी तलैया से जितना प्रयोजन रहता है, उतना ही प्रयोजन ब्रह्मज्ञानी को सभी वेदों से रहता है।"[1]

उक्त उदाहरणों को पेश करते हुए लब्धप्रतिष्ठ विद्वान आचार्य चतुरसेन लिखते हैं—"इन उदाहरणों से आप एक ही निर्णय पर पहुंच सकते हैं कि कृष्ण अवैदिक अनार्यों का नेता तथा वैदिक देवों के नेता इन्द्र का विरोधी और प्रतिस्पर्धी है तथा गीता में वेद-विरोधी अनार्य तत्त्व है। दान और यज्ञ का वह विरोधी है। स्वर्ग और कर्मविधि का विरोधी है। वह अपने को सर्वश्रेष्ठ पूजार्ह कहता है।"[2]

वस्तुतः मन की पवित्रता, पवित्र संस्कार, अच्छी समझ, अहिंसा, करुणा, समता का बरताव, जीव मात्र पर दया, दूसरे की यथाशक्ति सेवा, अनासक्ति और थोड़े में कहें तो मानवमात्र के प्रति प्रेम और जीव मात्र के प्रति दया का भाव ही मनुष्य के मन के अन्दर का स्वर्ग है। यह जितना ही विकसित होता जाये और जितने लोगों में विकसित होता जाये, पृथ्वी पर स्वर्ग होता जायेगा। मन की बातें ही व्यवहार में आती हैं। मन पवित्र होगा, तो व्यवहार पवित्र होगा, फिर घर, समाज, देश तथा संसार स्वर्ग बन जायेंगे। यही कबीर साहेब चाहते हैं।

---

1. यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भौगैश्वर्यगतिं प्रति॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिकता बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥
त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥
यावानार्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ (गीता 2/42-46)
2. वैदिक संस्कृति पर आसुरी प्रभाव, पृ. 211।

सद्गुरु की असीम अनुकम्पा

रमैनी-58

तैं सुत मान हमारी सेवा। तो कहँ राज देउँ हो देवा॥ 1॥
अगम दृगम गढ़ देउँ छुड़ाई। औरों बात सुनहु कछु आई॥ 2॥
उतपति परलय देउँ देखाई। करहु राज सुख बिलसो जाई॥ 3॥
एकौ बार न होइहैं बाँको। बहुरि जन्म न होइहैं ताको॥ 4॥
जाय पाप सुख होइहैं घना। निश्चय बचन कबीर के मना॥ 5॥
साखी—साधु सन्त तेई जना, जिन्ह मानल बचन हमार।
आदि अन्त उत्पति प्रलय, देखहु दृष्टि पसार॥ 58॥

शब्दार्थ—सुत=शिष्य। राज=स्वरूपस्थिति। अगम=अगम्य, देखने-जानने में न आने वाला, परोक्ष दैवीकल्पना। दृगम=दृष्टिगोचर, प्रत्यक्ष विषय। गढ़=किला, आवरण। उतपति परलय=निर्माण-विनाश, जन्म-मरण। आदि अन्त=जन्म-मरण।

भावार्थ—हे प्रिय शिष्य ! मैं तेरी सेवा करना चाहता हूं, तू उसे स्वीकार कर ! हे देव ! मैं तेरे को स्वरूपस्थिति का राज्य दे रहा हूं॥ 1॥ मैं तुम्हें परोक्ष और प्रत्यक्ष एवं देववाद तथा विषयासक्ति के कारावास से छुड़ा दूंगा। हे प्रिय शिष्य ! तुम निकट आकर कुछ बातें और सुनो॥ 2॥ तुम्हें जन्म-मरण का रहस्य दिखला दूंगा, जिससे तुम उससे छूटकर अपरोक्ष स्वरूपस्थिति के स्वराज्य-सुख में सदैव निमग्न रहोगे॥ 3॥ फिर तो तुम्हारा एक बाल भी बांका न होगा। तुम जीवनपर्यंत जीवन्मुक्ति के आनन्द में विहरते हुए अन्त में जन्म-मरण से सदा के लिए मुक्त हो जाओगे॥ 4॥ तुम्हारे सारे कल्मष धुल जायेंगे और तुम्हें आत्यन्तिक सुख की अनुभूति होगी। कबीर की यह पक्की बात तुम मानो॥ 5॥

वे ही साधु हैं, वे ही सन्त हैं, जिन्होंने मेरी बातों को स्वीकार किया है। मैं तुम्हारे लिए जन्म-मरण और उत्पत्ति-प्रलय का रहस्य ऐसा स्पष्ट समझा दूंगा कि तुम विवेक की आंखें खोलकर उसे ठीक से देख सकोगे॥ 58॥

व्याख्या—समीक्षक व्यक्ति इस रमैनी को पढ़ने के बाद यह कह सकता है कि यह पूरी रमैनी कबीर की गर्वोक्ति है। परन्तु गुणातीत, अनासक्त एवं स्वरूपस्थिति में सिद्ध पुरुष ऐसा बड़े सहज ढंग से कह सकते हैं। कुछ ऐसे अधिकृत पुरुष होते हैं जो कह सकते हैं "मामेकं शरणं व्रज।"[1] अर्थात तू एक मेरी शरण में आ जा। वैसे महापुरुष का सारा संसार अपना है; परन्तु जो उनके

1. गीता 18/66।

निकट हैं, उन्हें समर्पित हैं, उनके लिए वे ऐसा कह सकते हैं। यह दूषण नहीं, किन्तु भूषण है। यह साधक को दृढ़ आधार देना है।

"तैं सुत मान हमारी सेवा" सद्‌गुरु ने शिष्य के लिए कितना प्यारा वचन कहा है। सद्‌गुरु का वात्सल्य-हृदय यहां शिष्य के लिए करुणा से छलक पड़ा है। गुरु शिष्य की सेवा करने के लिए तैयार हैं। गुरु द्वारा जो शिष्य की सेवा की जाती है वह अद्‌भुत है। गुरु शिष्य को स्नेह देकर उसकी सब प्रकार की रक्षा तो करता ही है, परन्तु शिष्य की आध्यात्मिक उन्नति के लिए गुरु द्वारा किया गया योगदान अनन्त फल वाला है। शिष्य तो बेचारा गुरु की भौतिक सेवा ही कर सकता है, परन्तु गुरु शिष्य की आध्यात्मिक सेवा करता है।

खेद है, ऐसे गुरु कम होते हैं जो शिष्यों को स्नेह देते हैं और हर प्रकार उनको उन्नतपथ पर अग्रसर कर आध्यात्मिक प्रेरणा देते हैं। अधिकतम गुरु तो ऐसे होते हैं जो जैसे-कैसे लोगों को बिना परीक्षा किये शिष्य के रूप में बटोरते जाते हैं, परन्तु उन्हें शुद्ध स्नेह न देकर, कुछ दिनों में उनसे उलझने लगते हैं। साधारण गृहस्थ जैसे अपने पुत्रों से खीजता तथा झींखता रहता है, वैसे अधिकतम गुरु लोग अपने शिष्यों से जीवनभर उलझते रहते हैं। वे सदैव शिष्यों की शिकायत ही में पड़े रहते हैं। यदि शिष्यों को बटोरने में जीवन में अशांति ही आये, तो यह गुरुत्व बेकार है। वही काम करना चाहिए जो शांतिप्रद हो।

परमार्थ-पथ के—जिज्ञासा, मुमुक्षुत्व, साधुत्व, संतत्व—चार स्तरों के बाद गुरुत्व पद आता है। पहले मनुष्य को सत्यज्ञान की जिज्ञासा—जानने की इच्छा होती है। जान लेने के बाद मुमुक्षा अर्थात मोक्ष की इच्छा होती है। तब साधना करते हुए साधक साधुत्व जीवन बिताता है। इन तीनों स्तरों के बाद संतत्व आता है जो निष्कामदशा एवं जीवन्मुक्ति स्थिति है। यह स्थिति संसार से पूर्ण अनासक्ति दशा की है। ऐसी अवस्था में पहुंचकर साधक को कोई बन्धन नहीं रहता। ऐसा पुरुष महान सद्‌गुरु है। यह अवस्था प्राप्त हो जाने पर जो महान पुरुष शिष्यों को शरण में लेता है, वह उन्हें ठीक से निभाता है, उनको शुद्ध स्नेह देता है, परन्तु उनमें उलझता नहीं। वह पूर्ण अनासक्त होने से उसे द्वन्द्व आ ही नहीं सकते।

जो लोग अनासक्त हुए बिना अर्थात अपने में पूर्ण निर्बंध हुए बिना शिष्यों को बटोरने लगते हैं उनका जीवन अशान्त होता है। वे शिष्यों से रात-दिन कलह करते हुए जीवन को अशान्ति में बिता देते हैं।

गृहस्थ-शिष्य भी अपने गुरु में पूर्णता देखना चाहते हैं, और जो घर-दुवार छोड़कर विरक्त शिष्य गुरु के पास जीवनभर के लिए आ जाते हैं, वे तो निश्चित ही गुरु में पूर्णता देखना चाहते हैं। अतएव विरक्त शिष्यों को सम्हालना कोई

मामूली बात नहीं है। जब तक गुरु स्वयं पूर्ण नहीं होगा, तब तक वह विरक्त शिष्यों को शान्तिपूर्वक नहीं सम्हाल सकता।

गुरु को 'मां हृदय' होना चाहिए। उसके हृदय का प्यार शिष्यों के लिए सदैव छलकता रहे। इससे कोई यह भ्रम न कर ले कि उसे ममतालु बनने के लिए कहा जा रहा है। वस्तुतः पूर्ण अनासक्त गुरु ही शिष्यों को प्यार दे सकता है। आसक्त व्यक्ति तो कुछ समय ममता करता है, और मन में विघ्न पड़ने पर द्वेष करता है। शुद्ध एकरस प्यार उसी के मन में हो सकता है जो सर्वथा अनासक्त है। परन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं है कि वह गलत शिष्य को भी बटोरे रहेगा। वह शिष्यों को स्नेह देने वाला होते हुए भी अपने साधुत्व नियम में पक्का रहेगा। बराबर अन्यथा करने वाले शिष्य को दंडित भी करेगा, उनका त्याग भी करेगा। अनुशासन के बिना तो समाज भ्रष्ट हो जायेगा।

अथर्ववेद में गुरु-शिष्य के सम्बन्ध में एक बड़ा सुन्दर मन्त्र आया है। ऋषि कहते हैं, 'ब्रह्मचारी को अपने निकट कर लेने वाला आचार्य उसे अपने गर्भ में ले लेता है। वह तीन रात्रि तक उसे अपने गर्भ में रखता है। जब ब्रह्मचारी अपना दूसरा जन्म लेकर गुरु के उदर से पैदा होता है, तब उसके शुभ दर्शन के लिए देवता लोग इकट्ठे होते हैं।"[1] मां का खाना, पीना, सांस लेना ही गर्भस्थ शिशु का खाना, पीना तथा सांस लेना है। क्योंकि गर्भस्थ शिशु मां को पूर्ण समर्पित होता है। इसी प्रकार जो सद्गुरु को पूर्ण समर्पित होता है, जो शिष्य गुरु का गर्भ बन जाता है, पूर्णतया गुरु के इशारे पर नाचने लगता है, उसका जीवन शीघ्र ही आध्यात्मिक दिशा में उन्नत हो जाता है। बस, दोनों का बानक यही होना चाहिए कि गुरु पूर्णतया निष्काम तथा अपने पद में स्थित हो, और शिष्य निष्कपट भाव से समर्पित हो। आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक अज्ञान तीन रात्रि हैं। इनके निवृत्त होने पर शिष्य मानो दूसरा दिव्य जन्म लेता है। तब वह सज्जनों का दर्शनीय एवं प्रेरणास्रोत हो जाता है।

सद्गुरु कहते हैं—हे पुत्र, हे शिष्य, मैं तेरी सेवा करना चाहता हूं, तुम्हें स्वरूपस्थिति का स्वतन्त्र राज्य देना चाहता हूं। तुम मेरी तरफ ध्यान दो। हे देव, तुम अपने स्वरूप को समझो।

कितने लोग शिष्यों को तुच्छ समझते हैं। यह बड़ी भारी भूल है। जो कल्याण की इच्छा लेकर गुरु के पास है, वह तुच्छ कैसे है ! वह तो देवता है। शिष्य देवता है। गुरु को चाहिए कि वह अपने हृदय में शिष्यों के प्रति आदर का भाव रखे। कबीर साहेब शिष्य को देव कह रहे हैं।

---

1. आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥ अथर्ववेद 11/5/3॥

"अगम दृगम गढ़, देउँ छुड़ाई।" अगम है अदृश्य, मन–वाणी तथा समस्त पकड़ से रहित परोक्ष कल्पित पदार्थ के प्रति अवधारणा। ऐसा ईश्वर, ऐसा ब्रह्म तथा ऐसा मोक्ष जिन्हें हम नहीं जान सकते, ऐसी वस्तुओं की कल्पना अपने मन में पाले रखना एक मानसिक कारावास है। यह गढ़ है, किला है, जेलखाना है, जिसमें हमारा मन कैद है। यह परोक्ष कारावास है, न दिखने वाला जेलखाना है, इसमें संसार के बड़े–बड़े लोग बन्द थे, आज भी बन्द हैं!

दूसरा गढ़ जेलखाना, कारावास दृगम है, जो 'दृग' से 'गम' हो। अर्थात जो इन्द्रियों से दृश्यमान हो। यह प्रत्यक्ष पांच विषय है। सारे प्राणी–पदार्थ एवं मोटी माया दृगम है। शरीर, परिवार, धन, घर, पांच विषयों के भोग, यह प्रत्यक्ष का पसारा दृगम है। यह दूसरा कारावास है। इसमें सब जीव बन्द हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि हे प्रिय शिष्य, मैं तुम्हें इन दोनों कारावासों से छुड़ा दूंगा। तुम मेरी बातों पर ध्यान दो। हम अगम और दृगम अर्थात परोक्ष और प्रत्यक्ष—इन दोनों कारावासों में बन्द हैं। इन्हें ही क्रमशः कहा जाता है वाणी और खानी। इन दोनों बन्दीखानों से जो छूट जाये वही भाग्यशाली है। जब तक साधक परोक्ष तथा प्रत्यक्ष के कैद से नहीं छूटता तब तक अपरोक्ष बोध, अपरोक्षस्थिति नहीं होती।

परोक्ष, प्रत्यक्ष और अपरोक्ष—ये तीन विषय हैं। अपनी आत्मा से भिन्न माने गये ईश्वर–ब्रह्म परोक्ष हैं, जड़ पांच विषय प्रत्यक्ष हैं। इन्हीं दोनों में हमारा मन बंधा है। इन्हें छोड़कर हमारा अपना चेतन–स्वरूप अपरोक्ष है। अपनी चेतना, अपनी आत्मा, अपना ज्ञानस्वरूप चेतन, व्यक्ति के भीतर बैठा परखने वाला 'मैं' ही तो अपरोक्ष है, स्वयं–प्रत्यक्ष है। जड़ विषय तो पर–प्रत्यक्ष हैं, परन्तु अपनी चेतन–सत्ता स्वयं–प्रत्यक्ष अर्थात अपरोक्ष है। सद्गुरु कहते हैं तुम मेरी बातों को मानो, तो मैं तुम्हें अगम–दृगम के दोनों जेलखानों से छुड़ाकर तुम्हारी अपनी स्वरूपस्थिति के रास्ते को बता दूंगा।

"उतपति परलय देउँ देखाई" मैं तुम्हें ऐसी दिव्य दृष्टि दूंगा कि तुम उत्पत्ति–प्रलय को देख सकोगे। यहां कोई जादुई दिव्यदृष्टि के चक्कर की बात नहीं है जैसा कि गीतादि धर्मग्रन्थों में जगह–जगह कहा गया है जो सर्वथा काल्पनिक है। वास्तव में जब तत्त्वचिंतन द्वारा मनुष्य को विवेक जग जाता है तब वह सारे दृश्य पदार्थों को निरन्तर उत्पत्ति–प्रलय की लीला में देखता है। यदि हम रासायनिक दृष्टि से जगत को देख पाते, तो देखते कि संसार का हर निर्मित पदार्थ अपनी वर्तमान अवस्था को छोड़कर, दूसरी अवस्था में हरक्षण जा रहा है। शिशु को बालक, कुमार, युवा, अधेड़, वृद्ध तथा जरजर के रूप में हम लम्बे अन्तर में देख पाते हैं। हम विवेक से देखें तो वह क्षण–क्षण बदलकर ही उन विलक्षण दृश्यों एवं रूपों में पहुंचता है।

हम स्थूल दृष्टि से एक मकान को देखते हैं, तो उसका बाहरी ठोस रूप ही दिखता है। परन्तु विवेक से जब हम उसे देखने लगते हैं तब वह ईंट, सीमेंट, लोहा, लकड़ी, मिट्टी आदि का ढेर लगता है। जब हम उसे थोड़ी और गहराई में देखते हैं तब वह मिट्टी का एक धूह लगता है। और यदि हम उसे अधिकतम सूक्ष्म दृष्टि से देख पाते तो देखते कि वह सारा मकान सूक्ष्म कणों का एक कांपता हुआ पुंज है।

गुरुविवेक और चिंतन से वे सारी स्थूल चीजें खो जाती हैं, जो स्थूल दृष्टि से देखने पर मोहने वाली लगती हैं। हमें निर्मित कार्य–पदार्थों में ही तो मोह होता है और वे असली नहीं हैं, किन्तु मायिक हैं। सत तो इकाई है, योग नहीं। योग ही दिखता है, मोहता है, जो असत्य है और इकाई दिखती नहीं, जो सत्य है। सद्‌गुरु कहते हैं कि सब कुछ सब समय बदल रहा है 'ददा देखहु बिनसनहारा। जस देखहु तस करहु विचारा॥'[1]

"करहु राज सुख बिलसो जाई" जो सारे दृश्यों को क्षणभंगुर समझकर अपने अविनाशी स्वरूप में निमग्न है, उसी का स्वराज्य है, सुराज्य है। भौतिक राजकाज तो सदैव द्वंद्वमय है। यह स्वरूपस्थिति, आत्मस्थिति, पारखस्थिति द्वंद्वातीत है, निष्कंटक राज्य है। जो परोक्ष तथा प्रत्यक्ष के मोह से मुक्त होकर अपरोक्ष स्वरूप में स्थित है, वह कृतार्थ है, निर्भय है और सदैव आनंदमय है। वह 'आनन्द सिन्धु अहंतातीता' है।

"एकौ बार न होइहैं बाँको" जिसने नाशवान देहादि पदार्थों का राग छोड़ दिया है और जो अपने अविनाशी स्वरूप में स्थित है, उसकी इस संसार में क्या हानि है ! जिसने अपनी हानि करना छोड़ दिया है उसकी हानि कोई दूसरा कैसे कर सकता है ! नाशवान पदार्थों के प्रति आसक्ति रखना अपनी हानि करना है। जो सांसारिक वस्तुओं में रात–दिन आसक्त है, उसी को सर्वत्र हानि–लाभ के भाव प्रदर्शित होते हैं। जिसने मोह, द्वेष, आसक्ति, लालसा–कामना आदि का सर्वथा त्याग कर दिया है, उसकी इस नश्वर संसार में क्या हानि हो सकती है ! अनासक्त तथा स्वरूपस्थ पुरुष जन्म–मरण के चक्कर से मुक्त हो जाता है। सद्‌गुरु कबीर जड़ प्रकृति से भिन्न आत्म–अस्तित्व, पुनर्जन्म, कर्म–फल–भोग तथा वासना–त्याग से मोक्ष मानते हैं। इसलिए वे कहते हैं "बहुरि जन्म न होइहैं ताको।" वे केवल जीवन्मुक्ति ही नहीं, विदेहमुक्ति भी मानते हैं।

"जाय पाप सुख होइहैं घना" अनासक्त व्यक्ति के सारे पाप, सारे कल्मष भाग जाते हैं। आसक्ति ही तो पाप है और अनासक्ति ही पुण्य है, यही परम सुख है।

---

1. बीजक, ज्ञानचौंतीसा।

संसार के सारे पाप—चोरी, हत्या, व्यभिचार, अभक्ष्य सेवन, ठगाई आदि आसक्ति के कारण ही होते हैं। जो विषयों में आसक्त है वही पाप करता है और जो जितनाधिक आसक्त है वह उतनाधिक पाप करता है। सद्गुरु कहते हैं कि अनासक्त व्यक्ति के सारे पाप उसी प्रकार गायब हो जाते हैं जैसे सूर्य उगने पर अन्धकार। बस यही घना सुख है, निष्पाप जीवन ही तो आनन्द का सागर है।

धर्म के छूमन्तर से जो जीवन में अनन्त सुख चाहते हैं वे भ्रम में हैं। सद्गुरु कबीर सब क्षेत्र में तथ्य रखते हैं। उनके सामाजिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक भवन कंक्रीट सत्य के धरातल पर खड़े होते हैं। वे हवा में बातें नहीं करते। वे कहते हैं कि पूर्ण निष्पाप जीवन ही पूर्ण सुखी जीवन होता है।

आनन्द से भरा जीवन सब चाहते हैं। परन्तु दिग्भ्रमित आदमी इसे विषयों की मलिनता में खोजता है। और इसके लिए सारा छल-छद्म करता है। दूसरे के हक को मारकर ही तो संसार का ज्यादा सुख मिल सकता है ! और निश्चित है कि वह सुख का नहीं, दुख का रूप धारण करता है। तुम निश्चय समझ लो कि दूसरे को दुखी बनाकर सुखी नहीं हो सकते हो।

जीवन जितना निष्पाप होता जाता है उतना सुखी होता जाता है और जब वह पूर्ण निष्पाप हो जाता है, तब पूर्ण सुखी हो जाता है। सद्गुरु कहते हैं "निश्चय बचन कबीर के मना" कबीर की यह बात निश्चय करके मानो। प्रबन्ध में ग्रन्थकार द्वारा अपने लिए अन्य पुरुष के रूप में कहने का प्रचलन पुराकाल से है। यदि कबीर साहेब कहते हैं कि यह मेरी बात पक्की करके मानो कि निष्पाप जीवन ही सुखी जीवन है, तो यह कथन क्या बुरा है ! यही तो तथ्य है और तथ्य पर जोर देना ठीक ही है और फिर सत्पात्र शिष्यों के लिए यह और स्वाभाविक है।

"साधु सन्त तेई जना, जिन्ह मानल बचन हमार।" वही साधु है, वही सन्त है जो मेरी बातों को मानता है। हो सकता है कबीर साहेब ने अपने सामने उपस्थित शिष्यों पर सत्यज्ञान एवं सदाचार का जोर डालने के लिए ऐसा कहा हो, जो अनवस्थान में गर्वोक्ति जैसी लगती है और अपने स्थान में ठीक ही रहा हो। परन्तु इस पंक्ति का इतना संकुचित ही अर्थ नहीं है। वस्तुतः कबीर साहेब ऐसे विराट पुरुष थे कि उनका व्यक्तित्व घुलकर गुरु का समष्टि रूप हो गया था। वे अपने में सारे सद्गुरुओं को तथा सारे सद्गुरुओं में अपने को देखते थे। उनके कहने का अर्थ लगता है कि वही साधु है, वही संत है, जो सद्गुरु के वचनों को स्वीकारता है, अनुशासन में चलता है और उनके उपदेश के अनुसार जीवनयापन करता है। यहां सद्गुरु कबीर गुरु के समष्टि रूप हैं। निष्काम सद्गुरु की शरणागति, अनुशासन, उपदेश, प्यार, संरक्षण में चलकर ही साधु, संत एवं भक्त सबका कल्याण है।

"आदि अन्त उत्पति प्रलय, देखहु दृष्टि पसार॥" जब तुम सद्गुरु के उपदेश को ग्रहण कर लोगे, तब तुम्हारी ढपी दृष्टि खुल जायेगी। तुम अपनी विवेक-दृष्टि से जन्म-मरण के रहस्य तथा संसार के उत्पत्ति-प्रलय को अर्थात इसकी निरन्तर परिवर्तनशीलता को देख सकोगे। तब तुम्हें पता चलेगा कि तुम केवल अचल हो, और तुम्हारे चारों तरफ समुद्र की तरंगों की तरह शेष सारी चीजें परिवर्तित हो रही हैं, उस समय तुम अपने आप को निर्विकार तथा शेष सारी जड़ वस्तुओं को परिवर्तनशील समझकर शोक से मुक्त हो जाओगे।

दृश्य से हटकर अपने द्रष्टास्वरूप में लौटो

रमैनी-59

चढ़त चढ़ावत भँड़हर फोरी। मन नहिं जाने केकरि चोरी॥ 1॥
चोर एक मूसै संसारा। बिरला जन कोइ बूझनहारा॥ 2॥
स्वर्ग पताल भूम्य ले बारी। एकै राम सकल रखवारी॥ 3॥
साखी—पाहन ह्वै ह्वै सब गये, बिन भितियन के चित्र।
जासो कियउ मिताइया, सो धन भया न हित॥ 59॥

शब्दार्थ—भँड़हर=बरतन, शरीर। चोर एक=अज्ञान। बारी=फुलवारी, बाग, विश्व। पाहन=अविवेकी।

भावार्थ—हठयोगी लोग प्राणायाम क्रिया द्वारा श्वास को ब्रह्मांड में चढ़ाते हैं और श्वास द्वारा स्वयं को भी मानते हैं कि हम ब्रह्मांड में चढ़ जाते हैं। इसी स्थूल खेल में वे शरीर-भांड़े को फोड़ देते हैं और जीवन समाप्त हो जाता है। उनका मन जीवन में यह नहीं जान पाता कि यह किसकी की हुई चोरी है॥ 1॥ अज्ञान एक चोर है जो संसार के सारे लोगों के हृदय-घर से स्वरूपज्ञान-धन को चुराता है। कोई बिरला व्यक्ति इसकी परख कर पाता है॥ 2॥ स्वर्ग-पाताल से लेकर भूमि तक की प्रकृति की इस फुलवारी में एक स्वात्मराम ही अपना रक्षक है॥ 3॥

स्वरूपज्ञान बिना केवल शारीरिक साधना कर सब अविवेक में ही जीवन खो दिये। निराधार चित्र बनाने के समान वे शून्य में अपने लक्ष्य को खोजते रहे। उन्होंने जिससे मित्रता की, वह धन उनका कल्याणकारी नहीं हुआ॥ 59॥

व्याख्या—हठयोगी लोग प्राणायाम-क्रिया द्वारा श्वास को ब्रह्मांड में नियोजित करते हैं। इसके लिए वे मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञा चक्रों को बेधते हुए ब्रह्मांड में प्राण ले जाते हैं। वे बताते हैं कि तब जीव पिंड छोड़कर ब्रह्मांड में पहुंच जाता है और ब्रह्मांड में स्थित ज्योतिस्वरूप ब्रह्म में मिल जाता है। वस्तुतः वे प्राण को जीव तथा ज्योति (गरमी) को ही ब्रह्म मान लेते हैं। इस प्रकार प्राण तथा ज्योति की चमक-

दमक जो हठयोग नाम से शारीरिक व्यायाम का विकार है जीव-ब्रह्म का मिलन मान लेते हैं। इसी अवधारणा में उनका जीवन बीत जाता है, परन्तु वे यह नहीं जान पाते कि हम योग के नाम पर ठगे गये हैं। उन्हें अपने रमैया राम स्वरूप का ज्ञान नहीं है। वे यह नहीं जान पाते कि प्राण, ज्योति आदि का द्रष्टा अपना चेतन-स्वरूप उनसे श्रेष्ठ है।

अज्ञान एक चोर है जो सबके हृदय-घर में चोरी करता है, यह कहने का एक तरीका है। अज्ञान कोई स्वतन्त्र सचैतन्य नहीं है जो चोरी करे। अभिप्राय यह है कि अपने स्वरूप का ज्ञान न होना व्यक्ति का लुट जाना है। जो अपनी सत्ता और महत्ता को नहीं समझता वह दर-दर भटकता ही है। जिसका धन चुरा गया हो वह कितना दुखी होता है ! और अज्ञान द्वारा जिसकी आत्मा ही चुरा गयी हो, उसकी क्या दशा होगी? 'मैं कौन हूं?' जिसे इसका ही पता नहीं, वह मानो सब तरफ से लूट लिया गया है। अपनी सत्ता और महत्ता का भान होना और अपनी सत्ता में प्रतिष्ठित रहना जीवन की सबसे बड़ी ऊंचाई है। और जिसको इसका पता न हो, उसके पास क्या रखा है? सद्गुरु कहते हैं "बिरला जन कोई बूझनहारा" इसे कोई बिरला समझता है।

"स्वर्ग पताल भूम्य ले बारी" हम जिस पर रहते हैं वह भूमि है, भू-मंडल है। इसके नीचे जो कुछ हो वह पाताल है और इसके ऊपर जो कुछ हो वह स्वर्ग है। इसको हम स्वर्ग, पाताल और मृत्युलोक भी कहते हैं। यह सब कहने का तरीका है। सार यह है कि हम जिस पृथ्वी पर रहते हैं इसे हम देखते हैं। परन्तु यही सब कुछ नहीं है। इसके ऊपर हम आकाश में देखते हैं तो बहुत-सारे गोले चमकते हैं। वे भी कुछ हमारी पृथ्वी की तरह हैं। हम जिस भूमंडल पर बैठे हैं, अपने पैर के नीचे पृथ्वी ही है, उसके नीचे क्या होगा, हम नहीं जानते। उधर भी हमारी पृथ्वी के बाद शून्य में गोले चमकते होंगे। यह सब मिलाकर हम क्रमशः स्वर्ग, भूमि और पाताल कहते हैं। स्वर्ग, भूमि तथा पाताल कहने का तरीका मात्र हुआ। अर्थ है समस्त प्रकृति की यह फैली फुलवारी। इसमें जीव जहां कहीं भी रहता है "एकै राम सकल रखवारी" एक राम ही सब जगह इसका रक्षक है। यह भी कहने का एक तरीका ही है; क्योंकि जीव और राम दो नहीं हैं। आत्मा-परमात्मा को दो मानना ही गहरी भूल है।

यहां का अभिप्राय यही है कि व्यक्ति कहीं भी रहे, जीव कहीं भी चला जाये उसके रक्षक उसके अपने कर्म ही होते हैं। अपनी आत्मा ही राम है। आत्मा ही स्वयं का रक्षक है। यदि आत्मा से अलग कोई सर्वसमर्थ राम मान लिया जाये, तो वह लोगों की रक्षा क्यों नहीं करता ! कितने देहधारी गर्भ में से ही अपंग होकर पैदा होते हैं। वहां सर्वसमर्थ राम की शक्ति कहां गयी ! वस्तुतः

उस जीव के कर्म ही ऐसे थे कि वह अपंग होकर पैदा हुआ। यदि उस जीव के कर्म अच्छे होते, तो स्वस्थ पैदा होता। यह आत्मा राम ही अपना रक्षक है। यदि इसने अपनी रक्षा नहीं की है, इसने बुरे कर्म किये हैं, तो इसे दुख भोगना ही होगा। बाहर का कोई कल्पित राम इसकी सहायता नहीं कर सकता।

राम यह जीव है, अपनी आत्मा है। यह अपने कर्मों का कर्ता और विधाता है। यह जैसा करेगा, वैसा भरेगा। यदि इसने बुरे कर्म कर लिये हैं, तो बाहर के हजार भगवान इसको सुख नहीं दे सकते और यदि इसने अच्छे कर्म किये हैं, तो इसे हजार शैतान दुख नहीं दे सकते।

अतएव हम चाहे पृथ्वी पर रहें, पाताल में रहें या ऊंचे स्वर्ग में अर्थात किसी अन्य लोक में रहें, सकल जगह, सभी स्थानों पर राम ही हमारा रक्षक है। अपनी अंतरात्मा ही हमारा अपना निधान है। यदि हमने अपने रामरूप को समझा है, अपने कर्म को सुधारे हैं, अपने राम-स्वरूप में रमते हैं, तो हम सब जगह सुरक्षित हैं, चाहे भूमि से लेकर स्वर्ग-पाताल कहीं हो।

परन्तु "पाहन ह्वै ह्वै सब गये" लोग तो अविवेक-वश पत्थर हो-होकर संसार से जा रहे हैं। वे केवल हठयोग-जैसे शारीरिक व्यायाम से उत्पन्न नाद, ज्योति आदि को परमात्मा मान बैठते हैं। भीत के बिना, फलक के बिना कहीं चित्र बनाया जा सकता है ! परन्तु लोग फलक के बिना ही चित्र बना रहे हैं। अर्थात अपनी आत्मा से अलग कहीं शून्य में परमात्मा या राम खोज रहे हैं। परन्तु शून्य में कल्पित राम हमारा अपना धन नहीं होगा। वह हमारा कल्याणकारी नहीं हो सकता। हमें मानसिक और शारीरिक विकारों से उत्पन्न भास, अध्यास, कल्पना, अनुमान आदि को अपना स्वरूप न मान लेना चाहिए। हमें जड़ दृश्यों को छोड़कर अपने द्रष्टा राम में स्थित होना चाहिए।

इस रमैनी में हठयोग से तथा नाना कल्पित अवधारणाओं से हटकर स्व-स्वरूप-राम में स्थित होने का निर्देश है।

विषय-वैराग्य

रमैनी-60

छाड़हु पति छाड़हु लबराई। मन अभिमान टूटि तब जाई॥ 1॥
जिन ले चोरी भिक्षा खाई। सो बिरवा पलुहावन जाई॥ 2॥
पुनि सम्पति औ पति को धावै। सो बिरवा संसार लै आवै 3॥
साखी—झूठ झूठा कै डारहू, मिथ्या यह संसार।
तेहि कारण मैं कहत हौं, जाते होय उबार॥ 60॥

शब्दार्थ—पति=स्वामी[1], स्वामीपन, मालिकत्व, साख-रोब, दबदबा, मान-मर्यादा। बिरवा=वृक्ष, संसार-वृक्ष, भवबंधन। पलुहावन=हरा-भरा, पल्लवित। धावै=दौड़ना, ध्यान करना।

भावार्थ—सांसारिक प्राणी-पदार्थों के प्रति अपने स्वामित्व की भावना, मान-मर्यादा और इन सबको लेकर बड़ी-बड़ी डींगे मारना छोड़ दो, तब तुम्हारे मन के अहंकार का बंधन टूट जायेगा॥ 1॥ जो लोग चोरी का माल खाते हैं और काम करने में समर्थ होते हुए भी भिक्षा मांगकर खाते हैं; वे मानो भवबन्धन के वृक्ष को पुष्पित-पल्लवित करते हैं॥ 2॥ और जो लोग दुनियवी धन-दौलत, स्वामित्व एवं मान-मर्यादा के लिए ही रात-दिन ध्यान लगाये रखते हैं और उन्हीं के लिए दौड़ते रहते हैं, उनकी वासना उन्हें पुनः संसार-वृक्ष का पक्षी बनाती है॥ 3॥

संसार की भौतिक वस्तुएं अन्ततः झूठी हैं, इसलिए इन्हें झूठी समझकर इनका लोभ छोड़ दो। यह संसार मिथ्या है। मिथ्या इसलिए कहता हूं कि तुम इसका राग छोड़ दो और तुम्हारा उद्धार हो जाये॥ 60॥

व्याख्या—"छाड़हु पति छाड़हु लबराई" मनुष्य अपने आप को ऐसी वस्तुओं और व्यक्तियों का स्वामी मानता है, जो उसके बिलकुल नहीं हैं। एक सेठ जी ने करोड़ों की लागत से विशाल भवन बनाया। उनको उसका, अपने बहुत धन का तथा परिवार का बड़ा गर्व था। गृह-भोज हो गया था। घूर पर पड़े पत्तल और कुल्हड़ का अन्न अभी कुत्ते और कौए खा रहे थे। सेठ जी बीमार हुए। अस्पताल ले जाये गये। वहां चार घण्टे में मर गये। घर पर उनकी लाश लाते शाम हो गयी। बच्चों ने कहा मकान के ऊपर ले जाने की झंझट करना निरर्थक है। आखिर सुबह श्मशान ले जाना ही है। सेठ की लाश को मोटर-गाड़ी के गैरेज में रख दिया गया। शटर बन्द कर दिये। सुबह ले जाकर श्मशाम में फूंक आये। यह है संसार की मालिकी के अहंकार का परिणाम!

माया के मद में अंधा आदमी समझता है कि मैं युवक हूं, सुन्दर हूं, विद्वान हूं, धनवान हूं, सुन्दर युवती तथा सन्तान से सम्पन्न हूं, मेरे बहुत-सारे मित्र हैं,

---

1. अपने ऊपर जो कल्पित पति मान रखा है उसे छोड़ दो और उसको सिद्ध करने वाली लबरी वाणी को भी छोड़ दो। जीव का पति शिव है यह एक लबराई ही है। क्योंकि जीव स्वयं शिव है। जब अपने ऊपर लगी ईश्वर की कल्पना तथा उसको सिद्ध करने वाली लबरी वाणी को छोड़ दोगे, तब तुम्हारे मन का सांप्रदायिक अहंकार समाप्त हो जायेगा। जो तुम्हारे आत्मधन की चोरी करते हैं, तुम्हें दीन-हीन सिद्ध कर तुम्हारे ऊपर एक कल्पित पति सिद्ध करते हैं और तुम्हीं से भिक्षा तथा दान-दक्षिणा लेकर अपने पेट पालते हैं वे ही मानो तुम्हारे भवबन्धन के वृक्ष को हरा-भरा करते हैं। फिर सम्पत्ति और मर्यादा के लिए वे संसार में दौड़ते हैं, यह वासना उन्हें संसार में घसीटती है। अथवा जो कोई सांसारिक सम्पत्ति और मान-मर्यादा का दास होता है, वह संसार में भटकता है। इसलिए सद्गुरु सांसारिक चीजों को झूठ, मिथ्या आदि कहकर जीव के मन में इन सबसे वैराग्य कराना चाहते हैं।

मेरी बड़ी मर्यादा और सम्मान है, मेरे समान कौन है इत्यादि। परन्तु उस विमोहित व्यक्ति को यह पता नहीं है कि इनके समाप्त होते तथा छूटते देरी नहीं लगेगी। सद्गुरु कहते हैं कि इनके प्रति जो तुम्हारे मन में स्वामित्व की भावना है कि मैं इन सारे प्राणी-पदार्थों का मालिक हूं, इसे छोड़ दो। इतना ही नहीं, जो इन मायावी वस्तुओं के मद में लबराई करते हो, गप्पबाजी, झूठी बातें एवं लम्बी-चौड़ी डींगे हांकते हो, इन्हें भी छोड़ दो।

एक सज्जन के यदि दो सौ मन धान पैदा होता, तो गांव वालों से कहते कि चार सौ मन हुआ है। गांव के बाहर वालों से हजार मन तथा दूर जाने पर दो या तीन हजार मन बताते थे।

एक बार एक गांव में जाना हुआ। वहां सत्संग कार्यक्रम था। एक युवक सज्जन आये। उन्होंने कहा—"साहेब, क्या कहूं। प्रधानी के लिए चुनाव में खड़ा हो गया था। लोग जालसाजी से मुझे हरा दिये। मैंने दावा दायर किया। उसमें सत्ताइस सौ रुपये खर्च हो गये।"

वे सज्जन चले गये। उनका बड़ा भाई आया। उसने कहा—"साहेब, छोटा भाई धन बेकार में फूंक रहा है। उसने अभी दावा दायर करने में पांच सौ रुपये खर्च कर दिये।" इसके बाद वह चला गया। उन दोनों के पिता आये। उन्होंने दुखी होकर कहा—"साहेब, क्या कहें, छोटा लड़का बिना काम का काम करता है। उसने प्रधानी के चुनाव में हार जाने के कारण दावा दायर कर दिया। उसमें उसने बेकार के पचास-साठ रुपये खर्च कर दिये।"

वे तीनों मीटिंग कर तय कर लेते कि सबको इतनी रकम बताना है और सब सत्ताइस सौ बताते तो अच्छा होता। परन्तु असत्य बात के लिए मीटिंग करना भी बड़ा मुश्किल है। हमारे असत्य के लिए हमारे लोग ही घृणा करते हैं, भले ही वे अलग-अलग अनमिल असत्य बोलते रहें। असत्य अनमिल होता ही है। एकता तो केवल सत्य में है।

"जिन ले चोरी भिक्षा खाई" जो चुराकर खाते हैं और काम करने में समर्थ होते हुए भी भिक्षा मांगकर खाते हैं, वे दोनों डूबे हैं। वे अपने भवबंधनों को हरा-भरा करते हैं।

चोरी और भिक्षा कोई उपार्जन नहीं है। जीवन में पहली आवश्यकता अन्न की है। एक सम्राट, एक पदुमपति सेठ भूख से तड़पता हो, तो वह अपना सब कुछ देकर एक रोटी पाना चाहेगा। अतएव अन्न के उपार्जन करने वाले कृषक का सबसे बड़ा महत्त्व है। कृषक—कर्षक-खींचने वाला, अर्थात खेत और बीज से खींचकर अन्न पैदा करने वाला कृषक है। अन्न पहली आवश्यकता है जिसको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। इसके बिना जीवन चल नहीं सकता।

इसलिए कृषक विष्णु भगवान है, जगतपालक है। वह उपार्जन करता है। इसके बाद खानों तथा कारखानों से कर्षण कर, खींचकर और वस्तुओं को परिपक्व तथा उपयोगी बनाकर समाज को देने वाले भी कृषक हैं।

मनुष्यों के भीतर से विद्या एवं कला-शक्ति का कर्षण कर, खींचकर उनके व्यक्तित्व पर उन्हें फैला देने वाले नाना विषयों के शिक्षक कृषक ही हैं। शिक्षकों के बिना मनुष्यों की अधिकतम शक्ति सोयी ही रहेगी। इतना ही नहीं, मनुष्यों के भीतर की आध्यात्मिक शक्ति, बोध, मानवीय गुणादि का कर्षण कर, खींचकर उन्हें उनके व्यावहारिक जीवन के अंग बना देने वाले आध्यात्मिक गुरु-संत महान कृषक हैं। भौतिक, मानसिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक तथा मानवीय शक्ति का कर्षण कर, खींचकर जो उन्हें व्यक्ति और समाज के कल्याणकारी उपयोग के लिए उपस्थित कर दे, वह कृषक है। वह उपार्जन करने वाला है। वह दूसरों द्वारा कुछ पाने का अधिकारी है। परन्तु जो दूसरे की किसी भी वस्तु की चोरी कर उसका उपभोग करता है या समर्थ रहते हुए भीख मांगकर खाता है, वह मानवता के प्रति द्रोह करता है। वह अपने आप को गड्ढे में ले जाता है। ऋग्वेद के ऋषि कहते हैं कि व्यर्थ का अन्न खाने वाला असावधान है। मैं सत्य कहता हूं वह अपना विनाश कर रहा है। जो न पूज्यों को खिलाता है और न मित्रों को, प्रत्युत केवल स्वयं खाता है वह केवल पाप ही खाता है।[1]

तुम समाज को भौतिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक कोई कल्याणकारी वस्तु दो, तब तुम उससे कुछ पाने के अधिकारी हो। चोरी करके खाने वाले पापी हैं और समर्थ रहते हुए मांगकर खाने वाले भी पापी हैं। ऐसे लोग अपने मानसिक संसार-वृक्ष को हरा-भरा करते हैं। ऐसे लोगों का मन वासनाहीन नहीं हो सकता। ऐसे लोग तो अकर्तव्य कर तथा कर्तव्यहीन होकर अपने मन को मलिन बनाते हैं, अपने भव-बन्धनों को दृढ़ करते हैं। भिक्षावृत्ति पर रहने वाले वीतराग सन्तों पर यह भ्रम न होना चाहिए। वे तो समाज को बहुत बड़ा अध्यात्म धन देते हैं। वे अपने निर्मल दर्शन एवं पवित्र ज्ञान से समाज का बहुत बड़ा हित करते हैं। वे तो ज्ञानोपार्जन करने वाले कृषक ही हैं।

"पुनि सम्पति औ पति को धावै। सो बिरवा संसार लै आवै॥" जो लोग बारम्बार संसार के धन, दौलत तथा स्वामित्व के लिए दौड़ते रहते हैं, उन्हीं का ध्यान करते हैं, उनके लिए भला-बुरा सब करते रहते हैं, वे उन्हीं वासनाओं में बंधे आज तो भटकते ही हैं, आगे भी उन्हें वे वासनाएं संसार में भटकायेंगी।

---

1. मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥ (ऋग्वेद 10/117/6)

कितने विमोहित लोग धन को जीवन-निर्वाह की वस्तु न समझकर उसे विलास, मर्यादा और स्वाभिमान की वस्तु समझते हैं। ऐसे लोग धन के लिए पाप भी करते हैं। लोग धन के लिए माता-पिता का गला काटते हैं, गुरु को मारते हैं, भाई का अधिकार छीनते हैं और किन्हीं भी दूसरों को ठगते हैं।

पति, साख, मर्यादा, स्वामित्व, मालिकत्व के लिए झूठ, फरेब, दगाबाजी, जालसाजी आदि का तांडव राजनीतिज्ञों में खुलासा देखा जा सकता है। संपत्ति और स्वामित्व के लिए लोग सारे पाप करने के लिए तैयार हो जाते हैं। दूसरों को पद से हटाकर स्वयं गद्दी पर आने के लिए ये राजनेता नामधारी सांप्रदायिक भावना उभड़वाकर दंगे करवाते हैं, निर्दोषों की हत्या करवाते हैं, विदेशी एजेंटों से मिलते हैं और पता नहीं क्या-क्या पाप करने के लिए तैयार रहते हैं।

इस संपत्ति और पति के मोह में साधु नामधारी गद्दी-महंती के लिए मुकदमें लड़ते हैं, हत्याएं करवाते हैं और सारा पाप करते हैं। जो इतने अभद्र नहीं हैं वे ऐसा जघन्य कृत्य तो नहीं करते, परन्तु अपने धन तथा गद्दी-मर्यादा के अहंकार में रात-दिन डूबे रहते हैं। बिरले विवेकवान संत इनके मद-मोह से दूर अपने तथा समाज के कल्याण-कार्य में रहते हैं। अतएव यह संपत्ति, मर्यादा एवं स्वामित्व का मोह जीव से सारे पाप करवाता है और उसे लोक-परलोक में भटकाता है। यह मन का संसार-वृक्ष जीव को पुनः-पुनः जगन्नगर में लाकर भटकाता रहता है। संसार की अहंता-ममता ही संसार में भटकाने का कारण है।

"झूठ झूठा कै डारहू, मिथ्या यह संसार।" संसार झूठा है, मिथ्या है, इसे छोड़ दो। क्या सचमुच संसार झूठा तथा मिथ्या है? क्या ये भूमंडल, चांद, सूरज, सितारे सब झूठे हैं? उत्तर है कि भौतिक सत्ता अपने आप में सत्य है। यह सब मिथ्या और झूठा नहीं है। परन्तु हमारे अपने माने गये सारे प्राणी, पदार्थ, पद, मर्यादा, नाम, रूप पानी के बुलबुले के समान मिट जायेंगे। हमारा शरीर एक दिन नहीं रह जायेगा। इसकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। परन्तु जब तक है तब तक सत्यवत ही है, इसलिए इसका व्यवहार सत्यवत करना पड़ता है। यदि भूख-प्यास लगी हो और हम साथियों से जल-भोजन मांग रहे हों और वे हमसे कहें कि शरीर तो झूठा है, एक दिन नहीं रह जायेगा, फिर जल-भोजन क्या करेंगे, तो यह सुनकर हमें बुरा लगेगा। अरे भाई ! जब शरीर मिटेगा तब वह सर्वथा झूठा होगा। आज तो वह सत्य है। भूख-प्यास प्रत्यक्ष पीड़ित कर रही हैं। अभी तो भोजन-जल चाहिए। मर जाने के बाद हमारा माना हुआ सारा व्यवहार हमारे लिए मिथ्या हो जाता है। परन्तु जब तक जीवन है, वह एकदम सत्य है। उसकी अवहेलना संभव नहीं है।

तब सद्गुरु ने उसे एकदम झूठा और मिथ्या मानकर उसे छोड़ देने के लिए क्यों कहा? सद्गुरु ने स्वयं इसका उत्तर अगली पंक्ति में दिया है "तेहि कारण मैं कहत हौं, जाते होय उबार॥" मैं इसे झूठा और मिथ्या समझकर इसलिए छोड़ देने के लिए कहता हूं जिससे तुम्हारा उद्धार हो। तुम संसार के बन्धनों से छूट जाओ। हमें जो कुछ मिला है और उसका जितना व्यवहार है, सब एक दिन छूट जाने वाला है। आज-कल में आंखें ढपने पर हमारा और इसका व्यवहार रत्ती भर भी नहीं रह जायेगा। हम इन सबको कुछ भी नहीं जानेंगे। शरीर सत्य है कुछ समय के लिए, परन्तु आज-कल में नष्ट हो जाने पर यह सदैव के लिए झूठा हो जायेगा। इस प्रकार इसकी सत्यता क्षणिक है और असत्यता अनंत। अतएव इसके मोह को हमें छोड़ देना है। मोह तभी छूटेगा, जब हम इसे अंततः झूठा समझेंगे।

बहुत सावधानी से हमें यहां संसार के प्रति झूठा और मिथ्या का अर्थ करना होगा। यहां शांकर मतानुसार संसार को मिथ्या एवं आकाश-पुष्पवत असत्य नहीं माना गया है। सद्गुरु का यह मत नहीं है कि संसार तीन काल में नहीं है। वस्तुतः संसार अपने क्षेत्र में नित्य है। वह परिवर्तनशील है। जीव से सर्वथा भिन्न है। जीव में जड़ तीनों काल में मिथ्या है। चेतन की अपनी सर्वथा भिन्न सत्ता है। मेरे चेतन-स्वरूप में जड़ सत्ता तीनों काल में नहीं है। इसलिए विवेक द्वारा हम जड़ सत्ता को अस्वीकार कर अपने चेतन स्वरूप में स्थित हों। यही शांति का पथ है।

धर्म, ईश्वर और शास्त्र पर विवेक

रमैनी-61

धर्म कथा जो कहतहि रहई। लाबरि उठि जो प्रातहि कहई॥ 1॥
लाबरि बिहाने लाबरि संझा। एक लाबरि बसे हृदया मंझा॥ 2॥
रामहु केर मर्म नहिं जाना। ले मति ठानिनि बेद पुराना॥ 3॥
वेदहु केर कहल नहिं करई। जरतइ रहे सुस्त नहिं परई॥ 4॥
साखी—गुणातीत के गावते, आपुहि गये गँवाय।
माटी का तन माटी मिलिगौ, पवनहि पवन समाय॥ 61॥

शब्दार्थ—लाबरि=झूठी बातें। सुस्त=शांत। गुणातीत=गुणों से परे, निर्गुण। गँवाय=खोय।

भावार्थ—जो लोग धर्म की कथा कहते रहते हैं, वे तो मानो सुबह से उठकर झूठी-झूठी बातें ही करते रहते हैं॥ 1॥ वे सुबह झूठी बातें करते हैं और शाम को झूठी बातें करते हैं। अर्थात वे सुबह से शाम तक मानो झुठाई ही हांकते रहते हैं, क्योंकि उनके हृदय में मिथ्या मान्यताएं बसी हुई हैं॥ 2॥ वे

राम-राम तो बहुत कहते हैं, परन्तु उसका रहस्य नहीं समझते। वे वेद-पुराणों के उदाहरणों से अपना मत पक्का करते हैं॥ 3॥ परन्तु वेदों के कथनानुसार भी नहीं चलते। राग-द्वेष, अहंकार-कामना में सदैव जलते रहते हैं, क्षण मात्र भी शांत नहीं होते॥ 4॥

ये गुणातीत ब्रह्म का गीत गाते-गाते स्वयं को ही गवां बैठे हैं। अंत में शरीर छूट जाता है और मिट्टी मिट्टी में मिल जाती है तथा हवा हवा में लीन हो जाती है॥ 61॥

व्याख्या—यह रमैनी आजकल के प्रगतिवादियों का आधारस्तम्भ बन सकती है। सद्गुरु कहते हैं कि जो लोग धर्म-कथा कहते हैं, वे तो मानो झूठी बातें करने के लिए ठेका ही ले लिये हैं। एक व्यापारी, राजनेता तथा वकील जितना झूठ नहीं बोलता, उतना झूठ एक तथाकथित धार्मिक बोलता है। दूसरे लोग झूठ बोलने से बुरे माने जाते हैं, किन्तु धार्मिक जामा पहनकर यदि झूठ बोला जाये तो उस पर फूल-मालाएं चढ़ती हैं। कोई साधारण आदमी कह दे कि एक स्त्री के पेट से आज दस बच्चे पैदा हुए हैं, तो उसे लोग गप्पी कहकर मजाक में उड़ा देंगे; परन्तु जब एक धार्मिक व्यक्ति कथा की गद्दी पर बैठकर कहता है कि राजा सगर की पत्नी सुमति से एक ही साथ साठ हजार बच्चे पैदा हो गये[1], तब उसे गप्प कहने की हिम्मत होना बड़ा कठिन है।

यदि एक आदमी कहे कि एक बैलगाड़ी जा रही थी। उसके पहिए की लकीर से बीस फीट चौड़े तथा तीस फीट गहरे नाले बन गये, तो इसे कोई नहीं मानेगा, परन्तु व्यासगद्दी पर से कहा जाता है कि राजा प्रियव्रत के रथ के पहिए की लीक से पृथ्वी पर सात समुद्र बन गये[2], तो यह धर्म की बात होती है। क्योंकि यह धर्म की किताब में लिखी है। इसको अस्वीकारना धर्म का उल्लंघन होगा। यदि कोई कहे कि एक आदमी पांच सौ वर्ष से जीवित है, तो आप इसे झूठा मानेंगे और झूठा मानना ही चाहिए। परन्तु जब धर्म की गद्दी से कहा जाता

---

1. सुमतिस्तु नरव्याघ्र गर्भतुम्बं व्यजायत।
षष्टिः पुत्रसहस्राणि तुम्बभेदाद् विनिःसृताः॥
घृतपूर्णेषु कुम्भेषु धात्र्यस्तान् समवर्धयन्।
कालेन महता सर्वे यौवनं प्रतिपेदिरे॥ (वाल्मीकीय रामायण 1/38/17-18)
अर्थात—विश्वामित्र श्री राम से कहते हैं कि हे पुरुषसिंह राम ! सगर की रानी सुमति ने अपने गर्भ से एक तुम्बा पैदा किया। उसको फोड़ने से उसमें से साठ हजार बच्चे निकले। धायों ने उन्हें घी से भरे घड़ों में डालकर उनका पालन किया। जब काफी समय बीत गया, तब वे सब बच्चे जवान हो गये।
2. ये वा उ ह तद्-रथचरणनेमिकृतपरिखातास्ते सप्त सिन्धव आसन् यत एव कृताः सप्त भुवो द्वीपाः। (भागवत 5/1/31)
अर्थात—राजा प्रियव्रत के रथ के पहिए से खुदकर उस समय जो लीकें बनीं वे ही सातों समुद्र बन गये। इससे पृथ्वी पर सात द्वीप बन गये।

है कि राजा प्रियव्रत ग्यारह अरब वर्ष राज किये[1] तब इसे झूठा कहकर कौन अधर्मी बने !

हनुमान जी ने पृथ्वी से तेरह लाख गुणा बड़ा दहकते हुए सूरज को निगल लिया था। सूरज एक महीने के लिए रुककर अयोध्या में श्री राम-जन्मोत्सव देखने लगा था। श्री राम की सेना में अठारह पद्म सेनापति थे। भरत जब चित्रकूट के तीर्थदर्शन में चले तब पृथ्वी ने कांटे-कंकड़ों को अपने पेट में समेटकर तल कोमल कर दिया। सारे पेड़ फल गये। शीतल, मंद, सुगंध वायु चलने लगा। पक्षी बोलकर तथा पशु देखकर भरत का स्वागत करने लगे। वृत्रासुर के शरीर की चौड़ाई सौ योजन (करीब बारह सौ किलोमीटर) एवं उसके शरीर की ऊंचाई तीन सौ योजन (करीब छत्तीस सौ किलोमीटर) थी।[2] श्री कृष्ण के सोलह हजार एक सौ आठ पत्नियां थीं, परन्तु गर्ग संहिता के अनुसार खरबों पत्नियां थी। जिनकी महाभारत में चर्चा नहीं है।

अमुक महात्मा की आज्ञा के काठ की चौकी तथा दीवार चलने लगी, बैल-भैंस वेद-मन्त्र उच्चारण करने लगे। उन्होंने मुरदे को जिला दिया। वे कहीं सूक्ष्म तथा कहीं विराट रूप धारण कर लिये। संत ईसा ने दस-पांच रोटियों से कई हजार लोगों को पेट भर खिला दिया। हजरत मुहम्मद ने अपनी उंगली चमकाकर क्षण मात्र के लिए चांद के दो टुकड़े कर दिये। अमुक ऋषि-मुनि के शाप से मनुष्य, नगर, जंगल जल गये और आशीर्वाद से संतान, धन, राज-काज मिल गये। मंत्र के बल पर सारी सिद्धियां मिल जाती हैं। तन्त्र के बल पर किसी का विनाश तथा किसी का लाभ किया जा सकता है। राम, कृष्ण, कबीर अनंत ब्रह्मांडनायक ब्रह्म हैं, ईसा ईश्वर के पुत्र हैं, मुहम्मद ईश्वर के संदेशवाहक हैं। कहां तक गिनाया जाये। चमत्कार जो छलावा है, धर्म के नाम पर व्याप्त है। बुद्ध और महावीर आदि तीर्थंकरों की बड़ाई में बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों में जो मिथ्या महिमाओं तथा ढोंग-ढकोसलों से पूर्ण उपाख्यान भरे हैं, उन्हें पढ़-सुनकर शर्म लगती है।

जब पंडित, मुल्ला, पादरी, ज्ञानी जी, महात्मा जी धर्मोपदेश की गद्दी पर बैठते हैं, तब वे धर्म (मानवता तथा वस्तुपरक ज्ञान) का उपदेश कम, जादुई बातें, चमत्कार और ढकोसले की बातें ज्यादा करते हैं, "हमारे गुरुजी या महात्मा जी एक ही साथ कई जगह दिखाई देते हैं। वे अपने आशीर्वाद से सब

---

1. जगतीपतिर्जगतीमर्बुदान्येकादश परिवत्सराणामव्याहत्। (भागवत 5/1/29)
अर्थात—राजा प्रियव्रत ने ग्यारह अरब वर्ष तक निर्विघ्न शासन किया।
2. विस्तीर्णो योजनशतमुच्छ्रितस्त्रिगुणं ततः। (वाल्मीकीय रामायण 7/84/5)
अर्थात—वृत्र असुर सौ योजन चौड़ा तथा तीन सौ योजन ऊंचा था।

कुछ कर सकते हैं। हमारे गुरुजी भगवान के अवतार हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वशक्तिमान हैं और पता नहीं क्या-क्या हैं।"

कबीर साहेब ने सारे पाखंडों एवं चमत्कारों का खंडन किया, तो उनके नाम पर बने पंथ और परंपरा में—नानक, दादू, दरिया, घीसा, पलटू, जगजीवन आदि सब सन्तों के साथ भक्तों द्वारा खूब चमत्कार जोड़ा गया। धार्मिक नामधारियों की मानो चमत्कार ही रोटी है। आप कहीं धार्मिक कथा-उपदेश की मंडली में बैठ जाइए, तो मंच पर चाहे व्यास जी हों या रामायणी जी, महात्मा जी हों या ज्ञानी जी, पंडित जी हों या मुल्ला जी या पादरी जी—ये सब एक दूसरे के भाई-बिरादर हैं। प्रायः सारी धर्मकथाओं में एक ही जैसे ढोंग-ढकोसले, चमत्कार, आशीर्वाद-शाप, तर्क-विवेक एवं बुद्धि के विरुद्ध अवैज्ञानिक मान्यताओं का बोलबाला देखेंगे।

आजकल तो चतुर लोगों का एक बड़ा दल अवतार बन बैठा है। अधिकतम राजनेता नामधारी दिग्भ्रमित हैं। वे तन्त्र-मन्त्र के ढकोसलों में फंसे एक-एक तांत्रिक तथा ज्योतिषी नामधारी को लिये घूमते हैं और धूर्त अवतारों के यहां सिजदा पड़ते हैं। सोखा-ओझा, तांत्रिक आदि के जन्म का मूल यह अन्धविश्वासपूर्ण धर्म-कथा ही है।

यज्ञ के नाम पर आग में घी, मेवे, अन्न फूंकने से बड़ी-बड़ी उपलब्धियां मानी गयीं। पहले समय में पशु भी काटकर होमे जाते थे। आज भी ईश्वर तथा देवता के नाम पर मुसलमानों तथा हिन्दुओं के यहां पशु मारे जाते हैं। शकुन-अपशकुन, चमत्कारी ऋद्धि-सिद्धि आदि सब धर्म-कथा के फल हैं।

धर्मग्रन्थ एवं धर्मकथा की ऊटपटांग बातों पर कोई प्रश्न न कर दे, इसके लिए तथाकथित धार्मिक लोग बड़े सावधान रहते हैं। वे पोथियों को उस तथाकथित ईश्वर-रचित या उसके भेजे हुए मानते हैं, जिसका पता-लता आज तक किसी को नहीं मिला है। या कहते हैं कि धर्मशास्त्र त्रिकालज्ञ, सर्वज्ञ ऋषियों की रचनाएं हैं। वस्तुतः सारी किताबें मानव-रचित हैं वे चाहे वेद हों या बाइबिल, कुरान हो या अन्य धर्मग्रन्थ। अतएव कोई भी किताब स्वतः प्रमाण नहीं। सारी किताबों की सारी बातों पर मनुष्य का विचार करना उसका कर्तव्य एवं अधिकार है।

संसार के मूल द्रव्य जड़ और चेतन में अन्तर्निहित अपने-अपने गुण-धर्म हैं। वे ही विश्व के शाश्वत नियम हैं। सर्वत्र कारण-कार्य-व्यवस्था है जो मूल द्रव्यों के स्वभावगत है। इसलिए संसार में कहीं भी चमत्कार की गुंजाइश नहीं है। इस जड़-चेतन के अलावा कोई भगवान या शैतान नहीं जो कुछ-का-कुछ कर दे। चमत्कार एवं अतिमानवीय सारी बातें मानव-समाज के साथ एक छलावा है।

सद्‌गुरु कहते हैं कि जो लोग धर्म की कथा कहते रहते हैं, वे महिमा के नाम पर झूठी बातें ही करते रहते हैं। क्योंकि उनके मन में वे ही बातें हैं। जब वक्ता स्वयं निर्भ्रांत नहीं होगा, तब वह समाज को निर्भ्रांत विचार कैसे दे पायेगा। अज्ञान, अंधविश्वास, भ्रम एवं स्वार्थ-वश बड़े-बड़े विद्वान नामधारी व्यासगद्दियों पर अजीबोगरीब बातें करते हैं।

''रामहु केर मर्म नहिं जाना'' यहां 'राम' शब्द से 'रूढ़ राम' का ही अर्थ नहीं समझना चाहिए; किन्तु यहां राम का अभिप्राय है 'ईश्वर'। लोग बात-बात में ईश्वर की दोहाई देते हैं—''ईश्वर जो चाहेगा वही होगा। हम कठपुतली हैं, ईश्वर सूत्रधार है। वह हमसे जो कराता है वही हम करते हैं। प्रभु की इच्छा के बिना तो पत्ता भी नहीं हिलता। हम तुच्छ ना-चीज।'' तब क्या इन धारणाओं से यह साफ नहीं हुआ कि समाज में चोरी, व्यभिचार, हत्या, मिलावटबाजी, चोरबाजारी, घूस, धर्मोन्मादकृत मासूमों की हत्या—सब कुछ ईश्वर ही करा रहा है। यदि आदमी तुच्छ है, तो श्रेष्ठ कौन है?

राम-राम, ईश्वर-ईश्वर, अल्ला-अल्ला, गॉड-गॉड कहो, बस सारे पाप कट जायेंगे। उसकी खुशामद तथा प्रार्थना करने से वह हमारे लिए सारी सुखद व्यवस्था कर देगा; यह सब राम को, ईश्वर को न समझना है। पहली बात तो मनुष्य की आत्मा के अलावा कोई राम-रहीम नहीं है। दूसरी बात संसार के नियमों को देखकर जो उससे अलग नियामक का भ्रम होता है, वह वस्तुबोध न होने का फल है। संसार के सारे नियम वस्तुगत हैं। अधिक खाने से पेट खराब होगा ही। इससे बचने के लिए प्रार्थना की आवश्यकता नहीं है, किन्तु भोजन में संतुलन की आवश्यकता है। राग-द्वेष, पर-दोष-दर्शन, पर-पीड़ा, स्वार्थांधता एवं विषयासक्ति रखने से मन में अशांति रहेगी ही। यह अशांति पूजा, प्रार्थना, गंगास्नान, तीर्थाटन, मंदिर-दर्शन आदि से नहीं जायेगी। इस सब में क्षणभर के लिए सात्त्विक आनन्द आ जायेगा, परन्तु पीछे वैसी की वैसी अशांति बनी रहेगी। स्थायी शांति के लिए तो राग-द्वेषादि दोषों को मन से सर्वथा निकाल देना होगा।

सद्‌गुरु कहते हैं कि लोग राम-राम तथा ईश्वर-ईश्वर तो कहते हैं, परन्तु उसका रहस्य नहीं समझते। उसका रहस्य है आत्मज्ञान, जगत के नियमों का बोध एवं जीवन में पवित्राचरण। यह न कर ''ले मति ठानिनि बेद पुराना'' अर्थात धर्मशास्त्रों की भावुक बातों का उदाहरण देकर ईश्वर सम्बन्धी उलटी-सीधी बातों को पुष्ट करते हैं।

यहां 'वेद पुरान' का शाब्दिक अर्थ न लेकर लक्षणा अर्थ समझना चाहिए 'सारे धर्मग्रन्थ'। हजारों वर्ष से दुनिया के धर्मग्रन्थों में ईश्वर के विषय में इतनी भावुकतापूर्ण बातें लिखी गयी हैं कि जिसने मनुष्य समाज को विवेक,

तत्त्वचिंतन, वस्तुज्ञान, आत्मबोध तथा सदाचार से हटाकर अकर्मण्य बना दिया है। जब नाम-जप मात्र से सारे पाप कटते, सारे काम बनते तथा लोक-परलोक सुधरते हैं तब तत्त्वचिंतन, स्वरूपज्ञान एवं सदाचार की आवश्यकता ही क्या है! सभी लोग सस्ते में सब काम चाहते हैं। काहिलों ने ईश्वर की रचना ही इसीलिए की है, कि उन्हें स्वयं कुछ न करना पड़े। बस, ईश्वर की थोड़ी खुशामद कर या एक-दो लड्डू उसे चढ़ाकर उससे सारे काम करा लिये जायें। और ऐसी बातें संसार के सभी ईश्वरवादी धर्मग्रन्थों में भरी पड़ी हैं। अतएव सभी मतवादी यह दोहाई देते फिरते हैं कि हमारे शास्त्रों में ऐसा लिखा है।

"वेदहु केर कहल नहिं करई" यहां भी वेद से अभिप्राय सभी धर्मग्रन्थ हैं। सद्गुरु कहते हैं लोग अपने मान्य धर्मग्रन्थों के सही आदेशों का भी पालन नहीं करते। क्योंकि कोई भी धर्मग्रन्थ हो, उसमें केवल काल्पनिक बातें ही नहीं भरी रहती हैं, किन्तु जगह-जगह सचाइयां और नैतिकता की बातें भी रहती हैं, परन्तु लोग उन पर न ज्यादा ध्यान देते हैं न उनका आचरण करते हैं। उन्हें "ना काहुइ कोइ सुख दुख दाता। निज कृत कर्म भोग सुनु भ्राता॥" तथा "स्वयं कृतं स्वेन फलेन युज्यते" आदि तथ्यपूर्ण विचारों से वास्ता नहीं रहता। उन्हें तो चाहिए "तेरी सत्ता के बिना, हे प्रभु मंगलमूल। पत्ते भी हिलते नहीं, खिले न कोई फूल॥" तथा "चाारि खानि जग जीव अपारा। अवध तजे तनु नहिं संसारा॥" या "नाम लेत भवसिन्धु सुखाहीं" आदि। इसलिए—

"जरतई रहे सुस्त नहि परई" लोग धर्म, ईश्वर तथा धर्मग्रन्थों के भक्त होते हुए भी सत्यज्ञान और सदाचरण के अभाव में सदैव मनस्ताप में जलते रहते हैं। धार्मिक पाखंड, ईश्वर की भक्ति तथा धर्मशास्त्रों की पक्षधरता बहुत बढ़ गये हैं। यदि कुछ घटा है तो वह है तत्त्वचिंतन, कार्यकारण-व्यवस्था का ज्ञान, स्वरूपबोध, पवित्र आचरण और शान्ति। क्योंकि "रोग कछु और दवा कछु औरे" हो रहे हैं। चाहिए आत्मज्ञान, आत्मविश्वास तथा आत्मशुद्धि का प्रयास करना, तो हम बाहर एक देव खड़ाकर उसके सामने माथा टेककर सारी सफलताएं चाहते हैं।

"गुणातीत के गावते, आपुहि गये गँवाय।" बड़ी मार्मिक पंक्ति है। कोई भी द्रव्य बिना गुण के नहीं रहता। यदि ईश्वर या ब्रह्म गुणातीत है, उसमें कोई गुण नहीं है, तो वह कोई द्रव्य नहीं है। जब वह कोई द्रव्य नहीं है, तब वह केवल मन की कल्पना ही है। ऐसे गुणातीत के गीत गाते-गाते लोग स्वयं को ही खो देते हैं। केन उपनिषद् का ऋषि कहता है—"वहां आंखें नहीं पहुंचतीं, न वाणी तथा मन ही पहुंचते हैं। हम उसे नहीं जानते, इसलिए नहीं समझते कि शिष्यों को उसका उपदेश कैसे करें। वह ज्ञात तथा अज्ञात से परे है। बस, हम इतना

ही कह सकते हैं कि हमने अपने से पहले होने वाले ज्ञानियों द्वारा उसकी ऐसी ही व्याख्या सुनी है।"[1]

यदि ब्रह्म हमसे अलग है और उक्त कथनानुसार हमारे मन, बुद्धि तथा वाणी से परे और अज्ञात है, तो उसका हमारा सम्बन्ध कैसे हो सकता है! सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे ब्रह्म का गीत गाते-गाते लोग स्वयं खो जाते हैं। वे अपनी सत्ता-महत्ता को भूल जाते हैं। लोग जीवनभर ब्रह्म के गीत गाते हैं, उसकी तलाश करते हैं जिससे किसी की मुलाकात नहीं हुई और न हो सकती है और जो स्वस्वरूप चेतन तत्त्व है उस पर लोग सोचते ही नहीं। यह कितना आत्मघात है! गुणातीत एवं शून्य को खोजते-खोजते अपने आप के विषय में असावधान बने रहना अभाग्य है।

वस्तुतः अपनी आत्मा, अपनी चेतना, अपना चेतन-स्वरूप मन, बुद्धि, वाणी से परे है और उनका प्रकाशक है और यदि इसे ही ब्रह्म कहा जाये तो इसे खोजना नहीं है। इसके लिए कोई संदेह नहीं है। यह तो मैं ही हूं। परन्तु लोग एक गुणातीत ब्रह्म अपने से अलग मानते हैं और उसकी कल्पना में पड़कर अपने आप का बोध खो देते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि तुम अपने आप को समझो। तुमसे बड़ा कोई ब्रह्म नहीं है। यदि कल्पना के ब्रह्म के चक्कर में पड़ोगे तो इसी में जीवन बीत जायेगा और तुम्हारा शरीर मिट्टी में मिल जायेगा, परन्तु तुम्हें कुछ हाथ नहीं लगेगा—"माटी का तन माटी मिलिगौ, पवनहि पवन समाय॥"

इस रमैनी में सद्गुरु कबीर ने धर्म, ईश्वर और शास्त्र के नाम पर चलते हुए अन्धविश्वास एवं बेहूदेपन का खंडन किया है। उनके ख्याल से मानवता ही धर्म है, आत्मा ही परमात्मा है और शास्त्रों के वचनों की कसौटी मानव-विवेक है।

ऊंच-नीच-रहित मानव समान है

रमैनी-62

जो तू करता बर्ण बिचारा। जन्मत तीनि दण्ड अनुसारा॥ 1॥
जन्मत शूद्र मुये पुनि शूद्रा। कृतम जनेऊ घालि जग धन्दा॥ 2॥
जो तू ब्राह्मण ब्राह्मणि को जाया। और राह दे काहे न आया॥ 3॥
तो तू तुरुक तुरुकनि को जाया। पेटहि काहे न सुन्नति कराया॥ 4॥

---

1. न तत्र चक्षुः गच्छति, न वाग् गच्छति, नो मनो, न विद्मो, न विजानीमो यथा एतद् अनुशिष्यात् अन्यद् एव तद् विदितात् अथ उ अविदितात् अधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नः तद् व्याचचक्षिरे। (केन उपनिषद् 1/3)

कारी पियरी दूहहु गाई। ताकर दूध देहु बिलगाई॥ 5॥
छाडु कपट नर अधिक सयानी। कहहिं कबीर भजु सारंग पानी॥ 6॥

शब्दार्थ—तीन दण्ड=ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कुमार के लिए क्रमशः पलाश, गूलर तथा बेल के दण्डे। अनुसारा=प्राकृतिक अवस्था। कृतम= कृत्रिम, बनावटी। धन्दा=व्यवसाय। सुन्नति=सुन्नत, खत्नः, पुरुष की पेशाब इन्द्रिय के अग्रभाग की खाल काटना, मुसलमानी। भजु=भज्, बांटना; स्वीकारना; छांटना-चुनना, जैसे 'सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते' (मालविकाग्नि 1/2)—संत परीक्षा करके चुनते हैं; सेवा करना; स्मरण करना। सारंगपानी=हाथ में धनुष धारण करने वाला।

भावार्थ—यदि तुम वर्णव्यवस्था का विचार करते हो कि यह ईश्वरीय है, तो जन्मते ही ब्राह्मण के बच्चे को पलाश का, क्षत्रिय के बच्चे को गूलर का तथा वैश्य के बच्चे को बेल का दण्डा लेकर प्राकृतिक अवस्था में आना चाहिए, या दण्ड, मेखला और यज्ञोपवीत इन तीनों को, जो त्रिवर्ण द्विजातियों के चिह्न हैं पैदा होने के साथ ही माता के पेट से लेते आना चाहिए था॥ 1॥ परन्तु तथ्य यह है कि हर बच्चा जन्मकाल में संस्कार-रहित अशुद्ध शूद्र रहता है तथा मरने पर भी संस्कार-विहीन अशुद्ध शूद्र हो जाता है। केवल बीच में बनावटी जनेऊ गले में डालकर अपने व्यवसाय करते हैं॥ 2॥ यदि तुम्हें अहंकार है कि हम जन्मजात ब्राह्मण हैं और ब्राह्मणी से पैदा हुए हैं तो तुम किसी दूसरे रास्ते मुख आदि से क्यों नहीं आ गये, जिससे "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्"[1] सिद्ध हो जाता॥ 3॥ और हे मुसलमानो! यदि तुम्हें अपने आप के विषय में जन्मजात मुसलमान होने का गर्व है और तुम यह समझते हो कि तुम मुसलमानिन से जन्म लिये हो, तो माता के गर्भ में से ही सुन्नत कराकर क्यों नहीं आये?॥ 4॥ काले रंग की गाय तथा पीले रंग की गाय को दुहकर दूध पात्र में रख लो, तो क्या उन दोनों दूधों के स्वरूपों को भिन्न-भिन्न बता सकोगे? गाय किसी रंग की हो, सबका दूध सफेद रहता है, इसी प्रकार ब्राह्मण-शूद्र तथा हिन्दू-मुसलमान नाम कुछ भी हो, सबके शरीर के तत्त्व एक-से तथा सबके भीतर चेतना एक-सी है॥ 5॥ अतएव हे मनुष्यो! अपने आप को जन्मजात श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए जो तुम कपट और ज्यादा चालाकी करते हो, उन्हें छोड़ दो और सारंगपाणि का भजन करो॥ 6॥

व्याख्या—कुछ लोग ऐसे हैं जो यह मानते हैं कि वर्णव्यवस्था ईश्वरकृत या स्वयंभू है। वे मानते हैं कि ब्राह्मण श्रेष्ठ, क्षत्रिय उससे नीच, वैश्य उससे

---

1. ऋग्वेद 10/90/12।

नीच तथा शूद्र सबसे नीच बनाकर भगवान ने भेजा है। वेद, गायत्री, यज्ञोपवीत आदि में अधिकार केवल प्रथम त्रिवर्ण को है, शूद्र को नहीं। वसिष्ठ धर्मसूत्र में लिखा है—"ईश्वर ने गायत्री छंद से ब्राह्मणों को बनाया, त्रिष्टुप छंद से राजन्य (क्षत्रियों) को और जगती छंद से वैश्यों को बनाया; परन्तु उसने शूद्रों को किसी भी छंद से नहीं बनाया। इसलिए शूद्र यज्ञोपवीत-संस्कार के लिए अयोग्य है।"[1] यह सब कितने पक्षपाती तथा अज्ञानपूर्ण वचन हैं। आज के युग में यह सब समझ सकते हैं कि मानव मात्र की पैदाइश एक ढंग से है। कोई इनसान छंद से नहीं बनाया जाता है, किन्तु माता-पिता के रज-वीर्य से माता के गर्भाशय में बनकर पैदा होता है।

सद्‌गुरु कबीर कहते हैं कि यदि वर्णव्यवस्था स्वयंभू है, तो "जन्मत तीनि दण्ड अनुसारा।" ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के बच्चे जन्मते ही स्वाभाविक ढंग से द्विजातियों के चिह्न अपने दण्ड लेकर क्यों नहीं पैदा हुए?

वैदिक धर्मशास्त्रों में बताया गया है कि गर्भाधान काल से लेकर जब ब्राह्मण का बालक आठ वर्ष का, क्षत्रिय का ग्यारह वर्ष का तथा वैश्य का बारह वर्ष का हो, तब उनके उपनयन संस्कार हों। वैसे क्रमशः सोलह, बाइस तथा चौबीस वर्ष की उम्र तक भी हो सकते थे।[2] यज्ञोपवीत-संस्कार काल में हर ब्रह्मचारी को एक दण्ड (डंडा) धारण करना पड़ता था। उसमें भी भेद था। आश्वलायन गृह्यसूत्र[3] के अनुसार ब्राह्मण-बालक पलाश का दंड धारण करे, क्षत्रिय-बालक गूलर का तथा वैश्य-बालक बेल का। इसमें अन्य गृह्यसूत्रों का मतभेद है।

आप देख रहे हैं कि इस वर्णव्यवस्था के कुचक्र ने केवल शूद्र कहे जाने वाले बन्धुओं को ही अलग नहीं रखा, किन्तु तथाकथित ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के बच्चों में भी हर बात में अन्तर बनाये रखा, जिससे कि इनमें भी ब्राह्मणों की वरीयता बनी रहे। आपने ऊपर देखा ही है कि तीनों वर्णों के बच्चों के उपनयन संस्कार[4] भिन्न-भिन्न अवस्था में होना चाहिए। सबके दंड भी एक लकड़ी के नहीं होने चाहिए। इतना ही नहीं, ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के दंड एक बराबर नहीं होने चाहिए। ब्राह्मण का दंड सिर तक, क्षत्रिय का मस्तक तक

---

1. गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत त्रिष्टुभा राजन्यं जगत्या वैश्यं न केनचिच्छन्दसा शूद्रमित्यसंस्कार्यो विज्ञायते। (वसिष्ठ धर्मसूत्र 4/3)
2. आश्वलायन गृह्यसूत्र 1/19/1-6।
3. वही 1/19/13 तथा 1/20/1।
4. उपनयन का पहला अभिप्राय है 'पास ले जाना' अर्थात गुरु के पास ले जाना। दूसरा अभिप्राय है विधिवत यज्ञोपवीत करना। तीसरा अर्थ है उप=दूसरा+नयन=नेत्र—ज्ञान का नेत्र।

और वैश्य का नाक तक।[1] किन्तु शांखायन ने इसे उलटकर कहा है कि ब्राह्मण का दंड छोटा, क्षत्रिय का उससे बड़ा तथा वैश्य का उससे भी बड़ा होना चाहिए।[2] इन दंडों की उपयोगिता ठीक बतायी गयी है—"ये दंड सहारे के लिए, गुरु की गायों को नियंत्रित रखने के लिए तथा अंधियारे में सुरक्षा के लिए या नदी आदि जलाशयों में होकर निकलने पर रास्ता टटोलने के लिए रखे जाते थे।[3]

सद्गुरु कहते हैं कि त्रिवर्ण जन्मजात द्विज हैं, तो ये पैदा होते ही अपने दण्ड लेकर माता के पेट से क्यों नहीं निकले?

उक्त त्रिवर्ण के यज्ञोपवीत में चार चीजें मुख्य थीं—वस्त्र, दंड, मेखला तथा यज्ञोपवीत। परन्तु सबमें भेद रखा जाता था। ब्रह्मचारी को दो वस्त्र धारण करना होता था। एक 'वासस्' (कमर से पहना जाने वाला कपड़ा-लुंगी) तथा दूसरा 'उत्तरीय' (कंधे से ओढ़ा जाने वाला)। ब्राह्मण के वस्त्र पटुआ के सूतों का, क्षत्रिय के वस्त्र सन के सूतों का तथा वैश्य के वस्त्र मृगचर्म होते थे।[4] कुछ के मतों के अनुसार सभी वर्णों के आधे वस्त्र रुई के सूतों के होने चाहिए, परन्तु वे ब्राह्मणों के लिए लाल रंग, क्षत्रियों के लिए मजीठ[5] रंग और वैश्यों के लिए हल्दी रंग होना चाहिए। इन लेखकों के इनमें विमत भी हैं।

'मेखला' कमर में पहनते थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य—तीनों वर्णों के ब्रह्मचारियों के लिए क्रमशः तीन वस्तुओं से बने भिन्न प्रकार के मेखला होते थे। वे क्रमशः इस प्रकार थे—मूंज से बना, मौर्वी (जिससे धनुष की डोरी बनती है) से बना तथा पटुआ से बना।[6]

यज्ञोपवीत द्विजातियों के लिए मुख्य चीज मानी गयी। उसमें भी सबके लिए अन्तर है—ब्राह्मणों का यज्ञोपवीत कपास की रुई से बने हुए सूतों का हो, क्षत्रियों का सन के सूतों का तथा वैश्यों का भेड़ के बाल से बने सूतों का होना चाहिए।[7] अर्थ यह कि हर जगह द्विजातियों में भी भेदभाव की दीवार बनाये रखना जरूरी था।

---

1. आश्वलायन गृह्यसूत्र 1/19/13; गौतम 1/25; वसिष्ठ धर्मसूत्र 11/55-57; पारस्कर गृह्यसूत्र 2/5; तथा मनु 2/46। धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृष्ठ 213।
2. शांखायन गृह्यसूत्र 2/1/21-23।
3. तत्र दण्डस्य कार्यमवलम्बनं गवादिनिवारणं तमोवगाहनमप्सु प्रवेशनमित्यादि। (अपरार्क)
4. आपस्तंब धर्मसूत्र 1/1/2/39; 1/1/3/1-2।
5. मजीठ एक लता है जिसे उबालकर उसका रंग निकाला जाता है।
6. गौतम 1/15; आश्वलायन गृह्यसूत्र 1/19/11; बौधायन गृह्यसूत्र 2/5/13; मनुस्मृति 2/42; काठक गृह्यसूत्र 41/12; भारद्वाज1/2।
7. मनुस्मृति 2/44।

यज्ञोपवीत पर थोड़ा विचार कर लें। वेदों को पढ़ने से यज्ञोपवीत का पता नहीं लगता। पीछे यजुर्वेद (16/17) में एक जगह आया है 'नमो हरिकेशोपवीतिने' अर्थात काले बाल तथा यज्ञोपवीत धारण करने वाले रुद्र को नमस्कार। ऐसा लगता है कि पहले समय में आर्य लोग उत्तरीय (चादर) ओढ़कर यज्ञ करते थे। वे क्रमशः भारत के गरम क्षेत्र में फैलते गये और तब यज्ञ में कुछ लोग बिना चादर ओढ़े बैठने का प्रयास करने लगे। इसलिए बुजुर्गों ने डांटा होगा और लोगों का यह प्रयास बराबर देखकर समाज से समझौता किया होगा कि भाई, यदि चादर नहीं ओढ़ सकते तो कंधे पर एक सूत डाल लें। तब से यह प्रचलित हुआ होगा। यशस्वी पंडित एवं लेखक भारतरत्न, महामहोपाध्याय पांडुरंग वामन काणे जी लिखते हैं—"अतः ऐसी कल्पना करना उचित ही है कि बहुत प्राचीन काल में सूत्र धारण नहीं किया जाता था; आरम्भ में उत्तरीय (चादर) ही धारण किया जाता था। आगे चलकर सूत्र भी, जिसे हम जनेऊ कहते हैं प्रयोग में आने लगा।" ..."यज्ञोपवीत में तीन सूत्र होते हैं, जिनमें प्रत्येक सूत्र में नौ धागे (तन्तु) होते हैं जो भली-भांति बटे एवं माजे हुए होते हैं। देवल में नौ तन्तुओं के नौ देवताओं के नाम लिखे हैं, यथा—ओंकार, अग्नि, नाग, सोम, पितर, प्रजापति, वायु, सूर्य एवं विश्वेदेव।"[1]

यज्ञोपवीत धारण करते समय जिस प्रसिद्ध मंत्र का उच्चारण किया जाता है "यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं..." वह पहले-पहल बौधायन गृह्यसूत्र में मिलता है जो ईसा के चार सौ वर्ष के पूर्व काल की रचना है। वहीं से पीछे बैखानस में आया।[2] पारसी लोग भी कमर में लुंगी तथा गले में मेखला पहनकर उपासना करते हैं। मक्का में कमर में सफेद लुंगी पहनकर तथा ऊपर सफेद उत्तरीय (चादर) ओढ़कर ही उपासना करने का रस्म है।

ये रस्म मनुष्य समय-समय से अपने विचार एवं सुविधा के अनुसार बनाते हैं। ये संस्कार, वेष, विधान आदि न स्वयंभू होते हैं न अजर-अमर होते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि कोई माता के पेट से ही द्विज तथा ब्राह्मण बनकर संस्कार-वेष के सहित नहीं पैदा हुआ है। किसी उदार पंडित ने भी कहा है—"जन्म से सब शूद्र होते हैं, संस्कार ग्रहण करने पर द्विज कहलाते हैं, विद्याध्ययन कर लेने पर विप्र तथा ब्रह्मज्ञ हो जाने पर ब्राह्मण हो जाते हैं।"[3]

---

1. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग, 1, पृष्ठ 217-218।
2. यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
   आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः।
   (बौधायन गृह्यसूत्र 2/5/7-8 तथा बैखानस 2/5)
3. जन्मना जायते शूद्रः संस्कारैर्द्विज उच्यते।
   विद्यया याति विप्रत्वं ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः॥

सद्‌गुरु कहते हैं "जन्मत शूद्र मुये पुनि शूद्रा। कृतम जनेऊ घालि जग धन्दा॥" जन्मकाल में अबोध और मलिनता में लिपटा हुआ द्विज या ब्राह्मण नामधारी का भी बच्चा शूद्र ही रहता है और जब जीव शरीर से निकल गया, तब पुनः वही दशा आ गयी मलिनता की। केवल बीच में बनावटी जनेऊ पहनकर संसार में कर्मकांड का व्यवसाय किया जाता है और रोब गांठा जाता है कि हम द्विज एवं ब्राह्मण हैं। इसका अभिप्राय यह है कि ऐसा तो कोई भी मनुष्य कर सकता है। द्विजत्व तथा ब्राह्मणत्व कुछ वर्ग की ही ठेकेदारी में क्यों? अतएव पूरे मानव की मौलिकता में कोई अन्तर नहीं है।

"जो तू ब्राह्मण ब्राह्मणि को जाया। और राह दे काहे न आया॥" सद्‌गुरु कबीर यहां मिथ्या वर्णाभिमान को झकझोर देते हैं। वे कहते हैं कि यदि तुम स्वयंभू ब्राह्मण हो और ब्राह्मणी से पैदा हुए हो, तो जिस रास्ते से सभी लोग पैदा होते हैं, उसी से क्यों पैदा हुए? तुम माता के मुख आदि दूसरे रास्ते से पैदा हो जाते, तो तुम्हारी ज्यादा प्रामाणिकता होती।

वर्णव्यवस्था को तथाकथित ईश्वरप्रदत्त सिद्ध करने के लिए लोग ऋग्वेद के पुरुष सूक्त का मंत्र ठोक देते हैं और कहते हैं देखिए साहेब, हमारे ईश्वररचित वेद में लिखा है—"उस विराट पुरुष ईश्वर के मुख से ब्राह्मण, हाथ से क्षत्रिय, जंघे से वैश्य तथा पैर से शूद्र पैदा हुए।"[1] पहले तो यह समझ लेना चाहिए कि कोई पुस्तक ईश्वर नहीं बनाता है। सारी पुस्तकें मानवकृत हैं। दूसरी बात है कि ऋग्वेद के प्रारम्भिक आर्यों को यह बात नहीं सूझी थी कि मनुष्यों में चार फांक किया जाये। वे अपने आप को आर्य और दूसरों को अनार्य उसी तरह मानते थे, जैसे विजेता अंग्रेज अपने को श्रेष्ठ तथा काले भारतीयों को हेय। परन्तु मूल आर्यों में कोई वर्णव्यवस्था नहीं थी। यह बात जब पीछे सूझी तब पहले एक विराट पुरुष की कल्पना की गयी और फिर उसके मुख, हाथ, जंघे एवं पैर से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र को पैदा कर दिया गया। और इस आशय का एक सूक्त बनाकर जिसमें सोलह मंत्र हैं ऋग्वेद के दसवें मंडल में पीछे से रख दिया गया, जो 90वां सूक्त हो गया। भाषा विज्ञान की दृष्टि से इस सूक्त के सारे मंत्रों को आप पढ़ डालिए तो आपको पता लगेगा कि इस पुरुष सूक्त के सारे मंत्र कितने सरल हैं। ऋग्वेद की भाषा कठिन है। आदमी अपनी सुविधा के लिए भाषा को कठिनता से सरलता की तरफ ले जाता है। वेदों में ही जो अंश पीछे काल में बने अपेक्षया सरल होते गये। उपनिषद् आदि वेदों से बहुत सरल हैं। उपनिषदों से गीता, रामायण, महाभारतादि सरल हैं।

---

1. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ ऋग्वेद 10/90/12।

अतएव जब लोगों को पीछे वर्णव्यवस्था सूझी, तब पुरुष सूक्त गढ़कर ऋग्वेद में रख दिया गया। उसके मंत्र आप पढ़िए तो पाइयेगा कि अन्य बहुत-सारे मंत्रों की अपेक्षा ये काफी सरल हैं। यहां टिप्पणी में पुरुष सूक्त के सोलह मंत्रों में से केवल एक मंत्र मूल रूप में दिया गया है, इसे पढ़कर आप स्वयं समझ जायेंगे कि कितना सरल है। एक हिन्दी का अच्छा ज्ञाता इसका अर्थ सहज कर सकता है। परन्तु ऋग्वेद के प्राचीन मंत्रों का अर्थ करने में बड़े-बड़े व्याकरणाचार्य कांपते हैं। भारतरत्न पांडुरंग वामन काणे जी भी लिखते हैं—"बहुत लोगों का कहना है कि पुरुष सूक्त ऋग्वेद में कालांतर में जोड़ा गया है।"[1]

यद्यपि पुरुष सूक्त के इस मंत्र का अर्थ लाक्षणिक है, तथापि स्वार्थियों द्वारा इसे विभाजक रेखा का आधारस्तंभ बना लिया गया। उक्त मंत्र का अर्थ है कि यह मानव समाज एक विराट पुरुष है। इसमें मुखस्थानीय ब्राह्मण है, हस्तस्थानीय क्षत्रिय, जांघस्थानीय वैश्य तथा पैरस्थानीय शूद्र।

मुख पूरे शरीर के लिए खाता है, इस प्रकार जो परोपकारी हो; मुख से ज्ञान का प्रवचन होता है, मुख के ही आस-पास अधिक ज्ञानेन्द्रियां हैं जैसे जीभ, आंख, कान, नाक; मस्तिष्क ज्ञान-भंडार है ही, इस प्रकार जो ज्ञानभंडार तथा ज्ञान दाता हो; मुख सदैव खुला रहता है, परन्तु ज्यादा चमकता है, इस प्रकार जो तपस्वी रहकर चमकता हो; कहीं भी मुख सहित सिर ही किसी के सामने झुकता है, इस प्रकार जो विनम्र हो, वह ब्राह्मण है। अर्थात जो परोपकारी, ज्ञानी, ज्ञानदाता, तपस्वी, प्रसन्न रहने वाला तथा विनयी है, वह ब्राह्मण है। समाज में ऐसा कोई भी हो, वही ब्राह्मण है।

हमारे शरीर पर कहीं कोई आघात लगे, मक्खी तक बैठती हो, तो वहां उसके निवारण के लिए हाथ पहुंच जाते हैं। 'क्षत' से 'त्राण' पहुंचाना ही तो क्षत्रियत्व है। हम हाथ से दान करते हैं, दूसरे का अभिनंदन करते हैं। यह सब लक्षण जिसमें हो, वह क्षत्रिय है।

जंघे के बल पर ही धन कमाया जाता है। जब कोई जवान लड़का पिता को आंखें दिखाता है, तब पिता कहता है—'देखो बेटा, आंखें मत दिखाओ। अभी हमारे जंघा में बल है। हम कमा कर खा सकते हैं।' अतएव कृषि, गौरक्ष एवं वाणिज्य करके जो धन पैदा करे वह वैश्य है।

पैर पर ही सारा शरीर स्थिर है। इसी प्रकार कर्मकरों तथा श्रमिकों पर सारा समाज स्थिर है। अतएव कर्मकर एवं श्रमिक शूद्र हैं। अब जरा आप नजर घुमाइए; तो ये सारे काम आज के सभी मनुष्यों में पाइयेगा, तब वर्ण जातिगत

1. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृष्ठ 110।

कहां रहा ! ब्राह्मण कहलाने वालों के लड़के फौज तथा पुलिस में भर्ती होने से क्षत्रिय हैं। खेती-पशुपालन तथा व्यापार करने से वैश्य हैं और मजदूरी, नौकरी आदि करने से शूद्र हैं। और शूद्र कहे जाने वालों के लड़के शिक्षादाता, ज्ञानी, परोपकारी, विनयी, तपस्वी होने से ब्राह्मण हैं। वस्तुतः आजकल वर्णव्यवस्था बिलकुल समाप्त है। सब मनुष्यों को सब दिशा में छूट है। सब अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार अपनी उन्नति करें। सब आपस में बिना भेदभाव के हिलमिल कर रहें। यही मानवता है। यही आज की शुभधारा है। न कोई ब्राह्मण है न कोई शूद्र। और यह आज सद्गुरु कबीर के विचारों की सच्ची विजय है।

"जो तू तुरुक तुरुकनि को जाया। पेटहि काहे न सुन्नति कराया॥" सद्गुरु कबीर पैनी दृष्टि वाले, उदार और निष्पक्ष थे। उन्हें किसी के भी जन्मजात बड़प्पन के ढकोसले पर नफरत थी। वे यहां कहते हैं कि मुसलमान बन्धुओ ! यदि तुम सच्ची मुसलमानिन से पैदा हुए सच्चे मुसलमान हो और तुम्हारा मुसलमान होना ईश्वरीय या कुदरती है, तो तुम्हें माता के पेट में से ही सुन्नत कराकर आना चाहिए। पूरा शरीर मां के गर्भ में बन सकता है तो क्या पेशाब इन्द्रिय की थोड़ी खाल नहीं कट सकती? ईश्वर को यह अक्ल नहीं आयी, तो तुम उसकी अक्ल ठीक कर रहे हो? अतएव यह भी एक ढकोसला है कि पेशाब इन्द्रिय की खाल काटने पर कोई मुसलमान होता है। मुसलमान तो वह है जिसके पास मुसल्लम ईमान हो, जो सत्य के रास्ते पर चले।

काली-पीली आदि अनेक रंगों की गायों के दूध एक समान सफेद होते हैं, वैसे काले, गोरे, पीले रंग के मनुष्य या हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मण, शूद्र, क्षत्रिय, वैश्य, अंत्यज कहलाने वाले सभी मनुष्यों के शरीर में लगे जड़-तत्त्व मिट्टी, जल, अग्नि, वायु आदि एक समान होते हैं तथा सभी जीव एक समान चेतन होते हैं। सबको भूख-प्यास, सुख-दुख एक समान लगते हैं। सबको मानसिक विकारों से अशांति होती है तथा सबको मनोविकारों को छोड़ देने पर शांति मिलती है। इस प्रकार तथ्य में अन्तर न होने से मानव मात्र मूलरूप में एक समान हैं। वे अपने ज्ञान तथा आचरण के अनुसार ऊंच-नीच तथा अच्छे-बुरे बनते हैं।

इसलिए सद्गुरु कहते हैं—"छाडु कपट नर अधिक सयानी। कहहिं कबीर भजु सारंगपानी॥" हे मनुष्य ! अपने आप को श्रेष्ठ तथा दूसरों को नीच सिद्ध करने के हथकंडे, कपट, चालाकी तथा धूर्तता छोड़ दो। मनुष्य का कोई वर्ग किसी तथाकथित ईश्वर के मूड़ से पैदा हुआ है, कोई पैर आदि से, यह मानना और इसका प्रचार करना एक कपट तथा धूर्तता है। किसी का कोई अंग कटा

लेने से तथा अमुक ग्रन्थ-पंथ मान लेने से वह स्वर्ग के पथ में है, आस्तिक है, शेष नास्तिक तथा नरक के पथ में हैं यह सब कपट तथा वंचना है। कबीर साहेब कहते हैं कि कपट-चालाकी छोड़कर सारंगपाणि का भजन करो।

यह सारंगपाणि कौन हो सकता है? सारंगपाणि का अर्थ है जो अपने हाथों में धनुष धारण करता हो। इसका रूढ़ अर्थ है विष्णु तथा दशरथ सुवन-श्रीराम। कबीर साहेब इन दोनों को इष्ट नहीं मानते। वे कहते हैं "माया केरी बसि परे, ब्रह्मा विष्णु महेश।"[1] तथा "दशरथ सुत तिहुँ लोकहिं जाना। राम नाम का मर्म है आना।"[2] इन दोनों महापुरुषों के विषय में इस आशय के बीजक में बहुत उदाहरण हैं। फिर कबीर साहेब विधिरूप में इन्हें भजने के लिए कैसे कह सकते हैं! वे हिन्दू और मुसलमान, दोनों को उपदेश करते हैं, तो मुसलमानों को यह कैसे कह सकते हैं कि तुम विष्णु तथा श्रीराम का भजन करो? वस्तुतः कबीर साहेब के संस्कार हिन्दू समाज से मिले थे। इसलिए वे हरि, राम, सारंगपाणि आदि शब्दों का उल्लेख अपनी वाणी में जगह-जगह करते हैं। यहां सारंगपाणि का कोई गहरा अर्थ लेने की आवश्यकता नहीं है।

यहां कबीर साहेब हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मणादि कहलाने वाले लोगों से कहना चाहते हैं कि तुम लोग ऊंच-नीच की भावना छोड़ो और अपने-अपने ढंग से जो कुछ तुम उपासना करते हो, उन्हें करते हुए सत्य का चुनाव करो जो सबमें सम है। "सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते।"[3] विवेकवान परीक्षा करके चुनाव करते हैं। इस पूरी रमैनी का अभिप्राय मानवीय एकता है, किसी देवता की उपासना नहीं। इसके तो वे विरोधी हैं। वे तो सन्त, गुरु तथा अंततः आत्मस्वरूप की उपासना मानते हैं। अतएव यह निज स्वरूप चेतन ही सारंगपाणि एवं विष्णु है। सारा अहंकार छोड़कर निज स्वरूप चेतन में रमण करो।

रमैनी-63

नाना रूप वर्ण एक कीन्हा। चारि वर्ण वै काहु न चीन्हा॥ 1॥
नष्ट गये कर्ता नहिं चीन्हा। नष्ट गये औरहि मन दीन्हा॥ 2॥
नष्ट गये जिन्ह बेद बखाना। बेद पढ़े पर भेद न जाना॥ 3॥
बिमलख करे नैन नहिं सूझा। भया अयान तब किछउ न बूझा॥ 4॥
साखी—नाना नाच नचाय के, नाचे नट के भेष।
घट घट है अविनाशी, सुनहु तकी तुम शेख॥ 63॥

1. बीजक, साखी 149।
2. बीजक, शब्द 109।
3. कालिदास, मालविकाग्नि 1/2।

शब्दार्थ—नाना रूप=नाना जातियां। वर्ण=चतुर्वर्ण। एक=मनुष्य। वै=मनुष्य। कर्ता=मनुष्य। औरहि=मानव से भिन्न। बखाना=व्याख्यान, भाष्य टीकादि। बिमलख=विमलाक्ष, दिव्यदृष्टि। अयान=अज्ञानी। अविनाशी=अमर चेतन जीव। शेख=शेख तकी, एक प्रसिद्ध सूफी सन्त जो सिकंदर लोदी के गुरु थे और प्रयाग के पास झूंसी में रहते थे।

भावार्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ये चार वर्ण एवं मुराव, तेली, धोबी, नाई, चमार आदि नाना जातियों का निर्धारण केवल मनुष्यों ने ही किया है। परन्तु पीछे के लोगों ने इस तरह इसकी परख नहीं की॥ 1 ॥ इन वर्णों एवं जातियों का कल्पनाकर्ता निर्धारक मनुष्य ही है ऐसी पहचान जिसे नहीं हुई वे नष्ट हो गये। उन्होंने अपने आप को अधिक नीचे गिरा लिया जिन्होंने वर्णों और जातियों का कर्ता मानव के अतिरिक्त किसी अन्य अतिमानवीय शक्ति ईश्वरादि मान लिया और कहा कि यह वर्ण-जाति का भेदभाव प्रभुप्रदत्त है॥ 2 ॥ वे भी नष्टबुद्धि के हो गये जिन्होंने वेदमंत्रों की कल्पित वर्ण-जाति सम्बन्धी भेदभावपरक व्याख्याएं कीं। वे वेद तो पढ़ते हैं, परन्तु उनका रहस्य नहीं समझते॥ 3 ॥ उन्हें यह अहंकार है कि यह ऊंच-नीच का भेदभाव दिव्यदृष्टि सम्पन्न ईश्वर या ऋषियों का प्रावधान है और उसके विषय में हमारी भी विमल दृष्टि है; परन्तु आदमी जब स्वार्थ तथा अहंकार में अन्धा हो जाता है, तब उसे कुछ नहीं सूझता। ऐसे लोग कल्पित अतिमानवीय दिव्यदृष्टि का आधार लेकर जनमानस को ठगते हैं॥ 4 ॥

ऐसे बुद्धि के सागर, किन्तु मन के छली लोग जनता को नाना प्रकार के गलत आदेश देकर उन्हें नचाते हैं और स्वयं नट-वेष की तरह स्वांग बनाकर नाचते हैं। हे शेख तकी! तुम ध्यान दो, सभी के दिल में अविनाशी चेतन निवास करता है॥ 63 ॥

व्याख्या—सद्गुरु ने पीछे की रमैनी में मानवीय एकता के आधार पर विस्तृत चर्चा की है और बताया है कि वर्णादि भेदभावपरक बातें कल्पित हैं। उसी क्रम में यह रमैनी भी है। सद्गुरु इस रमैनी में कहते हैं कि जाति और वर्ण सब मनुष्य के बनाये हैं। हम इस पर कालक्रमानुगत ऐतिहासिक अध्ययन कर लें।

कहा जाता है कि भारत में आदिम जातियां निवास करती थीं। पूरा भारत प्राय: जंगलों से ढका था। आर्य लोग कैस्पियन[1] सागर के आस-पास रहते थे।

1. कैस्पियन सागर एशिया-योरप के मध्य, आज के सोवियत रूस के दक्षिणी छोर पर पड़ता है। वहीं से आज का ईराक देश शुरू होता है जो पहले बैबिलोन कहा जाता था। बैबिलोन से पूर्व ईरान है तथा ईरान से पूर्व अफगानिस्तान तथा भारत है।

वे वहां से किसी कारणवश दक्षिण बैबिलोन में बढ़ आये जिसे आजकल ईराक कहते हैं। यहां की संस्कृति तथा भाषा का प्रभाव आर्यों पर पड़ा और वेद-मंत्रों के कितने ही ऐसे शब्द हैं जो बैबिलोन भाषा के हैं, इसीलिए सायण जैसे समर्थ भाष्यकार उनका अर्थ नहीं समझ पाये।[1] आर्य लोग बैबिलोन से फारस आये जो आजकल ईरान कहलाता है। यहां आर्य लोग बस गये। उनके यहां बसने से ही आर्यन से ईरान नाम पड़ा। इनमें एक महान तेजस्वी पुरुष जरथ्रुस्त्र हुए जिनसे पारसी मत चला जो अन्य आर्यों की तरह अग्निपूजक थे। शेष आर्य ईरान से बढ़कर सिन्ध की तरफ आ गये और पंचनद (पंजाब) में बस गये। वेदों के अधिक मन्त्र यहीं बने। यह मत ज्यादा मान्य है।

कुछ लोगों का कहना है कि आर्य लोग हिमालय की चोटियों पर रहते थे। उसकी चोटियां पहले नीची थीं और उन पर असहनीय ठंडक नहीं थी। परन्तु धीरे-धीरे चोटियां ऊंची होती गयीं और ठंडक बढ़ते जाने से उन पर रहना कठिन हो गया। अतएव वे पर्वतों से उतरकर पंचनद (पंजाब) में आ गये।

अब हम मुख्य प्रसंग पर आवें। आर्यों में पहले न कोई वर्णव्यवस्था थी और न जाति-भेद था। वे अपना सब काम अपने हाथों से करते थे। उपासना की दृष्टि से वे प्राकृतिक शक्तियों को देवी-देवता मानते थे तथा उनमें श्रेष्ठ देवता अग्नि को मानकर उसमें हवन करते थे। अग्नि थोड़ी जलाने से बढ़ जाती है इसलिए उसे ब्रह्म कहा गया। 'वृहत्त्वात् ब्रह्म' जो बढ़े या बड़ा हो, वह ब्रह्म। और उसके चारों ओर बैठकर जो उसकी उपासना करे वह ब्राह्मण। इस प्रकार वे अपने को ब्राह्मण कहने लगे। जब शताब्दियों में उनका समाज बहुत बड़ा हो गया, तब उसकी रक्षा के लिए तथा सरदारी के लिए उन्हीं में से चुनावकर एक दल तैयार किया गया जिन्हें 'राजन्य' कहने लगे। जब और समाज बढ़ा, तब पशुपालन के साथ-साथ खेती का विकास हुआ और वस्तुओं का आदान-प्रदान बढ़ने से क्रय-विक्रय बढ़ा। इसलिए उन्हीं में से एक दल तैयार किया गया जिन्हें 'विश' कहा गया। ईराक-ईरान तथा भारत के बहुत-सारे निवासियों को, जो मय, दानव, दैत्य, असुर, पणिय, वानर, रीछ, नाग आदि कहलाते थे आर्यों ने जीतकर अपने साम्राज्य कायम किया। ईराक-ईरान से लेकर भारत तक

---

1. "अब इस बात में संदेह करने की कोई गुंजाइश नहीं रह गयी है कि प्राचीन वैदिक संस्कृति पर बैबिलोनियन संस्कृति का भारी प्रभाव है। ऋग्वेद की अनेक ऋचाएं बैबिलोनियन भाषा से मिलती हैं। जिन ऋचाओं का अर्थ सायण आदि भाष्यकार नहीं लगा सके उन पर बैबिलोनियन ऋचाओं से काफी प्रकाश पड़ता है। यथा "सृण्येव जर्फरीतू" (ऋग्वेद 10/106/6)। (आचार्य चतुरसेन कृत वयं रक्षामः, भाष्यम्, पृष्ठ 241)

पहले असुरों के अधिकार में था। इसका विवरण रामायण, महाभारत तथा पुराणों में मिलता है।[1]

इस प्रकार जब आर्यों का दल बढ़ गया, तब उन्होंने पेशे के ख्याल से ब्राह्मण, राजन्य तथा विश तीन खेमों में समाज को विभक्त किया। हवन आदि धार्मिक कृत्य करने-कराने वाले ब्राह्मण; शासक राजन्य तथा कृषि, पशुपालन व्यापारादि करने वाले विश कहलाये। राजन्य तथा विश ही आगे चलकर क्षत्रिय तथा वैश्य कहलाने लगे। इन तीनों वर्णों में पहले आपस में केवल काम का बटवारा था। परन्तु उनके आपसी व्यवहार में तथा रोटी-बेटी में कोई भेदभाव नहीं था। आगे चलकर मजदूर एवं श्रमिक दल को शूद्र नाम देकर घोषित किया गया। परन्तु उन्हें अछूत नहीं माना जाता था। वे बड़े-बड़े भोजों में भंडारी रहते थे तथा भोजन पकाते थे और उनकी लड़कियां भी ले ली जाती थीं।

पीछे काम बढ़ते गये और बाल बनाने वाले, सूत कातने वाले, कपड़ा बुनने वाले, धातु तथा मिट्टी के बरतन बनाने वाले, लकड़ी का काम करने वाले इत्यादि लोगों की संतानों में उन कामों में स्वाभाविक गति एवं रुचि बढ़ती गयी और उन सबकी अलग-अलग जातियां बनती गयीं। दिन बढ़ते गये और जातियां बनती गयीं और वे एक दूसरे से अपने आप को अलग मानती गयीं। दुर्भाग्य यह कि अन्न पैदा करने वाले, कपड़े बुनने वाले, बाल बनाने वाले, तेल पेरने वाले आदि कर्मकर श्रमिक जो समाज के हाथ-पैर हैं, माई-बाप हैं, उन्हें शूद्र कहकर उनका तिरस्कार किया गया।

'जाति' संस्कृत भाषा का शब्द है जिसका अर्थ होता है पैदा होना। मानव मात्र की पैदाइश एक है, इसलिए मानव मात्र की जाति एक है। बैल-घोड़ी से, बकरा-शूकरी आदि से बच्चे नहीं पैदा होते, इसलिए इनकी जातियां अलग-अलग हैं, परन्तु मानव मात्र के नर तथा नारी से बच्चे पैदा होते हैं। इसलिए पूरा मानव एक जाति है। वर्ण विभाजन भी एक दिन काम का बटवारा लेकर हुआ था। तथा पीछे विभिन्न कल्पित जातियां भी विभिन्न काम करने से बन गयीं। इन सबका विभाग तथा निर्धारण करने वाले मनुष्य ही हैं।

---

1. तस्मिन् प्रशासति तदा सर्वकामदुघा मही।
रसवन्ति प्रसूनानि मूलानि च फलानि च॥
अकृष्टपच्या पृथिवी सुसम्पन्ना महात्मनः।
स राज्यं तादृशं भुङ्क्ते स्फीतमद्भुतदर्शनम्॥ (वाल्मीकीय रामायण 7/84/7-8)
अर्थात—वृत्र असुर के राज्य में पृथ्वी सारी कामनाओं को पूर्ण करने वाली थी। उस समय फूल, फल, मूलादि सब रस से भरे रहते थे। महात्मा वृत्रासुर के शासन काल में पृथ्वी बिना जोते-बोये अन्न पैदा करती थी और सम्पत्ति से पूर्ण रहती थी। इस प्रकार असुरराज वृत्र महान ऐश्वर्यशाली एवं आश्चर्यजनक राज्य का उपभोग करते थे।

इसलिए सद्गुरु कबीर कहते हैं "नाना रूप वर्ण एक कीन्हा। चारि वर्ण वै काहु न चीन्हा॥" एक मनुष्य ने ही नाना कल्पित जातियों के रूप खड़ा किये तथा चार वर्णों का विभाजन किया। जिस समय वर्णव्यवस्था की गयी होगी, हो सकता है उस समय वह स्वस्थ, कल्याणप्रद तथा जनहितकारी रही हो। परन्तु आगे चलकर तो उसमें चालाकी, धूर्तता, दुर्बल वर्ग का शोषण तथा फूट डालकर स्वार्थ सिद्ध करने की भावना ही फैलती गयी। पुरोहित ब्राह्मणों ने शास्त्र नाम पर ऐसा जाल रचा, जिसमें पदे-पदे यही बताया गया कि यह सब ऊंच-नीच का भेदभाव प्रभु का किया हुआ है। इसलिए "चारि वर्ण वै काहु न चीन्हा।" सामान्य मनुष्य यह नहीं समझ सके कि चार वर्णों का प्रपंच मनुष्य का बनाया है।

"नष्ट गये कर्ता नहिं चीन्हा। नष्ट गये औरहि मन दीन्हा॥" इन भेदभावों का कर्ता कौन है? किसने ऊंच-नीच का पाखंड बढ़ाया गया है? उत्तर है चतुर मनुष्यों ने ही। मनुष्य ही इसका कर्ता है। परन्तु यह बात समझ में नहीं आयी। जनता को तो कुछ और ही बताया गया कि यह सब करने वाला ईश्वर है, प्रभु है।

मनुष्य की आत्मा के अलावा न कोई ईश्वर है, न प्रभु है। ईश्वर दुर्बल-हृदय की सृष्टि है। किन्तु इस ईश्वर का दुरुपयोग समाज के शोषण में खूब किया गया है। पहले एक काल्पनिक निराकार ईश्वर बनाया गया और कुछ लोगों ने किसी-किसी मनुष्य को ईश्वर बनाया और उनके मुख से जो जी चाहा अपने रचित ग्रन्थों में अपनी लेखनी द्वारा कहलवा लिया और कहा कि यह प्रभुवचन है। आचरण-भ्रष्ट भी ब्राह्मण पूज्य है तथा सद्गुणसम्पन्न भी शूद्र पूज्य नहीं है—यह प्रभुवचन है। प्रभु ने स्वयं तपस्वी शूद्र शम्बूक की तथा धर्म-प्रवक्ता सूत की[1] हत्या की थी। इसलिए शूद्र यदि तपस्या एवं धर्मोपदेश करे तो उसकी हत्या कर देना प्रभु-समर्थित है। यह सब मानव के एक बृहत् वर्ग के साथ हमने छलावा किया।

'नष्ट गये जिन बेद बखाना। बेद पढ़े पर भेद न जाना॥" वे नष्ट हो गये जिन्होंने वेदों का यह अर्थ निकाला "एक मनुष्य जाति में कोई मौलिक अन्तर है। कुछ लोग वेद, धर्म, संन्यास तथा मोक्ष के अधिकारी हैं। कुछ लोग नीच कर्म करें तो भी पूजे जायें, और कुछ लोग अच्छे कर्म करें तो भी उनकी हत्या कर दी जाये तथा उन्हें अछूत समझा जाये।" सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे लोग वेद

---

1. शंबूकवध तथा सूतवध दोनों काल्पनिक हैं और शूद्रद्वेषियों द्वारा लिखी गयी मनगढ़ंत कहानियां हैं। इसके लिए पढ़िए लेखक की लिखी पुस्तक 'कबीर पर शुक्ल की और मेरी दृष्टि'।

भले पढ़ते हों, परन्तु वे वेदों का रहस्य नहीं समझते। कबीर देव यह बहुत बड़ी बात कह देते हैं। हम इस पर थोड़ा विचार करें।

धर्मशास्त्रों में लिखा है—जैसे पशुओं में घोड़ा, वैसे मनुष्यों में शूद्र है, अतः वह यज्ञ के योग्य नहीं है (तैत्तिरीय संहिता 7/1/1/6), शूद्र एक चलता-फिरता श्मशान है, उसके पास वेदाध्ययन नहीं करना चाहिए।[1] शूद्र को ज्ञान न दे (मनुस्मृति 4/80)। यदि शूद्र वेद-मंत्र सुन ले तो उसके कान में पिघलाया हुआ रांगा भर दे, वह वेद-मंत्र उच्चारण करे तो उसकी जीभ काट दे और उसने अपने हृदय में वेद-मंत्र मनन कर लिया है तो उसकी हत्या कर दे (गौतम धर्मसूत्र 1/12/13 तथा शांकर भाष्य में भी)। इसी प्रकार मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्र कहे जाने वाले ग्रन्थों में भेदभाव, घृणा तथा क्रूरता के वचन हैं। इन सबके लेखक अपने आप को वेदों के मर्मज्ञ होने का दावा करते हैं। आज के भी पंडित कहते हैं कि ब्राह्मण, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, श्रौतसूत्र, स्मृति आदि धर्मग्रन्थों के लेखक वेदों के मर्मज्ञ थे। उन्होंने वेदों के व्याख्या-स्वरूप ही धर्मशास्त्र लिखे हैं। यह ठीक है कि उनमें बहुत-सारी बातें मानव समाज के लिए बड़े काम की हैं, किन्तु उक्त भेदभाव एवं द्वेषपूर्ण वचन किस वेद के किस मंडल, सूक्त, अध्याय, मंत्र के व्याख्यास्वरूप हैं? इसका उत्तर पंडितों के पास नहीं है। वेदों में शूद्रों को कहां अछूत, वर्जित तथा घृणित कहा गया है? बल्कि वेद-मंत्र यह अवश्य कहता है "समानी प्रपा सहवो अन्न भागः" अर्थात हमारी पौशाला एक हो तथा हम साथ-साथ भोजन करें आदि।

ऋग्वेद काल में जातिवाद को लेकर क्रूरता नहीं थी। ऋग्वेद के प्रथम मंडल के 116 से 126 तक—11 सूक्त, जिनमें 153 मंत्र हैं कक्षीवान की रचना है जो शूद्र हैं। इन्हीं की पुत्री घोषा ऋग्वेद (10/39 तथा 40) की ऋषिका हैं, जो शूद्रा ही हैं। ऋग्वेद (10/169) के ऋषि शबर शूद्र ही हैं।[2] विचारना यह है कि जब शूद्र के बच्चे वेद के मंत्र बना सकते थे तब उनके प्रति क्रूरता की बात करना और कहना कि यह वेद का मर्मज्ञ होना है कहां तक संगत है। अतएव सद्गुरु का यह वचन बड़ा ही दूरदृष्टि वाला है कि वेदों की ऐसी व्याख्या करना जिसमें मनुष्यों में ऊंच-नीच की भेदभावना तथा शूद्र कहे जाने वालों को पशु से भी नीच देखने की भावना हो, वेदों को न समझना है और अपना तथा समाज का पतन करना है। वस्तुतः वेद-भक्तों ने ही वेदों पर कालिख पोती है। संस्कृत के कवियों से लेकर हिन्दी आदि के कवियों तक ने जो जातिवादी

1. वेदांत 1/3/38 पर शांकरभाष्य से उद्धृत।
2. देखिए इन सूक्तों का सायण भाष्य तथा स्वामी भगवदाचार्य रचित सामवेद और यजुर्वेद की प्रस्तावना, पृष्ठ 35।

संस्कार के थे, वेदों की जा-बेजा दोहाई दे देकर शूद्र कहे जाने वाले बन्धुओं को नीचा दिखाने की चेष्टा की है। सद्गुरु कहते हैं कि वेदों की ऐसी व्याख्या करने वाले नष्टबुद्धि हैं। वे वेद भले पढ़ते हों, परन्तु उनका रहस्य नहीं जानते।

महाभारत में जाति शब्द मानवमात्र के अर्थ में प्रयुक्त है। नहुषोपाख्यान में युधिष्ठिर कहते हैं—"हे महामति सर्प ! यहां जाति शब्द का प्रयोग पूरे मनुष्य के लिए किया गया है। सभी वर्णों एवं जातियों का इतना मिश्रण हो गया है कि इसमें एक दूसरे से अलग कर उसकी परख करना दुष्कर कार्य है। सदा से सभी वर्णों एवं जातियों के पुरुष सभी वर्णों एवं जातियों की स्त्रियों से बच्चे पैदा करते आये हैं। इसलिए तत्त्वदर्शी पुरुषों ने शील (सदाचार) को सर्वोच्च माना है।"[1]

"बिमलख करे नैन नहिं सूझा।" अर्थात लोग तो अहंकार करते हैं दिव्यदृष्टि का; परन्तु उनको स्थूल नेत्रों से भी नहीं सूझता। अहंकार है त्रिकालदर्शी होने का, परन्तु उन्हें वर्तमान भी नहीं दिखाई पड़ता। ऐसे लोगों पर कबीर साहेब की बहुत बड़ी फटकार है जो अभिमान तो रखते हैं सर्वज्ञता का और मानवीय व्यवहार भी नहीं समझ पाते। सच है, जब आदमी स्वार्थ में मूढ़ हो जाता है, तब उसे कुछ नहीं सूझता—"भया अयान तब किछउ न बूझा।" मनुष्य के हृदय में सच्चे विचार तभी उदित हो सकते हैं जब वह अपने देहस्वार्थ को जीत ले तथा सब तरफ से निष्पक्ष हो जाये। कबीर साहेब के सच्चे विचार का मूल यही है। वे न कहीं आसक्त थे और न कहीं किसी के पक्ष में चिपके थे।

"नाना नाच नचाय के, नाचे नट के भेष।" अर्थात जो अतिमानवीय कल्पना करते हैं और कहते हैं कि मानव से अलग आकाश में बैठा कोई देव है, वे उसी के आदेश का छलावा कर मनुष्यों में ऊंच-नीच की भेदभावना पैदा करते हैं। अपने आप को ऊंच तथा दूसरों को नीच कहते हैं और अपने को दीनदार तथा दूसरों को काफिर कहते हैं। ऐसे लोग संसार के लोगों को नाना कल्पित आदेश देकर उन्हें अपनी उंगुली पर नचाते हैं। ऐसे लोग जनमानस का बौद्धिक तथा आर्थिक शोषण करते हैं। और वे स्वयं भी नाना स्वांग बनाकर नाचते हैं। वे अपने आप की झूठी वरीयता बनाये रखने के लिए नट की तरह पाखंडपूर्ण वेष बनाते हैं। वे दूसरों को नीच तथा अपने आप को ऊंच सिद्ध करने के लिए नाना पाखंड तथा छलावा करते हैं।

---

1. जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते।
संकरात् सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः॥
सर्वे सर्वास्वपत्यानि जनयन्ति सदा नराः।
तस्माच्छीलं प्रधानेष्टं विदुर्ये तत्त्वदर्शिनः॥ (महाभारत, वनपर्व 180/31-33)

सद्गुरु कहते हैं—"घट घट है अविनाशी, सुनहु तकी तुम शेख।" हे शेख तकी ! सुनो, सबके दिल में एक-सा ही अविनाशी चेतन देव निवास करता है। यहां मूल रूप से कोई छोटा-बड़ा नहीं है।

कबीर साहेब के कहने की यह विधा है कि जब वे मानवसमाज पर प्रकाश डालते हैं, तब समसामयिक प्रचलित हिन्दू और मुसलमान—दोनों पक्षों को लेते हैं। हिन्दू सवर्णनामधारी अपने जाति-वर्ण के मिथ्या अभिमान में अहं-हीनत्व की भावना फैला रहे थे तथा मुल्ला-मौलवी अपने तथाकथित इलहामी एवं खुदाई कुरान और इसलाम का अहंकार लेकर गैर-मुसलमानों को काफिर, बेदीन, नरकगामी आदि के रूप में देख रहे थे। निष्पक्ष कबीर को दोनों के पाखंड अखरते थे। वे कहते हैं कि अविनाशी परमात्मा से मुलाकात करने के लिए किसी ऐसे बिचौलिए की आवश्यकता नहीं है जो अपने मत, किताब तथा महापुरुष को अतिमानवीय कल्पनाओं से जोड़कर स्वयं के मत को ईश्वर का ठेकेदार कहता है और दूसरों के मतों को नास्तिकों या काफिरों का रास्ता बताता है। सद्गुरु कहते हैं कि वह अविनाशी परमात्मा आत्मा के रूप में घट-घट में बसता है। वह तो स्वसंवेद्य है। उसका निर्देश करने के लिए केवल पहुंचे हुए सद्गुरु की आवश्यकता है और सद्गुरु केवल विवेकसम्पन्न मानव होता है। न उसे झूठे जाति-वर्ण की आवश्यकता रहती है और न अहंकारपूर्ण ईश्वरीय मत की। वह सद्गुरु तो विवेक-वैराग्य से पूर्ण होता है। वह केवल दीपक से दीपक जलाता है। सबके अन्दर तो अविनाशी निवास करता है। उसे किसी ईश्वरीय या दीनदार के मजहब से पाने का प्रश्न क्या है? जो नित्य प्राप्त है, उसको कोई ईश्वर का ठेकेदार प्राप्त कराने का ढकोसला करे तो वह समाज को केवल गुमराह कर रहा है !

हम अपने अन्दर निवास करने वाले अविनाशी स्वरूप को भूले हैं। अन्दर कहना भी केवल देहोपाधि से है। वह अविनाशी चेतन देह में निवास करता है। वही तो हम हैं। हम अपने स्वरूप को केवल भूले हुए हैं। सद्गुरु जो अपने स्वरूप में जगा हुआ है, हमें भी जगा देता है कि अरे, तू जिस परमात्मा को खोज रहा है वह तू ही है। और इसका ध्यान आते ही हम भी जग जाते हैं। बस, काम हो जाता है।

अब विचारिये ! कौन-सा ईश्वर आकाश में या किसी अन्य लोक में या परोक्ष है जिसने कोई किताब भेजी हो, अपने अवतार, पुत्र या पैगंबर भेजे हों और उसी के द्वारा हमें उसके तक पहुंचना हो। ये सारी बातें मनुष्य के साथ छल करना है। अविनाशी तो घट-घट में है, तो इसमें सद्गुरु के अलावा किस मध्यस्थ की आवश्यकता है ! क्या मनुष्य की आत्मा से अलग कोई परमात्मा होता है जिससे मिलाने के लिए महजबी लोग चौधराना करते हैं !

सद्गुरु कहते हैं कि इस जीव, इस आत्मा, इस अपने अविनाशी चेतन स्वरूप के अलावा कहीं कोई ईश्वर, परमात्मा, गॉड, खुदा आदि नहीं है जिसे पाना है।

यहां सद्गुरु ने शेख तकी को सम्बोधित कर यह साखी कही है। हो सकता है इस साखी की रचना के समय शेख तकी और कबीर साहेब आमने-सामने विद्यमान रहे हों। कबीर साहेब ने जितने पद कहे हैं वे सब जीवंत हैं। अर्थात उन्होंने कमरे के भीतर या पेड़ के नीचे बैठकर नहीं लिखा है, किन्तु जनता में कहा है। उसे शिष्यों ने लिख लिया। सद्गुरु साखी प्रकरण में स्वयं कहते हैं— दोहरा कथि कहैं कबीर, प्रतिदिन समय जो देखि।"[1] अर्थात कबीर साहेब कहते हैं कि मैं प्रतिदिन की वर्तमान स्थिति को देखकर उसके समाधान के लिए अपने पद कहता हूं।

एकांत में लिखा लेख उतना प्राणवान नहीं होता जितना सभा या जनता में बोला गया व्याख्यान होता है। एकांत में तो हम वह लिखते हैं जो उस समय हमारे मन में होता है; परन्तु जनमानस में हम वह बोलते हैं जो समसामयिक जनता की आवश्यकता होती है। इसीलिए सद्गुरु ने लिखने पर विश्वास नहीं किया। उन्होंने कहने पर विश्वास किया है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा "सत्य कहौं लिखि कागद कोरे", परन्तु कबीर साहेब ने बारम्बार दोहराया "कहहिं कबीर सुनो भाई साधो"—"कहहिं कबीर हम जात पुकारा, पंडित होय सो लेय बिचारा।" कबीर साहेब सन्तों से, अवधूतों से, पंडितों से तथा आम जनता से बातें करते हैं। वे ईश्वर की गद्दी पर बैठकर कलम नहीं चलाते किन्तु आम जनता में पहुंचकर बात करते हैं। वे किसी देव या ईश्वर को रिझाने के लिए भी उससे बातें नहीं करते, किन्तु आम जनता से करते हैं। कबीर की दृष्टि कल्पित भगवान पर नहीं, प्रत्यक्ष इनसान पर है, परोक्ष परमात्मा पर नहीं, अपरोक्ष आत्मा पर है। वे मनगढ़ंत स्वर्ग पर नहीं, सजीव धरती पर दृष्टि रखते हैं।

काल्पनिक सिद्धियों का व्यामोह छोड़कर आत्म-परख करो

रमैनी-64

काया कंचन जतन कराया। बहुत भाँति के मन पलटाया॥ 1॥
जो सौ बार कहौं समुझाई। तैयो धरो छोरि नहिं जाई॥ 2॥
जन के कहै जन रहि जाई। नौ निद्धी सिद्धी तिन पाई॥ 3॥

---

1. बीजक, साखी 320।

सदा धर्म जाके हृदया बसई। राम कसौटी कसतहि रहई॥ 4॥
जो रे कसावै अन्तै जाई। सो बाउर आपुहि बौराई॥ 5॥
साखी—ताते परी काल की फाँसी, करहु न आपन सोच।
जहाँ संत तहाँ संत सिधावैं, मिलि रहै धूतहि धूत॥ 64॥

शब्दार्थ—पलटाया=घुमाया। धरो=पकड़ रखा है। जन=योगी जन। जन=योगमार्गी शिष्य जन। नौ निद्धी=कुबेर की नौ निधियां (खजाने)—पद्म्, महापद्म, शंख, मकर, कच्छप, मुकुंद, कुंद, नील तथा खर्व। सिद्धी=अष्ट सिद्धि—अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, दर्शित्व तथा वशित्व।[1] अन्तै=अलग, अनात्म। बाउर=मूर्ख। काल=कल्पना, अज्ञान। सोच=चिंता, विचार। धूत=धूर्त, छली।

भावार्थ—कुछ साधक काया को कंचन के समान देदीप्यमान तथा सदा जवान बनाये रखने के लिए काया-कल्प आदि बहुत यत्न करते हैं। मैंने उनको बहुत प्रकार से समझाकर तथा उनके मन को उधर से घुमाकर आत्म-शोधन में लाना चाहा॥ 1॥ परन्तु सौ बार भी समझाकर कहता हूं तो भी उन्होंने उसको इतनी मजबूती से पकड़ रखा है, कि वे उसे छोड़ नहीं सकते॥ 2॥ योगियों के कहने से ये साधकजन यदि उसी भ्रम में पड़े रह जाते हैं, तो इनको क्या मिलेगा? बहुत हुआ तो उनके कथनानुसार ये नौ निद्धियां तथा अष्ट सिद्धियां पायेंगे। अर्थात थोड़ा सांसारिक लाभ इनको मिल जायेगा। परन्तु वह सब नाशवान है॥ 3॥ जिसके हृदय में सदैव सच्चा धर्म निवास करता है वह अपने आप को अन्तरात्मा की कसौटी पर कसता रहता है कि मैं कौन हूं तथा मेरी स्थिति क्या है॥ 4॥ परन्तु जो अन्तरात्मा की कसौटी छोड़कर अपने आप की परख के लिए कोई बाहरी मानदंड मानेगा और अपने उद्धार के लिए दूसरे की आशा करेगा, वह मूर्ख अपने आप पागल हो जायेगा॥ 5॥

लोग अपनी अंतरात्मा की कसौटी छोड़कर बाहर कल्पित देवी-देवताओं एवं ऋद्धि-सिद्धियों में दौड़ते हैं, इसीलिए सबके गले में अज्ञान की फांसी लगी है। हे मनुष्य! तू अपने कल्याण की चिंता कर न! जहां संत होते हैं, वहां संत जाते हैं और धूर्त लोग धूर्तों से मिलकर अपनी दलबंदी करते हैं॥ 64॥

व्याख्या—हठयोगियों के बहकावे में आकर कुछ साधक इस भ्रम में पड़ जाते हैं कि काया-कल्प आदि यत्न करने से जवानी सैकड़ों वर्ष बनी रहेगी और

1. अणिमा—छोटा रूप धारण करना। महिमा—संसार में कीर्ति प्राप्त करना। लघिमा—कपास वत हल्का रूप धारण करना। गरिमा—पर्वताकार बड़ा रूप धारण करना। प्राप्ति—जहां चाहे वहां चला जाना। प्राकाम्य—मनोरथ पूर्ण करना। दर्शित्व—गुप्त-प्रकट सब वस्तु देखना। वशित्व—जिसे चाहे उसे अपने वश में कर लेना। ये सारी सिद्धियां काल्पनिक हैं। निद्धियां भी काल्पनिक हैं। निद्धि-सिद्धि का सरल अर्थ सांसारिक लाभ है।

शरीर अमर भी हो सकता है। लोग प्रसिद्ध हठयोगी गोरखनाथ को आज भी जीवित रहने का भ्रम करते हैं और कहते हैं कि वे शरीर से अमर हैं। इन मिथ्या महिमाओं के जाल में पड़कर कुछ लोग नेति, धौति, वस्ति, नौलि, कपालभाति, त्राटक आदि करते हैं। वे खान-पान तथा अन्य बातों में बहुत संयम कर शरीर को स्थिर बनाये रखने का भ्रम पाले रहते हैं। इसके साथ यह भी भ्रम जुड़ा रहता है कि जो योगसिद्ध हो जायेगा, वह अष्ट सिद्धि-नौ निद्धि पायेगा।

सद्गुरु कहते हैं कि यह सब मन का मोह है और सर्वथा भ्रमपूर्ण है। संयम-नियम से रहने से शरीर स्वस्थ रहता है और कुछ ज्यादा दिनों तक युवा-जैसा रहता है। परन्तु शरीर तो बदलने वाला है। वह क्षण-क्षण बदल रहा है। चाहे कोई कितना ही योग करे, परन्तु बुढ़ापा तथा मृत्यु का आना निश्चित है। आज भी ऐसे साधु मिलते हैं जो मुश्किल से सत्तर-पचहत्तर वर्ष के होते हैं, परन्तु बताते हैं कि हम योगसाधना से चल रहे हैं, इसलिए एक सौ चालीस वर्ष के हो गये हैं, तो भी कम उम्र के दिखते हैं, परन्तु यह सब व्यामोह है। इसका महत्त्व नहीं है कि आदमी कितने दिन जीता है, परन्तु महत्त्व है कि वह अपने जीवन में क्या करता है।

ऋद्धि-सिद्धि केवल मन के धोखे हैं। सिद्धि का अंधविश्वास ऋग्वैदिक काल से ही रहा है "मुनि लोग आकाश में उड़ सकते हैं और सारे पदार्थों को देख सकते हैं।......मुनि लोग वायु मार्ग पर घूमने के लिए अश्व स्वरूप हैं......।"[1] पातंजल योगदर्शन में लिखा गया—"योगी त्रिकालज्ञ हो जाता है, सम्पूर्ण प्राणियों की भाषा जान लेता है। हाथी के समान बलवान, परदे के भीतर की वस्तुओं का ज्ञाता, समस्त लोकों का ज्ञाता, भूख-प्यास से मुक्त आदि हो जाता है। दूसरे के शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। आकाश में उड़ता है। अणिमा, लघिमा, गरिमा आदि सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है।"[2] ये सारे अंधविश्वास जनमानस में फैले थे। उन्हें योगदर्शन के लेखक ने अपने सूत्रों में संचित कर दिया। पीछे के लोग शास्त्र-वचन त्रिकालज्ञ ऋषियों के हैं मानकर उन सारे अंधविश्वासों को मन में पालते हैं। इससे दो प्रकार की हानियां होती हैं। पहली हानि यह है कि हम अंधविश्वासी बनते हैं और कारण-कार्य-व्यवस्था के बोध से वंचित रहते हैं। इसलिए कोई भी जालसाज हमें योग का पाखंड दिखाकर ठगता है। दूसरी हानि है कि कुछ लोग सिद्धिलाभ के चक्कर में पड़कर अपने रत्नतुल्य जीवन को हठयोग में व्यतीत करते हैं, जिसमें आध्यात्मिक लाभ कुछ नहीं, बल्कि भटकाव है।

---

1. ऋग्वेद 10/136/4-5।
2. पातंजल योगदर्शन 3/14-49।

सद्गुरु कबीर के युग में हठयोगी खूब थे। लगता है कि कबीर साहेब ने स्वयं भी हठयोग साधा था। परन्तु उसे व्यर्थ जानकर छोड़ दिया था और फिर उसका बीजक में जगह-जगह खंडन किया।

सद्गुरु यहां बताते हैं कि मैं इन लोगों को बारम्बार समझाकर स्वरूपज्ञान पर लाना चाहता हूं; परन्तु ये तो उसे ऐसा मजबूत पकड़ रखे हैं कि छोड़ने का नाम भी नहीं लेते।

"सदा धर्म जाके हृदया बसई। राम कसौटी कसतहि रहई॥" यह पंक्ति बहुत मार्मिक है। जिसके हृदय में सदैव धर्म बसता है, वह अपने आप को 'राम-कसौटी' में कसता रहता है। 'राम-कसौटी' है अंतरात्मा की कसौटी। इस पंक्ति में दो शब्द महत्त्वपूर्ण हैं एक 'धर्म' और दूसरा 'राम-कसौटी'। इन दोनों शब्दों पर हम खुलासा विचार कर लें।

हम पहले 'धर्म' को लें। धर्म है वस्तु का स्वभाव तथा उसके नियम। एक भौतिक क्षेत्र है तथा दूसरा मानसिक क्षेत्र है। मूल द्रव्यों में उनके अपने स्वभाव तथा नियम हैं जो उनमें अंतर्निहित हैं। उन्हीं से जगत की सृष्टि निरंतर चलती है। मूल जड़तत्त्व दूसरे जड़तत्त्वों का उपयुक्त संयोग पाकर अपने अंतर्निहित नियमों से नये-नये कार्य बनाते रहते हैं। जैसे खेत वर्षा, उपयुक्त ऋतु तथा बीज पाकर फसल उगल देता है। लोग कहते हैं "संसार के नियम देखकर उससे भिन्न नियामक की कल्पना करना पड़ता है।" यह ज्ञान से पलायनवाद है और प्रकृति के नियमों पर एक अ-समीक्षात्मक भोले देव को थोपना है, जिससे जब चाहा जाये अपनी इच्छित वस्तु की भीख मांग ली जाये। यदि पानी नहीं बरस रहा है तो उससे पानी की वर्षा मांगी जाये। संतान, धन, निरोग्यता, पदोन्नति न मालूम कितनी चीजों की भीख इनसान मांगता है, उस देव से जिसे उसने स्वयं गढ़ा है। देववाद ने विवेकज्ञान को सुला दिया है। जब मूल द्रव्यों में नियम देख ही रहे हो तब उससे भिन्न नियामक की कल्पना करने की क्या आवश्यकता? जब देख रहे हो कि बीज, पानी, प्रकाश, वायु, मिट्टी आदि की अपनी सारी योग्यताएं मिलकर पौधे तैयार हो गये और उनमें फूल खिल आये, तब यह कहने की क्या आवश्यकता कि इन फूलों को किसी देव ने खिला दिया है। अतएव प्रकृति अनादि है। उसके स्वभाव तथा नियम उसमें अनादि अंतर्निहित हैं और उनसे जगत का सम्पादन नित्य होता है। भौतिक पदार्थों में ये अंतर्निहित स्वभाव, गुण, नियम आदि उनके धर्म हैं। हमें चाहिए कि हम विवेक तथा परख द्वारा उन्हें पहचानें और उनके मंगलदायी कार्यों में अवरोधक न बनें तथा अनिष्टकारी कार्यों को रोकने का भरसक प्रयत्न करें। आग लगने पर हम उसे पानी, मिट्टी आदि से बुझाने का प्रयत्न करें, देवता की प्रार्थना नहीं कि वह

उसे बुझा देगा। आग का स्वभाव है जलाना चाहे उसमें ददरिया की किताब पड़े या धार्मिक ग्रन्थ, चाहे दुष्ट पड़े या सन्त। व्यापार में गिरावट हो रही है, खेती में सफलता नहीं हो रही है, नौकरी नहीं मिलती या छूट गयी है, स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता है, तो हमें इनके कारणों को पहचानना चाहिए और उन्हें भरसक दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। इन सबके सुधार के लिए किसी तांत्रिक, पण्डित या महात्मा नामधारी से पूजा कराने की आवश्यकता नहीं है।

तुम्हें जिनसे सुख-दुख मिलते हैं, वे तुम्हारे चारों तरफ फैले जड़-चेतन हैं। उन्हें और उनके स्वभाव को पहचानने की आवश्यकता है और उनके ग्रहण-त्याग तथा सदुपयोग करने की आवश्यकता है। पेट खराब रहता है तो उसके लिए न भभूत झड़ाने की आवश्यकता है और न पूजा करने की, किन्तु अपनी आंत को पहचानने की आवश्यकता है कि वह क्या और कितना ठीक से पचा सकती है। बस, उतना ही खाओ, फिर सुखी रहोगे।

भौतिक क्षेत्र से भी तुम्हारे ज्यादा निकट मानसिक क्षेत्र है। उसके स्वभाव एवं नियमों को पहचानने का प्रयत्न करो। तुम्हें तुम्हारा मन क्यों परेशान करता है? इसे पहचानो। मन का क्या स्वभाव है? उसे परखो। क्रोध, ईर्ष्या, काम, लोभ, मोह आदि विकारों में लिप्त रहोगे तो तुम्हारा मन अशांत रहेगा ही। हजार पूजा, जप, तीर्थ, देवाराधन करो, उनसे तुम्हें क्षणिक संतोष भले मिल जाये, परन्तु मन की उलझन नहीं मिट सकती। वह तो मन को परख कर उससे सारे विकारों को दूर करने से ही होगी। तुमने जिसको तकलीफ दी है, उसी के पास जाकर और पूर्ण विनयावनत होकर उससे क्षमा मांगने से जो तुम्हें शांति मिलेगी, वह शांति तुम्हें तथाकथित तैंतीस कोटि देवता तथा उनके महाराजा ईश्वर से भी क्षमा मांगने से नहीं मिल सकती।

नैतिकता के नियमों का मूल मन में है और भौतिक गतिविधियों के नियमों का मूल प्रकृति में है। यही इनके धर्म हैं। इन दोनों को ठीक से समझकर जो अपने जीवन में ठीक नियमों से चलता है, वही धर्म को समझता है। उसी के हृदय में सच्चे धर्म का निवास है। पूजा करने तथा नमाज पढ़ने वाला धर्मी है, यह बहुत ऊपर-ऊपर की बात है। सच्चा धर्मी वह है जो अपने मन को सदैव देखता है कि उसमें क्या उठ रहा है और उसके विकारी विचारों को दूर करता है।

'धर्म' संस्कृत भाषा का शब्द है और 'धृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ है धारण करना, सहारा देना, सम्हाल रखना। ये पदार्थों के नियम तथा स्वभाव ही तो सृष्टि को धारण करते हैं। इन्हीं के सहारे तो विश्व चलता है। अत: यही धर्म है। मानसिक क्षेत्र में नैतिकता ही धर्म है, यही जीवन को धारण करती है।

इसके लिए ऋग्वेद में 'ऋत' शब्द का प्रयोग बार-बार आया है। वेदों में ऋत के तीन अर्थ हैं—यज्ञों के नियम, प्रकृति के नियम तथा नैतिकता के नियम। पीछे वाले दोनों अर्थ सारगर्भित हैं। प्रकृति और मन के स्वभाव को पहचान कर नियमों से चलना यह ऋत के या धर्म के अनुसार चलना है। ऋग्वेद के ऋषि कहते हैं—"ऋत के पथ पर अर्थात प्रकृति के नियमों से चलने वालों के लिए हवाएं मधु ढोती हैं, नदियां मधु बहाती हैं तथा वनस्पतियां मधु बरसाती हैं।"[1] ऐतरेय ब्राह्मण के भाष्य में सायणाचार्य ने लिखा है—"मन से वस्तु का यथार्थ चिंतन करना ऋत है तथा वाणी से वस्तु का यथार्थ कथन करना सत्य है।"[2]

इस प्रकार जड़-चेतन के भेद एवं उनके गुण-धर्मों को ठीक से जानकर तथा निर्भ्रांत दृष्टि रखकर नैतिकता से चलना धर्म के पथ पर चलना है। सद्गुरु कहते हैं कि जिसके हृदय में यथार्थ वस्तु-बोध एवं तत्त्वबोध है और जो पवित्र रहनी से चलता है उसके हृदय में मानो धर्म बसता है। ऐसा सत्यज्ञान तथा पवित्र मन वाला व्यक्ति अपने आप को 'राम-कसौटी' में कसता है। राम अपना चेतन स्वरूप है, अपनी अंतरात्मा है। पवित्र मन वाला व्यक्ति अपनी अंतरात्मा की आवाज को साफ सुनता है। यहां कोई यह न समझ ले कि अंतरात्मा से कोई शब्द उठता है। तात्पर्य है कि जीव ज्ञानस्वरूप है। जब वह मल, विक्षेप तथा आवरणों से मुक्त हो जाता है, तब उसका ज्ञान उद्घाटित हो जाता है। ऐसा शुद्ध जीव अपने आप को क्षण-क्षण समझता रहता है कि मैं कौन हूं, क्या कर रहा हूं। उसके मन के सामने थोड़ी भी भ्रांति आये, उसे देख लेता है। उसका निर्मल ज्ञान उसके लिए क्षण-क्षण कसौटी का काम करता है। धर्माचरण द्वारा हृदय निर्मल होने से भीतर सब कुछ साफ समझ में आता है। पवित्र व्यक्ति की चेतना उसे क्षण-क्षण रास्ता दिखाती है। यही अंतरात्मा की आवाज है और यही 'राम-कसौटी'[3] है।

"जो रे कसावै अन्तै जाई। सो बाउर आपुहि बौराई॥" अर्थात जो व्यक्ति अपनी कसौटी तथा अपने आप की निरख-परख अपने अंतर्ज्ञान से न कर किसी काल्पनिक देव से निवेदन करता है—"हे देव ! तू ही समझ कि मैं कौन हूं और मेरा उद्धार कैसे होगा ! मैं तो अल्पज्ञ हूं, असमर्थ हूं। तू ही सर्वज्ञ तथा सर्वसमर्थ है ! तू ही मेरी देख-रेख कर तथा मेरा उद्धार कर !" सद्गुरु कहते हैं

---

1. मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। (ऋग्वेद 1/90/6) (ऋग्वेद के चौथें मंडल के 23वें सूक्त में बारह बार ऋत का प्रयोग हुआ है।)
2. मनसा यथा वस्तुचिन्तनमृतशब्दाभिधेयं वाचा यथावस्तुकथनं सत्यशब्दाभिधेयम्।
(ऐतरेय ब्राह्मण 1/6)
3. बीजक शब्द 36 में सद्गुरु ने 'राम-ठगौरी' भी कहा है। 'राम-ठगौरी' का अर्थ है राम के नाम पर मिथ्या विश्वास।

कि ऐसा प्रलाप करने वाला भोला है। वह अपने आप को भूलकर स्वयं पागल बन गया है।

किसी काल्पनिक देवता से तो कुछ भी होने-जाने वाला नहीं है। हां, इसके लिए सच्चे सद्गुरु तथा संतों की संगत अवश्य सहयोगी है। इसके बिना काम होना असंभव है। परन्तु सद्गुरु तथा सत्संग का आधार लेकर व्यक्ति को आत्म-शोधन अपने अंतर्ज्ञान से ही करना पड़ेगा। व्यक्ति का अपना मौलिक स्वरूप चेतन स्व-संवेद्य है। वह पर-संवेद्य कभी नहीं हो सकता। मैं को मैं ही ठीक से जान सकता हूं, इसलिए मेरी कसौटी राम-कसौटी ही है। जो अपने आप को ठीक से नहीं जानता वह कुछ नहीं कर सकता। दैववाद तथा ईश्वरवाद ने आत्मशोधन, राम-कसौटी, स्वसंवेद्य, अंतर्ज्ञान एवं स्वतः परख के ऊपर परदा डाल दिया है। तुम पारख रूप हो। तुम अपने आप को स्वयं परखो। टेनीसन ने क्या खूब कहा है—"आत्मविश्वास, आत्मज्ञान तथा आत्मसंयम—ये तीनों जीवन को परम शक्ति सम्पन्न बना देते है।"[1]

परन्तु जो स्वयं अपने अंतर्ज्ञान तथा परख की अवहेलना कर जगह-जगह देवी-देवताओं की प्रार्थना करता घूमता है, वह केवल भटकता है। सद्गुरु कहते हैं "ताते परी काल की फाँसी, करहु न आपन सोच।" इसलिए कल्पना तथा अज्ञान की फांसी तुम्हारे गले में पड़ी है और तुम्हारी हत्या हो रही है। जिसने अपने स्वरूप को नहीं समझा और अपने आप का उद्धार अपने पुरुषार्थ से नहीं किया और किसी देव के भरोसे बैठा रहा, उसने मानो आत्महत्या कर ली। इसलिए सद्गुरु चेतावनी देते हैं "करहु न आपन सोच"—अपने आप को इस अज्ञान तथा परावलम्बन की फांसी से छुड़ाने के लिए अपनी चिन्ता करो न! जब तुम स्वयं अपने आप में जागोगे, तभी तुम्हारे गले की फांसी कटेगी। बिना तुम्हारे अपने आप में जगे साधु-गुरु भी तुम्हारी सहायता नहीं कर पायेंगे।

"जहाँ संत तहाँ संत सिधावैं" संत के पास संत जाते हैं। सद्गुरु उसे भी संत मानते हैं जो सत्य का जिज्ञासु है और जो अपनी आंखें खोलकर संत के पास पहुंचता है। सत्य के इच्छुक को चाहिए कि वह पारखी संतों के पास जाये और आत्मनिरीक्षण के लिए उनसे परख की कला सीखे। जहां सत्यासत्य परखने-परखाने की संगत है वहीं सत्संग है और निष्पक्ष परख करने-कराने वाले महापुरुष ही संत हैं।

"मिलि रहै धूतहि धूत" धूर्त कहते हैं वंचक को। जो दूसरों को धोखा दे, वह धूर्त है। जो छलावा की बातें करते हैं, वे ऐसी ही संगत में जाते हैं जहां लोग स्वयं को तथा दूसरों को छलते हैं।

---

1. Self Reverence, Self Knowledge, Self Control these three alone lead life to sovereignty.—Tenyson

सद्गुरु इस रमैनी में बताते हैं कि ऐसे योग में मत फंसो जिसका फल काया को टिकाऊ बनाने का व्यामोह है। तुम सत्य-असत्य की परख करो। अपनी आत्मा को पहचानो और उसमें स्थित होओ। इसके लिए पारखी संतों के पास जाकर सत्य पारख ग्रहण करो।

मुख्य मानवीय-गुण विचार है

रमैनी-65

अपने गुण को अवगुण कहहू। इहै अभाग जो तुम न विचारहू॥ 1॥
तूँ जियरा बहुतै दुख पावा। जल बिनु मीन कौन संच पावा॥ 2॥
चातृक जलहल आसै पासा। स्वांग धरै भवसागर की आसा॥ 3॥
चातृक जलहल भरै जो पासा। मेघ न बरसे चले उदासा॥ 4॥
राम नाम इहै निजु सारा। औरो झूठ सकल संसारा॥ 5॥
हरि उतंग तुम जाति पतंगा। यम घर कियहु जीव को संगा॥ 6॥
किंचित है सपने निधि पाई। हिय न समाय कहाँ धरौं छिपाई॥ 7॥
हिय न समाय छोरि नहीं पारा। झूठा लोभ किछउ न विचारा॥ 8॥
सुमृति कीन्ह आपु नहीं माना। तरुवर तर छर छार हो जाना॥ 9॥
जिव दुर्मति डोले संसारा। ते नहिं सूझे वार न पारा॥10॥

साखी—अन्ध भया सब डोलै, कोइ न करै विचार।
कहा हमार मानै नहीं, कैसे छुटे भ्रम जार॥ 65॥

शब्दार्थ—अपने गुण=मानवीय गुण, विचारशक्ति। संच=सुख। चातृक= चातक पक्षी। जलहल=जलधर, समुद्र, जलाशय। स्वांग=नाना वेष, नकल। उतंग=उत्तुंग, ऊंचा। यम=वासना। निधि=खजाना। किछउ=थोड़ा भी। सुमृति=मनु आदि स्मृतियां, धर्मशास्त्र। छर=नाश। छार=राख, धूल। वार पार=समाधान। भ्रमजार=भ्रमजाल।

भावार्थ—हे मानव! तुम अपने मानवीय गुण विचार-शक्ति को अवगुण कहते हो। यह तुम्हारा दुर्भाग्य है जो विचार-विवेक की अवहेलना करते हो॥ 1॥ हे जीव! स्वरूप-विचार को छोड़कर तूने बहुत दुख पाया। भला, ऐसी कौन मछली होगी जो जल के बिना सुखी रह सके। इसी प्रकार ऐसा कौन मनुष्य होगा जो आत्म-विचार से अलग होकर सन्तुष्ट हो सके॥ 2॥ चातक पक्षी के आस-पास ही स्वच्छ-शीतल भरा हुआ जलाशय रहता है, परन्तु वह स्वाति-बूंद की आशा में प्यासा ही रह जाता है। यदि स्वाति नक्षत्र नहीं बरसता तो चातक निराश होकर उड़ जाता है। इसी प्रकार मनुष्य का शांति-सागर एवं आनन्द-सागर उसके हृदय में ही निवास करने वाला उसका अपना चेतन-

स्वरूप ही है, परन्तु यह उधर न ध्यान देकर मन से रचित कल्पित वस्तु की आशा करता है और उसे पाने के लिए नाना स्वांग बनाता है जो मन का ही विलास होने से भवसागर रूप है॥ 3-4॥

राम-नाम से कहा जाता हुआ यह चेतन आत्मदेव ही व्यक्ति का अपना सारस्वरूप है। शेष तो सारा संसार एक दिन छूट जाने से अपने लिए झूठा ही सिद्ध हो जाता है॥ 5॥ व्यक्ति के अपने चेतन-स्वरूप से अलग माना हुआ हरि तो मनःकल्पित होने से एक ऊंची अग्नि-शिखा है और तुम भावुक लोग उसमें कूदकर जल मरने वाले पतिंगे हो। जिसने स्वरूप-विचार एवं आत्म-विचार छोड़कर मनःकल्पित वस्तु को ही ईश्वर मानकर उसी में विश्राम माना है, उसने मानो अपने आप को वासनाओं के घर में डाल दिया है। वह स्वरूपस्थिति छोड़कर वासनाओं में बह रहा है॥ 6॥

जैसे कोई व्यक्ति स्वप्न में थोड़ा धन पा जाये, तो इतना हर्षित हो कि फूलकर कुप्पा हो जाये और वह सोचे कि मैं इस धन को कहां छिपाकर रखूं॥ 7॥ वैसे मनुष्य संसार की धन-दौलत को पाकर उसमें फूला-फूला घूमता है। परन्तु उन्हें न तो बाहर सुरक्षित रख सकता है और न अपने हृदय को फाड़कर उसमें रख सकता है और न उसका लोभ छोड़ पाता है। मनुष्य थोड़ा भी विचार नहीं करता कि इन स्वप्नवत मिले प्राणी-पदार्थों में लोभ करना मेरा भ्रम है॥ 8॥ मनु आदि स्मृति एवं धर्मशास्त्र तो बने हैं जिनमें मनुष्यों के कर्तव्य-अकर्तव्य के अच्छे विधान भी हैं, परन्तु जब मनुष्य उन्हें स्वयं नहीं मानता है तो शास्त्र क्या करेंगे। मनुष्य तो ऐसा विवेकहीन हो गया है कि वह पेड़ की शीतल छाया में जाकर भी जलकर राख होना ही अपना कर्तव्य समझता है, अर्थात शास्त्रों का पक्षधर होकर भी पतित बना रहता है॥ 9॥ मनुष्य अपनी गलत बुद्धि के कारण संसार में भटकता है और उसे समाधान नहीं सूझता॥ 10॥

सब विवेकहीन होकर भटकते हैं। कोई विचार नहीं करता। मैं कहता हूं कि आंख मूंदकर मानना छोड़ो, हर बात में विचार कर ग्रहण-त्याग करो, परन्तु मेरी इन बातों को लोग नहीं मानते, तो इनका भ्रमजाल कैसे छूटेगा !॥ 65॥

व्याख्या—कबीर साहेब की वाणी दहकती हुई आग है। उसमें किसी कूड़े-कचड़े का बचा रह जाना संभव ही नहीं है। सद्गुरु कहते हैं "अपने गुण को अवगुण कहहू। इहै अभाग जो तुम न विचारहू॥" मानव का अपना मौलिक गुण विचार है। 'मननात् मनुष्यः' मनन एवं विचार करने के कारण यह प्राणी मनुष्य कहलाता है। मनुष्य में यदि विचार न हो, तो वह पशु से भी गया-बीता है। प्रकृति की तरफ से ही मनुष्य का हृदय विचार-शक्ति-सम्पन्न बना है। परन्तु दुर्भाग्य है कि मनुष्य अपनी विचार-शक्ति की अवहेलना करता है।

श्रद्धा का मूल्य कम नहीं है। सत्य बात पर भी यदि हम श्रद्धा नहीं रखते, तो उससे लाभ नहीं उठा पाते। परन्तु विचार को छोड़कर श्रद्धा केवल भावुकता है जिसको कड़ी भाषा में कहें तो मूढ़ता है। लोग श्रद्धा का गलत अर्थ लगाते हैं। वे समझते हैं कि परम्परा की हर बात आंख मूंदकर मान लेना श्रद्धा है, परन्तु यह धारणा श्रद्धा को न समझने का फल है। जैसा कि पीछे बता आये हैं कि श्रद्धा में दो पद हैं 'श्रत्' और 'धा'। 'श्रत' का अर्थ है सत्य तथा 'धा' का अर्थ है धारण करना। तात्पर्य हुआ सत्य को धारण करना। मन की जो शक्ति सत्य को धारण करे वह श्रद्धा है। परन्तु हमने तो अन्धविश्वास को श्रद्धा नाम दिया है।

लोगों को सत्यासत्य, जड़–चेतन एवं कर्तव्याकर्तव्य पर विचार करने की राय दी जाये तो वे उससे कतराते हैं। वे अपने मन की सुविधा के अनुसार किसी परम्परा–पोषित सड़ी–गली बात को मानकर तथा उसकी पूंछ पकड़कर चलना चाहते हैं। परन्तु यह निश्चय समझ लो कि जिसे बौद्धिक, चारित्रिक एवं आत्मिक संतोष प्राप्त करने की अभिलाषा है उसे विचारवान बनना चाहिए और यह अभिलाषा सबको है।

"तूँ जियरा बहुतै दुख पावा। जल बिनु मीन कौन संच पावा॥" सद्गुरु करुणा–विगलित होकर कहते हैं कि हे जीव! तू विचार को छोड़कर और जहां–तहां खाई–खंदक में गिरकर बहुत दुख पाया। काम, मोह, लोभ, विषयासक्ति, भूत–प्रेत, देवी–देवता, तन्त्र–मन्त्र, शकुन–अपशकुन, भावी कल्पित इष्ट–अनिष्ट आदि के भ्रमजाल में तू इसीलिए भटकता है, क्योंकि तू विचार का प्रयोग नहीं करता है। यह तो तेरा अविचार ही है कि तू अपने स्वरूप को नहीं समझता है। इसलिए दर–दर भटकता है। यदि मछली को पानी से अलग कर दिया जाये तो उसको विश्रांति कैसे मिलेगी! यदि जीव आत्म–विचार से अलग रहता है, तो वह सच्चे अर्थों में सुखी कैसे हो सकता है! जो अपनी आत्मा को नहीं समझता और अपनी आत्मा में सन्तुष्ट नहीं होता, वह बाहर से सम्पन्न होकर भी सुखी नहीं हो सकता।

चारों तरफ स्वच्छ, शीतल एवं गहरा जलाशय भरा हो। उसके बीच में भी रहकर चातक स्वाति–बूंद की आशा करता है और स्वाति नक्षत्र के न बरसने से वह उदास होकर उड़ जाता है। यही भूल जीव की है। स्वरूपविचार–आत्मविचार परम शांति का सागर है और वह उसके निकट ही है। निकट कहना भी कथन का एक तरीका मात्र है। यह चेतनदेव स्वयं ही तो सुख–सागर है। परन्तु विचार–विवेक के अभाव में जीव मलिन विषयों के चिंतन एवं क्रिया में लगा रहता है या तो अपने आप से दूर किसी देव या ईश्वर की कल्पना में

डूबा रहता है। चातक को तो स्वाति-बूंद मिल भी सकती है; परन्तु अपनी आत्मा से अलग माना हुआ परमात्मा कभी नहीं मिल सकता; क्योंकि वह केवल मन की कल्पना है। जो व्यक्ति अपने स्वरूपविचार एवं स्वरूपस्थिति को छोड़कर बाहर से कुछ भी पाने के लिए नाना कर्मकांडों एवं वेष का स्वांग बनाता है, वह मानो भवसागर की ही आशा करता है। स्थूल विषय-भोग भवसागर है; परन्तु मन की कल्पनाएं उससे गहरा भवसागर है।

"राम नाम इहै निजु सारा" इस अर्धाली का अर्थ यह नहीं है कि राम का नाम जपना ही अपना सारतत्त्व है। कबीर साहेब की शैली तथा उनका सिद्धान्त समझ लेने पर यह भ्रम नहीं हो सकता। वे बीजक में जहां कहीं भी 'राम-नाम' या 'राम' कहकर विधेयात्मक ढंग से उसे स्वीकारते हैं, वहां उनका अभिप्राय अन्तरात्मा के लिए ही है। अतएव यहां का अभिप्राय यही है कि राम नाम से अभिहित स्व-स्वरूप चेतन ही अपना सार है। 'निज-सार' अर्थात अपनी वास्तविकता अपना चेतन-स्वरूप है। उसी को राम शब्द से भी जाना जाता है। नाम तो सारे ही काल्पनिक होते हैं, किन्तु लक्ष्य है व्यक्ति की अपनी अन्तरात्मा। सद्गुरु कहते हैं कि तुम्हारी अन्तरात्मा रूपी राम ही तुम्हारा सार स्वरूप है। वही तुम्हारे साथ है। अपनी आत्मा अपने से कभी अलग नहीं होती है। अलग होने की गुंजाइश ही नहीं है; क्योंकि अपने आप से अपने आप को कोई अलग नहीं कर सकता। परन्तु अपनी आत्मा से अलग की सारी चीजें क्षण-क्षण छूटती जाती हैं और एक दिन सारा संसार छूट जाता है। इसलिए संसार अपनी जगह पर प्रवाह रूप नित्य होते हुए भी हमारे लिए झूठा ही है, क्योंकि यह हमसे एक दिन सर्वथा दूर हो जाता है—"औरों झूठ सकल संसारा।"

"हरि उतंग तुम जाति पतंगा। यम घर कियहु जीव को संगा॥" यह पंक्ति बहुत बड़ी क्रान्ति की भाषा में है। यह एकदम चौंका देने वाली पंक्ति है। सद्गुरु कहते हैं कि हरि ऊंची अग्नि-शिखा है और तुम उसमें कूदकर जल मरने वाले पतिंगे हो। हरि तो आराध्य होता है, फिर वह जलने वाली अग्नि-शिखा कैसे? सद्गुरु कहते हैं यदि तुम अपनी आत्मा से अलग हरि की कल्पना करते हो, तो वह तुम्हारे मन का एक कल्पित नक्शा होता है और तुम जीवन भर के लिए उस नक्शे में उलझ जाते हो। अपने से अलग ईश्वर की कल्पना करने वाला स्वरूप-शोधन नहीं कर सकता। वह तो तथाकथित ईश्वर के सगुण या निर्गुण रूपों की कल्पना कर उन्हीं में पतिंगे वत विमोहित रहता है। पतिंगे को अपने तनोबदन का होश नहीं रहता। वह अग्नि-शिखा में समर्पित होकर जल मरता है। इसी प्रकार अपने से अलग ईश्वर की कल्पना करने वालों को

अपने स्वरूप का भान नहीं रहता। वे अपने मन से बनाये कल्पित रूप पर अपने आप को न्योछावर कर विवेक-शून्य हो जाते हैं।

तुम मन से जो कुछ सोचते हो चाहे जड़ विषय और चाहे ईश्वर—सब वासना ही है। वासनाओं को छोड़ देने से चेतन-स्वरूप मात्र रह जाता है और अपने चेतन-स्वरूप से अलग जहां तक पसारा है सब विषय है और वासना है। सद्गुरु कहते हैं कि तुम जो मन से खड़ा किये गये ईश्वर में समर्पित होते हो, वह वासना में ही समर्पित होते हो 'यम घर कियहु जीव को संगा।' तुम अपने स्वरूप के भाव को छोड़कर जहां कहीं भी भटकोगे, अपना पतन करोगे।

"किंचित है सपने निधि पाई..." संसार के धन-ऐश्वर्य तुच्छ हैं। वे स्वप्न में मिले हुए के समान हैं। अतः सांसारिक प्राणी-पदार्थों की उपलब्धि में फूलना घोर बालकपन है। संसार के प्राणी-पदार्थों को तुम बटोरकर सुरक्षित नहीं रख सकते हो। तुम्हारा सबसे नजदीकी दिखने वाला शरीर जब क्षण-क्षण बदल रहा है और एक दिन सर्वथा छूट जायेगा, तब बाहर से प्राणी-पदार्थों के प्रति लोभ-मोह करना भ्रम नहीं तो क्या है !

"सुमृति कीन्ह आपु नहिं माना।" व्यक्ति और समाज के बरतने के लिए मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, पराशर स्मृति, नारद स्मृति आदि बहुत-सारी स्मृतियां बनीं। ये हिन्दू-समाज के कानूनों की डायरियां हैं। इनमें वर्णव्यवस्था के नाम पर मनुष्यों के बीच में उठाई जाने वाली घृणा की दीवारें बहुत हैं; और समाज के काम लायक बहुत सारी चीजें भी हैं; परन्तु आदमी स्वयं जब उन्हें नहीं मानता है, तब वे धर्मशास्त्र क्या करेंगे !

प्रश्न हो सकता है कि स्मृति नाम के तो प्रायः सारे ग्रन्थ मानवताविरोधी हैं। उनमें वर्णव्यवस्था के नाम पर शूद्र कहे जाने वाले व्यक्तियों के लिए क्रूरता का प्रदर्शन है। फिर कबीर साहेब ने उनसे समाज को शिक्षा लेने की प्रेरणा क्यों दी? उत्तर में समझना चाहिए कि कबीर साहेब कोई कुंठाग्रस्त आदमी नहीं थे कि किसी की किताबों में कुछ बुराई देखकर उनकी अच्छाइयों को न लेने की राय दें। व्यक्ति पत्थर में से सोना, भूसी में से चावल तथा मिट्टी में से पानी निकाल लेता है, उसी प्रकार विचारवान सभी शास्त्रों में से ग्रहण करने की बातों को ले लेते हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि स्मृति आदि धर्मग्रन्थ बनाये गये, परन्तु उनके अनुयायी स्वयं उनके कल्याणकारी कानूनों पर नहीं चलते। बस, इतनी अक्ल रही है कि धर्मशास्त्र रूपी पेड़ की शीतल छाया के नीचे रहते-रहते दुष्कर्मों की आग में जलकर राख हो गये। तात्पर्य है कि अहंकार तो शास्त्र-पक्षधरता का है, परन्तु आचरण का घोर पतन है।

"जिव दुर्मति डोले संसारा। ते नहिं सूझे वार न पारा॥" मनुष्य नासमझी से संसार में भटकता है। जीवन में भटकाव क्यों है? क्योंकि अच्छी समझ का अभाव है। जो विचार करता है उसी की समझ अच्छी रहती है और अच्छी समझ रहने से मनुष्य विचार करता है। सद्गुरु विचार और समझ पर ज्यादा जोर देते हैं। अच्छे और बुरे मनुष्य में कोई दूसरा अन्तर तो नहीं रहता। सभी के शरीर में वही तत्त्व लगे हैं, सभी के भीतर एक ही समान जान है। यदि अन्तर है तो केवल समझ का।[1] इसी में 'मनुष्य मनुष्य में अन्तर। कोई हीरा कोई कंकर' हो जाते हैं।

विवेकहीन आदमी संसार में भटकता है। भटकने का मतलब है गलत आचरण कर ठोकर खाता है। "ते नहिं सूझे वार न पारा" ऐसे लोगों को 'वारपार' नहीं सूझता। अर्थात उनको अपने जीवन में कोई समाधान का रास्ता नहीं मिलता। जो पारिवारिक, सामाजिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक समाधान नहीं कर पाता वह जीवन में हारा हुआ आदमी माना जाता है। त्याग, प्रेम और सेवा के बल पर पारिवारिक तथा सामाजिक समाधान होता है; संतोष से मानसिक समाधान; तत्त्व चिंतन से बौद्धिक समाधान तथा स्वरूप-विवेक से आध्यात्मिक समाधान होता है। और इन सबके मूल में अच्छी समझदारी है। दुर्मति-जीव तो भटकता है।

"अन्ध भया सब डोलै, कोई न करै विचार।" अर्थात सब जीव विषय-वासनाओं तथा जड़ परम्पराओं की मूढ़ता में अन्धे बने भटकते हैं। कोई विचार नहीं करता। इस रमैनी की प्रथम पंक्ति में ही यह प्रेरणा दी गयी है कि मनुष्य को विचारशील होना चाहिए। जब आदमी विचार करता है, तत्त्व-चिंतन करता है, तब सारी समस्याओं का समाधान हो जाता है। अंधविश्वास, अज्ञान, उलझन, अशांति सबके मूल में अविचार है। विचार आने पर ये सारे द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं।

सद्गुरु कहते हैं—"कहा हमार मानै नहीं, कैसे छुटे भ्रमजार॥" मैं विचार का रास्ता बताता हूं किन्तु मनुष्य केवल मोह तथा परम्परा के अनुसार चलना चाहता है। परम्परा की अच्छी बातें कल्याणकारी हैं। यह बात नहीं कि परम्परा में सब बुरी ही बातें होती हैं। परम्परा से तो मनुष्य के लिए बहुत कल्याणकारी बातें मिलती है; परन्तु उनसे अनर्थ की बातें भी मिल सकती हैं। इसलिए उस पर भी विचार करो कि परम्परा की कौन-सी बात वर्तमान में उपयुक्त है और कौन-सी युगबाह्य है, या परम्परा में कौन-सी बात निरर्थक, अज्ञानपूर्ण तथा त्याज्य है।

---

1. फेर परा नहिं तत्त्व में, नहिं इंद्रिन के माहिं।
   फेर परा कछु बूझ में, सो निरुवार्यो नाहिं॥ पंचग्रन्थी॥

मैं कौन हूं, मेरा क्या है, मेरा कर्तव्य क्या है, मेरी स्थिति क्या है? इन बातों पर विचार करना और सारे बन्धनों से अपने आप को छुड़ा लेना, यही जीवन की सफलता है।

जीवन में सन्मार्ग और परोपकार की महत्ता

रमैनी-66

सोई हित बन्धू मोहि भावै। जात कुमारग मारग लावै॥ 1॥
सो सयान मारग रहि जाई। करै खोज कबहूँ न भुलाई॥ 2॥
सो झूठा जो सुत को तजई। गुरु की दया राम ते भजई॥ 3॥
किंचित है एक तेज भुलाना। धन सुत देखि भया अभिमाना॥ 4॥
साखी—दिया न खता ना किया पयाना, मंदिर भया उजार।
मरि गये सो मरि गये, बाँचे बाँचनहार॥ 66॥

शब्दार्थ—सयान=श्रेष्ठ समझदार। सुत=ज्ञान, ज्ञान जीव से पैदा होने से उसे पुत्र कहा। ते=वे, वही। तेज=माया की रोशनी, चमक-दमक। मन्दिर= शरीर, भवन। उजार=ध्वस्त, सूनसान।

भावार्थ—वही मित्र है, वही बन्धु है और वही मुझे प्रिय लगता है, जो गलत रास्ते पर जाने वालों को अच्छे रास्ते पर लाने का प्रयास करता है॥ 1॥ और वह भी समझदार है जो किसी की अच्छी सलाह मानकर अच्छे मार्ग में चलने का निश्चय करता तथा उसमें चलता है। वह केवल दूसरों के आदेशों का पालन नहीं करता, किन्तु शंका उपस्थित होने पर स्वयं भी सत्य की खोज करता है और विवेक से सत्पथ का निर्धारण कर उस पर चलता है, और अपने सत्पथ को कभी नहीं भूलता॥ 2॥ जो व्यक्ति विवेकज्ञान छोड़ देता है वह अपने को झुठलाता है, परन्तु वही व्यक्ति जब गुरु के कृपास्वरूप सत्योपदेश को समझ जाता है तो स्वरूप-राम को पहचानता और उसका भजन करता है॥ 3॥ आदमी तुच्छ माया की चकाचौंध में भूल जाता है, और धन, पुत्र आदि को देखकर उनका अभिमान करने लगता है॥ 4॥

सांसारिकता में डूबे हुए कितने लोग ऐसे सूम तथा मक्खीचूस होते हैं कि वे न तो दूसरों को देते हैं, न स्वयं उसका उपभोग करते हैं और चार दिनों के बाद संसार से चल बसते हैं, और उनका घर-मकान वीरान या ध्वस्त हो जाता है। मरने वाले तो चले ही जाते हैं, जो बचे रहते हैं वे उनके छोड़े हुए धन का उपभोग करते हैं। अथवा मानो वे ही संसार से मर गये जिन्होंने धन और जीवन का सदुपयोग नहीं किया और जिन्होंने इनका सदुपयोग किया और इन्हें स्व तथा पर के कल्याण में लगाया वे मानो मरने पर भी जीवित ही हैं॥ 66॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर आत्मीय भावना से 'जित देखो तित प्राण हमारो'[1] के अनुसार जीव मात्र को अपने प्राण-प्रिय मानते हैं, परन्तु मनुष्यों में वे सर्वाधिक उसे अच्छा मानते हैं जो स्वयं सत्पथ पर चलता है और दूसरों को सत्पथ पर लाने की कोशिश करता है। मानव-समाज के लिए यह बहुत बड़ा काम है। संसार में डॉक्टर, वकील, इंजीनियर, क्लर्क, अफसर, राजनेता सबकी आवश्यकता है, परन्तु इन सबकी अपेक्षा ऐसे लोगों की कहीं अधिक आवश्यकता है जो स्वयं पवित्र आचरण एवं विश्वबंधुत्व की भावना से चलते हैं और दूसरों को उस रास्ते पर लाने का प्रयत्न करते हैं। "सोई हित बन्धू मोहि भावै" सद्गुरु उन्हीं को अपना मित्र तथा भाई मानते हैं और सर्वाधिक पसंद करते हैं जो कुपथ पर जाने वालों को सुपथ पर ले आते हैं। वे उन्हीं को साधो तथा सन्तों के नाम से पुकारते हैं और अपनी वाणियों में 'कहहिं कबीर सुनो भाई साधो' या 'सुनो हो संतो' कहकर संबोधित करते हैं।

मानव-कल्याण तथा मानव-उन्नति के लिए जितने भी काम संसार में होते हैं, वे सब प्रशंसनीय हैं। परन्तु उनमें सर्वाधिक प्रशंसनीय काम भटके हुए मनुष्यों को अच्छे रास्ते पर लाना है। आदमी विज्ञान, भौतिक उन्नति, विद्या, अधिकार, सम्मान आदि सारे ऐश्वर्यों से संपन्न हो जाये, परन्तु यदि वह शराब-कबाब, जुआ, व्यभिचार, अन्य नशा-सेवन, चोरी, हत्या, धोखाधड़ी, परपीड़न, अधिक संचय, जमाखोरी, इन्द्रिय-लंपटता आदि में चूर है तो वह अपना तो नरकवास कर ही लिया है दूसरों को भी नरक में ठेलता है। व्यक्ति, परिवार, समाज तथा देश सारी भौतिक सुविधाओं से संपन्न हो जायें, परन्तु यदि उनमें दुराचरणों का बोलबाला हो तो क्या भौतिक सुविधाएं उन्हें सुख दे पायेंगी? कुमार्गी आदमी अपने तथा दूसरों के लिए अभिशाप है चाहे वह कितना ही विद्वान, धनवान तथा उच्चपदस्थ हो। अतएव भौतिक उन्नति की जितनी आवश्यकता है, उससे अधिक आवश्यकता नैतिक उन्नति की है। कम धन तथा कम सुविधाओं में रहकर भी सदाचारी व्यक्ति, परिवार, समाज तथा देश सुखी रहते हैं और दुराचारी तथा विपथगामी व्यक्ति, परिवार, समाज और देश दुखी होकर पतित हो जाते हैं।

जो लोग स्वयं अच्छी समझ रखकर तथा सदाचार में चलकर उन्हीं की ओर समाज को लाने का प्रयत्न करते हैं, उनका मानव-समाज के लिए बड़ा भारी कल्याणकारी योगदान है। ऐसे लोगों को कबीर साहेब साधु तथा संत कहते हैं और वे चाहते हैं कि ऐसे लोग संसार में फैलकर उसे सही रास्ता दिखायें और उसका कल्याण करें।

---

1. बीजक, साखी 341।

"सो सयान मारग रहि जाई" वह भी सयान है, श्रेष्ठ एवं समझदार है जो सन्तों एवं सज्जनों की अच्छी राय मानकर सत्पथ पर चलने लगता है। संतजन उपदेश तो बहुतों को करते हैं, परन्तु 'बहरे को टेर' की तरह यदि उसे वह न सुनाई दे तो उपदेशक क्या करेगा! उपदेशक के उपदेश तभी फलीभूत होते हैं जब लोग उसे सुनें और मानें। उपदेश करना तो सरल है, किन्तु उसे मानना कठिन है। जो सत्योपदेश सुनकर उसके अनुसार अपना जीवन बनाता है, वह धन्य है। कबीर साहेब उसको 'सयान' अर्थात श्रेष्ठ कहते हैं। वे तो अन्यत्र उसको गुरु भी कहते हैं—"कहहिं कबीर जो अबकी बूझै, सोई गुरू हम चेला।" इन पंक्तियों के लेखक को स्वयं इसका अनुभव है कि जब वह सुनता है कि मेरे उपदेश, प्रवचन एवं पुस्तकों को सुन तथा पढ़कर अमुक-अमुक के ज्ञान तथा आचरण में बड़ा सुधार हुआ है, तब बड़ा सन्तोष मिलता है और उसके प्रति आदर का भाव प्रकट होता है।

"करै खोज कबहूं न भुलाई॥" कबीर साहेब कहते हैं कि मैं उसको अधिक श्रेष्ठ मानता हूं जो सत्योपदेश सुनकर अपने ज्ञान तथा आचरण में तो सुधार करता ही है, प्रत्युत वह इससे भी आगे बढ़ता है, नयी खोज भी करता है। किसी गुरु द्वारा प्राप्त उपदेश के बाद भी यदि शंकाएं शेष रह जायें, तो वह चुप बैठा नहीं रहता है कि एक गुरु ने जितना बता दिया है उतने ही में रहना चाहिए और दूसरों के पास ज्ञान के लिए जायेंगे, तो गुरुद्रोह हो जायेगा। वह तो खोजी होता है। जहां से सार-सत्य मिले, ग्रहण कर लेता है। दत्तात्रेय के चौबीस गुरु करने का तात्पर्य बहुत जगहों से सार-ग्रहण करना ही है। उन्होंने—"पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतंग, भौंरा या मधुमक्खी, हाथी, शहद निकालने वाला, हिरन, मछली, पिंगला वेश्या, कुररपक्षी, बालक, कुआंरी कन्या, बाण बनाने वाला, सर्प, मकड़ी और भृङ्गीकीट[1] से शिक्षा ली थी।" उन्होंने पृथ्वी से धैर्य और क्षमा, वायु से स्वच्छंदता, आकाश से निर्लिप्तता, जल से कोमलता, स्निग्धता तथा शीतलता, अग्नि से प्रकाश और शुद्धता, चन्द्रमा से सौम्यता, सूर्य से आत्मज्ञान की अखंडता की शिक्षा ली। उन्होंने एक कपोत-कपोती के आसक्तिजनित दुखों से गृहस्थी की दुखरूपता, अजगर से निश्चिंतता, समुद्र से गंभीरता, पतिंगे से मोहजनित दयनीयता, भौंरा या मधुमक्खी से सारग्राहिता और अधिक संग्रह से

---

1. पृथिवी वायुराकाशमापोऽग्निश्चन्द्रमा रविः।
कपोतोऽजगरः सिन्धुः पतङ्गो मधुकृद् गजः।
मधुहा हिरणो मीनः पिङ्गला कुररोऽर्भकः।
कुमारी शरकृत सर्प ऊर्णनाभिः सुपेशकृत॥ (भागवत 11/7/33-34)

विध्वंसता, घास से ढके हुए गड्ढे पर रखी हुई कागज की हथिनी के स्पर्श से गड्ढे में गिरे हुए हाथी से कामजनित मूढ़ता, मधु काढ़ने वाले से संचय की निरर्थकता, संगीत-स्वर के विमोहन में बंधे हिरन एवं विषय गीत से बंधनरूपता, चारे के लोभ से बंसी में फंसी मछली से स्वादासक्ति की दुखरूपता, पर-पुरुषों की आशा करने वाली पिंगला वेश्या से आशा की पीड़ारूपता की शिक्षा ली[1] और उन्होंने कुरर पक्षी, जो मांस का टुकड़ा मुख में लिए रहने के कारण बाज पक्षियों द्वारा मारा जा रहा था, और उसे छोड़ देने पर सुखी हो गया, उसके त्याग से सुख प्राप्ति की शिक्षा ग्रहण की। दत्तात्रेय जी ने बालकों से सरलता की शिक्षा ली और उस नारी से उन्होंने असंगता में निर्विघ्नता की शिक्षा ली जिसके दो चूड़ी तक भी हाथ में रहने से आवाज होती थी। उन्होंने उस बाण बनाने वाले से एकाग्रता की शिक्षा ली जिसके पास से सेना गुजर गयी और वह नहीं जान पाया। उन्होंने सांप से बे-घर के रहने की, मकड़ी से श्रम की तथा भृङ्गीकीट से लक्ष्य की उपलब्धि में सफलता की शिक्षा ली।

उक्त बातें खोज के उदाहरण हैं। खोज से विज्ञान ने कितना कमाल कर दिखाया है! खोज निरंतर नये आयाम खोलती है। खोज से तत्सम्बन्धी पथ सरल होता जाता है। खोजी आदमी पुराने तथा नये सभी असत्यों से घृणा करता है और पुराने तथा नये सभी सत्यों से प्रेम करता है। खोजी जड़ रूढ़ि को नहीं पकड़ता। वह सांप्रदायिक नहीं होता। खोजी सदैव सत्य का समादर करता है। उसका रास्ता आग्रहविहीन, सरल तथा विश्वजनीन होता है। सद्गुरु कहते हैं—"करै खोज कबहूँ न भुलाई" वह सदैव सत्य की खोज करता है, इसलिए वह कभी भूलता नहीं। उसे कोई भटका नहीं सकता। वह अंधपरम्परा की पूंछ पकड़कर बैठता नहीं।

"सो झूठा जो सुत को तजई" यहां 'सुत' का अर्थ ज्ञान है। ज्ञान जीव का पुत्र है। "घर का सुत[2] जो होय अयाना" यहां सुत का अर्थ है मन तथा "तैं सुत[3] मान हमारी सेवा" यहां 'सुत' का अर्थ है शिष्य। एक शब्द का भिन्न स्थलों पर भिन्न अर्थ हो जाता है। गीता में आत्मा का अर्थ भिन्न-भिन्न जगहों पर मन, इन्द्रिय, देह, जीव—सब है।

---

1. आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।
यथा संछिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिङ्गला॥ भागवत 11/8/44॥
अर्थात—आशा ही महान दुख है तथा नैराश्य होना ही महान सुख है। देखो, पिंगला वेश्या ने जब पुरुष की आशा त्याग दी, तब वह सुख से सो सकी।
2. बीजक, रमैनी 26।
3. बीजक, रमैनी 58।

सद्‌गुरु कहते हैं कि वह मिथ्यावादी है जो अपने विवेकज्ञान का तिरस्कार करता है। जो अपनी आत्मा में उठते हुए ज्ञान की अवहेलना कर रहा है, वह अपने आप को ही झुठला रहा है। अधिकतम लोग भावुकता-वश अपने विवेकज्ञान एवं अंतर्ज्ञान पर ध्यान नहीं देते। ऐसे लोगों को न जीवन में निर्भ्रांत बोध हो सकता है और न शांति मिल सकती है। भक्ति का महत्त्व है, परन्तु भक्ति के जोश में अंतर्ज्ञान का होश ही खो देना जीवन में गहरी भूल तथा घाटा है। अंतर्ज्ञान एवं विवेकज्ञान के बिना हृदय प्रकाशित नहीं हो सकता है और न जीवन में चिरंतन शांति आ सकती है।

"गुरु की दया राम ते भजई" वही व्यक्ति गुरु की कृपा से राम का भजन करता है। चौपाई की प्रथम अर्धाली में है कि वह झूठा है जो सुत को, अंतर्ज्ञान को तजता है। चौपाई की दूसरी अर्धाली में बताया गया कि वही व्यक्ति जब गुरु की कृपा की उपलब्धि कर लेता है तब वह राम का भजन करता है। "गुरु की दया राम ते भजई" यहां 'ते' का 'वे' या वही सर्वनाम के अर्थ में प्रयोग है। जो व्यक्ति गुरु-ज्ञान से वंचित होने से अपने अंतर्ज्ञान की अवहेलना कर रहा था, 'वही' गुरु-ज्ञान पाकर राम की अर्थात अपने चेतन स्वरूप की पहचान कर लेता है और उसके भजन में लग जाता है। भजन का अर्थ सेवा, स्मरण, स्वत्व तथा विभाजन है। अपने चेतन-राम को वासनाओं से मुक्त कर लेना ही मानो उसकी बहुत बड़ी सेवा है, और यही सर्वोपरि राम-भजन है। स्वरूप का निरंतर स्मरण राम-भजन है। अपने 'स्वत्व' में सब समय प्रतिष्ठित रहना राम-भजन है और अपना 'स्वत्व' अपनी आत्मा है। 'विभाजन' भजन है, अर्थात अपने चेतन स्वरूप को जड़ से अलग कर लेना राम-भजन है।

राम-भजन है जड़ासक्ति से सर्वथा मुक्त होकर निज स्वरूप चेतन में निरन्तर रमण। जो सब समय स्वरूपाकारवृत्ति में लवलीन है, आत्म-रत, आत्म-लीन एवं आत्मस्थ है, वही मानो राम-भजन कर रहा है। यह गुरुकृपा से स्वरूपबोध पाकर ही संभव है।

"किंचित है एक तेज भुलाना। धन सुत देखि भया अभिमाना॥" धन, भवन, ऐश्वर्य, स्त्री, पुत्र, मान, बड़ाई आदि देखकर मनुष्य भ्रम-वश उसका अभिमान करने लगता है। माया की तुच्छ और क्षणिक रोशनी में भूल जाता है। यह मनुष्य का घोर प्रमाद है। बादलों की शोभा तथा बिजली की चमक के समान इन मायावी पदार्थों के आते-जाते देरी नहीं लगती। इनका अहंकार करना तो अत्यन्त भोलापन है। 'चार दिनों की चांदनी, फेरि अंधेरी रात' वाली बात है।

"दिया न खता ना किया पयाना, मन्दिर भया उजार।" दानी, उदार और कंजूस—मनुष्य के तीन प्रकार होते हैं। दानी वह है जो समय पड़ने पर स्वयं न

खा कर भी दूसरे को खिलाये, उदार वह है जो स्वयं भी खाये तथा दूसरे को भी खिलाये और कंजूस वह है जो न स्वयं खाये और न दूसरे को खिलाये। सद्गुरु यहां कंजूसों के लिए कह रहे हैं कि वे न स्वयं ठीक से खाते हैं न दूसरों को खिलाते हैं। बस, थोड़े दिनों में संसार से कूच कर जाते हैं और उनका भवन उजाड़ हो जाता है। सद्गुरु ने साखीग्रन्थ में भी कहा—

सातों शब्द जु बाजते, घर घर होते राग।
ते मन्दिर खाली पड़े, बैठन लागे काग॥

यह दशा दूसरों की देखते हैं तो भी जो लोग मौजूद हैं उनकी आंखें नहीं खुलतीं। मनुष्य को चाहिए कि वह अपना तथा अपनों का निर्वाह तो करे ही, दूसरों की सेवा में भी लगाये। जीवन और धन उसी के सफल हैं जो उन्हें यथाशक्ति दूसरों की सेवा में लगाता है। तैत्तिरीय उपनिषद् के ऋषि ने दान के विषय में बड़े रोचक वाक्य कहे हैं—"श्रद्धा से दो, यदि श्रद्धा नहीं है तो अश्रद्धा से ही सही, परन्तु दो, धन बढ़ा है इसलिए दो, धन ज्यादा नहीं है तो भी लज्जा से दो, भय से दो और विवेक से दो अथवा कह दिये हो तो दो।"[1] धन का उत्तम उपयोग दान है, मध्यम उपयोग भोग है, अन्यथा उसका अधम उपयोग नाश तो रखा-रखाया है।

"मरि गये सो मरि गये, बाँचे बाँचनहार॥" धन संचय करने वाले मर जाते हैं। पीछे वाले, जो कुछ दिनों के लिए बचे रहते हैं, उसे उड़ाते हैं। पूर्वजों के संचित धन पीछे वालों द्वारा प्रायः उड़ाये ही जाते हैं। इसीलिए नीतिज्ञों ने कहा है—"पूत सपूत तो का धन संचय। पूत कुपूत तो का धन संचय॥" अर्थात यदि पुत्र समझदार है तो उसके लिए धन संचय करने की आवश्यकता नहीं, वह स्वयं कमाकर खायेगा और पुत्र बे-समझ है तो उसके लिए भी धन संचय करने की आवश्यकता नहीं; क्योंकि वह शराब-कबाब आदि दुर्व्यसनों में उसे उड़ा देगा।

"मरि गये सो मरि गये, बाँचे बाँचनहार॥" का दूसरा अभिप्राय भी हो सकता है कि जो जीवन और धन को अपने और दूसरे के कल्याण में नहीं लगाते, वे जीते हुए ही मानो मरे हुए हैं और मरने पर तो वे मर ही जाते हैं। पीछे से उनका कोई भी नाम लेने वाला नहीं रहता। लोग उनको दफनाने या जलाने के साथ उनकी याद को भी दफना या जला देते हैं। परन्तु जो लोग अपने जीवन तथा धन को अपने और दूसरों के कल्याण में लगाते हैं, वे जीवित अवस्था में तो जीते ही हैं, शरीर से मरने पर भी मानो जीते हैं। उनकी याद

---

1. श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। (तैत्तिरीय उपनिषद्, वल्ली 1, अनुवाक 11)

लोगों के दिल में रहती है तथा उनका नाम लोगों की जुबान पर रहता है। और वे स्वयं लोक–परलोक में सुख के भागी होते हैं।

भक्ति क्या है?

रमैनी–67

देह हलाय भक्ति नहिं होई। स्वांग धरे नर बहु विधि जोई॥ 1॥
धींगी धींगा भलो न माना। जो काहू मोहि हृदया जाना॥ 2॥
मुख कछु और हृदय कछु आना। सपनेहु काहु मोहि नहिं जाना॥ 3॥
ते दुख पइहैं ई संसारा। जो चेतहु तो होय उबारा॥ 4॥
जो गुरु किंचित निन्दा करई। सूकर श्वान जन्म ते धरई॥ 5॥
साखी—लख चौरासी जीव जन्तु में, भटकि भटकि दुख पाव।
कहहिं कबीर जो रामहिं जानै, सो मोहिं नीके भाव॥ 67॥

शब्दार्थ—देह हलाय=नाचना–कूदना। धींगी धींगा=मन्मती व्यवहार। मोहिं=गुरु तत्त्व, स्वस्वरूप। नीके भाव=अच्छा लगता है।

भावार्थ—बहुत प्रकार–से वेष बनाकर, यहां तक कि पुरुष होकर भी स्त्री का स्वांग रचकर और अपने आप को तथाकथित भगवान की प्रेयसी बताकर जो उनके द्वारा नाचने–कूदने का तमाशा किया जाता है, यह भक्ति नहीं है॥ 1॥ जो लोग गुरुतत्त्व या आत्मतत्त्व को ठीक से समझते हैं, वे इस मन्मती व्यवहार को अच्छा नहीं मानते॥ 2॥ जिनके मुख में तो चेतनस्वरूप बोधक राम नाम है परन्तु हृदय में भौतिक शरीर एवं दृश्य–भास को ही अपना लक्ष्य मान बैठे हैं, वे स्वप्न में भी गुरुतत्त्व तथा स्व–स्वरूप को नहीं समझ सकते॥ 3॥ वे स्वरूप के ज्ञान तथा स्थिति से दूर पड़े जड़ भास–अध्यास में ही रमने वाले जीव इस संसार में दुख पायेंगे! हे मानव! यदि तू सावधान हो जाता है तो तेरा उद्धार हो जायेगा॥ 4॥ जो व्यक्ति जड़–विषय एवं मन के भास–अध्यास में आसक्त होकर गुरु की, गुरुबोध एवं स्वरूपबोध की निंदा करता है, वह स्थूल बुद्धि वाला जीव कर्माध्यासवश शूकर–कूकर आदि नाना योनियों में भटकता रहेगा॥ 5॥

वह चौरासी लाख योनियों में भटक–भटककर दुख पायेगा। सद्गुरु कहते हैं, जो गुरु–भक्ति कर सत्संग द्वारा निजस्वरूप आत्माराम को ठीक से समझकर उसमें स्थित होता है, वह मुझे प्यारा लगता है॥ 67॥

व्याख्या—"देह हलाय भक्ति नहिं होई" पुराकाल से ही भक्ति के नाम पर बड़ा–बड़ा प्रपंच होता रहा है। देश के बड़े–बड़े राज–पुरुषों को पहले भगवान बनाया गया। उसके बाद उनको रसिया बनाया गया। फिर तथाकथित भक्त लोग

उनकी पत्नी बन गये और लल्ला-लल्ली बनकर मन्दिरों एवं संगतों में नाचने लगे। इसी पर कबीर साहेब का व्यंग्य है "कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, पुरुष जन्म भौ नारी"[1] ये लोग पुरुष जन्म को धारणकर भी नारी बन रहे हैं। सद्‌गुरु कहते हैं कि यह स्वांग धारण करना भक्ति नहीं है। यह तो धींगामस्ती है। भक्ति के नाम पर एक उन्माद है।

भक्ति का तो मुख्य शब्दार्थ है 'अलग करना'[2], और उसका भावार्थ है विवेक ज्ञान एवं परख द्वारा जड़ प्रकृति से अपने चेतन-स्वरूप को पृथक करना। अपने चेतन-स्वरूप को सारे जड़ भासों से अलग कर लेना, अपनी असंगता के बोध में स्थित हो जाना, यही भक्ति है। यह ठीक है कि इस उच्चतम स्थिति तक पहुंचने के लिए विवेक-वैराग्य संपन्न सद्‌गुरु एवं सन्तों के निर्देश, सत्संग और आध्यात्मिक उच्च आदर्श की आवश्यकता है। पहले तो हमें ज्ञान चाहिए जो विवेक-वैराग्य संपन्न सन्तों एवं सद्‌गुरु से मिलेगा। दूसरी बात हमारे सामने ऐसा उच्च आदर्श चाहिए जिससे हम प्रभावित होकर स्वरूप-ज्ञान-पथ पर चल सकें। ज्ञान की बातें कहने वाले तो बहुत मिल जाते हैं। परन्तु जो उनके अनुसार चलता हो, वह कल्याणार्थियों के लिए उच्चादर्श है। काम-क्रोध से दूर रहना चाहिए—यह कोई भी कह सकता है, परन्तु जो सचमुच काम-क्रोध से दूर है, वह साधकों के लिए प्रकाशस्तंभ है, उपासनीय है। भक्ति का दूसरा अर्थ यही है कि हम ऐसे महापुरुषों के प्रति अनुराग रखें।

इस प्रकार भक्ति का दूसरा अर्थ मन की 'कोमलता' है। वह उच्चज्ञान एवं आचरण संपन्न सन्तों एवं सद्‌गुरु के प्रति रहेगी ही, किन्तु वह साधक का स्वभाव बन जाने से सबके लिए रहेगी। भक्ति-भाव वाला व्यक्ति सारी सृष्टि के सामने विनम्रभावना वाला होता है। फिर वह विश्व के सभी पवित्रात्माओं तथा सन्तों के प्रति विनम्र होता है इसका कहना ही क्या !

सबका अभिप्राय यह है कि मन स्वभावतः कोमल हो। सन्त-गुरु के प्रति अनुराग एवं समर्पण-भावना हो। उनसे स्वरूपबोध का निर्देश लेकर विवेक ज्ञान द्वारा अपने चेतनस्वरूप को सारी जड़ प्रकृति से अलग समझकर अपने असंगत्व में निमग्न हो जाना—भक्ति है। अपने आप को सारे दृश्यों से सर्वथा अलग कर लेना ही भक्ति है।

"जो काहू मोहि हृदया जाना" यहां 'मोहि' का अर्थ इस पंक्ति के कहने वाले कबीर साहेब का व्यक्तित्व मात्र न समझ लेना चाहिए। 'मोहिं' के यहां दो

---

1. बीजक, शब्द 6।
2. भक्तिः (स्त्री) [भज्+क्तिन्] वियोजन्, पृथक्करण, विभाजन। (वामन शिवराम आप्टे कृत संस्कृत-हिन्दी कोश)

अर्थ हैं एक 'गुरु' तथा दूसरा व्यक्ति की अपनी 'आत्मा'। गुरु केवल कबीर साहेब नहीं, किन्तु गुरुपद में स्थित जो कोई जहां भी हों, वे सब गुरु हैं। 'मोहि' के दूसरे अर्थ में समझना चाहिए कि प्रथम पुरुष के रूप में 'मैं-मोहि' कहने वाली सबकी अपनी-अपनी आत्मा है, चेतन है। अंततः स्व-स्वरूप को ही गुरुपद कहते हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि जो अपने हृदय में मेरे उपदेश को समझता है, कि गुरु-सन्तों के प्रति उपासना रखते हुए उनके निर्देश लेकर अपने चेतन-स्वरूप को जड़दृश्यों से अलग कर लेना ही भक्ति है, वह नाचने-कूदने आदि धींगा-मस्ती को अच्छा नहीं समझता। वह तो विनम्रतापूर्वक गुरु-संतों की शरण में जाता है। उनसे बोध प्राप्त करता है और अपने स्वरूप को समझकर स्वरूपस्थिति का अभ्यास करता है।

"मुख कछु और हृदय कछु आना। सपनेहु काहु मोहि नहिं जाना॥" जो लोग मुख से तो राम-राम कहते हैं और हृदय में राम का अर्थ किसी व्यक्ति विशेष के मुख, ग्रीवा, छाती, हाथ, पैर आदि की सुन्दरता समझते हैं, क्या वे राम को समझ सकते हैं? हम भूलवश किसी देहधारी को परमात्मा मान लें, उसके अंगों की सुन्दरता के वर्णन में प्रशंसा के पुल बांध दें, तो इससे क्या होगा? विकारी भास-अध्यास में ही आसक्ति ! किसी देहधारी के शरीर के अंगों की सुन्दरता उसकी जवानी के दस-पांच वर्षों की चमक-दमक मात्र है। ऐसे पुरुष यदि बीत चुके हैं, तो उनके शरीर की हड्डी का एक टुकड़ा भी नहीं मिलेगा और वे यदि अभी जीवित हैं तो उनका सौन्दर्य देखकर मन थोड़े समय के लिए प्रफुल्लित हो सकता है। परन्तु यह सब क्षणिक एवं विकारी है। यह कोई राम का वास्तविक स्वरूप समझना नहीं हुआ। राम तो हृदय में रमने वाला चेतन है। उसी को परमात्मा, ब्रह्म आदि चाहे जितने शब्दों से सम्बोधित कर लो। उससे अलग कोई राम या परमात्मा नहीं। अतएव जो राम या परमात्मा का अर्थ किसी देह को या मन से गढ़ी हुई कल्पना को समझता है, उसके मुख में तो जरूर राम है, परन्तु हृदय में जड़ाध्यास मात्र है। मुख में राम, मन में काम (वासना) केवल दुख का रास्ता है। "सपनेहु काहु मोहि नहिं जाना" वह स्वप्न में भी अपने राम स्वरूप को नहीं समझ सकता।

"ते दुख पइहैं ई संसारा।" उन्हें अध्यात्म तथा राम-भक्ति के नाम पर इस संसार में भटकाव ही मिलता है। वे दर्पण की सुन्दरी[1] पकड़ने के चक्कर में जीवन बिता देते हैं। इसलिए सद्गुरु कहते हैं "जो चेतहु तो होय उबारा" यदि

---

1. जो मतवारे राम के, मगन होहिं मन माँहि।
ज्यों दर्पण की सुन्दरी, गहै न आवै बाँहि॥ साखी 279॥

सावधान होकर समझ लो कि इन्द्रिय तथा मन से प्रतीतमान सब जड़दृश्य है, राम तो अपना साक्षी स्वरूप चेतन है; तो तुम्हारा अवश्य उद्धार हो जायेगा।

"जो गुरु किंचित निंदा करई। सूकर श्वान जन्म ते धरई॥" निंदा तो किसी की भी करना बुरी बात है। फिर गुरु की निंदा करना तो अपने पतन का पथ अपनाना है। यहां का यह भावुक अर्थ न समझ लेना चाहिए कि गुरु कामी हो तो उसे कृष्ण, क्रोधी हो तो उसे परशुराम, मोही हो तो उसे राम, लोभी हो तो उसे वामन समझकर उसकी पूजा ही करना चाहिए। गुरु कैसा भी भ्रष्ट हो, परन्तु वह देवों का देव है—ऐसा समझना अपनी आंखें फोड़ लेना है! कामी, क्रोधी, लोभी, मोही एवं राग-द्वेष में लिप्त तो पतित जीव है, वह गुरु काहे का! वास्तव में सत्यज्ञान, स्वरूपज्ञान, सदाचार एवं स्वरूपस्थिति का अनादर करना ही गुरु-निंदा करना है। जो सद्ज्ञान एवं स्वरूपस्थिति की रहनी से चलता है वह भला सच्चे गुरु एवं सन्तों की निंदा कैसे करेगा जो परमार्थ पथ के अनुशास्ता हैं! अतएव यहां का अर्थ है कि जो स्वरूपज्ञान, सदाचार एवं स्वरूपस्थिति का अनादर करता है, उसे संसार-नगर में भटकना है। वह आज ही स्थूल बुद्धि वाला पशु बना है। आगे भी उसे वही बनना है।

"लख चौरासी जीव जन्तु में, भटकि भटकि दुख पाव।" यहां सद्गुरु ने भारतीय धर्ममान्यतानुसार चौरासी लाख योनियों में अज्ञानी जीवों को भटकने की बात कही है। हमारे पूर्वजों ने योनियों की गणना कर चौरासी लाख पक्का कर लिया होगा, तब ऐसा कहना शुरू किया होगा या अनुमान के आधार पर चौरासी लाख कहा होगा? लगता है अनुमान के आधार पर ही कहा गया है। कबीर देव ने यहां परम्परया बात कह दी है। यहां शाब्दिक अर्थ न मानकर लाक्षणिक अर्थ मानना चाहिए—जीव नाना योनियों में भटकता है।

"कहहिं कबीर जो रामहिं जानै, सो मोहिं नीके भाव॥" सद्गुरु कहते हैं कि मुझे वही प्यारा लगता है जो राम को 'जानता' है। संसार में राम को मानने की बात का बड़ा हो-हल्ला है। लोग कहते हैं—"हम राम को मानते हैं। अमुक व्यक्ति या अमुक मत वाले राम को नहीं मानते: किन्तु हम और हमारा मत राम को मानते हैं।"

सद्गुरु कहते हैं कि आप लोग राम को मानते तो हैं, परन्तु उसे जानते कितने लोग हैं? जाने बिना मानना एक बाल-मनोरंजन है। यह ठीक है कि बच्चे को पढ़ाया गया क माने कबूतर, तो उसे मान लेना चाहिए, तर्क नहीं करना चाहिए। परन्तु व्यक्ति को हम कब तक बच्चा बनाये रखने का प्रयत्न करें। अंततः उसका मानना तभी सफल होगा जब वह उसे ठीक से जान लेगा।

कबीर साहेब ने बीजक में राम को जानने पर बहुत जोर दिया है—"राम नाम जाने बिना, भव बूड़ि मुवा संसार॥"[1]—"राम नाम निजु जानि के, छाड़ि देहु बस्तु खोटि॥"[2] "कहहिं कबीर जो रामहिं जानै, सो मोहिं नीके भाव॥ "[3]—"आपुहि बाउर आपु सयाना, हृदया बसै तेहि राम न जाना॥"[4] इत्यादि।

स्वरूपस्थिति-सुख

रमैनी-68

तेहि वियोगते भयउ अनाथा। परेउ कुंज बन पावै न पन्था॥ 1॥
वेदो नकल कहै जो जाने। जो समझै सो भलो न माने॥ 2॥
नटवट विद्या खेलै जो जानै। तेहि गुण को ठाकुर भल मानै॥ 3॥
उहै जो खेलै सब घट माहीं। दूसर कै कछु लेखा नाहीं॥ 4॥
भलो पोच जो अवसर आवै। कैसहु कै जन पूरा पावै॥ 5॥
साखी—जेकर शर तेहि लागे, सोई जानेगा पीर।
लागे तो भागे नहीं, सुख सिन्धु निहार कबीर॥ 68॥

शब्दार्थ—तेहि=राम, अपना स्वरूप। वियोग=विस्मरण। कुंज बन=घना जंगल, खानी-वाणी जाल। नकल=बनावटी। नटवट=नटवत, नट के समान। विद्या=कला। लेखा=गिनती, महत्त्व, प्रश्न। भलो=अच्छा, सुखद। पोच=बुरा, दुखद। कैसहु कै=जिस किसी प्रकार, हर प्रकार। जन=साधक, ज्ञानी। पूरा पावै=संतोष प्राप्त करता है, स्वरूपस्थिति प्राप्त करता है। शर=बाण, विवेकवृत्ति।

भावार्थ—(पिछली रमैनी की साखी की आखिरी पंक्ति में सद्गुरु ने कहा है "कहहिं कबीर जो रामहिं जानै, सो मोहिं नीके भाव॥" इस रमैनी में उसी संदर्भ को लेकर कहते हैं—) उसी अपने स्वरूप-राम के विस्मरण से तुम दीन बनकर खानी-वाणी के महा घने जंगल में उलझ गये हो और समाधान का रास्ता नहीं पा रहे हो॥ 1॥ वेद भी अध्यात्मतत्त्व एवं स्वरूपज्ञान की अभिव्यक्ति न कर अधिकतम यज्ञ-याग आदि नकली बातों के वर्णन से भरे हैं। जो वेद-विहित इन यज्ञों के तत्त्व को जानता है कि कैसे-कैसे इनमें हिंसा का विधान है और यज्ञ के फल में पाप कटने, पुत्र, धन, राज्य, स्वर्ग आदि मिलने

1. बीजक, रमैनी 1।
2. रमैनी 36।
3. रमैनी 67।
4. रमैनी 41।

के झूठे प्रलोभन हैं, इन सब बातों को जो समझता है, वह वेदोपदेश रूप यज्ञों को अच्छा नहीं मानता॥ 2॥ इसी प्रकार हठयोगियों की भी दशा है। वे नट के समान आसन, मुद्रा, भूमि-समाधि, जल-समाधि आदि दिखाने की कलाबाजी खूब जानते हैं। इस गुण को उनके स्वामी लोग बड़ा अच्छा मानते हैं। परन्तु इसमें दुनिया को रिझाकर धन-यश कमाने के सिवा कोई आत्मकल्याण या लोककल्याण नहीं है॥ 3॥ अतएव वैदिक यज्ञ-याग और हठयोगादि से हटकर स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति में ही जीव का कल्याण है। वे ही राम-रूप चेतन सब घटों में खेल रहे हैं। उनमें दूसरे के अस्तित्व का कुछ प्रश्न ही नहीं उठता॥ 4॥ जीवन में भले और बुरे दिन तो आते हैं, परन्तु साधक उन्हें हर प्रकार सहता हुआ स्वरूपस्थिति को प्राप्त करता है॥ 5॥

यह मार ऐसी है कि जिसका छोड़ा हुआ बाण है उसी को लगता है, इसलिए वही उसकी पीड़ा भी जानता है। अर्थात साधक का विवेक वृत्तिरूपी बाण उसके हृदय को वेधकर तथा उसे संसार से काटकर अलग कर देता है। इस पीड़ा को वह साधक ही जानता है। यहां पीड़ा शब्द उलटवांसी रूप है; क्योंकि यह पीड़ा नहीं चिरंतन सुख है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि जिसकी विवेकवृत्ति स्वरूपस्थिति में लग गयी है उसे चाहिए कि वह जीवनपर्यन्त सावधान होकर उसी में लगा रहे। साधना और त्याग के भय से उससे भागे नहीं, प्रत्युत उसी स्वरूपस्थिति रूपी सुख-सागर में निरंतर निमग्न रहे॥ 68॥

व्याख्या—"तेहि वियोग ते भयउ अनाथा" यहां वियोग का अर्थ बिछुड़ना नहीं है; क्योंकि बिछुड़ना दो के संयोग के बाद होता है। जीव स्वरूपतः असंग है। अतएव यहां वियोग का शाब्दिक अर्थ न कर लाक्षणिक करना चाहिए। यहां वियोग का लाक्षणिक अर्थ है विस्मरण, भूल जाना। जैसे कोई नशा के कारण गले के हार को भूल गया और दुखी हो गया। नशा दूर होने पर गले में पड़े हुए हार की याद आ गयी और वह खुश हो गया। न हार खोया और न मिला। हार तो गले में सब समय मौजूद ही था। केवल नशा के कारण उसका विस्मरण होने से दुख आ गया था और नशा दूर होने पर उसका स्मरण आ जाने से सुख आ गया।

सद्गुरु कहते हैं कि व्यक्ति अपने अविनाशी आत्मा राम के विस्मरण से दीन बन गया है। परम शक्तिसंपन्न अपने चेतन स्वरूप को न पहचानने से व्यक्ति स्वयं को दीन, अनाश्रय और अनाथ मान लिया है। वह पेड़, पानी तथा पत्थरों के सामने अपने मत्था टेकता है। क्या इनसान पेड़-पत्थरों से भी तुच्छ हो गया है। जो स्वयं सुख का सागर है वह स्वरूपज्ञान के अभाव में दुखों में पड़ा बिलबिला रहा है।

"परेउ कुंज बन पावै न पन्था" वह पेड़, पौधों, लता, बौड़ियों से ढके हुए घोर जंगल में उलझ गया है। देह, अवस्था, नाम, रूप, परिवार, मित्र, स्व–जन, पर–जन, राग–द्वेष, हानि–लाभ, देवी–देवता, शास्त्र–परंपरा कितने नाम गिनाये जायें, यह सब मिलकर महा घोर जंगल है। इस जंगल में जीव उलझ गया है। इसमें ऐसा उलझा कि अपने स्वरूप को पहचानने का रास्ता नहीं मिलता। जीव इन्द्रिय–भोगों तथा संसार के राग–द्वेषों में डूबा रहता है और यदि इनसे कुछ निकलता है, तो नाना धार्मिक मान्यताओं में उलझकर अपने स्वरूप की पहचान से दूर ही पड़ा रहता है।

"वेदो नकल कहै जो जाने। जो समझै सो भलो न माने॥" हमारी भारतीय–परंपरा के प्राचीनतम ग्रन्थ वेद हैं। हमारे पूर्वजों द्वारा दिये गये वे हमारे लिए मूल्यवान धरोहर हैं। उनमें हमारी पूर्व परंपरा के इतिहास, संस्कृति, रीति–रिवाज, मान्यता, कर्मकांड, सामाजिक नियम, भौतिक–मानसिक स्थिति आदि की झलकियां हैं। हम आशा करते हैं कि वेदों को पढ़कर हमें अपने स्वरूपज्ञान का परिचय हो जायेगा और हमारी सारी आध्यात्मिक जिज्ञासाएं शांत हो जायेंगी। परन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि वेद नकली कर्मकांडों के वर्णन में ही व्यस्त हैं। 'वेदो नकल कहै' अर्थात वेद भी प्रायः नकल कहते हैं। नकल का अर्थ है बनावटी। अमुक यज्ञ करने से पुत्र मिलेगा, अमुक यज्ञ करने से राज्य, अमुक यज्ञ करने से विजय, अमुक यज्ञ करने से स्वर्ग आदि मिलेंगे—यह सब बनावटी बातें हैं। यज्ञों के विस्तार का जिन ग्रन्थों में वर्णन है, वहां पढ़कर देखिए विवेक–बुद्धि से कोई मतलब नहीं। केवल अंधविश्वास। अमुक देवता के नाम के साथ अमुक वेदमन्त्र, अमुक देवता के नाम के साथ अमुक वेदमन्त्र पढ़कर अग्नि में जौ, घी, मेवे, औषधियां आदि डालकर हवन करने की बात!

प्राकृतिक शक्तियों को देवी–देवता मानकर उन्हीं की प्रार्थना में लिखे गये मन्त्रों से वेद भरे हैं। बीच–बीच में कहीं सत्योपदेश के हीरे–मोती जैसे मन्त्र टंके हैं और अध्यात्म के मन्त्र तो खोजने पर कहीं मिलते हैं, जिनका भाष्यकारों द्वारा प्रायः कर्मकांडपरक अर्थ किये जाने के कारण जिज्ञासु की रही–सही आशा भी धूमिल हो जाती है।

वैदिक यज्ञों में हिंसा का बोलबाला रहा है। बौद्ध और जैन को छोड़कर प्रायः हर पुरानी धर्म–परंपरा में बलि, कुर्बानी आदि के नाम पर पशुहत्याएं होती रही हैं। वैदिक परंपरा की भी यही बात थी। ऋग्वेद के प्रथम मंडल के 162वें तथा 163वें सूक्तों के 35 मंत्रों में अश्वमेघ यज्ञ के क्रम में वध किये जाने वाले अश्व का जो वर्णन है, देखने योग्य है। यजुर्वेद (25/31–45) में भी यही बात

है। यजुर्वेद के चौबीसवें अध्याय के पूरे चालीस मंत्रों में यही वर्णन है कि किस देवता के लिए किस पशु की बलि दी जाये। इसलिए सद्गुरु कबीर कहते हैं "जो समझै सो भलो न माने।" जो इन सब बातों को समझता है वह इन्हें अच्छा नहीं मानता। सांख्यवादी ईश्वरकृष्ण ने लिखा है—"जैसे सांसारिक भोग जीव के दुख दूर नहीं कर सकते, वैसे वैदिक कर्मकांड भी अशुद्धि, क्षय तथा सातिशय दोषों से लिप्त होने से कल्याणकर नहीं हो सकते।[1] इसके लिए तो जड़-चेतन का विवेक ही ठीक रास्ता है।"[2]

श्रीमद्भागवत में लिखा है—लौकिक व्यवहार के समान ही वैदिक व्यवहार भी सत्य नहीं है। क्योंकि वेद-वाक्य भी विशेषतः गृहस्थ-जनोचित यज्ञविधि के विस्तार में ही व्यस्त हैं। राग-द्वेष-रहित विशुद्ध तत्त्वज्ञान की पूरी-पूरी अभिव्यक्ति प्रायः उनमें भी नहीं है।[3] मुण्डक उपनिषद् के ऋषि चारों वेदों तथा छहों वेदांगों को अपरा एवं संसारी विद्या बताकर कहते हैं कि जिससे अविनाशी तत्त्व का बोध होता है वह परा विद्या वेदों से परे है।[4]

इन सबका सार यह है कि आध्यात्मिक जिज्ञासा की पूर्ति, स्वरूप की पहचान एवं स्वरूपस्थिति के लिए हमें वेद कोई खास सहायक नहीं हो पाते।

"नटवट विद्या खेलै जो जानै" हठयोगी लोग नट के समान तमाशा दिखाने की विद्या जानते हैं, तो वह विशेष तमाशा ही है। उससे कोई कल्याण नहीं है। कबीर साहेब के समय में हठयोग का बहुत प्रचार था। हठयोगी लोग अपने आसन तथा मुद्रा दिखाया करते थे। हठयोगियों के बाजारूपन को कबीर साहेब ने बहुत नजदीक से देखा था। इसमें शारीरिक व्यायाम तथा लोक-दिखावा कर यश तथा धन पाने की बात ही ज्यादा है। हठयोग स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति का पथ नहीं है।

"उहै जो खेलै सब घट माहीं। दूसर कै कछु लेखा नाहीं॥" सद्गुरु कहते हैं सत्संग तथा विवेक द्वारा अपने स्वरूप को पहचानो। तुम्हारा स्वरूप चेतन है। यह चेतन राम ही सभी घटों में खेल रहा है। जो सब घटों में प्रकाशक हैं, उन चेतन जीवों के अलावा कहीं कुछ खोजने की आवश्यकता नहीं। अर्थात

---

1. यज्ञ हिंसायुत होने से उसमें अशुद्धि है, यज्ञ का फल स्वर्ग नाशवान होने से क्षय-दोषयुक्त है तथा यज्ञ-फल स्वर्ग में लोगों की ऊंची-नीची स्थितियां होने से सातिशयता (विषमता) युक्त है। स्वर्ग केवल कल्पित है, यह बात अलग है।
2. सांख्यकारिका, 2।
3. तथैव राजन्नुरुगार्हमेधवितानविद्योरुविजृम्भितेषु।
न वेदवादेषु हि तत्त्ववादः प्रायेण शुद्धो नु चकास्ति साधुः॥ (5/11/2। गीता प्रेस टीका)
4. मुण्डक 1/4-5।

सब व्यक्तियों का अपना-अपना चेतन स्वरूप ही अपना-अपना परम निधान है।

"भलो पोच जो अवसर आवै। कैसहु कै जन पूरा पावै॥" जिसे स्वरूपज्ञान हो गया है, वह देहाभिमान छोड़ देता है। जिसका देहाभिमान मिट जाता है, उसे अनुकूल-प्रतिकूल, सुखद-दुखद सारे अवसर सम हो जाते हैं। वह अनुकूल समय आने पर विशेष हर्षित नहीं होता तथा प्रतिकूल अवसर आने पर शोकित नहीं होता। वह हर प्रकार की स्थिति में अपनी आत्मा को सबसे ऊपर रखता है। जो सारी भौतिक स्थितियों को क्षणिक समझकर उनमें प्रभावित नहीं होता, वह साधक जीवन में पूर्णता प्राप्त करता है। 'पूरा पावै'—पूर्णता पाना है। पूर्णता पाने का अर्थ है हर समय मन का प्रसन्न रहना, तृप्त रहना। ऐसी दशा में कभी मन में पीड़ा नहीं आती। अखंड सन्तोष, परम तृप्ति जीवन की सर्वोच्च सफलता है। यह आत्मबोध, स्वरूपबोध एवं स्वरूपस्थिति का ही फल है।

"जेकर शर तेहि लागे, सोइ जानेगा पीर" जब कोई बाहरी बाण चलाता है, तब उसका छोड़ा हुआ बाण दूसरे को लगता है और उसकी पीड़ा भी दूसरे लगने वाले को होती है। परन्तु इस आध्यात्मिक क्षेत्र में उलटी स्थिति है। इसमें तो जिसके छोड़े हुए बाण रहते हैं, उसी को लगते हैं और वही उसकी पीड़ा भी जानता है। यहां साधक बाण चलाने वाला है, उसकी विवेकवृत्ति बाण है और यह बाण लगता भी उस साधक के अपने हृदय में ही है। संसार में जब किसी व्यक्ति को बाण लगता है, तब वह उसके शरीर और प्राण को अलग कर देता है, किन्तु यहां साधक के हृदय में बाण लगने पर वह जड़-चेतन की मोहग्रन्थि को तोड़ देता है और जीव देह से भिन्न अपनी असंगता का बोध करने लगता है। इस जड़-चेतन के पृथक्करणजनित सुख को दूसरा कौन जान सकता है। यह भी वही साधक ही जानता है। इस दिव्य सुख को उलटवांसी में पीड़ा शब्द से कहा गया है। विवेकवान का जब इस स्वरूपस्थितिजनित सुख से कभी प्रमादवश एक क्षण के लिए भी बिछुड़न हो जाता है, तब उसे मणि-फणि-वियोग[1] इव बेचैनी होती है। पीड़ा का सकारात्मक अर्थ इस अभिप्राय में घट सकता है। वैसे यहां "सोई जानेगा पीर" में पीर एवं पीड़ा उलटवांसी ही है जिसका अर्थ स्वरूपस्थिति-सुख है। इसका स्पष्टीकरण अलग पंक्ति में हो जाता है—

"लागे तो भागे नहीं, सुखसिन्धु निहार कबीर" यह विवेक का सुखदायी बाण जब साधक के हृदय में लग जाता है, तब साधक इस स्थिति को छोड़कर

1. सांप के पास मणि होती है यह एक काल्पनिक कहावत कवि-जगत में बातों को समझाने के लिए चलती है।

अलग नहीं जाता। वह सदैव सुख-सागर स्वरूपस्थिति को ही देखता है। यहां देखने का अभिप्राय है कि उसकी दृष्टि में केवल स्वरूपस्थिति-सुख का महत्त्व रहता है। वह सदैव स्वरूपस्थिति के आनंदसागर में गोते लगाता रहता है। श्री रामरहस साहेब ने इसी को कहा है—"आनंद लहरि के समुद्र अगाध" तथा "बसै आनंद अटारी।"

साधु-वेषधारियों का व्यामोह

रमैनी-69

ऐसा योग न देखा भाई। भूला फिरै लिये गफिलाई॥ 1॥
महादेव को पन्थ चलावै। ऐसो बड़ो महन्त कहावै॥ 2॥
हाट बजारे लावै तारी। कच्चा सिद्ध माया प्यारी॥ 3॥
कब दत्ते मावासी तोरी। कब शुकदेव तोपची जोरी॥ 4॥
नारद कब बन्दूक चलाया। ब्यासदेव कब बम्ब बजाया॥ 5॥
करहिं लराई मति के मन्दा। ई अतीत की तरकसबन्दा॥ 6॥
भये विरक्त लोभ मन ठाना। सोना पहिरि लजावैं बाना॥ 7॥
घोरा घोरी कीन्ह बटोरा। गाँव पाय जस चले करोरा॥ 8॥
साखी—सुन्दरी न सोहै, सनकादिक के साथ।
कबहुँक दाग लगावै, कारी हाँड़ी हाथ॥ 69॥

शब्दार्थ—गफिलाई=असावधानी। महादेव को पन्थ=शिवदल, शैवमत। हाट=छोटा बाजार। बाजार=बड़ा बाजार। तारी=समाधि। दत्ते=दत्तात्रेय। मावासी=मवासी, किला। तोपची=तोपचालक। बम्ब=जुझाऊ बाजा। अतीत= त्यागी। तरकस बन्दा=तरकश बांधने वाले (तरकश चाम का थैला होता है, उसमें बाण रखकर पीठ पर बांधा जाता है), अस्त्र-शस्त्रधारी। घोरा घोरी= घोड़ा-घोड़ी। करोरा=करोड़पति, धनी। सुन्दरी=स्त्री। सनकादिक=सनक, सनंदन, सनातन तथा सनत्कुमार, त्यागी-विरक्त सन्त।

भावार्थ—हे भाई! ऐसा योग नहीं देखा कि योग-सिद्धि के बाद भी असावधान होकर भटकता फिरे॥ 1॥ लोग महादेव का पन्थ चलाते हैं और इस प्रकार ये बहुत बड़े महन्त कहलाते हैं॥ 2॥ ये यश और धन के लिए भीड़ भरे हाट-बाजार में समाधि लगाकर संसार को अपने चमत्कार दिखाते हैं। ये माया से मोह रखने वाले कच्चे सिद्ध हैं॥ 3॥ (ये अपना रोब दिखाने के लिए अस्त्र-शस्त्र लेकर जब कुंभ-जैसे मेलों में निकलते हैं, तब इनका उन्मादी स्वभाव देखो। क्या यह विरक्ति है?) दत्तात्रेय जी ने कब किसका किला तोड़ा

था? शुकदेव जी ने कब तोप चलाने वाली फौज संगठित की थी? नारद जी ने कब बंदूक चलायी थी, और व्यासदेव जी ने कब जुझाऊ बाजा बजाकर किसी पर हमला किया था?॥ 4-5॥ ये मंदमति लड़ाई-झगड़े करते हैं। ये त्यागी हैं कि शस्त्रधारी लड़ाकू !॥ 6॥ दिखाने के लिए विरक्ति का वेष पहन लिये, परन्तु मन से पक्का लोभी बन गये। सोने-हीरे आदि के आभूषण एवं सोने से अलंकृत वस्त्र पहनकर साधु-वेष को लज्जित करते हैं॥ 7॥ घोड़ा-घोड़ी बटोर लिये तथा रजवाड़ों से गांव दान में पा गये और चल पड़े करोड़पति का ठाट बनाकर॥ 8॥

कतिपय साधु-संन्यासी तो स्त्रियों को भी साधुनी एवं संन्यासिनी बनाकर साथ में ले लेते हैं अथवा मठों में रखते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि त्यागियों के साथ में स्त्रियों का रहना शोभा नहीं देता। यदि कोई अपने हाथों में कालिख लगी हंडी लिये रहेगा, तो कभी-न-कभी वह उसको काला दाग लगा ही देगी॥ 69॥

व्याख्या—सद्गुरु व्यंग्य भरे शब्दों में कहते हैं "ऐसा योग न देखा भाई।" यह कौन-सा योग है जिसके पीछे माया का प्रलोभन हो ! जो अपने विवेक-वैराग्य से असावधान हो, जो लोकरंजन में लगकर हाट-बाजार में समाधि लगाता फिरे, क्या वह योगी है? सच्चा योगी तो अनासक्त होता है। ये तो कच्चा सिद्ध हैं। इनका ध्यान तो माया पर है।

शैवमत वाले साधुवेषधारी लोगों ने पुराकाल में हिन्दू रजवाड़ों द्वारा जागीरें पायीं थीं। उनमें धनपति महन्त होते थे। वे अस्त्र-शस्त्र भी रखते थे। शैवदल के लड़ाकू साधुओं ने वैष्णव-साधुओं की हत्याएं भी की थीं। इसलिए वैष्णव लोग हार-थककर नागा दल बनाये थे जो शैवों से लड़ सके। वैष्णव अहिंसावादी होते थे, परन्तु शैवों के दबाव में पड़कर उनको वैरागी-नागाओं का दल खड़ा करना पड़ा था।

ये शैव लोग जब कुंभ-जैसे मेलों में अपनी शोभायात्रा निकालते थे, तब अस्त्र-शस्त्र लेकर चलते थे और प्रथम स्नान की होड़ में मार-काट तक कर देते थे। चांदी-सोने के अलंकरणों से सजे हुए बड़े राजसी ठाट-बाट से चलते थे। ये अहिंसक वैष्णवों को सताने में आगे रहते थे। इनके इन सब उपद्रवी व्यवहारों को देखकर सद्गुरु ने इनके ठाट-बाट और महन्ती पर व्यंग्य किया है तथा इनके अस्त्र-शस्त्र बांधने पर इनसे प्रश्न किया है कि जिनको आप अपना श्रद्धेय तथा पूर्वज मानते हो, क्या उन्होंने ऐसा किया था? दत्तात्रेय, शुकदेव, नारद, व्यास आदि महापुरुषों ने कब तोप, बंदूक तथा अस्त्र-शस्त्र बांधकर लोगों से लड़ाइयां लड़ी थीं?

साधु को अस्त्र-शस्त्र बांधना, लड़ाई-झगड़े करना, सोना-चांदी आदि के आभूषण धारण करना अशोभनीय है। यदि साधु-महन्तों के पास धन हो तो उनको चाहिए कि उसे जन-कल्याण में लगायें, स्वयं राजसी ठाट न बनायें।

"सुन्दरी न सोहै, सनकादिक के साथ।" इस पंक्ति से लगता है कि कबीर देव के काल में भी ऐसे साधु-संन्यासी होते थे जो स्त्रियों को साधुनी-संन्यासिनी बनाकर अपने साथ रखते थे। यह बात आज-कल भी कहीं-कहीं देखी जाती है। सद्गुरु ने यहां कितनी मधुर व्यंजना के साथ यह बात कही है—"सुन्दरी न सोहै, सनकादिक के साथ।" साधु-संन्यासियों के साथ में स्त्री नहीं शोभती। इस खतरे से बचने के लिए उन्होंने कैसा सुन्दर उदाहरण देकर हमें सावधान किया है—"कबहुँक दाग लगावै, कारी हाँड़ी हाथ॥" हाथ में कालिख पुती हंडी लेकर चलेंगे, तो वह कभी-न-कभी दाग लगायेगी ही।

उन साधु-संन्यासियों की दयनीय दशा है जो अपने साथ में स्त्रियां रखते हैं। वे अपना विनाश तो करते ही हैं, समाज में भ्रम पैदाकर वेष पर धप्पा लगाते हैं। साधु-संन्यासियों को चाहिए कि वह न तो स्त्रियों को साथ में रखे, न मठ में। यदि स्त्रियां एक जगह रहकर साधना करना चाहें, तो उनका पुरुषों से अलग अपना स्वतन्त्र आश्रम होना चाहिए और उनमें पुरुषों का सम्बन्ध बिलकुल नहीं होना चाहिए।

एक विद्वान ने अपनी पुस्तक में यह प्रश्न उठाया है—"कबीर के समय में बन्दूक नहीं थी। अत: 'नारद कब बन्दूक चलाया' इस रमैनी में होने से, यह रमैनी पीछे का प्रक्षेप है।" इस प्रश्न का उत्तर 'कबीर दर्शन' के पहले अध्याय के 'रचना-बीजक' संदर्भ में दिया जा चुका है। कबीर साहेब के काल से पहले ही बन्दूक बन गयी थी तथा कबीर साहेब जब पचास वर्ष की उम्र से ज्यादा थे, तब काशी के निकट जौनपुर में बन्दूक से लड़ाई हुई थी। इसलिए इस रमैनी पर संदेह करने की कोई गुंजाइश नहीं है।

वाणी-सुधार

रमैनी-70

बोलना कासो बोलिये रे भाई। बोलत ही सब तत्त्व नशाई॥ 1॥
बोलत बोलत बाढ़ु विकारा। सो बोलिये जो पड़े विचारा॥ 2॥
मिलहि सन्त बचन दुइ कहिये। मिलहि असंत मौन होय रहिये॥ 3॥
पण्डित सो बोलिये हितकारी। मूरख सो रहिये झखमारी॥ 4॥
कहहिं कबीर अर्ध घट डोलै। पूरा होय विचार ले बोलै॥ 5॥

शब्दार्थ—बोलना=बात। सब तत्त्व=वाणी के सब गुण। पण्डित= सारासार विवेकी। झखमारी=निराश।

भावार्थ—हे भाई ! बात किससे की जाये ! जो उपयुक्त पात्र नहीं है, उससे ज्ञान-चर्चा करने पर चर्चा के सारे गुण नष्ट होते हैं॥ 1॥ अनधिकारी आदमी के सामने यदि ज्ञान-चर्चा करते गये, तो उलझन, क्रोध आदि के विकार ही बढ़ेंगे। अतएव बात करने के पहले यह विचार कर लेने की आवश्यकता है कि सामने वाले व्यक्ति की पात्रता क्या है, उसके विचार कैसे हैं और वह क्या समझ सकता है !॥ 2॥ संत मिलें, तो उनसे दो बातें कर लो, और यदि असंत मिले तो उनके सामने चुप रहो॥ 3॥ कोई पण्डित, समझदार एवं विवेकी मिले तो उससे कल्याण की बातें करो, और मूर्ख के मिलने पर अपना मन मारकर चुप रह जाओ॥ 4॥ कबीर साहेब कहते हैं जब आधा घड़ा पानी रहता है तब वह छलकता है और जब घड़ा पूरा भरा रहता है तब छलकता नहीं और यदि वह आवाज करता है तो उसकी आवाज गंभीर रहती है॥ 5॥

व्याख्या—वाणी का बड़ा महत्त्व है। यह मानव का परम सौभाग्य है कि उसे विकसित मन[1] के साथ प्रकृति के द्वारा दूसरा वरदान वाणी की शक्ति मिली है। मानव ऐसा सौभाग्यशाली प्राणी है जो अपने मन की बातें अपनी वाणी द्वारा दूसरे के सामने व्यक्त करता है तथा दूसरे के अन्तर्मन की बातें उसकी वाणी सुनकर समझता है। परन्तु जो शक्ति जितनी महत्त्वपूर्ण होती है, उसका दुरुपयोग करने से वह उतनी ही हानिकारक होती है।

कब, किससे, क्या, कितना और कैसे बोलना चाहिए—इन पांचों सूत्रों को जिसने अपने जीवन में हल कर लिया, उसने अपनी वाणी पर विजय पा ली। (1) 'कब' बात करने के समय का सूचक है, (2) 'किससे' जिससे बात की जाये उस व्यक्ति का सूचक है, (3) 'क्या' वार्ता के विषय का सूचक है, (4) 'कितना' वार्ता की मात्रा का सूचक है तथा (5) 'कैसे' वार्ता की शैली का सूचक है।

1. **कब**—हम अगले आदमी से जिस बात की चर्चा करना चाहते हैं उसका उपयुक्त समय कब होगा—इसकी परख होना आवश्यक है। माता, पिता, गुरु, अधिकारी एवं बड़े लोगों से कुछ निवेदन करना है, परन्तु उनका मन यदि तैयार नहीं है, वे यदि प्रसन्न मुद्रा में नहीं हैं, वे तुम्हारी बातों को सुनने के रुख में नहीं हैं या वे किसी अन्य कार्य में व्यस्त हैं, तो हो सकता है उस समय तुम्हारा उनसे कुछ कहना निष्फल जाये। अपने से बड़े लोगों की बात जाने दीजिए; पत्नी, बच्चे, शिष्य तथा नौकर के भी मन को देखना पड़ता है। उनकी स्थिति को देखना पड़ता है। आप अनुकूल समय में बड़ी-से-बड़ी बातें भी दूसरों से मनवा सकते हैं, किन्तु समय की अनुकूलता न होने से छोटी-सी बात

1. मन की शक्ति के विषय में साखी प्रकरण की प्रथम साखी की टीका देखें।

भी अगले आदमी से मनवा पाना कठिन हो जाता है। अतएव अपनी बात कहने के लिए अनुकूल समय की परख होना चाहिए। सार्वजनिक भाषण में भी समय की अनुकूलता का अपना बड़ा महत्त्व होता है। किसी भी विषय पर सभी समय नहीं बोला जा सकता।

2. **किससे**—जिससे हम अपनी बातें कहने जा रहे हैं उसकी योग्यता क्या है, इसका ज्ञान होना आवश्यक है। बहुत भावुक तथा अंध-श्रद्धालु आदमी के सामने लम्बा-चौड़ा चिंतन एवं तर्कपूर्ण विचार रखना अपना तथा उसका समय बरबाद करना है। जो बेसमझ है तथा समझदार होते हुए भी किसी भावना से ग्रसित एवं मताग्रही है, उसके सामने अधिक विचार की बातें करना झख मारना है। 'झख' कहते हैं मछली को। मछुवारे बंसी लेकर जलाशय में मछली मारने जाते हैं। वे कभी-कभी दिन भर प्रयत्न करने पर भी सफलता नहीं प्राप्त कर पाते। इसलिए 'झख मारना' एक मुहावरा बन गया। किसी ने किसी से बहुत बातें कीं, परन्तु वह उसे अपनी बातें नहीं समझा सका, तो वह कहता है 'झख मारता रहा और क्या किया।' फिर झख मारने का अर्थ चुप हो जाना भी हो गया।

अपरिचित आदमी से बात करने में तो बहुत सावधान रहना चाहिए। रेलगाड़ी, बस, जलयान, वायुयान आदि साधनों से यात्रा करते समय अपरिचित आदमी मिलते हैं। कभी-कभी उनमें ऐसे लोग मिल जाते हैं कि उनसे किसी बात पर चर्चा छिड़ जाने पर केवल पश्चाताप हाथ आ सकता है; क्योंकि वे उस बात के योग्य नहीं होते। मूर्ख, हठी, अहंकारी, सांप्रदायिक संस्कारों में डूबे, जड़वाद के प्रमादी आदि से रास्ता चलते बातें करना केवल अपना समय खोना तथा अपने मन में अशांति के बीज बोना है। इसलिए यात्रा में तो मौन ही रहना चाहिए।

मनुष्य की पात्रता देखकर तदनुकूल उससे बातें करना चाहिए। आपसे जो कोई मिले, वह आपसे कुछ लेकर तथा प्रसन्न होकर जाये, इस पर ध्यान रखना बहुत जरूरी है। जो बहुत योग्य पात्र है, उसके सामने भी सारा सत्य एक साथ नहीं कहा जा सकता। यदि उसमें पात्रता है तो उससे कुछ मात्रा में चर्चा करना चाहिए। धीरे-धीरे समझते-समझते पात्रता बढ़ती है। पहली बार एवं एक ही बार में ज्यादा बोझा लाद देने से हो सकता है वह हताश हो जाये।

जिससे बात की जानी है, उसके मन को पहले टटोल लेना अति आवश्यक है। हर आदमी के मन में अपने-अपने ढंग के संस्कार भरे होते हैं। अपने संस्कारों के प्रतिकूल बातों से लोगों को अरुचि होती है। इस प्रथम मिलन में कुछ अनुकूल बातें करके ही पीछे से थोड़ी अपनी बातें रखी जा सकती हैं। बिना खेत तैयार किये उसमें बीज डालना बेकार है। इसी प्रकार किसी का हृदय

बिना अनुकूल बनाये अपनी बात उससे नहीं मनवायी जा सकती। श्री रामरहस साहेब ने कहा है—"बात इस प्रकार करे जिससे उसका मन दुखी न हो और उसे रास्ते पर ले आवे। जिसका मन जिस मान्यता में बंधा हो पहले उसकी प्रशंसा कर उसके हृदय में प्रेम का स्थान बनाना चाहिए, उसके बाद अपनी बातें कहनी चाहिए।"[1]

चर्चा चाहे आध्यात्मिक हो या व्यावहारिक, यह ध्यान रखना चाहिए कि जिससे हम मिलें या जो हमसे मिले, मिलन तथा चर्चा के बाद परस्पर स्निग्धता, मधुरता एवं प्रसन्नता उत्पन्न हो। हम किसी को कुछ दे न पायें तो उसका चित्त न दुखायें। इस संदर्भ में हमें भलीभांति समझ लेना चाहिए कि अगले आदमी का मन प्रसन्न करके ही उसे अपनी बातें मनवा सकते हैं।

3. **क्या**—हमारी चर्चा का 'विषय' क्या है हमें इसका बोध होना चाहिए। यदि हमें स्वयं अपना विषय स्पष्ट नहीं है तो दूसरे का समय बरबाद कर क्या लाभ होगा ! कितने लोग अपना लम्बा-चौड़ा भाषण झाड़ जाते हैं, परन्तु सुनने वाले को यह पता नहीं चलता कि ये महाशय कहना क्या चाहते हैं।

चर्चा का विषय समय और पात्र देखकर भी चुनना पड़ता है। जो स्त्री विवाह में सोहर तथा पुत्रोत्पत्ति-उत्सव में विवाह के गीत गाती है, वह हास्यास्पद बन जाती है। व्यक्तिगत चर्चा में समय और पात्र देखकर 'विषय' चुनना चाहिए, किन्तु सार्वजनिक भाषण में भी समाज देखकर विषय चुनना चाहिए। भोजन परोसने वाले को यह समझ होना चाहिए कि वह इस ढंग से भोजन परोसे कि कोई बिना खाये ही न उठ जाये। थोड़ा-बहुत सभी श्रोताओं को संतोष हो जाये, यह भरसक ध्यान रखना चाहिए।

हमारे मस्तिष्क में बड़े ऊंचे-ऊंचे विचार हैं, परन्तु उन्हें जिसके सामने व्यक्त किया जाये, वैसा पात्र भी तो होना चाहिए। सत्पात्रों का अभाव सदा सबके सामने रहा है। केवल कबीर साहेब ही नहीं कहते हैं 'जाको ढूँढ़त हौं फिरा, ताका परा दुकाल"[2] किन्तु भर्तृहरि जी भी कहते हैं "किससे छंद-प्रबंध की बातें कही जायें, सुनने वाले नहीं हैं।"[3] गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते

1. ऐसन विधि तेहि पारख देई। चित नहिं दुखै नीक करि लेई॥
   जेहि कर जहाँ बँधावा होई। ताहि सराहि मिले भल सोई॥ (पंचग्रंथी, गुरु. प्र. 21)
2. बीजक, साखी 185।
3. पंडित मत्सरता भरे भूप भरे अभिमान।
   और जीव या जगत के मूरख महा अजान।
   मूरख महा अजान देखि के संकट सहिए।
   छंद प्रबंध कवित्त काव्यरस कासो कहिए।
   वृद्ध भई मन माहिं मधुर वाणी गुण-मंडित।
   अपने मन को मारि मौन धरि बैठत पंडित। (भर्तृहरि के श्लोक का अनुवाद)

हैं—'तुलसी सठ की को सुने, कलि कुचाल पर प्रीति।' परन्तु इन सबका यह अर्थ नहीं है कि ऊंचे विचारों का कोई पात्र है ही नहीं। समाज में यथासमय ऊंचे विचारों की बातें कहना चाहिए। उनके पात्र अवश्य मिलेंगे। जब तक बात समाज में रखी नहीं जायेगी, लोग पात्र बनेंगे कैसे! कुछ लोगों में पात्रता के अंकुर होते हैं, परन्तु अवसर न पाने से उनका विकास नहीं होता। जब वे अच्छे विचार पाते हैं, तब पात्र बन जाते हैं। यह रात-दिन का अनुभव है कि हर जगह ऊंचे विचार के पात्र मिलते हैं। यह सब होते हुए भी हमें व्यक्तिगत चर्चा तथा सार्वजनिक भाषण में क्रमशः व्यक्ति तथा समाज की मानसिकता एवं योग्यता देखकर अपनी चर्चा एवं भाषण के विषय चुनने चाहिए। इससे हमें अपने उद्देश्य में ज्यादा सफलता मिलेगी।

4. **कितना**—हमें अपनी चर्चा तथा भाषण की मात्रा का भी बोध होना चाहिए। थोड़े में ज्यादा बातें भी कही जा सकती हैं और लम्बे-चौड़े भाषण में छोटी बातें उलझी ही रह सकती हैं। व्यक्तिगत चर्चा को लम्बे समय तक खींचकर अपने और दूसरे के समय को व्यर्थ बरबाद मत करो। थोड़ी और संतुलित मात्रा की बात वजनदार होती है। कुछ लोग बात करने के इतने रसिक होते हैं कि केवल अपनी बातें कहते हैं, दूसरे की सुनते नहीं। कुछ लोग सभा में भी ऐसे भाषण-बाज होते हैं कि संचालक घंटी-पर-घंटी बजाते रहें और रोकने का प्रयास करते रहें, परन्तु वे रुकना नहीं चाहते। यह वक्ता की कमजोरी है। चर्चा या भाषण की कितनी आवश्यकता है इसकी परख होनी चाहिए। अगले आदमी तथा समाज की रुचि के भीतर चर्चा होनी चाहिए। आपके द्वारा की जाती चर्चा एवं भाषण किसी को बोझ न बनें, किन्तु चर्चा एवं भाषण को लोग प्रसन्नता से ग्रहण करें, यह ध्यान होना चाहिए और इसके लिए संतुलित मात्रा की महती आवश्यकता है।

5. **कैसे**—किस ढंग से बात की जाये इस पर ध्यान देना भी बहुत जरूरी है। सारी क्रियाओं में शैली का बहुत बड़ा महत्त्व होता है, फिर बात, चर्चा एवं भाषण में तो शैली प्राण तत्त्व है। कठोर-से-कठोर सत्य ऐसी शैली में कह दिया जा सकता है जिसको लोग बड़ी सरलता से ग्रहण कर लें। और सरल-से-सरल बात भी कथन की गलत शैली से अनसुहाती, उलझी हुई तथा छिछली हो जाती है।

किसी व्यक्ति के मिलने पर चर्चा की शुरुआत विरोधी विचारों से नहीं करना चाहिए। दोनों के विचार जिनमें मिलते हों ऐसी बातें ही चर्चा का विषय बनना चाहिए। जहां विचार नहीं मिलते हों, ऐसी बातें छोड़ देना चाहिए।

व्यक्तिगत चर्चा में हो या सार्वजनिक मंच पर भाषण में, हम दूसरों की आलोचना न कर अपनी बातें कहें। यदि प्रसंगवशात दूसरों की आलोचना करना

पड़े, तो पहले हमें यह समझ लेना चाहिए कि जिनको हम अपना नहीं मानते, उनकी आलोचना करने का हमारा अधिकार नहीं है। जिन्हें हम अपना मानते हैं, हम उन्हीं की आलोचना भी कर सकते हैं। आलोचना में आदर, अपनत्व और शिष्ट शब्द होने चाहिए। वैसे दूसरों की आलोचना से बचना सबसे उत्तम है।

चर्चा या भाषण में स्वर न बहुत ऊंचे हों न बहुत धीमे, किन्तु जिन्हें हम सुना रहे हैं उन्हें बातें आराम से सुनाई दे जायें इतना ही होना चाहिए। बातें तर्कयुक्त, सत्य, प्रिय, हितकर, यथासंभव थोड़ी और निर्विवाद हों इस पर ध्यान रखना चाहिए।

इस प्रकार हम बात करने या भाषण करने में उक्त बातों पर ध्यान रखें, तो यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि होगी।

कितने ही लोग असंतुलित बोलकर पहले अपने मन और फिर पीछे दूसरे के मन में अशांति पैदा करते हैं। कई बार हम किसी से बातों में उलझकर अपनी शिष्टता और शांति को हार जाते हैं और उस आदमी पर भी हमारा अच्छा प्रभाव नहीं रह जाता। इस प्रकार हम किसी से बातों में उलझकर केवल अपने साथी या मिलने–जुलने वाले का विश्वास ही नहीं खोते हैं, किन्तु अपनी शिष्टता और शांति भी खोते हैं। अमुक–अमुक लोगों का विश्वास हमें न प्राप्त हो तो कोई बात नहीं। संसार के सभी लोगों को कोई खुश नहीं कर सकता। परन्तु हमें अपनी शिष्टता और शांति अक्षुण्ण बनाये रखना चाहिए; क्योंकि यही जीवन का मक्खन है।

सद्गुरु कबीर ने इस 70वीं रमैनी में वाणी–सुधार का अमृत रसायन भर दिया है। उन्होंने इस रमैनी में इस बात पर जोर डाला है कि अपात्र के सामने बात करके, विकार बढ़ता है, लाभ नहीं होता। उन्होंने पंडित और सन्त से बात करने की राय दी है। जो लोग कहते हैं कि कबीर साहेब ने तो पंडितों को लताड़ा है, वे उनके कथन के केवल एक पक्ष देख रहे हैं। उनके कथन के दूसरे पक्ष में पंडितों का महती आदर है। "पंडित सो बोलिये हितकारी" यहां कहा ही है। उन्होंने इस ग्रन्थ में अन्यत्र कई जगह पंडितों का बड़े आदर से नाम लिया है। "कहहिं कबीर हम जात पुकारा, पंडित होय सो लेय विचारा।"[1] यह एक दूसरा वाक्य काफी है। पंडित वही है जो प्रज्ञावान एवं विवेकी है। दूसरे संत हैं जो शीतल तथा निर्मल बुद्धि के हैं। इस प्रकार उन्होंने समझदारों और सज्जनों से बात करने की राय दी।

सद्गुरु ने कहा कि आधा घड़ा भरा पानी छलकता है और जब घड़ा पूरा भरा रहता है, तब छलकता नहीं और यदि कभी आवाज करता है, तो गम्भीर।

---

1. बीजक, शब्द 53।

इसी प्रकार हलकी बुद्धि का आदमी पिट्ट-पिट्ट बात करता है। समझदार तथा संयत पुरुष मौन रहते हैं और जब बात करते हैं, तब उनकी बात वजनदार होती है। अतः हमें छिछला नहीं, वजनदार होना चाहिए।

निर्लिप्तवाद का दिखावा

रमैनी-71

सोग बधावा जिन्ह समकै माना। ताकी बात इन्द्रहु नहिं जाना॥ 1॥
जटा तोरि पहिरावै सेली। योग युक्ति की गर्भ दुहेली॥ 2॥
आसन उड़ाये कौन बड़ाई। जैसे कौवा चील्ह मिड़राई॥ 3॥
जैसी भीत तैसी है नारी। राज पाट सब गनै उजारी॥ 4॥
जस नरक तस चन्दन जाना। जस बाउर तस रहै सयाना॥ 5॥
लपसी लौंग गने एक सारा। खाँड़ छाड़ि मुख फाँके छारा॥ 6॥
साखी—इहै बिचार बिचारते, गये बुद्धि बल चेत।
दुइ मिलि एकै होय रहा, मैं काहि लगाऊँ हेत॥ 71॥

शब्दार्थ—सोग=शोक। बधावा=मंगलाचार, हर्ष-आनंद, खुशी में भेजा हुआ उपहार। सेली=बाल, ऊन एवं रेशम की बनी माला। दुहेली=कठिन, दुखदायी, भारी। पाट=सिंहासन। उजारी=जंगल। बाउर=पागल। सयाना= समझदार, ज्ञानी। लपसी=मीठा। लौंग=कड़वा। एक सारा=एक समान। खाँड़ =शकर, चीनी। छारा=धूल। चेत=सावधानी। हेत=प्रेम।

भावार्थ—(आचरणहीन, किन्तु निर्लिप्तवाद का दिखावा करने वाले साधु-वेषधारियों पर व्यंग्य करते हुए सद्गुरु कहते हैं—) जो शोक और मंगल को एक समान मानने का दावा करते हैं, उनकी जालसाजी का रहस्य छल करने में निपुण इन्द्र भी नहीं जान सकता॥ 1॥ नाथपंथी लोग वैष्णवों को वादविवाद में हराकर और जटा के बालों को तोड़कर उनकी माला बना उन्हें पहना देते हैं और उन्हें अपने पंथ में मिला लेते हैं। इनको योग-युक्ति का बड़ा भारी अहंकार है॥ 2॥ ये लोग आसन पर बैठकर योग के बल से आकाश में उड़ने का पाखंड रचते हैं, परन्तु इसमें उनकी क्या विशेषता हुई? कौआ, चील आदि पक्षी भी आकाश में उड़ते रहते हैं। उनसे ये क्या ज्यादा हो गये?॥ 3॥ ये कहते हैं 'हमारे लिए दीवार तथा स्त्री बराबर है। हम राजसिंहासन और जंगल को एक समान मानते हैं॥ 4॥ हमारे ख्याल से नरक और चंदन में कोई अंतर नहीं है। हम पागल और ज्ञानी को भेद दृष्टि से नहीं देखते हैं'॥ 5॥ ये मीठी लपसी तथा कड़वी लौंग एक समान मानते हैं। और शकर को छोड़ मुख में धूल फांककर दिखाते हैं कि देखो, मुझे शकर-धूल में कोई अन्तर नहीं लगता॥ 6॥

इस प्रकार विधि–निषेध–मिलाऊ पाखंडपूर्ण बातों का विचार करते–करते इनकी विवेक–शक्ति तथा सावधानी नष्ट हो गयी। ये जड़–चेतन, विधि–निषेध, खाद्य–अखाद्य एक में मिलाकर अद्वैत ब्रह्म बन रहे हैं। इनकी इस असाध्य मानसिक बीमारी को देखते हुए मैं इनमें से किससे प्रेम करूं?—किसको राय दूं कि यह सब तुम्हारा प्रमाद है॥ 71॥

व्याख्या—विवेकवान हर्ष–शोक वाली बातों में सम रहते हैं, यह बात सच है, परन्तु जो इसका दिखावा कर योग–भोग को एक समान बताते हुए तथा इन्द्रिय–भोगों में लंपट रहते हुए अपने को सिद्ध दिखलाना चाहते हैं, वे निर्लिप्तवाद की आड़ लेकर जालसाजी करते हैं। वे कहते हैं कि हम चाहे योग करें और चाहे भोग करें, हमें हर्ष–शोक नहीं व्यापते। कबीर देव कहते हैं कि ऐसे लोग महा जालसाज होते हैं। कहा जाता है कि इन्द्र सबसे बड़ा जालसाज[1] था। इसीलिए तो पीछे से इन्द्रजाल नाम से विद्या ही बन गयी जिसमें केवल जालसाजी है। परन्तु सब कुछ करते हुए निर्लिप्ति का दिखावा करने वाले लोग तो ऐसे जालसाज होते हैं जिनका रहस्य इन्द्र भी न समझ पाये।

कहा जाता है कि नाथपंथी लोग वैष्णवों को वाद–विवाद में हरा देते थे; क्योंकि वे तार्किक होते थे और वैष्णव सरल भक्त होते थे। जब वे वैष्णवों को हरा देते थे, तब उनकी जटा के बालों को तोड़कर तथा उनकी माला बनाकर उन्हें पहना देते थे और अपने पंथ में उनकी भरती कर लेते थे। कहा जाता है कबीर साहेब ने नाथपंथियों को हराकर वैष्णवों की रक्षा की थी।

हठयोगियों को योग–युक्ति का भयंकर अहंकार था। वे जगह–जगह योग के चमत्कार दिखाते थे जो उनका एक अभ्यास होता था। ये सारी बातें दिखावा से भरी होती थीं। उनसे जगत का कोई कल्याण नहीं, किन्तु भ्रांति का विस्तार होता था। कोई कहता हमारे योगी गुरु अपना आसन आकाश में उड़ा देते हैं या स्वयं आसन पर बैठे–बैठे आकाश में उड़ने लगते हैं। कबीर साहेब ने कहा, बड़ी अच्छी बात। परन्तु इसमें उनकी क्या विशेषता हो गयी और इससे जगत का क्या कल्याण हो गया! कौआ–चील आदि पक्षी तो आकाश में मंडराते ही रहते हैं। तुम्हारे गुरु आकाश में उड़ लेते हैं, तो वे कौआ तथा चील से ज्यादा नहीं हैं।

वस्तुतः कोई मनुष्य आकाश में उड़ नहीं सकता। हम, हमारे गुरु तथा योगी आकाश में उड़ते हैं, यह कहना बिलकुल झूठ है। एक महात्मा के शिष्यों ने उनके लिए प्रचार कर रखा था कि हमारे गुरु रात में आकाश में उड़ते हैं। जब

---

1. ऋग्वेद 6/47/18 तथा 10/54/2 आदि में इन्द्र को मायावी कहा गया है।

अन्य लोगों ने इस बात के विषय में महात्मा से पूछा तब उन्होंने कहा—बेटा, मैं उड़ता नहीं हूं, किन्तु चेले उड़ाते हैं।

कुछ ब्रह्मज्ञानियों की दशा अत्यन्त दयनीय थी। वे कहते थे कि हमारे लिए दीवार तथा स्त्री एक समान हैं। यदि दीवार को छू लिया तो क्या बुरा हुआ! इसी प्रकार स्त्री को छू लिया तो क्या बुरा हुआ! ज्ञानी को द्वैत नहीं भासता। वह राजगद्दी पर बैठकर चाहे राज्य करे और चाहे जंगल में रहे, एक समान है। ऐसी स्थिति में लोग राजा जनक का उदाहरण ठोंक देते हैं। जिनकी कल्पित कहानी में विरक्त शुकदेव को चिन्ताग्रस्त तथा राजा जनक को अनासक्त बताया गया है। ठीक है, राजा जनक अन्य राजाओं की अपेक्षा अनासक्त रहे होंगे, परन्तु भोगों को भोगते हुए निर्लिप्त होने का ढकोसला अपने आप को तथा संसार को बेवकूफ बनाना है। राजा जनक की कहानी का लोग बहुत दुरुपयोग करते हैं।

सब कुछ एक ब्रह्म मानकर नरक तथा चन्दन को, अभक्ष्य मांस-शराबादि तथा भक्ष्य रोटी-भात आदि को एक मानना ज्ञान का दुरुपयोग है। नरक और चन्दन एक कैसे? क्या कोई ज्ञानी रोटी और टट्टी को एक मानकर उनका समान उपयोग करेगा? और यदि करता है तो वह ज्ञानी कहलाने योग्य है? इसी प्रकार पागल और ज्ञानी भी एक समान नहीं। यह ठीक है कि उन्हीं मूल तत्त्वों से चन्दन-नरक दोनों की उत्पत्ति होती है, परन्तु दोनों का उपयोग समान नहीं हो सकता। इसी प्रकार पागल तथा ज्ञानी मूलतः एक समान मानव हैं। परन्तु दोनों का व्यवहार एक नहीं हो सकता।

इसी प्रकार लपसी-लौंग तथा शकर-धूल का भी अपना व्यवहारतः भेद है। जीवन में कुछ कर्तव्य है, कुछ अकर्तव्य है, कुछ खाद्य है, कुछ अखाद्य है, कुछ ग्राह्य है तथा कुछ त्याज्य है। सब धान साढ़े बाइस पसेरी नहीं हो सकता। योग के ढकोसले में भोग करते हुए निर्लिप्तवाद के दिखावे में विधि-निषेध का त्याग कर तथा अपने आप को हर्ष-शोक से ऊपर प्रदर्शित कर प्रपंच तथा छलावा में डूबे हुए योगी तथा ब्रह्मज्ञानी कहलाने वाले लोग समाज के लिए अभिशाप हैं। वे धर्म के क्षेत्र में बिगड़ी घड़ी बनकर समाज को पथभ्रष्ट करते हैं।

"इहै बिचार बिचारते, गये बुद्धि बल चेत" जड़-चेतन एक है, नरक-चन्दन एक है, दीवार-स्त्री एक है, खाद्य-अखाद्य, विधि-निषेध कुछ नहीं। ज्ञानी वही है जिसको भिन्नत्व का भास ही नहीं होता है—ऐसा विचार करते-करते इन लोगों की बुद्धिशक्ति नष्ट हो जाती है और गलत कर्मों से बचने के लिए सावधानी नहीं रह जाती। सब कुछ एक मानने के ढकोसले में पड़कर दो महत्त्वपूर्ण गुण नष्ट हो जाते हैं, सद्गुरु ने उन्हें 'बुद्धिबल' तथा 'चेत' कहा है।

बुद्धिबल से ही हम जड़-चेतन, कर्तव्य-अकर्तव्य, ग्राह्य-त्याज्य का निर्णय करते हैं। जो व्यक्ति निरंतर यह सोचता है कि जड़-चेतन, विधि-निषेध आदि कुछ है ही नहीं, सब कुछ एक ही है, उसकी विवेकशक्ति क्षीण होगी ही। और बुद्धिबल तथा विवेकशक्ति क्षीण हो जाने पर, उसके ख्याल से कुछ ऐसा रह ही नहीं जाता है जो बंधनदायी हो और उससे सावधान एवं अलग रहने की बात हो। उसके ख्याल से दीवार तथा स्त्री एक समान होती है। उसके ख्याल से तो 'भोगे युवती सदा संन्यासी'[1] युवती स्त्री का उपभोग करते हुए भी ज्ञानी सदैव संन्यासी है। फिर ऐसे लोगों को सावधानी की क्या आवश्यकता? वे तो समझते हैं—"त्यागहुं विषय कि भोगहु इन्द्रिय, मूंकूं लगै न रंचक रंग।"[2]

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि ऐसे लोगों को समझाकर रास्ते पर लाना बड़ा कठिन है। वे कहते हैं—"ज्ञानी तो निरभय भया, मानै नाहीं संक। इन्द्रिय केरे बसि परा, भुगतै नरक निसंक॥"[3] जो "दुइ मिलि एकै होय रहा" जड़-चेतन, भोग-योग, विधि-निषेध एक में मिलाकर तथाकथित ब्रह्मज्ञान की ऊंची चोटी पर चढ़ गया, उसको सदाचार के रास्ते पर लाना बड़ा कठिन है। सद्गुरु कहते हैं "मैं काहि लगाऊँ हेत" मैं किससे प्रेम करूं, किसको समझाऊं! अज्ञानी तो समझ सकता है, परन्तु ज्ञान के ढकोसले के परदे के पीछे भोगपरायण लोग नहीं समझ सकते।

माया का आश्चर्यजनक तथा पतनकारी रूप

रमैनी-72

नारी एक संसारहि आई। माय न वाके बापहि जाई॥ 1॥
गोड़ न मूँड़ न प्राण अधारा। जामें भभरि रहा संसारा॥ 2॥
दिना सात ले उनकी सही। बुद अदबुद अचरज का कही॥ 3॥
वाहिक बन्दन करे सब कोई। बुद अदबुद अचरज बड़ होई॥ 4॥
साखी—मूस बिलाई एक संग, कहु कैसे रहि जाय।
अचरज एक देखो हो सन्तो, हस्ती सिंहहि खाय॥ 72॥

शब्दार्थ—नारी=माया, इच्छा, कल्पना। बापहि=जीव। जाई=पैदा किया। भभरि=भयभीत, भ्रम में पड़ना। दिना सात=रविवार से शनिवार सातों दिन। सही=सत्य, प्रामाणिक। बुद=ज्ञानी, विद्वान। अदबुद=अज्ञानी, अविद्वान। मूस=जीव। बिलाई=माया, इच्छा। हस्ती=मन, माया। सिंह=जीव।

---

1. विचार सागर।
2. विचार सागर।
3. साखी ग्रन्थ।

भावार्थ—संसार में इच्छा एवं कल्पना रूपी एक नारी आयी जिसे किसी माता ने नहीं, किन्तु केवल जीव रूपी पिता ने पैदा किया है॥ 1॥ उसके न पैर हैं, न सिर है, न प्राणों का अवलंबन है। अर्थात उसका कोई स्वतः स्वरूप नहीं है। वह केवल मन की कल्पना है। परन्तु उसके लपेट में आकर संसार के सारे लोग भ्रम में पड़ गये हैं॥ 2॥ मैं क्या आश्चर्य की बातें कहूं, विद्वान और अविद्वान सब दिन मानो उसी की सत्यता एवं वरीयता प्रमाणित करने में लगे हैं॥ 3॥ यह बड़ा आश्चर्य होता है कि मूढ़ से विद्वान तक सब उसी की वन्दना करते हैं। सब इच्छा एवं कल्पना रूपी माया की शरण में पड़े हैं॥ 4॥

कहो भला, चूहा और बिल्ली एक साथ कैसे रह सकते हैं! चूहे को बिल्ली खायेगी ही। माया की संगत कर जीव का पतन होगा ही। हे सन्तो! एक आश्चर्य देखता हूं कि हस्ती सिंह को खा रहा है। अर्थात माया जीव को पथभ्रष्ट कर रही है॥ 72॥

व्याख्या—कबीर साहेब अपनी कई बातें रूपकों, प्रतीकों एवं उलटवांसियों में कहते हैं जो बोधगम्य होने के साथ-साथ रोचक, चौंकानेवाली तथा मार्मिक भी होती हैं। सद्गुरु कबीर कहते हैं "नारी एक संसारहि आई। माय न वाके बापहि जाई॥" यहां नारी माया का प्रतीक है तथा बाप जीव का। कबीर साहेब माया की परिभाषा यह नहीं देते कि माया कोई स्वतंत्र शक्ति है और जीव के ऊपर आकर चढ़ बैठती है या यह अघटित घटना पटीयसी है, दुरत्यया या अनिर्वचनीया है। वे कहते हैं माया मन का मोह[1] है। इसी को इच्छा एवं कल्पना भी कह सकते हैं। कुल मिलाकर मन का विकार ही माया है।

सद्गुरु कहते हैं कि संसार में एक नारी आयी, उसको माता ने नहीं पैदा किया, किन्तु केवल पिता ने पैदा किया। मन की इच्छा-कल्पना माया है और यह केवल जीव रूपी पिता से ही पैदा होती है। सद्गुरु ने दूसरी रमैनी के शुरू में ही कहा है—"जीव रूप एक अन्तर बासा। अन्तर ज्योति कीन्ह परकासा॥ इच्छा रूपि नारी अवतरी॥" यहां भी यही बताया गया है कि जीव द्वारा इच्छा रूपी नारी का अवतरण हुआ। अतः सीधा-सपाट अर्थ यह है कि मनुष्य के मन की इच्छा-कल्पना ही माया है।

इच्छा का अर्थ है चाह और कल्पना का अर्थ है चाह की पूर्ति के लिए मन में गढ़े गये विविध आकार। मनुष्य की चाह है सुख; और सुख के साधन में गढ़े गये रूप हैं इन्द्रिय-प्रत्यक्ष प्राणी-पदार्थों का विस्तार और परोक्ष देवी-देवता, ईश्वर-स्वर्गादि।

1. बीजक, साखी 90, 94, 104, 105 भी देखिए।

मन में इच्छा उत्पन्न होने पर उसके लिए कल्पनाएं उत्पन्न होती हैं। एक व्यक्ति पहले स्त्री की इच्छा करता है। उसके बाद उसके विषय में नाना कल्पनाएं गढ़ता है। कल्पना के बाद वह स्त्री लाकर उसमें उलझता है। इसी प्रकार स्त्री पुरुष के विषय में करती है। जो स्त्री के मन में पुरुष की कल्पना तथा पुरुष के मन में स्त्री की कल्पना है, उसके मूल में उन्हें नित्य सुख पाने की ही इच्छा है। इसी नित्य सुख को पाने के लिए समझ–भेद से भूत–प्रेत, तंत्र–मंत्र, देवी–देवता, तीर्थ–व्रत, ईश्वर–ब्रह्म आदि की भी कल्पना की जाती है।

मकान, मशीनें, छोटी–बड़ी विकास–योजनाएं आदि के मूल में भी इच्छा तथा कल्पनाएं ही होती हैं। इसके मूल में भी सुख–सुविधाएं पाना होता है। भक्ति, वैराग्य, साधनादि में भी परम सुख प्राप्ति की इच्छा ही होती है। बिना इच्छा एवं कल्पना के कोई विस्तार नहीं हो सकता। जो कल्याण तथा जीवननिर्वाह में सहयोगी हैं, वे इच्छाएं एवं कल्पनाएं तो ठीक हैं, परन्तु जो जीव को भटकाव में डाल दें, वे माया रूप हैं।

अपनी आत्मा से अलग जहां तक परम–सुख, मोक्ष या परमात्मा पाने की इच्छा एवं कल्पना है, सब माया है। यह इच्छा या कल्पना जीव से पैदा होती है। इस कल्पना रूपी नारी के हाथ, पैर, मुख, ग्रीवा, प्राण आदि नहीं होते। अर्थात यह जीव की मनःकल्पित होने से, कोई स्वतन्त्र सत्ता वाली नहीं है। यह मनोराज्य मात्र है। परन्तु इसे देखकर संसार के सारे लोग भभर गये हैं। सब भय तथा भ्रम में पड़ गये हैं। मनुष्य की इच्छा और कल्पना के विस्तार में ही तो भूत–प्रेत, देवी–देवता, तन्त्र–मन्त्र, लोकांतरों में स्वर्ग–नरक और तरह–तरह के ईश्वर–परमात्मा बनाये गये हैं। मनुष्य की कल्पना के विस्तार में ही तो समस्त मान्यताओं का जाल फैला है, जिसमें जीव स्वयं भटक गया है। स्वयं जीव ने कल्पना–नारी खड़ी की और उसमें स्वयं उलझ गया।

आश्चर्य तब होता है जब देखते हैं कि मूर्ख से विद्वान तक सब दिन अपनी कल्पना की सत्यता प्रमाणित करने में लगे हैं। अपने मन की भूलें, आसक्तियां, कल्पनाएं तथा मान्यताएं ही तो माया हैं जो खुद जीव से ही पैदा हुई हैं और जीव उन्हीं में पड़ा बह रहा है। जीव उन्हीं को प्यार दे रहा है। इस क्रिया से जीव माया की ही सत्यता सिद्ध कर रहा है।

"वाहिक बन्दन करे सब कोई। बुद अदबुद अचरज बड़ होई॥" यह बड़ा आश्चर्य होता है कि केवल मूर्ख नहीं, विद्वान भी उसी माया की वन्दना करने में लगे हैं। मूर्ख–विद्वान मलिन विषयों में, झूठ–छल, चोरी–हत्या तथा नाना दुराचार में लीन हैं। मूर्ख से विद्वान तक भूत–प्रेत, देवी–देवता, तन्त्र–मन्त्र की मान्यता में उलझे हैं, अपने स्वरूप को न समझकर वे बाहर परमात्मा या मोक्ष

खोज रहे हैं। उसके लिए निर्जीव पानी-पत्थर, पेड़-पहाड़ पूज रहे हैं। यह सब उसी माया-नारी की वन्दना, पूजा एवं उपासना है। यह माया-कल्पना-नारी संसार को भटकाने वाली है। लैंगिक दृष्टि से नर तथा नारी-शरीर में जीव तो एक समान हैं। उन सभी जीवों को यह माया-कल्पना-नारी भटकाती है।

"मूस बिलाई एक संग, कहु कैसे रहि जाय।" सद्‌गुरु कहते हैं कि यदि चूहा बिल्ली के साथ रहकर अपनी सुरक्षा चाहे तो क्या उसकी सुरक्षा हो सकती है? यदि जीव माया के साथ में अपना कल्याण मानता है, तो उसकी भूल है। जीव माया का संग कर, उसमें आसक्त होकर दिनोदिन दुखी होगा। विषयों में एवं नाना जड़ मान्यताओं में डूबकर जीव का कल्याण कहां!

"अचरज एक देखो हो सन्तो, हस्ती सिंहहि खाय॥" सद्‌गुरु अंत में इस पर आश्चर्य प्रकट करते हैं कि सिंह हाथी को मार देता है, परन्तु यहां हाथी ही सिंह को मार रहा है। अभिप्राय है कि जीव महान समर्थ है। वह माया को मार सकता है। परन्तु आश्चर्य है कि माया ही जीव को मार रही है।

माया, माया की उत्पत्ति, माया से भटकाव, माया की प्रबलता, मूर्ख से विद्वानों तक की उसके सामने दीनता आदि का चित्रण कितने सुन्दर और सटीक रूपकों एवं प्रतीकों द्वारा यहां किया गया है। कबीर साहेब के चिन्तन में माया कोई दैवी चमत्कार नहीं है। वह कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वह तो जीव के अपने स्वरूप की भूल से पैदा हुई एक कल्पना है। काम, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, मोह-ममता मनःकल्पना ही तो हैं। देवी-देवता, मन्त्र-तन्त्र मनःकल्पना ही हैं। जीव के अपने चेतन स्वरूप से पृथक ईश्वर या मोक्ष एक मनःकल्पना ही है। यह कल्पना ही वह नारी है जो माया के लिए प्रयुक्त है। यह मनुष्य से ही पैदा हुई है और मनुष्य इसे पैदा कर स्वयं इसमें भभर गया है। स्वयं भयभीत तथा भटक गया है। अपने स्वरूप को न समझकर अपनी ही कल्पना के सामने व्यक्ति घुटने टेक रहा है। वह कितना पढ़ा-लिखा हो, किन्तु यदि अपनी कल्पनाओं की ही पूजा कर रहा है, कल्पना-कर्ता अपने समर्थ चेतन-स्वरूप को नहीं समझ रहा है तो यह उसकी कितनी बड़ी नादानी है! मूर्ख और पंडित अपने ही बनाये जाल से भयभीत हैं।

इस रमैनी की साखी की प्रथम पंक्ति में सद्‌गुरु ने साधक को सावधान किया है कि तुम विषयासक्ति एवं भ्रांतिवश चूहे के समान दुर्बल बन गये हो, तो देखना, माया-बिल्ली से सावधान रहना। प्रमाद नहीं करना, कुसंग का सेवन नहीं करना। तुम अपने अनादि-कालीन विषयासक्ति, अज्ञान एवं भ्रम की दुर्बलता को ध्यान में रखना। ऐसा न हो कि कुसंग में पड़कर, माया की संगत एवं राग में पड़कर पुनः वही दुर्बलता उदित हो जाये। इसलिए माया के संग से सतत सावधान रहना। उसका त्याग करते रहना।

सद्‌गुरु ने साखी की निचली पंक्ति में साधक को साहस दिया है कि तुम अपने को सचमुच चूहा मत मान लेना। तुम तो समर्थ सिंह हो। तुम बिल्ली को क्या, हाथी को भी मार सकते हो। आश्चर्य है तुम माया-हाथी से मारे जा रहे हो। जागो, अपने समर्थ चेतन स्वरूप को समझो। तुम्हीं ने अपने बलवान चेतन-स्वरूप को भूलकर माया-कल्पना का सृजन किया है। तुम अपनी सत्ता-महत्ता को समझकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाओ, तो माया समाप्त ! तुम सूर्यवत हो, माया अंधकारवत। सूर्य का अभाव ही अंधकार है। इसी प्रकार स्वरूप की भूल ही माया है। भूल गयी, माया गयी। श्री निर्मल साहेब ने कहा है—

निज स्वरूप को भूल पड़ा जो, माया तुम्हैं प्रतीत भई।
निज स्वरूप पर लक्ष्य गया, तो खोजो माया कहां गई॥

रमैनी–73

चली जात देखी एक नारी। तर गागरि ऊपर पनिहारी॥ 1॥
चली जात वह बाटहि बाटा। सोवनहार के ऊपर खाटा॥ 2॥
जाड़न मरे सफेदी सौरी। खसम न चीन्हें घरणि भई बौरी॥ 3॥
साँझ सकार दिया लै बारे। खसमहि छाड़ि सँबरे लगवारे॥ 4॥
वाही के रस निस दिन राँची। पिया सो बात कहै नहिं साँची॥ 5॥
सोवत छाँड़ि चली पिय अपना। ई दुख अबधौं कहै केहि सना॥ 6॥
साखी—अपनी जाँघ उघारि के, अपनी कही न जाय।
की चित जाने आपना, की मेरो जन गाय॥ 73॥

शब्दार्थ—नारी=मनोवृत्ति। पनिहारी=पानी भरने वाली, मनोवृत्ति। बाटा=रास्ता, मार्ग। खाटा=खाट, शय्या, षट विकार। सफेदी सौरी=सफेद सौर, उज्ज्वल चादर या रजाई, अच्छा ओढ़ना। खसम=पति, चेतन। घरणि= घरनी, गृहिणी, पत्नी, मनोवृत्ति। बौरी=पगली। सँबरे=स्मरण करना। लगवारे=लगवार, उपपति, जार, नाना देवी-देवादि। रस=मोह। राँची=आसक्त। पिया=निज आत्मस्वरूप। अपनी जाँघ उघारि के=अपनी बुराई खोलकर।

रूपक—मैंने एक स्त्री को पानी भरने के लिए जाते हुए देखा, तो तमाशा यह था कि घड़ा तो नीचे था, और पनहारिन-स्त्री स्वयं घड़े के ऊपर थी। वह रास्ते-रास्ते जा रही थी और थककर सो गयी, तो देखा कि वह स्वयं नीचे है और खाट उसके ऊपर है। उसने अच्छी रजाई ओढ़ रखी थी, परन्तु ठंडी से कांप रही थी। वह उन्मत्ता स्त्री अपने पति को नहीं पहचान रही थी और पागल बनी इधर-उधर भटक रही थी। वह सांझ-सुबह दीपक जलाकर अपने यार को

खोजती थी और अपने पति को छोड़कर लगवार की ही याद में निरंतर रहती थी। वह दीवानी उसी जार के मोह में रात-दिन लीन रहती थी, अपने पति से कपट रखती थी। उससे अपनी सच्ची बातें नहीं कहती थी। एक दिन तो अति हो गया। वह अपने पति को सोते समय छोड़कर जार के साथ भाग निकली। यह दुख भला अब किससे कहा जाये? अपनी कमजोरियां सब के बीच में खोलकर स्वयं नहीं कही जातीं। उन्हें तो अपना चित्त ही जानता है, या अपने अंतरंग लोगों से कहा जा सकता है।

भावार्थ—स्वरूपबोध से भटकी हुई मानव की मनोवृत्ति एक नारी है, सद्गुरु कहते हैं कि मैंने देखा कि वह नारी अपनी प्यास मिटाने के लिए जा-बेजा भटक रही है। आश्चर्य है कि पानी का घड़ा नीचे है और पानी लाने तथा पीने की इच्छा रखने वाली पनहारिन ऊपर है। स्मरण रहे, पानी के घड़ा के नीचे हाथ करके पानी पीया जा सकता है। मनुष्य की मनोवृत्ति अहंकार में डूबी हुई सत्संग एवं शरीर रूपी घड़े से ऊपर प्रमाद और बाह्य विषयों में भटकती है॥ 1॥ वह मनोवृत्ति रूपी नारी नाना मार्गों में निरन्तर चलती रहती है। जब वह विश्राम भी करती है, तब उसकी विपरीत गति होने के कारण खाट उसके ऊपर रहती है। अर्थात वह मलिन विषयों में सोती है और काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर—षट-विकार रूपी खाट उसके ऊपर सवार रहती है॥ 2॥ वह मानव-शरीर रूपी उत्तम रजाई ओढ़कर भी अज्ञान की ठंडक से प्रभावित होकर ठिठुरती है। यह मनोवृत्ति रूपी अबला ऐसी पगली हो गयी है कि जीव रूपी अपने पति को नहीं पहचानती॥ 3॥ यह जड़ देवी-देवताओं के सामने सुबह-शाम दीपक जलाकर उनकी पूजा करती है। यह अपने चेतन देव रूपी पति को त्यागकर किसी कल्पित लगवार का स्मरण करती है॥ 4॥ यह मानव की व्यभिचारिणी मनोवृत्ति कल्पित लगवार के मोह में ही रात-दिन लीन रहती है। यह अपने आत्मदेव रूपी पति के सामने कभी भी अपने आप को खोलकर नहीं रखती। अर्थात मानव की मनोवृत्ति स्वरूप-उन्मुख न होकर विषय-उन्मुख या कल्पना-उन्मुख ही बनी रहती है॥ 5॥ इस प्रकार अज्ञान की नींद में सोते हुए अपने आत्मदेव-पति को छोड़कर मनोवृत्ति रूपी नारी कल्पित जार के साथ बह जाती है। भला, इस आत्मप्रवंचना के दुख को किससे कहा जाये!॥ 6॥

लोगों के बीच में अपनी जांघ उघारकर अपनी बुराई नहीं कह मिलती। इस दुख को व्यक्ति का अपना चित्त ही जानता है या मेरे संतजन इसकी कसरखोट परखाकर लोगों को सत्पथ पर लाते हैं॥ 73॥

व्याख्या—कबीर साहेब बड़ी प्रगल्भ बुद्धि वाले एवं प्रतिभा के धनी थे। वे रूपक और अलंकार गढ़ने में बड़े कुशल थे। यहां उन्मादिनी और

व्यभिचारिणी नारी के रूपक में साधारण मानव की मनोवृत्ति का कितना सुन्दर तथा सटीक चित्रण है, सोचते ही बनता है। जगह-जगह उनकी उलटवांसी तो रहती ही है। वे कहते हैं "चली जात देखी एक नारी" एक नारी को मैंने चले जाते हुए देखा। यह मनुष्य की मलिन मनोवृत्ति निरंतर भटकती है। वह सुख-शांति की प्यासी है, परन्तु उसे वह बाहर खोजती है।

"तर गागरि ऊपर पनिहारी" संसार में देखा जाता है कि पनहारिन पानी का घड़ा अपने सिर पर रखकर चलती है। परन्तु यहां उलटा है। घड़ा नीचे है और पनहारिन ऊपर है। अर्थात शरीर रूपी घड़ा पृथ्वी पर पड़ा है और मनोवृत्ति रूपी पनहारिन आकाश में दौड़ती है।

अथवा कोई व्यक्ति पानी तभी पी सकता है, जब पानी पिलाने वाले के पात्र के नीचे अपने हाथ रखे। यदि पानी पीने की इच्छा वाला पानी के घड़े के ऊपर हो, तो वह पानी कैसे पी सकता है? प्रायः लोगों की मनोवृत्ति इसी तरह है। सत्संग ज्ञान-जल का घड़ा है। उससे ज्ञान तभी प्राप्त हो सकता है जब विनय-भाव एवं सेवा-भाव हो। जो अहंकारी होकर रहेगा, वह कहीं से कुछ भी नहीं सीख सकता। कितने लोग सत्संग में जाकर भी अपनी मनोवृत्ति की अकड़बाजी नहीं छोड़ पाते। सद्गुरु ने साखी प्रकरण में कहा है "जहाँ गाहक तहाँ हौं नहीं, हौं तहाँ गाहक नाहिं।"[1] जहां ग्रहण करने की बुद्धि होती है, वहां अहंकार नहीं होता और जहां अहंकार होता है, वहां ग्रहण करने की बुद्धि नहीं होती। "नन्हा होय के पीव"[2] बच्चा बनकर मां का दूध पीया जाता है, जवान बनकर नहीं। अतएव यह मनुष्य की अहंकारी मनोवृत्ति "तर गागरि ऊपर पनिहारी" वचन को चरितार्थ करती है।

"चली जात वह बाटहि बाटा" भटकी हुई मनोवृत्ति निरंतर चलती है। विषयों के अनेक रास्ते हैं, धार्मिक भ्रांतियों के भी अनेक रास्ते हैं। खानी-वाणी के इन्हीं विविध पथों में मनुष्यों की मनोवृत्ति निरंतर भटकती रहती है। जब तक पारखी सद्गुरु नहीं मिलते, तब तक सारी भ्रांतियां नहीं कटतीं।

"सोवनहार के ऊपर खाटा" कोई व्यक्ति खाट ऊपर छोड़कर नीचे सो रहा हो, यह आश्चर्यजनक ही होगा, और उस सोने वाले की बुद्धि भी हास्यास्पद होगी। मनुष्य की भटकी हुई मनोवृत्ति की यही दशा है। वह अज्ञान की प्रगाढ़ नींद में सोयी है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मत्सर—यह षट विकार ही खाट है जो जीव के ऊपर चढ़ी है। मनोवृत्ति वासना की ग्रन्थि में उलझी हो, वासना से दबी हो तो कहां सुख की नींद आ सकती है? सारी बाह्य संपन्नता

---

1. बीजक, साखी 289।
2. साखी ग्रन्थ।

होने पर भी यदि मनुष्य वासनाओं से दबा है, उसकी ग्रन्थि में उलझा है, तो सुखी नहीं हो सकता।

पानी का घड़ा ऊपर चाहिए और प्यासे के हाथ नीचे तथा शय्या नीचे चाहिए और सोने वाला ऊपर। सद्गुरु कहते हैं ये दोनों ही उलट गये हैं। प्यासा अपने हाथ घड़े के ऊपर रखे हुए है तथा सोने वाला शय्या के नीचे पड़ा हुआ है। आदमी अहंकारी तथा विषयी होने से न उसे ज्ञान मिलता है न शांति।

"जाड़न मरे सफेदी सौरी" आदमी अच्छी रजाई ओढ़कर भी ठंडी से मर रहा है। मूलतः इतना विवेकसंपन्न उत्तम मानव-शरीर पाकर भी जीव की मनोवृत्ति अज्ञान की ठंडी से पीड़ित है। मनुष्य का मन हर समय कांप रहा है। वह सोचता है कि व्यापार में घाटा न हो जाये, वह बन्द न हो जाये। नौकरी छूट न जाये। खेती नष्ट न हो जाये। परिवार के लोग विमुख न हो जायें। मेरे शरीर में रोग न लग जाये। मौत न आ जाये। और पता नहीं किन-किन भावनाओं की कंपकंपी लगी रहती है। मनुष्य हर समय कांपता रहता है। उसे अज्ञान की ठंडी हर समय पीड़ित कर रही है। किसी के घर में हीरे-जवाहरात भरे हों, परन्तु वह उन्हें भुनाकर जीवन-धारणोपयोगी वस्तुएं नहीं लेता और जीवन में उनका उपयोग नहीं करता, तो हीरे-मोती क्या करेंगे! इसी प्रकार जो मानव-जीवन पाकर इसमें विवेक नहीं जगाता, तो उसका अज्ञान कैसे दूर होगा!

"खसम न चीन्हें घरणि भई बौरी" घर की मालकिन पगला गयी। वह अपने पति को पहचानती ही नहीं है। मनुष्य की मनोवृत्ति मनुष्य के सार स्वरूप चेतन देव को नहीं पहचानती। मनुष्य की मनोवृत्ति इस तरह भटक गयी है कि वह कल्पना करके तो नाना पति खड़ा कर लेती है; परन्तु जो उसका असली पति आत्मदेव है, उसे नहीं पहचानती। मनोवृत्ति का स्वामी जीव ही है, किन्तु उसका उसे परिचय नहीं है। वह बाहर नाना स्वामी की कल्पना करती है।

"साँझ सकार दिया लै बारे। खसमहि छाड़ि सँबरे लगवारे॥" आप अपने आस-पास देखते होंगे कि लोग सुबह-शाम बेजान देवताओं के पास दीपक जलाते हैं। वे उन्हें अपना रक्षक तथा स्वामी मानते हैं। जो अपने ऊपर बैठी हुई मक्खियों को नहीं उड़ा सकते, अपने आप को चोरी से नहीं बचा सकते, वे अपने पूजने वालों की क्या रक्षा करेंगे! क्या आदमी पत्थर से भी गया बीता है? यह आदमी की मनोवृत्ति का ही भटकाव है कि वह अपने चेतनात्मा पति को छोड़कर जड़ या कल्पित देवताओं को अपना लगवार बनाती है और उसी का निरंतर स्मरण करती है। स्वरूप-विस्मरण तथा पर-स्मरण ही मनोवृत्ति का व्यभिचार है।

"वाही के रस निस दिन राँची।" प्रायः मनुष्यों की ऐसी ही मनोवृत्ति बन गयी है कि वह किसी देव–पुरुष की कल्पना करती है। उसका कोई मानसिक रूप गढ़ती है। फिर उसकी पत्थर या धातुओं पर आकृति देती है या केवल मनोमय रूप ही रखती है। उसी के रस में रात–दिन लीन रहती है। जो कभी नहीं खाते, ऐसे भगवान को खिलाने, पिलाने, सुलाने, जगाने में या विनय–प्रार्थना में उसके समय बीतते हैं।

"पिया सो बात कहै नहिं साँची॥" मनुष्य की मनोवृत्ति जितना जड़ देवी–देवताओं तथा मनःकल्पित अवधारणाओं में रस लेती है, उतना अपने आत्मदेव के सामने नहीं खुलती। यही उसकी अविद्या है। परन्तु यह ध्यान देने योग्य बात है कि हमारी मनोवृत्ति बाहर जितना लगेगी, उतना भटकेगी। स्वस्वरूप चेतन को छोड़कर तो सब विजाति है। मनुष्य का कल्याण तभी होता है जब उसकी मनोवृत्ति बाहर से सिमिटकर अपने चेतन देव के सामने खुल जाती है। अर्थात जब वह स्वरूपबोध तथा स्वरूपस्थिति में रम जाती है। परन्तु दुर्भाग्य यह कि वह आत्माभिमुख न होकर कल्पनाभिमुख एवं विषयाभिमुख रहती है।

"सोवत छाड़ि चली पिय अपना।" अपने स्वरूप को न समझकर जड़–भास–अध्यास एवं मोह में पड़े रहना जीव का सोना है। स्वरूप का अज्ञान ही नींद है। स्वरूपज्ञान न होने से ही तो मनोवृत्ति बाहर भटकती है। जीव–पति अज्ञान में सोता है, इसलिए मनोवृत्ति उसे छोड़कर विषयों तथा कल्पित अवधारणाओं में बहती है। "ई दुख अबधौं कहै केहि सना॥" यह मन के विचलन का दुख किससे कहा जाये ! कहकर क्या होगा !

"अपनी जाँघ उघारि के, अपनी कही न जाय।" यह बड़ी मार्मिक कहावत है। अपनी भटकी हुई मनोवृत्ति की दशा दूसरों के सामने कहना मुश्किल है। तुम अकेले में बैठ जाओ और तुम्हारे मन में जो कुछ उठता रहे, वह सब एक कागज पर लिखते जाओ। ऐसा केवल एक घंटा करो। उसके बाद उठ जाओ। तो क्या तुम उस कागज को लोगों को दिखा सकोगे? एक घंटे के अकेलेपन में तुम्हारी मनोवृत्ति ने पता नहीं कौन–कौन–सी पागलपन की बातें तुम्हारे सामने लायी हो। अपनी पत्नी के दुराचार को दूसरे से कैसे कहा जाये ! इसी प्रकार अपनी मनोवृत्ति के भटकाव का परदाफाश कैसे किया जा सकता है ! यह जीव मनोवृत्ति का पति है, परन्तु जीव की कमजोरी के कारण उसकी मनोवृत्ति भटकती रहती है। इस भटकती हुई मनोवृत्ति की दुर्दशा का दुख व्यक्ति का अपना चित्त ही जानता है "की चित जाने आपना"।

"की मेरो जन गाय" या तो मेरे संतजन इस मनोवृत्ति की कसर–खोट का परदाफाश कर इसका सुधार करते हैं। साधक वह है जो अपने मन की

कमजोरियों को देखता है। यदि उनसे छूटने का रास्ता वह स्वयं नहीं पाता, तो विशेषज्ञ तथा साधनासंपन्न संतों के पास अपनी मनोवृत्ति की सारी बातों को रखकर उनसे मुक्ति पाने की युक्ति पूछता है।

सद्गुरु कहते हैं कि 'मेरो जन' अर्थात मेरे संतजन इस चपला मनोवृत्ति की एक-एक कुचाल का बारीकी से ज्ञान रखते हैं और उनका साधकों में वर्णन कर उन्हें उनसे सावधान करते हैं।

इस प्रकार इस रमैनी में सद्गुरु ने पति-विमुखा पतिता नारी से साधारण मनुष्य की मनोवृत्ति की तुलनाकर एक मनोरंजक दृश्य खींचा है, जो उपदेशप्रद, मार्मिक तथा उद्‌बोधक है। पूरी रमैनी का सरल भाव यही है कि मानव की मनोवृत्ति भटकी हुई तथा सुख-शांति की प्यासी है, परन्तु वह अविद्यावश कल्पना-विलासिनी, अहंकारिणी एवं विषयलीन है। वह विवेकसंपन्न उत्तम मानवजीवन का सदुपयोग नहीं कर रही है। वह आध्यात्मिक बोध से भटकी हुई निरंतर कल्पना तथा विषयों में बहती है। यह सब जीव के लिए अत्यंत दुखप्रद एवं लज्जायुक्त है। संतजन इन सबका भेद बताकर जीव को इनसे मुक्त होने का रास्ता दिखाते हैं।

मानव की एकता मौलिक है, भेदभाव भ्रमजन्य है

रमैनी-74

तहिया होते गुप्त अस्थूल न काया। न ताके सोग ताकि पै माया॥ 1॥
कँवल पत्र तरंग एक माहीं। संगहिं रहै लिप्त पै नाहीं॥ 2॥
आस ओस अण्ड मा रहई। अगणित अण्ड न कोई कहई॥ 3॥
निराधार आधार ले जानी। राम नाम ले उचरी बानी॥ 4॥
धर्म कहै सब पानी अहई। जाती के मन पानी अहई॥ 5॥
ढोर पतंग सरे घरियारा। तेहि पानी सब करैं अचारा॥ 6॥
फन्द छोड़ि जो बाहर होई। बहुरि पन्थ नहिं जोहै सोई॥ 7॥
साखी—भरम का बाँधा यह जग, कोई न करै विचार।
एक हरि की भक्ति जाने बिना, भौ बूड़ि मुवा संसार॥ 74॥

शब्दार्थ—तहिया=गर्भावस्था के प्रारम्भ काल में। ताके=जीव के। पै= परन्तु। माया=वासना। आस=वासना। ओस=शीत, माता का रज। अण्ड= पिता का वीर्य। निराधार=जीव का मूल स्वरूप शुद्ध चेतन। उचरी=उच्चारण करना, कहना। धर्म=हिन्दू धर्मशास्त्र। पानी=जल। ढोर=पशु। पतंग=पक्षी, शलभ, टिड्डी। घरियारा=घड़ियाल। फन्द=बंधन। जोहै=देखना।

भावार्थ—माता के गर्भ में जीव प्रवेश कर गुप्तरूप से उपस्थित होता है। गर्भाधान-काल में स्थूल-काया नहीं रहती। जीव उस समय शोक-चिंता से रहित रहता है, क्योंकि उसके साथ साधन-इंद्रियां नहीं रहतीं। परन्तु उसके साथ वासना रूपी माया अवश्य रहती है॥ 1॥ गर्भाधान-काल में जीव माया के साथ रहते हुए भी उससे उसी प्रकार निर्लिप्त रहता है, जिस प्रकार जल-तरंगों के साथ रहते हुए कमल-पत्र उससे निर्लिप्त रहते हैं॥ 2॥ उस समय जीव वासनाओं के साथ माता-पिता के सम्मिलित रज-वीर्य में निवास करता है। रज-वीर्य के मूल रूप को कोई अगणित प्रकार का नहीं कहता॥ 3॥ गर्भ के परिपक्व होने पर बच्चा पैदा होता है। इसके बाद हम निराधार चेतन-आत्मा को देह के आधार पर जानते हैं। हम अपनी वाणी में उसे 'राम' नाम से भी कहते हैं॥ 4॥ हिन्दू धर्मशास्त्र कहते हैं कि सारा धर्म पानी से ही सम्बन्ध रखता है। अर्थात अमुक-अमुक के हाथों का छुआ पानी पीना तथा अमुक-अमुक के हाथों का छुआ पानी न पीना ही धर्म है। सभी जातियों के मन में पानी की छूत-अछूत का भ्रम लगा है॥ 5॥ परन्तु गंगादि नदियों के पानी में तो पशु, पतंग, घड़ियाल आदि मरकर सड़ते हैं, और उसी पानी को लेकर बड़े-बड़े पंडित पवित्राचार करते हैं और तथाकथित दूसरी जातियों के हाथों के पानी को नहीं पीते॥ 6॥ इस भ्रमजन्य छुआछूत के बंधन को तोड़कर जो इससे अलग हो जाता है, वह फिर ऐसे रास्ते में नहीं जाता जहां मनुष्य-मनुष्य के बीच में मिथ्या जाति को लेकर भेदभाव माना जाये॥ 7॥

यह सारा संसार भ्रम के बंधनों में बंधा है। कोई इस पर विचार नहीं करता। हरि की भक्ति क्या है, इस एक बात को न समझकर लोग संसार-सागर में डूब रहे हैं और कहते हैं कि यह भेदभाव सब प्रभु की देन है और जो इसे नहीं स्वीकारता, वह हरि-भक्ति से विमुख है॥ 74॥

व्याख्या—सद्‌गुरु इस रमैनी में सभी जीवों के मौलिक चेतन स्वरूप की समान शुद्धता तथा गर्भवास में सबके शरीर की एक ही प्रकार के रज-वीर्य से समान रचना बताकर सबकी मौलिक एकता बताते हैं और मानव-मानव के बीच में काल्पनिक जातियों के आधार पर बने हुए भेदभाव तथा छुआछूत का निराकरण करते हैं।

सद्‌गुरु कहते हैं "तहिया होते गुप्त अस्थूल न काया" जब जीव माता के गर्भ में प्रवेश करता है, उस समय वह गुप्त रहता है। क्योंकि वहां उसकी स्थूल काया निर्मित हुई नहीं रहती। विद्वानों का विचार है कि जीव नर के वीर्य में मिलकर नर-नारी के संयोग-काल में नारी के गर्भाशय में पहुंचता है। वहां बुंद से क्रमशः पिंड बनता है। जीव गर्भावस्था में प्रायः सुषुप्त की तरह रहता है।

"न ताके सोग ताकि पै माया" वहां जीव को कोई शोक-मोह नहीं रहता, परन्तु उसके साथ माया रहती है। माया है वासना। यही तो आगे चलकर शोक-मोह का कारण बनती है। वह माया के साथ रहते हुए भी वहां उससे कैसे निर्लिप्त रहता है, इसके लिए जल में कमल-पत्रवत का उदाहरण बहुत सटीक दिया गया है। यह सब कहकर साहेब दर्शाते हैं कि सभी जीव गर्भावस्था में देह धारण करने के पूर्व एक समान शोक से रहित होते हैं। सभी जीवों का स्वरूप एक समान शुद्ध है। परन्तु कर्म के चक्कर में पड़े हुए सभी जीव माया में समान रूप से बंधे हैं। वे आगे बताते हैं—

"आस ओस अण्ड मा रहई। अगणित अण्ड न कोई कहई॥" 'आस' वासना है, 'अण्ड' कहते हैं वीर्य को। हम 'ओस' का अर्थ प्रकरणानुसार रज ले सकते हैं। तात्पर्य हुआ कि जीव वासना के युक्त उस समय माता-पिता के रज-वीर्य में रहता है। हम रज-वीर्य के मूलतत्त्व को अनेक प्रकार नहीं कह सकते। सद्गुरु ने अन्यत्र भी कहा है—"एक बूंद से सृष्टि रची है, को ब्राह्मण को शूद्रा।" क्या हिन्दू नर-नारी के भिन्न प्रकार के रज-वीर्य होते हैं और मुसलमान नर-नारी के भिन्न प्रकार, या तथाकथित ब्राह्मण-शूद्र नर-नारी के भिन्न प्रकार? वस्तुतः कल्पित वर्ण, जाति और मजहब के अनुसार नर-नारियों के रज-वीर्य में कोई अन्तर नहीं होता। यदि नर-नारी के रज-वीर्य में कोई अन्तर होता होगा, तो वह केवल उनकी शारीरिक प्रकृति के कारण, जिसमें कल्पित वर्ण-जाति से कोई प्रयोजन नहीं है। अतएव ब्राह्मण, भंगी, मुसलमानादि सबके रज-वीर्य समान ही होते हैं। रज-वीर्य गंदी चीजें हैं। उन्हीं से सबका शरीर बनता है, और सब एक ही दरवाजे से पैदा होते हैं।

"निराधार आधार लै जानी। राम नाम ले उचरी बानी॥" चेतन स्वतः स्वतन्त्र होने से निराधार है और अदृश्य भी है। जब वह देह धारणकर प्रकट होता है तब हम देह के आधार से उसको जानते हैं।

मैं चेतन हूं, यह मुझे अनुभव है। जब मैं देखता हूं कि एक दूसरा देहधारी सामने खड़ा है और वह भी मेरी तरह चेतना व्यक्त करता है, तब मैं उसकी देह के आधार में ही उस निराधार चेतन का अनुमान करता हूं जो उसमें अपनी चेतना प्रकट कर रहा है। सार कथन है "निराधार आधार लै जानी" हम निराधार को आधार लेकर ही जानते हैं। "राम नाम ले उचरी बानी।" अर्थात हम इसी चेतन को 'राम' नाम से भी कहते हैं।

इस प्रकार प्रथम चार चौपाइयों में सद्गुरु बताते हैं कि मानव मात्र के शरीर एक समान गंदे रज-वीर्य से बनते हैं और सबके शरीर में एक समान स्वरूपतः निर्मल जीव निवास करते हैं जिन्हें हम राम भी कहते हैं। फिर इनमें मूलतः कौन छोटा तथा कौन बड़ा है? कौन छूत है तथा कौन अछूत है?

"धर्म कहै सब पानी अहई। जाती के मन पानी अहई॥" हिन्दू धर्मशास्त्र कहते हैं कि सारा धर्म पानी में है। अर्थात किस वर्ण एवं जाति के हाथ का पानी पीना चाहिए और किस वर्ण और जाति के हाथ का नहीं पीना चाहिए—इसका विचार करना सबसे बड़ा हिन्दू-धर्म है। पानी का शाब्दिक अर्थ न लेकर लाक्षणिक अर्थ लेना चाहिए। यहां 'पानी' शब्द में समस्त खान-पान की व्यंजना है। वैसे जब मनुष्य परस्पर मिलते हैं, तब प्रथम पानी का ही आदान-प्रदान करते हैं। इसलिए हिन्दुओं में प्रथम मिलन में यही बात होती है कि भाई, किसका पानी चलता है और किसका नहीं चलता है!

सद्गुरु कहते हैं "जाती के मन पानी अहई" अर्थात जितने जातिवादी विचार वाले हैं, सबके मन में पानी का 'भ्रम' समाया हुआ है। सवर्णों में कुम्हार-धोबी आदि का पानी नहीं चलता, तो कुम्हार-धोबी आदि में चमारों का पानी नहीं चलता, तो चमारों में मेहतरों का पानी नहीं चलता। केवल ब्राह्मणों को दोष देना बेकार है। सद्गुरु कहते हैं "जाती के मन पानी अहई" सभी जातिवादी भावनावालों में पानी का भ्रम अर्थात छुआछूत का भ्रम समाया है। केवल ब्राह्मण नहीं, भारत में इस विषय में सब उनचास हाथ हैं। भारत में सबसे बड़ा सनातन धर्म है कि हम अमुक-अमुक जाति वालों के हाथों का छुआ पानी नहीं पीते।

"ढोर पतंग सरे घरियारा। तेहि पानी सब करैं अचारा॥" सद्गुरु कहते हैं कि जिस पानी को लेकर इतना पाखंड चलता है, पहले उसकी दशा तो देखो। गंगादि नदियों का जल बड़ा पवित्र माना जाता है। परन्तु इन नदियों में मेढक, मछली, कछुआ, घड़ियाल तथा अनेक जलचर जीव निवास करते हैं, उसी में प्रजनन करते हैं, उसी में टट्टी-पेशाब करते हैं, उसी में अपने मुख का पानी उगलते हैं और मर जाने पर सड़-गलकर उसी में मिल जाते हैं। बाहर से मनुष्यों एवं पशुओं की लाशें उसमें फेंकी जाती हैं जो सड़कर उसी में मिलती हैं। संसार भर के नदी, नाले तथा नारकीय नालियां एवं कूड़े-कचड़े तो आकर उसमें मिलते ही हैं। कुएं की भी दशा बड़ी अच्छी नहीं है। उसमें भी जल-जन्तु रहते ही हैं और आखिर उनके भी जन्म, जीवन तथा मरण उसी में होते हैं। आजकल बोरिंगों-नलों में चाम के वायसर लगे ही रहते हैं, जिनसे छनकर पानी आता है। इतने सारे दोष हम सह सकते हैं। कहते हैं प्रकाश तथा वायु पानी को शुद्ध करते रहते हैं। चलो, यह भी बात ठीक है। परन्तु एक साफ-सुथरा आदमी हाथ और पात्र शुद्ध मांज-धोकर तथा स्वच्छ जल कपड़े से छानकर हमें दे दे, तो उसके पीने में क्या हर्ज है? भले ही वह ऐसे घर में पैदा हुआ हो जिसे हम मेहतर, चमार या और कुछ कहते हैं। हम पानी की उक्त सभी

गंदगियों को सह लें और किसी मनुष्य के स्वच्छ हाथ से छू लेने मात्र से उसे न सह सकें, तो इससे ज्यादा अनाड़ीपन क्या होगा ! सद्गुरु व्यंग्य करते हैं कि पशु, पतंग, घड़ियाल आदि जिसमें सड़ते हैं, उस गंगा जल को लेकर धार्मिक लोग अपना पवित्राचार करते हैं और पवित्र मनुष्य द्वारा छू जाने के डर से उससे दूर भागते हैं।

"फन्द छोड़ि जो बाहर होई। बहुरि पन्थ नहिं जोहै सोई॥" मनुष्यों को जन्मजात ऊंच-नीच मानना, उनमें छुआछूत मानना—यह सब मिथ्या अहंकार का एक जाल है। इस जाल को तोड़कर जो इससे निकल जाता है, वह इस रास्ते की तरफ कभी नजर उठाकर देखता भी नहीं।

आज केवल ब्राह्मणवाद नहीं है, किन्तु क्षत्रियवाद, गुप्तावाद, कायस्थवाद, कुर्मीवाद, मुराववाद, यादववाद, जाटवाद, साहूवाद, नाम कितने गिनाये जायें। हिन्दूवाद, मुसलिमवाद, सिखवाद, ईसाईवाद तो हैं ही और भी बहुत वाद हैं। एक वाद के भीतर कई वाद हैं जैसे मुसलिमवाद के भीतर शियावाद तथा सुन्नीवाद। वर्णवाद, वर्गवाद, जातिवाद तथा संप्रदायवाद को लेकर पहले भी वैमनस्य थे। आज इन्हें दूसरी तरह उभाड़कर समाज को तोड़ने का प्रयास किया जा रहा है। यहां तक कि जातिवाद और छुआछूत को गाली देने वाले दूसरी तरह जातिवाद और छुआछूत जगा रहे हैं। शुद्ध मानव बनने के लिए कबीर बनना पड़ेगा जिसने अपना घर जलाकर दूसरे से भी कहा था कि यदि मेरे साथ चलना है तो अपना घर जलाकर आओ। सब तरफ से निष्पक्षता आये बिना न व्यक्ति का कल्याण है न समाज और देश का।

"भरम का बाँधा यह जग, कोई न करे विचार।" सद्गुरु कहते हैं कि संसार के सारे लोग तो भ्रम में बंधे हैं। भ्रम तभी टूट सकता है जब लोग विचार करें। परन्तु विचार करने के लिए कोई तैयार नहीं। यदि आदमी स्वच्छ है और स्वच्छता से पानी लाया है, तो उसके पीने में क्या हर्ज है, यह विचार लोग नहीं करते। भ्रम यह है कि पानी लाने वाला अमुक जाति का आदमी है। अरे भले आदमी ! मानव जाति तो एक ही होती है। शुद्धता देखो, झूठी जाति के भ्रम में क्यों पड़ते हो !

सरकारी कार्यालयों, विद्यालयों, प्रतिष्ठानों एवं संस्थानों में भी जो अधिकारी बैठे हैं वे यदि वर्मा हैं तो वर्मा को भरती करना चाहते हैं, शर्मा हैं तो शर्मा को, यादव हैं तो यादव को। इसी प्रकार इसको बढ़ाकर आप एक-दो पृष्ठ लिखकर स्वयं समझ लीजिए। क्या यह सब भ्रम नहीं है। मनुष्य में विचार कब उदय होगा ! क्या इन प्यारे मनुष्यों को देखकर बोध नहीं हो जाता है कि ये सब हमारे भाई हैं ! हे मानव ! विचार कर, भ्रम में बंधा मत रह !

"एक हरि की भक्ति जाने बिना, भौ बूड़ि मुवा संसार॥" कितने धार्मिक कहलाने वाले लोग कहते हैं कि हरि एवं प्रभु ने ही वर्ण-व्यवस्था बना दी है। उसने स्वयं ऊंच-नीच बना दिये हैं। जो प्रभु की आज्ञा नहीं मानता, वह हरि-द्रोही है। यदि शूद्र स्वयं अपने आप को नीच तथा भ्रष्ट-ब्राह्मण को भी ऊंच नहीं मानता, तो वह हरि-द्रोही है। हरि-भक्ति तथा प्रभु-वचन का आड़ा देकर कैसी-कैसी जालसाजियां रची गयी हैं! कुछ मनुष्यों का मन अहंकारी तथा कुछ मनुष्यों का मन हीनग्रंथि-ग्रसित बनाने का कुचक्र यदि हरि-भक्ति है, तो हरि-द्रोह क्या है?

मनुष्य से अलग हरि कहां है, जिसने अपनी कुछ आज्ञाएं दी हों। सारे ग्रंथ, सारे नियम एवं विधान मनुष्य के बनाये हैं। अतः जो मानव के कल्याण के लिए ठीक हों उन्हें मानना उचित है और जो मानवता-विरोधी हों उन्हें तृणवत त्याग देना चाहिए, चाहे वे किसी के भी कहे हों और किसी भी ग्रन्थ में लिखा हो। मानव की सेवा ही हरि-भक्ति है। मानव में ऊंच-नीच भावना का विष फैलाकर और निराधार छुआछूत का पाखंड रचकर मानव के साथ दुर्व्यवहार करना हरि-द्रोह है। सद्गुरु कहते हैं कि लोग हरि-भक्ति नहीं समझते, किन्तु हरि-भक्ति के नाम पर हरि-द्रोह कर रहे हैं।

मोक्ष के आदर्श बोधवान संत हैं, संसारी अवतार नामधारी नहीं

रमैनी-75

तेहि साहेब के लागहु साथा। दुइ दुख मेटि के होहु सनाथा॥ 1॥
दशरथ कुल अवतरि नहिं आया। नहिं लंका के राव सताया॥ 2॥
नहिं देवकी के गर्भहि आया। नहीं यशोदा गोद खेलाया॥ 3॥
पृथ्वी रवन धवन नहिं करिया। पैठि पताल नहीं बलि छलिया॥ 4॥
नहिं बलिराजा सो माँड़ल रारी। नहिं हरणाकुश बधल पछारी॥ 5॥
बराह रूप धरणी नहिं धरिया। क्षत्री मारि निक्षत्री नहिं करिया॥ 6॥
नहिं गोबर्धन कर गहि धरिया। नहिं ग्वालन संग बन बन फिरिया॥ 7॥
गण्डुकी शालिग्राम नहिं कूला। मच्छ कच्छ होय नहिं जल डोला॥ 8॥
द्वारावती शरीर नहिं छाड़ा। ले जगन्नाथ पिंड नहिं गाड़ा॥ 9॥
साखी—कहहिं कबीर पुकारि के, वै पन्थे मति भूल।
जेहि राखेउ अनुमान कै, सो थूल नहीं अस्थूल॥ 75॥

शब्दार्थ—साहेब=स्वामी। साथा=संगत। दुइ दुख=खानी-वाणी, स्थूल-सूक्ष्म, जन्म-मरण। सनाथा=कृतार्थ। राव=राजा रावण। रवन=रमण। धवन= दौड़-धूप, युद्ध। कूला=तट। मच्छ=मत्स्यावतार। कच्छ=कच्छपावतार। द्वारावती=द्वारका। थूल=स्थूल। अस्थूल=सूक्ष्म।

भावार्थ—उस स्वामी की संगत करो जो राग-द्वेष से रहित पूर्णकाम है। उसकी उपासना तथा सेवा कर स्वरूपज्ञान प्राप्त करो और विषयों की वासनाओं तथा मन की नाना अवधारणाओं से मुक्त होकर तथा स्वरूपस्थ एवं आत्मस्थ होकर कृतार्थ हो जाओ॥ 1॥ जिसकी संगत, सेवा तथा उपासना से तुम्हारा कल्याण होना है उसने न दशरथ-कुल में अवतार लिया है और न लंका के राजा रावण की हत्या की है॥ 2॥ न वह देवकी के गर्भ में आया है और न उसे यशोदा ने अपनी गोद में खेलाया है॥ 3॥ न वह पृथ्वी पर रमण-रास आदि किया है, न युद्ध किया है और न पाताल में घुसकर राजा बलि को छला है॥ 4॥ न उसने राजा वाली से द्वेष कर उसको छिपकर मारा है और न उसने हिरण्यकश्यपु की ही हत्या की है॥ 5॥ न उसने शूकर रूप बनकर पृथ्वी को अपने मुख में धारण किया है और न परशुराम बन इक्कीस बार क्षत्रियों को मारकर पृथ्वी को क्षत्रियहीन बनाया है॥ 6॥ उसने अपने हाथों पर न गोवर्धन पर्वत धारण किया और न वह ग्वाल-बालों के साथ वन-वन में घूमा है॥ 7॥ न वह शापित होकर गंडकी नदी में शालग्राम पत्थर बनकर लुढ़कता रहा, और न मछली तथा कछुआ बनकर जल में डोलता रहा॥ 8॥ न उसने द्वारका में शरीर छोड़ा और न उसके शरीर को जगन्नाथ में गाड़ा गया॥ 9॥

कबीर साहेब खुलासा कर सकते हैं कि उक्त पंथों में कोई मत भूलो। अनुमान करके जिसको तुमने ईश्वर का रूप गढ़ा है, वह न स्थूल है और न सूक्ष्म॥ 75॥

व्याख्या—जीव दुखों से पीड़ित हैं। दुख दो हैं, जिन्हें हम स्थूल रूप में जन्म और मरण कहते हैं। परन्तु इनके मूल सरल बोधगम्य दो दुख हैं खानी और वाणी के अध्यास। सद्‌गुरु ने प्रथम हिंडोला में कहा है "खानी बानी खोजि देखहु, अस्थिर कोइ न रहाय।" खानी-जाल है स्थूल प्राणी-पदार्थों के लोभ-मोह तथा पांच-विषयों की आसक्ति और वाणी-जाल है अपने कल्याण और शांति को कल्पित परोक्ष देव, ईश्वर आदि में खोजना। कुल मिलाकर अर्थ हुआ कि चिरस्थायी सुख को विषय-भोगों में या अपनी आत्मा से अलग मनःकल्पनाओं के ईश्वर में खोजना, ये दो दुख हैं। स्थूल बुद्धि वाले स्थूल इन्द्रियों के भोगों में सुख खोजते और दुख भोगते हुए जीवन बिता रहे हैं। जो जितना विषय-लंपट होता है, वह उतना ही तृष्णावश रात-दिन मानसिक तापों में जलता है तथा रोगी बनकर शारीरिक तापों में भी जलता है। और जो भ्रमवश यह मानता है कि परमात्मा या मोक्ष मुझसे अलग है, वह उसको पाने के लिए शून्य में हाथ-पैर मारते-मारते जीवन खोता है, और मानसिक तापों में जलता है कि अभी परमात्मा नहीं मिला।

सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे स्वामी की संगत करो जो विवेक-वैराग्य-संपन्न हों। जो घट ही में राम लखाकर अपने स्वरूप का बोध करा दे और सारी भ्रांतियों से छुड़ा दे, ऐसे स्वामी हैं पूर्णकाम सद्गुरु। उनके स्वरूपबोध और उच्च रहनी के प्रभाव से जब तुम्हें भी अपने स्वरूप का बोध हो जायेगा और सारी भ्रांतियों और विषयासक्तियों से निवृत्त होकर तुम अपने स्वरूप में स्थित हो जाओगे, तब तुम सनाथ, स्वयं स्वामी, स्वयं परमात्मा हो जाओगे। स्वरूप को पहचानकर तथा सारी दुर्बलताओं को छोड़कर यह आत्मा ही परमात्मा हो जाता है।

यहां प्रसंग उपासना का है "तेहि साहेब के लागहु साथा।" ऐसे स्वामी की उपासना करो, जिससे तुम सारे दुखों से मुक्त होकर स्वयं कृतकृत्य एवं पूर्णकाम हो जाओ। आग की उपासना करने से गरमी मिलती है, पानी की उपासना करने से ठंडी। विषयी लोगों की उपासना करने से अर्थात संग-साथ एवं उनसे प्रेम करने से मन में विषय-विकार बढ़ते हैं और वैराग्यवान-बोधवान संतों की उपासना करने से मन निर्मल होकर चिरंतन शांति मिलती है। इसलिए प्रथम उपासनीय बोध-वैराग्य-संपन्न संत-गुरु हैं और अंततः तो अपना स्वरूप ही उपासनीय है। शुद्ध चेतन जिसे हम राम या आत्मा आदि भी कहते हैं, वह हमारा स्वरूप है। देहाभिमान छोड़कर अपने शुद्ध चेतन-स्वरूप में स्थित होना ही जीवन का लक्ष्य है।

इधर पौराणिक काल में राम, कृष्ण, परशुराम, नृसिंह, वराह, मत्स्य, कच्छप आदि की कल्पना अवतारों के रूप में हुई, जो अवैदिक तो है ही, अवैज्ञानिक भी है। सर्वत्र व्याप्त, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान कहा जाने वाला ईश्वर मनुष्य, पशु, मछली, कछुआ, सुअर आदि बनकर जीवनभर रोता-धोता रहे, स्त्रियों के साथ रंग-रास एवं शत्रुओं के साथ युद्ध करता रहे और जीवन भर लोगों को मारता-काटता रहे, फिर लोक के लिए कोई महत्त्वपूर्ण उपलब्धि न देकर अपना नाटक दुखांत रूप में समाप्त करे, यह कैसा तमाशा है!

माने गये अवतारों में राम तथा कृष्ण ही पूजे जाते हैं। शेष परशुराम, मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह आदि आज पर्यन्त पूज्य नहीं बन सके। परशुराम के कोई अच्छे आदर्श नहीं दिखते, इसलिए उनका पूज्य बनना संभव न हुआ। मत्स्य, कच्छपादि तो निरे कल्पित ही हैं। फिर पशु, कृमि आदि से तो मनुष्य स्वयं श्रेष्ठ है। राम और कृष्ण राजपुरुष एवं राजनेता हैं और गृहस्थ हैं। इनके कई आदर्श अच्छे हैं और कई अच्छे नहीं हैं। पीछे भक्ति के नाम पर विषय-भोगों का छककर उपभोग करने की इच्छा रखने वाले अंध भक्तों ने हरिवंश, भागवत, ब्रह्मवैवर्त, गर्गसंहितादि में श्री कृष्ण के चरित में तथा काकभुशुंडि

रामायण, कौशल खंड, हनुमतसंहितादि में श्री राम के चरित में रंग-रास भरकर दोनों महापुरुषों की कथाओं के आदर्श को अत्यन्त खराब कर डाला है। पाठकों को यह ध्यान में रखना चाहिए कि श्री कृष्ण एवं श्री राम की प्राचीनतम मूल कथाओं में न उनके अवतार होने का उल्लेख था न रंग-रास करने का। वे अपनी प्राचीन कथा के अनुसार मनुष्य थे, राजनेता एवं शूरवीर थे। उनके कई आदर्श अच्छे हैं। वे हमारे पूर्वज एवं राष्ट्रीय पुरुष होने से श्रद्धेय हैं।

श्री राम का माता-पिता की आज्ञा से चौदह वर्ष के लिए कठोर जीवन स्वीकारना, जीवनभर एक पत्नीव्रती रहना, भाई के लिए राज्य त्याग देना आदि उत्तम आदर्श हैं जो गृहस्थी जीवन के लिए अनुकरणीय हैं। यहां प्रसंग है जीवन के उच्चादर्श-जीवन्मुक्ति का। हम जीवन्मुक्ति चाहते हैं तो हमारे लिए जीवन्मुक्त का आदर्श चाहिए। सांसारिकता में डूबे, लड़ाई-भिड़ाई तथा उसके लिए भी छल-छद्म करते हुए जीवन बिताने वाले राजनेता पुरुष जीवन्मुक्ति के आदर्श नहीं हो सकते हैं। वे राज-काज के आदर्श हो सकते हैं।

सबका महत्त्व अपनी-अपनी जगह पर है। डॉक्टर का महत्त्व है रोगी की चिकित्सा करने में, इंजीनियर का महत्त्व उसके अपने क्षेत्र में है। इसी प्रकार राजपुरुषों का महत्त्व उनके अपने क्षेत्र में है। परन्तु अध्यात्म सर्वोच्च क्षेत्र है। आध्यात्मिक ऊंचाई पर चढ़े हुए संतों के चरणों में राजे-महाराजे भी लोटते हैं। वाल्मीकीय रामायण पढ़िये। श्री राम सभी ऋषियों के आश्रम में जाकर उनके चरण-स्पर्श करते हैं, उनकी पूजा करते हैं। यह तो गोस्वामी तुलसीदास जी की कृपा है, जो उन्होंने मानस की रचना कर श्री राम के चरणों में सभी ऋषियों को झुका दिया है, यहां तक कि उत्तरकांड में गुरु वसिष्ठ को भी।

राम, कृष्ण, परशुरामादि कितने ही अवतार कहे जाने वाले या इनसे भिन्न किसी क्षेत्र में बढ़े-चढ़े हुए महापुरुष हों, वे सब आप्तकाम, निष्काम, अकाम, पूर्णकाम जीवन्मुक्त संत पुरुषों के चरणों में जाकर ही आध्यात्मिक कल्याण की प्रेरणा पा सकते हैं।

इस रमैनी की चौथी चौपाई में आया है 'पृथ्वी रवन'। इसके दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो यह कि उसने पृथ्वी पर रमण-रास नहीं किया, और दूसरा है कि उसने पृथ्वी से रमण नहीं किया। भागवत, ब्रह्मवैवर्त, गर्गसंहिता में लिखा है कि कृष्ण ने हजारों पर-स्त्रियों से रंग-रास किया। गर्गसंहिता के अनुसार तो अरबों-खरबों स्त्रियों के साथ रंग-रास करने की बात है। हनुमत्संहिता में राम को हजारों पर-स्त्रियों से रंग-रास करने की बात लिखी है।

देवी भागवत के नवम स्कंध में लिखा है कि वराह भगवान जब हिरणाक्ष को मारकर पृथ्वी को ऊपर लाये, तो उसे देखकर उनका मन मोहित हो गया।

अतः वराह ने पृथ्वी के साथ एक दिव्य वर्ष तक विषय-विलास एवं रमण किया। फिर तभी पृथ्वी से मंगल नामक ग्रह ने जन्म लिया।

पृथ्वी मिट्टी का पिंड होने से उससे वराह का रमण नहीं बन सकता। यह तो पूरा गपसड़ाका है ही, श्री कृष्ण तथा श्री राम के विषय में लगायी गयी रासलीला पूरा काल्पनिक है और विषयी पंडितों की देन है। सद्गुरु कहते हैं कि रमण-वमण करने वाले जीवन्मुक्ति के आदर्श एवं उपासनीय नहीं हो सकते।

पुराणानुसार विष्णु ने सती-वृन्दा से छलपूर्वक यौनाचार किया था। जब वृन्दा को वास्तविकता का पता लगा, तब उसने विष्णु को शाप दिया कि जाओ इतने मतिभ्रष्ट हो तो पत्थर हो जाओ। फिर विष्णु काले पत्थर बनकर गंडकी नदी में लुढ़कने लगे। यह नदी हिमालय से निकलकर नेपाल में होती हुई और पथ में मिली अनेक छोटी-छोटी नदियों को लेती हुई पटना के पास गंगा में मिल जाती है। इसमें काले रंग के पत्थर मिलते हैं। वृन्दा के शाप से विष्णु ही काले पत्थर के रूप में हो गये हैं ऐसी पौराणिक कल्पना है जो निराधार है। किसी के शाप से कोई व्यक्ति पत्थर नहीं बनता। हां, विष्णु की बुद्धि पत्थर अवश्य बन गयी जो उन्होंने एक सती के साथ छल किया। विष्णु मुमुक्षुओं के उपास्य नहीं हो सकते, यह तो उनके चरित्र से ही उजागर है।

लोग कहते हैं कि श्री कृष्ण परमात्मा के अवतार थे। उन्होंने जब द्वारका में शरीर का त्याग किया तब उनका शरीर ही जगन्नाथ के मन्दिर में प्रतिष्ठित कर दिया गया। इसलिए जगन्नाथ की मूर्ति भी अवतार है। साहेब कहते हैं कि यह सब कपोलकल्पना है। श्री कृष्ण महामानव थे, और जगन्नाथ-मूर्ति जड़ पिंड है।

सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे सांप्रदायिक बवंडर में मत पड़ो। जिसको मनुष्यों ने अनुमान कर कल्पना से गढ़ रखा है वह ईश्वर तथा अवतार न स्थूल है और न सूक्ष्म है। अर्थात वह न जड़-दृश्य है और न चेतन-द्रष्टा है। वह तो मनुष्यों के मन की कल्पना है। मनुष्य ही इनका कल्पक होने से वह स्वयं श्रेष्ठ है।

विवेक द्वारा माया से मुक्त होकर स्वरूप-राम में रमण

रमैनी-76

माया मोह सकल संसारा। इहै विचार न काहु विचारा॥ 1॥
माया मोह कठिन है फन्दा। करे विवेक सोई जन बन्दा॥ 2॥
राम नाम ले बेरा धारा। सो तो ले संसारहि पारा॥ 3॥

साखी—राम नाम अति दुर्लभ, औरे ते नहिं काम।
आदि अन्त और युग युग, मोहि रामहि ते संग्राम॥ 76॥

शब्दार्थ—बंदा=बंदः, दास, भक्त, आज्ञाकारी, उपासक। बेरा=बेड़ा, लकड़ियों का गट्ठा, जिस पर बैठकर छोटे-छोटे नदी-नाले पार किये जाते हैं, जहाज। आदि=बोध-काल का आरम्भ, जब ज्ञान हुआ हो। अन्त=जीवन का अंत। युगयुग=नित्य, शाश्वत। संग्राम=युद्ध; परन्तु यहां का तात्पर्य है लक्ष्य।

भावार्थ—संसार के सारे प्राणी माया-मोह से ग्रसित हैं; परन्तु इस महत्त्वपूर्ण विषय पर कोई विचार नहीं करता॥ 1॥ माया-मोह का बंधन बलवान है, जो विवेक कर इसे काट दे वही गुरु का सच्चा भक्त है॥ 2॥ राम ऐसा नाम जिस आत्मतत्त्व का है उस निज स्वरूप के बोध-जहाज में बैठकर साधक संसार की प्रवाह-धारा से पार हो जाता है॥ 3॥

राम-नामवाची निजस्वरूप-बोध बड़ा दुर्लभ है। यह जिसे सद्गुरु-संतों की संगत में मिल जाता है, उसके अन्य सारे विषयों की कामनाएं छूट जाती हैं। उसके मन में यह निश्चय हो जाता है कि बोध-काल के आदि से लेकर जीवन के अन्त तक मेरा लक्ष्य शाश्वत आत्मा-राम ही है॥ 76॥

व्याख्या—माया के मोह में संसार के सारे लोग डूबे हैं। माया मन का धोखा है और मोह एक मूर्च्छा है। संसार के अनुकूल प्राणी-पदार्थों के मिलने पर लगता है कि यह सब ऐसा ही सदैव रहेगा। जवानी, सौन्दर्य-सम्मान, शासन, स्वामित्व लगते हैं कि ये सब इसी प्रकार बने रहेंगे। यह मन का धोखा है, भ्रम है और इसी भ्रम में मूढ़ बनकर आदमी आत्म-कल्याण से बेभान बना रहता है। वह मिले हुए प्राणी-पदार्थों, अवस्था-परिस्थितियों, सम्मान-सुखों में रमता है और इसका परिणाम यह होता है कि उसके मन में जड़ाध्यास जमता जाता है। वह सत्संग, साधु-सेवा, स्वाध्याय, साधना आदि पर ध्यान नहीं देता। वह कभी नहीं सोचता कि मैं कौन हूं, यहां मेरा क्या है, इन सबका सम्बन्ध कब तक के लिए है !

मायावी पदार्थों में मोहमूढ़ बना मानव थोड़ी-थोड़ी चीजों के लिए दूसरों को धोखा देता है, छल करता है, हिंसा-हत्या करता है। झूठ, दुर्व्यसन, व्यभिचार तथा दुस्स्वभावों में डूबा अपने आप को वह संसार के गहन अंधकार-कुएं में डालकर सन्मार्ग से दूर हो जाता है।

सद्गुरु कहते हैं "माया मोह सकल संसारा। इहै विचार न काहु विचारा॥" सारा संसार मोह की माया में मूढ़ बना है। इसका कोई विचार नहीं करता है कि इन मायावी पदार्थों का सम्बन्ध कितने दिनों तक है। इसके आगे वे कहते हैं "माया मोह कठिन है फन्दा।" माया-मोह की फांसी कठोर है। लग जाने पर उसका कटना सरल नहीं है। आप देखते हैं कि जो आदमी बीड़ी-तम्बाकू का सेवन करने लगता है और जब उनका आदती हो जाता है, तब उनमें हानि देखते हुए भी उन्हें छोड़ नहीं पाता। वह कहता है "एक समय भोजन न मिले तो कोई

अकाज नहीं, किन्तु बीड़ी–तम्बाकू मिलना चाहिए।" यह उसकी मोह–मूढ़ता है। जब ऐसी तुच्छ और गंदी चीजों के मोह में आदमी इतना मूढ़ हो जाता है, तब स्त्री, पुत्र, धन, घर, मान, बड़ाई आदि में आसक्त हो जाने पर उसके मन में कितनी कायरता आ सकती है, यह सहज समझा जा सकता है। माया–मोह केवल मन का भ्रम है। उसको तोड़ देना बड़ा सरल है। वह कठिन बंधन नहीं है, फिर कठिन क्यों हो जाता है; क्योंकि आसक्ति हो जाने पर आत्मबल का विस्मरण हो जाता है। यह केवल मन की बे–समझी है। एक लड़के को किसी लड़की से मोह हो जाता है। वह कहता है कि मैं उस लड़की के बिना रह नहीं सकता। यदि वह मुझे नहीं मिली, तो मैं अपनी जान खो दूंगा। वह उसी के पीछे दीवाना हो जाता है। परन्तु जब उसे एक दिन यह पता लगता है कि वह लड़की तो किसी दूसरे लड़के के साथ हो गयी है और वह मेरी हत्या करने का षड्यंत्र रच रही है, तो उस लड़के का मन उस लड़की से तुरन्त फट जाता है, और उलटकर उसके प्रति द्वेष बन जाता है। फिर उसके प्रति उसके मन में कोई मोहजनित आकर्षण नहीं रह जाता। वह जिसके लिए मर रहा था, अब क्षण ही में उससे एकदम विरत क्यों हो गया? क्योंकि उसकी बुद्धि बदल गयी। इसलिए जाना जाता है कि सारा मोह भ्रम–जनित है। मूढ़ता के कारण एवं आसक्तिवश उसका तोड़ना कठिन लगता है।

"करे विवेक सोई जन बन्दा" यह अर्धाली बहुत महत्त्वपूर्ण है। सद्गुरु कहते हैं कि वही गुरु का सच्चा सेवक एवं भक्त है जो विवेककर माया–मोह का त्याग करे। हृदय में शुद्ध विवेक उदय हो जाने पर माया–मोह का त्याग करना नहीं पड़ता, किन्तु वह स्वयमेव हो जाता है। सूर्य उदय होने पर अन्धकार हटाना नहीं पड़ता, किन्तु सूर्य के उपस्थित हो जाने पर अन्धकार स्वयं नहीं रहता। सूर्य के न होने से ही अन्धकार है। सूर्य सकारात्मक है और अन्धकार नकारात्मक। इसी प्रकार मनुष्य के मन में माया–मोह है ही इसीलिए, क्योंकि उसके हृदय में विवेक नहीं है। विवेक उदय होने पर माया–मोह का अस्तित्व रह ही नहीं सकता। विवेक है वस्तुस्थिति की समझ। हम शरीर को एक आकर्षक वस्तु के रूप में देखते हैं, इसलिए उसमें मोह करते हैं। जब हमारे हृदय में विवेक उदय होता है, तब शरीर हड्डी का ढांचा, मांस का लोथड़ा, टट्टी–पेशाब का थैला तथा तीन तापों से तपता हुआ तवा लगता है। तब हम इसे केवल आत्मकल्याण तथा जनकल्याण का साधन मानते हैं, भोगों का साधन नहीं। जो वस्तु जैसी है, उसे उसी प्रकार देख लेना विवेक है। विवेक उदय होने पर हमें लगता है कि मिले हुए अनुकूल–से–अनुकूल प्राणियों के पास भी मन है। उनके मन में अन्तर हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है। यहां किससे मोह किया जाये! यहां कौन अपना है। बहुत प्यारा समर्पित व्यक्ति भी तो रोग,

बुढ़ापा तथा मृत्यु के अधीन है। विवेक बताता है कि सारा संग्रह विनशता है, उन्नति के बाद पतन प्रकृति का स्वभाव है, जिसका संयोग हुआ है उसका वियोग ध्रुव है तथा जिसका जन्म हुआ है, उसे मरना है चाहे वह कितना बड़ा आदमी हो। संसार का स्वभाव है खिलने के बाद मुरझा जाना, चुनने के बाद ढह जाना।

मैं शुद्ध चेतन हूं, शरीर जड़ है। मैं अविनाशी हूं, शरीर नाशवान है। मेरा तथा संसार का सम्बन्ध मान्यता मात्र है। इस संसार में मेरा कहीं कुछ नहीं है। मेरा केवल मैं हूं। मैं से मैं कभी अलग हो नहीं सकता, शेष सर्वथा अलग ही है। विषय-वासनाओं को छोड़कर मैं सदैव पूर्णकाम, आप्तकाम, अकाम, निष्काम एवं अमृतधाम हूं। यह विवेक-प्रकाश जिसके हृदय में उदय हो जाता है वह सदैव कृतकृत्य, मंगलमय एवं सुख-सागर हो जाता है। सद्‌गुरु कहते हैं "करे विवेक सोई जन बन्दा" जो विवेक करे, वही गुरुभक्त है, वही सच्चा उपासक है और वही धर्म का अनुयायी है।

"राम नाम ले बेरा धारा। सो तो ले संसारहि पारा॥" यहां राम नाम के सस्ते जहाज से पार जाने की बात न सोच लेना चाहिए। कबीर साहेब अपनी बातें तात्कालिक जनभाषा में कहते हैं, परन्तु उनकी बातों का रहस्य गम्भीर होता है। वे केवल यांत्रिक राम-नाम जप को भव-बंधन काटने का शस्त्र नहीं मानते। उनका संकेत है स्वरूपज्ञान के लिए। व्यक्ति का जो अपना शुद्ध चेतन-स्वरूप है, जिसे हम राम-नाम से भी जानते हैं, उसका ज्ञान एवं बोध ही वह जहाज है जिससे कोई भी संसार-सागर से पार जा सकता है। संसार-सागर की धारा मन है। हम मन द्वारा जो कुछ ग्रहण करते हैं वह सब नाम-रूपात्मक संसार है। जब हमें अपने चेतन-स्वरूप का बोध होता है, तब हम मन की मान्यताओं से मुक्त हो जाते हैं। 'स्व' चेतन है 'पर' संसार है। 'स्व' का बोध ही 'पर' से मुक्त होने का साधन है। यह 'स्व' ही राम है। स्व-राम में रमण ही संसार-सागर से पार जाने का जहाज है। जिसे संसार-सागर से मुक्त होना हो, वह अपने चेतन-स्वरूप-राम में रमण करे। आत्मबोध, आत्मरति तथा आत्मतुष्टि ही कृतकृत्यता है।

"राम नाम अति दुर्लभ, औरे ते नहिं काम।" जिसे हम राम-नाम से जानते हैं, उस स्व-स्वरूप का बोध बड़ा दुर्लभ है। यह कैसा आश्चर्य का विषय है कि जो नित्यप्राप्त अपना स्वरूप है, उसी का ज्ञान, उसी का बोध पाना कठिन हो गया है। यह प्रकृति का स्वभाव है कि अत्यन्त निकट की वस्तु देखना कठिन होता है। हम अपनी जिन आंखों से दूर-दूर के ग्राम, पर्वत, वन, बादल आदि को साफ देख लेते हैं, उन्हीं से अपनी आंखों के पास फैले अपने मुंह को

नहीं देख पाते। हम अपनी आंखों से अपनी आंखें नहीं देख पाते। ध्यान देने योग्य बात है कि हम अपनी आंखें भले नहीं देख पाते हैं, परन्तु थोड़ा विवेक करने से यह साफ हो जाता है कि मेरी आंखें हैं। अपनी आंखों से ही तो मैं देखता हूं। आंखें न होतीं तो मैं कैसे देखता! इसी प्रकार मैं न होऊं तो सबका ज्ञाता कौन हो? मैं ही तो दृश्यों को जानता हूं। जानने वाला जानी हुई चीजों से अलग होता है। अतः मैं सबका ज्ञाता, सबसे भिन्न शुद्ध चेतन-स्वरूप हूं। जीव दृश्य-विषयों में उलझा है, इसलिए उसे अपने स्वरूप का ज्ञान दुर्लभ हो गया है, परन्तु जब वह विषयों से उलटकर अपनी ओर देखता है, तब स्वरूपबोध सहज होता है। केन उपनिषद् का ऋषि कहता है "प्रतिबोध से जाने हुए ज्ञान से ही अमरता मिलती है।"[1] यहां 'बोध' का अर्थ है दृश्य-विषयों को जानना, और 'प्रतिबोध' का अर्थ है विषयों से लौटकर अपनी ओर ध्यान देना कि विषयों को किसने जाना! फिर यह ज्ञान हो जायेगा कि जड़-विषयों को जानने वाला मैं चेतन हूं। इस प्रकार विषयों से लौटकर अपने चेतन-स्वरूप में स्थित होने से ही अमरता मिलती है। अपनी अमरता का बोध हो जाना ही अमरता की प्राप्ति है। अमर तो जीव है ही। उसे न जानकर अपने को मरणधर्मा समझता है और मृत्यु से भयभीत रहता है। जब स्वरूप का यथार्थ ज्ञान तथा स्वरूपस्थिति हो जाती है, तब जीव निर्भय हो जाता है।

ऐसी दशा में पहुंचकर फिर "औरे ते नहीं काम" की स्थिति हो जाती है। जिसने सारे विषयों को परखकर त्याग दिया, वह अपने पारख स्वरूप में निमग्न रहता है। उसकी दृष्टि में अन्य सारे विषय तुच्छ हो जाते हैं। उसे किसी से कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। वह तो ऐसी दशा प्राप्त होने के समय से जीवन के अंत तक इसी में रमता है। शाश्वत राम-स्वरूप चेतन ही उसका लक्ष्य हो जाता है। "मोहि रामहि ते संग्राम" यहां संग्राम का अर्थ युद्ध नहीं है। यहां संग्राम का लाक्षणिक अर्थ है लक्ष्य। बोधवान अपने पूरे जीवन में राम को ही अपना लक्ष्य मानता है। वह सदैव स्वरूप-राम में ही रमता है।

स्व-स्वरूप की पहचान

रमैनी–77

एकै काल सकल संसारा। एक नाम है जगत पियारा॥ 1॥
त्रिया पुरुष कछु कथ्यो न जाई। सर्बरूप जग रहा समाई॥ 2॥
रूप निरूप जाय नहिं बोली। हलुका गरुवा जाय न तौली॥ 3॥
भूख न तृषा धूप नहिं छाहीं। दुख सुख रहित रहै तेहि माहीं॥ 4॥

1. प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते। (केन उपनिषद् 2/4)

साखी—अपरं परं रूप मगुरंगी, आगे रूप निरूप न भाय।
बहुत ध्यान के खोजिया, नहिं तेहि संख्या आय॥ 77॥

शब्दार्थ—काल=समय, अन्त, मृत्यु, मन:कल्पना। एक नाम=राम, आत्मा, चेतन जीव। सर्वरूप=सभी देहों में। निरूप=रूप रहित। तेहि माहीं=स्वरूप में। अपरं परं=सर्वोच्च। रूप=चेतन स्वरूप। मगुरंगी=उसी मार्ग में लीन होओ, स्व-स्वरूप में स्थित होओ। रूप=चेतन स्वरूप। निरूप=निरूपण, अन्वेषण, खोज। भाय=भाई। तेहि=चेतन। संख्या=तरीका, गणना।

भावार्थ—संसार के सारे उत्पन्न पदार्थों को एक ही काल विनष्ट करता है, और एक ही मन:कल्पना जीवों को भटकाती है। संसार में एक आत्मअस्तित्व ही सभी जीवों को प्रिय है॥ 1॥ उस चेतन-स्वरूप राम को न स्त्री कहा जा सकता है और न पुरुष; क्योंकि वह स्वयं लिंग-रहित शुद्ध चेतन है। वह स्त्री, पुरुष, नपुंसक, मनुष्य, पशु, पक्षी, कृमादि सभी रूपों-शरीरों में प्रविष्ट होकर अपनी सत्ता का आभास देता है॥ 2॥ उसका कोई भौतिक रूप-रंग नहीं है; परन्तु यह भी नहीं कह सकते कि वह रूप-रहित है, अर्थात द्रव्यत्व-रहित है। क्योंकि वह ज्ञानरूप है ही। उसका हलका-गरुआ वजन नहीं किया जा सकता॥ 3॥ उसे न भूख लगती है और न प्यास; न उसे धूप की आवश्यकता है और न छाया की। क्योंकि सुख-दुख द्वंद्वों से रहित उसकी स्थिति उसके मूल स्वरूप में ही है। अथवा बोधवान को ऐसे निर्द्वंद्व स्वरूप में स्थित रहना चाहिए॥ 4॥

उसका स्वरूप सर्वोच्च है, अत: उसी निज स्वरूप में नित्य रमण करो। हे भाई! इसके आगे उसके स्वरूप का निरूपण नहीं हो सकता। बड़ी एकाग्रता से उस पर विचार करने के बाद यह निर्णय हुआ कि अनुभव के अलावा उसको समझने का अन्य कोई तरीका नहीं है, या वह गुण में एक होने पर भी व्यक्तित्व में अनेक होने से उसकी गणना नहीं की जा सकती—'पुरुष बहुत्वं सिद्धम्'॥ 77॥

व्याख्या—"एकै काल सकल संसारा" संसार की सारी वस्तुओं को एक काल बदलता रहता है। काल क्या है? एक महाकाल है दूसरा खंडकाल है। महाकाल का रूप अनादि-अनन्त है। अर्थात उसकी न शुरुआत है और न आखिर। खंडकाल क्षण, पल, सेकेंड, मिनट, घंटा, प्रहर, दिन, सप्ताह, मास, वर्ष आदि हैं। वैशेषिक दर्शन ने काल को द्रव्य माना है जो विचारणीय है। देश और काल के आयाम में ही सारी वस्तुएं गति करती हैं। इसी में परिवर्तन होता है जिसे हम निर्माण और विनाश के रूप में देखते हैं। जैसे पत्ता खेलने वाले

पत्ते को तर–ऊपर बारम्बार करते हुए फेरते हैं और उसको वे पीसना कहते हैं, वैसे काल संसार की सारी चीजों को पीसता है। सद्‌गुरु का महावाक्य है "दुइ पाट भीतर आय के, साबुत गया न कोय।"[1]

ज्ञानी पुरुष विचार के उत्तुंग शिखर पर बैठकर देखता है तो उसे लगता है कि देश और काल के दो पाटों की चक्की में सारा संसार निरंतर पीसा जा रहा है। संसार की बड़ी–बड़ी हस्तियों को काल पीसकर रख देता है। सूर्यवंश, चन्द्रवंश, यदुवंश आदि के बड़े–बड़े राजे–महाराजे और उनके विशाल राज्य, संपत्ति तथा ऐश्वर्य कहां गये ! कितनों के तो कोई नाम भी नहीं जानता है। अभी आपके नगर या गांव में सौ वर्ष के पुराने घर मिलना मुश्किल हैं। आपके घर में सौ वर्ष की पुरानी वस्तु मिलना मुश्किल है, जबकि इस महाकाल के मध्य में सौ वर्ष एक सेकेंड से भी कम है।

सद्‌गुरु कबीर इस रमैनी की प्रथम पंक्ति की प्रथम अर्धाली में सभी भौतिक वस्तुओं को निरंतर पीसने वाले काल की याद दिलाकर संसार से वैराग्य कराते हैं और अगली अर्धाली में अविनाशी स्वरूपबोध की सर्वप्रियता का स्मरण दिलाकर मनुष्य के मन में ज्ञान जगाते हैं। संसार की क्षणभंगुरता जाने बिना वैराग्य नहीं होता, और विषयों से वैराग्य हुए बिना अविनाशी स्वरूप का शोधन नहीं होता।

काल की दूसरी व्यंजना है मन की कल्पनाओं के लिए। यह काल जीव को भटकाता है। संसार के सारे जीवों को मन की कल्पना रूपी काल भटका रहा है, जो जीव का ही पैदा किया हुआ है, परन्तु उसी की भूल से वह उसी को निरंतर पीड़ित करता है। जीव के मन की कल्पनाएं ही जीव को मलिन विषयों में, राग–द्वेष में, मोह–शोक में तथा परोक्ष अवधारणाओं में भटकाती हैं। यह बाहरी काल से अधिक भयंकर है।

समय रूपी काल तो चलता रहेगा और उससे शरीरादि जड़ पदार्थ विनशते रहेंगे, तो उसमें जीव का कोई अकल्याण नहीं, किन्तु मनःकल्पना रूपी काल जीव के गले की फांसी है। इससे बचना उसका काम है। काल की पहली व्यंजना में जहां संसार की नश्वरता का दिग्दर्शन है, वैराग्य है; और दूसरी व्यंजना में जहां जीव के बन्धन हैं, सावधानी है। इस प्रकार वैराग्य और सावधानी के साथ अब आगे स्वरूपज्ञान के क्षेत्र में उतरना है।

"एक नाम है जगत पियारा" कौन–सा नाम पूरे जगत को प्यारा है? विचार करके देखा जाये, तो संसार का कोई भी नाम संसार के सभी लोगों को प्रिय

1. बीजक, साखी 129।

नहीं है। राम, अल्ला, शिव कोई भी नाम हो सबको पसंद नहीं है। किसी मसजिद में कह दीजिए राम या शिव, देखिए आफत आ जायेगी। इसी प्रकार किसी मन्दिर में अल्ला कहकर देख लीजिए। अतएव संसार में एक भी ऐसा नाम नहीं है जो सबको प्रिय हो।

सद्गुरु ने यहां "एक नाम है जगत पियारा।" कहकर व्यक्ति के अपने अविनाशी आत्मस्वरूप का संकेत किया है। कबीर साहेब की वाणी में शाब्दिक अर्थों से हटकर लाक्षणिक अर्थों की भरमार है। अतः यहां 'एक नाम' से अर्थ है एक आत्मतत्त्व जो सबको प्रिय है। हर जीव को सबसे प्यारा क्या है? अपनी आत्मा, अपना आपा।

बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का एक सुन्दर उदाहरण है। ऋषि याज्ञवल्क्य की दो पत्नियां थीं, एक का नाम था मैत्रेयी तथा दूसरी का नाम था कात्यायनी। ऋषि ने दोनों को धन बांटकर दे दिया और स्वयं संन्यास लेने के लिए घर छोड़कर चलना चाहा। कात्यायनी तो साधारण बुद्धि की थी, वह कुछ न कह सकी; परन्तु मैत्रेयी समझदार थी। उसने पूछा और याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—

'क्या मैं इस धन को पाकर अमर हो जाऊंगी?'[1]

'धन से अमरता की आशा नहीं करना चाहिए।'[2]

'तो मैं जिससे अमरता न पा सकूं, उसको लेकर क्या करूंगी?'[3]

'तो ले सुन, मैं तेरे को अमरता का रास्ता बताता हूं। पति की कामना के लिए पति प्रिय नहीं होता, किन्तु अपनी आत्मा की कामना के लिए पति प्रिय होता है; पत्नी की कामना के लिए पत्नी प्रिय नहीं होती, किन्तु अपनी आत्मा की कामना के लिए पत्नी प्रिय होती है। इसी प्रकार पुत्र, धन, ब्रह्म, क्षत्र, लोक, देव, ऐश्वर्य तथा अन्य सारी चीजों को हम उन-उन के लिए प्यार नहीं करते, किन्तु अपनी आत्मा की कामना के लिए ही प्यार करते हैं। जिस आत्मा के लिए हम सब कुछ को प्यार करते हैं, वह आत्मा ही देखने, सुनने, मनन करने तथा निदिध्यासन करने योग्य है। हे मैत्रेयी ! आत्मा को देखने, सुनने, समझने और जानने से मनुष्य मानो सब कुछ जान जाता है और सब कुछ पा लेता है।'[4]

---

1. कथं तेन अमृता स्याम्।
2. अमृतत्वस्य तु न आशा अस्ति वित्तेन। बृह. उप. 2/4/2।
3. येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम् । बृह. उप. 2/4/3।
4. ...आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्। (बृहदारण्यक उपनिषद्, अध्याय 2, ब्राह्मण 4, मन्त्र 5)

अतएव व्यक्ति का जो सबसे प्यारा है वह अपनी आत्मा है। आत्मा का अर्थ है अपने आप, चेतन जीव एवं स्व। 'एक नाम है जगत पियारा' की जगह हम समझ लें 'एक जीव है जगत पियारा'—'एक आत्मा है जगत पियारा।'—'एक राम है जगत पियारा'—'एक चेतन है जगत पियारा'—'एक स्व–स्वरूप है जगत पियारा'।

बाहर की वस्तुएं चाहे जितनी प्रियकर हों, उनका एक दिन छूट जाना निश्चित है; किन्तु जीव अपने आपा से, अपने स्वरूप से कभी अलग नहीं हो सकता। बाहर की चीजें चाहकर भी सदा के लिए अपने पास रखी नहीं जा सकतीं तथा अपना आपा चाहकर भी हम अपने से अलग नहीं कर सकते। इसलिए जगत के सभी जीवों को सर्वाधिक प्रिय 'आपा' है, आत्मा है, चेतन स्वरूप है।

"त्रिया पुरुष कछु कथ्यो न जाई। सर्व रूप जग रहा समाई॥" हम अपनी आत्मा को, सभी देहों में रमने वाले अविनाशी चेतन को स्त्री, पुरुष या नपुंसक नहीं कह सकते। क्योंकि स्त्रियत्व, पुरुषत्व, नपुंसकत्व देह के लक्षण हैं, जीव के नहीं। जीव तो सभी प्रकार की देहों में, यहां तक कि पशु, पक्षी, कृमि-कीटादि में भी समान चेतन मात्र है। श्वेताश्वतर उपनिषद् के ऋषि कहते हैं—"यह जीव आत्मा न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है। यह जिस–जिस शरीर को ग्रहण करता है, उस–उस से जुड़ जाता है।"[1]

"रूप निरूप जाय नहिं बोली" अर्थात उसका कोई रूप नहीं कह सकते हैं। कैसे कहा जाये कि जीव लाल, पीला, काला, उजला आदि रंग या अमुक आकृति वाला एवं रूप वाला है। संसार के सारे दृश्यमान रूप भौतिक हैं। चेतन आत्मा का रूप नहीं बता सकते। अब यदि कहा जाये कि वह नि–रूप है, तो भी उचित नहीं, क्योंकि जीव सत्तावान नित्य द्रव्य है, तो उसको नि–रूप—अ-द्रव्य कैसे कह सकते हैं। इसलिए चेतन को ज्ञानस्वरूप कहा जाता है। इस आत्मा को कोई तौल नहीं सकता कि यह बताये कि वह हलका है या वजनदार।

"भूख न तृषा धूप नहिं छाहीं" भूख–प्यास लगना देह का काम है, जीव के शुद्ध स्वरूप में भूख–प्यास लगने की कोई बात नहीं उठती। धूप और छाया की आवश्यकता देह को लगती है। देह में ठंडक लगने पर धूप–सेवन की आवश्यकता होती है तथा धूप लगने पर छाया की। जो देहातीत शुद्ध–चेतन है उसमें जैसे भूख–प्यास की गुंजाइश नहीं, वैसे उसमें ठंडी–गरमी लगने की

1. नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यद् यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते॥ (श्वेताश्वतर उप. 5/10)

गुंजाइश न होने से उसे धूप तथा छाया की आवश्यकता नहीं। चेतन का स्वरूप अभौतिक होने से वह मूलतः सुख-दुख द्वन्द्वों से परे है। अतएव बोधवान को चाहिए कि वह ऐसे निर्मल शुद्ध स्वरूप चेतन में ही सदैव स्थित रहे।

सद्गुरु ने ऊपर जीव के शुद्ध लक्षण बताये कि वह न स्त्री है न पुरुष, न रूपवान है न शून्य, न हलका है न गरुआ, न उसमें भूख-प्यास है न ठंडी-गरमी और न सुख-दुख। वह तो बस, केवल चेतन है। साधक को चाहिए कि वह इन लक्षणों को अपने लक्ष्य में रखकर देहाभिमान से दूर हो। वह हर समय यह समझे कि मैं स्त्री-पुरुष नहीं हूं, मैं काला-गोरा नहीं हूं। मुझे भूख-प्यास, ठंडी-गरमी नहीं लगती है। मैं तो देह से सर्वथा भिन्न शुद्ध-चेतन हूं। यह बोध-मनन शांति-स्वास्थ्य के लिए अमृत-टानिक है। स्वरूप-ज्ञान की निरन्तर स्थिति से ही निर्भयता आती है। निर्भयता ही अमरता है। निर्भयता ही अमृत है।

"अपरं परं रूप मगुरंगी" इस प्रकार मेरा अपना चेतन स्वरूप 'अपरं परं' सर्वोच्च है। स्व-चेतन ही में तो सबका बोध होता है। सबका बोध करने वाला सबको जानने वाला ही तो सर्वोच्च है। सद्गुरु कहते हैं 'मगुरंगी' इसी मार्ग में रंगो। इसी स्वरूप-विचार में निरन्तर तन्मय रहो। "आगे रूप निरूप न भाय" हे भाई, इसके आगे स्वरूप का अन्य कोई निरूपण, निर्धारण एवं विवरण नहीं हो सकता। शब्दों में अधिक विवरण दिया ही नहीं जा सकता। उसको अपरोक्ष जानने का तरीका अनुभव ही है। हम जैसे विषयों से लौटते हैं, वैसे आत्मसत्ता का बोध होता है। 'मैं हूं' इसके लिए अन्य विवरण की क्या आवश्यकता! इसलिए ज्यादा शब्दजाल में उलझने की आवश्यकता नहीं है। सदैव स्व-अस्तित्व एवं आत्म-अस्तित्व में निमग्न रहना चाहिए।

"बहुत ध्यान कै खोजिया, नहिं तेहि संख्या आय" सद्गुरु कहते हैं कि विवेकियों ने बहुत ध्यान देकर, बहुत एकाग्र होकर इस विषय पर चिंतन किया है, परन्तु स्व-स्वरूप को जानने का कोई दूसरा तरीका नहीं हो सकता। इसका एकमात्र तरीका है ध्यान, समाधि। जब सारे दृश्य निवृत्त हो जाते हैं, तब शेष द्रष्टा रहता है। जब तक मन है, विचार उठते हैं, तब तक दृश्य है; जब मन शून्य हो गया, निर्विचार अवस्था में पहुंच गया तब स्व-चेतन मात्र रह गया। बस, यही आत्म-अस्तित्व का पूर्ण बोध है। परखकर जब सारा दृश्य त्याग दिया, तब स्वयं पारख स्वरूप चेतन रह गया। सद्गुरु श्री पूरण साहेब ने कहा है—

जाते सकलो परखिया, सो पारख निज रूप।

तहाँ होय रहु स्थीर तू, नहिं झाँई भ्रम कूप॥ (त्रिज्या, अंत स्तुति)

"नहिं तेहि संख्या आय" यह वचन बहु जीववाद एवं 'पुरुष बहुत्वं' को व्यंजित करता है। सभी जीवों का गुण एक चेतना है, परन्तु व्यक्तित्व सबका

अलग-अलग है, तभी सबके कर्म-फल-भोग एवं बंध-मोक्ष की व्यवस्था बनती है। जीव, आत्मा, चेतन, हंस कुछ भी कहो, असंख्य हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण संसार का व्यवहार है। सबमें गुणात्मक एकता है। सबका एक गुण ज्ञान है। परन्तु सभी जीव एक दूसरे से सर्वथा भिन्न अस्तित्व रखते हैं। अतएव "नहिं तेहि संख्या आय" का सरल भावार्थ 'पुरुष बहुत्वं' का बोध कराता है।

देहाभिमान की निन्दा

रमैनी-78

मानुष जन्म चूकेहु अपराधी। यहि तन केर बहुत हैं साझी॥ 1॥
तात जननि कहैं पुत्र हमारा। स्वारथ जानि कीन्ह प्रतिपारा॥ 2॥
कामिनि कहै मोर पिउ आही। बाघिनि रूप गिरासा चाही॥ 3॥
सुत कलत्र रहैं लौ लाई। यम की नाँईं रहैं मुख बाई॥ 4॥
काग गिद्ध दोउ मरण विचारें। सीकर श्वान दोउ पन्थ निहारें॥ 5॥
अगिन कहै मैं ई तन जारों। पानि कहै मैं जरत उबारों॥ 6॥
धरती कहै मोहि मिलि जाई। पवन कहै संग लेउँ उड़ाई॥ 7॥
तेहि घर को घर कहै गँवारा। सो बैरी होय गले तुम्हारा॥ 8॥
सो तन तुम आपन कै जानी। विषय स्वरूप भुलेउ अज्ञानी॥ 9॥
साखी—इतने तन के साझिया, जन्मों भरि दुख पाय।
चेतत नाहिं मुग्ध नर बौरे, मोर मोर गोहराय॥ 78॥

शब्दार्थ—साझी=हिस्सेदार। तात=पिता। जननि=माता। कामिनि= कामोन्मादिनी, रखैल। पिउ=प्रियतम। कलत्र=विवाहिता पत्नी। लौ=कामना। सीकर=सियार। मुग्ध=विमोहित। बौरे=पागल। गोहराय=पुकारना।

भावार्थ—हे मानव ! यह तेरा बहुत बड़ा अपराध है जो विवेक-संपन्न मानव-जीवन पाकर भी तूने इससे कल्याण-साधना नहीं की और देहाभिमान के धोखे में पड़ा रहा। जिस शरीर को तू अपना मानता है, उसके बहुत हिस्सेदार हैं॥ 1॥ तेरे शरीर को माता-पिता कहते हैं कि यह मेरा पुत्र है। तुम्हारे शरीर से अपना स्वार्थ-लाभ जानकर वे इसका पालन-पोषण करते हैं॥ 2॥ तुम्हारी कामोन्मादिनी प्रेमिका तुम्हारे शरीर को अपना प्रियतम बताती है; परन्तु वह सिंहनी बनकर तुम्हें खा जाना चाहती है॥ 3॥ स्त्री, पुत्रादि परिवार के अन्य लोग भी तुम्हारे शरीर से बहुत-सारी कामनाएं रखते हैं और यम की तरह मुख फैलाये तुम्हारा सब कुछ हड़प कर जाना चाहते हैं॥ 4॥ कौआ, गिद्ध, सियार और कुत्ते तुम्हारे शरीर की मरण-कामना करते हैं और तुम्हारी लाश का रास्ता देखते हैं कि कब यह खाने को मिलेगी॥ 5॥ अग्नि कहती है मैं इस शरीर को

पाऊं तो इसे जलाकर अपने अंश को अपने में मिला लूं, और पानी कहता है कि मैं इसे जलने से बचाकर अपने अंश को अपने में मिला लूं॥ 6॥ धरती कहती है यह शरीर मेरे अन्दर आये तो मैं इसे अपने में मिला लूं और पवन कहता है कि यह मुझे मिले तो मैं अपने अंश को उड़ा ले चलूं॥ 7॥ मूढ़ मानव! ऐसे साझी के घर को तू अपना घर कहता है! आत्म-कल्याण तथा पर-कल्याण में इस शरीर को न लगाकर इसके द्वारा विषयासक्ति और दुष्कर्म करने से तो यह शत्रुरूप होकर तुम्हारे गले लग गया है॥ 8॥ ऐसे साझी के जड़ तथा नश्वर शरीर को तूने अपना करके मान रखा है। हे आत्मज्ञान से विहीन अज्ञानी मानव! तू विषयरूप शरीर को ही अपना स्वरूप मानकर इसी में भूल गया है॥ 9॥

ऊपर कथित शरीर के इतने हिस्सेदार हैं। इसके आसक्तिवश तू जीवन भर दुख पाता है। हे विमोहित पागल मानव! तिस पर तू सावधान नहीं होता और इस शरीर तथा परिवार को मेरा-मेरा कहकर चिल्लाता है॥ 78॥

व्याख्या—कबीर साहेब का हृदय तीव्र संवेदनशील था। वे जिस विषय पर कहते हैं अपने श्रोताओं एवं पाठकों के मन को मथ देते हैं। इस रमैनी में उन्होंने देहाभिमान पर करारी चोट की है। वे कहते हैं जो इतना उत्तम विवेकसंपन्न मानव-शरीर पाकर आत्म-कल्याण तथा पर-कल्याण में नहीं लगता, बल्कि केवल सूअर की तरह पेट भरता और बन्दर की तरह भोगों को भोगता रहता है, वह अपराधी है। वह दण्ड का पात्र है। उसको प्रकृति द्वारा दण्ड मिलना है।

व्यक्ति अविवेकवश समझता है कि मैं देह हूं। वह निरन्तर देह के ही मोह में पड़ा हुआ इसी को पालने तथा इसके द्वारा भोगों को भोगने में लगा रहता है। और इसी के अहंकार में डूबा रहता है। शरीर का पालना बुरा नहीं है। मनुष्य का पहला काम है कि वह अपने शरीर को संतुलित आहार-विहार से स्वस्थ रखे। परन्तु यह ध्यान रहे कि शरीर साध्य नहीं, किन्तु साधन मात्र है। मनुष्य का साध्य है आत्मकल्याण। आत्मकल्याण है पूर्ण शांति। पूर्ण शांति होती है वासनाहीन मन में। अतएव जो कुछ छूटने वाला है देह से संसार तक, सबकी वासना, कामना तथा मोह छोड़कर ही शांति मिलेगी। वासना छोड़ने का मतलब कर्तव्य त्यागना नहीं है, किन्तु मोह त्यागना है जो कर्तव्य पथ में भी रोड़ा बनता है।

दृष्टिकोण के अंतर से प्राप्त-शक्ति के सदुपयोग तथा दुरुपयोग का अंतर होता है। 'मैं' शरीर हूं। जीवन का लक्ष्य शरीर से अधिक-से-अधिक भोगों को भोगना है। यह अविवेकपूर्ण दृष्टिकोण है, और इसका फल काम, क्रोध, लोभ,

मोह, व्यभिचार, हत्या, दूसरे के अधिकार का हरण, मन की उलझन तथा अशांति है। 'मैं' शरीर नहीं, शुद्ध चेतन हूं। शरीर तो जड़ तथा नाशवान है। यह केवल आत्मकल्याण एवं लोककल्याण का साधन है। यह विवेकपूर्ण दृष्टिकोण है। इसका फल अनासक्ति, वासना-हीनता, पर-सेवा तथा पूर्ण शांति है। जीवन दोनों दृष्टिकोण वाले जीते हैं। एक अपने तथा दूसरों के लिए अभिशाप बनता है तथा दूसरा अपने और दूसरों के लिए वरदान बनता है।

जो धन को उद्देश्य समझता है, वह जिस किसी प्रकार धन बटोरकर केवल उसे जमा करता है; और जो धन को साधन समझता है वह नीतिपूर्वक संग्रह करते हुए उसको जनकल्याण में खर्च करता है। धन से दोनों जुड़े होते हैं, परन्तु दोनों के जीवनस्तर में महान अंतर होता है। एक धन का गुलाम बना जीवनभर नरक भोगता है। दूसरा धन का सदुपयोग कर शांति और सुयश का भागी होता है। अतएव आत्म-कल्याण एवं जन-कल्याण के लिए देह, परिवार, धन आदि समस्त प्राप्त-शक्तियों की आसक्ति का त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है। आसक्त आदमी के कर्तव्य उज्ज्वल नहीं होते। उसी के कर्म उज्ज्वल होते हैं जो सर्वत्र अनासक्त है।

सद्गुरु कहते हैं कि हे देहाभिमानी ! जिस शरीर का तू अहंकार करता है उसके बहुत साझीदार हैं। एक ही तेरा शरीर किसी का पिता है, किसी का पुत्र, किसी का साला है, किसी का जीजा, किसी का मामा, किसी का भांजा, किसी का मित्र है तथा किसी का शत्रु। अंततः यह शरीर तेरा नहीं है। जिस देहाभिमान में पड़कर तू लूट-खसोटकर अपने माने हुए परिवार को संपन्न बनाने का पाप कर रहा है, उसका क्षण मात्र का ठिकाना नहीं है। ये परिवार के लोग तेरे कितने दिन के साथी हैं ! अंततः किसका कौन है !

जिस शरीर पर तुम्हें गर्व है, उसे चारों तरफ से नोच-नोचकर खाने वाले लगे हैं, परिवार के लोग दूसरी तरह नोचते हैं और हिंसक जन्तु दूसरी तरह। जीव के निकल जाने पर तो यह शरीर सियार, कुत्ते, चील, गीध का आहार बनेगा, या कीड़ों का खाद्य या मछली-कछुओं का भोजन या आग का अंगार।

हर समय शरीर में असंख्य जड़-कण संयुक्त होते हैं तथा उससे असंख्य जड़-कण निकलकर बाहर विकीर्ण होते हैं। विज्ञान के अनुसार सात वर्ष में शरीर के सारे कण बदल जाते हैं। जो शरीर क्षण-क्षण बनता और बिगड़ता है और एक दिन प्रकृति में लीन होकर आकाश-कुसुम के समान शून्य हो जाता है, उसका मोह कर विषयासक्ति के कीचड़ में पड़े रहना बहुत बड़ी नादानी है।

शरीर छूटते ही यह मिट्टी, पानी, आग, हवा में मिल जायेगा, क्योंकि यह इसी से बना है। यहां 'अगिन कहै...पानी कहै...धरती कहै...तथा पवन कहै' जो कथन है यह कहने का एक तरीका है! अग्नि आदि जड़ तत्त्व हैं, अचेतन हैं। ये न कुछ जानते हैं और न कुछ कह सकते हैं। जैसे कोई कहे कि घर गिरना चाहता है। तो घर कोई सचेतन तो है नहीं जो गिरना चाहेगा। तात्पर्य है घर गिरने वाला है; क्योंकि कमजोर दिखता है।

मिट्टी, पानी, आग, हवा ये चार ही तत्त्व द्रव्य हैं। इन्हीं में क्रिया, गुण तथा स्वभाव हैं। द्रव्य का मुख्य लक्षण है क्रिया, जो इन्हीं चारों में है। आकाश कोई द्रव्य नहीं है, अतः उसमें कोई क्रिया नहीं है। न उससे कुछ निर्माण होता है और न उसका कोई परिणाम होता है। इसलिए सद्गुरु ने इस रमैनी में जहां अग्नि, पानी, पृथ्वी तथा पवन के नाम लिये वहां आकाश का नाम नहीं लिया। वैसे अन्यत्र जहां तत्त्वों के नाम लिये वहां पांच कहा, जैसे 'पाँच तत्त्व का पूतरा'...'पाँच तत्त्व ले या तन कीन्हा' आदि।

आकाश क्रियाहीन है, इसीलिए गीताकार ने भी जहां कहा—"आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, पानी गीला नहीं कर सकता तथा वायु सुखा नहीं सकता।"[1] वहां आकाश का उल्लेख नहीं किया। गीता के इंगलिश अनुवादक स्वामी चिद्भावानंद ने भी लिखा है कि पांच तत्त्वों में एक तत्त्व आकाश क्रियाहीन है, इसलिए उसका वर्णन यहां नहीं किया गया है।[2]

अब हम अपने मूल स्थान पर आवें। सद्गुरु कहते हैं, हे गंवार! तू असंख्यात कणों के जोड़ शरीर को अपना स्वरूप मानकर उसमें आसक्त होता है। जो अंततः तेरा नहीं है उसे अपना मानता है। शरीर विषय रूप है। यह तेरा स्वरूप नहीं है। तेरा स्वरूप तो शुद्ध चेतन है। तेरे को अपने आपा का भान नहीं रहा और तू देह ही को अपना आपा मान लिया और उसके मलिन भोगों में लिपटकर सारे दुर्गुणों, दुर्वासनाओं का शिकार हो गया।

इस रमैनी का सार यह है कि यह शरीर अपना नहीं है। फिर शरीर सम्बन्धी प्राणी, पदार्थ और परिस्थिति अपने कैसे हो सकते हैं? राग, द्वेष, वैर, विश्वासघात, हत्या, शोक, मोह आदि सभी दोषों के हेतुभूत विषयासक्ति, सुखाध्यास एवं जड़ पदार्थों की ममता है। बिना इनकी निवृत्ति हुए न दोषों का अन्त होगा और न दुखों का। बड़े-बड़े विद्वान, धनवान तथा श्रेष्ठ अधिकारी भी एक विषयासक्ति के कारण नाना दुराचार कर कुवासनावश रात-दिन मन-ही-

---

1. नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ (गीता 2/23)
2. Among the five elements Akash is one that is actionless. So no reference to it is made here. (Shri Ramkrishan Tapovanam. Tirupparaitturai)

मन जलते हैं। घर में, ग्राम में, मोहल्ले में, समाज में, राष्ट्र में तथा विश्व में जो सर्वत्र उपद्रव दिखते हैं—सबका कारण विषयासक्ति है। मनुष्य इन्हें नहीं छोड़ता, प्रत्युत सुख के लिए अन्य-अन्य उपाय करता है। परन्तु जब तक विषयासक्ति तथा देहाभिमान का अन्त नहीं होगा, तब तक मनुष्य का कल्याण कहां? अतएव इनकी मोह-मदिरा से जागो और स्वरूप विचार में पागो। विशाल देव कहते हैं—

उतपति होय न जाहि की, सदा अकेले आप।
मोह करे सो काहि सो, जहाँ न कोई मिलाप॥

(भवयान, अपनाबोध, साखी 5)

तुम्हारा लक्ष्य तुमसे अलग नहीं

रमैनी-79

बढ़वत बढ़ी घटावत छोटी। परखत खरी परखावत खोटी॥ 1॥
केतिक कहौं कहाँ लौं कही। औरो कहौं पड़े जो सही॥ 2॥
कहे बिना मोहि रहा न जाई। बिरही ले ले कूकुर खाई॥ 3॥
साखी—खाते खाते युग गया, बहुरि न चेतहु आय।
कहहिं कबीर पुकारि के, ये जीव अचेतहि जाय॥ 79॥

शब्दार्थ—खरी=सत्य। खोटी=असत्य। बिरही=विरही, बिछुड़ा हुआ, प्रिय से वियुक्त, एकाकी। कूकुर=कुत्ता, मन।

भावार्थ—भोगों को भोगते जाने से वासनाएं बढ़ती जाती हैं और उन्हें छोड़ते जाने से वासनाएं घटती जाती हैं। अपनी स्थूलबुद्धि से देखने पर हमारी अपनी अनेक मान्यताएं तथा मन की नाना कल्पनाएं सत्य लगती हैं, परन्तु जब किसी विवेकी-पारखी संत से उन्हें परखाते हैं, तब वे झूठी सिद्ध होती हैं॥ 1॥ कितना कहूं, समझाने की भी एक मर्यादा होती है। यदि लोगों को भला लगे तो मैं और भी कहने के लिए तैयार हूं॥ 2॥ मुझे कहे बिना रहा भी नहीं जाता है। अपने लक्ष्य से बिछुड़े हुए जीवों को मन भटका रहा है॥ 3॥

मन के छलावे में भटकते-भटकते जीव के युगों बीत गये। हे मानव! आज भी तू सावधान नहीं हो रहा है। कबीर साहेब खुलासा कहते हैं कि यह जीव असावधानी में जीवन खो रहा है॥ 79॥

व्याख्या—बीड़ी, तम्बाकू, गांजा, भांग, शराब, सिनेमा, मैथुन—किसी प्रकार का भी भोग हो उसका निरंतर उपभोग करते रहने से वासनाएं बढ़ती हैं। वासनाएं जितनी बढ़ती हैं, मन उतना अशांत होता है। भोगों को भोगने से

वासनाएं बढ़ती हैं तथा वासनाओं के बढ़ने से मनुष्य भोगों में अधिक पतित होता है। इसका घनचक्कर तब तक चलता है, जब तक भोगों का त्याग नहीं किया जाता। जब विवेक कर भोगों का त्याग किया जाता है, तब वासनाएं घट जाती हैं और भोगों के सर्वथा त्याग एवं विवेक की जागृति से वासनाएं एकदम समाप्त हो जाती हैं। इसको इस प्रकार सहज समझ सकते हैं कि पचास वर्ष से तम्बाकू का सेवन करने वाला व्यक्ति जो उसके बिना आधा दिन भी नहीं रह पाता था, जब उसे दुखदायी समझकर छोड़ देता है और धीरे-धीरे उसकी आदत मिट जाती है तब उसे तम्बाकू की गंध भी नहीं सहन होती। कोई मनुष्य अविवेकवश किसी मनुष्य में राग करने लगता है, तो निरंतर राग बढ़ाते-बढ़ाते वह उसको देखे बिना नहीं रह पाता। परन्तु जब किसी कारणवश या विवेक से उसका राग छोड़ देता है, तब उससे मिलने का मन में कोई आकर्षण ही नहीं रह जाता। अतएव "बढ़वत बढ़ी घटावत छोटी" यह महावाक्य आदतों तथा वासनाओं के विषय में अत्यन्त सटीक है। सद्‌गुरु इस अर्धाली को कहकर यह सिद्ध कर देते हैं कि बुरी आदत और वासना जो मुख्य माया है, वह तुम्हारे हाथों में है। तुम चाहो तो वह बढ़ती रहे और चाहो तो घट जाये और समाप्त भी हो जाये। वह न तो किसी भगवान के अधीन है और न शैतान के। वह तुम्हारे ही ज्ञान तथा अज्ञान पर निर्भर है।

"परखत खरी परखावत खोटी" यह बड़ा महत्त्वपूर्ण वचन है। हमारी अपनी कितनी मान्यताएं होती हैं जो हमें पूर्ण सच लगती हैं, परन्तु जब हम उन्हें किसी महापुरुष के सामने रखते हैं और वे हमें उनकी परख कराते हैं तब असत्य ठहरती हैं। अतएव सत्यज्ञान का जिज्ञासु वही माना जा सकता है जो सदैव विनयी हो। सावधान पुरुष अपनी हर बात को ताल ठोंककर सिद्ध करने की चेष्टा नहीं करता। जिसका ज्ञान जितना कम होता है, उसका अपने ज्ञान के प्रति उतना ही अधिक अहंकार होता है। कुछ लोग अपने अधकचरे ज्ञान की डींग हांकते रहते हैं और वे अड़ जाते हैं कि यही सच है, जबकि उन्हें उस विषय में सांच-झूठ का कुछ पता नहीं रहता।

समझदार मनुष्य अपनी भाषा नम्र रखता है। वह किसी विषय में बात चलने पर प्रायः कहता है कि मैं इसे इस प्रकार समझता हूं। वह सबकी राय को विनयपूर्वक सुनता है और उन्हें समझने की चेष्टा करता है तथा उनसे अपनी राय की तुलनाकर उसे शोधता है। संयत और अनुभवी लोगों से सही राय तो मिलती ही है, अपने से छोटे लोगों से भी सही राय मिलती है, यदि हम विनयपूर्वक सर्वत्र ज्ञान ग्रहण करना चाहें तो।

मनुष्य के अपने आज के कई निष्कर्ष कल उसे ही गलत लगते हैं। ऐसी स्थिति में ज्ञान के विषय में गर्व करने की गुंजाइश कहां है! मनुष्य को जीवनपर्यंत सीखना है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य अपने हर निर्णय को हर समय संदिग्ध समझे। कुछ निर्णय तो चांद–सूरज के समान एकदम प्रकाशस्वरूप होते हैं। उन पर संदेह करने की कोई गुंजाइश ही नहीं होती। ऐसे निर्णयों पर दृढ़–विश्वास होने पर भी बाहर से उसकी सत्यता की दुंदुभी बजाने की आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि एक निर्णय सभी को समान प्रिय नहीं होता। सद्गुरु कहते हैं कि तुम अपने निर्णयों के विषय में अनुभवी पुरुषों से राय लेते रहो।

''केतिक कहौं कहाँ लौं कही'' संसार में एक तो आध्यात्मिक ज्ञान सुनने की जिज्ञासा कम लोगों में होती है। दूसरी बात, जो लोग सुनते हैं, वे सब अपने जीवन में अपेक्षित सुधार नहीं लाते। इसलिए उपदेष्टा अपने आप पर ही खीज उठता है। वह कहता है कितना बक–बक किया जाये। उपदेश करने की भी तो हद होती है। जब लोग सुनकर भी उसके अनुसार जीवन नहीं बनाते तब अधिक कहकर क्या होगा ! परन्तु कबीर साहेब थकते नहीं हैं। वे कहते हैं कि ''औरों कहौं पड़े जो सही'' यदि तुम्हारे लिए ठीक साबित हो तो मैं आगे भी कहने के लिए तैयार हूं। विवेकवान समझते हैं कि संसार के लोग भोलापन कर रहे हैं। यदि वे अपना अपेक्षित सुधार नहीं करते हैं, तो भी सच्चर्चा से उनका कुछ हित होगा ही। यदि आदमी सुनने की श्रद्धा रखता है, तो इतना भी बहुत है। उसको सुनाना चाहिए। यदि बहुत सुनेगा, तो कुछ तो करेगा ही। यदि कुछ नहीं कर सकेगा, तो जब तक अच्छी बात सुनेगा तब तक तो उसका मन अच्छा रहेगा ही। ऐसे ही धीरे–धीरे आदमी सुधरता है।

''कहे बिना मोहि रहा न जाई'' सद्गुरु कहते हैं कि मेरी अपनी मजबूरी भी है। मैं किसी का अनर्थ देखकर चुप भी नहीं रह सकता। मैं कहूंगा अवश्य, चाहे अगला आदमी न भी सुनना चाहे। वह नहीं सुनना चाहेगा तो मैं जाते हुए उसे पुकारकर कहे जाऊंगा। तभी तो कबीर साहेब अपनी पूरी वाणियों में बारम्बार कहते हैं ''कहहिं कबीर पुकारि के''। संसार के शायद किसी वक्ता ने पुकारकर नहीं कहा है। लगता है दुनिया में केवल कबीर साहेब अकेले हैं जो 'पुकारकर' कहते हैं। संसार में अन्य विद्वान एवं संत प्रायः 'लिखते हैं' किन्तु कबीर साहेब 'कहते' हैं। लिखने और कहने में बड़ा अन्तर होता है। लिखा जाता है निर्जीव कागज पर, परन्तु कहा जाता है चेतन मानव से। इसलिए लिखने से कहने का वजन ज्यादा होता है। लेखक तो केवल अपने मन की ही बात लिखता है, परन्तु कहने वाला सुनने वाले से भी प्रेरित होकर कहता है। कबीर साहेब कहते हैं, मैं कहूंगा अवश्य चाहे तुम सुनो या न सुनो। बारम्बार कहने पर कभी सुनोगे ही और सुनकर कभी कुछ भी पल्ले पड़ गया, तो तुम्हारा कुछ–न–कुछ कल्याण होगा ही।

"बिरही ले ले कूकुर खाई" मानो किसी व्यक्ति ने बेरहि (दलभरी पूरी) बनायी थी। उसे ले-लेकर कुत्ता खा गया। यहां दलभरी पूरी तथा साधारण कुत्ते से मतलब नहीं है। जीव अविवेकवश विरही है। विरही उसे कहते हैं जो अपनी प्रिया के वियोग में पीड़ित हो। जीव की अत्यन्त प्रियतमा शांति एवं मुक्ति है। शांति या मुक्ति न दो चीज है और न जीव से अलग कोई वस्तु है। किन्तु जीव अज्ञानवश समझता है कि शांति से मैं अलग हो गया हूं, परमात्मा, ब्रह्म या मोक्ष मुझसे अलग है। यह सब अज्ञान का फल है। जीव की स्वरूपस्थिति से अलग शांति, मोक्ष, परमात्मा, ब्रह्म इत्यादि सब शब्दजाल है। जीव का जो अपना है, वह उससे कभी बिछुड़ा ही नहीं है। बिछुड़ नहीं सकता। जीव अज्ञानवश अपने लक्ष्य को अपने से बाहर खोजता है—कभी विषयों में, कभी मन की अवधारणाओं में। परन्तु जब उसे स्वरूपज्ञान को परखाने वाले पारखी संत मिल जाते हैं। और उसे परखा देते हैं कि जिसे तू खोजता है वह तू ही है, तो वह कृतार्थ हो जाता है।

परन्तु जो विरही है, अपने आप को मानता है कि मैं मोक्ष या परमात्मा से अलग हो गया हूं, या अलग हूं, उसे ले-लेकर कूकुर खाता है। अर्थात उसे बारम्बार मन भवचक्कर में डालता है। वह मन से एक मोक्षधाम बनाता है या एक ईश्वर का रूप गढ़ता है और फिर उसकी कल्पना में डूबता है। वह केवल मन का व्यायाम होने से बाहर से कुछ प्राप्त नहीं होता और जीव सदैव वियोगजनित पीड़ा में तड़पता है। अच्छे-अच्छे लोग भगवान पाने के लिए रोते हैं। वे व्याकुल होकर कहते हैं कि आज तक मुझे परमात्मा के दर्शन नहीं हुए। वे कितने भोले हैं। 'परमात्मा के दर्शन' यह कितना झूठा वाक्यांश है। जिसके दर्शन होते हैं वह तो रूप विषय है। यदि मन से कुछ दर्शन होते हैं, तो वह मन की कल्पना है—"जो मतवारे राम के, मगन होहिं मन माँहि। ज्यों दर्पण की सुन्दरी, गहै न आवै बाँहिं"[1] वाली बात है। अतएव विरहियों को, जो अपने आप को परमात्मा या मोक्ष से बिछुड़े हुए मानते हैं, मन सदैव कल्पनाओं में भटकाता है।

"खाते खाते युग गया" सद्‌गुरु कहते हैं कि इस प्रकार मन के भटकावे में तुम्हारा अनादिकाल का समय बीत गया। तुम अपने स्वरूप को न समझकर सदैव परमात्मा खोजने के चक्कर में समय गंवाते रहे। "बहुरि न चेतहु आय" सद्‌गुरु कहते हैं अब तो जग जाओ न! कबीर साहेब अपनी स्टाइल में वही बात कहते हैं जिसकी अभी कुछ पूर्व चर्चा कर आये हैं—"कहहिं कबीर पुकारि के, ये जीव अचेतहिं जाय॥" वे पुकारकर कहे जा रहे हैं कि यह जीव

---

1. बीजक, साखी 279।

असावधानी ही में समय खो रहा है। वह अलग सुख, शांति एवं परमात्मा खोज रहा है। यह सबसे बड़ी असावधानी है। क्योंकि वह तो दिलदरगाह की वस्तु है। उसे खोजना कहां है ! वह तो अपना स्वरूप ही है।

इस प्रकार सद्‌गुरु इस रमैनी में मुख्य तीन बातें बताते हैं, (1) वासनाएं भोगों को भोगने-न भोगने से बढ़ती-घटती हैं, अतः वे तुम्हारे अधीन हैं। तुम चाहो तो भोगों को त्यागकर वासनाओं से मुक्त हो सकते हो; (2) ज्ञान के लिए सदैव जिज्ञासु रहो, विनयभाव से महापुरुषों से राय लो तथा (3) परमात्मा या मोक्ष बाहर मत खोजो, किन्तु अपने आप को पहचानो।

रमैनी-80

बहुतक साहस करु जिय अपना। तेहि साहेब से भेंट न सपना॥ 1 ॥
खरा खोट जिन नहिं परखाया। चाहत लाभ तिन्ह मूल गमाया॥ 2 ॥
समुझि न परलि पातरी मोटी। ओछी गाँठि सबै भौ खोटी॥ 3 ॥
कहहिं कबीर केहि देहो खोरी। जब चलिहो झिझि आसा तोरी॥ 4 ॥

शब्दार्थ—तेहि साहेब=ईश्वर। खरा=सत्य। खोटा=असत्य। मूल= स्वरूप विचार, मानवता। पातरी=झीनी माया, मन की कल्पित अवधारणाएं। मोटी =मोटी माया, सांसारिक प्राणी-पदार्थ। ओछी=तुच्छ। गाँठि=मानसिक ग्रंथि, आसक्ति। खोटी=दोषजनक। खोरी=दोष। झिझि=झीनीमाया, मन का मोह।

भावार्थ—हे मानव ! तुम अपना कितना ही साहस करो, परन्तु उस कल्पित ईश्वर से तुम्हारी भेंट स्वप्न में भी नहीं होगी॥ 1 ॥ जिन्होंने पारखी संतों से मिलकर सत्य और असत्य की परख नहीं की-करायी, वे भले लाभ चाहते हैं; परन्तु अपना मूल भी खो बैठते हैं॥ 2 ॥ क्योंकि ऐसे लोगों को झीनी माया और मोटी माया समझने में नहीं आती। जहां तक मन की ग्रंथियां हैं, राग-द्वेष हैं, सब संसार के तुच्छ पदार्थों को लेकर बनते हैं, वे सब सन्मार्ग में दोषजनक ही ठहरते हैं॥ 3 ॥ सद्‌गुरु कहते हैं तुम उस समय किसके मत्थे दोष मढ़ोगे जब मन की आशा रूपी रस्सी विवशतापूर्वक तोड़कर बिना लक्ष्य प्राप्त किये संसार से विदा होने लगोगे !॥ 4 ॥

व्याख्या—"बहुतक साहस करु जिय अपना। तेहि साहेब से भेंट न सपना॥" यह बड़ी क्रांतिकारी पंक्ति है। जिस भावधारा में करोड़ों-करोड़ों लोग बह रहे हैं, वह भले ही अलीक हो, उसके विरोध में इतना खुलासा कह देना बहुत बड़ी हिम्मत का काम है। वस्तुतः खुलासा कहे बिना मन का मोह टूटता नहीं। जब तक आदमी गलत दिशा से लौटता नहीं, तब तक उसे सही दिशा मिल नहीं सकती। लोग साहेब को, ईश्वर, परमात्मा एवं ब्रह्म को बाहर खोजते

हैं। वे समझते हैं कि जैसे हम अपने पत्नी, बच्चों, मित्र एवं साथियों से मिलते हैं, उन्हें आंखों से देखते हैं, उनसे गले मिलते हैं, वैसे ईश्वर से भी मिल जायेंगे। उसे आंखों से देख लेंगे। उससे लिपटकर शीतल हो जायेंगे। सद्‌गुरु कहते हैं कि यह तुम्हारा साहस मात्र है।

महाकाव्यों और पुराणों में ऐसी बातें लिखी गयी हैं कि अमुक व्यक्ति तप कर रहा था। उसकी तपस्या से ईश्वर प्रसन्न होकर उसके सामने आकर खड़ा हो गया। तपस्वी दर्शन पाकर उसके चरणों में लिपट गया और कृतार्थ हो गया। भारत में आज से पूर्व करीब दो हजार वर्ष से भगवान आकाश-मार्ग से आ-आकर अपने भक्तों को दर्शन दे रहा है। क्योंकि प्रायः ईसापूर्व बने धर्मग्रन्थों में ऐसा लिखा नहीं मिलता कि कोई भगवान या ईश्वर आकर किसी भक्त को दर्शन देता है। ये ईश्वर-दर्शनों की भरमार ईसाकाल के बाद के पौराणिक ग्रन्थों में है। महाकाव्यों, पुराणों तथा भक्तिकाव्यों के माध्यमों से महात्मा तथा पंडितों ने जनता को ईश्वर-दर्शन-सनक की ऐसी घुट्टी पिलायी है कि उसमें जनता दिग्भ्रमित होकर भटक रही है और वह ईश्वर-दर्शन के लिए तावबावला है।

सद्‌गुरु कहते हैं कि जिसे तुमने ईश्वर मान रखा है, उससे तुम्हें स्वप्न में भी मुलाकात नहीं हो सकती। अर्थात वह कदापि नहीं मिल सकता। दर्शन तथा मुलाकात की बात कहकर हम ईश्वर को भौतिक बना देते हैं। जिसके दर्शन होते हैं वह रूप विषय है और जो कुछ मिलता है वह सब भौतिक है। मान लो, कोई ईश्वर आकर मुझे मिल जाये, तो क्या होगा? वह पुनः लौट जायेगा। क्योंकि मिली हुई वस्तु बिछुड़ती अवश्य है। मिला हुआ ईश्वर बिछुड़ेगा अवश्य। मुझे पूर्ण तृप्ति ऐसे ईश्वर से मिलेगी जो मुझसे कभी बिछुड़ा ही न हो और इसलिए उससे मिलने के भ्रम को पालना ही न हो। वह ईश्वर है मेरी अपनी आत्मा। अपना स्वरूप अपने से कभी बिछुड़ने वाला नहीं है। हम स्वरूप-विवेक से रहित होने से बाहर ईश्वर खोजते हैं और केवल भटकते हैं।

"खरा खोट जिन नहिं परखाया। चाहत लाभ तिन्ह मूल गमाया॥" सत्य-इच्छुक को चाहिए कि वह विवेकी-पारखी संतों के पास जाये और उनसे चर्चा कर सत्य तथा असत्य की परख करे। जिन्होंने पारखी सद्‌गुरु-संतों से अपने विचारों के विषय में परख नहीं करवायी, वे धोखे में हैं। तुम अपने सारे विचारों को स्वयं परखो तथा विवेकियों से परखाओ। आंख मूंदकर मानने की आदत छोड़ो, किन्तु हर बात की खूब छानबीन करो। अन्वीक्षण, परीक्षण तथा परख से ही सत्य क्या है तथा असत्य क्या है इसका निर्णय होता है। जो ऐसा नहीं करते वे लाभ तो चाहते हैं, परन्तु उनकी मूल पूंजी भी खो जाती है। वे चाहते हैं कि

हमें परमात्मा या मोक्ष मिल जाये, परन्तु वे अपने स्वरूप के विचार से ही वंचित रह जाते हैं। मूल धन न हो तो लाभ किस आधार पर होगा। यदि अपने स्वरूप का ही ज्ञान न हो तो परमात्मा या मोक्ष मिलने का मतलब क्या हो सकता है!

पहले तो मैं यह समझूं कि मैं कौन हूं। मेरे अपने 'स्व' एवं 'आत्म-अस्तित्व' का बोध हो जाने पर परमात्मा या मोक्ष उसमें अपने आप घटित हो जायेगा। स्वरूपज्ञान हो जाने पर जब स्वरूपस्थिति होती है, तब यही परमात्मा या मोक्ष का पाना है। क्योंकि व्यक्ति की अपनी आत्मा के अलावा न कहीं परमात्मा है न मोक्ष। बस, स्वरूपस्थिति ही परमात्मा है, यही मोक्ष है, अतएव स्वरूपबोध एवं स्वरूपस्थिति हो जाने पर कुछ बाकी नहीं रहता।

"समुझि न परलि पातरी मोटी" जो लोग न स्वयं परख करते हैं और न किसी अनुभवी संत पुरुष से परख कराते हैं, वे यह नहीं समझ सकते कि मोटी माया तथा झीनी माया क्या है! स्थूल पदार्थ, धन, घर, ऐश्वर्य, मठ, मन्दिर आदि मोटी माया है, यह समझ में आ भी जाये तो भी झीनी माया समझना कठिन है। "मोटी माया सब तजै, झीनी तजी न जाय। पीर पैगम्बर औलिया, झीनी सबको खाय॥" झीनी माया है मन की वे मान्यताएं जिनसे जीव स्वरूप-विवेक छोड़कर बाहर भटकता है। अपने आप को पूर्णकाम शुद्ध चेतन न समझकर, कुछ अन्य समझना झीनी माया है। "मैं अपूर्ण हूं, मेरा मालिक कोई अन्य है, मैं अंश, प्रतिबिम्ब एवं आभास हूं, मैं बुंद हूं और मुझे किसी समुद्र में मिलना है, मेरा प्राप्तव्य मेरी आत्मा से अलग है।" इत्यादि मानना झीनी माया है।

झीनी माया की दूसरी भी व्यंजना है जो व्यावहारिक है। धार्मिक क्षेत्र में आकर नाना पद, अधिकार एवं मर्यादा के मान-सम्मान की वासना रखना झीनी माया है। साधु-महंत स्थूल भोगों को छोड़ देते हैं, परन्तु उनमें से कितने लोग उक्त झीनी माया में इतने उलझ जाते हैं कि उनको क्षण-क्षण मान-अपमान का अनुभव होता रहता है। इसको लेकर वे राग-द्वेष के चक्कर में पड़ जाते हैं और उनका पूरा जीवन बहुत अधिक उलझ जाता है। "भोजन करते समय किसका पाटला एक इंच ऊंचा रहा, भोजन की थाली पहले किसके लिए आयी, पूजा में दायें तथा बायें कौन बैठा, आगे एवं पीछे कौन बैठा, अग्रपूजा किसकी हुई?" इनको लेकर केवल मर्यादा के निर्वाह का उद्देश्य नहीं रहता, किन्तु राग-द्वेष, छल-छद्म भी होते हैं, मन में उलझनें ही नहीं, किन्तु समाज में भी उलझनें होती हैं। यह तो भूल ही गया कि मैं एक कल्याण-साधक एवं समाज-सेवक हूं।

मोटी माया स्थूल-इंद्रिय भोग तथा झीनी माया मन की नाना मान्यताएं, इन दोनों को तभी समझकर उनसे बचा जा सकता है जब विवेकवान, अनुभवी एवं रहनीसम्पन्न संतों एवं सद्गुरु से इस पर विचार-विमर्श करते रहें तथा स्वयं अपने मन में सावधान रहें।

"ओछी गाँठि सबै भौ खोटी" सद्गुरु कहते हैं कि उक्त सारी मानसिक ग्रन्थियां तुच्छ हैं और अपने कल्याण-मार्ग में दोषरूप बनकर अवरोधक हैं। सद्गुरु के इन वचनों से मनोविज्ञान पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। मोटी-झीनी माया में आसक्त होकर हमारे मन में जितनी ग्रन्थियां बनती हैं, जैसे राग-द्वेष, वैर-मोह आदि सब हमारे विचारों की तुच्छता के द्योतक हैं। अथवा संसार के तुच्छ पदार्थों को लेकर ही तो राग-द्वेषादि की सारी मानसिक ग्रन्थियां बनती हैं। हम भूलवश जीवन भर राग-द्वेष के महान भ्रम पाले रहते हैं। हम माने रहते हैं कि अमुक मेरा बड़ा प्यारा है तथा अमुक बड़ा घृणास्पद है। परन्तु हम यह समझ लें कि यह सब केवल हमारे मन की भ्रमजन्य मान्यताएं हैं। इस जीव का न कोई वैरी है और न मित्र। यह अकेला आया है और अकेला जायेगा। दो दिन के सम्बन्ध में हम किसी से वैर तथा मोह का जंजाल न पालें; किन्तु सबसे शुद्ध प्रेम-भाव का बरताव करते हुए जीवन व्यतीत करें।

"कहहिं कबीर केहि देहो खोरी। जब चलिहो झिझि आसा तोरी॥" यदि आदमी मानसिक ग्रन्थियों में जीवनभर उलझा रहा और जीवन के आखिर तक यही दशा रही, तो जब यहां से जाने का समय हो जायेगा और मन में लगी हुई सारी आशाओं को विवशतापूर्वक तोड़कर जाना पड़ेगा, तब वह किसको दोष देगा कि अमुक के कारण मेरा कल्याण नहीं हुआ!

आदमी जीवनभर अंधेरे में रहता है। वह संसार से बड़ी-बड़ी लम्बी आशाएं बनाकर रखता है। पति, पत्नी, पुत्र, भाई, माता-पिता, मित्र तथा अन्य अनेक लोगों से पता नहीं क्या-क्या कामनाएं बनाकर रखता है। उसे अपने जीवन में लम्बे-लम्बे सुखों की आशा रहती है। परन्तु इन सब आशाओं पर तो पानी फिरता ही है। ऐसे लोग जीवन के आखिर में बड़े निराश होते हैं। जो व्यक्ति जितना ही माया-मोही होता है, वह उतना ही अन्त में निराश होता है। दुनिया स्वयं नंगी है। यह हमें क्या दे सकती है! जिसने अपने मन की ग्रन्थियों को पहले ही नहीं तोड़ दिया है, वह अन्त समय में पछतायेगा। सद्गुरु कहते हैं कि अंत में तुम किसको दोष दोगे? दोष तो तुम्हारा है कि स्ववश अवस्था में तुम माया के प्रमाद में उन्मादी बने रहे। जीवन की सारी शक्ति विषय-भोग, जगत-प्रपंच तथा राग-द्वेष में क्षीण कर दिये। अब मरते समय क्या बनने वाला है! तस्मात् जाग्रत् जाग्रत्!

उपासना मलिन देवों की नहीं, निर्मल संतों की करो

रमैनी-81

देव चरित्र सुनहु हो भाई। जो ब्रह्मा सो धियेउ नसाई॥ 1॥
दूजे कहौं मंदोदरि तारा। जेहि घर जेठ सदा लगवारा॥ 2॥
सुरपति जाय अहिल्या छरी। सुर गुरु घरणि चन्द्रमें हरी॥ 3॥
कहहिं कबीर हरि के गुण गाया। कुन्तिहि कर्ण कुँवारेहि जाया॥ 4॥

शब्दार्थ—चरित्र=आचरण। धियेउ=पुत्री को। लगवारा=जार। सुरपति= इन्द्र। सुर गुरु=बृहस्पति। घरणि=गृहिणी, पत्नी। हरि=विष्णु या सूर्य।

भावार्थ—हे भाई! देवताओं के चरित्र तो सुनो। जो सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मा थे, उनकी अपनी पुत्री के साथ ही मति भ्रष्ट हुई॥ 1॥ दूसरी घटना मंदोदरी तथा तारा की है जिनके घर में क्रमशः देवर विभीषण एवं सुग्रीव जेष्ठ-श्रेष्ठ जार बने रहे॥ 2॥ देवपति इन्द्र ने गौतम का छद्म वेष बनाकर अहल्या के साथ छल किया। देवताओं के गुरु बृहस्पति की पत्नी तारा को चन्द्रमा ने अपने घर में बलपूर्वक रखकर उनसे बुध को पैदा किया॥ 3॥ कबीर साहेब कहते हैं कि विष्णु का लोग बहुत भजन-पूजन करते हैं, परन्तु उन्होंने पतिव्रता वृन्दा का सतीत्व छल करके नष्ट किया। और सूर्य ने कुंआरी कुन्ती से कर्ण को पैदा किया॥ 4॥

व्याख्या—श्री मद्भागवत के तीसरे स्कंध के बारहवें अध्याय में ब्रह्मा का अपनी पुत्री सरस्वती पर काम-मोहित होकर पथभ्रष्ट होने का उल्लेख है। मत्स्यपुराण तथा शिवपुराण में भी ब्रह्मा के लिए कुछ ऐसी ही बातें बतायीं गयी हैं। यह ब्रह्मा की दशा है।

मंदोदरी और तारा

मंदोदरी और तारा को किसी पण्डित ने शायद व्यंग्य में पंचकन्याओं[1] में गिन लिया है। मंदोदरी और तारा दोनों ही पहले रावण तथा वाली के साथ थीं, पीछे विभीषण और सुग्रीव के साथ। गोस्वामी जी ने मानस में राम की दयालुता का वर्णन करते हुए कहा है—

जेहि अघ बध्यो व्याधि जिमि बाली। सोइ सुकंठ पुनि कीन्ह कुचाली॥
सोइ करतूति विभीषण केरी। सपनेहु सो न राम हिय हेरी॥

1. अहल्या द्रोपदी तारा कुन्ती मन्दोदरी तथा।
पंचकन्यां स्मरेन्नित्यं महापातक नाशिनी॥
उक्त पांचों ही कन्याएं नहीं थीं, किन्तु स-पतिक थीं और एक से अधिक पुरुषों से जुड़ी थीं।

इन्द्र और अहल्या

अहल्या वृद्धाश्व की पुत्री कही जाती है। यह गौतम ऋषि की पत्नी थी। इसकी सुन्दरता पर मोहकर देवों के राजा इन्द्र ने गौतम की अनुपस्थिति में उन्हीं का वेष बनाकर अहल्या के साथ छल किया। यह कथा के रूप में महाभारत, वाल्मीकीय रामायण आदि में प्रचलित है।

चन्द्रमा

चन्द्रमा महर्षि अत्रि के पुत्र हैं और अत्रि ब्रह्मा के। चन्द्रमा ने राजसूय यज्ञ किया। उसमें बहुत-से लोग निमंत्रण में आये थे। देवों के गुरु बृहस्पति की पत्नी 'तारा' भी निमंत्रण में आयी थीं। चन्द्रमा उनमें मोह गये। यज्ञ हो जाने के बाद जबकि सब निमंत्रित लोग अपने-अपने घर लौट गये थे, बृहस्पति के बहुत कोशिश करने पर भी चन्द्रमा ने तारा को नहीं लौटाया। चन्द्रमा के वीर्य से तारा को गर्भ रह गया।

असुर-गुरु शुक्राचार्य तथा देव-गुरु बृहस्पति में पहले से अनबन रहती थी। शुक्राचार्य ने असुरों को संकेत कर दिया और देवासुर संग्राम छिड़ गया। अंगिरा ने यह बात ब्रह्मा को बतायी। ब्रह्मा ने जाकर अपने पोते चन्द्रमा को बहुत फटकारा और गुरु-पत्नी तारा बृहस्पति को लौटा दी गयी। परन्तु तारा से बुध नाम का बच्चा पैदा हो चुका था। बृहस्पति उसको चाहते थे। किन्तु चन्द्रमा ने बुध को नहीं दिया। भागवत के नवें स्कंध के चौदहवें अध्याय में इसका वर्णन है।

विष्णु

विष्णु ने जलंधर की पतिव्रता पत्नी का सतीत्व छल करके नष्ट किया था। जब वृन्दा को पता चला कि यह मेरा पति नहीं किन्तु विष्णु है, तब वह उस पर कुपित हो गयी और उसने विष्णु से कहा—"हे विष्णु! तेरे परस्त्रीगामी रूप आचरण को धिक्कार है। मैं तुम्हें समझ गयी। तुम देखने में साधु, किन्तु आचरण में धूर्त हो। हे दैत्यों के शत्रु, महा अधम तथा दूसरे के सदाचरण बिगाड़ने वाले शठ! मेरे दिये हुए भयंकर शाप को स्वीकार करो।"[1]

---

1. धिक् तदेवं हरे शीलं परदाराभिगामिनः।
ज्ञातोऽसि त्वं मयासम्यङ् मायी प्रत्यक्ष तापसः॥
रे महाध्म दैत्यारे परधर्मविदूषकः।
गृह्णीस्व शठ मद्दत्तं शापं सर्वविषोल्वणम्॥
(रुद्रसंहिता, युद्ध खंड, अध्याय 24, हिन्दू जाति का उत्थान और पतन, पृष्ठ 169, संस्करण 1981)

कुन्ती

कुन्ती ने दुर्वासा ऋषि की कृपा से 'देवहूती' नाम की एक विद्या प्राप्त की थी। उस मंत्र से किसी को बुलाया जा सकता था। उसकी परीक्षा के लिए कुन्ती ने सूर्य[1] को निमंत्रित किया। सूर्य आये। कुन्ती ने कहा—मैंने केवल अपने मंत्र का परीक्षण करना चाहा था। वह हो गया। कृपया आप जायें। सूर्य ने कहा—मेरा आना निष्फल नहीं जाना चाहिए। अंततः सूर्य ने कुन्ती को गर्भवती कर दिया। कुन्ती तब तक कुंआरी थी। उसका विवाह भी नहीं हुआ था उसको जब बच्चा पैदा हुआ, तब उसने उसको एक पेटी में रखकर नदी में तैरा दिया। उस बच्चे को अधीरथ ने पाया। वह उसे पाला-पोसा। वही बच्चा कर्ण के नाम से प्रख्यात हुआ। इस प्रकार कुन्ती ने कर्ण को अपनी कुंआरी दशा में ही जन्म दिया था। पीछे कुन्ती पांडु को ब्याही गयी। कुन्ती ने धर्मराज से नियोग कर युधिष्ठिर को, वायु से भीम तथा इन्द्र से अर्जुन को जन्म दिया।

शतपथ ब्राह्मण (1/7/4/1) तथा ऐतरेय ब्राह्मण (13/9) के अनुसार प्रजापति ने अपनी पुत्री 'उषा' से संभोग किया। इसे विद्वानों द्वारा एक रूपक अलंकार माना जाता है। प्रजापति सूर्य है। उषा सुबह की लालिमा है। उसके पीछे सूर्य जाता है। सूर्य से ही उषा पैदा होती है और सूर्य के पूर्ण आगमन से उषा पतित (नष्ट) हो जाती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णन भी आलंकारिक ही लगता है।

शतपथ ब्राह्मण (3/3/4/18) में इन्द्र को अहल्याजार कहा गया है। कुमारिल तथा स्वामी दयानंद सरस्वती आदि विद्वान अहल्या का अर्थ 'रात' करते हैं, जिसमें 'अह' (दिन) 'ल्या' (लीन-समाप्त) रहता है। इन्द्र का अर्थ सूर्य है। जार कहते हैं जीर्ण, अंतर्धान एवं समाप्त करने वाले को। इन्द्र अहल्या पर जार कर्म करता है। अर्थात सूर्य रात को समाप्त करता है। गौतम अहल्या का पति है। इसका अर्थ है चन्द्रमा रात का नायक है। चन्द्रमा को यहां गौतम=तेज चलने वाला कहा गया है।

इस प्रकार प्रजापति (ब्रह्मा) का पुत्री-गमन तथा इन्द्र का अहल्या से जारत्व जैसे कि ऊपर बताया गया है कि कुछ विद्वान उन्हें रूपक मात्र मानते हैं।[2] अतः वे कोई दोषयुक्त घटनाएं नहीं थीं। किन्तु पौराणिक कहते हैं कि इस प्रकार यदि हम पुराणों की कुछ कथाओं को रूपक मानेंगे तो अन्य कथाओं की

---

1. यहां चन्द्रमा तथा सूर्य के उद्धरण व्यक्ति के रूप में आये हैं। ये आकाश में चमकते हुए जड़ चन्द्रमा-सूर्य नहीं हैं।
2. प्रजापति, इंद्र आदि के विषय में ऐसे कथन वेदों में रूपक मात्र ही हैं। इस विषय तथा वेदों के रहस्य को समझने के लिए लेखक की पुस्तक 'वेद क्या कहते हैं?' पढ़िए।

क्या दशा होगी? वे भी रूपक मात्र बन जायेंगी और सारे पुराण ही स्वप्नलोक की परी-कथा बन जायेंगे। अतः पौराणिकों के ख्याल में इनमें कुछ रूपक नहीं। सब घटी घटनाएं हैं।

कबीर साहेब का कहना है कि यदि देवता रूपक मात्र हैं तो उनकी पूजा का कोई अर्थ नहीं है और यदि देवता व्यक्ति हैं तो उनके उक्त मलिन आचरण को देखते हुए वे पूजा के अयोग्य हैं। मनुष्य विषय-वासनाओं में डूबकर पतित है। उसे अपने कल्याण के लिए उनकी पूजा-उपासना करना चाहिए जो विषयों से विरक्त एवं सदाचार से सम्पन्न हैं; और वे हैं संत-गुरु जन। अतएव देवी-देवताओं को छोड़ो। निर्मल संत-सद्गुरु के चरणों की सेवा में लगकर अपना उद्धार करो।

सुख के लिए बनायी गयी दुनिया का व्यामोह

रमैनी-82

सुख के वृक्ष एक जगत्र उपाया। समुझि न परलि विषय कछु माया॥ 1॥
छौ छत्री पत्री युग चारी। फल दुइ पाप पुण्य अधिकारी॥ 2॥
स्वाद अनन्त कछु वर्णि न जाई। करि चरित्र सो ताहि समाई॥ 3॥
जो नटवट साज साजिया। जो खेलै सो देखै बाजिया॥ 4॥
मोहा बापुरा युक्ति न देखा। शिव शक्ति विरंचि नहिं पेखा॥ 5॥

साखी—परदे परदे चलि गई, समुझि परी नहिं बानि।
जो जानै सो बाँचिहैं, नहिं तो होत सकल की हानि॥ 82॥

शब्दार्थ—जगत्र=जगत, दुनिया। छौ छत्री=छः चक्रवर्ती राजे—शिवि, सुहोत्र, मांधाता, नहुष, मरुत तथा पृथु। पत्री=पत्रा-पुस्तक बांचने वाले ब्राह्मण एवं विद्वान। युगचारी=पूर्व के सब काल में। अधिकारी=योग्य, पात्र। चरित्र= आचरण। नटवट=नट एवं अभिनेता के समान। साज=श्रृंगार। बाजिया=बाजी, करतब। बापुरा=बेचारा, दीन। युक्ति=समुचित विचार। पेखा=देखा। परदे-परदे=मोह के आवरणों में। बानि=आदत, स्वभाव।

भावार्थ—मनुष्य अपनी मान्यता की दुनिया बनाकर अपने लिए सुख का एक वृक्ष खड़ा करता है। परन्तु उसे यह नहीं समझ में आता कि यह विषय-वासनाओं में फंसना ही माया का बन्धन है॥ 1॥ इन विषय-वासनाओं में फंसकर पूर्व-काल में बड़े-बड़े राजे-महाराजे तथा विद्वान लोग भी पाप और पुण्य कर उनके फल में दुख एवं सुखों को भोगने के पात्र होते रहे, फिर साधारण की तो दशा ही क्या है!॥ 2॥ मनुष्यों का मूढ़ मन विषयों में अनन्त सुख मानता है और उसे वह वर्णनातीत समझता है। अतएव वह अच्छे-बुरे

आचरण कर उन्हीं विषयों में सदैव लीन रहता है॥ 3॥ जो अभिनेता के समान नकली शृंगार सजाकर विषय के खेल खेलते हैं और इसी में अपने करतब देखते हैं अर्थात इसी में अपनी विशेषता मानते हैं, वे बेचारे माया में विमोहित हैं। वे समुचित विचार नहीं कर सके। केवल देवी-देवताओं की उपासना से कल्याण समझते हैं। वे यह नहीं समझ सके कि शिव, शक्ति, ब्रह्मादि भी माया में विमोहित होकर पतित हो चुके हैं॥ 4-5॥

मोह के आवरण में मनुष्य के दुराचरण चलते हैं। विषयासक्तिवश उसे अपने स्वभाव की परख नहीं होती। जो अपने अज्ञान को समझ लेते हैं, वे भव-बन्धनों से बच जाते हैं; अन्यथा सब अपने कल्याण की हानि कर रहे हैं॥ 82॥

व्याख्या—सद्गुरु ने पिछली रमैनी में बताया है कि किस तरह बड़े-बड़े देवी-देवता भी विषयों के अधीन होकर नीचे गिरते हैं। वे हमें इस संदर्भ में पुनः सावधान करते हैं। वे कहते हैं "सुख के वृक्ष एक जगत्र[1] उपाया" मनुष्य सुख के लिए अपनी एक दुनिया बनाता है, परन्तु वह यह नहीं समझ पाता कि यह वैषयिक दुनिया उसके लिए माया एवं छलावा का कारण बन जाती है और वह जीवनभर उसी में छला जाता है।

मनुष्य पैदा होता है। पहले वह मासूम बच्चा रहता है, खेलता-खाता तथा पढ़ता-लिखता है। जब जवान होता है, तब वह स्वजनों के सहयोग से अपनी एक नयी दुनिया की रचना करना शुरू करता है। इस दुनिया की जड़ पुरुष के लिए पत्नी तथा स्त्री के लिए पति होता है। इसी के साथ साले, श्वशुर, सासु, साली, सरहज आदि होते हैं। फिर यह वृक्ष बढ़ना शुरू होता है और बाल-बच्चे, नाती, पोते, बेटी-दामाद और पता नहीं कहां तक जाता है। घर, धन, जमीन, पद, अधिकार कुछ जीवन के लिए आवश्यक तथा कुछ अनावश्यक प्राणी-पदार्थ बढ़ते जाते हैं। इन सबमें वह ममता तथा वैर के विकार बनाता है जो एक सिक्के के दो पहलू हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, तृष्णा आदि इस सुख-वृक्ष में फल-फूल लगते हैं।

जीव का, जीव को छोड़कर कुछ भी अपना नहीं है। परन्तु यह जीव अपने स्वरूप को भूलकर अपने से अलग देह तथा देह-सम्बन्धी प्राणी-पदार्थों में अहंता-ममता का जाल बनाता है। जीव जहां तक अहंता-ममता एवं राग-द्वेष बनाता है, वहां तक उसकी अपनी दुनिया होती है। यह दुनिया वह अपने सुख

---

1. यहां जगत की जगह पर जगत्र हो गया है। मालूम होता है कि यहां किसी लिपिकार की गलती से ऐसा हो गया है और पीछे इसकी परंपरा चल पड़ी। कई पाठों में जगत ही है। वैसे अर्थ में कोई अन्तर नहीं है।

के लिए बनाता है। परन्तु यही दुनिया उसको निरंतर छलती है। अपने माने हुए प्राणी-पदार्थ ही हमें छलते हैं। या कहना चाहिए कि हम विजाति तथा क्षणभंगुर प्राणी-पदार्थों में अहंता-ममता तथा राग-द्वेष की मान्यता बनाकर अपने आप को छलते हैं।

समष्टि संसार सबका एक है, परन्तु व्यष्टि संसार सबका अलग-अलग है। चांद, सूरज, पृथ्वी, हवा आदि तो सबके हैं, परन्तु हर आदमी की अपनी-अपनी दुनिया अलग-अलग होती है। उसकी अपनी बनायी हुई दुनिया ही उसे बांधती है। मनुष्य का मरना संसार की एक सहज घटना है। परन्तु जब कोई अपना माना हुआ मनुष्य मरता है, तब हम व्याकुल हो जाते हैं। सबके मकान टुटते-फूटते रहते हैं, परन्तु हमें वह एक सहज घटना लगती है; परन्तु जब हमारा माना हुआ मकान टूटता है, तब हमें पीड़ा होती है। जैसे मकड़ी अपने बनाये हुए जाल में फंस जाये, वैसे मनुष्य अपनी बनायी हुई मान्यताओं के जाल में फंस जाता है।

एक युवक और युवती रोज आमने-सामने दिखायी देते हैं। परन्तु उनमें कोई लगाव न होने से परस्पर हानि-लाभ में उन्हें हर्ष-शोक नहीं होते। परन्तु जब वे एक-दूसरे से प्रेमी-प्रेमिका या पति-पत्नी की मान्यता से जुड़ जाते हैं तब एक दूसरे के लिए सुखी-दुखी होने लगते हैं।

"सुख के वृक्ष एक जगत्र उपाया" मनुष्य जिस मान्यता की दुनिया को बनाता है, वह उसे सुख का वृक्ष समझता है। परन्तु "समुझि न परलि विषय कछु माया" यह उसे नहीं समझ पड़ता कि यह सब इन्द्रियों के दृश्यमान विषय हैं। इनमें इच्छा, तृष्णा, काम, क्रोध, लोभ, मोह बढ़कर हमारे दुख के कारण बनेंगे। सद्गुरु कहते हैं कि यही तो माया है। मन की राग-द्वेष-जनित मान्यता ही तो माया है। यही तो हमें छलती है। संसार के लोग विषयों में सुख मानकर ही तो धोखे में पड़ते हैं और जीवनभर छले जाते हैं। इस माया-मोह की जितनी वृद्धि होती जाती है, उतना ही जीवन में छल, धोखा, हिंसा, हत्या एवं सारे दुराचार बढ़ते हैं।

"छौ छत्री पत्री युगचारी" यहां 'छौ छत्री' से स्थूल अर्थ नहुष, मांधाता, सुहोत्र, पृथु, शिवि तथा मरुत इन क्षत्रिय चक्रवर्ती सम्राटों से है। परन्तु इसकी सूक्ष्म व्यंजना पूर्व के सब समय में होने वाले समस्त राजे-महाराजे की ओर है। पत्री से संकेत विद्वानों से है। युगचारी का अर्थ कल्पित चार युग नहीं, किन्तु पूरे पूर्व समय के लिए इसमें व्यंजना है। अर्थात पुराकाल से होते आये बड़े-बड़े ऐश्वर्य संपन्न क्षत्रिय रजवाड़े एवं पोथी-पत्रा, वेद-शास्त्रों के विद्वान लोग भी इस माया के व्यामोह में पड़े हुए नाना पाप-पुण्य कर्म करते रहे हैं और उनके फल में वे सुख-दुख के भागी होते रहे हैं। "फल दुई पाप पुण्य अधिकारी।"

'कृतेन हि भवेदार्यो न धनेन न विद्यया' आदमी धन, पद एवं विद्या से बड़ा नहीं होता, बड़ा होता है पवित्राचरण में चलने से। कोई राजा, सम्राट, राजनेता, ऊंचा पदाधिकारी एवं बहुत बड़ा विद्वान हो गया, तो इससे क्या होता है ! "बड़े आलिम व फाजिल हैं, मगर विषयों के वश होकर। उसी रस्ते से आ निकले, जिधर नादान घिसता है।" विशेषता तो उसकी है जो अपने आप को पहचाने, विषय-विकारों को छोड़े, मन के मोह-जाल को तोड़े और अपने स्वरूप में मन जोड़े।

'स्वाद अनन्त कछु वर्णि न जाई' भूले मानव ने विषयों का स्वाद वर्णनातीत अनंत मान रखा है। यह मान्यता ही उसे विषयों के गर्त में अधिकाधिक डुबाती है। विषयों में सुख नहीं है, किन्तु सुख का भ्रम है। जिन विषयों को भोगने की इच्छा उत्पन्न होते ही विवेक खो जाये, चंचलता उत्पन्न हो जाये, किंकर्तव्यविमूढ़ता आ जाये, भोगों के बाद क्षीणता, मलिनता एवं पश्चाताप हो, फिर पीछे इच्छा-तृष्णा की ज्वाला निरंतर जीव को झुलसाती रहे, जिससे जीव स्वरूपस्थिति एवं शांति से करोड़ों कोस दूर पड़ जाये, उन विषय-भोगों को सुखरूप मानना घोर अज्ञान के सिवा क्या है ! जीवन में स्ववशता सबसे बड़ा सुख है, परन्तु इच्छा के वश नाचने वाला आदमी स्ववश कैसे हो सकता है ! अतएव इच्छा रूपी विवशता उत्पन्न करने वाले भोग केवल दुखों के स्वरूप हैं।

"करि चरित्र सो ताहि समाई" जो मलिन भोगों में सुख-बुद्धि रखता है, उसके सारे चरित्र, सारे आचरण एवं सारे क्रियाकलाप निरन्तर विषय-भोगों के लिए ही होते हैं, वह निरन्तर विषयों में डूबा रहता है। बुद्धि के अनुसार ही इन्द्रियों का आचरण, वाणी का उच्चारण तथा मन का विहरण होता है। इसलिए जीवन में बुद्धि एवं समझ का बहुत बड़ा मूल्य होता है। बुद्धि इन्द्रिय, वाणी तथा मन का संचालन-यन्त्र होने से उसको शुद्ध करना मानव का परम कर्तव्य है।

"जो नटवट साज साजिया। जो खेलै सो देखै बाजिया॥" नट एवं अभिनेता के जितने श्रृंगार एवं सज्जा होते हैं, बनावटी रहते हैं। वह अपने खेल में ही अपना करतब देखता है। वह अनेक छल-कपट से अपने असली रूप को छिपाकर काल्पनिक रूप का प्रदर्शन करता है। माया में लिप्त मनुष्य की दशा कुछ ऐसी ही रहती है। वह सब समय अपनी असलियत को छिपाकर एक बनावटी चद्दर अपने ऊपर ओढ़ रखता है। बनावटी जवानी, बनावटी सौन्दर्य, बनावटी सम्पन्नता, बनावटी मर्यादा, बनावटी श्रेष्ठता आदि अपने मन का गलत आरोपण ही है। दार्शनिक दृष्टि से देखा जाये तो जो कुछ दृश्य है, मायिक है। उसमें कुछ भी जीव का नहीं है। विषय-बुद्धि से जीव उसमें मैं-मेरापन करता है। यह सब भी उसका नकली प्रदर्शन है। 'मैं शरीर हूं' यही नट-साज के

समान नकली है। नाटक में नट राजा, भिखारी तथा अन्य अनेक के स्वांग करता है, परन्तु वह स्वयं वह सब नहीं होता। उसके सारे वेष बनावटी होते हैं। इसी प्रकार जीव के शरीर तथा शरीरसम्बन्धी पिता, पुत्र, पत्नी, पति, साले, श्वसुर आदि के सारे रूप स्वांग मात्र होते हैं। जीव यह सब कुछ नहीं होता। यदि वह समझ पाता कि यह सब स्वांग मात्र है तो वह उनमें प्रभावित न होता। परन्तु वह इन सारे झूठों को सच मानता है, और इसी में अपनी बाजी समझता है। इसी स्वांग में वह खेलता है तथा अपनी बहादुरी मानता है; इसलिए रात-दिन पीड़ित रहता है।

"मोहा बापुरा युक्ति न देखा।" सद्गुरु कहते हैं कि ये बेचारे मनुष्य मोह-मूढ़ हो गये हैं। ये युक्ति नहीं देखते हैं। अर्थात इन्हें समुचित विचार के दर्शन नहीं होते। जिन्हें समुचित विचार के दर्शन हो जाते हैं उनके मन से मोह-माया उड़ जाती है। समुचित विचार का अर्थ है जड़-चेतन की, 'स्व' तथा 'पर' की साफ समझ हो जाना। जिसे जड़ से सर्वथा भिन्न अपने चेतन स्वरूप का ठीक से बोध हो जायेगा, वह कहीं माया में नहीं मोह सकता।

"शिव शक्ति विरंचि नहिं पेखा" मनुष्य स्वयं विमोहित है ही, वह विमोहित देवी-देवताओं की उपासना करता है। वह यह नहीं समझता कि इन शिव, शक्ति, विरंचि आदि देवी-देवताओं की पूजा तथा उपासना से हमारे विषय एवं मोह नहीं छूटेंगे। क्योंकि पुराणानुसार प्रायः सारे देवी-देवता मायामोह में गर्क हैं। यहां शिव, शक्ति तथा विरंचि के नाम लेकर सभी देवी-देवताओं के प्रति संकेत हैं। सद्गुरु का संकेत है कि निर्मल वैराग्य संपन्न संतों की शरण लो। उनकी उपासना करो। उनसे तुम्हें माया-मोह से छूटने की प्रेरणा मिलेगी। क्योंकि यह उच्चादर्श सन्तों के अलावा कहीं नहीं है।

"परदे परदे चलि गई, समुझि परी नहिं बानि।" परदा है मोह का आवरण। इसी के भीतर सारे मनोविकार एवं दुराचरण चलते रहते हैं। मोह के कारण ही मनुष्य अपनी गलत आदतों एवं गलत स्वभाव को समझ नहीं पाता। मोह मन की एक भ्रांति है। इस रमैनी की प्रथम चौपाई के अनुसार मनुष्य अपने लिए सुखदायी समझकर जो एक अहंता-ममता की दुनिया बनाता है, वही तो विषय का साज है, वही तो माया है। उसको सुखदायी समझना ही तो मोह है। क्योंकि उस अहंता-ममता की दुनिया से उसे सच्चा सुख न मिलकर, दुख मिलता है। वह अपने स्वविवेक, स्वरूपस्थिति एवं चिरस्थायी शांति से वंचित रह जाता है। ऐसे अपने भयंकर पतन के साज को जो सुखदायी समझता है, उसके समान मोह-मूढ़ कौन होगा !

"जो जानै सो बाँचिहै, नहिं तो होत सकल की हानि।" जो अपने मोह, अज्ञान एवं मूढ़ता को समझ जाते हैं वे उन्हें छोड़कर पतन से बच जाते हैं। शेष

लोगों का पतन तो रखा ही है। अपने अज्ञान को जान लेना ही ज्ञानमार्ग में प्रवेश है। किसी ने यूनान के महान दार्शनिक सुकरात से कहा था "आप महान ज्ञानी हैं।" उन्होंने तुरन्त उत्तर दिया था—"मैं अवश्य ज्ञानी हूं; क्योंकि मैं अपने अज्ञान को जान गया हूं।"

सद्गुरु इस रमैनी में यह दर्शाते हैं कि जिन बन्धनों में मनुष्य बंधा है, वे उसी के बनाये हैं। परन्तु उन्हें वह बन्धन न समझकर कल्याणदायी समझता है। यही उसका मायामोह है। मनुष्य सत्संग तथा विवेक द्वारा उन्हें समझकर उनसे सर्वथा मुक्त हो सकता है।

राजनैतिक और आध्यात्मिक क्षत्रियत्व पर विचार

रमैनी-83

क्षत्री करे क्षत्रिया धर्मा। सवाई वाके बाढ़े कर्मा॥ 1॥
जिन अवधू गुरु ज्ञान लखाया। ताकर मन ताही ले धाया॥ 2॥
क्षत्री सो जो कुटुम सो जूझै। पाँचौ मेटि एक कै बूझै॥ 3॥
जीव मारि जीव प्रतिपारे। देखत जन्म आपनो हारे॥ 4॥
हाले करे निशाने घाऊ। जूझि परे तहाँ मन्मथ राऊ॥ 5॥
साखी—मन्मथ मरै न जीवै, जीवहि मरण न होय।
शून्य सनेही राम बिनु, चले अपन पौ खोय॥ 83॥

शब्दार्थ—क्षत्रिया धर्मा=युद्ध, क्रूर मनुष्यों तथा मनुष्येतर प्राणियों का निरोध या संहार। अवधू=संन्यासी, त्यागी, यहां का तात्पर्य धर्मगुरु। कुटुम= इंद्रियां तथा काम, क्रोधादि। एक=जीव। हाले=शीघ्र। घाऊ=चोट। मन्मथ=जो मन का मंथनकर पैदा हो काम-क्रोधादि, मन्मथ का रूढ़ अर्थ है काम। अपन पौ=अपना स्वभाव, स्व-सत्ता।

भावार्थ—क्षत्रिय समरक्षेत्र में युद्ध करता है तो उसके पुण्य बहुत बढ़ जाते हैं। वह समर में शत्रु को जीतने पर राज्य पाता है तथा मारे जाने पर स्वर्ग पाता है—यह धर्मगुरुओं के उपदेश हैं॥ 1॥ वस्तुतः जिन धर्मगुरुओं ने अपने शिष्यों को जिस ढंग से उपदेश दिये, उनके शिष्य श्रद्धा के कारण उन्हीं बातों को लेकर अपने मन में निश्चय कर लिये॥ 2॥ वास्तविक क्षत्रिय तो वह है जो अपनी इंद्रियों तथा काम-क्रोधादिकों से युद्ध करे और पांचों ज्ञानेन्द्रियों को अपने वश में कर इस जीवन में जीव का साम्राज्य स्थापित करे॥ 3॥ जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरे जीवों की हत्या करता है, वह मानो जान-समझकर अपने जीवन की बाजी हार रहा है॥ 4॥ वह तो थोड़ी-थोड़ी बातों में स्वार्थ-वश या उत्तेजित होकर तुरन्त दूसरे प्राणियों को अपने अस्त्र-शस्त्र का निशाना बनाकर

उनको चोट पहुंचा देता तथा हत्या कर देता है। ऐसे उन्मादी राजा बात-बात में दूसरों से युद्ध में भिड़ पड़ते हैं॥ 5॥

यदि काम-क्रोधादि मर जायें, वे न जीयें, तो जीव को अमरत्व की प्राप्ति हो। परन्तु अन्त में शून्य हो जाने वाले संसार के भोगों के प्रेमी राम को समझे बिना अपने स्वरूप-भाव को खो चले। अर्थात स्वरूप ही राम है इस तत्त्व को जाने बिना अपने आपा को विस्मृतकर बाहर राम को खोजते रह गये॥ 83॥

व्याख्या—क्षत्रिय एवं राजन्य का धर्म है कि वह प्रजा की रक्षा करे। क्षत (चोट) से त्राण (रक्षा) करना क्षत्रियधर्म है। देश में जो क्रूर मनुष्य हैं या ठग, चोर, बदमाश, व्यभिचारी आदि दुराचारी लोग हैं, उनका कानून तथा दंड से निग्रह करना, और मनुष्येतर सिंह आदि हिंसक जन्तुओं को जो प्रजा की हानि करने लगते हैं, मारकर प्रजा को निर्भय करना राजन्य का धर्म है। इसके अलावा यदि दूसरे देश का राजा अपने देश पर हमला कर दे, तो राजन्य का धर्म है कि वह वीरतापूर्वक उसका मुकाबला करे। शांति से यदि कोई समझौता नहीं होता और अगला राजा चढ़ाई करता है तो उसका सामना करना राजन्य तथा प्रजा का भी धर्म है। उपर्युक्त वास्तविकता को झुठलाया नहीं जा सकता।

उपर्युक्त कर्तव्यों को राजन्यों के मन में दृढ़ करने के लिए धर्मगुरुओं ने उन्हें यह उपदेश किया कि तुम यदि युद्ध करते या शिकार खेलते हो तो यह तुम्हारा धर्म है। ऐसा करने से तुम्हें राज्य और स्वर्ग मिलेंगे। इससे तुम्हारे धर्म-कर्म बढ़ जायेंगे। राष्ट्र-स्वार्थ के लिए धर्मगुरुओं ने इस उपदेश को बढ़ा-चढ़ाकर प्रचारित किया। ऐसे उपदेश हर देश में दिये गये और युद्ध को धर्म-युद्ध, जिहाद आदि के नाम से कहकर बात-बात में या राज्य-विस्तार की तृष्णा में निरपराधों का खून बहाया जाने लगा।

भारत में पुराकाल में बहुत-से यज्ञों में बहुसंख्य निरीह पशुओं का वध तो होता ही था। यह पशु-वध यज्ञ के नाम पर अपना पेट-धंधा चलाने वाले पुरोहित लोग क्षत्रियों से कराते थे।

वैदिक कहलाने वाले धर्मगुरुओं ने क्षत्रियों को अश्वमेध करने का उपदेश किया और कहा कि यह राज्य का विस्तार तो करेगा ही, स्वर्ग का देने वाला और समस्त पापों का नाशक भी है। इसमें एक अश्व को आगे कर पीछे राजा की सेना चलती थी और वह अश्व जिस-जिस राज्य में जाता था, वह सब अश्वमेध करने वाले राजा का हो जाता था। जो राजा अश्व को रोकता था, उससे अश्वमेध करने वाला राजा युद्ध करता था। यदि उसको परास्त कर दिया तो उसके राज्य को अपने राज्य में मिला लेता था या उससे कर लेकर अपनी

अधीनता स्वीकार करा ली जाती थी। इस प्रकार निरपराध राजाओं तथा उनकी प्रजा को पीड़ित कर तथा लाखों का खून बहाकर पीछे अश्वमेध यज्ञ होता था। तब उस यज्ञ में दिग्विजयी अश्व मारकर उसकी चर्बी से हवन तो होता ही था, तीन सौ[1] अन्य पशुओं को भी यूपों (खूटों) में बांधकर मारा जाता था तथा उनका हवन होता था। यह अश्वमेध यज्ञ पुरोहितों एवं धर्मगुरुओं से प्रेरित क्षत्रियों के लिए लूट का साधन था। इसमें अन्य राजे पीड़ित होते थे, प्रजा तथा सेना तबाह होती तथा मारी जाती थी, यज्ञ में सैकड़ों पशु मारे जाते थे। इस प्रकार यह अश्वमेध यज्ञ पूरा महापाप का रूप होता था। हां, इसमें एक पुण्य होता था कि प्रजा का एकत्रित धन राजा द्वारा पुरोहितों को मिल जाता था और पुरोहित उसका उपभोग करते थे। यह अश्वमेध के नाम पर लूट-पाट, तबाही, हत्या करना क्षात्रधर्म था।

मुसलमानों ने भी जिहाद के नाम पर यही लूट-पाट तथा हत्या करना अपना राजधर्म माना और उन्होंने पुराकाल में एशिया के बहुत बड़े भू-भाग को रक्तरंजित कर दिया।

विश्व के राजाओं तथा सम्राटों की राज्यलिप्सा को उनके धर्मगुरुओं ने धर्म के नाम पर खूब बढ़ावा दिया और वे आये दिन एक दूसरे से लड़ते रहे तथा खून-खराबा करते रहे। महाभारत युद्ध यदि हुआ है तो निश्चित है कि वह विनशते-विनशते एक गुणात्मक स्थिति को पहुंच गया था। परन्तु धर्मगुरुओं ने गीता में जो उसकी प्रशंसा का पुल बांधा है और नाना छल-छद्मों से पिता, पितामह, भ्राता, पुत्रों, सम्बन्धियों तथा पूज्य गुरुओं की हत्या को धर्म कहा है वह एक चाटुकारिता तथा हत्या को बढ़ावा देना है।

राष्ट्र-रक्षा प्रत्येक राष्ट्र का कर्तव्य है। परन्तु युद्ध को बढ़ावा देना मानवता के साथ शत्रुता है। युद्ध से कभी किसी का कल्याण नहीं होता। ऋग्वेद के ऋषि कहते हैं—"जहां मनुष्य अपनी ध्वजाएं लेकर युद्ध करने के लिए इकट्ठे होते हैं, जिस युद्ध में किसी का कोई हित नहीं होता, और जहां सुख-शांति रूपी स्वर्ग के दर्शन चाहने वाले भय करते हैं, हे इंद्र और वरुण ! हे ज्ञानियो ! ऐसी स्थिति के लिए हमें हितकारी उपदेश दो।"[2] युद्ध में स्वपक्ष-विपक्ष किसी का

---

1. पशूनां त्रिशतं तत्र यूपेषु नियतं तदा।
   अश्वरत्नोत्तमं तत्र राज्ञो दशरथस्य ह॥ वाल्मीकीय रामायण 1/14/32॥
   अर्थात—राजा दशरथ के अश्वमेध यज्ञ में तीन सौ पशु तथा उत्तम अश्व-रत्न यूपों (खूटों) में बांधे गये।
2. यत्रा नरः समयन्ते कृतध्वजो
   यस्मिन्नाजा भवति किं चन प्रियम्।
   यत्रा भयन्ते भुवना स्वर्दृशस्त्रा
   न इन्द्रावरुणाधि वोचतम्॥ (ऋग्वेद, मंडल 7, सूक्त 83, मंत्र 2)

हित नहीं होता। सुख-शांति के इच्छुक युद्ध से बचना चाहते हैं। आदमी अपने देश के मरते हैं या दूसरे देश के, आदमी तो आदमी हैं। उनकी रक्षा होनी चाहिए। युद्ध के बाद तो केवल दुख बच रहता है। महाभारत युद्ध को धर्मयुद्ध कहकर जो राग अलापा गया है, उसके बाद बचे हुए कौरवों का केवल रोना था ही, किन्तु पांडवों के पास भी रोने-पछताने के अलावा क्या था! युद्ध के पहले जो अर्जुन ने कहा था कि युद्ध में सारे परिवार को मारकर पाप ही होगा, पुरुषों के न रह जाने पर पीछे से स्त्रियां वर्णसंकर बच्चे पैदा करेंगी इत्यादि। अर्जुन की वही बात अंततः सिद्ध हुई।

युद्ध में अपने विजय के बाद युधिष्ठिर अनुताप से पीड़ित होकर कहते हैं—"मैं अपने सुहृदों का द्रोही और अविवेकी हूं। वैसे-वैसे श्रेष्ठ सुहृदों का वध करके अब मुझे जीवन, राज्य अथवा धन से कोई प्रयोजन नहीं।[1] हम लोग लोभ और मोह के कारण राज्यलाभ के सुख का अनुभव करने की इच्छा से दंभ और अभिमान का आश्रय लेकर इस दुर्दशा में फंस गये हैं। हाय, हम लोगों ने इस तुच्छ पृथ्वी के लिए अवध्य राजाओं की भी हत्या की और अब उन्हें छोड़कर बंधु-बांधवों से हीन हो अर्थ-भ्रष्ट की भांति जीवन व्यतीत कर रहे हैं। जैसे मांस के लोभी कुत्तों को अशुभ की प्राप्ति होती है उसी प्रकार राज्य में आसक्त हुए हम लोगों को भी अनिष्ट प्राप्त हुआ है। अतः हमारे लिए मांस-तुल्य राज्य को पाना अभीष्ट नहीं। इसका परित्याग ही अभीष्ट होना चाहिए।"[2] इस प्रकार युद्ध के बाद विजित ही पीड़ित होता है ऐसी बात नहीं, किन्तु विजयी के पास भी केवल अनुताप एवं मानसिक क्लेश रह जाते हैं।

युद्ध में रत रहने वाला राजा देश के लिए रचनात्मक काम नहीं कर पाता। महान कहा जाने वाला सिकन्दर (ईसा पूर्व 356-323) संसार का सबसे बड़ा लुटेरा तथा हत्यारा था। उसने अनेक देशों को केवल तबाहकर धन लूटा, परन्तु रचनात्मक काम कुछ न कर सका। भारत का सम्राट और भारतीय नेपोलियन कहा जाने वाला समुद्रगुप्त (ईसा चौथी शताब्दी) जीवन भर युद्ध एवं दिग्विजय

---

1. न हि मे जीवितेनार्थो न राज्येन धनेन वा।
तादृशान सुहृदो हत्वा मूढ़स्यास्य सुहृद्द्रुहः॥ (महाभारत, स्त्रीपर्व 15/27)

2. वयं तु लोभान्मोहाच्च दम्भं मानं च संश्रिताः।
इमामवस्थां सम्प्राप्ता राज्यलाभबुभुत्सया॥
ते वयं पृथिवीहेतोरवध्यान पृथिवीश्वरान्।
सम्परित्यज्य जीवामो हीनार्था हतबान्धवाः॥
आमिषे गृध्यमानानामशुभं वै शुनामिव।
आमिषं चैव नो हीष्टमामिषस्य विवर्जनम्॥
(महाभारत, शांतिपर्व 7/7, 9, 10 टीका गीता प्रेस)

करता रहा, इसीलिए वह अपने राज्यकाल में विशेष रचनात्मक कार्य नहीं कर सका। परन्तु उसी का पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (राज्यकाल 380-413) कम युद्ध करने से देश में अद्‌भुत रचनात्मक काम किया तथा उसका राज्य धन-धान्य से सम्पन्न हो गया।

सद्‌गुरु कहते हैं कि संसार के धर्मगुरुओं के उपदेशों द्वारा जो राजन्यों में युद्ध की प्रवृत्ति बढ़ी तथा मनुष्यों का खून-खराबा होता रहा और युद्ध की सफलता के लिए अथवा विजय के उत्साह में जो राजन्यों द्वारा निरीह प्राणियों का वध कर पूजा, यज्ञ एवं कुर्बानी के नाम पर जघन्य काम होते रहे, यह सब क्षात्र-धर्म का दुरुपयोग है। धर्मयुद्ध, जिहाद, यज्ञ, कुर्बानी आदि के नाम पर धर्मगुरुओं द्वारा दिये गये उपदेश लोलुप राजाओं की राज्यतृष्णा की अग्नि में घी के काम किये और राजे-महाराजे लुटेरे तथा हत्यारे होते हुए भी धर्मवान भी बने रहे।

आंतरिक दुष्टों का दमन कर तथा बाहरी आक्रमण से रक्षा कर राष्ट्र की सुव्यवस्था बनाये रखना राजन्य का परम कर्तव्य है और इसके लिए प्रजा को राजा का सहयोग करना चाहिए। दुष्टदमन में तथा हमलावर शत्रु से युद्ध करने में भी लोग मारे जाते हैं। मारना पाप है, परन्तु यह पाप राष्ट्र-रक्षा तथा सुव्यवस्था के लिए करना पड़ेगा। इससे स्वर्ग मिलता है, यह सब शब्दजाल है। परन्तु यह किये बिना राष्ट्र स्वतन्त्र नहीं रह सकता और स्वतन्त्रता के बिना अर्थ तथा धर्म दोनों ही नहीं सध सकते।

इसके आगे सद्‌गुरु आध्यात्मिक क्षत्रिय का वर्णन करते हैं "क्षत्री सो जो कुटुम सो जूझै।" वे कहते हैं कि क्षत्रिय तो वह है जो अपने कुटुम्बियों से युद्ध करता है और पांच को मारकर एक को सम्राट बना देता है। "पाँचों मेटि एक के बूझै।" यहां कुटुम्ब है इंद्रियां, विषय-वासनाएं। उनमें आंख, नाक, कान, जीभ तथा चमड़ी—ये पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं जो क्रमशः रूप, गन्ध, शब्द, स्वाद तथा स्पर्श—इन पांचों विषयों के लिए सदैव लालायित रहती हैं। इन्हीं के कारण काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा भय ये पांच विकार उत्पन्न होते हैं। जो इन सब पर विजय कर लेता है वह सच्चा सम्राट है। जिसके आंतरिक शत्रु नष्ट हो जाते हैं उसके जीवन में एक जीव का ही राज्य रहता है। इंद्रिय-वासनाओं पर विजय प्राप्त करने के पश्चात ही "एक कै बूझै" वचन चरितार्थ होता है। एक कै बूझना है कैवल्य, असंगता एवं सहजावस्था की प्राप्ति। इंद्रिय-विषयों की तरफ भागना ही तो द्वैत में फंसना है। जब इंद्रिय तथा मन अपने वश में हो गये तब एक स्व-सत्ता ही की प्रतिष्ठा रह जाती है। जीव का स्वतन्त्र, स्वराज्य तथा सुराज्य हो जाता है। राजा बाहर का राज्य भी तब तक नहीं चला सकता जब

तक उसने स्वयं अपने आप पर विजय न पायी हो। विलासी राजाओं का पतन इतिहाससिद्ध है।

"जीव मारि जीव प्रतिपारे। देखत जन्म आपनो हारे॥" सद्गुरु कहते हैं कि क्षत्रिय कहलाने वाले लोग तो ऐसे हो गये हैं कि वे दूसरे जीवों को मारकर अपना तथा अपनों का पालन-पोषण करते हैं। निरीह पशु-पक्षियों को मारकर खा जाना, कमजोर वर्ग के अधिकार को छीनकर अपना लेना तथा उन्हें नाना प्रकार से सताना, यह सब क्षत्रियत्व हो गया। ऐसे लोग अपने जीवन को खो रहे हैं। जो कमजोर वर्ग की हिंसा, हत्या एवं उनका शोषण करने में अपनी शूरता दिखाते हैं, उनको क्षत्रिय कहना क्षत्रियत्व की कीमत घटाना है। ऐसे लोग तो "हाले करे निशाने घाऊ" अर्थात जरा-जरा से स्वार्थ, कामना एवं क्रोध में उबलकर दूसरों को शीघ्र चोट पहुंचाते हैं। उनकी सारी बहादुरी दूसरों को चोट पहुंचाना है। उन्मादी क्षत्रिय लोग बात-बात में लड़ाई ठानना जानते हैं।

क्षत्रिय नामधारी सब दोषी नहीं होते। उनमें भी विनम्र, शीलवान तथा परोपकारी होते हैं। यहां तो उनके लिए कहना है जो क्षत्रिय नाम धराकर ऐसा करते हैं। जिनका क्षत्रिय नाम नहीं होता, उनमें भी ऐसे लोग होते हैं जो दूसरों का शोषण एवं उत्पीड़न करना ही अपना धर्म समझते हैं। "जूझि परे तहाँ मन्मथ राऊ" मन्मथ का अर्थ है जो मन का मथन करके विकार पैदा हो। मन के सारे विकार—काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि मन्मथ हैं। परन्तु यह रूढ़ हो गया है 'काम' में। अर्थात मन्मथ का अर्थ है काम। मन्मथ सारे दोषों तथा सारी मानसिक कमजोरियों का कारण है। जो जितना अधिक कामना-वासना वाला होगा, वह उतना अधिक क्रोध वाला होगा और काम-क्रोधादि में उलझे हुए मनुष्यों का भव-बंधन सदैव मजबूत रहेगा।

"मन्मथ मरै न जीवे, जीवहि मरण न होय।" यहां पर सद्गुरु अध्यात्म की गहरी बात कर रहे हैं। वे कहते हैं कि जब मन्मथ पूर्णतया मर जाता है, और वह फिर से नहीं जीवित होता, तब जीव का मरण नहीं होता। यहां जीव से अभिप्राय है शुद्ध चेतन। व्यक्ति की कामनाएं जब समाप्त हो जाती हैं और ऐसी समाप्त होती हैं कि वे पुनः नहीं उदित होतीं, तब उसके अन्तःकरण की स्थिति ही दूसरी हो जाती है। उसकी देह-बुद्धि लुप्त होकर स्वरूपज्ञान में स्थिरता हो जाती है। उसके जन्म-मरण का प्रवाह समाप्त हो जाता है।

जीव स्वरूपतः अमर है। उसकी व्यावहारिक अमरता कामना-निवृत्ति है। यह कामना ही जीव को भटकाती है। प्रत्यक्ष है कि जो जितना कामना वाला होता है वह उतना चंचल तथा संसार में भटकने वाला होता है। जिसने अपने जीवन में विषयों की कामनाएं छोड़ दी हैं, वह यहीं मुक्त हो गया। जो आज

मुक्त है वह आगे भी मुक्त है। ऐसा मुक्त जीव ही सच्चा क्षत्रिय है। क्योंकि उसने अपने आप का क्षत से त्राण किया है। उसने पांचों को मेटकर एक को बूझा है।

"शून्य सनेही राम बिनु, चले अपन पौ खोय॥" एक काम है दूसरा राम है। काम में प्रेम करना शून्य का मोही बनना है, राम में प्रेम करना तथ्य में पहुंचना है। मन्मथ में, काम में एवं भोगों में रमने वाले के सामने अन्त में शून्य है। भोगी मानव के जीवन के आखिर में क्या रहता है! उसने जो कुछ अपना मान रखा था, बिखर जाता है। भोगी आदमी ने राम को स्वयं छोड़ रखा था और जिन्हें उसने पकड़ रखा था, वे सांसारिक प्राणी-पदार्थ थे। वे अन्त में साथ नहीं चलते। शरीर रहते-रहते वे शून्य हो जाते हैं। हमारे कितने प्राणी-पदार्थ, जिनका हमने जमकर भोगने का अभिमान किया है, आज नहीं हैं। राम तो अपना आपा ही है। आपा के दो रूप होते हैं। शरीर तथा शरीर के नाम-रूपादि में मैं भाव रखना नकली आपा है। आपा का दूसरा रूप है स्व-स्वरूप, जो शुद्ध चेतन मात्र है। यही जीव का वास्तविक आपा है। आपा का अर्थ है अपना स्वरूप, स्व-सत्ता।

जो अन्त में शून्य हो जाने वाले हैं ऐसे भौतिक भोगों के मोही जीव अपने स्वरूप-राम के बोध बिना अपने आप को खो चले। संसार में बड़े-बड़े राजे-महाराजे हुए, उनका अंत में सब शून्य हो गया। इतिहास की बड़ी-बड़ी विभूतियों के केवल नाम शेष हैं और उनका क्या है! वे कहां कुत्ता-बिल्ली खानियों में भटकते होंगे, कौन बता सकता है! परन्तु जिसने भौतिक प्राणी-पदार्थों की कामना-वासना छोड़कर अपने स्वरूप-राम में स्थिति बना ली, वह धन्य हो गया।

दुखदायी माया-मोह को छोड़ो

रमैनी-84

ये जियरा तैं अपने दुखहिं सम्हार। जेहि दुख व्यापि रहा संसार॥ 1॥
माया मोह बँधा सब लोई। अल्प लाभ मूल गौ खोई॥ 2॥
मोर तोर में सबै बिगुर्चा। जननी गर्भ वोद्र मा सूता॥ 3॥
बहुत खेल खेलें बहु रूपा। जन भँवरा अस गये बहूता॥ 4॥
उपजि बिनशि फिर जुइनी आवै। सुख को लेश सपनेहु नहिं पावै॥ 5॥
दुख सन्ताप कष्ट बहु पावै। सो न मिला जो जरत बुझावै॥ 6॥
मोर तोर में जरे जग सारा। धृग स्वारथ झूठा हंकारा॥ 7॥
झूठी आस रही जग लागी। इन्हते भागि बहुरि पुनि आगी॥ 8॥
जेहि हित के राखेउ सब लोई। सो सयान बाँचा नहिं कोई॥ 9॥

साखी—आपु आपु चेते नहीं, कहौं तो रुसवा होय।
कहहिं कबीर जो आपु न जागे, निरास्ति अस्ति न होय॥ 84॥

शब्दार्थ—लोई=लोग। मूल=स्वरूपविवेक, शांति। बिगुर्चा=बिगूचन, उलझन, कठिनाई। रुसवा=बदनाम, लांछित, अपमानित, तात्पर्य में रुष्ट, क्रोधित। निरास्ति=असत्य। अस्ति=सत्ता, सत्य।

भावार्थ—हे जीव! तू अपने आप को उन दुखों से बचा ले, जो सारे संसार में फैला हुआ है॥ 1॥ सब लोग माया के मोह-बन्धन में बंधे हुए हैं। उनमें विषय-भोगों का क्षणिक लाभ है, परन्तु इस व्यामोह में पड़कर स्वरूपविवेक तथा चिरंतन शांति खो जाते हैं॥ 2॥ संसार के सारे लोग राग-द्वेष में उलझे हैं। इसी कर्म-वासना-वश वे बारम्बार माता के गर्भ में सोते हैं और जन्मते हैं॥ 3॥ जीव नाना रूप धारणकर संसार में पाप-पुण्य कर्मों के नाना खेल खेलते हैं, परन्तु वे सब उसी प्रकार विमोहित होकर संसार में पिस जाते हैं, जैसे भंवरे सुमन-संपुट में उसकी रसासक्ति के वश बंद होकर मारे जाते हैं और स्वप्न में भी किंचित सुख नहीं पाते॥ 5॥ बल्कि दुख, संताप एवं बहुत कष्ट पाते हैं। इन्हें ऐसे सद्गुरु नहीं मिलते जो इनके जलते हुए हृदय को अपने सत्योपदेश-जल से बुझा दें॥ 6॥ राग-द्वेष में सारा संसार जल रहा है। ऐसे स्वार्थ को धिक्कार है और धिक्कार है इसके मूलस्वरूप झूठे अहंकार को॥ 7॥ लोगों को जो संसार के भोगों की आशा लगी है, झूठी है। जो इनसे भागता भी है वह जाकर फिर दूसरी आग में पड़ जाता है, वह आग है धार्मिक उलझन॥ 8॥ लोगों ने जिस कल्याण के लिए मान्यता की एक घेराबन्दी बना रखी है, वह कल्याणकारी न हुआ और उन चतुर लोगों में से कोई भव-बंधनों से मुक्त नहीं हुआ॥ 9॥

लोग झूठी मान्यताओं से अपने आप सावधान नहीं होते। यदि उन्हें सावधान किया जाता है तो वे क्रोधित हो जाते हैं। सद्गुरु कहते हैं, यदि मनुष्य अपने आप में सावधान नहीं होता, तो भी असत्य मान्यताएं सत्य नहीं हो सकतीं॥ 84॥

व्याख्या—सद्गुरु ने प्रथम रमैनी को जैसे पूरे ग्रन्थ की भूमिका के रूप में प्रस्तुत किया है और बीजक भर में विस्तृत ढंग से कही हुई बातों को प्रथम रमैनी में सूत्र रूप में कह दिया है, वैसे रमैनी प्रकरण के अन्त की इस चौरासिवीं रमैनी में पूरे रमैनी-प्रकरण का सार कह दिया है।

"ये जियरा तैं अपने दुखहिं सम्हार। जेहि दुख व्यापि रहा संसार॥" दैहिक, दैविक तथा भौतिक—ये तीन दुख हैं, जिनमें संसार के सारे प्राणी पीड़ित हैं। शारीरिक रोग और मानसिक उलझनों से मिलने वाले दुख दैहिक ताप हैं; अतिवृष्टि, अनावृष्टि, ओला-पाला या किसी भी जड़ पदार्थ से मिलने वाला दुख

दैविक ताप है और प्राणियों द्वारा मिलने वाला दुख भौतिक ताप है। इन तीन तापों में मुख्य ताप है मानसिक। जड़-पदार्थों द्वारा मिलने वाले दैविक ताप तथा प्राणियों द्वारा मिलने वाले भौतिक ताप से यथासंभव बचने का प्रयास करना चाहिए। संयम रखकर दैहिक तापों से भी बचने का प्रयत्न करना चाहिए। हम अपने आप को मानसिक तापों से पूर्णतया बचा सकते हैं। मन की पीड़ा सबसे बड़ी पीड़ा है। जिसके मन की पीड़ा समाप्त हो गयी, वह सदैव सुखी रहता है।

मन से उत्पन्न हुए काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेष जीव को आज संताप देते हैं और आगे भव-बन्धन एवं जन्म-मरण-प्रवाह के कारण बनते हैं, जिनके फल में जीव नाना देह धारणकर सभी प्रकार की पीड़ाओं को भोगते हैं। अतएव मुख्य दुख है दुख-मूल काम-क्रोधादि। सद्गुरु कहते हैं कि इस दुख में सारा संसार डूबा है। इससे तुम अपने आप को बचा लो।

"माया मोह बँधा सब लोई। अल्प लाभ मूल गौ खोई॥" दुखों के उत्पन्न होने का कारण है माया के मोह में बंध जाना। देखा जाता है तो सब जीव माया-मोह में बंधे हैं। जो अपना नहीं है, उसे अपना मानना ही माया-मोह है। विवेक कर देखिए तो अपनी आत्मा के अलावा कुछ भी अपना नहीं है। शरीर से लेकर संसार के सारे प्राणी-पदार्थ 'पर' हैं, सब अपनी आत्मा से अलग हैं और इन्हीं में हम अहंता-ममता करके बंधे रहते हैं। इन सुहावने ममता-मोह में भोगों का लाभ दिखता है; परन्तु वह बहुत क्षणिक है और वासना-तृष्णा को उत्पन्न कर असीम दुखों को बढ़ा देने वाला है। संसार में फंसकर हम अपने मूल को खो देते हैं। हमारा मूल है आत्म-अस्तित्व। आत्म-अस्तित्व तो खो नहीं सकता, परन्तु माया-मोह के कारण उसका विस्मरण हो जाता है। विस्मरण होना ही यहां खोना है। हमारे पास करोड़ों की संपत्ति है; परन्तु वह विस्मृत है, तो वह मानो होते हुए न होने के समान है। इसी प्रकार परम तृप्तस्वरूप स्व-सत्ता है, परन्तु उसे विस्मृत कर हम भटक रहे हैं। अतएव भोगों में लाभ क्षणिक है जो अंततः दुख में बदल जाता है और इस भोगावरण में स्वरूप का विस्मरण हो जाता है, और हम संसार में किंकर्तव्यविमूढ़ होकर भटकते हैं।

"मोर तोर में सबै बिगुर्चा" हम संसार के प्राणी-पदार्थों में जितना आसक्त होते हैं, उतना ही राग-द्वेष में उलझते हैं। कुछ भी अपना मानने से राग उत्पन्न होता है और उसमें विघ्न पड़ने पर द्वेष आता है। राग-द्वेष मनोमय सागर के महान भंवर हैं। इनमें पड़े हुए जीवों को कहां विश्राम। राग-द्वेष ऐसी दावाग्नि है जिसमें सारा संसार जल रहा है। "मोर तोर में सबै बिगुर्चा" बड़ा मार्मिक वचन है। मन के सारे विकार राग-द्वेष में आ जाते हैं। ये राग-द्वेष में बंधे जीव जन्म-मरण के प्रवाह में भटक रहे हैं।

"बहुतक खेल खेलें बहुरूपा। जन भँवरा अस गये बहूता॥" मनुष्य नाना रूपों में नाना प्रकार के खेल खेलते हैं। मनुष्य चार दिन के जवानी, धन, परिवार, मित्र, अधिकारादि पाकर उनमें भूल जाते हैं, और माया के उन्माद में पड़कर नाना प्रकार के अच्छे-बुरे आचरण करते हैं। अच्छे आचरण करना तो ठीक है, परन्तु वे प्राप्त क्षणिक शक्ति के प्रमाद में दीन-दुनिया को इतना भूल जाते हैं कि दुष्कर्म करने में इति नहीं करते। भोगों में उन्मत्तता, उसके लिए अधिक धन संग्रह करने के चक्कर में छल, चोरी, विश्वासघात, भोगों में विघ्न पड़ने पर हत्या तथा और पता नहीं कितने दुष्कर्म मनुष्य करते हैं। देह के अभिमान में आदमी संसार में छककर खेलता है। इसके परिणाम में उसकी दशा भंवरे की होती है। भंवरे फूलों में बैठकर रस लेते हैं और उनकी आसक्ति के वश होकर भूल जाते हैं कि इनसे अलग होना चाहिए, और इतने में पशु आकर फूलों के सहित उन्हें चरकर अपने मुख में चबा जाते हैं। इसी प्रकार प्रमादी मनुष्य संसार के राग-रंग में डूबकर नाना कर्म करते हुए काल के गाल में चले जाते हैं। "उपजि बिनशि फिर जुइनी आवै" कर्मी जीवों की यही परिणति है कि जन्मते-मरते हुए संसार में भटकते रहें और स्वप्न में भी सच्चे सुख के दर्शन न पायें।

"दुख सन्ताप कष्ट बहु पावै" देहधारी जीवनभर दुखों, संतापों, कष्टों एवं विपत्तियों से घिरा रहता है। यहां दुख, संताप, कष्ट तीन शब्द हैं जिनका मोटे रूप में एक ही अर्थ लगता है; परन्तु इनके अर्थों में अन्तर है। कोई धूप में चलकर आता है, तो लोग कहते हैं "आपको बड़ा कष्ट हुआ।" किसी की जब कोई बड़ी हानि होती है तब लोग कहते हैं 'उन्हें बड़ा दुख है।' घोर अपमान या प्रतिकूलतादि प्राप्त होने पर मनुष्य को 'संताप' होता है। इस प्रकार कष्ट, दुख एवं संताप क्रमशः उत्तरोत्तर अधिक दुखदायी हैं। इसी प्रकार खेद, चिंता, शोक, पीड़ा एवं वेदना में अन्तर है। मित्र का पत्र न मिलने से खेद होता है। काम बिगड़ जाने से चिन्ता होती है। पुत्रादि के मरण से शोक होता है। शरीर में घाव होने पर पीड़ा होती है। गहरी पीड़ा ही वेदना कहलाती है। किसी घटनाविशेष से मन में लगे हुए धक्के से जो उस समय मन की अव्यवस्थित दशा होती है, वेदना कहलाती है। देहोपाधि में पड़कर इन सभी को जीव झेलता है।

"सो न मिला जो जरत बुझावै" मनुष्य के जलते हुए मन को शीतल करने वाला सद्‌गुरु का ज्ञान है। मनुष्य को जब तक वह नहीं मिलता तब तक जलता रहता है। संसार में दुखों से छुटकारा अन्य जगह कहीं नहीं है। केवल सच्चे सद्‌गुरु की शरण में ही जीव पूर्ण सुखी हो सकता है।

"मोर तोर में जरे जग सारा।" इस अर्धाली में भरी हुई व्यंजना अत्यंत मार्मिक है। सारा मानव-संसार तो 'मोर-तोर' में जल रहा है। थोड़ी-थोड़ी

जमीन, रुपये तथा मान-मर्यादा के लिए मनुष्य राग-द्वेष, क्रोध, हत्यादि सब कुछ करता है। भाई-भाई, चाचा-भतीजे, यहां तक पिता-पुत्र भी आमने-सामने मकान में रहते हैं, दोनों के घर से निकलने का प्रांगण एक है, परंतु एक दूसरे से बात नहीं करते। इतना ही नहीं, एक-दूसरे को देखकर जलते हैं। ऐसे दुर्लभ लोग हैं जो अपने पड़ोसी को देखकर प्रसन्न होते हैं।

यह सच है कि कुछ अपना तथा पराया माने बिना व्यवहार नहीं चल सकता। व्यक्ति बाहर से आकर अपने माने हुए मकान में ही घुसता है, किसी भी मकान में नहीं। अन्न एवं द्रव्य कमाकर मनुष्य अपने घर में लाकर अपनी पत्नी एवं बच्चे को ही देता है। वह उन्हें रास्ते भर बांटते हुए नहीं आता। परिवार एवं समाज के कुछ व्यक्तियों के लिए मनुष्य की अपनी जिम्मेदारी होती है। उस जिम्मेदारी को निभाना बुरा नहीं है। परन्तु आदमी जब ममता एवं स्वार्थ में अन्धा हो जाता है, तब वह अपने माने हुए परिवार एवं स्वार्थ के लिए दूसरे के हक को मारता है। वह दूसरे के धन, जमीन, मकान एवं अन्य चीजों को दबाता, हड़पता तथा उसके लिए पता नहीं, कौन-कौन अघकर्म करता है। और इन सबको लेकर वह अपने मन में स्थायी राग-द्वेष की आग सुलगाये रखता है।

"धृग स्वारथ झूठा हंकारा" सद्गुरु कहते हैं कि अविवेकपूर्ण स्वार्थ को धिक्कार है। यह भी सच है कि स्वार्थ सारे संसार को है। स्वार्थ का काम किये बिना भी नहीं चल सकता। खाना-पीना, पहनना-ओढ़ना, आवास-निवास बहुत सारे स्वार्थ हैं जो ज्ञानी-से-ज्ञानी व्यक्ति को भी आवश्यक हैं। परन्तु यह स्वार्थ विवेकपूर्ण तथा मानवीय होना चाहिए। मनुष्यों के बीच में खाने के लिए रोटी रख दी जाती है, वे उसे बांटकर खाते हैं और कुत्तों के बीच में जब रोटी रखी जाती है तब वे उसे लड़कर खाते हैं। यदि आदमी भी लड़कर अपना स्वार्थ सिद्ध करता हो तो यह पशुता है। बांटकर खाना मानवता है। कुत्तों का तो एक स्वार्थ केवल रोटी है और कई जगह देखा जाता है कि वे भी एक जगह रखी हुई रोटियों को मिलकर खाते हैं। परन्तु आदमी के स्वार्थजाल की सीमा नहीं है और वह जीवन में कहीं-न-कहीं अवश्य दूसरों से लड़ता है। लड़ाई भी दो प्रकार की है। अपने हक के लिए लड़ना बुरा नहीं है। परन्तु जब वह दूसरों के हक को मारने के लिए लड़ता है, तब उसे क्या कहा जाये! सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे नीच स्वार्थ को धिक्कार है, और धिक्कार है उस अहंकार को जो इसके नीचे छिपा बैठा है। मनुष्य का जो यह घोर अहंकार है कि ये धन, परिवार मेरे हैं, ऐसे अहंकार को धिक्कार है।

केवल व्यवहार को सम्पादित करने के लिए ही अपना-पराया मानना ठीक है। अन्यथा क्या अपना-पराया है! यह सब देह रहते-रहते बदलते तथा

विनशते रहते हैं और देह छूट जाने पर तो अपने माने गये सारे प्राणी-पदार्थ उसके लिए आकाश-कुसुम हो जायेंगे। जिस संसार से हमें शरीर भी छोड़कर आज-कल में सदा के लिए चला जाना है, वहां का अहंकार करना कितनी घोर मूढ़ता है; और फिर ऐसा अहंकार जिसमें घृणित स्वार्थ जन्म ले, जिसको लेकर हम दुष्कर्म-पर-दुष्कर्म करें तथा निरंतर राग-द्वेष में जलते रहें।

"झूठी आस रही जग लागी" लोगों को संसार के भोगों में सुख भोगने की जो आशा लगी है वह झूठी है। मैथुन, मोह, ममता, स्वाद, गन्ध, स्पर्श, शब्द, स्त्री, पति, पुत्र, धन, भवन, सम्मान आदि से तृप्ति पाने की आशा घोर मूर्खता है।

एक नट तथा एक धोबी आस-पास बसे थे। दोनों के एक-एक गधा था जिनमें मित्रता थी। धोबी तो स्थायी रूप से घर में रहता था तथा तालाब पर जाकर लोगों के कपड़े धोता था और नट महीनों गांव-गांव घूमकर तथा तमाशा एवं करतब दिखाकर भिक्षा मांगता था, फिर कभी घर पर आता था।

एक बार जब चार महीने पर नट घर पर लौटकर आया, तब नट तथा धोबी के गधे मिलकर एक दूसरे से कुशल समाचार पूछने लगे। धोबी के गधे ने नट के गधे से पूछा—"मित्र, तुम बहुत दुबले क्यों हो?" नट के गधे ने कहा—"मेरा स्वामी मुझे दिन भर गांव-गांव घुमाता है। वह सुबह अपने डेरे से चलकर तथा मेरे ऊपर तमाशा का सामान लादकर एक गांव से दूसरे गांव जाता है तथा तमाशा दिखाकर भिक्षा मांगता है। मुझे पूरा दिन कुछ खाने के लिए नहीं मिलता। वह जब शाम को अपने डेरे पर आता है, तब मुझे चरने लिए लम्बी डोरी से खूंटे में बांध देता है। क्या करूं मित्र, पेट नहीं भरता। इसलिए दुबला हूं।"

धोबी के गधे ने कहा—"मैं तो सुबह घर से कपड़ों की एक लादी लेकर तालाब जाता हूं। लादी गिरा देता हूं। मेरा मालिक दिन भर तालाब में कपड़े धोता है और मैं तालाब में हरी-हरी घास चरता हूं। शाम धुले तथा सूखे कपड़ों की लादी लाकर घर पर गिरा देता हूं और रात भर आराम से घर में सोता हूं। इसलिए मैं स्वस्थ और सुखी हूं। मित्र जी, तुम भी नट का साथ छोड़कर मेरे स्वामी के यहां आ जाओ।"

नट के गधे ने कहा—"लेकिन मैं आ नहीं सकता। क्योंकि नट के साथ रहने में मुझे एक लम्बे सुख की आशा है। इसलिए उसकी आशा में मैं सारा दुख सहता हूं।"

धोबी के गधे ने पूछा—"वह क्या है?" नट के गधे ने उत्तर दिया—"नट जब किसी गांव में जाकर अपने करतब दिखाता है तब वह मुझे वहीं पास में

एक खूंटे में बांध देता है। वह बांस के दो खंभों पर रस्सी बांधकर उस पर अपनी युवती लड़की को चढ़ाकर उसे उसी पर नचाता है, और उससे कहता है 'देख, गिरना नहीं, अन्यथा तेरी शादी इसी गधे से करूंगा।' मैं वहीं खड़ा होकर यह सब देखता-सुनता हूं। मैं सोचता हूं कि यह हरामजादी किसी दिन तो गिरेगी।"

धोबी के गधे ने हंसकर कहा—"यार, यह कहकर तो नट समाज का मनोरंजन करता है। एक तो लड़की अभ्यस्त है, वह गिरेगी नहीं, और यदि कदाचित कभी गिर भी जाये, तो उसकी शादी तुमसे नहीं हो सकती।"

संसार के भोगों से, प्राणी-पदार्थों एवं मान-सम्मान से चिरंतन एवं नित्य तृप्ति की आशा करना नट के गधे की आशा चरितार्थ करना है। सद्गुरु कहते हैं "झूठी आस रही जग लागी" जगत के भोगों से तृप्ति की आशा करना झूठी अवधारणा है।

"इन्हते भागि बहुरि पुनि आगी" इस अर्धाली में एक सूक्ष्म दिशा के लिए व्यंजना है। सद्गुरु कहते हैं कि कितने ऐसे लोग होते हैं जो संसार के भोगों को छोड़ देते हैं। यहां तक घर-परिवार से भागकर साधु-संन्यासी हो जाते हैं। परन्तु यदि वे साधु-संन्यासी, मुल्ला-पंडित, ज्ञानी-योगी आदि का धार्मिक या आध्यात्मिक जामा पहनकर भी सांप्रदायिकता की आग में जलते रहते हैं, तो बात घूमकर वही हुई। संसार में भोगों के झूठे स्वार्थ को लेकर राग-द्वेष में जल रहे थे, और यहां धार्मिक नाम रखकर धर्म तथा ईश्वर को लेकर सांप्रदायिकता की आग में जल रहे हैं। यहां अपना देवता, अपना ईश्वर, अपना आचार्य, अपना खलीफा, अपना धर्म, अपने चेले, अपने अनुगामी, अपना प्रचार, अपना संप्रदाय, अपना मजहब आदि को लेकर यदि राग-द्वेष में जलते हैं, तो बात घूमकर वही हो गयी। भौतिकता से हटकर आध्यात्मिक दिशा की ओर बढ़ने का फल होना चाहिए समता एवं शांति की प्राप्ति।

"जेहि हित के राखेउ सब लोई। सो सयान बाँचा नहिं कोई॥" मनुष्य अपना कल्याण समझकर प्राणी-पदार्थों में अपनी आसक्ति बनाता है और वह भूलवश मजहबी भावनाओं तथा धार्मिक जड़ता को भी अपने कल्याण के लिए अपने गले चिपकाता है, और इन सब बातों में वह अपनी सयानी समझता है। वह अपने आप को बड़ा चतुर मानता है। परन्तु इन बातों में जो अपने आप को जितना ही चतुर समझता है, वह उतना अधिक मूढ़ होता है। राग-द्वेष करने, दूसरों को बेवकूफ बनाकर अपना उल्लू सीधा करने तथा संसार के राग-रंग में अपने आप को महान मानने वाले, पतन से नहीं बच सकते। कुबुद्धि और कुचाल करने में अपने आप को समझदार मानना घोर अज्ञान और पतन का पथ है।

"आपु आपु चेते नहीं, कहौं तो रुसवा होय।" मनुष्य माया-मोह की नींद से स्वयं जागता नहीं। उसे जगाओ तो वह रुष्ट होता है। जिसमें प्रबल आसक्ति हो जाती है, उसमें दोष बताने पर आदमी लड़ने के लिए तैयार हो जाता है। बीड़ी-सिगरेट, तम्बाकू-गांजा, शराब-मांस जैसे तुच्छ दुर्व्यसन त्यागने के लिए निवेदन किया जाये, तो कितने लोग असन्तुष्ट हो जाते हैं। वे कहते हैं कि हम बीड़ी-सिगरेट छोड़ दें तो आप अन्न छोड़ दीजिए। साफ जाहिर है कि अन्न नहीं छोड़ा जा सकता है, किन्तु नशीले पदार्थों को छोड़कर हर प्रकार से हित है।

चाहे सांसारिक प्राणी-पदार्थों के बारे में हो और चाहे धार्मिक एवं आध्यात्मिक जड़मान्यताओं के बारे में हो, जहां कहीं भी मनुष्य की आसक्ति हो जाती है उसका छोड़ना कठिन होता है, और यदि कोई उसकी कसर बताकर उसे उससे मुक्त होने की राय दे तो उसे वह सुनना भी नहीं चाहता। जो व्यक्ति अपने में न स्वयं विवेक जगाता है और न दूसरे के अच्छे निर्देश को स्वीकारना चाहता है, उसका कल्याण कैसे होगा !

"कहहिं कबीर जो आपु न जागे, निरास्ति अस्ति न होय।" सद्गुरु कहते हैं कि यदि व्यक्ति स्वयं सावधान नहीं होता, यदि वह अपनी आंखें नहीं खोलता और झूठे मोह तथा मान्यताओं में ही चिपकता रहता है, तो क्या झूठी बातें सच हो जायेंगी ! कदापि नहीं। यदि आदमी सांसारिक भोगों, प्राणियों एवं पदार्थों में हठपूर्वक आसक्त ही रहे, तो क्या वे उसके साथ चलेंगे ! जो लोग सांसारिक माया-मोह तथा राग-रंग में अपनी बड़ी सयानी दिखा रहे हैं और उन्हें सब का खूब अहंकार है, इसलिए वे उनके विरुद्ध कुछ नहीं सुनना चाहते, तो क्या इस प्रकार उनके मोह करने से वे सारी मायावी वस्तुएं जीव के लिए कल्याणदायी हो जायेंगी? असत्य वस्तुओं में मोह करने से वे सत्य नहीं बन सकतीं। इसी प्रकार धर्म तथा अध्यात्म के नाम पर मनुष्यों ने जितने अंधविश्वास, पाखंड एवं प्रतिगामी विचार पाल रखे हैं, उनकी उनमें जड़ता होने से वे सब सत्य तथा मानव के लिए कल्याणकारी नहीं हो सकते।

अतएव हमें यह ठीक से समझ लेना चाहिए कि संसार के चाहे स्थूल पदार्थ हों, प्राणी हों या मन की अवधारणाएं, इनमें राग कर हम बंधते हैं। इनके राग से छूटकर हम अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर कृतार्थ हो जाते हैं। जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य स्वरूपस्थिति है। इसके लिए हमें जागरूक होना चाहिए।

फल छन्द

सुनि रमैनी पद परम यह,
जीव अति प्रमुदित भयो।
जो भूल से दुरते न कधि,
वह रिपु प्रभो! क्षण में क्षयो।
कर्तव्य जन का अब यही,
पुनि–पुनि मनन गुरुपद ठयो।
गुरुवर प्रसाद प्रबन्ध पारख,
पाय अविचल पद लयो॥

चौपाई

सब शुभ साधन कर फल येहू।
जेहि ते धोखा धार दुरेहू॥
सत्य प्रकाश अभूल रहेहू।
गो मन स्ववश रमैनी लेहू॥

जिज्ञासा

सुना चहहुं प्रभु अग्रहुं केरा। जो कुछ शोधन व्यंजन हेरा॥
जौ लौं देह तहां लगि मेरा। नित नव अभिरुचि पद सोइ प्रेरा॥

शब्द प्रकरण

हेतु छन्द

रोचक भयानक काल्पनिक,
भ्रम शब्द का घनघोर था।
मानो निविड़ि तम पथ न सूझै,
द्वन्द्व चारों ओर था॥
कोइ सात्विकी तपसी सुभट,
निज खोज सत्य विभोर था।
वह सत्य रवि उद्योतमय,
निर्णय सजीव सजोर था॥

दोहा

सत्य शब्द निर्णय किये, करुणा-रमण कबीर।
जेहि विचार तत्काल ही, पावत पारख धीर॥

सद्गुरवे नमः

बीजक

(पारख-प्रबोधिनी व्याख्या-सहित)

द्वितीय प्रकरण : शब्द

गुरु-भक्ति, माया-विरति तथा असंगता

शब्द-1

सन्तो भक्ति सतोगुर आनी॥ 1॥
नारी एक पुरुष दुइ जाया, बूझो पण्डित ज्ञानी॥ 2॥
पाहन फोरि गंग एक निकरी, चहुँदिश पानी पानी॥ 3॥
तेहि पानी दुइ पर्वत बूड़े, दरिया लहर समानी॥ 4॥
उड़ि माखी तरवर को लागी, बोलै एकै बानी॥ 5॥
वह माखी को माखा नाहीं, गर्भ रहा बिनु पानी॥ 6॥
नारी सकल पुरुषवै खाये, ताते रहै अकेला॥ 7॥
कहहिं कबीर जो अबकी बूझै, सोई गुरू हम चेला॥ 8॥

शब्दार्थ—नारी=भक्ति। पुरुष दुइ=ज्ञान तथा वैराग्य। पाहन=पत्थर, विषयासक्ति। गंग=गंगा, भक्ति। दुइ पर्वत=अहंता-ममता। दरिया=समुद्र, संसार-समुद्र। लहर=भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य की तरंगें। माखी=विषयासक्त-वृत्ति। तरवर=तरुवर, वृक्ष, आत्मज्ञान की ऊंचाई। एकै बानी=स्वरूपज्ञान की बातें। नारी=माया। पुरुषवै=चेतन जीव। अकेला=असंग, निराधार।

भावार्थ—हे संतो ! सद्गुरु साधक के हृदय में भक्ति का अवतरण करता है, अथवा हे संतो ! अपने हृदय में सद्गुरु के प्रति भक्ति का अवतरण करो॥ 1॥ इस भक्ति रूपी नारी ने ज्ञान और वैराग्य रूपी दो पुरुषों को जन्म दिया है। हे पण्डित तथा ज्ञानियो ! इसे समझो॥ 2॥ जैसे हिमालय के पर्वत फोड़कर गंगा नदी निकली और मैदानी भाग में आकर उसने सर्वत्र पानी-पानी फैला दिया, वैसे जब मनुष्य के हृदय की विषयासक्ति-शिला टूटकर भक्ति-गंगा का अवतरण होता है तब पूरा जीवन भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य से आप्लावित हो जाता है॥ 3॥ इस भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य के पानी में अहंता-ममता के दो

पर्वत डूब जाते हैं, अर्थात इनका नाश हो जाता है। यहां तक कि इस भक्ति की लहर में संसार-सागर ही डूबकर शांत हो जाता है॥ 4॥ जैसे सर्वत्र पानी भर जाने पर मक्खियां जमीन से उड़कर ऊंचे पेड़ पर जा बैठती हैं, वैसे जीवन भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य से ओतप्रोत हो जाने पर पहले की विषयों में डूबी मनोवृत्ति आत्मज्ञान रूपी उच्च वृक्ष पर जा बैठती है और एक स्वरूपज्ञान की बातें बोलने लगती है॥ 5॥ जैसे बिना नर तथा वीर्य के मादा को गर्भ रह जाये तो आश्चर्य है, वैसे विषयवृत्ति भक्ति के प्रताप से बिना अन्य सहारे के स्वयमेव ज्ञानवृत्ति बन जाती है॥ 6॥ भक्ति-नारी तो कल्याणकारी है, परन्तु दूसरी माया-नारी है जिसने सारे जीवों को पथभ्रष्ट कर रखा है, इसलिए जीव को चाहिए कि वह उसे छोड़कर अकेला हो जाये॥ 7॥ सद्गुरु कबीर कहते हैं कि जो आज इस जीवन में इस सत्य को समझ लेता है वह गुरु हो जाता है, और मैं उसका दास बनने के लिए तैयार हूं॥ 8॥

व्याख्या—श्रीमद्भागवत पुराण[1] के माहात्म्य के पहले ही अध्याय में एक मनोरंजक कथा है। वह इस प्रकार है—एक सुन्दरी युवती वृन्दावन में बैठी है और उसके सामने दो वृद्ध तथा निर्बल पुरुष लेटे हैं। वहां नारद ने पहुंचकर उस युवती से उसका परिचय पूछा। युवती ने कहा—मेरा नाम भक्ति है। ये सामने लेटे हुए दोनों वृद्ध पुरुष मेरे पुत्र हैं। मैं द्रविड़[2] देश में पैदा हुई, कर्णाटक में बढ़ी, महाराष्ट्र में यत्र-तत्र मेरा सत्कार हुआ, परन्तु गुजरात में मैं बूढ़ी हो गयी। वहां घोर कलियुग के प्रभाव से प्रभावित पाखंडियों ने मेरे अंग-भंग कर दिये। अब मैं वृन्दावन में आ गयी हूं। यहां तो मैं पुनः स्वस्थ युवती हो गयी, परन्तु मेरे दोनों बच्चे ज्ञान-वैराग्य अब भी दुर्बल बने पड़े हैं।

द्रविड़देशीय तमिलभाषी नम्मालवार (शठकोपाचार्य), तिरुभंगै आलवार आदि ने लोकदृष्टि से अंत्यजवर्ग में होकर भी भक्ति की गंगा बहायी और इनके तिरुविरुतम, तिरुवाशिरियम, पेरियतिरुंदादि तथा तिरुवाँयमोलि ये चार ग्रन्थ तमिल भाषा में भक्ति के महान ग्रन्थ हैं। शठकोपाचार्य के बाद नाथमुनि तथा यमुनाचार्य वैष्णव आचार्य हुए। इसके बाद रामानुजाचार्य प्रसिद्ध आचार्य हुए। इस प्रकार द्रविड़ में भक्ति ने जन्म लिया। उसके ज्ञान-वैराग्य दो पुत्र पैदा हुए। उसने कर्णाटक तथा महाराष्ट्र में विस्तार किया; परन्तु गुजरात में उसे अनुकूल वातावरण न मिला। वृन्दावन में उसे अनुकूल वातावरण मिला, परन्तु ज्ञान-वैराग्य के लिए वहां भी कोई सुविधा नहीं मिली। इस प्रकार भक्ति दक्षिणी

---

1. पुराण विशेषज्ञों के अनुसार 900 ई. में भागवत पुराण की रचना हुई है।
2. तमिलनाडु का प्राचीन नाम द्रविड़ है। मद्रास से लेकर दक्षिण कन्याकुमारी तक द्रविड़ देश कहलाता है।

भारत में पैदा होकर उत्तरी भारत में आयी।[1]

कबीर साहेब के साखी-ग्रन्थ में, एक साखी है "भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानंद। प्रगट करी कबीर ने, सात दीप नौ खंड॥"[2] इस प्रकार मानो कबीर साहेब कह रहे हों कि भक्ति तो दक्षिणी भारत में पैदा हुई; परन्तु सद्गुरु रामानंद ने उसे उत्तरी भारत में लाया।

यह विचार करने योग्य है कि "सन्तो भक्ति सतोगुर आनी" में स्वामी रामानंद का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। कहना चाहिए कि पूरे बीजक में भी उनका वैसा सम्बन्ध नहीं है जैसा कि उक्त साखी-ग्रन्थ की साखी है। बीजक में केवल एक जगह स्वामी रामानंद का नाम आया है, वह इस प्रकार है "रामानन्द रामरस माते, कहहिं कबीर हम कहि कहि थाके।"[3] इससे सिद्ध होता है कि कबीर साहेब स्वामी रामानन्द की सगुण रामभक्ति से संतुष्ट नहीं थे। इसके साक्ष्य में उनकी सारी वाणियां हैं। यदि भक्ति द्रविड़ से आकर स्वामी रामानन्द द्वारा कबीर की विचारधारा में प्रविष्ट मानी भी जाये तो वह न सगुण अवतारी-भक्ति है और न परोक्ष कल्पित ईश्वर-भक्ति है, किन्तु वह गुरुभक्ति तथा आत्मस्थिति रूपी पराभक्ति है। तब यही कहना पड़ेगा कि वैष्णवों की ईश्वरभक्ति कबीर और कबीरपंथ में गुरुभक्ति तथा स्वरूपस्थिति बन गयी है जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण कबीर-बीजक तथा कबीरपंथ है।

"सन्तो भक्ति सतोगुर आनी" यह कबीर देव का संतों के लिए आदेश है कि वे सद्गुरु के प्रति भक्ति रखें। संत किसे कहना चाहिए? सद्गुरु श्री पूरण साहेब ने इस पंक्ति की टीका करते हुए संतों की बड़ी उदार परिभाषा उपस्थित की है—"सन्तो कहिए श्रोता को, सन्तो शांत स्वरूप। सन्तो कहिए जीव को, निरुवारत निजरूप॥" अर्थात श्रोता, साधु तथा सामान्य मनुष्य जो भी सदुपदेश के ग्राहक हैं, सब संत हैं।

मनुष्य के अस्तित्व के साथ ही उसके हृदय में भक्ति है। उसके विकास की आवश्यकता है। वैदिक-साहित्य में शायद 'भक्ति' शब्द पहली बार श्वेताश्वतर उपनिषद् में आया है—"जिस महात्मा के मन में जैसे देव के प्रति परम भक्ति होती है वैसे गुरु के प्रति भी होती है, उसी के हृदय में सत्योपदेश के अर्थ प्रकाशित होते हैं।"[4] जानी हुई बातों को जीवन में उतारने के लिए समर्थ सद्गुरु

---

1. भक्ति का मूल उदय उत्तरी भारत में ही हुआ : देखें आगे 81वें शब्द की व्याख्या।
2. महाराज राघव साहेब-संपादित साखी ग्रंथ, भक्ति को अंग 12।
3. बीजक, शब्द 77, इसकी व्याख्या देखें।
4. यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
   तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥ (श्वेताश्वतर उपनिषद् 6/23)

के प्रति भक्ति की महती आवश्यकता है। सद्गुरु ही निजस्वरूप एवं आत्मदेव की परख कराने वाला है; इसलिए उसके प्रति अनुराग एवं प्रेम रखना अत्यन्त आवश्यक है और यही भक्ति का प्रथम पक्ष है। इसीलिए कबीरदेव ने यहां सद्गुरु-भक्ति पर जोर दिया है। अंततः भक्ति का मुख्य शाब्दिक अर्थ है— वियोजन, पृथक्करण एवं विभाजन।[1] अर्थात अपनी आत्मा को जड़-देह से अलग समझकर इस असंगभाव में स्थित हो जाना।

"नारी एक पुरुष दुइ जाया, बूझो पण्डित ज्ञानी।" भक्ति-नारी ने ज्ञान-वैराग्य दो पुत्र पैदा किये। जिसके हृदय में भक्ति है, उपासना है, विनम्रता है, उसके हृदय में ही समय से ज्ञान तथा वैराग्य का उदय होता है। भक्तिविहीन व्यक्ति के हृदय में ज्ञान-वैराग्य नहीं उत्पन्न हो सकते। सद्गुरु कहते हैं कि हे पंडित तथा ज्ञानियो ! इस बात को समझो। इस तथ्य को मननपूर्वक ही समझा जा सकता है।

"पाहन फोरि गंग एक निकरी, चहुँदिश पानी पानी।" हम देखते हैं कि पत्थरों को फोड़कर नदियां निकलती हैं और मैदानी भाग में आकर सारे दृश्य को हराभरा कर देती हैं। मनुष्य का हृदय विषयासक्ति से पत्थर बना है। जिसके हृदय में भक्ति की गंगा फूट पड़ती है उसके हृदय की विषयासक्ति एवं जड़ता की शिलाएं टूट-टूट कर बिखर जाती हैं। उसका पूरा जीवन भक्ति से ओतप्रोत हो जाता है। जिसके जीवन में भक्ति-गंगा लहराती है, उसके लिए सारी दिशाएं भक्तिमय होती हैं। ऐसा साधक सबसे विनम्र होता है। वह प्राणिमात्र को देवरूप समझकर सबसे विनयी होता है। वह दूसरे का कुछ हरता नहीं, किन्तु अपनी मानी गयी सारी चीजें ही दूसरे की सेवा में लगाने योग्य समझता है।

"तेहि पानी दुइ पर्वत बूड़े, दरिया लहर समानी।" इस भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य के पानी में अहंता-ममता के पर्वत डूब जाते हैं। जिसके हृदय में भक्ति की गंगा बहती है, जिसके हृदय में भक्ति से उत्पन्न ज्ञान तथा वैराग्य का पूर्ण प्रकाश है, उसके हृदय में अहंता-ममता के बन्धन नहीं रह सकते। जहां अहंता-ममता नहीं हैं, वहां राग-द्वेष नहीं हैं। अहंता-ममता ही भयंकर पर्वत हैं। जो इनको लांघ जाता है, वह भव से पार हो जाता है। उसका दरिया लहर में समा जाता है। भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य की लहरों में उसका संसार-सागर डूब जाता है। यह बाहर का संसार हमें नहीं बांधता। हमें बांधने वाला या डुबाने वाला हमारे मन का समुद्र है। यह मन की वासना ही संसार-सागर है जो भक्ति, ज्ञान एवं वैराग्य से शांत होता है।

---

1. संस्कृत-हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे।

"उड़ि माखी तरवर को लागी, बोलै एकै बानी।" जब वर्षा से पूरी जमीन जलमग्न हो जाती है तब मक्खियां उड़कर ऊंचे वृक्षों पर जा बैठती हैं। इसी प्रकार भक्ति, ज्ञान एवं वैराग्य की बहिया आने पर मन की वृत्ति जो विषयलीन थी वह विषयों से उठकर उच्च स्वरूपज्ञान में तदाकार हो जाती है। आध्यात्मिक साधना का यही फल है कि हमारा मन निम्नस्तर से उठकर उच्चस्तर पर पहुंच जाये, विषयोन्मुख मन आत्मोन्मुख हो जाये। साधक साधना में जितना आगे बढ़ता जाता है उतना वह सांसारिक प्रभाव से ऊपर उठता जाता है। पूर्ण आध्यात्मिक उन्नति का अर्थ है पूर्ण अप्रभावित जीवन। जिसके मन से मोह–शोक बीत गये हैं वही मानो अपने लक्ष्य को पा गया है। उसका मन "बोलै एकै बानी" एक ही बात बोलता है, उसकी अंतरात्मा में एक ही आवाज उठती है—निजस्वरूप की स्थिति। वह सदैव आत्माराम होता है।

"वह माखी को माखा नाहीं, गर्भ रहा बिनु पानी।" बिना नर तथा बिना वीर्य के गर्भ रहना एक आश्चर्य है। यहां यही आश्चर्य घटित होता है। यह मलिन मनोवृत्ति बिना अन्य सहयोग के केवल भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य के सहारे स्वयमेव बदल जाती है। जो भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य को अपने जीवन में उतार लेता है उसका काग–मन कोयल बन जाता है तथा बकु–चित हंस हो जाता है। यह सर्वविदित है कि विष को शोध लेने पर वह अमृत–औषध हो जाता है। इसी प्रकार मलिन मन शुद्ध–बुद्ध बन जाता है।

"नारी सकल पुरुषवै खाये, ताते रहै अकेला।" इस शब्द की दूसरी पंक्ति की नारी तो भक्ति अर्थ वाली है जो ज्ञान–वैराग्य पुत्रों को जन्म देने वाली है। परन्तु इस सातवीं पंक्ति की नारी माया है जो सारे पुरुषों को खाने वाली है। यहां नारी का अर्थ नारी–देह नहीं है; क्योंकि नारी–देह में भी तो चेतन–पुरुष निवास करता है। 'पुरि शेते पुरुषः' अर्थात शरीर रूपी पुर में शयन करने वाला चेतन ही पुरुष है। चेतन जीव मात्र पुरुष हैं। उन्हें खाने वाली, अर्थात पथभ्रष्ट करने वाली मनोमालिन्यता रूपी माया है। इस माया ने सबको भटकाया है। इसलिए सद्‌गुरु कहते हैं कि अकेला रहना चाहिए।

यह अकेला हो जाना ही पराभक्ति है। जैसा कि संस्कृत–हिन्दी कोश का उदाहरण देकर ऊपर बताया जा चुका है कि पृथक हो जाना भक्ति है। पहली भक्ति तो सत्पथ दिखाने वाले सद्‌गुरु–संतों के प्रति श्रद्धा–प्रेम है, परन्तु अंतिमी भक्ति जीव का माया से अलग हो जाना है। माया भी नारी है और भक्ति भी नारी है। माया वह नारी है जो जीवों को बन्धन देती है, और भक्ति वह नारी है जो जीवों को माया से छुड़ाकर असंग, अकेला, केवल, निराधार बनाकर मुक्त कर देती है। इसलिए कल्याणेच्छुक माया से हटकर भक्तिपथ में लगता है। जीव का शुद्ध स्वरूप असंग है। मन के विकार माया हैं। उनसे हटकर अपने

चेतन स्वरूप में स्थित होना ही अकेला हो जाना है। सद्गुरु कबीर का यह बहुत मार्मिक वचन है "नारी सकल पुरुषवै खाये, ताते रहै अकेला।" साधक की भलाई इसी में है कि वह माया से हटकर असंग हो जाये। माया और भक्ति दोनों मानसिक दशाएं हैं। मन की वह वृत्ति जिससे जीव विषयों की ओर खिंचता है, माया है; और मन की वह वृत्ति जिससे जीव विषयों से सर्वथा पृथक होकर असंग हो जाता है, भक्ति है। इस प्रकार माया और भक्ति दोनों नारी वर्ग है, परन्तु एक अकल्याणकारी है तथा दूसरी कल्याणकारी। सद्गुरु इस पंक्ति में नारी शब्द से माया को लेते हैं और कहते हैं कि इसने सारे पुरुषों को खा लिया है, माया ने सारे जीवों को भटका दिया है; अतः इससे अलग होकर अकेला हो जाना चाहिए।

व्यवहार में भी देखा जाता है कि जो साधक सेविका, शिष्या, भक्तिन आदि मानकर मोह-वश नारियों का संग करते हैं, उनकी साधना थोड़े ही दिनों में स्वाहा हो जाती है। साधक या साधु संग-दोष से ही पतित होते हैं। साधिकाओं के लिए पुरुष कुसंग हैं तथा साधकों के लिए नारियां कुसंग हैं। कहना चाहिए विरोधी आलंबन कुसंग है। स्त्री के लिए पुरुष तथा पुरुष के लिए स्त्री विरोधी आलंबन हैं। संग-दोष से रहित रहकर साधारण साधक और साधिका भी अपनी साधना में आराम से बने रह सकते हैं और संग-दोष कर बड़े-बड़े उग्र साधक तथा साधिका भी पतन के गर्त में चले जाते हैं। संग-दोष से मोह उत्पन्न होता है और मोह उत्पन्न होने पर मन में भ्रम-सुख का ऐसा भंवर उठता है कि साधक पहले से जाने हुए ज्ञान की हजारों युक्तियां भी भूल जाता है, और वह काम-धारा में बह जाता है। बह जाने के बाद उसे होश होता है। परन्तु तब तक वह अपने आप को खो चुका रहता है। अतएव सद्गुरु का यह वचन बड़े काम का है "ताते रहै अकेला।"

तुम शुद्ध चेतन हो, पूर्णकाम तथा पूर्णतृप्त हो। तुम्हें दूसरे की कोई आवश्यकता नहीं है। तुम मन की कल्पनाओं से गढ़कर दूसरा आधार खड़ा करते हो, यह तुम्हारे भटकने का कारण है। इस कल्पना-नारी ने तुम्हें खूब भटकाया है। अब इसे छोड़कर अकेला हो जाओ। मन की कल्पनाएं ही तो द्वैत खड़ा करती हैं। यदि मन की कल्पनाएं न रहें तो जीव अकेला है ही। यह जीव का अकेलापन, कैवल्य, असंगत्व तथा निराधार स्थिति ही तो इसकी वास्तविकता है। तुमसे अलग की वस्तु, तुमसे अलग से कल्पित ईश्वर या भगवान चाहे जितने आनन्द के सागर हों, वे तुम्हारा स्वरूप नहीं बन सकते। तुम अपने से अलग जो कुछ खड़ा करते हो, वह तुम्हारे मन की मान्यता है, अवधारणा है। वही माया है। वही तुम्हें छलती है। उसे छोड़कर अकेला रहने का अभ्यास करो। यह गुरु-वाक्य कभी नहीं भूलो "ताते रहै अकेला।"

"कहहिं कबीर जो अबकी बूझै, सोई गुरू हम चेला।" यह महाप्रातिभ, ज्ञानसागर, संतशिरोमणि कबीर देव की विनम्र घोषणा है कि जो अबकी—इस नर-जन्म में आज उक्त वास्तविकता को बूझ ले, समझ ले, वह गुरु है, महान है, कृतार्थ है। मैं उसका चेला बनने के लिए तैयार हूं। जो आज मन की सारी भ्रांतियों को काटकर फेंक दे, मन:कल्पना-नारी की संगत छोड़कर अकेला हो जाये, मन की सारी मान्यताओं के जाल को तोड़कर स्वरूपज्ञान एवं आत्मबोध में निमग्न हो जाये, वह महान है। मैं उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करता हूं। मैं उसके सामने विनम्र हूं।

इन्हीं जैसी पंक्तियों का भावानुवाद करते हुए बीजक की प्रथम भावात्मक टीका लेखक सद्गुरु श्री रामरहस साहेब ने कहा है—"हे शिष्य ! जो वास्तविक निर्णय को समझता तथा धारण करता है, वही कृतार्थ हो जाता है। वही व्यक्ति सद्गुरु है, सद्गुरु का शिष्य है, संत है तथा अपने-पराये पर दयालु है।"[1]

जैसे रमैनी प्रकरण की प्रथम रमैनी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अर्थों वाली तथा बीजक के मुख्य कथ्यों का सार है, वैसे इस दूसरे प्रकरण के प्रथम शब्द का भाव भी अत्यन्त गंभीर एवं हृदयस्पर्शी है। इस शब्द में पहली बात है कि सद्गुरु ने 'संतो' शब्द से संबोधित कर श्रोताओं को आदेश दिया है कि तुम लोग सच्चे सद्गुरु की भक्ति करो। उनके प्रति विनयी बनो तथा उनके सत्संग से अपने स्वरूप को पहचानो। इसके साथ-साथ छह पंक्तियों तक भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य के महत्त्व को प्रकट किया गया है। अंतिम दो पंक्तियों में सद्गुरु बताते हैं कि माया रूपी नारी से हटकर अकेला हो जाओ। मन का माया-मोह त्यागने पर ही जीव असंग होता है; और ऐसे कृतार्थ जीव की प्रशंसा में कबीर देव स्वयं उसका दास बनने के लिए तैयार हो जाते हैं, यह उनकी महान उदारता है। साखी प्रकरण में भी उन्होंने कहा है—

दादा भाई बाप कै लेखों, चरणन होइहौं बन्दा।
अबकी पुरिया जो निरुवारे, सो जन सदा अनन्दा॥ 322॥

सावधानी ही साधना है

शब्द-2

सन्तो जागत नींद न कीजै॥ 1॥
काल न खाय कल्प नहिं ब्यापै, देह जरा नहिं छीजै॥ 2॥

---

1. हे शिष्य निर्णय जो लखै, तेही भया निहाल।
तेई गुरु तेई शिष्य गुरु, तेई साधु दयाल॥ 258॥ (पंचग्रन्थी, गुरुबोध, प्रश्न 20)

उलटी गंग समुद्रहि सोखै, शशि औ सूरहि ग्रासै॥ 3॥
नौग्रह मारि रोगिया बैठो, जल में बिम्ब प्रकासै॥ 4॥
बिनु चरणन को दहुँदिश धावै, बिनु लोचन जग सूझै॥ 5॥
संशय उलटि सिंह को ग्रासे, ई अचरज कोइ बूझै॥ 6॥
औंधे घड़ा नहीं जल बूड़े, सीधे सो जल भरिया॥ 7॥
जेहि कारण नर भिन्न भिन्न करें, सो गुरु प्रसादै तरिया॥ 8॥
बैठि गुफा में सब जग देखे, बाहर किछउ न सूझै॥ 9॥
उलटा बाण पारिधिहि लागै, सूरा होय सो बूझै॥10॥
गायन कहै कबहुँ नहिं गावै, अनबोला नित गावै॥11॥
नटवट बाजा पेखनी पेखै, अनहद हेत बढ़ावै॥12॥
कथनी बदनी निजु कै जोवै, ई सब अकथ कहानी॥13॥
धरती उलटि अकाशहि बेधै, ई पुरुषन की बानी॥14॥
बिना पियाला अमृत अँचवै, नदी नीर भरि राखै॥15॥
कहहिं कबीर सो युग युग जीवै, जो राम सुधारस चाखै॥16॥

शब्दार्थ—कल्प=चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष की एक काल्पनिक अवधि। देह=स्वरूप। गंग=सुषुम्णा। समुद्रहि=समुद्र को, शरीर के भीतर सुषुम्णा के पथ में माने गये समुद्र। शशि=इडा, नाक के बांये छिद्र की नाड़ी। सूरहि=सूर्य, पिंगला, नाक के दायें छिद्र की नाड़ी। नौग्रह=पांच ज्ञान-इंद्रियां—आंख, नाक, कान, जीभ, चमड़ी तथा चार अंतःकरण—मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार। रोगिया=योगी। बिम्ब=छाया। संशय=अज्ञान। सिंह=जीव। प्रसादै=कृपा से। पारिधिहि=शिकारी, साधक योगी। सूरा=वीर, निष्पक्ष चिंतक। गायन=गाने वाले मनुष्य जीव। अनबोला=न बोलने वाला ईश्वर। नटवट=नटवत। बाजा=सींगी, सींग का बाजा, जिसे योगी बजाते हैं। पेखनी=मुद्रा। अनहद=अनाहतनाद। हेत=प्रेम। कथनी=बात। बदनी=शर्त रखना, हठाग्रह। जोवै=देखते हैं। राम सुधारस=स्वरूपस्थिति का आनन्द।

भावार्थ—हे संतो! माया से सावधान रहो, मोह-नींद में बेभान नहीं होना॥ 1॥ तुम्हारे शुद्ध स्वरूप चेतन को काल नहीं खा सकता, न तुम्हारे अनादि तथा अनंत आत्मिक जीवन को कल्प-जैसी बड़ी अवधि व्याप्त सकती है और न तुम्हारे अखण्ड स्वरूप को कभी जीर्णता एवं क्षीणता आ सकती है॥ 2॥ इस स्वरूपज्ञान, स्वरूपविचार तथा स्वरूपस्थिति को छोड़कर हठयोगी लोग स्थूल क्रिया में पड़े रहते हैं। वे नीचे मूलाधार से सुषुम्णा को उठाकर स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि तथा आज्ञाचक्र को वेधते हुए ऊपर सहस्रसार में पहुंच जाते हैं। रास्ते में सात समुद्र पड़ते हैं। सुषुम्णा रूपी

गंगा उन्हें सोखती हुई तथा ऊपर पहुंचकर शशि–सूर अर्थात इडा तथा पिंगला को अपने में समेटती हुई शिखरस्थानीय भ्रमरगुफा में पहुंच जाती है, जहां शुद्ध जल से भरे समुद्र से योगी अमृत–रस पान करता है॥ 3॥ भौतिक जल को अमृत–रस मानकर पीने वाले योगी नाम के रोगी पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा चतुष्टय अंत:करण रूपी नौ ग्रहों को वश में करके योग–समाधि में बैठ जाते हैं और जल में अपने स्थूल शरीर की छाया देखने के समान भौतिक नाद, बिन्दु, ज्योति आदि जो मन की अवधारणा या तत्त्वों के कार्य होते हैं, उन्हीं को अपना लक्ष्य मान लेते हैं॥ 4॥

योगी लोग यह डींग हांकते हैं कि हम बिना पैरों के केवल सिद्धि द्वारा दसों दिशाओं में दौड़ सकते हैं और हमें बिना आंखों के अर्थात आंखें मूंदकर सारा संसार दिखाई देता है॥ 5॥ सद्गुरु कहते हैं कि इस आश्चर्यजनक घटना को कोई बिरला ही समझने का प्रयास करेगा कि शशा ने अपने ऊपर हमला करने वाले सिंह को उलटकर खा लिया है। अर्थात अज्ञान का शिकार करने वाले योगी–जीव को अज्ञान ने ही मार गिराया॥ 6॥ उलटे घड़े में पानी नहीं भरता, पानी तो सीधे घड़े में भरता है। अर्थात मन के भास–अध्यास रूपी उलटी बुद्धि से अमरत्व की प्राप्ति नहीं होती; किन्तु स्वरूपज्ञान रूपी शुद्ध एवं सीधी बुद्धि से प्राप्त होती है॥ 7॥ जिस संसार–सागर से तरने के लिए लोग भिन्न–भिन्न प्रकार से नाना कर्मकांड, योगकांड आदि प्रपंच करते हैं वह तो गुरुकृपा से आत्मबोध प्राप्त होने पर सहज ही हो जाता है॥ 8॥ योगी लोग कहते हैं कि हम समाधि रूपी गुफा में बैठकर सारे संसार को देखते हैं और बाहर के नेत्रों से तो संसार के लोगों को कुछ भी नहीं दिखाई देता॥ 9॥ सद्गुरु कहते हैं कि योगियों की ऐसी धारणा तो वैसे है जैसे बाण उलटकर शिकारी को ही लग जाये। अर्थात चले थे अज्ञान को मारने, तो उलटकर स्वयं अज्ञानग्रसित हो गये। व्यवहार को झुठलाने वाला ज्ञान, ज्ञान नहीं अज्ञान है। परन्तु इस तरह कोई निष्पक्ष चिंतक ही समझ सकता है॥ 10॥ अति धार्मिकता की सनक ऐसी है कि मनुष्य, जो सारी वाणियों का कहने वाला है, उसे कहा जाता है कि वह अल्पज्ञ है। वह तो कुछ भी नहीं कह सकता। सद्गुरु कहते हैं कि ये लोग अनबोला–ईश्वर को सारे वेद एवं धर्मशास्त्रों के व्याख्याता बताते हैं॥ 11॥ योगी तमाशा दिखाने वाले नटों के समान नाना प्रकार के आसन दिखाते हैं, सींगी बाजा बजाते हैं, मुद्रा देखते हैं, और अनाहतनाद सुनने में प्रेम बढ़ाते हैं॥ 12॥ वे अपनी बातों का ही हठाग्रह रखते और उन्हें पक्की समझते हैं। उनकी सारी बातें अकथ कहानी अर्थात लालबुझक्कड़ी किस्सा है॥ 13॥ पूर्व पुरुषों की वाणी सुन–सुनकर धरती के मनुष्यों का मन आकाश को वेध रहा है। अथवा योगी लोग पिंड का श्वास उठाकर ब्रह्मांड को वेधते हैं॥ 14॥ व्यक्ति के हृदय में

स्वरूपज्ञान रूपी सरिता-जल भरा हुआ है, लेकिन हठयोग के भुलावे में पड़कर योगी लोग लम्बिका योग द्वारा बिना पात्र के ही अमृतपान करते हैं। अर्थात वे टपकती हुई लार को अमृत मानकर लम्बिका योग द्वारा पीते हैं॥ 15॥ सद्गुरु कहते हैं कि सदा के लिए अमरत्व तो वही पाता है, जो राम का अमृत-रस पीता है। राम का अमृत-रस है स्वरूपस्थिति॥ 16॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर का यह महासूत्र "संतो! जागत नींद न कीजै" साधकों के लिए काफी है। सावधानी ही साधना है। यदि हमारे मन में कामवासना आ गयी, तो हम जाग नहीं रहे हैं। यदि मोह, लोभ, भय, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध आदि मन में आ गये, तो हम असावधान हैं। हम जिस क्षण जागते होंगे, हमारे मन में कामादि कोई विकार आ ही नहीं सकता। चिंता, विकलता, दुख क्यों सताते हैं, क्योंकि हम असावधान हैं। निरंतर जाग्रत व्यक्ति के पास मोह, शोक फटक नहीं सकते। इसलिए सद्गुरु कहते हैं, हे संतो! जागते रहो, नींद न करो।

आदमी हानि, वियोग, मृत्यु आदि के भय से सदैव पीड़ित रहता है। सद्गुरु हमें याद दिलाते हैं कि तुम कौन और कैसे हो। वे कहते हैं "काल न खाय कल्प नहिं ब्यापै, देह जरा नहिं छीजै।" तुम अविनाशी चेतन हो। तुम्हें काल नहीं खा सकता। जो चीज बनती है वह बिगड़ती है। तुम शुद्ध चेतन हो। तुम तो अनादि, निर्विकार, अकृत्रिम एवं नित्य हो, फिर तुम्हें काल का डर क्यों होना चाहिए। चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष का एक कल्प मान रखा है। ऐसे-ऐसे असंख्य कल्प बीत चुके हैं तथा असंख्य बीतेंगे, परन्तु तुम्हारा अंत नहीं होगा। शारीरिक जीवन तुम्हारा असली जीवन नहीं है। तुम्हारा असली जीवन आत्मिक है। शारीरिक जीवन आदि-अन्त वाला होता है। यह बिजली के समान चमका और गया। परन्तु आत्मिक जीवन अनादि तथा अंनत है। तुम्हारे आत्मिक जीवन के सामने करोड़ों कल्प सेकेंड के तुल्य हैं। अतएव तुम्हारे में "कल्प नहिं ब्यापै" बिलकुल सार्थक है।

इतना ही नहीं "देह जरा नहिं छीजै" तुम्हारी देह को जरा क्षीण नहीं कर सकती। तुम्हारी असली देह तुम्हारा चेतन स्वरूप है। यहां देह का अर्थ यह हाड़-चाम की देह नहीं है, किन्तु चेतनस्वरूप है। तुम्हारा चेतनस्वरूप, तुम्हारा आत्मस्वरूप कभी क्षीण नहीं हो सकता। फिर तुम किसलिए डरते हो? किसकी चिंता करते हो? तुम अमरत्व चाहते हो? तुम्हें पता नहीं है कि तुम अमर ही हो।

उक्त दो पंक्तियों में सद्गुरु अपने सिद्धान्त की बातें बताते हैं। वे कहते हैं कि तुम अपने मन के भुलावे से सावधान रहो। तुम बाहर अमरता न खोजो। तुम स्वयं अमृत हो, अमर हो।

कबीर साहेब के जमाने में योगियों का बड़ा बोलबाला था। कुछ आत्माराम में रमने वाले सच्चे योगी भी रहे होंगे, परन्तु ज्यादातर तो दिखावा में फंसे हुए लोग थे। कितने ही योगी हठयोग साधकर कल्पित ऋद्धि–सिद्धि चमत्कार आदि दिखाते थे और काया–कल्प कर शरीर को अमर बनाने के व्यामोह में उलझे थे। लोगों में वहम था कि पहले के बड़े–बड़े सिद्ध योगी शरीर से अमर हैं। ऐसे भ्रम में पड़े हुए लोगों को कबीर साहेब सावधान करते हैं, जिसे हम आगे देखें।

योगी लोग कल्पना करते हैं कि गुदा के पास मूलाधार, पेडू में स्वाधिष्ठान, नाभि में मणिपूर, हृदय में अनाहत, कंठ में विशुद्धि तथा भृकुटी में आज्ञा नाम के चक्र हैं। गुदा से लेकर सिर तक जाने वाली गुरियादार रीढ़ की हड्डी मेरुदंड नाम से जानी जाती है। इसमें इडा बायें से, पिंगला दायें से तथा सुषुम्णा बीच से—इस प्रकार तीनों नाड़ियां ऊपर सिर से नीचे गुदा के पास तक गयी हैं। "ये नाड़ियां अधोवदना अर्थात नीचे मुखवाली कमलतंतु के सदृश हैं। ये मेरुदंड में लिपटी हुई चंद्र, सूर्य और अग्नि के तुल्य हैं। इडा चंद्रवत, पिंगला सूर्यवत तथा सुषुम्णा अग्निवत है।"[1] ये तीनों नाड़ियां गंगा, यमुना तथा सरस्वती भी कहलाती हैं। इनमें सुषुम्णा गंगा है।

हठयोगी लोग नेती, धोती, कपाली, कुंजल आदि करके इंद्रियों को साफ करते हैं और सूक्ष्म आहार–व्यवहार कर श्वास को साधते हैं। तब सुषुम्णा रूपी गंगा नीचे से उलटकर ऊपर को बहने लगती है। सुषुम्णा–गंगा चांद–सूर्य को अर्थात इडा–पिंगला को अपने में समेटकर ऊपर को बह चलती है। रास्ते में सात समुद्र पड़ते हैं—खारा, मीठा, क्षीर, मदिरा, घृत, दधि तथा जल के। योनिस्थान में खारा, पेडू में मीठा, नाभि में क्षीर, हृदय में मदिरा, कंठ में दधि, त्रिकुटी में घृत तथा शिखरस्थान भ्रमरगुफा में स्वच्छ जल का समुद्र माना है। इन सब जगहों पर द्वीप तथा पर्वत आदि की भी कल्पना की गयी है।[2] योगी द्वारा परिचालित सुषुम्णा–गंगा उलटकर ऊपर बहती हुई इन समुद्रों को सोखती चलती है और शशि–सूर (इडा–पिंगला) नाड़ी को भी अपने में लय कर लेती है, यही 'उलटी गंग समुद्रहि सोखै, शशि औ सूरहि ग्रासै" का अभिप्राय है।

ब्रह्मरंध्र एवं भ्रमरगुफा जो ऊपर खोपड़ी को कहते हैं, उसमें सातवां समुद्र माना है जिसमें स्वच्छ जल है। वही अमृत–रस है। उसी को पीकर योगी अमर होता है। ऐसी योगियों की धारणा है।

---

1. नाड्यस्तु ता अधोवदनाः पद्मतन्तुनिभाः स्थिताः।
षष्ठवंशं समाश्रित्य सोमसूर्याग्निरूपिणी॥ (शिवसंहिता 2/17)
2. विस्तार के लिए देखिए पंचग्रन्थी, टकसार, चौपाई 22 तथा 23; जिनमें 28 चौपाइयां तथा चार दोहे हैं।

"नौग्रह मारि रोगिया बैठो"—आंख, नाक, कान, जीभ, चमड़ी, मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार—ये पांच ज्ञान इन्द्रियां एवं चतुष्टय अंतःकरण नौग्रह हैं। जो ग्रस ले, पकड़ ले, वह ग्रह है। इंद्रिय और अंतःकरण जीव को ग्रस लेते हैं, पकड़ लेते हैं; इसलिए ये ग्रह हैं। योगी लोग इनका भी दमन कर समाधि में बैठ जाते हैं। सद्‌गुरु ने यहां योगियों को व्यंग्य में 'रोगिया' कहा है। क्योंकि इन्हें शारीरिक योग में अमरत्व पाने के व्यामोह का रोग लगा है। योगी लोग जब समाधि में पहुंचकर कभी नाद सुनते, कभी बिन्दु या ज्योति देखते हैं, तब वे उन्हें ही परमात्मा मान लेते हैं। सद्‌गुरु कहते हैं "जल में बिम्ब प्रकासै" यह तो पानी में पड़ी हुई छाया के समान मन के भास-अध्यास या तत्त्वों के कार्य हैं। जिन्हें तुम देख और सुन रहे हो, वे परमात्मा कैसे हो जायेंगे? वे तो दृश्य जड़ हैं। परमात्मा-शुद्धात्मा तो स्व-स्वरूप चेतन है, जो स्व के रूप में विद्यमान है।

"बिनु चरणन को दहुँदिश धावै, बिन लोचन जग सूझै।" योगी लोग अपनी सिद्धि का बढ़-चढ़कर वर्णन करते हैं। वे कहते हैं कि हम बिना पैरों के सब दिशाओं में दौड़ सकते हैं। हमें आंखें बन्द करने पर समाधि में संसार के सारे गुप्त-प्रकट पदार्थ दिखाई देते हैं। सद्‌गुरु कहते हैं कि यह इनकी बकवास है। चमत्कारिक ढंग से वर्णन की जाने वाली सारी ऋद्धि-सिद्धियां मिथ्या प्रलाप हैं। ऐसे प्रलाप का प्रचलन वैदिक युग से ही है। जैसे "मुनि लोग आकाश में उड़ सकते हैं और सारे पदार्थों को देख सकते हैं। मुनि लोग वायुमार्ग पर घूमने के लिए अश्व स्वरूप हैं।"[1] नाना काल्पनिक सिद्धियों की चर्चा जनमानस में थी, तो महर्षि पतंजलि[2] ने उन अंधविश्वासों को अपने योगदर्शन में सूत्रबद्ध कर विभूतिपाद नाम का एक अध्याय ही लिख दिया, जिसमें बताया गया कि सिद्ध योगी सारे संसार का ज्ञाता, आकाश में उड़ने वाला, छोटा या बड़ा रूप बना लेने वाला आदि हो जाता है।[3]

सद्‌गुरु कहते हैं कि यह तो "संशय उलटि सिंह को ग्रासे" वाली बात हुई। जैसे कोई सिंह किसी शशा पर शिकार करने के लिए दौड़ा हो और शशा ही उलटकर सिंह को धर दबोचे वैसे योगी लोग संशय, अज्ञान, अविद्या आदि का नाशकर मुक्ति लेने चले तो वे संशय के ही शिकार हो गये। जितनी ऋद्धि-सिद्धियां कारण-कार्य-व्यवस्था का उल्लंघन करने वाली, तर्कहीन तथा चमत्कारी हैं, वे सब मनुष्य को मूढ़ बनाने वाली, संशय, अज्ञान तथा अविद्या

---

1. ऋग्वेद 10/136/4-5।
2. पतंजलि का काल ईसा के सौ वर्ष पूर्व माना जाता है।
3. विस्तार के लिए देखिए योगदर्शन विभूतिपाद के 14 से 49 सूत्र। कबीर दर्शन में चौथे अध्याय में योगदर्शन का "सिद्धियां' शीर्षक देख सकते हैं।

में डालने वाली हैं। मैंने कहा शशा ने सिंह को खा लिया। यह आश्चर्यमय कथन है। परन्तु इसे कोई निष्पक्ष विवेकी समझेगा कि संशय और अज्ञान योगियों तथा अन्य जीवों को भटका रहे हैं।

"औंधे घड़ा नहीं जल बूड़े, सीधे सो जल भरिया।" घड़ा औंधा अर्थात उलटा हो तो उसमें पानी नहीं भरा जा सकता। अथवा किसी जलाशय में घड़ा औंधा पड़ा हो तो उसमें पानी नहीं भर सकता। पानी तो उसमें तब भरेगा जब वह सीधा हो जाये। इसी प्रकार उलटी बुद्धि से आत्मसाक्षात्कार नहीं हो सकता। इसके लिए सीधी एवं शुद्ध बुद्धि चाहिए। जो कुछ मन तथा इन्द्रियों द्वारा प्रतीतमान है उसमें रमने से स्वरूपस्थिति कदापि नहीं हो सकती। योगी लोग विवेक द्वारा अपने आप को न समझकर नाद, बिन्दु, ज्योति आदि को ही अपना लक्ष्य मान लेते हैं जो श्रुत या दृश्य विषय हैं। इतना ही नहीं, वे झूठी ऋद्धि-सिद्धि एवं लोकरंजन में भी उलझे रहते हैं। यह भी सच है कि सच्चे योगी लोकरंजन तथा मिथ्या ऋद्धि-सिद्धि के चक्कर से दूर होते हैं, परन्तु वे भी अपनी कल्पित अवधारणा के भास-अध्यास से अपने को नहीं मुक्त कर पाते। सभी दृश्यों को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित होना ही सीधा तथा शुद्ध पथ है।

"जेहि कारण नर भिन्न भिन्न करें, सो गुरु प्रसादै तरिया।" संसार-सागर से तरने के लिए कोई योग करता है, कोई कर्मकांड का अनुष्ठान करता है, कोई नाना देवी-देवताओं की उपासना करता है तथा कोई अन्य अनेक उपायों का आश्रय लेता है। कबीर देव कहते हैं कि यह काम तो गुरु-कृपा से सहज ही हो जाता है। यहां कोई यह अर्थ न लगा ले कि गुरु कृपा कर देगा, आशीर्वाद दे देगा और हम मुक्त हो जायेंगे। गुरु-कृपा है उनके द्वारा शिष्य को स्वरूपज्ञान का उपदेश दिया जाना। गुरु बन्धनों की परख कराता है, जिसको मुक्त होना है, उस जीव के स्वरूप का परिचय कराता है। जिस रहनी में रहकर पूरा जीवन बिताना चाहिए जिससे जीवन्मुक्ति की सिद्धि हो, इसका वह उपदेश करता है तथा अपनी प्रत्यक्ष रहनी से प्रेरणा देता है। अतएव मुमुक्षु को चाहिए कि वह पूर्ण सद्गुरु की खोज करे। पूर्ण सद्गुरु पाकर उनके चरणों में सर्वथा समर्पित हो जाये। सारी भ्रांतियों से रहित स्वरूपज्ञान तथा निष्काम रहनी से सम्पन्न पुरुष ही सच्चा सद्गुरु है। ऐसे सद्गुरु की शरण में समर्पित होकर रहने से अपने आप जो होना चाहिए वह होने लगता है। पूर्ण सद्गुरु अमृत-रस टपकता हुआ एक व्यक्तित्व है और शिष्य खुला हुआ पात्र, जिसमें वह रस भरता जाता है। गुरु वह है जो केवल अमृत हो। जिसके पास दुख नाम की वस्तु न हो, जो सदैव कृतकृत्य हो, आनन्दकंद हो। और शिष्य खुलापात्र—निष्कपट व्यक्तित्व !

"बैठि गुफा में सब जग देखे, बाहर किछउ न सूझै।" योगी लोग यह ढोल ज्यादा पीटते हैं कि समाधि में बैठकर हम सारे संसार की गुप्त-प्रकट वस्तुओं को देखते हैं। बाहर के चर्मचक्षु से तो कुछ भी नहीं दिखता। यह ठीक है कि समाधि से शांति मिलती है, परन्तु उसमें संसार की सारी गुप्त-प्रकट वस्तुएं दिखती हैं, यह एक मिथ्या महिमा है। आज तक कोई एक भी ऐसा योगी प्रत्यक्ष में नहीं आया कि वह ध्यान लगाकर यह बता दे कि पृथ्वी में कहां-कहां धातुएं, कोयला, तेल तथा अन्य खनिज पदार्थ हैं। यदि ऐसा कोई ध्यान मात्र से बता दे तो विश्व का बहुत बड़ा कल्याण हो। ध्यान द्वारा सब कुछ जान जाने की बात यदि सिद्ध हो जाये तो संसार की अधिकतम समस्याएं बड़े सरल ढंग से हल हो जायें। अतएव कबीर साहेब कहते हैं कि यह योगियों द्वारा सर्वज्ञता की बात करना एक ढकोसला है, छलावा है और अपने आप को बहुत बड़ा या ईश्वर सिद्धकर जनता से पुजवाने की भावना है। अतः ऐसे भ्रम में किसी को नहीं पड़ना चाहिए।

सद्गुरु कहते हैं कि यह तो "उलटा बाण पारधिहि लागै" वाली बात हुई। शिकारी ने बाण मारा शिकार पर और वह लौटकर शिकारी को ही लग गया। सत्य ज्ञान के लिए योग किया जाता है और योग का फल हुआ ज्ञान के क्षेत्र में भ्रम पैदा करना। समाधि में उपलब्ध ज्ञान सच्चा है तथा चर्मचक्षु से देखकर प्राप्त हुआ ज्ञान झूठा है—इस कथन का अर्थ इतना ही हो सकता है कि समाधि का फल आत्मज्ञान है और वह उच्चतम है, जीवन का परम फल है, और चर्मचक्षु से देखकर जो ज्ञान प्राप्त होता है वह भौतिक है, नाशवान है। परन्तु यह नहीं कह सकते कि समाधि-ज्ञान से जीवन की सारी समस्याएं हल हो जायेंगी और चर्म-चक्षु से प्राप्त ज्ञान निरर्थक है। पहली बात तो समाधि से केवल शांति मिलती है, संसार की सारी गुप्त-प्रकट वस्तुओं का ज्ञान नहीं होता। हां, एकाग्रचित व्यक्ति बाहरी अनुसंधान में भी सफल होता है। चर्म-चक्षु से देखकर ही व्यवहार के सारे काम संपादित होते हैं। अध्यात्म इतना नहीं बढ़ जाना चाहिए कि व्यवहार की अवहेलना हो तथा व्यवहार इतना नहीं बढ़ जाना चाहिए कि अध्यात्म का तिरस्कार हो। दोनों का अपने-अपने स्थान पर महत्त्व है। यह अवश्य समझना चाहिए कि व्यवहार मात्र साधन है, जीवन का साध्य केवल आध्यात्मिक बोध एवं शांति है। सद्गुरु कहते हैं "सूरा होय सो बूझै" इसे जो कोई निष्पक्षता में शूर-वीर होगा वही समझ सकता है। अंध-परम्परा से हटकर सत्य तथा असत्य की परख करना और असत्य पक्ष को छोड़कर केवल सत्य की उपासना करना बहुत बड़े साहस तथा शूर-वीरता का काम है।

"गायन कहै कबहुँ नहिं गावै, अनबोला नित गावै।" मनुष्य ही सभी वेद-शास्त्र, कुरान-बाइबिल आदि का गायन करने वाला है। इतना ही नहीं, समस्त

प्रकार के ज्ञान-विज्ञान मनुष्य की देन हैं; परन्तु खेद है कि योगी, ज्ञानी, पंडित आदि यही कहते हैं कि मनुष्य तुच्छ है। वह कभी प्रामाणिक बात नहीं कह सकता है। आज के युग में भी कितने विद्वान नामधारी कहते हैं कि हम मनुष्यों की बनायी पुस्तकों पर विश्वास नहीं करते। हम तो ईश्वर-वाणी को ही मानते हैं। उन भोले लोगों को अभी तक इतनी भी अकल नहीं आयी है कि वेद, बाइबिल, कुरानादि सारी पुस्तकें मनुष्यों की रचनाएं हैं और सब में कुछ पक्की तथा कुछ कच्ची बातें हैं। इसलिए सभी वाणियों पर परख की कसौटी लगाना कर्तव्य है। गायन करने वाला मनुष्य है, ईश्वर तो अनबोला है। ईश्वर तो मूक है। ईश्वर अपने नाम पर होते हुए रक्तपात पर भी नहीं बोलता, तो उसकी मूकता के लिए अन्य प्रमाण की क्या आवश्यकता ! लेकिन ज्ञानी नामधारी यह कहते हैं कि अनबोला ईश्वर ही ज्ञाता-प्रवक्ता है और बोलता मनुष्य तुच्छ है। सद्‌गुरु कहते हैं कि मानव का मूल्य गिराकर मानव अपने पैरों में कुल्हाड़ी मार रहा है।

"नटवट बाजा पेखनी पेखै, अनहद हेत बढ़ावै।" योगी लोग नट के समान हाट-बाजार में चौरासी आसन दिखाते हैं, जमीन में समाधि लेते हैं। यह सब कर संसार के लोगों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। ये सींगी बाजा बजाते हैं। समाधि में अनाहतनाद सुनते हैं, जो खोपड़ी में उठती हुई नसों की झनकारें हैं। उसमें वे शंख, भेरी, शहनाई, मृदंग, करताल, पखावज आदि बाजाओं के बजने की कल्पना कर उसी में मग्न हो जाते हैं। फिर 'पेखनी पेखै' मुद्राएं देखते हैं। खेचरी, भूचरी, चांचरी, अगोचरी, अलक्ष्य आदि मुद्राएं हैं। जिह्वा को उलटाकर तथा तालुमूल में लगाकर खुले नेत्रों से त्रिकुटी (दोनों भौहों के बीच) में देखना, जिसमें मोती झड़ते हुए प्रतीत होते हैं—खेचरी मुद्रा है। दोनों नेत्रों को नासिकाग्र पर रखते हुए नाभिस्थल या पृथ्वी पर देखना जिसमें प्रकाश दिखता है—भूचरी मुद्रा है। हाथ की उंगुलियों से दोनों नेत्रों के पलकों को दबाकर खोलने से चम-चम दिखता है, यह चांचरी मुद्रा है। बाहर से मन समेटकर हृदय में एकाग्र करने से श्वास स्थिर होकर प्रकाश दिखता है, यह अगोचरी मुद्रा है। अंगुष्ट मात्र ज्योति का हृदय में ध्यान करते-करते शरीर का भान भूल जाना—अलक्ष्य मुद्रा है। इस प्रकार की अनेक मुद्राएं योगी लोग साधते हैं और वे अनाहतनाद सुनने में ही ज्यादा प्रेम बढ़ाते हैं। ये सब दृश्य तथा श्राव्य होने से जड़ हैं। जड़ में ध्यान लगाने से कभी स्वरूपस्थिति नहीं हो सकती। पहले चंचल मन को रोकने के लिए कोई जड़ का भी अवलंब लेता है तो बुरा नहीं, किन्तु यदि उसे ही लक्ष्य मान लेता है तो यह अबोध है।

"कथनी बदनी निजु कै जोवै, ई सब अकथ कहानी।" योगी लोग अपनी बातों को शर्तिया समझते हैं। उनके ख्याल से उनकी सारी बातें सच हैं। सद्‌गुरु

कहते हैं—"ई सब अकथ कहानी" है। इनके घोषित ऋद्धि-सिद्धि तथा नाद, बिन्दु आदि के परम लक्ष्य होने की बात ऐसी कहानी है जो न कहने योग्य है। ये सब थोथे हैं। इन सबके मूल में है प्राचीन पुरुषों का वाणी-प्रमाण—"ई पुरुषन की बानी"। इसलिए "धरती उलटि अकाशहि बेधै" ये योगी लोग नीचे मूलाधार से चलकर ऊपर ब्रह्मांड की भ्रमरगुफा में पहुंचते हैं। और "बिना पियाला अमृत अँचवै" खोपड़ी में अमृतवल्लरी का पान करते हैं। जड़ भास को ही अमृत मानने का भ्रम करते हैं। सद्‌गुरु कहते हैं कि स्वरूपज्ञान का सागर तुम्हारे हृदय में भरा है और तुम मिथ्या अमृत की आशा में खोपड़ी की गलियां छान रहे हो। सद्‌गुरु अपनी अंतिम बात बताते हुए कहते हैं—

"कहहिं कबीर सो युग युग जीवै, जो रामसुधारस चाखै।" योगी तथा अन्य लोग तो यही चाहते हैं कि हम युग-युग जीते रहें, सदा के लिए अमर हो जायें। सद्‌गुरु कहते हैं कि तुम स्वाभाविक अमर हो। तुम्हारा स्वरूप तो अमर राम है। अतः देहाभिमान छोड़कर रामामृत-रस का पान करो। नाद, शब्द, बिन्दु, ज्योति आदि का चक्कर छोड़ो। मूर्द्धा द्वार में टपकते जल को अमृत मानकर लम्बिका योग द्वारा पीने का प्रपंच त्यागो। हठयोग का चक्कर छोड़कर चित्त को सहज एकाग्र करो और अपने राम में लगाओ। तुम्हारा चेतन स्वरूप राम है, अविनाशी है, अमृत है। उसके विचार में मग्न हो जाओ तथा आगे चलकर विचारों को भी छोड़कर केवल अपने स्वरूप-राम में स्थित हो जाओ। स्वरूपस्थिति ही रामसुधारस है। इसको चखने वाला अभय है, अमर है, मुक्त है। इसीलिए सद्‌गुरु कहते हैं कि हे संतो! जागते रहो, नींद नहीं करना। असावधान नहीं होना। आत्मविचार एवं स्वरूपस्थिति छोड़कर हठयोगादि के भास-अध्यास में नहीं पड़ना। तुम्हारे स्वरूप को न काल खा सकता है, न उसे समय माप सकता है और न उसका क्षय हो सकता है। तुम अमर हो, पूर्णकाम हो, निर्विकार हो। इस भाव में सावधान रहो।

घर के झगड़े का सुलझाव

शब्द-3

सन्तो घर में झगरा भारी॥ 1॥
राति दिवस मिलि उठि उठि लागें, पाँच ढोटा एक नारी॥ 2॥
न्यारो न्यारो भोजन चाहैं, पाँचों अधिक सवादी॥ 3॥
कोइ काहू का हटा न मानै, आपुहि आपु मुरादी॥ 4॥
दुर्मति केर दोहागिन मेटै, ढोटहि चाँप चपेरे॥ 5॥
कहहिं कबीर सोई जन मेरा, जो घर की रारि निबेरे॥ 6॥

शब्दार्थ—घर=शरीर, हृदय। पाँच ढोटा=पांच लड़के, पांच ज्ञानेंद्रियां—आंख, नाक, कान, जीभ तथा चमड़ी। नारी=वासना, दुर्बुद्धि। हटा=रोकना। मुरादी=इच्छुक। दोहागिन=दुर्भाग्य, बदकिस्मती। चाप=धनुष, दमन। निबेरे=सुलझाये।

भावार्थ—हे संतो! हर आदमी के अपने शरीर में ही भारी झगड़ा मचा रहता है॥ 1॥ पांच लड़के पांच ज्ञानेंद्रियां हैं और एक नारी दुर्बुद्धि एवं दुर्वासना है। ये उठ-उठकर जीव से रात-दिन लड़ते हैं॥ 2॥ ये अलग-अलग विषयों के आहार चाहते हैं, क्योंकि पांचों बड़े स्वादासक्त हैं॥ 3॥ ये पांचों किसी का वर्जना नहीं मानते। ये सब अपनी-अपनी इच्छाओं को पूर्ण करने में लगे रहते हैं॥ 4॥ अतएव साधक को चाहिए कि वह दुर्बुद्धि को सबसे बड़ा दुर्भाग्य समझकर उसे नष्ट कर दे, और इन्द्रिय-ढोटों को ज्ञान की चपत लगाकर उन्हें चुप बैठा दे, अर्थात उनका दमन कर दे॥ 5॥ सद्गुरु कहते हैं कि वही मेरा अनुगामी या मित्र है जो अपने घर के झगड़े को सुलझा ले, अपने हृदय की उलझनों को समाप्त कर दे॥ 6॥

व्याख्या—कबीर साहेब की संत-मण्डली बैठी है। मानो किसी ने आकर कबीर साहेब से कहा हो कि अमुक-अमुक लोगों में झगड़ा हुआ है। कबीर साहेब ने मानो संतों से कहा हो—हे संतो, भारी झगड़ा तो सबके अपने-अपने शरीर रूपी घर में है। जो मन का झगड़ा है, यह भारी है। सद्गुरु ने हृदय में चलने वाले अविराम झगड़े को भारी विशेषण से संबोधित किया है। मनुष्य हर समय अपने हृदय में उलझा रहता है। संसार के छोटे तथा बड़े झगड़े एवं छोटे से बड़े युद्ध, यहां तक विश्वयुद्ध भी मनुष्य के मन के झगड़े से उत्पन्न होते हैं। संसार के बड़े-बड़े युद्ध भी केवल दो-चार मनुष्यों के मन की मलिनता के फल होते हैं। यदि घर का झगड़ा ठीक हो जाये, तो बाहर का झगड़ा अपने आप ठीक हो जाये। घर का झगड़ा है अपने शरीर में होता हुआ झगड़ा।

"राति दिवस मिलि उठि उठि लागें, पाँच ढोटा एक नारी।" पांच इन्द्रियां रूप लड़के तथा दुर्बुद्धि रूपी नारी—ये छहों रात-दिन उठ-उठकर जीव से झगड़ते हैं। सारे झगड़ों के मूल में दुर्बुद्धि एवं दुर्वासनाएं हैं। मन की गंदगी से ही तो चरित्र गंदा होता है। इन्द्रियों की लंपटता का कारण मन की लंपटता है और मन इसलिए लंपट है, क्योंकि बुद्धि ठीक नहीं है।

"न्यारो न्यारो भोजन चाहैं, पाँचों अधिक सवादी।" आंखें मनोहर रूप देखना चाहती हैं, नाक सुगन्ध सूंघना चाहती है, कान मनभावन शब्द सुनना चाहते हैं, जीभ षट्रसों का स्वाद लेना चाहती है तथा चमड़ी कोमल स्पर्श चाहती है। ये सारी इन्द्रियां अपने-अपने स्वाद में लीन हैं। पांचों अपने विषयों

में बहुत लंपट हैं। ये इन्द्रियां सहजतया नहीं रुकतीं। सभी इन्द्रियां अपने-अपने भोगों की ओर जीव को खींचती हैं। ज्ञान की बातें जान लेने पर भी ये मन तथा इन्द्रियां नहीं रुकते। इसके लिए गहरी विवेक-शक्ति, विषयों की तरफ से ग्लानि, विषयों में दोष-दर्शन, कुसंग का त्याग तथा भोगों का भी त्याग होना चाहिए। त्याग करने से त्याग की शक्ति बढ़ती है। जो कभी एक दिन भी अनशन नहीं रहता, उसे अनशन रहना बड़ा कठिन काम लगता है, परन्तु जो बराबर अनशन रहा करता है, उसे अनशन रहना कोई बड़ी बात नहीं लगती।

आप बीसों भाषाओं के विद्वान हो जायें; दर्शनशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, रसायनशास्त्र एवं असंख्य शास्त्रों को, सब वेदों, सब नीतियों को जान लें; आप जगतप्रसिद्ध महात्मा, महन्त, आचार्य, प्रवचनकर्ता एवं विज्ञानी हो जायें और चाहे चन्द्रमा पर या मंगलग्रह पर भी पहुंच जायें, परन्तु यदि आपकी इन्द्रियां, आपका मन आपके अधीन नहीं हैं, तो आपका सब मिट्टी है। महाकवि जौक कहते हैं—

न मारा आप को जो खाक हो अक्सीर हो जाता।
अगर पारे को ऐ अक्सीर गर मारा तो क्या मारा॥
बड़े मोजी को मारा नफ्से अम्मारे को गर मारा।
नहंगो अजदहा और शेरनर मारा तो क्या मारा॥

अर्थात—आदमी बुराइयों को मारकर उसका भस्म नहीं बनाया जो अपने लिए अक्सीर (अचूक) दवा हो जाती। यदि पारे का भस्म बनाकर शारीरिक रोग के लिए अक्सीर दवा बनायी तो क्या? यदि तू नफ्से अम्मारे (बुरी इच्छाओं) को मार लिया तो जानो बड़े भारी मोजी (घातक) को मार डाला। परन्तु यदि तू नहंगो (घड़ियाल), अजदहा (सांप) और शेरनर (सिंह) को मारा तो क्या मारा?

"दुर्मति केर दोहागिन मेटै, ढोटहि चाँप चपेरे।" सद्गुरु कहते हैं कि इस घर के झगड़े को, इस तुम्हारे शरीर में होते हुए फसाद को बन्द करो। जब तक यह बन्द नहीं होगा, तब तक तुम्हें शांति नहीं मिलेगी। बाहरी सारे झगड़े और फसाद का मूल यह तुम्हारे घर का झगड़ा है। इसके लिए सद्गुरु बताते हैं कि तुम्हारे मत्थे दुर्बुद्धि का दुर्भाग्य है। तुम्हारी सबसे बड़ी बदकिस्मती है बेअक्ली, इसको मिटा दो। तुम नहीं समझ पाते हो कि विषयों के भोगों से काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष आदि बढ़ाकर तुम अत्यधिक अशांत होते हो। तुम जितने विषय-लंपट बनते हो, उतनी तुम्हारी आत्मा मलिनता से ढककर पतनोन्मुख होती है। विषय-भोग तुम्हें व्यामोहित बनाकर छोड़ देते हैं। परन्तु दुर्बुद्धि के कारण तुम इस बात को नहीं समझ पाते हो। यही तुम्हारा सबसे बड़ा दुर्भाग्य

है। इसे मूलतः छोड़ो और पांच ज्ञानेन्द्रियों को अपने वश में करो। खाओ, परन्तु शुद्ध, सात्त्विक, और उसे भी अनासक्त होकर केवल शरीर-यात्रा के लिए। पहनो, मध्यवर्तीय वस्त्र, परन्तु उससे अनासक्त होकर। देखो, केवल शरीर-निर्वाह एवं आवश्यकतावश उसमें भी कहीं मोह न हो। ममता, काम-वासना और आसक्ति छोड़कर शरीर की सारी क्रियाएं करो। जब तुम्हारे मन तथा इन्द्रियां तुम्हारे वश में हो जायेंगे, तब तुम्हारा जीवन ही बदल जायेगा।

स्ववश मन-इन्द्रिय वाले व्यक्ति के जीवन में द्वन्द्व नहीं रहता। उसके अन्दर का झगड़ा मिट जाने से उसके जीवन से बाहर भी झगड़े नहीं होते। सद्गुरु कहते हैं कि वही मेरा अनुगामी है, भक्त है तथा मित्र है जो अपने घर के झगड़े को सुलझा ले। जिसके मन तथा जीवन में झगड़े नहीं हैं, वही सच्चा कबीर-अनुयायी है। वही सच्चा गुरु-पथ गामी है। वही सच्चा इंसान है।

धार्मिक भ्रांतियों पर विचार

शब्द-4

सन्तो देखत जग बौराना॥ 1॥

साँच कहौं तो मारन धावै, झूठे जग पतियाना॥ 2॥
नेमी देखा धर्मी देखा, प्रात करे अस्नाना॥ 3॥
आतम मारि पषाणहि पूजे, उनमें किछउ न ज्ञाना॥ 4॥
बहुतक देखा पीर औलिया, पढ़ें कितेब कुराना॥ 5॥
कै मुरीद तदबीर बतावैं, उनमें उहै जो ज्ञाना॥ 6॥
आसन मारि डिम्भ धरि बैठे, मन में बहुत गुमाना॥ 7॥
पीतर पाथर पूजन लागे, तीरथ गर्भ भुलाना॥ 8॥
टोपी पहिरे माला पहिरे, छाप तिलक अनुमाना॥ 9॥
साखी शब्दै गावत भूले, आतम खबरि न जाना॥10॥
हिन्दू कहैं मोहिं राम पियारा, तुरुक कहैं रहिमाना॥11॥
आपुस में दोउ लरि लरि मूये, मर्म न काहु जाना॥12॥
घर घर मन्तर देत फिरत हैं, महिमा के अभिमाना॥13॥
गुरू सहित शिष्य सब बूड़े, अन्त काल पछिताना॥14॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, ई सब भरम भुलाना॥15॥
केतिक कहौं कहा नहिं माने, सहजे सहज समाना॥16॥

शब्दार्थ—पतियाना=विश्वास करना। पीर=मुसलमानों के गुरु। औलिया=तपस्वी। मुरीद=शिष्य। तदबीर=युक्ति। उहै=भ्रमपूर्ण। डिम्भ=दंभ, दिखावा। गुमाना=घमंड। रहिमाना=दयालु, ईश्वर। सहजे सहज=बड़ी सरलता से।

भावार्थ—हे संतो ! विचारकर देखें तो लगता है कि संसार के लोग धर्म के नाम पर पागल हो गये हैं॥ 1 ॥ यदि मैं सत्य कहता हूं तो लोग मारने दौड़ते हैं और धर्म के ठेकेदारों की कही हुई झूठी बातों में विश्वास करते हैं॥ 2 ॥ मैंने बहुत-से नियम-धर्म के आचार करने वालों को देखा है। वे प्रात:काल ही स्नान करते हैं॥ 3 ॥ परन्तु दुख है कि वे चलते-फिरते जीवधारियों की हत्या कर निर्जीव पत्थर के देवी-देवताओं की पूजा करते हैं। इसलिए साफ समझने में आता है कि उनमें कुछ भी ज्ञान नहीं है॥ 4 ॥ मैंने मुसलमानों के बहुत-से पीर-औलियों को भी देखा है। वे कुरान शरीफ पढ़ते हैं तथा उसके सम्बन्धित अन्य किताबें भी पढ़ते हैं॥ 5 ॥ वे लोगों को अपने शिष्य बनाकर ईश्वर या स्वर्ग पाने के लिए उन्हें वही युक्ति एवं साधन बताते हैं जिनमें मूक प्राणियों की निर्दयतापूर्वक हत्या होती है। इसलिए इनमें भी ज्ञान के नाम पर वही भ्रम है॥ 6 ॥ कितने धार्मिक कहलाने वाले लोग आसन लगाकर सिद्ध या ईश्वर-मग्न होने का दिखावा करके बैठते हैं। उनके मन में धार्मिक होने का बहुत बड़ा घमंड रहता है॥ 7 ॥ परन्तु वे धातु-पाषाण की मूर्ति पूजने लगते हैं और तीर्थों के सेवन से मोक्ष या स्वर्ग मिलेगा, इस घमंड में भूले रहते हैं॥ 8 ॥ कितने धार्मिक कहलाने वाले लोग विशेष प्रकार की टोपी पहनते हैं, माला पहनते हैं, शरीर के अनेक अंगों में छाप लगाते हैं, मस्तक पर अनेक प्रकार के तिलक करते हैं और बहुत-से अनुमान-कल्पना में पड़े रहते हैं॥ 9 ॥ वे साखी तथा शब्दों को गाने में ही भूले रहते हैं। उन्हें अपनी आत्मा, अपने स्वरूप एवं स्वत्व का कुछ भी पता नहीं रहता॥ 10 ॥ हिन्दू कहते हैं कि हमें राम प्रिय हैं और मुसलमान कहते हैं कि हमें रहिमान प्रिय हैं॥ 11 ॥ इसको लेकर वे आपस में लड़-लड़कर मरते हैं; परन्तु उनमें से कोई यह रहस्य जानने की चेष्टा नहीं करता कि राम-रहीम का अभिप्राय एक ही है॥ 12 ॥ यथार्थ ज्ञान तथा गुरुत्व के आचरण से रहित रहकर केवल मिथ्या गुरुत्व के अहंकार में डूबे हुए कितने ही धार्मिक कहलाने वाले घर-घर में मंत्र-दीक्षा देते घूमते हैं॥ 13 ॥ ऐसे गुरु लोग अपने सारे शिष्यों को लेकर घोर अंधकार में डूबे रहते हैं, और वे लोग जीवन के आखिर में तब पश्चाताप करते हैं जब उन्हें लगता है कि जीवन में सच्चे धर्म का आचरण नहीं हुआ, केवल धर्म का ढोंग रहा॥ 14 ॥ कबीर साहेब कहते हैं कि ये सब भ्रांति में पड़कर भूले हैं॥ 15 ॥ मैं कितना ही कहता हूं, परन्तु ये कहा नहीं मानते, अपने भोलेपन में पड़कर भेड़िया-धसान न्याय भ्रांति में डूबे जा रहे हैं॥ 16 ॥

व्याख्या—एक पागलखाने में यदि होशहवास वाला आदमी पहुंच जाये तो उसे जो अनुभव होगा, वही अनुभव कबीर-जैसे निर्लेप तथा प्रबुद्ध संत पुरुष को इस संसार में आकर होगा। कबीर ऐसी मानसिकता के महापुरुष थे जिनमें

कहीं चिपकाहट नहीं थी। सर्वत्र अनासक्त आदमी ही सत्य कह सकता है। कबीर साहेब ने धर्म के नाम पर बाह्याचार तथा पाखंड को बड़े निकट से देखा था और उन्हें उससे बड़ा क्षोभ हुआ था। इसलिए उन्होंने उसके विषय में दो टूक बातें कही हैं।

वे कहते हैं—हे सन्तो ! देखता हूं तो लगता है कि संसार के लोग पागल हो गये हैं। धर्म के नाम पर जो पागलपन होता है उसका उतरना बड़ा कठिन होता है। यदि सोचा जाये कि सत्य बात बताकर लोगों को प्रेरित किया जाये, जिससे वे अपना पागलपन छोड़ें, तो यह भी सरल कार्य नहीं है। सद्गुरु कहते हैं "साँच कहौं तो मारन धावै, झूठे जग पतियाना।" यदि सत्य कहा जाये तो जगत के लोग मारने दौड़ते हैं, और झूठ कहो तो उस पर विश्वास करते हैं। सदाचार तथा नैतिकता से हटकर जितना कुछ संप्रदायों में बताया जाता है, उसमें अधिक झूठ तथा अंधविश्वास होता है। ईश्वर का भेजा कोई मनुष्य पैगम्बर, ईश्वर-पुत्र तथा अवतार है, ईश्वर की भेजी हुई किताब है, ईश्वर का भेजा कोई मजहब या संप्रदाय है, मनुष्य के अलावा कोई देवी-देवता हैं, नदियों-तीर्थों आदि में नहाने से पाप कटते हैं, मनुष्य के अपने आपके विवेक, श्रम एवं साधन के अलावा कोई उसका उद्धारक है, ये सारी बातें झूठी हैं। सद्गुरु भी केवल प्रेरक हैं, उद्धारक नहीं। परन्तु ये सारी बातें कही जायें तो बहुत-से लोग परेशान हो जायेंगे। धार्मिक कहलाने वालों का मन चमत्कारों का पक्षधर हो गया है। परन्तु सारे चमत्कार झूठे हैं। कोई ईश्वर या देवी-देवता अपने भक्तों के पाप कर्मों को माफ कर देता है, यह धारणा झूठी तो है ही, पाप बढ़ाने वाली भी है। ऐसी बहुत-सी बातें हैं, जिन्हें समझना बहुत जरूरी है, परन्तु लोग जड़ीभूत हैं। समझना नहीं चाहते।

"नेमी देखा धर्मी देखा, प्रात करे अस्नाना। आतम मारि पषाणहि पूजे, उनमें किछउ न ज्ञाना।" विचारिए जरा, नियम, धर्म, प्रातःस्नान का क्या अर्थ हुआ, जब जीव को मारकर निर्जीव की पूजा की गयी। सब जानते हैं कि माने गये सारे देवी-देवता, निर्जीव पत्थर हैं या मनःकल्पित हैं, फिर भी उनकी पूजा में जीव मारे जा रहे हैं। जीव मारकर निर्जीव की पूजा, इससे अधिक पागलपन और क्या हो सकता है ! जंगली मूढ़ों से लेकर शहरी विद्वानों एवं पंडितों तक में यह भ्रम छाया है कि देव-पूजा में जीव-वध पाप तो है ही नहीं, अपितु पुण्य है। सद्गुरु कहते हैं कि इनमें कुछ भी ज्ञान नहीं है।

यही बात पीर-औलिया की है, किताब-कुरान पढ़ने वालों की है। निहायत रहम करने वाले अल्लाह को खुश करने के लिए निहायत बेरहमी का काम, कुर्बानी के नाम पर मूक पशुओं की हत्या। हज के समय मक्का में लाखों

जानवर अल्लाह को खुश करने के लिए उनके बन्दों द्वारा मार दिये जाते हैं। भारत में ही बकरीद जैसे धर्म के त्योहार में लाखों बकरे आदि जानवरों के गले पर खुदा के बन्दों द्वारा छूरी रेत दी जाती है। उनके पीर-औलिया खुदा से मिलने के लिए यही रास्ता बताते हैं।

अल्लाह और जन्नत (स्वर्ग) की कल्पना भी काबिलेगौर है। अल्लाह ने साफ-पाक रूहों (जीवों) को दुनिया में भेज दिया किसी को कोढ़ी तथा किसी को सर्वांग-सम्पन्न बनाकर। किसी को दाने-दाने के लिए मुहताज तथा किसी को अरबपति बनाकर। किसी को अटट गंवार तथा किसी को कुशाग्रबुद्धि बनाकर। किसी ने ठीक ही कहा है—"उसने न्याय न कर ठकुराई की है और बिना कोई कर्म किये जीवों की तकदीर बना दी और उसमें बुराई लिख दी।"[1]

स्वर्ग-नरक भी कितने बेढंगे हैं। मनुष्यों ने एक बार जीवन में कुछ अच्छा या बुरा किया, और ईश्वर ने उन्हें उनके फल में स्वर्ग या नरक में डाल दिया और वे सदा के लिए उन्हीं में बन्द हो गये। स्वर्ग वाले सदा स्वर्ग भोगें, चलो ठीक है, नरक वाले कभी उससे छूटने का रास्ता ही न पावें। ऐसा है अल्लाह का कानून। और वह स्वर्ग भी बीवी-बच्चों वाला, शराब-कबाब वाला। शरीर जड़ कणों का जोड़ होता है। जुड़ी हुई चीज टूटती है। बना हुआ शरीर बदलेगा, बूढ़ा होगा, विनष्ट होगा। वह अजर-अमर कैसे होगा! परन्तु जन्नत वाले इतना भी नहीं सोच पाते। जन्नत में भोग वही, जो यहां सूअर, वानर, कुत्ते, मानव, कीट-पतंग आदि भोगते हैं। यह है मलिन इन्द्रियों की घृणित विलासिता। मनुष्यों ने अपनी अपूर्ण कामनाओं की सृष्टि जन्नत के रूप में की। वह यहां छककर भोगों को नहीं भोग पाता। अभाव, रोग, बुढ़ापा बहुत-बहुत बाधाएं भोगों में हैं। तो मनुष्यों ने कल्पना कर ली कि चलो, यहां नहीं छककर भोगों को भोग पाते हैं तो जन्नत में भोगेंगे, जो सोलहों आने झूठी बात है। परन्तु पुरोहितों ने उस पर ईश्वर की मुहर लगा दी और कहा अब तो सच मानोगे! यह सब ईश्वर का कहा है। आज भी धार्मिक लोग बड़े जोर-शोर से कहते हैं कि मेरा मजहब खुदा का, मेरी किताब खुदा की तथा मेरा आचार्य खुदा का है। खुदा रूहों (जीवों) को दुनिया-दरिया में डालकर उनकी परीक्षा कर रहा है। किसी ने कितना बढ़िया कहा है—"हे ईश्वर! तूने मुझे गहरे दरिया में डालकर एक तख्ते से बांध दिया है। अब कहते हो कि सावधान रह, कपड़ा भीग न जाये।"[2]

---

1. न्याव न कीन्ह कीन्ह ठकुराई।
   बिन कीन्हें लिख दीन बुराई॥
2. दरमियाने क़अर दरिया तख्ताबंद करदई।
   बाज़ में गोई कि दामन तर मकुन हुशियार बाश॥

भक्तों का हृदय भी तो आखिर पत्थर नहीं है। उसमें भी तर्क उत्पन्न होता ही है। वह सोचता है कि ईश्वर ने ऐसा अन्याय मेरे साथ क्यों किया। वस्तुतः यह सब दिल बहलाने की बातें हैं। इस जीव को न किसी ने गड्ढे में डाल रखा है और न कोई इसे उबार सकता है। यह अपने अच्छे तथा बुरे कर्मों से ऊंची-नीची गति पाता है। परन्तु मजहबी ख्यालों का बयान अपना-अपना है।

"आसन मारि डिम्भ धरि बैठे..." कितने लोग दम्भपूर्वक आसन, मुद्रा, योग, ध्यान आदि का प्रदर्शन करते हैं। उन्हें झूठी सिद्धि का घमंड होता है। कितने लोग पीतल-पत्थर पूजकर कहते हैं कि हम देवता पूजते हैं। अपने हाथों से देवी-देवता बनाते हैं, स्वयं उनमें प्राण फूंकने का दिखावा करते हैं और स्वयं उनके सामने हाथ जोड़कर खड़े होते हैं और उनसे ऋद्धि-सिद्धि की भीख मांगते हैं। देवी-देवताओं की मूर्तियां चुरा ली जाती हैं। बेचारे देवी-देवता अपनी रक्षा नहीं कर पाते, फिर अपने भक्तों की रक्षा कैसे करेंगे, इतनी-सी बातें नहीं समझ में आतीं।

कितने लोगों को तीर्थों का बड़ा घमंड होता है। वे कहते हैं कि हमने चार बार चारों धाम, चौरासी तीर्थ घूम डाले हैं, तुम क्या समझते हो। 'जो जाय बद्री सो न आवै वोद्री'—जो बद्री-धाम कर आता है, वह मुक्त हो जाता है। नर्मदा का नाम लेने से एक जन्म का पाप कटता है, उसके दर्शन से तीन जन्मों का तथा उसमें स्नान करने से सहस्रों जन्मों का पाप भस्म हो जाता है। सैकड़ों योजन दूर से ही गंगा का नाम लेने से तीन जन्मों के पाप काफूर हो जाते हैं।[1] और साहेब इतना ही क्या, प्रयाग की त्रिवेणी में डूबकर मरने से मुक्ति की प्राप्ति होती है।[2] यदि प्रयाग में मुंडन करा लिया तो गया में पिंडदान, कुरुक्षेत्र में दान तथा काशी में मरने की आवश्यकता नहीं।[3] लोक-वचन तथा वेद-वचन की परवाह छोड़कर प्रयाग में मरने का विचार करना चाहिए।[4] तीर्थयात्रा में प्रयाग का स्मरण करते हुए भी मरने पर ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है।[5] चारि खानि के जितने जगत-जीव हैं, अयोध्या में शरीर छोड़कर मुक्त हो जाते हैं।[6] और वे काशी में शरीर छोड़कर मुक्त हो जाते हैं।[7] जो रामेश्वर का दर्शन करेगा, वह

---

1. विष्णुपुराण 2/8/121।
2. त्रिस्थली, पृष्ठ 3।
3. नारदीय पुराण, उत्तर 63/104।
4. महाभारत, वनपर्व 85/83।
5. मस्त्य पुराण 105/8-12। धर्मशास्त्र का इतिहास, खंड 3, पृ. 1336। देखिए कबीर दर्शन, अध्याय 1, संदर्भ 29, तीर्थ।
6. चारि खानि जग जीव अपारा। अवध तजे तनु नहिं संसारा॥
7. आकर चारि जीव जग अहहीं। कासी मरत परम पद लहहीं॥

भगवान के धाम में निवास करेगा।[1] जो रामेश्वर में गंगा-जल चढ़ायेगा वह सायुज्य मुक्ति पद प्राप्त करेगा।[2]

"संतो देखत जग बौराना" जगत का पागलपन कितना गिनाया जाये। पंडित-पुरोहितों की ऐसी-ऐसी शूरवीरता की बातें सुनकर लोग "तीरथ गर्भ भुलाना" चरितार्थ करते हैं। मुक्ति, जो आत्मज्ञान तथा वासनातीत की दशा है, जो आप्तकाम, पूर्णकाम, निष्काम, अकाम की अवस्था है, उसे पुरोहित लोग पान-तंबाकू के भाव बेच रहे हैं। इतने सस्ते नुस्खे-इतने सस्ते नुस्खे, हद्द हो गयी !

"टोपी पहिरे माला पहिरे..." ऐसे भी लोग हैं जो एक विशेष प्रकार की टोपी पहनते हैं, खूब माला पहनते हैं, 'माला पहरी चार', देह भर में छाप लगाते हैं, नाना प्रकार के तिलक करते हैं, साखी-शब्द भी खूब गाते हैं, परन्तु वे यह नहीं जानते कि मैं कौन हूं ! वेष और वाणी का आडंबर खूब बढ़ गया, परन्तु स्वरूपज्ञान, आत्मज्ञान के नाम पर कोरे-के-कोरे हैं। वे स्वर्णिम वरक में लिपटी हुई मिट्टी की मिठाई की तरह हैं। घमंड है उनको साधु, योगी, महंत होने का और घमंड है उनको गुरु-वाणी तथा संत-वाणी कंठ होने का, परन्तु तथ्य-बोध से रहित निरंतर हीरे का वर्णन करते हुए कंकर बटोरते हैं। यह पागलपन नहीं तो क्या है !

"हिन्दू कहैं मोहिं राम पियारा, तुरुक कहैं रहिमाना।" ज्यादातर झगड़े हरफ के फेर में हैं। कोई कहता है हम राम मानते हैं और कोई कहता है कि हम रहमान मानते हैं। क्या हुआ शब्दों के अन्तर से। दोनों तो एक ही बात कहते हैं। पानी पीयो या वाटर, आब पीयो या जल, क्या फर्क पड़ता है। राम हो या रहीम, इससे जो कुछ ध्वनित होता है वह जड़ से भिन्न चेतन सत्ता है। चेतन केवल चेतन है। नामांतर से उसमें कोई अन्तर नहीं आता। फर्क तर्जे-इबादत से हम लड़ते हैं। नाम और पूजा के तरीके अलग हैं, इसलिए हम सत्य को भिन्न मान लेते हैं। यह भी पागलपन है।

स्वरूपज्ञान एवं आत्मज्ञान नहीं, पवित्र आचरण नहीं, यहां तक कि मनुष्यता का बोध नहीं, परन्तु महिमा के घमंड में घर-घर मंत्र-दीक्षा देते हुए घूमते हैं। 'अपने तन की सुधि नहीं, शिष्य करन की आश।' ऐसे गुरुओं की दशा क्या होगी ! स्वयं डूबेंगे और शिष्यों को डुबोयेंगे। ऊपर भ्रमबुद्धि में पड़कर स्वयं को भूले हुए लोगों का कुछ दिग्दर्शन कराया गया है। बारम्बार जगाने पर

---

1. जो रामेश्वर दर्शन करिहहिं। सो तनु तजि मम लोक सिधरिहहिं॥
2. जो गंगाजल आनि चढ़ाइहिं। सो सायुज्य मुक्ति नर पाइहिं॥ (मानस)

भी मनुष्य भ्रांतियों की ओर ही जाता है। उलटी बुद्धि एवं उलटे आचरण ही मनुष्य के सहज स्वभाव हो गये हैं।

मनुष्य को चाहिए कि वह विवेकवान सन्तों-भक्तों का सत्संग करे। स्वयं अपनी प्रज्ञा को जागृत करे। कारण-कार्य व्यवस्था, विश्व के शाश्वत नियमों एवं विवेकज्ञान पर ध्यान दे।

माया के भटकाव से बचो

शब्द-5

सन्तो अचरज एक भौ भारी, कहौं तो को पतियाई॥ 1॥
एकै पुरुष एक है नारी, ताकर करहु विचारा॥ 2॥
एकै अण्ड सकल चौरासी, भरम भुला संसारा॥ 3॥
एकै नारी जाल पसारा, जग में भया अन्देशा॥ 4॥
खोजत खोजत काहु अन्त न पाया, ब्रह्मा विष्णु महेशा॥ 5॥
नाग फाँस लिये घट भीतर, मूसेनि सब जग झारी॥ 6॥
ज्ञान खड्ग बिनु सब जग जूझे, पकरि न काहू पाई॥ 7॥
आपै मूल फूल फुलवारी, आपुहि चुनि चुनि खाई॥ 8॥
कहहिं कबीर तेई जन उबरे, जेहि गुरु लियो जगाई॥ 9॥

शब्दार्थ—पतियाई=विश्वास। अण्ड=ब्रह्माण्ड, संसार, वीर्य। नारी= माया, मन की अविद्या, वासना, कल्पना। अन्देशा=चिन्ता, आशंका, दुविधा, खतरा। अन्त=भेद। नाग फाँस=नागपाश, त्रिगुणीपाश, वरुण का अस्त्र, सांपों का फन्दा। मूसेनि=मूसना, चुराना। खड्ग=तलवार। जूझे=लड़ते हैं।

भावार्थ—हे सन्तो ! एक बहुत बड़ा आश्चर्य हुआ। यदि मैं उसे कहता हूं तो कौन विश्वास करता है॥ 1॥ इस बात पर विचार करो कि जीव रूप एक पुरुष कोटि है तथा प्रकृति रूप एक नारी है॥ 2॥ इन्हीं के गुण-धर्मों से तमाम चौरासी लाख योनियां एक ही संसार में विद्यमान हैं। परन्तु संसार के लोग इस प्रत्यक्ष जड़-चेतन का विवेक करना छोड़ भ्रम तथा भूल में पड़कर उलझ गये हैं॥ 3॥ मनुष्य के मन की एक कल्पना रूपी नारी ने जाल फैला रखा है, जिससे संसार के लोगों के मन में एक दुविधा या आशंका पैदा हो गयी है कि आत्मा से अलग कोई परमात्मा है॥ 4॥ फिर उस परमात्मा को खोजते-खोजते लोगों ने उसका भेद नहीं पाया। ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव भी उसका रहस्य जानने में असफल रहे॥ 5॥ कल्पना-माया रूपी नारी ने त्रिगुण का नागपाश लेकर संसार के सारे लोगों के हृदय में आत्मज्ञान-धन की चोरी की और सबके मन को बांध लिया॥ 6॥ संसार के सारे लोग स्वरूपज्ञान एवं आत्मज्ञान रूपी

तलवार को लिए बिना उस माया-अविद्या से लड़ रहे हैं। इसलिए कोई उसे पकड़कर कैद नहीं कर पाता, एवं उसे मार नहीं पाता॥ 7॥ यह जीव स्वयं इस माया रूपी फूल-फुलवारी का मूल है। यही अज्ञान-वश इसका विस्तार करता है और इसके फल को स्वयं चुन-चुनकर खाता है। अर्थात विमोहित माया में डूबता है॥ 8॥ सद्गुरु कहते हैं कि इस माया से वही जीव बच निकलेगा जिसको गुरु ने मोह-नींद से जगा लिया है॥ 9॥

व्याख्या—सद्गुरु कहते हैं कि यह एक बहुत बड़ा आश्चर्य है कि लोग देखते हैं कि प्रकृति-पुरुष एवं जड़-चेतन के गुण-धर्मों से इस विश्व-ब्रह्मांड में सृष्टि हो रही है। फिर भी वे तत्त्व-बोध को छोड़कर अलग परमात्मा खोजते हैं। 'पुरि शेते पुरुषः' शरीर रूपी पुर में शयन करने वाले ये चेतन जीव ही पुरुष हैं। दूसरा तत्त्व माया रूपी नारी है। उसका एक रूप है जड़-प्रकृति तथा दूसरा रूप है मन की अविद्या, मन की कल्पना। जड़-चेतन के अपने गुण-धर्मों से विश्वसृष्टि चलती है। इन्हें छोड़कर किसी चमत्कारी जादूगर को खोजने की आवश्यकता नहीं है। विश्व को समझने के लिए विश्व के मूल तत्त्वों—जड़ तथा चेतन को और उनके गुण-धर्मों को ही समझना चाहिए। जड़-चेतनात्मक विश्व से अलग विश्व का समाधान नहीं मिल सकता। आश्चर्य यही है कि प्रत्यक्ष जड़-चेतन का विवेक छोड़कर मनुष्य अनुमान-कल्पना के लोक में भटकते हैं।

स्वरूप का ज्ञान न होने से मनुष्य के मन की एक अविद्या रूपी नारी कल्पना का जाल फैलाती है। सीधी बात यह है कि जीव अपने आप के महत्त्व को न समझकर अपने लक्ष्य को अलग खोजता है। जहां तक अपनी आत्मा से अलग परमात्मा खोजने की बात है, वह सब केवल मन का विस्तार है, मन की कल्पना है। अपने मन की कल्पना के विस्तार में पड़कर ही जीव संदेहों से ग्रसित हो जाता है। मनुष्य के मन का अंदेशा एवं दुविधा उसे भटकाते हैं। "मुख तो तबहीं देखिहो, जब दिल की दुबिधा जाय।"[1] अपनी आत्मा से अलग परमात्मा खोजने के चक्कर ने ही तो सबको भटका रखा है। कबीर साहेब का करारा व्यंग्य है "खोजत खोजत काहु अन्त न पाया, ब्रह्मा विष्णु महेशा।" ब्रह्मादि गण भी उसकी खोजकर उसका कुछ लता-पता न पाये, तो दूसरों की तो बात ही क्या है।

"नाग फाँस लिये घट भीतर, मूसेनि सब जग झारी।" माया ने नागपाश से सबके मन को बांध लिया है, और सबके भीतर से उनके आत्मज्ञान धन को चुरा लिया है। यह अज्ञान, अविद्या, अपने मन की भूल, यही तो माया है। यही

1. बीजक, साखी 29।

तो सबको बांधती है। अपनी ही भूल अपने को भटकाती है। पुराणों के अनुसार नागपाश वरुण का एक अस्त्र माना जाता है। यहां व्यामोहित करने वाली तीनों गुणों की मनोवृत्तियां या काम, क्रोध, लोभ ही नागपाश हैं। माया इसी से जीव को बांधती है। अर्थात जीव इन्हीं अपने बनाये जालों में मोहवश स्वयं फंसता है।

"ज्ञान खड्ग बिनु सब जग जूझे, पकरि न काहू पाई।" माया से तो सभी साधक लड़ते हैं, परन्तु ज्ञान की तलवार न होने से वे उससे हार जाते हैं। माया कोई स्वतन्त्र शक्ति नहीं, जो जीव से लड़ सके। वस्तुतः वह केवल अन्धकारधर्मा है जो ज्ञान के सूर्योदय होते ही लापता हो जाती है। अज्ञान ही तो माया है। अज्ञान से ही तो मन कल्पनाओं का जाल बुनता है और उसी में जीव उलझता है। ज्ञान होने पर यह सब अपने आप निवृत्त हो जाता है।

"आपै मूल फूल फुलवारी, आपुहि चुनि चुनि खाई।" भव-बन्धनों का विस्तार ही फूल-फुलवारी है। उसका मूल स्वयं जीव ही है। यही तो अपने आप को भूलकर माया का विस्तार करता है और स्वयं उसी में उलझकर दुख पाता है। मनुष्य द्वारा बिछाया हुआ जाल ही तो उसे फंसाता है। मकड़ी स्वयं जाल बुनकर जैसे स्वयं ही उसमें फंस जाये, वैसे ही तो जीव अपने बनाये बन्धनों में बंधता है। जीव को कोई दूसरा बांधता नहीं है। वह स्वयं अपनी भूल से अपने लिए जाल बनाकर उसी में उलझ जाता है।

सद्गुरु कहते हैं कि वही उस जाल से उबरता है जिसको गुरु जगा लेते हैं। यह बड़ा मार्मिक वचन है "कहहिं कबीर तेई जन उबरे, जेहि गुरु लियो जगाई।" वैसे गुरु तो सब को जगाना चाहते हैं, परन्तु जो अपनी आंखें खोलेगा ही नहीं, उसको गुरु जबर्दस्ती कैसे जगाएंगे! यदि मनुष्य गुरु के वचनों पर ध्यान दे तो गुरु उसे अवश्य मोह-नींद से जगा देंगे। जो जग जाता है, वह बाहर भटकना छोड़कर आत्माराम बन जाता है।

शब्द-6

सन्तो अचरज एक भौ भारी, पुत्र धइल महतारी॥ 1॥
पिता के संगे भई बावरी, कन्या रहल कुँवारी॥ 2॥
खसमहि छाड़ि ससुर संग गौनी, सो किन लेहु बिचारी॥ 3॥
भाई के संग सासुर गौनी, सासुहि सावत दीन्हा॥ 4॥
ननद भौज परपंच रचो है, मोर नाम कहि लीन्हा॥ 5॥
समधी के संग नाहीं आई, सहज भई घरबारी॥ 6॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, पुरुष जन्म भौ नारी॥ 7॥

शब्दार्थ—पुत्र=जीव। महतारी=माया। पिता=जीव। कन्या=माया। खसम= जीव। ससुर=श्वसुर, अहंकार। भाई=अज्ञान। सासुर=मायावी जगत, सांसारिकता। सासु=संशय। सावत=सौत। ननद भौज=राग-द्वेष। परपंच= प्रपंच, विस्तार, जगत, भवचक्र। समधी=सम+धी, सम=एक, निश्चल, निष्पक्ष; धी=बुद्धि, प्रज्ञा—निश्चल एवं निष्पक्ष बुद्धि एवं प्रज्ञा।

रूपक—हे सन्तो ! एक और बड़ा भारी आश्चर्य हुआ, वह यह कि माता ने अपने पुत्र को पकड़ लिया॥ 1॥ एक कुंआरी कन्या थी, वह अपने पिता के साथ पगली बन गयी॥ 2॥ एक ऐसी बावरी नारी थी कि अपने पति को छोड़कर श्वसुर के साथ भाग गयी। इस पर क्यों नहीं विचार करते॥ 3॥ एक स्त्री ऐसी थी जो अपने भाई के साथ ससुराल चली गयी, तो वहां पर सासु उसकी सौत बनकर उसे पीड़ा देने लगी॥ 4॥ ननद और भौज ने अपने-अपने नाम की बड़ाई के चक्कर में पड़कर आपस में खूब झगड़ा किया॥ 5॥ एक ऐसी स्त्री थी जो अपने समधी के साथ नहीं आयी, किन्तु सहज गंवारू रूप में घरबारी बन गयी॥ 6॥ कबीर साहेब कहते हैं कि ऐसी नारी का जन्म देने वाला केवल पुरुष है॥ 7॥

भावार्थ एवं व्याख्या—यहां कुलटा नारी के रूपक में माया का चित्रण है। माया है मन में रहे हुए संसार का मोह, अविद्या, कल्पना, मलिन मनोवृत्ति। माया के माध्यम से ही जीव जन्म लेता है। इसलिए माया माता है और जीव पुत्र है। परन्तु यह माया जीव को पकड़ लेती है "पुत्र धइल महतारी" का यही अभिप्राय है। अथवा जीव माया को पकड़ लेता है। दोनों ओर से इसका अर्थ लगता है।

वस्तुतः जीव ही माया का जनक है। यह मनुष्य-जीव ही तो मोह पैदा कर माया का निर्माण करता है। वासना, मोह, कल्पना, मलिन मनोवृत्ति जो कुछ माया के लक्षण हैं, उनका जनक जीव ही है। जीव अपने स्वरूप की भूल से माया को जन्म देता है। अतः जीव माया का पिता है। माया जीव की कुंआरी कन्या है। कुंआरी इसलिए कि उसे कोई अपनी नहीं बना पाता। खेद है कि यह अपने पिता जीव के साथ पगली बन गयी "पिता के संगे भई बावरी, कन्या रहल कुँवारी।"

"खसमहि छाड़ि ससुर संग गौनी, सो किन लेहु बिचारी।" एक दृष्टि से देखा जाये तो जीव ही माया का पति है, स्वामी है। परन्तु माया एवं मनोवृत्ति जीव को छोड़कर अर्थात आत्मस्वरूप-विचार को त्यागकर अहंकार रूप श्वसुर के साथ भाग निकलती है। मनोवृत्ति स्वरूप-विचार में न रमकर अहंकार में पड़ी हुई संसार में भटकती रहती है। मनोवृत्ति अपने आत्मा-पति में न स्थित

होकर अपना लक्ष्य अलग खोजती है। इस पर क्यों नहीं विचार करते कि आत्मविचार छोड़कर चित्त का अलग रमना माया का भटकाव है।

"भाई के संग सासुर गौनी, सासुहि सावत दीन्हा।" माया का भाई अज्ञान है, सासुर संसार एवं सांसारिकता है। मनोवृत्ति अज्ञान के साथ सांसारिकता में डूबी रहती है, यही माया का "भाई के संग सासुर गौनी" का तात्पर्य है। परन्तु अज्ञान के साथ डूबी मनोवृत्ति रूपी माया को सासु सौत बनकर दुख देती है। सासु संशय है। जो मनोवृत्ति अज्ञान के साथ रहेगी, वह संशय से पीड़ित रहेगी ही। संशय उसकी सौत बनकर उसको दुखाता रहेगा।

"ननद भौज परपंच रचो है, मोर नाम कहि लीन्हा।" ननद-भौज के राग-द्वेष जगत प्रसिद्ध हैं। अतएव यहां ननद-भौज के अर्थ राग-द्वेष समझना चाहिए। ये राग-द्वेष ही प्रपंच रचते हैं। प्रपंच का अर्थ है विस्तार, संसार, भवचक्र। राग-द्वेष ही जीवन में भवचक्र रच देते हैं। जैसे मानो संसार में ननद-भौज आपस में झगड़ती हों और वे एक दूसरी से यह कहती हों कि तूने मेरा नाम लेकर क्यों बुरा कहा? "मोर नाम कहि लीन्हा?" इस प्रकार वे अहंकार-वश एक दूसरे को भला-बुरा कह रही हों। वैसे ही सारे राग-द्वेष के झगड़े मोर-तोर, अहंता-ममता के परिणाम हैं। यह सब माया का ही विस्तार है।

"समधी के संग नाहीं आई, सहज भई घरबारी।" 'सम' का अर्थ है एक या निष्पक्ष, 'धी' का अर्थ है बुद्धि एवं प्रज्ञा, ऐसी बुद्धि जो एक हो, निश्चल हो, निष्पक्ष हो, वही समधी है। यह माया, यह मनुष्य की मनोवृत्ति निश्चल एवं निष्पक्ष बुद्धि के साथ संसार में नहीं आयी। यह तो "सहज भई घरबारी" गंवारू तथा साधारण विषयों में लगी रहने वाली घर-गृहस्थी वाली हुई। यह मनुष्य की मनोवृत्ति निश्चल, स्थिर, निष्पक्ष बुद्धि एवं प्रज्ञा वाली न होकर विषय-वासना वाली संसारी हुई।

"कहहिं कबीर सुनो हो संतो, पुरुष जन्म भौ नारी।" सद्गुरु कहते हैं कि हे संतो! इस माया एवं मलिन मनोवृत्ति रूपी नारी का जन्म चेतन पुरुष से हुआ है। जीव ही ने तो अपने भूलवश मलिन मनोवृत्ति को जन्म दिया है। इसलिए यह इसे ध्वंस भी कर सकता है।

अथवा सद्गुरु कहते हैं कि मानो पुरुष ने स्वयं नारी का जन्म ले लिया हो। यह जीव मनोवृत्ति में मिलकर स्वयं वही रूप बन जाता है। श्री निर्मल साहेब कहते हैं "जा क्षण में वृत्ति जौन, ता क्षण में रूप तौन।" जिस क्षण में जीव की जैसी वृत्ति होती है, उस क्षण में जीव अविद्यावश अपने आप को उसी प्रकार समझने लगता है। जीव मन में काम उठने पर अपने आप को काममय,

क्रोध उठने पर क्रोधमय, मोह उठने पर मोहमय समझने लगता है। विश्व-सत्ता में चेतन पुरुष ही उच्चतम सत्ता है, परन्तु वह अविद्यावश अपने आप को मायामय बना लेता है, अज्ञानवश स्वयं भटकता है, और दूसरे को भटकाता है—"पुरुष जन्म भौ नारी"।

इस शब्द के अर्थ में माया के सम्बन्ध में जीव को पुत्र, पिता तथा पति के रूप में कहा गया है। प्रश्न हो सकता है कि यह विसंगतिपूर्ण है। वही जीव पुत्र, पिता तथा पति-स्थानीय कैसे हो सकता है? उत्तर में समझना चाहिए कि यहां अभिप्राय कोई दार्शनिक नहीं, किन्तु भावात्मक है। एक ही माया-जीव के सम्बन्ध को अनेक रूपकों में समझाया गया है। सार अभिप्राय इतना ही है कि मनुष्य के मन की अविद्या, मोह एवं मलिन मनोवृत्ति माया है। जीव की अपनी स्वरूप-भूल से ही इसकी सत्ता है और यही जीव को भटका रही है। अर्थात जीव अपनी भूलजनित गतिविधि में भटक रहा है।

स्व-स्वरूप-ज्ञान और सहज समाधि

शब्द-7

सन्तो कहौं तो को पतियाई, झूठ कहत साँच बनि आई॥ 1॥
लौके रतन अबेध अमोलिक, नहिं गाहक नहिं साँई॥ 2॥
चिमिक चिमिक चिमकै दृग दहुँदिशि, अर्ब रहा छिरियाई॥ 3॥
आपै गुरू कृपा कछु कीन्हा, निर्गुण अलख लखाई॥ 4॥
सहज समाधी उन्मनि जागे, सहज मिले रघुराई॥ 5॥
जहँ जहँ देखो तहँ तहँ सोई, मन मानिक बेधो हीरा॥ 6॥
परम तत्त्व गुरू सो पावै, कहैं उपदेश कबीरा॥ 7॥

शब्दार्थ—लौके=चमकता है। रतन=रत्न, चेतन तत्त्व। अबेध=अखंड। चिमिक-चिमिक=प्रकाश, ज्ञान। दृग=आंख। दहुँदिश=दसों इंद्रियां। अर्ब=धन, संपत्ति, माल, दौलत, तात्पर्य में आत्मरत्न का ज्ञान-प्रकाश। छिरियाई=फैला हुआ। सहज समाधी=सहज समाधि, स्वरूपस्थिति। उन्मनि=उन्मनी, स्वरूपाकार-वृत्ति। रघुराई=आत्माराम। मन-मानिक=मनमाणिक्य, मन की मणिका, संकल्पों का प्रवाह। हीरा=जीव, आत्मतत्त्व।

भावार्थ—हे सन्तो ! यदि कहता हूं तो कौन विश्वास करता है ! कहने में तो बात झूठी-सी लगती है, परन्तु उस स्थिति में पहुंचकर जब अनुभव किया जाता है, तब वह सच ठहरती है॥ 1॥ चेतन-आत्मा रूपी एक ऐसा प्रकाशित रत्न है, जो अखंड है और जिसकी कीमत नहीं आंकी जा सकती। उसका न अन्य ग्राहक है और न स्वामी है। वह स्वयं अपने आप का स्वामी

है॥ 2॥ हृदय-स्थित उस आत्म-प्रकाश की किरणें नेत्रादि दसों इन्द्रियों द्वारा सर्वत्र फैल रही हैं॥ 3॥ सद्गुरु ने स्वयं किंचित कृपा की और सत, रज तथा तम इन तीनों गुणों से अतीत तथा नेत्रादि इंद्रियों से अगोचर स्वयं चेतन स्वरूप का बोध करा दिया॥ 4॥ जब उक्त स्वरूपबोध पाकर स्वरूपाकार वृत्ति हो जाती है, तब साधक सहज-समाधि में लीन हो जाता है। फिर मानो सहज ही आत्माराम मिल गया। दृष्टि भर लौटाना था, परमोच्च राम तो जीव स्वयं ही है॥ 5॥ फिर तो ऐसा साधक जहां-जहां देखता है, वहां-वहां उसी आत्माराम को देखता है। अर्थात वह हस्ती से कीट-पतंग तक सभी प्राणियों में अपना सजाति तत्त्व देखता है। जैसे माला का धागा सभी मणियों में पिरोया रहता है, वैसे वह साधक हीरा रूपी आत्मचिंतन के धागे में मन-मणियों को वेधकर स्वरूपस्मरण का जप करता रहता है॥ 6॥ संसार के सभी साधकों अथवा कबीर साहेब का यह उपदेश है कि परमतत्त्व का बोध गुरु के सत्संग में ही मिल सकता है॥ 7॥

व्याख्या—संत संसार से लौटकर साधना द्वारा अपने अंतरतम में डूबे होते हैं। इसलिए उनका अनुभव संसारियों से भिन्न होता है। यदि वे अपने अनुभव को सामान्य संसारियों में कहने लगें, तो लोगों के लिए वह विषय अपरिचित होने से उन्हें वह झूठा ही लगेगा। सद्गुरु कबीर मानो समाधि से उठकर और संत-मंडली में आकर कह रहे हों—हे संतो ! मैं यदि सामान्य लोगों से कहूं तो मेरी बातों पर कौन विश्वास करेगा ! स्वरूपज्ञान, स्वरूपस्थिति की बातें कहूं तो लोग मानेंगे कि यह तो व्यर्थ की बकवास है; क्योंकि उससे वे एकदम अछूते हैं। परन्तु जो साधक स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति की साधना में डूबता है उसके लिए उससे अधिक सत्य कुछ है ही नहीं। आत्मज्ञान तथा आत्मस्थिति की बातें सुनने में लोगों को भले बकवास लगें, परन्तु अनुभव में उतरने पर शतप्रतिशत सच है। व्यक्ति के आत्म-अस्तित्व में ही सारे अस्तित्व का भान होता है। अतएव आत्म-अस्तित्व का बोध परम सत्यज्ञान है।

"लौके रतन अबेध अमोलिक, नहिं गाहक नहिं साँई।" जिसे जीव, चेतन, आत्मा, रूह, सोल आदि संज्ञाओं से कहा जाता है, वह चेतन तत्त्व 'स्व' के रूप में सबके अन्दर विद्यमान अमर सत्ता है। वह चेतन-रत्न अखंड होने से अबेध है, अनादि, अनंत तथा नित्य है। उसकी कीमत कुछ नहीं हो सकती है। देह से केवल जीव निकल जाये तो देह चाहे राजा की हो और चाहे महात्मा की हो, अथवा कहना चाहिए चाहे राम, कृष्ण, महान सिकन्दर, बुद्ध, महावीर, ईसा, शंकर, दयानन्द, कबीर, नानक—किसी की भी हो, किसी काम का नहीं है। निर्जीव माता-पिता, निर्जीव गुरु, निर्जीव राजा किस काम के ! अतएव जीव एवं चेतन सत्ता अमोलिक है। इसका कोई मूल्य नहीं है। यह सबके घट में

'लौक' रहा है, चमक रहा है। चेतन की चमक से ही तो जीवन जीवन है। सद्‌गुरु कहते हैं कि इसका न कोई मालिक है और न खरीदार। भला, हमारे आत्मअस्तित्व का दूसरा कैसे मालिक हो सकता है और उसको दूसरा कोई खरीद भी कैसे सकता है ! आत्मा स्वयं अपना स्वामी है और स्वयं अपना ग्राहक है। इन सबका अर्थ यही है कि वह स्वयं है, अपने आप है।

"चिमिक चिमिक चिमकै दृग दहुँदिशि, अर्ब रहा छिरियाई।" घट भीतर अमर चेतन प्रकाशरूप रत्न ज्ञानालोक से आलोकित है और उसका ज्ञान-प्रकाश नेत्रादि दसों इन्द्रियों के द्वारा बाहर चमचमा रहा है। यह शब्दालंकार है। इसको हटाकर इसका सरल भाव यही है कि ज्ञानस्वरूप-चेतन शरीर में रहकर हर इन्द्रिय से बाह्य विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है। यह जो भीतर बैठा अहम-पदार्थ मैं-मैं कहता है, यही इंद्रियों से देखता है, सुनता है, छूता है, चखता है, सूंघता है। इसी की प्रेरणा से पैर चलते हैं, हाथ काम करते हैं, और सारे अंग गतिशील हैं।

"आपै गुरू कृपा कछु कीन्हा, निर्गुण अलख लखाई।" आत्मस्वरूप निर्गुण तथा अलख है, इसे सद्‌गुरु ही लखाता है। क्या चेतन निर्गुण है? हमें केवल शब्दों के पीछे नहीं दौड़ना चाहिए, किन्तु मर्म समझना चाहिए। अपना स्वरूप निर्गुण है और सगुण भी है तथा निर्गुण-सगुण से परे भी है। सत, रज तथा तम ये तीन गुण हैं जो जड़ प्रकृति में विद्यमान हैं। प्रकृति में क्रिया मात्र रज है, पुष्टि सत है तथा क्षय तम है। ये तीनों प्रकृति में निरंतर हैं। दूसरा क्षेत्र मन का है। उसमें भी इच्छा-क्रिया रज है, प्रसन्नता सत है तथा आलस्य, निद्रादि तम है। शुद्ध चेतन में यह कुछ नहीं है। इसलिए वह निर्गुण है। उसे हम सगुण इसलिए कह सकते हैं क्योंकि उसमें ज्ञान-गुण है। उसे हम सगुण तथा निर्गुण से भी परे इस तरह कह सकते हैं कि वह सगुण तो इसलिए नहीं है क्योंकि उसमें त्रिगुण की क्रियाएं नहीं हैं, और निर्गुण इसलिए नहीं कह सकते हैं, क्योंकि वह शून्य तो नहीं है। जिसकी सत्ता है, वह निर्गुण हो ही नहीं सकता। सत्तावान द्रव्य में कोई-न-कोई गुण होगा ही। चेतन में ज्ञानगुण है। अतएव चेतन-अस्तित्व निर्गुण है, सगुण है तथा सगुण एवं निर्गुण से परे भी है। यह स्वस्वरूप समझने की एक उदार परिभाषा है। यह सब यहां इसलिए लिखा गया कि कोई किसी शब्द से मोह या घृणा कर अनुदार न बने। ऊपर के विवेचन में कोई भ्रांति नहीं रह गयी है। ऊपर के सारे कथन का सार यही है कि वह जड़ प्रकृति के तीनों गुणों से रहित एवं ज्ञानगुण-युक्त है। इन सबका भेद सद्‌गुरु ही देता है।

"सहज समाधी उन्मनि जागे, सहज मिले रघुराई।" सहज समाधि, उन्मनी तथा रघुराई—ये तीन शब्द इस पंक्ति में महत्त्वपूर्ण हैं। इन तीनों पर हम यहां विचार कर लें। पहले हम सहज समाधि लें। जब हम किसी व्यक्ति, वस्तु एवं

अवधारणा में मन को रोकते हैं तब इसे हम असहज समाधि कह सकते हैं। हम किसी महापुरुष के चित्र को अपने मन में ले लेते हैं, ज्योति या नाद को ले लेते हैं या कोई भी अवधारणा बना लेते हैं और इनमें से किसी एक में मन को रोकते हैं, तो यह असहज समाधि है। क्योंकि यह सब केवल आरोपित है। किन्तु जब ये सारे समाप्त हो जाते हैं, जब कोई अवधारणा नहीं रह जाती है, तब केवल सत्ता रहती है, चेतन–अस्तित्व मात्र है, संकल्प कुछ भी नहीं है, तब यह सहज समाधि है। मुख पर पाउडर, रंग आदि का लेपन असहज एवं बनावटी सौन्दर्य है, परन्तु मुख को धो–पोंछकर साफ कर देने पर जो उसमें सौन्दर्य निखरता है, वह सहज सौन्दर्य है। अपने स्वरूप के अलावा किसी प्रकार के भगवान, ईश्वर एवं ब्रह्म की रचना करना तथा उसमें ध्यान लगाना असहज समाधि है। हम चाहे मन में किसी का चित्र लें, या नाद–बिन्दु लें या यह कल्पना करें कि हमारे चारों ओर परमात्मा व्याप्त है, यह सब मन के ही संकल्प हैं, मन की ही अवधारणाएं होने से कृत्रिम हैं, बनावटी हैं, एतदर्थ असहज हैं। परन्तु जब मन ही समाप्त हो गया, तब उक्त कल्पनाएं भी नहीं रह गयीं। तब केवल रह गयी स्व–सत्ता। यह स्व–सत्ता मात्र का रह जाना ही सहज समाधि है। जब मन सारी अवधारणाओं के सहित शून्य हो जाता है, तब चेतन मात्र रह जाता है। यही सहज समाधि है। हमारा सहज स्वरूप चेतन एवं ज्ञान है। अतएव चेतन एवं ज्ञान मात्र रह जाना ही सहज समाधि है।

उन्मनी का सहज अर्थ है मन का निरंतर आत्माकार एवं स्वरूपाकार वृत्ति में रहना। जिसके मन में देह एवं विषयों का अभिमान नहीं रह जाता, जिसका मन विषयों का चिंतन नहीं करता, अपितु केवल आत्मस्वरूप का ही चिंतन करता है, वही मन उन्मनी दशा को प्राप्त है।

इस पंक्ति के तीसरे महत्त्वपूर्ण शब्द 'रघुराई' पर विचार कर लेना है। यह तो साफ है कि कबीर साहेब दशरथ–पुत्र रघुराई श्री रामचन्द्र को न परमात्मा मानते हैं और न उन्हें उपासना का लक्ष्य। उन्होंने बीजक में इसके विषय में जगह–जगह काफी कहा है।[1] सहज समाधि का पक्षधर अपना लक्ष्य किसी शरीरधारी को कैसे मान लेगा ! अतएव सद्गुरु कबीर का रघुराई आत्माराम है। कबीर साहेब ने रघुराई, राम, हरि आदि शब्द जहां विधेयात्मक ढंग से लिया है, उन सबका अर्थ व्यक्ति की अपनी अंतरात्मा है। उनका महावाक्य है ''हृदया बसे तेहि राम न जाना।''[2]

जब साधक की उन्मनी जग जाती है, जब उसका मन निरंतर स्वरूपाकार हो जाता है, तब वह सहज समाधि में पहुंच जाता है। अर्थात मन के संकल्प

---

1. देखिए 75वीं रमैनी की दूसरी पंक्ति, 8वें शब्द की 13–14वीं पंक्ति, 18वां शब्द आदि।
2. रमैनी 41।

समाप्त होकर पूर्ण स्वरूपस्थिति हो जाती है। यही रघुराई का मिलना है। व्यक्ति का अपना आत्मस्वरूप ही तो परमात्मा एवं परब्रह्म है अर्थात जीव की स्व-सत्ता ही सर्वोच्च है। इसमें स्थित हुआ व्यक्ति कृतार्थ है।

सहज समाधि का पूर्णरूप संकल्पहीनता होता है, यह ऊपर बताया गया। किन्तु जो कहीं विषयों में न आसक्त होकर स्वरूप-विचार में रमता है वह मानो सब समय सहज समाधि में ही विराजमान है। "जो सहजै विषया तजै, सहज कहावै सोय।" अभ्यासकाल में संकल्प-हीनता तथा व्यवहारकाल में अनासक्ति, यही है सहज समाधि।

"जहँ जहँ देखो तहँ तहँ सोई, मन मानिक बेधो हीरा।" जो व्यक्ति विषयासक्ति छोड़कर निरंतर आत्मा राम में रमता है, उसकी मनोवृत्ति राममय हो जाती है। वह जितने प्राणियों को देखता है, सब में अपने स्वरूप के ही दर्शन करता है। हस्ती से कीट तक सब जीव तो सजाति हैं। श्री पूरण साहेब के वचनों में "सब तेरे तू सबन का, काको जानि रिसाय।" माला का सूत माला में रही हुई सभी मणियों को वेधते हुए उन्हें अपने में समेटे रखता है, इसी प्रकार चेतन हीरा रूपी सूत सभी मनःसंकल्प-मणियों को वेधते हुए उन्हें अपने में समेटे रखता है। अर्थात ऐसे साधक के मन-प्रवाह की मणियां मानो स्वरूपविचार का ही निरंतर जप करती हैं। क्योंकि स्वरूपज्ञान रूपी हीरा मन-माणिक्य को वेध देता है। उसका मन सदैव स्वरूपज्ञान से ही बिंधा रहता है। अतएव स्वरूपस्थ साधक सबको अपने समान समझकर राग-द्वेष से मुक्त हो सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करता है। सब में अपने को तथा अपने में सबको देखने की बात यदि कुछ है तो यही है। 'जहँ जहँ देखो तहँ तहँ सोई" तथा "खुले नयन हँसि हँसि पहिचानौं" का भाव एक ही है।

"परम तत्त्व गुरू सो पावै, कहैं उपदेश कबीरा।" परमतत्त्व का अर्थ है सर्वोच्च सत्ता। सत्ता के दो प्रकार हैं। एक जड़ तथा दूसरा चेतन। जड़ दृश्य है और चेतन द्रष्टा है। इसलिए जड़ निम्न सत्ता है और चेतन परम सत्ता। यह चेतन ही परम तत्त्व है। अपना चेतन स्वरूप तो नित्य प्राप्त ही है। परन्तु उसका ज्ञान न होने से वह अप्राप्त-सा है। अपने ही घर में अपना धन गड़ा है, परन्तु ज्ञान न होने से वह नहीं-सा है। शोधक ने खोजकर बता दिया तो मानो उसने हमें धन दिया। इसी प्रकार मेरा ही आत्मस्वरूप मुझे विस्मृत था। गुरु ने उसे लखा दिया, तो मानो गुरु ने ही आत्म-धन दिया।

इस प्रकार साधारण लोगों में कहने-सुनने में जो व्यर्थ लगता है, वह आत्मस्वरूप का अस्तित्वबोध अनुभव में परम सत्य है। वह अजर, अमर एवं नित्य है। उसका बोध सद्गुरु-सन्तों के सत्संग तथा स्व-विवेक से होता है।

बोध हो जाने पर जब साधक उसमें निरंतर रम जाता है तब यही सहज समाधि है। अपना चेतन स्वरूप ही तो अपना सहज स्वरूप है और उसमें निरंतर रमना सहज समाधि है। इसी से मिलता-जुलता हुआ सद्गुरु का प्रसिद्ध पद है—

सन्तो सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप भयो जा दिन ते, सुरति न अन्त चली॥टेक॥
जहँ जहँ डोलौं सो परिकरमा, जो कुछ करौं सो पूजा।
जब सोवौं तब करौं दंडवत, भाव मिटाओं दूजा॥ 1॥
आँख न मूँदों कान न रूँधौं, काया कष्ट न धारौं।
खुले नैन हँसि हँसि पहिचानों, सुन्दर रूप निहारौं॥ 2॥
सबद निरन्तर से मन लागा, मलिन वासना त्यागी।
ऊठत बैठत कबहुँ न छूटे, ऐसी तारी लागी॥ 3॥
कहत कबीर सहज यह रहनी, सो परगट करि गाई।
सुख दुख से इक परे परम पद, सो पद है सुखदाई॥ 4॥

अवतार-मीमांसा

शब्द-8

सन्तो आवै जाय सो माया॥ 1॥
है प्रतिपाल काल नहिं वाके, ना कहुँ गया न आया॥ 2॥
का मकसूदन मच्छ कच्छ न होई, शंखासुर न सँहारा॥ 3॥
है दयाल द्रोह नहिं वाके, कहहु कौन को मारा॥ 4॥
वै कर्ता नहिं बराह कहाये, धरणि धर्‌यो नहिं भारा॥ 5॥
ई सब काम साहेब के नाहीं, झूठ कहै संसारा॥ 6॥
खम्भ फोरि जो बाहर होई, ताहि पतीजे सब कोई॥ 7॥
हरणाकुश नख वोद्र बिदारा, सो कर्ता नहिं होई॥ 8॥
बावन रूप न बलि को जाँचे, जो जाँचे सो माया॥ 9॥
बिना विवेक सकल जग भरमे, माया जग भरमाया॥10॥
परशुराम क्षत्री नहिं मारे, ई छल माया कीन्हा॥11॥
सतगुरु भेद भक्ति नहिं जाने, जीवहि मिथ्या दीन्हा॥12॥
सिर्जनहार न ब्याही सीता, जल पषाण नहिं बन्धा॥13॥
वै रघुनाथ एक कै सुमिरै, जो सुमिरै सो अन्धा॥14॥
गोपी ग्वाल न गोकुल आया, कर्ते कंस न मारा॥15॥
है मेहरबान सबहिन को साहेब, ना जीता ना हारा॥16॥
वै कर्ता नहिं बौद्ध कहावै, नहीं असुर संहारा॥17॥

ज्ञान हीन कर्ता के भरमें, माये जग भरमाया ॥18॥
वै कर्ता नहिं भये निकलंकी, नहिं कालिंगहिं मारा ॥19॥
ई छल बल सब माया कीन्हा, जत्त सत्त सब टारा ॥20॥
दश अवतार ईश्वरी माया, कर्ता कै जिन पूजा ॥21॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, उपजै खपै सो दूजा ॥22॥

शब्दार्थ—आवै जाय=जन्मे-मरे। मकसूदन=मधुसूदन—मधु दैत्य को मारने वाले कृष्ण। बीजक के अनेक संस्करणों में 'मकसूदन' की जगह पर 'मकसूद' है जो अरबी भाषा का शुद्ध 'मक़सूद' शब्द है। इसका अर्थ होता है—उद्देश्य या प्रयोजन। यही प्रासंगिक लगता है। लगता है प्राचीन काल में किसी की लिखावट में मकसूद का मकसूदन हो गया है। पतीजै=विश्वास करना। जाँचे=मांगना। बौद्ध=बुद्ध; यहां शुद्ध पाठ बुद्ध ही है। बुद्ध एक मतप्रवर्तक महात्मा हैं और बौद्ध उनके अनुयायी हैं। निकलंकी=कल्कि। कालिंगहिं=कलिंग देश के रहने वाले राजा या अन्य। जत्त=यती, त्यागी। सत्त=सत्यवती, सती एवं पतिव्रता। टारा=पतित करना। दूजा=संसारी जीव।

भावार्थ—हे संतो! जो शरीर धारण करता और छोड़ता है, जन्मता और मरता है, इस प्रकार आता और जाता है, वह माया में आसक्त संसारी जीव है॥ 1॥ सर्वज्ञ, सर्वत्र व्याप्त, सर्वशक्तिमान, सर्वरक्षक आदि ईश्वर के जो लक्षण शास्त्रों में वर्णित हैं, उसके अनुसार वह सब का प्रतिपालक ही हो सकता है। उसका स्वरूप क्रूर नहीं हो सकता। वह सर्वत्र व्याप्त होने से उसे न कहीं जाने की आवश्यकता है और न आने की॥ 2॥ मत्स्यावतार तथा कच्छपावतार के नाम से उसे मछली तथा कछुआ होने का क्या प्रयोजन हो सकता है? उसने मत्स्यावतार लेकर शंखासुर की हत्या नहीं की॥ 3॥ सर्वपालक तो दयालु होता है। उसको किसी से द्रोह नहीं हो सकता। कहो भला, वह किसको मार सकता है?॥ 4॥ उस ईश्वर ने सूअर बनकर तथा हिरण्याक्ष से पृथ्वी छीनकर अपने मुख में धारण कर लिया और उससे बहुत काल तक युद्ध कर अन्त में उसकी हत्या कर दी, यह शूकरावतार का वर्णन ईश्वर का मखौल ही है। वस्तुतः ईश्वर न वराह हुआ न पृथ्वी को मुख में धारण किया। यह सब काम ईश्वर का नहीं हो सकता। संसार के लोग ईश्वर को अवतार लेने वाला बताकर झूठी बातें कहते हैं॥ 5-6॥ कहते हैं ईश्वर खम्भा फाड़कर तथा नृसिंह अवतार लेकर प्रकट हो गया, और हिरण्यकश्यपु का पेट फाड़कर उसे मार डाला। इस बात पर बहुत-से भोले विश्वास करते हैं। परन्तु ऐसा नाटक करने वाला ईश्वर नहीं हो सकता॥ 7-8॥ ईश्वर ने वामन रूप धारणकर और राजा बलि से तीन पग पृथ्वी मांगकर तथा उन्हें धोखा देकर

उनका सारा राज्य ले लिया, यह ईश्वर का काम नहीं है। मांगना-जांचना तो मायावी असमर्थ जीवों का काम है। परन्तु बिना विवेक अवतारवाद के भ्रम में पड़कर संसार के सारे लोग भटक रहे हैं। वस्तुतः मन के माया, कल्पना एवं अज्ञान ने जगत के लोगों को भटका दिया है॥ 9-10॥ ईश्वर ने ही परशुराम बनकर हैहय-वंशीय क्षत्रियों की इक्कीस बार सामूहिक हत्या की है, यह कहना बिलकुल गलत है। परशुराम तो क्रोधी होने से मायावी जीव थे। क्रोधाभिभूत होकर रक्तपात करने वाला तो माया-वश होकर अपने आप को ही छल रहा है। भक्ति का आलंबन तो राग-द्वेष से पूर्णतया मुक्त पुरुष सद्गुरु है, मारकाट करने वाले संसारी जीव नहीं। परन्तु भ्रांत लोग यह रहस्य नहीं जानते और वे जीवों को अवतारवाद का मिथ्या उपदेश देते हैं॥ 11-12॥ अनन्त विश्व-ब्रह्मांड के रचयिता ईश्वर ने दशरथ-पुत्र श्रीराम बनकर सीता से विवाह नहीं किया और न उसने सीता के उद्धार के लिए समुद्र पर पत्थर का पुल ही बनाया॥ 13॥ अतएव जो राघवेंद्र श्रीरामचन्द्र को एक ईश्वर मानकर उनका भजन-पूजन करता है, वह विवेक का उपयोग नहीं करता॥ 14॥ ईश्वर कृष्ण बनकर गोपी-ग्वालों के बीच गोकुल में नहीं आया और न उसने कंस की हत्या की॥ 15॥ क्योंकि ईश्वर तो सबके ऊपर कृपा करने वाला होगा। अतएव उसने न किसी पर विजय पायी और न हार॥ 16॥ पंडित लोग कहते हैं कि ईश्वर ने बुद्ध रूप में अवतार लेकर और असुरों को वेद तथा वैदिक कर्मकांड से वंचित कर उन्हें पतित कर दिया। इसका मतलब यह कि बुद्ध तो ईश्वर हैं और बौद्ध पतित असुर हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि यह बौद्ध मत को गिराने के लिए पंडितों की चाल है। बुद्ध को ईश्वर का अवतार कहना झूठी बात है। न ईश्वर बुद्ध हुआ और न उसने असुरों को पतित किया॥ 17॥ जड़-चेतनात्मक विश्वसत्ता का वास्तविक बोध न होने से लोग पहले एक जगतकर्ता ईश्वर का भ्रम खड़ा करते हैं और उसके बाद अपना स्वार्थ साधने के लिए उसके नाना अवतारों की कल्पना करते हैं। वस्तुतः मनुष्य के मन की माया ने जगत को भ्रमा दिया है॥ 18॥ वह ईश्वर तथाकथित कल्कि अवतार नहीं लेगा और न कलिंग देश के राजा की हत्या करेगा॥ 19॥ छल करना, जबर्दस्ती करना, यती-सती के चरित्र भ्रष्ट करना, यह सब ईश्वर का काम नहीं है, अपितु मायावी जीवों का काम है॥ 20॥ जिन लोगों ने उक्त दसों को अवतार मानकर तथा उनके चरित्र को ईश्वरी माया मानकर, उनकी पूजा की या करते हैं, वे तत्त्वविवेक से रहित हैं॥ 21॥ सद्गुरु कहते हैं कि हे संतो! सुनो, जो पैदा होता और मरता है वह ईश्वर नहीं, किन्तु कर्मवश संसार में भटकने वाला जीव है॥ 22॥

व्याख्या—शास्त्रों में ईश्वर के विषय में कल्पना है कि वह सर्वत्र व्याप्त है, सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान है, न्यायी है, दयालु है इत्यादि। ऐसे ईश्वर के रहते हुए भी संसार में चोरी, मिलावटबाजी, व्यभिचार, हत्या, डाका तथा नाना अत्याचार होते हैं। यहां तक कि ईश्वर के ही नाम पर ईश्वरवादियों ने पुराकाल से मानव का खून बहाया है। मूक, मासूम, मानवेतर प्राणी ही नहीं, किन्तु धनबल, जनबल, शरीरबल, विद्याबलादि से कमजोर लोग भी बली अत्याचारियों द्वारा सदैव पीसे गये हैं, आज भी पीसे जा रहे हैं। ईश्वर सब जगह बैठा, सब कुछ जानता तथा सारा बल रखता हुआ भी मूकदर्शक बना असहाय की तरह जी रहा है। इस प्रकार ईश्वर के जितने लक्षण बताये हैं उन पर परख की कसौटी लगाने पर वह स्वप्न की तरह ज्ञान की जागृति होते ही उड़ जाता है। परन्तु भावुकों ने उसके अवतार भी पैदा कर लिये हैं।

श्रीमद्भागवत स्कन्ध 1, अध्याय 3, श्लोक 5 से 25 तक में अवतारों का वर्णन इस प्रकार है—

1. सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार—ब्रह्मचर्य पालन के लिए।

2. सूकर—पृथ्वी को रसातल से लाने के लिए।

3. नारद—उपदेष्टा के रूप में।

4. नर-नारायण—बदरिकाश्रम में तप के लिए।

5. कपिल—सांख्य शास्त्र का उपदेश करने के लिए।

6. दत्तात्रेय—ये भी उपदेशक थे।

7. यज्ञ—रुचिप्रजापति की पत्नी आकूति से उत्पन्न हुए स्वायम्भुव मन्वन्तर की रक्षा के लिए।

8. ऋषभदेव—परमहंस का आदर्श दिखाने के लिए।

9. पृथु—पृथ्वी से औषधियों को दुहने के लिए।

10. मत्स्य—डूबती हुई पृथ्वी को उबारने के लिए। शंखासुर वेदों को चुरा ले गया था, मत्स्य ने वेदों का उद्धार किया और शंखासुर को मारा।

11. कच्छप—समुद्र मथने में सहयोग करने के लिए।

12. धन्वन्तरि—समुद्र से अमृत का घड़ा लेकर प्रकट हुए।

13. मोहनी—देवता-दैत्यों का विवाद मिटाने के लिए।

14. नृसिंह—हिरण्यकश्यपु को मारने के लिए।

15. वामन—बलि को छलने के लिए।

16. परशुराम—क्षत्रियों को मारने के लिए।

17. व्यास—वेदों का विभाजन करने के लिए।

18. श्रीराम—रावण को मारने के लिए।

19-20. बलराम, कृष्ण—पृथ्वी का भार उतारने के लिए।

21. बुद्ध—वेद-विरुद्ध मत चलाने के लिए।

22. कल्कि—पृथ्वी का भार उतारने के लिए।

उपर्युक्त बाईस अवतारों का उक्त स्थान पर वर्णन है। परन्तु अन्यत्र से 'हंस' और 'हयग्रीव' को मिला देने से चौबीस हो जाते हैं। सनकादिकों को उत्तर देने के लिए 'हंस' अवतार तथा मधुकैटभ को मारने के लिए 'हयग्रीव' अवतार मानते हैं।

"अवतारवाद[1] की भावना हमें पहले-पहल 'शतपथ ब्राह्मण' में मिलती है। प्रारम्भ में विष्णु की अपेक्षा प्रजापति को इस सम्बन्ध में अधिक महत्त्व दिया जाता था। 'शतपथ ब्राह्मण' के अनुसार प्रजापति ने ही मत्स्य (1/8/1/1), कूर्म (7/5/1/5; 14/1/2/11) तथा वराह (14/1/2/11) का अवतार लिया था। प्रजापति के वराह का रूप धारण करने की कथा तैत्तिरीय संहिता (7/1/5/1), तैत्तिरीय ब्राह्मण (1/1/3/6), तैत्तिरीय आरण्यक (10/1/8) तथा काठक संहिता (8/1) में भी प्रारम्भ रूप में विद्यमान है।"[2]

"इस प्रकार हम देखते हैं कि मत्स्य, कूर्म तथा वराह अवतार प्रारम्भ में प्रजापति से सम्बन्ध रखते थे, किन्तु बाद में विष्णु का महत्त्व बढ़ जाने के कारण तीनों विष्णु के ही अवतार माने जाने लगे। महाभारत के नारायणी उपाख्यान (12/326/72 तथा 12/337/36) तथा हरिवंशपुराण (4/41) में वराह तथा विष्णु का सम्बन्ध मान लिया गया है। आगे चलकर तीनों के नाम लेकर एक-एक महापुराण की सृष्टि हुई, जिसमें विष्णु से उनकी अभिन्नता प्रतिपादित है (देखिए मत्स्य, कूर्म तथा वराहपुराण)।[3]

"अन्य मुख्य अवतारों के प्राचीनतम उल्लेख इस प्रकार हैं। वामनावतार तथा नृसिंह अवतार प्रारम्भ से विष्णु से ही सम्बन्ध रखते हैं। वामनावतार का उल्लेख तैत्तिरीय संहिता (2/1/3/1), शतपथ ब्राह्मण (1/2/5/5), तैत्तिरीय ब्राह्मण (1/7/17) और ऐतरेय ब्राह्मण (6/3/7) में हुआ है। नारायणी उपाख्यान (महाभारत 12/326/75) तथा हरिवंश पुराण (1/41) में इसका विष्णु के अन्य अवतारों के साथ उल्लेख हुआ है। नृसिंहावतार की कथा पहले

---

1. एच. याकोबी : इनकारनेशन, इन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन एण्ड एथिक्स, भाग 7। एम. मोनिएर विलियम्स : इं. विजडम, पृ. 318 आदि। एच. राय चौधरी : अर्लि हिस्ट्री ऑव वैष्णव सेक्ट, पृ. 96।
2. डॉ. कामिल बुल्के : रामकथा, अनुच्छेद 140 से उद्धृत।
3. रामकथा, अनुच्छेद 140।

तैत्तिरीय आरण्यक के परिशिष्ट (10/1/6) में मिलती है। नारायणी उपाख्यान (12/326/73 और 337/36) तथा हरिवंश पुराण (1/41) में इसका उल्लेख है तथा विष्णु पुराण (1/16) में नृसिंह की कथा वर्णित है।

"परशुराम विषयक प्रारम्भिक कथाओं में इनके अवतार होने का निर्देश नहीं मिलता (महाभारत 3/115-117), किन्तु नारायणी उपाख्यान (12/326/77), हरिवंश पुराण (1/41/112-120) तथा विष्णु पुराण (1/9/143) में उनको विष्णु का अवतार माना गया है।

"प्रस्तुत सिंहावलोकन का निष्कर्ष यह है कि ब्राह्मणों में तथा अन्य प्राचीन साहित्य में अवतारवाद विद्यमान है, किन्तु उन ग्रन्थों के रचनाकाल में न तो अवतारों की विशेष पूजा की जाती थी और न उसमें विष्णु का प्राधान्य था। कृष्णावतार के साथ-साथ अवतारवाद के विकास में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन प्रारम्भ हुआ—उस समय से लेकर अवतारवाद भक्तिभाव से ओतप्रोत होने लगा।

"वासुदेव कृष्ण भागवतों के इष्टदेव थे। प्रारम्भ में उनका तथा विष्णु का कोई भी सम्बन्ध नहीं था। डॉ. हेमचन्द्र राय चौधरी[1] का अनुमान है कि सम्भवतः तीसरी शताब्दी ई. पू. वासुदेव कृष्ण और विष्णु की अभिन्नता की भावना उत्पन्न हुई थी। अवतारवाद के इस विकास का कारण प्रायः बौद्धधर्म से जोड़ा जाता है।[2] बौद्ध धर्म तथा भागवत सम्प्रदाय का भक्तिमार्ग दोनों समान रूप से ब्राह्मण साहित्य के कर्मकांड तथा यज्ञ-प्रधान कर्म की प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न और विकसित हुए। इसके फलस्वरूप धर्म के क्षेत्र में ब्राह्मणों का एकाधिकार लुप्त हो गया था। बौद्ध धर्म का अधिकाधिक प्रचार देखकर ब्राह्मणों ने भागवतों को अपनी ओर आकर्षित करने के उद्देश्य से भागवतों के इष्टदेव वासुदेव कृष्ण को विष्णु-नारायण का अवतार मान लिया है।"[3]

"इससे अवतारवाद को बहुत प्रोत्साहन मिला, साथ-साथ विष्णु का भी महत्त्व बढ़ने लगा। इस तरह अवतारवाद की सारी भावना धीरे-धीरे विष्णु-नारायण में केन्द्रीभूत होने लगी और वैदिक साहित्य के अन्य अवतारों के कार्य विष्णु में ही आरोपित किये गये।

"एक ओर अवतारवाद की भावना फैलती जा रही थी, दूसरी ओर कई शताब्दियों से राम का आदर्श चरित्र भारतीय जनता के सामने रहा था। रामायण

1. दे. अर्लि हिस्ट्री ऑव दि वैष्णव सेक्ट, पृ. 63।
2. दे. एच. चौधरी, वही, पृ. 63। एम. मोनिएर विलियम्स, वही, पृ. 328/सी.वी. वैद्य, वही, पृ. 25।
3. तैत्तिरीय आरण्यक (10/1/6) में वासुदेव तथा विष्णु की अभिन्नता का प्राचीनतम उल्लेख मिलता है।

की लोकप्रियता के साथ-साथ राम का महत्त्व भी बढ़ता रहा। उनकी वीरता के वर्णन में अलौकिकता की मात्रा भी बढ़ने लगी। रावण पाप और दुष्टता का प्रतीक बन गया और राम पुण्य और सदाचरण का। अतः इस विकास की स्वाभाविक परिणति यह हुई कि कृष्ण की भांति राम भी विष्णु के अवतार माने जाने लगे। राम तथा विष्णु की अभिन्नता की धारणा कब उत्पन्न हुई, इसका ठीक समय निर्धारित करना असंभव है। फिर भी अवतारवाद उत्तरकांड में इतना व्याप्त है कि इसे उत्तरकांड की अधिकांश सामग्री के पूर्व का मानना चाहिए। अतः बहुत सम्भव है कि पहली शताब्दी ई.पू. से ही रामावतार की भावना प्रचलित होने लगी थी। रामायण के प्रक्षेपों के अतिरिक्त महाभारत तथा वायु, ब्रह्मांड, विष्णु, मत्स्य, हरिवंश आदि प्राचीनतम पुराणों में अवतारों की तालिका में राम दाशरथि का भी नाम आया है।"[1]

उपर्युक्त लम्बे उद्धरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि अवतारवाद की कल्पना पहली बार शतपथ ब्राह्मण नामक ग्रन्थ में हुई जो ईसा के एक हजार वर्ष पूर्व की रचना माना जाता है। इसमें बताया गया कि प्रजापति ने मत्स्य (मछली), कूर्म (कछुआ) तथा वराह (सूअर) का अवतार धारण किया। ये तीनों ही अवतार मात्र काल्पनिक हैं।

वामन अवतार की कल्पना तैत्तिरीय संहिता में आती है। यह भी ईसा से एक हजार वर्ष पूर्व की ही रचना मानी जाती है। वामन अवतार की कल्पना ऋग्वेद के प्रथम मंडल के 22वें सूक्त के अन्तिम (16/21) छह मंत्रों से उद्‌भूत मानी जाती है। उसके इस सम्बन्ध में मुख्य दो मंत्रों को यहां उपस्थित किया जाता है। "विष्णु ने इस जगत की परिक्रमा की। उन्होंने तीन प्रकार से अपने पैर रखे और उनके धूलियुक्त पैर से जगत छिप-सा गया। विष्णु जगत के रक्षक हैं। उनको आघात करने वाला कोई नहीं है। उन्होंने समस्त धर्मों को धारणकर तीन पैरों का परिक्रमा किया।"[2]

विष्णु सूर्य है। उसकी किरणें उसके पैर हैं। उनका पृथ्वी, अंतरिक्ष तथा द्युलोक में पड़ना उसके तीन पैर पड़ना है। भारतीय-अभारतीय सभी वेद-विद्वान इस तथ्य को समझते हैं। परन्तु पीछे वालों ने इस सूत्र से एक कहानी बना ली कि विष्णु ने वामन बन राजा बलि को छलकर तीन पद में उनके सारे राज्य (भूमंडल) को नाप लिया था। कथा ऐसी भोड़ी बनायी गयी जिसमें विष्णु

---

1. डॉ. कामिल बुल्के : रामकथा, अनुच्छेद 141 से 143 तक।
2. इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूळमस्य पांसुरे॥
त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः अतो धर्माणि धारयन्॥
(ऋग्वेद 1/22/17-18) टीका रामगोविन्द त्रिवेदी। इण्डियन प्रेस प्रयाग।

को छली सिद्ध किया गया तथा बताया गया कि उसने एक धर्मात्मा राजा बलि के साथ विश्वासघात किया। पुराणों में बताया गया है कि विष्णु इन्द्र के छोटे भाई हैं। इन्होंने अपने बड़े भाई इन्द्र की गद्दी स्थापित करने के लिए बलि को धोखा दिया। इन्द्र तथा विष्णु के सम्बन्ध का भी सूत्र इसी सूक्त में मिल जाता है—"इन्द्रस्य युज्यः सखा।"[1] अर्थात विष्णु इन्द्र के साथी तथा मित्र हैं। पुराणों के अनुसार कश्यप की एक पत्नी दिति से बलि आदि दैत्य पैदा हुए थे तथा दूसरी पत्नी अदिति से इन्द्र, विष्णु आदि देवता पैदा हुए थे। दैत्य–देवता का अर्थ पापी एवं पुण्यात्मा नहीं है, किन्तु ये गोत्र मात्र थे जो माताओं के नाम पर चले थे। देवता तथा दैत्य दोनों में अच्छे–बुरे होते थे; बल्कि देवता अधिक विषयी–पामर होते थे और दैत्य संयमी। पौराणिक इन्द्र तथा बलि के चरित्र से ही यह जाना जा सकता है।

मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम जितने भी अवतारों की कल्पना की गयी है, उनमें से कोई भी पूज्य नहीं हुआ। अवतारों के अंतिम छोर में उदित हुए राम तथा कृष्ण ही पूज्य हुए हैं। वस्तुतः श्रमणों (बौद्धों एवं जैनों) के उत्तारवाद की प्रतिक्रिया में ब्राह्मणों ने अवतारवाद की कल्पना की। जैनों तथा बौद्धों में महावीर एवं बुद्ध दो महान पुरुष हो गये। जैनों तथा बौद्धों द्वारा माना गया कि उत्तारवाद के सिद्धान्त से महावीर तथा बुद्ध महान एवं पूर्ण पुरुष हो गये।[2] यह स्वाभाविक कथन था। इसके उलटे ब्राह्मण परंपरा में अवतारवाद का विकास हुआ, कि पूर्ण परमात्मा उतरकर साधारण मनुष्य बन गया। पहले कृष्ण को अवतार मान लिया गया और गीता में कृष्णावतार पूर्ण विकसित हुआ। तब तक राम के विषय में अवतार की मान्यता नहीं थी। उन्हें तब तक केवल वीर धनुर्धारी ही माना जाता था। इसीलिए गीताकार ने श्री कृष्ण के मुख से श्री राम के लिए कहलवाया—"रामः शस्त्रभृतामहम्"[3] अर्थात मैं शस्त्रधारियों में राम हूं। तार्किक अध्येताओं के मतानुसार ईसा के चार सौ वर्ष पूर्व तक कृष्णावतार की कल्पना हो चुकी थी तथा रामावतार की कल्पना ईसा से सौ वर्ष पूर्व हुई। परन्तु तब तक रामादि चारों भाइयों को विष्णु का केवल अंशावतार माना गया। राम को पूर्ण परब्रह्म तो ईसा के बारह–तेरह सौ वर्ष बाद बनाया गया और उसके फल में अध्यात्म रामायण बनी, फिर ईसा के सोलह सौ वर्ष बाद गोस्वामी तुलसीदास जी के द्वारा मानस की रचना हुई, जिसमें श्री राम

---

1. ऋग्वेद 1/22/19।
2. उत्तार का अर्थ है सामान्य जीव का ऊपर उठ जाना, दूसरों से बढ़ जाना, मुक्त हो जाना तथा अवतार का अर्थ है महान सत्ता का ऊपर से उतरकर नीचे आ जाना।
3. गीता 10/31।

को सभी ऋषियों-मुनियों का पूज्य तथा अनंत ब्रह्मांड-नायक परब्रह्म मान लिया गया। इस प्रकार अवतारवाद की वेदों में तो कोई गुंजाइश नहीं है। पीछे के साहित्यों में मछली, कछुआ, सूअर, नरपशु आदि की अवतार रूप में कल्पना होती गयी और बहुत पीछे कृष्ण तथा राम को अवतार मानने की बात प्रचलित हुई।

ऊपर का विवेचन साहित्य में अवतारवाद के विकास पर हुआ। अब यह विचारना है कि अवतारवाद तर्क में क्या टिकता है ! सद्गुरु ने इस शब्द में यही तो कहा है।

विश्व अनंत देश तथा काल-व्यापी है। विश्व के मुख्य दो घटक जड़ और चेतन हैं। उनमें उनके अपने गुण-धर्म अंतर्निहित हैं। उन्हीं से जगत की व्यवस्था अनादिकाल से अबाध गति से चल रही है। इसमें इनसे पृथक किसी ईश्वर की कल्पना करना वस्तुतथ्य को न समझने का परिणाम है। परन्तु यदि हम थोड़े समय के लिए मान भी लें कि एक सर्वसमर्थ सर्वव्यापी ईश्वर है, तो उसे अवतार लेकर एवं देह धारणकर संसार में कुछ करने के लिए आने की आवश्यकता नहीं है। जिसके निमेष-उन्मेष से अनंत विश्व-ब्रह्मांड के उत्पत्ति तथा प्रलय माने जायें, उसे किसी कीट सदृश प्राणी को मारने के लिए देह धरकर जीवनभर संसार में उलझना पड़े, यह एक हास्यास्पद धारणा है।

कहते हैं शंखासुर नाम का एक राक्षस था। वह ब्रह्मा के यहां जाकर वेदों को चुरा लाया और उन्हें समुद्र में छिपा दिया। अतएव विष्णु ने वेदों को पुनः प्राप्त करने के लिए मत्स्यावतार धारण किया और समुद्र में जाकर शंखासुर को मार गिराया तथा वेदों को वहां से ले आया। कबीर देव कहते हैं कि यह सब गलत है। ईश्वर तो दयालु बताया जाता है। वह किसी को मारने क्यों जायेगा? उसे किसी से द्रोह नहीं है। वह तो किसी को अपने सत्प्रेरणा मात्र से बदल सकता है।

पण्डित जन बताते हैं कि हिरण्याक्ष ने इस पृथ्वी को ले जाकर टट्टी में छिपा दिया था। अतएव विष्णु सूअर बनकर अपने थूथन (मुंह) से पृथ्वी को टट्टी से निकालकर ऊपर ले आये। हिरण्याक्ष सो रहा था। वह जगकर सूकरावतार भगवान से लड़ने लगा। बहुत दिनों तक युद्ध चला। अंत में सूअर-भगवान ने हिरण्याक्ष को मार गिराया और पृथ्वी का उद्धार किया। सद्गुरु कहते हैं उस ईश्वर को सूअर बनकर न युद्ध करने की आवश्यकता हो सकती है और न पृथ्वी को मुख में उठाने की। पृथ्वी तो अपनी धारणा एवं गुरुत्वा शक्ति से स्वयं धारित है। सूअर बनना, पृथ्वी उठाना, युद्ध करना आदि काम साहेब के नहीं हैं। संसारी लोग झूठी-झूठी बातें उड़ाते हैं।

कहते हैं हिरण्यकश्यपु अपने पुत्र प्रह्लाद को विष्णु की भक्ति करने से रोकता था और वह बलात विष्णु की भक्ति करता था। इसलिए हिरण्यकश्यपु ने अपने पुत्र प्रह्लाद को काफी दण्ड दिया। अन्त में उसे लोहे के गरम खंभे में बंधवा दिया, तो ईश्वर नर तथा सिंह का मिलित रूप बनाकर तथा खंभा फाड़कर निकल आया और हिरण्यकश्यपु को मार डाला। कबीर साहेब कहते हैं कि इस कथा पर सबको बड़ा विश्वास है—"खंभ फोरि जो बाहर होई, ताहि पतीजे सब कोई।" परन्तु "हरणाकुश नख वोद्र बिदारा, सो कर्ता नहिं होई।" वह भला सर्वसमर्थ सर्वत्र व्याप्त ईश्वर हो सकता है जो किसी की बुद्धि अपनी सत्प्रेरणा से न बदल सके और नर-पशु बनकर हत्या करना ही उसका चारा रह जाये! ईश्वर ने एक प्रह्लाद को बचाने के लिए खंभा फाड़ डाला, परन्तु चंगेज खां, नादिरशाह, गजनवी, मिलावटखोरों, जमाखोरों, घूसखोरों, रक्तचूसकों, शोषकों, निर्बल-पीड़कों आदि को मारकर जनता की रक्षा करने के लिए उसने आज तक कोई खंभा नहीं फाड़ा। कबीर साहेब कहते हैं कि हिरण्यकश्यपु का पेट फाड़ने वाला ईश्वर नहीं हो सकता।

"बावन रूप न बलि को जाँचे" ईश्वर वामन रूप बनाकर राजा बलि से भीख नहीं मांगेगा। भीख मांगना, छल करना मायावी मनुष्यों का काम है। ऊपर उदाहरण दे आये हैं कि ऋग्वेद के प्रथम मंडल के बाइसवें सूक्त में जो यह आया है कि विष्णु ने तीन प्रकार से पैर रखे। इसका अर्थ है सूर्य की किरणों का पृथ्वी, अंतरिक्ष तथा द्युलोक में पड़ना। परन्तु इससे पौराणिकों को वामन-बलि की कहानी गढ़ने में सरलता हो गयी। भोले पंडितों ने यह भी नहीं सोचा कि इस कहानी से हम ईश्वर को मंगन तथा छली सिद्ध कर रहे हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि लोग बिना विवेक के अवतारवादी धारणाओं में भटक रहे हैं। माया एवं कल्पना ने इनकी मिट्टी पलीद कर दी है।

पुराण कहते हैं कि ईश्वर ने ब्राह्मण परशुराम बनकर क्षत्रियों की अथवा हैहयवंशी क्षत्रियों की इक्कीस बार सामूहिक हत्याएं कीं। यह भी ईश्वर का एक मखौल और उसे हत्यारा सिद्ध करना है। यह वास्तव में क्षत्रियों की वरीयता की प्रतिक्रिया में गढ़ी गयी कल्पना है। ईश्वर परशुराम बनकर क्षत्रियों को क्यों मारेगा! मारकाट करना तो क्रूर एवं छली मनुष्यों का काम है। ऐसे छली या हत्या करने वालों को ईश्वर वही मानेगा जिसे सद्गुरु की भक्ति नहीं प्राप्त है, जिसने सद्गुरु से यथार्थ का भेद नहीं जाना है। ऐसे लोग ही जीवों के मन में मिथ्या मान्यता का आरोपण करते हैं।

अनंत विश्व-व्यापी जगत-स्रष्टा ईश्वर दशरथ का लड़का बनकर सीता से अपना विवाह करने नहीं आयेगा। उसके वियोग में वह पेड़-पौधों, नदी-पर्वतों

से उसका पता नहीं पूछेगा। न वह वाली को छिपकर धोखे से मारेगा, न पत्थरों से पुल बनाकर लंका पर हमला करेगा और न उसको लेकर वह लाखों-करोड़ों का वध करेगा। इतनी-सी बात जो नहीं समझ सकता उसकी बुद्धि की क्या प्रशंसा की जाये! क्या ईश्वर को ग्वालों के साथ गाय चराना, नारियों के साथ रास करना या कंसादि को मारना पड़ सकता है? क्या यह सब काम ईश्वर के हो सकते हैं? क्या यही ईश्वर-लक्षण हैं?

अवतारवाद की भावना जब काफी बढ़ गयी थी, तब अवतारवादियों को बौद्धों को नीचा दिखाने के लिए एक मीठे जहर की युक्ति सूझी। यह युक्ति ईसा के करीब छठीं या सातवीं शताब्दी में सूझी।[1] अवतारवादियों ने कहा कि ईश्वर ने असुरों की बुद्धि भ्रष्ट करने के लिए बुद्ध का अवतार लिया और उसने असुरों को बताया कि वेदविहित यज्ञ करने पर हिंसा होती है। अतएव यज्ञ मत करो। यह उपदेश सुनकर जितने असुर थे वे अहिंसक एवं यज्ञ-हीन हो गये। वे ही सब बौद्ध कहलाये। इसमें पंडितों की चालबाजी यह कि बुद्ध तो ईश्वर हैं। उनकी हम पूजा करेंगे, परन्तु बौद्ध असुर हैं। वे वेद-विरोधी हैं। उनका नरक होगा। भागवत में इसका वर्णन इस प्रकार है—"कलियुग आ जाने पर मगध देश (बिहार) में देवताओं के द्वेषी दैत्यों को मोहित करने के लिए अजन के पुत्र रूप में आपका (ईश्वर का) बुद्धावतार होगा।"[2] पुराण लेखक तो सदैव यही लिखते हैं कि अमुक काल में यह होगा, वह होगा; जिससे यह सिद्ध हो कि लेखक सर्वज्ञ एवं त्रयकालदर्शी है। उसने यह सब पहले लिख दिया है। परन्तु उक्त श्लोक का लेखक ऐसा सर्वज्ञ तथा त्रयकालदर्शी था कि इतना भी नहीं जानता था कि बुद्ध गोरखपुर के भी पश्चिमोत्तर लुंबनी में पैदा हुए थे; पूर्व-दक्षिण मगध में नहीं। लेखक बुद्ध को अजन का पुत्र बताता है जबकि वे सुद्धोदन के पुत्र थे।

कबीर साहेब कहते हैं कि न बुद्ध ईश्वर के अवतार हैं, न उन्होंने दैत्यों की बुद्धि भ्रष्ट की थी और न बौद्ध दैत्य या असुर हैं। यह सब चालाक पंडितों का छलपूर्ण वाक्-जाल है। ऐसा छल केवल बुद्ध तथा बौद्धों के साथ ही नहीं किया गया है किन्तु आदि शंकराचार्य एवं कबीर साहेब के लिए भी किया गया है। शंकराचार्य की प्रतिष्ठा कम करने के लिए प्रसिद्ध वैष्णव माध्वाचार्य के शिष्य त्रिविक्रम (गृहस्थ) के पुत्र नारायण ने मणिमंजरी और मध्वविजय—इन

---

1. आर.सी. हाजरा : एनल्स भंडारकर इंस्टिट्यूट, भाग 18, पृ. 321। बुल्के : रामकथा, अनुच्छेद 144।
2. ततः कलौ सम्प्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम्।
बुद्धो नाम्नाजनसुतः कीटकेषु भविष्यति॥ (भागवत, स्कंध 1, अध्याय 3, श्लोक 24)

दो ग्रन्थों द्वारा शंकराचार्य को महाभारतोक्त मणिमान नामक दैत्य का अवतार कहा है।[1] पद्मपुराण का लेखक शिव के मुख से शंकराचार्य को गिराने की चेष्टा करता है। वह शिव के मुख से कहलाता है—"माया की कल्पना एक मिथ्या सिद्धान्त है और बुद्धमत का ही छिपा हुआ रूप है। हे देवि ! मैंने ही कलियुग में एक ब्राह्मण (शंकराचार्य) का रूप धारणकर इस मिथ्या सिद्धान्त का प्रचार किया था।"[2] कबीर साहेब की पैनी तर्कपूर्ण वाणियों से लोगों के अपने बनाये कल्पित जाल जब कटने लगे, तब कितने तथाकथित पंडितों ने कहना शुरू किया कि कबीर के शरीरान्त के बाद उनके शरीर में एक दानव घुस गया था। उसी ने कबीर की शक्ल में उपस्थित होकर खंडन-मंडन की वाणियां कहीं हैं। पण्डित कितना चालाक होता है ! वह कबीर का आदर बनाये रखकर उनकी वाणियों को अविश्वसनीय बना देना चाहता है। बुद्ध के साथ भी यही किया गया और शंकराचार्य के साथ भी।

"ज्ञान हीन कर्ता के भरमें, माये जग भरमाया।" यह पंक्ति बड़ी मार्मिक है। जिन्हें कारण-कार्य व्यवस्था तथा जड़-चेतन का ज्ञान नहीं है, जिन्हें विश्वसत्ता के नियमों का बोध नहीं है, वह इस संसार से अलग इसका बनाने वाला एक कर्ता की कल्पना करता है। वह सोचता है कि जैसे घड़ा का बनाने वाला एक कुम्हार है वैसे संसार का बनाने वाला एक ईश्वर है। यह मन की माया-कल्पना से ही उत्पन्न हुआ भ्रम है जिसमें सब भटक रहे हैं।

विश्व में मुख्य दो मूल तत्त्व हैं एक जड़, दूसरा चेतन, जिन्हें पुराकाल में सांख्य दर्शन ने क्रमशः प्रकृति और पुरुष कहा है। जड़ प्रकृति में अनेक तत्त्व हैं। वे सब मूलतः अनादि-अनंत हैं। उनमें अपने स्वभावसिद्ध गुण, धर्म, क्रियादि हैं जो अनादि-अनंत हैं। इससे जगत-सृष्टि प्रकृति के अपने स्वभावसिद्ध गुण-धर्मों से सदा से स्वाभाविक चल रही है। इसमें अलग से बनाता कौन, क्या है?

धार्मिकों ने प्रकृति का प्रायः उदारतापूर्वक अध्ययन नहीं किया है। वे कहते हैं प्रकृति तो जड़ है। उसमें स्वयं क्रिया कैसे होगी ! अतएव इससे अलग रहने वाला कोई ईश्वर प्रकृति में क्रिया पैदा करता है। उन अक्ल के धनी लोगों को समझना चाहिए कि जड़ प्रकृति के सारे तत्त्व एवं जड़-कण स्वाभाविक क्रियाशील हैं। जड़तत्त्वों में स्वभावसिद्ध एवं अंतर्निहित क्रिया ही तो उनकी

---

1. महामहोपाध्याय डॉ. गोपीनाथ कविराज कृत भारतीय संस्कृति और साधना, पृष्ठ 215, संस्करण 1964।
2. मायावादमसच्छास्त्रम् प्रच्छनं बौद्धमेव च।
मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा। (पद्मपुराण, उत्तरखंड 236)

सम्पत्ति है, जिससे सृष्टि निरंतर विद्यमान रहती है। पूर्वी या पश्चिमी हवा चलती है, तब इसका अर्थ यह नहीं है कि तथाकथित ईश्वर पूर्व या पश्चिम की तरफ जाकर उधर से हवा को ढकेलता है, किन्तु अपने दाब के नियमों से हवा स्वयं चलती है। पानी बरसने के प्रकृति में जितने नियम हैं उनकी योग्यता होने पर पानी स्वयं बरसता है। इसमें चाहे किसी का लाभ हो या हानि; और जब योग्यता नहीं रहती, तब नहीं बरसता इसमें भी चाहे किसी की हानि हो या लाभ। प्रकृति जड़ है। वह यह नहीं जानती कि वर्षण, अतिवर्षण या अवर्षण से किसी की हानि होती है या लाभ होता है। इस वर्ष 1987 ई. का अतिवर्षण तथा अवर्षण प्रमाण हैं। जहां उत्तरी बिहार में गांव के गांव बह गये, वहां राजस्थान, गुजरात, उड़ीसा तथा भारत के बहुत बड़े भू-भाग पर अवर्षण से त्राहि-त्राहि मची है। क्या यह सब दयालु, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर कर रहा है! भक्त लोग ईश्वर की इतनी दुर्दशा क्यों कर रहे हैं? झरने तथा नदियां ईश्वर की प्रेरणा से बहते हैं; चांद, सूरज, तारे उसी के इशारे पर चमकते हैं, फूल वही खिलाता है, पानी वही बरसाता है; भूचाल, दावाग्नि, ज्वालामुखी सब ईश्वर की प्रेरणा के फल हैं—यह सारी कल्पना के कूड़ा-कबाड़ मनुष्य के अज्ञान, पक्षपात एवं अंधविश्वास के फल हैं। जड़ प्रकृति अपने अंतर्निहित गुण-क्रियाओं से स्वयं समर्थ है, जिससे सृष्टि-क्रिया निरंतर चलती रहती है। जड़ प्रकृति से मूलतः सर्वथा भिन्न असंख्य अविनाशी चेतन जीव अपने कर्म-वश देह धरते-छोड़ते रहते हैं। उनमें से जो मानव शरीर में सत्संग-बोध प्राप्त कर पवित्राचरण करते हुए स्वरूपस्थिति प्राप्त कर लेते हैं, वे इसी जीवन में कृतार्थ एवं मुक्त भी हो जाते हैं। इन सबके लिए अलग से किसी कल्पित ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। परन्तु सद्गुरु का वचन सच है "ज्ञान हीन कर्ता के भरमें, माये जग भरमाया।" वास्तविकता के ज्ञानहीन लोग कर्ता के भ्रम में पड़े रहते हैं। इनके मन की माया ने, इनके मन की कल्पना ने इनकी मिट्टी पलीद कर दी है।

"वै कर्ता नहिं भये निकलंकी, नहिं कालिंगहिं मारा।" पंडितों की कल्पना है कि वह ईश्वर कलियुग के अंत में कलिंगदेश के राजा या दुष्ट रजवाड़ों को मारने के लिए कल्कि नाम से अवतार लेगा और तलवार ले तथा घोड़े पर बैठकर दुष्टों पर हमला करेगा। यह सब लिखते समय न मोटर थी न वायुयान, न बन्दूक थी न तोप और न बम। तब केवल तलवार, धन्वा-बाण अस्त्र-शस्त्र थे तथा घोड़े, हाथी तथा रथ की सवारी थी। इसलिए पुराण लेखक ने कल्कि भगवान की सवारी घोड़ा तथा शस्त्र तलवार घोषित किया है। यदि लेखक बेचारा भविष्यद्रष्टा होता तो वह लिखता कि कल्कि भगवान वायुयान पर

बैठकर अणुबम, परमाणुबम आदि की दुष्टों पर वर्षा करेगा। और यदि इन्हें वह ज्यादा खतरनाक समझता तो मशीनगन तथा तोप का प्रयोग कराता। कबीर साहेब कहते हैं ईश्वर को कल्कि नहीं बनना पड़ेगा, और न कलिंगदेशीय व्यक्तियों को मारना पड़ेगा।

"ई छल बल सब माया कीन्हा, जत्त सत्त सब टारा।" सद्गुरु कहते हैं कि अवतार माने गये जितने हैं उनके चरित में छल-बल की बातें ज्यादा हैं। छल करना, बलपूर्वक किसी पर आक्रमण करना यह सब संसारी मनुष्यों के काम हैं। यती, सती-पतिव्रता एवं सत्यवादियों को उनके पथ से हटाकर उन्हें पतित करना, यह सब काम विवेकवान के नहीं हैं। बलि को छलना, वाली को छिपकर मारना, युद्ध में धोखा देकर भीष्म, द्रोणाचार्य, मेघनाद आदि को मारना, वृन्दा का सतीत्व नष्ट करना, क्षत्रियों का इक्कीस बार घोर संहार करना आदि सब मायावी मनुष्यों के काम हैं। इन सब को ईश्वर या ईश्वरावतार कहना अत्यन्त भोलापन है। अन्त में सद्गुरु कहते हैं—

"दश अवतार ईश्वरी माया, कर्ता कै जिन पूजा। कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, उपजै खपै सो दूजा।" अर्थात दस या चौबीस अवतारों की कल्पना करना और उन्हें किसी सर्वसमर्थ ईश्वर की माया बताना और उन कल्पित अवतारों की पूजा करना—सब सत्यज्ञान से रहित लोगों के काम हैं। अवतारी (ईश्वर) तथा अवतार दोनों ही मनुष्यों के मन की कल्पनाएं हैं। क्योंकि उपजने-विनशने वाला एवं जन्मने-मरने वाला कभी जगत का कर्ता नहीं हो सकता।

उपर्युक्त चौबीसों में से श्रीराम, श्रीकृष्ण, महात्मा बुद्ध आदि कुछ महापुरुष तो ऐतिहासिक हैं। शेष काल्पनिक हैं। यों अवतार तो उतरने एवं जन्म लेने को कहते हैं, सभी कर्मी जीवों के अवतार होते हैं। राम-कृष्णादि भी अपने पूर्वजन्मों के कर्म-वश जन्म लिये, सुख-दुख भोगे एवं शुभाशुभ कर्मों में अपनी जीवनलीला व्यतीतकर शरीर त्याग कर गये। वाल्मीकीय रामायण, उत्तरकांड का इक्यावनवां सर्ग देखने से श्रीराम का कर्म-फल-भोग विदित होता है। श्रीकृष्ण भी 'जरा' नामक व्याध के बाण से विंधकर शरीर त्याग करते हैं। (श्रीमद्भागवत, स्कन्ध 11, अध्याय 30)

अवतारवाद मनुष्य के मन में हीनभावना उत्पन्न करता है। यहां तक देश और धर्म पर संकट आने पर अवतारवादी उसके निवारण के लिए स्वयं यत्न नहीं करता। वह सोचता है हम तुच्छ जीवों में क्या बल है जो कुछ कर सकें, जब अधिक संकट या पाप बढ़ जायेगा, तब ईश्वर अवतार लेकर स्वयं सब काम कर देगा। प्रकट है जब विधर्मियों द्वारा सोमनाथ के मन्दिर को लुट जाने की संभावना हुई, तब उसके पुजारियों ने अन्य कोई यत्न नहीं किया और भगवान के भरोसे वे हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रह गये। उसका परिणाम हुआ कि

करोड़ों की सम्पत्ति लुट गयी, मन्दिर ध्वस्त किया गया और शिवलिंगी तोड़ी गयी।

मनुष्य तब तक उन्नति नहीं कर सकता, जब तक यह न समझ ले कि मनुष्य से बड़ा कोई नहीं। किसी ईश्वर, दैव अथवा अवतार के भरोसे सोते रहने का व्यसन बहुत बड़ा अनर्थ उत्पन्न करता है। ईश्वर, दैव और अवतार की कल्पना मनुष्य के मस्तिष्क के उस अन्धकारमय प्रदेश से होती है, जिसमें वह अपनी दुर्बलताओं को संजोकर अवकाश की सांस लेना चाहता है।

वास्तव में यह आत्मा ही जब महात्मा हो जाता है, तब परमात्मा हो जाता है। काम, क्रोध एवं राग-द्वेष पर सर्वथा विजयी पुरुष ही 'ईश्वर, परमात्मा, दैव या ब्रह्म है।' श्रीमद्भागवत भी कहता है—

दरिद्रो यस्त्वसन्तुष्टः कृपणो योऽजितेन्द्रियः।
गुणेष्वसक्तधीरीशो गुणसंगो विपर्ययः॥ (11/19/44)

"जिसके चित्त में असन्तोष है वही दरिद्र है, जो जितेन्द्रिय नहीं है, वही कृपण है। समर्थ, स्वतन्त्र और ईश्वर वह है जिसकी चित्तवृत्ति विषयों में आसक्त नहीं है। इसके विपरीत जो विषयों में आसक्त है, वही सर्वथा असमर्थ है।"

व्यावहारिक तथा आध्यात्मिक सुधार के लिए प्रेरणा

शब्द-9

सन्तो बोले ते जग मारे॥ 1॥
अनबोले ते कैसक बनि है, शब्दहि कोइ न बिचारे॥ 2॥
पहले जन्म पुत्र का भयऊ, बाप जन्मिया पाछे॥ 3॥
बाप पूत की एकै नारी, ई अचरज कोइ काछे॥ 4॥
दुन्दुर राजा टीका बैठे, विषहर करै खवासी॥ 5॥
श्वान बापुरा धरनि ढाकनो, बिल्ली घर में दासी॥ 6॥
कार दुकार कार करि आगे, बैल करे पटवारी॥ 7॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, भैंसे न्याव निबेरी॥ 8॥

शब्दार्थ—अनबोले ते=चुप रहने से। काछे=हटाये। दुन्दुर=मेढक, तामसी, कटु-भाषी। विषहर=विषधर, सर्प, चमचे। खवासी=सेवकाई। श्वान= आचरणहीन। बिल्ली=लोलुप व्यवस्थापक। कार=कर्तव्य। दुकार= अकर्तव्य। कार=कर्तव्य। बैल=विवेकहीन। पटवारी=गुरु। भैंसे=तामसी एवं मूढ़।

उलटवांसी रूपक—हे सन्तो! सत्य बात कहने पर जगत के लोग मारने दौड़ते हैं। परन्तु चुप रहने से कैसे कल्याण होगा! शब्दों पर तो कोई विचार

नहीं करता। पुत्र ने पहले जन्म लिया, पीछे पिता का जन्म हुआ। पिता और पुत्र की एक ही नारी है। इस आश्चर्य को कोई समझे। मेढक टीकाधारी राजा बन गया। विषधर सर्प उसकी सेवा करने लगा। बेचारे कुत्ते ने अपनी पूंछ से पृथ्वी को ढक दिया। बिल्ली घर में दासी बनकर सेवकाई करने लगी। कर्तव्य-अकर्तव्य दोनों को कर्तव्य बताकर बैल पटवारगीरी करने लगे। कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो ! भैंसे विवाद पर न्याय देने लगे।

व्यावहारिक भावार्थ—हे सन्तो ! सत्य कहने से जगत के लोग मारने दौड़ते हैं॥ 1॥ परन्तु चुप रहने से कैसे बनेगा ! शब्दों पर कोई विचार नहीं करता है॥ 2॥ पहले मनुष्य पुत्र के रूप में जन्म लेता है, वही पीछे कभी पिता बनता है। यदि उसने पुत्रत्व का पार्ट अच्छा अदा किया है तो आगे चलकर वह अच्छा पिता बनेगा॥ 3॥ पिता और पुत्र में ही संसार के सारे लोग होते हैं और ये दोनों एक ही नारी जाति से पैदा होते हैं; अतएव यदि नारी का सुधार हो जाये, वह सुसंस्कारी हो जाये, तो मानो सारे संसार का सुधार हो जाये। अथवा पिता और पुत्र दोनों एक ही नारी जाति से विवाह करते हैं, अतएव नारी एवं गृहिणी मात्र का सुधार हो जाये तो जगत का सुधार हो जाये। परन्तु "बाप पूत की एकै नारी" के आश्चर्यजनक कथन के शब्द-शैवाल को हटाकर कोई उसके मर्म को समझे॥ 4॥ मेढक के समान तामसी और दुर्भाषी लोग तिलक कराकर राजा बन बैठे हैं, और सर्प के समान विषधर स्वभाव के लोग उनकी सेवकाई करने वाले तथा चमचे बन गये हैं, जो दोनों जनता के शोषक हैं॥ 5॥ कुत्ते बेचारे अपनी पूंछ से अपने गुप्तांग तक को नहीं ढक पाते, फिर यदि वे पूरी पृथ्वी को ढकने का उपक्रम करें तो यह हास्यास्पद ही है। वैसे जो लोग अपने ही आचरण को खोये हुए हैं यदि वे जनता के चरित्र-रक्षक बनने का ढकोसला करते हैं तो वे उनके तथा अपने साथ छल करते हैं। बिल्ली घर में दासी बन जाये तो वह घर के सभी खाद्य-पदार्थों पर दिन भर मुंह मारती फिरेगी। सद्गुरु कहते हैं कि बिल्ली की तरह लोलुपवृत्ति वाले व्यवस्थापक बन गये हैं। अतएव जनता के कल्याण के लिए राज-कोष से मिले हुए धन का बहुत हिस्सा बीच में ही गटक जाते हैं॥ 6॥ पटवारी जमीन की जांच-पड़ताल कर उसका कागज में लेखा-जोखा रखता है, इसी प्रकार धर्माचार्य एवं गुरु लोग जनता के धर्म की जांच-पड़ताल कर उन्हें धर्म की व्यवस्था देने वाले होते हैं। ये आज के अधिकतम धर्माचार्य और गुरु-रूपी पटवारी बैल के समान विवेकहीन हैं और ये कर्तव्य तथा अकर्तव्य—दोनों को कर्तव्य बताकर गुरुवाई करते हैं तथा लोगों को गलत व्यवस्था देते हैं॥ 7॥ सद्गुरु कहते हैं कि हे सन्तो ! भैंसे के समान तामसी एवं मूढ़ प्रवृत्ति के लोग धर्म के क्षेत्र में न्यायाधीश बनकर निर्णय देने का हास्यास्पद कार्य करते हैं॥ 8॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर ने अपने जीवनकाल के समाज की समसामयिक स्थिति का यहां सुन्दर चित्रण किया है, जिसमें कुछ हिस्सा तो आज भी ज्यों-का-त्यों लागू होता है और कुछ हिस्सा थोड़ा रूप बदलकर लागू होता है।

कबीर साहेब उलटवांसी कहने में प्रवीण हैं। संसार के कवियों में शायद उनकी जितनी उलटवांसी किसी ने न कही हो। उलटवांसी कहकर वे कथन में एक मनोरमता ले आते हैं और कथन के शुरू ही में अपने श्रोताओं एवं पाठकों को चौंकाकर उन्हें उत्साहित कर देते हैं। इसी शब्द में देखिए "सन्तो बोले ते जग मारे। अनबोले ते कैसक बनि है, शब्दहि कोइ न बिचारे।" ये पंक्तियां कितनी रोचक, चौंकाने वालीं तथा कटुसत्य कथन करने की संभावना प्रकट करने वाली हैं। फिर तो इसके आगे उनकी उलटवांसियां चल पड़ती हैं जो शब्द के अंत तक जाती हैं, जो अर्थ समझने में सीधी, चुभने वाली तथा मन को मथने वाली हैं।

उनकी पहली बात है "पहले जन्म पुत्र का भयऊ, बाप जन्मिया पाछे।" अर्थात पुत्र ने पहले जन्म लिया उसके बाद पिता ने जन्म लिया, यह बात कोई कहेगा तो सुनने वाला मारने दौड़ेगा ही। परन्तु जब वह इन शब्दों का मर्म समझ जायेगा, तब उनकी वाणी पर रीझ जायेगा। किसी को जब बच्चा पैदा होता है तब लोग यही कहते हैं कि अमुक के घर में अमुक को पुत्र हुआ है। आज तक यह किसी को कहते नहीं सुना गया कि अमुक के घर में पिता पैदा हुआ है। व्यक्ति पहले पुत्र के रूप में संसार में जन्म लेता है। वही आगे चलकर वर्षों में किसी दिन पिता बनता है। अतएव अच्छा पिता बनने के लिए अच्छा पुत्र बनना चाहिए। सभी घरों के पिता ही घर के व्यवस्थापक होते हैं। यदि उन्होंने पहले अपने पुत्रत्व रूप को निखारा है तो उनका पितृत्व रूप निश्चित ही निखरेगा। हर व्यक्ति का कर्तव्य है कि अच्छा पिता बनने के लिए पहले अच्छा पुत्र बने।

कबीर साहेब के इस अनुभव से मिलता-जुलता हुआ अनुभव है "बच्चा मनुष्य का पिता है।"[1] बच्चों को जब तक अच्छे संस्कार नहीं मिलते, वे आगे चलकर अच्छे पिता नहीं बन सकते। स्कूल, कालेज तथा विश्वविद्यालय के उन्मादी बच्चे यदि आगे चलकर अध्यापक बनेंगे, तो उनमें अधिकतम उन्मादी, कर्तव्य-च्युत एवं भ्रष्ट ही होंगे। बचपन में पड़े हुए संस्कार जीवन भर के लिए अमिट होते हैं। जिन्होंने अपने बच्चों को अच्छे संस्कार नहीं दिये उन्होंने अपनी अगली पीढ़ी की नींव को बरबाद कर दिया। कबीर देव कहते हैं कि बच्चों में अच्छे संस्कार भरो जिससे वे आगे चलकर अच्छे पिता बनें।

अब बात है माता की एवं नारी जाति की। वे कहते हैं "बाप पूत की एकै नारी, ई अचरज कोई काछे।" अर्थात बाप तथा पूत का जन्म एक ही नारी-

---

1. The Child is father of the Man.

जाति से होता है। अतएव यदि नारी-जाति शुद्ध-संस्कार ग्रहण कर ले, तो पूरी पीढ़ी ही सुधर जाये। पिता और पुत्र में संसार की सारी पीढ़ियां हैं। रमेश्वर पुत्र जगेश्वर। हर जगह केवल वल्दियत चलती है। संसार के सभी मनुष्य पिता-पुत्र में आ जाते हैं। अतएव सद्गुरु कहते हैं कि बाप तथा पूत एक ही नारी जाति से पैदा होते हैं। नारी सांचा है। सांचा ठीक है तो ईंट ठीक होगी और यदि सांचा टेढ़ा होगा तो ईंट टेढ़ी होगी। हर मनुष्य अपने आरंभिक रूप में माता के पेट में नौ महीने निवास करता है। गर्भकाल में माता का खाना गर्भस्थ शिशु का खाना है, माता का पीना उसका पीना है, माता का सांस लेना उसका सांस लेना है और माता का संस्कार ग्रहण करना उसका संस्कार ग्रहण करना है।[1] इसीलिए कहा जाता है कि गर्भवती नारी को बहुत सावधानी से रहना चाहिए। उसका खाना, पीना, पढ़ना, जीवन-व्यवहार तथा उसकी सारी क्रियाएं बड़ी पवित्र होनी चाहिए।

बच्चा पैदा होने के बाद भी माता की ही गोद में पलता है। जब वह खेलता तथा पढ़ता है तब भी माता के ही संरक्षण में रहता है। माता के दिए हुए संस्कार ही बच्चों में जीवनभर के लिए घर बना लेते हैं। माता का कितना महान उत्तरदायित्व है और उसका संतान के ऊपर या कहना चाहिए पूरे मानव समाज के ऊपर कितना बड़ा उपकार है, यह बात सोचते ही बनती है। इसलिए पिता से भी माता का स्थान ऊंचा है यह नीतिमान लोग कहते हैं। नीतिमान कहते हैं कि यदि माता-पिता साथ-साथ बैठे हों तो पहले माता का नमस्कार करो, बाद में पिता का। सीता तब राम, माता तब पिता, यहां तक कि प्रकृति तब पुरुष !

लोग बांस की फट्टी का ढांचा बनाकर उसमें पैरा भर देते हैं। ऊपर से मिट्टी। मिट्टी के ऊपर रंग-रोगन। पश्चात कपड़ा पहनाकर एक नारी का रूप खड़ा कर देते हैं, तब उसे कहते हैं कि यह जगदंबा है। मनुष्य ने ही उसे बनाया है। वह केवल जड़-ठाट है। वह एक चुहिया भी नहीं पैदा कर सकती। वह जगदंबा कैसे हो गयी? जगदंबा—जगत की माता, ये नारियां हैं, जो जीती-जागती हैं। इन्हीं से जगत के लोग पैदा होते हैं। इन्हीं से सबको संस्कार मिलते हैं। अच्छे संस्कार मिलने पर अगली पीढ़ी अच्छी होती है, बुरे संस्कार मिलने पर अगली पीढ़ी बुरी होती है। अतएव इन माताओं की बहुत बड़ी जिम्मेदारी है कि ये अपनी संतानों को अच्छी शिक्षा दें। उन्हें अपने पवित्र आचरणों से अच्छे संस्कार दें। इसके लिए नारियों की भी अच्छी शिक्षा होनी चाहिए।

---

1. वेद में एक सुन्दर वचन आता है—"आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।" (अथर्ववेद 11/5/3) अर्थात गुरु ने ब्रह्मचारी-शिष्य को अपने निकट कर लिया, अपने गर्भ में ले लिया। मां शिशु को अपने गर्भ में लेकर अपने अंगों से पालती है, वैसे गुरु शिष्य को अपनी शरण में लेकर उसका आध्यात्मिक पालन करता है।

कबीर साहेब समसामयिक राजाओं का भी चित्र खींचते हैं। "दुंदुर राजा टीका बैठे, विषहर करै खवासी।" दुंदुर कहते हैं मेढक को। मेढक राजा बने और विषधर सर्प उसकी सेवकाई करे, यह उलटवांसी है। मेढक तामसी और मूढ़ होता है। उस समय कितने ही राजे-महाराजे लुटेरे, डाकू तथा तामसी होते थे और कितने मूढ़ होते थे जो पिता के मर जाने पर उनकी गद्दी पर बैठाये जाते थे और उनकी सेवकाई करने वाले चमचे आचरण से विषधर होते थे। वे ही राज-काज में रांग-राइट करते रहते थे। कहना न होगा कि आज भी इस चित्र को राज-काज में देखा जा सकता है। आज मंत्री ही राजा हैं और कितने गलत आचरण वाले आजकल मंत्री बन जाते हैं। कितने तो शिक्षित भी नहीं होते हैं। ऐसे लोगों के लिए विगत पंद्रहवीं शताब्दी में कहा हुआ कबीर साहेब का यह वचन "दुंदुर राजा टीका बैठे" आज भी वैसे ही सटीक है जैसे उस समय था। "विषहर करै खवासी" तो आज के लिए पूर्ववत पूर्णतया चरितार्थ होता है। पूर्व के राजाओं के चाटुकार विषधर चमचे आज के मंत्रियों की शरण में चले गये हैं।

"श्वान बापुरा धरिन ढाकनो" कुत्ते बेचारे ने ढक्कन रख दिया। कुत्ता अपने गुप्तांग को अपनी पूंछ से नहीं ढक पाता है, परन्तु वह अपनी पूंछ से सबकी इज्जत ढांकने का ढोंग करने लगा। यह भी व्यंग्य भरी उलटवांसी है। जो कुत्ता अपनी इज्जत नहीं ढक पाता है वह यदि सारे संसार की इज्जत बचाने वाला बने अर्थात संसार का चरित्र-रक्षक बने तो हास्यास्पद ही है। इसी प्रकार जो राजनेता तथा शासक अपने चरित्र को खोये हुए हैं, वे यदि जनता के चरित्र-रक्षक, चरित्र-निर्देशक एवं आचरण-संहिता के निर्माता हैं तो मानव की चरित्र-नाव संसार-सागर में डूबना ही है। स्वयं चरित्रहीन व्यक्ति दूसरे की चरित्र-रक्षा नहीं कर सकता। जिसने स्वयं को खो दिया है, वह दूसरे को क्या तृप्ति दे सकेगा !

"बिल्ली घर में दासी" यह भी व्यंग्य है। बिल्ली हर खाद्य वस्तु पर मुख मारना चाहती है। बिल्ली की लोलुपता जगत-प्रसिद्ध है और वह यदि घर की दासी एवं व्यवस्थापिका बन जाये तो क्या पूछना ! उसको बहार हो जायेगी। कबीर साहेब के जमाने में ऐसा रहा होगा, परन्तु आज तो नजरोनजर देखते हैं कि सरकार के प्रायः हर विभाग रूपी घर में बिल्ली दासी बनी हुई है। लोलुप लोग व्यवस्थापक बने हुए हैं। स्कूली बच्चों के जलपान के लिए आयी हुई सामग्री लोग चुरा लेते हैं। गरीबों तथा पिछड़ों के लिए सरकार द्वारा दी गयी सहायता-राशि विभागीय अफसरों एवं कर्मचारियों द्वारा अधिक-से-अधिक हड़प लेने का प्रयत्न किया जा रहा है। सरकार के सारे विभागों में प्रायः "बिल्ली घर में दासी" उक्ति चरितार्थ हो रही है। हर विभाग के व्यवस्थापकगण

लोलुप बिल्ली बने दूसरे के हक और जनता की खुराक हड़प रहे हैं। एक बार सूखा के समय सरकार ने गरीब माताओं के बच्चों के लिए बांटने के लिए सूखे दूध के पैकेट भेजवाये। एक कर्मचारी उसमें से निकाल-निकालकर कई दिनों तक खीर बनाकर खाता रहा। कुछ दिनों बाद जब उसका इकलौता लड़का मर गया, तब उसे बड़ी पीड़ा हुई। अपनी करनी का फल तो सब को मिलता है, परन्तु जरा देर लगती है। इसलिए बदहवास आदमी नहीं समझ पाता कि अपनी करनी का फल भोगना पड़ता है। "बिल्ली घर में दासी" आज के सरकारी विभागों के व्यवस्थापकों पर कैसी करारी चोट है, समझते ही बनता है।

इस शब्द में आठ पंक्तियां हैं। उनमें प्रथम की दो पंक्तियों में कबीर साहेब अपने संभावित कथन के लिए कुतूहल उत्पन्न करते हैं। उसके बाद की दो पंक्तियों में गृहस्थी जीवन के सुधार के लिए बालकों और नारियों के महत्त्व एवं उनके सुसंस्कारित होने के मूल्य का संकेत करते हैं। उसकी अगली दो पंक्तियों में राजा, उसके चमचे, चरित्रनायक तथा व्यवस्थापकों पर करारा व्यंग्य कर उनको सुधरने के लिए प्रेरित किया गया है। इसके आगे अब सातवीं तथा आठवीं पंक्ति में धार्मिक गुरुओं एवं न्याय देने वालों पर व्यंग्यात्मक संकेत हैं।

"कार दुकार कार करि आगे, बैल करे पटवारी।" बैल विवेकहीन के लिए व्यंजना है। पटवारी धर्माचार्यों एवं गुरुओं के लिए है, जो धार्मिक जांच-पड़ताल करते हैं। कबीर साहेब कहते हैं आज-कल कितने धर्माचार्य एवं गुरु हैं जो स्वयं विवेकहीन हैं और दूसरों के धर्म के अनुशास्ता बने हैं। वे अपने धार्मिक समाज तथा शिष्यों को कर्तव्य तथा अकर्तव्य दोनों को कर्तव्य बताते हैं। कितने ऐसे गुरु एवं धर्माचार्य हैं जिनके यहां खाद्य-अखाद्य सब खाद्य है, भोग-योग सब बराबर है। उनके लिए न कुछ विधि है और न निषेध। बहुत बड़े समाज को अपनी ओर प्रभावित करने के लिए क्या-क्या हथकंडे नहीं अपनाये जाते हैं। जिनके उपदेश में करने योग्य कर्म तथा न करने योग्य कर्म सभी करने योग्य हैं, उनके उपदेश से जनता की क्या दशा होगी, यह सहज समझा जा सकता है।

"कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, भैंसे न्याव निबेरी।" भैंसे तामसी एवं मूढ़ जीव होते हैं। रास्ते में बैल जा रहे हों, उन्हें एक बार हांक दो, तो वे फरफराकर भागते हुए आगे बढ़ जायेंगे। परन्तु रास्ते में भैंसे चल रहे हों, उन्हें डांटो और डंडे भी मारो तो भी वे टस-से-मस नहीं होंगे। गाय के बछड़े पैदा होते ही उछलने तथा कूदने लगते हैं और भैंस के पड़वे खड़े-खड़े ऊंघते रहते हैं। अतएव भैंसे तामसी, भद्दे एवं मूढ़ होते हैं। कबीर साहेब अपने समय में कह रहे हैं कि आज के न्याय देने वाले अधिकतम धार्मिक नेता भैंसे के स्वभाव के हो गये हैं। वे तामसी हैं। उनके विचार कुंठित हैं। धर्म के प्रति दिये हुए उनके न्याय अविवेकपूर्ण तथा स्वार्थलिप्त हैं। कहना न होगा कि यह बात आज भी

.उसी प्रकार लागू है। आज शिक्षा बढ़ गयी है, किन्तु बुद्धि तथा आचरण में कोई सुधार नहीं हुआ है। आज अनेक धार्मिक गुरु शिक्षित भैंसे हो गये हैं। यदि उनका ज्ञान वस्तुपरक नहीं है और आचरण मानवतापूर्ण नहीं है, तो पढ़ने-लिखने से क्या हुआ! बल्कि शिक्षित व्यक्ति यदि उलटी खोपड़ी का है तो वह अपनी सारी शिक्षा एवं विज्ञान का दुरुपयोग कर ज्ञान तथा आचरण के क्षेत्र में गलत विचार फैलायेगा, गलत न्याय देगा। कितने गुरु नामधारी धर्म के नाम पर कैसा अपना उल्लू सीधा करते हैं, वे किस तरह धर्म के नाम पर राजनीति के दावं खेलते हैं, वे धर्म के नाम पर लोगों को कैसा बेवकूफ बनाते हैं, यह सब आज भी कोई खूब देख सकता है। कबीर साहेब की व्यंग्यात्मक भाषा में यह भैंसे न्याव निबेर रहे हैं। तामसी बुद्धि वाले अपने जजमेंट दे रहे हैं।

इस प्रकार पूरा शब्द व्यंग्य तथा उलटवांसी से भरा है और मानव-समाज के हर पहलू के लिए प्रभावी प्रेरणा है।

आध्यात्मिक भावार्थ—हे संतो! सत्य कहने से लोग मारने दौड़ते हैं, लेकिन चुप रहने से कैसे काम बनेगा! कोई शब्दों पर विचार नहीं करता। पहले पुत्र का जन्म हुआ तब पीछे बाप ने जन्म लिया। अर्थात पहले मनुष्य जन्म लेता है तब पीछे वह ईश्वर की कल्पना करता है। मनुष्य ही तो ईश्वर का जन्मदाता है। इसीलिए जितने मनुष्य, उतने प्रकार ईश्वर की कल्पना है और बाप तथा पूत दोनों के लिए एक ही माया रूपी नारी बन्धन बनती है। इस आश्चर्यजनक स्थिति का कोई बिरला ही निवारण करता है। अर्थात कोई बिरला ही माया का त्याग कर जीव का कल्याण करता है। अविवेक ही दुंदुर राजा है, जो मनुष्य के हृदय रूपी राजसिंहासन पर आसीन है, उसकी सेवा में काम, क्रोध, लोभादि विषधर सर्प हैं। दंभ कुत्ता है जो अपनी चतुरता की पूंछ से अपनी बुराइयों को ढांकने के प्रयत्न में रहता है, परन्तु वह कभी नहीं ढकती। बुराइयां तो प्रकट होती ही हैं। विषयासक्ति एवं लोलुपता रूपी बिल्ली हृदय रूपी घर में दासी बनकर बैठी है जो सब समय भोगों का स्मरण कराती तथा भोगों पर झपट्टा मारती रहती है। अज्ञान रूपी बैल कर्तव्य-अकर्तव्य सब कुछ को कर्तव्य बताकर पटवारगीरी कर रहा है। अर्थात हृदय में विधि-निषेध रहित अज्ञान एवं भ्रष्टता का साम्राज्य है। सद्गुरु कहते हैं कि हे संतो! मनुष्यों के हृदय में तामसी बुद्धि रूपी भैंसे न्याय दे रहे हैं। अर्थात मनुष्य की निर्णय देने वाली बुद्धि तामसी हो गयी है। इसलिए जीवन के सारे ज्ञान एवं कर्तव्य उलझे हुए तथा मानव के लिए दुखदायी हो गये हैं। इस प्रकार सद्गुरु कहते हैं कि यदि उक्त बातें लोगों से कहीं जायें तो वे नाखुश होते हैं, परन्तु बिना कहे लोगों का कल्याण नहीं होगा, अतएव कहना है। 'सत्य कहौं खुश हो चाहे रूठे।'[1]

1. निर्मल सत्यज्ञान प्रभाकर।

हिन्दू, मुसलमान तथा मानव मात्र का एक ही रास्ता है अहिंसा और संयम

शब्द-10

संतो राह दुनों हम दीठा॥ 1॥
हिन्दू तुरुक हटा नहिं मानें, स्वाद सबन को मीठा॥ 2॥
हिन्दू बरत एकादशि साधे, दूध सिंघारा सेती॥ 3॥
अन्न को त्यागे मन को न हटके, पारन करे सगौती॥ 4॥
तुरुक रोजा निमाज गुजारे, बिसमिल बाँग पुकारे॥ 5॥
इनको बिहिस्त कहाँ से होवै, जो साँझै मुरगी मारे॥ 6॥
हिन्दु की दया मेहर तुरुकन की, दोनों घट से त्यागी॥ 7॥
ई हलाल वै झटका मारें, आग दुनों घर लागी॥ 8॥
हिन्दू तुरुक की एक राह है, सतगुरु सोई लखाई॥ 9॥
कहहिं कबीर सुनो हो संतो, राम न कहूँ खुदाई॥10॥

शब्दार्थ—दीठा=देखा। हटा=रोकना, मना करना। सेती=सहित, द्वारा। हटके=रोके। पारन=पारण, उपवास समाप्त होने पर किया जाने वाला भोजन। सगौती=मांस, गोश्त। तुरुक=तुर्क, तुर्क देश का रहने वाला, तात्पर्य में मुसलमान। गुजारे=अदा करते हैं, पेश करते हैं। बिसमिल=बिस्मिल्लाह—ब-इस्म-अल्लाह, ब=सहित, इस्म=नाम, अल्लाह=ईश्वर—ईश्वर के नाम के सहित, मुसलमान किसी काम के शुरू करने पर बिस्मिल्लाह कहते हैं। इसका अर्थ होता है—शुरू करते हैं ईश्वर के नाम के सहित। बाँग=आवाज, अजान। बिहिस्त=बिहिश्त, स्वर्ग। मेहर=मेह्र, दया। हलाल=विहित, जायज, पशु के गले को रेतकर उसे मारना, ऐसे मृत पशु का मांस मुसलमान जायज मानते हैं। झटका=एक ही बार में पशु का गला काट देना, ऐसे मृत पशु का मांस हिन्दू ग्रहण करना उचित समझते हैं।

भावार्थ—हे संतो! मैंने दोनों के रास्ते देख लिये हैं॥ 1॥ हिन्दू और मुसलमान—दोनों मना करने पर नहीं मानते। दोनों को जीभ का स्वाद मीठा लगता है॥ 2॥ हिन्दू लोग दूध और सिंघाड़ा आदि का हलुवा तथा बहुत-से फल-कंद आदि खाकर एकादशीव्रत रहते हैं॥ 3॥ वे उस दिन अन्न तो त्याग देते हैं, परन्तु अपने मन को गलत मार्ग से नहीं रोकते, और दूसरे दिन पारण में मांस तक खाते हैं॥ 4॥ मुसलमान लोग रमजान के महीने में दिन में खाना छोड़कर रात में खाते हैं। इसे वे रोजा रहना कहते हैं। वे पांच वक्त नमाज पढ़ते हैं। अल्लाह का नाम लेकर मसजिद में बांग पुकारते हैं॥ 5॥ परंतु

इनको स्वर्ग कैसे मिलेगा जब ये रोजा के दिनों में शाम को मुरगी की हत्या कर उसे खा जाते हैं॥ 6॥ हिन्दू लोग दया की बड़ी महिमा गाते हैं और मुसलमान लोग मेहर की बड़ी बड़ाई करते हैं। परंतु इन दोनों ने अपने दिल से दया और मेहरबानी का त्याग कर दिया है॥ 7॥ मुसलमान लोग पशु-पक्षियों के गला रेतकर और हिन्दू लोग एक झटके में मारकर उनकी हत्या कर देते हैं। अतएव दोनों के हृदय तथा मत में निर्दयता एवं बेरहमी की आग लगी है॥ 8॥ यदि निर्दयता, बेरहमी एवं हिंसा-हत्या छोड़ दें तो हिन्दू और मुसलमान का रास्ता एक दया, करुणा एवं प्रेम का है। सच्चा सद्गुरु यही बतलाता है॥ 9॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो ! इन प्राणियों से अलग न कहीं राम है और न खुदा है। अतएव प्राणिमात्र पर दया एवं मानव मात्र पर प्रेम का भाव रखकर अहिंसा के पथ पर चलना ही धर्म का सच्चा पथ है॥ 10॥

व्याख्या—कबीर साहेब ने कभी गलत बातों से समझौता नहीं किया। वे एक साथ प्यार तथा फटकार देना जानते हैं। वह कौन-सा धर्म है जिसमें प्राणियों की हत्या की जाये? सद्गुरु कहते हैं कि हिन्दू और मुसलमान दोनों भूल में हैं। कबीर साहेब के सामने सन्दर्भ दो का था। इसका अर्थ यह है कि चाहे हिन्दू हो या मुसलमान, ईसाई हो या यहूदी, या अन्य, अपने जीभ-स्वाद के लिए या धर्म के नाम पर यदि कोई जीव-हत्या करता है, तो वह धर्म से लाखों कोस दूर है।

रोज-रोज खाते-खाते पेट खराब हो सकता है। इसलिए कभी-कभी किसी-किसी दिन कुछ न खाना पेट को शुद्ध करने के लिए अच्छा तरीका है। साधारण लोग इसका महत्त्व नहीं समझते। इसलिए लोगों ने धर्म का पुट देकर एकादशी आदि व्रत कायम कर दिया, और उसके करने से स्वर्गादि प्राप्ति के बड़े-बड़े फल बता दिये। इसलिए साधारण लोग एकादशी आदि को अन्न छोड़कर व्रत रहने लगे। परन्तु व्रत का लाभ वे न ले सके। उन्होंने उस दिन अन्न तो छोड़ दिया परंतु दूध-सिंघाड़ादि के हलुवा तथा कंद-फल आदि डटकर खाने लगे। कितने लोग व्रत के दिनों में ज्यादा मूल्यवान तथा मात्रा में भी ज्यादा भोजन खाने लगे। उनके डोज की क्वालिटी और क्वांटिटी दोनों बढ़ गयीं। इसलिए पेट शुद्ध होने की अपेक्षा अधिक खराब होने लगा। मनुष्य को पेट शुद्ध करने के लिए जिस दिन उपवास रहना हो, उस दिन कुछ भी नहीं खाना चाहिए। उस दिन केवल जल पीना चाहिए। जल में नींबू का रस या ऋतु के अनुसार एक या दो बार शर्बत लिया जा सकता है।

सच्ची एकादशी तो दस इंद्रियां और ग्यारहवां मन—इन एकादशों को वश में करना है, परंतु लोग यह तो करते नहीं। वे उपवास रहकर पेट को भी

ठीक नहीं रख पाते, बल्कि एकादशी के दिन अल्लमगल्लम खाकर पेट को अधिक खराब कर लेते हैं। और इतना ही नहीं, एकादशी के बाद द्वादशी को सुबह पारण के समय मांस-गोश्त भी गटक जाते हैं। भारत के कुछ क्षेत्र वाले यह पढ़कर चौंक जायेंगे कि क्या कोई हिन्दू पारण में मांस भी खाता है? हां साहब, बिलकुल खाता है। जब देवी-दुर्गा के नाम पर पशु-पक्षियों को काटकर प्रसाद मानकर खाते हैं, तब उन्हें पारण में मांस खाने से क्या परहेज हो सकता है? कबीर साहेब के समय में तो हिन्दुओं में अधिक मांसाहार था। आज भी इसकी कमी नहीं है। हिन्दू-धर्मप्राण नेपाल, भारत के बिहार, बंगाल, उड़ीसा आदि प्रदेश के शुद्ध हिन्दू लोगों में मांस का अधिक प्रचलन है। ब्राह्मणों में यह प्रचलित ही है—"दक्षिणे मातुली कन्या उत्तरे मांसभक्षणम्" भारत के दक्षिण हिस्से में मामा की लड़की से शादी करना तथा उत्तरी भारत में मांस खाना—ब्राह्मणों के लिए वैध है। आदमी को जो मन में भाता है नियम बना लेता है।

सारे व्रत, उपवास तथा बाह्याचार तभी निरर्थक हो जाते हैं जब किसी जीव की हत्या की जाती है। मुसलमानों के रोजा, नमाज, बांग आदि वही निरर्थक हो जाते हैं जब वे मुरगी, बकरी, गाय आदि पर छूरी चलाते हैं। दुनिया के सभी मुसलमान बड़ी खुशी से बकरीद त्योहार मनाते हैं। त्योहार के दूसरे दिन प्राय: सभी समाचार पत्रों में छपता है कि बड़ी खुशी, बड़े अमनचैन एवं शांति के साथ बकरीद मनायी गयी। परन्तु मूक पशुओं की तरफ से कोई समाचार पत्र में यह लिखने वाला नहीं रहता कि बकरीद के दिन संसार में करोड़ों पशुओं की हत्या करके वातावरण को पीड़ा से भर दिया गया। ईश्वर के सामने प्रेम प्रदर्शित करने के लिए मासूम पशुओं की हत्या करना—यह गहरी भूल तथा जंगलीपन आज भी संसार से नहीं गया। जब ईश्वर निहायत रहम वाला है, तब वह बेरहमी के काम से खुश कैसे होगा?

हिन्दुओं, ईसाईयों तथा मुसलमानों की किताबों को पढ़िए तो उनमें दया, प्रेम, अहिंसा, रहम आदि शब्दों की भरमार है। आश्चर्य है कि इनके अनुगामी दया तथा मेहर को एकबारगी तिलांजलि देकर मूक प्राणियों के गले पर छूरी रेतते हैं। छूरी से प्राणियों का गला रेतकर कहते हैं कि यह जायज है। अपने जीभ-स्वाद के लिए जो मूक प्राणियों की हत्या करता है, उसके हृदय में कहां धर्म है? और उसका कल्याण कहां है? जीव-हत्या करने वाले वे चाहे अपने को हिन्दू कहें या मुसलमान, ईसाई कहें या यहूदी या अन्य कुछ, न उनमें धर्म है, न उनका कल्याण है। वे पतनपथ में हैं; क्योंकि उनके हृदय में निर्दयता की आग लगी है।

सद्गुरु कहते हैं कि हिन्दू-मुसलमान आदि सबका रास्ता एक है दया, करुणा, प्रेम, मानवता। सभी मानव मुख से खाते हैं, आंख से देखते हैं, कान से सुनते हैं, पैर से चलते हैं और हाथ से काम करते हैं। क्या कोई कान से देखेगा या आंख से सुनेगा? जल-भोजन प्राणिमात्र की प्यास तथा भूख के निवारण करने के लिए समान आवश्यक हैं। रोग लगने पर दवाई सबको चाहिए। इसी प्रकार मानसिक शांति के लिए दया, करुणा, अहिंसा, मानवता सबके लिए समान आवश्यक हैं। मन के उलझाव से सबको दुख होता है तथा मन के सुलझाव से सबको सुख होता है। पर-हिंसा तथा आत्म-असंयम से ही मन उलझता है और अहिंसा तथा संयम से मन सुलझता है। मानव मात्र के लिए यह नियम लागू है। अतएव मानव मात्र का रास्ता एक है। वे औपचारिकतों एवं बाह्याचार कुछ भी करें, परंतु बुनियादी बातें सब में एक ही होंगी। कबीर देव कहते हैं कि मानव मात्र के लिए कल्याण का रास्ता एक है अहिंसा और संयम। किसी परम्परा का हो, सच्चा सद्गुरु यही बतायेगा। जीवन में अहिंसा तथा संयम न हो, तो बाह्याचार केवल ढकोसला एवं पाखंड बनकर रह जाता है।

"कहहिं कबीर सुनो हो संतो, राम न कहूँ खुदाई।" इस पंक्ति का भाव अत्यन्त क्रांतिकारी और परम सत्य है। लोग प्राणियों से अलग ईश्वर, खुदा, अल्लाह, देवी, देवता मानकर उनकी प्रार्थना करते हैं, पूजा करने का उपक्रम करते हैं और प्रत्यक्ष प्राणधारियों की हत्या करते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि तुम्हें प्राणधारियों में तो देव तथा ईश्वर नहीं दिखाई देते, इसलिए उनका वध करते हो, और शून्य में तथा पत्थरों में देव तथा ईश्वर दिखाई देते हैं और उन्हें पूजते हो। यह तुम्हारी भूल है। जो शून्य और पत्थर में देव तथा ईश्वर देख ले और चलते-फिरते प्राणियों में देव तथा ईश्वर न देख सके, वह कितने गहरे भ्रम में है, यह सहज समझा जा सकता है। कबीर साहेब कहते हैं कि इन प्राणियों से अलग न कहीं राम है और न खुदा है। यदि तुम राम, खुदा या देवता की पूजा करना चाहते हो तो प्राणिमात्र पर दया तथा मेहरबानी का व्यवहार करो। यही परम धर्म है और यही देव तथा ईश्वर की पूजा है।

पूजा के नाम पर हत्या करने वाले पुरोहितों की भर्त्सना

शब्द-11

सन्तो पाँड़े निपुण कसाई॥ 1॥
बकरा मारि भैंसा पर धावैं, दिल में दर्द न आई॥ 2॥
करि स्नान तिलक दै बैठे, विधि सों देवि पुजाई॥ 3॥

आतमराम पलक में बिनसे, रुधिर की नदी बहाई॥ 4॥
अति पुनीत ऊँचे कुल कहिये, सभा माहिं अधिकाई॥ 5॥
इन्हते दीक्षा सब कोइ माँगे, हँसी आवै मोहि भाई॥ 6॥
पाप कटन को कथा सुनावैं, कर्म करावैं नीचा॥ 7॥
हम तो दूनों परस्पर देखा, यम लाये हैं धोखा॥ 8॥
गाय बधे ते तुरुक कहिये, इनते वै क्या छोटे॥ 9॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, कलिमा ब्राह्मण खोटे॥10॥

शब्दार्थ—पाँड़े=पांडेय, ब्राह्मणों की एक उपाधि, तात्पर्य में ब्राह्मण-पुरोहित। निपुण=चतुर। दर्द=पीड़ा, दया। अधिकाई=विशेषता। दीक्षा=मंत्र। कलिमा=कलियुग में। खोटे=बुरे।

भावार्थ—हे सन्तो! धर्म के नाम पर जीव हत्या करने वाले ब्राह्मण-पुरोहित चतुर कसाई हैं॥ 1॥ ये बकरों की बलि देकर भैंसों पर भी टूट पड़ते हैं। इनके हृदय में दया नाम का भाव नहीं है॥ 2॥ ये लोग स्नान करते हैं, तिलक लगाते हैं और देव-मंदिर में बैठकर विधि-विधानपूर्वक देवी की पूजा करते हैं॥ 3॥ परन्तु क्षण मात्र में बलि के नाम पर जीवों की हत्या कर देते हैं और रक्त की नदी बहाने लगते हैं॥ 4॥ इनको लोग अत्यंत पवित्र तथा उच्च कुलोत्पन्न मानते हैं। सभा में इनकी बड़ी विशेषता मानी जाती है॥ 5॥ सब लोग इनसे दीक्षा-मंत्र मांगते हैं। परन्तु हे भाई, मुझे तो इस अंधविश्वास एवं अज्ञान पर हंसी आती है॥ 6॥ ये यजमानों के पाप कटने के लिए उन्हें कथा सुनाते हैं और उनसे कर्म कराते हैं नीच हिंसा का। एक तरफ इनकी धर्मकथा और दूसरी तरफ धर्म के नाम पर जीव-वध की बात देखते हुए लगता है कि ये हिंसक पुरोहित यमराज हैं और धर्म-कथा रूपी धोखे की टट्टी लगाकर उसकी आड़ में हत्या करते-कराते हैं तथा जनसमाज को नरकवास में ले जाने का बंदोबस्त करते हैं॥ 7-8॥ मुसलमान गाय का वध करते हैं। इसलिए उनसे घृणा कर उन्हें तुर्क कहा जाता है। परन्तु क्या ये हिंसक पंडित तुर्कों से कम हैं! राम कहो, पूरे तुर्किया ब्राह्मण हैं॥ 9॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो! कलिकाल में ब्राह्मण नामधारी लोग नीचकर्मी हो गये हैं॥ 10॥

व्याख्या—कबीर साहेब के समय में ब्राह्मण नामधारी पुरोहितों में बलि के नाम पर जीव-वध का अधिक प्रचलन था। आज विक्रम की इक्कीसवीं शताब्दी में ब्राह्मणों में इसका प्रचलन बहुत कम हो गया है, परन्तु समाप्त नहीं हुआ है। अभी भी भारत तथा सर्वाधिक हिन्दू धर्मप्राण नेपाल में देवी-देवता के नाम पर ब्राह्मण-पुरोहितों द्वारा बराबर जीव-हत्या की जाती है। प्राणियों के अलावा देवी-देवता, भगवान-भवानी की कोई सत्ता नहीं है। फिर इन झूठे

देवी-देवताओं को खुश करने के भ्रम में पड़कर जीवों का वध करना घोर अविवेक नहीं तो क्या है ! दुर्जन-तोष न्याय मान भी लें कि देवी-देवता तथा भगवान-भवानी होते हैं तो क्या वे क्रूर जानवर हैं, जो पशु-पक्षी की बलि चाहते हैं।

प्रज्ञा से पंडा तथा पंडा से पांडेय शब्द बना हुआ है। प्रज्ञा का अर्थ है बुद्धि, मति या विवेक। पंडा का भी यही अर्थ है। सत्य-असत्य का विवेक करने वाली बुद्धि ही पंडा है। जिसकी बुद्धि पंडा है वह पंडित है। पंडा से ही पाण्डेय शब्द बना। पांडेय का ही अपभ्रंश पांडे है, जो ब्राह्मण नामधारियों के एक वर्ग की उपाधि है। ब्राह्मणों में शुक्ल, तिवारी, द्विवेदी, मिश्र आदि बहुत उपाधियां हैं। यहां कबीर साहेब ने पांडे शब्द ही को क्यों चुना? क्या वे केवल पांडे नामधारी को ही कहते हैं, शुक्ल, तिवारी आदि को नहीं कहते? ऐसी बात नहीं है। वे यहां उस हर ब्राह्मण-पुरोहित को कहते हैं जो देवी-देवताओं के नाम पर जीव-वध करता-कराता है। ब्राह्मण पुरोहितों को गर्व है कि हम पण्डित हैं, विवेकी हैं और बुद्धि-विवेकपूर्वक काम करते हैं। इसलिए मानो कबीर साहेब विवेक-व्यंजक पांडेय शब्द को चुनकर जनभाषा में उन्हें संबोधित करते हैं कि तुम अपनी प्रज्ञा-पंडा एवं विवेक-बुद्धि की परख तो करो ! क्या यही विवेक है कि कल्पित देवी-देवताओं के नाम पर मूक पशु-पक्षियों पर छूरी चलाओ ! हां, तुम्हारी प्रज्ञा-पंडा एवं पांडित्य इसमें अवश्य सफल है कि तुम निपुण कसाई हो। तुम हत्यारे होकर भी पूज्य बने रहते हो, यह तुम्हारा धार्मिक हथकंडा सफल है।

भारत और नेपाल के अनेक देवस्थानों में देखा जा सकता है कि वहां चोटी तथा जनेऊधारी पंडित बैठे बलि-पशुओं को पूत-मन्त्रों से अभिषिक्त कर उनका वध कर रहे हैं। बकरे मार रहे हैं, भैंसे मार रहे हैं। ऐसे देवस्थान बूचड़खाना बने हैं। दयालु मनुष्य का वहां ठहरना कठिन है। ये प्रज्ञावान पुरोहित आतमराम की पल में हत्या कर देते हैं। कबीर साहेब ने "आतमराम पलक में बिनसे, रुधिर की नदी बहाई।" इस पंक्ति में 'आतमराम' शब्द का प्रयोग जान-बूझकर किया है। सब जीव ही तो रामरूप हैं और सजाति होने से वे आत्मारूप ही हैं। इतनी भी अक्ल जो नहीं रखता है उसे पंडित कहा जाये तो मूर्ख किसे कहा जाये !

अगली पांचवीं तथा छठीं पंक्ति में कबीर साहेब ऐसे ब्राह्मण नामधारियों पर करारा व्यंग्य करते हुए मार्मिक वचन कहते हैं कि इन्हें बड़ा पवित्र और ऊंचे कुल का कहना चाहिए। सभाओं में इनको ऊंचा स्थान देना चाहिए।

इनसे लोग दीक्षा-मन्त्र लेकर अपना उद्धार भी चाहते हैं, परन्तु मुझे तो हंसी आती है। जिनमें दया छू नहीं गयी है, जो इतनी भी अक्ल नहीं रखता कि देव तो चेतन प्राणी है, पत्थर की पिंडी देवता नहीं होती और चेतन को मारकर जड़ की पूजा अक्ल का और दीवाला निकल जाना है। ऐसे गंदे विचार तथा गंदे कर्म वाले लोग पवित्र, श्रेष्ठ तथा पूज्य कैसे हैं? ऐसे लोगों द्वारा किसी का उद्धार कैसे होगा? फिर भी मूढ़ और अंधविश्वासी जनता इनसे अपना कल्याण चाहती है। कितनी हास्यास्पद है यह स्थिति?

कबीर साहेब ऐसे धार्मिक हत्यारों को यम कहते हैं। यमराज बन्धनप्रद वासना का एक प्रतीकात्मक नाम है। यमराज वह है जो जीव को बांधकर नरक में डाल दे। धर्म के नाम पर जीव-वध करने तथा कराने वाले तथाकथित धार्मिक पुरोहित यमराज हैं। ये एक तरफ पाप काटने के लिए कथा सुनाते हैं और दूसरी तरफ जीवहत्या रूपी नीच कर्म कराते हैं। ये धर्म के धोखे में फंसाकर जीवों को नरक में ढकेलने वाले हैं। सद्गुरु हत्या करने वाले ब्राह्मण-पुरोहितों को गो-घातक तुर्कों के समकक्ष रखकर इन पर करारा व्यंग्य करते हैं, "गाय बधे ते तुरुक कहिये, इनते वै क्या छोटे।" वही कसाई है जो दूसरे का गला काटे, अब चाहे बकरे का गला काटे, भैंसे का गला काटे या गाय का गला काटे अथवा अन्य प्राणी का।

ध्यान रहे, सद्गुरु ने सभी ब्राह्मणों, पण्डितों एवं सभी पांडेय लोगों को कसाई या खोटे नहीं कहा है। जो लोग जीव-वध करते हैं उन्हीं को कसाई कहा है जो एक वास्तविकता है। कबीर साहेब सच्चे पंडितों का आदर करते हैं। कुछ उदाहरण लें—

पंडित सो बोलिये हितकारी। मूरख सो रहिये झखमारी॥ (रमैनी 70), कहहिं कबीर हम जात पुकारा, पंडित होय सो लेय बिचारा। (शब्द 53), कहहिं कबीर सुनो तो संतो, बूझो पण्डित ज्ञानी। (शब्द 94)।

नाना मातों के भक्तों की मस्ती

शब्द-12

सन्तो मते मातु जन रंगी॥ 1॥
पियत पियाला प्रेम सुधारस, मतवाले सत्संगी॥ 2॥
अर्धे उर्धे भाठी रोपिनि, लेत कसारस गारी॥ 3॥
मूँदे मदन काटि कर्म कस्मल, सन्तति चुवत अगारी॥ 4॥
गोरख दत्त वशिष्ठ व्यास कपि, नारद शुक मुनि जोरी॥ 5॥
बैठे सभा शम्भु सनकादिक, तहाँ फिरै अधर कटोरी॥ 6॥

अम्बरीष औ याज्ञ जनक जड़, शेष सहस मुख फाना॥ 7॥
कहाँ लौं गनौं अनन्त कोटि लौं, अमहल महल दिवाना॥ 8॥
ध्रुव प्रहलाद विभीषण माते, माती शेवरी नारी॥ 9॥
निर्गुण ब्रह्म माते वृन्दावन, अजहूँ लागु खुमारी॥10॥
सुर नर मुनि यति पीर औलिया, जिन रे पिया तिन जाना॥11॥
कहैं कबीर गूँगे की शक्कर, क्यों कर करे बखाना॥12॥

शब्दार्थ—मते=नाना मतों में। मातु=मतवाला होना। जन रंगी=भक्त एवं ज्ञानी जन। अर्धे=पिंड, शरीर का निचला हिस्सा। उर्धे=ब्रह्मांड, शिरोभाग। भाठी=मदिरा बनाने का चूल्हा या स्थान। कसारस=कषायरस, सुगन्धयुक्त रस, परिपक्व रस। गारी=निचोड़ना। मूँदे=दमन। मदन=काम। कर्मकस्मल= कर्मकश्मल, कर्म संस्कारों की मूर्च्छा, मोह। सन्तति=संतत, निरंतर। अगारी=आगे, अंतःकरण में। दत्त=दत्तात्रेय। कपि=हनुमान। शुक=शुकदेव। याज्ञ=याज्ञवल्क्य। जड़=जड़भरत। शेष=शेषनाग। अमहल=त्यागी। महल= गृहस्थी। खुमारी=नशा। यति=त्यागी। पीर=मुसलिम गुरु। औलिया= मुसलमानों के सिद्ध संत।

भावार्थ—हे सन्तो! भक्त एवं ज्ञानी जन अपने-अपने मतानुसार आध्यात्मिक विचारों में मतवाले हैं॥ 1॥ वे मतवाले सत्संगी प्रेम-अमृत-रस के प्याले छकते हैं॥ 2॥ वे साधक जन शरीर के निचले तथा ऊपरी भाग को मानो भट्ठी बनाकर अनुभव का परिपक्व रस निचोड़ लेते हैं॥ 3॥ वे काम को जीत लेते हैं और कर्मसंस्कारों की मूर्च्छा तथा मोह को काटकर निर्मल हो जाते हैं। उनके हृदय में निरंतर अनुभव का अमृतरस चूता रहता है॥ 4॥ इस अध्यात्म के अमृतरस को चखने के लिए गोरखनाथ, दत्तात्रेय, वसिष्ठ, वेदव्यास, हनुमान, नारद, शुकदेव, मुनिजन, शिव, सनकादि सभा में जुड़कर बैठ चुके हैं और उनके होठों पर वह अमृत-रस की प्रेम-कटोरी फिर चुकी है॥ 5-6॥ इतना ही नहीं, अंबरीष, याज्ञवल्क्य, विदेहीजनक, जड़भरत, हजार मुख एवं फण वाले शेषनाग—कहां तक गिनाया जाये, असंख्य करोड़ तक त्यागी और गृहस्थ इस अध्यात्म अमृतरस को पीने के लिए दीवाने हुए॥ 7-8॥ ध्रुव, प्रहलाद और विभीषण भी मतवाले बने, शबरी नारी भी मतवाली बनी॥ 9॥ निर्गुण ब्रह्म ही ने सगुण साकार कृष्ण बनकर वृन्दावन में गोपियों के साथ रास किया है—ऐसा मानकर माधुर्य-भक्ति के रसिक आज भी वृन्दावन में मतवाले बने घूमते हैं और इनको सदैव नशा चढ़ा रहता है॥ 10॥ देव, मनुष्य, मुनि, त्यागी, पीर, औलिया—जिसने भी इस भक्तिरस एवं अनुभवरस को पिया है वही उसका स्वाद जान सका है॥ 11॥ सद्गुरु

कहते हैं कि यदि गूंगा शक्कर खाये तो वह उसके स्वाद की व्याख्या कैसे कर सकेगा !॥ 12॥

व्याख्या—संसार में कुछ सात्त्विक संस्कार के जीव होते हैं। उन्हें विषय-भोगों में आनन्द नहीं लगता। इन्द्रियों के विषय-भोग क्षणिक हैं। इनमें गंभीर समझ वाले व्यक्ति नहीं रमते। वे दृश्यमान भोगों से विरक्त होकर अविनाशी सुख खोजते हैं। इन्हीं को अध्यात्म-पथ-गामी कहा जाता है। इनमें अनेक देश, क्षेत्र, भाषा, काल, मान्यता एवं संस्कार वाले साधक होते हैं। इसलिए इनकी मान्यताओं तथा बाह्याचारों में काफी अन्तर रहता है और कहीं-कहीं परस्पर विरोध भी रहता है। परन्तु ये सभी अध्यात्म-पथ के रसिक अपनी-अपनी समझ के अनुसार जड़प्रकृति से भिन्न अविनाशी तत्त्व एवं चिरंतन सुख की खोज में रहते हैं।

इन नाना मतों के अध्यात्म-रसिकों को सद्गुरु कबीर ने यहां एक ही शब्द में पिरोकर उनके आध्यात्मिक मतवालेपन का रोचक एवं सामंजस्यपूर्ण वर्णन किया है। सद्गुरु कहते हैं कि प्रेम सुधारस के प्याले छकने वाले मतवाले सत्संगी संसारियों के लक्षणों से अलग होते हैं। चाहे जिस मत के साधक हों, उनका यह सार्वभौमिक लक्षण होता है कि वे विषयों से विरत होते हैं और प्राणिमात्र को आत्माराम मानकर सबके साथ प्रेम का व्यवहार करते हैं। इस लक्षण के परिपाक में परमार्थ-लाभ तो होता ही है, व्यावहारिक जीवन भी इसी में समुज्ज्वल होता है तथा इसी लक्षण में धरती स्वर्ग बन सकती है। भूमंडल के किसी कोने का, किसी देश का, किसी काल का, किसी भाषा का एवं किसी मान्यता का साधक हो, यदि सच्चा साधक है तो वह भोगों का त्यागी होगा ही। जो भोगों का त्यागी होगा, वह विश्वप्रेम का स्वरूप होगा। रागी भोगी-मोही होता है, त्यागी प्रेमी होता है। इसलिए यहां सद्गुरु ने उक्त साधकों को "पियत पियाला प्रेम सुधारस, मतवाले सत्संगी" कहकर उनको प्रदर्शित किया है।

यहां प्रेम में मतवाला होने की बात है। मदिरा पीने से ही लोग मतवाले होते हैं। यहां प्रेम की मदिरा है। मदिरा बनाने की अपनी विधि होती है। रूपकों द्वारा अपनी बातें कहने में माहिर कबीर साहेब यहां कैसे चूक जाते कि वे मदिरा बनाने का रूपक न कहते। मदिरा बनाने के लिए भट्ठी बनायी जाती है। सड़ाया हुआ महुआ हंडी में भरकर तथा उसके मुख को बन्दकर भट्ठी पर रख दिया जाता है। उस हंडी में एक छेद कर एक नली लगा दी जाती है जिसका दूसरा सिरा दूसरी हंडी में पहुंचा दिया जाता है। भट्ठी में मंद-मंद आंच दी जाती है, अतः महुआ का रस भाप बनकर नली द्वारा दूसरी हंडी में इकट्ठा होता जाता है। यही मदिरा है।

"अर्धे उर्धे भाठी रोपिनि, लेत कसारस गारी। मूंदे मदन काटि कर्म कस्मल, सन्तति चुवत अगारी।" इन पंक्तियों में सद्गुरु कहते हैं कि साधक जन शरीर के निचले तथा ऊपरी हिस्से को मानो भट्ठी बना लेते हैं। वे कर्मसंस्कारों के सम्मोह रूपी महुआ को सड़ाकर अर्थात उसे जीर्ण कर तथा मन रूपी हंडी में भरकर और उसके काम रूपी मुंह को बन्दकर भट्ठी पर चढ़ा देते हैं और ज्ञान, भक्ति एवं वैराग्य-रूपी अग्नि प्रज्वलित कर उसके परिपाक रस-प्रेमसुधारस को निचोड़ लेते हैं। उत्तम महुआ का रस जैसे नली द्वारा दूसरी हंडी में निरंतर गिरता रहता है, वैसे ज्ञान, भक्ति तथा वैराग्य की अग्नि से प्रदीप्त अंत:करण में सदैव प्रेमसुधारस एवं अनुभवरस टपकता रहता है। 'सन्तति चुवत अगारी' में मालूम होता है 'सन्तत' का ही कभी किसी लिपिकार की भूल से संतति हो गया है। संतत का अर्थ निरंतर एवं लगातार है और संतति का अर्थ संतान है। यह संतति संतत ही है। वैसे संतति शब्द का शाब्दिक अर्थ लेने पर संतान एवं शिष्य हो जायेगा। अर्थात अनुभवी गुरुओं के आगे बहुत-से शिष्य-प्रशिष्यों का विस्तार होता जाता है। परन्तु संतत-निरंतर अर्थ ही यहां उपयुक्त है।

ज्ञानी, भक्तों एवं साधकों को प्रेम-मदिरा निचोड़ने के लिए शरीर ही भट्ठी है। वे इस शरीर को साधना में कसकर, इसके एक-एक क्षण का दोहन कर मन को साध लेते हैं। जो साधक अपनी अधोगामिनी ऊर्जा को ऊर्ध्वगामिनी बना लेता है, विषयासक्ति से सर्वथा निवृत्त होकर अविनाशी तत्त्व-बोध में रम जाता है वह मानो जीवन के कषायरस को गार लेता है। कषाय का अर्थ कसैला तथा गन्दा भी होता है और सुगंधयुक्त एवं परिपाक-रस भी होता है। यहां अर्थ सुगंधयुक्त एवं परिपाक-रस है। साधक शरीर एवं मन को साधकर जीवन का परिपाक-रस गार लेता है। सर्वत्र अनासक्त होकर तथा 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' जानकर प्रेम में छके रहना ही तो जीवन का रस है। यही वह मदिरा है जिसे पीकर साधक मतवाले रहते हैं। संसार के साधक, भक्तों एवं सन्तों पर दृष्टि दौड़ाइए, देखिए उनके लिए घर और वन, अपना और पराया बराबर हो गया है। जगत से निर्मोह हुए वे मानवता एवं प्रेम के दीवाने, मानवता के लिए समर्पित हो गये। उन्होंने 'मूंदे मदन काटि कर्म कस्मल' मदन का दमन कर दिया है। उनकी कामवासना निवृत्त हो जाती है। काम की तरफ बहने वाली उनकी ऊर्जा राम में लग जाती है। जो मन विषय-चिंतन एवं काम-चिंतन करता था, वही अब राम-चिंतन करने लगता है। जब चित्त निष्काम हो गया, उसमें राम-चिंतन का प्रवाह चलने लगा तब इसकी स्वाभाविक परिणति होती है कर्म-कश्मल का छिन्न हो जाना। कश्मल का अर्थ है मूर्च्छा, सम्मोहन। पाप-पुण्य कर्म-संस्कारों के ही मूर्च्छा एवं

सम्मोहन होते हैं, जिसमें मनुष्य सदैव तंद्रित रहता है। जब यह सम्मोह छंट जाता है, तब मन के सामने निरंतर दिव्य अनुभव-रस टपकने लगता है। वह विषय-रस से मुक्त होकर आत्म-अनुभव-रस में सदैव लीन रहता है। गोरख, दत्तात्रेय, वसिष्ठ, व्यास, हनुमान, शुकदेव, मुनिगण, शिव, सनक, सनंदन, सनातन, सनत्कुमार, अम्बरीष, याज्ञवल्क्य, जनक, जड़भरत, शेषनाग, ध्रुव, प्रहलाद, विभीषण, शबरी, विवेकी—स्वरूप-चिंतक, भावुक माधुर्य भक्ति-रसिक, सुर, नर, मुनि, यति, पीर, औलिया आदि सभी परमार्थ-प्रेमी अपने-अपने ढंग से इस अमृत-रस, प्रेम-रस, परमार्थ-पियूष के प्रेमी रहे हैं। इन उम्मीदवारों में से जिसने जितनी गहराई में पहुंचकर इस सुधा-रस को जितना पिया हो वही जान सकता है। गूंगे के शक्कर खाने न्याय इसका स्वयं ही अनुभव किया जा सकता है, ज्यों-का-त्यों बताया नहीं जा सकता।

संसार के जितने भक्त, साधक, योगी, ज्ञानी, साधु, संत आदि हुए हैं अपनी-अपनी सूझ-बूझ के अनुसार सब परमार्थ-पथ के पथिक रहे हैं। जितने उच्च कोटि के साधक हुए हैं उनकी सूझ-बूझ अलग-अलग होने से उनकी मान्यताओं में कम तथा ज्यादा अन्तर अवश्य रहा है, परन्तु वे सब अपने साधना-पथ में तीव्र लगन वाले रहे हैं। गोरखनाथ योग के विरही; दत्तात्रेय, जड़भरत अवधूत; शुकदेव, सनकादि, जनकादि ब्रह्मज्ञान के मतवाले; हनुमान, नारद, अंबरीष, ध्रुव, प्रह्लाद, शबरी आदि भक्ति-भाव में मतवाले; वसिष्ठ, व्यास, याज्ञवल्क्यादि विद्या द्वारा तत्त्वचिंतक। इसी प्रकार अन्य भी अपने-अपने पथ में दीवाने थे।

किसने कितना सत्य को पाया यह अलग विषय है। व्यक्ति का अपना चेतन स्वरूप ही परम सत्य है। विषयों को त्यागकर जो अपने चेतन स्वरूप में स्थित हुआ, वही वास्तविकता को पाया। जो इसको न समझकर अपने लक्ष्य को बाहर खोजता रहा, वह भटकता रहा। परन्तु जो बाहर भटकने वालों में अपनी भावना एवं अपने मत में मतवाले थे वे भी स्थूल विषय-वासनाओं के जंजाल से मुक्त होकर किसी अविनाशी तत्त्व की भावना में ही लगे रहे, भले ही वह काल्पनिक रहा हो। काली अपने आप में कुछ नहीं है। केवल काल्पनिक देवी है, परन्तु उसकी भावना में मतवाले हो श्री रामकृष्ण परमहंस वैराग्य में मस्त रहे। राम, कृष्ण, ईसा आदि कभी हुए होंगे। हजारों वर्ष उनके बीते हो गये। वे आज हमारा कुछ भी सहयोग नहीं कर सकते। हम उनके जीवनादर्श एवं पवित्र वचनों से प्रेरणा लेकर अपने जीवन-सुधार में सहयोग ले सकते हैं। परन्तु उनकी भावना में मतवाले हजारों साधक सांसारिक उलझनों से रहित होकर अपने मत में मतवाले हैं। वे सदाचार में लगे हुए संसार को भी कुछ सदाचार की सुगन्धी बांटते हैं।

भावनाओं में लोग किस प्रकार मतवाले हो जाते हैं, इसके लिए यहां एक उदाहरण काफी होगा। ईसा की लगभग सोलहवीं शताब्दी में बंगाल के फरीदपुर जिले के कोटालपाड़ा ग्राम के प्रमोदन सुन्दर ब्राह्मण के पुत्र कमलनयन हुए हैं। उन्होंने नवद्वीप के हरिराम वागीश से न्यायशास्त्र का अध्ययन किया और काशी जाकर दंडी स्वामी श्री विश्वेश्वराश्रम से वेदांत पढ़ा और वहीं संन्यास ले लिया। संन्यास का नाम पड़ा 'मधुसूदन सरस्वती'। उन्होंने अद्वैतसिद्धि, सिद्धान्तविंदु, वेदान्तकल्पलतिका, अद्वैतरत्नरक्षण, गीता एवं भागवत की व्याख्या तथा प्रस्थान भेद लिखे। वे शास्त्रार्थ के बड़े रसिक थे। शास्त्रार्थ कर पण्डितों को हराते रहते थे। एक वृद्ध दिगंबर परमहंस संन्यासी से प्रेरणा पाकर शास्त्रार्थ छोड़कर श्री कृष्ण के भक्त हो गये। तो श्री कृष्ण की भक्ति में इतने मतवाले हुए कि उनकी दिशा ही बदल गयी। वे कहते हैं—

"ध्यान के अभ्यास से जिनका चित्त वश में हो गया है, वे योगी यदि उस निर्गुण और निष्क्रिय परम ज्योति को देखते हैं, तो देखा करें। हमारे नेत्रों को तो यमुनापुलिनविहारी नीले तेजवाला सांवरा ही चिरकाल तक सुख पहुंचाता रहे।[1] जिसके हाथों में वंशी सुशोभित है, जो नव-नील-नीरद-सुन्दर हैं, पीतांबर पहने हैं, जिसके ओठ बिंबफल के समान लाल हैं, जिसका मुखमंडल पूर्ण चन्द्र के सदृश और जिसके नेत्र कमलवत हैं, उस श्री कृष्ण से परे तत्त्व हो तो मैं उसे नहीं जानता।[2] प्रमाणों से निर्णय दिये हुए श्री कृष्ण के अद्भुत माहात्म्य को जो मूढ़ नहीं सह सकते, वे नरकगामी होंगे।[3] यह ठीक है कि अद्वैतज्ञान के मार्ग पर चलने वाले मुमुक्षु मेरी उपासना करते हैं, यह भी ठीक है कि आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्तकर मैं स्वराज्य के सिंहासन पर आरूढ़ हो चुका हूं, किन्तु क्या करूं, एक कोई गोपवधुओं का प्रेमी शठ है, उसी हरि ने बलपूर्वक मुझे अपना दास बना लिया है।"[4]

---

1. ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं ज्योतिः किञ्चन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते। अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं कालिन्दीपुलिनोदरे किमपि यन्नीलं महो धावति॥
2. वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥
(मधुसूदन, गीता तेरहवें अध्याय के शुरू में)
3. प्रमाणतोऽपि निर्णीतं कृष्णमाहात्म्यमद्भुतम्।
न शक्नुवन्ति ये सोढुं ते मूढा निरयं गताः॥ (मधुसूदन, गीता पंद्रहवें अध्याय के अंत में)
4. अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः स्वराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः।
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन॥
(भक्त चरितांक, पृ. 493-494, वर्ष 26, सन् 1952, गीता प्रेस, टीका सहित)

मधुसूदन सरस्वती जैसे श्री कृष्ण के अलावा कोई परमतत्त्व नहीं जानते, वही भोलापन की दशा राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की है। वे कहते हैं—"हे राम, क्या तुम मानव हो? क्या तुम सर्वत्र व्याप्त ईश्वर नहीं हो? यदि तुम ईश्वर नहीं हो तो मैं निरीश्वर हूं। मुझे ईश्वर क्षमा करे। तुम नहीं रमते हो तो मेरा मन तुम में रमा करे।"[1]

मधुसूदन सरस्वती अपने समय में लब्धप्रतिष्ठ विद्वान और संन्यासी थे। परन्तु उनका अपने मत का मतवालापन कितना अद्भुत था। इसीलिए तो कबीर देव कहते हैं "निर्गुण ब्रह्म माते वृन्दावन, अजहूँ लागु खुमारी।" श्री कृष्ण को निर्गुण ब्रह्म का ही सगुण रूप मानकर उनकी भावना में लोग वृन्दावन में आज भी मतवाले बने रहते हैं। यह नशा आज भी नहीं उतरता।

इस शब्द में आये हुए नामों के जीवन-परिचय इस प्रकार हैं—

गोरखनाथ या गोरक्षनाथ

विक्रम की दसवीं शताब्दी में पैदा हुए नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तक एक प्रसिद्ध योगी महात्मा। इनके बनाये हुए हिन्दी और संस्कृत ग्रन्थ हैं। चौरासी सिद्धों तथा नौ नाथों में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान हैं। चौरासी सिद्धों के नाम दो सौ पचपनवीं साखी की टीका में हैं। नौ नाथों के नाम ये हैं—मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ, जालन्धरनाथ, चर्पटनाथ, मंगलनाथ, चम्बानाथ, घग्घूनाथ, प्राणनाथ और गोपीनाथ।

दत्तात्रेय

ये भागवत के अनुसार एक ब्रह्मज्ञानी थे। ये अत्रि के पुत्र अनसूया के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। इनके विषय में भी लोगों ने अवतार होने की कल्पना की है। भागवत के अनुसार इन्होंने चौबीस गुरु किये थे।

वसिष्ठ

एक बार उर्वशी को वरुणालय में क्रीड़ा करते हुए देखकर मित्र-वरुण दोनों देवता कामपीड़ित हो गये। एक घड़े में उन दोनों ने वीर्यपात कर दिये। उसमें से पहले अगस्त्य पीछे वसिष्ठ पैदा हुए (वाल्मीकीय रामायण, उत्तरकाण्ड 55वां सर्ग)।

---

1. राम तुम मानव हो? ईश्वर नहीं हो क्या?
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या?
तब मैं निरीश्वर, ईश्वर क्षमा करे।
तुम न रमो तो मन तुम में रमा करे॥ साकेत॥

घड़े से उत्पन्न होना सर्वथा असम्भव है, वास्तव में उर्वशी से उत्पन्न हुए होंगे।

हिन्दू धर्म के आदि ग्रन्थ ऋग्वेद में साफ लिखा है कि मित्र, वरुण तथा उर्वशी अप्सरा से वसिष्ठ जी पैदा हुए (ऋग्वेद 7/33/11)। वसिष्ठ जी प्रसिद्ध श्री राम जी के गुरु थे।

व्यास

धीमर की कन्या सत्यवती नाव खे रही थी। वहां पराशरमुनि पहुंच गये। वे सत्यवती को देखकर आसक्त हो गये। उन्होंने उससे अपनी कामना की बात कही। उसने कहा—महाराज! चारों ओर मनुष्य घूम रहे हैं, दिन में ही यह बरताव कैसे होगा? झट पराशर ने कोहरा पैदा कर दिया और चारों ओर अंधेरा छा गया। पराशर से सत्यवती ने कहा—महाराज! ऐसा करने से मेरा कौमार्य नष्ट हो जायेगा। पराशर ने कहा—तेरा कौमार्य नष्ट नहीं होगा, तू जो चाहे वर मांग। उसने कहा मेरे शरीर से मछली की-सी गंध आ रही है वह न आये। मुनि ने कहा ऐसा ही होगा। अतः उसी समय से सत्यवती का शरीर सुगंध से पूर्ण हो गया और उसका नाम गन्धवती से योजनगंधा पड़ा। उसके शरीर से चारों ओर सुगंधी बिखरने लगी। फिर पराशर ने अपनी मनोकामना उससे पूरी की; फलतः योजनगन्धा के गर्भ से व्यास जी पैदा हुए (महाभारत)।

कहा जाता है कि व्यास जी ने ही वेदों का सम्पादन और पुराणादि की रचना की।

उक्त कथा में पराशर जी का कोहरा उत्पन्न करना और सत्यवती का शरीर सुगन्धमय कर देना, यह असम्भव कार्य तो वे कर दिये; परन्तु अपने कामवेग को रोकना जो सर्वथा सम्भव था, वह नहीं कर सके; कैसा उपहास है! वास्तव में कोहरा और गंध का उत्पन्न करना केवल कल्पित है।

हनुमान

हनुमान जी के पिता का नाम केसरी और माता का नाम अंजनी था। वाल्मीकि रामायण के अनुसार वायु नाम के एक देवता ने एक समय अंजनी से संबन्ध किया, तब हनुमान जी पैदा हुए तथा पवन-सुत कहलाये। शंकर सुवन होने में यह प्रमाण है कि विष्णु का मोहिनी रूप देखकर कामवश शंकर का जब वीर्यपात हुआ तब ऋषियों ने उसे उठाकर एक दोने में रखकर राम जी के कार्य सिद्ध होने के लिए अंजनी में प्रवेश कराया और गर्भ रह गया, फिर हनुमान जी हुए। यह कृत्रिम गर्भाधान का नमूना है।

एक कथन यह भी है कि वायु तथा शंकर का तेज केसरी में पहुंच गया और उसी काल में उन्होंने अपनी पत्नी अंजनी से संबंध किया, फिर हनुमान जी पैदा हुए, इत्यादि। वायु देवता और शंकर का तेज कैसे केसरी में पहुंच गया, यह भी एक कल्पना है। हनुमान जी की श्री राम-भक्ति प्रसिद्ध है।

नारद

ये ब्रह्मा के मानसपुत्र (शिष्य) कहे जाते हैं और दासीपुत्र भी। ब्रह्मा ने इनका स्वभाव जब विरक्त का देखा, तब उनको बुरा लगा; परन्तु कुछ विशेष कह नहीं सके। फिर सनकादि चारों भाई पैदा हुए; नारद ने इनको भी वैराग्य का उपदेश दिया और कहा कि स्त्री के चक्कर में न पड़ना, गृहस्थीजाल बड़ा बन्धनप्रद है। यह सुनकर ब्रह्मा को बड़ा क्रोध हुआ और नारद को शाप दिया कि यदि तू ऐसा वैराग्य छांटता है तो विवाह करके कुछ काल अवश्य ही स्त्री के साथ रहेगा।

कहा जाता है कि जब नारद काम-विजयी हुए तब विष्णु की प्रेरणा से श्रीनगर के राजा शीलनिधि की कन्या मोहनी के स्वयंवर में वे उस लड़की से ब्याह करना चाहे, परन्तु विफल रहे।

महाभारत के अनुसार एक बार नारद जी राजा सृञ्जय के यहां रहे। राजा ने अपनी लड़की को उनकी सेवा करने के लिए नियुक्त कर दिया, तो नारद जी धीरे-धीरे उसमें आकर्षित होकर उससे विवाह कर लिये।

नारद जी भगवत्भक्त कहे जाते हैं।

शुकदेव

शुक पक्षी का टाटेम (गण चिह्न) रखने वाली आदिम जाति की शुकी नाम की स्त्री को वेदव्यास ने गर्भवती कर दिया। इसी से शुकदेव पैदा हुए। इसलिए वे वेदव्यास के पुत्र कहे जाते हैं। लोगों की कल्पना है कि ये संसार के दुख से घबराकर बारह वर्ष या सोलह वर्ष तक गर्भ में ही रह गये, फिर व्यास जी के अनुरोध पर पैदा हुए, परन्तु वन को चल दिये। ये परम विरक्त थे। इन्होंने राजा परीक्षित को श्रीमद्भागवत की कथा सुनायी थी। ऐसा पुराण का कथन है। वैसे भागवत-रचनाकाल से बहुत पहले शुकदेव का काल है।

संसार से कम दुख गर्भवास में नहीं है, प्रत्युत अधिक ही है। बारह या सोलह वर्ष गर्भवास में ही रहना और वेदव्यास के अनुरोध से पैदा होना, यह कल्पना है।

शम्भु

शिव का एक नाम शम्भु भी है। शिव जी की उत्पत्ति के विषय में भिन्न-भिन्न कल्पनों हैं; अतः एक भी प्रामाणिक नहीं है। इनकी कथों पुराणों में विविध भांति से महिमा सहित वर्णित है।

सनकादिक

सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार ये चारों ब्रह्मा के मानस-पुत्र थे, तथा बालब्रह्मचारी एवं विरक्त थे। कहा जाता है ये चारों महात्मा पांच वर्ष की अवस्था में हर समय रहते थे, परन्तु यह असम्भव है। इसका यह तात्पर्य हो सकता है कि ये बालक के समान सरल हृदय के थे। किसी से राग-द्वेष की गांठ नहीं बांधते थे। परन्तु एक बार जब ये विष्णु जी से मिलने जा रहे थे, तब द्वारपाल जय-विजय ने रोका कि भगवान से हम आज्ञा ले आवें, तब आप जायें। इस पर सनकादि क्रोध प्रकट कर उन्हें शाप दिये कि तुम दोनों तीन जन्मों तक राक्षस होओ। जय-विजय तो कोई बुरा नहीं किये, परन्तु तनिक-सी बात में सनकादिकों को इतना क्रोध करना और इतना भयंकर शाप देना कहां तक हृदय की सरलता का परिचायक है! वस्तुतः अवतारवाद सिद्ध करने के चक्कर में यह कहानी गढ़ी गयी और सनकादिकों को क्रोधी बना दिया गया। सनकादि ब्रह्मा के मानस-पुत्र थे। वस्तुतः शिष्य को मानस-पुत्र कहा जाता है।

अम्बरीष

ये अयोध्या के एक सूर्यवंशी राजा थे। इनके पिता का नाम नाभाग तथा पितामह का नाम वैवस्तमनु था। ये प्रसिद्ध वैष्णव भक्त थे। एक बार ये दुर्वासा को निमंत्रण दिये थे। उनके आने तक पारण की अवधि बीत जाने के भय से केवल जल का आचमन कर लिये थे। इतने में दुर्वासा आ गये और देखकर कुपित हुए कि मुझे बिना खिलाये क्यों आचमन कर लिया! दुर्वासा अम्बरीष को मरवाना चाहे, परन्तु विष्णु का चक्र दुर्वासा का पीछा किया। अन्त में दुर्वासा ने अम्बरीष से क्षमा मांगी।

याज्ञवल्क्य

ये ब्रह्मवादी पुरुष थे। बृहदारण्यक के अनुसार इन्होंने जनक की सभा में गार्गी आदि सब पर विजय पायी थी। परन्तु यह भी बात है, जब गार्गी प्रश्न-पर-प्रश्न करती गयी और अन्त में याज्ञवल्क्य विवश-से होने लगे, तब उन्होंने कहा कि हे गार्गी! तू अति प्रश्न मत कर, नहीं तो तेरा सिर (धड़ से

कटकर)गिर जायेगा।[1] यह सुनकर गार्गी चुप हो गयी। इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने केवल विद्वता से नहीं, प्रत्युत धमकी देकर गार्गी[2] को चुप किया था।

याज्ञवल्क्य की दो पत्नियां थीं। एक का नाम मैत्रेयी और दूसरी का नाम कात्यायनी था। मैत्रेयी ज्ञानी थी और कात्यायनी केवल स्त्री-स्वभाव वाली, एक गृहिणी मात्र थी। जब याज्ञवल्क्य ने गृहत्याग कर संन्यास लेना चाहा, तब दोनों पत्नियों को आधा-आधा धन बांट दिया। कात्यायनी तो चुप रही, परन्तु मैत्रेयी ने पूछा—क्या धन से अमरता मिल सकती है? याज्ञवल्क्य ने कहा—नहीं। मैत्रेयी ने कहा—जिससे अमरता मिले वह उपदेश कीजिये। अतएव याज्ञवल्क्य ने उसे ज्ञानोपदेश किया।

जनक

राजा इक्ष्वाकु के एक पुत्र का नाम 'निमि' था। इन्होंने वसिष्ठ को अपने यज्ञ में 'होता' बनाने के लिए बुलाया। उस समय वे इन्द्र के यज्ञ में लगे थे, अतः कहला भेजे कि राजा कुछ दिन रुक जायें फिर मैं आऊंगा। राजा निमि ने इसका कुछ उत्तर न दिया। वसिष्ठ ने समझा निमि को हमारी बात स्वीकार है, परन्तु विलम्ब होते देखकर निमि ने गौतम आदि ऋषियों को बुलाकर यज्ञ करा लिया।

वसिष्ठ ने जब सुना तब निमि को शाप दिया। निमि ने भी वसिष्ठ को शाप दिया। फलतः दोनों के शरीर नष्ट हो गये। राजा का कोई उत्तराधिकारी न था, अतः राज्य-व्यवस्था के लिए ऋषियों ने राजा के शरीर का अरणि से मंथन किया। पश्चात उनके शरीर से एक पुत्र उत्पन्न हुआ उसका नाम जनक पड़ा। मंथन करके उत्पन्न होने से उसका नाम मिथि पड़ा तथा पिता की विदेह अवस्था में पैदा होने से विदेह भी पड़ा। उन्होंने ही मिथिलापुरी बसायी। कहा जाता है इन्हीं की सत्ताइसवीं पीढ़ी में राजा सीरध्वज जनक पैदा हुए थे जिनकी पोष्य पुत्री जानकी थीं, जो श्री राम से ब्याही गयी थीं। उपनिषदों को देखने से पता चलता है कि मिथिलाधीश लोग ब्रह्मज्ञानी होते थे। सीरध्वज स्वयं ब्रह्मज्ञानी थे।

अपने स्वार्थवश निमि को शाप देना वसिष्ठ की बड़ी भूल है। शाप मात्र से निमि का मर जाना असम्भव है। निमि की देह मथकर पुत्र पैदा करना अनर्गल कल्पना है।

---

1. बृहदारण्यक उपनिषद, 3/6/1।
2. गार्गी 'वचक्नु' की पुत्री थी।

भरत

ये प्रसिद्ध राजा ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र थे। ये बहुत दिनों तक राज्य करके अन्त में पुत्रों के हाथ राज्य सौंपकर वन में तपस्या करने चले गये। एक दिन इन्होंने एक अनाथ मृग का बच्चा देखा। ये उसे लाकर दयावश पालने लगे। धीरे-धीरे राजा की उसमें ममता हो गयी। फिर भजन-साधन छूट गये। केवल मृगशावक के मोह में ही सदैव निमग्न रहने लगे। कहा जाता है शरीर छूटते समय तक उनका मन उस मृग में लगा रहने के कारण मरने पर वे मृगा का तन पाये। जब कुछ काल मृगा का तन भोगकर वह शरीर भी छूट गया, तब तीसरी बार में एक ब्राह्मण कुल में जन्म लिये।

इस जन्म में भी इनका नाम भरत पड़ा। पिता ने पढ़ाना चाहा, परन्तु ये न पढ़े। पिता का शरीर छूट गया। भाई लोगों ने इनको पढ़ने को कहा, परन्तु इनको पूर्वजन्मों के शुद्ध वैराग्य के संस्कार थे। इन्होंने सोचा पुनः विद्यादि के चक्कर में पड़ूंगा तो वैराग्य शून्य हो जायेगा। अतः जड़-भाव धारणकर आत्मचिंतन करते हुए विचरने लगे। इससे इनके नाम में जड़-विशेषण लग गया। लोग जड़भरत कहने लगे। इनसे और राजा रहूगण से धार्मिक सम्वाद हुआ था। विस्तार के लिए श्रीमद्भागवत देखिए।

शेष

हजार फण को धारण करने वाला सर्प, जो क्षीरसागर में रहता है, जिसके ऊपर विष्णु जी की शय्या रहती है। शेष जी अपने हजारों फणों (मुखों) से विष्णु जी के गुण गाते हैं।

क्षीरसागर और शेष वास्तव में दोनों कल्पित हैं। जगत प्रचलित कहानियों के अनुसार कबीर साहेब ने उदाहरण दे दिया है। वस्तुतः नागजाति के मनुष्यों का शेषनाग नाम का महापुरुष राजा था और विष्णु का मित्र था। पीछे विष्णु के भक्तों ने शेषनाग को विष्णु का भक्त घोषित कर दिया। पीछे अज्ञानवश लोग शेषनाग को मनुष्य न समझकर हजार फण वाला सांप मान लिए।

ध्रुव

इनके पिता का नाम उत्तानपाद तथा पितामह का नाम स्वायम्भुव मनु था। इनकी माता का नाम सुनीति और विमाता (सौतेली माता) का नाम सुरुचि था। एक दिन ये अपने पिता की गोद में बैठना चाहे, किन्तु विमाता सुरुचि ने ध्रुव को व्यंग्य वचन कहा कि यदि तुम्हें राजा की गोद में बैठना था, तो मेरे

पेट से क्यों नहीं पैदा हुआ? नन्हा ध्रुव दुखी होकर अपनी माता के पास गया और यह बात कह सुनाया। माता ने कहा—बेटा! राजा तुम्हारा रक्षक नहीं, रक्षक विष्णु भगवान हैं। ध्रुव घर छोड़कर पांच वर्ष की अवस्था में तपस्या करने वन को चले गये। कहा जाता है कि वे बहुत कठोर तप के पश्चात विष्णु जी के दर्शन पाये, फिर लौटकर घर आये और राजा तथा विमाता आदि सबने आदर किया तथा बहुत काल राज्य भोगकर अन्त में स्वर्ग गये, ऐसी कल्पनों कर रखी हैं। विस्तार के लिए श्रीमद्भागवत का चौथा स्कंध देखिए।

प्रह्लाद

इनके पिता का नाम हिरण्यकश्यपु था। हिरण्यकश्यपु का विष्णु से वैर रहता था। परन्तु प्रह्लाद विष्णु-भक्त थे। इनकी कल्पित कथों जगत-प्रसिद्ध हैं। विस्तार के लिए श्रीमद्भागवत का सातवां स्कंध देखिए।

विभीषण

इनके पिता का नाम विश्रवा, माता का नाम कैकसी तथा पत्नी का नाम सरमा था। ये अपने बड़े भाई रावण के दुश्चरित्र से घबराकर तथा साथ-साथ राजा बनने की कामना से रावण से विमुख होकर राम के दल में मिल गये और रावण के मारे जाने के पहले ही लंका राजधानी का राजतिलक राम द्वारा अपने तयीं करा लिये और लंका दुर्ग तथा रावण का सारा भेद देकर राम द्वारा लंका पर विजय करवायी और अंत में स्वयं लंका का राजा बन गये तथा रावण की पत्नी मन्दोदरी को भी पत्नी के रूप में रख लिये।

शबरी

यह एक नारी थी और मातंग ऋषि की शिष्या थी, जो श्री राम जी के जीवनकाल में थी। यह भक्तिमती थी। सीता की खोज करते हुए लक्ष्मण सहित श्री राम जी इसके आश्रम पर गये थे। अध्यात्म रामायण तथा रामचरित मानस के अनुसार श्री राम ने शबरी को नौधा-भक्ति का उपेदश दिया। वाल्मीकीय रामायण में शबरी-राममिलन प्रसंग में नौधा-भक्ति नहीं है।

कृष्ण

वसुदेव-देवकी द्वारा जन्मे तथा नन्द-यशोदा द्वारा पालित ये तो जगत-प्रसिद्ध हैं। इनके श्रद्धालु लोग इन्हें पूर्ण निर्गुण ब्रह्म कहते हैं। कहा जाता है

इन्होंने वृन्दावन में गोकुल के अहीरों की युवती स्त्रियों को बुलाकर रास-क्रीड़ा (नाच-गान और अमर्यादित व्यवहार) किया था। कहा जाता है इनके स्वयं की भी सोलह हजार एक सौ आठ रानियां थीं। यह निर्गुण ब्रह्म की कितनी बड़ी विडम्बना है? इनकी सोलह हजार स्त्रियों का होना कल्पना ही है। लीला विस्तारपूर्वक जानना हो तो श्रीमद्भागवत का दशम स्कन्ध, ब्रह्म-वैवर्तपुराण तथा गर्गसंहिता देखें। वस्तुतः ऋग्वेद (8/85/13-16)[1], छांदोग्य उपनिषद् (3/17/6) तथा महाभारत में जहां श्री कृष्ण की चर्चा है कहीं भी उनके द्वारा पर-स्त्री-गमन तथा रास-क्रीड़ा नहीं है। यह तो विषयी पंडितों ने श्रृंगाररस के जोश में कृष्णचरित्र में रास तथा पर-स्त्री-गमन आदि का प्रसंग जोड़कर उनके चेहरे को विकृत किया है। श्री कृष्ण गृहस्थ अवश्य थे, परन्तु वे राजनीतिज्ञ, शूरवीर, ज्ञानी तथा दार्शनिक थे। वे पर-स्त्रियों को लेकर न रास करते थे न उनके साथ क्रीड़ा और न उनकी सहस्रों पत्नियां थीं।

माया-मोह की सारहीनता

शब्द-13

राम तेरी माया दुन्द मचावै॥ 1॥
गति मति वाकी समुझि परेनहिं, सुर नर मुनिहि नचावै॥ 2॥
क्या सेमर तेरि शाखा बढ़ाये, फूल अनूपम बानी॥ 3॥
केतेक चातृक लागि रहे हैं, देखत रुवा उड़ानी॥ 4॥
काह खजूर बड़ाई तेरी, फल कोई नहिं पावै॥ 5॥
ग्रीषम ऋतु जब आनि तुलानी, तेरी छाया काम न आवै॥ 6॥
आपन चतुर और को सिखवै, कनक कामिनी सयानी॥ 7॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, राम चरण ऋतु मानी॥ 8॥

शब्दार्थ—माया=धोखा, सम्मोहन, भ्रम, मूर्च्छा। दुन्द=द्वंद्व, कलह, राग-द्वेष, हर्ष-शोक। गति=चाल। मति=बुद्धि। शाखा=डाली। अनूपम= अनुपम, विलक्षण। बानी=वाणी मात्र। चातृक=पक्षी, जीव। रुवा=रोवांटा, भूई। सयानी=बुद्धिमानी। ऋतु=रति, प्रेम।

भावार्थ—हे रमैया राम! तेरे मन की माया कलह मचाती है॥ 1॥ सामान्य लोगों को उसकी गति-मति नहीं समझ पड़ती। यह मन की माया सुर, नर तथा मुनि को नचाती रहती है॥ 2॥ सेमल पेड़ की डालियां बहुत बढ़ीं और उनमें फूल भी अनोखे लाल-लाल लगे, परन्तु उनकी प्रशंसा वाणी

1. जहां खिल्य भाग है उस संस्करण में यह विषय ऋग्वेद 8/96/13-16 में पड़ता है।

मात्र ही तो हुई॥ 3॥ क्योंकि उसके बड़े-बड़े फूल और फल को देखकर कितने ही पक्षी सुमिष्ट आहार की आशा में उनमें लगे, परन्तु देखते-देखते जब उसके फल पककर फूटे और उनमें से निस्सार रूखे रोयें उड़े, तो पक्षियों को निराश होना पड़ा। संसार के प्राणी-पदार्थों एवं ऐश्वर्य की यही दशा है॥ 4॥ हे खजूर! तुम्हारी भी क्या प्रशंसा की जाये! तुम्हारे फल तो कोई पाता नहीं है॥ 5॥ और ग्रीष्म ऋतु आने पर जब गरमी बढ़ती है तब तुम्हारी छाया पथिक का काम नहीं देती। इसी प्रकार मनुष्य के नाम-रूप के साथ लगे बड़प्पन उसको या अन्य को शांति नहीं दे सकते॥ 6॥ सद्गुरु कहते हैं—हे संतो! सुनो, लोग मायावी पदार्थों की उन्नति में स्वयं बुद्धिमान बनते हैं और दूसरे को उसी की सीख देते हैं। कनक-कामिनी के नैतिक-अनैतिक संग्रह तथा उपभोग में ही अपनी श्रेष्ठता मानते हैं, और अभिमान रखते हैं कि हम राम के चरणों के प्रेमी हैं॥ 7-8॥

व्याख्या—कबीर साहेब के विचारों का राम सबकी अपनी अंतरात्मा है। उन्होंने स्वयं कहा है—"हृदया बसे तेहि राम न जाना।"..."दिल में खोजि दिलहि माँ खोजो, इहै करीमा रामा।"[1] बेलि प्रकरण में सद्गुरु ने जीव ही को राम शब्द से 46 बार सम्बोधित किया है। अतएव जीव ही राम है और उसके मन का मोह माया है। सद्गुरु ने साखी प्रकरण में कहा है—'मन माया की कोठरी' तथा 'मन माया तो एक है'[2] अतएव मनुष्य के मन का धोखा, सम्मोह, मूर्च्छा, अज्ञान एवं विषयासक्तिजनित मोह ही माया है।

इसलिए सद्गुरु मनुष्य को ही सम्बोधित कर कहते हैं कि हे राम! तुम्हारी माया द्वंद्व मचा रही है। द्वंद्व है राग-द्वेष, हर्ष-शोक, जन्म-मरण। यह द्वंद्व किसी आकाशीय राम का कृत्य नहीं है। यह जीव का ही कृत्य है। जिस द्वंद्व, कलह, दुख-सुख के प्रपंच को हम झेल रहे हैं वह किसी दूसरे राम के कर्मों का फल नहीं है। हम अपने ही बनाये जाल में उलझते हैं। हम दूसरे के स्थूल जाल में भी तब तक नहीं उलझ सकते, जब तक स्वयं उसमें न पड़ें और यह सूक्ष्म जाल, मन एवं कर्मों का जाल तो केवल हमारा ही बनाया रहता है जिसमें हम उलझते हैं। अतएव सद्गुरु जीव ही को सम्बोधित कर कहते हैं कि हे रमैया राम! तुम्हारे मन की मोह-माया ने तुम्हारे लिए दुखद झगड़ा खड़ा कर रखा है।

---

1. बीजक, रमैनी 41, शब्द 97।
2. बीजक, साखी 104, 105।

"गति मति वाकी समुझि परे नहिं, सुर नर मुनिहि नचावै।" मनुष्य माया की गति-मति नहीं समझ पाता। वह तो सुर, नर तथा मुनि को भी नचाती है। माया कोई चेतन व्यक्ति नहीं है कि उसके गति के साथ मति एवं बुद्धि भी हो। अतः यहां गति-मति का अभिधा अर्थ नहीं, किन्तु लक्षणा अर्थ है 'रहस्य' एवं 'भेद'। अपने मन की माया का रहस्य साधारणतया देवता, मनुष्य एवं मुनि भी नहीं जान पाते। मनुष्यों से अलग न कहीं देवता है न दानव, किन्तु लोकधारणानुसार जैसे पुराणों में देवता माने गये हैं और उनके चरित्रों का वर्णन मिलता है, तो वे काफी मलिन आचरण के बताये गये हैं। साधारण मनुष्य तो सामने ही हैं, मुनिजन भी अनेक ऐसे हैं जो माया के चक्कर में विमोहित होकर भटके हैं। अतएव सद्गुरु कहते हैं कि साधारणतया मनुष्य, देवता एवं मुनिजन भी अपने मन की माया का भेद नहीं समझ पाते और उनका मायालिप्त मन उनसे घिनौने कर्म करा डालता है। संसार के प्राणी-पदार्थों का मोह ही माया बनता है। सद्गुरु उसकी निस्सारता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं—

"क्या सेमर तेरि शाखा बढ़ाये, फूल अनूपम बानी। केतेक चातृक लागि रहे हैं, देखत रुवा उड़ानी।" सेमल का पेड़ बड़ा विशाल हुआ, उसमें शाखें बहुत बढ़ीं, लाल-लाल बड़े-बड़े फूल बहुत लगे और फल भी बहुत लगे। लेकिन आप जानते हैं कि उसके फूल में न गंध है और न फल में रस। उसके फूल गंध-रहित हैं ही, पककर फूटने पर उसके फल में भी नीरस रुई निकलती है। बहुत-से पक्षी सेमल के बड़े-बड़े फल देखकर उनसे मिष्ट स्वाद एवं भोजन पाने की आशा करते हैं। परन्तु जब फल पककर फूटते हैं तब उनमें से नीरस रोयें निकलते हैं और पक्षी निराश होकर उड़ चलते हैं।

जवानी, सुन्दरता, स्त्री, पुत्र, मित्र, परिवार, धन, बल, शासन, स्वामित्व आदि सांसारिक ऐश्वर्य की यही स्थिति है। ये सब दो दिन के लिए देखने भर के हैं। चमकती जवानी थोड़े दिनों में सिकन लिये हुए चेहरे में बदल जाती है और चाम के लावण्य-माधुर्य रूखे दृश्य में परिवर्तित हो जाते हैं। मुंह, हाथ सब में मोटी-मोटी नसें निकल आती हैं, उभरी छाती बैठ जाती है। रस-भरी खिली आंखें धंस जाती हैं। सुन्दर चमकती दंतपंक्ति खिड़बिड़ी हो जाती तथा उखड़ जाती है और कुछ दिनों में मुंह कुं के समान हो जाता है। रमणीय पत्नी एक दिन देखने लायक नहीं रह जाती। मनोहर पुत्र कुछ दिनों में जवान तथा प्रौढ़ होकर अपने बीबी-बच्चों में उलझकर अनसुहाते हो जाते हैं। हार्दिक मित्र विमुख या शत्रु हो जाते हैं। धन-दौलत के जाने में देरी नहीं लगती। यदि पास में रहें भी, तो उनसे सन्तोष नहीं मिलता। अधिकार छूट जाते हैं।

परिवार और समाज पर शासन करने वाला वही व्यक्ति एक दिन अपने ही घर के कोने में उपेक्षित पड़ा-पड़ा बिलखता रहता है।

तो क्या जिन प्राणी, पदार्थों, पद आदि की अहंता-ममता में पड़कर हमारे मन में माया अर्थात धोखा, सम्मोह, मूर्च्छा आदि बनते हैं, वे प्राणी-पदार्थादि सेमल के फूल-फल के समान निस्सार नहीं हैं? संयोगजनित सारे ऐश्वर्य को सेमल के फूल तथा फल के समान सारहीन समझ लेने पर हमारे मन में माया, धोखा, सम्मोह बन ही नहीं सकते। हमें अपने मन में विवेक जगाना चाहिए और संसार के भोगों की सारहीनता तत्त्व से समझना चाहिए।

भोगों की आसक्ति और श्रेष्ठता का अभिमान होने से मन में माया एवं सम्मोह बनते हैं। सद्गुरु ने सेमल का उदाहरण देकर भोगों की सारहीनता पर प्रकाश डाला। अब वे बड़प्पन की सारहीनता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं—"काह खजूर बड़ाई तेरी, फल कोई नहिं पावै। ग्रीषम ऋतु जब आनि तुलानी, तेरी छाया काम न आवै।" खजूर का पेड़ बहुत बड़ा होता है, परन्तु सहजतया उसका फल कोई नहीं पा सकता। गरमी में जब पथिक को छाया की आवश्यकता होती है, तब उसकी छाया भी उसे नहीं मिलती, क्योंकि पेड़ ऊंचा होने से उसकी छाया पेड़ के आस-पास न होकर दूर किसी खाईं-खंदक, खेत-कांटे आदि में पड़ती है।

यही दशा बड़प्पन के अहंकार की है। जाति, वर्ण, विद्या, पद, अधिकार, अवस्थादि चाहे जिसके बड़प्पन का अहंकार हो, उससे किसी का लाभ नहीं होता। किसी वस्तु की क्या बड़ाई है जब उससे किसी का कल्याण नहीं होता। खजूर-पेड़ की तरह अनुपयोगी बड़प्पन का अहंकार मनुष्यों के लिए केवल मन में माया एवं अहंता-ममता का धोखा ही पैदा करता है।

"आपन चतुर और को सिखवै, कनक कामिनी सयानी।" कनक-कामिनी के संग्रह एवं भोग में अपनी बुद्धिमानी समझने वाले लोग स्वयं तो इस लाइन में चतुर होते ही हैं, दूसरों को भी यही सीख देते हैं। दूसरों को कैसे बेवकूफ बनाकर धन ऐंठ लिया, भाई-पट्टीदार तथा दूसरों को किस तरह पट्टी पढ़ाकर अपना धन बढ़ा लिया, अपना हर स्वार्थ का काम बना लेने के लिए कैसे दूसरों को मूर्ख बना देते हैं, कैसे वैध-अवैध, प्राकृतिक-अप्राकृतिक इंद्रिय-भोग करने में अपनी निपुणता दिखा देते हैं, इन सबका वर्णन वे बड़े समारोह के साथ करते हैं, और अगले आदमी को भी सीख देते हैं कि ऐसे ही करने में बहादुरी है। वे कहते हैं अरे यार, आदमी की जिन्दगी पाकर क्या किया यदि चालाकी न सीखी, इच्छा भर भोगों को न भोगा!

उनको पता नहीं है कि यह उनकी अपनी बनायी चतुरता ही उनके मन की माया है जो उन्हें ही निरंतर छल रही है। दूसरों को छलने वाला और

इंद्रियों का लंपट कभी विश्राम नहीं पा सकता। ऐसे लोग जीवन के उतार तथा आखिर में तो दुखों के पात्र ही बन जाते हैं। जन्मांतर तो उनका दुखदायी होगा ही। जिनका आज बिगड़ा है, उनका आगे बनने की तो कोई आशा ही नहीं है।

"कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, राम चरण ऋतु मानी।" यहां 'रति' का कभी लिखावट में ऋतु हो गया लगता है। सद्गुरु कहते हैं कि हे सन्तो, ऐसे आकंठ माया में डूबे लोग भी कहते हैं कि हम राम के चरणों में प्रेम करते हैं। गोस्वामी जी ठीक ही कहते हैं—

बंचक भक्त कहाय राम के। किंकर कंचन कोह काम के॥

संयोगजनित प्राणी-पदार्थों की अहंता-ममता ही माया है, जो सारे द्वंद्वों का कारण है। विवेक से इसे दूर कर निर्द्वंद्व एवं परम शांतिमय जीवन जीना चाहिए।

संशय-छेदन

शब्द-14

रामुरा संशय गाँठि न छूटै, ताते पकरि पकरि यम लूटै॥ 1॥
होय कुलीन मिस्कीन कहावै, तू योगी संन्यासी॥ 2॥
ज्ञानी गुणी सूर कवि दाता, ये मति किनहु न नासी॥ 3॥
सुमृति वेद पुराण पढ़ें सब, अनुभव भाव न दरसे॥ 4॥
लोह हिरण्य होय धौं कैसे, जो नहिं पारस परसे॥ 5॥
जियत न तरेउ मुये का तरिहो, जियतहि जो न तरै॥ 6॥
गहि परतीत कीन्ह जिन जासों, सोई तहाँ अमरे॥ 7॥
जो कुछ कियउ ज्ञान अज्ञाना, सोई समुझ सयाना॥ 8॥
कहहिं कबीर तासों क्या कहिये, जो देखत दृष्टि भुलाना॥ 9॥

शब्दार्थ—रामुरा=रमैया राम जीव। संशय=अनिश्चय, संदेह। यम= वासनों। कुलीन=उच्च कुल। मिस्कीन=गरीब। ये मति=संशय। सुमृति= स्मृति। अनुभव=प्रयोगसिद्ध ज्ञान, अनु (पीछे) भव (उत्पन्न), प्रयोग के पीछे उत्पन्न हुआ ज्ञान। भाव=भावना, अवस्था। हिरण्य=सोना। अमरे= पहुंचना; 'अमरे' शब्द छत्तीसगढ़ी बोली का है जिसका शाब्दिक अर्थ ही है 'पहुंचना'।

भावार्थ—हे रमैया राम! तुम्हारे मन के संशय की गांठ नहीं छूटती, इसलिए कामादि वासनों तुम्हें पकड़-पकड़कर लूटती हैं॥ 1॥ तू विवेकसम्पन्न उत्तम मानव कुल में उत्पन्न होकर स्वरूपज्ञान बिना दीन बना है। अथवा तू अनेक बार उच्च कुल वाला बना तथा नीच कुल वाला और

गरीब बना, योगी बना, संन्यासी बना और ज्ञानी, गुणी, शूर, कवि, दाता बना; परन्तु इस अनिश्चयात्मक एवं संशयात्मक बुद्धि का नाश नहीं कर पाया॥ 2-3॥ सब लोग स्मृति, वेद, पुराणादि पढ़ते हैं और वाक्य तथा बौद्धिक ज्ञान में निपुण हो जाते हैं, परन्तु प्राप्त ज्ञान का जीवन में प्रयोग कर उस उच्च दशा में स्थित नहीं होते॥ 4॥ यदि लोहा पारस का स्पर्श नहीं करता तो वह भला, सोना कैसे बनेगा?॥ 5॥ यदि तुम आज इस जीवनकाल में भव-बन्धनों एवं प्रपंच से मुक्त नहीं होते हो तो मर जाने पर क्या मुक्त होओगे?॥ 6॥ जो व्यक्ति जिसमें दृढ़ विश्वास कर लेता है वह वहां अवश्य पहुंचता है॥ 7॥ हे बुद्धिमान मानव ! तूने जितने कर्म ज्ञान तथा अज्ञान में किये हैं, उनको समझने की चेष्टा कर और उनके संस्कारों से मुक्ति पा ले॥ 8॥ सद्गुरु कहते हैं कि हे संतो, ऐसे आदमी को क्या सीख दी जाये, जो जान-समझकर भी गलत रास्ते पर जा रहा है !॥ 9॥

व्याख्या—शब्द प्रकरण के शुरू से बारह शब्दों तक सद्गुरु ने सन्तों को सम्बोधित कर अपने शब्द कहे हैं। वे तेरहवें से लेकर इक्कीसवें तक राम को लेकर अपने विचार कहते हैं। राम-प्रकरण का यह दूसरा शब्द है। सद्गुरु कहते हैं कि हे रामुरा, हे रमैया राम ! तेरे संशय की गांठ नहीं छूटती है, इसलिए यमराज तुम्हें पकड़-पकड़कर लूटता है। 'रामुरा संशय गाँठि न छूटै, ताते पकरि पकरि यम लूटै।' इस पंक्ति में रामुरा, संशय-गाँठि तथा यम—ये तीन शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। रामुरा जीव है, संशय-गाँठि वस्तु-बोध का अनिश्चय है और यम वासनों हैं।

संशय, अनिश्चय, दुविधा, संदेह मनुष्य की किसी भी दिशा की उन्नति के महान बाधक हैं। कितने लोग वर्षों इसी बात पर विचार करते रह जाते हैं कि कपड़े का व्यापार करें कि बरतन का या कि अनाज का। यहां तक कितने सोचते हैं कि आज बाजार जाकर सौदा ले आवें। फिर मन में विकल्प आता है, कि आज नहीं कल जायेंगे। फिर सोचते हैं आज ही ले आवें। वे उठकर दस कदम चलते हैं और पुनः रुक जाते हैं और सोचते हैं कि कल ही जायेंगे। इस प्रकार सोचते-सोचते उनके सप्ताहों निकल जाते हैं और बाजार जाकर घरेलू काम की चीजें नहीं ला पाते। यह मन की बहुत बड़ी कमजोरी है।

आध्यात्मिक तत्त्वबोध के विषय में जिन साधकों की संशयात्मक दशा रहती है, न वे निर्भ्रांत बोध प्राप्त कर सकते हैं और न अपने लक्ष्य को पा सकते हैं। "मेरा अपना विश्राम-स्थल, मेरी अपनी स्थिति-दशा मेरी अपनी आत्मा एवं अपना चेतन स्वरूप ही है, या इससे अलग कोई दूसरा ईश्वर-

परमात्मा है? मैं जड़ से सर्वथा भिन्न हूं या अभिन्न हूं? कल्याण के लिए कामादि विषयों का सर्वथा त्याग करना चाहिए या उनका उपभोग करते हुए भी कल्याण हो सकता है?" यदि ऐसे संशय मन में बने हैं तो कल्याण का पथ प्रशस्त नहीं हो सकता। निर्भ्रांत दृष्टि के बिना मंजिल नहीं पायी जा सकती।

अच्छे-अच्छे विद्वान ही नहीं साधन-सम्पन्न साधु-संन्यासी भी केवल परमात्मा को पाने के लिए ही बाहर नहीं भटकते, किन्तु जादू, टोना, मंत्र, तंत्र, यंत्र, दिशाशूल, शकुन-अपशकुन, भूत-प्रेत, देवी-देवादि जो केवल मिथ्या मान्यतों हैं, इनमें भटकते रहते हैं। ज्ञान के क्षेत्र में वेदांत की बड़ी महिमा है जिसका नवीन ढंग से अर्थ लगाया जाता है जड़-चेतन अभिन्न अद्वैत ब्रह्म, और यह इतना उलझा हुआ है कि इसमें निश्चयात्मक निर्णय है ही नहीं। अद्वैतवादी सुन्दर दास जी कहते हैं—"यदि एक ब्रह्म ही सर्वत्र भरपूर व्याप्त है और उसके अलावा कुछ नहीं है, तो यह कौन बता रहा है कि एक ब्रह्म व्यापक है? यदि कहो यह सब जीव कह रहा है, तो क्या जीव ब्रह्म से अलग है? यदि अलग है तो द्वैत हो गया। यदि कहो कि सर्वज्ञ तथा सर्वत्र व्याप्त ब्रह्म में से अल्पज्ञ एकदेशी जीव पैदा हो गया, तो यह सूर्य में से अंधियारी कैसे पैदा हुई? सुन्दरदास जी कहते हैं कि मैं यह जानकर मौन हो गया हूं कि अद्वैत ब्रह्म के सिद्धांत में किसी प्रकार भी निर्णय नहीं हो सकता।"[1]

जड़-चेतन अभिन्न अद्वैतवाद पहले जड़-चेतन तथा भोग-त्याग का पृथक्करण करता है और कहता है कि जड़ से हटकर तथा भोगों को त्यागकर अपने चेतन स्वरूप में स्थित होओ। परन्तु आगे चलकर वह जड़-चेतन तथा भोग-त्याग मिला देता है। परम पारखी श्री रामरहस साहेब ने अपने महान ग्रंथ पंचग्रंथी में कहा है कि अद्वैतवादी लोग "अज्ञानी ज्ञानी करे, ज्ञानिहिं करे अचेत।" अर्थात साधारण आदमी को तो वे यह बताते हैं कि देहादि का अहंकार त्यागकर तथा विषयों से विरत होकर अपने चेतन स्वरूप में स्थित होओ। परन्तु जब आगे बढ़ते हैं तब कहते हैं कि तुमसे अलग कुछ नहीं है। सारा जगत तुम्हारा स्वरूप है। अर्थात ये पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि जड़ तत्त्व भी तुम्हारा स्वरूप है, भोग-त्याग में कोई अन्तर नहीं। "भोगे युवति

---

1. व्यापक ब्रह्म रह्यो भरपूर, तो दूसरे कौन बतावन हारो।
जो कहि जीव करो परमान, तो जीव कहा कहु ब्रह्म सो न्यारो॥
जो कहि जीव भयो जगदीश से, तो रवि माहि कहा को अन्धारो।
सुन्दर मौन गही यह जानि के, कौनिउ भांति न होय निस्तारो॥

सदा संन्यासी, शिष्य लहि यह अद्‌भुत संवाद।"[1] अर्थात युवती स्त्री का उपभोग करते हुए भी ज्ञानी सदैव संन्यासी है।

वेदांतोक्त संन्यास की पुनर्स्थापना करने के लिए जिन स्वामी शंकराचार्य जी महाराज ने बीड़ा उठाया था, वे मंडन मिश्र की पत्नी भारती को कामकला का उत्तर देने के लिए मृतक राजा अमरुक की सौ से भी अधिक सुन्दर पत्नियों से सवा महीने भोग-विलास करते रहे। जब वे उन स्त्रियों से भोग-विलास करने के लिए जाना चाहे, तब उनके शिष्यों ने मत्स्येन्द्रनाथ।[2] की कथा कहकर उन्हें रोका कि यह काम संन्यासी का नहीं है। यह बहुत बड़ा पतन है। इसके उत्तर में स्वामी शंकराचार्य से कहलाया गया है—जिस प्रकार गोपियों के संग रहने पर भी श्रीकृष्ण चन्द्र में किसी प्रकार की काम-वासना उत्पन्न नहीं हुई थी, उसी प्रकार आसक्ति-रहित मनुष्य के हृदय में काम उत्पन्न नहीं होता। हे वत्स! इस बज्रोली नामक योग से हमारे व्रत में किसी प्रकार की क्षति नहीं होगी।[3] स्वामी शंकराचार्य आगे और कहते हैं—"घड़ा आदि वस्तुें मिट्टी से बनी हुई हैं। वे मिट्टी को छोड़कर एक क्षण के लिए भी अलग नहीं रह सकतीं, उसी प्रकार परमात्मा से उत्पन्न होने वाला यह संसार परमात्मा को छोड़कर त्रिकाल में भी अपनी पृथक सत्ता नहीं धारण कर सकता।"[4] इसका सार यह हुआ कि जब सारा संसार परमात्मा ही है, तब संसार की किसी भी वस्तु में रमण करने से मानो परमात्मा में ही रमण करते हैं। यहां जड़-चेतन का विवेक नितांत खो दिया गया है।

---

1. विचारसागर।
2. शंकराचार्य आठवीं शताब्दी में हुए हैं तथा मत्स्येन्द्रनाथ जो गोरखनाथ के गुरु थे नवीं-दसवीं शताब्दी में हुए हैं, तब शंकराचार्य के शिष्य अपने गुरु के सामने मत्स्येन्द्रनाथ का उदाहरण कैसे दे सकते हैं! मत्स्येन्द्रनाथ शंकराचार्य से कम-से-कम डेढ़ सौ वर्ष के बाद हुए होंगे।
3. असङ्गिनो न प्रभवन्ति कामा हरेरिवाऽऽभीरवधूसखस्य।
   वज्रोलियोगप्रतिभूः स एष वत्सावकीर्णित्वविपर्ययो नः॥ (शंकरदिग्विजय 9/90)
   यहां इस सन्दर्भ में जितने उदाहरण दिये जा रहे हैं सब माध्वाचार्यविरचित शंकरदिग्विजय के हैं तथा उन पर काशीवासी पं. बलदेव उपाध्याय की टीका है। मैं टीका भी अपनी तरफ से न कर उन्हीं की दे रहा हूं। पं. बलदेव उपाध्याय बज्रोली पर अपनी टिप्पणी देते हुए लिखते हैं—"बज्रोली हठयोग की बड़ी उन्नत साधना है। जिसे यह सिद्ध हो जाती है उसे स्त्री-प्रसंग करने पर भी वीर्य-क्षय नहीं होता। यह कठिन साधना अन्य साधनाओं के समान गुरु-कृपा से ही संवेद्य है।" टीकाकार पं. बलेदव जी बज्रोली को बड़ी उन्नत साधना बताते हैं। यह नहीं कहते कि कामवासना की पूर्ति के लिए यह बहुत बड़ा पतन का खुला द्वार है। ऐसे लोग काम-भोग को भी नहीं छोड़ना चाहते हैं और अपने त्याग की प्रतिष्ठा भी बनाये रखना चाहते हैं।
4. कलशादि मृत्प्रभवमस्ति यथा मृदमन्तरा न जगदेवमिदम्।
   परमात्मजन्यमपि तेन विना समयत्रयेऽपि न समस्ति खलु॥ (9/94)

स्वामी शंकराचार्य आगे कहते हैं—"चाहे वह (ब्रह्मज्ञानी) सौ अश्वमेध यज्ञ करे, चाहे ब्राह्मणों की अगणित हत्या करे, परन्तु परमार्थ को जानने वाला पुरुष सुकृत या दुष्कृत में लिप्त नहीं होता, क्योंकि इन कार्यों के करने में उसका कर्तृत्वभाव नष्ट हो गया रहता है।"[1]

अश्वमेध यज्ञ वैसे ही महापाप है, क्योंकि इसमें सैकड़ों पशु काटकर होमे जाते थे। देखिए वाल्मीकि-रामायण के बालकांड का दशरथ का अश्वमेध यज्ञ, फिर ब्राह्मण आदि मनुष्यों को मारना तो पाप है ही। दुराचरण करने पर भी ज्ञानी को पाप नहीं छूता—यह मान्यता अपनी दुर्बलता छिपाने एवं पाप को अक्षुण्ण रखने का षड्यंत्र है।

उक्त ग्रंथ शंकरदिग्विजय में लिखा है कि शिष्यों के संरक्षण में अपना शरीर छोड़कर स्वामी शंकराचार्य जी ने मृतक अमरुक राजा के शरीर में प्रवेश कर स्त्रियों का सहवास किया। शंकरदिग्विजय के दसवें सर्ग में शंकराचार्य का सौ रानियों के साथ हुए शराबपान तथा काम-क्रीड़ा का जो सविस्तार वीभत्स वर्णन है वह अत्यन्त शर्मनाक है। एक संन्यासी के लिए यहां जो वर्णन है, वह काम-शास्त्र को भी फीका कर देता है।

यह तो विश्वास नहीं पड़ता कि स्वामी शंकराचार्य ने यह सब किया होगा। परकाया प्रवेश तो अपने आप कपोल-कल्पित है। परन्तु अद्वैत ब्रह्मवाद का ऐसा सैद्धान्तिक दोष है कि उसमें यह मान ही लिया गया है कि जड़-चेतन तथा भोग-योग में कोई अन्तर नहीं है। इसीलिए तो शंकराचार्य के अनुगामी-भक्त ही ने ब्रह्मज्ञान तथा संन्यास के नाम पर शंकराचार्य ही पर काम-भोग थोपकर ज्ञान और आचरण में गड्डबड्डु पैदा करने का रास्ता खोल लिया है।

सद्गुरु कबीर कितने जागरूक थे। वे कहते हैं— "होय कुलीन मिस्कीन कहावै, तू योगी संन्यासी। ज्ञानी गुणी सूर कवि दाता, ये मति किनहु न नासी।" अर्थात लोग चाहे तथाकथित कुलीन हों चाहे साधारण कुल के एवं गरीब हों, चाहे योगी, संन्यासी, ज्ञानी, गुणी, शूर, कवि, दाता हों, परन्तु उनके मन की संशय-ग्रंथि नहीं छूटती। अनेक विषयों के आचार्य, विद्वान एवं त्याग-तपोनिष्ठ संन्यासी साधुओं में से कोई ग्रन्थ के ऊपर फूल-पत्ती चढ़ाकर उसकी पूजा करता है, कोई पत्थर की पिंडी पूजता है। शकुन-अपशकुनादि नाना भ्रांतियां तो लोग पालते ही रहते हैं। तात्पर्य यह कि सारी

---

1. तदयं करोतु हयमेधशतान्यमितानि विप्रहनानन्यथवा।
परमार्थविन्न सुकृतैर्दुरितैरपि लिप्यतेऽस्तमितकर्तृतया ॥ (शंकर दिग्विजय 9/ 96)

भ्रांतियों एवं संशयों से सर्वथा मुक्त होकर वस्तुपरक एवं आत्मपरक ज्ञान तथा आचरण में ठहरना दुर्लभ है और इसी की महत्ता है। मुंडक उपनिषद् के भी ऋषि कहते हैं—"जिसके हृदय की सारी ग्रन्थियां (आसक्तियां) टूट जाती हैं, मन के सारे संशय नष्ट हो जाते हैं और कर्मों के उद्वेग समाप्त हो जाते हैं, उसकी दृष्टि पर-अवर आर-पार को देख लेती है। वह कृतकृत्य हो जाता है।"[1]

"सुमृति वेद पुराण पढ़ें सब, अनुभव भाव न दरसे। लोह हिरण्य होय धौं कैसे, जो नहिं पारस परसे।" कबीर साहेब ने काशी में पंडितों को बहुत निकट से देखा था कि वे वेदों-उपनिषदों का अध्ययन करते हैं, स्मृतियों तथा धर्मशास्त्रों का अध्ययन करते हैं, और महाकाव्यों तथा पुराणों का अध्ययन करते हैं। पंडितजन शास्त्र-अध्ययन तो खूब करते हैं, परन्तु उन बातों का वे अपने जीवन में प्रायः आचरण नहीं करते। इसलिए उनकी वाचिक तथा बौद्धिक बातें उनके जीवन में नहीं उतरतीं। जीवन में जब तक अनुभव-भाव के दर्शन नहीं होते अर्थात जो कुछ बुद्धि से जाना गया है उसका जीवन में जब तक आचरण नहीं होता, तब तक जीवन में मधुमयता एवं शांति नहीं आती। सद्गुरु कहते हैं कि पारस पत्थर का नाम लेने मात्र से लोहा सोना नहीं बन सकता। जब तक लोहा सोना को नहीं छूता तब तक वह सोने के रूप में नहीं बदल सकता। पारस तो एक काल्पनिक पत्थर है जिसका प्रयोग साहित्य-जगत में होता है। यह केवल बातों को समझाने के लिए है। लोहा और पारस के नाम लेकर यहां सद्गुरु यह समझाना चाहते हैं कि जब तक हम जानी हुई वास्तविकता का जीवन में प्रयोग नहीं करेंगे तब तक पवित्र एवं सच्चे अर्थ में सुखी नहीं हो सकते। सिद्धांततः एवं स्वरूपतः जीव कल्याणरूप हैं, परन्तु उस प्रकार जीवन में रहनी बनाये बिना कल्याण का अनुभव नहीं हो सकता। ज्ञान केवल कहने की बात नहीं है, किन्तु रहने की बात है।

मानो पंडितों ने कबीर साहेब से कहा हो कि हम उच्च वर्ण के हैं, विद्वान हैं। हम शास्त्रों का अध्ययन करते हैं। हम मरने के बाद अवश्य संसार से तर जायेंगे, मुक्त हो जायेंगे। मानो कबीर साहेब ने उत्तर में कहा हो कि "जियत न तरेउ मुये का तरिहो, जियतहि जो न तरे।" जो इस जीवन में संसार से नहीं तर सका, वह मर जाने पर क्या तरेगा? जब तक हमारे हृदय में काम, क्रोध,

---

1. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशया।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ (मुंडक उपनिषद् 2/2/8)

लोभ, मोह, राग, द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, संताप, विकलता, कलह, कल्पना, आशा, तृष्णा आदि बने हैं, तब तक तरने, मुक्त होने तथा कल्याण की छाया भी दूर है। निष्प्रपंच, निर्दोष एवं वासना-मुक्त जीवन ही मुक्त जीवन है। जब हमारे जीवन में कोई वासना नहीं रहती, कोई क्षोभ नहीं रहता, कोई पीड़ा नहीं रहती और हृदय सदैव आनन्द का सागर बना रहता है, तब यही जीवन्मुक्ति है। "अबकी पुरिया जो निरुवारे, सो जन सदा अनन्दा।"[1] अतएव जो जीवनकाल में मुक्त नहीं है मरने पर क्या मुक्त होगा! हमें आज ही संसार से तर जाना है। जो संसार से अनासक्त है वह इससे तरा हुआ है।

"गहि परतीत कीन्ह जिन जासों, सोई तहाँ अमरे।" जो मनुष्य जिसमें दृढ़ विश्वास कर लेता है, वह वहां पहुंचता है। जो वस्तु हो ही नहीं, केवल नाम हो, और उसमें कोई विश्वास कर ले तो वह उसे कहां पा सकता है? वह तो केवल भटकाव का कारण बन सकती है। बिना आधार के विश्वास मनुष्य को भटकाता है। वस्तुतथ्य हो और उसमें विश्वास हो तो वह उसे पा सकता है। शराब का प्रेमी शराब की दुकान पर जाता है, सिनेमाबाज सिनेमाहाल में, लम्पट वेश्यागृह में जाता है, परन्तु सत्संगी सत्संग में पहुंचता है। विषयों का रागी प्रपंच में भटकता है और विषयों से विरक्त व्यक्ति शांति में रमता है। यह नियम है कि जिसका जिसमें विश्वास होगा, जिसमें प्रेम होगा, जिसमें लगन होगी, वह उसके पाने में सफलता अवश्य प्राप्त करेगा देर हो या सबेर।

यदि किसी को अपने स्वरूप का ठीक बोध हो गया है और दृढ़ विश्वास के साथ स्वरूपस्थिति के अभ्यास में लगा है, तो वह स्वरूपस्थिति अवश्य प्राप्त करेगा। संसार की वस्तुें तो विश्वास और प्रयत्न के बाद भी हो सकता है कि न मिलें, और मिल भी जायें, तो उनका छूट जाना निश्चित ही है। परन्तु पूर्ण विश्वास, निष्ठा एवं प्रयत्न के साथ साधना में लग जाने पर स्वरूपस्थिति मिलना तो निश्चित है और वह मिलकर छूट नहीं सकती। जीवन में सबसे सहज, सुलभ और स्वाभाविक है स्वरूपस्थिति का पाना, क्योंकि वही मेरा अपना आपा है, अपना स्वत्व है, केवल विश्वास के साथ उसमें लगना चाहिए।

"जो कुछ कियउ ज्ञान अज्ञाना, सोई समुझ सयाना।" हे बुद्धिमान! तूने जो कुछ ज्ञान तथा अज्ञान में किया है, उन्हें समझ। 'सयाना' शब्द का प्रयोग कर सद्गुरु उनको सम्बोधित करते हैं जो अपने आप को बहुत बड़ा बुद्धिमान एवं विद्वान मानते हैं, लेकिन जो अपने कर्मों पर ध्यान नहीं देते। वे अपने

1. बीजक, साखी 322।

बौद्धिक तथा शास्त्रीयज्ञान के बल से ही संसार–सागर से पार जाना चाहते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि हे विद्या–बुद्धि में प्रवीण लोग, तुम अपने ज्ञान तथा अज्ञान में जो कुछ कर्म किये हो, उसको समझने की चेष्टा करो। कर्मों के संस्कारों से अपने आप को मुक्त करो। पूर्व के हुए ऐसे कर्म पुनः न दोहराओ जो तुम्हारे लिए बंधनों का कारण बने। ध्यान रहे, तुम्हारा बौद्धिक तथा शास्त्रीय ज्ञान तब तक कोई काम नहीं देगा, जब तक तुम अपने कर्मों को न सुधारोगे। ईश उपनिषद् के ऋषि भी हमें मरणकाल के लिए उपदेश देते हैं "क्रतो स्मर कृतं स्मर"[1] अर्थात जो आगे करना है तथा जो कर चुके हो उनका स्मरण कर।

"कहहिं कबीर तासों क्या कहिये, जो देखत दृष्टि भुलाना।" सद्गुरु कहते हैं कि उसको क्या सीख दी जाये जो आंखों से देखते हुए भी भूले मार्ग पर जा रहा है। कबीर साहेब विद्वानों की जड़ता पर दुखी होकर इस पूरे शब्द में उनकी वास्तविकता पर प्रकाश डालते हैं। वे इस शब्द में शुरू से ही कहते हैं कि लोग कुलीन, मिस्कीन, योगी, संन्यासी, ज्ञानी, गुणी, कवि, दाता आदि बनकर भी न संशय से मुक्त हैं और न ज्ञान के अनुसार आचरण करते हैं। इस अन्तिम पंक्ति में सद्गुरु कहते हैं कि इन विद्या तथा अपने बड़प्पन के अहंकारियों को समझाना बड़ा कठिन है। ये देखकर नहीं देखते, जानकर नहीं जानते। सोते हुए को जगाना सरल है, परन्तु जागते हुए जो सोने की नकल कर रहा है उसे जगाना कठिन है। यद्यपि प्रयत्न तो करना ही चाहिए।

भवसागर से अपने आप को बचाओ

शब्द 15

रामुरा चली बिनावन मा हो, घर छोड़े जात जोलाहा हो॥ 1॥
गज नौ गज दस गज उन इस की, पुरिया एक तनाई॥ 2॥
सात सूत नौ गण्ड बहत्तर, पाट लागु अधिकाई॥ 3॥
ता पट तुला तुलै नहिं गज न अमाई, पैसन सेर अढ़ाई॥ 4॥
तामें घटै बढ़े रतियो नहिं, करकच करे गहराई॥ 5॥
नित उठि बैठि खसम सो बरबस, तापर लाग तिहाई॥ 6॥
भींगी पुरिया काम न आवै, जोलहा चला रिसाई॥ 7॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, जिन यह सृष्टि बनाई॥ 8॥
छाँड़ पसार राम भजु बौरे, भवसागर कठिनाई॥ 9॥

1. ईश उपनिषद्, मंत्र 17।

शब्दार्थ—रामुरा=रमैया राम जीव। बिनावन=शरीर रूपी वस्त्र बिनाने के लिए। मा=माया, वासना। हो=हे, संबोधन। घर=शरीर। जोलाहा=नाना कर्म एवं शरीर रूपी वस्त्र बीनने वाला जीव। गज=वस्त्र नापने की एक नाप, तात्पर्य में मन। नौ गज=शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार—इन नवों का कर्मवासनामय सूक्ष्म शरीर। दस गज=दस इन्द्रियां—आंख, नाक, कान, जीभ, त्वचा, हाथ, पैर, मुख, गुदा, उपस्थ। उनइस= उपर्युक्त नौ तथा दस मिलकर उन्नीस। पुरिया=ताना, थान, शरीर। सात सूत=रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा तथा वीर्य। नौ=नौ नाड़ी—पुहूखा, गंधारी, गणेशिनी, कुहू, अलंबुषा, पयस्वनी, हस्तिनी, वारुणी तथा शंखनी। गण्ड=गांठ। बहत्तर=बहत्तर नाड़ियां—16 कंडरों (महास्नायु—मोटी नसें), 16 जाल (महीन नसें), 4 रज्जु, 7 सेवनी (सीवन जैसा शरीर के किसी अंग का योग—मस्तक में पांच, जीभ में एक, शिश्न में एक), 14 अस्थि संघात, 14 सीमंत, 1 त्वचा। अथवा बहत्तर हजार नाड़ियां। पाट=फैलावा, पनहा, वस्त्र। अधिकाई=उत्तम। गज न अमाई=मन शांत नहीं हुआ। करकच= झगड़ा। गहराई=बहुत। खसम=पति, जीव। बरबस=बलात। तिहाई= तीसरापन-बुढ़ापा। भींगी=विषय-लिप्त या जरजर। पुरिया=बाना फैलाने की नरी, ताना, तात्पर्य में स्थूल-सूक्ष्म शरीर। जोलाहा=जीव। रिसाई=क्रुद्ध, दुखी। जिन=जीव। पसार=माया का विस्तार। भवसागर=वासना, जन्म-मरण।

रूपक—एक जोलाहा तथा जोलाहिन में झगड़ा हुआ। जोलाहा घर छोड़कर चल दिया और जोलाहिन कपड़ा बिनवाने के लिए अन्यत्र चल दी। उसने नौ गज, दस गज, उन्नीस गज एवं नाना आकार में कपड़े बिनवाने के लिए पुरिया तनवायी। उसमें कहीं सात सूत का किनारा लगा, कहीं नौ का और कहीं बहत्तर सूतों की गांठ देकर चित्र-विचित्र बहुत कपड़े बनवाये। कपड़े बहुत बन गये। वह उसे बेचने बैठी तो गज से नाप कर बेचने की बात ही दूर, तराजू में तौलकर बेचने में भी संभव नहीं हुआ। कपड़ा इतना सस्ता पड़ गया कि एक पैसे का ढाई सेर बिकने लगा। यद्यपि जोलाहिन ग्राहकों से बहुत झगड़ा करती थी, परन्तु दाम बढ़ने की तो बात ही दूर, उलटे गिरता गया। वह रोज सुबह उठकर पति से भी झगड़ा करती। फिर भी कपड़े का दाम तीन हिस्सा और गिर गया। फिर जोलाहिन ने क्रोधावेश में नये सूत के गट्ठों पर पानी डाल दिया और सारी पुरियां भींग गयीं। अतएव उसका पति क्रुद्ध होकर पुनः घर से निकल गया। वह कबीर साहेब के पास गया। कबीर साहेब अपनी संतमंडली के साथ बैठे थे। उसने अपना दुख कबीर साहेब से कहा। साहेब ने कहा—'हे पगले, तू ही तो यह माया की सृष्टि बनाकर इसमें

उलझा है, इसे छोड़ और राम का भजन कर, अन्यथा संसार-सागर से तरना कठिन है।'

भावार्थ—हे रमैया राम! जब जीव रूपी जोलाहा शरीर रूपी घर छोड़कर अन्य खानियों में जाता है, तब उसके साथ आगामी शरीर रूपी वस्त्र बुनवाने के लिए कर्म-वासना रूपी माया चलती है॥ 1॥ जीव के साथ माता के गर्भ में जाकर वहां उसने जीव के लिए शरीर रूपी वस्त्र बुनने के लिए एक ताना तनवाया जिसमें मन, नौ तत्त्व का सूक्ष्म शरीर, दस इन्द्रियां, सप्त धातु, नौ नाड़ियां एवं बहत्तर कोठे, नसें या बहत्तर हजार नाड़ियां रूपी सामग्री लगी। यह मानव शरीर रूपी वस्त्र अन्य शरीरों से उत्तम बना॥ 2-3॥ इसकी तुलना मानवेतर शरीरों से नहीं की जा सकती; परन्तु खेद है कि व्यक्ति का मन स्ववश एवं शांत न होने से यह एक पैसे का ढाई सेर बिकने लगा। अर्थात मोक्ष-साधना योग्य मानव शरीर तुच्छ विषयों के लिए बिकने लगा॥ 4॥ उसमें भी मानव के जीवन के जितने दिन बीतते हैं उतना ही उसका मूल्य घटता जाता है; क्योंकि उसके मन में सांसारिक वासना, तृष्णा, कलह एवं द्वन्द्व गहरे होते जाते हैं॥ 5॥ मनुष्य की सुबह नींद खुलते ही वासना-माया रूपी पत्नी नित्य उठकर बैठ जाती है और अपने जीव रूपी पति से जबर्दस्ती तृष्णा एवं चिन्ता रूपी झगड़ा ठान देती है। इसी माया के द्वंद्व में जीव का तीसरापन बुढ़ापा बीत जाता है॥ 6॥ तृष्णाओं तथा चिन्ताओं से भींगा मन और जरजरता से ढीला तन कल्याण-साधना में काम नहीं देते। अंततः जीवन का आखिर आ जाता है और बारम्बार शरीर रूपी वस्त्र का वयन करने वाला जीव रूपी जोलाहा दुखी होकर पुनः दूसरा शरीर-वस्त्र-वयन करने चल देता है और पूर्व गर्भवास की स्थिति में पहुंच जाता है॥ 7॥ सद्गुरु कहते हैं कि हे सन्तो! सुनो, जिस आत्माराम ने अपने स्वरूप की भूल से विषयासक्त होकर यह जन्म-मरण की सृष्टि की रचना की है, हे पगले! सारे विषयप्रपंच का पसारा छोड़कर उस आत्माराम का भजन कर, अन्यथा इस विषयवासना तथा जन्म-मरण रूपी भवसागर से तरना कठिन है॥ 8-9॥

व्याख्या—सद्गुरु ने इस शब्द में जोलाहे का सुन्दर रूपक देकर जीव के जन्मान्तर का रहस्य समझाया है, साथ ही मानव वासनाओं में उलझकर किस तरह अपने शरीर का दुरुपयोग करता है इस पर प्रकाश डाला है।

इस शब्द में पहली पंक्ति में यह बात बतायी गयी है कि जीव जब शरीर छोड़कर जन्मान्तर में चलता है तब वह अकेला नहीं जाता है, प्रत्युत अपने साथ वासनाओं को लेकर जाता है। जोलाहा कपड़ा बुनता है। जोलाहिन उसके काम में सहयोग करती है। जीव-जोलाहा बारम्बार शरीर रूपी वस्त्र

बुनता है। उसमें वासना रूपी जोलाहिन सहयोग करती है। बिना वासना के शरीर धारण हो ही नहीं सकता।

दूसरी और तीसरी पंक्ति में शरीर के भीतर लगी सामग्रियों का वर्णन है। इसके साथ 'पाट लागु अधिकाई' कहकर यह बताया गया कि यह मानव शरीर श्रेष्ठ है और 'ता पट तुला तुलै नहिं' कहकर बताया गया है कि मनुष्येतर कोई शरीर मानव-शरीर की तुलना में नहीं तुल सकता। मानव शरीर में सबसे दुखद घटना है 'गज न अमाई' अर्थात मन शांत न होना। जो शांत-मन वाला नहीं होता उसका शरीर 'पैसन सेर अढ़ाई' में बिकता है। अशांत मन वाला अनेक व्यसनों एवं दुर्गुणों में फंसकर जीवन को कौड़ी के मोल में खोता है। मनुष्यों पर दृष्टि डालिए तो पता लगेगा कि ये कल्याणसाधना करने योग्य अत्यंत मूल्यवान मानव-शरीर कैसे तुच्छ बातों में खो रहे हैं। लोग ताश, जुआ, गप्पबाजी, परनिन्दा, शराब, गांजा, भांग, सिगरेट, तम्बाकू, राग-द्वेष, कलह-कल्पना आदि में अनोखा जीवन नष्ट कर रहे हैं।

"तामें घटै बढ़े रतियो नहिं, करकच करे गहराई।" सद्गुरु कहते हैं कि ऐसी स्थिति में मानव-जीवन का मूल्य निरंतर घटता ही जाता है, बढ़ने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। क्योंकि ऐसे आदमी निरंतर गहरे कलह में पड़ते जाते हैं। जीवन जीने का गलत तरीका अपनाने से आदमी के जितने दिन बीतते हैं उतना ही वह उलझता जाता है। गेंद छत से जीने पर जब गिरती है तब वह बीच में नहीं रुक सकती। वह एक से दूसरे जीने पर गिरती हुई नीचे आ जाती है। यही दशा जीवन की है। यदि आदमी राग-द्वेष, कलह-कल्पना, चिन्ता-शोक और नाना दुर्व्यसनों एवं विकारों के कारण नीचे जा रहा है और उनसे बचने का प्रयत्न नहीं कर रहा है, तो वह निरंतर नीचे ही जायेगा। मन मलिन होने से जीवन के आचरण गिरते हैं तथा आचरण गिरने से मन और अधिक मलिन होता है। उसके पश्चात वही क्रम चालू रहता है और जीवन उत्तरोत्तर गिरता जाता है। जीवन गिरने का मुख्य लक्षण है 'करकच करे गहराई' मन के द्वन्द्व अधिक बढ़ते जाना। मन में जितना अधिक कलह होगा उतना अधिक कलह जीवन के व्यवहार में बढ़ेगा।

"नित उठि बैठि खसम सो बरबस, तापर लागु तिहाई।" आदमी सुबह उठता है और उसके साथ उसके मन की वासनों तथा गलत आदतें भी उठ बैठती हैं और वे अपने पति देवता जीव से जबर्दस्ती अपनी इच्छों पूरी कराने में लग जाती हैं। कितने लोग हैं कि वे बिस्तर पर जागने के बाद ठीक से कुल्ला नहीं करेंगे, किन्तु बीड़ी-सिगरेट जलाकर मुख में खोंस लेंगे या

तम्बाकू–चूना मुंह में ठूंस लेंगे। पढ़े–लिखों में तो 'बेड–टी' का प्रचलन ही हो गया है। नींद खुलते ही बिस्तर पर चाय चाहिए। इतना ही क्या, जागते ही गाली–गुप्ता, ईर्ष्या–द्वेष, दूसरों को बेवकूफ बनाने का षड्यंत्र करना, और चिन्ता–शोक में जलना शुरू हो जाता है। जीव ने अपने स्वरूप की महत्ता न समझकर वासनाओं को ही बलवान बना लिया है। अब वे वासनों जीव को निरंतर रुलाती रहती हैं। सद्गुरु कहते हैं 'तापर लागु तिहाई' इन्हीं वासनाओं की उलझन में तीसरापन बुढ़ापा आ जाता है और इन्हीं उलझनों में वह बीत भी जाता है।

"भींगी पुरिया काम न आवै, जोलहा चला रिसाई।" सूत का बंडल यदि पानी में भींग जाये तो वह कपड़ा बुनने में काम नहीं दे सकता, इसी प्रकार अनेक वासनाओं, चिन्ताओं एवं उलझनों में डूबा मन तथा जरजरता से पीड़ित शरीर साधना के योग्य नहीं रह जाता। जिसने जीवन भर या जीवन के उत्तरार्ध में खुराफाती काम किये हैं, उनका मन अनेक मानसिक विकारों में उलझ जाता है। इसके साथ शरीर कमजोर होने से शरीर के सारे अंग–सहित बुद्धि भी कमजोर हो जाती है। फिर ऐसी जरजरता में कल्याण–साधना का काम क्या बन सकता है! भर्तृहरि जी कहते हैं "जब तक देह निरोग है, बुढ़ापा दूर है, अंग बलवान हैं, आयु शेष है, तब तक अपने कल्याण का साधन कर लो। अन्यथा घर में आग लगने पर कुआं खोदने न्याय जरजर मन और तन हो जाने पर कुछ नहीं कर सकोगे।"[1] ऐसी मन की उलझी हुई अवस्था में तो जीव दुखी होकर अंततः शरीर छोड़ देता है और पुनः नया शरीर रूपी वस्त्र बनाने चल देता है।

"कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, जिन यह सृष्टि बनाई। छाड़ पसार राम भजु बौरे, भवसागर कठिनाई।" सद्गुरु कहते हैं कि हे मानव! तूने ही तो यह माया–मोह की सृष्टि बनायी है। तू अपने ही बनाये दुखों की सृष्टि में स्वयं फंसा है। तेरे दुखों के लिए किसी दूसरे ने सृष्टि नहीं बनायी है। तुझे दुख भोगने के लिए कोई तुम्हारे लिए सृष्टि बना दे, यह संभव ही नहीं है। तूने ही

---

1. जौ लौं देह निरोग और जौ लौं न जरा तन।
अरु जौ लौं बलवान आयु अरु इन्द्रिन के गन॥
तौ लौं निज कल्याण करन को यत्न विचारत।
वह पंडित वह धीर वीर जो प्रथम सम्हारत॥
फिर होत कहा जरजर भये जप तप संयम नहिं बनत।
भव काम उठ्यो निज भवन जब तब क्यों कर कूपहिं खनत॥

अपने स्वरूप को न समझकर स्वयं माया-मोह एवं अनेक विकारों की सृष्टि बनायी है और उसी में उलझा दुख पा रहा है। हे पगले ! इस माया के पसारा को छोड़, प्रपंच से अलग हो और राम का भजन कर। तेरा चेतन स्वरूप ही राम है। तू ही तो राम है। विषयों को छोड़कर अपने चेतन स्वरूप में विश्राम कर, यही राम-भजन है। जो व्यक्ति स्वरूप राम में रमण करता है, वह विषय-वासनाओं एवं संसार के प्रंपच रूपी भवसागर से सहज ही मुक्त हो जाता है और जो राम-भजन नहीं करता उसको भवसागर तरना कठिन है। मन के विकार ही तो भवसागर है। जो आत्माराम हो जाता है, उसके मन के विकार अपने आप समाप्त हो जाते हैं। तू ही मानसिक-सृष्टि रचकर उसमें दुखी है। तेरा कर्तव्य है कि तू उससे उपरत होकर अपने आप में स्थित हो।

हठयोग की कल्पनाओं की परख

शब्द-16

रामुरा झीझी जन्तर बाजै, कर चरण बिहूना नाचै॥ 1॥
कर बिनु बाजै सुनै श्रवण बिनु, श्रवण श्रोता सोई॥ 2॥
पाटन सुबस सभा बिन अवसर, बूझो मुनि जन लोई॥ 3॥
इन्द्रि बिनु भोग स्वाद जिभ्या बिनु, अक्षय पिण्ड बिहूना॥ 4॥
जागत चोर मन्दिर तहाँ मूसै, खसम अछत घर सूना॥ 5॥
बीज बिनु अंकुर पेड़ बिनु तरिवर, बिनु फूले फल फरिया॥ 6॥
बाँझ कि कोख पुत्र अवतरिया, बिनु पग तरिवर चढ़िया॥ 7॥
मसि बिनु द्वाइत कलम बिनु कागद, बिनु अक्षर सुधि होई॥ 8॥
सुधि बिनु सहज ज्ञान बिन ज्ञाता, कहहिं कबीर जन सोई॥ 9॥

शब्दार्थ—रामुरा=जीव। झीझी=झींझीं, अनाहतनाद, ध्वनि। जन्तर= यन्त्र, शरीर, ब्रह्मांड, खोपड़ी। बिहूना=रहित। पाटन=नगर। सुबस=भलीभांति बसा हुआ। बिनु अवसर=निरन्तर, सदैव। पिण्ड=शरीर। मन्दिर=हृदय। खसम=स्वामी, जीव। अछत=रहते हुए। घर=हृदय। बाँझ=वंध्या। कोख= पेट, उदर। मसि=स्याही। द्वाइत=दवात। सुधि=याद, चेत, होशहवास। जन= मनुष्य।

भावार्थ—हे रमैया राम ! योगी लोगों को बड़ा भ्रम है। वे कहते हैं कि खोपड़ी में जो झींझीं करके आवाज होती है वह अनाहतनाद है। वही ब्रह्मध्वनि है। वहां हाथ और पैर के बिना नाच होता है॥ 1॥ वहां हाथ के बिना बाजा बजता है तथा श्रवण के बिना सुना जाता है। वहां श्रवण और श्रोता स्वयं साधक ही है॥ 2॥ वहां सुन्दर नगर बसा है और हर समय वहां

सभा लगी रहती है। हे मननशीलो ! उसे समझो॥ 3॥ वहां इन्द्रियों के बिना भोग होता है और जीभ के बिना स्वाद लिया जाता है। वहां शरीर रहित अखंड तत्त्व है॥ 4॥ सद्गुरु कहते हैं कि यह सब तो वैसे ही हुआ जैसे घर वाले के जागते-जागते घर में से चोर धन चुरा ले जाये और घर में मालिक के रहते भी घर सूना-जैसे लगे॥ 5॥ इतना ही नहीं, जैसे बीज के बिना अंकुर पैदा हो जाये, पौधे के बिना वृक्ष बन जाये, फूल के बिना फल लग जायें, वंध्या के पेट से पुत्र पैदा हो जाये और बिना पैर के ही पेड़ पर चढ़ जाये॥ 6-7॥ वस्तुतः निजस्वरूप की स्थिति तो ऐसी है कि उसमें न उक्त योगियों के द्वारा दर्शाये गये नाद, दृश्य आदि की आवश्यकता है और न बाहरी शास्त्र ज्ञान की आवश्यकता है। उसकी याद तो स्याही, दवात, कलम, कागज तथा अक्षरों के बिना ही होती है॥ 8॥ वह बाहरी याद भी नहीं है, शास्त्रज्ञान के बिना ही वह सहज ज्ञाता ज्ञान-निधान है। कबीर साहेब कहते हैं कि वही मनुष्य सच्चा ज्ञानी है जो अपने सहज ज्ञानस्वरूप में रमता है॥ 9॥

व्याख्या—सद्गुरु ने इस शब्द में हठयोगियों की मान्यताओं का दिग्दर्शन कराया है। हठयोगी लोग मानते हैं कि कान बन्द करने पर जो खोपड़ी में झींझीं आवाज सुनाई देती है वह अनाहतनाद है। वही ब्रह्मध्वनि है। उस आवाज में वे लोग घंटा, भेरी, मृदंग, शहनाई, बांसुरी आदि के अनेक स्वरों की कल्पना करते हैं। वस्तुतः कान बंदकर और चित्त एकाग्रकर जब उसे सुना जाता है तब उसमें अनेक स्वरों की कल्पना होने लगती है। ये सब नसों की झनकारें हैं। जैसे बिजली के तार के खंभों के पास खड़ा होकर सुनो तो वहां गनगनाहट की आवाज आती सुनाई देगी, वैसे कान बंद करने पर नाड़ियों की गति से उत्पन्न हुई ध्वनि खोपड़ी में सुनाई देती है। न वह ब्रह्मध्वनि है और न उसमें स्थित होने के मोक्ष-गति है। हां, साधक प्रथम अवस्था में अपने मन को रोकने के लिए अनेक साधनाओं में एक साधना यह भी कर सकता है। जब वह ध्वनि में मन लगायेगा, तब संसार-प्रपंच भूल जायेगा। परन्तु साधक को यह समझ लेना चाहिए कि वह ध्वनि उसका अपना आत्मस्वरूप एवं चेतन स्वरूप नहीं है, अपितु जड़-शब्द है। उसमें ज्यादा समय के लिए तन्मय होना एक जड़ाध्यास ग्रहण करना है। जैसे कोई गुरु के चित्र का ध्यान करता है, तो यह आरंभिक काल में केवल मन रोकने का साधन है, न कि गुरु के चित्र में मन को सदैव के लिए लगा देना चाहिए। क्योंकि गुरु का चित्र भी जड़ विजाति है। वह जीव का अपना स्वरूप नहीं बन सकता।

इस ग्रन्थ की व्याख्या में इस बात पर कई बार निवेदन किया गया है कि अनाहतनाद का अर्थ होता है बिना चोट के उत्पन्न हुई ध्वनि। परन्तु बिना दो

पदार्थों की टक्कर के ध्वनि पैदा ही नहीं हो सकती। नसों में जो रक्त का वहन होता है एवं शरीर की गतिविधि में जो नस-नाड़ियां कंपित होती हैं, उसी से ही ध्वनि पैदा होती है; अतएव जिसे हठयोगी अनाहतनाद कहते हैं वह वस्तुतः आहतनाद ही है। विवेक से देखा जाये तो अनाहतनाद है अन्तरात्मा की आवाज। हर मनुष्य की चेतना बताती है कि उसका क्या कर्तव्य है तथा क्या अकर्तव्य। मन की एकाग्रता से इसका साफ अनुभव होता है।

हठयोगी लोग तथाकथित अनाहतनाद श्रवण के अलावा त्राटक मुद्रा करके त्रिकुटी में ज्योति-दर्शन करते हैं। किसी जगह नेत्र से एकटक देखने से या आंख बन्दकर अंधकार या गरमी को देखने से अनेक रंगों की ज्योति दिखाई देती है। वह सब भी जड़ दृश्य है। हठयोगी लोग जीभ को उलटाकर तालुमूल में लगाते हैं तो ऊपर से जो पानी टपकता है, उसे पीते हुए उसका स्वाद लेते हैं। उसे वे अमृतरस-पान कहते हैं। हठयोगी लोग शरीर के भीतर सारा संसार देखने की चेष्टा करते हैं। उनकी साधना का एक अलग लोक है। वे शरीर के भीतर ही घन-गर्जन, मेह-बरसन, बिजली-चमकन आदि की कल्पना करते हैं। सद्गुरु ने इस शब्द में इन्हीं लहजों में उनकी मान्यताओं का दिग्दर्शन कराया है।

हठयोगियों की कल्पना है कि शरीर के भीतर झीं-झीं स्वर में अनाहतनाद बजता है और वहां बिना हाथ-पैर के नाच होता है। संसार में देखा जाता है कि बिना पैर चलाये तथा बिना हाथ मटकाये किसी का नाचना असंभव है। परन्तु शरीर के भीतर के नाच के लिए हाथ-पैर की आवश्यकता नहीं होती। हठयोग की साधना में तत्त्व-प्रकृतियां मानो अपने आप नाचती हैं। वहां हाथ के बिना अनाहतनाद का बाजा बजता है और उसे कान के बिना, बल्कि कान को बन्द करके ही सुना जाता है। वहां पर श्रोता ही मानो श्रवण है। अर्थात सुनने वाला ही कान बन जाता है। "पाटन सुबस सभा बिनु अवसर" हठयोग की साधना करने पर जब ज्योति-दृश्य में एकाग्रता होती है तब कभी लगता है कि मानो मैं किसी नगर में, देवमन्दिर में, प्रकाशपुंज-पथ में पहुंच गया हूं। कभी-कभी लगता है मैं एक विशाल सभा में पहुच हूं और वह सभा निरन्तर लगी रहती है। वहां इन्द्रियों के बिना भोग भोगने का भास होता है और जीभ के बिना स्वाद चखने का आभास होता है। हठयोगी भीतर एक ज्योति की कल्पना करते हैं। वे उसे ब्रह्म तथा अखण्ड स्वरूप मानते हैं। कहना न होगा कि यह सब उनके मन-इन्द्रियों के भास-अध्यास हैं।

उक्त सारे हठयौगिक प्रपंचों पर व्यंग्य करते हुए सद्गुरु अगली पंक्ति में कहते हैं—"जागत चोर मन्दिर तहँ मूसै, खसम अछत घर सूना।" मकान

मालिक जाग रहा हो और उसके घर के भीतर से उसके देखते-देखते धन की चोरी हो जाये, और घर के भीतर घर का मालिक बैठा हो, परन्तु घर सूना लगे, यही दशा हठयोगियों की है। वे स्वयं चेतन स्वरूप होकर जड़ शब्द, ज्योति, दृश्य आदि में भूले हैं। यही मानो उनके जागते हुए भी उनके हृदय-घर से उनके आत्मधन की चोरी हो रही है। जो अपने आत्माराम एवं अपने चेतन स्वरूप में न स्थित होकर मन के भास-अध्यास में रहता है, उसका ज्ञानधन मानो चुरा गया।

"जागत चोर मन्दिर तहाँ मूसै" पर एक मनोरंजक कहानी है। एक दम्पती (पति-पत्नी) घर में लेटे थे। दोनों जाग रहे थे। पीछे से ऊपर छत पर चोर चढ़ा और आंगन में उतर आया। पत्नी ने पति से कहा कि घर में चोर घुस आया है। पति ने कहा कि मैं देख रहा हूं, जान रहा हूं। चोर उस कमरे में गया जहां रुपये, कपड़े तथा जेवर की पेटियां थीं। पत्नी ने उसे पुनः सावधान किया। पति ने पुनः वही बात दोहरायी कि मैं देख तथा जान रहा हूं। जब चोर पेटी लेकर घर के पिछवाड़े के दरवाजे से निकलने लगा, तब पत्नी ने पुनः पति को बताया कि चोर पेटी लेकर जा रहा है। पति ने कहा—तू घबराती क्यों है, मैं जान रहा हूं, देख रहा हूं। जब चोर सामान लेकर चला गया तब पुरुष उठकर तथा तलवार-बन्दूक लेकर अपनी बहादुरी दिखाने लगा। वस्तुतः पुरुष डरपोक था और उसके जागते-जागते घर से धन चुरा गया। यही दशा हठयोगियों की है। वे गर्व रखते हैं कि हम ज्ञानी हैं, हमने सत्य का मोती पा लिया है, परन्तु वे भास-अध्यास में पड़कर कंकड़ बटोरते हैं। "खसम अछत घर सूना" खसम मालिक को कहते हैं। इस घर का मालिक, ज्ञान-विज्ञान का स्वामी मनुष्य की अन्तरात्मा है, चेतन जीव है, परन्तु उसका ज्ञान तथा स्थिति न कर मन-इन्द्रियों के दृश्यों में उलझना मानो मालिक के घर में रहते हुए भी घर सूना हे। हठयोगी जड़भास में फंसकर अपने आपा को भूल गये हैं। अपना आपा अपनी चेतना है और उसे भूलकर जो कुछ श्राव्य, दृश्य आदि जड़ भास है उसे ही लक्ष्य मान रहे हैं।

"बीज बिनु अंकुर पेड़ बिनु तरिवर, बिनु फूले फल फरिया। बाँझ कि कोख पुत्र अवतरिया, बिनु पग तरिवर चढ़िया।" अर्थात हठयोगियों को उनके योगाभ्यास में जो कुछ प्राप्त होता है उसका उनका परमतत्त्व एवं निजस्वरूप होना वैसे ही असंभव है जैसे बीज के बिना अंकुर होना, पौधे के बिना वृक्ष होना, फूल के बिना फल होना, बांझ को पुत्र होना तथा बिना पैर के पेड़ पर चढ़ना। ये सब जैसे असंभव हैं, वैसे शब्द, ज्योति, भास आदि का मेरा निजस्वरूप, मेरा परमनिधान एवं मेरी चिरस्थिति होना असंभव है।

"मसि बिनु द्वाइत कलम बिनु कागद, बिनु अक्षर सुधि होई। सुधि बिनु सहज ज्ञान बिनु ज्ञाता, कहहिं कबीर जन सोई।" इस दोनों पंक्तियों में सद्गुरु बताते हैं कि जो अपना प्राप्तव्य है, परमतत्त्व एवं निजस्वरूप की स्थिति है उसके लिए न हठयोग की आवश्यकता है और न शास्त्रज्ञान की आवश्यकता है। उसके लिए तो स्थितप्रज्ञ सद्गुरु की सेवा कर निज स्वरूप का भेद जानना चाहिए और उसमें स्थिति होना चाहिए। उसके लिए स्याही, दवात, कलम, कागज तथा अक्षर की आवश्यकता नहीं है। उन सबके बिना केवल गुरु उपदेश, स्वविवेक तथा स्वसमाधि से ही अपने घर की सुधि हो जाती है। सुधि कहते हैं याद को, होशहवास एवं चेत को। यह सुधि भी संसारी सुधि नहीं है। यदि आप संसारी याद, संसारी ज्ञान की बात करें, तो मैं कहूंगा कि तो फिर उस सुधि और ज्ञान के बिना ही यह सुधि एवं ज्ञान है। यह सुधि, यह ज्ञान अपने सहज चेतन स्वरूप का है। संसार को भूल जाना ही अपने आप की सुधि में आना है। "सुधि बिनु सहज ज्ञान बिनु ज्ञाता" संसारी सुधि, संसारी व्यवहार, संसारी ज्ञान से हटकर सहज स्वरूप का ज्ञान, स्वरूप की सुधि रखने वाला ही सच्चा ज्ञानी है।

पुरोहित-मीमांसा

शब्द-17

रामहि गावै औरहि समझावै, हरि जाने बिनु बिकल फिरे॥ 1॥
जेहि मुख वेद गायत्री उचरे, ताके बचन संसार तरे॥ 2॥
जाके पाँव जगत उठि लागे, सो ब्राह्मण जीव बद्ध करे॥ 3॥
आपन ऊँच नीच घर भोजन, घीन कर्म हठि वोद्र भरे॥ 4॥
ग्रहण अमावस ढुकि ढुकि माँगे, कर दीपक लिये कूप परे॥ 5॥
एकादशी व्रत नहिं जाने, भूत प्रेत हठि हृदय धरे॥ 6॥
तजि कपूर गाँठी विष बाँधे, ज्ञान गवाँये मुग्ध फिरे॥ 7॥
छीजै साहु चोर प्रतिपाले, सन्त जना की कूटि करे॥ 8॥
कहहिं कबीर जिभ्या के लम्पट, यहि विधि प्राणी नर्क परे॥ 9॥

शब्दार्थ—घीन कर्म=घृणित कर्म। ढुकि-ढुकि=घुस-घुस। मुग्ध=मूर्ख, अज्ञानी।

भावार्थ—वाचिक ज्ञानी लोग राम के गीत गाते हैं और दूसरों को समझाते हैं, परन्तु राम क्या है इस तत्त्व का उन्हें बोध न होने से अशांत होकर भटकते हैं॥ 1॥ जिसके मुख से वेदमंत्र और गायत्री मंत्र का उच्चारण होता है संसार के लोग उन्हीं के उपदेशों से मुक्ति प्राप्ति की आशा करते हैं॥ 2॥ परन्तु

जिस तथाकथित ब्राह्मण के पैरों में संसार के लोग सुबह उठकर प्रणाम करते हैं, वे देवी-देवताओं के नाम पर जीव-वध करते हैं॥ 3॥ ब्राह्मण नामधारी अपने आप को ऊंचा मानते हैं, परन्तु स्वार्थ पड़ने पर नीच काम करने वालों के यहां भोजन कर लेते हैं। हिंसा एवं वध-कर्म, प्रेत-कर्म, श्राद्ध, तेरही, सोरही, नितकुम आदि घृणित कर्म करके हठपूर्वक पेट पालते हैं॥ 4॥ सूर्य-चन्द्र-ग्रहणादि या अमावस्या के दिन घर-घर घुस-घुसकर भिक्षा मांगते हैं। शास्त्ररूपी ज्ञान-दीपक हाथों में लेकर दुष्कर्म रूपी कुं में गिरते हैं॥ 5॥ दस इन्द्रियां और ग्यारहवां मन इन एकादशों को अपने वश में करना मानो एकादशी व्रत है, परन्तु इसे तो वे जानते नहीं, केवल एकादशी तिथि के दिन उपवास रहते हैं और दुराग्रहपूर्वक भूत-प्रेत आदि अनेक भ्रांतियों की बातें अपने हृदय में धारण करते हैं॥ 6॥ स्वरूपज्ञान रूपी कपूर को त्यागकर अपने पल्ले में भ्रांति रूपी विष बांधते हैं और आत्मज्ञान को खोकर मूर्ख बने भटकते हैं॥ 7॥ साधु-सज्जनों को पीड़ा देते हैं और छली तथा धूर्तों की रक्षा करते हैं तथा विवेकवान सन्तों की मसखरी करते हैं कि ये मुड़िया लोग वेद-शास्त्र के रास्ते से दूर हैं॥ 8॥ कबीर साहेब कहते हैं कि इस प्रकार जो जीभ के लम्पट लोग हैं वे नरक में जाने के अधिकारी हैं॥ 9॥

व्याख्या—इस शब्द में उन ब्राह्मण नामधारी पुरोहितों का वर्णन है जो देवी-देवताओं के नाम पर मूक तथा निरीह प्राणियों की हत्या करते-करवाते रहते हैं। फिर भी वे राम एवं ईश्वर की व्याख्या कर जगत के उद्धार करने का ढोंग करते हैं। वे राम के नाम पर खूब कथा-कीर्तन करते हैं, परन्तु रामतत्त्व के ज्ञान से शून्य ही होते हैं। वे घट-घटवासी आत्मा को राम न समझकर उसे या तो एक व्यक्ति विशेष के रूप में मानते हैं जो कभी जन्म लेकर शरीर त्याग चुका होगा अथवा वे राम की परोक्ष में कल्पना करते हैं। निज स्वरूप चेतन एवं व्यक्ति की आत्मा ही राम[1] है, यह समझ न होने से वे सदैव अशांत बने भटकते रहते हैं। वस्तु अपने पास है, परन्तु उसे न जानकर जो उसे बाहर खोजता फिरता है, वह अशांत न होगा तो क्या होगा ! शांति तो तब मिलती है जब भटकना छूट जाता है और आत्मा-राम में विश्राम मिल जाता है।

संसार के लोगों को विश्वास है कि ब्राह्मणों के मुख से उपदेश एवं दीक्षा

---

1. श्रुति भी कहती है—
ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते॥ (कठ. उप. 2/2/3)
जो प्राण को ऊपर उठाता तथा अपान को नीचे त्यागता और शरीर के मध्य (हृदय में) स्थिर रहता है, उस भजने योग्य की देवगण (सज्जन लोग) उपासना करते हैं।

पाकर ही जीव का कल्याण है। यदि वैज्ञानिक-दृष्टि से देखा जाये तो यह सच है। ब्राह्मणत्व एक उच्चतम मानसिकता है। "जो जितेन्द्रिय हो, धर्मपरायण हो, स्वाध्यायनिरत और भीतर-बाहर पवित्र हो, तथा जिसने काम-क्रोध आदि पर पूर्ण विजय पा ली हो उसे विवेकी लोग ब्राह्मण कहते हैं।[1] शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान तथा आस्तिक भाव—ये व्यक्ति के स्वभाव से उत्पन्न हुए ब्रह्मकर्म हैं।"[2] ये हैं ब्राह्मणत्व के लक्षण और ऐसे ब्राह्मणों के मुख से उपदेश पाकर तथा उनके आदर्शों का अनुकरण कर तथा उनकी उपासना करके ही मनुष्य का कल्याण हो सकता है। ऐसे ब्राह्मणों का न कोई कुल-गोत्र होता है, न कोई वर्ण-जाति और न कोई वंश-परम्परा। ये तो स्वभाव से उत्पन्न हुए तथा त्याग-तप द्वारा अर्जित किये हुए सद्गुणों के धनी लोग हैं। ऐसे सद्गुणों से सम्पन्न लोग ब्राह्मण हैं। ऐसे ब्राह्मण थे सनत्कुमार, बुद्ध, महावीर, ईसा, कबीर, नानक, रैदास, दयानन्द, विवेकानन्द आदि। पूर्ण संत ही सच्चा ब्राह्मण होता है। इसकी वंश-परम्परा नहीं चलती। यह स्वतः निर्माण का विषय है।

परन्तु खेद है कि भारतवर्ष में ब्राह्मण नामधारियों का एक बहुत बड़ा समूह है और उसमें से लोग आचरण से चाहे जितने गिरे हों, वे भी ब्राह्मण हैं। वे भी जगत-तारक हैं। जो वेद पढ़ता हो, गायत्री जपता हो या यह भी न करता हो, केवल उसका ब्राह्मण नाम हो, फिर चाहे वह देवी-देवताओं के नाम पर जीव-वध करता-कराता हो और सभी घृणित कर्म करता हो, परन्तु वह जगत का उद्धारकर्ता है। "पूजिय विप्र शील गुण हीना" आचरण से भ्रष्ट भी ब्राह्मण नामधारी पूज्य है, भूसूर है, ऐसे महीसुर-चरण की वन्दना करनी चाहिए, इत्यादि। इस मानसिकता ने ब्राह्मणत्व को नष्ट करके रख दिया है।

सद्गुरु कबीर ने इस शब्द में ब्राह्मण कहलाने वाले पतित पुरोहितों का नक्शा खींचा है। यहां जाति के रूप में रूढ़ ब्राह्मण-समाज की निंदा नहीं है। आज-कल कुर्मी, काछी, बनिया आदि की तरह ब्राह्मण एक रूढ़ जाति है जिसके सदस्य भी अन्यों की तरह कमाते-खाते और जीते हैं। जैसे अन्य वर्गों में अच्छे-बुरे सभी प्रकार के लोग होते हैं वैसे ब्राह्मण नामधारी समूह में भी अच्छे-बुरे सभी प्रकार के लोग होते हैं। कोई तथाकथित जाति या समूह न पूरा-का-पूरा शुद्ध होता है और न पूरा-का-पूरा अशुद्ध। अच्छे-बुरे हर जगह

---

1. जितेन्द्रियः धर्मपरः स्वाध्याय निरतः शुचिः।
कामक्रोधौ वशौ यस्य तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥ (महाभारत, वनपर्व 206/34)
2. शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ (गीता 18/42)

होते हैं। अत: कमाते-खाते ब्राह्मण कहलाने वाले आम लोगों को यहां कुछ नहीं कहना है। यहां तो सद्गुरु उनको धिक्कारते हैं जो जगत-तारक पुरोहित बनते हैं और घृणित कर्म करते हैं।

ऐसे पुरोहित लोग अपने आप को तो ऊंचा मानते हैं, परन्तु उनके कर्म घिनौने हैं। वे किसी प्रकार कर्मकांड का जाल फैलाकर समाज को चूसना चाहते हैं। आम जनता अनेक आपत्ति-विपत्ति और अभावों से पीड़ित होती ही है, अत: पुरोहित लोग दुख दूर करने का झांसा देकर उन्हें अपने कर्मकांड के जाल में फंसाते हैं। इस प्रकार साधारण मनुष्यों की अज्ञानजनित कमजोरियों से पुरोहितवर्ग अपने भौतिक स्वार्थ का लाभ उठाता है। रोग काटने, धन प्राप्त कराने, मुकदमा में विजय दिलाने, भूत-प्रेत पकड़ने, पुत्र पैदा कराने, प्रशासनिक या राजनैतिक पद दिलाने या उसे सुरक्षित रखने, मृत पितरों को स्वर्ग दिलाने-जैसी अगणित बातें हैं, जो आम जनता को फंसाने के लिए प्रलोभन का एक भयंकर जाल है। कर्मकांड, पूजा और तंत्र-मंत्र के नाम पर पुरोहित लोग जनता को मूर्ख बनाते हैं। अपवादस्वरूप कुछ सरल पुरोहितों को छोड़कर शेष पुरोहित लोग यह नहीं चाहते कि जनता में ज्ञान फैले। क्योंकि उनको यह भय रहता है कि जनता जितना प्रबुद्ध होती जायेगी उतना वह कर्मकांडों के जाल तथा तंत्र-मंत्र से दूर हटती जायेगी। यह दोष केवल ब्राह्मण पुरोहितों का ही नहीं है, किन्तु प्राय: संसार के सभी समाजों के पुरोहितों का है।

जन्म, मृत्यु, विवाहादि में कुछ संस्कारगत क्रियाकलाप करना पुरोहितों का काम है। उसमें विवाह ही मुख्य है। क्योंकि जन्मा हुआ बच्चा कुछ नहीं जानता कि पुरोहित क्या संस्कार का काम कर रहा है तथा मृतक मनुष्य तो कुछ जान ही नहीं सकता। पुरोहितों को इतने संस्कार कराने मात्र से सन्तोष नहीं होता। वे पुरोहिताई को पेट का धन्धा बना लेते हैं, इसलिए अधिक धन पाने के लिए समाज को झांसा देना शुरू करते हैं। यहीं से उनमें छल, छद्म तथा नाना घृणित कर्म आते हैं।

ग्रहण आकाश के चन्द्र-सूर्य को लगता है। यह आज स्कूल का बच्चा भी जानता है कि सूर्य-चन्द्र-ग्रहण सूर्य, चन्द्र तथा पृथ्वी के एक सिधाई में आने से लगता है। यह और कुछ नहीं, किन्तु बीच में एक के आ जाने से दूसरे का अंश या सर्वांश न दिखना मात्र है। इसमें न कोई पाप है और न पुण्य। परन्तु परोहित इसके उपलक्ष्य में भी जनता से दान लेता है। वे कहते हैं कि ग्रहण लगने से सबको छूत लग गयी है, इसलिए सब स्नान-दान करके शुद्ध बनें। इस प्रकार छलपूर्वक दान लेना तो वैसे है जैसे कोई हाथ में दीपक लेकर कुें में गिरे। हाथ में दीपक होने से तो हमें आगे सब कुछ देखना

चाहिए, परन्तु हम हाथ में प्रकाश लेकर भी कुंं में गिरते हैं तो सुधार का क्या रास्ता है ! दीपक धर्मशास्त्र है। पुरोहित वर्ग हाथ में धर्मशास्त्र लेकर भी कुंं में गिरता है। वह शास्त्र का सदुपयोग न कर दुरुपयोग करता है। वह उसका भौतिक स्वार्थ में उपयोग करता है।

एकादशी या किसी तिथि को आहार न लेकर पेट को हलका बनाना तथा उस दिन अधिक स्वाध्याय एवं भजन-पूजन में मन लगाना अच्छी बात है। परन्तु एकादशी को अधिक तूल देकर यह कहना कि जो एकादशी को अन्न खाता है वह विष्ठा खाता है तथा पानी पीता है तो पेशाब पीता है, एक पागलपन है। पुरोहितों ने एकादशी का बहुत दुरुपयोग किया है। कितने लोग उस दिन तो अन्न जरूर छोड़ देते हैं, परन्तु दूध-सिंघाड़ा एवं फल-कंद आवश्यकता से अधिक खाकर पेट को खराब कर लेते हैं। एकादशी को उपवास रहने से स्वर्ग में निवास होता है इत्यादि जो पुराणों एवं धर्मशास्त्रों में लिख रखा है वह उसकी प्रशंसा कर जनता को उपवास की तरफ केवल उन्मुख करना है। परन्तु यह मिथ्या महिमा लोगों का कल्याणकर न होकर उलटे एक भ्रमोत्पादक हुई।

भारतरत्न महामहोपाध्याय पांडुरंग वामन काणे जी लिखते हैं— ''एकादशी पर किये जाने वाले उपवास की अतिशय प्रशंसा में पुराणों एवं निबंधों में विस्तार के साथ अत्युक्तियां भरी पड़ी हैं। नारद-पुराण में एकादशी-माहात्म्य पर एक लम्बी उक्ति है (हेमाद्रि, काल पृष्ठ 146; का. नि. पृष्ठ 273-274)। कुछ श्लोकों का अर्थ यों है—'एकादशीव्रत से उत्पन्न अग्नि से सहस्त्रों जीवनों में किये गये पापों का ईंधन जलकर भस्म हो जाता है। अश्वमेध एवं वाजपेय जैसे सहस्त्रों यज्ञ एकादशी पर किये गये उपवास के सोलहवें अंश तक भी नहीं पहुंच सकते। एकादशी स्वर्ग एवं मोक्ष प्रदान करती है, राज्य एवं पुत्र देती है, अच्छी पत्नी देती है और शरीर को स्वास्थ्य देती है। गंगा, गया, काशी, पुष्कर, कुरुक्षेत्र, नर्मदा, देविका, यमुना, चन्द्रभागा हरि के दिन (एकादशी) के समान नहीं हैं।' देखिये पद्मपुराण (आदि खंड 31/157, 160, 161 एवं 162)। अनुशासन (107/136, 137 एवं 139) में उपवास की अतिशयोक्ति पूर्ण प्रशंसा है। पद्मपुराण (ब्रह्मखंड 15/2-4) में आया है—'एकादशी नाम श्रवण मात्र से यमदूत शंकित हो जाते हैं। सभी व्रतों में शुभ एकादशी पर उपवास करके हरि को प्रसन्न करने के लिए रात्रि भर जागना चाहिए और विष्णु मन्दिर के मंडप को पर्याप्त रूप से सजाना चाहिए। जो व्यक्ति तुलसीदलों से हरिपूजा करता है वह एक दल (पत्ता) से ही करोड़ों यज्ञों का फल प्राप्त करता है।' वराह० (अध्याय 30) में आया है कि ब्रह्मा ने कुबेर को एकादशी दी और उसने (कुबेर ने) उसे उस व्यक्ति को दिया जो संयमित रहता है, शुद्ध रहता है, केवल वही खाता है जो पका हुआ

नहीं है; कुबेर प्रसन्न होने पर सब कुछ देता है। पद्म (ब्रह्मखंड 13/53) ने एक नारी का आख्यान लिखा है—वह अति झगड़ालू थी, अपने प्रेमी (जार) के विषय में सोचती थी और इसके कारण वह अपने पति द्वारा निंदित हुई और पीटी गयी। वह क्रोधित होकर बिना भोजन किये रात्रि में मर गयी। वह एकादशी की रात थी। वह उपवास करने के कारण (जो जानबूझकर और प्रसन्नतापूर्वक नहीं किया गया था, प्रत्युत क्रोधावेश में किया गया था) शुद्ध हो गयी। गरुड पुराण (1/127/12) में आया है कि यदि एक पलड़े पर सम्पूर्ण पृथ्वी का दान रखा जाये और दूसरे पर हरि का दिन (एकादशी) तो एकादशी महापुण्य एवं श्रेष्ठ ठहरती है। आषाढ़ शुक्ल की एकादशी को महा-एकादशी एवं शयनी कहा जाता है।[1] पुराणों एवं मध्यकाल के निबन्धों में एकादशी के विषय में एक विशाल साहित्य है। यथाशूलपाणि का एकादशी विवेक, रघुनन्दन का एकादशी तत्त्व। इसके अलावा कालविवेक, हेमाद्रि, कालनिर्णय, व्रतराज, कालतत्त्व विवेचन आदि में एकादशी पर बहुत लिखा गया है।"[2]

उक्त लम्बे उद्धरण से सहज समझा जा सकता है कि एकादशी के नाम पर पुरोहितों ने कितना बड़ा भ्रम पैदा किया है। जैसे भाट किसी भी अच्छे-बुरे व्यक्ति की प्रशंसा करता है, वैसे पुरोहित किसी भी सड़ी-गली बात की प्रशंसा का पुल बांधता है। सद्गुरु कहते हैं कि सच्ची एकादशी है आंख, नाक, कान, जीभ, चाम, हाथ, पैर, मुख, गुदा, लिंग तथा मन—इन ग्यारहों को अपने वश में रखना। एकादशी तिथि के दिन उपवास रहना जीव के सुख, शांति एवं मोक्ष में कारण नहीं बन सकता, किन्तु मन-इन्द्रियों पर विजय उसमें कारण बनती है।

भूत, प्रेतादि योनि केवल कल्पित हैं, परन्तु पुरोहित वर्ग उन्हें भी हठपूर्वक सिद्ध कर जनता की मानसिकता को दुर्बल बनाता है। पुरोहित पहले भूत-बाधा, प्रेत-बाधा तथा अन्य भी अनेक भावनात्मक भय देकर मनुष्यों के मन को कमजोर बनाता है और पीछे किसी को किसी प्रकार कष्ट होने पर उसके निवारणार्थ वह पूजा करता है और जनता से धन ऐंठता है। पुरोहितों ने सारी दैवी कल्पनों मनुष्यों के मन को दुर्बल बनाकर उनसे अपना स्वार्थ साधने के लिए की है।

"तजि कपूर गाँठी विष बाँधे, ज्ञान गवाँये मुग्ध फिरे।" पुरोहितों के उक्त सारे आचरणों को देखते हुए कहना पड़ता है कि इन्होंने ऐसा भोलापन किया है कि जैसे कोई कपूर को त्यागकर अपने पल्ले में विष बांध ले। आत्मज्ञान,

---

1. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 4, पृ. 41-42।
2. वही, पृ. 40।

सद्गुण, सदाचार, विश्व के नियम एवं नैतिकता पर न जोर देकर पुरोहित वर्ग भूलभुलैया में स्वयं भटकता रहा और समाज को भटकाता रहा। उसने दैवीकल्पना कर तत्त्वज्ञान को नष्ट कर दिया तथा कर्मकांड की मिथ्या महिमों बढ़ाकर नैतिकता को खोखली कर दिया। जब अंजान में एकादशी का व्रत तथा कोई साधारण-सा कर्मकांड सारे पापों को भस्म कर देता है तब नैतिकता से रहने की क्या आवश्यकता ! अतः तत्त्वविवेक तथा नैतिकता रूपी कपूर को छोड़कर पुरोहितों ने अंधविश्वासपूर्ण मिथ्या दैवी कल्पना, चमत्कार, कर्मकांड, मिथ्या महिमों रूपी विष को अपनी गांठ में बांध लिया और उसी को समाज में फैलाकर सबको कायर और अनैतिक बनने में सहारा दिया। यही "ज्ञान गवाँये मुग्ध फिरे" का अर्थ है। सत्यज्ञान को खोकर मूढ़ बना संसार भटक रहा है। इसमें बहुत कुछ नाना मत के पुरोहितों का योगदान हैं।

"छीजै साहु चोर प्रतिपाले" सत्यवादी एवं साधु जन का तिरस्कार तथा चोर की रक्षा यह महा अशुभ लक्षण है। जो सच्चे ज्ञान तथा सच्चे आचरण से रहता है और उन्हीं का प्रचार करता है, पुरोहित वर्ग उससे नाराज रहता है। वह उसे किसी प्रकार शिकस्त देना चाहता है। परन्तु जो मिथ्या महिमा, चमत्कार एवं कर्मकांड का झांसा देकर समाज के ज्ञानधन को चुराता है, लोगों को बेवकूफ बनाता है और उनसे धन ऐंठता है, पुरोहित उसकी प्रशंसा करता है; क्योंकि वे समान पेशेवर हैं।

"संत जना की कूटि करें" अपवादस्वरूप कुछ भले पुरोहितों को छोड़कर, शेष पुरोहित संतों का मजाक उड़ाता है। वह कहता है कि ये मुड़िया साधु वेद-शास्त्र-विरोधी हैं। पुरोहितश्रेष्ठ मंडनमिश्र पहली बार आदि शंकराचार्य को देखकर तुरन्त बोल पड़े थे—'कुतो मुंडी' यह अशुभ मुड़िया कहां से आ गया ! बहुधा पुरोहित वर्ग नहीं चाहता कि संतों का सच्चा ज्ञान जनता में फैले। उसे अपने पेशे के मिटने का भय हो जाता है। एक पुरोहित भक्त-संतों पर व्यंग्य करते हुए लिखता है—"वेद-विहीन लोग शास्त्र पढ़ते हैं, शास्त्र-विहीन लोग पुराण पढ़ते हैं, पुराण-विहीन लोग खेती करते हैं और जो सब प्रकार से भ्रष्ट (गये-बीते) हो जाते हैं वे भगवान के भक्त हो जाते हैं।"[1] पुरोहितों ने देखा कि वैष्णव सन्त कहते हैं कि कर्मकांड के पचड़े की कोई आवश्यकता नहीं, भगवान की भक्ति से सब प्रकार का कल्याण है, तब

1. वेदैर्विहीनाश्च पठन्ति शास्त्रं शास्त्रेण हीनाश्च पुराणपाठाः।
पुराणहीनाः कृषिणो भवन्ति भ्रष्टास्ततो भागवता भवन्ति॥
(अत्रि 384, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ. 153)

वे क्षुब्ध हो गये और भगवान के भक्तों को ही भ्रष्ट-बुद्धि कहने लगे। फिर खरे पारखी संतों को पुरोहित जो कुछ कह दे वह थोड़ा है।

सद्गुरु कहते हैं कि इस प्रकार जो असत बोलता है, समाज को अपनी बातों से गलत निर्देश देता है, अपने भौतिक स्वार्थ में पड़कर दूसरों को बहकाता है, वह स्वयं पतन के गर्त में जाता है तथा समाज को भी पतन के गर्त में ले जाता है।

उपर्युक्त लम्बे विवेचन का यह अर्थ नहीं है कि पुरोहित वर्ग का कोई व्यक्ति सत्य समझता ही नहीं है। पुरोहित बुद्धि वाला होता ही है। वह केवल अपनी बुद्धि का दुरुपयोग करता है। पुरोहितों में भी जिसकी बुद्धि सत्य की तरफ लौट जाती है वह सच्चा ज्ञानी हो जाता है। पुरोहितों में से अनेक सत्यान्वेषी होकर कर्मकांड के जंजाल से मुक्त हो जाते हैं और ज्ञानपथ के सच्चे राही हो जाते हैं। जिस मंडनमिश्र का उदाहरण ऊपर आया है जिन्होंने प्रथम मिलन में स्वामी शंकर का मजाक उड़ाया था, शंकर के ज्ञान से प्रभावित होकर वे उनके संन्यासी शिष्य—मुड़िया ही हो गये थे। पुरोहित वर्ग के कितने ही लोग बौद्ध, जैन, कबीरपंथ तथा अन्य अनेक संत-मत में आकर ज्ञान का कीर्तिमान स्थापित किये या करते हैं। आज इस ईसा की बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में तो पुराहितों की नयी पीढ़ी के युवक पुरोहिताई करना ही नहीं चाहते। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अंधविश्वास समाप्त हो गया है। इसको बढ़ाने वाले नाना मत के बड़े-बड़े महारथी पुरोहित लगे हैं। सत्य-पथ-पथिकों को मिथ्या दैवी कल्पनाओं, कर्मकांड की मिथ्या महिमाओं, चमत्कारों एवं अंधविश्वासों से सदैव जूझना पड़ेगा, और विश्व के शाश्वत नियमों, कारण-कार्य-व्यवस्थाओं, कर्म-फल-भोगों की सत्यताओं तथा नैतिकता एवं सदाचार का सदैव प्रचार करते रहना पड़ेगा।

अवतार-समीक्षा

शब्द-18

राम गुण न्यारो न्यारो न्यारो॥ 1॥

अबुझा लोग कहाँ लों बूझै, बूझनहार विचारो॥ 2॥
केतेहि रामचन्द्र तपसी से, जिन्ह यह जग बिटमाया॥ 3॥
केतेहि कान्ह भये मुरलीधर, तिन्ह भी अन्त न पाया॥ 4॥
मच्छ कच्छ बराह स्वरूपी, बामन नाम धराया॥ 5॥
केतेहि बौद्ध निकलंकी कहिये, तिन्ह भी अन्त न पाया॥ 6॥
केतेहि सिद्ध साधक संन्यासी, जिन्ह बनवास बसाया॥ 7॥
केतेहि मुनिजन गोरख कहिये, तिन्ह भी अन्त न पाया॥ 8॥

जाकी गति ब्रह्मै नहिं जानी, शिव सनकादिक हारे॥ 9॥
ताके गुण नर कैसेक पैहौ, कहहिं कबीर पुकारे॥10॥

शब्दार्थ—गुण=स्वभाव, धर्म, वास्तविकता। अबुझा=अविवेकी। बिटमाया=भ्रम, छल। अन्त=निश्चय, भेद। बौद्ध=बुद्ध। निकलंकी=कल्कि।

भावार्थ—राम की वास्तविकता बिलकुल अलग है॥ 1॥ अविवेकी लोग इसे कहां तक समझेंगे, विवेकवान ही इस पर विचार करते हैं॥ 2॥ अयोध्याधीश श्री रामचन्द्र-जैसे तपस्वी, जिनकी कथाओं से लोग उनकी ईश्वरता के भ्रम में छले गये हैं, इस पृथ्वी पर बहुत हो चुके हैं; परन्तु वे स्वयं ईश्वर के विषय में थाह नहीं पा सके॥ 3॥ वंशी बजाने वाले श्री कृष्ण-जैसे अनेक महापुरुष हो गये वे भी ईश्वर का भेद नहीं जान सके॥ 4॥ मत्स्य, कच्छप, वराह, वामन, बुद्ध तथा कल्कि जैसे नाम ईश्वरावतार के लिए जाते हैं, परन्तु वे स्वयं ईश्वर का भेद नहीं पा सके॥ 5-6॥ कितने साधक, सिद्ध तथा संन्यासी हुए जिन्होंने वन में जाकर कुटिया रमायी और ईश्वर को खूब खोजा परन्तु रह गये कोरे-के-कोरे॥ 7॥ कितने ही मननशील मुनि हुए तथा कितने गोरख-जैसे योगी हुए, परन्तु ये सब भी ईश्वर का भेद नहीं जान सके॥ 8॥ कबीरदेव कहते हैं कि जिस ईश्वर की दशा ब्रह्मा नहीं जान सके तथा शिव, सनकादि जिसे खोजते-खोजते हार गये, हे मनुष्य ! तुम उस ईश्वर का भेद कैसे पाओगे !॥ 9-10॥

व्याख्या—"राम गुण न्यारो न्यारो न्यारो" इस पंक्ति में आये हुए राम शब्द के अर्थ में श्लेष प्रतीत होता है। श्लेष कहते हैं चिपकने को। इसका रूढ़ अर्थ है किसी शब्द में एक से अधिक अर्थ होने की संभावना। कबीर का राम बहुत साफ है। वे कहते हैं— "हृदया बसे तेहि राम न जाना।[1] दिल में खोजि दिलहि माँ खोजो इहै करीमा रामा।[2] सोई नूर दिल पाक है, सोई नूर पहिचान।[3] जेहि खोजत कल्पौ गया, घटहि माहि सो मूर।"[4] अतएव यह राम न अज्ञेय है न दुर्विज्ञेय, जिसका भेद ही न मिले। वस्तुतः यहां उस राम का वर्णन है जिसे रूढ़ अर्थ में ईश्वर या ब्रह्म कहा जाता है, और जिसके विषय में यह धारणा है कि वह सर्वत्र व्याप्त, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान सत्ता है। यह केवल धारणा ही है। इसका कोई साक्षात्कार नहीं कर सकता। परन्तु व्यक्ति की अपनी चेतना रूपी राम स्वयं स्वरूप ही है। वह मैं के रूप में विद्यमान

1. रमैनी 41।
2. शब्द 97।
3. साखी 345।
4. साखी 282।

सबका द्रष्टा है। इस शब्द में बताया गया है कि जितने माने गये अवतार हैं वे न नित्य उपासनीय आत्माराम बन सकते हैं और न वे वह कल्पित सत्ता ही हो सकते हैं जिसे सर्वव्यापी ब्रह्म कहा जाता है।

इस शब्द का मुख्य विषय है अवतारवाद का खण्डन। पुराणकारों ने मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि ये दस तथा व्यास, दत्तात्रेयादि चौदह गौण अवतारों की कल्पना की है, जो एक भ्रांति है। उक्त अवतारों में मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह आदि तो निरे काल्पनिक ही हैं, परन्तु जो राम, कृष्णादि मनुष्य रूप में हैं वे स्वयं अपने जीवनकाल में ईश्वर के विषय में कल्पनों करते रहे, परंतु उसके विषय में कुछ जान नहीं सके।

देश अनन्त है तथा काल अनन्त है और अवधारणा यह है कि अनन्त देश-कालव्यापी संसार उस ब्रह्म की सत्ता से चलता है। ब्रह्म देश-काल से भी अतीत तथा परे है। अब ऐसे ब्रह्म से तथा अवतार माने गये जीवों से तुलना की जाये तो कोई अर्थ ही नहीं निकलता। जितने अवतार माने गये हैं सब संसारी जीव हैं। वे सब थोड़े दिनों की जिंदगी पाकर अच्छे-बुरे कर्म कर तथा सुख-दुख भोगकर मर गये। उनमें केवल एक बुद्ध हैं जो राग-द्वेष रहित संत के रूप में हैं, शेष तो राग-द्वेष से भी मुक्त नहीं थे।

सद्गुरु कहते हैं कि जिनमें विवेक नहीं है वे अवतार माने गये जीवों को ही जगतनियंता, जगत-उत्पादक और अपना परम आश्रय मान लेते हैं। व्यक्ति की आत्मा से भिन्न जिस ईश्वर की अवधारणा मनुष्यों ने की है उसका रहस्य कोई नहीं जान सका है। राम, कृष्ण, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सनकादि, गोरख, सिद्ध, साधक, संन्यासी कोई उस ईश्वर का भेद नहीं पाया है। फिर हे मनुष्य! तुम उसका भेद क्या पाओगे? केन उपनिषद् के ऋषि कहते हैं— "वहां न आंखें पहुंचती हैं, न वाणी, न मन पहुंचता है और न हम उसे जानते हैं। हम नहीं समझ पाते कि शिष्यों को उसका उपदेश कैसे करें। वह ज्ञात तथा अज्ञात वस्तु से परे है। (बस यही कह सकते हैं कि) हम उसे अपने पूर्वजों से ऐसा ही सुनते आये हैं।"[1]

कबीर साहेब के विवेचन के अनुसार जगतकर्ता के रूप में राम को खोजना एक मिथ्या भ्रम है। अवतार कहे जाने वाले तो जगतकर्ता हैं ही नहीं,

---

1. न तत्र चक्षुः गच्छति, न वाग् गच्छति, नो मनो, न विद्मो, न विजानीमो यथा एतद् अनुशिष्यात् अन्यद् एव तद् विदितात् अथ उ अविदितात् अधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नः तद् व्याचचक्षिरे। (केन उपनिषद् 1/3)

किन्तु जगत के स्वाभाविक नियमों, विश्व के शाश्वत गुण–धर्मों एवं कारण–कार्य–व्यवस्था जिसे ऋग्वेद में ऋत भी कहा गया है, उससे अलग नियामक की तलाश करना आकाश नापना है। जगत को समझने के लिए जड़–चेतन के गुण–धर्मों को समझना चाहिए। यदि हम जगत के नियमों को समझ जायें तो उसके नियामक की कल्पना करने की आवश्यकता ही नहीं है। ऐसा राम जिसका कोई पता ही न पाया हो, किस काम का? इसलिए इस बीजक में सद्गुरु ने पदे–पदे 'निज तत्त्व'[1] पर प्रकाश डाला है। उन्होंने यहां तक कहा "राम नाम निजु जानि के, छाड़ि देहु बस्तु खोटि।"[2] राम ऐसा नाम तुम्हारी अपनी आत्मा का ही है ऐसा जानकर खोटी वस्तु (कल्पनाओं) को छोड़ दो।

कबीर साहेब जिस राम की उपासना करने की बात करते हैं, वे जिस राम में रमने तथा स्थित होने की बात कहते हैं वह मेरा अपना 'स्व' है, 'आपा' है, 'चेतना' है। वह कल्पना का विषय एवं अज्ञेय नहीं है, किन्तु वही सबका कल्पक, सबका ज्ञाता एवं स्वयं प्रत्यक्ष, अपरोक्ष स्वस्वरूप है।

राम–भजन

शब्द–19

ये तत्तु राम जपो हो प्रानी, तुम बूझहु अकथ कहानी॥ 1॥
जाके भाव होत हरि ऊपर, जागत रैनि बिहानी॥ 2॥
डाइनि डारे स्वनहा डोरे, सिंह रहै बन घेरे॥ 3॥
पाँच कुटुम मिलि जूझन लागे, बाजन बाजु घनेरे॥ 4॥
रेहु मृगा संशय बन हाँके, पारथ बाणा मेलै॥ 5॥
सायर जरे सकल बन डाहे, मच्छ अहेरा खेलै॥ 6॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, जो यह पद अर्थावै॥ 7॥
जो यह पद को गाय बिचारे, आप तरे औ तारै॥ 8॥

शब्दार्थ—तत्तु राम=राम तत्त्व, राम स्वरूप। हरि=राम, आत्मस्वरूप। बिहानी=बिहान, सबेरा, दिन, अंत। डाइनि=माया। डारे=त्यागना। स्वनहा=कामादि कुत्ते। डोरे=संयम की रस्सी में बांध लेना। सिंह=मन। पाँच कुटुम=पांच ज्ञानेन्द्रियां। रेहु=रोह, नीलगाय, मानसिक विकार। पारथ=पारधी, शिकारी, साधक। सायर=समुद्र, संसार। बन=संसार। मच्छ=मछली, मन, शुद्ध मन।

---

1. साखी 2।
2. रमैनी–साखी 36।

भावार्थ—हे मनुष्यो ! तुम निजस्वरूप राम तत्त्व का निरन्तर स्मरण करो, और मन की अकथनीय कहानी को बूझो, अर्थात मन को अपने वश में करो॥ 1॥ जिसका प्रेम निजरूप राम में होता है वह मन-माया से रात-दिन सावधान रहता है, अथवा सावधान होकर माया रूपी रात का अंत कर देता है॥ 2॥ वह माया का त्याग कर देता है, कामादि कुत्तों को संयम की डोरी में बांध लेता है और अपने हृदय-वन में मन-सिंह को घेरकर स्ववश कर लेता है॥ 3॥ जब साधक पांचों ज्ञानेन्द्रियों के पतनकारी विषयों का त्याग करता है तो ये इन्द्रिय रूपी कुटुम्बी आपस में लड़ने लगते हैं। अर्थात एक इन्द्रिय का दमन दूसरी इंद्रिय के दमन में सहयोग करता है। जैसे शिकारी वन में बाजा बजाते हुए बनैले पशुओं को एक तरफ हांकते हैं और फिर उनका शिकार करते हैं; वैसे साधक रूपी शिकारी अपनी रुचि और समझ के अनुसार अनेक प्रकार के साधन-भजन रूपी बाजे बजाकर अज्ञान, विषयासक्ति तथा संशय रूपी नीलगायों एवं पशुओं को हृदय-वन से हांककर और उन पर ज्ञान एवं साधना के बाण चलाकर उनका शिकार करता है॥ 4-5॥ ऐसे साधक के लिए मानो भवसागर तथा संशय-वन जल जाते हैं और शुद्ध मन रूपी मछली रहे-सहे वासना-पशुओं का शिकार करती है॥ 6॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो, जो इस पद का अर्थ करेगा और इस पद को गाकर इसका विचार करेगा, वह स्वयं संसार-सागर से तर जायेगा और दूसरों के तारने में कारण बनेगा॥ 7-8॥

व्याख्या—सद्‌गुरु कबीर की उक्ति बीच-बीच में बड़ी अद्‌भुत-अद्‌भुत आती है। उनके कहने की शैली अपनी निराली है। उनका मस्तिष्क ऐसा था कि उन्हें गजब-गजब की उक्ति सूझ आती थी। इस शब्द में राम-भजन और मन-इन्द्रियों पर स्ववशता प्राप्त करने की चर्चा है। पूरे शब्द में इसी का प्रवाह है। वे कहते हैं कि हे प्राणी, तू माया में क्यों भूल रहा है ! सारी माया छूट जायेगी, परन्तु राम तेरे से कभी न छूटेगा; क्योंकि राम तो तेरी आत्मा ही है, तेरा चेतन स्वरूप ही है। इसलिए तू निरन्तर राम का भजन कर, राम का जप कर। राम का जप करना क्या है? विषयों से लौटकर अपनी आत्मा में डूबना ही राम-भजन है। निज स्वरूप की स्थिति ही राम-भजन है। अतः सद्‌गुरु कबीर कहते हैं कि हे प्राणी, इस राम तत्त्व का भजन करो। राम तत्त्व ही तुम्हारा चेतन स्वरूप है अथवा तुम्हारा चेतन स्वरूप ही राम तत्त्व है। काम से हटो, राम में रमो।

"जाके भाव होत हरि ऊपर, जागत रैनि बिहानी।" जिसका प्रगाढ़ प्रेम निज ज्ञानतत्त्व रूपी हरि में है, वह रात-दिन जागता रहता है। "रैनि रात है

और बिहानी दिन है।" रात-दिन जागने का मतलब है सदैव मन-माया से सावधान होना। सावधानी ही साधना है। शिथिल साधक विषयों का चिंतन करता है, परन्तु जिसका हृदय वैराग्य से कसा है उसके मन में विषय-चिंतन आ ही नहीं सकता। उसके मन में तो सदैव निज स्वरूप का चिंतन होता है। वह सदैव आत्मा राम में रमता है। "जागत रैनि बिहानी" का अर्थ इस ढंग से भी किया जा सकता है कि वह सावधान साधक जागते ही रात का अंत करता है, अर्थात निरन्तर सावधानी ही में रहकर माया-मोह का अन्त करता है। जब साधक का मन विषयों से सर्वथा मुक्त हो जाता है तभी वह आत्माराम में रमता है। विषयों से सर्वथा मुक्त हुए बिना मन स्वरूपस्थिति में नहीं लीन हो सकता। इसीलिए सद्गुरु कबीर की भाषा में विषय-त्याग ही सच्चा राम-भजन है। इसे आगे चालीसवें शब्द में विस्तार से देखेंगे।

"डाइन डारे स्वनहा डोरे" वही मानो राम-भजन करता है जो डाइन को डाल देता है और कुत्ते को डोरिया लेता है। डाइन है माया। माया है विषयों का एवं संसार का प्रलोभन। जो संसार के आकर्षण का त्याग कर देता है वही मायातीत है। जब हृदय में पूर्ण विवेक उदित होता है, तब संसार में कहीं आकर्षण रह ही नहीं जाता। सारे शरीर हाड़-मांस हैं, सारा धन मिट्टी है और सारा संसार हल्ला-गुल्ला तथा कीचड़-पानी है। विवेकवान की दृष्टि में संसार में कुछ रह ही नहीं जाता है जिसके लिए वह आकर्षित हो। विषयों के प्रति आकर्षण तो मन की एक मूर्खता है। हम चाहे किसी व्यक्ति में ममता-मोह करते हों या पदार्थों, पदों एवं सम्मान के प्रति, सब हमारे मन की मूर्खता है। जिस दिन हमारे मन की मूर्खता समाप्त हो जायेगी उस दिन मानो हमने माया-डाइन का त्याग कर दिया।

स्वनहा कुत्ते को कहते हैं। स्वनहा का शुद्ध शब्द श्वान है। काम, क्रोध, लोभ, मोहादि कुत्ते हैं जिन्हें कितने ही भोग दो, तो भी वे घर-घर चाटने चले जायेंगे। संत पल्टू साहेब कहते हैं "लाख खाय जो श्वान चाटने जायेगा। तजि के काग कपूर विष्ठा को खायेगा।" विवेकवान इन कामादि कुत्तों को संयम की डोरी में बांध लेते हैं। साधक काम संयमित होने पर विकारी वृत्ति त्यागकर केवल शरीर के व्यवहार का सम्पादन करता है, क्रोध संयमित होने पर किसी जीव को कष्ट न देकर अपनी बुराइयों का हनन करता है, लोभ संयमित होने पर भौतिक वस्तुओं का लालच न कर ज्ञानार्जन में लग जाता है, मोह संयमित होने पर प्राणियों के प्रति राग न कर गुरु-सन्तों के प्रति श्रद्धालु तथा प्राणिमात्र के प्रति प्रेमी बन जाता है। इस प्रकार साधक कामादि कुत्तों को संयम की डोरी में बांधकर रचनात्मक दिशा में लग जाता है।

"सिंह रहै बन घेरे" बीजक में सिंह का बहुतायत अर्थ जीव है, परन्तु कहीं-कहीं मन भी है। यहां सिंह मन को समझना चाहिए। जैसे शिकारी वन में सिंह को घेरकर मार देता है। वैसे साधक मन को अपने हृदय में घेरकर उसे मार देता है। इसका अर्थ यह है कि साधक अपने मन को बाहर नहीं भटकने देता। वह उसे साधना एवं विचारों के द्वारा घेर-घेरकर हृदय में रखता है और उसके रागात्मक हिंसक स्वभाव को मार देता है। फिर तो मन शुद्ध सात्त्विक बन जाता है।

"पाँच कुटुम मिलि जूझन लागे, बाजन बाजु घनेरे।" पांच कुटुम्बी हैं आंख, नाक, कान, जीभ तथा चमड़ी—पांच ज्ञानेन्द्रियां। साधना काल में यह आपस में जूझने एवं लड़ने लगते हैं। एक इन्द्रिय का दमन दूसरी इन्द्रिय के दमन में सहयोग करता है। जैसे जीभ की रसासक्ति का त्याग होने से स्पर्शासक्ति का त्याग होना। इस प्रकार पांचों आपस में मानो लड़कर मर जाती हैं। अर्थात पांचों इन्द्रियां विषय-वासनाओं का त्यागकर सत्यपथ-गामिनी बन जाती हैं। पहले जब राजे-महाराजे वन में शिकार करने जाते थे तब अपने सिपाहियों द्वारा बाजा बजवाकर वन में हांका कराते थे। इससे बनैले पशु वन के झुरमुटों से निकलकर एक तरफ भागते थे और अंततः सिपाहियों से घिर जाते थे और इतने में रजवाड़े उनका शिकार कर लेते थे। यहां साधक शिकारी है। वह मानो अनेक प्रकार के साधन-भजन के बाजे बजवाता है। जिस साधक को जैसा विश्वास होता है, जैसी समझ होती है, वैसा वह साधना एवं भजन करता है। इस प्रकार नाना प्रकार के साधन-भजन, मानो हृदय-वन में बहुत-से बाजे बजाकर हांका डलवाना है।

"रेहु मृगा संशय बन हाँकै" रेहु का शुद्ध रूप है 'रोह'। रोह कहते हैं नीलगाय को। मृग पशु मात्र का नाम है; किन्तु जंगली जानवर के लिए मृग नाम ज्यादा रूढ़ है। वैसे मृग का अर्थ हिरन भी होता है। मनुष्य के हृदय-वन के नीलगाय एवं बनैले पशु हैं अज्ञान, संशय, विषयासक्ति एवं नाना मनोविकार। साधक अनेक साधना-भजन के हांका देकर इन्हें घेरकर इनका शिकार कर लेता है। "पारथ बाणा मेलै" पारधी बाण चलाता है। साधक मनोविकारों को घेर-घेरकर नष्ट करता है। यही तो राम-भजन है। मन के विकारों को त्यागना ही राम-भजन है।

"सायर जरे सकल बन डाहे, मच्छ अहेरा खेलै।" समुद्र जलता है और वन भी जलता है और मछली उनमें शिकार खेलती है। कबीर साहेब की यह अद्भुत उक्ति है। भव का सागर है और संशय का वन है। परिपक्व साधक के ये दोनों जल जाते हैं। साधक का शुद्ध मन उसमें शिकार खेलता है। हृदय

के विकार जल जाने पर भी जब तक देह है तब तक पूर्व संस्कार तथा वर्तमान के प्राणी-पदार्थों के संयोग से समय पर विकार आने की सम्भावना रहती है। साधक का शुद्ध मन उन आये हुए विकारों का शिकार करता रहता है। सावधान साधक वही है जो सदैव अपने हृदय को देखता है कि उसमें कुछ अन्यथा विचार तो नहीं उठ रहे हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि जो साधक इस पद का गायन-मनन एवं अर्थ विचार करता है वह स्वयं भी माया से तरता है और दूसरों को तरने में सहयोग करता है। माया-मोह एवं मनोविकार से मुक्त होने पर ही शुद्ध मन स्वरूपराम में विश्राम पाता है। सद्गुरु कहते हैं—हे प्राणी ! काम तजो, राम भजो।

रामरस-पान

शब्द-20

कोई राम रसिक रस पीयहुगे, पीयहुगे युग जीयहुगे॥ 1॥
फल लंकृत बीज नहिं बकला, शुक पन्छी तहाँ रस खाई॥ 2॥
चुवै न बुन्द अंग नहिं भीजै, दास भँवर सब सँग लाई॥ 3॥
निगम रसाल चारि फल लागे, तामें तीनि समाई॥ 4॥
एक दूरि चाहें सब कोई, जतन जतन काहु बिरले पाई॥ 5॥
गये बसन्त ग्रीषम ऋतु आई, बहुरि न तरिवर तर आवै॥ 6॥
कहैं कबीर स्वामी सुखसागर, राम मगन होय सो पावै॥ 7॥

शब्दार्थ—लंकृत=अलंकृत, शोभायमान, सुन्दर। बकला=छिलका। अंग नहिं भीजै=मन शीतल नहीं होता। दास भँवर=भक्त भंवरे। निगम=वेद। रसाल=आम का पेड़। चारि फल=अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष। समाई= सामान्य, नाशवान। एक=मोक्ष। जतन-जतन=साधना करते-करते। बसन्त= वसन्त ऋतु, जवानी, वासना। ग्रीषम ऋतु=गरमी ऋतु, बुढ़ापा, ज्ञानाग्नि की प्रचंडता। तरिवर=वृक्ष, शरीर। मगन=मग्न, डूबा हुआ, तन्मय।

भावार्थ—है कोई राम का रसिक ! यदि है, तो क्या वह रामरस पीयेगा ! यदि पीयेगा तो निश्चित ही अमरत्व प्राप्त करेगा॥ 1॥ जिसमें रामरस भरा है वह स्वरूपस्थिति रूपी फल बड़ा सुन्दर है। उसमें न बीज है न छिलका है। साधक रूपी शुक पक्षी उसके अमृत का रसास्वादन करते हैं॥ 2॥ यद्यपि भक्त-भंवरे भी उसके इर्द-गिर्द मंडराते हैं, परंतु उनके ऊपर राम-रस की बूंद भी नहीं चूती और न उनका मन संतुष्ट होता है॥ 3॥ वेद रूपी आम के पेड़ में अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष—चार फल लगे हुए हैं। इनमें पहले वाले तीन तो सामान्य एवं क्षणभंगुर हैं, परंतु अन्त का एक चौथा मोक्ष फल अमर और

आत्यंतिक सुखद है, पर वह बहुत दूर लगा है। उसे चाहते तो सब हैं, परंतु निरन्तर साधना करते-करते कोई बिरला पाता है॥ 4-5॥ हे मानव ! इस फल के लिए शीघ्र प्रयत्न कर ! देख, जवानी चली जा रही है। चार दिनों में बुढ़ापा आ जायेगा और मृत्यु हो जायेगी। फिर तो मोक्ष फल फलने वाले मानव शरीर रूपी इस वृक्ष के नीचे आने का अवसर पता नहीं कब मिले, अथवा जिसका विवेक द्वारा वासना की वसन्त ऋतु बीत गयी और ज्ञान की प्रचंड गरमी तप रही है, वह पुनः संसार वृक्ष के नीचे नहीं आता॥ 6॥ सद्गुरु कहते हैं कि निजात्माराम अनन्त अमृत-रस का स्वामी तथा सुख का सागर है, जो उसमें डूबता है वही उसका अनुभव करता है॥ 7॥

व्याख्या—कबीर साहेब मानो एक भीड़ में चले गये हों और अचानक उससे पूछ बैठे हों—'है इसमें कोई राम-रसिक !' राम-रसिक मिलना दुर्लभ है। संसार में अधिकतम लोग विषय-रसिक हैं। साधनाक्षेत्र में आने वाले लोगों में भी बहुत थोड़े लोग होते हैं, जिनके मन में राम-रस की चाह ज्यादा होती है। जो रात-दिन राम-रस में ही डूबे रहते हैं ऐसे सन्त पुरुष दुर्लभ हैं। राम व्यक्ति का अपना चेतन स्वरूप है। "मैं" के रूप में विद्यमान आत्मसत्ता ही रामतत्त्व है। स्वरूपचिंतन एवं आत्मचिंतन ही राम-रस है। जो साधक आत्मचिंतन रूपी राम-रस निरन्तर पीता है, उसी के लिए 'युग जीयहुगे' वाक्यांश का प्रयोग यहां किया गया है। 'युग जीयहुगे' का अर्थ शाब्दिक नहीं, किन्तु लाक्षणिक है। यहां का अर्थ है कि राम-रस का रसास्वादन करने वाला अमरत्व को प्राप्त करेगा।

स्वरूपस्थिति ही वह फल है जिसमें राम-रस भरा हुआ है। स्वरूपस्थ व्यक्ति ही तो आत्मचिंतन करता है। उसे आत्मचिंतन करना नहीं पड़ता, किन्तु उसका तो वह स्वभाव बन जाता है। यह स्वरूपस्थिति रूपी फल बड़ा सुन्दर है। अन्य फलों में प्रायः बीज और छिलके होते हैं, परंतु इस फल में ये दोनों नहीं हैं। इस फल में संसार में पुनः जन्म लेने के बीज नहीं होते और न मोह-माया का आवरण रूपी छिलका ही होता है। संसार के सुख दुखमिश्रित हैं, परंतु रामरस का सुख केवल सुख है। इसमें दुख रूपी बीज-छिलके नहीं हैं। यह खालिस सुख है। जैसे पेड़ के फलों को सुग्गे तथा अन्य पक्षी खाते हैं वैसे स्वरूपस्थिति रूपी अमृत का आस्वादन साधक एवं सन्त जन करते हैं।

"चुवै न बुन्द अंग नहिं भीजै, दास भँवर सब सँग लाई।" यह पंक्ति सगुण उपासकों पर व्यंग्य है। सगुण उपासक राम को निज स्वरूप न समझकर उसे कहीं बाहर खोजते हैं। वे मन से उसके नक्शे बनाते हैं धनुर्धारी रूप में, चतुर्भुज रूप में, वंशीधारी रूप में; शून्य, ज्योति, सर्वव्यापक, लोक

विशेष, एकदेशी आदि रूपों में, परन्तु यह सब मन के कल्पित नक्शे हैं। जहां तक मन का सृजा राम है, काल्पनिक है। जब मन मौन हो जाता है, मन के शांत होने पर निजस्वरूप की अनुभूति होती है। मनोवृत्ति स्वरूपज्ञान को ढाकती है। मनोवृत्ति के समाप्त हो जाने पर व्यक्ति को अपनी आत्मा का बोध होता है। यह निज चेतन स्वरूप ही राम है। सगुण-उपासकों को ऐसा ज्ञान न होने से वे मन से कल्पित राम की भावना में भटकते हैं। इसलिए उनको सच्चा राम-रस नहीं मिलता। उनका मन सन्तुष्ट नहीं होता। वे तो समझते हैं कि हमें एक दिन राम आकर मिलेगा। निश्चित समझ लो कि ऐसा कोई राम मिलने वाला नहीं है। यदि किसी भक्त को राम-दर्शन होते हुए प्रतीत होता है तो वह उसके मन का भास-अध्यास है। अतएव अच्छे-अच्छे रामभक्त भी माने हुए राम के दर्शन न पाकर जीवन से निराश हो जाते हैं। "चुवै न बुन्द अंग नहीं भीजै" यह उनके लिए मार्मिक वचन है। फल के रस का आस्वादन पक्षी ही करते हैं, भंवरे नहीं। इसी प्रकार राम का अनुभव विवेकवान साधक करते हैं, भावुक भक्त नहीं।

"निगम रसाल चारि फल लागे" इस वाक्यांश में सद्‌गुरु के मन में वेदों के लिए कितना आदर झलकता है! वे कहते हैं कि वेद रूपी आम्रवृक्ष में अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—ये चार फल लगे हैं। फल तो दो हैं काम और मोक्ष, अर्थ और धर्म उनके साधन हैं। परंतु चारों को ही फल या पुरुषार्थ कहा जाता है। अर्थ, धर्म और काम तो साधारण कोटि के फल हैं, चौथा मोक्ष ही सर्वोच्च फल है। इसे सभी विवेकियों ने दुर्लभ कहा है। वस्तुतः मनुष्य का मन विषयों का अध्यासी है। विषय-वासनाओं का त्याग हुए बिना किसी को मोक्ष नहीं मिलता। वासना-त्याग ही तो मोक्ष है। मन की सारी वासनों, सारी इच्छों शांत हो जायें, यही मोक्ष है। मनुष्य वासनाओं को शीघ्र नहीं छोड़ता, इसीलिए मोक्ष को दुर्लभ कहा जाता है।

मोक्ष के विषय में सद्‌गुरु कहते हैं "चाहें सब कोई" जान तथा अंजान में सब मोक्ष चाहते हैं। हर आदमी जो अप्रिय से छुटकारा चाहता है यही तो मोक्ष की इच्छा है। और सारी वासनाओं का त्याग किये बिना कोई सारे अप्रिय से नहीं छूट सकता। वासनाओं के छूट जाने पर जीव असंगता का अनुभव करता है। मन से असंग हो जाना मोक्ष है। मनुष्य को सदैव प्रिय के छूटने का भय रहता है, परन्तु विजाति जो कुछ है चाहे वह कितना ही प्रिय हो, अन्ततः छूटकर रहेगा। विवेकवान पहले ही प्रिय-अप्रिय सबकी वासना छोड़ देते हैं, इसलिए शरीर रहते-रहते मुक्त हो जाते हैं। मिलने-छुटने की लालसा और भय से सर्वथा छूटा हुआ व्यक्ति मुक्त है।

कहा जा सकता है कि ऐसा होना बड़ा कठिन है। परन्तु कठिन काम भी धीरे-धीरे सरल हो जाता है। इसीलिए सद्गुरु कहते हैं "जतन जतन काहु बिरले पाई।" उद्योग करते-करते, निरन्तर साधना में लगे-लगे कोई बिरला ही इस उच्चतम दशा को पहुंचता है। साधक को निश्चय करना चाहिए कि हम इस दशा को प्राप्त कर सकते हैं। जो काम दूसरे मनुष्य कर सकते हैं, हम क्यों नहीं कर सकते !

"गये बसन्त ग्रीषम ऋतु आई, बहुरि न तरिवर तर आवै।" साहेब चेतावनी देते हैं कि हे मानव ! जवानी ही साधना करने का समय है। तू इसमें ही अपने आप को साधना में लगा। यह थोड़े दिनों में बीत जायेगी, फिर बुढ़ापा आ जायेगा। मृत्यु तो किसी भी समय सम्भव है। जो सुनहला समय आज मिला है, आगे पता नहीं मिले या न मिले। तुम किसलिए अपने कल्याण का काम रोक रहे हो। सब कुछ छूटने वाला है। किसी के राग-द्वेष में फंसकर अपने कल्याण का काम न रोको।

"गये बसन्त ग्रीषम ऋतु आई, बहुरि न तरिवर तर आवै।" इसको इस तरह भी समझा जा सकता है कि विवेकज्ञान द्वारा जिसकी वासना रूपी वसंत ऋतु बीत गयी है और स्वरूपज्ञान रूपी गरमी प्रचंड है वह पुनः शरीर रूपी वृक्ष के नीचे नहीं आता। इस अर्थ में उलटवांसी का पुट है। वसन्त ऋतु बीतने पर जब ग्रीष्म ऋतु आती है तब गरमी के कारण लोग पेड़ों की छाया ढूंढते हैं। परन्तु साहेब कहते हैं कि वासना का वसन्त बीतने पर जब ज्ञान का ग्रीष्म आता है, तब जीव पुनः पेड़ के नीचे नहीं आता। यह पेड़ शरीर एवं संसार है। ज्ञान की प्रचंड गरमी साधक के हृदय को शीतल करती है और वह मुक्त हो जाता है।

"कहैं कबीर स्वामी सुख सागर, राम मगन होय सो पावै।" वासनाओं से मुक्त आत्मा ही स्वामी है, सुखसागर है। वासना ही विष है, पीड़ा है और भवव्याधि है। इसका सर्वथा अन्त ही अमृत है, परमानन्द है, परमसुख है। सद्गुरु ने कहा है—"हो हजूर ठाढ़ कहत हौं"[1] अर्थात मैं खड़ा होकर कहता हूं कि तुम स्वयं हुजूर हो, स्वामी हो। व्यवहार में कोई पूज्य, संत एवं गुरु तुम्हारा स्वामी हो सकता है, परन्तु परमार्थ एवं अध्यात्म स्थिति में तुम्हारा कोई दूसरा स्वामी हो ही नहीं सकता। तुम स्वयं अपने स्वामी हो। इस तुम्हारे स्वामित्व की चरितार्थता तुम्हारी वासना-विजय में है। जो सचमुच अपने आप का स्वामी हो जाता है वह सुखसागर हो जाता है। यह अवस्था तभी

1. रमैनी साखी 24।

मिलती है जब राम में ही रात-दिन डूबा रहे। जो निरन्तर आत्माराम में लीन है, वह कृतकृत्य है, सुखसिंधु एवं आनंदकंद है।

तीर्थ, मंत्रादि के पाखंड एवं विषयों को छोड़कर राम में रमो

शब्द-21

राम न रमसि कौन डण्ड लागा, मरि जैबै का करिबे अभागा॥ 1॥
कोइ तीरथ कोइ मुण्डित केसा, पाखण्ड मन्त्र भरम उपदेसा॥ 2॥
विद्या वेद पढ़ि करे हंकारा, अन्तकाल मुख फाँके छारा॥ 3॥
दुखित सुखित होय कुटुम जेवाँवै, मरणबार एकसर दुख पावै॥ 4॥
कहहिं कबीर यह कलि है खोटी, जो रहै करवा सो निकरै टोटी॥ 5॥

शब्दार्थ—डण्ड=दंड, पाप। छारा=छार, धूल। कलि=समय की एक काल्पनिक माप, कलह, झगड़ा, पापबुद्धि। करवा=मिट्टी या धातु का लोटे का काम देने वाला टोंटीदार बरतन। टोटी=टोंटी, नली।

भावार्थ—हे मानव ! तू विषयों को छोड़कर राम में लीन नहीं होता, तुझे कौन-सा पाप लगा है। हे अभागे ! आज-कल में मरकर संसार से बिदा हो जायेगा तब क्या कर सकेगा?॥ 1॥ मुक्ति के लिए कोई तीर्थों में भटकता है, कोई प्रयागादि में केश मुड़वाता है, कोई मन्त्र-तन्त्र के पाखंड में उलझता है और कोई उपदेश तो सुनता है परन्तु भ्रम से भरे हुए॥ 2॥ कोई कुछ विद्यों पढ़कर तथा वेद-शास्त्र-अध्ययन कर उसी के मद में चूर रहता है, परन्तु ये सब लोग आत्मशांति से विहीन बने अन्त समय में निराशा ही में शरीर छोड़ते हैं॥ 3॥ आदमी पाप-पुण्य सारे काम करके तथा जीवन में नाना सुख-दुख सहकर कुटुम्ब का पालन करता है, परन्तु मरती बार या मरणांतर में कर्मफल का दुख तो अकेला ही भोगता है॥ 4॥ कबीर साहेब कहते हैं कि यह पापबुद्धि बुरी बात है। जो करवा में रहेगा वही उसकी टोंटी से निकलेगा। जीवन में जिसकी कमाई होगी, उसी का फल उसके सामने आयेगा॥ 5॥

व्याख्या—परम तृप्ति, आत्यंतिक सुख, पूर्ण सन्तोष, अनन्त आनन्द तथा चिरशांति की प्राप्ति हर जीव की लालसा है। इसे हम ऐसा भी कह सकते हैं कि दुखों की अत्यन्त निवृत्ति सबको प्रिय है। इसका एक ही उपाय है राम में लीन होना। जो सदैव राम में रमता है वह मानो सब समय परम सुख के सागर में निमज्जन करता है। राम व्यक्ति का निज स्वरूप है। निज चेतन स्वरूप में विश्राम ही तो संसार-सागर से पार जाना है। स्वस्वरूपस्थिति ही राम में रमण है। यही परम सुखसिंधु है। परन्तु यह अभागा आदमी इधर झांकता भी नहीं। वह तो निरन्तर विषयों में ही लीन

रहना चाहता है। सद्गुरु कहते हैं, हे मानव! तुझे कौन-सा पाप लगा है जो पवित्र निजात्मराम को छोड़कर मलिन काम में डूबता है!

मुक्तिसुख को प्राप्त करने के लिए अनेक लोग तीर्थों में भटकते हैं। इसमें कारण है कि पुरोहित पंडितों ने अनेक धर्मशास्त्रों एवं महाकाव्यों में तीर्थों की अति महिमा लिख डाली है। उसे पढ़-सुनकर विद्वान-अविद्वान सबको एक सनक सवार हो गयी है कि तीर्थों में स्नान करने मात्र से कल्याण हो जायेगा। महाभारत के वनपर्व में आता है—"ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र कोई भी महात्मा ब्रह्मा जी के तीर्थ (पुष्कर) में स्नान कर लेते हैं, वे किसी योनि में जन्म नहीं लेते।[1] स्त्री हो या पुरुष जीवन भर में जितने भी पाप किये हों, पुष्कर तीर्थ में स्नान करने से वे सब नष्ट हो जाते हैं।"[2] तीर्थों के विषय में अति महिमों तथा उसके कुफल का चित्रण साखी प्रकरण की 214 से 216 वीं साखियों की व्याख्या में पढ़ें , देखें किस तरह पुरोहितों ने तीर्थों के नाम पर समाज को बेवकूफ बनाया है। यह ठीक है कि मनोरंजन, देशाटन, जानकारी, जलवायु-परिवर्तन, देशभक्ति, राष्ट्रीय एकता, सन्तों एवं विद्वानों के दर्शन तथा उनके उपदेश सुनने के लिए तीर्थों में जाइये, परंतु वहां जाते ही मुक्ति मिल जायेगी, यह धारणा एक पागलपन है। परंतु इस पागलपन में आज भी हजारों लोग तीर्थों की खाक छानते हैं।

"कोई तीरथ कोई मुंडित केसा" तीर्थ तो तीर्थ, तीर्थ में सिर के बाल का मुंडन करा लेने मात्र से भी कल्याण की प्राप्ति मान ली गयी। कहा गया "यदि प्रयाग में मुंडन करा लिया तो गया में पिंडदान, काशी में मरण एवं कुरुक्षेत्र में दान करने की क्या आवश्यकता।"[3] त्रिस्थली सेतु, तीर्थ चिंतामणि, गंगा वाक्यावली, तीर्थप्रकाश आदि ग्रन्थों में प्रयाग में गये यात्री स्त्री-पुरुषों के बालमुंडन की लम्बी-लम्बी व्याख्यों की गयी हैं। कहा गया—सधवा स्त्री को भी अपनी वेणी (बालों की चोटी) को काटकर प्रयाग की त्रिवेणी में फेंककर यह कहना चाहिए "वेणी में इस वेणी को फेंकने से मेरे सारे पाप नष्ट हो जायें, और आने वाले जीवन में मेरा सधवापन वृद्धि को

---

1. ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा वा राजसत्तम।
   न वै योनौ प्रजायन्ते स्नातास्तीर्थे महात्मनः॥ 82/30-31॥
2. जन्मप्रभृति यत् पापं स्त्रिया वा पुरुषेण वा।
   पुष्करे स्नातमात्रस्य सर्वमेव प्रणस्यति॥ 33-34॥ (महाभारत, वनपर्व, अध्याय 82)
3. किं गयापिण्डदानेन काश्यां वा मरणेनकिम्।
   किं कुरुक्षेत्रदानेन प्रयागे वपनं यदि॥ (नारदीयपुराण, उत्तर 63/104)

प्राप्त हो।"[1] डॉ. पांडुरंग वामन काणे ने लिखा है—"ऐसा सम्भव है कि सधवा स्त्रियों का वेणी को काटकर फेंकना 'वेणी' (दोनों नदियों के संगम) शब्द से निर्देशित हो गया है, क्योंकि संगम स्थल पर गंगा कुछ दूर तक टेढ़ी होकर बहती है (त्रिस्थली, पृष्ठ 8)।"[2] इस प्रकार बहुत-से भोले लोग प्रयाग में सिर मुड़ाकर ही अपना मोक्ष मान लेते हैं।

'पाखंड मंत्र' मंत्र का पाखंड संसार में खूब है। कुछ अक्षरों तथा शब्दों का जोड़ मंत्र होता है, परन्तु पुरोहित लोग विचारकों को पहले ही नरकगामी होने की घोषणा कर देते हैं—"जो गुरु को केवल मनुष्य मानता है, मंत्र को मात्र अक्षर और प्रतिमा को केवल पत्थर, वह नरक में जाता है।"[3] परन्तु गुरु मनुष्य के अलावा दूसरा क्या हो सकता है ! हां, वह ज्ञानी पुरुष है, श्रद्धेय है। मन्त्र केवल अक्षरों का जोड़ होता ही है। उसमें कुछ अर्थ निकलता है तो ठीक है, अन्यथा एक पागलपन है। प्रतिमा पत्थर ही है। उसमें किसी महापुरुष की याद होती है। यही उसका सार है।

नाना मत के पुरोहित जनता को पुत्र, धन, विजय, निरोग्यता, पद, शत्रुनाश, मित्रलाभ, स्वर्ग, मोक्ष—सब कुछ मन्त्र-जप के बल पर देने के लिए तैयार बैठे हैं। इसके लिए वे जनता से मोटी रकम लेते हैं। गजनवी ने जब सोमनाथ के मन्दिर पर हमला किया था, तब पुरोहित मन्त्र के बल पर ही उसे भगाने की दुराशा में थे। फल यह हुआ कि मन्दिर टूटा, शिवलिंग टूटा तथा अपार सम्पत्ति लुटी। पुराणों तथा महाकाव्यों में कथा के माध्यम से भी ये बातें जगह-जगह जड़ दी गयीं कि अमुक ने मन्त्र से अभिषिक्त करके बाण चलाया तो शत्रु पर विजय हो गयी। मन्त्र के बल पर सारी ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करने का झूठा दावा धर्मग्रन्थों में किया गया। आज भी पुरोहित मन्त्र के नाम पर जनता को वर्गलाने का प्रपंच करता है। नाना मत के पुरोहितों ने अनेक मंत्र बनाये हैं और उनके द्वारा संसार के लोगों की सारी मनोकामनों पूर्ण करने का झांसा देते हैं। और तो और, पुराकाल में विश्वामित्र ने जिस गायत्री मन्त्र का प्रणयन ऋग्वेद (3/62/10) में सूर्य की उपासना में किया था और उससे सद्बुद्धि के लिए प्रेरणा लेने का भाव प्रकट किया था उससे पुरोहितों ने सारी ऋद्धि-सिद्धि पाने का झांसा देना शुरू किया। कहा गया—"ब्रह्म हत्यादि सारे

---

1. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 3, पृ. 1331।
2. वही, पृ. 1331।
3. गुरौमनुष्यबुद्धिं च मन्त्रे चाक्षरबुद्धिकम्।
   प्रतिमासु शिलाबुद्धिं कुर्वाणो नरकं व्रजेत ॥

पाप बड़े हों या छोटे, गायत्री जप से शीघ्र नष्ट हो जाते हैं।[1] ब्रह्महत्या, शराबपान, चोरी, गुरुपत्नी के साथ गमन आदि जो महान पाप हो गया हो, वह सब गायत्री मंत्र के स्मरण मात्र से नष्ट हो जाता है।[2] दिन के पाप दिन में और रात के पाप रात में गायत्री के प्रभाव से नष्ट हो जाते हैं।[3] बेल पेड़ के नीचे एक महीना निवासकर (गायत्री का) जप करने से राज्य की प्राप्ति होती है। बेल पेड़ की जड़, फल, फूल तथा पत्रों को मिलाकर हवन करने से भी राज्य की प्राप्ति होती है।"[4]

'श्री विद्यामंत्र' की महिमा में कहा गया—"करोड़ों वाजपेय एवं सहस्रों अश्वमेध-फल 'श्री विद्या' के उच्चारण मात्र के बराबर नहीं हो सकते, इसी प्रकार करोड़ों कपिला गायों का दान भी 'श्री विद्या' के एक उच्चारण के समान नहीं है (ज्ञानार्णव, पटल 24, श्लोक 74-76)। अग्निपुराण (125/51-52) में मंत्र के बल पर शत्रुओं को मारने की बात कही गयी है।"[5]

बौद्ध ग्रन्थों में भी मंत्र-तंत्र का जोर है। बौद्ध ग्रन्थ साधनमाल (पृष्ठ 575) में कहा गया है कि यदि उचित विधि अपनायी जाये तो मंत्र द्वारा सभी कुछ प्राप्त हो सकता है। डॉ. पांडुरंग वामन काणे लिखते हैं—उदाहरणार्थ, इसमें आया है कि एक मंत्र, जो मंत्रों का राजा है, बुद्धत्व देता है, फिर अन्य सिद्धियों के विषय में कहने की आवश्यकता ही क्या है।[6] दूसरे मंत्र से अति दुर्लभ बुद्धत्व हाथ के तल में पड़े बदरी फल के समान है।[7] एक अन्य मंत्र (जो निरर्थक शब्दों वाला है) यदि पांच बार कहा जाये और दिन में तीन बार

---

1. ब्रह्महत्यादि पापानि गुरूणि च लघूनि च।
   नाशयत्यचिरेणैव गायत्री जपतो द्विजः ॥ पद्मपुराण ॥
2. ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेय गुर्वङ्गनागमः।
   महान्ति पातकादीनि स्मरणान्नाशमाप्नुयः ॥ गायत्री पुराण 2/27 ॥
3. यदह्नात्कुरुते पापं तदह्नात्प्रतिमुच्यते।
   यद्रात्रियात्कुरुते पापं तद्रात्रियात्प्रतिमुच्यते ॥ ते.अ.प्र. 10 अ. 34 ॥
4. जपेद् विल्व समाश्रित्य मासं राजमवाप्नुयात्।
   विल्वं हुत्वाप्नुयाद् द्रव्यं समूलं फल पल्लवम् ॥
   (श्रीराम शर्मा कृत गायत्री महाविज्ञान, भाग 2, पृष्ठ 26-29)
5. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 5, पृष्ठ 53।
6. ओं आः ह्री हुं हँ हः अयं मन्त्रराजो बुद्धत्वं ददाति किं पुनरन्याः सिद्धयः।
   (साधनमाल, पृष्ठ 575)
7. यातु किं बहुवचनीयं परमति दुर्लभं बुद्धत्वमपि तेषां पाणितलावलीनबदरकफलमिवावतिष्ठति। (वही, पृष्ठ 270)

(प्रातः, दोपहर और संध्या) तो एक गधा अर्थात मूर्ख भी तीन सौ ग्रन्थों का जानकार हो जाये।[1]

गणपति का सिद्धि मंत्र है—"ओं लवंग चले, सुपारी चले, चन्द्रमा सूरज का बहन चले, तैंतीस करोड़ देवता का बहन चले, आगे अगाड़ी पीछे पछाड़ी, ताला तोड़ भंडार खोल ऋद्धि-सिद्धि खैंच लाओ मेरे पास, गुरु सकत मेरी भगति। पुरो मंत्रा ईश्वरम् वाचा।" इस मंत्र के जप से सारी ऋद्धि-सिद्धि की प्राप्ति बतायी गयी है।

सांप-बिच्छू के मंत्र भी इसी प्रकार अन्धविश्वास पर चलते हैं। यह सब पाखण्ड नहीं तो क्या है ! पारदर्शी दृष्टि वाले कबीर देव कहते हैं कि बहुत-से लोग मंत्र-तंत्र के पाखंड में उलझे रहते हैं।

आजकल तन्त्र के नाम पर लोगों को बेवकूफ बनाने वाले बड़े-बड़े वंचक हैं। अनेक पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक तक मन्त्र-तन्त्र विशेषांक निकालते, भूत-प्रेत सिद्ध करते तथा येनकेन प्रकारेण समाज को मूर्ख बनाने पर तुले हैं।

'मननात् मन्त्रः' मनन द्वारा जो निष्कर्ष निकले वह मन्त्र है। या कुछ शब्दों का समूह मन्त्र कहलाता है जिसमें कुछ अर्थ होता है। मनुष्य को चाहिए कि उसका विचार करके जो ग्राह्य-त्याज्य हो उसका ग्रहण-त्याग करे। ऋद्धि-सिद्धि आदि देने के झांसे में चलाये गये सारे मन्त्र केवल पाखंड हैं।

"भरम उपदेशा" कितने गुरुओं के उपदेश भी भ्रम से पूर्ण होते हैं। सुनिये कहीं कथावाचकों की कथा तो वे आकाश-पाताल के कुलावे मिलाते मिलेंगे। कथा की सारी किताबों में तो कारण-कार्य व्यवस्थाओं, विश्व के शाश्वत नियमों एवं प्रकृति के गुण-धर्मों से हजारों कोस दूर की बातें भरी हैं। आत्मविवेक और विज्ञान से वहां कोई सरोकार नहीं है। अन्धविश्वास और चमत्कार से पूर्ण ही तो अधिक गुरुओं एवं पंडितों के उपदेश रहते हैं। वे जिस महापुरुष के विषय में कथा कहते होंगे, उन्हें या तो सर्वहर्ताकर्ता ईश्वर सिद्ध करते होंगे या उसका अवतार, पुत्र या पैगंबर। आंख मीचने पर दिखती ज्योति ईश्वर है, कान बन्द करने पर सुनाई पड़ता शब्द ईश्वर है, शून्य ईश्वर है, हमारे या हमारे गुरु के उपदेश या दीक्षा मात्र से मोक्ष मिलता है, अमुक तथाकथित देवी-देवता की उपासना से सब कुछ मिल जायेगा इत्यादि भ्रमपूर्ण

---

1. ओम् चलचल चिलचिल चुलुचुलु कुलुकुलु मुलुमुलु हुंहुंहुंहुं फट्फट्फट्फट्। पद्महस्ते स्वाहा दिने दिने पञ्चवारान् त्रिसन्ध्यमुच्चारयेत्। गर्दभोपि ग्रन्थशतत्रय गृह्णाति। (वही, पृष्ठ 62) (धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 5, पृष्ठ 53-54 से उद्धृत)

उपदेश हैं जिनमें पड़कर संसार के लोग ठगा गये हैं।

"विद्या वेद पढ़ि करे हंकारा, अन्त काल मुख फाँके छारा।" कितने लोग नाना विद्यों एवं वेद-शास्त्र पढ़कर उसका अहंकार करते हैं, परन्तु उनकी दशा अंततः दयनीय ही होती है। सारी भाषों काल्पनिक रूढ़ियां हैं, और सारी लिपियां सांकेतिक चिह्न हैं। बातों को समझने और समझाने के लिए इन्हें सीखा जाता है। इनका अहंकार करना व्यर्थ है। यदि कई बोलियां, भाषों तथा लिपियां सीख लीं, यदि कुछ विषयों का ज्ञान प्राप्त कर लिया तो इनके द्वारा समाज का कल्याण करना चाहिए। इनका अहंकार करना तो केवल अज्ञान है। हमने कई शास्त्र पढ़ लिये, बहुत-से धर्मग्रन्थों को मथ डाले, वेदों के अर्थ करबदर कर लिये तो क्या हुआ यदि राम में नहीं रमते। कितने धुरंधर विद्वान एवं वेद-शास्त्रों के ज्ञाता देखे गये जिन्हें विद्या का सागर कहा जा सकता है, परन्तु वे विषयों के वश, इन्द्रियों के अधीन और कामनाओं में कुम्हार-चक्रवत नाचने वाले हैं, तो उनकी अन्तरात्मा में शांति कहां आ सकती है! शास्त्रज्ञान तथा आत्मसंतुष्टि में कोई सम्बन्ध नहीं है। पढ़ने वाला विद्वान बनता है तथा त्यागी आत्मसंतुष्ट होता है। वासनाओं के त्याग-बिना शांति नहीं मिल सकती।

नारद जी सनत्कुमार जी से कहते हैं—"भगवन! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास-पुराण रूप पांचवां वेद, वेदों का वेद (व्याकरण), श्राद्धकल्प, गणित, उत्पादज्ञान, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीति, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या और देवजन विद्या (नृत्यसंगीतादि) यह सब मैं जानता हूं। परन्तु मैं केवल मन्त्रवेत्ता हूं। मैंने आप-जैसों से सुना है कि आत्मवेत्ता शोक से पार हो जाता है, और मैं शोक करता हूं, अतः मुझे शोक से पार कर दीजिये।"[1]

इसके बाद सनत्कुमार का लम्बा उपदेश चला है और उन्होंने सार रूप में कहा है कि जितना कुछ संयोगजनित है सब अल्प है, क्षणिक है, उसमें चिर सुख नहीं है, भूमा ही, आत्मा ही पूर्ण सुख रूप है जो अनन्त है, न समाप्त होने वाला एवं पूर्ण है। उसी में रमो[2] और कहा कि सारे मन-इन्द्रियों के आहार (विषय) जब शुद्ध हो जाते हैं अर्थात जब विषय-वासनाओं का त्याग हो जाता है तब हृदय शुद्ध हो जाता है, जब हृदय शुद्ध हो जाता है तब चित्त एकाग्र हो जाता है और जब चित्त एकाग्र हो जाता है तब मन की सभी गांठें

1. छांदोग्य उपनिषद्, अ. 7, खण्ड 1, मन्त्र 2-3।
2. यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुखम्। (वही, अ. 7, खण्ड 23, मंत्र 1)

खुल जाती हैं।[1] मन की ग्रंथियों का कट जाना ही तो परम सुख है। और भी ऋषि कहते हैं—"जो लोग अविद्या की उपासना करते हैं वे अविवेकमय निविड़ अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो विद्या अर्थात शास्त्रज्ञान में आसक्त हैं, वे उससे भी घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं।"[2]

अतएव जो विद्या एवं शास्त्रज्ञान के अहंकार में चूर रहते हैं, उनको अन्त में अशांति में बिलबिलाना पड़ता है।

"दुखित सुखित होय कुटुम जेवाँवै, मरणबार एकसर दुख पावै।" आदमी अपने आप को एकदम भूलकर धन-परिवार ही सब कुछ माने रहता है और उन्हीं के मोह-लोभ में रात-दिन आकंठ डूबा रहता है। वह अपने माने हुए परिवार के परवरिश के लिए पता नहीं कितने लोगों के हक को मारता है। आदमी जैसे एक सम्मोह में जीता है। वह रात-दिन न करने योग्य कर्म करके अपने माने गये परिवार को सम्पन्न बनाना चाहता है, परन्तु परिवार के वे लोग उसका कोई कल्याण नहीं कर सकते। उसे जीवन भर अपने कर्मों के फल भोगने पड़ते हैं और मरणकाल में तथा मरणांतर भी अपने कर्मों का भुगतान करना पड़ता है। आदमी मरकर चाहे अपने घर के दरवाजे पर ही कुत्ते-बिल्ली की योनि में जन्म ले, परन्तु उस घर, धन, परिवार से क्या सम्बन्ध रह जाता है!

"कहहिं कबीर यह कलि है खोटी, जो रहै करवा सो निकरै टोटी।" सद्गुरु कहते हैं कि यह पापबुद्धि बुरी बात है। कलियुग ऐसा कुछ नहीं है जो समान रूप से सब पर हावी हो। कलियुग है पापबुद्धि, दुर्बुद्धि। यही सारे अनर्थों की जड़ है। यदि हमारे मन में दुर्बुद्धि है तो हमारा पतन रखा-रखाया है। मनुष्य जो कुछ जीवन भर क्षण-क्षण करता है, उन्हीं सबके संस्कार मन में इकट्ठे होकर भीतर जमा होते हैं और उन्हीं के फल उसको आज तथा आगे मिलते हैं। करवा में पानी भरा होगा तो उसकी टोंटी से पानी निकलेगा, दूध भरा होगा तो दूध और यदि कहीं विष भरा है तो विष ही तो निकलेगा! यदि हमने जीवन में अच्छे संस्कारों की कमाई की है तो हमारा मन स्वच्छ एवं प्रसन्न रहेगा, जीवन में शांति रहेगी और आगे भी शांति रहेगी; परंतु यदि हमने जीवन भर खुराफात किये हैं और बुरे संस्कार बनाये हैं तो उनके फल में हमें

---

1. आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः॥ (छांदो. 7/26/2)

2. अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपास्ते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥
(शुक्ल यजुर्वेद, अ. 40, मंत्र 9, तथा ईश उप. मं. 9)

आज और आगे सदैव भटकना ही भटकना है। यह आज के परिवार, धन, विद्या, पद, पूज्यता सहारा नहीं दे सकते। आदमी इस बात को नहीं समझता। वह केवल स्थूल बुद्धि से बाहरी चमक-दमक ही देखता है और उसी में भूलकर अपने आप को खो देता है।

इसलिए सद्‌गुरु कहते हैं कि हे अभागे! तू अपना माना हुआ सब कुछ छोड़कर एक दिन यहां से चला जायेगा। तेरा कोई साथी नहीं होगा। अतः सबका मोह छोड़कर राम में रमण कर। सब छूटेगा, परन्तु राम नहीं छूटेगा। संसार में तेरा कुछ नहीं है, बस केवल राम तेरा है। तेरी चेतना ही राम है जो तेरा अभिन्न स्वरूप है, सारी वासनों छोड़कर उसी में निमग्न हो जा, निज स्वरूप-राम में लीन हो जा।

उच्चतम एवं परमपद की दशा

शब्द-22

अवधू छाड़हु मन विस्तारा॥ 1॥
सो पद गहो जाहि ते सद्‌गति, पारब्रह्म सो न्यारा॥ 2॥
नहीं महादेव नहीं महम्मद, हरि हजरत कछु नाहीं॥ 3॥
आदम ब्रह्मा नहिं तब होते, नहीं धूप नहिं छाहीं॥ 4॥
असी सहस पैगम्बर नाहीं, सहस अठासी मूनी॥ 5॥
चन्द्र सूर्य तारागण नाहीं, मच्छ कच्छ नहिं दूनी॥ 6॥
वेद कितेब सुमृत नहिं संजम, नहिं जीवन परिछाँई॥ 7॥
बाँग निमाज कलमा नहिं होते, रामहु नाहिं खुदाई॥ 8॥
आदि अन्त मन मध्य न होते, आतश पवन न पानी॥ 9॥
लख चौरासी जीव जन्तु नहिं, साखी शब्द न बानी॥10॥
कहहिं कबीर सुनो हो अवधू, आगे करहु विचारा॥11॥
पूरण ब्रह्म कहाँ ते प्रगटे, कृत्रिम किन्ह उपराजा॥12॥

शब्दार्थ—अवधू=अवधूत, संन्यासी, त्यागी, विरक्त। मन विस्तारा=मनः कल्पना। सो पद=निजस्वरूप चेतन। सद्‌गति=छुटकारा, मोक्ष। हजरत= महाशय, महात्मा। संजम=संयम, धर्माचरण। परिछाँई=माया। आतश=आग। कृत्रिम=बनावटी। उपराजा=उत्पन्न किया।

भावार्थ—हे त्यागियो! मन के फैलावे एवं कल्पनाओं का त्याग करो॥ 1॥ और उस निजस्वरूप चेतन की स्थिति ग्रहण करो जिससे तुम्हें दृश्य जगत एवं भव-बंधनों से छुटकारा मिले, यह स्थिति तुम्हारे माने हुए परब्रह्म से भी परे है॥ 2॥ जब बोधवान मन के फैलाव को छोड़ देता है तब

वहां क्या रह जाता है ! न वहां महादेव है, न हजरत मुहम्मद है और न हरि एवं विष्णु है, न वहां आदम है, न ब्रह्मा है और न धूप तथा छाया है, न वहां अस्सी हजार पैगंबर हैं, न अठासी हजार ऋषि-मुनि, न वहां चांद, सूर्य तथा तारागण और न मत्स्य, कच्छप दोनों या दसों-चौबीसों अवतार; वहां वेद, किताब, स्मृतियों एवं धर्माचरणों की भी गुंजाइश नहीं है और न वहां जगत-प्राणियों तथा माया का अस्तित्व है, वहां पर बांग, नमाज, कलमा की न बात है और न राम तथा खुदा की बात है, वहां शुरू, बीच तथा आखिर की बात नहीं है, न वहां आग, हवा तथा पानी के होने का प्रश्न है, न वहां चौरासी लाख योनियां एवं संसारी जीव-जन्तु हैं और न साखी, शब्द तथा किसी प्रकार की वाणी ही है॥ 3-10॥ मन के विस्तार का अन्त होने पर अर्थात मन समाप्त होने पर तो दृश्यों की शून्यता रहती है। बस, वहां रह जाता है निज चेतन पद। यही सद्गति है। यही मोक्षपद है। कबीर साहेब कहते हैं कि यदि इसके आगे तुम किसी पूर्णब्रह्म का विचार करते हो तो मैं तुमसे पूछता हूं कि वह कहां से प्रकट हो गया? उस कृत्रिम को कौन पैदा किया है? इस पर विचार करो ! उसकी कल्पना करने वाले तुम स्वयं हो॥ 11-12॥

व्याख्या—प्रस्तुत शब्द जीव की उच्चतम स्थिति का निराले ढंग से बोध कराता है। कबीर स्वयं निराले संत हैं। उनको समझने के लिए हमें संस्कारों की चादर को उतारकर अलग रख देना चाहिए। इस पद में वे हमें यही बताते हैं कि तुम राम-रहीम की चादर उतार फेंको और उसकी तली में छिपे हुए सत्य को पहचानो।

अवधू का शुद्ध रूप अवधूत है जिसका अर्थ होता है संन्यासी, विरक्त एवं त्यागी। त्यागी वह है जो सब कुछ त्याग दे। यदि उसने कुछ पकड़ रखा है तो वह त्यागी कैसा? इसका कोई अनर्थ न करेगा। इसका अर्थ यह नहीं है कि त्यागी को खाना-पीना नहीं चाहिए या छत के नीचे रहना नहीं चाहिए। खाना, पीना और छत के नीचे सब को रहना पड़ता है। यहां सब कुछ के त्याग का मतलब है सारी वासनाओं का त्याग। जगत-वासना को सभी बंधन समझते हैं; परंतु यदि हम ब्रह्म के नाम पर जगत की व्याख्या करने लगते हैं तो इस ब्रह्म-वासना को लोग बन्धन नहीं समझते। परन्तु यह जगत-वासना से भी भयंकर बन्धन है। जगत-वासना को तो सभी त्यागी बन्धन समझ लेते हैं, उसको सब यथाशक्ति त्यागने का भी प्रयत्न करते हैं, परन्तु ब्रह्म-वासना को बन्धन नहीं समझ पाते।

अब थोड़ा विचार कीजिए। यदि ब्रह्म की यही परिभाषा है कि सारा जगत ब्रह्म है, तो ब्रह्म और जगत नाम दो हुए, वस्तु तो एक ठहरी। कोई कहे कि मैं

जगत-वासना का त्याग करता हूं, परन्तु ब्रह्म में रमता हूं, तो उसका कहना वैसे है जैसे कोई कहे कि मैं गुड़ खाता हूं, परन्तु गुलगुले से परहेज करता हूं। अथवा और साफ उदाहरण कि कोई कहे कि मैं जल कभी नहीं पीता, केवल पानी पीता हूं। जिसके ख्याल में सारा विश्वप्रपंच ब्रह्म ही है, तो वह ब्रह्म को पकड़कर विश्वप्रपंच से कैसे मुक्त हो सकता है?

यदि कोई कहे कि जड़ विश्वप्रपंच से ब्रह्म परे है और मुझसे भी परे है, तो यह एक कल्पना का विषय है। कल्पना मन का कार्य है। समाधि में जब कल्पनों समाप्त हो जाती हैं तब वहां न जगत दृश्य रहता है और न किसी प्रकार का कल्पित ब्रह्म रहता है। तब तो केवल शुद्ध चेतन रहता है और विजाति दृश्यों का अन्त रहता है।

इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि हे अवधूतो, हे त्यागियो, तुम्हारा त्याग पूर्ण तभी माना जायेगा जब मन का फैलाव छोड़ दो, मन की सारी कल्पनों, सारी वासनों छोड़ दो। जगत-वासना बन्धन है। यदि जगत ही ब्रह्म है तो ब्रह्म वासना भी बन्धन है। यदि तुम्हारी स्व-सत्ता से भिन्न ब्रह्म है तो उसकी वासना भी बन्धन है। तुम अपने आप से, अपनी चेतना से अलग कुछ भी वासना रखते हो तो वह सब बन्धन है।

यह ज्ञानियों का सर्वमान्य सिद्धांत है कि सारी इच्छाओं का त्याग जीवन्मुक्ति दशा है तथा सारी वासनाओं एवं सारे संकल्पों का त्याग समाधि दशा है। अतएव जब तक हम जगत के विषयों की इच्छा करते हैं और जब तक आत्म-भिन्न किसी ईश्वर-ब्रह्म को पाने की इच्छा करते हैं तब तक वासना में बंधे हैं। मन के संकल्प-विकल्प समाप्त होने पर समाधि होती है। यदि हम समाधि के लिए बैठें और मन में किसी ईश्वर-ब्रह्म का नक्शा बनों तो समाधि कहां हुई? यदि हम किसी शरीरधारी को ब्रह्म मानकर उसके विषय में सोचते हैं तो किसी शरीर की कल्पना होगी और यदि निराकार-निर्गुण एवं सर्वव्यापक मानकर उसका नक्शा बनाना चाहेंगे तो ख्याल में कुछ आ नहीं सकता, बस केवल आकाश, बादल, वन, पर्वत, नगर एवं विश्वप्रपंच ही आयेगा। सार यह कि जब तक मन उपस्थित रहेगा तब तक विजाति दृश्य रहेगा चाहे उसका नाम जगत हो और चाहे ब्रह्म हो; परन्तु जब मन शून्य हो जायेगा, तब विजाति दृश्य शांत हो जायेगा। तब रह जायेगा शुद्ध चेतन स्वसत्ता मात्र। यही समाधि है। यही परमपद है। यही सद्गति है। वस्तुतः यही सच्चा अद्वैत भी है। सद्गुरु कहते हैं कि यह तुम्हारे माने हुए पारब्रह्म से न्यारा है।

इस शब्द की पहली दो पंक्तियां इस सन्दर्भ के प्राणतत्त्व हैं। पहली पंक्ति पर ध्यान दीजिए "अवधू छाड़हु मन विस्तारा"। सद्गुरु कबीर शब्द प्रयोग

करने में बड़े मनोवैज्ञानिक हैं। वे यहां मन के विस्तार, मन के फैलाव, वासनाओं एवं कल्पनाओं के त्याग की बात करते हैं। वे जानते हैं कि इस उच्च उपदेश का अधिकारी अवधूत है, त्यागी एवं संन्यासी है। साहेब कहते हैं कि तुम त्यागी हो तो सब कुछ का त्याग करो। यह ठीक है कि कोई अपने आप का त्याग नहीं कर सकता। अपने आप का त्याग करने की बात सोचना ही अपना पतन है। हम कहीं भी रहें अपने आपा को लेकर रहते हैं। हम अपने आप से कभी अलग नहीं हो सकते। परन्तु अपने आप में हमारी पूर्ण स्थिति तभी हो सकती है जब हम दूसरे सब की वासना का त्याग कर दें। मन का विस्तार ही बन्धन है। मन की कल्पना, वासना ही विजाति दृश्यों को जीव के सामने ला-लाकर उसे स्व-पद से विचलित करती है। यदि वासना का त्याग कर दिया जाये तो स्वरूपस्थिति ही है। कुछ पाना नहीं है, किन्तु केवल मन के विस्तार को छोड़ना है।

"सो पद गहो जाहि ते सद्गति, पारब्रह्म सो न्यारा।" वह स्थिति पकड़ो जिसमें सद्गति हो, मोक्ष हो। मोक्ष किस स्थिति में है? मन के विस्तार छोड़ने में। वासना छोड़ना ही तो मोक्ष है। यदि तुम्हारी यह कल्पना है कि परब्रह्म तुम्हारी स्व-सत्ता से कोई अलग वस्तु है, तो सद्गुरु कहते हैं कि उसे भी छोड़ो। क्योंकि वह भी तुम्हारे मन का विस्तार है, तुम्हारे मन की अवधारणा एवं कल्पना है। जब तक सारी वासनों न छूटेंगी, तुम्हारा अपना स्व-पद न मिलेगा।

अब जरा ध्यान दो, जहां सारी वासनों छूट गयीं, मन का सारा विस्तार समाप्त हो गया और जीव अपने स्वरूप में स्थित हो गया, वहां महादेव, मुहम्मद, हरि, हजरत, ब्रह्मा, आदम, धूप, छाया, पैगंबर, मुनि, सूर्य, चन्द्र, तारागण, कल्पित अवतार, वेद, किताब, स्मृतिग्रंथ, धर्माचरण, जीवन, माया, बांग, नमाज, कलमा, राम, खुदा, देश तथा काल की माप—आदि, मध्य, अन्त, आग, पानी, चौरासी लाख जीव-जन्तु, साखी, शब्द, वाणी विस्तार एवं समस्त दृश्य प्रपंच कहां है?

महादेव-मुहम्मद से लेकर साखी-शब्द-बानी तक ऊपर जितने नाम लिये गये हैं वह तो एक संकेत है। इससे हमें सारे दृश्य प्रपंच को समझ लेना चाहिए। मन का विस्तार समाप्त हो जाने पर कोई दृश्य नहीं रहता। लोग महादेव-मुहम्मद, ब्रह्मा-आदम, पैगंबर-अवतार, औलिया-मुनि, नमाज-पूजा, वेद-किताब, राम-रहीम आदि को लेकर लड़ते हैं, अपने आप को आस्तिक, दीनदार, पवित्र बताकर दूसरों को नास्तिक, काफिर एवं अपवित्र घोषित करते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि ये सब बीच की चीजें हैं। मुहम्मद तथा

कुरानादि एवं बांग, नमाज और कलमा जब नहीं थे तब भी धर्म था। जब राम–राम नहीं कहा जाता था तब भी धर्म था।

जो लोग यह मानते हैं कि यह सारी सृष्टि एक दिन नहीं थी। उनसे पूछा जा सकता है कि तब ये महादेव–मुहम्मद, वेद–किताब, राम–रहीम की कल्पना कहां थी? इतना तो सच है कि सृष्टि प्रवाहरूप अनादि होते हुए भी जो कुछ आज–कल है वह सब–का–सब वैसे ही सदैव से नहीं था। यहां सब कुछ सब समय बदलता है। ईसा की छठीं शताब्दी तक इस्लाम, मुहम्मद एवं कुरान का धरती पर चिह्न भी नहीं था। बुद्ध के बाद पांच सौ वर्षों तक ईसाइयत की पृथ्वी पर गंध नहीं थी। ईसा के छह सौ वर्ष के पहले बुद्ध और बौद्ध मत के होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। बुद्ध के समकालीन जैन के एक बड़े पुरुष महावीर स्वामी के पहले जैन–मत का कोई ग्रंथ नहीं था। ईसा से छह–सात सौ साल पहले हिन्दू शब्द की उत्पत्ति ही नहीं हुई थी, फिर हिन्दू धर्म का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है! बुद्ध के बाद जब ईरानियों ने सिन्ध नदी को हिन्द नदी, इस देश को हिन्द देश तथा इस देशवासियों को हिन्दू कहा तब से धीरे–धीरे हिन्दू शब्द का प्रचलन होता चला गया। इसलिए वेद, वैदिक साहित्य एवं महाकाव्यों तक में हिन्दू शब्द नहीं पाया जाता और न भारतीय मूल की भाषाओं—संस्कृत, पाली, प्राकृत आदि ही में पाया जाता है। राम और कृष्ण जो दो मुख्य अवतार माने गये हैं वे बुद्ध के बाद साहित्य में आये हैं। राम–नाम जप का प्रचलन वाल्मीकीय रामायण तक में नहीं है, वेद–शास्त्रादि में होने की तो बात ही नहीं है। राम–नाम जप का प्रचलन लगभग ईसा के एक हजार वर्ष बाद हुआ है। यदि आज से तीन हजार वर्ष के पूर्व की हमारे पूर्वजों के विषय में बनायी गयी एक फिल्म होती तो हम उसे परदे पर देखकर चकित रह जाते। उसमें आज के धार्मिक प्रचलन का शायद कुछ शतांश ही मिलता।

मानो हम किसी दूसरे लोक में चले जायें। किसी ग्रह में प्राणी हों, मनुष्य हों और हम वहां चले जायें, तो क्या हमें वहां वेद–पाठ, कुरान–पाठ, बाइबिल–पाठ या रामायण–गीतादि का पाठ मिलेगा? क्या वहां राम, कृष्ण, ईसा, मुहम्मद को कोई जानता होगा? क्या वहां हमारी पृथ्वी के धार्मिक रस्मोरिवाज होंगे? यह सब कुछ नहीं होगा? उन सबके कुछ अपने नियम, शब्द एवं संस्कार होंगे। परन्तु यदि वे विकसित हैं तो असली धर्म वहां भी वही होगा जो यहां है। वह यह है कि जब हम एक दूसरे से मिलें तो परस्पर प्रेम का व्यवहार करें और यह बड़ी चित्तशुद्धि का फल है। जिसका चित्त शुद्ध होगा वही दूसरों के साथ सुन्दर व्यवहार करेगा।

हमें धर्म और मुक्ति को सारे जंजालों से ऊपर करके देखना चाहिए। धर्म हिन्दू-मुसलमान, मुहम्मद-महादेव, वेद-किताब में सीमित नहीं है। वह मनुष्य के दिल में है और मोक्ष भी किसी बाहरी नाम-रूप में नहीं है, किन्तु वह सारी वासनाओं का त्याग है, मन के विस्तार का अंत है।

सद्गुरु ने इस शब्द की प्रथम दो पंक्तियों में ही परमपद के विषय में अपना मंतव्य बता दिया है कि मन के संकल्प-विकल्प छोड़ देने पर जो शेष तत्त्व रह जाता है वही सद्गति है। अर्थात वासनाओं के छूट जाने पर निजस्वरूप की स्थिति ही परम पद है। यह माने हुए पारब्रह्म से भी भिन्न है। यदि निजस्वरूप से भिन्न ब्रह्म है तो वह मन की कल्पना होने से मन का ही कार्य है।

इस शब्द की अन्तिम दो पंक्तियों में सद्गुरु बतलाते हैं कि वासना-रहित स्वरूपस्थिति के अलावा यदि तुम ब्रह्म मानते हो तो उस पर यह विचार करो कि वह पूर्णब्रह्म कहां से प्रकट हुआ है? अर्थात उसकी कल्पना किसने की है? यह स्पष्ट है कि जीव ही ने की है। इसका सविस्तार विवेचन 'झगरा एक बढ़ो राजाराम' इस 112 वें शब्द में देखने योग्य है 'ब्रह्म बड़ा की जहाँ से आया' इत्यादि। निजस्वरूप से भिन्न ब्रह्म मानकर उसे कृत्रिम बना दिया जाता है। कृत्रिम का कोई कर्ता होता है। कृत्रिम ब्रह्म का मनुष्य जीव ही कर्ता है। साहेब पूछते हैं "कृत्रिम किन्ह उपराजा?"

शब्द का सार यह है कि साधक को न ब्रह्म प्राप्त करना है और न मुक्ति प्राप्त करना है। क्योंकि जो कुछ निजस्वरूप से भिन्न होगा वह माया होगी, दृश्य होगा, जड़ तत्त्वों का कार्य होगा या मन की कल्पना होगी। अतएव केवल मन के विस्तार को, मन की कल्पना को, मन की वासना को एवं मन के संकल्प-विकल्पों को छोड़ देना है, बस, शेष सद्गति ही है, मोक्ष ही है। अतएव "अवधू छाड़हु मन विस्तारा !"

माया की लीला

शब्द-23

अवधू कुदरत की गति न्यारी॥ 1॥
रंक निवाज करे वै राजा, भूपति करे भिखारी॥ 2॥
याते लोग हरफना लागे, चन्दन फूल न फूला॥ 3॥
मच्छ शिकारी रमे जंगल में, सिंह समुद्रहि झूला॥ 4॥
रेंड रूख भये मलयागिर, चहुँ दिशि फूटी बासा॥ 5॥
तीन लोक ब्रह्माण्ड खण्ड में, अँधरा देखै तमाशा॥ 6॥

पंगा मेरु सुमेरु उलंघै, त्रिभुवन मुक्ता डोलै॥ 7॥
गूँगा ज्ञान विज्ञान प्रकाशै, अनहद बानी बोलै॥ 8॥
अकाशहि बाँधि पतालहि पठवै, शेष स्वर्ग पर राजै॥ 9॥
कहैं कबीर राम है राजा, जो कछु करै सो छाजै॥10॥

शब्दार्थ—कुदरत=माया। निवाज=दया करने वाला। हरफ=अक्षर, उपदेश, ज्ञान। मच्छ=माया। सिंह=जीव। रेंड=एरंड। रूख=पेड़।

भावार्थ—हे अवधू, माया की गति विलक्षण है॥ 1॥ वह गरीब पर कृपाकर उसे राजा बना देती है तथा राजा को भिखारी। अर्थात मनुष्य के मन की अविद्या रूपी माया ने पानी-पत्थरादि को भोग-मोक्ष का दाता बना दिया तथा जीव को उसके सामने घुटने टेककर भीख मांगने वाला॥ 2॥ इसलिए लोग सत्योपदेश को नहीं ग्रहण कर पाते। जैसे चन्दन सुगंधित होता है और यदि उसमें फूल भी हों तो कितना अच्छा है, परन्तु उसमें फूल नहीं होते। इसी प्रकार चेतन ज्ञानस्वरूप है, परन्तु यदि वह इसे समझकर अपने स्वरूप में स्थित होता तो उसे अमृतत्व की उपलब्धि होती॥ 3॥ मछली समुद्रादि जलाशय में तथा सिंह जंगल में रहते हैं, परन्तु यहां तो उलटा है, मछली शिकारी बनकर वन में आखेट करती है और उसके डर से सिंह समुद्र में झूलता है। अर्थात माया संसार-वन में शिकार करती है और जीव उससे प्रभावित होकर भ्रम के समुद्र में झूलता है॥ 4॥ इस अविद्या माया के प्रकोप से एरंड के पेड़ मलयगिरि बन गये और उसकी सुगंधी चारों तरफ फैल गयी अर्थात धूर्त गुरु ज्ञानी तथा सिद्ध कहलाने लगे और उनका देश-विदेश खूब प्रचार हो गया॥ 5॥ जो अन्धे थे वे तीनों लोकों एवं ब्रह्मांड के सभी खंडों में गुप्त-प्रकट वस्तुओं का तमाशा देखने लगे। अर्थात विवेकहीन लोग मंत्र-तन्त्र के नाम पर अपने आप को सर्वज्ञ तथा त्रिकालदर्शी घोषितकर जनता की बुद्धि का शोषण करने लगे॥ 6॥ पंगुला आदमी सुमेरु जैसे ऊंचे पर्वतों को कूद गया और स्वतंत्र होकर तीनों लोकों में विचरने लगा। अर्थात बिना हाथ-पैर वाला मन ऊंची-ऊंची उड़ानें भरकर आकाश-पाताल में तथा सर्वत्र विचरने लगा॥ 7॥ गूंगा असीम वाणी बोलकर ज्ञान-विज्ञान का प्रकाश करने लगा। अर्थात विवेकहीन लोग वाचिकज्ञानी बनकर उलटे-सीधे उपदेश हांकने लगे॥ 8॥ आकाश को बांधकर पाताल में भेज दिया और पाताल में रहने वाले शेषनाग को आकाश में विराजमान कर दिया। अर्थात जो पवित्र हैं जिनका सम्मान होना चाहिए उनकी उपेक्षा होने लगी और जो नीचकर्मी एवं धूर्त हैं वे समाज में मान्य हो गये, और उनका सर्वत्र आदर होने लगा॥ 9॥ कबीर साहेब कहते हैं कि राम राजा है, वह जो कुछ करता है उसे

शोभा देता है। यह व्यंग्य है। अर्थात जीव अपना कर्ताधर्ता है जो करेगा वह भरेगा॥ 10॥

व्याख्या—यहां 'कुदरत' का अर्थ ब्राह्मांडिक शक्ति न लेकर मनुष्य के मन की माया, अविद्या एवं कल्पना ली गयी है। क्योंकि मनुष्य के मन की माया एवं अविद्या ही से मानव के जीवन में नैतिक अव्यवस्था आती है। जीव ही राम है, अपने आप का ईश्वर है, उसको अपने स्वरूप का बोध न होने से विपरीत दिशा में भटकता है और जो नहीं करना चाहिए वह करता है। राम की माया ही राम को भटकाती है। जीव की अविद्या ही जीव को विपरीत दिशा में ले जाती है। जब जीव सत्संग तथा विवेक से अपने स्वरूप को समझ लेता है तब उसका भटकना बन्द हो जाता है।

इस शब्द का यह अर्थ सरलता से किया जा सकता है कि ईश्वर की शक्ति विलक्षण है। वह गरीब को राजा और राजा को गरीब, एरंड को चंदन, जीव को माया में पतित, अन्धे को सर्वद्रष्टा, पंगुले को सर्वत्र गतिशील, गूंगे को वक्ता आदि बना देती है। ईश्वर सर्व हर्ताकर्ता है, वह जो कुछ करे उसे शोभा देता है इत्यादि परन्तु ये बातें विवेक पर नहीं ठहरतीं। यदि ईश्वर ऐसा तानाशाह एवं उन्मादी है जो ऐसा अन्यथा करता रहता है, उसे कारण-कार्य-व्यवस्था पर कोई ध्यान नहीं है, तो उसके गलत आदर्श से समाज में अव्यवस्था ही फैलेगी। यह भावुकतापूर्वक ईश्वर-भक्ति का चित्रण कबीर जैसे तार्किक पुरुष के विपरीत है। जो कहते हैं—"आपन आश कीजै बहुतेरा, काहु न मर्म पावल हरि केरा।[1] कबिरन ओट राम की पकरी, अंत चले पछिताई।"[2] आदि। वे यहां इस प्रकार भावुक होकर कैसे तथाकथित ईश्वर के "कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा वा कर्तुम्" सामर्थ्य का गुणगान करने लगेंगे। यदि इस शब्द का यही अभिप्राय लेकर सद्गुरु ने कहा है तो यह उनका व्यंग्यात्मक मनोरंजन ही होगा।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि कबीर साहेब को ऐसा कोई पक्का गुरु नहीं मिला था कि वह उन्हें हर विचार में तुरन्त पक्का कर देता। कहावत के अनुसार उनको गुरु के रूप में स्वामी रामानन्द जी मिले थे, जो स्वयं ईश्वर की शक्ति के गुणगान करने वाले थे। इसी प्रकार उन्होंने योगियों की संगत की थी, हठयोग साधा था। परन्तु पीछे उसकी निस्सारता देखकर उसका खंडन किया था। योग-सम्बन्धी उनकी बहुत-सी वाणियां हैं। पहले कबीर साहेब

1. शब्द 77।
2. शब्द 84।

पर उनके इन विषयों का भी प्रभाव कुछ-न-कुछ पड़ा ही होगा परन्तु वे धीरे-धीरे सत्य का शोधन करते-करते आगे बढ़े होंगे और जब उनके हर विचार पक्के हो गये होंगे तब उनके पक्के विचारों के हर वचन निकलने लगे होंगे। उसके पहले उनके मिश्रित वचन रहे होंगे। सन्त की सभी वाणी आदरणीय समझकर सबका संकलन कर लिया गया होगा। बीजक के बाहर की वाणियों में तो ऐसे अंशों की भरमार है। बीजक की वाणियां ठोस हैं, परन्तु इसमें भी साधारण भक्तों के मनोरंजन के लिए यत्र-तत्र वाणियां हैं। परन्तु इससे उनका सिद्धान्त ओझल नहीं है। कबीर का राम, परमात्मा एवं ब्रह्म व्यक्ति की आत्मा से अलग नहीं है, इस भाव का बीजक भर में प्रकाशन है। जो इसके विपरीत है, वह भावुकों के मनोरंजन मात्र के लिए है। कबीर साहेब का सिद्धान्त ईश्वर-सम्बन्धी भावुकता होती, तो वे उसका खण्डन न करते। कोई अपने सिद्धान्त का एक वचन में भी खण्डन नहीं करता है। अतएव कुछ इधर-उधर लोकप्रचलित भावुकता के वचन पाकर कबीर साहेब के स्वरूपज्ञान एवं आत्मज्ञान विषयक सिद्धान्त को न भूलना चाहिए।

अब थोड़ा मूल शब्द पर विस्तार से विचार कर लें। सद्गुरु कहते हैं कि माया रंक को राजा तथा राजा को रंक बना देती है। यह मनुष्य के मन की माया ही तो है जिसने मिट्टी-पत्थर आदि की पिंडियों, नदियों, पेड़ों आदि को भोग-मोक्ष का दाता बना दिया और श्रेष्ठ मनुष्य को उसके सामने भिखारी। आदमी उन मूर्तियों के सामने अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए भीख मांगता है जो अपने ऊपर बैठी मक्खी को भी नहीं उड़ा सकतीं। सारे ज्ञान-विज्ञान का आधार मानव है, परन्तु वह अपनी ही भूल रूपी माया के वश होकर दीन बन गया।

"याते लोग हरफ ना लागे" इसीलिए लोग सही उपदेश एवं सच्चे ज्ञान की बातों में नहीं लगते। जब थोड़े मन्त्र एवं पूजा ही से सारी कामनों पूर्ण होने की बातें जड़ दी गयीं, तब कर्म, सदाचार, त्याग आदि की बातें कौन माने! जब नदी में नहाने एवं तीर्थ के नाम लेने मात्र से भोग-मोक्ष मिलने की आशा मिल गयी, तब यथार्थ ज्ञान की खोज, साधना एवं त्याग-तप के परिश्रम में कौन पड़े!

"चन्दन फूल न फूला" देहात में पाये जाने वाले लाल चंदन के पेड़ में तो फूल खिलते हैं। हो सकता है मलयगिरि चंदन में फूल न खिलते हों जो मलय पर्वत पर होते हैं। लक्षणा अर्थ में चंदन चेतन मनुष्य है। इसमें सद्गुण के फूल न खिले। जीव माया के अधीन घोर संसारी बन गया। मनुष्य जितना ही विषयों में लीन होता है उतना ही वह सद्गुण रूपी फूलों से शून्य होता है।

अंततः स्वरूपस्थिति ही जीवन का उच्चतम फूल है। यदि यह फूल खिल जाये तो जीवन धन्य हो जाये।

"मच्छ शिकारी रमे जंगल में, सिंह समुद्रहि झूला।" मछली शिकारी बनकर संसार-वन में घूमने लगी और जीव-सिंह भ्रम एवं संशय-समुद्र में झूलने लगा। मछली तुच्छ है, सिंह महान है। परन्तु मछली ही से सिंह भयभीत हो गया। माया के लिए यहां मच्छ शब्द का प्रयोग हुआ है। "मच्छ रूप माया भई, जबरहि खेले अहेर"[1] यहां भी यही भाव है। सद्गुरु यहां माया की निर्बलता बताते हैं, फिर भी जीव उससे मारा जाता है, क्योंकि उसे स्वरूपज्ञान नहीं है।

इस माया, अविद्या एवं मनुष्य के मन की भूल का ही परिणाम है कि धूर्त गुरुओं की प्रतिष्ठा बढ़ती है और सच्चे गुरु का आदर नहीं होता। क्योंकि धूर्तों के पास चमत्कार का झांसा है, परन्तु सच्चे गुरु केवल सत्य कहते हैं और सत्य में रहते हैं।

मन्त्र-तन्त्र का पाखण्ड रचने वाले लोग शिक्षित तथा अशिक्षित सभी मूर्खों को फंसा रखते हैं। तांत्रिक लोग अपने को त्रिकालदर्शी और गुप्त-प्रकट का ज्ञाता सिद्धकर समाज को मूड़ते हैं, परन्तु वे अपने मिथ्या स्वार्थ में अंधे होकर ही यह सब करते हैं।

संसार में अर्थात मनुष्यों के जीवन में जितना व्यतिक्रम है, सब उसके अविवेक का फल है। मनुष्य के मन का अविवेक ही माया है। माया ईश्वरीय नहीं, किन्तु मानवीय है। कोई अलग ईश्वर नहीं बैठा है जो हमारे ऊपर माया रूपी कटही कुतिया छोड़ता हो। माया है हमारा अज्ञान, अविवेक एवं विषय-मोह। इसके त्याग हो जाने पर जीव को कोई भटका नहीं सकता।

हठयोग का वर्णन

शब्द-24

अवधू सो योगी गुरु मेरा, जो यह पद का करे निबेरा॥ 1॥
तरिवर एक मूल बिनु ठाढ़ा, बिनु फूले फल लागा॥ 2॥
शाखा पत्र किछू नहिं वाके, अष्ट गगन मुख गाजा॥ 3॥
पौ बिनु पत्र करह बिनु तुम्बा, बिनु जिभ्या गुण गावै॥ 4॥
गावनहार के रूप न रेखा, सतगुरु होय लखावै॥ 5॥
पन्छिक खोज मीन को मारग, कहैं कबीर दोउ भारी॥ 6॥
अपरम पार पार पुरुषोत्तम, मूरति की बलिहारी॥ 7॥

---

1. रमैनी साखी 46।

शब्दार्थ—तरिवर=पेड़, मेरुदंड, रीढ़ की हड्डी। मूल=जड़। अष्ट गगन=अष्ट कमल के ऊपर का आकाश—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा ये छह चक्र तथा इसके ऊपर सहस्रदल कमल तथा सुरति कमल के ऊपर का आकाश। गाजा=गर्जता है। पौ=पौधा। करह=आधार। तुम्बा=लौकी के खोल का वाद्ययन्त्र। पन्छिक खोज=विहंगममार्ग। मीन को मारग=मीनमार्ग।

भावार्थ—हे अवधूतो ! वही योगी मेरा गुरु है जो प्रस्तुत पद का निर्णय करे॥ 1॥ एक पेड़ है जो बिना जड़ के खड़ा है। उसमें बिना फूल खिले ही फल लगे हैं। अर्थात शरीरस्थ मेरुदण्ड गुदा से खोपड़ी तक एक ऐसा पेड़ है जो बिना जड़ के ही खड़ा है। यही हठयोग का आधार है। इसमें बिना फूल खिले ही षटचक्र रूप फल लगे हैं। इसमें डाली-पत्ते नहीं हैं। यह आठवें सुरति-कमल के आकाश में पहुंचकर गर्जता है॥ 2-3॥ वहां पौधा के बिना पत्ते हैं। अर्थात सुरतिकमल के पत्ते हैं। वहां डंडी के बिना वीणा का तुम्बा है अर्थात खोपड़ी का अन्तरभाग ही वीणा एवं तुम्बा है। वहां वीणा की मधुर ध्वनि होती है और बिना जीभ के वहां गुणगान होता है अर्थात अनाहतनाद बजता है। वहां गाने वाले की रूप-रेखा नहीं है। वह तो सहज ध्वनि है। कोई योगी सद्गुरु ही इसका रहस्य बता सकता है॥ 4-5॥ कबीर साहेब कहते हैं कि पक्षी और मछली के गये हुए मार्ग की खोज कर पाना कठिन काम है, इसी प्रकार योगी का पथ है जहां दूसरे के लिए कोई चिह्न नहीं छूटता, यहां साधक को अपना पथ बनाना पड़ता है अथवा विहंगम-मार्ग और मीन-मार्ग ये दोनों वहां पहुंचने के बड़े पथ हैं॥ 6॥ जो वहां पहुंच जाता है वह वहां विराजमान पुरुष पुरुषोत्तम में समर्पित हो जाता है॥ 7॥

व्याख्या—यह हठयोग का विषय है। कबीर साहेब के समय में उत्तरी भारत में हठयोग की प्रधानता थी। कबीर साहेब ने हठयोगियों के साथ रहकर हठयोग साधा था। उन्होंने हठयोग का गहरे में अनुभव कर उसकी निस्सारता पर बीजक के अनेक शब्दों में प्रकाश डाला है। हम लोगों को तो पहले ही विवेकवान सद्गुरु मिल गये और स्वरूपज्ञान बता दिये, इसलिए नाना मतों के चक्कर में नहीं भटकना पड़ा। परन्तु सद्गुरु कबीर ने नाना मतों की खाक छानकर, उनकी साधनों कर अपने स्वतः बल पर पारखबोध स्थिर किया था। हम लोगों को तो उपार्जित धन मिला है, परन्तु कबीर देव ने तो स्वतः उपार्जन किया था।

हठयोग में मेरुदण्ड का बहुत बड़ा महत्त्व है। मेरुदण्ड वह मजबूत हड्डी का डंडा है जो मनुष्य के गुदा से लेकर खोपड़ी तक पहुंचा है। हठयोगी नाभि

में स्थित एक काल्पनिक कुंडलिनी को जागृतकर इसी मेरुदण्ड के सहारे सुषुम्णा को ब्रह्माण्ड एवं खोपड़ी में ले जाता है, जहां एक कल्पित अपरम्पार पार पुरुषोत्तम का निवास है। योगी मानता है कि जब कुंडलिनी के ऊपर उन्मुख होने पर सुषुम्णा षट्चक्रों को वेधती हुई सातवें सहस्रदल कमल से भी पार आठवें सुरति कमल में पहुंच जाती है, तब वहां दिव्य प्रकाश होता है। वहां बिना डंडे के तुंबा एवं वीणा से, जो सिर ही है, अनाहतनाद उठता है। वहां अनाहतनाद को गाने एवं बजाने वाले की कोई रूप-रेखा नहीं है। अर्थात वहां स्वतः ध्वनि उठती है। भेरी, शंख, शहनाई, बांसुरी आदि के मधुर बाजे वहां बजते हैं। वहां परम पुरुषोत्तम परमात्मा दिव्य ज्योति के रूप में विराजमान रहता है। योगी वहां पहुंचकर उस दिव्य ज्योति एवं नाद को देखता और सुनता है तथा उसी में समर्पित हो जाता है।

योगियों के तीन नाम के मार्ग है 'पिपीलिकामार्ग, विहंगममार्ग तथा मीनमार्ग।" पिलीलिका चींटी को कहते हैं। यह धीरे-धीरे चलती है। जो धीरे-धीरे साधना में अग्रसर हो वह मानो पिपीलिका मार्ग से चल रहा है। विहंगम पक्षी को कहते हैं। वह उड़कर चलता है, तेजगति से जाता है और उसके पीछे रास्ते का कोई चिह्न नहीं रह जाता। मीनमार्ग में दो विशेषतों हैं। एक तो उसके पानी में चलने पर, उसके पीछे भी उसके रास्ते का कोई चिह्न नहीं रह जाता, दूसरा यह कि वह पानी की धारा के उलटे चलती है। यह साधक का विषयों के प्रति उलटा चलने का प्रतीक है। कितने बुधजन मीनमार्ग तथा विहंगममार्ग में भेद नहीं मानते। यह साधकों का तीव्र गति से चलने का प्रतीक है।

प्रस्तुत पद में सद्गुरु ने कहा है "पन्छिक खोज मीन को मारग, कहैं कबीर दोउ भारी।" अर्थात जो विषयों से विमुख होकर तीव्रगति से अपनी साधना में बढ़ते हैं वे मानो विहंगममार्ग एवं मीनमार्ग से जाते हैं। उनके पथ की खोज कर पाना कठिन है। दूसरे साधकों को स्वयं अपना साधना-पथ बनाना पड़ेगा। महाभारत में भीष्मपितामह युधिष्ठिर से कहते हैं—"जैसे आकाश में पक्षियों के और पानी में मछलियों के चलने के पद-चिह्न नहीं दिखते वैसे ज्ञानियों की गति का पता नहीं चलता।"[1]

हठयोग में स्वरूपज्ञान एवं आत्मज्ञान कम, शरीर के भीतर ज्योति-शब्द आदि को अधिक तूल दिया गया है। श्वास को मस्तिष्क में रोककर

1. शकुनानामिवाकाशे मत्स्यानामिव चोदके।
पदं यथा न दृश्यते तथा ज्ञानविदां गतिः॥ (महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय 181, श्लोक 19)

नादश्रवण एवं ज्योतिदर्शन आदि जो कुछ किया जाता है तथा उन्हीं को परम पुरुषोत्तम या सारशब्द आदि का नाम देकर जो उन्हीं में समर्पित होने का भाव प्रकट किया जाता है, वह सब स्वरूपज्ञान से दूर हो जाने की बात है। शब्द से उसका श्रोता तथा ज्योति से उसका द्रष्टा चेतन श्रेष्ठ है।

योग का सामान्य अर्थ किसी से जुड़ना अवश्य है, परन्तु योगदर्शन के अनुसार योग का अर्थ वियोग है। भोज ने इसे बड़े सुन्दर ढंग से कहा है— "पतंजलि मुनि की अपूर्व कही हुई वाणी की जय हो, जिसके द्वारा प्रकृति और पुरुष के वियोग को भी योग कहा गया है।"[1] अर्थात जीव का जड़ से सर्वथा छूटकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाना ही योग है।

कबीर साहेब ने इस शब्द में योगियों के योगमार्ग का सकारात्मक वर्णन किया है। इसमें उन्होंने उनका खंडन नहीं किया है। परन्तु बीजक में इसका अनेक स्थलों पर खंडन है। इसके लिए शब्द 25, 66, 74 आदि देखने योग्य हैं। यहां योग के खंडन का मतलब हठयोग का खंडन है, योग के असली तत्त्व का खंडन नहीं जिसमें चित्त एकाग्रकर स्वरूपस्थिति होती है।

हठयोग की उपलब्धि माया के भीतर है

शब्द-25

अवधू वो तत्तु रावल राता, नाचै बाजन बाजु बराता॥ 1॥
मौर के माथे दुलहा दीन्हा, अकथ जोरि कहाता॥ 2॥
मँड़ये के चारन समधी दीन्हा, पुत्र ब्याहिल माता॥ 3॥
दुलहिन लीपि चौक बैठारी, निर्भय पद परकाशा॥ 4॥
भातै उलटि बरातिहि खायो, भली बनी कुशलाता॥ 5॥
पाणिग्रहण भयो भौ मण्डन, सुषमनि सुरति समानी॥ 6॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, बूझो पण्डित ज्ञानी॥ 7॥

शब्दार्थ—वो तत्त्व=ज्योति या नाद। रावल=राव, राजा, योगी, जीव। बाजन=इंद्रियां। बराता=तत्त्व-प्रकृति, नस-नाड़ियां। मौर=मुकुट, ज्योति। दुलहा=जीव। अकथ=न कहने योग्य या जो कहने में न आये। चारन=आचरण, व्यवहार, रीति-रस्म। समधी=सम+धी—समताबुद्धि प्राप्त योगी। पुत्र=जीव। माता=माया, अविद्या। दुलहिन=वृत्ति। लीपि=लय करके। चौक=चतुष्टय अंतःकरण। बैठारी=स्थित किये। भातै=भात, पका चावल,

1. पतञ्जलिमुनेरुक्तिः काप्यपूर्वा जयत्यसौ।
पुंस्प्रकृत्योर्वियोगोऽपि योग इत्युदितो यया॥

तात्पर्य में अंतःकरण। बरातिहि=तत्त्व-प्रकृति को। खायो=लय किया। पाणिग्रहण=वर द्वारा वधू का हाथ पकड़ना, स्वीकारना, विवाह। भौ=भव, संसार। मंडन=शृंगार, सिद्धि। सुषमनि=सुषुम्णा नाड़ी। सुरति=लक्ष्य, मनोवृत्ति।

कबीर साहेब यहां हठयोग के अभ्यास को एक विवाह के रूपक में समझाते हैं।

भावार्थ—हे अवधूतो ! योगी लोग ज्योति तत्त्व में लीन होते हैं। यह ज्योति में लीनता एक मधुर विवाह है। विवाह के समय जब बरात पहुंचती है तब बाजे बजते हैं और बराती नाचते हैं। परन्तु इस विवाह में सब उलटा है। यहां बाजे नाचते हैं और बराती बजते हैं। यहां बाजे इंद्रियां हैं और बराती तत्त्व-प्रकृति हैं। जब योगी ध्यान में तन्मय होता है तब इन्द्रियां कम्पायमान हो जाती हैं यही उनका नाचना है और तत्त्व-प्रकृति बजने लगते हैं। अर्थात अनाहतनाद उठने लगता है॥ 1॥

संसार में दुलहा के सिर पर मौर अर्थात मुकुट पहनाया जाता है, और विनोद के रूप में न कहने योग्य बातें जोड़-जोड़कर स्त्रियां गीत गाती हैं। यहां मौर के माथे पर ही दुलहा को बैठा दिया गया है। मौर ध्यान में दिखती हुई ज्योति है और जीव सबका ज्ञाता होने से दुलहा है। योगी जीव को अर्थात अपने आप को ज्योति ही में समर्पित कर देता है। अपने आप को ज्योति में चढ़ा देता है। यही मानो मौर पर दुलहा को बैठा देना है। योगी ज्योति को अकथ एवं कहने में न आने वाली अनिर्वचनीया कहता है और उस ज्योति को ब्रह्म मानकर उसकी महिमा में अनेक बातें जोड़-जोड़कर कहता है॥ 2॥

जिस मंडप के नीचे विवाह होता है उसे सामान्य लोग माड़व कहते हैं। उसमें पंडित एवं धार्मिक नेता बैठकर वर-वधू द्वारा माड़व का आचरण एवं व्यवहार कराता अर्थात विवाह सम्पन्न कराता है। परन्तु इस यौगिक विवाह में माड़व के रीति-रस्म समधी कराता है। यहां समधी का अर्थ है जिनकी बुद्धि समता को प्राप्त है ऐसे योगी गुरु। सम=समता, धी=बुद्धि—समता बुद्धि को प्राप्त योगी ही यहां समधी है। वह यह यौगिक विवाह कराता है। योगी गुरु ही योगी साधक को योग का मर्म बताकर उसे ज्योति-ब्रह्म तक पहुंचाता है। संसार में भिन्न वंशजों में विवाह होता है। पुत्र माता से विवाह कर ले, यह सोचा भी नहीं जा सकता। यह महापातक है। परन्तु इस विवाह में यही हुआ। जीव ने माया-माता से विवाह कर लिया। माता जन्म देती है, वैसे माया से, निजस्वरूप से भिन्न दृश्य-भास के मोह से जीव संसार में बारम्बार जन्म लेता है। इस यौगिक विवाह में जीव का विवाह एवं सम्बन्ध

माया से ही हो गया है। हठयोगी ज्योति, शब्द आदि जो कुछ अपना प्राप्तव्य मानता है और जिसे वह ब्रह्म भी कहता है, वह भास-दृश्य होने से माया ही है। ''पुत्र ब्याहिल माता'' यह हठयोगियों की मुख्य मान्यता पर ही व्यंग्य है॥ 3॥

लौकिक विवाह में चौका लीपकर उसमें दुलहिन बैठायी जाती है। परन्तु इस विवाह में दुलहिन लीपकर चौका बैठाया गया। यहां दुलहिन मनोवृत्ति है। उसे लीपकर अर्थात लयकर चौका चतुष्टय अंत:करण को बैठा दिया गया, स्थित कर दिया गया—मन को चित्त में, चित्त को बुद्धि में, बुद्धि को अहंकार में लीनकर अहंकार को ज्योति-ब्रह्म में लीन कर दिया। योगी इसे निर्भय पद का प्रकाश मानता है। जब मनोवृत्ति तथा चतुष्टय अंत:करण ज्योति-ब्रह्म में लीन हो गये तब मानो निर्भय पद का प्रकाश हो गया॥ 4॥

लोक में बराती भात को खाते हैं, परन्तु इस विवाह में सब उलटा है तो इसमें भी उलटा होना ही चाहिए। यहां भात ही बरात को खा गया। भात उपभोग की वस्तु है। यहां अंत:करण भात है जो उपभोग की वस्तु है। अंत:करण का ही तो जीवन में सर्वाधिक उपयोग होता है और यहां उपयोग ही उपभोग है। परन्तु अंत:करण रूप भात ने तत्त्व-प्रकृति रूपी बरातियों को खा लिया। तात्पर्य यह कि जब मनोवृत्ति तथा अंत:करण ज्योति में लीन हुए तब तत्त्व-प्रकृति आदि सब ज्योति में लीन हो गये। तब योगीजन कहने लगे कि जीव का भला हुआ, उसका कल्याण हुआ॥ 5॥

योगी की सुरति जब सुषुम्णा में लय हुई तब वह ब्रह्मज्योति में लीन हुआ, यही मानो पाणिग्रहण हुआ। अर्थात यही उसका ब्रह्मज्योति के साथ विवाह होना है। परन्तु साहेब कहते हैं कि यह ''भव मण्डन'' ही हुआ। अर्थात सांसारिक शृंगार या संसार की ही सिद्धि हुई। क्योंकि इस प्रक्रिया में जीव अपने स्वरूप में न स्थित होकर विजाति जड़ भास-अध्यास में ही लीन हुआ। ज्योति, अनाहतनाद आदि सब जड़ भास हैं। उनको अपना लक्ष्य मानना सांसारिक वासना की ही सिद्धि करना है॥ 6॥

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि हे सन्तो! तुम इसे सुनो, और हे पंडित ज्ञानियो! तुम इसे समझने का प्रयत्न करो॥ 7॥

व्याख्या—हठयोगियों की साधना गूढ़, उलझी हुई और रहस्यात्मक होती है, तो उसके भेद को बताने के लिए सद्गुरु के रूपक भी विचित्र-विचित्र होते हैं। हठयोगी पहले नेती, धोती, कपाली, कुंजल आदि क्रियों कर शरीर को शुद्ध करता है, प्राणायाम साधता है, और देह को शून्य कर ब्रह्मरंध्र में

अर्थात खोपड़ी में एकाग्रता कर ज्योतिदर्शन एवं अनाहतनाद श्रवण करता है तथा इसी को वह ब्रह्म प्राप्ति मानकर विजाति जड़ भास में ही रुक जाता है। इसलिए कबीर साहेब बारम्बार योगियों पर व्यंग्य करते हैं। जीव की वास्तविक स्थिति उसकी अपनी चेतना में होती है। चेतना ही जीव का स्वरूप है। ज्योति-नाद सब जड़ हैं, विजाति हैं, उसे अपना लक्ष्य मानना सांसारिकता से अलग नहीं है। इसलिए सद्गुरु ने "पुत्र ब्याहिल माता" तथा "भयो भौ मण्डन" कहकर उन पर व्यंग्य किया है। अन्त में कबीर साहेब ने सन्तों को केवल सुनने के लिए कहा, परन्तु पंडित-ज्ञानियों को समझने के लिए कहा। क्योंकि सन्त तो जानते हैं। पंडित-ज्ञानियों को भी इसे ठीक से जान लेना चाहिए।

सत्य का पथिक बिरला है

शब्द-26

भाई रे बहोत बहोत क्या कहिये, कोइ बिरले दोस्त हमारे॥ 1॥
गढ़न भंजन सँवारन आपै, ज्यों राम रखे त्यों रहिये॥ 2॥
आसन पवन योग श्रुति सुमृति, जोतिष पढ़ि बैलाना॥ 3॥
छौ दर्शन पाखण्ड छियान्नबे, ये कल काहु न जाना॥ 4॥
आलम दुनिया सकल फिरि आये, ये कल उहै न आना॥ 5॥
तजि करिगह जगत्र उचाये, मन मों मन न समाना॥ 6॥
कहहिं कबीर योगी औ जंगम, फीकी उनकी आशा॥ 7॥
रामहिं नाम रटै ज्यों चातक, निश्चय भक्ति निवासा॥ 8॥

शब्दार्थ—गढ़न=उत्पत्ति। भंजन=संहार। सँवारन=पालन। बैलाना=मूर्ख एवं निर्बुद्धि हो गया। छौ दर्शन=योगी, जंगम, सेवड़ा, संन्यासी, दरवेश तथा ब्राह्मण। पाखण्ड छियान्नबे=उक्त छहों दर्शनों के छान्नबे भेद। कल=शांति। आलम=संसार, जग जीव। करिगह=करघा, तात्पर्य में गृहस्थी। उचाये=उठाये, सिर पर रख लिये।

भावार्थ—हे भाई ! बहुत ज्यादा क्या कहूं, मेरे विचारों को समझने वाला मित्र कोई बिरला है॥ 1॥ आम लोगों की तो यही धारणा रहती है कि उत्पत्ति, पालन एवं संहार करने वाला स्वयं ईश्वर ही समर्थ है, अतः वह हमें जिस ढंग से रखे वैसे हमें रहना चाहिए॥ 2॥ कितने लोग उस ईश्वर को पाने के लिए आसन लगाते हैं, प्राणायाम साधते हैं, योग करते हैं, वेद, उपनिषद्, स्मृति और ज्योतिष पढ़ते हैं, लेकिन इतना करने के बाद भी वे नासमझ ही बने रहते हैं॥ 3॥ छह दर्शन और छान्नबे पाखण्डों में उलझे हुए ये लोग आत्मशांति को नहीं समझते॥ 4॥ ये संसार के लोग तीर्थादि एवं ईश्वर खोज

के नाम पर सारी दुनिया में घूम आते हैं, परन्तु आत्म-शांति कहीं से नहीं ला पाते॥ 5॥ कितने लोग घर का करघा तो छोड़ देते हैं, अर्थात गृहस्थी की छोटी प्रवृत्ति तो त्याग देते हैं, परन्तु विरक्त वेष धारणकर इतनी बड़ी उलझन ले लेते हैं कि मानो ये सारे संसार को ही उठाकर अपने सिर पर रख लेंगे। इसलिए उनका मन अपने में शांत नहीं होता॥ 6॥ कबीर साहेब कहते हैं कि योगी, जंगमादि और जो चातक की तरह राम नाम रटने में भक्ति का निश्चय निवास समझते हैं वे भक्त, इन सबकी आशा निरर्थक है—"चातृक कहाँ पुकारो दूरी"[1]॥ 7-8॥

व्याख्या—कबीर साहेब का यह कहना "कोइ बिरले दोस्त हमारे" स्वाभाविक है, क्योंकि उनके विचार खरे थे, सारे जड़ संस्कारों से रहित थे। सामान्य जनता यही कहती है कि ईश्वर सब कुछ करने में समर्थ है। वह जैसे रखे वैसे हमें रहना चाहिए। हमें स्वयं विचार-विवेक नहीं करना चाहिए। प्रभु सूत्रधार है। हम कठपुतली हैं। वह हमें जैसे नचावे वैसे हमें नाचना चाहिए। इसी भावधारा में अधिकतम लोग बहते हैं। कबीर साहेब कहते हैं—"आपन आश कीजै बहुतेरा, काहु न मर्म पावल हरि केरा।[2] कबिरन ओट राम की पकरी, अन्त चले पछिताई।[3] करु बहियाँ बल आपनी, छाड़ बिरानी आस।[4] हो हजूर ठाढ़ कहत हौं।"[5] इत्यादि, फिर उनका साथी बिरला होगा ही। लोग परावलम्बन की बैसाखी लेकर चलना चाहते हैं, परन्तु कबीर साहेब स्वावलम्बन से स्वयं अपने पथ पर चलते हैं और इसी पथ पर संसार के लोगों को भी चलने की बात बताते हैं। "सोई नूर दिल पाक है, सोई नूर पहिचान। जाके किये जग हुवा, सो बेचून क्यों जान॥"[6]

"आसन पवन योग श्रुति सुमृति, जोतिष पढ़ि बैलाना।" केवल इस एक पंक्ति में कबीर साहेब बहुत बड़ी क्रांति की बातें कह देते हैं। कितने योगी नामधारी चौरासी प्रकार के आसन करते हैं, कितने प्राणायाम में अधिक लगे रहते हैं। इस प्रकार हठयोग में ही वे अपने जीवन के सारे समय और शक्ति का व्यय करते हैं। कितने लोग श्रुति-स्मृति पढ़ने में लगे रहते हैं। उनका पढ़ना बुरा नहीं है; परन्तु खेद है कि सारे वेद, उपनिषद् और स्मृतियों को पढ़ डालने के बाद भी न उन्हें अपनी आत्मा का ठीक से बोध होता है और न वे

1. बीजक, शब्द 71।
2. शब्द 77।
3. शब्द 84।
4. साखी 277।
5. रमैनी साखी 24।
6. साखी 345।

विषयों को छोड़कर आत्मशांति की प्राप्ति कर पाते हैं। तो उनके शास्त्र-आडोलन का क्या मतलब हुआ? कितने तो ज्योतिष में सदैव लगे रहते हैं। गणित-ज्योतिष की उन्नति पिण्ड-ब्रह्मांड की क्रियाओं को जानने के लिए ठीक है, व्यावहारिक जगत में उनका बहुत बड़ा महत्त्व है, परन्तु अन्ततः स्वरूपबोध एवं स्वरूपस्थिति जीवन की अत्यन्त उच्च उपलब्धि है। उसके बिना सब थोथा है। जो लोग फलित ज्योतिष के चक्कर में रहते हैं, वे तो स्वयं को धोखा देते ही हैं, जनमानस को भी धोखा देते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि हठयोग, शास्त्रअध्ययन एवं ज्योतिष पढ़कर भी आदमी स्वरूपबोध और स्वरूपस्थिति से कोरा-का-कोरा रहता है। इन सबके लिए 'बैलाना' शब्द बड़ा मार्मिक है। बैल से बैलाना शब्द बन गया है। बैल का लाक्षणिक अर्थ मूर्ख है। जो सब कुछ पढ़-लिखकर भी अपनी आत्मा को नहीं पहचानता और अपनी आत्मा में शांत नहीं होता, वह मूर्ख ही है।

साहेब कहते हैं गिनकर कहां तक बतावें, छौ दर्शन छान्नबे पाखण्ड का जहां तक विस्तार है, उनमें उलझे हुए लोग आत्मशांति के पथ को नहीं जानते। "ये कल काहु न जाना" कल का अर्थ शांति है, विकल कहते हैं अशांति को। आत्मशांति जीवन का चरम फल है। जो व्यक्ति अपनी आत्मा से अलग कुछ पाना चाहता है उसके जीवन में शांति कैसे आ सकती है।

"आलम दुनिया सकल फिरि आये, ये कल उहै न आना।" आलम सारी दुनिया में घूम आता है। वह दुनिया घूमकर क्या पाता है ! माना कि वह कुछ पेड़-पहाड़, नदी-नाले, मकान-दुकान, नर-नारियों को देखकर एक जानकारी तथा चंचलता बटोर लाता है, परन्तु जीवन की जो खास चीज है "ये कल उहै न आना" वही एक शांति को वह नहीं ला पाता। बाहर से शांति मिलने वाली है भी नहीं। शांति को छोड़कर कोई परमात्मा-ब्रह्म नहीं है। लोग मक्का-मदीना तथा गया-बद्री आदि अनेक तीर्थों के चक्कर क्यों लगाते हैं? भगवान को पाने के लिए, मोक्ष को पाने के लिए। परन्तु आत्मशांति के अलावा न कुछ भगवान है न मोक्ष।

"तजि करिगह जगत्र उचाये, मन मों मन न समाना" यह पंक्ति बड़ी मार्मिक है। करिगह 'करघा' का बिगड़ा हुआ रूप है। मानो कोई घर का करघा एवं तनना-बुनना छोड़कर साधु वेष धर लिया हो, परन्तु वह साधु बन जाने पर मानो 'जगत्र उचा' लिया हो। जगत्र जगत का बिगड़ा हुआ रूप है। हो सकता है लिखने की अशुद्धि से कभी जगत का जगत्र हो गया हो। ऐसी अशुद्धियां उपनिषद्[1] तक में मिलती हैं जो संस्कृत भाषा के ग्रंथ हैं, जिसका

1. तैत्तिरीय उपनिषद् (1/2) में 'शीक्षाध्याय:' है जो 'शिक्षाध्याय:' चाहिए। उसी (2/6) में 'त्यत्' है जो 'तत्' चाहिए। उसी (3/10) में 'नीकाम' है जो 'निष्काम' चाहिए।

व्याकरण बड़ा ठोस होता है। फिर कबीर साहेब की हिन्दी भाषा की कविता में क्या पूछना जो लता की तरह टेढ़ी-मेढ़ी चलती है। परन्तु लता की वक्रिमा किसको नहीं अच्छी लगती !

इस पंक्ति में "जगत्र उचाये" है। अर्थ हुआ जगत उठाये। कितने लोग हैं जो घर-गृहस्थी की थोड़ी उलझन तो छोड़ दिये, परन्तु साधु बनकर उससे ज्यादा उलझन में पड़ जाते हैं। साहेब कहते हैं कि वे घर का करघा छोड़कर सारे संसार को ही सिर पर उठा लेना चाहते हैं। ऐसे लोगों को साधु वेष में जाने पर भी शांति नहीं मिलती। ध्यान रहे, इस भाव का कोई अनर्थ न करेगा। कोई ज्यादा व्यवहार लेकर भी शांत रहता है और कोई थोड़े व्यवहार तथा बिना व्यवहार के ही अशांत रहता है। जो राग-द्वेष में उलझा है, वही मानो संसार को उठाकर अपने सिर पर रख लेना चाहता है।

ऐसे लोगों के लिए कहा गया है "मन मों मन न समाना" ऐसे लोगों का मन मन में शांत नहीं होता। अर्थात उनका मन अपने आप में सन्तुष्ट नहीं होता। इसी के लिए सद्गुरु ने कहा है—"जब लग दिल पर दिल नहीं, तब लग सब सुख नाहिं।"[1] आदमी का दिल जब तक अपने आप में सन्तुष्ट नहीं होता तब तक उसे सब सुख, आत्यंतिक सुख एवं अनन्त सुख नहीं मिलता। लोग हजार राम-रहीम रट डालें, परन्तु आत्मसन्तोष के बिना शांति नहीं।

योगी हों, जंगम हों, राम-नाम रटने वाले हों, आत्मबोध एवं आत्मशांति के बिना सब ऊपर-ऊपर भटक रहे हैं। "रामहि राम पुकारते, जिभ्या परिगौ रौंस। सूधा जल पीवै नहीं, खोदि पिवन की हौंस।"[2] तथा "राम के कहै जगत गति पावै, खाँड़ कहै मुख मीठा।"[3] यदि राम-राम रटने से मोक्ष मिलता तो शकर-शकर कहने से मुख मीठा हो जाता।

साहेब कहते हैं कि मेरा दोस्त बिरला होगा। मैंने तो अपने घर में आग लगा दी है और अब हाथ में लुआठी लेकर खड़ा हूं, जिसे मेरे साथ चलना हो वह अपने घर को फूंककर मेरे साथ चले।[4] यह रहने वाले घर को फूंकने की बात नहीं है। यह घर है भ्रम-मान्यताओं का। सारी अहंता-ममता का घर जलाकर ही कोई मेरे साथ चल सकता है। इसलिए "भाई रे बहोत बहोत क्या कहिये, कोई बिरले दोस्त हमारे।"

---

1. साखी 296।
2. रमैनी साखी 33।
3. शब्द 40।
4. कबीर खड़ा बाजार में, लिये लुआठी हाथ।
   जो घर फूंके आपना, चले हमारे साथ॥

स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति

शब्द-27

भाई रे अद्‌बुद रूप अनूप कथ्यो है, कहौं तो को पतिआई॥ 1॥
जहाँ जहाँ देखो तहाँ तहाँ सोई, सब घट रहा समाई॥ 2॥
लक्ष बिनु सुख दरिद्र बिनु दुख, नींद बिना सुख सोवै॥ 3॥
जस बिनु ज्योति रूप बिनु आशिक, ऐसो रतन बिहूना रोवै॥ 4॥
भ्रम बिनु गंजन मणि बिन नीरख, रूप बिना बहुरूपा॥ 5॥
थिति बिनु सुरति रहस बिनु आनन्द, ऐसो चरित अनूपा॥ 6॥
कहहिं कबीर जगत हरि मानिक, देखो चित अनुमानी॥ 7॥
परिहरि लाख लोभ कुटुम तजि, भजहु न सारंगपानी॥ 8॥

शब्दार्थ—अद्‌बुद=अद्‌भुत। अनूप=विलक्षण। पतिआई=विश्वास। सोई=चेतन तत्त्व। लक्ष=लाख की संख्या, तात्पर्य में सम्पत्ति। जस=यश। ज्योति=प्रकाश। आशिक=आसक्त, प्रेम करने वाला। रतन=आत्मतत्त्व। गंजन=अवज्ञा, तिरस्कार, नाश, नीचा दिखाना। नीरख=निरख-परख। थिति=ठहराव, आलम्बन। रहस=आमोद-प्रमोद, राग-रंग। चरित=स्वभाव। हरि=ज्ञान तत्त्व। मानिक=एक प्रसिद्ध रत्न, माणिक्य, लाल। अनुमानी= अनुमान करके, सोच-विचारकर। भजहु=सेवा करो, चिंतन करो। सारंगपानी =विष्णु, तात्पर्य में गुरु या निजस्वरूप चेतन।

भावार्थ—हे भाई ! विवेकियों ने आत्मदेव का अद्‌भुत एवं विलक्षण वर्णन किया है। उसे यदि मैं कहता हूं तो उस पर कौन विश्वास करेगा !॥ 1॥ जहां-जहां देखता हूं वहां-वहां सभी शरीरों में वही समा रहा है॥ 2॥ यदि इस निजस्वरूप चेतन का ज्ञान हो जाये तो सांसारिक सम्पत्ति के बिना ही आदमी सुखी हो जाये, परंतु उसका बोध न होने से दरिद्रता के बिना ही दुख है। जिसे उसका ज्ञान हो गया है वह देह की अवस्थाजन्य नींद के बिना ही सब समय मानो सुख से सोता है॥ 3॥ इस दिव्य स्थिति में पहुंचकर बाहरी यश-कीर्ति के बिना ही वह सदैव ज्योतिर्मय एवं प्रकाशमय रहता है। उस शुद्ध ज्ञानमात्र तत्त्व का कोई बाह्य रूप नहीं है, परन्तु ज्ञानी सदैव उसी का प्रेमी बना रहता है। ऐसे निजस्वरूप ज्ञानरत्न का बोध हुए बिना व्यक्ति संसार के सपने में पड़ा रो रहा है॥ 4॥ व्यक्ति थोड़ा ध्यान दे तो इस निजस्वरूप चेतन तत्त्व की सत्ता होने में कोई भ्रम नहीं है। परन्तु इधर ध्यान न देने से वह अपनी आत्मा का ही तिरस्कार कर रहा है। यह ठीक है कि वह कोई भौतिक मणि नहीं है, परन्तु उसे परखो, वह तुम्हीं हो। उसका कोई आंख से दिखने वाला रूप नहीं है, परन्तु सभी देहों के रूप में वही समाया

है॥ 5॥ इसलिए बाहरी आलंबन के बिना ही ज्ञानी की सुरति निजस्वरूप में स्थित हो जाती है। इस दशा में बाहरी राग–रंग के बिना ही परम आनन्द की स्थिति होती है। इसका स्वभाव ही ऐसा विलक्षण है॥ 6॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे बन्धुओ! ऐसे निजात्म तत्त्व रूपी ज्ञान–रत्न को अपने मन में विचारकर परखो, और धन का लोभ तथा कुटुम्ब का मोह छोड़कर ऐसे सारंगपाणि का भजन करो न! यह तुम्हारा आत्मदेव ही सारंगपाणि विष्णु एवं हरि है॥ 7–8॥

व्याख्या—मनुष्य की अपनी आत्मा एवं अपनी चेतना यद्यपि अपना सहज स्वरूप ही है, परन्तु निजस्वरूप होने से दुर्विज्ञेय–जैसा लगता है। यह नियम है कि निकट की वस्तु दुर्विज्ञेय होती है। हम दूसरों के पहने हुए कपड़ों पर पड़े हुए दागों को खुलासा देख सकते हैं, परन्तु अपने शरीर पर पहने हुए कपड़ों पर पड़े दाग को देखना थोड़ा कठिन होता है। वे तो तब दिखाई पड़ते हैं जब हम अपना सिर झुकाकर अपनी ओर देखें। हम अपनी आंखों से दूर के पर्वत, बादल आदि सहज देख लेते हैं, परन्तु अपनी आंखों में लगे काजल एवं आंखों के पास के बालों को नहीं देख पाते। हम अपनी आंखों से संसार को तो देखते हैं, परन्तु उनसे ही उन्हें नहीं देख पाते। अर्थात हम अपनी आंखों को कभी नहीं देख पाते। यह एक आश्चर्य ही है। परन्तु विवेक से देखा जाये तो यही सहज है। हम अपनी आंखों को जीवन भर भले न देख पायें, परन्तु हमें यह सहज बोध रहता है कि हमारी आंखें हैं। आंखें न होतीं तो देखते कैसे! हम संसार को देखते हैं, इसलिए हमारे शरीर में आखें स्वत: सिद्ध हैं।

इसी प्रकार हम अपनी आत्मा को कभी नहीं देख पाते, परन्तु क्या हम नहीं हैं! सबको प्रमाणित करने वाला क्या स्वयं सत्ताहीन हो सकता है! जीव का अस्तित्व इसलिए निर्विवाद है कि वही तो शरीर में रहकर सबको जान रहा है। सबको जानने वाला स्वयं जाना हुआ है, बस थोड़ा उधर ध्यान देने की आवश्यकता है। मैं ही तो सबको जानता हूं। अतएव मैं निर्विवाद सत्य हूं। आत्म–अनुभव ही सबसे सरल ज्ञान है, परन्तु इस तरफ पहली बार ध्यान देने से यह अद्‌भुत लगता है। जो कभी न देखा गया हो, उसे पहली बार अकस्मात देखने से वह अद्‌भुत लगता है। देहाभिमानी जीव ने अनादिकाल से कभी आत्मा की ओर ध्यान नहीं दिया है, इसलिए इसके विषय में यदि बताया जाता है तो उसे आश्चर्य होता है। पढ़े–लिखे से भी यदि पूछो कि तुम कौन हो? तो वह कहता है कि मैं मनुष्य हूं। व्यावहारिक दृष्टि से यह कहना ठीक है। परन्तु इसका अर्थ वह यह मानता है कि मैं शरीर हूं। यदि उससे

कहा जाये कि तुम जड़ शरीर नहीं, इससे सर्वथा पृथक शुद्ध चेतन हो, तो यह बात उसे अद्भुत लगती है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं "कहौं तो को पतिआई" कौन विश्वास करता है अपने आपा पर। इसीलिए तो सब दुखी हैं। गीताकार भी कहते हैं—"कोई उसे आश्चर्य के तुल्य देखता है, दूसरा कोई उसे आश्चर्य के तुल्य कहता है, अन्य कोई आश्चर्य के तुल्य सुनता है, परन्तु कोई उसे सुनकर भी नहीं जान पाता है।"[1]

"जहाँ जहाँ देखो तहाँ तहाँ सोई, सब घट रहा समाई।" सद्गुरु कहते हैं कि वह चेतन जहां-जहां देखता हूं, सभी शरीरों में समाया है। कबीर साहेब चेतन राम को घट-घट में ही बताते हैं, कण-कण में नहीं। उसे कण-कण में कहना अतिशयोक्ति है। वस्तुतः चेतन घट-घट में है।

"लक्ष बिनु सुख" लक्ष कहते हैं लाख की संख्या को। इसका लक्षणा अर्थ है अधिक धन-सम्पत्ति। जिसे 'आतम धन' का ज्ञान हो गया है वह लौकिक धन-सम्पत्ति के बिना ही सुखी रहता है। शरीर के लिए रोटी, कपड़े तथा कुछ उपयोगी वस्तुओं की आवश्यकता सबको है। परन्तु मनुष्य का मन आवश्यक निर्वाह की वस्तुओं के अलावा अधिक धन-दौलत, ठाट-बाट एवं तामझाम में आनन्द मानता है। वह इसी इच्छा के अधीन होकर पेट भर दुख भोगता है। परन्तु स्वरूपज्ञानी पुरुष का सुख आत्मानुभव का है जो सम्पत्ति के सुख से उच्चतम है। दुनिया के ऐश्वर्य की उसमें तुलना ही नहीं हो सकती। ऐश्वर्य का सुख खुजली की तरह है। वस्तुजनित सुख क्षणिक होता है और आत्मजनित सुख अनन्त होता है। जिस सुख का आलम्बन बाहरी धन-दौलत है वह सुख स्थिर कैसे रह सकता है! परन्तु जिस सुख का आलम्बन मनुष्य की अपनी आत्मा ही है वह सुख उससे कभी बिछुड़ ही नहीं सकता। न आत्मा से आत्मा बिछुड़ती है और न आत्मजनित सुख बिछुड़ता है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि यह सुख इंद्रियों का नहीं है, किन्तु इंद्रियातीत स्वरूपस्थिति का है।

"दरिद्र बिनु दुख" लोक में दरिद्र आदमी दुखी रहता है। सूखी-रूखी रोटी भी पेट भर न मिलना, तन ढकने के लिए ठीक से मोटा-झोटा कपड़ा भी न मिलना, रहने के लिए ठीक से फूस की झोपड़ी भी न मिलना दरिद्रता है और ऐसी स्थिति में मनुष्य को अवश्य क्लेश होगा। ज्ञान न होने से ऐसी दरिद्रता के बिना भी आदमी दुखी रहता है। वह पेट भर खाता है, तन भर पहनता है, छत के नीचे रहता है, परन्तु रात-दिन नाना भोगों एवं सम्मान की

---

1. आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥ (गीता 2/29)

लालसाओं में दुखी रहता है। श्रीमद्भागवत में ठीक ही कहा गया है—"दरिद्र वही है जो असंतुष्ट है, कृपण वही है जो अ-जितेन्द्रिय है, ईश्वर वही है जो विषयों पर विजयी है और जो विषयों के अधीन है, वही गुलाम है।"[1] किसी को भोजन, वस्त्र एवं आवास न मिले और वह दुखी हो तो यह साधार लगता है, परन्तु खाते-पीते आदमी दुखी रहें तो यह उनका नमकहरामीपन ही है। सद्गुरु तो यहां आध्यात्मिक ढंग से कहते हैं कि हे जीव! तेरे स्वरूप में दरिद्रता नहीं है, परन्तु तू अज्ञान-वश दुखी है। भौतिक दरिद्रता है भोजन, कपड़े तथा आवास का न मिलना और आध्यात्मिक दरिद्रता है भोग-मान की इच्छा होना। जीव के शुद्ध स्वरूप में कोई इच्छा नहीं है। वह स्वभाव से निष्काम है, फिर उसमें दुख कहां है! दुख तो अज्ञान से ही है। अपने शुद्ध स्वरूप का ज्ञान न होने से विषयों की इच्छा होती है तथा इच्छा होने से दुख होता है। सद्गुरु कहते हैं कि हे जीव! तुम दरिद्रता के बिना दुखी हो। अर्थात तुम अपने निष्काम स्वरूप को न समझने से और जगत-कामना करने से दुखी हो।

"नींद बिना सुख सोवै" यह वाक्यांश बड़ा गम्भीर है। सद्गुरु कहते हैं कि ज्ञानी पुरुष नींद के बिना भी सुख से सोते हैं। यह बात सुनकर धनी लोग तो बिलकुल ही आश्चर्य करेंगे और कहेंगे कि यह तो अद्भुत बात है। हमें तो नींद के अवसर पर अर्थात रात में भी नींद नहीं लगती, सुख से नहीं सो पाते। जब नींद की गोली लेते हैं तब कहीं सपना देखने के समान कुकुरनिंदिया सो पाते हैं और ये फटी हालत के ज्ञानी लोग बिना नींद के सुख से सोते हैं। यह सुनकर धनियों को केवल आश्चर्य नहीं, ईर्ष्या भी होगी। परन्तु बात बिलकुल सच है—"शेते सुखं कस्तु समाधिनिष्ठः।"[2] पूछा गया कि सुख से कौन सोता है, उत्तर मिला जो समाधिनिष्ठ है। 'स्व-अपीति' ही तो असली सुषुप्ति है। स्व सोया है। वह किससे सोया है? प्रपंच से। क्योंकि सोने-जागने की दो दिशों हैं। गीताकार कहते हैं—"समस्त साधारण प्राणियों के लिए जो रात्रि है, उसमें संयमी पुरुष जागता है। जिसमें साधारण प्राणी जागते हैं, तत्त्वदर्शी मुनि के लिए वह रात्रि है।"[3] अर्थात संसारी लोग विषयों में जागते हैं और परमार्थ तत्त्व से सोते हैं—लापरवाह रहते हैं, और ज्ञानी

---

1. दरिद्रो यस्त्वसंतुष्टः कृपणो योऽजितेन्द्रियः।
गुणेष्वसक्तधीरीशो गुणसंगो विपर्ययः॥ भागवत 11/19/44॥
2. स्वामी शंकराचार्य की प्रश्नोत्तरी।
3. या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ (गीता 2/69)

पुरुष परमार्थ तत्त्व में जागते हैं और विषय-प्रपंच से सोते हैं—लापरवाह रहते हैं। जिसके अज्ञान की नींद भंग हो जाती है, वही सुख से सोता है। यहां सुख से सोना है सदैव दुखरहित मन वाला रहना। गीताकार कहते हैं—"दुखों के संयोग से अलग हो जाना ही योग कहलाता है।"[1] स्वरूपज्ञानी पुरुष को कहां मोह और कहां शोक ! वह क्या अपना मानकर उसके लिए शोक करे ! जो स्वरूपस्थिति में नित्य सोता है वह धन्य है। संसार के लोग तो जीवनभर बिस्तर बिछाते रह जाते हैं, वे जीवन में सोने का अवसर नहीं पाते और चल देते हैं, किन्तु ज्ञानी जीवन भर निश्िंचतता की नींद में सोता है। यही उसका "नींद बिना सुख सोना" है। जिसकी अज्ञान की नींद भंग हो गयी है वही तो आनन्द से रह सकता है।

"जस बिनु ज्योति" संसार में कई लोग होते हैं जिनका सुयश चारों ओर फैला रहता है। सर्वत्र उनके नाम की महिमा रहती है। ज्ञानी पुरुष को कोई जाने या न जाने, उसकी उच्च स्थिति की ज्योति विलक्षण होती है। हमारे नाम-रूप का यश संसार में हो, हमारे नाम की बहुत महिमा संसार में फैली हो, इससे न हमें आत्मशांति मिलेगी और न शरीर त्याग देने के बाद उसका हमें पता रहेगा। परन्तु हमारी आत्मस्थिति की ज्योति ऐसी है जो अक्षुण्ण है। इसमें हमें जीवन में शांति तो मिलती ही है, अमर जीवन भी मिलता है। नाम-यश का प्रकाश बाहरी है, स्वप्नवत है; किन्तु स्वरूपस्थिति का प्रकाश भीतर का है, यह अपना निज का प्रकाश है और शाश्वत है।

"रूप बिनु आशिक" मेरे आपा का, ज्ञानतत्त्व एवं निजस्वरूप चेतन का कोई ऐसा रूप नहीं है जो आंखों से दिखाई दे। उसके लिए सद्गुरु ने कहा "जागृत रूपी जीव है।"[2] जीव केवल जागृत रूप है, अर्थात ज्ञानस्वरूप है। परन्तु ज्ञानी उसी का आशिक रहता है। यहां आशिक और माशूक अर्थात प्रेमी और प्रिय दो नहीं हैं। सारे सौंदर्य का केन्द्रबिन्दु अपनी आत्मा ही है। जिसने अपनी चेतना की झांकी पायी है, जिसे अपने चेतन स्वरूप का बोध हो गया है, उसकी दृष्टि में बाहर के रूप फीके हो जाते हैं। अतएव ज्ञानी रूप के बिना ही आशिक होता है। वह अपनी स्वरूपस्थिति का प्रेमी होता है।

"ऐसो रतन बिहूना रोवै" ऐसे स्वरूपज्ञान रूपी मणि को पाये बिना जीव रो रहा है। किसी के घर में अपार सम्पत्ति गड़ी हो, परन्तु वह उसे न जानता हो और अपने आप को दरिद्र मानकर रो रहा हो, या कोई राजा सपने में

---

1. दु:खसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्। (गीता 6/23)
2. साखी 25।

अपने आप को दरिद्र मानकर पीड़ित हो, वही दशा मनुष्य की है। "आतम धन जेहि ठौर है।"[1] उसे न जानकर संसार के सपने में पड़ा हुआ मनुष्य विकल रहता है। दरिद्र रोता है, धनी रोता है, अपढ़ रोता है, विद्वान रोता है, रंक रोता है, राजा रोता है। सारा संसार तो हाय-हाय करके रो रहा है, क्योंकि उसे अपने ज्ञान-रत्न का पता नहीं। "गाँठी रतन मर्म नहिं जाने, पारख लीन्हा छोरी हो।"[2] सबकी गांठ में रत्न है, परन्तु लोग भेद नहीं जानते, इसलिए दुखी बने हैं। यह तो जिसके पास परख होती है, वही उसे पहचान लेता है और पा लेता है। अपने आप को पहचान लेना ही तो वह रत्न पाना है।

"भ्रम बिनु गंजन" भ्रम कहते हैं भूल या मिथ्याज्ञान को। मेरी अपनी सत्ता के होने में क्या भ्रम हो सकता है? परन्तु मनुष्य सारा खगोल-भूगोल पढ़ डालता है, केवल अपने आप को नहीं पढ़ता। अपने आप का शोधन न करने से वह अपने आप का तिरस्कार करता है। गंजन का अर्थ अवज्ञा, तिरस्कार एवं नाश है। इस प्रसंग में तिरस्कार अर्थ उपयुक्त है। जो सबका निर्धारक, निर्णयकर्ता, कल्पक एवं प्रतिष्ठापक है वह स्वयं जीव ही है, आत्मसत्ता ही है, फिर उसकी सत्ता के होने में क्या भ्रम है? परन्तु मनुष्य इस बात पर न ध्यान देकर मानो वह अपने आप का तिरस्कार कर रहा है। गोस्वामी जी के शब्दों में "आतमहन गति जाय" उसकी दशा है।

"मणि बिनु नीरख" जीव कोई भौतिक मणि नहीं है, परन्तु उसे परखना आवश्यक है। जो सबको परखता है उसको न परखकर ही तो सब भटकाव है। जीव सबको परखता है, केवल अपने आप को नहीं परखता। सब कुछ जाना, अपने को न जाना, सब कुछ ठीक किया, अपने आप को ठीक नहीं किया तथा सब कुछ पाया और अपने आप को नहीं पाया तो उसका सब जानना एवं पाना बेकार है।

"रूप बिना बहुरूपा" रूप के बिना भी वह बहुरूपों वाला है। जीव का कोई आंख से दिखने वाला रूप नहीं है। वह तो केवल ज्ञानरूप है। इस प्रकार वह लाल-पीला तथा दुबला-मोटा किसी रूप वाला न होकर भी वही तो मनुष्य, पशु, पक्षी, कृमि आदि सभी रूपों में विद्यमान है। जहां तक ज्ञान का लक्षण मिलता है वह सब चेतन रूप ही है। अतः चेतन रूपरहित होकर भी देहोपाधि से बहुरूप वाला है।

"थिति बिनु सुरति" थिति स्थिति का तद्‌भव रूप है। इसका अर्थ है ठहराव। ठहराव से अर्थ यहां आलंबन है। सामान्य साधक अपनी सुरति एवं

1. बीजक पाठफल, साखी 1।
2. कहरा 6।

ध्यान को किसी आलंबन में ठहराता है, वह चाहे किसी महापुरुष का चित्र हो या ज्योति, नाद हो या कोई भी कल्पित आधार हो। परन्तु यहां तो स्वरूपज्ञानी पुरुष का बिना आलंबन का आधार रहता है। जहां तक लोगों ने ध्यान मान रखा है उन सबका खात्मा ही यहां ध्यान है। किसी पवित्र आलंबन की कल्पना कर मन को उसमें केन्द्रित करना, ध्यान करना, यह प्रथम साधक के लिए ठीक है। परन्तु सहज समाधि तक पहुंचा साधक सारे आलंबनों को तोड़ देता है। वहां मन ही नहीं रह जाता तब मन की कल्पना कहां रहेगी। वहां तो सारे संकल्पों का अन्त है, सारी यादों, स्मृतियों की समाप्ति है। संकल्पों के समाप्त होने पर शेष चेतन सत्ता ही रहती है। इस दशा में किसी दूसरे आलंबन की आवश्यकता नहीं है। जब तक बाह्य आलंबन रहता है, तब तक अंतिम दशा आती भी नहीं।

"रहस बिनु आनंद" रहस आमोद-प्रमोद एवं राग-रंग को कहते हैं। संसार का आनन्द राग-रंग का है, परन्तु उस दिव्य स्वरूपस्थिति का आनन्द राग-रंग से परे है। संसार के राग-रंग क्षणिक हैं, इसलिए उनका आनन्द भी क्षणिक है। परन्तु व्यक्ति की अपनी आत्मा नित्य है, इसलिए जो अपने आत्म स्वरूप में स्थित होता है उसका आनन्द भी स्थिर होता है। कितने राग-रंग वाले संसारी लोग सन्तों को देखकर उन पर तरस खाते हैं। वे सोचते हैं कि इनका जीवन आनन्द से रहित है, क्योंकि संत बाहर से नीरस दिखते हैं। परन्तु भोले दुनियादारों को यह पता नहीं है कि सच्चे और स्थायी आनन्द के उपभोक्ता सन्त ही हैं। भौतिक ऐश्वर्य दिखाई देता है, परन्तु स्वरूपस्थिति का ऐश्वर्य आंखों से दिखने की वस्तु नहीं है। जो अपने आत्माराम में रमता है, वह श्री रामरहस साहेब के शब्दों में भी "बसै आनन्द अटारी" है। अतएव साधक को अपने मन को संसार के ऐश्वर्य एवं राग-रंग से हटाकर स्वरूपस्थिति में रमाना चाहिए जो सदा आनन्द स्वरूप है। "सो जन सदा अनन्दा।"[1] सद्गुरु कहते हैं "ऐसो चरित अनूपा" मनुष्य के भीतर के दिव्य तत्त्व का ऐसा विलक्षण स्वभाव है, जो दुनिया के क्षणिक सुखों से परे नित्य सुखस्वरूप है।

"कहहिं कबीर जगत हरि मानिक, देखो चित अनुमानी।" कबीर साहेब कहते हैं कि इस संसार में हरि ही परम माणिक्य है। कबीर साहेब का हरि मनुष्य का आत्मस्वरूप है। सद्गुरु कहते हैं कि अपने चित्त में विचारकर, खोजकर इसे देखो एवं समझो। "हृदया बसे तेहि राम न जाना।"[2] तथा "दिल

---

1. साखी 322।
2. रमैनी 41।

में खोजि दिलहि माँ खोजो, इहै करीमा रामा।"[1] साहेब कहते हैं कि पदार्थों का लोभ और प्राणियों का मोह त्यागकर सारंगपाणि का भजन करो। सारंगपाणि का अर्थ होता है धनुर्धारी। सारंग=धनुष, पाणि=हाथ। जो हाथ में धनुष धारण करता हो। सारंगपाणि का रूढ़ अर्थ है 'विष्णु'। कबीर साहेब विष्णु को उपास्य नहीं मानते। वे कहते हैं "माया केरी बसि परे, ब्रह्मा विष्णु महेश।"[2] यदि सारंगपाणि श्री रामचन्द्र को माना जाये तो उनको भी कबीर साहेब उपास्य नहीं मानते। कबीर का राम हृदय-निवासी है। उन्होंने कहा "दशरथ सुत तिहुँ लोकहिं जाना, रामनाम का मर्म है आना।"[3] ऐसे आशय की उनकी बहुत-सी पंक्तियां हैं। फिर उन्होंने सारंगपाणि को भजने के लिए क्यों कहा? वस्तुतः कबीर साहेब के समय में हरि, राम, सारंगपाणि आदि शब्द बहुत प्रचलित थे, इसलिए उन्होंने जगह-जगह इन शब्दों का आदर तो किया, परन्तु इनका अर्थ अन्तरात्मा ही माना। और सिद्धांत को निर्भ्रांत रखने के लिए श्री विष्णु, श्रीराम आदि की जगह-जगह आलोचना भी कर दी। जैसे कोई आत्मज्ञानी पुरुष किसी सगुण उपासक से कहे कि भाई, भगवान का भजन करो। परन्तु उस ज्ञानी का मन्तव्य आत्म-भिन्न कोई भगवान नहीं है, किन्तु अन्तरात्मा ही है। कबीर साहेब के मन्तव्य को समझकर ही उनके शब्दों का अर्थ किया जा सकता है, केवल शाब्दिक अर्थ करने से काम नहीं चलता। यही बात सभी ग्रन्थों की है।

इस पूरे शब्द में जो रहस्यात्मक ढंग से स्वरूपज्ञान का वर्णन है उसे देखते हुए ही समझा जा सकता है कि यह किसी देहधारी का वर्णन नहीं है, और न किसी आकाशीय का है, किन्तु व्यक्ति की अन्तरात्मा का है, हृदय-निवासी का है। इसलिए दूसरी पंक्ति में ही कहा गया है—"सब घट रहा समाई।" यह पूरा शब्द स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति का प्रेरक है।

मनोवृत्ति की स्थिति

शब्द-28

भाई रे गइया एक बिरंचि दियो है, गइया भार अभार भौ भारी॥ 1॥
नौ नारी को पानि पियतु है, तृषा तेउ न बुझाई॥ 2॥
कोठा बहत्तर औ लौ लावै, बज्र केंवार लगाई॥ 3॥
खूंटा गाड़ि दवरि दृढ़ बाँधेउ, तैयो तोर पराई॥ 4॥

---

1. शब्द 97।
2. साखी 149।
3. शब्द 109।

चारि वृक्ष छौ शाखा वाके, पत्र अठारह भाई॥ 5॥
एतिक ले गम कीहिसि गइया, गइया अति रे हरहाई॥ 6॥
ई सातों औरों हैं सातों, नौ औ चौदह भाई॥ 7॥
एतिक ले गइया खाय बढ़ायो, गइया तैयो न अघाई॥ 8॥
पुरता में राती है गइया, सेत सींगि है भाई॥ 9॥
अवरण वरण किछउ नहिं वाके, खद्द अखद्दहिं खाई॥10॥
ब्रह्मा विष्णु खोजि ले आये, शिव सनकादिक भाई॥11॥
सिद्ध अनन्त वाके खोज परे हैं, गइया किनहुँ न पाई॥12॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, जो यह पद अर्थावै॥13॥
जो यह पद को गाय विचारै, आगे होय निर्बाहै॥14॥

शब्दार्थ—गइया=गाय, मनोवृत्ति। बिरंचि=विरंच, ब्रह्मा, विधाता, नियम। भार=भारी, बंधनप्रद। अभार=हलका, मोक्षप्रद। भारी=महान। नौ नारी=नौ नाड़ियां—पुहुखा, पयस्विनी, गंधारी, हस्तिनी, कुहू, शंखिनी, अलंबुषा, गणेशिनी तथा वारुणी—तात्पर्य में नौ नाड़ी-ग्रथित शरीर। लौ=धुन, आशा। बज्र केंवार=आंख, नाक, कान, गुदा, उपस्थ बन्द करके योगियों द्वारा लगायी गयी समाधि। खूँटा=आधार, ध्यान का आलंबन। दवरि=रस्सी, ध्यान। चारि वृक्ष=चार वेद—ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व। छौ शाखा=छह वेदांग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष तथा छंद। वाके=वेदों के। पत्र अठारह=अठारह पुराण। गम कीहिसि=खा गयी। हरहाई=हरहट, चंचल। ई सातों=सांख्य, योग, न्याय, मीमांसा, वैशेषिक, वेदांत तथा महाकाव्य। औरों हैं सातों=सप्त प्रमाण—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि तथा सम्भव। नौ=व्याकरण के नौ ग्रंथ। चौदह=चौदह विद्यों। पुरता=कामना पूर्ण करने में, तृप्ति में। अवरण=अवर्ण, रंगरहित। वरण=वर्ण, रंगवाला। खद्द=भक्ष्य। अखद्द=अभक्ष्य।

भावार्थ—हे भाई ! विधाता ने अर्थात प्रकृति के विधान ने मनुष्य को मनोवृत्ति रूपी एक गाय दी है, वह मनुष्य के लिए महान वस्तु है। उसका दुरुपयोग किया गया तो वह बन्धनप्रद बनती है और यदि उसका सदुपयोग किया गया तो वह मोक्षप्रद हो जाती है॥ 1॥ वह नौ नालियों का पानी पीकर भी तृप्त नहीं होती अर्थात नौ नाड़ियों से ग्रथित काया का विषयरस लेकर भी संतुष्ट नहीं होती॥ 2॥ योगी लोग शरीर के छिद्रों को बन्दकर और बहत्तरों कोठों से वायु खींचकर ध्यान के आलंबन स्वरूप ज्योति-रूपी खूंटे में ध्यान रूपी मजबूत रस्सी से इस मनोवृत्ति रूपी गाय को बड़ी मजबूती से बांधते हैं, तब भी यह उसे तोड़कर भाग निकलती है॥ 3-4॥ चारों वेद मानो वृक्ष हैं और उनके छह वेदांग शाखों तथा अठारह पुराण पत्ते हैं। हे भाई ! इन

सबको इस गाय ने चर डाला, परन्तु अघायी नहीं। यह ऐसी चंचल है कि इसने आगे मुंह बढ़ाया॥ 5-6॥ छह शास्त्र, महाकाव्य—ये सात तथा सातों प्रमाण, व्याकरण के नौ ग्रंथ तथा चौदह विद्यों—ये सब खाकर भी गैया न अघायी और आगे पैर बढ़ायी अर्थात इन सबके अध्ययन-मनन के बाद भी मनोवृत्ति शांत न हुई॥ 7-8॥ हे भाई ! हम यह नहीं कह सकते कि यह गाय रंगवाली है या रंगरहित है। हां, इसकी सींगें उजली हैं। अर्थात लक्षण अच्छे हैं। यह निरंतर पूर्णता पाने एवं तृप्त होने में ही तो लगी है। परन्तु इसकी दिशा गलत होने से यह खाद्य-अखाद्य सब खा रही है॥ 9-10॥ हे भाई ! ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सनकादिक और असंख्य सिद्ध इस मनोवृत्ति रूपी गाय की खोज में पड़े हैं कि उसको लाकर अपने घर में बांध लें। अथवा आत्म-भिन्न मनःकल्पित अवधारणा को सब खोजते रहे, परन्तु वह किसी को न मिली॥ 11-12॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो, सुनो, जो विचारक इस पद का अर्थ करे और इसको गाकर इसका विचार करे, उसे चाहिए कि मनोवृत्ति रूपी गाय से आगे निज स्वरूप मुकाम पर पहुंच जाये, और उस स्थिति का जीवनपर्यंत निर्वाह करे॥ 13-14॥

व्याख्या—सद्‌गुरु ने इस शब्द में चंचल गाय के रूपक में मनोवृत्ति का अच्छा नक्शा खींचा है। लोकधारणा है कि ब्रह्मा ने मनुष्य की रचना की है और उसी ने उसे सब कुछ दिया है। कबीर साहेब भी जनभाषा में बोलकर कहते हैं कि हे भाई ! विधाता ने मनुष्य को मनोवृत्ति रूपी एक गाय दी है। ब्रह्मा या विधाता कोई व्यक्ति नहीं है जिसने संसार या मनुष्यादि को रचा हो। ब्रह्मा प्रकृति के नियमों एवं विधानों का एक काल्पनिक प्रतीक है। वस्तुतः जड़-चेतन के नियमों से ही सारी रचनों होती हैं। जितने देहधारी हैं, सब में मन है, परन्तु प्रकृति के नियमों एवं विधानों ने मनुष्य को बड़ा विकसित मन दिया है। विकसित मन के नाते ही यह प्राणी मनुष्य कहलाता है। इस विषय को आगे साखी प्रकरण की आरम्भिक साखियों की व्याख्या में मनन किया जा सकता है। यदि कबीर साहेब ब्रह्मा को सर्वेसर्वा मानते कि उन्होंने मनुष्य को मन दिया है तो वे आगे इसी शब्द की ग्यारहवीं पंक्ति में उनको भी मन की विवशताओं में फंसा हुआ न कहते और बीजक भर में ब्रह्मादि त्रिदेवों की आलोचना न करते। कबीर साहेब की वाणी को समझने के लिए उनके विचार समझने चाहिए। यह भी सच है कि उनके विचार उनकी वाणियों से ही समझे जा सकते हैं।

"गइया भार अभार भौ भारी" यह मनोवृत्ति गाय भारी है, महान है। इसी से तो सारे ज्ञान-विज्ञान शोधे जाते हैं। मन का बड़ा महत्त्व है। मन न होता

तो विचारात्मक कोई सृष्टि ही नहीं होती। मन के दो स्वरूप हैं भार और अभार। भार का अर्थ है बोझिल एवं बंधनप्रद और अभार का अर्थ है हलका एवं मोक्षप्रद। जो मन राग-द्वेष तथा नाना कल्पित मान्यताओं से बोझिल रहता है वही बंधनप्रद है, और जो मन राग-द्वेष एवं सारी कल्पनाओं से रहित है, वह हलका है, मोक्षप्रद है।

"नौ नारी को पानी पियतु है, तृषा तेउ न बुझाई।" शरीर में सहस्रों नाड़ियां हैं, परन्तु पुहुखा, गंधारी आदि नौ नाड़ियां मुख्य मानी जाती हैं। नौ नाड़ियों से काया चलती है। यहां नौ नाड़ियों का लाक्षणिक अर्थ है नौ नाड़ियों से ग्रथित शरीर। अतएव तात्पर्य हुआ कि यह मनोवृत्ति शरीर एवं इंद्रियों के विषय-रस में ही सदैव रमती रहती है। मन सदैव विषयों का रस चखता है, तो भी वह कभी तृप्त नहीं होता। "तृषा तेउ न बुझाई" भोगों को भोगने से कहीं कामनों तृप्त होती हैं? राजा ययाति अपने भोगी जीवन से असन्तुष्ट होकर कहते हैं—"विषयों के भोगों से काम-वासना कभी शांत नहीं हो सकती। जैसे घी डालने से आग बढ़ती है, वैसे भोगों से वासनों प्रबल हो जाती हैं।"[1]

इस मन को वश में करने के लिए हठयोगी लोग बज्रकेंवार लगाते हैं। वे स्थिर आसन से बैठकर दोनों पैरों के गुल्फों और एड़ी से गुदा और उपस्थ को दबा देते हैं। तथा दोनों हाथों की उंगुलियों से कान, नाक और आंखों को बन्द कर लेते हैं। यही बज्रकेंवार लगाना है। वे योगाभ्यास द्वारा शरीर के बहत्तर कोठों से वायु को समेटकर उसे त्रिकुटी के ऊपर सहस्रदल कमल में ले जाते हैं। वहां गरमी से एक ज्योति का प्रकाश दिखता है। उसी को वे खूंटा या आलंबन मानकर ध्यान की रस्सी से अपनी मनोवृत्ति रूपी गाय को बांधते हैं। तब भी यह गाय उस रस्सी को तोड़कर भाग जाती है। अभिप्राय यह है कि कोई हठयोग से समाधि लगाकर अपने मन को भले अचेत कर दे, परन्तु जब वह समाधि से उठेगा और यदि उसके मन में विवेक-वैराग्य नहीं है तो उसका मन स्ववश नहीं रहेगा। हठयोग में माने गये लक्ष्य भी ज्योति, नाद, बिन्दु आदि हैं। वे उन्हीं को ब्रह्म कहते हैं। यह भी एक मनोवृत्ति रूप ही है। अर्थात वे अपनी कल्पित अवधारणा को ही परमात्मा मान लेते हैं जो मन का ही कार्य है। इसलिए हठयोगी मनोवृत्ति के बाहर नहीं हैं।

"चारि वृक्ष छौ शाखा वाके, पत्र अठारह भाई।" ऋक् , यजु, साम तथा अथर्व ये चार वेद हैं। ये मानो वृक्ष हैं। इनकी छह शाखों हैं—शिक्षा, कल्प,

---

1. न जातु कामः कामनामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥ भागवत 9/19/14॥

व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष तथा छन्द। ये छहों, वेदों को समझने के लिए हैं।[1] वेदों के बाद ब्राह्मण ग्रंथ बने हैं जैसे ऐतरेय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण, गोपथ ब्राह्मण, साम ब्राह्मण आदि। इसके बाद आरण्यक ग्रंथ बने। इसके बाद गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र तथा धर्मसूत्र बने, फिर स्मृतियां, महाकाव्य—महाभारत एवं रामायण। साथ-साथ अठारह पुराण[2] एवं अनेक उपपुराण। इसके अलावा श्रमणों-जैनों-बौद्धों के अपार ग्रंथ बने। साहेब कहते हैं कि इन सारे ग्रन्थों को पढ़ने के बाद भी यदि मन विषयों में विचरता रहे तो पढ़ने का मतलब क्या हुआ !

"ई सातों औरों हैं सातों, नौ औ चौदह भाई।" इस पंक्ति में दो बार सातों-सातों आये हैं जो संख्यावाचक हैं। इनमें स्पष्ट निर्देश नहीं हैं कि ये दोनों सातों क्या हो सकते हैं। इसलिए इनका अर्थ टीकाकार या अर्थविचारक जो चाहें सो करें, चाहे वे सात ऊपर तथा सात नीचे के लोक करें, चाहे पांच तत्त्व, मन एवं जीव-व्यष्टि तथा पांच विषय, हिरण्यगर्भ तथा ईश्वर-समष्टि करें, चाहें सप्त धातु एवं सप्त स्वर करें, चाहे अन्य सात-सात संख्या वाले कोई भी नाम गिनों, स्वतंत्र हैं। परन्तु ये लाइनें वाणी-विस्तार की हैं यह ध्यान में रखना चाहिए। इसीलिए यहां सांख्यादि छह शास्त्र तथा महाकाव्य

---

1. शिक्षा—उन ग्रन्थों का नाम है जिनमें वेदों की ऋचाओं का शुद्ध उच्चारण करने का प्रकार बताया गया है। प्रत्येक वेद की पृथक-पृथक शिक्षाएं हैं। एक-एक वेद के भी कई शिक्षा ग्रन्थ हैं।

   कल्प—उन ग्रन्थों का नाम है जिनमें यज्ञ करने का स्पष्ट एवं व्यवस्थित रूप बताया गया है। आकार में संक्षिप्त रखे गये हैं। ये ग्रन्थ भी कई भेदों के हैं।

   व्याकरण—इस वेदांग में वेदों के अर्थों को समझाया गया है और शब्दों का शुद्धस्वरूप निर्धारण किया गया है।

   निरुक्त-इसमें शब्दों की उत्पत्ति एवं स्वर-भिन्नता बतायी गयी है। बहुत पुराना ग्रन्थ निघंटु है। इसी पर यास्क का लिखा बृहत् भाष्य है, जिसका नाम निरुक्त है।

   ज्योतिष—इसमें काल (समय) के गणित इत्यादि का वर्णन है। जो कि यज्ञ के लिए आवश्यक है। उचित समय में किया हुआ यज्ञ ही फलप्रद माना है और वेद प्रायः यज्ञ के लिए प्रवृत्त हैं। अतः इनमें ज्योतिष का महत्त्व है।

   छन्द—इस ग्रन्थ के ज्ञान से वेद मन्त्रों का उच्चारण ठीक रूप से होता है। वेद छन्दों में हैं, अतः उनके उच्चारण के लिए छन्दों का ज्ञान आवश्यक है।

   वेदों के उपर्युक्त छह अंग बताये गये हैं। उनमें व्याकरण वेदों का मुख है, ज्योतिष नेत्र, निरुक्त श्रोत्र, कल्प हाथ, शिक्षा प्राण तथा छन्द दोनों पैर हैं (पाणिनीय शिक्षा 41/42)

2. ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण, शिवपुराण, पद्मपुराण, भागवतपुराण, नारदपुराण, मार्कंडेयपुराण, अग्निपुराण, भविष्यपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, लिंगपुराण, वराहपुराण, स्कन्दपुराण, वामनपुराण, कूर्मपुराण, मत्स्यपुराण, गरुड़पुराण तथा ब्रह्मांडपुराण—ये अठारह पुराण हैं।

और प्रत्यक्षादि सात प्रमाण लिये गये हैं। नौ से व्याकरण के नौ ग्रंथ लिये गये हैं। व्याकरण तो एक ही विषय है, परन्तु इस पर विचार करने वाले तथा लेखक अनेक हुए हैं। प्रसिद्ध नौ हैं—इन्द्र, चन्द्र, काशकृत्सन, शकटायन, आपिशाली, पाणिनि, कुमार, शाकल्य तथा सारस्वत। इसके बाद चौदह विद्यों हैं—ब्रह्मज्ञान, रसायन, काव्य, वेद, ज्योतिष, व्याकरण, धनुर्विद्या, जलतरण, संगीत, वैद्यक, अश्वारोहण, कोकशास्त्र, नाटक-चाटक तथा चातुरी। सद्गुरु कहते हैं कि इन सबको पढ़, गुन, जान तथा समझकर भी यदि आदमी वासनाओं का गुलाम है तो उसका ज्ञान क्या अर्थ रखता है ! जीवन में शांति तो मन को वश में करने से आती है और शांति ही जीवन का परम सुख है। हम मन को पहचान लें, उसे अपने वश में कर लें यही जीवन की सफलता है। यदि यह न हुआ तो सारा ज्ञान माटी है।

"पुरता में राती है गइया" यह मनोवृत्ति रूपी गाय 'पुरता में राती है" पुरता का अर्थ है पूर्ण करना, तृप्त होना, राती का अर्थ है लीन होना या लगा हुआ होना। मन सदैव तृप्त होने में लगा रहता है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि इस गाय की सींगें श्वेत हैं। अर्थात शीर्ष भाग उज्ज्वल है, लक्षण अच्छे हैं। मन तृप्ति चाहता है, तो यह बुरी बात तो नहीं है। वह तृप्त इसलिए नहीं होता कि उसे हम ऐसी वस्तु नहीं दे पाते जिससे वह तृप्त हो सके। जैसे कोई प्यासा आदमी कुआं खोजता हो; परन्तु जिस कुें पर जाता हो, वहां का पानी सड़ा मिलता हो, तो स्वाभाविक बात है कि प्यासा उससे आगे बढ़ेगा। जब तक उसे स्वच्छ जल का कुआं न मिलेगा वह न रुकेगा। मन की यही दशा है। यह तृप्ति चाहता है। हम इसे विषय-भोग देते हैं जो सड़े जल के समान है, इसलिए मन तृप्त नहीं होता। विषय मलिन हैं, क्षणभंगुर हैं, छूटने वाले हैं, इनमें तृप्ति की कोई सम्भावना ही नहीं है। मनुष्य जहां तक अपनी आत्मा से अलग कुछ भी मानकर उसकी कल्पना करता है उसमें मन को तृप्ति मिल ही नहीं सकती। यदि हम मन को स्वरूपज्ञान रूपी अमृत दें, उसे अविनाशी अमृतत्व का मधु पिलों तो वह भटकना छोड़ देगा। दोष मन का नहीं है, दोष है हमारा, जो उसका हम सदुपयोग नहीं करते, उसे स्वरूपज्ञान का अमृत-रस नहीं देते।

"अवरण वरण किछउ नहिं वाके, खद्द अखद्दहिं खाई।" अवर्ण-वर्ण का अर्थ रंगरहित या रंगसहित होना है। साहेब कहते हैं कि हम यह नहीं कह सकते कि यह मनोवृत्ति रूपी गाय रंगरहित है और यह भी नहीं कह सकते हैं कि रंगवाली है। यहां रंग से अभिप्राय लाल-पीलादि से नहीं है, किन्तु बात मन के स्वरूप की है। मन के स्वरूप की व्याख्या करना एक समस्या है। कोई गाय होती है। वह हरहाई है, चंचल है। उसने किसी की फसल चर ली

है। पूछा जाता है कि भाई, वह गाय किस रंग की है? लोग बताते हैं काली है, पीली है, सफेद है, बगरी है आदि। उसके रंग जानकर उसे खोजकर पकड़ सकते हैं। मन का रंग पूछे तो कोई क्या बताये? यह अधर्म की शक्ल में रहता है और धर्म की शक्ल भी बनाना जानता है। यह अच्छी शक्ल बनाकर भी गड्ढे में ले जाने के लिए माहिर है। मन बहुरुपिया है। मन अच्छी बातों की याद कराते-कराते बुरी बातों में ले जाकर जीव को भिड़ा देता है। इसलिए मन से बहुत सावधान रहना चाहिए।

"खद्द अखद्दहिं खाई" गाय तो घास चरती है, मांस नहीं खाती। परन्तु यह मनोवृत्ति रूपी गाय खाद्य-अखाद्य सब कुछ खा जाती है। खाद्य का शुद्ध शब्द है आहार। हम जो कुछ मन तथा इन्द्रियों से आहरण करते हैं वह सब आहार है। आहरण कहते हैं ग्रहण करने को। मन अच्छी और बुरी दोनों बातों का आहरण करता है, इसलिए उसे सद्गुरु ने खाद्य-अखाद्य दोनों को खाने वाला कहा है। साधक का यही प्रयत्न होना चाहिए कि उसकी मनोवृत्ति अखाद्य का त्याग कर दे। वह गलत चिंतन न करने पाये। खराब चिंतन से ही हृदय दूषित होता है। जिसका चिंतन सही है, उसका हृदय शुद्ध होता है।

"ब्रह्मा विष्णु खोजि ले आये, शिव सनकादिक भाई। सिद्ध अनन्त वाके खोज परे हैं, गइया किनहुँ न पाई।" ये दोनों पंक्तियां बड़े-बड़े नामों को चुनौती देती हैं। ब्रह्मा, विष्णु, शिव तो मानो गृहस्थ थे। ये सब संसारी माया जाल में उलझे थे। इनके आचरणों की शिथिलता पुराणों में प्रसिद्ध है। परन्तु विरक्त-चूड़ामणि सनकादि अर्थात सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार तथा असंख्य सिद्ध कहलाने वाले क्या ये भी मन को नहीं परख सके। कबीर साहेब की यहां सूक्ष्म मार है। बड़े-बड़े योगी तथा संन्यासी लोग भी ब्रह्म को अपनी आत्मा से बाहर खोजते हैं। जो वह उनकी एक मनोवृत्ति ही होती है। यदि ब्रह्म खोजा जा रहा है, तो वह मन की एक कल्पना ही है और यह खोजकर कभी नहीं मिल सकता। ब्रह्मादि, सनकादि एवं सिद्धादि लोग "गइया किनहुँ न पाई" कोई ब्रह्म को, ईश्वर को एवं परमात्मा को खोजकर नहीं पाया। जो चीज खोजकर मिलती है, वह तो माया होती है। वस्तुतः सारी खोज खत्म कर देने के बाद, यहां तक इस गैया को, मनोवृत्ति को समाप्त कर देने के बाद जो स्वचेतन सत्ता बच रहती है, वही व्यक्ति का निजस्वरूप है। उसे ब्रह्म, ईश्वर कुछ भी कह लें, यह अपनी खुशी है।

जब ज्ञानी लोग यह मानने लगते हैं कि मैं ही परमतत्त्व हूं, परन्तु सारा विश्व मेरा ही स्वरूप है, जड़-चेतन सब कुछ मैं ही हूं, घट-मृतका, जल-तरंग तथा स्वर्ण-भूषण न्याय मैं ही अखिल विश्व हूं, तब यह पुनः मानो गैया में उलझ जाना है। यह सब एक मनोवृत्ति का ही पसारा है। आत्म-अस्तित्व

की अतिशयोक्ति में यदि हम जड़-चेतन का विवेक ही खो दें तो मानो पुनः मन-मानन्दी में उलझ गये। धर्मशास्त्रों में सनकादिकों के मुख से इन जैसी बातें खूब कहलवा दी गयी हैं। इसलिए सद्गुरु ने आठवीं रमैनी में इस पर खुलकर आलोचना की है और जगह-जगह इस पर विचार किया है। "मैं सर्वत्र व्यापक हूं तथा मैं सारा विश्व हूं" ये दोनों बातें मानसिक भ्रम के अलावा कुछ नहीं हैं। यह भी एक मनोवृत्ति ही है। आत्मा की व्यापकता का अनुभव किसी को नहीं होता है। एक आत्मा व्यापक होने से दूसरे के अस्तित्व का होना ही असम्भव है और आत्मों एक नहीं, असंख्य हैं। यह प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है। चेतन के अलावा जड़ तत्त्व भी हैं और वे भी अनेक हैं। एक-एक तत्त्व में असंख्य परमाणु हैं। इन सारे तथ्यों से आंखें मींचकर यह कह देना कि मैं सर्वत्र व्यापक तथा अखिल विश्व हूं, यह मनोवृत्ति रूपी गैया का ही हरहाईपन है। इसलिए सद्गुरु कबीर कहते हैं कि ब्रह्मादि, सनकादि, सिद्धादि कोई भी गैया को पकड़ न पाये। मनोवृत्ति को छोड़ देने पर स्वरूप से शुद्ध चेतन मात्र रह जाता है। जो सबको परखता है वह स्वयं पारख-रूप तथा ज्ञान-रूप है। बस, उसकी इससे अधिक व्याख्या करना गैया के पीछे दौड़ना है और उसे न पकड़ पाना है।

अन्त में सद्गुरु कहते हैं कि जो इस पद का अर्थ लगाये, इसे गाये और विचारे उसका काम है कि मनोवृत्ति से आगे हो जाये और इस स्थिति का जीवनभर निर्वाह करे। सद्गुरु कहते हैं कि हठयोग और शास्त्रजाल में मत उलझो। जो मैंने यह शब्द गाया है उसके अभिप्राय का ग्रहण यह होगा कि मन का सदुपयोग करो। बिना मन के जीवन नहीं चलता; किन्तु मन में उलझकर जीवन का कल्याण नहीं होता। मन को शुद्ध करो, निर्विषय करो, मन की सारी मान्यताओं का परित्याग करो। समाधि में मन को शून्य कर दो, और व्यवहार में मन के साक्षी रहो। यही मन से आगे हो जाना है "आगे होय"। साधक का काम है मन को पीछे छोड़कर खुद आगे हो जाये। परन्तु यह भी जरूरी है कि "निर्बाहै" इस स्थिति का जीवन भर निर्वाह करे। एक क्षण या एक घंटा के मोक्ष से काम नहीं बनेगा। जीवनपर्यंत मोक्षस्थिति बनी रहनी चाहिए।

विषय-निवृत्ति से ही निजस्वरूप की स्थिति

शब्द-29

भाई रे नयन रसिक जो जागे॥ 1॥
पारब्रह्म अविगति अविनाशी, कैसहु कै मन लागे॥ 2॥
अमली लोग खुमारी तृष्णा, कतहुँ सन्तोष न पावै॥ 3॥

काम क्रोध दोनों मतवाले, माया भरि भरि आवै॥ 4॥
ब्रह्म कुलाल चढ़ाइनि भाठी, लै इन्द्री रस चाहै॥ 5॥
संगहि पोच ह्वै ज्ञान पुकारे, चतुरा होय सो पावै॥ 6॥
संकट सोच पोच यह कलिमा, बहुतक ब्याधि शरीरा॥ 7॥
जहाँ धीर गम्भीर अति निश्चल, तहाँ उठि मिलहु कबीरा॥ 8॥

शब्दार्थ—नयन रसिक=रूप के प्रेमी, तात्पर्य में विषयासक्त। पारब्रह्म= परम तत्त्व। अविगति=अविगत, अज्ञात। कैसहु कै=किसी भी प्रकार। अमली=व्यसनी, आदती। खुमारी=नशा, आंखों में छाया हुआ मद। कुलाल=कलवार, मदिरा बनाने वाला। भाठी=शराब बनाने की भट्ठी। पोच=बुराई, नीचता। कलिमा=कलिकाल, कलह, द्वन्द्व।

भावार्थ—हे भाई! यदि विषयासक्त व्यक्ति भी मोह से जग जाये, तो आज तक उसके लिए जो अज्ञात था, उस अविनाशी परम तत्त्व में किसी प्रकार उसका मन लग जायेगा॥ 1-2॥ जो लोग विषयों के आदती हैं, उन पर सदैव विषयों की तृष्णा का ही नशा चढ़ा रहता है, वे कहीं भी सन्तोष नहीं पाते॥ 3॥ काम और क्रोध ये दोनों उन्मादी मनोवेग हैं जो मनुष्य के मन में बारम्बार भ्रम लेकर आते रहते हैं। अथवा काम और क्रोध में डूबे हुए लोग उन्मत्त होते हैं। उन्हें माया विषय की मदिरा प्याले में भर-भरकर पिलाती है॥ 4॥ कितने ब्रह्मज्ञानी भी एक प्रकार के कलवार हो जाते हैं। वे कल्पना की भट्ठी पर ब्रह्मज्ञान की मदिरा बनाते हैं, और जड़-चेतन तथा भोग-मोक्ष एक में मिलाकर इन्द्रियों के विषय-रस भोगना चाहते हैं॥ 5॥ वे मन में तो विषयासक्ति की बुराई भरे रहते हैं, परन्तु वाणी से ब्रह्मज्ञान की डींग हांकते हैं और कहते हैं कि यह ज्ञान वही पायेगा जो चतुर होगा॥ 6॥ इस द्वंद्व भरे संसार में नाना संकट हैं, चिंतों हैं, बुराइयां हैं और शरीर में अनेक प्रकार की व्याधियां लगी रहती हैं। हे कल्याणार्थियो! जहां धीर, गम्भीर और अत्यन्त निश्चल सद्गुरु हों वहां विनम्रतापूर्वक जाओ और उनकी शरण में लग जाओ तथा उनके उपदेश को पाकर अपने निश्चल स्वरूप में स्थित हो जाओ॥ 7-8॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर साहेब से मानो किसी ने कहा हो कि साहेब, हम तो बहुत विषयी-पामर हैं। हमारा मन ब्रह्म में, राम में कहां लग सकता है! हमारे उद्धार का तो कोई रास्ता ही नहीं दिखता। तब कबीर साहेब ने उनसे कहा हो कि हे भाई! यदि तुम जग जाओ, मोह की नींद भंग कर दो तो धीरे-धीरे जिस किसी प्रकार तुम्हारा भी मन उस तत्त्व में लग जायेगा, जो तुम्हारे लिए आज तक अज्ञात है, किन्तु अविनाशी है और तुम्हारा स्वरूप ही है।

रूपासक्त व्यक्ति को नयनरसिक कहते हैं। यह विषयासक्ति का बहुत स्थूल स्वरूप है। जो बहुत विषयासक्त है, परन्तु कल्याण की कामना जग गयी है तो उसे घबराना नहीं चाहिए। उसे चाहिए कि वह साहसहीन न हो। किंतु विवेक करके विषयों के मोह को भंग करे। पुरुषार्थ द्वारा उसके मन का मोह भी अवश्य टूटेगा। "पारब्रह्म अविगति अविनाशी" पारब्रह्म का शुद्धरूप परब्रह्म है। 'बृहत्त्वात् ब्रह्म' अर्थात बृहत् एवं महान को ब्रह्म कहते हैं। 'पर' विशेषण लगाने से उसका अर्थ निर्गुण रूप, शुद्ध रूप हो जाता है। परब्रह्म का अर्थ हुआ शुद्ध श्रेष्ठ तत्त्व। मनुष्य, स्वरूप के अज्ञानवश श्रेष्ठ तत्त्व को अपने से अलग मानता है, इसलिए वह उसे अविगत एवं अज्ञात कहता है। परन्तु जब विषयों का मोह भंग होकर निज स्वरूप का ज्ञान होता है तब पता चलता है कि वह परब्रह्म श्रेष्ठ तत्त्व, वह अविनाशी स्वरूप मेरी आत्मा ही है। फिर धीरे-धीरे विचार करते-करते निजस्वरूप की दृढ़ता होती है। "कैसहु कै मन लागे" का अर्थ है जिस किसी प्रकार उसका मन निज स्वरूप में लग जाता है। इसका अभिप्राय है कि जो बहुत विषयासक्त है उसका परमार्थ में शीघ्र प्रवेश नहीं होता। वह सेवा, भक्ति, परोपकार, शम, दम, तितिक्षा, सत्संग आदि अनेक साधनों करता है, तो सर्वांग साधन लेते हुए चलने से किसी-न-किसी प्रकार उसका मन शुद्ध हो जाता है और वह परमार्थ में लग जाता है।

"अमली लोग खुमारी तृष्णा, कतहुँ सन्तोष न पावै।" जो व्यक्ति नाना प्रकार के विषयों के भोगने का आदती है, उसे सब समय विषय का नशा चढ़ा रहता है। किसी भी विजाति एवं जड़ वस्तु को भोगने की आदत आदमी के मन को दुर्बल बनाती है। गांजा, भांग, शराब, बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, मैथुन, सिनेमा, नाच-तमाशे आदि किसी भी विषय को भोगने की आदत जब हो जाती है, तब आदमी उसके लिए सब समय दीन बना रहता है। कितने लोग कहते हैं कि महाराज, भोजन न मिले तो चल सकता है परन्तु सिगरेट एक घंटा भी न मिले तो नहीं चल सकता। यह उनकी उसके प्रति अधिक आसक्ति ही है। जब उनसे कहा जाये कि आप को जीवन भर सिगरेट दिया जायेगा, परन्तु भोजन कभी नहीं दिया जायेगा, तब उन्हें पता चलेगा।

आदमी जब किसी व्यक्ति से मोह कर लेता है तब उससे बिना मिले, उसे बिना देखे नहीं रह पाता। भोजन में जब मिर्च, खटाई, अधिक नमक, घी, दूध, दही, महीन चावल या अमुक वस्तु में आसक्ति बना ली जाती है तब उसके बिना खाया नहीं जाता। जिस भी वस्तु-व्यक्ति का राग मन में बन जाता है, उसके बिना आदमी बेचैन हो जाता है। यही उसकी दुर्बलता है।

विषयासक्ति का एक नशा होता है। इस नशा को सद्‌गुरु ने खुमारी शब्द से याद किया है। खुमारी के साथ सद्‌गुरु ने तृष्णा शब्द का प्रयोग किया है। तृष्णा उसे कहते हैं जिसमें कभी तृप्ति नहीं होती। जो जिस विषय में आसक्त है वह उसमें तृप्त नहीं होता।

ऐसे लोग "कतहुँ सन्तोष न पावै।" व्यसनी आदती एवं भोग-तृष्णालु को कभी और कहीं भी संतोष नहीं मिलता। उसका मन नाना भोगों एवं स्थानों के लिए दौड़ता है, परन्तु वहां जाकर या उसे पाकर पुनः असन्तुष्ट ही रह जाता है। विषय-भोग, स्थान, भूमिका, सम्मान, पद, अधिकार जिन्हें भी पाने की मन लालसा करता है, उन्हें पा जाने के बाद भी वह अपने आप को असंतुष्ट ही पाता है। सारे मायावी दृश्यों की यही कथा है। जो मन की शांति छोड़कर भोगों के पीछे भागेगा वह कहीं संतोष नहीं पा सकता। "कतहुँ संतोष न पावै" यह वाक्यांश मुमुक्षु के मन को मथ देने वाला है।

"काम क्रोध दोनों मतवाले, माया भरि भरि आवै।" काम और क्रोध दोनों उन्मत्त वेग हैं। जो मनुष्य के मन में सदैव माया भर-भरकर लहर-पर-लहर आते रहते हैं। माया का अर्थ है व्यामोह एवं भ्रम। काम आने पर मन में एक व्यामोह आता है और आदमी मलिन चीजों को बड़ा प्रिय मान लेता है। इतना ही नहीं, इसके लिए वह लोक-विरुद्ध काम भी करता है। उसके परिणाम में वह अपने भीतर से तो गिर ही जाता है, बाहर लोकदृष्टि में भी गिर जाता है। यही बात क्रोध आने पर होती है। वह नहीं सोचने योग्य बातें सोचता है, नहीं कहने योग्य बातें कहता है तथा नहीं करने योग्य काम करता है। इन सबके परिणाम में वही दशा आती है, भीतर से चंचल, पीड़ित एवं शोकित होता है तथा बाहर से अपमानित। ऐसे व्यक्ति का जीवन अशांत हो जाता है। वस्तुतः काम-क्रोध मन के विकार हैं। जो इनमें जितना पड़ता है, वह उतना ही उन्मादी हो जाता है। काम आने पर क्रोध आना ही है। जब कामना में भंग पड़ता है तब क्रोध आता है और जब कामना सफल होती है तब लोभ आता है। ये सब मन को भ्रमित करने वाले हैं।

"ब्रह्म कुलाल चढ़ाइनि भाठी, लै इन्द्री रस चाहै।" शराब बनाने वाला भट्ठी पर महुआ आदि शराब की उपादान-सामग्री से शराब बनाता है। कथित ब्रह्मज्ञानी भी कल्पना की भट्ठी पर ब्रह्मज्ञान की शराब बनाते हैं। शराब पीकर जैसे मनुष्य सारासार-विवेक से शून्य हो जाता है, वैसे ही कथित ब्रह्मज्ञानी भी ब्रह्मज्ञान की शराब पीकर जड़-चेतन तथा भोग-मोक्ष के विवेक से शून्य हो जाते हैं। वे मानने लगते हैं कि जड़-चेतन में कोई भेद नहीं है, इसलिए भोग-मोक्ष में कोई अन्तर नहीं है। "लै इन्द्री रस चाहै" यह वाक्यांश इसी का

खुलासा है। फिर वे इन्द्रिय-भोगों को भी ब्रह्म रूप मान लेते हैं। वे भोगों को भोगते हुए भी अपने आप को मुक्त ब्रह्म ही मानते हैं। इसका खुलासा पीछे चौदहवें शब्द की व्याख्या और टिप्पणी में पढ़ सकते हैं।

"संगहि पोचह्वै ज्ञान पुकारे, चतुरा होय सो पावै।" ऐसे लोगों के मन में तो विषयासक्ति की मलिनता और ज्ञान-वैराग्य के दिखावे में भोग-वासना की नीचता रहती है, परन्तु वे ज्ञान की बड़ी-बड़ी डींगें हांकते हैं। मैं निर्लिप्त हूं, निष्काम हूं, "भोगहुँ विषय कि त्यागहुँ इन्द्रिय, मोको लगै न रंचक रंग" का आलाप करते रहते हैं। ऐसे ज्ञानी नामधारियों का अध:पतन है। ऐसे लोग समाज में बिगड़ी घड़ी बनकर साधकों को पथभ्रष्ट करते हैं। वे कहते हैं कि जो चतुर होगा, वह इस ज्ञान को पायेगा। भोग और मोक्ष साथ-साथ सम्पादित करने की बुद्धि चतुरता ही है। परन्तु यह चतुरता जीव को नीचे ले जाने वाली है।

"संकट सोच पोच यह कलिमा, बहुतक व्याधि शरीरा।" इस द्वंद्व भरे संसार में संकट, सोच, पोच और शरीर-व्याधि जीव को पीड़ित करते रहते हैं। किसी प्रकार विरोधी कशमकश एवं विपत्ति को संकट कहते हैं। प्रबल शत्रु का सामना, विरोधियों द्वारा घिर जाना, योग्य साथी का छूट जाना, धन-मकान आदि निर्वाह की चीजों का हट जाना या मिट जाना आदि 'संकट' है। इन तथा इन-जैसी हुई दुर्घटनाओं एवं काल्पनिक संभावनाओं को लेकर मन में चिंता करना 'सोच' है और मन, वाणी तथा इन्द्रियों के गलत आचरण 'पोच' हैं। शरीर के नाना रोग 'व्याधि' हैं। इन सबसे मनुष्य हर समय दुखी रहता है।

"जहाँ धीर गम्भीर अति निश्चल, तहाँ उठि मिलहु कबीरा।" सद्गुरु कहते हैं कि हे मुमुक्षुओ, तुम उठकर अर्थात विनम्र होकर उन सद्गुरु की शरण में जाओ जो धीर, गम्भीर तथा अत्यन्त निश्चल हैं। जड़-चेतन तथा भोग-मोक्ष एक में मानने वाले ज्ञानियों के चक्कर में न पड़ जाना। जो स्वयं मन की चंचलता के कारण भटक रहे हैं, उनकी झोली में न गिर जाना। तुम उनकी शरण में जाओ जो मन से धैर्यवान हैं, रहनी से गम्भीर हैं तथा अपने अविनाशी पद में अचल स्थित हैं। ऐसे गम्भीर पुरुषों से उठकर मिलो। "तहाँ उठि मिलहु कबीरा" जब किसी बड़े से मिलना होता है तब हम अपनी जगह से उठकर मिलते हैं। उठकर मिलने का अर्थ है विनम्रतापूर्वक मिलना। पूर्ण सद्गुरु की शरण से मनुष्य का कल्याण-पथ सरल होता है। अंततः तो अपनी स्वरूपस्थिति ही धीर, गम्भीर और अत्यन्त निश्चल पद है। वासनाहीन होकर निजस्वरूप में स्थित हो जाना ही निश्चल पद में पहुंच जाना है।

स्वरूपस्थिति ही परब्रह्म पद है। निजस्वरूप के अलावा कहीं कोई परमात्मा नहीं।

इस शब्द की दो पंक्तियों "ब्रह्म कुलाल चढ़ाइनि भाठी, लै इन्द्री रस चाहै॥ 5॥ संगहि पोच ह्वै ज्ञान पुकारे, चतुरा होय सो पावै॥ 6॥" का विधेयात्मक अर्थ भी किया जा सकता है जिससे यह पूरा शब्द विधेयात्मक अर्थ वाला हो जाता है। इस अर्थ में ब्रह्म का अर्थ मन करना पड़ेगा। अर्थात मन कलवार है जो विषय-वासना रूपी शराब की भट्ठी चढ़ाता रहता है और इन्द्रियों द्वारा विषयों का रस चखना चाहता है। अन्दर में तो विषयासक्ति की बुराई रखता है, परन्तु बाहर ज्ञान की डींग हांकता है, और कहता है कि जो चतुर होगा वह भोग और मोक्ष साथ-साथ पा लेगा।

अनेकता में एकता

शब्द-30

भाई रे दुइ जगदीश कहाँ ते आया, कहु कौने बौराया॥ 1॥
अल्लाह राम करीमा केशव, हरि हजरत नाम धराया॥ 2॥
गहना एक कनक ते गहना, यामें भाव न दूजा॥ 3॥
कहन सुनन को दुइ कर थापे, एक निमाज एक पूजा॥ 4॥
वोही महादेव वोही महम्मद, ब्रह्मा आदम कहिये॥ 5॥
को हिन्दू को तुरुक कहावै, एक जिमी पर रहिये॥ 6॥
वेद कितेब पढ़ै वै कुतबा, वै मोलना वै पाँड़े॥ 7॥
बेगर बेगर नाम धराये, एक मिट्टी के भाँड़े॥ 8॥
कहहिं कबीर वै दूनों भूले, रामहि किनहु न पाया॥ 9॥
ये खसी वै गाय कटावैं, बादिहि जन्म गमाया॥10॥

शब्दार्थ—हजरत=स्वामी, साहब। कितेब=कुरान। कुतबा=कुतुब, किताब का बहुवचन, बहुत-सी किताबें या खुतवा (प्रार्थना)। बेगर बेगर=पृथक-पृथक। भाँड़े=बरतन। बादिहि=विवाद में या व्यर्थ में।

भावार्थ—हे भाई! तुम्हें किसने पागल बना दिया है, ये दो ईश्वर कहां से आ गये? अल्लाह और राम, करीम और केशव तथा हरि और हजरत नाम धराकर ईश्वरों की भीड़ कैसी?॥ 1-2॥ एक सोना से अनेक आभूषण बनते हैं, स्वरूपतः वे सोने ही हैं। इसी प्रकार कहने-सुनने के लिए दो मान्यताओं की स्थापना कर ली गयी, एक नमाज की और एक पूजा की; परन्तु इसमें मूलतः दो भाव नहीं हैं। दोनों का सार है मन को कोमल बनाना॥ 3-4॥ हमारे लिए जैसे श्रद्धेय महादेव और ब्रह्मा हैं वैसे मुहम्मद तथा आदम

होने चाहिए और जैसे मुहम्मद तथा आदम हैं वैसे महादेव तथा ब्रह्मा होने चाहिए॥ 5॥ सभी मानव एक ही जमीन पर रहते हैं, फिर यहां किसको हिन्दू कहा जाये तथा किसको मुसलमान॥ 6॥ वेदादि शास्त्रों को पढ़ने से एक पंडित कहलाता है और कुरानादि किताबों को पढ़ने से एक मौलवी कहलाता है॥ 7॥ अलग-अलग नाम अवश्य रख लिये हैं, परन्तु हैं सब एक ही मिट्टी के बरतन॥ 8॥ कबीर साहेब कहते हैं कि ये दोनों भूल गये हैं। इनमें से किसी ने भी राम या रहीम को नहीं पाया है; क्योंकि एक देव के नाम पर बकरादि प्राणियों का वध कराता है और दूसरा रहीम के नाम पर गाय कटाता है। अतएव दोनों अपने जीवन को व्यर्थ में खोते हैं॥ 9-10॥

व्याख्या—कबीर साहेब के समय में भारत में मुसलमानों का राज्य था और साथ-साथ उनके मजहब का भी दबदबा था। इधर हिन्दुओं का देश यह है ही। हिन्दू पंडित अपने सम्प्रदाय में दृढ़ थे। दोनों में काफी खींचतान चलती थी। दोनों अपने-अपने सम्प्रदाय को ईश्वरीय तथा दूसरे को अनीश्वरीय सिद्ध कर रहे थे। दोनों ईश्वर के भक्त थे और दोनों दोनों के विरोधी थे। एक अल्लाह कहता दूसरा ईश्वर कहता, एक राम कहता दूसरा रहीम कहता। वे दोनों एक दूसरे के शब्दों को नहीं सह पाते थे। हिन्दुओं को अल्लाह शब्द सहन नहीं था तथा मुसलमानों को ईश्वर या राम शब्द सहन नहीं था।

हिन्दू कह रहा था परमसत्ता वह है जिसने वेद भेजे हैं, जो राम-कृष्ण रूप में खुद आया है और हिन्दू-शास्त्र ही उसके आदेश हैं। मुसलमान कह रहा था कि परमसत्ता वह है जिसने कुरान भेजा है, इसलाम दिया है तथा मुहम्मद को भेजा है। कुरान ही उसका आदेश है। मुसलमान हिन्दुओं को काफिर कह रहे थे तथा हिन्दू मुसलमानों को म्लेच्छ। एक दूसरे को न समझकर एक दूसरे के विरोधी बन रहे थे। कबीर साहेब ने कहा कि यदि जगत का कोई मालिक होगा तो एक ही होगा, दो तो नहीं होगा। भले, उसे हम अपनी-अपनी भाषा में ईश्वर या अल्लाह तथा राम या रहीम कह लें, परन्तु यह केवल शब्द एवं भाषा का ही अन्तर होगा, तथ्य का नहीं। जैसे एक ही वस्तु को संस्कृत में जल, हिन्दी में पानी, फारसी में आब, बंगला में जॉल तथा इंगलिश में वाटर कहते हैं, वैसे ईश्वर, अल्लाह, गॉड आदि शब्दों की बात है।

जड़-चेतनात्मक विश्वसत्ता में उसके अपने गुण-धर्म एवं नियम अंतर्निहित हैं। इस विश्वसत्ता के अपने अंतर्निहित नियमों से विश्व निरंतर चल रहा है। इस तथ्य को न समझकर संसार के भावुकों ने अपने-अपने

अलग ढंग से जगत का संचालक, पालक व्यक्ति-ईश्वर की कल्पना की है। उस ईश्वर को लोगों ने इतनी स्थूलबुद्धि से गढ़ा है कि उसने अपने आदेश अमुक किताब के जरिये भेजे हैं, उसने अपने दूत, पुत्र या अवतार भेजे हैं, उसने अपने नियम एवं भाषा भेजी है। सचाई यह है कि सभी ईश्वरवादियों ने अपने बनाये किताब, मजहब एवं अपने माने हुए महापुरुष पर तथाकथित ईश्वर की मोहर मारी है जिससे यह सब जनता में सर्वमान्य हो जाये। नाना मतों द्वारा मानो ईश्वर को गढ़ा ही इसलिए गया है कि उसके नाम पर सही बातों के साथ-साथ ऊलजलूल बातें भी चलायी जा सकें।

प्रकाश की गति एक सेकेण्ड में तीन लाख किलोमीटर है; और ऐसे भी तारे हैं जहां से हमारी पृथ्वी पर प्रकाश आने में अरबों वर्ष लग जायें। परन्तु वही तारा तो संसार का अंत एवं छोर नहीं है। वस्तुतः देश और काल दोनों ही अनन्त हैं। न काल की कोई सीमा है और न देश-शून्याकाश तथा उसमें फैले जड़ द्रव्यों की। हम अनन्त देश-काल-व्यापी विश्व को सोच भी नहीं सकते हैं। अर्थात हमारे मन में अनन्त देश-काल आ भी नहीं सकते, और ऐसे अनन्त विश्व को कोई वेद भेजने वाले ईश्वर से, कोई कुरान भेजने वाले ईश्वर से तथा कोई अन्य ईश्वर से शासित मानता है। जबकि उनकी किताबें एक क्षेत्र एवं काल की चीजें हैं। विश्व तथा उसमें अंतर्निहित उसके नियम दोनों ही अनादि हैं। ईश्वर-अल्लाह आदि व्यक्ति-ईश्वर की कल्पनों एवं किताबें सब बीच की हैं। संसार के लोग संसार के नियमों का अध्ययन नहीं करते जो सबके लिए एक है, किन्तु स्थूलबुद्धि से पैदा हुए ईश्वर-अल्लाह को लेकर आपस में सिरफुटव्वल कर रहे हैं।

संसार में जमीन, रुपये एवं स्त्री को लेकर इन्सान का जितना खून बहाया गया है, ईश्वर को लेकर उससे कम नहीं बहाया गया। यदि कहीं व्यक्ति-ईश्वर बैठा होता तो क्या अपने भक्तों को इतना भी नहीं रोकता कि वे इतनी मूर्खता का काम न करें। वस्तुतः व्यक्ति-ईश्वर कुछ नहीं, विश्व के अपने अनादि नियम हैं जो अनादि स्वचालित हैं। उन्हीं के तहत संसार की सारी क्रियों होती हैं। आदमी अपनी समझ से कर्म करता है और जैसा करता है वैसा भरता है। विश्व के नियम सबके लिए एक तुल्य हैं। आग सबको जलाती है, पानी सबको शीतल करता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चांद, सूर्य, तारे सबके हैं। ये किसी मजहब या सम्प्रदाय के नहीं हैं। मनुष्यों के सुख-दुख, भूख-प्यास, मानसिक एवं शारीरिक व्याधियां एक तुल्य हैं। आवश्यकतों सबकी एक तुल्य हैं। सबको भोजन, पानी, वस्त्र, आवास एवं औषध चाहिए। सबको एक दूसरे से प्रेम चाहिए। सबको मन की शांति प्रिय

है। सबके भीतर एक ही समान ज्ञानमय चेतन एवं आत्मा विद्यमान है। अतएव यहां बीच की पैदा हुई मजहबी मान्यताओं को लेकर लड़ना एकदम बेवकूफी है। सबके भीतर रमने वाला चेतन ही राम है, अल्लाह है, ब्रह्म है। जरूरी है कि हम एक दूसरे से प्रेम करें, यही ईश्वर-भक्ति है। इसमें किसी मजहब एवं सम्प्रदाय की आवश्यकता नहीं है। वैसे मजहब एवं सम्प्रदाय अपनी जगह पर बने रहें, परन्तु वे मानवता का पाठ पढ़ें, साम्प्रदायिकता का नहीं। यह ध्यान रखना चाहिए कि मनुष्य सबसे बड़ा है।

"गहना एक कनक ते गहना, यामें भाव न दूजा। कहन सुनन को दुइ करि थापे, एक निमाज एक पूजा।" सोना एक धातु है। उससे कंगन, कंठा, कुंडल, केयूर, करधन आदि अनेक गहने बनते हैं; परन्तु मूल में कोई अन्तर नहीं रहता। सब में सोना है। इसी प्रकार कोई नमाज पढ़ता है, कोई पूजा करता है, कोई प्रार्थना करता है। यह प्रकार का अन्तर हुआ। सबका सार हुआ मन को विषयों से हटाकर किसी पवित्र अवधारणा में लगाना, मन को कोमल एवं साफ बनाना। नमाज, पूजा एवं प्रार्थना करने के बाद यदि उनके करने वालों के मन पवित्र न हों, वे कोमल, सज्जन, ईमानदार एवं सदाचारी न हों तो उन्हें कोई अच्छा नहीं मानता। मूल्य पूजा, नमाज एवं प्रार्थना का नहीं है, मूल्य है मानवता का, इनसानियत का। आदमी कैसा पागल है, वह पूजा, नमाज एवं प्रार्थना को भी लेकर लड़ता है। पूजा की शंखध्वनि से मुसलमानों की नमाज खराब होती है तथा मुसलमानों की अजान से हिन्दुओं की पूजा। विशाल हृदय अकबर कवि कहते हैं—"मुझे हर दीन के ढंग पर प्रेममग्नता आती है। जब मैं मस्जिद में नमाज पढ़ता हूं उस समय मन्दिर की शंखध्वनि सुनकर नाच उठता हूं।"[1]

"वोही महादेव वोही महम्मद, ब्रह्मा आदम कहिये।" यहां महादेव और मुहम्मद के व्यक्तित्व की एकता की बात नहीं कही जा रही है। यदि महादेव कोई व्यक्ति थे तो वे मुहम्मद के हजारों वर्ष के पहले के होंगे। अतएव न दोनों का समय एक हो सकता है और न व्यक्तित्व। यहां भावना की एकता की बात है। साहेब कहते हैं कि अपने इष्ट में श्रद्धा रखना अच्छी बात है, परन्तु दूसरों के इष्टों के प्रति भी यदि श्रद्धा रखी जाये तो हानि क्या है ! यदि तुम महादेव के प्रति श्रद्धा रखने वाले हो तो मुहम्मद को भी श्रद्धा की निगाह

---

1. आता है वज्द मुझको हर दीन की अदा पर।
मस्जिद में नाचता हूं नाकूस की सदा पर॥
वज्द=प्रेममग्नता। अदा=ढंग। नाकूस=शंख। सदा=शब्द।

से देखो, और यदि तुम मुहम्मद के प्रति श्रद्धा रखने वाले हो तो महादेव के प्रति भी श्रद्धा रखो। ब्रह्मा और आदम की प्रतीकात्मक एकता भी सम्भव हो सकती है। सामी[1] मजहबों में आदम तथा ब्राह्मण-परम्परा में ब्रह्मा सृष्टि के जनक के प्रतीक हैं। ये दोनों ही कोई व्यक्ति नहीं हो सकते, किन्तु केवल प्रतीक हैं। परन्तु प्रतीक की भावनात्मक एकता स्वाभाविक है। ब्रह्मा भी सृष्टि करता है और आदम भी, तो नाम दो हैं, सत्ता दो नहीं है। अतः आदम और ब्रह्मा दोनों में श्रद्धा रखो।

"को हिन्दू को तुरुक कहावै, एक जिमी पर रहिये।" सभी मनुष्य एक जमीन पर रहते हैं, फिर उनमें कौन हिन्दू है और कौन मुसलमान, कौन ब्राह्मण है और कौन शूद्र, कौन ईसाई है और कौन पारसी ! ये सब नाम-रूप तो मानव की बनायी काल्पनिक सीमों हैं। मनुष्य कैसा पागल है, वह भिन्न-भिन्न नाम रख लेने के कारण एक दूसरे से अपने आप को दूर मानने लगा है। देखो न, एक वेद-पुराण पढ़ता है और पंडित कहलाता है, एक कुरान पढ़ता है और मौलवी कहलाता है, एक बाइबिल पढ़ता है और पादरी या फादर कहलाता है, परन्तु सबका अर्थ एक है—धार्मिक विद्वान। सब तो एक मिट्टी के बरतन हैं। इनमें मौलिक अन्तर क्या है? केवल नाम का अन्तर है। लोग एकता में अनेकता देखने के आदी हो गये हैं, वे अनेकता में एकता देखने पर ध्यान ही नहीं देते। बाहरी नाम-रूप की अनेकता होते हुए भी सबके भीतर तो वही जड़-चेतन की समान स्थिति है। सबको भूख-प्यास लगती है। सबको जल-भोजन लेने पर तृप्ति होती है। सबके भीतर मानसिक विकार हैं। सबको शांति तभी मिलती है जब उनके मनोविकार दूर हों। सारी बातों में तो एकता है। इस अनेकता में एकता के सूत्र को देखना चाहिए। कोई राम कहा, कोई रहीम कहा, तो इसमें क्या अन्तर हो गया !

दोनों की महती भूल यह है कि एक देवी-देवता के नाम पर बकरा, मुरगा, सूअर आदि निरीह प्राणियों का वध करता है और दूसरा ईश्वर को खुश करने के लिए गाय, ऊंट, बकरे आदि काटता है। इन भले मनुष्यों को इतनी भी समझ नहीं आ रही है कि जो देवी-देवता एवं ईश्वर-ब्रह्म होंगे वे क्या इतने निर्दय होंगे कि वे अपने भक्तों द्वारा जीव-हत्या करने में आनन्द मानते होंगे ! किसी को पीड़ा देने से यदि कोई खुश होता है तो वह देवता है

---

1. सामी—अरब, असीरिया, बेबिलोन आदि के क्षेत्र के निवासियों को सामी कहते हैं। नूह के बड़े पुत्र का नाम 'साम' था। अरब, यहूदी, मिस्त्री आदि इन्हीं की संतान माने जाते हैं। इसलिए इन्हें सामी कहते हैं।

कि राक्षस एवं भगवान है कि शैतान! वस्तुतः यह दोष न देवता का है न भगवान का। वे तो बेचारे काल्पनिक हैं। दोष तो है इनसान का, जिसकी जीभ प्राणियों के मांस खाने के लिए लपलपा रही है। इसलिए वह धार्मिक ढोंग बनाकर उसे खाना चाहता है। जीव-हत्या तथा मांसाहार दोनों ही हिंसक जानवरों का काम है। स्वार्थी आदमी ने अपने दोषों को ढकने के लिए उसे धर्म का जामा पहना दिया है। उसने जीव-हत्या करते समय काल्पनिक देव एवं ईश्वर का नाम ले लिया तथा मांस को प्रसाद कह दिया। इस प्रकार यह चतुर बना मनुष्य धार्मिक भी बना रहा और अपनी हिंस्र प्रवृत्ति का पोषण भी करता रहा। ऐसे लोग राम-रहीम के ज्ञान से तथा उसकी स्थिति से दूर ही बने रहते हैं।

अविवेक से उलटी गति

शब्द-31

हंसा संशय छूरी कुहिया, गइया पीवै बछरुवै दुहिया॥ 1॥
घर घर सावज खेले अहेरा, पारथ ओटा लेई॥ 2॥
पानी माहिं तलफि गई भुँभरी, धूरि हिलोरा देई॥ 3॥
धरती बरसे बादर भीजे, भीट भये पौराऊ॥ 4॥
हंस उड़ाने ताल सुखाने, चहले बिन्दा पाऊ॥ 5॥
जौलौं कर डोले पगु चालै, तौलौं आश न कीजे॥ 6॥
कहहिं कबीर जेहि चलत न दीसे, तासु बचन का लीजे॥ 7॥

शब्दार्थ—हंसा=हंस, जीव। कुहिया=कत्ल किया। गइया=माया। बछरुवै=बछड़ा, जीव। घर-घर=घट-घट, हर दिल में। सावज=पशु, जिसका शिकार किया जाये, मन। पारथ=पारधी, शिकारी, जीव। ओटा= परदा, सहारा। पानी=जल, शीतल आत्मा। भुँभरी=तप्त बालुका, मनोवृत्ति। धूरि=धूल, कल्पनों। धरती=बुद्धि। बादर=बादल, जीव। भीट=भीटा, टीला। पौराऊ=तैरने योग्य। हंस=जीव। ताल=शरीर। चहले=कीचड़, वासना। बिन्दा=बिंध गया, फंस गया। पाऊ=पैर, लक्ष्य।

भावार्थ—संशय की छूरी मनुष्य का वध करती है। आश्चर्य है कि गाय पीती है और बछड़ा दुहा जाता है। अर्थात माया जीव के ज्ञान का दोहन कर उसे निस्तेज बनाती है॥ 1॥ शिकार-पशु घर-घर में जाकर आखेट करता है और शिकारी भागकर किसी परदे की आड़ में छिपता है। अर्थात हर दिल में मन जीव का शिकार करने के लिए उस पर हमला करता है और जीव देवी-देवताओं का सहारा लेकर बचना चाहता है॥ 2॥ शीतल पानी में तप्त बालुका पीड़ित होकर तलमला उठी और धूल में तरंगें उठने लगीं। अर्थात शीतल

आत्मा के साथ रहते हुए भी मनोवृत्ति अज्ञानवश निरन्तर जल रही है, और धूलवत तुच्छ कल्पनों तरंगें मार रही हैं॥ 3॥ धरती बरसती है, बादल भीगते है और ऊंचे टीले भी पानी में डूब जाने के कारण तैरने योग्य हो गये हैं। अर्थात कल्पनाओं का आधार बुद्धि है वह नाना कल्पनाओं की वर्षा कर रही है और जीव उसमें उमड़-घुमड़कर भीग रहे हैं। इसमें बड़े-बड़े ज्ञानी-मुनि भी डूब गये हैं, अतः उनसे भी हटने योग्य हो गया है॥ 4॥ पहले हंस उड़ गये, तब ताल सूख गया, परन्तु हंस के पैर ताल के कीचड़ में फंस गये। अर्थात जीव शरीर को छोड़कर चल दिया, तब शरीर मुरझा गया। परन्तु जीव का लक्ष्य वासना में फंस गया॥ 5॥ जब तक हाथ-पैर चलते हैं तब तक किसी की आशा मत करो। अथवा जीवनपर्यन्त आशा-वासना से मुक्त रहो॥ 6॥ कबीर साहेब कहते हैं कि जो माया जीव के साथ में अंततः नहीं चलती, बात से भी उसका आदर क्यों किया जाये ! अथवा जो व्यक्ति पवित्र रहनी में नहीं चलता उसकी बातों पर कैसे विश्वास किया जाये !॥ 7॥

व्याख्या—इस मानव-जीव में विवेक के बीज हैं। यह मूलतः विवेकी है। इसलिए सद्गुरु ने इसे नीर-क्षीर-विवेकी के प्रतीक हंस शब्द से व्यक्त किया है। परन्तु दुख यह है कि इसने अपने विवेक का उद्घाटन नहीं किया। इसलिए यह संशय की छूरी से निरन्तर रेता जा रहा है। संशय कहते हैं सन्देह एवं अनिश्चय को। मैं शरीर हूं कि शरीर से भिन्न हूं, अविनाशी हूं कि नाशवान हूं, जड़ हूं कि चेतन हूं, किसी का अंश हूं कि स्वतः हूं, अपूर्ण हूं कि पूर्ण हूं, बाहर से कुछ मिलकर तृप्ति होगी कि मैं स्वभावतः तृप्त हूं इत्यादि आध्यात्मिक संशय हैं। जगत स्वतः स्वचालित है कि इसका कोई चलाने वाला है, देवी-देवता, भूत-प्रेत, मंत्र-तंत्र सत्य हैं कि झूठे हैं आदि आधिदैविक संशय हैं। जीवन का गुजर कैसे होगा, जीवन-निर्वाह का धंधा बना रहेगा कि छुट जायेगा, परिवार के लोग एवं मित्रजन साथ देंगे कि धोखा दे देंगे, शरीर के रोगी एवं बूढ़ा होने पर इसकी सेवा कौन करेगा इत्यादि आधिभौतिक संशय है। उपर्युक्त संशयों की छूरी से मनुष्य सदैव रेता जा रहा है।

इसलिए गाय पीती है और बछड़ा दुहा जा रहा है। यहां कबीर साहेब की प्रसिद्ध उलटवांसी शैली का प्रयोग है। संसार में देखा जाता है कि बछड़ा गाय का दूध पीता है और गाय दुही जाती है। परन्तु यहां उलटा है, गाय ही पीती है और बछड़ा दुहा जा रहा है। गाय माया है, बछड़ा जीव है। माया जीव को पीती है, अर्थात माया जीव का शोषण करती है और जीव के ज्ञान-विवेक का दोहन हो रहा है। माया में आसक्त होकर संसार के नर-नारी आध्यात्मिक शक्ति से निस्तेज होते हैं। संशय एवं अज्ञान से घायल मनुष्य विषयासक्ति

रूपी माया का गुलाम होता है। वह निरन्तर विषयासक्ति में पड़कर निचुड़ जाता है।

"घर घर सावज खेले अहेरा, पारथ ओटा लेई।" सावज वह पशु है जिसका शिकार किया जाता है जैसे हिरन, खरगोश आदि और पारथ पारधी का टुटा हुआ रूप है जिसका अर्थ है शिकारी। संसार में शिकारी पशुओं का शिकार करने के लिए वन में घूमता है और पशु भाग-भागकर तथा झुरमुट की आड़ लेकर बचने की चेष्टा करते हैं। परन्तु यहां उलटा है। यहां वन में आखेट नहीं खेला जाता। यहां तो घर-घर में आखेट चलता है। वह घर है मनुष्य का हृदय। मन पशु एवं शिकार है, जिसे जीव शिकारी बनकर मार सकता है। परन्तु जीव के अविवेक से दशा उलटी हो गयी है। मन ही हर दिल में जीव पर हमला कर उसका शिकार कर रहा है। मन ही शिकारी बन गया तथा जीव शिकार। जीव मन के हमले से बचने के लिए देवी-देवताओं तथा अनेक काल्पनिक अवधारणाओं का आधार पकड़ता है, जो एक धोखा है। जीव को मन का ही अध्ययन करना होगा, मन को समझना होगा और विचारपूर्वक मन को शिकार बनाना होगा।

"पानी माहिं तलफि गई भुँभरी, धूरि हिलोरा देई।" भुँभुरी कहते हैं धूप से गरम धूल या बालू को। गरम बालू शीतल पानी में पड़ने से शीतल हो जाती है, परन्तु यहां तो वह और भी तलमला उठी। मनुष्य की शुद्ध आत्मा स्वभाव से शीतल है, परन्तु उसमें रहकर भी मनोवृत्ति जलती रहती है। अभिप्राय यह है कि मनुष्य का चेतन स्वरूप स्वरूपतः शुद्ध है। शुद्ध होने से मौलिक रूप में शीतल, शांत एवं कल्याणमय है, परन्तु इस प्रकार जीव को स्वरूपज्ञान नहीं है। इसलिए उसकी मनोवृत्ति अनेक चिंताग्नि में निरन्तर जलती है। "धूरि हिलोरा देई" यहां मन की कल्पनों धूल हैं। मन में तुच्छ कल्पनों उठती रहती हैं। बूढ़ा आदमी भी बाइस वर्ष का नौजवान होने की, निर्धन धनी होने की तथा अकिंचन सम्पन्न होने की कल्पना करता रहता है। ये कल्पनों कितनी तुच्छ हैं। इसलिए सद्गुरु ने इन्हें धूल शब्द से याद किया है। मन में अनहोनी कल्पनों उठती हैं तो मानो धूल में तरंगें उठ रही हैं।

"धरती बरसे बादर भीजे, भीट भये पौराऊ।" संसार में बादल बरसते हैं और धरती भीगती है। परन्तु यहां इसमें भी उलटा है। यहां धरती बरसती है तथा बादल भीगते हैं। जैसे धरती सबका आधार है, वैसे बुद्धि ही कल्पनाओं एवं कर्मों का आधार है। बुद्धि शुद्ध हो तो उससे विवेकज्ञान उत्पन्न होने में सहायता मिलती है, और यदि बुद्धि अशुद्ध है तो उससे अनेक बुरी बातें पैदा होकर जीव उसी में भीग जाता है। अतएव अशुद्ध बुद्धि रूपी

धरती अनेक अज्ञान एवं कल्पनाओं की बारिश कर रही है और जीव रूपी बादल उसमें भीग रहे हैं। अभिप्राय है कि मनुष्य अपनी दुर्बुद्धि में तरबतर है। "भीट भये पौराऊ" भीट मिट्टी के ऊंचे टीले को कहते हैं। पानी इतना बरसा कि ऊंचा भीटा भी उसमें डूब गया। वह भी तैरने योग्य हो गया। अभिप्राय है कि दुर्बुद्धि की बारिश में बड़े-बड़े कहलाने वाले भी डूब जाते हैं, इसलिए दुर्बुद्धिग्रस्त बड़े कहलाने वालों से भी सावधान रहने की, उनसे बचे रहने की आवश्यकता होती है। आदमी विद्या, धन, नाम आदि में बड़ा है कि छोटा यह नहीं देखना चाहिए, किन्तु यह देखना चाहिए कि वह विवेकसम्पन्न है या अविवेकी। सदैव अविवेकियों से दूर तथा विवेकवान के हुजूर रहना चाहिए।

"हंस उड़ाने ताल सुखाने, चहले बिन्दा पाऊ।" संसार में ताल सूखने पर हंस उड़ जाते हैं, परन्तु यहां हंस के उड़ने पर ताल सूखता है। अर्थात जब जीव शरीर छोड़कर चल देता है, तब शरीर तुरन्त मुरझा जाता है। हंस के उड़ जाने के बाद उसके पैर ताल के कीचड़ में फंस जाने की बात भी अचरज भरी है। परन्तु समझने में बिलकुल ठीक है। जीव शरीर को छोड़कर चल देता है, परन्तु अपने अज्ञानवश उसका लक्ष्य शरीरासक्ति में फंसा रहता है। अर्थात शरीर छोड़ते समय वह शरीर की वासना को नहीं छोड़ पाता, किन्तु वासना को लेकर जाता है। उसका लक्ष्य रूप पैर मानो देहाध्यास के कीचड़ में फंसा हुआ ही रहता है। जिंदगी की यही तो सबसे बड़ी हार है। शरीर तथा संसार को छोड़ने के पहले ही इनकी वासनों तथा मोह छोड़ देना जीवन्मुक्ति है। यही जीवन में विजय है। वासनाहीन जीवन ही निर्भय, स्वस्थ, प्रसन्न एवं अनन्त शांति का भंडार होता है। परन्तु मनुष्य इस दिशा में न चलकर वासनाओं में भटक जाता है।

"जौलौं कर डोले पगु चालै, तौलौं आश न कीजे।" इस पंक्ति को दो ढंग से समझना चाहिए। पहला ढंग है कि मनुष्य को चाहिए कि जब तक अपना बल चले वह दूसरों के सहारे की आशा न करे, सब समय स्वावलम्बी बने रहने का प्रयत्न रखे। पराश्रित होना अपने आप को बेच देना है। स्वावलम्बन सच्चा सुख है तथा यही उन्नति का पथ है। यह अलग बात है कि आदमी सामाजिक प्राणी है, उसे दूसरों को सहारा देना पड़ता है तथा दूसरों से लेना पड़ता है। इससे कोई बच नहीं सकता। परन्तु इसका अर्थ परावलंबी होना नहीं है। यह तो आपसी लेन-देन है। किसी के ऊपर निर्भर हो जाना परावलंबी होना है। इससे बचना चाहिए। साहेब कहते हैं कि तुम अपनी जिम्मेदारी खुद सम्हालो, किसी पर बोझ न बनो।

उक्त पंक्ति को दूसरे ढंग से ऐसा समझना चाहिए कि जब तक हाथ-पैर चलते हैं, अर्थात जब तक जीवन है, संसार की सारी आशा-वासनाओं को

छोड़कर रहो। पूरा जीवन वासनाहीन होकर बिता दो, तो यही तुम्हारा सर्वोच्च पद पर पहुंच जाना होगा। जीवन्मुक्त होने के लिए यही तो करना है कि जीवन भर आशा-वासना छोड़कर जीना, यह बड़ा सरल है। इसमें कोई कठिनाई नहीं। छूटने वाली चीजों की ही तो वासना छोड़नी है। जो अंततः छूटने वाला ही है उसकी आशा-वासना पहले से छोड़ देने पर यदि अमृत पद मिलता है तो यह काम समझदार के लिए बड़ा ही सुकर है। हम चाहे आशा-वासना छोड़ें या न छोड़ें, शरीर तथा संसार छूटेंगे ही, तो क्यों न उनकी आशा-वासना पहले छोड़ दें, जिसका फल सदा आनंद है—"सो जन सदा अनन्दा।"

"कहहिं कबीर जेहि चलत न दीसे, तासु बचन का लीजे।" सद्गुरु कहते हैं कि तन, धन, परिवार, मान-बड़ाई एवं समस्त मायावी पसारा तुम्हारे साथ चलने वाले नहीं हैं, फिर इनकी बात क्या ली जाये ! अर्थात बात से भी इनकी क्या प्रशंसा की जाये ! जो साथ में रहने वाला नहीं है, उसका मोह त्यागना ही बुद्धिमानी है। इस पंक्ति को दूसरे ढंग से इस प्रकार समझा जा सकता है कि जो पवित्र आचरणों एवं अच्छी रहनी में नहीं चलता उसकी बातों का क्या महत्त्व है ! आचरणहीन कथक्कड़ी की संगत मत करो, किन्तु आचरण-सम्पन्न, रहनी के धनी संत-पुरुषों की संगत करो जिससे तुम्हें सत्प्रेरणा मिलती रहे।

यह पूरा शब्द उलटवांसी में व्यंग्यात्मक ढंग से कहा गया है जो बड़ा ही मार्मिक है। सद्गुरु ने इस शब्द के शुरू में ही मनुष्य को हंस कहकर उसकी मौलिक विवेकसंपन्नता की याद करायी है, परन्तु यह बताया है कि इस विवेक को न जगाने से ही मनुष्य भटक गया है और इसी के परिणाम में यह विपरीत दशा हो गयी है, बछड़े को गाय ही पी गयी, शिकारी को शिकार ही मार दिया, भुंभुरी पानी में ही तलफ गयी, धूल तरंगें मारने लगीं, धरती ने ही बरसकर बादलों को भिगा दिया, हंस के उड़ जाने पर भी उसके पैर कीचड़ में फंस गये। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि परावलंबन छोड़ो, संसार की आशा-वासना छोड़ो, और अपने विवेक को जाग्रत कर अपना कल्याण करो।

भ्रामक गुरुओं का परदाफाश एवं युगों का ऐतिहासिक अध्ययन

शब्द-32

हंसा हो चित चेतु सकेरा, इन्ह परपंच कैल बहुतेरा॥ 1॥
पाखण्ड रूप रचो इन्ह तिरगुण, तेहि पाखण्ड भुलल संसारा॥ 2॥
घर के खसम बधिक वै राजा, परजा क्या धौं करै विचारा॥ 3॥

भक्ति न जाने भक्त कहावै, तजि अमृत विष कैलिन सारा॥ 4॥
आगे बड़े ऐसेहि बूड़े, तिनहुँ न मानल कहा हमारा॥ 5॥
कहा हमार गाँठि दृढ़ बाँधो, निशि बासर रहियो हुशियारा॥ 6॥
ये कलि गुरु बड़े परपंची, डारि ठगौरी सब जग मारा॥ 7॥
वेद-कितेब दोउ फन्द पसारा, तेहि फन्दे परु आप बिचारा॥ 8॥
कहहिं कबीर ते हंस न बिसरे, जेहिमा मिले छुड़ावनहारा॥ 9॥

शब्दार्थ—सकेरा=जल्दी। इन्ह=भ्रामक गुरुओं ने। पाखण्ड=छल, दिखावा, बनावटी। खसम=मालिक। धौं=भला। आगे=भूतकाल के। बिसरे= भूलना।

भावार्थ—हे विवेकवान मानव! तू शीघ्र सावधान हो जा। इन वंचक गुरुओं ने अनेक प्रकार के धोखे का जाल फैला रखा है॥ 1॥ इन्होंने छलावा का रूप त्रिगुण कर्मकांड खड़ा किया है, इस छलावा में सारा संसार भूल गया है॥ 2॥ घर का मालिक और देश का राजा यदि बधिक बन जाये तो बेचारे परिवार तथा देश के लोग क्या कर सकते हैं! इसी प्रकार यदि गुरु लोग ही जनता को धोखे में फंसाते हों तो प्रजा की दशा क्या होगी, यह सहज समझा जा सकता है॥ 3॥ ये तथाकथित गुरु लोग भक्ति नहीं जानते, परन्तु भक्त कहलाते हैं। इन्होंने आत्मज्ञान का अमृत छोड़कर अंधविश्वास रूपी विष को ही सत्य मान लिया है॥ 4॥ भूतकाल के भी कितने बड़े-बड़े कहलाने वाले इसी प्रकार धोखे की धारा में डूब चुके हैं, क्योंकि उन्होंने भी समसामयिक सत्यपथ-प्रदर्शकों की राय नहीं मानी थी॥ 5॥ मेरी बातों को अपने पल्ले मजबूती से बांध लो और इन बंचकों से रात-दिन सावधान रहो॥ 6॥ ये कलियुगी गुरु बड़े जालसाज हैं, इन्होंने ठगाई विद्या का जाल डालकर सारे संसार को फंसा लिया है॥ 7॥ इन्होंने वेद और किताब से सार नहीं लिया है, किन्तु उनके दो जाल फैला रखे हैं जिनमें दूसरों को फंसाते हैं, और ये बेचारे स्वयं भी उनमें उलझे हैं॥ 8॥ कबीर साहेब कहते हैं कि वे विवेकवान इनमें नहीं भूलेंगे जिनको इन बंधनों से छुड़ाने वाले सच्चे गुरु मिल गये हैं॥ 9॥

व्याख्या—इस पूरे पद का भाव भ्रामक गुरुओं को दृष्टिगत रखते हुए कहा गया है जो अत्यन्त विदग्धात्मक है। गुरु के नाम पर पाखण्ड करने वाले समसामयिक लोगों को देखकर कबीर साहेब का मन कितना पीड़ित हुआ होगा यह इन-जैसे पदों से सहज समझा जा सकता है। उस समय आज-कल से भी ज्यादा पाखण्ड था। जब आज इस वैज्ञानिक युग में हम देखते हैं कि नकली गुरुओं की भरमार है और वे कर्मकांड, अंधविश्वास, मंत्र-तंत्र तथा झूठे आश्वासनों में जनता को फंसाकर उनका वंचन करते हैं तो कबीर साहेब

के काल में तो यह सब अधिक ही रहा होगा। परन्तु ध्यान रहे, कबीर साहेब जैसे संतों की चेतावनी आज भी इस विषय में उतनी ही प्रासंगिक है जितनी तब थी; क्योंकि आज भी धर्म के नाम पर लोगों को धोखे में रखकर उनसे अपना भौतिक स्वार्थ साधने वाले सक्रिय हैं।

कबीर साहेब मनुष्य को हंस कहकर उसके मौलिक विवेक की याद दिलाते हैं और कहते हैं कि तुम शीघ्र सावधान हो जाओ। इन पाखण्डी गुरुओं ने तुम्हें फंसाने के लिए बड़ा-बड़ा प्रपंच फैला रखा है। कहीं तो ये अपने आशीर्वाद मात्र से तुम्हें पुत्र, धन, निरोग्यता, विजय, पद, सम्मान सब कुछ दे देने का झांसा करते हैं। कहीं मंत्र-तंत्र के जाल में फंसाकर तुम्हें भोग-मोक्ष देने के लिए तैयार बैठे हैं। कहीं तथाकथित अवतार या सिद्ध बनकर तुम पर हावी होना चाहते हैं। कहीं चमत्कार की जालसाजी कर तुम्हें छलना चाहते हैं। इसलिए ऐसे वंचकों से सदैव सावधान रहो।

"पाखण्ड रूप रचो इन्ह तिरगुण, तेहि पाखण्ड भुलल संसारा।" इन्होंने त्रिगुणात्मक कर्मकांड का छलावा रूप खड़ा किया है जिसमें संसार के लोग भूल गये हैं। यह यज्ञ करो तो पुत्र की प्राप्ति होगी, यह यज्ञ करो तो राज्य की प्राप्ति होगी, यह यज्ञ करो तो शत्रु का नाश होगा, यह यज्ञ करो तो स्वर्ग की प्राप्ति होगी। इस ढंग के बहुत झांसे हैं जिनमें जनता भटक गयी है। निर्दोष नवजात शिशु को सत्तइसा एवं मूलगड़ंत आदि काल्पनिक भयंकर दोषों में बताकर उनके निवारण के लिए पूजा-पाठ का चक्कर डालते हैं और जनता से धन ऐंठते हैं। किसी के ऊपर अन्य प्रकार की आपत्ति-विपत्ति बताकर उसके निवारण के लिए मन्त्र-जप तथा दक्षिणा का चक्कर डालकर उन्हें बेवकूफ बनाते हैं।

"पाखण्ड रूप रचो इन्ह तिरगुण" त्रिगुण का अर्थ है सत, रज एवं तम गुण। इसका तात्पर्य हुआ मायावी। जितने कर्मकांड हैं सब त्रिगुण में लिप्त एवं मायावी हैं। इसके विषय में गीता में श्रीकृष्ण के मुख से भी कहलवाया गया है। "श्रीकृष्ण गोपालक थे, हिंसामय यज्ञ के विरोधी थे। उन्होंने इंद्र का विरोध किया था।"[1] इन सब बातों को मन में रखकर गीताकार ने श्रीकृष्ण का स्वर गीता में उभारा है। श्रीकृष्ण कहते हैं—

"हे अर्जुन ! जो अज्ञानी हैं, वेदों के शब्दों में आसक्त हैं, जो यह कहते हैं कि इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जो विषय-अभिलाषी हैं और स्वर्ग

---

1. ऋग्वेद 8/85/13-15। जहां खिल्य भाग जुड़ा है, वहां यह 96वां सूक्त है। सर राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भाग 1, पृ. 79, सन् 1966 ई.।
अभिलाषदास, गीतासार, आलोचना भाग, सन्दर्भ : क्रांतिकारी महाराज कृष्ण।

को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, वे इस प्रकार की सेमलफूल-जैसी दिखाऊ वाणियों को कहते हैं जिनका निदान कर्मों के फल में पुनर्जन्म की प्राप्ति होती है और जो भोग तथा मायावी शक्तियों की प्राप्ति के लिए नाना प्रकार की विशेष कर्म-विधियां बताती हैं। उपर्युक्त वेदवाणी द्वारा जिनकी बुद्धि मारी गयी है और जो भोग तथा मायावी वस्तुओं में आसक्त हैं, उनकी निश्चयात्मक बुद्धि एकाग्रता में स्थित नहीं होती। वेदों का सम्बन्ध तीनों गुणों की क्रियाओं से है। अतएव हे अर्जुन! तू त्रिगुणात्मक प्रकृति से मुक्त हो जा और दुनियादारी झगड़ों से स्वतन्त्र होकर नित्य सत्य में स्थित, भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति और रक्षा की इच्छा से निवृत्त एवं स्वरूपमग्न हो जा।"[1] मुंडक उपनिषद् में यज्ञ को टूटी नावका बताया गया है जो अपने पुरोहित तथा यजमान को लेकर डूबती है।[2] यज्ञ एवं कर्मकांड से सब कुछ पाने की आशा रखने वालों को मूर्ख, मिथ्या पंडित तथा अंधे को अंधा चलाने वाला बताया गया है।[3]

सद्गुरु कहते हैं कि यह त्रिगुण कर्मकांड का जाल पाखण्डरूप अर्थात छलावारूप है। इससे कुछ होने-जाने वाला नहीं है। परन्तु "तेहि पाखण्ड भुलल संसारा" इस पाखण्ड में संसार के लोग भूले हैं; क्योंकि गुरुओं ने जनता को कर्मकांड तथा पूजा-पाठ के बल पर सारी ऋद्धि-सिद्धि देने का झांसा दिया है।

"घर के खसम बधिक वै राजा, परजा क्या धौं करै बिचारा।" घर का मालिक तथा देश का राजा बधिक बन जाये तो परिवार तथा देश के लोग बेचारे क्या करेंगे! यही दशा गुरुओं की है। गुरु ही कल्याणकर्ता कहलाता है और यदि वही समाज को धोखे में डालकर अपना उल्लू सीधा करता हो तो समाज का कल्याण कैसे होगा!

कल्पित जड़ देवी-देवताओं की पूजा करके लोग कहते हैं कि हम भक्ति करते हैं। साहेब कहते हैं कि यह भक्ति नहीं है। अमृत और विष दो हैं।

---

1. गीता 2/42-45।
2. प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढ़ा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति॥ (मुंडक उपनिषद् 1/7)
अर्थात यह यज्ञ रूपी बेड़ा निश्चित ही कमजोर है। इसमें यज्ञ कराने वाले ब्रह्मा, होता, उद्गाता एवं अध्वर्यु ये चार तथा इनके तीन-तीन सहायक और यज्ञ करने वाले यजमान दोनों प्राणी—इन अठारहों के हीन कर्म हैं। मूर्ख लोग इसी को कल्याणकारी मान लेते हैं जबकि इससे जरा-मृत्यु तथा जन्म-मरण की ही प्राप्ति होती है।
3. अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयंधीराः पण्डितं मन्यमानाः।
जंघन्यमानाः परियन्ति मूढ़ा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥ (मुंडक उपनिषद् 1/8)
अज्ञान में पड़े हैं, परन्तु अपने आप को बहुत बड़ा पंडित मानते हैं। ऐसे मूर्ख लोग तो जैसे अन्धा अंधे को चलाये वैसे एक दूसरे को ठेलते हुए चलते हैं तथा ठोकरें खाते हैं।

अमृत का ग्रहण तथा विष का त्याग भक्ति है। अमृत है व्यक्ति की अमर आत्मा और विष है जड़ासक्ति। लोग अपनी आत्मा की अवहेलना करते हैं और जड़ाध्यास को ग्रहण करते हैं तो यह कौन-सी भक्ति है! जिसके परिणाम में बाह्य जड़ भास-अध्यास का त्याग होकर निजस्वरूप चेतन में स्थिति हो, वही सच्ची भक्ति है और जिसमें साधक निजस्वरूप से बे-भान होकर बाहरी कल्पनाओं में ही भटकता है वह भक्ति नहीं कही जा सकती। इसीलिए सद्गुरु ने कहा "भक्ति न जाने भक्त कहावै, तजि अमृत विष कैलिन सारा।" निज चेतन स्वरूप अमृत है और निजस्वरूप से जो कुछ अलग है वह विजाति है, जड़ है एवं विष है। भूले गुरुओं ने अमृतरूप निजस्वरूप का विचार त्याग कर दिया है, और केवल जड़ देवी-देवताओं तथा परोक्ष मान्यताओं में स्वयं उलझ रहे हैं तथा दूसरों को उलझा रहे हैं, जो विषवत है। भक्ति का शाब्दिक अर्थ है—वियोजन, पृथक्करण एवं विभाजन। इसका अर्थ है विवेक द्वारा अपने आप को जड़देहादि से अलग समझकर असंगभाव में स्थित हो जाना। यही सच्ची भक्ति है।

"आगे बड़े ऐसेहि बूड़े, तिनहुँ न मानल कहा हमारा।" पहले के बड़े-बड़े लोग भी इसी तरह निजस्वरूप बोध छोड़ विजाति मान्यताओं में डूबकर जीवन खो दिये हैं। उन्होंने भी मेरी बातें नहीं मानी। यदि इसी प्रकार सीधा अर्थ किया जाये तो पौराणिक कबीरपंथियों को अपनी मान्यता स्थापित करने में सरलता होगी कि कबीर साहेब सत्युग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग में क्रमशः सत्सुकृत, मुनींद्र, करुणामय और कबीर—इन चार नामों से आते और जनता को उपदेश करते रहते हैं। परन्तु जहां कबीर गुरुओं के पाखण्ड का तीव्र रूप से खंडन करते हैं वहां वे स्वयं अपने लिए पाखंड की बात कैसे कर सकते हैं! कबीर का पाखंड से तो कोई समझौता ही नहीं हो सकता है। कबीर पाखंड के घोर विरोधी हैं। अतएव "तिनहुँ न मानल कहा हमारा" में 'हमारा' शब्द पूर्व के यथार्थ गुरुओं के लिए है। कबीर साहेब कहना चाहते हैं कि हम-जैसे विचारक पहले भी रहे, लोग उनकी बातों पर न ध्यान देकर जड़ एवं परोक्ष मान्यताओं में भटकते रहे।

पहले भी स्वतन्त्र विचारक थे। कपिल, कणाद, बुद्ध, महावीर आदि स्वतन्त्र चिंतक थे ही; वेद, उपनिषद्, शास्त्र आदि में जगह-जगह स्वतंत्र चिंतन के बीज मिलते हैं। हम पीछे उपनिषद् के दो उदाहरण देख ही लिये हैं। महर्षि कपिल के विचार व्यक्त करते हुए श्री ईश्वरकृष्ण अपनी सांख्यकारिका में लिखते हैं—"दृष्ट (लोक) के समान आनुश्रविक (सुने हुए वेदवचन=कर्मकांड) भी अशुद्धि, क्षय तथा अतिशय (विषमता) से पूर्ण होने

के नाते दुखनिवृत्ति करने में असमर्थ हैं। उसके विपरीत 'व्यक्त-अव्यक्त-ज्ञ' अर्थात दृश्य जड़ जगत, अदृश्य जड़ प्रकृति एवं ज्ञाता चेतन पुरुष का विवेकज्ञान दुखनिवृत्ति करने में समर्थ है।''[1] इसका स्पष्टीकरण यह है कि जैसे संसार के सारे भोग नाशवान हैं, वैसे वेदवचनों द्वारा सुने गये सारे स्वर्गसुख भी नाशवान हैं। उन्हें पाने के लिए यज्ञ करने होते हैं जिनमें पशुवध होता है जो अशुद्धि है। स्वर्ग में स्थिति सातिशय अर्थात विषम रहती है। वहां भी कोई बड़ी बिल्डिंग वाला तथा कोई छोटी बिल्डिंग वाला है। अतः वहां भी हर्ष-शोक, ईर्ष्या-द्वेष लगे ही रहते हैं। अन्त में उनका छूट जाना तो निश्चित ही है। ये तो जब स्वर्ग हो तब की बात है, वस्तुतः स्वर्ग ही काल्पनिक है। इसके उलटे सांख्यविचार में तो प्रकृति-पुरुष का विवेक है जिसमें पुरुष प्रकृति से अपने आप को अलग कर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। इसके लिए अगली कारिका है—

''जब साधक यह समझ लेता है कि अव्यक्त=अदृश्य प्रकृति तथा व्यक्त=दृश्य कार्य जगत से ज्ञ=ज्ञाता चेतन पुरुष सर्वथा पृथक है तब 'नास्मि, न मे, नाहम्' अर्थात न मैं (क्रियावान) हूं, न मेरा (भोक्तृत्व) है और न मैं (कर्ता) हूं—जब इस प्रकार का पूर्ण अभ्यास हो जाता है, तब कुछ बाकी नहीं रहता है। तब सम्पूर्ण भ्रमों का अन्त होकर विशुद्ध केवल-असंगत्व ज्ञान की उत्पत्ति होती है।''[2] इससे अधिक स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति के विषय में और क्या कहा जा सकता है! महर्षि कपिल का मूल ग्रन्थ तो आज उपलब्ध नहीं है; उनके नाम पर प्रचलित सांख्य सूत्र पीछे की किसी की रचना मानी जाती है। सांख्यदर्शन का प्रामाणिक ग्रन्थ दो हजार वर्ष से श्री ईश्वरकृष्ण की रचना सांख्यकारिका ही मानी जाती है और उसमें पुरुष (चेतन) के लिए कहीं भी व्यापक तथा इसका पर्यायवाची शब्द नहीं कहा गया है। अतएव पहले भी स्वतन्त्र चिंतक थे।

भुलक्कड़ एवं स्वार्थी गुरुओं से अत्यन्त सावधान करते हुए सद्गुरु जोर से कहते हैं—''कहा हमार गाँठि दृढ़ बाँधो, निशि बासर रहियो हुशियारा।'' हे कल्याणार्थी, हमारी बातें अपने मन में पक्की कर लो। इन भ्रामक गुरुओं से रात-दिन सावधान रहो। ये तुम्हें फंसाने के लिए भयंकर जाल बिछाकर उसमें मोहक चारा डाल रखे हैं। ये कलियुगी अर्थात धोखाधड़ी करने वाले गुरु बड़े

---

1. दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्॥ (सांख्यकारिका, 2)
2. एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्। (सांख्यकारिका, 64)

प्रपंची हैं, झमेला बढ़ाकर फंसाने वाले हैं। इन्होंने ठगौरी जाल बिछाकर सबको फंसा रखा है।

सद्गुरु ने यहां कहा है—"ये कलिगुरु बड़े परपंची"। अतः हम यहां 'युग' पर थोड़ा विचार कर लें। भारत की सर्वाधिक पुरानी पुस्तक ऋग्वेद है। उसमें कम-से-कम 33 (तैंतीस) बार युग शब्द का प्रयोग हुआ है; परन्तु उनके अर्थ कहीं बैलों को जोतने का बना काष्ठ का 'जुआ', कहीं अल्पकाल की अवधि, कहीं एक पीढ़ी, कहीं चार-पांच वर्षों की अवधि, कहीं करीब पांच हजार वर्ष की अवधि माने गये हैं, यद्यपि ये सब अर्थ भी बहुत निर्भ्रांत नहीं हैं। इतना पक्का है कि ऋग्वेद में सत्युग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग नाम नहीं आये हैं। वेदों में सत्युग का पर्यायवाची शब्द कृत तथा कलि आये हैं परन्तु ये जुआ में पासे फेंकने के अर्थ में हैं।[1] ऐतरेय ब्राह्मण में चार युगों के नाम व्यावहारिक रूप में आये हैं—"सोने वाला आदमी कलि है, जग जाने वाला द्वापर, उठ जाने वाला त्रेता तथा चलने वाला सत्युग है।"[2]

भारतरत्न डॉ. पांडुरंग वामन काणे लिखते हैं—"वेदांगज्योतिष में भी 'युग' शब्द पांच वर्ष की अवधि का द्योतक है (पञ्चसंवत्सरमयं युगाध्यक्षं प्रजापतिम्)। प्राचीन पितामह सिद्धांत के मत में वराहमिहिर की पंचसिद्धांतिका (21/1) में 'युग' का अर्थ होता है सूर्य और चन्द्रमा के पांच वर्ष (रविशशिनोः पञ्चयुगं वर्षाणि पितामहोपदिष्टानि)। वही अर्थ शांतिपर्व (11/38) में भी है। निरुक्त (1/20) ने प्राचीन ऋषियों और पश्चात्कालीन ऋषियों में अन्तर इस प्रकार व्यक्त किया है—प्राचीन ऋषि साक्षात्कृतधर्मा (धर्म के प्रत्यक्षदर्शी) थे और उन्होंने असाक्षात्कृतधर्म वाले ऋषियों को शिक्षा द्वारा मंत्र ज्ञान दिया। किन्तु इसने न तो चारों युगों के सिद्धान्त का वर्णन किया है और न किसी प्रकार का संकेत ही किया है। गौतम (1/3-4) एवं आपस्तंब धर्मसूत्र (2/6/13/7-9) ने स्पष्ट कहा है कि प्राचीन ऋषियों में धर्मोल्लंघन एवं साहस के कार्य देखे गये हैं, किन्तु आध्यात्मिक महत्ता के कारण वे पापी नहीं हो सके, किन्तु पश्चात्कालीन मनुष्य को आध्यात्मिक

---

1. धर्मशास्त्र का इतिहास, खंड 2, पृ. 982।
2. कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन॥ (ऐतरेय ब्राह्मण 33/3)
मनुस्मृति में—सत्युग में तप, त्रेता, द्वापर में यज्ञ तथा कलि में केवल दान महर्षियों ने प्रधान धर्म कहा है। यथा—
तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुदनिमेकं कलौ युगे॥ (मनुस्मृति 1/86)

शक्ति दौर्बल्य के कारण वैसा नहीं करना चाहिए, नहीं तो वह कष्ट में पड़ जायेगा। यहां पर स्पष्टतः प्राचीन ऋषियों एवं पश्चात्कालीन ऋषियों के आध्यात्मिक गुणों के विषय में अन्तर बताया गया है, किन्तु चारों युगों के नामों अथवा उनके सिद्धान्त के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया है। आपस्तंब धर्मसूत्र (1/2/5/4) का कहना है कि आगे के मनुष्यों में नियमातिक्रमण के कारण ऋषि उत्पन्न नहीं होते (तस्माद‍ृषयोऽवरेषु न जायन्ते नियमातिक्रमात्)। अतः ऐसा कहना संभवतः भ्रामक न सिद्ध होगा कि गौतम एवं आपस्तंब[1] के आरंभिक धर्मसूत्रों के समय में भी युग-सम्बन्धी सिद्धान्त का पूर्ण विकास नहीं हुआ था, यद्यपि दोनों ने यही कहा है कि वे पतन के युग में हैं और मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के उपरांत वाले ऋषि लोग निकृष्ट हैं।"[2] ऋग्वेद (10/10/10) में भी यम ने अपनी बहन यमी से कहा है कि आगे आने वाले काल में बहनें अयोग्य कर्म करेंगी। वस्तुतः युगों और कल्पों के सिद्धान्त का उदय ईसा पूर्व तीसरी-चौथी सदी में हो गया था और ईसा के बाद विकसित हो गया था।"[3] गुप्तकाल में इसका खूब प्रचलन हो गया था।

जब सत्युग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग का प्रचलन हो गया तब चारों के धर्म बताये गये। सत्युग में तप, त्रेता में दार्शनिक ज्ञान, द्वापर में यज्ञ और कलि में केवल दान परमधर्म है।[4] कलि के इस परम धर्म दान को गोस्वामी तुलसीदास जैसे भक्त कवियों ने खींचकर नाम कर डाला—"कलियुग केवल नाम आधारा। सुमिरि सुमिरि भव होवहिं पारा।"

चारों युगों का निर्धारण हो जाने के बाद भी मनुस्मृति में कहा गया कि युग समय की कोई निश्चित अवधि नहीं है। राजा अपने आचरण से एक युग की विशेषताओं को दूसरे युग में बदल सकता है।[5] परन्तु महाभारत तथा पुराणों में कलिकाल को बड़ा बुरा कहा गया है और यह धारणा बढ़ती गयी कि कलियुग पतनयुग है। प्रायः सभी पुराणों में कलियुग का भयावह वर्णन

---

1. गौतम एवं आपस्तंब का काल 600 से 300 वर्ष ईसा पूर्व माना गया है।
2. धर्मशास्त्र का इतिहास, खंड 2, पृ. 983।
3. वही, खंड 2, पृ. 984।
4. मनुस्मृति 1/85/86; पराशर 1/22-23; शांतिपर्व 232/32-38।
5. कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च।
   राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते॥
   कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद् द्वापरं युगम।
   कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम॥ (मनु 9/301-302)
   अर्थात् सत्युग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग ये सब युग राजा के आचरण से होते हैं, अतएव राजा ही युग कहलाता है। राजा यदि उद्यमहीन होकर सोता है तो कलियुग है, उसके जगने पर द्वापर, कर्म में लगे हुए होने पर त्रेता तथा राजा यदि विचरणशील है तो सत्युग है।

किया गया। सारतः सबने यही कहा कि कलियुग में शूद्र तथा म्लेच्छ राजा होंगे, जाति सम्बन्धी कर्तव्यों का उलट-फेर हो जायेगा। वर्णधर्म मिट जायेगा, नास्तिकों का बोलबाला होगा और आदमी की नैतिकता घट जायेगी।

कबीर साहेब के जमाने में कलियुग शब्द का धार्मिक क्षेत्र में बड़ा बोलबाला था। अतः इस शब्द का प्रभाव कबीर साहेब पर भी पड़ा, और उन्होंने अपनी वाणियों में इस शब्द का प्रयोग 'कलि' कहकर किया। परन्तु उसके विषय में उनका अपना अर्थ था। कबीर साहेब के विचार से तो कलि का अर्थ था पुरोहितों का प्रपंच और दुर्बुद्धि, जिनके कारण मनुष्यों के बीच में भेदभाव तथा नाना अंधविश्वास फैले थे। इस शब्द में यही कहा गया "ये कलि गुरु बड़े परपंची"। आगे 44वें शब्द में कहा गया है "कलि में रहत अकेली" इत्यादि। कबीर साहेब ने बीजक में प्रायः यह नहीं कहा कि खराब समय आ गया या आने वाला है, बल्कि उन्होंने 'कलि' शब्द कहकर उसे दुर्बुद्धि-सूचक के रूप में लिया है।

"वेद-कितेब दोउ फन्द पसारा, तेहि फन्दे परु आप बिचारा।" यह पंक्ति बड़ी क्रांतिकारी है। वेद से अर्थ है हिन्दुओं का धर्मशास्त्र तथा कितेब से अर्थ है मुसलमानों का धर्मशास्त्र। धर्मशास्त्रों में श्रद्धा रखना तथा उनसे सत्य बातें लेकर अपना कल्याण करना तथा समाज को भी सत्प्रेरणा देना यह बड़ी अच्छी बात है। परन्तु प्रायः ऐसा नहीं होता है। बल्कि कहा यह जाता है कि हमारा धर्मशास्त्र ईश्वर-वचन है। इसमें जो कुछ लिखा है इसका जो हम अर्थ करते हैं वही सत्य है। इसे जो नहीं मानता है वह नरकपंथी नास्तिक एवं काफिर है और जो इसे मानता है वही स्वर्ग या मोक्ष प्राप्त करता है।

हिन्दू पण्डित कहते हैं कि हमारे धर्मशास्त्रों में लिखा है कि समाज का एक बड़ा हिस्सा शूद्र है, अछूत है, मन्दिर में प्रवेश करने का अधिकारी नहीं है। ब्राह्मण आचरणहीन होने पर भी पूज्य है, शूद्र सद्गुणसम्पन्न होने पर भी पूज्य नहीं है। शूद्र तप करता हो, ऊंची गद्दी पर बैठकर उपदेश करता हो तो उसकी हत्या कर देनी चाहिए। ऐसा राम तथा बलराम[1] ने किया था। यही वैदिक मर्यादा है। यही प्रभु वचन है। शूद्र का तप, विद्या, संन्यास, मोक्ष किसी में अधिकार नहीं है। यही ईश्वर का आदेश है। शास्त्र ईश्वर-वचन है।

मुल्ला कहते हैं कि कुरान ईश्वर की वाणी है, मुहम्मद ईश्वर का पैगम्बर है तथा इसलाम ईश्वर का दिया हुआ दीन है। जो इन्हें नहीं

---

1. श्री राम द्वारा शंबूक-हत्या तथा बलराम द्वारा सूत-हत्या देखिये क्रमशः वाल्मीकीय रामायण उत्तरकांड, सर्ग 73 से 76 तक तथा श्रीमद्भागवत 10/78।

स्वीकारता वह काफिर है, नरकगामी है। कुर्बानी के नाम पर ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए पशुओं को मारना ईश्वर का आदेश है।

कबीर साहेब कहते हैं कि यह पण्डित-मुल्ला द्वारा फैलाया गया फन्दा है। यही वेद-कितेब का फंदा है। वेद का अर्थ यहां शब्दशः ऋक, यजु, साम तथा अथर्व नहीं है। सरल अर्थ है शास्त्र-प्रमाण का जाल, जिसकी आड़ में गुरुओं ने जनता को सदैव अंधकार में रखा है और अपना स्वार्थ साधा है। यहां पण्डित-मुल्ला की तरफ संकेत है। इसी प्रकार पादरी तथा अन्य मत के भ्रामक गुरुओं के लिए भी समझा जा सकता है। साहेब कहते हैं कि इन भ्रामक गुरुओं ने समाज को तो उलझाया ही है, और वे अबोधी तथा भ्रमित होने से स्वयं भी उसी में उलझे हैं। जो दूसरे के लिए खाई खोदेगा तो उसमें स्वयं भी गिरेगा ही।

"कहहिं कबीर ते हंस न बिसरे, जेहिमा मिले छुड़ावन हारा।" जिनको सच्चे सद्गुरु मिल गये हैं वे हंस भ्रामक गुरुओं के जाल में नहीं भूलेंगे एवं नहीं फंसेंगे। सच्चा गुरु वही है जो सारासार का पारखी है। जो महापुरुष, शास्त्र तथा परंपरा को आंख मूंदकर नहीं मानता, किन्तु हर जगह नीर-क्षीर विवक करता है, ऐसा अन्वीक्षक, पारखी एवं विवेकी सद्गुरु जिसको मिल जाते हैं वे हंस जीव धन्य हैं। वे भ्रामक गुरुओं के भ्रम-जाल से बच जाते हैं। जिनको विवेकी सद्गुरु मिल गये वे हंस जीव अपने स्वरूप का विस्मरण नहीं करते। वे भ्रम से हटकर सदैव आत्माराम में रमण करते हैं।

हंस को चेतावनी

शब्द-33

हंसा प्यारे सरवर तजि कहाँ जाय॥ 1॥
जेहि सरवर बिच मोतिया चुगत होते, बहु विधि केलि कराय॥ 2॥
सूखे ताल पुरइनि जल छाँड़े, कमल गये कुम्हिलाय॥ 3॥
कहहिं कबीर जो अबकी बिछुरे, बहुरि मिलो कब आय॥ 4॥

शब्दार्थ—हंस=जीव। सरवर=शरीर। मोतिया=मोती, विषय-भोग। केलि=क्रीड़ा, उपभोग।

भावार्थ—हे प्यारे हंस! तुम शरीर रूपी सरोवर को छोड़कर कहां जाओगे, इस पर कभी विचार किये हो?।।1॥ जिस शरीर-सरोवर के बीच में भोग रूपी मोती चुगते थे और अनेक प्रकार विषय-क्रीड़ा करते थे॥ 2॥ वह शरीर सूख गया। उसे बुढ़ापा ने जरजर कर दिया। चाम रूपी पत्ते ने रक्त रूपी जल को छोड़ दिया, और मुख-कमल, नेत्र-कमल, हृदय-कमल, कर-कमल

जहां तक कमलों की उपमा दी जा सकती है, वे सारे अंग सूखकर दुर्बल हो गये॥ 3॥ सद्गुरु कहते हैं कि हे हंस, स्वरूपस्थिति किये बिना जब अबकी इस शरीर से बिछुड़ जाओगे तब कब पुनः इस साधनधाम में आकर मिलोगे। अतः आज ही कल्याण-कार्य कर लो॥ 4॥

व्याख्या—भारतीय परम्परा में जीवात्मा को हंस भी कहा जाता है। कबीर साहेब को हंस शब्द ज्यादा प्रिय है। हंस पक्षी नीर-क्षीर अलग करके केवल क्षीर लेकर नीर त्याग देता है। इस रूढ़ धारणा के कारण कबीर साहेब मानव-जीव को हंस शब्द से याद कर उसे विवेक जगाने के लिए प्रेरित करते हैं।

जीव इस शरीर में रहते-रहते भूलवश इसमें विवेक न जगाकर और साधना द्वारा वासनाओं से मुक्त होने का काम न कर इस शरीर ही में आसक्त हो जाता है। वह भूल जाता है कि यह देह केवल साधना करने के लिए थोड़े दिनों के लिए मिली है। वह समझ लेता है कि यह इन्द्रियों के भोगों को भोगने के लिए मिली है। वह याद ही नहीं करना चाहता कि इसे एक दिन छोड़ना है। जीव देह-इंद्रियों से मोक्ष-साधना न कर उनका विलासी बन जाता है। वह इस हाड़-चाम के पिंजरे में अत्यन्त मोह कर लेता है। करना था अनासक्ति की साधना और कर लिया मोह। अतएव मोक्ष-साधना तथा देह की मृत्यु की कभी न याद करने वाले तथा देहासक्ति में आकंठ डूबे हुए जीव को कबीर साहेब झकझोरकर जगाते हुए कहते हैं "हे प्यारे हंस, तुम इस शरीर-सरोवर को छोड़कर कहां जाओगे !"

सद्गुरु चाहते हैं कि जीव की तंद्रा भंग हो। वे पहली पंक्ति में दो मार्मिक चोट करते हैं। पहली बात कहते हैं कि तुम नीर-क्षीर विवेकी हंस हो। तुम्हें अपने आप को देह में से विवेक द्वारा उसी प्रकार अलग कर लेना चाहिए जैसे लोग मूंज में से सींक बेदाग निकाल लेते हैं या जैसे इमली के फल में से उसके बीज निकाल लेते हैं। अर्थात विवेक द्वारा तुम्हें अपनी आत्मा को हरदम देह से सर्वथा अलग समझना चाहिए। उनकी दूसरी मार है कि तुम शरीर छोड़कर कहां जाकर रहोगे, क्या इस पर कभी विचार किये हो? वस्तुतः तुम शरीराभिमान में डूबे हो। परन्तु समझ लो कि यह अचानक तुमसे अलग होकर जड़ प्रकृति में लीन हो जायेगा, तब तुम कहां रहोगे? किसमें विलास करोगे? तुम्हारा ठहराव उस समय कहां होगा जब यह देह बिखर जायेगी?

जो अपने चेतन स्वरूप को देह से सर्वथा अलग समझकर तथा इस गंदे, क्षणभंगुर एवं दुखपूर्ण शरीर का मोह सर्वथा त्यागकर अपने स्वरूप एवं

अपनी आत्मा में ही रमता है एवं अपने स्वरूप में ही स्थित होता है उसके लिए देह का रहना या न रहना बराबर हो जाता है। जो देह में रमता है उसे देह छोड़ने के बाद भटकना है। उसी से सद्गुरु का प्रश्न है कि तुम देह छोड़कर कहां जाओगे? परन्तु जो अपनी आत्मा में रमता है उसे भटकने का कोई प्रश्न ही नहीं। किसी की भी अपनी आत्मा उससे नहीं छूटती। अस्थायी घर में रहने से, घर टूट जाने पर रहने की समस्या उत्पन्न होती है। परन्तु जिसे ऐसा घर मिल जाये जो कभी न छूटने वाला हो, उसे भटकने का कोई प्रश्न ही नहीं है। निजस्वरूप चेतन ही ऐसा घर है जिसमें स्थित हो जाने पर कभी भटकना नहीं है। मूलतः विवेकवान मानव अपने विवेक को खोकर देह की आसक्ति में डूबा है, इसलिए सद्गुरु उसे जगाते हैं कि तुम देहाभिमान छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित होओ।

हंस मानसरोवर में मोती चुगता है और क्रीड़ा करता है। मोती चुगने की बात एक प्रशंसा मात्र है। अर्थ है हंस मानसरोवर में यथेष्ट चारा चुगता है और आनंद-विहार करता है। यह रूपक हुआ। इसका अभिप्राय है कि जीव इस देह में इन्द्रियों के विषय भोगों को भोगता है और क्रीड़ा-विलास करता है। वह आंखों से रूप में ललकता है, जीभ से स्वाद में, नाक से गंध में, कान से शब्द में तथा त्वचा से स्पर्श में और मन से संकल्प-विकल्पों में डूबा रहता है। परन्तु यह सब इन्द्रियों का राग-रंग कब तक चलेगा? ये कितने दिन के हैं? थोड़े ही दिनों में "सूखे ताल पुरइनि जल छाँड़े, कमल गये कुम्हिलाय।" यह शरीर-ताल तो बहुत थोड़े दिनों में सूखने लगता है। सोलह से पचीस वर्ष की उम्र तक जो देह में लावण्य एवं माधुर्य रहते हैं वे तीस तक नहीं रह जाते और जो तीस से पैंतीस तक बची-खुची चमक रहती है वह उसके बाद खो जाती है। फिर तो धीरे-धीरे सभी अंगों का रस-हीन, कांति-हीन एवं सौंदर्य-विहीन होते जाना ही है। दिन-दिन चाम में सिकन आने लगती है। मुख तथा हाथ-पैर में मोटी-मोटी नसें निकलने लगती हैं। कमल सदृश रस-भरी आंखें अनसुहाती हो जाती हैं। मुख-कमल मुरझा जाता है। हृदय-कमल बैठ जाता है। कर-कमल सूखी लकड़ी बन जाते हैं। जीव क्या अहंकार करता है इस हाड़-चाम के क्षणभंगुर ढांचे पर!

थोड़े दिनों में मनुष्य को बुढ़ापा घेर लेता है। जो स्वस्थ अवस्था में साधन-भजन नहीं कर लेता है वह बूढ़ा होकर क्या कर सकता है! "चार दिनों की चांदनी, फेरि अंधेरी रात" थोड़े समय में सब कुछ बदल जाता है। सद्गुरु कहते हैं कि हे हंस! आज के बिछुरे कब आकर मिलोगे? देखते-देखते यह शरीर-सरोवर खो जायेगा। तुम्हारा क्रीड़ास्थल समाप्त हो जायेगा।

इसलिए हे हंस! ऐसे छूटने वाले स्थल में क्रीड़ा मत करो। उसका राग तुम्हें पीड़ा देगा। तुम आत्म-क्रीड़ बनो। आज के सुनहले अवसर को खोओ मत। "आजु बसेरा नियरे हो रमैया राम, काल बसेरा बड़ी दूर हो रमैया राम।" सद्गुरु कहते हैं कि भाई! शीघ्र सावधान हो जाओ। सत्संग करने, स्वरूपस्थिति करने का दिन आज ही है। कल के धोखे में काल खा लेगा। किसी ने खूब अच्छा कहा है—कीड़ों को खाने के लिए उनके पीछे मेढक दौड़ता है, मेढक को खाने के लिए उसके पीछे सर्प दौड़ता है, सर्प के पीछे मयूर, मयूर के पीछे सिंह और सिंह के पीछे संयोगवश शिकारी दौड़ता है। इस प्रकार अपने भोजन और भोग-वस्तुओं के लिए सब पागल हो रहे हैं। परन्तु पीछे से चोटी पकड़कर काल खड़ा है, उसे कोई नहीं देखता।[1]

हंसदशा का चित्रण तथा हरि और राम शब्दों का ऐतिहासिक अध्ययन

शब्द-34

हरिजन हंस दशा लिये डोले, निर्मल नाम चुनी चुनि बोले॥ 1॥
मुक्ताहल लिये चोंच लोभावै, मौन रहे कि हरि यश गावै॥ 2॥
मान सरोवर तट के बासी, राम चरण चित अन्त उदासी॥ 3॥
कागा कुबुधि निकट नहिं आवै, प्रतिदिन हंसा दर्शन पावै॥ 4॥
नीर क्षीर का करे निबेरा, कहहिं कबीर सोई जन मेरा॥ 5॥

शब्दार्थ—हरिजन=हरिभक्त, ज्ञानी, संत। हंस दशा=नीर-क्षीर-विवेक, स्वरूपस्थिति। मुक्ताहल=मोती। चोंच=मुख। मानसरोवर=हिमालय की एक स्वच्छ झील, तात्पर्य में पवित्र मन। अन्त=अन्तःकरण। प्रतिदिन=निरन्तर। निबेरा=निर्णय, अलग-अलग करना।

भावार्थ—ज्ञान रूपी हरि में रमने वाले संतजन नीर-क्षीर विवेक एवं स्वरूपस्थिति रूपी हंसदशा की रहनी धारणकर संसार में विचरण करते हैं, और चुन-चुनकर पवित्र वाणी बोलते हैं॥ 1॥ वे अपने मुख से ज्ञान के मोती बिखेरकर सज्जनों को सन्मार्ग की ओर आकर्षित करते हैं। वे मौन रहते हैं और जब बोलते हैं तब हरिगुण अर्थात सत्यज्ञान की चर्चा करते

1. भेको धावति तं च धावति फणी सर्पं शिखी धावति।
व्याघ्रो धावति केकिनं विधिवशाद् व्याधोऽपि तं धावति॥
स्वस्वाहारविहारसाधनविधौ सर्वे जना व्याकुला:।
कालस्तिष्ठति पृष्ठत: कचधर: केनापि नो दृश्यते॥

हैं॥ 2॥ जैसे हंस साधारण जलाशय में न रहकर हिमालय में स्थित स्वच्छ मानसरोवर में रहते हैं वैसे संतजन सत्संग में एवं पवित्र मन में निवास करते हैं। अर्थात सब समय मन को पवित्र रखते हैं। वे अपने चित्त को सदैव आत्माराम में रखते हैं और संसार का राग-रंग छोड़कर विषयों के प्रति अंत:करण से उदास रहते हैं॥ 3॥ कुबुद्धि रूपी कौआ उनके निकट नहीं आते। वे हंसजन निरन्तर आत्मसाक्षात्कार में डूबे रहते हैं॥ 4॥ कबीर साहेब कहते हैं कि जो दूध और पानी को, जड़ और चेतन को अलग-अलग करे, वही मेरा भक्त एवं प्रेमी है॥ 5॥

हरि शब्द पर विचार

इस शब्द से लेकर आगे छह शब्दों तक सद्गुरु ने हरि शब्द से ही अपना कथन शुरू किया है। इसलिए यहां हरि के अर्थ पर थोड़ा विचार कर लिया जाये। यद्यपि इस शब्द पर इस ग्रन्थ की व्याख्या में अन्यत्र भी विचार किया गया है। 'बृहत् हिन्दी कोश' के कोशकारों ने हरि के अर्थ हरा, हरापन लिये पीला, पिंगल, कपिल, पीत, ले जाने वाला, वहन करने वाला, विष्णु, इन्द्र (मेघ), शिव, ब्रह्मा, यम, सूर्य, चन्द्रमा, मनुष्य, प्रकाश की किरण, अग्नि, वायु, सिंह, सिंहराशि, अश्व, गीदड़, इन्द्र का घोड़ा, बन्दर, बनमानुष, हंस, कोयल, मेढक, सांप, मोर, तोता, कृष्ण, राम, भर्तृहरि, शुक्र, गरुड का एक पुत्र, एक पर्वत, एक लोक, एक वर्ष, भूभाग, एक बड़ी संख्या इत्यादि किया है। एक कहावत है "हरि गर्जन सुनि हरि बोलेला, हरि के सबद सुनि हरि चलेला, हरि बीचहिं मिलल, हरि के हरि लिलल, हरि के प्रताप से हरि बचेला।"[1] अर्थात बादल के गर्जन सुनकर मेढक बोलते हैं, मेढक के शब्द सुनकर सांप उन्हें खाने के लिए चलता है, बीच में मोर मिल गया, मोर ने सांप को निगल लिया, इसलिए मोर के प्रताप से मेढक बच गया। अर्थात बादल, मेढक, सांप, मोर—सब हरि हैं।

प्रसिद्ध विद्वान डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने अपनी रचना 'भारत सावित्री' में हरि का अर्थ विष्णु मानने के सम्बन्ध में विस्तृत विचार किया है। वे कहते हैं "विष्णु के लिए हरि शब्द का प्रयोग कुषाणयुग से आरम्भ हुआ। उससे पूर्व महाभाष्य, अर्थशास्त्र आदि बड़े-बड़े ग्रन्थों में यह शब्द केवल इन्द्र, अश्व आदि अर्थों में है। अतएव विष्णुवाची हरि शब्द का यह प्रयोग (उद्योगपर्व 66/14)[2] इस प्रसंग के बाद जोड़े जाने का सूचक है।"[1]

---

1. बृहत हिन्दी कोश, ज्ञानमंडल लिमिटेड, कबीर रोड, वाराणसी।
2. गीताप्रेस संस्करण में यह श्लोक उद्योगपर्व के 68/14 में है।

अग्रवाल जी आगे उद्योगपर्व का एक श्लोक देकर पुनः लिखते हैं—

अत्र ध्वजवती नाम कुमारी हरिमेधसः।
आकाशे तिष्ठ तिष्ठेति तस्थौ सूर्यस्य शासनात्॥ (108/13)[2]

"अर्थात हरिमेधस की ध्वजवती नाम की कुमारी कन्या सूर्य की आज्ञा से आकाश में खड़ी हो गयी।" यह श्लोक जितना क्लिष्ट और गूढ़ है उतना ही ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। हरिमेधस कौन है? उसकी कुमारी कन्या ध्वजवती कौन है? सूर्य के आदेश से वह आकाश में क्यों खड़ी है? इन तीन प्रश्नों का उत्तर भारतीय साहित्य में कहीं नहीं है। इनका उत्तर ईरानी पारसीक धर्म में है। 'अहुरमज्द' ईरानियों के सबसे बड़े देव हैं। उन्हें सासानी युग की पहलवी भाषा में 'हरमुज' कहा गया है। उन्हीं के लिए गुप्तयुग[3] की संस्कृत भाषा में 'हरिमेधस' नाम का प्रयोग हुआ है। देव 'हरिमेधस' का उल्लेख पश्चिम दिशा के संबंध में कितनी ही बार शांतिपर्व के अंतर्गत नारायणी पर्व में आया है (323/12, 325/4, 335/8 आदि)। वस्तुतः शक-कुषाण[4] काल में सूर्य-पूजा के साथ हरिमेधस देव और उनके धर्म का साक्षात परिचय भारतवासियों को प्राप्त हुआ था। इन्हीं अहुरमज्द की शक्ति या प्रभा हेरेनो कहलाती थी। उसका अंकन प्रभामंडल के भीतर होता था और उसके दोनों ओर फहराता हुआ पट या ध्वज दिखाया जाता था। इसी कारण यहां उसे ध्वजवती नाम दिया गया है। प्राचीन ईरानी और सासानी काल में इस प्रभा रूपी शक्ति को युवती के रूप में आकाश में स्थित दिखाया गया है। अहुरमज्द या हरिमेधस की उस शक्ति का प्रेमी सूर्य है, मानो सूर्य के लिए ही वह आज तक आकाश में व्याप्त है। मित्र या मिहिर की पूजा प्राचीन पारसी धर्म की विशेषता थी। शक-कुषाणों के समय में सासनी या उदीच्य वेशधारी सूर्य की अनेक प्रतिमों बनायी गयी हैं। इनमें भी सूर्य के मस्तक से कंधों के पीछे फहराता हुआ पट दिखाया जाता है, जो प्रायः सभी सासानीयुग की मूर्तियों में देखा जाता है। गुप्तकाल में भी वह बहुधा मिलता है। इसी पृष्ठभूमि में इस श्लोक की रचना हुई है।"[5]

"देव हरिमेधस का बार-बार उल्लेख आया है। (शांति पर्व 323/11, 336/28, 337/54, 335/8) यह अहुरमज्द का संस्कृत रूप था। सासानी

---

1. भारत सावित्री, भाग 2, पृष्ठ 84 की टिप्पणी।
2. गीताप्रेस संस्करण में यह श्लोक उद्योगपर्व के 110/13 में है।
3. ईसा की चौथी शताब्दी से छठीं शताब्दी तक गुप्तकाल है।
4. शक-कुषाणकाल ईसा की प्रथम शताब्दी से तीसरी शताब्दी तक है।
5. भारत सावित्री, भाग 2, पृष्ठ 118-119।

भाषा में उसे हरमुज कहा जाता था। इसी का संस्कृत में 'हरि' हुआ। यह उल्लेखनीय है कि नारायण के अर्थ में हरि शब्द का प्रयोग गुप्तकाल के पूर्व के किसी ग्रन्थ में नहीं पाया जाता। वहां हरि शब्द तो है किन्तु इन्द्र या घोड़े के अर्थ में आया है, विष्णु के अर्थ में नहीं, और जो एक-दो स्थल विष्णुवाची हैं भी, वे संदिग्ध हैं। इतने बड़े महाभाष्य या वैदिक साहित्य में भी हरि शब्द विष्णु के लिए नहीं आता।"[1]

उक्त लंबे उद्धारण के बाद यह निश्चित हुआ कि पुराकाल में हरि के अर्थ घोड़ा, इन्द्र तथा वाल्मीकीय रामायण में वानर आये हैं। वस्तुतः पारसी तथा पहलवी में जिसे अहुरमज्द तथा हरमुज कहा गया उसे ही संस्कृत भाषा वालों ने हरिमेधस कहा। पीछे मेधस उड़कर हरि शब्द रह गया जो ईसा के चार सौ साल बाद तक विष्णुपरक हो गया। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने हरि शब्द का विष्णुपरक अर्थ पारसी धर्म से आया हुआ माना है। तात्पर्य यह है कि ईसा के पांच सौ वर्ष बाद से हरि शब्द विष्णुपरक के रूप में उत्तरी भारत में प्रचलित हो गया था। इसके एक हजार वर्ष बाद कबीर साहेब होते हैं। तब तक धूमधाम से हरिभजन चल रहा था। कबीर साहेब का संबंध स्वामी रामानन्द एवं वैष्णव संतों से अधिक था ही। अतएव उनके हरि और राम शब्दों का प्रभाव उन पर पड़ना ही था। राम-नाम का भजन भी ईसा के आठ-नौ सौ वर्ष बाद आरम्भ हुआ। समस्त वैदिक साहित्य ही नहीं, वाल्मीकीय रामायण तक में राम-नाम भजन की चर्चा नहीं है। कबीर साहेब के समय में वैष्णवों में हरि और राम शब्द व्यापक स्तर पर भजन के रूप में व्यवहृत हो गये थे।

कबीर साहेब ने हरि, राम आदि शब्दों को अपने काव्य में लिया; परन्तु उन्हें अंतरात्मा के रूप में ही लिया। यदि इससे अलग उन्हें माना जाये तो इसका उन्होंने खण्डन भी किया। इसी संदर्भ में आगे के शब्दों में "हरि ठग ठगत ठगौरी लाई" आदि कहकर उसकी आलोचना कर दी गयी है। अतएव सारे शब्द देश और काल में बनते, बदलते तथा मिटते भी हैं और वे अपने अर्थ भी बदलते हैं, हमें उनके बीच से सत्यता को लेकर आत्मकल्याणकारी तथा जनकल्याणकारी काम करना चाहिए।

व्याख्या—हरि विष्णु है। कबीर साहेब का इष्ट स्थूल विष्णु नहीं है। उन्होंने उसका बीजक भर में खंडन किया है, क्योंकि वह मायावी है। अतएव विष्णु एवं विशाल अपनी महिमा में व्यापक मनुष्य की अंतश्चेतना है। संसार

---

1. भारत सावित्री, भाग 3, पृष्ठ 216।

में कोई अखण्ड वस्तु व्यापक है ही नहीं; क्योंकि एक अखण्ड वस्तु यदि सर्वत्र व्यापक हो तो दूसरे का अस्तित्व ही नहीं रह जायेगा। इसलिए जड़तत्त्व भी अलग-अलग असंख्य परमाणुयुक्त हैं तथा चेतन-जीव भी अलग-अलग अस्तित्व वाले हैं। यदि चेतन एवं आत्मा को कोई व्यापक कहता है तो यह एक प्रशंसासूचक शब्द है। व्यापक का अर्थ अपने गुणों से महिमापूर्ण है। इस प्रकार अपनी महिमा में पूर्ण यह मनुष्य के भीतर निवास करने वाला चेतन जीव ही है। यही शुद्धदशा विष्णु है। जो विषयों का त्यागकर निजस्वरूप में स्थित है वह हरिजन है। हरि में रमता हो वह हरिजन। हरि मनुष्य की आत्मा है और जो आत्मा-राम में रमता है वह हरिजन है।

ऐसा हरिजन हंसदशा लेकर डोलता है। वह हंसदशा में विचरता है। हंसदशा क्या है? इस पर इस ग्रन्थ की व्याख्या में कई जगह निवेदन किया है। पुनरुक्ति की चिन्ता किये बिना उसे यहां पुनः दोहरा दिया जाता है। हंस के यहां दो अर्थ हैं एक रूपक का तथा दूसरा हंस शब्द का। हंस सफेद पक्षी होता है। वह मानसरोवर में रहता है। वह केवल मोती चुगता है, और दूध भी पी सकता है, परन्तु केवल शुद्ध दूध। यदि कोई उसके सामने दूध और पानी मिलाकर रख दे, तो वह उसमें से केवल दूध ले लेता है और पानी छोड़ देता है। कहा जाता है कि उसमें ऐसी शक्ति होती है। हंस सफेद पक्षी होता है और वह मानसरोवर में रहता है यह सच है, परन्तु वह मोती चुगता है तथा नीर-क्षीर विवेक करता है, यह उसकी प्रशंसा है। हमें इसकी सचाई खोजने की जरूरत नहीं है। हमें इससे क्या प्रेरणा दी गयी है इस पर विचार कर लेना चाहिए।

जो उज्ज्वल चरित्र का है, जो केवल सद्गुण रूपी मोती चुगता है और नीर-क्षीर विवेक करता है, अर्थात जड़-चेतन, बंध-मोक्ष, राग-विराग, खाद्य-अखाद्य, कर्तव्य-अकर्तव्य, ग्राह्य-त्याज्य को अलग-अलग समझकर कल्याणकारी अंश को ग्रहणकर बुरे अंशों का त्याग कर देता है, वह हंस है और यह उज्ज्वल चरित्रता, सद्गुण-ग्राह्यता एवं नीर-क्षीर-विवेक हंसदशा है। स्वरूपज्ञानी एवं आत्मज्ञानी पुरुष इसी दशा में वर्तमान करते हुए लोक में विचरते एवं जीवन-यापन करते हैं।

दूसरा हंस शब्द का शाब्दिक अर्थ है। विद्वान लोग संस्कृत भाषा के 'अहंसः' से टूटकर हंस शब्द बना मानते हैं जो आध्यात्मिक अर्थ वाला है। अहंसः का अर्थ होता है 'मैं वह हूं' अर्थात ब्रह्म, ईश्वर, परमात्मा, निर्वाण, मोक्ष, परमानंद, परमशांति आदि शब्दों को लेकर मैं जिसे खोज रहा हूं, वह मैं ही हूं। 'अहम्+सः=मैं+वह' यह इसका पदच्छेद है। इसमें 'अ' तथा 'स' में

लगा विसर्ग (:) उड़कर 'हंस' शब्द बन गया है। इन सबका अभिप्राय हुआ कि 'मैं पूर्णकाम हूं' इस भाव में स्थित होकर विचरण करना एवं जीवन बिताना ज्ञानी पुरुष का हंस-दशा लेकर डोलना है। जो निरन्तर निजस्वरूप में स्थित होकर जीवन व्यतीत करता है वही हरिजन है और हंस-दशा में विचरने वाला है।

"निर्मल नाम चुनी चुनि बोले" वह राम, गोपाल, हरि, वासुदेव आदि निर्मल नाम चुन-चुन कर बोलता है, ऐसे स्थूल अर्थ में जाने की आवश्यकता नहीं है। यहां का अर्थ है कि वह जो कुछ बोलता है निर्मल वाणी होती है। असत्य, कटु, अश्लील, बंधनप्रद, प्रपंचपूर्ण बातें वाणी के मल हैं। जो इन्हें त्याग देता है, उसकी वाणी निर्मल हो जाती है। हंस रहनी में चलने वाले साधक की वाणी कोमल, सत्य एवं संयत होती है। वह बिना सोचे नहीं बोलता। वह जो कुछ अनाप-शनाप मन में आ गया वही नहीं बोलता, किन्तु चुन-चुन कर बोलता है। वह 'हिये तराजू तौलकर' मुख के बाहर वाणी लाता है।

"मुक्ताहल लिये चोंच लोभावै" हंस चोंच में मोती लेकर लोगों को लुभाता है। ज्ञानी हंस है और ज्ञान मोती है। ज्ञानी अपने मुख से ज्ञान की चर्चा करता है और जिज्ञासुओं तथा मुमुक्षुओं को अपने ज्ञानमार्ग की ओर खींचता है। यह मनुष्य का स्वभाव है। विशालदेव ने कहा है—"जो जेहि मारग में रहै, तेहि दिशि लावन हेत। निज निज प्रेमी के मिलत, तैसी शिक्षा देत।" जो जिस पथ पर चलता है, वह उधर अपने मित्रों को भी ले जाना चाहता है। शराबी शराबपान की तरफ, गंजेड़ी गांजा की तरफ, अन्य व्यसनी अपनी तरफ अपने मित्रों को घसीटते हैं। तो सज्जन सज्जनता की तरफ एवं ज्ञानी ज्ञान की तरफ अपने प्रेमियों को ले जाना चाहेंगे ही।

"मौन रहे कि हरि यश गावै" यही संत का लक्षण है। मौन रहना या ज्ञानचर्चा करना। हंस रहनी में चलने वाले संत 'भक-भक' बोला नहीं करते। वे अपनी वाणी में संयम रखते हैं। वे विशेषतः चुप रहते हैं। उनका अपना ज्ञान कलकलाता नहीं कि बिना बोले रह ही नहीं पावें। वे जो कुछ जानते हैं अपने आप में पचाते हैं। कम बोलना हंस रहनी का उत्तम लक्षण है। जिसके मन में शांति है वह अधिक बोल ही नहीं सकता। भीतर में द्वंद्व होने से ही मनुष्य निरर्थक बातें करता है। जिसके भीतर में शांति है वह मौन रहने में आनन्द मानता है। विवाद से तो वह सैकड़ों कोस दूर रहता है। सत-चर्चा में भी वह विवेकपूर्वक बोलता है। यदि ज्ञानी बोलता है तो हरियश गाता है। हरि ज्ञान है। ज्ञान की वास्तविकता का विवेचन हरियश गाना है। अर्थपूर्ण

बात करना हरियश गाना है। गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं—"की मुख पट दीन्हें रहें, यथा अर्थ भाषंत। तुलसी या संसार में, सो विचारयुत संत" (वैराग्य संदीपनी)।

"मानसरोवर तट के बासी" हंस मानसरोवर के तट का वासी होता है। मानसरोवर नाम की झील हिमालय में है, जो बहुत विशाल, गहरी एवं स्वच्छ है। हंस पक्षी वहीं रहते हैं। हंस रहनी के संतों के मन भी विशाल, गहरे और स्वच्छ होते हैं। संतजन स्वच्छ मन के पास रहते हैं। संतों का मन मानसरोवर होता है। जिसके मन में राग, द्वेष, ईर्ष्या, काम, क्रोध, चिंता, दुख एवं किसी प्रकार की ग्रन्थि नहीं होती, उसका मन मानो मानसरोवर है। इस संसार में वे धन्य हैं जिनका मन स्वच्छ एवं शीतल है। संसार में बहुत लोगों को धन, परिवार, प्रसिद्धि आदि मिले होते हैं, परन्तु स्वच्छ, शीतल और प्रसन्न मन वाले दुर्लभ हैं। सच्चा सुख मन की स्वच्छता में ही है।

"रामचरण चित अंत उदासी" हंस रहनी में रमने वाले संत अपना चित राम के चरणों में रखते हैं तथा भीतर से संसार के विषयों से उदास रहते हैं। कबीर साहेब के राम के चरण नहीं होते। वे किसी हाथ-पैर वाले राम को नहीं मानते। उनका राम तो घट-घट वासी चेतन है, आत्मा है। यहां "रामचरण" का शाब्दिक नहीं, लाक्षणिक अर्थ लेना चाहिए। प्रश्न हो सकता है फिर कबीर साहेब ने "रामचरण चित" क्यों कहा? "हृदया बसे तेहि राम न जाना" की ही तरह क्यों नहीं कहा? वस्तुत: कबीर साहेब संत हृदय होने से आगंतुक प्रेमियों की भी भाषा में बोल देते थे जिससे उनके मन को भी सांत्वना मिल जाये, परन्तु उनका भाव अपना होता था जो उनकी वाणियों में छिपा नहीं है। तात्पर्य है कि ज्ञानियों का मन सदैव आत्माराम में लीन रहता है।

"अंत उदासी" इन दोनों शब्दों का भाव बड़ा महत्त्वपूर्ण है। वे अंत:करण से उदास रहते हैं। अर्थात भीतर से वे संसार से अनाकृष्ट एवं निर्लेप रहते हैं। अथवा समस्त भौतिक उपलब्धियों का एक दिन अंत समझकर उनसे अनासक्त रहते हैं। जीव को जो कुछ प्राप्त है सब कुछ उससे छूटने वाला है। छूटने वाली वस्तुओं में मोह करने वाला व्यक्ति धोखा खाता है। इस संसार में वही सफल है, विजयी है एवं कृतकृत्य है, जो छूटने वाली समस्त वस्तुओं से सब समय पूर्ण अनासक्त है। संसार से पूर्ण उदास तथा आत्माराम में नितांत लीन मन वाला ही तो संत है।

"कागा कुबुधि निकट नहिं आवै" ऐसे उच्च कोटि के संतों के पास कुबुद्धि रूपी कौआ फटक भी नहीं सकता। कुबुद्धि के लिए सद्गुरु ने कौआ

का रूपक दिया। कौआ का मन चंचल एवं सब पर संदेहशील होता है, उसकी वाणी कर्कस होती है तथा सब कुछ खाने के कारण उसका आचरण भी गंदा होता है। कुबुद्धि के ये ही लक्षण होते हैं। जिसके भीतर कुबुद्धि है वह मन, वाणी तथा कर्मों से चंचल होता है। सच्चे संत के पास कुबुद्धि की गंध भी नहीं होती। इसलिए सद्गुरु ने कहा कि कुबुद्धि-काग उसके निकट भी नहीं पहुंच सकते।

"प्रतिदिन हंसा दर्शन पावै" यहां प्रतिदिन का अर्थ है निरन्तर। पूर्ण साधक निरन्तर आत्मदर्शन एवं स्वरूपसाक्षात्कार में डूबा रहता है। विवेकवान पूर्ण जाग्रत अवस्था में स्वरूपविचार में मग्न होता है। इसी विचार में नींद लेते-लेते वह सो जाता है इसलिए उसको स्वप्न भी कुछ इसी तरह के होते हैं और गाढ़ी नींद में स्वरूपस्थिति के ही बीज रहते हैं। जैसे उसकी नींद खुलती है तुरन्त स्वरूपविचार की दृष्टि आ जाती है। स्वरूपस्थिति की निरन्तरता ही मुक्ति है। इसी को एकरस दशा कहते हैं।

"नीरक्षीर का करे निबेरा, कहहिं कबीर सोई जन मेरा।" कबीर साहेब की, इस शब्द में यह अन्तिम मोहर है। वे कहते हैं कि जो नीर-क्षीर का विवेक करे वह मेरा साथी है, भक्त है, अनुगामी है, शिष्य है एवं प्रेमी है। जो जड़-चेतन को, कर्तव्य-अकर्तव्य को, बंध-मोक्ष को अलग-अलग करता है वही तो हंस है। हंसत्व विवेक है। नीर को त्यागकर केवल क्षीर ले लेना, जड़वासना का त्यागकर शुद्ध स्वरूप चेतन में स्थित हो जाना ही हंसदशा है।

जीव न किसी की पत्नी है न अंश, वह स्वयं पूर्ण है

शब्द-35

हरि मोर पिउ मैं राम की बहुरिया, राम बड़ो मैं तन की लहुरिया॥ 1॥
हरि मोर रहँटा मैं रतन पिउरिया, हरि का नाम ले कतति बहुरिया॥ 2॥
छौ मास तागा बरस दिन कुकुरी, लोग कहैं भल कातल बपुरी॥ 3॥
कहहिं कबीर सूत भल काता, चरखा न होय मुक्ति का दाता॥ 4॥

शब्दार्थ—बहुरिया=दुलहिन। राम बड़ो=ईश्वर व्यापक है। तन की लहुरिया=उसका एक अंश। रहँटा=चरखा। रतन पिउरिया=शुद्ध पिउनी। कुकुरी=आंटी, लपेटा हुआ सूत का लच्छा। बपुरी=बेचारी। सूत=नाम।

भावार्थ—हरि मेरा पति है और मैं उसकी दुलहिन हूं, वह व्यापक एवं अंशी है और मैं उसका अंश हूं॥ 1॥ हरि मेरा चरखा है और मैं उसकी शुद्ध पिउनी हूं—इस प्रकार अपने आप को ईश्वर की पत्नी मानने वाले माधुर्य भक्ति के रसिक-भक्त हरि के नाम का सूत कातते हैं॥ 2॥ छह महीने में तागा

बना और वर्ष भर में उसकी आंटी एवं लच्छा बना। अर्थात छह महीने के नाम-जप से बाह्य चंचलता शांत होकर मन भगवान में लग गया तथा एक वर्ष के नाम-जप से भगवान में धारणा हो गयी। फिर तो गुरु लोग कहने लगे कि बेचारी ने नाम-जप का सूत अच्छा काता॥ 3॥ कबीर साहेब कहते हैं कि सूत तो अच्छा काता, परन्तु यह हरि-चरखा मुक्ति का दाता नहीं हो सकता॥ 4॥

व्याख्या—उक्त शब्द को लेकर विद्वानों में महा भ्रम है कि कबीर माधुर्य-भक्ति-पथ के पथिक थे। अर्थात कबीर अपने आप को ईश्वर की बहुरिया मानते थे। मुसलिम सूफियों तथा हिन्दू रसिक भक्तों में यह दोष समान रूप से व्याप्त है। सूफी मानते हैं कि हम आशिक हैं और ईश्वर माशूक है। अर्थात हम पुरुष हैं और ईश्वर हमारी प्रेयसी एवं पत्नी है। उनकी धारणा है कि पुरुष का स्त्री में स्वाभाविक आकर्षण होता है। अतः हम अपने आप को पुरुष तथा ईश्वर को स्त्री मानकर भक्ति करें तो ईश्वर में शीघ्र लगन लग जायेगी। इसलिए वे ईश्वर को अपनी प्रेयसी मानकर उसके विरह-वियोग में पीड़ित रहते हैं।

हिन्दू-रसिक भक्तों की धारा सूफियों से भिन्न है। रसिक भक्त मानते हैं कि हम स्त्री हैं और ईश्वर हमारा पति है। रामोपासकों तथा कृष्णोपासकों—दोनों में रसिक-भक्ति का प्रचलन है। रसिक संप्रदाय के भक्त पुरुष होकर स्त्री के वस्त्र पहनते हैं, महीना-महीना में रजस्वला बनने का स्वांग करते हैं, कभी-कभी बच्चा पैदा करने का भी स्वांग करते हैं। भक्ति के नाम पर रसिक संप्रदाय के भक्तों ने एक महा कुसंस्कार को जन्म दिया है। बहुत-से भक्त कपड़ा तो पुरुषों के ही पहनते हैं, परन्तु मन से वे कृष्ण तथा राम की पत्नी ही बने रहते हैं।

कबीर साहेब ने इस भक्ति का प्रस्तुत पद में मजाक उड़ाया है, परन्तु आश्चर्य है कि बिना सोचे-समझे विद्वानों ने इसी पद के आधार पर कबीर को ही रसिक-भक्त बना डाला है।

पूरे शब्द पर ध्यान देकर पढ़िये—"हरि मोर पिउ मैं राम की बहुरिया, राम बड़ो मैं तन की लहुरिया। हरि मोर रहँटा मैं रतन पिउरिया" शब्द का इतना अंश रसिक-भक्तों के मुख से कहलाया गया है। इसके बाद कबीर साहेब अपनी तरफ से व्यंग्य में कहते हैं "हरि का नाम ले कतति बहुरिया।"

"छौ मास तागा बरस दिन कुकुरी, लोग कहैं भल कातल बपुरी।" यह कहकर सद्गुरु बताते हैं कि छह महीने आरम्भिक नाम-जप साधना तथा वर्ष भर के नाम-जप से परिपक्वता मानते हैं। इसे देखकर उनके गुरु लोग कहते हैं कि बेचारी ने सूत अच्छा काता। यह भी एक प्रकार का व्यंग्य ही है।

अन्त की पंक्ति में सद्गुरु ने इसका साफ खंडन कर दिया है—"कहहिं कबीर सूत भल काता, चरखा न होय मुक्ति का दाता।" कबीर साहेब कहते हैं कि इन भक्तों ने अपने आप को पत्नी तथा अंश और ईश्वर को पति तथा अंशी मानकर नाम–जप का सूत तो अच्छा काता, परन्तु यह ईश्वर रूपी चरखा मुक्ति का दाता नहीं है। दूसरी पंक्ति में भक्तों की तरफ से कहलाया गया है "हरि मोर रहँटा" अर्थात ईश्वर मेरा नाम–जप के सूत कातने का चरखा है। सद्गुरु कहते हैं कि यह चरखा मुक्ति का दाता नहीं हो सकता।

इस शब्द में सद्गुरु ने ईश्वर को पति तथा अंशी एवं जीव को दुलहन तथा अंश होने की धारणा का खंडन किया है। कबीर साहेब जीव को पूर्ण बताते हैं। इसे बीजक की अनेक पंक्तियों में पढ़ा जा सकता है। इस पति–पत्नी, अंश–अंशी भाव का अगले शब्द में अधिक खुलासा खंडन करते हुए आप कहते हैं—

शब्द–36

हरि ठग ठगत ठगौरी लाई, हरि के वियोग कैसे जियहु रे भाई॥ 1॥
को काको पुरुष कौन काकी नारी, अकथ कथा यम दृष्टि पसारी॥ 2॥
को काको पुत्र कौन काको बाप, को रे मरै को सहै सन्ताप॥ 3॥
ठगि ठगि मूल सबन का लीन्हा, राम ठगौरी काहु न चीन्हा॥ 4॥
कहहिं कबीर ठग सो मन माना, गई ठगौरी जब ठग पहिचाना॥ 5॥

शब्दार्थ—पुत्र=अंश। बाप=व्यापक, अंशी।

भावार्थ—निज स्वरूप का भेद न जानने से हरि की कल्पना अलग कर ली गयी, अतएव यह हरि ही मानो मनुष्य को छलने वाला हो गया और यह मानो छल विद्या लेकर संसार को छल रहा है। हे भाई, हरि को अलग मानकर उसके बिछुड़न में तुम्हें शांति कैसे मिलेगी?॥ 1॥ कौन किसका पति है और कौन किसकी पत्नी है? अर्थात जीव के ऊपर उसका पति मानना और जीव को पत्नी कहना सर्वथा असत्य है। यह पति–पत्नी–जैसी न कहने योग्य बात कहकर मन रूपी यमराज ने अपनी छलावापूर्ण दृष्टि फैलायी है॥ 2॥ इसी प्रकार कौन किसका पुत्र है और कौन किसका पिता है? अर्थात जीव को अंश कहकर उसके ऊपर अंशी की कल्पना करना अनर्गल प्रलाप है। कौन मरता है और कौन दुख सहता है? अंशांशी–भाव क्षणभंगुर वस्तुओं में होता है। ऐसा भाव मानने से जीव का ही पतन है॥ 3॥ इस अवधारणा ने छलावा करके सबके स्वरूप–विवेक को छीन लिया है। परन्तु इस 'राम–ठगौरी' को, अर्थात ईश्वरवाद के छलावा को कोई पहचान नहीं सका॥ 4॥ सद्गुरु कहते हैं कि सबका मन इस छलावा को मान लिया है कि

ईश्वर जीव से अलग है। परन्तु जो विवेकवान इस छलावा को पहचान लेता है उसके सामने से यह गायब हो जाता है॥ 5॥

व्याख्या—"जो तू चाहै मूझको, छाँड़ सकल की आस। मुझ ही ऐसा होय रहो, सब सुख तेरे पास॥"[1] कहने वाले कबीर अपनी आत्मा से अलग अपना लक्ष्य कैसे मान सकते हैं? यदि कोई कहता है कि मनुष्य की आत्मा से उसका लक्ष्य, उसका परमात्मा एवं मोक्ष अलग है तो साहेब कहते हैं कि यह एक छलावा है। लोग कहते हैं कि सबके हृदय में ही परमात्मा है, तो हृदय में तो एक ही ज्ञाता की अनुभूति 'मैं' के रूप में होती है, उसी को चाहे आत्मा कहें या परमात्मा। हृदय में दो की अनुभूति किसी को नहीं होती। अतएव यदि यह कहा जा रहा है कि आत्मा से परमात्मा अलग है एवं जीव से शिव पृथक है तो यह आत्मप्रवंचना है, अपने आप को ठगना है। इस दृष्टि से देखें तो आत्म-भिन्न ईश्वर एक ठग हो गया और उसकी मान्यता ठगौरी विद्या एवं जालसाजी हो गयी। इस ठग ने सबको ठग लिया है। इसी छलावा में सब मनुष्य छले जाकर स्वरूप-शोधन के बल से हीन हो गये। सब तो ऊपर वाले की तरफ देख रहे हैं, भीतर वाले की तरफ देखने की छुट्टी ही नहीं है। ईश्वरवाद के छलावा ने मनुष्य के मन में अपने आप के लिए ऐसी हीन भावना पैदा कर दी है कि हर ईश्वरवादी यही कहता है कि मैं तो तुच्छ हूं, मैं तो कुछ नहीं हूं, ऊपर वाला ही सब कुछ है।

साहेब कहते हैं "हरि के वियोग कैसे जियहु रे भाई।" हे भाई, जब तुम ईश्वर को अलग मानते हो तब उसका वियोग सदा ही बना रहेगा। यदि कदाचित कभी मिल भी जाये तो पुनः बिछुड़ जायेगा; क्योंकि यह विश्वसत्ता का नियम है कि मिली हुई वस्तु बिछुड़ती है। तुम्हारी मान्यता के अनुसार तुम तो अपूर्ण ठहरे, पूर्ण तो ईश्वर है और वह तुमसे अलग है। फिर उसके वियोग में तुम्हें पूर्णता कब मिल सकती है! इस स्थिति में तुम कैसे जीयोगे, कैसे शांति पाओगे! अलग ईश्वर मानने वाले सदैव उसकी वियोगजनित पीड़ा में ही तड़पते रहते हैं। उन्हें कभी शांति नहीं मिल सकती। अखंड शांति तो तब मिलती है जब अपनी पूर्णता का भान हो। उधारी का सौदा खाकर कोई कब तक जीयेगा! जब यह बोध होता है कि मेरी आत्मा ही परमात्मा है, पूर्णकाम एवं पूर्ण कल्याणमय है तब अपने स्वरूप में विश्राम पाकर जीव कृतकृत्य होता है।

यहां पर "को काको पुरुष कौन काकी नारी" तथा "को काको पुत्र कौन काको बाप" कहकर साधारण स्त्री-पुरुष एवं पिता-पुत्र का वर्णन न होकर

---

1. साखी 298।

पूर्व शब्दकथित ईश्वर-जीव का पति-पत्नी भाव एवं अंशी-अंश भाव की ओर संकेत है और उसका तीव्रभाव से खंडन है। इसके खंडन में "अकथ कथा यमदृष्टि पसारी" कहकर सद्गुरु ने इस भाव पर बड़ी घृणा व्यक्त की है। मैं पत्नी हूं और मेरा पति कहीं अलग एक कल्पित पुरुष है—यह अकथ कथा है, न कहने योग्य बात है, अनर्गल प्रलाप एवं बे-सिर-पैर की बात है। यह मान्यता एवं कथन मानो यम की फैलायी हुई दृष्टि है। यह अविवेकी मन ही यम है। इसी की यह भोड़ी कल्पना है। जो लोग इस घृणित विचार का प्रचार करते हैं वे मानो यम बनकर लोगों को अविवेक में बांधते हैं और उनको स्वरूपशोधन से वंचित कर भवबंधनों में डालते हैं।

जीव अंश है और ईश्वर अंशी है, ऐसा कहने वाले यह भी नहीं सोचते कि अंश-अंशी विकारी होते हैं। जैसे समुद्र का जल अंशी है और उसकी तरंगें अंश हैं, तो यह विचारना चाहिए कि समुद्र के जल की राशि असंख्य परमाणुओं की ढेर होने से वह विकारी है तभी उसमें तरंग-अंश बनते हैं। यदि जल एक, अखंड और ठोस हो तो उसमें अंश बन ही नहीं सकते। तरंग अंश है तो वह नाशवान है। संसार में एक भी उदाहरण नहीं मिलता कि कोई ऐसा पदार्थ हो कि वह किसी का अंश हो और अविनाशी भी हो। जो अंश होगा वह अविनाशी नहीं हो सकता और जो अविनाशी होगा वह अंश नहीं हो सकता। अतएव लोगों ने जीव को अंश बताकर उसके नष्ट होने की कल्पना पैदा कर दी है। सद्गुरु कहते हैं "को रे मरे को सहे सन्ताप।" अर्थात जीव को अंश मानकर जीव ही की मौत है और उसी को ही अपना पतन देखना है। इसलिए यह अंश-अंशी भाव भी निरर्थक बात है।

"ठगि ठगि मूल सबन का लीन्हा" ईश्वरवाद की अवधारणा ने अपने छलावा में फंसाकर सबका मूल छीन लिया है। ईश्वरवाद की मान्यता व्यक्ति के निजस्वरूप शोधन में अवरोधक है। जब तक अपने दिमाग से ईश्वर का जाल नहीं हटाया जाता तब तक व्यक्ति निज चेतन स्वरूप एवं अपनी आत्मा की पहचान नहीं कर सकता और न अपने स्वरूप में स्थित हो सकता है। व्यक्ति ने अपनी आत्मा की गरिमा को ईश्वरवाद में खो दिया है। ज्ञान का मूल है अपनी चेतना। हम अपनी चेतना को तुच्छ कहते हैं और कल्पित ईश्वर को महान। इससे अधिक आत्मप्रवंचना और क्या हो सकती है! सद्गुरु कहते हैं "राम-ठगौरी काहु न चीन्हा।" इस राम-ठगौरी की कसौटी किसी ने नहीं की। राम, ईश्वर, परमात्मा, ब्रह्म यदि मेरी आत्मा से अलग बताये जाते हैं तो यह एक छलावा है। यही राम-ठगौरी है। यह "राम-ठगौरी" बड़ा मार्मिक शब्द है।

"कहहिं कबीर ठग सो मन माना, गई ठगौरी जब ठग पहिचाना।" प्रायः लोगों के मन ने ठग से ही समझौता कर लिया है। संसार के अधिकतम लोग इसी छलावा में हैं कि परमात्मा हमसे अलग है। इसी बात का चारों तरफ शोर मचा है। स्वरूप-शोधन तथा त्याग में कठिनाई पड़ती है। तथाकथित ईश्वर का नाम लेकर सहज ही सब कुछ पा जाने की भावना ने आदमी को परमुखापेक्षी बना दिया और स्वरूपज्ञान से वंचित कर दिया है। परन्तु जिन्होंने इस छलावा की परख कर ली है उसके जीवन से यह सदैव के लिए विदा हो जाता है। जिसे निजस्वरूप का विवेक हो गया है वह कभी परोक्ष मान्यताओं के अन्धकार में नहीं भटकता। उसका राम या हरि निजस्वरूप चेतन ही है।

शब्द-37

हरि ठग ठगत सकल जग डोलै, गौन करत मोसे मुखहु न बोलै॥ 1॥
बालापन के मीत हमारे, हमहिं तजि कहाँ चलेउ सकारे॥ 2॥
तुमहिं पुरुष मैं नारि तुम्हारी, तुम्हरी चाल पाहनहु ते भारी॥ 3॥
माटि को देह पवन को शरीरा, हरि ठग ठग सों डरें कबीरा॥ 4॥

शब्दार्थ—पाहनहु ते भारी=पत्थर से भी भारी वजन, बहुत मंद। माटी को देह=स्थूल शरीर। पवन को शरीरा=सूक्ष्म शरीर।

भावार्थ—आध्यात्मिक-वंचना करने वाले गुरु लोग वंचना करते हुए सारे संसार में घूमते हैं। वे घूमते हुए मुझ-जैसे विचारकों से मिल जाने पर मुख से बात तक नहीं करते॥ 1॥ स्वरूप-बोध से वंचित होकर ही जीव कहता है कि हे भगवान, तुम हमारे बालपन एवं गर्भवास के ही मित्र हो। तुम हमें छोड़कर शीघ्रतापूर्वक कहां चले गये?॥ 2॥ तुम मेरे पति हो और मैं तुम्हारी पत्नी हूं। मैं तुम्हें बुला रही हूं, परन्तु तुम्हारी चाल तो पत्थर से भी भारी हो गयी है। तुम टस-से-मस नहीं हो रहे हो, दर्शन नहीं दे रहे हो॥ 3॥ मिट्टी की स्थूल देह तथा प्राणवायु के सूक्ष्म शरीर में बंधे ये अबोधी जीव धार्मिक वंचकों से बहुत डरते हैं। वे जैसे इन्हें चलाते हैं वैसे चलते हैं॥ 4॥

व्याख्या—कबीर साहेब की अद्‌भुत-अद्‌भुत वाणियां हैं। उनके कहने के विचित्र तरीके हैं। कबीर साहेब उन गुरुओं को कतई पसंद नहीं करते जो मनुष्यों को उनके आत्मबोध से अलग भटकाते हैं। हरि एवं ईश्वर के नाम पर मनुष्य को यह बताना कि तुम्हारा प्राप्तव्य तुमसे अलग है—आध्यात्मिक छलावा है। ऐसा छलावा करने वाले गुरुओं की भरमार है। उन गुरुओं का भी बहुत दोष नहीं है; क्योंकि वे भी अपनी पूर्व परम्परा से यही पढ़ाये गये हैं। उनमें से जिनको सही दिशा मिल जाती है, वे जग जाते हैं।

जो स्वयं भटके हुए तथा जनता को भटकाने वाले गुरु हैं, वे विचारकों से बात नहीं करना चाहते। उन्हें सदैव यह डर रहता है कि कहीं उजाला होने पर हमारा सुरक्षित अंधकार गायब न हो जाये। यथार्थ निर्णय मिलने पर झूठी मान्यतों टूटने लगती हैं। जिन्हें झूठी मान्यताओं से मोह है, वे नहीं चाहते कि उनके प्रति मन में संदेह हो।

जीव अपने स्वरूप का महत्त्व न समझकर ही बाहरी ईश्वर को पाने के लिए, उसके दर्शन के लिए रोता-गिड़गिड़ाता है और उसे पति तथा अपने आप को पत्नी मानने का भ्रम करता है। जिसे अपने स्वरूप का बोध हो गया है, जो अपनी आत्मा को समझकर उसमें रम गया है, वह बाहर से किसी ईश्वर के पाने का स्वप्न छोड़ देता है।

"माटी को देह पवन को शरीरा" यहां क्रमशः स्थूल और सूक्ष्म शरीर की ओर संकेत है। मिट्टी की देह यह स्थूल शरीर है, तथा पवन का शरीर सूक्ष्म शरीर है जिसके साथ जीव जन्मांतरों में भ्रमण करता है। इन सबका अभिप्राय है कि इस जड़ प्रकृति में जीव बंधे हैं। "हरिठग ठग सों डरें कबीरा।" ये जड़-बन्धन में बंधे हुए जीव मानसिक रूप से दुर्बल हो गये हैं और वे हरि-ठग से डरते हैं। निजस्वरूप के बोध से हीन तथा देहासक्ति में जकड़े जीव हर समय भयभीत रहते हैं। उन्हें भ्रामक गुरु लोग आत्मज्ञान से वंचित रखकर परोक्ष देवी-देवताओं की मान्यताओं में बांधे रखते हैं। जब मनुष्य को आत्मज्ञान हो जाता है तब उसका सारा भय समाप्त हो जाता है। ऐसे व्यक्ति कर्मकांड के झमेले से मुक्त हो जाते हैं, तो गुरुओं को यह बुरा लगता है, क्योंकि ऐसा होने से उनका वर्चस्व समाप्त हो जाता है। जीव से अलग ईश्वर एवं देवी-देवता बताकर उनको खुश कर उनसे ऋद्धि-सिद्धि एवं कल्याण पाने का प्रलोभन देकर जनता को कर्मकांड में उलझाए रखना गुरुओं का काम है। यह सब जो न करे उसे वे नास्तिक एवं नरकगामी कहते हैं। इसलिए मनुष्य गुरुओं से डरते हैं। ये डरा-धमकाकर मनुष्यों को अपने जाल में रखते हैं। स्वतन्त्र आत्मचिन्तन की छूट देना धर्म का नाश समझते हैं। परन्तु सच्चा धर्म एवं अध्यात्म आत्मचिन्तन, आत्मबोध तथा आत्मस्थिति में ही है। आत्मा ही परमात्मा है, जिसे पाना नहीं, किन्तु नित्य प्राप्त अपना स्वरूप ही है। बस, केवल समझना है और बाहर से मुड़कर आत्मस्थिति में आ जाना है।

याज्ञवल्क्य कहते हैं—"जो यह समझता है कि मैं अन्य हूं और देवता अन्य हैं, इस प्रकार अन्य की उपासना करता है, वह अज्ञानी है। वह देवताओं का पशु है, जैसे बहुत-से पशु एक-एक मनुष्य का पालन करते हैं; उनमें एक भी पशु हाथ से निकल जाये तो मनुष्य को बुरा लगता है; वैसे बहुत-से

मनुष्य मिलकर एक-एक देवता का पालन करते हैं। अतः यदि एक भी मनुष्य देवताओं को छोड़कर अलग हो जाये और अपनी आत्मा की उपासना करने लगे तो देवताओं को यह कैसे पसंद होगा। इसलिए देवता यह नहीं चाहते कि मनुष्य यह समझ ले कि मैं ब्रह्म हूं, मैं तुच्छ नहीं, महान हूं, आत्मा हूं। देवता यही चाहते हैं कि मनुष्य अपने स्वरूप को न पहचानें और देवताओं का पशु बनकर उनकी सेवा करते रहें।"[1]

यहां महर्षि याज्ञवल्क्य देवताओं का उपहास करते हैं। देवता निरे कल्पित हैं। वे क्या चाहेंगे ! वस्तुतः याज्ञवल्क्य देवताओं के भ्रम से साधक को मुक्त कर अपरोक्ष आत्मज्ञान में लाना चाहते हैं।

व्यक्ति का निजात्मस्वरूप ही हरि है

शब्द-38

हरि बिनु भर्म बिगुर्चनि गन्दा॥ 1॥
जहाँ जहाँ गयउ अपनपौ खोयेउ, तेहि फन्दे बहु फन्दा॥ 2॥
योगी कहैं योग है नीका, दुतिया और न भाई॥ 3॥
नुंचित मुण्डित मौनि जटाधारी, तिन कहु कहाँ सिधि पाई॥ 4॥
ज्ञानी गुणी सूर कवि दाता, ई जो कहैं बड़ हमहीं॥ 5॥
जहाँ से उपजे तहाँ समाने, छूटि गये सब तबहीं॥ 6॥
बायें दहिने तजू बिकारा, निजु कै हरिपद गहिया॥ 7॥
कहैं कबीर गूँगे गुर खाया, पूछे सो क्या कहिया॥ 8॥

शब्दार्थ—बिगुर्चनि=बिगूचन, उलझन, असमंजस, कठिनाई। गन्दा=मैला, बुरा। अपनपौ=अपनापन, अपना स्वरूप, होश, सुध-बुध, आत्म-गौरव। नुंचित=बाल उखाड़ने वाले। मुण्डित=बाल मुड़ाने वाले। बायें दहिने=सब तरफ से।

भावार्थ—यह आत्मदेव ही हरि एवं परमात्मा है—इस रहस्य को जाने बिना लोग भ्रांति तथा बुरी तरह उलझन में पड़े हुए हैं॥ 1॥ यह जीव हरि को खोजने जहां-जहां जाता है स्वरूपबोध एवं आत्मगौरव को खोकर उन्हीं में उलझ जाता है और बहुत-से बन्धनों में बंध जाता है॥ 2॥ योगी कहते हैं कि जीवन में पूर्णता पाने के लिए योग ही अच्छा है। हे भाई, इसके लिए दूसरा

---

1. योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्। यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्जुरेवमेकैकः पुरुषो देवान् भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विदुः। (बृहदारण्यक उपनिषद् 1/4/10)

रास्ता ही नहीं है॥ 3॥ बाल उखाड़ने वाले जैनी, सिर मुड़ाने वाले प्रयाग तीर्थयात्री या संन्यासी, मौनी तथा जटा-जूटधारी, कहो, इन लोगों ने कहां सिद्धि पायी है?॥ 4॥ शास्त्रज्ञानी पंडित, अनेक कलाओं से सम्पन्न गुणी, शूरवीर, कवि और दाता, ये सभी कहते हैं कि हम ही बड़े हैं, परन्तु इनका सारा ज्ञान तभी निरर्थक हो जाता है जब ये जिस विषयासक्ति-वश जन्म-धारण किये हैं उसी में पुनः डूब जाते हैं॥ 5-6॥ कल्याण का तो सीधा रास्ता है, वह यह कि सब तरफ से बुराइयों को छोड़ दो, और निजस्वरूप चेतन एवं आत्मदेव ही हरिस्वरूप एवं परमात्मा है यह जानकर उसे ही ग्रहण करो, अर्थात निजस्वरूप में रमो॥ 7॥ यदि कोई पूछे कि उसका अनुभव कैसा है? तो सद्‌गुरु कहते हैं कि गूंगे ने गुड़ खाया, तो उससे उसका स्वाद पूछने पर वह क्या बताएगा? वह बताने की वस्तु नहीं, किन्तु अनुभव की वस्तु है॥ 8॥

व्याख्या—"हरि बिनु भर्म बिगुर्चनि गन्दा।" संसार में हरि, राम, ईश्वर, परमात्मा, ब्रह्म आदि शब्दों की भीड़ लगी है। इस भीड़ में मनुष्य भ्रमित हो गया है, उलझ गया है। यह उलझन गंदी बात है। शब्द के शोर में न उलझना चाहिए, किन्तु शोध एवं परख करना चाहिए कि ये सारे शब्द जिसके लिए प्रयुक्त होते हैं वह क्या वस्तु हो सकती है ! ये सारे शब्द जिसके लिए प्रयुक्त होते हैं वह परम प्रेमास्पद वस्तु है। क्या अपनी आत्मा से अलग कोई परम प्रेमास्पद वस्तु हो सकती है ! जो केवल परोक्ष हो, कल्पना-लोक की वस्तु हो या मिलकर छूट जाने वाली वस्तु हो वह परम प्रेमास्पद कैसे हो सकती है ! जो कभी न छूटे, वही परम प्रेमास्पद हो सकता है और वह है हमारी अपनी चेतना एवं आत्मा। यही हरि है। यही सर्वोच्च है। परन्तु हम शब्दों की भीड़ में उसे बाहर खोजने की उलझन में पड़ गये हैं; क्योंकि प्रायः गुरुओं ने वैसा ही बता रखा है।

"जहाँ जहाँ गयउ अपनपौ खोयेउ, तेहि फन्दे बहु फन्दा।" सद्‌गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य, तू परमात्मा की खोज में जिन-जिन मत-मतान्तरों, मान्यताओं एवं जगहों में जाता है, वहीं-वहीं 'अपनपौ' को खोकर उलझ जाता है । "जहाँ जहाँ गयउ अपनपौ खोयेउ" बड़ा मार्मिक और महत्त्वपूर्ण वचन है। "अपनपौ खोयेउ" ध्यान देने योग्य है। "अपनपौ" है अपना स्वरूप-भाव, अपना आपा एवं आत्मगौरव। हम आत्मा से अलग ईश्वर तथा देवी-देवताओं की कल्पना कर उनके सामने घुटने टेकने तथा रोने-गिड़गिड़ाने में अपना कृतकृत्य होना मान लिये हैं। उन्हीं के फंदों में हम बहुत प्रकार से बंध गये हैं। आत्मगौरव को खोकर किसको सुख मिला है ! "सर्वं

परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्" यह मनु-वचन परमादरणीय है। अपनपौ को खोकर कौन परमात्मा मिलेगा! मनुष्य विषय-भोगों और कल्पनाओं में अपनपौ खोता रहता है।

योगी लोग योग ही को सफलता की कुंजी मानते हैं। यहां योग से अभिप्राय हठयोग है। सामान्य योग जिसमें चित्त का निरोध होता है, यह तो आध्यात्मिक साधक के लिए आवश्यक है ही, किन्तु व्यावहारिक क्षेत्रों में भी आवश्यक है। बिना एकाग्र हुए किसी दिशा में सफलता नहीं मिल सकती। परन्तु हठयोग तो एक प्रपंच है। हठयोगी कहते हैं कि हठयोग को छोड़कर कल्याण का अन्य रास्ता ही नहीं है। बाल उखाड़ने वाले जैनी घोर तपस्या, यहां तक उपवास करके शरीर छोड़ने में मोक्ष मानते हैं। कर्मकांडियों ने प्रयाग में सिर मुड़ाने मात्र से मोक्ष मान लिया है। कुछ साधक मौनी बने रहने में मोक्ष मानते हैं। कुछ लोग बहुत लम्बी-लम्बी जटा बढ़ाकर और भभूत लगाकर तप करते हैं। वे उसी से मोक्ष या परमात्मा के मिलने की आशा करते हैं। कुछ लोग शास्त्रों को खूब पढ़कर बौद्धिक एवं वाचिकज्ञान में ही फूले घूमते हैं। कुछ लोग संगीत, हस्तकला तथा अनेक कलाओं में गुणी बनकर उन्हीं का अहंकार गांठे बैठे रहते हैं। कुछ लोग अपने देह-बल एवं शूरवीरता दिखाने में अपनी बड़ाई समझते हैं। कुछ लोग कविता लिखने तथा मंच पर उन्हें सुनाने में अपने आप को बहुत बड़ा गौरवशाली मानते हैं। कुछ लोग बड़े-बड़े दान कर उसी के मद में इतराते रहते हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि ये सारे गुण प्रशंसनीय हैं। किन्तु उच्च आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाये तो ये सारे गुण तभी गोबर हो जाते हैं जब इनसे सम्पन्न लोग मन-इन्द्रियों तथा विषयों के अधीन बने बिलबिलाते हैं "जहाँ से उपजे तहाँ समाने, छूटि गये सब तबहीं।" विषयों की मलिनता में ही सबके शरीर की रचना होती है। भव-बन्धनों से वही बच सकता है जो अपने आप को विषयों से बचा ले। भवबन्धन का व्यावहारिक स्वरूप है मन-इन्द्रियों के अधीन बना हुआ संसार में नाचना। जो विषयों की इच्छाओं में दीन बना रहता है उसका सारा ज्ञान-विज्ञान किस काम का! जिसके ज्ञान-विज्ञान उसे परम संतुष्टि न दे सकें, मन-इन्द्रियों की गुलामी तथा नाना व्यसनों से न बचा सकें उसकी क्या प्रशंसा है।

'बायें दहिने तजू बिकारा, निजु कै हरिपद गहिया।' यहां बायें-दाहिने से मतलब है सभी तरफ से विकारों का त्याग करो। सद्गुरु कहते हैं कि जीवन की सर्वोच्च स्थिति प्राप्त करने के लिए न तो हठयोग करने की आवश्यकता है, न बाल उखाड़ने एवं घोर तप करने की आवश्यकता है, न सिर मुड़ाने, न

मौनी बनने तथा न जटाधारी बनने की जरूरत है। इसके लिए बहुत-से शास्त्रों के अध्ययन कर पंडित बनने की भी जरूरत नहीं है। कला-कौशल सीखने, देह को मोटवाने, देह से शूरवीर बनने, कविता लिखने तथा बड़े-बड़े दान करने की भी आवश्यकता नहीं है। इसके लिए केवल एक काम करना है—सभी मनोविकारों का त्याग।

आप जानते हैं कि लोग अनेक भाषा एवं शास्त्र पढ़ डालते हैं, अनेक कला-कौशल सीख लेते हैं, बहुत-सी कवितों एवं किताबें रच डालते हैं, बड़े-बड़े दंगलों में पहलवानों को पछाड़ देते हैं, बड़ी-बड़ी तपस्यों कर डालते हैं जैसे पंचाग्नितापन, जलशयन, ऊर्ध्वबाहु रहना, खड़ेश्वरी बने रहना, बाल उखाड़ना, जमीन के भीतर तीन-तीन दिन की समाधि लेना आदि। लोग ज्ञान-विज्ञान के बल पर वायुयान द्वारा आकाश में उड़ते हैं, जल पर तैरते हैं और अनेक प्रभावशाली कर्तव्य दिखाते हैं; परन्तु मन-इंद्रियों के व्यसनों एवं विकारों को नहीं त्याग पाते। सद्गुरु कहते हैं कि यदि तुम जीवन में सर्वोच्च स्थिति चाहते हो, तो और कुछ कर पाओ या नहीं, तुम्हें जीवन के सारे विकारों को, विषयासक्ति की मलिनताओं एवं दुर्गुणों को सर्वथा छोड़ना पड़ेगा। विकारों का त्याग ही भजन है।

"निजु कै हरिपद गहिया" विकारों के त्याग के बाद क्या रह जाता है! सारी जड़ासक्ति विकार है और उसके सर्वथा दूर हो जाने पर केवल निर्विकार चेतनस्वरूप मात्र रह जाता है। सद्गुरु कहते हैं कि यही हरिपद है, यही परमात्मपद है। "निजु कै हरिपद गहिया" निजस्वरूप ही हरिस्वरूप है। तुम ऐसा भाव ग्रहण करो कि तुम्हारी आत्मा ही परमात्मा है। जब तुम सारे जड़ाध्यास रूपी विकारों को छोड़कर अपनी आत्मा रूपी परमात्मा में स्थित हो जाओगे तब कुछ बाकी नहीं रह जायेगा। सारे जड़-दृश्यों का मोह छोड़ देने पर निज चेतन स्वरूप मात्र ही रह जाता है। यही तो सांख्य की भाषा में 'विशुद्धम् केवलम्' है। इसी को वेदान्त की भाषा में अद्वैत भी कह सकते हैं बशर्ते जड़-चेतन की अभिन्नता एवं चराचर व्यापक के स्वप्न न देखे जायें। क्योंकि जहां मन का सपना शुरू हुआ, पुनः दृश्य जगत में एवं विकारों में आ गये। जब बोध में निज चेतनस्वरूप के अलावा कुछ नहीं रह जाता है तब यही सर्वोच्च स्थिति है।

उक्त स्थिति का अनुभव कोई पूछे तो बोधवान उसे क्या बतायेगा! गूंगा गुड़ खाया हो तो उससे पूछने पर वह कैसे उसके स्वाद को बतायेगा! गूंगा तो गूंगा ही है, जबान वाला भी इतना ही कहेगा कि गुड़ मीठा है। उसका स्वाद अच्छा है। इसके अलावा पूछने वाले को गुड़ के स्वाद का अनुभव तो नहीं

करा सकता। पूछने वाले को गुड़ के स्वाद का अनुभव तब होगा जब वह पहले से गुड़ खाये हो या वर्तमान में खाये। इसी प्रकार स्वरूपस्थिति के सुख का अनुभव-रस जबान से नहीं बताया जा सकता। जब भौतिक-रस का वर्णन असंभव है, तब स्वरूपस्थिति-रस का वर्णन कैसे हो सकता है ! उसे तो वही जानेगा जो उसका अनुभव करेगा। वह स्वसंवेद्य है।

सत्य को असत्य परास्त नहीं कर सकता

शब्द-39

ऐसो हरि सो जगत लरतु है, पाण्डुर कतहूँ गरुड़ धरतु है॥ 1॥
मूस बिलाई कैसन हेतु, जम्बुक करै केहरि सों खेतू॥ 2॥
अचरज एक देखो संसारा, स्वनहा खेदै कुंजर असवारा॥ 3॥
कहहिं कबीर सुनो सन्तो भाई, इहै सन्धि काहु बिरलै पाई॥ 4॥

शब्दार्थ—हरि=आत्मज्ञानी। पाण्डुर=पनिहा सांप जो विषरहित होता है। गरुड़=एक पक्षी, कहा जाता है यह सांप को भी खा लेता है। खेतू=युद्ध। स्वनहा=श्वान, कुत्ता। कुंजर=हाथी। सन्धि=भेद, रहस्य, मर्म।

भावार्थ—ऐसे आत्मज्ञानी पुरुषों से संसार के लोग विवाद करते हैं। परन्तु क्या पनिहा सांप गरुड़ को पकड़ सकता है?॥ 1॥ चूहा बिल्ली का क्या बिगाड़ सकता है? यदि सियार सिंह से युद्ध करना चाहे तो उसकी बेवकूफी है॥ 2॥ संसार में एक आश्चर्य देखता हूं कि कुत्ता हाथी पर सवार व्यक्ति को खदेड़ना चाहता है॥ 3॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो ! सुनो, इसका भेद कोई बिरला पाया है कि आत्मज्ञानी पुरुष को कोई परास्त नहीं कर सकता, अर्थात सत्य को असत्य मिटा नहीं सकता॥ 4॥

व्याख्या—38वें शब्द के आखिर में कहा गया है—"बायें दहिने तजू बिकारा, निजु कै हरिपद गहिया।" अर्थात सारे मनोविकारों को छोड़कर और निजस्वरूप को ही हरिस्वरूप समझकर आत्माराम में रमो। फिर ऐसा स्वरूपस्थ पुरुष ही मानो हरि है। सद्गुरु इस 39वें शब्द में कहते हैं कि ऐसे आत्मज्ञानी रूप हरि से जगत के लोग विवाद करते हैं कि ये तो किसी का भजन ही नहीं करते। न तो ये राम कहते हैं न रहीम, न पूजा करते हैं न नमाज पढ़ते हैं, न मन्दिर जाते हैं न मस्जिद। जिसे बोध हो गया कि आत्मा ही परमात्मा है वह ऊपर क्यों हाथ उठाये ! उसका कोई बाहरी कर्मकांड नहीं होता जिससे संसार के लोग उसे समझ सकें कि यह कोई भजन-पूजन कर रहा है। अतएव अनाड़ी लोग उनसे वाक्-युद्ध करने आते हैं। वे कहते हैं कि आत्मा ही कैसे परमात्मा हो सकता है? भला, यह जीव शिव कैसे हो जायेगा !

ज्ञानी संत हरि हैं, परमात्मा हैं, क्योंकि वे परम सत्य में स्थित हैं। संसार के अशुद्ध अंत:करण के लोग उनकी निश्चिंतता, स्वच्छता एवं स्वच्छंदता का सुख देखकर जलते हैं। वे विवाद करके उनको उच्छिन्न करना चाहते हैं। जो सारे आडम्बरों से रहित सत्य में स्थित हैं ऐसे संतों की विद्यमानता में कितने खल लोग अपनी हानि समझने लगते हैं। इसलिए वे उन्हें उखाड़ने के चक्कर में पड़ जाते हैं। परन्तु ध्यान रहे, सत्य बड़ा अमोघ, अटल और स्थिर होता है। उसे सारा संसार मिलकर भी उखाड़ नहीं सकता। वस्तुत: विश्वसत्ता तो उसका सहायक रहती है, केवल कुछ मूढ़ जीव ही उसका विरोध करते हैं और वे अपने आप मुंह की खाते हैं।

सद्गुरु ऐसे मूढ़ जीवों के लिए निर्बल पनिहा सांप, चूहा, सियार तथा कुत्ते का रूपक देते हैं और संत के लिए सबल गरुड, बिल्ली, सिंह एवं हाथी-सवार का। जैसे गरुड का सांप कुछ नहीं कर सकता, बिल्ली का चूहा, सिंह का सियार एवं हाथी-सवार का कुत्ता कुछ नहीं बिगाड़ सकता, वैसे सत्य का असत्य कुछ नहीं बिगाड़ सकता। सत्य हरि है, असत्य उसका क्या कर सकता है। सारे उदाहरण बड़े मार्मिक, अकाट्य एवं मजेदार हैं, जरा, आप गंभीरता से इन पर सोचिए, आप को हंसी आ जायेगी। सद्गुरु ने अन्यत्र भी कहा है—"हस्ती चढ़िये ज्ञान की, सहज दुलीचा डारि। श्वान रूप संसार है, भूकन दे झखमारि।" हाथी पर बैठे हुए व्यक्ति का कुत्ते भौंककर क्या करेंगे ! जो सत्य में स्थित है उसका कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता।

रट्टू सुग्गा मत बनो, राम को पहचानो

शब्द-40

पण्डित बाद बदे सो झूठा॥ 1॥
राम के कहै जगत गति पावै, खाँड़ कहै मुख मीठा॥ 2॥
पावक कहै पाँव जो डाहै, जल कहै तृषा बुझाई॥ 3॥
भोजन कहै भूख जो भाजै, तो दुनिया तरि जाई॥ 4॥
नर के संग सुवा हरि बोलै, हरि परताप न जानै॥ 5॥
जो कबहीं उड़ि जाय जंगल में, तो हरि सुरति न आनै॥ 6॥
बिनु देखे बिनु अर्स पर्स बिनु, नाम लिये क्या होई॥ 7॥
धन के कहै धनिक जो होवै, निर्धन रहै न कोई॥ 8॥
साँची प्रीति विषय माया सो, हरि भक्तन की फाँसी॥ 9॥
कहहिं कबीर एक राम भजे बिनु, बाँधे यमपुर जासी॥10॥

शब्दार्थ—बाद=विवाद, झगड़ा, बहस। बदे=कथन करना, पक्का करना। गति=मुक्ति। खांड़=चीनी। डाहै=जल जाये। भाजै=भग जाये, दूर हो जाये। सूवा=सुग्गा। यमपुर=मन की मलिनता, गर्भवास।

भावार्थ—पंडित लोग बहस करके जो यह पक्का करते हैं कि राम नाम जपने मात्र से मोक्ष मिल जायेगा, यह बात झूठी है॥ 1॥ यदि राम-राम कहने मात्र से संसार के लोग मुक्ति पा जाते हैं तो शकर-शकर कहने से मुख अवश्य मीठा हो जाना चाहिए॥ 2॥ इतना ही क्या, यदि आग-आग कहने से पैर गरम हो जायें, जल-जल कहने से प्यास बुझ जाये और भोजन-भोजन कहने से भूख भाग जाये तो केवल राम-राम कहने से संसार के लोग तर भी सकते हैं॥ 3-4॥ पिंजरे में बन्द शुक-पक्षी मनुष्य के साथ राम-राम कहता है, परन्तु वह राम के महत्त्व को नहीं जानता; और जब पिंजरे से निकलकर कदाचित जंगल में भाग जाता है, तब राम का ख्याल भी नहीं करता॥ 5-6॥ बिना देखे और बिना अनुभव किये, केवल नाम लेने से क्या होता है?॥ 7॥ यदि लोग केवल जबान से धन-धन कहने से धनी हो जाते, तो संसार में कोई निर्धन रहता ही नहीं॥ 8॥ संसार के विषयों और माया में हार्दिक प्रेम होना—यही हरि भक्तों के गले की फांसी है॥ 9॥ सद्गुरु कहते हैं कि एक राम के भजन बिना तुम वासनाओं में बंधकर यमपुर में जाओगे। यमपुर है घिनौने कर्म, यमपुर है गर्भवास॥ 10॥

व्याख्या—मुख से किसी नाम के लेते ही सारे पापों का भस्म एवं मोक्ष प्राप्त होने की मान्यता का पागलपन पुराकाल में नहीं था। पापों के क्षय तथा मोक्ष प्राप्ति के अनेक सस्ते नुस्खे धीरे-धीरे निकले। उनमें राम-नाम-जप मात्र से मोक्ष पा जाने की बात जोर पकड़ने लगी। कबीर साहेब के सैकड़ों वर्ष पूर्व से राम-नाम-जप आरम्भ हो गया था। उनके काल में यह कुछ जोर पकड़ रहा था। वैष्णवों के सम्पर्क में होने से राम-नाम का प्रभाव कबीर साहेब पर भी पड़ा था। उन्होंने दाशरथी राम को उपास्य न मानकर अंतरात्मा को माना था और उसी को उपासनीय राम कहा था। प्रचलित शब्द को स्वीकार कर उसको अपना अर्थ देना विवेकवान का काम है। कबीर साहेब ने यही किया। उन्होंने राम शब्द स्वीकार लिया, और कहा कि वह व्यक्ति की अंतरात्मा ही है। बीजक में बारम्बार राम शब्द आया है। जहां अंतरात्मा के लिए है वहां विधिपरक है और जहां आत्म-बाह्य है वहां निषेधपरक है। कबीर साहेब ने बीजक में "राम नाम भजु राम नाम भजु" निर्देश-वाक्य रूप में भी कई बार कहा है, परन्तु वह औपचारिक है। उन्होंने राम नाम को जानने तथा उस पर विचार करने के लिए ज्यादा कहा है।

रामोपासकों ने राम-नाम की बहुत महिमा बढ़ायी। उन्होंने कहा कि चाहे जितना पाप हो राम-नाम लेते ही सब भस्म हो जायेगा और जीव का मोक्ष हो जायेगा। कबीर साहेब राम से जुड़े थे, अतः उनको यह साधकों के लिए बड़ा

अहितकर लगा। कबीर साहेब धार्मिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र के वैज्ञानिक हैं। वे समाज को धोखा देने वाली बातों से नफरत करते हैं। उनका मंतव्य है कि समाज के मन में उत्साह भरने के नाम पर उसे धोखा न दिया जाये, किन्तु उसे सच्चा रास्ता बताया जाये। वह उस पर आज नहीं तो कल चलेगा। परन्तु यदि उसे हमने बिना पहुंचे ही पहुंचने का धोखा दे दिया है कि तुम पहुंच गये हो तो वह चलने का कभी नाम भी नहीं लेगा।

कुछ पंडित लोग बहस कर रहे थे कि राम-नाम कहने मात्र से जीव का मोक्ष हो जायेगा। तो कबीर साहेब ने पंडितों को दे ललकारा, और उनसे कहा कि ये तुम्हारी बातें झूठी हैं। झूठ को झूठ कहने में साहेब डरते नहीं थे। यह उनकी सबसे बड़ी खूबी थी। वे जो कुछ प्रतिपादित करते थे खरा सत्य रहता था। उसको सिद्ध करने के लिए उनके उदाहरण ज्वलंत होते थे। उन्होंने पंडितों से कहा कि न शकर कहने से मुख मीठा होता है न आग कहने से पैर गरम होते हैं, न पानी कहने से प्यास बुझती है और न भोजन कहने से भूख भगती है, फिर केवल राम कहने से मोक्ष कैसे हो सकता है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है शकर, आग, पानी तथा भोजन भौतिक हैं। कहने मात्र से अवश्य इनका अनुभव नहीं होता, परन्तु नाम-जप मन से सम्बन्ध रखता है; अतः नाम जपने से मन पवित्र हो सकता है। यह बात ठीक है कि यदि मन लगाकर कोई ऐसा नाम जपा जाये जिसके लिए पवित्र अवधारणा है तो कुछ-न-कुछ अवश्य मन पवित्र होगा। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जब हम किसी वस्तु में अपने मन को पूर्णतया लगा देते हैं, तब वह दूसरी तरफ नहीं जाता। अतएव कोई भी नाम जिसके प्रति पवित्र भाव है, जपना अच्छा है। परन्तु यह ध्यान रहे कि इतने मात्र से मोक्ष की कल्पना नहीं कर लेनी चाहिए। मोक्ष का तो अर्थ है जीव का बन्धनों से छूट जाना। जीव का स्वरूप क्या है, बंधनों का स्वरूप क्या है तथा जीव बन्धनों से कैसे छूट सकता है, इनका ज्ञान होना चाहिए और तत्पश्चात बंधनों का त्याग होना चाहिए, तब मोक्षदशा आती है। यह केवल किसी नाम रटने का फल नहीं हो सकता। तोतारटंत नाम जपने से कोई बड़ी आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती। एक उदाहरण लें—

'राम-राम' सुग्गा रटता है, राम नाम क्या वस्तु है, यह नहीं जानता। इसी प्रकार कितने लोग नाम-रटन तो खूब करते हैं, परन्तु राम क्या वस्तु है, यह नहीं जानते।

एक चिड़िया वाला चार सुग्गे लेकर बाजार में बेचने जा रहा था। एक महात्मा ने देखा और कहा कि भाई ! इन सुग्गों को छोड़ दो, इन्हें क्यों बन्द

कर रखे हो? उसने कहा—महाराज ! हमारी यही जीविका है। रोज दो-चार सुग्गे फंसाकर बेचता हूं और उसी से कुटुम्ब पालता हूं। महात्मा ने पांच रुपये देकर उन सुग्गों को ले लिया और अपने आश्रम पर ले जाकर उन्हें पढ़ाने लगे। महात्मा ने कहा—सुग्गो ! पढ़ो—

"बधिक आयेगा, जाल बिछायेगा, दाने डालेगा, मुझको फंसायेगा, निश्चय मैं नहीं फंसूंगा।"

सुग्गे उपर्युक्त मंत्र पढ़ लिये और भलीभांति अभ्यस्त कर लिये, तब महात्मा ने उन्हें छोड़ दिया। वे जंगल में उड़ गये और यही रटने लगे। धीरे-धीरे जंगल के सभी सुग्गे यही पढ़ लिये। चारों ओर से वहां यही शब्द हर क्षण होता था।

एक दिन चिड़िया फंसाने वाला आया। जंगल में पैर रखते ही उन सुग्गों की सावधानी के शब्द सुने। उसकी आकृति फीकी हो गयी। वह बेचारा समझा कि हमारा दावं अब नहीं लगेगा। जाकर अपने पिता से कहा कि जंगल के सभी सुग्गे यही कहते हैं—

"बधिक आयेगा, जाल बिछायेगा, दाने डालेगा, मुझको फंसायेगा, निश्चय मैं नहीं फंसूगा।"

पिता ने कहा—अरे ! जाल बिछाया भी कि नहीं? पुत्र ने कहा कि नहीं। पिता ने कहा कि जाल बिछाकर देख तो ! पुत्र गया और जंगल में जाल बिछा दिया। उसमें उसने दाने डाल दिये। सुग्गे आये और जाल में बैठकर दाने चुगने लगे, साथ-साथ अपने मंत्र का पाठ करने लगे—

"बधिक आयेगा, जाल बिछायेगा, दाने डालेगा, मुझको फंसायेगा, निश्चय मैं नहीं फंसूंगा।"

इधर बधिक ने डोरी खींची। सब सुग्गे फंस गये। परन्तु वे तो अपने मंत्र अब भी बड़ी उमंग में पढ़ रहे हैं। बधिक जब बाजार में सुग्गों को बेचने गया, तब भी वे अपना आलाप सुना रहे हैं—

"बधिक आयेगा, जाल बिछायेगा, दाने डालेगा, मुझको फंसायेगा, निश्चय मैं नहीं फंसूंगा।"

राम-नाम जप में भी प्रायः यही भावना काम कर रही है। राम तो अपना स्वरूप ही है; परन्तु मनुष्य यह भेद नहीं जानते। सारी वासनों त्यागकर उसमें स्थित नहीं होते। केवल जिह्वा से राम-नाम कहते रहते हैं।

धन-धन कहने से जैसे कोई धन नहीं पाता, वैसे केवल राम-राम कहने से राम का न परिचय होता है और न राम में स्थिति। हमें राम का परिचय करना होगा कि राम क्या है ! वस्तुतः सबका राम अपनी-अपनी चेतना है।

व्यक्ति का आत्मअस्तित्व ही रामस्वरूप है। उसमें तभी स्थिति होती है जब जीवन से विषय-वासनाओं का त्याग हो।

"साँची प्रीति विषय माया सो, हरि भक्तन की फाँसी।" साहेब कहते हैं कि यदि हरिभक्त लोग अपना हार्दिक प्रेम विषय-माया से रखते हैं तो यही उनके गले की फांसी है। इस फांसी के कटे बिना राम में विश्राम कैसे मिलेगा? मन एक है। उसमें राम रहे या काम। दोनों एक साथ नहीं रह सकते। केवल जबान से राम-राम कहते रहें और मन विषयों में तथा संसार के माया-मोह में डूबा रहे तो यह राम-भजन नहीं है। असली राम-भजन तब शुरू होता है जब मन वासनाहीन तथा मोह-माया-रहित हो जाये। यह विवेक उदय होने पर ही होगा। विवेक उदय करने के लिए स्वाध्याय, सत्संग एवं तत्त्वचिंतन की आवश्यकता है।

"कहहिं कबीर एक राम भजे बिनु, बाँधे यमपुर जासी।" आप को आश्चर्य होगा कि इस शब्द के शुरू में तो कबीर साहेब कहते हैं कि राम-राम कहने से यदि मोक्ष हो जाता तब तो शकर-शकर कहने से मुख मीठा हो जाता, और इस शब्द के आखिर में कहते हैं कि एक राम के भजन बिना तुम बंधकर यमपुर में जाओगे। तो क्या यह परस्पर विरुद्ध बात है? विरुद्ध बिलकुल नहीं है। इस शब्द की शुरू पंक्ति से लेकर आठवीं पंक्ति तक सद्‌गुरु यह दिखाते हैं कि रट्टू सुग्गा बनने से काम नहीं चलेगा। उससे कोई बड़ी उन्नति होने वाली नहीं है। वे नवीं पंक्ति में बताते हैं कि हरिभक्तों का मुख्य बन्धन विषयों तथा मोह-माया का राग है। यदि यह छोड़ा जा सके तो मानो राम का सच्चा भजन हो रहा है। राम तो निजस्वरूप ही है, जब विषय-वासनों छूट गयीं तब मन निजस्वरूप में लीन हो गया। यही राम भजन है। यदि न हुआ तो जीव को बंधकर यमपुर में जाना पड़ेगा। क्या कबीर साहेब पौराणिकों की तरह यमपुर या यमलोक मानते थे? वस्तुतः कबीर साहेब ऐसा कुछ नहीं मानते थे। उस समय यमपुर शब्द का प्रचलन था। जो पाप करता है वह यमपुर में जाता है, यह उनके समय में लोक-चर्चा थी। इसलिए इस शब्द को उन्होंने भी स्वीकारा, परन्तु इसको अपना अर्थ दिया। कबीर साहेब के ख्याल से यमपुर दुर्वासनों हैं, मन की मलिनतों एवं घिनौने कर्म हैं। मन में काम, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, चिन्ता, दुख आदि का बने रहना यमपुर में निवास करना है तथा शील, क्षमा, करुणा, विवेक, वैराग्य, शांति एवं मानसिक प्रसन्नता का बने रहना स्वर्ग में निवास है। काम में लीन व्यक्ति यमपुर में है तथा राम में लीन व्यक्ति स्वर्ग में है। जो काम में लीन है वह बन्धनों में जकड़ा है तथा जो राम में लीन है वह मुक्त है।

छुआछूत पर विचार तथा उसका ऐतिहासिक अध्ययन

शब्द-41

पण्डित देखहु मन में जानी॥ 1॥
कहु धौं छूति कहाँ से उपजी, तबहिं छूति तुम मानी॥ 2॥
नादे बिन्दे रुधिर के संगे, घटही में घट सपचै॥ 3॥
अष्टकँवल होय पुहुमी आया, छूति कहाँ ते उपजै॥ 4॥
लख चौरासी नाना बहु बासन, सो सब सरि भौ माटी॥ 5॥
एकै पाट सकल बैठाये, छूति लेत धौं काकी॥ 6॥
छूतिहिं जेंवन छूतिहिं अँचवन, छूतिहिं जगत उपाया॥ 7॥
कहहिं कबीर ते छूति विवर्जित, जाके संग न माया॥ 8॥

शब्दार्थ—धौं=भला। छूति=छुआछूत का भाव। नादे=प्राणवायु। बिन्दे=वीर्य। रुधिर=रक्त। घटही में=नारी के गर्भाशय में। घट=शरीर। सपचै=पकता, पुष्ट होता एवं बढ़ता है। अष्टकँवल=माता के उदर से। पुहुमी=पृथ्वी। बासन=बरतन, शरीर। पाट=पीढ़ा, पृथ्वी। जेंवन=भोजन। अँचवन=पानी। उपाया=उत्पन्न। माया=विषयासक्ति एवं मोहासक्ति।

भावार्थ—हे पंडित! मन में समझकर देखो॥ 1॥ कहो भला, छूत कहां से पैदा हुई जिससे तुमने छुआछूत की भावना पैदा कर ली?॥ 2॥ प्राणवायु, वीर्य और रज इकट्ठे होकर शरीर की रचना शुरू होती है और माता के पेट में बच्चे का शरीर बढ़ता, पकता तथा पुष्ट होता है॥ 3॥ उसके बाद माता के पेट से बच्चा पैदा होकर जमीन पर आता है, फिर छूत कहां से पैदा हो गयी?॥ 4॥ चौरासी लाख योनियों के असंख्य शरीर सड़-सड़कर मिट्टी में मिलते हैं॥ 5॥ उसी एक जमीन रूपी पीढ़े पर प्रकृति ने सबको बैठाया है, फिर भला उनमें किसको अशुद्ध मानकर छूत लगा दी जाये?॥ 6॥ विचारकर देखा जाये तो भोजन में छूत है, पानी में छूत है, बल्कि छूत से तो सबकी पैदाइश ही है॥ 7॥ कबीर साहेब कहते हैं कि छूत से वही बचा है जिसका मन विषयासक्ति एवं माया-मोह से रहित है॥ 8॥

व्याख्या—कुछ वर्ग के लोगों को अछूत मानना यह भारत के बाहर के देशों में भी किसी न किसी प्रकार है। अमेरिका एवं दक्षिण अफ्रीका में नीग्रो (काले) जाति के लोगों के प्रति गोरे लोग बड़ी घृणा करते हैं। वे अपने मकान भी उनको किराये पर नहीं देना चाहते। यहां तक कि गोरों के मोहल्लों में नीग्रो आ नहीं सकते। अब इधर कुछ उदारता बढ़ी है।

भारतवर्ष में और उसमें हिन्दूसमाज में छुआछूत की भावना बड़ी प्रबल है। भारत की दो परम्परों बहुत पुरानी हैं—ब्राह्मण एवं श्रमण। श्रमण परम्परा

में पहले और भी सम्प्रदाय थे, परन्तु वे सहस्राब्दियों से लुप्त हैं। अतएव दो ही के नाम उसमें लिए जा सकते हैं—जैन और बौद्ध। ये दोनों परम्परा ब्राह्मण-परम्परा से छुआछूत के मामले में काफी उदार हैं। उनमें भी बौद्ध ज्यादा उदार हैं। ब्राह्मण-परम्परा की मूल पुस्तक वेद हैं। उनमें छुआछूत की कहीं चर्चा नहीं मिलती। बल्कि यह चर्चा मिलती है कि हमारी पौशाला एक हो और हम एक साथ भोजन लें।[1] छुआछूत नाम की विकृति हिन्दू समाज में धीरे-धीरे फैली है।

भारतरत्न महामहोपाध्याय डॉ. पांडुरंग वामन काणे ने छुआछूत-भावना पैदा होने के कई कारण बताये हैं। वे लिखते हैं—"अस्पृश्यता केवल जन्म से ही नहीं उत्पन्न होती, इसके उद्गम के कई स्रोत हैं। भयंकर पापों एवं दुष्कर्मों से लोग जाति निष्कासित एवं अस्पृश्य हो जा सकते हैं। मनु (9/235-239) ने लिखा है कि ब्रह्महत्या करने वाले, ब्राह्मण के सोने की चोरी करने वाले या सुरापान करने वाले लोगों को जाति से बाहर कर देना चाहिए। न तो कोई उनके साथ खाये, न उन्हें स्पर्श करे, न उनकी पुरोहिताई करे और न उनके साथ कोई विवाह-सम्बन्ध स्थापित करे। वे लोग वैदिक धर्म से विहीन होकर संसार में विचरण करें। अस्पृश्यता उत्पन्न होने का दूसरा स्रोत है धर्म सम्बन्धी घृणा एवं विद्वेष, जैसा कि अपरार्क (पृष्ठ 923) एवं स्मृतिचंद्रिका (पृष्ठ 118) ने षटत्रिंशन्मत एवं ब्रह्माण्डपुराण से उद्धरण लेकर कहा है—"बौद्धों, पाशुपतों, जैनों, लोकायतों, कापिलों (सांख्यों), धर्मच्युत ब्राह्मणों, शैवों एवं नास्तिकों को छूने पर वस्त्र के साथ पानी में स्नान कर लेना चाहिए।" ऐसा ही अपरार्क ने भी कहा है।[2] अस्पृश्यता उत्पन्न होने का तीसरा कारण है कुछ लोगों का, जो साधारणतः अस्पृश्य नहीं हो सकते थे, कुछ विशेष व्यवसायों का पालन करना, यथा देवलक (जो धन के लिए तीन वर्ष तक मूर्तिपूजा करता है), ग्राम के पुरोहित तथा सोमलता विक्रयकर्ता को स्पर्श करने से वस्त्र-परिधान सहित स्नान करना पड़ता था। चौथा कारण है कुछ परिस्थितियों में पड़ जाना, यथा रजस्वला स्त्री के स्पर्श, पुत्रोत्पन्न होने के दस दिन की अवधि में स्पर्श, सूतक में स्पर्श, शवस्पर्श आदि में वस्त्र सहित स्नान करना पड़ता था (मनु 5/85)। अस्पृश्यता का पांचवां कारण है म्लेच्छ या कुछ विशिष्ट देशों का निवासी होना। इसके अतिरिक्त स्मृतियों के अनुसार कुछ ऐसे व्यक्ति जो गंदा व्यवसाय करते थे,

---

1. समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः। (अथर्ववेद 3/30/6)
2. बौद्धान् पाशुपतांश्चैव लोकायतिकनास्तिकान्।
विकर्मस्थान् द्विजान् स्पृष्ट्वा सचैलो जलमाविशेत्॥ (अपरार्क, पृष्ठ 923)

अस्पृश्य माने जाते थे, यथा कैवर्त (मछुआ), मृगयु (मृग मारने वाला), व्याध (शिकारी), सौनिक (कसाई), शाकुनिक (पक्षी पकड़ने वाला या बहेलिया), धोबी, जिन्हें छूने पर स्नान करके ही भोजन किया जा सकता था।"[1]

उपर्युक्त उद्धरणों को देखते हुए यही पता चलता है कि इस प्रकार धीरे-धीरे छुआछूत की भावना बढ़ती गयी। फिर शूद्र तथा अतिशूद्र कहलाने वाला एक बड़ा वर्ग समाज से उपेक्षित होता गया। डॉ. पांडुरंग जी लिखते हैं— "प्राचीनकाल में बहुत-से व्यवसाय वंशानुक्रमिक थे, अतः क्रमशः यह विचार ही घर करता चला गया कि वे लोग जो ऐसी जाति के होते हैं जो गंदा व्यवसाय करती है, जन्म से ही अस्पृश्य हैं। आज तो स्थिति यहां तक आ गयी है कि चाहे कुछ जातियों के लोग गंदा व्यवसाय करें या न करें जन्म से ही अस्पृश्य माने जाते हैं। आश्चर्य ! परन्तु पहले यह बात नहीं थी।"[2]

धीरे-धीरे तो यहां तक होता गया कि हल चलाकर अन्न पैदा करने वाले, सब्जी पैदा करने वाले, सूत कातने वाले, कपड़े बुनने वाले, कपड़े सीने वाले, कपड़े धोने वाले, तेल पेरने वाले, बाल बनाने वाले, मिट्टी या धातु के बरतन बनाने वाले, लकड़ी का काम करने वाले, अर्थात समाज के सभी कर्मकरों को शूद्र और अछूत कह डाला गया। उनकी कमाई के फल, अन्न, सब्जी, कपड़े, तेल, बरतन, पलंग, फाटक आदि तो प्रेम से अपना लिये गये, परन्तु उन्हें अछूत घोषित कर दिया गया। कर्मकर ही किसी समाज एवं देश के हाथ-पैर होते हैं, उन्हीं को यदि हीनभावना से देखा जाये और उन्हें अछूत तक घोषित कर दिया जाये तो यह कितना आत्मघाती प्रयास है ! ये सारे कर्मकर जिनको एकबारगी शूद्र घोषित कर दिया गया, उन्हें कहा गया, शूद्र ब्राह्मण की सेवा जलती हुई अग्नि के समान दूर से करें, परन्तु क्षत्रिय और वैश्य उनकी सेवा उनका स्पर्श करके कर सकते हैं।[3]

बिना सही आधार के केवल कल्पित जाति के आधार पर छुआछूत की भावना हिंदूसमाज का जबर्दस्त कोढ़ है। इस कोढ़ के लिए जिम्मेदार ब्राह्मण-पुरोहित है जिसे रूढ़ रूप में पंडित भी कहा जाता है। वस्तुपरक बुद्धि रखने वाले परमपारखी कबीर पंडितों से पूछते हैं कि हे पंडितो ! मन में विचारो और यह बताओ कि छुआछूत की भावना तुम्हारे मन में कहां से पैदा हो गयी

---

1. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ. 168।
2. वहीं, पृ. 169।
3. दूराच्छूद्रेणोपचर्यो ब्राह्मणोऽग्निरिव ज्वलन्।
संस्पृश्यपरिचर्यस्तु वैश्येन क्षत्रियेण च॥ (महाभारत, अनुशासन पर्व, 59/33)

जिससे तुमने दूसरे लोगों को अछूत कह डाला। मानवमात्र के निर्माण की शुरुआत माता के गर्भाशय में होती है। वहां प्राण, रज और वीर्य से शरीर बनने का आरम्भ होता है। रज और वीर्य गंदे हैं। उनसे बनता हुआ शरीर महीनों माता के गंदे गर्भाशय में बढ़ता एवं पकता है। फिर वह नौ–दस महीने में "अष्टकँवल होय पुहुमी आया" तब "छूति कहाँ ते उपजै।" शरीर गंदगी से बना, माता का गर्भाशय जहां शरीर बना, वह भी गंदा और जिस द्वार से शरीर पैदा हुआ, वह भी गंदा। पैदा होने के बाद एक ही समान सभी के बच्चों की मलिनतों धोयी जाती हैं और सभी बच्चों को वैसे ही दूध पिलाया जाता है। यह दशा मानवमात्र की उत्पत्ति की है, फिर इसमें कौन पवित्र और कौन अपवित्र ठहरा?

एक बात इसमें आयी है "अष्टकँवल होय पुहुमी आया" प्रश्न होता है कि यह 'अष्टकँवल' क्या है? शरीर में गुदा और उपस्थ के बीच से लेकर खोपड़ी तक क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा, सहस्रसार तथा सुरति—ये आठ चक्र एवं कमल[1] माने गये हैं। इन चक्रों या कमलों को नीचे से गिनने पर ऊपर का सुरतिकमल आठवां होता है और ऊपर से गिनने पर नीचे योनिद्वार में स्थित मूलाधार आठवां चक्र या कमल होता है। अतएव अर्थ हुआ कि नवजात शिशु अष्टकंवल–मूलाधार स्थानीय योनिद्वार से पृथ्वी पर पैदा होता है। कुछ विद्वान कहते हैं कि नाभिस्थान में रहने वाले मणिपूर चक्र को अष्टकंवल कहा जाता है। अन्य योगियों ने मणिपूर को दस–दलकमल का माना है, परन्तु कबीर साहेब ने इसे अष्टकमलदल का माना है। कबीर मंशूर का लेखक लिखता है—"कबीर साहेब तीसरे मणिपूर चक्र को आठ ही दलों का मानते हैं, बाकी सब योगी उसे दसदल का मानते हैं।"[2] इस दृष्टि से अर्थ हुआ कि अष्टकमलदल मणिपूरचक्र जो नाभि में स्थित है वहां से बच्चा पृथ्वी पर पैदा हुआ। अतएव अष्टकंवल चाहे नाभि में स्थित मणिपूर को माने और चाहे योनिद्वार में स्थित मूलाधार को माने, अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता है। एक में अर्थ हुआ कि बच्चा पेट से बाहर हुआ और दूसरे में अर्थ हुआ कि योनि से बाहर हुआ। सार यह है कि सभी मनुष्यों की पैदाइश का मूल गंदा है। फिर इसमें कौन शुद्ध और कौन अशुद्ध हुआ? यदि कर्म से नहीं, जन्म से छुआछूत मानते हो, तो सब अछूत हुए।

---

1. इसका विवरण आगे 87वें शब्द की व्याख्या में देखें।
2. कबीर मंशूर, पृ. 427–428।

"लख चौरासी नाना बहु बासन, सो सब सरि भौ माटी। एकै पाट सकल बैठाये, छूति लेत धौं काकी।" कबीर साहेब मूल को पकड़ते हैं। वे कहते हैं कि पृथ्वी एक पीढ़ा है, पाटला है। इसी एक पीढ़े पर प्रकृति ने सबको बैठा दिया है। पृथ्वी में ही सारे जानवरों की लाशें सड़कर मिलती हैं और बहुत-सारी गंदगियां समाती हैं। उसी एक पीढ़े पर पंडित जी बैठे हैं और दूसरे सब बैठे हैं, फिर किसकी छूत रह गयी?

साहेब अन्त में बड़े मार्के की बात कहते हैं। वे कहते हैं—"छूतिहिं जेंवन छूतिहिं अँचवन, छूतिहिं जगत उपाया। कहहिं कबीर ते छूति विवर्जित, जाके संग न माया।" पैदाइश तो सबकी छूत से है ही, भोजन तथा पानी में भी छूत लगी ही रहती है। सबके भोजन को कभी-न-कभी मक्खियां छू ही लेती हैं और मक्खियां महा गंदी होती हैं। हवा में जो अशुद्धि मिली है वह तो हर चीज को छूकर उसे अपवित्र बना देती है। सर्वाधिक पवित्र माने जाने वाले गंगा जल में कौन-सी गंदगी नहीं मिली है! इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि वस्तुतः छुआछूत से वही अलग है जो मोह-माया से परे हो गया है।

मनुष्य को चाहिए कि वह शक्ति चले तक शुद्धता का व्यवहार बरते। मक्खी छू लेती है, गन्दी हवा छू लेती है, पानी में अशुद्धि मिली रहती है, इसलिए शक्ति चले तक शुद्धता का व्यवहार भी नहीं करना चाहिए—यह अभिप्राय कबीर साहेब का नहीं है। उनका तो अभिप्राय है कि अन्य प्रकार की छूत को तुम झेल लेते हो जो सचमुच बुरा है, परन्तु यदि पवित्र हाथ से कोई तुम्हारी वस्तु छू ले, तो उसे भिन्न जाति का समझकर तुम छूत का पाखण्ड करते हो। कुत्ते और कौए तुम्हारी थाली में अपने मुंह मार जायें तो तुम थाली को धोकर उसे शुद्ध मान लेते हो, परन्तु वह पवित्र मनुष्य का बच्चा तुम्हारी थाली में भोजन नहीं कर सकता, जिसे तुमने जन्मजात अछूत मान रखा है। तुम गाय के, कुत्ते के तथा बकरे के बच्चे को खेला सकते हो, परन्तु मनुष्य के बच्चे को अछूत मानते हो। यह सब पोंगापंथी विचार धर्म के नाम पर चलता है। "मनु और विष्णुधर्मसूत्र (23/52) ने लिखा है कि मक्खियों, हौज की बूंदों, मनुष्य की छाया, गाय, अश्व, सूर्यकिरण, धूल, पृथ्वी, हवा, अग्नि को पवित्र मानना चाहिए।"[1] इस सूची में गन्दी मक्खियों तक को भी पवित्र मानने की राय दी गयी है, परन्तु केवल उस मानव को ही पवित्र मानने की राय नहीं दी गयी जिसे कभी शूद्र कह दिया गया था।

वस्तुतः जन्म से कोई अछूत नहीं है। कोई अपने गन्दे कर्म से अछूत हो सकता है, वह भी उसी समय तक जब तक वह गन्दा कर्म करता है। यदि

1. धर्मशास्त्र का इतिहास भाग 1, पृ. 170।

वह गन्दा कर्म छोड़ दे तो अछूत नहीं है। गन्दा कर्म है हिंसा का काम, जैसे बधिक या कसाई का काम। मांसाहार गन्दा काम है। एक शाकाहारी व्यक्ति मांसाहारी के हाथ का भोजन नहीं कर सकता। हां, यदि वह मांसाहार छोड़ दे, तो उसके हाथ का भोजन करने में कोई बुराई नहीं। जिसके अंग गन्दे हैं, कपड़े गन्दे हैं, बरतन गन्दे हैं; जो शुद्धाशुद्धि का समुचित ध्यान नहीं रखता, उसके हाथ का भोजन करना गलत है। अशुद्धता अछूत है तथा शुद्धता ठीक है। हम मिथ्या जाति-पांति के अहंकार में डूबकर यह भेदभाव की दीवार बना रखे हैं। श्री रामरहस साहेब कहते हैं—

अहंकार आने नहीं, मैं उत्तम यह नीच।
एकत्व सबही सम लखै, मानुष खानि के बीच॥ (पंचग्रन्थी)

टट्टी फेंकना गन्दा काम नहीं है। यह तो शुद्ध काम है। टट्टी फेंकने वाला जगह को स्वच्छ करता है। अतः उसका काम स्वच्छ है। सब मनुष्य सुबह उठकर अपनी-अपनी टट्टी साफ करते हैं। यदि टट्टी साफ करने वाले अछूत हैं तो संसार के सभी मनुष्य अछूत हैं। जब आदमी टट्टी की सफाई में लगा हो उस समय वह अछूत है। उसके बाद जब वह नहा-धो कर स्वच्छ हो गया तब शुद्ध है। भिन्न देश तथा भिन्न सम्प्रदाय के लोगों को अछूत कहना अज्ञान एवं द्वेष का फल है। एक दृष्टि से देखें तो जन्म से सब अछूत हैं और इसमें किसी का ठिकाना नहीं होगा। दूसरी दृष्टि से देखें तो जन्म से कोई अछूत नहीं, किन्तु गन्दगी ही अछूतपन का लक्षण है, उसे सबको दूर करना चाहिए।

इस शब्द का सार उद्देश्य ही मननीय है। कबीर साहेब कहते हैं कि तुम्हारी पैदाइश और तुम्हारा सब कुछ अशुद्ध है। अशुद्धि से वही मुक्त है जो माया-मोह का त्यागी है। "यह संसार सकल है मैला, राम गहे ते सूंचा।" सद्गुरु कहते हैं कि तुम अपने मन की मलिनता तो दूर नहीं करते हो, बस, दूसरों को अछूत सिद्ध करते रहते हो।

मोक्ष-विचार

शब्द-42

पण्डित शोधि कहो समुझाई, जाते आवागमन नशाई॥ 1॥
अर्थ धर्म औ काम मोक्ष कहु, कौन दिशा बसे भाई॥ 2॥
उत्तर कि दक्षिन पूरब किपच्छिम, स्वर्ग पताल कि माहीं॥ 3॥
बिना गोपाल ठौर नहिं कतहूँ, नर्क जात धौं काहीं॥ 4॥
अनजाने को स्वर्ग नर्क है, हरि जाने को नाहीं॥ 5॥

जेहि डर से भव लोग डरतु हैं, सो डर हमरे नाहीं॥ 6॥
पाप पुण्य की शंका नाहीं, स्वर्ग नर्क नहिं जाहीं॥ 7॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, जहाँ का पद तहाँ समाई॥ 8॥

शब्दार्थ—शोधि=खोज एवं परख कर। माहीं=मध्य। गोपाल=ब्रह्म। धौं=भला। भव लोग=संसार के लोग। पद=आधार, आश्रय, स्वरूप।

भावार्थ—हे पंडित! अच्छी तरह समझ-विचारकर जनता को उपदेश दो, जिससे उनके जन्म-मरण का बन्धन नष्ट हो॥ 1॥ हे भाई, यह बताओ कि अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष किस दिशा में रहते हैं ?॥ 2॥ वे उत्तर रहते हैं कि दक्षिण, पूर्व रहते हैं कि पश्चिम, आकाश में रहते हैं कि पाताल में, या मध्य अर्थात पृथ्वी पर रहते हैं ?॥ 3॥ कहा जाता है कि बिना ब्रह्म के कोई जगह खाली नहीं है, अर्थात सब कुछ ब्रह्म ही है, तब भला नरक कहां है जहां नास्तिक लोग जाते हैं ?॥ 4॥ वस्तुतः जिनको सत्य और असत्य का पता नहीं है ऐसे अनजान लोग ही स्वर्ग और नरक की कल्पना में भटकते हैं। परन्तु जिसने यह जान लिया कि हरि अपना आत्मस्वरूप ही है उसके मन में कहीं आने-जाने का भ्रम नहीं होता॥ 5॥ अतएव जिस शास्त्र-जाल के बहकावे में पड़कर संसार के लोग भयभीत रहते हैं वह भय हमें नहीं है॥ 6॥ क्या पाप है और क्या पुण्य है इसके विषय में मुझे शंका नहीं है, इसके लिए मुझे शास्त्रों से पूछना भी नहीं है। न हमें स्वर्ग जाना है और न नरक जाना है॥ 7॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो! सुनो, जैसे हर वस्तु अपने आधार एवं आश्रय में लीन होती है, वैसे हर व्यक्ति का आश्रय अपना आपा, अपनी चेतना एवं अपनी आत्मा ही है। अतएव जीव का निजस्वरूप में स्थित हो जाना ही मोक्ष है। कहीं अन्यत्र आना-जाना नहीं॥ 8॥

व्याख्या—जिसकी बुद्धि सत्यासत्यविवेकिनी होती है उसकी बुद्धि पंडा कहलाती है और जिसकी बुद्धि पंडा होती है, वह पंडित होता है। अतएव जो सच्चा पंडित होता है वह तो समझता है कि सत्य क्या है और असत्य क्या है। ऐसे पंडितों का कबीर साहेब आदर करते हैं। वे उनके विषय में कहते हैं—"कहहिं कबीर हम जात पुकारा, पंडित होय सो लेय विचारा।[1] कहहिं कबीर सुनो हो संतो, बूझो पंडित ज्ञानी।[2] पंडित सो बोलिये हितकारी।"[3] इत्यादि। परन्तु संसार में पंडित नामधारियों की भीड़ है जो पोथी-पुराणों के आधार पर पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक एवं मोक्ष की अयुक्त व्याख्या करते रहते

1. बीजक, शब्द 53।
2. बीजक, शब्द 94।
3. बीजक, रमैनी 70।

हैं। कबीर साहेब ने ऐसे पंडितों को टोका है। साहेब कहते हैं कि हे पंडितो, मोक्ष-विषय बड़ा उच्च है। उसे गहराई से सोचो। वह अमुक नाम जपने, अमुक नदी में नहाने, अमुक कर्मकांड करने, अमुक देवता को खुश करने आदि से नहीं होता। मोक्ष तत्त्व का अनुभव करने के लिए तो आत्मशोधन करना पड़ता है। "शोधि कहो समुझाई" बड़ा महत्त्वपूर्ण वचन है। कौन बंधा है, किसमें बंधा है, कैसे बंधा है, कैसे छुटेगा, छूटने के बाद स्थिति क्या होगी? इन महत्त्वपूर्ण विषयों के अन्वेषण की आवश्यकता है। विवेकी भावुक बनकर यह नहीं कहता है कि अमुक-अमुक कर्मकांड से मोक्ष मिल जायेगा। जीव विषयों में राग के कारण बंधा है, सत्संग एवं स्वविवेक से समझकर उन्हें छोड़ने पर जीव का मोक्ष होता है। निजस्वरूप में स्थिति ही मोक्ष है। इन बातों को समझकर जब यह रहनी में उतर आती है तब मोक्ष है। जिसका मन अनासक्त होकर आत्मलीन हो गया, वह मुक्त है। इस विषय को जानकर मुमुक्षुओं को उपदेश देने से उनको पथ मिलेगा, उनके बंधन कटेंगे।

"अर्थ धर्म औ काम मोक्ष, कहु कौन दिशा बसे भाई।" पंडित लोग जनता को उपदेश करते हैं कि व्यक्ति अमुक तिथि को यदि प्रयाग त्रिवेणी में, काशी में, अयोध्या में, पुष्कर में नहाये तो मुक्त हो जायेगा, 'जो जाय बद्री सो ना आवे वोद्री।' ब्रह्मसूत्र (4/2/1-21 तथा 4/3/1-7) में कहा गया है कि मुक्तजीव ब्रह्मलोक की यात्रा करता है। भारतीय परम्परा में अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष ये चार पुरुषार्थ माने गये हैं। उनमें मोक्ष मुख्य पुरुषार्थ है। कबीर साहेब कहते हैं कि ये मोक्षादि पुरुषार्थ—पुरुष के प्रयोजन, किस दिशा में बसते हैं? वस्तुतः ये मनुष्य के शरीर में ही बसते हैं। इसके लिए किसी दिशा या लोक में यात्रा नहीं करना पड़ता। श्रम करने से धन मिलता है, संयम करने से धर्म बढ़ता है, शुभ पथ पर चलने से एवं इच्छाओं को जीतने से मानो कामनें पूरी होती हैं और वासनाओं का सर्वथा अंत मोक्ष है। ये सब मानव के शरीर में ही रहते हैं। उसी के श्रम का सब फल है। ये नाना दिशाओं में दौड़ने से नहीं सिद्ध होते। हां, इनके लिए सच्चे सद्गुरु एवं सन्तों की संगत की खोज करनी चाहिए।

"बिना गोपाल ठौर नहिं कतहूँ, नर्क जात धौं काहीं।" पंडित लोग यह भी कहते हैं कि सारा विश्व ब्रह्म ही है। साहेब कहते हैं कि फिर नरक कहां है? सब कुछ ब्रह्म ही नहीं है, किन्तु माया भी है। सब कुछ चेतन ही नहीं है, जड़ भी है। लोगों ने भावावेश में कह दिया कि सब कुछ ब्रह्म ही है। बस, इसको परम विधि वाक्य मानकर बिना सोचे-विचारे इसके पीछे पड़ गये। संसार में

जड़ अलग है, चेतन अलग है। चेतन ही ब्रह्म कहा जा सकता है, जड़ नहीं। यदि जड़ को भी ब्रह्म कहा जाये तो उसके भाव पर विचार करना पड़ेगा, जैसे जलम् ब्रह्म, अन्नम् ब्रह्म आदि। तो यह जल और अन्न की महिमा में कहा गया है न कि वे चेतन हो जायेंगे। बिना विचार किये लोग कहते रहते हैं कि सब कुछ ब्रह्म ही है। ऐसा मान लेने पर जड़-चेतन, बंध-मोक्ष, विधि-निषेध, भक्ष्य-अभक्ष्य, ग्राह्य-त्याज्य सब पर पानी फिर जाता है। इसी का परिणाम है कि कितने तथाकथित ब्रह्मवादी भोग-योग एक में मिलाकर हांकते रहते हैं— "भोगहुं विषय कि त्यागहुं इन्द्रिय, मोको लगे न रंचक रंग।"[1]

"अनजाने को स्वर्ग नर्क है, हरि जाने को नाहीं।" पंडित लोग स्वर्ग और नरक की व्याख्या भी बड़ी लंबी-चौड़ी करते रहते हैं। जो उनके मान्यतानुसार कर्मकांड से चलता हो उसे वे कहते हैं कि वह स्वर्ग में जायेगा और जो उनके कर्मकांड के अनुसार नहीं चलता, अपितु विचार करता है, उसे वे कहते हैं कि वह नरक में जायेगा। एक-एक एकादशी व्रत करने से बहुत दिनों तक स्वर्ग में निवास बताया गया है। यज्ञ के नाम पर अमुक प्रकार से होम करने से, अमुक तीर्थ-यात्रा से, व्रत से, नाम-जप से लंबी-लंबी अवधि तक स्वर्गवास की बात बतायी गयी है। पवित्र कर्मों से स्वर्ग तथा बुरे कर्मों से जीव का नरकवास माना गया। यह तो तथ्य है कि अपने अच्छे-बुरे कर्मों से जीव को आज तथा आगे सुख-दुख की प्राप्ति होती है। स्वर्ग-नरक का वर्णन एक रूपक है। वस्तुतः पंडितों ने जनता को बुरे मार्ग से हटाकर अच्छे मार्ग में लगाने के लिए ही यह स्वर्ग-नरक की कल्पना की है। फिर इस कल्पना का दुरुपयोग भी किया गया। बड़े सस्ते-सस्ते नुस्खे स्वर्ग पाने के बने तथा अपने विचारों से भिन्न विचार वालों को नरक में जाने की बातें भी कही गयीं।

सद्गुरु कहते हैं कि ये स्वर्ग और नरक के प्रलोभन और भय तो अज्ञानी जीवों के लिए हैं। हरि को समझने वाले के लिए इनकी कोई आवश्यकता नहीं है। वह समझता है कि मेरा चेतनदेव एवं आत्मदेव ही हरि है जो नित्य प्राप्त है, उसे पाने के लिए किसी स्वर्ग में जाना नहीं है। पवित्र मन वाला मानो सब समय स्वर्ग-सुख भोगता है। वह मन की मलिनता को नरक समझता है और उससे अपने आप को रहित रखता है। वह सारी मलिनताओं को छोड़कर निरन्तर अपनी आत्मा रूपी परमात्मा में विहरता है। उसे नरक में जाने का भय नहीं तथा अलग से स्वर्ग में जाने की आवश्यकता नहीं।

---

1. विचार सागर।

"जेहि डर से भव लोग डरतु हैं, सो डर हमरे नाहीं।" कोशकारों ने भव के अर्थ उत्पत्ति, जन्म, होना, संसृति, प्राप्ति, संसार, अग्नि, शिव, कुशल[1] आदि किये हैं। यहां भव का अर्थ संसार है। भवलोग का तात्पर्य हुआ संसार के लोग। सद्‌गुरु कहते हैं कि संसार के लोग जिस डर से डरते हैं वह डर मुझे नहीं है। संसार के लोग किस डर से डरते हैं ? वह डर है पुरोहितों का। हर मजहब का पुरोहित जो जनता के आचार का उपदेष्टा है, उसने अपने स्वार्थ के लिए बड़ी-बड़ी धांधलियां मचायी हैं। उसने धर्म के नाम पर समाज को विभाजित एवं विखंडित किया और जनता को अंधविश्वास में डालकर उनका बौद्धिक तथा आर्थिक शोषण किया। उन्होंने जनता को अपनी पकड़ में रखने का सदैव प्रयत्न रखा। कबीर साहेब कहते हैं कि मुझे किसी भी मजहब के पुरोहितों का डर नहीं है। मैं बुद्धि को तिलांजलि देकर चलने वाला नहीं हूं। मैं स्वयं देखकर चलता हूं और लोगों को राय देता हूं कि वे भी स्वयं देखकर चलें। पुरोहित, पंडित, महात्मा, गुरु—सब मान्य हैं; परन्तु अपने विवेक को खोकर नहीं।

"पाप पुण्य की शंका नाहीं, स्वर्ग नर्क नहिं जाहीं।" कबीर साहेब कहते हैं कि मुझे इसमें शंका नहीं कि पाप क्या है और पुण्य क्या है? मैं पाप और पुण्य जानने के लिए किसी शास्त्र-प्रमाण की आवश्यकता नहीं समझता। यदि मैं शास्त्र देखकर पाप-पुण्य निर्धारित करूं तो मुझे यज्ञ और देवपूजन के नाम पर पशु-वध, मांस-भक्षण,[2] जन्म से ही किसी वर्ग को ऊंच तथा किसी वर्ग को नीच मानने के लिए विवश होना पड़ेगा जो मानवता के विरुद्ध है। किसी जीव को सताना पाप है तथा किसी जीव के दुख को दूर करना एवं उसे सुख-सुविधों पहुंचाना पुण्य है। मानव मात्र को मूलतः समान मानना और उनसे प्रेम रखना तथा जीव मात्र पर करुणा रखना यह पुण्य है। मानव में जन्म से ही किसी को नीच और अछूत मानना तथा किसी को जन्म से ही उच्च तथा पूज्य मानना गलत है। पाप-पुण्य तथा कर्तव्याकर्तव्य क्या है? यह मनुष्य की अंतरात्मा खुद बताती है। साहेब कहते हैं कि मुझे स्वर्ग और नरक में भी नहीं जाना है। मन में मलिनता है ही नहीं, इसलिए नरक का कोई प्रश्न ही नहीं है। मन सदैव शुद्ध है, मेरे मन में प्राणिमात्र के लिए प्रेम एवं करुणा है, इसलिए मैं निरन्तर स्वर्ग में निवास करता हूं। इसलिए स्वर्ग और नरक के प्रलोभन और भय का नाश हो गया। मैं चित्त की निर्मलता रूपी स्वर्ग में निरन्तर विहरण करता हूं।

---

1. बृहत् हिन्दी कोश।
2. आगे 93 शब्द की व्याख्या देखें।

रही मोक्ष की बात, जो जीवन का उच्चादर्श है। उसके लिए सद्गुरु कहते हैं—"जहाँ का पद तहाँ समाई।" हर वस्तु अपने आश्रयस्थल में लीन होती है। यह जीव न किसी का आधार है न आधेय, किन्तु निराधार है। 'असंगो अयम् पुरुषः' यह चेतन पुरुष असंग है, अकेला है। अतः यह वासनाओं को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। इस आत्मा का आश्रय स्वयं आत्मा ही है। जीव को छोड़कर जीव का अन्य आश्रय नहीं है। जब तक जीव वासनाओं में बहता है तब तक बंधन है और जब वासनाओं को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित हो गया, वही मोक्ष है। मोक्ष में कहीं आना-जाना नहीं है। जहां मन नहीं, वाणी नहीं, प्रकृति-क्षेत्र नहीं, केवल स्वरूपस्थिति है, यही मोक्षपद है। अतएव "जहाँ का पद तहाँ समाई" वासनाहीन जीव अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।

शब्द-43

पण्डित मिथ्या करहु विचारा, ना वहाँ सृष्टि न सिरजनहारा॥ 1॥
थूल अस्थूल पौन नहिं पावक, रवि शशि धरणि न नीरा॥ 2॥
ज्योति स्वरूप काल नहिं जहँवा, बचन न आहि शरीरा॥ 3॥
कर्म धर्म किछुवो नहिं उहँवा, ना वहाँ मन्त्र न पूजा॥ 4॥
संजम सहित भाव नहिं जहँवा, सो धौं एक कि दूजा॥ 5॥
गोरख राम एकौ नहिं उहँवा, ना वहाँ वेद विचारा॥ 6॥
हरिहर ब्रह्म नहिं शिव शक्ती, तीर्थउ नाहिं अचारा॥ 7॥
माय बाप गुरु जहँवा नाहीं, सो धौं दूजा कि अकेला॥ 8॥
कहहिं कबीर जो अबकी बूझै, सोई गुरू हम चेला॥ 9॥

शब्दार्थ—वहाँ=निरपेक्ष मोक्षतत्त्व। थूल=स्थूल। अस्थूल=सूक्ष्म। काल=समय की अवधि। संजम=संयम—ध्यान, धारणा और समाधि। एक=असंग। दूजा=द्वैत।

भावार्थ—हे पण्डित ! निरपेक्ष मोक्षतत्त्व में कुछ अन्य के होने की बात यदि सोचते हो तो तुम व्यर्थ ही विचार करते हो। न वहां सृष्टि है न रचयिता॥ 1॥ न वहां स्थूलतत्त्व है न सूक्ष्मतत्त्व है, न हवा है न आग है, न सूरज है न चांद है, न धरती है न पानी है॥ 2॥ न वहां ज्योति स्वरूप है न समय की अवधि, न वाणी है और न शरीर॥ 3॥ वहां कर्म-धर्म कुछ नहीं है। न वहां मन्त्र है न पूजा॥ 4॥ वहां धारणा, ध्यान तथा समाधि रूपी संयम के सहित दूसरे का अस्तित्वबोध नहीं है, फिर वहां एक कहोगे कि दूसरे की उपस्थिति भी॥ । 5॥ वहां न गोरख हैं न अवतार माने गये राम हैं। वहां वेद-विचार भी नहीं है॥ 6॥ वहां विष्णु, महादेव, ब्रह्मा, शिव-शक्ति कुछ नहीं।

वहां तीर्थ और आचार के होने का भी कोई प्रश्न नहीं है॥ 7॥ वहां माता, पिता और गुरु के होने की भी कोई गुंजाइश नहीं है। फिर बताओ कि वह किसी अन्य के साथ है या अकेला है?॥ 8॥ कबीर साहेब कहते हैं जो आज इस तत्त्व को समझ ले, वह गुरु है। मैं उसका शिष्य बनने के लिए तैयार हूं॥ 9॥

व्याख्या—42वें शब्द में उठाये गये विषय को इस शब्द में भी सद्गुरु ने लिया है। प्रायः पण्डितजन मोक्ष को भी भौतिक वस्तु बना डालते हैं। वे पुराणों में कहते हैं कि एक दिव्य लोक है। वहां परमात्मा निवास करता है। वहां से वह समय-समय पर सृष्टि करने के लिए उतरता है। उसी की उपासना करने से उसका दिव्य धाम मिलता है। वह ज्योतिस्वरूप है। वह अनेक सूर्यों के प्रकाश से भी अधिक चमकता है। वहां ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शक्ति आदि सब निवास करते हैं। वहां निरन्तर ध्वनि होती रहती है। वह दिव्य धाम अनन्त सृष्टि का केन्द्र बिन्दु है। देखिए वेदांतदर्शन—"वाणी तथा इन्द्रियां मन में मिल जाती हैं, मन प्राण में, प्राण अध्यक्ष जीवात्मा में, आत्मा पांचों भूतों (तत्त्वों) में, अर्थात सूक्ष्मशरीर में स्थित होकर जीव ब्रह्मलोक की यात्रा करता है। मुक्तात्मा शरीर से निकलकर सूर्य की किरणों में मिलकर ब्रह्मलोक को चला जाता है। वह सूर्य-किरणों से आगे दिन को, दिन से शुक्लपक्ष को, शुक्लपक्ष से उत्तरायण छह महीने को, छह महीने से संवत्सर को, संवत्सर से सूर्य को, सूर्य से चन्द्रमा को, चन्द्रमा से विद्युत को, वहां से अमानव पुरुष उस मुक्तात्मा को ब्रह्म तक पहुंचा देते हैं। उन मुक्तात्माओं को संकल्प मात्र से भोगों की प्राप्ति होती है। जैसे आग अनेक दीपों में प्रकाश कर जाती है, वैसे मुक्तात्मा अनेक देहों को धर सकता है।"[1]

कबीर साहेब कहते हैं कि हे पंडित! यह सब तुम व्यर्थ विचार करते हो। मोक्षावस्था में चांद, सूर्य, पवन, पानी, शरीर, प्राण ये सब कुछ नहीं होते। कबीर साहेब के जमाने में गोरखनाथ जी की बड़ी महिमा थी और श्री राम की महिमा तो पहले से ही थी। साहेब ने कहा कि ठीक है कि ये महापुरुष अपनी-अपनी जगह पर बड़े हैं, परन्तु तुम्हारे मोक्षस्वरूप में इनसे कोई सम्बन्ध नहीं होगा। धारणा, ध्यान और समाधि को योग की भाषा में संयम कहते हैं। साहेब कहते हैं कि देहधारी साधक इसका उपयोग करता है; परन्तु विदेह मोक्ष में यह भी नहीं है। अर्थात किसी आधारबिन्दु में धारणा, ध्यान तथा समाधि की जाती है। विदेह मोक्षावस्था में जहां मन ही नहीं है तो यह

---

1. वेदांत दर्शन के चौथे पाद में देखें।

संयम किसमें तथा वहां दूसरे का अस्तित्वबोध कहां। वहां तो अकेला असंग चेतन है। वहां उससे पृथक दूसरे की बात ही नहीं हो सकती। वहां वेद-विचार का क्या स्थान! जहां स्थूल-सूक्ष्म शरीर नहीं, वहां जीव का दृश्य जगत से किसी प्रकार सम्बन्ध होने की गुंजाइश कहां हो सकती है!

माता, पिता एवं गुरु का होना देह सम्बन्ध में ही संभव है। शुद्ध चेतन मात्र एवं मोक्षावस्था में यह सब कुछ नहीं। सदेह में ही जब साधक संकल्पों को छोड़कर स्वरूप में स्थित होता है, तब वहां केवल शुद्ध चेतन की स्थिति होती है। वहां अन्य कुछ नहीं होता, फिर विदेह मोक्ष में तो कहना ही क्या! वहां तो केवल प्राण निकल गये और चेतन अपने आप रह गया। उसे न कहीं आना है न जाना। सद्गुरु पंडित से पूछते हैं कि स्वरूपस्थिति में "दूजा कि अकेला" वहां अकेला है कि दूसरा और कुछ है? वस्तुतः वहां कोई दूसरा नहीं। वहां चेतन मात्र है। इस विचार का श्रुतियां भी समर्थन करती हैं तथा जैन और बौद्ध विचार भी।

सद्गुरु कहते हैं कि जो आज इस विषय को समझ ले, वह गुरु है, महान है, कृतार्थ है। मैं उसका चेला बनने के लिए तैयार हूं । "अबकी बूझै" में बूझने में रहनी भी है। अर्थात जो इसे समझकर निजस्वरूप में स्थित हो जाये, वह गुरु है। स्वरूपस्थ व्यक्ति ही तो गुरु है, महान है। साहेब उसके सामने झुकने के लिए तैयार हैं। यह उनकी प्रसिद्ध विनम्रता है। जो आज सत्य समझकर अपना कल्याण करे, कबीर साहेब उसको उच्च दृष्टि से देखते हैं, उसे आदर देते हैं। यह सत्यशोधकों एवं कल्याणार्थियों के लिए कितना बड़ा प्रोत्साहन है।

थोड़ा स्वयं उस स्थिति का अनुभव करके देखो। सारे संकल्पों को छोड़ दो। यदि सारे संकल्प छूट गये, तो क्या रहा! संकल्पों में ही जगत दिखता है। संकल्पों के शांत हो जाने पर जीव का जगत से सम्बन्ध कट जाता है। तब वह केवल शुद्ध चेतन रह जाता है। वहां सारा प्रपंच शांत है। जो यह स्थिति प्राप्त करे वह प्रशंसा-भाजन है। यह सारे सम्प्रदायों से परे, परमतत्त्व एवं मोक्ष की सर्वोच्च व्याख्या है।

माया-विचार

शब्द-44

बुझ बुझ पण्डित करहु विचारा, पुरुषा है कि नारी॥ 1॥
ब्राह्मण के घर ब्राह्मणी होती, योगी के घर चेली॥ 2॥
कलमा पढ़ि पढ़ि भई तुरुकनी, कलि में रहत अकेली॥ 3॥

बर नहिं बरे ब्याह नहिं करे, पुत्र जन्मावनहारी॥ 4॥
कारे मूँड़ को एकहु न छाँड़ी, अजहूँ आदि कुमारी॥ 5॥
मैके रहै जाय नहिं ससुरे, साँई संग न सोवों॥ 6॥
कहैं कबीर मैं युग युग जीवों, जाँति पाँति कुल खोवों॥ 7॥

शब्दार्थ—ब्राह्मणी=ब्राह्मणपन, छलपूर्ण बुद्धि। चेली=शिष्या बनकर मोहित करने वाली। कलमा=मुसलमानों के धर्म विश्वास का मूलमंत्र—"ला इलाह इल्लिल्लाह मुहम्मद रसूलिल्लाह।" तुरुकनी=मुसलमानपन, भ्रामक बुद्धि। कलि=कलिकाल, पाप बुद्धि। बर=दूल्हा। बरे=वरण करना, ब्याह करना। कारे मूँड़=काले बाल वाले नवयुवक, तात्पर्य में अज्ञानी मनुष्य। आदि=शुरू, सदा से, मूलतः। कुमारी=कुंआरी। मैंके=नैहर, सांसारिकता, प्रपंचासक्ति। ससुरे=ससुराल, ज्ञान-दशा। साँई=स्वामी, चेतन स्वरूप, आत्मा। युग-युग=सदा के लिए।

भावार्थ—हे पण्डित! बारम्बार विचार करके समझो कि यह माया नारी है या पुरुष। अर्थात माया भले स्त्रीलिंग है, परन्तु अपनी प्रबल गतिविधियों से वह पुरुष-जैसी बलवती लगती है॥ 1॥ यह माया ब्राह्मणों के घर आकर उनकी छलबुद्धि बन गयी, और उन्हें छलने लगी; यह योगियों एवं साधु-संन्यासियों के आश्रमों में आकर चेली बन गयी और उन्हें छलने लगी॥ 2॥ यह माया कलिकाल में कलमा पढ़-पढ़कर एक नयी भ्रामक बुद्धि बन गयी कि ईश्वर एवं सत्य का द्वार इसलाम, कुरान एवं मुहम्मद ही है, अन्य नहीं॥ 3॥ यह माया ऐसी स्त्री है कि किसी दूल्हे का वरण नहीं करती और अपना किसी एक से ब्याह नहीं करती, परन्तु असंख्य बच्चे पैदा करती रहती है। अर्थात वह केवल एक जगह बंधकर नहीं रहती, सभी क्षेत्रों एवं मत-मजहबों में उसका आधिपत्य है, वह हर जगह भ्रांति की सृष्टि करती रहती है॥ 4॥ वह एक भी अज्ञानी को अपने जाल से नहीं बचने देती; परन्तु सदा से आज तक कुंआरी बनी है। अर्थात अज्ञानियों के वह अधीन नहीं होती, और ज्ञानी उससे दूर रहते हैं इसलिए वह सदैव कुंआरी ही बनी रहती है॥ 5॥ वह सदैव प्रपंचासक्ति रूपी नैहर में ही रहती है। परमार्थ रूपी ससुराल में नहीं जाती, और कहती है कि मैं चेतन स्वामी के साथ नहीं सोऊंगी, अर्थात स्वरूपस्थिति रूपी समाधि से वह भागती है॥ 6॥ कबीर साहेब कहते हैं कि मैं जाति-पांति एवं कुल-सम्प्रदाय आदि सारे मायावी बन्धनों को तोड़कर तथा अमर चेतन स्वरूप में स्थित होकर सदा जीवित रहूंगा। अर्थात मायारहित स्वरूपस्थिति अमर है॥ 7॥

व्याख्या—पंडित सूक्ष्मदर्शी को कहते हैं। असली पंडित का अर्थ किसी तथाकथित जाति-वर्ण से नहीं है; किन्तु जो भी सत्यासत्य विवेकी हो वही

पंडित है। सद्गुरु कहते हैं कि हे पंडित, पुनः-पुनः गंभीरतापूर्वक विचार करो और अच्छी तरह समझकर बताओ कि माया स्त्री है कि पुरुष? यह सब जानते हैं कि माया स्त्रीलिंग शब्द है, फिर उसको पुरुष होने का क्या प्रश्न हो सकता है? सद्गुरु कहते हैं कि स्त्री को लोग अबला कहते हैं। परन्तु माया तो इतनी बलवान है कि सबको नचा रही है तब इसे अबला कैसे कहें, स्त्री कैसे कहें ! यह तो सबल पुरुष की तरह है। इसलिए जब लोग माया को स्त्री कहते हैं तब मुझे शंका होती है कि यह नारी है कि पुरुष? इस माया की बलवत्ता को आगे बताते हैं।

"ब्राह्मण के घर ब्राह्मणी होती" यह माया ब्राह्मण के घर में जाकर ब्राह्मणी हो गयी है। यहां ब्राह्मणी से मतलब ब्राह्मण-नारी नहीं है, किन्तु ब्राह्मणपन है। एक ब्राह्मणपन होगा ब्रह्मज्ञानी हो जाना एवं सारे विकारों को छोड़कर आत्मानुभूति की उच्चतम दशा में स्थित हो जाना। परन्तु यह भाव यहां नहीं है। यहां तो माया ब्राह्मणी बन गयी है। अतएव यहां ब्राह्मणी का अर्थ है रूढ़ ब्राह्मण-वर्ण एवं जाति का प्रपंच और उनकी छल-बुद्धि। ब्राह्मण वर्ण भगवान के मूड़ से पैदा हुआ है, वह जन्म से ही शुद्ध है, वह बुरे कर्मों में लिप्त रहे तो भी उसे पूजना चाहिए, दूसरे गुण-ज्ञान-सम्पन्न हों, तो भी उन्हें नहीं पूजना चाहिए। ब्राह्मण नामधारी ही वेद-शास्त्र पढ़ने का, किसी उच्च स्थान पर जाने का, अध्यापन करने का, संन्यास एवं मोक्ष का अधिकारी है, एक बड़ा समाज शूद्र है, वह केवल मोटी सेवा का काम कर सकता है, विद्या, शिक्षा एवं उच्च स्थान पर नहीं जा सकता, वह शुद्ध होने पर भी अछूत है, उसमें अति शूद्र माने गये लोग मंदिर तक में नहीं प्रवेश कर सकते, कर्म से नहीं, जन्म से ही भिन्न-भिन्न जाति-वर्ण के कहलाने वाले छोटे और बड़े हैं—यह सब ब्राह्मणपन है, ब्राह्मण नामधारियों का समाज के साथ छलावा है। और यही माया है, जो ब्राह्मणों के घर में, उनके मन में जमकर बैठ गयी है।

वस्तुतः जन्म से सब मनुष्य समान हैं। कर्म से ही लोग ऊंच-नीच होते हैं। कोई मनुष्य बिना सद्गुण पूज्य नहीं है, सद्गुण जिसमें हैं वही पूज्य है। अशुचिता की अवस्था में कोई भी अछूत है, शुचिता की अवस्था में कोई अछूत नहीं। हर आदमी अपनी योग्यता के अनुसार विविध क्षेत्रों में आगे बढ़ने का अधिकारी है। इसमें कोई प्रतिबन्ध नहीं है। मानव मात्र का मूलतः समान अधिकार है, जैसे जिसके कर्मों की योग्यता हो वह वैसा बढ़े यह तथ्य है। इसके उलटा समझना और करना मनुष्य-समाज के साथ छलावा है। यह छलावा-बुद्धि माया है जो ब्राह्मण कहे जाने वालों के मन में बैठ गयी है।

"योगी के घर चेली" यहां योगी का अभिप्राय हर सम्प्रदाय के विरक्तों के लिए है। कितने साधु-संन्यासी स्त्रियों के उद्धार के लिए उन्हें शिष्या एवं दासी बनाकर अपने आश्रमों एवं समाज में ले लेते हैं, और उन्हें साथ में रखते हैं, यह उनकी मर्यादा के विरुद्ध तो है ही, उनके आचरण में भी दाग लगाने वाला है। कोई बिरला ही साथ में दासी रखकर आचरण से ठीक रहता है, आदर्श तो उसका भी खराब होता है, शेष लोग तो उसी में डूब जाते हैं। साधु ने साधुनी, संन्यासी ने संन्यासिनी एवं महंत ने महंतिनी बनाकर उन्हें साथ में रख लिया यह उनके मन की माया है। माया अर्थात मोह जब मन में बैठता है तब विरक्त कहलाने वाले लोग स्त्रियों को शिष्या बनाकर पास में रखते हैं। यही बात साधिका स्त्रियों के लिए भी है। यदि वे पुरुषों का अभिन्न सम्बन्ध करेंगी, चाहे वे गृहस्थ हों या साधु-वेषधारी, तो उनके लिए कुसंग हो जायेगा। स्त्री साधिकाओं को पुरुषों के संसर्ग से सर्वथा अलग तथा पुरुष साधकों, साधुओं एवं संन्यासियों को स्त्रियों से सर्वथा अलग रहना चाहिए, तभी वे साधना में बने रह सकते हैं। सद्गुरु ने 69वीं रमैनी की साखी में कहा है—

सुन्दरी न सोहै, सनकादिक के साथ।
कबहुँक दाग लगावै, कारी हाँड़ी हाथ॥

"कलमा पढ़ि पढ़ि भई तुरुकनी, कलि में रहत अकेली॥" यह माया कलमा पढ़-पढ़कर तुरुकबुद्धि के रूप में बन गयी। यहां का सरल अर्थ है कि माया मुसलमानों के मन में मुसलमानपन बनकर बैठ गयी। मुसल्लम हो ईमान जिसके वह है मुसलमान, यह अभिप्राय यहां नहीं है। मुसलमान नाम रखकर एक समाज साधना में चले, यह अच्छा है। यहां तो माया मुसलमानिन बन गयी है। मुसलमानों का मुख्य कलमा है "ला इलाह इल्लिल्लाह मुहम्मद रसूलिल्लाह।" इसका अर्थ होता है "अल्लाह के समान कोई दूसरा अल्लाह नहीं और मुहम्मद अल्लाह का दूत है।" सार यह हुआ कि ईश्वर के अलावा अन्य देवी-देवता नहीं मानना चाहिए और मुहम्मद को ईश्वर का संदेशवाहक मानना चाहिए। जब तक दुनिया का प्रलय नहीं हो जायेगा तब तक मुहम्मद के बताये रास्ते पर चलकर ही इनसान स्वर्ग जा सकता है। जो व्यक्ति मुहम्मद, कुरान तथा इसलाम को नहीं मानता है, वह अनंतकाल तक नरक की आग में जलाया जायेगा। मुहम्मद, कुरान तथा इसलाम को छोड़कर कहीं स्वर्ग का रास्ता ही नहीं है। कबीर साहेब कहते हैं कि इस भाव के कलमा एवं मंत्र पढ़-पढ़कर मुसलमानों के मन में एक भ्रामक बुद्धि बैठ गयी है जो माया है। यह मजहबी एवं सांप्रदायिक खाईं

माया ही है। माया का अर्थ है जो जीव को भटका दे और यह सांप्रदायिक कूपमंडूकता महा माया है। कुआं का मेढक कुआं को ही बड़ा जलाशय समझता है। क्योंकि उसने अन्य जलाशयों को कभी देखा ही नहीं। वह कुआं में जन्मा और कुआं में ही जीवन बिता रहा है। एकमात्र अपना सम्प्रदाय ही मोक्ष-पथ है और दूसरे का नरक-पथ है, यह मान्यता माया ही नहीं, महा माया है। इस धारणा ने ही घोर साम्प्रदायिकता का विष बोया है। यहां तक कहा गया—"मुसलमानों को चाहिए कि मुसलमानों को छोड़कर काफिरों को अपना दोस्त न बनावें और जो वैसा करेगा, तो उससे अल्लाह से कुछ सरोकार नहीं।"[1] इसका अर्थ यह नहीं है कि कुरान में इन-जैसी ही बातें बतायी गयीं हैं। भाईचारे का व्यवहार, परहेजगारी तथा अनेक अच्छी शिक्षों हैं। परन्तु अंततः स्वर्ग का रास्ता रूढ़ इसलाम के घरौंदे में बन्द कर देना माया में बंध जाना है। यह माया कलिकाल में अकेली रहती है। अर्थात यह अपना किसी को जोड़ा नहीं रखती। यह मानो अद्वैत है, अकेली है, यह अपना किसी का सानी नहीं रखती है। यहां कलि से अभिप्राय कल्पित युग न समझकर पापबुद्धि एवं मलिनता समझना चाहिए। "कलि में रहत अकेली" अर्थात यह मलिनता उत्पन्न करने में बेजोड़ है।

"बर नहिं बरे ब्याह नहिं करे, पुत्र जन्मावनहारी।" यह माया किसी एक से ही जुड़ी नहीं रहती है, किन्तु घूमती रहती है और सभी असावधान लोगों को ठगती रहती है। ऊपर तो केवल ब्राह्मण, योगी तथा मुसलमान के ही नाम लिये गये। नाम कहां तक लिये जायेंगे। आप ईसाइयों को देखिये, वहां केवल ईसा ही स्वर्ग-द्वार है। ईसाइयत छोड़कर स्वर्ग का रास्ता नहीं है। इसी प्रकार प्रायः सभी मतों को समझ लें। यह माया हर जगह घुसकर मनुष्यों को किसी-न-किसी प्रकार विचलित करती है। यह माया किसी को काम में, किसी को क्रोध में, किसी को लोभ में, किसी को मोह में, किसी को ईर्ष्या-द्वेष में, किसी को जाति-वर्ण के मिथ्या अहंकार में, किसी को सम्प्रदाय एवं मजहब की जड़ता में तथा किसी को अन्य भुलावन में भटकाकर पतित करती है। यह माया किसी दूल्हे से ब्याह किये बिना अनेक पुत्रों को जन्म देने वाली है। अर्थात यह किसी एक ही जगह न रहकर सब क्षेत्रों में अपना जाल फैलाती है और अपने प्रपंच की सृष्टि करती है। भवचक्र, जंजाल, छलावा, धोखा, झमेला, बखेड़ा ही प्रपंच है। यही माया के पुत्र हैं। यही माया की सृष्टि है।

---

1. कुरान (पारा 3, रुकू 3, आयत 10/28) पृ. 72-73।
श्री प्रभाकर साहित्यालोक, रानी कटरा, लखनऊ, छठां संस्करण।

"कारे मूँड़ को एकहु न छाँड़ी, अजहूँ आदि कुमारी।" युवकों के बाल काले रहते हैं, अतः कारे मूड़ से अर्थ है जिनके सिर के बाल काले हैं वे नवयुवक। माया एक भी नवयुवक को नहीं छोड़ती, यह स्थूल अर्थ यहां नहीं है। क्योंकि कितने ही नवयुवक माया-त्यागी होते हैं। यहां शाब्दिक नहीं, लाक्षणिक अर्थ है। यहां अर्थ है कि माया एक भी अविवेकी को नहीं छोड़ती। कारे मूड़ अविवेकी आदमी जितने हैं सबको माया किसी न किसी प्रकार छलती है। यह माया सारे अज्ञानियों को अपने जाल में फंसा लेने के बाद भी "आदि कुंआरी" है। माया अज्ञानियों को पतित करती है, परन्तु उनके द्वारा वह स्वयं नहीं पतित की जाती। अर्थात कोई अज्ञानी माया का स्वामी नहीं होता, उसको जीतने वाला नहीं होता। और जो ज्ञानी है उसके पास माया जाती ही नहीं। इस प्रकार माया अज्ञानियों से अजेय तथा ज्ञानियों से दूर रहने के कारण सदैव कुंआरी बनी रहती है।

"मैके रहै जाय नहिं ससुरे, साँई संग न सोवों।" लड़की जहां पैदा होती है वह उसका मैके एवं नैहर है और जहां ब्याह कर जाती है अपने दूल्हे के पास, वहां सासुर है। यह माया अविद्या से पैदा हुई है, इसलिए अविद्या ही इसका मैके है। यह माया सदैव अविद्या रूपी मैके में ही रहना चाहती है। तात्पर्य है कि मनुष्य का मन जो माया में लिप्त है वह सदैव अविद्या एवं अन्धकार में ही रहना पसन्द करता है। माया की ससुराल है ज्ञान अवस्था। जब कोई ज्ञानी इस माया को ब्याह लेता है, अर्थात इसे अपने अधीन बना लेता है तब मानो यह ससुराल में चली जाती है। परन्तु यह माया बहुधा ससुराल में जाना ही नहीं चाहती। माया का अर्थ रागात्मक मनोवृत्ति है। यह मनोवृत्ति ज्ञान अवस्था से दूर भागती है। मनुष्य की मनोवृत्ति माया-लिप्त होने से स्वरूपज्ञान में प्रवेश नहीं करती है। वह कहती है "साँई संग न सोवों" अर्थात मैं ज्ञानी पुरुष के साथ समाधि में नहीं जाऊंगी। साधारणतया लोगों का मन समाधि में कहां प्रवेश करता है ! यह माया का ही तो आवरण है ! परन्तु ज्ञानी पुरुष माया को जीतकर समाधि में सोता है। ज्ञानी पुरुष के आगे मनोवृत्ति रूपी माया को विवश हो जाना पड़ता है और वह समाधि में प्रवेश कर सांई के साथ सो जाती है। अर्थात मनोवृत्ति स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति में लीन हो जाती है।

"कहैं कबीर मैं युग-युग जीवों, जाति पाँति कुल खोवों।" सद्गुरु कहते हैं कि मैं जाति-पांति, कुल, गोत्र, संप्रदाय तथा संसार की सारी मोह-माया को नष्टकर अविनाशी बोध में स्थित हूं, जो सदा जीवित स्वरूप है। माया को जीत लेने पर ही यह अमरत्व मिलता है। 'अब हम अमर भये न मरेंगे।'

इस शब्द में माया को बलवती कहा गया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि माया कोई स्वतन्त्र प्राणधारी है। माया है मन का मोह, मन का भ्रम। वह मनुष्य की भूल से बलवती लगती है; किन्तु मनुष्य जग जाये तो माया मर जाती है। बिना सूर्य उदय हुए अन्धकार प्रबल लगता है, परन्तु सूर्य के उगते ही अन्धकार समाप्त हो जाता है।

देह सबकी नाशवान है, वासना-त्याग ही अमरत्व है

शब्द-45

को न मुवा कहो पण्डित जना, सो समुझाय कहो मोहि सना॥ 1॥
मुये ब्रह्मा विष्णु महेशू, पार्वती सुत मुये गणेशू॥ 2॥
मूये चन्द्र मुये रवि शेषा, मुये हनुमत जिन्ह बाँधल सेता॥ 3॥
मूये कृष्ण मुये कर्तारा, एक न मुवा जो सिर्जनहारा॥ 4॥
कहहिं कबीर मुवा नहिं सोई, जाको आवागमन न होई॥ 5॥

शब्दार्थ—को=कौन। न=नहीं। मुवा=मरा। मोहि स्मेरे से। कर्तारा=दक्षप्रजापति। सिर्जनहारा=चेतनतत्त्व।

भावार्थ—हे पंडितो ! कौन शरीर धारण किया और नहीं मरा, यह मुझे समझाकर कहो !॥ 1॥ ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर भी शरीर त्यागकर चले गये, पार्वती-पुत्र गणेश जी भी मृत्यु को प्राप्त हुए॥ 2॥ चंद्रमा एवं आदित्य नाम के जो महापुरुष थे वे तथा शेषजी, बली हनुमान जी, तथा समर्थ श्रीराम जी जिन्होंने लंका की चढ़ाई में समुद्र पर पुल बंधवाया था—ये सबके सब शरीर छोड़-छोड़कर चले गये॥ 3॥ श्रीकृष्ण जी नहीं रहे और दक्षप्रजापति चले गये। हां, जिसकी सत्ता से सारे ज्ञान-विज्ञान का सृजन होता है वह चेतनतत्त्व नहीं मरता॥ 4॥ सद्गुरु कहते हैं कि वस्तुतः वही नहीं मरता जो वासना त्यागकर आवागमन से मुक्त हो जाता है॥ 5॥

व्याख्या—कबीर साहेब यथार्थवादी संत पुरुष हैं। धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में कबीर ऐसे युगपुरुष हैं जो वस्तुपरक बुद्धि रखते हैं। वे श्रद्धाविह्वल भावुकों की मिथ्या धारणाओं का विवेक की रोशनी में उजागरण करते हैं। वे मिथ्या ज्ञान से समाज को जगाते हैं। सर्वसाधारण लोगों में यह भ्रम फैला है कि ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, गणेश, चंद्रमा, आदित्य, हनुमान, राम, कृष्ण आदि अभी भी स-शरीर हैं या जब चाहें तब शरीर धारणकर हमारे पास आ सकते हैं। कितने धार्मिक लोग आज अपने दिवंगत गुरुओं को समझते हैं कि वे हमारे बुलाने पर आ सकते हैं। कई बार लोग ईसा की अगवानी करते हैं। कई

लोग कहते हैं कि जब हमारे गुरु को हमलावरों ने मारना चाहा, तो उनके दिवंगत गुरु उनकी रक्षा में पीछे खड़े दिखे। ऐसी सारी भावुकताओं, अंधविश्वासों एवं अज्ञानपूर्ण बातों का कबीर साहेब खंडन करते हैं। वे कहते हैं कि कौन ऐसा व्यक्ति है जो शरीर धारण करने के बाद नहीं मरा, और जो एक बार मर गया, वह दोबारा उसी शरीर से कभी नहीं आ सका। आने की कोई कारण-कार्य-व्यवस्था ही नहीं है।

ब्रह्मा, विष्णु तथा शंकर यदि रज, सत तथा तम गुण के केवल प्रतीक न होकर देहधारी थे तो वे कुछ दिनों तक जीकर अपने-अपने कर्म करके कब के शरीर छोड़ चुके होंगे। यदि गणेश जी व्यक्ति थे, तो पहली बात यह कि वे जिस ढंग से चित्रित किये गये हैं उस तरह से हाथी के मुंह वाले न होकर पूरे मानवाकार रहे होंगे और वे भी थोड़े दिनों जीकर चले गये होंगे।

यहां चन्द्र तथा रवि शब्द के अर्थ में आकाश में दिखते हुए जड़ पिंडों को न लिया जाये तो अच्छा है। चन्द्रमा तथा आदित्य नाम के व्यक्तियों की चर्चा पुराणों में आती है। चन्द्रमा ने वृहस्पति की पत्नी को हड़प लिया था तथा आदित्य अर्थात सूर्य ने कुन्ती को कुंआरी अवस्था में ही गर्भवती किया था, इनकी चर्चा पुराणों में विदित है। सद्गुरु ने पीछे 81वीं रमैनी में भी यह बात कही है। अतएव चन्द्र, सूर्य दो व्यक्ति थे जो बहुत प्रसिद्ध थे। पुराणों के अनुसार शेष एक सांप थे जिनके एक हजार फण थे। इस पर विष्णु सोते थे। क्षीरसागर में शेषनाग के ऊपर विष्णु को लेटा हुआ चित्रित किया जाता है। डॉ. रांगेयराघव ने महायात्रा गाथा में लिखा है कि शेष, नागजाति का पहला राजा था जो विष्णु का मित्र था। नागवंशी मानव पूरे भारत में थे। उनकी राजधानी भोगवती आज का इलाहाबाद है जिसके राजा वासुकि थे। भारत के अन्य क्षेत्रों के नागवंशी हिन्दुओं के चारों वर्णों में पच गये। केवल असम के जंगलों के नागवंशी अभी अपना अलग चिह्न बनाये हुए हैं। ये सर्प, पत्थर एवं पेड़ पूजते थे।[1]

हनुमान भी पूंछ वाले वानर नहीं, किन्तु वानर गोत्रिय आदिवासी परिवार के सदस्य थे जो अपने मकानों तथा ध्वजाओं में वानर का चिह्न रखने से वानर कहलाते थे। ये सुग्रीव के मन्त्री और शूरवीर थे। इन्होंने सीता-उद्धार में श्रीराम का काफी सहयोग किया था। पीछे से लेखकों ने हनुमान को देवता बना डाला और अष्ट सिद्धि तथा नौ निद्धि के दाता भी। और धारणा यह है कि वे हर जगह मौजूद हैं। उन्हें जब जहां बुलाओ पहुंच जाते हैं। यदि लड्डू

1. महायात्रा गाथा, भाग 1, अध्याय 2-3।

चढ़ा दो तो सारा काम कर देते हैं। श्रीराम तथा श्रीकृष्ण को तो प्रसिद्ध परमात्मा बना ही डाला गया है जो अपने-अपने समय के महापुरुष थे।

कबीर साहेब कहते हैं कि ये सब मानव थे। सब ने एक-एक दिन शरीर धारण किया था और एक-एक दिन इन सबके शरीर छूट चुके हैं। अब ये न हमें मिल सकते हैं और न ये हमारा कुछ अहित या हित कर सकते हैं। इनमें जो अच्छे आदर्श हैं वे मानव मात्र के लिए प्रेरणाप्रद हैं। बस, उन अच्छे आदर्शों से हमें शिक्षा लेनी चाहिए और अपना कल्याण करना चाहिए। और इनमें जो गलत आदर्श हों उन्हें छोड़ देना चाहिए।

कहा जा सकता है कि ब्रह्मा, विष्णु आदि एवं राम-कृष्णादि मर गये तो क्या कबीर नहीं मर गये? कबीर अपने विषय में भी यही कहना चाहेंगे कि कबीर भी मर गये। शरीर तो सबका छूटता है। कबीर का भी शरीर छूट गया। आज उनके आदर्श एवं वाणी ही हमारे लिए प्रेरणा के स्रोत हैं। यह कोई चारा नहीं है कि कबीर आज आकर हमारा कल्याण कर सकें। उनकी वाणियों से प्रेरणा लेकर हमें स्वयं अपना कल्याण करना होगा।

इस शब्द में सद्गुरु यह बताते हैं कि इन पुरुषों को तुम देह से अविनाशी या पुनः प्रकट हो जाने वाले बताते हो, यह भूल है। सबका शरीर एक दिन बनता है तो एक दिन मिटता है। दूसरी एक शिक्षा यह है कि जब इतने बड़े-बड़े पुरुष संसार में नहीं रह गये तब हमारा शरीर कैसे रह जायेगा! अतः हमें देहाभिमान छोड़कर अविनाशी निजस्वरूप में रमना चाहिए।

"एक न मुवा जो सिर्जनहारा" सारे ज्ञान-विज्ञान की सृष्टि करने वाला चेतन है। यह चेतन अमर है। यह कभी नहीं मरता। कबीर साहेब कहते हैं कि सबकी देहें मरती हैं, मिटती हैं और धूल में मिल जाती हैं, परन्तु उनमें रहने वाले चेतन नहीं मरते। जीव अविनाशी है। यह चेतन ही ज्ञान-विज्ञान का जनक है।

"कहहिं कबीर मुवा नहिं सोई, जाको आवागवन न होई।" सद्गुरु कहते हैं कि वह व्यक्ति मानो नहीं मरा जो आवागमन से मुक्त हो गया। यह कैसे जाना जाये कि अमुक व्यक्ति अब शरीर छोड़कर आवागमन एवं जन्म-मरण के प्रवाह से मुक्त हो गया है। हमारे पास ऐसा कोई साधन नहीं है कि हम यह जान पावें कि अमुक व्यक्ति देह छोड़कर सदा के लिए मुक्त हो गया है। वस्तुतः देह रहते-रहते जिसे मरने का भय छूट गया वही मानो अमर है। निर्भयता अमरता है। जिसके मन की वासनों, हलचल, तृष्णों एवं द्वन्द्व सर्वथा शांत हो गये हैं, वह आज ही कृतार्थ है। जो अपनी असंगता के बोध में सदैव तृप्त है, जिसका कुछ छूटने वाला नहीं है, क्योंकि जिसने पहले ही अपने मन

से सब कुछ को छोड़ दिया है, यहां तक कि जो देह को भी सदैव छूटी हुई के समान देखता है, जिसने सारे जड़ दृश्यों को मन से सर्वथा त्याग दिया है, वह इसी जीवन में अमरत्व का बोध करता है। उसके लिए देह का रहना और न रहना दोनों बराबर है। वासनाओं से ही आवागमन होता है। जिसकी सारी वासनों छूट गयीं, वह मानो मुक्त ही है।

इस पूरे शब्द का सार यह है कि तथाकथित देवी–देवता जो वासनाओं में लिपटे थे, वे अमर नहीं हुए, किन्तु अमर तो वासना–विजयी संत हैं, और देह सबकी छूटती है। इस शब्द के आरम्भ का पद 'कौन मुवा' पाठ होने से अर्थ होगा कि कौन मुवा, जड़ या चेतन? दोनों तो नित्य हैं। दोनों के योग से बना शरीर केवल मरता है, परन्तु जड़–चेतन नित्य रहते हैं।

हिंसक और मांसाहारी पण्डितों से प्रश्न

शब्द–46

पण्डित एक अचरज बड़ होई॥ 1॥
एक मरि मुये अन्न नहिं खाई, एक मरे सिझै रसोई॥ 1॥
करि अस्नान देवन की पूजा, नौ गुण काँध जनेऊ॥ 2॥
हँड़िया हाड़ हाड़ थरिया मुख, अब षट कर्म बनेऊ॥ 3॥
धर्म करे जहाँ जीव बधतु हैं, अकर्म करे मोरे भाई॥ 4॥
जो तोहरा को ब्राह्मण कहिये, तो काको कहिये कसाई॥ 5॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, भरम भूलि दुनियाई॥ 6॥
अपरम्पार पार पुरुषोत्तम, या गति बिरले पाई॥ 7॥

शब्दार्थ—नौ गुण=शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान तथा आस्तिक्य।[1] षटकर्म=अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान तथा प्रतिग्रह;[2] दूसरे ढंग से षटकर्म हैं—स्नान, संध्या, पूजा, तर्पण, जप तथा हवन। अपरम्पार=असीम, बेहद। पार पुरुषोत्तम=हद–बेहद से परे कृतार्थ रूप। या गति=यह सर्वोच्च स्थिति।

भावार्थ—हे पण्डित जी ! एक बड़ा आश्चर्य होता है॥ 1॥ किसी के घर में यदि कोई आदमी मर जाये तो जब तक दस दिन बीतकर शुद्धि–कर्म न हो

---

1. शमो दमस्तप: शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ (गीता 18/42)
2. इज्याध्ययनदानानि याजनाध्यापने तथा।
प्रतिग्रहश्च तैर्युक्त: षट्कर्मा विप्र उच्यते॥

जाये तब तक उसके घर में तुम भोजन नहीं करते हो, और दूसरे बकरा, मछली आदि को मारकर उनकी लाशों की रसोई पकती है और उसे आस्वादनपूर्वक जीम जाते हो॥ 2॥ तुम नित्य स्नान करते हो, देवताओं की पूजा करते हो, कंधे पर नौ गुण-सूचक नौ तागे का जनेऊ पहनते हो॥ 3॥ परन्तु जब तुम हंडी में हाड़-मांस पकाते हो, थाली में हाड़-मांस रखते हो और मुख में हाड़-मांस चबाते हो तब तुम्हारे छह कर्मों की दशा अच्छी बन जाती है॥ 4॥ यज्ञ, पूजा आदि धर्म के नाम लेकर जहां जीव हत्या की जाती है, हे मेरे प्रिय बन्धु ! यह प्रत्यक्ष दुष्कर्म है॥ 5॥ अब बताइए, इस स्थिति में यदि तुम्हें ब्राह्मण कहा जाये तो बधिक किसे कहा जाये?॥ 6॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो, संसार के लोग भ्रम और भूल में पड़कर विपथ-गामी हैं॥ 7॥ पुरुषों में उत्तम वही है जो हद और बेहद से परे है, परन्तु यह सर्वोच्च स्थिति बिरला प्राप्त करता है॥ 8॥

व्याख्या—आज-कल के व्यंग्यकार जिनका ध्यान कबीर पर गया है उन्हें अपना आदिगुरु मानते हैं। आप किसी भी हिंदी-समाचार पत्र में देखें जहां व्यंग्यात्मक स्तंभ होगा वहां कबीर-वाणी के आधार पर वह स्तंभ होगा, जैसे चक्की चलती, सुनो भाई साधो, जग बौराना, कबीर चौरा इत्यादि। कबीर साहेब ने अपनी वाणियों में व्यंग्यात्मक कथन का जो पुट जगह-जगह दिया है मनुष्य के दिल को झकझोर देता है।

यहां कबीर साहेब उन पंडितों से व्यंग्यात्मक ढंग से पूछते हैं जो देवपूजन में जीववध करते हैं तथा मांस खाते हैं। साहेब कहते हैं कि हे पंडित ! हमें एक बात पर बड़ा आश्चर्य हो रहा है। वह आश्चर्य यह है कि यदि किसी के घर में ही नहीं, उसके कुल-गोत्र में कहीं कोई मर गया हो तो उसे तुम अशुद्ध घोषित कर देते हो। उसके घर में तुम जल तक नहीं ग्रहण करना चाहते। जब दस दिन बीत जाते हैं, लोगों के बाल बन जाते हैं, सबके स्नान हो जाते हैं, घर की लिपाई-पोताई हो जाती है, महा ब्राह्मण खा लेते हैं, तब जाकर तेरहवें दिन तुम उसके घर में भोजन करते हो। परन्तु दूसरी तरफ बकरे, कबूतर, मुरगे, मछली या अन्य जानवरों को मारकर उनकी लाश हंडी में पकाकर, थाली में रखकर तथा मुख में चबाकर खा जाते हो। अतएव यह तुम्हारी शुद्धाशुद्धि का विवेक कहां तक समीचीन है, इस पर जरा ध्यान देकर विचार करो और जो उचित हो वह करो।

तुम ध्यान, संध्या, पूजा, तर्पण, जप, होम सब कुछ करते हो, देवताओं की बड़ी आराधना करते हो और गीता में बताये हुए ब्राह्मणों के नौ गुण— शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता के चिह्न के रूप में कंधे पर नौ तागे का यज्ञोपवीत पहनते हो। चलो, यह तो सब ठीक

है, परन्तु जब तुम हंडी में हाड़-मांस पकाते हो, थाली में हाड़-मांस रखते हो तथा मुख में हाड़-मांस चबाते हो तब तुम्हारे छह कर्मों की कितनी इज्जत रह गयी? ब्राह्मणों के छह कर्म दो प्रकार से हैं—यज्ञ करना-कराना, विद्या पढ़ना-पढ़ाना, दान देना तथा लेना नैमित्तिक षटकर्म हैं। दूसरे नित्य षटकर्म हैं—स्नान, संध्या, पूजा, तर्पण, जप तथा होम। परन्तु तुम्हारे तो षटकर्म हो गये हैं हंडी में हाड़-मांस, थाली में हाड़-मांस तथा मुंह में हाड़-मांस! ये अच्छे षटकर्म बने।

आज भी भारतवर्ष के विविध क्षेत्रों के पंडित मांसाहार उचित सिद्ध करने के लिए प्रमाण देते हैं। वे कहते हैं—"मांस सर्वश्रेष्ठ भोजन है।[1] राम ने खाया था,[2] पहले के ऋषि-मुनि सब खाते थे।"[3] भले आदमी, यह सब कलिवर्ज्य है।[4] विद्वानों ने कलिकाल में इसके खाने पर मनाही कर दी है। इसलिए आज नहीं खाना चाहिए। पहले के युग में पाप नहीं लगता था, परन्तु आज पाप लगेगा।

यह सबका मतलब क्या है! मतलब हुआ पुराने लोगों को आदर देते हुए उनके घृणित आहार को अस्वीकार देना। वह युग ऐसा था कि आदमी आहार पर इतना नहीं सोच सका था। वह आहार की दिशा में असभ्य था। ब्राह्मणों के कर्मकांड एवं मांसाहार से हटकर बौद्धों, जैनों तथा वैष्णवों के ज्ञान-भक्ति के आंदोलन शुरू हुए और मांसाहार त्याग पर बल दिया जाने लगा। धीरे-धीरे पंडितों को भी सूझ हुई कि मांसाहार घृणित है, हिंसा से प्राप्त होता है। इसलिए उन्होंने कहा कि उन तीन युगों में मांसाहार में दोष नहीं था, किन्तु कलिकाल में इसे खाने से दोष लगेगा। इसलिए मांस नहीं खाना चाहिए। यह विचारों की उदारता का फल है। हमारे पूर्वज जो कुछ करते रहे हों वह सब सच नहीं हो सकता। उनकी गलतियों को हमें छोड़ देना चाहिए। हमें उन्हें बुरा नहीं कहना चाहिए, परन्तु उनकी बुराइयों को हमें ग्रहण नहीं करना चाहिए।

"धर्म करे जहाँ जीव बधतु हैं, अकर्म करे मोरे भाई।" पहले यज्ञ और पूजा में खूब पशु-वध होता था। पूजा में तो इस बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में भी जगह-जगह पशु-वध होता है। अश्वमेध यज्ञ करके समझते थे कि हमारे समस्त पाप कट गये जबकि इस यज्ञ में तीन सौ पशु काट दिये जाते थे।[5]

---

1. शतपथ ब्राह्मण (11/7/1/3)।
2. वाल्मीकीय रामायण 2/52/102, 2/55/32, 2/96/1-2।
3. देखिए आगे 93वें शब्द की व्याख्या।
4. देखिए आगे 93वें शब्द की व्याख्या।
5. देखिए वाल्मीकीय रामायण, बालकांड, सर्ग 14।

अनेक यज्ञों में कैसे पशु काटे जाते थे यह तो धर्मशास्त्र पढ़कर स्वयं पता लग जाता है।[1] मनगढ़ंत देवताओं को खुश करने के लिए मूक प्राणियों का वध। आज भी ईश्वर को खुश करने के लिए मुसलमानों के यहां बकरीद के दिन दुनिया में करोड़ों पशु काट दिये जाते हैं। ब्राह्मण समाज में पुराकाल में यज्ञ में पशु-वध सर्वाधिक था। कबीर साहेब के समय में भी बहुत था। वे ऐसे पंडितों से पूछ बैठते हैं कि हे भाई पंडितो, यदि धर्म में जीव-वध होता है तो अधर्म में फिर क्या होगा ! तुम पूजा में प्राणि-वध करते हो तो तुम्हें यदि ब्राह्मण कहा जाये तो बधिक किसे कहा जाये? यह ऐसा प्रश्न है कि इसका उत्तर न पंडित के पास है न मुल्ला के पास और न अन्य के पास। ब्राह्मण या हिन्दू समाज का यह जंगलीपन आज बहुत मिट गया है, परन्तु मुसलमानों का आज भी नहीं मिटा है।

"कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, भरम भूलि दुनियाई।" कबीर साहेब कहते हैं कि संसार के लोग भ्रम और भूल में पड़कर विपथगामी हैं। उन्हें विपरीत कर्म करके कल्याण का भ्रम है। वे वास्तविकता को भूल गये हैं। वे परम धर्म अहिंसा को भूल गये तथा धर्म के नाम पर जीव-वध करने से अपना कल्याण समझ लिये। यज्ञ में जीव-वध करने वाले ब्राह्मणों को आस्तिक कहना तथा जीव-हिंसा त्याग कराने के प्रयत्न में लगे तथागत बुद्ध को नास्तिक कहना, इससे अधिक भ्रम और भूल क्या होगी ! भारतरत्न पांडुरंग वामन काणे ने लिखा है—"ब्राह्मणों ने श्राद्ध, मधुपर्क, यज्ञादि में मांस खाना अच्छा माना है तथा बौद्धों की निन्दा की है जो मांस खाना वर्जित मानते हैं।"[2] इतना ही नहीं, पुरोहितों ने हिंसा-मांसाहार-विरोधी वैष्णव-भागवतों को भी गाली दी है। उन्होंने कहा—"जो वेदों को नहीं पढ़ना जानता वह शास्त्र पढ़ता है, जो शास्त्रों को नहीं पढ़ना जानता वह पुराण पढ़ता है, जो पुराणों को भी नहीं पढ़ना जानता वह खेती करता है, परन्तु जो सब प्रकार से भ्रष्ट होता है वह भगवान का भक्त हो जाता है।"[3] वैष्णव, जैन, बौद्ध ये तीन हिंसा तथा मांसाहार का विरोध कर रहे थे, इसलिए पुरोहित पंडित इन तीनों पर कुपित थे। वे अपनी भूल से सुपथ को विपथ तथा विपथ को सुपथ मानते थे।

सद्‌गुरु कहते हैं कि यह न ब्राह्मणत्व है और न पांडित्य। ऐसे तथाकथित ब्राह्मण एवं पण्डित अपने आप को सर्वोच्च मानते हैं और दावा करते हैं कि लोग उन्हें सर्वोच्च मानें।

---

1. देखिए कात्यायन 9/8/4, आपस्तंब 12/18/13; आदि।
2. धर्मशास्त्र का इतिहास, खंड 2, पृ. 999।
3. वेदैर्विहीनाश्च पठन्ति शास्त्रं शास्त्रेण हीनाश्च पुराणपाठाः।
पुराणहीनाः कृषिणो भवन्ति भ्रष्टास्ततो भागवता भवन्ति॥
(अत्रि 384। धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ. 153)

"अपरम्पार पार पुरुषोत्तम, या गति बिरले पाई।" कबीर साहेब कहते हैं कि सर्वोच्च एवं पुरुषोत्तम तो वह है जो हद और बेहद से परे है।[1] जो समस्त सांसारिक वासनाओं को त्याग देता है, और निरन्तर अपने चेतन स्वरूप में रमता है वह सर्वोच्च है, वह पुरुषोत्तम है। जो दृश्यमान लोक तथा कल्पित स्वर्गादि, ईश्वर एवं देवादि की सारी वासनों छोड़ देता है वह अपरम्पार पार पुरुषोत्तम है। परन्तु "या गति बिरले पाई" यह दशा, यह जीवन्मुक्ति स्थिति कोई बिरला ही पाता है। जो इस दिशा में ध्यान देता है वह पाता है। यह सर्वोच्च स्थिति तो जीव का सहज स्वरूप ही है, इधर ध्यान देना चाहिए। इधर बिरला ध्यान देता है, इसलिए इस स्थिति को बिरला ही पाता है।

छुआछूत का धोखा

शब्द-47

पाँड़े बूझि पियहु तुम पानी॥ 1॥
जेहि मटिया के घर में बैठे, तामें सृष्टि समानी॥ 2॥
छप्पन कोटि यादव जहँ भीजे, मुनि जन सहस अठासी॥ 3॥
पैग पैग पैगम्बर गाड़े, सो सब सरि भौ माटी॥ 4॥
मच्छ कच्छ घरियार बियाने, रुधिर नीर जल भरिया॥ 5॥
नदिया नीर नरक बहि आवै, पशु मानुष सब सरिया॥ 6॥
हाड़ झरी झरि गूद गली गलि, दूध कहाँ से आया॥ 7॥
सो ले पाँड़े जेवन बैठे, मटियहि छूति लगाया॥ 8॥
वेद कितेब छाँड़ि देहु पाँड़े, ई सब मन के भरमा॥ 9॥
कहहिं कबीर सुनो हो पाँड़े, ई सब तुम्हरो करमा॥ 10॥

शब्दार्थ—भीजे=मरकर सड़ गये। मच्छ=मछली। कच्छ=कच्छप। हाड़ झरी झरि=हाड़ के झरनों से झड़कर। गूद=मांस। गली गलि=गलियों-नलियों द्वारा। जेवन=जीमना, खाना।

भावार्थ—हे पंडित जी! किसी के आचरण को पवित्र देखते हुए भी तुम उससे जाति पूछकर उसके हाथ का पानी पीने या न पीने का निर्णय लेते हो॥ 1॥ परन्तु क्या तुम्हें यह पता नहीं है कि जिस मिट्टी के घर में तुम बैठे हो उसमें पूर्व की पूरी प्राणि-सृष्टि सड़कर समायी हुई है!॥ 2॥ छप्पन करोड़ यादव और अट्ठासी हजार ऋषि मर और सड़कर इसी मिट्टी में मिल चुके हैं॥ 3॥ पग-पग पर पैगम्बर इस मिट्टी में गाड़े गये हैं और वे सड़कर मिट्टी

1. देखिए साखी 189, हद्द चले सो मानवा...।

बन गये हैं। इसी मिट्टी से घड़ा बना है जिसमें तुम पानी भरकर पीते हो। परन्तु जिसे तुम विजाति मानते हो वह उस घड़े को स्वच्छ हाथ से भी छू दे तो तुम उस घड़े का पानी नहीं पीते हो॥ 4॥ पानी की भी दशा यही है। मछली, मेढक कुें में तथा मछली, कछुए, घड़ियाल आदि नदी में प्रजनन करते हैं, उनके शरीर के रक्त से मिश्रित पानी कुें और नदी के जल में मिल जाता है॥ 5॥ गांव तथा शहर का नरक भी बहकर नदी के जल में आकर मिलता है, मरे हुए पशु तथा मनुष्य नदी में फेंक दिये जाते हैं, वे सब सड़कर उस पानी में मिलते हैं। ऐसे पानी को सब पीते हैं, फिर स्वच्छ हाथ से उसे कोई छू ले तो क्या बुरा हो गया !॥ 6॥ दूध कहां से पैदा होता है क्या इसे नहीं जानते हो ! हड्डियों के झरनों तथा मांस की गलियों एवं नलियों से ही तो दूध झर-झरकर आता है॥ 7॥ इसे लेकर तो पंडित जी जीमने बैठ गये, परन्तु स्वच्छ दिखते हुए भी किसी के मिट्टी के घड़े में छूत लगा दिये॥ 8॥ तुम कहते हो जाति को लेकर छुआछूत मानना शास्त्रसम्मत है, तो हे पंडित ! ऐसे शास्त्रों की दोहाई देना छोड़ दो। ये सब तुम्हारे मन का भ्रम है॥ 9॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे पंडित जी ! सुनो, यह सब तुम्हारा पाखंडपूर्ण कर्म-प्रपंच है॥ 10॥

व्याख्या—मानवतावादी समाज तथा राष्ट्र जो आज सोच रहे हैं, उसे कबीर देव ने पंद्रहवीं शताब्दी में ही सोच लिया था। भारत की एक बहुत बड़ी समस्या है छुआछूत। यहां आदमी आदमी को जन्म से ही अछूत मानता है। यह घोर मानसिक अपराध है। कोई गंदे आचरण से हो, उसके अंग गंदे हों, कपड़े गंदे हों, तब बात समझ में आती है कि उसके हाथ का छुआ जल नहीं लेना चाहिए। यदि स्वच्छ है तो उसे अछूत बताना अपराध है।

कबीर साहेब कितने संवेदनशील हैं, वे किसी बात को कितनी गहराई से सोचते हैं और कितने निर्भयतापूर्वक निश्चिंत होकर खरे सत्य को कह देते हैं यह उनकी वाणियों को पढ़कर सोचते ही बनता है। वे डर नाम की चीज जानते ही नहीं थे। सत्य-उपासक अपने आप निर्भय हो जाता है।

यह कैसी विडंबना है कि मनुष्य पशु को तो पूज्य मान लेता है। उसके बच्चे को गोद में खेला लेता है, परन्तु मनुष्य को अछूत मानता है। केवल ब्राह्मणनामधारी दूसरों को अछूत मानते हों ऐसी बात नहीं है, किन्तु तथाकथित दूसरी जाति वाले भी एक दूसरे को अछूत कहते हैं। ब्राह्मण नामधारियों में भी परस्पर अछूत की भावना होती है। आज तक एक गोत्र का ब्राह्मण दूसरे गोत्र के ब्राह्मण का बनाया कच्चा भोजन नहीं खाता था। हां, पक्का भोजन चल जाता था। जैसा कि हम 41वें शब्द में देख आये हैं कि

वेदों में छुआछूत की बात नहीं है, परन्तु पीछे छुआछूत की भावना बहुत बढ़ी और यह बात शास्त्रगत हो गयी। इतना ही नहीं कि किसी एक शास्त्र में लिख दिया गया हो, किन्तु अनेक शास्त्रों में छुआछूत को काफी मजबूत किया गया।

आचार-विचार और स्वच्छता को प्रधानता देनी चाहिए, मिथ्या जाति एवं वर्ण को नहीं। मानव की केवल एक जाति है। जन्म से कोई अछूत नहीं। उसके कर्म तथा आचरण से ही वह अच्छा-बुरा हो सकता है। यह बात सत्य होते हुए भी पंडित लोग कहते हैं कि शास्त्र में छुआछूत की बात लिखी है। शास्त्र भगवद्वचन है, प्रभुवचन है, त्रिकालदर्शी आर्ष ऋषियों का वचन है। अतः उसे मानना पड़ेगा। कबीर साहेब कहते हैं कि हे पंडित! यह शास्त्र-प्रमाण का चक्कर छोड़कर सत्यासत्य विचार कीजिए। यहां 'वेद-कितेब' से मतलब प्रसिद्ध वेद या कुरानादि किताब नहीं हैं, किन्तु शास्त्र-प्रमाण का मोह है। कबीर साहेब कहते हैं कि इसकी चिंता न करो कि किस ग्रन्थ में लिखा है तथा किस पुरुष ने लिखा है, किन्तु यह विचारो कि क्या लिखा है। कोई ग्रन्थलेखक न विश्वनियंता रहा है, न सर्वज्ञ, किन्तु सभी लेखक मनुष्य होते हैं। सभी वाणियों पर विचार करना मनुष्य का कर्तव्य है। यदि पंडित सारासार विचार को महत्त्व न देकर आंख मूंदकर शास्त्र-प्रमाण को महत्त्व देता है, तो सद्गुरु कहते हैं कि हे पंडित, यह तुम्हारे मन का भ्रम है। कोई बात लिखी जाने से प्रमाणित नहीं होती, किन्तु सच होने से प्रमाणित होती है। साहेब कहते हैं कि ऐ पंडित, आचार-विचार छोड़कर केवल झूठे जाति-वर्ण के आधार पर छुआछूत मानना तुम्हारा कर्मकांडी जंजाल है। सत्य को समझो। छुआछूत के पचड़े को छोड़ो। तुम मानव हो तथा दूसरे लोग भी मानव हैं। मानव के साथ मानव प्रेम करे यह उसका परम धर्म है। किसी को जन्मजात अछूत मानना महापाप है।

इस शब्द में छुआछूत का निषेध किया गया है। साहेब ने तर्क दिया है कि तुम मिट्टी, पानी और दूध को अशुद्ध नहीं मानते हो, तो मनुष्य को अछूत क्यों मानते हो? मनुष्य ने शुद्ध हाथ से कुछ छू लिया तो वह वस्तु अशुद्ध कैसे हो गयी? ध्यान रहे, यहां सद्गुरु का यह उद्देश्य नहीं है कि मिट्टी, पानी और दूध को अशुद्ध माना जाये तथा उनका उपयोग न किया जाये। दूध को कोई न भी ले, किन्तु मिट्टी, पानी के बिना तो जीवन ही नहीं चल सकता। अतएव यहां इनका निषेध अभिप्राय नहीं है। यहां अभिप्राय है कि छुआछूत का पाखंड छोड़ो।

पृथ्वी में अनादिकाल से सर्वत्र मुरदे गड़े हैं, इसलिए मिट्टी बुरी नहीं। उसका रूप बदलकर वह शुद्ध होती रहती है। नदी आदि के जल में जो गंदगी

मिलती है, प्रकाश और वायु से उसकी शुद्धि होती रहती है। अतः शुद्ध होने पर जल अशुद्ध नहीं। गाय-भैंस के अस्थि-चर्ममय शरीर में से दूध आने के कारण, दूध गंदा नहीं है। क्योंकि गाय-भैंस के शरीर जिंदा हैं। जानदार जीभ, दांत, बाल, खाल आदि में घृणा-गंदगी नहीं होती, परन्तु वे ही टूट या कटकर पृथक हो जायें, तो मुख में नहीं रखे जा सकते। इसी प्रकार जानदार गाय-भैंस के शरीर से दूध दुहकर लेना बुरा नहीं।

मांस-रक्त का रूपान्तरण दूध नहीं है, प्रत्युत खाद्य-वस्तु का रूपान्तर है। बिनौला, खली, नमक आदि दुधार-वस्तुं गाय-भैंस को शाम को खिला दो, तो प्रातःकाल दूध बढ़ जायेगा। यदि खाद्य वस्तु का रूपान्तर रस, रस से रक्त और रक्त से दूध बनता होता, तो चारा खाने के चार-छह-आठ घंटे में दूध नहीं बढ़ता।

यदि कोई रक्त का ही रूपांतर दूध माने तो भी रक्त-मांस नहीं खाना चाहिए और दूध खाना चाहिए। क्योंकि दूध लेने में हिंसा नहीं करनी पड़ती, और मांस लेने के लिए हिंसा करनी पड़ती है।

हां ! गाय-भैंस का पेट भरकर, बछड़ा-बछड़ी एवं पड़वा-पड़िया का पेट दूध, अन्न, चारा आदि से भरकर तब दूध लेना चाहिए। मादा या बच्चे को कष्ट देने वाले अपराधी हैं।

खेत में मल-मूत्र बिखेरकर साग-अन्न बोये जाते हैं। जहां मल-मूत्र अधिक होंगे, वहां साग-अन्न अधिक होंगे। अतएव मल-मूत्र का रूपांतर साग-अन्न में अवश्य आता है। परन्तु लोग साग-अन्न खाते हैं, मल-मूत्र नहीं, इसी प्रकार यदि सचमुच रक्त का रूपांतर दूध हो, तो भी दूध खाना चाहिए, रक्त-मांस नहीं।

कुछ लोग कहते हैं कि अन्न-साग आदि खाना भी तो मांसाहार हुआ, क्योंकि वृक्ष-वनस्पति एवं लता भी जीवधारी हैं। परन्तु यह केवल भ्रम है। यद्यपि इस सिद्धान्त का आजकल बहुत बड़ा बोलबाला है। 'वृक्षादि में भी जीव होते हैं', इसको सिद्ध करने के लिए बहुत युक्तियां गढ़ी गयी हैं, परन्तु इनमें कोई सार नहीं है।

यदि वृक्ष-वनस्पतियों में जीव हैं, तो इनको सुख-दुख क्यों नहीं होते? वृक्ष को काटते समय, वे अपनी डालियों को क्यों नहीं फड़फड़ाते? लाजवंती का प्रमाण व्यर्थ है। जिसको आंखें नहीं, उसको लज्जा कहां ! जोर से वायु चलने पर भी तो लाजवंती मुरझा जाती है। सो क्यों? वास्तव में ठोकर लगने से मुरझा जाना उसका स्वभाव है।

एक वृक्ष-लता आदि से अनेक कलमें लग जाती हैं, क्या जानदार एक मनुष्य या बैल के हाथ-पैर को काटकर उन हाथ-पैरों को जीवित सर्वांग मनुष्य या बैल बनाया जा सकता है?

वृक्षादि में कोई इंद्रिय नहीं है, फिर उनमें जागृत अवस्था कैसे होगी! बिना जागृत के न वासना का ग्रहण होगा और न स्वप्न होगा। जागृत-स्वप्न के बिना मात्र सुषुप्ति-अवस्था कहने में कोई तत्त्व नहीं है। अतः जिसमें तीन अवस्थों नहीं, वहां जीव मानना भूल है।

चुम्बक-पत्थर के सामने लोहा पड़ने पर वह चुम्बक में आकर्षित हो जाता है। इससे चुम्बक लोहा-भक्षी नहीं। यदि किसी वृक्ष के पत्ते के पास जाने से देहधारी जीव उस पत्ते में आकर्षित हो जाते हों और पत्ते संपुट हो जाते हों, तो इससे उस वृक्ष को मांस-भक्षी नहीं कह सकते या उसे जीवधारी नहीं बना सकते। व्रृक्ष में और जीवों के अंगों में रहे हुए कुछ ऐसे तत्त्व होंगे, जो मेल रखते होंगे, इससे देहधारी जीव आकर्षित हो जाते होंगे।

जल, मिट्टी, प्रकाश, वायु इन चारों से बढ़ने, पुष्ट होने एवं बीजी असर अनुसार वृद्धि, फल, फूल को प्राप्त होने वाले वृक्ष-लतादि केवल जड़ हैं। तत्त्वों के परमाणुओं से कंकड़-पत्थर जैसे बनते-बढ़ते रहते हैं; तेल, अग्नि, बत्ती आदि से दीपक में जैसे ज्योति बनती रहती है, वैसे केवल जड़-तत्त्वों से वृक्ष-वनस्पति आदि बनते-बढ़ते रहते हैं।

प्राणियों के शरीर से जीव के निकल जाने पर, वे तुरन्त कांतिहीन हो जाते हैं, परन्तु वृक्षों को काट देने पर यदि बदली और पानी की नमी रहे तो वे कई दिन हरे बने रहते हैं। उनमें से जैसे-जैसे क्रमशः जलांश निकलता है, वैसे-वैसे वे सूखते हैं।

अतएव वृक्ष-वनस्पति, लतादि सर्वथा निर्जीव हैं, इसलिए अन्न-सागादि खाना हिंसा-मांसाहार नहीं। हां! उन्हें अमनिया कर धो-पोछकर खाना चाहिए।[1]

श्री अमरचन्द्र जी महाराज लिखते हैं—

"संसार में पापों की कोई गणना नहीं है। एक-से-एक भयंकर पाप हमारे सामने हैं। परन्तु मासांहार का पाप बड़ा ही भयंकर तथा निंदनीय है। मांसाहार मनुष्य के कोमल हृदय की कोमल भावनाओं को नष्ट-भ्रष्ट कर उसे

---

1. वृक्षों में जीवों के निषेध के विषय में सद्‌गुरु श्री विशाल साहेब रचित भवयान के सप्तम प्रकरण के उन प्रसंगों को पढ़ना चाहिए, जहां ये बातें कही गयी हैं। टीका-सहित भवयान पढ़ने में ठीक समझ सकेंगे।

पूर्णतया निर्दय और कठोर बना देता है। मांस किसी खेत में नहीं पैदा होता है, वृक्षों पर नहीं लगता, आकाश से नहीं बरसता, वह तो चलते-फिरते प्राणियों को मारकर, उनके शरीर से प्राप्त होता है। जब आदमी पैर में लगे एक कांटे का दर्द भी नहीं सहन कर सकता, रात भर छटपटाता रहता है, तब भला दूसरे निरपराध मूक जीवों की गर्दन पर छूरी चला देना किस प्रकार न्याय-संगत हो सकता है? जरा शांत-चित्त से ईमानदारी के साथ विचार कीजिए कि उनको कितना भयंकर दर्द होता होगा! अपने क्षणिक जिह्वा के स्वाद के लिए दूसरे जीवों को मारकर लाश बना देना, कितना जघन्य आचरण है! जब आदमी किसी को जीवन नहीं दे सकता तो उसे क्या अधिकार है कि वह दूसरे का जीवन छीन ले।

"आहार-विहार में होने वाली साधारण-सी हिंसा भी जब निंदनीय मानी जाती है, तब स्थूल पशुओं की हत्या करना तो और भी भयंकर कार्य है। बधिक जब चमचमाता हुआ छूरा लेकर मूक पशुओं के गर्दन पर प्रहार करता है, तब वह दृश्य कितना भयंकर होता है? सहृदय मनुष्य तो उस राक्षसी दृश्य को अपनी आंखों से देख भी नहीं सकता। खून की धारा बह रही हो, मांस का ढेर लग रहा हो, हड्डियां इधर-उधर बिखर रही हों, रक्त से सने हुए चमड़े के खंड इधर-उधर बिखरे पड़े हों, और ऊपर से गीध, चील आदि पक्षी मंडरा रहे हों। इस घृणित दशा में मनुष्य नहीं, राक्षस ही काम कर सकता है। यही कारण है कि यूरोप में तो ऊंचे प्रतिष्ठित जज कसाई की गवाही भी नहीं लेते हैं। उनकी दृष्टि में कसाई इतना निर्दय हो जाता है कि वह मनुष्य ही नहीं रह जाता। हृदयहीन निर्दय मनुष्य में मनुष्यता रह भी कहां सकती है?"

(जैनत्व की झांकी)

श्रीमान एडोल्फ जस्ट महोदय लिखते हैं—

"प्रकृति ने मनुष्य को मांस खाने वाला शिकारी जानवर नहीं बनाया है।

मनुष्य को कच्चा मांस अच्छा नहीं लगता। उसे उसके बनाने, पकाने, बघारने, छौंकने और उसमें मसाला मिलाने की जरूरत होती ही है। उसे मांस के साथ और कुछ न सही, नमक तो चाहिए ही।

जब हिंसक पशु अपना शिकार मार लेता है तब वह उल्लास से भर जाता है और ताजा खून पीकर मतवाला-सा हो जाता है।

पर मनुष्य जो पूर्णतया पशु नहीं हो गया है, हत्या करने से घबराता है। जब वह पशु को जिसे मनुष्य का सजातीय ही कहना चाहिए, मारने के लिए खूंखार अस्त्र उठाता है तो उसका विवेक उसे हमेशा ऐसा करने से रोकता है। मरते हुए पशु का छटपटाना देखकर कठोर-से-कठोर हृदय पिघल जाता है। मांस खाने वालों को यदि जानवर को स्वयं अपने हाथों मारकर खाना पड़े तो

अधिकांश न खाना ही पसन्द करेंगे। कच्च बिना पका मांस अथवा कसाई की दुकान में रखी पशु की लाश देखकर सभी का मन घृणा से भर जाता है। अतः अनेक स्थानों में मांस को खुला ले जाने के विरुद्ध कानून बन गये हैं।

मनुष्य इस सम्बन्ध में भी प्रकृति, अपने विवेक, घ्राणशक्ति, आंख और नैसर्गिक प्रकृति की बात क्यों नहीं सुनता? क्या ऐसा कर सकना बहुत सरल नहीं है !

मनुष्य इस प्रकार के वैज्ञानिक अनुसंधान में कि वह पशु का मांस खाने वाली जाति का है या सर्वभक्षी सूअर-भालू आदि की जाति का है, क्यों अपनी शक्ति व्यर्थ खर्च करता है? पशु की ये दोनों जातियां तो मनुष्य को सदा से ही क्रूर और निर्दय प्रतीत होती रही हैं और इस नाते वह इनसे सदा घृणा करता रहा।

मांस मनुष्य के लिए उचित भोजन है या नहीं इस प्रश्न की छान-बीन मनुष्य उन सरल साधनों से नहीं करता जो प्रकृति ने उसे दिये हैं। वह दांत और आंत का अध्ययन करता है, मांस के अवयवों को जानने की कोशिश करता है—यह मनुष्य की अस्वस्थ ज्ञान-पिपासा का दूसरा प्रमाण है।

अनेक विद्वानों ने, जिन्हें मांस खाना निश्चय ही बहुत प्रिय रहा है, कहा है कि मनुष्य के दांतों को देखकर कहा जा सकता है कि मनुष्य अंशतः मांसाहारी है और आज भी ऐसे बहुत-से लोग हैं जो उनके इस राग को बिना समझे-बूझे आलाप रहे हैं।

जो कुछ भी हो, अपने शिकार को पकड़ने और फाड़ने के जैसे नाखून और दांत शिकारी जानवरों के होते हैं वैसे मनुष्य के नहीं हैं। इसी तरह मांस-भक्षी पशु की पाचन-प्रणाली भी मनुष्य की पाचन-प्रणाली से सर्वथा भिन्न होती है।

शिकारी जानवर, मसलन कुत्ता, मांस के साथ-साथ हड्डी भी खा सकता है,पर मनुष्य तो ऐसा नहीं कर सकता। इससे यह साबित होता है कि मनुष्य का आमाशय इन पशुओं से सर्वथा भिन्न प्रकार का है।

मनुष्य के दांत और आंख की फल और शाक खाकर रहने वालों एवं मांस-भक्षी तथा सर्व-भक्षी पशुओं के दांतों और आंखों से तुलना करने पर प्रतीत होता है कि मनुष्य शिकारी पशुओं की जाति का न होकर फल और शाक खाने वाली जाति का ही है। हाथी और चूहों के दांतों में जो साम्य है उससे अधिक साम्य मनुष्य और मांस-भक्षी तथा सर्व-भक्षी पशुओं के दाढ़ और आंतों में नहीं है। मनुष्य की आंतों की लम्बाई भी बताती है कि मांस उसके अनुकूल नहीं है।

यदि प्रकृति ने मनुष्य के लिए मांस नहीं बनाया है तो उसका उपयोग मनुष्य के लिए अवश्य ही क्षतिकारक है। मनुष्य मांस खाकर स्वस्थ और मजबूत नहीं बनता, वरन बीमार पड़ता है और कमजोर होता है।

कहा जाता है कि मनुष्य को मांस खाना चाहिए, क्योंकि उसमें चर्बी होती है, जो आदमी को सर्दी से बचाती है। अगर यही बात है तो शरीर में आवश्यक गरमी स्नेहप्रधान मेवे खाकर क्यों नहीं उपजायी जाती? इन मेवों में मनुष्य के लिए प्राकृतिक चिकनाई पायी जाती है और उनमें वे सब चीजें नहीं होतीं जो मनुष्य के लिए हानिकारक और जहरीली हैं।

ग्रीनलैंड में न शाक होते हैं न मेवे जिनसे वहां के निवासी, जिन्हें एस्किमो कहते हैं, पोषण पा सकें। अत: वे लोग उत्तरी ध्रुव की कड़ाके की सरदी मांस और पशु की चर्बी खाकर बर्दाश्त करते हैं। यह हो सकता है कि चर्बी के आहार के कारण एस्किमो उत्तर की सरदी में रह पाता है, पर उसके इस अप्राकृतिक भोजन के कारण उसका शरीर कुरूप और भद्दा हो गया है और उसका मस्तिष्क बिलकुल जड़।

लोग अकसर अपने अप्राकृतिक जीवन, मांस और शराब की आदत को खराब मौसम के बहाने के पीछे छिपाते हैं। मौसम की आड़ लेकर वे प्राकृतिक जीवन के विरुद्ध बड़े-बड़े पाप करते हैं, मौसम उनका विवेक दबा देता है। फलाहार अप्राकृतिक खाद्यों की अपेक्षा मनुष्य को सरदी और गरमी सहने की अधिक शक्ति देता है।

ऐसा मानने की तो गुंजाइश नहीं है कि मनुष्य, जो पृथ्वी का सर्वाधिक विकसित प्राणी है, पृथ्वी के एक अंश पर ही रहने के लिए बनाया गया था। बाइबिल कहती है—"पृथ्वी को परिपूर्ण करो।"

पर सारी पृथ्वी को भरने के लिए, पृथ्वी के प्रत्येक भाग में रहने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह अपने प्राकृतिक भोजन को छोड़े।

उष्ण कटिबन्ध के उष्णतम भाग और उत्तर के शीततम भाग मनुष्य के रहने योग्य नहीं है। पर यदि यह समझा जाये कि प्रकृति ने मनुष्य को गरम जगह रहने के लिए बनाया है तो भी उसे अपना अप्राकृतिक जीवन छोड़कर प्राकृतिक जीवन ही व्यतीत करना आरम्भ करना चाहिए। इससे उसकी नैसर्गिक प्रकृति अधिकाधिक जाग्रत होगी और वह गरम जगह में रहना पसंद करेगा। पर वास्तव में शीतोष्ण कटिबन्ध ही मनुष्य के रहने के अधिक उपयुक्त है। अपने इस कथन पर मैं अधिक निवेदन आगे करूंगा।

मनुष्य ईश्वर की प्रतिमूर्ति है। उसे इस पृथ्वी की बादशाहत भलमंशाहत और दयालुता के साथ करनी चाहिए। जब वह अपने भोजन के लिए पशु की

हत्या करता है या उसकी हत्या का कारण होता है तो वह अपने अन्तर्नाद के विरुद्ध चलता है। आज तो मनुष्य अपने इन बन्धुओं के खून से अपना हाथ लाल कर रहा है। भोजन प्राप्त करने के लिए किये गये इस पाप के फलस्वरूप उसे बहुत बड़ी सजा भुगतनी पड़ेगी।

इस दृष्टि से मांस खाना अप्राकृतिक रिवाज है, प्रकृति की अवज्ञा है जिसका परिणाम बहुत बुरा और खतरनाक होना चाहिए। मांस और अन्य अप्राकृतिक खाद्यों को खाने पर उनका ठीक पाचन नहीं हो पाता। मांस न पचने पर पेट में पड़ा सड़ता रहता है, सड़न से उठा हुआ खमीर शरीर और रक्त में फैलता रहता है जिसकी वजह से अनेक प्रकार की सूजन उत्पन्न करने वाली और बुरी-बुरी बीमारियां पैदा होती हैं।

यूनान की पौराणिक कथाओं में ओरेस्टेस की कथा आती है जिसमें उसने कोई भयानक हत्या की थी। इसका बोझ उसकी आत्मा पर बराबर पड़ता रहता था, उस हत्या का बदला लेने के लिए इरिनिस नामक देवता उस पर बराबर सवार रहता था। आज मनुष्य जाति का विवेक इन हत्याओं के बोझ से दबा पड़ा है और उसे पृथ्वी पर कहीं सुख-शांति नहीं मिल रही है।

मांस की गरमी और उसे स्वादिष्ट बनाने के लिए उसमें डाले गये मसाले और नमक हमेशा नशीले पेय और मद्य पीने की इच्छा पैदा करते हैं। इस प्रकार मांस खाना छिपे हुए शैतान, मद्य के लिए घर का दरवाजा खोल देता है। मद्य मांस का भाई है, जो निहायत ही पाजी और शरारती है और हमेशा अपने भाई के साथ रहता है। मद्य तनिक-सा पिया जाये या बहुत-सा, पर क्या किसी से भी इसका हानिपद्र और खतरनाक रूप छिप सकता है।

शराब नाड़ियों को उत्तेजित करती है और इसको पीने वाला सुन्दर सपनों की माया में पहुंच जाता है, पर जब नशा उतरता है तो उसकी प्रतिक्रिया यह होती है कि यह दुनिया उसे नीरस और शून्य लगती है, उसकी यथार्थता उसे कष्ट और पीड़ा पहुंचाती है। शराब पीने वाले समझते हैं कि शराब से उन्हें शक्ति मिलती है, पर वास्तव में वे धोखे में रहते हैं। बनावटी तरीके से पैदा की गयी उत्तेजना स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हानिकर है। यदि शराब के क्षणिक प्रभाव के भुलावे में न पड़ा जाये तो यह तुरन्त समझ में आ जाता है कि शराब शरीर को बहुत कमजोर कर रही है और नाड़ियां खास तौर से छिन्न-भिन्न होती जा रही हैं। शराब से आत्मा पतित और मस्तिष्क कमजोर होता है। फलतः मनुष्य पाप और दोष की ओर अग्रसर होता है।

जो मांस नहीं खाता उसकी मानसिक-वृत्ति सदा ऐसी रहती है कि उसे शराब का सुन्दर किन्तु क्षणिक, साथ ही मायावी स्वप्न-सुख भोगने की इच्छा नहीं होती।

पर यदि मांस शरीर और आत्मा के लिए इतना हानिकारक है तो सवाल यह उठता है कि क्या बाइबिल और ईसा ने मांस का विरोध नहीं किया है ! क्या ही अच्छा होता यदि हम फिर, अपने जीवन के प्रत्येक कार्य के लिए ईसा और बाइबिल से अधिक-से-अधिक पथ-प्रदर्शन ग्रहण करते।

तौरेत के पुराने अनुवादों में अनेक भूलें हैं और कुछ तो इतनी भद्दी भूलें हैं कि उनसे मांस के सम्बन्ध के उपदेश उलटे अधिक अस्पष्ट हो गये हैं।

'बाग के हर पेड़ के फल तू खुशी से खा सकता है, पर ज्ञान के भले और बुरे की समझ वाले पेड़ से पैदा हुए को न खाना, अगर तूने उसे खाया तो तुझे मौत की सजा मिलेगी।'

भला ज्ञान का पेड़ क्या हो सकता है? कहीं पेड़ में भलाई और बुराई समझने की ताकत होती है?

इस बाइबिल में वृक्षों से पशुओं को अलग करने के लिए "बुराई और भलाई वाला" यह वाक्यांश जोड़ा गया है। बाइबिल में पशु को एक जगह 'सजीव वृक्ष' कहा है, अर्थात वृक्ष (प्राणी) जिसमें जीवन हो। अतः बाइबिल में यदि "भलाई और बुराई समझने वाला प्राणी" लिखा होता तो ज्यादा सही होता और इस प्राणी से जो यह समझ सकता है कि क्या बुरा है और क्या भला है, क्या हानिकर और क्या लाभदायक है, और जिसे मनुष्य की तरह अनुभव की शक्ति है, किसी अन्य का नहीं, पशु का ही बोध होगा। मनुष्य के पतन का आरम्भ यहीं से हुआ, उसने पहला पाप यही किया कि उसने पशु[1] का निषिद्ध मांस खाया।

हिन्दू-धर्म के ग्रन्थों में, जिनका अनुवाद जर्मन-भाषा में सही-सही मिलता है, पशु का मांस खाना निषिद्ध ठहराया गया है।

प्रकृति के प्रांगण की ओर दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि केवल मांस खानेवाले प्राणी हत्या करते हैं। प्रकृति मांसाहारी में हत्या की इच्छा प्रतिष्ठित करती है। मनुष्य ने अपने पतन के बाद पहला या यों कहिये कि एक ही बुरा काम किया था, वह था हत्या-भ्रातृ-हत्या। इसका अर्थ यही है कि मनुष्य के पतन का कारण मांसाहार है, अन्यथा हत्या का यहां कोई अर्थ नहीं है।

---

1. तौरेत में अनेक ऐसे स्थल हैं जिनसे यह प्रमाणित होता है कि मनुष्य का पहला पाप यही था कि उसने मांस खाया था। आरम्भ में लोग अपने इस पाप को पहचानते थे और इससे बचने की कोशिश करते थे, पर धीरे-धीरे ये फिसलते गये। अन्त में वे अपने इस पाप का समर्थन करने लगे और यहां तक समझने लगे कि मनुष्य ईश्वर की ओर से मांस खाने के लिए स्वतन्त्र है।

ऐसी स्थिति में ईसा मांस कैसे खा सकते थे। ईसा सबसे अधिक मृदुता और दया की शिक्षा देते थे। तो क्या उन्होंने अपनी आत्मा और ईश्वर की आवाज के विरुद्ध मनुष्य को राक्षस बनाने वाला पशु–मांस खाया होगा, जिसे जबह करने में दया को एकबारगी तिलांजलि दे देनी पड़ती है। यह कार्य ईसा की दया का विरोधी होता, वह हत्या के पाप से मुक्त नहीं हो सके थे। भला, ईसा शरीर और आत्मा को रुग्ण बनाने वाले, पाप और दोष में फंसाने वाले मांस को स्वीकार कर सकते थे।

तौरेत के अनुवाद में की गयी गलती के समान ही बाइबिल के अनुवाद में भी गलती मिलती है। प्राचीन समय में लोग मांस खाने के पाप के प्रायश्चित स्वरूप देवताओं को शान्त करने के लिए पशु की बलि दिया करते थे। इतिहासकारों का कहना है कि एसेन जाति के लोग, जिनसे ईसा सम्बद्ध थे, पशु–बलि नहीं देते थे। इससे यह आसानी से समझा जा सकता है कि वे मांस भी नहीं खाते थे। धर्मशास्त्रियों की भी यही मान्यता है।

इसको इस तरह से भी कह सकते हैं कि वे लोग पशु की बलि नहीं चढ़ाते थे, मांस नहीं खाते थे। ईसा और उनके शिष्यों ने कभी कोई बलि नहीं दी। उन्होंने तो पशु–बलि का निषेध भी किया है।

"मुझे दया चाहिए, बलि नहीं।"

जिस किसी ने बाइबिल की भावना को समझा है और खास तौर से तौरेत को, जानता है कि ईसा ने मांस खाना साफ–साफ मना किया है और इसमें शक और शुबहे की जगह ही नहीं है कि ईसा मांस नहीं खाते थे।

तर्क के बच्चे सांप से पैदा हुआ विज्ञान मनुष्य को आज भी उसी प्रकार पथभ्रष्ट कर रहा है जिस प्रकार इसके पिता सर्प ने आदम को स्वर्ग में किया था। यह आज भी पढ़ा रहा है कि प्रकृति–पथ का त्याग करने से मनुष्य की आत्मा और शरीर को अनेक लाभ मिलेंगे।

अभी एक विद्वान ने कहा है कि मनुष्य ने परिष्कृत एवं वैज्ञानिक जीवन अपनाकर बड़ी उन्नति की है और अन्त में यह देवताओं की तरह अमर हो जायेगा।

पर विज्ञान धोखा देने और भुलावे में रखने के सिवा अधिक क्या कर रहा है।

प्रत्येक स्थिर बुद्धि और निष्पक्ष व्यक्ति यह कहेगा कि मनुष्य अप्राकृतिक जीवन को अपनाकर देवता नहीं बन सकता, इसके विपरीत वह रोगी, दुखी, पापी, मूर्ख और सच्चे अर्थ में दानव ही तो बनेगा।"

(एडोल्फ जस्ट के 'रिटर्न टु नेचर' का अनुवाद
'प्राकृतिक जीवन की ओर')

अतएव सब प्रकार मांसाहार, मद्यपान, हिंसा एवं असत्य आचारों को त्याग कर सच्चे अर्थ में मानव बनना चाहिए।

अनेकता में एकता के सूत्र

शब्द-48

पण्डित देखहु हृदय विचारी, को पुरुषा को नारी॥ 1॥
सहज समाना घट घट बोले, वाके चरित अनूपा॥ 2॥
वाको नाम काह कहि लीजै, न वाके वर्ण न रूपा॥ 3॥
तैं मैं क्या करसी नर बौरे, क्या मेरा क्या तेरा॥ 4॥
राम खुदाय शक्ति शिव एकै, कहु धौं काहि निहोरा॥ 5॥
वेद पुराण कितेब कुराना, नाना भाँति बखाना॥ 6॥
हिन्दू तुरुक जैनि औ योगी, ये कल काहु न जाना॥ 7॥
छौ दर्शन में जो परवाना, तासु नाम मनमाना॥ 8॥
कहहिं कबीर हमहिं पै बौरे, ई सब खलक सयाना॥ 9॥

शब्दार्थ—समाना=प्रविष्ट। चरित=स्वभाव। अनूपा=विलक्षण। वण= रंग। धौं=भला। निहोरा=प्रार्थना। कल=मधुरता, शांति। छौ दर्शनयोगी, जंगम, सेवड़ा, संन्यासी, दरवेश तथा ब्राह्मण। परवाना=प्रमाणित, सिद्ध। पै=परन्तु, पर। खलक=संसार के लोग।

भावार्थ—हे पण्डित! हृदय में विचारकर देखो, कौन स्त्री है और कौन पुरुष! अर्थात शरीर स्त्री और पुरुष है, चेतन तो सबमें समान ही है॥ 1॥ जिनका सहज स्वरूप ही चेतन है वे जीव सभी देहों में प्रविष्ट होकर बोल रहे हैं। उनका स्वभाव जड़ से विलक्षण ज्ञानमय है॥ 2॥ उन चेतन जीवों को क्या नाम लेकर पुकारोगे! उनका कोई भौतिक रंग-रूप नहीं है अतएव उन्हें हिन्दू-मुसलमान एवं ब्राह्मण-शूद्रादि नहीं कहा जा सकता॥ 3॥ हे पगले मानव! मिथ्या जाति और सम्प्रदाय को लेकर तू-तू, मैं-मैं क्या करता है! यहां क्या मेरा है और क्या तेरा है॥ 4॥ राम, खुदा, शक्ति, शिव आदि एक चेतन सत्ता मात्र है, फिर भला निज चेतन स्वरूप की स्थिति छोड़कर किसकी प्रार्थना, वन्दना के भुलावे में पड़ा जाये॥ 5॥ वेदों, पुराणों, किताबों तथा कुरान ने नाना प्रकार से वर्णन किया है, परन्तु नाना प्रकार के वर्णन होने से सत्य नाना प्रकार का नहीं हो जायेगा॥ 6॥ हिन्दू, मुसलमान, जैनी, योगी आदि नानत्व में एकत्व की मधुरता को नहीं समझ पाते॥ 7॥ योगी, जंगम, सेवड़ा, संन्यासी, दरवेश और ब्राह्मण तथा अनेक संप्रदाय वाले जो कुछ जहां सत्य मान लिये हैं वे उन्हीं के मनमाना गीत गा

रहे हैं॥ 8॥ कबीर साहेब कहते हैं कि परन्तु समाज की एकता को भंग करने वाले इन संप्रदायवादियों के बीच में हम ही पागल सिद्ध हो जाते हैं, और ये सब संसार के लोग समझदार बन जाते हैं॥ 9॥

व्याख्या—वर्णाभिमानी, जात्याभिमानी एवं संप्रदायाभिमानी लोग एकता में अनेकता देखते हैं। कबीर साहेब अनेकता में एकता देखते हैं। वे परिश्रमपूर्वक समन्वय नहीं करते, किन्तु उनकी दृष्टि स्वाभाविक समन्वित है। वे एक ऐसे मौलिक एकता-विचार के पुरुष हैं कि उनकी दृष्टि में कहीं आपस में टकराने की गुंजाइश ही नहीं है। यदि कबीर के विचारों को संसार मान ले तो कहीं झगड़े का स्थान ही न रह जाये।

'पण्डित देखहु हृदय विचारी' वे विचार करने के लिए पंडितों को निमंत्रित करते हैं। पंडित दो प्रकार के होते हैं। पंडित का सही अर्थ होता है सूक्ष्मदर्शी एवं विवेकी, जो कोई भी हो सकता है। दूसरे प्रकार का पंडित है कर्मकांडी, पत्राधारी जो भेदभाव की बातें बहुत करता है। इन दोनों प्रकार के पंडितों को विचार करना चाहिए। सूक्ष्मदर्शी एवं विवेकी ही विचार कर सकता है, अतः उसे तो विचारना ही चाहिए, परन्तु कर्मकांडी पत्राधारी को भी विचार करना चाहिए जिससे वह भेदभाव करना छोड़े।

साहेब इस शब्द में पहला विचार रखते हैं 'को पुरुषा को नारी।' वे प्रश्नवाचक विचार रखते हैं कि कौन स्त्री है और कौन पुरुष है? वस्तुतः शरीर स्त्री और पुरुष है। शरीर में रहने वाले चेतन जीव स्त्री-पुरुष नहीं हैं। स्त्री, पुरुष, नपुंसक अथवा प्राणि मात्र के भीतर एक ही प्रकार चेतन सत्ता निवास करती है। लोग कहते हैं 'कबीर ने तो नारी को अच्छा स्थान ही नहीं दिया है। वे जिस दृष्टि से हिन्दू-मुसलमान तथा ब्राह्मण-शूद्र को एक देख सके उसी दृष्टि से नर-नारी को एक नहीं देख सके।' वस्तुतः ऐसा कहने वाले विद्वानों ने कबीर साहेब के प्रामाणिक ग्रन्थ इस बीजक को मनोयोगपूर्वक नहीं देखा। कबीर साहेब प्रस्तुत पद में कहते हैं कि स्त्री हो या पुरुष, दोनों के भीतर एक समान चेतन सत्ता विद्यमान है, इसलिए दोनों का महत्त्व बराबर है। वे आगे 75वें शब्द में भी इस बात को दोहराते हैं—'को पुरुषा को नारी।' यही नहीं, वे इसके आगे 97वें शब्द में कहते हैं 'जेते औरत मर्द उपाने, सो सब रूप तुम्हारा।' अर्थात संसार में जितने औरत और मर्द पैदा होते हैं वे सब तुम्हारे स्वरूप हैं। इससे अधिक स्त्री-पुरुष की एकता की बात और क्या कही जा सकती है! अतएव किसी के विषय में गहराई से ज्ञान प्राप्त किये बिना हम उसके सम्बन्ध में समीक्षा करने के अधिकारी नहीं हैं। कबीर स्त्री-निंदक थे इसे कहने से पहले हम कबीर की वाणी का सम्यक अध्ययन करें। हां, यह सच है कि कबीर ने अपनी वैरागीवृत्ति के कारण कामिनी नाम से

आलोचना की है। वह स्त्री-निंदा नहीं, किन्तु स्त्री और पुरुष दोनों को कामासक्ति से बचाने के लिए समीक्षात्मक विचार है। कवि स्त्रियों के अंगों की प्रशंसाकर शृंगारिक वर्णन द्वारा लोगों के मन में कामोद्दीपन करते हैं और इसका परिणाम यह होता है कि पुरुष वर्ग नारी को सताता है और उसे पथभ्रष्ट करता है। परन्तु सन्तों द्वारा स्त्री-देह में दोष-दर्शन कराकर पुरुष को उससे उपरत होने की दिशा मिलती है, नारी की रक्षा होती है। यहां सद्गुरु कहते हैं कि नर-नारी के भीतर समान चेतन सत्ता है, अतएव दोनों में मौलिक अन्तर नहीं है। वे दोनों अपनी-अपनी मर्यादा में रहकर अपना-अपना कल्याण करें। जैसे पुरुष अपना सर्वांग कल्याण करने का अधिकारी है, वैसे नारी भी।

सद्गुरु इस शब्द में दूसरी बात यह कहते हैं कि केवल नर-नारी के भीतर ही समानता नहीं है, किन्तु मानव मात्र के भीतर समानता है। 'सहज समाना घट घट बोले' चेतन सहज ही सभी दिलों में समाया है। सभी देहों में रहकर जो बोल रहा है वह कौन है? ब्राह्मण है कि शूद्र, हिन्दू है कि मुसलमान, पारसी है कि ईसाई? 'वाको नाम काह कहि लीजे, न वाके वर्ण न रूपा।' चेतन का कोई रंग-रूप नहीं है। उसे तथाकथित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्ण में परिगणित नहीं कर सकते। 'कहहिं कबीर सुनो हो भोंदू, बोलनहारा तुरुक कि हिन्दू।' कबीर साहेब की इतनी-सी बात हम समझ लेते तो आपसी भेदभाव की खाई पट जाती। व्यक्ति का असली स्वरूप देह नहीं, चेतन है, और सभी देहों में चेतन समान है। वह हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मण, शूद्र नहीं है। उसका अन्य कोई नाम नहीं रखा जा सकता। अतएव मानव मात्र की अन्तश्चेतना की जाति एक है। सबके भीतर केवल चेतना ही परम गुण है जिसका अर्थ होता है ज्ञान। सबका निजस्वरूप ज्ञान मात्र है। देह के सारे नाम-रूप मिथ्या हैं। वैसे देह भी सबकी एक समान जड़तत्त्वों की है। उसमें भी परस्पर भेद नहीं है। वही तत्त्व, वही इन्द्रियां तथा हाड़-मांस का ढांचा सबके शरीर में हैं। यहां पर सद्गुरु ने व्यक्ति को निजस्वरूप पहचानने के लिए प्रेरित किया है। वे कहते हैं कि सबका स्वरूप एक समान चेतन है जो सारे भेदभावों से रहित है।

साहेब इस शब्द में तीसरी बात यह कहते हैं कि सांप्रदायिक एवं मजहबी खींचतान में क्या रखा है? 'तैं मैं क्या करसी नर बौरे, क्या मेरा क्या तेरा।' हर संप्रदाय एवं मजहब वाला यही कहता है कि हमारा राम बड़ा, हमारा खुदा बड़ा, हमारा शिव बड़ा, हमारी शक्ति (देवी) बड़ी इत्यादि। साहेब कहते हैं कि यह बताओ कि ये सब जड़ हैं कि चेतन? यदि ये सब चेतन हैं तो विवाद की बात खत्म हो गयी। चेतन में दो लक्षण नहीं होते। राम चेतन, खुदा चेतन और शक्ति चेतन—फिर इनमें से किस एक को श्रेय देकर उसका निहोरा

किया जाये, उसके सामने रोया-गिड़गिड़ाया जाये। राम, खुदा, शिव, शक्ति आदि के विशेष लक्षण मानव द्वारा कल्पित हैं। वस्तुतः चेतन का सामान्य लक्षण केवल ज्ञान है। जो पारदृष्टि वाला होता है वह विशेष लक्षण, जो मायिक हैं, उनमें नहीं उलझता। वह तो सामान्य लक्षण की ही उपासना करता है। जैसे विवेकवान तथाकथित ब्राह्मण-शूद्र, हिन्दू-मुसलमान आदि कल्पित लक्षणों को श्रेय नहीं देता, किन्तु सबमें विद्यमान सामान्य तात्त्विक लक्षण मनुष्यत्व को श्रेय देता है, वैसे वह राम, खुदा, शिव, शक्ति कल्पित लक्षणों से संबलित अवधारणाओं की उपासना नहीं करता जो मनुष्य को बांटती हैं, किन्तु वह चेतन अस्तित्व की उपासना करता है, जो निजस्वरूप है और सबके भीतर एक समान विद्यमान है। सारे स्मरणों एवं सारे ख्यालातों को छोड़कर अपनी आत्मा में ही तो स्थिति होती है, फिर बाहर किसका निहोरा किया जाये! अतएव तू-तू मैं-मैं का चक्कर छोड़ो और सारी वासनाओं को त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित होओ।

सद्‌गुरु चौथी बात यह कहते हैं कि वेद-पुराण, किताब-कुरान नाना प्रकार से वर्णन करते हैं। तो वर्णन के प्रकार में अन्तर होने से क्या तथ्य में अन्तर हो जायेगा? सारे धर्मशास्त्र एक दूसरे से भिन्न देश और काल में बने हैं तथा बनते हैं। इसलिए उनमें भाषा, शैली, मान्यता, विश्वास, चिंतन आदि में अन्तर होना स्वाभाविक है। अन्तर ही नहीं, विरोधी भाव भी होना सहज है। इतना तथ्य है कि दुनिया के सारे धर्मशास्त्र मनुष्यों के बनाये हैं। मनुष्यों के अलावा किसी देव या ईश्वर की कल्पना भावना मात्र है, फिर उसके द्वारा शास्त्र रचने की बात तो और हास्यास्पद है। यह अपने धर्मशास्त्र को तथाकथित ईश्वर का भेजा हुआ बताकर उसकी बातें समाज पर बलात थोपने का षड्यंत्र मात्र है। धर्मशास्त्रों को ईश्वरप्रदत्त मान लेने से सारी जड़ता, हठ, हिंसा एवं सांप्रदायिक भावनें पैदा होती हैं। ईश्वरवादी अपनी सड़ी-गली बातों को भी प्रभुवचन बताकर उसे सत्य सिद्ध करने की कठहुज्जती करता है। साहेब कहते हैं कि मनुष्य की आत्मा के अलावा कोई ईश्वर नहीं तथा उसके अलावा कोई शास्त्र-रचयिता नहीं। सभी शास्त्र मनुष्य के रचे हुए हैं। उनकी तरह-तरह की बातों से सार लो। इस जड़-चेतनात्मक विश्वसत्ता का तथ्य एक है। नाना प्रकार से वर्णन करने वाले धर्मशास्त्रों के वचनों से विश्वसत्ता को मत तौलो, किन्तु विश्वसत्ता की कसौटी से धर्मशास्त्रों को कसो। हजारों वेद-वचन घड़े को कपड़ा नहीं बना सकते।[1] अमुक धर्मशास्त्र में लिखा है, इसलिए हम उसके अनुसार विश्वसत्ता न मान लें, किन्तु जैसी

---

1. ना ह्यागमाः सहस्रमपि घटं पटयितुम् ईष्टे। (भामती)

विश्वसत्ता है उसके अनुसार लिखे वचन प्रमाण हो सकते हैं। धर्मशास्त्र में लिखा है कि चन्द्रमा तथा सूर्य को राहु ग्रसता है इसलिए हम ऐसा नहीं मान सकते, किन्तु तथ्य है कि चन्द्र, सूर्य तथा पृथ्वी के एक सिधाई में आने से ग्रहण लगता है, अतः ऐसी बात ही मान्य हो सकती है। हम विश्वसत्ता को समझने के लिए धर्मशास्त्रों का केवल सहारा लें, उन पर पूर्णतया अवलंबित न हों। धर्मशास्त्रों में बहुत-सारी अच्छी प्रेरणाप्रद बातें होने के बावजूद विवाद और उलझनें भी बहुत हैं। यहां तक कि ज्ञान के नाम पर अज्ञान भी भरे हैं। अतएव मनुष्य को अपने विवेक का भरोसा करना चाहिए। मनुष्य में विश्वज्ञान प्राप्त करने की क्षमता है। बस, उसे केवल सब तरफ से निष्पक्ष होकर सोचना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि परम्परा, गुरुजन एवं शास्त्रों का आधार लेते हुए अपने स्वतन्त्र विवेक से अपने आप को तथा विश्व के नियमों को पहचाने। अमुक धर्मशास्त्र की दोहाई न दे, किन्तु सभी धर्मशास्त्रों का आदर करते हुए सत्यान्वेषी हो।

सद्गुरु पांचवीं बात कहते हैं—'हिन्दू तुरुक जैनि औ योगी, ये कल काहु न जाना।' अर्थात संप्रदायों की जड़ता में उलझे हुए लोग इस 'कल' को नहीं समझ सके। 'कल' का अर्थ है 'मधुर'। जैसे कहा जाता है कि सुबह पेड़ों पर पक्षी कलरव कर रहे थे अर्थात मधुर ध्वनि कर रहे थे। सद्गुरु कहते हैं कि मैंने इस शब्द में जो कुछ कहा है वह अनेकता में एकता का सूत्र है। अनेकता में एकता देखना ही मधुरता है। विचारकर देखने पर इस संसार में न कुछ अपना है और न पराया। यहां न कोई ब्राह्मण है न कोई शूद्र, न हिन्दू है न मुसलमान, न स्त्री है न पुरुष, न राम, खुदा, शिव, शक्ति एवं वेद, पुराण, किताब, कुरान को लेकर सत्य में बटवारा है। सबके घट में समाया हुआ सहज स्वरूप चेतन है। चेतन ही निजस्वरूप है। वही सभी मनुष्यों का स्वरूप है। जो मैं हूं वही दूसरा है। यह बोध अनेकता में एकता की मधुरता है। यही तथ्य है। परन्तु महजबी भावना वाले इसे नहीं समझते। वे सत्य को काट-काटकर देखना चाहते हैं। सत्य पर हिंदुआनी, मुसलमानी, ईसाइयत एवं अन्य अनेक रंग चढ़ाकर उसे भ्रमपूर्ण बना देते हैं। सभी मनुष्यों की आत्मा एक समान है तथा सभी को एक दूसरे से प्रेम चाहिए। प्रेम ही भक्ति है। प्राणितिरस्कार करके भक्ति का क्या मूल्य है !

साहेब छठीं बात कहते हैं 'छौ दर्शन में जो परवाना, तासु नाम मनमाना।' अर्थात महजबी भावना वाले जो कुछ प्रमाण मान लेते हैं उसी के नाम पर अपनी मान्यता बना लेते हैं। वे मान्यता के घेरे में अपने आप को इतना मजबूती से बांध लेते हैं कि उससे निकलकर सोचना भी नहीं चाहते। जो

केवल रूढ़ियों की लकीर पर चलना चाहेगा, उससे थोड़ा भी हटकर सोचना नहीं चाहेगा उसे सत्य का मोती नहीं मिल सकता। कोई कहता है कि मेरा सत्पुरुष ईश्वर का इकलौता पुत्र है, कोई कहता है कि मेरा सत्पुरुष ईश्वर का संदेशवाहक-दूत है, कोई कहता है कि मेरा सत्पुरुष स्वयं साक्षात भगवान एवं ईश्वर है। कोई कहता है कि मेरी किताब ईश्वर की वाणी है। कोई कहता है कि मेरा मजहब, संप्रदाय एवं समाज ही आस्तिकता का पंथ है, शेष नास्तिक या काफिर हैं। इस प्रकार सभी ने एक बार जो कुछ प्रमाण एवं सत्य मान लिया है उसी की मान्यता के घरौंदों में बंद हैं। उससे निकलकर विशाल सत्य को देखना ही नहीं चाहते।

अतएव सद्गुरु अंतिम सातवीं बात कहते हैं 'कहहिं कबीर हमहिं पै बौरे, ई सब खलक सयाना।' ये संसार के मजहबी लोग ही सयाने हैं, ये ही सच्चे समझदार हैं, बल्कि मैं ही पागल हूं जो इनके बीच में अकेला आ गया। अथवा ये सब सयाने लोग हमारे ऊपर ही पागलपन का दोषारोपण कर रहे हैं कि कबीर तो पागल है। यह न तो ईश्वरीय किताब मानता है, न अवतार मानता है, न पैगंबर मानता है, न जाति-पांति मानता है, न वर्ण-व्यवस्था मानता है, न छुआछूत मानता है, यह हमारे अलग-अलग बनाये भगवान के चेहरों को भी मिटाकर केवल सामान्य एवं सहज चेतन में ही उन्हें पर्यवसित कर देना चाहता है। यह कबीर तो हमारी अलग पहचान को ही समाप्त कर देना चाहता है। यह पागल है। इसे समाज से खदेड़ो।

पुरोहितों ने कबीर को समाज से खदेड़ने का भरपूर प्रयास किया, परन्तु दिन जितने बीत रहे हैं कबीर के विचार समाज पर छाते जा रहे हैं। उनके विचारों के अनुसार सरकारें कानून बनाती जा रही हैं। पुरोहित भी उन्हें समझकर उनके निकट आने का प्रयास कर रहे हैं। जो कबीर को ठीक से समझ लेता है, वह तत्काल उनके निकट आ जाता है और उन्हें अपनी आंखें मान लेता है। अंत में कबीर को पागल कहने वाला अपने आप को स्वयं पागल मानने लगता है।

समाधि एवं मोक्षतत्त्व का वर्णन

शब्द-49

बुझ बुझ पण्डित पद निर्बान, साँझ परे कहवाँ बसे भान॥ 1॥
ऊँच नीच पर्वत ढेला न ईंट, बिनु गायन तहँवा उठे गीत॥ 2॥
ओस न प्यास मंदिर नहिं जहवाँ, सहसों धेनु दुहावैं तहवाँ॥ 3॥
नित अमावस नित संक्रान्ति, नित नित नौग्रह बैठे पाँति॥ 4॥

मैं तोहि पूछौं पण्डित जना, हृदया ग्रहण लागु केहि खना॥ 5॥
कहहिं कबीर इतनो नहिं जान, कौन शब्द गुरु लागा कान॥ 6॥

शब्दार्थ—पद निर्बान=निर्वाण पद, बुझा हुआ, शांत, मुक्त। साँझ= समाधि, विदेहमुक्ति, मृत्यु। भान=सूर्य, चेतनजीव। सहसों धेनु=आनन्द की हजारों वृत्तियां। अमावस=कृष्णपक्ष की अंतिम तिथि, इसमें चंद्रमा और सूर्य एक साथ रहते हैं। संक्रान्ति=साथ गमन, मिलन, एक बिंदु से दूसरे बिंदु तक का मार्ग, सूर्य या किसी ग्रह का एक राशि से दूसरी राशि में प्रवेश करना, गुरु से शिष्यों का विद्या-ग्रहण। नौ ग्रह=सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु तथा केतु, तात्पर्य में पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा चतुष्टय अन्त:करण। केहि खना=किस क्षण, कब।

भावार्थ—हे पंडित! जहां सारी वासनें बुझ जाती हैं उस मोक्षपद को बारम्बार समझने का प्रयत्न करो। ध्यान दो, संध्या होने पर सूर्य कहां निवास करता है? पौराणिक लोग कहते हैं कि सूर्य सुमेरु पर्वत के पीछे छिप जाता है, परन्तु यह बात भ्रमपूर्ण है। सूर्य को छिपने के लिए ऊंच, नीच, पर्वत, ढेला-ईंट कुछ नहीं है। वह तो जहां रहता है अपने आप में सदैव उदित ही रहता है, केवल पृथ्वी का ही आड़ा हो जाता है। इसी प्रकार सूर्यवत ज्ञानस्वरूप चेतन समाधि में एवं मोक्ष में अपने स्वरूप में रहता है। उसके रहने के लिए अन्य जगह की आवश्यकता नहीं है। समाधिलीन जीव को छिपने के लिए कोई ऊंच, नीच, पर्वत, ढेला-ईंट नहीं है, किन्तु वृत्तियों के अभाव होने से वह संज्ञा शून्य-जैसा लगता है। स्वरूपस्थ पुरुष के हृदय में तो बिना गायन किये अनाहतनाद के गीत के स्वर उठते रहते हैं। अर्थात उसका चित्त वासनाहीन हो जाने से, उसे अपनी अंतरात्मा की आवाज सुनाई देती है॥ 1-2॥ वहां पानी की जगह पर ओस तक नहीं है और न उसकी प्यास ही है। अर्थात न वहां भोग है और न भोगतृष्णा। वहां निवास के लिए न मंदिर है न उसकी आवश्यकता, वहां स्वरूपस्थिति ही मन्दिर है। फिर भी वहां दूध पीने के लिए मानो हजारों गायें दुही जाती हैं। अर्थात वहां आनन्द की हजारों वृत्तियों की वर्षा होती है॥ 3॥ संसार में समय-समय पर अमावस्या तथा संक्रांति के दिन आते हैं, परन्तु समाधिलीन पुरुष के लिए मानो रोज ज्ञान और मन रूपी सूर्य और चन्द्रमा के मिलन की अमावस्या है तथा रोज जड़ प्रकृति बिन्दु से स्वरूपस्थिति बिन्दु में जाने की संक्रांति है। आकाश के नौ ग्रहों का एक पंक्ति में बैठना असंभव है, परन्तु यहां तो रोज पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा चतुष्टय अन्त:करण रूप नौ ग्रह संयम की एक पंक्ति में बैठ जाते हैं॥ 4॥ हे पंडित! मैं तुमसे पूछता हूं कि हृदय में मोह-माया का

आवरण किस समय पड़ा या पड़ता है?॥ 5॥ कबीर साहेब कहते हैं कि तुम इतना भी नहीं जानते हो, तो तुम्हारे गुरु ने तुम्हें कैसा ज्ञान दिया है?॥ 6॥

व्याख्या—इस शब्द में भी कबीर साहेब निर्वाणपद एवं मोक्षपद को समझने के लिए पंडितों को निमंत्रित करते हैं। यहां कबीर साहेब मोक्षपद को निर्वाणपद संज्ञा से याद करते हैं। निर्वाण का सीधा अर्थ है बुझ जाना। बौद्धों ने माना है कि जैसे दीपक में ज्योति जलती है, वह ज्योति कोई परिनिष्ठित पदार्थ नहीं है, किन्तु बत्ती के आधार में नीचे पात्र में से तेल ऊपर चढ़ता है और ज्योति में मिलकर ज्योति बन जाता है तथा ज्योति जलकर ऊपर उड़ जाती है, ऐसा क्रम बराबर चलता है, परन्तु हमें लगता है कि वही ज्योति रात भर बराबर जलती रहती है, परन्तु ज्योति का आकार तो नीचे से आया हुआ तेल का प्रवाह है, जो बराबर ज्योति बनकर और उड़कर समाप्त होता रहता है, वैसे जो प्राणियों के भीतर एक चेतना है वह क्षणिक विज्ञान का एक प्रवाह है। वह कोई स्थायी पदार्थ नहीं है। वह ज्ञान द्वारा बुझ जाने पर मोक्ष में कुछ नहीं रह जाता।

कबीर साहेब का मत इससे भिन्न है। वे मानते हैं कि शरीरों में जो चेतना है उसका आधार प्रति शरीर में अविनाशी जीव एवं आत्मा है जो परिनिष्ठित एवं अजर-अमर तथा अखंड है। क्षणिक विज्ञान में संस्कारों का कोई स्थायी धारक न होने से बीते हुए समय की घटनाओं की याद बिलकुल नहीं होगी। परन्तु सौ वर्ष की उम्र वाले आदमी को नब्बे वर्ष पुरानी बातें भी याद आती हैं। क्षणिक विज्ञान के सिद्धान्त में कर्म एक विज्ञान करेगा तथा फल दूसरा विज्ञान भोगेगा।[1]

कबीर साहेब यहां निर्वाण पद कहते हुए भी जीव के लिए दीपक-ज्योति का रूपक न देकर भान अर्थात सूर्य का रूपक देते हैं। दीपक की लौ क्षणिक है, परन्तु सूर्य स्थायी है। बौद्धों का विज्ञान क्षणिक है, परन्तु कबीर की आत्मा अमर है। वह सूर्य-तुल्य है। सूर्य का उदाहरण केवल समझाने के लिए है। जीव के समान तो केवल जीव ही है। यहां निर्वाण का अर्थ केवल वासनाओं का बुझ जाना है। सद्गुरु पंडितों से पूछते हैं कि जब वासनों बुझ जाती हैं, साधक समाधि में लीन हो जाता है, तब जीव कहां निवास करता है? इसके लिए वे सूर्य का रूपक देते हैं। वे कहते हैं कि जब संध्या होती है तब सूर्य कहां जाकर बसता है? पौराणिक पंडित कहते हैं कि एक सुमेरु पर्वत है। यह

1. इस विषय को समझने के लिए पढ़िए कबीर दर्शन, अध्याय 3 का 'जड़ से सर्वथा भिन्न चेतन अस्तित्व'।

सोने का बना है। यह पर्वत इलावृत्त[1] वर्ष में अवस्थित है। इसी की आड़ में सूर्य छिप जाता है। कबीर साहेब कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है "ऊंच नीच पर्वत ढेला न ईंट" अर्थात सूर्य के छिपने के लिए कोई ऊंच-नीच, पर्वत, ढेला, ईंट की आड़ नहीं चाहिए। सूर्य किसी पर्वत की आड़ में छिपता हो तब रात होती हो ऐसी बात नहीं है। सूर्य तो हर समय उदित रहता है। वह जहां रहता है अखंड प्रकाशरूप रहता है। केवल पृथ्वी का आड़ा हो जाता है तब इधर अंधकार हो जाता है। इसी को हम रात कहते हैं। संध्या होना, रात होना न सूर्य का पर्वत में छिपना है और न उसका मिट जाना है, किन्तु केवल पृथ्वी की आड़ हो जाना है। इसी प्रकार जीव जब समाधि में जाता है या इसका मोक्ष हो जाता है तब यह किसी ऊंच या नीच, पर्वत, ढेला एवं ईंट की आड़ में छिप नहीं जाता है और न नष्ट हो जाता है, किन्तु वासनाओं के बुझ जाने के कारण वह संसार को नहीं जानता। परन्तु संसार को न जानते हुए भी इसका अस्तित्व मिट नहीं जाता। गाढ़ी नींद में जीव कुछ नहीं जानता, परंतु इससे वह मिट नहीं जाता। जागकर पुनः अपने पूर्व संस्कारों को लेकर काम करता है।

"साँझ परे कहवाँ बसे भान" में 'साँझ' शब्द में समाधि और मोक्ष दोनों का श्लेष है। अर्थात सांझ शब्द में समाधि और मोक्ष दोनों अर्थ चिपके हैं। दो प्रश्न हैं, समाधि में जीव कहां बसता है तथा विदेह-मोक्ष में जीव कहां बसता है? जीव को भान कहकर मानो उत्तर भी दे देते हैं कि सूर्य का कभी अभाव नहीं होता। वह सदैव अपने स्वरूप में रहता है, भले कभी पृथ्वी का आड़ा होने से हमें न दिखे। इसी प्रकार समाधि में सारी स्मृतियों को छोड़ देने से जीव शांत हो जाता है, परन्तु रहता है। उसकी वासनों शून्य हो जाती हैं न कि जीव शून्य हो जाता है। अतएव समाधि में सारी स्मृतियों के बुझ जाने पर भी चेतन का अपना अखंड अस्तित्व रहता है। जब वह विदेहमुक्त हो जाता है

---

2. भागवत (5/16/7) में लिखा है कि इलावृत्त वर्ष के बीच में पर्वतों का राजा 'सुमेरु' स्थित है। वह मानो भूमण्डलरूप कमल की कर्णिका है। वह नीचे से ऊपर तक सोने का है तथा एक लाख योजन ऊंचा है। उसके शिखर का विस्तार बत्तीस हजार योजन तथा तलैटी में सोलह हजार योजन हैं। वह सोलह हजार योजन ही जमीन में घुसा है तथा भूमि के बाहर उसकी ऊंचाई चौरासी हजार योजन हैं।

उक्त सारी बातें अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। दो, चार तथा आठ कोस का योजन की मान्यता हैं। अधिकतम चार कोस को एक योजन मानते हैं। सुमेरु पर्वत एक लाख योजन ऊंचा था। अर्थात चार लाख कोस या आठ लाख मील जिसे आप करीब बारह लाख किलोमीटर से अधिक समझें। आज वैज्ञानिक पूरी पृथ्वी की परिधि लगभग पचीस हजार मील बताते हैं। परन्तु पुराणों की कृपा से उस पर आठ लाख मील ऊंचा सुमेरु पर्वत ही है।

तब भी अजर-अमर एवं अखंड होने से अपने आप में रहेगा ही। वह प्रकृति-सम्बन्ध से छूट जाने से सदैव के लिए क्लेश-रहित हो जाता है। बस, इसके आगे उसकी व्याख्या नहीं हो सकती।

जो व्यावहारिक है उस समाधि को लेकर कबीर साहेब आगे बढ़ते हैं "बिनु गायन तहवाँ उठे गीत" जो समाधिलीन है उसके भीतर बिना गायन किये गीत के स्वर उठते हैं। बड़ा अद्‌भुत है। जो संसार के गीत छोड़कर समाधि में चला जाता है उसके भीतर एक स्वसंवेद्य गीत उठने लगता है। वह गीत है अंतरात्मा की आवाज। जैसे स्वच्छ और निस्तरंग जल में मनुष्य अपने चेहरे के प्रतिबिम्ब को साफ देख लेता है और जैसे स्वच्छ दर्पण में भी, वैसे स्वच्छ और निर्द्वन्द्व मन में मनुष्य अपने आप को ठीक से समझता है। जैसे किसी की कही हुई बातें हम तब सुन पाते हैं जब वहां हल्ला-गुल्ला न हो, वातावरण शांत हो, वैसे हम अपनी अंतरात्मा की आवाज तब समझ पाते हैं जब मन की हलचल समाप्त हो जाये। जो साधक मन के संकल्पों को छोड़कर समाधि में चला जाता है वह अपनी अंतरात्मा की आवाज को साफ सुनने लगता है। मनुष्य के भीतर से ज्ञान का स्वर उठता है, दया, सत्य, क्षमा, प्रेम आदि के स्वर उठते हैं, परन्तु वह उनकी अवहेलना कर देता है। निरन्तर अवहेलना करने वाले के स्वर एकदम दब जाते हैं। कसाई की अंतरात्मा की दया के स्वर दब जाते हैं। निरंतर जीववध करते रहने से उसे अपनी अंतरात्मा के स्वर नहीं सुनाई देते। इसी प्रकार निरंतर झूठ बोलने वाले का झूठ के विषय में हो जाता है। परन्तु जिसका मन जितना स्वच्छ होता है वह उतना ही अपने भीतर से अच्छी राय जान सकता है। जो समय-समय पर समाधि-लीन हो जाता है, उसका तो कहना ही क्या। उसका मन अत्यन्त स्वच्छ हो जाता है। अतएव वह उत्तम-से-उत्तम राय अपने भीतर से पाने लगता है। समाधिनिष्ठ का मित्र एवं गुरु मानो उसकी अंतरात्मा हो जाती है। इस अंतस्संगीत के सामने बाहर के संगीत तुच्छ हैं। समाधिनिष्ठ साधक सदैव अंतस्संगीत का रसास्वादन करता है "बिनु गायन तहवाँ उठे गीत।"

"ओस न प्यास मंदिर नहिं जहवाँ" उस समाधि में, उस स्वरूपस्थिति की दशा में पानी की जगह पर ओस का कण भी नहीं है और न उसके लिए प्यास है। इसका अर्थ है कि समाधिनिष्ठ पुरुष के मन में ओसकणवत तुच्छ भोग की प्यास नहीं रह जाती। वहां कहां भोग और कहां भोगों की तृष्णा ! 'कहा विषय को भोग, परम भोग इक और है। जाके होत संयोग, नीरस लागत इन्द्रपद।"[1] समाधि सुख उपभोग करने वाले की दृष्टि में विषय-भोग घृणित

---

1. भर्तृहरि वैराग्य शतक का हिन्दी अनुवाद, प्रतापसिंह।

हो जाते हैं और सदैव के लिए उनका त्याग हो जाता है।

सद्गुरु कहते हैं "मंदिर नहिं जहवाँ" वहां कोई लोहा, पत्थर, ईंट, सीमेंट का मंदिर एवं भवन नहीं बना है, परन्तु समाधि मानो स्वयं अक्षय मंदिर है, क्योंकि उसका फल अनंत स्वरूपस्थिति है। अपने कार्य-क्षेत्र में दिन भर थके हुए मनुष्य के विश्राम के लिए एक मंदिर एवं भवन चाहिए। इसी प्रकार संसार से थके हुए साधक के लिए समाधि-मंदिर चाहिए जहां पहुंचकर जीव को परम विश्राम मिलता है। हर मनुष्य को चाहिए कि वह अपने भीतर बिना मंदिर का मंदिर बनाये। "बे दरोदीवार का एक घर बनाना चाहिए।" यह समाधि ही वह मंदिर है जो गिरने एवं छूटने वाला नहीं है। जो साधक समाधिनिष्ठ होता है, वह व्यवहारकाल में अनासक्त रहने से मानो सब समय समाधि में ही रहता है। इस प्रकार वह जीवन भर समाधि में विराजमान रहते हुए विदेह मोक्ष रूपी समाधि में पहुंच जाता है। अतएव जो जीवन में अविचल भाव से समाधि-मंदिर पा गया वह मानो अचल मन्दिर में प्रवेश पा गया। उसके सारे भय समाप्त हो जाते हैं।

"सहसों धेनु दुहावैं तहवाँ" वहां मानो हजारों गायें दुही जाती हैं। जिसके घर में हजारों गायें दुही जाती हों उसकी सम्पत्ति एवं सुख को क्या पूछना! सद्गुरु कहते हैं कि जो साधक निर्वाणपद में चला जाता है, समाधि में लीन हो जाता है, मत समझना कि वह गरीब हो जाता है। वह बहुत बड़ा संपदाशाली हो जाता है। सारी संपदा सुख के लिए है। परन्तु ज्यादातर देखा जाता है कि संसार की संपदा वाले दुखी रहते हैं। उनका मन बेचैन रहता है। क्योंकि उनका मन तमाम इच्छा वाला होता है। परन्तु जो साधक समाधि में पहुंच जाता है, उसकी सारी इच्छों बुझ जाती हैं। जिसकी सारी इच्छों बुझ गयीं वह मानो महा-संपदाशाली हो गया। उसके जीवन की शुद्ध हुई हजारों मनोवृत्तियां रूपी गायें मानो उसके लिए दूध वर्षाती हैं। समाधिनिष्ठ व्यक्ति हरदम निर्विकल्प समाधि में तो नहीं बैठा रहता हैं। निर्विकल्प समाधि में तो वह समय-समय पर होता है, शेष समय व्यवहार में होता है। परन्तु उसका मन तो मक्खन बन जाता है। उसकी हजारों मनोवृत्तियां दुग्धवर्षिणी, अमृतवर्षिणी एवं आनन्दवर्षिणी ही होती हैं। श्री रामरहस साहेब ने इसी अवस्था के लिए कहा है "आनन्द लहरि के समुद्र अगाध।"[1]

"नित अमावस नित संक्रान्ति" संसार में न रोज अमावस्या रहती है और न संक्रांति। परन्तु समाधिलीन एवं जीवन्मुक्त पुरुष के लिए मानो रोज

1. पंचग्रंथी, गुरुबोध, उत्तर 8।

अमावस्या एवं रोज संक्रांति के पर्व हैं। अमावस्या कृष्णपक्ष की अंतिम तिथि है। इसमें चन्द्रमा तथा सूर्य एक साथ रहते हैं। 'अमा' (एक साथ या घर) एवं 'वस' (वास करना) से अमावस एवं अमावस्या शब्द बना है।[1] मन का देवता चन्द्रमा तथा आंख का देवता सूर्य माना गया है। अतएव चन्द्रमा मन का प्रतीक तथा सूर्य ज्ञान का प्रतीक है। आंख से देखकर ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। ज्ञान के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण से ही अन्य प्रमाण माने जाते हैं। अतएव सूर्य ज्ञान का प्रतीक है, चन्द्रमा मन का प्रतीक है ही। समाधिलीन पुरुष का मन सदैव ज्ञान सहित होने से उसके लिए मानो हर समय अमावस्या का पर्व है। जैसे आकाश में चांद और सूरज का एक साथ होना अमावस्या है, वैसे हृदय में ज्ञान और मन का एक साथ होना आध्यात्मिक अमावस्या है। अमावस्या उत्तम पर्व माना जाता है। अथर्ववेद में इसको देवता कहा गया है।[2] सद्गुरु कहते हैं कि समाधि में स्थित पुरुष के लिए तो रोज अमावस्या है, रोज पर्व है। वह स्वयं परम देव है।

"नित संक्रांति" साहेब कहते हैं कि उसके लिए रोज संक्रांति की पुण्य तिथि है जिसका मन पवित्र है, जो समाधिनिष्ठ है। सूर्य का एक राशि से दूसरी राशि में जाने को संक्रांति कहते हैं। कुल बारह राशियां हैं—मेष, वृषभ, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुंभ तथा मीन। जब सूर्य धनु राशि को छोड़कर मकर राशि में प्रवेश करता है तब इसे मकर संक्रांति कहते हैं। यह बहुत प्रसिद्ध तथा पुनीत माना जाता है और उत्सव के रूप में मनाया जाता है। इसी प्रकार एक राशि से दूसरी राशि में सूर्य का क्रमशः जाना संक्रांति है।[3] ब्रह्मांड में संक्रांति रोज नहीं रहती। परन्तु समाधिनिष्ठ पुरुष का रोज संक्रांति-पर्व है। वह रोज जड़ प्रकृति-क्षेत्र को छोड़कर चेतन-क्षेत्र में गमन करता है। ज्ञानी जब तक देह में रहता है तब तक संसार उसके सामने बना ही रहता है। अतएव वह उसे छोड़-छोड़कर अंतर्मुखी होता रहता है। दृश्यों को छोड़-छोड़कर द्रष्टा चेतनस्वरूप में अवस्थित होना ही आध्यात्मिक संक्रांति है। संक्रांति एक पर्व है जो एक वर्ष में बारह बार होता है, परन्तु ज्ञानी का संक्रांति-पर्व रोज होता है। उसके लिए रोज उल्लास एवं पर्व के दिन हैं।

"नित नित नौ ग्रह बैठे पाँति" हमारे आकाश में नौ ग्रह हैं। ये एक दूसरे से बहुत दूर-दूर हैं। ये नौ ग्रह एक पंक्ति में आकर बैठ नहीं सकते। परन्तु

---

1. धर्मशास्त्र का इतिहास, खंड 4, पृष्ठ 25।
2. अथर्ववेद 7/79।
3. रवैः संक्रमणं राशौ संक्रान्तिरिति कथ्यते।

समाधिनिष्ठ पुरुष के लिए तो नौ ग्रह आकर एक पंक्ति में रोज-रोज बैठ जाते हैं। ये हैं—आंख, नाक, कान, जीभ, चमड़ी, मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार। ये ग्रह इसलिए हैं कि ये जीव को पकड़ लेते हैं, बांध लेते हैं। परंतु समाधिनिष्ठ पुरुष के लिए ये आकर एक संयम की पंक्ति में बैठ जाते हैं। अर्थात उसके इन्द्रिय-मन स्ववश होते हैं।

मानो काशी के गंगा-घाट पर एक यात्री बैठा था । एक पंडित जी आकर उसे कहने लगे कि तुम्हें ग्रह ने पकड़ रखा है। वह तुम्हारा अशुभ करेगा। तुम पूजा करवाकर ग्रह-शांति करवा लो। इतने में पीछे से कबीर साहेब आ गये। उन्होंने उसे वर्गलाते देख पंडित से पूछ लिया—"मैं तोहि पूछौं पंडित जना, हृदया ग्रहण लागु केहि खना।" हे पंडित ! मैं तुमसे पूछता हूं कि तुम्हारे हृदय में यह मानसिक ग्रहण कब से लगा जो आकाश में रहे हुए ग्रह को मनुष्य पर कुपित बताते हो? यदि इस पर ग्रह कुपित है, तो हम लोगों पर क्यों नहीं कुपित है? सूर्य का प्रकाश और गरमी सभी पर बराबर रहते हैं। पूर्णमासी के चन्द्रमा के प्रभाव से पूरे समुद्र में ज्वार आता है। यदि इसी प्रकार ग्रह का प्रकोप मनुष्य पर हो तो सभी मनुष्यों पर होना चाहिए। सब पर प्रकोप न होकर किसी-किसी पर ही प्रकोप क्यों? मान लो, इस व्यक्ति पर ग्रह का प्रकोप है, तो पूजा करने से वह शांत कैसे हो जायेगा? क्या पूजा करने से सूरज की गरमी शांत हो जायेगी? बताओ पंडित ! यह अज्ञान तुमको कब से घेर लिया जो ग्रह का प्रपंच खड़ाकर मनुष्यों का वंचन कर रहे हो?

पंडित बेचारा कबीर साहेब के प्रश्नों के उत्तर नहीं दे पाया। तब कबीर साहेब उससे पुनः पूछ बैठे "कहहिं कबीर इतनी नहिं जान, कौन शब्द गुरु लागा कान।" पंडित जी, आप इतना भी नहीं जानते? तुम्हारे गुरु तुम्हारे कान में कौन-से ज्ञान के शब्द या मंत्र सुनाये थे? "इतनो नहिं जान" वाक्यांश में पंडित की छिछली और वंचकबुद्धि के लिए मार्मिक व्यंजना है।

उक्त दोनों पंक्तियों का आध्यात्मिक अर्थ इस ढंग से समझना चाहिए। "मैं तोहि पूछौं पंडित जना, हृदया ग्रहण लागु केहि खना।" साहेब कहते हैं कि हे पंडित, हृदय में अज्ञान का ग्रहण जीव को कब लगा या लगता है? यहां दो प्रकार से प्रश्न हो सकते हैं। पहला यह कि जीव को कब अज्ञान ने घेर लिया? तथा दूसरा यह कि जीव को कब अज्ञान घेरता है? पहले वाले का उत्तर पंडित न दे सके तो वह दोषी नहीं है, क्योंकि उसका उत्तर कोई नहीं दे सकता। उसका उत्तर यदि है तो यही कि जीव के ऊपर अज्ञान का आवरण अनादि से है। जीव कब अज्ञान में पड़ा यह नहीं कह सकते। यही कह सकते हैं कि जीव अनादिकाल से अज्ञान में पड़ा है।

दूसरे प्रश्न का उत्तर व्यावहारिक है कि जीव को कब अज्ञान घेरता है, हे पंडित, इसका विचार करो। जो व्यक्ति अपने मन को निरन्तर देखता है वही समझ सकता है कि मेरे मन में कब अज्ञान आया। जब भी मन में देहाभिमान, काम, मोह, लोभ, क्रोध, राग, द्वेष, ईर्ष्या, चिन्ता, शोक आदि मनोविकार आयें तब समझ लो कि हृदय में ग्रहण लग गया। आदमी विद्वान हो जाता है, पण्डित हो जाता है, संसार के बहुत ज्ञान उसे हो जाते हैं, परन्तु वह अपने हृदय के ग्रहण को नहीं समझ पाता। जो क्षण-क्षण लगने वाले अपने हृदय के ग्रहण को समझ ले वह साधक है, और जब हृदय को ग्रहण लगना बन्द हो जाये तब वह सिद्ध है।

साहेब कहते हैं कि यदि अपने हृदय के ग्रहण को न समझ सके, अपने मन की मलिनता को न समझ सके और उसे न निकाल सके तो उसका सारा पांडित्य निरर्थक है। इस प्रकार इस पूरे शब्द में समाधि एवं मोक्ष के स्वरूप का वर्णन किया गया है।

संसार-वृक्ष से छुटकारा लो

शब्द-50

बुझ बुझ पण्डित बिरवा न होय, आधे बसे पुरुष आधे बसे जोय॥ 1॥
बिरवा एक सकल संसारा, स्वर्ग शीश जर गयी पतारा॥ 2॥
बारह पखुरिया चौबिस पात, घने बरोह लागे चहुँ पास॥ 3॥
फूले न फले वाकी है बानी, रैन दिवस बेकार चुवै पानी॥ 4॥
कहहिं कबीर कछु अछलो न तहिया, हरि बिरवा प्रतिपालेनि जहिया॥ 5॥

शब्दार्थ—बिरवा=वृक्ष, संसार, जन्म-मरण। पुरुष=चेतन। जोय=पत्नी, प्रकृति। स्वर्ग=आकाश। पतारा=पाताल। पखुरिया=पंखड़ी, पत्ते या फूल के गुच्छे। बरोह=जटा, बरगद की जटा। बानी=स्वभाव। अछलो=था।

भावार्थ—हे पंडित! इस तत्त्व को समझने की बारम्बार चेष्टा करो जिससे जन्म-मरण का वृक्ष पुनः न पैदा हो। इस वृक्ष के आधे में चेतन बसता है तथा आधे में जड़ प्रकृति। अथवा स्त्री-पुरुष की पारस्परिक आसक्ति से यह जन्म-मरण का वृक्ष बना रहता है॥ 1॥ यह सारा संसार मानो एक वृक्ष है। इसका शिखर भाग आकाश में तथा जड़ पाताल में चली गयी है॥ 2॥ इसमें बारह महीने मानो बारह पंखड़ियां हैं और चौबीस पखवारे

पत्ते हैं। इसके चारों तरफ आसक्ति की मानो सघन जटों लगी हैं जिनने मजबूती से जीव को जकड़ रखा है॥ 3॥ इसका स्वभाव ऐसा है कि यह फूलता-फलता नहीं। अर्थात जो इसमें आसक्त रहता है वह दुखी रहता है। उसको जीवन में सच्चा सुख नहीं मिलता। इसमें रात-दिन कामादि मलिनता का ही पानी चूता रहता है॥ 4॥ कबीर साहेब जनभाषा में कहते हैं कि जब हरि ने इस वृक्ष का प्रतिपालन किया तब कोई प्रपंच नहीं था॥ 5॥

व्याख्या—संसार रूपी वृक्ष एक बाहर है तथा दूसरा मनुष्य के मन के भीतर। बाहर का वृक्ष सदैव बना रहेगा। उसके बने रहने से हमारी कोई हानि नहीं है, किन्तु हमारे मन के भीतर का संसार-वृक्ष उखड़ जाना चाहिए। हमारे मन के भीतर का वृक्ष जड़ासक्ति है। इसको उखाड़ फेंकने से ही हमें परमशांति की उपलब्धि होगी। सद्गुरु कबीर पंडितों, सूक्ष्मदर्शियों एवं विवेकियों को यही राय देते हैं कि वे इसे समझने की चेष्टा करें "बुझ-बुझ पण्डित बिरवा न होय।" यही इस शब्द का उद्देश्य है कि हमें ऐसी समझ होनी चाहिए कि संसार-वृक्ष उखाड़ फेंके, मन की जड़ासक्ति नष्ट कर दें।

"आधे बसे पुरुष आधे बसे जोय" बाहर का संसार प्रकृति तथा पुरुषमय है। पुरुष कहते हैं देहधारी चेतन को। 'पुरि शेते पुरुषः' अर्थात जो शरीर रूपी पुर (गांव) में सोये, निवास करे, वह पुरुष है। यह चेतन जीव पुरुष है। दूसरी है जोय, जोय कहते हैं पत्नी को। इसका लक्षणा अर्थ है प्रकृति। प्रकृति का मतलब है जड़ कारण-कार्य का पसारा। संसार में दो ही लक्षण की सत्तों हैं जड़ और चेतन। जड़ और चेतन को छोड़कर तीसरा लक्षण नहीं होता। संसार में जहां कहीं भी ज्ञानयुत क्रिया है वहां चेतन का निवास है तथा जहां स्वाभाविक क्रिया है वहां जड़ मात्र है। हमारा जीवन भी जड़-चेतन का संयोग है। जड़ तत्त्वों से शरीर बना है तथा चेतन उसमें निवास करता है। जैसे संसार के सम्पादन में जड़ और चेतन का योग है, वैसे भवबंधनों के सम्पादन में स्त्री-पुरुष का योग है। स्त्री और पुरुष परस्पर दैहिक आसक्ति में पड़कर एक दूसरे को मोहग्रस्त करते हैं तथा स्वयं मोहग्रस्त होते हैं। ये जो बाहर के शरीर-संसार हैं इनकी आसक्ति ही भवबंधन है और यही जीव के लिए मानो संसार-वृक्ष है। इसी को उखाड़ फेंकने से जीव को जीवन्मुक्ति अवस्था की प्राप्ति होती है। जो जीवन्मुक्त होता है, वही विदेहमुक्त होता है।

"बिरवा एक सकल संसारा, स्वर्ग शीश जर गई पतारा।" यह सारा संसार मानो एक वृक्ष है। इसकी चोटी स्वर्ग में है तो जड़ पाताल में। स्वर्ग का अर्थ होता है आकाश। आकाश तो सर्वत्र है, अतएव स्वर्ग का अर्थ है ऊपर, बहुत ऊंचा। पाताल का अर्थ है बहुत नीचा। यह ऊंचा-नीचा भी सापेक्ष दृष्टि से ही

कहा जा सकता है। यह संसार इतना विशाल है जिसे हम अपने मन में आंक नहीं सकते। न इसके देश की सीमा है और न काल की। इसलिए इसके विषय में जितना कुछ कहा जायेगा वह सापेक्ष होगा, अधूरा होगा, केवल एक पहलू का कथन होगा। प्रकाश की गति एक सेकेंड में तीन लाख किलोमीटर है। ऐसा प्रकाश यदि खरबों वर्ष चलता रहे तो क्या कहीं दीवार मिल जायेगी ! यदि दीवार मिल जाये तो वह भी देश ही है। दीवार के आगे फिर आकाश होगा। कहां तक होगा? प्रश्न ही गलत है। आकाश होगा ही होगा। अतएव हम संसार के विषय में सही अनुमान नहीं कर सकते। बस, इतना ही कह सकते हैं कि "आधे बसे पुरुष, आधे बसे जोय" यह प्रकृति–पुरुषमय है।

"बारह पखुरिया चौबीस पात, घने बरोह लागे चहुँ पास।" सद्‌गुरु द्वारा संसार का वर्णन कितना आलंकारिक एवं कितना मोहक है। इसमें बारह पंखड़ियां हैं, चौबीस पत्ते हैं तथा इसके चारों ओर सघन बरोह लगे हैं, जटों लगी हैं। संसार देश तथा कालमय है। सद्‌गुरु ने दूसरी पंक्ति में संसार के देश का रूपक दिया था 'स्वर्ग शीश जर गई पतारा।" इस तीसरी पंक्ति में सद्‌गुरु ने काल का रूपक दिया है। बारह पखुरिया हैं तथा चौबीस पत्ते हैं। पंखड़ी का टुटा हुआ शब्द पखुरिया है। पंखड़ी का अर्थ है 'फूल का वह पत्ते के समान अवयव जिसके संकोच से वह मुकुलित (अधखिला) रहता है और फैलाव से खिलता है, फूल की पत्ती, पुष्पदल।'[1] ये काल के बारह महीने ही मानो संसार की पंखड़ियां हैं तथा चौबीस पखवाड़े पत्ते हैं। इसके चारों ओर बरोह लगे हैं। आपने बरगद के पेड़ में देखा होगा कि उसकी डालियों से जटों निकलकर जमीन तक पहुंच जाती हैं और धीरे–धीरे जमीन में प्रवेश कर जाती हैं। वे स्वयं एक पेड़ की तरह बन जाती हैं। धीरे–धीरे मूल वृक्ष का तना एवं जड़ चाहे गल जायें परन्तु ये बरोह, ये जटों उस वृक्ष को मजबूत बनाये रखने के लिए काफी होती हैं। बरोह के अर्थ में चाहे काल के सूक्ष्म भाग घंटा, मिनट, सेकंड आदि को ले लें, चाहे भौतिक द्रव्यों की गतिशीलता को ले लें; ये ही संसार–वृक्ष को मजबूत बनाये हुए हैं। वस्तुतः हमारे मनोमय वृक्ष की जटों आसक्ति है जिसने जीव को संसार में जकड़ रखा है।

"फूले न फले वाकी है बानी" बानी का अर्थ है स्वभाव। इस संसार का स्वभाव है कि यह फूलता–फलता नहीं। अर्थात इसका स्वरूप स्थायी प्रसन्नतादायक नहीं होता। जो व्यक्ति संसार में जितना ही आसक्त होता है वह

---

1. बृहत् हिन्दी कोश।

उतना ही पीड़ित एवं शोकित होता है। जीव को प्रसन्नता, स्थायी सुख एवं परमानन्द तो तब मिलता है, जब वह संसार-वृक्ष के मोह को त्याग देता है। जो संसार-वृक्ष के फलों (विषयों) को चखता है, वह मोह-शोक में डूबा रहता है।

इस सम्बन्ध में ऋग्वेद के दीर्घतमा ऋषि ने बड़ा अच्छा कहा है— "सुन्दर पंख वाले दो पक्षी हैं जो एक समान पेड़ पर रहते हैं। उनमें से एक उस पेड़ के फल को खाता है, और दूसरा केवल देखता है, खाता नहीं।"[1] इसका अर्थ है, रागी और त्यागी दो प्रकार के जीव इस शरीर वृक्ष पर रहते हैं। वे दोनों मूलतः समान हैं और उनके शरीर भी समान हैं। परन्तु दोनों की समझ में बड़ा अन्तर है। एक विषयों का उपभोग कर मलिन होता है और दूसरा केवल द्रष्टा रहकर उनसे अनासक्त रहता है। इस मंत्र के अर्थ के पूरक के रूप में श्वेताश्वतर उपनिषद् के ऋषि ने एक मंत्र बड़ा अच्छा कहा है— "समान ही पेड़ पर रहते हुए भी एक पुरुष (चेतन) विषयों में डूबा है, अनीश (असमर्थ) है और विमोहित होकर शोक करता है। परन्तु जब वह उस पुरुष (चेतन) को देखता है कि वह प्रसन्न है, ईश (समर्थ) है तथा महिमापूर्ण है, तब वैसे वह भी हो जाता है और वह भी शोक से मुक्त हो जाता है।"[2] संस्कारी जीवात्मा जब त्यागी को देखता है तब उसके मन में भी त्याग की भावना जगती है।

सार यह है कि संसार-वृक्ष शांति एवं आनन्दरूपी फल-फूल से रहित है। उसका स्वभाव ही क्षणभंगुर है। उससे परम संतोष रूपी फूल-फल की आशा बेकार है। वह तो "रैन दिवस बेकार चुवै पानी" रात-दिन विकारों का पानी चूता है। विकार भौतिक भी है और मानसिक भी। विकारों का अर्थ है परिवर्तन तथा मल। भौतिक क्षेत्र में निरन्तर परिवर्तन होता है तथा मन में मलिनता आती है। संसार का यही फल है। संसार का हर भौतिक पदार्थ अपने वर्तमान रूप को छोड़कर दूसरे रूप में क्षण-क्षण जाता है। चारों ओर परिवर्तनशीलता का विकार बहता है। इधर संसारासक्तिवश मन के काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या-द्वेषादि विकार प्रवाहित रहते हैं। इस प्रकार यह संसार-वृक्ष निरन्तर विकार का पानी बरसाता है और उसमें जीव भीगकर मलिन होते हैं।

---

1. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ (ऋग्वेद 1/164/20)

2. समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥ (श्वेताश्वतर 4/7)

"कहहिं कबीर कछु अछलो न तहिया, हरि बिरवा प्रतिपालेनि जहिया।" जब हरि ने इस वृक्ष का प्रतिपालन किया तब कुछ नहीं था—यह एक जनभाषा का प्रयोग है। इन-जैसी बातों को ही पारखी संत जीवमुख या मायामुख कहते हैं। जो लोगों के सहज मनोरंजन के लिए सद्गुरु ने यत्र-तत्र कह दिया है। इसमें सिद्धान्त की गहराई देखने की आवश्यकता नहीं है।

जड़-चेतन नित्य हैं। उनके गुण-धर्म उनमें अंतर्निहित नित्य हैं। उनसे जगत का प्रवाह नित्य है। यह सत्तात्मक जगत असत्ता से नहीं आ गया है। जगत को समझने के लिए किसी हरि या देव की जरूरत नहीं है, किन्तु जगत के शाश्वत नियमों को समझने की आवश्यकता है। सद्गुरु ने यह पांचवीं पंक्ति बच्चों जैसे भावुकों के लिए कही है। यही उनकी उदारता तथा मस्तानगी है। नाना प्रकार के लोग उनके पास आते थे, इसलिए वे कभी-कभी उन लोगों के मनोरंजन के लिए उन-जैसी बातें कर देते थे।

इस शब्द का मुख्य विषय यह नहीं है कि संसार-वृक्ष कैसे बना, किसने बनाया, किन्तु इसका मुख्य विषय है कि यह नीरस है, सुखरहित है, मलिन है, बंधनप्रद है, इसकी आसक्ति को जीतना चाहिए और इससे मुक्त होना चाहिए। सद्गुरु का इस शब्द में पहला वाक्य है कि ऐसा ज्ञान प्राप्त करो, ऐसी रहनी में चलो जिससे इस संसार-वृक्ष से छुटकारा हो। दुर्जन-तोष न्याय यदि कोई संसार-वृक्ष का निर्माता हो भी, तो उसमें हमें प्रेम नहीं करना है, हमें तो उस सद्गुरु से प्रेम करना है जो संसार-वृक्ष से छुड़ाये "आपन आश कीजै बहुतेरा, काहु न मर्म पावल हरि केरा।"[1]

मनोदशा का वर्णन

शब्द-51

बुझ बुझ पण्डिन मन चितलाय, कबहिं भरलि बहै कबहिं सुखाय॥ 1॥
खन ऊबै खन डूबै खन औगाह, रतन न मिलै पावै नहिं थाह॥ 2॥
नदिया नहिं सांसरि बहै नीर, मच्छ न मरे केवट रहै तीर॥ 3॥
पोहकर नहिं बाँधल तहाँ घाट, पुरइनि नाहिं कँवल मँह बाट॥ 4॥
कहहिं कबीर ये मन का धोख, बैठा रहै चला चहै चोख॥ 5॥

शब्दार्थ—खन=क्षण। औगाह=अवगाह, पानी के भीतर पैठकर खोजना, थाह लेना, छानबीन, खोज। रतन=रत्न, ज्ञान। साँसरि=संसरण, निन्तर बहना। मच्छ=मछली, कामादि। केवट=मछुआरा, साधक। पोहकर=पोखरा, पुष्कर,

1. शब्द 77।

तालाब। पुरइनि=पुरइन, पत्ते और तने, तात्पर्य में आधार। कँवल=कमल फूल, तात्पर्य में ऐश्वर्य। चोख=तेज।

भावार्थ—हे पंडित ! मन को चित्त लगाकर समझने का बारम्बार प्रयत्न करो। यह मन, मानो एक नदी है। यह कभी तो भरकर बहती है और कभी सूख जाती है। अर्थात कभी मन में जीवन बड़ा सरल लगता है और कभी बड़ा भयावह दिखता है॥ 1॥ यह जीव इस मन-नदी में कभी तो घबराकर किंकर्तव्यविमूढ़ और बेचैन हो जाता है, कभी डूबकर इसमें रस लेने लगता है, और कभी समस्याओं के समाधान के लिए खोजबीन करने लगता है, परन्तु यथार्थ ज्ञानरूपी रत्न न पाने से समाधान नहीं कर पाता॥ 2॥ यद्यपि यह कोई बाहरी नदी नहीं है, तथापि इसमें संकल्प-विकल्प का पानी निरंतर बहता रहता है। साधक रूपी मछुआरा कामादि मछलियों को नहीं मार पाता, क्योंकि वह आलस्यपूर्वक किनारे बैठा रहता है॥ 3॥ अन्तःकरण कोई बाहरी जलाशय नहीं है, परन्तु उसमें मन, चित्त, बुद्धि एवं अहंकार के चार घाट बंधे हैं। कमल-फूल तो दिखते हैं, परन्तु उनके आधारस्वरूप दंडे एवं पत्तेरूप पुरइन नहीं हैं। अर्थात जिसमें मन लुभता है वह मायिक ऐश्वर्य नापायेदार एवं आधारहित है॥ 4॥ सद्गुरु कहते हैं कि मनुष्य के मन का यह धोखा है कि वह आलस्यपूर्वक बैठा रहता है, परन्तु शीघ्रतापूर्वक अपने लक्ष्य पर पहुंचना भी चाहता है॥ 5॥

व्याख्या—मन को समझने के लिए यह शब्द बड़ा महत्त्वपूर्ण है। सूक्ष्मदर्शी व्यक्ति ही पंडित है। सद्गुरु उसको कहते हैं कि तुम मन को चित्त लगाकर समझो। चित्त अंतःकरण की वह वृत्ति है जिससे यथार्थ की खोज की जाती है। चित्त अनुसंधानात्मक वृत्ति है। इसलिए सद्गुरु बड़े मनो-विज्ञानपूर्वक कहते हैं कि हे पंडित, मन का अनुसंधान करो। उसे ठीक से समझो। हम सारा संसार समझने की चेष्टा करते हैं, केवल अपने मन को समझने का प्रयत्न नहीं करते। इसका परिणाम यह होता है कि हम अपनी आध्यात्मिक-उन्नति से दूर रह जाते हैं। जो व्यक्ति अपने मन को नहीं जानता, वह उसे वश में भी नहीं कर सकता। देहधारी जीव का सर्वाधिक घनिष्ठ सम्बन्ध मन से होता है। मन ही संसार को जीव के सामने करता है। यदि मन समझ में आ जाये, वह वश में हो जाये, तो मानो सारा संसार वश में हो गया। मन वश में हो जाने पर कुछ भी वश में करने की चेष्टा नहीं रह जाती।

"कबहिं भरलि बहै कबहिं सुखाय" सद्गुरु कहते हैं कि मन-नदी की ऐसी दशा है कि वह कभी भरकर बहती है और कभी सूख जाती है। इस शब्द में प्रथम तीन पंक्तियों में मन को समझने के लिए नदी का रूपक दिया

गया है। मान लो कोई एक ऐसी नदी है कि वह कभी तो अपने दोनों तटों को छूती हुई भरकर बहती है और कभी एकदम सूख जाती है और उस नदी में दिन में ऐसा कई बार होता हो। हो सकता है कि ऐसी नदी कहीं हो या न हो, परन्तु मन की नदी ऐसी ही है और वह सबके भीतर है। सुबह सोकर उठे, और एक-दो प्रतिकूल बातें याद आ गयीं। वे बातें सचमुच प्रतिकूल हैं या मन ने वैसा मान लिया है यह भी निर्णय नहीं है। मन ने मान लिया कि पत्नी बात नहीं मानती, पुत्र भी अपनी मां का पक्षपात करता है, या भाई छल-कपट रखता है, धन की कमी है, गुजर कैसे होगा, व्यापार रुक न जाये, नौकरी छूट न जाये, खेती डूब न जाये, बुढ़ापा में कौन रक्षा करेगा, या इसी तरह कुछ अन्य बातें सोचकर मन की नदी सूख गयी। मन बेचैन हो गया। अब सब कुछ बुरा लगने लगा। घर में खाने-पीने की चीजें हैं, परिवार के लोग हैं, अपना शरीर स्वस्थ है, रोटी का धन्धा है, परन्तु मन परेशान है। घंटों इसी स्थिति में बेचैनी बनी रही। इतने में मन दूसरी तरफ गया, दो-चार अनुकूल बातें सोच ली गयीं, मन प्रसन्न हो गया, मन की नदी भरकर बहने लगी। बाहर की भौतिक स्थिति दोनों में बराबर है। केवल मन के चढ़ाव-उतार में हर्ष और शोक के द्वंद्व आते रहते हैं।

यह संसार का परम सत्य है कि सभी साथियों का स्वभाव एक नहीं हो सकता। स्वभाव एवं थोड़े विचारों की भिन्नता को लेकर हम समय-समय से साथियों के सम्बन्ध में तनावग्रस्त हो जाते हैं। यह हमारी बेवकूफी है। इस अपनी बेवकूफी को जो नहीं समझ पाता, वह अपने मन को अपने साथियों के सम्बन्ध में बराबर तनावग्रस्त रखता जाता है। इसका बुरा परिणाम अगले लोगों पर भी पड़ता है और घर या समाज विषाक्त हो जाता है। कभी ऐसा अवसर आता है कि अगला आदमी बहुत बुरे स्वभाव का होता है, उससे बचना पड़ता है। परन्तु वहां भी हम तनावग्रस्त न होकर केवल उसकी मानसिक दुर्बलता को देखते हुए उस पर करुणा करें और उससे बचें। ज्यादातर छोटी-छोटी सामान्य बातों को लेकर ही परस्पर तनाव बढ़ता है। सामान्य मतभेद तो संसार का स्वभाव है। वह तो रहेगा ही। उसको लेकर अपने मन को तनावग्रस्त करना हद दर्जे की भूल है।

कभी-कभी हम अपने मन को निराधार ही तनावग्रस्त बना लेते हैं। हम अगले आदमी को बहुत बुरा तथा अपना विरोधी मान लेते हैं जबकि ऐसी बात नहीं रहती। तिल का ताड़ बनाना मन की मूर्खता है। यदि संसार में सभी का मन मूर्खता छोड़ दे तो संसार स्वर्ग बन जाये। हमें चाहिए कि हम अपने मन की मूर्खता छोड़ दें। हम संदेही स्वभाव के न हों। बिला वजह संदेह मन

को पापी बनाता है। हम दूसरों पर बिला वजह संदेह करते हैं। मन ऐसी ही नदी है जो अकारण या थोड़ा कारण पाकर भरकर बहती है या सूख जाती है। जो अपने मन को ठीक कर लेता है उसका मन सामान्य हो जाता है। उसकी मन-नदी मानो सब समय भरकर बहती है। उसके मन में सब समय आनन्द-ही-आनन्द रहता है।

"खन ऊबै खन डूबै खन औगाह, रतन न मिलै पावै नहिं थाह।" मनुष्य का दुर्बल मन क्षण में जीवन से, परिवार से, समाज से तथा संसार से घबरा जाता है और सोचता है कि इन सबको छोड़कर कहीं भाग जायें। उसे यह पता नहीं है कि यदि हमारे भीतर बेवकूफी बनी है तो हम जहां जायेंगे वहां ऐसी ही परिस्थिति बना लेंगे। जरूरत भागने की नहीं है, किन्तु अपने मन को बदलने की है। एक उल्लू आदमी अपने गांव से घबराकर असी कोस पर चला गया। एक कुं पर बैठा था। जगह छोटी थी। एक आदमी पानी भरने आया। उसने कहा—आप यहां से हट जायें, पानी भरना है। वह उठा तो, परन्तु पुनः वहीं बैठ गया। दूसरे ने कहा—यार, तुम बड़े उल्लू हो, उठकर भी फिर बैठ गये। हटते नहीं हो। उसने कहा—'असी कोस पर छोड़ा गांव, तू कस जानेव उल्लू नाव?' अपना गांव छोड़कर असी कोस दूर आ गया हूं, फिर तुम कैसे जाने कि इसका नाम उल्लू है? अगले आदमी ने उत्तर दिया—'कूद कुदइया दाहिन बांव, तब मैं जाना उल्लू नाव।'

ऊबने से, घबराने से समस्या का समाधान कभी नहीं होता। उससे तो समस्यों बढ़ती हैं। बाहर कोई समस्या नहीं है। सारी समस्या मन की उलझन है। वह ठीक हो जाये तो बाहर क्या समस्या है? आदमी क्या लेकर आया है और क्या लेकर जायेगा! जीवन-गुजर सबका होगा। समस्या तो मन का पाजीपन है। मन समस्या बना लेता है और उसमें पड़कर ऊबता-घबराता है।

"खन डूबै" जिस जीवन, परिवार, समाज एवं संसार को छोड़कर कहीं भाग जाना चाहता था, क्षण में ही मन की स्थिति ऐसी आ जाती है कि वह उन्हीं में डूबकर रस लेने लगता है। एक सज्जन ऐसे थे कि जब क्षण में ही गुस्से में आते थे डंडा लेकर घर के बरतन-भांड़े फोड़ने लगते थे। कभी-कभी घर वालों पर भी डंडा जमा देते थे। कहते कि अब घर में आग लगा दूंगा और सदा के लिए यहां से चला जाऊंगा। और क्षण में वे अपने किये तथा कहे हुए पर पश्चाताप करते थे और घर वालों के मोह में लिपटकर उन्हीं में डूब जाते थे। जब उन्हें कभी कहा जाता कि अमुक जगह सत्संग है, चलिए, तब वे कहते, घर में बड़ा काम है, फुरसत नहीं है। यही मन की लीला है। जिनसे ऊबकर वह एक क्षण में भागना चाहता है, दूसरे क्षण में

उन्हीं में डूबकर रस लेता है। ये दोनों ही बातें गलत हैं। सांसारिकता में रस लेने के कारण ही उससे चोट लगती है तब आदमी घबराता है। परन्तु घबराना कोई वैराग्य तो नहीं है। वह तो मन के दूसरे छोर की बात है। जो संसार में डूबेगा वह उससे ऊबेगा और जो ऊबेगा वह डूबेगा। विवेकवान इन दोनों से दूर होता है। वह संसार में डूबता नहीं, इसलिए उसे कोई घबराहट नहीं।

"खन औगाह" अवगाह कहते हैं थाह लगाने, खोजबीन करने एवं समाधान ढूंढ़ने को। मनुष्य का मन कभी-कभी समाधान भी ढूंढ़ता है। वह सोचता है कि आखिर यह समस्या क्यों है? मेरा दूसरे लोग क्यों विरोध करते हैं? सचमुच लोग विरोध करते हैं कि मेरे मन का भ्रम है? यदि कोई विरोध करता है तो उसमें मेरी त्रुटि ही कारण है या उसका अविवेक? आर्थिक स्थिति एवं पारिवारिक स्थिति कैसे संभलेगी? इन सब बातों पर वह खोजबीन करता है, परन्तु "रतन न मिलै पावै नहिं थाह"। समुद्र से मोती निकालने वाले गोताखोर लोग जब समुद्र में थाह पा जाते हैं, उन्हें जमीन मिल जाती है, तब उनके हाथों में मोती लग जाते हैं। परन्तु यहां मन समुद्र की बात अलग है। सद्‌गुरु कहते हैं कि लोगों के हाथों में रत्न नहीं लगते इसलिए वे थाह नहीं पाते। यहां रत्न ज्ञान है, अच्छी समझ है और थाह समस्याओं का समाधान है। जब तक मनुष्य को ज्ञान न होगा, अच्छी समझ नहीं होगी तब तक उसकी समस्याओं का समाधान न होगा।

समस्या चाहे भौतिक हो, चाहे आध्यात्मिक, वह सब मानसिक है। केवल मन सुलझ जाये तो सब सुलझा-सुलझाया ही है। मन की समस्या तब सुलझती है, जब मन में ज्ञान हो, सच्ची समझ हो। हम कहीं उलझे हैं इसका मतलब है कि हमारी समझ उस समय ओछी है। समझ सही हो जाने पर सभी समस्याओं का समाधान हो जाता है।

"नदिया नहिं साँसरि बहै नीर" सद्‌गुरु कहते हैं कि मन कोई बाहरी नदी नहीं है, परन्तु उसमें अनवरत संकल्प-विकल्पों का पानी बहता है। नदी में तो ऊपर से पानी आता है तब वह बहती है। यदि ऊपर से पानी बहकर न आये तो नदी सूख जाये। परन्तु मन की नदी में कहीं बाहर से पानी नहीं आता। इसलिए मन बाहरी नदी की तरह नहीं है। मन में तो संकल्प-विकल्प का पानी स्वयं पैदा होता है और सांसरि ढंग से बहता है। सांसरि का शुद्ध शब्द है संसरण। संसरण का अर्थ होता है गतिशीलता। 'संसरति इति संसारः' जो निरन्तर सरकता रहे, चलता रहे, उसे संसार कहते हैं। एक संसार बाहर है और दूसरा संसार मनुष्य के भीतर है। बाहर का संसार भौतिक है तथा भीतर का संसार मानसिक। बाहरी भौतिक संसार में निरन्तर परिवर्तनशीलता है।

जैसे नदी अबाध गति से अनवरत बहती है, वैसे संसार के सारे पदार्थ अपनी पूर्व अवस्था को छोड़कर आगे नया रूप लेते जाते हैं। सब कुछ सब समय बदलता जाता है। हमारे भीतरी संसार की भी यही कथा है। मन की धारा भी अनवरत चलती है। यह संकल्प-विकल्पों की धारा है। ज्ञानोदय होने पर यह धारा समाधि में जाकर रुक जाती है। वहां सब कुछ थम जाता है। संकल्प-विकल्प ही आंदोलन है, समाधि में इसके न रहने से निर्द्वन्द्व अवस्था होती है। व्यवहारकाल में ज्ञानी-पुरुष के मन में भी प्रवाह रहता है, परन्तु वह शुद्ध तथा संयत होता है। उसका मन स्वरूपज्ञान एवं हंसरहनी में ही प्रवाहित रहता है। उसकी समाधि अवस्था में तो अमृत रहता ही है, किन्तु व्यवहारकाल में ही उसके मन में मानो अमृत का प्रवाह बहता है। वह सब समय अमृत-ही-अमृत होता है। परन्तु ज्ञान तथा ज्ञान का आचरण न होने से मन में कूड़े-कबाड़ों का प्रवाह चलता रहता है और जीव उसमें बहता हुआ दुखी बना रहता है।

"मच्छ न मरे केवट रहै तीर" मच्छ का अर्थ है मछली तथा केवट कहते हैं कैवर्त, मल्लाह, निषाद एवं मछुआरे को। केवट का शुद्ध अर्थ नाव चलाने वाला है। परन्तु ये मछली भी बहुत मारते हैं, इसलिए इन्हें मछुआरा भी कहते हैं। यहां केवट से मछुआरा ही अर्थ है। जैसे कोई मछुआरा हो, वह नदी पर मछली मारने गया हो, परन्तु अपने आलस्य के कारण वह नदी के तट पर ही बैठा रहे, नदी में प्रवेश न करे, तो वह मछली कैसे मार सकता है! वैसे जो साधक त्याग-वैराग्यपूर्वक साधना नहीं करेगा, वह काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेषादि विकारों का नाश कैसे कर सकेगा! यहां साधक ही मछुआरा है, कामादि विकार ही मछलियां हैं। जैसे नदी में कूदकर मछलियां मारी जा सकती हैं, वैसे साधना में कूदकर ही मनोविकारों का ध्वंस किया जा सकता है। परन्तु साधक आलसी एवं रागी बनकर बैठा है, इसलिए उसके मन के विकार ज्यों-के-त्यों बने हैं।

एक घर पर एक लालची पहुना आ गया, वह कई दिनों तक टिका रहा। घर वाला चाहता था कि वह चला जाये, परन्तु वह नहीं गया। घर वाले ने अपने घर के भीतर जाकर अपनी पत्नी से कहा कि मैं और तुम बनावटी झगड़ा करें। मैं दीवार पीटूं और तुम रोओ। शायद वह यह समझकर चला जाये कि ये लोग आपस में झगड़ रहे हैं, इसलिए अब मुझे यहां नहीं रहना चाहिए। घर वाला डंडा लेकर दीवार पीटने लगा, उसकी पत्नी रोने लगी। पहुना दरवाजे से चला गया। घर वाला दरवाजे पर आकर देखा कि वह नहीं है। उसने खुश होकर घर में जाकर कहा—"मैं तुम्हें सचमुच थोड़े मारता

था!" इतने में उस पहुना ने घर के भीतर से कहा—"मैं भी सचमुच थोड़े गया हूं!" वस्तुतः वह दरवाजे से उठकर पिछवाड़े के रास्ते से घर में आकर बैठ गया था।

हमारी कमजोर साधना का फल यही होता है। हम जैसे अधूरे मन से साधना करते हैं, वैसे हमारी आध्यात्मिक प्रगति होती है। "मच्छ न मरे केवट रहै तीर" का यही अभिप्राय है। कबीर साहेब यह पंक्ति कहकर मानो हम पर व्यंग्य करते हैं।

"पोहकर नहिं बाँधल तहाँ घाट" पोहकर का शुद्ध शब्द है पुष्कर, जिसे पोखरा, तालाब एवं जलाशय कहा जाता है। किसी भी पोखरे के चार घाट होते हैं पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण। मनुष्य का अन्तःकरण कोई बाहरी पोखरा नहीं है, परन्तु इसमें मन, चित्त, बुद्धि एवं अहंकार के चार घाट बंधे हुए हैं। मन से स्मरण, चित्त से अनुसंधान, बुद्धि से निर्णय तथा अहंकार से करतूति होती है। मनुष्य हर समय किसी-न-किसी विषय को मन में लेता है, अर्थात उसका स्मरण करता है, चित्त उस पर खोज एवं छानबीन करता है, बुद्धि निर्णय देती है और अहंकार स्वीकार करता एवं उसे कार्य रूप देता है। इस प्रकार मनुष्य के अन्तःकरण रूपी तालाब के चारों घाटों का व्यवसाय चलता रहता है। मनुष्य को चाहिए कि वह सही विषय को ले, जिससे उसके मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार सही दिशा में काम करें। सद्गुरु कहते हैं कि अन्तःकरण कोई बाहरी तालाब नहीं है। परन्तु इसमें मन, चित्त, बुद्धि एवं अहंकार के चार घाट बंधे हुए हैं। जैसे घाटों से लोग तालाब में प्रवेश करते हैं, वैसे मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार से नाना वासनों अन्तःकरण में उतरती हैं। अतएव साधक को चाहिए कि वह अपने मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार पर सावधान रहे, इन्हें शुद्ध रखे।

"पुरइनि नाहिं कँवल मँह बाट" पुरइन कहते हैं कमल के पत्ते और तने को। पहले पुरइन के तने होते हैं और उसके पत्ते, तब पीछे कमल-फूल खिलते हैं। यहां सद्गुरु कहते हैं कि कमल-फूल तो हैं, परन्तु उनमें पत्ते तथा तने रूप पुरइन नहीं हैं। यह कबीर साहेब की उलटवांसी है। सारी उलटवांसियां ऊपर से देखने में अचरज भरी उलटी लगती हैं, परन्तु समझ लेने पर वे सही हो जाती हैं। कोई आदमी कमल के फूल किसी तालाब के पानी में लाकर जगह-जगह रोप दे, तो किसी नये आगंतुक के देखने में तो यही लगेगा कि इस तालाब के कमल-फूल में पुरइन नहीं है। वे फूल भी कुछ घंटे में सूख जोंगे, क्योंकि वे बिना जड़ के हैं। यहां कमल का लक्षणा अर्थ है ऐश्वर्य। शरीर के सुन्दर अंगों से कमलों की उपमा दी जाती है। जैसे

मुख-कमल, नेत्र-कमल, कर-कमल, हृदय-कमल आदि। यहां कमल का अर्थ है मायिक ऐश्वर्य। सद्गुरु कहते हैं कि जिस मायिक ऐश्वर्य में तुम्हारा मन मोहित होकर पतित होता है उसमें आधार नहीं है। वह नापायेदार, बे-जड़ तथा क्षणभंगुर है। जवानी की चमक, वैवाहिक उत्सव तथा प्रथम वर-वधू-मिलन, पुत्रों का संयोग, सम्मान, पद, प्रतिष्ठा सब कुछ तो क्षणभंगुर है। तुम जिसमें भूल रहे हो, वह नाशवान है।

"कहहिं कबीर ये मन का धोख, बैठा रहै चला चहै चोख।" सद्गुरु कहते हैं कि यह साधक के मन की चाल है कि वह आलस्यपूर्वक बैठा है, परन्तु जल्दी ही अपनी मंजिल पर पहुंचना भी चाहता है। कितने साधक कहते हैं कि मन वश में नहीं होता। परन्तु उन्हें समझना चाहिए कि वे तत्परतापूर्वक इस काम में लगते कहां हैं! सेवा, सत्संग, भक्ति, सदाचार, त्याग, संयम, मनोनिग्रह का अभ्यास आदि जो कुछ करना चाहिए वह वे दिल लगाकर कहां करते हैं! जो साधक निश्चलतापूर्वक दृढ़ता से एकरस साधना में जुट जायेगा, निश्चित ही उसे देर-सबेर सफलता मिलेगी। यदि उसके पूर्व के संस्कार ज्यादा शुद्ध हैं तो शीघ्र सफलता मिलेगी और यदि ज्यादा शुद्ध नहीं हैं तो देरी से सफलता मिलेगी। सफलता न मिलने की तो कोई बात ही नहीं है। नौकरी, व्यापार, पुत्र-प्राप्ति, खेती, उन्नति आदि भौतिक क्षेत्र में यह भी हो सकता है कि कभी सफलता न भी मिले। परन्तु मन को संयत एवं शुद्ध करने में तो सफलता मिलना निश्चित है। बस, लगन से लगना चाहिए। परन्तु जो साधक अपने मन के धोखे में रहेगा, वह गिरेगा।

इस प्रकार इस शब्द में सद्गुरु ने मन के स्वरूप का वर्णनकर हमें जगाया है। हम सावधान हों। हम अपने मन को समझें। मन को ठीक कर लेने पर सब सुख प्रकट हो जाता है। जिसका मन स्ववश है वह आनन्दकंद है।

ब्रह्मज्ञानियों को चेतावनी

शब्द-52

बूझ लीजै ब्रह्मज्ञानी॥ 1॥
घूरि घूरि बरसा बरसावै, परिया बुन्द न पानी॥ 2॥
चिउँटी के पग हस्ती बाँधो, छेरी बीग रखावै॥ 3॥
उदधि माँह ते निकरि छाँछरी, चौड़े ग्रह करावै॥ 4॥
मेढ़ुक सर्प रहत एक संगे, बिलैया श्वान बियाई॥ 5॥
नित उठि सिंह सियार सों डरपै, अद्बुद कथ्यो न जाई॥ 6॥
कौने संशय मृगा बन घेरे, पारथ बाणा मेले॥ 7॥

उदधि भूपते तरिवर डाहै, मच्छ अहेरा खेले॥ 8॥
कहहिं कबीर यह अद्‌बुद ज्ञाना, को यह ज्ञानहि बूझै॥ 9॥
बिनु पंखे उड़ि जाय अकाशै, जीवहि मरण न सूझै॥10॥

शब्दार्थ—छेरी=बकरी। बीग=भेड़िया। उदधि=समुद्र। छाँछरी=मछली। चौड़े=मैदान में। ग्रह=गृह-घर। अद्‌बुद=अद्‌भुत। मृगा=मन-मृगा। बन=संसार। पारथ=पारधी, शिकारी। भूपते=मनुष्य सम्राट से। मच्छ=मछली, माया। अहेरा=शिकार।

भावार्थ—हे ब्रह्मज्ञानी! इस बात को अच्छी तरह समझ लो कि तुम उमड़-घुमड़कर ब्रह्मज्ञानोपदेश की वर्षा करते हो, परन्तु लोगों के ऊपर उसकी एक बूंद भी नहीं पड़ती है॥ 1-2॥ तुम्हारा ब्रह्मज्ञानोपदेश तो वैसा ही है कि जैसे मानो कोई चींटी के पैरों में हाथी बांध दिया हो, भेड़िया को बकरी की रक्षा में बैठा दिया हो॥ 3॥ इतना ही नहीं, मानो समुद्र में से मछलियां निकलकर मैदान में अपने रहने के लिए मकान बनवाने लगी हों, मेढक और सांप एक साथ रहने लगे हों, बिल्ली श्वान पैदा करने लगी हो॥ 4-5॥ इतना ही क्या, आश्चर्य की बात कही नहीं जाती कि मानो सिंह रोज सुबह उठकर सियार से भयभीत रहने लगा हो॥ 6॥ किस संशय में पड़कर मन-मृगा वाणी एवं संसार-वन में घिरा है? क्योंकि भ्रमोपदेशक पारधी उस पर बाण चला रहे हैं॥ 7॥ इस मनुष्य-सम्राट ने ही संशय-समुद्र को पैदा किया है, परन्तु उससे वह स्वयं उसी प्रकार जल रहा है जैसे समुद्र के खारे पानी से सींचने पर पौधे जल जाते हैं। यह मनुष्य के मन से ही निर्मित माया-मच्छ मनुष्य का शिकार करती है[1]॥ 8॥ कबीर साहेब कहते हैं कि यह अद्‌भुत ज्ञान है। इसे कौन समझने वाला है!॥ 9॥ जीव बिना पंख के आकाश में उड़ जाना चाहता है। इसे अपना पतन नहीं दिखाई देता॥ 10॥

व्याख्या—कबीर साहेब ने विगत 40वें शब्द से लेकर 51वें अर्थात बारह शब्दों तक पण्डितों को संबोधितकर अपने विचार कहे। उन्होंने इन शब्दों में पण्डितों को फटकारा, झकझोरा, दुलारा, प्यार दिया और सूक्ष्म विषयों को समझने के लिए निमंत्रित किया। इन सभी शब्दों के भाव कितने मार्मिक रहे पाठक स्वयं समझते हैं। अब इस 52वें शब्द में साहेब तथाकथित ब्रह्मज्ञानियों को जोर से फटकारते हैं। वे कहते हैं कि हे ब्रह्मज्ञानियो! तुम ब्रह्मज्ञान का उपदेश उसी प्रकार करते हो, जैसे सावन-भादों के बादल उमड़-

---

1. मच्छ रूप माया भई, जबरहिं खेले अहेर।
हरिहर ब्रह्मा न ऊबरे, सुर नर मुनि केहि केर॥ (रमैनी, साखी 46)

घुमड़कर वर्षा करते हैं। सावन-भादों के घनघोर मेघ यदि अनवरत जल-वृष्टि करें, परन्तु किसी के ऊपर उसकी बूंद भी न पड़े तो यह बहुत आश्चर्य का विषय होगा। उदाहरण में तो ऐसा नहीं होता। जब जल की वर्षा होती है तब लोग भीगते हैं। परन्तु साहेब जिस ब्रह्मज्ञान की बात कर रहे हैं उसमें ठीक यही बात है कि ब्रह्मज्ञान का हजार उपदेश हो जाने पर भी इस जगत में आज तक किसी एक व्यक्ति को भी ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ।

यहां ब्रह्मज्ञान का अभिप्राय है—अद्वैतवाद का सिद्धान्त, जिसमें यह माना जाता है कि सत्ता केवल एक तत्त्व की है और वह ब्रह्म है। एक ब्रह्म के अलावा दूसरा कुछ है ही नहीं। अतएव यदि किसी को ब्रह्मज्ञान हो गया होता तो उसका मोक्ष हो गया होता, और एक के मोक्ष हो जाने पर संसार होता ही नहीं। ये नाना जीव और जगत कुछ भी न होते, क्योंकि सत्ता एक ही है। उसके मुक्त हो जाने के बाद, फिर संसार रह ही नहीं जाता। परन्तु संसार प्रत्यक्ष गतिमान है। इसलिए आज तक किसी को ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ।

अद्वैत वेदांत के अनुसार जगत तीनों काल में नहीं है। यह दिखता हुआ जगत मिथ्या है और आनुभविक आत्मों भी मिथ्या हैं, केवल एक ब्रह्म सत्य है, परन्तु वह दुर्विज्ञेय है। तो जो अनुभव में आता है और जो अनुभव करता है वे दोनों मिथ्या ठहरे और जो उनके ख्याल से सत्य है उस ब्रह्म का किसी को पता नहीं चल सकता, तो "नहीं-नहीं फिर कौन कहा।"[1]

वेदांत का एक जीववाद यही कहता है कि आज तक न किसी को ब्रह्मज्ञान हुआ है और न किसी का मोक्ष हुआ है, क्योंकि जीव अर्थात ब्रह्म एक ही है, उसका यदि मोक्ष हो गया होता तो जगत रहता ही नहीं।

प्रसिद्ध वेदांत-चिन्तक श्री अप्पयदीक्षित के प्रसिद्ध ग्रंथ 'सिद्धांतलेश संग्रह' में अंतिम संदर्भ मुक्तिविचार है। उसमें टिप्पणीकार एक जीववाद के सिद्धांत को लेकर लिखते हैं—"जीव के एक होने से उसका मूल अज्ञान भी एक ही है। इसलिए एक जीव के किसी भी अन्तःकरण में तत्त्वसाक्षात्कार के उदित होने पर अज्ञान का देव, तिर्यक, मनुष्यादि संपूर्ण स्वकार्यों के साथ उसी क्षण नाश हो जाता है। यदि इस विषय में शंका हो कि शुक आदि के अन्तःकरण में उत्पन्न तत्त्वज्ञान से ही सब प्रमाताओं के संसार का समूल विलय हो जाना चाहिए, अतः इस समय संसार की अनुवृत्ति कैसे देखी जाती है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि शुकादि की मुक्ति में कोई प्रमाण ही नहीं

1. आगे 67वें शब्द की व्याख्या तथा कबीर दर्शन के तीसरे अध्याय का 'अद्वैतब्रह्मवाद' संदर्भ देखिए।

है और शुकादि के मुक्ति-प्रतिपादक वाक्य स्वार्थ में उपचरित हैं, अतः संसार की अनुवृत्ति में कोई हानि नहीं है।"[1]

अर्थात अद्वैतवाद के अनुसार जीव एक ही है। यदि वह मुक्त हो गया होता तो संसार रहता ही नहीं, परन्तु संसार है, इसलिए आज तक वह मुक्त नहीं हुआ। लोग कहते हैं कि शुकदेव मुक्त हो गये, परन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं है। इसलिए अद्वैतवाद के अनुसार आज तक किसी की मुक्ति नहीं हुई।

गंगाधरेन्द्र सरस्वती लिखते हैं—"संपूर्ण जीवों की मुक्ति जब तक न हो तब तक अविद्यावत्पुरुष से कल्पित सत्यकाम और सत्यसंकल्प से कल्पित जगत की स्थिति, लय और उत्पत्ति में समर्थ और मुक्त पुरुषों द्वारा प्राप्त स्वतः चिद्घन अद्वितीय ब्रह्म मैं हूं।"[2]

अद्वैत वेदांत के जगत, आत्मा तथा मुक्ति विषयक विचार इतने गड्डबड्डु हैं कि उनसे सही निर्णय मिल ही नहीं सकता।

जैसे जल और उसकी तरंगें एक है, मिट्टी और उससे बने बरतन एक है, सोने तथा उससे बने गहने एक है, वैसे ब्रह्म और उससे बना जगत एक है। ब्रह्म जगत का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। ब्रह्म सच्चिदानन्द है, निर्विकार है, अखंड है, फिर वह टूटकर असद्, अचिद् तथा अ-आनन्द जगत कैसे बन गया? इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है। ब्रह्म और जगत एक मान लेने के कारण ही वेदांत में अन्ततः भोग-योग एक मान लिया जाता है। पीछे 14वें शब्द की व्याख्या में आप पढ़ आये हैं कि किस प्रकार ज्ञानी मैथुनादि कर्म करते हुए भी निर्लिप्त मान लिया गया है। वेदांती निश्चलदास जी ने विचारसागर में लिखा "भोगे युवति सदा संन्यासी" युवती स्त्री का उपभोग करते हुए भी ब्रह्मज्ञानी सदैव संन्यासी है। इस धारणा का मूल योगवासिष्ठ के चूड़ाला तथा शिखध्वज की कथा तथा अन्य वेदांत ग्रंथों में है।

इसलिए स्वतन्त्र चिंतक कबीर साहेब कहते हैं कि हे ब्रह्मज्ञानियो! तुम ब्रह्मज्ञान का उपदेश तो बहुत करते हो, परन्तु उसके छींटे किसी पर नहीं पड़े। एक को ब्रह्मज्ञान हुआ होता और वह मुक्त हो गया होता, तो तुम्हारे मत के अनुसार जगत रहता ही नहीं।

साहेब कहते हैं कि इस तरह के ब्रह्मज्ञान का उपदेश करना क्या है मानो चींटी के पैरों में हाथी बांधना है। क्या इससे चींटी का कल्याण हो सकता है!

---

1. सिद्धांतलेश संग्रह, अच्युत ग्रन्थमाला, काशी।
2. आसर्वमुक्ति परकल्पितसत्यकामसङ्कल्पकल्पितजगत्स्थितिभङ्गसर्गे।
शक्तं स्वतस्तु सुखचिद्घनमद्वितीयं मुक्तोपसृप्यमहमस्मि विशुद्धतत्त्वम्॥
(वेदांतसिद्धांत सूक्त मंजरी, 4/24)

वह तो हाथी के पैरों में रगड़ जायेगी। यदि बकरी की रक्षा में भेड़िया को बैठा दे तो बकरी का कहां कल्याण ! यदि समुद्र में से निकलकर मछलियां अपने रहने के लिए मैदान में मकान बनवाने लगें तो क्या उनका जीवन सुरक्षित रहेगा ! क्या मेढक सांप के साथ तथा बिल्ली कुत्ते के साथ सुरक्षित रह सकेंगे ! इसी प्रकार जिस ब्रह्म का स्वरूप जड़ से अभिन्न है, जिस ब्रह्म का ही विकार यह सारा जगत है, क्या उस ब्रह्म में स्थित होने से जीव का उद्धार संभव है ! जिस ब्रह्मवाद में जीव भी ब्रह्म, देह भी ब्रह्म, माटी भी ब्रह्म, गोबर भी ब्रह्म, चेतन भी ब्रह्म, जड़ भी ब्रह्म है, क्या वहां कोई निर्णय है ! जहां भोगी, त्यागी, राजा और कर्मकांडी सबकी एक स्थिति बतायी गयी है,[1] जहां सब धान साढ़े बाईस पसेरी है, वहां न सच्चा न्याय है, न सच्चा बोध है और न वहां जड़ाध्यास का त्याग होकर स्वरूपस्थिति ही हो सकती है। वहां बकरी-भेड़हा, मेढक-सांप एक जगह कर दिये गये हैं। भला, जड़ से सर्वथा पृथक अपना चेतनस्वरूप समझे बिना कहां यथार्थ स्थिति हो सकती है ! ये चींटी-हाथी, छेरी-बीग तथा मछली का समुद्र में से निकलकर मैदान में मकान बनवाना, मेढक-सांप, बिल्ली-कुत्ता, सिंह-सियार के रूपक जो शब्द में दिये गये हैं, सब ब्रह्मज्ञान पर व्यंग्य है। साहेब कहते हैं कि यह तो सिंह का नित्य उठकर सियार से डरना है। अपनी आत्मा को न पहचानकर अंधकार में किसी कल्पित ब्रह्म को टटोलना है।

"कौने संशय मृगा बन घेरे, पारथ बाणा मेले। साहेब कहते हैं किस संदेह में पड़कर मनुष्य का मन-मृगा संसार एवं वाणियों के वन में घिर गया है ! सद्गुरु स्वयं उत्तर देते हैं "पारथ बाणा मेले" अर्थात बड़े-बड़े उपदेष्टा-शिकारी जीव पर शास्त्र-प्रमाण के बाण चलाते हैं। वे कहते हैं कि श्रुति में यही लिखा है, इसलिए मानना पड़ेगा। एक निर्विकार ब्रह्म कैसे सविकार जगत बन गया? यह हम नहीं बता सकते। श्रुति ऐसा ही कहती है, इसलिए हमें मान लेना चाहिए। सत्ता केवल एक अखंड ब्रह्म की है, दूसरा कुछ नहीं है, तब यह गतिशील संसार कैसे दिखायी देता है? वेदांती कहते हैं यह मत पूछो, ऐसा ही श्रुति में लिखा है इसलिए मान लो। प्रत्यक्षादि सारे प्रमाणों की अपेक्षा शब्द-प्रमाण ही प्रबल है। इसलिए श्रुति-प्रमाण मान लेना चाहिए। यदि कोई शास्त्र-प्रमाण नहीं मानेगा। तो वह नास्तिक होगा। इस प्रकार उपदेशक पारधी हो गये, शिकारी हो गये। वे शास्त्र-प्रमाण की दोहाई के बाण मनुष्यों पर चलाते हैं। इसलिए मनुष्य का मन-पशु वाणियों के वन में घिर

---

1. कृष्णो भोगी शुकस्त्यागी नृपो जनकराघवो।
वसिष्ठः कर्मकर्ता च ते सर्वे ज्ञानिनः समाः॥

गया है। वह संशय में पड़ गया कि आंख से तथा विवेक से कुछ दूसरा दिखता है और शास्त्र-प्रमाण कुछ दूसरा बताते हैं। अब क्या करें, क्या मानें? ठीक है "अपनी देखी दूर कर, भले आदमी का कहा कर!"

यह सबको समझ में आ सकता है कि जड़ और चेतन अलग-अलग हैं। चेतन द्रष्टा है जड़ दृश्य, चेतन ज्ञाता है जड़ ज्ञेय, चेतन साक्षी है जड़ साक्ष्य। जड़ तत्त्व अनेक हैं। एक तत्त्व में भी असंख्य परमाणु हैं। इन कारण-कार्य जड़ तत्त्वों से सर्वथा भिन्न चेतन हैं। चेतन जीव भी असंख्य हैं। सभी चेतन जीवों का लक्षण एक चैतन्य है, परन्तु सभी चेतन जीवों का अपना-अपना व्यक्तित्व अलग-अलग है। इतना प्रत्यक्ष सत्य होते हुए भी यह मानना कि सब कुछ एक ही है, यह शास्त्र-प्रमाण की दोहाई देकर ही मनवाया जाता है। अनुभव द्वैत का है तथा कथन अद्वैत का! यह किस संशय से है? क्योंकि यही गुरुओं का उपदेश है। यदि अद्वैत न कहें तो नास्तिक बनना पड़ेगा। इस प्रकार जो शास्त्र-प्रमाण के पशु बना दिये गये हैं, उनका मन उन्हीं में घिर गया है। वे स्वतन्त्र चिन्तन करना अपराध मानते हैं।

"उदधि भूपते तरिवर डाहै, मच्छ अहेरा खेले!" साहेब कहते हैं कि यह वाणी का उदधि, यह वाणी का समुद्र कहां से बना है? मनुष्य रूपी भूप से ही बना है। यह मनुष्य जीव भूप है, सम्राट है। यही समस्त ज्ञान-विज्ञान का जनक है। इस मनुष्य-भूप से ही वाणी का समुद्र बना है और लौटकर वही वाणी-समुद्र मनुष्य को भस्म कर रहा है। समुद्र के खारे पानी से यदि पेड़-पौधे सींचे जायें तो जल जायेंगे। परन्तु वही समुद्र का जल यदि भाप बनकर बादल बन जाये और फिर बादल से पानी की बारिश हो तो उस पानी से पेड़-पौधे हरे-भरे हो जायेंगे। मनुष्य ने ही वाणी बनायी है और वह भ्रामक वाणी मनुष्य के ही यथार्थ ज्ञान एवं कल्याण में बाधक बन गयी है। परन्तु यदि उन्हीं वाणियों में सारासार विचार लिया जाये, आंख मूंदकर प्रमाण न मानकर उनमें नीर-क्षीर विवेक कर लिया जाये तो उनमें से कल्याणकारी अंश की वाणियां निकल सकती हैं। श्रुतियों में "अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म, प्रज्ञानं ब्रह्म" के वाक्य बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। इनके अर्थ हैं—मैं ब्रह्म हूं, तू ब्रह्म है, यह आत्मा ब्रह्म है तथा ज्ञान ही ब्रह्म है। ब्रह्म का मतलब है बड़ा। बृहत्त्वात् ब्रह्म। जो बड़ा हो, वह ब्रह्म। मनुष्य की आत्मा ही तो बड़ी है। वही तो सारे ज्ञान-विज्ञान का भूप है। अतएव यह मनुष्य की आत्मा ही ब्रह्म है, श्रेष्ठ है, महान है। संकल्पों को छोड़कर समाधि में लीन हो जाने पर जीव असंग हो जाता है, यही उसका अद्वैत-पद है। जहां दूसरा न हो वही तो अद्वैत है। समाधि में मन समाप्त हो जाने पर जीव अकेला रह जाता है। मन ही

संसार को, द्वैत को जीव के सामने करता रहता है और जब मन ही लीन हो गया तब चेतन असंग हो गया, अद्वैत हो गया। यही विवेकपूर्ण अद्वैत ब्रह्म होना है। परन्तु ब्रह्मज्ञानी कहलाने वाले इस विवेक-पथ को छोड़ दिये। वे ब्रह्मज्ञान की भावुकता में, शास्त्र-प्रमाण के उलटे-सुलटे जोड़ में पड़कर यथार्थ ज्ञान को गड्डबड्ड कर दिये। इसलिए जीव का बनाया वाणी-समुद्र जीव को ही झुलसाने लगा, और "मच्छ अहेरा खेले" माया जीव पर शिकार खेलने लगी। जीव की ही बनायी वाणी जीव को बांधने के लिए माया बन गयी। इसीलिए अनुभूत ज्ञान की अवहेलना होने लगी, और कल्पित अवधारणा को सिद्धांत मान लिया गया।

"कहहिं कबीर यह अद्‌बुद ज्ञाना, को यह ज्ञानहि बूझै।" साहेब कहते हैं कि मेरा ज्ञान लोगों को अद्‌भुत लग सकता है। लोग सोच सकते हैं "कबीर तो अचरज की बात करते हैं। बड़े-बड़े ब्रह्मज्ञानी वेदांती सारा जड़-चेतन एक अद्वैत मानते हैं, एक जीववाद मानते हैं और कबीर नानत्वपूर्ण संसार स्वीकार करते हैं, वे नाना जीव मानते हैं।" वस्तुतः गलत बातों का यदि ज्यादा अभ्यास हो जाये तो वही सत्य लगती है और सत्य का अभ्यास न होने से वह अद्‌भुत लग सकता है। कबीर कहते हैं कि मेरे ज्ञान को कौन समझेगा! वही उसे समझेगा जो शास्त्र-प्रमाण के जाल से मुक्त हो जायेगा। "चौंतीस अक्षर से निकले जोई। पाप पुण्य जानेगा सोई।"[1] शास्त्र-प्रमाण आदरणीय है, किन्तु स्वानुभूत सत्य का वध करके नहीं, अपने विवेकज्ञान को ताख पर रखकर नहीं।

"बिनु पंखे उड़ि जाय अकाशै, जीवहि मरण न सूझै।" मनुष्य बिना पंख के आकाश में उड़ना चाहता है। उसका फल गिरकर मर जाना है। परन्तु उसे यह बात नहीं सूझती। तात्पर्य है कि बिना विवेक मनुष्य कल्पना की उड़ान भरता है। वह स्वानुभूत सत्य को आदर न देकर कल्पना का लड्डू खाता है। सारी वासनाओं को छोड़कर निज स्वरूप में ही स्थिति होती है। जब वासनों शांत हो जाती हैं तब जीव जगत से छूटकर निज स्वरूप मात्र रह जाता है। यह स्वानुभूत सत्य है। यही परमार्थ है। सारा जड़-चेतन एक हो जाना परमार्थ नहीं है। संकल्पों का त्याग निराधार स्थिति है। इसी को अद्वैत स्थिति कह सकते हैं। जड़-चेतन-अभिन्नता एवं चराचर व्यापक की अवधारणा न अनुभूत सत्य है और न यथार्थ अद्वैत है। यह तो मन का जोश है, ब्रह्मवाद की भावुकता है। इसलिए हे ब्रह्मज्ञानी, अपने ब्रह्मज्ञान पर पुनर्विचार कर लो।

---

1. रमैनी 24।

जगत अपने क्षेत्र में प्रवाहरूप गतिशील रहते हुए भी सत्य है, ठोस है। उससे भिन्न नाना चेतन जीव हैं। जो जीव वासना त्याग देगा वह मुक्त हो जायेगा। चराचर व्यापक अद्वैतवाद में तो मुक्ति संभव ही नहीं है।

संसार-वृक्ष और एषणा-लता

शब्द-53

वै बिरवा चीन्हे जो कोय, जरा मरण रहित तन होय॥ 1॥
बिरवा एक सकल संसारा, पेड़ एक फूटल तिनि डारा॥ 2॥
मध्य की डारि चारि फल लागा, शाखा पत्र गिने को वाका॥ 3॥
बेलि एक त्रिभुवन लपटानी, बाँधे ते छूटे नहिं ज्ञानी॥ 4॥
कहहिं कबीर हम जात पुकारा, पण्डित होय सो लेय बिचारा॥

शब्दार्थ—वै बिरवा=वह वृक्ष, संसार। तिनि डारा=रज, सत, तम। मध्य=सत। चारि फल=अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष। बेलि=लता, एषणा, वासना, तृष्णा।

भावार्थ—जो महापुरुष इस संसार-वृक्ष को पहचान लेता है, वह इसकी वासना त्यागकर बुढ़ापा, मृत्यु और शरीर धरने के चक्कर से मुक्त हो जाता है॥ 1॥ यह सारा विश्व मानो एक वृक्ष है। इस एक विश्व-वृक्ष में रज, सत एवं तम तीन डालियां निकली हैं॥ 2॥ बीच की सत-डाली में अर्थ, धर्म, काम एवं मोक्ष ये चार फल लगे हुए हैं। इसके अलावा इस संसार-वृक्ष की छोटी-छोटी डालियां तथा पत्ते बहुत हैं उन्हें कौन गिनकर बता सकता है !॥ 3॥ इस अद्भुत संसार-वृक्ष से एषणा (इच्छा) की एक लता निकली है जो नीचे, ऊपर और मध्य के समस्त लोकों के प्राणियों के मन में लिपट गयी है। इसमें बड़े-बड़े ज्ञानी भी बंधे हुए हैं और वे नहीं छूट रहे हैं॥ 4॥ सद्‌गुरु कहते हैं कि हम पुकारकर कहे जा रहे हैं, जो सूक्ष्मदर्शी पण्डित होगा वह इसका विचार कर लेगा॥ 5॥

व्याख्या—सद्‌गुरु कहते हैं कि यह संसार एक वृक्ष है। जो इसे समझ लेता है वह फिर जन्म नहीं धारण करता। जो जन्म नहीं धारण करता वह शरीर यात्रा के उपद्रव, रोग, विपत्ति, बुढ़ापा एवं मरण के संताप से छूट जाता है। हमें चाहिए कि हम इस संसार को ठीक से समझकर अपने आप को इससे मुक्त करें।

बाहरी भौतिक क्षेत्र से लेकर मन तक सारा संसार त्रिगुणात्मक है। परन्तु इस त्रिगुणात्मक जगत से मेरा चेतनस्वरूप एवं मेरी आत्मा अलग है। जब

हम अपने आप को संसार-वृक्ष से अलग समझकर तथा अनासक्त होकर व्यवहार करते हैं तब संसार-बंधनों से मुक्त हो जाते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि संसार-वृक्ष की तीन बड़ी शाखों हैं, वे हैं रज, सत एवं तम गुण। सभी गुणों का अपना महत्त्व है, परन्तु बीच के सतगुण का महत्त्व सर्वाधिक है। इसी में अर्थ, धर्म, काम एवं मोक्ष चारों फल फलते हैं। भौतिक क्षेत्र में जहां तक क्रिया है वह रज-गुण का स्वभाव है, जहां तक पुष्टि है सत-गुण का स्वभाव है तथा क्षय तम-गुण का। इसी प्रकार मन में इच्छा-क्रिया रज-गुण है, ज्ञान-प्रसन्नता सत-गुण है तथा आलस्य-निद्रादि तम-गुण है। जीवन में सभी गुणों का उपयोग है। जीवननिर्वाह में शुद्ध इच्छा भी चाहिए, क्योंकि खाना, पीना, सोना-जागना तथा उनके लिए कुछ करना आवश्यक है। सत-गुण का व्यवहार ज्ञान-प्रसन्नता तो चाहिए ही, आलस्य-निद्रादि तम-गुण का व्यवहार भी अति आवश्यक है। प्रकाश सत-गुण है और अन्धकार तम-गुण। व्यवहार करने के लिए, यह ग्रन्थ लिखने तथा पढ़ने के लिए भी प्रकाश चाहिए, परन्तु सोने के समय अन्धकार चाहिए। सोना बहुत आवश्यक है तथा उसके लिए अन्धकार भी बहुत आवश्यक है।

विवेकवान पुरुष सारे मनःकल्पित भोगों का त्यागकर अनासक्तिपूर्वक केवल शुद्ध जीवन-निर्वाह लेता है। वह इस त्रिगुणात्मक जगत से अपने आप को सदैव अलग समझता है। अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष ये चार पुरुषार्थ एवं पुरुष के प्रयोजन माने जाते हैं और इन्हीं को चार फल भी कहते हैं। वस्तुतः फल तो काम और मोक्ष हैं, उनके साधन अर्थ और धर्म है। परन्तु साधन रूप अर्थ तथा धर्म को भी फल एवं पुरुषार्थ में गिन लिया जाता है। अंततः जीवन का मात्र एक पुरुषार्थ—मोक्ष है। उसके लिए साधन धर्म है। परन्तु शरीर की रक्षा के लिए सबको कुछ-न-कुछ अर्थ चाहिए। संसार में मोक्षार्थी तो थोड़े होते हैं, शेष सांसारिक कामना वाले ही होते हैं, इसलिए काम भी एक फल माना जाता है। काम का अर्थ है सांसारिक इच्छों। उनकी कुछ अंशों में पूर्ति अर्थ से होती है। वैसे इच्छों भोगों से नहीं पूर्ण होतीं, प्रत्युत उनका विवेक से त्याग होता है। जब इच्छाओं का त्याग हो जाता है, तब मानो कामना पूर्ण हो गयी। परन्तु इस ऊंचे भाव को समझने वाले लोग संसार में बहुत कम हैं, शेष तो भोगों से ही कामना-पूर्ति का भ्रम किये बैठे हैं। "शाखा पत्र गिने को वाका" का अभिप्राय है कि त्रिगुण मुख्य शाखाओं की उपशाखों एवं उनके पत्ते कौन गिन सकता है ! त्रिगुण की उत्पत्ति, स्थिति, विनाश, इच्छा, क्रिया, ज्ञान आदि अनेक शाखों-उपशाखों हैं, वह न संपूर्ण गिनाया जा सकता है और न उनकी यहां आवश्यकता है।

"बेलि एक त्रिभुवन लपटानी, बाँधे ते छूटै नहिं ज्ञानी।" यह पंक्ति बहुत मार्मिक है। संसार रूपी वृक्ष में एक लता है। जो तीनों भुवनों में लिपटी है। तीन भुवन का अर्थ है ऊपर, नीचे तथा मध्य। यह भी सापेक्ष कथन है। परन्तु जिस पृथ्वी पर हम हैं उसी को तो मध्य मानेंगे। जो व्यक्ति जहां रहता है उसके लिए वही मानो संसार का बीच भाग है। वस्तुतः यह संसार इतना विशाल है जिसे हम अपने मन में समा नहीं सकते। अर्थात मन द्वारा इसकी सीमा का अन्दाज नहीं कर सकते। त्रिभुवन का लाक्षणिक अर्थ है समस्त संसार तथा इससे भी अधिक व्यावहारिक अर्थ त्रिगुणी जीव है। सद्‍गुरु कहते हैं संसार-वृक्ष के सारे जीवों को उस लता ने लपेट रखा है। उस लता में बंधकर ज्ञानी भी नहीं छूट रहा है। यह बेलि है एषणा। एषणों तीन मानी गयी हैं—पुत्रैषणा, वित्तैषणा एवं लोकैषणा। एषणा का अर्थ है इच्छा। इसको वासना-तृष्णा भी कह सकते हैं। परन्तु एषणा का मुख्य अर्थ इच्छा ही है। पुत्रैषणा के भीतर ही शिष्यैषणा है। पुत्र की चाह, शिष्य की चाह, धन की चाह तथा लोकप्रसिद्धि की चाह। इस चाह की बेलि ने संसार को लपेट रखा है। कितने लोग पुत्रैषणा तथा वित्तैषणा छोड़ देते हैं तो लोकैषणा नहीं छोड़ पाते। मनुष्य का मन हर समय संसार से कुछ पाना चाहता है। अनुकूल प्राणी मिल जाये, धन मिल जाये, अनुकूल वस्तु मिल जाये, प्रशंसा एवं सम्मान मिल जाये, बड़ाई मिल जाये, बस हर समय यह चाहना बनी रहती है कि कुछ मिल जाये। शास्त्रों की बहुत बातें जानकर भी, साधना में बहुत दूर तक चलकर भी कितने ज्ञानीजन किसी-न-किसी सूक्ष्म इच्छा एवं वासना की बेलि में बंधे रहते हैं। इसीलिए सद्‍गुरु कहते हैं—"बाँधे ते छूटै नहिं ज्ञानी।" इस एषणा की लता में, तृष्णा-वासना की बेलि में ज्ञानी कहलाने वाला भी बंधकर नहीं छूट रहा है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि सब ज्ञानी एषणा-बेलि में बंधे हैं। अर्थ इतना ही है कि बहुत-से ज्ञानी कहलाने वाले इस बेलि से भीतर-भीतर लिपटे हैं। अतएव उन्हें भी अपने मन को देखते रहना चाहिए कि हम किसी एषणा में तो नहीं बंधे हैं। हमारे भीतर कोई सूक्ष्म सांसारिक इच्छा तो नहीं अंकुरित है। संसार का काम करने के लिए इच्छा चाहिए। बिना इच्छा के संसार का काम नहीं हो सकता। परन्तु यह प्रसंग बिलकुल अलग है। यहां तो जीव के संसार-वृक्ष से उतरने की बात है और जरा-मरण तथा शरीर के प्रपंच से सदैव के लिए मुक्त होने की बात है।

आज के विज्ञान-युग का आदमी इसे एक काल्पनिक आदर्श मात्र मानेगा। जन्म-मरण से मुक्त होने की बात उसे भले काल्पनिक आदर्श लगे,

परन्तु उसका जो आज का व्यावहारिक स्वरूप है उसे तो कोई भी समझ सकता है कि वह सुखद जीवन का उच्चतम शिखर है। जिसके मन में पुत्र, वित्त एवं लोक, किसी की भी एषणा नहीं है, जिसके मन से इच्छा, वासना, तृष्णा समाप्त हो गयी हैं, उसके हृदय के आनन्दसागर का क्या वर्णन हो सकता है! वासनाहीन सुख से बढ़कर तो कोई सुख है ही नहीं, इसके समान भी कोई सुख नहीं है। यहां तक इसका आधा या पाव सुख भी कहीं नहीं है। तृष्णा, वासना, उद्वेग, आग्रह, शिकायत, पश्चाताप, ग्लानि एवं समस्त मानसिक द्वंद्वों से रहित प्रशांत मन वाला हो जाना ही जीवन के उच्चतम शिखर पर पहुंच जाना है।

"कहहिं कबीर हम जात पुकारा, पंडित होय सो लेय बिचारा।" सद्गुरु कहते हैं कि हम पुकारे जा रहे हैं, जो पण्डित होगा वह इस सम्बन्ध में विचार लेगा। कबीर साहेब के मन में पण्डितों का कितना बड़ा आदर था। यहां निश्चित है कि पत्राधारी पण्डित नहीं हैं। यहां पण्डित का अर्थ सत्यासत्य विवेकिनी बुद्धि वाला सूक्ष्मदर्शी है। यह किसी कुल-गोत्र का नहीं होता, किन्तु जिसके भीतर अन्वीक्षकी बुद्धि हो वही पण्डित है। इस पंक्ति में दो महत्त्वपूर्ण बातें हैं, पहली बात है कबीर साहेब का निरालापन। "कहहिं कबीर हम जात पुकारा" साहेब कहते हैं कि हम कहीं रुक नहीं रहे हैं। लोककल्याण को लेकर भी हम कहीं बंधे नहीं हैं। हम तो सबसे विरक्त, निस्पृह होकर जा रहे हैं, परन्तु हां, अपना सजाति जानकर कल्याणार्थियों को पुकारे भी जा रहे हैं। सच्चे ज्ञानी का यही अर्थ होता है कि वह लोगों को रास्ता बता दे, परन्तु कहीं बंधे न। इसमें दूसरी महत्त्वपूर्ण बात वही है जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है "पण्डित होय सो लेय बिचारा।"

निजस्वरूप से पृथक परमतत्त्व खोजने वालों पर व्यंग्य

शब्द-54

साँई के संग सासुर आई॥ 1॥
संग न सूति स्वाद नहिं मानी, गयो जोबन सपने की नाँई॥ 2॥
जना चारि मिलि लगन सोधाये, जना पाँच मिलि माँड़ो छाये॥ 3॥
सखी सहेलरि मंगल गावैं, दुख सुख माथे हरदि चढ़ावैं॥ 4॥
नाना रूप परी मन भाँवरि, गाँठि जोरि भाई पतियाई॥ 5॥
अर्घा दै लै चली सुवासिनि, चौके राँड़ भई संग साँई॥ 6॥
भयो विवाह चली बिनु दुलहा, बाट जात समधी समुझाई॥ 7॥
कहैं कबीर हम गौने जैबे, तरब कन्थ लै तूर बजैबे॥ 8॥

शब्दार्थ—साँई=सांई, स्वामी, पति, निजस्वरूप, आत्मदेव। सासुर= संसार। जना चारि=मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार। जना पाँच=पांच तत्त्व, पांच विषय। सखी सहेलरि=पांच ज्ञानेन्द्रियां। भाँवरि=परिक्रमा, चक्कर। भाई=अज्ञान। अर्घा=अर्घ; दूब, दूध, चावल आदि मिला हुआ जल, जो नयी दुलहन के आने पर डोले से उतरने के बाद उसके आगे-आगे गिराते हुए उसे घर में ले जाते हैं। सुवासिनि=सुआसिन, सुहागिन स्त्री, पति वाली, अहिबाती, तात्पर्य में ईश्वरपरायण गुरु। चौके=पूजा की वेदी, अन्तःकरण। राँड़=पतिविहीन। समधी=सगुणोपासक गुरु। कन्थ=कंत, पति, भगवान। तूर=तुरही, एक प्रकार का बाजा।

भावार्थ—मनोवृत्तिरूपी दुलहन जीवरूपी पति के साथ ही संसार में आती है, परन्तु इसका ज्ञान न होने से वह न उसके साथ सोती है, न उसके स्वाद का अनुभव करती है, प्रत्युत उसकी जीवनरूपी जवानी स्वप्न के समान बीत जाती है॥ 1-2॥ मनुष्य की मनोवृत्तिरूपी दुलहन अपने आत्मदेव एवं चेतनस्वरूप पति को न जानकर संसार में अलग ही पति एवं सुख का आश्रय खोजने लगती है। वह अलग पति मानकर उसके साथ विवाह रचना चाहती है। उसमें मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार ये चारों पर-पति से सम्बन्ध करने के लिए लग्न शोधते हैं। अर्थात मन मनन करता है, चित्त अनुसंधान करता है, बुद्धि निर्णय देती है और अहंकार कर्तव्य करता है। पांच तत्त्वों ने तो पहले से ही शरीर रूपी मड़वा छा दिया है जिसमें विवाह सम्पन्न हो सके॥ 3॥ पांच ज्ञानेन्द्रियांरूपी सखी-सहेलियां मनुष्य की मनोवृत्तिरूपी दुलहन को बहिर्मुख करने के लिए विषयों के राग-रंग एवं सगुण उपासनादि के गीत गाने लगीं, और सांसारिक द्वंद्वरूपी सुख-दुख की हल्दी उसके मस्तक पर मलने लगीं॥ 4॥ नाना भोगों तथा कल्पित देवी-देवताओं के संस्कार मन में पड़ना ही मानो मनोवृत्ति का परोक्ष पति के साथ फेरे पड़ना है। इस मनोवृत्तिरूपी दुलहन ने अपने भाई अज्ञान से ही मानो ग्रंथिबन्धन कर उसी पर पति होने का विश्वास कर लिया॥ 5॥ परोक्ष पतिपरायण बने गुरुओं ने भ्रामक वाणीरूपी पानी गिराते हुए अर्थात उसका उपदेश करते हुए मनोवृत्तिरूपी दुलहन को परोक्ष ईश्वर के कल्पित भवन में ले जाकर बैठा दिया। दुखद घटना हुई कि दुलहन वेदी में बैठी हुई पतिविहीन एवं रांड़ हो गयी जबकि आत्मदेव-पति उसके साथ है, परन्तु वह तो बाहर पति खोज रही है। वह न मिला, अतः उसने अपने को रांड़ मान लिया॥ 6॥ मनुष्य की मनोवृत्ति ने किसी कल्पित परोक्ष-पति से अपना विवाह तो कर लिया, परन्तु वह कभी न मिला, अतएव दुलहन बिना पति के ही चली। रास्ता चलते

समय उसे समधी ने समझाया। अर्थात भक्ति-मार्ग में चलते हुए साधकों की मनोवृत्ति को गुरुओं ने समझाया कि तुम व्याकुल मत होओ, प्रत्युत प्रेमलक्षणा भक्ति करती चलो, ईश्वर अवश्य मिलेगा। आज नहीं तो मरने पर स्वर्ग में मिलेगा॥ 7॥ कबीर साहेब कहते हैं कि यह बात सुनकर भक्तों की मनोवृत्तिरूपी दुलहन उत्साहित हो गयी, और कहने लगी कि अभी पति नहीं मिला तो नहीं मिला, दुबारा गौन जाने पर तो मिलेगा ही। अतः हम बाजा-गाजा बजवाते हुए भगवान के धाम गौने जायेंगी और पति-परमेश्वर को लेकर कृतार्थ हो जायेंगी॥ 8॥

व्याख्या—इस पूरे शब्द में उन पर व्यंग्य है जो अपने चेतनस्वरूप एवं आत्मदेव को परमतत्त्व एवं अपना परम आश्रय न मानकर, अलग अपना पति खोजते हैं। कबीर साहेब व्यंग्य-लेखकों के आचार्य हैं। इतना बड़ा व्यंग्य करने वाला, चुटकी काटने वाला और लोगों की आंखों में उंगली डालकर जगाने वाला दूसरा मिलना मुश्किल है। हम इस शब्द की एक-एक पंक्ति पर खुलासा चिंतन करें।

"साँई के संग सासुर आई। संग न सूति स्वाद नहिं मानी, गयो जोबन सपने की नाँई।" जैसे कोई दुलहन अपने पति के साथ में ही ससुराल आयी हो, परन्तु उसका दुर्भाग्य कि वह अपने पति के साथ का सुख कभी न पायी हो। उसकी जवानी पति के संयोगजनित सुख के सपने देखते ही बीत गयी हो, कभी उसे अपने पति का आलिंगन न मिला हो। यही दशा मनुष्य की मनोवृत्ति की है। वह सदैव परमानन्द के आश्रय में पहुंचने के सपने देखती रहती है, परन्तु उसे जीवन में कभी भी परमानन्द का आश्रय नहीं मिलता। क्यों नहीं मिलता? क्योंकि वह उसे बाहर खोजती है। परमानन्द, परमशांति एवं आत्यंतिक सुख का आश्रय तो उसके साथ उसका चेतन देव है, परन्तु उसे उसका ज्ञान नहीं है। यह मनोवृत्ति दुलहन है, चेतनदेव उसका पति है। जब आदमी संसार में जन्म लेता है, तब दोनों साथ ही आते हैं। परन्तु दोनों साथ रहते हुए भी, अज्ञान के कारण परस्पर वियोग बना रहता है। इसीलिए मनोवृत्ति अपने अमृतस्वरूप चेतनदेव के साथ नहीं सोती, अर्थात समाधि में लीन नहीं होती। मनुष्य की मनोवृत्ति को स्वरूपस्थिति का स्वाद नहीं मिलता। उसे वह सुख नहीं मिलता जिसमें दुख की किरकिरी नहीं है और जो अनन्त है। मनुष्य का जीवन बीत जाता है, किन्तु उसके लिए परम सुख सपना ही बना रह जाता है। निजस्वरूप को न जानने का यही फल है। ऐसा भ्रम कि पति के साथ रहते हुए भी पति से वियोग! भला अपनी आत्मा को कोई छोड़कर कैसे रह सकता है! अपनी आत्मा से अपना कभी वियोग होना

संभव ही नहीं है, परन्तु ज्ञान न होने से वियोग-जैसा है। लोग कहावत है "लड़िका कांधे गांव गोहार !"

"जना चारि मिलि लगन सोधाये" दुलहन अपने पास में रहने वाले पति को न जानकर किसी दूसरे दूल्हे से विवाह करने के लिए लग्न शोधवाने लगी। उसे चार पंडित मिल गये। वे उसका लग्न शोधने लगे अर्थात मनुष्य की मनोवृत्ति अपने आत्मदेव पति को न जानकर सुख का आश्रय बाहर खोजने लगी। वह बाहरी पति की तलाश में पड़ गयी। बाहरी दूल्हे से विवाह करने के लिए मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार ये चार पंडित लग्न शोधने लगे। इसका अर्थ यह है कि मन बाहरी विषयों एवं कल्पित देवी-देवताओं की कल्पना करने लगा, चित्त उसका अनुसंधान करने लगा, बुद्धि उसी का निश्चय करने लगी तथा अहंकार उसी को स्वीकार करने लगा। विषयों में सुख ढूंढ़ने लगे या कल्पित देवी-देवताओं में।

"जना पाँच मिलि माँड़ो छाये" पांच जने मिलकर पहले से ही माड़व अर्थात मंडप छा दिये थे जिसमें विवाह होना था। ये पांच जने हैं पांच तत्त्व। तत्त्वों से शरीर-मंडप पहले ही बनकर तैयार है। इसमें मनुष्य की मनोवृत्तिरूपी दुलहन नये-नये पति से विवाह करती रहती है। अर्थात अपने आत्मदेव से विमुख बनी वह नाना विषयों एवं देवी-देवताओं में भटकती रहती है।

"सखी सहेलरि मंगल गावैं, दुख सुख माथे हरदि चढ़ावैं।" विवाह होने के पूर्व से ही सखी-सहेलियां विवाह के मंगल गीत गाने लगती हैं और संभावित दुलहन (कन्या) के शरीर में हल्दीयुत उबटन लगाने लगती हैं। आंख, नाक, कान, जीभ तथा चमड़ी ये पांच ज्ञानेन्द्रियां मनोवृत्ति की मानो सहेलियां हैं। ये विषयों के गीत गाती हैं अर्थात मनोवृत्ति को ये शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध—इन विषयों की तरफ खींचती हैं और सुख-दुख की हल्दी मनोवृत्ति दुलहन के मस्तक पर मलती हैं। इन सबका अर्थ यह है कि मनुष्य की मनोवृत्ति निज चेतनस्वरूप में न रमने से वह पांचों इन्द्रियों के विषयों में रमती है, और उसके परिणामस्वरूप संसार के सुख-दुख द्वंद्व सहती है। विषयों में क्षणिक सुख मिलता है और पेट भर दुख।

"नाना रूप परी मन भाँवरि, गाँठि जोरि भाई पतियाई।" विवाह के समय वर-वधू के कपड़े की एक में गांठ बांधकर वे अग्नि के चारों ओर सात फेरे लगाते हैं। यहां नाना प्रकार के विषयों एवं कल्पित देवी-देवताओं के संस्कार जो मन में पड़ते हैं वही मानो फेरा पड़ना है। यहां फेरा का अर्थ है चक्कर। संस्कारों एवं भ्रांतियों के चक्कर में मनुष्य की मनोवृत्ति भटकती रहती है।

इस मनोवृत्ति-दुलहन ने अपने भाई से ही ग्रन्थिबंधन कर उसी को अपना पति होने का विश्वास कर लिया। अज्ञान तथा मनोवृत्ति दोनों की उत्पत्ति अविद्या से होने के कारण दोनों मानो भाई-बहन हैं। निज चेतनस्वरूप से अलग जो कुछ अपना आश्रय माना जाता है वह सब अज्ञान ही है। जीव उन्हीं से अपना ग्रंथिबंधन करता है। यही तो जड़-चेतन की ग्रंथि है। मनोवृत्ति निज चेतनस्वरूप के अलावा जहां तक अपनी अवधारणाओं को पति मानती है, सुख का कारण मानती है, वह सब अज्ञान है। इसी के लिए "गाँठि जोरि भाई पतियाई" व्यंग्य है।

"अर्घा दै लै चली सुवासिनि" जब दुलहन विवाह के बाद ससुराल पहुंचती है, तब दरवाजे पर उसके डोले के पास स्त्रियां आकर दुलहन के सामने जल गिराती हुई उसे घर में ले जाती हैं। जल गिराना, अर्घ देना कहलाता है। यह अर्घ देने का काम सुआसिन करती है। सुआसिन का अर्थ है सुहागिन, पतिवाली। विधवा यह काम नहीं करती। विधवा उस अवसर पर अशुभ मानी जाती है। सुहागिन शुभ मानी जाती है। अतः सुहागिन अर्घ देते हुए दुलहन को घर में ले जाती है। यहां सुहागिन है परोक्ष ईश्वर तथा देवी-देवताओं के उपासक भक्त-गुरु, क्योंकि वे पतिवाली हैं। उन्होंने अपनी आत्मा से अलग किसी कल्पित ईश्वर या देवता को अपना पति मान रखा है। वे मनुष्यों की मनोवृत्ति के सामने कल्पित वाणियों का उपदेश करते हैं। यही मानो वे अर्घ देते हैं। वे अपनी रोचक वाणियों से मनुष्यों की मनोवृत्तियों को अपनी ओर खींचते हैं।

दुख यह है कि "चौके राँड़ भई संग साँई" दुलहन चौके में एवं ससुराल की वेदी में पहुंचते ही रांड़ हो गयी। अचरज तो यह है कि उसका पति उसके साथ है, परन्तु वह विधवा हो गयी। तात्पर्य है कि मनुष्य की मनोवृत्तिरूपी दुलहन यह तो जानती नहीं है कि अपना चेतनदेव-पति अपने साथ ही है। स्वरूपज्ञान से वह एकदम अनभिज्ञ है, और जिस कल्पित-ईश्वर या देवी-देवता को अपना पति माना वह तो मिला ही नहीं। वह मिलने की कोई वस्तु नहीं। वह तो केवल मन की कल्पना है। अतएव उसने जिन्हें पति माना वह न मिलने से अपने आप को रांड़, विधवा एवं अभागिन समझने लगी। मनुष्य को अपने दिव्य आत्मदेव का परिचय न होने से वह बाहर भटकता है और बाहर से उसे सन्तोष मिलता नहीं। बड़े-बड़े संत-भक्त सदैव इसी अभाव में दुखी रहते हैं कि ईश्वर ने हमें दर्शन नहीं दिये। उन्हें यह पता नहीं कि अपने चेतनदेव के अलावा बाहर कोई ईश्वर नहीं, जो दर्शन दे। अतएव वे स्वरूपज्ञान तथा आत्मज्ञान के अभाव में अपने आप को सदैव विधवा माने बैठे रहते हैं।

"भयो विवाह चली बिनु दुलहा" विवाह हो जाने के बाद दुलहन बिना दूल्हे के चले तो उसका दुर्भाग्य है। मनुष्य की मनोवृत्ति ने किसी परोक्ष ईश्वर एवं देवादि से अपनी सगाई तो कर ली, परन्तु उसे न पाने से वह बिना दूल्हे के चली। यहां चली का मतलब है जीवन-यापन करना। अर्थात ईश्वर की भक्ति करते हुए भक्त जीवन-यापन कर रहा है। उसके बहुत समय बीत गये, परन्तु उसे दूल्हा न मिला। उसे मिलने वाला भी नहीं है। बाहर से जीव को कोई दूल्हा, कोई ईश्वर नहीं मिलने वाला है। संसार में जो मिलता है वह छूटता है। माया की चीजें मिलती हैं और मिलकर छूट जाती हैं। यदि ईश्वर भी कुछ है और वह मिलता है तो मिलकर अवश्य छूट जायेगा। न छूटने वाला ईश्वर तो मनुष्य की अपनी आत्मा ही है। परन्तु वह उसे समझता ही नहीं है और बाहर ईश्वर खोजता है, इसलिए वह भटकता है। अपने आप को बिना दूल्हे के समझता है।

"बाट जात समधी समुझाई।" समधी भक्त-गुरु हैं। वे भक्त-साधकों को भक्ति-पथ में चलते समय उन्हें धैर्य देकर समझाते हैं। वे कहते हैं कि तुम घबराओ मत। तुम्हें परमात्मा अवश्य मिलेगा। ध्रुव को मिला, प्रहलाद को मिला और उसने बहुत भक्तों को साक्षात दर्शन दिये। घबराने की जरूरत नहीं है। ईश्वर अवश्य मिलेगा। यदि जीवन में नहीं मिलेगा तो मरने के बाद स्वर्ग में पहुंचने पर मिलेगा। तुम प्रेम-लक्षणा भक्ति करते जाओ। तुम अपने आप को समझो कि तुम उसकी पत्नी हो और वह तुम्हारा पति है। तुम मन ही मन उसको भोजन कराओ, उसकी आरती उतारो, उसके पैर दबाओ, उसको पान के बीड़े दो, उसके साथ लिपट जाओ, वह अवश्य कृपा करेगा और तुम्हें अपना प्रेयसी बना लेगा। माधुर्य भक्ति करने वाले ऐसी ही भक्ति करते हैं। क्या वे सब समझदार नहीं हैं ! तुम्हें ईश्वर अवश्य मिलेगा।

"कहैं कबीर हम गौने जइबै, तरब कन्थ लै तूर बजैबै।" कबीर साहेब कहते हैं कि उक्त बातें सुनकर भक्त-साधकों को उत्साह जग जाता है। वे कहते हैं कि हम बाजा-गाजा के सहित कथा-कीर्तन कर भगवान के धाम गौने जायेंगी और अपने भगवानपति से मिलकर कृतकृत्य हो जायेंगी।

उक्त पूरा शब्द सगुण-उपासकों पर व्यंग्य है। जो अपनी आत्मा से अलग परमात्मा मानता है और उसको पाना चाहता है, साहेब उसको आड़े हाथों लेते हैं। कितने विद्वान नीचे की पंक्ति से कबीर साहेब को ही कहने लगते हैं कि कबीर स्वयं भगवान के धाम गौने जाना चाहते हैं। वे पूरे शब्द के अर्थप्रवाह को समझना ही नहीं चाहते, क्योंकि उनको अपना मंतव्य इसी में सिद्ध दिखता है। परन्तु किसी का अनर्थ नहीं करना चाहिए। कबीर साहेब अन्तरात्मा को

ही परमतत्त्व मानते हैं। जो निजस्वरूप को छोड़कर बाहर ईश्वर खोजता है उसे वे अनेक तर्कों एवं व्यंग्यों से जगाते हैं। गहरे में गड़े हुए भ्रम को उखाड़ने के लिए तीव्र वाणी की आवश्यकता होती है।

मनुष्य की विपरीतता पर व्यंग्य

शब्द-55

नर को ढाढ़स देखो आई, कछु अकथ कथ्यो है भाई ॥ 1॥
सिंह शार्दुल एक हर जोतिनि, सीकस बोइनि धानै ॥ 2॥
बन की भुलैया चाखुर फेरें, छागर भये किसानै ॥ 3॥
छेरी बाघै ब्याह होत है, मंगल गावै गाई ॥ 4॥
बन के रोझ धरि दायज दीन्हों, गोह लो कन्धे जाई ॥ 5॥
कागा कापर धोवन लागे, बकुला किरपहिं दाँते ॥ 6॥
माँखी मूँड़ मुँड़ावन लागी, हमहूँ जाब बराते ॥ 7॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, जो यह पद अर्थावै ॥ 8॥
सोई पण्डित सोई ज्ञाता, सोई भक्त कहावै ॥ 9॥

शब्दार्थ—ढाढ़स=साहस, धैर्य। अकथ=न कथने योग्य, अन्होंन। शार्दुल=शार्दूल, एक पक्षी।[1] सीकस=ऊसर जमीन। भुलैया=लोमड़ी। चाखुर फेरें=जुते हुए खेत से घास निकालना। छागर=बकरा। छेरी=बकरी। गाई=गाय, इन्द्रियां। रोझ=नीलगाय। धरि=पकड़कर। गोह=छिपकली जाति का एक जहरीला जन्तु, जो नेवले के बराबर आकार का होता है।

भावार्थ—मनुष्य का साहस तो देखो। हे भाई, इसने कुछ अनहोनी बातें कहीं और की हैं॥ 1॥ इसने सिंह और शार्दूल पक्षी को एक हल में जोत दिया है, ऊसर में धान बो दिया है, वन की लोमड़ियों ने जुते खेत की घास को निकालने का काम किया है और बकरे ने किसानी की है। अर्थात जीव सिंह को मन की मान्यतारूपी शार्दूल पक्षी के साथ जोत दिया गया है, मनुष्य ने अपने शक्ति-बीजरूपी धान को निरर्थक क्रियारूपी ऊसर में बो दिया है। संसार के मोह एवं भ्रांतियों में जो स्वयं भूले हैं ऐसे गुरु जीव का अज्ञान दूर करने लगे हैं और बकरे-जैसे कायर लोग धर्म की खेती करने लगे हैं॥ 2-3॥

---

1. शार्दूल का अर्थ सिंह भी है और शार्दूल नाम का एक पक्षी भी होता है। सिंह इस पंक्ति में पहले आ चुका है। इसलिए यहां शार्दूल का अर्थ पक्षी ही होना चाहिए।

बकरी और बाघ का विवाह होने लगा है, गायें मंगल गाने लगी हैं, वन की नीलगायें पकड़कर दायज में दी जाने लगी हैं और विषैले गोह वर-वधू की डोली अपने कंधे पर लेकर बिदा करने चल दिये हैं। अर्थात जीव का माया के साथ ग्रंथिबन्धन होने लगा है। इन्द्रियां उसमें आनन्द के गीत गाने लगी हैं, नीलगाय के समान मन की चंचलता मानो इसमें दहेज एवं भेंट दी गयी हैं तथा राग-द्वेष से आवृत्त विषैले लोग अपने कंधे पर तरन-तारन होने का भार उठा लिये हैं॥ 4-5॥

कौए अपने कपड़े धोने लगे हैं, बकुले अपने दांत किटकिटाकर कपड़े पर इस्तरी फेरने लगे हैं, मक्खियां सिर के बाल मुड़वाने लगी हैं कि हम भी बरात जायेंगी। अर्थात कौए के समान चंचल लोग सफेदपोश होने लगे हैं, बकुले के समान कपटी लोग ठाट-बाट से रहकर अपने भेद छिपाने लगे हैं, और मक्खी के समान मलिन मन वाले मूड़ मुड़ाकर साधु-संन्यासी होने लगे हैं॥ 6-7॥

कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो ! सुनो जो इस पद का अर्थ लगायेगा और सावधान हो जायेगा, वही पण्डित है, वही ज्ञाता है और वही भक्त कहलाने योग्य है॥ 8-9॥

व्याख्या—कबीर साहेब की जितनी उलटवांसियां होती हैं सब प्राय: उन पर व्यंग्य होती हैं जो समाज में रहकर विपरीत आचरण करते हैं। साहेब कहते हैं कि ऐसे लोग साहसी होते हैं और न करने योग्य काम करते हैं। सिंह और शार्दूल-पक्षी का एक हल में जोत देना ऐसी ही घटना है। सिंह जीव है और शार्दूल-पक्षी मन है। मन का अर्थ है मन की मान्यतों। यहां मान्यतों का अभिप्राय है व्यर्थ मान्यतों एवं अहंता-ममता। जीव शुद्ध चेतन है, अपने आप में पूर्णकाम है। यदि वह अपने आप को समझकर अपने आप में स्थित हो तो कृतार्थ है, परन्तु वह बाहरी अहंता-ममता में पड़कर दुखी है।

"सीकस बोइनि धानै" सीकस में, ऊसर जमीन में धान बोना हद दर्जे की बेवकूफी है। हम अपने जीवन में ऐसी ही बेवकूफी करते रहते हैं। हम जीवनभर ऊसर में धान बोते हैं। हम अपनी शक्ति को जीवनभर राग, द्वेष, परनिन्दा, पर-अपकार एवं निरर्थक ही नहीं, अनर्थक क्रियाओं में खोते हैं। हीरा-जैसे जीवन के समय एवं शक्ति को व्यर्थ में खोकर अंत में असफल होकर संसार से विदा होते हैं। यह गलती साधारण लोग ही नहीं, किन्तु विद्वान और ज्ञानी कहलाने वाले लोग भी करते हैं।

"बन की भुलैया चाखुर फेरें" जब खेत जोतकर लकड़ी के पाटले से उसे बराबर कर दिया जाता है, तब उसमें से उखड़ी हुई घासों को निकाला जाता

है। उस घास को चिखुरी या चाखुर कहा जाता है। यदि वन की लोमड़ियां आकर घास निकालने लगें तो यह आश्चर्य है। लोमड़ियों को भुलैया क्यों कहा गया? क्योंकि वे प्रायः अपने खोदे हुए बिल को भूल जाती हैं, इसलिए फिर दूसरा खोदती हैं। यहां वन की भुलैया हैं संसार के भूले गुरु लोग जो संसार के अज्ञानरूपी घास को निकालने का दावा करते हैं। वे स्वयं तो भूले हैं। उनको सारासार का स्वयं विवेक नहीं है। ये स्वयं अनेक अन्धविश्वासों में जकड़े हैं। उन्हें स्वयं विश्वसत्ता के नियमों का बोध नहीं है और न वे स्वयं स्वरूप को ही समझते हैं। परन्तु वे जगत के गुरु बनकर चाखुर फेरते हैं। वे सबके अज्ञान को दूर करने एवं सबको मुक्ति देने की ठेकेदारी लेते हैं।

"छागर भये किसाने" बकरे किसान हो गये। बकरे कमजोर और कायर जानवर होते हैं। यदि उनके ऊपर पानी की चार बूंदें पड़ें तो वे में-में करके भागकर कोई छाया ढूंढ़ते हैं। ऐसे बकरे क्या किसानी करेंगे ! इसी प्रकार जो कायर और कपूत हैं वे क्या धर्माचरण करेंगे। परन्तु संसार में कायर लोग ही धर्मध्वजी बन गये हैं। वे त्याग और संयमरूपी धर्म से तो सैकड़ों कोस दूर रहते हैं। हां, वे धार्मिक ढोंग अवश्य करते हैं।

"छेरी बाघै ब्याह होत है" बकरी और बाघ का विवाह होना अपने आप में आश्चर्य है। सिंहवत मनुष्य जीव दीन बकरीवत माया में आसक्त होता है। सिंह अपने स्वरूप को भूलकर ही तो बकरी से विवाह करेगा। इसी प्रकार जीव अपनी महान शक्ति को भूलकर ही तो माया को अपना सहधर्मिणी बनाकर उसके अधीन होता है। माया है सांसारिक प्राणी-पदार्थों के प्रति आसक्तिरूपी कायरता। यह सिंहवत शुद्ध चेतन जीव तुच्छ विषयों का गुलाम हो जाता है। कोई तम्बाकू का गुलाम, कोई बीड़ी-सिगरेट का गुलाम, कोई गांजा-भांग का गुलाम, कोई शराब-ताड़ी का गुलाम, कोई काम-भोग का गुलाम, कोई अन्य राग-रंग का गुलाम, कोई लोभ का गुलाम, कोई ममता का गुलाम। अर्थात कहीं-न-कहीं तुच्छ वस्तुओं का यह सिंह-जीव गुलाम बन जाता है। जो सारी आसक्तियों को छोड़कर अपने आप में जग जाता है, वही मानो अपने समर्थ-सिंहस्वरूप चेतन को समझ सका है। बाकी तो मूलतः सिंह होकर भी गीदड़ बन गये हैं।

"मंगल गावै गाई" सिंह और बकरी के विवाह में गायें मंगल-गीत गा रही हैं। अर्थात जीव के माया में लिप्त होने पर इंद्रियां आनन्द मना रही हैं। जो जितना माया लिप्त होगा वह उतना इंद्रिय-लपंट होगा। इन सबके फल में जीव को मिलेगी चंचलता। यही मानो उसे विवाह में नीलगाय का दहेज मिलना है। बन के रोझ हैं नीलगायें। ये बड़ी चंचल एवं भागने वाली होती

हैं। माया-लिप्त एवं इंद्रिय-लिप्त व्यक्ति को इस मायिक विवाह में दहेज चंचलता के अलावा क्या मिलेगा ! उसका मन निरंतर भागता रहेगा।

"गोह लो कन्धे जाई" गोह विषैले जानवर हैं। वे वर-वधू के डोले को अपने कन्धे पर लेकर उन्हें उनके घर पहुंचाने लगे। संसार में ऐसे कितने धार्मिक गुरु हैं जो जनता के तरन-तारन बनते हैं। वे स्वयं राग-द्वेष एवं अनेक बुराइयों से विषधर हैं। परन्तु शिष्यों को उनकी मंजिल तक पहुंचाने की ठेकेदारी लेते हैं। ऐसे लोगों के विषय में "गुरु सहित शिष्य सब बूड़े, अन्तकाल पछिताना।" वाली बात याद आती है। वे स्वयं मानसिक दुखों में डूबे रहते हैं और दूसरों को प्रांजल एवं प्रशांत मोक्ष देने की जिम्मेदारी लेते हैं।

"कागा कापर धोवन लागे, बकुला किरपहिं दाँते। माँखी मूँड़ मुँड़ावन लागी, हमहूँ जाब बराते।" ये सारी बातें चंचल, कपटी एवं मलिन मन वालों पर व्यंग्य हैं। ऐसे-ऐसे कपटी-कुचाली एवं मलिन लोग समाज के रहबर, मार्गदर्शक, नेता, धार्मिक एवं साधु-संन्यासी बनने का ढोंग करते हैं। ऐसे लोग ही परिवार, समाज, देश तथा धर्म के स्वरूप को गंदा एवं लांछित करते हैं। कर्मचारी-समाज, अधिकारी-समाज, डॉक्टर-समाज, वकील-समाज, राजनीतिक-समाज, शिक्षक-समाज, विद्वान-समाज, व्यापारी-समाज, गृहस्थ-समाज, विरक्त-समाज, सभी क्षेत्रों को तो ये बाहर से अपने भव्य रूप बनाने वाले भीतर से चंचल, कपटी, मलिन और धूर्त लोगों ने ही खराब किया है।

"कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, जो यह पद अर्थावै। सोई पण्डित सोई ज्ञाता, सोई भक्त कहावै।" कबीर साहेब अपनी बातें सन्तों से कहते हैं। सन्त वह है जो निश्छल और निर्मल है। वे संसार के सभी लोगों को निश्छल एवं निर्मल रूप देखना चाहते हैं। वे कहते हैं कि जो व्यक्ति हमारे इस पद का अर्थ लगाये वही पण्डित है, ज्ञानी है और भक्त है। इस पद में कथन शैली व्यंग्यात्मक एवं उलटवांसियों से भरी है, इसीलिए इसका अर्थ करना थोड़ा कठिन है, केवल इसीलिए सद्गुरु ने ऐसा नहीं कहा है। किन्तु उनका अभिप्राय है कि जो व्यक्ति हमारे कथन के अभिप्राय को समझ ले और समझकर अपनी विपरीत चाल को छोड़ दे, वही पण्डित, ज्ञाता तथा भक्त है। पांडित्य, ज्ञान तथा भक्ति न शब्दचातुर्य है, न चमत्कारिक अर्थ-प्रस्तुति है और न व्याख्यानवाचस्पति होना है, किन्तु सत्यासत्य समझकर असत्य का त्याग और सत्य का ग्रहण है। विषयों की मलिनता, इन्द्रियों की लंपटता, छल, कपट तथा स्वार्थपरता का त्याग करना ही पण्डित होना है, ज्ञानी होना है तथा भक्त होना है।

सच्चा पथ जानो

शब्द-56

नर को नहिं परतीत हमारी॥ 1॥

झूठा बनिज कियो झूठे सो, पूँजी सबन मिलि हारी ॥ 2॥
षट दर्शन मिलि पन्थ चलायो, तिरदेवा अधिकारी ॥ 3॥
राजा देश बड़ो परपंची, रैयत रहत उजारी ॥ 4॥
इत ते उत उत ते इत रहहू, यम की साँड़ सवारी ॥ 5॥
ज्यों कपि डोर बाँधु बाजीगर, अपनी खुशी परारी ॥ 6॥
इहै पेड़ उत्पति परलय का, विषया सबै विकारी ॥ 7॥
जैसे श्वान अपावन राजी, त्यों लागी संसारी ॥ 8॥
कहहिं कबीर यह अदबुद ज्ञाना, को मानै बात हमारी ॥ 9॥
अजहूँ लेहुँ छुड़ाय काल सो, जो करै सुरति सँभारी ॥10॥

शब्दार्थ—परतीत=प्रतीत, विश्वास। बनिज=व्यापार। पूँजी=जमा, मूलधन। षट-दर्शन=योगी, जंगम, सेवड़ा, संन्यासी, दरवेश तथा ब्राह्मण। तिरदेवा=ब्रह्मा, विष्णु, शंकर; रज, सत, तम, त्रिगुणात्मक क्षेत्र। अधिकारी= शासक। राजा=पंथाचार्य। देश=संप्रदाय। परपंची=प्रपंची, धोखेबाज, छलिया। रैयत=प्रजा, रिआया। उजारी=उजाड़, वीरान, जनशून्य, ध्वस्त। इत-उत=लोक-परलोक, जन्मांतर, विचलित। यम=मन, वासना। सांड़=सांड़िया, ऊंट। कपि=वानर। परारी=दूसरे के हाथ, वासनावश। पेड़=मूल। सुरति= सुरत, ध्यान, याद, लक्ष्य। संभारी=संभाल लेना, रोक लेना, संयत कर लेना।

भावार्थ—मनुष्यों को मेरी बातों पर विश्वास नहीं है॥ 1॥ मनुष्यों ने झूठे लोगों से नकली माल का व्यापार किया है, और सब मिलकर अपनी जमा पूंजी खो चुके हैं॥ 2॥ योगी-जंगमादि नाना सम्प्रदाय वालों ने अपने-अपने पंथ चला रखे हैं। जिनकी सारी पहुंच वहीं तक है जहां तक तीनों गुणों का शासन है॥ 3॥ इन पंथाचार्यों के सम्प्रदाय तो बड़े छलावापूर्ण एवं बाहरी आडंबरों से भरे हैं। ये अपनी प्रजा एवं अनुगामियों को उजाड़ एवं निष्फलक्रिया में ले जाते हैं॥ 4॥ इनके चक्कर में पड़कर यह जीव वासनारूपी ऊंट की सवारी पर चढ़कर इधर से उधर तथा उधर से इधर एवं जन्मांतरों में भटकता रहता है॥ 5॥ यह जीव उसी प्रकार अपने स्वरूप के अज्ञानवश अपनी खुशी से अपने आप को बंधनों में बंधाकर जगत-नगर में नाचता है जिस प्रकार चने के लोभ में पड़कर बंदर सुराही में अपनी खुशी से हाथ डालकर मुट्ठी बांधता है और कलंदर द्वारा रस्सी में बांधकर द्वार-द्वार

नचाया जाता है॥ 6॥ यह निजस्वरूप की भूल तथा विषयों का प्रलोभन ही जन्म-मरण का मूल है। विषय तो सारे ही मलिन होते हैं, वे चाहे स्थूल भोग के हों और चाहे ऋद्धि-सिद्धि एवं लोक-लोकांतरों के हों॥ 7॥ परन्तु संसारी आदमी तो मानो बिना नाक के होकर उसी प्रकार विषयों में आकंठ डूबा रहता है जैसे कुत्ते गंदी वस्तुओं को खाने में खुश रहते हैं॥ 8॥ कबीर साहेब कहते हैं कि यह मेरा ज्ञान लोगों को आश्चर्यजनक लगता है, इसलिए कौन मेरी बात मानने वाला है! लेकिन यदि कोई अपने ध्यान को सम्भाल ले, अर्थात अपने को प्रपंच से हटा ले तो मैं उसे भवबंधन से छुड़ा लूंगा॥ 9-10॥

व्याख्या—"नर को नहिं परतीत हमारी" मार्मिक वचन है। कौन विश्वास करे ऐसे फक्कड़ पर जो न अपने आप को अवतार कहता है, न ईश्वर-पुत्र कहता है, न पैगम्बर कहता है, न देवता कहता है, न कोई चमत्कार दिखाता है, न किसी खुदाई किताब की दुहाई देता है। अपनी बातें मनवाने के लिए दुनिया के लोगों को कोई झांसा तो देना चाहिए। कुछ नमक-मिर्च मिलाये बिना, कुछ झूठ बिना कौन सुनता है आवाज! खालिस ज्ञान तथा खालिस आत्मकल्याण चाहने वाले संसार में कितने हैं! अधिकतम लोग तो सांसारिक सफलता चाहते हैं, ऋद्धि-सिद्धि चाहते हैं, अपने किये हुए पाप एवं अपराधों का चुटकी बजाते क्षय चाहते हैं, कमल के समान सुन्दर हाथ, पैर, मुख वाले भगवान के दर्शन चाहते हैं और यदि मोक्ष चाहते हैं तो बिना कोई परिश्रम किये। तो क्या इन लाभों का उपाय है कबीर के पास! कबीर तो इन सबका खंडन करते हैं। वे खरे ज्ञान की बात करते हैं, और कहते हैं कि तुम्हें अपने श्रम से कल्याण करना होगा। तो इतना महंगा सौदा कौन पूछे! कौन करे इन पर विश्वास! जो धर्म के नाम पर एक भी झूठ नहीं बोलता, प्रत्युत सारी धार्मिक झुठाइयों की कड़ी आलोचना करता है, उसकी बात कौन सुने! धर्म के प्रचार के लिए बड़ी-बड़ी गप्पें चाहिए। जो बिना सिर-पैर की बातें नहीं करेगा वह धर्मोपदेशक नहीं माना जायेगा। फिर इसके उलटे जो सारी धार्मिक गप्पबाजियों की धज्जियां उड़ाता है उसकी बातों पर कौन विश्वास करे!

"झूठा बनिज कियो झूठे सो, पूँजी सबन मिलि हारी।" कबीर की वही बात सामने आ गयी जो संसार को अनसुहाती लगती है। वे कहते हैं कि मनुष्यों ने झूठे लोगों से मिलकर नकली माल का व्यापार किया है और सभी अपनी-अपनी जमा पूँजी गवां दिये हैं। जिस धन से व्यापार शुरू किया जाता है वह जमा पूंजी है, मूलधन है। व्यापार करने पर धन बढ़ना चाहिए परन्तु यदि जमा पूंजी ही खो जाये तो व्यापार असफल है। मनुष्य का अपना आपा,

अपनी चेतना, अपनी आत्मा ही उसकी जमा पूंजी एवं मूलधन है। अपने आपा को लेकर ही तो हम धार्मिक या आध्यात्मिक व्यापार करते हैं। अपने आपा को अलग रखने का उपाय ही नहीं है। हम अपनी आत्मा को लेकर ही धर्म के मार्ग में, अध्यात्म के मार्ग में चलते हैं। इसमें फल मिलना चाहिए भवबंधनों से छुटकारा, वासना का क्षय, विजाति जड़ दृश्यों का बंधन कटकर स्वरूपस्थिति। परंतु यदि हम धार्मिक तथा आध्यात्मिक कहलाकर अपनी आत्मा को ही भूल जायें, अपने चेतनस्वरूप का ही हमें भान न रह जाये, हम अपने आप को अंश, तुच्छ, प्रतिबिम्ब, आभास आदि मान लें, तो मानो हमारी पूंजी भी चली गयी। भवबंधन तो कटा नहीं, उलटे अपने आप को ही भूल बैठे। इन सबका कारण यह है कि हमने नकली माल का व्यापार करने वालों से व्यापार शुरू किया। जो गुरुजन परोक्ष मान्यता और बाह्याचार में ही उलझे हैं, जिनके पास स्वरूपविवेक है ही नहीं, उनके साथ मिलकर आध्यात्मिक व्यापार करेंगे तो हमारी जमा पूंजी तो खो जायेगी ही। "पूँजी सबन मिलि हारी" गुरु-शिष्य सब मिलकर अपना मूलधन गवां बैठे हैं। किसी को भी निजस्वरूप का ज्ञान नहीं है। सब कर्मकांड में भटक रहे हैं।

'षट दर्शन मिलि पन्थ चलायो, तिरदेवा अधिकारी।" योगी-जंगमादि षट दर्शनियों ने अपने-अपने संप्रदाय चलाये हैं। सभी संप्रदायों से समाज को कुछ-न-कुछ सद्प्रेरणा मिलती है, यह सब मान्य है, परन्तु अन्तिम लक्ष्य को देखने से पता लगता है कि सभी सम्प्रदाय वहीं तक पहुंचते हैं जहां तक तीनों देवताओं का शासन है। तीन देवता हैं ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव। ये तो प्रतीकात्मक नाम हुए। असली मतलब है त्रिगुण। सारा भौतिक एवं मानसिक जगत रज, सत एवं तम से व्याप्त है। जहां तक सांसारिक ऋद्धि-सिद्धि पाने की इच्छा है वह त्रिगुण एवं मायिक है। स्वर्ग की कल्पना है, वह भी त्रिगुण के भीतर है। किसी देवी-देवता, हाथ-पैर वाले भगवान या मन से अवधारित बाह्य ईश्वर से मिलने की इच्छा, सब त्रिगुण-शासन के भीतर है। लोकांतर मोक्ष की कल्पना भी त्रिगुणात्मक ही है। जहां तक भौतिक जगत है और जहां तक मन चलता है सब त्रिदेव के अधिकार के भीतर है, सब त्रिगुणात्मक है। गुणातीत तो निज चेतनस्वरूप ही है। मन की सारी मान्यताओं के समाप्त होने पर यह अवस्था आती है।

"राजा देश बड़ो परपंची, रैयत रहत उजारी।" किसी देश का राजा ऐसा हो जो धोखेबाज हो, वह अपनी प्रजा से छल-बलपूर्वक धन छीन ले और उन्हें ले जाकर जंगल या जनशून्य रेगिस्तान में बसा दे तो प्रजा का कल्याण कहां है ! संसार के अनेक सम्प्रदायाचार्यों की भी यही दशा है। उनके संप्रदाय

में बड़े-बड़े छल-प्रपंच हैं। धर्म के नाम पर असत्य बोलने में वे डरते ही नहीं। विश्व के शाश्वत नियमों, कारण-कार्य-व्यवस्था, वस्तुपरक एवं आत्मपरक बुद्धि से उन्हें दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। कर्मकांड, आशीर्वाद एवं पूजा के बल पर जनता को सब कुछ देने का झांसा, बात-बात में देवी-देवताओं एवं भगवान की दुहाई, अपने कर्म और श्रम पर विश्वास ही नहीं। अतएव इन राजाओं के देश, इन संप्रदायाचार्यों के संप्रदाय "बड़ो परपंची" हैं। इससे सहज बात है "रैयत रहत उजारी"। यथार्थ ज्ञान एवं रहनी के बिना अनुगामीजन शून्य में भटकेंगे ही। जहां कुछ नहीं है वहां उन्होंने सब कुछ मान लिया है। निज स्वरूप-विवेक छोड़कर अपने लक्ष्य को बाहर खोजना मानो उजाड़ में भटकना है।

"इत ते उत उत ते इत रहहू, यम की साँड़ सवारी।" यह जीव अपने स्वरूप को न पहचानकर और अपने आप में न स्थित होकर इधर से उधर तथा उधर से इधर भटकता है। क्यों भटकता है? क्योंकि इसे यम की सांड़ सवारी मिली है। पहले जमाने में लोग दूर-दूर की यात्रा ऊंट पर करते थे। ऊंट को सांड़िया तथा ऊंटनी को सांड़िनी कहते हैं। यहां सांड़िया को ही सद्गुरु ने सांड़ कहा है। यम सांड़िया है, ऊंट है। यम है वासना। वासना बाहरी चीजों एवं बाहरी अवधारणाओं की ही होती है। कोई अपनी आत्मा में अनुरक्त हो तो उसे भटकने की आवश्यकता ही नहीं है। भटकना तो तब होता है जब हम अपना लक्ष्य, अपना मोक्ष तथा अपना परमात्मा बाहर मानते हैं। बाहरी दृश्यों की ही वासनों होती हैं। वे ही जीव को लेकर भटकाती रहती हैं। जीव वासनावश संसार में यत्र-तत्र भटकता रहता है और जन्मांतरों में भी भटकता रहता है। अतएव भटकने का कारण है वासना, शांत होने का कारण है वासना का त्याग।

"ज्यों कपि डोर बाँधु बाजीगर, अपनी खुशी परारी।" कलंदर जंगल में जाकर सुराही में चने डालकर उसे वहीं रख देता है। बंदर आता है, वह चने के लोभ से सुराही में हाथ डालकर उन्हें अपनी मुट्ठी में लेता है। इतने में कलंदर उसे पकड़ने आ जाता है। बंदर चने के लोभ से न चने से भरी मुट्ठी खोलता है न उसकी मुट्ठी सुराही से निकलती है और कलंदर बंदर को पकड़ लेता है। फिर तो उसे डोरी में बांधकर गांव-गांव एवं द्वार-द्वार नचाता है। यह बंदर "अपनी खुशी परारी" हुआ है। अर्थात अपनी खुशी से पराये के हाथ में बंधा है। यह जीव इसी प्रकार अपने आप को खुशी से बंधाता है। इसे अपने अमृतस्वरूप का ज्ञान नहीं है। यह विषयों में प्रलुब्ध हो जाता है और खुशी से अपने हाथ-पैर रंगकर अपने को बंधा लेता है। यह पुत्रैषणा,

वित्तैषणा एवं लोकैषणा में बड़ी खुशी से अपने आप को बांधता है। "आपन पौ आपुहि बिसरयो" इस 76वें शब्द में सद्गुरु ने इस पर विस्तार से विचार किया है। यदि तुम कहते हो कि तुम्हें दूसरे ने बांध दिया है तो तुम झूठे हो। तुम्हें दूसरा कोई भी नहीं बांध सकता। हां, तुम्हें बांधने में संसार के महारथी लोग सहायक अवश्य होते हैं। लोग अपनी जेब से देकर तुम्हें तम्बाकू खाना सिखा देंगे। बीड़ी-सिगरेट तथा गांजा-भांग पीना-खाना सिखा देंगे, शराब-ताड़ी पीना सिखा देंगे। चोरी, व्यभिचार, छल, छद्म क्या नहीं सिखा देंगे! कोई धंधा पाने के पहले तुम्हें बड़े ठाट-बाट एवं समारोह के साथ शादी में फंसा देंगे। बस, तुम थोड़ा ढील हो जाओ, तुम्हें फंसाने के लिए लोग तैयार बैठे हैं। अतएव यह सच है कि तुम्हारे बन्धनों में लोग सहयोग करने वाले हैं, परन्तु यदि तुम न चाहो, तो तुम्हें सारा संसार मिलकर भी नहीं बांध सकता। बाहर के लोग तो तुम्हारी खुशी में शामिल हो जाते हैं। तुम बन्धनों में खुश न होओ तो तुम्हें कोई बांध नहीं सकता। तुम तो अपने मूढ़तावश स्वयं बन्धनों में आनन्द मानकर बंधते हो।

"इहै पेड़ उत्पति परलय का, विषया सबै विकारी।" जन्म-मरण का यही मूल है। संसार में भटकने का यही कारण है। अपने स्वरूप का अज्ञान तथा विषयों का प्रलोभन हमें संसार में पटक देते हैं। हम अपने आप को नहीं पहचानते, इसलिए मूढ़वत विषयों में लोभते रहते हैं। विषय तो सब विकार उत्पन्न करने वाले हैं। वे चाहे स्थूल हों और चाहे सूक्ष्म। पुत्रैषणा तथा वित्तैषणा से भी भयंकर बंधन लोकैषणा हो जाती है। लौकिक विषयों से भी प्रबल बन्धन पारलौकिक कहे जाने वाले विषय होते हैं। अपनी आत्मा से अलग ईश्वर एवं मोक्ष की तलाश भी महा बन्धन है। स्वरूपज्ञान चरमज्ञान तथा स्वरूपस्थिति चरमलक्ष्य है। इसके अलावा सब कुछ विषय है, और "विषया सबै विकारी" विषय तो सभी विकारपूर्ण ही हैं।

"जैसे श्वान अपावन राजी, त्यों लागी संसारी।" कुत्ते सूखी हड्डी को बड़े चाव से चूसते हैं। और भी वे गंदी-गंदी चीजों को खाने में बहुत खुश होते हैं। यही दशा संसार में डूबे हुए लोगों की है। जिनमें चित्त की चंचलता है, मलिनता है, क्षीणता है, और इच्छाओं की वृद्धि है ऐसे भोगों में संसारी जीव डूबे रहते हैं। नीमकीट सदृश प्राणी ऐसा विषयकीट बन गया है कि उसे यह पता भी नहीं है कि इसको छोड़कर भी कोई सुख है। वस्तुतः विषयों का त्याग कर देने के बाद आत्मानुभूति का परम दिव्य सुख प्राप्त होता है, जो नित्य है। इन्द्रियजन्य सुख मलिन एवं क्षणभंगुर हैं और उनके पीछे इच्छा-वासना तथा भटकाव का प्रबल दुख है, किन्तु आत्मजनित सुख प्रशान्त, अनन्त एवं निर्मल है।

"कहहिं कबीर यह अद्बुद ज्ञाना, को मानै बात हमारी।" सद्‌गुरु कहते हैं कि यह मेरा ज्ञान अद्‌भुत है, विलक्षण है और आश्चर्यजनक है। नयी वस्तु देखने में आश्चर्य लगता ही है, किन्तु समझ जाने के बाद कोई आश्चर्य न लगेगा। यह तो व्यक्ति का सहज स्वरूप ही है। जीव का सहज स्वरूप चेतन है और विषय उससे सर्वथा अलग हैं। अतएव विषयों को त्यागकर अपनी चेतना में स्थित होना बड़ी सहज दशा एवं स्वाभाविक बात है। परन्तु कौन मानता है मेरी इस बात को ! प्रायः लोग किसी भगवान से मुलाकात करना चाहते हैं। जो संभव नहीं। अपनी चेतना में नहीं रमना चाहते जो उनका सहज स्वरूप है। परन्तु सद्‌गुरु कहते हैं कि यदि कोई अपने ध्यान को सम्हाल ले, अपने मन को सांसारिक प्रपंच से हटाकर आत्मकेन्द्रित हो जाये, तो मैं उसे आज ही भवबन्धनों से छुड़ा लूं। मनुष्य उलटे मार्ग में जा रहा था। किसी ने बता दिया कि तुम अपनी मंजिल से विपरीत दिशा में जा रहे हो। उसे होश हो गया। उसने उधर पीठ दे दी। उसने अपनी मंजिल की ओर मुख कर लिया, तो रास्ता सीधा हो गया। अब बस चलना बाकी है। अपनी मंजिल का सही रास्ता पा जाना बहुत बड़ी बात है। यदि हमारी दिशा गलत है तो वर्षों चलने पर भी मंजिल पर नहीं पहुंच सकते, और यदि दिशा सही हो गयी, तो आज नहीं, कल, हम मंजिल पर अवश्य पहुंचेंगे। हम भागे जा रहे थे बाहर। इतने में सद्‌गुरु मिले और बताये कि बाहर कहां जा रहे हो ! जिसे तुम खोजते हो वह स्वयं तुम्हीं हो। इतना सुनकर हम रुक गये और रुक जाने से पा गये। बाहर से कुछ पाने का भ्रम मिट गया और हमारा अपना आपा नित्य प्राप्त ही है। अतएव सद्‌गुरु का यह महावाक्य "अजहूँ लेहुँ छुड़ाय काल सो, जो करै सुरति सँभारी।" बड़ा महत्त्वपूर्ण है। गुरु तो टेर रहे हैं कि तुम गलत रास्ते पर जा रहे हो, परन्तु हम अपने ध्यान को सम्हालकर उसे उनकी टेर पर लगा ही नहीं रहे हैं तो कैसे विपथ से रुकें और अपनी मंजिल की ओर अभिमुख हों ! यदि हम अपनी सुरत, अपना ध्यान सम्हालकर उनकी बातों की तरफ लगायेंगे तो निश्चित है हमारा कल्याण होगा।

दूसरों की सेवा और आत्म-शोधन ही हरि-भजन है

शब्द-57

ना हरि भजसि न आदत छूटी॥ 1॥
शब्दहि समुझि सुधारत नाहीं, आँधर भये हियहु की फूटी॥ 2॥
पानी माहिं पषाण की रेखा, ठोंकत उठे भभूका॥ 3॥
सहस घड़ा नित उठि जल ढारै, फिर सूखे का सूखा॥ 4॥

सेतहिं सेत सितंग भौ, सैन बाढु अधिकाई॥ 5॥
जो सन्निपात रोगियन मारै, सो साधुन सिद्धि पाई॥ 6॥
अनहद कहत कहत जग बिनसै, अनहद सृष्टि समानी॥ 7॥
निकट पयाना यमपुर धावै, बोलै एकै बानी॥ 8॥
सतगुरु मिलैं बहुत सुख लहिये, सतगुरु शब्द सुधारैं॥ 9॥
कहहिं कबीर ते सदा सुखी हैं, जो यह पदहिं बिचारैं॥10॥

शब्दार्थ—हरि=आत्मस्वरूप चेतन । भजसि=भजना, चिन्तन करना, सेवा करना, अपने स्वत्व को समझकर विषयों से अलग हो जाना। आदत=गलत आदत। रेखा=टुकड़ा। भभूका=आग, क्रोध। सेतहिं सेत=बाल उजले होते जाना। सितंग=अंग शिथिल होना। सैन=सोना, निद्रा, आलस्य। सन्निपात=कफ-पित्त-वात त्रिदोष से उत्पन्न उन्मादी ज्वर, तात्पर्य में काम-क्रोध-लोभ के एकत्रीकरण का उन्माद। सिद्धि=मोक्ष। अनहद=असीम। निकट पयाना=जाने का समय निकट आ गया। एकै बानी=अहंकारपूर्ण वाणी।

भावार्थ—मनुष्य न आत्मचिंतन करता है और न उसकी गलत आदतें छूटती हैं॥ 1॥ वह निर्णय शब्दों को समझकर अपने आप को सुधारता नहीं। यह मानो बाहर की आंखों से अंधा हो गया है और इसके भीतर के विवेक-विचार के नेत्र भी फूट गये हैं॥ 2॥ पानी में हजारों वर्षों से पत्थर का टुकड़ा पड़ा हो, परन्तु उसको पानी से निकालकर यदि उसमें चोट मारी जाये तो वह आग उगलता है। इसी प्रकार मनुष्य पचास वर्षों से ज्ञान की वाणियों का पाठ करता हो परन्तु यदि उसे उसकी गलतियों के लिए टोका जाये तो वह उनका सुधार न कर क्रोधाभिभूत हो जाता है॥ 3॥ पत्थर पर हजारों घड़े पानी रोज डालो, परन्तु वह पुनः सूखा-का-सूखा ही रहता है, नरम नहीं होता। इसी प्रकार कितने लोग हैं जिन्हें हजार उपदेश करो, परन्तु वे नरम न होकर अकड़े ही रह जाते हैं॥ 4॥ आदमी के दिन तो बीतते ही हैं। उसके बाल उजले होते-होते एक दिन सब उजले हो जाते हैं और कुछ दिनों में उसके शरीर के सारे अंग भी शिथिल होकर दुर्बल हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में तो बस केवल आलस्य-निद्रा ही अधिक बढ़ जाती है। वह जीवनभर काम, क्रोध और लोभ के सन्निपात से ग्रसित रहा, अब बुढ़ापा में क्या सुधार होगा? परंतु ध्यान रहे ! जिस कामादि त्रिदोष से संसार के लोग मानसिक रोगी बनकर पतित होते हैं, उसी त्रिदोष का मार्गांतरीकरण कर, अर्थात काम को भक्ति में, क्रोध को वैराग्य में तथा लोभ को ज्ञान में बदलकर साधुजन मोक्ष प्राप्त करते हैं॥ 5-6॥ ज्ञान की बेहद वाणी कहते-कहते भी उनके आचरण किये बिना संसार के लोग पतित होते हैं। अनन्त ज्ञान के सूत्र तो पूरी सृष्टि में समाये हुए हैं, हमें

समझना चाहिए॥ 7॥ परन्तु हम कहां ध्यान देते हैं। हमारा संसार से जाने का समय निकट आता जाता है, परन्तु फिर भी हम अहंकार भरी बातें करते हैं कि हमारा यह है, हमारा वह है॥ 8॥ यदि मनुष्य को सच्चे सद्‌गुरु मिल जायें और वह उनकी बातों पर श्रद्धा-बुद्धिपूर्वक ध्यान दे तो उसे बहुत सुख मिलेगा। क्योंकि सद्‌गुरु शब्द-सुधार करते हैं। वे मिलित शब्दों का नीर-क्षीर विवेक कर सही रास्ता बताते हैं॥ 9॥ कबीर साहेब कहते हैं कि वे लोग सदैव के लिए सुखी होंगे जो इस पद का विचारकर इसके अनुसार आचरण करेंगे॥ 10॥

व्याख्या—"ना हरि भजसि न आदत छूटी" हम पीछे 34वें शब्द की व्याख्या में हरि शब्द पर ऐतिहासिक विचार किये हैं। ईस्वी सन की शुरुआत में ही हरि विष्णुपरक शब्द हो गया था तथा उसके बाद वह ईश्वरपरक एवं आत्मपरक हो गया। मान लो हरि का अर्थ ईश्वर है, तो हमें यह विचार करना पड़ेगा कि उसका स्वरूप क्या है और उसका भजन कैसे करना चाहिए। यह प्रायः कहा जाता है कि हरि भीतर भी है और बाहर भी है। हमें इस कथन को परख की कसौटी में कसना चाहिए। सबके शरीर के भीतर एक चेतना एवं ज्ञान-ज्योति है जो मैं के रूप में विद्यमान है। एक शरीर में दो चेतन की अनुभूति किसी को नहीं होती। अतएव भीतर का हरि अपनी चेतना, आत्मा एवं जीव ही है। इसके अलावा भीतर कोई दूसरा हरि नहीं है। अब बाहर के हरि पर विचार कर लें।

यह मानना कि इस समस्त जड़ ब्रह्मांड में एक चेतन हरि व्याप्त है और वही ब्रह्मांड की सारी क्रिया करता है, एक असमीक्षात्मक दृष्टि है। इस दृष्टि के मूल में है पूर्वग्रह और जड़तत्त्वों के शाश्वत नियमों का अज्ञान। हम विश्वसत्ता के नियमों को जानना भी नहीं चाहते, क्योंकि हमें भय है कि इससे हमारा सर्वव्याप्त ईश्वर उड़ जायेगा। परन्तु इस जड़ प्रकृति एवं ब्रह्मांड के भीतर किसी चेतन ईश्वर के रूप में नियामक को खोजना भ्रम के अलावा कुछ नहीं है। हमें प्रकृति-सत्ता के नियमों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। सर्वत्रव्याप्त, सर्वज्ञ एवं सर्वसमर्थ नियामक अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूचाल, चोरी, हत्या, व्यभिचार, डाकाजनी, कत्ल, ईश्वर के नाम पर सामूहिक कत्ल, आतंकवाद तथा हजारों-हजारों अव्यवस्था नहीं होने देता। एक अल्पज्ञ एवं असमर्थ सज्जन आदमी भी सुव्यवस्था चाहता है। फिर सर्वसमर्थ, सर्वज्ञ, सब जगह मौजूद ईश्वर ही सुव्यवस्था न चाहे यह बात गलत है। अतएव भावुकतापूर्ण हरि की व्याख्या "श्रद्धधानेषु शोभते" केवल श्रद्धालुओं को शोभा देती है, विवेकियों को नहीं। फिर उसका हम भजन भी कैसे कर सकते

हैं जिसका साक्षात्कार होना कभी संभव ही नहीं है। यदि कहा जाये कि विश्व के नियम ही दूसरे शब्दों में ईश्वर के नियम हैं, तो फिर विश्व के नियमों का पालन करना ही उसका भजन या उसकी सेवा होगी। इसके अलावा कुछ नहीं।

वस्तुतः हमसे बाहर जो यह प्राणियों का समूह है यही बाहर का हरि है। एक व्यक्ति व्यष्टि तथा सभी व्यक्तियों का समूह समष्टि कहलाता है। जन भाषा है 'पंचपरमेश्वर।' अतएव हर व्यक्ति के लिए उसकी अपनी आत्मा भीतर का हरि है और उससे बाहर प्राणिजगत बाहर का हरि है।

अब थोड़ा भजन पर विचार कर लें। विद्वानों ने भजन का मुख्य अर्थ सेवा माना है, दूसरा अर्थ स्मरण-चिन्तन। भजन के अर्थ स्वत्व तथा विभाजन भी किया गया है।[1] अतएव हमें भजन में क्या करना चाहिए? सेवा, स्मरण, स्वत्वबोध एवं विभाजन करना चाहिए। जो हरि बाहर है उसकी सेवा तथा जो भीतर है उसका चिन्तन, उसको ही अपना स्वत्व समझना तथा उसे जड़ प्रकृति से विभक्त कर लेना ही भजन है। हम प्राणिसमूह रूपी हरि की सेवा करें। हमारी शक्ति सीमित होने से हम सबकी सेवा तो नहीं कर सकते, परंतु सेवा का भाव रख सकते हैं और अपनी शक्ति के अनुसार सेवा कर सकते हैं। जो लोग कहते हैं कि ईश्वर की सेवा करनी चाहिए वे प्राणियों की सेवा से हटकर कौन-से ईश्वर की सेवा करेंगे। क्या पत्थर की पिंडी को नहलाना! इसीलिए समझदार लोग प्राणि-सेवा को ही ईश्वर-सेवा एवं हरि-सेवा मानते हैं। प्राणियों के अलावा ईश्वर एवं हरि का कोई प्रत्यक्ष स्वरूप भी नहीं हो सकता।

दूसरा भजन भीतरी हरि का है जो मेरी अपनी आत्मा है। आत्मचिंतन ही भीतरी हरि का भजन है। यह सब समय बोध होना कि मेरा स्वत्व, मेरा अधिकार मेरी आत्मा पर ही है, मैं ही मेरा हूं ऐसा समझकर अपने चेतन-स्वरूप को समस्त जड़ वर्ग से अलग कर लेना सच्चा हरि-भजन है। आत्मचिन्तन रूपी हरि-भजन से ही गलत आदतें छूट सकती हैं। आत्मचिंतन

---

1. वामन शिवराम आप्टे ने संस्कृत-हिन्दी कोश में 'भज्' के अर्थ—हिस्से करना, वितरित करना, निर्दिष्ट करना, अनुभाजन करना, किसी के लिए प्राप्त करना, हिस्सा लेना, स्वीकार करना, आश्रय लेना, समर्पण करना, पहुंच रखना, अभ्यास करना, अनुगमन करना, पालन करना, उपभोग करना, अधिकृत करना, रखना, भोगना, अनुभव करना, मनोरंजन करना, सेवा करना, आराधना करना, सत्कार करना, पूजा करना, छांटना, चुनना, पसंद करना, स्वीकार करना, शारीरिक सुखोपभोग करना, अनुरक्त होना, भक्त बनना, अधिकार में करना, भाग्य में पड़ना आदि किये हैं, जो नाना ग्रन्थों में प्रयुक्त एवं प्रमाणित हैं।

का अन्तिम अर्थ तो अपने शुद्ध चेतन का स्मरण ही है, परंतु उसका एक अर्थ है अपने पूरे व्यक्तित्व का चिन्तन। अर्थात जीव और देह के संयुक्त जो यह व्यक्तित्व है इसके विषय में निरख–परख, जैसे मेरे में कितनी बुरी आदतें अवशेष हैं, कितनी छूट गयी हैं, बुरी आदतें बढ़ रही हैं कि घट रही हैं, इत्यादि। सद्गुरु ने इस शब्द की शुरुआत ही में कहा है "ना हरि भजसि न आदत छूटी" बुरी आदतें तभी छूट सकती हैं जब व्यक्ति आत्मचिंतन रूपी हरि–भजन करे। जिसे अपने आप के विषय में होश–हवास ही नहीं है, उसकी गलत आदतें कैसे छूट सकती हैं! सद्गुरु इसी पर आगे पूरा शब्द कहते हैं।

"शब्दहि समुझि सुधारत नाही, आँधर भये हियहु की फूटी।" मनुष्य निर्णय के शब्दों को पहली बात, सुनना ही नहीं चाहता, यदि सुन ले तो समझना नहीं चाहता और यदि समझ भी ले तो उस ढंग से अपने आप का सुधार करना नहीं चाहता। इसीलिए साहेब उस पर खीजकर कहते हैं कि वह मनुष्य मानो बाहर का अन्धा है और भीतर का भी। बाहर के दो चर्मचक्षु हैं, वे नष्ट हो गये हैं। क्योंकि वह आंखों से सब कुछ नश्वर देखते हुए भी संसार से सावधान नहीं होता। और उसके भीतर के विवेक–विचार नेत्र भी फूटे हैं क्योंकि वह यह नहीं समझता कि जो मिला है वह छूटेगा, जिसका संयोग हुआ उसका वियोग होगा, यह संसार का स्वभाव है।

आदमी ज्ञान की बातें जानता है। वह खूब ग्रंथों को पढ़ता है। उसे बहुत ग्रन्थ, दोहा, शब्द, श्लोक, दृष्टांत याद हैं। उसे अवसर दो तो वह लोगों के बीच में निचोड़कर सार–सिद्धांत कह देगा, परन्तु अपने जीवन में उन बातों के आचरण की जगह पर कोरा–का–कोरा रहता है। यदि उसे सुझाव दो कि तुम ज्ञान की बातें इतनी–इतनी जानते हो तो अपने आचरणों को क्यों नहीं सुधारते, तो वह इतना सुनकर क्रोध में लाल हो जायेगा। इसी बात को समझाने के लिए सद्गुरु इस शब्द में दो महत्त्वपूर्ण उदाहरण देते हैं। पत्थर का टुकड़ा बहुत दिनों से पानी में पड़ा है। उसे निकालकर ठोंको, तो उसमें से आग निकलेगी। बहुत दिनों तक पानी में रहने पर भी उसके आग का स्वभाव गया नहीं। दूसरा उदाहरण है कि अपने दरवाजे पर एक पत्थर रख लो। उस पर रोज एक हजार घड़ा पानी डाला करो और पानी डालकर जरा उसे उंगली से दबाकर देखो कि वह कुछ नरम हुआ है कि नहीं, तो देखोगे वह ज्यों–का–त्यों कठोर है। केवल कथक्कड़ी ज्ञानी की यही दशा रहती है। कितने भजनोपदेशक एवं प्रवक्ता को देखोगे कि उनका मुंह चूल्हा बना रहता है। वे उसमें पान, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट सब कुछ जा–बेजा खोसते रहेंगे। कितने

लोग स्त्री और बाल-बच्चों वाले हैं, परन्तु वे साधु का वेष बनाकर महीनों दूर तक घूमते रहते हैं, लोगों को उपदेश कर धनार्जन करते रहते हैं और वह सब घर में लाकर परिवार पोषते रहते हैं। कितने ज्ञानी नामधारियों में दूसरे-तीसरे प्रकार की हठधर्मिता रहती है। कहने का सार यह है कि वे जानेंगे बहुत, परन्तु रहेंगे कोरे-के-कोरे, और सुझाव देने पर रुष्ट होंगे।

"सेतहिं सेत सितंग भौ, सैन बाढ़ु अधिकाई।" आदमी असावधानी में ही जीवन का समय बिता देता है। वह अपनी जवानी एवं स्वस्थ-अवस्था को विषय-भोग, राग-द्वेष एवं प्रपंच में नष्ट कर देता है। धीरे-धीरे उसके बाल पकने शुरू होते हैं। जब उसकी मूंछों में इक्के-दुक्के बाल पकते हैं तब उन्हें उखाड़कर फेंक देता है। जब कई पकने लगते हैं, तब कैंची से काट देता है और जब ज्यादा पकने लगते हैं तब खिजाब लगाकर काला बनाना चाहता है। परन्तु बाल बढ़ने पर नीचे से उजले ही निकलते हैं और वे साक्षी देते हैं कि हम पक गये हैं। इस प्रकार बाल श्वेत होते-होते उसके शरीर के अंग शिथिल हो जाते हैं। आंखों पर चश्मा लग जाता है, दांत उखड़ने लगते हैं। हाथ-मुंह में सर्वत्र झुर्रियां पड़ जाती हैं और मोटी-मोटी नसें निकल आती हैं। देखते-देखते वह कुछ दिनों में अति बूढ़ा हो जाता है, फिर तो "सैन बाढ़ु अधिकाई" उसका आलस्य-नींद में पड़ा रहना ही अधिक होता है। ऐसी अवस्था में न तो उसके पास लोग बैठना चाहते हैं और न उससे बात करना चाहते हैं। वह जीवन भर के किये-धरे संस्कारों में ऊबता-डूबता रहता है।

"जो सन्निपात रोगियन मारै, सो साधुन सिद्धि पाई।" कफ, पित्त और वात जब तीनों नाड़ियां इकट्ठी होती हैं तब मनुष्य को सन्निपात ज्वर होता है। वह उस अवस्था में विक्षिप्त हो जाता है, उठकर भागना चाहता है, अन्यथा बातें करता है तथा बहुत पीड़ित होता है। मानसिक संताप इससे भी भयंकर है। काम, क्रोध तथा लोभ में से केवल एक जब प्रबल होता है तब उतने मात्र से आदमी पागल हो जाता है। देखते नहीं, काम के वश होकर आदमी मर्यादाविहीन होकर अपना पतन करता है और समाज में लज्जित होता है। इसी प्रकार क्रोध और लोभ में पड़कर न जाने कैसे-कैसे कर्म इंसान कर डालता है। उनका परिणाम भीतर मन से तथा बाहर समाज से, इतना ही नहीं, राजदंड से भी भुगतता है। यदि तीनों इकट्ठे हो जायें तो क्या पूछना ! जिसके जीवन में काम, क्रोध तथा लोभ ये तीनों प्रबल हैं वह यहां सन्निपात से पीड़ित है। संसार के लोग इस सन्निपात से अत्यन्त रोगी होकर मरते हैं। कम-बेश सारा संसार मानो इस सन्निपात से ग्रसित होकर बिलबिला रहा है।

सद्गुरु इस पंक्ति में एक बात बहुत मार्के की कहते हैं। वे कहते हैं कि जिस मानसिक सन्निपात से, जिस काम, क्रोध तथा लोभ के प्रभाव से संसारी

आदमी पतित होते हैं, उन्हें ही साधुजन दूसरे मार्ग में बदल देते हैं और उनके द्वारा मुक्ति प्राप्त करते हैं। शक्ति का दुरुपयोग पतनकारक है तथा सदुपयोग कल्याणकारक। विष को शोधकर उसकी औषध बन जाती है और वह प्राण बचाने वाला हो जाता है, परन्तु अन्न अमृत है, उसका दुरुपयोग करने से, अधिक खाने से वह जहर बन जाता है। हर वस्तु का सदुपयोग हितकर तथा दुरुपयोग अहितकर है।

साधु पुरुष काम को भक्ति के रूप में मोड़ देते हैं, क्रोध को वैराग्य की तरफ तथा लोभ को ज्ञान की तरफ। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने कहा है कि हर मनुष्य के मन में 'लिबिडो' होता है, जिसे हम अपनी भाषा में एषणा कह सकते हैं। काम एषणा है। काम एक रागात्मिका वृत्ति है। जब वह वृत्ति विषयों की तरफ लगती है तब इसे काम कहते हैं, परन्तु जब इष्ट एवं गुरु की तरफ लगती है तब यह भक्ति बन जाती है। मन का विषयों की तरफ आकर्षण ही तो काम है, परन्तु यदि इष्ट की तरफ एवं गुरु-संतों की सेवा-उपासना की तरफ मन का आकर्षण हो जाये तो यह भक्ति बन जायेगा। दमित वासना ही भक्ति, उपासना, सेवा, काव्य, कला आदि के रूप में फूटकर निकल आती है। अतएव साधक एवं साधु के जीवन में काम दमित होकर भक्ति बन जाता है।

क्रोध एक मनोविकार है जो किसी द्वारा हमारे प्रतिकूल घटना होने पर मन में उठता है। हमें क्रोध सदैव प्राणियों पर ही होता है और उसमें भी ज्यादातर मनुष्यों तथा स्वजनों पर। साधुजन अपनी क्रोधवृत्ति को प्राणियों पर से लौटाकर अपने दोषों पर करने लगते हैं। साधु किसी प्राणी पर क्रोध नहीं करता, किन्तु अपने दोषों, गलत आदतों एवं कमजोरियों पर करता है। इसलिए उसका क्रोध उसके कल्याण में सहायक बन जाता है। इसी प्रकार वह अपनी लोभवृत्ति को पदार्थों पर से हटाकर ज्ञान पर करता है। साधु भौतिक पदार्थों एवं धन का लोभी नहीं होता। वह ज्ञान का लोभी होता है। वह चाहता है मुझे ऐसा ज्ञान मिले जिससे मैं भवबन्धनों को तोड़कर मुक्त हो जाऊं। एक राजा ने एक संत से कहा था कि महाराज, आप महान त्यागी हैं। संत ने कहा था कि मैं तो महा लोभी हूं। महान त्यागी तो तुम हो। इस पर राजा ने स्पष्टीकरण मांगा। महात्मा ने कहा कि तुम ज्ञानधन जो महान है उसे छोड़कर तुच्छ धन सांसारिक पदार्थों में ही संतुष्ट हो, इसलिए तुम महान त्यागी हो, और मैं तो तुच्छ सांसारिक धन का त्यागकर महान धन ज्ञान का लोभी हूं। इसलिए मैं त्यागी नहीं, लोभी हूं। अतएव साधु अपनी लोभवृत्ति को सांसारिक धन एवं पदार्थों से हटाकर ज्ञान पर करता है। वह ज्ञान का

संचय कर कृतार्थ हो जाता है। इसीलिए सद्गुरु कहते हैं "जो सन्निपात रोगियन मारै, सो साधुन सिद्धि पाई।" जिन काम, क्रोध तथा लोभ के सन्निपात से संसार के लोग पतित होते हैं उन्हीं को साधु शोधकर उनका कल्याण-मार्ग में उपयोग करते हैं।

"अनहद कहत कहत जग बिनसै, अनहद सृष्टि समानी।" लोग ज्ञान की अनहद वाणी कहते हैं। अनहद का अर्थ है सीमातीत। लोग इतना ज्ञान जानते हैं कि यदि उनसे पूछो तो तुम सुनने में घबरा जाओगे, परन्तु वे कहने में नहीं घबरायेंगे। परन्तु यदि ज्ञान का बेहद व्याख्यान करते-करते भी संसार की मलिनता में ही डूबना है तो उस ज्ञान का क्या मतलब ! इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि मनुष्य बेहद ज्ञान कहते-कहते आचरण के बिना विनशता है। विचारकर देखें तो सृष्टि में तो अनंत ज्ञान समाया हुआ है। ज्ञान के असंख्य सूत्र सत्तात्मक संसार में मिलेंगे। आदमी को आंखें तथा विवेक होना चाहिए, उसके चारों ओर ज्ञान के सूत्र फैले हैं। यह प्रकृति, यह विश्वसत्ता ज्ञान की खुली किताब है। इसी से तो लेकर कागज की सारी किताबें बनी हैं। असली किताब तो यह जड़-चेतनात्मक संसार है। कागज की किताब तो उसकी एक प्रतिकृति एवं प्रतिबिम्ब है। यह ठीक है कि साधारण लोग विश्वसत्ता से उतना ज्ञान नहीं ग्रहण कर पाते, अपितु कागज की किताबों से ज्यादा ग्रहण कर सकते हैं। सार तो यहां यह है कि हम बेहद ज्ञान जानते और कहते हैं, परन्तु सांसारिकता में ही पतित होते रहते हैं तो ज्ञान का कोई मूल्य नहीं है। साहेब कहते हैं कि तुम अपने किताबीज्ञान का क्या गर्व करते हो ! अनंत ज्ञान तो सृष्टि में समाया है। उसकी केवल थोड़ी छाया किताबीज्ञान लेकर तुम अहंकार करते हो। ज्ञान का अर्थ है उसका आचरण होना।

"निकट पयाना यमपुर धावै, बोलै एकै बानी।" शास्त्रज्ञान का बोझा ढोते-ढोते संसार से पयान करने का समय निकट आता जाता है। हम रोज मौत के पास सरकते जाते हैं, लेकिन हमारी संसार की गरमी नहीं जाती। हम एक ही वाणी बोलते हैं—"हम बड़े विद्वान हैं, धनवान हैं, बलवान हैं, सबसे बड़े पूज्य हैं, हमारे पास इतने-इतने प्राणी-पदार्थ या विद्या है।" हमारा अहंकार नहीं जाता, और एक दिन अचानक काल आकर सब कुछ को समाप्त कर देता है। "बोलै एकै बानी" का मतलब है अहंकार की वाणी बोलना।

"सद्गुरु मिलैं बहुत सुख लहिये, सद्गुरु शब्द सुधारें।" सच्चे सद्गुरु का मिलना जीवन की बहुत बड़ी सुखद घटना है। हम धर्मशास्त्रों के नाम पर बहुत वाणियों को पढ़ते-सुनते हैं, परन्तु स्वयं परख न होने से उनमें दिग्भ्रमित

बने भटकते रहते हैं। यह पारखी सद्गुरु की महिमा है कि वे जब मिल जाते हैं तब परख की ऐसी कसौटी देते हैं जिससे हम सारासार का निर्णय कर सकें।

"सद्गुरु शब्द सुधारें" सद्गुरु शब्दों का सुधार करते हैं। वे रोचक, भयानक तथा यथार्थ की मिलित वाणियों में से यथार्थ को निकालकर सत्य वस्तु दर्शा देते हैं और यह भी बता देते हैं कि यह–यह बातें धर्म, अध्यात्म एवं भगवान के नाम पर चलाया गया जाल है। पारखी सद्गुरु बताते हैं कि सारी वाणियां जड़–चेतनात्मक विश्वसत्ता की व्याख्या करती हैं। इसमें यह ध्यान रहे कि किसी वाणी के वैसा कहने से विश्वसत्ता वैसी नहीं होती, किन्तु विश्वसत्ता जैसी है वैसा कहने वाली वाणी ही सही मानी जा सकती है। अर्थात किसी शास्त्र की वाणी स्वतः प्रमाण नहीं होती, किन्तु यदि जिस तरह विश्वसत्ता के नियम हैं वैसा ही वर्णन वाणी करती है तो वह प्रमाण है। शास्त्र प्रमाण नहीं है, विश्वसत्ता प्रमाण है। विश्वसत्ता को पढ़ो कि उसके नियम क्या हैं, संसार के कारण–कार्य की व्यवस्था कैसी है ! फिर उससे शास्त्रों की वाणियों को कसो। जो संसार के नियमों के अनुसार हों, उन्हीं वाणियों को मानो, शेष छोड़ो। इस प्रकार पारखी सद्गुरु यथार्थ ज्ञान देकर जीव को निर्भ्रांत कर देते हैं। फिर जीव अनंत सुख का भागी होता है। "सद्गुरु मिलैं बहुत सुख लहिये" वह व्यक्ति धन्य है जिसको सच्चे सद्गुरु मिल गये। सच्चा सद्गुरु का पाना ही मानो अनंत सुख का द्वार पा जाना है। बस, हमें उनके ज्ञान का उपयोग करना चाहिए।

"कहहिं कबीर ते सदा सुखी हैं, जो यह पदहिं बिचारै।" सद्गुरु कहते हैं कि वह अनंत सुख पायेगा एवं अनंत काल के लिए सुखी हो जायेगा जो इस पद का विचार करेगा और इन विचारों को जीवन में उतार लेगा।

मनोविकारों की दावग्नि बुझाओ

शब्द–58

नर हरि लागि दौं बिकार बिनु इन्धन, मिले न बुझावनहारा॥ 1॥
मैं जानों तोही से ब्यापै, जरत सकल संसारा॥ 2॥
पानी माहिं अगिन को अंकुर, जरत बुझावै पानी॥ 3॥
एक न जरे जरैं नौ नारी, युक्ति न काहू जानी॥ 4॥
शहर जरे पहरू सुख सोवै, कहै कुशल घर मेरा॥ 5॥
पुरिया जरै वस्तु निज उबरै, बिकल राम रंग तेरा॥ 6॥
कुबजा पुरुष गले एक लागा, पूजि न मन की सरधा॥ 7॥

करत विचार जन्म गौ खीसे, ई तन रहत असाधा॥ 8॥
जानि बूझि जो कपट करतु है, तेहि अस मन्द न कोई॥ 9॥
कहहिं कबीर तेहि मूढ़ को, भला कौन बिधि होई॥10॥

शब्दार्थ—हरि=ज्ञान, निजस्वरूप। दौं=दौ, दव, वनाग्नि, आग, संताप। बुझावनहारा=सद्गुरु। अंकुर= अंश। एक=वासना। नौ नारी=नौ[1] नाड़ियों से ग्रथित शरीर। शहर=हृदय। पहरू=साधक। पुरिया=पुड़िया, गठरी, वासना की ग्रन्थि। वस्तु निज=जीव का निजस्वरूप चेतन। विकल=अशांत। राम=जीव। रंग=भाव। कुबजा=कुबड़ा, नपुंसक। सरधा=श्रद्धा, वासना। खीसे=क्षीण। असाधा=असंयत, साधना-रहित।

भावार्थ—हे मनुष्य ! आत्मज्ञान में लग। तेरे भीतर तो मनोविकारों की दावाग्नि लगी हुई है, जिसमें कोई बाहरी इंधन नहीं है। इस दावाग्नि को बुझाने वाले सद्गुरु तुम्हें नहीं मिले॥ 1॥ हे मनुष्य ! मैं अच्छी तरह जानता हूं कि यह आग तुम्हारी ही भूल से लगी है। सारा संसार अपनी-अपनी आग में जल रहा है॥ 2॥ गरम पानी में अग्नि का अंश रहता है, परन्तु वह पानी जलती हुई आग को बुझा देता है। इसी प्रकार तुम भले ही कामादि तापों में पीड़ित हो, परन्तु तुम्हीं गुरु द्वारा यथार्थ दृष्टि पाकर इस ताप को बुझा सकते हो, क्योंकि तुम्हारा मौलिक स्वरूप शीतल है॥ 3॥ लोगों के मन की वासना नहीं जलती, केवल नौ नाड़ियों से ग्रथित काया जलती है तो इससे क्या कल्याण होगा। कोई यह युक्ति नहीं जानता कि काया जलने के पहले वासनों जला देनी चाहिए॥ 4॥ जैसे किसी शहर में आग लगी हो और पहरेदार सुख से सो रहे हों। जब पहरेदारों को कोई चेतावनी दे, तो वे कहें कि हमारा शहर तो सकुशल है। यही दशा असावधान साधक की है। उसका हृदय कामादि तापों में जल रहा है, किन्तु वह कहता है कि मेरे घर का कुशल है, भजन हो रहा है॥ 5॥ यदि गठरी जल जाये तो उसमें रही हुई अपनी वस्तु बच जाये अर्थात यदि वासना जल जाये तो निजात्म तत्त्व का उद्धार हो जाये। हे राम ! तेरी भावनें अशांत हैं। अर्थात मनुष्य वासनाओं के कारण उद्विग्न है॥ 6॥ किसी युवती को नपुंसक पुरुष मिल गया हो तो उसके मन की साध जैसे पूरी नहीं होती, वैसे कल्पित देवी-देवताओं की उपासना से साधक को अखंड तृप्ति नहीं मिल सकती॥ 7॥ अतएव साधक साधना एवं परमशांति के विचार ही करता रह गया और उसकी जिंदगी घिस गयी, वह बूढ़ा हो गया, अन्ततः यह जीवन साधनाहीन असंयत ही रह गया॥ 8॥ जो लोग ज्ञान प्राप्त

---

1. पीछे 28वें शब्द के शब्दार्थ में देखें।

करने के बाद भी विषयों में डूबे रहते हैं वे जान–बूझकर अपने आप के साथ छलावा करते हैं। ऐसे लोगों के समान कोई अन्य मूर्ख न होगा॥ 9॥ सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे मूढ़ का कल्याण किस प्रकार हो सकता है !॥ 10॥

व्याख्या—सद्गुरु इस शब्द में मनुष्यों को पहला आदेश देते हैं 'हे नर ! तू हरि में लग !' हरि है ज्ञान, हरि है निजस्वरूप। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने आप को पहचाने और यथार्थ ज्ञान प्राप्त करे। सद्गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य ! देख, तेरे भीतर बिना इंधन के दावाग्नि लगी है। दव कहते हैं जंगल को और उसमें लगी हुई आग को दावाग्नि कहते हैं। वैसे 'दव' मात्र से भी दावाग्नि का अर्थ प्रकट हो जाता है। जंगल में आग लगती है तो उसमें लकड़ी, पत्ते, कोयला आदि इंधन रहते हैं। अन्य प्रकार से भी आग लगने पर तेल, पेट्रोल आदि इंधन होते ही हैं। परन्तु जो दावाग्नि मनुष्य के भीतर लगी है, उसमें अन्य कोई इंधन नहीं है। उसमें तो केवल मनोविकार हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्ष्या, द्वेष, आशा, तृष्णा, चिंता, शोक, विकलता आदि की आग है। दावाग्नि जब लगती है, तब उसमें रहने वाले जीव उसी में घिरकर जल मरते हैं। कदाचित कोई जानवर उससे भागकर निकल भी सकता है, परन्तु मन के भीतर लगी हुई दावाग्नि से बचने के लिए भागकर काम नहीं बनता। मनुष्य चाहे जहां भागकर जाये वहीं उसके भीतर वह दावाग्नि जलती रहती है, क्योंकि वह तो मनोविकारों की आग है। मन तो सदैव मनुष्य के साथ ही रहता है। जब तक मन शुद्ध न किया जायेगा तब तक मानसिक दावाग्नि से बचने का कोई साधन नहीं है।

स्थान–परिवर्तन से मन में एकाएक थोड़ा परिवर्तन लगता है, परन्तु यह क्षणिक होता है। जब तक चित्त शुद्ध न कर लिया जाये, तब तक आदमी चाहे कहीं भी चला जाये, वह वहीं जलता रहेगा। तीर्थों में जाये, मंदिरों में निवास करे, जंगलों–पर्वतों में रहने लगे, परन्तु कोई स्थायी अन्तर नहीं आयेगा। वह देवी–देवता पूजे, ईश्वर–ईश्वर पुकारे या कुछ भी करे, चित्त शुद्ध किये बिना उसकी मानसिक दावाग्नि ठंडी नहीं होगी। आप देखते नहीं हैं कि सारे अपराध तीर्थों एवं मंदिरों में होते हैं। कितने देवता और ईश्वर वाले तथा धार्मिक वेषधारी भी राग–द्वेष की आग में जलते हैं। अतएव स्थान–परिवर्तन और बाह्याचार ज्यादा काम नहीं करेगा। इस मन की दावाग्नि को तो चित्तशुद्धि से ही बुझाया जा सकता है।

"मिले न बुझावनहारा" कबीर साहेब कहते हैं कि इस आग को बुझाने वाले सद्गुरु हैं। वे तुम्हें नहीं मिले। इसलिए तुम आज पर्यंत इस दावाग्नि में जल रहे हो। वस्तुतः सद्गुरु अपने उत्तम आदर्शों एवं वचनों से साधकों को

प्रेरित करते हैं और साधक उनसे प्रेरणा लेकर अपने मन को शुद्ध करने के लिए साधना करता है। इस प्रकार साधक का मन शीतल होता है।

"मैं जानों तोही से ब्यापै, जरत सकल संसारा।" सद्गुरु कहते हैं कि मैं यह भली-भांति जानता हूं कि यह आग तुम्हीं से फैली है। 'घर में लगा दी आग घर के चिरागों ने।' क्या तुम्हारे मन की आग किसी दूसरे ने लगायी है! ऐसा कदापि न समझना। कोई भगवान या कोई शैतान तुम्हारे मन में आग नहीं पैदा कर सकता। तुम्हारी अच्छी और बुरी वृत्तियों के अलावा कोई भगवान और शैतान है भी नहीं। तुम स्वयं अपने मन को खराब करते हो और रात-दिन जलते हो। तुम्हारे मन के खराब होने में बाहरी प्राणी-पदार्थ साधन अवश्य बनते हैं, परन्तु यदि तुम न चाहो तो दूसरा कोई साधन नहीं बन सकता।

संसार कब प्राणी-पदार्थों से शून्य होगा! संसार में सब समय सब कुछ रहेगा। तुम्हें स्वयं जगना पड़ेगा। तुम्हारी अपनी गलती से, अपनी दुर्बुद्धि से, अपने मन के पाप से तुम्हारे भीतर दावाग्नि लगी है। यही बात दूसरों के लिए भी है। "जरत सकल संसारा" सारा संसार अपनी बनायी हुई आग में जल रहा है। सद्गुरु ने 332वीं साखी में भी कहा है—"ई जग जरते देखिया, अपनी अपनी आग।" अपनी बुराइयों के लिए हर मनुष्य स्वयं जिम्मेदार है। "अपनी कमाई आप को, न माई न बाप को।"

"पानी माहिं अगिन को अंकुर, जरत बुझावै पानी।" साहेब कहते हैं, परन्तु घबराना नहीं। यह मत समझना कि तुमसे आग लगी है तो तुम आग रूप ही हो। यह भ्रम मत कर बैठना कि मानसिक विकार तुम्हारा स्वरूप है। इसके लिए सद्गुरु उक्त पंक्ति में गरम पानी का बड़ा सटीक उदाहरण देते हैं। देखो, गरम पानी में अग्नि का अंश होता है, परन्तु ऐसा गरम पानी भी यदि जलती हुई आग पर पड़ जाये तो उसे बुझा देता है। इसलिए पानी गरम नहीं था। पानी में जो आग का अंश था, वही गरम था। पानी का स्वभाव ही शीतल है। वह कभी गरम नहीं हो सकता। इसी प्रकार जीव का स्वभाव ही शीतल है, वह कभी विकारस्वरूप नहीं हो सकता। उसमें तो विकार प्रक्षिप्त है, बाहर से पड़ा हुआ है। तुमने तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट, शराब की आदत बना ली, अब तुम उन आदतों में जल रहे हो, तो क्या ये सब आदतें तुम्हारी आत्मा का स्वभाव है! यह सब तो तुमने बना रखा है। काम, क्रोध, राग-द्वेषादि सारे मनोविकार तुम बना लेते हो और जिस क्षण जो विकार तुम्हारे मन में रहता है उस क्षण तुम्हें यह भ्रम होता है कि तुम वही हो। काम आने पर तुम्हें भ्रम होता है कि तुम कामरूप हो, क्रोध आने पर क्रोधरूप, लोभादि

आने पर लोभादिरूप। श्री निर्मल साहेब के वचनों में कहें तो "जा क्षण में वृत्ति जौन, ता क्षण में रूप तौन" प्रतीत होता है। परन्तु मनोविकार तुम्हारा स्वरूप नहीं है। अपना स्वरूप अपने आप के लिए विरोधी नहीं होता। आग के लिए आग विरोधी नहीं होती, न पानी के लिए पानी विरोधी होता है। यदि कामादि विकार तुम्हारे स्वरूप होते तो वे तुम्हारे लिए दावाग्नि न बनते। वे तुम्हारे लिए दुखदायी हैं, इसलिए वे तुम्हारे स्वरूप नहीं। तुम काम-क्रोधादि में क्षण मात्र के लिए पड़ते हो तो तुम्हारा नरक हो जाता है, तुम उद्विग्न हो जाते हो। तुम उन्हीं में जीवन भर नहीं रह सकते, परन्तु निष्काम-निष्क्रोध दशा में जीवनभर सुख से रह सकते हो। अतएव तुम्हारा स्वरूप निर्विकार है। हर वस्तु अपने स्वरूप में ही ठीक रह सकती है। तुम यह मत समझो कि तुम विकारग्रस्त हो तो विकारों को नष्ट नहीं कर सकते हो। देखो, गरम पानी आग को बुझा देता है, वैसे तुम विकारग्रस्त होने पर भी वास्तविकता को समझकर विकारों को नष्ट कर सकते हो। वास्तविकता यह है कि तुम स्वरूपतः निर्विकार हो, अतः बाहर से आये हुए इन विकारों को नष्ट कर सकते हो। यह तुम्हारे द्वारा लगायी हुई दावाग्नि तुम्हारे द्वारा ही नष्ट हो सकती है। तुम्हारे मन की दावाग्नि न दूसरे ने लगायी है और न दूसरा नष्ट कर सकता है। इस दावाग्नि के लगाने वाले तुम हो और इसे बुझाने वाले भी तुम हो। संत-गुरु तो केवल बाहर से सहारा दे सकते हैं।

"एक न जरे जरैं नौ नारी, युक्ति न काहू जानी।" एक है वासना, यह नहीं जलती, जलती है नौ नारी। नौ नारी का अर्थ है नौ नाड़ियां—पुहुखा, पयस्विनी, गंधारी, हस्तिनी, कुहू, शंखिनी, अलंबुषा, गणेशिनी तथा वारुणी। नौ नारी का लाक्षणिक अर्थ हुआ नौ नाड़ियों से ग्रथित शरीर। सद्गुरु कहते हैं कि नौ नाड़ियों से ग्रथित शरीर तो एक दिन जल जाता है, परन्तु एक वासना नहीं जलती। "मन मरै न माया मरे, मरि मरि जात शरीर। आशा तृष्णा न मरै, यों कथि कहहिं कबीर।" वासना न जलने से पुनः शरीर की प्राप्ति होती है। "युक्ति न काहू जानी" लोग यह तरीका नहीं जानते कि शरीर जलने के पहले ही वासना जल जानी चाहिए। सुखद जीवन वही है जिसमें देह रहते-रहते वासना का त्याग हो जाये। वासनाहीन जीवन आनन्द का सागर है, शांति का अनन्त स्वरूप है। जिसकी वासनों क्षीण हो चुकी हैं, उसके लिए शरीर रहना और न रहना दोनों बराबर है।

"शहर जरे पहरू सुख सोवै, कहै कुशल घर मेरा।" किसी शहर में आग लगी हो और शहर के पहरेदार सुख से सो रहे हों, किसी के जगाने पर भी वे कहते हों कि नहीं, सब ठीक है, हमारा शहर सकुशल है, तो इससे अधिक

प्रमाद क्या हो सकता है ! असावधान साधकों की यही दशा है। उनका हृदय मानसिक विकारों की दावाग्नि से जल रहा है, परन्तु वे समझते हैं कि हमारा कुशल-मंगल है। वे औपचारिक पूजा-पाठ आदि को साधना की इतिश्री मान लेते हैं। कितने साधकों के मोटे दोष छूट जाते हैं, वे थोड़ा भजन-पूजन से चलने लगते हैं और इतने में वे संतुष्ट होकर बैठ जाते हैं। उन्हें सूक्ष्म विवेक नहीं है कि हृदय-शहर में अभी दावाग्नि लगी है। अभी भी वे मन की मलिनता से मुक्त नहीं हुए हैं। उन्होंने अपनी थोड़ी उन्नति को ही बड़ी उन्नति मान ली है। वे रास्ते पर दस कदम चलकर ही वहीं मंजिल मानकर बैठ गये हैं। आगे बढ़ना ही नहीं चाहते।

"पुरिया जरै वस्तु निज उबरै, बिकल राम रंग तेरा।" एक गठरी है। उसमें वस्तु रखी है। कहने वाला कहता है कि यदि गठरी जल जाये तो उसमें रखी अपनी वस्तु बच जायेगी, और यदि गठरी न जली तो उसमें रखी वस्तु नहीं बचेगी। सुनने वाले को यह आश्चर्य लगेगा। गठरी जलने पर तो उसमें रखी वस्तुें भी जल जाती हैं। गठरी जलने पर उसमें रखी वस्तुओं के सुरक्षित रहने की कोई संभावना ही नहीं है। परन्तु साहेब कहते हैं कि नहीं, मेरी बात सच है। यदि गठरी नहीं जली तो उसमें रखी वस्तु सुरक्षित मत समझिए। यदि गठरी जल जाये तो वस्तु बच जायेगी। यह पुरिया, यह गठरी है वासना। इसके जल जाने से अपनी वस्तु बच जायेगी। अपनी वस्तु है अपनी चेतना, अपनी आत्मा। जीव का उद्धार तभी होगा जब वासना की गठरी, अहंता-ममता की गठरी जल जायेगी। सद्गुरु ने 322वीं साखी में कहा है "अबकी पुरिया जो निरुवारे, सो जन सदा अनन्दा।" परन्तु हम तो ऐसे मूढ़ हैं कि अहंता-ममता की गठरी मजबूत कर रखे हैं। इसको जलने से बचाने में लगे हैं। हमें सांसारिक वासनाओं में, अहंता-ममताओं में मोह हो गया है। हम उनकी गठरी बांधे रखना चाहते हैं। इसीलिए अपनी वस्तु को खोये हैं, अपनी स्वरूपस्थिति से वंचित हैं। सद्गुरु कहते हैं कि यदि तुम आत्मस्थिति चाहते हो तो वासना, अहंता-ममता की गठरी में आग लगा दो।

"बिकल राम रंग तेरा" राम यह रमैया राम जीव है। सद्गुरु कहते हैं कि जीव ! तेरा रंग विकल है। तेरा मनोभाव अशांत है। तेरा हृदय उद्विग्न है, तेरे मन में सदैव संताप की भट्ठी जल रही है। क्योंकि तू संसार की वासनाओं में, राग-द्वेष में उलझा है। छोड़ इस दुनिया के झमेले को। क्या रखा है संसार के कूड़े-कचड़े में। जिस माया से तेरे को केवल संताप मिलता है, उसमें तू क्यों पड़ा सड़ रहा है !

"कुबजा पुरुष गले एक लागा, पूजि न मन की सरधा।" नपुंसक पुरुष

के आलिंगन से युवती के मन की साध पूरी नहीं हो सकती, वैसे कल्पित देवी-देवताओं तथा मन की अवधारणाओं से साधक को चिर शांति एवं संतोष नहीं मिल सकता। करते रहो तीर्थ-व्रत, पूजते रहो पानी-पाषाण, भटकते रहो मंदिर-मसजिद एवं काबा-कैलाश, मानसिक मनोरंजन के अलावा वहां कुछ नहीं मिलेगा। हमारा मन जहां तक निजस्वरूप से अलग भटकेगा वहां तक परम शांति नहीं मिल सकती। परम शांति का आश्रय तो निजात्मदेव में विश्राम ही है।

"करत विचार जन्म गौ खीसे, ई तन रहत असाधा।" आदमी जीवन भर परम शांति का केवल विचार करता रहा, वह उस पथ पर चल नहीं पाया। प्राणिमात्र की अंतरात्मा अनन्त सुख चाहती है। मानव तो अधिक प्रबुद्ध है ही। वह जीवनभर यही सोचता है कि हमें ऐसा सुख मिले जो हमारी सारी इच्छाओं को तृप्त कर दे और वह सुख कभी घटे नहीं। धार्मिक पुस्तकों में अनन्त सुख, अक्षय सुख, परमानन्द, ब्राह्मी स्थिति, स्वरूपस्थिति, निर्वाणपद आदि अनेक उच्चतम भाव के शब्द सुनकर मनुष्य कुछ भजन-भक्ति तथा धर्म-कर्म में तो लग जाता है, परन्तु वह यथार्थ सद्‌गुरु के अभाव तथा अपने विवेक और त्याग की कमी के कारण जीवनभर कर्मकांड एवं बाह्याचार में ही लगा रहता है, और उसने जो परमानन्द एवं परम सुख के उच्च शब्द सुन रखे थे तथा जो उसकी अंतरात्मा निरन्तर चाहती है वह केवल मानसिक विचारों में रह जाता है। जीवन में उसका उसे अनुभव नहीं होता और उसका जीवन क्षीण हो जाता है। अविद्वान से विद्वान, निर्धन से धनवान, चपरासी से राष्ट्रपति जीवनभर अनन्त सुख के केवल सपने देखते हैं। इन्हीं सपनों में निर्बल होते-होते वे जीर्ण हो जाते हैं, परन्तु अनन्त सुख नहीं मिलता। अन्ततः उनका जीवन असंयत, अ-साध एवं निष्फल ही रह जाता है।

"जानि बूझि जो कपट करतु है, तेहि अस मन्द न कोई। कहहिं कबीर तेहि मूढ़ को, भला कौन बिधि होई।" साहेब कहते हैं कि जो अजान है उसकी बात छोड़िये, जो समझता ही नहीं उसको क्या दोष दिया जाये। तरस तो उस पर आती है जो शास्त्रों एवं सद्‌ग्रन्थों को खूब पढ़ा-लिखा है, अध्यात्म विषय को अच्छी तरह समझता है, परन्तु फिर भी अपने आप को धोखा देता है। जानना कुछ तथा करना कुछ दूसरा, यह अपने आप के साथ कपट करना है। आदमी अपने आप को निरन्तर छलता है। वह जानता कुछ है, मानता कुछ है तथा करता कुछ है। ऐसे जीवन में शांति आने का क्या प्रसंग है। सद्‌गुरु ऐसे आदमी के लिए यहां मन्द और मूढ़ दो शब्दों का प्रयोग

करते हैं। जो व्यक्ति सोया है उसे पुकारने पर वह जग जायेगा, परन्तु जो जागते हुए सोने की नकल कर बैठा है, वह हजार हांक पर भी नहीं बोल सकता। अज्ञानी चेत सकता है, पतित ज्ञानी के चेतने का कोई उपाय नहीं।

इस पूरे शब्द में सद्‌गुरु ने विविध युक्तियों से मानसिक विकारों, वासनाओं एवं अहंता-ममताओं को मिटाने पर जोर दिया है। उन्होंने मन के विकारों को दावाग्नि बताकर उसे बुझाने के लिए साधकों को प्रोत्साहित किया है।

माया ठगिनी का पर्दाफ़ाश

शब्द-59

माया महा ठगिनी हम जानी॥ 1॥
त्रिगुणी फाँस लिये कर डोले, बोले मधुरी बानी॥ 2॥
केशव के कमला ह्वै बैठी, शिव के भवन भवानी॥ 3॥
पण्डा के मूरति ह्वै बैठी, तीरथ हूँ में पानी॥ 4॥
योगी के योगिनी ह्वै बैठी, राजा के घर रानी॥ 5॥
काहू के हीरा ह्वै बैठी, काहू के कौड़ी कानी॥ 6॥
भक्ता के भक्तिनि ह्वै बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी॥ 7॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, ई सब अकथ कहानी॥ 8॥

शब्दार्थ—त्रिगुणी फांस=सत, रज, तम-युक्त बन्धन। केशव=विष्णु। कमला=लक्ष्मी। भवानी=पार्वती।

भावार्थ—हमने यह अच्छी तरह जान लिया है कि माया महा धोखेबाज है॥ 1॥ यह अपने हाथों में त्रिगुणात्मक बन्धनों की फांसी लेकर घूमती है और मीठी-मीठी बातें करके लोगों को बांध लेती है॥ 2॥ यह माया विष्णु के घर में लक्ष्मी बनकर और शिव के घर में भवानी बनकर बैठ गयी॥ 3॥ पंडे-पुजारियों के यहां मूर्ति बनकर बैठ गयी और तीर्थों में पानी बनकर लोगों को छलने लगी॥ 4॥ यह त्यागी साधु-संन्यासियों के घर में साधुनी एवं संन्यासिनी बनकर और राजा के घर में रानी बनकर बैठ गयी॥ 5॥ यह माया किसी के घर में अधिक संपत्ति बनकर और किसी के घर में थोड़ी संपत्ति बनकर बैठ गयी॥ 6॥ यह भक्तों के घर में भक्तिनि तथा ब्रह्मा के घर में सरस्वती बनकर बैठ गयी॥ 7॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो ! सुनो, इस माया की कथा गिनकर बताने भर की नहीं है॥ 8॥

व्याख्या—सद्‌गुरु कबीर का यह जगत-प्रसिद्ध शब्द है जिसे लोग खूब झूम-झूमकर गाते हैं। साहेब अपनी वाणियों में सर्वत्र माया को ठगिनी तथा

धोखेबाज कहते हैं। "मन माया की कोठरी" तथा "मन माया तो एक है"[1] कहकर आपने मन में टिके हुए मोह को ही मुख्य माया कहा है। परन्तु जो कुछ मोह का आलंबन बन जाये, अर्थात जिन-जिन प्राणी-पदार्थों के द्वारा मोह एवं भ्रम पैदा हो वह सब भी माया है। साहेब कहते हैं कि माया अपने हाथों में त्रिगुणी फांस लेकर घूमती है। यह त्रिगुणी फांस क्या है? साहेब ने अपनी वाणियों में त्रिगुणबन्धन की कई जगह चर्चा की है। पीछे 32वें शब्द में भी आपने कहा है—"पाखण्ड रूप रचो इन्ह तिरगुण।" गीताकार ने भी कहा है—"त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन"[2] अर्थात हे अर्जुन, सभी वेद त्रिगुण का ही उपदेश करते हैं, इसलिए तुम त्रिगुण से परे हो जाओ। वस्तुतः भौतिक जगत और मानसिक जगत त्रिगुणात्मक है, जो भाव इन्हीं दोनों में जीव को फंसाये रखे वह त्रिगुणात्मक माया है। इन दोनों से ऊपर उठने पर ही जीव अपने चेतनस्वरूप में स्थित होता है। सत, रज और तम के कार्य हैं—सुख, इच्छा तथा मूढ़ता। आध्यात्मिक सुख स्वच्छ, निष्कंटक, अनन्त एवं निर्दोष है। उसमें इच्छा तथा मूढ़ता पैदा नहीं होती। परन्तु भौतिक-क्षेत्र के सुख में सावधान न रहने पर इच्छा तथा मूढ़ता पैदा होती हैं। जिस सुख में इच्छा बन जाये और उसके बाद विजाति भास-अध्यास में जड़ता हो जाये वह त्रिगुणी फांस है। जहां तक जीव अपनी चेतना से बाहर आकर्षित होता है वह त्रिगुणी फांस है। जिसमें आदमी धोखा खा जाये वही माया है। हम शरीर और प्राणी-पदार्थों को अपना माने रहते हैं, परन्तु ये एक दिन छूट जाते हैं। अतएव इन्हें अपना मानना एक धोखा है और यही माया है। यह माया मानो मीठी वाणी बोलकर लोगों को रिझाती है और रीझ जाने पर फंसाती है। वस्तुतः मीठी वाणी बोलकर फंसाने वाले नर-नारी हैं। क्योंकि मनुष्य के पास ही वर्णात्मक वाणी है। जो नर या नारी मधुर वाणी बोलकर किसी व्यक्ति को मोह में उलझा दें वे मानो माया बन गये।

साहेब इस शब्द में विष्णु, महादेव तथा ब्रह्मा को इसलिए माया में ग्रस्त बताते हैं कि उनके घर में लक्ष्मी, भवानी तथा ब्रह्मानी बैठी हैं। विद्वानों को सोचना चाहिए कि यदि कबीर स्वयं लोई या किसी स्त्री के संयुक्त होते तो वे विष्णु आदि पर कैसे उंगली उठा सकते थे! कबीर-जैसे खरे विरक्त संत को पत्नी-बच्चे वाला कहना विद्वानों का भ्रम है। साहेब कहते हैं कि यह माया राजा के घर में रानी बनकर बैठ गयी, भक्तों के घर में भक्तिनि बनकर और

1. साखी 104-105।
2. गीता 2/45।

साधु-संन्यासियों के आश्रमों में साधुनी तथा संन्यासिनी बनकर बैठ गयी। इस क्रम में साहेब ने स्त्रियों को माया कहा है। प्रायः साधक स्त्रियों की संगत में फिसलकर अपनी साधना से पतित हो जाते हैं। जितने साधक गिरते हैं स्त्रियों की संगत से ही। चूंकि कबीर पुरुष थे और विरक्त थे इसलिए उन्होंने स्त्रियों को माया कहा। यही कथन कल्याणार्थी स्त्रियों एवं साधिका-साधुनियों को पुरुषों पर लगा लेना चाहिए। उनके लिए पुरुष ही माया बन सकते हैं। वैसे माया अपने मन का मोह है, परन्तु स्त्री-पुरुष का परस्पर अभेद बरताव होने से यह माया-मोह उत्पन्न हो जाता है। इसलिए साधक-साधिकाओं को सावधान रहना चाहिए और संगदोष का त्याग करना चाहिए। इस प्रकार साहेब ने कहा कि प्राणियों के रूप में रहकर माया हमें दिग्भ्रमित करती है।

दूसरी है पदार्थों के रूप में माया। 'काहू के हीरा' और 'काहू के कौड़ी कानी' इसका मतलब है किसी के पास बहुत संपत्ति है और किसी के पास थोड़ी संपत्ति है, परन्तु जिसके पास जितनी है वह उसी में आसक्त है। वैसे संसार की संपत्ति काम की चीज है। उसी से जीवन-निर्वाह होता है, परन्तु यदि वह मोह का कारण बने, आसक्ति का हेतु बने तो वह माया हो जाती है। जिन पदार्थों के संयोग से हमारे मन में लोभ-मोह पैदा हों, काम, क्रोध, वैर, व्यसन, अहंकार तथा नाना प्रकार मन की मलिनतों उत्पन्न हों वे सब मानो माया बन गये।

साहेब कहते हैं कि 'पण्डा के मूरति तथा तीरथ में पानी' भी माया बन गये। पत्थर आदि निर्जीव मूर्तियों की प्राणप्रतिष्ठा होती है, उन्हें सुलाया, जगाया, खिलाया, पिलाया जाता है, उसके सामने घुटने टेककर भोग-मोक्ष मांगा जाता है। जो अपने ऊपर बैठी हुई मक्खी को उड़ा नहीं सकती, वह निर्जीव मूर्ति चेतन मनुष्य का तारक बन गयी। मनुष्य उसे गढ़कर खड़ा करता है और स्वयं उसके सामने गिड़गिड़ाकर अपनी कल्याण-कामना करता है। यह माया नहीं तो क्या है। मूर्ति या चित्र केवल स्मारक हैं। वे जिन पुरुषों की प्रतिकृति हैं, उनकी याद दिलाते हैं। बस, इतना ही उनका उपयोग है, परन्तु यदि उनसे भोग-मोक्ष पाने का भ्रम हो गया तो यह माया नहीं तो क्या है। माया धोखा देती है, यह ठगिनी है, तो साफ है कि इसमें हम ठगाते हैं। यही बात तीर्थ में पानी की है। गंगा, यमुना, सरयू, नर्मदा कोई भी नदी हो, उसमें नहाने से शरीर साफ हो सकता है। भावना शुद्ध होने से मानसिक प्रसन्नता भी हो सकती है, परन्तु यह मानना कि इन नदियों के नाम लेने से, इनके इतने योजन के मध्य बसने से, इनके दर्शन करने से तथा इनमें डुबकी लगाने से

सारे पाप कट जायेंगे और मोक्ष हो जायेगा, यह अपने आप को तथा जनता को धोखा देना नहीं तो क्या है, और ऐसी स्थिति में यह तीर्थ का पानी माया बन गया। पारदर्शी दृष्टि वाले कबीर की नजरों में माया छिप नहीं सकती। कबीर कोई ऐसे-वैसे ज्ञानी नहीं हैं। कबीर संसार में अद्वितीय ज्ञानी हैं।

कबीर साहेब इस शब्द के अन्त में कहते हैं कि हे संतो! "ई सब अकथ कहानी" इस माया की सूची इतनी लम्बी है कि गिनकर बता पाना असम्भव है। कहां तक बताया जाये कि यह माया है वह माया है। तुम्हारी आत्मा के अलावा सब माया है। इसलिए कहीं भी आसक्त नहीं होना, कहीं भी नहीं फंसना।

सद्गुरु-भगवान ही मोह-पाश से छुड़ा सकता है

शब्द-60

माया मोह मोहित कीन्हा, ताते ज्ञान रतन हरि लीन्हा॥ 1॥
जीवन ऐसो सपना जैसो, जीवन सपन समाना॥ 2॥
शब्द गुरु उपदेश दीन्हों, तैं छाडु परम निधाना॥ 3॥
ज्योति देखि पतंग हुलसै, पशु न पेखै आगि॥ 4॥
काल फाँस नर मुग्ध न चेतहु, कनक कामिनी लागि॥ 5॥
शेख सैय्यद कितेब निरखें, सुमृति शास्त्र विचार॥ 6॥
सतगुरु के उपदेश बिनु तैं, जानि के जीव मार॥ 7॥
कर विचार विकार परिहरि, तरण तारण सोय॥ 8॥
कहहिं कबीर भगवन्त भजु नर, दुतिया और न कोय॥ 9॥

शब्दार्थ—निधाना=आश्रय, आधार। हुलसै=प्रसन्न होते हैं। पशू=पशु, मूर्ख। निरखें=देखते हैं, पढ़ते हैं। तरण=मुक्त। तारण=अन्य को मुक्त करने वाला। भगवन्त=ज्ञान-वैराग्यादि सद्गुणयुत सद्गुरु। भजु=सेवा-भक्ति कर।

भावार्थ—माया के मोह ने मनुष्य को विमूढ़ बना दिया है। इसलिए मानो उसने उसका ज्ञान-रत्न छीन लिया है॥ 1॥ जीवन तो ऐसा है कि मानो जैसा सपना हो। निश्चय समझो कि जीवन सपना के समान है॥ 2॥ सद्गुरु तुम्हें निर्णय वचनों का उपदेश कर रहे हैं। अतएव हे ज्ञान का परम आश्रय मनुष्य! तू माया-मोह छोड़ दे॥ 3॥ अग्नि की ज्योति देखकर पतिंगे प्रसन्न होते हैं और उसमें कूद पड़ते हैं। वे मूर्ख यह नहीं समझ पाते कि यह आग है, मुझे जला डालेगी॥ 4॥ इसी प्रकार मोहरूपी काल की फांसी में फंसा हे मूढ़ मानव! तू कनक-कामिनी में लिपटकर जल रहा है। उनसे सावधान नहीं होता॥ 5॥ शेख और सैय्यद इसलामी किताबें पढ़ते हैं तथा पंडित लोग

स्मृतियों और धर्मशास्त्रों का विचार करते रहते हैं, परन्तु सच्चे सद्गुरु से यथार्थ ज्ञान न पाने के कारण हे मौलवियो और पंडितो ! तुम हिंसा को गलत समझते हुए भी कुर्बानी तथा बलि के नाम पर जीव-वध करते हो॥ 6-7॥ इसलिए विचार करो और माया-मोह तथा हिंसारूपी विकारों का परित्याग करो। सद्गुरु ही स्वयं मुक्तरूप तथा दूसरों को मुक्ति-पथ पर अग्रसर करने में समर्थ हैं॥ 8॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे मनुष्य ! ज्ञान-वैराग्य संयुक्त सच्चे सद्गुरु भगवान की सेवा-भक्ति करो। तुम्हारा पथ-प्रदर्शक उनके अलावा कोई नहीं है॥ 9॥

व्याख्या—यह शब्द कैसा मार्मिक है, विचारते ही बनता है। सद्गुरु कहते हैं कि माया-मोह ने मनुष्य को मूढ़ बना दिया है। मन का मोह ही माया है। हम जब किसी चीज में मोह जाते हैं तब मूढ़ बन जाते हैं। फिर हमें सारासार का विवेक नहीं रह जाता। रावण-जैसा प्रतापी वेद-विद्वान जब सीता के सौंदर्य में मोह गया तब वह मूढ़ हो गया और न करने योग्य काम किया पर-स्त्री-हरण। इतना ही नहीं, स्वपक्ष के पूरे योद्धाओं के युद्ध में मर जाने के बाद भी सीता को न लौटाया और स्वयं भी युद्ध में मारा गया। राम और सीता जैसे उदार राज्य को ठोकर मारकर जंगल चले जाने वाले जब एक सुनहले एवं सुन्दर हिरन में मोह गये तब ऐसा विवेक खो दिये कि लक्ष्मण के सावधान करने पर भी दोनों नहीं समझ पाये और इसका परिणाम हुआ सीता-हरण का महादुख जिससे श्रीराम भी महादुखी हुए। पृथ्वीराज संयोगिता में मोहकर अपने आप का पतन किये ही, भारत के पतन में भी कारण बने। आदमी जब किसी प्राणी एवं पदार्थ में मोहित हो जाता है तब उसके हृदय का ज्ञान-रत्न छिन जाता है। मोह जितना बढ़ता है, विवेक उतना ही नष्ट होता है, और विवेक नष्ट हो जाने पर वह इतना गिर जाता है कि उसे पशु भी नहीं कह सकते, क्योंकि पशु अपने प्राकृतिक नियमों का परित्याग नहीं करता, परंतु ऐसे पतित आदमी के लिए कोई नियम नहीं रह जाता। आदमी का मन बड़ा भावुक होता है। वह किसी के रूप, गुण, वाणी, व्यवहार आदि को अपने मन के अनुकूल पाकर उसमें मोहासक्त हो जाता है। मनुष्य प्राणी-पदार्थों में आसक्त होकर विमूढ़ हो जाता है।

"जीवन ऐसो सपना जैसो, जीवन सपन समाना॥" सद्गुरु इस पंक्ति में दो बार घूम-घूमकर कहते हैं कि जीवन सपना के समान है। वे हमारे मोहासक्त मन पर हथौड़ा मारते हैं कि हे मूढ़, तू किसमें मोहासक्त हो रहा है ! क्या तेरा है ! क्या सपने में मिले हुए अनुकूल-प्रतिकूल प्राणी-पदार्थ जागने पर रह जाते हैं ! वैसे क्या ये जागृत में मिले हुए प्राणी-पदार्थ तेरे साथ सदैव

रहेंगे। आंखें खुलने पर सपने का ऐश्वर्य गायब हो जाता है और आंखें मुंदने पर जागृत का ऐश्वर्य गायब हो जाता है। हम रोज चार-छह घंटे गाढ़ी नींद में पहुंचकर अपने माने हुए शरीर तक को भूल जाते हैं। जिस दिन सदा के लिए आंखें बन्द कर लेंगे उसी दिन से हमारा सब कुछ अपना माना हुआ खो जायेगा। जीवन की सार्थकता है पर-सेवा तथा आत्म-संयम। इसके अलावा इस जिन्दगी में क्या रखा है।

"शब्द गुरु उपदेश दीन्हों, तैं छाडु परम निधाना।" कबीर साहेब कहते हैं कि हे मनुष्य ! तू ज्ञान-विज्ञान का परम आश्रय है। मानवेतर प्राणियों में तो थोड़ा ज्ञान होता है, किन्तु मानव ज्ञान का परम निधान है। ऐसा मूलतः ज्ञाननिधान मानव मोह-माया में मूढ़ बनकर भटकता रहे तो इससे अधिक तौहीनी और क्या होगी। कबीर साहेब कहते हैं कि हे मानव ! सद्‌गुरु तुम्हें निर्णय शब्दों का उपदेश दे रहे हैं। तू उस तरफ ध्यान दे और माया-मोह का त्याग कर।

"ज्योति देखि पतंग हुलसै, पशू न पेखै आगि। काल फाँस नर मुग्ध न चेतहु, कनक कामिनी लागि।" मनुष्य की मोह-मूढ़ता पर कैसा सटीक तथा सचोट उदाहरण है। दीपक की ज्योति देखकर पतिंगे उसे घेर लेते हैं। वे उस ज्योति के मोह में पड़कर हर्षायमान हो जाते हैं और ज्योति में चिपकने का प्रयास करते हैं। फल यह होता है कि वे उसमें ऐंठ-ऐंठकर जल मरते हैं। उन मूर्ख पतिंगों को ज्योति में आग नहीं दिखती, किन्तु आनन्द दिखता है। वे उसमें अपनी मौत नहीं देख पाते, किन्तु सुख देखते हैं। यही दशा मनुष्य की है। वह संसार के प्राणी-पदार्थों के मोह में लिपटकर कौन-सा अनर्थ नहीं करता है ! छल, धोखा, चोरी, व्यभिचार, डाका, हिंसा, हत्या, पर-स्वत्वापहरण कौन-सा अपराध मोहासक्त आदमी नहीं करता। आदमी संसार के प्राणी-पदार्थ एवं प्रतिष्ठा के मोह में लिपटकर मूढ़ बन जाता है। यह उन्हीं में रात-दिन जलता है। यह मोह ही तो काल की फांसी है। मौत काल नहीं है। मौत केवल शरीर को मारती है। मोह मनुष्य की आत्मा का पतन करता है। परन्तु कनक-कामिनी[1] में लिपटा आदमी इस मोह की फांसी को नहीं देख पाता। जैसे मोह-मूढ़ पतिंगे को ज्योति में आग नहीं दिखती वैसे विमोहित मानव को काल की फांसी नहीं दिखती।

"शेख सैय्यद कितेब निरखें, सुमृति शास्त्र विचार। सतगुरु के उपदेश बिनु तैं, जानि के जीव मार।" मुसलमानों की मुख्य चार जातियां मानी गयी

---

1. "कनक कामिनी देखि के" इस 148वीं साखी में इसकी परिभाषा देखें।

हैं—शेख, सैय्यद, मुगल तथा पठान। परन्तु शेख को शैख बनाकर इसके अर्थ होते हैं वृद्ध, गुरुजन, धार्मिक साहित्य का पंडित, खानकाह एवं दरगाह का खलीफा, महंत, अरब कबीलों का सरदार। इस शब्द में प्रयुक्त शेख का अर्थ महन्त ही है जो अपनी मजहबी किताबों का पंडित होता है। सैय्यद के अर्थ हैं नेता, सरदार, इमाम, मुहम्मद की पुत्री फातिमा से उत्पन्न अली का वंश तथा इस वंश का वंशज। साहेब कहते हैं कि शेख और सैय्यद लोग कुरान, हदीस तथा अनेक अपनी मजहबी किताबों को पढ़ते हैं। दूसरी तरफ हिन्दू पंडित स्मृतियों और शास्त्रों का अध्ययन, मनन एवं विचार करते हैं, परन्तु खेद है कि वे हिंसा को गलत समझते हुए भी कुर्बानी और बलि के नाम लेकर जीवहत्या करते हैं। हिन्दू-मुस्लिम आदि सभी मजहबों के धर्मग्रन्थों में अहिंसा, मेहरबानी, रहम, दया, करुणा आदि की प्रशंसा की गयी है, और सबका दिलरूपी धर्मशास्त्र तो हर क्षण बताता ही है कि दूसरों पर दया करो। जब तुम स्वयं पीड़ा नहीं चाहते हो तो दूसरों को पीड़ा देना मानवता कहां है। ऐसा जानकर भी ये मजहब एवं धर्म के नाम पर जीव-हत्या करते हैं, यह कितना दुखजनक है। कबीर साहेब कहते हैं कि इसमें एक मुख्य कारण है इनके गुरुओं के उपदेश की त्रुटि। मुसलमानों के धर्मशास्त्रियों ने कुर्बानी के नाम पर जीव-हत्या धर्म बतला दिया, वैसे हिन्दुओं के धर्मशास्त्रियों ने बलि के नाम पर जीव-हत्या उचित ठहरा दिया। इन्हें सच्चे सद्गुरु के उपदेश नहीं मिले। "सतगुरु के उपदेश बिनु तैं, जानि के जीव मार।" कबीर साहेब कहते हैं कि हे मुल्ला और पंडितो ! तुम्हें सच्चे सद्गुरु नहीं मिले, उनके उपदेश से तुम लोग वंचित हो, इसलिए जीव-हत्या गलत मानते हुए भी उसे करते हो। यह भी माया-मोह है, यह पूर्व-पुरुषों का एवं धर्मशास्त्रों का मोह है कि जो पूर्व पुरुषों तथा धर्मशास्त्रों ने कहा है वह सच है। ऐसा मोह भी मनुष्य को मूढ़ बनाता है। हमें परंपरा और पोथी से सार लेते हुए स्वतन्त्र विचार करना चाहिए कि उचित क्या है तथा आज के संदर्भ में प्रासंगिक क्या है।

"कर विचार विकार परिहरि, तरण तारण सोय। कहहिं कबीर भगवन्त भजु नर, दुतिया और न कोय।" इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि विचार करो, आंख मूंदकर न चलो। न प्राणी-पदार्थों एवं प्रतिष्ठा के मोह में मूढ़ बनो तथा न तो धार्मिक परंपरा एवं धार्मिक पोथियों के वचनों में मूढ़ बनो, किन्तु 'कर विचार' अर्थात स्वतन्त्र विचार करो। और विचार करने पर जो लगे कि यह विकार है, दोष है, मलिनता है, उसका निर्मम होकर त्याग करो। विकार को विकार जान लेना पहली बात है, परन्तु उस जानने की सफलता होगी उसके

त्याग में। जो विचारकर विकारों का परित्याग करता है वही तरण है और वही तारण है। वह स्वयं मुक्त है तथा दूसरों को मुक्ति की तरफ प्रेरित करने वाला है। मोह–माया एवं विषयासक्ति विकार है तथा सब प्रकार की हिंसा विकार है। जो इन्हें सर्वथा छोड़ दे वही तो तरण–तारण है, वही तो सद्‌गुरु है। कबीर साहेब कहते हैं कि विषयासक्ति और हिंसा को त्यागे हुए ज्ञान–वैराग्यसंपन्न सद्‌गुरु–भगवान![1] को भजो, उनकी सेवा करो, उनकी उपासना करो। उनके अलावा तुम्हारा अन्य पथ–प्रदर्शक नहीं है। विकारों को जीते हुए मनुष्य रूप में सद्‌गुरु होता है। वही हमारा पथप्रदर्शक होता है। अतएव वही भगवान है। वही कल्याणार्थियों का रक्षक है। इस शब्द में ऊपर दो बार सद्‌गुरु का श्रद्धापूर्वक नाम लिया गया है और कहा गया है कि उन्हीं के निर्णय शब्दों से तुम्हें सच्चा ज्ञान मिलेगा। अतएव शब्दांत में उन्हीं को भगवान शब्द से यादकर उनकी सेवा–भक्ति करने का निर्देश किया गया है। हम सत्यता के धरातल पर देखें तो यह परम सत्य है कि सद्‌गुरु के अलावा कोई साधक का रक्षक नहीं है। संत तो सद्‌गुरु रूप ही हैं। अतएव संत–सद्‌गुरु ही उपासनीय हैं। वे ही सच्चे भगवान हैं। वे ही रक्षक हैं।

जो लोग सद्‌गुरु से अलग भगवान मानते हैं, वे भी कहते हैं कि भगवान जगत का रचयिता, पालक तथा संहर्ता है। इस तरह भगवान जीव का उद्धारक न होकर संसार में डुबाने वाला ही है। वस्तुतः सद्‌गुरु ही भवबंधनों से जीव को बचाता है। सुन्दरदास जी एक सुन्दर कविता कहते हैं—

गोविन्द के किये जीव जात है रसातल कौं,
गुरु उपदेसे सुतौ छूटैं जम फंद तें।
गोविन्द के किये जीव सब परें कर्मनि कै,
गुरु के निवाजे सो फिरत हैं स्वछन्द तें।
गोविन्द के किये जीव बूड़त भवसागर में,
सुन्दर कहत गुरु काढ़े दुख द्वंद्व तें।
और ऊ कहाँ लौं कछू मुखतें कहौं बनाइ,
गुरु की महिमा अधिक है गोविन्द तें॥[2]

---

1. ज्ञान विराग श्रीयुत, यश अरु धर्म निधान।
ऐश्वर्य षट भागयुत, ताहि कहत भगवान॥
2. सुन्दर ग्रन्थावली 229 पृष्ठ 392।

देहाभिमानी की दुर्गति

शब्द-61

मरिहो रे तन का लै करिहो, प्राण छुटे बाहर लै डरिहो॥ 1॥
काया बिगुर्चन अनबनि भाँति, कोइ जारे कोइ गाड़े माटी॥ 2॥
हिन्दु ले जारे तुरुक ले गाड़े, यहि बिधि अंत दुनों घर छाड़े॥ 3॥
कर्म फाँस यम जाल पसारा, जस धीमर मछरी गहि मारा॥ 4॥
राम बिना नर होइहैं कैसा, बाट माँझ गोबरौरा जैसा॥ 5॥
कहहिं कबीर पाछे पछतैहो, या घर से जब वा घर जैहो॥ 6॥

शब्दार्थ—बिगुर्चन=बिगूचना, उलझन। अनबनि=बिगड़ाऊ, विविध, अनेक। अन्त=मरने पर। गोबरौरा=एक उड़ने वाला कीड़ा जो गोबर एवं मल की गोली बनाकर उसे लुढ़काता हुआ चलता है। या घर=नरतन। वा घर=पशु आदि खानि।

भावार्थ—हे देहाभिमानी! जब तू मरेगा तब अपने माने हुए शरीर को लेकर क्या करेगा! ध्यान रख, प्राण छूटते ही तेरा शरीर बाहर डाल दिया जायेगा॥ 1॥ शरीर तो एक उलझनरूप है और अनेक जोड़ों से बना बिगड़ाऊ है। जीव के निकल जाने पर कोई इसे जला देता है और कोई मिट्टी में गाड़ देता है॥ 2॥ विशेषतः इसे हिन्दू जला देते हैं और मुसलमान गाड़ देते हैं। इस प्रकार प्राणी के मर जाने पर दोनों सम्प्रदाय वाले इसे तिरस्कृत कर देते हैं॥ 3॥ जैसे धीमर जाल फैलाकर मछलियों को पकड़कर उन्हें मार लेता है, वैसे मनरूपी यम ने मानो कर्मों के फांस का जाल फैलाकर जीव को बांध लिया है॥ 4॥ हे मनुष्य! आत्माराम के ज्ञान बिना तुम्हारी वही दशा होगी जो गुबरैले कीड़े की होती है। वह गोबर एवं मल की गोली बनाकर उसे लुढ़काते हुए रास्ते में चलता है और मनुष्य एवं पशुओं के पैर लगकर नष्ट हो जाता है॥ 5॥ कबीर साहेब कहते हैं कि तुम्हें पीछे पछताना पड़ेगा जब तुम इस शरीर को छोड़कर अन्य योनियों में जाने की तैयारी करोगे॥ 6॥

व्याख्या—सद्गुरु ने इस शब्द में शरीर की अन्तिम दशा का दिग्दर्शन कराया है। हम अबोधवश शरीर को सब कुछ मानकर इसी में आसक्त हो जाते हैं। हम जानते हुए अनजान बने रहते हैं। हम जानते हैं कि शरीर अवश्य एक दिन नष्ट हो जायेगा, परन्तु यह भ्रम सदैव बना रहता है कि अभी नहीं, कभी बिछुड़ेगा। सर्वाधिक अहंकार शरीर का होता है, किन्तु यह इतना क्षणभंगुर है कि अचानक खो जाता है। काष्ट, मिट्टी, पत्थर, लोहा, सीमेंट से बने मकान या अन्य वस्तुओं की अवधि निर्धारित की जा सकती है, परन्तु

इस शरीर की कोई अवधि नहीं मानी जा सकती। यह कब मिट जायेगा, कोई नहीं जानता है। साहेब कहते हैं, हे प्रमादी जीव, इसका क्या गर्व करता है।

शरीर छूटने पर इसको कोई लेकर क्या करेगा। मिस्र[1] के रजवाड़ों के मृत शरीर ईसा के हजारों वर्ष पूर्व सैकड़ों फीट ऊंचे अभेद्य पत्थर के पिरामिडों में मोटी और मजबूत सोने के संदूकों में रखे गये, परंतु उनका क्या हुआ ! वे जीव कभी भी अपनी देह में न आ सके। शरीर से जीव के निकलने का समय आ जाता है, तब लोग उसके शरीर को खाट से उतारकर जमीन पर लेटा देते हैं। यह प्रथा भारत में तो है ही, यूरोप में भी है।[2] इस प्रकार मरने की संभावना होते ही आदमी ऐश्वर्य भरे घर से निकालकर जमीन पर लेटा दिया जाता है। जब जीव शरीर को छोड़ देता है, तब सब लोग कहते हैं कि अब इसे ले चलो, इसकी अंत्येष्टि कर दो, हंसा तो उड़ गया, अब तो केवल मिट्टी पड़ी है। जीव के निकल जाने पर पिता पिता नहीं रह जाता, माता माता नहीं रह जाती, पुत्र पुत्र नहीं रह जाता, गुरु गुरु नहीं रह जाता। केवल रह जाती है मिट्टी। उस समय कोई नहीं कहता कि पिता लेटे हैं, माता लेटी हैं, पुत्र लेटा है, गुरु लेटे हैं। तब लोग कहते हैं कि मिट्टी पड़ी है। जीव के निकलते ही जिस शरीर की यह दशा होती है उसका क्या गर्व किया जाये।

"काया बिगुर्चन अनबनि भाँती" यह शरीर बिगुर्चन है और अनबन भांती है। बिगुर्चन एवं बिगुचने का अर्थ है उलझ जाना। 164वीं साखी में भी सद्गुरु ने "सेमर सुवना बेगि तजु, तेरी घनी बिगुर्ची पाँख" कहकर बिगुर्चन शब्द का प्रयोग किया है। वहां भी इसका अर्थ उलझ जाना ही है। अर्थ है कि हे सुग्गे, तू सेमल के फूल-फल को जल्दी छोड़ दे। तेरे पंख सेमल-फल के रोवांटे में बहुत उलझ गये हैं। यह काया बिगुर्चन, उलझनरूप है। आदमी अपने माने हुए शरीर के विकारों में कैसा उलझ जाता है, यह सर्वविदित है। यह मानव शरीर तो मन को सुलझाने की जगह है, परन्तु जीव इसी में आकर अपने मन को अधिक उलझा लेता है। पशु-पक्षियों के मन वैसे नहीं उलझे रहते हैं जैसा मनुष्य का मन उलझा रहता है। मनुष्य ज्यादा समझता है, अतएव वह अपनी समझदारी को विपरीत दिशा देकर ज्यादा उलझ जाता है। काम, क्रोध, मोह, लोभ, राग-द्वेष, तृष्णा, चिन्ता, नाना दुर्व्यसन एवं गलत आदतें बनाकर जीव उलझ जाता है। यही सब तो बिगुर्चन है। "आये थे हरि भजन को, ओटन लगे कपास"। करना चाहिए था अनासक्ति का व्यवहार,

---

1. मिस्र उत्तर-पूर्वी अफ्रीका का एक देश है जिसकी सभ्यता की गणना संसार की प्राचीनतम सभ्यताओं में की जाती है।
2. एडगर्टन दि आवर आव डेथ। धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 3, पृ० 1112।

राग-द्वेष रहित प्रशांत मन, परन्तु कर डाला उलझन। यही जीवन की असफलता है। सद्गुरु कहते हैं कि काया बिगुर्चन एवं उलझन का स्थान तो बन ही जाती है, यह "अनबनि भाँती" भी है। अनबन का अर्थ है बिगड़ी स्थिति या अनेक। शरीर अनेक गांठों एवं जोड़ों से बना है और बहुत कच्चे सामान से बना है तथा अनेक विधि से बना है। इसके बिगड़ने और मिटने में देरी लगती है यही आश्चर्य है, यदि यह मिट जाये तो बिलकुल आश्चर्य नहीं होना चाहिए। इतनी कच्ची काया संसार में अनेक ठोंकरें खाती हुई कई वर्षों तक बनी रहती है यही आश्चर्य होता है। इसके बिगड़ने और मिटने में क्या आश्चर्य! सद्गुरु ने 283वीं साखी में भी कहा है "दश द्वारे का पींजरा, तामें पंछी पौन। रहिबे को अचरज अहै, जात अचम्भौ कौन॥"

"कोइ जारे कोइ गाड़े माटी" शरीर छूटने पर इसे कोई जला देता है, कोई मिट्टी में गाड़ देता है। विशेषतः हिन्दू जलाते हैं तथा मुसलमान गाड़ देते हैं। कबीर साहेब के समय में हिन्दू और मुसलमान दो परम्परों मुख्य थीं, इसलिए इन दोनों के द्वारा मृतकों की की गयी अंत्येष्टि का संकेत किया गया है। वैसे ईसाई लोग भी मृत शरीर को जमीन में गाड़ते हैं। सब मिलाकर मृत शरीर के अंत्येष्टि-संस्कार अनेक प्रकार से किये जाते हैं, जैसे जलाना, गाड़ना, पानी में फेंक देना, खुले मैदान में छोड़ देना जिससे उसे चील्ह-गीध आदि खा लें, ऐसा पारसी करते हैं। मिस्र के लोग शव को गुफाओं में रखते थे। वैसे भारत में शव को जलाये जाने का ही प्रचलन बहुत प्राचीन है। डॉ. पांडुरंग वामन काणे लिखते हैं—"प्राचीन भारतीयों ने शवदाह की वैज्ञानिक किन्तु कठोर हृदयवाली विधि किस प्रकार निकाली, यह बताना कठिन है। प्राचीन भारत में शव को गाड़ देने की बात अज्ञात नहीं थी (अथर्ववेद 5/30/14 'मा नु भूमिगृहो भुवत्' एवं 18/2/34)। अंतिम मन्त्र का रूप यों है—हे अग्नि! उन सभी पितरों को यहां लाओ, जिससे कि वे हवि ग्रहण करें, उन्हें भी बुलाओ जिनके शरीर गाड़े गये थे, या खुले रूप में छोड़ दिये गये थे, या जला दिये गये थे। या ऊपर (पेड़ों पर या गुहाओं में?) रख दिये गये थे।"[1]

हिन्दुओं में भी चेचक आदि विशेष बीमारियों में मरने वालों को, बच्चों को एवं साधु-संन्यासियों को जमीन में गाड़ा ही जाता है। लोकधारणा है कि शरीर छोड़ देने के बाद आत्मा पुनः गाड़े हुए शरीर के आस-पास भटकती है, इसलिए इसे जला देना चाहिए, क्योंकि शव को जला देने पर आत्मा वहां

---

1. ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः।
सर्वास्तानग्न आ वह पितृन् हविषे अत्तवे॥ (अथर्ववेद 18/2/34)
(धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 3, पृ. 1136)

भटकने नहीं आयेगी। रही साधु–संन्यासियों की बात, तो वे देह रहते–रहते ही देह का मोह छोड़ देते हैं इसलिए उनके शव गाड़ देने पर भी कोई फर्क नहीं पड़ता, क्योंकि उनकी आत्मों संतुष्ट होती हैं। वे भटकने नहीं आतीं। मुसलमानादि में जो शव गाड़ते हैं वे यह विश्वास रखते हैं कि गाड़ने के बाद फरिश्ते आकर उसके कर्मों का लेखा–जोखा लेते हैं। जला देने पर वे उससे हिसाब कैसे लेंगे! वस्तुतः यह सब अंधविश्वास मात्र है। मृत शरीर की अंत्येष्टि कर देना है, जहां जैसे रस्म हो या सुविधा हो वह सब ठीक है। यहां सद्‌गुरु के कहने का अभिप्राय तो इतना ही है कि यह शरीर छूटता है और इसे गाड़, जला आदि कर सब इसे त्यागते हैं। जीव के निकल जाने पर इस नरक को कोई क्या करेगा। यदि इसे थोड़े समय के लिए रख छोड़ो तो सड़कर गंधाने लगता है। इसलिए इसे सभी को हटा देना पड़ता है।

"कर्म फाँस यम जाल पसारा, जस धीमर मछरी गहि मारा।" धीमर अपना जाल फैलाकर मछलियों को फंसा लेता है और उन्हें मारकर खा जाता या बेच लेता है। इसी प्रकार यमराज ने कर्म–फांस का जाल फैलाकर जीवों को फंसा रखा है। यह यमराज कौन है? यह है विकारी मन। विकारी मन ही यमराज है। यह कर्मों का जाल फैलाता है जो जीव के लिए फांसी बन जाता है। कर्मों के जाल का अभिप्राय है राग–द्वेषपूर्ण कर्मों का विस्तार। शरीरधारी को तो कर्म करने ही हैं। बिना कर्म के तो शरीर का निर्वाह भी नहीं हो सकता, विशेष उन्नति तो दूर की बात है। कर्मशील कबीर निष्क्रिय होने का उपदेश भी कैसे दे सकते हैं। यहां तो उन कर्मों को फांसी एवं जाल बताया गया है जो यमराज द्वारा कराया जाता है। यह मलिन मन यमराज है। इस मलिन मन ही की प्रेरणा से तो मनुष्य काम, क्रोध, लोभ, मोह, हिंसा, हत्या, व्यभिचार, वैर–विवाद, राग–द्वेष एवं सारे असंयत कर्म करता है और इन्हीं के जाल एवं फांसी में पड़कर पेट भर दुख भोगता है। राग–द्वेष एवं चिंता–शोक की आग में जलते रहना ही तो यमयातना है। कहा है—"स्वर्ग वही है जिससे मन को प्रीति मिलती है, नरक इसका उलटा (विपर्यय) है, पुण्य एवं पाप को ही क्रम से स्वर्ग एवं नरक कहा जाता है, सुख एवं दुख से युक्त मनःस्थिति ही स्वर्ग एवं नरक की परिचायक है।"[1] अतएव यह मन जब मलिन होता है तब मानो यह यमराज बन जाता है और इसका सारा विस्तार नरक बन जाता है, किन्तु जब मन पवित्र हो जाता है तब यह देव हो जाता है और इसका

---

1. मनःप्रीतिकरः स्वर्गो नरकस्तद्विपर्ययः। नरकस्वर्गसंज्ञे वै पापपुण्ये द्विजोत्तमाः॥ ब्रह्मपुराण (22/24); विष्णुपुराण (2/6/46) मनसः परिणामोऽयं सुखदुःखादिलक्षणः। ब्रह्मपुराण (22/47)। (धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 3, पृ. 1106)

विस्तार स्वर्ग। सद्गुरु कहते हैं कि हे देहाभिमानी, तेरा मन तो यमराज बन गया है, और तुम्हें राग-द्वेष के कर्मजाल में फंसाकर नरक में गिरा रहा है।

"राम बिना नर होइहैं कैसा, बाट माँझ गोबरौरा जैसा।" कबीर देव कहते हैं कि राम-भजन बिना आदमी गोबरकीट के समान जीवनभर मानो मैले की गोली बनाकर इसे ढकेल रहा है। आप देखते नहीं गुबरैला गोबर एवं मल की गोली बनाता है और उसे ढकेलते हुए ले चलता है। पता नहीं लगता कि इसका पार्सल कहां जायेगा! इतने में किसी मनुष्य या पशु का पैर पड़ता है, गोली दूर जाकर पड़ती है या दब जाती है और गुबरैला भी अपनी जान खो बैठता है। यही दशा देहाभिमानी की है। वह इस मल-मूत्र की पोटली देह के अहंकार में चूर होकर इसे जीवनभर संसार में ढकेलता है। काल की ठोकर लगते ही यह नष्ट हो जाता है और जीव दूसरा शरीर बनाने के लिए उड़ जाता है। इस जीवन में एक राम है तथा दूसरा शरीर है। राम चेतन है, व्यक्ति का निजस्वरूप है, दिव्य है, उससे कभी न छूटने वाला है। परन्तु यदि मनुष्य ने अपने राम-स्वरूप को न पहचाना, उसमें विश्राम न पाया, किन्तु इस मलिन देह के अभिमान में डूबा रहा तो वह गुबरैला कीड़े के समान ही रहा। जो आत्माराम में लीन है वह दिव्य है, जो देहाभिमान में लीन है वह गुबरैला कीड़ा है।

"कहहिं कबीर पाछे पछतैहो, या घर से जब वा घर जैहो।" कबीर साहेब कहते हैं कि तुम्हें पीछे पछताना पड़ेगा जब इस घर को छोड़कर उस घर में जाओगे। यह घर क्या है और वह घर क्या है? कबीर साहेब लोकांतर में कोई स्वर्ग-नरक नहीं मानते, किन्तु जन्मांतर मानते हैं। वे यह मानते हैं कि जीव अमर है। वह वासनावश नाना योनियों में भटकता रहता है और जब वह वासना त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है तब जन्म-मरण के चक्कर से मुक्त हो जाता है। इस पंक्ति में वे कहते हैं कि यह जीव इस मानव-शरीर को पाकर अहंकार और विषयासक्ति में डूबा है। इसको पीछे पछताना पड़ेगा जब यह शरीर छूट जायेगा और पशु, पक्षी, कृमि-कीटादि योनियों में जाकर अंधकार में भटकेगा। प्रश्न हो सकता है कि क्या जीव जब अन्य योनियों में जायेगा, तब उसे यह याद रहेगा कि मैं पहले मनुष्य खानि में था और वहां मैंने प्रमाद में जीवन बिताया था जिसके फल में मुझे पशु आदि योनियों में आना पड़ा? याद तो नहीं रहेगा, परन्तु दुख तो भोगना ही पड़ेगा। वस्तुतः पछतावा शरीर छूटते समय होता है। जो संसार के धोखे में जीवनभर पड़ा रहता है उसे जाते समय पछतावा होगा ही।

इस प्रकार इस पूरे शब्द में सद्गुरु ने जो कुछ कहा है उसका सार यह है कि देहाभिमान को छोड़ो और आत्माराम में रमो।

स्वरूपस्थिति एवं सहज समाधि की रहनी

शब्द-62

माई मैं दूनों कुल उजियारी॥ 1॥
सासु ननद पटिया मिलि बँधलो, भसुरहि परलों गारी॥ 2॥
जारों माँग मैं तासु नारी की, जिन सरवर रचल धमारी॥ 3॥
जना पाँच कोखिया मिलि रखलों, और दुई औ चारी॥ 4॥
पार परोसिनि करों कलेवा, संगहिं बुधि महतारी॥ 5॥
सहजे बपुरे सेज बिछावल, सुतलिउँ मैं पाँव पसारी॥ 6॥
आवों न जावों मरों नहिं जीवों, साहेब मेट लगारी॥ 7॥
एक नाम मैं निजु कै गहलौं, ते छुटल संसारी॥ 8॥
एक नाम मैं बदि कै लेखों, कहहिं कबीर पुकारी॥ 9॥

शब्दार्थ—माई=चेतना-शक्ति, आत्मा। मैं=स्वरूपस्थ-वृत्ति। दूनों कुल= व्यवहार-परमार्थ। सासु=संशय। ननद=कुमति। भसुरहि=भसुर, जेठ, अहंकार। तासु नारि=अविद्या। सरवर=सरोवर, अंतःकरण। धमारी=उपद्रव। जना पाँच=पांच जने, पांच ज्ञान इन्द्रियां। कोखिया =कोख, कुक्षि, पेट। दुई=शुभ-अशुभ। चारी=चतुष्टय अंतःकरण। पार परोसिनि=साधारण दुर्व्यसन। कलेवा=सबेरे का जलपान। सहजे=सहज, स्वरूपज्ञान। साहेब= सद्गुरु। मेट=नष्ट कर दिया। लगारी=आसक्ति, लगाव। संसारी=संसारीभाव, विषयासक्ति। बदि कै=प्रतिज्ञापूर्वक। लेखों=विचार करता हूं, मानता हूं।

रूपक—एक लड़की अपनी ससुराल पहली बार जाकर अपने नैहर लौटी। हर मां अपनी लड़की से उसकी ससुराल की बात पूछती है। मां ने पूछा—"बेटी, तेरी ससुराल की स्थिति क्या है? तेरे सासु, ननद, जेठ, अन्य घर वाले, पड़ोसी तथा तेरा पति कैसा है? इन सबसे तू कैसे निपटती है?"

पुत्री ने जो उत्तर दिया वह आश्चर्यजनक है। उसने कहा—"मां, मैं नैहर-सासुर दोनों कुल की प्रकाशिका हूं। जब ससुराल में गयी तब मैंने पहले ही दिन सासु और ननद को अपनी खाट की पाटी में बांध दिया और जेठ को खूब गाली दी। ये ही लोग बहू को ज्यादा दबाने वाले हो सकते हैं और इन्हें मैंने पहले दबा दिया। मेरे घर में उपद्रव मचाने वाली एक स्त्री थी, मैंने उसकी मांग जला दी, अर्थात उसके पति को मार डाला, इसलिए उसकी तो हिम्मत ही बैठ गयी। घर में अन्य कई लोग हैं, उनमें से पांच को तो मैंने बगल में रखकर रगड़ दिया तथा दो-चार और थे, उनकी भी दशा यही कर दी। पार-पड़ोसिनें थीं, वे मुझे परेशान कर सकती थीं, तो मैंने उनका जलपान कर लिया। रह गयी मेरे पतिदेव की बात, वे तो बेचारे बड़े सरल एवं सहज

हैं। वे मेरे शरीर की सेवा के सारे काम कर देते हैं, यहां तक कि वे रात में मेरी शय्या भी बिछा देते हैं और मैं बस, केवल पांव पसारकर सो जाती हूं। माता जी, मेरी ससुराल बड़ी अच्छी है। चैन की बंसी जब रही है।''

गृहस्थ पाठक यदि ऐसी बहू पा जायें तो उनका क्या बीतेगा, यह सहज समझा जा सकता है। शायद ऐसी बहू दुनिया में कहीं न हो, परन्तु कबीर साहेब की एक-एक बात मजेदार रहती है और साथ-साथ गूढ़ अध्यात्म एवं उच्चतम साधनापरक भी। अब हम इस शब्द के आशय को समझें।

भावार्थ—स्वरूपस्थ-वृत्ति चेतनाशक्ति एवं आत्मा से कहती है कि हे माता, मैं व्यवहार तथा परमार्थ दोनों क्षेत्रों को उज्ज्वल बनाने वाली हूं॥ 1 ॥ जब मैं अपनी स्वरूपस्थितिरूपी ससुराल में गयी तब मैंने संशय और कुबुद्धि रूपी सासु और ननद को स्थिति-शय्या की पाटी में बांध दिया और अहंकार रूपी जेठ को तिरस्कृत कर दिया॥ 2॥ अविद्यारूपी नारी ने ही मेरे अंतःकरण-सरोवर में उपद्रव मचाया था, तो उसको विधवा कर दिया, अर्थात उसे शक्तिहत बना दिया॥ 3॥ आंख, नाक, कान, जीभ तथा चमड़ी— इन पांच बलवान जनों को तो मैंने पेट में रख लिया। अर्थात इनको पूर्णतया वश में कर लिया। और शुभ तथा अशुभ कर्मवासनों तथा मन, चित्त, बुद्धि एवं अहंकार का भी शमन कर लिया॥ 4॥ पारपड़ोसिनि हैं नाना प्रकार के दुर्व्यसन एवं गलत आदतें, मैंने उनका जलपान कर लिया। अर्थात उनको भी पूर्ण स्ववश कर लिया, परन्तु हे मां-आत्मा, मैं बुद्धि को एक दूसरी मां मानकर उसको सदैव साथ रखती हूं॥ 5॥ सहज स्वरूपज्ञानरूपी पति ने मेरे लिए स्वरूपस्थिति एवं समाधि की शय्या बिछा दी है और मैं पैर पसारकर निश्चिंत हो उस पर सो रही हूं॥ 6॥ हे चेतनाशक्ति-मां, अब मुझे संसार में आना-जाना एवं जन्मना-मरना नहीं है, क्योंकि इसका कारण संसार की आसक्ति थी, लगाव था, उसे सद्गुरु साहेब ने उपदेश देकर मिटा दिया है॥ 7॥ मैंने तो अन्य सारी मान्यतों एवं बाह्याचार सर्वथा छोड़कर केवल एक संज्ञा, निज चेतनस्वरूप को ही पकड़ रखा है। इसी से मेरी सारी संसारी-वासनों छूट गयी हैं॥ 8॥ कबीर साहेब घोषणा करके कहते हैं कि मैं अपना यह विचार प्रतिज्ञापूर्वक रखता हूं कि निजस्वरूप चेतन ही परम तत्त्व एवं परम पद है॥ 9॥

व्याख्या—जो मनोवृत्ति समाधि में लीन हो जाती है वह अमृत बन जाती है। उसी द्वारा इस पूरे शब्द के भाव का वर्णन है। कबीर साहेब की उक्तियां विलक्षण-विलक्षण होती ही हैं। स्वरूपलीन, आत्मलीन एवं समाधिलीन मनोवृत्ति कहती है कि मैं दोनों कुल को उजागर करने वाली हूं। दो कुल हैं व्यवहार तथा परमार्थ। जिसका मन शुद्ध होता है, आत्माराम में लगा हुआ

होता है उसका मन निर्मल एवं शांत होता है, अतः उसका परमार्थ तो बना-बनाया ही है, उसका व्यवहार भी परम उज्ज्वल होता है। जिसकी मनोवृत्ति निर्मल है वह अपने साथियों से न विवाद करेगा, न उनके प्रति तनावग्रस्त रहेगा, न भोगों की चाहना रखेगा। भोगों की चाहना को लेकर ही तो सारे विवाद होते हैं और जब वही नहीं है तब किससे झगड़ा! वह मान-सम्मान को तुच्छ समझेगा। वह न किसी को कटु कह सकता है, न स्वार्थपरायण हो सकता है। वह अपने साथियों से तथा बाहरी मिलने वालों से शुद्ध प्रेमपूर्ण एवं मधुर व्यवहार करता है। जिसका मन मक्खन हो गया है, अमृत बन गया है, मधु हो गया है उससे विष कैसे निकल सकता है! मन का विष ही तो व्यक्तित्व, परिवार, समाज तथा देश में जहर घोलता है और जब मन ही अमृत बन गया तो उसका पूरा व्यक्तित्व ही अमृत बन गया, अतएव उसके द्वारा दूसरों को उद्वेग पहुंचने की बात ही समाप्त हो जाती है। वह आनन्दकंद होता है तथा दूसरों को भी अपने संपर्क मात्र से आनन्द देता है। इस प्रकार समाधि में लीन मन वाले को परमार्थ तो प्राप्त ही हो गया, उसका व्यवहार भी परम उज्ज्वल हो गया। उसके व्यवहार में प्रेम का सागर है तथा परमार्थ में अनासक्ति के हिमालय का शिखर। अतएव वह प्रेम का स्वर्ग-सुख तथा अनासक्ति का मोक्ष—सुख एक साथ भोगता है। समाधि में लीन मनोवृत्ति व्यवहार तथा परमार्थ दोनों की प्रकाशिका है, यह परम सत्य है।

ऐसी मनोवृत्ति संशय और कुमति को अपनी स्थिति-शय्या की पाटी में बांध लेती है। "सासु ननद पटिया मिलि बँधलो।" खराब स्वभाववाली सासु और ननद बहू को परेशान करने वाली होती हैं और अच्छे स्वभाव वाली सासु-ननद बहू को सुख देती हैं। यहां सासु संशय तथा ननद कुमति एवं कुबुद्धि है। जिसकी मनोवृत्ति समाधि में लीन होती है उसके भीतर आध्यात्मिक और आधिभौतिक किसी प्रकार का संशय एवं संदेह नहीं रह जाता। वह परमार्थ तथा व्यवहार दोनों में निस्संदेह होता है। वह समझता है कि निज चेतनस्वरूप ही परम तत्त्व है और निज स्वरूपस्थिति परमपद। वह यह भी समझता है कि जीवन-निर्वाह निश्चित ही होगा, उसके साधन जुटते रहेंगे, केवल मुझे श्रम एवं संयम से रहना चाहिए। इस प्रकार वह संदेहरहित होता है। उसकी कुमति मिट गयी रहती है। उसकी कुमति सुमति के रूप में तथा संशय बोध के रूप में बदल जाते हैं। यही मानो सासु-ननद को पाटी में बांध लेना है।

"भसुरहि परलों गारी" भसुर कहते हैं ज्येष्ठ को। यह बहू के पति का बड़ा भाई होता है। तात्पर्य में है अहंकार। अहंकार ही तो ज्येष्ठ-श्रेष्ठ है जो सारे संसार को नचाता है। "शरीर मेरा है, धन-परिवार मेरे हैं, मैं सबसे श्रेष्ठ

हूं, मेरे सामने सब तुष्छ हैं" यह भाव ही तो अहंकार है। यही भाव तो जीव को संसार में बांधता है। समाधि में रमने वाली मनोवृत्ति ने इसको खूब गाली दी, इसका तिरस्कार किया और कहा—"देख शठ अहंकार! तू धोखे में है। यहां तेरा कुछ नहीं है। शरीर नश्वर है, प्राणी-पदार्थ भी छूटने वाले क्षणभंगुर हैं, मान-सम्मान नाम-रूप के हैं जो नाशवान हैं। इस संसार में तेरा कुछ नहीं है। मूर्ख अहंकार, तेरा घमंड करना तेरी निचाई है। संसार के बड़े-बड़े प्रतापी, धनी, बली, विद्वान कहलाने वाले मिट्टी में इस तरह सो गये कि दुनिया से उनके नामोनिशान मिट गये। अतएव तेरा यहां कुछ नहीं है। सारा संबंध झूठा है।" जिसकी मनोवृत्ति समाधि में रमती है उसमें अहंकार की गंध भी कहां हो सकती है!

"जारों माँग मैं तासु नारि की, जिन सरवर रचल धमारी।" मनुष्य का अंतःकरण एक विशाल सरोवर है। इसमें उपद्रव मचाने वाली अविद्या है। अविद्या कहते हैं विपरीत समझ को। अनित्य, अशुचि, दुख और अनात्म में नित्य, शुचि, सुख और आत्म-बुद्धि होना अविद्या है।[1] यह शरीर अनित्य है, गंदा है, दुखपूर्ण है तथा अनात्म एवं जड़ है, परन्तु इसे यह मानना कि यह नित्य बना रहेगा, यह रमणीय एवं पवित्र है, यह सुखद है तथा यह मेरा स्वरूप है—यह भाव ही अविद्या है। इस अविद्या के कारण ही मनुष्य के मन में उपद्रव मचा है। देहादि में अहंकार करके ही सारे विकार उत्पन्न होते हैं और यह विपरीत समझ का फल है। इस विपरीत समझ एवं अविद्या के कारण ही आदमी न सोचने योग्य बात सोचता है, न बोलने योग्य बात बोलता है, न करने योग्य काम करता है तथा न खाने योग्य वस्तु खाता है। इन्हीं सबके परिणाम में उसे सारी उलझनें मिलती हैं। मनुष्य के मन-सरोवर में उपद्रव मचाने वाली यह अविद्या, यह विपरीत समझ ही है। समाधिनिष्ठ मन ने उसका नाश कर दिया। उसने अविद्या को समाप्त कर दिया।

"जना पाँच कोखिया मिली रखलों" समाधिलीन मनोवृत्ति पांचों ज्ञानेन्द्रियों को अपने पेट में समा लेती है। इसका मतलब है उनको पूर्णतया वश में कर लेना। भजनानंदी व्यक्ति की इन्द्रियां संयत होती हैं। वह जानबूझकर ऐसे दृश्यों को नहीं देखता जिससे मन मलिन हो, वह न ऐसे स्पर्श करता है, न ऐसे शब्द सुनता है, न ऐसे गंध ग्रहण करता है तथा न ऐसे रस चखता है जिससे मन मलिन हो। वह अपनी इन्द्रियों को अपने अधीन रखता है। इतना ही नहीं, "और दुई औ चारी" दो-चार को और अपने वश में

---

1. अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। (योगदर्शन 2/5)

कर लेता है। दो हैं शुभ-अशुभ कर्म और चार हैं मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार। विवेकवान अशुभ भाव एवं अशुभ कर्म तो करता ही नहीं, वह शुभ भाव रखते तथा शुभ कर्म करते हुए भी उनमें अहंकार नहीं रखता। अतएव वह शुभाशुभ को जीत लेता है। इसी प्रकार दो की संख्या में आने वाले राग-द्वेष एवं हानि-लाभ, हर्ष-शोक, मान-अपमानादि वृत्तियों को वह जीत लेता है, यह भी कह सकते हैं। ये सारे अर्थ समाधिलीन पुरुष में समाहित हैं। इसके साथ उसके मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार उसके अधीन होते हैं। वे अनियंत्रित नहीं भटकते। उसका मन आज्ञाकारी होता है और सदैव सद्विचार में रमने वाला होता है। उसका चित्त स्वरूपानुसंधान करता है। उसकी बुद्धि स्वरूपस्थिति-सुख की निश्चयवाली होती है। उसका अहं देहादि में नहीं, किन्तु निजस्वरूप चेतन में होता है। अतएव उसकी सारी वृत्ति बाहर से सिमिटकर अंतर्मुख हो जाती है।

"पार परोसिनि करों कलेवा" समाधि में लीन मनोवृत्ति कहती है कि मैंने पारपड़ोसिनियों को जलपान में खा लिया है। पारपड़ोसिनि हैं अनेक छोटे-छोटे दुर्व्यसन एवं गलत आदतें, जैसे—तम्बाकू, पान, गांजा, भांग, बीड़ी, सिगरेट, शराब, मांस, चुगली, निंदा, लाई-लगाई आदि की आदतें। यह सब तो साधक के पहले ही दूर हो जाते हैं। परन्तु स्वरूपस्थवृत्ति कहती है "संगहिं बुधि महतारी" हे माता, मैं बुद्धि को एक दूसरी माता मानकर उसे सदैव साथ में रखती हूं। यहां एक अच्छे मनोविज्ञान का परिचय है। जीवन में सद्बुद्धि की महती आवश्यकता है। सद्बुद्धि के अभाव में ही साधक आगे चलकर एकरस रहनी में नहीं चल पाता। वह यह नहीं सोच पाता कि कितने प्राणी-पदार्थों का संग्रह करना चाहिए, कितने नहीं और कैसे-कैसे प्राणी-पदार्थ संग्रहणीय हैं तथा कैसे-कैसे नहीं। सद्बुद्धि के अभाव में ही आदमी अपने साथियों में टकराता है तथा जड़ वस्तुओं में उलझता है। अतएव पवित्र मन वाले एवं आत्माराम में रमने वाले व्यक्ति के पास में सदैव सद्बुद्धि होती है।

"सहजे बपुरे सेज बिछावल, सुतलिऊँ मैं पाँव पसारी।" सहज है स्वरूपज्ञान एवं आत्मज्ञान। मनुष्य को जो कुछ मिलता है सब असहज एवं अस्वाभाविक है, साथ ही सब कुछ बदल जाने वाला है। शिशुपन गया, बालपन गया, कैशोर गया, जवानी गयी, परिपक्वावस्था गयी, बुढ़ापा भी चला जाता है, परन्तु इन सभी समयों में 'मैं हूं' यह भाव एक समान रहता है। अतएव अपना आपा, अपने चेतनस्वरूप का ज्ञान, मैं पन का बोध सहजज्ञान है। बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, हिन्दू-मुसलमान सब बैठे हों, उनके बाहरी दिखावे में तो विविधता है, परन्तु वे सब आंखें मूंदकर भीतर अनुभव करें तो

क्या है, केवल चेतन। इतना ही नहीं, अनेक प्रकार के देवताओं तथा अनेक भगवानों एवं आत्म-भिन्न ईश्वर की कल्पना सब मन तक ही हैं जो विविध हैं। मन के समाप्त होने पर केवल चेतन रह जाता है। संकल्पों में ही सारा शुभाशुभ प्रपंच है, किन्तु संकल्प-शून्य हो जाने पर केवल चेतन है और गहरी शांति। चेतन ही व्यक्ति का सहज स्वरूप है। अतएव इस सहज स्वरूपज्ञान एवं आत्मज्ञान बेचारे ने मानो सहज समाधि की शय्या बिछा दी। जब निजस्वरूप चेतन के अलावा सारे भासों-अध्यासों एवं वासनाओं का त्याग हो गया तब चेतन मात्र रह गया। यही अपना सहज स्वरूप है और इसी में स्थित होना सहज समाधि में रमना है। ऐसा साधक अभ्यासकाल में संकल्प-शून्य हो जाता है, और व्यवहारकाल में राग-द्वेष एवं हर्ष-शोक-शून्य रहता है। इसलिए वह मानो सब समय सहज समाधि की शय्या पर पैर पसारकर सोता है। पूर्णतया निश्चिन्त हो जाना ही पैर पसारकर सोना है।

एक राजा एक महात्मा के दर्शन करने चले। वे महात्मा उस राजा के पूर्वाश्रम के परिचित थे। राजा को आते देखकर महात्मा पैर पसारकर लेट गये। राजा ने पूछा—"आपने पैर पसारना कब से सीखा?" महात्मा ने कहा—"जब से हाथ पसारना छोड़ दिया।" इस प्रकार स्वरूपस्थ-वृत्ति सदैव सहज समाधि में डूबी रहती है। वह निर्विकल्प अवस्था में तो समाधि में रहती ही है, व्यवहार में भी मानो समाधि में ही रहती है। ऐसा ज्ञानी पुरुष खाते-पीते, बोलते-चालते, चलते-फिरते भी मानो समाधिलीन है। जिसकी वृत्ति सब समय पदार्थ-पार है वह सब समय समाधि में है।

"आवों न जावों मरों नहिं जीवों, साहेब मेट लगारी।" आना-जाना, मरना-जीना लगाव से एवं आसक्ति से होते हैं। परन्तु यहां तो सद्गुरु साहेब ने ऐसा बोध दे दिया है कि सब तरफ से लगाव ही छूट गया है। अब कहीं लगाव, चिपकाहट, मोह, ममता नहीं रहे, फिर किस वासना को लेकर जीव जगन्नगर में भटकेगा। जिसका शराब से लगाव है वह शराब की दुकान पर जाता है, गांजा से लगाव है वह गांजे के अड्डे पर जाता है। इसी प्रकार जहां जिसका लगाव है वह वहां जाता है। यहां ज्ञानी पुरुष का दृश्य मात्र में कहीं लगाव नहीं रह गया। फिर वह किस संस्कार को लेकर देह में आयेगा! निश्चित ही यह बड़ी उच्चतम स्थिति है, किन्तु मनोवैज्ञानिक है। सारी आसक्तियों का अन्त ही जीवन्मुक्ति है।

"एक नाम मैं निजु कै गहलौं, ते छूटल संसारी।" संसारी-भाव कैसे छूटता है? अर्थात समस्त विषय-वासनाओं का त्याग कैसे होता है? इसके उत्तर में सद्गुरु कहते हैं कि निजु के नाम गहने से। यहां नाम शब्द

उपलक्षण मात्र है। यहां का अर्थ है निज चेतनस्वरूप। वैसे यहां नाम निजु कै ही कहा गया है। तो व्यक्ति का निज का नाम चेतन ही है। हमारा निजस्वरूप चेतन ही है, अतएव जो निज चेतनस्वरूप का भाव दृढ़तापूर्वक पकड़ता है उसी की सांसारिकता छूटती है। साधक जहां तक रंग-रूप वाले भगवान एवं मन:कल्पित आकारों को ग्रहण करता है, वहां तक संसारी-भाव ही है, क्योंकि भौतिक जगत तथा मानसिक जगत त्रिगुणात्मक है। इन दोनों से ऊपर उठने पर ही निजस्वरूप में स्थिति होती है। निज चेतनस्वरूप में स्थिति होने पर ये दोनों छूट जाते हैं। अतएव दृढ़तापूर्वक स्वरूपस्थिति में निमग्न होने पर ही संसारी-भाव छूटता है।

"एक नाम मैं बदि कै लेखों, कहहिं कबीर पुकारी।" कबीर साहेब घोषणा करके कहते हैं कि मैं इस एक नाम को, अर्थात इस चेतनस्थिति को प्रतिज्ञापूर्वक मोक्षदशा मानता हूं। कबीर साहेब नाम-जप मात्र से जो लोग मोक्ष होने की प्रतिज्ञा करते हैं, उनका खंडन करते हैं। इसे आप पीछे चालीसवें शब्द "पण्डित बाद बदे सो झूठा" में अच्छी तरह देख आये हैं। वहां साहेब कहते हैं कि हे पंडित, आप राम-नाम जप मात्र से मोक्ष होने की प्रतिज्ञापूर्वक बात करते हैं, यह असत्य है। परन्तु यहां स्वयं कबीर साहेब "बदि कै लेखों" कहते हैं, क्योंकि वहां केवल नाम-जप से मोक्ष मानने की बात थी और यहां दृश्य विषयों को छोड़कर निज चेतनस्वरूप में स्थित होने की बात है। इस बात का संकेत सद्गुरु ने वहां (40वें शब्द में) भी कर दिया है—"साँची प्रीति विषय माया सो, हरि भक्तन की फाँसी। कहहिं कबीर एक नाम भजे बिनु, बाँधे यमपुर जासी।" वहां भी यही बात है विषय एवं संसारी-भाव का त्याग और राम का भजन। राम-भजन निज चेतनस्वरूप की स्थिति ही है। अतएव वहां के "बाद बदे सो झूठा" तथा यहां का 'बदि कै लेखों' में विरोध नहीं है, किन्तु प्रसंगानुकूल ही है। इस प्रकार इस पूरे शब्द में स्वरूपस्थिति की दिव्य रहनी का वर्णन है।

गगन-मंडल के फूल

शब्द-63

मैं कासों कहौं को सुने को पतियाय, फुलवा के छुवत भँवर मरि जाय॥1॥
जोतिये न बोइये सींचिये न सोय, बिनु डार बिनु पात फूल एक होय॥2॥
गगन मण्डलबिच फूल एक फूला, तर भौ डार ऊपर भौ मूला॥3॥
फुल भल फुलल मलिनि भल गाँथल, फुलवा बिनशि गौ भँवर निरासल॥4॥
कहहिं कबीर सुनो सन्तो भाई, पण्डित जन फुल रहल लुभाई॥5॥

शब्दार्थ—पतियाय=विश्वास करना। फुलवा=फूल, विषय-वासना, भोग। छुवत=स्मरण या स्पर्श करते ही। भँवर=भ्रमर, मन। मरि जाय=विवेकशून्य हो जाता है। गगन मण्डल=मस्तिष्क। मलिनि=मालिन, माली, माली का काम करने वाली स्त्री, चित्तवृत्ति। गाँथल=गूंथना, माला बनाना।

भावार्थ—मैं किससे कहूं, कौन सुनेगा, यदि सुन भी ले तो कौन विश्वास करेगा कि फूल के छूते ही भंवरा मर जाता है। अर्थात इस बात के सुनने तथा समझने वाले कम लोग हैं कि भोगों का स्मरण करते ही मन विवेकशून्य हो जाता है॥ 1॥ बिना जोते, बिना बोये, बिना सींचे तथा बिना डाली-पत्ते के एक फूल होता है, वह है विषय-वासना॥ 2॥ मनुष्य के मस्तिष्क-प्रदेश में विषय-वासना के एक प्रकार के फूल खिलते हैं। इसकी शाखों नीचे तथा जड़ ऊपर हैं अर्थात विचार की जड़ मस्तिष्क ऊपर है तथा इन्द्रिय-शाखों नीचे हैं॥ 3॥ मनुष्य के मस्तिष्क में विषय-वासना के फूल खूब खिले और चित्तवृत्ति रूपी मालिन ने उसकी स्मरणरूपी अच्छी माला गूंथी। परन्तु जब भोग नष्ट हो गये तब मन-भंवरा दुखी हो गया॥ 4॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे भाई संतो ! साधारण की क्या कहें, विद्वान लोग भी इन फूलों में विमोहित हैं॥ 5॥

व्याख्या—संसार में देखा जाता है कि जहां सुगंधित फूल होते हैं वहां भंवरे अपने आप आ जाते हैं। लोक-कहावत है कि फूलों में सुगंध आती है तब भंवरों को निमंत्रित नहीं करना पड़ता, वे स्वयं आ जाते हैं। भंवरे फूलों पर बैठकर उनका रस लेते हैं और उनमें खूब मस्त रहते हैं। जब बाग में फूल नहीं रहते तब भंवरे वहां से उड़ जाते हैं। कबीर साहेब तो अपनी उलटवांसी के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं। वे कहते हैं कि मैं किससे कहूं ! मेरी उलटी-सी बात कौन सुनेगा। यदि कोई सुन भी ले तो कौन विश्वास करेगा ! वह यह बात है कि फूल का स्पर्श करते ही भंवरा मर जाता है।

साहेब कहते हैं कि मैं सच कहता हूं कि फूल के छूते ही भंवरा मर जाता है। फूल है विषय-वासना तथा विषय-भोग। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध ये पांच विषय हैं। ये क्रमशः कान, चाम, आंख, जीभ तथा नाक इन पांच ज्ञानेन्द्रियों से भोगे जाते हैं। भोगने के बाद मन में इनकी वासनों बन जाती हैं। वे वासनों मन को बारम्बार विषयों की तरफ खींचती रहती हैं। फिर तो वासनों ही चंचलता का मूल हो जाती हैं। उन्हीं के कारण जीव बारम्बार विषयों की ओर प्रभावित होता है। इस प्रकार मस्तिष्क में विषय-वासनों मानो फूल हैं और बाहर संसार में पांच विषय फूल हैं। मुख्य हैं विषय-

वासनों, उनसे प्रेरित होकर ही मनुष्य स्थूल भोगों में पड़ता है। यह मन-भंवरा विषय-वासनाओं का स्मरण करते ही विवेकशून्य हो जाता है, उसका विवेकशून्य होना ही मानो मरना है। भंवरा मन है, फूल विषय-वासना है, छूना स्मरण करना है तथा मर जाना विवेकशून्य हो जाना है।

"जोतिये न बोइये सींचिये न सोय, बिनु डार बिनु पात फूल एक होय।" फूल पैदा करने के लिए खेत को जोतना, गोड़ना, बोना तथा सींचना पड़ता है। उसके पौधे होते हैं, शाखों होती हैं, उसमें पत्ते निकलते हैं, तब कहीं जाकर उसमें फूल खिलते हैं। साहेब कहते हैं, परन्तु इस विषय-वासना रूपी फूल के लिए यह सब नहीं करना पड़ता है। इसमें न जोतना है, न बोना है, न सींचना है, न इसमें पौधे होते हैं, न शाखों और न पत्ते। इसमें तो ख्याल करते ही फूल खिल जाते हैं। प्रश्न हो सकता है कि ये फूल कहां खिलते हैं? साहेब इसे अगली पंक्ति में बताते हैं—

"गगन मण्डल बिच फूल एक फूला, तर भौ डार ऊपर भौ मूला।" ये फूल खिलते हैं आकाश-मंडल के बीच में। यहां मस्तिष्क ही आकाश-मण्डल है। यही तो विचारों का केन्द्र है। यहीं मलिन-विचार आकर विषय-वासनाओं के फूल खिलते रहते हैं। अच्छे या बुरे सारे विचार पहले मस्तिष्क में आते हैं, यदि वे समाप्त नहीं कर दिये गये तो उनके अनुसार कुछ-न-कुछ इन्द्रियों में क्रियों होती हैं। इस प्रकार इन विषय-वासनाओं के फूल मस्तिष्करूप गगन-मण्डल के बीच में ही खिलते हैं। प्रश्न हो सकता है कि क्या इसमें बिलकुल ही पेड़ तथा शाखों नहीं होते? साहेब कहते हैं कि नहीं, दूसरे प्रकार से देखिए तो इस फूल के भी पेड़ तथा शाखों हैं। परन्तु संसार के पेड़ तथा शाखाओं से उलटे हैं। विषय-वासनाओं के फूल जिस पेड़ में खिलते हैं उसकी जड़ तो ऊपर है और शाखों नीचे की ओर लटकी हुई हैं। अर्थात मस्तिष्क विचारों का केन्द्र है जिसमें विषय-वासनाओं के फूल खिलते हैं। वही मूल है और वह इस शरीर में बिलकुल ऊपर है तथा इन्द्रियां शाखों हैं, वे नीचे लटकी हैं। मूल एवं जड़ में पानी डालने से पूरा वृक्ष हरा-भरा होता है। इसी प्रकार मस्तिष्क में विषय-वासनाओं के आने से शाखों अपने आप आंदोलित हो जाती हैं। यदि कोई अपने मस्तिष्क को विषय-विचारों से सींचता रहे तो उसकी इन्द्रियां अपने आप विषयोन्मुख बनी रहेंगी।

"फुल भल फुलल मलिनि भल गाँथल, फुलवा बिनशि गौ भँवर निरासल।" मनुष्य के मस्तिष्क में विषय-वासनाओं के फूल खूब खिले और चित्तवृत्तिरूपी मालिन ने उनकी अच्छी माला बनायी। अर्थात मनुष्य के मस्तिष्क में विषय-विकार आते गये और चित्त उनका अनुसंधान करता गया,

क्षण-क्षण विषयों का स्मरण करता गया और भोगों के शेखचिल्ली के भवन खड़ा करता गया। परन्तु अन्त में हुआ क्या ! विषय-वासनाओं के फूल विनष्ट हो गये और मन-भंवरा निराश हो गया। मन में जो कुछ विषय-वासनाओं का नक्शा बनाया था वह निष्फल गया। भोगों से शक्ति क्षय होने पर मनुष्य का मन हताश ही होता है। शरीर बूढ़ा होता है। इंद्रियां निर्बल होती हैं। अनुकूल प्राणी-प्रदार्थ बदल जाते हैं। अन्त में विषयी मन-भंवरा संसार से निराश होकर दूसरे बाग की शरण लेने उड़ जाता है।

"कहहिं कबीर सुनो संतो भाई, पण्डित जन फुल रहल लुभाई।" साहेब कहते हैं कि हे भाई संतो, साधारण लोग इस विषय-वासना के फूल में उलझे रहें तो लगता है कि वे अज्ञानी हैं, परन्तु शास्त्रों एवं अनेक विषयों तथा अनेक भाषाओं के विद्वान एवं पण्डित भी इस फूल में प्रलुब्ध हैं। यह आश्चर्य है। पंडित एवं विद्वान सब कुछ जानते हैं। वे बारम्बार संसार की नश्वरता, विषय-वासनाओं की सारहीनता तथा उनकी दुखरूपता का व्याख्यान करते हैं, परन्तु फिर भी वे इनमें भूले रहते हैं। अतएव शास्त्रज्ञान से कोई भव-सागर नहीं पार कर सकता। इसके लिए भक्ति, स्वरूपज्ञान, वैराग्य तथा त्याग चाहिए।

इस शब्द का एक अर्थ योगपरक भी किया जा सकता है। गगन-मंडल अर्थात खोपड़ी में एक सहस्रदल कमल की कल्पना की जाती है और उसमें एक ज्योति की अवधारणा की जाती है जो गगन-मंडल का फूल है। वह फूल ऊपर सहस्रदल में है तथा उसकी शाखा सुषुम्णा है जो नीचे नाभि और शिश्न के मध्य मूलाधार चक्र तक पहुंची है। इस सुषुम्णा को यौगिक-क्रिया द्वारा जगाकर योगी ऊपर ले जाता है और ऊपर सहस्रदल कमल में ब्रह्माग्नि का प्रकाश कर देता है। यही वहां का फूल है। योगियों की मनोवृत्तिरूपी मालिन इसकी अच्छी तरह से माला गूंथती है। अर्थात उनका चित्त इसी में तदाकार होता है। परन्तु साहेब कहते हैं कि यह ब्रह्म माना गया ज्योतिरूपी फूल केवल शरीर का भास-अध्यास है। यह अभ्यास के बाद नष्ट हो जाता है और शरीर छूटने पर शरीर के साथ सदैव के लिए समाप्त हो जाता है, तब योगियों को निराश होना पड़ता है। साहेब कहते हैं कि इस फूल में बड़े-बड़े पंडित लुब्ध हैं। वे इसे सत्य तथा आत्मस्वरूप मान बैठे हैं। परन्तु इस कल्पित फूल के स्पर्श से मन विवेकशून्य हो जाता है। निज चेतनस्वरूप के अलावा जहां तक भास-अध्यास में अनुराग है वह जीव को भटकाने वाला ही है।

जो लोग असंभव काम करने को सोचते हैं उन्हें लोग व्यंग्य करते हैं कि ये आकाश के फूल तोड़ना चाहते हैं। यहां भी गगन-मंडल के फूल की बात

है। चाहे विषय-वासना एवं विषय-भोग हो और चाहे खोपड़ी में कल्पित ज्योति हो, सब मन के आयाम की चीजें हैं, सब जीव के निजस्वरूप चेतन एवं आत्मा से अलग होने से छूटने वाले तथा विनश्वर हैं। अतः इनमें नित्य तृप्ति की आशा करना आकाश के फूल तोड़ने की कामना के समान मिथ्या प्रयास है। इसके परिणाम में व्यक्ति को निराशा ही हाथ लगेगी। इसलिए सारे विजाति दृश्यों को त्यागकर निजस्वरूप में ही तृप्त होना चाहिए।

साधारण लोगों को उपदेश

शब्द-64

जोलहा बीनहु हो हरि नामा, जाके सुर नर मुनि धरें ध्याना॥ 1॥
ताना तनै को अहुठा लीन्हा, चरखी चारिउ वेदा॥ 2॥
सरकुण्डी एक राम नरायण, पूरण प्रगटे कामा॥ 3॥
भवसागर एक कठवत कीन्हा, तामें माँड़ी साना॥ 4॥
माँड़ी का तन माँड़ि रहा है, माँड़ी बिरले जाना॥ 5॥
चाँद सूर्य दुइ गोड़ा कीन्हा, माँझ दीप कियो माँझा॥ 6॥
त्रिभुवन नाथ जो माँजन लागे, श्याम मुररिया दीन्हा॥ 7॥
पाई के जब भरना लीन्हा, वै बाँधन को रामा॥ 8॥
वै भरा तिहुँ लोकहिं बाँधे, कोई न रहत उबाना॥ 9॥
तीनि लोक एक करिगह कीन्हा, दिग मग कीन्हों ताना॥10॥
आदि पुरुष बैठावन बैठे, कबिरा ज्योति समाना॥11॥

शब्दार्थ—अहुठा=अहुठ, साढ़े तीन, तात्पर्य में साढ़े तीन हाथ का मानव शरीर। चरखी=सूत कातने का यन्त्र। सरकुण्डी=ताने के सूत को भिन्न रखने वाली खूंटियां। कठवत=काठ का बड़ा पात्र। माँड़ी=पकाये हुए चावल का पसेव, जो सूत पर चढ़ाया जाता है। चाँद=ईडा (नाक की बायीं) नाड़ी। सूर्य=पिंगला (नाक की दायीं) नाड़ी। गोड़ा=दो टेढ़ी बंधी हुई लकड़ियां जिन पर सूत तानते हैं। माँझ दीप=मध्य भाग, सुषुम्णा नाड़ी। माँझा=मांड़ी चढ़ा हुआ सूत। त्रिभुवननाथ=मन। माँजन लागे=मांड़ी चढ़े हुए सूत को सम और पुष्ट करने के लिए कूंची से मांजा जाता है। श्याम=गाढ़ा रंग, जिससे उस पर दूसरा रंग न चढ़े। मुररिया=टूटे हुए सूत के दोनों सिरे को एक में मिलाकर मरोड़ देना। पाई=सूत को सुलझाकर उसे शुद्ध करना। भरना=कमचियों के बीच से सूत निकाल लेना। वै=कपड़ा बुनते समय सूत को ऊपर-नीचे होने के लिए पहले ही राछ की कमचियों के छिद्रों में एक-एक सूत निकाल-निकालकर बांधते हैं इसे वय-बंधन कहते हैं। तिहुँलोकहिं=नाभि, हृदय,

त्रिकुटी। उबाना =जो सूत बाहर रह जाता है। तीनि लोक=नाभि, हृदय, त्रिकुटी। करिगह=करघा, कपड़ा बुनने का यन्त्र। दिगमग=दशों इंद्रियां।

भावार्थ—हे जोलाहे ! सूत के वस्त्र बुनने के साथ-साथ हरि नाम के भी वस्त्र बुनो, जिसका सुर, नर तथा मुनि ध्यान धारण करते हैं॥ 1॥ हरि नाम-वस्त्र बुनने के लिए जो ताना तनना पड़ता है उन्हें नापने के लिए गज यह मानो साढ़े तीन हाथ का शरीर है, और चारों वेद चरखी हैं जिससे भक्ति का सूत काता जा सकता है॥ 2॥ राम और नारायण नाम सरकंडे हैं जो तुम्हारे भक्तिजनित वस्त्र-वयन के काम को पूर्ण प्रकट करते हैं॥ 3॥ यह भव-सागर संसार मानो एक विशाल कठौता है जिसमें माया की मांड़ी सानी गयी है॥ 4॥ यह शरीर जो शोभायमान हो रहा है यह माड़ी का ही है। अर्थात दिखावा मात्र है। परन्तु इसे कोई बिरला समझता है कि यह दिखावा मात्र एवं नश्वर है॥ 5॥

योगी लोग ईडा और पिंगला को दो गोड़ा बनाते हैं जिस पर श्वास के सूत कसते हैं और सुषुम्णा को मांड़ी चढ़ा हुआ सूत॥ 6॥ योगियों का मन इसे मांजता है। अर्थात वे श्वास-सूत को अभ्यास से सूक्ष्म बनाते हैं। इन सूतों को वे गाढ़ा रंग देते हैं, जिससे उन पर दूसरा रंग चढ़ न सके। अर्थात वे प्रति श्वास में अपने भाव का रंग भरते हैं जिससे अन्य भाव न प्रविष्ट हों। टूटे हुए सूतों के सिरों को एक में जोड़ने के लिए उन्हें मरोड़ देते हैं। अर्थात सभी श्वासों का निग्रहकर योगाभ्यास करते हैं॥ 7॥ वे श्वास को शुद्ध कर कुंभक करते हैं, यही मानो पाई करके भरना देना है। राम में मन को जोड़ना ही मानो उनका वय-बंधन करना है॥ 8॥ वय-बंधन कर जब भरनी करते हैं अर्थात राम में मन जोड़कर जब योग का पट बुनते हैं, तब यह पट नाभि, हृदय तथा त्रिकुटी—इन तीनों लोकों में फैला रहता है। कोई श्वास इस वस्त्र-वयन से अलग नहीं रहता। अर्थात श्वास-श्वास में वे नाम-स्मरण करते हैं॥ 9॥ योगी लोग नाभि, हृदय तथा त्रिकुटी रूपी तीनों लोकों का मानो एक करघा बना लेते हैं और दशों इंद्रियां रूपी दशों दिशाओं के पथ को ताना बना लेते हैं, और आदि पुरुष चेतन में अपने मन को लीन करने का प्रयास करते हैं, परन्तु वे उसे न कर ज्योति में लीन हो जाते हैं। अर्थात वे कल्पित ज्योति को ही आदि पुरुष चेतन मान लेते हैं॥ 10-11॥

व्याख्या—बीजक भर में अनेक रूपकों के साथ जुलाहे के वस्त्र-वयन के रूपक के खंडरूप यत्र-तत्र आये हैं, परन्तु इस शब्द में उसका अधिक सम्पन्न रूपक आया है। इसमें जोलाहा, बीनना, ताना, अहुठा, चरखी, सरकुंडी, कठवत, मांड़ी, सानना, गोड़ा, मांझा, मांजना, मुररिया, पाई, भरना,

वय, उबाना, करिगह आदि शब्द एक साथ संग्रहीत हैं। इनमें से कई ऐसे शब्द हैं जो अब प्रचलित नहीं हैं। वे आज से पांच सौ वर्ष पूर्व प्रचलित थे। इन रूपकों को लेकर सर्वसम्मत अर्थ तो असम्भव है, परन्तु पूरे शब्द का आशय क्या है यह समझ में आ जाता है।

कबीर साहेब मस्तमौला संत थे। वे विविध समयों में विविध स्थानों में विविध ढंग से अपनी बात कहते थे। उनके सामने अनेक प्रकार के पात्र होते थे, इसलिए उन्होंने विभिन्न प्रकार की बातें कहीं हैं। इस शब्द से लगता है कि कबीर साहेब मानो जोलाहों की झोपड़-पट्टियों में चले गये हों और उन्होंने उनको सरल भाव से उपदेश दिया हो हरिनाम के वस्त्र बुनने का। वे जब पंडितों के समूह में जाते हैं तब दार्शनिक बातें कहते हैं। परन्तु यहां वे सरल, अशिक्षित एवं अबोध जोलाहों के बीच में पहुंचते हैं इसलिए वे कहते हैं कि हे जोलाहो, तुम लोग सूत के कपड़े अवश्य बुनो, परन्तु उसके साथ-साथ हरिनाम के वस्त्र का भी वयन करो। साहेब कहते हैं कि इसके लिए बाहरी गज, चरखा, ताना, सरकंडे, कठौता, मांड़ी इत्यादि की जरूरत नहीं है। हरिनाम वस्त्र बुनने के लिए तो तुम्हारा शरीर ही काफी है। इसी में हरिनाम-वस्त्र-वयन की सामग्री प्राप्त है। इसमें साहेब एक विशेष बात कहते हैं कि तुम्हें सूत कातने के लिए चारों वेदों का चरखा बनाना पड़ेगा। यहां वेदों के प्रति श्रद्धा का भाव है।

एक से पांचवीं पंक्ति के बाद वे इस शब्द में योगपरक वाणियों का प्रयोग करते हैं। रूपक जोलाहे का ही रहता है, किन्तु हरिनाम-वस्त्र-वयन की अपेक्षा वह गूढ़ हो जाता है। उसमें ईडा, पिंगला तथा सुषुम्णा द्वारा श्वास साधना और नाभि, हृदय तथा त्रिकुटी इन तीनों लोकों का करघा बनाकर हरिनाम-वस्त्र-वयन या योग-समाधि वस्त्र-वयन की बात आती है।

जहां साहेब योगी की बात करते हैं वहां वे प्रायः उनके अंतिम लक्ष्य ज्योति की बात अवश्य कर देते हैं। योगी लोग खोपड़ी में एक ज्योति की कल्पना करते हैं। उसे वे ब्रह्म कहते हैं, परन्तु वस्तुतः वह है तत्त्वों का प्रकाश या एक अवधारणा। साहेब किसी साधक का इस ज्योति में समाना कभी पसंद नहीं करते। मानो वे योगियों पर व्यंग्य करते हैं कि योगी लोग तो आदिपुरुष, अर्थात मूलपुरुष चेतन में लीन होने के लिए समाधि में बैठे थे परन्तु लीन हो गये ज्योति में। उन्होंने जड़-ज्योति को ही मूलतत्त्व मान लिया। इसी ज्योति पर व्यंग्य करते हुए सद्‌गुरु ने कहा है—"झिलमिल झगरा झूलते, बाकी छूटि न काहु। गोरख अटके कालपुर, कौन कहावै साहु॥"[1]

1. बीजक, साखी 42।

तथा "ज्योतिहि ज्योति ज्योति दै मारै, तब कहु ज्योति कहाँ समानी।"[1]

अगले 65वें एवं 66वें शब्द में योगियों के नाम लेकर उनकी आलोचना प्रस्तुत की गयी है।

योगियों पर विचार

शब्द-65

योगिया फिरिगौ नगर मँझारी, जाय समान पाँच जहाँ नारी॥ 1॥
गयेउ देशान्तर कोई न बतावै, योगिया बहुरि गुफा नहिं आवै॥ 2॥
जरि गयो कन्थ धजा गइ टूटी, भजि गयो डंड खपर गयो फूटी॥ 3॥
कहहिं कबीर यह कलि है खोटी, जो रहे करवा सो निकरे टोटी॥ 4॥

शब्दार्थ—नगर=ब्रह्मांड, खोपड़ी। पाँच नारी=पांच नाड़ियां—धनंजय, कूर्म, कृकल, नाग तथा देवदत्त। देशान्तर=दूसरी देह। गुफा=ब्रह्मांड, खोपड़ी। कन्थ=कंथा, गुदड़ी, देह। धजा=ध्वजा, श्वास। भजि=नष्ट। डण्ड=मेरुदंड। खपर=खोपड़ी। कलि=कल्पना, विषय, मलिन बुद्धि। खोटी=बुरी। करवा=मिट्टी या धातु का लोटे का काम देने वाला टोंटीदार बरतन, अंत:करण। टोटी=मोरी, मुख, मार्ग, वासना।

भावार्थ—योगी लोग पिंड से श्वास को लौटाकर कृकल आदि पांच नाड़ियों के संयुक्त जहां ब्रह्मांडरूप नगर है उसके मध्य कल्पित ज्योति-शब्द-शून्य आदि में समाधिस्थ हुए॥ 1॥ परन्तु इन भूले हुए लोगों को यह कोई नहीं बताता कि एक दिन जब शरीर त्यागकर दूसरी देह में जायेंगे तब योगी लोग पुन: उक्त ब्रह्मांड एवं भ्रमरगुफारूप माने हुए सुरक्षित घर में ज्योति-शब्द-शून्य आदि में मिलने के लिए नहीं आयेंगे॥ 2॥ तब तो शरीररूपी गुदड़ी जल जायेगी, श्वासरूपी ध्वजा टूट जायेगी, सुषुम्णा नाड़ी का मार्गरूप मेरुदण्ड नष्ट हो जायेगा और उन्होंने जो ब्रह्मज्योति का सुरक्षित घर मान रखा है वह खोपड़ी फूट जायेगी॥ 3॥ कबीर साहेब कहते हैं कि यह मलिन बुद्धि बुरी बात है। जो करवा में रहेगा वही टोंटी से निकलेगा, दूध है तो दूध और पानी है तो पानी। हृदय में मलिनता है तो उसका परिणाम भटकाव एवं दुख होगा ही॥ 4॥

व्याख्या—कबीर साहेब ने स्वयं हठयोग साधा था और अन्त में उसकी निस्सारता देखकर उसकी आलोचना की थी। वे हठयोग के नहीं, राजयोग के पक्षधर रहे। हठयोगी लोग शरीर संज्ञाहीन बनाकर खोपड़ी में एकाग्र होते हैं।

---

1. वही, शब्द 94।

वहां ज्योति-शब्द-शून्य आदि की कल्पना कर उन्हें ही ब्रह्मरूप एवं परमतत्त्वरूप मानते हैं। साहेब कहते हैं कि ज्योति-शब्द आदि शरीर के कार्य हैं, भास-अध्यास मात्र हैं। ये शरीर के छूटते ही समाप्त हो जायेंगे। इनका साक्षी चेतन ही व्यक्ति का अपना स्वरूप है, अतएव यही परमलक्ष्य है। निजस्वरूप में स्थिति ही परमार्थ है। ज्योति, नाद, शब्द आदि नहीं। इन सबके साधन देह, श्वास, मेरुदण्ड, खोपड़ी आदि सब नाशवान हैं।

साहेब कहते हैं कि जो करवा में रहता है वही उसकी टोंटी से निकलता है। दूध है तो दूध निकलेगा और पानी है तो पानी। 'कलि' मलिनता है। यह बुरी वस्तु है। यदि हमारे मन में मलिनता है तो उसका परिणाम भटकाव ही होगा। यदि योगी दृश्य-भास एवं जड़ाध्यासों में पड़ा है तो उसका भटकना नहीं मिट सकता। भटकना तो तब बंद होगा जब सारे दृश्य-भासों को छोड़कर अपने चेतनस्वरूप में स्थिति हो।

इस शब्द का अर्थ दूसरे ढंग से भी किया जा सकता है। "योगिया फिरिगौ नगर मँझारी" इस अर्धाली में आये हुए 'योगिया' शब्द में श्लेष है। इस शब्द में हठयोगी और जन्मांतरों में भटकने वाले जीव दोनों अर्थ प्रतिबिंबित होते हैं। अतएव दूसरे अर्थ में 'योगिया' का अर्थ वासनावशी जीव मानकर इस शब्द का यह अर्थ किया जा सकता है—

इस जीव ने शरीर छोड़कर और पुनः लौटकर दूसरा शरीर धारण करने के लिए गर्भवासरूपी नगर में प्रवेश किया जहां प्राण, अपान, समान, व्यान तथा उदान रूपी पांच नाड़ियां निवास करती हैं। जीव किस दूसरी योनिरूपी देशांतर में गया इसे कोई नहीं बता सकता, और वह जीव लौटकर त्यक्त शरीर में आ नहीं सकता कि स्वयं बता जाये। यहां तो जीव-योगी की प्राण-ध्वजा टूट गयी, मेरुदण्ड नष्ट हो गया, खोपड़ी-खप्पर फूट गया और देह-गुदड़ी जलकर राख हो गयी है। अतएव पूर्व शरीर में लौटकर आने की बात ही नहीं है। साहेब कहते हैं कि जगत-वासनों ही कलि हैं, जीव को भटकाने वाली हैं। जो करवा में रहेगा वही टोंटी से निकलेगा, जीव वासनावश है तो जगन्नगर में अवश्य भटकेगा। अथवा जीव पहले गर्भवास में जाता है तभी तो गर्भ से सजीव देह निकलती है। "जो रहे करवा सो निकरे टोटी" यह तथ्य है।

शब्द- 66

योगिया के नगर बसो मति कोई, जो रे बसे सो योगिया होई॥ 1॥
ये योगिया के उलटा ज्ञान, काला चोला नहिं वाके म्यान॥ 2॥
प्रगट सो कंथा गुप्ता धारी, तामें मूल सजीवन भारी॥ 3॥

वो योगिया की युक्ति जो बूझै, राम रमै तेहि त्रिभुवन सूझै॥ 4॥
अमृत बेली छिन छिन पीवै, कहैं कबीर योगी युग युग जीवै॥ 5॥

शब्दार्थ—नगर=समाज। काला चोला=मैला मन। म्यान=मियान, मध्य भाग, तलवार आदि रखने का खोल, तात्पर्य में सुरक्षा। कन्था=गुदड़ी, शरीर। गुप्ताधारी=गुप्तरूप से धारण करने वाला। मूल सजीवन=संजीवनी बूटी, तात्पर्य में अमर चेतन। भारी=महान। युक्ति=चाल, रीति, स्वभाव। त्रिभुवन=सारा विश्व। अमृत बेली=अमृतलता, स्वरूप-स्मरण। युग-युग जीवै=मोक्षपद प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—योग की आड़ में भौतिक-सुख की इच्छा रखने वाले योगियों के समाज में कोई मत जाओ, क्योंकि जो उनके संग में रहेगा वही "कच्चा सिद्ध माया प्यारी"[1] के अनुसार भ्रांत योगी बन जायेगा॥ 1॥ इन योगियों का ज्ञान उलटा है, पाना चाहिए निजस्वरूप की स्थिति, तो ये पाने की कोशिश करते हैं संसार के भोग। अतएव इनका मन मैला है, इनकी संगत में आत्मज्ञान की सुरक्षा नहीं है॥ 2॥ मानो यह जीव ही योगी है, इसका प्रत्यक्ष शरीर इसकी गुदड़ी है, इसके भीतर गुप्तरूप से महान अमर चेतन विद्यमान है॥ 3॥ इस जीव-योगी के स्वभाव को जो समझ जायेगा कि यह शुद्ध चेतन मात्र है, वह अपने स्वरूप-राम में ही निरन्तर रमण करने लगेगा। वह सारे विश्व का साक्षी बनकर सबसे अलग हो जायेगा॥ 4॥ वह क्षण-क्षण अपने चेतनस्वरूप का स्मरणरूपी अमृतपान करेगा। कबीर साहेब कहते हैं कि ऐसा आत्मस्थ योगी सदा के लिए अमरत्व पा जायेगा, अर्थात वह अपने अविनाशी स्वरूप में स्थित हो जायेगा॥ 5॥

व्याख्या—कबीर साहेब के समय में उत्तरी भारत में योगियों का बहुत अधिक प्रचार था। योगी के नाम पर ज्यादा तो ऐसे लोग थे जो आसन, मुद्रा आदि का दिखावा कर समाज को आश्चर्यचकित करते थे, और उनसे धन एवं भोग वस्तुओं को प्राप्तकर उन्हीं में लीन रहते थे। कुछ लोग इनसे ऊपर उठते थे तो वे ज्योति, नाद, शब्द एवं शून्य को अपने योग का लक्ष्य मानकर दृश्यभास में ही रुक जाते थे। निजस्वरूप का बोध तथा सारे भास-अध्यासों को छोड़कर निज स्वरूपस्थिति की बातें दुर्लभ थीं।

इसलिए सद्गुरु ने कहा—"योगिया के नगर बसो मति कोई, जो रे बसे सो योगिया होई।" संगत का प्रभाव तो पड़ता ही है। हठयोग की प्रक्रिया सीखकर हाट-बजारे समाधि लगाना और जनता को आकर्षित कर उनसे

---

1. रमैनी 69।

सम्मान एवं भोग पाने की आशा करना तो कल्याणपथ से भटक जाना है। यही तो इन योगियों का उलटा ज्ञान है। योग का मतलब है मन की एकाग्रता, चेतन का जड़ प्रकृति से वियोग होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाना, अर्थात सारी जड़ासक्ति का त्यागकर जीव का निजस्वरूप में स्थित हो जाना, परन्तु काम करने लगे इसके उलटा लोक-रिझावा, तो इसका परिणाम उलटा होगा ही। यही उनका 'काला चोला' होना है। चोला कहते हैं ढीले-ढाले अंगरखे को। दूसरे अर्थ में शरीर है। काला का अर्थ काला है ही। अतः काला चोला का लाक्षणिक अर्थ है 'मैला मन'। साहेब कहते हैं कि योग की आड़ में सम्मान और भोग चाहने वाले योगियों का मन मैला है। "नहिं वाके म्यान" म्यान किसी वस्तु को रखने का खोल होता है। उसमें किसी वस्तु की सुरक्षा रहती है जैसे तलवार म्यान में सुरक्षित रहती है। साहेब कहते हैं कि इन योगियों के पास आत्मकल्याण की सुरक्षा नहीं है। जब ये स्वयं भटके हुए हैं तब दूसरों को क्या सुरक्षा दे सकते हैं।

"प्रगट सो कन्था गुप्ताधारी, तामें मूल सजीवन भारी।" साहेब कहते हैं कि इन वेषधारी योगियों के आस-पास चक्कर काटना छोड़ दो और यह समझ लो कि प्रत्येक मनुष्य जीव मानो योगी है। योगी गुदड़ी ओढ़कर चलता है, तो प्रत्येक जीव-योगी का यह प्रकट शरीर ही मानो गुदड़ी है, जिसके भीतर गुप्तरूप से महान तत्त्व अमर चेतन विद्यमान है। बाह्य योगी अमरता प्रदान करने का दावा करता है। उसका दावा तो झूठा है, क्योंकि शरीर से कोई अमर नहीं हो सकता, परन्तु इस शरीर के भीतर विद्यमान महान चेतन स्वरूपतः अमर है। यदि हमें अपने चेतनस्वरूप का ज्ञान हो जाये तो मृत्यु-भय रह ही नहीं जायेगा, क्योंकि चेतन अमर है। इस शरीर-गुदड़ी में गुप्तरूप से बसा हुआ मूल सजीवन अमर आत्मा ही है जो भारी है, महान है, दिव्य है और व्यक्ति का अपना स्वरूप है।

"वो योगिया की युक्ति जो बूझै, राम रमै तेहि त्रिभुवन सूझै।" इस जीव-योगी की युक्ति जो बूझेगा वह अपने रामरूप में ही रमण करने लगेगा, उसे सारा संसार सूझेगा। यहां योगिया की युक्ति क्या है? युक्ति के कई अर्थ हैं— योग, मिलन, तर्क, ऊहा (सुधार), दलील, उचित, विचार, हेतु, कारण, न्याय, नीति, कौशल, चातुर्य, अनुमान, उपाय, योजना, चाल, रीति[1] आदि। हम यहां इनमें अंतिम वाला अर्थ लें चाल एवं रीति, इसका सरल शब्द स्वभाव है। यदि इस जीव-योगी का स्वभाव समझ में आ जाये, अर्थात

---

1. बृहत् हिन्दी कोश।

अपने चेतनस्वरूप का लक्षण हम ठीक से समझ लें कि वह शुद्ध चेतन मात्र है तो अपने स्वरूप में ही रमने लगेंगे। अपना चेतनस्वरूप ही तो राम है और जो उसमें रमने लगेगा उसे त्रिभुवन सूझेगा। "त्रिभुवन सूझै" को हम दो ढंग से समझ सकते हैं, एक तो यह कि वह जड़-चेतन के गुण-लक्षणों को ठीक से जान लेता है, इसलिए उसी परख से वह सारे संसार को समझ जाता है कि संसार जड़-चेतनमय है और अपने अंतर्निहित गुण-धर्मों से चल रहा है। बटलोई के एक चावल को छूकर सभी चावल का ज्ञान हो जाता है कि पके हैं कि नहीं। इसी प्रकार आत्मविवेकी पुरुष अपने विवेक से मानो सारे संसार की गुण-धर्मात्मक वास्तविकता को समझ लेता है, यही त्रिभुवन सूझना है। इसे दूसरे ढंग से इस प्रकार समझ सकते हैं कि राम में रमने वाला स्वरूपज्ञानी पुरुष सारे संसार का साक्षी बन जाता है। अर्थात वह अपने आप को सबसे अलग कर लेता है।

"अमृत बेली छिन छिन पीवै, कहैं कबीर योगी युग युग जीवै।" अमृत का अर्थ है जो मृत न हो, अमर हो, वह जीव ही है।[1] अमृत का दूसरा अर्थ मीठा है। जो वस्तु बहुत मीठी होती है उसे लोग कहते हैं कि यह तो अमृत है। बेलि कहते हैं लता को, यहां इसका लाक्षणिक अर्थ होगा स्मरण। अतएव अमृत बेलि को क्षण-क्षण पीने का अर्थ है अपने अमृत-स्वरूप का निरन्तर स्मरण। युग-युग जीने का अर्थ है आवागमन से मुक्त होकर सदैव के लिए एकरस स्थिति प्राप्त कर लेना। जो सारी जड़ासक्तियों को त्यागकर निजस्वरूप के स्मरण का अमृत-पान निरन्तर करता है वह जीवन में शोकमुक्त हो जाता है तथा आगे सदा के लिए आवागमन से मुक्त हो जाता है। अंततः स्वरूपज्ञानी पुरुष को स्वरूप-स्मरण नहीं करना पड़ता। वह तो सदैव निजस्वरूप में ही विश्राम करता है।

जगत के उपादान स्वरूप ब्रह्म-मान्यता की समीक्षा

शब्द-67

जो पै बीज रूप भगवान, तो पण्डित का पूछो आन॥ 1॥
कहाँ मन कहाँ बुधि कहाँ हंकार, सत रज तम गुण तीन प्रकार॥ 2॥
विष अमृत फल फले अनेका, बहुधा वेद कहे तरबे का॥ 3॥
कहहिं कबीर तै मैं क्या जान, को धौं छूटल को अरुझान॥ 4॥

---

1. अमृत वस्तु जानै नहीं, मगन भया सब लोय।
कहहिं कबीर कामों नहीं, जीवहि मरण न होय॥ (रमैनी साखी 10)

शब्दार्थ—आन=अन्य, दूसरा। बहुधा=बहुत प्रकार। धौं=भला। छूटल= मुक्त। अरुझान=बंधा।

भावार्थ—यदि जगत का बीजस्वरूप, अर्थात अभिन्न-निमित्त-उपादान कारण परब्रह्म ही है, तो हे पण्डितो ! दूसरी बात क्या पूछते हो?॥ 1॥ मन, बुद्धि, अहंकारादि चतुष्टय अंतःकरण अद्वैत में कहां संभव है? सत-रज-तम—ये तीन प्रकार के गुण शुद्ध ब्रह्म में कहां से आ गये?॥ 2॥ संसाररूप परब्रह्म-वृक्ष में पाप-पुण्यकृत सुख-दुख के अनेक फल फलते हैं—यह भी कैसे? उन सुख-दुखों से मुक्त होने के लिए वेद नाना प्रकार से मार्ग बताते हैं—यह भी अयुक्त है॥ 3॥ सद्गुरु कहते हैं, अद्वैत ब्रह्म में तैं-मैं भी क्या जानते हो? कौन भला मुक्त होता है और कौन बन्धन में पड़ता है?॥ 4॥

व्याख्या—अद्वैत ब्रह्मवादी कहते हैं कि जल और उसकी तरंग, मिट्टी और उससे बने घट, स्वर्ण और उससे बने विभिन्न आभूषण जैसे दो नहीं होते, वैसे ब्रह्म से बना जगत, ब्रह्म से पृथक नहीं। इस न्याय से सब कुछ ब्रह्म ही है।

सद्गुरु उपर्युक्त मत की आलोचना करते हैं कि यदि सब कुछ ब्रह्म ही है, तो हे अद्वैतवादी विद्वानो ! तुम किससे बोलते हो? ब्रह्म के अतिरिक्त मन-बुद्धि आदि एवं त्रिगुण और शरीर भी दूसरा क्या है? आपके मत से तो सब ब्रह्म ही है, फिर अध्यारोप (अन्य में अन्य का आरोपण) तथा अपवाद (खण्डन) किसमें किसका करते हो?

एक ब्रह्म में पाप-पुण्य एवं सुख-दुखरूप विष-अमृत भी आप कैसे सिद्ध कर सकते हैं? वेद-उपनिषद् जो मोक्ष का मार्ग बताते हैं, वह भी किसको? एक ब्रह्म अपने आप को उपदेश करता है, यह भी क्या लीला है?

ब्रह्म को ब्रह्म कहने की क्या गर्ज है?
जानना ब्रह्म ऐसा किसका फर्ज है?

(श्री निर्मल साहेब)

जब एक ही ब्रह्म है तब तू-तू, मैं-मैं क्या करते हो? आप अद्वैतवादी बड़े, दूसरे द्वैतवादी छोटे, यह भूल कहां से आती है? सद्गुरु श्री पूरण साहेब ने त्रिज्या में सत्य कहा है—

"अद्वैत उपदेश तो सबने किया, परन्तु द्वैत सबको भासा।
जो द्वैत नहीं भासा, तो उपदेश किसको किया?"

एक ब्रह्म में कौन मुक्त होगा और कौन बन्धन में पड़ेगा? क्योंकि मुक्त एकदेशी होता है। सर्वदेशी विभु मुक्त नहीं होता। यदि व्यापक आत्मा मुक्त हो

जाये तो बन्धन में कौन रहे? यदि बन्धन में कोई नहीं है, तो संसार में सर्वत्र हाय-हाय क्यों है? अद्वैत ब्रह्मवादी उपदेश किसको करते हैं? जगत से वैराग्य कर देहादि की निन्दा कर, पहले अपनी आत्मा को सब दृश्यों से पृथक किया, फिर अन्त में जल-तरंग-न्याय सारा जड़-चेतन जगत-ब्रह्म एक हो गया "दुइ मिलि एकै होय रहा, मैं काहि लगाऊँ हेत?" (बीजक, रमैनी 71)

सद्गुरु श्री पूरण साहेब ने ठीक ही कहा है—

"सारा दिन पिसान पीसा, चलनी में उठाया, हलाय देखा, तो खाली-का-खाली।

मृगतृष्णा का तोय अरु, बाँझ पूत को न्याय।
अस विचार वेदान्त का, अन्त न कछू लखाय॥"

इस सड़सठवें शब्द की व्याख्या बीजक शिक्षा में भी देखने योग्य है। ब्रह्मवादी कहते हैं—

"इस ब्रह्म को प्रपंच का कारण प्रतिपादन करने में श्रुति का केवल यही तात्पर्य है कि जिससे लोग परमाणु-प्रकृति आदि जड़ वस्तुओं को इसका कारण न मान लें।

"इसमें यह शंका हो सकती है कि दृश्य असत, जड़ एवं दुख-स्वरूप है, उसका कारण सच्चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्म कैसे हो सकता है? कार्य में सर्वथा कारण के गुणों की अनुवृत्ति हुआ करती है। कारण और कार्य की विजातीयता प्राय: देखने में नहीं आती। इसका समाधान यह है कि यद्यपि मुख्यतया तो यही नियम देखा जाता है; परन्तु कहीं-कहीं इसमें विषमता होती भी देखी गयी है। देखो, जड़ गोबर से बिच्छू आदि चेतन जीव उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार चेतन-ब्रह्म से जड़ प्रपंच की उत्पत्ति भी सम्भव हो सकती है।

"इस प्रकार यद्यपि आरम्भ में तो ब्रह्म से जगत की उत्पत्ति का ही प्रतिपादन किया जाता है, तथापि अन्तत: सिद्धान्त तो यही है कि प्रपंच की उत्पत्ति ही नहीं हुई है। इसलिए यह जो कुछ प्रतीत होता है बिना हुआ ही दिखाई देता है। इसी से यह अनिर्वचनीय है। अत: आभास और निरोध—आरोप और अपवाद अर्थात बन्ध-मोक्ष अज्ञानजनित ही है।"[1]

अब देखिए इस अद्वैतवाद को। श्रुति-लेखकों के मन में यह महा भय समा गया था कि यदि हम ब्रह्म को जगत का कारण नहीं कहेंगे, तो नैयायिक और सांख्यवादी आदि जगत का कारण परमाणु-प्रकृति आदि सिद्ध कर देंगे, तो हमारे अद्वैत का पाया उठ जायेगा।

---

1. कल्याण, भाग 10, संख्या 7, पृष्ठ 1167।

जब ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, तब जगत और उसके कारण प्रकृति-परमाणु आदि तथा उनके सिद्ध करने वाले व्यक्ति—इनका अस्तित्व ही नहीं होना चाहिए। यदि सचमुच इनका अस्तित्व नहीं है, तो ब्रह्मवादी इनसे डरते क्यों हैं? डरते हैं तो वे भीतर-भीतर इनके अस्तित्व से प्रभावित हैं, केवल ऊपर से अद्वैत की बात करते हैं।

सत-चिद्-आनन्द ब्रह्म से असत-अचिद्-दुखस्वरूप जगत हो गया। कैसे हो गया? जैसे जड़-गोबर से चेतन-बिच्छू हो जाते हैं। ये वाक्य और भाव घोर भौतिकवाद को कितना पुष्ट करते हैं। जड़-गोबर में पहले ही वासनावशी अविनाशी जीव न आयें, तो चेतन-बिच्छू हो ही नहीं सकते। चावल में, गेहूं में, फल में तथा अन्य पदार्थों में देहधारी जीव पैदा हो जाते हैं तो उनमें केवल जीवों की देहों का निर्माण होता है, अमर जीवों का नहीं।

अतः नाना चेतन और जड़ सर्वथा पृथक-पृथक हैं, न चेतन से जड़ होगा, न जड़ से चेतन। कारण-कार्य के गुण-धर्मों की समानता होती है। जिस मूल द्रव्य में जो गुण-धर्म हैं ही नहीं, वे उनके कार्यों में कहां से आ जायेंगे!

सृष्टि के कारण प्रकृति-परमाणु आदि जड़-तत्त्वों को मानने वाले द्वैतवादियों के भय से ब्रह्मवादियों ने ब्रह्म से ही जगत की उत्पत्ति बतला दी; अन्यथा उनके विचार से 'सृष्टि या जगत उत्पन्न ही नहीं हुआ। यह जगत है ही नहीं। वास्तव में यह सब ब्रह्म ही है। अर्थात ब्रह्म-चेतन और जगत एक ही है।' घोर अंधकार है। जड़-चेतन की पृथकता, चेतन से पृथक जड़ जगत की प्रवाहरूप नित्य स्थिति सरलता से समझ में आ सकती है। पांच ज्ञान-इन्द्रिय एवं छठे मन से प्रतिक्षण दृश्यमान अनादि-अनन्त जगत को कौन विवेकी सर्वथा मिथ्या कह सकता है! जिस जगत को मिथ्या कहा जा रहा है, उसी के सारे प्रमाण—जल-तरंग, घट-मृतिका, रज्जू-सर्प—लेकर ब्रह्म को सिद्ध किया जा रहा है।

जब मुझसे पृथक जगत है ही नहीं, यह सारा प्रपंच मैं ही हूं; तब बन्ध-मोक्ष भी झूठे तथा पाप-पुण्य, विधि-निषेध भी व्यर्थ, कर्तव्य-अकर्तव्य कुछ रहा नहीं। इन्द्रियां भोगों में लगी हैं, तो मेरा क्या बिगड़ता है? मैं निर्लेप आत्मा हूं। जब सब कुछ मैं ही हूं, तब क्या त्याग करूं और क्या ग्रहण करूं? जब बन्ध-मोक्ष दोनों मिथ्या हैं, तब भोग-त्याग का विचार भी व्यर्थ। केवल अद्वैत का ज्ञान हो जाना चाहिए। ज्ञान हो जाने के पश्चात भोग-त्याग की मर्यादा नहीं। यदि शुकदेवादि त्यागी थे, तो श्रीकृष्ण, जनक, वसिष्ठ, शिखध्वज आदि भोगी थे, किन्तु सभी एक समान ज्ञानी थे। ब्रह्म के अतिरिक्त

जब कुछ है ही नहीं, तब कुछ ग्रहण करने में भय क्या! यह है अद्वैत ब्रह्मवाद का निर्लिप्तवाद! इस पर हैं विचित्र-विचित्र वेदान्तिक उक्तियां! प्रमाण तो थोड़ा ही पर्याप्त है।

कृष्णो भोगी शुकस्त्यागी नृपौ जनक राघवौ।
वसिष्ठः कर्मकर्ता च ते सर्वे ज्ञानिनः समाः॥

'कृष्ण भोगी, शुकदेव त्यागी, जनक और राम राजा तथा वसिष्ठ कर्मी थे, परन्तु ये सब समान ज्ञानी थे।'

गौड़पादाचार्य जी कहते हैं—

त्रिषु धामसु यद् भोज्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः।
वेदैतद् उभयं यस्तु स भुञ्जानो न लिप्यते॥

(आगम-शास्त्र 1/5)

"तीनों अवस्थाओं में जो भोज्य है और जिसे भोक्ता कहा गया है जो इन दोनों, भोज्य तथा भोक्ता को समझ लेता है वह भोगता हुआ भी लिप्त नहीं होता।"[1]

हम यहां अद्वैतवाद की कुछ युक्तियों पर विचार करें—

कारण-कार्यवाद—"जैसे कंगन-कंठादि आभूषणों का उपादान कारण स्वर्ण है, घट का मिट्टी है और तरंग का जल है, वैसे जड़-चेतनात्मक समस्त विश्व का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण ब्रह्म है" यह ब्रह्मवाद है। विवेक द्वारा देखने से यह मत उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि स्वर्ण, मिट्टी तथा जल विकारी हैं, अनेक परमाणुओं के समूह हैं, विरोधी तत्त्वों के उद्वेग से वे उद्वेगित होकर गतिशील होते हैं, इसलिए उनमें कार्य-पदार्थों का बनना सम्भव होता है। विरोधी तत्त्व न हों तो एक तत्त्व से कोई पदार्थ नहीं बन सकता। फिर निर्विकार, निरवयव, अखण्ड चेतन से विकार फूट-फूटकर यह चन्द्र, सूर्य, तारागण, पेड़, पहाड़, समुद्र तथा मनुष्य, पशु, पक्षी आदि हो गये—यह मानना कहां तक उचित है। पुनश्च उपर्युक्त सिद्धान्त में वेदान्त का प्रमुख 'विवर्तवाद' भी एकदम समाप्त हो जाता है और सांख्यवादियों का परिणामवाद सिद्ध हो जाता है। सत्तायुत पदार्थ का एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिवर्तित हो जाना, जैसे मिट्टी का घट हो जाना, दूध का दही हो जाना, सोना का आभूषण एवं जल का तरंग हो जाना, यही तो सांख्य का परिणामवाद है कि प्रकृति ही विकृत होकर महत, अहंकार, पंचतन्मात्रादि हो

1. 14वें शब्द की व्याख्या भी देखें।

गये। ब्रह्मवादियों ने कहा ब्रह्म ही विकृत होकर यह सब हो गया। प्रकृति तो त्रिगुण की समष्टि है इसलिए उसमें विकृति सम्भव है, परन्तु निर्विकार अखण्ड ब्रह्म में यह सब सम्भव नहीं।

विवर्तवाद—अब 'विवर्तवाद' को देखिए। विवर्त के तो कई अर्थ होते हैं, जैसे घूमना, गोलाई में चक्कर लगाना, लुढ़कना, समूह, नाच, रूपान्तर, भ्रम, आकाश, परिवर्तन, सुधार, भंवर, अविद्याजन्य मिथ्या रूप आदि, परन्तु वेदान्त के 'विवर्त' का अर्थ है 'मिथ्या परिवर्तन' अर्थात जिसमें परिवर्तन हुआ तो न हो, अपितु भ्रमवश परिवर्तन प्रतीत होता हो। जैसे दूर से रस्सी को देखकर सर्प की भ्रांति होती है, सीपी को देखकर चांदी की तथा बालुका देखकर जल की भ्रांति होती है। इसी प्रकार ब्रह्म को देखकर जगत की भ्रांति होती है।

प्रश्न होता है कि जिसने प्रथम सर्प को, चांदी को तथा जल को देख रखा है वही रस्सी देखकर सर्प का भ्रम, सीपी देखकर चांदी का भ्रम तथा बालुका देखकर जल का भ्रम कर सकता है। जिसने कभी सर्प को न देखा हो उसे रस्सी देखकर सर्प की भ्रांति होगी ही नहीं। फिर जब जगत तीनों काल में है ही नहीं, तो उसे कैसे देखा गया जिससे कि उसका भ्रम ब्रह्म को देखकर हुआ। इसके अतिरिक्त सर्प और रस्सी में, चांदी और सीपी में सादृश्यता है, इसलिए पूर्वकाल में सर्प और चांदी को देखने वाला कालान्तर में रस्सी देखकर उसमें सर्प का भ्रम तथा सीपी देखकर उसमें चांदी का भ्रम कर सकता है, परन्तु जगत और ब्रह्म में सादृश्यता नहीं है। क्योंकि जगत स्थूल, क्रियाशील साकार है जबकि ब्रह्म को निष्क्रिय-निराकार बताते हैं, फिर निराकार में साकार का भ्रम कैसे होगा?

सर्प, रस्सी तथा जिसको भ्रम होता है वह मनुष्य—ये तीनों सत्य हैं। जिस काल में रस्सी में सर्प की भ्रान्ति होती है, उस काल में रस्सी में तो सर्प नहीं है, परन्तु अन्यत्र है ही, किन्तु ब्रह्मवाद में एक ही ब्रह्म होने से ये सभी दृष्टान्त अघटित हैं। ब्रह्म में जगत का भ्रम हुआ किसको, जब केवल एक ब्रह्म की ही सत्ता है? इसका उत्तर ब्रह्मवाद में नहीं है। (देखिये आगे 112वें शब्द की व्याख्या)।

स्वप्नवाद—स्वप्न का दृष्टान्त ही अद्वैतवाद की जान है। अब इसको देखें। कहा जाता है जैसे मनुष्य सोते समय अर्धनिद्रा में स्वप्न देखता है, स्वप्न में चन्द्र, सूर्य, पेड़-पहाड़ सब दिखते हैं, वहां ये सब कहां हैं? वहां स्वप्नद्रष्टा स्वयं दृश्य बन जाता है तथा अपना ही द्रष्टा रहता और अपने ही में सब प्रतीत करता है, वैसे ब्रह्म अपना ही दृश्य बन जाता है तथा अपना ही द्रष्टा रहता और अपने ही में सब प्रतीत करता है।

प्रश्न होता है कि यदि जागृत अवस्था में प्रत्यक्ष एवं सत्य-जगत का अनुभव न किया जाये तो स्वप्न होगा ही नहीं। जागृत की अपेक्षा से ही स्वप्न होता है। जागृत में जिन-जिन प्राणी-पदार्थों-परिस्थितियों को देखा, सुना या भोगा जाता है उन्हीं के संस्कार मन में टिके रहते हैं और अर्धनिद्रा में वे ही भासते हैं। जागृत के पदार्थ बिम्बरूप से हैं, अंतःकरणरूपी दर्पण पर वे ही संस्कार प्रतिबिम्ब रूप हैं जो अर्धनिद्रा में स्वप्नरूप में भासते हैं। जो कभी देखा, सुना और भोगा नहीं जायेगा उसका स्वप्न होगा ही नहीं। जिस पदार्थ का चित्र मन में कभी नहीं पड़ा रहेगा। उसका स्वप्न कैसे हो सकता है? जन्मांध को रंग-रूप का स्वप्न कभी नहीं दिखता। अतएव बिना प्रत्यक्ष जगत देखे ब्रह्म का उसका स्वप्न देखना भी विचित्र है।

कहा जाता है ऐसे भी अनेक स्वप्न होते हैं जिनका जागृति में कभी विचार नहीं किया गया है। अर्थात जो जीवन में कभी नहीं सोचा गया, उसका स्वप्न कभी-कभी आ जाता है, जैसे मैं उड़ रहा हूं, किसी अपरिचित स्थान पर गया हूं, मैं मर गया हूं, मेरा शव पड़ा है, उसे मैं देख रहा हूं, इत्यादि। परन्तु उपर्युक्त युक्ति में कोई बल नहीं है। दिन भर हम जितनी बातें सोचते तथा देखते-सुनते हैं, उन सब में कुछ का ही स्मरण रहता है, बाकी भूल जाता है। कभी-कभी पूर्व के देखे-सुने-भोगे हुए का एकाएक स्मरण हो जाता है। कभी स्मरण करने पर स्मरण होता है। बहुत-सी बातें एकदम भूल जाती हैं। परन्तु उनमें से बहुतों के संस्कार मन में रहते हैं, जिनका कभी-कभी स्वप्न में आ जाना स्वाभाविक है। मनुष्य स्वयं का भी उड़ना सोचता है, वायुयान-पक्षी आदि को उड़ते देखता ही है, मनुष्य को मरते देखता है, प्रत्येक मनुष्य कभी-न-कभी अपनी मृत्यु को भी सोचता है। स्वप्न में कितने ही अपरिचित पदार्थ हों, जड़-चेतन पदार्थ सब परिचित ही हैं और ये ही पदार्थ वहां रहते हैं। स्वप्न में स्थिरता नहीं रहती। स्वप्न देख रहे हैं कि हम काशी में हैं, इतने में देखते हैं कि हमारे सामने लखनऊ का दृश्य आ गया है। जागृति-अवस्था में मन में दृढ़त्व रहता है, निद्रा में वह दृढ़त्व नहीं रहने से स्वप्न विकृत रूप से दिखते हैं, परन्तु होते हैं वे जागृति के संस्कार ही।

महर्षि याज्ञवल्क्य जनक को उपदेश देते हुए कहते हैं—"यह स्वप्न जीव का जागृत-देश ही है। अर्थात जीव जो जाग्रत-अवस्था में देखा, सुना और भोगा रहता है, उन्हीं के संस्कार मन में पड़े रहते हैं और वे ही अर्धसुषुप्ति में स्वप्न रूप में दिखायी देते हैं।"[1]

---

1. अथो खल्वाहुर्जागरितदेश एवास्यैष इति यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति तानि सुप्त इति ॥
(बृहदारण्यक उपनिषद् 4/3/14

जड़ शरीर, मन तथा प्रत्यक्ष जगत के सम्बन्ध में संस्कार बनते हैं, वे ही अर्धनिद्रा में स्वप्नरूप भासते हैं। शुद्ध अद्वैत चेतन में न जागृत अवस्था बनेगी न स्वप्न। जब ब्रह्म के शरीर और मन हों, वह प्रत्यक्ष सत्य-जगत में रहकर इन्द्रियों से क्रिया-व्यवहार करे और फिर सो जाये, तभी वह स्वप्न देख सकता है। तो ऐसा व्यवहार सब जीव कर ही रहे हैं। जड़-जगत तथा अविनाशी अगणित चेतन जीव प्रत्यक्ष हैं ही, फिर ब्रह्म की कल्पना और जगत को उसका स्वप्न कहने का क्या प्रयोजन है !

एक काल में एक व्यक्ति जो स्वप्न देखता है, वह स्वप्न दूसरे-तीसरे आदमी नहीं देखते, परन्तु इस जगत को एक काल में सभी समान देखते हैं। केशव के लिए बारह बजे दिन है तो माधव के लिए भी। रमेश के लिए गंगा की बायीं ओर काशी बसी है तो दिनेश के लिए भी। इसके अतिरिक्त जो स्वप्न एक बार देखा गया, दूसरी बार वही नहीं देखा जाता, परन्तु जो जगत आज देखा गया, कल वही देखा जाता है। इसलिए जगत स्वप्नवत नहीं, अपितु यथार्थ है। हां, उसका हमारा सम्बन्ध मनोमय द्वारा है, छूट जाने वाला है। इसलिए वैराग्य की दृष्टि से जगत को विवेकी स्वप्नवत भी कहते हैं। परन्तु अद्वैतवादियों का स्वप्नवाद उचित नहीं।

व्यापकवाद—जड़-चेतन कोई भी वस्तु व्यापक नहीं है। पृथ्वी आदि तत्त्वों के असंख्य परमाणु हैं। वे सब व्यापक नहीं। आकाश कोई द्रव्य नहीं, वह पोल या शून्य है। तत्त्वों के अखण्ड परमाणुओं में तथा अखण्ड चेतन जीवों में सन्धि न होने से उनमें आकाश व्याप्त नहीं हो सकता। इसलिए सूक्ष्मदृष्टि से देखा जाये तो आकाश भी सर्वत्र व्यापक नहीं, वह अखण्ड परमाणुओं तथा अखण्ड चेतन जीवों के बाहर ही है।

यदि चेतन एक और व्यापक होता तो दूसरी वस्तु रहने का स्थान न होता, क्योंकि चेतन अखण्ड है। एक अखण्ड वस्तु से सब जगह घिर जाने से दूसरी वस्तु को रहने का स्थान कैसे हो सकता है? परन्तु प्रत्यक्ष ही नाना चेतन तथा असंख्य परमाणुओं के सहित पृथ्वी आदि अनेक तत्त्व और पोल-शून्य भी संसार में हैं। एक अखण्ड निर्विकार-निष्क्रिय चेतन-ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त होने से क्रिया, परिवर्तन, विकार, निर्माण-कर्म सम्भव ही नहीं हैं, परन्तु क्रियादि सम्पूर्ण कार्य संसार में हो रहे हैं, अतएव चेतन की अद्वैतता और उसकी व्यापकता दोनों समीचीन नहीं हैं।

यदि चेतन सर्वत्र व्याप्त है और वह चेतन मैं ही हूं, तो सर्वत्र की बातें क्यों नहीं जानता? यदि कहिए अंत:करण के माध्यम से बाह्यज्ञान होता है, सो तो ठीक है; परन्तु संसार में सर्वत्र अन्त:करण भी व्यष्टिरूप में है, तो उन-उन

अन्तःकरणों द्वारा हमें वहां-वहां का ज्ञान करना चाहिए। जैसे व्यापक होने से हम चेतन अमेरिका में भी हैं, और वहां असंख्यों अन्तःकरण भी हैं, वे सब अन्तःकरण मेरे में ही हैं, फिर उनके माध्यम से वहां की बातें मुझे जानना चाहिए, परन्तु ऐसा होता नहीं। शरीर के हाथ-पैर आदि में कहीं कष्ट हो तो उसका अनुभव मुझे ही होता है। इसी प्रकार संसार में किसी भी शरीर-अन्तःकरण में कष्ट होने पर उसका अनुभव मुझे ही होना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता। अतएव चेतन का एक होना और व्यापकता दोनों विवेक और युक्ति-विरुद्ध हैं।

उत्पत्ति और लयवाद—अद्वैतवादी कहते हैं—"आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई।[1] फिर अद्वैत अवस्था को प्राप्त करने के लिए पृथ्वी को जल में लय करें, जल को अग्नि में, अग्नि को वायु में, वायु को आकाश में तथा आकाश को आत्मा में लय करें, फिर केवल एक आत्मा ही अद्वैत है।"

अब इस उत्पत्ति और लय-प्रक्रिया को देखिए। आत्मा अखण्ड, निर्विकार और व्यापक माना गया है। फिर उसमें विकार उठना, सत्-चिद्-आनन्द आत्मा (ब्रह्म) का टूटकर असत्-अचिद्-अआनन्द पृथ्वी आदि जगत का बनना कितना असम्भव है। माना हुआ निराकार अखण्ड आत्मा आकाश हो गया, वायु हो गया, माटी-पानी हो गया, यह कितनी बड़ी भ्रान्ति है!

आत्मा से आकाश उत्पन्न होने का तात्पर्य यह है कि पहले आकाश नहीं था। सर्वत्र ठोस था। फिर किस वस्तु से ठोस था? वह वस्तु कहां हटाकर कर दी गयी जिससे आकाश बनाया जा सका। वह वस्तु जहां की गयी वहां पहले आकाश रहा होगा, तब तो आकाश पहले सिद्ध हो गया। आकाश तो पोल है, उसकी उत्पत्ति क्या होगी? आकाश गुण-धर्म-द्रव्य रहित शून्य को कहते हैं, फिर उससे गुण-धर्म द्रव्य-युत वायु कैसे उत्पन्न हो गया? अभाव से भाव नहीं होता।[2] वायु के विपरीत धर्म वाली अग्नि तथा अग्नि के विपरीत धर्म वाला जल एवं जल के विपरीत पृथ्वी ये क्रमशः एक-से-एक कैसे उत्पन्न हो जायेंगे? कारण के अनुसार ही कार्य होता है। अर्थात "उपादान कारण के सदृश ही कार्य में गुण देखे जाते हैं।"[3] इस न्याय से यदि सत्-

1. आत्मनः आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अदभ्यः पृथिवी। (तैत्तिरीयोपनिषद् 2/1)

2. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। (गीता 2/16)
अर्थात—असत्य का भाव नहीं होता और सत्य का अभाव नहीं होता।

3. कारणगुणपूर्वकः कार्य्यगुणो दृष्टः। (वैशेषिक दर्शन 2/1/24)

चिद्-आनन्द आत्मा (ब्रह्म) ही सबका कारण हो, तो उसका क्रमिक विकास (कार्य) रूप जगत भी सत्-चिद्-आनन्द ही होना चाहिए। परन्तु पूर्व प्रमाण में यह भी देखा जा चुका है कि अद्वैत ब्रह्म के सिद्धान्त में जगत उत्पन्न ही नहीं हुआ है और न जगत तीनों काल में है। फिर यह आकाशादि क्रम से जगत की उत्पत्ति की बात कैसी? वास्तव में यह सिद्धांत ही ऐसा डावांडोल है कि इसमें बिना पूर्वापर विचार किये क्षण में कुछ कहा जाता है और क्षण में कुछ।

अब लय-प्रक्रिया देखिए। "पृथ्वी को जल में लय करे, जल को अग्नि में, अग्नि को वायु में, वायु को आकाश में तथा आकाश को आत्मा में लय कर अद्वैत हो जाये।" परन्तु पोथीज्ञान के अतिरिक्त इसमें क्या सार है? न पृथ्वी जल में लीन होगी, न जल अग्नि इत्यादि में। मिट्टी को जल में घोल दीजिए, परन्तु जल के कण उड़ जाने पर मिट्टी बनी ही रहती है। एक तत्त्व दूसरे तत्त्व में कुछ काल के लिए मिश्रित भले हो जायें, परन्तु सभी तत्त्वों का स्वरूपतः अस्तित्व पृथक-पृथक ही रहता है। मिलते-मिलते सब तत्त्व एक नहीं हो जाते। कहा जाता है कि कितने ही ब्रह्मज्ञानी अद्वैत-अवस्था को प्राप्त होकर मुक्त हो गये; परन्तु जगत के सभी तत्त्व पृथक-पृथक ही बने हैं, वे उनको एक में नहीं मिला सके। अद्वैतवादानुसार जब ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं तब पृथ्वी आदि उससे पृथक मानकर उनको लय करने की प्रक्रिया बताना—यह भी भ्रम ही है। इसके अतिरिक्त पृथ्वी आदि जड़ तत्त्वों को शुद्ध चेतन में लय करने की भावना एक महा कुसंस्कार है।

प्रमाणवाद—कहा जाता है कि अद्वैतवाद की सिद्धि के लिए तर्क तथा युक्ति का कोई महत्त्व नहीं है, अथवा तर्क और युक्ति से उसे सिद्ध नहीं किया जा सकता। उसकी सिद्धि के लिए तो शास्त्र-प्रमाण ही पर्याप्त है।

प्रश्न होता है कि वेदों में तो संसार को सच माना गया है और सांसारिक भोगों की सिद्धि के लिए नाना देवी-देवताओं की उपासनों की गयी हैं। उसमें अद्वैतवाद-जैसी बात तो पुष्ट होती नहीं दिखती। उपनिषदों में भी कहीं अद्वैत-जैसी बात है, तो कहीं स्पष्ट द्वैतवाद का प्रबल समर्थन है। जगत तीनों काल में नहीं है यह उपनिषदों के विचार नहीं हैं।

वेदानुसारी प्रसिद्ध छह शास्त्र हैं—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदांत। उनमें वेदान्त को छोड़कर शेष पांचों शास्त्र द्वैतवाद के समर्थक हैं, चेतन के साथ-साथ जड़ को भी वे सच (परमार्थसत्ता) मानते हैं। वेदान्त में भी लोक-लोकान्तर में जीवों का गमनागमन-जैसी अनेक बातें द्वैत का समर्थन करती हैं। इसके अतिरिक्त यदि वेदान्त को हम अद्वैतपरक ही मान

लें, तो अन्य पांच शास्त्रों में तो स्पष्ट द्वैतवाद ही है। शास्त्रों में अत्यन्त प्राचीन और महत्त्वपूर्ण शास्त्र सांख्य है, वह जगत को सच तथा चेतन को नाना सिद्ध करता है। अद्वैतवादी कहते हैं—"सांख्य-न्याय आदि शास्त्र वेद-विरोधी या गौण हैं इसलिए अप्रमाण्य हैं।" वे क्यों वेद-विरोधी हैं, जब वेद में कोई निश्चित मत खड़ा ही नहीं किया गया है, जब छहों शास्त्र वेद-प्रमाण मानते हैं, तब कोई भी वेद-विरोधी नहीं। वेदान्त के अतिरिक्त शास्त्रों को वेद-विरोधी कहना अपने मन की बात है। इस प्रकार तो सांख्यवादी आदि भी वेदान्त को वेद-विरोधी कह सकते हैं। जब अद्वैत के समर्थन के लिए तर्क की प्रतिष्ठा न कर शास्त्र-श्रद्धा ही सम्बल है, तो समस्त वैदिक शास्त्रों में अवश्य श्रद्धा होनी चाहिए। अन्ततः तो केवल शास्त्र-प्रमाण से सिद्ध सिद्धान्त भ्रम से खाली नहीं हो सकता। शास्त्रप्रमाणों की आड़ में बहुत-सी झूठी बातें सच बनायी जा सकती हैं, जो स्वतन्त्र मानव-विवेक के सर्वथा प्रतिकूल है।

तर्क और युक्ति से अद्वैत नहीं सिद्ध होता, इसकी सिद्धि के लिए यदि वेद-शास्त्र ही प्रमाण हैं, तो प्रश्न होता है कि वेद-शास्त्र जगत के भीतर हैं या बाहर? यदि भीतर हैं, तो जगत मिथ्या होने से वेद-शास्त्र भी मिथ्या हुए, फिर मिथ्या का प्रमाण मान्य नहीं होगा और यदि वेद-शास्त्र जगत के बाहर और सत्य हैं तो अद्वैत नहीं रहा। एक ब्रह्म और दूसरे वेद-शास्त्र हुए।

एक निष्पक्ष व्यक्ति यदि शास्त्र-प्रमाण से अपना सिद्धान्त स्थिर करना चाहे, तो वह किस शास्त्र का अवलम्ब ले? शास्त्रों में परस्पर कुछ विरुद्ध बातें हैं। सभी शास्त्र महापुरुषों के बनाये हैं। एक को सिरे से स्वीकार कर लेना और अन्य को नास्तिक कह देना यह पक्ष से खाली नहीं होगा। अतएव सभी शास्त्रों में श्रद्धा रखने की आवश्यकता है, साथ-साथ विवेक भी। विवेक द्वारा सभी शास्त्रों के सत्यों को बिना न नु न च किये ग्रहण करना चाहिए, किन्तु पक्ष किसी का भी नहीं होना चाहिए। इसलिए केवल शास्त्र-प्रमाण से सिद्ध सिद्धान्त स्वतन्त्र विवेकी मानव को कथमपि ग्राह्य नहीं हो सकता।

सत्य को समझने के लिए श्रद्धा और साथ-साथ बुद्धि की महान आवश्यकता है। केवल श्रद्धा अन्धी है और केवल बुद्धि नास्तिका है। श्रद्धा और बुद्धि का जहां समन्वय है वहां विवेक की प्रतिष्ठा है और विवेक द्वारा ही सत्यज्ञान की उपलब्धि होती है।

अतएव जड़ से पृथक नाना चेतन जब विवेकसिद्ध हैं, तब शास्त्र-प्रमाण की दोहाई देकर उस पर भ्रम लादना किसी के लिए हितकर कैसे होगा! शास्त्र-प्रमाण मान्य हैं, परन्तु विवेकसम्मत ही। द्रष्टव्य है श्री ईश्वर कृष्ण रचित एक कारिका—

जननमरणकरणानां प्रतिनियिमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव॥ 18॥

प्रश्न—आत्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न है या एक?

उत्तर—आत्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न है क्योंकि आत्मा में नये-नये शरीर के सम्बन्ध रूप जन्म तथा उसका त्याग रूप मरण और चक्षु-श्रोत्र आदि करणों की व्यवस्था देखने में आती है। यदि सभी शरीर में आत्मा एक माना जाये तो एक के पैदा होते सब पैदा हों, एक के मरने से सब लोग मर जायें तथा एक के अन्धे या बहिरे होते ही सब लोग अन्धे तथा बहिरे हो जायें, ऐसी अवस्था हो जायेगी, इसलिए अनेक पुरुष मानना आवश्यक है। और यदि आत्मा सब शरीरों में एक ही हो तो एक पुरुष की धर्म में प्रवृत्ति होने से सारे संसार के मनुष्य एकदम धर्म ही में प्रवृत्त होने लगेंगे, ऐसा नहीं होता, क्योंकि कोई धर्म में प्रवृत्त है तो कोई अधर्म में, कोई ज्ञान में तो कोई अज्ञान में। इस प्रकार संसार के प्राणियों की प्रवृत्ति अलग-अलग देखने में आती है। इसी तरह सत, रज, तम इन तीनों गुणों के विपर्यय-परिणाम भेद से भी आत्मा की अनेकता ही सिद्ध होती है, क्योंकि कहीं-कहीं केवल सुख ही (जैसे देवताओं में), कहीं-कहीं केवल दुख ही (जैसे मनुष्यों में), कहीं-कहीं मोह (जैसे नारकीय जीवों में) पाया जाता है। अथवा त्रिगुण होने से आत्माओं का सात्त्विक, राजस तथा तामस भेद होता है इसलिए आत्मा अनेक हैं यह मानना आवश्यक है। यदि एक मानें तो एक पुरुष के सुखी या दुखी होने पर सभी संसारी जीव सुखी या दुखी हो जायेंगे, और त्रिगुणों के भेद से नीच, ऊंच, मध्यम इत्यादि व्यवस्था भी नहीं बनेगी॥ 18॥[1]

श्री गुरुदयाल साहेब जी कहते हैं—

शब्द

पण्डित संशय गाँठि न छोरे।
संशय सन की गाँठि परी, तेहि दुविधा जल में बोरे॥ 1॥
जग उतपति कहैं एक ब्रह्म ते, पुनि जग में ब्रह्म बताई।
मुक्ति कहै ब्रह्म के जाने, फिर चौरासी आई॥ 2॥
जग को चारि खानि चौरासी, बड़े-बड़े कहैं सुजाना।
तेहि जग को बैराट बखाने, विश्वरूप भगवाना॥ 3॥
नित उतपति नित परलय होई, जाको जगत ब्रह्म कहो भाई।
विश्वरूप भगवान भयो, तब चौरासी केहि ठाँई॥ 4॥

---

1. सांख्यकारिका 18, टीका पं. श्री दुण्ढिराज शास्त्री।

छिन में जग को ब्रह्म बताओ, छिन में ईश बखानी।
छिन में जगत को जीव कहत हो, छिन में माया मानी॥ 5॥
जग छूटन की शरण ईश की, ईश ब्रह्म जग आया।
काकी शरण जाय दुख छूटै, मोहि कहो करि दाया॥ 6॥
निजहित कोई विदेश गया जो, वहाँ से कोई जो आया।
पूछै कुशल चार विधि बोलै, कहौ कौन थिति पाया॥ 7॥
ज्ञान कहानी अदबुद बानी, स्थिति बिनु भये दुखारी।
कहहिं कबीर समुझि कहु पण्डित, साँच एक कि चारी॥ 8॥

अर्थात—पंडितजन अज्ञानग्रंथि को नहीं खोलते। सन की गांठ पड़ने के समान उक्त अज्ञानग्रंथि को दुविधा के जल में डुबाकर अधिक पुष्ट कर रहे हैं॥ 1॥ कहते हैं जल-तरंग न्याय एक ब्रह्म से ही जगत उत्पन्न हुआ है, फिर उपादानरूप होने से ब्रह्म को जगतस्वरूप ही बताते हैं। परन्तु कहते हैं कि ब्रह्म को जानकर उसमें स्थित होने से ही मोक्ष होगा, इससे तो पुनः चौरासी-संसार में आ गये, क्योंकि ब्रह्म-जगत एक है॥ 2॥ वेद-वेदान्त के बड़े-बड़े ज्ञानी जगत को चार खानि चौरासी का स्थान कहते हैं (वास्तव में है भी), परन्तु उसी जगत को भगवान का विराटस्वरूप या विश्वरूप भगवान कहते हैं (फिर भगवान कहो या जगत, एक ही बात हुई)॥ 3॥ भाई! जिसको जगत या ब्रह्म कहते हो, उसमें तो सदैव परिवर्तन बना रहता है। यदि सारा विश्व भगवान या ब्रह्म ही है, तो चौरासी चक्कर किस स्थान पर है?॥ 4॥ क्षण में कहते हो कि ईश्वर जगत का केवल निमित्त कारण है और जगत में व्याप्त है। क्षण में कहते हो कि जगत तो जीवों के भोग-मोक्ष के लिए बना है। क्षण में जगत को माया मात्र, सत-असत से विलक्षण अनिर्वचनीय प्रतीत मात्र कहते हो॥ 5॥ जगत-बंधनों से छूटने के लिए ईश्वर या ब्रह्म की शरण लेनी चाहिए—ऐसा कहते हो। ब्रह्म-ईश्वर जल-तरंग न्याय या विराटरूप से जगत ही है। फिर किसकी शरण में जाने से जगत-बंधनों का दुख छूटेगा। कृपापूर्वक समझाने का कष्ट करो?॥ 6॥ कोई अपने स्वार्थवश परदेश गया, वहां से कोई दूसरा व्यक्ति आया, परदेश-स्थित व्यक्ति के घर वालों ने अपने आदमी का कुशल पूछा तो उत्तर में उस व्यक्ति ने चार बातें कहीं—"वह तो वहां गया नहीं। वह वहां अच्छी नौकरी पा गया है। वह बहुत-सा पैसा कमाकर आ रहा है। वह तो मर गया।" अब बताइए! पूछने वाले को सन्तोष कैसे हो?॥ 7॥ इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानियों की ज्ञान-कहानी आश्चर्यजनक वाणी-जाल है। स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति बिना ये सब दुखी हैं। श्री गुरुदयाल साहेब कहते हैं हे पण्डित! समझकर कहिए, सच्ची एक है कि उपर्युक्त चारों बातें?॥ 8॥

क्षण में जगत का अस्तित्व ही न मानना, क्षण में अद्वैत कहना, क्षण में जगत का अस्तित्व मानकर ग्रन्थ-पंथ-मत प्रचार करना, क्षण में किसी को आस्तिक किसी को नास्तिक कहना, क्षण में जड़-चेतन भिन्न विवेक करना, क्षण में जड़-चेतन एक कहना—यह सब असम्बद्ध-प्रलाप नहीं तो क्या है!

अतएव अद्वैत मत किसी प्रकार भी समीचीन नहीं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु पृथक-पृथक हैं और उनसे सर्वथा भिन्न नाना चेतन पृथक-पृथक हैं। जड़-चेतन एक मानना ही शास्त्रों में अविद्या कही गयी है। वस्तुतः सारे संकल्पों का त्यागकर स्वरूपस्थ एवं आत्मस्थ हो जाना ही असंगता है, यही अद्वैत है। अकेला रह जाना ही अद्वैत है।

भवचक्र-चरखे का वर्णन

शब्द-68

जो चरखा जरि जाय, बढ़ैया न मरै॥ 1॥
मैं कातों सूत हजार, चरखुला जिन जरै॥ 2॥
बाबा मोर बियाह कराव, अच्छा बरहि तकाय॥ 3॥
जौ लौं अच्छा बर ना मिलै, तौ लौं तुमहि बिहाय॥ 4॥
प्रथमें नगर पहुँचते, परिगौ सोग सन्ताप॥ 5॥
एक अचम्भव हम देखा, जो बिटिया ब्याहिल बाप॥ 6॥
समधी के घर लमधी आये, आये बहू के भाय॥ 7॥
गोड़े चूल्हा दै दै, चरखा दियो दृढ़ाय॥ 8॥
देव लोक मरि जायेंगे, एक न मरे बढ़ाय॥ 9॥
यह मनरंजन कारणे, चरखा दियो दृढ़ाय॥10॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, चरखा लखै जो कोय॥11॥
जो यह चरखा लखि परे, ताको आवागवन न होय॥12॥

शब्दार्थ—चरखा=शरीर, भवचक्र। बढ़ैया=मन। सूत हजार=हजारों कर्म। बाबा=अबोधी गुरु। बरहि=वर, दूल्हा, देवता। नगर=अंतःकरण। बिटिया=पुत्री, अविद्या। बाप=पिता, जीव। गोड़े=गोड़, पैर, ज्ञान की गतिशीलता। चूल्हा=भट्ठी, अज्ञानाग्नि की भट्ठी। बढ़ाय=बढ़ई, मन। मनरंजन=मनोरंजन, मन का बहलाव, मन का विषयों के राग-रंग में फंसे रहना।

भावार्थ—यदि शरीर-चरखा जल भी जाये तो भी मन-बढ़ई तो मरता नहीं, वह पुनः शरीर-चरखा बना लेता है॥ 1॥ यह संसारासक्त जीव तो यही चाहता है कि शरीर-चरखा बना रहे और मैं हजारों कर्मों के सूत सदैव कातता

रहूं॥ 2॥ यह अविवेकी जीव धर्म के नाम पर बस, इतना ही जानता है कि यह किसी देवता की पूजा कर लेता है। यह अपने गुरु से कहता है कि हे बाबा! मेरा किसी देवतारूप दूल्हे से ग्रन्थिबंधन करा दो, और ध्यान रखना अच्छा वर देखना! अर्थात उत्तम देवता होना चाहिए॥ 3॥ और हे गुरु बाबा! जब तक उत्तम देवतारूप दूल्हे का संयोग न मिले, तब तक मेरी लगन आपके ही चरणों में रहेगी, मैं आप को समर्पित हूं॥ 4॥ उन छिछले गुरुओं के कल्पित उपदेश जब शिष्यों के हृदय-नगर में पहुंचे तब तुरन्त ही उसमें किसी कल्पित वस्तु को पाने के लिए शोक-संताप पैदा हो गये॥ 5॥ हमने एक आश्चर्य देखा कि पिता ने पुत्री के साथ विवाह कर लिया, अर्थात जीव ने अविद्या के साथ ग्रन्थिबन्धन कर लिया॥ 6॥ वर तथा वधू के पिता परस्पर समधी कहलाते हैं और इन दोनों के दूसरे-दूसरे समधी लमधी हुए। बहू का भाई साला कहलाता है। इन सबका साधारण अर्थ है मानसिक विकारों की सेना। ये सब मनुष्य के हृदय में आकर इकट्ठे हो जाते हैं॥ 7॥ और जीव की ज्ञान-रूपी गतिशीलता के पैरों को अज्ञानरूपी जलते चूल्हे में डालकर जला देते हैं तथा देहरूपी चरखे का अभिमान मजबूत कर देते हैं॥ 8॥ इसलिए अमर कहे जाने वाले देवलोकों का प्रलय भले हो जाये, परन्तु यह एक मन-बढ़ई नहीं मरता॥ 9॥ इस मन के राग-रंग के कारण ही शरीर-चरखा का अध्यास मजबूत बना रहता है॥ 10॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो! सुनो, जो जीव इस शरीराभिमान एवं भवचक्र-रूपी चरखे को बन्धनरूप देख लेता है और जिसे यह सचमुच ही निस्सार एवं दुखरूप दिखाई दे जाता है, वह इससे मुक्त हो जाता है, फिर उसका आवागमन नहीं होता॥ 11-12॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर नाना उदाहरणों एवं रूपकों द्वारा ज्ञान की बातें कहकर जीव को जगाते हैं। शरीर चरखा है, किन्तु शरीर का निर्माण जिनसे होता है वे वासनों, तृष्णों महा चरखा हैं। यह शरीररूपी चरखा तो समय आने पर जल जाता है, परन्तु इसकी वासना बनी रहने के कारण मन-बढ़ई पुनः इस चरखे को बनाता है।

"मैं कातों सूत हजार, चरखुला जिन जरै।" मनुष्य का मन यही चाहता है कि यह शरीर-चरखा सदैव बना रहे और मैं इससे कर्मों के सूत कातता रहूं। दो दृष्टियां हैं, लौकिक तथा आध्यात्मिक। लौकिक दृष्टि से यह ठीक है कि मनुष्य में कर्म करने की इच्छा निरंतर बनी रहे। परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि इससे भिन्न है। वहां कर्म-वासनाओं का अभाव होना चाहिए। देखने, सुनने, खाने-भोगने, करने, पाने तथा जीने तक की वासना का अंत होना चाहिए, तभी यह जीव शरीर एवं संसार-चरखे से मुक्त होता है। इसका व्यावहारिक रूप इस

जीवन में फलित होता है परमशांति की प्राप्ति। सारी इच्छाओं के अंत में ही तो परमशांति मिलती है। परन्तु यहां तो मनुष्य चाहता है कि यह देह सदैव बनी रहे और मैं खाता, भोगता तथा प्रपंचकर्मों को करता रहूं। यह भाव परमशांति एवं मोक्ष का विरोधी है।

"बाबा मोर बियाह कराव, अच्छा बरहि तकाय। जौ लौं अच्छा बर न मिलै, तौ लौं तुमहि बिहाय।" इन दो पंक्तियों में अविवेकी जीवों द्वारा देवोपासना की कामना का चित्रण है। यथार्थ सद्‌गुरु न मिलने से मनुष्य भटकता है। अशिक्षित ही नहीं, शिक्षित भी भटकता है। वह प्राप्त अबोधी गुरुओं एवं पुरोहितों से यही प्रार्थना करता है कि मैं आपकी शरण में हूं। आप मुझे किसी अच्छे देवता का साक्षात्कार करा दें। देवता तो सारे ही काल्पनिक एवं झूठे हैं, उनमें चित्त बहलाकर अपने समय को बरबाद करना है। सच्चा देवता तो व्यक्ति की आत्मा है। आत्मदेव को न समझकर आदमी कल्पित देवताओं में भटकता है।

"प्रथमें नगर पहुँचते, परिगौ सोग सन्ताप। एक अचम्भव हम देखा, जो बिटिया ब्याहिल बाप।" देवी-देवताओं में उलझे रहने वाले आत्मज्ञान से विहीन गुरु लोगों के उपदेश भी वही रहते हैं जिनके मनुष्यों के हृदय-नगर में पहुंचते ही वे तुरन्त इस शोक-संताप में पड़ जाते हैं कि देव-दर्शन कब होंगे, उनके साक्षात्कार कब होंगे! जो केवल मन की कल्पना है वह कब मिल सकता है। साहेब कहते हैं कि हमें तो यह आश्चर्य लगता है कि पिता पुत्री से विवाह कर रहा है। अर्थात जीव अपने द्वारा उत्पन्न हुई कल्पना से अपना ग्रन्थिबन्धन कर रहा है। स्वयं कल्पना कर देवताओं का निर्माण करता है और स्वयं उनके पैरों पड़ता है। स्वयं मन में देवताओं की माया बनाता है और स्वयं उसमें डूबता है।

"समधी के घर लमधी आये, आये बहू के भाय। गोड़े चूल्हा दै दै, चरखा दियो दृढ़ाय।" समधी, लमधी और बहू के भाई सब मानसिक विकार हैं। इन रूपकों की गहराई तथा छानबीन में जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। अभिप्राय इतना ही है कि मनुष्य के मन में इतने मानसिक विकार इकट्ठे हो जाते हैं कि अज्ञान की भट्ठी में उसके पैर जल जाते हैं। मनुष्य आध्यात्मिक प्रगति तभी कर सकता है जब उसके ज्ञान के पैर हों, परन्तु उसके ज्ञान के पैर को तो अज्ञान के चूल्हे में डालकर ये मानसिक विकार जला डालते हैं। इसलिए मनुष्य की आध्यात्मिक प्रगति तो नहीं होती, किन्तु देहाभिमान की तरफ प्रगति होती है। ये मानसिक विकारों के दल देहाध्यास-चरखे को ही मजबूत करते हैं।

"देवलोक मरि जायँगे, एक न मरे बढ़ाय। यह मनरंजन कारणे, चरखा दियो दृढ़ाय।" देव तथा देवलोक दोनों काल्पनिक हैं। परन्तु देवलोक के विषय में धारणा है कि वह बहुत काल तक बना रहता है। साहेब कहते हैं कि उसका भले प्रलय हो जाये, परन्तु इस मन-बढ़ई का प्रलय नहीं होता। "मन मरै न माया मरै, मरि मरि जात शरीर। आशा तृष्णा न मरै, यों कथि कहहिं कबीर॥" धर्मशास्त्रों के अनुसार इस लोक से लेकर ब्रह्मलोक तक अनेक बार विनष्ट हो गये, परन्तु इस मन का ज्ञान द्वारा विनाश नहीं किया जा सका, इसको वासनाओं से मुक्त नहीं किया जा सका। यदि मन न मरे तो शरीर के मरने से क्या होता है। यह पुनः शरीर बना लेता है। इस मनोरंजन के कारण ही भवचक्र का चरखा मजबूत बना रहता है। यह मन संसार का रंजन, राग-रंग नहीं छोड़ता। इसकी वासनों एवं इच्छों नहीं बुझतीं, इसलिए ये वासनों भवचक्ररूपी चरखे को और दृढ़ कर देती हैं।

"कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, चरखा लखै जो कोय। जो यह चरखा लखि परे, ताको आवागमन न होय।" साहेब कहते हैं कि सुनो, हे सन्तो! कोई भवचक्र के चरखे को नहीं समझ पाता। साधारण लोगों को कौन कहे, बड़े-बड़े कहलाने वाले लोग भी इस चरखे को नहीं समझ पाते कि यह हमारे बंधन का कारण है। यह शरीर के अहंकार का चरखा, भोग-वासनाओं का चरखा, राग-द्वेष का चरखा, संसार के राग-रंग का चरखा, मन को कहीं भी बाहर भटकाने का चरखा यदि दुखरूप समझ में आ जाये तो जीव अवश्य इस चरखे से अलग हो जाये, वह आज ही परम शांतिपद में प्रतिष्ठित हो जाये तथा आगे सदैव के लिए कृतार्थ हो जाये।

शरीर-वीणा का वादक चेतन श्रेष्ठ है

शब्द-69

जन्त्री जन्त्र अनूपम बाजे, वाके अष्ट गगन मुख गाजे॥ 1॥
तू ही बाजे तू ही गाजे, तूहि लिये कर डोले॥ 2॥
एक शब्द मों राग छतीसों, अनहद बानी बोले॥ 3॥
मुख कै नाल श्रवण कै तुम्बा, सतगुरु साज बनाया॥ 4॥
जिभ्या के तार नाशिका चरई, माया का मोम लगाया॥ 5॥
गगन मण्डल में भया उजियारा, उलटा फेर लगाया॥ 6॥
कहहिं कबीर जन भये विवेकी, जिन जन्त्री सो मन लाया॥ 7॥

शब्दार्थ—जन्त्री=यंत्री, बाजा बजाने वाला, चेतन। जन्त्र=यंत्र, वीणा, बाजा। अनूपम=अनुपम, विलक्षण। अष्ट=आठवां सुरति कमल, जो खोपड़ी

में सबसे ऊपर माना है। गगन=खोपड़ी का आकाश। मुख=द्वार। गाजे=गर्जन करना, ध्वनि होना। अनहद=अनाहतनाद, बेहद। नाल=डण्डी, वीणा की लम्बी डण्डी। तुम्बा=लौकी का खोल, जो वीणा में दोनों तरफ लगा रहता है। चरई=खूंटी, जिसमें तार कसे रहते हैं। माया=चाम। गगन मण्डल=ब्रह्माण्ड, खोपड़ी। जन्त्री=चेतन।

भावार्थ—हे वीणावादक चेतन! यह तेरी शरीर-वीणा अद्‌भुत बज रही है। इस वीणा के सर्वोच्च शिखर आठवें सुरतिकमल के द्वार के आकाश पर निरन्तर गर्जना हो रही है॥ 1॥ यह वीणा तो जड़ है, वस्तुतः तू चेतन ही इसे बजा रहा है, इसलिए मानो तू ही बज रहा है, तू ही गर्जना कर रहा है, तू ही मानो इस शरीर-वीणा को अपने हाथों में लेकर घूम रहा है और एक शब्द में छत्तीस प्रकार की रागिनियों को ध्वनित करते हुए निस्सीम वाणियां बोल रहा है॥ 2-3॥ इस तेरी शरीर-वीणा के अवयव इस प्रकार हैं—मुख की डंडी है, दोनों कान के तुम्बे हैं, जीभ का तार है, नाक की खूंटी है और चाम का मानो मोम लगा है। सद्‌गुरु ही इस साज को संवारकर इसका अच्छा उपयोग करने की युक्ति बताता है॥ 4-5॥ जब योगी नीचे मूलाधार से सुषुम्णा को, कुण्डलिनी जागृत कर और सातों चक्रों को वेधकर, ऊपर सुरति-कमल में ले जाता है तो यही मानो उलटा फेर लगाना है और तब गगन-मण्डल एवं सुरतिकमल में प्रकाश हो जाता है और योगी उसी में तन्मय हो जाता है॥ 6॥ कबीर साहेब कहते हैं कि विवेकी तो वे जन हैं जो इस वीणायन्त्र और इसके कार्य में न रमकर वीणावादक यन्त्री चेतन में अपने मन को लीन करता है॥ 7॥

व्याख्या—रूपकों तथा अलंकारों में अपनी बातें कहने में प्रवीण कबीर देव ने इस शब्द में शरीर को वीणा के रूप में प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं कि यह शरीर मानो एक वीणा है। इसमें मुख डण्डी है, कान दोनों तरफ लगे तुम्बे हैं, जीभ तार है, नाक खूंटी है और मोम की जगह पर चाम लगा है। "माया का मोम लगाया" यह चाम ही तो माया बना हुआ रहता है। इसी को तो देख-देखकर आदमी रीझता रहता है। इसलिए "माया का मोम लगाया" का अर्थ है कि वीणा के कुछ अवयवों को चिपकाने के लिए जो मोम की आवश्यकता होती है वह मानो माया है, वह चाम है। यह चाम ही तो शरीर-वीणा के अंगों को एक में चिपकाकर व्यवस्थित रखता है। यह शरीर-वीणा अद्‌भुत बजती है। ऐसी वीणा न आज तक बनी है और न शायद आगे ही बनने की संभावना है। परन्तु सद्‌गुरु कहते हैं कि हे वीणावादक चेतन! यह सब तेरी महिमा है। वीणा भला स्वयं कहीं बजती है! यदि उसका बजाने

वाला न हो तो वह ध्वनिरहित पत्थरवत पड़ी रहेगी। विशेषता तो बजाने वाले की है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि हे चेतनदेव! तू महान है, तू ही इस वीणा को बजा रहा है। तू ही इसे लेकर घूम रहा है और एक शब्द में छत्तीस रागिनियां छेड़ रहा है। शब्द तो एक ही है, उसमें छह राग तथा छत्तीस रागिनियां हैं। वे इस प्रकार हैं—

1. श्रीराग—मालश्री, त्रिवेणी, गौरी, केदारी, मधुमाधवी तथा पहाड़ी।

2. वसंतराग—देशी, देवगिरि, वैराटी, टौरिका, ललित तथा हिण्डोला।

3. पंचमराग—विभास, भूपाली, कर्णाटी, पटहंसिका, मालवी तथा पटमंजरी।

4. भैरवराग—भैरवी, बंगाली, सेंधवी, रामकली, गुर्जरी तथा गुणकरी।

5. मेघराग—मल्लारी, सैरिटी, सावेरी, कैशिकी, गांधारी तथा हरश्रृंगार।

6. नटनारायण राग—कामोदी, कल्याणी, आभीरी, नाटिका, सरंगी तथा हम्मीरी।

इसके अतिरिक्त दूसरे भेदों से भी इसका वर्णन मिलता है।

उक्त छह राग तथा छत्तीस रागिनियों की कल्पना कर इनका वर्गीकरण करने वाला तथा इनका उपयोग करने वाला चेतन ही है। यदि इस शरीर-वीणा का बजाने वाला चेतनदेव एवं आत्मदेव न हो तो यह बेकार हो जाये। "अनहद बानी बोले" अनहद, बेहद एवं बेशुमार वाणियों को बोलने वाला भी तू ही है। तू ही ने वेद बोले, शास्त्र बोले, बाइबिल तथा कुरान बोले, तू ही ने ज्ञान-विज्ञान की असीम वाणियां बोलीं। इस विराट विश्व में चेतन ही की सर्वोच्च महत्ता है। यदि भोक्ता चेतन न होता तो भोग्य जड़ वस्तुओं का क्या मूल्य होता! यदि फूलों की सुगंधी ग्रहण करने वाला कोई चेतन प्राणी न हो तो फूलों का क्या प्रयोजन! इस सृष्टि में चेतन ही तो सम्राट है। चेतन के उपयोग के लिए ही जड़-विश्व है। साहेब कहते हैं कि हे चेतन! तुम्हारा ही सर्वोच्च महत्त्व है।

"सतगुरु साज बनाया" इस शरीर-वीणा का साज सद्गुरु ने बनाया है। यहां बनाया का अर्थ निर्मित करना नहीं है। शरीर तो जीव के कर्म-वासनावश माता-पिता के संयोग से बनता है। उसके कारण प्रकृति में निहित हैं। यहां "सतगुरु साज बनाया" का अभिप्राय है कि सद्गुरु इस शरीर-वीणा को बजाने का कायदा बताता है। वीणा रखी हो, परन्तु यदि उस्ताद उसका भेद न बताये तथा बजाने का कायदा न बताये तो वीणा ठीक से नहीं बजायी जा सकती। इस प्रकार शरीर तो बहुत जीवों को मिले हैं, परन्तु वे सब इनका

अच्छा उपयोग कहां कर पा रहे हैं ! जब सद्‌गुरु मिलते हैं और इस शरीर का भेद तथा इसका सही उपयोग करने की बातें बताते हैं तभी यह सार्थक होता है। अतएव इस शरीर-वीणा का वादन कैसे करना चाहिए इसका भेद सद्‌गुरु ही बताते हैं। इसलिए मानो सद्‌गुरु ने ही इस वीणा-साज को बनाया है, सार्थक किया है।

"गगन मण्डल में भया उजियारा, उल्टा फेर लगाया।" तथा "अष्ट गगन मुख गाजे" इस पर थोड़ा विचार कर लें। यह सब हठयोग की प्रक्रिया है। कबीर साहेब ने तो हठयोग भी साधा था, पीछे उसे सारहीन जानकर छोड़ दिया था। परन्तु उसका उन्हें अनुभव था। हठयोगियों द्वारा कल्पित, शरीर में छह चक्र हैं—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि तथा आज्ञा। इसके ऊपर दो चक्र और मानते हैं—सहस्त्रसार तथा सुरतिकमल। यह सुरतिकमल आठवां चक्र है जो सिर में सबसे ऊपर है। हठयोगी लोग सुषुम्णा को नीचे मूलाधार से उठाकर सभी चक्रों को पार करते हुए सबसे ऊपर आठवें सुरतिकमल में ले जाते हैं। यही "उल्टा फेर लगाया" का अर्थ है। अर्थात नीचे से उलटकर सुषुम्णा को ऊपर ले जाते हैं। जब सुषुम्णा ऊपर आठवें सुरतिकमल में पहुंचती है, तब वहां प्रकाश हो जाता है। यही गगनमण्डल में उजियारा होना है। यहीं आठवें सुरतिकमल के द्वार पर गगन में अनाहतनाद की गर्जना होती है, यही "अष्ट गगन मुख गाजा" का अभिप्राय है। हठयोगी इन्हीं शब्द और ज्योति के श्रवण-दर्शन में तन्मय हो जाता है।

जैसा कि ऊपर निवेदन किया गया है कि सद्‌गुरु कबीर ने इसका अनुभव किया था, परन्तु इसे जड़ दृश्य-भास समझकर इसका त्याग कर दिया था। वे स्वत: चेतनस्वरूप की स्थिति में रम गये थे और उन्होंने अन्य जिज्ञासुओं को उसका रास्ता बताया था जिसे इस शब्द की अंतिम पंक्ति में यहां भी वे कहते हैं "कहहिं कबीर जन भये विवेकी, जिन जन्त्री सो मन लाया।" सद्‌गुरु विवेक को महत्त्व देते हैं। विवेक है जड़-चेतन, देह-देही तथा द्रष्टा-दृश्य का पृथक्करण। यह जीव द्रष्टा है यह दृश्य को देखता है, यह श्रोता है शब्द को सुनता है। दृश्य और शब्द से द्रष्टा और श्रोता श्रेष्ठ होता है। दृश्य और शब्द दोनों जड़ हैं, उनका द्रष्टा एवं श्रोता जीव चेतन है। यह चेतन ही यन्त्री है, जो इस शरीर यन्त्र (वीणा) को बजाता है, इसलिए सद्‌गुरु कहते हैं कि वही विवेकी है जो शरीर-वीणा तथा उसके कार्यों में आसक्त नहीं होता, शरीर के कार्य दृश्य एवं शब्दों में नहीं रमता, किन्तु अपने मन को अपने चेतनस्वरूप में लगाता है। सद्‌गुरु कहते हैं कि तुम शब्द को सुनते हो, तुम्हें शब्द नहीं सुनते तथा तुम दृश्यों को देखते हो, दृश्य तुम्हें नहीं देखते। अतएव जड़ दृश्य

ज्योति एवं शब्दों के द्रष्टा, साक्षी एवं श्रोता तुम उनसे श्रेष्ठ एवं महान हो। तुम जड़ के कार्यों में न रमकर अपने चेतनस्वरूप में रमो। विवेकी वही है जो यन्त्र में नहीं, यन्त्री में मन लगाता है, वीणा में नहीं, वीणावादक में मन लगाता है एवं दृश्यों में नहीं निजस्वरूप चेतन में रमता है!

जीव-वध और मांसाहार त्याज्य है

शब्द-70

जस मास पशु की तस मास नर की, रुधिर रुधिर एक सारा जी॥ 1॥
पशु की मास भखें सब कोई, नरहिं न भखें सियारा जी॥ 2॥
ब्रह्म कुलाल मेदनी भइया, उपजि बिनशि कित गइया जी॥ 3॥
मास मछरिया तै पै खइया, ज्यों खेतन में बोइया जी॥ 4॥
माटी के करि देवी देवा, काटि काटि जिव देइया जी॥ 5॥
जो तोहरा है साँचा देवा, खेत चरत क्यों न लेइया जी॥ 6॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, राम नाम नित लेइया जी॥ 7॥
जो कछु कियहु जिभ्या के स्वारथ, बदला पराया देइया जी॥ 8॥

शब्दार्थ—एक सारा=एक समान। ब्रह्म=ब्रह्मा। कुलाल=कुम्हार। मेदनी=पृथ्वी। भइया=हुआ।

भावार्थ—जैसा मांस पशु का होता है वैसा ही मनुष्य का होता है। दोनों के रक्त भी एक समान होते हैं॥ 1॥ पशु का मांस तो सभी मांसाहारी खा जाते हैं; परन्तु मनुष्य का मांस सियार भी नहीं खाते॥ 2॥ लोकधारणानुसार पृथ्वी पर ब्रह्मा-जैसे कुम्हारवत सृष्टि-रचयिता हो गये, परन्तु वे भी उत्पन्न होकर और मिटकर कहां गये, कोई नहीं जानता। फिर तुम्हारी क्या बिसात है जो देह को मजबूत करने के भ्रम में मांस-मछली को उसी प्रकार खा जाते हो जैसे मानो तुमने उसे खेत में बो रखा था॥ 3-4॥ मिट्टी-पत्थर के देवी-देवता बना लेते हो और उनकी पूजा के नाम पर प्राणियों को काट-काटकर चढ़ा देते हो; परन्तु यदि तुम्हारे देवता सच्चे हैं, और मांस खाने के भूखे हैं तो मैदान में चरते हुए पशु-पक्षियों को पकड़कर क्यों नहीं खा जाते!॥ 5-6॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो! सुनो, संसारी लोग राम-नाम तो रोज जपते हैं, परन्तु प्रति घट रमने वाले राम पर दया करना नहीं जानते। जिनमें राम रमता है उन्हीं को काट डालते हैं। परन्तु हे संसार के लोगो, ध्यान दो, तुम जीभ-स्वाद के स्वार्थ में पड़कर जो कुछ हिंसा-हत्या करोगे, उसका बदला तुम्हें एक दिन देना पड़ेगा॥ 7-8॥

व्याख्या—मनुष्य मनुष्य के मांस को घृणित समझता है। उसे समझना चाहिए कि पशु, पक्षी, मछली आदि का भी मांस उसी तरह घृणित होता है। आदमी का दांत उखड़ जाये तो वह उसे अपने मुख में लिये नहीं रख सकता। इसी प्रकार असावधानी से अपने दांतों से अपने ओष्ठ का मांस कट जाये तो उसे वह न खा पायेगा और न तो अपने मुख में लिये रह पायेगा, किन्तु तुरंत उगल देगा। परन्तु वही मनुष्य पशु, पक्षी, कृमि आदि के हाड़-मांस को अपने मुख में रखकर बड़े आस्वादनपूर्वक जीमता है। यह कैसा पागलपन है !

"नरहिं न भखें सियारा जी" मनुष्य का मांस सियार भी नहीं खाते। कहते हैं कि सियार मनुष्य का मांस काट भले दें, परन्तु खाते नहीं। कुछ लोग कहते हैं कि चाव से नहीं खाते। यदि खाते हैं तो थोड़ा खाते हैं। साहेब कहते हैं कि सबका मांस घृणित है, अतः किसी का मांस नहीं खाना चाहिए। जैसे मनुष्य का मांस गंदा है वैसे पशु आदि का भी।

लोग मिट्टी-पत्थर के देवी-देवता बना लेते हैं, उन निर्जीव पिंडियों के सामने सजीव की हत्या करते हैं और कहते हैं कि हम देवता को प्रसाद अर्पित कर रहे हैं। लोग देवता, देवी, ईश्वर, अल्लाह के नाम पर जीव-वध करते हैं। भला, यदि देवादि सच्चे हैं और मांस खाने की उन्हें आदत है तो एक दिन तो पता चलना चाहिए कि वे अमुक जगह अमुक पशु-पक्षी को पकड़कर खा गये हैं। वस्तुतः मनुष्य अपने जीभ-स्वादवश कल्पित देवी-देवताओं का आधार लेता है और उनकी पूजा के नाम पर अपना स्वाद पूरा करता है। ऐसे लोग उदाहरण देते हैं—"ब्रह्मा ने यज्ञों में बलि चढ़ाने के लिए पशुओं को स्वयं बनाया है और यज्ञ संपूर्ण संसार की उन्नति के लिए है, इसलिए यज्ञ में पशु का वध, वस्तुतः वध नहीं है।"[1] यह सब घोर अज्ञान का फल और जंगलीपन है। देवता और ईश्वर किसी मासूम प्राणी की हत्या करने पर प्रसन्न होते हैं, यह धारणा अत्यन्त अज्ञानपूर्ण है। यज्ञ में संसार का कल्याण तो कुछ नहीं है, हां, पुरोहितों का स्वार्थ जरूर सधता है। यज्ञ केवल पुरोहितों का पेटधंधा है।

कितने लोग खूब राम-नाम जपते हैं, पूजा करते हैं, गायत्री जपते हैं, परन्तु मांस-मछली खाये बिना नहीं रह सकते। साहेब कहते हैं कि अपने किये का बदला तो देना ही पड़ेगा। जो दूसरे का सिर काटेगा, उसका सिर एक दिन काटा ही जायेगा। अपनी करनी का फल सभी जीवों को भोगना

---

1. यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा।
यज्ञश्च भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥ (मनु० 5/39)

पड़ता है चाहे देर हो या सबेर। जबान से राम-नाम जप भजन नहीं है, किन्तु सब घटों में राम का वास समझकर सब पर दया एवं प्रेम का व्यवहार करना सच्चा भजन है।

ढूंढो मत ठहरो

(षटकर्मों का वर्णन)

शब्द-71

चातृक कहाँ पुकारो दूरी, सो जल जगत रहा भरपूरी॥ 1॥
जेहि जल नाद बिन्द को भेदा, षट कर्म सहित उपानेउ वेदा॥ 2॥
जेहि जल जीव शीव को बासा, सो जल धरणी अमर परकासा॥ 3॥
जेहि जल उपजल सकल शरीरा, सो जल भेद न जानु कबीरा॥ 4॥

शब्दार्थ—चातृक=चातक, पपीहा, हलके काले रंग का एक प्रसिद्ध पक्षी जो वसंत और वर्षा ऋतु में मीठे बोल बोला करता है, इसकी बोली में 'पी कहां-पी कहां' की लोग कल्पना करते हैं। कहते हैं कि यह केवल स्वाति नक्षत्र में बरसे हुए पानी को पीता है, बाकी समय बादल की तरफ देखते हुए पुकारता रहता है। जल=पानी, तृप्ति, चेतन। नाद=शब्द। बिन्द=बूंद, वीर्य। षटकर्म=अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान तथा प्रतिग्रह। जीव= सामान्य जीव। शीव=शिव, कल्याणरूप, कृतार्थरूप। अमर=अविनाशी।

भावार्थ—हे चातक ! तू अपना लक्ष्य दूर समझकर कहां पुकार रहा है ! तू जिस जल को दूर समझ रहा है वह तो पृथ्वी पर जगह-जगह पूरी तरह भरा हुआ है। इसी प्रकार हे मनुष्य ! तू परम तृप्ति के आश्रय को दूर समझकर बाहर कहां पुकार रहा है ! वह तृप्तिकारक साधन तो इस संसार में ही परिपूर्ण है॥ 1॥ परम तृप्तस्वरूप तेरी अपनी आत्मा ही है। तेरा चेतनस्वरूप ही वह स्वच्छ जल है जिससे तू सदैव के लिए तृप्त हो सकता है। इस चेतन ही ने वीर्य-शक्ति से शरीर का निर्माण किया है और शब्द-शक्ति से अध्ययन-अध्यापनादि षटकर्मों के सहित चारों वेदों की रचना की है। यही नाद-बिन्द भेद से चैतन्य सृष्टि है॥ 2॥ इस चेतन-जल में ही जीव और शिव का वास है। अर्थात यह चेतन ही जब तक अबोध है जीव है और जब अपने स्वरूप को पहचानकर स्थित हो गया तब यही शिव है। यह शीतल चेतन-जल इस पृथ्वी पर अविनाशीरूप से प्रसिद्ध है और अपना ज्ञान फैला रहा है॥ 3॥ जिस चेतन से सारे शरीरों की उत्पत्ति होती है, उसी का रहस्य व्यक्ति नहीं जानता, यही उसके भटकाव का कारण है॥ 4॥

व्याख्या—"चातृक कहाँ पुकारो दूरी, सो जल जगत रहा भरपूरी।" कवि लोग अपनी बातों को समझाने के लिए नयी-नयी कल्पना कर लेते हैं।

कवि मानते हैं कि चातक पक्षी केवल स्वाति-नक्षत्र में बरसे हुए पानी को पीता है, शेष समय तो वह आकाश की तरफ देखता रहता है और 'पी कहां-पी कहां' रटता रहता है। साहेब कहते हैं कि हे चातक ! तुम दूर कहां पुकार रहे हो? न तो आकाश में कहीं कोई पीव बैठा है और न जल के लिए ही आकाश देखते रहने की आवश्यकता है। तू प्यासा है, जल पीना चाहता है, तो वह जल जगत में इस पृथ्वी पर नदी-तालाबों में परिपूर्णरूप से भरा है, उनमें से पीकर तृप्त हो जा ! यह तो उदाहरण मात्र है।

यहां तो मनुष्य की तरफ संकेत है। यह मनुष्य चातक है। यह आकाश की ओर हाथ उठाकर और अपनी दृष्टि गड़ाकर पुकारता है कि हे भगवान ! हमारा उद्धार करो, हमें परम शांति दो। आकाश की विशालता में उसे आशा होती है कि वहां कहीं अमृत की धारा होगी, वहां कहीं परमशांति का आश्रय परमात्मा होगा। साहेब कहते हैं कि हे मनुष्य, यह तेरी भूल है। "चातृक कहाँ पुकारो दूरी" दूर कहां पुकार रहे हो ! जिस जल, जिस अमृत, जिस परम शांति के आश्रय को तुम आकाश में मान रहे हो वह वहां नहीं है, वह तो इस जगत में ही है। तुम सारी इच्छाओं को छोड़कर इस संसार में जीना सीखो तो देखोगे कि तुम्हारे लिए सारा संसार आनन्द दे रहा है। तुम अपने मन, वाणी तथा इन्द्रियों की बुराइयों को सर्वथा छोड़ दो, तुम अपनी विषय-इच्छाओं को मिटा दो, तुम अपने आप को बाहर से मोड़कर भीतर आ जाओ, देखोगे सारा संसार तुम्हारे लिए मानो अमृत बरसा रहा है। जिस सुख की आशा तुम आकाश से, दूसरे लोक-लोकांतरों से करते हो, वह सुख इसी संसार में तुम्हें मिल सकता है। लोकांतर सुख तो काल्पनिक है। मनुष्य की यही सबसे बड़ी भूल है कि वह जहां रहता है वहां न संतुष्ट होकर दूसरी जगह से संतुष्ट होने की आशा करता है। यदि हम वर्तमान में संतुष्ट नहीं हैं, तो भविष्य में संतुष्ट होने की क्या आशा है। यदि हम प्राप्त परिस्थिति में तृप्त नहीं हैं तो कभी तृप्त नहीं हो सकते। हम स्वर्ग या मोक्ष की कल्पना अपनी आत्मा से अलग करते हैं, जहां हैं वहां से दूर करते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि तुम अपनी आत्मा को पहचानो, उसमें रमो, बस, इसी संसार में मोक्ष है, स्वर्ग है।

इस शब्द में परम सुख एवं परमशांति के लिए जल शब्द का प्रयोग किया गया है, साथ ही चेतनतत्त्व के लिए भी जल शब्द का प्रयोग है। जल स्वभाव से ही शीतल होता है। साहेब कहते हैं कि शीतलता तुम्हारा स्वभाव ही है। तुम्हारा चेतनस्वरूप शुद्ध है, शीतल है, सारे ज्ञान-विज्ञान का कारण है और सृष्टि में महत्तम तत्त्व है। तुम अपने आप को पहचानो। तुम जिस जगत में रह रहे हो उसको तुच्छ मत समझो। इसी जगत में रहकर, इसी शरीर द्वारा अपने

शुद्धस्वरूप चेतनदेव का साक्षात्कार होगा। इसी राग-द्वेष तथा धूल-धड़क्के भरे संसार तथा हाड़-चाम के ढांचे शरीर में रहते-रहते तुम्हें अमृतबोध मिलेगा। तुम इस संसार से अलग दिव्य लोक का स्वप्न मत देखो। यह तुम्हारा जगत दिव्य लोक है, बशर्ते तुम अपनी इच्छाओं को जीत लो, वासनाओं को छोड़ दो, अपने स्वरूप को पहचान लो। पूरे संसार को निर्दोष एवं अमृत नहीं बना सकते हो, परन्तु यदि तुम निर्दोष हो जाओ तो तुम्हारे लिए मानो पूरा संसार निर्दोष तथा अमृत हो जायेगा। तुम स्वयं अपने अमृतस्वरूप को पहचान लिये, उसमें रम गये, बस तुम अमृत हो, इसी संसार में रहकर तृप्त हो।

"जेहि जल नाद बिन्द को भेदा, षटकर्म सहित उपानेउ वेदा।" इसी चेतन सत्ता से नाद-बिन्द के भेद से चैतन्य सृष्टि पैदा होती है। यहां जल शब्द चेतन के लिए व्यवहृत समझ लो, अतएव जल शब्द हटा दो, चेतन ले लो। यह चेतन ही अपनी सत्ता से नाद और बिन्द इन दो सृष्टियों की उत्पत्ति करता है। नाद कहते हैं शब्द को। शब्द-शक्ति मानव में ही विकसित है। इसने अपनी नाद-शक्ति अर्थात शब्द-शक्ति से वेदादि समस्त शास्त्रों की रचना की है और यह माना है कि पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना तथा दान देना और लेना ये ब्राह्मणों के षटकर्म हैं।[1] स्नान, संध्या, पूजा, तर्पण, जप तथा होम—ये भी ब्राह्मणों के लिए नित्य षटकर्म माने जाते हैं। आगम तंत्र के अनुसार शांति, वशीकरण, स्तंभन, विद्वेष, उच्चाटन और मारण[2]—ये षटकर्म कहलाते हैं। रोग, कृत्या,[3] ग्रह आदि का निवारण 'शान्ति' कहलाता है। सेवा करके सबको वश में कर लेना 'वशीकरण' है। सबकी प्रवृत्ति को रोक देना 'स्तंभन' है। मित्रों में क्लेश उत्पन्न करना 'विद्वेष' है। अपने देश से उखाड़ उत्पन्न करना 'उच्चाटन' है। प्राणियों का प्राण हरण कर लेना 'मारण' है। रति, वाणी, रमा, जेष्ठा, दुर्गा और काली इनके क्रमशः देवता माने गये हैं। तांत्रिक लोग इनकी सिद्धि करने का पाखण्ड करते हैं। हठयोग के षटकर्म हैं—धौति, वस्ति, नेति, नौलिकी, त्राटक और कपालभाति।[4]

---

1. इज्याध्ययनदानानि याजनाध्यापने तथा।
   प्रतिग्रहश्च तैर्युक्तः षट्कर्मा विप्र उच्यते॥
2. शान्ति-वश्य-स्तम्भनानि विद्वेषोच्चाटने ततः।
   मारणान्तानि शंसन्ति षट्कर्माणि मनीषिणः॥ (हिन्दूधर्म कोश)
3. मन्त्र प्रयोग से किसी को मारने के लिए एक शक्ति पैदा करने की कल्पना की जाती है, इसे कृत्या कहते हैं।
4. धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिर्नौलिकी त्राटकं तथा।
   कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत॥ (घेरंड संहिता 1/12)

1. **धौति**—मुख से वायु खींचकर तथा पेट में फिराकर पुनः मुख से निकाल देना, कंठ तक पानी पीकर तथा पेट में फिराकर गुदा से निकाल देना, पेट की नाभि को सिकोड़कर पीठ की हड्डी से सटा देना, सूखी मिट्टी आदि से दांतों को सुबह-शाम रगड़कर खूब धोना, हाथ की उंगलियों से जीभ के मूल तक रगड़कर खूब धोना तथा रोज मक्खन जीभ में लगाकर उसको धीरे-धीरे बढ़ाना, फिर जीभ के अग्रभाग को लोहे के चिमटा से पकड़कर धीरे-धीरे खींचना, इससे जीभ बढ़ जाती है, उंगलियों से कानों को नित्य साफ करना, प्रतिदिन गले के भीतर के कौवे को अंगूठे से धोना, चिकने बेल के दंडे को मुख से हृदय तक डालकर धीरे से बाहर निकालना, खूब पानी पीकर उसका वमन कर देना—ये सब धौति कर्म में आते हैं, परन्तु मुख्य है महीन कपड़े को, जो चार अंगुल चौड़ा तथा कम-से-कम पांच हाथ लम्बा हो, मुख से निगलकर निकालना, इस क्रिया में कपड़े का एक सिरा हाथ से पकड़े रहते हैं और निगलकर आंती को साफ करते हैं।

2. **वस्ति**—पेट तक पानी में बैठकर गुदाद्वार सिकोड़ना-फैलाना तथा जमीन पर भी बैठकर सिकोड़ना-फैलाना।

3. **नेति**—सूत नाक में डालकर मुख से निकालना।

4. **नौलिकी**—पेट को वेगपूर्वक दोनों तरफ घुमाना।

5. **त्राटक**—किसी छोटी चीज पर नेत्र गड़ाकर उसे तब तक अपलक देखना जब तक आंसू न गिरे।

6. **कपालभाति**—यह तीन प्रकार का होता है—वातक्रम, व्युत्क्रम तथा शीतक्रम। ईडा (नाक के बायें छेद) से वायु धीरे-धीरे खींचकर छाती में भरना तथा पिंगला (नाक के दायें छेद) से उसे धीरे-धीरे निकालना, इसी प्रकार दायें से भरकर बायें से निकालना—वातक्रम कपालभाति है। दोनों नाकों से पानी पीकर मुख से गिराता जाये तथा मुख से पीकर नाक से गिराता जाये—यह व्युत्क्रम कपालभाति है। मुख से शीत्कार कर अर्थात सुर-सुर कर पानी पीना और दोनों नाकों से गिरा देना—शीतक्रम कपालभाति है। यह सब घेरंड संहिता के प्रथम उपदेश में वर्णित है। इनका फल शरीर-शुद्धि तो माना ही है, इनसे रोग, बुढ़ापा, मृत्यु का भी दूर हो जाना माना है और सुन्दरता तथा देवदेह का पाना भी माना है। वस्तुतः ये षटकर्म हठयोग के लिए आवश्यक होते हैं। बिना योग्य गुरु के यह सब नहीं करना चाहिए। वैसे भी प्रायः इनकी आवश्यकता नहीं है।

षटकर्म के और भी जितने रूप हैं सब चेतन मानव द्वारा ही कल्पित किये गये हैं। सारे वेद तथा शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छंद, ज्योतिष और व्याकरण छह वेदांग एवं विश्व के सारे शास्त्रों की रचना मनुष्य के नाद से एवं शब्द से

ही हुई हैं। बिंद से अर्थात वीर्य से जीव की सत्ता द्वारा देहों की रचना होती है। यही नाद-बिंद का भेद है। जीव की सत्ता से बिंद द्वारा देहों की सृष्टि होती है तथा नाद द्वारा शास्त्रों एवं समस्त ज्ञान-विज्ञान की सृष्टि होती है। दोनों सृष्टियों में चेतन का ही महत्त्व है जिसके लिए इस शब्द में लाक्षणिक शब्द जल कहा गया है।

"जेहि जल जीव शीव को बासा, सो जल धरणी अमर परकासा।" जिस जल में जीव और शिव दोनों का निवास है वह जल इस धरती पर अमर रूप से प्रकट है। जल तो लाक्षणिक शब्द हुआ, मुख्य अर्थ है चेतन। एक चेतन सत्ता में ही जीव और शिव दोनों हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि एक चेतन सर्वत्र व्याप्त है और जीव-शिव दोनों उसके प्रतिबिंब हैं। इस उलझी हुई तथा असंभव बात की यहां चर्चा नहीं है। जब एक अखंड चेतन सर्वत्र रहेगा तब वहां जीव, शिव, जगत कुछ कैसे रह सकता है ! यदि एक अखंड वस्तु सर्वत्र व्याप्त हो तो दूसरी सत्ता का रहना संभव ही नहीं है। अतएव यहां का अभिप्राय है कि जीव नाना हैं, परन्तु सभी का लक्षण एक चैतन्य है। सभी जीवों का लक्षण एक चैतन्य होने से सबमें चैतन्यता एक समान है, किन्तु सबका व्यक्तित्व अलग-अलग है। यह प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है। इन्हीं चेतन जीवों में कोई जीव है तथा कोई शिव है। जो अपने स्वरूप को नहीं पहचान सका है वह जीव है और जिसने अपने स्वरूप को पहचान लिया है, जड़-वासनाओं का त्याग कर दिया है और जिसकी अपने स्वरूप में स्थिति हो गयी है, वह शिव है, कल्याणरूप है। श्री विशाल साहेब के वचनों में "अवश्य होय भव पार वह, पार जो समझे जीव। केवल निश्चय क्षीण है, निश्चय पलटि सो शीव।"[1] पारखी संत मानते हैं कि जब जीव गुरु हो जाता है तब पूर्ण हो जाता है। इसीलिए वे जीवमुख की बात न मानकर गुरुमुख की बात मानते हैं। यह गुरु हो जाना, शिव हो जाना एक ही बात है। दोनों का अर्थ है जगत से निष्काम होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाना। इस प्रकार मूलतः एक ही प्रकार के चेतन में कोई जीव है और कोई शिव है। ऋग्वेद की भाषा में कोई पक्षी फल खाता है और दुखी है तथा कोई पक्षी केवल देखता है इसलिए शोकरहित है।[2] एक जीव विषयों में उलझा है इसलिए शोकित है, दूसरा केवल उसका द्रष्टा है, उससे अलग है, इसलिए चिंताहीन है। यही तो जीव-शिव का भेद है। दोनों में मौलिक भेद नहीं है, किन्तु अबोध-बोध एवं तज्जन्य स्थिति का भेद है।

---

1. भवयान, साखी सुधा, साखी 16।
2. ऋग्वेद 1/164/20।

"सो जल धरणी अमर परकासा" यही अमर चेतन इस धरती पर अपना ज्ञान फैला रहा है। इस धरती पर जहां कहीं कुछ ज्ञान का विस्तार है वह किसकी विभूति है? वह सब इसी चेतन की है। इस संसार में जड़ और चेतन दो सत्तों हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा, तारे, समुद्र, पर्वत, नदी, झरने, वृक्ष, वनस्पति, सब जड़ का पसारा है। इससे भिन्न चारों खानियों की देहें, कला-कौशल तथा समस्त ज्ञान-विज्ञान जड़ का संयोग लेकर चेतन की महिमा है। "सो जल धरणी अमर परकासा।" यही अविनाशी चेतन इस धरती पर अपनी ज्ञान-रश्मियां फैला रहा है। अनन्त विश्व-ब्रह्मांड में कहीं भी ज्ञान-विज्ञान होगा वह सब चेतन की ही कला होगी।

"जेहि जल उपजल सकल शरीरा, सो जल भेद न जानु कबीरा।" साहेब कहते हैं कि जिस चेतन की सत्ता से सारे शरीरों की उत्पत्ति होती है उस चेतन के रहस्य को लोग नहीं जानते इसीलिए वे आकाश में दूर पुकारते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि हे चेतन मनुष्य ! तू अपने स्वरूप को समझ ! तू चेतन है, अमर है, सारे ज्ञान-विज्ञान तेरी देन है, वेद-शास्त्र सब तेरी रचना है। तू अपने आप में पूर्ण है, महान है। तू स्वयं तृप्तस्वरूप है। जगत-इच्छाओं को छोड़ देने के बाद तू स्वयं आनंदकंद है। तू दूर कहां पुकार रहा है ! तेरे अलावा तेरा क्या है ! तू परमात्मा का परमात्मा एवं परमानंद का परमानंद है। तू अपने आप को समझकर अपने आप में तृप्त हो जा, अपने आप में स्थित हो जा। तुम्हें बाहर से कुछ पाना नहीं है। "चातृक कहाँ पुकारो दूरी" दूर क्या पुकार रहा है ! जिसे तू पुकार रहा है, वह स्वयं तू ही है !

देहाभिमान छोड़कर राम- भजन करो

शब्द-72

चलहु का टेढ़ो टेढ़ो टेढ़ो॥ 1॥
दशहूँ द्वार नरक भरि बूड़े, तू गन्धी को बेड़ो॥ 2॥
फूटे नैन हृदय नहिं सूझे, मति एकौ नहिं जानी॥ 3॥
काम क्रोध तृष्णा के माते, बूड़ि मुये बिनु पानी॥ 4॥
जो जारे तन भस्म होय धुरि, गाड़े किरमिटी खाई॥ 5॥
सीकर श्वान काग का भोजन, तन की इहै बड़ाई॥ 6॥
चेति न देखु मुग्ध नर बौरे, तोहि ते काल न दूरी॥ 7॥
कोटिन यतन करो यह तन की, अन्त अवस्था धूरी॥ 8॥
बालू के घरवा में बैठे, चेतत नाहिं अयाना॥ 9॥
कहहिं कबीर एक राम भजे बिनु, बूड़े बहुत सयाना॥10॥

शब्दार्थ—दशहूँ द्वार=दो नाक, दो कान, दो नेत्र, मुख, गुदा, शिश्न तथा एक छिद्र खोपड़ी के तालु में माना है। गन्धी=गंदगी। बेड़ो=जहाज। किरमिटी=कीड़े तथा मिट्टी। सीकर=सियार। मुग्ध=विमोहित। अयाना= भोला, अज्ञानी। सयाना=शास्त्रज्ञानी।

भावार्थ—अहंकार में भरकर क्या टेढ़े-टेढ़े चलते हो!॥ 1॥ नेत्र-कर्णादि दसों दरवाजे तो नरक भरकर डूबे हैं। तू यह शरीर नरक का जहाज लेकर ही तो घूम रहा है॥ 2॥ तेरे बाहर के नेत्र फूटे हैं और भीतर हृदय से भी नहीं सूझता, तेरे में थोड़ी भी सद्बुद्धि नहीं आयी॥ 3॥ तू काम, क्रोध और तृष्णा से उन्मत्त होकर बिना पानी के संसार में डूब मरा॥ 4॥ मृत शरीर जला देने पर राख एवं धूल हो जाता है, गाड़ देने पर कीड़े और मिट्टी खा लेते हैं और यदि वह मैदान में पड़ा रहे तो सियार, कुत्ते और कौओं का आहार बन जाता है। तुम्हारे प्रिय माने हुए शरीर की यही विशेषता है॥ 5-6॥ हे विमोहित पागल मनुष्य! सावधान होकर देख न, मौत तुमसे दूर नहीं है। इस शरीर को सुरक्षित रखने के लिए चाहे तुम करोड़ों उपाय करो, अंतकाल में यह धूल में मिलेगा ही॥ 7-8॥ तू बालू के घर में बैठा है, तेरा शरीर क्षणभंगुर है। हे मूढ़! तू सावधान क्यों नहीं होता!॥ 9॥ कबीर साहेब कहते हैं कि एक राम के भजन बिना बहुत-से ज्ञानी कहलाने वाले भी संसार-सागर में डूब गये॥ 10॥

व्याख्या—इस शरीर से जब आत्म-उद्धार के लिए साधना की जाये तथा दूसरे की सेवा की जाये, तब इसकी सार्थकता है। यही इसकी शोभा है। परन्तु हम तो साधना एवं सेवा न कर इस देह का अहंकार करने लगते हैं। हमें इस देह का ही गर्व हो जाता है। इस देह की बनावट, अंगों का लालित्य, बल और बुद्धि का इतना अहंकार हो जाता है कि हम टेढ़े होकर चलने लगते हैं। अहंकारपूर्ण व्यवहार करना ही टेढ़े होकर चलना है।

सद्गुरु कबीर कहते हैं तुम क्या टेढ़े होकर चलते हो! जिस शरीर के घमंड में इतराकर टेढ़े होकर चलते हो उस पर विचार करो, वह क्या है! दोनों आंखों, दोनों नाकों और कानों में गंदा पानी, कीचड़ और अन्य गंदी वस्तुें भरी हैं। मुख थूक से भरा एक गड्ढा है। टट्टी-पेशाब की जगह महा अपावन है इसे कौन नहीं जानता! खोपड़ी में भी हड्डी-मज्जा आदि गंदी वस्तुओं के अलावा क्या है! पूरा शरीर ही हड्डी की एक झोपड़ी है। उसमें मल-मूत्र भरे हैं, गीला चाम लपेटा है। साहेब कहते हैं कि हे मानव! तू तो नरक का जहाज बना है। इसी नरक की पोटली पर तू अहंकार करता है। लगता है कि तेरी बाहर की आंखें फूटी हैं और भीतर की भी। तू बाहर की आंखों से देखकर ही समझ सकता है कि तू जिस पर अहंकार करता है वह

कूड़ा-कचड़ा है। जैसे तुम देखते हो कि किसी घूर पर कचड़ा पड़ा रहता है, यह तुम्हारे शरीर की सारी सामग्री उससे अधिक नहीं है। नाशवान तो ऐसा है कि पलक झपकते यह भूलुंठित हो जाता है और सदा के लिए बीत जाता है। यदि तुम्हारे पास विवेक-विचार के नेत्र होते तो तुम इस तथ्य को अवश्य समझते। परन्तु तुम्हारे ये भीतर के नेत्र फूटे हैं और मानो बाहर के भी फूट गये हैं। हम देखते हैं कि जवान-जवान लोग भी इस संसार से क्षण में उठ जाते हैं। इतना ही क्या, बड़े-बड़े धनपति, बड़े-बड़े विद्वान, बड़े-बड़े राजनेता क्षण-पल में सदैव के लिए चले जाते हैं। अवधि आने पर मौत किसी को नहीं छोड़ती। अपने जीवन की घटनाओं से इतिहास बनाने वाले दुनिया के बड़े लोगों को भी जाते देरी नहीं लगी, फिर तू किस अहंकार में भूल रहा है।

यह देहाभिमानी मनुष्य निरंतर काम, क्रोध तथा तृष्णा में मतवाला बना रहता है। इसमें काम धुरी है जिसके चारों तरफ क्रोध और तृष्णा नाचते हैं। यदि आदमी की कामना में भंग पड़ता है तो वह क्रोध से भभक उठता है और यदि कामना पूर्ण होती है तो तृष्णा की ज्वाला बढ़ जाती है। इसलिए ये क्रोध और तृष्णा काम के ही विस्तार हैं। यदि मनुष्य के मन से काम विदा हो जाये, वह विषयों की एवं सांसारिक वस्तुओं की कामना छोड़ दे तो उसके पास क्रोध तथा तृष्णा फटकेंगे भी नहीं। परन्तु मनुष्य काम का कीड़ा बना रहता है। वह आजीवन नाना विषय-कामनाओं में डूबा रहता है। स्त्री पुरुष की कामना करती है, पुरुष स्त्री की कामना करता है, फिर पुत्र की कामना, अधिक धन की कामना, प्रसिद्धि की कामना, पद-प्रतिष्ठा की कामना, विरोधियों के विध्वंस की कामना, अनुकूलों को संपन्न बनाने की कामना, कहां तक गिनाया जाये, कामनाओं की कोई गणना नहीं हो सकती। इसीलिए मनुष्य क्रोध और तृष्णा का जीवन भर शिकार बना रहता है। कामनाओं के न पूर्ण होने पर चिड़चिड़ाते, भड़भड़ाते एवं क्रोधावेश में जलते रहना और किंचित कामनाओं के पूर्ण होने पर उसकी तृष्णा में चित्त का जलते रहना, यही इस संसार-कीट मनुष्य का स्वभाव हो गया है। साहेब कहते हैं कि काम, क्रोध तथा तृष्णा में पागल हे मूढ़ मनुष्य ! तू बिना पानी के डूब मरा। कोई नदी-तालाब के पानी में डूब जाये तो स्वाभाविक लगता है, परन्तु मनुष्य तो बिना पानी के डूबता है। अपने अज्ञानपूर्ण कार्य में डूब जाना ही मानो बिना पानी के डूबना है।

हे देहाभिमानी ! तू इस तथ्य को समझ ! जिस देह का तुम्हें बड़ा घमंड है उसकी अंतिम दशा क्या होती है ! क्या तू इसे जानता नहीं है ! जानता अवश्य है, परन्तु तुम्हें प्रमाद है कि हम बहुत दिनों तक संसार में रहेंगे। याद रखो,

तुम चाहे जितने दिनों तक संसार में रहो, परन्तु जिस दिन जाने का समय आयेगा वह दिन आज-जैसा ही रहेगा। यह कोई नहीं जानता कि हम कब इस संसार से उठ जायेंगे। जब जीव शरीर से निकलता है, यह शरीर केवल काष्ठ के समान निश्चेष्ट पड़ा रहता है। तुरन्त इसे श्मशान ले चलो, ले चलो लोग कहते हैं। इसे यदि जला दिये तो यह राख एवं धूल हो जाता है। जब जवाहर लाल नेहरू की लाश दिल्ली के शांति-वन में जलायी गयी तब जल जाने के बाद एक विदेशी पत्रकार ने कहा था कि जो दुनिया का एक बड़ा राजनेता था वह एक घंटा में एक मुट्ठी राख हो गया। यदि इस देह को गाड़ दें तो इसे कीड़े खा जाते हैं और यह मिट्टी में बदल जाता है। यदि यह मृत शरीर कहीं जंगल, पर्वत एवं मैदान में पड़ा रहे या वहां डाल दिया जाये तो इसे सियार, कुत्ते, चील, गीध, कौए एवं अन्य जानवर खा जाते हैं। यदि इसे पानी में फेंक दें तो मछली-कछुए खा जाते हैं। साहेब कहते हैं कि हे देहाभिमानी, तेरे शरीर की यही अंतिमी बड़ाई है। यदि तूने इसे न आत्मकल्याण की साधना में लगाया और न पर-सेवा में लगाया तो इसका क्या उपयोग हुआ ! जीवन भर इस कूड़े-कचड़े का अहंकार लादे रहा और अन्त में इसका सर्वनाश हो गया।

हे विमोहित, पागल मनुष्य ! तू जागकर देख तो, तुझसे काल दूर नहीं है। जन्म के साथ मृत्यु पीछे पड़ जाती है। क्षण-क्षण बीतता है और आदमी मौत के मुख में जाता है। लोग अपना और अपने साथियों तथा बाल-बच्चों के जन्म-दिन मनाते हैं। उन्हें यह होश नहीं है कि आज उनके जीवन का एक वर्ष और बीत गया। संसार के अनेक आश्चर्यों में यह एक बहुत बड़ा आश्चर्य है कि दूसरों को मरते देखकर भी अपनी मौत की उसे याद नहीं होती। यक्ष ने जब पूछा कि सबसे बड़ा आश्चर्य क्या है, तब युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—"प्रतिदिन प्राणी यमसदन को जा रहे हैं, परन्तु बचे हुए लोग सदैव जीवित रहना चाहते हैं, इससे बड़ा आश्चर्य क्या होगा !"[1] यदि आदमी हरक्षण अपनी मौत की याद रख पाता तो उससे कोई बुराई न होती। तुम्हें यदि कोई पक्का निश्चय करा दे कि तुम आज शाम तक मर जाओगे तो देखोगे तुम्हारा मन कैसा हो जायेगा ! तुम्हें यह दुनिया दूसरे ढंग से दिखेगी। कई अहंकारी लोग भी मरने के समय अपने शत्रुओं से भी हाथ जोड़कर क्षमा मांगते हैं। जो व्यक्ति अपनी मौत को हरक्षण याद रखता है उसके ख्याल में न कोई शत्रु है और न कोई मित्र है। आदमी इतना घोर प्रमादी है कि इस दो दिन के जीवन में इतना अत्याचार में उतर आता है कि मानो इसे इसी संसार

---

1. अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम् ।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम ॥ (महाभारत, वनपर्व 313/116

में सदैव रहना है। देहधारी को याद रखना चाहिए कि मौत नित्य उसके निकट आ रही है। मौत को याद रखें या नहीं, किन्तु वह तो हमारे सोते-जागते हर समय हमारी ओर बढ़ रही है।

प्रमादी लोग इस शरीर को अमर बनाने के लिए भी बड़ा-बड़ा प्रयोग करते हैं। कायाकल्प कर शरीर को बहुत दिनों तक रखने का भ्रम पाला जाता है। हठयोग के बल पर तो कई सौ वर्षों तक जीवित रहने की सनक रखी जाती है। इसमें सहायक होती हैं पौराणिक मिथ्या कहानियां, जिनमें लिखा मिलता है कि अमुक-अमुक व्यक्ति इतने हजार एवं लाख वर्ष तक जीवित रहे। भागवतकार ने तो यहां तक लिख डाला है कि राजा प्रियव्रत ग्यारह अरब वर्ष तक राज्य करते रहे।[1] वस्तुतः वेद के ऋषियों की बात ही सच है, उन्होंने सौ वर्ष तक जीने की कामना की है 'जीवेम शरदः शतम्'। कुछ दिन पूर्व पाश्चात्य वैज्ञानियों को एक भ्रम सवार हुआ था कि बन्दरों के शरीर में एक नस है जिसे निकालकर मनुष्य के शरीर में फिट कर दिया जाये तो वह सैकड़ों वर्षों तक जीवित रहेगा। कितने लोग समझते हैं कि अधिक रस-रसायन एवं भस्म खाकर शरीर को बहुत दिनों तक रखा जा सकता है। साहेब कहते हैं कि हे विमोहित मानव ! तू इस शरीर को रखने के लिए चाहे करोड़ों उपाय कर ले, परन्तु अन्त अवस्था में तेरे शरीर की व्यवस्था धूल में ही होगी। यह तेरे उपायों से बहुत दिनों तक रुक नहीं सकता। यह तो क्षण में ही तुम्हें धोखा देकर चला जायेगा।

हे भोले ! तू मत समझ कि पक्के भवन में बैठा है। यह तेरा लोहा, सीमेंट एवं ईंटों से बना मकान कुछ निश्चित अवधि रखता है। इंजीनियर इसे बता सकता है कि इस मकान की अवधि इतने वर्षों की है। परन्तु तेरे शरीर की अवधि नहीं बतायी जा सकती। यह समझ, कि तू बालू के घर में बैठा है। बालू के घर को गिरने में क्या देरी ! इसी प्रकार तेरी काया विनशने में देरी न लगेगी। फिर भी तू इतना भोला बना है कि सावधान नहीं हो रहा है।

"कहहिं कबीर एक राम भजे बिनु, बूड़े बहुत सयाना।" सद्गुरु कहते हैं कि एक राम-भजन के बिना बड़े-बड़े ज्ञानी और समझदार कहलाने वाले भी भवधारा में डूब गये। राम है चेतनदेव जो हर दिल में बसा हुआ है। यह जीव, यह चेतनदेव, यह आत्मा अविनाशी है, ज्ञानरूप है। यह देह में केवल कुछ समय के लिए रहता है; किन्तु इसका लक्षण जड़-देह से अलग ज्ञानमय

---

1. भागवत 5/1/29।

है। यह देह से सर्वथा भिन्न है। यह स्वभावतः पूर्णकाम, अकाम, निष्काम, आप्तकाम एवं प्राप्तकाम है। यह अपने इस दिव्य स्वरूप को न जानकर ही मलिन देह का अभिमान करता है, विषयों की कामना करता है और क्रोध, तृष्णा, चिन्ता-शोक आदि में जलता है। अपने पूर्णकाम चेतन स्वरूप का स्मरण करना तथा उसी भाव में स्थित रहना—यही राम-भजन है, यही जीवन की दिव्य स्थिति है, यही कृतार्थ अवस्था है। इस राम-भजन में न रहने से ही, शास्त्रज्ञान बहुत हो जाने पर भी आदमी काम, क्रोध, तृष्णा आदि की भवधारा में डूबता है। हमें केवल शास्त्र-ज्ञान मानसिक भवधारा से नहीं बचा सकता। बड़े-बड़े विद्वान तथा धुरंधर पंडित भी अत्यंत मलिन आदतों में जीवनभर लिपटे रहते हैं। इसलिए शास्त्रीय एवं बौद्धिक ज्ञान जीव का बेड़ा नहीं पार कर सकता। मनुष्य तो तभी इस जीवन में कृतकृत्य होता है जब वह राम-भजन में लीन रहता है। विषयों से विरति तथा निज चेतनस्वरूप में निरति, यही राम-भजन है।

शब्द-73

फिरहु का फूले फूले फूले॥ 1॥
जब दश मास ऊर्ध्व मुख होते, सो दिन काहेक भूले॥ 2॥
ज्यों माखी सहते नहिं बिहुरे, सोचि सोचि धन कीन्हा॥ 3॥
मुये पीछे लेहु लेहु करें सब, भूत रहनि कस दीन्हा॥ 4॥
देहरि लों बर नारि संग है, आगे संग सुहेला॥ 5॥
मृतक थान लों संग खटोला, फिर पुनि हंस अकेला॥ 6॥
जारे देह भस्म होय जाई, गाड़े माटी खाई॥ 7॥
काँचे कुम्भ उदक ज्यों भरिया, तन की इहै बड़ाई॥ 8॥
राम न रमसि मोह के माते, परेहु काल वश कूवा॥ 9॥
कहहिं कबीर नर आप बँधायो, ज्यों ललनी भ्रम सूवा॥10॥

शब्दार्थ—सहते=कष्ट सहनकर। बिहुरे=बिहुरना, छोड़ना। भूत=भूति, धन-संपत्ति। देहरि=देहलि, देहली, दरवाजे की चौखट में की नीचे वाली लकड़ी। सुहेला=प्रियजन। मृतक थान=चिताभूमि। खटोला=खटिया, अर्थी, टिकड़ी। हंस=जीव। कुम्भ=घड़ा। उदक=पानी। रमसि=रमना, निवास करना, स्थित होना। काल=अज्ञान। कूवा=कूप। ललनी=बांस की नली, बांस की वह छोटी चरखी जिसमें सुग्गा फंस जाता है। सूवा=सुग्गा, शुक पक्षी।

भावार्थ—हे मानव ! तन-धनादि के अहंकार में क्या फूले-फूले फिरते हो !॥ 1॥ जब दस महीने माता के गर्भ में उलटे मुख लटके थे वह दिन क्यों भूल गये !॥ 2॥ जैसे मधुमक्खियां बहुत कष्ट सहते हुए नाना फूलों से

पुष्परस लाकर मधु बनाती तथा इकट्ठा करती हैं और उसे छोड़ नहीं पातीं और मधु निकालने वाले आते हैं तथा उन्हें आग में झुलसाकर मधु निकाल ले जाते हैं, वैसे आदमी सोच-सोचकर अच्छे-बुरे सभी उपाय करके धन इकट्ठा करता है, किन्तु उसका सदुपयोग नहीं करता॥ 3॥ परिणाम यह होता है कि उसके जीते ही उसे चोर, डाकू या राजकर्मचारी पीड़ित कर उसके संचित धन को ले जाते हैं या उसके मर जाने के बाद हकदार बने अनेक लोग उसके संचित धन को लूटने के लिए आ धमकते हैं। भला, उसे वे सब सुरक्षित रहने कैसे देंगे !॥ 4॥ मर जाने पर लाश के साथ दरवाजे तक श्रेष्ठ साथी मानी गयी पत्नी जाती है, आगे श्मशान तक प्रियजन जाते हैं और चिताभूमि तक अर्थी जाती है। इसके बाद तो फिर जीव को अकेला ही जाना पड़ता है॥ 5-6॥ मृत शरीर को यदि आग में जला दिया गया तो वह राख हो जाता है, यदि गाड़ दिया गया तो उसे मिट्टी खा जाती है॥ 7॥ जैसे मिट्टी के कच्चे बरतन में पानी भरने पर वह उसमें ज्यादा समय तक टिक नहीं पाता, बरतन गलकर नष्ट हो जाता है और पानी बह जाता है, वैसे इस कच्चे साज शरीर की भी विशेषता है। यह भी देखते-देखते नष्ट हो जाता है और जीव चला जाता है॥ 8॥ हे मोह में मतवाला आदमी ! तू अपने ज्ञानस्वरूप चेतन-राम में नहीं स्थित होता, बल्कि अज्ञानवश सांसारिकता के कुं में डूबता है॥ 9॥ कबीर साहेब कहते हैं कि मनुष्य ने विषयों में सुख-भ्रम करके अपने आप को वैसे ही स्वतः बंधा लिया है, जैसे ललनी-यन्त्र में लगे हुए लाल मिर्चे के खाने के मोह में पड़कर सुग्गा अपने आप को स्वयं बंधा लेता है॥ 10॥

व्याख्या—आदमी थोड़े दिनों के लिए संसार में आता है। वह यहां कुछ दिनों के लिए जवानी, सुन्दरता, बल, धन, पद, सम्मान, प्रतिष्ठा आदि पा जाता है और अपनी ओछी बुद्धि के कारण इन सबके अहंकार में फूल जाता है। वह अपने समान किसी को नहीं जोरता। वह नम्रता त्यागकर ऐंठ-ऐंठकर चलने लगता है, किसी से सीधे मुख बात भी नहीं करता। कबीर देव ऐसे लोगों से कहते हैं कि तुम क्यों फूले-फूले फिर रहे हो ! जिसमें तुम फूले-फूले फिर रहे हो वे कितने दिन के हैं ! "मन में सोच-विचार बुलबुला पानी का। दो दिन में मिट जाये नशा जवानी का।" ऐसे ही जिन-जिन का हमें नशा होता है वे सब थोड़े दिनों के ऐश्वर्य होते हैं। ऊंचा-से-ऊंचा पद छूटता है। प्राणी-पदार्थों का सारा संगम हवा के झोंके के समान है। फिर यह मूढ़ मानव किसमें फूलता है ! इन नश्वर वस्तुओं का अहंकार करना हद दर्जे की भूल है।

"जब दश मास ऊर्ध्व मुख[1] होते, सो दिन काहेक भूले।" मनुष्य नौ या दस महीने तक माता के गर्भाशय में शिशुरूप में उलटे मुख लटका रहता है। साहेब कहते हैं कि तुम वे दिन क्यों भूल गये! तुम नौ-दस महीने माता के मैले गर्भाशय में उलटे मुख लटके रहे। वहां तुम कितने असहाय एवं दीन-मलिन रहे! यदि कुछ दिनों तक तुम्हारा शरीर रह जायेगा तो अत्यन्त जरजर होने पर तुम्हारी दशा पुनः दयनीय हो जायेगी। कितने बूढ़ों को तुम देखते हो कि उनके मुख की लार उनके शरीर पर ही बह जाती है और वे उसे नहीं संभाल पाते। पैर रखते हैं कहीं और चले जाते हैं कहीं और। जवानी में जो रोब-दाब परिवार पर रहता है क्या बुढ़ापा में वह सब कुछ रह जाता है! रोब-दाब की तो बात ही दूर, उससे कोई बात करने वाला नहीं मिलता, उसके पास कोई बैठना नहीं चाहता। याद रखो, तुम्हारे अहंकार का नशा कुछ ही दिनों में झड़ जायेगा। तुम जिन प्राणियों पर स्ववशता का अहंकार करते हो वे ही तुम्हें अंगूठा दिखायेंगे। जिन पदार्थों का तुम्हें मद है वे खो जायेंगे। जिस शरीर का गर्व है वह निर्बल होकर असहाय हो जायेगा।

मधुमक्खियां उड़-उड़कर वनस्पतियों पर बैठती हैं। वे वहां से पुष्पों से रस खींच-खींचकर लाती हैं और अपने छत्ते में भरती हैं। मधु निकालने वाले आते हैं वे मक्खियों को आंच तथा धुवां दिखाते हैं। मक्खियां अपना छत्ता छोड़ना नहीं चाहतीं। अतएव वे आंच से झुलस जाती हैं और मधु निकालने वाले मधु निकाल ले जाते हैं यही दशा उनकी होती है जो जायज-नाजायज धन तो बटोरते हैं, परन्तु उनका अच्छा उपयोग नहीं करते। धन की सार्थकता है उसको स्वयं तथा स्वजनों के उपभोग में लगाना और दूसरों की सेवा में खर्च करना। सूम लोग यह सब नहीं करते। वे दान करना, दूसरों की सेवा में लगाना तो जानते ही नहीं, परन्तु स्वयं उपभोग करना तथा स्वजनों के उपभोग में लगाना भी नहीं जानते। वे तो पैसा-पैसा जोड़ना जानते हैं। ऐसे लोग सदैव मन से मलिन तथा भयभीत रहते हैं। उनके जीवन में ऐसा भी अवसर पड़ सकता है कि चोर-डाकू आयें और उनको बांध-मारकर उनका संचित धन उठा ले जायें, या सरकारी कर्मचारी आकर उनका धन ले जाकर राजकोष में डाल दें। अंततः उसके मर जाने पर हकदार लोग लेहु-लेहु करके तो दौड़ते

---

1. यहां ऊर्ध्व मुख पाठ है जिसका अर्थ होता है ऊपर किये हुए मुख। चिकित्सक लिखते हैं— "गर्भधारण के बाद कई महीनों तक जब भ्रूण बहुत छोटा रहता है उस समय उसका माथा ऊपर की ओर रहता है और धड़ नीचे की ओर। पर पिछले महीनों में माथा नीचे की तरफ हो जाता है और नितंब ऊपर की तरफ।" (पारिवारिक चिकित्सा, पृ. 89, एम. भट्टाचार्य एण्ड कं, 73 नेताजी सुभाष रोड, कलकत्ता-1)

ही हैं। यदि दूसरे का संचित धन किसी को मिल जाये तो वह प्राय: लम्पट ही हो जाता है। जो धन अपना कमाया होता है उसे संयम से खर्च किया जाता है, परन्तु जो धन दूसरे का कमाया होता है और यों ही मिल जाता है तो मिलने वालों को उसका भूत सवार हो जाता है। संयमी लोगों की बात अलग है। वे तो अपने कमाये हुए तथा दूसरे से पाये हुए सभी धन का अच्छा उपयोग करते हैं, परन्तु संसार में संयमी तो थोड़े लोग होते हैं। इसीलिए धन का ज्यादा संग्रह करना मनीषियों ने पाप कहा है। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने कमाये हुए धन का अच्छा उपयोग करता रहे। उसे बटोरकर अहंकार की गठरी न बांधे।

आदमी चाहे जितनी माया बटोरे, उसे एक दिन मरना तो है ही। मर जाने पर उसके साथ क्या जाने वाला है! धन तो घर के अन्दर ही पड़ा रह जायेगा। उसकी लाश के साथ उसकी पत्नी केवल देहली अर्थात दरवाजे के चौखट तक जाती है। वह परदा करने वाली होती है, इसलिए वह देहली के बाहर कदम नहीं रख सकती। आगे उसकी लाश के साथ मित्र एवं प्रियजन चलते हैं। जो अब दुनिया से चला ही गया है उसकी लाश को श्मशान तक पहुंचा देना सब अपना कर्तव्य समझते हैं। परन्तु क्या जीव के साथ कोई चल सकता है! कोई चलना भी चाहे तो उपाय नहीं है। अतएव जीव जिसके अहंकार में फूला-फूला फिरता था उन सबको यहीं छोड़कर अकेला चला जाता है। जीव अकेला आता है और अकेला जाता है। वह अपने मूढ़तावश यहां के थोड़े दिनों की माया में प्रमत्त होकर फूला-फूला घूमता है। सर्वाधिक अहंकार देह का होता है और उसकी अन्तिम परिणति है राख हो जाना, मिट्टी हो जाना। शरीर की क्षणभंगुरता पर साहेब मिट्टी के कच्चे घड़े का मार्मिक उदाहरण देते हैं। मिट्टी के कच्चे घड़े में पानी भर दिया जाये तो वह उसमें कब तक टिक पायेगा! यह हाड़-चाम का कच्चा शरीर संसार में कब तक चलता रहेगा। हर देहधारी मानो दया का पात्र है, क्योंकि हर देह दुखेमी और क्षणभंगुर है। वे लोग बड़े बदहवास होते हैं जो दूसरे प्राणियों को छूरा भोंकते हैं। हर आदमी का जीवन स्वयं ही दुख तथा क्षणभंगुरता से घिरा है। वह दूसरे को दुख देकर अपने दुखों को और बढ़ाता है।

आदमी जीवनभर अज्ञान और मूढ़ता के कुंें में पड़ा रहता है। मनुष्य प्रलोभन में पड़कर अपने आप को स्वयं बंधा लेता है। सुग्गे को फंसाने के लिए लोग बांस की एक चरखी रख देते हैं। उसके ऊपर लाल मिर्ची लगा देते हैं। सुग्गा लाल मिर्ची को खाने के लोभ से चरखी पर बैठता है और चरखी घूम जाती है तथा वह उसमें फंस जाता है। उसके प्रलोभन ने ही उसे चरखी

में फंसाया। इसी प्रकार हम सांसारिक भोग, सम्मान, प्रतिष्ठा आदि के लोभ में पड़कर स्वयं अपने आप को बंधनों में फंसा लेते हैं। साहेब कहते हैं कि हे मोह में उन्मत्त आदमी, इसीलिए तू राम में नहीं रमता। जिसका मन सांसारिकता में डूबा हो उसका मन निजस्वरूप में कैसे स्थित हो सकता है !

योग के नाम पर प्रपंच तथा अ-समीक्षा

शब्द-74

ऐसो योगिया बदकर्मी, जाके गमन अकाश न धरणी॥ 1॥
हाथ न वाके पाँव न वाके, रूप न वाके रेखा॥ 2॥
बिना हाट हटवाई लावै, करै बयाई लेखा॥ 3॥
कर्म न वाके धर्म न वाके, योग न वाके युक्ती॥ 4॥
सींगी पात्र किछउ नहिं वाके, काहेक माँगे भुक्ती॥ 5॥
मैं तोहिं जाना तैं मोहिं जाना, मैं तोहिं माहिं समाना॥ 6॥
उत्पति परलय एकहु न होते, तब कहु कौन ब्रह्म को ध्याना॥ 7॥
योगी आन एक ठाढ़ कियो है, राम रहा भरपूरी॥ 8॥
औषध मूल किछउ नहिं वाके, राम सजीवन मूरी॥ 9॥
नटवट बाजा पेखनी पेखे, बाजीगर की बाजी॥10॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, भई सो राज बिराजी॥11॥

शब्दार्थ—बदकर्मी=गलत काम करने वाला। गमन=यात्रा। रेखा=चिह्न। हाट=बाजार। हटवाई=बाजार का काम, सामान बेचने-खरीदने का काम, दुकानदारी। बयाई=तौलाई, तौलने की मजदूरी, दलाली। लेखा=हिसाब, आय-व्यय का ब्यौरा, अन्दाज, विचार। युक्ती=युक्ति, उपाय। सींगी=हिरन के सींग का बना हुआ बाजा जिसे योगी बजाते हैं। पात्र=बरतन, भिक्षापात्र। भुक्ती=भुक्ति, भोजन, आहार, भोग, ऐश्वर्य। आन=सत्य, दूसरा, आकर। नटवट=नटवत, चौरासी आसन दिखाना। बाजा=सींगी बजाना। पेखनी=मुद्रा। पेखे=देखते हैं। बाजी=तमााशा। राज=सुव्यवस्था। बिराजी=अव्यवस्था।

भावार्थ—कुछ ऐसे योगी होते हैं जो गलत काम करने वाले होते हैं। उनकी यात्रा न आकाश में होती है न पृथ्वी पर। अर्थात न वे इधर के होते हैं न उधर के॥ 1॥ वे एक तरफ तो यह कहते हैं कि हम उस आत्मा में स्थित हैं जिसमें हाथ, पांव, रूप-रेखा कुछ नहीं है। फिर भी वे बिना बाजार के अपनी दुकान लगाकर बैठते हैं और अपनी धार्मिक दलाली का पारिश्रमिक मांगते हैं॥ 2-3॥ वे एक तरफ तो परम सिद्ध बनते हैं और कहते हैं कि कर्म, धर्म, योग, युक्ति सबसे हम मुक्त हैं। मैं पूछता हूं कि सींगी और भिक्षापात्र भी तो

उसमें नहीं हैं, तो फिर सींगी बजाकर भिक्षा क्यों मांगते हैं? एवं ऐश्वर्य की कामना क्यों करते हैं?॥ 4-5॥ मैंने तुम्हें समझ लिया और तुमने मुझे समझ लिया तो मानो मैं तुममें समा गया। अर्थात जैसा मैं हूं वैसा तुम हो, इस प्रकार सजातीयता का बोध हो गया॥ 6॥ परंतु यदि इसका अर्थ अजातवाद का सिद्धांत रखकर किया जाये कि निर्माण, परिवर्तन एवं जगत है ही नहीं, केवल एक ब्रह्म है, तब कहो भला ब्रह्म का ध्यान करने वाला कौन है जो योगी बनने का ढोंग कर रहा है?॥ 7॥ योगियों ने तो निजरूप राम से हटकर एक अन्य ही कल्पना खड़ी कर रखी है कि रामतत्त्व केवल एक है और वही सर्वत्र भरा है। न उसमें ज्ञान-वैराग्यादि औषध चाहिए और न जिस कारण से औषध की आवश्यकता है वह जगत-रोग ही है। वह राम अपने आप संजीवनी बूटी है॥ 8-9॥ ये योगी लोग नट के समान चौरासी आसन दिखाते हैं, सींग का बाजा बजाते हैं, त्राटक आदि मुद्रा देखते हैं और बाजीगर के तमाशा की तरह "हाट बजारे लावै तारी"[1] का तमाशा करते हैं॥ 10॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो ! सुनो, राज से बेराज हो गया। अर्थात इन लोगों ने आध्यात्मिक क्षेत्र में ज्ञान और साधना दोनों गड्डमड्ड कर दिया॥ 11॥

व्याख्या—यह इस ग्रंथ में कई बार निवेदन किया गया है कि कबीर साहेब के समय में योगियों का काशी-कोशल क्षेत्र में काफी विस्तार था। जिसका विस्तार बहुत अधिक हो जाता है उसमें अधिक विकार आ जाता है यह संसार का स्वभाव है। उस समय योगियों में काफी विकृति हो गयी थी। इसीलिए कबीर साहेब ने यहां कहा "ऐसो योगिया बदकर्मी।" प्रायः योगी लोग ऐसे दिखावे तथा गलत आचरण में लग गये थे जिससे उनका वास्तविक लक्ष्य छूट गया था। इसीलिए उनके लिए सद्गुरु ने कहा "जाके गमन अकाश न धरणी" न उनकी यात्रा आकाश की ओर है और न पृथ्वी की ओर अर्थात वे न परमार्थ ही साध पा रहे हैं और न ठीक से सांसारिक भोग ही प्राप्त कर पा रहे हैं। अतएव वे "न इधर के रहे न उधर के रहे, न खुदा ही मिले न बिसाले सनम।"

"हाथ न वाके पाँव न वाके, रूप न वाके रेखा। बिना हाट हटवाई लावै, करै बयाई लेखा।" ये एक तरफ तो हाथ-पांव, रूप-रेखा से परे आत्म-तत्त्व का उच्च व्याख्यान करते हैं और दूसरी तरफ बिना बाजार के दुकान लगाते हैं। अर्थात जहां-तहां चमत्कार का पाखंड फैलाकर धार्मिक दुकान लगाते हैं, धार्मिक दलाली करते हैं और उसी तरफ रात-दिन सोचते हैं जो अपने आप

1. रमैनी 69।

में बहुत बड़ा छलावा है।

"कर्म न वाके धर्म न वाके, योग न वाके युक्ती। सींगी पात्र किछउ नहिं वाके, काहेक माँगे भुक्ती।" वे अपने आप को परम सिद्ध और गुणातीत प्रदर्शित करते हुए यह कहते हैं कि हम कर्म, धर्म, योग, युक्ति सबसे परे हैं। फिर भी वे सींग का बाजा बजाते हैं और भोग-ऐश्वर्य चाहते हैं। सच्चा योगी, सच्चा ज्ञानी तो सादे ढंग से केवल शरीर का निर्वाह लेता है। वह भोग-ऐश्वर्य का ठाट नहीं ठटता। एक तरफ गुणातीत होने का दावा करना तथा दूसरी तरफ ऐश्वर्य की कामना रखना पूर्णतया विसंगत है।

"मैं तोहिं जाना तैं मोहिं जाना, मैं तोहिं माहिं समाना।" यदि मैंने तुम्हें तत्त्व से जान लिया और तुमने मुझे तथ्यतः जान लिया, तो मानो मैं तुममें समा गया और तुम मुझमें समा गये। यह एक सजातीय बोध और भावनात्मक एकता का कथन है। मैं शुद्ध चेतन हूं, इसी प्रकार तुम शुद्ध चेतन हो। जितने ज्ञाता चेतन हैं जो मैं के रूप में अपने अस्तित्व का बोध करते हैं वे सब सजाति चेतन हैं। उन सबका लक्षण एक है—चैतन्य। ठीक से मैं और तुम जान लिये तो मानो मैं तुम में लीन हो गया और तुम मुझमें लीन हो गये। इसका अर्थ यह नहीं हो गया कि हमारा और तुम्हारा चेतनस्वरूप एक में घुल-मिलकर जम गया। प्रत्युत इसका अर्थ यह है कि हम दोनों को यह बोध हो गया कि दोनों का लक्षण एक है। यहां दोनों का तात्पर्य सभी चेतन जीवों से है। इस वास्तविकता का बोध हो जाने पर जीवों में परस्पर दया, प्रेम, करुणा, परोपकार आदि उच्च भावों का संचार होगा। सद्गुरु पूरण साहेब ने कहा है "सब तेरे तू सबन का" सब तुम्हारे हैं और तुम सबके हो। इसी को गीताकार कहते हैं कि जो अपने में सबको तथा सब में अपने को देखता है वही सच्चा ज्ञानी या भक्त है। इस कथन का अभिप्राय लोग गड़बड़ा देते हैं। वे समझ लेते हैं कि सबकी आत्मा एक है। वे यह नहीं समझ पाते कि यदि आत्मा एक होती तो 'सबकी' न कहना पड़ता। सब हैं तो आत्मा एक नहीं है, किन्तु सभी आत्माओं के चैतन्य गुण एक हैं, परन्तु वे व्यक्तित्व में एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। भिन्न तथा अनेक हुए बिना दया, करुणा, प्रेम, समता आदि सद्गुणों की आवश्यकता ही न पड़ती।

"उतपति परलय एकहु न होते, तब कहु कौन ब्रह्म को ध्याना।" अद्वैत ब्रह्मवाद में अंततः यह माना जाता है कि यह संसार है ही नहीं। इसकी उत्पत्ति एवं प्रलय कहना निरर्थक है। गौड़पाद ने अपने आगमशास्त्र में[1] अजातवाद, अलातवाद नाम देकर यही बताया है कि संसार कभी उत्पन्न ही

1. देखिए 'कबीर दर्शन' अध्याय 4, स्वामी शंकराचार्य का अद्वैतवाद संदर्भ।

नहीं हुआ है, क्योंकि यह तो है ही नहीं। केवल एक ब्रह्म की सत्ता है। साहेब कहते हैं कि यदि निर्माण तथा परिवर्तनमय यह जगत नहीं है और केवल एक ब्रह्म ही है तो यह बताओ कि ब्रह्म का ध्यान करने वाला कौन है? जगत और जीव यदि हैं ही नहीं तो ब्रह्म की जिज्ञासा किसे होती है, कौन ब्रह्म का विचार एवं ध्यान करता है? इस नानत्व भरे संसार को कैसे झुठलाया जा सकता है!

"योगी आन एक ठाढ़ कियो है, राम रहा भरपूरी। औषध गुण मूल किछउ नहिं वाके, राम सजीवन मूरी।" योगियों ने हृदय-निवासी राम से हटकर एक दूसरे राम की कल्पना खड़ी कर रखी है कि राम सर्वत्र व्याप्त है। न उसमें जगत-रोग है और न उसके निवारण करने के लिए ज्ञान-वैराग्यादि रूप औषध की आवश्यकता है। वह खुद संजीवनी बूटी है। 'योगी आन' में 'आन' शब्द का अर्थ दो ढंग से समझ सकते हैं। आन का एक अर्थ होता है 'दूसरा' तथा 'अन्य' और दूसरा अर्थ होता है 'आकर'। दोनों अर्थों में मुख्य भाव में अन्तर नहीं पड़ता। पहला अर्थ ऊपर लिया ही गया है। दूसरे में अभिप्राय होगा कि योगियों ने 'आकर' एक कल्पना खड़ी की है। वस्तुतः व्यक्तियों की आत्मा एवं चेतना के अलावा कोई सर्वव्यापक राम एवं ब्रह्म है यह एक अ-समीक्षात्मक अवधारणा है। यह चर्चा कई बार की गयी है कि एक अखंड तत्त्व सर्वत्र व्याप्त होने से दूसरे तत्त्वों का रहना संभव ही नहीं होगा और न गति होगी, न जगत होगा। इसी आशंका को लेकर ब्रह्मवादी कहते हैं कि जगत और जीव तो हैं ही नहीं। परन्तु ऐसा किसी के कह देने से तो जगत और जीव का अभाव नहीं हो जायेगा। किन्हीं पूर्वजों ने जैसे भी उलटा-सुलटा लिख दिया हो उसी को लेकर सत्ता की व्याख्या करने से कभी सच्चा ज्ञान संसार के सामने नहीं रखा जा सकता। किन्तु सत्ता के गुण-धर्मों के अनुसार ही सत्ता की व्याख्या करनी चाहिए। जो सत्ता के अनुसार शास्त्रों की व्याख्या हो उसे प्रमाण मानना चाहिए, शेष छोड़ देना चाहिए। कहीं शास्त्र में लिखा हो कि संसार तीनों काल में नहीं है इसलिए संसार उड़ नहीं जायेगा। संसार के लोगों को समझाने के लिए ही ब्रह्मवादी लोग सारा माथापच्ची करते हैं, फिर कहते हैं कि संसार है ही नहीं। राम कण-कण में है यह भावना एक भावुकता है और तथ्य से दूर है। राम घट-घट में है यह अनुभूत सत्य है। राम अर्थात चेतनस्वरूप में जगत-रोग नहीं है, परन्तु जगत का रोग मन में तो है ही। मन के जगत-रोग को दूर करने के लिए ज्ञान-वैराग्यादि औषध की आवश्यकता है। राम स्वयं संजीवनी बूटी है यह सच है, निजस्वरूप के बोध तथा स्थिति से सारे भवरोग समाप्त हो जाते हैं। परन्तु योगी लोग अनुभविता

एवं निजस्वरूप चेतन राम को छोड़कर कल्पित राम का पचड़ा गाते रहते हैं जो सत्य के जिज्ञासुओं के लिए त्याज्य है।

"नटवट बाजा पेखनी पेखे, बाजीगर की बाजी। कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, भई सो राज बिराजी॥" बाजीगर जैसे तमाशा दिखाता है वैसे योगी लोग चौरासी आसन लगाकर जनता को तमाशा दिखाते हैं। वे सींग का बाजा बजाते हैं, कान मूंदकर अनाहतनाद भी सुनते हैं, कोई आधारबिन्दु बनाकर और उस पर दृष्टि गड़ाकर एकटक देखना रूपी मुद्रा देखते हैं, अनेक चमत्कार दिखाते हैं जो एक छल-कपट रहता है। साहेब कहते हैं कि यह कोई योग नहीं है। यह तो योग के नाम पर बदकर्म है। आरंभिक साधना में मन को एकाग्र करने के लिए मुद्रा देखना तथा अनाहतनाद श्रवण आदि तो ठीक है, परन्तु ये सब साधक के लक्ष्य नहीं हैं। इसके अलावा आसन-प्रदर्शन तथा योग के नाम पर नाना प्रकार के तमाशा दिखाना, चमत्कार प्रदर्शित करना, यह सब तो योग के नाम पर भ्रम पैदा करना है। यही है, 'राज बिराजी।' यह राज से बेराज हो जाना है। जो योग का फल मन-निरोध तथा स्वरूपस्थिति होना चाहिए, वह हो गया लोक-रंजन, छल-कपट और देह-भोग का साधन। योग का फल व्यवस्था होती है, परंतु यह तो अव्यवस्था हो गयी।

जाति, धर्म और अध्यात्म की एकता

शब्द-75

ऐसो भरम बिगुर्चन भारी॥ 1॥
वेद कितेब दीन औ दोजख, को पुरुषा को नारी॥ 2॥
माटी का घट साज बनाया, नादे बिन्द समाना॥ 3॥
घट बिनसे क्या नाम धरहुगे, अहमक खोज भुलाना॥ 4॥
एकै त्वचा हाड़ मल मूत्रा, एक रुधिर एक गूदा॥ 5॥
एक बुन्द से सृष्टि रची है, को ब्राह्मण को शूद्रा॥ 6॥
रजोगुण ब्रह्मा तमोगुण शंकर, सतोगुणी हरि होई॥ 7॥
कहहिं कबीर राम रमि रहिये, हिन्दू तुरुक न कोई॥ 8॥

शब्दार्थ—भरम=भ्रम, मिथ्या ज्ञान, भटकाव। बिगुर्चन=बिगूचना, उलझन। दीन=मजहब, सम्प्रदाय। दोजख=नरक। घट-साज=शरीर की सामग्री एवं अंग। नादे=नाद, प्राण, सूक्ष्म शरीर। बिन्द=वीर्य। अहमक= अज्ञानी। गूदा=मांस।

भावार्थ—संसार में ऐसा भ्रम एवं भारी उलझन है कि वेद-कुरानादि धर्मशास्त्रों, संप्रदायों एवं मजहबों का अन्तर डालकर एक-दूसरे को

नरकगामी बताते हैं और स्त्रियों को नीच दृष्टि से देखते हैं, परन्तु कौन पुरुष है और कौन स्त्री है! सबकी चेतना एक समान है। स्त्री-पुरुष तो केवल शारीरिक लक्षण हैं॥ 1-2॥ स्त्री हो या पुरुष, सबके सारे अंग मिट्टी आदि जड़ तत्त्वों से बने हैं। सबका शरीर प्राण एवं रज-वीर्य से ओतप्रोत है॥ 3॥ शरीर नष्ट होने पर जीव का क्या नाम रखोगे? हे जड़मति! तू भूल रहा है, अतः सत्य की परख कर॥ 4॥ सबके शरीर में एक प्रकार के चाम लगे हैं और एक ही प्रकार के हाड़, मल, मूत्र, रक्त और मांस भरे हैं, एक ही प्रकार के रज-वीर्य से पूरे मानव की सृष्टि-रचना है, फिर इनमें कौन ब्राह्मण है और कौन शूद्र?॥ 5-6॥ हम तो त्रिदेवों को भी मानव में ही देखते हैं, जैसे अधिक रजोगुणी लोग मानो ब्रह्मा हैं, अधिक तमोगुणी लोग शंकर तथा अधिक सतोगुणी लोग विष्णु हैं॥ 7॥ कबीर साहेब कहते हैं कि आत्माराम में रमण करो, यहां न कोई हिन्दू है न मुसलमान, किन्तु सब रामरूप हैं॥ 8॥

व्याख्या—अप्रतिम स्वतंत्र चिन्तक, मानवतावादी, विशाल-हृदय कबीर देव की बातें कितनी मार्मिक, कितनी साफ, कितनी सत्य तथा कितनी जन-कल्याणकारी हैं यह सोचते ही बनता है। साहेब कहते हैं कि धर्मशास्त्रों तथा मजहबों को लेकर संसार में भारी भ्रम तथा उलझन है। वेदवादी केवल अपने आप को आस्तिक मानते हैं। वे दूसरे सभी को नास्तिक कहते हैं। जो नास्तिक है वह स्वर्ग एवं कल्याण का अधिकारी तो हो ही नहीं सकता, वह तो सीधे नरक का अधिकारी है। परन्तु वैदिक कौन है इस बात को लेकर वैदिकों में भारी उलझन है। वेदांती शंकराचार्य ने पांचरात्र वैष्णवों को अवैदिक कहा है।[1] वे ईश्वर को जगत का केवल निमित्तकारण मानने वालों को अवैदिक कहते हैं, अतः इसमें वैष्णव ही नहीं आर्यसमाजी भी आ जाते हैं। ब्रह्मवादी निश्चल दास जी कहते हैं कि "उत्तर मीमांसा (ब्रह्मसूत्र) का उपेदश वेदसम्मत है, शेष सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक तथा पूर्वमीमांसा वेदविरुद्ध होने से नास्तिक हैं।"[2] वैष्णव माधवाचार्य के अनुगामी नारायण ने अपनी रचना मणिमंजरी तथा मध्वविजय में शंकराचार्य को महाभारतोक्त मणिमान नामक दैत्य का अवतार कहा है।[3] वैष्णव रामानुज ने अपने श्रीभाष्य

---

1. शारीरिक भाष्य 2/2/42-45।
2. उत्तर मीमांसा उपदेशा। वेद विरुद्ध न जामे लेशा।
   शास्त्र पंच ते वेद विरुद्धं। याते जानहु तिनहि अशुद्धं॥
   (विचार सागर, तरंग 7, चौपाई 103-104)
3. महामहोपाध्याय डॉ. गोपीनाथ कविराज कृत भारतीय संस्कृति और साधना, पृष्ठ 215, संस्करण 1964।

में शंकराचार्य को छिपा हुआ बौद्ध कहा है और उनके मत को हास्यास्पद बताया है। पद्म-पुराण में शिवजी के मुख से शंकराचार्य के मायावादी मत को अवैदिक करार दिलाया गया है 'मायावादं अवैदिकम्'। शिव से कहलवाया गया—"माया की कल्पना एक मिथ्या सिद्धांत है और बुद्ध मत का ही छिपा हुआ रूप है। हे देवि! मैंने ही कलिकाल में एक ब्राह्मण (शंकराचार्य) का रूप धारणकर इस मिथ्या सिद्धांत का प्रचार किया था।"[1] परांकुशदास ने रामानुज के श्री भाष्य पर टीका लिखते हुए शंकराचार्य के अनुयायियों को बौद्धों की तरह वेदविरोधी कहा है और कहा है—हे शंकराचार्य के अनुयायियो! तुम्हारे लिए 'वेदोऽनृतः' वेद झूठे हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने लिखा है—"मायावादी अद्वैत वेदांती पांचवें नास्तिक हैं जो कहते हैं कि ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है और जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है।"[2] इतना ही नहीं, वैदिक कहे जाने वाले समस्त सम्प्रदाय एवं शाखा वाले एक दूसरे को पूर्णतः या आंशिक अवैदिक कहते हैं।

यही दशा मुसलमानों की है। शिया तथा सुन्नी में काफी कटाकटी रहती है। शिया लोग मानते हैं कि हजरत मुहम्मद की मृत्यु के बाद उनके दामाद अली को खलीफा होना चाहिए था जो हजरत की एकमात्र पुत्री फातिमा के पति थे। इसलिए शिया लोग प्रथम दो खलीफाओं को गलत उत्तराधिकारी मानकर प्रार्थना में उनके नाम नहीं लेते हैं। इन बातों को लेकर शिया-सुन्नी एक दूसरे को बुरा-भला कहते हैं। इतना ही नहीं, मुसलमानों में दर्जनों फिरके (संप्रदाय) हैं जिनमें हर एक अपने आप को कुरान, इसलाम तथा मुहम्मद का रहनुमा एवं पथ-प्रदर्शक मानता है और दूसरे सबको गुमराह, इसलिए उन्हें नरकपंथी भी कहता है। यही दशा ईसाइयों के रोमन कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेंट में एवं उनकी अवांतर शाखाओं में है। गिनाया कहां तक जाये प्रायः हर संप्रदाय वाला अपनी किताब को ईश्वरप्रदत्त, अपने मत को ईश्वरीय तथा अपने मूलपुरुष को ईश्वर का भेजा या उसका अवतार मानकर स्वयं को ही स्वर्ग तथा मोक्ष का अधिकारी मानता है, शेष को अंधकार में भटकने-भटकाने वाला।

कबीर साहेब कहते हैं कि न कोई किताब अलौकिक है, न कोई संप्रदाय और न कोई महापुरुष। सब इसी संसार के हैं। सभी शास्त्र आदरणीय हैं, परन्तु सबसे केवल सचाई लेनी है। सब शास्त्रों में नीर-क्षीर-विवेक करना

---

1. मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च।
मयैव कथितं देवि! कलौ ब्राह्मणरूपिणा॥ (पद्मपुराण, उत्तरखंड, 236)
2. सत्यार्थ प्रकाश, पृष्ठ 214, सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा दिल्ली, संस्करण विक्रम 2031।

है। जो निर्णय से सही हो वही प्रमाण है, शेष वचन किसी भी ग्रन्थ के हों, चाहे वेद के या कुरान के, या बाइबिल या किसी अन्य के, त्याज्य हैं। सारे संप्रदाय मनुष्यकृत हैं। किसी संप्रदाय में रहने मात्र से किसी का कल्याण नहीं है, किंतु सच्चे ज्ञान एवं सच्चे आचरण से कल्याण है। जिसका मन पवित्र है वह स्वर्ग-सुख भोगता है और जिसका मन गंदा है वह नरक-दुख भोगता है। स्वर्ग-नरक तथा बंध-मोक्ष किसी संप्रदाय की मुट्ठी में नहीं है कि जिसे चाहे स्वर्ग दे दे और जिसे चाहे नरक दे दे।

नाना सम्प्रदाय वालों ने पुरुषों को तो श्रेय दिया, परन्तु नारियों के अधिकार को चुनौती दी। नारियां वेदमन्त्र एवं गायत्री-मन्त्र नहीं पढ़ सकतीं, वे पुरुषों के साथ मसजिद नहीं जा सकतीं। कितने मत वालों ने उन्हें मुक्ति की अधिकारिणी भी नहीं माना। कबीर साहेब कहते हैं—'को पुरुषा को नारी' अर्थात कौन पुरुष है और कौन नारी है? दोनों के शरीर में केवल कुछ अंगों की रचना में अन्तर है, इसलिए उनकी भिन्न मर्यादों रखना ठीक है। परंतु वे दोनों मनुष्य हैं। दोनों को कर्म-संस्कार लगते हैं, इसलिए दोनों समान कल्याण के अधिकारी हैं और दोनों हर दिशा में उन्नति करने के हकदार हैं। अतएव स्त्री-पुरुष में केवल कुछ अंगों का अन्तर है, न कि उनकी मानवता एवं चेतनता में।

देखो "माटी का घट साज बनाया, नादे बिन्द समाना।" सबके शरीर के अंग मिट्टी आदि जड़तत्त्वों से बने हैं। सबके शरीर प्राण, रज, वीर्य से ओतप्रोत होने से एक समान हैं। अतएव भौतिक दृष्टि से सभी मिट्टी के पुतले हैं और सभी के भीतर एक ही समान चेतन निवास करते हैं। शरीर मिट जाने पर चेतन का क्या नाम रखोगे स्त्री या पुरुष, ब्राह्मण या शूद्र तथा हिन्दू या मुसलमान? 'अहमक खोज भुलाना' मानव-मानव में किसी प्रकार का भेदभाव मानने वाले को कबीर साहेब अहमक कहते हैं। अहमक का अर्थ होता है जड़बुद्धि एवं अज्ञानी। वे कहते हैं कि मानव में जो भिन्न जातियों की कल्पना करते हैं वे भूले हैं। इसलिए साहेब उन्हें खोज करने की राय देते हैं कि वे इस बात पर अनुसंधान करें, चिन्तन और मनन करें। निष्पक्ष विचार न करने से ही मानव-मानव के बीच जाति-पांति की खाईं बनायी जाती है। यदि थोड़ा विचार कर ले तो बात सहज समझी जा सकती है। वस्तुतः हमें पूर्व के जड़-संस्कार सत्य को नहीं समझने देते हैं। हमें जड़-संस्कारों के परदे को फाड़ फेंकना पड़ेगा।

जरा विचार करो, सबके शरीर में वही चाम लगा है, वही हाड़-मांस लगे हैं। सबके शरीर में एक ही समान रक्त बह रहा है। सबके शरीर में एक ही समान टट्टी-पेशाब भरी हुई है। सबका शरीर गंदे रज-वीर्य से बना है। फिर

इनमें कौन ब्राह्मण है तथा कौन शूद्र है। सारे साहित्य एवं शास्त्रों को पढ़कर इतनी भी अक्ल नहीं आयी! जो अनपढ़ भी समझ सकता है, यह बात तथाकथित पंडित एवं विद्वान नहीं समझ पा रहे हैं, यह कितना आश्चर्य है! शरीर तो सबका गंदी सामग्री से बना है। जो सदाचारी तथा आत्मज्ञानी है वह ब्राह्मण है और जो मूढ़ तथा मलिन आचरण वाला है वह शूद्र है। इसमें जाति-पांति और परंपरा से कोई मतलब नहीं।

साहेब कहते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव को भी मनुष्य समाज से बाहर मत खोजो। वैसे हर मनुष्य में तीनों गुण होते हैं, अन्तर यह रहता है कि किसी में रजोगुण प्रधान है, किसी में सतोगुण तथा किसी में तमोगुण। जो रजोगुण प्रधान है उसे ब्रह्मा, जो सतोगुण प्रधान है उसे विष्णु एवं जो तमोगुण प्रधान है उसे महादेव के रूप में देखो। इस प्रकार पूरा मानव समाज त्रिदेव मानकर पूजनीय है। इसमें किसका तिरस्कार करोगे!

"कहहिं कबीर राम रमि रहिये, हिन्दू तुरुक न कोई।" सद्गुरु कहते हैं कि यहां हिन्दू-मुसलमान कौन है! सबके अन्दर में तो एक ही समान चेतनराम रम रहा है। इसलिए भेदभाव की दीवार को तोड़ो। तुम्हारा चेतनस्वरूप राम है, उसमें विश्राम करो। जो निजस्वरूप में विश्राम करता है वही राम में रमता है। अपने चेतन-राम में विश्राम तथा दूसरों को रामरूप मानकर उनके प्रति प्रेम का व्यवहार करना, यही हर मनुष्य का कर्तव्य है। इसी में सारे भ्रम तथा उलझनों का अन्त है। शास्त्र-प्रमाण, संप्रदाय, मजहब, जाति, वर्ण, लिंग आदि के भेदभावों के संकुचित दायरों से ऊपर उठकर सबके भीतर रमने वाले राम को समझो। भीतरी राम में विश्राम तथा बाहरी राम का आदर, यही ज्ञान है, यही धर्म है, यही दिव्य स्थिति है, यही मानवता है और इसी में सारे विवादों का अन्त है।

जाति कहते हैं पैदा होने को। मानव मात्र की पैदाइश एक है, इसलिए पूरे मानव की जाति एक है। घोड़ी और बैल से, ऊंट और हथिनी से, बकरी और शूकर से बच्चे नहीं होते इसलिए इनकी जातियां अलग-अलग हैं। इसी प्रकार अन्य योनियों के प्राणियों को भी समझ सकते हैं। परंतु इस संसार के किसी भी नर तथा नारी से बच्चे पैदा हो जाते हैं इसलिए पूरे मानव की जाति एक है।

संप्रदाय अनेक भले हों, परन्तु धर्म एक है। धर्म है शील, सदाचार। हम जो बरताव दूसरों से अपने लिए चाहते हैं वही दूसरों के साथ करना धर्म है। अतएव मानवता ही धर्म है। मानवता है आत्मसंयम तथा पर-सेवा। बस, यही धर्म है। इसलिए मानव मात्र का एक धर्म है।

सबके भीतर एक ज्ञानगुण वाले चेतन रमते हैं। किसी की चेतना में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। इसी चेतन को राम, रहीम, खुदा, गॉड कुछ भी कह लो। इस चेतन को छोड़कर अलग कोई परमतत्त्व नहीं। अतएव आत्म-अस्तित्व में भी सबके समान गुण होने से एकता है। इस प्रकार सद्गुरु कहते हैं कि जातीय एकता, धार्मिक एकता तथा आध्यात्मिकता एकता को समझकर इनका आचरण करने से ही सारे भ्रमों तथा उलझनों का अंत है।

हम अपने स्वरूप को स्वयं भूल गये हैं

शब्द-76

आपन पौ आपुहि बिसर्‌यो॥ 1॥
जैसे श्वान काँच मन्दिर में, भरमित भूसि मर्‌यो॥ 2॥
ज्यों केहरि बपु निरखि कूप जल, प्रतिमा देखि पर्‌यो॥ 3॥
वैसे ही गज फटिक शिला में, दशनन आनि अर्‌यो॥ 4॥
मर्कट मूठि स्वाद नहिं बिहुरे, घर घर रटत फिर्‌यो॥ 5॥
कहहिं कबीर ललनी के सुवना, तोहि कवने पकर्‌यो॥ 6॥

शब्दार्थ—आपन पौ=अपना स्वरूप। भूसि=भूंकना। केहरि=सिंह। बपु=देह। प्रतिमा=परछाई। गज=हाथी। फटिक शिला=कांचवत स्फटिक पत्थर। दशनन=दांत। अर्‌यो=टक्कर मारना। मर्कट=बंदर। नहिं बिहुरे=बंधनों से नहीं छूटा। ललनी=सुग्गा फंसाने की बांस की चरखी। सुवना=सुग्गा, शुक-पक्षी।

भावार्थ—व्यक्ति अपने चेतनस्वरूप को स्वयं भूल गया है; जैसे कुत्ता कांच के मन्दिर में अपने प्रतिबिम्ब को भ्रमवश दूसरा कुत्ता मानकर उसके विरोध में भूंक-भूंककर मर गया, जैसे सिंह कुं के पानी में अपनी प्रतिछाया देखकर तथा उसे अपना प्रतिद्वंद्वी मानकर उसे मारने के लिए कुं में कूदकर मर गया, जैसे हाथी स्फटिक पत्थर में अपनी परछाईं देखकर तथा उसे अपना वैरी मान उसमें अपने दांतों का टक्कर मार-मारकर मर गया; जैसे बंदर संकरी सुराही में रखे हुए चने के स्वादवश उसमें हाथ डालकर चने को मुट्ठी में भरा और मुट्ठी सुराही से न निकलने से वह फंस गया और कलंदर द्वारा पकड़ लिया गया और छूटा नहीं, तथा घर-घर दांत निपोरते हुए नाचता फिरा और जैसे शुकपक्षी नलिका-यंत्र में लाल-मिर्ची के लोभ में फंसकर बधिक के हाथों में पड़ गया, वैसे यह मनुष्य अपने कल्पनात्मक राग-द्वेष एवं भोगलिप्सा में फंसकर अपना पतन कर डालता है। कबीर साहेब कहते हैं कि हे ललनी के सुवना ! तुम्हें किसने पकड़ रखा है? वस्तुतः तूने लोभवश अपने आप को पकड़ा लिया है॥ 1-6॥

व्याख्या—मनुष्य को भुलाने वाला अन्य न कोई भगवान है और न शैतान। इसने स्वयं अपने अज्ञान से अपने चेतनस्वरूप को, अपनी आत्मा को एवं अपने आपा को भूल रखा है। इसलिए अपने स्वरूप को पहचानने के लिए हमें स्वयं अपनी ओर ध्यान केन्द्रित करना पड़ेगा।

यह जीव कैसे अपने आप को भूलकर कहीं-न-कहीं फंस जाता है, इसको समझने के लिए सद्गुरु यहां पांच उदाहरण देते हैं। वे उदाहरण हैं कुत्ता, सिंह, हाथी, बंदर एवं शुक-पक्षी के।

एक कुत्ता कांच के मन्दिर में घुस गया। उसमें उसने अपना प्रतिबिम्ब देखा। उसे लगा यह दूसरा कुत्ता है। कुत्ते अपरिचित कुत्ते के शत्रु होते हैं। उसने कभी अपना चेहरा तो देखा नहीं था, अतः उसे अपने चेहरे की परिछाईं ही अपरिचित लगी। वह समझा कि यह कोई दूसरा कुत्ता है। उसको उसने अपना विरोधी मानकर उस पर भूंकना शुरू किया। प्रतिबिम्ब की तरफ से भी उसे भूंकने की क्रिया का आभास हुआ। कुत्ते को अधिक क्रोध आया और उसे अपना शत्रु मानकर भूंकता ही रहा और इस प्रकार भूंक-भूंकर मर गया।

हमारी दशा यही है। यह संसार एक शीशमहल है। हम इसमें अपने ही प्रतिबिम्ब देख-देखकर भूंकते हैं। जैसी हमारे मन की धारणा होती है, हमें संसार वैसा ही लगता है। हम अपनी मनोमालिन्यता के प्रतिबिम्ब दूसरों में देखते हैं। चूंकि हमारा मन अशुद्ध है इसलिए हम समझते हैं कि संसार के सारे लोगों का मन अशुद्ध है। हम अपनी आत्मा से अपरिचित हैं, इसलिए हम दूसरों में अपनी आत्मा को नहीं देख पाते, अर्थात हम यहां यह नहीं समझ पाते हैं कि सब जीव हमारे सजाति हैं। हम अपने अज्ञान तथा मनोमालिन्यतावश दूसरों को शत्रु मानकर जीवनभर जलते हैं। इस जलन को दूसरा कैसे मिटा सकेगा! इसे तो हमें स्वयं ही समझना होगा और मिटाना होगा। यदि कुत्ता समझ लेता कि इस मन्दिर में मेरे अलावा कोई दूसरा कुत्ता नहीं है तो उसे भूंकने की जरूरत नहीं पड़ती। इसी प्रकार यदि हम समझ लेते कि हमारे अज्ञान के अलावा हमारा कोई दूसरा शत्रु नहीं है तो लोगों से वैर-विरोध में कभी न पड़ते। यदि हम समझ लेते कि सब जीव हमारे सजाति हैं तो हमारे मन में सबके लिए प्रेम का सागर उमड़ता।

एक सिंह था। वह अपने खाने के अलावा निरर्थक ही अन्य जानवरों को मार दिया करता था। जंगल के जानवरों ने बैठक की और सर्वसम्मति से राय पास कर सब सिंह के पास गये। उनमें से एक ने सिंह से निवेदन किया कि आप हमारे वन के राजा हैं। आप अपने आहार के लिए स्वयं पशु की खोज

करने न जायें, किन्तु हम लोग स्वयं पारी बांधकर एक-एक प्रतिदिन आपके पास आते रहेंगे। इससे आपको परिश्रम नहीं पड़ेगा तथा आपकी प्रजा का व्यर्थ विध्वंस नहीं होगा। उक्त बातें सुनकर सिंह ने उनकी बातें मान लीं। महीनों बीत गये। एक-एक जानवर उसके आहार के लिए आते रहे। एक दिन एक खरगोश की बारी आयी। उसने अपने परिवार वालों से कहा कि आज मैं सिंह को मारकर ही लौटूंगा। सबको आश्चर्य हुआ।

खरगोश सिंह के पास देर से पहुंचा। सिंह क्रोध में बोला—मूर्ख, तूने देरी क्यों की? खरगोश ने कहा—हुजूर, हम दो भाई आपके आहार के लिए आ रहे थे, क्योंकि हम छोटे जानवर हैं। एक से सरकार का पेट नहीं भरता। रास्ते में एक दूसरा सिंह मिला। उसने हमें खाना चाहा। हमने बताया कि हम दोनों आज अपने राजा के आहार हैं। वह आग बबूला हो गया। उसने कहा कि इस वन का तो मैं राजा हूं। यहां दूसरा कौन राजा हो सकता है! अपने राजा को बुला लाओ। वह मुझसे लड़कर विजयी बन जाये तब इस जंगल का राजा बने। हुजूर, उसने हमारे एक भाई को पकड़ रखा है। अब आपकी जो इच्छा। वैसे नीति यही है कि शत्रु को मारकर ही भोजन किया जाये।

सिंह अधिक क्रोधपूर्ण होकर कहा कि वह कहां है? खरगोश ने कहा कि वह दूर एक कुं में रहता है। खरगोश उसे एक कुं के पास ले जाकर बताया कि इसी में आप को चुनौती देने वाला शत्रु है। सिंह ने कुं के पास जाकर गर्जना की। उसकी परिछाईं कुं में दिखाई दी तथा गर्जना की प्रतिध्वनि भी उसे सुनाई दी। वह उसमें सचमुच दूसरा सिंह समझा और उसको मारने के लिए उसमें कूदा तथा अपने प्राण खो बैठा।

इसी प्रकार एक मोटे ताजे हाथी को देखकर एक सियार तथा लोमड़ी के मुंह में पानी आने लगा। उन दोनों ने सोचा कि इसका मांस खाने को कैसे मिले। दोनों ने युक्ति सोच ली। दोनों ने जाकर उसका नमस्कार किया और कहा—सरकार, आप तो इस वन के राजा बनने योग्य हैं। हाथी ने प्रतिष्ठा में फूलकर कहा कि इसके लिए मुझे क्या करना पड़ेगा? उन दोनों ने कहा—सरकार! आप को केवल इतना ही करना पड़ेगा कि इस वन में एक पर्वत में आप सरीखा एक दूसरा हाथी रहता है, उसको आप मार दें, क्योंकि एक राज्य में राजा का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं रहना चाहिए। हाथी प्रतिष्ठा में फूलकर उस पर्वत के पास गया। पर्वत स्फटिक पत्थरों का था। उसमें हाथी का अपना प्रतिबिम्ब दिखाई दिया। उसने उसे दूसरा हाथी मानकर अपने दांत के टक्कर मार-मारकर अपनी जान खो दी। उसे सियार तथा लोमड़ी बहुत दिनों तक खाते रहे।

उक्त दोनों कल्पित कहानियां इस बात को समझाने के लिए हैं, कि आदमी अपनी झूठी प्रतिष्ठा एवं लोकैषणा में पड़कर अपनी ही परछाईं से लड़-लड़कर मरता है। मन में वैर, क्रोध एवं प्रतिष्ठा के प्रलोभन का भ्रम पड़ने पर हम अपनी परिछाईं को शत्रु मान लेते हैं। हमारी मलिन भावनों हमारे चारों तरफ प्रतिबिम्बित होती हैं और हम अपने मलिन प्रतिबिम्ब-शत्रुओं से घिरकर मारे जाते हैं। यदि हमारा मन क्रोध, वैर, विषय एवं प्रतिष्ठा-प्रलोभन से मुक्त हो तो हमें कोई पतित नहीं कर सकता है।

चौथा उदाहरण बन्दर का है। बन्दर फंसाने वाले कलंदर वन में जाकर सुराही में चने डालकर वहीं रख देते हैं। बन्दर आकर उसमें हाथ डालकर चने से मुट्ठी भरता है। सुराही का मुंह संकरा होने से मुट्ठी नहीं निकलती और चने का लोभ छोड़कर वह मुट्ठी छोड़ना नहीं चाहता। इतने में कलंदर आकर बन्दर को पकड़ लेता है। फिर वह जीवनभर कलंदर की डोरी में बंधा डंडे खाता तथा द्वार-द्वार दांत निपोरकर नाचता रहता है।

हमारी यही दशा है। हमने संसार के भोगों को मजबूती से पकड़ रखा है। हम न उन्हें छोड़ते हैं और न स्वयं संसार के बंधनों से छूटते हैं। चने का लोभ छोड़कर बन्दर मुट्ठी छोड़ देता और भाग जाता तो वह न पकड़ा जाता। चने के लोभ ने बांध दिया। इसी प्रकार हमें विषयों के लोभ संसार में बांधते हैं। यदि हम विषयों का लोभ छोड़ दें, तो हमें बांधने वाला संसार में कोई नहीं है।

पांचवां उदाहरण शुक-पक्षी का है। वह नलिका यंत्र में लगी हुई लालमिर्ची को खाने के लोभ में उस पर आकर बैठता है। बैठने से यंत्र घूम जाता है। शुक-पक्षी भ्रमवश समझता है कि मैं पकड़ लिया गया जबकि वही उस यंत्र को मजबूती से पकड़ लेता है और बधिक के हाथों पड़ जाता है। कबीर साहेब बड़े प्यार से कहते हैं—"कहहिं कबीर ललनी के सुवना, तोहि कवने पकर्‍यो" हे नलिका-यंत्र में फंसा शुक-पक्षी ! तेरे को किसने पकड़ रखा है? अरे, तूने ही लालमिर्ची को खाने के प्रलोभन में पड़कर नलिका-यंत्र पकड़ रखा है। तू स्वयं अपनी मूर्खता से उसमें फंस गया है।

हमारी भी ऐसी ही मूर्खता है। हम संसार के पुत्रैषणा, वित्तैषणा एवं लोकैषणा में पड़कर स्वयं अपने आप को बांध लेते हैं। हम अपने परम दिव्य चेतनस्वरूप का बोध नहीं रखते जो पूर्णकाम, आप्तकाम एवं निष्काम है। हम अपने आप को देह मानकर इन्द्रियों के भोगों के पीछे अपने आप को संसार-प्रपंच में बेच देते हैं।

इसलिए सद्गुरु हमें इशारा करते हैं कि तुम मानसिक विकारों में पड़कर स्वयं अपने वास्तविक स्वरूप को भूले हो। इसलिए तुम्हें ही विकारों को

हटाकर जगना पड़ेगा। तुम अपने आप को शुद्ध चेतन न मानकर जड़ देह मानते हो, यही सारे दुखों का कारण है। तुम दूसरे से राग–द्वेष एवं भोगों का प्रलोभन छोड़ो, अपने आप को देह मत मानो, किन्तु अपने आप को पूर्णकाम अविनाशी चेतन समझो और सबका साक्षी बनकर अपने स्वरूप में स्थित होओ।

सूरदास जी के सूरसागर में भी इस पद से मिलता–जुलता एक पद है। प्रश्न हो सकता है कि इसका असली रचयिता कबीर हैं कि सूर! यह सर्वविदित है कि कबीर साहेब के जीवनकाल के बाद सूरदास हुए हैं। परन्तु यह तो संभव ही नहीं है कि सूरदास जैसे उच्चकोटि के कवि कबीर–रचित पद में थोड़ा हेराफेरी कर अपने नाम की छाप लगा लें। अतएव यह हो सकता है कि सूरदास जी को भी वैसा ही पद उनके हृदय में फुर गया हो जैसा कबीर साहेब ने पहले रच दिया था। फिर इसमें दो पंक्तियां अधिक भी हैं जिसके भाव भी भिन्न हैं। या सूरसागर का कोई संपादक भ्रमवश कबीर साहेब के पद में थोड़ा रद्दोबदल कर सूरदास के नाम का छाप लगा दिया हो और सूरसागर में जोड़ दिया हो।

सूरसागर का पद यह है—

आपनुपौ आपुन ही बिसर्‌यो॥
जैसे श्वान काँच मन्दिर मैं, भ्रमि भ्रमि भूकि मर्‌यो।
ज्यौं सौरभ मृग नाभि बसत है, द्रुम तृन सूंघि फिर्‌यो।
ज्यौं सपने मैं रंक भूप भयौ, तसकर अरि पकर्‌यो॥
ज्यौं केहरि प्रतिबिंब देखि कै, आपुन कूप पर्‌यो।
जैसे गज लखि फटिकसिला मैं, दसनन जाय अर्‌यो॥
मर्कट मूँठि छाँड़ि नहिं दीनी, घर घर द्वार फिर्‌यो।
सूरदास नलिनी कौ सुवटा, कहि कौने पकर्‌यो॥

(सूरसागर 2/26)

अपने पुरुषार्थ का भरोसा करो

शब्द–77

आपन आश कीजै बहुतेरा, काहु न मर्म पावल हरि केरा॥ 1॥
इन्द्री कहाँ करे विश्रामा, सो कहाँ गये जो कहत होते रामा॥ 2॥
सो कहाँ गये जो होत सयाना, होय मृतक वह पदहि समाना॥ 3॥
रामानन्द रामरस माते, कहहिं कबीर हम कहि कहि थाके॥ 4॥

शब्दार्थ—बहुतेरा=बहुत प्रकार से, सब प्रकार से। विश्रामा=शांति। सयाना=बुद्धिमान, कला-कौशल-निपुण।

भावार्थ—हे मानव! सब प्रकार से अपने पुरुषार्थ पर आशा-भरोसा रखो। ईश्वर का रहस्य तो कोई नहीं समझ सका है॥ 1॥ देहवादी तथा इन्द्रियलंपट लोगों को कहां शांति मिल सकती है! और उनकी स्थिति भी कहां हुई जो कहते थे कि राम हमें तार देंगे॥ 2॥ बुद्धिमान और कला-कौशल में निपुण लोगों को भी कहां विश्रांति मिल सकती है। जीवन्मुक्ति पद में तो वह लीन होता है, जो संसार की अहंता-ममता से मर जाता है, अर्थात जो सारी अहंता-ममता को छोड़ देता है॥ 3॥ कबीर साहेब कहते हैं कि मैं कह-कहकर थक गया कि आत्माराम के अलावा कोई राम नहीं है जो व्यक्ति की चिरविश्रांति का आश्रय बन सके, परन्तु स्वामी रामानन्द बाहरी राम के रस में माते रह गये॥ 4॥

व्याख्या—कबीर साहेब समाज-सुधारक, जननेता तथा कवि होने के साथ एक उच्चकोटि के संत एवं अध्यात्म में लीन परमार्थपरायण पुरुष हैं, परन्तु वे सभी दिशाओं में क्रांतिकारी हैं। जब वे समाज-सुधार पर बोलते हैं तब उनकी वाणी में आग रहती है। आपको आश्चर्य होगा कि जब वे अध्यात्म पर बोलते हैं तब भी उनकी वाणी में आग रहती है। कबीर साहेब के विचार राख नहीं हैं, किन्तु आग हैं। आग ही जिन्दा है, राख तो मुरदा है। वे यहां कहते हैं—"आपन आश कीजै बहुतेरा, काहु न मर्म पावल हरि केरा।" प्रायः सारे अध्यात्मवादी यही कहते हैं कि हम तो तुच्छ हैं, प्रभु ही समर्थ है। उसका ही भरोसा है। साहेब इसके विपरीत कहते हैं कि अपने आप का भरोसा करो, आज तक हरि का रहस्य कोई नहीं जान सका है कि वह है भी कि नहीं।

मनुष्य जब तक अपना पुरुषार्थ नहीं करेगा, उसे कुछ भी मिलने वाला नहीं है। एक अनपढ़ हलवाहक भी यह जानता है कि जब तक हम हल नहीं चलायेंगे तब तक कोई देव या ईश्वर हमारा खेत नहीं जोत देगा। अतः वह किसी देव या ईश्वर के भरोसे न बैठकर स्वयं हल चलाता है। इसी प्रकार व्यापारी व्यापार का काम करता है। नौकरी करने वाला अपनी ड्यूटी में जाता है। बिना 'घुट' किये तो मुख का ग्रास भी अन्दर नहीं जा सकता, तो अन्य काम बिना परिश्रम किये कैसे सफल हो सकता है! मोक्ष का काम जो बिलकुल व्यक्तिगत है उसके लिए दूसरे का आशा-भरोसा करना बिलकुल भोलापन है। खेत तो हम नौकर रखकर भी उससे जोतवा सकते हैं। इसी प्रकार दुकान पर नौकर रखकर भी दुकान का काम उससे करवा सकते हैं,

परन्तु हमारे मोक्ष का काम तो दूसरा बिलकुल ही नहीं कर सकता। हमारे मन की जड़-वासनों ही हमारे लिए बन्धन हैं और उनको नष्ट केवल हम ही कर सकते हैं। गुरु-संतजन केवल युक्ति बतायेंगे, काम हमें ही करना पड़ेगा।

लोग कहते हैं कि लोग खेती करते हैं, व्यापार करते हैं, परन्तु वे असफल भी हो जाते हैं। सूखा, दाहा, कीड़ों एवं बीमारी का प्रकोप होने पर फसल नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार व्यापार में घाटा हो जाता है। अतः अपने करने से कुछ नहीं होता। ईश्वर देता है तभी होता है। इसका मतलब यह हुआ कि देने-लेने की शक्ति ईश्वर अपने पास रखता है। आदमी चाहे जो करे, जब तक ईश्वर न चाहेगा तब तक आदमी कुछ नहीं पा सकता। इसका मतलब है कि आदमी ने खेती या व्यापार में खूब परिश्रम किया, परन्तु वह सफल न हुआ, तो ईश्वर ने उसे सफल न होने दिया। तो क्या ईश्वर ईर्ष्यालु या क्रूर है जो दूसरे के काम में रोड़े अटकाता रहता है? यदि उसकी खुशामद की जाये, सेवा-पूजा एवं प्रार्थना की जाये तब वह किसी का पुरुषार्थ सफल होने देता है तो इसका मतलब है कि वह आततायी मनुष्यों के समान है जो बे-वजह दूसरों के काम में विघ्न डालते हैं और जब उनके सामने हाथ जोड़ लो तथा उन्हें कुछ दे दो तब वे काम होने देते हैं। ऐसा भी देखा जाता है कि पूजा-प्रार्थना करने वाले भक्तों के काम में भी वह विघ्न डाल देता है और उन्हें सफल नहीं होने देता। देखा जाता है कि बहुत से भगवान-भक्त बहुत दुखी रहते हैं, तो कहा जाता है कि ईश्वर उनकी कसनी करता है या उनके अपने पूर्वजन्मों के ऐसे कर्म ही होते हैं जिनके फल बुरे हैं। उसे ईश्वर भी बदल नहीं सकता। हर हालत में भक्त लोग ईश्वर की बड़ी रक्षा करते हैं। वे उसे हर तरह से जिलाये रखना चाहते हैं। क्योंकि कमजोर मन वालों के लिए वह सहारा है, अन्धों की लकड़ी है।

वस्तुतः हम आत्म-भिन्न ईश्वर एवं देवी-देवताओं की कल्पना कर कमजोर मन वाले हो गये हैं। हम जितने ही परमुखापेक्षी होंगे उतने ही स्वावलम्बन से दूर होते जायेंगे। हम जितने कल्पित देवी-देवताओं एवं ईश्वर के भरोसे रहेंगे उतना ही अपनी उन्नति में रोड़े अटकायेंगे। कहा जाता है कि काशी नगरी की रक्षा शिवजी छह सौ देवताओं के साथ करते हैं, विश्वेश्वरनाथ काशी के राजा हैं। उनके मुख्य कोतवाल भैरव हैं, जो विश्वेश्वरनाथ मन्दिर से एक मील उत्तर एक मोटी गदा लिये नगर रक्षा में डटे हैं। परन्तु औरंगजेब द्वारा अनेक मन्दिरों सहित जब विश्वेश्वर मन्दिर को तोड़ दिया गया, तब विश्वेश्वर तथा भैरव सहित छह सौ देवता असहाय होकर मूक दर्शक बने रहे। जिनके तीसरे नेत्र खुलने से विश्व के महाप्रलय

होने की कल्पना की जाती है वे महादेव टुकुर-टुकुर ताकते रह गये और सोमनाथ का विशाल मन्दिर तोड़कर तथा उसमें से शिव-लिंग को उखाड़कर उसके साथ करोड़ों की सम्पत्ति महमूद गजनवी ले गया। हिन्दू, मुसलमान, यहूदी, ईसाई आदि सबके ईश्वर सब जगह मौजूद हैं और वे सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञ भी बताये गये हैं, परंतु चोरी, घूसखोरी, मिलावटबाजी, डाका, हत्या, आतंक, धर्म तथा ईश्वर के नाम पर सामूहिक हत्या सब समय होते रहते हैं, परन्तु तथाकथित ईश्वर बेचारा असहाय बना देखता रह जाता है। दसवीं ईसा शताब्दी के उदयन जिसने ईश्वर-सिद्धि में प्रसिद्ध पुस्तक 'न्यायकुसुमांजलि' लिखी, आगे चलकर ईश्वर से अपनी मनोकामना पूर्ण न होते देखकर कहा—"हे ईश्वर! तुम अपने ऐश्वर्य के मद में उन्मत्त हो गये हो और मेरा तिरस्कार करते हो, जबकि तुम बलशाली बौद्धों द्वारा रगड़े जा रहे थे और मैंने ही तुम्हारी जान बचायी है।"[1]

जब तक हम देवी-देवता एवं ईश्वर की धारणा से अपने आप को सर्वथा अलग नहीं कर लेते, तब तक अपने बल को नहीं समझ सकते और न अपने पैरों पर खड़े हो सकते हैं। देश-रक्षा, समाज-रक्षा एवं आत्म-रक्षा किसी ईश्वर या देवी-देवता द्वारा संभव नहीं है, किन्तु यह सब मनुष्य द्वारा संभव है। ईश्वर के विराट रूप की तो केवल कल्पना है, परन्तु मनुष्य का विराट रूप जगत में जाज्वल्यमान है। मनुष्य ही मनुष्य का भक्षक है तथा मनुष्य ही मनुष्य का रक्षक है। मनुष्य की बुद्धि ठीक होने पर सब ठीक होगा।

कबीर साहेब कहते हैं कि हे मनुष्य! तू अपने पुरुषार्थ पर भरोसा कर! तेरे अपने किये हुए कर्मों का फल-भोग ही तुम्हें मिलता है। उसमें दूसरा कोई परिवर्तन करने वाला नहीं है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का सहायक हो सकता है, परन्तु कर्म तो स्वयं ही करना पड़ेगा। मनुष्य अपने कर्मों का कर्ता एवं विधाता है। अतएव तुम अपने पुरुषार्थ पर विश्वास रखो। हरि का मर्म तो कोई नहीं समझ सका। लोग हरि के विषय में केवल कल्पना करते हैं, रहस्य नहीं समझते। वस्तुतः व्यक्ति की आत्मा ही हरि है, ईश्वर है तथा ब्रह्म है। अपनी आत्मा के अलावा कोई ईश्वर नहीं है।

"इन्द्री कहाँ करे विश्रामा" जो लोग इन्द्रियपरायण हैं, विषयों में डूबे हैं, देह ही तक जिनकी बुद्धि है, उनको जीवन में कहां विश्राम मिल सकता है! विश्राम कहते हैं आराम एवं शांति को। देहवादी एवं इन्द्रियों के विषयों में डूबे

---

1. ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि ममवज्ञाय वर्तसे।
पराक्रान्तेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः॥ (उद्धृत सर राधाकृष्णन कृत भारतीय दर्शन, 2/37)

हुए मनुष्यों को स्थायी शांति मिलना असंभव है। देहबुद्धि से इन्द्रिय-भोग ही उद्देश्य समझ पड़ता है। विषय-भोगों से इच्छों बलवान होती हैं। इच्छाओं की प्रबलता से मनुष्य का मन स्थिर नहीं होता। भोग से इच्छा तथा इच्छा से भोग, यह ऐसा घनचक्कर है जिसमें कहीं विश्राम नहीं है। मनुष्य की देह तथा इन्द्रियशक्ति सीमित होती हैं। ये जरजर तथा शिथिल भी होती हैं। भोगों के आदतवश मन में इच्छों बलवान होने से उसे शांति नहीं लेने देतीं। अतएव जो देहेंद्रियों के विषय-भोगों में शांति एवं विश्रांति चाहता है वह भोला है। अनन्त शांति तो विषयों के त्याग से ही संभव है।

"सो कहँ गये जो कहत होते रामा" उनको कहां विश्राम मिला जो यह कहते थे कि राम मुझे तारेंगे, या जो केवल जबान से राम-राम रटने में लगे रहे, उन्हें कहां बोध तथा कहां विश्राम! राम को तो समझना होगा, केवल राम-राम रटने से क्या होगा! राम-राम या किसी शब्द को बारंबार दोहराने से कुछ समय के लिए भावना का केन्द्रीकरण भले हो जाये, परन्तु उससे न स्वरूपबोध होगा और न तो अनन्त शांति मिल सकती है। हम जब तक माने रहेंगे कि हमारा लक्ष्य हमसे बाहर है तब तक भटकते रहेंगे।

"सो कहँ गये जो होत सयाना" जो लोग बुद्धि में तेज, कला-कौशल में निपुण, चिकित्सा, विधि-विधान, यंत्र, वास्तु, संगीत, भाषा, व्याकरण, यान, नृत्य, खेल, युद्ध आदि में पारंगत होते हैं, वे अपने-अपने क्षेत्र में सयाने होते हैं, और उनका उन-उन क्षेत्रों में महत्त्व भी है। परन्तु क्या उनको पूर्ण शांति मिलती है। स्वरूपबोध तथा स्वरूपस्थिति के बिना कहां अनन्त शांति मिल सकती है! तुम सांसारिक कला-कौशल में पारंगत हो जाओ और अखबार, रेडियो तथा टेलीविजन द्वारा पूरी दुनिया में गूंज जाओ, करोड़ों तथा अरबों की संपत्ति के मालिक बन जाओ, परन्तु आत्मज्ञान एवं आत्मस्थिति के बिना तुम्हारा चित्त स्थायी शांति कभी नहीं पा सकता।

"होय मृतक वह पदहि समाना" उस अनन्त शांतिपद में, निर्वाण में, जीवन्मुक्ति एवं स्वरूपस्थितिपद में तो वही समा सकता है, वही लीन हो सकता है जो संसार से मर जाता है। अर्थात जो देहाभिमान छोड़कर दृश्य मात्र की अहंता-ममता का त्याग कर देता है। यह बात सामान्य व्यक्ति को अजूबी लग सकती है, परन्तु तथ्य है। सांसारिकता एवं विषयासक्ति का पूर्ण अभाव हुए बिना कोई स्वरूपस्थिति में पूर्णतया नहीं पहुंच सकता।

यदि इस चौपाई की प्रथम अर्धाली के भाव का पीछे की अर्धाली पूरक मानी जाये तो पूरी चौपाई का अर्थ इस ढंग से होगा—जो सांसारिक बुद्धि में श्रेष्ठ थे वे कहां गये? उत्तर है कि मरकर पुनः गर्भवास में गये। सांसारिक

बुद्धि वाले पुनः सांसारिकता में ही तो भटकेंगे। "जो रहे करवा सो निकरे टोटी।"

"रामानन्द रामरस माते, कहहिं कबीर हम कहि कहि थाके।" यहां रामानन्द शब्द भाववाचक नहीं किन्तु व्यक्तिवाचक है। स्वामी रामानन्द एक प्रसिद्ध संत थे। जो कबीर साहेब के समय में विद्यमान थे। इनका जन्म प्रयाग में एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण के घर हुआ था। इनका पहला नाम रामदत्त था। ये आरम्भ से ही प्रतिभावान थे। ये बारह वर्ष की उम्र में ही एक अच्छे विद्वान हो गये और दर्शन-शास्त्र पढ़ने के लिए काशी चले गये। एक दिन स्वामी राघवानन्द से इनकी भेंट हुई और उन्होंने इनको धर्म का उपदेश दिया। ये उनसे प्रभावित हो गये और दीक्षा ले लिये। पीछे इन्हीं रामदत्त का नाम रामानन्द पड़ा और एक प्रमुख तथा उदार वैष्णव संत हुए।

कहा जाता है कि कबीर साहेब अपने कैशोर से ही स्वामी रामानन्द से जुड़ गये और उन्होंने स्वामी रामानन्द की शिष्यता स्वीकार ली। अन्य साधु-संन्यासियों की अपेक्षा स्वामी रामानन्द ज्यादा उदार थे। इसलिए कबीर साहेब को स्वामी रामानन्द ज्यादा पसंद आये होंगे। यह जगत प्रसिद्ध है कि कबीर साहेब स्वतंत्र चिंतक थे। दिन बीतते गये और उनके विचार परिपक्व होते गये। कबीर साहेब मूर्तिपूजा एवं अवतार नहीं मानते थे। कबीर का राम अंतरात्मा था। स्वामी रामानन्द राम की कल्पना अपनी आत्मा से बाहर करते रहे होंगे। दोनों की काफी सन्निकटता एवं प्रेम होने से कबीर साहेब ने स्वामी रामानन्द को इस विषय पर बारम्बार समझाया होगा, परंतु स्वामी जी अपने भाव पर दृढ़ रहे होंगे। इसलिए कबीर साहेब के कंठ से यह पंक्ति निकल गयी होगी "रामानंद रामरस माते, कहहिं कबीर हम कहि कहि थाके।" रामरस में तो कबीर साहेब भी लीन रहते थे, परन्तु उनका रामरस आत्मरस था, परन्तु स्वामी रामानन्द का रामरस आत्मभिन्न एक अवधारणा में था या अवतार-मान्यता में था। माते शब्द प्रायः बीजक भर में खण्डनपरक है।

इस पंक्ति में "रामरस माते" और "हम कहि-कहि थाके" शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। "हम कहि-कहि थाके" यह भाव उसी के लिए व्यक्त किया जा सकता है, जो अति निकट का हो तथा प्रेमास्पद हो। कोई दूसरों को बहुत नहीं कहता। अपनों को ही बहुत कहा जा सकता है। इस पंक्ति से यह सिद्ध होता है कि कबीर साहेब और स्वामी रामानन्द का सम्बन्ध अकाट्य है, साथ ही दोनों के दार्शनिक विचारों का अन्तर भी अकाट्य है।

यदि यह कहा जाये कि रामानन्द के साथ जो 'रामरस माते' शब्द हैं वे विधिपरक हैं। अर्थात कबीर साहेब कहते हैं कि स्वामी रामानन्द सच्चे

रामरस में लीन थे, तो फिर "कहहिं कबीर हम कहि कहि थाके" कहने की आवश्यकता ही नहीं होनी चाहिए। आखिर कबीर साहेब स्वामी रामानंद को क्या कह-कहकर थक चुके थे! इसलिए इसका भाव साफ है। जिसका विवेचन ऊपर हो चुका है।

हरिबाजी से हटकर आत्मा राम में रमो

शब्द-78

अब हम जानिया हो, हरि बाजी को खेल॥ 1॥
डंक बजाय देखाय तमाशा, बहुरी लेत सकेल॥ 2॥
हरि बाजी सुर नर मुनि जहँड़े, माया चाटक लाया॥ 3॥
घर में डारि सकल भरमाया, हृदया ज्ञान न आया॥ 4॥
बाजी झूठ बाजीगर साँचा, साधुन की मति ऐसी॥ 5॥
कहहिं कबीर जिन जैसी समुझी, ताकी गति भइ तैसी॥ 6॥

शब्दार्थ—हरिबाजी=ईश्वरीय धोखा। खेल=तमाशा। डंक=डंका, नगाड़ा, धौंसा। डंक बजाय=जोर-शोर से कहकर सबको सुनाना। बहुरी=पुनः। जहँड़े=ठगा गये, हानि उठाये। चाटक लाया=प्रिय वचन कहकर ठगना, चाहना लगा देना। घर में डारि=अपने वश में कर लेना। बाजी=धोखा, तमाशा। बाजीगर=ईश्वर। मति=समझ। गति=स्थिति, दशा, हालत।

भावार्थ—अब मैंने ईश्वरीय धोखा का तमाशा जान लिया है॥ 1॥ बाजीगर डंका बजाकर लोगों को इकट्ठा करता है और तमाशा दिखाकर फिर समेट लेता है तथा भिक्षा में मिले पैसे-अन्न आदि को लेकर चल देता है, कहते हैं ईश्वर इसी प्रकार सृष्टि का तमाशा फैलाकर, फिर समेट लेता है। पता नहीं वह जनता से कौन-सी भीख चाहता है!॥ 2॥ इस ईश्वरीय धोखे में सतोगुणी, रजोगुणी एवं मननशील-मुनिजन भी ठगा गये हैं। इन्हें मीठे वचन सुनाकर ठग लिया गया है। माया ने इनके मन में आत्मभिन्न ईश्वर पाने की चाहना उत्पन्न कर दी है और सब को अपने फंदे में डालकर भ्रमित कर दिया है तथा अपने अधीन बना लिया है। इसीलिए लोगों के हृदय में सच्चा ज्ञान उदित नहीं हुआ॥ 3-4॥ नाना मत के साधुओं की समझ यह है कि बाजीगर ईश्वर तो सच्चा है, परन्तु उसकी बाजीगरी, उसका बनाया तमाशा जगत झूठा है॥ 5॥ कबीर साहेब कहते हैं जिन्होंने जैसा समझा उनकी वैसी गति हुई॥ 6॥

व्याख्या—'बाजी' फारसी भाषा का शब्द है। इसके अर्थ हैं खेल, तमाशा, करतब, शर्त, दावं, बारी, समय, धोखा तथा चालाकी। यहां खेल तथा धोखा दो ही शब्द उपयुक्त हैं। खेल इस पंक्ति में आगे आ गया है, इसलिए हरिबाजी का अर्थ धोखा है जिसका भाव अगली पंक्तियों में विस्तृत है जिसमें सुर, नर तथा मुनिजन का ठगा जाना बताया गया है। साहेब कहते हैं—"अब हम जानिया हो, हरि बाजी को खेल॥" अर्थात ईश्वरीय धोखा का खेल हमने जान लिया है। हरि तो हृदय-भीतर आत्मदेव है, परन्तु लोगों को यह धोखा है कि वह कहीं बाहर है और वही पूरे संसार को बनाता-बिगाड़ता रहता है। लोगों ने हरि को बाजीगर बना डाला है, जो धन पाने के लिए तमाशा दिखाता है। बाजीगर छल-कपटपूर्वक अपने हाथ की सफाई, बात की सफाई, वस्तु की बनावट, दवाई आदि से कुछ का कुछ जैसा दिखाता है। यह सारे छल-कपटपूर्ण तमाशा दिखाने के फल में वह पैसे-अन्न आदि पाता है। भावुक भक्तों ने ईश्वर को भी बाजीगर बना डाला है। परन्तु ईश्वर किस स्वार्थ के लिए छल-कपट करता है?

बाजीगर अपने तमाशे दिखाकर जनता का मनोरंजन करता है और फल में धन पाता है। कहा जाता है कि ईश्वर जीवों पर करुणा कर सृष्टि बनाता है। प्रश्न होता है कि जब सृष्टि थी ही नहीं तब जीव भी नहीं थे, फिर ईश्वर ने करुणा किस पर की? यदि सृष्टि होने पर जीव दुखी हुए तब ईश्वर ने करुणा की, तो जीव के दुख का कारण तो ईश्वर की सृष्टि ही हुई। तो यह बताना चाहिए कि करुणा से सृष्टि होती है या सृष्टि होने पर करुणा? "करुणया सृष्टिः सृष्ट्या च कारुण्यमिति।"[1]

यह अनन्त विश्व-ब्रह्माण्ड अपने अंतर्निहित गुण-धर्मों से अनादि-अनन्त है, परन्तु भावुक-भक्तों ने इसका रचयिता एक बाजीगर-ईश्वर खड़ा कर दिया है जो सत्य को समझने में महा उलझन है। इस बाजीगर की भावुकतापूर्ण अवधारणा में बड़े-बड़े विद्वानों की बुद्धि भी ठगा गयी है। इसी हरिबाजी में, इसी ईश्वरीय वंचना में देवता, मनुष्य एवं ऋषि-मुनि सब ठगे गये हैं। सुर, नर, मुनि सब मनुष्य ही हैं। मनुष्य से अलग न देवता हैं और न मुनि हैं। तात्पर्य यह है कि संसार के छोटे-बड़े कहलाने वाले सभी लोग इस भावुकतापूर्ण वाणी-जाल में उलझ गये हैं कि जगत एक तमाशा है, एक धोखा है और इसका फैलाने वाला बाजीगर ईश्वर है। यह मनुष्य के मन की भ्रांति है। यही माया है। इसी ने मनुष्य के मन में किसी बाहरी ईश्वर से

1. माधवाचार्य कृत सर्वदर्शन संग्रह, सांख्य दर्शन 10 ।

मिलने के लिए एक प्रबल चाहना पैदा कर दी है। इस मन की माया ने अपने फंदे में डालकर सबको भ्रमा दिया है। "घर में डारि सकल भरमाया" घर भ्रांति का घेरा है, भ्रांति का फंदा है। उसी में पड़कर सब भ्रमित हैं। इसीलिए "हृदया ज्ञान न आया" मनुष्य के हृदय में सच्चा ज्ञान उत्पन्न नहीं होता कि ईश्वर बाहर नहीं, हृदय के भीतर चेतना के रूप में है। बाहर है तो वह भी मेरी आत्मा–जैसा सजाति है। मनुष्य जब तक ईश्वर को बाजीगर मानता रहेगा और उसे बाहर खोजता रहेगा, तब तक उसे सच्चा ज्ञान होगा ही नहीं। ईश्वर यदि धोखे का जाल फैलाकर हमें भ्रम में डालता है तो ऐसे ईश्वर से सावधान रहना पड़ेगा। हरिबाजी में ही तो सुर, नर, मुनि जहंड़े हैं। तो कौन समझदार अपने आप को जहंड़ाना एवं ठगाना चाहेगा।

साहेब कहते हैं कि नाना मत के साधुओं की यही समझ है कि ईश्वर का तमाशा तो झूठा है, लेकिन वह स्वयं सच्चा है। प्रश्न होता है कि जब वह सच्चा है तब झुठाई एवं धोखे का काम क्यों करता है? वह माया का जाल बिछाकर सबको क्यों जहंड़ाता है, सबको क्यों ठगता है? जिसमें सच्चाई होती है उसकी सारी क्रियों लोगों के लिए सच्चे ज्ञान एवं शांति प्रदायक होती हैं। जो सच्चा होता है वह बाजीगरी नहीं करता। सच्चा तो उलझे हुए को सुलझाता है। साहेब कहते हैं कि जो जैसा समझता है वैसी उसकी दशा होती है। जो बाजीगर को ही सच्चा मानता है वह उसके धोखे में पड़ेगा। परन्तु जिसने समझ लिया कि यह सब मन का खेल है, बाजीगर माना हुआ ईश्वर ही मन का खेल है, वह काल्पनिक ईश्वर में न उलझकर अपने आत्मदेव की उपासना करता है जो सच्चा ईश्वर है। ईश्वर, ब्रह्म, परमात्मा–जैसे सारे शब्दों की चरितार्थता व्यक्ति की अपनी आत्मा में ही है। अतएव हमें किसी धोखेबाज बाजीगर के पीछे न लगकर अपने आत्मदेव की उपासना करनी चाहिए, अपने चेतनस्वरूप में रमना चाहिए। निजस्वरूप आत्माराम ही हमारा परम उपासनीय एवं विश्रामस्थल है। इस भाव को समझने के लिए अगला शब्द मनन करने योग्य है।

निजस्वरूप–स्थिति ही परम प्राप्तव्य है

शब्द–79

कहहु हो अम्मर कासों लागा, चेतनहारा चेत सुभागा॥ 1॥
अम्मर मध्ये दीसे तारा, एक चेता एक चेतवनहारा॥ 2॥
जो खोजो सो उहवाँ नाहीं, सो तो आहि अमरपद माहीं॥ 3॥
कहहिं कबीर पद बूझै सोई, मुख हृदया जाके एकै होई॥ 4॥

शब्दार्थ—अम्मर=अविनाशी चेतन। लागा= आसक्त होना। चेतनहारा= चेतनेवाला, ज्ञानवाला। सुभागा=भाग्यवान। अम्मर=आकाश। तारा=तारे, नक्षत्र, सितारे। उहवाँ=विजाति में, जड़ में, आकाश में। अमरपद= चेतनस्वरूप, आत्मस्वरूप। पद=निजस्वरूप का विषय।

भावार्थ—कहो, हे अविनाशी चेतन! तू किसमें आसक्त हो रहा है! तू जिसमें आसक्त हो रहा है, वह नाशवान है और तू अविनाशी है। हे सौभाग्यशाली ज्ञानवान चेतन! तू मोह-नींद से जग जा!॥ 1॥ जैसे सारे ज्योतिपिंड तारे आकाश के भीतर दिखते हैं, वैसे सारे ज्ञान-विज्ञान तेरे अन्दर दिखते हैं। सभी मनुष्य ज्ञानस्वरूप हैं, बस, अन्तर इतना ही है कि एक जगने वाला एवं ज्ञान की प्रेरणा लेने वाला शिष्य है तथा दूसरा जगाने वाला ज्ञानप्रेरक गुरु है॥ 2॥ जिस परमशांति एवं परमविश्राम को खोज रहे हो वह न विजाति विषयों में है, न आकाश में है, न आकाश में बिखरे किसी जड़-पिंड में है; वह तो तुम्हारे अविनाशी चेतनस्वरूप में है॥ 3॥ कबीर साहेब कहते हैं कि निज अविनाशी चेतनस्वरूप एवं आत्मपद को वही समझ सकता है जिसके वाणी और मन में एक ही सत्य समाया हो॥ 4॥

व्याख्या—मनुष्य का शरीर तो नाशवान है, परन्तु इसमें रहने वाला चेतन अविनाशी है। यह अविनाशी चेतन ही व्यक्ति का निजस्वरूप है। परन्तु वह इस तथ्य को नहीं समझता। वह अपने अविनाशी चेतनस्वरूप में न रमकर जड़ विजाति देह, गेह, प्राणी, पदार्थों एवं विषयों में रमता रहता है। जीव हर समय अपने आप को भूलकर अपने से भिन्न छूटने वाली नाशवान वस्तुओं में आसक्त होता रहता है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं "कहहु हो अम्मर कासों लागा" यहां वे संबोधन में ही मानो हमें हमारे स्वरूप की याद दिला देते हैं कि तू अविनाशी है और जिसमें तू लग रहा है, जिसमें आसक्त हो रहा है वह नाशवान है। साहेब कहते हैं कि हे अविनाशी! तू किसमें मोह कर रहा है! राग करना या द्वेष करना यही संसार में लगना है। हम जिन वस्तुओं को लेकर राग-द्वेष करते हैं वे क्षणभंगुर एवं नाशवान हैं। नाशवान वस्तुओं के लिए मुझ अविनाशी का विचलित होना मेरा घोर अज्ञान है। मनुष्य का चित्त विषयों में निरन्तर भटकता रहता है। वह अपने स्वरूप के अज्ञानवश उन्हीं का निरन्तर चिन्तन करता रहता है जो क्षण-क्षण छूटने वाले हैं। ये शरीर-संसार जीव के कभी नहीं हो सकते, परन्तु यह इन्हीं के राग-द्वेष में सदैव पचता रहता है। बड़े-बड़े अहंकारी राजे-महाराजे सब कुछ यहीं छोड़-छोड़कर चले गये, फिर भी हमारी आंखें नहीं खुल रही हैं। अति प्रिय मानी गयी देह तक जीव के साथ नहीं जाती, फिर हम किसका अहंकार कर रहे हैं!

"चेतनहारा चेत सुभागा" सद्‌गुरु कहते हैं कि हे सौभाग्यशाली मनुष्य! तू ज्ञानस्वरूप है, जागनेवाला है। तू अपने आप में जग जा! छोड़ दे सारे छूटने वाले प्राणी-पदार्थों का मोह। जीव का मानव-शरीर में आना ही उसका सौभाग्य है; क्योंकि इस शरीर में विवेक-साधन है। यह साधन अन्य योनियों में नहीं है। जीव मानव चोला को पाकर भी अविवेक में डूबा रहे, इससे बड़ा प्रमाद और क्या होगा! साहेब याद दिलाते हैं कि हे चेतन! तू मानव-शरीर में रहने के कारण सौभाग्यवान है। तू आज मोह-माया को छोड़कर सावधान हो जा।

"अम्मर मध्ये दीसे तारा" पहली पंक्ति का 'अम्मर' शब्द अविनाशी चेतन के अर्थ में था। परन्तु इस पंक्ति का 'अम्मर' शब्द आकाश के अर्थ में है। सारे तारे आकाश में होते हैं। यह कल्पना ही व्यर्थ है कि कोई तारा आकाश के बाहर भी होगा। आकाश का अर्थ है खाली जगह, शून्य। शून्य में, अवकाश में ही तो सारे पदार्थ रहते हैं। इसलिए समस्त जड़ वस्तुं आकाश में रहती हैं। इसमें यह भाव छिपा है कि इसी प्रकार सारा ज्ञान-विज्ञान जीव में रहते हैं। यह चेतन ही तो ज्ञान-विज्ञान का आधार है। जीव को हटा देने पर ज्ञान-विज्ञान का कोई आधार नहीं रह जायेगा।

"एक चेता एक चेतवनहारा" मानव से कीट तक सभी देहों में रहने वाले जीव चेतनस्वरूप हैं। मूलतः सब ज्ञानस्वरूप हैं। परन्तु मानव में विवेक है, इसलिए विशेष ज्ञानोदय यहीं हो सकता है। सभी मानव में विवेक-शक्ति है। उनमें अन्तर इतना ही होता है कि एक चेतता है दूसरा चेताता है, एक जागता है तथा दूसरा जगाता है। जो जागना चाहता एवं जगता है वह शिष्य कहलाता है और जो जगाता है वह गुरु कहलाता है। हर क्षेत्र में जगने-जगाने वाले होते हैं। एक सीखता है दूसरा सिखाता है, एक पढ़ता है दूसरा पढ़ाता है, एक बोध लेता है दूसरा बोध देता है, एक शिष्य कहलाता है दूसरा गुरु कहलाता है, परन्तु वे सब मूलतः एक ही समान चेतन होते हैं। गुरु-शिष्य में मौलिक अन्तर नहीं है। हर जीव में गुरुत्व है, एक-दूसरे द्वारा उसका उद्‌घाटन होता है। ज्ञान की पूर्ण दशा प्राप्त हो जाने पर गुरु तथा शिष्य दोनों समान स्थिति को प्राप्त हो जाते हैं। देह व्यवहार में उनकी गुरु-शिष्य मर्यादा रहती है, परन्तु ज्ञान तथा स्थिति में दोनों समान स्तर के हो जाते हैं। इस प्रकार सब जीव ज्ञाननिधान हैं।

"जो खोजो सो उहवाँ नाहीं" तुम जो खोजते हो वह वहां नहीं है। जीव क्या खोजता है? जीव खोजता है परम विश्राम, परम शांति। परन्तु वह वहां नहीं है। 'वहां' या 'उहवां' का क्या भाव है? व्यक्ति की अपनी चेतना से,

अपनी आत्मा से जो कुछ अलग है वह 'उहवाँ' है, उससे दूर है। आकाश में किसी स्वर्ग की कल्पना, अपनी आत्मा से अलग किसी परमात्मा की कल्पना या संसार के किसी प्राणी-पदार्थ, भोग-वस्तु, पद, अधिकार, मान, पूज्यता, प्रतिष्ठा आदि में परमविश्राम एवं परमशांति खोजना महान भूल है। साहेब कहते हैं कि जो कुछ तुम्हारी चेतना से, तुम्हारे आपा एवं तुम्हारे स्व से अलग होगा वह तुम्हारा परम विश्रामस्थल, परमशांति का निधान बन ही नहीं सकता। तुम्हारी स्थिति पर-स्वरूप में कैसे हो सकती है ! अपनी आत्मा से हटकर कहां शांति है ! तुम अपने आप को छोड़कर बाहर स्थायी सुख-शांति खोजते हो, परन्तु ध्यान रहे, तुम बाहर कभी शांति न पाओगे। तुम्हें बाहर कहीं कोई न परमात्मा मिलने वाला है न अनंत शांति।

"सो तो आहि अमरपद माहीं" वह तो अमरपद में है। अनंत सुख, अनंत शांति, परमानंद, परमविश्राम, ब्राह्मीसुख, आत्यान्तिक सुख तुम जितने नाम लेते हो इन सबकी चरितार्थता स्वरूपस्थिति एवं पारखस्थिति में ही है। अमरपद तुम्हारी आत्मा है, तुम्हारा चेतनस्वरूप है। उसमें ही स्थिति होने पर तुम्हारे सारे दुखों का अन्त होगा और दूसरे शब्दों में तुम्हें परमशांति मिलेगी। यह निजस्वरूप की स्थिति ही मानो परमात्मा को, ब्रह्म को, खुदा को, गॉड को, परमपद को, परम निर्वाण को पा जाना है। क्योंकि निज चेतनस्वरूप के अलावा सब धोखा है, सब शब्दों का बवंडर है। इसलिए अपना परमविश्राम वहां न खोजकर अमरपद में खोजो। खोजना भी कुछ नहीं है, बाहर की सारी वासनों छोड़ दो, सारी दौड़ छोड़ दो और अपने चेतनस्वरूप में स्थित हो जाओ, बस, मानो सारा श्रेय मिल गया।

"कहहिं कबीर पद बूझै सोई, मुख हृदया जाके एकै होई।" सद्गुरु कहते हैं कि इस अविनाशी पद को, अमर स्थिति को वही समझ सकता है, वही इसमें विश्राम पा सकता है जिसके मुख में तथा हृदय में एक ही सत्य समाया हो। जैसी ज्ञान की बातें मुख से कही जाती हैं, वैसे जब मन में उनको धारण किया जाता है, तभी अमर स्थिति हो सकती है। यदि हम मुख से पाठ करते हैं "काल न खाय कल्प नहिं व्यापै...अजरहम् अमरहम् अनाशी स्वरूपम्...मैं चेतन निष्काम स्वरूप" आदि किन्तु हमारे हृदय में भय, कामनादि द्वंद्व मचा रहे हैं तो यह "मुख कछु और हृदय कछु आना, सपनेहु काहु मोहि नहिं जाना" की बात हुई। हमें राग, भय, कामना, तृष्णा सारे मानसिक विकारों को सर्वथा छोड़ना होगा। मोक्ष मन की अनासक्ति है। अनासक्ति वैराग्य की पक्की दृढ़ता है। जिस संसार में हमें सब कुछ छोड़कर जाना ही है, वहां की वस्तुओं के लिए हमें क्या मोह, क्या राग तथा क्या द्वेष करना चाहिए ! हमें

एक दिन शरीर छोड़कर अकेला हो जाना है, फिर शरीर के छूटने का भय क्यों! हम राग-द्वेष-विहीन, निर्भय, निष्काम, निर्द्वंद्व, तृष्णागत, परमशांति आदि बड़े-बड़े उच्च भाववाचक शब्दों को जबान से सैकड़ों बार दोहरा लेते हैं, फिर उनके भाव हृदय में क्यों नहीं धारण करते! किस कामना से हम अपने ज्ञान के अनुरूप आचरण नहीं करते! शांति से बढ़कर क्या लाभ हो सकता है! इसीलिए सद्गुरु कहते हैं कि स्वरूपस्थिति वही समझ सकता है, वही उसमें स्थित हो सकता है जिसमें कथनी-करनी की एकता होगी।

अपने आप को वासनाओं से मुक्त करो

शब्द-80

बन्दे करिले आप निबेरा॥ 1॥
आपु जियत लखु आप ठौर करु, मुये कहाँ घर तेरा॥ 2॥
यह औसर नहिं चेतहु प्राणी, अन्त कोई नहिं तेरा॥ 3॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, कठिन काल को घेरा॥ 4॥

शब्दार्थ—बन्दे=गुलाम, वशवर्ती। आप=स्वयं। निबेरा=निबेड़ा, छुटकारा, मोक्ष। ठौर=स्थान, जगह, स्थिति। काल=वासना, अज्ञान, कल्पना, मृत्यु। घेरा=जाल, फैलाव, विस्तार, आक्रमण।

भावार्थ—हे बंधमान जीव! तू अपने आप का स्वयं छुटकारा कर॥ 1॥ जीवन रहते ही अपने आप को समझ कि मैं कौन हूं तथा अपने आप की स्थिति कर! तू इसे समझ कि शरीर न रहने पर तेरा निवास कहां होगा॥ 2॥ हे मनुष्य! यदि तू इस सुनहले समय में नहीं सावधान हुआ तो समझ ले कि अन्त में तेरा कोई सहायक नहीं होगा॥ 3॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो, सुनो, काल का आक्रमण जबर्दस्त है॥ 4॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर ने उक्त चार पंक्तियों में मनुष्य-जीवन का सार कह दिया है। इतना ही सोचा-समझा जाये तथा आचरण में उतार लिया जाये तो बेड़ा पार हो जाये। वे इस शब्द में पहली बात कहते हैं "बन्दे करिले आप निबेरा।" इस छोटी पंक्ति में महत्त्वपूर्ण बात है कि तुम अपने आप का स्वयं छुटकारा कर लो। इसका मतलब है कि हम बंधे हैं, तभी हमें छुटकारा करने की राय दी जाती है। साहेब इसकी याद सम्बोधन के शब्द में ही "बन्दे" कहकर दिला देते हैं। बन्दे का अर्थ ही है जो वशवर्ती हो, बंधा हो, गुलाम हो। वैसे विनम्रता के लिए भी बड़े पुरुषों के सामने अपने आप को बन्दा, दास, सेवक, गुलाम कहा जाता है। परन्तु दोनों में भाव का बड़ा अन्तर होता

है। जो शरीर तथा संसार की वासनाओं, अहंता-ममताओं में बंधा है, तथा जो अपनी विनम्रता के लिए अपने आप को बन्दा कहता है, दोनों में कोई समानता ही नहीं है। कितने लोग 'दास' शब्द गुलामी का सूचक मानकर अपने नाम में नहीं लगाते। यह उनकी भावना है। वैसे यह समझा जा सकता है कि किसी के नाम में दास न होने से वह मुक्त नहीं होता तथा किसी के नाम में दास जुड़ा होने से वह बंधमान नहीं होता।

सद्गुरु कबीर बन्दे कहकर हमें संकेत करते हैं कि तुम वासनाओं के बन्धनों में बंधे हो। उस पर ध्यान दो और उससे अपने आप को छुड़ाओ। ध्यान रहे, तुम्हारे बन्धनों को तुमसे अलग कोई दूसरा नहीं छुड़ा सकता। बन्धन मन के हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, अहंता, ममता, वासना ये ही सब बन्धन हैं और ये सब मनोगत हैं। इन्हें हमने ही बनाये हैं। इन्हें हम ही मिटा सकते हैं। बाहर के बन्धन होते रस्सी, जंजीर एवं कारावास के तो दूसरा छुड़ा सकता था। ये तो मन के बन्धन हैं जिनके निर्माता हम हैं, साक्षी हम हैं, और हम ही इन्हें नष्ट भी कर सकते हैं। संत-गुरु अपनी वाणी तथा उच्च आदर्श से हमें केवल प्रेरणा दे सकते हैं। उनकी प्रेरणा को भी हमें ही समझना तथा ग्रहण करना पड़ेगा। हमारा कोई मकान बना सकता है, भोजन बना सकता है, बिस्तर बिछा सकता है और अन्य हमारे कई काम कोई दूसरा कर सकता है, परन्तु हमारे मन के बन्धन कोई दूसरा नहीं मिटा सकता। इसे हमें ही मिटाना है इसीलिए सद्गुरु कबीर कहते हैं कि हे वासनाओं में बंधा जीव ! तू इन वासनाओं से अपने आप को छुड़ा ले।

"आपु जियत लखु आप ठौर करु, मुये कहँ घर तेरा।" इस पंक्ति में सद्गुरु ने तीन बातें कही हैं। पहली बात है जीवन रहते-रहते अपने आप को देख लो, समझ लो कि तुम कौन हो। हम सबको देखते हैं, किन्तु अपने आप को नहीं देखते। अपने आप को देखने का मतलब है अपने आप को समझना। हम सारे संसार को समझने की चेष्टा करते हैं; चिकित्सा, व्याकरण, संगीत, भौतिकविज्ञान, वनस्पतिविज्ञान, प्राणिविज्ञान, मनोविज्ञान, नाना कला-कौशल, सबको समझने का प्रयास करते हैं, केवल यही नहीं समझते कि 'मैं कौन हूं'। और इसके समझे बिना हमारा सारा ज्ञान अन्त में काम नहीं देता। हमें दूसरा ज्ञान परमशांति नहीं दे पाता। अपने आप को दो ढंग से समझा जाता है—एक है अपने मन-स्वभाव को समझना और उन्हें सुधारना तथा दूसरा है अपने परिनिष्ठित चेतनस्वरूप को समझना कि मैं जड़दृश्यों से पृथक शुद्ध चेतन हूं, असंग हूं, अकेला हूं, पूर्णकाम एवं पूर्णतृप्त हूं।

इस पंक्ति में सद्गुरु कबीर ने दूसरी बात कही है "आप ठौर करु"। अपना ठौर करना, अपने लिए जगह बना लेना बहुत बड़ी बात है। जब कोई

पढ़ाई में, नौकरी में, व्यापार में, खेती में, राजनीति में, फिल्म में, खेल में, संगीत में, पत्रकारिता में, साहित्य में या कहीं भी किसी क्षेत्र में अपनी जगह बना लेता है, तब वह अपने क्षेत्र में सफल माना जाता है। परन्तु जीवन की अंतिम सफलता के लिए हमें अपना ठौर खोजना होगा, हमें जगह बनानी होगी। यदि भटकते हुए आदमी को एक स्थायी मकान मिल जाये तो उसकी खुशी वही जान सकता है। हमारे भटकते हुए मन की जगह कहां है, वह कहां स्थित हो सकता है, जहां से फिर न उठना पड़े ! इस जगह की हमें खोज करनी चाहिए। हमें अपनी जगह बनानी चाहिए। यह जगह है मेरी अपनी चेतना, मेरी अपनी आत्मा। किसी के पास स्थायी घर न हो तो वह जहां-तहां भटकता है। यदि उसे स्थायी घर मिल जाये तो उसका भटकना छूट जाता है। हमारा मन इसलिए भटकता है कि उसे स्थायी घर नहीं मिला है। जब अपनी चेतना के स्थायी घर का परिचय हो जायेगा, तब कहीं नहीं भटकेगा। "आप ठौर करु" अर्थात स्वरूपस्थिति करो, अपनी आत्मा में लीन होओ। तुम्हारी स्थायी जगह तुम्हारी अपनी आत्मा ही है। तुम्हारा चेतनस्वरूप ही तुम्हारा परमाश्रय है।

इस पंक्ति में तीसरी बात है "मुये कहाँ घर तेरा" मर जाने के बाद तुम्हारा घर कहां होगा ! मनुष्य को सबसे बड़ा भय और अनिश्चितता यही है कि मर जाने के बाद क्या होगा ! मृत्युकाल में, किसी प्रकार शारीरिक कष्ट हो तो अलग बात है, अन्यथा कोई कष्ट नहीं होता। यदि उस समय मन में कोई कष्ट होता है तो केवल इसलिए कि यहां का अपना माना हुआ सब छूट रहा है तथा मरने के बाद की स्थिति का पता नहीं है। इसीलिए धार्मिकों ने कहा है कि तुम अच्छा काम करो तो मर जाने के बाद यहां से भी अच्छी जगह तुम्हें मिलेगी। स्वर्गलोक एवं मोक्षलोक की कल्पना इसी सांत्वना के लिए है। स्वर्ग और मोक्षलोक की कल्पना तो केवल रूपक है, परन्तु उसमें छिपी बातें सत्य हैं। जीव जड़ तत्त्वों से विलक्षण होने से अमर है। वह इस शरीर के मिट जाने पर भी नहीं मिटता। यदि वह वासनाओं के अधीन है तो जैसे उसके अच्छे-बुरे कर्म होंगे वैसे उसे आगे जन्मांतर में फल मिलेंगे। सत्कर्म करने वाले को कोई भय नहीं है। शरीर छूट जाने के बाद भी उनके लिए सुख का साम्राज्य है। आज अच्छे कर्म करने वाला जन्मांतर में भी सुखी रहेगा। यह एक वैज्ञानिक तथ्य है कि जो हम आज हैं वही कल हैं। आज हमें ठीक होना चाहिए तो कल हम अपने आप ठीक रहेंगे। यदि जीव ने वासनाओं का त्याग कर दिया है, यदि वह आज ही सारी वासनाओं से मुक्त है, तो उसे मर जाने के बाद की चिंता करने की आवश्यकता ही नहीं है कि उसका घर तब कहां

होगा। बोधवान तो जानता है कि अपना स्थायी घर अपनी स्वरूपस्थिति है। जब तक हम अपना घर देह समझते थे तब तक तो भय था कि वह छूट जायेगी, परंतु जब यह समझ आ गयी कि अपना घर अपनी चेतना है, अपनी आत्मा है, तब अब अपना घर छूटने का भय कहां रहा! देह तथा देह संबंधी प्राणी-पदार्थ तो छूटते हैं, परंतु व्यक्ति से उसकी अपनी आत्मा कभी नहीं छूटती। ज्ञानी पुरुष समझता है कि अपना चेतन घर, अपना आत्माराम घर, अपना पारखप्रकाश घर मिल गया है, अब यह कभी छूटने वाला नहीं है। अतएव साहेब कहते हैं कि मरने के बाद तुम्हारा घर कहां होगा इसे समझो। जो अपने अविनाशी चेतन-धाम को पा गया उसे मरने के बाद की चिन्ता मिट गयी। जो अपने आत्माराम में रम गया उसका शरीर कुछ दिन बना रहे या चाहे जब छूट जाये उसके लिए दोनों बराबर हैं। स्वरूपस्थिति एवं आत्मस्थिति एकरस और अमर है। इस प्रकार ज्ञानी पुरुष निर्भय होता है। उसे भूत, भविष्य की चिन्ता नहीं होती।

"यह औसर नहिं चेतहु प्राणी, अन्त कोई नहिं तेरा।" यह मार्मिक चेतावनी है। आज हमारा सुनहला अवसर है। साधना के लिए स्वस्थ शरीर है, साधु-संगत मिली है, अच्छे साहित्य मिले हैं, पथ-प्रदर्शक शरणरक्षक गुरु मिले हैं, समझ भी कुछ-न-कुछ मिली है। अब हमें सावधान हो जाना चाहिए। हमें अपने स्वरूप को पहचानना चाहिए और सारी जड़-वासनाओं को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित होना चाहिए। सारे भय जड़ पदार्थों के राग का फल है। देह, गेह, प्राणी, पदार्थ, पद-प्रतिष्ठा आदि दृश्य-जगत में हमारी अहंता-ममता एवं वासना लगी है, यही हमारे भय का कारण है। हमें तत्काल सारी अहंता-ममता को छोड़कर अपने चेतनस्वरूप में स्थित होना चाहिए, जिससे हमारा सारा भय छूट जाये और कच्ची स्थिति से मुक्त होकर पक्की दशा में पहुंच जायें। यदि हमने यह काम अभी नहीं कर लिया तो अन्त में हमारा साथी कोई नहीं होगा। जब शरीर साथ नहीं देता तब अन्य कौन साथ देगा!

"कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, कठिन काल को घेरा।" सद्गुरु कहते हैं कि हे संतो! काल का घेरा बड़ा कठिन है। यहां 'काल' शब्द में श्लेष है। इसमें दो अर्थ चिपके हैं। काल का अर्थ है अज्ञान और काल का अर्थ है मौत। इस अज्ञान का घेरा, अज्ञान का विस्तार बड़ा कठिन है। जीव थोड़ा भी असावधान हो तो तुरंत अज्ञान के जाल में पड़ जाता है; क्योंकि अज्ञान का विस्तार बड़ा कठिन है। यह कोई साधक ही समझ पाता है कि उसे क्षण में ही अज्ञान कहां ले जाकर पटक दे सकता है। इसलिए वह सावधान रहता है।

हमारे मन का अज्ञान हमें क्षण-क्षण भव में डुबाने के लिए मानो तैयार बैठा है। हमें उससे सतत सावधान रहना चाहिए। साहेब ने साखीग्रंथ में कहा है— "मन को मिरतक जानि के, मत कीजै विश्वास। साधु तहाँ तक भय करें, जहँ तक पिंजर सांस।" अतएव साधक वही है जो अन्तिम सांस तक सतत सावधान रहता है।

दूसरा काल मौत है। इसका भी विस्तार कठिन है। यह इस शरीर के जन्मकाल से इसे निरन्तर मार रहा है। इस शरीर को काल निरन्तर निगल रहा है। यह इसे कब पूरा निगल लेगा, इसे कोई नहीं जानता। इसीलिए अपने कल्याण का काम अति शीघ्र कर लेना चाहिए। घर में आग लगने पर कुआं खोदने का उपक्रम करना बेकार होगा। जब तक जरा अवस्था दूर है, मौत नहीं आयी है, अपने कल्याण का काम कर लो। शीघ्रातिशीघ्र सारी वासनाओं को छोड़कर स्वरूपस्थिति कर लो। यही अपने आप को संसार से छुड़ाना है। यही अपने आप का निबेड़ा करना है। अहंता-ममता एवं वासना ही बंधन है, इसको मिटा देने पर जीव मुक्त है।

परोक्ष-भक्तिरूपी चुनरी का चित्रण तथा राम और कृष्ण-भक्ति का ऐतिहासिक अध्ययन

शब्द-81

ऊतो रहु ररा ममा की भाँति हो, सब सन्त उधारन चूनरी॥ 1॥
बालमीक बन बोइया, चुनि लीन्हा शुकदेव॥ 2॥
कर्म बिनौरा होइ रहा हो, सूत काते जयदेव॥ 3॥
तीन लोक ताना तनो है, ब्रह्मा विष्णु महेश॥ 4॥
नाम लेत मुनि हारिया, सुरपति सकल नरेश॥ 5॥
विष्णु जिभ्या गुण गाइया, बिनु बस्ती का देश॥ 6॥
सूने घर का पाहुना, तासों लाइनि हेत॥ 7॥
चारि वेद कैंड़ा कियो, निराकार कियो राछ॥ 8॥
बिने कबीरा चूनरी, मैं नहिं बाँधल बारि॥ 9॥

शब्दार्थ—ऊतो=भक्तजन। ररा ममा की भाँती=रामनाम की तरह। उधारन=उद्धार के लिए। बन=कपास[1]। बिनौरा=बिनौला, कपास के बीज। हेत=प्रेम। कैंड़ा=औजार, वह यंत्र जिससे किसी वस्तु का नक्शा उतारा जाता

1. बृहत् हिन्दी कोश, ज्ञानमंडल लिमिटेड, कबीर रोड, वाराणसी।

है, मानदंड, पैमाना। निराकार=परमात्मा, शिव, विष्णु[1]। राछ=ताने का तागा उठाने-गिराने का जुलाहों का एक औजार। कबीरा=उपासक, भक्त। चूनरी=चुनरी, लाल जमीन का कपड़ा जिस पर सफेद या दूसरे रंग की बूटियां बनी हों, तात्पर्य में भक्तिरूपी साड़ी। बारि=वारि, हाथी बांधने की जंजीर, हाथी फंसाने का गड्ढा या फंदा, हाथी बांधने का स्थान, तात्पर्य में बन्धन[2]।

भावार्थ—वे तो सब भक्ति-पथ के संतजन संसार के उद्धार के लिए राम-नाम की भांति किसी नाम का आधार लेकर भक्ति की चुनरी बुनते रहे॥ 1॥ इस क्रम में सर्वप्रथम वाल्मीकि ने आदिकाव्य रामायण लिखकर और श्री रामचन्द्र का महत्त्व प्रदर्शित कर मानो इस दिशा में कपास बोया। पीछे शुकदेव मुनि ने आकर उसे चुन लिया और कृष्ण-भक्ति पर प्रकाश डाला॥ 2॥ कर्मरूपी बिनौला निकालकर प्रसिद्ध भक्त जयदेव ने गीतगोविन्द लिखकर मानो उसका सूत कात डाला॥ 3॥ ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश के नाम पर संसार में भक्तिरूपी चुनरी बुनने का ताना तना गया॥ 4॥ इस प्रभाव में आकर मुनिजन, देवताओं के सहित इन्द्र तथा समस्त भक्त राजे-महाराजे भी नाम जपते-जपते थक गये, परन्तु उस नामी को नहीं पाये॥ 5॥ पंडितों ने पुराणों में विष्णु की जबान से ऐसे भगवान तथा स्वर्ग का गुणगान करवाया जो बिना बस्ती के देश के समान घोर काल्पनिक है। जैसे किसी सूने एवं निर्जन घर में पहुना जाये तो उसका क्या स्वागत होगा, वैसे पंडितों ने भक्तों को कल्पित भगवान तथा स्वर्गरूपी सूने घर का पहुना बनाया और कहा कि उन्हीं से प्रेम करो॥ 6-7॥ सभी मत के भक्तों ने अपना भक्ति-नक्शा खींचने के लिए चारों वेदों को अपना औजार बनाया और परमात्मा तथा सगुणरूप विष्णु और शिव को राछ बनाया और भक्ति-चुनरी बुनने लगे। कबीर साहेब कहते हैं किन्तु मैं इस बन्धन में किसी को नहीं बांधता॥ 8-9॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर ने यहां सगुण भक्ति को एक चुनरी के रूपक में उपस्थित कर उसका खाका खींचा है और उसका ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए उसके घोर काल्पनिकरूप का दिग्दर्शन कराया है, जो बड़ा ही रोचक तथा मार्मिक है।

"ऊतो रहु ररा ममा की भांति हो, सब सन्त उधारन चूनरी।" वे सभी संत जो सगुण भक्ति-पथ के पथिक थे जगत-जीवों के कल्याण करने के विषय में

---

1. बृहत् हिन्दी कोश।
2. बृहत् हिन्दी कोश।

सोचते रहे। उन्होंने सोच-विचार कर भक्ति की चुनरी बुनना शुरू किया। उस चुनरी के साथ राम-नाम जुड़ा। इसी भांति कृष्ण-नाम, नारायण-नाम, शिव-नाम आदि अनेक नाम जुड़े अर्थात नारायण, शिव, कृष्ण, राम आदि की भक्ति चलने लगी।

भक्ति-भावना मनुष्य के जीवन के साथ से है। विश्व के प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद में अनेक प्राकृतिक शक्तियों को देवी-देवता मानकर उनकी प्रार्थनों की गयी हैं। ऋग्वेद के विष्णु सूक्त तथा वरुण सूक्त में भक्ति के बीज हैं। वैदिक साहित्य में 'भक्ति' शब्द संभवतः पहली बार श्वेताश्वतर उपनिषद् में आया "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।"[1] अर्थात जैसे देव में परम भक्ति होती है वैसे गुरु में होती है।

प्रवृत्तिमूलक रागात्मक सगुण भक्ति का प्रथम सूत्रपात संभवतः यादवों में हुआ। जहां से यदुवंश का आरम्भ हुआ है उसके मूल में 'अंशु' नामक एक पुरुष थे। उनके पुत्र 'सत्वत' थे जो महान प्रतापवान राजा हुए हैं। इन्हीं के नाम से 'सात्वत-वंश' चला। 'सात्वत-वंश' को आगे चलकर यादव वंश कहा जाता है। इन सात्वतों में ही वैष्णवों का भागवत संप्रदाय शुरू हुआ। कूर्म पुराण के अनुसार सत्वत ने नारद से भागवत-धर्म का उपदेश पाया। सात्वतों के द्वारा मथुरा-वृन्दावन से लेकर मध्य भारत, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक, तमिल आदि क्षेत्रों में भागवत-भक्ति फैली और ईसा के एक हजार वर्ष बाद तमिल एवं द्रविड़ देश से लौटकर कर्नाटक, महाराष्ट्र, गुजरात होकर मथुरा-वृन्दावन में आयी। इससे प्रभावित होकर भागवतकार ने यहां तक लिख दिया कि भक्ति द्रविड़ में पैदा हुई, कर्नाटक में बढ़ी, महाराष्ट्र में कुछ पुष्ट हुई, गुजरात में बूढ़ी हो गयी, परन्तु वृन्दावन में पहुंचकर पुनः युवती हो गयी।[2]

सात्वतों की भक्ति परम्परा को सात्वत-संप्रदाय कहा जाने लगा। इसमें पहले नारायण की उपासना थी। परन्तु सात्वत-वंश में आगे चलकर श्री कृष्ण एक युगपुरुष हुए जिन्होंने स्वयं नारायण का स्थान ग्रहण कर लिया। कृष्ण पहले नारायण एवं विष्णु के अवतार माने गये। आगे चलकर परब्रह्म परमात्मा बन गये। पहले यह सम्प्रदाय एकांतिक, नारायणीय तथा सात्वत नाम से जाना जाता था। जब यह कृष्ण की उपासना से जुड़ गया तब से भागवत-संप्रदाय कहलाने लगा।

---

1. श्वेताश्वतर उपनिषद् 6/23।
2. श्रीमद्भागवतमाहात्म्य 1/48-50।

ऐतिहासिक अध्ययन के अनुसार ईसा के चार सौ वर्ष पहले गीता की रचना हुई। इसमें श्री कृष्ण पूर्ण परमात्मा के रूप में प्रतिष्ठित हुए। तब तक दाशरथि राम की प्रतिष्ठा परमात्मा के रूप में नहीं थी। तब तक वे एक शस्त्रधारी वीर के रूप में माने जाते थे। गीताकार ने श्री कृष्ण के मुख से कहलवाया है कि मैं शस्त्रधारियों में राम हूं—रामः शस्त्रभृतामहम् (10/31)। इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से कृष्ण-भक्ति ईसा के सैकड़ों वर्ष के पूर्व से प्रचलित थी, परन्तु दशरथ-पुत्र श्री राम ईस्वी सन् के आरम्भ के लगभग विष्णु के अंशावतार माने गये हैं, परन्तु उनकी पूजा-उपासना ग्यारहवीं शताब्दी तक शुरू हुई। सर रामगोपाल भंडारकर का भी कहना है कि यद्यपि ईस्वी सन् के आरम्भ से राम विष्णु के अवतार माने गये, किन्तु उनकी विशेष रूप से प्रतिष्ठा ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग ही आरम्भ हुई।

इतिहासवेत्ता डॉ. राजबली पांडेय लिखते हैं—"वाल्मीकीय रामायण में राम का ऐश्वर्यस्वरूप तथा चरित्र बहुत ही उच्च तथा आदर्श नैतिकता से भरपूर है। परवर्ती कवियों, पुराणों और विशेषकर भवभूति (आठवीं शताब्दी का प्रथमार्ध) के दो संस्कृत-नाटकों ने राम के चरित्र को और अधिक व्याप्ति प्रदान की। इस प्रकार रामायण के नायक को भारतीय जन ने विष्णु के अवतार की मान्यता प्रदान की। इस बात का ठीक प्रमाण नहीं है कि राम को विष्णु का अवतार कब माना गया, किन्तु कालिदास के रघुवंश काव्य से स्पष्ट है कि ईसा की आरंभिक शताब्दियों में यह मान्यता हो चुकी थी।....यद्यपि राम का देवत्व मान्य हो चुका था, परन्तु राम-उपासक कोई संप्रदाय इस दीर्घकाल में था, इस बात का प्रमाण नहीं मिलता। किन्तु यह मानना पड़ेगा कि 11वीं शताब्दी के बाद रामसंप्रदाय का आरम्भ हो चुका था।"[1]

पहले कुरुक्षेत्र के आसपास भारत की रचना हुई। पीछे गंगा-यमुना के संगम के आस-पास वाल्मीकीय रामायण का छोटा रूप बना। इसके बाद महाभारत का रूप तैयार होकर भारत महाभारत हो गया। वाल्मीकीय रामायण में महाभारत के पात्रों तथा कथानक की चर्चा नहीं है और रामकथा के पात्रों तथा वाल्मीकीय रामायण का महाभारत में वर्णन है। "शांख्यायन आदि सूत्रों तथा पाणिनि में भारत के विषय में निर्देश मिलते हैं, रामायण के विषय में नहीं। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि 'भारत' की रचना रामायण के पूर्व हो चुकी थी।"[2] महाभारत के प्राचीन अंश (भारत) रामकथा के पात्रों

1. राम-हिन्दूधर्म कोश।
2. रामकथा, पृष्ठ 46।

की ही चर्चा करते हैं, रामायण की नहीं, किन्तु महाभारत के अपेक्षया नवीन अंश रामायण की चर्चा करते हैं। ईसा के चार सौ वर्ष पहले हुए पाणिनि के अष्टाध्यायी के व्याकरण के नियमानुसार वाल्मीकीय रामायण की रचना है ऐसा विद्वान मानते हैं। रामायण के पात्रों की चर्चा तो लोकगीत में बहुत पहले से थी; परन्तु वाल्मीकि की रामायण ईसा के तीन सौ साल के पहले से बनना शुरू हुआ।

सद्गुरु कबीर सामान्य हिन्दू-परम्परा की मान्यता के आधार पर कहते हैं—'बालमीक बन बोइया, चुनि लीन्हा शुकदेव।" वाल्मीकि महाराज ने रामायण नाम का आदि महाकाव्य लिखकर मानो भक्तिरूपी चुनरी बुनने के लिए बन बो दिया। बन कहते हैं कपास को और वन कहते हैं जंगल को, यह भेद ध्यान में रखना चाहिए। वाल्मीकि ने रामायण संक्षेप में लिखी और उसमें राम का मानवीय रूप रखा, यह रूप उदात्त था। पीछे के कवियों ने उसमें कथा जोड़कर राम आदि चारों भाइयों को विष्णु का अंशावतार घोषित कर दिया। उसके बाद अन्य कवियों ने अपनी नयी-नयी रामायणों में राम को अनन्त ब्रह्मांड नायक बना दिया। वाल्मीकीय रामायण में राम को उच्चदृष्टि से देखा गया, परन्तु उनके नाम-जप की उसमें कहीं चर्चा नहीं की गयी कि राम-राम जपने से मोक्ष होगा या पाप कटेगा। यह तो पीछे की रामायणों में राम को भक्तवत्सल कहा गया तथा उनका कथा-कीर्तन करना रामायण का अर्थ माना जाने लगा। शुकदेव जी ने इस भक्ति के कपास को चुन लिया। उन्होंने ब्रह्मज्ञान सहित कृष्ण-भक्ति का वर्णन भागवत आदि ग्रन्थों में प्रस्तुत किया। अथवा कहना चाहिए कि पंडितों ने शुकदेव के मुख से भागवत पुराण में ब्रह्मज्ञान सहित कृष्ण-भक्ति का वर्णन करवाया। भागवत पुराण भक्ति का प्रमुख ग्रन्थ है जिसमें रास पंचाध्यायी तक है, उसके साथ है "महाभारत का शांतिपर्व, भगवद्गीता, पांचरात्रसंहिता, सात्वतसंहिता, शांडिल्यसूत्र, नारदीय भक्तिसूत्र, नारदपंचरात्र, हरिवंश, पद्मसंहिता, विष्णुतत्त्वसंहिता, रामानुजाचार्य, माध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, वल्लभाचार्य आदि के ग्रन्थ।"[1]

"कर्म बिनौरा होइ रहा हो, सूत काते जयदेव।" कर्मरूपी बिनौले को निकालकर जयदेव ने इसका सूत काता। जयदेव का संस्कृत भाषा में लिखा गीतगोविन्द एक महत्त्वपूर्ण तथा ललित काव्य है। भाषा प्रांजल, सरल तथा प्रवाहपूर्ण है। यह राधामाधव का विरह काव्य श्रृंगाररस से पूर्ण है।

1. हिन्दू धर्म कोश, पृष्ठ 464।

गीतगोविन्द का प्रभाव कृष्ण चैतन्य पर भी पड़ा, जिनके द्वारा बंगाल में राधामाधव को श्रेय देकर एक भक्ति आंदोलन खड़ा हुआ।

"तीन लोक ताना तनो है, ब्रह्मा विष्णु महेश। नाम लेत मुनि हारिया, सुरपति सकल नरेश।" तीन लोक का अर्थ है पूरा संसार और यह पूरा संसार मानो भारतवर्ष ही है क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु, महादेव की मान्यता भारतवर्ष या वृहत्तर भारत में ही है। ब्रह्मा, विष्णु तथा शंकर ने संसार में भक्ति का ताना तना। अथवा पंडितों ने इनके नाम के आधार पर भक्तिकाव्य फैलाया। अथवा रज, सत, तम मानो तीन लोक हैं और ये ही क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और महादेव हैं। इन तीनों गुणों वाले मनुष्यों में भक्ति का प्रचार मानो भक्ति का ताना फैलाना है। सरल अभिप्राय यह है कि किसी देहधारी भगवान की अवधारणा कर उसके नाम-जपादि रूप भक्ति का प्रचलन हुआ। उस नाम को जपते-जपते मुनि, इन्द्र तथा सभी भक्त राजे-महाराजे भी हार गये, परन्तु वह भगवान उन्हें नहीं मिला। तात्पर्य यह कि भक्त-गण अपनी आत्मा से अलग किसी परमात्मा की कल्पना कर उसके नाम रटते रहे, उसका कथा-कीर्तन करते रहे, उसके लिए रोते-धोते रहे, परन्तु वह कभी भी उन्हें दर्शन नहीं दिया। कितने भक्त अपने भावावेश में एवं अपने मन की कल्पना में उसे देखते रहे, परन्तु कभी उन्हें उसका साक्षात्कार नहीं हुआ। इसलिए भक्तों के लिए "हारिया" शब्द का यहां प्रयोग किया गया।

"विष्णु जिभ्या गुण गाइया, बिनु बस्ती का देश। सूने घर का पाहुना, तासों लाइनि हेत।" पंडितों ने पुराणों में विष्णु के मुख से या वैष्णव महात्माओं के मुख से स्वर्ग का सुन्दर खाका खिंचवाया है। साकेतलोक, ब्रह्मलोक, गोलोक एवं शिवलोक तथा अनेक नाम लेकर स्वर्ग का बड़ा मनोरम वर्णन किया गया है और उसमें रहने वाले भगवान की तो सुन्दरता का वर्णन ही असंभव है। उनमें अनादि से अनन्त काल तक होने वाली रासलीला का भी प्रबन्ध कर लिया गया है। साहेब व्यंग्य करते हुए कहते हैं कि यह सब बिना बस्ती के देश का वर्णन है। भक्त लोग ऐसे देश का वर्णन करते हैं जहां कोई बस्ती नहीं है। अर्थात यह सब घोर कल्पना एवं निराधार बातें हैं। सूने घर में पहुना जाये तो उसका कौन स्वागत करे! ऐसी जगह में हेत लगाना, ऐसी जगह में प्रेम करना जहां मन की कल्पना को छोड़कर कुछ नहीं है, वहां जीव को क्या मिलेगा!

"चारि वेद कैंड़ा कियो, निराकार कियो राछ। बिने कबीरा चूनरी" भक्तों ने चारों वेदों को कैंड़ा बनाया है। कैंड़ा का अर्थ है मानदंड एवं नक्शा बनाने का यंत्र। कोई भी संप्रदाय निकला तो उसके प्रवर्तक ने यही कहा कि यह वेद

समर्थित है, जिस भक्ति का मैं प्रचार कर रहा हूं, उसका मूल वेदों में है। यहां तक कि वेद के 'राधा'[1] शब्द को घसीटकर उस 'राधा' से जोड़ दिया गया जो न महाभारत में है और न रासपंचाध्यायी वाले भागवत पुराण में है, जो पीछे से भक्त-कवियों द्वारा कृष्ण की प्रेयसी बना दी गयी है। वेद विस्तृत हैं, उनमें अनेक ऐसी संज्ञों हैं जिनके उनके अपने अर्थ हैं; किन्तु उनमें से जो शब्द अपने अनुकूल पड़ते हैं संप्रदाय-प्रवर्तक लोग उसे अपना अर्थ देकर कहते हैं कि देखो, मेरे मत का वर्णन वेदों में है। यहां तक कि पौराणिक कबीरपंथियों ने ऋग्वेद (10/103/1) के 'एकवीरः' को ऐ कबीर, अर्थ कर उसमें कबीर की तलाश कर ली जबकि वहां उसका अर्थ अद्वितीय वीर है, जो इन्द्र के लिए प्रयुक्त है।

कबीर साहेब यहां कहते हैं कि समस्त भक्तिपथ के पथिकों ने वेदों को अपना कैंड़ा बनाया, अपने भक्ति-नक्शा को खींचने का औजार बनाया अथवा भक्ति-साड़ी बीनने के लिए सूत नापने का गज बनाया और निराकार को राछ बनाया। राछ वह यंत्र है जो वस्त्र बुनते समय ताने को उठाता-गिराता है। यहां निराकार का अर्थ परमात्मा या उसके सगुणरूप शिव और विष्णु है, जिसे इसके शब्दार्थ में देख लिया गया है। हिन्दू समाज के सारे भक्ति-संप्रदाय शिव और विष्णु की धुरी पर नाचते हैं। त्रिदेवों में ब्रह्मा को भक्ति-आलंबन की जगह से खारिज कर दिया गया है, केवल शिव और विष्णु ही भक्ति के आलंबन बनाये गये। पीछे के जितने महापुरुषों को परमात्मा का रूप दिया गया उन्हें विष्णु का अवतार कहा गया या शिव का। निराकार का अर्थ लोकप्रसिद्ध परमात्मा तो है ही, जिसके तथाकथित सारे अवतार भक्ति के आलंबन बने। साहेब कहते हैं कि इन्हीं आधारों को लेकर भक्तजन भक्ति की चुनरी बुनते हैं। पहले एक ईश्वर की कल्पना की जाती है, इसके बाद उसके सगुण-रूप में शिव तथा विष्णु की कल्पना की जाती है, इसके बाद इनके अनेक अवतारों की कल्पना की जाती है और इन पर वेद की मुहर मारकर सर्वमान्य भक्ति का रूप देने का प्रयास किया जाता है।

"मैं नहिं बाँधल बारि" 'बृहत हिन्दी कोश' में वारि के अर्थ—जल, वर्षा, सुगंधबाला, ह्वीवेर (एक गंध द्रव्य), एक वृत्त, सरस्वती आदि हैं तथा हाथी बांधने की जंजीर, फंदा आदि भी है। यहां पर बारि का अर्थ बन्धन है। साहेब

---

1. स्तोत्रं राधानां पते गिर्वाहो वीर यस्य ते। विभूतिरस्तु सूनृता॥ (ऋग्वेद 1/30/5)
अर्थ-धन-रक्षक और स्तोत्र-पात्र इन्द्र ! तुम्हारा ऐसा स्तोत्र तुम्हारा प्रतिभाप्रिय और सत्य हो। (टीका-रामगोविन्द त्रिवेदी, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग)

कहते हैं "मैं नहिं बाँधल बारि" मैं किसी को उक्त प्रकार की भक्ति के बन्धन में नहीं बांधता हूं।

व्यक्ति की अपनी चेतना एवं आत्मा से अलग परमात्मा, उसके साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण रूप, उसके अवतार आदि सब काल्पनिक हैं। इन्हीं कल्पनाओं की भाव-विह्वलता में पड़कर भक्त लोग भक्ति की चुनरी बुनते हैं और अपने अनुगामियों को उसे पहनाते हैं। अर्थात उन्हीं मान्यताओं में उन्हें बांधते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि मैं ऐसा बन्धन किसी को नहीं देता। आत्मा के अलावा कोई परमात्मा नहीं है जिसके चक्कर में पड़कर भटका जाये। इसीलिए साहेब ने उसे "बिनु बस्ती का देश" तथा भक्तों को "सूने घर का पाहुना" कहकर उन पर व्यंग्य किया है; और अन्त में अपने आप को इस काल्पनिक भक्ति के माया-जाल से अलग बता दिया है।

कबीर साहेब ने वैराग्य-बोधसंपन्न प्रत्यक्ष सद्गुरु-संतों की उपासना बतायी है "गुरु की दया साधु की संगति, निकरि आव यहि द्वार।"[1] गुरु से निज स्वरूपबोध प्राप्तकर अपनी चेतना में स्थित हो जाना ही परा भक्ति है। कबीर साहेब के ख्याल से जीव ही शिव है, आत्मा ही परमात्मा है और अपनी आत्मा में स्थित हो जाना ही सर्वोच्च भक्ति है।

वाल्मीकि

एक वाल्मीकि महर्षि कश्यप तथा अदिति के नवम पुत्र वरुण (आदित्य) से पैदा हुए माने जाते हैं। इनकी माता का नाम चर्षणी तथा भाई का नाम भृगु कहा जाता है। वरुण का दूसरा नाम प्रचेत भी है इसलिए वाल्मीकि को प्राचेतस भी कहा जाता है। इनके विषय में विविध कथों मिलती हैं। कोई इन्हें ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न मानता है और कोई शूद्र-कुल में। हो सकता है दोनों कुलों में भिन्न-भिन्न वाल्मीकि हुए हों। कौन वाल्मीकि रामायण लेखक थे कहना कठिन है। वैसे रामायण के लेखक को लोग यही मानते हैं कि वे निम्न कहे जाने वाले कुल में जन्मे थे। उनका नाम रत्नाकर था तथा वे कर्म से डाकू थे। वे जंगल में रहते थे और जो राहगीर मिलता था उसका सब कुछ छीनकर उसे मार डालते थे। उन्हें एक बार सप्तऋषि या नारद मिले। उनके साथ भी उन्होंने वही बरताव करना चाहा। उन्होंने कहा कि क्या यह सब पाप तुम्हारे परिवार वाले बंटायेंगे? परिवार वालों से पूछने पर वे पाप के भागीदार

1. बीजक, साखी 304।

होने से अस्वीकार कर दिये। रत्नाकर को ग्लानि हुई। वे इस पाप कर्म को परित्याग करने का प्रण करके तपस्या में लग गये। समाधि में बैठे रहने से उनके चारों तरफ दीमकी का ढूह लग गया। दीमकी के ढूह को वल्मीक कहते हैं। जब वे समाधि से उठकर वल्मीक से निकले तो उनको वाल्मीकि कहा जाने लगा। ये तमसा नदी के तट पर रहते थे। ये एक बार स्नान करने जा रहे थे। रास्ते में एक घटना घटी। एक क्रौंच एक क्रौंची परस्पर काममोहित होकर आलिंगन में थे। उसी समय एक व्याध ने बाण से क्रौंच को मार दिया। नर क्रौंच मर गया। क्रौंची व्याकुल हो उठी। यह दृश्य देखकर करुणावेश में वाल्मीकि के कंठ से यह अनुष्टुप छंद निकल पड़ा—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

अर्थात—"हे निषाद! तूने काम-मोहित युगल क्रौंच में से एक, अर्थात नर-क्रौंच का वध किया है, इसलिए तू बहुत वर्ष तक प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त कर सकेगा।" कहा जाता है कि इसी छन्द के बाद उन्होंने रामायण की रचना की जिसका नाम वाल्मीकीय रामायण पड़ा।

शुकदेव

महर्षि वेदव्यास द्वारा किसी शुकी नामक स्त्री में शुकदेव को पैदा किया गया था। शुकदेव अपनी किशोर-अवस्था में ही माता-पिता को छोड़कर विरक्त हो गये थे। ये एक परम विरक्त के रूप में प्रसिद्ध हैं।

जयदेव

कहा जाता है कि बंगाल में अजय नदी के तट पर किंदुबिल्व नामक ग्राम में जयदेव जी रहते थे। कहते हैं कि केंदुली नाम से यह ग्राम आज भी प्रसिद्ध है। इनका जीवनकाल तेरहवीं शताब्दी में माना जाता है। ये बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के राज-दरबारी कवि थे। कहा जाता है कि ये विरक्ति भाव से रहते थे, परन्तु आगे चलकर इन्होंने एक ब्राह्मण-कन्या से विवाह कर लिया। विवाह के पश्चात इन्होंने संस्कृत में 'गीतगोविन्द' नामक काव्य की रचना की। ये ज्यादा राधा के भक्त थे। इनका गीतगोविन्द शृंगाररस से पूर्ण है और जगह-जगह ज्यादा अश्लीलतापूर्ण है। जयदेव, चण्डीदास तथा विद्यापति के काव्यों से चैतन्य महाप्रभु बहुत प्रेम रखते थे तथा उन्हें गाया करते थे। बंगाल में 'राधाकृष्णगीत' नाम का काव्यग्रंथ भी जयदेव जी का ही माना जाता है।

हठयोग का दिग्दर्शन, मन के संयम से शांति

शब्द-82

तुम यहि विधि समझो लोई, गोरी मुख मन्दिर बाजै॥ 1॥
एक सर्गुण षट चक्रहिं बेधे, बिना बृषभ कोल्हू माचा॥ 2॥
ब्रह्महिं पकरि अग्नि मा होमैं, मच्छ गगन चढ़ि गाजा॥ 3॥
नित अमावस नित ग्रहण होई, राहु ग्रासे नित दीजै॥ 4॥
सुरभी भक्षण करत वेद मुख, घन बर्से तन छीजै॥ 5॥
त्रिकुटी कुण्डल मध्ये मन्दिर बाजे, औघट अम्मर छीजै॥ 6॥
पुहुमि का पनिया अम्मर भरिया, ई अचरज कोइ बूझै॥ 7॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, योगिन सिद्धि पियारी॥ 8॥
सदा रहे सुख संयम अपने, बसुधा आदि कुमारी॥ 9॥

शब्दार्थ—लोई=लोगों। गोरी मुख=कुंडलिनी। मन्दिर=नाभि। एक सर्गुण=त्रिगुणयुत मन। षटचक्रहिं=मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि तथा आज्ञा। वृषभ=बैल। माचा=जोत दिया, नांधना, नहना। ब्रह्महिं=रजोगुण को। अग्नि=योगाग्नि। मच्छ=मछली, श्वास। गगन=ब्रह्मांड, ब्रह्मरंध्र। गाजा=गर्जने लगा, अनाहतनाद बजने लगा। ग्रासे=ग्रास, कौर। सुरभी भक्षण=गोमांस भक्षण, जीभ से तालुमूल का रसपान। वेदमुख=श्रेष्ठ मुख। घन=बादल, गगनगुफा। छीजै=क्षीण होना, छूना, तरबतर होना। यहां अर्थ है छूना, भीगना—'आनंद घन रसरासि पाय कै क्यों जग-छीलर छीजै।' त्रिकुटी कुण्डल=दोनों भौंहों के बीच का घेरा। मन्दिर=स्थान। औघट=दुर्गम स्थान, गगनगुफा। पुहुमि=पृथ्वी, पिंड। पनिया=श्वास। अम्मर=अम्बर, आकाश, ब्रह्मरंध्र, खोपड़ी। बसुधा=पृथ्वी। आदि कुमारी=सदा से कुंआरी, किसी की नहीं।

भावार्थ—हे लोगो ! तुम हठयोगियों की बातें इस प्रकार समझो, कहते हैं कि कुंडलिनी के पास नाभि में सदैव 'परा' शब्द बजता रहता है। यह परा शब्द ही पश्यन्ति और मध्यमा के रूप में बदलकर मुख में आकर बैखरी बन जाता है अथवा जब योगी कुंडलिनी जाग्रत करता है तब नाभि में ध्वनि होने लगती है॥ 1॥ यह त्रिगुणात्मक मन छह चक्रों को क्रमशः वेधते हुए ब्रह्मांड में पहुंच जाता है। यह मानो बिना बैल के कोल्हू जोत देना है॥ 2॥ योगी लोग रजोगुण को पकड़कर योगाग्नि में होम देते हैं और उनका श्वास ब्रह्मंड में पहुंचकर अनाहतनाद की गर्जना करने लगता है॥ 3॥ ईडा तथा पिंगलारूप चन्द्र और सूर्य को सुषुम्णा में लय करने से योगी के लिए मानो रोज

अमावस्या और ग्रहण लगे रहते हैं। इस प्रकार मानो रोज योगी राहु को भोजन देता है॥ 4॥ योगी अपनी जीभ को उलटकर और तालुमूल में लगाकर अपने श्रेष्ठ मुख से अमृतरसपान रूप गोमांस भक्षण करता है। उसकी गगनगुफा में बादल अमृत बरसते हैं और योगी उसमें भीगता है॥ 5॥ दोनों भौंहों के बीच के घेरे के ऊपर गगनगुफा में अनाहतनाद का बाजा बजता है। यही मानो त्रिकुटी कुण्डल मध्ये मन्दिर बजना है। इस गगनगुफा के दुर्गम घाट में योगी पहुंचकर तरबतर हो जाता है॥ 6॥ जमीन का पानी जैसे भाप बनकर आकाश में मानो भर जाता है, वैसे योगी पिण्ड के प्राण समेटकर ब्रह्मांड में एकाग्र कर देता है। इस आश्चर्य की बात को कोई बिरला समझता है॥ 7॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो! सुनो, योगियों को लौकिक सिद्धि प्रिय है॥ 8॥ परन्तु सदा रहने वाला एवं अनन्त सुख तो अपने मन के संयम से होता है। इसके लिए इस हठयोग की कोई जरूरत नहीं। हठयोग से जो लौकिक सिद्धि पाने की लालसा की जाती है, यह महाभ्रम है। यह वसुधा तो सदा से कुंआरी है—"यह वसुधा काहू की न भई।" लौकिक सिद्धि नाशवान है॥ 9॥

व्याख्या—"गोरी मुख मन्दिर बाजै" यह एक प्रतीकात्मक कथन है। इसका सरल अर्थ हुआ कि गोरी के मुख–मन्दिर पर बाजा बजता है या गोरी का मुख–मन्दिर बजता है। इसमें 'गोरी' मुख्य शब्द है। यह हठयोग का प्रसंग है। हठयोग में कुंडलिनी का बड़ा महत्त्व है जो एक काल्पनिक शक्ति है। कहते हैं कि नाभि के नीचे सर्प की कुंडली जैसी एक नस है, उसे कुंडलिनी कहते हैं। परन्तु डॉक्टरों की राय से वहां ऐसा कुछ नहीं है। तब योगी कहते हैं कि कुंडलिनी कोई नस नहीं, केवल एक शक्ति है। कहते हैं कि नाभि के पास कुंडलिनी का जहां निवास है वहां 'परा' शब्द की ध्वनि सब समय होती है। उसे योगी ही सुन सकता है, सामान्य लोग नहीं। यही मानो गोरी मुख मन्दिर बजना है। यह भी कल्पना है कि जब कुंडलिनी जाग्रत हो जाती है तब नाभि में ध्वनि होने लगती है। यही मानो गोरी मुख मन्दिर बजना है। यह भी माना जा सकता है कि जब कुंडलिनी जाग्रतकर सुषुम्णा को ऊपर ब्रह्मांड में ले जाते हैं तब जो वहां अनाहतनाद उठता है वही गोरी मुख मन्दिर बजना है।

"एक सर्गुण षट चक्रहिं बेधे, बिना बृषभ कोल्हू माचा।" रज, सत तथा तम ये तीन गुण हैं। मन इन तीनों गुणों वाला है। यही 'एक सर्गुण' है, जो षटचक्रों को वेधता है। मन के बिना तो कोई काम नहीं होता। योगी का मन मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि तथा आज्ञा—इन छहों चक्रों को वेधकर ऊपर भ्रमरगुफा में पहुंचता है, फिर वहां अनाहतनाद उठता है

और ज्योति-प्रकाश होता है। यह बिना बैल के कोल्हू माचना है। कोल्हू, हल या गाड़ी कहीं भी बैल को जोड़ देना 'माचना' कहलाता है। साहेब कहते हैं कि योगियों का षटचक्रवेधन, नादश्रवण तथा ज्योतिदर्शन का जो निरन्तर चलने वाला कोल्हू है यह बिना बैल का चलता है।

"ब्रह्महिं पकरि अग्नि मा होमैं, मच्छ गगन चढ़ि गाजा।" यहां ब्रह्म का अर्थ रजोगुण है। ब्रह्म का अर्थ होता है बढ़ना। बढ़ना क्रिया है। क्रिया रजोगुण है। इसलिए यहां ब्रह्म का अर्थ रजोगुण करना उपयुक्त है। योगी लोग ब्रह्म को अर्थात रजोगुण को पकड़कर योग की अग्नि में होम देते हैं। इसका अर्थ है कि योगसाधना से वे रजोगुण को शांत कर देते हैं। "मच्छ गगन चढ़ि गाजा" मछली आकाश में चढ़कर गर्जने लगती है। यह मच्छ एवं मछली क्या है? इसे मन या श्वास कह सकते हैं। श्वास जब ऊपर खोपड़ी में एकाग्र होता है तब अनाहतनाद होने लगता है। इसी को ऐसा भी कह सकते हैं कि मानो मन ही गगनगुफा एवं खोपड़ी में चढ़कर गर्जने लगता है।

"नित अमावस नित ग्रहण होई, राहु ग्रासे नित दीजै।" चन्द्र-सूर्य का एक साथ हो जाना अमावस्या है। हठयोग में ईडा (नाक की बायीं) नाड़ी चन्द्र कहलाती है तथा पिंगला (नाक की दायीं) नाड़ी सूर्य कहलाती है। इनका इकट्ठा होकर सुषुम्णा में मिल जाना हठयोग की अमावस्या है। सुषुम्णा कहते हैं नाक के दोनों छिद्रों में सम श्वास चलने को। योगी चन्द्र-सूर्य नाड़ियों को सम करके रोज योगाभ्यास करते हैं। इसलिए उनके लिए मानो रोज अमावस्या लगी रहती है और उनके लिए रोज ग्रहण भी लगा रहता है। सुषुम्णा मानो राहु है और वह चन्द्र तथा सूर्य दोनों नाड़ियों को ग्रहणकर उन्हें अपने में पचा लेती है तो योगियों के लिए मानो रोज ग्रहण लगा रहता है। जब रोज ग्रहण लगा रहता है तब मानो योगी रोज राहु को ग्रास देता है, भोजन देता है। ग्रास कहते हैं ग्रहण करने को, ग्रसने को, पकड़ने को और ग्रास का अर्थ कौर, निवाला, आहार, निगलना भी होता है। ये सब अर्थ एक भाव के द्योतक हैं। पौराणिक कहानियों के अनुसार राहु चन्द्र और सूर्य को खाने के लिए भूखा रहता है, तो योगी मानो रोज चन्द्र-सूर्यरूप भोजन राहु को देता है। "राहु ग्रासे नित दीजै" सुषुम्णा-राहु को चन्द्र-नाड़ी तथा सूर्य-नाड़ीरूपी ग्रास रोज दिया जा रहा है।

पुराण की कथा है कि विप्रचिति नामक पिता और सिंहिका नामक माता से राहु पैदा हुआ था। राहु बहुत बलवान था। समुद्र मथने पर जब अमृत निकला, तब देवताओं की पंक्ति में बैठकर उसने अमृत पी लिया था। उसके आस-पास में बैठे चन्द्रमा और सूर्य इस क्रिया को देख लिये और विष्णु को

बता दिये। इसलिए विष्णु ने चक्र से राहु का सिर काट दिया। परन्तु अमृत पी लेने से वह मरा नहीं। सिर राहु तथा धड़ केतु के नाम से अमर हो गये। राहु ने चन्द्रमा और सूर्य से बदला लेने की ठानी। इसलिए राहु चन्द्रमा और सूर्य को समय-समय से ग्रस लेता है, निगल लेता है, इसी को चन्द्र तथा सूर्य-ग्रहण कहते हैं। आज एक छोटा विद्यार्थी भी जानता है कि पृथ्वी, सूर्य तथा चन्द्रमा के एक सिधाई में आने से ग्रहण लगता है। इसे कोई राहु नहीं ग्रसता है। पौराणिक कथाओं के आधार पर योग में राहु, ग्रहण आदि का प्रतीकात्मक वर्णन है।

"सुरभी भक्षण करत वेदमुख" सुरभी कहते हैं गाय को, वेदमुख का अर्थ ज्ञानमुख एवं श्रेष्ठमुख है। योगी अपने श्रेष्ठमुख से गाय खाता है एवं गोमांस भक्षण करता है। यह भी प्रतीकात्मक कथन है। हठयोगी अपनी जीभ को उलटकर कपाल-कुहर अर्थात तालु में लगाते हैं। ब्रह्मरंध्र के सहस्रसार कमल के मूल में 'योनि' नामक त्रिकोणाकार शक्ति का केन्द्र मानते हैं। यही चन्द्रमा का स्थान माना जाता है। कहते हैं कि इससे अमृत झरता है। योगी जीभ से उसी का पान करता है। इस क्रिया को योग के पारिभाषिक शब्द में 'गोमांस भक्षण' कहा जाता है। यही "सुरभी भक्षण करत वेदमुख" का तात्पर्य है। "अवधू गगन मंडल घर कीजै। अमृत झरै सदा सुख उपजै बंकनाल रस पीजै।" हठयोगप्रदीपिका में बताया गया है—"जो योगी नित्य गोमांस भक्षण करता है तथा अमर वारुणी का पान करता है उसको मैं कुलीन मानता हूं। इसे न करने वाले लोग कुलघातक हैं। यहां गो-शब्द का अर्थ जीभ है और उसे तालुमूल में प्रवेश कराना गोमांसभक्षण है जो महान पापों का नाश करने वाला है।"[1] यह हठयोगियों की धारणा है।

"घन बर्से तन छीजै" बादल बरसते हैं और शरीर भीगता है। योगियों की कल्पना है कि खोपड़ी की गगनगुफा के बादल गर्जनापूर्वक वर्षा करते हैं और योगी उसमें भीगता है। अर्थात योगी उस अनुभव-आनन्द में तरबतर हो जाता है। नाद होना गर्जना है, प्रकाश की चिमचिमाहट होना बिजली चमकना है, उसका अनुभव वर्षा है। "छीजै" के अर्थ क्षीण होना तथा छूना दोनों हैं। दोनों अर्थ योगी में लग जाते हैं। योगी योग-साधना में अपने शरीर को स्वल्पाहार देता है। इसीलिए उसका शरीर क्षीण अर्थात दुबला हो जाता है, परन्तु शरीर

---

1. गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिवेदमरवारुणीम्।
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकः॥
गोशब्देनोच्यते जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम्॥ (हठयोग प्रदीपिका 3/47-48)

दुबला होने पर भी उसके मुख का तेज बढ़ जाता है। हठयोगप्रदीपिका में सिद्धि के आठ लक्षण बताये गये हैं—"शरीर दुबला हो जाता है, मुख प्रसन्न हो जाता है, नाद प्रकट होता है, नेत्र निर्मल हो जाते हैं, रोग का अभाव हो जाता है, वीर्य पर विजय हो जाती है, अग्नि प्रदीप्त हो जाती है तथा नाड़ी शुद्ध हो जाती है।"[1] इस प्रकार योगी का शरीर क्षीण होता है। छीजै का अर्थ छूना, स्पर्श करना एवं तरबतर होना भी है। योगी अपने अनुभव में तरबतर होता है।

"त्रिकुटी कुण्डल मध्ये मन्दिर बाजे" दोनों आंखों के ऊपर दोनों भौंहों के बीच के स्थान को 'त्रिकुटी' कहते हैं। यदि 'कुण्डल' का अर्थ कुण्डलिनी लिया जाये तो अर्थ होगा कि कुंडलिनी के पास स्थित मूलाधार चक्र से लेकर त्रिकुटी स्थित आज्ञाचक्र तक छहों चक्रों का वेधना ही त्रिकुटी कुण्डल मध्ये मन्दिर बाजना है। यदि त्रिकुटी से लेकर ऊपर गगनगुफा के गोलक को कुण्डल कहा जाये, तो गगनगुफा में होता हुआ अनाहतनाद ही मन्दिर बाजने का मतलब होगा। अर्थात गगनगुफा रूपी मन्दिर में अनाहतनाद के बाजे बजते हैं। यही अर्थ ज्यादा ठीक लगता है। "औघट अम्मर छीजै" अर्थात उस दुर्गमघाट रूपी गगनगुफा के अमृत-रस से योगी भीगता है। यहां भी छीजै का अर्थ स्पर्श करना एवं भीगना अधिक उपयुक्त लगता है।

"पुहुमि का पनिया अम्मर भरिया, ई अचरज कोइ बूझै।" पृथ्वी का पानी गरमी और हवा के संयोग से भाप बनकर आकाश में भर जाता है, इस अचरज भरी बात को कोई बिरला समझता है। इसी प्रकार नीचे पिंड के श्वास को योगी ऊपर ले जाकर गगनगुफा एवं सहस्रकमल में भर देता है जहां नाद होने लगता है तथा प्रकाश जल जाता है। इस आश्चर्य भरे विषय को कोई योगी ही समझता है।

"कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, योगिन सिद्धि पियारी।" कबीर साहेब संतों से कहते हैं कि इन योगियों को सिद्धि बहुत प्यारी लगती है। ये जनता को चमत्कार भरे काम दिखाकर उनसे ऐश्वर्य, सम्मान एवं पुजापा पाने की चेष्टा रखते हैं। यदि चुहिया को पाने के लिए पहाड़ खोदा जाये तो यह मिथ्या श्रम है। यदि हठयोग के बहुत परिश्रम के बाद केवल नादश्रवण एवं ज्योतिदर्शन फल माना जाये और लोगों को चमत्कार दिखाकर लौकिक धन एवं सम्मान पाने की चेष्टा हो, तो यह कोई विवेक की बात नहीं हुई।

---

1. वपुः कृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले।
अरोगता बिन्दुजयोऽग्निदीपनं नाड़ीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम्॥ (हठयोग प्रदीपिका)

"सदा रहे सुख संयम अपने" सदा रहने वाला सुख, आत्यंतिक सुख, परमानन्द, परमशांति तो अपने मन का संयम करने में है। ये षटचक्र वेधन, जीभ उलटाकर खोपड़ी का मैला पानी चाटना, खोपड़ी की ध्वनि तथा प्रकाश सब व्यर्थ का श्रम है। अनन्त आत्मिक सुख प्राप्त करने के लिए तो विवेक एवं द्रष्टा-अभ्यास द्वारा केवल अपने मन को वश में कर लेना चाहिए। जहां अपने मन का पूर्ण संयम हुआ, वहां एकरस समाधि-सुख है। सिद्धि द्वारा संसार के ऐश्वर्य और सम्मान पाने का मोह तो महा अज्ञान है। यह माया किसकी चेरी बनकर रही है ! 'बसुधा आदि कुमारी' है। "यह बसुधा काहू की न भई।" संसार की माया किसके पास रहने वाली है। अर्थात संसार के सारे ऐश्वर्य और सम्मान नाशवान हैं। अतः इनके मोह को छोड़कर और मन को अपने वश में करके सच्चे अर्थ में सुखी होना चाहिए।

धर्म के नाम पर हत्या करना निंदनीय है

शब्द-83

भूला बे अहमक नादाना, जिन्ह हरदम रामहिं ना जाना॥ 1॥
बरबस आनि के गाय पछारी, गरा काटि जिव आपु लिया॥ 2॥
जीयत जीव मुर्दा करि डारे, ताको कहत हलाल हुआ॥ 3॥
जाहि माँसु को पाक कहत हो, ताकी उत्पति सुन भाई॥ 4॥
रजो बीर्य से माँस उपानी, सो माँस नपाकी तुम खाई॥ 5॥
अपनी देखि कहत नहिं अहमक, कहत हमारे बड़न किया॥ 6॥
उसकी खून तुम्हारी गर्दन, जिन्ह तुमको उपदेश दिया॥ 7॥
स्याही गई सफेदी आई, दिल सफेद अजहूँ न हुआ॥ 8॥
रोजा बाँग निमाज क्या कीजै, हुजरे भीतर पैठि मुवा॥ 9॥
पण्डित वेद पुराण पढ़ै सब, मुसलमान कुराना॥10॥
कहहिं कबीर दोउ गये नरक में, जिन्ह हरदम रामहिं ना जाना॥11॥

शब्दार्थ—बे=अरे, अबे। अहमक=जड़मति। नादाना=नादान, नासमझ। हरदम=हर सांस, हर प्राणधारी। बरबस=जबर्दस्ती, बलपूर्वक, व्यर्थ। पछारी=पैर बांधकर गिरा देना। हलाल=जायज, विहित। पाक= पवित्र। उपानी=पैदा हुआ। स्याही गई=काले बाल वाली जवानी चली गयी। सफेदी आई=उजले बाल वाला बुढ़ापा आ गया। रोजा=रमजान के महीने में नित्य दिन भर उपवास रहना। बांग=अजान, ईश्वर को पुकारना। निमाज=नमाज, मुसलमानों की प्रार्थना-पद्धति। हुजरे=हुजरा, कोठरी, उपासना करने का कमरा जो प्रायः मसजिद के पास होता है।

भावार्थ—अरे जड़मति नासमझ ! वह गहरी भूल में है जो हर प्राणधारी को राम नहीं समझता॥ 1॥ बलपूर्वक गाय को घसीट लाया, उसके पैरों को बांध दिया और बे-रहम होकर उसके गले को रेतकर काट डाला, इस प्रकार तूने खुद उसकी जान ले ली॥ 2॥ जीवित प्राणी को मुरदा कर दिया और इसे कहता है कि यह जायज काम हुआ॥ 3॥ हे भाई ! जिस मांस को तू पाक कहता है, जरा उसकी पैदाइश तो सुन॥ 4॥ वह मांस वस्तुतः रज और वीर्य से पैदा हुआ है, इसलिए वह नापाक है, परन्तु तूने उसे खा लिया॥ 5॥ हे जड़मति ! तू इसे क्यों नहीं कहता कि यह बेहद बेरहमी है और गंदी चीज खाना है। तू कहता है कि हमारे बड़ों का यह आदेश है तथा उन्होंने ऐसा किया है॥ 6॥ परन्तु ध्यान रहे, जिन्होंने तुम्हें ऐसा उपदेश दिया है इस हत्या का पाप उन पर भी जायेगा और एक दिन तुम्हारी भी गरदन कटेगी॥ 7॥ स्याही चली गयी, सफेदी आ गयी, परन्तु तुम्हारा दिल तो अभी भी सफेद नहीं हुआ॥ 8॥ ऐसे बेरहमी का काम करने वाले के लिए रोजा रहना, बांग पुकारना तथा नमाज पढ़ना क्या मतलब रखता है ! प्रार्थना की कोठरियों में बैठकर मरने से भी क्या लाभ होगा !॥ 9॥ कबीर साहेब कहते हैं कि पंडित लोग वेद-पुराण पढ़ते हैं और मुसलमान लोग कुरान पढ़ते हैं; परन्तु जिन्होंने हर प्राणधारी को राम नहीं समझा और जीव हत्या करते रहे तथा उसे धर्म बताते रहे, वे सब नरक में जायेंगे॥ 10-11॥

व्याख्या—जो धार्मिक कहलाने वाले लोग ईश्वर की प्रार्थना करते हैं और जीवों की हत्या करते हैं, कबीर साहेब कहते हैं कि यह उनकी भूल है, जो हर प्राणी को ईश्वर नहीं समझते हैं। यदि देहधारी जीवों को हटा दिया जाये तो राम-रहीम का क्या मतलब होगा ! क्या इन देहधारी जीवों के अलावा कोई राम-रहीम है ! और इनके साथ रहमदिली के व्यवहार के अलावा कोई पूजा-उपासना है ! प्रत्यक्ष राम-रहीम पर छूरी चलाना और शून्य में राम-रहीम पुकारना हद दर्जे की नासमझी है।

लोगों की अक्ल तो देखो ! ये ईश्वर के भक्त ईश्वर के प्रति प्रेम प्रदर्शित करने के लिए मूक प्राणधारियों को लाकर, उनके पैरों को बांधकर और उन्हें गिराकर उनके गले पर छूरी रेतते हैं और इसके साथ निहायत रहम करने वाले रहीम का नाम लेते हैं। भला, रहम करने का स्वभाव वाला बेरहमी के काम से खुश होगा ! क्या ऐसा भी ईश्वर हो सकता है जो मासूम जानवरों की हत्या करने से खुश हो ! यह ईश्वर की व्याख्या क्रूर शैतान में क्यों कर रहे हो ! जीव-हत्या तो हराम का काम है, यह हलाल कैसे हो गया ! इसे जायज

कहें, धर्मानुकूल कहें तो अधर्म किसे कहें ! यह अन्धविश्वास कि किसी जीव की हत्या करने से कोई देव या ईश्वर खुश होता है घोर जंगलीपन है और साथ-साथ इसके नाम पर मांस खाने का लोभ है। आज के विज्ञान-युग में भी आदमी जंगलीपन से छूट नहीं पाया है। अनपढ़ ही नहीं, पढ़े-लिखे लोग भी घोर अन्धविश्वासी हैं। सभ्य और शिक्षित होने की डींग मारने वाला आदमी अभी भी मानो पत्थर-युग में है।

किसी देवता या ईश्वर का नाम लेकर जीव-हत्या करने से उसका मांस कैसे पवित्र हो गया ! मांस कैसे बनता है इसे कौन नहीं जानता। रज-वीर्य से मांस बनता है। लोग रज और वीर्य को कितनी घृणा की दृष्टि से देखते हैं। पेशाब के कतरे को कितना नापाक माना जाता है ! परन्तु उसी पेशाब से बना मांस पाक कैसे हो गया ! और फिर मांस का वर्तमान स्वरूप भी गन्दा है। इस कारण पेशाब पर न भी ध्यान दें तो कार्यरूप मांस स्वयं गन्दी चीज है।

लोग कितने जड़मति हैं ! वे स्वयं अपनी आंखों की देखी बातों पर विश्वास नहीं करते, कहते हैं कि हमारे पूर्वजों ने ऐसा फ़रमान किया है और उन्होंने खुद ऐसा किया है। हमारे पूर्वजों ने जो कुछ कहा या किया है वह सब जायज नहीं हो जायेगा। हमें यह देखना पड़ेगा कि हम जो करने जा रहे हैं वह उचित है कि अनुचित। कहा जाता है कि हमारे पूर्वज इब्राहिम ने ईश्वर के नाम पर अपने पुत्र की कुर्बानी की थी, तो वहां बेटा न कटकर एक दुम्मा भेड़ा कटकर गिर गया।[1] यह कथन ही कपोलकल्पित है। जब बेटे को छूरी से काटा जायेगा तब बेटा ही कटेगा, वहां दुम्मा भेड़ा कैसे कट जायेगा। यदि यह ठीक है और अपने पूर्वजों की लीक पर चलना है तो लोग अपने बेटे की

---

1. यह कथा बाइबिल में लोक कहावत से हटकर इस प्रकार है—
पुरानी बाइबिल के उत्पत्ति-प्रकरण के 22वें अनुच्छेद में लिखा है कि ईश्वर ने इब्राहिम की परीक्षा लेने के लिए उसको आज्ञा दी कि तुम अपने पुत्र इसहाक की होमबलि करके चढ़ा, अर्थात उसकी कुर्बानी कर। जब इब्राहीम ने परमेश्वर की आज्ञा मानकर और सूखी लकड़ियों पर इसहाक के हाथ-पैर बांधकर लेटा दिया और छूरी निकाल उसका वध कर उसकी लाश का हवन करना चाहा, तो परमेश्वर ने आवाज देकर रोक दिया और कहा कि तुम्हारी परीक्षा पूरी हुई। इब्राहीम ने सिर उठाकर देखा तो वहां झाड़ी में एक भेड़ा उलझा है। उसने उसको लाकर उसकी परमेश्वर के नाम पर होमबलि की।
उपर्युक्त कहानी ऐतरेय ब्राह्मण के शुनःशेप की कथा की याद दिलाती है। जिसमें अजीगर्त ब्राह्मण ने राजा हरिश्चन्द्र से कुछ गायें लेकर अपने पुत्र शुनःशेप का वध कर उसका हवन करना चाहा था और शुनःशेप के करुण-क्रंदन पर विश्वामित्र ने उसे बचाया था। यह कथा संक्षिप्तः कबीर दर्शन, अध्याय 4 के 'स्वामी दयानन्द सरस्वती और आर्यसमाज' संदर्भ में दी गयी है।

कुर्बानी करें और वहां अपने आप दुम्मा भेड़ा कट जाये तो बात मान ली जाये। किसी ने कहा है—

जो तू दावा करे दावा मुसलमानी करे।
अपने बेटे की खुदा के नाम कुर्बानी करे॥

वस्तुत: कुर्बानी तो किसी की भी नहीं करनी चाहिए। कुर्बानी करनी चाहिए अपने मन के मोह की। कुर्बानी का असली अर्थ है अहंता-ममता का त्याग। जीव-हत्या करने वाले तथा जीव-हत्या का आदेश देने वाले दोनों अपराधी हैं, परन्तु धर्म के नाम पर जीव-हत्या करने वाले तो घोर अपराधी हैं।

लोगों के काले बाल उजले हो जाते हैं, परन्तु यदि उनके मन नहीं उजले हुए तो बाल उजले होने से क्या हुआ! यदि आदमी में प्राणियों के प्रति दया-रहम का भाव एवं बरताव न आये तो उसका शारीरिक बुढ़ापा होने से क्या हुआ। मनुष्य का मन वृद्ध होना चाहिए। अगर दिल पाक नहीं है तो रोजा, बांग और नमाज बेकार हैं। जिसका दिल बेरहम है वह धार्मिक क्रियाकांड एवं बाह्याचार करके क्या फल पायेगा! घण्टों प्रार्थना की कोठरी हुजरा में बैठकर इबादत करना बेकार है, अगर दिल में दया नहीं है। "हुजरे भीतर पैठि मुवा" यह तो प्रार्थना की कोठरी में बैठकर केवल जड़मति होना है।

कबीर साहेब कहते हैं कि मैं केवल मुसलमानों को नहीं, किन्तु सबको कहता हूं। हिन्दू पंडितों को भी देखता हूं कि वे वेद-पुराण पढ़ते हैं और भी अपने अनेक धर्मग्रन्थ पढ़ते हैं, मुसलमान लोग कुरानशरीफ तथा अन्य अनेक किताबें पढ़ते हैं। यह सब ठीक है। धर्मग्रन्थ पढ़ना चाहिए। धर्मग्रन्थ पढ़ने का मतलब यही होना चाहिए कि हमारे ख्याल ठीक हों, विचार अच्छे हों, हमारे दिल में दया और रहम का राज्य हो। परन्तु सारे धर्मग्रन्थ पढ़ने के बाद यदि जबान और हाथों में छूरी है तो धर्मग्रन्थ पढ़ने का क्या मतलब है! कबीर साहेब के सामने हिन्दू और मुसलमान कहलाने वाले लोग थे, इसलिए इन दोनों के नाम उन्होंने लिये; परन्तु उनका कथन सार्वभौमिक है। साहेब कहते हैं कि वे सभी लोग नरक में जायेंगे जो हर प्राणी को राम-रहीम न समझकर उसके साथ दुर्व्यवहार करते हैं। नरक की कोई अलग जगह नहीं है, मन की मलिनता ही नरक है और उसके परिणाम में जन्म-जन्मांतरों तक दुख पाना निश्चित है। जो दूसरों को दुख देने की आज्ञा देगा या स्वयं दुख देगा वह देर-सबेर दुख पायेगा। "जो सिर काटे आन कै, अपनो होय कटाय।"

एक मानव-जाति, एक मानवता-धर्म तथा आत्माराम का बोध बाह्याचार में ढक गये हैं

शब्द-84

काजी तुम कौन कितेब बखानी 1
झंखत बकत रहहु निशि बासर, मति एकौ नहिं जानी 2
शक्ति अनुमाने सुन्नति करतु हो, मैं न बदोंगा भाई 3
जो खुदाय तेरी सुन्नति करतु है, आपुहि कटि क्यों न आई 4
सुन्नति कराय तुरुक जो होना, औरत को क्या कहिये 5
अर्ध शरीरी नारि बखानी, ताते हिन्दू रहिये 6
पहिरि जनेउ जो ब्राह्मण होना, मेहरी क्या पहिराया 7
वो जन्म की शूद्रिन परसे, तुम पाँड़े क्यों खाया 8
हिन्दू तुरुक कहाँ ते आया, किन्ह यह राह चलाया 9
दिल में खोजि देखु खोजादे, बिहिस्त कहाँ ते आया 10
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, जोर करतु हैं भाई 11
कबिरन ओट राम की पकरी, अन्त चले पछिताई 12

शब्दार्थ—कितेब=किताब, धर्मग्रन्थ। बखानी=व्याख्या, वर्णन, बड़ाई। झंखत=झींखना, दुखी होना, दिमाग पचाना। बकत=बकना, बकवास करना। मति=समझ, अभिप्राय, मतलब। शक्ति अनुमाने=ईश्वरीय शक्ति का अनुमान करके। सुन्नति=सुन्नत, खतना। बदोंगा=मानना। बिहिस्त=बिहिश्त, स्वर्ग। जोर=बल-प्रयोग, जबरदस्ती। कबिरन=भटके हुए लोग। ओट=सहारा। राम=ईश्वर।

भावार्थ—काजी साहब! तुम किस किताब की व्याख्या एवं बड़ाई करते रहते हो? 1 तुम किताबों में रात-दिन दिमाग पचाते तथा बकवास करते हो; परन्तु एक भी असली मतलब नहीं समझते हो 2 तुम ईश्वरीय शक्ति का अनुमान कर तथा उसकी दुहाई देकर बच्चों का खतना करते हो और उनकी पेशाब इन्द्रिय के आगे की खाल बेदर्दी से काट देते हो। परन्तु हे भाई! मैं इस काम को अच्छा नहीं मान सकता 3 यदि सचमुच खुदा तुम्हारी सुन्नत करना चाहता है तो उतनी खाल गर्भवास से ही कटकर बच्चे को पैदा होना चाहिए था 4 यदि खतना कराकर ही मुसलमान हुआ जाता है तो अपनी बीवी को क्या कहोगे? 5 उसका खतना तो हो नहीं सकता। पत्नी को पुरुष का आधा शरीर माना जाता है। इस तथ्य को देखते हुए तुम आधा हिन्दू ही बने रह गये। अथवा पत्नी जीवनपर्यन्त हिन्दू रहती ही है तब खतना न कराकर तुम भी हिन्दू

ही बने रह जाते 6 इसी प्रकार हे ब्राह्मण कहलाने वालो! यदि जनेऊ पहनकर ही ब्राह्मण हुआ जाता है तो तुमने अपनी श्रीमती को क्या पहनाया है? उसे तो तुमने वेद, गायत्री तथा जनेऊ—सबसे वंचित रखा है 7 जनेऊ-संस्कार से रहित होने से वह तो जन्म से ही शूद्रा बनी हुई है, फिर हे पंडित, उसका परोसा भोजन तुम क्यों खाते हो? 8 सभी मनुष्य तो एक समान हैं, ये हिन्दू-मुसलमान आदि रूपी विभाजक रेखाएं कहां से पैदा हो गयीं? ये गलत रास्ते किसने चला दिये? 9 हे खोजी इनसान! अपने दिल में खोजकर देख, ईश्वर तो तेरे दिल में बसा है, सातवें आसमान में कहां से स्वर्ग आ गया, जहां तू ईश्वर की कल्पना करता है? 10 कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो! सुनो, हे भाई! ये हिन्दू और मुसलमान नामधारियों के अगुआ अपनी-अपनी मजहबी भावनाओं को लोगों पर जबरदस्ती लादते हैं। ये जड़मति लोग अपनी सांप्रदायिक बातें सिद्ध करने के लिए ईश्वर का सहारा लेते हैं, परन्तु इसके फल में इन्हें पछतावा ही हाथ लगेगा 11-12

व्याख्या—इसलाम मजहब के कानून-कायदे का निर्णय देने वाला काजी कहलाता है। कबीर साहेब काजी से प्रश्न करते हैं कि तुम अपनी किताबों की बड़ी बड़ाई करते हो। तुम कहते हो कि हमारी किताब और हमारे सारे कानून खुदाई हैं। जब तक संसार का प्रलय नहीं हो जाता तब तक इसलाम के ही कानून संसार में चलेंगे। तुम्हारी बातें बड़ी लम्बी-लम्बी रहती हैं, परन्तु तुम इतनी-सी बात नहीं समझ सकते हो कि यदि ईश्वर को यह पसंद होता कि पुरुष की पेशाब-इन्द्रिय के आगे की खाल नहीं रहनी चाहिए तो वह उसे वैसे ही बनाता। सारा शरीर खुदा बना सकता है तो क्या उतनी-सी खाल वह काट नहीं सकता है? उसकी अक्ल में यह बात नहीं आयी, जो तुम वह काम पैदा होने के बाद करके उसकी अक्ल की गलती का सुधार कर रहे हो!

"शक्ति अनुमाने सुन्नति करतु हो, मैं न बदोंगा भाई।" साहेब कहते हैं कि तुम किसी ईश्वरीय शक्ति का अनुमान कर उसी की आड़ में अपने सारे कानून चलाते हो। तुम कहते हो यह सुन्नत करना भी खुदाई हुक्म है, परन्तु कबीर साहेब कहते हैं कि हे भाई! मैं इसे नहीं मान सकता। यदि ऐसा खुदा करना चाहता तो उसे ऐसा करने में कोई मुश्किल नहीं थी। जो इतने बड़े शरीर को बना सकता है, वह उसी के साथ सुन्नत भी कर सकता है। सुन्नत करने से ही आदमी मुसलमान होता है यह सच भी नहीं है। ऐसी स्थिति में मुसलमान कहलाने वालों के घरों की नारियां मुसलमान नहीं कहला सकतीं। किसी भी गृहस्थ-समाज का स्त्री आधा अंग है। इस दृष्टि से मुसलमानों में सदा ही आधे मुसलमान हैं और आधे हिन्दू हैं। पुरुष मुसलमान तथा उनकी नारियां हिन्दू हैं।

कबीर जब मुसलमानों को लताड़ रहे थे, पंडित बहुत प्रसन्न थे कि कबीर ने क्या खूब कहा ! कबीर ने पंडितों की तरफ निगाह फेरी और उन्हें भी आड़े हाथों लिया। उन्होंने कहा, हे पंडितो ! तुम्हारे ब्राह्मणत्व का चिह्न जनेऊ है। परन्तु यदि जनेऊ पहन करके ही कोई ब्राह्मण होता है तो तुम्हारी घरवाली को क्या कहा जाये ! तुमने अपने घर की नारियों को तो जनेऊ पहनाया नहीं, न उनका यज्ञोपवीत-संस्कार हुआ, न उन्हें गायत्री मंत्र सुनाया गया और न उन्हें वेद पढ़ने का ही अधिकार दिया गया। उन्हें द्विजत्व संस्कार से एकदम अलग रखा गया। इसलिए तुम्हारे घर की नारियां जन्म से आज तक शूद्रा ही बनी हैं और मरते दम तक वे बेचारी शूद्रा ही रहेंगी। फिर उनका पकाया और परोसा भोजन तुम क्यों खाते हो? तथाकथित ब्राह्मण लोग शूद्रों को अछूत मानते हैं। शूद्र वही है जो यज्ञोपवीत संस्कार से रहित है। इस प्रकार ब्राह्मण के घर की नारियां भी संस्कारहीन शूद्रा ही हैं। आश्चर्य है कि ब्राह्मण नामधारी जीवनभर शूद्रा का ही परोसा भोजन करता है और दूसरे शूद्रों को अछूत कहता है। यह तो ऐसा ही हुआ "अपने मुख की वार्ता, सुनै न अपने कान।" ब्राह्मण कहे जाने वाला अपना ही सिद्धांत नहीं समझ पा रहा है। जब वह जीवनभर शूद्रा का परोसा खाता ही है तो दूसरे शूद्र कहे जाने वाले बेचारे क्यों अछूत बनाकर रखे जाते हैं !

"हिन्दू तुरुक कहाँ ते आया, किन्ह यह राह चलाया।" कबीर साहेब कहते हैं कि मानव की तो एक जाति है। इसमें द्वैत कहां से आ गया? कबीर साहेब के समय में हिन्दू-तुरुक का जोर था। इसलिए उन्होंने ये दोनों नाम लेकर उन्हें ललकारा। परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि वे अन्य मजहब वालों को नहीं कह रहे हैं। कबीर किसी को छोड़ने वाले नहीं हैं। जो भी एक मानवता में विभाजक रेखा खींचता हो, उनमें से किसी को भी कबीर क्षमा करने वाले नहीं हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि मानव एक जाति है तथा मानवता एक धर्म है। इनमें जितनी भेदपरक दीवारें खड़ी की जाती हैं, सब मानव की बनायी हैं। वेद से लेकर बाइबिल, कुरानादि सब किताबें मानव की बनायी हैं। सारे मजहब एवं संप्रदाय मानव के गढ़े हुए हैं और सारे सांप्रदायिक चिह्न मानव के बनाये हुए हैं। साहेब कहते हैं "किन्ह यह राह चलाया" इसलाम का रास्ता, ईसाइयत का रास्ता, हिन्दुत्व का रास्ता या अन्य हजारों रास्ते केवल मनुष्य के चलाये हैं। हां, अपनी गलत और सही सारी बातें समाज से मनवाने के लिए उन पर किसी आकाशीय ईश्वर की मोहर लगा ली है। मजहब वालों ने ईश्वर की अवधारणा का इतना दुरुपयोग किया है कि उसकी आड़ लेकर अपने मत की सारी बकवासों को मनुष्यों पर बलात थोपने का प्रयास किया है।

"दिल में खोजि देखु खोजादे, बिहिस्त कहाँ ते आया।" मत–मजहब वालों ने सातवें लोक या सातवें आकाश पर स्वर्ग की कल्पना कर रखी है, वहां पर उनमें तामझाम के साथ ईश्वर को बैठा रखा है। सभी ने यह ढिंढोरा पीट रखा है कि हमारे मजहब से चलकर उस स्वर्ग या ईश्वर तक पहुंचा जा सकता है। साहेब कहते हैं कि ये बिहिश्त, स्वर्ग तथा ईश्वर कहां ये आ गये? ये ईश्वर और स्वर्ग तुम्हारी कल्पनाएं हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि अपने दिल में खोजो। तुम्हारे दिल के अन्दर की चेतना, दिल के अन्दर का नूर ईश्वर है, खुदा है। वह सब समय सबको प्राप्त है। वह किसी मत–मजहब की डिबिया में नहीं बंद है, किन्तु तुम्हारे दिल में बंद है। तुम किसी ईश्वरीय नामधारी मत–मजहब के मुहताज नहीं हो। किसी तथाकथित ईश्वरीय मोहर लगे हुए कार्ड से वह नहीं मिलेगा। वह तो तुम्हारे दिल की चीज है। वह तुम्हारी आत्मा है, तुम्हारा अपना स्वरूप है, उसके लिए सच्चे सद्गुरु के निर्देश की आवश्यकता है। तुम्हें बाहर से लौटकर दिल में झांकने की जरूरत है। यही बात स्वर्ग की है। स्वर्ग का टिकट भी किसी मजहबी मोहर से नहीं मिलता। स्वर्ग भी आकाश में नहीं है। वह भी तुम्हारे दिल के भीतर है। जिसके हृदय में पवित्रता और प्रेम की गंगा बहती है उसके हृदय में स्वर्ग है। इसके अलावा कहीं स्वर्ग नहीं है। यदि हमारे हृदय में राग–द्वेष की गन्दगी है, तो मानो यही नरक है। हमें चाहिए कि हम मन को साफ करें और मानव–मात्र के प्रति प्रेम तथा प्राणिमात्र के प्रति करुणा का भाव रखें। जिसका दिल शुद्ध है, जिसमें प्राणिमात्र के प्रति करुणा और प्रेम है, वह मानो नित्य स्वर्ग में विद्यमान है।

"कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, जोर करतु हैं भाई। कबिरन ओट राम की पकरी, अन्त चले पछिताई।" साहेब कहते हैं कि हे संतो! ये मजहबी तथा संप्रदायी लोग अपने–अपने गलत–सही विचारों को ईश्वर–निर्देश एवं प्रभु–वचन का जामा पहनाकर लोगों पर जोर–जबरदस्ती से लादना चाहते हैं। हमारी किताब प्रभु–वचन एवं खुदाई है, हमारा मजहब ईश्वरीय है तथा हमारे महापुरुष ईश्वर के पुत्र, पैगम्बर या अवतार हैं; ये सारी बातें सत्यज्ञान एवं सत्यधर्म का गला घोंटने के लिए हैं। ये सारी बातें जोर देकर लोगों से मनवायी जाती हैं और उनकी बुद्धि में ताला लगा दिया जाता है जिससे वे स्वतंत्र सोच न सकें और उनके मजहब के पशु बने रहें। मजहब, महापुरुष तथा किताबों पर ईश्वरीय मोहर लगाकर उनमें अतिश्रद्धा करायी जाती है और यह अतिश्रद्धा हिंसा का रूप धारण कर आगे खड़ी होती है। अपनी पोथी, मजहब तथा महापुरुष पर ईश्वर का भूत उतारने वालों ने ही ईश्वर और धर्म के नाम पर इनसान का खून बहाया है। अतएव कबीर साहेब यहां अपने दिल के दर्द के

साथ कहते हैं कि "जोर करतु हैं भाई"। हे भाई ! ये ईश्वर के खतरनाक भक्त अपने तथाकथित ईश्वरीय मजहब के प्रचार के लिए जोर करते हैं। वे कहते हैं कि यदि हमारी किताब को प्रमाण न मानोगे; हमारे अवतार, पैगंबर एवं ईश्वर-पुत्र को अपना उद्धारक न मानोगे और हमारे सम्प्रदाय एवं मजहब को न कबूल करोगे तो तुम नास्तिक हो, अपवित्र हो या काफिर हो, तुम्हारा नरक होगा, तुम दोजख में जाओगे।

इस प्रकार ये जड़मति लोग राम की ओट पकड़कर, ईश्वर की आड़ लेकर जाति, धर्म और अध्यात्म सब में गड्डमड्ड करते हैं। ये मनुष्य की बुद्धि स्वतंत्र नहीं रहने देना चाहते। ये मानव की एक जाति के टुकड़े-टुकड़े करते हैं। ये धर्म को मानवीय गुण तक रहने न देकर उसे बाह्याचार में उलझा देते हैं। ये ईश्वर को मानव की आत्मा से काटकर अलग कर देते हैं। इसलिए इन्हें मानव की हत्या करने में दर्द नहीं लगता। परन्तु ऐसा काम करके मानव को अंत में पछताना पड़ता है। "कबिरन ओट राम की पकरी, अन्त चले पछिताई।"

यहां 'कबिरन' शब्द का प्रयोग उनके लिए है जो मतवाद में उलझे हैं। ग्यारहवीं पंक्ति में सद्‌गुरु ने अपने नाम की छाप लगा दी है—"कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो" कहकर। अतएव अब उसके नीचे बारहवीं पंक्ति में 'कबिरन' नाम देकर पुनः अपने नाम की छाप लगाने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। यहां 'कबिरन' भूले-भटके लोगों के अर्थ में ही है और प्रायः बीजक भर में ऐसी बात है। अभी आप आगे 86वें शब्द में देखेंगे कि पांच बार 'कबिरा' तथा 'कबीरा' सर्वनाम के अर्थ में कहकर तब सद्‌गुरु ने छठीं बार में अपने नाम की छाप लगायी है।

धर्म और ईश्वर के ठेकेदारों की सांप्रदायिक भावनाओं, संकीर्णताओं तथा अज्ञान से समाज जिस आग में जल रहा था, उसे देखकर कबीर साहेब का दिल पीड़ित था, इसलिए वे बारम्बार अपनी धारदार वाणियों से उस पर प्रहार करते थे। आज भी कबीर-जैसे सोचने वालों के दिल पीड़ित हैं। वे चाहते हैं कि मानव-मानव के बीच की सारी दीवारें भहराकर ध्वस्त हो जायें, आदमी चित्तपवित्रता का स्वर्गसुख भोगे और ईश्वर के लिए बाहर न भटककर अपने दिल-दरगाह के नूर में लीन हो।

देह-गेह तुम्हारे नहीं हैं

शब्द-85

भूला लोग कहैं घर मेरा 1
जा घर में तू भूला डोले, सो घर नाहीं तेरा 2

हाथी घोड़ा बैल बाहना, संग्रह कियो घनेरा 3
बस्ती मासे दियो खदेरा, जंगल कियो बसेरा 4
गाँठी बाँधि खर्च नहिं पठयो, बहुरि न कीयो फेरा 5
बीबी बाहर हरम महल में, बीच मियाँ का डेरा 6
नौ मन सूत अरुझि नहिं सुरझे, जन्म जन्म उरझेरा 7
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, यह पद का करहु निबेरा 8

शब्दार्थ—बाहना= वाहन, सवारी। घनेरा= बहुत। बीबी= विवाहिता पत्नी, सद्वृत्ति। बाहर= पांच विषय, जगत। हरम= अंतःपुर, स्त्रियों के रहने का घर, रखेल बनायी हुई बांदी, यहां अर्थ रखेल या वेश्या ही है, कुवृत्ति। मियाँ= जीव। डेरा= पड़ाव, आसन, स्थिति। नौ मन= पांच विषय तथा चतुष्टय अंतःकरण, अथवा पांच विषय, तीन गुण और मन। पद= प्रस्तुत शब्द, निजस्वरूप चेतन।

भावार्थ—वे लोग भूले हैं जो कहते हैं कि यह घर मेरा है 1 जिस घर के अहंकार में तुम भूले फिर रहे हो वह तुम्हारा नहीं है 2 तुमने हाथी, घोड़ा, बैल तथा अनेक सवारियां और माया की बहुत चीजें इकट्ठी कर रखी हैं 3 परन्तु ध्यान रखो, एक दिन तुम अपने माने हुए मकान एवं बस्ती में से खदेड़ दिये जाओगे और तुम्हारा निवास जंगल में होगा 4 जाते समय तुम्हारे घर वाले तुम्हारी गांठ में बांधकर तुम्हारे लिए कुछ खर्च नहीं भेज सकेंगे और न तुम ही कभी लौटकर कुछ ले जा सकोगे 5 तुमने जीवन भर तो वैसे ही अपने आप को छलने का काम किया है जैसे कोई अपनी विवाहिता पत्नी को घर में से निकालकर बाहर कर दे और बाहर से लाकर रखेल या वेश्या को रख ले और उसी में अपना आसन जमाये। तूने अपने हृदय से सद्वृत्ति को निकाल बाहर किया और अपने हृदय में कुवृत्ति टिकाये रखा तथा उसी में आनन्द माना 6 इसका फल यह हुआ कि नौ मन सूत उलझ गया। अर्थात पंच विषयों में मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंवृत्ति उलझ गये और ये जन्म-जन्मांतरों से उलझते ही रहे। इसे सुलझाने पर ध्यान कभी नहीं दिया गया 7 कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो! सुनो, अबकी बार इनसे अपनी आत्मा का छुटकारा कर लो 8

व्याख्या—हम एक भूखंड खरीदते हैं। उसका अपने नाम से बैनामा कराते हैं। हम उस पर मिट्टी, ईंट, सीमेंट, लोहे, लकड़ी आदि से मकान खड़ा करते हैं और कहते हैं कि यह मकान मेरा है। व्यवहारतः यह सब ठीक है। इस शरीर के निर्वाह के लिए तथा शरीर के साथियों के लिए यह सब करना पड़ता है, करना चाहिए भी। परन्तु जरा इस पर भी ध्यान दो कि अंततः यह सब तुम्हारा नहीं है। जिस भूखंड पर मकान का ढांचा खड़ा है न वह तुम्हारा है और न

मकान का ढांचा तुम्हारा है। जिस जमीन का तुमने अपने माने हुए नाम पर बैनामा करवाया है, उस पर आज तक करोड़ों लोगों का कब्जा हो चुका है और उनसे छूट चुका है। जमीन का बैनामा कराने वाले कुछ दिनों में उसी जमीन में दफना दिये जाते हैं। जमीन का बैनामा कराते तथा जमीन पर कब्जा करते समय मानो जमीन हंसती है कि बेवकूफो, तुम मेरा बैनामा क्या कराओगे, मैं तुम्हारा बैनामा करा लूंगी। जमीन के करोड़ों मालिक बनकर आये और इसी जमीन में समा गये।

ध्यान रहे, जिस मकान को तुम अपना मानते हो उसमें हजारों चींटियां, कीड़े, मच्छर, छिपकिलियां तथा अन्य जानवर रहते हैं, जो उस पर अपना जन्मजात अधिकार मानते हैं। तुमने तो केवल मकान बनवाया है, परन्तु वे तो उस मकान में पैदा हुए हैं। जो तुम्हारे घर में पैदा होता है वह तुम्हारे घर का हकदार हो जाता है, फिर वे कीड़े–मकोड़े जो उसी घर में पैदा हुए हैं उस घर के हकदार क्यों नहीं! अतएव जिसे तुम अपना घर मानते हो उसे हजारों–लाखों जीव–जन्तु अपना घर मानते हैं और सब थोड़े दिनों में उसी घर या जमीन में लीन हो जाते हैं।

ध्यान रखो, घर केवल कुछ दिन रहने की धर्मशाला है। घर बनाकर अहंकार नहीं करना, उसे अपना नहीं मानना। तुम्हें पता है कि दादा–बाबा अपने घर छोड़–छोड़कर चले गये हैं। तुम कब तक इस घर में रहने वाले हो! "इस घर की यह रीति है, एक आवे एक जाय।" अतएव जो एकदम बदहवास है, वही कहता है कि यह घर मेरा है। जो सत्य को समझता है वह कभी नहीं मान सकता कि यह घर मेरा है। व्यवहार के लिए पूछने पर उसे भले कहना पड़े कि यह मेरा घर है, परन्तु वह अपने हृदय से उसे कभी अपना नहीं मान सकता। जो जाग रहा है वह इस संसार के एक तृण को भी अपना नहीं मान सकता। वो तो जो भूले हैं, नशा खाये हैं, वे मानते हैं कि यह घर मेरा है, यह परिवार मेरा है।

आदमी अपने जीवन में हाथी, घोड़े, बैल, सवारी बहुत इकट्ठा करता है। कबीर साहेब आज होते तो उन्हें सायकल, स्कूटर, मोपेड, कार, जीप, ट्रक आदि के भी नाम लेने पड़ते; परंतु वे सवारी कहकर मानो इन सबके लिए गुंजाइश कर दिये हैं। हम अपनी क्षमता के अनुसार माया की बहुत वस्तुएं इकट्ठी कर लेते हैं। उनसे केवल देहगुजर लें इतना ही नहीं रहता, किन्तु हम उनमें राग–भोग की दृष्टि रखते हैं, उनके अहंकार में इतराते घूमते हैं। हम अपने घर में कुछ लोहा–लक्कड़ आदि कूड़ा–कबाड़ इकट्ठा कर लेते हैं और उसके नशे में चूर रहते हैं। हम चार लोगों के साथ बैठते हैं तब उसी के गीत गाते हैं, हमारे यह है, हमारे वह है।

कबीर साहेब कहते हैं कि भोले, तू इस मकान में से चार दिनों में खदेड़ दिया जायेगा और तेरा निवास तो जंगल में होगा। तू समझ कि यह मकान तेरा क्षणिक निवास है, स्थायी निवास तो जंगल है। एक पेड़ के नीचे एक महात्मा बैठे थे। उधर से एक बना–ठना बाबू घोड़े पर बैठा आ गया। उसने साधु से पूछा—"बस्ती किधर है?' महात्मा ने उसे श्मशान की तरफ इशारा कर दिया। वह श्मशान में पहुंचकर बहुत हैरान हुआ। लौटकर पुनः साधु के पास पहुंचा और उन्हें भला–बुरा कहा। महात्मा ने कहा—वही असली बस्ती है। जिसे लोग बस्ती कहते हैं, मैं उसे श्मशान कहता हूं और जिसे लोग श्मशान कहते हैं, मैं उसे बस्ती कहता हूं। जहां लोग मरते हों उसे श्मशान कहना चाहिए तथा जहां लोग एक बार बसकर कभी न उजड़े उसे बस्ती कहना चाहिए। जिसे तुम लोग बस्ती कहते हो वहीं तो लोग मरते हैं। जिसे तुम लोग श्मशान कहते हो क्या वहां आज तक कोई मरा है? वहां तो लोग आकर बसते हैं, और जो वहां एक बार बस गया, फिर वहां से कभी नहीं उजड़ता। इसलिए लोगों की दृष्टि में जो बस्ती है, वह मेरी दृष्टि में श्मशान है और जो लोगों की दृष्टि में श्मशान है वह मेरी दृष्टि में बस्ती है। वह घोड़ा–सवार बाबू संत की बातों से दंग रह गया। उसने पहले उस साधु को बेवकूफ समझ लिया था, परन्तु अब वह उसके सामने स्वयं बेवकूफ बन गया। मोहलिप्त संसार कहता है कि इन महात्माओं की खोपड़ी उलटी होती है। 'राजा योगी अगिन जल इनकी उलटी रीति' यह उदाहरण देता है। परन्तु साधु की खोपड़ी सीधी होती है, क्योंकि वे मोह से परे हैं। उलटी खोपड़ी तो मोहग्रस्त लोगों की होती है। वे जो अपना नहीं है उसे अपना माने बैठे रहते हैं।

ध्यान रहे, चाहे तुम जितना माया का संग्रह कर लो, सब कुछ यहीं छोड़कर अकेला जाना पड़ेगा। एक दिन तुम इस घर से निकाले जाओगे। एक रियासतदार की मौत जब करीब आयी, वे अपने महल से निकालकर अयोध्या ले जाये जाने लगे कि मौत वहीं हो तो अच्छा है। जब वे अपने माने हुए विशाल तथा भव्य भवन से निकालकर कार में लिटाये गये, तब एक बार भवन की तरफ देखकर कहे "अब 'चन्द्रभवन' सदा के लिए छूट रहा है।" उन्होंने उस भवन को स्वयं बनवाया था और उसका नाम रखा था 'चन्द्रभवन'। उनकी ही नहीं, सबकी यही दशा है। चाहे झोपड़ी हो या भवन, सबका निवास उसके लिए चन्द्रभवन है और वह सबका छूटता है।

जब आदमी मर जाता है, तब उसे लोग श्मशान में ले जाकर जला या गाड़ देते हैं या पानी में फेंक देते हैं। पारसी लोग लाश को सूनसान में छोड़ देते हैं, और उसे पशु–पक्षी खा लेते हैं। मरे हुए आदमी के लिए घर वाले गांठी

बांधकर कुछ भेज नहीं पाते। भेजने का कोई साधन नहीं है। उसके पास कोई बीमा, पार्सल या मनीआर्डर नहीं जा सकता। यह भी संभव नहीं कि गया हुआ आदमी पुनः लौटकर अपने माने हुए घर से कुछ ले जा सके। अतएव जो आदमी अपने जीवन में सत्कर्म नहीं कर लेता, वह धोखा खाता है। जीवन में सत्कर्म करने वाला मानो अपनी गांठ में बांधकर अपने साथ ले जाता है। जो सत्कर्म नहीं करता, वह अपना यह जीवन तथा अगला जीवन भी दुखों से भरता है।

मानो एक मियां जी हों। उन्होंने अपनी समझदार तथा श्रद्धालु विवाहिता पत्नी को घर से निकालकर बाहर कर दिया हो और वेश्या को लाकर अपने घर में टिका लिया हो और वे चाहें कि मुझे सुख मिले तो यह उनकी नासमझी है। भूला जीव ऐसा ही करता है। वह अपने हृदय से शील, क्षमा, विचार, संतोष, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि सद्वृत्तियों को निकालकर बाहर कर देता है और राग-द्वेष, विषय-वासना, तृष्णा, अविवेक आदि लाकर बसा लेता है। इस जीव-मियां ने सद्गुणों का तिरस्कार कर दुर्गुणों में ही अपना डेरा जमा रखा है। जो व्यक्ति दुर्मति एवं दुर्गुणों में जीता है, उसे कहां चैन मिल सकता है ! धन तो लोगों के पास कम-बेश होता है। पेट-परदा सबका चलता है। जीवन में सच्चा सुख वही पाता है जिसके मन में अच्छे विचार हैं और जीवन में सद्गुण तथा सदाचार हैं। इनके बिना करोड़पति नहीं, विश्वपति भी हो तो दुखों में पड़ा बिलबिलाता रहेगा। सुख का स्रोत बाहर नहीं है, किन्तु भीतर है। चित्त की स्वच्छता सुख का स्रोत है। इसके बिना सुख कहीं नहीं है।

थोड़ा-सा सूत उलझ जाये तो उसे सुलझाने में बड़ा परिश्रम लगता है, परन्तु यदि नौ मन सूत उलझ जाये तो क्या दशा होगी? ये शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध में मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार उलझ गये हैं। मन पांचों विषयों का निरंतर स्मरण करता है, चित्त उन्हीं का अनुसंधान करता है, बुद्धि उन्हीं में सुख निश्चय करती है तथा अहंकार उन्हीं में जमकर क्रिया करता है। जीव अपने चतुष्टय अंतःकरण से पांचों विषयों में निरन्तर डूबा रहता है, यही नौ मन सूत का उलझना है। इसको थोड़ा दूसरे ढंग से भी समझ सकते हैं, शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध इन पांचों विषयों तथा रज, सत, तम इन तीनों गुणों में मन का उलझे रहना मानो नौ मन सूत का उलझ जाना है। दोनों तरीकों से अभिप्राय एक है मन का विषयों में उलझ जाना। कबीर साहेब अपनी सारी बातें प्रायः रूपकों एवं अलंकारों में कहते हैं। यहां भी उन्होंने नौ मन उलझे हुए सूत की प्रतीकात्मक भाषा में मन का विषयों और तीनों गुणों में उलझने की बात बतायी है। हमारा मन पांचों विषयों तथा तीनों गुणों में क्यों उलझा है? क्योंकि हमने

अपनी सद्वृत्ति को बाहर कर दिया है और दुर्वृत्ति को भीतर लाकर टिका लिया है। सद्गुरु कहते हैं कि तुम्हारा मन पांचों विषयों तथा तीनों गुणों में उलझ गया है और जन्म-जन्म से उलझता आ रहा है। तुम इसे आज भी नहीं सुलझाना चाहते हो तो यह कब सुलझेगा ! यह समझ लो कि मन का पूर्णतया सुलझाव ही जीवन की परम उपलब्धि एवं सर्वोच्च स्थिति है।

इसलिए सद्गुरु अंतिम पंक्ति में कहते हैं कि इस पद का निबेरा करो। यहां पद में 'श्लेष' है। पद का अर्थ यह शब्द है तथा पद का अर्थ आत्मस्वरूप है। हम इस शब्द में आये हुए विचारों को समझें और उन्हें समझकर अपनी आत्मा को सबसे छुड़ावें। निबेरा या निबेड़ा के अर्थ हैं—छुटकारा, त्राण, बचाव, एक में मिली वस्तुओं के पृथक होने या किये जाने का काम या भाव, सुलझाव, निबटारा, निर्णय, दूरीकरण, हटाव, पूर्ति, पूरा करना। हमारा मन संसार के विषयों में फंसा है। राग या द्वेष में पड़े रहना मन का फंसना है। इसी से सारे भय, चिन्ता, शोक-मोह एवं उपद्रव हैं।

हमें यह सोचना चाहिए कि हम अपने मन को संसार में उलझाकर क्या पाते हैं। हम जिनके प्रलोभन में पड़कर अपने मन को संसार में उलझाते हैं, वे सब एक दिन छूट जाते हैं, किन्तु हमारा मन उलझकर जीवनभर अशांत रहता है और जन्मांतर में भी दुखों का कारण बनता है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि "यह पद का करो निबेरा"। अपने चेतनस्वरूप को सबसे अलग समझकर मन को सारे विषयों तथा सांसारिक चीजों से हटा लो। देह, गेह, परिवार, प्राणी, पदार्थ, पद, प्रतिष्ठा सब नाशवान एवं छूटने वाले हैं। इनकी अहंता-ममता छोड़ो ये सब तुम्हारे नहीं हैं। तुम्हारा केवल तुम्हारी आत्मा है। आत्माराम बनो।

तुम्हारा प्राप्तव्य तुम्हारी हृदय-गुहा में ही विद्यमान है

शब्द-86

कबिरा तेरो घर कन्दला में, यह जग रहत भुलाना 1
गुरु की कही करत नहिं कोई, अमहल महल दिवाना 2
सकल ब्रह्म मों हंस कबीरा, कागन चोंच पसारा 3
मन्मथ कर्म धरे सब देही, नाद बिन्द बिस्तारा 4
सकल कबीरा बोले बानी, पानी में घर छाया 5
अनन्त लूट होत घट भीतर, घट का मर्म न पाया 6
कामिनी रूपी सकल कबीरा, मृगा चरिन्दा होई 7

. निबेड़ा—बृहत् हिन्दी कोश।

बड़ बड़ ज्ञानी मुनिवर थाके, पकरि सके नहिं कोई 8
ब्रह्मा बरुण कुबेर पुरन्दर, पीपा औ प्रहलादा 9
हरणाकुश नख वोद्र बिदारा, तिन्ह को काल न राखा 10
गोरख ऐसो दत्त दिगम्बर, नामदेव जयदेव दासा 11
तिनकी खबर कहत नहिं कोई, उन्ह कहाँ कियो है बासा 12
चौपर खेल होत घट भीतर, जन्म का पासा डारा 13
दम दम की कोइ खबरि न जाने, कोइ कै न सके निरुवारा 14
चारि दृग महि मण्डल रच्यो है, रूम शाम बिच डिल्ली 15
तेहि ऊपर कछु अजब तमाशा, मारो है यम किल्ली 16
सकल अवतार जाके महि मंडल, अनन्त खड़ा कर जोरे 17
अद्‌बुद अगम औगाह रच्यो है, ई सब शोभा तेरे 18
सकल कबीरा बोले बीरा, अजहूँ हो हुशियारा 19
कहहिं कबीर गुरु सिकली दर्पण, हरदम करहिं पुकारा 20

शब्दार्थ—कबिरा= मनुष्य जीव। घर= निवास। कन्दला=कंदरा, गुफा। अमहल= बेघर वाले साधु-संन्यासी। महल= घर वाले गृहस्थ। मों= में। कबीरा= जीव। मन्मथ= काम, काम-वासना। नाद= शब्द, प्राण। बिन्द=वीर्य। सकल कबीरा= सब जीव। घट= हृदय। कामिनी रूपी मृगा चरिन्दा= कामिनी रूपी चरने वाला पशु, तात्पर्य में काम-पशु। पुरन्दर= इन्द्र। दत्त= दत्तात्रेय। चौपर= चौसर। पासा= चौसर के खेल में फेंका जाने वाला वह चौपहला लंबोतर हड्डी या लकड़ी का बड़ा टुकड़ा जिस पर बिंदिया बनी होती हैं। दम-दम= क्षण-क्षण। चारि दृग= चार दिशाएं—नाभि, हृदय, कंठ तथा त्रिकुटी। महि मण्डल= पृथ्वी मंडल, शरीर। रूम= तुर्की, पश्चिम, तात्पर्य में पीठ। शाम= श्याम, थाइलैण्ड, पूर्व, तात्पर्य में छाती। दिल्ली= भारत की राजधानी, तात्पर्य में हृदय। यम= वासना। किल्ली= अज्ञान का खूंटा, सिटकिनी, कुंजी। महिमण्डल= पृथ्वी पर। अगम= अपार। औगाह=अवगाह, अथाह। बीरा= मन पर विजयी संतजन। सिकली= सान चढ़ाने या मांजने की क्रिया।

भावार्थ—हे मनुष्य! तेरा वास्तविक स्वरूप चेतन तो हृदय-गुहा में विद्यमान है। तू उसे न समझकर इस बाहरी जगत में भूला रहता है 1 कोई गुरु के उपदेशों का पालन नहीं करता है। साधु हो या गृहस्थ सब अपने आत्मस्वरूप को न समझकर बाहरी कल्पनाओं में उन्मत्त हैं 2 सभी जीव मानो मूलतः ब्रह्म एवं शुद्धरूप ही हैं। परन्तु उनमें देहोपाधि से विवेक या अविवेक के कारण कोई हंस है और कोई काक है। जो हंस है वह नीर-क्षीर विवेक करता है और जो काक है वह सब कुछ खाने के लिए अपना मुख

फैलाता है 3 सब जीव सकाम कर्म करके नाना देह धारण करते हैं और नाद-बिन्द से अपनी सृष्टि का विस्तार करते हैं 4 वैसे सब मनुष्य ज्ञान की बातें करते हैं, परन्तु अपने घर छाते हैं पानी में। अर्थात ज्ञान की बातें करते हुए अपने आचरण जगत में डूबने वाले रखते हैं 5 इसलिए हृदय के भीतर रहे हुए अनन्त आत्मिक धन की लूट हो रही है और जीव अपने घट भीतर का हाल नहीं जान पा रहा है 6 कामनारूपी पशु सबके हृदय-खेत को चर रहा है 7 बड़े-बड़े शास्त्रज्ञानी और श्रेष्ठ मुनि लोग भी थक गये, परन्तु इस कामना-पशु को नहीं पकड़ पाये कि इसे वश में कर लें 8 ब्रह्मा, वरुण, कुबेर, इन्द्र, पीपा, प्रहलाद और प्रहलाद को बचाकर अपने नखों से हिरण्यकश्यपु के पेट को फाड़कर उसे मारने वाले नृसिंह इन किसी को भी काल ने नहीं रहने दिया 9-10 और इतना ही क्या, गोरख ऐसे महायोगी, दत्तात्रेय दिगम्बर, नामदेव तथा जयदेव भक्त, इनका कोई संदेश नहीं बताता है कि इन सबने अपने निवास कहां बनाये 11-12 सबके हृदय में मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार का चौसर-खेल हो रहा है और बारम्बार नाना योनियों में भटकने के पासे पड़ रहे हैं, अथवा इस खेल में जीव अपने जीवन को दावं पर लगाकर उसे हार रहा है 13 क्षण-क्षण हृदय में क्या चक्कर चल रहा है, इसका कोई पता नहीं लगाना चाहता और बिना इस बात को समझ लिये कोई अपना भवबंधनों से छुटकारा भी नहीं कर सकता 14 इस शरीररूपी पृथ्वी मण्डल पर नाभि, हृदय, कंठ तथा त्रिकुटीरूपी मानो चार दिशाएं बनायी गयीं हैं, और जैसे रूम और श्याम के बीच में दिल्ली नगर पड़ता है, वैसे पीठ और छाती के बीच में हृदय-नगर पड़ता है जहां चेतन-सम्राट की गद्दी है 15 परन्तु उसके ऊपर कुछ अजब तमाशा हो गया, वह यह कि वासनारूपी यमराज ने वहां अज्ञान का खूंटा ठोंक दिया 16 पृथ्वीमंडल पर जिसके देहधारणरूपी सारे अवतार हैं और अनन्त प्रकृति मानो जिसके सामने हाथ जोड़कर खड़ी है, और जिसने अद्भुत, अपार और अथाह ज्ञान-विज्ञान का सागर रच डाला है, हे मानव ! यह सब तेरी विभूति है, तेरी शोभा है 17-18 हे कल्याणार्थियो ! मन पर विजयी वीर संतजन सभी मनुष्यों को हित का रास्ता बताते हैं, तुम उनसे निर्देश लेकर आज भी सावधान हो जाओ तो तुम्हारा बेड़ा पार हो जायेगा 19 कबीर साहेब कहते हैं कि गुरुजन रूपी सिकलीगर तुम्हारे हृदय को मांजकर उसे दर्पण के समान स्वच्छ करने के लिए तुम्हें हरदम पुकार रहे हैं, तुम उनकी तरफ ध्यान दो 20

व्याख्या—"कबिरा तेरो घर कन्दला में, यह जग रहत भुलाना।" इस शब्द में एक बार कबिरा तथा चार बार कबीरा कहकर जीव-समूह, विशेषतः

मानव-समूह को इंगित किया गया है और छठीं बार में कबीर साहेब ने अपने नाम की छाप लगाते हुए 'कहहिं कबीर' कहा है। वे पहली पंक्ति में कहते हैं कि हे कबिरा, हे मानव, तेरा घर तो कंदरा में है। हृदय-गुहा में तेरी चेतना निवास करती है। तू अपनी आत्मा को अपनी हृदय-गुहा में खोज, बाहर क्या भटक रहा है। यह कथन भी भ्रम उत्पन्न कर सकता है। वस्तुतः वह हृदय निवासी तो तू ही है। तेरी अपनी स्मृति अपनी तरफ घूम जाना ही अपनी खोज करना है। तू तो अपने आप को न पहचानकर इस जगत की चमक-दमक एवं तड़क-भड़क में भूल रहा है। यम नचिकेता से कठ उपनिषद् में कहते हैं—"जो स्वरूप में सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है और गुणों में महान से भी महान है वह आत्मा सभी प्राणधारियों की हृदय-गुहा में विद्यमान है। उसे ठीक से वही समझता है जो कर्मजाल से छूटा हुआ और शोक से पार है। वह अपने मन की स्वच्छता से अपनी आत्मा में ही महिमावान है।" जो अपने हृदय-मन्दिर के आत्मदेव को जान लेता है, वह संसार में नहीं भटकता।

"गुरु की कही करत नहिं कोई, अमहल महल दिवाना।" सच्चे सद्गुरु जो बताते हैं कि तू अपनी आत्मा को पहचान, इस आदेश का पालन कोई नहीं करना चाहता। मनुष्य अपने अविनाशी स्वरूप को न पहचानकर ही दीवाना बना भटक रहा है। अमहल और महल, अर्थात बे-घर तथा घर वाले सब बाहर से परमात्मा, मोक्ष एवं निर्वाण पाने के लिए पागल हैं। बे-घर साधु-संन्यासी हैं तथा घर वाले गृहस्थ हैं। जैसे गृहस्थ भटक रहे हैं, वैसे साधु-संन्यासी भी भटक रहे हैं। बाहर से मोक्ष और परमात्मा पाने का पागलपन गृहस्थ-विरक्त सबको भटका रहा है।

"सकल ब्रह्म मों हंस कबीरा, कागन चोंच पसारा।" सकल कबीरा मानो ब्रह्म हैं। अर्थात सब जीव स्वरूपतः शुद्ध-बुद्ध हैं। जीव का मौलिक स्वरूप ही ब्रह्म है, महान है, निर्मल है। परन्तु देहोपाधि से उनमें कोई हंस है तथा कोई कौआ है। सभी जीव का मौलिक स्वरूप शुद्ध है, परन्तु देहधारी होने के नाते वे जैसे अपने मनोभाव एवं आचरण रखेंगे वैसे उनके हंस या काकरूप सामने आयेंगे। जो जड़-चेतन का विवेक करेगा, खाद्याखाद्य, ग्राह्य-त्याज्य, राग-विराग, बंध-मोक्ष, दुर्गुण-सद्गुण का अलग-अलग विचारकर नीर त्यागकर क्षीर ग्रहण करेगा वह हंस है, विवेकी है। जिसका आहार शुद्ध है, जो राग-द्वेष और दुर्गुणों को त्यागकर सद्गुण में रमता है, जो जड़ासक्ति छोड़कर निजस्वरूप चेतन में स्थित है वह हंस है। परन्तु जो व्यक्ति काक-बुद्धि का है, वह तो सब

. अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः॥ (कठ उपनिषद् 1/2/20)

कुछ खाने के लिए अपनी चोंच फैलाता है। उसके लिए न कुछ विधि है और न निषेध है। उसे न जड़-चेतन का भिन्न विवेक है और न वह विषयों को छोड़कर अविनाशी पद समझता है। उसके लिए सब धान साढ़े बाइस पसेरी है। उसे विवेक-विचार एवं सदाचार से क्या लेना-देना !

"मन्मथ कर्म धरे सब देही, नाद बिन्द बिस्तारा।" मन्मथ कहते हैं काम को और देही का अर्थ है देहधारी जीव, जो देह को धारण करता है, परन्तु कविता में देही का अर्थ देह भी होता है। एक में अर्थ होगा सब देहधारी जीव सकाम कर्म धारण करते हैं और दूसरे में अर्थ होगा कि सकाम कर्म से सब जीव देह धारण करते हैं। अतएव मूल भाव में अन्तर नहीं है। जीव सकाम कर्मवश ही देह धारणकर भटक रहे हैं, या यों कहिए कि मनुष्य सकाम-कर्मवश ही नाना लालसाओं के कारण संसार में भटक रहे हैं। "नाद-बिन्द बिस्तारा" नाद-बिन्द का सरल अर्थ है प्राण और वीर्य। जीव इन्हीं उपादानों से शरीर धारण करता है। जीव निमित्त कारण है, सकाम कर्म साधारण कारण है तथा प्राण-वीर्य उपादान कारण हैं। इन्हीं सबसे शरीर-रचना का विस्तार होता है। "नाद-बिन्द बिस्तारा" को एक ढंग से ऐसा भी समझा जा सकता है कि नाद का अर्थ शब्द है। शब्दों द्वारा उपदेश करके धार्मिक क्षेत्रों में शिष्यों का विस्तार होता है तथा बिन्द वीर्य है उससे गृहस्थी में बाल-बच्चों को पैदा करके उसका विस्तार होता है। वैसे पहले वाला अर्थ ही यहां अधिक उपयुक्त है।

"सकल कबीरा बोले बानी, पानी में घर छाया।" सभी जीव ज्ञान की बातें बोलते हैं, परन्तु अपने घर छाते हैं पानी में। "पानी में घर छाया" बहुत बड़ा व्यंग्य है। हम ज्ञान की बातें तो करते हैं, परन्तु अपने जीवन के आचरण ऐसा करते हैं जिससे अपना पतन हो। कोई अपना मकान पानी में बनायेगा तो वह कब तक टिकेगा ! जिसके पेंदा में छेद-ही-छेद है वह डूबेगा ही। ज्ञान की बातें कहना मात्र पर्याप्त नहीं है, किन्तु उनके अनुसार आचरण करने की महती आवश्यकता है।

"अनन्त लूट होत घट भीतर, घट का मर्म न पाया।" सबके भीतर रहने वाली उसकी अनन्त एवं अविनाशी आत्मा है, वह काम-क्रोधादि डाकुओं द्वारा लूटी जा रही है। यहां अनन्त में श्लेष है। हम यहां के 'अनन्त' शब्द को जीव का स्वरूपवाची भी मान सकते हैं तथा लूट का विशेषण भी। दोनों भावों में मुख्य अर्थ में अन्तर नहीं पड़ता। एक में अर्थ होगा कि हमारी अनन्त आत्मा लूटी जा रही है और दूसरे में अर्थ होगा कि हमारी आत्मा की अनंत लूट हो रही है। अर्थात वह हर तरह से लूटी जा रही है। यह जो क्षण-क्षण काम, मोह, देहाभिमान, द्वेष, क्रोध, लोभ, चिन्ता, शोक आदि हमारी अन्तरात्मा को मलिन

करते रहते हैं यह मानो हमारी अनन्त आत्मा की लूट हो रही है। अथवा हमारी आत्मा अनन्त प्रकार से लूटी जा रही है। परन्तु "घट का मर्म न पाया" हम अपने घट का मर्म नहीं जान पाते। हमें हृदय में होने वाली क्षण-क्षण की लूट के रहस्य का पता नहीं लगता। इतनी हमारी असावधानी है। हम जिस घर में रहते हों उसी घर में क्षण-क्षण लुटेरे घुस-घुसकर हमारे माल-टाल की लूट मचा रहे हों और हमें इसका पता ही न लगे तो इससे अधिक हमारी अचेती क्या होगी ! हमारे हृदय-मंदिर में जो कामादि डाकू हमारे ज्ञान तथा शांति-धन को लूटते हैं हम उससे जीवनभर अनभिज्ञ बने रहते हैं। इससे अधिक दुख की बात क्या होगी ! इसलिए साधक को चाहिए कि वह सब समय अपने हृदय को देखे। जो अपने मन का सब समय साक्षी बना रहता है, वही सच्चा साधक है। जो हृदय-घर की सदैव निगरानी रखता है, उसके दिल में चोरी नहीं होगी। सतत सावधानी ही साधना है। जो हर समय अपने मन को देखता है, उसका मन चालबाजी नहीं कर पाता। इसलिए साधक को चाहिए कि वह आवश्यक काम करते हुए सब समय साक्षी-भाव से रहे। मन को देखता रहे कि वह क्या कर रहा है। जो सावधान होकर सदैव मन को देखता रहेगा उसका हृदय स्वच्छ रहेगा।

"कामिनी रूपी सकल कबीरा, मृगा चरिन्दा होई।" सकल कबीरा अर्थात सभी मनुष्य जीवों को कामिनी रूपी मृगा चर रहा है। कामिनी का अर्थ है काम-वासना। यह एक ऐसा पशु है जो चरिन्दा है, चरता है। मनुष्यों के हृदयरूपी खेत के ज्ञान और शांति-फसल को कामवासना रूपी पशु निरन्तर चर रहा है। यदि खेत की फसल को पशु बराबर चरते रहें, तो फसल होना असंभव है। इसी प्रकार जिसके हृदय में काम-वासनाएं बराबर बनी रहती हैं उसके हृदय में कहां ज्ञान की स्थिति होगी और कहां शांति होगी।

"बड़ बड़ ज्ञानी मुनिवर थाके, पकरि सके नहिं कोई।" शास्त्रों के बड़े-बड़े ज्ञानी तथा बड़े-बड़े ऋषि-मुनि इस पशु को पकड़ने का प्रयत्न किये कि इसे पकड़कर बांध दें जिससे फसल की रक्षा हो, परन्तु कोई पकड़ न सका। लोग इस कामना-पशु के पीछे दौड़ते-दौड़ते स्वयं थककर गिर पड़ते हैं, परन्तु इसे पकड़ नहीं पाते। इस कामना-पशु का एक रूप नहीं है। इसके अनेक रूप हैं। यह अपनी शक्ल बदलने में माहिर है। काम-वासना का मतलब केवल स्त्री-पुरुष के अंग-मिलन की चाह ही नहीं है। यह तो है ही। यह तो बहुत मलिन है। परन्तु इसके अलावा बाहर से कुछ भी पाने की कामना, कामना ही है। अपने चेतन को छोड़कर, अपनी आत्मा से हटकर हम जो कुछ पाने की कामना करते हैं, वह मानो मन का भटकाव है। यदि हम किसी विषय से सुख पाना

चाहते हैं, तो कामना है, बाहर से ईश्वर या मोक्ष पाना चाहते हैं तो कामना है। हम स्थूल विषयों की मलिनता से अपने आप को मुक्त भी कर लेते हैं, परन्तु इसके बाद यदि बाहर से ईश्वर या मोक्ष पाना चाहते हैं, तो मानो कामना–रूपी पशु के द्वारा हमारा हृदय–खेत चरा जा रहा है। इसीलिए साहेब कहते हैं कि बड़े–बड़े ज्ञानी और मुनि भी थक गये, परन्तु कामना–पशु को पकड़ नहीं सके। उसे पहचानकर उससे मुक्त नहीं हो सके। ज्ञानी और मुनिजन समझते हैं कि हमने विषयों का त्याग कर दिया, अब केवल परमात्मा के दर्शन की भूख रह गयी है। अब तो हम कामनाओं से मुक्त हैं। परन्तु हमें समझना चाहिए कि यदि परमात्मा अपनी आत्मा से अलग है और उसके दर्शन होते हैं तो वह भी विषय है। निज चेतनस्वरूप के बाद सब विषय है। इस प्रकार कामना–पशु का बड़ा सूक्ष्म रूप है। इसे पकड़ पाना, इसे वश में कर पाना बड़ी परख की बात है। इसीलिए सद्गुरु कहते हैं—

ब्रह्मा, वरुण, कुबेर, इंद्र, पीपा, प्रहलाद, नृसिंह, गोरख, दत्तात्रेय दिगंबर, नामदेव, जयदेव या इसी लाइन में और भी जितने नाम गिना लें, यदि ये सब अपनी स्वरूपस्थिति एवं आत्मस्थिति के अलावा भी ऋद्धि–सिद्धि, ईश्वर–मोक्ष आदि कुछ चाहते रहे तो ये मानो कामना–पशु के पीछे दौड़ते रहे।

यहां जो ब्रह्मादि कई नाम गिनाये गये हैं और इन्हें काल के अधीन बताया गया है और यह कहा गया है कि "तिनकी खबर कहत नहिं कोई, उन्ह कहाँ कियो है बासा।" इसमें दो अर्थ हैं। पहला तो यह है कि इनमें से किसी के प्रति जो देवता एवं अतिमानव होने की कल्पना है उसका खंडन है। कबीर साहेब मानव के अलावा कोई देवता नहीं मानते, और यही तथ्य है। यह देववाद तथा अतिमानव की कल्पना ही सारी भ्रांतियों की जड़ है। साहेब कहते हैं कि ब्रह्मा हों या वरुण, कुबेर हों या इंद्र और चाहे हिरण्यकश्यपु के पेट को अपने नख से फाड़ने वाले नृसिंह ही क्यों न हों, यदि ये सब देहधारी थे, तो मानव से बढ़कर ये कुछ नहीं थे। इनकी भी एक दिन मौत हो गयी होगी, अन्यथा ये आज दिखाई देते। गोरखनाथ जी को लोग अमर कहते हैं। साहेब कहते हैं यह भी गलत है। जो एक दिन देह धारण करता है, वह एक दिन अवश्य मरता है। यह समस्त देहधारियों के लिए प्रकृति का अकाट्य नियम है। इसके अलावा ये ब्रह्मादि तथा पीपा, प्रहलाद, दत्त, दिगंबर, नामदेव, जयदेव आदि यदि अपनी आत्मा से अलग किसी ईश्वर–परमात्मा को पाने की कामना अपने मन में बनाये रखे हों तो ये कामना–पशु के द्वारा मानो चरे जा चुके हैं। इसका पता कौन बताये कि ये किस ईश्वर के पास किस लोक में जाकर निवास पाये ! लोग कहते हैं कि प्रहलाद बैकुंठधाम को चले गये तथा अन्य भक्त लोगों में से कोई

ब्रह्मलोक, कोई गोलोक, कोई शिवलोक आदि में गये। साहेब कहते हैं कि यह खबर तुम्हें कैसे मिली? यह सब कामना-पशु का राज्य है। ज्ञानी के लिए केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वह जीवनकाल में ही चेतनस्वरूप में स्थित हो गया, वह अपने आत्माराम में लीन हो गया, और जो आज सारी वासनाओं को छोड़कर स्वरूपस्थ एवं आत्मस्थ है, वह मानो सदैव के लिए स्वरूपस्थ एवं आत्मस्थ है, क्योंकि उसकी कामनाएं सर्वथा मिट गयी हैं। जब कोई कामना नहीं हो तो कहीं आना-जाना नहीं। इसके अलावा कुछ नहीं कहा जा सकता।

"चौपर खेल होत घट भीतर, जन्म का पासा डारा। दम दम की कोइ खबरि न जाने, कोइ कै न सकै निरुवारा।" सबके हृदय में चौपड़ का खेल हो रहा है। लोग कपड़ा बिछा लेते हैं। उस पर गोट या पासा फेंककर खेल खेलते हैं। खेल में जीतते हैं या हारते हैं। हड्डी या लकड़ी का एक लंबा तथा चौपहला टुकड़ा होता है। जिस पर बिंदियां बनी रहती हैं। उसे पासा कहते हैं। उसे फेंक-फेंककर चौपर एवं चौसर खेलते हैं। इसमें रुपये-पैसे या अन्य प्रकार के धन दावं पर लगाते हैं। यही जुआ कहलाता है। इसी जुआखेलाई में तो कौरवों तथा पांडवों का विध्वंस हुआ था। इस चौसर एवं जुआ में हारने तथा जीतने वाले दोनों मानो अपने जीवन को हारते हैं।

साहेब कहते हैं कि सबके घट के भीतर, सबके दिल में एवं हृदय में चौपड़ खेल हो रहा है और वह खेल अनवरत होता है। इस चौसर में हृदय मानो बिसात अर्थात फैलायी हुई चद्दर है; मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार का चौपहला पासा है। इस पासे को फेंक-फेंककर मनुष्य अपने पूरे जन्म को एवं जीवन को दावं पर लगा देता है। मनुष्य अपना पूरा जीवन मन के खेल में लगा देता है। वह क्षण-क्षण मन से विषयों का स्मरण करता है, चित्त से उनका अनुसंधान करता है, बुद्धि से उन्हीं में सुख निश्चय करता है तथा अहंकार से उन्हीं की करतूति करता है। वस्तुतः एक ही अंतःकरण विषयों का सरल चिन्तन करता है तब मन की अवस्था है, वह जब विषयों की गहराई में उतरता है तब चित्त की अवस्था है, जब उनमें सुख निश्चय करता है तब बुद्धि की अवस्था है और जब उनके भोगों में प्रवृत्त होता है तब अहंकार की अवस्था है। इस प्रकार मनुष्य के घट-भीतर यह चौसर, यह जुआ, यह पासे का फेंकना चला करता है, और आदमी अपने जीवन को, अपने सर्वस्व को उसके साथ हारता रहता है। मन के बहकाव में चला जाना ही मानो अपने जीवन को, अपने सर्वस्व को हार जाना है। "जन्म का पासा डारा" का यही अर्थ है कि मनुष्य ऐसा पासा फेंकता है जिसमें अपने जीवन को हार जाता है। इसी से यह भी सिद्ध हो जाता है कि

जीव नाना योनियों में भटकने के लिए ही मानो यह पासा फेंकता है। यदि जीव विषयों के चिन्तन ही में रहेगा तो योनियों में भटकता ही रहेगा।

"दम दम की कोई खबरि न जाने, कोइ कै न सकै निरुवारा।" दिल के भीतर क्षण-क्षण क्या घटना घट रही है इसका किसी को पता नहीं है। आदमी हर समय अपने दिल को लेकर ही जीता है, परन्तु दिल में क्या-क्या हो रहा है इसकी खबर उसे नहीं है। जब तक घर के भीतर का झगड़ा न जाना जाये तब तक उसका निपटारा भी कैसे किया जा सकता है ! जो लोग रात-दिन मन की धारा में बहते हैं उनकी तो बात ही छोड़िये, जो मन को देखने का प्रयास करते हैं, वे भी समय-समय से मन को देखते-देखते उसमें इस ढंग से बह जाते हैं कि उनको पता भी नहीं लगता कि हम कब बह गये और कहां गये। मन की वासनाएं बड़ी सूक्ष्म होती हैं। जो सतत सावधान रहता है वही इससे बचता है। वस्तुतः मन की धारा से उबरने के लिए वैराग्य और अभ्यास दोनों चाहिए। संसार-शरीर की नश्वरता और दुखरूपता का सदैव भान रहना वैराग्य है और मन का साक्षी बनकर उसे शांत करते रहना अभ्यास है। इसमें वैराग्य प्रबल साधन है। मन में तीव्र वैराग्य आने से हृदय की हलचल अपने आप शांत हो जाती है। साधक को चाहिए कि वह सदैव विषयों के प्रति अनासक्ति रूपी वैराग्य तथा मन का साक्षी-भावरूप अभ्यास को जाग्रत रखे।

साधक वही है जो अपने दिल को सदैव देखता है। विशाल देव ने कहा है—"जो सद्बुद्धिमान तथा गुणग्राही है वह अपने दिल को देखता है कि हमारे दिल-घर में क्या-क्या काम हो रहा है। हृदय में स्ववशता, स्वतन्त्रता एवं निर्विषय स्वरूपस्थिति का राज्य है या विषय-वासनाओं की प्रबलता एवं जीव की विवशता का जोर है। सच्चा साधक विषय-वासनाओं के वश होना मौत से अधिक दुखद समझता है। इसलिए वह सदैव निर्विषय एवं स्ववश होने के लिए प्रयत्नवान रहता है। वह अन्य सारे काम छोड़कर रात-दिन इसी लक्ष्य में तत्पर रहता है कि हमारा मन, हमारा हृदय सब समय निर्विषय एवं स्ववश रहे।"

"चारि दृग महि मण्डल रच्यो है, रूम शाम बिच डिल्ली। तेहि ऊपर कछु अजब तमाशा, मारो है यम किल्ली।" यह शरीर मानो महि-मण्डल अर्थात भूमंडल है। भूमंडल पर चार दिशाओं की कल्पना होती है जिन्हें पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण कहते हैं। इस शरीररूपी भूमंडल पर नाभि, हृदय, कंठ तथा

. सद्बुद्धी गुणग्राह्यता, देखै अपनी ओर।
क्या क्या दिल घर काम हो, स्ववश विवश कर जोर॥
विवश मरण से अधिक लखि, स्ववश हेतु परियत्न।
निश दिन तत्पर याहि में, और तजै सब यत्न॥ (मुक्तिद्वार, शांतिशतक 43-44)

त्रिकुटी ही मानो चार दिशाएं हैं। हमारे भारतवर्ष की राजधानी बहुत दिनों से दिल्ली है। वहीं हमारे देश का बादशाह रहता है। हमारे देश की राजधानी दिल्ली रूम और श्याम के बीच में है। रूम है तुर्की जो दिल्ली से पश्चिम है और श्याम है आजकल का थाइलैंड जो दिल्ली से पूर्व है। इस प्रकार रूम और श्याम के बीच में दिल्ली है। इस शरीररूपी भूमंडल पर पीठ रूम है तथा छाती श्याम है और दोनों के बीच में हृदय दिल्ली है, जहां इस शरीर-देश के बादशाह-चेतन की गद्दी है। साहेब कहते हैं, परन्तु इस हृदय-दिल्ली में कुछ अजब तमाशा हो गया है। यहां पर यम ने किल्ली गाड़ दी है। यम वासना है और किल्ली अज्ञानरूपी खूंटा है। इन सारे अलंकारों के जंजाल को हटाकर अर्थ बड़ा सरल है कि इस मनुष्य-शरीर के हृदय में ही चेतन-सम्राट एवं आत्मदेव निवास करता है, परन्तु हृदय में उसका राज्य न रहकर वासना एवं अज्ञान का राज्य है। जीव हृदय में रहता अवश्य है, परन्तु वह वासना के अधीन है। उसका हृदय चेतन की स्ववशता में न रहकर विषयों की विवशता में रहता है। यही अजब तमाशा है। यही उलटा खेल है।

प्रश्न होता है कि क्या चेतन-सम्राट अपने स्वरूपस्थिति-राज्य को प्राप्त नहीं कर सकता? क्या वह वासनाओं से मुक्त नहीं हो सकता? साहेब कहते हैं कि बिलकुल हो सकता है, क्योंकि यह जीव महान समर्थ है। साहेब इस चेतन की प्रशंसा में कहते हैं "सकल अवतार जाके महि मण्डल, अनन्त खड़ा कर जोरे। अद्बुद अगम औगाह रच्यो है, ई सब शोभा तेरे।" हे जीव! इस पृथ्वी मंडल पर सारे अवतार तुम्हारे ही हैं। अनादिकाल के दौरान में पृथ्वी पर जो भी देहधारण हुआ है वह तेरी ही तो विभूति है। तू ही तो व्यास हुआ, वसिष्ठ हुआ, राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर हुआ, तू ही जरथुस्त्र, लाओत्जे, मूसा और ईसा हुआ, तू ही सुकरात और मुहम्मद हुआ। यह प्राणियों का जन्म ही तो अवतार है। कबीर साहेब वैसा अवतार नहीं मानते कि कोई सुप्रीम पावर है और वह ऊपर से उतरता है। कबीर साहेब के ख्याल से सारे प्राणी ही मानो अवतार हैं। उनमें मनुष्य की मुख्य भूमिका है। संसार में जो बड़ी-बड़ी विभूतियां हुईं या होती हैं, अन्य मनुष्य भी मूलतः उन्हीं के समान हैं। ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल का विलक्षण-विलक्षण अनुसंधाता आखिर कौन है? यह मनुष्य ही है। यही अद्भुत, अपार और अथाह ज्ञान-विज्ञान का जनक है। इस जड़-प्रकृति क्षेत्र में जिसने ज्ञान-विज्ञान की हलचल मचा रखी है वह यह मनुष्य जीव ही है। सद्गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य! यह सारा ज्ञान-विज्ञान तेरी शोभा है, तेरी विभूति है। तूने ही वेद बनाये, बाइबिल बनायी, कुरान बनाया और हजारों धर्मग्रन्थ बनाये। तूने ही व्याकरण, संगीत, नृत्य तथा प्रकृति-शक्ति के ज्ञान-विज्ञान के हजारों आयाम खोले। तूने ही ईश्वर, अवतार, पैगंबर, देवी-देवता

तथा स्वर्ग-नरक की कल्पना की। तू न होता तो ज्ञान-विज्ञान का नामोनिशान न होता। चन्द्रमा भी एक पृथ्वी है। वहां तू नहीं है, तो वहां कहां ज्ञान-विज्ञान है ! इसलिए ज्ञान-विज्ञान का तू ही मूल है। तेरे सामने यह अनन्त प्रकृति मानो हाथ जोड़कर खड़ी है। तू इसका भोक्ता एवं द्रष्टा है। यह जड़ दृश्य है। अतएव तू ऐसा महान होकर अपने आप को वासनाओं से मुक्त क्यों नहीं कर सकता है ! सारी वासनाएं, सारी आदतें तेरी रची हैं इसलिए तू इन सबको एकदम छोड़ सकता है। तू वासनाओं को त्यागकर ही हृदय-दिल्ली का बादशाह हो सकता है। बाहरी देश का बादशाह तो बेचारा वासनाओं में फंसा दीन है। असली बादशाह तो वही है जो वासनाओं से सर्वथा मुक्त है।

"सकल कबीरा बोले बीरा, अजहूँ हो हुशियारा।" हे सकल कबीरा ! हे सम्पूर्ण मनुष्यो ! वासना-विजयी संतजन तुम्हें ज्ञान की बातें समझा रहे हैं। वे तुम्हें अपने उच्चादर्श से तथा वाणी से—दोनों से प्रेरित कर रहे हैं। इन वासना-विजयी-वीर संतों की आवाज सुनकर तो तुम्हें जग जाना चाहिए। आचरणहीन वक्ताओं का कोई प्रभाव न पड़े तो यह स्वाभाविक-सी बात है, परन्तु जो वीर हैं, जिन्होंने अपने मन की सारी वासनाओं को जीत लिया है, ऐसे संतों के वचनों से, आचरणों से तो प्रेरणा लेनी चाहिए। तुम ऐसे संतों से प्रेरणा लो और आज ही होशियार हो जाओ, सावधान हो जाओ। तुम्हारे दिल की वासनाएं ही तुम्हें रात-दिन लूट रही हैं। तुम रात-दिन अन्दर-ही-अन्दर लूटे जा रहे हो। अतएव इन अन्दर के लुटेरों से सावधान हो जाओ।

"कहहिं कबीर गुरु सिकली दर्पण, हरदम करहिं पुकारा।" कबीर साहेब कहते हैं कि गुरु सिकलीगर होते हैं। वे निर्णय-विवेक के सान पर शिष्य के मैले-मन को मांजकर उसे दर्पणवत स्वच्छ बना देते हैं। पत्थर की एक चक्की होती है उसे 'सान' कहते हैं। उसको घुमाते हैं और उस पर उस्तरा आदि लोह के औजार रखकर उसे मांजते हैं। मांजने को 'सिकली' कहते हैं और जो मिस्त्री मांजता है उसे 'सिकलीगर' कहते हैं। यहां निर्णय-विवेक मानो 'सान' है, सद्गुरु 'सिकलीगर' हैं और उनका निर्णय-विवेक द्वारा शिष्य को बोध देना मानो 'सिकली' करना एवं मांजना है। कबीर साहेब कहते हैं कि सद्गुरु तो तुम्हें हरदम पुकार रहे हैं, वे हरदम तुम्हें अपनी ओर खींचते हैं। तुम्हीं ऐसे जड़मति हो गये हो कि उनकी पुकार सुन नहीं रहे हो। तुम गुरु की आवाज की तरफ ध्यान दो, निश्चित ही तुम्हारा बेड़ा पार होगा।

सद्गुरु ने इस शब्द में पूरे मानव समाज को संबोधित कर यह समझाने का प्रयास किया है कि मनुष्य का प्राप्तव्य उसका निज चेतनस्वरूप है, आत्मदेव है और वह उसकी हृदय-गुहा में सब समय विद्यमान है। परन्तु मनुष्य अपने उस दिव्य स्वरूप को नहीं समझता है, इसलिए वह सकाम कर्मों में लिपटा वासना

का शिकार बना रहता है। उसके हृदय में चेतन का साम्राज्य होना चाहिए, परन्तु अज्ञानवश वासना का साम्राज्य बना रहता है। मनुष्य में महान बल है। उसे अपने बल की याद करनी चाहिए। उसे वासना-विजयी संत-गुरुजन जगाते हैं। इसलिए उनसे प्रेरणा लेकर और अपने स्वरूप को पहचानकर समस्त जड़-वासनाओं को जीत लेना चाहिए। और इसी जीवन में सम्राट हो जाना चाहिए। जो वासना-विजयी है वही सम्राट है।

वरुण

ये देवताओं के रक्षक, दैत्यों के नाशक तथा जल के स्वामी कहे जाते हैं। पुराणों के अनुसार वरुण पश्चिम दिशा के दिग्पाल माने गये हैं। ये पाश-अस्त्र लिये रहते हैं, ऐसी कल्पना है। उपर्युक्त वरुण तथा साथ-साथ मित्र ये दोनों वैदिक माने जाते हैं। परन्तु इन दोनों के आचरण अत्यंत शिथिल बताये जाते हैं। देखिए वाल्मीकीय रामायण के उत्तरकांड का 56वां सर्ग। वैसे ऋग्वेद के सातवें मंडल के छियासिवें से नवासिवें सूक्त में वरुण एक वह शक्ति है जिसके द्वारा ऋत की व्यवस्था की गयी है। लगता है वहीं से लेकर पुराणों में उसका विकृत रूप पंडितों ने गढ़ा है। वेदों का वरुण चरित्रवान है।

कुबेर

इनके पिता का नाम विश्रवा तथा पितामह का नाम पुलस्त्य था। कुबेर रावण के बड़े भाई थे, जो दूसरी माता से पैदा हुए थे। ये देवताओं के कोषाध्यक्ष भी माने जाते हैं। इनका निवास कैलाश की तराई अलकापुरी नामक ग्राम में बताया जाता है।

पीपा

ये एक राजा थे। गागरोन नामक गढ़ इनकी राजधानी था। इन्होंने एक लम्बे पद में कबीर साहेब की बड़ी प्रशंसा की है। ये स्वामी रामानन्द के शिष्य बताये जाते हैं। ये बहुत प्रसिद्ध भक्त थे। इनका देहावसान कबीर साहेब के काल में ही हो गया था।

नामदेव

ये महाराष्ट्र के प्रसिद्ध वैष्णव संत हैं। इनका काल विक्रमी 13वीं-14वीं शती के बीच माना जाता है। इन्होंने महाराष्ट्र में रामोपासना का प्रचार किया था।

जयदेव का परिचय पीछे 81वें शब्द में आ चुका है।

. जो कलि मांझ कबीर न होते।
तो ले बेद औ कलियुग मिलि कर भगति रसातल देते॥ (पीपा)

हठयोग द्वारा षटचक्र वेधन का स्वरूप

शब्द-87

कबिरा तेरो बन कन्दला में, मानु अहेरा खेलै 1
बफुवारी आनन्द मृगा, रुचि रुचि सर मेलै 2
चेतत रावल पावन खेड़ा, सहजै मूल बाँधे 3
ध्यान धनुष ज्ञान बाण, जोगेश्वर साधे 4
षट चक्र बेधि कमल बेधि, जाय उजियारी कीन्हा 5
काम क्रोध लोभ मोह, हाँकि सावज दीन्हा 6
गगन मध्ये रोकिन द्वारा, जहाँ दिवस नहिं राती 7
दास कबीरा जाय पहुँचे, बिछुरे संग औ साथी 8

शब्दार्थ—कबिरा= मनुष्य। कन्दला= कंदरा, गुफा, हृदय। मानु= मन। अहेरा= शिकार। बफुवारी= बपु-बारी—शरीररूपी बाग। आनन्द मृगा= आनन्दरूपी मृग। रुचि-रुचि= इच्छानुसार। सर= बाण। मेले= चलाना, फेंकना। चेतत= सावधान होना। रावल= राजा, श्रेष्ठ योगी। पावन= पवित्र। खेड़ा= छोटा गांव, शरीर। सहजै= सरल ढंग से। मूल बाँधे= मूलबंध मुद्रा। सावज= पशु। गगन= आकाश, ब्रह्मरंध्र, सहस्रार। संग औ साथी= तत्त्व प्रकृति।

भावार्थ—हे मनुष्य! तेरे हृदय-कानन में मन शिकार खेल रहा है 1 शरीररूपी बाग के आनन्द-मृग पर इच्छानुसार बाण चला रहा है, अर्थात जीवन की सुख-शांति को नष्ट कर रहा है 2 योगी मन से सावधान हो जाता है। वह अपने शरीर को धौति-वस्ति आदि षटकर्म से शुद्ध कर लेता है और सरल ढंग से मूलबंध मुद्रा में स्थित हो जाता है 3 तत्पश्चात योगेश्वर ध्यानरूपी धनुष पर ज्ञान का बाण चढ़ाकर लक्ष्य पर वार करता है 4 वह मूलाधार आदि छह चक्रों एवं तत्रस्थित कमलों को बेधकर और सहस्रार एवं गगन-गुफा में पहुंचकर प्रकाश कर देता है 5 वह योगी वहां से काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि पशुओं को हांककर मानो खदेड़ देता है 6 सभी द्वारों को रोककर योगी गगन-गुफा सहस्रार में समाधिलीन हो जाता है। जहां पर न दिन है और न रात, किन्तु एक समान स्थिति है 7 योगी उस उच्च स्थिति में पहुंच जाता है जहां पहुंचने के पहले ही तत्त्व-प्रकृतिरूपी संगी-साथी छूट जाते हैं 8

व्याख्या—मन की घातक-प्रवृत्ति तथा हठयोग की साधना द्वारा उसको मारकर समाधि में पहुंचने का कितना सुन्दर वर्णन इस शब्द में हुआ है, यह सोचते ही बनता है। सद्गुरु कहते हैं—"कबीरा तेरो बन कंदला में, मानु अहेरा खेलै " हे कबिरा, हे मानव! तेरी हृदय-कंदरा के वन में अर्थात तेरे हृदय-

कानन में मन निरंतर शिकार खेलता है। यहां मनुष्य के हृदय को वन और कंदरा दो रूपकों से व्यक्त किया गया है। कंदरा शब्द में मनुष्य के मन की गहराई की व्यंजना है और वन शब्द में उसकी विशालता एवं जटिलता की व्यंजना है। मनुष्य का हृदय बड़ा गहरा, बड़ा विशाल तथा बड़ा जटिल है। मनुष्य के हृदयरूपी इस बीहड़ वन में मन-शिकारी निरंतर शिकार खेलता है। इसके शिकार का लक्ष्य बनता है 'आनन्द-मृग'। मन-शिकारी के बाण से मनुष्य का 'आनन्द-मृग' मारा जाता है। 'बफुवारी आनन्द मृगा, रुचि रुचि सर मेलै।" सद्गुरु इस शरीर को एक बाग एवं फुलवारी के रूप में भी चित्रित करते हैं। हृदय-कानन हो या शरीर-बाग हो, सार तात्पर्य एक है कि मनुष्य-जीवन के आनन्द-मृग को मन-शिकारी अपनी रुचि के अनुसार मार-मारकर क्षत-विक्षत कर देता है। हम इसको और सरल ढंग से कहें तो यह होगा कि अविवेकी मन हर समय इस ढंग से सोचता है जिससे जीवन का आनन्द, जीवन का सुख खो जाता है।

मनुष्य के हृदय-कानन में रहने वाला आनन्द-मृग सुरक्षित नहीं रहने पाता। अविवेकी मनरूपी शिकारी उसके पीछे लगा रहता है। मन जीवन के सुख पर बाण चलाता रहता है। मनुष्य को रोटी मिलती है, कपड़े मिलते हैं, रहने के लिए घर भी मिलता है, परन्तु हरदम मन कुछ ऐसा सोचता है कि जिससे जीवन का सुख खोया रहता है। हर आदमी के हृदय-कानन का आनन्द-मृग क्यों मरा-मरा है? क्यों आदमी हर समय पीड़ा-पीड़ा का अनुभव करता है? क्योंकि मन के सोचने का तरीका ही मूर्खतापूर्ण है। बाहर से हम चाहे जितने सम्पन्न, सम्मानित तथा प्रतिष्ठित हो जायें, जब तक हमारे मन के सोचने का तरीका अच्छा नहीं होगा, तब तक हम दुखी बने रहेंगे।

जो वस्तुएं हमारे पास हैं उनमें हम संतुष्ट नहीं रहते, किन्तु जो नहीं हैं, उनके अभाव-अनुभव, उनकी आकांक्षा एवं कल्पना को लेकर जलते रहते हैं। हम अपने साथियों की रुचियों, उनके स्वभावों तथा उनके सोचने के तरीकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन कर उनसे विनम्रतापूर्वक सामंजस्य स्थापित करने एवं तालमेल बैठाने का प्रयास नहीं करते, किन्तु उनके प्रति नाना प्रकार के संदेहों में उलझकर मन में तिल का ताड़ बनाते हैं और अपने साथियों से सदैव तनावग्रस्त स्थिति में रहते हैं। विषयों की इच्छा ऐसी आग है जो भोग रूपी आहुति पाकर प्रज्वलित होती है। विषयासक्तिवश हम इस तथ्य को नहीं समझते और विषयों में अपना पतन समझते हुए भी दीप-पतिंगेवत उनमें जलते हैं। अज्ञान और विषयासक्ति के कारण मन के सोचने का तरीका बहुत खराब हो गया है, इसलिए हमारे जीवन का आनन्द उड़ गया है। यही मानो मन-शिकारी द्वारा हमारे हृदय-कानन तथा जीवन-फुलवारी के आनन्द-मृग को मारना है।

"चेतत रावल पावन खेड़ा" श्रेष्ठ योगी इन मानसिक दुखों से मुक्त होने के लिए सावधान होता है। वह पहले अपने खेड़ा को, इस छोटे-से गांव शरीर को पावन करता है। हठयोगी अपने शरीर को पहले धौति, वस्ति, नेति, नौलिकी, त्राटक तथा कपालभाति इन षटकर्मों द्वारा शुद्ध करते हैं। फिर "सहजै मूल बाँधे" अर्थात अभ्यस्त होने से वे सहज ही मूलबंध-मुद्रा में स्थित हो जाते हैं। गुदा-द्वार पर बायें पैर का गुल्फ (एड़ी के ऊपर की गांठ) रखकर योनि आकुंचनपूर्वक मेरुदंड में नाभि-ग्रन्थि को दबाकर शिश्न के मूल पर दाहिने पैर का गुल्फ दृढ़ रूप से जमा देने से मूलबंध मुद्रा की साधना होती है। इस प्रकार मूलबंध मुद्रा में स्थित होकर श्रेष्ठ योगी ध्यान के धनुष पर ज्ञान का बाण चढ़ाता है और मन को मार गिराता है।

"षट चक्र बेधि कमल बेधि, जाय उजियारी कीन्हा।" हठयोगी इसके लिए बड़ी कठिन साधना करता है। वह है षटचक्र का वेधन। उसका विवरण इस प्रकार है—

कहा जाता है कि इस शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियां हैं, जिसमें ईडा, पिंगला और सुषुम्णा मुख्य हैं। मेरुदण्ड के बाहर बायीं ओर से ईडा नाड़ी तथा दायीं ओर से पिंगला नाड़ी लिपटी हुई हैं। मेरुदंड के भीतर कन्द भाग से आरम्भ होकर सुषुम्णा नाड़ी कपाल में स्थित सहस्रदल कमल में जाती है। जैसे केले के स्तंभ में परतें होती हैं, इसी प्रकार बज्रा, चित्रिणी एवं ब्रह्मनाड़ी—सुषुम्णा में—ये तीन परते हैं। जाग्रत कुण्डलिनी ब्रह्मनाड़ी द्वारा ब्रह्मरन्ध्र तक जाकर पुनः लौट आती है। कहा जाता है मेरुदण्ड के भीतर ब्रह्मनाड़ी में छह कमल पिरोये हुए-से हैं, ये षटचक्र कहे जाते हैं अर्थात छह स्थानों पर नाड़ी की ग्रन्थियां चक्र के समान प्रतीत होने से चक्र कही जाती हैं।

छह चक्र ये हैं—(1) मूलाधार, (2) स्वाधिष्ठान, (3) मणिपूर, (4) अनाहत, (5) विशुद्ध तथा (6) आज्ञा।

षटचक्र-विवरण तथा वेधन-क्रिया

मूलाधार—यह चक्र गुदा स्थान में माना है, यह चतुर्दल कमलयुक्त है। यह रक्तवर्ण है तथा इसका लोक 'भू' माना है। यहां से "व, श, ष, स" इन चार वर्णों की उत्पत्ति मानी है। यहां द्विरण्ड नामक सिद्ध और डाकिनी देवी अधिष्ठात्री तथा गणेश देवता माना है। यहां छह सौ श्वासों का जप माना है।

. धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिर्नौलिकी त्राटकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत्॥ (घेरंड संहिता 1/12)
पीछे 71वें शब्द में भी धौति आदि षटकर्मों का विवरण दिया गया है।

. गुदा एवं शिश्न के बीच का स्थान 'योनि' कहलाता है।

इस मूलाधार चक्र को वेधने के लिए पहले गणेश-क्रिया करके गुदा साफ करते हैं। फिर जलवस्ति करते हैं। नाभि तक डूबे हुए जल में बैठकर उत्कट आसन द्वारा गुदा का आकुंचन-प्रसारन कर जल को ऊपर खींचते हैं। इसी को जलवस्ति कहा जाता है। इस प्रकार तीन बार जल को ऊपर खींचकर छोड़ देने से यह कार्य सिद्ध होता है। तब इस चतुर्दल कमलयुक्त मूलाधारचक्र को वेधकर वायु ऊपर चढ़ाते हैं।

ऊपर जो उत्कट-आसन कहा गया है, उसका लक्षण यह है—पैर के दोनों अंगुष्ठों द्वारा मृतका का स्पर्श करते हुए दोनों गुल्फों (एड़ी के ऊपर की गांठों) को निरालम्ब भाव से रखकर, उन पर गुदाद्वार को स्थापन करने से उत्कटासन कहलाता है। गुदा का मल साफ करने की एक यौगिक क्रिया को गणेश-क्रिया कहते हैं।

स्वाधिष्ठान—यह चक्र नाभि से छह अंगुल नीचे, पेडू स्थान, शिश्न के मूल में माना है। यह छहदल कमलयुक्त है। यह सिन्दूर वर्ण है तथा इसका लोक 'भुवः' है। यहां से "ब, भ, म, य, र, ल" इन छह वर्णों की उत्पत्ति मानी है। यहां वाण नामक सिद्ध और राकिणी देवी अधिष्ठात्री तथा ब्रह्मा देवता माना है। यहां छह हजार श्वासों का जप माना है।

इस स्वाधिष्ठान चक्र को वेधने के लिए गजक्रिया करते हैं। लोह या शीशे का बारह अंगुल का पतला गज बनाकर, शिश्न में प्रवेशकर उसे साफ करते हैं, फिर शिश्न से क्रमशः जल, दूध और शहद खींचते हैं। शहद खींचने पर यह क्रिया सिद्ध होती है। गुदाद्वार से अपान वायु को चढ़ाकर स्वाधिष्ठान चक्र वेधते हुए अपान वायु को समान वायु में मिलाते हैं।

मणिपुर—यह चक्र नाभि स्थान में माना है। यह दशदल कमलयुक्त है। यह नीलवर्ण है तथा इसका लोक 'स्वः' है। यहां से "ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ" वर्णों की उत्पत्ति मानी है। यहां रुद्र नामक सिद्ध और लाकिनी देवी अधिष्ठात्री एवं विष्णु देवता माना है। यहां भी छह हजार श्वासों का जप माना है।

इस मणिपूर चक्र को वेधने के लिए 'धौति-क्रिया' करते हैं। अर्थात रेशम आदि के कोमल वस्त्र की चार अंगुल चौड़ी और पन्द्रह हाथ लम्बी धोती को सायंकाल मीठे रस में डुबा देते हैं। उसे प्रातःकाल निगलते (लीलते) हैं। उसका एक कोना पकड़े रहते हैं और खड़े होकर नाभि को पृष्ठभाग में आकुंचन करके पुनः बाहर निकालते हैं। ऐसा तीन बार करने से यह क्रिया सिद्ध होती है। फिर नाभि से वायु उठाकर मणिपूरचक्र वेधते हैं और अपान-समान वायु को हृदयस्थ प्राण वायु में मिलाते हैं।

अनाहत—यह चक्र हृदय स्थान में माना है। यह द्वादश दल कमलयुक्त है। यह अरुणवर्ण है तथा इसका लोक 'महः' है। यहां से "क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ" इन बारह वर्णों की उत्पत्ति मानी है। यहां पिनाकी सिद्ध और काकिनी देवी अधिष्ठात्री एवं महादेव देवता माना है। यहां भी छह हजार श्वासों का जप माना है।

इस अनाहत चक्र को वेधने के लिए 'कुंजल क्रिया' करते हैं। पेट भर जल पीकर और सवा हाथ रस्सी की दातून को मुख में डालकर चलाते हैं। फिर जल को गिरा देते हैं। इस प्रकार तीन बार करने पर यह क्रिया सिद्ध होती है। फिर अनाहत चक्र वेधते हैं और अपान, समान, प्राण को उठाकर कंठस्थ उदान-वायु में मिलाते हैं।

विशुद्ध—यह चक्र कंठ स्थान में माना है। यह षोडसदल कमलयुक्त है। यह धूम वर्ण है तथा इसका लोक 'जनः' है। यहां से "अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः" इन सोलह स्वरों की उत्पत्ति मानी है। यहां छगलांड सिद्ध और शाकिनी देवी अधिष्ठात्री एवं जीवात्मा देवता माना है। यहां एक हजार श्वासों का जप माना है।

इस विशुद्ध चक्र को वेधने के लिए 'लम्बिका योग' करते हैं। इसमें दूध-आहार करते, बोल-चाल-संगत सबका संयम करते, मक्खन और सेंधा नमक से जिह्वा की तली रगड़ते, प्रातःकाल जिह्वा दोहन करते, लोह यन्त्र से भी दोहनकर जिह्वा को बढ़ाते हैं। आवश्यकता पड़ने पर जिह्वा के नीचे चाम को काट देते हैं, इस प्रकार जिह्वा को बढ़ाकर और उलटकर उर्ध्वद्वार में लगाते हैं। ऊपर खोपड़ी का एक जलीय विकार चूता है, उसे अमृत मानकर पीते हैं, जिससे शरीर में स्फूर्ति बढ़ती है। तब वायु को उठाकर विशुद्ध चक्र को वेधते हैं।

आज्ञा—यह चक्र भृकुटि स्थान (दोनों भौंहों के बीच) में माना है। यह द्विदल कमलयुक्त है। यह श्वेत वर्ण है तथा इसका लोक 'तपः' है। यहां से 'ह, क्ष' इन दो वर्णों की उत्पत्ति मानी है। यहां महाकाल सिद्ध और हाकिनी देवी अधिष्ठात्री एवं परमात्मा देवता माना है। यहां एक हजार श्वासों का जप माना है।

इस आज्ञाचक्र को वेधने के लिए 'नेति क्रिया' करते हैं। अर्थात नाक में एक बीता बत्ती (सूत्र) चलाकर, उसे साफ करते हैं। फिर कंठस्थ विशुद्ध चक्र से उदान वायु को उठाकर आज्ञाचक्र वेधते हैं। यानी रेचक-पूरक-कुम्भक (प्राणायाम) करके आज्ञाचक्र को वेधकर वायु को ऊपर ले जाते हैं। जब वायु ऊपर पहुंच जाता है, तब जिह्वा को उलटकर ऊर्ध्वद्धार में लगा देते हैं। जिससे वायु लौट न आये।

इस प्रकार षटचक्र एवं तत्र स्थित षट कमलों को वेधकर दशमद्वार सहस्रार (सत्यलोक) में जाकर ज्योति प्रकाश कर देते हैं। अर्थात वहां वायु का निरोध होने से जो अग्नि का प्रकाश होता है, उसी को ब्रह्म का स्वरूप मानकर योगी लोग बेभान होते हैं। इस स्थान का भी एक हजार श्वासों का जप माना है।

मुख्य इन छह चक्रों के अतिरिक्त आज्ञाचक्र के ऊपर सहस्रार या सहस्रदल कमल माना है और उसके ऊपर भी आठवां सुरति कमल माना है। इस प्रकार कहीं-कहीं अष्टकमल का वर्णन होता है।

इनमें वर्णित सिद्ध, अधिष्ठात्री देवी एवं देवतादि सब कल्पित हैं। वर्णों का उच्चारण भी कंठ, तालू, ओष्ठादि से ही होता है, जो प्रत्यक्ष है। भारतरत्न महामहोपाध्याय डॉ. पांडुरंग वामन काणे 'धर्मशास्त्र का इतिहास' में तन्त्र सिद्धांत का वर्णन करते हुए लिखते हैं—"चक्रों को बहुधा लोग आधुनिक शरीर-विज्ञान द्वारा प्रदर्शित स्नायुओं के गुच्छों के समान मानते हैं, किन्तु बात वास्तव में वैसी है नहीं। संस्कृत ग्रन्थों में जिस कुंडलिनी एवं चक्रों का वर्णन है, वे स्थूल देह से सम्बन्धित नहीं है, प्रत्युत वे सूक्ष्म-देह में अवस्थित होते हैं।" अब यही सोचिए कि जब ये छह चक्र स्थूल शरीर से सम्बन्धित नहीं हैं तो इनके वेधने की बात भी गलत है। सूक्ष्म-शरीर तो केवल प्राण एवं वासनाओं का पुंज माना जाता है, उसमें चक्र-वक्र का क्या मतलब हो सकता है! वस्तुतः यह श्वास रोकने की प्रक्रिया के अलावा कुछ नहीं है।

इस योगी की चित्तवृत्ति जब सुरति-कमल में पहुंचती है और वहां की ज्योति में लीन हो जाती है तब वहां से कामादि पशु मानो हांक दिये गये। वहां सारी बाह्य वृत्ति समाप्त होकर योगी केवल नाद या ज्योति में ही लीन रहता है।

"गगन मध्ये रोकिन द्वारा, जहाँ दिवस नहिं राती। दास कबीरा जाय पहूँचे, बिछुरे संग औ साथी।" गगनगुफा में योगी जब पहुंचता है और नीचे के द्वार रोककर जब नाद एवं प्रकाश में लीन होता है तब वहां बाहरी संसार से कोई मतलब नहीं रह जाता। वहां न दिन है और न रात। वहां तो एकरस आनन्दमग्नता है। योगी के तत्त्व-प्रकृतिरूपी सारे संगी-साथी वहां पहुंचने के पहले ही छूट गये रहते हैं। वहां वह केवल अकेला होता है। वहां वह मन के द्वंद्व से मुक्त होता है। हठयोगी लोग प्रसुप्त कुंडलिनी-शक्ति को साधना द्वारा जाग्रतकर सहस्र-चक्र में ले जाते हैं। सहस्र-चक्र तक शारीरिक-मानसिक

. दो नाक, दो कान, दो आंख, मुख, गुदा और शिश्न—ये नौ द्वार (बड़े-बड़े छिद्र) हैं और दसवां द्वार सिर के तालु में माना है जहां बच्चों का लप-लप करता है।

. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 5, पृष्ठ 24।

प्रभाव रहता है और समाधि–भंगकाल में वासनाओं का आक्रमण योगी पर हो सकता है, परन्तु कहते हैं कि उसके भी ऊपर जो 'सुरति कमल' है, उसमें पहुंच जाने पर योगी को भय नहीं रहता।

अब हम इस पर थोड़ा विचार कर लें। पहली बात तो उक्त साधना सबके क्या, बहुतों के वश की बात नहीं है। इसमें बहुत बातें काल्पनिक हैं, यह अलग बात है। दूसरी बात हठयोग द्वारा जब तक साधक चाहे आज्ञाचक्र में, चाहे सहस्रार में और चाहे सुरति कमल में, हठयोगी कुछ भी नाम लें, पहुंचकर समाधि में रहेंगे तब तक संसार भूला रहेगा और जैसे ही उससे उतरकर व्यवहार में आयेंगे वैसे पुनः वासनाओं में चंचल हो जायेंगे। अतः विचार, अनासक्ति तथा साक्षी–भाव की साधना ही सरल तथा सुरक्षित है। जड़–चेतन तथा आत्मा–अनात्मा का निरन्तर विचार करते–करते देह तथा देह–सम्बन्धी सारे प्राणी–पदार्थों से अनासक्ति हो जाती है। अनासक्ति के बाद साक्षी–भाव दृढ़ हो जाता है। साधक अभ्यासकाल में मन का साक्षी बनकर उसे शांत कर देता है और संकल्पहीन होकर स्वरूपस्थ एवं आत्मस्थ हो जाता है। जब वह व्यवहार में आता है, तब भी उसका चित्त समस्त दृश्यों से अनासक्त होने से वह असंग होता है और खाते–पीते तथा अपने शरीर का सारा व्यवहार करते हुए भी वह साक्षीभाव में बरतता है। यही संतों का सहजमार्ग, राजमार्ग तथा सुरक्षित पथ है। हठयोगी तो शब्द और ज्योति में लीन होता है जो जड़–भास है। विवेकी सारी आसक्ति तथा संकल्पों को छोड़कर अपने चेतनस्वरूप में लीन होता है जो अपनी आत्मा है। कबीर साहेब ने पहले हठयोग साधा था इसलिए वे उस पर जगह–जगह प्रकाश डालते हैं, परन्तु वे सावधान करते हैं "योगिया के नगर बसो मति कोई" आदि। वे अपना पथ स्वरूपविचार एवं स्वरूपस्थिति ही बताते हैं।

तुम्हारा लक्ष्य बाहर नहीं है

शब्द–88

सावज न होइ भाई सावज न होई, वाकी माँसु भखै सब कोई 1
सावज एक सकल संसारा, अविगति वाकी बाता 2
पेट फारि जो देखिये रे भाई, आहि करेज न आँता 3
ऐसी वाकी माँसु रे भाई, पल पल माँसु बिकाई 4
हाड़ गोड़ ले घूर पवाँरिनि, आगि धुवाँ नहिं खाई 5
शिर सींगी किछुवो नहिं वाके, पूँछ कहाँ वे पावै 6
सब पण्डित मिलि धन्धे परिया, कबिरा बनौरी गावै 7

शब्दार्थ—सावज=साउज, वह जानवर जिसका शिकार किया जाये, लक्ष्य, ब्रह्म। अविगति=अविगत, अज्ञात। घूर=घूरा, कूड़े-कचरे का ढेर। पवाँरिनि=फेंक दिया। आगि धुँवा=ज्ञानाग्नि का चिह्न। धंधे=धंधा, गोरख-धंधा। कबिरा=साधारण मनुष्य। बनौरी=बनाये हुए गीत।

भावार्थ—हे भाई ! वह कोई ऐसा शिकार-जानवर नहीं है जिसे तुम अपना लक्ष्य बनाकर जीवन में सफल हो सको, फिर भी सब लोग उसका मांस खाना चाहते हैं 1 वह ऐसा सर्वप्रिय शिकार एवं लक्ष्य हो गया है जिसकी प्रसिद्धि पूरे संसार में हो गयी है, परन्तु उसका पता-लता कोई नहीं जानता 2 हे भाई ! यदि उसका पेट फाड़कर देखा जाये तो न उसमें कलेजा है और न अंतड़ी। अर्थात वह कुछ नहीं है 3 परन्तु हे भाई ! उसके मांस की मिठास की ऐसी प्रसिद्धि हो गयी है, कि सभी धार्मिक दुकानों पर उसका मांस क्षण-क्षण बिक रहा है 4 विवेकवान तो उसके हाड़-गोड़ सहित उसे कचरे के ढेर में फेंक देते हैं। आग और धुआं भी वह नहीं सह पाता है 5 उसके सिर तथा सींग कुछ भी नहीं है तब उसमें लोग पूंछ कहां पायेंगे 6 परन्तु सभी पंडित मिलकर उसको खोजने के गोरखधंधे में पड़े हैं और साधारण मनुष्य उसके सम्बन्ध में पंडितों के बनाये गीत गाते हैं 7

व्याख्या—मनुष्य की अपनी आत्मा से अलग ब्रह्म की खोज पर यह पूरा शब्द व्यंग्य है। हम भूलवश अपना लक्ष्य, अपना शिकार एक ब्रह्म को मानते हैं और उसे अपनी चेतना से, अपनी आत्मा से अलग समझते हैं। हम उसी पर अपना मन लगाना चाहते हैं। साहेब कहते हैं कि हे भाई ! तुम्हारी अपनी आत्मा से तुम्हारा लक्ष्य अलग नहीं है। परन्तु उस शिकार का मांस सब खाना चाहते हैं। अर्थात सब अपनी आत्मा से अलग ब्रह्म खोजते हैं।

"सावज एक सकल संसारा, अविगति वाकी बाता।" ब्रह्म हमारा शिकार है, लक्ष्य है, यह बात सारी दुनिया में गूंजती है। इस पर बड़ी-बड़ी चर्चाएं होती हैं, भाषण होते हैं, पोथियां लिखी जाती हैं, परन्तु उसका पता-लता किसी को नहीं है। तथागत बुद्ध ने कहा है कि एक आदमी बांस-पर-बांस जोड़ता हुआ लम्बी सीढ़ी बना रहा था। उससे पूछा गया कि इसे कहां लगाओगे? उसने कहा यह तो नहीं जानता हूं, परन्तु बना रहा हूं। हमारी दशा यही है। हम अपने आत्मारूपी परमात्मा को छोड़कर बाहर परमात्मा खोज रहे हैं, परन्तु उसका पता किसी को नहीं है। "अविगति वाकी बाता" उसकी बात सबको अज्ञात है।

"पेट फारि जो देखिये रे भाई, आहि करेज न आँता।" यदि हम उस पर विचार करते हैं, तो हमारे हाथ में कुछ नहीं लगता है। यदि हम पांचों ज्ञानेन्द्रियों से कुछ पाते हैं तो वे शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध ये पांच विषय हैं। और

यदि मन से कुछ रूप खड़ा करते हैं तो वह मन का संकल्प-विकल्प मात्र है। इन्द्रिय और मन का व्यापार समाप्त हो जाने पर हमारा बाहर से सम्बन्ध ही कट जाता है, तब रह जाती है स्वचेतन सत्ता मात्र। अतएव स्वचेतन सत्ता एवं अपनी आत्मा को छोड़कर ब्रह्म या ईश्वर खोजना आकाश नापने के समान मिथ्या प्रयास सिद्ध होता है।

"ऐसी वाकी माँसु रे भाई, पल पल माँसु बिकाई।" परन्तु आत्मभिन्न ब्रह्म की चर्चा बहुत है। जिस धार्मिक दुकान पर देखो वहीं उसके दर्शन कराने का झांसा दिया जाता है। ईश्वर के नाम पर धर्म का माल खूब बिकता है। ईश्वर-दर्शन कराने की बात कहो तो तुम्हें लोग घेर लेंगे। तुम्हारी दुकान खूब चलेगी।

"हाड़ गोड़ ले घूर पवाँरिनि, आगि धुवाँ नहिं खाई।" विवेकवान इस कल्पना को रद्दी की टोकरी में डाल देते हैं। मेरी अपनी चेतना, मेरी अपनी आत्मा विद्यमान ही है जो पूर्णकाम, आप्तकाम, अकाम, निष्काम एवं प्राप्तकाम है। इस स्वयं प्रत्यक्ष ब्रह्म को छोड़कर बाहर ब्रह्म खोजने के पचड़े में क्यों पड़ें ! जिसको परख-विवेक नहीं होगा वही बाहर ब्रह्म खोजेगा। जिसे परख है, विवेक है, वह तो अपने चेतनस्वरूप में ही स्थित होकर कृतार्थ हो जाता है। स्थिति अपने स्वरूप में ही हो सकती है। बाहरी वस्तु में व्यक्ति की स्थिति नहीं होती। धुआं जहां भी हो वहां आग का होना सिद्ध होता है। अतः धुआं आग का चिह्न है। यहां ज्ञान आग है, उसका लक्षण मानो धुआं है। ज्ञान का थोड़ा लक्षण भी यह कल्पित सावज नहीं सह पाता। अर्थात थोड़ा भी विचार करने पर अपनी आत्मा से अलग परमात्मा नहीं ठहरता।

"शिर सींगी किछुवो नहिं वाके, पूँछ कहाँ वे पावै।" उस सावज के न सिर है न सींग है, फिर उसमें पूंछ कहां मिलेगी? तैत्तिरीय उपनिषद् में आनंदमय कोश का वर्णन करते हुए बताया गया है—"उसका प्रिय ही सिर है, मोद दाहिना पंख या भाग है, प्रमोद बायां पंख या भाग है, आनन्द शरीर का आत्मा (मध्यभाग) है और ब्रह्म पूंछ एवं आधार है।" साहेब कहते हैं कि यह सारा वर्णन भौतिक है। उसमें न सिर है न सींग है, फिर ब्रह्म-पूंछ कहां से मिलेगी।

"सब पण्डित मिलि धन्धे परिया, कबिरा बनौरी गावै।" सभी पण्डित मिलकर उसको सिद्ध करने तथा खोजने के गोरखधन्धे में पड़े हैं और साधारण लोग उनकी कही हुई बातों को दोहरा रहे हैं। पण्डित लोग तो भगवान को एक धन्धा ही बना रखे हैं "बनिज एक सबन मिलि ठाना। नेम धर्म संयम भगवाना।" वे अपनी आत्मा से अलग बाहर ईश्वर का रूप खड़ा करके ही

. तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः।
आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। (तैत्तिरीय उपनिषद् 2/5)

. रमैनी 36।

अपना धंधा चला सकते हैं। पंडित पहले ईश्वर का रूप खड़ा करता है, तब वह स्वयं साधारण मनुष्य तथा ईश्वर के बीच में मध्यस्थ बनता है। वह अपनी पूजा-प्रार्थना के बल पर ईश्वर को खुशकर साधारण जनता को भोग और मोक्ष देने का दावा करता है। यदि आत्मा ही परमात्मा है यह बोध हो जाये तो पण्डित का धन्धा बन्द हो जायेगा। इसलिए पण्डित नहीं चाहता कि लोगों को स्वरूपज्ञान एवं आत्मज्ञान हो। वह बाहर ईश्वर की कल्पना खड़ाकर लोगों को अपने मायाजाल में उलझाये रखना चाहता है। कबीर साहेब कहते हैं "राम नाम निजु जानि के, छाड़ि देहु बस्तु खोटि।" राम ऐसा नाम तुम्हारा ही है, यह जानकर खोटी वस्तु बाहर राम खोजना छोड़ दो।

इस पूरे शब्द का भाव यही है कि हमारा शिकार, हमारा लक्ष्य, हमारा उद्देश्य हमारी अपनी आत्मा से अलग नहीं है। अलग खोजना केवल पण्डितों का गोरखधन्धा है या धन्धेबाजी है। यहां पण्डित का अर्थ केवल ब्राह्मण-पंडित नहीं, किन्तु संसार के सभी पुरोहितों की बात है।

जीवन क्षणभंगुर है, शीघ्र भव-बन्धनों से मुक्ति लो

शब्द-89

सुभागे केहि कारण लोभ लागे, रतन जन्म खोयो 1
पूर्वल जन्म भूमि कारण, बीज काहेक बोयो 2
बुन्द से जिन्ह पिण्ड सँजोयो, अग्नि कुण्ड रहाया 3
जब दश मास माता के गर्भे, बहुरी लागल माया 4
बारहु ते पुनि वृद्ध हुआ, होनहार सो हूवा 5
जब यम अइहैं बाँधि चलैं हैं, नैनन भरि भरि रोया 6
जीवन की जनि आशा राखो, काल धरे हैं श्वासा 7
बाजी है संसार कबीरा, चित चेति डारो पासा 8

शब्दार्थ—पूर्वल जन्म = पहले के जन्म। भूमि = आधार। कारण = बीज-वासना। बीज = वासना। बुन्द = वीर्य। पिण्ड = स्थूल शरीर। सँजोयो = संजोना, सजाना, एकत्र करना, पूरा करना, संपादित करना। अग्नि कुण्ड = माता की जठराग्नि। यम = मृत्यु। बाजी = खेल, जुआ का खेल। पासा = चौसर खेल में फेंका जाने वाला वह चौपहला लंबोतरा हड्डी या लकड़ी का बना टुकड़ा जिस पर बिंदियां बनी होती हैं।

भावार्थ—हे सौभाग्यशाली मानव ! किस प्रयोजन से तुम सांसारिक विषयों के प्रलोभन में फंसकर अपने रत्नतुल्य जन्म को खो रहे हो? 1 इस जन्म

. रमैनी साखी 36।

के आधार एवं कारण पहले जन्म के वासना-बीज हैं, अब उन्हीं वासना-बीजों को पुनः क्यों बो रहे हो? 2 जिन वासना-बीजों ने जीव को गर्भ में ले जाकर रज-वीर्य की बूदों से लेकर स्थूल देह का संपादन किया और माता के पेटरूप अग्नि-कुण्ड में उसे पकाता रहा, इस प्रकार दस महीने माता के पेट में रहकर जब पैदा हुआ तब तू मायारूपी उन्हीं विषय-वासनाओं में पुनः फंस गया 3-4 तू धीरे-धीरे बालक से जवान होकर थोड़े दिनों में बूढ़ा हो गया और तेरे अविवेक के कारण जो होना था वह हो गया मोह-माया का बंधन। परन्तु समझ ले, कि जब मृत्यु आयेगी तब तुझे बांधकर ले चलेगी और तू नेत्रों में आंसू भर-भरकर रोयेगा 5-6 इस जिन्दगी के लिए बड़ी लंबी आशा न रखो कि यह बहुत दिनों तक बनी रहेगी। मृत्यु तुम्हारी सांस-डोरी को पकड़कर अपनी ओर निरंतर खींच रही है, आज मरो कि कल 7 हे लोगो, यह समझ लो कि यह जिन्दगी एक जुआ का खेल है; अतः मन में सावधान होकर पासा फेंको "जनम जुआ मत हार" 8

व्याख्या—मानव-शरीर विवेक-साधनसंपन्न है, इसलिए जिस जीव को मानव-शरीर प्राप्त है वह सौभाग्यशाली है। वह विषय-वासनाओं के सारे भवबंधनों को तोड़कर इसी जीवन में कृतार्थ हो सकता है। परन्तु दुख की बात यह है कि वह जहां आकर अपने सारे बंधन काट सकता है वहीं वह नये-नये बंधन बनाता है। मानव-शरीर ज्यादा समझदारी की जगह है। इसलिए यहां बंधन भी बनाये जा सकते हैं तथा बंधन तोड़े भी जा सकते हैं। जीव को दुख इष्ट नहीं है। बंधनों में जीव को दुख मिलते हैं, इसलिए समझदारी की बात यह है कि हम बंधन बनायें न, किन्तु उन्हें समाप्त करें।

सद्गुरु करुणाविगलित होकर कहते हैं कि हे सौभाग्यशाली, तू किस प्रयोजन की सिद्धि के लिए सांसारिक विषयों के मोह में फंसकर अपना रत्नतुल्य जीवन बरबाद कर रहा है! सपने में मिले हुए इन प्राणी-पदार्थों से तू अपना क्या समाधान चाहता है? जरा ठहरकर सोच, इनसे तुझे क्या मिलने वाला है? जिस मन और इंद्रियों की चंचलता को तू सुख मानता है, वही तेरे गले की फांसी है। संसार के प्राणी-पदार्थों से तुझे केवल मन और इन्द्रियों की खुजलाहट मिल सकती है, जो सारी पीड़ाओं की जननी है। अंत में जीव के साथ कुछ नहीं है। यदि उसने अपने आप को माया-मोह में उलझाया है तो उसके फल में उसे केवल बंधनों की प्राप्ति होती है। यदि हम अपने समय और शक्ति को विषयों की उलझन में लगाते हैं तो रत्नतुल्य जीवन को मानो व्यर्थ में बरबाद कर रहे हैं और व्यर्थ ही नहीं, अपने गले में काल की फांसी लगा रहे हैं।

हमारे इस देह-बंधन के कारण हैं पहले जन्म के संस्कार एवं विषय वासनाएं। यह जीव संसार की वासनाओं में बंधकर ही जन्म-मरण के घटीयंत्र में घूमता है। "पूर्वल जन्म भूमि कारण" आज के हमारे जन्म की भूमिका, आधार एवं कारण पूर्वल-जन्म के कर्म-संस्कार हैं, वासनाएं हैं। साहेब कहते हैं "बीज काहेक बोयो" अब पुनः वही बीज क्यों बो रहे हो? जो वासनाएं तुम्हें जन्म-मरण में भटकाती हैं उन्हीं का संग्रह क्यों कर रहे हो? इस प्रकार कबीर साहेब पुनर्जन्म को दृढ़ता से मान रहे हैं। वे पूर्व भारतीय परंपरानुसार मान रहे हैं कि जीव विषय-वासनाओं में फंसकर जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा रहता है। जब यह विषय-वासनाओं को सर्वथा छोड़ देता है और अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है तब जन्म-मरण के चक्कर से मुक्त हो जाता है। व्यवहार में देखा जाता है कि आदमी वहीं जाता है जहां उसकी वासना लगी रहती है। जहां उसकी वासना नहीं, आकर्षण नहीं, वहां वह नहीं जाता। इस प्रमाण से जब जीव सारी वासनाएं छोड़ देता है और सभी प्रकार के मोह समाप्त कर देता है तब उसकी स्थिति अपने आप में हो जाती है। यही छुटकारा है।

"बुन्द से जिन्ह पिण्ड सँजोयो, अग्नि कुण्ड रहाया।" जो बुन्द से पिण्ड बनाने में कारण बनते हैं, जिन कारणों से रज-वीर्य के छोटे कतरे से स्थूल शरीर का निर्माण होता है, वे पूर्वजन्म के कर्म संस्कार हैं, विषय-वासना एवं कर्म-बीज हैं। ये पूर्वजन्म के संस्कार ही मानो गर्भवास में पिंड को संजोते हैं, संवारते एवं संपादित करते हैं। नौ-दस महीने माता की गर्भाग्नि में बच्चे का शरीर पकता है। फिर वह गर्भ से बाहर आता है। बाहर आते ही उसे पुनः माया लग जाती है। वह माता को देखता है। उसमें उसकी ममता बनती है। फिर माता द्वारा धीरे-धीरे संसार के अन्य लोगों का परिचय प्राप्त करता है। माता-पिता, भाई-बंधु द्वारा उसे राग-द्वेष का पाठ पढ़ाया जाता है। मैनावती तथा मदालसा-जैसी माता, उद्दालक-जैसा पिता, याज्ञवल्क्य-जैसा पति, चूडाला-जैसी पत्नी लोगों को कहां मिलते हैं? मैनावती ने अपने पुत्र गोपीचन्द को वैराग्य का उपदेश देकर उसे संन्यासी बना दिया था। मदालसा ने अपने बच्चों को लोरी में ही बताया था कि तुम देह नहीं अमर आत्मा हो, शुद्ध-बुद्ध हो। उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को आत्मज्ञान का उपदेश दिया था 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो'। याज्ञवल्क्य ने संन्यास लेने के पूर्व अपनी पत्नी मैत्रेयी को

. बच्चों को सुलाते समय गाने के गीत को 'लोरी' कहते हैं।
. मदालसा, मार्कंडेय पुराण।
. उद्दालक, छांदोग्य उपनिषद्, छठां प्रपाठक।
. याज्ञवल्क्य, बृहदारण्यक उपनिषद्, दूसरा अध्याय, चौथा ब्राह्मण।

आत्मज्ञान दिया था 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य:'। चूडाला ने अपने पति शिखध्वज को आत्मज्ञान की तरफ प्रेरित किया था।

संसार के लोग माता, पिता, भाई, भगिनी, भाभी, मित्र सब मिलकर बच्चे को देहाभिमान, संसारासक्ति, माया-मोह एवं विषय-वासना का पाठ पढ़ाते हैं। बचपन से ही मनुष्य की नस-नस में संसारासक्ति का विष व्याप्त होने लगता है। तरुणाई आते-आते वह विषय-वासनाओं में बदहवास हो जाता है। वह भोगों को जीवनलाभ समझता है। वह भोगों के लिए न्याय-अन्याय सब कुछ करने के लिए तैयार रहता है। उसके जीवन में निरंतर गलत आदतें एवं दुर्गुणों का जहर इकट्ठा होता जाता है। फिर प्रौढ़ अवस्था आ जाती है। पत्नी, बच्चे एवं परिवार की चिंता में उसका चित्त चाक बना रहता है। इसी सोच, फिक्र एवं प्रयत्न में उसके दिन बीतते जाते हैं और धीरे-धीरे वह बूढ़ा हो जाता है। "बारहु ते पुनि वृद्ध हुआ, होनहार सो हूवा।" आदमी बालक से देखते-देखते बूढ़ा हो गया। जो उसका होनहार था वह हो गया। उसका क्या होनहार था? संसार की उलझनों में उलझकर अशांत हो जाना। यहां होनहार का मतलब कोई दैवी प्रकोप नहीं है, किन्तु मनुष्य का अपना अज्ञान है।

"जब यम अइहैं बाँधि चलैं हैं, नैनन भरि भरि रोया।" शरीर तथा संसार के मोह में आकंठ डूबे हुए आदमी की जब मौत निकट आती है, तब वह बिलख-बिलखकर रोता है। वह आज तक जिसको अपना मान रखा था वह सब सदैव के लिए छूट रहा है। वह उसी प्रकार व्याकुल हो जाता है जिस प्रकार मछली को पानी में से निकालकर जमीन पर रख दिया गया हो और वह तड़पती हो। मोही मनुष्य इसलिए व्याकुल होता है कि उसने जिसे अपना मान रखा था वह सब छूट रहा है और आध्यात्मिक एवं धार्मिक कमाई न होने से आगे अंधकार है। जिसने भी सांसारिकता में विश्वास किया वह जीवन में धोखा खाया। संसार के मोह में धोखा खाने के अलावा कुछ है ही नहीं। यहां चाहे जितना राज-काज, प्राणी-पदार्थों का संग्रह हो जाये, सबको छोड़कर अकेले जाना है। हम इनमें आसक्त होकर अपने गले की फांसी ही बनाते हैं।

"जीवन की जनि आशा राखो, काल धरे हैं श्वासा।" वैराग्यप्रवर सद्गुरु कबीर हमें सावधान करते हैं कि जिंदगी की आशा मत रखो कि यह अभी बनी रहेगी। इसके जाते देर नहीं लगती। कितने आदमी बिस्तर पर सोते हैं और सोये ही रह जाते हैं। कितने बैठे थे और बैठे रह गये। कितने चलते-चलते गिरकर समाप्त हो जाते हैं। लोहे-लक्कड़ की चीजों की तो कुछ मियाद भी है, इस

. चूडाला, योगवासिष्ठ।

जिन्दगी की तो कुछ भी मियाद नहीं है। तुम्हारी सांसरूपी डोरी को मौत अपने हाथों में पकड़ रखी है। वह हर समय तुम्हें अपनी तरफ खींचती है। तुम उससे भागकर बच नहीं सकते हो। तुम अवधि से ज्यादा रह नहीं सकते हो। अवधि का भी तुम्हें पहले से पता नहीं चल सकता है। अतएव जीने की आशा छोड़ दो। जितने क्षण तुम इस जीवन में हो, वासनाओं के त्याग करने में प्रयत्न करो। जीवन रहते-रहते यहां के सब प्रकार के मोह से मुक्त हो जाओ। देह छोड़ने के पहले संसार के राग-द्वेष छोड़ दो। बंधकर संसार से मत जाओ, किन्तु मुक्त होकर जाओ।

"बाजी है संसारा कबीरा, चित चेति डारो पासा।" हे बंधुओ ! इस संसार में यह जीवन तो जुआ का खेल है। इस खेल में अधिकतम लोग अपनी बाजी हार-हारकर यहां से जाते हैं। जुआ में हारे युधिष्ठिर की-सी दशा यहां सबकी है। कोई बिरला ही यहां से जीतकर जाता है। सद्‌गुरु कहते हैं "चित चेति डारो पासा।" मन में सावधान होकर पासा फेंको। कुछ जीतने के लिए, पाने के लिए ही तो पासा फेंका जाता है। यहां क्या पाओगे? जरा, सोचो कि तुम्हें संसार से क्या मिलने वाला है? यहां तो जो कुछ मिलता है वह छूट जाता है। यहां बन्धनों का मिलना हार है तथा मोक्ष मिलना जीत है। जो संसार में उलझकर गया वह जीवन-जुआ हार गया और जो सुलझकर, शांत एवं संतुलित होकर गया, वह जीवन-जुआ को जीतकर गया। इसलिए "चित चेति डारो पासा' बहुत सावधान होकर दावं खेलो। यहां बहुत सजग होकर जिंदगी बिताओ। यहां कहीं राग किये तो हार गये, द्वेष किये तो हार गये, काम-क्रोध, मोह, वैर, शोक, संताप में उलझ गये तो हार गये। इस संसार में जीवन की बाजी वही मानो जीत लिया जो मन की समस्त ग्रन्थियों, समस्त वासनाओं को तोड़कर अपने आपा को सबसे मुक्त कर लिया।

इस शब्द में शुरू से ही सद्‌गुरु ने यही कहा है कि हे सौभाग्यशाली मानव ! तू किस प्रलोभन में पड़कर अपने आपा को संसार में उलझा रहा है ! ये संसार की वासनाएं ही तुम्हें जीवन में तथा जन्मांतरों में नचा रही हैं। इन्हें छोड़ो और सबसे मुक्त हो जाओ।

वीतराग संतपुरुष तथा निजात्मदेव ही उपासनीय हैं

शब्द-90

सन्त महन्तो सुमिरो सोई, जो काल फाँस ते बाँचा होई 1
दत्तात्रेय मर्म नहिं जाना, मिथ्या साधु भुलाना 2
सलिल मथि घृतकै काढ़िन, ताहि समाधि समाना 3

गोरख पवन राखि नहिं जाना, योग युक्ति अनुमाना 4
ऋद्धि सिद्धि संयम बहुतेरा, पारब्रह्म नहिं जाना 5
वसिष्ठ श्रेष्ठ विद्या सम्पूरण, राम ऐसे शिष शाखा 6
जाहि राम को करता कहिये, तिनहुँ को काल राखा 7
हिन्दू कहैं हमहिं लै जारों, तुरुक कहैं हमारो पीर 8
दोऊ आय दीन में झगरैं, ठाढ़े देखैं हंस कबीर 9

शब्दार्थ—काल= समय, वासना। साधु= उत्तम। सलिल= पानी। घृतकै= घृत मानकर। संयम= एक ध्येय वस्तु में धारणा, ध्यान तथा समाधि करना। पारब्रह्म= परब्रह्म, शुद्ध आत्मतत्त्व। दीन= धर्म, मजहब। हंस= विवेकी।

भावार्थ—हे संतो और महंतो ! उसका स्मरण करो जो काल के बंधनों से मुक्त है 1 अवधूत दत्तात्रेय जी उस अविनाशी तत्त्व का रहस्य न जानकर तथा मिथ्या वस्तु को ही उत्तम समझकर भूल गये 2 उन्होंने पानी मथकर घी निकालना चाहा। वे कल्पित वस्तु को सत्य मानकर उसी की समाधि में लीन हुए 3 गोरखनाथ जी महाराज ने प्राणों का निरोध खूब किया, परन्तु वे निजस्वरूप का तथ्य नहीं समझ सके। उन्होंने योग के विषय में काफी युक्तियों का अनुमान किया, किसी ध्येय-वस्तु में धारणा, ध्यान एवं समाधिरूप संयम भी उन्होंने बहुत किया। वे ऋद्धि-सिद्धि पाने के लिए हठयोग के धंधे में लगे रहे, परन्तु शुद्ध आत्मतत्त्व को नहीं समझ सके 4-5 वसिष्ठ श्रेष्ठ विद्वान थे, वे संपूर्ण वेद-विद्या के ज्ञाता थे। उनकी शिष्य-परंपरा में मर्यादापुरुषोत्तम श्री राम-जैसे महापुरुष थे, परन्तु वे वसिष्ठ जी भी जीवन भर केवल धार्मिक तथा राजनैतिक राजगुरु ही बने रह गये, सांसारिकता के ऊपर तथा परमतत्त्व की स्थिति तक नहीं पहुंच सके 6 जिस श्रीराम को लोग जगतकर्ता कहते हैं उन्हें भी मौत ने नहीं रहने दिया और उन्होंने साथियों सहित सरयू में प्रवेशकर अपने जीवन का अंत किया 7 हिन्दू कहते हैं कि हम तो मुरदे को लेकर जलायेंगे और मुसलमान कहते हैं कि अपने पीरों के फरमान से हम मुरदे को गाड़ेंगे। इस प्रकार दोनों छोटी-छोटी बातों को धर्म के मुद्दे बनाकर आपस में झगड़ते हैं। विवेकवान ऐसी बातों को तटस्थ होकर देखते हैं, झगड़े में नहीं पड़ते 8-9

व्याख्या—साहेब संतों और महन्तों दोनों को निर्देश देते हैं कि "सुमिरो सोई, जो काल फाँस ते बाँचा होई।" इस पंक्ति में 'सोई' शब्द महत्त्वपूर्ण है। यह 'सोई' सर्वनाम यहां किसके लिए प्रयुक्त है? जो काल-फांस से बचा हो। काल के दो अर्थ हैं समय तथा वासना। इसी प्रकार सोई के भी दो अर्थ हैं अविनाशी निजस्वरूप चेतन तथा वासनाओं से मुक्त महापुरुष। यह निजस्वरूप चेतन, यह आत्मा अमर है। यह काल-फांस से, समय की सीमा से परे है। यह

तीनों कालों में विद्यमान अजन्मा एवं अविनाशी है। सद्गुरु निर्देश करते हैं कि संत-महंतो ! परिणामी भौतिक पदार्थों का स्मरण एवं चिन्तन छोड़कर अपने अविनाशी चेतनस्वरूप का स्मरण करो। परन्तु इस स्वरूपबोध में स्थित होने के लिए सहारा चाहिए, तो सहारा उन महापुरुषों का लो जो वासना-काल से परे हैं। जिनके मन में राग-द्वेष, ममता-मोह-द्रोह तथा किसी प्रकार मलिनता नहीं है, जो स्वच्छ-चित्त निर्मल संत पुरुष हैं उनकी शरण लो, उनकी सेवा करो, उनका ध्यान करो, उनको समर्पित हो जाओ। वे तुम्हें वासनामुक्त होने में सहयोग करेंगे। सद्गुरु श्री पूरण साहेब ने भी कहा है—"उन्हीं का चरणोदक लेना ठीक है, उन्हीं का महाप्रसाद लेना ठीक है तथा उन्हीं के नित्य दर्शन करना ठीक है जिनकी उपाधि मिट गयी है, जिसके मन के सारे मोह-शोक बीत गये हैं।"

प्राणी, पदार्थ, सम्मान, प्रतिष्ठा तथा माया के ऐश्वर्यों से सम्पन्न महामंडलेश्वरों, आचार्यों तथा जगद्गुरुओं की तो भीड़ है। इनमें भी राग-द्वेष से पार पुरुष हो सकते हैं। परन्तु साधकों को चाहिए कि वे बड़े-बड़े नामों के चक्कर में न पड़ें, किन्तु जो मन के स्वच्छ संत हैं उनकी शरण लें, उनकी सेवा करें, प्रथम मन-निरोध के लिए उनका ध्यान करें। जो राग-द्वेष में लिपटा हो उसकी उपासना से मन शुद्ध नहीं हो सकता। उसकी उपासना से तो मन और खराब होगा। अतः जो काल-फांस से बचा हो, राग-द्वेष की फांसी से मुक्त हो, ऐसे स्वच्छ संत की शरण, स्मरण, उपासना साधकों के लिए कर्तव्य है। साधु को भी ऐसे संतों की उपासना करनी चाहिए तथा महन्तों को भी। महंत मठ या समाज का प्रबन्धक होता है। उसे उसके गर्व में नहीं पड़ जाना चाहिए। उसका कल्याण भी तभी होगा जब वह वासना एवं राग-द्वेषरूपी काल से छूटे हुए संतों की उपासना करेगा।

निर्मल संतों एवं सद्गुरु से प्रेरणा लेकर अंततः तो निज चेतनस्वरूप में ही स्थित होना होगा। हमारा मन हर समय देह-गेहादि सांसारिक पदार्थों का स्मरण करता है, जो जड़, अनात्म, नाशवान तथा छूटने वाले हैं। इसीलिए हम भवबन्धनों में बंधकर संसार-सागर में बहते रहते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि परिणामी तथा अनात्म वस्तुओं का स्मरण एवं राग छोड़ दो। तुम निरंतर अपने अविनाशी चेतन स्वरूप का स्मरण करो। मैं अजन्मा हूं, अविनाशी हूं, नित्य हूं, अमर हूं, कालातीत हूं—इस भाव में रमण करो। यही शोकमुक्त होने का पथ है, यही जीवन्मुक्ति का मार्ग है। इसके अलावा सब भटकाव है।

. तिनको चरणोदक सही, तिनको महा प्रसाद।
तिनको दर्शन नित्य सही, जिनकी मिटी उपाध॥ (वैराग्य शतक)

दत्तात्रेय जी बहुत बड़े अवधूत हुए। उन्होंने तपस्या की, यह ठीक है, परन्तु उन्होंने अग-जग सारा विश्व अपना स्वरूप मान लिया। उन्होंने जड़-चेतन का विवेक नहीं किया। उनके ख्याल से चेतन भी ब्रह्म, जड़ भी ब्रह्म। 'मैं सबका साक्षी हूं' इस दशा में न रहकर जड़-चेतन एक में मिला दिये। 'मैं सर्वत्र व्याप्त हूं और सारा विश्व मेरा स्वरूप है' यह एक मिथ्या अवधारणा है, परन्तु इसे ही साधु मान लिया गया, "मिथ्या साधु भुलाना"। मिथ्या को उत्तम एवं सत्य समझ लिया गया। यह तो मानो पानी मथकर घी निकालने-जैसी बात हुई। जड़-चेतन एक समझना ही अविद्या है और इस अविद्या को ही यहां ज्ञान मान लिया और इसी भावधारा में समाधि लगायी गयी, इसी भाव में अपना मन लीन किया गया, तो जड़-प्रकृति से छुटकारा कहां हुआ !

महाराज गोरखनाथ जी महान तपस्वी और हठयोगी हुए। उन्होंने प्राणायाम को खूब साधा, हठयोग की नयी-नयी युक्तियां निकालीं, नाद-ज्योति आदि को अपना ध्येय बनाकर उनमें धारणा, ध्यान तथा समाधि रूप संयम किया, इन सबसे ऋद्धि-सिद्धि के भी काफी प्रपंच जुड़े। किसी एक ध्येय में जब धारणा, ध्यान तथा समाधि हो जाती है तब इस एकाग्रता को 'संयम' कहा जाता है। योगदर्शन में बताया गया "पदार्थों के परिणाम में संयम कर लेने से भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल का ज्ञान हो जाता है। शब्द, अर्थ तथा ज्ञान में संयम कर लेने पर सम्पूर्ण प्राणियों की भाषा का ज्ञान हो जाता है। संस्कारों में संयम कर लेने पर पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है। शरीर का संयम कर लेने पर योगी अंतर्धान हो जाता है। बलों में संयम कर लेने पर हाथी-जैसा बल हो जाता है। प्रकाश में संयम कर लेने पर देश-विदेश तथा परदे में पड़ी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है। सूर्य में संयम कर लेने पर समस्त लोकों का ज्ञान हो जाता है। मूर्धा की ज्योति में संयम कर लेने पर सिद्ध पुरुषों के दर्शन होते हैं। यहां तक कि विभिन्न संयम कर लेने पर योगी दूसरे के शरीर में प्रवेश कर जाता है, पानी-कीचड़ पर चलते हुए भी उसे कुछ स्पर्श नहीं करता, वह आकाश में उड़ता है, वह अपने रूप को छोटा बना लेता है, बड़ा बना लेता है, सर्वज्ञ हो जाता है इत्यादि।" इसके लिए योगदर्शन का तीसरा पाद देखने योग्य है।

उक्त काल्पनिक एवं मायावी बातों में यदि योगी पड़ा रहा तो वह परब्रह्म को कैसे जान सकता है? 'पर' कहते हैं एकदम निराले को। जो तीनों गुणों से अलग है, वह 'पर' है; 'ब्रह्म' कहते हैं श्रेष्ठ को। जो जड़-प्रकृति से एकदम निराला, पृथक एवं श्रेष्ठ है वह निजस्वरूप चेतन ही है। अतएव व्यक्ति की शुद्ध चेतना ही परब्रह्म है। परन्तु ऋद्धि-सिद्धि के चक्कर में पड़ा हुआ एवं नाद तथा ज्योति को अपना लक्ष्य समझने वाला योगी निजस्वरूप का मर्म नहीं जान

सकता। नाद-ज्योति, कल्पित ऋद्धि-सिद्धि आदि सबका त्याग करके ही निज चेतनस्वरूप में स्थिति होती है।

सद्‌गुरु कबीर कहते हैं कि वसिष्ठ जी अपनी जगह पर महान हैं। वे वेद-विद्या के सम्पूर्ण ज्ञाता माने जाते हैं, श्रीराम-जैसे महापुरुष उनके शिष्य हैं। वे रघुवंश के धार्मिक पथप्रदर्शक रहे और राजनीति में भी उनकी राय जितनी सुनी जाती थी, वे देते थे। वे राजा दशरथ को यह राय नहीं दे सके थे कि भरत-शत्रुघ्न को बुलाकर श्रीराम का राजतिलक होना चाहिए। सीतानिर्वासन करने के समय श्रीराम ने गुरुमहाराज की राय लेने की कोई आवश्यकता नहीं समझी। अतएव वसिष्ठ एक राजघराने के गुरु तथा पुरोहित रहे तथा राजा की राय में 'हां' करने वाले थे और संसारी आदमी थे। संसारासक्ति से अलग होकर निजस्वरूप में स्थिति की बात इन सबसे अलग होती है। वसिष्ठ जी गृहस्थ-गुरु हैं। काल-फांस से बचे हुए गुरु तो विरक्त होते हैं। संत विरक्त गुरु की उपासना करते हैं, गृहस्थ गुरु की नहीं।

यदि श्रीराम को कोई उपासना का विषय बनाये तो उसकी भावना है, वह बना सकता है। परन्तु यह समझना चाहिए कि वे संसार के हर्ता-कर्ता नहीं थे कि उनकी उपासना करने से वे खुश होकर तुम्हें मुक्ति दे देंगे या अपने स्वर्गलोक में बुला लेंगे। वे भी सामान्य मनुष्य की तरह मां-बाप से पैदा होकर एक दिन शरीर त्यागकर चले गये। दूसरी बात वे वासना से भी मुक्त नहीं थे। वे एक राजा थे, बाल-बच्चे वाले गृहस्थ थे और सांसारिकता में लिपटे थे। साधक को तो उपासना का विषय वीतराग को बनाना चाहिए। योगदर्शन कहता है—"वीतरागविषयं वा चित्तम्" अर्थात जिनके राग-द्वेष बीत गये हैं उनका ध्यान करने से मन निर्मल होता है। श्रीराम हमारे पितामह हैं, श्रद्धेय हैं, आदरणीय हैं, यह सब ठीक है; परन्तु साधक की उपासना का विषय तो विरक्त ही बन सकता है। संत गृहस्थ की उपासना नहीं करता, वह विरक्त की उपासना करता है। "सन्त महन्तो सुमिरो सोई, जो काल फाँस ते बाँचा होई।" कोई भी साधक हो, गृहस्थ हो या विरक्त, उसे राग-द्वेष से छूटे हुए विरक्त संत की उपासना करनी चाहिए और अंततः निज अविनाशी स्वरूप चेतन एवं आत्माराम की, न कि श्रीराम की।

साहेब इस शब्द के अन्त में कहते हैं कि हिन्दू-मुसलमान आदि मजहबी भावना वाले लोग साधारण बातों को धर्म के मुद्दे बना लेते हैं और उन्हीं तुच्छ बातों को लेकर आपस में लड़ते रहते हैं। जैसे हिन्दुओं ने मुरदे को जलाना परम धर्म मान लिया, मुसलमानों ने उसे गाड़ना परम धर्म मान लिया—इन बातों में क्या रखा है! शरीर से जब जीव निकल जाता है तब इसका फुकंत, गड़ंत

. योगदर्शन 1/37।

तथा लुटंत होता है। इसे जला दिया या जमीन में गाड़ दिया या जल या किसी सुनसान में छोड़ दिया जिसे जलजंतु या चील-गीध, सियार-बीग खा गये। जहां जैसी योग्यता हो वहां वैसा कर देना चाहिए। गाड़ने की जगह नहीं है और गाड़ने का हठ किये बैठे हैं, जलाने की सुविधा नहीं है और जलाने का हठ किये बैठे हैं। यह गलत बात है। लाश को ठिकाने लगाना है, जब जैसी सुविधा हो वैसा कर लेना चाहिए। किसी एक रूढ़ि की पूंछ पकड़कर बैठे नहीं रहना चाहिए। कबीर साहेब कहते हैं कि जो हंस है, नीर-क्षीर विवेकी है, वह बड़ी-बड़ी कही जाने वाली बातों में नहीं उलझता, तो इन तुच्छ बातों में क्यों उलझेगा ! वह यह सब तमाशा खड़ा होकर देखता है, वह सबका तटस्थ द्रष्टा रहता है, मध्यस्थ रहता है, किसी की पूंछ पकड़कर रूढ़िवादी नहीं होता।

आशा-तृष्णा-वश सब देहधारी दुखी हैं

शब्द-91

तन धरि सुखिया काहु न देखा, जो देखा सो दुखिया 1
उदय अस्त की बात कहत हैं, सबका किया विवेका 2
बाटे बाटे सब कोइ दुखिया, क्या गिरही बैरागी 3
शुकाचार्य दुख ही के कारण, गर्भहि माया त्यागी 4
योगी जंगम ते अति दुखिया, तापस के दुख दूना 5
आशा तृष्णा सब घट ब्यापी, कोइ महल नहिं सूना 6
साँच कहौं तो सब जग खीजे, झूठ कहा ना जाई 7
कहहिं कबीर तेई भौ दुखिया, जिन्ह यह राह चलाई 8

शब्दार्थ—उदय अस्त = सारा संसार। बाटे बाटे = अपने-अपने क्षेत्र में, अपने-अपने ढंग से। शुकाचार्य = शुकदेव मुनि। जंगम = लिंगायत सम्प्रदाय के लोग, शिवाचारी। तापस = तपस्वी। खीजे = खीजना, कुढ़ना, क्रोध करना।

भावार्थ—मैंने किसी शरीरधारी को सुखी नहीं देखा, जिसे देखा वह दुखी है 1 मैं सारे संसार की बात कहता हूं, मैंने सबका विवेक कर लिया है 2 क्या गृहस्थ और क्या विरक्त अपने-अपने क्षेत्र में तथा अपने-अपने ढंग से सब दुखी हैं 3 इस संसार के दुख को देखकर शुकदेव मुनि बालकपन से ही माया-मोह का त्यागकर वैराग्यवान बन गये थे 4 योगी और शिवाचारी लोग तो अति दुखी हैं और तपस्वियों का दुख तो दूना है 5 क्योंकि सबके हृदय में आशा-तृष्णा व्याप्त है, किसी का दिल-महल इससे खाली नहीं है 6 यदि सत्य कहता हूं तो सारा संसार कुढ़ता है, गुस्सा करता है, परन्तु अपने राम से तो झूठ कहते नहीं बनता 7 कबीर साहेब

कहते हैं कि मूलतः तो वे ही दुखी हुए जिन्होंने ऐसा रास्ता चलाया कि व्यक्ति का सुख, मोक्ष या परमात्मा कहीं बाहर है और उसे पाना है 8

व्याख्या—शरीर बनता ही है असंख्य जड़कणों से मिलकर। उन जड़कणों का स्वभाव ही है परिवर्तनशील। परिवर्तन की धारा पर बैठकर स्थिरता की चाह रखना घोर अज्ञान है। शरीर तो दूसरों की सेवा तथा स्वयं के लिए संयम करने का साधन मात्र है। हम इस असंख्य कणों के विकारी जोड़ शरीर को सत्य तथा अपना स्वरूप मान लेते हैं और चाहते हैं कि यह स्थिर रहे, तो हम दुखी होंगे ही। हमारा शरीर परिवर्तनशील है, साथियों का शरीर परिवर्तनशील है, धन के नाम पर मिले हुए सारे पदार्थ परिवर्तनशील हैं। इतना ही नहीं, हमारा तथा हमारे साथियों का मन भी परिवर्तनशील है। इतनी घोर परिवर्तनशीलता के बीच बैठकर हम उन सबकी एकरस स्थिति चाहते हैं तो हमें दुखी होना ही होगा। जहां सब कुछ बदल रहा हो और मिलकर छूट रहा हो वहां यह आशा करें कि हम जो कुछ चाहें वह होता रहे तथा सारे अनुकूल प्राणी-पदार्थ एक समान बने रहें, घोर प्रमाद है।

विवेक से सब कुछ परिवर्तनशील है ही, इतिहास उठाकर देखो तो पता लगेगा कि बड़े-बड़े कहलाने वालों के जीवन में उनका सब कुछ कितना बदलता रहा। एक चित्रकार ने श्रीराम की चित्रावली बनायी। उसे श्रीराम, सीता तथा लक्ष्मण देखने लगे। जब जनकपुर से बरात लौटकर अयोध्या पहुंचती है चित्र के उस अंश को देखकर श्रीराम आंसू बहाते हुए कहने लगे—"उन दिनों पिताजी जीवित थे, नववधुएं घर में आयी थीं और माताएं इस चिंता में थीं कि हमारे पुत्र कैसे सुखी होंगे; हमारे वे दिन चले गये।" श्रीराम का जन्म, घर-आंगन तथा सरयू तट पर खेलना, मृगया, ताड़कावध, धनुष-यज्ञ, विवाह, राज्याभिषेक की तैयारी का उत्साह, दूसरे ही दिन चौदह वर्ष का दारुण वनवास, घोर जंगलों में चौदह वर्ष तक भटकना, सीता-हरण, रावण से घोर युद्ध, सीता की वापसी का तिरस्कार, पुनः ग्रहण, अयोध्या में आकर राज्याभिषेक, पुरवासियों के अपवाद करने पर पुनः सीता का वननिर्वासन, सीता का पृथ्वी में प्रवेश, श्रीराम का सभी साथियों के सहित सरयू में प्रवेश—कितना भयानक दृश्य ! सर्वाधिक दुखी राम ! इसीलिए दुखभरी कहानी के अर्थ में 'राम कहानी' मुहावरा चल पड़ा। जब कोई बहुत देर तक अपना दुख रोने लगता है तब लोग कहते हैं कि क्या यार ! अपनी रामकहानी सुनाने लगे। महाराज कृष्ण का जीवन देखो, पूरा जीवन उथल-पुथल से भरा। जीवन भर युद्ध, सत्रह बार जरासंध की मथुरा पर चढ़ाई, अंततः कृष्ण का भागकर द्वारका बसाना, महाभारत का दारुण

. जीवत्सु तातपादेशु नूतने दारसंग्रहे।
मातृभिश्चिन्त्यमानानां ते हि नो दिवसा गताः॥ (उत्तर रामचरितम् नाटक, 1/19)

युद्ध और उससे कहीं भयंकर श्रीकृष्ण के परिवार—यादवों का घोर पतन, सबका शराबी होकर आपस में कट मरना, बलराम का समुद्र में प्रवेश तथा वन में व्याध के बाण से श्रीकृष्ण का भी प्राणांत! इसलिए सद्गुरु कबीर कहते हैं कि तनधारी किसी को भी सुखी नहीं देखा, सबका विवेक कर लेने के बाद मैं यह बात करता हूं। उदय-अस्त की बात कहता हूं, पूरे संसार की बात कहता हूं।

"बाटे बाटे सब कोइ दुखिया, क्या गिरही बैरागी।" गृहस्थ हो चाहे वैरागी एवं त्यागी संप्रदाय हों अपने-अपने ढंग से सभी दुखी हैं। गृहस्थी झंझटों तथा उलझनों की जगह है ही, परन्तु वैराग्य-मार्ग का वेष-संप्रदाय अपने ढंग से उलझा रहता है। शुद्ध वैराग्य तो सर्वोच्चदशा है। मन में उसके आ जाने पर तो कोई दुख रहता ही नहीं है, परन्तु वैरागी-त्यागी-संन्यासी नाम से फैला हुआ संप्रदाय जहां हजारों-लाखों का झुंड हो गया है, जिनमें अधिकतम केवल त्याग-वेष की औपचारिकता में उलझे हैं, अपने-अपने मतवाद, वेष, मर्यादा, गद्दी-महंती, मूल और शाखा के मिथ्या रगड़े-झगड़े में राग-द्वेष में लिप्त हैं, इनमें कहां शांति है! मठ-मन्दिर, चेले-चाटी, मान-पूज्यता के लिए तू-तू, मैं-मैं करने वाले इन त्यागी वेषधारियों में कहां शांति है! बस, सबके दुखों का अपना-अपना ढंग है। गृहस्थ अपने ढंग से दुखी हैं, तथा वेषधारी अपने ढंग से दुखी हैं।

"शुकाचार्य दुखही के कारण, गर्भहि माया त्यागी।" महर्षि वेदव्यास के पुत्र शुकदेव मुनि जब माता के गर्भ में आये तब वे उसी में बारह या सोलह वर्ष इसीलिए रह गये कि संसार में बड़ा दुख है, और जब पैदा हुए तो 'नारबेवार' लेकर जंगल की ओर भाग खड़े हुए और विरक्त हो गये। वस्तुतः गर्भस्थ शिशु अचेत रहता है, उसे कहां ज्ञान होगा कि संसार में पैदा होने पर क्या दुख है और गर्भवास में ही क्या सुख रहा है जिसमें शुकदेव मुनि आनन्द-विहार करते रहे हों। इन सबका अर्थ इतना ही है कि शुकदेव मुनि बारह या सोलह वर्ष की उम्र में ही माता-पिता को छोड़कर विरक्त हो गये। श्रीमद्भागवत में यही लिखा है कि "जिनका अभी यज्ञोपवीत भी नहीं हुआ था उन शुकदेव को संन्यास लेने के उद्देश्य से जाते हुए देखकर उनके पिता कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने विरहकातर होकर उन्हें बेटा-बेटा कहकर पुकारा। शुकदेव वैराग्य में इतने तन्मय थे कि उन्होंने पिता की बात पर ध्यान भी नहीं दिया, तो वेदव्यास को मानो वृक्षों ने ही उत्तर दिया। ऐसे सबके श्रद्धास्पद शुकदेव मुनि को मैं नमस्कार करता हूं।" यहां है "गर्भहि माया त्यागी" अर्थात वे जन्मजात विरक्त थे। वे अपने पूर्वजन्म

. यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुस्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि॥ (श्रीमद्भागवत 1/2/2)

से वैराग्य के इतने प्रबल संस्कार ले आये थे कि बचपन से ही उनके व्यक्तित्व से वैराग्य टपकता था। वस्तुतः वैराग्य ही दुखों का अन्त कर सकता है। जो सच्चा वैराग्यवान है वही सुखी है। चाहे किसी गृहस्थ के हृदय में या चाहे किसी साधुवेषधारी के हृदय में, वैराग्य अर्थात अनासक्ति की जितनी अधिक मात्रा होगी वह उतना दुखों से मुक्त होगा! दुखों से पूर्ण मुक्त तो वही होता है जिसके हृदय में पूर्ण वैराग्य है।

"योगी जंगम ते अति दुखिया, तापस के दुख दूना।" योगी ऐसे कम होते हैं जो अपने मनोनिग्रह की साधना में लगें, ज्यादा लोग तो ऐसे होते हैं जो अपने बाह्य आसनों का जनता में प्रदर्शन करते, चमत्कार दिखाते, ऋद्धि-सिद्धि के प्रलोभन में भटकते तथा वेष के बल पर जनता से प्रतिष्ठा पाने के भूखे रहते हैं। जंगमों एवं शिवाचारी आदि अनेक वेष-भगवानों की इन-जैसी अपने-अपने ढंग से दशा रहती है। तपस्वीजन तो आवश्यकता से अधिक अपने शरीर को संताप देने में लगे रहते हैं, घोर उपवास, ठण्डी में जलशयन, गरमी में अग्नितापन, वर्षा में खुले आकाश में निवास, केशलुंचन तथा अन्य नाना कष्ट उठाते रहते हैं। इसलिए इनका दुख दूना समझिए।

खास बात है "आशा तृष्णा सब घट व्यापी, कोई महल नहिं सूना।" जो सबके हृदय में पुत्रैषणा, वित्तैषणा एवं लोकैषणा का राज्य है, सबके मन में किसी-न-किसी प्रकार संसार की आशा-तृष्णा लगी है, यही दुखदायी है। इन्द्रियों के भोग, प्राणी-पदार्थ, मान-प्रतिष्ठा, पूज्यता-सत्कार आदि पाने की आशा-तृष्णा तो दुखदायी हैं ही, परन्तु यदि संसार में अधिक-से-अधिक धर्म, सत्यज्ञान तथा सदाचार की बातें प्रचार कर देने की आशा-तृष्णा है तो यह भी एक पागलपन एवं दुखद ही है। विवेकवान सबका हित चाहता है और शक्ति के अनुसार जनकल्याण का प्रयास करता है, परन्तु वह उसके लिए मन से व्याकुल तथा बेचैन नहीं रहता। वह धर्मप्रचार की आशा-तृष्णा नहीं करता। कोई भी काम किया जाये या वस्तुओं का उपयोग किया जाये, यदि सावधानी न बरती जाये तो उसमें तृष्णा अपना घर बनाती है। अनुकूल खान-पान, वस्तुओं तथा स्थानों के उपयोग में तृष्णा; मान-प्रतिष्ठा एवं पूज्यता में तृष्णा; शिष्य-शाखा, मठ-मन्दिर एवं धन-द्रव्य में तृष्णा; प्रचार-प्रसार में तृष्णा; जन-समूह, भाषण तथा लेखन में तृष्णा। इसी प्रकार दृश्य मात्र में तृष्णा पैदा होती है। यदि हम सावधानी न बरतें तो हर जगह तृष्णा अपना घर बनाती है। अच्छा काम करना ठीक है, परन्तु उसकी भी तृष्णा ठीक नहीं है। सद्गुरु कहते हैं कि यह आशा-तृष्णा सब घट में व्याप्त है। किसी का हृदय-घर इससे बचा नहीं है। इस कथन पर जोर देने का मतलब है कि इससे कोई बिरला बचा होगा। मनुष्य को चाहिए कि वह पहले गलत कामों को छोड़े, संसार के राग-रंग एवं भोगों

को छोड़े और अपने लिए मान-प्रतिष्ठा की भावना का परित्याग करे। वह शुभ काम करने में, जन-कल्याण करने में पहले तृष्णा रखे यह ठीक है, परन्तु आगे चलकर सारी तृष्णाओं का अन्त होना चाहिए। यदि मनुष्य चाहता है कि हमारे सारे दुख दूर हो जायें तो वह अपने मन से शुभाशुभ सारी बातों में लगने वाली आशा-तृष्णा का त्याग करे।

सद्गुरु कहते हैं कि मैं सच्ची बात कहता हूं तो सारा संसार गुस्सा करता है, परन्तु झूठ तो अपने से कहा नहीं जा सकता। गृहस्थ दुखी हैं, वेषधारी दुखी हैं, वे सब क्यों दुखी हैं? क्योंकि वे बाहर से कुछ पाने की आशा-तृष्णा में पड़े हैं। यह सत्य है। इसे सुनकर नाराज होने की कोई बात ही नहीं होनी चाहिए। "कहहिं कबीर तेई भौ दुखिया, जिन्ह यह राह चलाई।" कबीर साहेब कहते हैं कि वही दुखिया हुआ, जिसने यह रास्ता चलाया, जिसने यह रीति निकाली कि बाहर से कुछ मिलकर तृप्ति होगी। भोग-विषय तो जड़ हैं ही, वे बाहरी चीजें हैं ही, परन्तु यदि मोक्ष, परमात्मा, ब्रह्म तथा राम-रहीम भी बाहर से मिलते हैं तो यह दुखदायी रास्ता है। बाहर से तो जो कुछ मिलता है वह भौतिक है, परिवर्तनशील है। वह मिलकर छूट जायेगा। यदि मोक्ष एवं परमात्मा जीव को बाहर से मिलते हैं, तो वे मोक्ष तथा परमात्मा के नाम पर भौतिक वस्तु ही हैं। वस्तुतः मोक्ष एवं परमात्मा आत्मा की कृतार्थ अवस्था का नाम है। वे आत्मा एवं जीव से कोई अलग वस्तु नहीं हैं, परंतु यह बात सुनकर संसार के लोग खीजते हैं। वे विचार नहीं करते, किन्तु सुनी-सुनायी बातों की भावना में बहते हैं। उन्हें यह पता नहीं है कि भावना से सत्य ऊपर होता है।

संसार के प्राणी-पदार्थों को पाने की आशा-तृष्णा तो हमारी छूटनी ही चाहिए; जीने, करने, भोगने, देखने, सुनने आदि की भी आशा-तृष्णा छूटनी चाहिए। यहां तक कि बाहर से मोक्ष, परमात्मा तथा ब्रह्म पाने की आशा-तृष्णा भी छूट जानी चाहिए। जब सारी आशा-तृष्णाओं का सर्वथा अन्त हो जाता है, तब मन में कोई दुख नहीं रह जाता। यदि मन इस प्रकार दुखरहित हो जाये तो कभी-कभार शरीर में आये हुए रोगजनित दुख जीव को क्षुब्ध नहीं कर सकते। वस्तुतः मन का दुख ही बड़ा दुख है, जिसकी जननी है आशा-तृष्णा। जिनकी सारी आशा-तृष्णाएं छूट गयीं वह परम सुखी हो गया।

मन के पारखी बनो

शब्द-92

ता मन को चीन्हो मोरे भाई, तन छूटे मन कहाँ समाई 1
सनक सनन्दन जैदेव नामा, भक्ति सही मन उनहुँ न जाना 2

अम्बरीष प्रहलाद सुदामा, भक्ति हेतु मन उनहुँ न जाना 3
भरथरि गोरख गोपीचन्दा, ता मन मिलि मिलि कियो अनन्दा 4
जा मन को कोइ जान न भेवा, ता मन मगन भये शुकदेवा 5
शिव सनकादिक नारद शेषा, तनके भीतर मन उनहुँ न पेखा 6
एकल निरंजन सकल शरीरा, तामहँ भ्रमि भ्रमि रहल कबीरा 7

शब्दार्थ—नामा= नामदेव। भेवा= भेद, रहस्य। एकल निरंजन= एक मन। कबीरा= जीव।

भावार्थ—हे मेरे बंधु! उस मन की पहचान करो जो तुम्हारा संसार से सम्बन्ध कराने में कारण है। इस बात पर विचार करो कि शरीर छूट जाने पर मन कहां लीन होगा? 1 सनक, सनन्दनादि तथा जयदेव, नामदेव आदि महापुरुषों ने भक्ति अवश्य की, परन्तु मन की परख उन्होंने नहीं की 2 अम्बरीष, प्रह्लाद, सुदामा आदि महानुभाव भी अधिक भक्ति-भावना के कारण मन की परख नहीं कर सके 3 भर्तृहरि, गोरखनाथ और गोपीचन्द जैसे योगीजनों ने भी उस मन में मिल-मिलकर आनन्द माना 4 जिस मन का कोई रहस्य न जान सका, उसी मन में मिलकर शुकदेव मुनि भी निमग्न हो गये 5 यहां तक कि शिव, सनकादि, नारद, शेष जी आदि ने भी शरीर के भीतर में रहने वाले मन की परख नहीं की 6 एक मन का जंगल सभी देहधारियों के अन्दर फैला हुआ है और उसी में सब जीव भटक-भटककर उलझ रहे हैं 7

व्याख्या—मन न हो तो जीव का सम्बन्ध जगत से न हो। प्रत्यक्ष अनुभव की बात है कि सुषुप्ति अवस्था में मन लीन हो जाता है तो उस समय जीव को शरीर का भी भान नहीं रहता। इस प्रकार हर आदमी प्रतिदिन चार, छह या आठ घंटे तक नींद में जाकर अपने माने हुए शरीर को भूल जाता है। अतएव चेतन का जड़ से सम्बन्ध कराने में यह मन ही कारण है। मन ही जड़-चेतन में पुल है। जो दोनों को जोड़ता है। बाहर से कुछ भी प्राप्त करने का नक्शा मन बनाता है और मन के खोने के साथ बाहर का नक्शा भी खो जाता है। जीव को बाहर से शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध—इन पांच विषयों के अलावा कुछ भी नहीं मिलता। यदि हम बाहर से मोक्ष एवं ईश्वर का नक्शा बनाते हैं और उन्हें पाना चाहते हैं तो वे भी मन के आयाम से बाहर नहीं होते।

इस शब्द में सद्गुरु कबीर ने बड़े-बड़े नाम लिये हैं और यह बताया है कि वे सब मन के आयाम से बाहर न जा सके। भक्तिभावना में विह्वल लोग किसी देहधारी को जो वर्तमान में है या शरीर छोड़ चुका है भगवान एवं जगत-नियंता मानकर उसके पीछे अपनी सुध-बुध खोये रहते हैं। जो भक्त देहधारी को न

मानकर ऐसे ही कल्पना करते हैं कि एक ऐसा ईश्वर है जो सब जगह व्याप्त है, उसका भी ईश्वर उसकी मान्यता होता है। जब मन शांत हो जाता है उस समय किसी ईश्वर का नक्शा नहीं रह जाता। जयदेव, नामदेव, अम्बरीष, प्रह्लाद, सुदामा, नारद, शेष आदि जितने भी भक्तों के नाम लिये जायें, ये अपने मन में किसी प्रकार के ईश्वर का नक्शा बनाकर उसकी भक्तिभावना में डूबे रहे। यह सच है कि उन्होंने इस प्रकार की भक्ति की, परन्तु वे यह नहीं समझ सके कि हम मन के आयाम, मन के फैलाव के भीतर ही रम रहे हैं। वे मन को परख नहीं सके। वे यह नहीं समझ सके कि हम मन को ही ईश्वर मानकर उसी में रम रहे हैं।

योगी लोग मन से नाद, बिन्दु, ज्योति आदि का नक्शा बनाकर उन्हीं में मग्न होते हैं। ज्ञानी कहलाने वाले लोगों की कल्पना हुई कि मैं सर्वत्र व्याप्त हूं। यह भी एक मन का ही विस्तार है। ईमानदारी से सोचें तो सहज ज्ञात होगा कि 'मैं सर्वत्र व्याप्त हूं'—यह किसी का अपना अनुभव नहीं है, परन्तु अधिसंख्यक ज्ञानी कहलाने वाले ऐसी ही कल्पना करते हैं। अतएव सब मन के नक्शे में ही उलझे रहते हैं। इस प्रकार भक्त, योगी, ज्ञानी आदि सब मन के विस्तार को ही मन का परम आश्रय मान लेते हैं। संसार के कर्म-प्रपंच, विषय-भोग तथा राग-रंग तो मन के विस्तार हैं ही, परन्तु यदि मन का परम विश्रामस्थल भी मन के विस्तार को मान लिया गया, तो मन को परखकर उससे ऊपर उठने की बात ही कहां हुई !

कबीर देव इस शब्द के शुरू ही में कहते हैं—"ता मन को चीन्हो मोरे भाई, तन छूटे मन कहाँ समाई।" यहां साहेब सामान्य मनुष्यों के मन को नहीं कह रहे हैं। यहां भक्त, योगी, ज्ञानी-जैसे परमार्थपरायण के मन की बात कर रहे हैं। शरीर रहते-रहते जहां मन लगा रहता है, शरीर छूटने पर मन वहीं समाता है। यदि व्यक्ति का मन बाहर किसी शुभ या अशुभ नक्शे में लगा है, तो वह आज भी बाहर भटक रहा है, और शरीरांत के बाद भी भटकने की ही स्थिति में रहेगा। परन्तु यदि मन बाहर के सारे नक्शे छोड़कर चेतना एवं आत्मा में लौट आया है, तो भटकने का कोई प्रश्न ही नहीं है। मन जब संकल्प-शून्य हो जाता है, तब कोई नक्शा नहीं रहता। तब केवल आत्मा विद्यमान रहती है एवं ज्ञानस्वरूप मात्र रहता है और गहरी शांति रहती है।

विवेकवान का काम है कि वह मन के सारे नक्शों को खो दे। वस्तुतः जो मन को ही परख-परखकर उसका अभाव करता रहता है, उसके सामने से सारे नक्शे, सारी अवधारणाएं एवं सारी कल्पनाएं खो जाती हैं। इसीलिए सद्गुरु कहते हैं "ता मन को चीन्हो मोरे भाई" मन को चीन्हो, मन को परखो, तो मन

शून्य हो जायेगा। हम एक विशेष ध्यान की अवस्था में बैठकर मन को परख-परखकर उसे शून्य कर देते हैं यह तो ठीक ही है, परन्तु हमें चाहिए कि अन्य समय में भी, लेटते, उठते, बैठते, खाते-पीते तथा कोई काम करते हुए मन को परखते रहें। मन हमें वर्तमान से हटाकर नये-नये नक्शे में ले जाता है। यदि हम हर समय मन को परखते रहते हैं तो इससे बड़ी और कोई साधना नहीं होगी। साधक को किसी मुक्ति या भगवान का नक्शा नहीं बनाना है, किन्तु मन को परख-परखकर उसे छोड़ते रहना है। मन ही हमें भव में जोड़ता है, मन ही हमें संसार एवं प्रपंचों में मिलाता है। यदि हमने मन को ही परखकर उसे छोड़ने का अभ्यास करना शुरू कर दिया तो मानो हमारे लिए भवसागर ही समाप्त हो गया। हमें बाहर से न मोक्ष पाना है और न कोई भगवान पाना है, हमें केवल अपने मन को देखते रहना है, उसे परख-परखकर अपनी सत्ता, अपनी चेतना को अपनी ओर लौटाते रहना है। इस प्रकार जब हम अपनी सत्ता मन को नहीं देते, तब मन शून्य हो जाता है। मन के शून्य हो जाने पर सारे नक्शे समाप्त हो जाते हैं। फिर तो जीव असंग होकर अपने आप में पूर्ण स्थित हो जाता है। इस स्थिति को पाने के बाद शरीर का अभी कुछ दिन रहना या आज ही उसका छूट जाना उसके लिए बराबर है। जो मन का साक्षी बन जाता है, उसके भवबन्धन का सारा खेल समाप्त हो जाता है। अतएव वह हर समय कृतार्थ है। इसीलिए सद्गुरु कहते हैं कि शरीर छूटने के पहले मन को परखकर उसे छोड़ दो। समझ लो मन तथा मन के सारे नक्शे झूठे हैं वे चाहे शुभ हों और चाहे अशुभ।

सद्गुरु कहते हैं कि इस तथ्य को न समझकर जीव मन को ही अपना स्वरूप मान लेता है। वह हर क्षण मन के विस्तार ही में डूबा रहता है। वह कहीं अशुभ नक्शे में तथा कहीं शुभ नक्शे में, हर हालत में हर समय मन के नक्शे में ही उलझा रहता है। "एकल निरंजन सकल शरीरा, तामहँ भ्रमि भ्रमि रहल कबीरा।" यहां निरंजन का अर्थ मन है। साहेब कहते हैं कि यह एक मन सब शरीरों में विद्यमान है। यहां एक का मतलब यह नहीं है कि सभी शरीरों में एक ही मन है। वस्तुतः सभी शरीरों में अलग-अलग मन है। तात्पर्य यह है कि हर जीव एक अपने मन के बनाये जंगल एवं भूलभुलैया में भटक-भटककर रह रहा है। हर आदमी अपने मन के जाल में उलझा है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि तुम्हें मन के जाल को तोड़ना है। तुम्हें कुछ पाना नहीं है। कुछ पाने की भावना ही भ्रम है। तुम्हें केवल मन के जाल को तोड़कर मुक्त हो जाना है। मन के साक्षी बन गये, मन के पारखी बन गये, मन को अपने आप से अलग कर दिये, बस कृतार्थ!

सुदामा

ये एक गरीब ब्राह्मण थे। इन्होंने सांदीपनि के आश्रम में रहकर श्रीकृष्ण के साथ विद्याध्ययन किया था। अन्त में श्रीकृष्ण ने इनको धन-धान्यसंपन्न बना दिया था।

भर्तृहरि

ये उज्जैन के राजा थे। इनके छोटे भाई का नाम विक्रमादित्य तथा पत्नी का नाम पिंगला था। ये पिंगला में बहुत आसक्त थे। परन्तु पिंगला घोड़ादरोगा में आसक्त थी। यह भेद खुलने पर भर्तृहरि को वैराग्य हो गया और वे राज-पाट छोड़कर विरक्त हो गये। पीछे विक्रमादित्य को राजगद्दी मिली। भर्तृहरि के तीन ग्रंथ प्रसिद्ध है—शृंगारशतक, नीतिशतक तथा वैराग्यशतक। ये तीनों ग्रंथ संस्कृत-श्लोकों में हैं।

गोपीचन्द

ये महाराज भर्तृहरि के भांजे थे। अपनी माता मैनावती के वैराग्यमय उपदेशों से जागृत होकर राज-पाट छोड़कर इन्होंने वैराग्य ले लिया। इन्होंने प्रसिद्ध योगी जालंधर से दीक्षा ली। दीक्षा के बाद अपनी रानी से प्रथम भिक्षा ग्रहण की। ये वैराग्यवान पुरुष थे। मंगते योगी सारंगी बजाकर इनके जीवन-चरित को गाते हैं।

संसार की विपरीतता

शब्द-93

बाबू ऐसो है संसार तिहारो, इहै कलि ब्यौहारो 1
को अब अनुख सहत प्रतिदिन को, नाहिन रहनि हमारो 2
सुमृति सोहाय सबै कोइ जानै, हृदया तत्त्व न बूझै 3
निर्जिव आगे सर्जिव थापे, लोचन किछउ न सूझै 4
तजि अमृत विष काहेक अँचवै, गाँठी बाँधिन खोटा 5
चोरन दीन्हों पाट सिंहासन, साहुन से भौ ओटा 6
कहहिं कबीर झूठे मिलि झूठा, ठग ही ठग ब्यौहारा 7
तीनि लोक भरपूरि रहा है, नाहीं है पतियारा 8

शब्दार्थ—कलि= कलिकाल, पापबुद्धि। अनुख= झंझट, खुराफात। रहनि= रहना। सुमृति= स्मृतियां, धर्मशास्त्र। सोहाय= अच्छा लगता है। तत्त्व= सचाई। निर्जिव= मिट्टी-पत्थर के देवी-देवता। सर्जिव= सजीव देह-धारी। थापे= वध करते। अँचवै= आचमन, पीना। खोटा= असत्य, बुरा। चोरन= वंचक गुरुआ। साहुन= विवेकी संत। ओटा= मुख छिपाना।

भावार्थ—हे बाबू ! तुम्हारी दुनिया बड़ी अजीब है। यहां तो सर्वत्र पापबुद्धि का व्यवहार हो रहा है 1 तुम लोगों के बीच में रोज-रोज की खुराफात कौन सहे! यहां तो हमें अपने रहने लायक नहीं लगता 2 स्मृतियों एवं धर्मशास्त्रों की हिंसा-विधायक बातें सबको अच्छी लगती हैं। ये लोग हृदय से सच्चाई को नहीं समझना चाहते 3 ये बेजान जड़ देवी-देवताओं के सामने पूजा तथा यज्ञ के नाम पर जीवधारी पशु-पक्षियों की हत्या करते हैं। इनकी आंखों से कुछ नहीं सूझता 4 ये अमृत को त्यागकर जहर क्यों पीते हैं और सत्य को त्यागकर अपनी गांठ में बुरी वस्तु क्यों बांधते हैं! 5 ये लोग छलने वाले वंचक गुरुओं का आदरकर उन्हें पाटला और सिंहासन देते हैं और विवेकी संतों से अपने मुख छिपाते हैं 6 कबीर साहेब कहते हैं कि झूठे लोग झूठों से मिल रहे हैं तथा ठग लोग ठगों से मिलकर ठग-विद्या का व्यवहार कर रहे हैं 7 सारे संसार में तो भ्रांति ही भरी है। ये सत्य पर विश्वास करने वाले नहीं हैं 8

व्याख्या—"बाबू ऐसो है संसार तिहारो, इहै कलि ब्यौहारो।" क्षत्रियों को, पढ़े-लिखे लोगों को या आदरणीय लोगों को 'बाबू' कहा जाता है। प्यार से छोटों को भी बाबू कहा जाता है। शायद कुछ पढ़े-लिखे लोग जिनमें ब्राह्मण कहलाने वाले भी रहे हों, कबीर साहेब के पास आये हों और उन्हें संबोधित कर उन्होंने कहा हो कि हे बाबू! तुम्हारा संसार ऐसा ही है। तुम लोगों का जगत बड़ा विचित्र है। मैं तो मानता हूं कि जो तुम लोग धर्म के नाम पर निर्दयता का तांडव करते हो यही कलि-व्यवहार है। कलि और कुछ नहीं है, किन्तु तुम लोगों का व्यवहार ही कलि हो गया है।

"को अब अनुख सहत प्रतिदिन को, नाहिन रहनि हमारो।" तुम लोगों के बीच में रहकर कौन रोज-रोज झंझट सहे। तुम लोगों के बीच में हमें रहने लायक नहीं है। मानसिक दुर्बलतावश लोग जो गलत आचरण करते हैं वह तो गलत है ही, धर्म का नाम लेकर बड़ा-बड़ा पाप होता है और इसे देखकर मन को बड़ा कष्ट होता है। 'अनुख' के अर्थ झंझट, खुराफात या दुख होते हैं। हत्या तो किसी प्रकार भी उचित नहीं है। परन्तु धर्म का नाम लेकर हत्या करना बड़े दुख की बात है।

"सुमृति सोहाय सबै कोइ जानै, हृदया तत्त्व न बूझै।" सुमृति स्मृति का अपभ्रंश शब्द है। अतएव सुमृति का अर्थ स्मृति है। स्मृति कहते हैं धर्मशास्त्र को। धर्मशास्त्रों में यज्ञ में तथा जड़ देवी-देवताओं के सामने पशु-पक्षियों का वध करने-कराने का विस्तृत विधान है। साहेब कहते हैं कि ये बातें लोगों को बड़ी अच्छी लगती हैं, परन्तु वे हृदय से सच्चाई नहीं समझते कि जीव-हत्या

महापाप है। यह एक विचित्र बात है कि पुराकाल से यज्ञ, देवपूजन तथा अतिथि-सत्कार के नाम पर घोड़ों, बैलों, सांड़ों, गायों, भेड़ों, बकरियों आदि की बलि चढ़ाकर उनके मांस खाने का विधान किया था। वसिष्ठ धर्मसूत्र ने तो यहां तक कह डाला कि श्राद्ध या देवपूजनों में मारे गये पशु का मांस यदि यति को दिया जाये और वह न खाये तो उसे असंख्य वर्षों तक नरक में रहना पड़ता है। मनु ने तो उसे इक्कीस जन्मों तक ही नरक में रहना बताया जो श्राद्ध तथा मधुपर्क के मांस को नहीं खाता। मनु ने कहा—"ब्राह्मण यज्ञ के लिए तथा रक्षणीय परिवारों की रक्षा के लिए पशु-पक्षियों का वध करे, ऐसा अगस्त्य ऋषि ने पहले से किया था।"

कबीर साहेब के जमाने में ब्राह्मण तथा अन्य द्विजाति लोग ये सारे उदाहरण दे-देकर यज्ञ एवं देवपूजन के नाम पर जीव-हत्या करते थे तथा मांस-भक्षण करते थे। धीरे-धीरे गाय एक उपयोगी जानवर सिद्ध होने से वैदिक युग में ही उसे आगे चलकर अघन्या (न मारने योग्य) घोषित कर दिया गया था। पहले दूध देने वाली गायों का वर्जन हुआ, फिर सभी गायों का। मनुस्मृति में जीव-हत्या तथा मांसभक्षण के त्याग की भी बात बतायी गयी। वेदव्यास को खिन्न देखकर नारद उनसे कहते हैं—"संसारी लोग स्वभाव से ही विषयों में फंसे हुए हैं। धर्म के नाम पर आपने उन्हें निंदित (पशुहिंसायुक्त) सकाम-कर्म करने की भी आज्ञा दे दी है, यह बहुत ही उलटी बात हुई; क्योंकि मूर्ख लोग आपके वचनों से पूर्वोक्त निंदित कर्म को ही धर्म मानकर 'यही मुख्य धर्म है' ऐसा निश्चय करके उसका निषेध करने वाले वचनों को ठीक नहीं मानते।"

. ऋग्वेद 10/86/14; 10/27/2; 10/79/6; 10/91/14; 8/43/11; तैत्तिरीय ब्राह्मण 3/9/8; शतपथ ब्राह्मण 3/1/2/21; ऐतरेय ब्राह्मण 6/8; वेदांत सूत्र 3/1/25; बृहदारण्यक उपनिषद् 6/4/18; शतपथ ब्राह्मण 11/7/1/3; आपस्तंब धर्मसूत्र 2/7/16/25; आश्वलायन गृह्यसूत्र 1/24/22-26; वसिष्ठ धर्मसूत्र 4/8; हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र 2/15/1; बौधायन गृह्यसूत्र 2/5; बैखानस 4/3; आश्वलायन गृह्यसूत्र 4/9-10; गौतम 17/27/31; याज्ञवल्क्य 1/177; विष्णुधर्मसूत्र 51/6; वाल्मीकीय रामायण किष्किंधाकांड 17/39; मार्कंडेय पुराण 35/2-4। धर्मशास्त्र का इतिहास 1/420-422।

. वसिष्ठ धर्मसूत्र 11/34; धर्मशास्त्र का इतिहास 1/422।

. मनुस्मृति 5/35।

. यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्याः प्रशस्ता मृगपक्षिणः।
भृत्यानां चैव वृत्त्यर्थमगस्त्यो ह्याचरत्पुरा॥ (मनुस्मृति 5/22)

. ऋग्वेद 1/164/27-40; 4/1/6; 5/83/8 8/69/21; 10/87/16। धर्मशास्त्र का इतिहास 1/420।

. मनुस्मृति, अध्याय 5, श्लोक 48, 49, 50, 51, 55।

. जुगुप्सितं धर्मकृतेऽनुशासतः स्वभावरक्तस्य महान् व्यतिक्रमः।
यद्वाक्यतो धर्म इतीतरः स्थितो न मन्यते तस्य निवारणं जनः॥
(भागवत 1/5/15, टीका गीताप्रेस)

भारतीय परंपरा की यह विशेषता है कि वह विचारक होती है। यदि देश, काल तथा ज्ञान के कारण पहले के आचरण अब उचित न लगते हों तो उन्हें त्यागने में वह हिचक नहीं करती। मुसलमानों में ईश्वर के नाम पर पशुवध करना आज भी बंद न हो सका। मक्का में पर्व के दिन आज भी लाखों जानवर काट डाले जाते हैं। भारत में बकरीद के दिन लाखों पशु मेहरबान ईश्वर के नाम पर बड़ी बेरहमी के साथ मौत के घाट उतार दिये जाते हैं; परन्तु ब्राह्मण परंपरा में जिनके शास्त्रों में पशुवध का घोर विधान है, उसे वे करीब-करीब छोड़ चुके हैं। दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी से तो 'कलिवर्ज्य' की सूचियां बनने लगी थीं कि कलिकाल में क्या-क्या त्यागने योग्य है। डॉ. पांडुरंग वामन काणे ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में कलिवर्ज्य की सूची में 55 विषय रखे हैं जो धर्मशास्त्रों से संकलित हैं। उन्होंने कलिवर्ज्य के लम्बे अध्याय के अन्त में लिखा है—

"उपर्युक्त कलिवर्ज्य संबंधी विवेचन उन लोगों का मुंहतोड़ जवाब है जो 'अप्रगतिशीलपूर्व' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। प्राचीनकाल के अत्यधिक स्थिर समाजों के अंतर्गत भी सामाजिक भावनाओं एवं आचारों में पर्याप्त गंभीर परिवर्तन होते रहे हैं। बहुत-से ऐसे आचार एवं व्यवहार, जिनके पीछे पवित्र वेदों (जो स्वयमुद्भूत एवं अमर माने गये हैं) का आधार था, और जिनके पीछे आपस्तंब, मनु एवं याज्ञवल्क्य की स्मृतियों की प्रामाणिकता थी, वे या तो त्याज्य ठहराये गये या प्रचलित मनोभावों के कारण गर्हित माने गये। महान विचारकों ने कलियुग के लिए ऐसी व्यवस्थाएं प्रचलित कीं जिनके फलस्वरूप धार्मिक आचार-विचारों एवं नैतिकता संबंधी भावनाओं में यथोचित परिवर्तन किया जा सका। कलिवर्ज्य वचनों ने ऐसे लोगों को भी पूर्ण उत्तर दिया जो धर्म (विशेषतः आचार धर्म) को अपरिवर्तनीय एवं निर्विकार मानते रहे हैं। इस अध्याय के विवेचन से पाठकों को लगा होगा कि वेद एवं प्राचीन ऋषियों तथा व्यवहार-प्रतिपादकों के अत्यंत प्रामाणिक सिद्धांत अलग रख दिये गये, क्योंकि वे प्रचलित विचारों के विरोध में पड़ते थे। जो महानुभाव भारतीय समाज से संबंध रखने वाले विवाह व उत्तराधिकार आदि विषयों में सुधार करना चाहते हैं, उन्हें इस अध्याय में उल्लिखित बातें प्रेरणा देंगी, इसमें कोई संदेह नहीं है। हमने यह देख लिया है कि कलिवर्ज्य उक्तियों के रहते हुए भी आज बहुत-से घोर और घृणित आचार हमारे समाज में अभी तक घुन की तरह पड़े हुए हैं, यथा मातुल-कन्या-विवाह, संन्यास, अग्निहोत्र और श्रौत पशुयज्ञ। यद्यपि ये अब उतने प्रचलित नहीं हैं।"

. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 2, पृ. 1009।

कबीर साहेब के काल से दो-तीन सौ वर्ष पहले से ही कुछ पंडितों द्वारा कलिवर्ज्य के सिद्धांत को लेकर धर्म के नाम पर काटे जाने वाले पशु-पक्षियों पर दया दिखाई जाने लगी थी, परंतु भ्रांत और मांसभक्षण के लोभी पंडितों और जनता ने उसे काफी चालू रखा था। कबीर साहेब के समय में पुराने धर्मशास्त्रों के प्रमाण दे-देकर लोग देवपूजन एवं यज्ञ के नाम पर पशु काट-काटकर खा रहे थे। इन्हीं सब बातों से करुणाविगलित होकर उन्होंने कहा कि हे बाबू! तुम्हारी दुनिया विचित्र है। यह संसार तो हम-जैसे लोगों को रहने लायक ही नहीं है। यहां तो स्मृतियों एवं धर्मशास्त्रों के हिंसा-मांसाहारपरक उदाहरण ही लोगों को अच्छे लगते हैं। इनके हृदय में सच्चाई का ज्ञान तो होता ही नहीं है कि जीव-हत्या धर्म कैसे हुई! वे कैसे ईश्वर या देवी-देवता हैं जो निर्दोष मूक प्राणियों की हत्या करने से खुश होते हैं। देवी-देवता तो निर्जीव मिट्टी-पत्थर की पिंडी हैं और उनके सामने जीवधारी की हत्या कर देना यह तो मानो भीतर-बाहर की चारों आंखों का फूट जाना है। इस निर्दयता का तांडव अभी भारत आजाद होने के पहले तक अनेक ब्राह्मण कहलाने वालों के घरों तक में भी होता रहा। आज भी भारत में यत्र-तत्र यह चल रहा है और बिहार तथा विशेषतः बंगाल एवं उड़ीसा में देवपूजन में जीववध तथा मांसाहार कम नहीं हैं। ये पंक्तियां जहां कलकत्ता के न्यू अलीपुर में बैठकर लिखी जा रही हैं, पास के काली-मंदिर में अभी भी दयामूर्ति माता काली की पूजा में रक्त की नालियां बहती हैं। इस विज्ञान युग में जंगलीयुग कहां समाप्त हुआ है! भारत से लगे हुए विश्व में एकमात्र हिन्दूराष्ट्र नेपाल में देवपूजन में घोर जीववध होता है। श्री निर्मल साहेब ने ठीक ही कहा है—"जड़ के पुजारी चेतन का लोचन फुटा है। रंचक न दया-धर्म दुनिया को लुटा है।"

"तजि अमृत विष काहेक अँचवै, गाँठी बाँधिन खोटा। चोरन दीन्हों पाट सिंहासन, साहुन से भौ ओटा।" साहेब कहते हैं कि ये धार्मिक कहलाने वाले लोग अमृत को छोड़कर जहर क्यों पीते हैं! दया अमृत है, अहिंसा अमृत है, उसे छोड़कर हिंसा और हत्या जो जहर है उसे क्यों स्वीकार कर रहे हैं! दूसरों को पीड़ा देने से पीड़ा मिलेगी यह प्रकृति का विधान है। पीड़ा हमारे लिए जहर है, तो दूसरों के लिए भी जहर है। आत्मदेव ही सच्चा देव है इसे भूलकर मिट्टी-पत्थर की पिंडियों को देवता मानकर मानो सत्य को त्यागकर खोटा सौदा अपने पल्ले बांध रहे हैं।

जीववध को धर्म बताकर हिंसारूपी कुकृत्य करना-कराना मानो झूठे और ठगों का परस्पर मिलकर असत्य और ठगाई का व्यवहार करना है। धर्म के नाम पर सब जगह तो धांधलेबाजी चल रही है। सही बातों को समझने तथा उस पर विश्वास करने वाले कम लोग हैं।

बाहर ब्रह्म की कल्पना में क्यों भटकते हो?

शब्द-94

कहो हो निरंजन कौने बानी 1
हाथ पाँव मुख श्रवण जिभ्या नहिं, का कहि जपहु हो प्रानी 2
ज्योतिहि ज्योति ज्योति जो कहिये, ज्योति कौन सहिदानी 3
ज्योतिहि ज्योति ज्योति दै मारै, तब कहु ज्योति कहाँ समानी 4
चार वेद ब्रह्मा जो कहिया, उनहुँ न या गति जानी 5
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, बूझो पण्डित ज्ञानी 6

शब्दार्थ—निरंजन=निर्गुण ब्रह्म। बानी=वाणी, वर्ण, चमक, स्वरूप। सहिदानी=निशान, पहचान। दै मारै=समस्त सृष्टि का प्रलय होना। गति=दशा।

भावार्थ—कहो हे भाई! निर्गुण ब्रह्म का क्या स्वरूप है? 1 कहते हो कि उसके हाथ, पैर, मुख, कान, जीभ आदि कुछ नहीं है, उसका कोई आकार नहीं है, तब हे मनुष्यो! क्या नाम लेकर उसका जप करते हो? 2 यदि कहो कि वह केवल ज्योतिस्वरूप है और चांद, सितारे, सूर्य आदि समस्त ज्योतियों का कारण है, तो चांद-सितारे आदि तो दिखते हैं, परन्तु तुम्हारी ब्रह्म-ज्योति की क्या पहचान है? 3 तुम कहते हो कि चांद-सितारे आदि सारी ज्योतियां प्रलयकाल में ब्रह्मज्योति में मिल जाती हैं; परंतु थोड़ा विचार करो कि तुम्हारी मानी हुई ज्ञानस्वरूप ब्रह्मज्योति में ये भौतिक ज्योतियां कैसे समा जायेंगी? 4 जिस ब्रह्मा ने चारों वेदों का व्याख्यान किया है, वे भी इस झमेले को नहीं समझ सके 5 कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो! सुनो, ब्रह्मज्ञान का दावा करने वाले इन पंडित-ज्ञानियों से इसके विषय में पूछो। अथवा कबीर साहेब सन्तों को तो केवल अपनी बातें सुना देते हैं जिन्हें संत पहले से ही जानते हैं, परन्तु वे पंडित तथा ज्ञानियों को राय देते हैं कि तुम लोग विनम्रतापूर्वक इस विषय को संतों से समझने का प्रयास करो 6

व्याख्या—कबीर साहेब धार्मिक क्षेत्र में एक क्रांतिकारी पुरुष हैं। वे हर बात पर तर्क की कसौटी लगाते हैं। अपनी आत्मा से अलग ब्रह्म की कल्पना कर हम भ्रम पैदा करते हैं। लोग कहते हैं कि हमारी आत्मा से अलग एक ब्रह्म है। वह निर्गुण है; निराकार है; मन, बुद्धि, वाणी से परे है। प्रश्न होता है कि जब वह हमारी आत्मा से अलग है और मन, बुद्धि, वाणी से भी परे है तब उससे हमारा सम्बन्ध होना ही असम्भव है। कहा जाता है कि वह अनुभव से जाना जाता है, परन्तु अनुभव में तो वही आता है जो मन, बुद्धि, वाणी में आये।

जिसे हम अपनी इन्द्रियों तथा मन से कभी नहीं ग्रहण कर सकते, उसका हमें कभी अनुभव नहीं हो सकता। इसलिए कबीर साहेब ब्रह्मज्ञानियों पर व्यंग्य करते हुए उनसे पूछते हैं कि कहो हो ब्रह्मज्ञानी ! निर्गुणब्रह्म किस रूप में है या उसका किस वाणी में वर्णन करते हो? जिसके हाथ-पैर आदि कोई चिह्न नहीं है, जिससे आज तक तुम मुलाकात नहीं कर सके हो, जिसे देख नहीं सके हो, जान नहीं सके हो, क्या कहकर उसका जप करते हो?

"ज्योतिहि ज्योति ज्योति जो कहिये, ज्योति कौन सहिदानी।" ब्रह्मज्ञानी कहते हैं कि वह तो केवल ज्योतिस्वरूप है। वे यह भी कहते हैं कि संसार की सारी ज्योतियां उसी से पैदा हुई हैं। ये सितारे, ये चांद-सूरज सब ब्रह्मज्योति के कार्य हैं। ब्रह्म इन सबका कारण है। परन्तु यह बात अजीब है ! जो तुच्छ कार्य है वह तो दिखता है और जो महान कारण है वह दिखता ही नहीं। श्री निर्मल साहेब की भाषा में कहें तो कहना होगा "लहर दीख पड़ती समुंदर न दिखते। ऐसे अचम्भों को वेदों में लिखते " लहर तो दिखाई दे और समुद्र न दिखाई दे यह बात कैसे समझ में आवे? सूरज-सितारे आदि की ज्योति दिखाई दे, जो तुच्छ कार्य हैं और जो इन सबका कारण बड़ी ज्योति ब्रह्म है वह दिखाई ही न दे, तो उस पर कैसे विश्वास किया जाये ! फिर तुम्हारी ब्रह्मज्योति की क्या पहचान है? उसे किस चिह्न से जाना जाये?

"ज्योतिहि ज्योति ज्योति दै मारै, तब कहु ज्योति कहाँ समानी।" कबीर साहेब कहते हैं कि तुम्हारे कथनानुसार जब ब्रह्म सारी ज्योतियों को 'दे मारेगा' अर्थात जब वह सबका प्रलय कर देगा तब ये ज्योतियां कहां समायेंगी, किसमें लीन होंगी? ब्रह्मज्ञानी कहते हैं कि एक दिन महाप्रलय होता है, उस समय सारा संसार ब्रह्म में लीन हो जाता है। साहेब कहते हैं कि तुम ब्रह्म को ज्ञानज्योति कहते हो और सूरज-सितारे आदि जड़-ज्योति हैं, तो जड़ एवं भौतिक जगत चेतन एवं अभौतिक तत्त्व में कैसे लीन हो जायेगा? वस्तुतः न चेतन जड़ में लीन हो सकता है और न जड़ चेतन में। जड़ और चेतन एक दूसरे से सर्वथा अलग हैं एवं दोनों अपने में मौलिक पदार्थ हैं। चेतन साक्षी, द्रष्टा एवं ज्ञाता है और जड़ साक्ष्य, दृश्य एवं ज्ञेय है, तो दोनों एक कैसे हो जायेंगे?

इसके बाद कबीर साहेब बहुत बड़ी चुनौती देते हैं "चार वेद ब्रह्मा जो कहिया, उनहुँ न या गति जानी।" वेद अनेक ऋषियों की रचनाएं हैं, परन्तु यह विश्वास है कि ब्रह्मा सबके ज्ञाता थे। साहेब कहते हैं कि जिस ब्रह्मा ने चारों वेदों का व्याख्यान किया है, वह ब्रह्मा भी ब्रह्म के विषय में कुछ नहीं जानता। आत्म-भिन्न ब्रह्म की तो लोग केवल कल्पना करते आये हैं। अतएव वह केवल

अनुमान एवं कल्पना का विषय है, अनुभव का विषय नहीं। अनुभव का विषय तो निज चेतनस्वरूप एवं आत्माराम है।

"कहहिं कबीर सुनो तो सन्तो, बूझो पण्डित ज्ञानी।" साहेब कहते हैं कि पण्डितों और ज्ञानियों को बड़ा घमण्ड है कि हम ब्रह्म को जानते हैं। वे उसके विषय में बड़ी लम्बी-चौड़ी बातें करते रहते हैं। इसलिए इनसे पूछना चाहिए कि आप लोग उस ब्रह्म को किस साधन से जाने हैं? जानने के साधन तो सबके पास केवल मन और इन्द्रियां हैं और उनसे वह जाना नहीं जा सकता, फिर उसे वे कैसे जान गये? इसलिए केन उपनिषद् का ऋषि लिखता है कि ब्रह्म को जो नहीं जानता वही जानता है तथा जो जानता है वह नहीं जानता; क्योंकि वह जानने वालों के लिए अज्ञात है और नहीं जानने वालों के लिए ज्ञात है। अर्थात वह जाना ही नहीं जा सकता।

"कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, बूझो पंडित ज्ञानी।" इस पंक्ति को हम इस ढंग से भी समझ सकते हैं कि हे संतो! सुनो और हे पंडितो तथा ज्ञानियो! तुम समझने का प्रयत्न करो। अर्थात संत तो समझते हैं कि ब्रह्म, ईश्वर, परमात्मा, खुदा, गॉड चाहे जितने परमार्थ तत्त्व के नाम लिये जायें उनकी चरितार्थता व्यक्ति की अपनी चेतना में ही है। यह जीव, यह आत्माराम ही परमात्मा है। परन्तु पंडित-ज्ञानी लोग अपनी आत्मा की सुधि भुलाकर बाहर ब्रह्म खोज रहे हैं, अतएव कबीर साहेब उनसे कहते हैं कि हे पंडितो तथा ज्ञानियो! तुम लोग विनम्र होकर संतों की सेवा, सत्संग आदि करके ब्रह्म को समझने की चेष्टा करो।

यदि हम जड़-प्रकृति को उसके अपने अन्तर्निहित गुण-धर्मों से संपन्न स्वतन्त्र समझ पाते तो उसको चलाने के लिए हमें एक असमीक्षात्मक ब्रह्म की कल्पना न करनी पड़ती। ये चांद-सूरज, ये असंख्य तारे तथा विश्व-ब्रह्मांड अपने गुण-धर्मों से चल रहे हैं। ये जिन गुण-धर्मों से चल रहे हैं वे इनमें अन्तर्निहित हैं, स्वभावसिद्ध हैं। सारे संसार का कभी प्रलय नहीं होता, किन्तु सब समय यह संसार परिवर्तनशील बना रहता है। यह संसार किसी निराकार निर्गुण चेतन का कार्य नहीं है, किन्तु यह स्वयं सत्य जड़-पदार्थ है। इसे कोई ब्रह्म चला नहीं रहा है, किन्तु यह स्वतः चल रहा है। इस जड़ प्रकृति से सर्वथा अलग असंख्य चेतन हैं, जो ज्ञानस्वरूप हैं। व्यक्ति का आत्मस्वरूप ही ब्रह्म है, राम है। इससे अलग कहीं ब्रह्म नहीं मिलेगा।

. यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥ (केन उपनिषद् 2/3)

जग की उलटी रीति

शब्द-95

को अस करे नगर कोटवलिया, माँसु फैलाय गिद्ध रखवरिया 1
मूस भौ नाव मंजारि कँड़िहरिया, सोवै दादुर सर्प पहरिया 2
बैल बियाय गाय भइ बंझा, बछरू दुहिये तिन-तिन संझा 3
नित उठि सिंह सियार सों जूझै, कबिरा का पद जन बिरला बूझै 4

शब्दार्थ—कोटवलिया= कोतवाल का काम, रक्षा। माँसु= भोग। गिद्ध= मन-इन्द्रियां। मूस= जीव। मंजारि= बिल्ली, माया। कँड़िहरिया= कड़िहार का काम, नावका खेने का काम, उद्धारक। दादुर= मेढक, जीव। सर्प= अहंकार। पहरिया= पहरा देने का काम। बैल= अविवेक। गाय= सद्‌बुद्धि। बंझा= बंध्या। बछरू= काम, क्रोधादि। तिन तिन संझा= प्रातः, मध्याह्न तथा सायं, सब समय। सिंह= जीव। सियार= गलत आदतें। कबिरा= कबीर साहेब, जीव। पद= पद्य, शब्द, कविता, स्वरूप।

रूपक—ऐसे नगर की रक्षा कौन करे जहां मांस फैलाकर गिद्ध उसके रक्षक बनाये गये हों, चूहे नावकायात्री बन गये हों तथा बिल्लियां उन्हें खेने वालीं। मेढक सो रहे हों और सांप उनकी रक्षा में पहरा देते हों, बैल प्रजनन करते हों और गायें बंध्या हो गयी हों तथा बछड़े को तीन-तीन बार दुहा जा रहा हो, और रोज सिंह उठकर सियार से लड़कर परास्त हो रहा हो, सच है कबीर साहेब के गाये पद कोई बिरला बूझेगा।

भावार्थ—ऐसे लोगों का उद्धार कौन कर पायेगा जो अपने मन-इन्द्रियों के आस-पास भोग वस्तुओं को फैलाकर संयमशील बना रहना चाहता है! 1 बिल्ली चूहे का बेड़ा कब पार कर सकती है, अर्थात माया द्वारा कब जीव का उद्धार हो सकता है! क्या सांप की पहरेदारी में मेढक सो सकते हैं! अर्थात क्या अहंकार के संरक्षण में जीव का कल्याण संभव है? 2 बैल बछड़े जनते हैं तथा गाय बंध्या हो गयी है, अर्थात अविवेक अपनी कामादि सृष्टि बढ़ा रहा है, किन्तु सद्‌बुद्धि बांझ बन गयी है। बछड़े प्रातः, मध्याह्न और संध्या तीनों काल में दुहे जा रहे हैं। अर्थात अविवेक से पैदा हुए काम, क्रोध, लोभ, मोहादि का ही सब समय रस-पान किया जा रहा है 3 नित्य सिंह उठकर सियार से लड़कर परास्त होता है अर्थात रोज जीव सुबह से ही उठकर अपनी गलत आदतों से युद्ध करके उनसे परास्त होता है। जीव के निर्मल स्वरूप को कोई बिरला समझता है 4

व्याख्या—कबीर साहेब व्यंग्य लेखकों के आचार्य हैं। उनकी जितनी उलटवांसियां हैं वे प्रायः व्यंग्य में कही गयी हैं। इस पद में भी मनुष्यों के

विपरीत आचरण पर करारा व्यंग्य है। वे कहते हैं "को अस करे नगर कोटवलिया।" नगर कहते हैं शहर को। हर जिले के मुख्य शहर के पुलिस अफसर को कोतवाल कहा जाता है जिसके अधीन वहां के सभी थानेदार होते हैं। इस प्रकार कोतवाल पूरे नगर का रक्षक होता है। परन्तु ऐसे नगर की रक्षा कौन कर पायेगा जहां मांस फैलाकर गिद्ध रखवाले बनाये गये हों। मांस मानो विषय-भोग हैं तथा गिद्ध मन-इन्द्रियां हैं। जो व्यक्ति अपने चारों तरफ विषय-भोगों को फैलाकर उनमें रहता हो और साथ-साथ यह भी चाहता हो कि हम संयम से रहें, यह कैसे हो सकता है ! जैसे मांस को देखकर गिद्ध उस पर टूट पड़ता है, वैसे भोगों को सम्मुख पाकर मनुष्य के मन-इन्द्रिय उसके लिए विचलित हो जाते हैं। जो जीवन में संयम, ब्रह्मचर्य एवं शांति चाहे वह भोग-विषयों से दूर रहे। यहां कोतवाल मानो गुरु है। गुरु उस व्यक्ति की रक्षा नहीं कर पायेगा जो भोग-विषयों के कुसंग में अपने आप को बनाये रखना चाहता है।

"मूस भौ नाव मंजारि कँड़िहरिया" नावका को केवट खेता है। मूस नावका-यात्री बन गया और बिल्ली उसे खेने लगी। यह माया के अधीन जीवों पर करारा व्यंग्य है। यदि चूहा बिल्ली को अपना उद्धारक मानता है तो उसकी बुद्धि की बलिहारी है। चूहा तो बिल्ली का आहार है। यदि आदमी संसार के माया-मोह द्वारा अपना कल्याण समझता है तो उसका घोर पतन रखा-रखाया है। माया-मोह तो बिल्ली है, यदि मनुष्य उससे सम्बन्ध जोड़ेगा तो वह उसके सामने चूहा बन जायेगा और उसे माया धर-दबोचेगी।

"सोवै दादुर सर्प पहरिया" मेढक सांप को अपना पहरेदार बनाकर सोना चाहता है। मनुष्य अहंकार को अपना रक्षक समझता है। वह अहंकार के बल पर सोता है। परन्तु अहंकार सर्प ही मनुष्य को रात-दिन डंसता है। जिस संसार में जीव का एक तृण भी अपना नहीं है वहां सब कुछ अपना मानने का अज्ञान ही तो अहंकार है और इसी के फल में सारे दुख हैं।

"बैल बियाय गाय भई बंझा" अविवेक बैल है; काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, भय, चिन्ता, शोक आदि उसकी संतानें हैं जिनका वह नित्य प्रजनन करता रहता है। अविवेक की सृष्टि और क्या हो सकती है? अविवेक-बैल से जो कुछ पैदा होगा वह सब मनुष्य के लिए दुखदायी ही होगा। अविवेक के विरोधी पक्ष में सद्बुद्धि रूपी गाय है, वह बंध्या हो गयी है। मलिन हृदय में सद्बुद्धि बंध्या हो ही जाती है। यदि सद्बुद्धि रूपी गाय प्रजनन करती, तो उसकी शील, क्षमा, दया, धैर्य, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, संतोष आदि संतानें होतीं। परन्तु वह तो बंध्या हो गयी है, अतः जीवन में इन सद्गुणों के होने का प्रसंग

ही नहीं है। संसार में ज्यादातर यही देखा जाता है कि बैल ही प्रजनन कर रहे हैं और गाय बंध्या हो रही है। अविवेक की ही सृष्टि सर्वत्र है, सद्बुद्धि बांझ बनी पड़ी है। जैसे भागवत के अनुसार भक्ति बूढ़ी हो गयी थी, वैसे सारे संसार में सद्बुद्धि प्रायः बंध्या हो गयी है।

"बछरू दुहिये तिन तिन संझा" अविवेक–बैल से पैदा हुए काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि बछड़े सब समय दुहे जा रहे हैं। जैसे गाय–भैंस दुहकर उनका दूध पीया जाता है, वैसे यहां अविवेक–बैल से पैदा हुए कामादि बछड़े ही मानो हर समय हर जगह दुहे जा रहे हैं और उन्हीं का दूध, उन्हीं का रस पीया जा रहा है। रात–दिन में चार संध्यायें होती हैं। दो समयों के मेल को संध्या कहते हैं। रात और दिन का मेल प्रातः पहली संध्या है, दिन के दोनों समयों का मेल मध्याह्न दूसरी संध्या है, दिन और रात का मेल गोधूलि तीसरी संध्या है तथा रात के दोनों समयों का मेल आधी रात चौथी संध्या है। रात में लोग सोते हैं इसलिए आधी रात वाली संध्या को सब छोड़ देते हैं, प्रातः, मध्याह्न और सायं इन तीन संध्याओं को ही मनुष्य उपयोग में लाता है, इसलिए इन्हीं तीनों में संध्योपासना करने का विधान बना। 'तिन तिन संध्या' का यहां लाक्षणिक अर्थ है, सब समय। जीव हर समय सद्बुद्धि से दूर पड़ा अविवेक की सृष्टि का रस लेता है। वह सब समय विषय–वासनाओं तथा नाना विकारों में डूबा रहता है।

"नित उठि सिंह सियार सों जूझै" सिंह रोज सबेरे उठकर सियार से युद्ध करता है और उससे मारा जाता है। कैसा आश्चर्यमय है इस नगर का खेल! सिंह मनुष्य है। वह रोज सुबह उठकर अपनी गलत आदतरूपी सियारों से भिड़ना शुरू करता है। द्वेष, कुढ़न, ईर्ष्या, मोह, काम, असत्य–भाषण, परनिंदा, चुगली, गाली, कलह, स्वार्थ, धोखाधड़ी, वंचना, इतना ही नहीं, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट, गांजा–भांग, शराब, नामालूम कितनी गंदी आदतें मनुष्यों ने बना रखी हैं। सुबह होते ही, नींद खुलते ही, जीव इन्हीं सबसे भिड़ जाता है। सद्गुरु मनुष्य को याद दिलाते हैं कि तुम सिंह हो, परन्तु सियार से भिड़कर रोज परास्त हो रहे हो। जब लोगों से कहा जाता है कि तम्बाकू–बीड़ी तो तुच्छ आदतें हैं और इन्हें छोड़ दो, तब लोग कहते हैं कि महाराज! अन्न दो–चार दिन न दो तो चल जायेगा, परन्तु बीड़ी–तम्बाकू आदि के बिना नहीं चलेगा। मनुष्य सिंह के समान बलवान होकर भी कैसी कायरता की बात करता है! इस प्रकार मनुष्य–सिंह अपनी बनायी मलिन आदतरूपी सियारों से हर समय परास्त हो रहा है।

सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे लोगों की रक्षा कौन कर पायेगा? "को अस करे नगर कोटवलिया" ऐसे संसार में कौन इनके कल्याण करने का बीड़ा उठा पायेगा! जो लोग अपने जीवन की सारी प्रक्रिया को ही उलट दिये हैं, उनका बेड़ा पार कैसे होगा!

"कबिरा का पद जन बिरला बूझै" इसका सरल अर्थ है कि कबीर साहेब कहते हैं कि मेरे इन-जैसे उलटवांसी के पद कोई बिरला ही बूझेगा। इसका तात्त्विक अर्थ है कि जीव का शुद्ध स्वरूप कोई बिरला समझता है। कबिरा से अर्थ जीव है तथा 'पद' का अर्थ स्वरूप है। जो जीव का स्वरूप समझ लेता है, जो जान लेता है कि मेरा स्वरूप शुद्ध चेतन है, वह अपने आप को सारे विकारों से निकाल लेता है।

मोह-काल से सावधान

शब्द-96

काको रोवों गैल बहुतेरा, बहुतक मुवल फिरल नहिं फेरा 1
जब हम रोया तब तुम न सम्हारा, गर्भवास की बात बिचारा 2
अब तैं रोया क्या तैं पाया, केहि कारण अब मोहिं रोवाया 3
कहहिं कबीर सुनो सन्तो भाई, काल के बसी परो मति कोई 4

शब्दार्थ—गैल= चले गये, पतित हुए। मुवल= मर गये, अपनी स्थिति से गिर गये। काल= अज्ञान, नाशवान वस्तुओं का राग।

भावार्थ—किसके-किसके लिए रोया जाये ! जो संसार में आते हैं वे सभी यहां से एक-एक दिन चले जाते हैं। अपने देखते-देखते बहुत लोग मर गये; परन्तु जो एक बार यहां से चला जाता है वह लौटकर नहीं आता 1 हे मनुष्य ! मैंने करुणाविगलित होकर जब तुम्हें समझाया तब तुमने अपनी जवानी के प्रमाद में मेरी बातों पर ध्यान नहीं दिया, अपने आप को विषय-वासनाओं से नहीं बचाया, प्रत्युत ऐसी बातों को ही मन में रखा तथा ऐसा आचरण किया जिससे पुनः गर्भवास की प्राप्ति हो 2 अब तू बूढ़ा हो गया है, रोगों से पीड़ित है तथा शिथिल है, अब रोता है तो क्या पाता है ! अब तू मुझे क्यों दुखी कर रहा है, अब तो समय निकल गया है 3 कबीर साहेब कहते हैं कि हे भाई सन्तो ! सुनो, काल से ग्रसित संसार की आगमापायी वस्तुओं के मोह में कोई मत पड़ो 4

व्याख्या—कबीर देव की एक-एक वाणी तीर जैसी है जो हृदय में घुसकर उसे मथ देती है। उक्त चार पंक्तियों में कितने मार्मिक वचन हैं, यह सोचते ही बनता है। मानो कोई निकट का प्रियजन मर गया हो और लोगों ने आकर सद्गुरु को यह संदेश दिया हो तो उन्होंने कहा हो कि भाई ! किसके-किसके लिए रोया जाये ! यदि कोई एक-दो आदमी मर जायें, बाकी लोग न मरें तो उन मरने वालों के लिए रोया जाये कि अन्य लोग तो सदा जीवित रहते हैं, परन्तु बेचारे अमुक-अमुक ही मर गये। यह तो प्रकृति का एक-दो लोगों पर अन्याय

है। यदि ऐसी घटना घटे तो अवश्य चिंता का विषय है कि यदि सभी लोग सदैव जीने के अधिकारी हैं तो वे एक-दो व्यक्ति बेचारे क्या अपराध किये थे जिनके ऊपर प्रकृति का प्रकोप हुआ। परन्तु बात ऐसी नहीं है। प्रकृति के नियम सब पर समान रूप से लागू हैं। यहां से सब जाते हैं। जो संसार में शरीर धारण कर आता है वह जाता है। रंक जाता है, राजा जाता है, निरक्षर जाता है, विद्वान जाता है, निर्धन जाता है, धनवान जाता है, जिसे टोला-पड़ोस वाले नहीं जानते वह जाता है और जगत-प्रसिद्ध व्यक्ति भी जाता है। आज संसार में जितने प्राणी हैं कुछ ही वर्षों में सब चले जायेंगे। और जो यहां से एक बार चला गया वह लौटकर कभी नहीं आता। यहां पुनर्जन्म सिद्धान्त का खंडन नहीं समझना चाहिए, क्योंकि उसके तो कबीर साहेब महान पक्षधर हैं जिसकी चर्चा इसके बाद वाली पंक्ति में इसी शब्द में आयी है। यहां तो यह बात बतायी जा रही है कि जिस शारीरिक व्यक्तित्व को लेकर मनुष्य आज है, मर जाने के बाद वह तो यहीं मिट जाता है, अतः वह उस व्यक्तित्व को लेकर यहां नहीं आ सकता। साधारण की बात ही छोड़िये, बड़े-बड़े राजे-महाराजे, ज्ञानी-मुनि भी इस संसार से जाकर कभी नहीं लौटे।

"जब हम रोया तब तुम न सम्हारा, गर्भवास की बात बिचारा। अब तैं रोया क्या मैं पाया, केहि कारण अब मोहिं रोवाया।" मानो कोई ऐसा आदमी हो, जिसे उसकी जवानी में सद्गुरु ने समझाया हो, उसे धर्म का रास्ता दिखाया हो, किन्तु वह जवानी के प्रमाद में पड़कर साहेब की बातों पर ध्यान न दिया हो और निरंतर विषय-वासनाओं एवं सांसारिकता के उन्माद में डूबा रहा हो और ऐसी विपरीत दिशा में रहते-रहते उसका बुढ़ापा आ गया हो, अब उसके सारे अंग शिथिल हों, शरीर रोगी हो, परिवार से तिरस्कृत तथा चित्त की उद्विग्नता से पीड़ित हो और साहेब के पास आकर अपना दुखड़ा रो रहा हो, तो साहेब ने कहा हो कि भाई! जब मैंने तुम्हारी जवानी एवं स्ववश अवस्था में तुम्हें धर्म की सीख दी थी तब उस पर तुमने ध्यान नहीं दिया, बल्कि अपने ऐसे विचार रखे कि जिससे पुनः तुम्हें गर्भवास में जाने के साधन बनें। उस समय तुम एकदम उन्मत्त बने रहे। तो अब पछताने से क्या होता है! अब तू सब प्रकार निर्बल, शिथिल, उपेक्षित एवं असहाय-जैसा हो गया है। अब रोता है, तो रोने से क्या पायेगा! अब तो सेवा और साधना करने का समय निकल चुका है। अब रो-रोकर मुझे क्यों रुला रहा है। मैंने तो तुम्हारे कल्याण के लिए पहले ही रोया था, करुणापूर्वक तुम्हें सन्मार्ग पर लाने का प्रयास किया था, परन्तु तुमने अपनी जवानी के प्रमाद में पड़कर बात पर कान ही नहीं दिया। अब पछताने से काम बनने वाला नहीं है। समझदार वही है जो पहले से ही अपने कल्याण का

साधन कर ले। जो पहले ऐसा न कर समय चूक जाने पर रोता है, वह मूर्ख है। संसार में अधिकतम लोग अज्ञान तथा अंधकार में पड़ अपने सुनहले अवसर को खोकर बुढ़ापा में मूर्ख बन जाते हैं।

"कहहिं कबीर सुनो सन्तो भाई, काल के बसी परो मति कोई।" कबीर साहेब पूरे मानव-समाज को संत और अपना भाई मानते हैं। वे उन सबसे कह रहे हैं कि मेरी बातों पर आप लोग ध्यान दें और कोई काल के वश में न पड़ें। जो आदमी उन वस्तुओं में आसक्त होता है, जो काल के अधीन हैं तो वह भी मानो अपने आप को काल के हाथों बेच रहा है। संसार की सारी वस्तुएं चाहे वह निरी जड़ हों या प्राणियों के शरीर हों सब नश्वर हैं। जो व्यक्ति इन नश्वर वस्तुओं में आसक्त होता है उसके मन का भय कभी नहीं मिट सकता। आदमी चिन्ता, शोक एवं भय से तभी मुक्त होता है जब वह मोह से मुक्त हो। अतएव शरीर का मरना काल के वश में होना नहीं है। मृत्यु तो शरीर को मारती है, किन्तु मोह हमारी आत्मा का पतन करता है, इसलिए यदि हम चाहते हैं कि इस जीवन में पूर्ण निर्भय स्वरूपस्थिति का साम्राज्य प्राप्त करें और सदैव के लिए कृतार्थ हो जायें, तो हमें समस्त नश्वर पदार्थों का राग छोड़ देना चाहिए। अपनी आत्मा के अलावा सब नश्वर है, सब छूटने वाला है।

इस शब्द को हम इस ढंग से भी समझ सकते हैं और यह भी बड़ा स्वाभाविक लगता है। मानो कोई साधक हो। वह अपनी साधना से गिर गया हो। लोगों ने आकर कबीर साहेब को यह संदेश दिया हो तो साहेब ने लोगों से कहा हो कि किसके-किसके लिए रोया जाये, बहुत-से लोग अपनी साधना छोड़कर कुपथ एवं विषयों की धारा में बह गये हैं। बहुत लोग अपने पद से गिर गये और वे उठ नहीं सके। एक बार भूल हो जाने पर अधिकतम लोग उठने की हिम्मत छोड़ देते हैं। वे यह नहीं समझते कि "युद्धक्षेत्र में कुशल घुड़सवार ही गिरते हैं। वे बच्चे क्या गिरेंगे जो घुटनों के बल चलते हैं।" जो साधना-पथ में चलते हैं, उनमें से ही कोई फिसल भी सकता है, परन्तु जो चलता ही नहीं वह क्या फिसलेगा ! समझदार किसी को गिरते देखकर उसका उपहास नहीं करते, किन्तु उसे साहस देकर उठाते हैं। परन्तु गिरने वालों में यह बहुत बड़ी कमजोरी आ जाती है कि उनमें अधिकतम अपना साहस ही छोड़ देते हैं। कोई बिरला होगा जो गिरने के बाद भी साहस कर उठ सके। होना चाहिए यही, कि भूल हुई सो हुई, आदमी पुनः साहस के साथ उठ खड़ा हो। जो उठ खड़ा होता है उसके वर्तमान तथा भविष्य उज्ज्वल हो जाते हैं।

. गिरते हैं शहसवार ही मैदाने जंग में।
वे तिफ्ल क्या गिरेंगे जो घुटनों के बल चलें॥

जो साधक गिर गया था, कबीर साहेब ने मानो उसको उठाने के लिए बहुत साहस दिया हो, परन्तु वह उठ न सका हो और सांसारिकता में डूबकर बुरी तरह उलझ गया हो। कुछ दिनों में उसकी अत्यन्त दयनीय दशा हो गयी हो। इसके बाद वह साहेब से मिला हो और अपनी सांसारिकता की बातों का रोना रोया हो तो साहेब ने उसे समझाया हो कि भाई ! जब मैंने करुणा करके तुम्हें समझाया तब तो तूने मेरी बातों पर ध्यान ही नहीं दिया। तब तो तुम्हें संसार के भोगों में ही सब सुख दिखा। अब तू जब अच्छी तरह सांसारिक कांटों में उलझ गया है तब मेरे पास रोने आया है तो अब रोने से तू क्या पाता है ! इस रोने से तुम्हारे बंधन कटने वाले नहीं है। अब तू व्यर्थ में मुझे भी रुला रहा है। तेरे दुखों को देखकर मुझे भी दुख लगता है, परन्तु अब मैं क्या करूं ! जब सम्हलने का समय था तब तूने मेरी बातों की अवहेलना कर दी। अब समय निकल चुका है। अब तो तू संसार का कीट बन गया है। आज तू सांसारिकता के परिणाम से तो अवश्य दुखी है, परन्तु उससे वैराग्य होना तो तेरे लिए आज और कठिन हो गया है। अब तू अपने बन्धनों के दुख को लेकर मत रो, प्रत्युत जो सुधार कर सकता है वह सुधार कर।

उस व्यक्ति को समझाने के पश्चात सद्गुरु ने संत-मंडली की तरफ उन्मुख होकर कहा कि हे भाई सन्तो ! सुनो, इस प्रकार कोई मोह-काल के अधीन नहीं होना। मोह काल है; काम काल है; क्रोध, लोभ, वासना-तृष्णा काल हैं। यहां तक कि अपने चेतनस्वरूप से अलग शरीर से लेकर संसार के समस्त पदार्थों का राग काल है। इस राग-काल के अधीन नहीं होना। अपनी चेतना, अपने आत्माराम से अलग होकर कहीं भी मोह बनाना मानो काल के अधीन हो जाना है।

साम्प्रदायिकता-विहीन सत्य

शब्द-97

अल्लाह राम जियो तेरी नाँईं, जिन्ह पर मेहर होहु तुम साँईं 1
क्या मुण्डी भूईं शिर नाये, क्या जल देह नहाये 2
खून करे मिस्कीन कहाये, अवगुण रहे छिपाये 3
क्या वजू जप मंजन कीये, क्या महजिद शिर नाये 4
हृदया कपट निमाज गुजारे, क्या हज मक्के जाये 5
हिन्दू बरत एकादशी चौबीस, तीस रोजा मुसलमाना 6
ग्यारह मास कहो किन टारे, एक महीना आना 7
जो खुदाय महजीद बसतु है, और मुलुक केहि केरा 8

तीरथ मूरत राम निवासी, दुइमा किनहुँ न हेरा 9
पूरब दिशा हरी को बासा, पश्चिम अल्लह मुकामा 10
दिल में खोजि दिलहि माँ खोजो, इहै करीमा रामा 11
वेद कितेब कहा किन झूठा, झूठा जो न विचारे 12
सब घट एक एक कै लेखे, भय दूजा के मारे 13
जेते औरत मर्द उपाने, सो सब रूप तुम्हारा 14
कबीर पोंगरा अल्लह राम का, सो गुरु पीर हमारा 15

शब्दार्थ—जियो= जीव, चेतन। नाँई= समान। मेहर= मेह्र, प्रेम, कृपा। साँईं= स्वामी। खून= हत्या, जीववध। मिस्कीन= दीन, फकीर। वजू= वुजू, नमाज के पहले विधिपूर्वक हाथ, पैर, मुख आदि धोना। मंजन= मज्जन, स्नान। हज= हज्ज, संकल्प करना, नियत काल पर काबे के दर्शन एवं प्रदक्षिणा करना, मक्के की यात्रा। मक्के= मक्का, अरब का एक प्रधान नगर जो हजरत मुहम्मद का जन्म स्थान है तथा मुसलमानों का मुख्य तीर्थस्थल है। बरत= व्रत, उपवास। तीस रोजा= तीस दिन के रमजान महीने में दिन में उपवास रखना। आना= अन्य, दूसरा, शुद्ध। हेरा= खोजना। करीमा= करम यानि दया करने वाला ईश्वर। घट= शरीर, दिल। लेखे= समझे, समझना चाहिए। उपाने= उत्पन्न हुए। पोंगरा= बालक, बच्चा, पुत्र, पैगंबर, अवतार।

भावार्थ—हे मनुष्य! अल्लाह और राम भी तेरे समान जीव ही हैं। हे मनुष्य! तू सभी ज्ञान-विज्ञान का स्वामी है। तू जिस पर कृपा कर दे उसी को ईश्वर बना दे 1 जड़ मिट्टी-पत्थरादि की पिंडियों के सामने सिर झुकाने से क्या कल्याण होगा, और शरीर को गंगादि नदियों में धोने एवं स्नान करने मात्र से भी क्या लाभ होगा? 2 बलि और कुर्बानी के नाम पर करे जीव-हत्या और कहलाये दीन-गरीब एवं विनम्र फकीर। वस्तुतः यह विनम्रता अपने दोषों को छिपाने का सिर्फ एक तरीका है 3 केवल वुजू, जप, स्नान करने से और मसजिद में सिर झुकाने से क्या मिलने वाला है? यदि हृदय में कपट-छल बनाये रखे तो नमाज अदा करने तथा मक्के की यात्रा करने से भी क्या लाभ होगा? 4-5 हिन्दू लोग वर्ष में चौबीस एकादशी व्रत रहते हैं और मुसलमान लोग रमजान महीने के तीस दिनों में रोजा रहते हैं, तो वर्ष में केवल एक ही महीना के दिनों को पवित्र बताकर ग्यारह महीने किसने अपवित्र सिद्ध कर उन्हें व्रत के दिनों से अलग कर दिया? 6-7 यदि खुदा मसजिद में बसता है तो उसके बाहर का मुल्क किसका है? और यदि तीर्थ, मंदिर तथा मूर्तियों में ही राम निवास करता है तो उनसे अलग फैले हुए विशाल संसार में कौन रहता है? इन हिन्दू-मुसलमानों में से किसी ने भी सत्य की खोज नहीं की 8-9 हिन्दू प्रायः पूर्व मुख करके पूजा करते हैं और भारतवर्ष में मुसलमान पश्चिम मुख

करके नमाज पढ़ते हैं तो इससे यह कैसे मान लिया जाये कि हरि पूर्व दिशा में बसता है और अल्लाह पश्चिम दिशा में? हे मनुष्यो! अपने दिल में खोजो, केवल अपने दिल में खोजो, तो पाओगे कि अपने दिल में रमने वाला चेतन-नूर ही दिलकश, दिलदार एवं दिलआराम रहीम और राम है 10-11 वेद और किताब को किसने झूठा कहा है? झूठा तो वह है जो बिना विचार किये वेद-किताबों की रट लगाता है 12 मनुष्य को चाहिए कि वह सभी शरीरों में एक समान आत्मारूपी परमात्मा को देखे और दूसरों के दिल दुखाने एवं उनकी हत्या करने से भय करे तथा इस पाप कर्म से सर्वथा दूर हो 13 हे मनुष्य! संसार में जितने औरत और मर्द हैं सब तुम्हारे स्वरूप हैं 14 कबीर साहेब कहते हैं कि जो अल्लाह और ईश्वर के पैगंबर तथा अवतार माने गये हैं वे गुरु और पीर के समान हमारे आदरणीय हैं 15

व्याख्या—पंद्रह पंक्तियों का यह शब्द जैसे विशाल है वैसे विशाल भावना से व्याप्त अत्यंत हृदयस्पर्शी है। ईश्वर, ईश्वरीय मजहब तथा ईश्वरीय किताब को लेकर संसार में हद दर्जे की जाहिली है। धर्म, जो मानवता है, रहमदिली एवं सहृदयता है, वह बाह्याचार एवं बाह्याडंबर में ढक गया है। मजहब वालों ने ईश्वर को जीव से अलग कर दिया है, इसलिए वे प्रायः ईश्वर की तो भक्ति करते हैं और जीव को पीड़ा देते हैं। देखिए हैवानी कि देवता तथा ईश्वर को खुश करने के लिए ऊंट, भेड़े, बकरे, गायें, भैंसे, मुरगे आदि जानवरों की हत्या की जाती है। ईश्वर को जीव से अलग कर देने का परिणाम यह हुआ कि हमने धरती पर के प्राणधारियों एवं इनसानों तक की हत्या करने में हिचक नहीं की और आकाश में, शून्य में ईश्वर को पुकारते रहे। हमने प्रत्यक्ष ईश्वर—प्राणधारियों के साथ बे-रहमी की और शून्य की प्रार्थना करते रहे।

कबीर साहेब कहते हैं कि ईश्वर जीव का गुण विशेष मात्र है। जब जीव निष्काम एवं आप्तकाम हो जाता है, तब वह ईश्वर है। इसीलिए वे इस शब्द के शुरू में ही कहते हैं—"अल्लाह राम जियो तेरी नाँई" अर्थात अल्लाह और राम तेरे समान जीव ही हैं। इसका अभिप्राय है कि कृतार्थ जीव ही अल्लाह और राम हैं। जो व्यक्ति इस जीवन में शोक, मोह एवं भय से मुक्त हो गया है, वही मानो ईश्वर है, और वह तुम्हारे समान ही है। तुम भी वैसे हो सकते हो। क्योंकि तुम्हारा स्वरूप भी उसी प्रकार है। वस्तुतः सब जीवों का स्वरूप शिव है, परन्तु वे अपने स्वरूप को नहीं समझते, इसलिए सामान्य जीव बने भटक रहे हैं। जब उनमें कोई अपने स्वरूप को समझ लेता है और समझकर संसार से निष्काम हो जाता है तब वह मानो शिव हो जाता है। उसी को आप अल्लाह एवं राम कह सकते हैं। यदि इस तथ्य को समझ लिया जाये कि यह जीव ही

ईश्वर है तो हम जीव मात्र के प्रति उत्तम व्यवहार करने लगें और अपने आप को संसार की कामनाओं के दलदल से निकाल लें।

लेकिन मजहबी लोग कहते हैं कि जीव से ईश्वर अलग है। नाना मत के लोग तो पानी, पत्थर, पेड़, पहाड़, गोबर, मिट्टी को देवी-देवता बना देते हैं, फिर चांद, सूरज और सितारों को देवी-देवता मान लेना तो अधिक सहज है। लोग अपनी आत्मा को छोड़कर शून्य में ईश्वर की कल्पना करते रहते हैं। इन बातों पर मानो व्यंग्य करते हुए कबीर साहेब कहते हैं "जिन्ह पर मेहर होहु तुम साँईं" हे मनुष्य! तू ही सारे ज्ञान-विज्ञान का सांई है, तू ही तो सारी कल्पनाओं का, मनोमय का स्वामी है, अतएव तू जिस पर कृपा कर दे उसी को देवी-देवता तथा भगवान बना दे। जब तूने पशु की टट्टी-गोबर को गौरी-गणेश बनाकर रखा, तब उनकी ही पूजा चल पड़ी। तूने मिट्टी, पत्थर तथा धातु के देवी-देवता बनाये और लोग उनके सामने घुटने टेककर भोग और मोक्ष मांगने लगे। तूने आकाश में ईश्वर का संकेत किया तो उधर लाखों-करोड़ों हाथ उठ गये इबादत एवं प्रार्थना में। हे मनुष्य! तू देवताओं का देवता तथा ईश्वरों का ईश्वर है। सारे देवी-देवता तथा ईश्वर मनुष्य की कृपा पर पल रहे हैं। मनुष्य हाथ खींच ले तो सारे देवी-देवता तथा ईश्वर गिर जायें। उनकी मान्यताएं समाप्त हो जायें। उनको कोई पूछने वाला भी न रहे। "जिन्ह पर मेहर होहु तुम साँईं" बड़ा मार्मिक वचन है। हे मनुष्य! तू सबका स्वामी है। तू जिस पर कृपा कर दे उसी को भगवान बना दे। श्री चंडीदास जी ने ठीक ही कहा है—"हे भाई! सुनो, तू सबके ऊपर है और तेरे ऊपर कोई नहीं है।"

इसलिए साहेब कहते हैं कि "क्या मुण्डी भूईं शिर नाये, क्या जल देह नहाये।" अपने बनाये देवी-देवताओं की मनौती एवं प्रार्थना कर जमीन में सिर पटकने से क्या फायदा है! या मिट्टी-पत्थरादि की पिंडियों के सामने माथा रगड़ने से क्या मिलेगा! लोग कहते हैं कि गंगा, यमुना, सरयू, नर्मदा आदि में नहाने से सारे पाप कट जाते हैं। साहेब कहते हैं कि हे धार्मिक कहलाने वालो! तुम लोग संसार के शिक्षित-अशिक्षित भोले लोगों को क्यों धोखा देते हो? पाप तो मन में संस्काररूप से जमे होते हैं वे पानी में नहाने से कैसे कट सकते हैं?

"खून करे मिस्कीन कहाये, अवगुण रहे छिपाये।" लोग धर्म के नाम पर जीव हत्या करते हैं। ईश्वर को खुश करने के लिए हजारों-लाखों ऊंट, बकरे, भेड़े काट दिये जाते हैं, परन्तु काटने वाले कहते हैं कि हम तो मिस्कीन हैं, गरीब हैं, दीन हैं, ईश्वर के सामने नाचीज हैं। इसका अर्थ यह है कि ये ईश्वर के नाम पर हत्या करने वाले बड़े विनम्र भक्त बनते हैं। कबीर साहेब कहते हैं

. शुनो मानुष भाई, सबार उपरे मानुष सत्य, ताहार उपरे नाई।

कि यह इनका भक्त बनना, विनयी बनना एक ढोंग है जिससे इनके हत्या के दोष पर लोगों की दृष्टि न जाये। यह खूनी विनय दो चेहरों वाली तस्वीर है। अन्दर में इनके घोर निर्दयता है और बाहर से भक्ति का स्वांग है। यह अपने अवगुणों को छिपाने का तरीका है।

"क्या वजू जप मंजन कीये, क्या महजिद शिर नाये। हृदया कपट निमाज गुजारे, क्या हज मक्के जाये।" नमाज पढ़ने से पहले विधिपूर्वक हाथ, पैर, मुख आदि का धोना वुजू है, माला या तसबीह पर या यों ही किसी नाम, मन्त्र एवं कलमा को जबान या मन से दोहराना जप है, मंजन कहते हैं दांत मांजने के चूर्ण को, परन्तु यहां मंजन मज्जन का तद्भव रूप है, मंजन का शुद्ध रूप है मज्जन। मज्जन कहते हैं स्नान करने को। साहेब कहते हैं कि तुम वुजू करते हो, जप करते हो, स्नान करते हो और मसजिद में जाकर सिर झुका-झुकाकर नमाज पढ़ते हो, परन्तु यह सब करके क्या फल मिला जब ईश्वर के नाम पर बेरहमी का काम करते हो? जिस ईश्वर के नाम में पचासों बार करम और रहम जोड़ते हो, उसी को खुश करने के लिए बे-करम और बे-रहम का काम करते हो तो तुम्हारा सारा बाह्याचार किस मतलब का रहा? हृदय में कपट कतरनी है तो नमाज अदा करने से क्या फायदा? मुख से तो कहते हो 'रहीम' और मन में रखते हो 'बे-रहमी' तो उपासना का क्या मतलब हुआ! जब किसी प्राणी के गले पर छूरी रखकर रेतते हो तो कहते हो कि शुरू करता हूं उस अल्लाह के नाम से जो निहायत रहम वाला है। यह कितना कपट-चाल है? रहीम कभी बेरहमी से खुश नहीं हो सकता। इस ढंग का हिंसात्मक व्यवहार रखकर कभी उपासना सफल नहीं हो सकती। "क्या हज मक्के जाये।" हज एवं हज्ज के अर्थ सुख एवं लाभ भी होते हैं, परन्तु इसका ज्यादातर अर्थ मक्के की यात्रा करना है। परन्तु मक्के जाकर भी वही बात होती है। वहां ईश्वर के नाम पर लाखों जानवर काटे जाते हैं।

हिन्दू वर्ष भर में चौबीस एकादशी व्रत रहते हैं, उन दिनों उपवास रहते हैं और मुसलमान वर्ष में रमजान के महीने में प्रतिदिन दिन भर कुछ नहीं खाते-पीते, केवल रात में खाते-पीते हैं। चलो, साल में कुछ दिन दोनों तपस्या कर लेते हैं। वैसे स्वास्थ्य की दृष्टि से पन्द्रह-पन्द्रह दिनों में उपवास रखने का नियम अच्छा है, परन्तु एकबारगी एक महीना तक दिन में न खाना, केवल रात में खाना एक अजीब बात है। परन्तु इतना तो दोनों को समझना चाहिए कि केवल चौबीस एकादशी के दिन तथा रमजान महीने के तीस दिन ही पवित्र नहीं हैं, किन्तु वर्ष के सारे दिन एक समान पवित्र हैं। हमारा अंधविश्वास कहीं ऐसा नहीं जुड़ जाना चाहिए कि दूसरे दिनों को हम अपवित्र या घटिया मान लें।

हिन्दू और मुसलमान मंदिर और मसजिद को लेकर बड़ा लट्ठमलट्ठ करते रहते हैं। ये दोनों कहीं-कहीं कुछ ईंट-पत्थर के रोड़े जोड़ लेते हैं, और इनके ईश्वर वहां आकर जम जाते हैं फिर चाहे उनको लेकर इनसान के खून की नदी बहे तो भी इनके ईश्वर वहां से नहीं हटते। ये हिन्दू और मुसलमान के ईश्वर और देवी-देवता कितनी सार्वजनिक जमीनों पर, किन्हीं की व्यक्तिगत जमीनों पर, राहों और सड़कों पर ऐसे जमकर बैठते हैं कि मजाल है इन्हें कोई हटा सके। भले जनता को, राहगीरों को कष्ट हो, परन्तु ये वहां से नहीं हटेंगे। यदि कहीं सरकार इन्हें हटाना चाहे तो धर्म और इसलाम खतरे में है कहकर नारे लगाये जाते हैं, सरकार की छवि खराब करने का प्रयत्न किया जाता है। कितने ही मंदिर और मसजिद इनसानी दोस्ती की राह में रोड़े ही नहीं खाईं और पर्वत बनकर खड़े हो जाते हैं। इतना ही नहीं, इनको लेकर मैदाने-जंग में इनसान का खून भी बहने लगता है। ईश्वर और देवता को रहने की जगह न मिलने से ये दयावान हिन्दू और मुसलमान उनके लिए मंदिर और मसजिद बनाते हैं तब कहीं बेचारे ईश्वर और देवता अपने सिर छिपाने की जगह पाते हैं। साहेब कहते हैं कि यदि खुदा मसजिद में रहता है तो मसजिद के बाहर के मुल्क में कौन रहता है? क्या उसमें शैतान रहते हैं? और यदि तीर्थ, मंदिर तथा मूर्तियों में ईश्वर तथा देवता रहते हैं तो उनसे बाहर के संसार में कौन रहता है? इतनी-सी अक्ल लोगों में नहीं आ रही है। ईश्वर का असली स्थान न हिन्दू खोजते हैं और न मुसलमान खोजते हैं। जो इनसान से लेकर सूक्ष्म कीट तक के दिलों में बसा है उसे ये मंदिर-मसजिद की दीवारों के बीच में बन्द कर देना चाहते हैं।

"पूरब दिशा हरी को बासा, पश्चिम अल्लाह मुकामा। दिल में खोजि दिलहि माँ खोजो, इहै करीमा रामा।" हिन्दू द्विजातियों में संध्योपासना में यह विधान है कि सुबह पूर्व तरफ मुख करके, दोपहर उत्तर तथा शाम को पश्चिम तरफ मुख करके संध्योपासना की जाये। संध्योपासना में सूर्य का महत्त्व होता है। सूर्य जिधर हो उधर मुख करके उपासना करनी चाहिए। परन्तु साधारण हिन्दू जनता न यह विधान जानती है और न विधिपूर्वक संध्योपासना करती है। कोई कर्मनिष्ठ ब्राह्मण कहलाने वाला लाखों में होगा जो एक-दो समय कर लेता होगा। ज्यादातर हिन्दू सुबह से दोपहर तक स्नान करने के बाद पूर्व तरफ मुख करके बैठ जाते हैं और कुछ पूजा कर लेते हैं। मुसलमान जिस तरफ मुख करके नमाज पढ़ते हैं उसे क़िबला कहते हैं और वह मक्का में स्थित काबा है। इस प्रकार मुसलमानों में मक्का एवं काबा मुख्य पूज्य स्थल माना है। काबा भारत से पश्चिम है। इसलिए वे पांचों वक्त पश्चिम मुख करके नमाज पढ़ते हैं। उनकी मसजिदें भी ऐसी ही बनती हैं जिससे लोग जब दीवार की तरफ मुख

करके खड़े हों तो उधर काबा पड़ता हो। कबीर साहेब कहते हैं कि इन ऊपरी बातों को लेकर कोई यह न समझ ले कि पूर्व में हिन्दुओं के ईश्वर हरि रहते हैं तथा पश्चिम में मुसलमानों के ईश्वर अल्लाह रहते हैं। ये काबा-कैलाश, मंदिर-मसजिद बहुत बाहरी हैं। इनमें परम सत्ता को देखने वाले भोले बालक के समान हैं। साहेब कहते हैं "दिल में खोजि दिलहि माँ खोजो, इहै करीमा रामा।" हे लोगो ! अपने दिल में खोजो, केवल अपने दिल में खोजो। यह जो सभी दिलों में चेतन निवास करता है यही परम तत्त्व है। इसी को ईश्वर, अल्लाह, राम, रहीम, गॉड कुछ भी कह सकते हो। लोग ऊपर वाले को खोजते हैं, भीतर वाले पर ध्यान नहीं देते। ऊपर वाला तो केवल कल्पित है, भीतर वाला अनुभूत स्वसत्ता है, बल्कि कहना चाहिए कि वही सबका अनुभविता, कल्पक एवं ज्ञाता है। "दिल में खोजि दिलहि माँ खोजो, इहै करीमा रामा।" यह कबीर साहेब के महासूत्रों में से एक है। जो सभी के दिल में चेतनरूपी भगवान को समझता है, वह किसी दिल को दुखा नहीं सकता। धोखा यही है कि लोग पत्थर के बने मंदिर-मसजिद में तो भगवान होने का भ्रम कर लेते हैं, किन्तु प्राणियों के दिल में उसे नहीं देख पाते। इसी का फल है कि वे मंदिर-मसजिद-जैसी बाहरी चीजों की सुरक्षा के लिए लड़ते हैं और ईश्वर के असली स्थान जो प्राणियों के दिल हैं उन्हें दुखाते हैं। कबीर साहेब की पूरी वाणियों में इसी सत्य एवं तथ्य पर जोर है कि ईश्वर प्राणियों के हृदय में है, क्योंकि यही वास्तविकता है और यही मानवता तथा सच्चे धर्म—करुणा के लिए प्रेरक है। यद्यपि यह बात सभी मजहबों एवं संप्रदायों की किताबों में लिखी है, तथापि लोग अपने अज्ञान, अहंकार तथा मिथ्या स्वार्थ में पड़कर उन बातों से अपनी नजरें घुमाकर वही रास्ता अपनाते हैं जो इनसान के लिए बुरा है।

"वेद कितेब कहा किन झूठा, झूठा जो न विचारे।" कबीर साहेब की खरी बातें सुनकर लोग उन्हें उलाहना देने पहुंच गये और कहने लगे कि आप तो वेद तथा किताब को झूठा कहते हैं। साहेब ने उन्हें समझाया कि वेद-किताब को कौन झूठा कहता है? झूठा तो वह है जो उन पर विचार नहीं करता; और आंख मूंदकर प्रमाण मानता है। सभी मजहब वाले अपनी-अपनी किताबों को ईश्वरप्रदत्त, आप्तवचन एवं स्वतः प्रमाण मानते हैं। नाना मत के धर्मशास्त्र नाम की पुस्तकों में हजारों वर्षों के बीच में जो कुछ सही-गलत लिखा गया है उन सब को प्रभुवाणी, आप्तवचन एवं स्वतः प्रमाण के नाम पर लोगों के गले जबर्दस्ती उतारने की चेष्टा की जाती है। धर्मशास्त्रों में कितनी ऐसी बातें हैं जो भ्रमपूर्ण एवं बिलकुल गलत हैं। कितनी बातें ऐसी हैं कि जब वे लिखी गयीं तब उपयोगी रही होंगी, परन्तु आज वे बिलकुल असंगत हैं, फिर भी वे धार्मिक कहे

जाने वाले लोगों द्वारा जनता पर मढ़ी जाती हैं। साहेब कहते हैं कि मैं वेद, कुरान, बाइबिल तथा समस्त धर्मशास्त्रों को आदर देता हूं और यह चाहता हूं कि उनमें आयी हुई बातों को आंख मूंदकर न माना जाये, किन्तु उन पर विचारकर जो सत्य हों, कारण-कार्य-व्यवस्था के अनुकूल युक्तिसंगत, विश्व के नियमों से समर्थित तथा आज के लिए प्रासंगिक हों, उनका जीवन में उपयोग किया जाये। और जो उनमें युक्ति तथा विवेक-विरुद्ध हों, आज के संदर्भ में अनुपयुक्त तथा हानिकारी हों, उन्हें छोड़ दिया जाये। इस प्रकार वेदों-किताबों तथा धर्मशास्त्रों की बातों में मैं विचार करने की राय देता हूं। मैं यह भी नहीं कहता हूं कि वेद-किताब झूठे हैं। मैं कहता हूं कि वे झूठे हैं जो उनकी बातों पर विचार न कर आंख मूंदकर मानते हैं। अब कोई यदि बारम्बार यही जोर देता है कि मेरे धर्मशास्त्र में लिखा है, यह प्रभुवचन है, किंतु वे ऐसी बातें होती हैं, जो सत्यज्ञान तथा मानवता—दोनों में बाधक होती हैं और यदि ऐसी बातें ईश्वर तथा वेद-किताब के नाम पर कोई जबर्दस्ती गले उतारने के चक्कर में पड़ता है, तब मैं कहता हूं "वेद कितेब दोउ फंद पसारा, तेहि फन्दे परु आप बिचारा" या "नौधा बेद कितेब हैं, झूठे का बाना।" अतएव इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि मैं वेद-किताब को झूठा कहता हूं। मैं वेद-कितेब को आदर देता हूं, परन्तु उनकी बातें विचारपूर्वक मानने तथा न मानने की राय देता हूं।

"सब घट एक एक कै लेखे, भय दूजा के मारे।" सभी देहों में एक-एक जीव निवास करते हैं। इन्हीं जीवों को चेतन, आत्मा आदि कहते हैं। अपने शुद्ध रूप में यही परमात्मा हैं। इन्हें कष्ट देने से भय करो। किसी का दिल न दुखाओ। इस पंक्ति में यह महत्त्वपूर्ण बात है कि सभी देहों में एक-एक आत्मा हैं जो एक दूसरे से सर्वथा अलग हैं। कबीर साहेब यथार्थवादी हैं। वे हर बात में तथ्य कहते हैं। लोग कहते हैं कि सब में एक ही आत्मा है। साहेब कहते हैं कि यह बात गलत है। सब देहों की आत्माएं एक दूसरे से अलग हैं। हां, सभी जीवों एवं आत्माओं के लक्षण एक हैं। यह ध्यान रखना चाहिए कि सब देहों में रहने वाले चेतन जीवों के गुण एक हैं, परन्तु व्यक्तित्व सबके अलग-अलग हैं। इस पंक्ति में दूसरी बात है कि दूसरों को कष्ट देने से भय करो। पहली बात तो यह है कि यह मानवता नहीं है कि दूसरों को कष्ट दिया जाये, दूसरी बात है कि

. बीजक, शब्द 32।

. बीजक, शब्द 113।

. केन उपनिषद् के ऋषि भी कहते हैं "भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।" (2/5)
अर्थात—विवेकी पुरुष प्राणी-प्राणी में सत्य को समझकर इस लोक से प्रयाण करके अमर हो जाते हैं।

यदि हम किसी को कष्ट देंगे तो कष्ट पायेंगे। इसलिए हमें दूसरों को कष्ट देने से विरत होना चाहिए।

"जेते औरत मर्द उपाने, सो सब रूप तुम्हारा।" संसार में जितने औरत तथा मर्द पैदा होते हैं वे सब तुम्हारे रूप हैं। यहां सभी जीवों की तात्त्विक एकता पर प्रकाश डाला गया है। साहेब कहते हैं कि स्त्री और पुरुष तो केवल शरीर के लक्षण हैं, किन्तु उनमें निवास करने वाले जीव एक समान हैं। उनके मूल लक्षणों में कोई अन्तर नहीं है। कबीर साहेब जैसे तथाकथित ब्राह्मण-शूद्र, हिन्दू-मुसलिम में एकत्व देखते हैं वैसे स्त्री-पुरुष में भी एकत्व देखते हैं। वे विप्रमतीसी के आखिर में एक ही लपेट में कह जाते हैं कि सब दिलों के भीतर रमने वाले चेतन तत्त्व को क्या कहोगे? उसे काला कहोगे कि गोरा, लाल कहोगे कि पीला, गरम कहोगे कि ठंडा, अवर्ण कहोगे कि सवर्ण, हिन्दू कहोगे कि तुरुक, बूढ़ा कहोगे कि बालक, नारी कहोगे कि पुरुष? जरा, इस पर विचार करो। साहेब यहां कहते हैं कि सब तुम्हारे स्वरूप हैं। इसके पहले की पंक्ति में सद्गुरु ने चेतन जीव के व्यक्तित्व की भिन्नता पर प्रकाश डाला था और इस पंक्ति में सब चेतनों के गुणों की एकता पर प्रकाश डालते हैं और वे कहते हैं कि उसमें नारी-पुरुष का भी भेद नहीं है। लिंग-भेद देह के लक्षण हैं, जीव सबमें समान एवं सजाति हैं।

"कबीर पोंगरा अल्लह राम का, सो गुरु पीर हमारा।" पोंगरा कहते हैं बालक, बच्चा एवं पुत्र को। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि मानते हैं कि हमारे राम, कृष्ण, मुहम्मद, ईसा आदि ईश्वर के अवतार, पैगम्बर एवं पुत्र हैं। साहेब कहते हैं कि ठीक है, मैं उनको अपने गुरु-पीर मानता हूं। कबीर साहेब इस ग्रन्थ में अवतारवाद तथा पैगम्बरवाद का बारम्बार खंडन कर चुके हैं। इसलिए यहां वे पुनः खंडन के माध्यम से नहीं कहते हैं, किन्तु मंडन के माध्यम से अवतारवाद तथा पैगम्बरवाद का निषेध कर देते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि आप लोग राम तथा कृष्ण को अवतार मानो, मुहम्मद को पैगम्बर मानो, ईसा को ईश्वर-पुत्र मानो, आप लोगों की मर्जी है। मैं तो उन्हें अपना गुरु-पीर मानता हूं। यहां कबीर साहेब उक्त महापुरुषों को गुरु-पीर कहकर उनका महान आदर करते हैं और साथ-साथ इसी के माध्यम से परोक्षरूप में अवतारवाद तथा पैगम्बरवाद का खंडन कर देते हैं।

सद्गुरु ने इस शब्द के शुरू में ही कह दिया है "अल्लाह राम जियो तेरी नाँई।" सद्गुरु कबीर जीव से अलग ईश्वर नहीं मानते हैं। परन्तु यहां अंतिम पंक्ति में अल्लाह तथा राम के पोंगरे को वे अपना गुरु तथा पीर कह देते हैं। यही उनके संत-हृदय की पहचान है। अल्लाह और राम दोनों का अर्थ है

ईश्वर। वे हिन्दू और मुसलमान दोनों के संतोष के लिए अल्लाह और राम अरबी तथा संस्कृत के शब्दों का प्रयोग एक साथ करते हैं। लोगों को केवल अपनी राय दी जा सकती है, किन्तु उनके विचारों को बलपूर्वक बदला नहीं जा सकता। कबीर साहेब ने पूरे शब्द में अपने विचार कह दिये। उन्होंने बता दिया कि मनुष्य की आत्मा ही ईश्वर है, भगवान है, परमात्मा है, वह उसे छोड़कर बाहर कुछ नहीं पायेगा। परन्तु इतना कहने के बाद भी वे जानते थे कि कुछ ही लोग इस बात को समझ सकेंगे। शेष लोग तो अपनी लकीर पर ही चलते रहेंगे। वे मानेंगे कि आत्मा से अलग परमात्मा है और राम-कृष्ण उसके अवतार हैं, मुहम्मद उसके पैगम्बर हैं तथा ईसा उसके पुत्र हैं। इसी प्रकार अन्य मत वाले भी मानते रहेंगे। साहेब कहते हैं कि ठीक है भाई ! आपके अवतार तथा पैगम्बर को मैं आदर देता हूं। मैं उन्हें अपना गुरु-पीर मानता हूं। वे हमारे पूर्वज हैं, आदरणीय हैं। परन्तु मैं किसी को अवतार तथा पैगम्बर नहीं मानता। मनुष्य के ऊपर कोई ईश्वर नहीं है जो अपना दूत भेजकर संसार में कोई अपना मतवाद चलाता हो। सारे सम्प्रदाय-प्रवर्तक महापुरुष केवल मानव हैं। उन्हें अपने समय में लोक-कल्याण की जो सूझ-बूझ आयी उसे उन्होंने जनता के सामने रखा। जनता ने एवं हर महापुरुष के अनुयायियों ने अपने-अपने महापुरुष को अवतार, पैगम्बर, ईश्वर-पुत्र आदि बना दिया। इसके पीछे ही सारी सांप्रदायिकता पनपती रही। श्रद्धा अच्छी बात है, परन्तु अधिक श्रद्धा हिंसा पैदा करती है। जब कुछ लोग किसी महापुरुष को एकलौता सत्य का ठेकेदार, तथाकथित अवतार एवं पैगम्बर मान लेते हैं, तब उससे हटकर दूसरे की बात भी सुनना नहीं चाहते। वे अपने कथित पैगम्बर को स्वर्ग का द्वार तथा दूसरे को नरक का द्वार मानने लगते हैं। धर्म के नाम पर सारी जाहिली इसी से पैदा होती है। अवतारवाद तथा पैगम्बरवाद असत्य तो हैं ही, अहितकर भी हैं। ये किसी एक में अतिश्रद्धा उत्पन्न कर दूसरे की अवहेलना कराने वाले बन जाते हैं। इसलिए साहेब कहते हैं कि जिसे आप लोग अवतार तथा पैगम्बर मानते हैं, उन्हें मैं गुरु-पीर मानता हूं। गुरु-पीर केवल मनुष्य होता है।

अवतार तथा पैगम्बर के पीछे तो यह झांसा रहता है कि उसकी सब बातें माननी पड़ेंगी। वह जो कुछ कहता है वह सब-का-सब बिलकुल तय है, क्योंकि वह सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान सत्ता का सन्देशवाहक है। परन्तु गुरु-पीर की बातों में ऐसा नहीं है। गुरु-पीर मानव है। उसकी बातों पर विचार किया जा सकता है। गुरु के गलत आचरण तथा गलत बातों को त्याग देने का अधिकार है। हमें चाहिए कि हम अपने पूर्वजों पर श्रद्धा रखें, परन्तु उनकी गलत बातों को न लें, उनकी केवल अच्छी बातों को लें। श्रुति के ऋषि भी कहते हैं—"जो

हमारे अच्छे आचरण हैं उन्हें ग्रहण करो और जो गलत आचरण दिखें उन्हें न लो।"

संसार के महापुरुषों को कबीर साहेब कहते हैं कि वे हमारे गुरु-पीर हैं—यह अर्थ किसी को बुरा भी लग सकता है और वह कह सकता है कि कबीर साहेब तो स्वयं परम गुरु थे। वे दूसरे किसी को अपना गुरु नहीं कह सकते। परन्तु ऐसे विचार वाले यह ध्यान रखें कि कबीर साहेब उदार सन्त थे। वे अपने श्रोता तक को गुरु कह देने के लिए तैयार हो जाते हैं जो सत्य को समझता है "कहहिं कबीर जो अबकी बूझै, सोई गुरू हम चेला।" फिर अपने पूर्वजों को गुरु-पीर कह देना तो बहुत ही शोभनीय है। इस कथन से कबीर साहेब की महत्ता घटती नहीं, किन्तु बढ़ती है। और यह भी तथ्य है कि सभी महापुरुष अपने पूर्वजों से कुछ-न-कुछ पाते ही हैं। उनकी अच्छाइयों से तो उन्हें मिलता ही है उनकी गलतियों से भी सावधानी मिलती है। और फिर जिस लहजे में यहां सद्गुरु ने "सो गुरु पीर हमारा" कहा है, वह बड़ा मोहक, शालीनतापूर्ण एवं सर्वजन प्रेरक है।

बाह्याडंबर छोड़कर सारतत्त्व पर ध्यान दो

शब्द-98

आव बे आव मुझे हरि को नाम, और सकल तजु कौने काम 1
कहाँ तब आदम कहाँ तब हव्वा, कहाँ तब पीर पैगम्बर हुवा 2
कहाँ तब जिमी कहाँ असमान, कहाँ तब बेद कितेब कुरान 3
जिन दुनियाँ में रची मसीद, झूठा रोजा झूठी ईद 4
साँचा एक अल्लह को नाम, जाको नइ नइ करो सलाम 5
कहुँधौं बिहिस्त कहाँ ते आई, किसके कहे तुम छुरी चलाई 6
कर्ता किरतम बाजी लाई, हिन्दू तुरुक की राह चलाई 7
कहाँ तब दिवस कहाँ तब राती, कहो तब किरतम किन उत्पाती 8
नहिं वाके जाति नहीं वाके पाँती, कहहिं कबीर वाके दिवस न राती 9

शब्दार्थ—आव=आ, आओ। बे=अरे। आदम=यहूदी, ईसाई, इसलामी आदि सभी सामी मत वालों द्वारा माना गया सृष्टि का प्रथम पुरुष। हव्वा=हौवा, आदम की पत्नी, सामी मत वालों द्वारा मान्य सृष्टि की आदि माता, जगज्जननी। मसीद=मसजिद। रोजा=रमजान महीने में दिन का उपवास।

. यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि। (तैत्तिरीय उपनिषद्, 1/11)

. बीजक, शब्द 1।

ईद= मुसलमानों का त्योहार। बिहिस्त= बिहिश्त, स्वर्ग। कर्ता= ईश्वर। किरतम= कृत्रिम, निर्मित, शास्त्र, मत, मजहब आदि। बाजी= खेल, धोखा, चालाकी।

भावार्थ—अरे भोले ! इधर आ और सुन ! मेरी समझ से तू केवल हरि का नाम ले, हरि के तत्त्व को समझ, शेष सारे बाह्याडंबरों को छोड़ दे। ये दिखावे के धर्म किस काम के हैं? 1 तब आदम कहां थे और हौवा भी कहां थीं? तब पीर-पैगम्बर भी कहां पैदा हुए थे? 2 तब जमीन और आसमान भी कहां थे और तब वेद, किताब और कुरान भी कहां थे? 3 जिन्होंने दुनिया में मसजिद बनायी वे तब कहां थे? सच पूछो तो रोजा व्यर्थ है और ईद भी व्यर्थ है 4 सच्चा तो एक अल्लाह का नाम है जिसको तुम झुक-झुककर सलाम करते हो 5 कहो भला, ये बिहिश्त कहां से आ गयी जिसको पाने के लिए तुम कुर्बानी का नाम लेकर जीव-हत्या करते हो? किसकी आज्ञा से तुमने मासूम जानवरों पर बेरहमी से छूरी चलायी है? 6 इन सारे कृत्रिम आडंबरों के मूल में ईश्वर का नाम लेकर और उसके द्वारा इन्हें प्रमाणित बताकर तो मनुष्य के साथ छलावा ही किया गया है और इसी छलावा की आड़ में हिन्दू, तुरुक आदि के अनेक मजहब फैलाये गये हैं जो एक सत्य को निरंतर काटने में लगे रहते हैं 7 तब उसमें दिन कहां था, रात कहां थी? फिर तब बनावटी बातें एवं नाना आडंबर किसने पैदा किये? 8 कबीर साहेब कहते हैं कि जो सबका प्रेमास्पद एवं परम प्राप्तव्य निज आत्मस्वरूप है न उसमें जाति है और न पांति है, न उसमें दिन है और न रात है 9

व्याख्या—स्वतंत्रचेता, विशालहृदय, पूरी मानवता को एक में समेट लेने की इच्छा रखने वाले परम संत कबीर का हृदय छटपटाता था कि आदमी कैसे उस तत्त्व को समझे जिससे उसके सारे आपसी भेदभाव मिट जायें और संसार में इनसानियत की धारा बहने लगे। मजहबों के बाह्याडंबर ही मनुष्य-मनुष्य के बीच में दीवार बनते हैं। धर्म के असली रूप शील, क्षमा, प्रेम, दया, करुणा, अहिंसा, संयम, परहेजगारी आदि हम जितना ही धारण करें उतना स्वयं सुखी होंगे और दूसरों को सुख पहुंचायेंगे।

कबीर साहेब के समय में हिन्दू और मुसलमान—दो परंपराएं मुख्य थीं जो अपने-अपने बाहरी आडंबरों को लेकर आपस में लड़ रही थीं। लड़ाई के कारण दोनों के केवल बाहरी आचार थे और वही आज भी हैं, जैसे मंदिर-मसजिद, मुहर्रम, ईद, बकरीद, घंटा, अजान आदि। यह ठीक है कि सभी मनुष्य केवल उच्च ज्ञान को नहीं समझ सकते। यह जरूरी है कि उनके मनोरंजन एवं उपासना-पूजा के लिए कुछ सरल ढंग हो, तीज-त्योहार हो, ईद-

बकरीद हो, परन्तु यदि इन सब बातों को लेकर आपस में ईर्ष्या-द्वेष की आग जले तथा लट्ठमलट्ठ हो तो ये सब किस काम के?

इस शब्द में ज्यादातर मुसलमानों के बाह्याडंबर पर कहा गया है। हिन्दू-मुसलमान तथा सभी ईश्वरवादी मत यह मानते हैं कि पहले यह दुनिया नहीं थी। किसी काल में यह बनी। कबीर साहेब कहते हैं कि जब दुनिया नहीं थी, तब आदम, हौवा और पीर-पैगंबर भी कहां थे? तब तो वेद, कुरान तथा कोई भी धर्मशास्त्र नहीं था। इन सबका अर्थ यह हुआ कि पीर-पैगंबर तथा धर्मशास्त्र की बातें सब पीछे आयी हैं। पहले कभी दुनिया नहीं थी या सदैव से थी, दोनों ही दृष्टियों से यह सिद्ध होता है कि सारी मजहबी भावनाएं, अवतारवाद, पैगंबरवाद, ईश्वरीय किताब आदि की बातें सदा से नहीं थीं। हिन्दू हो या मुसलमान, यहूदी हो या ईसाई या अन्य मत-मजहब, सबके अपने इतिहास हैं। सभी मजहबों, वादों तथा पुस्तकों के निर्माण एवं रचना का अपना-अपना काल है। उसके पहले उनकी बातें नहीं थीं। इसलिए किसी मजहब एवं संप्रदाय की किताब, वाद एवं नियम अनादि-अनन्त नहीं हैं और न वे सारी दुनिया के केन्द्रबिन्दु हैं।

यहूदी, ईसाई, मुसलमानादि सामी मत वाले सृष्टि का प्रथम मानव आदम को मानते हैं। यहोबा (ईश्वर) ने सोते हुए आदम की बाईं पसली निकालकर हौवा नाम की नारी बनायी और वही आदम की पत्नी बनी तथा सृष्टि की प्रथम नारी। इसकी कथा बाइबिल में लिखी है। पीछे इनमें मूसा, ईसा, मुहम्मद आदि कई महापुरुष ईश्वर के संदेशवाहक-पैगंबर माने गये। कबीर साहेब सामी मत वालों से कहते हैं कि तुम्हारे मतानुसार पहले केवल ईश्वर था और कुछ नहीं था। तो सादे ढंग से उसी ईश्वर को ही क्यों नहीं जपते हो? आदम, हौवा, पीर, पैगंबर, किताब, कुरान आदि का घमंड लेकर क्यों समाज को तोड़ते हो? मसजिद तुमने बनायी, रोजा, नमाज, ईद-बकरीद तुमने कायम किये तब इन्हीं सब कृत्रिम बातों को लेकर मानव समाज में दरारें क्यों बना रहे हो? जो आदम, हौवा, पैगंबर, कुरान, मसजिद, रोजा, ईद-बकरीद को माने और उसके अनुसार चले वही सच्चा धर्मी है और जो इन सब को न मानता हो, इनका न पालन करता हो, वह धर्मी नहीं है ऐसी संकुचितता क्यों! सच्चा तो अल्लाह का नाम है, इसलिए उसी को श्रेय दो। आडंबर में क्यों उलझते हो जो तुम्हारा ही बनाया है। तुम्हारे मतानुसार ही अल्लाह स्वयंभू है; परन्तु पीर-पैगंबर, मसजिद, रोजा, ईद वगैरह तो तुम्हारे बनाये हैं।

. बाइबिल के अनुसार 'साम' नाम के व्यक्ति 'नूह' के पुत्र थे। अरब, यहूदी, मिस्री आदि 'साम' की ही संतान माने जाते हैं। इसलिए यहूदी, ईसाई, मुसलमान आदि के मजहब सामी मजहब कहलाते हैं।

तुमने बिहिश्त की कल्पना कर ली और उसके पीछे यह लगा दिया कि कुरान, मुहम्मद तथा इसलाम के द्वारा ही उसे पाया जा सकता है। यहां अल्लाह जो सार्वभौमिक धारणा है उसकी उपेक्षा कर दी गयी और कृत्रिम बातों को ऊपर ला दिया गया। अल्लाह को तो राम, ईश्वर आदि अन्य नामों से दूसरे लोग भी जपते हैं, परन्तु कुरान, मुहम्मद और इसलाम सब नहीं स्वीकार सकते। इनसान को चाहिए कि वह धर्म के ऐसे आधारबिन्दु पर जोर दे जहां पर सब इकट्ठे हो सकें। बिहिश्त के पीछे एक भयंकर धारणा लगा दी गयी—कुर्बानी के नाम पर जीवहत्या। साहेब कहते हैं कि तुम केवल एक ईश्वर के भक्त बनते हो, तो यह बताओ कि तुम किसकी आज्ञा से मूक प्राणियों पर छूरी चलाते हो? क्या ईश्वर ने आज्ञा दी है? ईश्वर ऐसी आज्ञा कभी नहीं दे सकता। वह अपने फरजंदों की हत्या करने की आज्ञा कैसे दे सकता है? वह निहायत रहम वाला है, फिर उससे बेरहमी की आज्ञा हो भी कैसे सकती है? अतएव यह जीवहत्या कर स्वर्ग पाने की बात भी तुम्हारी बनावटी है। इसमें तुम्हारा भ्रम तथा जीभ-स्वाद कारण है।

"कर्ता किरतम बाजी लाई, हिन्दू तुरुक की राह चलाई।" चाहे हिन्दू हो या मुसलमान या दूसरे ईश्वर वाले, सबने अपने-अपने बनाये नियमों, किताबों, अवतारों, पैगंबरों को ईश्वर से जोड़ रखा है। सब यही कहते हैं कि हमारी किताब ईश्वरीय है, हमारा महापुरुष ईश्वर का अवतार, पैगंबर आदि है, हमारे मत के सारे नियम ईश्वरप्रदत्त हैं। साहेब कहते हैं कि यह कर्ता कृत्रिम की बाजी है, अर्थात अपने सारे कृत्रिम आडंबरों को कर्ता से जोड़ने का गोरखधंधा है। जब अपने बनाये आडंबर ईश्वर से जोड़ दिये जाते हैं तब वे प्रामाणिकता के जामा पहन लेते हैं। तब वहीं एक दूसरे मत से आस्तिक-नास्तिक, दीनदार-बेदीन तथा पवित्र-अपवित्र का घृणित व्यवहार चलता है।

"कहाँ तब दिवस कहाँ तब राती, कहो तब किरतम किन उत्पाती।" ईश्वरवादानुसार तो सृष्टि के पहले दिन-रात तथा उनमें होने वाले सारे व्यवहार ही नहीं थे, तब इन कृत्रिम बातों को किसने पैदा किया? वस्तुतः सारी कल्पनाएं मनुष्यों की हैं।

आत्मा में कोई जाति-पांति और दिन-रात नहीं है। उसी प्रकार जैसी ईश्वर की अवधारणा है उसके अनुसार ही उसकी भी कोई जाति-पांति नहीं है और न उसमें रात-दिन तथा उनमें होने वाले व्यवहार हैं। इसलिए जब वह सार्वभौमिक है तब उसमें बाह्याडंबर न जोड़कर उसे सार्वभौमिक ही रहने दो। जो सार्वभौमिक है उसे मत-मजहब एवं बाह्याचार की संकुचित डिबिया में न बंद करो।

जो लोग आत्मा से अलग ईश्वर मानते हैं, इस पद में सद्गुरु कबीर ने उन्हें उसी ढंग से समझाया है। इस पूरे पद का सार यही है कि सत्य को बाह्याचार एवं आडंबर में विखंडित मत करो। यदि हर मत वाले अपने बाह्याचार को गौण स्थान दें और केवल सत्य पर जोर दें तो सत्य सार्वभौमिक होने से सब में समन्वय तथा एकता होगी, मानव-समाज के लिए इसकी बड़ी आवश्यकता है।

वस्तुतः हर मनुष्य का प्राप्तव्य उसका अपना आत्मस्वरूप है, और वह शुद्ध चेतन है। वही ईश्वर है, वही अल्लाह है "दिल में खोजि दिलहि माँ खोजो, इहै करीमा रामा।" इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए किसी सांप्रदायिकता की आवश्यकता नहीं है, किन्तु सच्चे सद्गुरु की शरण की आवश्यकता है।

जीवन की नश्वरता

शब्द-99

अब कहाँ चलेउ अकेले मीता, उठहु न करहु घरहु की चिन्ता 1
खीर खाँड़ घृत पिण्ड सँवारा, सो तन लै बाहर कै डारा 2
जो शिर रचि रचि बाँधहु पागा, सो शिर रतन बिडारत कागा 3
हाड़ जरे जस जंगल लकड़ी, केश जरै जस घास की पूली 4
आवत संग न जात सँगाती, काह भये दल बाँधल हाथी 5
माया के रस लेइ न पाया, अन्तर यम बिलारि होइ धाया 6
कहहिं कबीर नर अजहु न जागा, यम का मुगदर माँझ शिर लागा 7

शब्दार्थ—खाँड़ = मीठा। पिण्ड = शरीर। बिडारत = विदीर्ण करना, फोड़कर बिखेरना। पूली = गट्ठा। यम = मौत।

भावार्थ—संसार के प्राणी-पदार्थों को अपने मानने वाले हे मित्र ! अब तुम अकेले किधर के लिए चल दिये? उठकर अपने घर-परिवार एवं स्वजनों की चिन्ता करो न ! 1 खीर, खांड़ और घी खाकर जिस शरीर को तुमने बहुत चिकना बनाया था, उस तेरे लालित-पालित शरीर को लोगों ने उठाकर बाहर डाल दिया है 2 तुम जिस सिर में संवार-संवारकर बड़े कौशल से पाग बांधते थे, उस रत्नतुल्य सिर को कौवे फोड़-फोड़कर बिखेर रहे हैं 3 तुम्हारी पुष्ट हड्डियां जंगल की लकड़ी की तरह जल रही हैं और बाल घास के गट्ठे की तरह स्वाहा हो रहे हैं 4 न संसार में आते समय साथ में आये हैं और न जाते समय साथ चलेंगे, फिर फौज-फक्कड़ तथा हाथी-घोड़े बांधने से तुम्हारा क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ! 5 तू इच्छानुसार माया का आनन्द नहीं ले पाया,

इतने में मौत बिल्ली बनकर तेरे ऊपर टूट पड़ी 6 सद्गुरु कबीर कहते हैं कि संसार में इस प्रकार मौत का तांडव देखकर भी मनुष्य सावधान नहीं होता और देखते-देखते उसके सिर पर मौत का मुगदर लग जाता है 7

व्याख्या—आदमी संसार में आकर घोर माया-मोह में लिप्त हो जाता है। वह घर-परिवार सम्हालने की चिन्ता में इतना पड़ जाता है कि यह भूल ही जाता है कि यहां से अचानक जाना है। इस नाशवान संसार से सर्वथा अनासक्त होकर अपने अविनाशी स्वरूप-बोध में रमना जीवन का फल है, परन्तु इसका उसे पता ही नहीं रहता। यदि पता भी पा जाये तो भी वह अपने आप को संसार में इतना जोड़ लेता है कि जीवनभर अविनाशी आत्माराम से बेभान ही रहता है।

जो संसार के प्राणी-पदार्थों को दृढ़ कर अपना मानता है, उन्हीं के मोह में डूबा रहता है और ऐसा करते-करते एक दिन अचानक इस संसार से सदैव के लिए चला जाता है, उसको लक्ष्य करके सद्गुरु कहते हैं कि हे दीवाने ! तू तो मानता था कि यह घर मेरा है, परिवार मेरा है, ये मित्र-सम्बन्धी मेरे हैं। तू इनमें लीन होकर सत्संग के लिए थोड़ा भी समय नहीं निकाल पाता था। तू कहता था कि घर-परिवार को सम्हालने में ही मेरे समय चले जाते हैं। ये मेरे अपने लोग हैं। इनके लिए मेरी अपनी जिम्मेदारियां हैं। मेरे बिना ये कैसे रहेंगे। परन्तु हे मोह-मदिरा पीकर उन्मत हुआ आदमी, तू इस संसार से उठकर अकेले कैसे चल दिया? अपने स्वजनों के प्रति पूरी जिम्मेदारी निभाये बिना बीच ही में तू यहां से कहां चला गया, तेरे इतने-इतने साथी, और तू चलते समय किसी एक को भी साथ न ले जा सका। तेरा नकली नक्शा चेष्टाहीन होकर जमीन पर पड़ा है। तू अपने प्यारे स्वजनों के विलाप करते हुए मुख की ओर भी नहीं देखता है। जिनके लिए तू अपनी जान देता था उनके लिए तू इतना विरत हो गया है। उठो न ! घर की चिन्ता करो। तुम्हारे अपने माने हुए स्वजन रो रहे हैं। उनके आंसू पोंछो। उन्हें सांत्वना दो। उन्हें स्नेह देकर उनकी रक्षा का आश्वासन दो। परन्तु हाय ! यह सब अब सम्भव नहीं है। जो यहां से एक बार उठ गया, वह कभी लौटकर नहीं आया। अदना जीवों की बातें छोड़ो, जो लोग संसार में बहुत प्रसिद्ध हैं क्या वे लौट सके? जिन लोगों को जनता ने भगवान एवं पैगम्बर माना, अपना परम प्रेमास्पद माना, वे भी यहां लौटकर नहीं आ सके। आने का कोई चारा नहीं है।

हम अपने माने हुए शरीर को अनेक पौष्टिक खाद्य पदार्थों का सेवनकर बलवान बनाने के चक्कर में पड़े रहते हैं। जब तक शरीर है इसे उचित खान-पान के द्वारा स्वस्थ रखना देहधारी का कर्तव्य भी है। परन्तु कितने मोहग्रस्त लोग खीर, खांड़ एवं घृत से ही नहीं अनेक भस्म एवं कीमती-कीमती रस-

रसायन सेवनकर इस शरीर को अजर-अमर या कम-से-कम इसे बहुत दिनों तक सुरक्षित रखने की दुराशा करते हैं। परन्तु अनेक यत्न से बहुत लालित-पालित यह शरीर अचानक छूट जाता है। शरीर छूटने की संभावना होते ही लोग उसे खाट से उतारकर जमीन पर लेटा देते हैं और प्राण निकलते ही "ले चल ले चल करते भाई" जीव के निकल जाने पर सब यही कहते हैं कि ऐ भैया, जिस हंसा से नाता था, वह चला गया, अब कोई मिट्टी को रखकर क्या करेगा !

हम अपने माने हुए शरीर के एक-एक अंग के प्रति रागवान होते हैं। आदमी अनेक वस्त्रों एवं अलंकारों से इन्हें सजाता है। शरीर की भयंकर परिणामशीलता का उसे होश नहीं रहता। बहुत प्रकार से सजाये जाने वाले इस शरीर की अन्तिम दशा क्या होती है यह किसी से छिपी हुई नहीं है। यह यदि मैदान में पड़ा रहे तो जानवर फोड़-फोड़कर इसकी दुर्गति कर देते हैं, यदि इसे पानी में डाल दें तो यह कछुआ-मछली आदि का आहार हो जाता है, यदि मिट्टी में गाड़ दिया गया तो यह सड़ जाता है तथा इसे कीड़े-मिट्टी खा लेते हैं और यदि इसे आग में रख दिया गया तो भक्क से जलकर मिनटों में राख हो जाता है। ऐसी है यह अपनी मानी गयी सुरक्षित काया। इसी पर केन्द्रित हैं हमारे सारे अभियान ! कितने धोखे की टट्टी में आदमी जी रहा है !

धन है, जमीन है, मकान है, परिवार है, मित्र हैं, फौज-फक्कड़ है, घोड़े-हाथी हैं, कार-मोटर हैं, मान-अधिकार हैं और पता नहीं कितना-कितना अपना माना हुआ सब कुछ है। परन्तु ध्यान रहे, इनमें से एक वस्तु भी हमने साथ में लायी नहीं है और न चलते समय एक वस्तु साथ में चलेगी। फिर इनका अहंकार करने से क्या फल होगा ! सपने में हम भिखार हैं या राजा, जाग जाने पर क्या हानि-लाभ ! संसार के ये सपने मनुष्य को छलते हैं। हम मूढ़ हैं जो इन सपनों में छले जाते हैं। संसार की मानी गयी सारी उपलब्धियां अन्ततः झूठी हैं। मोह-मूढ़ मनुष्य संसार के प्राणी-पदार्थों को अपने छाती-पेटे लगाये रखने का हठ करता है जो उसके कभी नहीं हो सकते।

आदमी सांसारिक प्राणी-पदार्थों एवं भोगों से बड़ी लम्बी-लम्बी आशाएं करता है। वह संसार में डूबकर तथा छककर आनन्द लेता है, परन्तु तृप्ति पाये बिना संसार से चला जाता है। वह तृप्त हो भी नहीं सकता। चाहे मनुष्य लाखों वर्ष तक भोगों को भोगने का अवसर पा जाये, परन्तु उसे तृप्ति नहीं मिलेगी। भोगों में किसी को भी तृप्ति नहीं मिलती। जैसे घी डालने से आग बुझती नहीं है, किन्तु उलटे प्रज्वलित होती है, वैसे भोगों से इच्छाएं बुझती नहीं हैं, किन्तु बढ़ती हैं। अधिकतम लोगों को तो भोग मिलते ही नहीं हैं, कुछ लोगों को

मिलते हैं, परन्तु इच्छानुसार नहीं मिलते। और तृप्ति तो किसी की भी नहीं होती। इतने में देहाभिमानीरूपी चूहे पर मौतरूपी बिल्ली कूद पड़ती है। मौत सभी देहाभिमानियों को उनकी अधूरी इच्छाओं के बीच में से ही उठा लेती है। संसार का हर आदमी करने और भोगने की लालसा लेकर ही यहां से जाता है। ऐसा पुरुष दुर्लभ है जिसे ऐसा लगता हो कि मुझे जो कुछ करना था कर लिया और जो कुछ पाना था पा लिया। कृतकार्य और कृतकाम मनुष्य धन्य है। जीवन में पूर्ण सफल वही है जो कृतकार्य एवं कृतकाम है, अर्थात जिसने सारी कामनाएं त्याग दी हैं।

तुम समर्थ हो, माया-मोह की दीनता छोड़ो

शब्द-100

देखउ लोगा हरि केर सगाई, माय धरि पूत धियऊ संग जाई 1
सासु ननद मिलि अचल चलाई, मँदरिया के गृह बैठी जाई 2
हम बहनोई राम मोर सारा, हमहिं बाप हरि पुत्र हमारा 3
कहहिं कबीर ये हरि के बूता, राम रमेते कुकुरि के पूता 4

शब्दार्थ—हरि= ज्ञानस्वरूप चेतन। सगाई= रिश्ता, नाता, मित्रता। माय= माता, माया। धियऊ= पुत्री, बुद्धि। सासु= संशय। ननद= कुमति। अचल= निश्चल चेतन। मँदरिया= मदारी, बाजीगर, मन। बहनोई= जीजा, वहन करने तथा धारण करने वाला। राम= आत्मतत्त्व। सारा= सत्य। हरि= ज्ञानतत्त्व। हरि के बूता= चेतन की शक्ति, ज्ञानशक्ति। राम= चेतनात्मा। कुकुरि= मुरगी, कुतिया। पूता= पुत्र, बच्चा।

भावार्थ—हे लोगो! यह मनुष्य जो स्वरूपतः हरि है, ज्ञानस्वरूप है, इसकी भूल तो देखो, यह अपना रिश्ता कहां लगा रहा है, यह कहां मित्रता कर रहा है, इस पर ध्यान दो। जैसे पुत्र माता को पकड़ ले तथा पिता पुत्री के साथ आसक्त हो जाये तो यह अनर्थ है, वैसे जिस माया से जीव के जन्मादि बंधन होते हैं उसी में वह पुनः आसक्त होता है और अपने द्वारा पैदा की हुई बुद्धि को मलिन बना उसके साथ पतित होकर अनर्थ कर रहा है 1 संशयरूपी सासु तथा कुमतिरूपी ननद मनरूपी बाजीगर के पास जा बैठीं और उन्होंने स्वरूपतः निश्चल चेतन जीव को चंचल बना दिया। अर्थात मन के संशय और कुमति ने जीव को विचलित कर दिया 2 जैसे मानो ऋष्य शृंग कह रहे हों कि श्री राम की बहिन शांता से मेरा विवाह होने से मैं राम का बहनोई हूं, राम मेरे साले हैं और जिससे राम पैदा हुए हैं वह पुत्रेष्टियज्ञ मेरे द्वारा ही होने से मैं ही मानो राम का पिता हूं और राम मेरे पुत्र हैं; वैसे ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि वस्तुतः हम

चेतन ही ज्ञान-विज्ञान के वहन एवं धारण करने वाले हैं और आत्माराम ही हमारा सार-स्वरूप है। हम ही समस्त ज्ञान-विज्ञान के पिता हैं तथा ज्ञान हमारा पुत्र है 3 कबीर साहेब कहते हैं कि यह सारा ज्ञान-विज्ञान चेतन की शक्ति है। राम तो कुकुरी के बच्चे में भी रम रहा है, फिर मनुष्य की बात तो महान है। वह विवेक-साधनसंपन्न है। वह माया को जीतकर अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो सकता है 4

व्याख्या—कबीर साहेब अपनी बातें व्यंग्यात्मक ढंग से कहने में बहुत माहिर हैं। वे इस शब्द में पहला व्यंग्य जीव की स्वरूपतः उच्चता तथा दूसरी तरफ उसकी घृणित जगह लगाव को लेकर करते हैं। वे कहते हैं "देखउ लोगा हरि केर सगाई" यह जीव, यह मनुष्य हरि है, परमात्मा है, उच्चतम सत्ता है। जीव का शुद्ध स्वरूप ज्ञानमात्र एवं पूर्णकाम है। पूर्णकाम ही तो हरि है; परंतु यह मूलतः हरि स्वरूप जीव कहां अपनी सगाई करता है, यह कहां-कहां अपने रिश्ते-नाते जोड़ता है उस पर ध्यान देने से "नाम बड़े दर्शन छोटे" कहावत की याद आती है। यह मूलतः महान होते हुए भी मलिन वस्तुओं में रमता है क्योंकि इसे अपने स्वरूप का बोध नहीं है।

"माय धरि पूत धियऊ संग जाई" जन्मदात्री माता से यदि पुत्र वासनात्मक व्यवहार करे और पिता अपनी पुत्री से इस ढंग से पेश आये तो ये महान घृणित कार्य हैं। इससे घृणित और क्या हो सकता है? जीव माया से ही तो देहधारण करता है। यहां माया ही मानो माता है जिससे जीव के जन्मादि चक्कर चलते हैं, परन्तु वह उलटकर पुनः उसी में आसक्त होता है। माया में आसक्त होना मानो माता के साथ दुर्व्यवहार करना है। पिता से पुत्री पैदा होती है। अपनी पुत्री के साथ दुर्व्यवहार कभी क्षम्य नहीं हो सकता। मनुष्य से ही बुद्धि पैदा होती है, इसलिए बुद्धि मनुष्य की मानो पुत्री है और मनुष्य अपनी बुद्धि का ही दुरुपयोग करता है अथवा अपनी बुद्धि को मलिन बनाकर उसके साथ बहता है।

"सासु ननद मिलि अचल चलाई, मदरिया के गृह बैठी जाई।" संसार में यह अधिक देखा जाता है कि सासु और ननद बहू को परेशान करती हैं। साहेब ने इस ग्रन्थ में सासु-ननद को विवाद का पर्याय ही मान लिया है। साहेब-कथित सासु-ननद व्यक्ति नहीं हैं, किन्तु प्रतीकात्मक हैं। वे हैं क्रमशः संशय तथा कुमति। मन है मदारी अर्थात जादूगर। इस जादूगर मन से पैदा हुए संशय और कुमति अचल जीव को चंचल कर दिये हैं। इस मन-मदारी ने संशय और कुमति को भेजकर जीव को भ्रमित कर दिया है। संशय से ग्रसित होने पर जीव स्थिर नहीं हो पाता, इधर कुमति उसको उलटा पाठ पढ़ाकर हितकर को अहितकर तथा अहितकर को हितकर सिद्ध करती है। जीव स्वरूप से अचल

है। कल्पना करो, यदि तुम्हारे मन में इच्छा, वासना, संदेह एवं भ्रम न हों तो तुम्हारे चंचल होने का कोई कारण ही नहीं है। जीव स्वभावतः अचल है, शांत है, तृप्त है। वह तो मन के उद्वेग से ही चंचल होता है। इस अचल एवं शांत जीव को मन के संशय एवं कुमति ने विचलित कर दिया है। अतएव जिसे शांति प्रिय हो उसे चाहिए कि वह अपने मन से संदेह एवं कुमति को निकाल दे। शुद्ध बोध से संशय समाप्त हो जाता है तथा निष्कपट सेवा-सत्संग से कुमति समाप्त हो जाती है। मनुष्य को व्यवहार तथा अध्यात्म दोनों में संशय रहता है। व्यावहारिक संशय यह है कि जीवन-निर्वाह कैसे होगा, बुढ़ापा तथा रोग में कौन सहयोग करेगा, ये स्वजन द्वेषी न हो जायें, शत्रु हमारी हानि न कर दें इत्यादि। इस संशय का समाधान इस विवेक में है कि देह के साथ प्रारब्ध है वह अटल है। हस्ती से कीट तक सबका देह-निर्वाह होता है तो हमारा क्यों नहीं होगा! आदमी पहले से व्यर्थ में चिन्ता करता है, समय आने पर सारी समस्याओं का समाधान हो जाता है। समय सारी समस्यारूपी रोग की औषध है। हम स्वयं विचार से रहें तो हमारा कोई शत्रु नहीं है और यदि हम गलत व्यवहार करने लगेंगे तो हमारी रक्षा कोई नहीं कर सकता। प्रारब्ध, परिश्रम तथा पवित्र कर्मों पर जिसे विश्वास हो जाता है उसके व्यावहारिक संशय नष्ट हो जाते हैं। आध्यात्मिक संशय है कि मेरा स्वरूप क्या है? जड़ है कि चेतन? मैं किसी का अंश या प्रतिबिंब हूं या स्वतः? मेरा आश्रय मैं स्वयं ही हूं कि अलग है? जब शुद्ध विवेक उदय होता है तब यह बोध हो जाता है कि मैं किसी का अंश, प्रतिबिम्ब एवं टुकड़ा नहीं, किंतु स्वयं पूर्णस्वरूप हूं। मेरा आश्रय अलग कहीं नहीं, किन्तु मेरी अपनी आत्मा ही है। मैं जड़ से सर्वथा पृथक शुद्ध चेतन हूं। सारी वासनाओं को छोड़कर मैं स्वयं मुक्तस्वरूप हूं। इस प्रकार जिसे ठीक से निजस्वरूप का बोध हो जाता है उसका आध्यात्मिक संशय नष्ट हो जाता है। दूसरी बात है कुमति। यह संतों-गुरुजनों की सेवा, भक्ति, सरलता, निष्कपटता एवं सत्संग से नष्ट हो जाती है। इस प्रकार संशय और कुमति के नष्ट हो जाने पर जीव परम विश्रांति पाता है।

"हम बहनोई राम मोर सारा, हमहिं बाप हरि पुत्र हमारा।" ऋष्य शृंग की पत्नी शांता थी जो वाल्मीकीय रामायण के दाक्षिणात्य पाठ के अनुसार रोमपाद की पुत्री थी; परन्तु वाल्मीकीय रामायण के गौड़ीय तथा पश्चिमोत्तरीय पाठ के अनुसार राजा दशरथ की पुत्री थी। अधिक प्रसिद्धि यही है कि दशरथ की पुत्री शांता को अंगदेश के राजा रोमपाद ने गोद ले लिया था। कारण यह है कि पीछे

. वाल्मीकीय रामायण 1/9/13; 1/11/19।

. पूर्वी बिहार भागलपुर के आस-पास का क्षेत्र अंगदेश कहलाता था।

के रामायणों तथा पुराणों में ज्यादातर यही लिखा गया कि शांता दशरथ की पुत्री थी। रोमपाद दशरथ के मित्र थे। वे निःसंतान थे, इसलिए दशरथ ने अपनी पुत्री शांता को उन्हें गोद दे दिया था। परन्तु रामायण के दाक्षिणात्य पाठ में स्वयं दशरथ को 'अनपत्य' अर्थात संतानहीन बताया गया है। इस रामायण के अनुसार दशरथ की साढ़े तीन सौ पत्नियां थीं और किसी से संतान नहीं थी। इसका अर्थ है कि दशरथ में ही संतान देने की योग्यता नहीं थी। इसलिए उन्हें 'अनपत्य' कहा गया। दशरथ तथा अंगदेश के राजा रोमपाद से मित्रता थी। दशरथ अधिक प्रसिद्ध होने से पीछे की रामायणों एवं पुराणों में शांता दशरथ की पुत्री ही बतायी जाने लगी। आज की जनश्रुति यही है कि शांता दशरथ की पुत्री थी जिसे रोमपाद ने गोद लिया था। इतना तो सब कहते हैं कि शांता ऋष्यशृंग की पत्नी बनी।

इस प्रकार अनेक रामायणों और पुराणों तथा जनश्रुति के अनुसार शांता दशरथ की पुत्री होने से श्रीराम की बहिन थी। इसलिए ऋष्यशृंग कह सकते हैं कि मैं राम का बहनोई हूं तथा राम मेरे साले हैं। ऋष्यशृंग के ही द्वारा यज्ञ करने पर रामादि चारों भाई पैदा हुए थे, तो वे मानो राम के पिता हुए और राम उनके पुत्र हुए। यहां इसे प्रतीकात्मक रूप से लिया गया है। यहां का सार अर्थ है कि ज्ञानी कहता है कि मैं ज्ञान-विज्ञान का वहन एवं धारण करने से ज्ञान का बहनोई हूं; ज्ञान की बहिन शांता अर्थात शांति मेरी पत्नी है, ज्ञानी सदैव शांति में रमण करता है। जो ज्ञान का वहन करता है, जो ज्ञान को धारण करता है, वह निश्चित ही शांति में रमण करता है। राम उसका सार होता है। सार कहते हैं मूलतत्त्व एवं सत्य को।

"हमहिं बाप हरि पुत्र हमारा" ज्ञानी कहता है कि मैं पिता हूं और हरि मेरा पुत्र है। यदि हरि का अर्थ आत्मभिन्न ईश्वर माना जाये तो अर्थ होगा कि ज्ञानी कहता है कि मैं ईश्वर का पिता हूं और ईश्वर मेरा पुत्र है। ज्ञानी मनुष्य है और मनुष्य ही ने अपनी कल्पना से ईश्वर को जन्म दिया है। इसलिए ज्ञानी एवं मनुष्य पिता है तथा ईश्वर मनुष्य का पुत्र है। परन्तु यहां हरि का तात्त्विक अर्थ है ज्ञान। ज्ञानी अर्थात जीव पिता है और ज्ञान उसका पुत्र है। जीव ही से ज्ञान पैदा होता है।

"कहहिं कबीर ये हरि के बूता" हरि चेतन है, बूता बल एवं शक्ति है। सद्‌गुरु कहते हैं कि सारा ज्ञान-विज्ञान चेतन की शक्ति है। हरि के अर्थ चेतन

. वाल्मीकीय रामायण 1/11/5।

. वाल्मीकि दाक्षिणात्य 2/34/13।

. वाल्मीकि दाक्षिणात्य 1/11/3।

तथा ज्ञान दोनों हैं। वस्तुतः चेतन एवं ज्ञान एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। इसलिए हरि का इस शब्द में जहां जिस अर्थ से संगति बैठती है वैसा किया गया है। संसार की सारी विचार-पद्धतियां चेतन एवं ज्ञान के ही बलबूते का फल है। "राम रमेते कुकुरी के पूता।" राम तो कुकुरी के पूत में भी रम रहा है, फिर मानव में तो कहना ही क्या! वह तो विवेक-साधनसंपन्न भूमिका में है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह अपने हरिस्वरूप, रामस्वरूप एवं शुद्ध-बुद्ध चेतनस्वरूप को समझे और घृणित माया की सगाई का त्याग करे।

इस शब्द में सद्गुरु ने बताया कि यह जीव, यह मनुष्य स्वयं हरि एवं परमात्मा है। परन्तु इसने मलिन माया से मोह कर लिया है। इसलिए संशय और कुमति से ग्रसित होकर चंचल हो गया है। इसे मनरूपी जादूगर ने नचा डाला है। साहेब मनुष्य को साहस देते हैं कि तुम ज्ञान-विज्ञान के धारक हो, शांति तुम्हारी अभिन्न प्रिया है, तुम्हारा स्वरूप ही राम है, तुम्हीं सारे ज्ञान-विज्ञान के जनक हो, सारा ज्ञानक्षेत्र तुम्हारी शक्ति का चमत्कार है। तुम माया को जीतकर अपने स्वरूप में स्थित हो सकते हो। अपनी शक्ति की याद करो।

मन की विपरीतता को समझकर उसे छोड़ो

शब्द-101

देखि देखि जिय अचरज होई, यह पद बूझै बिरला कोई 1
धरती उलटि आकाशै जाय, चिउँटी के मुख हस्ति समाय 2
बिना पवन सो पर्वत उड़े, जीव जन्तु सब वृक्षा चढ़े 3
सूखे सरवर उठे हिलोरा, बिनु जल चकवा करत किलोरा 4
बैठा पण्डित पढ़े पुरान, बिनु देखे का करत बखान 5
कहहिं कबीर यह पद को जान, सोई सन्त सदा परमान 6

शब्दार्थ—जिय= जी, जीव, जान, मन, चित्त, तबीयत, जीवट, यहां का अर्थ है मन। यह पद= यह उलटवांसी शब्द। हिलोरा= तरंग। चकवा= एक पक्षी जो जाड़े के दिनों में जलाशयों के किनारे पाया जाता है और जिसके विषय में यह प्रसिद्धि है कि रात में जोड़े से उसका वियोग हो जाता है, चक्रवाक। बखान= वर्णन, बड़ाई, गुणकथन। यह पद= यह उलटवांसी शब्द। परमान= प्रमाण, सत्य।

रूपक—देख-सुनकर मन में बड़ा आश्चर्य होता है। इस उलटे दिखते हुए शब्द के भाव को कोई बिरला ही समझेगा। धरती उलटकर आकाश में उड़ी जा रही है, चींटी के मुख में हाथी डूबे जा रहे हैं, बिना पवन के पर्वत उड़ रहे हैं, सभी जीव-जन्तु पेड़ों पर चढ़कर आश्रय ढूंढ़ रहे हैं, सूखे सरोवर में तरंगें उठ

रही हैं, बिना जल के चकवे-पक्षी क्रीड़ा-आनन्द कर रहे हैं, पण्डित व्यासगद्दियों पर बैठकर पुराण पढ़ते हैं और बिना देखी बातों की बड़ाई करते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि इस पद के अभिप्राय को जो समझकर हृदयंगम करेंगे, वे संत सदैव प्रमाणित एवं सत्य-पथ के पथिक होंगे।

भावार्थ—धर्म के नाम पर चलने वाली लम्बी-चौड़ी बातों को देख-सुनकर बड़ा आश्चर्य होता है। मैं उन्हें व्यंजना एवं संकेत में कहता हूं, इसलिए कोई बिरला समझता है 1 धरती उलटकर आकाश में जा रही है। अर्थात देवता, ईश्वर, स्वर्गादि की धार्मिक कही जाने वाली अजीबोगरीब बातें सुनकर तथा उन्हें सत्य मानकर धरती पर के मनुष्यों के मन आकाश में उड़ने लगते हैं और उन्हें पाने के लिए छटपटाने लगते हैं। यह तो चींटी के मुख में हाथी समाने-जैसी बात हुई। अर्थात मनुष्य के मन में आकाश-पाताल के कुलावे मिलने लगे 2 इतना ही नहीं, बिना पवन के पर्वत उड़ने लगे। अर्थात बिना विचार के बड़े-बड़े विद्वान-ज्ञानी कहलाने वाले लोग भी हवाई-महल बनाने लगे एवं कल्पनाओं में उड़ने लगे। पर्वतों को उड़ते देखकर जैसे भयभीत हो छोटे-छोटे जीव-जन्तु पेड़ों पर चढ़कर अपने रहने का आश्रय खोजने लगे, वैसे बड़े-बड़े विद्वान एवं ज्ञानियों को कल्पनाओं में उड़ते देखकर अशिक्षित सामान्य लोग भी अपनी रक्षा के लिए नाना देवी-देवताओं एवं भूत-प्रेतादि का आश्रय खोजने लगे 3 इतना ही क्या, सूखे सरोवर में तरंगें उठ रही हैं और बिना जल के चकवे क्रीड़ा कर रहे हैं। अर्थात अपनी आत्मा से भिन्न कहीं कोई देव, ईश्वर एवं स्वर्ग न होने पर भी उनके लिए लोगों के मन में तरंगें उठती हैं और बिना सार के वे उनके कल्पना-लोक में क्रीड़ा करते हैं 4 इन सब के मूल में है कि पंडित लोग व्यासगद्दियों पर बैठकर पुराण बांचते तथा उनकी कथा कहते हैं और बिना देखी तथा बिना अनुभव की हुई बातों की बड़ाई करते हैं 5 कबीर साहेब कहते हैं कि मेरे इस व्यंजनात्मक शब्द का भाव जो समझ लेगा वह अनर्गल बातों को छोड़कर सत्य-पथ का राही हो जायेगा। सत्य-पथ का राही ही प्रामाणिक संत है 6

व्याख्या—धार्मिक कहे जाने वाले नाना मतों के पुराणों एवं धर्मशास्त्रों में स्वर्ग के तथा उसमें रहने वाले देवी-देवताओं, हूरों-गिल्मों तथा ईश्वर के ऐसे लुभावने वर्णन हैं जिन्हें सुनकर अशिक्षित ही नहीं शिक्षित और विद्वान लोग भी वहां पहुंचकर उनका आनन्द लेने के सपने देखने लगते हैं। हिन्दू, मुसलिम, ईसाई आदि हर मजहब के पंडित अपने-अपने पुराणों को पढ़ते तथा उनमें लिखी अजीबोगरीब बातों एवं मोहक और आश्चर्यचकित कर देने वाले विषयों का वर्णन करते हैं। वे मुट्ठी भींज-भींजकर उन बातों की बड़ाई करते हैं; परन्तु

वह सब उनका "बिनु देखे का करत बखान" रहता है। इन नाना मतों के पण्डितों ने न तो आज तक किसी देव तथा फ़िरिश्ते से भेंट की है, न ईश्वर से और न किसी स्वर्ग को देखा है; परन्तु इन सब की बड़ाई इस ढंग से करते हैं कि मानो ये उन सब को देखकर आये हैं। इन्हीं नाना मत-मजहबों के पंडितों के बहकावे में आकर लोगों के मन में ऐसी बातों में अंधविश्वास हो गया है जिनमें न कारण-कार्य-व्यवस्था है, न जिनसे विश्व के शाश्वत नियमों से कोई प्रयोजन है। सद्गुरु कहते हैं कि हमें इन लोगों के व्यवहार तथा बातें देख-सुनकर बड़ा आश्चर्य होता है।

इन लुभावनी बातों में पड़कर इस धरती के लोगों का मन आकाश के सातवें लोक एवं सातवें तपक पर घूम रहा है। ब्रह्मलोक, साकेतलोक, गोलोक, सत्लोक, बैकुंठलोक, शिवलोक, विष्णुलोक, बिहिश्त जहां हूरें, गिल्में, शराब, अप्सराएं, देवता, ईश्वर तथा सारे भोगों को पाने के झूठे आश्वासन दिये गये हैं वहां आदमी जाना चाहते हैं। धरती पर प्रेम तथा सदाचार का व्यवहार कर स्वर्ग बसाना चाहिए था, परन्तु आदमी ने राग-द्वेष, हिंसा, छलावा आदि का व्यवहार कर धरती को नरक बना दिया है। वह उलटी बात सोचता है, धरती छोड़कर आकाश की ओर उड़ता है। सद्गुरु कहते हैं कि आकाश में कुछ नहीं है। हमें धरती पर ही प्रेम तथा संयम से स्वर्ग का अनुभव करना होगा। हमें धरती के जीव देवी-देवता के रूप में दिखने चाहिए। इनसे अलग कहीं देवी-देवता नहीं हैं। सबके साथ अहिंसा, प्रेम और भलाई का व्यवहार ही स्वर्ग-सुख है। अपनी आत्मा ही सत्यलोक, स्वर्गलोक एवं ब्रह्मलोक है। परन्तु पंडित लोग मनुष्यों को बाहर भटका रहे हैं। चींटी के मुख में हाथी समाने लगे तो यह अचरज होगा। मनुष्यों के मन के कल्पनालोक का विशाल साम्राज्य चींटी के मुख में हाथी समाना है। शरीर, उसके सौंदर्य, बल, उपभोग्य कभी स्थायी एवं अनन्त नहीं हो सकते, अतएव कल्पित स्वर्गादि में उन्हीं को पाने की असम्भव कल्पना उसी प्रकार है जैसे चींटी के मुख में हाथी समाना।

बिना पर्वत के पवन उड़ रहे हैं। बड़े-बड़े विद्या तथा ज्ञान के अभिमानी लोग कल्पनाओं के लोक में उड़ रहे हैं। सभी मजहबों के मुल्ला, पंडित, पादरी कल्पनालोक के विलासी हैं। सभी मन के दिवास्वप्न में भटक रहे हैं। साहेब कहते हैं कि ये सब बिना विचार के उड़ रहे हैं। विद्याभिमानी, ज्ञानाभिमानी तथा मताभिमानी लोग ईश्वर, देव, स्वर्ग और स्वर्ग में अनन्तकाल तक मिलने वाले भोगों की कल्पना में उड़ते हैं, तो साधारण और अशिक्षित लोग कल्पित भूत-प्रेत तथा देवी-देवता की पूजा-वंदना कर अपनी सुरक्षा का आश्रय ढूंढ़ते हैं। यही मानो जीव-जन्तु का वृक्षा चढ़ना है। पर्वत आकाश में उड़ते हैं तब जीव-

जन्तु वृक्ष पर ही चढ़कर संतोष करते हैं। पढ़े-लिखे लोगों की कल्पना की उड़ान बहुत ऊंची है, तो अशिक्षितों की थोड़ी ऊंची है। परन्तु पर्वत और चींटी, बड़े कहलाने वाले तथा छोटे कहलाने वाले सब बिना विवेक मन की कल्पना में भटक रहे हैं।

"सूखे सरवर उठे हिलोरा, बिनु जल चकवा करत किलोरा" यही तो कबीर साहेब की उलटवांसी है, जो लोगों की उलटी क्रिया देखकर बन जाती है। अपनी चेतना एवं आत्मारूपी सागर को छोड़कर लोक के विषय हों या कल्पित परलोक के, सब सूखे सरोवर हैं; परन्तु उनके लिए मनुष्यों के मन में तरंगें उठ रही हैं। लोक के विषय-भोग नीरस तथा अर्थहीन हैं और परलोक के भोग केवल काल्पनिक हैं। परन्तु उन्हीं की कल्पना में जीव क्रीड़ा कर रहा है। यह बिना जल के चकवा का क्रीड़ा करना है।

"कहहिं कबीर यह पद को जान" कबीर साहेब कहते हैं कि हमारे इस उलटवांसी पद के अभिप्राय को समझने की चेष्टा करो। मेरा सारा व्यंग्य उन पर है जो अपने चेतनस्वरूप को भूलकर, अपने आत्मदेव से विमुख होकर बाहर भटक रहे हैं। जो मन की कल्पनाओं को छोड़ देता है वह अपने आत्मारूपी देव को पा जाता है। मन की कल्पनाएं ही तो मनुष्य को लोक-परलोक के बाहरी दृश्यों से जोड़ती हैं! अतएव जो मन की सारी कल्पनाओं को छोड़ देता है वह स्वयं को पा जाता है। यह स्वयं स्वरूप चेतन ही प्रमा है, चेतना है, बोध है, और इसको पा जाने वाला सदैव प्रमाणित संत है।

"सोई सन्त सदा परमान" ज्ञान के विषय में जिसकी निर्णय-दृष्टि है वही संत है और उसी की बात सदैव प्रमाणित मानी जायेगी। राजा सगर की पत्नी को एक ही बार में साठ हजार बच्चे पैदा हो गये , राजा प्रियव्रत ग्यारह अरब वर्ष राज्य किये , काकभुशुंडि एक ही आश्रम पर सत्ताईस कल्प अर्थात एक खरब, सोलह अरब, चौसठ करोड़ वर्ष से रहते थे , शिव जी ने सत्तासी हजार वर्ष तक ध्यान किया इन-जैसी हजारों बातें जो विश्वनियमों के विरुद्ध तथा कारण-कार्य की व्यवस्था से परे हैं, इनके होने में कोई प्रमाण नहीं है। ये सब मनुष्य के मन में भ्रम तथा अज्ञान पैदा करने वाली बातें हैं। संत ऐसी बातों को छोड़ देते हैं। वे उन्हें ही प्रामाणिक ज्ञान मानते हैं जो विश्वनियमों के अंतर्गत घटने वाले तथा विवेकयुक्त हों। संत वही है जो प्रामाणिक बातें माने। अंततः तो सभी को

. वाल्मीकीय रामायण 1/38/17-18।

. भागवत 5/1/29।

. इहां बसत मोहि सुन खगईसा। बीते कलप सात औ बीसा॥ (मानस 7/114/5)

. बीते संबत सहस सतासी। तजी समाधि संभु अविनासी॥ (मानस 1/60/1)

प्रमाणित करने वाली व्यक्ति की आत्मसत्ता ही है जो परम प्रमाणित है। संत मन के विस्तार को छोड़कर अपने चेतनस्वरूप में सदैव रमते हैं। यह आत्मस्वरूप ही प्रामाणिक सत्यलोक, ब्रह्मलोक एवं निजलोक है। इस स्थिति में पहुंचकर सारी विपरीतताओं का अंत है।

हृदय-घर के स्वामी आत्मदेव को पहचानो

शब्द-102

हो दारी के ले देउँ तोहि गारी, तैं समुझि सुपन्थ बिचारी 1
घरहुक नाह जो अपना, तिनहुँ से भेंट न सपना 2
ब्राह्मण क्षत्री बानी, तिनहुँ कहल नहिं मानी 3
योगी जंगम जेते, आपु गहे हैं तेते 4
कहहिं कबीर एक योगी, वो तो भरमि भरमि भौ भोगी 5

शब्दार्थ—हो= हे। दारी= दासी, बुंदेलखंड में स्त्रियों को दी जाने वाली एक गाली, कुलटा नारी, पुंश्चली, 'अपनो पति छाँड़ि औरनिसों रति ज्यों दारनि में दारी'—स्वामी हरिदास; माया। गारी= गाली। नाह= स्वामी। बानी= बनिया, वैश्य। आपु= स्वयं, आपा, अहंकार।

भावार्थ—हे माया के गुलाम! ले, मैं तुम्हें गाली देता हूं। तू विचारकर अच्छे मार्ग को समझ ले! 1 जो अपने हृदय-घर का स्वामी चेतन आत्मा है उससे तो तू स्वप्न में भी भेंट नहीं करता, अर्थात कभी भी निजस्वरूप का चिन्तन नहीं करता 2 ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये द्विजत्व के अहंकारी निर्णय वचन को नहीं मानते 3 जितने योगी, जंगमादि मतवादी हैं, ये भी अपने-अपने संप्रदाय का अहंकार पकड़कर बैठे हैं 4 कबीर साहेब कहते हैं कि षटदर्शनियों में जो एक योगी हैं ये तो योग के नाम पर भटक-भटककर भोगी ही बने हैं 5

व्याख्या—कबीर साहेब विविध ढंग से संसार को समझाते हैं। वे यहां अपने श्रोताओं को गाली देकर समझाते हैं। यह गाली कोई क्रोधपूर्वक नहीं है, किन्तु स्नेहपूर्वक है। जैसे कोई अपने बच्चे को खेलाते समय उसे स्नेह से मुन्ना, बच्चा, बप्पा, बदमाश, बेईमान आदि अनेक शब्द कह देता है, वैसे यहां सद्गुरु ने अपने श्रोताओं को स्नेहपूर्वक 'हो दारी के' कहा है। ऊपर शब्दार्थ में आपने देख ही लिया है कि 'दारी' के अर्थ क्या हैं। दारी दासी या कुलटा नारी है।

यहां दारी शब्द से माया का अभिप्राय है। यह जीव माया का हो गया है। अर्थात यह माया का गुलाम हो गया है। कबीर साहेब के सामने श्रोता इकट्ठे हुए। उन्होंने देखा कि लोग ज्ञान की बातें सुनकर भी माया का मोह छोड़ नहीं

पाते हैं। इसलिए उन्होंने स्नेहपूर्वक कहा कि आओ बैठो, मैं तुम लोगों को गाली देने जा रहा हूं, धिक्कारने एवं लानत-मलामत करने जा रहा हूं। तुम लोग माया के गुलाम हो गये हो। तुम लोग दारी के हो गये हो, माया के दास हो गये हो। स्नेहपूर्वक अपने श्रोताओं को दी गयी यह गाली तो बहुत मधुर है। ईसा की सोलहवीं शताब्दी के प्रस्थानभेद के लेखक प्रकांड पंडित तथा संन्यासी मधुसूदन सरस्वती अन्त में श्रीकृष्ण के रसिकरूप के उपासक हो गये थे, तो श्रद्धाविह्वल हो उन्होंने श्रीकृष्ण को प्रेम से गाली दे डाली। वे कहते हैं—"यह ठीक है कि अद्वैत ज्ञान के मार्ग पर चलने वाले मुमुक्षु मेरी उपासना करते हैं, यह भी ठीक है कि आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करके मैं स्वराज्य के सिंहासन पर आरूढ़ हो चुका हूं; किन्तु क्या करूं एक कोई गोप-वधुओं का प्रेमी शठ है, उसी हरि ने बलपूर्वक मुझे अपना दास बना लिया।"

यहां सद्गुरु कबीर श्रोताओं को प्रेमपूर्वक उलाहना देते हुए कहते हैं कि तुम लोग ज्ञान की बातें हजार बार सुनकर भी आध्यात्मिक दिशा में अपेक्षित सुधार नहीं करते हो, यह तुम्हारी प्रबल मायासक्ति का लक्षण है। हे कल्याणार्थियो ! तुम विचार करो और उस सुपंथ को समझने का प्रयास करो, जिस पर चलकर तुम्हारा जीवन आनंदमय हो। वही काम, वही व्यवहार तथा वही रास्ता ठीक है जिससे मन मलिनताओं से मुक्त होकर सदैव प्रसन्न बना रहे। मन की मलिनता दुख है और मन की पवित्रता सुख है।

"घरहुक नाह जो अपना, तिनहुँ से भेंट न सपना।" जो घर का अपना मालिक है उससे तुम्हें सपने में भी भेंट नहीं है। घर है हृदय, उसमें चेतनदेव एवं आत्मदेव निवास करता है। वही तुम्हारा स्वरूप है, वह तुम्हीं हो। वही घर का स्वामी है। वही तो हृदय-मंदिर का मालिक है। इतना ही नहीं, वही अपने आप का स्वामी है। उसको सीधा कहें तो तुम्हीं अपने स्वामी हो। परन्तु तुम अपने इस दिव्यस्वरूप का कभी भूलकर स्मरण नहीं करते। तुम स्वयं अपने कर्मों के विधाता हो, अपने आप का स्वामी हो। अपने आप के आश्रय हो। तुम्हारा अपना आत्मस्वरूप ही आश्रय और आश्रित दोनों है। अर्थात तुम स्वयं अपने आपके निधान हो। तुम अपने आप में परमपूर्ण हो; क्योंकि तुम्हारा मौलिक स्वरूप शुद्ध-बुद्ध एवं निष्काम है। परन्तु खेद की बात यह है कि तुम इस अपनी दिव्यता को नहीं समझते हो और अपनी पूर्णता के लिए जगह-जगह भटकते हो। तुम स्वयं सभी भगवानों के भगवान, परमात्माओं के परमात्मा तथा

. अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः।
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन॥
(कल्याण, भक्तचरितांक, पृ. 494, सन् 1952)

ब्रह्म के ब्रह्म हो, परन्तु अपनी इस परम ऊंचाई को न समझकर भगवान, परमात्मा तथा ब्रह्म के लिए दर-दर ठोकरें खाते हो। अतः हे साधक! बाहर भगवान, परमात्मा तथा सुख खोजने की मृगतृष्णा छोड़ो। तुम बाहर से लौटकर अपने आप में पूर्ण प्रतिष्ठित होओ।

"ब्राह्मण क्षत्री बानी, तिनहुँ कहल नहिं मानी।" ये ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य अपने द्विजत्व के अहंकार में डूबे हैं। ये निर्णय के वचनों पर ध्यान नहीं देते। यहां कबीर साहेब उक्त तीनों वर्णों को ही ऐसा कहते हैं, अन्तिम चौथे वर्ण को नहीं कहते। इससे ऐतिहासिक क्षेत्र पर प्रकाश पड़ता है। कबीर साहेब पूरी मानवता के पक्षधर थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वर्णव्यवस्था-जनित सुविधाओं तथा प्रतिष्ठाओं के उपभोक्ता थे। कबीर साहेब कहते थे कि पूरा मानव-समाज मूलतः समान सब दिशाओं में उन्नति करने, सुविधाओं को पाने तथा प्रतिष्ठा का अधिकारी है। किसी कुल-परिवार पर किसी व्यवस्था का प्रतिबन्ध न होना चाहिए कि वह अपनी योग्यता के अनुसार अपनी उन्नति ही न कर सके। विदित है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा बनिया के बाद शूद्र कहे जाने वाले बंधुओं पर अनेक प्रतिबन्ध थे। वे पढ़ नहीं सकते थे, किसी उच्च पद पर प्रतिष्ठित नहीं हो सकते थे, मंदिर में प्रविष्ट नहीं हो सकते थे, संन्यास नहीं ले सकते थे, वरासन पर बैठ नहीं सकते थे। वे केवल मोटी सेवा का काम कर सकते थे। प्रथम त्रिवर्ण उसी चौथे वर्ण से सारा काम कराकर तथा सारा उपार्जन कराकर सारी सुविधा का भोग कर रहा था, परन्तु वह जिससे सुविधा पा रहा था, उस अन्तिम चतुर्थ वर्ण को सदैव उपेक्षित बनाये रखने के लिए अपने तथाकथित धर्मशास्त्रों में नये-नये नियम-कानून बनाये जा रहा था। वर्णव्यवस्था का ऐसा क्रूर पंजा था कि उसने धर्म का जामा पहनकर चौथे वर्ण के मुंह पर मौन की पट्टी बांध दी थी। वर्णव्यवस्था के भ्रामक और क्रूर नियम ने प्रथम के त्रिवर्ण में मिथ्या अहंकार तथा अन्तिम चौथे वर्ण में झूठी हीनभावना की ग्रन्थि पैदा कर दी थी जिससे समाज का आज भी पूर्ण उद्धार नहीं हो पाया है। पहले कभी मनुष्यों की योग्यता के अनुसार उन्हें काम में नियुक्त किया जाता रहा हो, और वर्णव्यवस्था जन्मजात न होकर केवल काम का बटवारा रहा हो, परन्तु इधर हजारों वर्ष से जो उसका रूप है वह अत्यन्त घृणित है। इस वर्णव्यवस्था ने हिन्दू समाजरूपी शरीर में पक्षाघात का काम किया है। इससे भारतीय समाज को लकवा मार गया। वर्णव्यवस्था ने मनुष्य के मौलिक अधिकार को छीन लिया। आचार और ज्ञान से कोई प्रयोजन न रखते हुए वर्णव्यवस्था की यह मानसिकता है कि ब्राह्मण नामधारी बड़ा है, क्षत्रिय उससे छोटा है, वैश्य उससे छोटा है, शूद्र उससे छोटा है तथा अतिशूद्र

एवं अंत्यज उससे छोटा है। शूद्र या अतिशूद्र कहा जाने वाला व्यक्ति आचार और ज्ञान की कितनी ही ऊंचाई पर चढ़कर भी वर्णव्यवस्था के अनुसार श्रेष्ठ एवं पूज्य नहीं हो सकता और ब्राह्मण नामधारी शीलभ्रष्ट होकर भी श्रेष्ठ एवं पूज्य है। इस अज्ञानपूर्ण क्रूर मानसिकता एवं व्यवस्था ने मानव के मूल अधिकार को छीन लिया।

कबीर साहेब इस व्यवस्था के घोर विरोधी थे। वे कहते थे कि पूरा मानव-समाज मूलतः एक समान है। सब एक ही प्रकृति से रचे गये हैं तथा सब में एक ही समान चेतन तत्त्व निवास करता है। अतएव पूरे मानव-समाज के लिए यह छूट होनी चाहिए कि जिसमें जैसी योग्यता हो अपनी-अपनी उन्नति करे, जैसा कि इस बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में स्वतन्त्र भारत में छूट है। मानव के मूल अधिकार की सुरक्षा के लिए आज भारतीय संविधान है, यह मानो कबीर के विचारों की विजय है। इसके साथ-साथ मनुष्यों की मानसिकता में भी परिष्कार होना चाहिए। कबीर साहेब के इन मानवतावादी विचारों से द्विजातियों को अपने गलत अधिकारों को छिन जाने का भय था। वे देख रहे थे कि वर्णव्यवस्था के पक्षधरों के केन्द्र काशी में ही कबीर ऐसी आग लगा रहा है जिससे द्विजातियों की सुविधा, श्रेष्ठता एवं शोषण-तन्त्र में जबर्दस्त धक्का पहुंचने वाला है। अतएव तथाकथित प्रथम तीनों वर्णों के लोग कबीर से कतराते थे। इसी विशेषता को लेकर सद्गुरु ने यहां कहा—"ब्राह्मण क्षत्रिय बानी, तिनहुँ कहल नहिं मानी।" परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं लगाना चाहिए कि इन त्रिवर्णों में कोई उदार था ही नहीं। इनमें से अनेक लोग कबीर साहेब के विचारों के प्रभाव में आये और कितने लोग तो उनके शिष्य बन गये। कबीर के अनुयायी ब्राह्मण सर्वाजीत पंडित, क्षत्रिय वीरसिंह बघेल, वैश्य धनपति श्रीजुड़ावन (श्री धर्म साहेब) तो बड़े-बड़े नाम हैं, इन त्रिवर्णों में से उदार चिन्तक लोग कबीर-विचारों में रंगकर समाज को उस दिशा में ले जाने का प्रयास करते रहे। द्विजातियों के पीछे वर्णव्यवस्था द्वारा लगाये गये पक्षपातपूर्ण नियम बुरे हैं न कि द्विजातियों में उदारतापूर्वक सोचने वालों का अभाव है। कबीर के विचार-पवन को पाकर हजारों-लाखों के अंतर्मन की मानवता की आग सुलगती गयी और वे जो चाहते थे उसका बहुत कुछ अंश आज भारत में संविधान का रूप ले लिया है। उन्होंने छुआछूत की भावना को पाप कहा था तो आज संविधान है कि यदि कोई किसी को अछूत कहता है तो वह न्याय द्वारा दण्डित हो सकता है। जनता, जो बड़ी तथा असली सरकार है उसमें भी उदारता के विचार दिनोदिन बढ़ते जा रहे हैं।

"योगी जंगम जेते, आपु गहे हैं तेते।" साहेब कहते हैं कि ये योगी, जंगमादि षटदर्शनी एवं नाना मतवादी अपने-अपने सांप्रदायिक अहंकार में पड़े

नाना मान्यताओं में उलझे हैं। सब अपनी मान्यता को सर्वोपरि मानकर स्वरूपज्ञान एवं आत्मज्ञान से दूर पड़े हैं। "कहहिं कबीर एक योगी, वो तो भरमि-भरमि भौ भोगी।" साहेब कहते हैं कि जो एक योग-संप्रदाय के लोग हैं वे केवल भटकाव में हैं और योग के नाम पर भोगी बने हैं। कबीर साहेब के समय में योगियों का बड़ा प्रचार था। उनका समाज बहुत बढ़ गया था। जो बहुत बढ़ता है उसमें विकृति भी बहुत आती है। लगता है कि कबीर साहेब के समय में योगियों में अच्छे साधकों का बड़ा अभाव हो गया था। सब दिखावा, प्रतिष्ठा एवं धन-धान्य में लीन हो गये थे। इसीलिए कबीर साहेब ने अपनी वाणियों में उन्हें बारम्बार कोसा है। इस शब्द में भी एक बार योगी-जंगम कहकर षटदर्शनियों के साथ योगियों को याद करते हैं और दूसरी बार अन्तिम पंक्ति में केवल उन्हीं को यादकर उन्हीं की भर्त्सना करते हैं।

इस पूरे शब्द में एक ही मुख्य बात है घर के मालिक के दर्शन "घरहुक नाह जो अपना, तिनहुँ से भेंट न सपना।" जो अपने घर का मालिक हो उससे स्वप्न में भी न भेंट करना कितनी कृतघ्नता है! जो अपने हृदय-मंदिर का आत्मदेव है उसी को भूले रहना कितना बड़ा अपराध है! इसी का फल है हमारा दुखी बने रहना। साहेब स्नेह से कहते हैं कि हे माया के दास, छोड़ माया का मोह, सुविचारित पंथ को पकड़, स्वरूपसाक्षात्कार एवं आत्मसाक्षात्कार कर। वर्णाभिमान, आश्रमाभिमान एवं संप्रदायाभिमान तेरे आत्मसाक्षात्कार में रोड़े हैं। सारे अभिमानों को छोड़ और अपने चेतनस्वरूप आत्मदेव में रमण कर!

क्या काशी क्या मगहर ऊसर?

शब्द-103

लोगा तुमहीं मति के भोरा 1
ज्यों पानी पानी मिलि गयऊ, त्यों धुरि मिला कबीरा 2
जो मैथिल को साँचा ब्यास, तोहर मरण होय मगहर पास 3
मगहर मरै, मरै नहिं पावै, अन्तै मरै तो राम लजावै 4
मगर मरे सो गदहा होय, भल परतीत राम सो खोय 5
क्या काशी क्या मगहर ऊसर, जो पै हृदय राम बसै मोरा 6
जो काशी तन तजै कबीरा, तो रामहि कहु कौन निहोरा 7

शब्दार्थ—भोरा= भोला, सरल, मूर्ख। धुरि= धुर, पक्का, निश्चल। मैथिल= मिथिला का, मिथिला निवासी। ब्यास= व्यास, पंडित। मगहर= गोरखपुर के पश्चिम बस्ती जिले का एक कस्बा जो आजकल गोरखपुर-

लखनऊ रेलवे लाइन पर पड़ता है। अन्तै= अलग। राम लजावै= अपने गलत आचरण से अपनी आत्मा को लज्जित करना। गदहा= गधा। भल= बिलकुल। ऊसर= वह जमीन जिसमें रेह हो तथा कुछ पैदा न हो। जो पै= यदि। निहोरा= एहसान, सहारा।

भावार्थ—हे लोगो ! तुम लोग ही बुद्धि के भोले हो 1 जैसे पानी में पानी मिल जाने पर उसे अलग नहीं किया जा सकता, वैसे यह कबीर अपने रामस्वरूप में निश्चलतापूर्वक मिल गया है अब इसे कोई अलग नहीं कर सकता 2 यदि तुम मिथिला के सच्चे पंडित हो तो तुम्हारा मरना भी मगहर के ही पास होना चाहिए 3 क्योंकि यदि व्यक्ति मगहर—मग=मार्ग, हर= ज्ञान—अर्थात ज्ञान-मार्ग में शरीर छोड़ता है तो वह वस्तुतः मरने नहीं पाता है, किन्तु अमरत्व पाता है, और यदि ज्ञान-मार्गरूपी मगहर छोड़कर शरीर त्यागता है तो अपने गलत आचरण से मानो अपनी अंतरात्मा को लज्जित करता है 4 जो मगहर-गांव में मरता है वह गधा होता है ऐसा मानकर आप लोगों ने रामभजन का विश्वास बिलकुल खो दिया है 5 यदि मेरे हृदय में आत्माराम की स्थिति है अर्थात मैं निरंतर आत्माराम में रम रहा हूं तो मेरा शरीर काशी में छूटे, मगहर में छूटे या ऊसर जमीन में छूटे इससे क्या अन्तर पड़ता है ! 6 यदि मुक्ति के लिए कबीर काशी में शरीर छोड़ता है तो रामभजन के सहारा का क्या अर्थ रहा ! 7

व्याख्या—कबीर साहेब सभी प्रकार के अन्धविश्वासों को तोड़ने वाले थे। उनके सारे विचार तर्कपूर्ण थे। उन्होंने जीवनपर्यंत भारत तथा भारत के बाहर भ्रमण करते हुए भी काशी अपना मुख्य निवास स्थान रखा। एक सौ अठारह-उन्नीस वर्ष काशी में बिताकर वे अपनी जरजर अवस्था में मगहर जाना चाहे। सामान्यता यह एक आश्चर्य का विषय हो सकता है, परन्तु कबीर साहेब के प्रखर विचारों को देखते हुए यह कोई आश्चर्य वाली बात नहीं है।

जीवनपर्यंत काशी में रहकर एक परम सन्त कबीर मरने के लिए सुदूर मगहर में क्यों गये? इस प्रश्न का उत्तर ही यह 103वां शब्द है। परन्तु इन उच्च भावों को न समझकर साधारण लोग ही नहीं, विद्वान कहलाने वाले लोग भी अन्यथा बकते हैं, तो कौन किसका मुख पकड़ लेगा। बचपन में तो एक दंतकथा सुनी जाती थी कि काशी के एक ज्योतिषी पंडित ने कबीर साहेब से कहा कि आपकी मृत्यु मुक्तिदायी काशी में नहीं, किन्तु मगहर में होगी, जहां मरकर मनुष्य गधे की योनि में जाता है। तब कबीर साहेब अपने दोनों पैर कटाकर काशी में बैठ गये कि अब तो मैं काशी से कहीं बाहर नहीं जा सकता।

. अब यह क्षेत्र 'संत कबीर नगर' नामक जिला के नाम से जाना जाता है।

अब तो मैं निश्चित ही काशी में मरूंगा। परन्तु पंडित की बात सत्य हुई, काल घोड़े के रूप में आकर कबीर साहेब को अपनी पीठ पर बैठा लिया और तुरन्त उसने ऐसी दौड़ लगायी कि एक ही बार में वह कबीर साहेब को मगहर में ही ले जाकर छोड़ा और कबीर साहेब ने मगहर में पहुंचकर वहीं शरीर त्याग किया।

उक्त कथा गंवारों की गढ़ी हुई है, परन्तु शहरी और विद्वान कहे जाने वाले लोग इस विषय में गंवारों से भी गंवार बन जाते हैं। कोई तो लिखता है कि कबीर को सिकन्दर लोदी ने दो बार कष्ट देना चाहा और न दे सका, तब वह संभवतः तीसरी बार कबीर को दंड दिया और वे इससे क्षत-विक्षत होकर मगहर चले गये। फिर वे यह भी लिखते हैं कि इस तीसरे दंड का संकेत कबीर के काव्य में नहीं है। कोई लिखता है कि कबीर काशी के पंडित-मुल्लाओं के विरोध से घबराकर अंत में मगहर चले गये। कोई पंडिताऊ विचार वाला लिखता है कि यह कबीर का एक हठ ही था जो मुक्तिधाम काशी छोड़कर मगहर मरने गये।

उक्त सारे प्रलापों का उत्तर तो यह 103वां शब्द ही है, परन्तु विद्वान कहलाने वाले इस पर क्यों ध्यान देने लगे! उन्हें तो एक नयी कही जाने वाली बात गढ़ लेनी है जो उनकी नयी खोज मानी जाये, चाहे उससे प्रतिपाद्य विषय की हत्या ही हो। सिकंदर लोदी (सन् 1489-1517) ने कबीर साहेब को कोई दंड देना चाहा है इसकी चर्चा या संकेत बीजक भर में कहीं नहीं है। हां, अन्य वाणियों में है जो कबीर साहेब के नाम से जुड़ी हैं। अनंतदास की कबीर-परिचई में भी है। परन्तु इन सबमें यही है कि काशी के मुल्ला-पंडित आदि कुछ लोगों के भड़काने से सिकंदर लोदी ने कबीर साहेब को कष्ट देना चाहा था, परन्तु वह सफल नहीं हुआ। अंततः उसने कबीर की सत्यता से प्रभावित होकर उनसे क्षमा-याचना की और उन्हें धन-जागीर आदि देना चाहा, परन्तु कबीर साहेब सिकंदर लोदी को तो क्षमा कर दिये जो कि उनका पहले से ही क्षमाभाव था; परन्तु लोदी से कोई धन-जागीर नहीं लिये। जब तथाकथित तीसरे दंड की कबीर-वाणी में चर्चा ही नहीं है तब उसकी कल्पना कर विद्वान लोग क्यों अपनी भूल सिद्ध करते हैं! इसके अलावा क्षत-विक्षत हुआ आदमी वहीं या कहीं आस-पास ही मरना चाहेगा कि काशी से मगहर दौड़ लगाना चाहेगा, जो करीब पौने दो सौ किलोमीटर है, वह भी पैदल तथा बैलगाड़ी के जमाने में।

जो लोग लिखते हैं कि कबीर काशी के ही अपने विरोधियों से घबराकर मगहर चले गये थे वे अपने कथन में कोई प्रमाण नहीं दे पाते। हां, वे यह लिखकर अपनी एक नयी खोज का दंभ अवश्य दिखाते हैं। कबीर शुरू से ही

क्रांतिकारी थे। उनका कुछ विरोध हुआ होगा तो शुरू में अर्थात उनकी नवजवानी में ही। जितने दिन बीते होंगे लोगों के मन में उनके प्रति श्रद्धा बढ़ी होगी। असलियत न जानकर या स्वार्थवश उलझन होती है। असलियत जान जाने पर लोग सत्य के समर्थक हो जाते हैं और इससे स्वार्थी तत्त्व भी दब जाते हैं। कथाओं से पता चलता है कि हिन्दू-मुसलिम के कुछ पुरोहितों तथा राज्य के कुछ अधिकारियों की ओर से पहले कबीर का विरोध हुआ था, आम जनता तो तब भी कबीर के साथ थी। कुछ दिनों में तो एकदम पासा पलट गया था और काशीवासी कबीर के प्रशंसक हो गये थे। उनकी जितनी अवस्था बढ़ती गयी, वे लोगों के अधिकाधिक श्रद्धाभाजन होते गये। फिर पूरा जीवन काशी में बिताकर अन्तिम में मगहर जाने की कोई तुक ही नहीं हो सकती जबकि उस समय के काशीनरेश तक कबीर के श्रद्धालु हो गये थे।

जो लोग लिखते हैं कि कबीर का यह हठ ही है जो मुक्तिधाम काशी छोड़कर मगहर मरने चले गये, वे पंडिताऊ विचार के हैं। वे समझते हैं कि कबीर ने ऐसा कर काशी की प्रतिष्ठा में बट्टा लगाया, परन्तु वे यह नहीं समझते कि कबीर ने ऐसा करके एक अन्धविश्वास एवं असत्य का विरोध किया तथा राम-भजन की प्रतिष्ठा बढ़ायी है। पुरोहिताई विचार वालों को तो राम-भजन के महत्त्व से कुछ लेना-देना नहीं है, उन्हें तो काशी आदि तीर्थों की झूठी महिमा बढ़ाकर तथा जनता की वहां भीड़ जमाकर उनसे पुजवाने की चेष्टा है।

कबीर साहेब काशी छोड़कर मगहर क्यों गये, इसका सुन्दर, स्वस्थ, आत्मविश्वासजनक, ज्ञानपरक तथा सर्व कल्याणकर समाधान स्वतः कबीर के मुख से ही निकले इस 103वें शब्द में प्राप्त है जिसके मूल रूप तथा भावार्थ को आपने ऊपर पढ़ लिया है। अब उस पर थोड़ी व्याख्या का मनन करें।

कबीर साहेब परम सन्त थे, परन्तु वे अन्य संतों की लाइन से हटकर एक क्रांतिकारी, वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाले, सत्य के द्रष्टा तथा आधुनिक भाषा में कहा जाये तो रैश्नल विचार के थे। वे किसी अन्धविश्वास एवं गलत बात को सह नहीं सकते थे। उन्होंने एक सौ अठारह-उन्नीस वर्ष की लम्बी उम्र काशी में बितायी थी। वे पूरे भारत के श्रद्धाभाजन ही नहीं, काशी वालों के भी परम श्रद्धेय थे। उन्होंने देखा कि अब शरीर जाने वाला है। लोगों को भ्रम है कि काशी में मरने से जीव का मोक्ष होता है और यदि मगहर में कोई मरता है तो गधा होना पड़ता है। कबीर साहेब-जैसे पारदर्शी दृष्टि वाले के सामने यह सर्वथा झूठी बात कैसे छिपी रह सकती थी। क्योंकि यह सर्वथा तर्कहीन बात है। मोक्ष है वासना का त्याग, वह ज्ञान से होता है और कहीं भी रहकर यह काम किया जा सकता है। फिर यह काम जीवनकाल में ही होता है, मरते समय नहीं। जो

जिन्दगीभर वासना में बंधा हो, वह मरते समय काशी में चला जाये और वहीं शरीर छोड़े तो मुक्त कैसे हो जायेगा! जिसकी वासना पहले से छूट चुकी है वह मगहर आदि कहीं भी शरीर छोड़े तो वह बंधन में कैसे पड़ जायेगा! यह ठीक है कि साधारण आदमी यदि किसी ऐसे स्थल में शरीर छोड़ता है जहां से पवित्रता की भावना जुड़ी है तो उसके लिए अन्य जगह से वह अच्छा है। उसका मरते समय कुछ भाव पवित्र हो सकता है। परन्तु इतने मात्र से मोक्ष की कल्पना करना बालकपन है। पौराणिक पंडितों ने मोक्ष को लड्डू मान रखा है कि कहीं दुकान से खरीदो और खा लो। वस्तुतः ज्ञानी वासना का पूर्णतया त्यागकर इसी जीवन में मुक्त हो जाता है। वह सदैव अपने आत्माराम में रमता है। उसका कहीं भी शरीर छूट जाये उसके लिए कोई अन्तर नहीं पड़ता।

मगहर की तरफ गोरखपुर क्षेत्र में कबीर साहेब के समय में सिद्धों तथा नाथपंथियों का प्रचार था, जो बौद्धों का अवशेष था। यदि उधर कोई आकर्षित होता था तो ब्राह्मण-पुरोहितों को कोई लाभ नहीं था। परंतु यदि लोग काशी में आते थे तो पंडितों-पुरोहितों की पुजाई बढ़ती थी, अतएव पंडितों ने काशी की आंख मूंदकर प्रशंसा की। इससे जनता में अविवेक उत्पन्न होगा, पुरोहित-पंडित इसकी परवाह नहीं करता। वह तो देखता है कि उसका स्वार्थ किसमें है। यह दोष केवल ब्राह्मण-पुरोहित-पंडितों में हो ऐसी बात नहीं, किन्तु यह संसार के हर मजहब एवं समाज के पुरोहित-पंडितों में होता है।

कबीर साहेब ने उक्त अन्धविश्वास को सक्रिय एवं प्रायोगिक रूप में तोड़ने के लिए तथा कर्म, भक्ति, ज्ञान, त्याग, आत्मस्थिति एवं राम-भजन की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए अपने मन में निश्चय किया कि मुझे शरीर काशी में नहीं छोड़ना है, किन्तु मगहर में छोड़ना है। देखते हैं कि बाहरी जगह बंध-मोक्ष का कारण बनती है कि अपने मन की स्थिति। कबीर साहेब ने अपने विचार शिष्य-मंडली और संत समाज को बताया, फिर यह बात पानी में तेल की तरह पूरी काशी में फैल गयी। सभी वर्ग के लोग कबीर साहेब के प्रेमी थे। उनमें पंडित समुदाय भी था। बिहार प्रदेश के उत्तरी भाग में मिथिला क्षेत्र पड़ता है। वहां हजारों वर्षों से विद्वान होते आये हैं। उपनिषद् काल में जनक की विद्वत्-मंडली मिथिला में ही लगती थी। कबीर साहेब के समय में भी तथा आज भी मथिला में अच्छे पंडित होते थे तथा हैं। मिथिला के पंडितों का एक अच्छा-खासा समाज काशी में रहता था और वहां अपने पांडित्य का वर्चस्व रखता था। यह बात आज भी है। काशी में आज भी मैथिली ब्राह्मणों एवं पंडितों का अच्छा समाज है। दूसरे पंडितों की अपेक्षा मैथिली पंडित कबीर साहेब के अधिक प्रेमी थे। उन सबने जब सुना कि कबीर साहेब शरीर त्यागने मगहर जा रहे हैं तो वे चकित रह गये। उनका एक समाज कबीर साहेब के आश्रम पर आया और प्रेम में विह्वल होकर

प्रेमप्रलाप में कह डाला है कि महाराज! आप कैसे भोले हो गये? आपने यह विचार कैसे बना लिया कि मरने के लिए मगहर जाना है? महाराज, काशी में मरने से जीव सहज ही मोक्ष पाता है और मगहर में मरने से गधा होना पड़ता है। फिर आप-जैसे ज्ञानी संत कैसे भोला बन रहे हैं?

मैथिली पंडितों की प्रेम-लपेटी अटपटी बातें सुनकर कबीर साहेब को हंसी आ गयी। उन्होंने स्नेहपूर्वक पंडितों से कहा—"लोगा तुमहीं मति के भोरा" हे पंडितो! तुम लोग ही भोले हो। मैं तो किसी बात की गहराई में जाकर ही उसे मुख से निकालता हूं। तुम लोग कहते हो कि काशी में मरने से मुक्ति और मगहर में मरने से गधा होना पड़ता है; परन्तु ये दोनों ही बातें व्यर्थ हैं। बंध-मोक्ष तो मन की वासना तथा वासनाहीनता से होते हैं, उनमें काशी या मगहर आदि स्थानविशेष की क्या अपेक्षा है; और मेरे लिए तो तुम लोगों को कोई चिन्ता ही नहीं करनी चाहिए। क्योंकि "ज्यों पानी पानी मिलि गयऊ, ज्यों धुरि मिला कबीरा।" जैसे पानी में पानी मिल जाये, तो क्या कोई पुनः उसे अलग-अलग कर सकता है? इसी प्रकार मैं निश्चलतापूर्वक निजस्वरूपराम में लीन हूं। अब मुझे संसार की कोई भी शक्ति उससे अलग नहीं कर सकती। पानी में पानी मिलने का उदाहरण एक भावनात्मक कथन है। न तो जीव पानी की तरह विकारी है और न उसे अपने स्वरूप से अलग किसी विकारी वस्तु में मिलना है। बूंद-समुद्र का उदाहरण भी भावनात्मक कथन के अलावा कुछ नहीं है। जीव किसी की बूंद नहीं है। इसे किसी समुद्र में मिलना नहीं है। यहां तो केवल इतना ही लेना है कि पानी में पानी मिल जाने से उसे पूर्ववत अलग नहीं किया जा सकता, वैसे जो ज्ञानी अपने स्वरूप में स्थित हो गया है, उसे उससे कोई विचलित नहीं कर सकता। "त्यों धुरि मिला कबीरा" में 'धुरि' का शुद्ध शब्द है 'धुर' और धुर का अर्थ है पक्का एवं निश्चल। जिसकी सारी वासनाएं निवृत्त हो गयीं तथा जो अविचल भाव से अपने स्वरूप में स्थित हो गया, उसे कोई विचलित नहीं कर सकता। उसका चाहे जहां शरीर छूटे वह पहले से ही सब समय मुक्त ही है।

"जो मैथिल को साँचा ब्यास, तोहर मरण होय मगहर पास।" पंडितों को लेने के देने पड़ गये। कबीर साहेब ने उन सबसे कहा—यदि आप लोग मिथिला के सच्चे पंडित हैं तो आप लोगों का मरना भी मगहर के पास होना चाहिए। पंडितों ने कहा—महाराज! यह तो अच्छी बात हुई। हम लोग आप को मगहर न जाने का अनुरोध करने आये थे और आप हमें ही कहते हैं कि तुम लोग भी मगहर में मरना, लेकिन महाराज, ऐसा क्यों? क्यों हम लोग भी मगहर में मरें?

साहेब ने कहा—"मगहर मरै, मरै नहिं पावै, अन्तै मरै तो राम लजावै।" यदि कोई मगहर में मरता है तो मरने नहीं पाता, बल्कि अमरत्व पाता है। तात्पर्य यह कि मगहर में मरने वाले शरीर तो छोड़ देते हैं, परन्तु उनकी आत्मा बंधनों से मुक्त हो जाती हैं। उनका मोक्ष हो जाता है। यदि कोई मगहर छोड़कर अलग मरता है तो वह मानो अपने गलत आचरणों से अपनी अंतरात्मा को लज्जित करता है।

उक्त बातों को सुनकर पंडितों को बड़ा आश्चर्य हुआ। कैसी है कबीर की खोपड़ी। ये काशी को तो मुक्ति का धाम नहीं मानते, किन्तु मगहर को मुक्ति का धाम मानते हैं। इनकी अजीब बात है। एक साधारण गांव मगहर उसमें मरने वालों को ये बताते हैं कि जीव मुक्त हो जायेगा। पंडितों ने कबीर साहेब से कहा—महाराज ! आपके कथन से तो यही लगा कि हम और आप दोनों बराबर अंधविश्वासी हैं। हम कहते हैं कि काशी में मरने से मुक्ति होती है और आप कहते हैं कि मगहर में मरने से मुक्ति होती है। तो आपके अंधविश्वास से हमारा अंधविश्वास अच्छा है; क्योंकि मगहर साधारण गांव है और आमी नदी के तट पर बसा है, परन्तु काशी प्राचीन धर्म और विद्या का केन्द्र तथा नगर है और गंगा-तट पर बसी है। यदि महाराज, इसमें कुछ रहस्य हो तो बताइए; क्योंकि हम लोगों को विश्वास नहीं पड़ता कि आप मगहर-गांव में मरने से मुक्ति मानेंगे।

कबीर साहेब ने हंसते हुए कहा—पंडितो ! "मगहर मरै, मरै नहिं पावै" जो मगहर में मरता है वह अमरत्व पाता है, तो वह मगहर गांव नहीं है जो गोरखपुर के पश्चिम है। मेरा मोक्षदायी मगहर है ज्ञान-मार्ग। मग कहते हैं मार्ग को और हर कहते हैं ज्ञान को। जो मगहर में मरता है अर्थात ज्ञान-मार्ग में मरता है वह मुक्त हो जाता है, और जो ज्ञान-मार्ग को छोड़कर काशी-प्रयागादि किसी स्थान विशेष में मरकर मुक्ति की आशा करता है वह मानो राम को लज्जित करता है। वह अपने अविवेक के भद्दे कार्य से अपनी अंतरात्मा के ज्ञान की अवहेलना करता है।

"मगहर मरे सो गदहा होय, भल परतीत राम सो खोय।" जो मगहर-गांव में मरेगा वह गधा होगा। यह मानने का तात्पर्य हुआ कि राम-भजन का विश्वास एकदम छोड़ दिया गया। यह बताइए कि मगहर-गांव बड़ा है कि राम बड़ा है। क्या मगहर-गांव इतना बड़ा हो जायेगा कि रामभजन के महत्त्व को ही समाप्त कर देगा। पंडितो ! इस पर ध्यान दो ! मगहर तो एक अदना गांव है। वह किसी का बंधन नहीं बन सकता। जो व्यक्ति निरंतर राम में रम रहा है, जो सब समय स्वरूपस्थिति में डूबा है मगहर आदि कोई जड़ क्षेत्र उसका क्या बिगाड़ सकता है !

"क्या काशी क्या मगहर ऊसर, जो पै हृदय राम बसै मोरा।" यदि मेरे हृदय में आत्माराम की स्थिति है, यदि मैं सब समय राम में, अपनी चेतना में, निज स्वरूप में रम रहा हूं तो मेरा शरीर काशी में छूटे या मगहर में छूटे या ऊसर जमीन में छूटे, क्या अंतर पड़ता है! भोले लोगों ने काशी, प्रयाग, अयोध्या, गंगा, यमुना, सरयू, नर्मदा आदि नगरों, नदियों में निवास एवं स्नान से मोक्ष होने की कल्पना कर डाली है जो एक अज्ञान एवं छलावा है। तीर्थों के पुरोहितों ने जनता को तीर्थ की तरफ घसीटकर उनसे पुजवाने के लिए ऐसी-ऐसी असत्य धारणाएं समाज में फैलायी हैं। यह भी हो सकता है कि कुछ राष्ट्रीय भावना वालों ने राष्ट्रीय एकता के लिए भी यह झूठा प्रलोभन देकर राष्ट्र के हर कोने से मनुष्यों को जोड़ा हो। इसमें उद्देश्य ठीक है, परन्तु मनुष्य आध्यात्मिक ढंग से गुमराह होता है। पंडितों का यह भी लक्ष्य हो सकता है कि तीर्थों की महिमा पढ़-सुनकर जब लोग तीर्थ में आयेंगे, तो उनके कुछ सात्त्विक मनोरंजन, ज्ञान, त्याग, सदाचार आदि बढ़ेंगे और सत्संग पाकर वे कल्याण-मार्ग में सक्रिय रूप से लग भी सकते हैं। अतएव तीर्थों में घूमना-फिरना, आना-जाना ठीक है। वहां राष्ट्रीय भावना, देश का ज्ञान, अपनी संस्कृति-सभ्यता का परिचय, कुछ धार्मिक भाव, सत्संग आदि के लाभ की दृष्टि से जाना चाहिए। परन्तु यह ध्यान रहे, वहां मनुष्य को छोड़कर न देवता या भगवान बैठा है और न मोक्ष बिकता है। मोक्ष तो है मोह का क्षय, वासना का त्याग। वह सत्संग-विवेक से होगा। विवेक द्वारा जिसका मन वासनाहीन है वह सदैव मुक्त ही है। काशी आदि में मरने से मुक्ति मिलती है यह धारणा मुक्तितत्त्व के अनभिज्ञों की है।

"जो काशी तन तजै कबीरा, तो रामहि कहु कौन निहोरा।" कबीर साहेब ने पंडितों से कहा कि यदि मैं मुक्ति के लिए काशी में शरीर छोड़ता हूं तो रामभजन का निहोरा क्या रहा! मैं काशी के बल पर मुक्ति नहीं मानता हूं, किन्तु रामभजन के बल पर मुक्ति मानता हूं। मुक्ति कोई सौदेबाजी नहीं है, किन्तु मन की वासनाहीन अवस्था है।

कबीर साहेब काशी में अपनी लम्बी उम्र बिताकर बुढ़ापा में शरीर त्यागने के लिए काशी से मगहर क्यों गये? इसका स्पष्ट उत्तर कबीर साहेब के मुख से निकली वाणी में आपने पढ़ा। वे मोक्षतत्त्व के विषय में फैले भ्रम के निवारण के लिए तथा मोक्ष के तात्त्विक स्वरूप की प्रतिष्ठा के लिए जरजर अवस्था में काशी छोड़कर मगहर गये। इसके अलावा अन्य कोई कारण नहीं था। कबीर साहेब ने एक सौ उन्नीस वर्ष, सात महीने तथा पचीस दिन का जीवन व्यतीत कर विक्रम संवत 1575 माघ शुक्ल एकादशी को मगहर में शरीर का त्याग किया।

बगुला भक्तों से सावधान

शब्द-104

कैसे तरो नाथ कैसे तरो, अब बहु कुटिल भरो 1
कैसी तेरी सेवा पूजा कैसे तेरो ध्यान, ऊपर उजल देखो बगु अनुमान 2
भाव तो भुजंग देखो अति बिबिचारी, सुरति सचान तेरी मति तो मंजारी 3
अति रे विरोधी देखो अति रे सयाना, छौ दर्शन देखो भेष लपटाना 4
कहहिं कबीर सुनो नर बन्दा, डाइनि डिम्भ सकल जग खन्दा 5

शब्दार्थ—तरो= उद्धार होना। नाथ= स्वामी। कुटिल= कुटिलता, छल। बगु= बगुला पक्षी जो सफेद होता है तथा जलाशयों के निकट रहकर जलजंतुओं को खाता है तथा अपने छलावा के लिए प्रसिद्ध है। भुजंग=सांप। बिबिचारी= विविचारी, विचारहीन, कुकर्मी। सुरति= सुरत, ध्यान, मन। सचान= बाजपक्षी। मति= बुद्धि। मंजारी= बिल्ली। सयाना=बुद्धिमान, चालाक, धूर्त। छौ दर्शन= योगी, जंगम, सेवड़ा, संन्यासी, दरवेश तथा ब्राह्मण। बन्दा= सेवक, दास, भक्त। डाइनि= डाइन, तथाकथित जादू करने वाली स्त्री, डरावनी सूरत की या दुष्टा स्त्री, तात्पर्य में माया। डिम्भ= दंभ, पाखंड। खन्दा= खा लिया, भटका दिया।

भावार्थ—हे स्वामियो ! तुम लोगों का उद्धार कैसे होगा? क्योंकि अब तो तुम लोगों में बड़ा छलावा तथा खोटाई भर गयी है 1 देवताओं तथा ईश्वर के प्रति तुम्हारे द्वारा की जाने वाली सेवा तथा पूजा कैसी दिखावापूर्ण हो गयी है और ध्यान-योग भी कैसे छल से भरा है ! बगुला-पक्षी के समान तुम लोग कपटी हो गये हो जो ऊपर से तो उजले तथा संयत दिखते हैं, परन्तु भीतर से पर-हिंसा की कालिमा से भरे रहते है 2 देखो, तुम्हारे भाव तो सांप जैसे विषधर, अत्यन्त विचारहीन एवं कुकर्मी हैं और तुम्हारी सुरत और बुद्धि हिंसक बाजपक्षी तथा बिल्ली की तरह हैं 3 देखा जाता है कि षटदर्शनी एवं नाना संप्रदायों के लोग एक दूसरे के अत्यन्त विरोधी बने राग-द्वेष का बाजार गरम कर रहे हैं। ये अपने-अपने मतवाद को फैलाने में खूब चालाक हैं और अपने-अपने वेष के अभिमान में लिपटे हैं 4 कबीर साहेब कहते हैं कि हे मनुष्यो, हे भक्तो ! सुनो इस माया और माया के सहायक दंभ ने सारे संसार को खा लिया है 5

व्याख्या—प्रथम पंक्ति में ही आया है ''कैसे तरो नाथ कैसे तरो'' यह नाथ शब्द नाथपंथियों से सम्बन्ध रख सकता है जिनका उत्तरी भारत में बड़ा प्रचार था तथा आगे चलकर काफी विकृत हो गया था। कबीर साहेब के समय में नाथपंथियों का ज्यादा उज्ज्वल स्वरूप नहीं था, लेकिन यहां उनका भाव केवल

उन्हीं के लिए नहीं है, किन्तु उन समस्त धार्मिकों के लिए है जो धर्म के वेष बनाने में तो आगे हैं, परन्तु करनी में घिनौने हैं। कबीर साहेब ऐसे संदर्भ में प्रायः षटदर्शन का नाम लेते हैं। षटदर्शन में योगी, जंगम, सेवड़ा, संन्यासी, दरवेश तथा ब्राह्मण आते हैं। योगी में सिद्ध, नाथ आदि; जंगम में लिंगायत, शिवाचारी; सेवड़ा में जैनी तथा बौद्ध, संन्यासी में दसनामी—तीर्थ, आश्रम, सरस्वती, भारती, वन, आरण्य, पर्वत, सागर, गिरि और पुरी; दरवेश में सामी संप्रदाय—ईसाई, यहूदी, मुसलमान आदि के साधु, पादरी, फकीर आदि; ब्राह्मण में उनकी सभी शाखाओं के आचार्य आते हैं। परन्तु षटदर्शन का लाक्षणिक अर्थ है संसार के समस्त धार्मिक वेषधारी जो विशेषतः धर्मप्रचारक तथा पूज्य हैं।

भीतर कुछ तथा बाहर कुछ ऐसे कपट भरे दोहरे व्यक्तित्व के कबीर साहेब घोर विरोधी थे। वे दिखावे से पूर्ण धार्मिक वेषधारियों पर दुख प्रकट करते हुए कहते हैं कि हे स्वामी लोगो, आप लोगों का उद्धार कैसे होगा! आप लोगों के वेष तो बड़े पवित्र दिखते हैं, परन्तु भीतर में बड़ी कुटिलता भरी है। धर्म का स्वरूप अन्दर-बाहर एक तथा सरल होता है, परन्तु तुम लोगों में देखा जाता है तो बड़े-बड़े छल-कपट भरे हैं। जो कपटाचार साधारण आदमी में भी निंदनीय है वह तुम धर्माचार्यों में पूर्ण है। तुम्हारे उद्धार की बात ही दूर है, तुम्हारे तो व्यवहार भी पवित्र नहीं हैं। जब तुम खुद इस प्रकार हो, तब संसार का तुम कौन-सा कल्याण कर सकते हो?

"कैसी तेरी सेवा पूजा कैसे तेरो ध्यान" सेवा तथा पूजा में कर्म तथा उपासना के क्षेत्र आते हैं तथा ध्यान में ज्ञान का क्षेत्र आता है। कर्मकांडी तथा उपासक लोग अनेक कल्पित देवी-देवता तथा ईश्वर मानी गयी मूर्तियों की सेवा करते हैं। वे उन्हें सुलाते, जगाते, नहलाते, खिलाते, पिलाते, पंखा करते, आग तपाते, फूल-मालाएं एवं नाना वस्तुएं चढ़ाते, वन्दना तथा आरती करते इस प्रकार सेवा-पूजा में लगे रहते हैं। यद्यपि पूजा-सेवा के उक्त सारे आलंबन काल्पनिक हैं, तथापि कोई केवल चित्त शुद्धि के लिए सच्चे हृदय से करता है तो उसका कुछ-न-कुछ सात्त्विक मनोरंजन होता है। आलंबन कुछ हो, परन्तु उसके विषय में उसका दिल सच्चा होता है। किन्तु जहां हृदय ही कपटपूर्ण है वहां तो सब कुछ दिखावा के लिए किया जाता है। लोग मुझे धार्मिक समझें, भक्त तथा उपासक समझें, लोग धन चढ़ावें इन सबके लिए ही यदि यह सब किया जाता है तो सेवा-पूजा को केवल भोगों का साधन बनाना हुआ। इसी प्रकार लोगों को दिखाने के लिए ध्यान करना और भीतर मान-भोग की कामना रखना, यह सब अनर्थ है। इसीलिए साहेब ऐसे लोगों से पूछते हैं कि तुम्हारे

द्वारा की जाती हुई सेवा-पूजा कैसी है और यह ध्यान भी कैसा है? क्योंकि तुम्हारा जीवनस्तर जब देखा जाता है तब "ऊपर उजल देखो बगु अनुमान" अर्थात तब यही अनुमान होता है कि तुम बगुले के समान ऊपर से तो स्वच्छ धार्मिक हो, परन्तु भीतर काले हो। बगुला-पक्षी जलाशय के निकट बैठता है या जलाशय में भी विचरता है। वह कभी-कभी अर्ध-उन्मीलित नेत्रों द्वारा एक पैर के बल पर ध्यान में बैठा महायोगी लगता है, परन्तु वह यह सब मछलियों को पकड़ने की सुविधा के लिए करता है। इसी प्रकार तुम्हारे द्वारा किये जाते हुए सेवा-पूजा तथा ध्यान आदि लोकदिखावा के लिए हैं, स्वयं सेवा-पूजा पाने के लिए और भौतिक भोगों के लाभ के लिए हैं अतः यह तुम्हारा पतन-पथ है।

"भाव तो भुजंग देखो अति बिबिचारी, सुरति सचान तेरी मति तो मंजारी।" भाव तुम्हारे सांप-जैसे हैं। सांप ऊपर से कोमल, चिकने और सुंदर दिखते हैं, परन्तु उनके मुख में विष होता है। वे अवसर पाते ही मनुष्य को डसकर मार डालते हैं। तुम्हारा भाव भी ऐसा है। तुम केवल देखने में स्वच्छ हो, मन तुम्हारा विषधर है। तुम अत्यन्त विचारहीन, बदचलन तथा कुकर्मी हो। धर्म के नाम पर किस तरह लल्ला-लल्ली बनकर तीर्थों, पुरियों, देव-मंदिरों में दुराचार होते हैं यह सर्वविदित है। रास के नाम पर, लीला के नाम पर, प्रेमा-भक्ति के नाम पर, अमरौली-बज्रौली साधकर योग के नाम पर "भग बिच लिंग लिंग बिच पारा, जो न खसै सो गुरु हमारा" कहकर धार्मिक अपराधी सारा कुकर्म करते हैं। इतना ही नहीं, ज्ञान के नाम पर स्वयं को निर्लिप्त आत्मा एवं ब्रह्म बताकर तथा "भोगे युवति सदा संन्यासी" कहकर धर्म के चोंगाधारी कुकर्म की धारा में बहते हैं। साहेब कहते हैं कि तुम्हारा मन बाजपक्षी के समान शिकार पर ही झपट्टा मारने वाला है। बिल्ली जमीन पर दुबकी पड़ी रहती है और चूहे को देखते ही उस पर कूद पड़ती है। तुम्हारी दशा भी ऐसी ही है। तुम देखने में विनम्र, भक्त, ज्ञानी, योगी आदि बनते हो, परन्तु तुम्हारे आचरण क्रूर, भोगपरायण तथा भौतिकवादी है।

"अति रे विरोधी देखो अति रे सयाना, छौ दर्शन देखो भेष लपटाना।" देखा जाता है कि इन धार्मिक कहे जाने वाले संप्रदायों में परस्पर अत्यंत विरोधी विचार रखने वाले, एक दूसरे से कटा-कटी करने वाले और द्वेष की आग भी उगलने वाले होते हैं। विचारों की भिन्नता तो संसार का स्वभाव है, परन्तु इसको लेकर राग-द्वेष, कलह, लड़ाई-झगड़े, शास्त्रार्थ के नाम पर वाकयुद्ध, हिंसा, हत्या आदि करके इन सांप्रदायिक दरिन्दों ने धर्म को कलंकित कर दिया है। इन सांप्रदायिक स्वामियों में एक-से-एक ऐसे भी सयाने हैं, चालाक एवं महाधूर्त हैं, जो स्वयं को ऐसा प्रदर्शित करते हैं कि ये मानो सर्वज्ञ,

सर्वसमर्थ तथा विशेष अवतार हैं। ये जो चाहें सो कर सकते हैं। इस अपने मिथ्या दैवी एवं ईश्वरीय चमत्कार में वे लोगों को फंसाकर अपना उल्लू सीधा करते हैं। आज भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है। आज भी धार्मिक धूर्तों का एक दल भारत में अवतार बना बैठा है। ये सांप्रदायिक लोग केवल वेष बनाने में लगे हैं। भक्ति, कर्मों की उज्ज्वलता, सच्चरित्रता, ज्ञान, योग, ध्यान, त्याग, शांति आदि को छोड़कर केवल धार्मिक वेष बनाने तथा उसके बल पर पुजवाने के चक्कर में पड़े हैं।

"कहहिं कबीर सुनो नर बन्दा, डाइनि डिम्भ सकल जग खन्दा।" साहेब कहते हैं कि हे सन्तो ! हे भक्तो ! सुनो और सावधान रहो। डाइन और दंभ ने सारे संसार को खा लिया है। इस पंक्ति में डाइन और डिम्भ ये दो शब्द ज्यादा महत्त्वपूर्ण हैं। लोगों ने काल्पनिक चुड़ैल को डायन या डाइन कहा है। लोगों का अंधविश्वास है कि कुछ ऐसी स्त्रियां होती हैं जो भूत-प्रेत एवं दैवीशक्ति सिद्ध किये रहती हैं, या वे मंत्र-बल सिद्ध रखती हैं। ऐसी स्त्रियां अपनी इन शक्तियों से जिसको चाहें उन्हें बीमार कर सकती हैं, मार सकती हैं या उनकी बड़ी-से-बड़ी हानि कर सकती हैं। इन्हें लोग डायन या डाइन कहते हैं। लेकिन यह सर्वथा काल्पनिक है। यदि कोई भयंकर एवं क्रूर स्त्री हो उसे ही डाइन कह सकते हैं। चुड़ैल भी एकदम झूठी धारणा है। कुछ स्त्रियों को लोग डाइन या टोनही आदि मानते हैं यह भी केवल अज्ञान का फल है। यहां कबीर साहेब ने तो माया को डाइन कहा है। माया है सांसारिक लिप्सा। सांसारिक भोगों की वासना ही माया है और इसको पूर्ण करने के लिए लोग दंभ करते हैं। दंभ कहते हैं दिखावा को। यहां दंभ अधिक प्रासंगिक है। क्योंकि जो धर्म का चोंगा पहनकर विषयों में डूबे हैं उनका तो प्रतिष्ठित बने रहने का दंभ ही आधार है। वे धर्म एवं वेष का दिखावा करके ही उसकी आड़ में स्वार्थ एवं भोग साधते हैं। साहेब कहते हैं कि हे नर बंदो ! हे मनुष्यो एवं भक्तो ! इन-जैसे स्वामियों से सावधान रहो। जो व्यक्ति स्वयं निष्कपट नहीं, सदाचारी नहीं और अपने सिद्धांतों के लिए सच्चा नहीं, वह स्वयं डूबा है। फिर वह तुम्हारा क्या उद्धार कर सकता है ! ऐसे स्वामियों, धार्मिकों एवं उद्धारकों से सदैव दूर रहना।

ध्यान रहे ! सब समय सच्चे सन्त एवं धर्मपरायण लोग रहे हैं जो जगत में तरण-तारणरूप रहे हैं। उन्होंने स्वयं अपना कल्याण किया है तथा वे संसार के प्रेरणास्त्रोत रहे हैं। आज भी ऐसे महापुरुषों की कमी नहीं है, हमें सच्चे दिल से खोजी बनना चाहिए। परन्तु धूर्तों का जाल पहले भी ज्यादा था और आज भी ज्यादा है। उनसे सावधान रहकर हमें सच्चे संत और सद्गुरु की खोज कर उनकी शरण लेनी चाहिए।

भूत-प्रेत-योनि केवल भ्रम है

शब्द-105

ये भ्रम भूत सकल जग खाया, जिन जिन पूजा ते जहँड़ाया 1
अण्ड न पिण्ड न प्राण न देही, कोटि कोटि जिव कौतुक देही 2
बकरी मुरगी कीन्हेउ छेवा, आगल जन्म उन्ह औसर लेवा 3
कहहिं कबीर सुनो नर लोई, भुतवा के पुजले भुतवा होई 4

शब्दार्थ—खाया= खोखला कर दिया, दुर्बल बना दिया। जहँड़ाया= ठगाया गया, ठगा गया, हानि उठाया। अण्ड= सूक्ष्म शरीर, बीज। पिण्ड= स्थूल शरीर, देह। प्राण= प्राणवायु, सांस। देही= देह का धारक, जीव। कोटि-कोटि= करोड़ों-करोड़ों। कौतुक= कुतूहल, अचंभा, तमाशा। छेवा= वध, हत्या। औसर= अवसर, मौका, दावं, बदला। लोई= लोगों।

भावार्थ—जो वस्तुतः भ्रममात्र है उस भूत-प्रेत की मान्यता ने मनुष्य के मन को दुर्बल बनाकर उसे खोखला कर दिया है। जो लोग भूत-प्रेत की पूजा-अर्चा में पड़े वे मानो अपने आप को ठगा दिये 1 भूत-प्रेत के न सूक्ष्म शरीर है न स्थूल शरीर, न प्राण है और न जीवात्मा। अर्थात वह कुछ नहीं है, फिर भी करोड़ों-करोड़ों लोग इस तमाशे में अपना सिर पटक रहे हैं 2 ये अंधविश्वासी लोग भूत-प्रेतों के नाम पर बकरी-मुरगी आदि निर्दोष प्राणियों का वध करते हैं। ध्यान रहे, भविष्य जन्म में वे अपना बदला इनसे लेंगे। जो दूसरों का सिर काटता है उसका सिर एक दिन कटता है 3 कबीर साहेब कहते हैं कि हे नर-लोगो ! सुनो, भूत-प्रेत की मान्यता, पूजा आदि करने से उनका भ्रम मन में दृढ़ होता है, अन्यथा वे कुछ नहीं हैं 4

व्याख्या—यह जंगली युग की धारणा है कि आदमी जब मर जाते हैं तब उनमें से जो अशांत आत्माएं हैं वे भूत-प्रेत की योनि में जाकर भटकती हैं। वे पहले से अधिक बलवान हो जाती हैं। वे मनुष्यों को पीड़ित करती रहती हैं। कहा गया कि जो अशांत स्त्रियां हैं वे मरकर चुड़ैल अर्थात प्रेतिन होती हैं और जो अशांत पुरुष हैं वे मरकर प्रेत होते हैं जिन्हें भूत कहते हैं। यदि ब्राह्मण मरकर भूत हुआ तो उसे ब्रह्मराक्षस कहते हैं। मुसलमानों के विश्वासानुसार भूत के लिए जिन या जिन्न शब्द है। यह सब केवल शब्द का अन्तर है। वह मूलरूप में भूत-योनि है जिनकी कल्पना करीब-करीब सभी वर्गों में है और जंगली युग की देन है।

प्रेत का अर्थ है गया हुआ तथा भूत का अर्थ है बीता हुआ। जीव शरीर छोड़कर चला गया यही मानो प्रेत हो गया, और चले जाने के बाद बीत गया तो मानो भूत हो गया। बस, भूत-प्रेत का इतना ही अर्थ है। भूत-प्रेत की कोई योनि

नहीं है। यदि उनकी योनि होती तो उनके वंशजों का पता चलता। सूक्ष्म–से–सूक्ष्म देहधारियों को देखा जा सकता है, फिर भूत–योनि के देहधारी क्यों नहीं दिखाई देते! किसी खानि के देहधारी की अपनी प्रजनन–प्रक्रिया होती है, आहार–विहार के ढंग होते हैं। भूत–योनि के संबंध में यह सब कुछ भी पता नहीं चलता।

लोग कहते हैं कि भूत–प्रेत हवा के रूप में घूमते हैं और जब चाहते हैं तुरन्त शरीर धारण कर लेते हैं। वे बिल्ली, बैल, भैंसा, हाथी कुछ भी तुरन्त बन जाते हैं और तुरन्त लुप्त भी हो जाते हैं। यह सब मनुष्य का केवल भ्रम है। जब आदमी भूत–प्रेत की भ्रांति से पहले ही भयभीत रहता है तब रात में किसी प्रकार दूर जलते–बुझते प्रकाश, ठूंठ, पेड़ आदि देखकर उन्हें भूत–प्रेत मान लेता है। कभी–कभी अपने दृष्टिदोष से कुछ–का–कुछ दिख जाता है और मनुष्य उसे भूत–प्रेत मान लेता है।

साहेब इस शब्द के शुरू में ही कहते हैं "ये भ्रम भूत सकल जग खाया, जिन जिन पूजा ते जहँड़ाया।" यहां भूत के नाम में भ्रम विशेषण है। भूत क्या है? भ्रम। हमारे मन का भ्रम भूत बनकर खड़ा हो जाता है। यह भूत–प्रेत का भ्रम केवल अनपढ़ गंवारों में ही नहीं, किन्तु शिक्षित, विद्वानों तथा शहरी लोगों में भी है। गंवार तो भूत–प्रेत के विषय में मोटे ढंग से कहेंगे कि हमने उन्हें देखा है, परन्तु शिक्षित कहलाने वाले लोग विज्ञान का दुरुपयोग कर उसके बल से भूत–प्रेत सिद्ध करते हैं। वे कहेंगे कि देखो टेलीविजन द्वारा दृश्यों का लुप्तीकरण तथा प्रकटीकरण होता है। दृश्य प्रतिबिम्बों का लघु रेडियो तरंगों द्वारा प्रेषण किया जाता है तथा निकटस्थ या दूरस्थ स्टेशनों पर उन्हीं प्रतिबिम्बों का पुनः निर्माण कर दिया जाता है। इसी प्रकार भूत–प्रेत जब चाहते हैं तब प्रकट होते हैं और जब चाहते हैं तब लुप्त हो जाते हैं। आजकल जितना विज्ञान बढ़ रहा है शिक्षितों का एक वर्ग तो उससे वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाकर प्रबुद्ध हो रहा है, परन्तु शिक्षितों का एक दूसरा वर्ग अधिकाधिक जड़ होता जा रहा है। यह वर्ग उस विज्ञान को आधार बनाकर अंधविश्वास फैलाता है जिससे वस्तुतः अंधविश्वास मिटाया जा सकता है। आजकल कितनी पत्र–पत्रिकाएं तन्त्र–विशेषांक तथा भूत–प्रेत विशेषांक छापती हैं। इनका खंडन करने वाली पत्र–पत्रिकाएं तो दुर्लभ हैं, हां, इनकी चमत्कारिक कल्पित बातें छाप–छापकर विद्वान कहलाने वाले लोग समाज का आर्थिक तथा बौद्धिक शोषण करते हैं।

साहेब कहते हैं कि इस भ्रमपूर्ण भूत–योनि की भावना ने संसार के लोगों के मन को दुर्बल बना दिया है। इसी दुर्बलता का फल है कि अशिक्षित–शिक्षित लोग कोई कष्ट होने पर भूत–प्रेत का भ्रम कर झाड़–फूंक के चक्कर में पड़े

रहते हैं। लोग औषध-संयम न कर झाड़-फूंक तथा पूजा-पाठ कराने के फेर में पड़कर रोग तथा मौत बुला लेते हैं। साहेब कहते हैं कि "जिन जिन पूजा ते जहँड़ाया" जो लोग भूत-प्रेत की मान्यता एवं पूजा में पड़े वे ठगा गये। जो व्यक्ति वस्तुपरक बुद्धि का परित्याग कर कल्पित भावनाओं में पड़ेगा वह धोखा खायेगा ही।

"अण्ड न पिण्ड न प्राण न देही, कोटि कोटि जिस कौतुक देही।" अण्ड कहते हैं वीर्य या बीज को, यहां अण्ड का अर्थ सूक्ष्म शरीर है। पिण्ड तो स्थूल शरीर है ही। प्राण का अर्थ साफ है। जिस वायु से श्वसन क्रिया होती है वह प्राण है। देही कहते हैं जो देह को धारण करता है उस जीव को। साहेब कहते हैं कि भूत-प्रेत में ये अंड, पिंड, प्राण तथा जीव कुछ भी सिद्ध नहीं होता है। जीव तो एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता है। अतएव बीच में भूत-प्रेत की कल्पना ही निरर्थक है। शीशम, साखू, आम आदि के बीज से खड़ाऊ, फाटक, कुर्सी, टेबल आदि नहीं बन सकते, किन्तु जब वे बीज जमीन में पड़कर पौधे के रूप में उगते हैं, फिर पेड़ होकर वर्षों में उनकी लकड़ियां पकती हैं, तब उन्हें काटकर कुर्सी, टेबल आदि बनाये जा सकते हैं। इसी प्रकार जीव जब शरीर छोड़ता है तब उसके साथ केवल सूक्ष्म-शरीर एवं संस्कार रहते हैं, उनके बल पर वह कुछ भी नहीं कर सकता। न वह क्षण में देह बना सकता है और न किसी को सता सकता है। वह तो जब किसी योनि में देह धारण कर लेता है तब कुछ कर सकता है। अतएव भूत-प्रेत केवल काल्पनिक हैं। परन्तु आश्चर्य है कि करोड़ों-करोड़ों लोग इस तमाशे में अपना सिर पटकते हैं।

"बकरी मुरगी कीन्हेउ छेवा, आगल जन्म उन्ह औसर लेवा।" भूत-प्रेत तथा देवी-देवता की मान्यता वाले उनके नाम पर बकरी-मुरगी काटते हैं। वे कहते हैं कि यह भूत-प्रेत तथा देवी-देवता की तृप्ति के लिए किया जाता है। इनके भूत-प्रेतादि ने आज तक किसी सिंह को खाने की बात नहीं की कि वे अपने भक्तों से कहें कि हमारे नाम पर सिंह चढ़ाओ। यह जीभ का स्वार्थी तथा मूढ़ आदमी बकरी-मुरगी को दीन जानकर उनका वध कर देता है। इस जीव-वध के मूल में मनुष्य का केवल मिथ्या स्वार्थ तथा अंधविश्वास है। साहेब कहते हैं कि जो लोग निरपराध प्राणियों का वध करते हैं उन्हें आगे जन्मों में इसका बदला देना पड़ेगा। तुम जिसको मारोगे वह समय पड़ने पर तुमसे बदला लेगा। पाप करने वालों को देर-सबेर अपने कर्मों के फल तो भोगने ही पड़ेंगे।

"कहहिं कबीर सुनो नर लोई, भुतवा के पुजले भुतवा होई।" साहेब कहते हैं कि हे नर लोगो ! भूत की भावना, भूत की पूजा तथा भूत की मान्यता करने

से भूत का भ्रम खड़ा होता है। इनकी भावना, मान्यता तथा पूजा-अर्चा छोड़ दो, बस ये कुछ नहीं हैं।

यहां 'नर लोई' शब्द आया है। 'लोई' शब्द जो कबीर साहेब की वाणियों में 'लोगों' के अर्थ में है, कुछ विद्वानों को इस 'लोई' शब्द से एक कल्पित स्त्री का स्वप्न होने लगता है जिसे वे कबीर साहेब से जोड़ने का अपराध करते हैं। परन्तु बीजक में जहां कहीं 'लोई' शब्द आया है 'लोगों' के अर्थ में है। लोगों के अर्थ में 'लोई' शब्द का प्रयोग अन्य कवियों ने भी किया है, जैसे शेख अब्दुल कुद्दूष गंगोही ने कहा "अलखदास आखै सुन लोई।" गोरख बानी में है "बंदत गोरखनाथ सुनो नर लोई।" मधुमालती में "अंत हाथ पछितावा लोई।" इत्यादि।

भूलभुलैया में जीवन मत बिताओ

शब्द-106

भँवर उड़े बग बैठे आई, रैन गई दिवसो चलि जाई 1
हल हल काँपे बाला जीव, ना जानों का करिहैं पीव 2
काँचे बासन टिके न पानी, उड़ि गये हंस काया कुम्हिलानी 3
काग उड़ावत भुजा पिरानी, कहहिं कबीर यह कथा सिरानी 4

शब्दार्थ—भँवर= काले बाल। बग= उजले बाल। बाला जीव= भोला एवं मूढ़ मनुष्य। पीव= दैव। बासन= बरतन, शरीर। हंस= जीव। कुम्हिलानी= मुरझा गया, सूखने लगा। काग उड़ावत= व्यर्थ का काम करते। भुजा पिरानी= वृद्ध होना। यह कथा= जीवन लीला। सिरानी= समाप्त होना।

भावार्थ—भंवरे उड़ गये और बगुले आकर बैठ गये; अर्थात काले बाल सफेद हो गये और देखते-देखते यों ही रात-दिन बीते चले जा रहे हैं 1 यह मूढ़ मानव भावी कर्म-फल-भोगों की दुखद संभावना को लेकर थर-थर कांपता है और सोचता है कि दैव मेरे विषय में पता नहीं क्या करेगा 2 मिट्टी के कच्चे बरतन में देर तक पानी नहीं टिक सकता; अर्थात इस क्षणभंगुर शरीर में प्राण ज्यादा दिन नहीं रुक सकते। एक दिन चेतन हंस इस काया को छोड़कर उड़ जाता है और यह मुरझा जाती है 3 सद्गुरु कहते हैं कि आदमी जीवनभर विषय-सेवन एवं व्यर्थ क्रिया करते-करते बूढ़ा हो जाता है, और इसी में उसकी जीवन-लीला समाप्त हो जाती है 4

व्याख्या—"भँवर उड़े बग बैठे आई।" यहां भंवर तथा बग रूपक मात्र हैं। भंवरे काले तथा बगुले सफेद होते हैं। यहां भंवरे काले बाल तथा बगुले

. विस्तार के लिए देखें 'कबीर : जीवन और दर्शन' पांचवां अध्याय।

सफेद बाल हैं। मनुष्य के जीवन के आरम्भ से उसके बाल काले होते हैं। जवानी तक प्रायः काले ही रहते हैं। परन्तु कुछ दिनों में उजले होने लगते हैं। शौकीन मनुष्यों की दाढ़ी–मूंछ में जब कहीं–कहीं बाल उजले होने लगते हैं तब वे उन्हें उखाड़ देते हैं और जब कई बाल उजले होने लगते हैं तब वे उन्हें कैंची से काटते हैं, जब अधिक बाल उजले होने लगते हैं तब उनमें से कुछ लोग औषध का प्रयोग करते हैं जिससे बाल काले दिखें। हम कृत्रिम रूप से बालों को भले ही काले बनाये रखें, परन्तु अवस्था के प्रवाह को नहीं रोक सकते। शरीर तो जवानी से बुढ़ापा की ओर निरंतर जायेगा ही। दिन बीतने के बाद रात तथा रात बीतने के बाद दिन बीतते हैं। इस रफ्तार को कौन रोक सकता है "सुबह होती है, शाम होती है। उम्र यों ही तमाम होती है।" रात और दिन रूपी काले और सफेद चूहे हमारे जीवन–वृक्ष को निरंतर काटते हैं। हर प्राणी हर समय मौत की तरफ निरंतर खिसक रहा है। इस प्रवाह को रोकने वाला आज तक संसार में कोई नहीं हुआ। और तथ्य के अनुसार अनुमान होता है कि आगे भी इसे कोई रोक नहीं सकता।

"हल–हल काँपे बाला जीव" यह अबोधी आदमी थर–थर कांपता है कि पता नहीं दैव हमारी क्या दशा करेगा! संसार में सर्वत्र एक कारण–कार्य की व्यवस्था है। मनुष्य के जीवन में भी यह व्यवस्था है। इस व्यवस्था का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। जीव जो कुछ भी करता है उसका फल उसे भोगना पड़ता है। डरने और कांपने से फल–भोग नहीं टल सकते। दुखों से बचने का रास्ता सच्चरित्रता है। दूसरों को दुख देने से बचो। ध्यान रहे, तुम दूसरों को असुविधा तथा दुख पहुंचाकर सुखी नहीं हो सकते हो। यदि तुम दूसरे सबका हितचिंतन करते हो और यथासाध्य हित करते हो तो तुम स्वयं सब समय सुखी रहोगे। जो लोग दूसरों की सेवा करके, दूसरों का हित करके यह कहते हैं कि जिसका मैंने हित किया वह मेरा एहसान नहीं माना, किन्तु मेरे उलटा किया, तथा इस बात को लेकर बहुत पीड़ित रहते हैं और कहते हैं कि मैं तो परोपकार करके भी सुखी नहीं हूं, तो ऐसे लोगों द्वारा की गयी पर–सेवा तथा परोपकार के मूल में शुद्ध निष्काम भाव नहीं है। जो पर–सेवा तथा परोपकार करके उसके बदले में सहानुभूति, प्रशंसा तथा कुछ भी चाहता है वह सुखी नहीं हो सकता। आदमी तभी दुखों से मुक्त तथा सुखी हो सकता है जब वह मन, वाणी तथा कर्मों से दूसरों को पीड़ा न दे, प्रत्युत निष्कामभाव से सुख देने का प्रयास करे। परन्तु आदमी ऐसा न कर अपने जीवन में दूसरे का अहित करता है और स्वयं में इन्द्रिय–लंपट रहता है। इसलिए उसका मन सदैव अशांत रहता है। ऐसा आदमी जितना बूढ़ा होता है उतना उद्विग्न तथा अपने भावी संभावित दुखों के

लिए आशंकित होता है। जिसने अपने आप को सब ओर से अनासक्त तथा आत्मस्थ नहीं बनाया उसकी नींव बालू-जैसी रहती है, उसके मन में सदैव भय सवार रहता है।

"काँचे बासन टिके न पानी, उड़ि गये हंस काया कुम्हिलानी।" सद्गुरु यहां जीवन की क्षणभंगुरता के लिए बड़ा सटीक उदाहरण देते हैं। मिट्टी का कच्चा घड़ा हो, यदि उसमें पानी भर दिया जाये तो आप जानते हैं कि उस घड़े के टूटने में देरी नहीं लगेगी। यह शरीर ऐसे ही दुर्बल है। इसके विनशते देरी नहीं लगती। किसी समय विश्वास नहीं किया जा सकता कि यह शरीर कब तक है। वायुयान, ट्रेन, बस, कार, स्कूटर, साइकिल आदि से यात्रा करते, पैदल चलते, बिस्तर पर लेटे, कब यह कच्चा साज बिखर जायेगा, इसे कोई नहीं जानता। जहां जीव निकला, यह शरीर कितना ही सुन्दर, सुगठित, युवक रहा हो तुरंत कुम्हला जाता है। आदमी अपनी देह का कितना अहंकार रखता है और इस पर यह कितना आशा का महल बनाता है, परन्तु वह सब क्षण में भहरा पड़ता है।

"काग उड़ावत भुजा पिरानी, कहहिं कबीर यह कथा सिरानी।" यहां इस पंक्ति का जो प्रथम अंश है "काग उड़ावत भुजा पिरानी" एक मुहावरा जैसा है। काग उड़ावत का अर्थ है व्यर्थ काम करना और भुजा पिरानी का अर्थ है शरीर वृद्ध हो जाना। जैसे कोई आदमी घर का कोई सार्थक काम न करे, वह आलसी हो और दिनभर दरवाजे पर बैठा ढेला लेकर कौए उड़ाता रहे और इसी क्रिया में बूढ़ा हो जाये, तो उसका जीवन व्यर्थ ही बीता हुआ माना जायेगा। यहां इन्द्रिय और मन को जीवनभर विषयों में दौड़ाना यही मानो कौआ उड़ाते जीवन को थकाना है। आदमी जीवन को मन और इंद्रियों की लम्पटता में ही बिता देता है। जो विषयों में क्षीण होते-होते बूढ़ा होता है, उसके जीवन में शांति कहां से आयेगी? कौए जैसे मलिन वस्तुओं को खाते, कर्कश आवाज करते तथा सशंक बने जीवन बिता देते हैं वैसे ये प्रपंची जीव अपने मन, वाणी तथा कर्मों से लम्पट बने जीवन खो देते हैं। इस प्रकार यह जीवन-लीला यों ही समाप्त हो जाती है।

विषयों को छोड़कर अपने स्वामित्व में प्रतिष्ठित होओ

शब्द–107

खसम बिनु तेली को बैल भयो 1
बैठत नाहिं साधु की संगत, नाथे जन्म गयो 2
बहि बहि मरहु पचहु निज स्वारथ, यम को दण्ड सह्यो 3
धन दारा सुत राज काज हित, माथे भार गह्यो 4

खसमहि छाँड़ि विषय रंग राते, पाप के बीज बोयो 5
झूठी मुक्ति नर आश जीवन की, उन्ह प्रेत को जूँठ खयो 6
लख चौरासी जीव जन्तु में, सायर जात बह्यो 7
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, उन श्वान को पूँछ गह्यो 8

शब्दार्थ—खसम=स्वामी, पति, निजस्वरूप चेतन। नाधे=जुते हुए। पचहु=पचना, जी-तोड़ मेहनत करना, परेशान होना। यम=मलिन वासना, बुरे संस्कार, अशुद्ध मन। खसमहि=निजात्म देव को। राते=आसक्त हुए। प्रेत को जूठ=अनेकों द्वारा अनेक बार भोगी हुई यह जड़-प्रकृति। सायर=समुद्र।

भावार्थ—इस देह में रहने वाले मन, बुद्धि, इंद्रियादि के स्वामी निजात्मदेव के परिचय बिना आदमी तेली के बैल के समान हो गया है जो कोल्हू में जुता हुआ निरंतर चलता है और इसी में उसका जीवन जाता है। संसारी आदमी की दशा भी यही है। वह कभी साधु-संगत में नहीं बैठता 1-2 वह अपने देहेन्द्रिय-भोगों के मिथ्या स्वार्थ में पड़ा हुआ चरित्रभ्रष्ट होकर निस्तेज होता है और इन सबके लिए जी तोड़ परिश्रम करता एवं परेशान होता है और इन सबके फल में वह मलिन वासनाओं एवं दुष्ट संस्कारों द्वारा निरंतर प्रताड़ित होता है 3 इसने धन, स्त्री, पुत्र तथा राजकाज के लिए अपने सिर पर दुनियाभर का बोझ उठा रखा है 4 यह अपने आत्मदेव की बोधस्थिति छोड़कर विषयों के रंग में ही डूब गया और उनके लिए कर्तव्य-अकर्तव्य सब कुछ करके इसने अपने हृदय-क्षेत्र में पाप के बीज बो लिये 5 निज चेतनस्वरूप की स्थिति छोड़कर जहां तक मनुष्यों को बाहर मुक्ति की आशा दी जाती है वह सब झूठी है। इस झूठी मुक्ति की आशा में पड़कर मनुष्य मुरदे का जूठा खाता है। यह सारी जड़ प्रकृति अनेकों की भोगी हुई होने से मानो मुरदे का जूठा है 6 चौरासी लाख योनिरूपी समुद्र में सब जीव बहे जा रहे हैं 7 सद्गुरु कबीर कहते हैं कि खेद है कि ये मूढ़ मनुष्य कुत्ते की पूंछ पकड़कर इस विशाल संसार-सागर से तरना चाहते हैं; अर्थात मन की कल्पनाओं का सहारा लेकर उबरना चाहते हैं 8

व्याख्या—मनुष्य माया में लिप्त होकर किस तरह संसार में पिस-पिस कर जीवन बिताता है और इन सबका उसे क्या फल होता है इन सब विषयों पर इस शब्द में बड़ा सुन्दर विवेचन हुआ है। शब्द की पहली पंक्ति है "खसम बिनु तेली को बैल भयो" खसम अरबी भाषा का शब्द है। इसके अर्थ शत्रु तथा स्वामी दोनों होते हैं। यहां स्वामी अर्थ है। 'तेली का बैल' मुहावरा है जिसका अर्थ होता है रात-दिन पिसने वाला व्यक्ति। यह मुहावरा क्यों बना, इसका उत्तर सरल है। तेली अपने तेल पेरने के कोल्हू में बैल को जोत देता है, उसकी

आंखों पर पट्टी बांध देता है और उसे एक बार हांक देता है, फिर वह उस कोल्हू में अपने आप चलता रहता है। तेली के बैल के लिए कोई रात या दिन का नियम नहीं रहता। वह घर के भीतर ही कोल्हू में जुता निरन्तर चलता रहता है। संसारी मनुष्य की दशा यही है। उसे यह पता नहीं है कि मेरी आत्मा ही सभी ज्ञान-विज्ञान का पति है। वह अपने स्वामित्व को छोड़कर इंद्रियों का गुलाम बना हुआ संसार में नधा चलता रहता है। वह एक बार संसार में जुत जाता है और जीवनभर सांसारिकता में पिसता रहता है। तेली के बैल की तरह उसे कभी फुरसत नहीं मिलती। तेली के बैल को तो चाहे फुरसत मिल भी जाये, परन्तु सांसारिकता में डूबे मनुष्य को फुरसत नहीं मिलती। संस्कृत भाषा के अनुसार ख+सम—ख=आकाश तथा सम= समान अर्थ होता है। खसम अर्थात आकाश के समान। आकाश के समान सब तरह के भावों से रहित। साहेब कहते हैं कि आकाश के समान निर्मलता के बिना तुम तेली के बैल बन गये हो। जिसका मन आकाश के समान निर्मल है वह सांसारिक घनचक्कर में क्यों पड़ेगा !

"बैठत नाहिं साधु की संगत, नाधे जन्म गयो।" जैसे तेली का बैल कोल्हू में नधा हुआ जीवन बिताता है, वैसे मनुष्य सांसारिक धन्धे में जुता हुआ समय बिताता है। उसे फुरसत नहीं कि कभी साधु-सन्तों की संगत में बैठ जाये और उनके शीतल वचनों से अपने आप को शीतल कर ले। मनुष्य की बुद्धि जड़ हो जाने से वह सांसारिक स्वार्थ को तो लाभ समझता है, इसलिए उसके लिए वह रात-दिन धन्धे में नधा रहता है, परन्तु यह नहीं समझता कि मन की शांति परम लाभ है। इसे न समझने से ही वह साधु-संगत के लिए समय नहीं निकालता। समय तो सबके लिए समान है। राजा हो या चपरासी दिन-रात में सबके लिए चौबीस घंटे ही होते हैं। जो लोग कहते हैं कि क्या करें हमें समय नहीं मिलता, इसलिए सत्संग में नहीं जा पाते, वे गलत कहते हैं। यह बात ठीक है कि ऐसी विवशता कभी-कभी हो सकती है, परन्तु यदि वह बराबर यही मानता है कि क्या करें समय नहीं मिलता, तो वह धोखे में है। हम अपने समय को कहां लगाना चाहते हैं, यह हमारे विचारों तथा हानि-लाभ निश्चय पर निर्भर करता है। यदि हमें मानसिक शांति का लाभ निश्चय हो जायेगा, तो निश्चित ही सत्संग के लिए समय निकालेंगे।

"बहि बहि मरहु पचहु निज स्वारथ, यम को दण्ड सह्यो।" रात-दिन काम-धन्धे में ही लगे रहना बह-बहकर मरना है। अथवा सांसारिकता में इतना डूब जाना कि अपने नैतिक-नियमों एवं मर्यादा में न रह पाना, पदे-पदे पथभ्रष्ट होना बह-बहकर मरना है। जीवन में संयम और चरित्र सब कुछ है। जो

विषयों में अधिक डूब जाता है उसका यह सब खो जाता है। यही उसका बह-बहकर मरना है। "पचहु निज स्वारथ" अपनी इंद्रियों के भोगों के स्वार्थ में डूबकर रात-दिन जी तोड़ मेहनत करना तथा परेशान होना पचना है। किसी दिशा में अटूट परिश्रम करना उस दिशा में उन्नति का साधन है, किन्तु विषयों की तृष्णा में पड़कर रात-दिन दुनियादारी में नधे रहना आत्मशांति के लिए ठीक नहीं है। भौतिक उन्नति के लिए श्रम करना चाहिए यह ठीक है, परन्तु आत्मशांति के लिए भी दूसरी दिशा में समय निकालना चाहिए। आदमी केवल भौतिक पदार्थों का बंडल नहीं है। उसकी इस भौतिक देह के भीतर चेतन आत्मा भी है जो उसका सार स्वरूप है। शरीर के लिए भौतिक पदार्थ चाहिए, किन्तु आत्मा के लिए शांति चाहिए। आत्मज्ञान तथा आत्मशांति की अवहेलना कर केवल भोगों और दुनियादारी में डूबा आदमी अनेक मलिन वासनाओं एवं कुसंस्कारों से आबद्ध हो जाता है। ये मलिन वासनाएं एवं कुसंस्कार ही यम बन जाते हैं जिनका दण्ड जीव को रात-दिन सहना पड़ता है। मनुष्य के मन के भीतर जो काम, क्रोध, लोभ, तृष्णा, मोह, भय, चिंता, विकलता आदि उसे नोचते रहते हैं यही तो यम का दंड है जो हर संसारी जीव रात-दिन सह रहा है।

"धन दारा सुत राज काज हित, माथे भार गह्यो।" इस दुनिया में आकर आदमी धन-परिवार तथा संसार में इतना भूल जाता है कि उसे यह होशहवास ही नहीं रहता कि मैं कौन हूं तथा जीवन का लक्ष्य क्या है! आदमी अपने स्वरूप को भूलकर धन, घर, स्त्री, पुत्र, बंधु-बांधव ही सब कुछ मान लेता है। यह ठीक है कि मनुष्य का इन सबके लिए अपना उत्तरदायित्व होता है। उसे पहले तो अपने माने हुए शरीर के लिए ही कुछ करना पड़ता है। इसके बाद उसको स्वजन माने गये लोगों के लिए करना पड़ता है। घर, धन तथा सांसारिक पसारा को भी देखना पड़ता है, क्योंकि उन्हीं में उसका तथा उसके आश्रयीजनों का निर्वाह होना है। परंतु उसे यह भी विचारना चाहिए कि क्या मेरे इतने ही कर्तव्य हैं। उसे यह समझना होगा कि उसका सबसे बड़ा कर्तव्य होगा अपनी आत्मा का उद्धार करना। इस संसार में जीव का कुछ भी अपना नहीं है। उसने जिस धन-परिवार में उलझकर अपने उद्धार का काम दरकिनार कर रखा है वह उसके बंधनों के कारण बनते हैं, कल्याण के नहीं। संसार के धन-परिवार के प्रति मेरे मन के लोभ-मोह ही मेरे लिए फांसी बनते हैं। यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि जीव अकेला आया है और अकेला ही जायेगा। इसलिए यहां मिले हुए सारे प्राणी-पदार्थों के भुलावे को छोड़कर आत्म-उद्धार के विषय में सचेष्ट रहना चाहिए।

"खसमहि छाँड़ि विषय रंग राते, पाप के बीज बोयो।" देह, इंद्रिय, मन, बुद्धि तथा सारे ज्ञान–विज्ञान का पति एवं स्वामी जीव ही है। जीव को चाहिए कि वह अपने स्वामीपने को समझे। वह यह समझे कि मैं मन–इंद्रियों का दास नहीं हूं, किन्तु इनका स्वामी हूं। मुझे चाहिए कि मैं मन और इंद्रियों को जीतकर रहूं। परन्तु जीव को अपने स्वरूप की पहचान नहीं है। वह अपने स्वामीपने को नहीं जानता। इसलिए वह अपने स्वामीपने को छोड़कर इंद्रियों के विषयों के रंग में लीन हो जाता है। "खसमहि छाँड़ि विषय रंग राते" का यही अभिप्राय है। यहां रंग का अर्थ है भावना और राते का अर्थ है आसक्त होना। जीव अपनी सर्वोच्च गरिमा को न समझकर विषयों की भावनाओं में ही सदैव डूबा रहता है। साधक भी जितने क्षण विषयों की भावना में रहता है उतने क्षण अपने स्वरूपज्ञान की प्रतिष्ठा से अलग हो जाता है, फिर संसारी जीव की क्या बात, जो हर क्षण विषयों की भावना ही में आकंठ डूबे हैं। जो व्यक्ति जितना अधिक विषयों में डूबेगा वह उतना अधिक पाप के बीज बोयेगा। विषय–वासना स्वयं में ही महापाप है। जिस भावना के आने पर व्यक्ति अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित न रह जाये और विचलित होकर मलिन–मन तथा मलिन–क्रिया वाला हो जाये, वही तो सबसे बड़ा पाप है। मन की मलिनता एवं मन की चंचलता गुरुतर पाप है। यह मन जितना अधिक विषयलीन होता है उतना अधिक पर–अपकार, पर–हिंसा आदि का पाप करता है। संसार के सारे कुकर्मों एवं पापों के मूल में है विषयासक्ति। अतएव सद्गुरु बड़े मनोवैज्ञानिकतापूर्वक कहते हैं कि जीव अपने स्वामित्व से वंचित होकर विषयों में डूबता है और यही मानो वह पाप के बीज बोता है।

"झूठी मुक्ति नर आश जीवन की, उन्ह प्रेत को जूँठ खयो।" पापी–पुण्यात्मा, रागी–विरागी सबके मन में मुक्ति का महत्त्व है। इस प्रकार मुक्ति का महत्त्व देखकर लोगों ने अपनी धारणा के अनुसार गलत–सही सारी इच्छित वस्तुओं एवं उद्देश्यों की प्राप्ति को ही मुक्ति बतलाना शुरू कर दिया। कुछ लोगों ने काया–कल्प कर तथा औषध सेवनकर शरीर को अमर बनाने की दुराशा ही मुक्ति मान ली। कुछ लोगों ने काम–भोग को मुक्ति मान लिया। वैयाकरणों ने शब्द–शोधन को तथा संगीतज्ञों ने जीवनभर संगीत में डूबे रहने को मुक्ति मान लिया। कुछ लोगों ने किसी कल्पित लोकविशेष, सातवें स्वर्ग एवं सातवें आसमान पर पहुंचने की दुराशा को मुक्ति मान लिया। कुछ लोगों ने यह कल्पना की कि भगवान है। उसका एक लोक है। उसके लोक में बसना सालोक्य, उसके पास बसना सामीप्य, उसके आकार का हो जाना सारूप्य तथा उसमें लीन हो जाना सायुज्य मुक्ति है। कुछ लोगों ने माना कि मैं बूंद हूं और

समुद्र मुझसे अलग है; अतः उसमें मिल जाना मुक्ति है। इस प्रकार अपनी आत्मा से अलग विषयों एवं अवधारणाओं में स्थिति ही को मनुष्य ने मुक्ति मान लिया। साहेब कहते हैं कि यह मुक्ति झूठी है। जहां तक तुम अपने चेतनस्वरूप से अलग विश्राम एवं मुक्ति मानते हो, वह सब झूठा है; क्योंकि संसार के विषय तथा मन की धारणा तुम्हारा स्वरूप नहीं बन सकते। निज चेतनस्वरूप के अलावा सब कुछ नाशवान, छूटने वाला तथा विजाति है; अतएव वह सब हमारी स्थिति, विश्राम एवं स्थायी ठहराव का आश्रय नहीं बन सकता। इसलिए सद्‌गुरु कहते हैं कि तुम आत्मस्थिति के अलावा जहां तक मुक्ति की व्याख्या एवं मान्यता करते हो, सब झूठा है। निजस्वरूप की स्थिति छोड़कर मुक्ति की आशा झूठी है। अपनी चेतना एवं आत्मा के अलावा चाहे वह स्थूल विषय हो या मन की अवधारणा, सब जड़ विजाति प्रकृति है, और यह प्रकृति असंख्य पुरुषों द्वारा असंख्य बार भोगी गयी होने से जूठी है। "प्रेत को जूँठ" का अर्थ है मरे हुओं का जूठा। असंख्य लोग जिसे भोग-भोगकर मर चुके हैं, वह जड़ प्रकृति प्रेत का जूठा है। झूठी मुक्ति की आशा वाले उस जूठी जड़-प्रकृति में किसी-न-किसी प्रकार रमना ही मुक्ति मानते हैं जिसे असंख्यों ने भोगा है। अतएव सद्‌गुरु जूठी जड़ प्रकृति से वैराग्य कराकर साधक को संकेत देते हैं कि वह जड़ प्रकृति से लौटकर अपने स्वरूप में स्थित हो। मेरी अपनी आत्मस्थिति किसी अन्य की जूठी नहीं हो सकती। क्योंकि आत्मस्थिति का उपभोक्ता स्वतः आत्मा ही है, दूसरा नहीं। इसलिए आत्मस्थिति एवं स्वरूपस्थिति ही विवेकियों का प्राप्तव्य है। स्वरूपस्थिति ही मोक्ष है।

"लख चौरासी जीव जन्तु में, सायर जात बह्यो।" भारतीय लोकधारणा के अनुसार संसार में सब चौरासी लाख योनियां हैं। चौरासी लाख से कम हों या अधिक हों, यहां 'चौरासी लाख' का लाक्षणिक अर्थ समझना चाहिए संसार की सारी योनियां। ये संसार की असंख्य योनियों का समुच्चय मानो विशाल समुद्र है जिसमें सब जीव निरंतर बहे जा रहे हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो! इस विशाल संसार-सागर से तरने के लिए लोगों ने कुत्ते की पूंछ पकड़ी है। श्वान की पूंछ पकड़कर नदी पार करना भी कठिन है, फिर उससे समुद्र कैसे पार किया जा सकता है? श्वान की पूंछ एक मुहावरा है जिसमें दुराशा की व्यंजना है। श्वान की पूंछ न कभी सीधी होती है तथा न उसे पकड़कर समुद्र पार किया जा सकता है। इसी प्रकार मन के कुटेवों, विषय-वासनाओं तथा दुर्गुणों को रखकर न कोई सुखी हो सकता है तथा न मन की अवधारणाओं के सहारे कोई संसार-सागर से मुक्त हो सकता है। इसके लिए तो मन की सारी वासनाओं को त्यागकर, मन को भी अपने से अलग समझकर उसका द्रष्टा हो जाना चाहिए तथा मन को छोड़कर अपने आप में स्थित हो जाना चाहिए।

सद्गुरु ने इस शब्द में इस बात पर जोर दिया है कि जीव अपने स्वामित्व को भूलकर विषयों में तथा संसार के प्रपंचों में बह रहा है। इस बात पर लक्ष्य रखकर उन्होंने विषयों तथा सांसारिकता से हटने की ओर तीव्र व्यंजना की है, और दो बार खसम शब्द कहकर साधक को याद दिलाया है कि तुम अपने स्वामीपने को समझो। मन-इन्द्रियों की गुलामी तथा नाना कल्पित अवधारणाओं को छोड़कर अपने आत्मदेव-चेतनदेव में स्थित होओ।

अपरिपक्व साधक का मनोभाव

शब्द-108

अब हम भैलि बहुरि जलमीना, पूर्वल जन्म तप का मद कीन्हा 1
तहिया मैं अछलेउँ मन बैरागी, तजलेउँ मैं लोग कुटुम राम लागी 2
तजलेउँ मैं काशी मति भई भोरी, प्राणनाथ कहु का गति मोरी 3
हमहिं कुसेवक कि तुमहिं अयाना, दुइमा दोष काहि भगवाना 4
हम चलि अइलि तुम्हारे शरणा, कितहुँ न देखों हरिजी के चरणा 5
हम चलि अइलि तुम्हारे पासा, दास कबीर भल कैल निरासा 6

शब्दार्थ—भैलि= हो गया। जलमीना= जल के बिना व्याकुल मछली की तरह। तहिया= साधना के आरंभ काल में। अछलेऊँ= था। भोरी= भ्रमित। अयाना= न जानने वाला, न समझने वाला।

भावार्थ—एक सगुणोपासक साधक कहता है कि—मैं कुछ दिनों पूर्व अच्छा साधक था, परन्तु मुझे यह अहंकार हो गया कि मैं पूर्वजन्मों का तपस्वी एवं दिव्य संस्कारी हूं, इसलिए मेरा पतन नहीं हो सकता। इस मद में पड़कर मैंने साधना ढीली कर दी। फल यह हुआ कि अब मैं पुनः जल के बिना तड़पती हुई मछली के समान शांति से दूर हो गया हूं 1 जब मेरी साधना की शुरुआत थी, तब मैं हृदय से सच्चा विरक्त था। मैंने राम की प्राप्ति के लिए लोग-कुटुम्ब सबका परित्याग कर दिया था 2 लेकिन अभिमान के कारण मेरी बुद्धि भ्रमित हो गयी और मैंने सत्संग और ज्ञान की नगरी काशी का परित्याग कर दिया। हे प्राणनाथ! कहिए, मेरी क्या दशा होगी? 3 मेरे द्वारा की जाती हुई आपकी सेवा ठीक नहीं है या आप मेरी सेवा को समझ ही नहीं पा रहे हैं? हे भगवान दोनों में किसका दोष है! 4 मैं तो आपकी शरण में चला आया हूं, परन्तु आप हरि जी के चरणों के दर्शन कहीं नहीं हो रहे हैं 5 मैं तो आपके पास चला आया हूं, परन्तु आपने मुझे बिलकुल निराश कर दिया है 6

व्याख्या—उपर्युक्त शब्द में "तजलेउँ मैं काशी मति भई भोरी, प्राणनाथ कहु का गति मोरी।" पंक्ति के आधार पर कुछ लोग कल्पना करने लगते हैं कि कबीर साहेब जब काशी से मगहर चले गये तब उनको इस काम पर पश्चाताप होने लगा और उसी पश्चाताप में उन्होंने यह शब्द तथा इस शब्द में यह पंक्ति कही है। परन्तु कबीर साहेब के विषय में इस ढंग से सोचना उनके गहन-गम्भीर तत्त्व को न समझना है। यदि उन्हें काशी से मगहर जाने से पश्चाताप होता, तो वे पुनः लौटकर काशी आ सकते थे। कबीर साहेब कोई कच्चे तागे से नहीं बने थे, किन्तु फौलादी थे। वे भावुकता एवं हठ में काशी से मगहर नहीं चले गये थे, किन्तु वे अपनी स्वरूपस्थिति की परिपक्वता में पूर्ण थे। उनके लिए सब समय काशी, मगहर, ऊसर समान थे। कबीर-जैसे उच्चतम स्थिति प्राप्त पुरुष की व्याख्या करने के लिए कम-से-कम उच्चतम ख्याल तो होने ही चाहिए। अपनी मंचीय कविता तथा अखबारी विवेचन-छाप से कबीर-जैसे स्थितप्रज्ञ पर कुछ नहीं लिखना चाहिए और न बोलना चाहिए। कबीर का मोक्षधाम न तो काशी आदि बाह्य प्रदेश हैं और न उनका हरि चरण-हाथ वाला है जिसके दर्शन के लिए उन्हें बे-ताब होना पड़े। उनका हरि उनकी अंतरात्मा है और उनका मोक्षधाम वासनाहीन स्थिति है। इसलिए उन्हें अपने जीवन में न कोई पश्चाताप है न शिकायत है। वे तो कहते हैं—"यदि तुम मेरे समान पूर्ण संतुष्ट होना चाहते हो तो सबकी आशा-वासना छोड़ दो, और मेरे समान सर्वथा निष्काम हो जाओ, फिर सब सुख तुम्हारे पास है।"

इस 108वें शब्द का भाव किसी अपरिपक्व सगुणोपासक की कल्पना है। जिसका चित्रण सद्गुरु ने बड़े मार्मिक ढंग से किया है। कबीर साहेब के पास अनेक प्रकार के लोग आते थे; और ऐसे अनेक अवसर पड़ते थे; जब उनके मानसिक बिम्बों को लेकर कबीर साहेब के कंठ से कविता निकल पड़ती थी। अतएव यह पूरा 108वां शब्द किसी अपरिपक्व साधक के मनोभाव का चित्रण है।

दशरथ सुत तिहुँ लोकहि जाना

शब्द-109

लोग बोले दूरि गये कबीर, ये मति कोइ कोइ जानेगा धीर 1
दशरथ सुत तिहुँ लोकहि जाना, राम नाम का मर्म है आना 2
जेहि जिव जानि परा जस लेखा, रजु का कहै उरग सम पेखा 3

. जो तू चाहे मूझको, छाँड़ सकल की आस।
मुझ ही ऐसा होय रहो, सब सुख तेरे पास॥ बीजक, साखी 298॥

यद्यपि फल उत्तम गुण जाना, हरि छोड़ि मन मुक्ति उनमाना 4
हरि अधार जस मीनहि नीरा, और जतन कछु कहैं कबीरा 5

शब्दार्थ—मति= समझ, राय, अभिप्राय। धीर= स्थिर-चित्त, विवेकवान। मर्म= भेद। आना= दूसरा। लेखा= अंदाज, विचार। रजु= रस्सी। उरग= सांप। पेखा= देखा। हरि= अंतरात्मा, चेतनदेव। उनमाना= अनुमान, कल्पना।

भावार्थ—लोग कहते हैं कि कबीर बहुत दूर पहुंच गये हैं। परन्तु इस 'दूर' का अभिप्राय कोई बिरला स्थिरचित्त विवेकवान ही समझ सकता है 1 दशरथ-सुत श्रीराम की तीनों लोकों में प्रसिद्धि है; परन्तु राम-ऐसा नाम जिस सार्वभौमिक उपासनीय तत्त्व का है उसका रहस्य कुछ दूसरा ही है 2 जिस व्यक्ति में जैसी समझ होती है, जो जैसा अनुमान करता है, वैसा राम के विषय में कह देता है। देखो, कितने लोग अपने दृष्टि-दोष से रस्सी को सांप समझ लेते हैं 3 यद्यपि दशरथ-सुत श्रीराम में श्रद्धा होने से फल उत्तम होंगे, क्योंकि जाना जाता है कि उनमें अनेक उत्तम गुण थे; परन्तु लोगों की भूल यह है कि उनका मन अपनी अंतरात्मारूपी राम को छोड़कर दशरथ-सुत राम की भक्ति में एवं उनमें मिलकर मुक्ति की कल्पना करने लगता है 4 परंतु कबीर तो मुक्ति के लिए कुछ दूसरा ही साधन बता रहे हैं, वह है जलमीनवत निरंतर अपनी आत्मारूपी हरि में रमण करना 5

व्याख्या—इस शब्द में सद्गुरु ने मोक्ष के आश्रय-भूत परमतत्त्व का सुन्दर एवं सटीक विवेचन किया है। वे इस शब्द में पहली पंक्ति कहते हैं "लोग बोले दूरि गये कबीर, ये मति कोइ कोइ जानेगा धीर।" लोग कहते हैं कि कबीर बहुत दूर पहुंच गये हैं। परन्तु यहां बहुत दूर पहुंच जाने का अर्थ क्या हो सकता है? क्या कोई कल्पित धाम, साकेतलोक, ब्रह्मलोक, सत्यलोक, गोलोक, शिवलोक आदि? नहीं, ऐसा कुछ नहीं है। कहीं कोई लोक नहीं है जहां कबीर पहुंच गये हैं। कबीर तो अपने चेतन स्वरूप में स्थित हैं, वे अपनी आत्मा में लीन हैं। वे सांसारिक विषयों से अलग हो गये हैं। यही मानो वे दूर पहुंच गये हैं। जो मन की सारी कल्पनाओं को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित है वही मानो दूर चला गया है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं "ये मति कोइ कोइ जानेगा धीर" कबीर दूर चले गये, इस कथन का अभिप्राय कोई परम विवेकी ही समझ सकेगा। परमतत्त्व में स्थित पुरुष का कोई अन्य लोक नहीं होता। श्रुति कहती है—"हमारा यह आत्मा ही हमारा अपना लोक है। इसलिए ज्ञानी उसी आत्मलोक की प्राप्ति की अभिलाषा रख, घर से बे-घर हो प्रवर्जित होता है।"

. नोऽयमात्माऽयं लोकः एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति।
(बृहदारण्यक उपनिषद् 4/4/2)

कबीर साहेब आत्मा को राम कहते हैं जिसके विषय में वे आगे प्रकाश डालते हैं।

"दशरथ सुत तिहुँ लोकहि जाना, राम नाम का मर्म है आना।" दशरथ–सुत राम का नाम तीनों लोकों में प्रसिद्ध है। यहां तीन लोक लक्षणा मात्र है। इसका अर्थ है कि राम के नाम से दशरथ–सुत लोगों में ज्यादा प्रसिद्ध हैं। परन्तु सद्‌गुरु कहते हैं कि जो राम सबका उपासनीय है वह कुछ दूसरा ही है। वस्तुतः वह है सबकी अपनी अंतरात्मा। कहा है—"योगीजन जिसके विषय में रमण करते हैं, वह राम है।" सद्‌गुरु ने पीछे अनेक स्थलों पर बताया है कि श्रीराम–कृष्ण आदि मनुष्य थे। वे कभी थे। उनको बीते बहुत दिन हो गये। वे तुम्हारा कल्याण नहीं कर सकेंगे। तुम्हारा कल्याण आत्मज्ञान तथा आत्मस्थिति से होगा। कोई भी देहधारी पहले हुआ हो या वर्तमान में विद्यमान हो, यदि वह पवित्र आचरण वाला है तो उससे अच्छी प्रेरणा ली जा सकती है, परन्तु मोक्ष उसके या अन्य किसी के प्रेम का न फल हो सकता है और न उनमें हमारी स्थिति हो सकती है। सारी वासनाओं का त्यागकर निज चेतनस्वरूप में स्थिति ही मोक्ष है। इसके अलावा किसी देहधारी में अनुराग मात्र मोक्ष कैसे हो सकता है ! वह तो उलटकर बन्धन बन जायेगा।

कबीर साहेब के काल से करीब चार सौ वर्ष पूर्व से ही दशरथ–सुत राम की परमात्मा के रूप में समाज में प्रतिष्ठा हो चली थी। ईसा के तीन सौ वर्ष पूर्व जब वाल्मीकीय रामायण का एक छोटा रूप बना, तब उसमें श्री राम को एक उच्च गुणसंपन्न राजकुमार के रूप में चित्रित किया गया था। परन्तु इसके पहले श्रीकृष्ण भगवान के रूप में प्रतिष्ठित हो गये थे। अतएव उनकी देखा–देखी ईसा के सौ साल पहले श्रीराम चारों भाई विष्णु के अंशावतार के रूप में मान लिये गये। परन्तु श्रीराम पूर्ण परमात्मा के रूप में ईसा के एक हजार वर्ष बाद माने गये। वाल्मीकीय रामायण में श्रीराम को दशरथ, कौसल्या, भरत, लक्ष्मण, सीता आदि में से कोई भी ईश्वर नहीं जानता है। श्रीराम वन जाते समय भरद्वाज आश्रम पर जाते हैं और वे भरद्वाज को पांच। बार भगवान कहते हैं। वे सुतीक्ष्ण को भी भगवान कहते हैं, और अगस्त्य को भगवान तथा अपना गुरु कहते हैं "गुरुर्नः।" वन में सभी ऋषि श्रीराम को प्रिय अतिथि मानते हैं, कोई

. रमन्ते योगिनो यस्मिन् इति रामः।
. रमैनी 75, शब्द 8, 18, 110 आदि।
. वाल्मीकीय रामायण, 2/54/13,16, 24, 26 तथा 37।
. वाल्मीकीय रामायण, 3/7/6, 3/8/5।
. वही, 3/12/23।
. वही, 3/13/10।

उन्हें भगवान नहीं कहता। वाल्मीकीय रामायण में कहीं भी श्रीराम के लिए भगवान शब्द का प्रयोग नहीं दिखता। अतएव श्रीराम को ईश्वर मानने की कल्पना बहुत पीछे हुई है।

कबीर साहेब तत्त्वविवेकी एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाले पुरुष थे। उनको यह बात बड़ी असंगत लगी कि संसार में पैदा हुआ कोई क्षणभंगुर मनुष्य संसार का कर्ता–धर्ता है। इसके अलावा मोक्ष–विचार में तो साफ है कि व्यक्ति का अपना आत्मस्वरूप ही उसका निधान हो सकता है न कि कोई दूसरा देहधारी। इसलिए साहेब ने यह अमर वाक्य कहा "दशरथ सुत तिहुँ लोकहि जाना, राम नाम का मर्म है आना।" कबीर साहेब की यह पंक्ति उत्तरी भारत में प्रचलित थी, काशी में तो गूंज रही थी। कबीर साहेब के बाद गोस्वामी तुलसीदास जी हुए। उनका भी कार्यक्षेत्र काशी रहा। गोस्वामी जी श्रीराम को परब्रह्म परमात्मा मानने में अग्रणी रहे। अतएव उन्हें कबीर साहेब की यह पंक्ति बहुत खटकी। इसलिए उन्होंने अपने रामचरितमानस में नये–नये उपोद्घात रचे। शिव–पार्वती संवाद, याज्ञवल्क्य–भरद्वाज संवाद तथा काकभुशुंडि–गरुड़ संवाद की वाल्मीकीय रामायण में गंध भी नहीं है। परन्तु श्रीराम को परमात्मा सिद्ध करने के लिए उन्होंने इन सारे संवादों की रचना कर डाली। गोस्वामी जी ने इन संवादों के आधार में इन पात्रों के द्वारा श्रीराम को अवतार न मानने वालों को कीट–कीट कर गालियां दीं। यहां केवल एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा जहां गोस्वामी जी ने सद्गुरु कबीर की दशरथसुत वाली पंक्ति को अपने मन में रखकर शिव–पार्वती के काल्पनिक संवाद के सहारे कबीर साहेब का नाम बिना लिये उन्हें या उन–जैसे चिन्तकों को गाली दी है।

गोस्वामी जी के अनुसार पार्वती ने शिव जी से पूछा—"वह उपासनीय राम अयोध्या के राजा दशरथ के पुत्र ही हैं या अजन्मा, निर्गुण तथा अगोचर कोई दूसरा है? यदि वह राजा दशरथ का पुत्र है तो ब्रह्म कैसे, जिसकी पत्नी के वियोगजनित पीड़ा में बुद्धि अत्यन्त बावली हो गयी है। एक तरफ उसका भ्रमित चरित्र देखकर तथा दूसरी तरफ उसकी महिमा सुनकर मेरी बुद्धि चकित हो गयी—

*रामु सो **अवध नृपति सुत** सोई। की अज अगुन अलख गति कोई*
*जौं **नृपतनय** त ब्रह्म किमि, नारि बिरह मति भोरि।*
देखि चरित महिमा सुनत, भ्रमित बुद्धि अति मोरि

(रामचरितमानस, 1/108)

गोस्वामी जी के अनुसार इसका उत्तर शिव जी इस प्रकार देते हैं। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'कबीर' में इस संदर्भ में इन्हीं पंक्तियों को उद्धृत करते

हुए लिखा है "इसके उत्तर में गोस्वामी तुलसीदास जी ने शिव जी के मुख से जो उत्तर दिलवाया है वह ध्यान से सुनने लायक है"—

एक बात नहिं मोहि सोहानी। जदपि मोहबस कहेहु भवानी
*तुम जो कहा **राम कोउ आना।** जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना*
कहहिं सुनहिं अस अधम नर, ग्रसे जो मोह-पिसाच।
पाषंडी हरिपद बिमुख, जानहिं झूठ न साँच 114
अग्य अकोबिद अंध अभागी। काई विषय मुकुर-मन लागी
लंपट कपटी कुटिल बिसेखी। सपनेहु संत-सभा नहिं देखी
कहहिं ते बेद-असम्मत बानी। जिन्हके सूझ लाभु नहिं हानी
मुकुर मलिन और नयन बिहीना। राम रूप देखहिं किमि दीना
जिनके अगुन न सगुन बिबेका। जल्पहिं कल्पित बचन अनेका
हरि माया बस जगत भ्रमाहीं। तिन्हहिं कहत कछु अघटित नाहीं
बातुल भूत बिबस मतवारे। ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे
जिन्ह कृत महा मोह मद पाना। तिन्ह कर कहा करिय नहिं काना
अस निज हृदय बिचारि, तजि संसय भजु रामपद।
सुनु गिरिराज कुमारि, भ्रमतम रबिकर बचन मम 115

× × ×

राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोहनिसा लवलेसा
सहज प्रकास रूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना
हरख-बिसाद ज्ञान-अज्ञाना। जीव-धर्म अहमिति-अभिमाना
राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना
पुरुष प्रसिद्ध प्रकासनिधि, प्रकट परापर नाथ।
***रघुकुल-मनि मम स्वामि सोइ,** कहि सिव नायेउ माथ* 116

× × ×

*सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि **अवधपति** सोई*
यहि बिधि जग हरि-आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई
जौं सपने सिर काटै कोई। बिन जागैं दुख दूरि न होई
जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपालु रघुराई
आदि-अन्त कोइ जासु न पावा। मति-अनुमान निगम अस गावा
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी
तनु बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेखा
अस सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी
जेहि इमि गावहिं बेद बुध, जाहिं धरहिं मुनिध्यान।
***सोई दसरथ-सुत** भगत हित, कोसलपति भगवान* 118

गोस्वामी जी के इन मोटे अक्षरों पर ध्यान दीजिये—**अवध नृपति-सुत, नृपतनय, राम कोउ आना, रघुकुल-मनि मम स्वामी सोई, अवधपति** तथा **सोइ दसरथ-सुत**—ये शब्द तथा भाव कबीर साहेब की इसी पंक्ति-जैसे भाव के उत्तर में लिखे गये हैं—"दशरथ सुत तिहुँ लोकहि जाना। रामनाम का मर्म है आना।"

प्रश्न होता है कि क्या कबीर साहेब की उक्त पंक्ति का उत्तर गोस्वामी जी दे सके हैं? वे उत्तर तो नहीं दे सके हैं, हां, उन्होंने कबीर साहेब का नाम लिये बिना उन्हें या उन-जैसे तत्त्वचिंतकों को करीब दो दर्जन गालियां दे डाली हैं। यह बात तो पहले ही निवेदित की गयी है कि आदि वाल्मीकीय रामायण में शिव-पार्वती संवाद है ही नहीं। पूरी वाल्मीकीय रामायण में शिव जी कहीं श्रीरामचन्द्र के भक्त नहीं हैं। हां, श्रीराम शिव जी के भक्त अवश्य हैं। लंका से लौटते समय जब श्रीराम रामेश्वर आये हैं तब उन्होंने सीता जी से कहा है—"यहां पर पहले महादेव जी ने मेरे ऊपर कृपा की थी"—अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद विभुः।" परन्तु गोस्वामी जी कल्पनाशील एवं प्रतिभावान हैं। वे अपनी कल्पनाशक्ति एवं प्रतिभा का दुरुपयोग कर असत्य कहानी गढ़ते हैं और एक राजपुत्र श्रीराम को अनंत ब्रह्मांडनायक सिद्ध करने के लिए वेद-शास्त्र, इतिहास, विवेक सब कुछ को एक तरफ रखकर अपनी जिद्द पर अड़ जाते हैं। चारों वेदों तथा वैदिक छहों शास्त्रों में तथा समस्त वैदिक साहित्य में अवधपति श्रीराम की कहीं चर्चा ही नहीं है, फिर उनके परब्रह्म होने की चर्चा का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इतिहास देखिए तो ईसा के हजार वर्ष बीतने पर श्रीराम को पूर्ण परमात्मा मानने की बात पुराणों तथा अध्यात्म रामायण में आयी है। विवेक तो साक्षी हो ही नहीं सकता कि एक क्षणभंगुर मनुष्य अनंत विश्व का स्रष्टा, पालक तथा संहर्ता है। फिर भी गोस्वामी जी इस बात के पीछे पड़ गये हैं, और वे एक झूठ सिद्ध करने के लिए अनेक भोली बातें करते तथा काल्पनिक कहानियां गढ़ते हैं। गोस्वामी जी मानते हैं कि जो श्रीराम को परमात्मा नहीं मानता वह 'बेद-असम्मत बानी' कहता है। गोस्वामी जी जब वेद नहीं पढ़े थे, तो उनको ऐसा दावा नहीं करना चाहिए था और यदि वेद पढ़े थे, तब वे ऐसी वेद-विरुद्ध बातें क्यों करते हैं? वस्तुतः कबीर साहेब का अवतारवाद-विरोधी विचार ही वेदसम्मत है, गोस्वामी जी का अवतारवाद वेदसम्मत नहीं है। इसके लिए पाठक स्वयं वेद पढ़कर जान सकते हैं। आजकल तो वेद हिन्दी में भी उपलब्ध हैं। अवतारवाद न मानने वालों को या श्रीराम को जगत-नियंता न मानने वालों को गोस्वामी जी का इस तरह उत्तेजित होकर गाली देना उनके अपने ही सिद्धांत

. वाल्मीकीय रामायण, युद्धकांड, सर्ग 123, श्लोक 20।

की दुर्बलता के लक्षण हैं। फिर यह सब गालियां उन्होंने शिव के मुख से दिलवाकर शिव को दूषित करने का भी दोष किया है। गोस्वामी जी को कबीर साहेब-जैसे चिंतकों तथा भविष्य के स्वतन्त्र-चिन्तकों से भी बहुत भय था, इसीलिए उन्होंने आतंकित होकर ये सारे अलीक तथा अशुद्ध वचन कहे हैं।

श्रीरामचन्द्र संसार के हर्ता-कर्ता हैं और साधकों द्वारा उपासनीय हैं, यह धारणा मुट्ठीभर लोग ही मान सकते हैं, किन्तु सबके हृदय में रमने वाला चेतन ही राम है, वही सबका अपना उपासनीय है, इस बात का विरोध संसार में कोई नहीं कर सकता। गोस्वामी जी का अवधनृपति-सुत, नृपतनय तथा दशरथसुत एक संप्रदाय विशेष का उपास्य हो सकता है, परन्तु कबीर साहेब का हृदय-निवासी राम सबका उपासनीय रहेगा। कबीर साहेब का राम मतवाद के जोश का फल नहीं है, किन्तु सबका अपना अनुभूत सत्य है। अतएव "दशरथसुत तिहुँ लोकहि जाना, राम नाम का मर्म है आना।" यह केवल कबीर का ही अकाट्य वचन नहीं है, किन्तु विश्वसत्ता की शाश्वत स्वीकृत है। कबीर मतवाद की बात नहीं करते हैं, किन्तु विश्वसत्ता के शाश्वत नियम की बात करते हैं। राम नाम के दशरथ-पुत्र हुए यह ठीक है। आज भी बहुत व्यक्ति राम नाम से जाने जाते हैं, परन्तु हर व्यक्ति का उपासनीय राम उसकी अपनी अंतरात्मा एवं शुद्ध चेतनस्वरूप है।

"जेहि जिव जानि परा जस लेखा, रजु का कहै उरग सम पेखा।" सद्गुरु इस पंक्ति में नाना संस्कारों के मनुष्यों की मानसिक योग्यता पर विचार करते हुए बड़ी उदारता से कहते हैं कि जिस व्यक्ति की जैसी बुद्धि होती है, जो अपने मन में जैसी कल्पना करता है, उसका वैसा उपास्य बन जाता है। किसी के कल्पित भूत-प्रेत ही उपास्य हैं, किसी के देवी-देवता, किसी के चांद-सितारे-सूरज आदि हैं, किसी के उपास्य कल्पित देहधारी परमात्मा। दृष्टिदोष होने पर रस्सी सांप दिखती है, इसी प्रकार बुद्धि भ्रमित होने पर देह ही को राम मानकर उसकी उपासना होने लगती है। किसी व्यक्ति के हाथ, पैर, मुंह, आंख, नाक, कान, ओष्ठ, छाती, पेट, नाभि, कमर आदि में कमलों तथा कामदेव आदि की उपमा देकर उनमें ध्यान, रति आदि करने की राय बहुत स्थूल बुद्धि की बात तथा साधना-पथ में केवल क, ख, ग है। परन्तु क्या किया जाये, जिसकी जैसी बुद्धि।

"यद्यपि फल उत्तम गुण जाना, हरि छोड़ि मन मुक्ति उनमाना।" यद्यपि श्रीराम में श्रद्धा रखने से फल उत्तम हैं; क्योंकि उनमें सर्वविदित अनेक सद्गुण हैं, तथापि लोग श्रद्धातिरेक में पड़कर श्रीराम को परमात्मा मान लेते हैं और सोचते हैं कि उनकी भक्ति करने से वे हमें मुक्ति दे देंगे, अपने धाम में बुला

लेंगे। इस प्रकार लोग अपने आत्मारूपी हरि की स्थिति से वंचित हो जाते हैं। सद्गुरु ने इस पंक्ति में मुख्य दो बातें कही हैं। पहली बात है कि महाराज श्रीराम में अनेक अच्छे गुण हैं, इसलिए उनमें श्रद्धा रखने के फल अच्छे हैं, दूसरी बात है कि श्रद्धातिरेक में पड़कर उन्हें पूजने की वस्तु न बनाओ, किन्तु अपनी आत्मारूपी हरि को समझो।

हम पहली बात को लें। सदैव सद्गुण आदरणीय हैं। हम अपनी पूर्व परम्परा को आदर देते हैं, परन्तु जो उनमें शुभ होते हैं उन्हीं को। हर परंपरा के पूर्वजों में बुरे लोग भी होते हैं। उनको लोग आदर नहीं देते। सत्ता उन्हीं को आदर देती है जो शुभ है। श्रीराम केवल हमारे पूर्वज हैं इसी से हम उनका आदर नहीं करते हैं, किन्तु इसलिए हमें उनमें श्रद्धा रखनी चाहिए, क्योंकि उनमें अनेक ऐसे सद्गुण हैं जो हमारे लिए प्रेरणाप्रद हैं। उन्हें शाम को राजगद्दी देने की बात सुनाकर सुबह वनवास सुनाया गया, परन्तु वे इससे व्यथित न होकर सहर्ष वन जाने के लिए उसी क्षण तैयार हो गये, और जनता के लाख मनाने पर भी वन चले गये। भरत के बहुत प्रयत्न करने पर भी उन्होंने अयोध्या लौटने का विचार नहीं किया और कहा कि पिता की आज्ञा में चौदह वर्ष के लिए मेरा वनवास है, अतः उसे मैं पूरा करके ही लौटूंगा। उन्हें वन में नाना कष्ट मिले, परन्तु वे अपने प्रण पर अडिग रहे। उन्होंने भाई भरत के लिए राज्य छोड़ दिया। अतएव माता-पिता की आज्ञाकारिता, भ्रातृस्नेह, राजलिप्सा का त्याग, गुरुजनों, ऋषियों एवं संतों के प्रति विनम्रता, प्रजा के प्रति शील का व्यवहार ये सब ऐसे सद्गुण हैं जो मानव मात्र के लिए उपयोगी हैं। इसलिए सद्गुरु कबीर कहते हैं कि श्रीराम में श्रद्धा रखने के फल उत्तम हैं, क्योंकि उनमें अनेक श्रेष्ठ गुण हैं। हमें यह गर्व होना चाहिए कि श्रीराम जैसे महान पुरुष हमारे पूर्वज हैं।

गलत वहीं होने लगता है जहां श्रद्धा का अतिक्रमण एवं श्रद्धातिरेक होने लगता है। हम यह मानने लगते हैं कि श्रीराम तो अनंत ब्रह्मांडनायक हैं, उत्पत्ति, पालन, संहारकर्ता हैं। उनके एक-एक रोम में अनंत ब्रह्मांड लटके हैं। वे विश्वनियंता प्रभु हैं, वे तो सर्वसमर्थ ईश्वर हैं, तब उन्होंने बड़े-बड़े काम

. शूर्पणखा-विरूपण तथा छिपकर वालीवध श्रीराम के व्यक्तित्व के धप्पे हैं। शूर्पणखा-विरूपण शायद वाल्मीकीय रामायण के पहले संस्करण में नहीं था। सीता वनवास तथा शंबूक हत्या वाल्मीकीय के उत्तर कांड का विषय है जो शुद्ध प्रक्षेप अंश हैं। शंबूकहत्या किसी घृणित मन वाले लेखक की कल्पना है। उसने श्रीराम के जीवन से उसे जोड़कर उनके तथा मानवता के साथ घोर अपराध किया है। इस संदर्भ को समझने के लिए 'रामायण-रहस्य' में आठवें अध्याय का 38वां संदर्भ 'शंबूक' तथा ''कबीर पर शुक्ल की और मेरी दृष्टि'' में 'शंबूक' पर हुई चर्चा को अवश्य देखें। शंबूकहत्या घृणित ब्राह्मणवादी व्यवस्था की कल्पना है और रामायण में पीछे का प्रक्षेप है।

किये। हम वैसे कहां कर सकते हैं ! हम तो उनको पूजकर, उनका नाम संकीर्तन कर मुक्त होंगे।

श्रीराम ने जीवन में कुछ त्याग किया तब वे महान हुए, यह न सोचकर उलटा सोचा जाता है कि वे ईश्वर थे तब बड़े काम कर सके। जब हम किसी को ईश्वर बनाकर उन्हें पूजा की वस्तु मान लेते हैं तब मानो उन्हें दफना देते हैं। सद्‌गुरु कहते हैं "हरि छोड़ि मन मुक्ति उनमाना" हम अपने शुद्ध चेतनस्वरूप-हरि को छोड़कर श्रीराम आदि की आराधना करके मुक्ति की कल्पना करने लगते हैं। श्रीराम हों या श्रीकृष्ण, वे एक देहधारी थे। उनकी देह बीत गये हजारों वर्ष हो गये। उनकी देह तो आज मिलने वाली नहीं हैं। उनकी आत्मा भी अपने कर्मों के अनुसार गति पायी होंगी। अतः उनसे भी मुलाकात नहीं हो सकती। आज श्रीराम, श्रीकृष्ण या किसी महापुरुष के केवल प्रेरक गुणों से हम प्रेरणा ले सकते हैं। प्रथम साधना में मन रोकने के लिए हम ध्यान का कुछ स्थूल आलंबन लेते हैं, उनमें हम राम, कृष्णादि के काल्पनिक चित्र को भी अवलम्ब बना सकते हैं। परन्तु वे गृहस्थ पुरुष थे। आलम्बन का अच्छा साधन वैराग्यवान पुरुष हैं। इसीलिए योगदर्शन ने बताया है "वीतरागविषयं वा चित्तम्" अर्थात वीतराग पुरुष का चित्त से ध्यान रखने से मन एकाग्र होता है। परन्तु यह सब अन्तिम साधना नहीं है, क्योंकि बाहर का कोई भी आलम्बन हो वह जड़-विजाति तथा छूटने वाला है। अंततः तो मन के सारे संकल्पों को छोड़कर अपनी आत्मा में ही रमना होगा। हम अपनी चेतना एवं आत्मारूपी हरि को छोड़कर बाहर मुक्ति का अनुमान करने लगते हैं, यही हमारी भूल है। व्यक्ति की स्थिति उसके अपने चेतनस्वरूप में ही होगी, यही मोक्ष है। बाहर किसी में प्रेम लगाना या बाह्य वस्तुओं को ध्यान का विषय बनाना मोक्ष नहीं है।

"हरि अधार जस मीनहि नीरा, और जतन कछु कहैं कबीरा।" कबीर साहेब कहते हैं कि मैं तो मोक्ष के लिए श्रीराम-श्रीकृष्णादि किसी देहधारी की कल्पना में तन्मय होना नहीं बताता। मैं इन सबसे हटकर कुछ दूसरा ही उपाय बताता हूं, वह है "हरि अधार जस मीनहि नीरा" जैसे मछली निरन्तर पानी में रहती है, पानी में रमने से ही उसका जीवन है, वैसे निजात्म में रमना ही मोक्ष है। अपनी चेतना को छोड़कर बाहर कहीं भी रमना मोक्ष नहीं है, किन्तु बाहर से लौटकर निज चेतनस्वरूप में एवं आत्मा में रमना ही मोक्ष है। यह ठीक है कि साधक पहले बाहर से बिलकुल नहीं लौट सकता, वह तुरन्त ही अपनी आत्मा में नहीं लीन हो सकता। पहले वह जहां भी अच्छा समझता हो उसे आलम्बन बनाकर

. योगदर्शन, 1/37।

उसमें एकाग्र होना चाहिए; परन्तु अंततः उसे सारे दृश्यों को छोड़ना पड़ेगा चाहे वह अशुभ हो या शुभ। सारे दृश्यों को त्यागकर स्वरूपस्थिति मिलती है। अतएव उपासनीय तत्त्व अवधपति श्रीरामादि व्यक्ति विशेष नहीं, किन्तु स्वात्म शुद्ध चेतन है।

कोई देव तुम्हारा कर्म-बंधन नहीं काट सकता

शब्द-110

आपन कर्म न मेटो जाई 1
कर्म का लिखा मिटै धौं कैसे, जो युग कोटि सिराई 2
गुरु वशिष्ठ मिलि लगन सुधायो, सूर्य मन्त्र एक दीन्हा 3
जो सीता रघुनाथ बिवाही, पल एक संच न कीन्हा 4
तीन लोक के कर्ता कहिये, बालि बधो बरियाई 5
एक समय ऐसी बनि आई, उनहूँ औसर पाई 6
नारद मुनि को बदन छिपायो, कीन्हों कपि को स्वरूपा 7
शिशुपाल की भुजा उपारी, आपु भये हरि ठूठा 8
पार्वती को बाँझ न कहिये, ईश्वर न कहिये भिखारी 9
कहहिं कबीर कर्ता की बातें, कर्म की बात निनारी 10

शब्दार्थ—धौं= भला। सिराई= समाप्त। सुधायो= शोधा गया। संच= सुख। बरियाई= बरिआई, जबर्दस्ती, छलपूर्वक। औसर= अवसर, मौका, बदला। बदन= वदन, चेहरा। कपि= वानर। उपारी= उखाड़ लिया। हरि= कृष्ण। ठूठा= लूला, बिना पंजे का। बांझ= वंध्या। ईश्वर= शिव, महादेव। निनारी= विलक्षण।

भावार्थ—जिनकी आराधना कर तुम अपने किए हुए कर्मों के फलों से छुटकारा चाहते हो उनको अपने ही द्वारा किये गये कर्मों के फलों से छुटकारा नहीं मिला, वे स्वयं अपने कर्म-फल-भोग नहीं मिटा सके 1 चाहे करोड़ों युग बीत जाये, भला कर्मों का लिखा कैसे मिट सकता है? 2 श्रीराम तथा सीता के विवाह का लग्न गुरु वसिष्ठ ने विश्वामित्र तथा शतानंद से मिलकर शोधा था और गुरु वसिष्ठ ने श्रीराम को सूर्य-मन्त्र की दीक्षा दी थी। परन्तु जो सीता रघुनाथ से व्याही गयीं, उन्होंने अपने जीवन में एक क्षण सुख न पाया 3-4 लोग कहते हैं कि श्रीराम तीनों लोकों के कर्ता-धर्ता हैं, परन्तु उन्होंने वाली को छलपूर्वक छिपकर मारा; तो एक समय ऐसा बन पड़ा कि वे अपने दूसरे जन्म कृष्ण रूप में जब हुए तब जरा नाम के बधिक से मारे

गये 5-6 विष्णु ने नारद मुनि का असली मुख छिपाकर उन्हें वानर-मुख बना दिया और जिस युवती को नारद चाहते थे विष्णु ने उसे स्वयं ग्रहण कर लिया, इसके फल में विष्णु को श्रीराम बनकर स्त्री-वियोग में वानरों के साथ वन-वन भटकना पड़ा 7 हरि श्री कृष्ण ने शिशुपाल की भुजाएं उखाड़ ली थीं, तो उसके फल में स्वयं जगन्नाथ में लूले होकर बैठे हैं 8 पुराणों में यह विदित है कि पार्वती की कोख से कभी कोई बच्चा नहीं हुआ, तो उन्हें क्या वंध्या न कहा जाये! महादेव जी भीख मांगकर खाते थे, तो क्या उन्हें भिक्षु न कहा जाये! विष्णु भी तो वामन बनकर बलि से भीख मांगते हैं 9 कबीर साहेब कहते हैं कि कर्ता और कर्म की बातें बड़ी विलक्षण हैं। हर जीव जैसा करेगा वैसा भरेगा 10

व्याख्या—धार्मिक कहे जाने वाले लोग महापुरुषों की मिथ्या महिमा में जनता को उलझाकर उन्हें भूलभूलैया में रखते हैं। यदि अपने भोलापन में जनता को सांत्वना देने के लक्ष्य से ऐसा किया जाता है तो भी जनता के लिए धोखा ही है, और यदि यह सब जानबूझकर जनता के बौद्धिक तथा आर्थिक शोषण के लिए किया जाता है तो घोर अनर्थ है। प्रायः सभी मजहबों एवं संप्रदायों के पुरोहितों द्वारा ऐसा कहा जाता है कि तुम्हारे चाहे जैसे पाप-कर्म हों, परन्तु अमुक प्रकार के पूजा-पाठ से, अमुक देवी-देवता की आराधना से तथा ईश्वर की कृपा से वे सब नष्ट हो जायेंगे और तुम्हारा उद्धार हो जायेगा। भारतीय परम्परा में कर्म तथा कर्म-फल-भोग के विषय में उदार चिन्तन पहले से ही रहा है। धर्मशास्त्र, पुराण तथा महाकाव्य के लेखक पंडितों ने कर्म-फल-भोग के संबंध में किसी को क्षमा नहीं किया है चाहे वे देवी-देवता के नाम से जाने जाते हों या ईश्वर-ईश्वरी के नाम से। परन्तु बीच-बीच में ऐसे भी पुरोहित-पंडित हुए हैं जिन्होंने सुविधावादी दृष्टि अपनाकर कर्म-फल-भोग में काफी माफी की गुंजाइश की है। कबीर साहेब धार्मिक क्षेत्र में वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाले युगपुरुष थे। उन्होंने देखा कि कर्म-फल-भोग का सिद्धान्त ही मनुष्य को अपने सदाचार में बनाये रख सकता है और सदाचार से ही जीवन, परिवार, समाज, देश तथा विश्व में शांति-व्यवस्था रह सकती है। यदि यह मान लिया जाये कि हम चाहे जैसे पाप-कर्म करें, परन्तु अमुक देवी-देवता तथा ईश्वर-ईश्वरी की पूजा-आराधना करने से वे कट जायेंगे तो इस धारणा से समाज के लोग उच्छृङ्खल होंगे और वे बुरे कर्मों से नहीं डरेंगे। वे बराबर बुरे कर्म करते हुए अमुक देवी-देवतादि की पूजा के बल पर अपने आप को पापों से मुक्त हुआ मानने का धोखा करते रहेंगे। अतएव इस शब्द में सद्गुरु ने

पंडितों की लिखी पौराणिक कथाओं के आधार पर ही सिद्ध किया है कि सबको अपने कर्म-फल-भोग भोगने पड़ते हैं।

कुछ महिमापरक पौराणिक वाणियों के आधार पर लोग यह मान लेते हैं कि राम, कृष्ण, विष्णु, महादेव, सीता, पार्वती आदि की आराधना करने से, उनके नाम जपने तथा उनकी पूजा करने से मनुष्यों के सारे पाप भस्म हो जाते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि यह मान्यता न तो विवेकसम्मत है और न धर्मशास्त्रों तथा पुराणों के मूल विचारों के अनुसार ही है, यह सहज समझा जा सकता है। 'यः कर्ता स एव भोक्ता' अर्थात जो कर्ता है वही भोक्ता है। उपनिषद् के ऋषि कहते हैं—"यह जीव जैसी इच्छा करता है, वैसा प्रयत्न करता है, जैसा प्रयत्न करता है वैसा कर्म करता है, और जैसा कर्म करता है वैसा फल पाता है।" पुराण भी बताते हैं कि देवी-देवता तथा ईश्वर-ईश्वरी कहे जाने वाले लोग भी अपने कर्म-फल-भोग भोगे हैं। साहेब कहते हैं कि जिन तथाकथित देवी-देवता तथा ईश्वर-ईश्वरी की पूजा के बल पर तुम अपने पाप-कर्मों के कट जाने का धोखा पालते हो उनके ही अपने पाप नहीं कटे हैं। जो कर्म के संस्कार जीव के मन में पड़ गये हैं वे करोड़ों युग बीत जाने पर भी नहीं मिटते। उनके परिणाम एवं फल भोग लेने के बाद ही उनका अंत होता है। यह बहुत प्रसिद्ध श्लोक है—"अपने किये गये शुभ या अशुभ कर्म अवश्य ही भोगने पड़ते हैं। बिना भोग के कर्म नहीं मिटते चाहे करोड़ों कल्प बीत जायें "

"गुरु वशिष्ठ मिलि लगन सुधायो, सूर्य मन्त्र एक दीन्हा। जो सीता रघुनाथ बिवाही, पल एक संच न कीन्हा।" रामायण से यह विदित है कि श्रीराम तथा सीता का विवाह हुआ था। उनके विवाह का लग्न श्रेष्ठ विद्वान गुरु वसिष्ठ ने शोधा था परन्तु आप जानते ही हैं कि विश्वामित्र के साथ ही राम थे और शतानंद जनक के पुरोहित थे। अतएव विश्वामित्र एवं शतानंद ने भी वसिष्ठ जी को लग्न शोधने में सहयोग किया। वसिष्ठ ने सूर्यवंश का वर्णन किया तथा श्रीराम को सूर्य-मंत्र भी दिया। इतनी सर्तकता और सावधानी के साथ श्रीराम के साथ सीता का विवाह हुआ। परन्तु सीता को श्रीराम के साथ में एक क्षण भी सुख न मिला।

. यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते॥
(बृहदारण्यक उपनिषद्, अध्याय 4, ब्राह्मण 4, मन्त्र 5)

. अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि॥

विवाह के बाद अयोध्या-यात्रा में ही परशुराम ने मिलकर श्रीराम को चुनौती दी थी। यह सीता के लिए पहली दुर्घटना थी। अयोध्या पहुंचते ही भरत अपने ननिहाल जाते हैं क्योंकि उनके मामा युधाजित उन्हें बुलाने पहले ही आ गये थे और उन सबके विवाह की बात सुनकर अयोध्या से जनकपुर पहुंचकर दशरथ को अपने पिता का संदेश दे दिये थे कि पिता जी अपने नाती भरत को देखना चाहते हैं। अतएव विवाह के बाद अयोध्या पहुंचते ही भरत शत्रुघ्न को लेकर केकयदेश चले जाते हैं, और इसी के बाद दशरथ राम को राजगद्दी देना चाहते हैं, परन्तु कैकेई के विरोध से उनका चौदह वर्ष के लिए वनवास होता है और वे सीता तथा लक्ष्मण के साथ वन चले जाते हैं। वन में उन्हें नाना कष्ट होते हैं। इसी बीच जयंत अपनी चोंच से सीता को नोचता है। फिर पथ चलते समय विराध राक्षस सीता का अपहरण कर लेता है। पश्चात वे रावण द्वारा हर ली जाती है। लंका की अशोक वनिका में सतायी जाती हैं। रावण के मारे जाने के बाद श्रीराम के पास आने पर राम द्वारा कटु वचनों से आहत की जाती हैं। उन्हें अग्नि परीक्षा देनी पड़ती है। अयोध्या आने पर पुरवासियों द्वारा निंदित की जाती हैं। फिर राम द्वारा वन में निकाल दी जाती हैं। अंततः नैमिषारण्य में श्रीराम के यज्ञस्थल में जब वाल्मीकि द्वारा सीता वहां ले जायी जाती हैं, तब श्रीराम द्वारा पुनः उनसे चरित्र की प्रामाणिकता मांगे जाने पर पृथ्वी में समा जाती हैं। इस प्रकार रामायण देखा जाये तो सीता के जीवन में पदे-पदे दुख है। उनके अनेक दुखों में से केवल एक दुखद घटना का संक्षिप्त उल्लेख काफी होगा। जब श्रीराम की आज्ञा से लक्ष्मण ने सीता को गंगापार वन में छोड़कर उन्हें राम का आदेश बताया कि राम ने लोकापवाद के डर से आप को त्याग दिया है, तब यह कठोर वचन सुनकर सीता मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर पड़ीं। जब वे चेत में आयीं तब लक्ष्मण से इस प्रकार कहने लगीं—

"लक्ष्मण! विधाता ने मेरी देह को केवल दुख भोगने के लिए ही बनाया है। आज सारे दुख मूर्तरूप होकर मुझे दिखाई दे रहे हैं 3 पूर्व जन्म में मैंने कौन-सा पाप किया था, किस पुरुष का स्त्री से वियोग कराया था, जो मेरे पवित्र आचरण होने पर भी मुझ सती-साध्वी को राजा राम ने त्याग दिया 4 मैं पहले वनवास के समय दुख उठाकर भी श्रीराम की सेवा करती हुई आश्रम में रही और प्रसन्नता से उनकी अनुगामिनी बनी रही 5 सौम्य! अब परिवार से अलग पड़कर अकेली आश्रम में कैसे रहूंगी और दुख पड़ने पर उसे किसको बताऊंगी? 6 प्रभो! जब मुनि लोग मुझसे पूछेंगे कि महात्मा राम ने तुम्हें किस कारण से त्याग दिया है, तब मैं उनसे अपना कौन-सा अपराध बताऊंगी? 7 मैं अभी गंगा में कूदकर अपना जीवन खो देती, परन्तु

ऐसा नहीं करूंगी, क्योंकि मैं गर्भवती हूं। जीवन खोने से मेरे पति का राजवंश ही नष्ट हो जायेगा 8 ''

जब लक्ष्मण रथ पर बैठकर लौट चले, तब कवि कहता है—''रथ दूर होता गया। सीता लक्ष्मण की ओर पुनः-पुनः देखकर व्याकुल हो गयीं। जब लक्ष्मण का रथ सीता की आंखों से ओझल हो गया, तब वे शोक-सागर में डूब गयीं 25 यश को धारण करने वाली यशस्विनी सीता दुख के बोझ से दब गयीं, क्योंकि उन सीता को कोई अपना रक्षक नहीं दिखता था। मयूरों के नाद से गूंजते हुए उस वन में सती सीता दुख में डूबी हुई फूट-फूटकर रोने लगीं 26 ''

केवल सीता ही दुखी रहीं, ऐसी बात नहीं है, स्वयं श्रीराम भी जीवनभर दुखों से घिरे रहे। इसलिए बहुत दिनों से 'राम-कहानी' एक मुहावरा बन गया, जिसका अर्थ है दुख भरी कहानी।

''तीन लोक के कर्ता कहिये, बालि बधो बरियाई। एक समय ऐसी बनि आई, उनहूँ औसर पाई।'' लोग कहते हैं कि अयोध्याधीश श्रीराम विश्व के कर्ता-धर्ता हैं; परन्तु वालीवध में इस कर्तापने की ऐसी मिट्टी पलीद हुई है कि साधारण आदमी भी इसके कालापन को समझ सकता है। जब एक बार वाली की मार खाकर सुग्रीव भाग गया था, तब श्रीराम ने सुग्रीव के गले में फूलों की माला पहनाकर भेजा क्योंकि दोनों एक समान चेहरे वाले होने से दूर से यह

. मामिकेयं तनुर्नूनं सृष्टा दुःखाय लक्ष्मण।
धात्रा यस्यास्तथा मेऽद्य दुःखमूर्तिः प्रदृश्यते॥ 3॥
किं नु पापं कृतं पूर्वं को वा दारैर्वियोजितः।
याहं शुद्धसमाचारा त्यक्ता नृपतिना सती॥ 4॥
पुराहमाश्रमे वासं रामपादानुवर्तिनी।
अनुरुध्यापि सौमित्रे दुःखे च परिवर्तिनी॥ 5॥
सा कथं ह्याश्रमे सौम्य वत्स्यामि विजनीकृता।
आख्यास्यामि च कस्याहं दुःखं दुःखपरायणा॥ 6॥
किं नु वक्ष्यामि मुनिषु कर्म चासत्कृतं प्रभो।
कस्मिन वा कारणे त्यक्ता राघवेण महात्मना॥ 7॥
न खल्वद्यैव सौमित्रे जीवितं जाह्नवीजले।
त्यजेयं राजवंशस्तु भर्तुर्मे परिहास्यते॥ 8॥
(वाल्मीकीय रामायण, उत्तरकांड, सर्ग 48)

. दूरस्थं रथमालोक्य लक्ष्मणं च मुहुर्मुहुः।
निरीक्ष्यमाणां तूद्विग्नां सीतां शोकः समाविशत्॥ 25॥
सा दुःखभारावनता यशस्विनी यशोधरा नाथमपश्यती सती॥
रुरोद सा बर्हिणनादिते वने महास्वनं दुःखपरायणा सती॥ 26॥ (वही, 7/48)

नहीं समझ में आता था कि कौन वाली है और कौन सुग्रीव। जब सुग्रीव ने दुबारा आकर वाली को ललकारा, तब तारा ने वाली को समझाया कि मैंने अंगद द्वारा सुना है कि अयोध्या के दो वीर राजपुत्र सुग्रीव के मित्र हो गये हैं। उन्हीं के बल पर सुग्रीव गरज रहा है। वाली ने तारा से कहा—"श्रीरामचन्द्र के विषय में सोचकर तुम्हें मेरे लिए विषाद नहीं करना चाहिए, क्योंकि श्रीराम धर्म और कर्तव्य को समझते हैं। वे अकारण मुझे मारने का पाप कैसे करेंगे।" परन्तु श्रीराम ने वही पाप किया। सुग्रीव तथा वाली लड़ रहे थे और श्रीराम ने पेड़ की आड़ से छिपकर वाली के सीने में बाण मार दिया। वाली गिर पड़ा। उसने कहा कि मुझे किसने छिपकर मारा है वह सामने आये। श्रीराम सामने आये। वाली ने जब श्रीराम को देखा तो उसे बड़ा दुख हुआ। उसने श्रीराम को बहुत जोर से फटकारा। पूरा विवरण नहीं, केवल चार श्लोक लें। वाली ने कहा—"जब तक मैंने आपको नहीं देखा था तब तक मुझे यही विश्वास था कि आप मुझे धोखा देकर मारने नहीं आयेंगे 21 परन्तु अब समझ में आया कि आप विवेकहीन, धर्म का ढकोसला करने वाले, वास्तव में अधर्मी, पापपूर्ण विचार वाले तथा घास-फूस से ढके हुए कुएं के समान धोखेबाज हैं 2 आप मुनिवेष में उसी प्रकार पापाचारी हैं जैसे राख से ढकी हुई आग हो। मैं नहीं जानता था कि आपने लोगों को धोखा देने के लिए धर्म का वेष धारण कर रखा है 23 न तो मैंने आपके नगर में कोई उपद्रव किया है, न आपका किसी प्रकार से तिरस्कार किया, फिर आपने मुझ निरपराध को क्यों मारा? 24 "

कहा जाता है कि वही श्रीराम पीछे श्रीकृष्ण हुए। श्रीकृष्ण महाराज का पूरा जीवन युद्धमय था। महाभारत युद्ध के छत्तीस वर्ष बाद यादवों में घोर उन्माद छा गया। वे सब शराब पीकर उन्मादी हो जाते थे। द्वारकाधीश की तरफ से आज्ञा निकली कि आज से न कोई शराब बनाये और न पीये। यदि कोई शराब बनायेगा या पीयेगा तो अपने भाई-बंधुओं सहित शूली पर चढ़ा दिया जायेगा—

. न च कार्यो विषादस्ते राघवं प्रति मत्कृते।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च कथं पापं करिष्यति॥ (वाल्मीकीय रामायण 4/16/5)

. न मामन्येन संरब्धं प्रमत्तं वेद्धुमर्हसि।
इति मे बुद्धिरुत्पन्ना बभूवादर्शने तव॥ 21॥
स त्वां विनिहतात्मानं धर्मध्वजमधार्मिकम्।
जाने पापसमाचारं तृणैः कूपमिवावृतम्॥ 2॥
सतां वेषधरं पापं प्रच्छन्नमिव पावकम्।
नाहं त्वामभिजानामि धर्मच्छद्माभिसंवृतम्॥ 23॥
विषये वा पुरे वा ते यदा पापं करोम्यहम्।
न च त्वामवजानेऽहं कस्मात् तं हंस्यकिल्बिषम्॥ 24॥ (वाल्मीकीय रामायण, 4/17)

"जीवन् स शूलमारोहेत् स्वयं कृत्वा सबान्धवः।" परन्तु शराब बनाना-पीना बंद न हुआ। पूरा यादववंश शराबी बनकर आपस में कट मरा। श्रीकृष्ण ने वसुदेव से कहा—"मैंने आज यादवों का विनाश देखा और पहले कौरव-वंश का विनाश देख चुका हूं। अब उन यादव-वीरों के बिना मैं उनकी इस नगरी को देखने में भी असमर्थ हूं।" इतने में स्त्रियों तथा बच्चों का घोर रुदन सुनकर श्रीकृष्ण ने उन्हें समझाया कि अभी कुछ ही दिनों में अर्जुन हस्तिनापुर से आकर तुम लोगों को वहीं ले जायेंगे। ऐसा कहकर श्रीकृष्ण वन में चले गये। वे वहां योग-समाधि लगाये हुए लेटे थे कि एक जरा नाम के व्याध ने उन्हें हिरन समझकर बाण मार दिया और उनके पैर के तलवे में घाव हो गया। जब ब्याध निकट आया तो उसने देखा कि श्रीकृष्ण घायल पड़े हैं। उसने उनके दोनों पैर पकड़ लिये। श्रीकृष्ण ने उसे आश्वासन दिया, और अपना शरीर छोड़ दिया। कहा जाता है कि यह जरा नाम का व्याध पहले जन्म का वाली था और यहां उसने बदला लिया। अथवा जरा नाम का व्याध कोई रहा हो, श्रीराम को कृष्ण रूप में अंत में अपना कर्म-फल भोगना पड़ा। श्रीकृष्ण ने अपने जीवन में अनेक युद्ध किये। महाभारत युद्ध के तो वे स्वयं सूत्रधार होकर अठारह दिनों में भयंकर नरसंहार करवाये और उसके बाद स्त्रियों तथा बच्चों का करुण रुदन हुआ। तो उनके इसी जीवन में पूरे यादव-वंश का आपस में कटकर विध्वंस हुआ। और उनकी भी स्त्रियां तथा बच्चे करुण रुदनकर दुख में समय बिताये। कर्मों के फल अकाट्य होते हैं यह सर्वथा सच है।

"नारद मुनि को बदन छिपायो, कीन्हों कपि को स्वरूपा।" विष्णु ने नारद का असली मुख छिपाकर वानर का बना दिया और उनको इच्छित युवती नहीं लेने दी, बल्कि उसे स्वयं ले ली। इसके फल में नारद के शाप से विष्णु श्रीराम नाम के मनुष्य हुए और उन्हें पत्नी-वियोगजनित पीड़ा भोगनी पड़ी तथा वानरों के साथ वन-वन भटकना पड़ा।

नारद का किसी युवती के मोह में फंसकर वानर-मुंह हो जाना, इसका उल्लेख महाभारत के शांतिपर्व के तीसवें अध्याय में आया है और शायद यह इस विषय का पहला उल्लेख हो। नारद अपने भांजे पर्वत के साथ सृञ्जय राजा के यहां जाते हैं। उस राजा की युवती कन्या को देखकर नारद

. महाभारत, मौसल पर्व, अध्याय 1, श्लोक 31।

. वही, मौसल पर्व, अध्याय 3।

. दृष्टं मयेदं निधनं यदूनां राज्ञा च पूर्वं कुरुपुङ्गवानाम्।
नाहं विना यदुभिर्यादवानां पुरीमिमामशकं द्रष्टुमद्य॥ (मौसल, 4/9)

. मौसल पर्व 4/22-24।

मोह जाते हैं। इसे देखकर उनका भांजा पर्वत नारद को शाप देते हैं कि आपका मुंह वानर–सा दिखेगा। फिर नारद पर्वत को शाप देते हैं कि तुम स्वर्ग में प्रवेश नहीं पाओगे। अंततः मामा–भांजे नारद–पर्वत आपस में सुलहकर दोनों परस्पर के शाप का निवारण कर देते हैं, और वह राजकन्या नारद की पत्नी बन जाती है। नारद उसके घर रहने लगते हैं। इस कथा में विष्णु का संबंध नहीं है। लगता है कि यहीं से यह कथा विकसित होकर महाभागवत पुराण, शिवपुराण आदि में आ गयी है और शिवपुराण से रामचरित मानस में तुलसीदास जी ने लिया है।

महाभागवत पुराण (11/107–112) में नारद के शाप से विष्णु का सूर्यवंश में जन्म लेने की बात आयी है। विष्णु पुराण में यह कथा विकसित है "श्रीमती को प्राप्त करने के लिए नारद ने विष्णु के पास जाकर हरि रूप मांगा। विष्णु ने उसे हरि अर्थात वानर का मुख दिया और स्वयं श्रीमती के स्वयंवर में जाकर उसे प्राप्त किया। उस स्वयंवर में दो शिवगणों ने नारद का उपहास किया और नारद के शाप के कारण वे रावण और कुंभकर्ण बन गये। नारद ने विष्णु को यह शाप दिया—तुम मनुष्य बनकर वानरों के साथ विरह का दुख भोगो। (रुद्र संहिता, सृष्टि खंड, अध्याय 3–4)।" लगता है यहीं से लेकर गोस्वामी तुलसीदास जी ने मानस के बालकांड में शीलनिधि राजा की पुत्री विश्वमोहिनी की कथा लिखी है जिसके प्रति नारद मोहित हुए थे। कबीर साहेब गोस्वामी जी के पहले हुए हैं। अतएव कबीर साहेब ने शिव पुराण से लेकर यहां उद्धृत किया होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि विष्णु भी अपने कर्मफल भोगने के लिए विवश हुए।

"शिशुपाल की भुजा उपारी, आपु भये हरि ठूठा।" महाभारत के सभापर्व के 43वें अध्याय में कथा आती है कि चेदि नरेश दमघोष की पत्नी श्रुतश्रवा से एक बच्चा पैदा हुआ जिसके मस्तक में एक तीसरा नेत्र था तथा दो स्वाभाविक हाथों के अलावा दो अतिरिक्त हाथ थे। यही शिशुपाल था। राजा–रानी घबरा गये। आकाशवाणी हुई कि तुम लोग घबराओ मत। यह बच्चा वीर तथा प्रतापी होगा। इसको मारने वाला अन्यत्र पैदा हो गया है, परन्तु यह अभी नहीं मरेगा। जिसकी गोद में जाने से इस बालक का तीसरा नेत्र लुप्त हो जायेगा तथा दोनों अतिरिक्त हाथ गिर जायेंगे, वही एक दिन इसको मारने वाला होगा। अब जो उसे देखने आता उसी की गोद में बालक रखा जाता। हजारों राजे–महाराजे की

. फादर कामिल बुल्के, राम कथा, अनुच्छेद 373।

. वही, अनुच्छेद 373।

. यमुना–नर्मदा नदियों के बीच का क्षेत्र चेदि राज्य में पड़ता था।

गोद में रखा गया, कुछ न हुआ। श्रीकृष्ण तथा बलराम ने द्वारका में यह समाचार सुनकर कि हमारी बुआ श्रुतश्रवा को बच्चा पैदा हुआ है, उसे देखने चेदिदेश आये। बुआ ने शिशु को श्रीकृष्ण की गोद में डाला तो उसका अतिरिक्त नेत्र तुरन्त मस्तक में ही लुप्त हो गया तथा अतिरिक्त दोनों हाथ गिर गये। बुआ जी बहुत घबरायीं और श्रीकृष्ण से बच्चे द्वारा भविष्य में होने वाले अपराधों के प्रति क्षमा करने की याचना कीं। श्रीकृष्ण ने कहा कि मैं इसके ऐसे सौ अपराध क्षमा कर दूंगा जिनको लेकर इसका वध किया जा सकता हो। यही शिशुपाल युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के अवसर पर श्रीकृष्ण की अग्रपूजा होती देखकर जल-भुन उठा था और श्रीकृष्ण को इसने गालियां दी थीं। जब वह सौ से अधिक गाली पर पहुंचा; तब कृष्ण ने चक्र से उसे मार दिया। कहा जाता है कि श्रीकृष्ण की गोद में आने से शिशुपाल की अतिरिक्त भुजाएं उखड़ी थीं इसलिए श्रीकृष्ण ने जब जगन्नाथ अवतार ग्रहण किया तब उनके हाथो में पंजे नहीं रहे 'आपु भये हरि ठूठा।'

"पार्वती को बाँझ न कहिये" यहां साहेब प्रश्नवाचक स्वर में कहते हैं कि क्या पार्वती को वंध्या न कहा जाये! अवश्य कहा जायेगा। जीवन में कभी उनकी कोख खुली ही नहीं। पार्वती चाहती थीं कि मुझे पुत्र हो, परन्तु उन्हें कोई संतान नहीं हुई। एक बार शिव जी का वीर्य जमीन पर गिर पड़ा तो उससे स्वामी कार्तिकेय पैदा हो गये, और श्रीकृष्ण स्वयं आकर शिव-पार्वती के पास गणेश बन गये। गणेश के मुख को शनिश्चर ने देखा तो गणेश का सिर जलकर समाप्त हो गया, क्योंकि उनकी दृष्टि जहां भी पड़ती है, वह वस्तु जल जाती है। इतने में विष्णु ने आकर एक हाथी का सिर काटकर गणेश के धड़ पर लगा दिया। यह कथा ब्रह्मवैवर्त पुराण के गणपत खंड में लिखी है। महाभारत के वनपर्व के अनुसार गणेश पार्वती के शरीर के उबटन से पैदा हुए और स्वामिकार्तिकेय अग्नि द्वारा स्वाहा के गर्भ से पैदा किये गये। अन्य पुराणों में

. एतदेव तु संश्रुत्य द्वारवत्यां महाबलौ। (सभापर्व, 43/14)
श्रीकृष्ण द्वारा कंस-वध होने के बाद ही जरासंध ने शिशुपाल, कालयवन तथा तेईस-तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर कृष्ण एवं मथुरा पर सत्तरह बार चढ़ाई की थी। उसके बाद श्रीकृष्ण मथुरा छोड़कर द्वारका बसाते हैं और द्वारका से ही कृष्ण बलराम सहित शिशुपाल का जन्म देखने जाते हैं, यह सब कितना भ्रामक तथा अविश्वसनीय है, सहज समझा जा सकता है। जब द्वारका बसाने के बाद शिशुपाल का जन्म होता है तब उसके पहले उसने जरासंध के साथ सत्तरह बार मथुरा पर चढ़ाई कैसे की? चतुरंगिणी सेना का एक परिमाण या विभाग अक्षौहिणी कहलाता है जिसमें 1,09,350 पैदल, 65,610 घोड़े, 21,870 रथ और 21,870 हाथी होते हैं। सत्तरहों बार की हर चढ़ाई में तेईस-तेईस अक्षौहिणी सेना थी। यह भी अतिशयोक्ति ही है।

. इस कथा को विवरणपूर्वक समझने के लिए बीजक शिक्षा में "आपन कर्म न मेटो जाई" शब्द की व्याख्या देखें।

अन्य–अन्य ढंग से लिखा गया, परन्तु इन सब कथाओं से सिद्ध होता है कि स्वामिकार्तिकेय तथा गणेश पार्वती के पेट से पैदा हुए बच्चे नहीं हैं। अतएव पार्वती जीवनपर्यन्त वंध्या ही रहीं।

"ईश्वर न कहिये भिखारी" यहां भी साहेब ने प्रश्नवाचक स्वर में कहा है कि क्या ईश्वर को अर्थात महादेव को भिक्षु न कहा जाये? पुराणों में प्रसिद्ध है कि शिव जी भीख मांगकर खाते थे। कबीर साहेब के पीछे के कवियों ने भी यह बात लिखी है। गोस्वामी जी ने शिव को लिखा "भीख मांगि भव खाहिं" अर्थात महादेव संसार में भीख मांगकर खाते हैं। वामन–विष्णु भी बलि से भीख मांगते हैं। कर्म की गति पर तो यह किसी पंडित की पुरानी उक्ति है—"जो होनी है, वह अवश्य होकर ही रहती है। देखो नीलकंठ शिव नंगे रहते हैं और विष्णु सांप पर सोते हैं।" न महादेव को कपड़ा जुरता है और न विष्णु को पलंग–गद्दा।

"कहहिं कबीर कर्ता की बातें, कर्म की बात निनारी।" साहेब कहते हैं कि कर्ता और कर्म की बातें बड़ी विलक्षण होती हैं। यह मनुष्य कर्म करने में तो स्वतन्त्र है परन्तु उनके फल भोगने में वह उन्हीं कर्मों के अधीन है। इस शाश्वत नियम में संसार के सारे जीव बंधे हैं, उन्हें चाहे देवी–देवता कहा जाये, चाहे भगवान–भगवती तथा चाहे ईश्वर–ईश्वरी। इसमें किसी के लिए क्षमा की गुंजाइश है ही नहीं।

वैज्ञानिक तर्क के आधार पर देखा जाये तो यह कोई नहीं जानता कि विष्णु ही राम हुए हैं तथा राम ही कृष्ण हुए हैं। इसी प्रकार गणेश, स्वामिकार्तिकेय आदि की उत्पत्ति की बात भी काल्पनिक ढंग से है। सद्गुरु कबीर ने उक्त सारे उदाहरण इसलिए पेश किये हैं कि उन्हें जिनको कर्म–फल–भोग समझाना था, वे इन सब कथाओं के प्रति मान्यता रखते हैं। अतएव सद्गुरु कबीर ने उन्हीं के मान्यतानुसार उन्हें यह समझाने का प्रयत्न किया है कि देवी–देवता तथा ईश्वर–ईश्वरी कहलाने वाले भी अपने कर्म–फल–भोगों को भोगे बिना छुट्टी नहीं पाये हैं, तो इतर जीव उनके नाम जपकर तथा उनकी आराधना कर कर्म–फलों से कैसे बच सकते हैं? अतएव हमें इस भूलभूलैया को छोड़ देना चाहिए कि किसी की कृपा से हमारे कर्म–बंधन मिट जायेंगे। हमें कर्म–बंधनों से छूटने के लिए सदाचार, नैतिकता, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि का सहारा लेना चाहिए।

. रामचरितमानस, बालकांड, दोहा 79।

. अवश्यं भाविनोभावा भवन्ति महतामति।
नग्नत्वं नीलकंठस्य महा अहि शयनं हरे॥

एक वाक्य में कहें तो कर्मों की पवित्रता ही हर जीव के सुख का सुरक्षित पथ है।

ज्ञान-वैराग्य द्वारा समस्त कर्मों का नाश होता है। 205वीं साखी में सद्गुरु ने इस विषय पर प्रकाश डाला है। उन्होंने कहा है "तो लौं तारा जगमगै, जौ लौं उगे न सूर। तौ लौं जीव कर्म वश डोलै, जौ लौं ज्ञान न पूर।" जैसे सूर्य उगते ही तारों के प्रकाश तिरोहित हो जाते हैं, वैसे पूर्ण ज्ञानोदय होने पर सारे कर्म-संस्कार नष्ट हो जाते हैं।

दैवासुर संपदा

शब्द-111

है कोई गुरु ज्ञानी, जगत उलटि बेद बूझै 1
पानी में पावक बरै, अन्धहि आँखि न सूझै 2
गाई तो नाहर खायो, हरिन खायो चीता 3
काग लंगर फाँदि के, बटेर बाज जीता 4
मूस तो मंजारि खायो, स्यार खायो श्वाना 5
आदि को उदेश जाने, तासु बेस बाना 6
एकहि दादुर खायो, पाँचहिं भुवंगा 7
कहहिं कबीर पुकारि के, हैं दोऊ एकै संगा 8

शब्दार्थ—गुरु ज्ञानी= श्रेष्ठ ज्ञानी। उलटि= घूमकर। बेद= वेद, ज्ञान, निजात्मतत्त्व। गाई= गाय। नाहर= सिंह। काग= कौआ। लंगर= एक तेज हिंसक जानवर। फाँदि के= कूद कर। बटेर= एक साधारण पक्षी। बाज= प्रसिद्ध शिकारी बक्षी। मंजारि= बिल्ली। आदि= मूल। उदेश= उद्देश्य, लक्ष्य, इष्ट, प्रयोजन। बेस बाना= धार्मिक पोशाक, भक्ति-साधुत्व के चिह्न। दादुर= मेढक। भुवंगा= सांप।

भावार्थ—है कोई श्रेष्ठ ज्ञानी, जो संसार से लौटकर ज्ञानतत्त्व एवं निजस्वरूप को समझे! 1 पानी में आग जल रही है, परन्तु आंख फूटी होने से वह नहीं दिखाई देती। अर्थात स्वभावतः शीतल आत्मा में कामादि की आग जल रही है, परन्तु इसे विवेकहीन नहीं समझता 2 यहां तो सब कुछ उलटा हो गया है, गाय ने सिंह को खा लिया है, हिरन ने चीते को खा लिया है, कौए ने कूदकर लंगर को धर दबोचा है, बटेर ने बाज पक्षी पर विजय पायी है, चूहे ने तो बिल्ली को खा लिया और गीदड़ ने कुत्ते को खा डाला है 3-5 उसी के धार्मिक वेष-बाना शोभा देते हैं जो अपने मूल उद्देश्य को समझता है तथा उस दिशा में प्रयत्नरत है 6 एक मेढक ने पांच सांप खा लिये 7 कबीर

साहेब लोगों को हांक देकर और बुलाकर कहते हैं कि ये दोनों पक्ष एक साथ रहते हैं 8

व्याख्या—मानो कोई भीड़ हो। कबीर साहेब वहां पहुंच गये हों और उन्होंने अचानक भीड़ से पूछ लिया हो—इसमें है कोई श्रेष्ठ ज्ञानी, जो जगत से उलटकर, सांसारिकता से लौटकर वेद को समझता हो? ज्ञानतत्त्व एवं निजस्वरूप का विवेक करता हो? वस्तुतः श्रेष्ठ ज्ञानी वही है जो जगत से लौटकर वेद को समझता हो। सद्गुरु कबीर वेद का आदर करते हैं। वेद कहते हैं ज्ञान को। जीव का स्वरूप ही ज्ञान है। संसार में दो ही तत्त्व हैं एक जगत तथा दूसरा वेद। जगत जड़ है और वेद चेतन है। जब तक जगत से नहीं लौटा जायेगा तब तक वेद नहीं समझा जा सकता। जो व्यक्ति जगत में डूबा है वह वेद को नहीं समझ सकता। संसारी बुद्धि वाले जिस राग-रंग में आनंद मानते हैं, उससे विमुख होकर ही वेद को, ज्ञान को, निजस्वरूप को समझा जा सकता है। आप समुद्र पर चले जाइये। उसके तट पर खड़े हो जाइये। थल की तरफ पीठ देकर जल की तरफ मुख कीजिए, आपको केवल जल दिखाई देगा। परन्तु जब आप जल की तरफ पीठ करके थल की तरफ देखेंगे तो केवल थल दिखाई देगा। हमारी यही दशा है। यदि हम सांसारिकता की तरफ देखते हैं तो वेद ओझल हो जाता है। सांसारिकता में मन रखने वाला अपनी चेतना में नहीं लौट सकता। जिसका मन अपनी चेतना में लीन है वह सांसारिकता से निश्चित ही विमुख होगा। एक काल में एक साथ दोनों नहीं होंगे। अतएव सद्गुरु कबीर कहते हैं कि वही श्रेष्ठ ज्ञानी है जिसने सांसारिकता से, दुनिया के राग-रंग से पीठ दे दी हो और अपने वेदस्वरूप में-चेतनस्वरूप में निरन्तर लीन हो।

"पानी में पावक बरै, अन्धहि आँखि न सूझै।" पानी में आग जल रही है, परन्तु फूटी आंखों से यह दिख नहीं पड़ती। मनुष्य की अपनी चेतना, अपनी आत्मा स्वरूपतः शीतल, शांत एवं निर्द्वंद्व है, परन्तु उसमें काम की आग जल रही है, क्रोध की, लोभ की, मोह की, चिंता की, शोक की और राग-द्वेष की आग जल रही है। यह कितना दुखद है कि जो स्वभाव से ही शीतल है वह अपने स्वरूप के अज्ञान तथा तुच्छ विषयों के प्रलोभन में पड़कर मानसिक आग में जल रहा है। जीव संसार में आकर एक-एक गलत आदत का मैल अपने जीवन में लगाता जाता है और उसकी आग में जलता जाता है। तुम ध्यान दो, यदि तुमने बीड़ी पीने की आदत न बनायी होती तो उसको लेकर तुम्हें परेशानी क्यों होती? यदि तुम काम-कीचड़ में न पड़े होते तो इच्छा का उद्वेग तथा सांसारिकता का बोझ तुम्हारे सिर पर क्यों पड़ता? यदि तुम अमुक से वैर-विरोध न करते तो तुम्हें द्वेष की आग में क्यों जलना पड़ता? हम तो अपने

अविवेक से न हुए दुखों को बनाते हैं। जो दुख हमारे जीवन में नहीं हैं उन्हें हम अपने अज्ञान से पैदा करते हैं। संसार के सारे दुख हमारे पैदा किये हुए हैं। जीव का मौलिक स्वरूप तो निर्मल है, शीतल है, परंतु उसे अपने दिव्य स्वरूप का ज्ञान नहीं है। इसलिए वह साधारण बुद्धि अपनाकर एवं सांसारिकता में लिपटकर अपने जीवन में दुख बनाता है। स्वभावतः शीतल जीव दुखों की आग में जल रहा है, फिर भी हमारी आंखें फूटी हैं और हम देख नहीं पा रहे हैं कि यह हमारे जीवन में क्या हो रहा है। हमें अपनी स्वभावगत शीतलता, स्वच्छता, असंगता एवं निर्लेपता का ज्ञान होना चाहिए और संसार के कूड़े-कचड़े से हटना चाहिए जो हमारे जीवन में न हुए दुख उत्पन्न करते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि अरे अंधे! पानी में आग जल रही है। लोग भले कहें कि यह कबीर की उलटवांसी है, क्योंकि पानी में आग जल ही नहीं सकती। साहेब कहते हैं कि जल तो रही है; परन्तु जब तुम्हारी आंखें ही फूटी हैं, तब तुम इसे देख भी कैसे सकते हो! तुम इसे देख लेते तो आज तक दुखों की आग में जलते ही क्यों! तुम्हारे मूल स्वरूप में तो दुख की गंध भी नहीं है, परन्तु दुनियाभर का लीबड़ लगाकर तुम रात-दिन दुखों में कितना जल रहे हो इसका तुम्हें होश-हवास ही नहीं है।

शीतल पानी में आग जल रही है। जो जीव स्वभावतः शीतल है वह अपने अज्ञान से संसार की तनिक-तनिक-सी बातों को लेकर तथा तुच्छ चीजों में उलझकर क्षण-क्षण पीड़ित हो रहा है। इस विपरीतता को लेकर यहां कबीर साहेब उलटवांसी भरे कई उदाहरण पेश करते हैं। वे कहते हैं कि यह तो मानो ऐसा हुआ कि गाय ने सिंह को खा लिया हो, हिरन ने चीते को, काग ने लंगर को, बटेर ने बाज को, चूहे ने बिल्ली को, गीदड़ ने कुत्ते को तथा एक मेढक ने पांच सांपों को खा लिया हो। इन सारे उदाहरणों में एक ही बात है कि कमजोर पक्ष ने बलवान पक्ष को खा लिया है। गाय, हिरन, कौआ, बटेर, चूहा, गीदड़ तथा मेढक कमजोर पक्ष के हैं तथा इनके विपक्ष में रहे हुए सिंह, चीता, लंगर, बाज, बिल्ली, कुत्ता तथा सांप बलवान पक्ष के हैं। संसार में सिंह, चीता, लंगर, बाज, बिल्ली, कुत्ता तथा सांप क्रमशः गाय, हिरन, कौआ, बटेर, चूहा, गीदड़ तथा मेढक को मारते हैं, परन्तु यहां उलटा हुआ है। यहां गाय आदि के कमजोर पक्ष ने ही सिंह आदि के बलवान पक्ष को धर दबोचा है।

इसका अभिप्राय यह है कि हमारे हृदय में दुर्गुण तथा सद्गुण दोनों के दल रहते हैं। स्वभाव से दुर्गुण दुर्बल पक्ष है और सद्गुण सबल पक्ष। किन्तु दुर्बल पक्ष ने ही सबल पक्ष को धर दबोचा है। दुर्गुण दुर्बल तथा सद्गुण सबल कैसे हैं? यह साफ जाहिर है। काम और विचार को लें। काम अंधकाररूप है और

विचार प्रकाशरूप। काम की दशा में आदमी कुछ क्षण रह सकता है, जीवनभर नहीं। वह जितने क्षण काम में रहता है उतना क्षण भी कितना उत्तेजनापूर्ण, भावुकतापूर्ण, मलिन, घृणित एवं अस्त–व्यस्त होता है यह सर्वविदित है। इसके विपरीत विचार है। विचार में पूरा जीवन रहा जा सकता है। हम विचार की अवस्था में निष्काम, संतुष्ट, स्थिरमति एवं निर्द्वंद्व होते हैं। जब तक विचार रहता है, काम आ ही नहीं सकता। विचार इतना सबल है कि उसके सामने काम टिक नहीं सकता। परन्तु विचार न रहने पर काम ही बलवान हो जाता है। अतः लगता है कि मानो काम ने ही विचार को नष्ट कर दिया है। जब घोर अंधकार रहता है तब लगता है कि इस अन्धकार ने ही प्रकाश का नाश कर दिया है, जबकि प्रकाश का अभाव मात्र अंधकार है। प्रकाश सकारात्मक है और अंधकार नकारात्मक। प्रकाश हो तो अन्धकार रहने का प्रश्न ही नहीं उठता। यह तो अन्धकार इसलिए रहता है क्योंकि प्रकाश उपस्थित नहीं है। जहां प्रकाश आया कि अन्धकार गायब हुआ। इसी प्रकार काम–वासना इसलिए है कि विचार मन में उपस्थित नहीं है। जहां विचार आया कि काम समाप्त हुआ। इसी प्रकार क्रोध, तृष्णा, राग–द्वेष, मोह आदि इसलिए हैं कि क्षमा, संतोष, समता, विवेकादि मन में नहीं हैं। जहां क्षमा, संतोष, समता, विवेकादि मन में विद्यमान हुए कि क्रोध, तृष्णा, राग–द्वेष, मोह आदि गायब हुए। ये कामादि दुर्गुण जो विचारादि के अभाव मात्र से अपनी सत्ता रखने वाले मूलतः दुर्बल हैं, लगते हैं कि सबल हैं। लगता है कि कामादि ने विचारादि को नष्ट कर दिया है, परन्तु बात ऐसी है नहीं। वस्तुतः हम विचार, क्षमा, संतोष, समता, विवेकादि मन में नहीं जगाते, तो काम, क्रोध, तृष्णा, राग–द्वेष, मोह आदि जगकर मन में छा जाते हैं।

वस्तुतः कामादि दुर्गुण पक्ष तथा विचारादि सद्गुण पक्ष—दोनों एक साथ मनुष्य के हृदय में रहते हैं। इस शब्द की अंतिम पंक्ति में सद्गुरु ने यही कहा है "कहहिं कबीर पुकारि के, है दोऊ एकै संगा।" मनुष्य की स्वतन्त्रता है, वह चाहे तो कामादि विकारों का स्मरण कर उन्हें ही मन में बढ़ाये, अथवा विचारादि को बढ़ाये। ये दैवासुर संपदाएं मनुष्य के मन में रहती हैं। मनुष्य चाहे दैवी–संपदा बढ़ा ले और चाहे आसुरी–संपदा बढ़ा ले। दोनों के फल प्रत्यक्ष हैं। आसुरी–संपदा का फल नरक है और दैवी–संपदा का फल कल्याण है।

इस शब्द में आये हुए गाय, हिरन, कौआ, बटेर, चूहा, गीदड़ तथा मेढक के और इसके विरोधी सिंह, चीता, लंगर, बाज, बिल्ली, कुत्ता तथा सांप के कुछ विशेष अर्थ किये जायें या नहीं, कुछ अन्तर नहीं पड़ता। सहज अर्थ यही है कि गाय आदि दुर्बल पक्ष कामादि आसुरी–संपदा के हैं तथा सिंह आदि

सबल पक्ष दैवी-संपदा के हैं। मनुष्य की बुद्धि विपरीत होने से दुर्बल आसुरी-संपदा ने ही सबल दैवी-संपदा को ढक-जैसा लिया है। परन्तु जो यह समझ जाता है कि आसुरी-संपदा अंधकार मात्र है जो दैवी-संपदारूपी प्रकाश के सामने नहीं टिक सकती, वह शीघ्र ही दुर्गुणों से मुक्त होकर सद्गुणों में विराजता है।

यदि गाय तथा सिंहादि के विशेष अर्थ किये जायें तो इस प्रकार किये जा सकते हैं—

गाय—अविद्या	सिंह—ज्ञान
हिरन—चंचलता	चीता—शांति
काग—वासना	लंगर—विवेक
बटेर—उत्साहहीनता	बाज—उत्साह
मूस—भय	बिल्ली—निर्भयता
गीदड़—अविवेक	श्वान—विवेक
मेढक—विषयासक्ति	सर्प—पांच ज्ञानेन्द्रियां

इन गाय, सिंह आदि के अर्थ दूसरे मनोभावों में भी किये जा सकते हैं, परन्तु इतना साफ है कि गाय आदि दुर्बल पक्ष के प्राणियों के रूपक आसुरी-संपदा के लिए हैं तथा सिंह आदि सबल पक्ष के प्राणियों के रूपक दैवी-संपदा के लिए हैं। सातवीं पंक्ति में है कि एक मेढक ने पांच सांपों को खा लिया। ज्ञानेन्द्रियां मानो सांप हैं। ये विवेकयुक्त रहें तो विषयासक्ति के ध्वंस में सहायक बन सकती हैं, परन्तु ऐसा न होने से विषयासक्ति ही पांचों ज्ञानेन्द्रियों को पतित कर देती है।

इस शब्द की छठीं पंक्ति में सद्गुरु ने एक विशेष महत्त्व की बात कही है "आदि को उदेश जाने, तासु बेस बाना।" जो आदि का उद्देश्य जानता है उसके वेष-बाना सफल हैं। 'आदि' शब्द के मुख्य दो अर्थ हैं। किसी कालखंड के आरम्भ को आदि कहते हैं तथा मूल को आदि कहते हैं। यहां कालखंड का आरम्भ अर्थ नहीं है, किन्तु 'मूल' अर्थ है। "आदि को उदेश" है मूल उद्देश्य। मनुष्य का मूल उद्देश्य है दुखों से अत्यन्त निवृत्ति। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ है कि जो साधक दुखों से अत्यन्त निवृत्तिरूप अपने जीवन के मूल उद्देश्य को समझता और उस दिशा में चलता है, उसी के धार्मिक वेष-बाना सफल हैं।

हर प्राणी दुखों से छूटना चाहता है। मानव-प्राणी विवेक-साधनसंपन्न होने से दुखों से छूटने में समर्थ है। दुख उत्पन्न होते हैं अपने स्वरूप के अज्ञान तथा दोषों से। जब मनुष्य को अपने स्वरूप का ज्ञान होता है और अपने मन, वाणी

तथा शरीर के दोषों को छोड़ने लगता है, तब वह क्रमशः दुखों से मुक्त होने लगता है। दुखों से पूर्ण निवृत्ति तब होती है जब दोषों की पूर्ण निवृत्ति हो जाती है। जो साधक अपने मन में यह सदैव ध्यान रखता है कि मुझे पूर्ण दुखरहित होना है वह अपने जीवन के एक-एक दोष को निकाल-निकालकर फेंकता है। अपने मूल उद्देश्य—दुखनिवृत्ति को समझने वाला कभी दूसरों के दोषों को देखने की चेष्टा नहीं करता। वह तो सदैव यह ध्यान रखता है कि मेरे दोष दूर हों। मेरे बनाये दोषों को छोड़कर मुझे अन्य कोई दुख दे ही नहीं सकता। अतएव जो अपने मूल उद्देश्य को सदैव अपने मन के सामने रखता है, वह इधर-उधर न उलझकर अपने भीतर बने दोषों को निकालता है तथा नये दोषों से सावधान रहता है। सद्गुरु कबीर कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति के ही वेष-बाना एवं धार्मिक चिह्न धारण करना सफल है। अन्यथा वेष का स्वांग कोई भी बना सकता है जिससे कोई लाभ नहीं।

इस प्रकार इस शब्द में सद्गुरु ने सांसारिकता एवं विषयासक्ति से लौटकर वेद को, ज्ञान को एवं निजस्वरूप को समझने की प्रेरणा दी है और बताया है कि तुम स्वभाव से ही शीतल एवं कल्याणमय हो, केवल भूल से तुम्हारे मन में दोषों और दुखों की आग जल रही है। दुर्बल दुर्गुण पक्ष ने सबल सद्गुण पक्ष को दबा-जैसा दिया है। परन्तु यदि तुम अपने मूल उद्देश्य को समझो तथा अपने आप में जग जाओ तो कृतार्थ हो जाओगे। सार यह है कि तुम्हें जगत से लौटकर निजतत्त्व को समझना चाहिए।

मनुष्य सबसे श्रेष्ठ है

शब्द-112

झगरा एक बढ़ो राजाराम, जो निरुवारे सो निर्बान 1
ब्रह्म बड़ा कि जहाँ से आया, बेद बड़ा कि जिन्ह उपजाया 2
ई मन बड़ा कि जेहि मन माना, राम बड़ा कि रामहि जाना 3
भ्रमि भ्रमि कबिरा फिरे उदास, तीर्थ बड़ा कि तीर्थ का दास 4

शब्दार्थ—झगरा=झगड़ा, विवाद। राजाराम=श्रेष्ठ चेतन। निरुवारे= निरवारना, तय करना, न्याय करना, फैसला करना। निर्बान=निर्वाण, सुख शांति, मुक्ति। आया=पैदा हुआ, कल्पित हुआ। उपजाया=पैदा किया, रचना की।

भावार्थ—हे श्रेष्ठ चेतन! एक बहुत बड़ा विवाद है, जो इसका फैसला कर देता है, वह सारे बंधनों से मुक्त होकर कृतार्थ हो जाता है 1 ब्रह्म बड़ा है कि जिसकी कल्पना से ब्रह्म का रूप खड़ा हुआ वह मनुष्य बड़ा है? वेद बड़े हैं

कि वेदों के रचयिता बड़े हैं? 2 यह मन बड़ा है कि मन को मानने वाला जीव बड़ा है? ईश्वर बड़ा है कि ईश्वर की अवधारणा करने वाला मनुष्य बड़ा है? 3 संसार के लोग मोक्ष के लिए तीर्थ में मारे-मारे घूमते हैं, परन्तु तीर्थ बड़े हैं कि तीर्थों की स्थापना कर उनका सेवन करने वाले भक्त लोग बड़े हैं? इन विषयों का समाधान करो और कृतार्थ हो जाओ 4

व्याख्या—कबीर साहेब धर्म और अध्यात्म क्षेत्र के वैज्ञानिक पुरुष हैं। धर्म और अध्यात्म के नाम पर चलती हुई प्रकृति-विरुद्ध बातों के वे विरोधी हैं। तर्क, युक्ति और विवेकसंगत बातें, जो मानवमात्र के लिए कल्याणकर हैं, उनकी जिसे पिपासा हो वह कबीर साहेब की वाणियों को पढ़े। उसे उनमें सही दिशा मिलेगी। अतएव विचारप्रधान व्यक्ति तथा विवेकी के लिए कबीर साहेब की वाणियां बहुत बड़ा सहारा है।

यहां सद्गुरु कबीर कहते हैं कि हे राजाराम ! हे चेतन सरकार ! हे ज्ञान-सम्राट मानव ! एक बहुत बड़ा विवाद खड़ा है कि ब्रह्म, ईश्वर, वेद तथा तीर्थ श्रेष्ठ हैं कि इनकी जहां से उपज हुई वह श्रेष्ठ है? संसार के अधिकतम लोग तो ऐसे ही हैं जो यही मानते हैं कि ब्रह्म, ईश्वर, वेद तथा तीर्थ श्रेष्ठ हैं। परन्तु कुछ विवेकी होते हैं, उन्हें इस मान्यता पर संतोष नहीं होता। वे कहते हैं कि इन सबका अवधारण जहां से होता है वह श्रेष्ठ है। कबीर देव कहते हैं कि जो इस विवाद को सुलझाकर विवेकसम्मत पथ पकड़ता है वही कल्याण का अधिकारी है। "झगड़ा एक बढ़ो राजाराम" यहां राजाराम मनुष्य की आत्मा के लिए सम्बोधन समझना चाहिए। क्योंकि राजाराम यही है। जो व्यक्ति अपने मन के विवाद एवं संदेह को मिटा देगा वह निर्वाण का अधिकारी हो जायेगा। निर्वाण का अर्थ है बुझा हुआ। यहां अर्थ है वासनाओं का बुझ जाना। सीधा अर्थ हुआ जीव का कृतार्थ एवं मुक्त हो जाना।

"ब्रह्म बड़ा कि जहाँ से आया।" ब्रह्म का अर्थ श्रेष्ठ है। वह मनुष्य की आत्मा ही है। परन्तु लोगों ने ब्रह्म की कल्पना भिन्न ढंग से की है। उनकी कल्पना है कि सत्ता केवल एक ही तत्त्व की है, उसे जड़ कहो या चेतन। वे मानते हैं कि एक ब्रह्म के अलावा न दूसरा चेतन है न जड़ तत्त्व। यह जगत तो है ही नहीं। यह तो भ्रम से ही भासता है। अद्वैत ब्रह्मवाद पर सुन्दरदास जी की कविता में बड़ा रोचक प्रश्नोत्तर है। इसे ध्यान देकर पढ़ें—

शिष्य पूछता है—गुरुदेव !

गुरु कहते हैं—शिष्य ! क्या पूछना है?

शिष्य—मुझे एक शंका है।

गुरु—अभी क्यों नहीं पूछ लेता है।

शिष्य—आप कहते हैं कि एक ही ब्रह्म है, ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं?

गुरु—मैं अब भी एक ही ब्रह्म कहता हूं।

शिष्य—यदि एक ही है तो अनेक क्यों भासते हैं?

गुरु—यह अनेक का सबको भ्रम है।

शिष्य—जब ब्रह्म के अलावा कोई है ही नहीं, तो यह भ्रम किसको है?

गुरु—भ्रम को ही भ्रम हो गया है।

शिष्य—भ्रम ही को भ्रम कैसे हो गया?

गुरु—इसे जानने की तूने कभी चेष्टा नहीं की।

शिष्य—हे स्वामी! मैं इसे कैसे जानूं कि भ्रम को ही भ्रम हुआ है?

गुरु—निश्चय कर लो कि भ्रम को ही भ्रम हुआ है।

शिष्य—हे प्रभु! मैंने इसे निश्चय कर लिया।

गुरु—बस, तब एक ब्रह्म सिद्ध हो गया।

यह है अद्वैत ब्रह्मवाद को जबर्दस्ती सिद्ध करने का प्रयास। भ्रम को ही भ्रम हो गया, यह कोई विवेक की बात हुई? परन्तु इस जबर्दस्ती को छोड़कर अद्वैतवाद सिद्ध करने का कोई साधन भी नहीं है। शिष्यों को श्रद्धा के बल पर मनवाने का प्रयास किया जाता है।

यदि ब्रह्म में ही भ्रम होना कहें तो अपने आप को देखकर अपने आप ही भ्रमित होना अयुक्त है। ब्रह्म के अलावा कोई दूसरा था नहीं जिसे देखकर उसे भ्रम हो। यद्यपि इस असंगति को बैठाने के लिए अद्वैतवादी वाणी का एक बृहत् रूप खड़ा करते हैं, तथापि अद्वैतवाद में सब बातें द्वैत की होती हैं जो उनके सिद्धांत से ही अज्ञानजन्य हैं। अद्वैत प्रतिपादन करना ही अज्ञान है, क्योंकि प्रतिपादक, प्रतिपादन तथा प्रतिपाद्य—त्रिपुटी हो जाती है। अद्वैत रह नहीं जाता। कबीर साहेब कहते हैं कि यह ब्रह्म की कल्पना बड़ी नहीं है, किन्तु कल्पना

. शिष्य पूछे गुरुदेव, गुरु कहे पूछे शिष्य,
मेरे एक शंका अहै, क्यों न पूछे अबहीं।
तुम कहो एक ब्रह्म, अजहूं मैं कहूं एक,
एक तो अनेक कैसे, यह भ्रम सबहीं॥
यह भ्रम काकूं भयो, भ्रम ही को भ्रम भयो,
भ्रम ही को भ्रम कैसे, तू न जाने कबहीं।
कैसे करि जानूं नाथ, गुरु कहैं निश्चय धरु,
निश्चय करि जान्यों प्रभु, एक ब्रह्म तबहीं॥

करने वाला जीव बड़ा है। "ब्रह्म बड़ा कि जहाँ से आया" ब्रह्म बड़ा है कि जहां से ब्रह्म की कल्पना खड़ी हुई? वस्तुतः ब्रह्म की कल्पना खड़ी हुई जीव से, इसलिए जीव श्रेष्ठ है, ब्रह्म नहीं। यह मनुष्य की आत्मा ही सर्वोपरि है।

"बेद बड़ा कि जिन्ह उपजाया" वेद बड़े हैं कि वेदों की रचना जिसने की वे मनुष्य बड़े हैं? यह सहज ही समझा जा सकता है कि मनुष्य बड़े हैं। यदि मनुष्य न होते तो वेदों की रचना कौन करता? वेद ही क्या, बाइबिल, कुरान तथा संसार के समस्त धर्मशास्त्र एवं ज्ञान-विज्ञान मनुष्य की देन हैं। धर्मावलंबी लोग धर्मशास्त्रों की इतनी दोहाई देने लगते हैं कि उनके ख्याल से मनुष्य से श्रेष्ठ धर्मशास्त्र ही हो जाते हैं। अधिकतम धार्मिकों को यह सनक सवार है कि हमारे धर्मशास्त्र आकाश से आये हैं। उन्हें कोई अतिमानवीय शक्ति ने भेजा है। वे मूर्तिपूजा की जगह पर धर्मशास्त्रों को ही बैठा देते हैं। यह सब दुर्भाग्यपूर्ण है। वेद हो या कुरान, बाइबिल हो या अन्य धर्मशास्त्र सब मनुष्यों की रचनाएं हैं। मनुष्य से बड़ी कोई चेतनाशक्ति नहीं है जो ज्ञान-विज्ञान दे सके। मनुष्य को किसी वस्तु से तुच्छ कहना अनर्थ है। मनुष्य की आत्मा ही वेदों का वेद है।

"ई मन बड़ा कि जेहि मन माना" यह मन बड़ा है कि इस मन को मानने वाला? उत्तर है कि मन बड़ा नहीं है, किन्तु मन को मानने वाला बड़ा है। हम अपने मन में नाना मान्यताएं बना लेते हैं और उन्हें ही श्रेष्ठ मान लेते हैं, परन्तु श्रेष्ठ मन तथा मन की मान्यताएं नहीं हैं किन्तु जो मन-मान्यताओं को खड़ा करता है वह चेतन मनुष्य ही श्रेष्ठ है। यहां मनुष्य से अभिप्राय है मनुष्य शरीर में रहने वाला जीव, चेतन एवं आत्मा। केन उपनिषद् के ऋषि ने भी कहा है— "जिसका मन से मनन नहीं होता, किन्तु जिससे मन मनन करता है उसे श्रेष्ठ समझ, न कि उसे, जिसे मन से मानकर उपासना करता है।" साहेब कहते हैं कि मन-मान्यता तुम्हारा खेल है, तुम उससे श्रेष्ठ हो। अर्थात मन और मान्यताओं का जनक जीव है। वह उनसे श्रेष्ठ है।

"राम बड़ा कि रामहि जाना" ईश्वर बड़ा है कि ईश्वर की कल्पना करने वाला? यदि राम, ईश्वर, परमात्मा व्यक्ति की आत्मा से अलग है, तो वह क्या है? यदि वह चेतन है तो सजाति है और उससे उसका कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। वस्तुतः मनुष्य अपने स्वरूप के अज्ञान से अपने से अलग राम-रहीम की कल्पना करता है। साहेब कहते हैं कि यदि राम तुम्हारी आत्मा से अलग है तो वह श्रेष्ठ नहीं हो सकता, किन्तु उसके मानने, जानने तथा कल्पना करने वाले

. यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ (केन उपनिषद्, 1/5)

तुम्हीं श्रेष्ठ हो। कबीर साहेब ने मनुष्य की आत्मा को ही राम कहा है "हृदया बसै तेहि राम न जाना।" तथा "राम नाम निजु जानि के, छाड़ि देहु बस्तु खोटि।" अर्थात राम ऐसा नाम अपना ही समझकर खोटी बाह्य कल्पनाएं छोड़ दो। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि ईश्वर की कल्पना करने वाला ईश्वर से श्रेष्ठ है। यदि मनुष्य की आत्मा न होती तो ईश्वर की कल्पना न होती। इसलिए मनुष्य की आत्मा ही ईश्वर का ईश्वर तथा परमात्मा का परमात्मा है।

"भ्रमि भ्रमि कबिरा फिरे उदास, तीर्थ बड़ा कि तीर्थ का दास।" संसार के मनुष्य तीर्थों में भटकते हैं। वे दुखी होकर वहां परमात्मा तथा मोक्ष खोजते हैं। तीर्थों की बड़ी महिमा बढ़ायी गयी। यहां तक लिखा गया कि अमुक तीर्थ में जाने से, अमुक नदी में नहाने से तथा अमुक देवता के दर्शन करने से सारे पाप कट जायेंगे, मोक्ष तथा परमात्मा मिलेंगे। साहेब कहते हैं कि यह सब तुम्हारे मन का धोखा है। यदि तुम न होते तो तीर्थ कौन बनाता! ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाये तो ईसा के तीन-चार सौ वर्ष के बाद से अर्थात गुप्त काल से तीर्थों, देवमन्दिरों आदि की स्थापना का जोर बढ़ा है। वैदिक तथा उपनिषद् काल में कहीं भी तीर्थों का पता नहीं चलता। साहेब कहते हैं कि तीर्थ श्रेष्ठ नहीं हैं किन्तु तीर्थ की स्थापना करने वाले मनुष्य श्रेष्ठ हैं।

इस पूरे शब्द में सद्गुरु ने यही दर्शाया है कि जो ब्रह्म तथा ईश्वर की कल्पना करता है, वेदादि समस्त धर्मशास्त्रों की रचना करता है, जो सारे ज्ञान-विज्ञान का अन्वेषण करता है, जो मन-मान्यताओं का जनक है तथा सारे तीर्थों की स्थापना करता है, वह मनुष्य ही सर्वोपरि सत्ता है। ज्ञान-विज्ञान का परम निधान मनुष्य है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी गरिमा एवं आत्मगौरव को समझने का प्रयास करे।

साथियों की चिन्ता न कर सत्य के उपासक बनो

शब्द-113

झूठेहि जनि पतियाउ हो, सुनु सन्त सुजाना 1
तेरे घट ही में ठग पूर है, मति खोवहु अपाना 2
झूठे की मण्डान है, धरती असमाना 3
दशहुँ दिशा वाकी फन्द है, जीव घेरे आना 4
योग जप तप संयमा, तीरथ ब्रत दाना 5
नौधा बेद कितेब है, झूठे का बाना 6

. रमैनी 41।
. रमैनी 36।

काहू के बचनहिं फुरे, काहू करामाती 7
मान बड़ाई ले रहे, हिन्दू तुरुक जाती 8
बात ब्योंते असमान की, मुद्दति नियरानी 9
बहुत खुदी दिल राखते, बूड़े बिनु पानी 10
कहहिं कबीर कासों कहौं, सकलो जग अन्धा 11
साँचे से भागा फिरै, झूठे का बन्दा 12

शब्दार्थ—पतियाउ= विश्वास करना। सुजाना= सुजान, ज्ञानी। घट= हृदय। ठग= छली मन। पूर= विद्यमान। अपाना= अपनापन, आत्मज्ञान, आत्मगौरव, होशहवास। मण्डान= घेरा, शृंगार। वाकी= मन की। नौधा= नौधा भक्ति—श्रवण, कीर्तन, नामस्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दासभाव, सखापन तथा आत्मनिवेदन। कितेब= किताब, कुरान आदि। बाना= वेष, पहनाव, पोशाक, मुलम्मा। बचनहिं फुरे= वाचासिद्धि, वर-शाप देने की शक्ति। करामाती= करामात दिखाने वाला, चमत्कार प्रदर्शित करने वाला। ब्योंते= नापते हैं। मुद्दति= काल, अवधि। खुदी= अहंकार, गर्व। बूड़े बिनु पानी= (मुहावरा) तुच्छ बातों को लेकर पतित होना। अन्धा= विवेकहीन। बन्दा= दास, गुलाम।

भावार्थ—हे ज्ञानी संतो ! सुनो, झूठी बातों पर विश्वास नहीं करना 1 सावधान ! तुम्हारे हृदय ही में मन-ठग बैठा है, उसमें मिलकर आत्मगौरव तथा अपने होशहवास को नहीं खो देना 2 धरती से आकाश तक सारे संसार में झूठे का ही शृंगार है 3 दसों-दिशाओं में मन-काल का जाल फैला है। उसने मानो आक्रमणकारी की भांति आकर जीव को घेर लिया है 4 यहां तक कि मन ने योग, जप, तप, संयम, तीर्थ, व्रत, दान, नौधाभक्ति, वेद, कुरान आदि पर भी झूठे का मुलम्मा चढ़ा रखा है 5-6 कोई तो वाचा-सिद्धि का ढोंग दिखाकर शाप और वर देने की धमकी तथा प्रलोभन दे रहा है और कोई छल-कपटपूर्वक आश्चर्य भरे लगने वाले करतब दिखाकर अपने आप को चमत्कारी सिद्ध कर रहा है 7 उधर हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों के लोग अपनी-अपनी मान-बड़ाई की डींगें हांक रहे हैं 8 ये बातें तो आकाश की करते हैं, परन्तु मलिनता भरे राग-द्वेष में जिन्दगी खो देते हैं 9 ये अपने मन में बड़प्पन का बहुत अहंकार रखते हैं और तुच्छ बातों में पड़कर अत्यन्त घिनौने काम करते हैं 10 कबीर साहेब कहते हैं कि यह सब मैं किससे कहूं, सारा संसार तो विवेकहीन बना है। सच्ची राह बताने वालों से दूर भागते हैं और मिथ्या महिमा का मुलम्मा चढ़ाकर झूठी राह में ले जाने वालों की गुलामी करते हैं 11-12

व्याख्या—कबीर साहेब की एक-एक पंक्ति में आग भरी हुई है, जिसका यदि अपने जीवन में प्रयोग किया जाये तो जीवन का सारा कूड़ा-कचड़ा जल जाये। बारह पंक्तियों का यह शब्द कितना मार्मिक, कितना विदग्धात्मक तथा कितना हृदयस्पर्शी है, यह सोचते ही बनता है। सद्गुरु पहली पंक्ति में कहते हैं—"झूठेहि जनि पतियाउ हो, सुनु सन्त सुजाना" हे सुजान संतो! झूठी बातों पर विश्वास मत करना। धर्म के नाम पर झूठी बातें खूब चलती हैं। एक राजनेता, वकील तथा व्यापारी जितना झूठ नहीं बोलता उतना झूठ एक धर्माधिकारी बोलता है। दूसरे लोग तो लुक-छिपकर झूठ बोलते हैं और यदि पकड़ जायें तो कानूनन दंड भी पा सकते हैं, परन्तु धार्मिक कहलाने वाले लोग धर्म की गद्दी पर बैठकर हजार के बाजार में घोषणापूर्वक झूठ बोलते हैं, और उनके एक-एक बड़े झूठ पर फूल उछालकर तथा जय बोलाकर उनका स्वागत किया जाता है। उनकी पूजा तथा आरती की जाती है। जो विश्व के शाश्वत नियमों, कारण-कार्य-व्यवस्था तथा प्रकृति के गुण-धर्मों के भीतर नहीं है वह कथन मनुष्य के साथ एक छलावा है। साहेब कहते हैं कि हे सन्तो! ऐसी झूठी बातों पर विश्वास नहीं करना, चाहे उसके पीछे कितना ही आप्तप्रमाण का दावा किया गया हो। विश्व के शाश्वत नियम अपने आप ही प्रमाण हैं। उनके विरुद्ध जो कुछ है अप्रमाण है।

"तेरे घट ही में ठग पूर है, मति खोवहु अपाना।" सद्गुरु कहते हैं कि तुम्हारे हृदय में मन-ठग बैठा है। देखना उसके छल-कपट में पड़कर तुम अपने होशहवास को खो नहीं देना। बाहर के लोग धोखा देकर, झूठ बोलकर तुम्हें छलते हैं। ऐसे धोखेबाज तथा झूठे धार्मिक क्षेत्र में भी हैं तथा व्यावहारिक क्षेत्र में भी। परन्तु सद्गुरु कहते हैं कि सबसे बड़ा झूठा और ठग तो तुम्हारे घट-भीतर बैठा है, वह है मन। मन तुम्हारे भीतर बैठा हर समय तुम्हें छल रहा है। वह गंदे शरीर को तुम्हारे सामने खूबी से रमणीय प्रदर्शित करता है, पतनकारी काम-वासना को आनंदरूप सिद्ध करता है। इसी प्रकार सारी मलिनताओं पर वह पवित्रता का स्वर्णिमवरक लगाकर तुम्हें छलता है। मन तुम्हें कब धोखा दे जाता है, इस पर ध्यान रखो। यह धोखेबाज मन ही तो है जो सारी अनुपस्थित अमंगलकारी चीजों को उपस्थित के समान याद दिला-दिलाकर तुम्हें ठगता है। तुम वस्तुतः साठ वर्ष के हो और मन याद करा रहा है तुम बीस वर्ष के हो, तुम तथ्यतः झोपड़ी में हो और मन याद करा रहा है तुम महल में हो। इसी प्रकार अनेक झूठी बातों से मन तुम्हें क्षण-क्षण ठग रहा है। साहेब कहते हैं कि हे सन्तो! हे सज्जनो! इस झूठे मन के जाल में मिलकर "मति खोवहु अपाना" अपनापन को, आपा को, अपने होशहवास को मत

खोओ। मन के भटकाव में पड़कर अपने आप को मलिनता में डाल देना ही अपने आप को खोना है। मन का गलत स्मरण, वाणी का गलत उच्चारण तथा इन्द्रियों का गलत आचरण—यही अपने आप को खोना है, यही अपने आप का पतन है। सद्गुरु कहते हैं कि मन से सावधान रहना तथा अपने आप का पतन नहीं करना।

"झूठे की मण्डान है, धरती असमाना। दशहुँ दिशा वाकी फंद है, जीव घेरे आना।" धरती से आकाश तक जितना शृंगार है, झूठा है। मन के फंदे तो दसों दिशाओं में फैले हैं। उसने तो मानो तुम्हें हमलावर की तरह घेर लिया है। यह जीव अपने स्वरूप को क्षण-क्षण क्यों भूलता रहता है? क्योंकि यह संसार के शृंगार में, चमक-दमक में फंसता रहता है। साहेब कहते हैं कि संसार के सारे शृंगार झूठे हैं। मंडान कहते हैं घेरा को, शृंगार को एवं चमक-दमक को। धरती से आकाश तक जितने फैले हुए दृश्य मन को मोहित करते हैं वे झूठे हैं, क्योंकि वे क्षणिक हैं। जैसे युवती पत्नी, सुन्दर बच्चे, सुन्दर भवन, मित्र, गोष्ठी, शासन, स्वामित्व, प्रतिष्ठा, सजी फुलवारियों तथा मनोहर वनों का विहार, देश-विदेश के चमकते दृश्य, नदी, पर्वतों की मनोरमता, बादलों की श्यामता, वर्षा, शरद, वसंत एवं ग्रीष्म के आकर्षक दृश्य—सब कुछ तो क्षणभंगुर है। हम जिन दृश्यों में मोह कर अपनी स्थिति से दूर रहते तथा समय नष्ट करते हैं वे नित्य एकरस रहने वाले नहीं हैं और शरीर के साथ एक दिन तो सब छूटने वाले ही हैं। मन के जाल दसों दिशाओं में फैले हैं। पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण, इन चारों के चारों कोने—आग्नेय, नैऋत, वायव्य तथा ईशान और ऊपर तथा नीचे—ये दस दिशाएं मानी गयी हैं। यहां दसों दिशाओं का लक्षणा अर्थ है सर्वत्र। मन के फंदे तो सर्वत्र फैले हैं। इसका अर्थ है कि इस भावुक तथा अविवेकी जीव के फंसने के लिए हर जगह मोहक फंदे हैं। विवेक से देखने पर संसार में कुछ भी मोहक नहीं है; परन्तु इस अविवेकी मन ने जैसी गलत आदतें एवं वासनाएं बना ली हैं उनके कारण यह पदे-पदे उलझता रहता है। जैसे हमलावर शत्रु पर धावा बोलकर उसे घेर लेते हैं, जैसे जल पर फैली हरी काई जल पर छा जाती है, वैसे मन की वासनाएं मनुष्य पर छा जाती हैं। मन ने जीव को चारों तरफ से घेरकर उसे विषयासक्त बना दिया है। वस्तुतः जीव अपने दिव्य स्वरूप को भूलकर मन के जाल में उलझा हुआ दुख पा रहा है।

केवल व्यावहारिक क्षेत्र में मन का जाल फैला है ऐसी बात नहीं है, किन्तु धार्मिक क्षेत्र में भी मन के जाल का वर्चस्व है। साहेब कहते हैं "योग जप तप संयमा, तीरथ ब्रत दाना। नौधा बेद कितेब है, झूठे का बाना।" योग, जप, तप, संयम, व्रत, दान, नौधा भक्ति, वेद, कुरान आदि सभी को मन ने झूठे का जामा

पहना दिया है। मन धोखेबाज है तो धार्मिक क्षेत्र में भी यह अपना धोखा फैलाता है। वस्तुतः जीव विषयासक्त हो गया है। इसलिए वह अपनी विषय-लोलुपता को पूर्ण करने के लिए धर्म के क्षेत्र को भी धूमिल करता है। योग मन का निग्रह है, जप सावधानी है, तप शारीरिक-मानसिक सहनशीलता है, संयम गलत खान-पान तथा बात-व्यवहार से बचना है, तीर्थ सत्संग है, व्रत सदाचार-पथ पर चलने की प्रतिज्ञा है, दान निष्काम भाव से एवं कर्तव्य दृष्टि से किसी प्रकार किसी की सेवा करना है, भक्ति हृदय की कोमलता है तथा वेद-किताबादि संसार के धर्मशास्त्र हैं जिनमें नीर-क्षीर विवेक कर सदैव क्षीर को एवं सत्य को ही ग्रहण करना चाहिए। इस ढंग से इन्हें ग्रहण करने से मनुष्य का कल्याण है। परन्तु योग, जपादि के नाम पर पाखंड फैल गये हैं। लोग इनका नाम लेकर आत्म-प्रवंचना तथा लोक-प्रवंचना करते हैं। लोग योग के नाम पर ऋद्धि-सिद्धि आदि के झूठे जाल फैलाते हैं; जप के बल पर अनिष्टहरण तथा इष्टसिद्धि का झांसा देते हैं; तप के नाम पर अग्नितापन, जलशयनादि हठधर्मिता का व्यवहार कर समाज को गलत दिशा देते हैं; संयम के नाम पर अनेक कल्पित सिद्धियों का भ्रम फैलाते हैं; तीर्थ के नाम पर गया-प्रयागादि पाप काटने तथा मुक्ति देने के ठेकेदार हो ही गये हैं, व्रत के नाम पर अविवेकपूर्ण लंबे-लंबे उपवास होते हैं जिसके फल में स्वर्ग मिलने का झांसा दिया जाता है। दान में भी दिखावा, अहंकार तथा किसी-न-किसी प्रकार प्रतिलाभ की वासना हो गयी है; नौधा भक्ति के नाम पर लीला, रास, लल्ली-लल्ला का राग-रंग तथा आत्महीनता का प्रदर्शन हो गया है; और वेद-किताब के नाम पर विवेक छोड़कर तथाकथित प्रभुवाणी की दोहाई का प्रपंच फैल गया है। यही सब तो इन पर झूठे का बाना, झूठे का लबादा चढ़ गया है। जो कल्याणकारी पक्ष थे मनुष्यों की मन-मलिनता के नाते वे सब अकल्याणकारी बन गये। "ठांव गुण काजर ठांव गुण कारी" वही आंख में लगने पर काजल कहलाता है तथा गाल में लगने पर कालिख। विवेकपूर्वक जो भी हो वह मनुष्य का कल्याण करता है और वही अविवेकपूर्वक होने से अकल्याणकारी होता है। जो अन्न मनुष्य को जीवनदाता है, उसी का दुरुपयोग करने से वह मृत्युदाता भी होता है। मलिन मन सब कुछ का दुरुपयोग कर देता है। इसलिए हम मन से सावधान रहें।

. किसी एक ध्येय में जब धारणा, ध्यान तथा समाधि हो जाती है तब इस एकाग्रता को संयम कहते हैं। सूर्य में संयम कर लेने पर समस्त लोकों का ज्ञान हो जाता है, प्रकाश में संयम कर लेने पर परदे के भीतर पड़ी देश-विदेश की वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार अनेक संयम से अणिमा, महिमा, लघिमा आदि कल्पित सिद्धियों की प्राप्ति का झूठा प्रचार किया जाता है। देखिये योग दर्शन 3/14-49।

"काहू के बचनहिं फुरे, काहू करामाती।" अजीब संसार है। कोई अपनी वाचासिद्धि का झांसा देकर समाज को बेवकूफ बना रहा है और कोई चमत्कारी बना लोगों को ऋद्धि-सिद्धि देता फिरता है। शाप और वर देने का झांसा पुराकाल में बहुत चलता था। पुराणों को पढ़िए तो उनमें शाप और वर से प्रायः कथाएं व्याप्त हैं। यह धार्मिक कहलाने वाले लोगों का समाज पर दबदबा कायम रखने का हथकंडा था। शाप का भय तथा वर का प्रलोभन देकर वे समाज को अपनी ओर झुकाये रखने की चाल चलते थे। ईश्वर और सिद्धि की कल्पना इस झांसे में सहायक बनती थी। कहा जाता था कि जो लोग ईश्वर और सिद्धि तक पहुंचे हैं वे जो चाहें सो कर दें। ब्राह्मण नामधारी तो स्वतः सिद्ध था। उसका जीवन जैसा भी हो, उसके मुख में अग्नि का वास माना जाता था। वह जो कह दे वही होगा। इसी से मिलते-जुलते करामात दिखाने वाले लोग होते थे। करामत का अर्थ है चमत्कार। करामत का करामात बहुवचन है। करामाती उसे कहते हैं जो करामात दिखाता है अर्थात चमत्कारी। कुछ भोले लोग चमत्कार को आध्यात्मिक शक्ति मानते हैं। किन्तु तथ्य यह है कि सारे चमत्कार केवल छल-कपट के प्रयोग होते हैं। किसी के लिए भी प्रकृति के नियम बदलते नहीं हैं। साधारण-से-साधारण आदमी से लेकर बड़े-से-बड़े महात्मा एवं धार्मिक लोगों के लिए भी प्रकृति के नियम समान हैं। किसी के भी हाथ में चावल है तो वह चावल ही रहेगा और पत्थर है तो वह पत्थर ही रहेगा। यह अलग बात है कि हाथ की सफाई, बात की सफाई, दवाई, वस्तु की बनावट आदि षड्यंत्र अपनाकर छल-कपट से कोई चमत्कार-जैसा दिखा दे, परन्तु वह चमत्कार नहीं है। वाचा-सिद्धि का ढोंग करने वाले तथा चमत्कार का झांसा देने वाले धूर्त हैं और इसमें फंसने वाले मूर्ख हैं।

"मान बड़ाई ले रहे, हिन्दू तुरुक जाती।" हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियां अपनी-अपनी मान-बड़ाई की डीगें हांक रही हैं कि हम बड़ी हम बड़ी। यहां भला दो ढंग से कहां है? हिन्दू-मुसलमान आदि नाम रखकर उसके साथ एक गहरी मनोभावना बना लेते हैं, इसलिए वे एक-दूसरे से अलग तथा अपने आप को श्रेष्ठ और दूसरे को तुच्छ मानने की भूल करने लगते हैं।

"बात ब्योंते असमान की, मुद्दति नियरानी। बहुत खुदी दिल राखते, बूड़े बिनु पानी।" वे बात तो आसमान की ब्योंतते हैं, परन्तु अपने जीवन को नहीं समझ पाते और इसी में जीवन का अंत आ जाता है। लोग अपने आप के प्रति बड़ा अहंकार रखते हैं और बिना पानी बूड़ते हैं। उक्त दोनों पंक्तियों में एक-एक मुहावरा है—'आसमान की बातें ब्योंतना' तथा 'बिना पानी बूड़ना'। कपड़ा नापकर उसको काटना तथा सिलने के लिए तैयार करना 'कपड़ा ब्योंतना' कहा

जाता है। इसमें 'ब्योंतना' का मुख्य अर्थ है 'नाप लेना'। आसमान की बात ब्योंतने का अर्थ है न होने योग्य काम करने की डींग हांकना। आकाश की कोई सीमा नहीं है। इसको कोई क्या नापेगा ! इसी प्रकार कोई असंभव बात को कैसे संभव कर सकेगा ! साहेब कहते हैं कि लोग बातें तो आसमान की करते हैं, परन्तु धरती पर जीना नहीं जानते। इसी असंतुलन में उनके जीवन की अवधि समाप्त हो जाती है। जो अपने मन में बहुत अहंकार रखता है वह बिना पानी के बूड़ता है। 'बूड़े बिनु पानी' यह मुहावरा उन पर व्यंग्य है जो तुच्छ बातों को लेकर घिनौना कर्म कर डालते हैं। कुछ लोग ऐसे होते हैं जिन्हें अहंकार तो बहुत बड़ा होता है, परन्तु तुच्छ बातों को लेकर ऐसे कर्म करते हैं जिन्हें देख-सुनकर उन्हें बच्चे भी हंसे। हर अहंकारी की दशा यही होती है। रामायण कथानक के अनुसार रावण-जैसा महाप्रतापवान, विद्वान एवं बलवान अहंकार के कारण एक पर-स्त्री के तुच्छ मोह में पड़कर कुल-परिवार एवं सेना सहित नष्ट हुआ।

"कहहिं कबीर कासों कहौं, सकलो जग अन्धा। साँचे से भागा फिरै, झूठे का बन्दा।" सद्‌गुरु कहते हैं कि सच्ची बातें कही भी किससे जायें, क्योंकि संसार में अधिकतम लोग तो आंखें मूंदकर रहने वाले हैं। उनकी परंपरा में जो मान्य है उसी की पूंछ पकड़कर वे चलते हैं। उन्हें सत्य से कोई मतलब नहीं है। गलत-सही जो कुछ उन्होंने अपना मान रखा है वे उसी को छाती-पेटे लगाये रखना चाहते हैं। बल्कि वे सचाई से भागे फिरते हैं, क्योंकि वे समझते हैं कि प्रकाश के सामने पड़ते ही हमारा अंधकार समाप्त हो जायेगा। वे अंधकार में आंखें मूंदकर बहुत दिनों से जी आये हैं। अतः उन्हें अंधकार में रहना तथा आंखें बंदकर जीना पसंद है, इसलिए वे प्रकाश से दूर भागते हैं। वे सच्चाई से कतराते और झुठाई की गुलामी करते हैं। जो लोग झूठी बातें करते हैं वे उनको श्रद्धा अर्पित करते हैं, उनकी सेवा करते हैं, किन्तु सत्य निर्णयी से दूर रहते हैं।

सद्‌गुरु कहते हैं कि सत्य-इच्छुक ! तुम इसकी चिन्ता न करना कि तुम्हारे साथ कितने लोग हैं। तुम केवल सत्य को लेना और झूठे पर विश्वास कदापि नहीं करना। अपने मन के भीतर की असत्यता तथा बाहर की असत्यता कहीं की भी असत्यता को प्रश्रय नहीं देना। असत्य रखकर करोड़ों साथी मिल जायें तो वे निरर्थक हैं, क्योंकि अंत में कोई साथ नहीं देगा, परंतु केवल एक सत्य यदि साथ में हो तो असंख्य साथियों से वह बलवान है। इसलिए सद्‌गुरु कबीर ने संतों एवं सज्जनों को इस शब्द में बुलाकर कहा है कि हे संतो, हे सज्जनो ! सुनो, झूठे के पक्ष में नहीं पड़ना ! भीतर मन तथा बाहर मन के वशीभूत लोग

तुम्हें झूठी बातों में फंसाना चाहेंगे, परन्तु तुम कहीं भी नहीं फंसना। सदैव केवल सत्य में रमना। सत्य सर्वोच्च है।

सारशब्द एवं निर्णय वचनों से ही कल्याण है

शब्द-114

सार शब्द से बाँचिहो, मानहु इतबारा हो 1
आदि पुरुष एक वृक्ष है, निरंजन डारा हो 2
तिरदेवा शाखा भये, पत्र संसारा हो 3
ब्रह्मा वेद सही कियो, शिव योग पसारा हो 4
विष्णु माया उत्पति कियो, ई उरले ब्यौहारा हो 5
तीन लोक दशहूँ दिशा, यम रोकिन द्वारा हो 6
कीर भये सब जीयरा, लिये विष का चारा हो 7
ज्योति स्वरूपी हाकिमा, जिन्ह अमल पसारा हो 8
कर्म की बन्शी लाय के, पकरो जग सारा हो 9
अमल मिटावो तासु का, पठवों भव पारा हो 10
कहहिं कबीर तोहि निर्भय करों, परखो टकसारा हो 11

शब्दार्थ—सार शब्द= निर्णय वचन। बाँचिहो= बचोगे, सुरक्षित हो सकोगे, दुखों से छूटोगे, असंग हो सकोगे। इतबारा= विश्वास। आदि पुरुष= मूल पुरुष, चेतन। निरंजन= मन। तिरदेवा= रज, सत तथा तम एवं ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव। शाखा= डालियां। सही कियो= प्रमाणित किया, संपादन किया। माया= भक्ति, उपासना। उरले= उरला, पिछला। यम= वासना। कीर= शुक पक्षी, तोता। विष= विषय। ज्योति स्वरूपी= मन, मन की कल्पित अवधारणा। हाकिमा= हाकिम, राजा, शासक। अमल= अधिकार, लत, आदत। बन्शी= बंशी, मछली फंसाने का कांटा, कंटिया। भव= मन का आयाम, जन्म-मरण। टकसारा= टकसाल, सिक्कों की ढलाई का स्थान, निर्दोष वस्तु, निजस्वरूप चेतन, आत्मा।

भावार्थ—यह विश्वास करो कि निर्णय वचनों के सहारे से ही तुम भवबंधनों एवं दुखों से मुक्त होकर अपनी असंग दशा में स्थित हो सकोगे 1 यह मूल पुरुष चेतन ही मानो एक वृक्ष है, मन उसकी डाली है; रज, सत एवं तम ये त्रिगुण उसकी शाखाएं और संसार उसके पत्ते हैं 2-3 रजोगुण के प्रतिनिधित्व करने वाले ब्रह्मा ने वेदों का संपादन किया और कर्ममार्ग चलाया, तमोगुण के प्रतिनिधित्व करने वाले शिव ने योग-मार्ग का

विस्तार किया और सतोगुण के प्रतिनिधित्व करने वाले विष्णु ने भक्ति एवं उपासना-मार्ग का प्रवर्तन किया, जो पीछे से व्यवहार में आया 4-5 तीनों लोकों और दसों दिशाओं में वासना ने कल्याण का मार्ग रोक दिया 6 जैसे तोते चारे के लोभ से नलिका यन्त्र में फंस जाते हैं वैसे जीव विषयरूपी चारे के प्रलोभन में पड़कर संसार में फंसे हुए हैं 7 यह मन जाज्वल्यमान राजा एवं शासक बन गया है और अपना अधिकार चारों तरफ कायम कर लिया है 8 इसने कर्मजाल की बंसी फेंककर जगत के सारे जीवरूपी मछलियों को फंसा लिया है 9 कबीर साहेब कहते हैं कि हे सज्जनो एवं कल्याण-इच्छुको ! तुम मन-राजा का अधिकार मिटा दो। मैं तुम्हें भव से पार भेजता हूं, और निर्भय करता हूं। तुम निर्दोष ज्ञान तथा निजस्वरूप चेतन की परख करो 10-11

व्याख्या—"सार शब्द से बाँचिहो, मानहु इतबारा हो।" सारशब्द के सहारे से ही बचोगे, यह विश्वास करो। सारशब्द क्या है? वस्तुतः निर्णय वचन को ही सारशब्द कहते हैं। श्री रामरहस साहेब ने अपनी महान रचना पंथग्रन्थी में सारशब्द का कई जगह वर्णन किया है। उन्होंने कहा है कि काल, संधि, झांई और सार चार प्रकार की वाणियां होती हैं। बहुत स्थूल बुद्धि से कही गयी वाणियां 'काल वाणी' हैं, अपने स्वरूप से अलग अपना लक्ष्य खोजने की बात 'संधि' वाणी है, अपनी आत्मा को, अपने चेतनस्वरूप को जगत से अलग न समझकर जड़-चेतन मिला-जुला बताने वाली वाणी "झांईं वाणी" है। ये सारी वाणियां बंधनप्रद हैं। इनसे पृथक चौथी 'सार वाणी' है। जड़-चेतन का भिन्न निर्णय कर अपने चेतनस्वरूप को समस्त जड़ वर्ग से अलग सिद्ध करने वाली वाणी सार वाणी एवं सारशब्द है। वस्तुतः जो जैसा है उसको वैसा ही बताने वाला वचन सारशब्द है। यथार्थ निर्णयवचन को सारशब्द कहते हैं। जो कथन विश्व के नियमों एवं कारण-कार्य-व्यवस्था के अनुकूल तथा प्रकृति-संगत है वह सारशब्द है। सच्चा निर्णयवचन ही सारशब्द है। सार्वभौमिक दृष्टिकोण वाले सद्गुरु कबीर कहते हैं कि हे मानव ! तुम सारशब्द के सहारे ही बचोगे। वेद हों या बाइबिल, कुरान हो या जिंदावेस्ता, गुरु-वाणी में हो या दीवार पर लिखा, संत एवं विद्वान के मुख से निकला हो या घोर संसारी तथा अपढ़ के मुख से, जो निर्णयवचन है, जो निष्पक्ष न्याय देने वाली वाणी है, वही सारशब्द

. सारशब्द निर्णय को नामा। जाते होय जीव को कामा॥ 1॥
सारशब्द कहिये टकसार। त्रिविधि शब्द को परख विचार॥ 2॥
सारशब्द पाये बिना, जीवहिं चैन न होय।
कालफन्द जाते लखि परै, सारशब्द कहिये सोय॥ (पंचग्रन्थी, गुरुबोध, सारशब्द निर्णय)

है। सारशब्द का सिद्धांत यह परवाह नहीं करता कि किसने कहा है तथा किसमें कहा है, वह तो केवल एक बात देखता है कि क्या कहा है ! किसी महापुरुष, परंपरा तथा ग्रंथ के गीत गाने मात्र से मनुष्य का कल्याण नहीं होगा। किन्तु सारशब्द एवं निर्णयवचनों से कल्याण होगा। लोग अपनी मानी गयी परंपरा, गुरु तथा पोथी के इतने पक्षपाती हो जाते हैं कि उन्हें निर्णयवचनों की परवाह ही नहीं होती। वे "अन्धे अन्धा पेलिया, दोऊ कूप पराय।" की कहावत चरितार्थ करते हैं। परन्तु निष्पक्ष व्यक्ति अपने-पराये की परवाह न कर केवल सही निर्णय पर ध्यान रखता है। दो और दो चार, इस सत्य निर्णय को ही सारशब्द कहते हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि सारशब्द के सहारे से ही बचोगे। बचना क्या है? बचने के हम तीन अर्थ कर सकते हैं—अलग रहना, शेष रहना तथा दुखों से पृथक सुरक्षित रहना। अतएव सारे भव-बंधनों से अलग रहना, बचना है; मन सहित सारे जड़भावों को छोड़कर शेष चेतन मात्र रह जाना, बचना है तथा मन से अपने आप को अलग कर लेने से सारे दुखों से छूट जाना एवं सुरक्षित हो जाना, बचना है। विचारकर देखें तो बचने के सारे अर्थ केवल एक ही भाव को व्यक्त करते हैं—दुखों से मुक्त हो जाना। जब तक व्यक्ति अपनी आत्मा को, अपनी चेतना को सबसे अलग नहीं कर लेगा तब तक सारे दुखों से मुक्त नहीं हो सकता। परन्तु अपनी आत्मा को सबसे अलग करने के लिए जड़-चेतन-भिन्न निर्णय की सच्ची समझ चाहिए तथा धर्म और अध्यात्म के क्षेत्रों में फैले हुए नाना भ्रमों के निराकरण के लिए सारशब्द एवं निर्णयवचनों का अभ्यास चाहिए। असार वाणियों ने बड़ी भ्रांति फैला रखी हैं। उन्हें काटकर सत्यस्वरूप की स्थिति के लिए सारशब्द एवं निर्णयवचनों के अभ्यास की महती आवश्यकता है। इसीलिए सद्गुरु कहते हैं कि सारशब्दों के विवेक से ही बचोगे। "मानहु इतबारा हो" इसमें भी विश्वास करने की आवश्यकता पड़ती है। संसार में लोग मिथ्या महिमा में पड़े हैं। वे उसी से अपना कल्याण समझते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि मिथ्या महिमा से तुम्हारा कल्याण नहीं होगा। यह विश्वास करो कि तुम्हारा कल्याण सत्य से होगा और सत्य का बोध तब प्राप्त होगा जब सारशब्द एवं निर्णयवचनों को आदर दोगे। तुम केवल परंपरा को प्रश्रय न दो, किन्तु सत्य निर्णय को प्रश्रय दो। इसी से सबका कल्याण है।

"आदि पुरुष एक वृक्ष है" यह कई बार निवेदित किया गया है कि किसी कालखंड के आरम्भ को आदि कहते हैं तथा मूल को भी आदि कहते हैं। जहां आदि का अर्थ मूल होता है वहां आदि का अर्थ अनादि हो जाता है क्योंकि मूल वस्तु अनादि होती है। सांख्यकार ने कहा है—"मूल में मूल का अभाव होने से

अमूल होता है मूल।'' पेड़ की जड़ होती है, किन्तु जड़ की जड़ नहीं होती। इसी प्रकार संसार-प्रपंच के मूल में जड़ और चेतन एवं प्रकृति और पुरुष हैं। परन्तु जड़-चेतन एवं प्रकृति-पुरुष के कोई अन्य मूल नहीं हैं। यहां सद्गुरु कहते हैं—''आदि पुरुष एक वृक्ष है'' अभिप्राय हुआ कि अनादि चेतन पुरुष ही मानो वृक्ष है। यहां वृक्ष का अभिप्राय भी मूल ही है। अर्थात हर व्यक्ति के संसार-वृक्ष का मूल उसकी अपनी आत्मा ही है। मेरा अपना माना हुआ संसार मेरी चेतना की सत्ता से ही चलता है। यह चेतन जब बाहर प्रवृत्त होता है तभी तो संसार-वृक्ष हरा-भरा होता है। सारी प्रवृत्ति मन द्वारा होती है। इसलिए सद्गुरु ने 'निरंजन' को 'डार' बताया है। यहां 'निरंजन' का अर्थ मन है।

'तिरदेवा शाखा भये, पत्र संसारा हो।'' मनरूपी डाली की तीन अन्य शाखाएं हैं—रज, सत और तम। ये त्रिगुण ही मानो त्रिदेव हैं जो मन की छोटी-छोटी शाखाएं हैं और काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, राग-द्वेषादि मानो संसार हैं जो उसके पत्ते हैं। मन के इन तीनों गुणों की प्रवृत्तियों से संसार-प्रपंच का विस्तार होता है। यहां संसार का अर्थ चांद, सूरज तथा सितारों से भरा यह अनंत विश्व-ब्रह्मांड न समझकर व्यक्ति के अपने कामादि भव-बंधनों का संसार समझना चाहिए। हमारा व्यक्तिगत संसार ही हमें पीड़ित करता है। अतः हमें अपने माने हुए व्यक्तिगत संसार से ही मोक्ष लेना है। इस प्रकार मन, तीन गुण तथा काम, क्रोधादि मिलकर हमारा संसार-वृक्ष है। इसके मूल में अनादि चेतन पुरुष है जो अपने आप की भूल से इसमें लिपटा है। चेतन पुरुष अपनी सत्ता मन को न दे और अपने आप में स्थित हो जाये तो भव-वृक्ष स्वयं कट जाये।

''ब्रह्मा वेद सही कियो, शिव योग पसारा हो। विष्णु माया उत्पत्ति कियो, ई उरले व्यौहारा हो।'' संसार के उद्धार के लिए ब्रह्मा, महादेव तथा विष्णु ने क्रमशः कर्मकांड, योगकांड तथा उपासनाकांड का प्रवर्तन किया। ब्रह्मा ने वेदों का संपादन किया। ब्रह्मा तो एक प्रतीक है। वस्तुतः यज्ञ का बड़ा पुरोहित ब्रह्मा कहलाता है। वेदों में कर्मकांड एवं यज्ञ-हवन आदि का विस्तार है जिनके करने के फल में पुत्र, स्त्री, धन, स्वर्गादि पाने का प्रलोभन दिया गया है। इसमें समाज को लाभ तो कोई खास नहीं मिला, हां, यज्ञ के नाम पर पुराकाल में अधिक धन खर्च होता रहा, पशुओं की हत्या होती रही और पंडितों का पेट-धन्धा चलता रहा। इस धन्धा को चलाने के लिए वे यज्ञ के काल्पनिक लम्बे-चौड़े फलों का व्याख्यान करते रहे।

. मूले मूलाभावादमूलं मूलम् ॥ 1/68 ॥

नीरस कर्मकांड के प्रपंच से जब जनता ऊब गयी तब शिव-जैसे योगियों का प्रादुर्भाव हुआ जो ज्ञानपूर्वक मनोनिग्रह में तल्लीन हुए। शिव तो एक प्रतीक-जैसा लगता है जिसकी व्याख्या उपनिषद् के ऋषियों तथा कपिल, कणाद, बुद्ध, महावीर-जैसे महाज्ञानियों एवं योगियों में ही हो सकती है। इस प्रकार ज्ञानपूर्वक योगमार्ग चला।

परन्तु सभी मनुष्य इसके अधिकारी नहीं थे। इसलिए विष्णु ने माया उत्पन्न किया। विष्णु भी एक प्रतीक ही है। इसका अर्थ है कि भक्ति-भावना के हृदय वालों ने भक्ति का पथ चलाया। यहां माया का अर्थ भक्ति एवं उपासना है। "विष्णु माया उत्पत्ति कियो" अर्थात भक्ति-हृदय वालों ने उपासना-भक्ति का मार्ग चलाया। साहेब कहते हैं "ई उरले व्यौहारा हो" अर्थात यह व्यवहार, यह भक्ति का प्रचलन 'उरला' का है। 'उरला' कहते हैं पीछे को। उरला का दूसरा अर्थ निराला एवं विलक्षण भी होता है, परन्तु यहां उरला का अर्थ पीछे करना अधिक उपयुक्त है। ऐतिहासिक अध्ययन करने पर भी यही बात सही पायी जाती है कि भारतीय परम्परा में पहले कर्मकांड ही था। जिसका प्रतीकात्मक प्रवर्तक ब्रह्मा माना जा सकता है। ब्रह्मा नाम का व्यक्ति हुआ हो या नहीं, किन्तु यज्ञ के चार प्रमुख पुरोहितों—ब्रह्मा, होता, उद्गाता एवं अध्वर्यु में ब्रह्मा प्रथम है। कर्मकांड के बाद ज्ञान एवं योगकांड का प्रचलन हुआ, और उसके बाद भक्ति एवं उपासनाकांड प्रचार में आया।

हम पीछे 81वें शब्द की व्याख्या में देख आये हैं कि भक्ति की भावना तो किसी-न-किसी प्रकार मनुष्य के जीवन के साथ है, परन्तु शायद भक्ति शब्द का प्रयोग श्वेताश्वतर उपनिषद् (6/23) में पहली बार आया "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ" अर्थात जैसे देव में परम भक्ति होती है वैसे गुरु में होती है। प्रवृत्तिमूलक रागात्मक सगुण भक्ति संभवतः प्रथम यादवों में शुरू हुई। अंशु के पुत्र राजा सत्वत थे। उन्होंने नारायण एवं विष्णु की भक्ति चलायी। इसी परंपरा में पीछे श्रीकृष्ण हुए जो कालांतर में स्वयं विष्णु का पूज्य स्थान ग्रहण कर लिये। इस प्रकार कर्मकांड, ज्ञानकांड तथा योगकांड के बाद भक्तिकांड का प्रचार हुआ। इसलिए भक्ति का व्यवहार 'उरला' है, पीछे का है,

---

. यज्ञ में चार मुख्य पुरोहित होते हैं, ब्रह्मा, होता, उद्गाता एवं अध्वर्यु। ब्रह्मा समस्त यज्ञ के विधि-विधान का निरीक्षक होता है, होता हवन करने वाला, उद्गाता सामगान करने वाला तथा अध्वर्यु वह होता है जो लकड़ी ठीक करे, यज्ञपात्र साफ करे, यज्ञ-पशु का वधकर उसका मेदस् निकाले आदि। इन चारों पुरोहितों के तीन-तीन अन्य सहायक होते हैं। उनके नाम हैं—प्रशास्ता, प्रतिप्रस्थाता, ब्राह्मणाच्छंसी, प्रस्तोता, अच्छावाक, नेष्टा, आग्नीध्र, प्रतिहर्ता, ग्रावस्तुत, नेता, होता और सुब्रह्मण्य।

यह तथ्य है। साहेब ने यहां "विष्णु माया उत्पत्ति कियो" कहकर भक्ति को माया शब्द से क्यों याद किया है? वस्तुतः सगुण भक्ति माया वर्ग की है ही। यह ठीक है कि भक्ति मन की कोमलता है जिसकी आवश्यकता है; परन्तु भक्ति का जो आलम्बन भक्त लोग लेते हैं वह 'कर कंज पद कंजारुणम्' सब माया ही है। कीट से लेकर ब्रह्मा, विष्णु आदि सबकी देह जड़ प्रकृति से ही निर्मित हैं, और यदि भक्ति तथा उपासना का आलंबन किसी की देह तक ही है तो यह भक्ति माया से बाहर कहां है? जब भक्ति का आलंबन निज चेतनस्वरूप बनता है तब भक्ति माया से परे पहुंच जाती है। परन्तु विष्णु से जुड़ी भक्ति रागात्मक एवं सगुण है। इसलिए वह माया का शुद्ध रूप ही है।

"तीन लोक दशहूँ दिशा, यम रोकिन द्वारा हो।" तीन लोक तथा दसों दिशाओं का लाक्षणिक अर्थ है पूरा संसार। पूरे संसार में यम ने कल्याण का द्वार रोक दिया है। ध्यान रहे, यम कोई स्वतन्त्र दैत्य नहीं है कि उसने सारे संसार में सबका मोक्ष-द्वार बन्द कर दिया हो। वस्तुतः हर मनुष्य के मन में विषयों की वासनाएं हैं। ये वासनाएं ही यम हैं जिन्होंने मनुष्य के कल्याणमार्ग को रोक रखा है। हमारी बनायी हमारे मन की वासनाएं ही हमें मोक्ष से, शांति से एवं स्वरूपस्थिति से वंचित किये रहती हैं। हमारे कल्याण में न अन्य प्राणी बाधक हैं और न अन्य पदार्थ, केवल हमारे मन की वासनाएं ही बाधक हैं।

"कीर भये सब जीयरा, लिये विष का चारा हो।" कीर का अर्थ तोता है। तोता नलिका-यंत्र (चरखी) में इसलिए फंस जाता है, क्योंकि वह उसमें लगी लाल-मिर्ची को खाने के प्रलोभन से उस पर बैठता है और उसके बैठते ही चरखी घूम जाती है तथा तोता फंस जाता है। यही दशा सब जीवों की है। सब जीव विषय-भोगों के चारे में फंसते हैं। सद्गुरु ने यहां कितना वैराग्योत्तेजक पंक्ति कही है "कीर भये सब जीयरा, लिये विष का चारा हो।" कीर का अर्थ सर्प भी होता है जो अपने मुख में स्वाभाविक विष की पोटली लिये रहता है। यह अर्थ भी उपयुक्त ही है। इस अर्थ में 'विष' का मूल अर्थ विष ही रहता है तथा लक्षणा अर्थ विषय होता है। जैसे सर्प अपने मुख में स्वाभाविक विष की पोटली रखता है, वैसे संसारी जीव मानो स्वाभाविक ही मन में विषय-वासनाएं रखते हैं। ध्यान रहे, जीव का मौलिक स्वरूप विषय-वासनाओं से सर्वथा रहित है, परन्तु अज्ञानवश सदैव विषयों में डूबे रहने से वासनाएं प्रबल हो गयीं हैं। इन्हीं विषय-वासनाओं के कारण जीव भटक रहा है।

"ज्योति स्वरूपी हाकिमा, जिन्ह अमल पसारा हो। कर्म की बन्शी लाय के, पकरो जग सारा हो।" ज्योतिस्वरूपी हाकिम मन है। यह जाज्वल्यमान एवं तेज-तर्रार है, इसलिए सद्गुरु ने व्यंग्य करते हुए कहा है कि इस ज्योतिस्वरूपी

हाकिम मन ने जीवों पर अपना शासन जमा रखा है। इस मन ने कर्म की बंसी लगाकर जगत के सारे जीवों को पकड़ लिया है। बंसी के आंकुड़े में चारा लगाकर पानी में डाल दिया जाता है। मछली चारा खाने के लोभ में उसे मुख में लेती है और मछुआरा बंसी खींच लेता है तथा लोह के आंकुड़े में मछली का मुख फंस जाता है। इस प्रकार मछली मारी जाती है। यह मन मानो मछुआरा है। यह कर्म की बंसी में भोगों का चारा लगाता है और जीव उसमें फंस जाता है। संसार के सारे जीव भोग के मोह से कर्मजाल में फंसे पड़े बंधनों का दुख भोग रहे हैं।

"अमल मिटावो तासु का, पठवों भव पारा हो।" सद्गुरु कबीर कहते हैं कि हे साधको ! ज्योतिस्वरूपी हाकिम–मन का शासन मिटा दो। मैं तुम्हें भव से पार भेज रहा हूं। इस मन से पार हो जाना ही भव से पार हो जाना है। सब जीव मन के शासन में हैं। जो जीव मन पर शासन करता है वही भव से पार है। काम भव है, क्रोध भव है, लोभ भव है। इसी प्रकार समझ लो कि मोह, ईर्ष्या, भय, राग, द्वेष, आशा, तृष्णा, चिंता, विकलता, उद्वेग, परेशानी आदि भव हैं। मन के शासन में ही यह सब भव विद्यमान रहता है। जहां मन का शासन जीव पर से हटा, जहां जीव स्वतन्त्र हुआ कि यह भव समाप्त हो जाता है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि हे जीव ! अपने ऊपर से मन का शासन मिटा दो। भारत को स्वतन्त्र करने में भारतवासियों को अपनी कितनी कुर्बानी देनी पड़ी है ! तुम्हें भी मन के शासन से मुक्त होने के लिए त्याग करना पड़ेगा। विषयों के त्याग से तुम्हारे ऊपर से मन का शासन हटेगा। जब मन का शासन हट जायेगा तब तुम भव से पार हो जाओगे।

"कहहिं कबीर तोहि निर्भय करों, परखो टकसारा हो।" कबीर साहेब कहते हैं कि हे मनुष्य ! हे साधक ! मैं तुम्हें निर्भय कर रहा हूं, तुम निर्दोष वस्तुओं को परखो। टकसाल कहते हैं जहां सिक्के ढलते हैं। इसका अर्थ हुआ प्रामाणिक वस्तु। टकसाल का दूसरा अर्थ निर्दोष वस्तु भी है। दोनों अर्थों में निकटता है। प्रामाणिक वस्तु एवं निर्दोष वस्तु का अभिप्राय एक ही है। जो वस्तु प्रामाणिक होगी वही निर्दोष होगी और जो निर्दोष होगी वही प्रामाणिक होगी। यहां निर्दोष वस्तु को परखने का अर्थ है सभी दिशाओं में सच्चा ज्ञान ग्रहण करना। कोई ज्ञान तभी निर्दोष माना जाता है जब उसमें अतिव्याप्ति, अव्याप्ति तथा असंभव—ये तीन दोष न हों। जैसे कोई कहता है कि गाय वह है जिसको सींग है, तो यह अतिव्याप्ति दोष है अर्थात यह लक्षण दूसरे पशुओं में भी व्याप्त है। क्योंकि सींग गाय के अतिरिक्त अन्य जानवरों को भी होती है जैसे भैंस, हिरन, बकरी आदि। कोई कहता है कि गाय वह है जिसका रंग लाल है, तो वह

अव्याप्ति दोष है अर्थात यह लक्षण सभी गायों में व्याप्त नहीं है; क्योंकि गायें लाल के अलावा काली, उजली, बगरी आदि भी होती हैं। कोई कहता है कि गाय वह है जिसके खुर फटे न हों, तो यह असंभव दोष है; क्योंकि सभी गायों के खुर फटे होते हैं। इस प्रकार अतिव्याप्ति, अव्याप्ति एवं असंभव—इन तीनों दोषों से सर्वथा मुक्त ज्ञान निर्दोष ज्ञान है। इस शब्द के आरम्भ में ही सद्‌गुरु ने कहा है "सारशब्द से बाँचिहो" सारशब्द एवं निर्णयवचन से ही निर्दोष ज्ञान होगा। निर्णय शब्दों को छोड़कर धर्म के नाम पर बिना सिर–पैर की हजारों बातें चलती रहती हैं। निर्दोष ज्ञान सहज समझ में आता है।

अन्ततः अपनी आत्मा ही स्वरूपतः निर्दोष है। साहेब कहते हैं बाहरी निर्दोष ज्ञान से तुम्हारी निर्भयता बढ़ेगी, परन्तु पूर्ण निर्भयता तब होगी जब अपने निर्मल निर्दोष चेतन स्वरूप की परख होगी। चेतन से अलग परख–शक्ति नहीं होती। चेतन अपनी ही परख–शक्ति से बाहरी वस्तुओं एवं ज्ञान को परखता है। जीव अपने परख–बल से निजस्वरूप को तथा पर को जितना परखता जाता है उतना निर्भय होता जाता है। जब वह सारशब्द तथा परख–बल से बाहरी ज्ञान को परखता है, तब उसके मन की सारी भ्रांतियां कट जाती हैं और उनका बाह्यज्ञान सच्चा हो जाता है। उसकी दृष्टि में कोई चमत्कार तथा अद्‌भुत बात रह ही नहीं जाती। वह प्रकृति के शाश्वत नियमों को समझ लेता है और सारे तथाकथित चमत्कार एवं अद्‌भुत कही जाने वाली बातों के चक्कर तथा अंधविश्वास से मुक्त हो जाता है। वह अपने आप को परख लेने पर पूर्ण निर्भय हो जाता है। जिसे अपने चेतनस्वरूप की परख हो गयी, उसे कहां भय, कहां चिंता और कहां शोक ! अतएव सद्‌गुरु का यह परम वाक्य अत्यन्त आदरणीय है—"कहहिं कबीर तोहि निर्भय करों, परखो टकसारा हो।"

सभी की भूल–व्याधि की औषध परख है

शब्द–115

सन्तो ऐसी भूल जग माहीं, जाते जीव मिथ्या में जाहीं 1
पहिले भूले ब्रह्म अखण्डित, झाँई आपुहि मानी 2
झाँई में भूलत इच्छा कीन्हीं, इच्छा ते अभिमानी 3
अभिमानी कर्ता होय बैठे, नाना ग्रन्थ चलाया 4
वोही भूल में सब जग भूला, भूल का मर्म न पाया 5
लख चौरासी भूल ते कहिये, भूलते जग बिटमाया 6
जो है सनातन सोई भूला, अब सो भूलहि खाया 7
भूल मिटै गुरु मिलैं पारखी, पारख देहिं लखाई 8
कहहिं कबीर भूल की औषध, पारख सबकी भाई 9

शब्दार्थ—भूल= विस्मय, भ्रम, चूक, दोष। मिथ्या= असत्य। पहिले= पहले, शुरू में, पुराकाल में। झाँई-झांईं, परिछाईं, धोखा, माया। कर्ता= जगत का रचयिता, जगत का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण। बिटमाया= भ्रम एवं छल किया, निर्माण किया। सनातन= नित्य, अनादि चेतन जीव। खाया= दुर्बल किया, खोखला किया। पारखी= जड़-चेतन एवं गुण-दोषों का विवेकी। पारख= परख, परीक्षा, जड़-चेतन एवं गुण-दोषों के ज्ञान की शक्ति, ज्ञान।

भावार्थ—हे सन्तो! संसार में ऐसी भूल है जिससे जीव असत्य एवं भ्रांति की धारा में बह जाता है 1 आध्यात्मिक क्षेत्र में पहली एवं बढ़-चढ़ कर भूल उनकी है जिन्होंने यह माना कि मैं अखण्ड ब्रह्म हूं और यह सारा जगत मेरी परिछाईं है। अर्थात मैं ही जगतरूप में भासता हूं 2 इस प्रकार अपनी मानी हुई परिछाईं-माया में भूलकर यह माना कि मैं ही इच्छा करके एक से अनेक हो गया हूं और संसार बन गया हूं। फिर इस अनेकता की इच्छा को लेकर वह जगत के अभिन्ननिमित्तोपादान कारण का अहंकारी बन गया 3

इस प्रकार विश्वाभिमानी अपने आप को जगत का कर्ता मान बैठा और इन भ्रामक मान्यताओं से नाना ग्रन्थों की रचना की गयी 4 फिर ऐसे ग्रन्थों को पढ़-सुनकर सारा संसार भूल गया। इस भूल का रहस्य कोई नहीं समझ सका 5 जीव निजस्वरूप की भूल से ही चौरासी लाख योनियों में भटकते हैं, क्योंकि भूल से जगत के लोग छले गये हैं, अथवा भूल से ही जीव ने अपने मनोमय जगत का निर्माण किया है 6 जो अनादि सनातन चेतन जीव है वह स्वयं अपने को भूला है। वही भूल उसे अब खोखला बना रही है 7 यह भूल तभी मिटेगी जब पारखी संत मिलेंगे और वे कृपाकर पारख लखा देंगे 8 कबीर साहेब कहते हैं कि हे भाई! सबके स्वरूप-भूलरूपी रोग को दूर करने के लिए पारख ही औषध है 9

व्याख्या—बीजक में यह दूसरा 'शब्द' प्रकरण ग्यारहों प्रकरणों में बड़ा है। इसमें 115 शब्द हैं, जिनमें एक-से-एक महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त हुए हैं। इस बृहत् प्रकरण के अन्त में सद्गुरु ने अपने सारे विचारों को नौ पंक्तियों में कह डाला है। इस पूरे शब्द में मुख्य दो बातें हैं—भूल तथा भूल की औषध। सद्गुरु पहली पंक्ति में कहते हैं—"सन्तो ऐसी भूल जग माहीं, जाते जीव मिथ्या में जाहीं।" हे सन्तो! संसार में ऐसी भूल है जिससे जीव असत्य-पथ में भटक गया है। हर मनुष्य की जिंदगी में सारे दुखों का कारण मात्र एक है—भूल। जो वस्तु जैसी है उसको वैसी न समझकर उसके विपरीत समझना भूल है। सारे दुखों का कारण ठीक से न समझना है। यदि हम तथ्य को समझ जायें तो सारे दुख मिट जायें। यह प्रश्न किया जा सकता है कि कितने लोग ऐसे हैं जो तथ्य को तो ठीक से समझते हैं, परन्तु दुखी हैं। परन्तु यह ध्यान देने की

बात है कि उनका तथ्य का समझना नहीं माना जा सकता। केवल बौद्धिक ढंग से समझ लेना पर्याप्त नहीं है। जो हृदय से तथ्य को समझ लेता है वह कहीं भी विचलित नहीं होता। जो विचलित होता है वह तथ्य को कहां समझता है! अतएव सारे दुखों का कारण भूल है, अज्ञान है।

"पहिले भूले ब्रह्म अखण्डित, झाँई आपुहि मानी।" अध्यात्म क्षेत्र की यह पहली एवं भारी भूल है कि मैं अखण्ड ब्रह्म हूं और जगत मेरा प्रतिबिम्ब एवं आभास है, यह जगत और मैं जल-तरंग, स्वर्ण-भूषण, घट-मृतिका-न्याय एक हूं। जगत का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मैं ही हूं, मैं ही कभी 'एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेयेति' अर्थात मैं एक बहुत प्रजा के रूप में हो जाऊं, ऐसी इच्छा कर जगत बन गया हूं इत्यादि यह सब धारणा ब्रह्मज्ञान का घोर दुरुपयोग है। मैं अखंड ब्रह्म हूं, इसका अभिप्राय इतना ही है कि मैं अविनाशी चेतन हूं। अखंड उसे कहते हैं जो कभी टूटता न हो और वही अविनाशी है। ब्रह्म का अर्थ होता है बड़ा! यह चेतन ही तो बड़ा है। जड़-तत्त्व एवं जड़-कार्य पदार्थ चाहे कितने बड़े हों परन्तु महत्त्व में चेतन ही बड़ा होता है। अतएव अखंड ब्रह्म का सरल अर्थ है अविनाशी चेतन। ब्रह्मवादी कहे जाने वाले महापुरुषों ने उसके लिए भ्रमवश अनेक अतिशयोक्तिपूर्ण विशेषण लगाये तथा अपने शुद्ध स्वरूप को ठीक से न समझने के कारण उन्होंने उसके विषय में अन्यथा चर्चा की।

ब्रह्म को अद्वैत होना चाहिए, तो इसके लिए लोगों ने सोचा कि यह जगत है ही नहीं; क्योंकि यदि जगत की सत्ता स्वीकारी जायेगी तो ब्रह्म अद्वैत नहीं रह जायेगा, किन्तु एक ब्रह्म तथा दूसरा जगत हो जायेगा; परंतु जगत, जो सत्य और सामने है उसको अद्वैतवाद की फूंक से उड़ाया भी नहीं जा सकता। इसलिए कहा गया कि जगत तो ब्रह्म की परिछाईं है। मैं ब्रह्म हूं और यह जगत मेरी परिछाईं है। जैसे प्रतिबिम्ब बिंब से अलग नहीं होता, उसके अलग अस्तित्व का केवल आभास होता है वैसे जगत ब्रह्म से अलग नहीं है, केवल आभास होता है कि जगत अलग है। ब्रह्म-जगत की एकता का सिद्धांत गढ़ा गया और इसके लिए कई प्रमाण खड़े किये गये। कहा गया कि जैसे जल और उसकी तरंगें एक हैं, जैसे स्वर्ण और उससे बने आभूषण एक हैं तथा जैसे मिट्टी और उससे बने बरतन एक हैं, वैसे ब्रह्म और ब्रह्म से बना जगत एक है। यह भी ध्यान नहीं रखा गया कि जब ब्रह्म को एक तरफ अखंड एवं निर्विकार कहते हैं तब उससे किसी प्रकार का निर्माण कैसे संभव है! अखंड निर्विकार ब्रह्म से परिवर्तनशील विकारी जगत कैसे बन जायेगा! सत-चिद्-आनन्द ब्रह्म से असत-अचिद्-अ-आनंद जगत कैसे निर्मित होगा। यह भी कहा गया कि जगत ब्रह्म का स्वप्न है, परन्तु स्वप्न द्वैत के बिना कभी नहीं हो सकता। जाग्रत जगत को देख, सुन, भोग कर सोते समय अर्धसुषुप्ति में स्वप्न होता है। एक अद्वैत में स्वप्न नहीं हो

सकता। इन सारी बातों पर आप ''जो पै बीज रूप भगवान'' शब्द 67 की व्याख्या में विस्तारपूर्वक पढ़ आये हैं।

''झाँई में भूलत इच्छा कीन्हीं, इच्छा ते अभिमानी।'' ब्रह्मवादी लोगों ने अपने मन की भ्रांतिरूपी झांईं में भूलकर जगत बनने की इच्छा कर डाली और यह अभिमान कर लिया कि जैसे तरंगों का अधिष्ठान समुद्र है वैसे अनंत विश्व–ब्रह्मांड का अधिष्ठान मैं हूं। इसी मिथ्या अभिमान का फल हुआ कि वे जगत के कारण–कर्ता बनकर बैठ गये। एक तरफ कहते हैं कि जगत है ही नहीं, और दूसरी तरफ कहते हैं कि जगत का कारण एवं कर्ता मैं ही हूं। व्यक्ति की अपनी आत्मा की सर्वोच्चता महान है, परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि यह आत्मा ही चांद–सूरज तथा विश्व–ब्रह्मांड है। ब्रह्मवादियों ने भ्रम में पड़कर ब्रह्मज्ञान को तमाशा बना डाला है। कितने ब्रह्मज्ञानी कहलाने वाले लोग भूल के वश होकर एक मानसिक सनक में उतर आये और कहने लगे कि मैं ही चांद हूं, मैं ही सूर्य हूं, मैं ही अनन्त विश्व–ब्रह्मांड हूं। ''अभिमानी कर्ता होय बैठे'' यह वाक्य उन्हीं पर व्यंग्य है। ब्रह्मज्ञान होने पर जहां सारा अभिमान छोड़ना चाहिए था, वहां वे सारे अभिमान को अपने ऊपर धारण कर लिये। जब जीव अज्ञान में रहता है तब वह मानता है कि मैं देह हूं; परंतु तथाकथित ब्रह्मज्ञान के अनुसार जब जीव ब्रह्मज्ञानी हो जाता है तब मानता है कि मैं अनन्त विश्व–ब्रह्मांड हूं। ऐसे लोगों के लिए सद्गुरु का यह वचन कितना मार्मिक है— ''अभिमानी कर्ता होय बैठे'' इसमें 'बैठे' शब्द अधिक चुभने वाला है। ''पानी कुल्ला भर नहीं, नाम गंगाधर'' यह कहावत ऐसे लोगों के प्रति ही सटीक है। निर्माण एक नये बाल का नहीं कर सकते और मान लिये कि मैं समस्त विश्व का कारण एवं कर्ता हूं।

इस भ्रांति को लेकर ''नाना ग्रन्थ चलाया'' बहुत पुस्तकें बनीं और उन्हें पढ़–पढ़कर लोगों का दिमाग खराब होने लगा। जो अपने पीठ पीछे की बात नहीं जानते वे सारे विश्व के नियंता, सर्वव्यापक और जगत के कारण–कर्ता होने का दंभ करते हुए घूमने लगे। विद्वान कहे जाने वाले लोगों द्वारा कहा जाने लगा कि यह ब्रह्मज्ञान ही सर्वोच्च ज्ञान है। कहना न होगा कि ब्रह्मज्ञान के नाम पर महान भ्रांति खड़ी हो गयी। इसीलिए विवेकवान संतों को ब्रह्म को भ्रम कहना पड़ा। ब्रह्म शब्द अपने आप में बड़ा उच्च, शुद्ध एवं प्यारा है, परंतु ब्रह्मवादियों द्वारा उसकी परिभाषा ऐसी गड्डमड्ड कर दी गयी कि विवेकवानों को उसे भ्रम कहना पड़ा।

साहेब कहते हैं—''वोही भूल में सब जग भूला, भूल का मर्म न पाया।'' इस अद्वैतवाद कहे जाने वाले ज्ञान में सारा जगत भूल गया। ''सब जग भूला'' का लाक्षणिक अर्थ है अध्यात्म के क्षेत्र में अधिक लोगों के मन में यह भ्रांति

खड़ी हो गयी कि सब कुछ एक ही ब्रह्म है—यही सच्चा ज्ञान है। लोग यह नहीं समझ सके कि यह भूल के और गहरे गर्त में चले जाना है।

"लख चौरासी भूल ते कहिये, भूलते जग बिटमाया।" जीव अपने स्वरूप को भूलकर ही चौरासी लाख योनियों में भटक रहा है। यहां चौरासी लाख भारतीय मान्यतानुसार कहा गया है। हो सकता है सभी खानियां चौरासी लाख हों, उनसे अधिक हों या उनसे कम हों। तात्पर्य इतना ही है कि जीव संसार-सागर में इसलिए भटकता है कि वह अपने असंग एवं निर्विकार स्वरूप को नहीं समझता। यह जीव अपने पूर्णकाम स्वरूप को न समझकर ही जगत में छला जा रहा है। 'बिटमाया' का अर्थ छला जाना भी किया जा सकता है तथा निर्माण करना भी। अर्थात जीव अपनी स्वरूप-भूल से छला गया अथवा स्वरूप-भूल से उसने जगत बनाया। यहां जगत बनाने का तात्पर्य होगा, अपना मनोमय जगत, माना हुआ जगत।

"जो है सनातन सोई भूला, अब सो भूलहि खाया।" जो सनातन जीव है वही भूला है। पीछे उसकी अपनी स्वरूप-भूल ही उसे खोखला कर रही है। जीव जैसा नहीं है वैसा अपने आप को मान रहा है और जैसा है वैसा समझ नहीं रहा है। यही दुखों का कारण है।

बाहर का संसार जो जैसा है उसे वैसा समझने के लिए तथा अपनी आत्मा, अपनी चेतना जैसी है उसे उसी ढंग से समझने के लिए अर्थात जीव के स्वरूप की वास्तविकता समझने के लिए आवश्यक है 'पारख'। सद्गुरु कहते हैं— "भूल मिटै गुरु मिलैं पारखी, पारख देहिं लखाई। कहहिं कबीर भूल की औषध, पारख सबकी भाई।" सद्गुरु कबीर कहते हैं कि भूल अवश्य मिटेगी, परंतु जब पारखी गुरु मिलेंगे और पारख लखा देंगे। अर्थात वे वस्तुपरक तथा आत्मपरक बुद्धि देकर विवेक की आंखें खोल देंगे। संसार को समझने के लिए संसार का अध्ययन करना चाहिए तथा अपनी आत्मा को समझने के लिए अपनी आत्मा का ही अध्ययन करना चाहिए। सबकी भूल-व्याधि मिटाने के लिए पारख ही औषध है। पारख एवं परीक्षा जिसे वस्तु-विवेक भी कह सकते हैं। इसके लिए शास्त्र, गुरु, परंपरादि समस्त पक्षपातों का त्याग करना पड़ता है। पक्षपात एवं पूर्वग्रह-विहीन दृष्टि ही पारख ग्रहण कर सकती है।

कबीर साहेब ब्रह्मवाद को जहां कहीं लेते हैं उसकी गहरी आलोचना करते हैं। इसका कारण है उसके प्रति आत्मीय भावना। कबीर साहेब स्वसत्ता को ही सर्वश्रेष्ठ कहते हैं जिसको वे जीव, चेतन, पारख तथा राम शब्दों से ज्यादा याद करते हैं। ब्रह्मवादी भी स्व-सत्ता को ही सर्वोच्च कहते हैं जिसको वे आत्मा एवं ब्रह्म कहते हैं। शब्द तो दोनों के आदरणीय हैं। आत्मा का अर्थ ही है स्वयं तथा

ब्रह्म का अर्थ है श्रेष्ठ, जो जीव एवं चेतन है। उसी को पारख तथा राम कहा जाता है। शब्दों की कोई बात नहीं है, बात है परिभाषा की। ब्रह्मवादी कहे जाने वाले महानुभाव ब्रह्म की परिभाषा अतिशयोक्तिपूर्ण तथा भ्रामक करने लगते हैं, इसलिए कबीर साहेब उनकी उस गलत परिभाषा का खंडन करते हैं।

कहा जाता है कि चेतन व्यापक है; परन्तु यह केवल महिमापरक शब्द है। संसार में गुण-धर्मयुक्त कोई अखंड द्रव्य ऐसा नहीं है जो व्यापक है। एक अखंड द्रव्य सर्वत्र व्यापक हो तो गति, स्फूर्ण एवं संसार रहेगा ही नहीं। इसलिए कोई भी जड़ या चेतन द्रव्य व्यापक नहीं है। अतः व्यापक केवल महिमापरक शब्द है।

चेतन एक है। यह कथन गुणपरक है न कि संख्यापरक। यदि चेतन संख्या में एक ही हो तो भिन्न मत होना तथा संसार का होना ही संभव नहीं है। प्रत्यक्ष है कि चेतन असंख्य हैं। वस्तुतः चेतन व्यक्तित्व में असंख्य हैं तथा गुण में एक। अर्थात सभी चेतन जीव एक दूसरे से सर्वथा अलग हैं, परन्तु सबका गुण एक ज्ञान है। अतएव गुण में चेतन एक है, संख्या में अनेक हैं। इसलिए चेतन एक नहीं है, अपितु सबका गुण ज्ञान एक है।

चेतन अद्वैत है यह कथन समाधिपरक एवं स्वरूपस्थितिपरक है। परन्तु ज्ञानियों ने इस अद्वैत शब्द का बहुत दुरुपयोग किया है। उन्होंने सारा जड़-चेतन एक में मिलाकर सब कुछ एक सिद्ध करने का मिथ्या प्रयास किया है। यहां तक कहा कि आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी और सृष्टि। अब पुनः अद्वैत आत्मा बनने के लिए पृथ्वी को जल में, जल को अग्नि में, अग्नि को वायु में, वायु को आकाश में तथा आकाश को आत्मा में मिला दें, बस एक आत्मा हो जायेगा। आप जानते हैं कि केवल मिट्टी को पानी में मिलाकर देखें तो कालांतर में पानी के भाप बनकर उड़ जाने पर मिट्टी शेष रह जायेगी। सारे जड़-प्रपंच को शुद्ध चेतन आत्मा में से निकलना तथा पुनः उसी में समाना मानना कितना भ्रम है, यह सहज समझा जा सकता है। वस्तुतः जड़ तत्त्व अनेक हैं। एक-एक जड़ तत्त्व में असंख्य परमाणु हैं। इस प्रकार कारण-कार्य जड़ तत्त्व विकारी एवं परिवर्तनशील हैं। आत्माएं उससे सर्वथा भिन्न तथा शुद्ध चेतन हैं। वे निर्विकार एवं पूर्ण हैं। अतएव वासनाओं को छोड़कर निजस्वरूप में स्थित हो जाने पर अकेलापन हो जाता है, यही अद्वैत है। जब तक संकल्प हैं तब तक द्वैत है और जब सारे संकल्प समाप्त हुए तब चेतन स्वयं अकेला रह गया और अद्वैत हो गया। अद्वैत का अर्थ सब कुछ एक में मिलाकर एक हो जाना नहीं है, किन्तु स्व से भिन्न जो कुछ है उन सबको छोड़कर अकेला रह जाना अद्वैत है।

सद्गुरु कबीर हमें राय देते हैं कि सारी भूलों की औषध पारख है। पारख का अर्थ है परीक्षा। पारखी संत निष्पक्ष होते हैं। वे इसलिए किसी बात को मानते या नहीं मानते नहीं कि वह अपने मत की है या पराये की। वे सत्यान्वेषी होते हैं। वे अध्यात्म के क्षेत्र में वैज्ञानिक होते हैं। पारखी संत कहते हैं कि जीव ही ज्ञान-विज्ञान का मूल है। इसी को चैतन्य होने से चेतन कहते हैं, स्वरूप होने से आत्मा, सर्वोच्च होने से इसी को ब्रह्म कह सकते हैं, हृदय में रमने से राम, स्वरूपतः अकेला होने से तथा वासनाओं को छोड़ देने के बाद असंग हो जाने पर अद्वैत कह सकते हैं, सभी कल्पनाओं का स्वामी होने तथा शुद्ध होने से परमात्मा कह सकते हैं। अर्थात चेतनपरक सारे विशेषण जीव के ही हैं। मूल में जीव ही है। जीव का ही गुण पारख अर्थात ज्ञान है।

सद्गुरु कहते हैं कि पारखी वह है जो सारे संसार को परखकर छोड़ दे और अपने पारखस्वरूप में, चेतनस्वरूप में स्थित हो जाये। जो परखने में आये वह दृश्य विजाति तथा जो परखता है वह पारखी ज्ञान मात्र है। इसीलिए सद्गुरु श्री पूरण साहेब ने कहा कि तू जिस ज्ञान तत्त्व से सबको परखता है वही पारख है और वही तुम्हारा स्वरूप है। उसी में स्थित हो जा, झांईंरूपी भ्रमकूप में नहीं जाना।

जाते सकलो परखिया, सो पारख निज रूप।
तहाँ होय रहु स्थीर तू, नहिं झाँईं भ्रम कूप

(बीजक त्रिज्या अंतस्तुति)

बीजक : पारख प्रबोधिनी व्याख्या

भाग–2

- ज्ञान चौंतीसा
- विप्रमतीसी
- कहरा
- बसन्त
- चाचर
- बेलि
- बिरहुली
- हिण्डोला
- साखी

ज्ञान चौंतीसा

हेतु छन्द

है वर्ण मात्रा संधि मिलि,
बहु शब्द का घनघोर जू।
इह अर्थ भाव विभेद लक्षित,
को गिनै कहँ थोर जू॥
कहुँ भोग विषयानन्द के,
कहुँ योग ब्राह्मिक शोर जू।
दोनों अहन्ता परख डाले,
परख ही सत ओर जू॥

दोहा

शब्द जाल आरण्य में, भटकत जिव विभ्रान्त।
सोई परखावन हेतु को, चौंतीसा निर्भ्रान्त॥

सद्‌गुरवे नमः

बीजक

(पारख-प्रबोधिनी व्याख्या-सहित)

तृतीय प्रकरण : ज्ञान चौंतीसा

ॐ पर विचार

ॐकार आदि जो जानै। लिख कै मेटै ताहि सो मानै॥
ॐकार कहैं सब कोई। जिन्ह यह लखा सो बिरला होई॥

शब्दार्थ—आदि=मूल, आरम्भक।

भावार्थ—जो यह जानता है कि ॐकार का मूल मनुष्य है, वह यह मानता है कि मनुष्य ही कागज या पाटी पर ॐ लिखकर पुनः उसे काट देने में समर्थ है। ॐ-ॐ तो प्रायः सभी कहते हैं, परन्तु जिसने इसकी वास्तविकता की परीक्षा की, वह बिरला है।

व्याख्या—ॐ इत्यादि शब्द एवं क से ह तक जितने वर्ण हैं सब मनुष्य के कंठ, तालु, दंत, ओष्ठ आदि से उच्चरित होते है।[1] वर्णों के आकार, मात्रा, संधि आदि के स्वरूप का निर्धारण करने वाला मनुष्य जीव ही है। उपर्युक्त ककारादि स्वतन्त्र वर्णों के द्वारा जितनी भाषाएं बनायी गयी हैं, सब काल्पनिक रूढ़ियां हैं और जितनी लिपियां हैं, सांकेतिक चिन्ह हैं। इनका निर्धारण करने वाला मनुष्य जीव ही है।

---

1. कौन से वर्ण तथा स्वर किस स्थान से उच्चरित होते हैं, इसका वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है—
कंठ से—अ, आ, क, ख, ग, घ, ङ, ह।
तालु से—इ, ई, च, छ, ज, झ, ञ, श।
मूर्द्धा से—ऋ, ट, ठ, ड, ढ, ण, र, ष।
दंत से—त, थ, द, ध, न, ल, स।
ओष्ठ से—उ, ऊ, प, फ, ब, भ, म।
कंठ-तालु से—ए, ऐ।
कंठ-ओष्ठ से—ओ, औ।
दंत-ओष्ठ से—व। (बृहत् हिन्दी कोश, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी)

वैदिक आर्यों में पूजा[1] की पद्धति नहीं थी। वे पूजा शब्द भी नहीं जानते थे। अतएव मूर्तिपूजा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। हां, वे आगे चलकर उपासना करने लगे थे, जो मन को एकाग्र करने का प्रयास है। आरम्भिक साधक को कोई अवलम्ब चाहिए। अतः उन्होंने 'ॐ' की कल्पना की। मनुष्य खा-पीकर जब खाट पर लेटने जाता है तब प्रायः कहता है 'ओम'। गाय-बैल भी अपनी इच्छा व्यक्त करने के लिए जब बोलते हैं तब उनके मुख से आवाज निकलती है 'ओं-ओं'। मनुष्य ने इन शब्दों का विकास करके 'ॐ' शब्द की कल्पना की। वह 'ॐ' को प्रतीक मानकर इसमें मन रोकने लगा। जब कोई वस्तु श्रद्धास्पद होती है, तब उसकी व्याख्या बढ़ने लगती है। अतएव उत्तरोत्तर 'ॐ' की व्याख्या बढ़ने लगी।

ॐ की व्याख्या अनेक ग्रन्थों में अनेक मतों द्वारा अनेक प्रकार से की गयी है। थोड़ी बानगी लें—

"प्रणव का बोध कराने के लिए उसका विश्लेषण आवश्यक है। यहां प्रसिद्ध आगमों की प्रक्रिया के अनुसार विश्लेषण-क्रिया का कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है। ओंकार के अवयवों के नाम हैं—अ, उ, म, बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादांत, शक्ति, व्यापिनी या महाशून्य समना तथा उन्मना। इनमें से अकार, उकार और मकार ये तीन सृष्टि, स्थिति और संहार के संपादक ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र के वाचक हैं। प्रकारांतर से ये जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तथा स्थूल, सूक्ष्म और कारण अवस्थाओं के भी वाचक हैं। बिन्दु तुरीय दशा का द्योतक है। प्लुत तथा दीर्घ मात्राओं का स्थितिकाल क्रमशः संक्षिप्त होकर अन्त में एक मात्रा में पर्यवसित हो जाता है। यह ह्रस्व स्वर का उच्चारण काल माना जाता है। इसी एक मात्रा पर समग्र विश्व प्रतिष्ठित है। विक्षिप्त भूमि से एकाग्र भूमि में पहुंचने पर प्रणव की इसी एक मात्रा में स्थिति होती है। एकाग्र से निरोध अवस्था में जाने के लिए इस एक

---

1. "आज घर-घर में हवन नहीं, पूजा का प्रचार है, जिसमें धूप, दीप, अक्षत और नैवेद्य के साथ लोग अपने देवता की आराधना करते हैं। एक समय यह समझा जाता था कि पूजा संस्कृत शब्द है, जो 'पूज्' धातु से निकला होगा। किन्तु यह मान्यता अब नहीं चलती। अब लोग समझते हैं कि यह शब्द प्राचीन तमिल की दो धातुओं 'पू' और 'जै' (शइ) के योग से बना है। तमिल में 'पू' का अर्थ पुष्प होता है और 'जै' का अर्थ कर्म। अतएव 'पू' और 'जै' के योग का अर्थ पुष्प-कर्म होगा। यहाँ फिर अहिंसा की परम्परा, मूल में, द्राविड़ दिखाई देती है, क्योंकि हवन पशु-कर्म था। पीछे आर्यों के यहाँ भी पशु-कर्म के बदले पुष्प-कर्म का रिवाज चल पड़ा। पूजा के प्रेमी कभी-कभी हवन भी करते हैं, किन्तु अहिंसक ढंग से। इसी प्रकार भारतीय संस्कृति नूतन अवदानों को ग्रहण करने के बाद भी अपना मौलिक रूप हमेशा कायम रखती आयी है।"
(रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 72-73)

मात्रा का भी भेद कर अर्ध मात्रा में प्रविष्ट हुआ आता है। तदुरान्त क्रमशः सूक्ष्म और सूक्ष्मतर मात्राओं का भेद करना पड़ता है। बिन्दु अर्ध मात्रा है। उसके अनंतर प्रत्येक स्तर में मात्राओं का विभाग है। समना भूमि में जाने के बाद मात्राएं इतनी सूक्ष्म हो जाती हैं कि किसी योगी अथवा योगीश्वरों के लिए उसके आगे बढ़ना संभव नहीं होता, अर्थात वहां की मात्रा वास्तव में अविभाज्य हो जाती है। आचार्यों का उपदेश है कि इसी स्थान में मात्राओं को समर्पित कर अमात्र भूमि में प्रवेश करना चाहिए। इसका थोड़ा-सा आभास मांडूक्य उपनिषद् में मिलता है।

"बिन्दु मन का भी रूप है। मात्राविभाग के साथ-साथ मन अधिकाधिक सूक्ष्म हो जाता है। अमात्र भूमि में मन, काल, कलना, देवता और प्रपंच, ये कुछ भी नहीं रहते। इसी को उन्मनी स्थिति कहते हैं। वहां स्वयं प्रकाश ब्रह्म निरन्तर प्रकाशमान रहता है।"[1]

"सृष्टि रचने के पहले सृष्टि-उत्पत्ति के निमित्त जब ईश्वर में इच्छा उठती है तो एक बड़ा घोर शब्द अर्थरहित गूंज के साथ निकलता है, जैसे इंजन में होता है और वह बड़ी देर तक रहता है। उस शब्द को सुनकर जो जीवन्मुक्त ऋषि होते हैं, वे ॐ अथवा 'अ, उ, म' में उसका आरोप कर लेते हैं। और जब वह शब्द फट जाता है, तब उसमें से आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी तत्त्व सूक्ष्मरूप से निकल आते हैं। फिर वह शब्द शान्त होकर लुप्त हो जाता है। इन आकाशादि पंच तत्त्वों द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति होती है। इसीलिए जो कुछ सृष्टि है, सब 'ओंकार' रूप ही है। इस कारण ओंकार की उपासना अति श्रेष्ठ है।

"जब ईश्वर ने जीवों के कर्मफल भोगार्थ सृष्टि रचने की इच्छा की, तो प्रथम शब्द ध्वन्यात्मक ॐ—ऐसा निकला। उसी से उसके पश्चात वर्णात्मक शब्द 'एकोऽहं बहु स्याम्' उत्पन्न हुआ। अर्थात एक अद्वितीय ओंकाररूप ब्रह्म में मैं बहुत प्रकार से होऊं, यह इच्छा होते ही चराचर सृष्टि हो गयी। इसलिए जितनी सृष्टि है चाहे प्रकट भाव से हो या अप्रकट भाव से हो वह सब ब्रह्म ही है अथवा ॐकार रूप है। वेदों में जो ऋचा के पहले या पीछे ॐ का प्रयोग किया जाता है वह यह बताता है कि जो कुछ ॐ शब्द के पश्चात कहा जायेगा या पीछे कहा गया है, वह सब ओंकार रूप ही है, उससे पृथक कोई वस्तु नहीं है। ॐकार में तीन अक्षर हैं—'अ+उ+म'। 'अ' का अर्थ है—

1. हिन्दी विश्व कोश, नागरी प्रचारिणी काशी।

जाग्रत का अभिमानी देवता विश्व, 'उ' का वाच्य है—स्वप्न का अभिमानी देवता तैजस, तथा 'म' से बोध्य है—सुषुप्ति का अभिमानी देवता प्राज्ञ। तात्पर्य यह है कि तीनों अवस्थाओं के जो पृथक-पृथक अभिमानी देवता हैं, वे ॐकार रूप ही हैं, मायाविशिष्ट ब्रह्म, ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराट ये भी ॐकार रूप ही हैं। भाव यह कि ईश्वर से लेकर तृण पर्यन्त सब ॐकार रूप ही है।"[1]

'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम् इति।'[2]

'ओम' यह अक्षर ही यह सारा जगत है।

अब हम उक्त बातों पर थोड़ी समीक्षा करें—सृष्टि के आदि में जो शब्द हुआ, उसमें जीवन्मुक्तों ने ॐ का आरोप किया। सृष्टि के प्रथम जीवन्मुक्त कहां रहते थे? उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि यह स्थावर-जंगम समस्त विश्व ॐ ही है। अब यदि मुमुक्षु को संसार का अध्यास छोड़ना है तो ॐ को छोड़ना पड़ेगा, क्योंकि ॐ और जगत दो वस्तु नहीं हैं।

ॐ, ब्रह्म, जगत—एकार्थ बोधक हैं, अर्थात उक्त तीनों शब्दों का तात्पर्य एक है। जो ॐ और ब्रह्म दुखपूर्ण जगत ही है, विवेकियों के लिए वह कदापि ग्राह्य नहीं हो सकता। वास्तव में ॐ को कागज और पाटी पर लिखने तथा काट देने वाला यह मनुष्य जीव ही स्वतन्त्र है। सारी कल्पनाएं इसी की हैं; अतः मनुष्य जीव ही सर्वोपरि है, ॐ नहीं।

कबीर साहेब भावना में बहने वाले व्यक्ति नहीं हैं, किन्तु वे तथ्यपरक विचार के पक्षधर हैं। अतएव वे भावना के कुहासे को छांटकर वास्तविकता का दिग्दर्शन कराते हैं। वे कहते हैं 'ॐ' शब्द की कल्पना मनुष्य ने की। वही पाटी और कागज पर उसे लिखता तथा वही उसे काटकर मिटाता है। इसलिए मनुष्य ही 'ॐ' का मूल है, सिरजक है। इतनी-सी बात जो नहीं समझ सकता, वह अध्यात्म को क्या समझ सकता है! मनुष्य की आत्मा सर्वोच्च है। ॐ तो मनुष्य का कल्पित शब्द मात्र है। कबीर देव ने अन्यत्र भी कहा है—"मैं तोहि पूछौं पंडिता, शब्द बड़ा की जीव।"[3]

आरम्भ में साधक अपने मन को एकाग्र करने के लिए अपने मतानुसार नाद, बिन्दु, ॐ, किसी महापुरुष का चित्र आदि कुछ भी ले उसके लिए यहां

---

1. कल्याण, उपासना-अंक, वर्ष 42, पृष्ठ 182।
2. मांडूक्य उपनिषद्, मंत्र 1।
3. बीजक, साखी 22।

कोई खण्डन नहीं किया जा रहा है। अनर्थ है इन सब कल्पित अवधारणाओं को सर्वोच्च मान लेना और अपने स्वरूपभाव को भूल जाना। यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि मनुष्य की अपनी आत्मा सर्वोपरि है और मानवतावादी कबीर देव का यही निर्देश है।

सद्गुरु ने इस ज्ञान चौंतीसा प्रकरण में प्रायः परमत-खण्डन से हटकर स्वरूपज्ञान, वैराग्य, मनोनिग्रह एवं साधनात्मक बातें कही हैं, जो बड़ी मार्मिक हैं। क से क्ष तक चौंतीस अक्षरों को माध्यम बनाकर ग्रन्थकार ने जो ज्ञानगंगा बहायी है उसमें साधक को निमज्जन करना चाहिए।

स्वरूपज्ञान और स्वरूपस्थिति

क

कका कँवल किर्ण में पावै। शशि ब्रिगसित सम्पुट नहिंआवै॥
तहाँ कुसुम रंग जो पावै। औगह गहि के गगन रहावै॥ 1॥

शब्दार्थ—कँवल=कमल, हृदय। किर्ण=किरण, रश्मियां, प्रकाश, ज्ञान। शशि=चन्द्रमा, मन। ब्रिगसित=विकसित, जाग्रत। सम्पुट=बंद होना, जड़ता। कुसुम रंग=पीला रंग, स्वर्ण रंग, तात्पर्य में तथ्य। औगह=मन-वाणी से परे। गगन=हृदय।

भावार्थ—'क' अक्षर कहता है, अर्थात सद्गुरु कबीर क अक्षर को माध्यम बनाकर उपदेश करते हैं कि हे साधक! हृदय-कमल के ज्ञान-प्रकाश में ही तुम स्वरूप का बोध पाओगे, किन्तु शर्त यह है कि तुम्हारा मन विकसित एवं प्रबुद्ध हो। वह विषय-वासनाओं में सुप्त न हो जाये। ज्ञान से प्रकाशित हृदय में जब स्वर्णिम स्वरूपबोध प्राप्त करो, तब उस अग्राह्य ध्येय-वस्तु को ग्रहणकर हृदय में स्थित रहो॥ 1॥

व्याख्या—क अक्षर से सद्गुरु ने कमल लिया है, जो तात्पर्य में हृदय है। मनुष्य का हृदय-कमल ज्ञान-प्रकाश का पुंज है। परन्तु वह विषय-वासनाओं के परदे से ढका है। जब वह परदा हटता है, तब मनुष्य का हृदय ज्ञान से प्रकाशित हो जाता है। ऐसे आलोकित हृदय में ही स्वरूपबोध, आत्मबोध एवं तत्त्वबोध होता है। विकारों से भरे हुए मन में स्वरूपबोध नहीं हो सकता। सत्संग, गुरु-उपासना, सेवा, विनम्रता, भक्ति आदि से हृदय शुद्ध होता है। शुद्ध हृदय में विवेक जाग्रत होता है। जिसका विवेक सदैव जगा रहता है उसका हृदय प्रकाशित रहता है। जिसका हृदय सदैव ज्ञान से प्रकाशित रहता है, वही 'स्व' और 'पर' के भेद को समझकर 'पर' से 'स्व'

को छुड़ा लेता है। 'पर' जड़ है, भास है, पांच विषय है, दृश्य है; और 'स्व' चेतन है, भास्कर है, द्रष्टा एवं ज्ञानरूप है। पर से मुक्त होकर 'स्व' में स्थित होना ही मानव की आत्मा की सहज मांग है। अतएव सद्‌गुरु कहते हैं कि तुम्हें आत्मबोध एवं आत्मसंतोष की प्राप्ति अपने ज्ञानालोकित हृदय में ही होगी।

स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति की निरंतरता बनी रहे, इसके लिए शर्त है "शशि ब्रिगसित सम्पुट नहिं आवै" अर्थात मन सदैव जाग्रत रहे। वह विषयों में मूढ़ एवं सुप्त न बने। शशि कहते हैं चन्द्रमा को। चन्द्रमा मन का देवता माना गया है। इसलिए यहां चन्द्रमा से अर्थ मन है। तेरहवीं रमैनी में भी जहां कहा गया है "ओछी मति चन्द्रमा गौ अथई" वहां भी चन्द्रमा का अर्थ मन ही है। सद्‌गुरु कहते हैं कि साधक का मन सदैव विकसित, चिन्तनशील, विवेकशील एवं जाग्रत रहना चाहिए। साधक सदैव अपने मन पर सावधान रहे। उसे विषयों के स्मरणों में न डूबने दे। अन्यथा वह इसी में प्रसुप्त हो जायेगा। विषयों में डूबा मन स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति के योग्य नहीं रह जाता। अतएव साधक को चाहिए कि वह एकरस स्वरूपस्थिति को बनाये रखने के लिए अपने मन को जाग्रत रखे।

"तहाँ कुसुम रंग जो पावै" यहां कुसुम रंग का शाब्दिक अर्थ न लगाकर लाक्षणिक अर्थ समझना चाहिए। कुसुम रंग का अर्थ यहां पीला रंग नहीं है, किन्तु शुद्ध स्वरूपज्ञान है। साखी प्रकरण में सद्‌गुरु ने कहा है "हंसा तू सुवर्ण वर्ण"[1] यह सुवर्ण वर्ण या स्वर्णिम रंग पीला रंग नहीं है, किन्तु ज्ञानस्वरूप है। अतएव सद्‌गुरु कहते हैं कि जब तुम्हें अपने शुद्ध स्वरूप का ज्ञान हो, तब उसे धारणकर शांत हो जाओ।

"औगह गहि के गगन रहावै" अपना स्वरूप अपने आप को अग्राह्य है, परन्तु उसे ही ग्रहण करके शांत होना है। प्रश्न होता है कि अग्राह्य ग्राह्य कैसे हो सकता है? उत्तर साफ है। हम अपने दाहिने हाथ को दाहिने हाथ से नहीं पकड़ सकते, परन्तु हाथ तो हमारा ही है, ऐसा समझ लें तो हाथ पकड़ा हुआ ही है। हम अपनी आंखों से अपनी आंखें नहीं देख सकते; किन्तु अन्य को देखने से यह स्वतः सिद्ध है कि हमारी आंखें हैं। अपने चेतनस्वरूप को अलग से पकड़ने की बात ही असंभव है, किन्तु 'मैं ही चेतनस्वरूप हूं' इसको तत्त्व से समझ लेने पर वह पकड़ा हुआ हो गया। इसलिए 'औगह' को

---

1. बीजक, साखी 14।

ही 'गहना' है। जो पकड़ने में नहीं आता उस स्वस्वरूप को ही पकड़ना है। अर्थ है समझकर शांत होना।

"गगन रहावै" का अर्थ है हृदय में शांत रहे। हृदय ही चेतन हंस का आकाश है। श्रुति भी कहती है "वह आत्मा हृदय में है। 'हृदय' को 'हृदय' कहते भी इसलिए हैं, क्योंकि 'हृदि+अयम्' वह हृदय में है। जो इस रहस्य को दिन प्रतिदिन जानता है, वह उसे बाहर ढूंढ़ने के स्थान में हृदय के भीतर ढूंढ़ता है और वहीं मानो स्वर्ग को पा लेता है।"[1]

तुम्हारे शत्रु तुम्हारे दोष हैं, उन्हें जीतो

ख

खखा चाहै खोरि मनावै। खसमहिं छाँड़ि दहूँ दिशि धावै॥
खसमहि छाड़ि छिमा हो रहिये। होय न खीन अक्षयपद लहिये॥ 2॥

शब्दार्थ—खोरि=गली, इन्द्रियां, दोष, बुराई। मनावै=सुधार करे। खसमहिं=पति को, मालिक को। खसमहिं=दुश्मन को, शत्रु को। खसम अरबी शब्द है, इसके अर्थ पति और शत्रु, दोनों होते हैं।

भावार्थ—ख अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो मन तथा इन्द्रियों को अपने वश में करो तथा उनमें पड़े हुए दोषों का सुधार करो। क्योंकि यह मनोवृत्ति चेतनस्वरूप-पति को छोड़कर दसों दिशाओं में भटकती है। तुम्हारी बुराइयां ही तुम्हारे शत्रु हैं। इन्हें छोड़ दो और दूसरों द्वारा अपने ऊपर किये गये आघात के अपराध को क्षमा करो। फिर तुम पतित नहीं होओगे, प्रत्युत अविनाशी-पद को प्राप्त करोगे॥ 2॥

व्याख्या—जो मनुष्य अपने जीवन में खैर, शांति, मंगल चाहे, उसका पहला काम है कि वह अपने मन तथा इन्द्रियों को अपने वश में करे। दोषों का सुधार एवं बुराइयों का त्याग किये बिना और मन तथा इन्द्रियों को अपने वश में किये बिना किसी को भी जीवन में शांति नहीं मिल सकती। जो तथाकथित धार्मिक गुरु मोक्ष के सस्ते नुस्खे बांटते घूमते हैं और सारी बुराइयों में डूबे रहने पर भी केवल छूमंतर से मोक्ष देते हैं, वे साधकों को भ्रम में डालते हैं। कबीर साहेब महंगे गुरु हैं, वे किसी को धोखा देना नहीं जानते,

---

1. स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृद्ययमिति।
तस्माद्हृदयमहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति॥
(छांदोग्य उप. 8/3/3, सत्यव्रत सिद्धांतालंकार की टीका)

अपितु खरी-खरी बातें कहते हैं। वे कहते हैं, दोषों का त्याग तथा मन-इन्द्रियों को अपने वश में किये बिना कल्याण है ही नहीं।

'खसम'[1] अरबी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ 'पति' एवं मालिक है और 'शत्रु' भी है। ये दोनों इसके परिनिष्ठित अर्थ हैं। जबर्दस्त भाषाशिल्पी कबीर साहेब ने यहां पहली पंक्ति में खसम का अर्थ 'पति' और दूसरी पंक्ति में खसम का अर्थ 'शत्रु' मानकर उसका यथायोग्य प्रयोग किया है। वे कहते हैं "खसमहिं छाँड़ि दहूँ दिशि धावै" अर्थात यह मनोवृत्ति पति—चेतन देव का स्मरण छोड़कर दसों दिशाओं में भटकती है। यह चेतन जीव ही तो सारे ज्ञान-विज्ञान का पति है। परन्तु विषयी मन स्व-स्वरूप चेतन का स्मरण छोड़कर विषयों में भटकता है। इसलिए इन्द्रिय-विषयों एवं बुराइयों का त्याग अत्यन्त आवश्यक है। विषय-त्याग से मन निर्मल होगा और आत्मचिन्तन का अनुरागी होगा।

संसारी लोगों के जीवन में नाना प्रकार की विघ्न-बाधाएं हैं ही, किन्तु साधक तथा विवेकवान को भी अपने जीवन में ऐसे लोग मिलते हैं जो अपने अज्ञान एवं ईर्ष्यावश उनके साथ शत्रुता का बरताव करते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे भटके लोग तुम्हारे साथ भले ही शत्रुता का बरताव करें, परन्तु वे तुम्हारे शत्रु नहीं हैं। क्योंकि वे तुम्हारी आध्यात्मिक हानि नहीं कर सकते। अतएव उन पर दया करो और उन्हें हृदय से क्षमा कर दो। शत्रु तो तुम्हारे दोष हैं, तुम्हारे मन-इन्द्रियों की बुराइयां हैं। तुम उन्हें छोड़ो। "खसमहि छाड़ि छिमा हो रहिये।" अर्थात अपने दोषरूपी शत्रुओं को छोड़ो और अपने भूलवश जो लोग तुम्हारी आलोचना में लगे हैं; उन्हें क्षमा करो। वे तुम्हारे शत्रु नहीं हैं। वे तुम्हारा कोई नुकसान नहीं कर सकते। तुम्हारा पतन तो तुम्हारी बुराइयां करती हैं। तुम्हारी मन-इन्द्रियों की लंपटता तुम्हारे पतन का कारण है।

तुम अपनी कमजोरियों, बुराइयों, इन्द्रियलंपटताओं, मन की चंचलताओं को छोड़ दो, तो अन्य कोई तुम्हारा पतन नहीं कर सकता। "होय न खीन अक्षय पद लहिये" जिसने अपने में रहे हुए दोषों का त्याग कर दिया, उसको पतित करने का सामर्थ्य किसी में नहीं है। वह अक्षयपद का अधिकारी होता है। प्रत्यक्ष है, संसार में जिसने दोषों को जीतकर आत्मविजय प्राप्त की वह

---

1. संस्कृत भाषा में 'ख' का मुख्य अर्थ शून्य एवं आकाश किया गया है। उसमें 'सम' मिलाकर आकाश के समान अर्थ होगा। किन्तु कबीर साहेब ने अपनी वाणियों में प्रायः अरबी भाषा के खसम का ही प्रयोग किया है।

अक्षय एवं अमृतपद का अधिकारी हुआ। अपने विरोधियों से लड़-लड़कर किसी को आत्मसंतोष नहीं मिल सकता है, किन्तु अपनी बुराइयों को छोड़कर तथा विरोधियों को दिल से क्षमा कर ही आत्मसंतोष मिल सकता है। यही अक्षयपद, मोक्षपद, निर्वाणपद का रास्ता है। श्रुति भी कहती है कि मोक्ष को वही देखता है, वही पाता है, जो क्षीण-दोष है।[1]

गुरुवचनों के आचरण से ही शांति

ग

गगा गुरु के बचनहिं मान। दूसर शब्द करो नहिं कान॥
तहाँ बिहंगम कबहुँ न जाई। औगह गहि के गगन रहाई॥ 3॥

शब्दार्थ—बिहंगम=विहंगम, पक्षी, तात्पर्य में मन। गगन=आकाश, हृदय।

भावार्थ—ग अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि गुरु के वचनों को मानो और दूसरे शब्दों पर कान न दो। गुरु-उपदेश के आचरण करने का फल स्वरूपस्थिति है जिसमें मन-पक्षी का प्रवेश कभी नहीं होता, और साधक अपने निराधार एवं असंग स्वरूप का भाव ग्रहणकर हृदय में शांत हो जाता है॥ 3॥

व्याख्या—"गगा गुरु के बचनहिं मान। दूसर शब्द करो नहिं कान॥" इस वाक्य में गुरु के वचनों को मानने पर जोर दिया गया है और दूसरे वचनों पर ध्यान न देने का सुझाव दिया गया है। यहां कोई स्थूल अर्थ न मान ले कि किसी भी गुरु नामधारी के वचनों को मान लेने की बात यहां कही गयी है। यह सच है कि सच्चे गुरु भी होते हैं जिनके ज्ञान और आचरण दोनों पवित्र होते हैं और उनकी बातों को बेधड़क मान लेने में साधक का कल्याण ही है। परन्तु ऐसे भी गुरु होते हैं जो आंशिक या सर्वाधिक कमजोर होते हैं। अतएव सुरक्षित मार्ग यही है कि निर्णय वचनों को ही गुरुवचन माना जाये। परम पारखी श्री रामरहस साहेब ने कहा भी है "निर्णय बानी गुरुमुख होई" अर्थात निर्णय वचन ही गुरुमुख वचन है। दो-दो चार गुरुमुख वाणी एवं गुरुवचन है। अतएव सद्गुरु कहते हैं कि सदैव निर्णय वचनों पर ध्यान दो। रोचक, भयानक एवं महिमापरक वचनों पर ध्यान न दो। गुरुनिर्णय एवं गुरुवचन स्वरूपज्ञान का परिचय कराने वाले हैं। गुरुवचनों का पूर्ण पालन करने पर

---

1. यं पश्यंति यतयः क्षीणदोषाः। मुंडकोपनिषद् 3/1/5।

जीव अपने स्वरूपस्थितिधाम में विश्राम पा जाता है। अतएव गुरुवचनों का फल है स्वरूपस्थिति; और स्वरूपस्थिति में मन-पक्षी का कभी प्रवेश नहीं होता। इसका तात्पर्य है कि साधक जब तक स्मरणों का सर्वथा परित्याग कर स्वरूपस्थ रहता है, तब तक वहां मन की गति नहीं रहती; परन्तु जब वह समाधि से उठकर व्यवहार में लगता है, तब मन का व्यापार तो चलता है, किन्तु उस जीवन्मुक्त पुरुष के हृदय में मन की मलिनता न रहने से मानो मन का उपशमन ही रहता है। अर्थात उसके हृदय से अशुद्ध मन सर्वथा मिट जाता है। अभ्यासकाल में संकल्पहीनता तथा व्यवहारकाल में आसक्तिहीनता—यही स्वरूपस्थिति एवं जीवन्मुक्ति है। समाधिकाल में किसी प्रकार का मन नहीं रहता और व्यवहारकाल में अशुद्ध मन नहीं रहता। ऐसे स्वरूपस्थ पुरुष मानो मन से सदैव मुक्त ही हैं। अतएव "तहाँ बिहंगम कबहुँ न जाई" यह गुरुवचन प्रामाणिक और व्यावहारिक भी है।

"दूसर शब्द करो नहिं कान" यह वाक्यांश भी ध्यान देने योग्य है। यदि साधक रोचक, भयानक, महिमापरक, विषय-वासना-उत्तेजक, प्रपंचवर्द्धक साहित्य एवं वचनों को पढ़ता, सुनता एवं उनकी ज्यादा चर्चा करता है तो उसका हृदय सांसारिक वासनाओं से भर जायेगा और वह स्वरूपस्थिति का काम नहीं कर पायेगा। अतएव शांतिइच्छुक साधकों को प्रापंचिक वाणियों को छोड़कर गुरुवचनों एवं स्वरूपज्ञानपरक वाणियों का ही मनन-चिन्तन करना चाहिए।

"औगह गहि के गगन रहाई" इस वाक्यांश का स्पष्ट विवेचन 'क' अक्षर के प्रसंग के अन्त में हो चुका है। वही अभिप्राय यहां समझ लेना चाहिए।

शरीराध्यास का त्याग मोक्ष में हेतु

घ

घघा घट बिनसै घट होई। घटही में घट राखु समोई॥
जो घट घटै घटहि फिरि आवै। घट ही में फिर घटहि समावै॥ 4॥

शब्दार्थ—घट=शरीर। समोई=शमन। घटै=आसक्त होय, देहासक्ति रचे। समावै=प्रविष्ट होना।

भावार्थ—घ अक्षर के माध्यम से सद्‌गुरु उपदेश करते हैं कि एक शरीर के नष्ट होने पर पुनः दूसरा शरीर बनता है। अतः इस शरीर का अध्यास इसी शरीर में रहते-रहते नष्ट कर दो। परन्तु यदि विषयों की आसक्ति में पड़कर मन में शरीरासक्ति की रचना करोगे, तो शरीर में पुनः आना पड़ेगा, और

सूक्ष्म शरीर सहित माता के गर्भाशय रूपी घट में प्रविष्ट होकर पुनः शरीर बनेगा॥ 4॥

व्याख्या—एक शरीर जब छूट जाता है, तब कर्मों के जोर से पुनः दूसरा शरीर बनता है। इस प्रकार कर्माध्यासवश यह जीव एक के बाद दूसरा शरीर धारण करता चला जाता है, और इस भवसागर में भटकता रहता है। इसलिए मोक्ष की प्राप्ति के लिए केवल शरीर का नष्ट होना जरूरी नहीं है, किन्तु वासना का नाश जरूरी है। अतः सद्गुरु कहते हैं—"घटही में घट राखु समोई" अर्थात इस शरीर में रहते हुए शरीर की आसक्ति का ध्वंस कर दो।

यदि जीव घट में रहकर घटेगा, अर्थात शरीर में रहते हुए शरीराध्यास एवं विषयवासनाओं में क्षीण होगा, और विषयासक्ति की ही रचना करेगा, तो उसे पुनः घट में आना पड़ेगा। उसे पुनः शरीर धारण करना पड़ेगा।

उक्त पद में मुख्य तीन बातें बतायी गयी हैं। पहली बात है कि एक शरीर का नाश जीवनक्रम का अन्त नहीं है, अपितु जीव एक के बाद दूसरा शरीर धारण करता है। दूसरी बात है कि कहीं भी लौटने का कारण अवशेष वासना ही है। अंतिम तीसरी बात सद्गुरु की आज्ञा है कि शरीर में रहते-रहते शरीर की वासना का त्याग कर दो—"घटही में घट राखु समोई"।

जन्मांतरवाद एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण है, जिसके बिना संसार का समाधान असंभव है। सद्गुरु कबीर जन्मांतरवाद के प्रबल पक्षधर हैं।

कहीं लौटने का कारण अवशेष वासना, इच्छादि हैं। हम बाजार जाते हैं, यदि सौदा पूरा लिये बिना ही किसी कारणवश घर लौट आते हैं, तो दूसरे दिन हमें पुनः बाजार जाना पड़ता है। जब तक हमारे खाने, भोगने, देखने, करने, पाने, शरीर में रहने आदि की वासना नहीं मिटती, तब तक हमें शरीर में आना ही पड़ेगा।

इसलिए सद्गुरु आज्ञा देते हैं कि हे मुमुक्षु! इस शरीर में रहते-रहते सारी वासनाएं नष्ट कर दो। यद्यपि ज्ञानी को भी जीवनपर्यन्त खाना-पीना, पहनना-ओढ़ना, लेना-देना तथा शरीर की सारी क्रियाएं करना पड़ता है; परन्तु वह केवल शरीर की रक्षा एवं निज-पर के कल्याण के लिए ही सारी क्रियाएं करता है। उसे कहीं भी आसक्ति नहीं होती।

देहाभिमानरहित वासना से एकदम छुटा हुआ जीवन ही अमृत जीवन है। यही परमानन्द है। यही जीवन्मुक्ति है। यही जीवन का सर्वोच्च शिखर है। मनुष्य को इस अवस्था में पहुंचकर कृतार्थ होना चाहिए। सद्गुरु ने

अन्यत्र भी कहा है—"अबकी बार जो होय चुकाव, कहहिं कबीर ताकी पूरी दाव।" (बसन्त 7)।

धैर्य सफलता की कुंजी

ङ

ङङा निरखत निशिदिन जाई। निरखत नैन रहै रतनाई॥
निमिष एक जो निरखै पावै। ताहि निमिष में नैन छिपावै॥ 5॥

शब्दार्थ—निरखत=देखते हुए। निमिष=पलक मारने भर का समय, पल, क्षण।

भावार्थ—ङ अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि हे साधक! अपना लक्ष्य देखते हुए तुम्हारे रात-दिन बीतते जा रहे हैं; और देखते-देखते तुम्हारे नेत्र रक्तवर्ण हो जाते हैं। किन्तु जिस एक क्षण में तुम्हें लक्ष्य की प्राप्ति होना संभव होता है, उसी में तुम अपने नेत्र बंद कर लेते हो॥ 5॥

व्याख्या—यहां नेत्र से देखने का अभिधा (शाब्दिक) अर्थ न कर लक्षणा अर्थ करना चाहिए। अर्थात यहां कोई निरे चर्म-नेत्रों से देखने का अभिप्राय नहीं है। किन्तु अर्थ है कि साधक साधना में निरन्तर विलम्ब तक अथक श्रम करता है; परन्तु जब उसे सफलता मिलने का अवसर आता है, तब वह धैर्य छोड़ बैठता है।

कोई किसान खेत जोतता है, गोड़ता है, उसमें खाद-पानी डालता है, बीज डालता है, उसके बाद भी वह तीन-चार महीने तक उसकी कमाई, रक्षादि करता है, किन्तु यदि वह अंत में परिश्रम से घबराकर फसल को अंतिम पानी नहीं देता या उसकी बनैले पशु-पक्षियों एवं चोरों से रक्षा नहीं करता, तो उसे सफलता नहीं मिल सकती। बहुत काल तक अटूट परिश्रम करने पर भी लक्ष्य-प्राप्ति के पहले धैर्य छोड़ देने पर कार्य में सफलता नहीं हो सकती।

बहुत-से साधक इसी ढंग के होते हैं। वे थोड़े-थोड़े में घबराते हैं। वे कोई भी साधना शुरू करते हैं। तत्काल वांछित सफलता न मिलने के कारण उसे छोड़ बैठते हैं। यह उनके रजोगुणी स्वभाव एवं चंचलता का ही फल होता है।

ध्यान में बैठे, मन दो-चार बार भाग खड़ा हुआ, तो साधना छोड़ बैठे। अरे भाई! यदि मन बीस बार भागता है तो उसे इक्कीसवीं बार शांत करो। यदि वह सौ बार भागता है, तो एक सौ एकवीं बार उसे पकड़ो। धैर्य क्यों छोड़ते हो!

खेती, व्यापार, नौकरी, विद्याध्ययन, किसी कला का ज्ञान, स्वाध्याय, सेवा, साधना—किसी भी दिशा में सफलता तभी मिल सकती है जब न-उकताए हुए मन से धैर्यपूर्वक तब तक श्रम करता रहे जब तक सफलता न मिले।

भौतिक क्षेत्र की उपलब्धि के क्रम में तो यह भी है कि कभी-कभी पूर्ण परिश्रम करते रहने पर भी वांछित सफलता नहीं मिलती; किन्तु मानसिक शांति एवं स्वरूपस्थिति की सफलता में तो दो राय हैं ही नहीं। धैर्यपूर्वक सच्चाई से सेवा, स्वाध्याय एवं साधना में लगने पर सफलता होगी ही।

ग्रहण में सब परवश हैं तथा त्याग में सब स्वतन्त्र हैं। हमें अमुक वस्तु चाहिए, इसमें परतन्त्र हैं; क्योंकि संसार की वस्तुएं नाना प्राणी, पदार्थों एवं परिस्थितियों के अधीन हैं। किन्तु हमें कुछ नहीं चाहिए, इसमें क्या परतन्त्रता है! त्याग में शांति है, और त्याग करने में सभी व्यक्ति सब समय स्वतन्त्र हैं। अतः त्याग-मार्ग की साधना में घबराना अज्ञान ही है।

सद्गुरु विशाल साहेब ने ठीक ही कहा है—जिसके स्मरण में, ध्यान में, आचरण में, निश्चय में सुख-ही-सुख है उस स्वरूपस्थिति में क्या घाटा पड़ रहा है जो साधक अन्य प्रपंच में अपना मन लगावे। यथा—

जाहि मनन में सुख नितै, ध्यान क्रिया सुखध्येय।
घाटा तेहि में कौन है, जो औरहिं चित देय॥

(मुक्तिद्वार, निवृत्ति साहस शतक, साखी 112)

चेतन भौतिक चित्रों से भिन्न है

च

चचा चित्र रचो बड़ भारी। चित्र छोड़ि तैं चेतु चित्रकारी॥
जिन्ह यह चित्र बिचित्र ह्वै खेला। चित्र छाड़ि तैं चेतु चितेला॥ 6॥

शब्दार्थ—चित्र=कल्पनाएं, वस्तु-प्राणियों की मान्यताएं। चित्रकारी= चेतन जीव। विचित्र=भौतिक एवं मानसिक चित्रों से भिन्न चितेरा। चितेला=चितेरा, चित्र रचने वाला चेतन जीव।

भावार्थ—जीव की कल्पना ने खानी-वाणी के बड़े भारी चित्र रचकर खड़ा किये हैं। चित्र-रचयिता हे चेतन! दृश्य-चित्रों को छोड़कर तू सावधान हो जा। जिस विचित्र चेतन ने खिलाड़ी बनकर इन चित्रों का खेल खेला है, वह तू ही है। हे चेतने वाले चेतन मनुष्य! चित्रों की आसक्ति त्यागकर तू जग जा॥ 6॥

व्याख्या—पति, पत्नी, बच्चे, घर, जमीन, धन, जाति, पांति, नाम, रूप, परोक्ष ईश्वर, देवी, देवता, भूत, प्रेत, शकुन, अपशकुन आदि की मान्यताओं के नाना चित्र बनाकर जीव उन्हीं में उलझ गया है। "चित्र रचो बड़ भारी" बड़ा मार्मिक वचन है। हम मान्यताओं के बड़े-बड़े चित्र बना लेते हैं और उन्हीं चित्रों में अपनी वास्तविकता को भूल जाते हैं। हमारे असली चेहरे पर इतने नकली चेहरे चिपक गये हैं कि हमें अपने असली चेहरे का भान ही नहीं है।

एक ही आदमी किसी का साला है तो किसी का जीजा, किसी का पुत्र है तो किसी का पिता-पितामह, किसी का मित्र है तो किसी का शत्रु। नाना नाम, रूप, वर्ण, आश्रम के चेहरे इस पर चिपक गये हैं।

मेरा चेहरा, मेरा रूप केवल ज्ञान है। शेष सब काल्पनिक हैं। मैं ब्राह्मण हूं, मैं शूद्र हूं, मैं साधु हूं, मैं गृहस्थ हूं, मैं जीजा हूं, मैं साला हूं—आदि में 'मैं' और 'हूं' के बीच में जो कुछ आ जाता है ब्राह्मण, शूद्र, साधु, गृहस्थ, जीजा, साला आदि सब नकली तथा झूठे हैं। 'मैं हूं' इतना सच है।

अहम और इदम—दो तत्त्व हैं। अहम चेतन है। अहम 'मैं' चेतन है तथा इदम 'यह' जड़ है। अहम चितेरा है तथा इदम चित्र है। चितेरा चेतन इदम के नाना चित्र बनाकर उन्हीं में शोक-मोह का अनुभव करता और भटकता है।

सद्गुरु कहते हैं "चित्र छोड़ि तैं चेतु चित्रकारी" हे चित्र रचने वाला चेतन! तू चित्रों को छोड़ दे, और अपने आप में सावधान हो जा।

मन चित्रपट है। उसी में सारे चित्र अंकित रहते हैं। मैं चेतन हूं। मैं ही चित्रों की कल्पना करता हूं। उनके रूप मैं ही गढ़ता हूं। मैं ही उनमें नाना भावनाओं के रंग भरता हूं। मैं ही उन चित्रों को सामने ला-लाकर उनमें रीझता-खीझता हूं। मैं चित्रों से विचित्र, विलक्षण एवं सर्वथा भिन्न हूं। मुझे चाहिए कि मैं अपने चैतन्य-तख्त पर आसीन होकर शांत रहूं। जब चित्र सामने आवें तो उन्हें केवल देखकर उनसे उदास रहूं। उनमें मिलूं नहीं। चित्रों में उलझूं नहीं।

मन एक नदी है। उसके संकल्प-विकल्प उसकी तरंगें हैं। उसमें न बहना, किन्तु उससे बाहर बैठकर केवल उसको देखते रहना विवेकवान का काम है।

सद्गुरु कहते हैं, हे चित्रों के रचने वाले चितेरा चेतन! तू चित्रों को छोड़कर चेत जा! सारे चित्रों से अपना स्वरूप भिन्न समझ। खानी-वाणी के सारे चित्र तेरे कल्पित हैं। उनमें तू तदाकार मत हो। उससे अपने आप को अलग समझकर असंग हो जा। किसी ने कैसा अच्छा कहा है—

सम्हल कर बैठना जलवा मोहब्बत देखने वालों।
तमाशा खुद न बन जाना तमाशा देखने वालों॥

जीव ही सम्राट है

छ

छछा आहि छत्रपति पासा। छकि किन रहहु मेटि सब आसा॥
मैं तोहीं छिन छिन समुझावा। खसम छाड़ि कस आप बँधावा॥ 7॥

शब्दार्थ—छत्रपति=सम्राट, महाराजा, जीव। छकि=तृप्त। खसम=पति, मालिक, स्व-स्वरूप।

भावार्थ—छ अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि हे साधक! सम्राट तो तेरे पास ही है। 'पास' भी कहना एक तरीका है। वस्तुतः तू ही सम्राट है। अतएव अन्य सारी आशाएं छोड़कर क्यों नहीं अपने स्वरूपभाव में तृप्त हो रहे हो! मैं तुम्हें क्षण-क्षण समझा रहा हूं। तुम अपने पतित्व एवं श्रेष्ठत्व को छोड़कर, अपने आप को क्यों बंधनों में डाल रहे हो!॥ 7॥

व्याख्या—मेरी कोई मनोवांछित वस्तु हो और वह मेरे पास ही पड़ी हो, परन्तु उसे न समझकर मैं उसके लिए दरबदर की खाक छानता फिरूँ, तो यह मेरा केवल अज्ञान है। आदमी परमात्मा को, राम को, खुदा को, मोक्ष एवं परमानन्द को दरबदर खोजता फिरता है। वह नदियों, पर्वतों, तीर्थों, पोथियों, मत-मतांतरों की खाक छानता है। तो भी उसे निराशा ही हाथ लगती है। सद्गुरु कबीर कहते हैं—'वह तो तेरे पास है'। 'पास' का अर्थ कोई यह न समझ ले कि अपने से अलग है। यहां शाब्दिक नहीं, लाक्षणिक अर्थ करना चाहिए। सद्गुरु कहते हैं कि समझ ले तो पास में है और न समझे तो दूर है।

पास एवं निकट का मतलब है वह तू ही है। तेरे से पृथक कोई परमात्मा, राम, खुदा, गॉड नहीं है। इसीलिए इसके भावार्थ में वे कहते हैं—''छकि किन रहहु मेटि सब आसा'' अर्थात सभी आशाएं छोड़कर क्यों नहीं तृप्त हो जाते हो! सारी आशाओं-वासनाओं के छूट जाने पर ही वह दशा आती है जो कृतार्थरूप है। ईश्वर, परमात्मा एवं मोक्ष की आशा भी आशा ही है, और सभी आशाओं को मिटाने के क्रम में ऐसी आशाएं भी कैसे रह सकती हैं! आशाएं उन्हीं की की जाती हैं जो अपने से दूर के हों और जो अपने से दूर की वस्तुएं हैं, उनसे परम तृप्ति नहीं मिल सकती। इसलिए अपने से भिन्न वस्तुओं की आशा छोड़ देने की बात कही गयी है। सद्गुरु श्री पूरण साहेब ने ठीक ही कहा है—''केवल मुक्ति आशा रहे, तेऊ है बंधमान। सुखिया सदा निराश

पद, सुन वैराग्य निधान॥" संस्कृत के पंडितों ने कहा—"आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्"। सारी आशाओं के छूट जाने पर ही साधक को परम तृप्ति मिल सकती है।

जीव अपना खसम अपने से अलग खोजता है। यही उसका अज्ञान है। सबका खसम तो जीव है, परन्तु वह अपनी महत्ता को नहीं समझ पाता है, इसलिए भटकता है। सद्गुरु कहते हैं—"मैं तोहीं छिन छिन समुझावा। खसम छाड़ि कस आपु बँधावा॥" मैं तुम्हें बारम्बार समझा रहा हूं कि तुम स्वयं सम्राट हो, तुम स्वयं सारे ज्ञान-विज्ञान रूप चित्रों के स्वामी हो। फिर तुम अपने स्वरूपभाव, स्वामीभाव को छोड़कर कैसे मन की मान्यताओं में अपने आप को बंधा रहे हो!

वासना-त्याग मोक्ष में कारण

ज

जजा ई तन जियत न जारो। जोबन जारि युक्ति तन पारो॥
जो कछु युक्ति जानि तन जरै। ई घट ज्योति उजियारी करै॥ 8॥

शब्दार्थ—जोबन=यौवन, जवानी। युक्ति=उपाय। पारो=करने में समर्थ होओ।

भावार्थ—ज अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि हे साधक! जीते जी इस शरीर को घोर तपस्या में मत जलाओ। किन्तु जवानी का प्रमाद तथा कामादि वासनाओं को जलाकर शरीर से साधना करो। यदि वासनाओं की निवृत्ति का उपाय जानकर शरीर की आसक्ति जला दे, तो साधक इसी जीवन में ज्ञान-ज्योति से आलोकित हो जाये॥ 8॥

व्याख्या—सद्गुरु यहां तीन बातें बताते हैं। पहली बात है शरीर को घोर तपस्या में मत जलाओ। दूसरी बात है शरीर और जवानी का अंहभाव जलाकर साधना करो। तीसरी बात है कि यदि मनुष्य साधना करते हुए वासनाओं का त्याग करता है तो उसे इसी जीवन में ज्ञान का आलोक मिल जाता है।

तपस्या और साधना में काफी अन्तर है। गरमी में अग्नि तापना, ठंडी में जलशयन करना, वर्षा में खुले आकाश में खड़ा रहना, लम्बा उपवास करना, नंगा रहना आदि कायाकष्ट उठाना तपस्या है। यह या तो प्रतिष्ठा पाने के लिए किया जाता है या अज्ञान में। इसका फल संसारियों से सम्मान पाना है और तपस्वी में अंहकार तथा दंभ का भरना है। महान दार्शनिक धर्मकीर्ति कहते

हैं—"वेदादि किसी पुस्तक को स्वतः प्रमाण मानना, जगत बनाने वाला कोई कर्ता होगा—यह मानना, किसी नदी में स्नान करने मात्र से धर्म की पूर्ति मानना, मानव में ऊंच-नीच जाति मानना और शरीर को संताप देकर पाप का नाश मानना—जिनकी बुद्धि मारी गयी है उनकी मूर्खता की ये पांच निशानियां हैं।"[1]

साधना है इन्द्रिय और मन पर विजय पाने का प्रयास। इसमें मैथुन, मोहादि भोगों का त्याग तो होता है, किन्तु शुद्ध सात्त्विक एवं संतुलित आहार, विहार, व्यवहार लेते हुए सेवा, स्वाध्याय, ध्यान, चिंतन आदि द्वारा वासनाओं पर विजय प्राप्त करने का प्रयास चलता है। संसारी विषय-भोगी होता है। तपस्वी शरीर को संताप देने वाला होता है। किन्तु साधक बीच का रास्ता पकड़ता है। वह न भोगी होता है और न काया-पीड़क। वह भोगों से विरत होकर, मध्यवर्तीय भोजन-वस्त्र लेते हुए आराम से रहता है और स्वाध्याय, चिंतन तथा ध्यान से वासनाओं पर विजय प्राप्त करता है।

सद्गुरु कबीर मध्यममार्गी हैं। संसार के सभी साधक इसी पथ से कल्याण पाते हैं। महात्मा बुद्ध ने अनजान में घोर तप किया, परन्तु जब उन्हें अपनी भूल का परिचय हुआ तब वे भी इसी मध्यममार्ग पर आ निकले।

अतएव सद्गुरु कहते हैं कि साधक इस शरीर को पीड़ा न दे। किन्तु इसके अंहकार का त्याग करे। जवानी एवं शरीर की उष्मा को, हृदय में रही हुई एषणा, चाह एवं लिबिडो को न तो जला दे न इन्द्रियों के मलिन भोगों में खर्च करे, किन्तु उनका मार्गांतरीकरण कर दे। उनके रास्ते को बदल दे। उन्हें वासना-निवृत्ति, स्वरूपस्थिति की प्राप्ति में एवं अपने और दूसरे के कल्याण-कार्य में लगा दे। यदि साधक घोर तप द्वारा शक्ति को न जलाकर, केवल विषय-वासनाओं को जलाता है और अपने तन तथा मन की शक्ति से साधना करके सत्पथ में चलता है तो उसे इसी जीवन में ज्ञान का प्रकाश मिलता है। शारीरिक तथा मानसिक शक्ति को एक ही उद्देश्य आध्यात्मिक उन्नति में लगा देने से साधक का हृदय शीघ्र ही ज्ञान-ज्योति से प्रकाशित हो जाता है।

कूचर-कायर साधक ही असफलता का रोना रोते हैं। अपने लक्ष्य में पूर्ण समर्पित साधक शीघ्र ही अपने उद्देश्य को प्राप्त कर लेते हैं।

---

1. वेदप्रामाण्यं कस्यचित् कर्तृवादः स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः।
संतापारम्भः पापहानाय चेति ध्वस्तप्रज्ञानां पंच लिङ्गानि जाड्ये॥
(प्रमाणवार्तिक-स्ववृत्ति 1/342)

बाहर ढूंढ़ना छोड़ो

झ

झझा अरुझि सरुझि कित जान। अरुझनि हींड़त जाय परान॥
कोटि सुमेरु ढूँढ़ि फिरि आवै। जो गढ़ गढ़ै गढ़ैया सोपावै॥ १॥

शब्दार्थ—हींड़त=खोजते हुए। सुमेरु=पर्वत। गढ़=किला; वासना, अध्यास। गढ़ैया=जीव।

भावार्थ—झ अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि हे मानव! तुम उलझते-सुलझते हुए कहां जा रहे हो! अपना लक्ष्य खोजते हुए उलझन में ही तुम्हारे प्राणपखेरू उड़ जायेंगे। तुम सुमेरु पर्वत-जैसे करोड़ों बीहड़ स्थानों में अपना लक्ष्य खोजकर लौट आओ, तो भी उसे न पाओगे। हां, यह जीव वासनाओं का जो किला गढ़ लेता है, उसी में बन्द हो जाता है॥ १॥

व्याख्या—अरुझना फंसने को कहते हैं और सरुझना छूटने को। स्त्री, पुत्र, परिवार, धन, घर, काम, क्रोध आदि मोटी माया में यदि कोई उलझा हुआ है तो इसे सभी लोग मानते हैं कि यह आदमी फंसा है। परन्तु यदि कोई देवी-देवताओं तथा परोक्ष ईश्वरादि की उपासना में लगा है, तो इसे लोग सुलझना मानते हैं। सद्गुरु कबीर इसको भी अंततः उलझना ही मानते हैं। अपने स्वरूपभाव को छोड़कर जीव जहां कहीं भी लगता है, सब उलझन ही है। इसीलिए वे कहते हैं—"अरुझि सरुझि कित जान" अर्थात उलझ-सुलझकर कहां जा रहे हो? तुम स्वरूपभाव एवं आत्मभाव को खोकर चाहे जितना भी धर्म-कर्म एवं ईश्वर-ब्रह्म कह लो, सब उलझन है। सबसे बड़ी गलती तुम्हारी यह है कि तुम अपने लक्ष्य को बाहर खोजते हो। यह निश्चित समझ लो कि खोजते-खोजते तुम्हारे प्राण समाप्त हो जायेंगे, परन्तु तुम छूंछे ही रह जाओगे। जीव का परम लक्ष्य तो उसका अपना स्वरूप ही है। वह बाहर खोजने का विषय ही नहीं है। उसे तो सत्संग एवं विवेक द्वारा समझना है।

अतएव कोई परमात्मा, ईश्वर, ब्रह्म, राम, रहीम आदि नाम लेकर चाहे उसे करोड़ों बीहड़ स्थानों में खोजे, तीर्थों और मंदिरों में खोजे, वह कहीं नहीं मिलेगा। क्योंकि वह कोई बाह्य वस्तु नहीं है। हां, इन भटकावों का फल यही होगा कि नाना भ्रांतिपूर्ण मान्यताओं एवं वासनाओं का मन में एक किला बन जायेगा और जीव उसी में बन्द हो जायेगा।

परमात्मा को बाहर खोजने वाले इतने जड़ीभूत हो जाते हैं कि वे हर समय अपने मन से बनाये हुए परमात्मा के चित्र के सपने देखते रहते हैं। इस

अलीक धारणा से उन्हें आरम्भ में सात्त्विकता अवश्य प्राप्त होती है; किन्तु आगे चलकर यह भ्रम उनके स्वरूपज्ञान-पथ का रोड़ा हो जाता है।

चाहे अशुभ हो या शुभ जहां तक मनःकल्पनाओं का जाल है, सब बंधन ही है। मन का साक्षी चेतन ही अपना स्वरूप है।

इस सन्दर्भ में सद्गुरु मुख्य दो बातें बताते हैं। पहली बात है अपना लक्ष्य बाहर ढूंढ़ने की वस्तु नहीं है। उसे तुम जितना ही बाहर ढूँढ़ते हो उतना ही उलझते हो। दूसरी बात है कि तुम अंत में वही पाओगे जिसकी वासना बना लिये हो। तुम अपने ही कर्मजाल में बंधते रहते हो।

अतएव सद्गुरु का निर्देश है कि बाहर ढूंढ़ना छोड़कर अपने स्वरूप को समझो तथा सांसारिक वासनाएं त्यागकर स्वरूपस्थिति प्राप्ति करो।

शून्य की ओर मत दौड़ो, अपने आप को पहचानो

ञ

ञञा निग्रह सनेहू। करु निरुवार सन्देहू॥
नहिं देखे नहिं भाजिया। परम सयानप येहू॥
जहाँ न देखि तहाँ आपु भजाऊ। जहाँ नहीं तहाँ तन मन लाऊ॥
जहाँ नहीं तहाँ सब कुछ जानी। जहाँ है तहाँ ले पहिचानी॥ 10॥

शब्दार्थ—निग्रह=निवारण, त्याग। सनेहू=स्नेह, मोह। सयानप= बुद्धिमानी, श्रेष्ठता। आपु भजाऊ=स्वयं भागा जाना।

भावार्थ—ञ अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि हे मानव! संसार के मोह का त्याग कर और मन में रहे हुए संदेहों का निवारण कर! विवेक से देखने पर, जो कुछ नहीं ठहरता, उसके पीछे न दौड़ना, यही परम बुद्धिमानी एवं श्रेष्ठता है। परन्तु यह विमोहित मानव जहां कुछ नहीं देखने में आता है, वहां स्वयं दौड़ा जाता है। जहां कुछ सार नहीं है, वहां अपने शरीर तथा मन को अर्पित कर रहा है। जहां कुछ नहीं है, वहां इसने सब कुछ समझ लिया है। परन्तु सद्गुरु कहते हैं कि जहां है, वहां परख ले॥ 10॥

व्याख्या—ञ अक्षर के माध्यम से सद्गुरु ने कैसा मार्मिक उपदेश दिया है, यह सोचते ही बनता है। उनकी इसमें पहली बात है कि मोह का त्याग करो। मोह एक ऐसा विकार है जो मनुष्य को सत्य से सदैव दूर रखता है। मोही आदमी मूढ़ होता है। व्यक्ति, वस्तु, मान्यता, मत, मजहब, ग्रन्थ, गुरु आदि में जहां कहीं भी मनुष्य को मोह हो जाता है, फिर वह उसके तथ्य को

नहीं समझना चाहता। मोह ही वह रस्सी है जिसमें बंधकर जीव जगत-नगर का टट्टू बनकर लादी लादता है। अतएव सद्गुरु कहते हैं कि अपने मन को मोह से मुक्त कर लो, तब तुम सत्य और असत्य समझने में समर्थ हो सकोगे।

दूसरी बात है, अपने मन से सारे संदेहों का त्याग करो "करु निरुवार सन्देहू।" संदेह मन का वह विकार है जो मनुष्य को स्थिर नहीं होने देता। समझ की कमी सारे मानसिक विकारों का कारण है, किन्तु संदेह के मूल में एक मुख्य कारण है निर्णय की क्षमता का अभाव। जिसमें निर्णय की क्षमता होती है वह शीघ्र ही संदेहों से मुक्त हो जाता है। पक्षपात और मोह के कारण मनुष्य निर्भयतापूर्वक न सोच पाता है और न निर्णय ले पाता है। संदेह में पड़ा हुआ आदमी कहीं नहीं पहुंचता। आरम्भ में संदेह ठीक है। संदेह से ही उसे निवारण करने के लिए प्रयास आरम्भ होता है। परन्तु यदि वह जीवन ही संदेहों में बिता रहा है तो उसको मंजिल कब मिलेगी! इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि निर्मोह होकर संदेहों का त्याग करो।

सद्गुरु तीसरी बात कहते हैं "नहिं देखे नहिं भाजिया। परम सयानप येहू॥" अर्थात जो विवेक से कुछ नहीं ठहरता उसके पीछे न भागे, यही परम बुद्धिमानी है। ये बातें कितनी मार्मिक, कितनी तथ्यपूर्ण हैं, सोचते ही बनता है।

खानी और वाणी दोनों के पसारा देखो, तो इसमें से तुम्हारे हाथों में अंत में क्या लगता है! परिवार, सम्बन्धी, धन, मकान, प्रतिष्ठा तथा अन्ततः शरीर तक, क्या साथ में चलता है? क्या रह जाता है जीव के साथ? फिर उनके पीछे पागल होकर दौड़ने का फल बुरा नहीं तो क्या है! यह तो खानी जाल की बातें हुईं। अब जरा वाणी के पसारा को देखो। नाना देव-गोसैंया, स्वर्ग-नरक की कल्पना कर जीव उनके पीछे पागल बने भटकते हैं। परन्तु न वे चर्म-नेत्रों से कुछ दिखते हैं और न विवेक से कहीं ठहरते हैं। संसार के अधिकतम लोग इस उलझन में पड़े हुए भटक रहे हैं।

कबीर साहेब यथार्थवादी चिन्तक हैं। वे कहते हैं कि जहां कुछ दिखाई न दे, वहां दौड़ा न जाये। यही मनुष्य की परम बुद्धिमानी है। लोगों की देखादेखी में दौड़ना मूढ़ता है। स्वयं विवेक-नेत्रों से सारी चीजों को देखने का प्रयत्न करना चाहिए। विवेकवान परखकर ही कदम उठाते हैं, किन्तु मूढ़ आदमी केवल विश्वासी होता है। वह विमोहित होकर जहां-तहां दौड़ता रहता है।

सद्गुरु चौथी बात कहते हैं—"जहाँ न देखि तहाँ आपु भजाऊ। जहाँ नहीं तहाँ तन मन लाऊ॥ जहाँ नहीं तहाँ सब कुछ जानी।" यहां मिथ्या अवधारणों में भटकने वालों को सद्गुरु तीन वाक्यों में झकझोरते हैं—'जहां कुछ नहीं देखने में आता है, वहां दौड़ा जा रहा है। जहां कुछ नहीं है वहां अपने तन-मन अर्पित कर रहा है। जहां कुछ नहीं है, वहां तूने सब कुछ समझ लिया है।' यहां कबीर साहेब मिथ्या मान्यताओं एवं क्षणभंगुर पदार्थों के पीछे भटकने वाले मनुष्यों को बारम्बार टोकते हैं।

सचमुच मनुष्य जीवनपर्यन्त शून्य में दौड़ता रहता है। जैसे कोई पागल आदमी आकाश में हाथ-पैर मारते-मारते स्वयं थककर गिर पड़े, वैसे विमोहित मानव जीवनपर्यन्त मिथ्या अवधारणाओं एवं क्षणभंगुर माया-मरीचिका के पीछे दौड़ते-दौड़ते अपना अन्त करता है और संसार से निराश होकर चल देता है। जहां जीव का कुछ नहीं है, उसने वहीं अपना सर्वस्व मान बैठा है। इससे अधिक विमोह क्या होगा!

इसलिए सद्गुरु अंतिम पांचवीं बात बताते हैं—"जहाँ है तहाँ ले पहिचानी॥" जहाँ 'है' वहाँ पहचान ले। 'है', 'होना', 'अस्तित्व' बड़े महत्त्वपूर्ण निर्देश हैं। तुम्हारा 'होना', तुम्हारा 'अस्तित्व' कहां है? साफ है 'मैं' में ही तुम्हारा 'अस्तित्व' है। 'मैं' को छोड़कर 'मेरा' अस्तित्व कहां हो सकता है!

मनुष्य की सबसे बड़ी गलती यही है कि वह ईश्वर-ब्रह्म को खोजता है, स्वर्ग-नरक के विषय में माथा मारता है, विषयों में सुख ढूंढ़ता है, परिवार, धन, मकान, मान-बड़ाई सारी बाह्य वस्तुओं में 'स्वत्व' और 'सुख' ढूंढ़ता है, किन्तु 'मैं कौन हूं' इसकी परख कभी नहीं करता। परन्तु मैं को जाने तथा पाये बिना बाहर का सब जानना तथा पाना निरर्थक है। महात्मा ईसा ने कहा है, जिसने सब कुछ पाया, परन्तु अपने आप को खो दिया, वह क्या पाया!

सद्गुरु कहते हैं "जहाँ है तहाँ ले पहिचानी' जहां तेरा स्वत्व एवं अस्तित्व है वहां पहचान ले, परख ले। तेरा स्वत्व, तेरा अस्तित्व तेरे 'मैं' में है। अतः तू अपने 'मैं' को समझ!

मैं के दो रूप हैं, एक भौतिक तथा दूसरा आत्मिक। शरीर तथा उसके नाम-रूप में जहां तक मैं-भाव है, वह मायिक है। अतएव वह मैं एक मिथ्या अहंकार है, बंधन है। दूसरा मैं अपने शुद्ध चेतनस्वरूप के लिए है। यह तथ्य है, सत्य है। इस चेतन 'मैं' में ही मेरा अपना 'स्वत्व' है, 'सत्ता' है। 'मैं' से 'मैं' कभी पृथक नहीं हो सकता, और 'मैं' से पृथक वस्तुएं कभी मेरी नहीं हो

सकतीं। इसलिए सद्‌गुरु कहते हैं कि जहां तेरा कुछ नहीं है, वहां से तू हट जा, और जहां तेरा है, वहां परख ले। 'नहीं' से हटकर 'है' में स्थित हो जा। 'नहीं' कभी 'है' नहीं होगा, और 'है' कभी 'नहीं' नहीं होगा। यहां नीति का वचन भी स्मरण में आता है कि जो व्यक्ति निश्चित वस्तु को छोड़कर अनिश्चित वस्तु को पकड़ता है, उसने तो निश्चित को स्वयं छोड़ दिया और अनिश्चित छूट ही जायेगी।

सार यह है कि मोह का त्याग करो, संदेह को दूर करो और अपनी आत्मा के अलावा सब झूठा है, उसके राग से हटकर, अपनी आत्मा में, अपने चेतनस्वरूप में स्थित होओ। तुम्हारी आत्मा ही तुम्हारा स्वत्व है, परम निधान है, सुख का केन्द्र है। जहां से सबकी परख होती है, वह चेतनसत्ता ही मैं के रूप में विद्यमान है। उसी को विवेकी संत पारख रूप एवं ज्ञानरूप कहते हैं। वही तुम्हारा अपना है। शेष सब झूठा है।

अज्ञान के कपाट खोलो

ट

टटा बिकट बाट मन माहीं। खोलि कपाट महल मों जाहीं॥
रही लटापटि जुटि तेहि माहीं। होहि अटल तब कतहुँ न जाहीं॥ 11॥

शब्दार्थ—कपाट=किवाड़, फाटक, अज्ञान। महल=स्वरूपस्थिति। लटापटि=जिस किसी प्रकार।

भावार्थ—ट अक्षर के माध्यम से सद्‌गुरु उपदेश करते हैं कि मन के बड़े टेढ़े रास्ते हैं। कोई अज्ञान के फाटक को खोलकर स्वरूपस्थिति-महल में जा सकता है। साधक को चाहिए कि जिस किसी प्रकार स्वरूपस्थिति-धाम तक पहुंचे। जब यह जीव स्वरूपस्थिति-धाम में अटल हो जाता है, तब इसके पतित होने का अवसर नहीं रहता॥ 11॥

व्याख्या—उक्त पंक्तियों में चार बातें बतायी गयी हैं। इन पर हम मनन करें।

पहली बात है "बिकट बाट मन माहीं" अर्थात मन के रास्ते टेढ़े हैं। मन ऐसा भुलावन वन है कि उससे सतत सावधान रहने लायक है। अच्छी बातों का स्मरण करते-करते मन बुरे स्मरणों में पहुंचा देता है। जैसे रेलवे जंक्शन में विभिन्न दिशाओं की पटरियां एक में जुड़ी रहती हैं; थोड़ा प्वाइंट बदलते ही गाड़ी इधर से उधर चली जाती है, वैसे मन में शुभ और अशुभ, राग और वैराग्य आदि के संस्कार एक साथ जुड़े हैं। जरा-सा असावधान होते ही मन

जीव को स्वर्ग से हटाकर नरक में पहुंचा देता है। सारे भवबंधन स्मरण मात्र हैं। साधक को चाहिए कि वह सदैव सावधानी से स्मरणों को देखे और गंदे स्मरण न होने दे। यदि मन में गंदे स्मरण आ गये हों, तो उन्हें तुरन्त शत्रुवत समझकर त्याग दे। अतएव साधक इस बात पर सदैव सावधान रहे कि मन के बड़े टेढ़े-टेढ़े पथ हैं। उनसे अपने आप को सदैव बचाना है।

दूसरी बात है "खोलि कपाट महल मों जाहीं" अर्थात अज्ञान का फाटक खोलकर ही स्वरूपस्थिति-धाम में पहुंच सकते हैं। लोग स्वरूपस्थिति-धाम, मोक्ष, आत्यंतिक सुख, परमानन्द एवं कृतार्थ अवस्था में पहुंचना तो चाहते हैं, किन्तु अपने हृदय के अज्ञान-कपाट को तोड़ने में असमर्थ होते हैं। उन्हें अज्ञान में ही मोह होता है। बंधनों से मोह करके कोई कैसे मोक्षपद पा सकता है! अतएव सद्गुरु कहते हैं कि बंधनों से मोह न करो। अपने हृदय के अज्ञान-कपाट को तोड़ो। अज्ञान से मोह करते-करते युगों बीत गये। अब इनसे ऊपर उठ जाओ। रास्ता केवल एक है। यदि जीवन में दुखनिवृत्ति एवं परम शांति चाहते हो, तो हृदय की विषय-वासनात्मक कमजोरियों को दूर करो। विषयासक्ति हृदय का कपाट है जिसे तोड़कर स्वरूपस्थिति-धाम में पहुंचा जाता है।

तीसरी बात है "रही लटापटि जुटि तेहि माहीं"। लटापटि का अर्थ है गिरता-पड़ता, ढीला-ढाला, सरकता हुआ इत्यादि। साधक पहले गिरता-पड़ता ही चलता है। कोई तुरन्त पहलवान नहीं हो जाता। अखाड़ा में गिरते-पड़ते ही किसी दिन पहलवान हुआ जा सकता है। साधक पहली साधना में यदि समय-समय से असफल हो जाये तो उसे घबराना नहीं चाहिए। यदि वह अपने उद्देश्य में दृढ़ है तो आज नहीं, कल; अपने लक्ष्य पर पहुंचेगा ही। सद्गुरु ने साखीग्रन्थ में कहा है—"मारग चलते जो गिरे, ताको नाहीं दोस। कहहिं कबीर बैठा रहे, ता सिर करड़े कोस।" जो मार्ग चलते-चलते गिर पड़ता है उसको दोष नहीं दिया जा सकता। जो चलता है वही गिर भी सकता है। यदि गिरता है तो उठकर फिर चलेगा। दोष तो उसे है जो बैठा रहता है। उसका तो सारा रास्ता अभी पड़ा है।

शास्त्र कहता है "यद्वा तद्वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः।"[1] अर्थात जिस किसी भी प्रकार जड़-चेतन की ग्रन्थि को काट देना ही मनुष्य का मुख्य पुरुषार्थ एवं प्रयोजन है। अतएव असफलता के भय से काम ही न शुरू करना केवल कायरता है। किसी ने कितना अच्छा कहा है—

1. सांख्य दर्शन 6/70।

गिरते हैं शहसवार ही मैदाने जंग में।
वे तिफ़्ल क्या गिरेंगे जो घुटनों के बल चलें॥

अर्थात युद्धक्षेत्र में कुशल घुड़सवार ही कभी गिरते हैं। वे बालक क्या गिरेंगे जो घुटनों के बल चलते हैं।

चौथी बात है "होहि अटल तब कतहुँ न जाहीं" अर्थात जब साधक संसार से पूर्ण अनासक्त होकर स्वरूपस्थिति-धाम का स्थायी बासिंदा हो जाता है, तब उससे उसे गिरने का कोई चांस नहीं रहता।

"पक्का बोध और स्थिति" यह कोई कच्ची गोटी का खेल नहीं है। इसको उपलब्ध साधक अजर-अमर हो जाता है। शरीर कूड़ा-कचड़ा है, विजाति है और अंततः शून्य में बदल जाने वाला है; इसके शून्य होते ही, इसके सम्बन्धी प्राणी-पदार्थों का पता नहीं रहेगा। इसके विपरीत अपना शुद्ध चेतनस्वरूप निर्विकार, निर्मल, एकरस, अमृतरूप है। उसका मुझसे कभी वियोग नहीं हो सकता। इस बोध के साथ जिसकी अपने स्वरूप में स्थिति हो गयी और वह स्थिति एकरस हो गयी, ऐसा साधक किस वस्तु के लिए लालचकर पतित होगा! यह जीवन की सर्वोच्च स्थिति है। यह स्वरूपस्थिति जीवन का अमृत-रस भोग है, जो कभी घटने तथा बिछुड़ने वाली नहीं है। सम्राट बनकर कौन घूर पर दाने बीनेगा! स्वरूपस्थिति का अमृत-रस चखकर कौन मलिन, दुखप्रद, क्षणभंगुर विषयों के पीछे दौड़ेगा! अतएव सद्गुरु का यह वाक्य अत्यन्त तलस्पर्शी है कि अपने स्वरूप में अटल स्थित हुआ पुरुष अन्यत्र कहीं नहीं भटकता।

मन की ठगाई से सावधान

ठ

ठठा ठौर दूर ठग नियरे। नित के निठुर कीन्ह मन घेरे॥
जे ठग ठगे सब लोग सयाना। सो ठग चीन्ह ठौरपहिचाना॥ 12॥

शब्दार्थ—ठौर=स्वरूपस्थिति, पारखस्थिति। ठग=मन। निठुर=कठोर।

भावार्थ—ठ अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि जीव की अपनी स्वरूपस्थिति दूर हो गयी है, क्योंकि उसके निकट मन-ठग निरन्तर बसा हुआ है और उसने जीव को चारों ओर से घेरकर विषयों में कठोर कर दिया है। अतएव सद्गुरु कहते हैं कि हे साधक! जिस मन-ठग ने बड़े-बड़े बुद्धिमानों, विद्वानों एवं ज्ञानियों को भी ठग लिया है, उसे परखकर उससे बच और अपनी स्वरूपस्थिति रूपी ठौर पहचान॥ 12॥

व्याख्या—मन बड़े काम की चीज है। जहां मन की निंदा की जाती है कि वह ठग है, वहां अशुद्ध मन का अर्थ होता है। मन के दो प्रकार हैं। एक अशुद्ध और दूसरा शुद्ध। अशुद्ध मन जीव के लिए बंधन उपस्थित करता है तथा शुद्ध मन उसके मोक्ष में सहायक होता है। उक्त पंक्तियों में मन को ठग कहा गया है। यहां अशुद्ध मन का अभिप्राय है।

सद्‌गुरु कहते हैं कि तुम्हारी मंजिल तुम्हें इसलिए दूर लगती है क्योंकि अशुद्ध मन ने तुम्हें चारों ओर से घेर लिया है। जो मलिन मन का निरंतर सेवन करता है, उसका हृदय विषयों में पड़ा-पड़ा कठोर हो जाता है। जिसके मन में निरंतर मलिन विषयों की वासनाएं भरी हैं, उसके मन में अपना ठौर, अपनी मंजिल, अपनी स्थिति का आभास कहां हो सकता है!

सद्‌गुरु कबीर की दृष्टि सदैव स्वरूपज्ञानपरक है। वे कहते हैं कि जीव का ठौर जीव से बाहर किसी लोक-लोकांतर में नहीं है। ब्रह्मलोक, साकेतलोक, सतलोक, विष्णुलोक, शिवलोक कहीं बाहर नहीं है। ये यदि कुछ हैं तो केवल जीव की स्वरूपस्थिति ही। यदि किसी को लगता है कि अपना ठौर, अपना मोक्ष-धाम कहीं दूर है, तो इसका मतलब यही है कि उसे मन-ठग ने ठग लिया है। मन के भुलावे में पड़कर ही हम अपनी स्वरूपस्थिति से पृथक अपना ठौर, अपना परम निधान खोजते हैं।

सद्‌गुरु बड़ी मार्मिक बात कहते हैं "जे ठग ठगे सब लोग सयाना। सो ठग चीन्ह ठौर पहिचाना॥" अर्थात जिस मन-ठग ने बड़े-बड़े सयानों को ठग लिया है उस मन के बन्धनों को पहचानो और अपना स्थान समझो कि कहां है।

पुराकाल से लेकर आज पर्यन्त बड़े-बड़े विद्वान एवं ज्ञानी-ध्यानी मन के चक्कर में पड़े हुए भटक रहे हैं। वे अपनी स्थिति किसी परोक्ष शक्ति तथा परोक्ष लोक में मान रहे हैं। नित्य अनुभूत, स्वयं प्रत्यक्ष अपने दिव्य चेतनस्वरूप तथा उसकी स्थिति को न समझना और अपने से बाहर किसी कल्पित ईश्वर-ब्रह्म की भावना में डूबे रहना, मन-ठग द्वारा ठगा जाना ही है।

आश्चर्य है कि संसार के बहुत-से तथाकथित ज्ञानियों ने जीव को तुच्छ, प्रतिबिम्ब, आभास, अंश आदि कहकर उसका निरादर किया है, जबकि वह परम सत्य है, स्व है, अपने आप 'मैं' के रूप में विद्यमान स्वयं प्रत्यक्ष है। लोगों ने उससे पृथक ईश्वर-ब्रह्म मानकर उसकी बड़ाई की है जो केवल जीव की कल्पना है।

अतएव सद्‌गुरु कहते हैं कि बड़े-बड़े सयाने, विद्वान एवं ज्ञानी कहलाने वाले लोग मन-ठग से ठगा गये हैं। हे सत्य इच्छुक! ऐसे मन के जाल को परखकर उसका त्याग कर और अपने ठौर को पहचान। तुम्हारा ठौर, तुम्हारा परम धाम, ब्रह्म-धाम, राम-लोक, खुदा-तख्त तुम्हारा अपना चेतनस्वरूप, पारखस्वरूप एवं ज्ञानस्वरूप है। स्वरूपपस्थिति ही तुम्हारा परम निधान है।

डर एक मानसिक कल्पना है, उसे त्यागो

ड

डडा डर उपजे डर होई। डर ही में डर राखु समोई॥
जो डर डरै डरहि फिर आवै। डरही में फिर डरहि समावै॥ 13॥

शब्दार्थ—समोई=नाश।

भावार्थ—ड अक्षर के माध्यम से सद्‌गुरु उपदेश करते हैं कि मन में भय उत्पन्न होने से भय का अस्तित्व होता है। अर्थात भय एक भावना मात्र, कल्पना मात्र है। अतएव भय को भय में ही समाप्त कर दो। अर्थात भय को कल्पना मात्र समझकर वहीं उसे छोड़ दो। जो व्यक्ति भय से भीत होकर आक्रांत होता है, वह बारम्बार भय का शिकार होता है। वह भय में जीवन बिताता है; और अन्त में भय के स्थान-मूल शरीर को पुनः धारण करता है॥ 13॥

व्याख्या—शकुन-अपशकुन का डर, ग्रह-लगन का डर, भूत-प्रेत का डर, जादू-मंत्र का डर, स्वजन एवं मित्रों के विमुख हो जाने एवं बिछुड़ने का डर, अपमान-अप्रतिष्ठा होने का डर, नौकरी छूट जाने एवं व्यापार में घाटा हो जाने या बन्द हो जाने का डर, रोग लगने का डर, मृत्यु होने का डर—कहां तक गिनाया जाये, जीव के मन में डर का एक विशाल जाल बिछा रहता है।

कितने दम्पती को बच्चे नहीं होते। उन्हें डर रहता है कि बुढ़ापा में हमारी सेवा कौन करेगा! अतः वे किसी दूसरे के बच्चे को गोद लेते हैं। वे न हुआ दुख खरीदते हैं। अपने पैदा किये हुए बच्चे तो प्रायः सेवा नहीं करते, दूसरे के बच्चों से लोग सेवा की आशा करते हैं। यह एक मूढ़ता नहीं तो क्या है! लोग सबेरे बिस्तर पर जागने के साथ ही भय लेकर उठते हैं और अपने जाग्रत के सारे व्यवहार में भय से ग्रस्त रहते हैं। इसके फल में लोग सपने में भी भयभीत रहते हैं।

लोग कहीं चलेंगे, तुरन्त एक्सीडेंट हो जाने का भय सवार हो जायेगा। बच्चे को स्कूल से आने में थोड़ी देरी हुई कि मन भयाक्रांत हो गया कि कोई

एक्सीडेंट तो नहीं हो गया। लोगों के मन में अपनों से डर रहता है, दूसरों से डर रहता है। यहां तक कि स्वयं द्वारा की गयी गलतियों की यादों का डर सताता रहता है।

सारे भय भावना मात्र हैं। इन्हें त्याग देने से अपनी कोई हानि नहीं होती है, किन्तु त्यागने में ही सच्चा लाभ है। प्राय: सभी लोग एक्सीडेंट के भय से जीवनपर्यन्त भयभीत रहते हैं और जीवन बीत जाता है निन्यानबे प्रतिशत से अधिक लोगों का कोई एक्सीडेंट नहीं होता। सबका जीवन चलता है। सबके लड़की-लड़कों की शादी होती है। सब खाते-पीते गुजर करते हैं। हाय-तोबा करते रहना तो मूर्खता ही है।

एक बार मैंने एक सज्जन से पूछा—'भक्त जी! आप को किसी प्रकार की चिंता तो नहीं है?' उन्होंने कहा—'मुझे एक प्रकार का भय कभी-कभी सताता है कि किसी रात को घर पर डाकू न आ जायें। यद्यपि मेरे घर में कोई खास रुपये-पैसे नहीं रहते; परन्तु लोगों में शाहेरत तो है ही।' मैंने उनसे कहा—'यह भय कब से सताता है?' उन्होंने कहा—'करीब बीस-पचीस वर्षों से।' मैंने कहा—'इतने दिनों से भय का दुख आप भोग रहे हैं, किन्तु डाकू तो कभी नहीं आये।' उन्होंने कहा—'हां, आये तो नहीं।' मैंने कहा—'आप भय छोड़ दीजिए। हो सकता है पूरा जीवन बीत जाये और आपके घर कभी डाकू न आयें और जब डाकू आयेंगे, तब वे मिनटों में अपना काम करके चले जायेंगे। उसी समय जितना दुख होगा, आप सह लीजियेगा। पहले से, रोज-रोज न हुआ दुख क्यों सहते हैं।' वे इस बात को समझ गये। उन्होंने भविष्य में कभी भी ऐसा भय नहीं किया। इसके बाद वे बीस वर्ष तक जीकर मृत्यु को प्राप्त हुए; परन्तु उनके जीवन में उनके घर कभी डाकू नहीं आये।

मनुष्य को चाहिए कि सम्भावित कल्पित अप्रिय घटनाओं का भय छोड़ दे, फिर वह सदैव सुखी रहेगा। जब कोई अप्रिय घटना घटेगी, तभी उसे झेल लिया जायेगा। उसके लिए पहले से ही पचना अज्ञान है। जब कोई समस्या आती है तब उसमें से ही समाधान का सूत्र निकल आता है। व्यापार या नौकरी छूटने पर तथा खेत डूब जाने पर जीवन-निर्वाह का नया धन्धा मिल जाता है, और कभी-कभी तो पहले से भी बेहतर!

छोटी-सी जिन्दगी, इस मिट्टी के पिंड को निभाने के लिए इतना भय क्यों! वस्तुत: स्वरूप का ज्ञान न होने से शरीर को सत्य मान लिया जाता है और उसके नाम-रूप में आसक्ति हो जाती है। यही सारे भय का मूल है। अतएव अज्ञान के निवृत्त होने पर भय के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता।

सबसे ज्यादा डर मरने का है जो होना ही है। यदि अमर जीव या आत्मा नाम की कोई चीज नहीं है तो मरने पर सब समाप्त हो जायेगा, फिर डर किसका! और यदि जीव अमर है तो मरने का डर व्यर्थ है। हम रोज सोते हैं। एक दिन ऐसा सोयेंगे कि पुनः नहीं उठेंगे। जब छोटी नींद हमें प्यारी है, तब बड़ी नींद तो अधिक प्यारी होनी चाहिए।

सद्गुरु कहते हैं कि सारे भय दूर कर दो। यदि देहाभिमान बनाये रखोगे तो सदैव डरते रहोगे, और इसका फल होगा पुनः शरीर में आना। अतएव देहासक्ति त्यागो। अपने अविनाशी स्वरूप के ज्ञान में रमो। निर्भय विचरो।

पहली बात, जब हम जीने से नहीं डरते जो उलझनों से भरा होता है, तब मरने से क्यों डरना चाहिए, जिसमें केवल शांति है।

अपने लक्ष्य को बाहर मत ढूंढ़ो

ढ

ढढा हींड़त ही कित जान। हींड़त ढूँढ़त जाय परान॥
कोटि सुमेरु ढूँढ़ि फिरि आवै। जेहि ढूँढ़ा सो कतहुँ न पावै॥ 14॥

शब्दार्थ—हींड़त=खोजते। सुमेरु=सुमेरु पर्वत, जिसकी पुराणों में बड़ी चर्चा है। इसे इलावृत्तवर्ष में अवस्थित माना है। यहां तात्पर्य है बड़े-बड़े पर्वत या बीहड़ स्थल।

भावार्थ—ढ अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि हे मानव! तुम अपने लक्ष्य को खोजते हुए कहां जा रहे हो? खोजते-भटकते तुम्हारे प्राण-पखेरू उड़ जायेंगे। सुमेरु पर्वत-जैसे करोड़ों बीहड़ स्थानों में भी तुम खोजकर लौट आओगे, परन्तु जिसकी तुम्हें खोज है, उसे बाहर कहीं नहीं पाओगे॥ 14॥

व्याख्या—जो लोग भगवान को, राम को, ब्रह्म को, मोक्ष को अपने से बाहर खोजते हैं, उन्हें कबीर साहेब बार-बार चेतावनी देते हैं कि तुम्हारा उसे बाहर खोजना महा भ्रम है। बाहर हींड़ते-ढूंढ़ते मर जाओगे, परन्तु उसे कहीं नहीं पाओगे। मनुष्य का यह मिथ्या भ्रम है कि वह जहां पर उपस्थित रहता है वहां अपने लक्ष्य को पाने में निराश रहता है। उसे लगता है यहां क्या मिलेगा! परन्तु दूर देश के लिए उसके मन में आशा बंधती है कि वहां जरूर परमात्मा या मोक्ष मिल जायेगा। किन्तु वह मनुष्य का लक्ष्य नहीं हो सकता जिससे देश और काल की दूरी हो। यदि परमात्मा या मोक्ष दूसरे देश या दूसरे काल में मिलेगा ऐसी धारणा हो, तो यह केवल भ्रम है। मनुष्य जहां खड़ा है,

वहीं उसका लक्ष्य प्राप्त होगा। प्राप्त होना नहीं है, किन्तु केवल स्मृति में आना है।

अतएव सद्गुरु कहते हैं कि तुम करोड़ों पर्वतों, बीहड़ स्थानों, तीर्थों, धामों एवं दूसरे लोकों में भी भटक आओ, परन्तु तुम्हें जिसकी तलाश है उसे बाहर कहीं नहीं पाओगे। वह तो तुम स्वयं हो। परमात्मा ही परमात्मा को खोज रहा है। राम ही राम को खोज रहा है। परम पारखी संत विशाल देव कहते हैं—"जेहि को खोजत सो हौं खुद ही, यह नहिं जानि पहै।"

चलकर, खोजकर मन और इन्द्रियों द्वारा जो प्राप्त होते हैं, वे मायावी वस्तुएं होती हैं। मन एक दूरबीन है। उसके पीछे जीव है तथा आगे जगत है। जब जीव इस दूरबीन से आगे देखता है, तब जगत दिखाई देता है, और जब दूरबीन से देखना छोड़ देता है, तब स्वयं को देखता है। अर्थात तब उसे स्व-सत्ता का भान होता है। अतएव हम मन द्वारा जो कुछ ग्रहण करते हैं, वह सब दृश्य, जड़ जगत है। हमें अपने को पाने के लिए मन का दृश्य छोड़ना होगा। इस विवेक से देखा जाये तो अपने लक्ष्य को बाहर खोजने वाले मन के दृश्यों में ही दौड़ रहे हैं।

जो लोग सुख, मोक्ष तथा परमात्मा बाहर खोजते हैं वे मन के पीछे दौड़ने वाले भूले लोग हैं; और संसार के अधिकतम लोगों की यही दशा है। संसार के बड़े-बड़े विद्वानों और महात्माओं की भ्रांतधारणा को देखते हुए कहना पड़ता है कि शुद्ध विवेक बड़ा दुर्लभ हो गया है। मनुष्य के दिमाग पर दैववाद एवं ईश्वरवाद इतना छा गया है कि वह उससे लौटकर अपनी ओर देखना ही नहीं चाहता। किन्तु आज या कल या दस जन्मों के बाद अथवा लाखों जन्मों के बाद जब कभी मनुष्य बाहर से घूमकर अपनी ओर लौटेगा, तभी अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकेगा। जीवन का लक्ष्य परम तृप्ति है, वह अपनी ओर लौटने में ही है।

ण

णणा दुई बसाये गाऊँ। रेणा ढूँढ़े तेरी नाऊँ॥
मूये एक जाय तजि धना। मरे इत्यादिक केते को गना॥ 15॥

शब्दार्थ—रेणा=रेरा, झगड़ा।

भावार्थ—ण अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि मनुष्यों ने अपने रहने के लिए दो गांव बसाये हैं, लोक और परलोक अथवा पिंड और ब्रह्मांड। हे मनुष्य! तेरे समान पहले के लोग भी ब्रह्म एवं मोक्ष को खोजने के झगड़े में पड़कर उसे ढूंढ़ते रहे। एक तो मरकर तथा उस धन को त्यागकर

(बिना पाये) चले गये और दूसरे लोग उसी मृगतृष्णा की आशा करते हैं। अपने लक्ष्य को बाहर खोजने के भ्रम में बहुत-से लोग मर गये। उनकी गणना कैसे की जा सकती है!॥ 15 ॥

व्याख्या—मनुष्यों ने कल्पना की कि पिंड में जीव है और ब्रह्मांड में ईश्वर है अथवा लोक में जीव है तथा परलोक में ईश्वर है। इस प्रकार लोगों ने जीव तथा ईश्वर के लिए दो गांव बसाये और जीवों से कहा कि तुम ब्रह्मांड एवं परलोक में ईश्वर को खोजो। अतः जीव ईश्वर को खोजने के झगड़े में पड़े। सद्‌गुरु कहते हैं, यह ईश्वर-ब्रह्म खोजने की बात एक रेणा (रेरा) है, झगड़ा है। 112वें शब्द में झगड़े का विस्तृत वर्णन करके ब्रह्म, ईश्वर, राम, वेद, तीर्थ इत्यादि सबके संस्थापक एवं कल्पक जीव की सर्वोच्चता पर सद्‌गुरु ने प्रकाश डाला है।

सद्‌गुरु कहते हैं कि जैसे तुम ईश्वर, ब्रह्म एवं मोक्ष को खोजने के झगड़े में पड़े हो वैसे पहले के लोग भी पड़े थे। वे उसे बिना पाये मरकर चले गये हैं, ऐसे लोगों की संख्या बताना असंभव है। यहां सद्‌गुरु यह बताना चाहते हैं कि सारे संसार में तो यही भ्रम है कि परमात्मा एवं मोक्ष बाहर से मिलता है। यह तो बिरले विवेकी होते आये हैं। जिन्होंने बाहरी दौड़ छोड़कर अपने आप की तरफ देखा है तो उसे अपने आप में पाया है। सब कुछ त्याग देने के बाद जो अपना शुद्ध चेतनपद अवशेष रह जाता है वही तो अपना परम स्वरूप, परम प्राप्तव्य एवं परम निधान है। सांख्य दर्शन के प्रणेता का सार मंतव्य बताते हुए ईश्वरकृष्ण (ईसा पूर्व 200) कहते हैं—"इस प्रकार तत्त्व-अभ्यास से 'न मैं क्रियावान हूं, न मेरा भोक्तृत्व है और न मैं कर्ता हूं' यह भाव दृढ़ हो जाने पर कुछ बाकी नहीं रहता। इस प्रकार भ्रम दूर हो जाने से विशुद्ध केवल ज्ञान उत्पन्न होता है।"[1]

लक्ष्य पाना नहीं है, किन्तु आज तक जो कुछ बाह्य वस्तुओं एवं नाम-रूपों को अपना माना गया है, उन्हें छोड़ देना है। दृश्यों को छोड़ देने के बाद द्रष्टा स्वयं चेतन मात्र रह जाता है, जो अपना स्वरूप है। यह बाहर खोजने का विषय नहीं, किन्तु सत्संग एवं पारख-विवेक से समझने का विषय है।

---

1. एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥ सांख्य कारिका, 64॥
एवं=इस प्रकार। तत्त्वाभ्यासात्=तत्त्व अभ्यास से। नास्मि=न मैं क्रियावान हूं। न मे=न मेरा भोक्तृत्व है। नाहम्=न मैं कर्ता हूं। अपरिशेषम्=कुछ बाकी नहीं रहता। अविपर्ययात्=भ्रम के दूर हो जाने से। विशुद्धं=विशुद्ध। केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्=केवल ज्ञान उत्पन्न होता है।

निर्वाह थोड़ी वस्तुओं में लो

त

तता अति त्रियो नहिं जाई। तन त्रिभुवन में राखु छिपाई॥
जो तन त्रिभुवन माहिं छिपावै। तत्त्वहि मिलि तत्त्व सो पावै॥ 16॥

शब्दार्थ—त्रियो=तीन गुण—सत, रज, तम। त्रिभुवन=तीन गुण। राखु छिपाई=रक्षा करो। तत्त्व=यथार्थता, सार, चेतन।

भावार्थ—त अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि त्रिगुण मायिक पदार्थों के उपभोग में अति मत करो, किन्तु उनसे केवल शरीर-रक्षा करो। जो साधक संसार के त्रिगुणात्मक मायिक पदार्थों से केवल अनासक्ति-पूर्वक शरीर-रक्षा करता है, वह संसार से पार होकर और जीवन की यथार्थता में पहुंचकर स्व-स्वरूप चेतन तत्त्व में स्थित होता है॥ 16॥

व्याख्या—सारा जड़ दृश्य त्रिगुणात्मक है। इन्हीं पदार्थों में से कुछ लेकर इनके द्वारा शरीर की रक्षा की जाती है। जिनमें विवेक और संयम नहीं हैं, वे इन पदार्थों के उपभोग में अतिक्रमण करते हैं। परिणाम में वे इन्द्रिय-लंपट बने वासना के शिकार होते हैं। ऐसे लोगों का कल्याण दूर हो जाता है।

जब हमारा भाव शरीर-रक्षा का न रहकर इन्द्रिय-स्वाद का हो जाता है, तब हम खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, संग्रह-परिग्रह सब में असंयत हो जाते हैं। यहां साधुत्व छूट जाता है और जीवन का सच्चा सुख लुट जाता है। सद्गुरु कहते हैं कि यदि तुम कल्याण चाहते हो, जीवन में सच्चा सुख चाहते हो और सदा के लिए विश्रांति चाहते हो तो संयम से रहो। जीवन-निर्वाह के पदार्थों के उपभोग में अतिक्रमण मत करो। संसार से केवल उतने ही पदार्थ लो जितने में तुम्हारा जीवन-निर्वाह हो जाये। इससे तुम्हारी साधना तो बनेगी ही, दूसरों को भी सुविधा होगी। जब तुम कम पदार्थों का उपभोग करोगे, तो बचे हुए पदार्थ दूसरे के निर्वाह में काम आयेंगे।

जिसने ममता, मैथुन, राग-रंग तो पहले ही छोड़ दिये हैं, और अब खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, संग्रह-परिग्रह में भी बहुत संयम कर लिया है; वह संसार से अनासक्त हो जाता है। उसका कल्याण-पथ प्रशस्त हो जाता है।

सद्गुरु कहते हैं कि तुम संसार से उतना ही पदार्थ लो जिससे सरल ढंग से तुम्हारा शरीर-निर्वाह चल जाये। रजोगुणीवृत्ति वस्तुओं का जखीरा बटोरना चाहती है। सतोगुणीवृत्ति थोड़े में गुजर लेना पसन्द करती है। एक अफसर एक बार मिलने आये। उन्होंने बताया कि मैं दो दिन के दौरे में गया था। उसमें अठारह जोड़े मोजे ले गया था। एक सज्जन ने बताया था कि मेरे

पहनने के पैंसठ (65) शर्ट हैं। यह सब दिमाग खराब करने की बातें हैं। कुछ लोग भोजन में कई प्रकार की सब्जियां, चटनी, अचार, मुरब्बे, मिठाइयां तथा खाने की बहुत प्रकार की चीजें रोज पसन्द करते हैं। यह सब दूसरे के अधिकार को छीनना तो है ही, अपने मन तथा पेट को भी खराब करना है। स्वादासक्त आदमी साधना में सफल नहीं हो सकता। एक सब्जी तथा सादी रोटी काफी है। बहुत हुआ दाल-भात भी ठीक है। कुछ साधक कहलाने वाले लोग भी मिर्च-मसालेदार तरकारी के लिए कुर्बान रहते हैं। ऐसे लोग मन पर कैसे विजय कर सकते हैं! भोजन तो भूख-रोग की एक दवाई है। उसे दवाई की तरह ही खाओ।

भोगों का त्यागी तथा सादा एवं स्वल्प वस्तुएं जीवन-निर्वाह में लेने वाला चारों तरफ से अनासक्त साधक साधना और बोधभाव में शीघ्र ही स्थित हो जाता है।

सद्‌गुरु कहते हैं ''तत्त्वहि मिलि तत्त्व सो पावे।'' तत्त्व का अर्थ होता है यथार्थता, मूल, सार। तत्त्व का अर्थ जड़ तत्त्व ही नहीं, किन्तु चेतन तत्त्व भी है। साखी प्रकरण में सद्‌गुरु ने कहा है ''जो चाहो निज तत्त्व को, तो शब्दहि लेहु परख।'' (साखी 2) यह निज तत्त्व अपना चेतनस्वरूप है। संसार से अनासक्त साधक अपने चेतनस्वरूप के बोध को पाकर उसमें स्थित हो जाता है। यही जीवन की सबसे बड़ी ऊंचाई है। यही जीवन का लक्ष्य है। ''तत्त्वहि मिलि तत्त्व सो पावै।'' बड़ा महत्त्वपूर्ण वचन है।

धैर्य द्वारा अथाह वासनाओं से पार होना होता है

थ

थथा अति अथाह थाहो नहिं जाई। 'ई' थिर 'ऊ' थिर नाहिं रहाई॥
थोर थोरे थिर होउ भाई। बिन थम्भे जस मन्दिरथँभाई॥ 17॥

शब्दार्थ—ई=लोक या खानी जाल। ऊ=परलोक या वाणी जाल।

भावार्थ—थ अक्षर के माध्यम से सद्‌गुरु उपदेश करते हैं कि वासनाओं का सागर अत्यन्त अथाह है। उसकी थाह लगा पाना असम्भव है। लोक और परलोक तथा खानी और वाणी जाल की वासनाओं में पड़े हुए जीव कभी स्थिर नहीं होते। परन्तु हे भाई! विवेक-साधना द्वारा धीरे-धीरे उसी प्रकार तुम्हें शांति मिल जायेगी, जैसे बिना स्तम्भ दिये डाटों से धीरे-धीरे मंदिर की छत खड़ी हो जाती है॥ 17॥

व्याख्या—मनुष्य के मन में वासनाओं तथा इच्छाओं का विशाल और अथाह सागर है। मनुष्य की जिन्दगी बीत जाती है, परन्तु वह अपनी इच्छाओं की थाह नहीं पाता। इच्छाओं में पड़कर उनकी थाह है भी नहीं।

"ई थिर ऊ थिर नाहिं रहाई" 'ई' और 'ऊ' लोक-परलोक अथवा खानी-वाणी का पसारा है। संस्कृत के पंडित लोक-परलोक को 'इहामुत्र' (इह-अमुत्र) कहते हैं। कबीर साहेब हिन्दी में अपना वक्तव्य देते हैं। इसलिए वे 'इह-अमुत्र' को 'ई-ऊ' कहते हैं, तो क्या आश्चर्य! इह=यहां, लोक तथा अमुत्र=वहां, परलोक। इसी प्रकार ई=यहां, लोक तथा ऊ=वहां, परलोक। इस भाव को व्यक्त करने वाले बीजक के पारिभाषिक शब्द हैं क्रमशः खानी और वाणी। खानी मोटी माया है धन, परिवार, शरीरादि एवं वाणी झीनी माया है, दैव-गौसैयां आदि वाणी का पसारा।

सद्गुरु कहते हैं कि लोक-परलोक और खानी-वाणी की वासना में पड़ा हुआ आदमी स्थिर नहीं रह सकता। सद्गुरु ने हिण्डोला प्रकरण के प्रथम हिण्डोला में कहा है—"खानी बानी खोजि देखहु, अस्थिर कोइ न रहाय।" अर्थात तलाश करके देखो कि खानी-वाणी की वासना में पड़े हुए जीवों में से कोई भी स्थिर नहीं है। किसी के जीवन में शांति नहीं है।

प्रश्न होता है कि फिर क्या आदमी यह मान ले कि जीवन में शांति मिल ही नहीं सकती। सद्गुरु कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है। सत्संग, भक्ति, स्वाध्याय, साधना आदि में लगने पर साधक धीरे-धीरे वासनाओं एवं इच्छाओं को जीतता जाता है।

आप किसी भी शिवालय को देखिए। उसके बीच में कोई स्तम्भ नहीं होता। उसमें चारों तरफ से डाट देते हुए धीरे-धीरे पूर्ण मंदिर बना देते हैं। आज-कल नीचे से सहारा देकर छत ढाल दी जाती है और भवनों में बड़े-बड़े कक्ष बन जाते हैं। यह सब काम धैर्यपूर्वक धीरे-धीरे होता है।

अनादि अभ्यस्त विषय-वासनात्मक कूड़ा-कचड़ा एक दिन में नहीं साफ होगा। साधक को चाहिए कि वह पवित्र संतों एवं सच्चे सद्गुरु की शरण में जाये। विनम्रतापूर्वक उनकी सेवा करे। सत्संग में सारासार समझने का प्रयत्न करे। सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय करे। चिंतन, विवेक, ध्यान आदि साधनाओं में चलकर सांसारिक इच्छाओं का त्याग करे।

अज्ञानदशा में जो वासनाएं अथाह लगती हैं, पूर्णज्ञान उदय हो जाने पर वे एकदम सूख जाती हैं। साधना में चलते-चलते विवेक द्वारा जब साधक विषयों से सर्वथा अनासक्त स्वरूपज्ञान में स्थित हो जाता है तब उसकी

सांसारिक वासनाएं समाप्त हो जाती हैं। अज्ञानदशा में जिन वासनाओं की थाह नहीं मिलती, पूर्ण ज्ञानदशा में उनका चिन्ह भी नहीं मिलता। पूर्ण स्वरूपज्ञान का प्रकाश ऐसा है जिसके सामने अन्धकारमय वासनाओं का टिकना असम्भव है। परन्तु साधक की यह अवस्था तभी आती है जब वह न-उकताए हुए मन से धैर्यपूर्वक दीर्घकाल तक एकबद्ध साधना करता चलता है।

समय को पहचानो

द

ददा देखहु बिनशनहारा। जस देखहु तस करहु विचारा॥
दशहूँ द्वारे तारी लावै। तब दयाल के दर्शन पावै॥ 18॥

शब्दार्थ—दशहूं द्वारे=पांच कर्मेंद्रियां तथा पांच ज्ञानेन्द्रियां। तारी=ध्यान, समाधि।

भावार्थ—द अक्षर के माध्यम से सद्‌गुरु उपदेश करते हैं कि विचार करके देखो, सब कुछ परिवर्तनशील है। अतएव जब जैसा उचित समझो, जिसमें जिस समय अपना तथा दूसरे का कल्याण देखो, वैसा विचार करो। जब साधक दसों इन्द्रियों को अपने वश में करके ध्यान एवं समाधि में लीन होता है, तब दयालु सद्‌गुरु के उपदेशरूप स्वरूपस्थिति के दर्शन एवं साक्षात्कार होता है॥ 18॥

व्याख्या—"ददा देखहु बिनशनहारा। जस देखहु तस करहु विचारा॥" यह पंक्ति बड़ी महत्त्वपूर्ण है। सद्‌गुरु कहते हैं कि संसार में देखो, सब कुछ विनशता है। परिवर्तन होना संसार का स्वभाव है। अतएव किसी बात में रूढ़िवादी बनकर तथा पुरानेपन की पूंछ पकड़कर जड़तापूर्वक बैठे न रहो। जो समय की नब्ज नहीं पहचानता और उसके साथ चलना नहीं जानता, वह पीछे छूट जाता है। अपने समय के पारखियों ने ही अपनी उन्नति की है और संसार को कुछ दिया है। जो अपने साथियों को नहीं समझ पाते, समाज को नहीं समझ पाते, समय के रुख को नहीं पहचान पाते, वे अपने व्यक्तिगत जीवन तथा लोकसंग्रह—दोनों में असफल होते हैं।

बहुत-सी रूढ़ियां और प्रथाएं बड़े काम की होती हैं। तार्किक से तार्किक के जीवन और सिद्धान्त में भी उपयोगी रूढ़ियां एवं प्रथाएं होती हैं। रूढ़ि एवं प्रथा के बिना संसार में कोई जीवन-दर्शन नहीं होता। सभी समाज एवं संप्रदाय के शिष्टाचार एवं अभिवादन की अपनी रूढ़ि एवं प्रथा होती है। उनके बहुत-सारे नियम रूढ़ होते हैं। भौतिकवादी राजनैतिक पार्टियों तक में झण्डे

तथा कई बातों में रूढ़ियां होती हैं। अतएव संसार में सब रूढ़िवादी होते हैं। परन्तु विवेकवान व्यक्ति, समाज एवं संप्रदाय यह देखते हैं कि किसी ऐसी रूढ़ि का पालन न होता रहे जिससे मानव के किसी पक्ष के अधिकार का हनन हो। वे ही रूढ़ियां एवं प्रथाएं कल्याणकारी हैं जिनसे किसी का अहित नहीं होता हो और कुछ या सर्वाधिक लोगों का हित होता हो।

सद्गुरु कहते हैं कि देश-काल के प्रवाह में जो रूढ़ियां एवं प्रथाएं अहितकर एवं अनुपयोगी हो गयी हों, उनका निर्भयता एवं निर्ममतापूर्वक त्याग होना चाहिए। जो अपने समय को न पहचानकर केवल रूढ़िवादी बना रहता है, वह सड़ जाता है। लोग उसका साथ छोड़ देते हैं। और जो अपने समय को पहचानता है, उसके विचार सदैव ताजे रहते हैं। वह समय के साथ चलता है। इसलिए परिवार, समाज, देश और लोक उसके साथ चलते हैं। अतएव वर्तमान में अपना तथा अन्य का जिस प्रकार कल्याण देखो, उस प्रकार विचार करो।

"दशहुँ द्वारे तारी लावै। तब दयाल के दर्शन पावै॥" यहां न तो दसों दरवाजों को बन्दकर वज्र आसन लगाना है और न भीतर या बाहर कहीं अलग से दयालु भगवान बैठा है जिसके दर्शन होंगे। वस्तुतः साधक को चाहिए कि वह अपने दसों इन्द्रियों को अपने वश में करे और ध्यान तथा समाधि के अभ्यास में लीन हो। जब ध्यान तथा समाधि की परिपक्वता हो जाती है तब दयालु के दर्शन होते हैं। दयालु सद्गुरु हैं, जो स्वरूपज्ञान देते हैं और रहनी की शिक्षा देते हैं। स्वरूपज्ञान की प्राप्ति एवं स्वरूपस्थिति ही सद्गुरु के सच्चे दर्शन हैं। सद्गुरु ने स्वयं कहा है—

जो तू चाहै मूझको, छाँड़ सकल की आस।
मुझ ही ऐसा होय रहो, सब सुख तेरे पास॥ (साखी-298)

ऊर्ध्वरेता बनो

ध

धधा अर्ध माहिं अँधियारी। अर्ध छोड़ि ऊर्ध मन तारी॥
अर्ध छोड़ि ऊर्ध मन लावै। आपा मेटि के प्रेम बढ़ावै॥ 19॥

शब्दार्थ—अर्ध=आधा, निचला, अधोमुख। ऊर्ध=ऊर्ध्व, ऊपर, ऊंचा, ऊर्ध्वमुख। तारी=ध्यान। आपा=अहंकार।

भावार्थ—ध अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि मन की अधोमुख वृत्ति में विषय-वासनाओं की अंधियारी है। अतएव साधक को

चाहिए कि वह मन की अधोमुखी गति छोड़कर उसे ऊर्ध्वगामी बनाये और ध्यान में लीन करे। सद्गुरु पुनः दोहराते हैं कि मन को नीची गति से हटाकर ऊंचे ले जावे और देहादिक अहंकार मिटाकर स्वरूपज्ञान और समाधि में प्रेम बढ़ावे॥ 19॥

व्याख्या—मन की दो गतियां होती हैं, निम्नगामी और ऊर्ध्वगामी। मन का इन्द्रियों के विषयों की तरफ बहना निम्नगामी गति है; और विषयों से हटकर स्वरूपज्ञान, स्वरूपचिंतन, आत्मचिंतन, ध्यान, समाधि में पहुंचना ऊर्ध्वगामी गति है। सद्गुरु कहते हैं कि अर्ध में अंधियारी है। अर्थात विषय-वासना अंधकारपूर्ण है। इसलिए मन को विषय-चिंतन से हटाकर आत्मचिंतन में लगाना चाहिए।

हम यदि शारीरिक दृष्टि से भी देखें, तो शरीर में कमर से लेकर नीचे अर्धभाग है, और उसके ऊपर ऊर्ध्वभाग है। कमर से नीचे अंधकारपूर्ण विषयस्थल है और ऊपर ज्ञान की इन्द्रियां हैं। नाभि, हृदय, कंठ, ब्रह्मांड उत्तरोत्तर ज्ञानमार्ग-गामी दिशा है। ब्रह्मांड में ही सभी मुख्य ज्ञान इन्द्रियां हैं—आंख, नाक, कान, जीभ तथा ज्ञान-भंडार मस्तिष्क। जब मन अर्धभाग में उतरता है तब अंधकारपूर्ण विषयों में डूबता है और जब ऊर्ध्वगामी होता है, तब ज्ञान-प्रकाश से आलोकित हो जाता है। विषय-सेवन अर्धरेता होना है तथा ब्रह्मचर्य-पालन ऊर्ध्वरेता होना है।

सद्गुरु कबीर यहां मुख्य दो बातें कहते हैं। वे पहली बात यह बताते हैं कि मन की निचली गति में, विषयों की तरफ जाने में व्यक्ति का अंधकार में प्रवेश होना है; और ऊपर उठने में, आत्मचिंतन एवं ध्यान में लगने में प्रकाशपुंज में पहुंचना है। इसलिए वे दूसरी बात यह कहते हैं कि तुम मन को नीची गति से हटाकर उसे आत्मचिंतन, ध्यान, समाधि आदि की तरफ ले जाओ; और देहाभिमान को नष्टकर स्वरूपस्थिति में प्रेम बढ़ाओ।

साधक की सबसे बड़ी कमजोरी है विषय-चिंतन। विषय-चिंतन साधक की आत्महत्या है, उसका घोर अन्धकार में प्रवेश करना है। जो साधक निरंतर विषय-चिंतन करने लगता है, वह गिर जाता है। जो स्थूल विषय में नहीं गिरता है, वह अधकचरा बना भीतर-भीतर सड़ता रहता है। इसलिए विषय-चिंतन का त्याग अत्यन्त आवश्यक है।

साधक को चाहिए कि वह अपने मन को किसी-न-किसी शुभ काम में लगाये रखे, तो स्वाभाविक उसे विषय-चिंतन नहीं होगा। कहावत है—'खाली दिमाग शैतान का घर'। अतएव सेवा, सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय,

सत्संग-निर्णय, ध्यान, समाधि-अभ्यास आदि में साधक को लगे रहना चाहिए।

"आपा मेटि के प्रेम बढ़ावै" बड़ा महत्त्वपूर्ण वाक्यांश है। आपा कहते हैं अपने स्वरूप को, सत्ता को; किन्तु इसका दूसरा अर्थ है अहंकार। यहां पर दूसरा अर्थ ही प्रयुक्त है। देहाभिमान नष्ट हुए बिना स्वरूपज्ञान, स्वरूपस्थिति, ध्यान, समाधि में प्रेम नहीं बढ़ सकता। अतः सद्गुरु कहते हैं कि देह तथा देह सम्बन्धी समस्त नाम-रूपों का अहंकार छोड़कर अपने शुद्ध चेतनस्वरूप में एवं ध्यान-समाधि द्वारा उसकी स्थिति प्राप्त करने में प्रेम बढ़ाओ।

देव के पशु मत बनो

न

चौथे वो ना महँ जाई। राम का गद्धा होय खरखाई॥ 20॥

शब्दार्थ—ना=न अक्षर, अहंकार। राम का गद्धा=ईश्वर का पशु, राम की गलत व्याख्या करने वाला।

भावार्थ—न अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि जब मनुष्य सकारात्मक अपने चेतनस्वरूप एवं आत्मदेव को भूलकर, नकारात्मक मन की अवधारणाओं को ही ईश्वर मानकर उसका अहंकार करता है, तब वह ईश्वर का पशु बनकर घास चरता है। अर्थात अपनी मूढ़ता का प्रदर्शन करता है॥ 20॥

व्याख्या—"चौथे वो ना महँ जाई" के दो ढंग से अर्थ किये जा सकते हैं। एक ढंग है कि त-वर्ग का चौथा वर्ण 'ध' है, और इस चौथे के बाद जब मनुष्य 'न' में जाता है, तब मानो वह निषेध में एवं शून्य में जाता है। जिस संसार में अपना एक तृण तथा एक कण भी नहीं है, वहां का अहंकार करना अज्ञान के सिवा कुछ नहीं है। इसी प्रकार अपने स्वरूप के अलावा जहां तक जो कुछ देव-गोसैयां मान रखा है, सब मन की कल्पना के अलावा कुछ नहीं है। अतएव इन कल्पित अवधारणाओं में अहंकार करना अल्पज्ञता एवं भ्रम है। अतएव अपने स्वरूप से भिन्न कुछ भी अपना लक्ष्य मानना ईश्वर का गधा बनकर घास चरना है।

दूसरा तरीका है, चतुष्टय अंतःकरण में मन, चित्त, बुद्धि के बाद चौथा अहंकार है। हम अपने चेतनस्वरूप के अलावा जहां भी अहंता-ममता करते हैं वह सब कुछ नकारात्मक है। उसमें कुछ भी मेरा नहीं है। अर्थ करने के ये दो तरीके हैं, किन्तु मूल अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। दोनों तरीकों में 'न' का अर्थ नकारात्मक, निषेधात्मक एवं निगेटिव है।

सद्‌गुरु कहना चाहते हैं कि आदमी अज्ञानवश नकारात्मक स्थिति में पहुंचता है। व्यक्ति का अपना चेतनस्वरूप एवं अपनी आत्मा तो सकारात्मक है; परन्तु अपने आप से पृथक देवी-देवता, ईश्वर-ब्रह्म जो कुछ माना जाता है, वह सब केवल मन की अवधारणा, मन की कल्पना होने से नकारात्मक ही है। ऐसी कल्पित तथा नकारात्मक वस्तुओं का अंहकार करना ईश्वर का गधा होकर घास चरना ही तो है!

"राम का गद्धा होय खर खाई।" बड़ा मार्मिक वचन है। यह जीव, यह चेतन, यह आत्मा ही परम देव है, राम है, ईश्वर है, ब्रह्म है, खुदा है, गॉड है। इस प्रकार जो चेतन देव, आत्म देव को न समझकर अपने से पृथक देव, राम, ईश्वर या ब्रह्म मानता है और उसके अहंकार में मतवाला रहता है, वह ईश्वर का पशु है। वह ईश्वर-ज्ञान के नाम पर लादी लादे एवं बोझा उठाये तो घूमता है, परन्तु ईश्वर-ज्ञान के नाम पर घास चर रहा है। 'घास चरना' मार्मिक मुहावरा है। इसका अर्थ ज्ञान का थोथापन है। कोई विद्यार्थी जब बहुत मेहनत के बाद भी अपना पाठ या विषय शुद्ध रूप से अपने अध्यापक को नहीं सुना पाता, तब अध्यापक कहता है 'क्या तुम घास चरते थे?' बड़े-बड़े तप तथा शास्त्र-अध्यन के बाद भी जब धार्मिक लोग ईश्वर को अपने से बाहर खोजते हैं, तब यथार्थवादी कबीर साहेब कह बैठते हैं कि ये ईश्वर के गधे हैं। ये ईश्वर-ज्ञान के नाम पर आज तक घास चर रहे हैं। क्योंकि ये सकारात्मक स्व-स्वरूप आत्मदेव को छोड़कर उसे नकारात्मक कल्पनाओं में खोज रहे हैं। श्रुति के ऋषि भी कहते हैं—"जो समझता है कि मैं अलग हूं और देव अलग है वह देवों का पशु है।"[1] तुलसीदास जी भी कहते हैं—

ज्यों बरदा बनिजार के, फिरे घनेरे देश।
खांड भरे भुस खाइहैं, बिन गुरु के उपदेश॥
कहत सकल घट राममय, तो खोजत केहि काज।
तुलसी कह यह कुमति सुनि, उर आवत अति लाज॥ तुलसी सतसई॥

"राम का गद्धा होय खर खाई" का अर्थ बहुत व्यापक है। यह केवल हिन्दुओं के राम का अभिप्राय नहीं है। अभिप्राय है सत्य। जो सत्य को अपनी

---

1. योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्।
(बृह.उ. 1/4/10)
जो यह मानकर कि देवता अन्य है और मैं अन्य हूं, अन्य देवता की उपासना करता है, वह देवताओं का पशु है।

आत्मा से अलग खोजता है, वह सत्य के ज्ञान के सम्बन्ध में केवल बोझा ढोता है और घास चरता है।

हर मत वाले धर्म-धर्म बहुत चिल्लाते हैं; किन्तु यदि वे धर्म के नाम पर भेदभाव, सांप्रदायिकता, हिंसा, घृणा आदि का व्यवहार करते हैं, तो वे धर्म को क्या खाक समझते हैं! वे तो धर्म के गधे हैं। वे धर्म के नाम का बोझा लादकर घूमते हैं। वे धर्म के नाम पर आज तक केवल घास चरते आये हैं। धर्म है सबके साथ करुणा और प्रेम का व्यवहार। इसे न करके जो उलटे हिंसा का व्यवहार करता है, वह धर्म का दुरुपयोग करता है।

धर्म के नाम पर हिंसा मत करो

प

पपा पाप करें सब कोई। पाप के करे धर्म नहिं होई॥
पपा कहै सुनहु रे भाई। हमरे से इन किछुवो न पाई॥ 21॥

शब्दार्थ—हमरे से=अहंकार से।

भावार्थ—प अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि धर्म के नाम पर लोग जीववध करके पाप ही करते हैं; और जीवहिंसारूपी पाप करने से धर्म नहीं होता। प अक्षर कहता है कि हे भाई! सुनो, संप्रदायों के अंहकारी एवं मताग्रही होने से ये लोग कुछ भी नहीं पा सकते॥ 22॥

व्याख्या—देवी-देवता के नाम पर बलि कहकर तथा अल्लाह के नाम पर कुर्बानी कहकर आज भी हिन्दू और मुसलमान जीवहत्या करते हैं। आये दिन धर्म के नाम पर सांप्रदायिकतावश मनुष्यों की हत्या भी करते हैं। आज से पांच सौ वर्ष पूर्व तो इन सब बातों का बोलबाला ही था। सद्गुरु कहते हैं कि जहां जीवहत्या है वहां धर्म कहां है! अल्लाह तब खुश होता है जब उसके नाम पर बकरे, मुरगे, भेड़ें, ऊंट, गाय, बैल काटे जायें। इधर हिन्दू के देवता तब खुश होते हैं जब भेड़ें, बकरे एवं भैंसे काटे जायें। यह ईश्वर और देवता के सम्बन्ध में कैसी जंगली समझ है! क्या आज का पढ़ा-लिखा आदमी जंगलीपन को छोड़ पाया है! क्या ईश्वर एवं देवी-देवताओं के नाम पर निरीह, मूक पशु-पक्षियों का वधकर इनसान अपनी शैतानियत का परिचय नहीं दे रहा है! निरपराध प्राणियों की हत्याकर अपना कल्याण सोचना क्या पागलपन नहीं है!

सद्गुरु कहते हैं कि जीवहत्या महा पाप है, और ऐसा पाप कर धर्म होने की बात सोचना अनुचित है।

सभी मतवादियों एवं मजहब वालों को अपने-अपने मत एवं मजहब का अहंकार है कि हमारे यहां जो माना और किया जाता है वह ईश्वर की आज्ञा है। सद्‌गुरु कहते हैं कि यह तुम्हारा मिथ्या अहंकार है। कोई ऐसा ईश्वर नहीं है जो जीवहत्या धर्म बताता हो और नाना मतवालों को परस्पर विरुद्ध आज्ञा देकर उन्हें आपस में लड़ाता हो। ईश्वर के विषय में मनुष्य केवल कल्पना करता है, न कि कोई ईश्वर नाना मतवालों के यहां अपनी विरोधी किताबें, आज्ञाएं एवं मतवाद भेजता है।

सद्‌गुरु कहते हैं कि ये नाना मतवादी जो ईश्वर की आड़ लेकर अपनी अनर्गल बातों को प्रामाणिकता का जामा पहनाकर सबके गले उतरवाना चाहते हैं, इस अहंकार में ये न अपना कल्याण कर पाते हैं और न समाज का। वस्तुतः सारे मत, मजहब, विचार, ग्रन्थ मनुष्यों के मन की उपज हैं। इसलिए इनमें त्रुटियां, भ्रम, अज्ञान होना भी संभव है। अतः अपनी बातों पर पुनः विचार करना तथा सदैव उन्हें शोधते रहना मानव का विवेक है।

हम हर बात पर जैसे कल सोचते थे, उनमें से कई बातों पर आज दूसरे ढंग से सोचते हैं और आज का सोचना सच लगता है; फिर सैकड़ों-हजारों वर्ष के पूर्व हमारे पूर्वज जिस ढंग से सोचते थे, उन सारी बातों में उसी तरह आज भी कैसे सोचा जा सकता है! इसलिए हर मत एवं मजहब वालों को तथा हर इनसान को विनम्र होना चाहिए और अपनी मानी हुई बातों पर ताजे ढंग से सोचना चाहिए। जो विवेक से सच लगे, जिसमें किसी को पीड़ा न हो, किन्तु अधिक से अधिक लोगों का हित हो, वही काम करना चाहिए। यही धर्म है। अहिंसा और प्रेम ही धर्म है। केवल मानव के प्रति ही नहीं, प्राणिमात्र के प्रति हमदर्द होना चाहिए।

मोक्ष तुम्हें खुद लेना पड़ेगा

फ

फफा फल लागे बड़ दूरी। चाखे सतगुरु देइ न तूरी॥
फफा कहै सुनहु रे भाई। स्वर्ग पताल की खबरि नपाई॥ 22॥

शब्दार्थ—फल=मोक्ष, कल्याण।

भावार्थ—फ अक्षर के माध्यम से सद्‌गुरु उपदेश करते हैं कि मोक्षरूपी फल बहुत दूरी पर लगा है। सद्‌गुरु उसे तोड़कर झट से मुमुक्षु के हाथों में दे नहीं सकते कि वह बिना परिश्रम तुरन्त उसका स्वाद चख ले। जो लोग यह मानते हैं कि शिष्य के परिश्रम किये बिना सद्‌गुरु उसे मोक्ष-फल दे देते

हैं, वे स्वर्ग-पाताल अर्थात स्वर्ग-नरक एवं बंध-मोक्ष का रहस्य नहीं जानते॥ 22॥

व्याख्या—यहां पर चार बातें बतायी गयी हैं, जिनमें तीन खुलकर हैं तथा एक उनमें अदृश्य होते हुए उसी पर सारा जोर है। पहली बात है "फल लागे बड़ दूरी।" अर्थात मोक्ष-फल दूर लगा है। यह कथन मोक्ष की दुर्लभता पर प्रकाश डालता है। जीवों की विषयों में अत्यन्त आसक्ति होने से यह बात सच है। जिनके हृदय में जितनी अधिक विषयासक्ति है उनके लिए मोक्ष उतना ही दूर है। विषयासक्ति पूर्णतया समाप्त हो जाये, तो मोक्ष जीव का स्वरूप ही है। अतएव विषयासक्ति के कारण ही मोक्ष की दुर्लभता बतायी गयी है।

दूसरी बात है "चाखे सद्गुरु देइ न तूरी" यदि शिष्य यथार्थ-ज्ञान की प्राप्ति तथा साधना में परिश्रम न करे, तो सद्गुरु मोक्षफल तोड़कर उसे दे नहीं सकते हैं कि शिष्य गप दे खा ले। बहुत-से लोगों में यह बड़ा भ्रम है कि गुरु जिस शिष्य पर कृपा कर देता है, उस पर अपना शक्तिपात कर देता है और उसे तुरन्त मुक्त कर देता है तथा उसे सारी योग्यताओं से सम्पन्न कर देता है। परन्तु सद्गुरु कबीर कहते हैं कि ये सारी बातें भ्रमपूर्ण हैं।

यह सच है कि ज्ञान, वैराग्य एवं दिव्य रहनी से सम्पन्न सद्गुरु के चरणों में जब निश्छल हृदय से शिष्य समर्पित हो जाता है, तब उसे गुरु की सारी बातों से बड़ा मिलता है। बिना आदर्श पाये कोई मनुष्य किसी दिशा में प्रायः उन्नति नहीं कर सकता। डॉक्टर, इंजीनियर, वकील तथा विद्वान बनने के लिए अच्छे डॉक्टर, इंजीनियर, वकील एवं विद्वान के आदर्श की आवश्यकता है, जिनकी दी हुई शिक्षा एवं आचरण से प्रेरणा लेकर जिज्ञासु उन दिशाओं में निष्णात हो। यह सब होते हुए भी जिज्ञासु को स्वयं परिश्रम तो करना ही पड़ेगा। इसी प्रकार यथार्थ ज्ञान और दिव्य रहनी से सम्पन्न सद्गुरु की शरण, और उनके उच्च आदर्श मुमुक्षु में प्राण फूंकने वाले हैं; किन्तु उसे स्वयं सेवा, स्वाध्याय, सत्संग, निर्णय, ध्यान, समाधि आदि के अभ्यास में परिश्रम करना ही पड़ेगा। यही तीसरी बात है जो मूल पद में गुप्त होते हुए भी सर्वाधिक उद्घाटित और जोरदार है। "चाखे सतगुरु देइ न तूरी" इस वाक्यांश में शिष्य एवं साधक के परिश्रम की उपयोगिता की पूर्ण अभिव्यंजना है।

चौथी बात है "स्वर्ग पताल की खबरि न पाई।" अर्थात जो लोग यह मानते हैं कि शिष्य के परिश्रम किये बिना सद्गुरु उसे मोक्ष फल दे सकते हैं, कबीर साहेब कहते हैं कि वे लोग स्वर्ग और नरक क्या है, मोक्ष और बंधन

क्या है, इस रहस्य से अनभिज्ञ हैं। यहां अभिप्राय इतना ही है कि वे मोक्ष की वास्तविकता नहीं समझते।

मोक्ष कोई ऐसा फल नहीं है जिसे सद्‌गुरु तोड़कर शिष्य के मुख में डाल सके। वस्तुतः हर मनुष्य के मन में विषयों की आसक्ति है। यही राग-द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोहादि सारे विकारों का कारण है और यही जीव का बंधन है। विवेक द्वारा इसे तोड़ना जीव का ही काम है। इस काम में सहयोगी सद्‌गुरु और संतजन हैं। उनसे ज्ञान और युक्ति सीखी जाती है। सद्‌गुरु और संतों के निर्बन्ध जीवन से भी साधक को प्रेरणा का बल मिलता है। यही सब गुरु-संतों का सहयोग है। परन्तु सहयोग लेकर काम करना पड़ेगा स्वयं साधक को ही। इस बात को नहीं भूलना चाहिए।

जो धूर्त गुरु सहज में मुक्ति बांटते घूमते हैं और जो मूर्ख चेले ऐसे झांसे में पड़ते हैं, वे दोनों इन बातों पर ध्यान दें, और शुद्ध साधक सावधान हों।

अधिक वक्तव्य नहीं, आचरण चाहिए

ब

बबा बरबर करें सब कोई। बरबर करे काज नहिं होई॥
बबा बात कहै अर्थाई। फल का मर्म न जानहु भाई॥ 23॥

शब्दार्थ—बरबर=बड़बड़ाहट, बहुत बात करना।

भावार्थ—ब अक्षर के माध्यम से सद्‌गुरु उपदेश करते हैं कि सब लोग बड़ी लम्बी-चौड़ी बातें करते हैं, परन्तु बहुत बड़बड़ाने से लक्ष्य नहीं मिलता। विद्वान लोग बात तो बहुत अर्थपूर्वक करते हैं, परन्तु हे भाई! इनकी बातों के फल का रहस्य तुम नहीं जानते हो॥ 23॥

व्याख्या—कुछ लोग अपने-अपने मतों का हठ लेकर बड़बड़ाते रहते हैं। कुछ लोग अपना ज्ञान एवं विद्वता दिखाने के लिए बहुत बातें करते रहते हैं। कुछ लोग बदले में मान-बड़ाई एवं धन-ऐश्वर्य पाने के लिए ज्ञान की झड़ी लगाते रहते हैं। कुछ लोग तो इतने भावनाग्रस्त हो जाते हैं कि उनको लगता है कि उनको छोड़कर सारा संसार गलत काम कर रहा है और शीघ्र ही गड्ढे में जाना चाहता है। इसलिए वे मिले हुए मनुष्यों को तो क्या, हवा के सामने भी उपदेश झाड़ते घूमते हैं। ऐसे लोग पात्र और अपात्र की पहचान ही क्यों करने लगे! वे तो 'बदो तो पंच, न बदो तो पंच' बने सबके सामने ज्ञान बघारते घूमते हैं।

जब प्रवचन के मंचों पर संचालक के पास लोग अपनी चिट्ठियां भेजते हैं कि हमें भी दस मिनट बोलने का अवसर दिया जाये, तब वे अपने आप को कितना हास्यास्पद बनाते हैं, यह बताने की आवश्यकता नहीं। उनमें ऐसा भी अपवाद हो सकता है कि कोई समझदार व्यक्ति समाज के लिए कोई आवश्यक बातें बताना चाहता हो, जिनकी तरफ लोगों का ध्यान नहीं जा रहा हो; परन्तु उनमें अधिकतम लोग या अधिक समयों में सबके सब अपना छिछलापन ही जाहिर करते हैं। यह तो समाज के लोगों को, मंचासीनों एवं संचालक को चिन्ता होनी चाहिए कि वे आपसे आग्रह करें कि आप अपनी अमृतवाणी से जनता को आप्लावित करें। यदि आपकी उच्च योग्यता पर किसी कारणवश लोग नहीं ध्यान दे रहे हैं, तो आपका क्या बिगड़ता है! आप क्यों इस भ्रम में हैं कि जब आप मंच पर बोल देंगे, तो वहां की पूरी जनता काग से हंस हो जायेगी। कई जगह तो प्रवचन करने के पिपासु लोग संचालक को केवल चिट्ठी ही नहीं देते, किन्तु इसके लिए लड़ाई-झगड़ा भी करते हैं। न अवसर पाने पर पीछे से गाली-गलौज भी लिखकर भेजते हैं।

जहां पर प्रवक्ताओं को समय का प्रतिबन्ध रहता है कि उन्हें इतने ही मिनट बोलना है, वहां पर कम ही प्रवक्ता होते हैं, जो अपने समय के भीतर अपने वक्तव्य समाप्त कर दें। वे अधिक से अधिक समय खींचना चाहते हैं और जब उन्हें विवश होकर बैठता पड़ता है, तब उनमें कई लोग यह कहते पाये जाते हैं "सज्जनो, क्या करूँ, बातें तो बहुत बतानी थीं, परन्तु मेरा समय जवाब दे रहा है। मैं विवश हूं।" यह सब कहकर वे अपनी इज्जत और घटा लेते हैं।

हमारा ज्ञान छलककर इधर-उधर बहना नहीं चाहिए, किन्तु हमें उसको अपने जीवन में पचाना चाहिए। जो व्यक्ति अपने ज्ञान को अपने जीवन में आचरण करने लगता है, वह प्रवचन देने के लिए लालायित नहीं रहता। अवसर पड़ने पर लोग जब उससे कुछ सुनना चाहते हैं, तब वह उनके सामने कुछ बोल देता है, परन्तु उसके मन में बोलने की खलबली नहीं रहती।

सद्गुरु कहते हैं बहुत बड़बड़ाने से कल्याण, शांति एवं स्वरूपस्थिति नहीं मिल सकती। स्वरूपस्थिति तो मिलती है ज्ञान का आचरण करने से।

"बबा बात कहै अर्थाई" मार्मिक वचन है। सद्गुरु कहते हैं कि कितने ही विद्वान बहुत अर्थपूर्ण बातें करते हैं; परन्तु उनकी बातों का फल होता है केवल वाक्य-विलास या बदले में कुछ पाने की इच्छा। भले ही वह स्थूल पदार्थ हो या केवल मान-सम्मान। तो ऐसी अर्थपूर्ण बातें किस काम कीं!

बातें निचोड़कर कहना, परन्तु उनके आचरण की छाया भी न छूना, यह तो भोग का ही कारण हो सकता है या अपने दोषों को ढांकने का साधन, कल्याण का साधन नहीं।

सद्गुरु इस सन्दर्भ में एक मुख्य बात बताना चाहते हैं कि बकबक करना छोड़कर, आचरण करना सीखें।

भ्रम से जागो

भ

भभा भभरि रहा भरपूरी। भभरे ते है नियरे दूरी॥
भभा कहै सुनहु रे भाई। भभरे आवै भभरे जाई॥ 24॥

शब्दार्थ—भभरि=भयभीत। भभरे=भयभीत होने या भ्रमने।

भावार्थ—भ अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि मनुष्य के जीवन में भय और भ्रम परिपूर्ण हो रहे हैं, इसलिए यह भयभीत है। भय और भ्रम के कारण निकट रहा हुआ शांतिपद दूर हो गया है। भ अक्षर कहता है कि हे भाई! सुनो, जीव भय और भ्रम में पड़े हुए जन्म-मरण के चक्कर काटते हैं॥ 24॥

व्याख्या—भय और भ्रम सब के मन में परिपूर्ण हो रहे हैं। ड अक्षर के प्रकरण में भय पर काफी विचार किया गया है। यहां केवल भ्रम पर विचार कर लें। वस्तु-स्थिति कुछ हो तथा प्रतीत कुछ दूसरा हो, इसे भ्रम कहते हैं। शरीर हाड़-मांस का ढांचा है। थोड़ा और विचार करें तो मिट्टी का पिंड है। थोड़ा और विचार करें, तो इलेक्ट्रान एवं सूक्ष्म कणों का प्रवाह है। परन्तु अविद्यावश बड़ा रमणीक प्रतीत होता है। यह भ्रम नहीं तो क्या है! काम-वासना एवं मैथुन-क्रिया के पीछे क्षीणता, मलिनता, परतन्त्रता तथा पराधीनता के अतिरिक्त क्या है; भ्रमवश वह सब सुखों का मूल लगता है। क्रोध का परिणाम सब जानते हैं कि दुख है। हर क्रोध के पीछे आदमी पश्चाताप करता है। किन्तु जब क्रोध आता है और आदमी क्रोधवश किसी को गाली और मार देने चलता है, तब उसे यही लगता है कि गाली-मार देने पर ही सफलता मिलेगी। यदि उसे कोई बीच में रोकने लगे, तो क्रोधी आदमी उसी को शत्रु मानकर उस पर टूट पड़ना चाहेगा। लोभवश आदमी जब अनैतिक काम करने लगता है, तब उसे वह अच्छा लगता है; किन्तु अनैतिक काम सदैव आत्मा को सालता है।

मनुष्य जिन्दगी भर यह भ्रम पालता है कि संसार के प्राणी-पदार्थों से हमें स्थायी सुख मिलेगा। परन्तु वह इतना-सा नहीं सोच पाता कि जिन्दगी का जितना हिस्सा बीत गया है, उसमें संसार के प्राणी-पदार्थों से कितना स्थायी सुख मिला है!

सीपी में चांदी का भ्रम होता है, रस्सी में सांप का भ्रम होता है, मृग को जेठ की धूप की लहरियों में पानी का भ्रम होता है। इसी प्रकार हमें संसार के विषयों में सुख का भ्रम होता है। हम उसके लिए दौड़ते रहते हैं और अन्त में थककर हारते हैं।

मनुष्यों ने भ्रमों का बहुत बड़ा जाल बना रखा है। भूत-प्रेत का भ्रम, देवी-देवता का भ्रम, कर्ता-धर्ता का भ्रम, जगत का ब्रह्म होने का भ्रम, ग्रह-लग्न, मुहूर्त, दिशाशूल, अंग फड़कने आदि का भ्रम। जीव को अविद्यावश बहुत-बहुत भ्रम है। और इन सब भ्रमों के कारण वह निरंतर भयभीत है। इस भ्रम और भय के कारण उसकी शांति-स्थिति मूलतः निकट होते हुए, अर्थात उसका स्वरूप ही होते हुए, दूर हो गयी है।

मिथ्या भय और भ्रम के कारण ही जीव सदैव वासनाग्रसित है और इसी धुआंधार में पड़ा हुआ जन्म-मरण के चक्कर में घूम रहा है। मनुष्य के जीवन में तब तक शांति नहीं मिल सकती, जब तक उसे सच्चे सद्गुरु नहीं मिलते और वह सद्गुरु के निर्णय-वचनों द्वारा सारासार परखकर सत्य पारख स्वरूप की स्थिति नहीं करता।

सारे भय और भ्रम मन के कल्पित हैं। सद्गुरु-सत्संग में जब जड़-चेतन का ठीक बोध हो जाता है, और पवित्र रहनी धारण करने लगता है, तब उसके भय और भ्रम समाप्त हो जाते हैं और तब जीव परम शांति की प्राप्ति करता है।

माया-मोह को जीतो

म

ममा के सेये मर्म नहिं पाई। हमरे से इन मूल गँमाई॥
माया मोह रहा जग पूरी। माया मोहहि लखहु बिचारी॥ 25॥

शब्दार्थ—ममा=माया। हमरे से=हम-हम करने से, अहंकार करने से।

भावार्थ—म अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि माया का सेवन करने से मनुष्य का विवेक सो जाता है, इसलिए वह सत्य और असत्य का मर्म नहीं समझ पाता। सांसारिक वस्तुओं का अहंकार करने से मनुष्य

अपनी वास्तविकता को भूल जाता है। संसारियों के मन में माया का मोह परिपूर्ण हो रहा है। इसलिए विवेक द्वारा माया-मोह की परीक्षा करो॥ 25॥

व्याख्या—उक्त पंक्तियों में चार बातें बतायी गयी हैं—(1) माया में आसक्त रहने वाला वास्तविकता नहीं समझ सकता; (2) माया का अहंकारी आदमी अपनी सच्चाई खो देता है; (3) सब के मन में माया का मोह भरा है; अतएव (4) माया-मोह की विवेकपूर्वक परीक्षा करो। चारों बातें बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। हम इन चारों पर विचार करें।

"ममा के सेये मर्म नहिं पाई" बड़ा तलस्पर्शी वचन है। जो जितना ही माया का सेवन करेगा वह उतना ही मूढ़ बनेगा। माया के सेवन का अर्थ है संसार के रागरंग में डूबना। विषयों के सेवन एवं संसार के रागरंग में डूबने से विवेक सो जाता है और जिसका विवेक ही सो गया हो, वह सत्य और असत्य के मर्म को नहीं समझ सकता। मन तो एक है। जब मन में दुनिया का रागरंग रहेगा, तब विवेक कैसे जगेगा और विवेक जगे बिना सार और असार की परख कैसे होगी! अतएव जो जीवन का मर्म जानना चाहे, वह रागरंग छोड़े।

"हमरे से इन मूल गँमाई" दूसरी बात है। 'हमरे से' का तात्पर्य है हम-हम करके, अर्थात शरीर और शरीर के नाम, रूप, वर्ण, आश्रम आदि को अपना ही रूप मानकर उनमें अहंकार करने वाला व्यक्ति अपना मूल खो देता है। हर व्यक्ति का अपना मूल स्वरूप है चेतन। मैं शरीर नहीं हूं। शरीर न होने से उसके नाम-रूप मेरे नहीं हैं। जो 'मैं नहीं हूं' उसको 'मैं' मान लेने से, अपना मौलिक 'मैं' विस्मृत हो जाता है। मैं शरीर हूं ऐसा अहंभाव आते ही, मैं शुद्ध चेतन हूं यह भाव खो जाता है। अतएव शरीराभिमान रखकर अपने मूल स्वरूप एवं चेतनस्वरूप का बोध नहीं हो सकता और न स्वरूपस्थिति हो सकती है। इसलिए जिसे अपनी मौलिकता में रहना हो, जो अपने मूल स्वरूप में स्थित रहना चाहता हो, जो अनन्त सुख का रूप है, वह सदैव देहाभिमान का तिरस्कार रखे।

तीसरी बात है "माया मोह रहा जग पूरी" संसार में सर्वत्र माया-मोह का ही पसारा है। संसार में देखो, तो हर आदमी मोह-मूढ़ है। केवल मात्रा का अन्तर है। कोई इतने प्रतिशत मूढ़ है और कोई उतने प्रतिशत। किन्तु विद्वान-अविद्वान, धनी-गरीब, उच्च वर्ग-निम्न वर्ग जहां तक देखो, सब माया में मूढ़ हैं। हां, कुछ सुज्ञ जीव इससे जागते हैं और कुछ जागने के उपक्रम में रहते हैं।

अतएव सद्गुरु चौथी बात में हमें आज्ञा देते हैं "माया मोहहि लखहु बिचारी।" अर्थात विवेकपूर्वक माया-मोह को देखो कि वह क्या है! जब हमारे हृदय में विचार एवं विवेक की जागृति होती है और जब हम विवेकप्रवण दृष्टि माया-मोह पर डालते हैं, तब माया-मोह खो जाता है। माया-मोह तो अंधकार मात्र है। अर्थात संसार के प्राणी-पदार्थों के प्रति जो हमारे मन में मोह होता है, वही तो माया-मोह है। वह अंधकार मात्र है। विवेक-सूर्य के उदित होने पर उसका कहां अस्तित्व!

विवेक न होने से ही संसार के प्राणी-पदार्थों में मोह होता है। विवेक उदित होने पर मोह समाप्त हो जाता है। सद्गुरु अंतिम बात यही कहते हैं कि तुम विचारपूर्वक माया-मोह को देखो तो पाओगे वह खो गया है। सबसे अनासक्त होना ही असंगता है और यही अपने मौलिक स्वरूप में निवास है।

मन से संसार निकाल दो

य

यया जगत रहा भरपूरी। जगतहु ते है जाना दूरी॥
यया कहै सुनहु रे भाई। हमहीं ते इन जै जै पाई॥ 26॥

शब्दार्थ—हमहीं ते= अहंकार से। जै जै= कल्याण।

भावार्थ—य अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि हे मानव! तुम्हारे मन में जगत की आसक्ति ठूंस-ठूंसकर भरी है, परन्तु यह समझ लो कि संसार को छोड़कर तुम्हें दूर जाना है। य अक्षर कहता है कि हे भाई! सुनो, इन संसारियों को यही भ्रम है कि संसार के प्राणी-पदार्थों को हमारे-हमारे करने में ही अपना कल्याण है। अर्थात ये संसारी संसार की अहंता-ममता में ही अपना कल्याण समझते हैं॥ 26॥

व्याख्या—"यया जगत रहा भरपूरी" मार्मिक वाक्यांश है। मनुष्य के मन के बाहर-भीतर संसार निरन्तर धू-धू करके गुजरता है। यह मनुष्य संसार के प्राणी-पदार्थों में कहीं राग करके जलता है तो कहीं द्वेष करके जलता है। सांसारिकता में रात-दिन जलते रहना मानो मनुष्य ने भ्रमवश अपनी नियति मान ली है। संसार के प्राणी-पदार्थों में आसक्त होकर आदमी पाप पर पाप करता है। उसको यह होश भी नहीं होता कि यहां से जाना है। परन्तु सद्गुरु चेतावनी देते हैं—"जगतहु ते है जाना दूरी।" हे मानव! तू जिस संसार में आसक्त है, उसे छोड़कर सदा के लिए तुम्हें दूर चला जाना है। भले ही इस

जीव का जन्म आज के घर के आस-पास या उसी घर में ही हो, परन्तु पूर्व की याद एकदम भूल जाने से, उससे बहुत दूर ही हो जाता है।

हम जो कुछ अपना मान रखे हैं, आज-कल में इन्हें सदैव के लिए छोड़ना है। यह बात यदि हम ध्यान में रख सकें, तो निश्चित ही जाग्रत रहेंगे। सद्गुरु साखीग्रन्थ में कहते हैं—

जाको जाना उत घरा, सो क्यों जोरे मित्त।
जैसे पर घर पाहुना, रहे उठाये चित्त॥

"हमहीं ते इन जै जै पाई।" इस सन्दर्भ का यह अन्तिम अंश है जो व्यंग्यात्मक है। सद्गुरु कहते हैं कि इन संसारियों को यह भ्रम है कि संसार में हम-हम करते रहने से ही कल्याण है। मोही मनुष्य संसार की अहंता-ममता में आकंठ डूबकर अपना कल्याण समझता है।

विमोहित मानव को यह होश नहीं रहता कि जवानी, युवती पत्नी, बच्चे, धन, मान-प्रतिष्ठा सब क्षणभंगुर तथा क्षण-क्षण बदलने एवं बिछुड़ने वाले हैं। ये तो वैसे हैं कि 'चार दिनों की चांदनी, फेरि अन्धेरी रात'। इन क्षणभंगुर पदार्थों की अहंता-ममता करने से इनकी वासनाएं मन में भर जाती हैं, परन्तु ये वस्तुएं अपने पास नहीं रह जातीं। प्राप्त हुए सारे प्राणी-पदार्थों का धीरे-धीरे वियोग तथा बदलाव होता रहता है। संसार के सारे प्राणी-पदार्थ एक-एक कर हमसे हटते जाते हैं और हम अन्ततः अकेले रह जाते हैं। मन की वासनाएं तो छूटती नहीं, केवल संसार के प्राणी-पदार्थ छूटते हैं। इसलिए हम पुनः वासनाओं में बंधकर संसार का चक्कर काटते हैं।

अतएव विवेकवान का कर्तव्य है कि वह यह समझे कि जिस संसार से हमें आजकल में अलग होना ही है, उसकी अहंता-ममता एवं वासना हम आज ही से छोड़ दें। अन्त में अकेला होना है, तो हम आज ही से अपने को अकेला समझकर सबसे अनासक्त एवं असंग हो जायें। यही परम शांति का पथ है। यह स्थिति ही अपनी मौलिकता है। यह समझ लो "जगतहु ते है जाना दूरी।" इस संसार को छोड़ देना है। इसलिए इसकी वासना, इसका राग, मोह पहले छोड़ दो, तो तुम अमृतत्व पा जाओगे। वासनाहीन जीवन ही तो अमृत जीवन है। वासना से हमारे सामने संसार मौजूद रहता है और वासना त्याग देने से हमारे सामने स्वरूपस्थिति मौजूद रहती है। एक तरफ जगत है, दूसरी तरफ अपनी आत्मा। जगत को पीठ देने पर ही आत्मस्थिति एवं स्वरूपस्थिति हो सकती है।

स्वरूप-राम में रमो

र

ररा रारि रहा अरुझाई। राम के कहै दुख दारिद्र जाई॥
ररा कहै सुनहु रे भाई। सतगुरु पूँछि के सेवहु आई॥ 27॥

शब्दार्थ—रारि= झगड़ा।

भावार्थ—संसार में यह झगड़ा उलझा हुआ है कि राम-राम कहने से सब दुख-दरिद्रता मिट जाती है। परन्तु र अक्षर कहता है कि हे भाई! सद्गुरु से पूछकर राम का सेवन करो, तब कल्याण होगा॥ 27॥

व्याख्या—वेदों तथा वैदिक साहित्य में राम-नाम जप की बात कहीं नहीं है। वैदिक छह शास्त्रों में भी नहीं है। यहां तक कि श्रीराम के सम्बन्ध में बना प्रथम महाकाव्य वाल्मीकि रामायण में भी राम-नाम जप का कोई विधान एवं निर्देश नहीं है। राम-कथा[1] पहले नरकथा के रूप में बनी, पीछे श्रीराम आदि चारों भाइयों को विष्णु के अंशावतार के रूप में चित्रित किया गया। उसके बाद श्रीराम को परब्रह्म मानकर रामकथाएं बनीं और श्रीराम के नाम का जप एवं कथा-कीर्तन करके मोक्ष की अवधारणा की गयी। फिर तो राम-नाम जप की महिमा बहुत बढ़ायी गयी और कहा गया कि जीवन में इतना पाप किया नहीं जा सकता, जितना पाप एक बार के राम कहने से भस्म हो सकता है। राम का नाम लेते ही संसार-सागर के सूख जाने की गारंटी दी गयी। इस भ्रम में पड़कर लोग विवेक-विचार छोड़कर केवल राम-नाम के रट्टू सुग्गा होने लगे। फिर तो कितने ही लोग पाप की भी चिंता छोड़ दिये; क्योंकि उन्हें राम-नाम जप में इतने बल का भ्रम हो गया कि वे जो कुछ पाप करेंगे, राम का नाम लेते ही सब कपूर की तरह उड़ जायेगा। यहां तक लोग मानने लगे कि राम-राम कहने से शरीर की बीमारी, दरिद्रता, बांझपन आदि सब दूर हो जायेंगे और समस्त ऋद्धि-सिद्धि मिल जायेगी। इस प्रकार इस झगड़े में लोग उलझ गये।

कबीर साहेब कहते हैं कि आंख मूंदकर राम-राम कहने मात्र से कल्याण नहीं होगा। पहले किसी सच्चे सद्गुरु के पास जाकर पूछो कि राम क्या है और उसका सेवन कैसे करना चाहिए, तो सद्गुरु बताएगा।

---

1. ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में वाल्मीकि रामायण का संक्षिप्त रूप बना, उसमें रामकथा नरकथा के रूप में थी। उसके सौ वर्ष बाद उसमें बालकांड तथा उत्तरकांड प्रक्षिप्त करके श्रीराम चारों भाइयों के लिए विष्णु का अंशावतार की बात की गयी है। ईसा की तेरहवीं शताब्दी तक अध्यात्म रामायण बनी, जिसमें श्रीराम को परब्रह्म माना गया। उसके बाद सोलहवीं शताब्दी में गोस्वामी तुलसीदास ने मानस बनाकर उसमें श्रीराम को ब्रह्म का सर्वोच्च रूप दिया।

बीजक में यह स्पष्ट है कि कबीर साहेब का उपासनीय राम दशरथ-पुत्र नहीं है, किन्तु हृदय-निवासी चेतन है। क्योंकि यही सार्वभौमिक सिद्धान्त हो सकता है। कबीर साहेब के सारे सिद्धान्त सार्वभौमिक हैं। जाति, धर्म, अध्यात्म सबमें उनका दृष्टिकोण सार्वभौमिक है। अतएव उनका निर्देश है "हृदया बसे तेहि राम न जाना।"

राम, शिव, हरि, ब्रह्म, खुदा, गॉड, सतनाम, गुरुनाम आदि कोई नाम हो; इनमें कोई बड़ा-छोटा नहीं है। इनमें जिसको जिस नाम में श्रद्धा हो, जप सकता है। किसी पवित्र अवधारित नाम के जप से मन में सात्त्विकता एवं कुछ एकाग्रता आती है। परन्तु यही सर्वोच्च साधन नहीं है। यह तो रोते हुए बच्चे के मुँह में काठ का चटुवा देना है। उससे वह थोड़ा चुप हो जायेगा। परन्तु उसे मां के सच्चे दूध की आवश्यकता है। इसी प्रकार साधक को स्वरूप का बोध चाहिए। अपना चेतनस्वरूप ही अपना परम निधान है। उसके लिए ही राम, हरि, ब्रह्म आदि शब्द प्रयुक्त किये जा सकते हैं। अपने स्वरूप के अलावा यदि चेतन है तो सजाति है। यदि जड़ है, तो विजाति है। अपने चेतन स्वरूप के अलावा अपना लक्ष्य कहीं नहीं है। मेरी अपनी आत्मा ही राम है। वही पारखस्वरूप शुद्ध चेतन है। राम-राम कहने की आवश्यकता नहीं, किन्तु विषय-वासनाओं एवं विकारों को त्यागकर अपने चेतनरूप राम में रमने की आवश्यकता है। मन से विषय-विकार हट जाने पर उसमें चेतन का ही बोध रह जाता है। इस बोध में स्थित होना ही राम का सेवन है, राम में रमना है।

संदेहशील व्यक्ति साफ नहीं बोल सकता

ल

लला तुतुरे बात जनाई। तुतुरे आय तुतुरे परिचाई॥
आप तुतुरे और की कहई। एकै खेत दूनों निर्बहई॥ 28॥

शब्दार्थ—तुतुरे=तुतलाने वाला, साफ न कहने वाला, अबोधी गुरु। आय=होना, आना। परिचाई=परिचय देना, ज्ञान देना। खेत=क्षेत्र, स्थान।

भावार्थ—ल अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि अबोधी गुरु शिष्यों को लल्ला, बच्चा आदि प्यार भरे वचन भले कहें, परन्तु वे उलझी हुई बातें बताते हैं। क्योंकि वे हृदय से ही उलझे एवं अबोधग्रस्त हैं, इसलिए उलझी हुई बातों से धर्म तथा अध्यात्म का परिचय भी देते हैं। वे स्वयं अबोधी होने से बात तुतलाकर कहते हैं। अर्थात उलझी हुई चर्चा करते हैं। ये

लोग एक ही अध्यात्मबोध एवं अध्यात्मसाधना में जड़-चेतन, भोग-योग, पाप-पुण्य मिलाकर सबका निर्वाह कर लेते हैं। अर्थात इनके यहां सब धान साढ़े बाइस पसेरी है। कोई निर्णय नहीं है॥ 28 ॥

व्याख्या—संसार में ऐसे अधिकतम गुरु हैं जिनके हृदय में सत्य और असत्य का निर्णय नहीं है। उन्हें वास्तविकता का बोध नहीं है। जिसके भीतर स्पष्ट बोध ही नहीं है, वह दूसरे को सही रास्ता कैसे बतायेगा! ऐसे गुरुओं को सद्गुरु ने 'तुतुरे' कहा है। इसका अर्थ होता है तुतलाने वाला। जो व्यक्ति तुतलाकर बोलता है, उसकी बात साफ नहीं रहती। किसी-किसी में जो स्वाभाविक ढंग से तुतलाहट रहती है, वह कोई शारीरिक कमी है। परन्तु यहाँ सद्गुरु उसे तुतलाने वाला कहते हैं जो अबोधग्रस्त होने से बात खुलासा नहीं कर पाता। जिसका हृदय ही भ्रम से पूर्ण है, वह बात साफ कैसे करेगा!

एक पूर्व परिचित संस्कृत भाषा के विद्वान पंडित मिलने आये। मैंने उनसे पूछा—'कुछ भजन-साधन चलता है?' उन्होंने कहा—'दूसरा तो कुछ है नहीं, सब एक ही ब्रह्मतत्त्व है। फिर किसका भजन-साधन करें! तत्त्व एक ही होने से ग्रहण-त्याग भी संभव नहीं। क्या छोड़ें, क्या ग्रहण करें, जब अंततः सब कुछ ब्रह्म ही है।'

मैंने कहा—'पंडित जी! आपके सामने पत्थर पड़े हैं, मनुष्य भी हैं। उधर टट्टी पड़ी है। इधर सब्जी का गट्ठा रखा है। क्या ये सब अलग-अलग नहीं हैं? क्या टट्टी और रोटी में भेद नहीं है? क्या जड़ और चेतन एक ही है? क्या पत्नी, पुत्री और मां का भेद नहीं है? भोग और त्याग में क्या अन्तर नहीं है?'

पंडित जी ने कहा—'भेद अवश्य है। शास्त्रों में जड़ और चेतन को सर्वथा अलग-अलग भी कहा गया है। सांख्य, न्याय, वैशेषिक, योग, मीमांसा—ये सभी शास्त्र जड़ तथा चेतन को सर्वथा भिन्न बताते हैं।

मैंने कहा—'तो फिर आप अपने लिए तथा अपने श्रोताओं एवं शिष्यों के लिए क्या निर्णय कर रहे हैं?'

पंडित जी ने कहा—'महाराज! क्या मानूं क्या न मानूं, सभी शास्त्रों के रचयिता आप्तपुरुष हैं। मैं कुछ निर्णय नहीं कर पाता हूं। कभी किसी शास्त्र की बातें कह देता हूं और कभी किसी शास्त्र की। जीवन में त्याग कठिन है। इसलिए वेदांत की बातें ज्यादा अच्छी लगती हैं।'

वेदांत के ग्रन्थों में बताया है कि सत्ता केवल एक ब्रह्म की है। उसके अलावा जगत, जीव, ईश्वर आदि कुछ नहीं है। एक शुद्ध ब्रह्म की सत्ता होने

से विषय-भोग भी ब्रह्म से अलग नहीं है। विषयों में सुख नहीं है। सुखस्वरूप केवल ब्रह्म है। यदि विषय-भोग में सुख लगता है तो वह विषय का नहीं ब्रह्म का है। अतः जीवन में जो कुछ भोग-त्याग है, सब ब्रह्म में ही रमण है। 'कृष्ण भोगी थे, शुकदेव त्यागी थे, जनक एवं श्रीराम राजा थे और वसिष्ठ कर्मकर्ता थे, परन्तु ये सब समान ज्ञानी थे।'[1] यद्यपि दूसरे शास्त्रों में इसका खंडन है। जड़-चेतन सर्वथा भिन्न माना गया है। आत्मस्थिति के लिए सत्य, तप, सम्यक ज्ञान, नित्य का अखंड ब्रह्मचर्य तथा सभी दोषों का त्याग बताया गया है।[2] इसलिए मन में कुछ साफ निर्णय तो नहीं कर पाते, परन्तु जड़-चेतन तथा भोग-त्याग में अंतर न मानने से आधुनिक वेदांत सरल दिखता है।

एक भक्त मिले। मैंने उनसे पूछा—"कहो भाई! कुछ साधन-भजन चलता है?"

उन्होंने कहा—"हम क्या कर सकते हैं! प्रभु जो चाहता है, वही होता है। 'बोले बिहंसि महेस पुनि, ज्ञानी मूढ़ न कोय। जेहि क्षण रघुपति जस करें, तेहि क्षण तइसन होय॥' हम तो कठपुतली हैं, ईश्वर सूत्रधार है। वह जिधर चलाता है, उधर हमें चलना है।"

मैंने कहा—'तो संसार में पुण्य के साथ जितने डाके, हत्याएं, आगजनी, कालाबाजारी, व्यभिचार, मिलावटबाजी, घूसखोरी आदि अत्याचार होते हैं सब ईश्वर ही करवाता है? दरिद्रता, रोग, प्रिय-वियोग, अप्रिय-संयोग, नाना विपत्ति आदि जीवों के ऊपर जो आते हैं, सब ईश्वर ही उनके ऊपर ढाता है?'

भक्त जी ने कहा—"कर्म प्रधान विश्व रचि राखा। जो जस करे सो तस फल चाखा॥ जो जैसा करता है, वह वैसा पाता है।"

मैंने कहा—"भक्त जी, अभी आप बता आये हैं कि जीव कठपुतली है। वह स्वतन्त्र है ही नहीं कि कुछ कर सके, फिर उसे आप स्वतन्त्र कर्मकर्ता भी बता रहे हैं। यह घपलेबाजी की बातें क्यों?"

भक्त जी ने कहा—"देखिए महाराज! हम शास्त्र की किसी बात पर अविश्वास नहीं करते। जो कुछ लिखा है हमारे लिए सब सत्य है। अन्त में सत्य और असत्य क्या है, यह ईश्वर ही जाने।"

---

1. कृष्णो भोगी शुकस्त्यागी नृपो जनकराघवौ।
   वसिष्ठः कर्मकर्ता च ते सर्वे ज्ञानिनः समाः॥
2. सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
   अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥

उक्त सारी बातें या इन-जैसी अन्य बातें 'तुतुरे' एवं तुतलाने वालों की हैं। जब मन में कोई साफ नक्शा ही नहीं है, तो बाहर उसका स्पष्ट विवेचन भी कैसे किया जा सके। जड़-चेतन, ग्रहण-त्याग, विधि-निषेध हैं। भोगों से हटकर संयम द्वारा ही स्वरूपस्थिति मिल सकती है। जीव से कोई भगवान या शैतान अच्छे-बुरे कर्म करवाते नहीं हैं। जीव स्वयं अपनी समझ से जो चाहता है, वह करता है; और जैसे करता है, वैसे भरता है। ये निर्णय की बातें एकनिष्ठ होकर न वे मान सकते हैं और न कह सकते हैं। जो संदेह में हैं तथा डांवांडोल हैं, उनका निर्णय साफ हो ही नहीं सकता।

इसलिए तुतलाने वाले, दुविधापूर्ण बात कहने वाले न स्वयं साफ हो सकते हैं, न दूसरों को साफ रास्ता बता सकते हैं। इसीलिए सद्गुरु ने ऐसे लोगों पर व्यंग्य करते हुए इस पद के अन्त में कहा "एकै खेत दूनों निर्बहई।" अर्थात ऐसे भ्रामक गुरुजन एक अध्यात्म क्षेत्र में जड़-चेतन, भोग-त्याग दोनों को मिलाकर एक साथ दोनों का निर्वाह करते हैं। ज्ञान-भक्ति के नाम पर ऐसी जगह रास-भोग सब चलता है।

तुम्हारा लक्ष्य बाहर नहीं, भीतर है

व

ववा वह वह कहैं सब कोई। वह वह कहै काज नहिं होई॥
वह तो कहै सुनै जो कोई। स्वर्ग पताल न देखै जोई॥ 29॥

शब्दार्थ—स्वर्ग पताल=स्वर्ग-नरक, मोक्ष-बन्ध, सत्ता की समग्रता, वास्तविकता।

भावार्थ—व अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि वह-वह, वह-वह तो सब कहते हैं; अर्थात वह परमात्मा, वह ब्रह्म तो सब कहते हैं, परन्तु वह-वह कहने एवं परोक्ष में निर्देश करने से जिज्ञासु को न बोध होता है और न तृप्ति। परोक्ष बात कहने वालों की बातें वही सुनकर मान लेता है, जिसने वास्तविकता नहीं देखी है॥ 29॥

व्याख्या—व्याकरण के अनुसार तीन पुरुष होते हैं—मैं, तू तथा वह। मैं उत्तम पुरुष है, तू मध्यम पुरुष है और वह अन्य पुरुष है। धर्म तथा अध्यात्म के क्षेत्र में उत्तम पुरुष की चर्चा करने वाले कम हैं, अन्य पुरुष की ही चर्चा में अधिक लोग व्यस्त हैं। अधिकतम लोग यही कहते हैं कि वह परमात्मा है, वह ब्रह्म है, अथवा वहां परमात्मा है, वहां ब्रह्म है। अर्थात परमात्मा या ब्रह्म को लोग परोक्ष में डालकर चुप हो जाते हैं। परन्तु सद्गुरु कहते हैं कि

परमात्मा एवं ब्रह्म को परोक्ष में, शून्य में, अपने से दूर किसी अदृश्य कल्पित स्थान में मानकर सच्चे जिज्ञासु की न जिज्ञासा मिटेगी और न उसे स्थायी सन्तोष होगा।

दृष्टि अन्य पुरुष 'वह' पर नहीं; उत्तम पुरुष 'मैं' पर होना चाहिए। 'मैं' से स्पष्ट और क्या हो सकता है? मेरा अपना चेतनस्वरूप, स्व-सत्ता ही परमात्मा है, परम-आत्मा, श्रेष्ठ-आत्मा, शुद्ध-आत्मा है। जो सबको परखता है, वह पारखरूप मेरा है। पारख ही तो आत्मा राम है, 'अस्ति आत्मा राम है।' इस 'मैं-तत्त्व' स्व-स्वरूप की पहचान छोड़कर वह परमात्मा है, वह ब्रह्म है मानते तथा कहते हुए भटकना कहां की बुद्धिमानी है! इसमें कहां आत्मकल्याण है! अतएव सद्गुरु कहते हैं "वह वह कहै काज नहिं होई।" अत: 'वह' कहना छोड़कर 'मैं' को पहचानो।

"वह तो कहै सुनै जो कोई। स्वर्ग पताल न देखै जोई॥" यह और भी जोरदार वचन है। सद्गुरु कहते हैं कि जो लोग वह-वह कहते रहते हैं; अपने से पृथक अपना लक्ष्य, परमात्मा, राम, ब्रह्म एवं मोक्ष खोजते रहते हैं, वे अध्यात्म क्षेत्र में भोले हैं और ऐसे भोले लोगों की बातें सुनकर उन्हें वही मानेगा, जो स्वयं भी भोला होगा। सद्गुरु कहते हैं कि परमात्मा या मोक्ष मुझसे अलग कहीं दूर है यह बात वही मानेगा जिसने स्वर्ग-पाताल नहीं देखा होगा। अर्थात जिसे सत्ता की समग्रता का, बन्ध-मोक्ष का एवं वास्तविकता का बोध नहीं होगा।

भोला आदमी ही परमात्मा एवं मोक्ष को अपने से अलग खोजता है। थोड़ी-सी बुद्धि से भी हम समझ सकते हैं कि बाहर से मिली हुई वस्तु एक दिन अवश्य छूट जाती है। यदि मेरा लक्ष्य एवं उद्देश्य बाहर है, यदि मेरे उद्देश्य से मेरी देश-काल की दूरी है, तो वह मेरा उद्देश्य ही नहीं है।

शांति तुमसे अभिन्न है

श

शशा सर नहिं देखे कोई। सर शीतलता एकै होई॥
शशा कहै सुनहु रे भाई। शून्य समान चला जग जाई॥ 30॥

शब्दार्थ—सर=शर, जल। शुद्ध शब्द 'शर' है। इसका अर्थ जल[1] है।

भावार्थ—श अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि लोग जल को नहीं देखते कि जल और शीतलता एक ही है। अर्थात जीव और जीव का

---

1. बृहत् हिन्दी कोश।

लक्ष्य एक ही है। श अक्षर कहता है, हे भाई! सुनो, संसार के लोग विवेक के बिना शून्य के समान चले जा रहे हैं॥ 30॥

व्याख्या—शर और शीतलता अर्थात जल और उसकी ठंडक एक ही है। जल से शीतलता हटायी नहीं जा सकती। यदि जल को गरम कर दें, तो भी मूल रूप में जल शीतल ही रहता है। इसीलिए गरम जल जब अग्नि पर डालते हैं, तब अग्नि बुझ जाती है। यदि जल गरम हो गया होता तो वह अग्नि को कैसे बुझा पाता? अतएव जिस जल को हम गरम कहते हैं वह गरम नहीं है, किन्तु उसमें मिले हुए अग्नि के कण गरम हैं और हमें लगता है कि जल गरम है। यहां जल का भौतिक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण नहीं करना है। यहां तो इतना ही उदाहरण पेश करना है कि कहीं शीतल जल रखा हो, तो हम देखते हैं कि जल और शीतलता एक है। इसी प्रकार जीव और जीव का लक्ष्य परम शांति एवं मोक्ष एक ही है।

जीव केवल दुख की सर्वथा निवृत्ति चाहता है। दुख न रहने पर दुखहीन दशा को शांति या परमानन्द दशा भी कह सकते हैं। इसी को कोई ईश्वर की प्राप्ति, ब्रह्म की प्राप्ति भी कह सकता है। जीव से पृथक ईश्वर-ब्रह्म कुछ ऐसी वस्तु नहीं है जो अलग से मिलती हो। जिसके मन में जिस शब्द से संतोष होता हो, उस शब्द का प्रयोग करके संतोष कर ले। तथ्य इतना ही है कि मन विषयों से मुक्त होने पर निर्मल होता है। निर्मल मन चंचलता छोड़कर एकाग्र होता है। एकाग्र मन में अपने चेतनस्वरूप का बोध होकर स्वरूपस्थिति एवं आत्मस्थिति होती है। यही सर्वोच्च गंतव्य है। इसके आगे न रास्ता है और न गंतव्य।

जैसे जल से शीतलता अलग नहीं, वैसे जीव से उसका लक्ष्य, उसका मोक्षपद अलग नहीं। जीव की ही निर्मल दशा ब्रह्मत्व, परमात्मत्व, शिवत्व, मोक्ष एवं पारखस्थिति है।

जल में अग्नि के कण बाहर से मिल जाने से जल गरम प्रतीत होता है। उसे शीतल बनाने के लिए कुछ उसमें डालना नहीं है, किन्तु केवल जल में से अग्नि-कण निकल जाने दीजिए, फिर जल अपने आप शीतल रह जायेगा; क्योंकि उसका स्वरूप ही शीतल है। इसी प्रकार जीव के साथ जो कामादि विकार लगे हैं, वे जीव के स्वरूप नहीं हैं। वे बाहर से लग गये हैं। साधक का काम है कि वह विकारों को निकल जाने दे। उन्हें बुलाये नहीं। उनका स्वागत न करे। उनसे अपना मन समेट ले। जब विकार सर्वथा निकल जायेंगे, तब जीव स्वयं मुक्तरूप रह जायेगा। शर तथा शीतलता तो एक ही

है। जीव और परमशांति-दशा एक ही है। जल को शीतलता पाना नहीं है। श्री तुलसीदास जी ने भी अपनी सतसई रचना में लिखा है "जल कहं परम पियास!" आश्चर्य है जल ही बहुत प्यासा हो गया। मूलतः तृप्तरूप जीव भूलवश अतृप्त बन गया।

सद्गुरु कहते हैं—"शून्य समान चला जग जाई।" अर्थात अपने मूल स्वरूप को न पहचानकर शून्य में सिर मारते-मारते संसार के लोग धोखे में जन्म खो रहे हैं। परम सुखस्वरूप अपनी अपरोक्ष आत्मा की स्थिति छोड़कर, प्रत्यक्ष विषयों एवं परोक्ष कल्पनाओं में भटक रहे हैं।

आग्रह-रहित विनम्र बनो

ष

षषा खरा करे सब कोई। खर खर करे काज नहिं होई॥
षषा कहै सुनहु रे भाई। राम नाम ले जाहु पराई॥ 31॥

शब्दार्थ—खरा=तेज, साफ-साफ, सत्य। खर खर=तेज, कड़ा, गरम-गरम। पराई=दूसरे की; भाग जाना, यहां अर्थ है भाग जाना, त्याग करना।

भावार्थ—ष अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि सभी मतवादी अपने विचार, मान्यता एवं सिद्धान्त को खरा एवं सत्य समझते हैं; और उनको लेकर दूसरों से गरम-गरम बातें करते हैं। परन्तु खरखर-भरभर करने से न अपना कल्याण हो सकता है न दूसरे का। ष अक्षर कहता है कि हे भाई! तुम राम का नाम लो, कोई बात नहीं, किन्तु विषय-वासनाओं का त्याग करो॥ 31॥

व्याख्या—मनुष्य का स्वभाव है कि वह अपनी मान्यताओं, विचारों एवं सिद्धान्त को सत्य मानता है। सद्गुरु कहते हैं—"खरा करे सब कोई।" अर्थात सभी लोग अपने विचारों को खरा कहते हैं और उसको लेकर दूसरों से झगड़ते हैं। अल्पज्ञ आदमी जब किसी बात को मत एवं सिद्धान्त के रूप में मान लेता है, तब उसके ख्याल से सारा सत्य उसके मत के ही भीतर सिमट जाता है। वह यह समझने की चेष्टा ही नहीं करता कि दूसरे के मत एवं सिद्धान्त में भी कुछ सार-सत्य हो सकता है। अतएव ऐसे आदमी अपने मत एवं सिद्धान्त के भूत बन जाते हैं। वे मानते और कहते हैं कि संसार में परम सत्य केवल हमारा ही मत है और इस बात को लेकर वे जा-बेजा खरखर-भरभर करते रहते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि इस प्रकार मताग्रही बनकर न अपना कल्याण हो सकता है और न दूसरे का।

जो आदमी जितना अधिक समझता जाता है, वह उतना विनम्र होता जाता है। उसको सबके मतों में सत्य के अंश दिखाई देते हैं। वह किसी के निर्णय को सुनकर अपने मत की भी परीक्षा करता है। जो आदमी जितना अधिक समझता जाता है, उसकी बोली उतनी ही धीमी होती जाती है। अल्पज्ञ ही ताल ठोककर बातें करता तथा दूसरे मत वालों को ललकारता है।

प्रश्न उठ सकता है कि कबीर साहेब ने भी तो अन्य मतावलंबियों को ललकारा है। प्रश्न सच है। परन्तु कबीर साहेब की स्थिति बहुत भिन्न है। पूर्ण पुरुषों को भी कभी-कभी हठ और अहंकार से उन्मादित लोगों को रास्ते पर लाने के लिए उन्हें ललकारना पड़ता है। कबीर साहेब को यह विधा बहुत अपनानी पड़ी। उन्हें संसार को जड़ता से जगाने के लिए बहुत झकझोरना पड़ा। परन्तु वे जिज्ञासुओं के सामने विनम्र थे। कबीर-जैसे संतशिरोमणि की भाषा कितनी विनम्र है—"कहहिं कबीर जो अबकी बूझै, सोई गुरू हम चेला।"

"राम नाम ले जाहु पराई।" लगता है जैसे कुछ ऐसे लोग कबीर साहेब के सामने उपस्थित हों, जो सदाचार और त्याग के बिना केवल राम-नाम जप से कल्याण-प्राप्ति का व्याख्यान देते रहे हों और वे इसमें अपनी अधिक भावुकता प्रदर्शित करते रहे हों। सद्गुरु ऐसे लोगों को लक्ष्य करके मानो कहते हों कि ठीक है भाई! राम-राम लो, परन्तु केवल इतने से काम नहीं चलेगा। 'जाहु पराई'—भाग जाओ संसार से, तब कल्याण होगा। इसका अभिप्राय इतना ही है कि विषय-विकारों का त्याग करो, तब कल्याण होगा। यहां केवल राम-नाम जप से ही अभिप्राय नहीं समझना चाहिए; किन्तु कोई भी पवित्र माना हुआ नाम हो, केवल उसके जपने से कल्याण मान लेना भोलापन है। स्वरूपज्ञान चाहिए, विषयों का त्याग चाहिए एवं मनोनिग्रहपूर्वक स्वरूपस्थिति चाहिए। तभी कल्याण है।

अज्ञान और मोह से ऊपर उठो

स

ससा सरा रचो बरियाई। सर बेधे सब लोग तवाई॥
ससा के घर सुन गुण होई। इतनी बात न जाने कोई॥ 32॥

शब्दार्थ—सरा=चिता। बरियाई=बलात, हठपूर्वक। सर=बाण। तवाई=ताप से व्याकुल, मूर्च्छित।

भावार्थ—स अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि लोग हठपूर्वक आत्मदाह करने के लिए अज्ञान की चिता बनाते हैं। और मोह के

बाण के बिंधकर सब मूर्च्छित हैं। परन्तु लोग इतनी-सी बात नहीं जानते कि इन सबका परिणाम धोखा खाना है॥ 32॥

व्याख्या—अज्ञान ही वह चिता है जिसमें मनुष्य अपने आप का दाह करता है। अपने से ही पैदा हुआ अज्ञान अपने आप का विध्वंस करता है। सारे दुखों की जड़ अज्ञान है। लोग हठपूर्वक अपने आप को अज्ञान की आग में झोंकते हैं।

कितने ऐसे लोग होते हैं जो किसी समझदार के समझाने पर भी नहीं समझते। उन्हें अपने मन का रास्ता अच्छा लगता है। विनयी अंत:करण हुए बिना सत्यासत्य समझा नहीं जा सकता। जब मन में पूर्ण विनम्रता आ जाती है, तब बहुत बातें तो अपने आप समझ में आ जाती हैं, और जो स्वत: नहीं समझ में आतीं, वे दूसरों द्वारा समझ ली जाती हैं।

उन मनुष्यों एवं साधकों का बहुत बड़ा दुर्भाग्य होता है, जो अहंकारी एवं हठी होते हैं। वे अपने हठ में पड़कर अपने विवेक की तो अवहेलना करते ही हैं, गुरुजनों की भी कर देते हैं। इसलिए उनके सुधार का रास्ता बंद हो जाता है। ऐसे लोगों के मन में सांसारिक प्रलोभन तथा बुद्धि का गर्व होता है और इन दोनों का मूल अज्ञान है।

"सर बेधे सब लोग तवाई" अर्थात मोह के बाण से बिंधकर सब लोग मूर्च्छित हैं। मोह ऐसा बाण है जिसके लगने पर मनुष्य को अपने आपा का ध्यान नहीं रह जाता। मोह मनुष्य को मूढ़ बनाता है। सीता के सौन्दर्य के मोह में पड़कर ही रावण-जैसे विद्वान और प्रतापी पुरुष ने अपना सर्वनाश किया था। संयोगिता के मोह में पड़कर दिल्ली-नरेश पृथ्वीराज ने अपना पतन किया था। सिंहल द्वीप की रानियों के मोह में फंसकर मछंदरनाथ ने अपना वैराग्य खोया था। मोह से ग्रस्त होकर आदमी ऐसे-ऐसे कुकर्म कर डालता है जिसके परिणाम में उसे समाज में कलंकित एवं लज्जित तथा अन्तरात्मा से मलिन होना पड़ता है।

कितने साधक तथा साधिकाएं विरोधी आलंबन अर्थात किसी स्त्री या पुरुष के सम्पर्क में बराबर आते-आते जब मोहग्रस्त हो जाते हैं, तब वे अपनी साधना को छोड़ बैठते हैं। मोह बर्फ का गोला है, जो मन में बैठते ही उसे सुप्त कर देता है। अतएव मन में मोह उत्पन्न करने वाले कुसंग का सर्वथा त्याग करना चाहिए।

अज्ञान और मोह के घर में शून्य गुण है। अर्थात अज्ञान तथा मोह में पड़कर जीव को खाली हाथ ही संसार से लौटना पड़ता है। वह जिसे अपना

बहुत बड़ा धन एवं मित्र मानता है उसका वियोग हो जाता है। इसलिए उसे अन्त में धोखा खाना पड़ता है।

जीवन की सफलता तो अज्ञान एवं मोह से बचकर स्वरूपज्ञान एवं आत्मज्ञान में है। जो व्यक्ति अपने आप को पा गया वह धन्य हो गया।

तृष्णा का प्राबल्य

ह

हहा हाय हाय में सब जग जाई। हर्ष सोग सब माहिं समाई॥
हँकरि हँकरि सब बड़-बड़ गयऊ। हाहा मर्म न काहू पयऊ॥ 33॥

शब्दार्थ—हाय हाय=तृष्णा, दुख। हँकरि हँकरि=हाय-हाय करके। हाहा मर्म=तृष्णा और दुख का भेद।

भावार्थ—ह अक्षर के माध्यम से सद्‌गुरु उपदेश करते हैं कि तृष्णा और दुख में हाय-हाय करते हुए संसार के सारे लोग जा रहे हैं। सभी में संसार के हर्ष तथा शोक समाये हुए हैं। सब बड़े-बड़े कहलाने वाले लोग हाय-हाय करके मर गये और मरे जा रहे हैं; किन्तु वे अपनी पीड़ा का भेद नहीं जान पाये, न जान पाते हैं॥ 33॥

व्याख्या—"हहा हाय हाय में सब जग जाई।" परम सत्य वचन है। सारा संसार हाय धन, हाय जमीन, हाय मकान, हाय मिनिस्टरी, हाय राज, हाय पत्नी, हाय पुत्र, हाय मान-बड़ाई, हाय महंती, हाय सम्मान आदि करते-करते मर रहा है।

तृष्णा दुखों की जननी है। किसी इन्द्रिय से जब उसके विषय से संयोग होता है, तब उसमें आसक्ति बनती है। जिसमें आसक्ति हो जाती है उसका पुनः उपभोग किया जाता है। फिर उसकी तृष्णा बन जाती है। जिन विषयों में तृष्णा बन जाती है, उनका चाहे जितना उपभोग किया जाये, कभी संतोष नहीं होता। हर भोग में तृष्णा अपना स्थान बनाती है। घर की तृष्णा, जमीन की तृष्णा, रुपये की तृष्णा, काम-भोग की तृष्णा, पुत्रों की तृष्णा, शिष्यों की तृष्णा, मान-सम्मान की तृष्णा, खाने की तृष्णा, करने की तृष्णा, कहां तक गिनाया जाये, तृष्णा का राज्य विशाल है। इन तृष्णाओं में आदमी जीवनभर दौड़ते-दौड़ते, हाय-हाय करते-करते मरते हैं।

"हर्ष सोग सब माहिं समाई॥" मायिक पदार्थों की उपलब्धि में जो हर्ष मानेगा, वह शोक का शिकार तो होगा ही। हर्ष और शोक में डूबे हुए आदमी के जीवन में शांति कहां है? जिसकी वृत्ति पदार्थ-पार होती है, वही हर्ष और

शोक से पार होता है। ज्ञानी पुरुष सब कुछ को क्षणभंगुर, नाशवान एवं स्वप्नवत समझकर हर्ष-शोक से पार होता है। साधारण इनसान को भी चाहिए कि वह अपने को यथासंभव हर्ष और शोक से बचाने का प्रयत्न करे। यह विवेक रखना चाहिए कि हर प्रयत्न रखने पर भी अन्त में जो कुछ उत्थान-पतन होना होता है वह होता ही है, फिर उसके लिए बहुत भावुक बनकर हर्ष-शोक क्यों किया जाये!

"हँकरि हँकरि सब बड़ बड़ गयऊ।" कितना मार्मिक वचन है। बड़े विद्वान, बड़े धनी, बड़े पूज्य-प्रसिद्ध, बड़े-बड़े नामी-ग्रामी हाय-हाय करके चले गये। उनको अपने जीवन में पूर्ण संतोष नहीं मिला। क्षोभ, शिकायत, कलह और आग्रह करना असंतोष के लक्षण हैं। जो पूर्ण तृप्त होता है उसके जीवन में शिकायत नाम की चीज नहीं होती।

"हाहा मर्म न काहू पयऊ।" लोग यह नहीं समझ पाते कि हम हाय-हाय क्यों कर रहे हैं! जिसको जीवन की मूल भौतिक आवश्यकता रोटी-कपड़े न मिलते हों, वह रोता-पीटता हो, तो बात समझ में आती है। परन्तु जो पेटभर खाकर, तनभर कपड़े पहनकर भी मानसिक पीड़ा में पीड़ित रहता है उसे क्या समझा जाये! वस्तुतः अज्ञान और तृष्णा जब तक नहीं जाती तब तक अरबपति, खरबपति ही नहीं, विश्वपति भी संतुष्ट नहीं हो सकता। सच है—

तन की भूख तनिक है, तृप्त पाव या सेर।
मन की भूख अथाह है, तृप्त न पाय सुमेर॥ विवेक प्रकाश॥

अज्ञान और तृष्णा में पड़े हुए संसार के लोगों की यही दशा है।

जीवन को क्षणभंगुर समझकर पहले ही सावधान हो जाओ

क्ष

क्षक्षा क्षिन में परलय सब मिटि जाई। छेवपरे तब को समुझाई॥
छेवपरे काहु अन्त न पाया। कहहिं कबीर अगमन गोहराया॥ 34॥

शब्दार्थ—छेव=वार, घाव, चोट। अगमन=आगे से, पहले ही। गोह-राया=पुकारा, समझाया।

भावार्थ—क्ष अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि मौत आकर तुम्हारा क्षण में ही प्रलय कर देगी; और शरीर के जाते ही तुम्हारा अपना माना हुआ सब कुछ समाप्त हो जायेगा। जब मौत की चोट तुम्हारे ऊपर पड़ेगी और तुम संसार से विदा होने लगोगे, तब तुम्हें कौन सत्य समझा सकेगा! जिस व्यक्ति ने जीवन में वासना-बंधनों का अंत नहीं कर पाया, वह

मरने पर उसका अन्त कैसे कर सकता है! कबीर साहेब कहते हैं कि इसलिए मैं पहले ही तुम्हें सावधान होने के लिए पुकारकर कहते जा रहा हूं॥ 34॥

व्याख्या—"क्षिन में परलय सब मिटि जाई।" संसार का परम सत्य विधान है। जो शारीरिक जीवन परम सत्य लगता है, वही मौत के आते ही परम असत्य हो जाता है। श्रद्धेय पिता, माता, गुरु, विद्वान, पूज्य, महाराजा, प्यारा पुत्र, प्यारा मित्र, प्रिय पत्नी, प्रिय पुत्री के शरीर में से जीव निकलते ही लोग कहने लगते हैं कि हंसा तो चला गया, अब मिट्टी पड़ी है। इसका तो जल्दी से क्रिया-कर्म कर देना चाहिए। हम व्यामोहवश संसार के प्राणी-पदार्थों को अपना मानकर उनकी ममता किये बैठे रहते हैं। उनके अहंकार में हम इतराते रहते हैं। परन्तु श्वास निकलते ही अपना क्या रह जाता है! और कभी भी श्वास निकल सकता है। ऐसे क्षणिक जीवन का अहंकार कैसा! ऐसे स्वप्न में मिले प्राणी-पदार्थों का ग़रूर क्यों! इन विरानी चीजों के लिए हिंसा-हत्या, लूट-खसोट क्यों!

"छेव परे तब को समुझाई॥" जब मौत का कुल्हाड़ा हम पर पड़ेगा, तब हमें कौन सत्य समझा सकेगा! संसार में बड़े-बड़े धोखे हैं। कितने लोग जीवनभर कभी सत्संग में नहीं बैठते। वे कोई धार्मिक एवं आध्यात्मिक पुस्तक नहीं पढ़ते। उनको कभी ज्ञान की चर्चा अच्छी ही नहीं लगती। परन्तु मर जाने पर उनके परिवार वाले पुरोहित बुलाकर उनके कान में मन्त्र दिलाते हैं। जब तक सुनने वाला था, उसने ज्ञान की बातों को सुनने की इच्छा नहीं की। अब जब सुनने वाला रहा नहीं, तब कान में मन्त्र फूंकने से क्या फायदा!

जब तक इन्द्रियां सबल हैं, अंग सुदृढ़ हैं, रोग दूर हैं, बुढ़ापा नहीं आया है, तब तक ही अपने कल्याण-साधन का प्रयत्न कर लेना चाहिए। मौत तो किसी भी अवस्था में आ सकती है। जब माता के गर्भ में से ही जीव का शरीर छूटने लगता है, तब किस अवस्था का विश्वास किया जाये कि इसमें मौत नहीं आयेगी। अतः हमें वर्तमान में ही सावधान हो जाना चाहिए।

वासना का अन्त कर देना जीवन को स्वर्गमय, सुखमय, आनन्दमय एवं मुक्त बनाना है। जीवन में ही उपासना, भक्ति, विवेक, वैराग्यादि साधनों से वासना का त्याग किया जा सकता है। वासना से परे जीवन सारे आग्रहों से रहित हो जाता है। जिसने सभी वासनाओं का त्याग कर दिया, उसके जीवन में कहीं भी मानसिक पीड़ा एवं टीस नहीं रह जाती। वासना से सर्वथा छुटा हुआ जीवन 'आनन्द समुद्र के लहरि अगाध', 'बसे आनन्द अटारी', 'आनन्द सिंधु अहंतातीता' एवं 'सो जन सदा अनन्दा' होता है।

हर मानव के जीवन में यही प्रबल इच्छा रहती है कि हम सदैव आनंदित रहें, पूर्ण सुखी रहें। परन्तु जो सुख एवं आनन्द एकरस, निरन्तर तथा स्थायी हो, वह विषयों के संयोग में नहीं है। विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले सारे सुख क्षणिक हैं। उनमें राग बनकर पीछे केवल दुख होता है। स्थायी सुख एवं आनन्द विषयों से रहित होने में है। जब हमारे मन से विषयों की वासनाएं सर्वथा निकल जाती हैं, तब हम सुख का सागर पा जाते हैं।

सद्गुरु कहते हैं "छेव परे कहु अन्त न पाया।" मौत हो जाने के बाद वासनाओं के अन्त होने की बात ही नहीं उठती। शरीरांत के बाद तो जीव वासनाओं के वशीभूत होकर पुनः भटकता है। वासनाओं का अन्त तो जीवनकाल में ही संभव है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं "कहहिं कबीर अगमन गोहराया।" मैं पहले ही सावधान करता हूं। यदि परमसुख के धाम में पहुंचना चाहते हो, तो वासनाओं का त्याग करो। इसके अलावा कोई रास्ता नहीं है अनन्त सुख का।

फल छंद

मूल चौंतिस वर्ण यौगिक,
वैखरी सुविचार भौ।
सिद्धान्त सबका लक्ष्य क्या,
यह भेद आप सम्हार भौ॥
उद्वेग किसको होत है,
को शान्त करि निरधार भौ।
जो जीव चिद् अपरोक्ष सत्ता,
सत्य सत स्वीकार भौ॥

चौपाई

वचन रचन सब अर्थ कलापक।
है अतीत पारख चिद् जापक॥
तदपि वचन गहि अर्थ सुसाधक।
छेनी गहि बेड़ी करु बाधक॥

विप्रमतीसी

हेतु छन्द

सब काल में सब विश्वहित,
सब हेतु सबका स्वत्व है।
नहिं संकुचित सन्मार्ग रविवत,
सत्य देश स्वमत्व है॥
भव द्वन्द्व फल न रंच,
मंगलमय हृदय सद्गत्व है॥
गुण-दोष मिश्रित भिन्न निर्णय,
हंसराज वदत्व है॥

दोहा

जहँ जैसो सन्मार्ग में, संकुल विघ्न रुकाव।
जस व्याधी तस औषधी, करुणानिधि समझाव॥

सद्गुरवे नमः

बीजक

(पारख-प्रबोधिनी व्याख्या-सहित)

चतुर्थ प्रकरण : विप्रमतीसी

पुरोहित ब्राह्मणों को चेतावनी और मानवीय एकता पर प्रकाश

सुनहु सबन मिलि विप्रमतीसी। हरि बिनु बूड़ी नाव भरीसी॥ 1॥
ब्राह्मण होय के ब्रह्म न जाने। घरमा यज्ञ प्रतिग्रह आने॥ 2॥
जेहि सिरजा तेहि नहिं पहिचाने। कर्म धर्म मति बैठि बखाने॥ 3॥
ग्रहण अमावस और दुईजा। शान्ति पाँति प्रयोजन पूजा॥ 4॥
प्रेत कनक मुख अन्तर बासा। आहुति सत्य होम की आसा॥ 5॥
कुल उत्तम जग माहिं कहावैं। फिर फिर मध्यम कर्म करावैं॥ 6॥
सुत दारा मिलि जूठो खाई। हरि भक्तों के छूति लगाई॥ 7॥
कर्म अशौच उच्छिष्टा खाई। मति भ्रष्टा यम लोग सिधाई॥ 8॥
नहाय खोरि उत्तम होय आये। विष्णु भक्त देखत दुख पाये॥ 9॥
स्वारथ लागि रहे बे काजा। नाम लेत पावक जिमि डाजा॥10॥
राम कृष्ण की छोड़िनि आशा। पढ़ि गुनि भये कृतम के दासा॥11॥
कर्म पढ़ें और कर्म को धावैं। जेहि पूछा तेहि कर्म दृढ़ावैं॥12॥
निष्कर्मी की निन्दा कीजै। कर्म करे ताही चित दीजै॥13॥
भक्ति भगवन्त की हृदया लावैं। हरणाकुश को पन्थ चलावैं॥14॥
देखहु सुमति केर परकाशा। बिनु अभ्यन्तर भये कृतम केदासा॥15॥
जाके पूजे पाप न ऊड़े। नाम स्मरणी भव मा बूड़े॥16॥
पाप पुण्य कै हाथहिं पासा। मारि जगत का कीन्ह बिनाशा॥17॥
ई बहनी कुल बहनि कहावै। 'ई' गृह जारे 'ऊ' गृह मारे॥18॥
बैठे ते घर साहु कहावै। भीतर भेद मनमुखहिं लगावै॥19॥
ऐसी विधि सुर विप्र भनीजे। नाम लेत पीचासन दीजे॥20॥
बूड़ि गये नहिं आपु सँभारा। ऊँच नीच कहु काहि जोहारा॥21॥
ऊँच नीच है मध्य की बानी। एकै पवन एक है पानी॥22॥
एकै मटिया एक कुम्हारा। एक सबन का सिरजनहारा॥23॥

एक चाक सब चित्र बनाई। नाद बिन्द के मध्य समाई॥24॥
व्यापक एक सकल की ज्योती। नाम धरे का कहिये भौती॥25॥
राक्षस करनी देव कहावै। बाद करे गोपाल न भावै॥26॥
हंस देह तजि न्यारा होई। ताकर जाति कहै धौं कोई॥27॥
स्याह सफेद कि राता पियरा। अबरण बरण कि ताता सियरा॥28॥
हिन्दू तुरुक कि बूढ़ो बारा। नारि पुरुष का करहु बिचारा॥29॥
कहिये काहि कहा नहिं माना। दास कबीर सोई पै जाना॥30॥

साखी—बहा है बहि जात है, कर गहै चहुँ ओर।
जो कहा नहिं माने, तो दे धक्का दुई और॥ 1॥

शब्दार्थ—विप्रमतीसी=विप्र+मति+तीसी (तीस चौपाइयों में आधुनिक ब्राह्मणों की मति का वर्णन)। हरि=अज्ञानहारी सद्गुरु या ज्ञान। प्रतिग्रह=ग्रहण, स्वीकार, दान लेना। शांति=ग्रहशांति। पाँति=मंत्र पंक्ति। प्रेत=मरा हुआ, मृतक शरीर, कल्पित योनि। कनक=सोना। अन्तर=मन में। बासा=वासना। अशौच=मृतकर्म। उच्छिष्टा=जूठा, प्रेत-पितर को अर्पित किया हुआ। डाजा=जलाना। कृतम=बनावटी, मूर्ति, पिंड आदि। अभ्यन्तर=भीतर, हृदय। ऊड़ै=नष्ट। पासा=फंदा। बहनी=वह्नि, अग्नि अथवा वहन करना, ढोना, तारना, जहाज। ई गृह=यह जन्म, स्वार्थ। ऊ गृह=भविष्य जन्म, परमार्थ। साहु=श्रेष्ठ, सच्चे। भीतर भेद=हृदय में कपट। मनमुखहिं=मन्मुखी, जो गुरुमुख न हो। भनीजै=कहे जाते हैं। पीचासन=पंचासन, उत्तम आसन अथवा पीच+असन—जल-भोजन। जोहारा=प्रणाम, अभिवादन अथवा हार गये। मध्य की बानी=बीच की वार्ता, बड़ा तुच्छ विचार। बानी=लक्षण। एक चाक=कर्म या माता का गर्भाशय। नाद=प्राण। बिन्द=वीर्य। भौती=भौतिक शरीर। वाद=बकवाद। हंस=जीव। धौं=भला। स्याह=काला (तमोगुणी शूद्र)। सफेद=उज्ज्वल (सतोगुणी ब्राह्मण)। राता=रक्त वर्ण, लाल (रजोगुणी क्षत्रिय)। पियरा=पीला (रज-तम युक्त वैश्य)। अबरण=रंगरहित, वर्णरहित (ईसाई, मुसलमानादि)। बरण=रंग, वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र)। ताता=गरम। सियरा=शीतल, ठंडा। बूढ़ो=बुड्ढा। बारा=बालक। पै=दोष। धक्का=धका, किनारा, बन्दरगाह, नदी या समुद्र का तट।

भावार्थ—मैं तीस चौपाइयों में आधुनिक पुरोहित-ब्राह्मणों की बुद्धि का वर्णन करने जा रहा हूं। आप सब मिलकर सुनिए! सच्चे सद्गुरु के ज्ञान बिना, भरी नावका डूब जाने के समान, इनका ब्राह्मणत्व डूब गया॥ 1॥ ब्राह्मण कहलाकर भी इन्हें ब्रह्म का वास्तवकि ज्ञान नहीं है। बस,

ये यजमानों से हिंसात्मक-अहिंसात्मक यज्ञादि कराकर अपने घर में दान ले आना यही अपना व्यवसाय मान लिये हैं॥ 2॥ जिसने सृजन किया उसको नहीं पहचानते। कर्मकांड में ही धर्म-बुद्धि बनाकर और गद्दियों पर बैठकर उसी का व्याख्यान करते हैं॥ 3॥ ग्रहण, अमावस्या, यम-द्वितीया आदि के नाम से दूषित दान लेते हैं। शनि आदि टेढ़े ग्रह का भ्रम डालकर उनकी शांति के लिए मंत्रों का पाठ करते हैं। काली-भैरव आदि कल्पित तामसी देवी-देवताओं की पूजा करते-कराते हैं और इसी में अपने प्रयोजन की सिद्धि समझते हैं॥ 4॥ किसी के मरते समय उसके मुख में सोना रखवाते हैं कि यह प्रेत न हो जाये; परन्तु अपने मन में वासना रहती है कि सोना हमें मिलेगा। घृत, जौ, मेवादि सामग्री अग्नि में हवनकर उससे यथार्थ फल मानते हैं और उसके पीछे दक्षिणा पाने की आशा रखते हैं॥ 5॥ ये संसार में उत्तम कुल के कहलाते हैं, परन्तु यजमान से बारम्बार मध्यम कर्म करवाते हैं॥ 6॥ पत्नी-बच्चे मिलकर आपस में जूठा खाते हैं, परन्तु हरिभक्तों एवं संतों को अछूत मानकर उनसे भेदभाव रखते हैं॥ 7॥ कर्म अत्यन्त अशुद्ध हिंसाप्रयुक्त करते हैं तथा मृतकर्म आदि का दान लेते और श्राद्ध, नितकुम, पिंडदान, तिथि, तेरही आदि में कल्पित प्रेत-पितरों को अर्पित कर उनका जूठा भोजन करते और उन्हीं वस्तुओं को अपने घर में लाते हैं। इस प्रकार बुद्धिभ्रष्ट होकर अधोगति को प्राप्त होते हैं॥ 8॥ नहा-धोकर उत्तम होकर चलते हैं, किन्तु विष्णुभक्तों एवं संतों को देखकर दुखी हो जाते हैं कि इनके प्रभाव से हमारे कर्मकांड में बाधा न पड़ जाये॥ 9॥ स्थूल स्वार्थ-बुद्धि में लगकर बिना काम-के-काम संतों की निंदादि करते हैं। परन्तु यदि ब्राह्मण का नाम ले लो कि ब्राह्मणत्व क्या है तो आग के समान क्रोध में जलने लगते हैं॥ 10॥ इन्होंने मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम के उच्च आदर्श एवं क्रांतिकारी श्री कृष्ण के गीतादि प्रवचन के उपदिष्ट सद्गुणों को धारण करने की भी आशा का परित्याग कर दिया है। केवल वाणी का अध्ययन-मननकर कृत्रिम जड़मूर्ति, कर्मकांड, भूत-भैरव के दास बन गये हैं॥ 11॥

केवल कर्मकांडात्मक शास्त्रों को पढ़ते हैं और कर्मकांड करने-कराने के लिए दौड़ते हैं। यदि कोई इनसे मुक्ति-गति का रास्ता पूछता है, तो ये उसे कर्मकांड, यज्ञ-हवन, पूजा-पाठ ही बताते हैं॥ 12॥ कर्मकांड से विरक्त भक्ति एवं ज्ञानमार्गावलंबियों की निन्दा करते हैं। जो इनसे कर्मकाण्ड करावे और इन्हें दक्षिणा दे, ये उसी से प्रेम करते हैं॥ 13॥ ये कहते हैं कि हमारे हृदय में भगवान की भक्ति है; परन्तु भक्ति-विरोधी हिरण्यकश्यपु का मार्ग

चलाते हैं—कोई संतों के साथ बैठने लगे तो उसका ये विरोध करते हैं, संतों की निन्दा करते हैं॥ 14॥ इनकी सुबुद्धि का प्रकाश तो देखो, हृदय में ज्ञान-प्रकाश न होने से ये कृत्रिम कर्मकांड के गुलाम बन गये॥ 15॥ इनको पूजने से मानव का पाप नष्ट नहीं हो सकता, किन्तु इनके नाम का स्मरण करने से मानव भवसागर में डूब जाता है॥ 16॥ इन्होंने पाप और पुण्य के फंदे अपने हाथों में ले रखा है। ये जिसे चाहें पाप कहें और जिसे चाहें पुण्य कहें। इन्होंने कल्पित पाप-पुण्य के फंदे में फंसाकर और जगत के लोगों को मारकर उन्हें विनष्ट कर दिया है॥ 17॥ ये कुल-गुरु, कुल-तारक एवं जगत-जहाज कहलाते हैं, किन्तु ये मनुष्यों के लोक-परलोक, स्वार्थ-परमार्थ दोनों बिगाड़ते हैं॥ 18॥ त्याग-वैराग्य-रहित घर-गृहस्थी के मोह में डूबे हैं, किन्तु सच्चे और जगतपूज्य कहलाना चाहते हैं। मन में भेदभाव रखकर मनुष्यों के बीच में दीवार खड़ी करते हैं, और मन्मुखी व्यवहार करते-कराते हैं॥ 19॥ इस प्रकार आचरण रखने वाले तथाकथित विप्र लोग अपने आप को भू-सुर कहलाना चाहते हैं और जनता से आशा रखते हैं कि जैसे बतायें कि हम ब्राह्मण हैं, वैसे हमें उच्च आसन, जल, भोजन आदि उनसे मिलें॥ 20॥

ये मिथ्या ब्राह्मणत्व के अभिमान में डूब गये। इन्होंने अपने आप को सम्हाला नहीं। इनके सामने जब कोई संत मिल जाते हैं, तब ये उनका इसलिए नमस्कार नहीं करना चाहते कि वे पता नहीं किस वर्ण या जाति के हैं। अथवा ये एक मानव जाति के बीच में ऊंच-नीच की कल्पित धारणा पेशकर अपने आप को खो रहे हैं॥ 21॥ ऊंच-नीच तो मनुष्य अपने अच्छे-बुरे आचरणों के अनुसार बीच में बन जाता है। किन्तु सबकी शरीर-रचना में एक ही प्रकार का पवन और एक ही प्रकार का पानी लगा है अर्थात प्राण तथा वीर्य सब में एक-से लगे हैं॥ 22॥ एक ही मिट्टी है, एक ही कुम्हार है और एक ही समान तत्त्व सबकी रचना करने वाले हैं॥ 23॥ कुम्हार के एक ही चाक पर जैसे सारे बरतन बनते हैं, वैसे ही माता के एक जैसे गर्भाशय में सबके शरीर बनते हैं। सबके शरीर प्राण और वीर्य के संयोग से बने उन्हीं के रूप हैं॥ 24॥ सबके शरीर के भीतर एक ही ज्ञान-प्रकाश फैला हुआ है। अर्थात सब में एक ही प्रकार चेतना विद्यमान है। फिर क्या भौतिक शरीर के नाम अलग-अलग रखने से अंतर्ज्योति चेतना के गुण अलग-अलग हो जायेंगे॥ 25॥ कहलाते हैं देव और कर्म करते हैं राक्षस के—मानवता का शोषण। बकवाद करते हैं। इन्हें गोपाल अच्छे नहीं लगते। अर्थात उनके सत्योपदेश पर नहीं चलते॥ 26॥

जब जीव शरीर को छोड़कर अलग होता है, तब भला उसकी कोई क्या जाति कहेगा!॥ 27 ॥ उसे काला कहेगा कि सफेद, लाल कहेगा कि पीला, अवर्ण कहेगा कि सवर्ण, गरम कहेगा कि ठंडा!॥ 28 ॥ कोई हिन्दू कहेगा कि मुसलमान, बूढ़ा कहेगा कि बालक, नारी कहेगा कि पुरुष! जरा इस पर विचार करो॥ 29 ॥ सद्गुरु कहते हैं कि किसको कहा जाये! लोग निर्णय की बातें नहीं सुनते! यही इनमें बुराई है जो अपने दोषों पर विचारकर उनका त्याग नहीं करते॥ 30 ॥

ये मिथ्या भ्रम की धारा में पहले से बह रहे हैं। आज भी चारों ओर हाथ मारते हुए बहे जा रहे हैं। हे संतो! यदि ये हित की बातें नहीं मानते हैं, तो भी इन्हें दो बातें समझाने की चेष्टा करो॥ 1 ॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर ने इस प्रकरण में ब्राह्मण कहे जाने वाले बन्धुओं का या कहना चाहिए पुरोहित-ब्राह्मणों का जो खाका खींचा है, वह बड़ा ही मार्मिक है। बीजक के प्रसिद्ध इंग्लिश अनुवादक श्री अहमदशाह ने सच ही लिखा है कि कबीर साहेब मुसलमानों के विषय में कुछ खोज-बीनकर कहते हैं। परन्तु उनका मन हिन्दू-विचारों, हिन्दू पौराणिकता आदि में ओतप्रोत था।[1] इस प्रकरण में जिस बारीकी से पुराहित-ब्राह्मणों के विषय में सद्गुरु ने अपने विचार रखे हैं, उनको देखते हुए कहना पड़ता है कि कबीर साहेब हिन्दुत्व की कितनी गहराई में डूबे थे तथा उसके विषय में कितना गहरा ज्ञान रखते थे।

इस पूरे प्रकरण को पढ़ जाने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कबीर साहेब पुरोहित ब्राह्मणों के प्रति कितने आकृष्ट थे। वे उनमें गलतियां नहीं रहने देना चाहते थे, और उनके कल्याण के लिए चिंतित थे। वे समझते थे कि ब्राह्मण हिन्दू-समाज के पथ-प्रदर्शक हैं और जब ये ही विचलित हैं, तो हिन्दू-समाज को कैसे रास्ते पर ला सकते हैं। वे उन्हें मीठे-कड़वे फटकार सुनाते हैं और प्रयत्नपूर्वक सन्मार्ग पर लाना चाहते हैं।

---

1. The study of the Bijak certainly leaves a fixed impression that the basis of his mental equipment was Hindu. His apparent acquaintance with Mohammedan belief, customs and phraseology might easily be purely external and acquired. But with his Hinduism the case is entirely different. His mind is steeped in Hindu-thought and mythology, and his mother tongue is Hindi. (Ahmad shah : The Bijak of Kabir, p. 4)
अर्थात—"बीजक का अध्ययन निश्चित रूप से एक गहरा प्रभाव उत्पन्न करता है कि उनके मानसिक-रुझान का आधार हिन्दू था। मुसलमानी विश्वास, आचार तथा वर्णन शैली से उनका प्रत्यक्ष परिचय पूर्ण रूप से बाहरी और अर्जित था। परन्तु उनकी स्थिति हिन्दूत्व के साथ पूर्णत: भिन्न है। उनका मस्तिष्क हिन्दू विचारों तथा मान्यताओं से ओत-प्रोत है तथा उनकी मातृभाषा हिन्दी है।"

इस प्रकरण का नाम विप्रमतीसी—विप्र-मति-तीसी अर्थात तीस चौपाइयों में पुरोहित-ब्राह्मणों की मति का वर्णन है। वे कहते हैं कि इस प्रकरण को सब लोग मिलकर सुनो और सुधार करने की चेष्टा करो।

"हरि बिनु बूड़ी नाव भरीसी।" हरि के बिना इनकी स्थिति वैसे ही दयनीय है जैसे किसी की भरी नावका डूब गयी हो। हरि किसे कहते हैं, इस पर विचार करना चाहिए। श्वेत द्वीप (ईरान) के पारसियों ने अहरुमज्द ईश्वर का नाम माना है। उनके प्रभाव से संस्कृत वालों ने उसे हरिमेधस कहा। पीछे मेधस उड़ गया और हरि शब्द रह गया। यह हरि विष्णु-वाचक एवं ईश्वर-वाचक हो गया। यह घटना गुप्तकाल में घटी।[1] महाभाष्य और वैदिक साहित्य में हरि शब्द नारायणवाचक एवं विष्णुवाचक कहीं नहीं है।[2]

जो 'हरि' शब्द वैदिक साहित्य में इन्द्र या घोड़े के लिए है तथा वाल्मीकीय रामायण में 'वानर' के लिए, वह पारसियों के 'अहरुमज्द' शब्द के प्रभाव में गुप्तकाल में विष्णु तथा ईश्वरपरक हो गया। गुप्तकाल के बाद हरि-भजन की धूम बढ़ने लगी। कबीर साहेब के काल के पूर्व से ही 'हरि' शब्द अधिकृत रूप से ईश्वरवाचक हो गया था। कबीर साहेब ने इस शब्द को स्वीकार किया; परन्तु उन्होंने उसका अपना अर्थ दिया। परम्परा-प्राप्त शब्दों को अपना अर्थ देकर उन्हें स्वीकार करने से अपने विचारों को फैलाने में सुगमता होती है। यह प्रयास सभी समझदार विचारकों का रहा है। जैसे गीताकार को ही लिया जा सकता है। उन्होंने अपने पूर्व से चले आये 'सांख्य' और 'योग' शब्दों को गीता में स्वीकारा, किन्तु उनको अपना अर्थ दिया। 'यज्ञ' शब्द भी उन्होंने स्वीकारा; परन्तु बिलकुल नये अर्थों में। इसी प्रकार कबीर साहेब ने अपने युग के प्रचलित 'हरि' और 'राम' शब्दों को अपने अर्थों में स्वीकारा।

थोड़ा 'राम' शब्द पर विचार कर लें। वेद, वैदिक साहित्य, सूत्रग्रन्थ[3] एवं छह शास्त्रों में कही ईश्वर या परमात्मा के अर्थ में 'राम' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में जब एक संक्षिप्त महाकाव्य "पौलस्त्य-वध"[4] (पुलस्त्य के पौत्र-रावण का वध) बना, जिसका नाम पीछे

---

1. गुप्तकाल 320 ई. से 510 ई. तक।
2. इस विषय को पीछे 34वें शब्द "हरिजन हंस दशा लिये डोले।" की व्याख्या में विस्तारपूर्वक देखें। आगे 137वीं साखी की व्याख्या में भी इस पर संक्षिप्त विचार किया गया है।
3. गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र तथा धर्मसूत्र।
4. वाल्मीकीय रामायण, बालकांड, सर्ग 4, श्लोक 7।

वाल्मीकीय रामायण हुआ, उसमें श्री राम की कथा नर-कथा के रूप में चित्रित हुई। उसके बाद ईसा के डेढ़-दो सौ वर्ष पूर्व तक उसमें श्रीराम आदि चारों भाइयों को विष्णु का अंशावतार होने का प्रक्षेप हुआ। ईसा के बारह सौ वर्ष बाद अन्य रामायणों में श्री राम को ईश्वर सिद्ध करने का प्रयास चला। पहली बार अध्यात्म रामायण में श्री राम को परब्रह्म एवं जगत-नियंता माना गया।

इस प्रकार कबीर साहेब के काल तक 'राम' नाम परमात्मा-वाचक हो गया था। एक शरीरधारी को, जो जीवन में सुख-दुख भोगकर उसका अन्त करता है, जगत-रचयिता एवं जगत-पालक मानने की बात कबीर-जैसे स्वतंत्रचेता के मन में उतर ही कैसे सकती थी! किन्तु राम नाम अधिकृत रूप में फैल गया था। इसलिए उन्होंने राम नाम को भी स्वीकारा, परन्तु उसको अपना विवेकपूर्ण अर्थ देकर।

'हरि' और 'राम' दोनों शब्द कबीर साहेब ने बीजक में खूब लिया है। परन्तु इनको कई जगह खंडन में लिया और कई जगह मंडन में। यदि कोई अपनी कल्पित अवधारणा को हरि और राम कहता है, तो सद्गुरु उसका खंडन करते हैं, और यदि उन्हें सत्यज्ञान एवं अपनी आत्मा के लिए प्रयुक्त करता है, तो वे उसका समर्थन करते हैं।

सद्गुरु कबीर के ख्याल से हरि वह है जो हमारे विकारों का हरण करे, हमें सत्पथ में ले जाये। वह है सद्गुरु तथा सत्यज्ञान। अंततः अपना ज्ञानस्वरूप चेतन एवं आत्मा ही हरि है। इसी प्रकार हृदय में रमने वाले चेतन को उन्होंने राम कहा है।

सद्गुरु इस प्रकरण की प्रथम चौपाई में कहते हैं "हरि बिनु बूड़ी नाव भरीसी।" अर्थात यथार्थ सद्गुरु, सत्यज्ञान एवं स्वरूपज्ञान बिना तुम्हारी नावका डूब गयी। अतएव जीवन के उद्धार के लिए हरि-भजन की आवश्यकता है, और वह है सच्चे सद्गुरु की शरण, उनकी सेवा। तभी सत्यज्ञान मिलेगा और अपने आप का बोध होगा।

"ब्राह्मण होय के ब्रह्म न जाने" यह ब्रह्म और ब्राह्मण क्या है। 'बृहत्त्वात् ब्रह्म' जो बढ़ता जाये या बड़ा हो, उसको ब्रह्म कहते हैं। अग्नि जलने से बढ़ती जाती है, इसलिए पुराकाल में उसको ब्रह्म कहा गया। जो उस ब्रह्म (अग्नि) की उपासना करता, उसमें आहुति डालता, उसको ब्राह्मण कहा गया। लब्धप्रतिष्ठ विद्वान डॉ. रागेयराघव ने लिखा है—"ब्रह्म, आदिरूप में अग्नि के चारों ओर इकट्ठे गोत्र का नाम था। जो सब कह दें, वही ब्रह्म का

कथन था। ब्रह्म, आगे चलकर सबका तो रहा, परन्तु पौरोहित्य हाथ में रखने वाले नेता बने और वे नेता ब्राह्मण कहलाने लगे। यह ब्रह्म जब विकसित हुआ, तब आर्यों में अनेक जातियां मिलीं। उनमें अपने-अपने विकास के अलग-अलग देवता थे। किसी का पुलस्त्य, किसी का कुछ। वे सब ब्रह्म के पर्याय बने।...इस ब्रह्म को पुरुष सूक्त में समाज का रूप समझा गया। वैदिक काल के बाद यह ब्रह्म प्रधान देवता बना क्योंकि स्रष्टा था। यह पुराने इन्द्र आदि, नाग आदि देवताओं से अपर माना गया। अपर मानना जातियों के विकास का लक्षण था, क्योंकि अपने-अपने देवता के लिए झगड़ा बंद हुआ, एक और बड़े देवता की खोज हुई और वह उपनिषद् का ब्रह्म बना। इसी ब्रह्म ने दर्शन के 'ब्रह्म' के रूप में विकास किया; और कालांतर में सहिष्णुता से ब्रह्मा, विष्णु, महेश के त्रय में समस्त भारतीय जातियों के देवता अंतर्भुक्त हो गये और एक व्यापक परिवार बन गया।"[1]

इस प्रकार ब्रह्म शब्द अग्नि से चलकर अनेक रूपों में यात्रा करते हुए उपनिषद् का ब्रह्म बना। इस ब्रह्म का एक अर्थ जगत का अभिन्न निमित्त उपादान कारण है। अर्थात वह जगतरूप है। यह भ्रामक है। दूसरा अर्थ ब्रह्म सबका अपना आत्मरूप है। अर्थात यह चेतन एवं आत्मा ही ब्रह्म है। जो इसको जानता है और जानकर इसमें स्थित है, वह ब्राह्मण है। उपनिषदों में यह बात कही गयी है कि जो ब्रह्म को जानता है, वह ब्राह्मण है। ब्रह्म और ब्राह्मण शब्द पकते-पकते उपनिषद्काल तक जिस तरह परिपक्व हुआ, वह आदरणीय है।

ब्राह्मण बड़ा प्यारा शब्द है। यह परम आदरणीय है। जो यह समझता है कि देह असत्य है और देह के भीतर रहने वाला चेतन परम सत्य है; वह देहाभिमान तथा विषयवासनाओं का त्यागकर अपने चेतनस्वरूप में ही रमता है। अपने चेतनस्वरूप में रमना ही ब्रह्म में रमना है, और यही ब्राह्मणत्व का लक्षण है। जो ऐसी स्थिति में हो, वही ब्राह्मण है। जो अपने से अभिन्न या भिन्न किसी प्रकार मानकर चेतन की उपासना करता है और जड़ासक्ति को छोड़ता है, वही ब्राह्मण है। इस तथ्यात्मक दृष्टि से बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद, लाओत्जे, कनफ्यूसियस, शंकर, रामानुज, कबीर, नानक, दादू, पलटू, तुलसी, रैदास आदि महापुरुष ब्राह्मण हैं। नीचे के उदाहरण इन विचारों को पुष्ट करेंगे, मनन कीजिए—

1. महायात्रा गाथा 2/2/281-282।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ (गीता 18/42)

भावार्थ—'शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान तथा आस्तिकभाव—वे ब्राह्मणों के स्वाभाविक कर्म हैं।'

जितेन्द्रियः धर्मपरः स्वाध्यायनिरतः शुचिः।
कामक्रोधौ वशौ यस्य तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥

(महाभारत, वनपर्व 206/34)

भावार्थ—जो जितेन्द्रिय, धर्मपरायण, स्वाध्याय में तत्पर और पवित्र है तथा काम-क्रोध जिसने जीत लिया है; उसे देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं।

वज्रसूची-उपनिषद् में पाण्डु के प्रसिद्ध पुत्र युधिष्ठिर ने वैशम्पायन से करबद्ध नमस्कार कर पूछा—ब्राह्मण किसे कहते हैं? ब्राह्मणों के लक्षण क्या हैं? वैशम्पायन बोले—

क्षान्त्यादिभिर्गुणैर्युक्तस्त्यक्तदण्डो निरामिषः।
न हन्ति सर्वभूतानि प्रथमं ब्रह्मलक्षणम्॥ 34॥

भावार्थ—क्षमा-शांति आदि गुणों से युक्त होना, शस्त्र का त्याग कर देना, मांस-भक्षण न करना, किसी जीव की हत्या न करना—ब्राह्मण का पहला लक्षण है॥ 34॥

यदा सर्वं परद्रव्यं पथि वा यदि वा गृहे।
अदत्तं नैव गृह्णाति द्वितीयं ब्रह्मलक्षणम्॥ 35॥

भावार्थ—घर में या सड़क पर—कहीं भी पड़ी हुई दूसरे की वस्तु बिना दिये नहीं लेना—यह ब्राह्मण का दूसरा लक्षण है॥ 35॥

त्यक्त्वा क्रूरस्वभावं तु निर्ममो निष्परिग्रहः।
मुक्तश्चरति यो नित्यं तृतीयं ब्रह्मलक्षणम्॥ 36॥

भावार्थ—क्रूर स्वभाव को छोड़कर दयावान होना, ममता-स्वार्थ त्यागना, अधिक संग्रह न करना, संसारियों के सम्बन्ध को छोड़कर तथा स्वतंत्र होकर सदैव विचरना—यह ब्राह्मण का तीसरा लक्षण है॥ 36॥

देवमानुष नारीणां तिर्यगयोनिगतेष्वपि।
मैथुनं हि सदा त्यक्तं चतुर्थं ब्रह्मलक्षणम्॥ 37॥

भावार्थ—देवता हो, मनुष्य हो तथा पशु ही क्यों न हो, जिसने मैथुन-कर्म सदैव के लिए त्याग दिया है—वह ब्राह्मण के चतुर्थ लक्षण से युक्त है॥ 37॥

सत्यं शौचं दया शौचं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूत दया शौचं तपः शौचञ्च पञ्चमम्॥ 38॥

भावार्थ—सत्य ही पवित्रता है, करुणा ही पवित्रता, इन्द्रियों का निग्रह ही पवित्रता है, सब प्राणियों पर दया करना ही पवित्रता है, धर्म की रक्षा के लिए कष्ट सहना रूप तप ही पवित्रता है (इन सबसे युक्त रहना)—ब्राह्मण का पांचवां लक्षण है॥ 38॥

पञ्चलक्षणसम्पन्नः ईदृशो यो भवेद् द्विजः।
तमहं ब्राह्मणं ब्रूयां शेषाः शूद्रा युधिष्ठिरः॥ 39॥

भावार्थ—हे युधिष्ठिर! उपर्युक्त पांचों लक्षणों से जो सम्पन्न है, वही द्विज है; मैं उसी को ब्राह्मण कहता हूं, बाकी दूसरे सब शूद्र हैं॥ 39॥

न कुलेन न जात्या वा क्रियाभिर्ब्राह्मणौ भवेत्।
चाण्डालोऽपि हि वृतस्थो ब्राह्मणः स युधिष्ठिर॥ 40॥

भावार्थ—हे युधिष्ठिर! कुल से, जाति से और बहुत-सी क्रिया-कलापों से कोई ब्राह्मण नहीं होता। यदि कोई भंगी भी उत्तमगुणों से युक्त है तो वह ब्राह्मण है॥ 40॥

एकवर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीद्युधिष्ठिर।
कर्मक्रियाविशेषेण चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम्॥ 41॥

भावार्थ—हे युधिष्ठिर! प्राचीनकाल में, संसार में एक ही वर्ण (मानव समाज) था। पीछे कर्मों के अनुसार चारों वर्णों का विभाग हुआ॥ 41॥

सर्वे वै योनिजा मर्त्याः सर्वे मूत्रपुरीषिणः।
एकेन्द्रियेन्द्रियार्थाश्च तस्माच्छीलगुणैर्द्विजाः॥ 42॥

भावार्थ—सबकी उत्पत्ति अधोद्वार से है, सभी का शरीर मरणशील है, सबके शरीर मल-मूत्रों से भरे हैं, सबमें एक ही प्रकार से इन्द्रियां और विषय हैं; अतएव शीलगुण (उत्तम आचरण) वाला ही ब्राह्मण है॥ 42॥

शूद्रोपि शीलसम्पन्नो गुणवान् ब्राह्मणो भवेत्।
ब्राह्मणोऽपि क्रियाहीनः शूद्रात्प्रत्यवरो भवेत्॥ 43॥

भावार्थ—शील तथा सद्गुणसम्पन्न शूद्र भी ब्राह्मण है और आचरणहीन ब्राह्मण शूद्र से भी गया-बीता है॥ 43॥

न जातिर्दृश्यते राजन् गुणाः कल्याणकारकाः।
जीवितं यस्य धर्मार्थे परार्थे यस्य जीवितम्।
अहोरात्रं चरेत्क्षान्तिं तं देवा ब्राह्मण विदुः॥ 45॥

भावार्थ—हे राजन्! जाति नहीं देखी जाती, सद्गुण ही कल्याणकारी होते हैं, जो धर्म के लिए, परोपकार के लिए जीता है और जो रात-दिन क्षमाशील है उसको देवता (उत्तम) लोग ब्राह्मण कहते हैं॥ 45॥

परित्यज्य गृहावासं ये स्थिता मोक्षकाङ्क्षिण:।
कामेष्वसक्ता: कौन्तेय ब्राह्मणास्ते युधिष्ठिर॥ 46॥

भावार्थ—हे कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर! जिसने घर-गृहस्थी में रहना त्याग दिया है, जो विषय-कामनाओं का त्यागी तथा मोक्षसाधन-परायण है, वह ब्राह्मण है॥ 46॥

अहिंसा निर्ममत्वं चामतकृत्यस्य वर्जनम्।
रागद्वेष निवृत्तिश्च एतद् ब्राह्मणलक्षणम्॥ 47॥

भावार्थ—किसी जीव को कष्ट न देना, ममतारहित रहना, धर्मशास्त्रों के विरुद्ध आचरण न करना, राग-द्वेष का त्याग करना—ये ब्राह्मण के लक्षण हैं॥ 47॥

यदा न कुरुते पापं सर्वभूतेषु दारुणम्।
कायेन मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ 52॥

भावार्थ—जो शरीर, मन और वचन से किसी प्राणी को कष्ट नहीं पहुंचाता, वह ब्राह्मणत्व को प्राप्त करता है॥ 52॥

अस्माभिरुक्तं यदिदं द्विजानां मोहं निहन्तुं हतबुद्धिकानाम्।
गृह्णन्तु सन्तो यदि युक्तमेतन्मुञ्चन्त्वथायुक्तमिदं यदि स्यात्॥ 53।

भावार्थ—जिनकी बद्धि मारी गयी है ऐसे ब्राह्मणों के अज्ञान अर्थात विपरीत धारणा को मिटाने के लिए यहां जो कुछ कहा गया है, यदि वह उचित हो तो गुणग्राही सज्जन ग्रहण करें, यदि अनुचित प्रतीत हो तो त्याग दें॥ 53॥

श्री वेदव्यास जी महाभारत, शांतिपर्व के 189वें अध्याय में कहते हैं—

शौचाचारस्थित: सम्यग्विघसाशी गुरुप्रिय:।
नित्यव्रती सत्यपर: स वै ब्राह्मण उच्यते॥ 3॥

भावार्थ—जो शौच एवं सदाचार का पालन तथा उत्तम यज्ञशिष्ट अन्न का भोजन करता है, गुरु के प्रति प्रेम रखता, नित्य व्रत का पालन करता तथा सत्य में तत्पर रहता है, वह ब्राह्मण है॥ 3॥

सत्यं दानमथाद्रोह आनृशंस्यं त्रपा घृणा।
तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृत:॥ 4॥

भावार्थ—जिसमें सत्य, दान, द्रोह न करने का भाव, क्रूरता का अभाव, लज्जा, दया और तप—ये सद्गुण देखे जाते हैं, वह ब्राह्मण माना गया है॥ 4॥

महाभारत के नहुषोपाख्यान में युधिष्ठिर का कथन है—

जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते।
संकरात् सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः॥
सर्वे सर्वास्वपत्यानि जनयन्ति सदा नराः।
तस्माच्छीलं प्रधानेष्टं विदुर्ये तत्त्वदर्शिनः॥

(महाभारत, वनपर्व 180/31-33)

भावार्थ—हे महामति सर्प (नहुष)! यहां जाति का अर्थ मनुष्यत्व है। अर्थात पूरा मनुष्य-समूह एक जाति है। ब्राह्मण आदि रूढ़ वर्णों का आपस में इतना मिश्रण हो गया है कि उनकी अलग से परीक्षा करना कठिन है। क्योंकि सभी रूढ़ वर्णों एवं जातियों के पुरुषों ने सदा से सभी वर्णों एवं जातियों की स्त्रियों से बच्चे पैदा किये हैं। इसलिए तत्त्वदर्शी पुरुषों ने शील एवं सदाचार को ही प्रधान माना है, रूढ़ वर्ण एवं जाति को नहीं।

महात्मा बुद्ध कहते हैं—

सब्बसञ्ञोजनं छेत्त्वा यो वे न परितस्सति।
सङ्गातिगं विसञ्ञुतं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

भावार्थ—जो सारे बंधनों को काटता है, भय नहीं करता, जो संग तथा आसक्ति से विरत है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

बारि पोक्खरपत्ते व आरग्गरिव सासपो।
यो न लिप्यति कामेसु तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

भावार्थ—कमल के पत्ते पर जल तथा आरे के नोक पर सरसों जैसे नहीं ठहरता, वैसे जो भोगों में लिप्त नहीं होता, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

यस्स पुरे च पच्छा च मज्झ च नत्थि किञ्चनं।
अकिंचन अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

भावार्थ—जिसके पहले, पीछे और बीच में कुछ नहीं है, जो परिग्रहरहित, आदानरहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

(धम्मपद, 397, 401, 421)

"घर मा यज्ञ प्रतिग्रह आने।" इस प्रकार ब्रह्म को न जानना तथा उसमें न रमना और केवल दूसरे के यहां यज्ञादि कर्मकांड करवाकर दान घर में ले आना—इतना ही ब्राह्मणत्व समझना बहुत स्थूल-बुद्धि का लक्षण है।

"जेहि सिरजा तेहि नहिं पहिचाने। कर्म धर्म मति बैठि बखाने॥" जिन जड़ और चेतन से सबकी रचना होती है, उनकी परख नहीं करते। जहां तक जड़सृष्टि और चेतनसृष्टि का विस्तार है उनका कोई कारण अवश्य है।

भावनावादी लोग कहते हैं कि इन सबको किसी पृथक ईश्वर ने बनाया है और विवेकवादी कहते हैं कि विचारना यह है कि सृष्टि है क्या। मूल जड़ तत्त्व नित्य हैं। उन्हें कोई बनाता नहीं है। उनसे पृथक असंख्य चेतन हैं। वे भी स्वतंत्र-सत्ता वाले हैं। क्योंकि चेतन जड़ से सर्वथा विलक्षण हैं और सर्वथा विलक्षण द्रव्य स्वतः, नित्य, अनादि एवं अनंत होता है। इस प्रकार जड़ और चेतन किसी की रचना नहीं है, किन्तु इनकी स्वतः एवं नित्य सत्ता है। इनके गुण-धर्मों से सृष्टि होती है, यह प्रत्यक्ष है। सृष्टि दो प्रकार की है, एक जड़ात्मक सृष्टि, दूसरी जड़-चेतनात्मक सृष्टि। पेड़, पहाड़, नदी, झरना, बादल, वर्षा, छह ऋतुओं का परिवर्तन आदि केवल जड़ात्मक सृष्टि है, और छोटे-बड़े प्राणियों की देहें, नाना विद्याएं, कलाएं, ज्ञान-विज्ञान का विस्तार, वेद-शास्त्र, साहित्य आदि जड़-चेतनात्मक सृष्टि है। जड़ात्मक सृष्टि तो केवल जड़ तत्त्वों के संयोग का फल है तथा जड़-चेतनात्मक सृष्टि जड़-चेतन के संयोग से है। भावनावादी एक कल्पित ईश्वर द्वारा सृष्टि होने की अवधारणा करता है जो केवल कल्पना ही है और सत्य ज्ञान के अभाव का फल है; परन्तु विवेकवादी अपने विवेक से सृष्टि के मूल कारणों पर विचारकर तथ्य की गहराई में पहुंचते हैं। इस प्रकार जड़-चेतन के भेद को समझकर तत्त्वबोध की गहराई में पहुंचना पांडित्य के लक्षण हैं, न कि केवल कर्मकांड को ही बड़ा भारी धर्म मानकर उसी का बैठकर व्याख्यान करते रहना।

"ग्रहण अमावस और दुईजा। शान्ति पाँति प्रयोजन पूजा॥" अर्थात ग्रहण, अमावस्या और द्वितीया एवं यमद्वितीया तथा शांति के नाम पर अनेक प्रकार की पूजा करवाना यह सब केवल दान-दक्षिणा पाने के लिए ही है।

सामान्य जनता और पंडित लोग भी यह विश्वास करते हैं कि चन्द्रग्रहण एवं सूर्यग्रहण का कारण है राहु का उन्हें ग्रसना एवं निगल जाना।

भारत में वराहमिहिर[1] प्रसिद्ध खगोलवेत्ता हो गये हैं। इनका काल 507 से 587 ई. के मध्य माना जाता है। आपने लिखा है—"चन्द्रग्रहण में चन्द्र पृथ्वी की छाया में आ जाता है तथा सूर्यग्रहण में चन्द्र सूर्य में प्रविष्ट हो जाता है। अर्थात सूर्य और पृथ्वी के बीच में चन्द्र आ जाता है। ग्रहणों के इन कारणों को पहले के आचार्य अपनी दिव्यदृष्टि से जानते थे। राहु ग्रहणों का कारण

---

1. कहा जाता है वराहमिहिर उज्जैन के राजा विक्रमादित्य के दरबारी थे। कुछ लोगों का कहना है कि राजा नौशेरवां (531-579 ई.) के दरबार में वराहमिहिर उच्च पद आसीन थे। वराहमिहिर भारत के प्रसिद्ध गणित ज्योतिषी हुए हैं।

नहीं है, यही सत्य स्थिति है जिसे शास्त्र घोषित करता है।"[1]

आज ईसा की बीसवीं सदी के लगभग डेढ़ हजार वर्ष पूर्व भारतीय गणित ज्योतिषी वराहमिहिर ने ग्रहण के विषय में इतनी वैज्ञानिक घोषणा कर दी थी। इतना होने पर भी आज तक पत्राधारी पंडित जनता में भ्रम फैलाते रहते हैं कि सूर्य तथा चन्द्रमा को राहु ग्रसता है इसलिए उसके उपलक्ष्य में दान करो।

वराहमिहिर ने सूर्य तथा चन्द्रमा के ग्रहण का कारण तो ठीक बताया, परन्तु पुरोहित-पंडितों के दान के सम्बन्ध में एक काल्पनिक व्यवस्था सुरक्षित रखी। भारतरत्न महामहोपाध्याय डॉ. पांडुरंग वामन काणे जी लिखते हैं—"वराहमिहिर ने श्रुति, स्मृति, सामान्य विश्वास एवं ज्योतिष के सिद्धान्त का समाधान करने का प्रयत्न किया है, और कहा है कि एक असुर था जिसे ब्रह्मा ने वरदान दिया कि ग्रहण पर दिये गये दानों एवं आहुतियों से तुमको सन्तुष्टि प्राप्त होगी। वही असुर अपना अंश ग्रहण करने को उपस्थित रहता है और उसे लाक्षणिक रूप से राहु कहा जाता है।"[2] वामन काणे जी वराहमिहिर के इस ऊलजलूल समाधान पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं—"बुद्धिवाद, सामान्य परम्पराएं एवं अन्धविश्वास एक साथ नहीं चल सकते।"[3]

सूर्य और चन्द्रग्रहण कैसे होते हैं, इन्हें आज-कल एक किशोर भी जानता है, जो साधारण स्कूल में पढ़ता है, कि चन्द्र, सूर्य और पृथ्वी जब एक सिधाई में आ जाते हैं तब आड़ हो जाने से पीछे वाला नहीं दिखता। इसमें राहु आदि का कुछ चक्कर नहीं है। न इसमें कोई पाप है और न पुण्य। फिर भी आज के इस वैज्ञानिक युग में अच्छे-अच्छे पढ़े-लिखे लोग ग्रहण के समय भोजन नहीं करते हैं, ग्रहण के बाद स्नान करते हैं, दान करते हैं। स्नान-दान अच्छी बात है; परन्तु अन्धविश्वासपूर्वक नहीं होने चाहिए। स्नान मनुष्य को नित्य करना चाहिए। पवित्रात्माओं को सेवा की दृष्टि से, अभावग्रस्तों को करुणा की दृष्टि से एवं सार्वजनिक संस्थानों को लोकोपकार की दृष्टि से, समय-समय से दान करना अच्छा है। परन्तु अन्धविश्वास और पाखंड से बचना चाहिए।

जो जनता इस युग में भी अन्धविश्वास में डूबी है, उसका कारण है

---

1. भूच्छायां स्वग्रहणे भास्करमर्कग्रहे प्रविशतीन्दुः।
इत्युपरागकारणमुक्तमिदं दिव्यदृग्भिराचार्यैः॥
राहुरकारणमस्मिन्नियुक्तः शास्त्रसद्भावः॥ (वृहत्संहिता 5/8 एवं 13)
(धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 4, पृ. 91)

2. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 4, पृष्ठ 93।

3. वही,

पुराकाल से धर्मग्रन्थों में अन्धविश्वास की बातें लिखी गयीं और उन्हें सामान्य पंडित-पुरोहित फैलाते रहे। लिखा गया—"यदि कोई व्यक्ति ग्रहणकाल एवं संक्रांतिकाल में स्नान नहीं करता तो वह भावी सात जन्मों में कोढ़ी हो जायेगा और दुख का भोगी होगा।"[1] व्यास के मुख से कहलवाया गया है कि साधारण दिनों की अपेक्षा चन्द्रग्रहण का दिन एक लाख गुना फलदायक है, और सूर्यग्रहण पहले से दस गुना (अर्थात सामान्य दिन से दस लाख गुना)। यदि गंगा-जल स्नान के लिए पास में हो तो चन्द्रग्रहण एक करोड़ गुना अधिक फलदायक है। और सूर्यग्रहण दस करोड़ गुना फलदायक है।[2] चन्द्र तथा सूर्य-ग्रहण के बाद दान करने की लम्बी-चौड़ी बातें की गयी हैं। इसी प्रकार अमावस्या, द्वितीया, यमद्वितीया आदि अनेक तिथियों, व्रतों, त्योहारों आदि के आधार पर दान कराने की बात की जाती है।

हर प्राणी अनिष्ट एवं खतरे से घबराता है। मनुष्य ज्यादा समझदार होने से वह ज्यादा घबराता है। क्योंकि वह दूर तक सोचता है और भावी अनिष्ट की नयी-नयी कल्पनाएं कर उसके निवारण के लिए सदैव प्रयत्नवान रहता है। भारतीय परम्परा के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में भी दुस्स्वप्नों, अपशकुनों एवं अनेक उपद्रवों से बचने के लिए सविता (सूर्य), वरुण, इन्द्र आदि से प्रार्थना की गयी है।[3]

भूचालों, ग्रहणों, धूमकेतुओं, उल्कापातों, अंधड़-दुस्स्वप्नों आदि से भयभीत होकर मनुष्यों ने उनकी शांति के लिए पूजा-पाठ का विधान रचा। इतना ही नहीं, अंग फड़कने, शरीर पर छिपकिली के गिरने आदि से भी आदमी आशा-निराशा के झूले में झूलता है। मनुष्यों के मन की कमजोरियों से फायदा उठाकर पुरोहितों ने शांति के बड़े-बड़े प्रपंच रच डाले हैं। धर्मग्रन्थों, महाकाव्यों तथा पुराणों में ये अन्धविश्वास फैला दिये गये हैं। महाभारत तथा रामायण में पदे-पदे शकुन-अपशुकन का भ्रम मढ़ा है।

ग्रह आकाश में हैं, जड़ हैं। वे मनुष्य पर टेढ़े कैसे होंगे! यदि टेढ़े होंगे तो सभी मनुष्यों पर, जैसे सूर्य का प्रकाश सब पर बराबर है। यदि पूजा कर कोई सूर्य की गरमी नहीं शांत कर पाता, तो पूजा करके ग्रह की शांति कैसे हो

---

1. वही, भाग 4, पृष्ठ 92/स. म. पृष्ठ 130।
2. व्यासः इन्दोर्लक्षगुणं प्रोक्तं रवेर्दशगुणं स्मृतम्।
गंगातोये तु सम्प्राप्ते इन्दोः कोटी रवेर्दश॥
(हेमाद्रिकाल पृष्ठ 384/धर्मशास्त्र का इतिहास 4/92)
3. ऋग्वेद 8/47/15-18; 10/36/4; 10/37/4; 2/43/1-3; 10/165/1-5 आदि।

सकती है? ग्रह-शांति भी पुरोहितों का कमाने-खाने का धंधा है। पुरोहित-पंडितों ने ग्रहों को लेकर समाज को काफी डरा रखा है।

"शांतिमयूख (पृष्ठ 12) जैसे कुछ मध्यकालिक ग्रन्थों ने स्कन्द पुराण के पद्यों को उद्धृत करते हुए कहा है कि शनि की प्रतिकूल दृष्टि के कारण सौदास को मानुष-मांस खाना पड़ा, राहु के कारण नल को पृथ्वी पर घूमना पड़ा, मंगल के कारण राम को वनगमन करना पड़ा, चन्द्र के कारण हिरण्यकश्यपु की मृत्यु हुई, सूर्य के कारण रावण का पतन हुआ, बृहस्पति के कारण दुर्योधन की मृत्यु हुई, बुध के कारण पांडवों को उनके अयोग कर्म करना पड़ा तथा शुक्र के कारण हिरण्याक्ष को युद्ध में मरना पड़ा।"[1]

इसलिए धर्मसिन्धु नामक ग्रन्थ में सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु तथा केतु की शांति के लिए ब्राह्मणों को दान देने का जो विधान बताया गया है वह अद्भुत है—हीरे, मोती, सोना, चांदी, पशु, अन्न, वस्त्र, शकर आदि बड़ी लम्बी लिस्ट है।

मत्स्यपुराण में बताया गया है कि राज्य की निर्विघ्न व्यवस्था के लिए 'अभय-शांति'। रोग-निवारण के लिए 'सौम्य-शांति'। दुर्भिक्ष तथा चौरत्वादि निवारण के लिए 'वैष्णवी-शांति'। पशु-रोग, महामारी, विश्वासघात आदि निवारण के लिए 'रौद्री-शांति।' नास्तिकता से बचाव तथा वेद-मार्ग की सुरक्षा के लिए 'ब्राह्मी-शांति'। अंधड़-तूफान तथा वात-रोग से बचने के लिए 'वायवी-शांति'। अनावृष्टि-निवारण के लिए 'वारुणी-शांति'। असामान्य प्रजनन के निवारण के लिए 'प्राजापत्य-शांति'। हथियारों की असामान्य-दशा के सुधार के लिए 'त्वाष्ट्री-शांति'। बच्चों के लिए 'कौमारी-शांति'। अग्नि के लिए 'आग्नेयी-शांति'। आज्ञा उल्लंघन में पत्नी एवं नौकरों के नाश में या घोड़ों के लिए 'गांधर्वी-शांति'। हाथियों के बीमारी-निवारण में 'आंगिरसी-शांति'। पिशाचों से बचने के लिए 'नैर्ऋती-शांति'। मृत्यु या दुस्स्वप्न की घटनाओं में 'याम्या-शांति'। धन-हानि में 'कौबेरी-शांति'। यदि पेड़-पौधे नष्ट हो रहे हों तो 'पार्थिवी-शांति'। जेष्ठा या अनुराधा नक्षत्र में उत्पात होते हैं, तो 'ऐन्द्री-शांति' की जाती है।[2] उदक शांति, महाशांति, अमृता महाशांति आदि का बड़ा-बड़ा प्रपंच पंडितों ने रच डाला है। क्योंकि वेद और वैदिक साहित्य में भी स्वर्ग, अंतरिक्ष, पृथ्वी, जल, औषध, वनस्पति, विश्वदेव आदि सबको

---

1. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 4, पृष्ठ 356।
2. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 4, पृष्ठ 351।

शांत करने की बात की गयी है।[1]

नवजात बच्चा मूलगडंत में पड़ गया है, सत्तइसा में पड़ गया है, इसके ऊपर ग्रह टेढ़ा हो गया है आदि चक्कर डालकर समाज के लोगों को खूब बेवकूफ बनाया गया है।

हां, प्राचीन लेखकों में महर्षि अंगिरा-जैसा कोई बिरला लेखक है जो इन पाखंडों का विरोध करता है। अंगिरा कहते हैं—"ग्रहों की गतियां, स्वप्न, निमित्त (आंख फड़कना आदि) तथा उत्पात काकतालीय न्याय फल देते हुए-से प्रतीत होते हैं। इसलिए विवेकवान इनसे भयभीत नहीं होते।"[2] काकतालीय का अर्थ होता है कि एक ताड़ का पेड़ गिरने वाला था, इतने में उस पर एक कौआ बैठ गया और पेड़ गिर गया, तो किसी अनाड़ी ने कहा कि कौआ के वजन से ताड़ का पेड़ गिर गया। वैसे ग्रह की गतियों, स्वप्नों तथा अंग फड़कने आदि से लाभ या हानि का संयोग हो जाना, या पूजा आदि करने से लाभ का संयोग हो जाना है। उस समय वह होना ही था और इनका संयोग हो गया। वामन काणे जी लिखते हैं—"इस अध्याय में वर्णित बहुत-सी शांतियां अब प्रचलित नहीं हैं। आजकल ऐसी हवा बह रही है कि वह जो शांतियां की भी जाती हैं, ऐसा लगता है, वे भी भविष्य में विलुप्त हो जायेंगी।"[3]

"प्रेत कनक मुख अन्तर बासा।" जब मनुष्य मरने लगता है तब पुरोहित लोग घरवालों से कहते हैं कि मरने वाले के मुख में सोना रख दो, अन्यथा वह भूत-योनि में चला जायेगा। भूत-प्रेत की तो कोई योनि ही नहीं होती। वस्तुतः पुरोहितों के मन में यह वासना रहती है कि यह सोना अंत में हमें मिलेगा।

"आहुति सत्य होम की आशा॥" आग में घी, मेवे, अन्न, औषधि आदि डालकर उससे कल्पित स्वर्गस्थ देवताओं को खुश करने का भ्रम तथा उनके द्वारा वृष्टि, स्वर्ग, अन्न, धन, पुत्र, राज्य, विजय आदि की प्राप्ति का भ्रम आज

---

1. द्यो: शान्तिः अन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिः आपः शान्तिः
ओषधयः शान्तिः वनस्पतयः शान्तिः विश्वेदेवाः शान्तिः
सर्वं शान्तिः सामाशान्तिरेधिः। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

2. गीतश्चायमर्थोऽङ्गिरसा। ग्रहाणां चरितं स्वप्ननिमित्तौत्पातिकं तथा।
फलन्ति काकतालीयं तेभ्यः प्राज्ञा न बिभ्यति॥
(वेणी संहार 2/15) (धर्मशास्त्र का इतिहास, 4 /361)

3. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 4, पृष्ठ 372।

भी लोगों में व्याप्त है। यह एक पुराना अन्धविश्वास है। न आकाश में देवता हैं और न हवन से उनके खुश होने की कोई बात है।

जब राजा लोग किसी युद्ध में हजारों-लाखों की हत्या कर देते थे, तब युद्ध के पश्चात पंडित उन्हें बताते थे कि इस हत्या एवं खून-खराबा के पाप से बचने के लिए अश्वमेध यज्ञ करो और अश्वमेध यज्ञ का अर्थ होता था पुनः सैकड़ों निरीह मूक पशुओं की हत्या। नर-मेध के पाप से छूटने के लिए अश्वमेध। इन सारी भूलभुलैया के मूल में अज्ञान, प्रलोभन आदि थे।

लोग आज-कल यज्ञ को सिद्ध करने के लिए उसे वैज्ञानिकता का जामा पहनाते हैं। वे कहते हैं हवन के धुआं से वातावरण शुद्ध होता है। उन्हें समझना चाहिए कि कोई भी आग कार्बन डाई आक्साइड (विषाक्त वायु) ही फैलाती है। वातावरण शुद्ध करने के लिए स्वच्छता एवं वृक्षारोपण उत्तम काम है।

"कुल उत्तम जग माहिं कहावैं। फिर फिर मध्यम कर्म करावैं॥" संसार में ब्राह्मण उत्तम कुल कहलाता है, परन्तु ये ब्राह्मण-पुरोहित अपने यजमानों से बारंबार निम्नकोटि के कर्म कराते हैं और स्वयं भी वैसा करते हैं। हिंसामय कर्मकांड, बलि के नाम पर जीव वध, मरे हुए लोगों के नाम पर किया हुआ दान उनके पास पहुंचेगा ऐसा झांसा देकर धन ऐंठना आदि निम्न कर्म ही तो हैं! ये ब्राह्मण कहलाते हैं तो इन्हें चाहिए था यजमानों को सच्चा ज्ञान देना, जीवदया का पथ बताना और सच्चा निर्णय करना, परन्तु उलटे चलने-चलाने लगे।

"सुत दारा मिलि जूठो खाई। हरि भक्तों के छूति लगाई।" यह कितनी अजीब बात है कि ब्राह्मण कहे जाने वाले लोग पत्नी-बच्चों के बीच में बैठकर परस्पर जूठा खाते हैं। विचारिये, इनके पत्नी-बच्चे कितने पवित्र होते हैं! परन्तु जो भीतर-बाहर सच्चे पवित्र होते हैं उन हरिभक्तों, संतों एवं महात्माओं में छूत लगाते हैं। कहते हैं कि भाई, इन साधुओं का छुआ हम नहीं खा सकते, क्योंकि इनकी जाति-पांति का कोई ठिकाना नहीं है। ब्राह्मणों को, जो सच्चाई है, उस शुद्ध आचरण की आवश्यकता नहीं है, अपितु कल्पित एवं झूठी जाति-पांति का अहंकार है।

"कर्म अशौच उच्छिष्टा खाई। मति भ्रष्टा यम लोक सिधाई॥" ये कर्म अशुद्ध करते हैं, हिंसायुत यज्ञ और बलिपूजा करते हैं, किसी के मर जाने पर मृत कर्म करते हैं, पिंडदान करवाते हैं, तिथि-तेरही को मृतकों के नाम से भोजन अर्पित करके फिर उनका जूठा भोजन खाते हैं। जब यह माना गया कि

मैंने मृतकों को भोजन अर्पित किया है और उसे उन्होंने खाया है, तब वह जूठा हो गया, और उसे पीछे स्वयं खाने से वासना तो खराब होगी ही। इस प्रकार मृत-भोज खाकर तथा अशुद्ध कर्म करके बुद्धि खराब होगी और उसका फल होगा यमलोक में जाना। वस्तुतः यमलोक बुरी वासनाएं हैं। जो ऐसे मलिन कर्म करेगा उसकी वासनाएं खराब होंगी ही।

"नहाय खोरि उत्तम होय आये। विष्णु भक्त देखत दुख पाये॥" ब्राह्मण-पुरोहित प्रातःकाल ही नहा-धोकर कुछ पूजा-पाठ का टंट-घंट कर लिये और अपने आप को समाज में उत्तम होने का प्रदर्शन कर लिये, परन्तु यदि वे विष्णु-भक्तों तथा संतों को देखकर दुखी हो गये कि इनके ज्ञान-भक्तिमय उपदेशों के प्रचार-प्रसार से हमारे कर्मकांड में बाधा होगी, तो उनकी स्वच्छता एवं नहाने-धोने का क्या प्रयोजन रहा!

"स्वारथ लागि रहे बेकाजा। नाम लेत पावक जिमि डाजा॥" स्थूल बुद्धि रखकर तथा भौतिक स्वार्थ में लगकर बिना काम के काम करते हैं। लोगों को निरर्थक कर्मकांडों में उलझाते हैं। धन के लाभ के लिए यजमानों के मन में भूत, प्रेत, शकुन, अपशकुन, ग्रह, लग्न, मुहूर्त्त, दिशाशूल, योगिनी, दशा तथा अनेक भ्रांति डालकर उन्हें भ्रमित करते हैं और दुख निवारण के लिए पूजा-पाठ का चक्कर डालकर भोली जनता से धन ऐंठते हैं। यह सब 'बे-काजा' है, बिना काम का काम है।

"नाम लेत पावक जिमि डाजा।" यदि ब्राह्मण का नाम ले लो कि बताओ ब्राह्मणत्व क्या है! तो आग के समान क्रोध में उबलकर कटुवचन कहने लगते हैं। शास्त्रों में ब्राह्मणत्व निष्कामदशा एवं आत्मलीनता बतायी गयी है। इसकी याद दिलाने पर क्रोध में उबल पड़ते हैं। तात्पर्य यह है कि ये अपना सुधार नहीं करना चाहते हैं, केवल उचित-अनुचित धन प्राप्त करना चाहते हैं।

"राम कृष्ण की छोड़िनि आशा। पढ़ि गुनि भये कृतम के दासा।" श्री राम के उत्तम आदर्श तथा श्री कृष्ण के गीतादि के उपदेशों पर भी इन्हें ध्यान नहीं है। बस, कर्मकांड कराने के लिए कुछ विद्या पढ़ ली और लोगों से कर्मकांड कराकर कमाने-खाने लग गये। इसके आगे पूर्वजों के उच्चादर्श एवं वेद-शास्त्रों के उत्तम उपदेशों पर चलने की कोई आवश्यकता नहीं समझते। ये कुछ पढ़े-गुने भी, तो उसका फल हुआ कृत्रिम पूजा-पाठ के दास बन जाना। कितने पुरोहित विवेकवान संतों के द्वारा भक्ति-ज्ञान का प्रचार देखकर घबरा जाते हैं। और जनता में कुछ विपरीत प्रचार करना शुरू कर देते हैं। वे

समझते हैं कि संतों द्वारा भक्ति-ज्ञान का प्रचार होने से कर्मकांड क्षीण होगा और लोग पुरोहितों को छोड़ते जायेंगे।

"कर्म पढ़ें और कर्म को धावैं। जेहि पूछा तेहि कर्म दृढ़ावैं॥ " पुरोहित केवल कर्मकांड कराने की विद्या पढ़ते हैं और यजमानों में कर्मकांड कराने के लिए दौड़ते हैं। यदि ये शास्त्र, उपनिषद्, गीतादि पढ़ें तो इन्हें आत्मज्ञान की तरफ सूझ हो। यदि कोई इनसे आत्मकल्याण की भी बात पूछे, तो ये उससे पूजा-पाठ एवं कर्मकांड करने की ही बात करते हैं। जिससे इनकी पूजा-प्रतिष्ठा हो उसी के इर्द-गिर्द इनकी बुद्धि रहती है। ये यजमानों के मन में कर्मकांड की बात ही पक्की करते हैं।

"निष्कर्मी की निंदा कीजै। कर्म करे ताही चित दीजै।" यदि कोई कर्मकांड से हटकर ज्ञान, भक्ति, वैराग्यादि पथ की चर्चा करता है और भक्ति-ज्ञान के पथ में चलता है तो उसकी पुरोहित लोग निंदा करते हैं। कहते हैं कि ये मुड़िया कुलक्षणी हैं। अतः पुरोहित कर्मकांड के करने-कराने में ही प्रसन्न रहते हैं।

कोई भक्ति से चले, ज्ञान से चले और वैराग्य से चले, तो उससे पुरोहित को क्या मिलेगा! उसको तो दक्षिणा तभी मिलेगी जब लोग कर्मकांड करावें। इसीलिए आज से हजारों वर्ष पूर्व पुरोहितों ने विष्णुभक्तों पर उलझकर उन्हें गाली दी। उसने कहा—"जो वेदों को नहीं पढ़ना जानता, वह शास्त्रों को पढ़ता है, जो शास्त्रों को नहीं पढ़ता जानता, वह पुराणों को पढ़ता है, जो पुराणों को नहीं पढ़ना जानता, वह खेती करता है, परन्तु जो सब प्रकार से भ्रष्ट हो जाता है, वह भगवान का भक्त हो जाता है।"[1] पुरोहितों को भगवान-भक्तों से इसीलिए चिढ़ थी कि वे कह रहे थे कि जो भगवान की भक्ति में लीन है उसे कर्मकांड से कोई वास्ता नहीं है।

"भक्ति भगवन्त की हृदया लावैं। हरणाकुश को पन्थ चलावैं।" पुरोहित कहते हैं कि हम भी भगवान की भक्ति करते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि बड़ी अच्छी बात, तो फिर हिरण्यकश्यपु का मार्ग क्यों पकड़ते हैं! कहावत के अनुसार हिरण्यकश्यपु प्रहलाद को विष्णु-भक्ति से रोकता था और उन्हें नाना कष्ट देता था। इसी प्रकार पुरोहित भक्तिपथ, कर्मकांड से रहित होने से उस पर चलने वालों को भला-बुरा कहते हैं।

---

1. वेदैर्विहीनाश्च पठन्ति शास्त्रं शास्त्रेण हीनाश्च पुराणपाठाः।
पुराणहीनाः कृषिणो भवन्ति भ्रष्टास्ततो भागवता भवन्ति॥
(अत्रि 384, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-1, पृष्ठ 153)

"देखहु सुमति केर परकाशा। बिनु अभ्यन्तर भये कृतम के दासा॥" कबीर साहेब पुरोहितों की बुद्धि पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं कि इनकी सुबुद्धि का प्रकाश तो देखो! ये भगवान का नाम लेते हुए भी भक्तिपथ के विरोधी हैं। वस्तुतः हृदय के भीतर ज्ञान का प्रकाश न होने से ही ये बनावटी कर्मकांड के गुलाम हो गये हैं। इसलिए कर्मकांड में पड़कर इन्होंने अपनी बुद्धि एवं सहजज्ञान का दुरुपयोग किया है, उसके ऊपर परदा डाला है।

"जाके पूजे पाप न ऊड़े। नाम स्मरणी भव मा बूड़े॥" सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे पुरोहितों के पूजने से जनता के पाप नहीं उड़ सकते हैं। अर्थात उनके पाप नहीं छूट सकते। जो स्वयं आत्म-विवेक से हीन बना भटक रहा है उसको पूजने से पूजकों का कल्याण कैसे होगा! निर्मल संतों की पूजा-उपासना कल्याणकारी है, कर्मकांड और कामना में डूबे हुए लोगों की उपासना कल्याणकारी नहीं है। बल्कि ऐसे लोगों के नाम का स्मरण होते ही भवसागर में डूबना है। सकामी की याद मलिनता ही में डूबायेगी।

"पाप पुण्य कै हाथहिं पासा। मारि जगत का कीन्ह बिनाशा।" पुरोहितों ने पाप और पुण्य के फंदे अपने हाथों ले रखा है। वे जिसे पाप कहना चाहें उसे पाप कह दें और जिसे पुण्य कहना चाहें उसे पुण्य कह दें।[1] पाप-पुण्य की मानवीय विवेक से मानो कोई व्याख्या नहीं है। अतएव पुरोहितों ने मनुष्य की स्वतंत्रबुद्धि को मार कर संसार का विनाश कर डाला है।

ध्यान रहे, संसार के प्रायः हर संप्रदाय में कुछ कर्मकांड होता है। उसका पक्षधर पुरोहित होता है। पुरोहित यह नहीं चाहता कि भक्ति और ज्ञान मार्ग का ज्यादा प्रचार हो, क्योंकि इससे उसके कर्मकांड तथा आय में बाधा पड़ती है। इसलिए संसार के सभी संप्रदायों का पुरोहितवर्ग ज्ञान का प्रायः सब समय विरोधी रहा है। चाहे ब्राह्मण-परम्परा, चाहे ईसाई एवं इसलामी परम्परा और चाहे अन्य परंपरा के पुरोहित, वे अपने यजमानों को कर्मकांड के बल पर कल्पित स्वर्ग के टिकट देते रहे और ज्ञान का विरोध करते रहे।

हर नियम का अपवाद भी होता है। हर संप्रदाय के पुरोहितों में से ऐसे पुरोहित भी होते रहे और आज भी हैं जो उदार हैं। वे कर्मकांड की अतिशयोक्ति के नकलीपन को जानते हैं और उसकी गुप्त-प्रकट आलोचना भी करते हैं तथा सच्चे ज्ञान का समर्थन करते हैं। अंततः तो प्रायः सभी कर्मकांडी पुरोहित कर्मकांड के मिथ्यात्व को स्वीकारते हैं, भौतिक स्वार्थ के

---

1. इसके लिए 14वीं एवं 31वीं रमैनी की व्याख्या देखें।

कारण उसका गुण गाते रहते हैं।

"ई बहनी कुल बहनि कहावै। 'ई' गृह जारे 'ऊ' गृह मारे॥" बहनी का अर्थ वहन करना, ढोना, ले जाना, तारना है, आौर बह्नि अर्थात आग भी है। सद्‌गुरु व्यंग्यात्मक ढंग से दोनों अर्थों का एक साथ प्रयोग करते हैं कि ये पुरोहित लोग जगत-तारक बनते हैं, कुल-बहनि—कुल-तारक एवं कुल-गुरु बनते हैं, परन्तु वस्तुत: ये तारक नहीं, डुबाने वाले हैं। ये वहन करने वाले नहीं, किन्तु कुल-बह्नि हैं। अर्थात कुल को भस्म करने वाले हैं। ये लोक रूपी 'ई' गृह तथा परलोक रूपी 'ऊ' गृह, दोनों के जारने-मारने वाले हैं। मानव-समानता के बोध और आत्मज्ञान से विमुख कर ऊंच-नीच भेदजनक भावनाओं तथा कर्मकांड की खाई में ढकेल देना लोक-परलोक दोनों बिगाड़ देना है। मानवता तथा समानता की बुद्धि नष्ट होने से मानवता का व्यवहार मिट जाता है। और आत्मज्ञान से विमुख हो जाने पर परमार्थ से हाथ धो देना होता है। इसलिए मानो लोक-परलोक दोनों बिगड़ गये। इसलिए इस मलिन पौरोहित्य ने व्यवहार-परमार्थ दोनों बिगाड़ दिया।

"बैठे ते घर साहु कहावै। भीतर भेद मनमुखहि लगावै।" ये लोग मोह-माया में आकंठ डूबे हुए घर-गृहस्थी में बैठे हैं, परन्तु कहलाना चाहते हैं साधु, उत्तम एवं जगत-पूज्य! यहां तक कि विरक्त संतों से भी अपना नमस्कार और आदर चाहते हैं। इनके भीतर में भेदभावना है कि हम अन्य लोगों से जन्मजात श्रेष्ठ हैं। इस प्रकार इनके सब व्यवहार प्राय: मनमुखी अर्थात मनमानी हैं।

"ऐसी विधि सुर विप्र भनीजे। नाम लेत पीचासन दीजे॥" इस प्रकार उलटा-पलटा व्यवहार रखने वाले विप्र लोग भू-सुर अर्थात संसार के देवता कहलाना चाहते हैं। इन्हें ऊंचे आचरण से कोई प्रयोजन नहीं है। ये तो जन्म से ही देवता हैं, जगत्पूज्य हैं। जैसे ये अपने को बतावें कि हम ब्राह्मण हैं, वैसे ही जनता को चाहिए कि इन्हें ऊंचा आसन दे, जल दे, भोजन दे।

आचरण की परवाह किये बिना केवल जन्म से ही अपनी वरिष्ठता मानने से इनकी दशा यह हुई कि "बूड़ि गये नहिं आपु सँभारा। ऊंच नीच कहु काहि जोहारा॥" ये अपने तथाकथित वर्ण और जाति के घमंड में डूब गये। घमंड में पड़कर ये दिनोदिन गिरते गये। जैसा घिनौना कर्म कोई न करे वैसा ब्राह्मण नामधारी करते गये। दुख यह है कि इन्होंने अपने आप को सम्हाला नहीं। "बूड़ि गये नहिं आपु सम्हारा।" इस वाक्य से जाहिर होता है कि सद्‌गुरु कबीर के मन में ब्राह्मणों के पतन पर दुख है। वे इनकी दयनीय दशा देखकर

करुणाविगलित हैं।

ब्राह्मण नामधारी संतों के मिलने पर भी प्राय: उनका नमस्कार नहीं करते। कहते हैं कि भई! हम तो पहले जान लेते हैं कि ये साधु ऊंच जाति के हैं कि नीच जाति के, तब यदि ऊंच जाति—ब्राह्मण हैं तो नमस्कार करते हैं, अन्यथा नहीं करते। इस प्रकार ऊंच-नीच जाति की भ्रांति में ये अपने आप को खो रहे हैं।

"ऊँच नीच है मध्य की बानी। एकै पवन एक है पानी॥ एकै मटिया एक कुम्हारा। एक सबन का सिरजनहारा॥ एक चाक सब चित्र बनाई। नाद-बिन्द के मध्य समाईं। व्यापक एक सकल की ज्योती। नाम धरे का कहिये भौती।" वस्तुत: ऊंच-नीच की भाषा बीच की है, कल्पित है, मान्यताकृत है। मनुष्य की रचना तो एक ही पवन-पानी से हुई है। अर्थात एक ही प्रकार के श्वास और रज-वीर्य से सबके शरीर का निर्माण हुआ है। जैसे कुम्हार मिट्टी लेकर एक ही चाक पर अनेक घड़े बनाता है, वैसे माता-पिता के रज-वीर्य द्वारा माता के एक ही प्रकार के गर्भाशय में सबके शरीर बनते हैं। वासना से ही सारे शरीरों की रचना होती है। गंदे रज-वीर्य से ही सबके शरीर बनते हैं। इसके साथ-साथ एक ही प्रकार शुद्ध ज्ञान-ज्योति सब में फैली हुई है। ब्राह्मण-शूद्र नाम रखने से क्या वह भौतिक हो जायेगी! या भौतिक शरीर के नाम अलग रखने से सबके शरीर में विद्यमान चेतन क्या अलग-अलग लक्षणों वाला हो जायेगा।

सद्‌गुरु कबीर जन्मजात ऊंच-नीच मानने वालों को बताना चाहते हैं कि सभी मनुष्यों का जन्म एक ही प्रकार से होता है। एक ही प्रकार सबके शरीर गंदे होते हैं और सबके शरीर में एक ही प्रकार के शुद्ध चेतन निवास करते हैं, फिर जन्म से इनमें छोटा-बड़ा कौन है? "काको कहिये ब्राह्मण शूद्रा!"

सद्‌गुरु ब्राह्मणों को जोर से फटकारते हुए कहते हैं "राक्षस करनी देव कहावै। बाद करे गोपाल न भावै॥" ये करनी करते हैं राक्षस की और कहलाते हैं देव, बात बहुत बढ़-बढ़कर करते हैं, परन्तु गोपाल के उपदेश इन्हें अच्छे नहीं लगते। कबीर साहेब के समय में ब्राह्मण लोग धर्म के नाम पर जीववध बहुत करते और करवाते थे। इसके साथ-साथ इनकी जाति-पांति की भेद-भावना-जनक बातें महान क्रूरता की थी। किसी की हत्या कर देना महा पाप है और इससे भी बड़ा पाप है किसी के मन में यह बात बैठा देना कि तुम जन्म से ही नीच हो। वस्तुत: यह महाराक्षसी कर्म है और यह कर्म करके देव कहलाना कितना आत्मघात और परघात है! देव तो वह है जो

मानव मात्र की शुद्ध मानवता को जगाये और उसको बताये कि तुम पवित्र मानव हो, मानव में कोई मूलतः ऊंच-नीच, पवित्र-अपवित्र, छूत-अछूत नहीं है, किन्तु आचार और रहनी से ही ऊंच-नीच होता है, जन्म से सब मानव बराबर हैं।

ये अपनी उच्च परंपरा की बात तो बहुत बढ़-बढ़ कर करते हैं, परन्तु इन्हें श्री कृष्ण के, श्री राम के, या शास्त्रों के सत्योपदेश अच्छे नहीं लगते, क्योंकि उनके अनुसार ये अपना आचरण नहीं बनाते।

सद्गुरु ब्राह्मणों तथा मानव मात्र का ध्यान मानव के मूल चेतन स्वरूप पर खींचते हैं "हंस देह तजि न्यारा होई। ताकर जाति कहै धौं कोई॥ स्याह सफेद कि राता पियरा। अबरण बरण कि ताता सियरा॥ हिन्दू तुरुक कि बूढ़ो बारा। नारि पुरुष का करहु बिचारा॥" अर्थात जब जीव शरीर छोड़कर उससे अलग होता है तब कोई उसकी जाति भला, क्या कहेगा! उसे काला कहेगा कि सफेद, लाल कहेगा कि पीला, अवर्ण कहेगा कि सवर्ण, गरम कहेगा कि ठंडा, हिन्दू कहेगा कि तुरुक, बूढ़ा कहेगा कि बालक, स्त्री कहेगा कि पुरुष—इस पर विचार करो!

सद्गुरु कबीर की कितनी पैनी दृष्टि है! उनकी मर्म-भेदी बातें मन को मथ कर रख देती हैं। वे एक साथ ढेर सारे प्रश्न रख देते हैं और कहते हैं कि इस पर विचार करो। वे कहना चाहते हैं, कि श्वेत, लाल, पीले, काले, अवर्ण, सवर्ण, तेज, मंद, हिन्दू, तुरुक, बूढ़े, बालक, स्त्री और पुरुष—सबके शरीर में चेतन हंस एक समान हैं। इस मूल बात को समझे बिना मानव मात्र में समता नहीं आ सकती, और समता आये बिना आपसी मारामारी दूर नहीं हो सकती।

अपने मिथ्या अहंकार में पड़कर उपर्युक्त ज्वलंत सत्य को न समझना भयंकर प्रमाद है और उसी का फल है मानवीय वैमनस्य!

"कहिये काहि कहा नहिं माना। दास कबीर सोई पै जाना॥" सद्गुरु कहते हैं कि ये सत्य की बातें किससे कहीं जायें। मिथ्या वर्ण और जाति के प्रमाद में डूबे हुए लोग कहा नहीं मानते! मैं समझता हूं कि यही इनमें पै है, दोष है, गलती है।

जिनकी पैदाइश का कोई पता नहीं कि किस माता-पिता से उनका शरीर जन्मा, पाले गये नीरू और नीमा नाम गरीब जुलाहे की झुग्गी-झोपड़ी में, समाज से जिन्हें कोई सुविधा नहीं प्राप्त थी, उन कबीर में हीन भावना छू नहीं गयी थी। उनकी निर्भयता, उनकी सत्यदृष्टि, उनकी पैनी परख, उनकी सत्य कहने की निराली रीति कितनी अद्भुत है! वे मूलतः महान तेजवान तो थे ही,

परिस्थिति ने भी उन्हें प्रचंड आग का गोला बना दिया था। जो सारे कूड़ा-कबाड़ को जला देने के लिए उद्दत था।

उन्होंने कोमलता से, गुदगुदा कर तथा डांट-फटकार कर जो कुछ कहा आज भी पूर्ण सामयिक है और आगे भी सदैव रहेगा। उन्होंने अपने समय में अनुभव किया कि लोग मेरी बातों को नहीं मान रहे हैं "कहिये काहि कहा नहिं माना।" परन्तु दिन जितने बीतते गये उनकी बातें सत्य सिद्ध होती गयीं। लोग उत्तरोत्तर उनकी बातों को मानते गये। आज बीसवीं सदी में सब मानने के लिए विवश हैं। अत्यंत दूरदर्शी सद्‌गुरु कबीर ने जो मानवता के समान अधिकार तथा छुआछूत-निवारण की बातें आज से पांच सौ वर्ष के पूर्व कही थीं उनके अनुकूल आज भारत सरकार ने कानून बना दिया है। आज सभी मानव का सब क्षेत्र में समान अधिकार है और कोई किसी को अछूत नहीं कह सकता। यदि कोई किसी को अछूत कहे तो वह दंड का पात्र हो सकता है। यह कबीर विचारों की सच्ची विजय है।

सद्‌गुरु इस प्रकरण के अन्त में एक मार्मिक साखी कहते हैं—"बहा है बहि जात है, कर गहै चहुँ ओर। जो कहा नहिं माने, तो दे धक्का दुई और॥" जो लोग मनुष्य-मनुष्य के बीच में भेदभाव की दीवार खड़ी करते हैं, मूलतः किसी को बड़ा तथा किसी को छोटा मानते हैं, मनुष्यों की अज्ञानजनित कमजोरियों से उन्हें बेवकूफ बनाकर अपना स्वार्थ साधते हैं और इन सब के लिए अच्छा-बुरा सब करते हैं; ऐसे लोग निश्चित ही अपने मनुष्यत्व एवं विवेक से हटकर भूल की धारा में बहे हुए हैं। सद्‌गुरु कहते हैं ऐसे बहने वालों को निकालना आवश्यक है। यदि ये नहीं निकलना चाहते तो भी दो धक्का देकर इन्हें डूबने से बचाने का प्रयास करना विवेकी का कर्तव्य है।

"जो कहा नहिं माने, तो दे धक्का दुई और" इसका कोई यह अर्थ न समझ ले कि कबीर साहेब उन लोगों को धक्का देकर डुबो देना चाहते हैं जो कहा नहीं मानते। संत ऐसा कैसे कर सकते हैं! वस्तुतः जब कोई व्यक्ति डूब रहा हो तो उसे पानी का धक्का देकर डूबने से बचाया जाता है। डूबने वाले को कोई पकड़कर बचाना चाहे तो वह स्वयं भी उसी के साथ डूब जायेगा। परन्तु उसे पानी का धक्का देकर बचाया जा सकता है।

धका का अर्थ बंदरगाह या किनारा भी होता है। सद्‌गुरु ने साखी प्रकरण में कहा है—"परदा तर की सुन्दरी, रही धका से दूर।" यहां धका किनारा है।

कहा जा सकता है कि ब्राह्मणों ने हजारों वर्ष पूर्व से ही एक उच्च संस्कृति और सभ्यता दी, एक विशाल दर्शन तथा विपुल साहित्य दिया, नीति

और सदाचार की शिक्षाएं दीं; किन्तु कबीर साहेब ने इन पक्षों को नजरअंदाज करके केवल उनके गलत पक्ष का इस प्रकरण में वर्णन किया।

उक्त बातों के समाधान में कहा जा सकता है कि वे ब्राह्मणों की अच्छाइयों से परिचित थे। उन्होंने पंडित नाम से उनका बड़ा आदर किया है। यह भी सच है कि बीच-बीच में पंडितों को संबोधित कर उन्हें उनकी गलतियों पर फटकारा भी है; परन्तु उनकी विशेषता को गहराई से लिया भी है। वे जगह-जगह बीजक में कहते हैं—

कहहिं कबीर हम जात पुकारा। पंडित होय सो लेय विचारा॥
कहहिं कबीर सुनो हो संतो, बूझो पंडित ज्ञानी॥
पंडित सो बोलिये हितकारी, मूरख सो रहिये झखमारी॥

आज भी ब्राह्मण कहे जाने वाले समाज में विनम्र, भक्त, संतसेवी, पाखंड-विरोधी, मानवमात्र में समता भाव रखने वाले, छुआछूत न मानने वाले, वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं तर्क-बुद्धि रखने वाले, विवेकी, विचारक और सदाचारी हैं। इतिहास उठाकर देखा जाये तो पुराकाल से आज तक हर राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक क्रांति में ब्राह्मण-समाज के सदस्य पीछे नहीं रहे हैं। यह सब होते हुए भी समाज का नेतृत्व इन्हीं के हाथों में होने से इन्होंने गलतियां खूब की हैं। इसलिए उनके परिचय एवं निराकरण के लिए अप्रतिम संत कबीर देव ने निर्भीकतापूर्वक उनकी बखिया उधेड़ी है। दयालु डॉक्टर फोड़े का गहरा ऑपेशन कर तथा उसे दबाकर सारा मवाद निकाल देता है। कबीर साहेब वैसे ही आध्यात्मिक डॉक्टर हैं।

कबीर साहेब ने इस प्रकरण में जो कुछ कहा है, आप केवल मूल को ही ध्यान से पढ़ जाइये तो देखेंगे कि वह कितना मार्मिक एवं तथ्यपूर्ण है। जिसमें विचार नहीं है, ऐसा पुरोहित-वर्ग इसी तरह आज तक करता चला आया है। कबीर साहेब ने पुरोहित-ब्राह्मणों पर करुणा-विगलित होकर यह सब कहा है। उन्होंने अपने कथन के दौरान में ब्राह्मणों के प्रति हार्दिक सहानुभूति प्रकट करते हुए कहा है—"बूड़ि गये नहिं आपु सँभारा॥" इस वाक्य को ध्यान से पढ़िये तो लगता है कि उनके मन में कितना दर्द है इनके सुधार के लिए।

सद्गुरु कबीर ने ये पंक्तियां जब कहीं हैं, कई अर्थों में उस समय की स्थिति आज से काफी भिन्न थी। आज ब्राह्मण कहलाने वाले लोगों के बच्चे न पुरोहिताई-विद्या पढ़ना चाहते हैं और न उसे करना चाहते हैं। वे स्वयं पुरोहिताई की खिल्ली उड़ाते हैं। मानो सारा संसार ही कबीर साहेब का अनुयायी होता जा रहा है। अब पुरोहितों के भी बच्चे खेती, व्यवसाय एवं

नौकरी का काम करना चाहते हैं, परन्तु पुरोहिताई कतई नहीं। पुरोहित वर्ग आज चिन्तित है कि इसकी परम्परा ही लुप्त हो जायेगी। पहले-जैसी छुआछूत की भावना भी अब नहीं रहीं। सद्गुरु कबीर जो चाहते थे, उनमें बहुत-सारी बातें अब होती जा रही हैं। पुरोहित-ब्राह्मणों की संतानें अब स्वयं कबीर के विचारों का प्रेमी तथा अनुयायी होती जा रही हैं।

फल छन्द

हे धर्म के जननी जनक,
हे सत्य के गुरुदेव हो।
हे परख के प्रकाश साहेब,
जानते सब भेव हो॥
हे सत्य प्रेम-प्रतीति के,
आधार मन्मत छेव हो॥
हे सन्त-गुरु गुरु-परख रूपी,
परख रूप समेव हो॥

चौपाई

सदाचरण युत पारख पावै।
सहित विवेक असत बिलगावै॥
तजि प्रमाद सत्संग सुभावै।
जन्म मरण बिच पुनि नहिं आवै॥

कहरा

हेतु छन्द

ज्यों मीन जल से हीन तलफत,
प्रिय-वियोग विमोह से।
हा! दौड़ि लिपटत प्राणप्रिय,
पाँखी पतंग बिछोह से॥
चित रचत कहरा कहर बाढ़त,
ज्वाल विपदा कोह से।
इस हेतु कहरा शब्द बरसे,
शान्त अन्तः सोह से॥

दोहा

तन मन द्रष्टा स्वच्छ सत, प्रति घट जीवन रूप।
दृश्य सकल निस्सार लखि, लक्ष्यक पद लहि भूप॥

सद्गुरवे नमः

बीजक

(पारख-प्रबोधिनी व्याख्या-सहित)

पंचम प्रकरण : कहरा

सहज-ध्यान तथा रामरस में निमग्नता

कहरा-1

सहज ध्यान रहु सहज ध्यान रहु, गुरु के बचन समाई हो॥ 1॥
मेली सृष्टि चरा चित राखहु, रहहु दृष्टि लौ लाई हो॥ 2॥
जस दुख देखि रहहु यह औसर, अस सुख होइहैं पाये हो॥ 3॥
जो खुटकार बेगि नहिं लागे, हृदय निवारहु कोहू हो॥ 4॥
मुक्ति की डोरि गाढ़ि जनि खैंचहु, तब बझिहैं बड़ रोहू हो॥ 5॥
मनुवहि कहहु रहहु मन मारे, खिजुवा खीजि न बोले हो॥ 6॥
मानू मीत मितैयो न छोड़े, कमऊ गाँठि न खोले हो॥ 7॥
भोगउ भोग भुक्ति जनि भूलहु, योग युक्ति तन साधहु हो॥ 8॥
जो यह भाँति करहु मतवलिया, ता मत को चित बाँधहु हो॥ 9॥
नहिं तो ठाकुर हैं अति दारुण, करिहैं चाल कुचाली हो॥10॥
बाँधि मारि डण्ड सब लेहीं, छूटहिं तब मतवाली हो॥11॥
जबहीं सावत आनि पहुँचे, पीठ साँटि भल टुटिहैं हो॥12॥
ठाढ़े लोग कुटुम सब देखें, कहै काहू के न छुटिहैं हो॥13॥
एक तो निहुरि पाँव परि बिनवै, बिनति किये नहिं माने हो॥14॥
अनचीन्हे रहेउ न कियेहु चिन्हारी, सो कैसे पहिचनबेउ हो॥15॥
लीन्ह बुलाय बात नहिं पूछै, केवट गर्भ तन बोले हो॥16॥
जाकर गाँठि समर कछु नाहीं, सो निर्धनिया होय डोले हो॥17॥
जिन सम युक्ति अगमन कै राखिन, धरिन मच्छ भरि डेहरि हो॥18॥
जेकर हाथ पाँव कछु नाहीं, धरन लागि तेहि सोहरि हो॥19॥
पेलना अछत पेलि चलु बौरे, तीर तीर का टोवहु हो॥20॥

उथले रहहु परहु जनि गहिरे, मति हाथहु की खोवहु हो ॥21॥
तर कै घाम ऊपर कै भुँभुरी, छाँह कतहुँ नहिं पायहु हो ॥22॥
ऐसेनि जानि पसीझेहु सीझेहु, कस न छतुरिया छायहु हो ॥23॥
जो कछु खेड़ कियहु सो कियहु, बहुरि खेड़ कब होई हो ॥24॥
सासु ननद दोउ देत उलाटन, रहहु लाज मुख गोई हो ॥25॥
गुरु भौ ढील गोनी भई लचपच, कहा न मानेहु मोरा हो ॥26॥
ताजी तुर्की कबहुँ न साधेहु, चढ़ेहु काठ के घोरा हो ॥27॥
ताल झाँझ भल बाजत आवै, कहरा सब कोई नाचे हो ॥28॥
जेहि रंग दुलहा ब्याहन आये, दुलहिनि तेहि रंग राँचे हो ॥29॥
नौका अछत खेवै नहिं जाने, कैसे कै लगबेहु तीरा हो ॥30॥
कहहिं कबीर राम रस माते, जोलहा दास कबीरा हो ॥31॥

शब्दार्थ—सहज ध्यान=निजस्वरूप चेतन में स्थिति। मेली सृष्टि=सृष्टि में मिला हुआ, जगत में डूबा हुआ। चरा=विचरा हुआ, चंचल। चित्त=मन। दृष्टि=ध्येय, लक्ष्य। लौलाई=तन्मयता। खुटकार=खटका, चिंता, लगन। बेगि=शीघ्र। निवारहु=निवारना, रोकना, हटाना, बचाना, दूर करना। कोहू=कोह, क्रोध। मुक्ति की डोरि=साधना-अभ्यास। गाढ़ि=जोर से। रोहू=एक प्रकार की मछली, मन। खिजुवा=खिजाने वाले, चिढ़ाने वाले, निंदक। खीजि=खीजकर, उलझकर। मानू=माने हुए, माननीय, श्रद्धेय। मीत=मित्र। कमऊँ=कबहूं, कभी भी। गाँठि=प्रेम की गांठ। भोग=प्रारब्ध भोग शरीर-यात्रा। भुक्ति=भोजन, देहव्यवहार, अधिकार। युक्ति=मन रोकने का तरीका। मतवलिया=मंतव्य, मन का निश्चय। ठाकुर=इन्द्रियों का स्वामी मन। दारुण=कठोर, भयंकर, दुखदायी। डंड=दंड, सजा। मतवाली=उन्मत्तता। सावत=शामत, विपत्ति, कालबली। साँटि=छड़ी, दण्ड, कोड़ा। निहुरि=झुककर। अनचीन्हे=अपरिचित। केवट=तारक, सद्गुरु। गर्भ=गर्व, अहंकार। समर=फल, मेवा, सत्कर्म का सुफल। सम युक्ति=साधु-विचार, उत्तम उपाय। अगमन=पहले से। मच्छ=मछली, मन, काम-क्रोधादि। डेहरि=बखारी, देह। धरन लागि=पकड़ने लगे। सोहरि=सोहर, नाव का फर्श, पाल खींचने की रस्सी। पेलना=नौका खेने के लिए लकड़ी का हत्था, विवेक। अछत=होते हुए। उथले=जहां पानी कम हो। हाथहु की=नर-जन्म। तर कै घाम=मन का उद्वेग। ऊपर कै भुँभुरी=प्राणी-पदार्थ तथा देहजनित पीड़ा। छाँह=छाया, शीतलता, शांति। पसीझेहु=पसीजेहु, गरमी से पीड़ित हुए, दुखी हुए। सीझेहु=कष्ट पाये। छतुरिया=छाता, विवेक की छाया। खेड़=खेड़ा,

गांव, खेट, आखेट, नीच, अधम, गलत कर्म, खेल। सासु=संशय। ननद=कुमति। उलाटन=उलट-पलट कर कष्ट देना। गोई=छिपाना। गुरु=गुड़। गोनी=बोरा, शरीर। लचपच=ढीला-ढाला। ताजी=अरबी घोड़ा। तुर्की=तुर्किस्तानी घोड़ा। ताल=हथेली का स्वर, मंजीरा। झाँझ=कांसे के दो तश्तरी-जैसे टुकड़ों से बना मंजीरे-जैसे बाजा। कहरा=कहार, एक हिन्दू जाति जो डोली ढोने, पानी भरने, बरतन मांजने, चबैना भूनने आदि का काम करती है, तात्पर्य में विरही जीव। दुलहा=उपास्य। दुलहिन=उपासक। राँचे=रांचना, प्रेम करना। नौका=मानव शरीर।

भावार्थ—हे साधको! मैं तुम्हें बारम्बार निर्देश करता हूं कि तुम सहज निज चेतनस्वरूप के ध्यान में सदैव निमग्न रहो और उसके सहायक सद्गुरु के निर्णय वचनों में लीन रहो॥ 1॥ जगत में डूबे हुए इस चंचल चित्त को अपने वश में रखो, और सदैव अपने लक्ष्य में तन्मय रहो॥ 2॥ साधना के इस आरंभिक काल में जैसे तुम्हें कष्ट का अनुभव होता है, स्वरूपस्थिति एवं सहज-ध्यान की अवस्था प्राप्त होने पर वैसे तुम्हें सच्चे सुख का अनुभव होगा॥ 3॥ यदि साधना में तुम्हें शीघ्र चिंता नहीं लग रही है, तो यह तुम्हारे मलिन हृदय का लक्षण है, अतएव तुम अपने हृदय के काम-क्रोधादि मलों को दूर कर दो॥ 4॥ ध्यान रहे! मुक्ति की डोरी जोर से मत खींचो। अर्थात साधना-अभ्यास उतावलेपन से न कर उसे धीरे-धीरे चलने दो, तभी बड़ी मछली फंसेगी। अर्थात यह मन वश में होगा॥ ।5॥ देखो, मनुवा से कह दो कि वह अपने आप को मारकर रखे। यदि कोई तुम्हारी निंदा एवं उपहास कर तुम्हें खिजाना चाहे तो उससे उलझकर न बोलो, किन्तु उससे भी शांत होकर ही बोलो॥ 6॥ मान्यवर मित्र, सद्गुरु एवं संतों के प्रति लगी हुई मित्रता कभी नहीं छोड़ना और उनमें लगी प्रेम की गांठ कभी नहीं खोलना॥ 7॥ शरीर-यात्रा के सुख-दुखों को निर्विकार भाव से सहन करो और व्यवहार में मिले हुए खान-पान, वस्त्र, मकान, प्राणी-पदार्थ, अधिकार आदि के मोह-लोभ एवं राग-द्वेष में कभी मत भूलो। मानव शरीर का फल है युक्तिपूर्वक योग-साधना। अतएव भोग से ऊपर उठकर योग द्वारा जीवन की ऊंचाई पर पहुंचो॥ 8॥ यदि इस प्रकार का मंतव्य रखते हो तो इसी ध्येय में अपने चित्त को मजबूती से जोड़ दो॥ 9॥ अन्यथा इन्द्रियों के ठाकुर मन बड़े भयंकर दुखदायी हैं, ये तुम्हारे साथ बुरे आचरण करेंगे॥ 10॥ इन बुरे आचरणों के फल में तुम्हें सब बांधेंगे, मारेंगे और दण्ड लेंगे, तब जाकर तुम्हारा उन्माद ठंडा होगा॥ 11॥

जब कालबली आ पहुंचेगा, तब उसके डण्डे तुम्हारी पीठ पर खूब तड़ातड़ पड़ेंगे॥ 12॥ तुम्हारे सब कुटुम्बी खड़े होकर यह तमाशा देखेंगे, परन्तु उस समय किसी के कहने से तुम मौत के हाथ से छूट नहीं सकोगे॥ 13॥ एक तरफ तो तुम्हारे स्वजन एवं मित्र विनयावनत हो कालबली के पांवों पड़कर तुम्हें छोड़ देने की प्रार्थना करेंगे, दूसरी तरफ वह इतना कठोर है कि किसी की विनती नहीं मानता॥ 14॥ जीवनभर तो तुम सत्य से अपरिचित रहे। तुमने कभी अपनी आत्मा तथा उसके बन्धन वासनादि का परिचय प्राप्त करने की चेष्टा ही नहीं की। अब मौत के समय में तुम इन महत्त्वपूर्ण विषयों को कैसे समझ सकते हो और कैसे अपना उद्धार कर सकते हो!॥ 15॥ अन्त में तो यमराज बुला लेता है, वह किसी से बात भी नहीं पूछता है और निश्शील होकर कर्मों के फल देता है। तुम जीवनभर भवतारक सद्गुरु एवं संतों से अहंकार भरी बातें करते रहे॥ 16॥ जिसकी गठरी में उत्तम कर्मों के फल नहीं हैं वह निर्धन बना भूखा–प्यासा भटकता रहेगा॥ 17॥ परन्तु जिन्होंने पहले से ही अपने साधु–विचार रखे थे वे काम–क्रोधादि को मारकर अपनी हृदय–बखारी में सत्कर्म के धन भर लिये॥ 18॥ जिसके हाथ–पांव कुछ भी न हो वह नौका के पाल की रस्सी पकड़कर उसे खेने लगे तो आश्चर्य होगा। साधक की दशा यही है। वह बाहरी चीजों से अकिंचन एवं असहाय दिखते हुए भी जीवन–नौका के पाल की रस्सी अपने हाथों में ले लेता है और उसे घाट पर लगाकर महान हो जाता है॥ 19॥ हे पगले! जीवन–नौका खेने के लिए विवेक–पेलना एवं हत्था पास में होते हुए भी क्यों किनारे–किनारे टटोल रहा है! पेलने से पानी पीछे पेलते हुए नौका आगे बढ़ा ले चल! अर्थात विवेक से सारी वासनाएं हटाते हुए अपना जीवन कल्याण की तरफ गतिशील करता चल॥ 20॥ यदि पूरा पार न जा सके तो उथले पानी में ही रह, गहरे में न जा। हाथ का भी मत खो। जिन्दगी को डुबा मत। अर्थात यदि मुक्ति न पा सके तो दुष्कर्मों में न जाकर सत्कर्मों में ही बना रह॥ 21॥

हे मनुष्य! भीतर की मनस्तापरूपी धूप और बाहर के प्राणी, पदार्थ तथा शरीरजनित उपद्रव की जलती बालुका में तुम सदैव तपते रहे। तुम्हें जीवन में बाहर–भीतर कहीं भी शीतलता एवं शांतिरूपी छाया नहीं मिली॥ 22॥ इस प्रकार संसार की दुखरूपी गरमी में तुम सदैव गलते और जलते रहे। संसार के ऐसे तापों को जानकर भी उससे बचने के लिए तुमने विवेक की छत क्यों नहीं बना ली!॥ 23॥ खैर, आज तक भूल–चूक में तुमने जो कुछ अज्ञानजनित खोटे कर्मों के खेल किये सो किये, परन्तु अब पुनः वही दुखद

खेल कैसे करोगे! अत: अब ऐसे दुखद कर्मों से बाज आओ॥ 24॥ तुम्हारी मनोवृत्तिरूपी बहू को संशयरूपी सासु तथा कुमतिरूपी ननद उलट-पलटकर जला रही हैं। और तुम ऐसे निघरघट हो कि अपनी जगह छोड़कर टस-से-मस नहीं हो रहे हो। जहां तुम्हारी मनोव्याधि की चिकित्सा हो सके उन संतों के सामने जाने में लज्जा करते हो, और उनसे मुख छिपाते हो॥ 25॥

ऐसा करते-चलते तुम बूढ़े होकर उसी प्रकार ढीले-ढाले हो गये जिस प्रकार बरसात में बोरी में भरा हुआ गुड़ गीला हो जाने पर बोरी लचपच, गीली एवं ढीली-ढाली हो जाती है। हे मित्रो! तुमने मेरी दी हुई चेतावनी पर ध्यान नहीं दिया॥ 26॥ तुमने तेज-तर्रार ताजी-तुर्की घोड़े को कभी नहीं साधा, प्रत्युत जीवनभर काठ की घोड़ी पर चढ़े। अर्थात विवेक-वैराग्य का आश्रय न लेकर देहाभिमान में डूबे रहे, कुछ धर्म के क्षेत्र में बढ़े भी तो देहाभिमानजनित ही रागात्मिका भक्ति की, जिससे अपने आप को पत्नी मानने का भ्रम करके बाहर पति को खोजते रहे॥ 27॥ कहारों के विवाह में ताल, झांझ, हुडुक्क आदि अच्छी तरह बजाते हुए बरात आती है और सभी कहार मिलकर नाचते हैं और जिस राग-रंग से दूल्हा विवाह करने आता है, उसी राग-रंग से प्रस्तुत होने के लिए दुल्हन भी रुचि रखती है। अर्थात रागात्मिका भक्ति करने वाले विरही जीव अपने आप को पत्नी तथा कल्पित देवादि को पति मानकर उससे अपना विवाह सम्बन्ध जोड़ते हैं और बजा, गा तथा नाच कर कल्पित दूल्हे को रिझाने का उपक्रम करते हैं। जिस भाव का देवता-दूल्हा होता है, उस भाव की भक्त-दुल्हन होती है। यह सब काठ के घोड़े पर चढ़कर पार होने का दुस्साहस है॥ 28-29॥ मानव-शरीररूपी नौका के रहते हुए भी तुम उसे खेने का तरीका नहीं जानते हो तो भवसागर कैसे पार होओगे!॥ 30॥ कबीर साहेब अपने आप को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि यह जुलाहा दास कबीर तो स्वरूपस्थितिरूपी राम-रस में लीन है और यही जीवन जीने का अच्छा तरीका है॥ 31॥

व्याख्या—उत्तर प्रदेश में कहार उस जाति को कहते हैं जो डोली ढोती है, लोगों के घरों में पानी भरती है, बरतन मांजती है एवं भड़भूज का काम करती है। इसका अपना जातीय संगठन होता है। इसके अन्दर में हुई चारित्रिक गलतियों का यह स्वयं, पंचायत कर, सुधार करती है तथा सम्बन्धित व्यक्ति को दण्डित करती है। इसके किसी भी उत्सव में इसका जातीय नाच होता है जिसमें इसके ही सदस्य होते हैं। इसके नाच तथा गीत का नाम कहरवा होता है। इसके नाच-गाने में दो बाजे बजते हैं हुडुका और

जोड़ी। हुडुका को ही हुडुक्क भी कहते हैं जो आकार में डमरू जैसा होता है, परन्तु डमरू से बड़ा होता है। जोड़ी मंजीरा के आकार की होती है, परन्तु मंजीरा से बड़ी होती है। कहरवा नाच-गान हुडुका-जोड़ी पर ही हो सकते हैं। ढोल, तबले, हारमोनियम, सारंगी आदि पर नहीं। यदि कोई कहार ढोल-तबले आदि पर नाच-गा दे तो उसे कहारों की पंचायत द्वारा बहिष्कृत कर दिया जाता है।[1] सद्‌गुरु कबीर ने इन्हीं कहारों की ध्वनि एवं लोक-गीत में यहां बारह पद बनाकर कहरा नाम का प्रकरण रखा है, जिसका पहला कहरा प्रस्तुत पद है जो साधना की दृष्टि से बहुत मार्मिक है।

सहज ध्यान

इस कहरा में साधनात्मक विषय है। कहरा की पहली पंक्ति ही है "सहज ध्यान रहु सहज ध्यान रहु, गुरु के बचन समाई हो।" इस पंक्ति में दो बातें हैं, एक तो सद्‌गुरु का आदेश है कि सहज ध्यान में रहो और दूसरी बात है कि गुरु के वचन में लीन रहो। अंततः दोनों का भाव एक ही है। गुरु के वचनों में लीन रहने का मतलब ही यही है कि उनके आदेशों का पालन किया जाये, और उनका मुख्य आदेश है कि मनुष्य सहज ध्यान में रहे। यहां सहज ध्यान वही है जिसे सद्‌गुरु ने अपने प्रसिद्ध शब्द "संतो सहज समाधि भली" में कहा है। सांख्यदर्शन में कहा गया है कि मन का निर्विषय हो जाना ही ध्यान है।[2] जब तक संकल्प रहते हैं तब तक मन में संसार रहता है और जब सारे संकल्प समाप्त हो जाते हैं तब मन का संसार समाप्त हो जाता है। तब शेष रह जाता है केवल शुद्ध चेतन। वही व्यक्ति का सहज स्वरूप है। अतएव विषय-वासनाओं को छोड़कर अपनी चेतना में रहना सहज ध्यान में रहना है। परन्तु हर समय कोई संकल्पों को छोड़कर निर्विकल्प बैठा नहीं रह सकता। यदि केवल संकल्पहीन-काल ही सहज-ध्यान एवं सहज-समाधि है तो वह जीवन में थोड़े-थोड़े समय रह सकता है, अतएव वह बहुत अल्पकालिक ही होगा। इसलिए व्यवहारकाल में भी जब साधक मन का सदैव पारखी बना रहता है, वह सब समय सभी संकल्पों का द्रष्टा रहता है, वह मलिन संकल्पों में तो बहता ही नहीं है, शुद्ध संकल्पों का भी साक्षी बनकर सदैव स्वरूपज्ञान में एवं निज चेतन में रमता है तो वह मानो सब समय सहज-समाधि में ही रहता है।

---

1. आज के वैज्ञानिक युग में यह प्रतिबन्ध ढीला हो गया है ।
2. ध्यानं निर्विषयं मनः ॥ सांख्यदर्शन 6/25 ॥

एक सहज-ध्यान है, दूसरा अ-सहज-ध्यान है। जैसे एक सहज सौन्दर्य है तथा दूसरा अ-सहज सौन्दर्य। तेल, पाउडर तथा अनेक श्रृंगार-प्रसाधन से बनाया गया सौन्दर्य अ-सहज है, बनावटी है, परन्तु पानी-साबुन से शरीर तथा वस्त्र को स्वच्छ करने के बाद जो शरीर का सौन्दर्य है वह स्वाभाविक है। स्वाभाविक सौन्दर्य ही असली सौन्दर्य है। नकली सौन्दर्य तो केवल आरोपित है। इसी प्रकार अपने मन में किसी महापुरुष का चित्र या नाद, बिन्दु, ज्योति आदि आरोपित कर उनमें मन लगाना अ-सहज-समाधि है, बनावटी ध्यान है। यह ठीक है कि पहले इसकी आवश्यकता है; परन्तु है यह नकली ही। किन्तु जब मन के सारे आलंबन छोड़ दिये जाते हैं और मन का भी साक्षी बनकर मात्र अपने चेतनस्वरूप में ही स्थिति होती है, तब यह सहज-समाधि होती है। व्यक्ति का सहज-स्वरूप, सत्य स्वरूप असली स्वरूप चेतन है और उसमें स्थित रहना सहज-समाधि है। यही सहज-ध्यान है। जो सदैव सहज-ध्यान में है वह सदैव गुरु के वचनों में समाया है। यही तो गुरु का मुख्य आदेश है।

दृश्यों से उदासीनता तथा ध्येय में लीनता

"मेली सृष्टि चरा चित राखहु, रहहु दृष्टि लौ लाई हो।" मनुष्य का चित्त सदैव सृष्टि-प्रपंच में मिला तथा चरा एवं विचरा हुआ रहता है। सद्‌गुरु कहते हैं कि उसे स्थिर करके रखो और अपनी दृष्टि में, ध्येय एवं लक्ष्य में लवलीन रहो। इस पंक्ति में पहली बात है कि चित्त सृष्टि में मिला हुआ है। हर आदमी का मन संसार की बातों को ही हर समय सोचता रहता है। इस कूड़े-कबाड़ संसार में ही मन हर समय लीन रहता है। पांचों ज्ञानेन्द्रियां—आंख, नाक, कान, जीभ तथा चमड़ी बाहर पांचों विषयों—रूप, गंध, शब्द, स्वाद तथा स्पर्श की तरफ खुली रहती हैं। अतः इन्द्रियां सदैव विषयों को ग्रहण करती हैं। इसलिए मन सदैव विषय-प्रपंचों में एवं संसार-सृष्टि में ही मिला रहता है, और उसी में चरा रहता है। चरा का अर्थ है विचरा हुआ एवं गतिशील। अतएव सद्‌गुरु कहते हैं कि हे साधक! विषयलीन चंचल चित्त को अपने वश में रखो। दूसरी बात है "रहहु दृष्टि लौ लाई हो।" यहां दृष्टि का अर्थ है लक्ष्य एवं उद्देश्य। साधक का लक्ष्य है सहज-ध्यान एवं सहज-समाधि। अतएव उसे चाहिए कि वह उसी में सदैव लवलीन रहे। जो अपने लक्ष्य में लवलीन रहता है वही अपने लक्ष्य को पाता है। आलसी आदमी निकम्मा हो जाता है। जो श्रमशील होता है वह स्फूर्त होता है। परन्तु श्रम उद्देश्यपूर्वक होने से उसका फल किसी दिशा में सफलता होता है। जैसे कोई रास्ते में

दिनभर चलता रहे, परन्तु उसका चलना निरुद्देश्य हो, एक घंटा आगे चले फिर एक घंटा पीछे चले और इसी प्रकार दिनभर चलता रहे तो वह कहीं भी नहीं पहुंचेगा, परन्तु यदि वह अमुक जगह पहुंचने का उद्देश्य मन में रखकर उधर चलता है तो निश्चित है वह उस जगह पहुंचता है। जिसकी लौ होती है, लगन होती है एवं उत्साहपूर्वक तत्परता होती है वह अपने उद्देश्य को शीघ्र प्राप्त करता है। साधक के मन में स्वरूपस्थिति की प्रगाढ़ लगन होनी चाहिए। अपने लक्ष्य में लवलीन साधक लक्ष्य को जल्दी पाता है।

श्रम से सफलता मिलती है

"जस दुख देखि रहहु यह अवसर, अस सुख होइहैं पाये हो।" इस साधना के समय में जैसे तुम्हें दुख लगता है, सिद्धि के समय में वैसे तुम्हें सुख मिलेगा। यह हर साधना की बात है। विद्या पढ़ने में, खेती का काम करने में, व्यापार में, रास्ता चलने में या किसी भी दिशा में मेहनत करने में मनुष्य को कष्ट लगता है, परन्तु परिश्रम कर लेने के बाद जब उसके फल मिलते हैं तब मन को कितनी प्रसन्नता मिलती है, यह सर्वविदित है। श्रम करना मनुष्य को स्वभाव से ही पसंद नहीं है। मन तो यही चाहता है कि बिना कुछ किये-धरे सब कुछ मिल जाये। परन्तु ध्यान रहे! बिना श्रम किये कुछ भी नहीं मिलता। आध्यात्मिक क्षेत्र में तो हमें तभी सफलता मिल सकती है जब हम श्रमशील हों। भौतिक वस्तुएं तो दूसरे के देने से भी मिल सकती हैं। जैसे हमें कोई भोजन, वस्त्र, आवास, औषध आदि दे दे तो हमारा काम चल सकता है। परन्तु हमारी आध्यात्मिक प्रगति तो तभी होगी जब हम स्वयं उस दिशा में श्रम करें। श्रम को कष्ट मानने वाला आदमी अपने आप का ही शत्रु है फिर समाज को वह क्या दे सकेगा! किसी दिशा के सच्चे साधक को श्रम में ही आनन्द आता है। जिस किसान को खेत गोड़ने, जोतने आदि में आनन्द नहीं आता वह सच्चा किसान नहीं है। जिसे सर्विस या व्यापार में मेहनत करने में आनन्द नहीं आता वह अपने आप में ईमानदार नहीं है। इसी प्रकार यदि साधक को साधना करने में आनन्द नहीं आता, तो वह सच्चा साधक नहीं है। आध्यात्मिक साधना में तो "इसके मनन में नित्य सुख है, इसके ध्यान, आचरण तथा निश्चयता में सुख है, फिर इसमें क्या घाटा है जो इसे छोड़कर दूसरी तरफ ध्यान दे।"[1]

---

1. जाहि मनन में सुख नितै, ध्यान क्रिया सुख ध्येय ।
घाटा तेहि में कौन है, जो औरहिं चित देय॥ मुक्तिद्वार 5/112॥

बच्चों को जब पढ़ाया जाता है तब वे पढ़ना नहीं चाहते। कितने बच्चों को पढ़ने बैठना मानो फांसी में लटकना है। परन्तु वे ही बच्चे माता-पिता के शासन में जब धीरे-धीरे पढ़ लेते हैं तब विद्या के फल का सुख स्वयं जानते हैं। मोक्ष-साधना में स्वाध्याय, सेवा, मनोनिग्रह, त्याग, इन्द्रियों तथा मन की मलिन आदतों से अपने आपको हटाते रहना—इन सब बातों में बड़ा कष्ट लगता है। परन्तु सद्गुरु कहते हैं कि यदि तुमने साधना में ये कष्ट सह लिये तो पीछे मन-इन्द्रिय-स्ववशता का अचल सुख मिलेगा। बिना सेवा के मेवा नहीं मिलता। जो बिना कुछ किये सब कुछ पाना चाहता है वह अपराधी है। साधक को चाहिए कि वह साधना के कष्ट को अमृत समझे। वस्तुतः किसी दिशा का सच्चा साधक वह है जो साधना में भी आनन्दित रहता है। सिद्धि एवं फल तो आनन्दप्रद है ही, परन्तु उसके लिए किया जाने वाला श्रम भी आनन्दप्रद लगना चाहिए।

कल्याण-प्राप्ति की तीव्र इच्छा चाहिए

"जो खुटकार बेगि नहिं लागे, हृदय निवारहु कोहू हो।" यदि साधना के लिए तुम्हारे मन में शीघ्र चिन्ता नहीं होती है तो इसे तुम अपने मन की मलिनता समझकर हृदय के काम-क्रोधादि मल को दूर कर दो। यदि कल्याण की इच्छा तुम्हारे मन को आंदोलित नहीं करती है तो यह तुम्हारे मन की मलिनता है। कितने साधक ऐसे होते हैं जो खाते, सोते जीवन बिताते जाते हैं, परन्तु उनके मन में कल्याण-साधना करने का उद्रेक ही नहीं होता। जिस किसान के खेत में पानी लगा हो और उसे यह फिक्र ही न हो कि हमें हल-बैल लेकर खेत में जाना चाहिए, वह क्या खेती करेगा! समय आने पर अपना काम-धंधा करने की जिसे चिंता नहीं रहती वह सफल नहीं हो सकता। कितने साधक ऐसे ही होते हैं जिन्हें अपने लक्ष्य तक पहुंचने की कोई परवाह नहीं है। यह बहुत बुरा लक्षण है। इसके मूल में है विषयासक्ति। जिसके मन में जितनी मलिनता होती है उतनी साधना से लापरवाही होती है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि यदि तुम्हारे मन में साधना के लिए जल्दी चिन्ता नहीं होती है तो समझ लो कि तुम्हारा हृदय अशुद्ध है। अतएव "हृदय निवारहु कोहु हो।" 'कोह' का अर्थ है क्रोध। यहां क्रोध का मतलब केवल क्रोध नहीं है, किन्तु काम, क्रोध, लोभादि समस्त मलिनता है। यहां क्रोध का शाब्दिक नहीं, किन्तु लाक्षणिक अर्थ है, और वह है काम-क्रोधादि सारे मनोविकार। आदमी के मन में जितना विकार होता है वह उतना ही अपनी कल्याण-साधना से लापरवाह होता है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि तुम अपने मन की

मलिनताओं को दूर करो। तुम्हारा मन जितना साफ होता जायेगा उतना साधना में तत्पर होता जायेगा।

उतावलेपन का त्याग

"मुक्ति की डोरि गाढ़ि जनि खैंचहु, तब बझिहैं बड़ रोहू हो।" साधना जोर से मत करो, तभी मन वश में होगा। कहार लोग जलाशय में जाल डालकर मछली फंसाते हैं। उनके जाल में बड़ी–बड़ी रोहू नाम की मछलियां तभी फंसती हैं जब वे जाल की डोरी धीरे से खींचते हैं। जोर से खींचने पर मछलियां चौंककर भाग जाती हैं। परन्तु धीरे–धीरे खींचने पर वे अचेत रहती हैं, जान भी नहीं पातीं और फंस जाती हैं। मन या मनजनित काम, क्रोध, लोभ, मोहादि मनोविकार मछलियां हैं। ये तभी साधना के जाल में फंसकर साधक के वश में होती हैं जब वह धैर्यपूर्वक लगातार साधना में लगा रहता है। इस पंक्ति में सद्गुरु एक मुख्य बात बताते हैं कि जब तुम साधना में उतावलापन नहीं करोगे तब मन वश में होगा।

ध्यान रहे! साधना तपस्या नहीं है। तपस्या में उत्कर्षता होती है। परन्तु साधना में स्थिरता एवं मंथरगति होती है। तपस्या दिखाऊ होती है, साधना सम होती है। एक तरफ देहाभिमान एवं विषयों में आकंठ डूबे भोगी हैं तो दूसरी तरफ घोर तपस्या में तपते हुए तपस्वी हैं। भोगी–जीवन मोक्ष का रास्ता है ही नहीं, किन्तु घोर तपस्या भी मोक्ष का रास्ता न होकर लोक–रिझावा एवं ऋद्धि–सिद्धि पाने का रास्ता है। यहां ऋद्धि–सिद्धि का अर्थ कोई अनहोनी कल्पित वस्तु या शक्ति की प्राप्ति न समझ लेना चाहिए; किन्तु इसका अर्थ यह है कि जो व्यक्ति समाज की नजरों में तपस्वी हो जाता है उसके पीछे जनता लट्टू हो जाती है। उसे धन और सम्मान देने लगती है यही ऋद्धि–सिद्धि पाना है।

साधक का रास्ता भोगी और तपस्वी के बीच का है। भोगी, स्वादासक्तिपूर्वक जमकर गला तक खाता है, तपस्वी महीनों उपवास करता है, किन्तु साधक स्वादासक्ति–रहित स्वल्प भोजन लेता है। भोगी राग–रंग में डूबा रहता है, तपस्वी गरमी में पंचाग्नि, ठंडी में जलशयन तथा वर्षा में खुले आकाश में रहता है, किन्तु साधक शरीर–रक्षार्थ वस्त्र, वासन, आवासादि लेता है। भोगी केवल भीड़ चाहता है, तपस्वी केवल वन, किन्तु साधक भीड़ और वन दोनों में संतुलित रहता है। भोगी पैसे का दास होता है, तपस्वी पैसे नहीं छूता, किन्तु साधक प्राप्त पैसे का सही उपयोग करता है। साधक वह है जो भोग और घोर तप, इन दोनों अतियों से दूर मध्य–मार्गी है।

साधना में तेज चलने वाला जल्दी पहुंचता है;[1] यह बात सही होने पर भी, वह तेज चलना काम नहीं करता जो एक किलोमीटर तो दौड़कर चल ले और उसके बाद दिनभर बैठा रहे। इससे तो वह यात्री अच्छा है जो दिनभर धीरे-धीरे चलता है। कोई साधक चार दिन बड़े जोर-शोर से साधना में लग गया, परन्तु उसके बाद ढीलाढाला पड़ा है तो यह उसकी सफलता का साधन नहीं बन सकता। अतएव साधक को चाहिए कि वह न-उकताए हुए मन से धैर्यपूर्वक निरन्तर लगा रहे। जो दिनभर चलने वाला है वह दौड़ नहीं पायेगा और जो दौड़ेगा वह कुछ ही समय दौड़ सकता है, दिनभर नहीं। हां, यह बात सच है कि जिसके चलने में गति तीव्र है वह अपनी मंजिल पर शीघ्र पहुंचता है, और जिसकी गति मंद है वह देर में पहुंचता है। परन्तु साधक को यह स्वयं विचार लेना चाहिए कि वह उतनी गति से चले जिस गति से निरन्तर चलता रह सके। किसी भी साधना में निरन्तरता बहुत बड़ी बात है। जो दो-चार दिन बहुत जोर से व्यायाम करता है और उसके बाद महीना भर कुछ नहीं करता, उसका व्यायाम शरीर के लिए कल्याणकर नहीं है। व्यायाम चाहे बहुत थोड़ा-थोड़ा हो, रोज होना चाहिए। साधना में निरन्तरता उन्नति का मूल है और निरन्तर साधना मंथर गति से ही चल सकती है। साधना का अर्थ ही है धीरे-धीरे संतुलन लाना। ठूंसकर खाना सरल है और उपवास कर देना भी सरल है, परन्तु नित्य स्वादासक्ति से रहित होकर स्वल्प भोजन करना कठिन है, क्योंकि यही साधना है। साधना में दिखावा नहीं होता। सद्गुरु कहते हैं कि तुम्हारा मन तुम्हारे वश में तभी होगा जब तुम धैर्यपूर्वक निरन्तर साधना में लगे रहोगे।

अपने मन को मारो, दूसरों से न उलझो

"मनुवहि कहहु रहहु मन मारे, खिजुवा खीजि न बोले हो।" हे साधक! मन को कह दो कि वह अपने आप को मारकर रहे, और खिजाने वाले निंदकों से खीजकर न बोले। इस पंक्ति में दो महत्त्वपूर्ण बातें हैं। पहली बात है अपने मन को मानकर रहना तथा दूसरी बात है अपने विरोधियों से न उलझना। ये दोनों बातें साधक के लिए परमोपयोगी हैं ही, मानव मात्र के लिए भी उपयोगी हैं। हर मनुष्य को उसका मन ही परेशान करता है, अन्य कोई परेशान नहीं कर सकता। यदि हमारा मन ठीक है तो हमारी कोई हानि नहीं कर सकता। जो हम मान लेते हैं कि अमुक ने हमें कष्ट दिया, वह हमारे

---

1. तीव्रसंवेगानामासन्नः । योगदर्शन 1/21 ।

मन की भूल है। हमें चाहिए कि हम केवल अपने मन को मारकर रखें, बस हमें बाहर किसी को नहीं मारना पड़ेगा। यह साधना–क्षेत्र की बात चल रही है, नीति इससे अलग है। वैसे हर क्षेत्र में अपने मन पर विजय तो आवश्यक ही है। सद्गुरु के कहने का लहजा कितना सुन्दर है—"मनुवहि कहहु रहहु मन मारे" मन को कह दो कि वह अपने आप को मारकर रखे। साधक के लिए यही परम अमृत है। जो साधक अपने मन को जितना मारकर रहता है वह उतना ही शांति–लाभ करता है। वस्तुतः इच्छाओं का त्याग करना मन को मारना है। जिनकी सारी इच्छाएं निवृत्त हो गयीं वह मानो अपने मन को मार दिया। इच्छाजित होना मन मृतक होना, जीवत मृतक होना आदि कहलाता है। जिनकी सारी इच्छाएं मरी हुई हैं उन्हें कौन–सी पीड़ा हो सकती है! इच्छाजित अमृत है।

दूसरी बात है "खिजुवा खीजि न बोले हो।" कुछ लोग होते हैं जो साधक को खिजाना चाहते हैं, उनकी निन्दा करते हैं, उन्हें कष्ट देने का प्रयास करते हैं। परन्तु साधक की इसी में असली कसौटी होती है। उलझकर बोलने वाले से उलझकर न बोला जाये। अगला आदमी चाहे जितना खीजकर बोले, साधक को शांत एवं गंभीर बात ही बोलना चाहिए। यह साधक की बहुत बड़ी कसौटी है। ऐसी बातें लिखते, कथा–प्रवचन करते समय ऐसा मन बना रहना सरल है, परन्तु प्रतिकूल परिस्थिति में अपने आप को संतुलित एवं निर्विकार बनाये रखना बहुत बड़ी बात है, और इसके बिना साधना पूरी भी नहीं होगी। एक बार एक तपस्वी साधक जब स्नान करके गुरु के पास दीक्षा लेने चला था तब एक मेहतर ने उसके शरीर पर धूल उड़ा दिया था और वह उससे जल–भुन उठा था। गुरुजी को यह सब पता लग गया था और उन्होंने साधक के पहुंचने पर उससे कहा था कि बेटा, तुम तपस्वी तो जरूर हो, परन्तु तुम्हारा मन–सांप वैसे ही फुफकार मारता है। वह दुबारा तपस्या में लगा। तपस्या के बाद जब स्नान कर गुरु के पास चला तो मेहतर ने उसके अंग में झाडू छुआ दिया। अबकी बार तपस्वी ने कुछ कहा तो नहीं, किन्तु उसका मन क्रुद्ध हो गया था। गुरु ने अबकी बार तपस्वी साधक से कहा था कि बेटा! सांप अभी पूरा मरा नहीं है। तिबारा जब तपस्या के बाद साधक गुरु के पास चला था, तब मेहतर ने उसके ऊपर कचड़े की टोकरी ही उड़ेल दी थी, तो तपस्वी ने मेहतर के पैर पकड़ लिये थे और कहा था आपने तो मेरे उद्धार में गुरु का काम किया है।

ऐसे उदाहरण कहना, लिखना सब सरल है, परन्तु समय पर स्वयं इस

कसौटी पर खरा उतरना बड़ी बात है। आदमी छोटे-से मच्छर के काट लेने पर तिलमिला उठता है और उस पर हाथ चला देता है। किसी की तरफ से निन्दा-अपमान आदि पाकर उससे न खीजना, खीजकर न बोलना बहुत बड़ी बात है। साधक की भलाई तथा ऊंचाई भी इसी में है। संसार के उच्च संतों पर नजर डालिए तो पाइयेगा कि वे सदैव निर्विकार रहे। निन्दकों से खीजकर बोलने की बात दूर स्वयं कबीर साहेब ने ही निन्दकों को आंगन में कुटी छवाकर बसाने की बात की है—"निन्दक नियरे राखिये, आंगन कुटी छवाय। बिनु पानी बिनु साबुन, निर्मल करे सुभाय॥" गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा—"इतते ये पाहन हनै, उतते वै फल देत।" एक फकीर को एक व्यक्ति गाली दे रहा था, और फकीर मीठी वाणी में उसे समझा रहे थे। फकीर के एक शिष्य ने कहा—हुजूर, आप क्या कर रहे हैं? यह गाली दे रहा है और आप इससे मीठी बातें कर रहे हैं। एक तीसरे सज्जन ने कहा कि हर वस्तु अपना ही रस टपकाती है। दोनों में से अपना-अपना रस टपक रहा है। सद्‌गुरु ने एक जगह कहा है—"बिजली परे समुद्र में, कहा सकेगी जारि।" यदि बिजली समुद्र में गिरे तो क्या जलायेगी! जो महापुरुष शीतल हैं उन्हें कोई उद्वेगित नहीं कर सकता। इसलिए साधक को चाहिए कि अपने निन्दकों से भी खीजकर न बोले।

सद्‌गुरु-संतों के प्रति सदैव भक्ति रखो

"मानू मीत मितैयो न छोड़े, कमऊ गाँठि न खोले हो।" मान्यवर मित्र से मित्रता न छोड़े, उनकी मित्रता की गांठ कभी न खोले। साधक के परम मित्र वे हैं जो उसे कल्याण-मार्ग की ओर प्रेरित करते हैं। वे हैं संत और गुरु। संत-गुरु ही साधक के परम मित्र हैं। उनसे यदि साधक का प्रेम घट गया तो इसका अर्थ यह है कि उसके हृदय में संसार के राग-रंग समा गये। मन तो एक है। उसमें सांसारिकता समाएगी तो साधना एवं संत-गुरु के प्रति प्रेम घटेगा और यदि उसमें भक्ति-वैराग्य एवं ज्ञान रहेंगे तो वह संत-गुरु के प्रति श्रद्धावान होगा। पानी को छोड़कर कमल हरा-भरा नहीं रह सकता। इसी प्रकार संत-गुरु के प्रति भक्ति, श्रद्धा, निष्ठा, सेवा, आदर-भाव आदि छोड़कर साधक साधना में नहीं ठहर सकता। जब मन में सांसारिकता आती है तभी संत-गुरु के प्रति रही हुई श्रद्धा टूटती है। कबीर साहेब साधक को सावधान करते हैं कि हे साधक! संत-गुरु परम मित्र हैं। उनसे कभी भी मित्रता नहीं छोड़ना। संसार के कीचड़ से निकालने वाले वे ही हैं। उनका पल्ला छोड़ने

के बाद तुम्हें रसातल जाना पड़ेगा, सावधान!

जीवन-यात्रा अनासक्तिपूर्वक करो

"भोगउ भोग भुक्ति जनि भूलहु, योग युक्ति तन साधहु हो।" जीवन यात्रा के लिए यहां सब विवश हैं। ज्ञानी को भी खाना, पीना, सांस लेना, उठना, बैठना, सोना, जागना, चलना, फिरना एवं शरीर की आवश्यक नाना क्रियाएं करनी पड़ती हैं। जीवन-यात्रा में नाना अनुकूल-प्रतिकूल प्राणी-पदार्थ मिलते हैं; अधिकार, सम्मान और अपमान मिलते हैं; आदमी इन्हीं में भूलकर राग-द्वेष का शिकार हो जाता है। अनुकूल स्वास्थ्य, अनुकूल सहायक मनुष्य, अनुकूल पदार्थ जो देह-निर्वाह के लिए उपयुक्त हैं, अनुकूल भूमिका, आश्रम, सम्मान, फूलमालाएं, आरती, वन्दना, और इसके विपरीत निन्दा, प्रतिकूलता, गाली-गुप्ता यह सब जीवन-यात्रा में मिलते हैं। जो सावधान नहीं हैं वे इन्हीं में उलझ-उलझकर राग-द्वेष में जलते हैं। सद्गुरु कबीर हमें सावधान करते हैं कि तुम संसार से केवल शुद्ध शरीर-निर्वाह लो और संसार के प्राणी-पदार्थों में भूलो नहीं। यहां "भोगउ भोग भुक्ति जनि भूलहु" का कोई निर्लिप्तवादपरक अर्थ करने का दुस्साहस न करे। यहां यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि कबीर साहेब कहते हैं कि भोगों को अनासक्तिपूर्वक भोगो और उनमें भूलो नहीं। पहले भोग की परिभाषा कर लेनी चाहिए कि वे कौन-से भोग हैं जिन्हें सद्गुरु अनासक्तिपूर्वक भोगने के लिए कहते हैं। वे भोग ममता, मैथुन, नशा, नाच-रंग आदि नहीं हैं, किन्तु शरीर-निर्वाह की क्रियाएं हैं, जिनसे शरीर यात्रा चलती है। शुद्ध शरीर-निर्वाह की क्रियाएं भी तो भोग कहलाती हैं। इन्हें प्रारब्ध-भोग कहते हैं, अर्थात शरीर-निर्वाह-कर्म। जो सावधान नहीं रहता है वह इनमें भी भूल जाता है। खान-पान, वस्त्र, आश्रम, प्राणी, पदार्थ इन सब में राग या द्वेष बनाकर आदमी अपने लक्ष्य को ही भूल बैठता है।

सद्गुरु कहते हैं कि शरीर-निर्वाह के प्राणी-पदार्थों में न उलझकर तथा शरीर की आरामतलबी में न फंसकर इससे योग-युक्ति की साधना करो। शरीर को भोगों में न फंसाकर योग में लगाओ। मनुष्य जितना भोगों में लीन होता है उतना उसका विवेक नष्ट होता है और जितना वह अपने तन-मन को योग में लगाता है, उतनी उसकी आत्मा ऊपर उठती जाती है। भोग का फल शोक है और योग का फल मोक्ष एवं शांति हैं।

उद्देश्य में दृढ़ता रखो

"जो यह भाँति करहु मतवलिया, ता मत को चित बाँधहु हो।" यदि इस प्रकार अपना मंतव्य रखते हो तो इसी मंतव्य में अपने चित्त को बांध दो। भोग से विरक्ति तथा योग में अनुरक्ति यदि तुम्हारा निश्चय हो तो तुम निश्चित ही सौभाग्यशाली हो। यह निश्चय, यह मंतव्य अत्यन्त दुर्लभ है। यह ख्याल संसार में किसी-किसी के मन में आता है। वे धन्य हैं जिनके मन से भोगों का कीचड़ दूर हो गया है और जो योग की स्वच्छता में पहुंच गये हैं। साहेब कहते हैं कि यदि तुम्हारा ऐसा ख्याल है तो तुम धन्य हो और ध्यान रखो कि इस मंतव्य से कभी विचलित नहीं होना। बल्कि इस मंतव्य में ही अपने चित्त को बांध देना। मन में निश्चय कर लेना कि अब भोग-कीचड़ में आजीवन नहीं पड़ूंगा और मृत्युपर्यन्त योग-साधना में बिताऊंगा। मन को वश में रखने का प्रयास ही तो योगाभ्यास है और मन को वश में कर लेना योग है। भोग मृत्यु का रास्ता है, योग अमरत्व का। भोग देहपरायणता है और योग आत्मपरायणता। भोग मलिनता है और योग स्वच्छता। भोग पीड़ा का पथ है और योग शांति का रास्ता। वह धन्य है, पूजने योग्य है जिसने भोग का पथ छोड़कर योग का रास्ता अपनाया है।

दारुण मन से सावधान

"नहिं तो ठाकुर हैं अति दारुण, करिहैं चाल कुचाली हो।" ध्यान रहे, यदि तुमने भोग-पथ छोड़कर योग-पथ नहीं अपनाया तो समझ लो कि ये इन्द्रियों के ठाकुर मन बड़े दारुण हैं। ये बड़े भयंकर पीड़ाप्रद हैं। तुम्हें भोगों की तरफ झुकते देखकर ये चाल कुचाल कर देंगे। ये तुम्हें लेकर रसातल पहुंचा देंगे। मन तो अनादिकाल से विषयों से वासित है ही, जीव को उधर झुकते पाकर यह तो नरक में डुबाने के लिए तैयार बैठा ही है। इस जीव से घिनौने-से-घिनौने कर्म कौन करवा देता है जिनके फल में जीव को जीवनभर केवल पश्चाताप करना पड़ता है! यह मन ही वह दारुण, कठोर एवं भयंकर ठाकुर है। ध्यान रहे, मन कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। वह केवल संस्कारों का समुच्चय है; परन्तु वह अनादिकाल से इतनी गलत आदतों वाला हो गया है कि थोड़ी-सी असावधानी में वह जीव को नीचे ले जाता है। मन के भुलावे में पड़कर ही मनुष्य व्यभिचार, चोरी, हत्या तथा अन्य घृणित कर्म करता है और उनके फल में पेटभर दुख भोगता है।

"बाँधि मारि डण्ड सब लेहीं, छूटहिं तब मतवाली हो।" दुष्कर्म करने पर फल यही होता है कि सब लोग उसे बांधते हैं, मारते हैं और दण्डित करते हैं, तब उसका प्रमाद ठंडा होता है। यहां 'सब' से अर्थ अन्दर की वासनाएं तथा

बाहर प्राणी, दोनों हैं। दुष्कर्म करने वाले को तो पहले मन ही परेशान करता है। खोटे कर्म के परिणाम में बनी मन की वासनाएं ही जीव को रात–दिन जलाती रहती हैं। वे मानो भीतर–ही–भीतर दुष्कर्मी जीव को बांधती, मारती और दंडित करती हैं। कुकर्मी जीव मन में ही सदैव जलता रहता है। परन्तु अधिक कुकर्म करने से उसे बाहर के भी सब लोग धिक्कारते हैं। उसके नाम पर थूकते हैं। उसे बांधते, मारते तथा दंडित करते हैं। अपने दुष्कर्मों के परिणाम में भीतर–बाहर सताये जाकर जो पस्त होता है वह कल्याण–साधना करने का अवसर तथा बल खो चुका रहता है। जो आदमी दुष्कर्म में जिन्दगी बिताते हुए अपने आप को संसार में पस्त कर देता है उसका पुनः जगना बड़ा कठिन हो जाता है।

जो लोग भोगों से अपने मन को स्ववशतापूर्वक नहीं रोकते उनका मन उन्हें भोगों की आसक्ति में बांधकर, भलीभांति इन्द्रियों की दासता कराता है। विषयासक्ति में पड़कर सारे मान–अभिमान थोड़े ही दिनों में चूर्ण हो जाते हैं। स्ववशतापूर्वक जो अपने मन को नहीं रोकता, उसको पराधीन होकर रोकना पड़ता है, क्योंकि भोगों से अत्यन्त विषयासक्ति हो जाती है और अत्यन्त विषयासक्तवश मनुष्य की मन–इन्द्रियां हरक्षण चलायमान रहती हैं। परन्तु हरक्षण भोगों को भोगने की सुविधा, शक्ति, समय, योग्यतादि न रहने से उसे विवश होकर अपने मन–इन्द्रियों को हरक्षण रोकना पड़ता है। अतएव पहले ही रोकना अच्छा है।

मन मारना ही अच्छा है

एक सेठ से एक व्यक्ति ने सौ रुपये लिए! एक माह में लौटाने को कहा; परन्तु कई माह हो गये उसने रुपये नहीं दिये, यद्यपि उसके घर में रुपये थे। सेठ ने एक दिन एक युक्ति सोची और उससे कहा—भाई, यदि तू मेरे रुपये नहीं दे सकता तो सौ प्याज खा ले, मैं रुपये छोड़ दूंगा। उसने सोचा इसमें क्या बड़ी बात है! सौ प्याज रखे गये, वह खाने लगा; परन्तु बड़ी कठिनता से आठ–दस खा सका। उसकी आंख–नाक से पानी बहने लगा। उसने कहा—सेठ जी! यह तो मेरे वश की बात नहीं है। सेठ ने कहा—अच्छा, सौ मिर्चे खा ले, मैं रुपये छोड़ दूंगा। वह सोचा इसमें झार नहीं होता, खा लूंगा। वह खाने लगा, परन्तु दो–चार ही मिर्चे खाने में उसका कलेजा जलने लगा। सेठ ने कहा—अच्छा, यदि तू सौ मिर्चे नहीं खा सकता तो सौ जूते खा ले, मैं रुपये छोड़ दूंगा। उसने सोचा इसमें न झार है न तितास, इसे सह लूंगा। निदान उसकी पीठ पर जूते पड़ने लगे, जब बीस जूते पड़े, तब उसके होश–

हवास उड़ने लगे। उसने सोचा कि यदि सौ जूते इस शरीर पर पड़ेंगे तो प्राण-पखेरू पयान कर देंगे। अतः उसने सौ रुपये घर से लाकर सेठ के सामने गिन दिये।

मनुष्य का मन विषयों में दौड़ता है, परन्तु वह उनसे रोकता नहीं, प्रत्युत यथाप्राप्त विषयों को भोगता है। विषयों के वश स्थल-स्थल पर ठोकरें खाता है। बल-वीर्य-शरीर से क्षीण होकर तथा स्त्री-पुत्रादि के मोहरूपी खूंटे में बंधे-बंधे वृद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है और दीन-हीन हो जाता है। तब विवश होकर विषयों को छोड़ता है। यही प्याज, मिर्चा और जूते खाकर रुपये देना है। जो विषयों में न फंसकर पहले ही मन को रोक लेता है, उसे संसार की अवदशा रूपी प्याज, मिर्चे और जूते नहीं खाने पड़ते।

अतएव प्याज, मिर्चे और जूत खाकर रुपये क्यों दिये जायें! पहले ही रुपये क्यों न दे दिये जायें, जिससे उपर्युक्त आपत्ति न आये। इसी प्रकार सारी अवदशा सहने के पहले ही विषय-वासनाएं छोड़ दी जायें तो सर्वोत्तम है। नहीं तो विषयों में पड़कर सारी मस्ती झड़ जायेगी।

त्याग करन है सबन को, बचत न कोई देखाय।
चहै तजै दुख भोगि कै, चाहै प्रथम हटाय॥

(भगवान, साखी सुधा-87)

मौत का दौरा निश्चित

"जबहीं सावत आनि पहूँचे, पीठ साँटि भल टुटिहैं हो।" सावत का शाब्दिक अर्थ है सौतियाडाह एवं ईर्ष्या। किन्तु यहां इस पंक्ति में प्रयुक्त 'सावत' शब्द 'शामत' का अपभ्रंश लगता है। शामत कहते हैं विपत्ति को। यहां शामत एवं सावत का लाक्षणिक अर्थ है मौत एवं कालबती। साहेब कहते हैं कि सांसारिकता में डूबे हुए आदमी के अंत समय में जब कालबली आ धमकता है तब उसकी पीठ पर मौत के डंडे अच्छी तरह से पड़ते हैं। इन सबका अर्थ है कि जिसके मन में बुरे संस्कार हैं उसे अंतकाल में अपने मन में बड़े भयानक-भयानक दृश्य दिखाई देते हैं। वहां बाहर से कोई पीड़ा देने वाला नहीं आया रहता है। मौत भी कोई ऐसा जानवर नहीं है जो बाहर से आये। मौत तो शरीर की अवधि के समाप्त होने को कहते हैं। वस्तुतः अपने ही दुष्कर्म तथा संसारासक्ति विचित्र मानसिक रूप लेकर जीव को पीड़ित करते हैं। अंतकाल में आदमी मोहवश बेचैन होकर तड़पता है। वह नहीं चाहता है कि अपने माने हुए शरीर, परिवार, घर, धनादि को छोड़कर सदा के लिए चला जाये; परन्तु मौत से तो कोई छूटने वाला नहीं है। सद्गुरु कहते

हैं—"ठाढ़े लोग कुटुम सब देखें, कहै काहु के न छुटिहैं हो।" आदमी को मरते देखकर उसके स्वजन कुटुम्बी खड़े देखते व रोते हैं और भगवान-भवानी मनाते हैं कि हमारे पिता, माता एवं पुत्र को छोड़ दो, परन्तु किसी के भी कहने से मौत के पंजे से कोई नहीं छूट सकता। संसार के बड़े-बड़े समर्थ कहलाने वाले तथा भगवान-भवानी कहलाने वाले मौत के मुख में जाने से बच नहीं सके। इस संसार में सबको अचानक मौत के मुख में जाना है।

"एक तो निहुरि पाँव परि बिनवै, बिनति किये नहिं माने हो।" एक तरफ तो कुटुम्बी लोग विनयावनत होकर मौत की विनती करते हैं कि हमारे प्यारे स्वजन को छोड़ दो, दूसरी तरफ मौत विनती करने पर भी नहीं मानती। मौत कब किसको छोड़ने लगी! यहीं तो सब विवश हैं। लोग नीति-अनीति करके धन कमाते हैं, भवन बनवाते हैं, परिवार-वृद्धि करते हैं तथा इस संसार में रहकर बड़ी लम्बी-लम्बी बातें सोचते हैं, परन्तु बीच में निर्दय मौत आ जाती है और मनुष्य को ऐसा चुपके-से उठा ले जाती है कि कोई पता भी नहीं पाता और उसकी सब आशा के महल बीच में ढह जाते हैं। मौत के समय में तो मनुष्य बिल्ली के सामने पड़े चूहे की तरह असहाय हो जाता है। उस समय तो उसे सब कुछ छूट जाने का भय सवार हो जाता है, फिर होश-हवास कहां ठिकाने रहे! जिन्होंने पहले आध्यात्मिक कमाई नहीं की है वे मौत के समय में अपने उद्धार का कोई रास्ता नहीं पा सकते।

स्वस्थ अवस्था में ही अपने स्वरूप तथा वासना-बन्धनों को पहचानो

ऐसे लोगों के लिए सद्गुरु कहते हैं—"अनचीन्हे रहेउ न कियेहु चिन्हारी, सो कैसे पहिचनबेउ हो।" अर्थात तुम जीवनभर अपनी आत्मा से अपरिचित रहे और जिनसे तुम्हारी आत्मा बंधती है उन वासनाओं की पहचान भी तुमने कभी नहीं की, तो मरती बेला में इन गूढ़ विषयों की परख कैसे हो सकेगी तथा कैसे वासनाओं का त्याग होकर स्वरूपस्थिति हो सकती है! निजस्वरूप चेतन आत्मा तथा उसके शत्रु विषय-वासना, ये दोनों बातें सूक्ष्म हैं। इन्हें स्वस्थ अवस्था में सच्चे पारखी सद्गुरु एवं संतों की शरण में रहकर तथा उनकी सेवा-उपासना कर उनसे समझा जाता है और समझकर वासनाओं का त्याग किया जाता है एवं निजस्वरूप चेतन में स्थित हुआ जाता है। वासनानिवृत्ति तथा स्वरूपस्थिति दीर्घकाल की आध्यात्मिक साधना के फल होते हैं। पहले तो इनकी पहचान एवं परख ही कठिन होती है, फिर पीछे वासना का त्याग एक बहुत बड़ा काम होता है। जब वासना का त्याग हो

जाता है तब स्वरूपस्थिति तो सहज हो जाती है, परन्तु यह सब मरती बेला में कैसे हो सकता है! कुछ लोग तो जो जीवनभर के दुराचारी होते हैं वे जब मर जाते हैं तब उनके कान में किसी गुरु नामधारी व्यक्ति से मंत्र-दान कराते हैं। किन्तु यह राख में हवन करने के समान है। अतएव मौत के पहले जब तक स्वस्थ अवस्था है मनुष्य को चाहिए कि वासनाओं को पहचानकर उन्हें त्याग दे और अपने चेतनस्वरूप में स्थित हो जाये। मौत के पहले जब अपनी पक्की स्थिति रहती है तब मौत के समय भी वही दिव्य स्थिति बनी रहती है। किन्तु जो जीवनभर देहाभिमान और वासना में डूबा रहा, वह मरते समय कुछ नहीं कर सकता।

देहाभिमानी का उद्धार नहीं

"लीन्ह बुलाय बात नहिं पूछै, केवट गर्भ तन बोले हो।" अहंकारी जीवात्मा को मौत अपने पास बुला लेती है और उससे बात तक नहीं पूछती, सीधे पुनः योनियों में डाल देती है। क्योंकि ऐसे जीवों ने अपने जीवन में भवतारक सद्गुरु-केवट से कभी कोई सरोकार नहीं रखा। जब उन्हें गुरुजन मिले तब उन्होंने उनसे शरीर का अहंकार लेकर बातें कीं। जीवनभर अहंकार में डूबा, सुपथ बताने वाले संत-गुरु से विमुख मनुष्य केवल खुराफाती संस्कारों का जखीरा बटोरता है। ऐसा आदमी भले सांसारिक उपलब्धियों से संपन्न हो, परन्तु वह आध्यात्मिक दिशा में शून्य होता है। इसलिए ऐसे जीव के लिए सद्गुरु ने यमराज की तरफ से बड़ी हेय भावना का वर्णन किया है, "लीन्ह बुलाय बात नहिं पूछै"। जैसे कोई बहुत बड़ा अपराधी हो, वह दंडाधिकारी द्वारा बुला लिया गया हो और उससे अपनी सफाई देने की बात भी न पूछी गयी हो, उसे सीधे कारावास में डाल दिया गया हो। यही दशा उस वासनावशी जीव की होती है जिसने अपने जीवन में कल्याण का काम तो कुछ भी न किया हो, प्रत्युत निरंतर शरीराभिमान में ही डूबा रहकर कुसंस्कारों का संग्रह किया हो।

पवित्र संस्कारों की पूंजी ही धन है

"जाकर गाँठि समर कछु नाहीं, सो निर्धनिया होय डोले हो।" जिस यात्री की गठरी में फल-मेवे या खाने की कोई सामग्री नहीं है वह निर्धन होकर भटकता है। इस पंक्ति में आया हुआ 'समर' शब्द अरबी भाषा का है। इसके अर्थ होते हैं फल, मेवे, परिणाम, सत्कर्मों के फल आदि। कबीर साहेब कहते हैं कि जिसके पास में अच्छे संस्कारों की पूंजी नहीं है वह आज तथा आगे

निर्धन होकर भटकता है। मनुष्य की यह सबसे बड़ी भूल है कि वह रुपये, पैसे, चांदी–सोना, मोती, हीरे, जमीन–मकान, पशु–परिवार आदि को ही धन समझता है। यह ठीक है कि ये भी धन हैं। परन्तु मनुष्य का असली धन उसके मन के पवित्र संस्कार हैं और यह धन जिसके पास नहीं होता है वह महा निर्धन है। भौतिक धन में तो मुख्य धन रोटी है जिसके बिना किसी का काम नहीं चल सकता। जिनको चौबीस घंटे में एक बार भी पेटभर रोटी न मिलती हो ऐसे लोग दुखी हों तो उनका दुख स्वाभाविक लगेगा; परन्तु ऐसे लोग संसार में बहुत कम होंगे। किन्तु पेटभर खाते हुए भी मन से हरदम दुखी बने तो संसार के अधिकतम लोग हैं। क्योंकि उनके पास पवित्र संस्कारों की पूंजी नहीं है। पवित्र संस्कार सत्कर्मों के फल हैं। जो व्यक्ति अपने जीवन में संयम का पालन करता है और दूसरों के लिए भलाई का व्यवहार करता है, उसके इन पवित्र कर्मों के फल में स्वच्छ संस्कार होते हैं। यह धन जिसके पास है वह महा धनी है। संसार के बड़े–बड़े संतों के पास यही धन था। आज भी जो सच्चा संत एवं सच्चा इनसान है उसके पास यही धन होता है। पैसे वाले स्वयं पैसे वालों को पूज्य नहीं मानते, किन्तु पवित्रात्माओं को पूज्य मानते हैं। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि जिसके मन में पवित्र संस्कार नहीं हैं वह आज भी निर्धन बना भटक रहा है और आगे भी भटकेगा। धनी–निर्धन, विद्वान–अविद्वान, राजा–प्रजा, गुणी–अवगुणी—सब इसलिए अभाव की अनुभूति में मन–ही–मन जल रहे हैं, क्योंकि वे पवित्र संस्कारों की पूंजी से अकिंचन हैं।

पहले से सावधान हो जाओ

"जिन सम युक्ति अगमन कै राखिन, धरिन मच्छ भरि डेहरि हो।" जैसे आगासोची कहार पहले ही मछलियां मारकर तथा उसे सुखाकर अपनी बखारी में भर लेते हैं और उसे बेच–बेचकर खाते हैं, वैसे जो साधु–विचार एवं उत्तम विचार के व्यक्ति हैं वे पहले ही काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेषादि को मारकर इनके विपरीत विचार, क्षमा, संतोष, विवेक, वैराग्य, समतादि सद्गुणों को अपने हृदय में संचित कर लेते हैं। यह कहरा प्रकरण होने से इसमें कहारों का रूपक जगह–जगह आयेगा ही। यहां इस पंक्ति में "धरिन मच्छ भरि डेहरि हो" कहारों द्वारा मछली मारकर बखारी में भर रखने का रूपक है, जिसके सहारे सद्गुरु ने दुर्गुणों को मारकर सद्गुण–धन को हृदय में संचित करने का निर्देश किया है। "जिन सम युक्ति अगमन कै राखिन" पहले ही से सावधान लोग स्वस्थ अवस्था में ही अपने मन–इन्द्रियों

को साध लेते हैं। उनकी समझ की भूरि-भूरि प्रशंसा करनी चाहिए जो अपने कुमारपन एवं युवापन से ही साधना-मार्ग में लग जाते हैं। जो चलने के पहले ही रास्ते के लिए खर्चे का जुगाड़ कर लेता है वह समझदार है। इसी प्रकार वह प्रशंसनीय समझदार है जो जरा, रोग और मृत्यु के पूर्व ही अपने शुभाचारों द्वारा पवित्र संस्कारों का अर्जन कर लेता है। जैसे 'गांठीदाम' तथा 'कंठेज्ञान' ही काम आते हैं, वैसे अपने द्वारा ठीक से आचरित पवित्र कर्मों के संस्कार ही जीव के लिए आज तथा आगे सुख के साधन बनते हैं। अतएव जो पहले से सावधान हैं वे ही समझदार हैं।

संत अकिंचन होकर सम्पन्न हैं

"जेकर हाथ पाँव कछु नाहीं, धरन लागि तेहि सोहरि हो।" जिसके हाथ-पैर कुछ नहीं, उसने पाल की रस्सी पकड़कर अपनी नौका घाट पर लगा ली। अर्थात संसार की दृष्टि से जिसे अकिंचन व्यक्ति कहा जा सकता है कि उसके तो हाथ-पैर कुछ नहीं हैं, उसने अपने पवित्र संस्कारों की पूंजी के बल पर महान आत्म-शक्ति का संचय कर लिया और अपनी जीवन-नौका को शांति एवं मोक्ष के घाट पर लगा लिया। 'सोहर' वह मांगलिक गीत है जिसे पुत्र पैदा होने पर गाया जाता है। परन्तु 'सोहर' के दो अन्य भी मिलते-जुलते अर्थ होते हैं, वे हैं, 'नाव का फर्श' तथा 'पाल खींचने की रस्सी'। यहां रूपक में पाल खींचने की रस्सी ही 'सोहर' का अर्थ है। इस पंक्ति में सद्‌गुरु ने उलटवांसी का प्रयोग किया है। उन्होंने कहा है कि जिसके हाथ-पैर नहीं थे उसने पाल की रस्सी पकड़कर नौका को किनारे लगा लिया। हाथ-पैर न होने का लाक्षणिक अर्थ है सामर्थ्य से रहित होना। संसारी लोग संतों को ऐसे ही समझते हैं। वे मानते हैं कि साधु अकिंचन एवं असमर्थ होते हैं। परन्तु सद्‌गुरु कहते हैं कि हे संसारियो! जिन्हें तुम अकिंचन, गरीब एवं निर्बल समझते हो, वे संत ही सच्चे अर्थों में सम्पन्न, धनी एवं सबल हैं। वे ही अपनी जीवन-नौका के पाल की रस्सी पकड़कर, उसे भव-पार लगा लेते हैं। सच्ची संपन्नता तो मन की पवित्रता की होती है। जिसका मन पवित्र है वह मानो भवसागर से पार है। अच्छे-से-अच्छे धनपतियों का मन प्रसन्न नहीं रहता। प्रसन्न तो उसका मन रहता है जिसका हृदय राग-द्वेष से निवृत्त है। जिसके मन का भय सर्वथा दूर हो गया है वह सदैव प्रसन्न होता है। परन्तु मन का भय सर्वथा दूर तभी होता है जब राग एवं मोह सर्वथा दूर हो जायें। यह सब पवित्र संस्कारों की पूंजी तथा भीतरी सम्पन्नता कहलाती है। जिसके राग, मोह तथा भय दूर हैं, जो सदैव प्रसन्न है, मानो उसकी नौका भव-पार हो

गयी, और वह सबसे बड़ा धनी हो गया।

विवेक-पथ में बढ़ो

"पेलना अछत पेलि चलु बौरे, तीर तीर का टोवहु हो।" हे पगले! तेरे हाथों में पेलना एवं हत्था होते हुए तू किनारे-किनारे क्या टटोल रहा है! अरे, बीच धारा में हत्था मारते हुए नौका उस पार निकाल चले चल! मानव-शरीर नौका है, विवेक पेलना एवं हत्था है। उससे वासनाओं का पानी पीछे ठेलते हुए जीवन-नौका को आगे बढ़ाते चलो। पूजा-पाठ तथा कर्मकांड-जैसी छिछली क्रियाओं में समय न बरबाद करो। इस प्रकार तीर-तीर टटोलना छोड़ दो। कम पानी की नदियों में नाविक बांस-बल्ली नदीतल में मारते हुए नौका आगे बढ़ाते हैं। परन्तु जब नदी में पानी बहुत गहरा होता है जहां कि बांस-बल्ली से थाह नहीं मिलती, वहां नाविक नाव के दोनों तरफ खूंटे के सहारे बंधे हुए हत्थों से पानी पीछे पेलते हुए नौका आगे बढ़ाते हैं। इन हत्थों के जो हिस्से हाथ में होते हैं वे अपेक्षया पतले होते हैं और जो पानी में होते हैं वे चौड़े होते हैं। उन्हें हत्था एवं पेलना कहा जाता है। साहेब कहते हैं कि भवसागर का पानी गहरा है। अपनी जीवन-नौका कर्मकांडों की बांस-बल्ली से तीर-तीर टटोलते हुए चलने से भवपार नहीं हुआ जा सकता है। इसके लिए विवेक के पेलने से वासना का पानी पीछे पेलते हुए जीवन-नौका को आगे गतिशील करना चाहिए। जीवन का समय बड़ा महत्त्वपूर्ण है। उसे केवल कर्मकांडों में उलझाकर मत व्यतीत करो, किन्तु विवेक का पथ अपनाओ और वासनाओं को जीतो।

पवित्र संस्कार बनाये रखो

"उथले रहहु परहु जनि गहिरे, मति हाथहु की खोवहु हो।" साहेब दूसरी दिशा में भी सावधान करते हैं कि यदि पार जाने की हिम्मत न हो तो उथले ही में रहो अर्थात यदि इस जीवन में पूर्ण मोक्ष न ले सको तो इतना अवश्य करो कि मोह-माया तथा दुष्कर्मों की गहराई में मत डूबो, किन्तु शुभकर्मों में लगे रहो। यह मनुष्य-जीवन हाथ का धन है। इतने सत्कर्म तो अवश्य होने चाहिए कि यह जीव पुनः मानव-शरीर में आ सके तथा मोक्ष-साधना को आगे बढ़ा सके। इस जीवन की पूर्ण सफलता है मोक्ष की प्राप्ति। सारी वासनाओं को त्यागकर निजस्वरूप की अविचल स्थिति प्राप्त हो जाना जीवन की अन्तिम ऊंचाई है। परन्तु यदि मनुष्य इसी जीवन में इतना न कर सके तो शुभकर्मों की पूंजी अवश्य इकट्ठा करे। वह मोह-माया की गहराई में न डूबे।

अपने माने हुए शरीर तथा परिवार के लिए दुष्कर्म न करे। जितना संभव हो दूसरों का हित करे। अपने मन को शुभ संस्कारों से संस्कारित करे। यदि इस प्रकार वह शुभ मार्ग में चलता है तो उसकी मानवता बनी रहेगी। वह इस शरीर के छूट जाने पर पुनः शुभ संस्कारों से संस्कारित विवेकसम्पन्न मानव-शरीर पायेगा और अपने कल्याण-पथ में आगे बढ़ जायेगा। साहेब कहते हैं "मति हाथहु की खोवहु हो" यह मानव-शरीर हाथ में मिला धन है, मूल पूंजी है। यदि मूल पूंजी छूट जायेगी तो व्यापार किस पर होगा! यदि मानव-शरीर ही आगे न मिले और यह जीव हाथी-घोड़ा खानियों में चला जाये तो वहां क्या करेगा! अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह यदि मोक्ष न ले सके तो इतना अवश्य करे कि मानवीय शुभाचार न छोड़े, जिससे वह कल्याण-पथ का पथिक आगे भी बना रहे।

भीतर और बाहर के ताप

"तर कै घाम ऊपर कै भुँभुरी, छाँह कतहुँ नहिं पायहु हो।" साहेब यहां उलटवांसी में कहते हैं कि तुम नीचे की धूप में तथा ऊपर की गरम बालुका में जल रह हो। घाम का अर्थ धूप तथा भुंभुरी का अर्थ गरम बालुका है। लोक में मनुष्य के ऊपर एवं सिर पर धूप होती है तथा उसके नीचे एवं पैर के तल में गरम बालू होती है। परन्तु यहां साहेब कहते हैं कि नीचे की धूप तथा ऊपर की भुंभुरी से तुम जलते हो। तुम्हें आज तक कहीं भी शीतलता नहीं मिली। 'तर का घाम' है मन का क्लेश तथा 'ऊपर की भुंभुरी' है प्राणी-प्रदार्थ तथा शरीरजनित उपद्रव। इन दोनों में अबोधी मुनष्य निरन्तर जलता है। उसे कहीं क्षण मात्र के लिए भी शांति नहीं मिलती। मनुष्य के भीतर मन है। वह नाना आशंकाओं, मोह-ममताओं, राग-द्वेष, चिंता-फिक्र तथा अनेक द्वन्द्वों से निरन्तर जलता रहता है। यही मानो भीतर की धूप है। गरम बालुका स्थूल होती है और धूप सूक्ष्म होती है। इसी प्रकार बाहर के प्राणी-पदार्थ तथा शरीर स्थूल होते हैं और मन सूक्ष्म होता है। इसीलिए सद्गुरु ने मनजनित पीड़ा को घाम तथा शरीर एवं प्राणी-पदार्थजनित पीड़ा को भुंभरी कहा है। उलटवांसी में कथन उलटा-जैसा लगता है, परन्तु अर्थ सीधा होता है। सूक्ष्म मन की पीड़ा धूप है जो भीतर का है। स्थूल प्राणी-पदार्थ एवं शरीरजनित पीड़ा भुंभरी है जो ऊपर का एवं बाहर का है। अविवेकवश मन तो पीड़ा देता ही है, बाहर के प्राणी-पदार्थों तथा शरीर से भी जीव के सिर पर नाना उपद्रव आते रहते हैं। इस प्रकार ज्ञान बिना जीव को कभी शीतलता नहीं मिलती। सद्गुरु कहते हैं कि हे मोहग्रस्त मानव! भीतर की मानसिक पीड़ा तथा बाहरी संसार के

उपद्रवों से ग्रस्त होकर तुम्हें कभी शीतलता नहीं मिल रही है।

विवेक-छत के नीचे शीतलता है

"ऐसेनि जानि पसीझेहु सीझेहु, कस न छतुरिया छायहु हो।" तुम उपर्युक्त तापों में सदैव जलते, तपते, गलते तथा क्षीण होते हो, किन्तु इन तापों को जानकर भी तुम इनसे बचने के लिए विवेक की छत क्यों नहीं बना लेते? सद्‌गुरु का मानव से कितना करुणापूर्वक आग्रह है कि दुखों के इतने तापों को झेलते हुए भी तुम उनसे बचने के लिए छतरी क्यों नहीं छा लेते हो! छतुरिया छाता को कहते हैं जो लोह की तीलियों एवं दंडे से बना रहता है और जिस पर कपड़ा तना रहता है। छप्पर, खपड़े, पत्थर, ईंट, सीमेन्ट लोहे आदि से बनी छत को भी छतुरिया कहते हैं। धूप और भुंभरी से बचने के लिए किसी प्रकार छत चाहिए। यहां छतुरिया एवं छत विवेक है। विवेक की छत के नीचे ही शीतलता की छाया मिलेगी। इस ताप भरे शरीर एवं संसार में शांति पाने का एक ही रास्ता है—विवेक। विवेक उस मानसिक शक्ति का नाम है जिससे मन तथा संसार का कच्चाचिट्ठा दिखाई देता है। इसी से सत–असत की परख होती है। विवेक ही वृद्धता एवं बुजुर्गानी है। बूढ़ा होने पर भी यदि उसमें विवेक नहीं है तो वह बच्चा है, किन्तु शरीर से बच्चा होने पर भी यदि उसमें विवेक है तो वृद्ध के समान आदरणीय है। सुन्दरदास जी ने ठीक ही कहा है 'जाहि को विवेक ज्ञान ताही को कुशल जान, जाही ओर जाये वाको वाही ओर सुख है।' हृदय में विवेक उदित होने पर मन का ताप दूर हो जाता है। जिसके हृदय में विवेक नहीं है उसके मन का ताप जा नहीं सकता, और जिसके मन में विवेक होगा उसके मन में ताप रह नहीं सकता। हृदय में विवेक उदय होने पर शरीर तथा प्राणी–पदार्थजनित उपद्रवों के ताप को सहने की शक्ति आती है। विवेक–शक्ति पूर्ण उदय हो जाने पर तो भीतर में द्वन्द्व रह ही नहीं जाता, बाहर के उपद्रव भी तुच्छ लगते हैं। इस संसार में ऐसा हो नहीं सकता कि प्रतिकूलता न आये। उसके प्रभाव से बचने के लिए मात्र एक तरीका है—विवेक। सद्‌गुरु कहते हैं कि हे मानव! तुम भीतर–बाहर के दुख से जलते हो, तो उससे बचने का उपाय क्यों नहीं करते!

अब अपने आप को न ठगाओ

"जो कछु खेड़ कियहु सो कियहु, बहुरि खेड़ कस होई हो।" तुमने जो कुछ दुख का खेल आज तक किया सो किया, अब पुनः उसे क्यों करो! खेड़ का मुख्य अर्थ है गांव। वैसे खेड़ का अर्थ खेट एवं आखेट भी होता है। खेट को नीच और अधम भी कहते हैं। यहां खेड़ का तात्पर्य खेल है, जो मलिन

एवं दुखदायी कर्मों के लिए प्रयुक्त हुआ है। साहेब कहते हैं कि तुमने आज तक भूल-चूक में जो कुछ दुखदायी एवं मलिन कर्म किये सो किये, अब वैसे कर्मों का खेल मत करो। अब जग जाओ। 'एक बार ठगावै तो बावनबीर कहावै, बार-बार ठगावै तो गप्पूनाथ कहावै।' एक बार ठगा गये सो ठगा गये, अब बारम्बार अपने आप को मत ठगाओ।

संशय और कुमति का त्याग करो

"सासु ननद दोउ देत उलाटन, रहहु लाज मुख गोई हो।" तुम्हारी मनोवृत्तिरूपी बहू को संशयरूपी सासु तथा कुमतिरूपी ननद उलट-पलटकर जला रही हैं। तुम संतों से लज्जा कर उनसे अपना मुख छिपाते हो। तुम्हारा उद्धार कैसे होगा! संसार में अधिकतम सासु और ननद बहू को कष्ट देती हैं। कबीर साहेब ने संशय तथा कुमति के लिए सासु और ननद को मुहावरा ही बना लिया है। मनुष्य की मनोवृत्ति मानो बहू है और संशय तथा कुमति क्रमशः सासु और ननद हैं। इसका अर्थ यह है कि संशय और कुमति के द्वारा मनुष्य की मनोवृत्ति निरन्तर पीड़ित की जा रही है। मनुष्य की मनोवृत्ति में संशय के घुन लगे रहते हैं। उसे अपने आत्म-अस्तित्व पर संशय है, आचार पर संशय है, साथियों एवं पड़ोसियों की नेकनीयती पर संशय है, अपने जीवन-निर्वाह एवं भविष्य की खुशहाली पर संशय है। वह हर तरफ से हर समय संशय से घिरा रहता है। संशय मनुष्य के चित्त को चालते हैं। दूसरी है कुमति। कुमति तो सारे दुखों का कारण है। कुमति एवं कुबुद्धि होने से ही तो आदमी कुपथ पर चलकर अपने आप को दुखों में डाले रहता है। ये संशय तथा कुमतिरूपी सासु-ननद जीव की मनोवृत्ति को उलट-पलट-कर जलाती रहती हैं, परन्तु जीव ऐसा निर्लज्ज बन गया है कि इन्हीं के बीच में सदैव पड़ा रहता है। मानसिक विकारों से छूटने का साधन साधु-संगत है। परन्तु साधु-संगत से मनुष्य अपना मुख छिपाता है। उनसे लज्जा करता है। मनुष्य की बुद्धि ऐसी उलटी हो गयी है कि वह दुर्गुणों में पड़े रहने में तो लज्जा नहीं करता, किन्तु संतों से लज्जा करता है जिनसे अपना सुधार है।

बुढ़ापा आने के पहले जागो

"गुरु भौ ढील गोनी भइ लचपच, कहा न मानेहु मोरा हो।" गुड़ गीला हो जाने पर बोरी लचपच हो जाती है, इसी प्रकार मांस-पेशियों के ढीले हो जाने पर शरीर लचपच हो जाता है। देखो, बूढ़े का शरीर कितना लचपच होता है। न उसके पैर स्थिरता से जमीन पर पड़ते हैं, न हाथ ठीक से काम देते हैं, न शरीर के अन्य अंग। यहां तक कि बुद्धि में भी सदैव विस्मृति बनी रहती है।

बूढ़ा तो अपने शरीर की दैनिक क्रिया करने में ही अपने को असमर्थ पाता है। वह आलसी बना बिस्तर पर पड़ा रहना चाहता है। ऐसी अवस्था में वह पर-सेवा तथा आत्म-साधना का काम क्या कर सकता है! साहेब कहते हैं कि हे मनुष्य! तुम्हें बारम्बार गुरुजन समझाते हैं कि तुम पर-सेवा तथा आत्म-कल्याण की साधना में लगो, परन्तु तुम जीवनभर इनसे असावधान रहे, और अब तो गुड़ ढीला हो जाने से गोनी लचपच हो गयी है। शरीर बूढ़ा हो जाने से तुम्हारी सारी इन्द्रियों ने जवाब दे दिया है। "अब पछिताये होत क्या जब चिड़िया चुग गयीं खेत।"

विवेक-वैराग्य अपनाओ

"ताजी तुरकी कबहुँ न साधेहु, चढ़ेहु काठ के घोरा हो।" तुमने तेज ताजी-तुर्की घोड़े की सवारी नहीं की अपितु काठ के घोड़े की सवारी की। विवेक-वैराग्य ताजी और तुरकी घोड़े हैं। ताजी अरबी घोड़ों को कहते हैं तथा तुरकी तुर्किस्तान के घोड़ों को। ये बड़े तेज होते हैं। यहां ताजी-तुरकी के लक्षणा अर्थ हैं विवेक-वैराग्य। सद्‌गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य! तूने अपने जीवन में विवेक-वैराग्य को नहीं साधा, अपितु देहाभिमान में डूबा रहा। काठ के घोड़े पर सवारी करने से क्या फल होगा! वह तो मनुष्य को एक पग भी नहीं ले जा सकता, क्योंकि वह जड़ है। हम जड़ शरीर के अहंकार में डूबे हैं। यही मानो काठ के घोड़े पर चढ़कर भवपार जाने का दुस्साहस है। देहाभिमानी आदमी भक्ति-मार्ग में लगता है, परन्तु वह यदि किसी-न-किसी प्रकार देह की पूजा में ही जीवनभर लगा रहता है तो यह भी उसका काठ के घोड़े पर चढ़ना ही है। यह ठीक है कि जीवित गुरु एवं उपास्य की देह की सेवा की जाये, क्योंकि उसमें चेतन निवास करता है। परन्तु मर जाने के बाद देह के आकार में पुतले, चित्र आदि बनाकर उन्हें पूजना तथा उन्हीं के राग-रंग में लीन रहना एक अविवेक ही है। कोई भी महापुरुष कुछ काल रहकर मर जाते हैं। उनकी जीवात्मा की उनके कर्मों के अनुसार गति होती है तथा उनकी पार्थिवदेह मिट्टी में मिल जाती है। यदि उनकी देह बहुत सुन्दर रही तो, इसका मतलब यह है कि जब उनका शरीर जवान था तब वह देखने में सुन्दर लगता था। परन्तु उनके बूढ़े हो जाने पर ही उनका शरीर कुरूप हो गया होगा। फिर मर जाने के बाद जबकि उनके शरीर का कहीं चिह्न भी अवशेष नहीं है तब उनके कल्पित शरीर के अंगों में कमलों की उपमा दे-देकर भाव-विह्वल रहना एक भावुकता है तथा कठोर भाषा में कहें तो घोर अविवेक है। यह ठीक है कि आरंभिक काल में कितने साधक किसी पवित्रात्मा देहधारी के

शरीर का ध्यानकर मन एकाग्र करते हैं, परन्तु इसके साथ यह भी समझना चाहिए कि जब किसी की कल्पित देह को ही भगवान एवं चिन्मय मान लिया जाता है तब उससे कभी हटने का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है। सगुणवादी रागात्मक भक्ति-पथ-पथिकों की यही दशा है। वे तथाकथित भगवान के काल्पनिक करकमल, मुखकमल, हृदयकमल, पदकमल, नेत्रकमल, कपोल-कमल को छोड़कर अविनाशी शुद्ध चेतन स्वस्वरूप की ओर कभी ध्यान नहीं देते। यह सब काठ के घोड़े पर सवार होकर गंतव्य पर पहुंचने का दुराग्रह ही है।

बचपना छोड़ो

"ताल झाँझ भल बाजत आवै, कहरा सब कोई नाचे हो। जेहि रंग दुलहा ब्याहन आये, दुलहिनि तेहि रंग राँचे हो।" जब कहारों में किसी का विवाह होता है तब हुडुक्क-जोड़ी बजते हैं और कहार लोग नाचते हैं। दूल्हा जिस राग-रंग की भावना में विवाह करने आता है दुलहन भी उसी राग-रंग में प्रेम करती है। रागात्मिका भक्ति करने वालों की यही दशा रहती है। वे स्वयं अपने आप को पत्नी मानते हैं और किसी एक कल्पित देव को अपना पति चुनकर उससे मिलने के विरह में व्याकुल होकर बजाते, गाते और नाचते हैं। जिस रंग का दूल्हा होता है उसी रंग में दुलहन प्रेम करती है। यह दूल्हा-दुलहन तथा लल्ला-लल्ली का कुसंस्कार प्रस्तुत कर भक्ति का स्वरूप ही चौपट कर डाला गया है। सद्गुरु कबीर कहते हैं कि ये लोग काठ के घोड़े पर सवार हैं जो कहीं नहीं जा सकता। ये लोग विवेक-वैराग्य रूपी ताजी-तुरकी घोड़े पर नहीं बैठते कि वे इन्हें गंतव्य तक पहुंचा दें।

जीवन जीने का कायदा जानो

"नौका अछत खेवै नहिं जाने, कैसे कै लगबेहु तीरा हो।" नौका रहते हुए भी तुम उसे खेना नहीं जानते हो तो कैसे उस पार लगोगे! यह मानव-शरीर भवसागर से पार जाने के लिए नौका है। यह तुम्हें प्राप्त है, परन्तु तुम इसे बिताने का न सही कायदा जानते हो और न पूर्व से निर्मित वासनाओं को मिटाने का विवेक रखते हो, फिर कैसे भवसागर पार जाओगे! जो व्यक्ति इस मनुष्य शरीर को कल्याण का एक साधन मात्र मानकर इसे विवेक से निभाता है, किसी प्राणी-पदार्थ को अपना न मानकर, उन्हें पथ में मिले हुए पथशाला की वस्तु समझकर सबसे अनासक्त रहता है और पूर्व की रही हुई मन की वासनाओं को विवेक-वैराग्य से नष्ट करता है, वह इसी जीवन में अपना उद्धार कर लेता है।

जीवन जीने का अच्छा तरीका है रामरस में लीनता

"कहहिं कबीर रामरस माते, जोलहा दास कबीरा हो।" इस पंक्ति को दो ढंग से समझा जा सकता है। एक ढंग है कि कबीर साहेब कहते हैं कि रागात्मिका भक्ति का पट बुनने वाले भक्त लोग कल्पित रामरस में मतवाले रहते हैं। वे स्वरूप-राम को नहीं समझते। इस अभिप्राय में 'दास कबीर' हैं उपासक भक्त जो भक्ति की चुनरी बीनने से जोलाहा है। ऊपर की 27वीं से 30वीं पंक्ति तक इसका प्रसंग भी है। 'कहहिं कबीर' कहकर ग्रन्थकर्ता इस कहरा में अपने नाम की छाप तो लगा ही देते हैं, फिर इसके बाद 'जोलहा दास कबीरा' कहकर अपने आप को प्रस्तुत करने का कोई तुक नहीं दिखता। एक ही पंक्ति में 'कहहिं कबीर' कहकर फिर 'जोलहा दास कबीरा' कहना बे-तुका-सा लगता है। इसके अलावा 'माते' शब्द बीजक भर में प्रायः खंडन-परक है; अतएव यहां रामरस स्वात्माराम न होकर कल्पित राम या अवतार-राम के विषय में ही हो सकता है। अतएव इस पंक्ति का अर्थ हुआ कि कबीर साहेब कहते हैं कि भक्ति-चुनरी बीनने वाले भक्त लोग अवतार राम एवं कल्पित रामरस में मतवाले बने हैं। वे आत्माराम पर ध्यान नहीं देते, इसलिए वे नौका अछत इसे खेने का तरीका नहीं जानते।

इस पंक्ति को दूसरे ढंग से समझने के लिए सीधा एवं सपाट अर्थ अपेक्षित है जो भावार्थ में दर्शाया गया है, वह यह है कि कबीर साहेब अपने आप को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि यह जुलाहा दास कबीर तो स्वरूपस्थिति रूप रामरस में लीन है और यही जीवन जीने का अच्छा तरीका है। बीजक भर में 'माते' शब्द खंडनपरक होते हुए भी अपवादस्वरूप कहीं-कहीं मंडनपरक होना असंभव नहीं है। 'कहहिं कबीर' कहने के बाद भी सद्गुरु ने अपने आप को विनम्ररूप से प्रस्तुत करने के लिए 'जोलहा' तथा 'कबीरा' भी कहा हो तो उन जैसे निर्मल संत के लिए स्वाभाविक ही है। यह अर्थ पहले से भी अधिक स्वाभाविक लगता है और कल्याणकारी तो इतना है कि कहना ही क्या!

जीवन जीने के पेशे अर्थात कर्म पूजा हैं

बाल बनाने, जूते टांकने, कपड़े बुनने, कपड़े सिलने, हल चलाने, गाय चराने, लकड़ी छीलने आदि मोटे काम के करने वालों में से कितने लोग, आज के इस प्रगतिशील-युग के शिक्षित लोग भी, अपने इन पेशों को लोगों से छिपाते हैं। वे इन सब कामों को घटिया कोटि के काम समझते हैं, जो उनकी गहरी भूल है। ये सारे काम तो इतने पवित्र हैं कि पूजा हैं। ये पूजा-

तुल्य नहीं, किन्तु स्वयं पूजा हैं। इनके समान दूसरी पूजा हो ही नहीं सकती। इन सारे कामों से ही तो समाज की सेवा होती है। संसार के महापुरुषों ने अपने मोटे कहे जाने वाले पेशे को छिपाया नहीं है। करोड़ों के पूज्य श्रीकृष्ण महाराज लकुटी-कमरिया लेकर गाय चराने वाले ग्वालेरूप में प्रसिद्ध हैं जिन्हें गीता तक में बारम्बार यादव कहा गया है। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में श्रीकृष्ण ने अतिथियों के पैर धोने का काम लिया ही था।[1] करोड़ों के श्रद्धेय सन्त ईसा को कौन नहीं जानता है कि वे बचपन से जवानी तक लकड़ी छीलने एवं बढ़ई का काम करते थे। वे बाइबिल में बढ़ई के बेटे प्रसिद्ध हैं। ऋग्वेद के एक जुलाहे ऋषि कहते हैं, "वरुण, मेरे पाप ने मुझे रस्सी की तरह बांध रखा है; मुझे छुड़ाओ। हम तुम्हारी जलपूर्ण नदी प्राप्त करें। बुनने के समय हमारा तन्तु कभी टूटने न पावे, असमय में यज्ञ की मात्रा कभी विफल न हो।"[2] कबीर साहेब जुलाहे के यहां पले थे, तो जुलाहे का काम तनना-बुनना किये ही होंगे, और यह वस्त्र-वयन का काम बड़ा ही पवित्र समाज-सेवा का काम है। भोजन के बाद मनुष्य के लिए दूसरी आवश्यकता वस्त्र ही है। भोजन-वस्त्र युग्म शब्द का प्रयोग होता है। कबीर साहेब-जैसे उच्च विचारक जुलाहे के पवित्र काम को हीनभावना से कैसे देख सकते थे! कबीर कोई कच्चे धागे से नहीं बने थे। उन्होंने बीजक भर में जगह-जगह अपने आप को जुलाहा स्वीकारने में हिचक नहीं की है। इसी प्रकार रैदास, नानक, पल्टू आदि मूर्द्धन्य संतों ने अपने आप को मोची तथा बनिया कहा है। यह दूसरी बात है कि संत केवल संत होते हैं। परन्तु उन्होंने यदि जीवन जीने का कोई धन्धा अपनाया है तो वह पुनीत काम है। वैसे कृष्ण, ईसा और कबीर अपने जीवन की तरुणाई तक ही गाय चराने, लकड़ी छीलने तथा कपड़े बुनने का काम कर सके थे। इसके बाद तो वे संसार की सेवा में इस ढंग से लग गये थे कि अपने-अपने समय में लोकनायक हो गये थे। परन्तु यदि समयानुसार वे अपने पेशे के काम यदा-कदा जीवनभर करते रहे हों तो यह सोने में सुगन्ध ही है। कबीर-जैसे निर्गुणीधारा के संत परोपजीवी नहीं थे। उन्होंने कभी भिक्षा नहीं मांगी, किन्तु स्वयं श्रम से जीवन जीया और लोक-कल्याण किया। यह आज के साधुओं के लिए बहुत बड़ी प्रेरणा है।

---

1. महाभारत, सभापर्व, अध्याय 35, श्लोक 10।
2. टीका : रामगोविन्द त्रिवेदी। मूल मंत्र इस प्रकार है—
वि मच्छ्रथाय रशनामिवाग ऋध्याम ते वरुण खामृतस्य।
मा तन्तुश्छेदि वयतो धियं मे मात्रा शार्यपशः पुर ऋतोः॥ ऋग्वेद 2/28/5॥

दिखावा छोड़कर सरल रहो

आज महात्मा लोगों में अपने नाम के आगे-पीछे लम्बे विशेषण लगाने की बड़ी भूख है। शास्त्री, आचार्य, महामंडलेश्वर, जगद्गुरु, प्रतिवादभयंकर, शास्त्रार्थमहारथी, तर्क पंचानन, विद्यावाचस्पति, विद्यावागीश, विद्यावारिधि, साहित्यालंकार तथा और नये-नये विशेषण आविष्कृत कर लिये गये हैं जिन्हें अपनी कलम से अपने नाम के आगे-पीछे जोड़ते हैं। परन्तु आप पहले के ऋषियों तथा संतों को देखिए नारद, सनक, सनंदन, सनातन, सनत्कुमार, व्यास, वसिष्ठ, शुकदेव आदि सादे नाम हैं। इसी प्रकार कबीर साहेब को देखिए तो वे अपनी पूरी वाणी में अपना नाम सादा 'कबीर' बोलते हैं। यदि कहीं विशेषण आता है तो कबीर के साथ केवल 'दास' है। इसके अलावा कुछ नहीं। अतः अपनी लेखनी से अपने हस्ताक्षर तक में नाम के आगे-पीछे संत, महंत, साहेब, स्वामी, शास्त्री, आचार्य तथा और नामालूम क्या-क्या जोड़ना कहां तक उचित है!

कितने लोग तो अपने आप को आजकल 'दास' लिखने में लज्जा करने लगे हैं, इसलिए वे अपने नाम के साथ लगे 'दास' शब्द हटा देते हैं। वे सोचते हैं कि दास तो गुलामी का शब्द है। पहले दास-प्रथा थी, उसी से उपजा शब्द दास रखना ठीक नहीं है। परन्तु गुलाम दास और संतों-भक्तों के नामों में लगे दास से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। वैदिक महापुरुषों में भी यदा-कदा दास शब्द चलते थे। ऐसे ही वैदिक पुरुष हैं दिवोदास तथा सुदास। जिनके नाम से ऋग्वेद का ऐतरेय ब्राह्मण ही है वे ऐतरेय महिदास थे जिनकी ब्रह्मचर्य के तेज से 116 वर्ष तक जीवित रहने के लिए प्रशंसा की गयी है।[1] कोई अपने आप को स्वामी या साहेब लिख ले तो वह मन-इन्द्रियों पर विजयी नहीं हो जाता, परन्तु जिसने अपने मन तथा इन्द्रियों पर विजय पायी है उसके नाम में कुछ भी विशेषण हो, वह स्वामी है।

कामरस छोड़कर रामरस में लीन होओ

हमें इस कहरा की आखिरी पंक्ति से सरलता और विनम्रता की आदर्श प्रेरणा मिलती है। कबीर साहेब का अपने आप को जुलाहा कहना उनकी सरलता तथा दास कहना उनकी विनम्रता है, और तीसरी बात जो उन्होंने इस पंक्ति में पहले ही कही है 'रामरस माते' उनके सारे कथनों का सार है। कबीर साहेब रामरस में निमग्न थे। यही जीवन जीने का अच्छा तरीका है। दो ही

---

1. छांदोय उपनिषद् 3/16/7।

रस हैं, एक कामरस और दूसरा रामरस। जो आदमी जितना कामरस में डूबता है वह उतना ही पीड़ा-पर-पीड़ा भोगता है। उसका मन सदैव वासनाओं तथा इच्छाओं में तपता रहता है। वह अभाव की अनुभूति की भट्ठी में सदैव जलता रहता है और जो रामरस में डूबा रहता है वह सदैव शीतल, सुखी एवं आनंदमय रहता है। जीवन जीने का सर्वाधिक उत्तम तरीका है रामरस में सदैव निमग्न रहना। निज स्वरूप आत्माराम में लीनता ही रामरस में निमग्नता है।

इस कहरा में सद्‌गुरु ने शुरू की पंक्ति में ही सहज-ध्यान में रहने का आदेश दिया है। सहज अपना चेतनस्वरूप है। अपनी चेतना में स्थित रहना ही सहज-ध्यान एवं सहज-समाधि है और यही अन्तिम पंक्ति की रामरस में मग्नता है।

सद्‌गुरु का प्रेम-बाण

कहरा-2

मत सुनु मानिक मत सुनु मानिक, हृदया बन्द निवारहु हो॥ 1॥
अटपट कुम्हरा करै कुम्हरैया, चमरा गाँव न बाँचे हो॥ 2॥
नित उठि कोरिया पेट भरतु है, छिपिया आँगन नाँचे हो॥ 3॥
नित उठि नौवा नाव चढ़तु है, बेरहि बेरा बोरे हो॥ 4॥
राउर की कछु खबरि न जानहु, कैसे कै झगरा निबेरहु हो॥ 5॥
एक गाँव में पाँच तरुनि बसे, जेहिमा जेठ जेठानी हो॥ 6॥
आपन आपन झगरा प्रकासिनि, पिया सों प्रीति नसाइनि हो॥ 7॥
भैसिन माहिं रहत नित बकुला, तिकुला ताकि न लीन्हा हो॥ 8॥
गाइन माँहि बसेउ नहिं कबहूँ, कैसेक पद पहिचनबेउ हो॥ 9॥
पंथी पन्थ बूझि नहिं लीन्हा, मूढ़हि मूढ़ गँवारा हो ॥ 10॥
घाट छोड़ि कस औघट रेंगहु, कैसे कै लगबेहु तीरा हो॥ 11॥
जतइत के धन हेरिन ललचिन, कोदइत के मन दौरा हो॥ 12॥
दुई चकरी जनि दरर पसारहु, तब पैहो ठीक ठौरा हो॥ 13॥
प्रेम बाण एक सतगुरु दीन्हों, गाढ़ो तीर कमाना हो॥ 14॥
दास कबीर कीन्ह यह कहरा, महरा माँहि समाना हो॥ 15॥

शब्दार्थ—मत=राय, सम्मति, विचार, सिद्धांत। मानिक=रत्न, माणिक्य, मनुष्य, चेतन। बन्द=बंधन। निवारहु=त्याग करो। अटपट=अटपटा, टेढ़ा,

ऊटपटांग, लड़खड़ाता हुआ। कुम्हरा=कुंभकार, मन। कुम्हरैया=घट बनाना। चमरा गांव=चाम का शरीर। कोरिया=हिन्दू जुलाहा, जुलाहा, कर्मी जीव। पेट भरतु है=जीवनयात्रा एवं जीविका में लगता है, पैंठ, बाजार। छिपिया=छीपी, छींटें छापने वाला, कपड़े पर छींटें छापने वाला, रंगरेज, मन। नौवा=विवेकहीन, मनरूपी नाविक। बेरहि=बारम्बार। बेरा=बेड़ा, नौका। राउर=अन्तःपुर, श्रेष्ठ, चेतन। एक गाँव=शरीर। पाँच तरुणि=पांच युवतियां; आंख, नाक, कान, जीभ, चाम ये पांच ज्ञानेन्द्रियां। जेठ=श्रेष्ठ, मन। जेठानी=बलवान, वासना। पिया=चेतन जीव। भैसिन=भैंसे, इन्द्रियां। बकुला=मन। तिकुला=ताकने योग्य, ध्यान देने योग्य स्वस्वरूप। गाइन=गायें, सात्त्विक पुरुष, संत। पद=पारखपद, निज चेतन-स्वरूप। पन्थी=मोक्षपथ के पथिक मुमुक्षु। पंथ=मोक्षपथ। घाट=पार उतरने की जगह। औघट=जहां से पार न उतरा जा सके। रेंगहु=रेंगना, चलना, भटकना। तीरा=किनारे, पार। जतइत=गेहूं आदि उत्तम अन्न पीसने का जांता, परलोक-सुख। कोदइत=कोदो आदि साधारण अन्न दलने का जांता, लौकिक सुख। चकरी=चक्की, जांता। दरर=दलना, पीसना, तृष्णा। ठीक ठौरा=स्थायी स्थिति। दीन्हों=मारा। गाढ़ो=ठस, खूब मजबूत। तीर=बाण। कमाना=कमान, धनुष। कहरा=यह पद, मुमुक्षुभाव। महरा=कहारों का प्रधान, तात्पर्य में निजस्वरूप चेतन।

भावार्थ—हे चेतन-रत्न मनुष्य! मेरे विचारों को सुनो, और अपने हृदय के बन्धनों का त्याग करो॥ 1॥ यह मनरूपी कुम्हार तो अटपटा कुम्हारपन करता है, अर्थात बारम्बार शरीर रूपी घट की रचना करता है, परन्तु यह चमड़े का गांव शरीर तो टिकता नहीं, थोड़े दिनों में नष्ट हो जाता है॥ 2॥ जैसे रोज सुबह उठकर जुलाहे जीवन-निर्वाह के लिए कपड़े बुनते तथा उन्हें ले जाकर बाजार में दुकान लगाते हैं और रंगरेज उनके कपड़े छापने के लिए उनके आंगन में बारम्बार आते हैं, वैसे कर्मी जीव नाना शुभाशुभ कर्म कर अपने हृदय-बाजार को कर्म-पट से भरते हैं और उन कर्म-पटों में नाना विषय-रंग भरने वाला मन-रंगरेज हृदय-आंगन में नाचता है॥ 3॥ रोज नींद से जागकर यह अविवेकी मनरूपी नाविक शरीर रूपी नाव पर तो सवार होता है, परन्तु वह इसे दिनभर बारम्बार विषय-नदी में डूबाता रहता है॥ 4॥ यह मूढ़ मन अपने हृदयरूपी अन्तःपुर को तथा इस शरीर में निवास करने वाले चेतन-सम्राट को जानता नहीं है, फिर वासनाओं का द्वंद्व कैसे दूर कर सकता है!॥ 5॥ इस शरीररूपी एक गांव में पांच ज्ञानेन्द्रियांरूपी युवतियां रहती हैं।

जिनमें मन तथा वासना महाबलवान एवं बलवती हैं॥ 6॥ ये सब अपने-अपने विषय-भोगों के लिए झगड़े में लगी हैं और प्रियतम पीव चेतनात्मा से प्रेम नष्ट कर दिये हैं॥ 7॥

जैसे बगले भैसों के शरीर के कचड़े तथा कीड़ों को खाने के लिए उनके दल में रहते हैं वैसे यह मलिन मन इन्द्रियों के साथ उनके भोगों को भोगने के लिए लगा रहता है। यह मलिन मन ध्यान देने योग्य आत्माराम पर लक्ष्य नहीं देता॥ 8॥ यह मन सत्पुरुषों एवं संतों की संगति में कभी बैठने को सोचता ही नहीं। फिर निज पारखपद एवं आत्माराम को कैसे पहचानेगा!॥ 9॥ जैसे कोई महामूढ़ एवं गंवार आदमी किसी जानकार से रास्ता पूछे बिना चलता हो, वैसे यह मूढ़ तथा अहंकारी मानव जीवन के पथ में बिना गुरुजनों से पूछे ही चलता है॥ 10॥ सद्गुरु कहते हैं कि हे मानव! तुम घाट छोड़कर कुघाट में क्यों भटक रहे हो? तुम कैसे पार जा सकोगे?॥ 11॥ मनुष्य का मन पारलौकिक सुखों के लिए ललचाता है इसलिए क्षण में उसी धन की खोज में पड़ जाता है। इतने में उसका मन लौकिक सुखों को पाने के लिए दौड़ने लगता है॥ 12॥ सद्गुरु कहते हैं कि इन दो चक्कियों के बीच में अपने मन को पीसकर तृष्णा मत फैलाओ, तभी स्थायी शांति पा सकोगे॥ 13॥ सद्गुरु ने मजबूत तीर-कमान से एक प्रेम-बाण मुझे मारा है॥ 14॥ अतएव उससे आहत विनम्र कबीर ने यह कहरा गाया है और अपने आत्माराम में लीन हो गया है॥ 15॥

व्याख्या—"मत सुनु मानिक मन सुनु मानिक, हृदया बन्द निवारहु हो।" सद्गुरु इस पंक्ति में मनुष्य को मानिक कहते हैं। गुलाबी या लाल रंग का एक रत्न होता है उसे माणिक्य कहते हैं। इसी का सरलीकरण कर मानिक शब्द कहा जाता है। संसार में जितने मणि-माणिक्य हैं सब जड़-पत्थर हैं। मनुष्य-जैसा माणिक होना ही असंभव है। यदि मनुष्य न होता तो मणि-माणिक्य की परख एवं उनका मूल्यांकन कौन करता! मनुष्य चेतन है, इसलिए वह सर्वोच्च मणि-माणिक्य है। सद्गुरु कहते हैं कि हे नर-रत्न! तू मेरे मत को सुन! मत का अर्थ है विचार, ज्ञान की बातें। कबीर साहेब का कोई ऐसा मत नहीं है जो किसी तथाकथित ईश्वर, अवतार तथा पैगम्बर के संदेश का मतवाद एवं सांप्रदायिकता हो। उनका मत तो सार्वभौमिक सत्य है। वे कहते हैं कि हे नर-रत्न! तुम अपने हृदय के बंधनों को दूर कर दो, मन की गुलामी की जंजीर तोड़कर फेंक दो। तुम रत्न हो, सर्वोच्च हो, परन्तु तुम मन की मलिनता में फंस गये हो। तुम्हारा मन तुच्छ विषयों का गुलाम हो

गया है। इस गुलामी का परिणाम यह हुआ है कि तुम मूलतः महत्तम होकर भी दीन बन गये हो। विषयासक्तिवश तुममें इतनी कायरता पैदा हो गयी है कि तुम्हें यह अनुभव ही नहीं होता है कि तुम विषय–बन्धनों से अलग हो। परन्तु सद्‌गुरु कहते हैं कि मैं तुम्हें याद दिलाता हूं कि तुम महान हो। तुम अपने स्वरूप की याद करो। मन को सारी विषयासक्ति के बन्धनों से उन्मुक्त करो, फिर तो देखोगे तुम्हारे जीवन में केवल आनन्द–आनन्द रहेगा।

"अटपट कुम्हरा करै कुम्हरैया, चमरा गाँव न बाँचे हो।" यह मन अटपटा कुम्हार है। इसका कुम्हारपन भी ऊटपटांग ही है। यह नाना आशा के महल बनाता है जो क्षणमात्र में भहरा जाता है। अथवा इसके संस्कारों से ही तो इस शरीररूपी घड़े का निर्माण होता है। परन्तु यह चमड़े का गांव–शरीर बचता नहीं है। यह थोड़े दिनों में जल जाता है, गल जाता है तथा जन्तुओं का आहार हो जाता है। यह विषय–बंधनों में डूबा मन ही मानो शरीर का बारम्बार निर्माण करता है, जो निर्माण के साथ ही विनाश के मुख में जाने लगता है।

"नित उठि कोरिया पेट भरतु है, छिपिया आँगन नाँचे हो।" जुलाहे अपने पेट–धंधा में रोज उठकर कपड़ों से बाजार भरते हैं। पेट यहाँ पैंठ भी माना जा सकता है। जो बाजार के लिए प्रयुक्त होता है। जुलाहे रोज बाजार में कपड़े की दुकान लगाते हैं और रंगरेज उनके आंगन में जा–जाकर उनके कपड़े रंगने का काम करते हैं। यह कर्मी जीव शुभाशुभ कर्मरूपी वस्त्र बुनता है और रोज अपने हृदय–बाजार में उसे भरता है। मन रंगरेज है, छीपी है, कर्म–वस्त्र पर भाव के रंग छापने वाला है। यह मन–छीपी, यह मन–रंगरेज नित्य जीव के हृदय–आंगन में नाचता रहता है और अनेक भावनाओं के रंग कर्म–वस्त्रों पर छापता रहता है। इस प्रकार जीव सांसारिक कर्म और वासनाओं के जाल में उलझा रहता है।

"नित उठि नौवा नाव चढ़तु है, बेरहि बेरा बोरे हो।" यह मन नाविक भी है। यह रोज सुबह उठकर शरीररूपी नौका पर सवार होता है, परन्तु दुख यह है कि इसे बारम्बार विषय–वासनाओं की नदी में डुबाता रहता है। नाविक ऐसा मूर्ख हो जो नौका खेना न जानता हो और नौका चलाता हो, तो वह उसे डुबायेगा ही। यह मन–नाविक ऐसा ही है। यह नींद खुलते ही रोज शरीर–नौका को चलाना शुरू करता है, परन्तु जब तक यह जागता है, असंख्य बार इस नौका को विषयों की नदी में डुबाता रहता है। आपकी सुबह जब नींद खुले तब से जब पुनः रात में सोने चलें, तब तक मन की सारी घटनाओं एवं

गतिविधियों को एक कागज पर लिखते जाइये, तो देखिएगा कि दिन में आपके मन ने कितनी बार आपकी नौका को भवसागर में डुबाया है। यह तो आत्मनिरीक्षण का विषय है। दूसरों की बुराइयों की आलोचना करने में क्या लगता है! परन्तु जो अपनी बुराइयों को देखता है उसकी आंखें दूसरों की बुराइयों की तरफ से बंद हो जाती हैं। यदि हम हर क्षण अपने मन को देखें तो दूसरों के दोषों को उछालना बंद कर देंगे, और यदि हम पूर्ण शुद्ध मन के हो जायें तो दूसरों के कूड़ा-कचड़ा को अपने मन में स्थान ही नहीं देंगे। सद्‌गुरु कहते हैं कि मन-नाविक ऐसा ऊटपटांग है कि हर समय नौका को भवसागर में डुबाता रहता है।

"राउर की कछु खबरि न जानहु, कैसे कै झगरा निबेरहु हो।" पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा पश्चिमी बिहार में राउ, राउर, रउआं आदि शब्द आदर-सूचक के रूप में प्रयुक्त होते हैं। राउ तथा रउआं तो केवल आदर-सूचक हैं जिनका अर्थ राजा होता है। राउर भी श्रेष्ठभाव सूचक है। वैसे 'राउर' शब्द राजाओं के अन्तःपुर एवं जनानखाना के लिए भी प्रयुक्त होता है। जैसे गोस्वामी जी ने लिखा है 'गे सुमंत तब राउर माहीं।' अर्थात तब सुमंत राजा के अन्तःपुर में गये। यहां राउर[1] का (राज+पुर, राऊ+पुर) अन्तःपुर अर्थ है तथा श्रेष्ठ भी अर्थ है। सद्‌गुरु कहते हैं कि यह मूढ़ मन अपने हृदयरूपी अन्तःपुर की कोई खबर नहीं जानता है कि वहां क्या-क्या हो रहा है तब उसमें होते हुए द्वन्द्व को वह कैसे मिटा सकता है! अथवा हृदय-निवासी, चेतन-सम्राट का उसे बोध नहीं है तो वह कैसे भवपार होगा! इस पंक्ति में राउर के अर्थ—अन्तःपुर तथा सम्राट-चेतन, दोनों महत्त्वपूर्ण हैं। हम पहले अन्तःपुर वाले अर्थ को लें। सद्‌गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य! तुम्हें अपने हृदयरूपी अन्तःपुर की खबर नहीं है कि उसमें क्षण-क्षण क्या हो रहा है, तो तुम्हारे मन का झगड़ा कैसे मिट सकता है! जो अपने हृदय की गतिविधि को नहीं देख पाता वह हृदय की उलझनों को कैसे सुलझा सकता है! साधक वही है जो अपने हृदय को, अपने अन्तःपुर को सदैव देखता रहता है, और जो अपने हृदय को देखता रहता है उसका मन सुलझ जाता है। राउर का दूसरा अर्थ चेतन-सम्राट है। जिसे यह बोध नहीं है कि इस शरीर में विद्यमान चेतन-सम्राट ही निजस्वरूप है, वह सदैव अकिंचन बना भटकता रहता है।

"एक गाँव में पाँच तरुनि बसे, जेहिमा जेठ जेठानी हो। आपन आपन

---

1. बृहत् हिन्दी कोश।

झगरा प्रकासिनि, पिया सों प्रीति नसाइनि हो।" यह शरीर एक गांव है। इसमें पांच ज्ञानेन्द्रियांरूपी पांच युवतियां बसती हैं। ये बड़ी बलवान हैं। परन्तु इनमें भी जेष्ठ–श्रेष्ठ मन है तथा एक जेठानी अति बलवान वासना है। ये सब अपने–अपने विषयों के भोग के लिए उन्मादी हैं। ये अपने–अपने भोगों के लिए झगड़ते रहते हैं। इस झगड़े में पड़कर इन युवतियों ने अपने चेतन–पति का प्रेम नष्ट कर दिया है। इन्द्रिय और वासनाओं की बलवत्ता का अनुभव सबको है। यदि इनसे साधक सावधान न रहे तो इनके चक्कर में पड़कर वह कब भूल जायेगा इसका ठिकाना नहीं है। मनुष्य का मन इन्द्रियों के भोगों में जितना डूबता है उतना स्वरूपज्ञान एवं आत्मज्ञान से विमुख होता है। आदमी विषयरस ले या रामरस ले, दोनों में एक ही हो सकता है। एक काल में दोनों रस का एक साथ अनुभव कर पाना असंभव है। विषयरस मनुष्य को क्षीण करता है तथा रामरस बलवान बनाता है। विषयरस मलिनतापूर्ण है, रामरस स्वच्छ है। विषयरस का परिणाम भय, दुख एवं पीड़ा–पर–पीड़ा है और रामरस का परिणाम निर्भयता, सुख एवं आनन्द–आनन्द है।

"भैसिन माहिं रहत नित बकुला, तिकुला ताकि न लीन्हा हो।" बगले–पक्षी भैंसों के बीच में रहते हैं। जब भैंस–भैंसे मैदान में चरते हैं तब बगले उनके शरीर में लगे कचड़े तथा कीड़ों को खाने के लिए उनके आगे–पीछे सिर पर, धड़ पर, पूंछ पर तथा अन्य अंगों पर बैठते हैं। मन की दशा यही है। यह मलिन मन इन्द्रियों के गंदे विषयों के साथ लगा रहता है, क्योंकि इसे गंदगी ही पसंद है। यह तो जब व्यक्ति की सही समझ होगी और वह अपनी साधना से बगले–मन को हंस बना देगा तब मन इन्द्रिय–विषयों का साथ छोड़कर ज्ञान के मोती चुगने लगेगा। साहेब कहते हैं कि मनुष्य का मन तो बगला बना है। वह सदैव इन्द्रियों की मलिनताओं में ही डूबा रहता है, इसलिए ध्यान योग्य आत्माराम में लीन नहीं होता।

"गाइन माँहि बसेउ नहिं कबहूँ, कैसेक पद पहिचनबेउ हो।" हम सात्त्विकों, सज्जनों एवं सन्तों के पास बसते ही नहीं हैं तो अपने पद को कैसे पहचानेंगे! हम विषयों के चिन्तन एवं भोगों में क्यों डूबे हैं? क्योंकि हमें अपने पद का, अपने स्वरूप का एवं अपने आपा का ख्याल नहीं है; उसकी पहचान एवं परख नहीं है। पहचान इसलिए नहीं है, क्योंकि हम सत्संग नहीं करते। बिना सत्संग के किसी का जीवन बदल नहीं सकता। देख–सुनकर रंग चढ़ता है। गलत संगत से मन गलत की तरफ जाता है तथा सही संगत से मन सही की तरफ जाता है। जब तक हम अच्छी संगत नहीं करेंगे; भक्तों,

सज्जनों एवं संतों के पास नहीं बैठेंगे, सद्ग्रन्थ नहीं पढ़ेंगे, तब तक हमें अपने स्वरूप की याद, पहचान एवं परख कैसे होगी!

"पन्थी पन्थ बूझि नहिं लीन्हा, मूढ़हि मूढ़ गँवारा हो। घाट छोड़ि कस औघट रेंगहु, कैसे कै लगबेहु तीरा हो।" यदि पथिक अपना पथ जानकारों से पूछकर नहीं चलता, बिना विचारे ही चल देता है तो वह केवल मूढ़, गंवार तथा अहंकारी है। वह विपथगामी होने से घाट पर न पहुंचकर कुघाट पर पहुँच जायेगा, इसलिए नदी पार नहीं जा सकता। कितने साधक ऐसे होते हैं जो अहंकारी होते हैं। वे किसी से कोई बात इसलिए नहीं पूछते कि उनको पूज्य मानना पड़ेगा। वे जो दूसरों से ज्ञान पाये भी रहेंगे उसे ऐसा प्रकट करेंगे कि जिससे लोग समझें कि यह इनका अपना अनुभव है। इन्होंने इसे किसी दूसरे से नहीं सीखा है। दूसरे को गुरु न मानना पड़े, उपासना, सेवा तथा विनम्रता का बरताव न करना पड़े, इस लक्ष्य से ऐसे लोग अपने आप को सबसे बचाते हैं। साहेब कहते हैं कि ऐसे लोग केवल मूढ़ हैं। "मूढ़हि मूढ़" का अर्थ होता है मूढ़-ही-मूढ़ अर्थात केवल मूढ़ और इतना ही नहीं, वे गंवार भी हैं। गंवार का अर्थ केवल गांव में रहने वाला नहीं होता है। गांव में रहने वालों में भी कितने ऐसे हैं जो बहुत सुसभ्य एवं शीलवान हैं और शहर में रहने वालों में भी कितने ऐसे हैं जो मूढ़ तथा उजड्ड हैं। इसी प्रकार शिक्षित-अशिक्षित की भी बात है। कितने शिक्षित कहे जाने वाले मूढ़, उजड्ड, छल-कपट से भरे हुए हैं और कितने अशिक्षित कहे जाने वाले बुद्धिमान, सुसभ्य एवं निष्कपट हैं। गंवार का अर्थ केवल गांव में रहने वाला करना ठीक नहीं है। यहां गंवार का अर्थ है मूर्ख, अनाड़ी एवं उजड्ड। जो व्यक्ति सज्जनों एवं संतों से विनयावनत होकर सच्ची सीख नहीं ग्रहण करता है वह मूढ़ है, अनाड़ी है, उजड्ड है तथा अहंकारी है। ऐसे आदमी का ज्ञान सही नहीं होता है और न उसका व्यक्तित्व ही अच्छा निर्मित होता है। किसी भी दिशा के ज्ञान के लिए तत्संबंधी सच्चे अनुभवी गुरु से सीख ग्रहण करने की महती आवश्यकता होती है। इसके लिए उसकी विनम्रतापूर्वक सेवा करना चाहिए तथा विनम्र होकर ज्ञान की बातें पूछना चाहिए। अपने आप को ज्ञानी जताते हुए प्रश्न करना अपना अनाड़ीपन सिद्ध करना है। जो साधक गुरुजनों की विनम्रतापूर्वक शरण लिये बिना, सेवा किये बिना तथा उनसे सच्चा रास्ता जाने बिना चलता है वह मूढ़ है और उसे भटकना निश्चित है। सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे लोग घाट छोड़कर कुघाट में भटकते हैं। गलत रास्ते पर जाने से आदमी कुघाट पर पहुंच जाता है और कुघाट से नदी को उतरा नहीं जा

सकता। सुघाट से ही उतरा जा सकता है।

"जतइन के धन हेरिन ललचिन, कोदइत के मन दौरा हो।" जांते में गेहूं आदि उत्तम अन्न पीसे जाते हैं और कोदइत में कोदौ आदि साधारण अन्न पीसे जाते हैं। अतएव जतइत का धन सुने हुए परलोक के सुख हैं तथा कोदइत का धन इस लोक के सुख हैं। सद्गुरु कहते हैं कि श्रुति एवं नाना मतों के पुराणों में मनुष्य परलोक के एवं स्वर्ग के सुखों का बड़ा आकर्षक रूप पढ़ते तथा सुनते हैं। इसलिए उनके मन में उन सुखों के लिए लालच पैदा होता है, और उन्हीं की खोज में वे पड़े रहते हैं। इधर इस लोक के भी विषय-सुखों को देखकर इधर भी उनका मन दौड़ता है। इस प्रकार संसारी मनुष्यों का मन लोक-परलोक के विषय-सुखों के लए ललचाता तथा दौड़ता रहता है। सद्गुरु कहते हैं—"दुइ चकरी जनि दरर पसारहु, तब पैहौ ठीक ठौरा हो।" अर्थात इन दोनों जांतों में अपने मन को मत पीसो, तभी ठीक ठौर पाओगे। मनुष्य अपने मन को लोक तथा परलोक के कल्पित सुखों के जांते में पीसता है। अर्थात उसका मन सदैव लोक के सुखों के स्मरणों में पिसता है या कल्पित स्वर्गादि के सुखों के स्मरणों में पिसता है। हर हालत में मनुष्य का मन विषयों में डूबा रहता है वह चाहे लोक के हों या परलोक के। साहेब कहते हैं तब तुम लोक और परलोक के विषय-सुखों से अपने मन को एकदम छुड़ा लोगे तभी ठीक ठौर पाओगे। ठीक ठौर क्या है? वस्तुतः ठीक ठौर वह है जहां से कोई उठा न सके। जो आदमी किसी सभा में जाकर गलत जगह बैठता है, वह वहां से उठा दिया जा सकता है, परन्तु जो अपनी उपयुक्त जगह पर बैठता है उसे कोई नहीं उठाता। लोक-परलोक और सारे विषय-सुख तुम्हारे लिए उपयुक्त जगह नहीं हैं। वे तुम्हारे ठीक ठौर नहीं हैं। वहां तुम्हें स्थायी निवास मिल ही नहीं सकता। इसलिए जब तुम लोक-परलोक के सारे सुखों की तृष्णा छोड़ दोगे, तब तुम्हारा मन अपनी अंतरात्मा में लीन हो जायेगा और तब तुम्हें मानो ठीक ठौर मिल गया। लोक-परलोक के सारे सुख क्षणभंगुर तथा छूटने वाले हैं, फिर उनमें स्थायित्व कहां मिल सकता है! परन्तु तुम्हारी आत्मा तुमसे कभी नहीं छूट सकती, इसलिए तुम अपनी आत्मा में ही स्थायी ठौर पा सकते हो। जब तक लोक-परलोक के माने हुए विषय-सुखों की वासना नहीं छूटेगी तब तक मन अंतरात्मा में स्थित नहीं होगा और तब तक तुम्हें स्थायी स्थिति नहीं मिलेगी। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि हे शांति-इच्छुक! लोक-परलोक के मिथ्या सुखों की तृष्णा एवं वासना का त्याग करो तब तुम स्थायी शांति एवं स्थिति पाओगे। अनन्त सुख पाने के

लिए तुच्छ सुख छोड़ना पड़ेगा और दिव्य स्थिति पाने के लिए मलिन स्थिति से ऊपर उठना पड़ेगा।

"प्रेम बाण एक सद्गुरु दीन्हों, गाढ़ो तीर कमाना हो।" सद्गुरु के तीर-कमान बड़े मजबूत हैं। उन्होंने मेरे हृदय में अपना प्रेम-बाण ऐसे जोर से मारा है कि वह अब इस जीवन में निकलने वाला नहीं है। संसार का प्रेम तो थोथा है, और इसका फल भी सांसारिकता तक है तथा बंधनप्रद भी; परन्तु सद्गुरु का प्रेम तो उच्चतम है। उनके प्रेम के लपेट में आने वाले व्यक्ति भव-बंधनों से मुक्त हो जाते हैं। सद्गुरु के प्रेम का फल अनन्त शांति है। सद्गुरु अपना प्रेम-बाण जिज्ञासु एवं मुमुक्षु पर चलाते हैं और वह जिसको लग जाता है वह संसार के लिए बेकाम हो जाता है। बाण यदि हृदय में लग जाये तो आदमी मर जाता है। इसी प्रकार सद्गुरु का प्रेम-बाण जिसके हृदय में लग जाता है वह संसार से मर जाता है। वह संसार के लिए बेकार हो जाता है। परन्तु ध्यान रहे, वह संसार के लिए वरदानस्वरूप होता है। संसार के लोग मानसिक तापों में तपते हैं। संसार से बेकाम हुए संत तो शीतल हो जाते हैं। वे लोगों को शीतलता देने वाले जगत-त्राता होते हैं। संसार से बेकाम होने का मतलब यह है कि वे संसार के भोगों से विरत हो जाते हैं। परन्तु जो संसार के भोगों से विरत हो जाता है वह संसार के लिए कल्याणकारक हो जाता है। भोगी संसार को कष्ट देता है और त्यागी संसार को सुख देता है।

"दास कबीर कीन्ह यह कहरा, महरा माँहि समाना हो।" कहरा और महरा ये दो शब्द इस पंक्ति में महत्त्वपूर्ण हैं। प्रथम कहरा की व्याख्या की शुरुआत में ही बताया गया है कि कहरा नाम की एक जाति होती है, उसके गाये गीत को भी कहरा या कहरवा कहते हैं और उसके नाच को कहरा या कहरवा कहते हैं। कहरा का अर्थ अरबी भाषा के कह्र से भी लिया जा सकता है जिसका तात्पर्य होता है बला, आफत एवं जुल्म। पहले वाले अर्थ में होगा कि विनम्र कबीर ने यह कहरा-पद रचा है, अथवा इस पद के भाव को हृदयंगम किया है और वह महरा में समा गया है। व्यक्तिवाचक कहरा को ही महरा कहते हैं। हां, कहीं-कहीं महरा उसे कहते हैं जो कहरा में श्रेष्ठ होता है। अतएव यहां कहरा साधारण दशा है तथा महरा शुद्ध दशा है। सार अर्थ हुआ कि कबीर कहरा की स्थिति बताकर महरा में लीन हो गये। अर्थात उन्होंने मनुष्य के बन्धन, उसके मन, कर्म-इन्द्रियों की विवशता, मूढ़ता, लोक-परलोक की वासना आदि का परिचय दिया और लोगों को बताया कि सारे बन्धनों को छोड़कर मुक्त हो रहो और स्वयं अपनी आत्मा में लीन हो गये।

ध्यान रहे, कहरा से महरा अलग नहीं होता। कहारों में जो बुद्धि तथा अवस्था में श्रेष्ठ हो जाता है उसे महरा कहा जाता है। इसी प्रकार जीव से शिव अथवा पारख पृथक नहीं है, किन्तु वही जीव जब अपने स्वरूप को पहचानकर सारी विषय-वासनाओं का त्याग कर देता है तब शिव हो जाता है, पारख हो जाता है एवं कृतार्थ हो जाता है। अतएव बुजुर्ग कहरा ही महरा है और शुद्ध जीव ही शिव है।

यदि कहरा कह्र के रूप में मानकर उसका अर्थ जुल्म माना जाये तो अर्थ होगा कि जब कबीर पर सद्गुरु का प्रेम-बाण लगा तब मानो एक जुल्म हो गया और वह संसार के सारे मोह को छोड़कर निजस्वरूप में लीन हो गया। किसी के सीने में बाण लग जाये तो उसके ऊपर मानो कहर, विपत्ति एवं बला ही है। इसी प्रकार जिसके हृदय में सद्गुरु का प्रेम-बाण लग जाता है उसके ऊपर मानो जुल्म हो जाता है या वह स्वयं जुल्म कर बैठता है। वह सारे संसार का राग छोड़ देता है। वह काम से विमुख होकर राम में लीन हो जाता है। संसार के लोग इसे जुल्म मानते हैं। परन्तु ऐसा जुल्म ही साधक के लिए पुण्य का काम है। संसार की त्यागरूपी विपत्ति ही साधक की परम सम्पत्ति है।

तुम्हारी अंतरात्मा ही राम है और वासना-त्याग ही पूजा है

कहरा-3

राम नाम का सेवहु बीरा, दूरि नाहिं दूरि आशा हो॥ 1॥
और देव का सेवहु बौरे, ई सब झूठी आशा हो॥ 2॥
ऊपर ऊजर कहा भौ बौरे, भीतर अजहूँ कारो हो॥ 3॥
तन के वृद्ध कहा भौ बौरे, मनुवा अजहूँ बारो हो॥ 4॥
मुख के दाँत गये कहा भौ बौरे, भीतर दाँत लोहे के हो॥ 5॥
फिर फिर चना चबाय विषय के, काम क्रोध मद लोभ के हो॥ 6॥
तन की सकल संज्ञा घटि गयऊ, मनहि दिलासा दूना हो॥ 7॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, सकल सयाना पहुँना हो॥ 8॥

शब्दार्थ—बीरा=शूर-वीर, शक्तिशाली चेतन। और=अन्य, दूसरे। बौरे= पागल, भोला। कारो=काला, मलिनता। बारो=बालक। संज्ञा=चेतना, बोध, ज्ञान, होश। दिलासा=आश्वासन, सांत्वना, धीरज, यहां का अर्थ है उमंग। सयाना=बुद्धिमान, चालाक।

भावार्थ—हे विवेक-वीरो! जीभ से राम-राम क्या रट रहे हो! राम तुमसे दूर नहीं है। तुम्हारी दुराशा ने ही उसे दूर कर दिया है॥ 1॥ हे पगले,

राम को छोड़कर दूसरे देवताओं को क्या पूजता है? उनसे कल्याण की आशा करना व्यर्थ है॥ 3॥ हे भोले! ऊपर से उजले कपड़े पहनने से या बाल उजले होने से क्या हुआ यदि आज भी भीतर में मैल भरा है॥ 3॥ हे पगले! मात्र शरीर बूढ़ा होने से क्या होता है यदि मन आज भी बालक बना बांसों उछल रहा है॥ 4॥ हे गंवार! मुख के दांत उखड़ जाने से क्या हुआ जब भीतर तृष्णा के लोहे-जैसे मजबूत दांत लगे हैं, और उनसे काम, क्रोध, लोभ, मोहादि विषय के चने बारम्बार चबाये जाते हैं॥ 5-6॥ शरीर अत्यन्त वृद्ध होने से उसके सारे अंगों की चेतना बहुत कम हो गयी, परन्तु मन की उमंगें दुगुनी बढ़ गयी हैं॥ 7॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो! सभी बुद्धिमान इस संसार में दो दिन के पहुने हैं॥ 8॥

व्याख्या—कबीर साहेब अज्ञान के हर पहलू पर चोट करते हैं। इस कहरा में उनके द्वारा अज्ञान के विविध पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। मनुष्य का सबसे बड़ा अज्ञान है कि वह राम को अपने से अलग मानकर उसे पुकार रहा है। यहां राम का अर्थ परमतत्त्व है जिसके ईश्वर, ब्रह्म, परमात्मा, खुदा, अल्लाह, गॉड आदि बीसियों पर्यायवाची शब्द गिनाये जा सकते हैं। लोग राम-राम, ईश्वर-ईश्वर, अल्लाह-अल्लाह रटे जा रहे हैं। मालूम होता है कि वह कहीं सातवें आसमान पर बैठा है, और उसे पुकार-पुकारकर यह जताया जा रहा है कि हम तुम्हारे भक्त हैं, तुम्हें चाहते हैं, तुम आकर हमें दर्शन दो और ले चलो हमें अपने धाम! परन्तु ऐसा कुछ नहीं है। साहेब इस कहरा में पहली पंक्ति में कहते हैं "राम नाम का सेवहु बीरा, दूरि नाहिं दूरि आशा हो।" हे वीरो! राम-नाम क्या रटते हो! वह तुमसे दूर नहीं है, केवल तुमने मान लिया है कि वह दूर है। वस्तुतः मनुष्य की आत्मा से अलग कुछ भी ऐसा नहीं है जो परमतत्त्व हो। इसलिए मनुष्य को पुकारने की आवश्यकता ही नहीं है। पुकारने से कुछ मिलने वाला नहीं है। क्योंकि मनुष्य की आत्मा से अलग कोई कुछ देने वाला नहीं है। यह बात अलग है कि जब मनुष्य कोई पवित्र नाम लेता है तब उसका मन उसी में लगा होने से दुष्प्रवृत्तियां उस समय हट जाती हैं। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मन एक समय में एक ही भाव को ग्रहण कर सकता है। यदि मन में काम है तो उस समय क्रोध नहीं रह सकता और यदि क्रोध है तो काम नहीं रह सकता, जबकि ये एक दूसरे के सहयोगी हैं। कोई एक मनोभाव रहने से दूसरा नहीं रहता। ध्यान रहे! किसी नाम या मंत्र जप से आपका मनोभाव कुछ समय के लिए शुद्ध हो सकता है, परन्तु यह मत समझना कि तुम जब किसी का नाम जपते हो तब वह सुनता है और

तुम्हारा सहयोग करने आयेगा। न कोई सुनने वाला है और न सहयोग करने वाला है। हां, मनुष्य एक दूसरे की बात सुनने वाला तथा सहयोग करने वाला अवश्य है। इसके अलावा कोई नहीं है।

"राम नाम का सेवहु बीरा।" में बीरा शब्द ध्यातव्य है। कबीर साहेब के अनुसार जीव इतना शूर–वीर है कि उसे कल्पित राम से अथवा अन्य देवों से कल्याण व सांसारिक उपलब्धि हेतु आराधना करना आवश्यक नहीं है। साहेब कहते हैं कि तुम राम–राम क्या रटते हो! राम तुमसे अलग है ही नहीं। तुम्हें अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं है, इसलिए तुमने राम को अपनी आत्मा से अलग मान रखा है। जब तुमने भ्रमवश उसे मान लिया तब तुम उससे मिलने की आशा में नाम रटने में डट गये। अतएव रटना छोड़ो। अपनी अंतरात्मा को पहचानो। यही राम है, यही रहीम है, यही ब्रह्म है, यही परमात्मा है। वासना छोड़कर अपनी आत्मा में ही रमो।

"और देव का सेवहु बौरे, ई सब झूठी आशा हो।" साहेब कहते हैं कि राम को छोड़कर दूसरे देवताओं की सेवा–पूजा क्या करता है, यह सब झूठी आशा है। मनुष्यों ने देवी–देवताओं की फौज बना ली है। उनके मिट्टी, पत्थर, धातु आदि के पुतले बना लिये हैं। वे उन्हें पूजते हैं। उनको आशा है कि वे ऋद्धि–सिद्धि तथा मोक्ष देंगे। सद्गुरु कहते हैं कि यह सब तुम्हारी आशाएं झूठी हैं। आत्माराम के अलावा सारे देवी–देवता कपोल–कल्पित एवं झूठे हैं। उनकी सेवा–पूजा करने से कुछ होने–जाने वाला नहीं है। सब देवों का देव आत्मदेव है। आत्मदेव ने ही सारे देवी–देवताओं का सृजन किया है। इसलिए यही सर्वोपरि देवता है।

"ऊपर ऊजर कहा भौ बौरे, भीतर अजहूँ कारो हो।" यदि मन मैला है तो उजले, सुसभ्य एवं साधु–संन्यासी के वेष पहनकर क्या होगा! ठीक है, बाहर के वेष स्वच्छ रखो, परन्तु मन उससे भी स्वच्छ रखो। मन की पवित्रता ही श्रेष्ठ पवित्रता है। कपड़े कभी थोड़े मैले ही रह गये तो वे क्षम्य हैं, परन्तु तुम्हारा मन हर समय एकदम स्वच्छ रहना चाहिए। मन की स्वच्छता ही जीवन की सफलता एवं सुख का साधन है।

संसार में कितने ढोंगी होते हैं वे वेष बड़ा सुसभ्य एवं साधु का बनाते हैं, परन्तु उनके अन्तर में कपट–कतरनी होती है। ऐसे लोग पहले तो अपने आप को छलते हैं, पीछे दूसरे को छलते हैं। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि मन की पवित्रता ही श्रेष्ठ पवित्रता है।

अथवा शरीर के ऊपर बाल तो उजले हो गये, परन्तु भीतर मन काला एवं

मैला बना है तो क्या लाभ हुआ! बाल काले रहें या उजले, मन उजला होना चाहिए।

"तन के वृद्ध कहा भौ बौरे, मनुवा अजहूँ बारो हो।" शरीर के बूढ़ा होने से क्या होता है यदि मन बालक बना हुआ है। कितने लोग ऐसे हैं कि उनके शरीर तो बूढ़े हो गये हैं, परन्तु उनका मन बालक बना हुआ है। जैसे बालक थोड़ी-थोड़ी बातों एवं छोटी-छोटी चीजों के लिए मचलता रहता है वैसे यदि बूढ़ा होने पर भी नाना प्रकार की जीभ-चटोरी आदतें, देखने, सुनने एवं भोगने की लालसाएं बनी हैं और उन सबके लिए मन मचलता रहता है तो शरीर बूढ़ा होने से क्या फल हुआ! वस्तुतः जैसे-जैसे हमारा शरीर बूढ़ा होता जाये, वैसे-वैसे हमारा मन भी बूढ़ा होते जाना चाहिए। यदि शरीर बूढ़ा हुआ और मन बच्चा बना हुआ है तो बुढ़ापा दुखद होता है, परन्तु यदि शरीर के साथ मन भी वृद्ध एवं परिपक्व हुआ तो बुढ़ापा अमृत है।

व्यापार में यदि निरन्तर घाटा हो तो उसकी असफलता है। इसी प्रकार जीवन में यदि निरन्तर अशांति बढ़ती जाये तो यह जीवन-व्यापार का घाटा है। व्यापार में निरन्तर धन की बढ़ोत्तरी व्यापार की सफलता है, इसी प्रकार जीवन में निरन्तर मन का शांत, स्ववश एवं संतुष्ट होते जाना जीवन की सफलता है। यह तभी होता है जब इसके लिए पहले से सावधानी रखी जाती है। मन, वाणी तथा इन्द्रियों पर संयम, घर तथा बाहर के उन सभी मनुष्यों से सुन्दर व्यवहार जिनसे हमें दैनिक जीवन में सम्बन्ध पड़ता है। ऐसी पवित्र रहनी से व्यक्ति का मन मक्खन बनता जाता है और उसका शरीर जितना बूढ़ा होता है उतना ही उसका मन भी वृद्ध एवं समझदार होता है। जैसे कच्चे आम की अपेक्षा पके आम भले ही पीले तथा सिकन भरे हों, परन्तु वे मीठे तथा मूल्यवान हो जाते हैं, वैसे साधनासम्पन्न व्यक्ति का शरीर बूढ़ा होने के साथ उसका मन भी मीठा होता जाता है। सबका अभिप्राय यही है कि हमारे शरीर के वृद्ध होने के साथ मन भी वृद्ध, समझदार, अनुभवी एवं संतुष्ट होते जाना चाहिए तभी जीवन की सफलता है।

"मुख के दाँत गये कहा भौ बौरे, भीतर दाँत लोहे के हो।" मुख के दांत उखड़ गये, परन्तु मन में तृष्णा के लोहे-जैसे मजबूत दांत लगे हैं और उनसे कामादि विषयों के चने चबाते रहते हैं। कितने लोगों के दांत उखड़ जाने पर वे सुपारी पत्थर पर कूटकर खाते हैं, क्योंकि भीतर तृष्णा के दांत बने हैं। हमारे तृष्णा के दांत उखड़ने चाहिए। केवल वृद्ध हो जाने से आदमी शांतात्मा नहीं होता, किन्तु तृष्णा के त्याग से शांतात्मा होता है।

"तन की सकल संज्ञा घटि गयऊ, मनहि दिलासा दूना हो।" शरीर के सारे अंग शिथिल हो गये हैं, परन्तु मन की उमंगें बांसों उछल रही हैं तो शरीर की शिथिलता मात्र से शांति नहीं मिलती। कितने लोग ऐसे हैं जिनके पैर डगमगाते हैं, हाथ काम नहीं करते, आंख-कान तो पहले ही जवाब दे दिये हैं। दिमाग काम नहीं करता। पास की धरी वस्तुएं भूल जाती हैं। अर्थात शरीर के हर अंग शिथिल हो गये हैं, परन्तु उनका मन ताजा-तवाना बना है, तृष्णा तरंगें मार रही हैं। तो यह अधिक दुखद है। जवानी में तो मनुष्य कुछ-न-कुछ इच्छानुसार भोग भी कर लेता है, परन्तु बुढ़ापा में भोग कुछ भी नहीं कर सकता, केवल मन की तृष्णा ही परेशान करती है। इसलिए शरीर शिथिल होते जाने के साथ इच्छाएं एवं तृष्णाएं भी समाप्त होती जानी चाहिए, तभी जीवन में शांति है। इच्छाएं एवं तृष्णाएं तो जितना शीघ्र हो निवृत्त हो जानी चाहिए, परन्तु बुढ़ापा आने पर तो उनका त्याग होना ही चाहिए।

"कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, सकल सयाना पहुँना हो।" सद्गुरु कहते हैं कि संसार के लोग सांसारिक भोगों में तथा उनके संग्रह में बहुत ज्यादा बुद्धिमानी दिखाते हैं, परन्तु इन्हें यह होश-हवास नहीं है कि ये संसार में केवल चार दिन के पहुने हैं। भोग तथा भोग-संग्रह में अपनी बुद्धिमानी दिखाने वाले और छल-कपट एवं बलात करके दूसरों के संग्रह पर हाथ साफ करने वाले अपने पापों की गठरी लादकर चले गये, परन्तु उनके साथ संग्रहीत धन में एक कौड़ी भी नहीं गयी। सद्गुरु ने साखी-ग्रंथ में कहा है—
"हम जानी ये खायंगे, बहुत जिमी बहु माल। ज्यों का त्यों ही रहि गया, पकरि ले गया काल।"

सद्गुरु ने इस पूरे कहरा में यह बताया है कि राम को बाहर मत पुकारो। तुम्हारी अन्तरात्मा ही राम है, परमात्मा है, इससे अलग देवी-देवता व्यर्थ हैं। उनके चक्कर में पड़ो मत। बस, जीवन के पवित्र आचरण ही मानो पूजा-पाठ हैं। केवल बाहर के उज्ज्वल वेष और शरीर की वृद्धता आत्मशांति में सहायक नहीं होंगे। इसके लिए इन्द्रियों तथा मन के विषयों एवं तृष्णाओं का त्याग होना चाहिए।

मन की अवधारणा में मत अटको

कहरा-4

ओढ़न मोरा राम नाम, मैं रामहि का बनजारा हो॥ 1॥
राम नाम का करहु बनिजिया, हरि मोरा हटवाई हो॥ 2॥
सहस्त्र नाम का करों पसारा, दिन दिन होत सवाई हो॥ 3॥

जाके देव वेद पछ राखा, ताके होत हटवाई हो॥ 4॥
कानि तराजू सेर तिनि पउवा, तुकिनी ढोल बजाई हो॥ 5॥
सेर पसेरी पूरा कैले, पासंग कतहुँ न जाई हो॥ 6॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, जोर चला जहँड़ाई॥ 7॥

शब्दार्थ—ओढ़न=ठंडी-गरमी निवारण के लिए ओढ़ना, रक्षक। बनजारा=व्यापारी। हटवाई=दुकानदारी। पसारा=फैलाव, प्रचार। देव=त्रिदेव, ब्रह्मा, विष्णु, महादेव। कानि तराजू=पसंगेदार तराजू, गलत तराजू, असंतुलित बुद्धि। तुकिनी=तुक दिया, कह दिया, कान में नाम सुना दिया। पासंग=तराजू का टेढ़ापन, बुद्धि का असंतुलन। जोर=हठकर। जहँड़ाई=ठगाना, गंवाना, हानि उठाना।

भावार्थ—नामोपासक कहता है कि राम-नाम जप ही मानो मेरा ओढ़ना एवं रक्षक है और मैं राम-नाम का ही व्यापारी हूं॥ 1॥ मैं राम-नाम का ही व्यापार करता हूं। हरि ही मेरी दुकानदारी का विषय है॥ 2॥ मैं हजारों नाम का प्रचार करता हूं और दिन-दिन यह प्रचार सवाया बढ़ता जाता है॥ 3॥ सद्गुरु कहते हैं कि जिस परोक्ष ईश्वर के पक्ष में त्रिदेवों तथा वेदों ने अपने विचार रखे हैं उसी की सर्वत्र दुकानदारी हो रही है॥ 4॥ परन्तु इस दुकानदारी में तराजू टेढ़ा और पसंगेदार है तथा सेर तीन ही पाव का है। अर्थात यह व्यापार संतुलित बुद्धि से नहीं हो रहा है और सारे विचार त्रिगुण-माया तक हैं। गुरु लोग ढोल-मंजीरा बजाकर शिष्यों के कान में कोई मंत्र सुना देते हैं और इतने में उन्हें मुक्ति का झांसा दे दिया जाता है॥ 5॥ यदि ये सेर-पसेरी सही भी कर लें तो भी तराजू का पसंगेदार होना एवं टेढ़ापन मिट नहीं सकता। अर्थात मन और इन्द्रियां तथा सदाचार ठीककर आत्मतत्त्व का विवेचन करें तो भी बुद्धि असंतुलित होने से निजरूप की ठीक परख नहीं कर सकते॥ 6॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो! ये हठपूर्वक कुपथ में चलकर अपने आप को ठगा बैठे हैं॥ 7॥

व्याख्या—वैसे किसी प्रकार नाम-जप, संकीर्तन, नमाज, प्रार्थना, आत्मा से अलग ईश्वर मानकर उसकी किसी ढंग से उपासना यह सब किसी-न-किसी के लिए किसी-न-किसी प्रकार कुछ-न-कुछ हितकर ही है। परन्तु यहां वास्तविकता एवं यथार्थ बोध की बात की जा रही है। सद्गुरु कहते हैं कि लोग राम-नाम या अन्य किसी प्रकार के नाम के जप को ही सर्वोपरि महत्त्व देने लगते हैं। वे कहते हैं कि हम तो नाम-जप के ही व्यापारी हैं। भगवान के सहस्र नाम का प्रचार करना तथा उसी का क्रय-विक्रय करना मेरा

काम है। क्योंकि यह नाम–जप एवं संकीर्तन ही मेरा रक्षक है।

साहेब कहते हैं "जाके देव वेद पछ राखा, ताके होत हटवाई हो।" वेदों के हजारों मंत्रों में किन्हीं परोक्ष देव एवं ईश्वर की प्रार्थनाएं हैं और उनसे बारम्बार भक्तों ने अधिक भोग तथा मोक्ष मांगा है। पुराणों में ब्रह्मा, विष्णु, महादेव तथा अन्य देवों के द्वारा भी बारम्बार यही कहलाया गया है कि मनुष्य की आत्मा से अलग कोई है जो प्रार्थना करने पर खुश होकर सब कुछ दे सकता है। इसी कल्पित ईश्वर की दुकान सर्वत्र चल रही है। प्रायः मतवादी लोग स्वयं श्रम, सदाचार एवं साधना से नहीं, किन्तु प्रार्थना के बल पर किसी के अनुग्रह से सब कुछ पाना चाहते हैं।

"कानि तराजू सेर तिनि पउवा, तुकिनी ढोल बजाई हो।" साहेब कहते हैं कि उक्त बातें सोचना एवं तौलना पसंगेदार तराजू का फल है। कानि तराजू का अर्थ है टेढ़ा एवं पसंगेदार तराजू। लाक्षणिक अर्थ है असंतुलित बुद्धि। असंतुलित बुद्धि से ही यह बात मानी जाती है कि हमारा उद्धार कोई दूसरा कर देगा। वस्तुतः हमारा उद्धार हमारे सत्कर्मों से ही होगा। मनुष्य ही मनुष्य का सहायक है, वह भी बाहरी रूप में ही। भीतर वासनाओं का त्याग तो स्वयं करना पड़ेगा। गुरु भी केवल रास्ता बताता है, चलना स्वयं पड़ता है। यह मानना कि मनुष्य की आत्मा के अलावा कोई शक्ति है और उसकी प्रार्थना करने पर वह आकर मनुष्य का उद्धार कर देगी, एक भ्रमित बुद्धि एवं असंतुलित बुद्धि का लक्षण है। यही कानि तराजू होना है।

"सेर तिनि पउवा" किसी का सेर चार पाव की अपेक्षा तीन ही पाव का हो तो वह व्यापारी ईमानदार नहीं माना जाता। सेर का अर्थ ही है चार पाव का वजन। परन्तु उसका वजन तीन पाव है, फिर भी वह सेर कहा जाता है और उसे तौल–नाप में सेर की जगह प्रयोग किया जाता है तो यह धोखा देने का काम है। यहां लक्षणा अर्थ में सेर का मतलब है 'सत्य' और वह सत्य त्रिगुणात्मक है, तो त्रिगुणात्मक वस्तु जड़ होती है वह कभी भी व्यक्ति का अपना स्वरूप नहीं हो सकती। "पाखण्ड रूप रच्यो इन्ह तिरगुण"[1] तथा "त्रिगुणी फांस"[2] तो बन्धन करने वाला ही है। गीताकार भी कहते हैं—"हे अर्जुन! सभी वेद त्रिगुण का उपदेश करते हैं, इसलिए तुम त्रिगुण से परे हो जाओ।"[3] नाम–जप, मंत्र–जप तथा निजात्मदेव से पृथक मन की अवधारणा

1. शब्द 32।
2. शब्द 59।
3. त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन। (गीता, 2/45)

को ईश्वरादि मानना, सब मन-वाणी का विषय होने से त्रिगुणात्मक ही है। निजस्वरूप चेतन के अलावा सब त्रिगुण का ही पसारा है उनमें उलझने से स्वरूपज्ञान, स्वरूपस्थिति एवं आत्मबोध से जीव वंचित रह जाता है, इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि इन उपासकों का सेर तीन ही पाव का है अर्थात इनका सत्य एवं परमतत्त्व त्रिगुण माया के भीतर ही है।

"तुकिनी ढोल बजाई हो।" ढोल-झांझ बजाकर शिष्यों के कान में नाम एवं मंत्र तुक दिये, कह दिये एवं फूंक मार दिये और इतने मात्र से भवबंधनों से मुक्ति की गारंटी दे दी गयी। यह कहां तक उचित है! किसी को सन्मार्ग में लगाने के लिए मंत्र-दीक्षा देना ठीक है, परन्तु केवल मंत्र-दीक्षा एवं नाम सुनाने मात्र से सब पाप एवं बंधन भस्म होने का दावा करना लोगों को भ्रम में रखना है।

"सेर पसेरी पूरा कैले, पासंग कतहुँ न जाई हो।" यहां सेर-पसेरी से तात्पर्य है क्रमशः मन और पांच ज्ञानेन्द्रियां। यदि मन और इन्द्रियों को संतुलित कर लिया जाये, परन्तु तराजू का पसंगेदार होने के समान बुद्धि का असंतुलन बना रहे, तो भी कल्याण नहीं होगा। मन और इन्द्रियों का संयम तो चाहिए ही परन्तु बुद्धि का संतुलन एवं ज्ञान भी सच्चा चाहिए।

"कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, जोर चला जहँड़ाई हो।" कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो! सुनो, लोग मतवाद के हठ में पड़कर अपने आप को ठगा देते हैं। पोथियों में लिखा है, गुरुजन कहते हैं, परम्परा में माना गया है, बस, इन-जैसी कुछ बातों को लेकर आदमी अपनी गलत-सही बातों का सिद्धान्त बनाकर उसी में अटक जाता है। फिर तो किसी के समझाने पर भी नहीं मानता और अपने आप को उसी हठ में ठगा देता है।

मोह-माया छोड़कर आत्माराम में रमो

कहरा-5

राम नाम भजु राम नाम भजु, चेति देखु मन माहीं हो॥ 1॥
लक्ष करोरि जोरि धन गाड़े, चलत डोलावत बाँही हो॥ 2॥
दादा बाबा औ परपाजा, जिन्हके यह भुइँ भाँड़े हो॥ 3॥
आँधर भये हियहु की फूटी, तिन्ह काहे सब छाँड़े हो॥ 4॥
ई संसार असार को धन्धा, अन्तकाल कोई नाहीं हो॥ 5॥
उपजत बिनसत बार न लागे, ज्यों बादर की छाँही हो॥ 6॥
नाता गोता कुल कुटुम्ब सब, इन्ह कर कौन बड़ाई हो॥ 7॥

कहहिं कबीर एक राम भजे बिनु, बूड़ी सब चतुराई हो॥ 8॥

शब्दार्थ—भजु=भजो, स्मरण करो। लक्ष करोरि=लाख-करोड़। दादा=पिता। बाबा=पितामह। परपाजा=परपितामह। भुइँ भाँड़े=भूमि और बरतन, सारी सम्पत्ति। धन्धा=व्यापार। बार=देरी।

भावार्थ—जिसका नाम राम है उस निजात्मतत्त्व का बारम्बार स्मरण करो और मन में सावधान होकर देखो॥ 1॥ तुम लाखों-करोड़ों रुपये जोड़कर जमीन में गाड़ रखे हो और उसी के अहंकार में हाथ चमकाते घूमते हो॥ 2॥ परन्तु ध्यान रहे, तुम्हारे पिता, पितामह तथा परपितामह जिनकी यह पूरी सम्पत्ति थी, वे सब छोड़कर क्यों चले गये? तुम बाहर की आंखों के अंधे हो और तुम्हारे भीतर के विवेक-विचार के नेत्र भी फूटे हैं इसलिए बाहरी संसार की घटनाओं तथा भीतरी ज्ञान से प्रेरणा नहीं लेते हो॥ 3-4॥ इस संसार का सारा व्यवहार सारहीन है। अंत समय में कोई किसी का नहीं होता॥ 5॥ अपनी मानी हुई तुम्हारी सारी माया तो बादल की छाया की तरह है जिसके बनने-बिगड़ने में देरी नहीं लगती॥ 6॥ नात, गोत्र, कुल, कुटुम्ब— इन नश्वर चीजों की क्या विशेषता है! कबीर साहेब कहते हैं कि एक आत्माराम की स्थिति के बिना तुम्हारी सारी बुद्धिमत्ता डूब जायेगी॥ 7-8॥

व्याख्या—कबीर साहेब 'राम' शब्द को बहुत आदर देते हैं। परन्तु राम-नाम का जितना दुरुपयोग किया जा रहा था जो आज भी किया जा रहा है उसको लेकर कबीर साहेब के मन में कष्ट था। इसलिए उन्होंने बीच-बीच में इस आडम्बर पर बारम्बार प्रहार किया है। पिछले तीसरे तथा चौथे कहरा में आप देख आये हैं कि केवल राम-नाम-जप की मिथ्या महिमा का उन्होंने किस ढंग से निराकरण किया है! परन्तु वे बीच-बीच में सकारात्मक दृष्टि से भी 'राम नाम भजु राम नाम भजु' जैसे पद कहते हैं। परन्तु यह ध्यान रहे कि वे वैष्णवों की तरह इन स्थलों पर राम-नाम संकीर्तन करने की प्रेरणा नहीं देते हैं, किन्तु उनका अभिप्राय रहता है राम शब्द को आदर देना तथा उसके अर्थ में अंतरात्मा का बोध देना। वे आम जनता के प्रमोदार्थ भी "राम नाम भजु" जैसे शब्द कहते हैं। इस कहरा में इसी भाव से कहा हुआ लगता है। वे आम जनता को संबोधित करते हुए कहते हैं कि हे लोगो! तुम राम-नाम का स्मरण करो और मन में सावधान होकर देखो कि संसार नश्वर है। यहां अभिप्राय रट्टू सुग्गावत राम-नाम रटना नहीं है, किन्तु अर्थ है कि एक ओर तो आत्माराम है और दूसरी ओर देह, गेह परिवारादि नश्वर संसार है। मन में विचारकर देखो कि दोनों में तुम्हारे साथ रहने वाला कौन है! ये देह-गेहादि

तो देखते-देखते नष्ट हो जायेंगे, परन्तु राम अविनाशी है वह नहीं नष्ट होगा। देहादि तक छूटेंगे, परन्तु राम तो मेरी अपनी आत्मा ही है। जैसे जल से शीतलता, आग से गरमी तथा वायु से कोमलता अलग नहीं हो सकती, वैसे राम से मेरी आत्मा अलग नहीं हो सकती। राम और आत्मा एक ही वस्तु है। "अस्ति आत्माराम है, मन माया कृत नास्ति। याकी पारख लहै यथा, बीजक गुरुमुख आस्ति॥"[1]

"लक्ष करोरि जोरि धन गाड़े, चलत डोलावत बाँही हो।" साहेब कहते हैं कि हे विमोहित मानव! तुमने लाखों-करोड़ों रुपये इकट्ठे कर जमीन में गाड़ रखा है और उसी के अहंकार में अपने हाथ चमकाते घूमते हो। तुम समझते हो कि यह धन तुम्हारे साथ सदैव रहेगा। आज के जमाने में होते तो उन्हें कहना पड़ता कि जो तुमने लाखों-करोड़ों रुपये बैंकों में जमा कर रखा है, अपने नाम से फिक्स्ड डिपॉजिट कर रखा है इससे तू क्या समझता है! क्या तेरा जीवन भी बैंक वाले या कोई भी फिक्स्ड डिपॉजिट कर लेगा। यह समझ लो कि यह जीवन फिक्स्ड डिपॉजिट एवं स्थिर-धरोहर नहीं है। यह अचानक गायब हो जाने वाला है। इसलिए तन-धनादि का अहंकार करना केवल अज्ञान है।

तुम इतना ही ध्यान दो कि तुम्हारे पिता, पितामह, परपितामह आदि, जिनकी यह पूरी सम्पत्ति थी, नहीं ले जा सके। चलते समय उनके साथ करोड़ों में से कौड़ी भी तो नहीं गयी। इतना ही क्या, संसार में सूर्यवंश, चन्द्रवंश, निमिवंश, यदुवंश, मौर्यवंश, शुंगवंश, हूणवंश, गुप्तवंश, राजपूतवंश, गुलामवंश, मुगलवंश, फिरंगीवंश, आदि के रजवाड़ों ने सैकड़ों वर्ष पृथ्वी पर राज्य किया, परन्तु आज उनके मात्र नाम शेष हैं। कितने रजवाड़ों के तो, टीलों की खुदाई में कुछ अवशेष मिलते हैं, परन्तु जिनके अवशेष मिलते हैं उनके नामादि तक का परिचय नहीं मिलता। इन अहंकारी रजवाड़ों ने भी अधिकतर एक दूसरे को मारा-काटा, दबाया-सताया और अभिमान का प्रकाश किया, और क्या किया? यहां सब धन-जन को मेरा-मेरा कहकर हाथ-पैर पटकते हैं, परन्तु अन्त में किसी के साथ कुछ नहीं जाता है। सद्गुरु कहते हैं कि तुम आंखों के अंधे हो जो दूसरों को खाली हाथ जाते देखकर भी नहीं चेतते हो। इतना ही नहीं, तुम्हारे हृदय के विवेक-विचार नेत्र भी फूटे हैं, क्योंकि तुम इतनी-सी बात भी नहीं समझते हो कि मिली हुई विजाति वस्तुएं

1. बीजक, पाठफल 3।

एवं प्राणी अवश्य छूटते हैं। जो निश्चित ही अचानक छूट जाने वाले हैं उनके मोह-लोभ एवं राग-द्वेष में पड़े अपने रत्नतुल्य जीवन को बरबाद कर रहे हो।

"ई संसार असार को धन्धा, अन्तकाल कोइ नाहीं हो। उपजत बिनसत बार न लागे, ज्यों बादर की छाँहीं हो।" इस संसार के सारे धन्धे सारहीन हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि जीवन-निर्वाह के धन्धे ही नहीं करना चाहिए। यहां धन्धा का तात्पर्य यह है कि यहां की सारी गतिविधियां अन्त में नश्वर हैं। यह ठीक है कि आदमी अपने शरीर के लिए, स्वजनों के लिए तथा परिजनों एवं परोपकार के लिए भी श्रम करे, परन्तु यह ध्यान रखे कि यहां आकर्षक मानकर कुछ रमने की वस्तु नहीं है। यहां सब कुछ नश्वर है। प्रातःकाल की सौम्य प्रकृति दोपहर को कहां रह जाती है? संध्या का रक्ताभ दृश्य काली रात में कहां रहता है? नवजवानी की मादकता अधेड़ एवं बुढ़ापा में कहां दृश्य होती है? वैवाहिक दिन के राग-रंग पीछे कहां रह जाते हैं? ये रसभरी जवानी, सुहागरात, अनुकूल पत्नी, मनोहर पुत्र, मित्रों का मिलन—सब कुछ नश्वर है। ये सब बादल की छाया की तरह क्षण-क्षण बनने-बिगड़ने वाले तथा अन्ततः एकदम गायब हो जाने वाले हैं।

तुम्हें अपने नाता-गोता, कुल-कुटुम्ब का बड़ा गर्व है, परन्तु यह तुम्हें ख्याल होना चाहिए कि इनमें से एक-एक कर कुछ दिनों में इस संसार से सब लोग उठ जायेंगे। तुम अपने आप को बहुत स्वजनों एवं मित्रों के बीच पाकर गर्व करते हो, यह तुम्हारा भोलापन एवं बालकपन है। तुम भले बूढ़े हो गये हो, परन्तु यदि संसार के प्राणी-पदार्थों की गरमी में पड़े हो तो तुम भोले हो। ये स्वप्न में मिले हुए के समान हाथ आने वाले नहीं हैं। संसार के धन-जन से सम्पन्न होने से तुम्हारी कोई बड़ाई नहीं है। तुम्हारी बड़ाई तो है राम-भजन में। सद्गुरु कहते हैं कि एक राम-भजन के बिना तुम्हारा सारा बड़प्पन, सारी बुद्धिमानी डूब जायेगी।

एक विद्वान प्रोफेसर एक नौका पर बैठकर नदी पार करने लगे। केवट नौका चलाने लगा। प्रोफेसर अपनी विद्वता के गर्व में केवट से पूछने लगे—क्यों जी! अर्थशास्त्र जानते हो? केवट ने कहा—बाबू जी! मैं नहीं पढ़ा हूं। प्रोफेसर ने कहा—तुम्हारे जीवन का एक हिस्सा डूबा है। कुछ क्षण ठहरकर उन्होंने पुनः पूछा—क्या तुम विज्ञान जानते हो? केवट ने कहा—बाबू, नहीं जानता। प्रोफेसर ने गर्व में कहा—तुम्हारा आधा जीवन बेकार है। कुछ क्षण के बाद पुनः पूछा—क्या, तुम इंगलिश जानते हो? केवट ने कहा—बाबू! मैं

स्कूल गया ही नहीं हूं। प्रोफेसर ने कहा—तब तो तुम्हारा पौना जीवन डूबा है। इतने में तूफान आया और नौका नाचने लगी। केवट को लगा कि नौका डूब जायेगी। उसने प्रोफेसर साहब से पूछा—बाबू जी! आप तैरना जानते हैं? प्रोफेसर साहब ने घबराकर कहा—मैं तो एक कदम भी नहीं तैर सकता, क्योंकि मैं तैरना बिलकुल नहीं जानता। केवट ने कहा—तब तो बाबू जी! आपका पूरा जीवन डूब गया। केवट बांस-बल्ली फेंककर नदी में तैरने लगा और कुछ क्षणों में पार लग गया और प्रोफेसर साहब नदी में डूब गये।

हमारी दशा यही है। हमारी सारी विद्या-बुद्धि एवं प्रभुता राम-भजन के बिना डूब जायेगी। राम-भजन है विषयों से विमुख होकर आत्माराम में लीनता। सारे ऐश्वर्य, विद्या-बुद्धि से सम्पन्न व्यक्ति भी अंत में भवसागर में डूब जाता है। भवसागर से तो वही पार होता है जो विषयों की आसक्ति छोड़कर आत्माराम में रमण करता है।

राम-रत्न तुम्हारे हृदय में ही है जो तुम्हारा स्वरूप है

कहरा-6

राम नाम बिनु राम नाम बिनु, मिथ्या जन्म गमायो हो॥ 1॥
सेमर सेइ सुवा ज्यों जहँड़े, ऊन परे पछिताई हो॥ 2॥
जैसे मदपी गाँठि अर्थ दै, घरहु कि अकिल गमाई हो॥ 3॥
स्वादे वोद्र भरे धौं कैसे, ओसै प्यास न जाई हो॥ 4॥
दर्ब हीन जैसे पुरुषारथ, मन ही माँहि तवाई हो॥ 5॥
गाँठी रतन मर्म नहिं जाने, पारख लीन्हा छोरी हो॥ 6॥
कहहिं कबीर यह औसर बीते, रतन न मिले बहोरी हो॥ 7॥

शब्दार्थ—सेमर=सेमल का फल। जहँड़े=ठगा गये, धोखा खा गये। ऊन=नीरस रुई। मदपी=शराब पीने वाला। गाँठि=पास, जेब। दर्बहीन= द्रव्यरहित, निर्धन। तवाई=संताप, दुख। रतन=रत्न, निजस्वरूप चेतन। पारख=परीक्षा, ज्ञान। बहोरी=पुनः।

भावार्थ—हे मनुष्य, जिसका नाम राम है उस निज आत्मतत्त्व के ज्ञान तथा उपासना-बिना तूने अपने नरजन्म को व्यर्थ ही खो दिया॥ 1॥ तुम माया-मोह में उसी प्रकार ठगा गये जैसे शुकपक्षी ने सेमल के फल में रस की आशा कर उसमें चोंच मारी और उसमें से नीरस रुई निकली और उसे पश्चाताप करना पड़ा॥ 2॥ और जैसे मदिरा पीने वाला अपनी जेब से पैसे देकर मदिरा पीता है और पास की बुद्धि भी खो बैठता है॥ 3॥ भला, स्वाद मात्र लेने से पेट कैसे भरेगा! ओस चाटने से कहीं प्यास जाती है!॥ 4॥ जैसे

धनहीन आदमी लम्बी-लम्बी योजनाएं बनाने के बाद भी कुछ कर न सकने के कारण मन में संताप करके रह जाता है, वैसे आत्माराम-धन के ज्ञान बिना आदमी धर्म के नाम पर भटकता है॥ 5॥ रामरूपी रतन तो सबकी अपनी गांठ में एवं हृदय में ही है, परन्तु लोग इस रहस्य को नहीं जानते। हां, पारखी सद्गुरु जिसे परखा देते हैं वह अपनी परख से, परीक्षा एवं ज्ञान से उसे जान लेता है और उसे सारी जड़ग्रन्थियों से छुड़ा लेता है॥ 6॥ कबीर साहेब कहते हैं कि आज स्ववश नरजन्म का सुनहला अवसर बीत जाने पर यह राम-रतन नहीं मिलेगा, आत्मबोध नहीं होगा। अतएव शीघ्र सावधान!॥ 7॥

व्याख्या—मनुष्य समझता है कि हम धन, भवन, परिवार, विद्या, अधिकार आदि से सम्पन्न हैं तो हमारा जीवन सार्थक है; किन्तु दीर्घदृष्टि वाले संतों ने जीवन की सार्थकता एवं निरर्थकता पर अपना भिन्न दृष्टिकोण रखा है, जिसे समझाने पर संसारी लोग भी समझते तो हैं, परन्तु उस समझ में स्थिर नहीं हो पाते, पुनः माया में भूलकर उसी की उपलब्धि में अपनी सार्थकता समझने लगते हैं। संत कहते हैं कि मनुष्य संसार के सारे प्राणी-पदार्थों को पाया, परन्तु अपनी अन्तरात्मा को नहीं पाया, तो क्या पाया! जीवन की सार्थकता है राम में रमने में। एक ओर आत्माराम है और दूसरी ओर भोग-काम। सद्गुरु कबीर कहते हैं कि यदि मनुष्य आत्माराम को न समझा, उसमें नहीं रमण किया तो वह कुछ नहीं पाया। आत्माराम की स्थिति-बिना संसार का सब कुछ पाकर भी मानो उसने अपने जीवन को व्यर्थ गवां दिया। क्योंकि माया चाहे जितनी मिले, वह अंततः छूट जायेगी और आत्माराम तो व्यक्ति का निजस्वरूप ही है। वह उससे अलग हो ही नहीं सकता। अतएव उसी के बोध तथा स्थिति में जीवन की सार्थकता है। इसलिए सद्गुरु ने इस कहरा में राम के बिना जीवन मिथ्या बताया है।

"सेमर सेइ सुवा ज्यों जहँड़े, ऊन परे पछिताई हो॥" मायासक्त जीव को अन्त में उसी प्रकार हाथ मल-मलकर पछताना पड़ता है जैसे शुक-पक्षी को सेमल-फल के सेवन के बाद जब उसमें सूखी रुई निकलती है तब पछताना पड़ता है। सेमल के पेड़ बड़े-बड़े होते हैं, वसन्त में उसमें बड़े-बड़े लाल-लाल फूल खिलते हैं और ऐसे खिलते हैं कि पूरा पेड़ लाल फूलों से ढक जाता है। शुक-पक्षी उन्हें देखकर बहुत खुश होते हैं कि इनमें फल आयेंगे तब हम उन्हें खाकर तृप्त होंगे। फूल के बाद फल आते भी हैं। फल भी बड़े-बड़े देखने में शोभायमान होते हैं। शुक-पक्षी की आशाएं और बढ़ जाती हैं। जब फल पक जाते हैं और शुक-पक्षी उनमें चोंच मारते हैं कि अब इनका

स्वाद चखें तब सेमल के फल फूटते हैं, और उनमें से नीरस रुई निकलती है, यह दशा देखकर शुक-पक्षी निराश होकर उड़ जाते हैं। परन्तु वे मूढ़ अगले वसंत में पुनः उसी सेमल का सेवन करते हैं। इसी प्रकार वे पूरा जीवन सेमल से ठगाते रहते हैं।

मनुष्य की दशा यही है। वह अपनी रसभरी लगती हुई जवानी, युवती पत्नी, मनोहर बच्चे, मकान, धन, प्रतिष्ठा देखकर उनमें भूल जाता है। समझता है कि इससे बड़ी उपलब्धि क्या होगी! इससे बड़ा सुख क्या होगा! परन्तु थोड़े ही दिनों में अपना ही जवान शरीर ढीला हो जाता है। युवती पत्नी रूखी और अनसुहाती हो जाती है। जो पत्नी एक दिन भ्रमवश स्वर्ग लगती थी, वही पीछे नरक लगने लगती है। जिन बच्चों से बड़ी आशा थी, उनसे मन उदास हो जाता है। पद छूटते हैं। प्रतिष्ठा घटती है। मित्र बदलते हैं। सभी सुखों का आधार माना गया शरीर ही ढीला-ढाला हो जाता है, तब और क्या स्थिर रहने वाला है! साहेब कहते हैं—मूढ़ मानव! तू शुक-पक्षी से भी ज्यादा बेवकूफ है, क्योंकि शुक-पक्षी तो केवल स्वाद और पेटपूर्ति के लिए धोखा खाता है, परन्तु तू तो पांचों इन्द्रियों के भोगों में मतवाला बनकर संसार से धोखा खाता है।

"जैसे मदपी गाँठि अर्थ दै, घरहु कि अकिल गमाई हो।" संसार के लोग माया-मोह में पड़कर उसी प्रकार बेवकूफ बनते हैं जैसे मदिरा पीने वाला आदमी अपनी जेब से पैसे देकर अपने पास की बुद्धि भी खोता है। आप जानते हैं कि मदिरा पीने के आदती मदिरालय में जाकर अपनी जेब से धन देते हैं और मदिरा पीने के बाद अपनी बुद्धि भ्रष्ट करते हैं। यह भला, कौन-सी समझदारी की बात है! मनुष्य संसार के भोगों में पड़कर यही करता है! वह भोगों के संग्रह में पहले अपनी शक्ति क्षीण करता है और पीछे भोग-क्रियाओं में उलझकर विवेक-शक्ति नष्ट कर देता है। जिस सुनहले अवसर में वह संसार के भोगरूपी कूड़ा-कबाड़ को इकट्ठा करता है, उसमें वह अपने मन-इन्द्रियों को साधकर मोक्ष का काम कर सकता है। भोगों के संग्रह तथा उनके उपभोगों के बाद मनुष्य की दशा मदिरा पीने के बाद की स्थिति वाली हो जाती है। आदमी आदत एवं प्रमाद-वश मदिरा पीता है। उसे पीते समय बड़ी मर्दानगी एवं बहादुरी लगती है, परन्तु पीकर सड़कों में लड़खड़ाते हुए चलते समय एवं नालियों में लोटते समय उसकी जो दयनीय दशा होती है, वही भोग के बाद भोगी मनुष्य की या जीवन के उतार में भोगी जीवन की होती है। शराबी के जीवन की तरह भोगी जीवन अन्त में केवल पश्चातापों का

घर होता है। भोगी जीवन अशांत, तृष्णा से उद्विग्न एवं पीड़ित होता है।

"स्वादे वोद्र भरे धौं कैसे, ओसे प्यास न जाई हो।" भला केवल स्वाद से पेट कैसे भर सकता है! और ओस चाटने से प्यास कैसे जायेगी! कोई व्यक्ति केवल किसी स्वादीली वस्तु को जीभ से चाट-चाटकर अपना पेट नहीं भर सकता। तृप्त होने के लिए भोज्य पदार्थों को ठीक से जीमना पड़ता है। इसी प्रकार प्यासा आदमी ओस चाटकर प्यास बुझाना चाहे तो उसकी दुराशा है। प्यास बुझाने एवं तृप्त होने के लिए स्वच्छ, शीतल एवं सुमिष्ट जल पीने की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार मानसिक भूख-प्यास भोगों से नहीं जा सकती। इन्द्रियों के सारे भोग-स्वाद ओसकणवत तुच्छ हैं। उनसे तृप्ति हो ही नहीं सकती। आज तक उनमें किसी की तृप्ति नहीं हुई है। भोगी आदमी स्वयं विचार ले कि वह जितने भोगों में लगा है, क्या उनमें तृप्त हुआ है! भोग तृप्ति के आधार ही नहीं हैं! तृप्ति तो आत्म-भोग में ही है। जो अपनी अन्तरात्मा में निरंतर रमता है, जो अपने स्वरूपराम में सदैव निमग्न है, वही तृप्त है। भोगों को त्यागकर तृप्ति मिलती है। जो विषय-भोगों को त्याग देता है वह निजस्वरूप में नित्य तृप्त हो जाता है।

"दर्ब हीन जैसे पुरुषारथ, मन ही माँहि तवाई हो।" जैसे धनहीन की सारी लौकिक योजनाएं धरी रह जाती हैं। बिना धन के न जमीन खरीदी जा सकती है, न मकान बन सकता है, न दुकान चलायी जा सकती है और न साधन इकट्ठे किये जा सकते हैं। धनहीन आदमी के प्रयोजन निष्फल जाते हैं। वह बेचारा मन में केवल संतापित रहता है।

यही दशा भोगियों की है। उनके पास अपार धन है। भवन, वाहन, पत्नी, बच्चे तथा समस्त ऐश्वर्य हैं, परन्तु आत्म-धन के बिना वे बिलबिलाते हैं। जिसने अपनी आत्मा को नहीं पहचाना एवं जिसे अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं है, जो विषयों को त्यागकर अनासक्ति का धन नहीं इकट्ठा किया, जिसमें त्याग, वैराग्य, संयम, क्षमा, संतोष, सत्य, सदाचार तथा शांति का धन नहीं है, वह दरिद्र बना मन में पीड़ित होता रहता है। जैसे धन के बिना भोग नहीं होता वैसे त्याग के बिना शांति नहीं मिलती। भोग का परिणाम तो अंततः दुखदायी है। परन्तु त्याग का परिणाम सदैव आनन्द एवं शांति है।

"गाँठी रतन मर्म नहिं जाने, पारख लीन्हा छोरी हो।" सबकी गांठ में रत्न है, परन्तु उन्हें उसका ख्याल नहीं है। उनको परख भी नहीं है कि हमारी गठरी एवं जेब में जो है वह रत्न है कि कांच की गोली। ज्यादातर तो लोग यही मानते हैं कि हमारे पास तो कांच की गोली है, हम जैसे निर्धन के पास रत्न

कहां हो सकते हैं! ऐसा वे क्यों समझते हैं, क्योंकि उनके पास परख नहीं है। परन्तु जिनके पास परख होती है; जिन्हें पारखी गुरु ने परखा दिया है; पारखी सद्गुरु द्वारा जिनकी परख-शक्ति का उद्घाटन हो गया है, वे अपनी गांठ एवं जेब के रत्न को जान लेते हैं, कि यह रत्न है और वे गठरी से खोलकर उसे भुना लेते हैं तथा उस धन से मालामाल हो जाते हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य! तुम्हारे हृदय में जीव-धन महान रत्न है। इसकी तुम्हें परख नहीं है। इसलिए तुम इसे तुच्छ कांचवत समझते हो। तुम्हें भ्रम है कि यह देहनिवासी जीव तो अंश, प्रतिबिम्ब, आभास, अल्पज्ञ, अज्ञानी एवं तुच्छ है; पूर्ण, ज्ञाता और श्रेष्ठ तो कहीं आकाश में बैठा है। परन्तु ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण धारणा के मूल में है जीव की परख न होना। जीव का स्वरूप ही पारख है, ज्ञान है। जीव की परख से ही जीव की परख करनी है। अपने ज्ञान से ही हमें ज्ञानतत्त्व की महिमा को समझना है। जब पारखी सद्गुरु मिल जाते हैं तब वे अपनी परख से मनुष्य को परखा देते हैं कि यह जीव न किसी का अंश है, न प्रतिबिम्ब है, न आभास है। यह अपने आप में स्वरूपतः निर्विकार, निर्मल, पूर्णकाम, अकाम, निष्काम, आप्तकाम एवं प्राप्तकाम है। अल्पज्ञ, बहुज्ञ तथा सर्वज्ञ जो कुछ कहो, ज्ञाता मात्र यही है। जीव के अलावा कहीं कोई दूसरा ज्ञाता है ही नहीं। जीव के अलावा कोई ज्ञाता है, यह जीव की ही कल्पना है। निश्चित है कि जीव संसार का अल्प ज्ञान रखता है। इसलिए वह कल्पना करता है कि एक कोई ऐसा होगा जो सब कुछ एवं सारे संसार के कण-कण को जानता होगा। परन्तु यह केवल कल्पना है।

वस्तुतः मनुष्य की आत्मा सर्वोच्च है। यह परम रत्न है। इससे बड़ा रत्न कहीं कोई नहीं है। मनुष्य अपनी आत्मा को तुच्छ मानकर अलग परमात्मा मानता है यह उसकी परखहीनता है। वह किसी देव का पशु बनना चाहता है। जिसे पारखी सद्गुरु ने परखा दिया है और जिसे सच्ची परख हो गयी है वह समझ गया है कि मेरी आत्मा सभी देवों का देव, ईश्वरों का ईश्वर एवं परमात्माओं का परमात्मा है। मनुष्य की आत्मा के बराबर भी कोई नहीं है, फिर उससे बढ़कर किसी के होने की तो बात ही नहीं उठती। "गाँठी रतन मर्म नहिं जाने, पारख लीन्हा छोरी हो।" यह पंक्ति कबीर साहेब की वाणियों के महावाक्यों में से एक महावाक्य है। सबकी गांठ में रत्न है, परन्तु लोग उसका रहस्य नहीं जानते हैं। जिनके पास पारख है वे उसे खोल लेते हैं। खोल लेने का मतलब है पहचान लेते हैं कि मेरी आत्मा ही महान है। खोलने का दूसरा अर्थ है कि अपने ज्ञानतत्त्व को वे सारी जड़ग्रन्थियों से छुड़ा लेते

हैं। मन, देह, पांच विषय तथा संसार के समस्त प्राणी-पदार्थों की आसक्ति से अपनी चेतना को छुड़ा लेना ही गांठ से अपने रत्न को खोल लेना है। इस प्रकार "पारख लीन्हा छोरी हो।" का दो प्रकार से अर्थ हुआ। एक यह कि परखबल से आत्मा की पहचान हो गयी और दूसरा यह कि अपनी आत्मा को समस्त जड़ासक्तियों से छुड़ा लिया।

"कहहिं कबीर यह औसर बीते, रतन न मिले बहोरी हो।" कबीर साहेब कहते हैं कि वर्तमान का सुनहला अवसर बीत जाने पर इस रामरत्न एवं आत्मरत्न का न ज्ञान होने का चांस रहेगा और न इसे बंधनों से छुड़ाकर तुम कृतार्थ हो सकोगे। इसलिए वर्तमान का दुरुपयोग न करना। भूत तो बीत चुका है और मर चुका है तथा भविष्य चाहे जितना स्वर्णिम हो, उसका कुछ भी ठिकाना नहीं है। केवल वर्तमान तुम्हारे हाथों में है। यही अवसर है जब तुम अपने ज्ञानरत्न को समझकर तथा उसमें लीन होकर कृतार्थ हो सकते हो। यदि हमारा वर्तमान ज्ञानमय हो जाये तो मानो भूत सुधर गया तथा वर्तमान सुधरा हुआ होने से सारा भविष्य वर्तमान होता जायेगा और इस तरह मानो भविष्य भी सुधरा हुआ हो जायेगा। अतएव जिसने वर्तमान को सुधार लिया उसका सब मंगल है।

सद्‌गुरु ने इस कहरा में यह बताया है कि निज चेतनस्वरूप राम के ज्ञान तथा स्थिति के बिना तुम्हारा जीवन व्यर्थ है। तुम जिन सांसारिक वस्तुओं को लेकर भूल रहे हो वे निस्सार हैं। उनमें तुम्हें तृप्ति नहीं मिल सकती। आध्यात्मिक शक्ति के बिना आदमी केवल दुखी होता है। आत्माराम रूपी रत्न सबके हृदय में विद्यमान है, किन्तु उसकी परख न होने से मनुष्य भटकता है। उसकी परख करने का सुनहला अवसर आज है। यदि आज चूक गया तो रामरत्न नहीं मिलेगा। यद्यपि वह नित्य प्राप्त अपना स्वरूप ही है, परन्तु उसकी हमें परख नहीं है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह पारखी सद्‌गुरु की शरण लेकर उनके सत्संग में अपने राम-रत्न को परखे।

निष्काम व्यक्ति निर्भय हो सुख से सोता है

कहरा-7

रहहु सँभारे राम बिचारे, कहता हौं जे पुकारे हो॥ 1॥
मूँड़ मुँड़ाय फूलि के बैठे, मुद्रा पहिर मँजूसा हो॥ 2॥
तेहि ऊपर कछु छार लपेटे, भितर-भितर घर मूसा हो॥ 3॥
गाँव बसतु हैं गर्भ भारती, बाम काम हंकारा हो॥ 4॥
मोहन जहाँ तहाँ लै जइहैं, नहिं पत रहल तुम्हारा हो॥ 5॥

माँझ मँझरिया बसै सो जानै, जन होइहैं सो थीरा हो॥ 6॥
निर्भय भये तहाँ गुरु की नगरिया, सुख सोवै दास कबीराहो॥ 7॥

शब्दार्थ—सँभारे=संयत करना। मुद्रा=स्फटिक पत्थर या कांच का बना कुंडल जिसे गोरखपंथी योगी पहनते हैं। मँजूसा=मंजूषा, पिटारी, गुफा। छार=धूल, राख। गाँव=संसार। गर्भ=गर्व, अहंकार। भारती=दसनामी संन्यासियों का एक भेद, पूरे दसनामियों के नाम ये हैं—तीर्थ, आश्रम, वन, अरण्य, गिरि, पर्वत, सागर, सरस्वती, भारती और पुरी। बाम काम=टेढ़ा कार्य, स्त्री में आसक्ति। मोहन=मोहने वाला, स्थूल-सूक्ष्म भोग। पत=साख, लज्जा, मर्यादा। माँझ मँझरिया=हृदय। जन=मनुष्य। गुरु की नगरिया=गुरु की संगत, सत्संग, निजस्वरूप चेतन, निष्काम स्थिति।

भावार्थ—कबीर साहेब पुकारकर कहते हैं कि हे मनुष्यो! तुम अपने आप को संयत रखो और सदैव आत्माराम का चिंतन करो॥ 1॥ कितने लोग तो यह न कर साधु-संन्यासी बनने का ढोंग करते हैं। वे सिर के बाल छिलवा लेते हैं, कानों में कुंडल पहन लेते हैं और साधुत्व का अहंकार कर गुफा में जा बैठते हैं॥ 2॥ वे शरीर के ऊपर कुछ राख भी लपेट लेते हैं, परन्तु उनके हृदय-भीतर काम, क्रोध, लोभ, मोह, तृष्णादि चोरों ने ज्ञान-धन को चुराकर उन्हें खोखला बना दिया है॥ 3॥ संसार में तो गिरि, पुरी, भारती आदि कहलाने वाले बड़े-बड़े अहंकारी साधु-संन्यासी बसते हैं, परन्तु उनके प्रायः सारे काम टेढ़े तथा अभिमान से भरे होते हैं, और कितने तो काम-मोहित तथा कामिनी के दास ही होते हैं॥ 4॥ सद्गुरु कहते हैं कि हे लंपट वेषधारियो! ये मोहने वाली माया तुम्हें यत्र-तत्र ले जाकर पटकेगी और स्वात्मा तथा संसार में तुम्हारी मर्यादा एवं साख नहीं रह जायेगी॥ 5॥ जो सारी वासनाओं को त्यागकर अपने हृदय में ठहरना जानते हैं वे ही मनुष्य स्थिरता एवं शांति पाते हैं॥ 6॥ विनम्र कबीर तो सारी वासनाओं को छोड़कर निर्भय हो गया है और अंतरात्मा की स्थिति में सुख से सो रहा है॥ 7॥

व्याख्या—"रहहु सँभारे राम बिचारे, कहता हौं जे पुकारे हो।" कबीर साहेब अपनी बातें पुकारकर कहते हैं जिससे उनके इच्छुक तथा अनइच्छुक दोनों सुनें। कबीर साहेब के विचार एक आंदोलन है। वे इस कहरा की पहली पंक्ति में दो बातें कहते हैं। पहली बात है अपने आप को सम्हाल कर रखना और दूसरी बात है राम का विचार करना। संसार में जीव के उद्धार के लिए ये दो काफी हैं। इनसान हर समय बहता है। वह अपने आप को सम्हाल नहीं पाता। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि उसका पहला काम है कि वह अपने आप

को सम्हाले। सम्हालने का अर्थ है अपने आप को संयत करना, अपने आप को काबू में रखना। जब हम अपने मन और इन्द्रियों को अपने वश में कर लेते हैं तब मानो हमने अपने आप को सम्हाल लिया। इसके बाद दूसरी बात आती है राम का विचार करना। आत्मचिंतन ही राम का विचार करना है। देहाभिमान छोड़कर अपनी चेतना में स्थित होना ही राम का विचार करना है।

साहेब कहते हैं कि उक्त बातें तथ्य की हैं। सबको यही करना चाहिए। परन्तु कितने लोग यह साधना का काम न कर भड़कीले वेष बनाकर साधु-संन्यासी कहलाना चाहते हैं। वे मूड़ मुड़ा लेते हैं, कान में कुंडल पहन लेते हैं, देह में राख लपेट लेते हैं और इस वेष के अहंकार में फूलकर कुप्पा हो जाते हैं। कहीं गुफा में बैठकर योग-साधना का भी पाखंड कर लिये तो भोले लोगों में वे और प्रसिद्ध हो जाते हैं। परन्तु हार्दिक वैराग्य के बिना यह वेष उनके लिए बंधनों का ही कारण बनता है। वे ऊपर-ऊपर तो उच्च साधु-संन्यासी के वेष में मंडित रहते हैं और भीतर-भीतर खोखला बने रहते हैं। जैसे शिशु के हाथ में छुरी दे दी जाये तो वह उससे अपने हाथ-पांव काट लेने के सिवा कोई रचनात्मक काम नहीं कर सकता, वैसे वैराग्य-विहीन लोग साधु-संन्यासी के वेष धारणकर अपने आप तथा समाज को छल सकते हैं, कोई रचनात्मक एवं कल्याण का काम नहीं कर सकते।

संसार में बड़े-बड़े अहंकारी साधु-संन्यासी हैं। वे अपने नाम के आगे-पीछे बड़ी-बड़ी पदवियां, विशेषण एवं उपाधियां लगाते हैं। कितने साधु-संन्यासियों के नाम यदि कहीं लिखे या छपे हों तो एक लम्बी लाइन में होते हैं। उनमें उनका असली नाम क्या है तथा विशेषण क्या है समझना सरल कार्य नहीं है। कितने साधु-संन्यासी जिन्होंने अपने नाम में ज्यादा विशेषण लगा लिया है किसी के अभिवादन करने पर प्रत्याभिवादन करना तो दूर रहा, आशीर्वाद देने में भी अपनी हेठाई समझते हैं। वे नमस्कार करने वाले को ताक दें तो उनकी बड़ी कृपा होगी। कितने साधु-संन्यासी तो ऐसे हैं कि वे किसी को भी नमस्कार नहीं करते, चाहे वह कितना ही वृद्ध एवं ज्ञानी हो। साधु-वेष जो विनम्रता का लक्षण है, जिसे पहनकर विनम्र होना चाहिए, उसे पहनकर वे घोर अंहकारी हो जाते हैं। कितने वेषधारी साधु-संन्यासियों के काम ही टेढ़े रहते हैं। "बाम काम" का अर्थ है टेढ़े काम। 'बाम काम' का अर्थ स्त्री-सम्मोहन भी है। बाम कहते हैं स्त्री को और काम कहते हैं इच्छा एवं वासना को। कितने साधु-संन्यासी नामधारी यह माने रहते हैं कि हम निर्लिप्त आत्मा हैं। इन्द्रियां भोगों में लगी रहती हैं तो कोई हर्ज नहीं है। मैं

इन्द्रियों से निर्लेप हूं। इन्द्रियां कुछ भी करें, मेरा कुछ नहीं बिगड़ता! ऐसे लोग उदाहरण देते हैं—"ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, राम, कृष्ण, जनकादि सब सपत्नीक थे, इनमें कइयों ने गृहस्थी का भी अतिक्रमण कर भोगों को भोगा है, परन्तु उनके ब्रह्मज्ञान में कोई अन्तर नहीं पड़ा है, तो मेरी इन्द्रियां यदि विषयों में लगी रहें तो मुझ निर्लेप आत्मा का क्या बिगड़ता है।" कहना न होगा कि यह सब बाम-काम है और निर्लेप होने का मिथ्या अहंकार है। यह ध्यान रखना होगा कि जो ऊपर ब्रह्मादि के नाम लिये गये हैं वे सब गृहस्थ थे। साधु-संन्यासी विरक्त होता है। दोनों के आदर्श अलग-अलग हैं। यदि कोई गृहस्थी में रहकर उनका अतिक्रमण करके भोग करता है तो वह क्षम्य नहीं है और न उसके आचरण किसी के लिए भी आदर्श हो सकते हैं। यह ठीक है कि आत्मा मूलतः निर्लेप है, परन्तु उसी तरह अपने मन-इन्द्रियों को भी जीवनभर विकारों से अलग रखे, तब उसकी निर्विकारता प्रमाणित होगी। इन्द्रियों के विषयों में लिपटा रहे और निर्लिप्तता का जबानी जमा-खर्च किया करे तो वह धूर्त है। प्रकृति उसे कभी नहीं क्षमा कर सकती।

इसलिए साधु-संन्यासी के वेष में भोग की भावना करने वाले और उसे शास्त्रज्ञान की डींग से ढांकने वाले वंचकों के लिए सद्‌गुरु ने कहा "मोहन जहाँ तहाँ लै जइहैं, नहिं पत रहल तुम्हारा हो।" मोहन कहते हैं मोहने वाले को। खानी जाल तथा वाणी जाल ये मोहन हैं। स्त्री, पति, पुत्र, धन, प्राणी, पदार्थ स्थूल वस्तुएं खानी जाल है तथा सत्य से विचलित कर असत्य में लगाने वाले शास्त्रों के वाक्यजाल वाणी जाल है। इन्हीं दोनों में मोहित होकर जीव भटकते हैं। साहेब कहते हैं कि तुम भले साधु-संन्यासी के वेष धारण करो, यदि तुम मोहन के चक्कर में हो तो वे तुम्हें जहां-तहां ले जायेंगे। यह "जहाँ तहाँ लै जइहैं" वाक्यांश बड़ा मार्मिक है। जो स्थूल-सूक्ष्म माया में मोहित होगा वह अपनी त्याग-मर्यादा में, स्वरूपस्थिति की मर्यादा में नहीं रह पायेगा। वह जहां-तहां भटकेगा। जो काम नहीं करना चाहिए वह काम करेगा। इसलिए ऐसे लोगों के लिए सद्‌गुरु कहते हैं—"नहिं पत रहल तुम्हारा हो।" ऐसे लोगों की न तो अपनी आत्मा में प्रतिष्ठा रह जाती है और न समाज में साख रह जाती है। वे भीतर से खोखले हो जाते हैं तथा बाहर से बदनाम हो जाते हैं।

अपनी आत्मा में कौन प्रतिष्ठा पाता है इसके लिए सद्‌गुरु कहते हैं "माँझ मँझरिया बसै सो जानै, जन होइहैं सो थीरा हो। निर्भय भये तहाँ गुरु की नगरिया, सुख सोवै दास कबीरा हो।" माँझ मँझरिया है हृदय। जो व्यक्ति

अपने हृदय में बसना जानता है वह स्थिर होता है। जिसका मन हृदय से निकलकर बाहर भटकता है वह पतित है, और जिसका मन हृदय में ही ठहर जाता है वह स्थिर, शांत एवं सर्वोच्च पद पर स्थित है। मन हृदय में है। वह वहां से निकलकर कहीं जाता तो नहीं है, केवल बाहर की विकारी यादें करते रहना मानो मन का बाहर निकलकर भटकना है। अतएव अर्थ हुआ कि जिसका मन विकारों की याद नहीं करता, किन्तु शांत रहता है वह स्थिर है। इसी को इस ढंग से भी कह सकते हैं कि जिसका मन संसार का भटकाव छोड़कर हृदय में शांत हो गया है वह मानो स्थिति पा गया, ठहर गया।

मन की शांति ही गुरु का नगर है। यह निर्भय नगर है। जिसके मन में सांसारिक हलचल नहीं है, जिसके मन में हानि-लाभ, शोक-मोह के द्वंद्व नहीं उठते, जिसके लिए जीना-मरना समान है, उसकी यह दिव्य स्थिति गुरु का नगर है। जो इस नगर में बसता है वह निर्भय हो जाता है चाहे साधु-संन्यासी वेष में हो और चाहे साधारण वेष में हो। जो विनम्र है, जिसने सारे अहंकार तथा माया-मोह का त्याग कर दिया है, वह बंदा गुरु के निर्भय-नगर में निश्चिंतता की नींद सोता है। संत-गुरु का सत्संग भी निर्भय नगर है। साधुसंगत निर्भयनगर है। सत्संग में रहने वाला सुख से सोता है। किन्तु पूर्णरूप से निर्भय वही होगा जिसने गुरु के सत्संग का पूर्ण आचरण कर लिया है। चित्त का निर्विषय हो जाना, सांसारिक हानि-लाभ की चिंता समाप्त हो जाना, देहाभिमान का त्यागकर निरन्तर आत्माराम में विश्राम पा जाना—यही "माँझ मँझरिया" बसना है। यही गुरु का नगर है। कबीर साहेब कहते हैं कि मैं वहां सुख से सोता हूं। जिसका हृदय शांत है, जो निर्भय है, वही सुख से सोता है। केवल धन, विद्या, पद, अधिकार, प्रतिष्ठादि पाने वाला, निर्भय होकर सुख से नहीं सो सकता। निर्भय होकर सुख से सोना बड़े सौभाग्य का फल है और यह सौभाग्य व्यक्ति के अपने हाथों में है। जो व्यक्ति सारी कामनाओं का त्याग कर देता है, वह निर्भय हो जाता है और सुख से सोता है।

माया-मोह छोड़कर राम में रमो

कहरा-8

क्षेम कुशल औ सही सलामत, कहहु कौन को दीन्हा हो॥ 1॥
आवत जात दोऊ विधि लूटे, सर्वतंग हरि लीन्हा हो॥ 2॥
सुर नर मुनि जति परि औलिया, मीरा पैदा कीन्हा हो॥ 3॥
कहाँ लों गनों अनन्त कोटि लों, सकल पयाना कीन्हा हो॥ 4॥

पानी पवन अकाश जायँगे, चन्द्र जायँगे सूरा हो॥ 5॥
ये भि जायँगे वो भि जायँगे, परत न काहू के पूरा हो॥ 6॥
कुशल कहत कहत बिनसे, कुशल काल की फाँसी हो॥ 7॥
कहहिं कबीर सारी दुनिया बिनसे, रहे राम अविनाशी हो॥ 8॥

शब्दार्थ—क्षेम कुशल=सुरक्षा, कल्याण। सही सलामत=निरापद, सुरक्षित। सर्वतंग=सभी व्यवस्था, सर्वस्व। जति=यति, त्यागी। पीर=गुरु। औलिया=तपस्वी, सिद्ध। मीरा=मीर, सैयद जाति की उपाधि, सरदार, धार्मिक नेता। सूरा=सूर्य। पूरा=संतोष।

भावार्थ—माया ने किसका कल्याण किया है!॥ 1॥ वह आते और जाते दोनों समय मानो जीवों को लूटती है और उनका सर्वस्व हरण कर लेती है ॥ 2॥ माया ने सुर, नर, मुनि, त्यागी, गुरु, तपस्वी, सिद्ध, सैयद, धर्माचार्य कहां तक गिनकर बताया जाये, असंख्य करोड़ तक प्राणियों को पैदा किया, परन्तु यहां से सब चले गये और चले जाते हैं॥ 3-4॥ यहां तक कि पानी, पवन, आकाश आदि से निर्मित सारी वस्तुएं नष्ट होती हैं और चांद-सूर्य भी निरंतर गतिशील हैं॥ 5॥ इस संसार से तो 'ये' और 'वो' अर्थात सबको जाना निश्चित है। खेद यही है कि किसी को अपने जीवन में संतोष नहीं मिलता॥ 6॥ सब लोग एक दूसरे से माया का ही कुशल-मंगल पूछते और बताते हैं, परन्तु माया में अपना कुशल एवं कल्याण मानना ही मानो काल की फांसी है॥ 7॥ सद्‌गुरु कबीर कहते हैं कि तुम्हारी मानी हुई अपनी सारी मायावी दुनिया नष्ट हो जायेगी, परन्तु अविनाशी राम कभी नहीं मिट सकता। वह सब समय अवशेष रहेगा॥ 8॥

व्याख्या—सद्‌गुरु कबीर ने इस कहरा में माया तथा मायावी वस्तुओं से कल्याण मानने का प्रत्याख्यान किया है। वे पहली पंक्ति में कहते हैं "क्षेम कुशल औ सही सलामत, कहहु कौन को दीन्हा हो।" कबीर साहेब की बातों के श्रोता हिन्दू और मुसलमान, इन दोनों वर्गों के लोग रहते थे, इसलिए उन्होंने जगह-जगह इन दोनों को लक्ष्य में रखकर अपनी बातें कहीं हैं। वैसे उनकी बातें मानव मात्र के लिए हैं। यहां पर क्षेम-कुशल तथा सही-सलामत, ये दो शब्द ऐसे हैं जो क्रमशः हिन्दू और मुसलमानों में ज्यादा कहे जाते हैं। दोनों का अर्थ एक है। 'क्षेम' संस्कृत भाषा का शब्द है। इसका अर्थ है शांति, कल्याण एवं प्रसन्नता। 'कुशल' शब्द भी संस्कृत भाषा का ही है। अनुमान है कि पुराकाल में 'कुश' नाम की घास लाने वाले को कुशल कहा जाता था। यज्ञादि धार्मिक कार्यों में कुश-घास का बहुत प्रयोग होता था। अतएव जो

कुश–घास लाता था उसे कुशल कहा जाने लगा। कुश–घास को उखाड़कर लाना पड़ता था। उसके पत्ते धारदार होने से उनसे हाथ कट जाने का भय रहता है। अतएव जो बिना परेशानी के कुश–घास ले आये उसे प्रवीण भी माना जाने लगा। इसलिए कुशल का अर्थ पहले कुश लाने वाला हुआ, फिर पीछे प्रवीण एवं चतुर हुआ। कुश–घास मांगलिक एवं धार्मिक कार्यों के लिए लायी जाती है इसलिए 'कुशल' शब्द मंगल एवं कल्याण अर्थ प्रकट करने वाला हो गया। इस प्रकार क्षेमकुशल के अभिप्राय सुरक्षा, कल्याण, शांति आदि होते हैं। इसी प्रकार सहीसलामत जिसका प्रयोग प्रायः उर्दू भाषा वाले करते हैं उसके अर्थ निरोग, निर्दोष, निरापद, सुरक्षित आदि होते है।

यहां क्षेमकुशल तथा सहीसलामत का अर्थ है निर्भयता एवं आत्मशांति। सद्गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य! तू जिस माया में रात–दिन लिपटा है उसने किसको निर्भयता दी है, किसको शांति दी है। जीवन की उच्चता है निर्भयता एवं शांति। निर्भयता में शांति है और शांति में निर्भयता। जीवन का सच्चा सुख इसी में है। वर्तमान और भविष्य के लिए यही सुरक्षित पथ है। परन्तु माया के द्वारा यह उच्च स्थिति कहां मिल सकती है! बल्कि माया के कारण जीव इस दशा से दूर बना रहता है। यद्यपि इस पूरे कहरा में 'माया' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है और न उसके पर्यायवाची शब्द का ही, परन्तु पूरा कहरा उसी को केन्द्र बनाकर कहा गया है।

माया का सूक्ष्म और मौलिक स्वरूप है जो कुछ निजात्मा से भिन्न है उसका 'मोह' और माया का दूसरा अर्थ है संसार के प्राणी–पदार्थ एवं स्थूल जगत। माया का सूक्ष्म स्वरूप मोह ही के पर्याय वासना, कामना, राग, आसक्ति आदि हैं। मुख्य माया यही सब हैं। यदि ये न हों तो संसार एवं संसार के प्राणी–पदार्थ जीव को बांध नहीं सकते। परन्तु इनकी उत्पत्ति संसार के प्राणी–पदार्थों के सम्बन्ध में असावधान होने पर होती है, इसलिए प्राणी–पदार्थों को भी माया कहा जाता है।

"आवत जात दोऊ विधि लूटे, सर्वतंग हरि लीन्हा हो।" माया आती है और जाती है। यह कभी स्थिर नहीं रहती। यहां माया का अर्थ संसार के प्राणी, पदार्थ, पद, प्रतिष्ठादि हैं। ये आते हैं तब जीव इनमें विमोहित होकर अहंकार करता है। मन का विमोहन तथा अहंकार मानो जीव का लुट जाना है, और जब ये जाते हैं, अर्थात प्राणी, पदार्थ, पद, प्रतिष्ठादि जब छूटते हैं तब शोक एवं दुख होकर जीव पीड़ित होता है। दुखी होना, पीड़ित होना मानो जीव का लुट जाना है। इसीलिए सद्गुरु ने कहा है—"हे ज्ञानरंग चेतन! तू

कनक-कामिनी को देखकर विमोहित मत हो। ये मिल तथा बिछुड़कर वैसे केवल कष्ट देते हैं जैसे सांप की केंचुली आ तथा जाकर कष्ट देती है।"[1] इस प्रकार यह माया आते-जाते जीव को केवल लूटती है। माया आकर हर्ष का फुलावा देती है तथा जाकर शोक का पचकाव देती है। इन मायाजनित हर्ष-शोक के द्वंद्वों में उलझे रहना ही तो जीव का लुट जाना है। यह माया जीव का 'सर्वतंग' छीन लेती है। 'सर्व' का अर्थ सब है, 'तंग' का अर्थ चुस्त तथा कसा हुआ है। यहां सर्वतंग का अर्थ है व्यवस्था। तात्पर्य है कि माया जीव की सारी शांति-व्यवस्था ही छीन लेती है। यही उसका सर्वस्व छीन लेना है।

"सुर नर मुनि जति पीर औलिया, मीरा पैदा कीन्हा हो। कहाँ लो गनों अनन्त कोटि लों, सकल पयाना कीन्हा हो।" साहेब पहले बड़े-बड़े लोगों के नाम गिनाते हैं जैसे सुर, नर, मुनि, यति, पीर, औलिया, मीरा आदि। उसके बाद कहते हैं कि नाम कहां तक गिनाये जायें, माया ने अनंत करोड़ लोगों को पैदा किया है, परन्तु संसार से एक-एक दिन सब पयान कर गये हैं। सबको माया ने पैदा किया है इस कथन का भाव है कि सबके शरीर वासना तथा भौतिक चीजों से ही बनते हैं, अतएव शरीर-रचना के सूक्ष्म-कारण हों या स्थूल-कारण, वे माया ही हैं। सबका उत्पत्ति-कारण माया है। साहेब कहते हैं कि जो कुछ पैदा होता है सब मायामय है और उन सबका विनाश है। फिर उनमें रमने से शांति कहां है!

"पानी पवन अकाश जायँगे, चन्द्र जायँगे सूरा हो।" पानी, पवन, आकाश, मिट्टी, आग आदि तत्त्व तो कभी मिटने वाले नहीं हैं। फिर इनको जाने अर्थात मिटने की बात कैसे कही गयी, यह प्रश्न हो सकता है। इस कथन का शाब्दिक नहीं, किन्तु लाक्षणिक अर्थ है कि इन जड़-तत्त्वों से निर्मित सारे पदार्थ नाशवान हैं। जो कुछ मिट्टी, पानी, आग, हवादि तत्त्वों से बना है वह रहने वाला नहीं है और संसार के सारे निर्माण इन्हीं से हैं। पवन-पानी के साथ यहां आकाश का भी नाम आया है, परन्तु आकाश निष्क्रिय तथा निर्विकार है, अतः इससे कुछ निर्मित नहीं होता, तो इसका क्रिया के रूप में प्रयोग 'जायंगे' क्यों हुआ है? वस्तुतः अन्य तत्त्वों के लपेट में आकाश का नाम भी ले लिया गया है, परन्तु आकाश में कोई विकार नहीं है। हां, वस्तुओं के निर्माण में उसके बीच में या तत्त्वकणों की संधि में आकाश अपने आप

---

1. कनक कामिनी देखि के, तू मत भूल सुरंग।
मिलन बिछुरन दुलेहरा, जस केंचुलि तजत भुवंग॥ साखी 148॥

रहता है। अतएव वस्तुओं के परिवर्तन में आकाश में परिवर्तन–जैसा लगता है, अन्यथा आकाश कोई अणुरूप द्रव्य न होने से उसमें कोई विकार नहीं है।

इसके साथ कहा गया है "चन्द्र जायँगे सूरा हो।" चांद और सूरज भी चले जायेंगे। उगने–डूबने को लिया जाये तो वे मानो नित्य आते–जाते ही हैं। वैसे ये अनादि–अनंत पदार्थ हैं, परन्तु गतिशीलता तो सभी भौतिक क्षेत्रों में है।

"ये भी जायँगे वो भि जायँगे, परत न काहू के पूरा हो।" ये भी और वो भी का तात्पर्य है सब लोग। जो कोई संसार में आया है उसे यहां से जाना है। न यहां रंक रह सकता है और न राजा। परन्तु मनुष्यों की असफलता यह है कि उनके मन में संतोष नहीं आता। "परत न काहू के पूरा हो।" यह बड़ा मार्मिक वचन है। 'पूरा' का अर्थ है सन्तोष। किसी को सन्तोष नहीं होता है। निर्धन असंतुष्ट है, धनवान असंतुष्ट है, अपढ़ असंतुष्ट है, विद्वान असंतुष्ट है, तिरस्कृत असंतुष्ट है, सम्मानित असंतुष्ट है, अज्ञानी असंतुष्ट है, तथाकथित ज्ञानी असंतुष्ट है, गृहस्थ असंतुष्ट है तथा वेषधारी असंतुष्ट है। कहां तक गिनाया जाये "परत न काहू के पूरा हो।" किसी के मन में संतोष नहीं आ रहा है। वस्तुतः संतुष्ट वही होता है जिसने माया की इच्छा का त्याग कर दिया है।

"कुशल कहत कहत जग बिनसे, कुशल काल की फाँसी हो।" संसार के लोग माया की उपलब्धि में ही अपना कुशल–मंगल एवं सही–सलामत मानते हैं। प्राणी, पदार्थ, पद, प्रतिष्ठा मिल जायें तो लोग समझते हैं कि हमारा कुशल–मंगल हो गया। संसार के लोग दुनियवी चीजों को पाकर फूले–फूले घूमते हैं और अपने आप को उसी में कृतकृत्य मानते हैं। साहेब कहते हैं कि यह तुम्हारी मायिक कुशलता ही मानो काल की फांसी है। तुम माया के पदार्थों की प्राप्ति में फूलते हो तो मानो तुम्हें काल फांसी पर लटका देता है। माया के फुलाव में रहने वाले आदमी का मन स्थिर नहीं रह सकता। यह अपने स्वरूप में स्थित नहीं हो सकता। माया का फुलाव ही तो जीव को नरक में डुबाता है। इसी भाव को लेकर सद्गुरु पूरण साहेब ने कहा है "आनन्द आनन्द सब कहै, आनन्द जीव को काल। पूरन परख प्रकाश भौ, शरण कबीर दयाल॥" यह तुम्हारा मायिक आनंद ही तुम्हें अपने आत्मज्ञान, आत्मसंयम एवं आत्मस्थिति से गिरा देता है। इसलिए यह सांसारिक आनन्द तुम्हारे लिए काल द्वारा दी गयी फांसी है।

लोग एक दूसरे से मिलते हैं, अभिवादन–प्रत्याभिवादन करते हैं और कुशल–मंगल पूछते हैं और एक दूसरे से यही कहते हैं कि कुशल–मंगल है,

चकाचक है। परन्तु यह सब तो एक लोकाचार है, शिष्टाचार है। किसी के कुशल पूछने पर कैसे अपना दुखड़ा रोने लग जाये! वहां कुशल पूछना भी एक शिष्टाचार है, तथा शिष्टाचार में 'कुशल है' कहकर उत्तर देना उचित है। परन्तु जब तक मनुष्य का मन सारी मोह-ममता, इच्छा-कामना को छोड़कर निर्भय, निष्काम एवं हर्ष-शोक से परे नहीं हो जाता है तब तक कहां कुशल-मंगल है? नहीं ज्यादा तो इस सन्मार्ग पर लगना भी कुशल-मंगल की शुरुआत है। परन्तु जो माया में ही उन्मत्त होकर कल्याण-मार्ग से दूर है उसका कहां कुशल-मंगल है!

"कहहिं कबीर सारी दुनिया बिनसे, रहे राम अविनाशी हो।" सद्‌गुरु कहते हैं कि सारा संसार नाशवान है, सब कुछ विनष्ट होगा, परन्तु राम नहीं विनष्ट होगा, क्योंकि वह अविनाशी है। वह सदैव रहेगा। अब इन दो बातों पर थोड़ा विचार कर लें—"सारी दुनिया बिनसे" और "रहे राम अविनाशी"। यह ठीक से समझ लेना चाहिए कि यह अनंत विश्व-ब्रह्मांड कभी एक साथ सर्वथा नष्ट हो जायेगा, ऐसी बात नहीं है। यहां पौराणिक प्रलय की भावना का वर्णन नहीं है। यदि सारे जड़ तत्त्व अपनी क्रिया को छोड़कर स्थिर हो जायें तो निश्चित ही सब कुछ का प्रलय जो जाये। परन्तु सारे जड़तत्त्वों के कण सब समय क्रियाशील रहते हैं। यह उनका अनादि-अनंत स्वभाव है। अतएव सारे संसार का न एक साथ निर्माण होता है, और न एक साथ सबका विनाश हो सकता है। परन्तु इसके साथ यह भी परम सत्य है कि सारे ब्रह्मांड में सब समय निरन्तर क्रिया होती रहती है। यह क्रिया कभी रुक नहीं सकती। जड़तत्त्वों का स्वभाव है गतिशीलता और गतिशीलता ही जड़तत्त्वों की सम्पत्ति है। इसलिए संसार में सब कुछ परिवर्तनशील है। इस परिवर्तन में एक दूसरे पदार्थों की अपेक्षा बहुत अन्तर है। जैसे एक फूटी ककड़ी, एक पका कुम्हड़ा तथा एक हीरा पर विचार करें। फूटी ककड़ी चार घंटे में सड़ने लगती है, पका कुम्हड़ा छह महीने के बाद भी स्वादिष्ट लगता है और हीरा में परिर्वतन इतनी मंथर गति से होता है कि उसके विनष्ट होने के भविष्यकाल का अनुमान पदार्थ विज्ञानी ही कर सकते हैं। इतना परम सत्य है कि समस्त भौतिक पदार्थ परिवर्तनशील है।

वस्तुतः जिस दुनिया से हमारा लगाव है वह व्यक्तिगत है। वह हमारे माने हुए प्राणी, पदार्थ, पद, प्रतिष्ठादि का संयोग है जिससे हमारा ममताजनित सम्बन्ध है। सद्‌गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य! जो तुम्हारा माना हुआ संसार है वह सब-का-सब नष्ट होगा, इसलिए उसका मोह छोड़ो! और ध्यान दो राम

पर, जो कभी नहीं मिटेगा, क्योंकि वह अविनाशी है। तुम शरीर और अपने माने हुए संसार के राग में चिपककर तृष्णा में भटकते हो, जो न स्थिर है और न तुम्हारे साथ, परन्तु उस राम में नहीं रमते जो न कभी मिटता है और न तुमसे कभी अलग होता है। ध्यान दो! तुम्हारे पिता, पितामह एवं परपितामह की दुनिया कहां रह गयी! तुम्हारे बचपन की दुनिया आज नहीं है। हमारी मानी हुई दुनिया तो क्षण-क्षण मिट रही है और हमसे छूट रही है। परन्तु राम कभी न मिटेगा, न छूटेगा, क्योंकि वह तो मेरी आत्मा है, वह मेरी चेतना है, मेरा चेतनस्वरूप, पारखस्वरूप एवं ज्ञानस्वरूप है। इसलिए हमें चाहिए कि हम अनिश्चित को छोड़कर निश्चित को पकड़ें। माया अनिश्चित है और राम निश्चित है। माया जड़ है और राम चेतन है। माया पर है और राम स्व है। सद्गुरु हमें प्रेरित करते हैं कि हे अभागे! तेरी मानी हुई दुनिया नष्ट हो जायेगी और तेरी सारी माया मिट जायेगी, परन्तु अविनाशी राम जो तेरा निजस्वरूप है वह कभी नहीं मिटेगा। अतः तू यदि अपना कुशल-मंगल तथा सही-सलामत चाहता है तो माया-मोह को छोड़कर स्वरूपराम में मग्न हो जा!

देह की क्षणभंगुरता

कहरा-9

ऐसनि देह निरालप बौरे, मुवल छुवे नहिं कोई हो॥ 1॥
डण्डवा की डोरिया तोरि लराइनि, जो कोटिन धन होई हो॥ 2॥
उर्ध निश्वासा उपजि तरासा, हँकराइनि परिवारा हो॥ 3॥
जो कोइ आवै बेगि चलावै, पल एक रहन न पाई हो॥ 4॥
चन्दन चीर चतुर सब लेपैं, गरे गजमुक्ता के हारा हो॥ 5॥
चौसठ गीध मुये तन लूटै, जम्बुकन वोद्र बिदारा हो॥ 6॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, ज्ञान हीन मति हीना हो॥ 7॥
एक एक दिना याहि गति सबकी, कहा राव कहा दीना हो॥ 8॥

शब्दार्थ—निरालप=अत्यन्त अल्पकाल रहने वाला। डण्डवा=कमर। डोरिया=करधनी। लराइनि=लड़ियां। उर्ध=ऊर्ध्व, ऊपर। निश्वास=बाहर निकलने वाला श्वास। तरासा=त्रास, दुख। चीर=वस्त्र। चौसठ=चील्ह। गीध=गिद्ध। जम्बुकन=सियारों का समूह। राव=राजा।

भावार्थ—हे पगले! यह शरीर इतना क्षणभंगुर एवं गंदा है कि मर जाने पर इसे कोई छूना भी नहीं चाहता॥ 1॥ चाहे तुम करोड़ों की सम्पत्ति के स्वामी हो, परन्तु मरते समय लोग तुम्हारी कमर की करधनी भी तोड़

लेंगे॥ 2॥ जब श्वास ऊपर चलने लगता है तब श्वास लेने में कष्ट होने लगता है और तब उसे यह विश्वास हो जाता है कि मेरा शरीर नहीं रह जायेगा। उसे सब कुछ छूटने का भय सवार हो जाता है। वह तुरन्त अपने परिवार वालों को इसलिए बुलवाता है कि अब अंत में उन्हें देख लें तथा जिम्मेदारी सौंप दें॥ 3॥ परन्तु श्वास टूट जाने पर जो कोई आता है उसे जल्दी श्मशान ले चलने की राय देता है। वह तब एक पल भी अपने माने हुए घर में रहने नहीं पाता॥ 4॥ अपने आप को बुद्धिमान समझने वाले जो लोग अपने शरीर में चंदन का लेपन करते थे, अच्छे-अच्छे वस्त्र पहनते थे तथा गले में गजमुक्ता आदि रत्नों की मालाएं पहनते थे, उनका शरीर कहीं जंगल आदि में छूट गया तो उसे चील और गिद्ध नोच-नोचकर खाते हैं और गीदड़ उनका पेट फाड़ते हैं॥ 5-6॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो! सुनो, जो लोग ज्ञान से रहित तथा विवेकहीन हैं वे इस अपने शरीर की संभावित विनाशलीला को नहीं समझ पाते। परन्तु एक-एक दिन सबके शरीर की यही दशा होती है वह चाहे राजा हो और चाहे रंक॥ 7-8॥

व्याख्या—सद्‌गुरु कहते हैं कि यह शरीर निरा अल्प है अर्थात अत्यन्त क्षणभंगुर है। इसका दूसरा दोष है कि यह अत्यन्त घृणास्पद है। मर जाने पर अपनी इच्छा से तो इसे कोई छूना नहीं चाहता। परन्तु मोहवश या लोक दिखावा को लेकर लोग छूते या अंतिम दर्शन के लिए आते हैं। अभिमानी जीव माने रहता है कि शरीर बहुत दिनों तक रहेगा। वह सोचता है कि दूसरे लोग मर जायें तो मर जायें, मैं अभी नहीं मरूँगा, परन्तु वह क्षण-पल में काल का चबैना हो जाता है। शरीर गंदा तो ऐसा है कि इसे सहज समझा जा सकता है कि इसमें क्या रखा है! हड्डी, मांस, मल, मूत्र, चाम—सब कुछ तो गंदगी का रूप है।

जब आदमी मर जाता है तब चाहे वह करोड़पति रहा हो, लोग उसकी कमर की करधनी भी तोड़ लेते हैं। यह संसार की कथा है। सब समझते हैं कि लाश के साथ चाहे कोई दस किलो सोना ही बांध दे तो क्या वह उस जीव के साथ जाने वाला है! जीव जब शरीर को छोड़कर चला जाता है तब उसके साथ तृण भी नहीं जाता।

शरीर छूटने के समय प्राय: लोगों का श्वास ऊर्ध्व गति से चलने लगता है। उस समय उसे श्वास लेने में कष्ट होने लगता है। उसे अनुभव होने लगता है कि अब शरीर नहीं रह जायेगा। जिसकी हृदयगति रुक जाती है उसकी मृत्यु तो अचानक होती है। वह तो किसी से कुछ भी बात नहीं कर पाता।

परन्तु जिसका शरीर धीरे से छूटता है, जिसे कुछ सांस-कष्ट आदि होना शुरू होकर मृत होने के लक्षण धीरे-धीरे आते हैं, उसके मन के सामने एक दूसरी दुनिया आ जाती है। आप जरा गहराई से सोचें कि आपको कोई यह विश्वास दिला दे कि आप कल तक मर जायेंगे तो आपके मन के सामने यह संसार दूसरी तरह लगेगा। यह पृथ्वी, यह चांद, यह सूरज, ये सितारे, ये प्राणी-पदार्थ आपको दूसरी तरह प्रतीत होंगे। विवेकवान का अनुभव ऐसी अवस्था में एक भिन्न तरह का होगा तथा एक मोही का अनुभव बिलकुल भिन्न तरह का होगा। विवेकवान संसार को स्वप्नवत देखेगा और उससे अपने मन को समेटकर अपने स्वरूप में स्थित होगा, परन्तु मोहग्रस्त आदमी व्याकुल हो जायेगा। उसके मन में पीड़ा होगी। वह सोचेगा 'हाय! मेरे प्यारे सम्बन्धी एवं धन सभी छूट रहे हैं।' उसकी शारीरिक पीड़ा चाहे कम हो, परन्तु मानसिक पीड़ा बहुत होगी, परन्तु विवेकवान को प्रारब्धवशात शरीर-पीड़ा चाहे अधिक हो, परन्तु उसे मानसिक-पीड़ा नहीं होगी।

मोही आदमी स्वजनों को बुलाता है। उन्हें मरते समय देखना चाहता है। वह अपने बाल-बच्चों को सयानों के हाथों में सौंपता है और उन सबसे बिछुड़ने की बातें याद करके रोता है। परन्तु मौत निर्दय है। वह छोड़ने वाली नहीं है। वह उसे मार लेती है। मर जाने के बाद चाहे राजा हो और चाहे रंक, उसकी लाश लोग जल्दी गाड़ना, जलाना या फेंक देना चाहते हैं। सब का नाता जीव के रहते तक है। उसके निकल जाने पर कोई ऐसा माई का लाल नहीं है जो उसे रख सके। घी, दूध, दही, मेवे, फल, अन्न-पानादि से सेवित तथा वस्त्रालंकारों से मंडित शरीर क्षण-पल में राख की ढेरी, मछलियों, मेढकों, चील्ह-गिद्धों एवं कीड़ों-मकोड़ों का भोजन हो जाता है।

मोह में मूढ़ आदमी को, यह सब अपने शरीर का एक दिन हो जायेगा, इसका ख्याल भी नहीं रहता। वह तो सब समय प्रमाद में जीता है। इस पानी के बुल्ले शरीर को वह अजर-अमर माने बैठा रहता है। परतु राजा हो या रंक, एक-एक दिन यही दशा सबकी होती है। ज्ञानी संसार को जीतकर जाता है और अज्ञानी संसार से हारकर जाता है। ज्ञानी शरीर छोड़ने के पहले ही इसकी आसक्ति छोड़ देता है तथा अज्ञानी आसक्ति में चिपका-चिपका मरता है और उसके वर्तमान तथा भविष्य अंधकारमय होते हैं, परतु ज्ञानी का सब मंगलमय होता है। ज्ञानी संसार और शरीर दोनों छोड़कर जीता है। अर्थात वह सबकी आसक्ति को त्यागकर सुखी हो जाता है। आसक्ति ही तो कांटा है। जिसके मन से यह कांटा निकल गया वह सदा सुखी है। आसक्तिवश ही

संसार में अपने-पराये का झमेला है। जिसके मन से आसक्तिरूपी भवव्याधि पूर्णतया निकल गयी है, उसकी दृष्टि में कुछ अपना नहीं रह गया। जिसके ख्याल से संसार में कुछ अपना नहीं है, वह परम सुखी है।

आत्मतत्त्व विवेचन

कहरा-10

हौं सबहिन में हौं ना हौं, मोहि बिलग बिलग बिलगाइल हो॥ 1॥
ओढ़न मोरा एक पिछौरा, लोग बोलैं एकताई हो॥ 2॥
एक निरन्तर अन्तर नाहीं, ज्यों शशि घट जल झाँई हो॥ 3॥
एक समान कोई समुझत नाहीं, जाते जरा मरण भ्रम जाई हो॥ 4॥
रैन दिवस ये तहवाँ नाहीं, नारि पुरुष समताई हो॥ 5॥
हौं मैं बालक बूढ़ो नाहीं, ना मोरे चिलकाई हो॥ 6॥
त्रिविधि रहौं सभनि माँ बरतों, नाम मोर रमुराई हो॥ 7॥
पठये न जाऊँ आने नाहिं आवों, सहज रहौं दुनियाई हो॥ 8॥
जोलहा तान बान नहिं जाने, फाटि बिने दश ठाँई हो॥ 9॥
गुरु परताप जिन्हें जस भाष्यो, जन बिरले सो पाई हो॥ 10॥
अनन्त कोटि मन हीरा बेधो, फिटकी मोल न पाई हो॥ 11॥
सुर नर मुनि जाके खोज परे हैं, कछु कछु कबिरन पाई हो॥ 12॥

शब्दार्थ—हौं=मैं। हौं ना हौं=मैं देह नहीं हूं, अहंकार से रहित हूं। ओढ़न=ओढ़ने का वस्त्र, आवरण। पिछौरा=चादर, अविद्या। झाँई= प्रतिबिम्ब। चिलकाई=चटक-मटक, जवानी। त्रिविधि=जागृति आदि तीन अवस्थाएं। दुनियाई=संसारी। जोलहा=मन। दश ठाँई=अनेक प्रकार, अनेक जगह। हीरा=जीव। भाष्यो=कहा। फिटकी=फिटकरी, एक मिश्र खनिज पदार्थ जो स्फटिक की तरह सफेद होता है और दवा, रंगाई आदि के काम आता है।

भावार्थ—सभी शरीरों में विद्यमान जो मैं-तत्त्व है वही व्यक्ति का निज-स्वरूप है, अतएव मैं सभी देहों में रहने वाला शुद्ध चेतन हूं, परन्तु मैं देहादि विजाति पदार्थों का अहं-स्वरूप नहीं हूं, अर्थात मैं देहादि नहीं हूं। विवेकियों ने जड़-चेतन अलग-अलग बताया है तथा सभी शरीरों में निवास करने वाले चेतनों को भी एक दूसरे से अलग-अलग कहा है॥ 1॥ मेरा ओढ़ना मानो एक अविद्या रूपी चादर है, अर्थात मैं स्वयं अविद्या से ढका हूं। इसी अविद्या से लोग कहते हैं कि जड़-चेतन सत्ता अभेद है अथवा एक ही चेतन सत्ता

है॥ 2॥ वे प्रमाण देते हैं कि एक ही चेतन सभी शरीरों में उसी प्रकार प्रतिबिम्बित होता है जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा अनेक घटों के जल में एक साथ प्रतिबिम्बित होता है॥ 3॥ वस्तुतः सब चेतन एक नहीं, किन्तु एक समान है और सब अलग-अलग हैं, परन्तु ऐसा कोई समझता नहीं है। ऐसा समझने से ही बुढ़ापा, मृत्यु आदि का भ्रम दूर होगा। मोक्ष द्वैत में होता है, अद्वैत में नहीं॥ 4॥ शुद्ध चेतनस्वरूप में न रात है न दिन, उसमें स्त्री-पुरुष का भी भेद नहीं है, वह लिंगरहित सब में समान है॥ 5॥ मैं न तो बालक हूं न बूढ़ा हूं और न मेरे में चमक-दमक वाली जवानी ही है॥ 6॥ मैं तो बालक, युवा तथा वृद्ध तीनों अवस्थाओं में वर्तमान करने वाला तीनों से अलग हूं, परन्तु सभी अवस्थाओं में रमण करने से मेरा नाम रामराजा है॥ 7॥ मैं न तो किसी के भेजने से कहीं जाता हूं और न किसी के लाने से कहीं आता हूं, अर्थात मेरे ऊपर कोई ऐसी सत्ता नहीं है कि मुझे किसी बात के लिए विवश कर सके। मैं संसार में सहजरूप से रहता हूं॥ 8॥ जैसे कोई अनाड़ी जोलाहा ताना-बाना का भेद न जानता हो और उलटा-पलटा ताना तनकर दस जगह फाड़कर बुनता हो, वैसे यह मन जीव के आत्मस्वरूप को न जानकर उसे दस जगह उलझाकर रखता है। अर्थात जीव को अनेकों जगह फंसा देता है॥ 9॥ विभिन्न विचार के गुरुओं के प्रभाव में आकर मनुष्य उनके उपदेशों को सुनते हैं और जहां तक जो समझते हैं उनके अनुसार मानते हैं और चलते हैं। बिरला मनुष्य निजस्वरूप का ठीक बोध पाता है॥ 10॥ मन की अनंत करोड़ मान्यताओं ने जीवरूपी हीरे को बेध डाला है, इसलिए उसकी कीमत फिटकरी से भी कम हो गयी है। हीरा फिटकरी के दाम पर भी नहीं बिक रहा है। चेतन मनुष्य पत्थर के देवता के समान भी इज्जत नहीं पा रहा है॥ 11॥ सुर, नर तथा मुनिजन जिस सत्यस्वरूप की खोज में निरंतर श्रमशील हैं, कबीर ने उसे कुछ-कुछ पा लिया है॥ 12॥

व्याख्या—यह पूरा कहरा आध्यात्मिक तत्त्व-विवेचन से भरा है। आध्यात्मिक तत्त्व में 'मैं' ही सार तत्त्व है। मनुष्य का 'मैं' तत्त्व ही तो सारे दर्शनों का केन्द्रबिन्दु है। मनुष्य का 'मैं' तत्त्व न होता तो संसार में ज्ञान-विज्ञान की कोई खोज ही न होती। इस कहरा की पहली पंक्ति में पहला वाक्यांश है "हौं सबहिन में" इसका सरल अर्थ है कि 'मैं सब में हूं'। यदि इसका यह अर्थ लगाया जाये कि मैं जड़-चेतन, पृथ्वी-पहाड़, चांद-सूर्य एवं समस्त विश्व-ब्रह्मांड में हूं, तो यह एक बहुत बड़ी अतिशयोक्ति होगी और मन का बहुत बड़ा भ्रम होगा। यह किसी का अपना अनुभव नहीं है कि मैं संसार

के सारे पदार्थों में व्याप्त हूं। अतएव 'मैं सब में हूं' इसका तात्पर्य यह है कि सभी देहों में 'मैं'–'मैं' स्वीकारने एवं कहने वाले जीव हैं, चेतन हैं, आत्मा हैं, वही प्रति शरीर में 'मैं' हूं। सब में 'मैंपन' तो समान है परन्तु 'मैं'–'मैं' कहने वाले सब देहों के जीव अलग–अलग हैं। इस जीव को ही चेतन एवं आत्मा कहते हैं। मानो दस आदमी बैठे हों, तो तुम देखोगे कि दसों में 'मैं' कहने वाले जीव एवं आत्मा विद्यमान हैं। सब कहते हैं कि मैं खाता हूं, मैं जाता हूं, मैं यह बात मानूंगा, मैं यह बात नहीं मानूंगा इत्यादि। इस प्रकार सबके भीतर 'मैं' तत्त्व एक दूसरे से सर्वथा अलग है। अर्थात सब में 'मैंपन' एक है, परन्तु व्यक्तित्व सबका अलग–अलग है। अतएव ज्ञानी कहता है कि 'मैंपन' तो सब में है। अर्थात सभी शरीरों में अलग–अलग आत्म–अस्तित्व है।

इस पंक्ति का दूसरा वाक्यांश है ''हौं ना हौं'' जिसका सरल अर्थ है 'मैं नहीं हूं' इसका अभिप्राय यह है कि मैं कोई विजाति तत्त्व देहादि नहीं हूं। न मैं देह हूं, न मैं प्राण हूं, न मैं मन हूं, न मैं बुद्धि हूं, न मैं विश्व–ब्रह्मांड हूं। यह वाक्यांश सांख्यकारिका के इस वाक्यांश की याद कराता है, ''न मैं क्रियावान हूं, न मेरा भोक्तृत्व है और न मैं कर्ता हूं''[1] इस निषेधात्मक स्वर में सारे विजाति तत्त्वों एवं क्रियाओं को अस्वीकार कर शुद्ध चेतन पुरुष की स्थिति बतायी गयी है। इस पूरी कारिका का भाव है—''इस प्रकार तत्त्व के अभ्यास से यह निश्चित हो जाता है कि न मैं क्रियावान हूं, न मेरा भोक्तृत्व है और न मैं कर्ता हूं। ऐसी स्थिति में कुछ बाकी नहीं रहता, यहां भ्रम के दूर हो जाने से विशुद्ध 'केवल' ज्ञान उत्पन्न होता है।''[2]

'मैं' के दो रूप हैं। एक शुद्ध आध्यात्मिक एवं परमार्थ रूप और दूसरा मायिक। 'हौं सबहिन में' कहकर मैं का पारमार्थिक रूप बताया गया है। 'सबहिन में' को तो इतना ही समझ लीजिए कि सभी देहों में अलग–अलग चेतन जीव हैं। जैसे मैं हूं, वैसे अन्य देहों में भी मैं–स्वरूप चेतन जीव हैं। ''हौं सबहिन में हौं ना हौं'' इस वाक्यांश में इतना ही समझिए कि मैं हूं भी और नहीं भी। अर्थात चेतनरूप से मैं हूं और देहरूप से मैं नहीं हूं। जिस प्रकार घटरूप से घट है, किन्तु पटरूप से घट नहीं है। यदि पट घट में रखा है तो पट को यह न मान लेना चाहिए कि वह घट है। वह तो उस समय घट में केवल रखा है न कि पट घट है। इसी प्रकार जीव केवल शरीर में है। यह

---

1. नास्मि न मे नाहम्।
2. एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥ सांख्यकारिका, 64॥

न मान लेना चाहिए कि जीव शरीर है। अतएव जीव चेतनरूप में है, देहरूप में नहीं है। मैं शुद्ध चेतन हूं यह परमार्थ है, सत्यता है और परम तथ्य है, किन्तु मैं देह हूं, अमुक अवस्था एवं रंगरूप वाला हूं, अमुक जाति–वर्ण वाला हूं—यह मानना मायिक है। यह अहंकारपूर्ण है। परमार्थ की भाषा में जो अपना नहीं है उसको अपना मानना अहंकार है और परमार्थ की दृष्टि से जीव के अलावा जीव का कुछ भी नहीं है। मेरी चेतना के अलावा मेरा कुछ नहीं है। अतएव यदि व्यक्ति अपनी चेतना के अलावा किसी भी वस्तु को मैं तथा मेरी मानता है तो यह उसका अहंकार है, मायिक है। किन्तु मैं शुद्ध चेतन हूं यह परमार्थ है, सत्य है एवं अटल सिद्धान्त है। इस प्रकार मैं शुद्ध चेतन हूं, किन्तु मैं देह नहीं हूं।

"मोहि बिलग बिलग बिलगाइल हो।" विवेकियों ने मुझे अलग–अलग समझा है। हर जीव दूसरे से अलग है। यदि सब जीवों को एक माना जाये तो यह असंभव एवं व्याघात–दोष से दूषित होगा। 'सब' और 'एक' यही कथन परस्पर विरोधी है। सबका प्रत्यक्ष अनुभव है कि जीव असंख्य हैं और एक दूसरे से अलग हैं। अलग–अलग होने से ही किसी का अभी जन्म हो रहा है, कोई शिशु अवस्था में है, कोई बालक, कोई तरुण, कोई वृद्ध एवं कोई जरजर अवस्था में है, कोई मर रहा है, कोई बद्ध है तथा कोई मुक्त है। इस प्रत्यक्ष अनुभव का अपलाप करना ज्ञान के क्षेत्र में एक बहुत बड़ा भ्रम पैदा करना है। जो जैसा हो उसे वैसा स्वीकारना ही सच्चा ज्ञान है। इसके अलावा चेतन जड़ से सर्वथा अलग है ही। इस प्रकार जड़–चेतन दोनों मौलिक और भिन्न–भिन्न हैं। न जड़ से चेतन पैदा हुए न चेतन से जड़, और न दोनों कभी एक हो सकते हैं। सब चेतन जीव भी एक दूसरे से सर्वथा अलग–अलग हैं। सभी चेतनों का ज्ञान गुण एक है, परन्तु सबका व्यक्तित्व सर्वथा अलग–अलग है।

"ओढ़न मोरा एक पिछौरा, लोग बोलैं एकताई हो।" यह अविद्या रूपी चद्दर मानो मेरा एक ओढ़ना है, आवरण है। इसी आवरण के नाते जड़–चेतन की एकता प्रतीत होती है। महर्षि पतंजलि ने अविद्या का स्वरूप बताते हुए लिखा है—"अनित्य में नित्य, अशुचि में शुचि, दुख में सुख तथा अनात्म (जड़) में आत्म (चेतन) बुद्धि होना अविद्या है।"[1] संक्षिप्त में कहें तो जड़–चेतन एक मान लेना अविद्या है। अविद्या में सारे काले अक्षर भैंस बराबर लगते हैं, परन्तु विद्या में अक्षरों, शब्दों एवं वाक्यों के विभाजन तथा उनके

---

1. अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। (योगदर्शन 2/5)

अर्थ अलग-अलग लगते हैं। बादलों से ढकी हुई भादों की घोर अंधियारी रात में सब काला दिखता है, परन्तु सूर्य उगने पर सब कुछ अलग-अलग दिखता है। अतएव जड़-चेतन में विवेक न कर पाना अविद्या है और जड़-चेतन अलग-अलग समझ लेना विद्या है, ज्ञान है। यह अविद्या ही जीव का ओढ़न है, पिछौरा एवं चादर है। यही जीव के ज्ञान को ढांकती है। इस चादर को फाड़ फेंकना कल्याणार्थी का परम कर्तव्य है।

"एक निरन्तर अन्तर नाहीं, ज्यों शशि घट जल झाँई हो।" यह मान्यता भी एक अविद्या ही है कि चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब जैसे असंख्य घड़ों के जल में एक साथ ही पड़ते हैं, वैसे एक ही ब्रह्म के चेतनाभास सभी देहों में पड़ते हैं। यह अविद्या क्यों है, इस पर थोड़ा विचार कर लें। पहली बात तो यह है कि एकदेशी पदार्थ का ही दूसरे देश में रहे हुए पदार्थ में प्रतिबिम्ब पड़ता है, सर्वदेशी पदार्थ का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। चन्द्रमा एकदेशी है। उससे और घटों में देश की दूरी है, तब जाकर चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब अनेक घटजलों में पड़ते हैं। यदि चन्द्रमा सर्वव्यापक होता, तो किसी घटजल से उसकी दूरी न होने से तथा उसमें व्यापक होने से प्रतिबिम्ब पड़ना सम्भव ही नहीं होता। जिस ब्रह्म के लिए चन्द्रमा का उदाहरण दिया जाता है उस ब्रह्म को सर्वत्र व्यापक बताया जाता है, और यहां तक भी बताया जाता है कि उसके अलावा कुछ है ही नहीं, फिर उसके प्रतिबिम्ब किसमें और कैसे पड़ सकते हैं? दूसरी बात यह है कि प्रतिबिम्ब जड़ होते हैं, परन्तु सभी शरीरों में जीव चेतन हैं। बिम्ब गंदा होने से प्रतिबिम्ब गंदे होते हैं और स्वच्छ होने से स्वच्छ। फिर शुद्ध ब्रह्म के प्रतिबिम्ब जब सब जीव हैं तब वे बुरे आचरण वाले क्यों हो जाते हैं! जिसको चन्द्रवत बिम्ब कहते हैं उस ब्रह्म का कहीं पता नहीं चलता और जिनको प्रतिबिम्ब कहते हैं वे जीव ही ब्रह्म की व्याख्या कर रहे हैं। आज तक सारे ज्ञान-विज्ञान का अन्वेषण जीव ने ही किया है जिसे वे प्रतिबिम्ब कहते हैं और जिसे बिम्ब कहते हैं उसका आज तक पता-लता नहीं है। अतएव प्रतिबिम्बवाद स्वरूप-अज्ञान का फल है। जीव अपने पूर्ण स्वरूप के अज्ञान से स्वयं को प्रतिबिम्ब मानता है तथा जो केवल कल्पना का विषय है उसे परम श्रेष्ठ मानता है।

"एक समान कोइ समुझत नाहीं, जाते जरा मरण भ्रम जाई हो।" कोई यह नहीं समझता कि सब जीव एक नहीं, किन्तु एक समान हैं, जिससे जरा-मरण और उसके मूल में रहे हुए भ्रम का अन्त हो। जन्म, जरा एवं मृत्यु आदि के चक्कर का मूल है विषयों में सुख-भ्रम और विषयों में सुख-भ्रम का भी मूल

है देह को अपना स्वरूप मान लेने का भ्रम। इन सारे भ्रमों का अन्त तथा जन्मादि चक्कर का अन्त होता है स्वरूपज्ञान में। और उसके साथ यह समझना कि मेरे ही समान अन्य जीव भी हैं जिनके साथ मुझे करुणा का व्यवहार करना चाहिए। निजस्वरूप के ज्ञान से देहाभिमान तथा विषयासक्ति नष्ट होते हैं और अपने समान अन्य जीवों को समझने से उनके साथ प्रेम, करुणा एवं दया का व्यवहार होता है। यदि जीव एक ही होता तो न व्यवहार होता और न करुणा, दयादि गुणों की आवश्यकता होती। जीव नाना हैं, इसलिए उन्हें अपने समान मानकर अहिंसा, करुणादि का सुन्दर व्यवहार करना चाहिए।

"रैन दिवस ये तहवाँ नाहीं, नारि पुरुष समताई हो। हौं मैं बालक बूढ़ो नाहीं, ना मोरे चिलकाई हो।" निज चेतनस्वरूप में रात-दिन, स्त्री-पुरुष, बालक, जवानी एवं बुढ़ापा का भेद आदि नहीं होते। रात और दिन इन्द्रियजन्य अनुभव है। शुद्ध चेतन में, जहां देह और मन दोनों नहीं हैं, देह तथा मन न होने से वहां मानो पूरा संसार ही नहीं है, फिर वहां रात-दिन के भेद का क्या प्रश्न है! गीताकार इसके लिए ठीक ही कहते हैं—"न वहां सूर्य चमकता है, न चन्द्रमा चमकता है और न वहां अग्नि ही चमकती है, जिसे प्राप्तकर पुनः उससे लौटना नहीं होता वह मेरा धाम है।"[1] मेरा धाम, अपना धाम, जीव का परमधाम उसका अपना चेतनस्वरूप ही है। जो अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, उसका रैन-दिवस आदि प्राकृतिक घटनाओं से कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। शुद्ध चेतनस्वरूप में प्रकृति की गंध भी नहीं है। बोधवान देह में रहते-रहते सांसारिकता से अपने आप को ऊपर उठा लेते हैं। वे देखते हुए मानो नहीं देखते, सुनते हुए मानो नहीं सुनते, खाते हुए मानो नहीं खाते, क्योंकि वे सबसे अनासक्त रहते हैं। वे निरर्थक तथा अनर्थक क्रिया तो करते ही नहीं, केवल उतने ही कर्म करते हैं जिनके बिना जीवन का निर्वाह न चले।

वे समझते हैं कि स्त्री-पुरुष शरीर के लिंग हैं तथा बालपन, जवानी और बुढ़ापा शरीर की अवस्थाएं हैं। मेरे चेतनस्वरूप से इनसे कोई मतलब नहीं। मेरी आत्मा तो अ-लिंगी तथा सर्व अवस्थातीत है। इसलिए वे चमक-दमक में नहीं भूलते। न वे अपने माने हुए शरीर में मोहते हैं और न दूसरे के शरीर

---

1. न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ गीता, 15/6॥

में। वे समस्त प्राकृतिक दृश्यों से अतीत अपने शुद्ध चेतनस्वरूप में सदैव स्थित रहते हैं।

"त्रिविधि रहौं सभनि माँ बरतों, नाम मोर रमुराई हो।" ज्ञानी कहता है कि मैं तीनों पन, तीनों अवस्थाओं तथा उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ स्थितियों, सब में रहता हूं और अनुकूल-प्रतिकूल सभी दशाओं में सम रूप से बरतता हूं, इसलिए मेरा नाम रामराजा है। 'संस्कृत हिन्दी कोश' में वामन शिवराम आप्टे ने राम के इतने शाब्दिक अर्थ किये हैं—1. सुहावना, आनंदप्रद, हर्षदायक, 2. सुन्दर, प्रिय, मनोहर, 3. मलिन, धूमिल, काला तथा 4. श्वेत। परन्तु कबीर साहेब का इष्ट राम निज चेतनस्वरूप है। सब घट में रमने से इस चेतन का नाम सन्तों ने राम रखा है। यह चेतन ही परम रमणीय है। इसके न रहने से कोई शरीर रमणीय नहीं हो सकता। इसलिए यह चेतन ही राम है और यही सारे ज्ञान-विज्ञान का स्वामी होने से राजा है। अतएव ज्ञानी कहता है मैं ही रामराजा हूं।

"पठये न जाऊँ आने नाहिं आवों, सहज रहौं दुनियाई हो।" ज्ञानी कहता है कि मैं किसी के भेजने से कहीं जाता नहीं और किसी के बुलाने से कहीं आता नहीं। मैं संसार में सहज रूप से रहता हूं। जीव चाहे संस्कारों की बद्धावस्था में हो या मुक्तावस्था में, उसके ऊपर कोई अन्य कर्ता नहीं है कि वह उसे विवश कर सके। यदि वह कर्मवश है तो अपने बनाये संस्कारों के अनुसार ही उसका गमनागमन होता है और यदि वह मुक्तावस्था में है तो कृतार्थ एवं स्वरूपस्थ है ही। वस्तुतः यह ज्ञानावस्था की बात है। ज्ञानी किसी के अधीन नहीं होता है। वह स्वतंत्र बोधभाव में विराजमान होता है। उसका कोई इष्टानिष्ट नहीं कर सकता।

"जोलहा तान बान नहिं जाने, फाटि बिने दश ठाँई हो।" जो अनाड़ी जोलाहा ताना-बाना नहीं समझता वह थान को दस जगह खराब करके बुनता है। 'फाटि' कहते हैं फाड़कर, खराब कर। 'दश ठाँई' का मतलब गिनती में दस जगह नहीं, किन्तु उसका लक्षणा अर्थ है बहुत जगह। अर्थात जिसे सम्बन्धित वस्तु का ज्ञान नहीं रहता, वह उसे बहुत जगह खराब करके कुछ करता है। यह अविवेकी मन अनाड़ी जुलाहा है। यह जीवन-वस्त्र को जगह-जगह फाड़कर बुनता है। तात्पर्य है कि जीवन जीने का कायदा न जानने से यह मन जीव को दस जगह उलझाकर इसे भव-बन्धनों में डाल देता है। जिसका मन ज्ञानवान है, जो विवेक में जाग्रत है, वह जीवन का वस्त्र सुव्यस्थित बुनता है। वह जीवन के सारे व्यवहार सुलझाकर करता है। वह

अपने आप को कभी उलझाता नहीं।

"गुरु परताप जिन्हें जस भाष्यो, जन बिरले सो पाई हो।" जिसको जैसा गुरु मिला, उसने उसे जैसा बताया, उसको वैसा निश्चय हुआ। कहा जाता है "पानी की मात्रा के अनुसार मछलियां होती हैं। गड्ढे में छोटी मछलियां हो सकती हैं, नदी में बड़ी तथा समुद्र में सर्वाधिक बड़ी। समुद्र में रहने वाली जैसी मछली गड्ढे तथा नदी में नहीं हो सकती। कुल–परम्परा के अनुसार आचरणों की शुद्धि होती है, और जिसको जैसा गुरु मिलता है उसको वैसी बुद्धि मिलती है।"[1] अतएव जो व्यक्ति जैसे गुरु के प्रभाव में आता है उसकी वैसी बुद्धि बन जाती है। सच्चा और निष्पक्ष ज्ञान तो किसी बिरले को होता है। गुरु श्रद्धेय हैं, पूज्य हैं, माननीय हैं, ये सारी बातें ठीक हैं, परन्तु गुरु की परख भी सत्य से होती है। अतएव जो उदार होकर गुरु की बातों पर भी विचार करता है वही सत्य का मोती पाता है। बिना विचार किये गुरु की बात पकड़कर बैठ जाने से काम नहीं बनता। तुम्हें ठीक–ठाक गुरु न मिले हों, तो उनकी बातों में चिपके न रहो, किन्तु स्वतन्त्र विचार करो, और सच्चे गुरु की खोज करो। जो विनम्र गुरुभक्त तथा साथ–साथ निष्पक्ष एवं स्वतन्त्र चिंतक होता है वही सत्यज्ञान का मोती पाता है और ऐसा आदमी बिरला ही होता है। यही 'जन बिरले सो पाई हो' का अभिप्राय है।

"अनन्त कोटि मन हीरा बेधो, फिटकी मोल न पाई हो।" जैसे कोई हीरा को चूर्ण बना दे तो वह फिटकरी के दाम भी न बिके, वैसे जीव को असंख्यों भ्रांत मान्यताओं ने झकझोकर रख दिया है। इसलिए इसने अपने आप को आभास, प्रतिबिम्ब, तुच्छ, किंचिज्ञ, अंश, अल्पज्ञ आदि बड़ी–बड़ी घृणित मान्यताओं से पंकिल कर लिया है। इसलिए इसकी कीमत, इसकी मर्यादा तथा इसकी प्रतिष्ठा लकड़ी, पत्थर, मिट्टी, धातु आदि के बने जड़ देवी–देवताओं तथा नदी, पेड़, पहाड़ के समान भी नहीं रह गयी है। यह चेतन सम्राट जड़ पेड़–पत्थर के सामने घुटने टेककर उनसे भोग और मोक्ष मांगता है। सद्गुरु का कितना मार्मिक वचन है, यह समझते ही बनता है।

"सुर नर मुनि जाके खोज परे हैं, कछु कछु कबिरन पाई हो।" सुर, नर, मुनि अर्थात सभी प्रबुद्ध लोग जिसकी खोज के पीछे पड़े हैं, उसे कबीर ने कुछ–कुछ पा लिया है। 'कबिरन' शब्द बीजक में प्रायः खंडनपरक है, परन्तु

---

1. जल परमाने माछली, कुल परमाने शुद्धि।
 जाको जैसा गुरु मिला, ताको तैसी बुद्धि॥

यह कहीं-कहीं पद बैठने के लिए कबीर की जगह पर प्रयुक्त हो सकता है। यहां ऐसे लगता है। इस पंक्ति में "खोज परे हैं" और 'कछु-कछु' मार्मिक शब्द हैं। 'खोज परे हैं' में सुर, नर तथा मुनियों के लिए व्यंग्य है कि वे परमतत्त्व की खोज में पड़े हैं। वस्तुतः वह बाहर खोजने की वस्तु नहीं है, किन्तु आत्मशोधन की वस्तु है। परमतत्त्व निजात्मबोध ही है। उसको बाहर खोजना नहीं, किन्तु आत्मस्वरूप समझकर तथा वासना त्यागकर स्थित होना है। 'कछु कछु कबिरन पाई हो।" में कबीर साहेब की अपनी विनम्रता है। अपनी स्थिति सुदृढ़ होने पर भी विनम्रता की भाषा में यही कहा जाता है कि कुछ-कुछ ठीक है।

विद्या द्वारा अविद्या-माया का विनाश

कहरा-11

ननदी गे तैं विषम सोहागिनि, तैं निन्दले संसारा गे॥ 1॥
आवत देखि मैं एक संग सूती, तैं औ खसम हमारा गे॥ 2॥
मोरे बाप के दुई मेहररुआ, मैं अरु मोर जेठानी गे॥ 3॥
जब हम रहलि रसिक के जग में, तबहि बात जग जानी गे॥ 4॥
माई मोरि मुवलि पिता के संगे, सरा रचि मुवल सँगातीगे॥ 5॥
आपुहि मुवलि और ले मुवली, लोग कुटुम संग साथी गे॥ 6॥
जौं लौं श्वास रहे घट भीतर, तौ लौं कुशल परी हैं गे॥ 7॥
कहहिं कबीर जब श्वास निकरि गौ, मन्दिर अनल जरी हैं गे॥ 8॥

शब्दार्थ—ननदी=पति की बहन, कुमति। विषम=कठिन, असाधारण, अद्वितीय। सोहागिनि=सुहागिन, सधवा स्त्री, सौभाग्यवती। निन्दले=नींद में ले लेना, बेभान कर देना। खसम=स्वामी, जीव। बाप=अहंकार। मैं=विद्या। जेठानी=अविद्या। रसिक के जग में=संसारी अवस्था। माई=माया। पिता=अहंकार। सरा=चिता। सँगाती=साथी। मन्दिर=शरीर।

भावार्थ—विद्यावृत्ति कहती है कि अगे ननदी कुमति! तू बड़ी एवं अद्वितीय सौभाग्यवती है। तूने संसार के सारे जीवों को मोह की नींद में सुला रखा है॥ 1॥ मैं जब आती हूं तब देखती हूं कि तुम और मेरे स्वामी जीवात्मा एक साथ सोये हुए हैं, अर्थात जीव तुम्हारे पंजे में पड़कर माया-मोह में डूबा है॥ 2॥ मेरे पिता-अहंकार की दो पत्नियां हैं, एक मैं विद्यावृत्ति हूं और दूसरी मेरी जेठानी अविद्यावृत्ति है॥ 3॥ जब मैं ज्यादा सांसारिक अवस्था में थी तभी संसार के लोगों ने ये बातें जान ली थीं कि जीव की अविद्यावृत्ति के पीछे

विद्यावृत्ति उत्पन्न हो गयी है॥ 4॥ मेरे अर्थात विद्यावृत्ति के पैदा होने पर तो जीवन का चित्र ही बदल गया, वह यह हुआ कि मेरे अहंकार–पिता के साथ मेरी माया–माता मर गयी और उसके दूसरे संगी–साथी भी ज्ञान–चिता रचकर उसमें जल मरे॥ 5॥ इस प्रकार माया–माता स्वयं तो मरी ही और भी अपने लोग–कुटुम्ब तथा संगी–साथियों को लेकर मर गयी॥ 6॥ जब तक शरीर में श्वास है तब तक अपना कुशल–मंगल करने का अवसर है॥ 7॥ कबीर साहेब कहते हैं कि जब श्वास निकल जायेगा तक शरीर आग में जल जायेगा और तब साधना करने का अवसर समाप्त हो जायेगा॥ 8॥

व्याख्या—इस कहरा में ननदी, खसम, बाप, मेहररुआ, जेठानी आदि का प्रतीकात्मक प्रयोग है। कबीर साहेब अपनी गूढ़–से–गूढ़ बातों को प्रतीकों में कहने में बहुत माहिर हैं। यहां कैसा मार्मिक विचार कैसे साधारण प्रतीकों में कहते हैं और वे कितने सटीक हैं, यह सब सोचते ही बनता है।

इस पूरे कहरा में विद्यावृत्ति का भाषण है। विद्यावृत्ति का तात्पर्य है ज्ञानवृत्ति। वृत्ति कहते हैं मन की अवस्था को और विद्या का अर्थ है ज्ञान। अतएव मन की ज्ञानावस्था ही विद्यावृत्ति है। जब मनुष्य में यह पैदा होती है तब अविद्यावृत्ति की निवृत्ति होने लगती है। अविद्यावृत्ति का अर्थ है मन की अज्ञान अवस्था।

मिथिला–देश में स्त्रियां आपस में बात करते समय 'गे' या 'अगे' का संबोधन करती हैं। वहां की भाषा का प्रभाव इस कहरा की हर पंक्ति में 'गे' को लेकर परिलक्षित होता है। इस पद की पहली पंक्ति है "ननदी गे तैं विषम सोहागिनि, तैं निन्दले संसारा गे।" विद्यावृत्ति अविद्यावृत्ति को अपनी ननद कहती है। ननद पति की बहिन को कहा जाता है। बेसमझ ननद भाभी को कष्ट देने के फेर में रहती है। बीजक में तो संशय और कुमति के लिए 'सासु–ननद' एक मुहावरा ही बन गया है। यहां विद्यावृत्ति कहती है कि हे कुमति–ननदी! तू बड़ी सौभाग्यवती है। तूने सारे संसार को मोह की नींद में सुला दिया है। यहां ज्ञानवृत्ति कुमति की प्रशंसा करती है, क्योंकि संसार में कुमति का ही बोलबाला है। कुमति को यहां सुहागिन कहा गया है। सुहागिन उस स्त्री को कहते हैं जिसका पति जीवित हो। जिसका पति जीवित है वह सौभाग्यवती मानी जाती है। कुमति का पति अज्ञान है। यदि कुमति है तो मानो अज्ञान जीवित ही है। बिना अज्ञान के कुमति रह ही नहीं सकती। अज्ञान है इसलिए कुमति है और इसलिए कुमति सौभाग्यवती है। कुमति का सर्वत्र राज्य है। जो नहीं सोचना चाहिए उसे सोचना, जो नहीं कहना चाहिए

उसे कहना, जो नहीं करना चाहिए उसे करना, जो नहीं खाना-पीना चाहिए उसे खाना-पीना तथा इसी प्रकार जो व्यवहार नहीं बरतना चाहिए उसे बरतना, यही सब कुमति के राज्य का विस्तार है। देखा जाता है कि संसार में इन्हीं सब का बोलबाला है, इसलिए कुमति का राज्य है, कुमति सौभाग्यवती है, कुमति सुहागिन एवं अज्ञानपति से सदैव संयुक्त है।

विद्यावृत्ति कहती है कि हे कुमति-ननदी! तूने सारे संसार को मोह-नींद में सुला दिया है। विचारकर देखो तो लगेगा कि इस संसार में कोई बिरला जागता होगा, शेष तो सब सो रहे हैं। विद्यावृत्ति अर्थात ज्ञान कह रहा है कि हे कुमति! तूने संसार के सारे लोगों को मोह-मूढ़ता में सुला दिया है। संसार के लोग मोह में सोते हैं, परन्तु इसका पता उन्हें नहीं है। यह तो विद्यावृत्ति उत्पन्न होने पर ही पता लगता है, यह सब तो ज्ञानोदय में जाना जाता है कि संसार के लोग सो रहे हैं। संसार के लोग नहीं जान पाते हैं कि हम सो रहे हैं किन्तु जो जाग गया है वह जानता है कि संसार के लोग सो रहे हैं।

"आवत देखि मैं एक संग सूती, तैं औ खसम हमारा गे।" विद्यावृत्ति कुमति से कहती है कि मैं जब आती हूं तब यही देखती हूं कि तुम और मेरा स्वामी जीव एक साथ सोये हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जब-जब मन में ज्ञान का उदय होता है तब-तब पता चलता है कि जीव कितनी घोर कुमति में सोया है। सब जीव कुमति में, अज्ञान में एवं मोह में सोये हैं, परन्तु जो सोये हैं उन्हें इसका पता नहीं कि हम अज्ञान में डूबे हैं। वो तो उस जीव को इसका पता चलता है जिसके हृदय में विद्यावृत्ति का उदय हो गया है, जिसके मन में ज्ञान का प्रकाश हो गया है। ज्ञानोदय में ही अज्ञान का पता लगता है कि हम कितने बुरे संस्कारों में डूब जाते हैं। अज्ञानी आदमी अपनी मनोवृत्ति को देखता ही नहीं, किन्तु ज्ञानी अपनी मनोवृत्ति को देखता है। इसलिए उसे पता चलता है कि अभी हृदय में कितना कूड़ा-कचड़ा भरा है। अतएव विद्यावृत्ति कहती है कि हे ननदी, हे दुखदायी कुमति! तू मेरे स्वामी जीव को सब समय भव में डुबाये रखती है।

"मोरे बाप के दुइ मेहररुआ, मैं अरु मोर जेठानी गे।" विद्यावृत्ति कहती है कि मेरे पिता अहंकार की दो पत्नियां हैं, एक मैं तथा दूसरी मेरी जेठानी अविद्यावृत्ति। अहंकार से ही विद्या तथा अविद्या दोनों वृत्तियां उत्पन्न होती हैं। यहां यह प्रश्न हो सकता है कि अहंकार से अविद्या का पैदा होना तो जमता है, परन्तु विद्या अर्थात ज्ञान भी अहंकार से पैदा होता है यह बात नहीं जमती। परन्तु ध्यान देने से बात समझ में आ जायेगी। यह समझ लेना चाहिए कि

बिना अहंकार के जीव के मन, वाणी तथा इन्द्रियों से कोई कर्म नहीं हो सकता। सारे कर्म एवं करतूति के मूल में अहंकार है। अहंकार का एक रूप होता है जिसमें जीव का बंधन होता है, परन्तु उसके दूसरे रूप से बंधन खुलते हैं, परन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि शुद्ध अहंकार में भी असावधानी की जाये तो वहां भी बंधन बन जायेगा। शरीर में आग लग जाये तो शरीर जल जायेगा, परन्तु शरीर में आग न हो तो शरीर रह नहीं सकता। शरीर की व्यवस्था को बनाये रखने के लिए शरीर में आग चाहिए ही। शरीर में आग होने से ही शरीर में डाला गया भोजन पचता है। परन्तु हम अधिक या बहुत कम भोजन करके शरीर की अग्नि का दुरुपयोग करें तो वह शरीरस्थ अग्नि ही शरीर के लिए अहितकर हो जायेगी। इसी प्रकार अशुद्ध अहंकार से मन, वाणी तथा इन्द्रियों में अशुद्ध कर्म होते हैं और शुद्ध अहंकार से शुद्ध कर्म। अतएव अविद्यावृत्ति का उदय तो अहंकार से हुआ ही है, परन्तु विद्यावृत्ति का उदय भी अहंकार से ही हुआ है। बस, अहंकार के दोनों रूपों में क्रमशः अशुद्ध तथा शुद्ध विशेषण का अन्तर है। अशुद्ध अहंकार जीव को बांधने वाला है; किन्तु शुद्ध अहंकार में भी गाफिली की जाये तो यह भी बांधने वाला बन जायेगा। इसी प्रकार अविद्यावृत्ति बंधनप्रद है ही किन्तु कल्याणकारी विद्यावृत्ति का दुरुपयोग करने से, उसमें आसक्त होने से वह भी बांधने वाली बन जायेगी।

अविद्या और विद्या, ये दोनों वृत्तियां अहंकार से ही पैदा होती हैं। अविद्यावृत्ति तो पहले से ही विद्यमान है, परन्तु विद्यावृत्ति पीछे पैदा होती है। अज्ञान के बाद ही ज्ञान होता है। अविद्यावृत्ति के बाद ही विद्यावृत्ति होती है। एक प्रश्न और हो सकता है कि यदि अविद्यावृत्ति पहले से अर्थात अनादि से है तो उसका अहंकार से पैदा होने की बात अयुक्त है और यदि वह अहंकार से पैदा हुई है तो वह अनादि नहीं है? इसका उत्तर यह है कि आग और उसकी उष्णता दोनों अनादि हैं, परन्तु यह कहा जाता है कि आग से उष्णता पैदा होती है। इसी प्रकार अहंकार और अविद्या अनादि हैं, परन्तु कहा जाता है कि अहंकार से अविद्या पैदा हुई है। अतएव अविद्यावृत्ति तथा विद्यावृत्ति, दोनों अहंकार से ही पैदा होने से दोनों उसकी पुत्रियां हैं, इसलिए विद्यावृत्ति ने कहा कि मेरे पिता की दो पत्नियां हैं, एक मैं और एक मेरी जेठानी अविद्यावृत्ति। अविद्यावृत्ति की उत्पत्ति पहले होने से अर्थात अनादिकाल के गर्भ में होने से वह जेठानी है। यहां जेठानी का अर्थ मात्र बड़ी है, जेठ की पत्नी नहीं। जैसे एक पुरुष की दो पत्नियां हों, तो उसमें से एक जो पहली

विवाहिता है वह बड़ी है तथा पीछे की विवाहिता छोटी। इसी प्रकार अविद्यावृत्ति उम्र में बड़ी है तथा विद्यावृत्ति छोटी है। और इन दोनों का स्वामी अहंकार होने से दोनों उसकी पत्नियां हैं।

"जब हम रहलि रसिक के जग में, तबहि बात जग जानी गे।" विद्यावृत्ति कहती है कि जब मैं रसिक के जग में थी तभी लोग मेरी बात जान गये थे। जीव पहले अविद्यावृत्ति में फंसा रहता है, इसलिए वह विषयों का रसिक रहता है। इसी बीच कुछ उसके पूर्व शुद्ध संस्कार तथा कुछ सत्संग एवं विवेक-जन्य पुरुषार्थ से विद्यावृत्ति का उदय होता है। अतएव जीव के रसिक अवस्था में रहते-रहते ही कुछ सत्संग एवं सत्यपुरुषार्थ से विद्यावृत्ति का उदय हो जाता है। विद्यावृत्ति कहती है कि जब मैं रसिक के जग में पैदा हुई तभी जगत के लोग जान गये कि अहंकार का नाशक प्रकाश पैदा हो गया है, अमुक व्यक्ति के जीवन के अज्ञान-प्रदेश में ज्ञान का उदय हो गया है। वस्तुतः अविद्यावृत्ति तथा विद्यावृत्ति, दोनों वृत्तियां जीव के साथ अनादि से हैं। अन्तर यह है कि जीव अनादिकाल से अविद्यावृत्ति में ही लिपटा है। उसके साथ विद्यावृत्ति सुप्तावस्था में पड़ी रहती है। वह कभी-कभी तनिक-तनिक जाग जाती है जिससे जीव की स्थिति में कोई खास अन्तर नहीं आता। परन्तु जब विद्यावृत्ति ठीक से जग जाती है तब अविद्या का नाश हो जाता है और जीव एकदम ज्ञानालोक से आलोकित हो जाता है। जीव का शुद्ध स्वरूप केवल ज्ञान है। वह तो अविद्यावृत्ति में लिपटे होने से दुखी है और विद्यावृत्ति के उदय होते ही अविद्या का नाश तथा मोक्ष संपादित हो जाते हैं।

"माई मोरि मुवलि पिता के संगे, सरा रचि मुवल सँगाती गे। आपुहि मुवलि और ले मुवली, लोग कुटुम संग साथी गे।" विद्यावृत्ति कहती है कि जब मैं युवती हो गयी, अर्थात ज्ञान का अखण्ड प्रकाश हो गया तब मेरी माता मेरे पिता तथा अन्य साथियों को लेकर और चिता बनाकर उसमें जल मरी। इस प्रकार मेरी माता खुद तो मरी ही, किन्तु अपने मित्र, लोग, कुटुम्ब, संग एवं सभी साथियों को लेकर मर गयी। यहां माया माता है, अहंकार पिता है तथा लोग, कुटुम्ब, संग-साथी हैं काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, छल, प्रपंच, चिंता, शोक आदि समस्त मानसिक विकार। एक माया के जल जाने पर उससे उत्पन्न हुए सारे विकार जल जाते हैं।

मनुष्य को सत्संग करना चाहिए, यथार्थ सद्गुरु की खोज करनी चाहिए, उनके सत्संग में जड़-चेतन का निर्णय करना चाहिए और सबसे भिन्न अपने शुद्ध चेतनस्वरूप को समझना चाहिए। फिर स्वरूपज्ञान के अभ्यास से

विद्यावृत्ति का उदय होता है। वह अभ्यास से धीरे-धीरे प्रौढ़ हो जाती है। फिर अविद्या, माया, अहंकार तथा अन्य सारे मनोविकार नष्ट हो जाते हैं। इन सबके नष्ट हो जाने पर जीव समस्त वासनाओं से छुटा हुआ होने से मुक्त ही है। अतएव विद्या का यह कहना बड़ा मार्मिक है "माई मोरि मुवलि पिता के संगे, सरा रचि मुवल सँगाती गे।" मेरी माता-माया मेरे पिता-अहंकार को लेकर तथा अन्य कुटुम्बी-साथियों को लेकर एवं ज्ञान की चिता जलाकर उसमें जल मरी। विद्यावृत्ति ने माया, अहंकार, अविद्या तथा सारे मानसिक कूड़े-कचड़े का नाश कर दिया। उक्त सारे प्रतीकों एवं अलंकारों के जंजाल को हटाकर सरल अर्थ यह है कि मन से उत्पन्न हुए अज्ञान को, मन से उत्पन्न हुए ज्ञान ने नष्ट कर दिया और जीव शुद्ध बुद्ध स्वरूप में स्थित हो गया।

उक्त मोक्ष का काम करने का अवसर वर्तमान समय है। इसमें चूको मत। इस जीवन का कोई ठिकाना नहीं है कि यह कब तक रहता है। साहेब कहते हैं कि "जौं लौं श्वास रहे घट भीतर, तौं लौं कुशल परी हैं गे। कहहिं कबीर जब श्वास निकरि गौ, मन्दिर अनल जरी हैं गे।" सद्गुरु कहते हैं कि जब तक शरीर में श्वास चल रहा है तब तक सब कुशल-मंगल का काम करने का अवसर है। जिस दिन श्वास निकल जायेगा, उस दिन इस शरीर-मन्दिर में आग लगा दी जायेगी और यह जल जायेगा। तब कुछ होने-जाने वाला नहीं है। इसलिए जीवन रहते-रहते सारे भ्रम को त्यागकर स्वरूपस्थिति करो।

तुम्हारे मन का मोह ही माया है, उसे त्यागो

कहरा-12

ई माया रघुनाथ कि बौरी, खेलन चली अहेरा हो॥ 1॥
चतुर चिकनियाँ चुनि चुनि मारे, कोइ न राखेउ न्यारा हो॥ 2॥
मौनी बीर दिगम्बर मारे, ध्यान धरन्ते योगी हो॥ 3॥
जंगल में के जंगम मारे, माया किनहुँ न भोगी हो॥ 4॥
वेद पढ़न्ते वेदुवा मारे, पूजा करन्ते स्वामी हो॥ 5॥
अर्थ विचारत पण्डित मारे, बाँधेउ सकल लगामी हो॥ 6॥
श्रृंगी ऋषि बन भीतर मारे, शिर ब्रह्मा का फोरी हो॥ 7॥
नाथ मछन्दर चले पीठ दै, सिंघल हूँ में बोरी हो॥ 8॥
साकट के घर करता धरता, हरि भक्तों के चेरी हो॥ 9॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, ज्यों आवै त्यों फेरी हो॥10॥

शब्दार्थ—माया=मन का मोह तथा मोह के आलंबन। रघुनाथ=राम,

जीव। बौरी=पगली। अहेरा=शिकार। चतुर=चालाक, बुद्धिवादी, तर्कशील। चिकनियां=बना-ठना, छैला, भावुक। चुनि-चुनि= खोजकर। दिगम्बर=नंगे। जंगम=विचरणशील, लिंगायत संप्रदाय के साधु। सिंघल=भारत के दक्षिण का द्वीप जिसे श्रीलंका कहते हैं। साकट=निगुरा, ज्ञानरहित। चेरी=दासी।

भावार्थ—यह जीव ही की बनायी पगली माया जीव ही पर शिकार खेलने चली॥ 1॥ इसने बुद्धिवादियों तथा छैलछबीले भावुकों, दोनों को खोज-खोजकर अपने बाणों से आहत किया। इसने किसी को भी अपने जाल से अलग नहीं रहने दिया॥ 2॥ इसने मौनियों, वीरों, दिगंबरों तथा ध्यान धारण करने वाले योगियों को भी मार गिराया॥ 3॥ माया ने जंगल में विचरने वाले तपस्वियों तथा शैवों को भी मारा। माया का तो कोई भोग नहीं कर पाया। किन्तु माया ने ही भोग-लोलुपों को रगड़ दिया॥ 4॥ इतना ही नहीं, वेद पढ़ने वाले वेदाभिमानियों को भी माया ने धर दबोचा और पूजा करने वाले स्वामियों को भी॥ 5॥ इसी प्रकार उसने अर्थ-विचार तथा टीका-व्याख्या एवं भाष्य करने वाले पंडितों को दे पटका और सबको अपनी लगाम में बांध लिया॥ 6॥ माया ने वन के भीतर रहने वाले ऋष्य शृंग को पकड़कर मार गिराया और ब्रह्मा जी का तो उसने सिर ही फोड़ दिया॥ 7॥ मत्स्येन्द्र-नाथ तो माया से पीठ देकर भागे अवश्य, परन्तु माया ने उन्हें सिंहल में दे पटका और विषय में डुबा दिया॥ 8॥ यह माया निगुरों तथा अभक्तों के यहां तो स्वयं कर्ता-धर्ता बनकर उन्हें ठगती है और हरिभक्तों के यहां दासी बनकर उन्हें बेवकूफ बनाती है॥ 9॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो! मैं तो, माया सामने आते ही उसे लौटा देता हूं। माया से मुक्त रहने का यही सही तरीका है॥ 10॥

व्याख्या—इस ग्रन्थ में साखी 104-105, 140-142, शब्द 59 आदि की व्याख्या में माया की परिभाषा कर दी गयी है। वस्तुतः मन का मोह माया है और जिन प्राणी-पदार्थों से मोह उत्पन्न हो वे माया के आलंबन भी माया हैं। जब अपने हृदय में पूर्ण विवेक उदित हो जाता है तब वे ही प्राणी-पदार्थ मोह नहीं उत्पन्न कर पाते। परन्तु यदि हम असावधान हो जायें तो वे पुनः मोह उत्पन्न करने लगते हैं। अतएव माया मुख्यतः अपने मन का, अर्थात मन में रहा हुआ, मोह ही है। अब विचारना यह है कि इस माया को किसने पैदा किया, अथवा यह माया किसकी बनायी है! सद्गुरु कहते हैं कि यह माया रघुनाथ की बनायी है। 'रघुनाथ' शब्द देखकर विद्वान लोग भ्रम में पड़ जाते हैं और वे लोग जीव से अलग एक 'मायी' राम मान लेते हैं। 'मायी' कहते हैं

माया-विशिष्ट को। वह ईश्वर है। वह जादूगर है, छलिया है। अतएव वे मानते हैं कि मानो जादूगर एवं छलिया ईश्वर ने अपनी माया-कुतिया को संसार के सभी लोगों पर लुहकार दिया अर्थात दौड़ा दिया है और वह सबको चुन-चुनकर मार रही है। बीजक-वर्णित माया का अर्थ इस प्रकार इसीलिए किया जाता है कि पहले से मन में यह भावना भरी है कि हरि-माया दुरत्यया है। प्रभु-माया सबको नचा रही है। परन्तु यह सिद्धान्त न सत्य है और न मनुष्य का कल्याणकर। हमारे मन का मोह किसी दूसरे ईश्वर की देन नहीं है, किन्तु हमारे अविवेक का फल है, और इसका विनाश भी हम ही कर सकते हैं। मनुष्य ने माया बनायी है और वही उसे मिटा सकता है। मनुष्य के मन में जो मोह है वही माया है। उसको छोड़कर माया नाम की कोई चीज बाहर नहीं बैठी है जो मनुष्य के ऊपर जबर्दस्ती कूद पड़े। माया बलवती इसलिए लगती है कि हमारी उसमें आदत हो गयी है। बीड़ी छोड़ना इसलिए कठिन लगता है कि उसमें हमारी आदत प्रबल हो गयी है। परन्तु जब हमें उससे घृणा हो जायेगी तब बीड़ी छोड़ना सरल हो जायेगा। हमारे मन में बनी आदत, आसक्ति एवं मोहरूपी माया केवल हमारी बनायी है और इसे केवल हम ही मिटा सकते हैं। बाहरी एक नहीं, करोड़ों ईश्वर मिलकर भी उसे नहीं मिटा सकते। गुरु भी केवल उपदेश दे सकते हैं, रास्ता बता सकते हैं, काम हमें ही करना पड़ेगा।

इस पर भी निवेदन किया जा चुका है कि कबीर साहेब के समय में हरि, राम, रघुनाथ आदि शब्दों का जनमानस में काफी प्रचार हो गया था। कबीर साहेब ने इन नामों को लिया, परन्तु जहां उन्होंने इन शब्दों को विधेयात्मक संदर्भ में लिया वहां इनका अर्थ आत्माराम रखा है। जनमानस में फैले हुए शब्दों को अपना विवेकपूर्ण अर्थ देना एक क्रांति है। कबीर साहेब की भाषा में यहां का 'रघुनाथ' शब्द जीव एवं आत्मा के लिए है। "ई माया रघुनाथ की बौरी" अर्थात यह जीव की बनायी पगली माया जीव पर ही शिकार खेलने चली। जीव ही ने तो सिगरेट पीने की आदत बनायी और यह आदतरूपी माया इतनी पगली हो गयी कि सिगरेट के डिब्बे पर यह लिखा देखकर भी कि 'सिगरेट पीना स्वास्थ्य के लिए हानिकर है', लोग पीते जाते हैं। इससे अधिक पागलपन क्या हो सकता है! शराब पीने के बाद जो दशा होती है उसे शराबी जानता है, परन्तु फिर-फिर शराब पीता है। क्या यह पागलपन नहीं है। काम-भोग के बाद की क्षीण-मलिन स्थिति का ज्ञान हर कामी को है, परन्तु वह समय आने पर मर्यादित ही नहीं अमर्यादित व्यवहार भी कर पेट

भर पछताता है। क्या यह बौरी माया का हमारे अपने ऊपर शिकार खेलना नहीं है! "कबीर माया राम की, चढ़ी राम पर कूद। हुकुम राम का मेटि के, भई राम ते खूद॥"[1] राम ही की माया राम को धर दबोची। अर्थात मनुष्य की ही बनायी आदत, वासना एवं मोहरूपी माया मनुष्य को पीड़ित कर रही है। जीव ही रघुनाथ है और इसके मन का मोह ही माया है। यही उलटकर जीव के लिए दुखद है।

"चतुर चिकनियाँ चुनि चुनि मारे, कोइ न राखेउ न्यारा हो।" यहां कबीर साहेब 'चतुर-चिकनियाँ' तथा 'चुनि-चुनि' कहकर सुन्दर अनुप्रास अलंकार का प्रयोग करते हैं। इसमें 'चतुर' और 'चिकनियाँ' ये दो शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। यहां चतुर के मुख्य अर्थ हैं चालाक या बुद्धिवादी। इसमें सूक्ष्म व्यंजना है बुद्धि के अभिमानी के लिए। जिसे अपनी बुद्धि का बड़ा गर्व हो उसे यहां चतुर कहा गया है। दूसरा चिकनियां है। चिकनियां उसे कहते हैं जो अपने शरीर को बहुत सजाता हो, छैलछबीला बनकर रहता हो। चिकनियां में भावना की प्रधानता होती है। संसार में प्रायः दो प्रकार के मनुष्य होते हैं एक बुद्धिवादी तथा दूसरे भावुक। यहां चतुर बुद्धिवादी है तथा चिकनियां भावुक। सद्‌गुरु कहते हैं कि माया दोनों को धर दबोचती है। यथार्थ ज्ञान, साधना, एवं सत्संग के बिना केवल बुद्धि की बाहुल्यता जीव को माया से नहीं बचा सकती। संसार में कितने लोग ऐसे मिलेंगे जो बुद्धि के सागर हैं। उनका तर्कजाल विस्तृत है। वे सही को गलत तथा गलत को सही सिद्ध करने में माहिर हैं। परन्तु वे मन-इन्द्रियों के दास हैं और समय-समय पर ऐसे कर्म करते हैं जो एक अनाड़ी की दृष्टि में भी हास्यास्पद है। फिर चिकनियां एवं भावुक की तो बात ही न्यारी है। वह तो शरीर के श्रृंगार एवं राग-रंग में उन्मत्त होता ही है। ऐसे मनुष्य को माया सहज ही लपेट लेती है। इस प्रकार सद्‌गुरु कहते हैं कि बुद्धिवादी तथा भावुक, दोनों प्रकार के लोगों को माया मानो खोज-खोजकर मारती है। इन दोनों प्रकार के लोगों को फंसा लेने के बाद संसार में मानो कोई नहीं बचा। भावुकों को तो माया ने मारा ही, बुद्धिवादियों को भी मारा, तो बचा कौन! इन सबका अभिप्राय यही हुआ कि भावुक और बुद्धिवादी, सब अपनी वासनात्मक दुर्बलताओं के शिकार हैं। "बड़े आलिम वो फाजिल हैं, मगर विषयों के बस होकर। उसी रस्ते से आ निकले, जिधर नादान घिसता है॥"

1. कबीर परिचय।

“मौनी बीर दिगम्बर मारे, ध्यान धरन्ते योगी हो। जंगल में के जंगम मारे, माया किनहुँ न भोगी हो॥” कुछ लोग बोलना छोड़ देते हैं और मौन हो जाते हैं। संसार में लड़ने–भिड़ने वाले शूर–वीर होते हैं, और शैव संप्रदाय में भी वीर–शैव कहलाने वाले साधु होते हैं। जो दिशाओं को ही वस्त्र मानकर नंगे हो गये हैं ऐसे नंगे साधुओं को दिगम्बर कहा जाता है। योगी लोग प्रायः धारणा, ध्यान आदि में लगे रहते हैं। जंगल में रहने वाले साधु–संन्यासी, विचरण करने से जंगम कहे जाने वाले तथा शैव लिंगायत जंगम साधु—इन सब को माया ने धर दबोचा। इन सब का अर्थ यह है कि मन का मोह, मन की नीच आदतें, काम–वासनाएं या इसी प्रकार अन्य मन की कुटेव, यही सब माया हैं, और ये सब केवल मौनी, वीर, नंगे, योगी, जंगम आदि बनने से नहीं जीते जा सकते। यह ठीक है कि यह सब साधना करना चाहिए। वासनाओं को जीतने के लिए ये सब आधार हैं। परन्तु साहेब का कथन गहराई से है। वे कहते हैं कि तुम बाहरी आचार कर बहुत शीघ्र उच्च साधक कहलाने लग सकते हो। तुम मौनी, दिगम्बर, योगी, शिवाचारी आदि बन सकते हो, परन्तु मात्र इतने से यह नहीं माना जा सकता कि तुम माया पर विजयी हो गये। सद्गुरु कहते हैं कि खबरदार! तुम बाह्याचार के धोखे में न रहना। यह माया, यह वासना बड़ी बलवती है। तुम यह भ्रम पाले रहोगे कि तुम मौनी–योगी आदि हो, परन्तु यदि तुम में सावधानी, विवेक तथा जागरूकता नहीं है तो बाहरी ढंग से साधक दिखते हुए भी भीतर से बह जाओगे। इसलिए बाह्याचार तथा वेष का कभी गर्व न करना। पुराकाल में विश्वामित्र, नीमीऋषि, नारद आदि बड़े–बड़े तपस्वी इसलिए गिर गये क्योंकि उन्होंने कुसंग का त्याग नहीं किया और न तो सावधानी बरती।

सद्गुरु कहते हैं “माया किनहुँ न भोगी हो।” किसी ने माया का भोग नहीं किया। अर्थात कोई माया को भोग नहीं पाया। जिस प्रकार मनुष्य की इच्छा रहती है वह भोगों को कहां भोग पाता है! जितनी इच्छा मन में पैदा होती है उसका शतांश भी मनुष्य नहीं भोग पाता। आदमी को इच्छा पूरी हुए बिना भोगों को तथा संसार को छोड़ना पड़ता है। भर्तृहरि ने भी कहा है कि “हमने भोगों को नहीं भोगा, किन्तु भोगों ने ही हमें भोग डाला, हमने तप नहीं किया, किन्तु तप ने ही हमें तपा डाला, काल समाप्त न हुआ किन्तु हमारी ही समाप्ति हो चली आैर तृष्णा जीर्ण नहीं हुई किन्तु हम बूढ़े हो गये।”[1]

---

1. भोगा न भुक्तः वयमेव भुक्तास्तपौ न तप्तं वयमेव तप्ताः।

"वेद पढ़न्ते वेदुवा मारे, पूजा करन्ते स्वामी हो।" वेदुआ लोग वेद पढ़ते-पढ़ते माया द्वारा मारे गये। यहां कबीर साहेब ने वेदपाठी पंडितों को 'वेदुआ' कहा है। वेदपाठियों को बड़ा अभिमान होता है कि हम वेद का पाठ करते हैं जो सीधे ब्रह्म-वचन है। 'वेदुआ' शब्द में वेदाभिमान की व्यंजना है। वेदपाठ करके क्या होगा यदि मन अपने वश में नहीं है। यदि मलिन वासनाओं को न जीता गया तो वेद-शास्त्र-पाठ निरर्थक हैं। यह पीछे जगह-जगह बताया गया है कि मंत्रविद्, वेदविद् तथा वेद्यविद् तीन प्रकार के ज्ञाता होते हैं। जो व्यक्ति छन्दों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर शुद्ध उच्चारणपूर्वक पाठ करता है वह मंत्रविद् है। जो वेदमंत्रों के अर्थों को जानता है वह वेदविद् है। परन्तु जो जीवन में जानने योग्य को जानता है वह वेद्यविद् है। वस्तुतः वेद्यविद् ही श्रेष्ठ है। परन्तु उसे भी जाने हुए को आचरण में उतारने पर ही माया पर विजय मिलेगी। 'आचरणहीन को वेद भी पवित्र नहीं कर सकते।'[1] साहेब कहते हैं बड़े-बड़े स्वामी लोग जो निरन्तर पूजा-अर्चना में लगे रहते हैं, माया द्वारा मारे जाते हैं। अतएव आचरण-पवित्रता का न तो वेदपाठ प्रमाण है और न पूजा। वेदपाठ और पूजा का दौरदौरा चलते हुए भी मन माया का गुलाम बना रह सकता है।

"अर्थ विचारत पण्डित मारे, बाँधेउ सकल लगामी हो।" पंडित जो बुद्धि और विद्या से सम्पन्न होता है, वह बड़े-बड़े गूढ़ ग्रन्थों, पदों, श्लोकों, प्रतीकों, रूपकों, उलटवासियों आदि से मार्मिक अर्थ निकाल लेता है, सुन्दर-सुन्दर टीकाएं, व्याख्याएं एवं भाष्य कर देता है, परन्तु इस प्रकार कितने अर्थ विचार करने वालों को माया तुच्छ-तुच्छ विषयों में पटक देती है। ऐसा आदमी अर्थ विचारते समय परम ज्ञानी होता है, परन्तु एकांत मिलने पर उसके मन की कुटेव एवं गलत आदतें उसे अनर्थ करने को तत्पर कर देती हैं। सद्गुरु कहते हैं कि माया ने सबको लगाम लगा दिया। घोड़ा बड़ा बलवान होता है, परन्तु उसके मुख में लगाम लगा देने पर वह वश में हो जाता है। इसी प्रकार माया वासनावशी मनुष्यों को लगाम लगा देती है।

"शृंगी ऋषि बन भीतर मारे, शिर ब्रह्मा का फोरी हो। नाथ मछन्दर चले पीठ दै, सिंघल हू में बोरी हो॥" इस माया ने ऋष्यशृंग को वन के भीतर मार गिराया, ब्रह्मा का सिर फोड़ दिया तथा मछन्दरनाथ को सिंहल में विषय-

---

कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥ (भर्तृहरि वैराग्य शतक, 12)

1. आचारहीनः न पुनन्ति वेदाः।

वासनाओं में डुबा दिया।

ऋष्य शृंग

विभांडक नाम के एक ऋषि थे।[1] वे जल में समाधि लगाकर बैठे थे। उर्वशी अप्सरा को जाते देखकर मोहित हो गये। उनका वीर्य निकल गया। एक मृगी वहां पानी पी रही थी। उसने पानी सहित उस वीर्य को पी लिया। उसे गर्भ रह गया। समय से एक बच्चा हुआ। बच्चा मनुष्य था, परन्तु उसके सिर पर एक सींग था। विभांडक ने उस बच्चे का नाम ऋष्यशृंग रखा। ऋषि ने उसे स्वयं पाला।

ब्राह्मणों के कोप के कारण अंगदेश[2] में घोर अवर्षण से अकाल पड़ा। पंडितों ने कहा कि विभांडक ऋषि के पास एक ऐसा बच्चा है जिसने अभी तक स्त्री का मुख तक नहीं देखा है, एवं शुद्ध ब्रह्मचारी है। यदि वह अंगदेश में आये तो देश में वर्षा होगी। अंगदेश के राजा लोमपाद थे। उन्होंने वेश्याओं को भेजा। वे नौका में बैठकर विभांडक ऋषि के आश्रम पर गयीं। उन्होंने आश्रम से दूर ही अपनी नौका रोककर यह पता लगाया कि विभांडक कब आश्रम से बाहर जाते हैं। जब विभांडक ऋषि आश्रम से बाहर थे, उस समय एक वेश्या आश्रम पर ऋष्यशृंग को मिली। उसने उनके प्रति प्रेम प्रदर्शित किया। उनके अंगों को छुआ और प्रेम से बात किया। उन्हें खाने के लिए मीठे–मीठे फल दिये और विभांडक के आश्रम पर पहुंचने के पहले वह अपने डेरे पर लौट गयी। जब विभांडक आश्रम पर आये तब ऋष्यशृंग ने यह सब पुलकित होकर बताया कि एक सुन्दर मनुष्य आया था। वह बड़ा प्रेमी था। उसके अंगों के लक्षण भी बताये। विभांडक समझ गये कि ये लक्षण तो स्त्रियों के हैं। उन्होंने दूसरे दिन जब फल एवं लकड़ी के लिए आश्रम से बाहर जाना चाहा तब ऋष्यशृंग को समझा दिया कि अब यदि वह आये तो उसकी उपेक्षा कर देना, क्योंकि वह बहुत बुरा जीव है।

विभांडक के बाहर जाने पर वेश्या पुनः आश्रम पर आयी। ऋष्यशृंग उसके व्यवहार में मोहित होकर उसके साथ अंगदेश चले गये। अंगदेश पहुंचने पर राजा लोमपाद ने उनके साथ अपनी पोष्यपुत्री शांता की शादी कर दी। इस प्रकार "शृंगीऋषि बन भीतर मारे" कहा गया।

इस कथा में ब्राह्मणों के कोप से अवर्षण बताकर ब्राह्मणों ने इस कथा में

---

1. महाभारत, वनपर्व, अध्याय 110 से 113 तक।
2. अंगदेश पूर्वोत्तर बिहार का भागलपुर क्षेत्र है।

अपनी मिथ्या धाक जमायी है जो प्रायः उनकी मनोवृत्ति-सी रही है। साथ-साथ विभांडक ऋषि को इतना दुर्बल मन का सिद्ध किया है कि अप्सरा को देखते ही उनका वीर्य गिर गया। पुरुष का वीर्य मुख से पीने से मृगी गर्भवती हो जाये यह एक असत्य एवं प्रकृतिविरुद्ध बात है। सार इतना ही है कि माया ने ऋष्यशृंग को वन में विमोहित कर उन्हें अंगदेश की राजधानी में लाकर उनकी शादी करा दी।

"शिर ब्रह्मा का फोरी हो" कहा जाता है कि शिव-पार्वती के विवाह में ब्रह्मा उपस्थित थे। वे पार्वती के रूप-सौन्दर्य देखकर विमोहित हो गये। इसे देखकर शिवजी को कोप हुआ और उन्होंने अपना हाथ उनके सिर पर मारा तो ब्रह्मा का सिर कटकर उनके हाथ में चिपक गया। विष्णु जी ने शिव को राय दी कि आप बदरिकाश्रम की तरफ जाकर तप करो तब हाथ से सिर अलग होगा। इस प्रकार ब्रह्मा के मन के मोह ने उनका सिर फोड़वा दिया। अथवा ब्रह्मा अपनी पुत्री पर मोहित हो गये।[1] इससे मानो उनका सिर फूट गया, बुद्धि मारी गयी।

मत्स्येन्द्र नाथ

"नाथ मछन्दर चले पीठ दै, सिंघल हू में बोरी हो।" ईसा नवीं शताब्दी में मछन्दरनाथ हुए हैं। इनको मस्त्येन्द्रनाथ तथा मीननाथ नाम से भी जाना जाता है। इनके गुरु आदिनाथ थे तथा इनके मुख्य शिष्य गोरखनाथ थे। गोरखनाथ ने अनेक जगह इस विषय पर प्रकाश डाला है। उन्होंने एक षटपदी (छह पदों के छंद) के अंत में कहा है "यह षटपदी कहने वाला गोरख अवधूत आदिनाथ का नाती (प्रशिष्य) तथा मछन्दरनाथ का पुत्र (शिष्य) है।"[2]

अद्वैतवेदांत-मार्ग तथा योग-मार्ग, दोनों वैराग्य-प्रधान मार्ग हैं, परन्तु दोनों में एक-एक भयंकर दुर्बलता है। वेदांतमार्ग में यह मान लिया जाता है कि आत्मा के निर्मल होने के कारण यदि ज्ञानी की इन्द्रियां भोगों में लगी भी रहें तो कोई हानि नहीं है। इसलिए आदि शंकराचार्य को यह चित्रित किया गया कि उन्होंने परकाया प्रवेशकर रानियों के साथ भोगों को भोगा। वेदांत के इस निर्लिप्तवाद ने ही विरक्त शंकराचार्य को अत्यन्त कामलीन बताकर उन्हें निर्लिप्त सिद्ध किया है।[3] योग मार्ग की दुर्बलता है बज्रोली तथा अमरोली

---

1. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध 3, अध्याय 12/मत्स्यपुराण तथा शिवपुराण में भी।
2. आदिनाथ नाती मछिन्द्रनाथ पूता। षटपदी भणींलै गोरख अवधूता॥ गोरखबानी, पद 2॥
3. देखिए माध्वाचार्य कृत शंकर दिग्विजय नवां-दसवां सर्ग। तथा इस ग्रन्थ के 14वें शब्द की व्याख्या में भी।

साधना। योगी अपने शिश्न से क्रमशः पानी, दूध तथा मधु खींचने का अभ्यास करता है। कहा जाता है। कि इसके बाद उसे ऐसी शक्ति प्राप्त हो जाती है कि स्त्रीप्रसंग करते हुए वह अपने वीर्य को गिरने नहीं देता, प्रत्युत स्त्री के रज को भी अपने शिश्न द्वारा खींच लेता है। इसे बज्रोली–साधना कहते हैं। योगी मानते हैं कि ऐसा करने वाला परम योगी है। गोरखनाथ जैसे वैराग्यवान योगी ने भी इसकी प्रशंसा में इस प्रकार लिखा है—"जो बज्रोली साधना करे तथा उसके साथ अमरोली तथा प्राण साधना करे और भोग करते हुए अपने वीर्य को क्षीण न होने दे वह गोरख का गुरुभाई है। अग्नि की आंच पर पारा को उड़ने से बचाने के समान जो स्त्री–संग करते हुए अपना वीर्य न गिरने दे वह हमारा गुरु है।"[1]

उक्त वाणी चाहे गोरखनाथ ने खुद कही हो और चाहे उनके अनुगामियों ने उनसे कहलवाया हो, अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण है। यह बज्रोली–अमरोली–जैसी घृणित साधना वैराग्य का शत्रु, नैतिकता का नाशक तथा साधकों का नरक–पंथ है। योग के चोंगे में भोग का यह प्रपंच चलता रहा। वामाचार ने तो योग–मार्ग का नाश ही कर दिया है। कहा जाता है कि इसी वामाचार तथा बज्रोली आदि साधना के भ्रम में पड़कर मछन्दरनाथ जैसा महायोगी महारानी मंगला और कमला की काम–क्रीड़ा का दास हो गया। ये महारानियों सिंहल देश के नरेश की थीं या भारत स्थित कामरूप (आसाम) की थीं, पक्का निर्णय नहीं है। ज्यादा प्रसिद्ध सिंहल है। इसीलिए सद्गुरु ने सिंहल का नाम लिया है। यह भी हो सकता है कि कामरूप में ही किसी क्षेत्र का सिंहल नाम रहा हो। कामरूप में वामाचार अधिक रहा है, यह परम सत्य है। जो हो, इतना सत्य है कि मछन्दरनाथ वामाचार के चक्कर में राजरानियों के कामभोग में डूब गये। इस दुर्घटना का संदेश गोरखनाथ को योगी कान्हपा ने दिया कि तुम्हारे गुरु मछन्दरनाथ योग–मार्ग को छोड़कर भोग–मार्ग में लग गये हैं। गोरखनाथ वहां गये जहां मछन्दरनाथ रानियों के रंगमहल की वाटिका में विराजमान थे। वहां पहरा था, दूसरा कोई जा नहीं सकता था। अतएव गोरखनाथ ने उस घेरे के बाहर से गाया "जाग मछन्दर गोरख आया।" और भी उन्होंने अनेक पद ऐसे बनाकर गाये कि उन्हें सुनकर मछन्दरनाथ की

1. बजरी करंतां अमरी राषै, अमरि करंता बाई।
भोग करंतां जे ब्यंद राषै, ते गोरख का गुरुभाई॥
भगमुषि ब्यंद अगनिमुषि पारा, जो राषै सो गुरू हमारा॥
(गोरखबानी, सबदी 141–142, गोरखनाथ मंदिर)

मोह-नींद भंग हुई और गोरखनाथ से जा मिले। ऐसे पदों में से केवल दो पद यहां लें, जिनसे इस विषय पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है।

गोरखनाथ अपने गुरु मछन्दरनाथ को लक्ष्य बनाकर कहते हैं—"हे गुरु जी! ऐसा कर्म न कीजिए जिससे शरीर के लिए अमृत के समान महारस-वीर्य क्षीण हो। ये स्त्री सिंहनी है। ये दिन में श्रृंगारकर हाव-भाव कटाक्षकर पुरुष को मोहती हैं और रात में उसके वीर्य-सरोवर को सोखती हैं। ये मूर्ख पुरुष यह सब जानकर भी घर-घर में इस सिंहनी को पालते-पालते हैं। नदी के तट पर लगा हुआ पेड़ अब गिरा-अब गिरा करता है, वैसे स्त्री के साथ रहता हुआ पुरुष शीघ्र पतित होता है। काम मन से उत्पन्न होता है और उससे मनुष्य उसी प्रकार पतित हो जाता है जिस प्रकार मानो कोई सुमेरु पर्वत से गिर गया हो। इस पतन से उसकी जड़ ही नष्ट हो जाती है। जो व्यक्ति अपने आप को काम में क्षीण करता है उसके पैर जल्दी डगमगाने लगते हैं, पेट पाचनशक्ति कम कर देता है, सिर के बाल जल्दी ही बगुल-पंख-जैसे उजले हो जाते हैं। यह स्त्रीरूप सिंहनी भयंकर मथन करने वाले नेत्रबाण चलाती है और वीर्यरूपी अमीरस को सोखती है। अतएव इस स्त्री-सिंहनी को निंदित करना चाहिए और इसके मोह को नष्ट कर देना चाहिए। यह अपनी काया भी तो सिंहनी है जो काम-भोग की तरफ ले जाती है। गोरख कहते हैं कि इस कामिनी सिंहनी ने सुर, नर, मुनि आदि सब को लूट-लूटकर खा लिया है।"[1]

"हे गुरुदेव! स्त्री रूपवती है, रूपवती है ऐसा चाहे जितना माना जाये, परन्तु यह महाकुरूपा है। यह भीतर से सिंहनी है, केवल ऊपर से भोली-भाली दीखती है। यह पुरुष भी बेबूझ है कि जिस माता ने नौ महीने अपने पेट में रखकर तथा पुनः पैदाकर मनुष्य को संसार दिखाया है, उसी माता जाति नारी को सीने से चिपकाकर सोता है। गोरख ऐसा कहता है कि हे गुरु मछन्दरनाथ! आप जरा अपने गुरु आदिनाथ के उपदेशों पर ध्यान दीजिए।

---

1. गुरूजी ऐसा करम न कीजै ताथैं अमी महारस छीजै॥ टेक॥
दिवसै बांघणि मन मोहै राति सरोवर सोषै।
जाणि बूझि रे मूरिष लोया घरि-घरि बाघणि पोषै॥ 1॥
नदी तीरै बिरषा नारी संगे पुरषा अलप जीवन की आसा।
मन थैं उपज मेर षिसि पड़ई ताथैं कंध बिनासा॥ 2॥
गोड़ भए डगमग पेट भया ढीला सिर बगुलां की पंषियां।
अमी महारस बांघणीं सोष्या घोर मथन जैसी अषियां॥ 3॥
बाघनी कौ निंदिलै बाघनीं को बिंदले बाघनीं हमारी काया।
बाघनीं घोषि घोषि सुर नर षाये भणंत गोरष राया॥ 4॥ गोरखबानी, पद 43॥

आप गुरुमुख होकर मन्मुखी हो रहे हैं और बंधनों में पड़े हैं। यह आपका योग कैसा है? हे गुरुदेव! आप स्त्रियों के बीच में पड़े–पड़े रात–दिन चाम घिसते हैं। इससे तो आपकी काया दिनोंदिन क्षीण होती जायेगी। यह काम–भोग ओष्ठ, कंठ तथा तालु को सुखा देगा और मज्जा को भी निकालकर खा जायेगा। हे गुरुदेव! जैसे पतंग मोहवश दीपक की ज्योति में जल मरता है, वैसे मनुष्य कामवश स्त्री के साथ अपने आपको नष्ट करता है। आप बूढ़े हो गये हैं, फिर भी इस अवस्था में आपको राजरानियों के साथ भोग की कामना जगी हुई है। इस अवस्था में भी आप मोह–माया नहीं छोड़ रहे हैं। गोरखनाथ कहते हैं कि हे गुरुदेव मछन्दरनाथ! आप शिव तुल्य आदिनाथ के शिष्य हैं। जरा अपने आप का ख्याल करें! वीर्य को जो झरने न दे प्रत्युत उसे सुरक्षित रखे; उसको अवधूत कहा जाता है। आप अवधूत हैं, इसका स्मरण करें।"[1]

इस प्रकार सद्गुरु कबीर कहते हैं कि मछन्दरनाथ को माया ने सिंहल में डुबा दिया। सिंहल हो या कामरूप या अन्य स्थल, मुख्य अर्थ है कि माया ने उन्हें पथभ्रष्ट कर दिया।

"साकट के घर करता धरता, हरि भक्तों के चेरी हो।" निगुरों के घरों में माया स्वयं मालिकिन बन जाती है। परन्तु हरिभक्तों के घर में वह चेरी बनकर उन्हें फंसाती है। इसका तात्पर्य यह है कि जो घोर संसारी हैं उनके घरों में तो माया ही सब कुछ है। वे तो सिर तक उसमें डूबे ही रहते हैं, परन्तु हरिभक्तों को भी यह माया चेरी बनकर फंसा लेती है। आप देखते नहीं, कितने साधुओं के आश्रमों में साधुनी, संन्यासियों के आश्रमों में संन्यासिनी,

---

1. रूपे–रूपे कुरूपे गुरदेव, बाघनी भोलै–भोले,
जिन जननीं संसार दिषाया, ताकौं ले सूते षोले॥टेक॥
गुरू षोजौ गुरदेव गुरू षोजौ, बंदत गोरष ऐसा,
मुषते होइ तुम्हें बंधन पड़िया, ये जोग है कैसा॥ 1॥
चांम ही चांम घसंता गुरदेव, दिन–दिन छीजै काया,
होठ कंठ तालुका सोषी, काढ़ि मिजालू षाया॥ 2॥
दीपक जोति पतंग गुरदेव, ऐसी भग की छाया,
बूढ़े होई तुम्हें राज कमाया, नां तजी मोह माया॥ 3॥
बंदत गोरषनाथ सुनहु मछन्दर, तुम्हें ईस्वर के पूता,
ब्रह्म झंरता जे नर राषै, सो बोलौं अवधूता॥ 4॥ गोरखबानी, पद 49॥

गोरखनाथ महाराज की यह विशेषता है कि उन्होंने अपने गुरु को पतित समझकर उनसे घृणा नहीं की, किन्तु उनके उद्धार के लिए प्रयत्न किया। और मछन्दरनाथ महाराज की भी यह विशेषता है कि अपने शिष्य के उपदेशों से वे सावधान हो गये। उन्होंने अहंकार और दंभ का प्रदर्शन नहीं किया।

महंतों के आश्रमों में महंतिनी, स्वामियों के यहां सेविका बनकर उनके ज्ञान-वैराग्य को चाट जाती है। और ये त्याग के नाम पर कायर-कपूत लोग बिगड़ी घड़ी बनकर संसार में गलत आदर्श उपस्थित करते हैं। मुमुक्षु पुरुषों के लिए स्त्री माया है और साधिका स्त्रियों के लिए पुरुष माया है। वस्तुतः मन का मोह माया है और वह मोह जिन माध्यमों से बढ़े वह माया है।

"कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, ज्यों आवै त्यों फेरी हो।" कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो! माया सामने आते ही उसे लौटा दो या तुम उससे अपना मुख फेर लो। बीजक के महासूत्रों में से इस कहरा की यह अंतिम पंक्ति महासूत्र है—"ज्यों आवै त्यों फेरी हो"। जिन दृश्यों से मन मलिन हो, उधर से मुख घुमा लो और जिन स्मरणों से मन मलिन हो उन्हें त्याग दो, उनसे अपना मन हटा लो। तुम्हें संसार की वे वस्तुएं मिलें जो देह-निर्वाह में काम देती हैं तो उनका अधिक संग्रह न कर उन्हें लोगों में खर्च होने दो। 'फेरी' के अर्थ बांटना तथा घुमाना, दोनों हैं। वस्तुओं को बांटते रहो तथा अपने नेत्रों को दृश्यों से तथा मन को बुरे संकल्पों से लौटाकर अपने आत्माराम में लगाते रहो।

कबीर साहेब माया को किसी प्रभु-प्रेरित तथा दुरत्यया नहीं मानते, किन्तु वे कहते हैं कि माया तुम्हारे मन की खोटी आदतें हैं तथा वे आदतें जिसके सम्बन्ध से पैदा हों वे प्राणी-पदार्थ हैं। अतएव माया से छूटना तुम्हारे हाथों में है। तुम यदि माया से छूटना चाहते हो तो अन्दर-बाहर जड़दृश्यों से अपने मन-इन्द्रियों को लौटाकर उन्हें अपने आत्माराम में लगाओ।

फल छन्द

केहु भाँति नहिं सन्तुष्टि थी,
        दिन-दिन वही भव व्याधियाँ।
रुचि सुभग ललना वत्स धन,
        सुख भोग रोग उपाधियाँ॥
मद काम क्रोध विमोह बल्लभ,
        बाम वंचक साथियाँ।
सो सब विषमता दूर भौ,
        जब श्रवण गुरुवच गाथियाँ॥

चौपाई

सो उपकार कहो किम भूलै।
        पाय स्वपद अमृत, दलि शूलै॥
वचन अर्थ सब कहत समूलै।
        जीवन लाभ मिलै नहिं झूलै॥

बसन्त

हेतु छन्द

कामुक वसन्त उलास नित-
नव सर्व ओर विकास से।
निर्भेद रस श्रृंगारमय,
नर नारि बिरही आश से॥
सब मूढ़ विदुषहुँ भोग शोकहुँ,
रोग हाय हहास से।
जग-ब्रह्म-माया पुरुष-प्रकृती,
भोग्य-भोक्ता भास से॥

दोहा

भव वसन्त मृगवारि भ्रम, अथवा दीप पतंग।
भटकि-भटकि जलि-जलि उलझि, परखु दशा तब चंग॥

सद्‌गुरवे नमः

बीजक

(पारख-प्रबोधिनी व्याख्या-सहित)

षष्टम प्रकरण : बसन्त

वासनात्यागी का वसन्त-उल्लास नित्य है

बसन्त-1

जाके बारह मास बसन्त होय, ताके परमारथ बूझे बिरलाकोय॥ 1॥
बरसै अगिन अखण्ड धार, हरियर भौ बन अठारह भार॥ 2॥
पनिया आदर धरिन लोय, पौन गहै कसमलिन धोय॥ 3॥
बिनु तरिवर फूले आकाश, शिव विरंचि तहाँ लेई बास॥ 4॥
सनकादिक भूले भँवर बोय, लख चौरासी जोइनि जोय॥ 5॥
जो तोहिं सतगुरु सत्त लखाव, ताते न छूटे चरण भाव॥ 6॥
अमर लोक फल लावै चाव, कहहिं कबीर बूझे सो पाव॥ 7॥

शब्दार्थ—बसन्त=वसंत, छह ऋतुओं में से एक जो चैत्र-वैशाख में पड़ता है, आनन्द-उल्लास के दिन। परमारथ=परमार्थ, उत्कृष्ट वस्तु, नित्य, सत्य, मोक्ष। हरियर=हरा-भरा। अठारह भार=संपूर्ण वनस्पति। पनिया=पानी, जल। कसमलिन=विकार, पाप, विषयवासना। आकाश=ब्रह्मांड। बास=गंध। बोय=बू, गंध (सुगंध या दुर्गंध)। चाव=तीव्र इच्छा, अनुराग।

भावार्थ—वासना-त्याग और निजस्वरूपस्थिति के कारण जिसके जीवन में बारहों महीने मानो वसंत लगे हों और हर समय आनंद-उल्लास हो, उसकी उत्कृष्ट स्थिति को कोई बिरला समझ सकता है॥ 1॥ जैसे वसंत में धूप की अखंड धारा बरसती है और संपूर्ण वनस्पतियां हरी-भरी हो जाती हैं, वैसे उक्त ज्ञानी के जीवन में ज्ञानाग्नि की अखंड धारा बरसती है और उसका अंत:करणरूपी वन हरा-भरा हो जाता है॥ 2॥ वसंत में गरमी बढ़ जाने से जैसे लोग पानी को बहुत आदर देने लगते हैं और सोने-नहाने आदि में उसका बहुत उपयोग करने लगते हैं तथा शरीर से निकले हुए पसीने से उत्पन्न मैल को शुद्ध करने के लिए खुले वायु का भी सेवन करने लगते हैं, वैसे जिसके जीवन में ज्ञानाग्नि की जितनी प्रचंडता बढ़ती है वह उतना ही निर्णय वाणी को

आदर देता है और नित्य के व्यवहार में उत्पन्न होती हुई मलिनता को विचार-पवन से धोता है॥ 3॥

परमार्थ के नाम पर हठयोगियों का वसंत चलता है, जो क्षणिक है। उनके यहां बिना वृक्ष-वन हुए आकाश में फूल खिलते हैं। अर्थात जब हठयोगी वायु को मूलाधार से ऊपर उठाते हुए ब्रह्मरंध्र एवं ब्रह्मांड में पहुंचते हैं तो वहां कल्पित ब्रह्मरूपी फूल खिल जाता है जिसमें शिव तथा विरंचि-जैसे महानुभावों ने भी सुगंधी ली है॥ 4॥ इसकी सुगंधी में सनकादि ऋषिजन भी भूल गये हैं। उन्होंने तो जो चौरासी लाख योनि है उस जड़-चेतनात्मक संसार को ही ब्रह्म मान लिया है॥ 5॥

हे साधक! यदि तुम्हें सद्गुरु सत्य स्वरूप का ज्ञान दे देंगे, तो उनके चरणों की भक्ति तुम्हारे मन से छूट नहीं सकती॥ 6॥ यह अपनी आत्मा ही अमरलोक है और उसमें स्थित होना ही उसको जानने का फल है। कबीर साहेब कहते हैं कि जो इसे समझेगा और जिसके मन में इसके लिए उत्कृष्ट इच्छा होगी वह इस स्थिति को प्राप्त करेगा॥ 7॥

व्याख्या—वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमंत और शिशिर ये छह ऋतुएं हैं। जिनमें भारतीय समय-सारिणी के अनुसार वसंत पहली ऋतु है जो चैत्र-वैशाख में पड़ती है। वंसत को ऋतुराज कहा गया है। अर्थात समस्त ऋतुओं में वसंत ऋतु श्रेष्ठ मानी जाती है। वसंत ऋतु में पेड़-पौधे पुराने पत्ते तथा छाल छोड़ते और नये पत्ते एवं छाल ग्रहण करते हैं। वसंत में गरमी आरम्भ हो जाती है, परन्तु संपूर्ण वनस्पति-जगत हरा-भरा हो जाता है। आप वसंत में बाग और वन में जाकर वहां की छटा देख सकते हैं। पेड़-पौधों में नये पत्ते और छाल तो आते ही हैं, उनमें मौर तथा फूल-फल भी आते हैं। कामी लोग वसंत को काम का सहचर मानते हैं और वैराग्यवान संत निर्विकल्प वैराग्य का साधन। वस्तु तो वही होती है, उसका सदुपयोग कल्याणकारी होता है तथा दुरुपयोग अकल्याणकारी।

प्राकृत-जगत एवं संसार में तो बारह महीने में केवल दो महीने के लिए वसंत आता परन्तु जो मनुष्य सांसारिकता से ऊपर उठकर अपने आत्माराम में निरन्तर रमण करते हैं उनके लिए मानो बारहों महीने वसंत हैं। जिसका मन संसार के भोगों में लगता रहता है उसके मन में सदैव आशंका, भय, चिन्ता तथा हर्ष-शोक के द्वन्द्व आते रहते हैं। परन्तु जिसका मन अनित्य संसार के भोगों को सर्वथा छोड़कर नित्य निजस्वरूप चेतन में रमा है उसका सुख कभी घटता नहीं। संसारासक्त आदमी तो बाहरी वसन्त एवं मोहक दृश्य पाकर

उनमें आनंदित होता है जो क्षणिक हैं इसलिए उसका आनन्द भी क्षणिक है। परन्तु जो अपने अविचल एवं शाश्वत आत्माराम में रमता है उसका आनन्द घट नहीं सकता, क्योंकि उसके आनन्द का आलंबन क्षणिक पदार्थ नहीं, किन्तु अविनाशी चेतन है। अतएव आत्मरत पुरुष के लिए मानो पूरा जीवन वसंत का उल्लास-आनन्द है। परन्तु "ताके परमारथ बूझे बिरला कोय।" उसकी उत्कृष्ट स्थिति को, उसकी उच्चतम दशा को कोई बिरला ही समझेगा। आदमी संत को भी केवल इतना ही जान पाता है कि जैसे हम खाते-पीते, सोते-जागते मानव हैं वैसे संत कहलाने वाले लोग भी हैं। यह ठीक है कि संत कहलाने वाले सब लोग ऐसी उच्चतम स्थिति में नहीं होते हैं, परन्तु जो होते हैं उन्हें समझने वाला भी बिरला होता है। व्यक्ति का निजस्वरूप चेतन ही सत्य है, उसका वासनाओं से मुक्त होना मोक्ष है, यही जीवन की उच्चतम दशा है और यही परमार्थ है। यह स्वसंवेद्य है। दूसरे की इस स्थिति का अनुमान वही कर सकता है जो स्वयं इस स्थिति में हो। श्रद्धा एवं समझ से इसे हम परोक्ष में एवं धुंधुलके में ही जान सकते हैं।

"बरसै अगिन अखण्ड धार, हरियर भौ बन अठारह भार।" 'एक मास ऋतु आगे धावै' कहावत के अनुसार किसी भी ऋतु के पिछले हिस्से में अगली ऋतु का आभास मिलने लगता है। जैसे जेठ आते ही वर्षा की शुरुआत हो जाती है, वैसे वसंत ऋतु का पिछला महीना वैशाख आते ही गर्मी खूब बढ़ जाती है। चैत्र-वैशाख ही वसंत ऋतु है और इसमें धूप बढ़ जाती है। वैशाख में तो धूप वैसे हो जाती है कि मानो आग की अखंड धारा ही बरस रही हो। परन्तु आश्चर्य होता है कि सम्पूर्ण वनस्पति-जगत इस समय हरा-भरा हो जाता है और फूलने-फलने भी लगता है। "हरियर भौ बन अठारह भार" में 'अठारह भार' ध्यान देने योग्य है। अठारह भार क्या है? कहते हैं फल वाली वनस्पति चार भार, लताएं चार भार, फूलों वाली छह भार और कांटे वाली वाली वनस्पति चार भार होती है। "पांच करोड़, तीन लाख, अट्ठासी हजार को दूना करने से जितना होता है उतने को पण्डितजन एक भार कहते हैं।"[1] अर्थात दस करोड़, सात लाख, छिहत्तर हजार प्रकार की वनस्पतियों को एक भार कहा जाता है। और पूरी वनस्पति अर्थात अठारह भार की कुल संख्या होगी एक अरब, इक्यासी करोड़, उन्तालीस लाख, अड़सठ हजार (1, 81, 39, 68,000)। रज्जब ने भी कहा है—

1. धीकोटि-स्त्रीणि लक्षाणि वस्वशीतिसहस्रकम्।
एतानि द्विगुणीकृत्य भारमेकं जगुर्बुधाः॥ (उद्धृत श्री विचार साहेब की बीजक टीका से)

ज्यों माखी मधु काढ़ि ले, शोधि अठारह भार।
त्यों रज्जब तत् ही गहो, तीन्यू लोक मँझार॥

सद्गुरु कहते हैं कि जैसे वसन्त में खूब गरमी पड़ने लगती है और साथ-साथ संपूर्ण वनस्पति-जगत हरा-भरा भी हो जाता है, वैसे ज्ञानी के भीतर ज्ञानाग्नि की अखंड धारा बरसती है, और उसका हृदय-कानन हरा-भरा एवं पुष्पित-पल्लवित हो जाता है। जैसे वसंत के ताप से वनस्पति-जगत सूखने की अपेक्षा हरा-भरा होता है वैसे ज्ञान के ताप से हृदय का वन हरा-भरा होता है। इस प्रकार ज्ञानी के हृदय-कानन में सदैव वसंत ऋतु है और वह सदैव आनन्दमग्न रहता है।

"पनिया आदर धरिन लोय, पौन गहै कसमलिन धोय।" हेमंत तथा शिशिर ऋतु में पानी और हवा, दोनों काटे खाते हैं, परन्तु वसंत ऋतु आते ही ये दोनों आदरणीय हो जाते हैं। पीने तथा नहाने के लिए पानी का ज्यादा उपयोग होने लगता है और खुली हवा में बैठकर लोग अपने शरीर के पसीने को सुखाना चाहते हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में निर्णय की वाणी ही मिष्ट पानी है तथा विचार ही शीतल, मंद, सुगन्ध हवा है। समझदार एवं ज्ञानी ही इनका आदर करता है। हममें जितना ज्ञान बढ़ेगा, हम उतना निर्णय वाणियों को आदर देंगे और उतना ही विचार को प्रश्रय देंगे। अल्पज्ञानी तथा संकुचित व्यक्ति ही केवल परम्परा की पूंछ पकड़े हुए 'अधे अंधा पेलिया' की कहावत चरितार्थ करता है। जिसका ज्ञान जितना बढ़ जाता है वह उतना ही उदार हो जाता है। वह कहीं से भी निर्णय वाणी ग्रहण कर लेता है चाहे किसी मत या शास्त्र की हो, बालक, बूढ़ा, पागल आदि के मुख से निकली हो या दीवार पर लिखी हो। उदार ज्ञानी के लिए सत्य समान आदरणीय है। मनुष्य का कल्याण निर्णय वाणी से है, केवल परम्परा से नहीं। इसलिए निष्पक्ष मनुष्य सब जगह सार-सार लेता है और विचार-पवन से सदैव अपने मन के मैल को धोता है। जीवन के नित्यप्रति के व्यवहार में मनुष्य के मन में मैल आने की संभावना बनी रहती है। इसलिए उसे दूर करने के लिए समझदार मनुष्य विचार-पवन का सेवन करता है। विचारवान का मन उसी प्रकार निर्मल रहता है जैसे गंगोत्री की उछलती धारा।

"बिनु तरिवर फूले आकाश, शिव विरंचि तहाँ लेई बास। सनकादिक भूले भँवर बोय, लख चौरासी जोइनि जोय।" परमार्थ के नाम पर योग का भी एक वसंत है जिसका फल क्षणिक है। वैसे योग का अर्थ है चित्तवृत्ति का निरोध। परन्तु योग के नाम पर पुराकाल से अपनी आत्मा से भिन्न किसी

भास-अध्यास को ही अपना लक्ष्य मानकर उसमें रमने की आदत रही है। योगी लोग श्वास को ब्रह्मांड एवं खोपड़ीरूपी आकाश में चढ़ाते हैं। वहां शब्द, नाद एवं ज्योति की चमक-दमक को ब्रह्म मानकर उसी में भूल जाते हैं। "बिनु तरिवर फूले आकाश" का अर्थ यही है कि बिना पेड़ के अर्थात खोपड़ी के शून्याकाश में एक ज्योति की कल्पना की। उसे ब्रह्म माना। वही मानो आकाश का फूल है। शिव तथा ब्रह्मा-जैसे ज्ञानी लोग भी उसी की सुगंध लेने लगे। इतना ही क्या सनक, सनंदन, सनातन, सनत्कुमार आदि भी उसी की सुगंध में भूल गये। क्योंकि उन्होंने चौरासी लाख योनिरूप, जड़-चेतनमय संसार को ही ब्रह्म मान लिया। वस्तुतः अपनी चेतना एवं अपनी आत्मा से अलग ब्रह्म की कल्पना करना ही मानो आकाश के फूल की सुगंध लेने का मिथ्या प्रयास है।

"जो तोहिं सतगुरु सत्त लखाव, ताते न छूटे चरण भाव।" कबीर देव साधकों से कहते हैं कि यदि तुम्हें सच्चे सद्गुरु मिल जायेंगे और वे सत्यस्वरूप का बोध दे देंगे, तो तुम निश्चय ही उनके चरणों की भक्ति में अचल हो जाओगे। किसी को फांसी की सजा मिली हो और उसे फांसी के तख्ते पर खड़ा कर दिया गया हो, इतने में कोई आकर उसे तख्ते से उतार ले, किसी डूबते हुए तथा आग के बीच में पड़े हुए को कोई बचा ले तो वह उसका कितना श्रद्धेय हो जायेगा, यह सहज समझा जा सकता है। परन्तु इन घटनाओं में तो केवल क्षणिक देह की ही रक्षा हुई। देह की रक्षा आगे नहीं हो सकती। शरीर का नाश तो एक दिन होना ही है, वह चाहे आज हो या दूसरे दिन। वस्तुतः मनुष्य का परम रक्षक एवं उद्धारक वह है जो उसे भवसागर में बहने से बचा ले। इससे अविनाशी जीव की रक्षा होती है। अतएव अग्नि, जल, विष, फांसी आदि से बचाने वाले की अपेक्षा सद्गुरु का उपकार महान है। जो जीव को मानसिक पीड़ा से मुक्त होने के पथ में ला दे उस सद्गुरु के समान उसका कोई उपकारी नहीं। इस बोध के महत्त्व का जिसे पता है वह साधक सद्गुरु तथा संतों के चरणों में अचल श्रद्धा रखता है। वह गुरु-संतों के प्रति लगी हुई श्रद्धा कभी नहीं छोड़ सकता।

"अमर लोक फल लावै चाव, कहहिं कबीर बूझे सो पाव।" हमारे मन में अमरलोक के फल पाने के लिए उत्कट इच्छा होनी चाहिए। साहेब कहते हैं जो इसे बूझेगा वह पायेगा। हमारी अपनी चेतना ही अमरलोक है। जीव अमर है। अतएव जीव के शुद्ध स्वरूप आत्माराम को छोड़कर कहीं बाहर अमरलोक नहीं है। हम भूलवश जड़ भोगों की चाहना करते हैं जो क्षणिक

हैं। यदि हम अविनाशी निजस्वरूप की स्थिति की चाहना करें तो इसका मिलना सहज है। इसको ठीक से समझकर बाहर से इसमें लौट आना ही इसे पाना है और यही अमरलोक का फल पाना है। अमरलोक अपना चेतनस्वरूप है। उसमें स्थिति का फल है शांति। जो इस तत्त्व को समझ जायेगा वह शांति पा जायेगा। फिर उसके लिए निरन्तर वसंत हो जायेगा।

क्षणिक माया में मत भूलो

बसन्त-2

रसना पढ़ि लेहु श्री बसन्त, बहुरि जाय परबेहु यम केफन्द॥ 1॥
मेरुडण्ड पर डंक दीन्ह, अष्ट कँवल परचारि लीन्ह॥ 2॥
ब्रह्म अगिन कियो परकाश, अर्ध उर्ध तहाँ बहै बतास॥ 3॥
नौ नारी परिमल सो गाँव, सखी पाँच तहाँ देखन धाव॥ 4॥
अनहद बाजा रहल पूरि, तहँ पुरुष बहत्तर खेलैं धूरि॥ 5॥
माया देखि कस रह्यो है भूलि, जस बनस्पति रहि हैं फूलि॥ 6॥
कहहिं कबीर यह हरि के दास, फगुआ माँगै बैकुण्ठ बास॥ 7॥

शब्दार्थ—रसना=जीभ। श्री बसन्त= वह शोभायमान वसंत जो हठयोग का फल है। मेरुडण्ड=मेरुदंड, रीढ़, गुदा से सिर तक पीठ पर गयी हुई गुरियादार हड्डी। डंक=बिच्छू आदि का जहरीला कांटा, वृत्ति। अष्ट-कँवल=अष्टकमल—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा, सहस्रार तथा सुरतिकमल। परचारि=प्रज्वलित। अर्ध=नीचे, नाभि। ऊर्ध=ऊर्ध्व, ऊपर, ब्रह्मांड। बतास=वायु। नौ नारी[1]=पुहुखा, पयस्विनी, गंधारी, हस्तिनी, कुहू, शंखिनी, अलंबुषा, गणेशनी तथा वारुणी। परिमल=सुगंध। सखी पाँच=पांच प्राण—प्राण, अपान, समान, व्यान तथा उदान। अनहदबाजा=अनाहतनाद। बहत्तर=बहत्तर कोठे।

भावार्थ—योगी लोग कहते हैं कि हे रसना! हठयोग के शोभायमान वसंत के फलस्वरूप प्राप्त जो ब्रह्म है उसका जप कर लो। यदि यह न करोगे

---

1. नौ नाड़ियां तथा पांच प्राणों के स्थान एवं गतिविधि—पुहुखा बायें कान में, पयस्विनी दाहिने कान में, गंधारी बायें नेत्र में, हस्तिनी दाहिने नेत्र में, कुहू लिंग में, शंखिनी गुदा में, अलंबुषा मुख में, गणेशिनी बायें हाथ में और वारुणी दाहिने हाथ में माना है।
प्राण का स्थान हृदय है, इसका काम नाक द्वारा बाहरी वायु को पकड़ना-छोड़ना है। अपान का स्थान पेडू है, इसका काम मल-मूत्र का त्याग और गर्भ प्रसव करना है। समान का स्थान नाभि है, इसका काम भोजन पचाना है। व्यान का स्थान शरीर भर में है, इसका काम जोड़ों को घुमाना और रस-रक्त का शरीर भर में वहन करना है। उदान का स्थान कंठ है, इसका काम है जल-भोजन निगलने में बल देना तथा अन्न-जल का विभाग करना।

तो पुनः वासनाओं में बंधकर संसार में भटकोगे॥ 1॥ उक्त योग की प्रशंसा सुनकर योगियों ने मेरुदंड पर अपनी वृत्ति लगायी और मूलाधार से लेकर सभी चक्रों का वेधन करते हुए ऊपर आठवें सुरतिकमल में जाकर ज्योति प्रज्वलित कर दी॥ 2॥ वहां ब्रह्माग्नि का प्रकाश हो गया और नीचे के समस्त वायु ऊपर पहुंच गये॥ 3॥ उस सुगंधित सुषुम्णा एवं सुरतिकमल ग्राम में पुहुखा, पयस्विनी आदि नौ नाड़ियां भी पहुंच गयीं। इतना ही नहीं, प्राणादि पांच सखियां भी देखने दौड़ीं अर्थात वहां जाकर मिल गयीं॥ 4॥ वहां बहत्तर कोठे के वायु भी आकर मिल गये और अनाहतनाद का मानो घनघोर बाजा बजने लगा और इस वसंत उत्सव में चेतन-पुरुष धूल खेलने लगा॥ 5॥ सद्गुरु कबीर कहते हैं कि इस माया के खेल को देखकर क्यों भूल रहे हो! यह तो वसंत ऋतु में वनस्पति में फूल आने के समान बहुत क्षणिक है॥ 6॥ कबीर साहेब कहते हैं कि ये हरि-भक्तों की यही कथा है। ये इस फगुआ के खेल में ऋद्धि-सिद्धि चाहते हैं या बैकुण्ठवास चाहते हैं॥ 7॥

व्याख्या—इस वसंत में हठयोग का सुन्दर रूपक है। मेरुदंड-स्थित चक्रों का बेधन, आठवें सुरति-कमल में पहुंचना, वहां ब्रह्माग्नि का प्रकाश होना, उस सुगंध भरे गांव में नौ नारियों का पहुंचना, फिर पांच सखियों का वहां तमाशा देखने के लिए दौड़ जाना, अनहद बाजा बजना और बहत्तर पुरुषों का धूल खेलना सब बड़ा ही रोचक एवं मनमोहक है। यह सब कहकर साहेब यह चित्रित करते हैं कि योगी छह या सात चक्रों का वेधन करके आठवें सुरतिकमल में पहुंच जाता है जहां ज्योति-प्रकाश जल जाता है तथा अनाहतनाद उठने लगता है, क्योंकि वहां इसके पहले ही नौ नाड़ियों, पांच प्राणों एवं बहत्तर कोठों से वायु सिमिटकर इकट्ठा हो जाता है। परन्तु सद्गुरु कहते हैं कि यह सब माया का खेल है। वे कहते हैं कि हे योगियो! तुम इस माया का खेल देखकर क्यों भूल रहे हो! हठयोग का सारा फल अनाहतनाद एवं ज्योति है जिन्हें जीव इन्द्रियों से सुनता तथा देखता है, तो वे सब श्राव्य एवं दृश्य मात्र होने से जड़ हैं और उनके श्रोता तथा द्रष्टा जीव चेतन हैं। जैसे वसन्त में या किसी समय वनस्पतियां फूलों से लद गयी हों, तो वे सब कब तक रहेंगी। "टेसू फूला दिवस दस, खंखर भया पलास।" माया का सारा शृंगार दस दिन का खेल है। जैसे बाहर की माया क्षणिक है, वैसे हठयोग द्वारा उपलब्ध भास-दृश्य की चमक-दमक क्षणिक है। जो जीव से कभी नहीं छूटता वह उसका अपना स्वरूप है, अपनी चेतना एवं आत्मा है। स्थूल-सूक्ष्म संसार से लौटकर उसी निजस्वरूप चेतन में स्थित होने से अविचल

शांति मिलेगी। यही अनन्तपद है जो कभी नहीं छूटता।

साहेब कहते हैं कि परन्तु ये जो हरि के भक्तजन हैं, ये फगुआ में बैकुण्ठवास चाहते हैं। होली के समय लोग द्वार-द्वार पर फगुआ गाते हैं और लोगों से उपहार मांगते हैं। इसी प्रकार ईश्वर के भक्त लोग अपनी आत्मा से अलग परमात्मा मानकर योगमार्ग द्वारा ब्रह्मज्योति में मिलना चाहते हैं। दूसरे सगुण उपासक लोग कहीं अलग भगवान का लोक मानकर तथा उनके नाम बैकुण्ठ, साकेत, शिवलोक, ब्रह्मलोक, सतलोक आदि रखकर उन्हीं में से किसी एक में स्थायी निवास चाहते हैं। वे अपने भक्तिरूपी फगुआ के फल में ईश्वर के लोक में जाना चाहते हैं; परन्तु इन भोले लोगों को यह पता नहीं है कि हठयोग का सारा फल जो नाद-श्रवण एवं ज्योति-दर्शन माना है वह ब्रह्म नहीं, किन्तु मन-इन्द्रियों का भास मात्र है तथा जो सगुण उपासकों ने लोक-लोकांतर मानकर वहां किसी भगवान से मिलकर भोगों को भोगने की लालसा की है वह उनका केवल बालकपन है, क्योंकि अपनी आत्मा के अलावा न कहीं परमात्मा है जो मिलेगा और न कोई लोक एवं बैकुण्ठ, स्वर्गादि हैं जहां पहुंचकर छककर सुख मिलेगा। वैसे स्वर्ग की प्राप्ति भी क्षणिक ही माना गया है। "क्षीणे पुण्ये मृत्युलोके विशन्ति" परन्तु पहली बात तो वह है ही नहीं।

मेरी अपनी आत्मा के अलावा सब कुछ छूटने वाला, क्षणिक एवं नश्वर है। इसलिए बाह्य सारी उपलब्धियां वनस्पतियों के क्षणिक फूलों की रौनक के समान नाशवान हैं। अतएव हमें सारे दृश्यों का मोह छोड़कर अपने द्रष्टा चेतनस्वरूप में स्थित होना चाहिए।

शरीर एक करघा है जिससे कर्मों के वस्त्र बुने जाते हैं

बसन्त-3

मैं आयों मेस्तर मिलन तोहिं, ऋतु बसन्त पहिरावहु मोहिं॥ 1॥
लम्बी पुरिया पाई छीन, सूत पुराना खूँटा तीन॥ 2॥
सर लागै तेहि तिनसै साठ, कसनि बहत्तर लागु गाँठ॥ 3॥
खुरखुर खुरखुर चालै नारि, बैठि जोलाहिन पल्थी मारि॥ 4॥
ऊपर नचनियाँ करत कोड़, करिगहमा दुई चलत गोड़॥ 5॥
पाँच पचीसों दशहूँ द्वार, सखी पाँच तहाँ रची धमार॥ 6॥
रंग बिरंगी पहिरे चीर, हरि के चरण धै गावैं कबीर॥ 7॥

शब्दार्थ—मेस्तर=महत्तर, श्रेष्ठ सद्गुरु। पुरिया=ताना, वासना, देह। पाई=बांस की तीलियों या बेंत का बना ढांचा जिस पर ताने के सूत को

फैलाकर जुलाहे उसे मांजते हैं, विवेक, आयु। सूत=श्वास। खूँटा तीन=ईडा, पिंगला तथा सुषुम्णा। सर=सरकंडे। नारि=नरी, नाड़ी। जोलाहिन=मनोवृत्ति। कोड़=क्रीड़ा। करिगह=करघा। गोड़=पैर, श्वास। पाँच=पंच प्राण। पचीसों= प्रकृतियां। दसहूं द्वार=दो आंख, दो नाक, दो कान, मुख, गुदा, शिश्न तथा ब्रह्मरंध्र। सखी पाँच=पांच ज्ञानेन्द्रियां। धमार=फाग के गीत, आनन्द-उल्लास, उछल-कूद।

भावार्थ—हे महान सद्गुरु, मैं आपसे मिलने आया हूं। मुझे सनातन होने वाली आध्यात्मिक वसंत ऋतु का वासंती वस्त्र पहनाओ॥ 1॥ यह मेरा शरीररूपी पुरिया धारण करने का क्रम लम्बा अर्थात अनादिकालीन है। इसको मांजने की विवेक-पाई क्षीण है। श्वास भी पुराना है जो ईडा, पिंगला तथा सुषुम्णा—इन तीन खूंटों में बंधा है॥ 2॥ इस शरीर में तीन सौ साठ सरकंडे एवं हड्डियां लगी हैं और बहत्तर[1] गांठों से कसा है॥ 3॥ यह शरीर एक करघा ही है जिसमें कर्म के वस्त्र बुने जा रहे हैं। जैसे करघा चलते समय भरनी-सूत की नरी दायें से बायें, बायें से दायें खुरखुर-खुरखुर चलती है, अलग जोलाहिन पल्थी मारकर बैठी हुई नरियों में चरखी द्वारा सूत की आंटी तैयार करती है, करघे के ऊपर लगी हुई चटकनियां नाचती हैं और करघे के नीचे गड्ढे में जोलाहे के दोनों पैर चलते हैं, वैसे इस शरीररूपी करघे में श्वास की नरियां खुरखुर-खुरखुर चलती हैं, इसमें मनोवृत्तिरूप जोलाहिन पलथी मार कर बैठी रहती है, ऊपर दोनों नेत्र मानो नचनियां की तरह नाचते हैं और शरीर के दोनों पैर चलते हैं॥ 4-5॥ पंच प्राण, पचीस प्रकृतियां, दस दरवाजे के साज वाले इस शरीर में पांच ज्ञानेंद्रियांरूपी सखियां विषय-रंग रूप फाग के गीत गातीं तथा उछल-कूद मचातीं हैं। इस प्रकार नाना योनियों के शरीर-रूपी रंग-बिरंगे वस्त्र यह जीव पहनता रहता है। इन सब बंधनों से मुक्त होने के लिए मुमुक्षु हरि या गुरु के चरणों को पकड़कर अपना विनय सुनाता है॥ 6-7॥

व्याख्या—फारसी भाषा में 'मेह' का अर्थ बड़ा, बुजुर्ग एवं सरदार है और 'मेहतर' कहते हैं अधिक बड़ा को। संस्कृत भाषा में 'महत्तर' शब्द है, जिसका अर्थ होता है अधिक बड़ा। वैसे फारसी के मेहतर का एक प्रसिद्ध

---

1. कहा जाता है कि शरीर में बहत्तर ग्रन्थियां हैं। उनके नाम इस प्रकार बताये जाते हैं—16 कंडराएं, 16 जाल, 4 रज्जु, 7 सेवनी, 14 अस्थिसंघात, 12 सीमांत तथा 1 त्वचा। इन्हीं बहत्तर ग्रन्थियों से शरीर ग्रथित है। इन बहत्तर ग्रंथियों की प्रत्येक में से एक-एक हजार नाड़ियां फैली हुई मानी जाती हैं। इसलिए शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियों का विस्तार माना जाता है।

अर्थ मैला उठाने या साफ करने वाला भी है तथा संस्कृत के 'महत्तर' का एक अर्थ दरबारी या शूद्र भी है। यहां इस वसंत की आरम्भिक पंक्ति में 'मेस्तर' फारसी भाषा का 'मेहतर' लगता है जिसका अर्थ अधिक बड़ा होता है। परन्तु संस्कृत भाषा के महत्तर का अर्थ भी वही होता है। यहां यह शब्द सद्गुरु के लिए प्रयुक्त हुआ है। जिसने शरीर की वास्तविकता को समझ लिया है वह इसके भौतिकीय परिवेश से विरक्त हो जाता है। यह अलग बात है कि यह शरीर ही कल्याण का साधन है। इसलिए वह साधना की दृष्टि से इसका महत्त्व समझता है, किन्तु मायिक दृष्टि से इसे तुच्छ समझता है।

मुमुक्षु कहता है कि हे महान सद्गुरु! मैं तुम्हारी शरण में आया हूं। आने का एक ही कारण है कि मैं सांसारिक क्षणिक वसंत एवं राग-रंग से उदास हो गया हूं। अब मैं ऐसा वसंत चाहता हूं जो कभी समाप्त न हो। ऐसी वसंत ऋतु का ही वासंती वस्त्र मुझे पहना दो जो कभी न उतरे। वासना के त्याग के बाद जो अमर आत्माराम में रमण होता है वह महान वसंत है और वह वसंत कभी समाप्त नहीं होता। उसके भावों का निरन्तर बना रहना ही मानो वासंती वस्त्र है। जब सद्गुरु सत्पात्र शिष्य को जड़-वासना-त्याग तथा आत्माराम के अनुराग का उपदेश करता है और साधक इस उपदेश को जीवन में उतारकर उसमें निमग्न हो जाता है तब मानो उसके लिए अनंत वसंत ऋतु का आरम्भ हो जाता है जो कभी समाप्त होने वाला नहीं है। जो सारी विषयासक्तियों को त्यागकर निरन्तर निजस्वरूप में रमण करता है उसे कहां मोह तथा कहां शोक। वह 'सदा अनंदा' है।

'पुरिया' बाना फैलाने की नरी या ताना को कहते हैं और 'पाई' उसे कहते हैं जो बांस की तीलियों या बेतों का एक ढांचा होता है। जिस पर ताने के सूत को फैलाकर उसे जुलाहे मांजते हैं। यह शरीर लम्बी पुरिया है। इसके बनने-मिटने का क्रम अनादि है। इसे मांजकर साफ करने की 'पाई' विवेक है, वह क्षीण है। जहां विवेक ही क्षीण हो वहां जीवन मांजकर शुद्ध कैसे किया जा सकता है! सूत को हम श्वास मान सकते हैं जो ईडा, पिंगला तथा सुषुम्णा रूपी तीन खूंटे में बंधा है। यदि सूत का अर्थ सनातन जीव लें तो अर्थ होगा कि यह वित्तैषणा, पुत्रैषणा एवं लोकैषणा अथवा काम, क्रोध और लोभ, अथवा रज, सत एवं तम इन तीन खूंटों में बंधा है।

इस शरीर को साहेब ने यहां करघा बताया है। करघा में वस्त्र बुना जाता है। इस शरीररूपी करघा में कर्म का वस्त्र बुना जाता है। यह पंच प्राण, पचीस प्रकृतियों तथा दस दरवाजे का करघा है जिसमें पांच ज्ञानेन्द्रियां-सखी

सदैव धमार खेलती हैं, उछल-कूद मचाती हैं। इस प्रकार कर्मों एवं कर्मजनित शरीरों के रंग-बिरंगे वस्त्र यह जीव बारम्बार पहनता है। कभी स्त्री का शरीर, कभी पुरुष का शरीर, कभी नपुंसक का शरीर तो कभी अन्य विविध योनियों का शरीर धारण करता रहता है। इन दुखों से छूटने के लिए मुमुक्षु जीव हरि के चरणों को पकड़कर विनय करता है। मनुष्य की जैसी समझ होती है वैसा आलंबन पकड़ता है। कोई गुरु को ही हरि मानकर उसी से प्रेरणा प्राप्त करता है, और यही तथ्य है। गुरु के अलावा हरि का कोई लक्षण ही नहीं मिलेगा। परन्तु बहुत-से लोग गुरु से बाहर हरि खोजते रहते हैं। जैसी भावना तथा समझ होती है, मनुष्य उसी प्रकार संसार के दुखों से छूटने के लिए प्रयास करता रहता है।

बुढ़िया माया की जवानी

बसन्त-4

बुढ़िया हँसि बोली मैं नितही बार, मोसे तरुनि कहो कवनि नार॥ 1॥
दाँत गये मोरे पान खात, केश गये मोरे गंग नहात॥ 2॥
नैन गये मोरे कजरा देत, बैस गये पर पुरुष लेत॥ 3॥
जान पुरुषवा मोर अहार, अनजाने का करौं सिंगार॥ 4॥
कहहिं कबीर बुढ़िया आनन्द गाय, पूत भतारहिं बैठी खाय॥ 5॥

शब्दार्थ—बुढ़िया=माया, तृष्णा। बार=बाला, युवती। नार=नारी। कजरा=काजल। बैस=वयस, उम्र। आनन्द गाय=सुखद सीधी गाय। पूत भतारहिं=सभी मनुष्यों को।

भावार्थ—तृष्णा-मायारूपी बुढ़िया हंसकर बोली कि मैं नित्य युवती हूं। कहो भला, मेरे समान युवती स्त्री दूसरी कौन होगी॥ 1॥ यदि मेरे टूटे दांत, उजले केश, बैठी आंखें तथा बूढ़े शरीर देखकर मेरी जवानी के प्रति शंका हो, तो लो, मैं इसका भेद बताये देती हूं—यह तो अधिक पान खाते-खाते मेरे दांत झड़ गये हैं, गंगा में अधिक नहाते-नहाते मेरे केश उजले हो गये हैं, अधिक काजल लगाते-लगाते मेरी आंखें बैठ गयी हैं और पर-पुरुषों का समागम करते-करते मेरी उम्र ढली-जैसी लगती है, परन्तु बात ऐसी है नहीं, मैं नित्य युवती हूं॥ 2-3॥ जो मेरे सुख का अनुभव रखते हैं, उनका तो मैं नित्य आहार करती हूं और जो मेरे सुख से अजानकार हैं उनको फंसाने के लिए श्रृंगार करती हूं॥ 4॥ सद्गुरु कबीर कहते हैं कि वह बुढ़िया माया देखने में आनंदप्रद सीधी-सादी गाय लगती है, परन्तु है खूँखार बाघिनि, जो सभी

मनुष्यों को खा बैठी है॥ 5 ॥

व्याख्या—माया है मन का मोह और वह अनादिकालीन है। इसलिए सद्गुरु ने इसे बुढ़िया कहा है। परन्तु यह बुढ़िया होते हुए भी नित्य युवती है, क्योंकि मनुष्य की तृष्णा बिना ज्ञान के कभी समाप्त नहीं होती है। शरीर तो बूढ़ा होता है परन्तु तृष्णा युवती बनी रहती है। पिछले वसन्त के पूरे पद में शरीर के लिए करघा का रूपक था। इस वसन्त में पूरा पद माया के लिए बुढ़िया-मानव का रूपक है। कबीर साहेब का अद्भुत दिमाग था। उनका सोचना अद्भुत था। वे अपनी बातों को रूपकों, प्रतीकों, उलटवासियों आदि में इतने सटीक ढंग से रख देते हैं कि सोचते ही बनता है।

यहां बुढ़िया का अर्थ किसी स्त्री से नहीं है, किन्तु माया ही बुढ़िया है। माया मन का मोह है, मन की तृष्णा है। हम जिन प्राणी-पदार्थों एवं भोगों से लगाव करते तथा उनका उपभोग करते हैं उनके प्रति हमारे मन में मोह बनता है और वहां तृष्णा अपना घर बनाती है। तृष्णा कभी बूढ़ी नहीं होती। शरीर बूढ़ा हो जाता है, परन्तु तृष्णा ताजा-तवाना बनी रहती है। यहां बुढ़िया-माया एवं तृष्णा का हंसना इसलिए बताया गया है कि वह बुद्धिमान, विद्वान एवं बड़े-बड़े वाचिक ज्ञानियों को अपने वश में रखती है। 'हैं सब मेरे पंजे में और बनते हैं बुद्धिमान, विद्वान और ज्ञानी।' यही भाव उसके हंसने का है।

कबीर साहेब ने बुढ़िया-माया के माध्यम से मायावशी लोगों का इस वसन्त में जैसा मजाक उड़ाया है वह बड़ा ही मनोरंजक है। तृष्णा एवं मन के मोह में डूबे लोग यही मानते हैं कि हम तो जवान ही हैं। उनके शरीर ढीले हो जाते हैं, वे दिन-दिन बुढ़ापा की तरफ खिसकते जाते हैं, परन्तु उन्हें यही भ्रम बना रहता है कि हम जवान हैं।

तृष्णा का सर्वाधिक मनोरंजक मजाक दूसरी और तीसरी पंक्तियों में है "दांत गये मोरे पान खात, केश गये मोरे गंग नहात। नैन गये मोरे कजरा देत, बैस गये पर पुरुष लेत।" माया और तृष्णा में डूबे लोग अपने आप को यही चित्रित करते हैं कि हम अभी बूढ़े नहीं हैं चाहे वे भले बूढ़े हो गये हों।

"जान पुरुषवा मोर अहार, अनजाने का करौं सिंगार।" जो लोग विषय भोगों के आदती हैं वे मानो विषयों के सुख जानते हैं। जानते क्या हैं, उनको भ्रम होता है कि हमें विषयों में सुख मिलता है। इसी भ्रम के परिणाम में वे माया एवं तृष्णा के खाद्य बन जाते हैं। जिनको जितना विषय-सुख का भ्रम होता है, उतना उसमें डूबकर अपने आप को खोते हैं। माया मानो उन्हें अपना आहार ही समझती है। जो लोग माया में नहीं लगे हैं उनको फंसाने के लिए

वह श्रृंगार करती है। जो माया-मोह वाले लोग हैं उनको देखते नहीं हो कि वे सरल लोगों को कुसंग एवं विषय का पाठ पढ़ाकर उन्हें भी माया में डुबा देते हैं। सरल लोगों को बीड़ी, सिगरेट, गांजा, भांग, शराब, फैशनबाजी, विषय-लंपटता, चोरी, धोखाधड़ी तथा अनेक कुकर्मों का पाठ कौन पढ़ाता है? जो पहले से उनमें डूबे रहते हैं।

"कहहिं कबीर बुढ़िया आनन्द गाय, पूत भतारहिं बैठी खाय।" यह बुढ़िया माया एवं तृष्णा बड़ी प्यारी लगती है, आनन्दप्रद भोली-भाली गाय-जैसी लगती है, परन्तु ऐसी न होकर क्रूर सिंहनी है। क्योंकि यह सबको खा बैठी है। मोह एवं तृष्णा सबको प्रिय हैं। अविवेकवश मोह-माया कितनी प्यारी लगती है! भोगों की तृष्णा बड़ी अच्छी लगती है, परन्तु यही इसकी क्रूरता है जिसे समझना मामूली बात नहीं है। काम-भोग सब जीवों को प्रिय है, परन्तु यही सारे मानसिक द्वन्द्वों एवं क्लेशों का कारण है। मोह-माया और तृष्णा में फंसा हुआ जीव निरंतर भवाटवी में भटकता रहता है। यह माया "पूत भतारहि बैठी खाय" पूत-भतार से मतलब है सभी मनुष्य। यही सभी मनुष्यों को अपने में फंसाकर उन्हें दुख दे रही है।

इस पूरे वंसत का सरल भाव यह है कि मनुष्य अपने अज्ञानवश विषयों की तृष्णा में फंसा जीवनभर अंधा बना रहता है। वह शरीर, जवानी तथा प्राणी-पदार्थों को सत्य माने बैठा रहता है। उसे अज्ञानवश अपनी भक्षक आदतें एवं वासनाएं ही प्यारी लगती हैं। अज्ञान की निवृत्ति तथा वासना के त्याग से ही यह दुख दूर होगा।

यह विषयों की तृष्णा बड़ी दुर्धर बेड़ी है। बड़ी ही साधना, कड़ाई, सत्संग, वैराग्य, विवेक एवं ज्ञान से इसको मिटाया जा सकता है। इसके रहते तक मनुष्य का मन कभी निर्मल नहीं हो सकता। तृष्णा के कारण ही मन सदैव विषयों में लोटा-पोटा करता है। जब विषयों की तृष्णा का अन्त हो जाता है तब मनुष्य की जो दिव्य स्थिति होती है, उसका वर्णन वाणी से नहीं हो सकता। अनुभव करके ही उसकी महत्ता जानी जा सकती है।

मनुष्य के जीवन में यदि विशेषता है तो यही है। मनुष्येतर पशु-पक्षी, कृमि-कीटादि तो विषयों के कीड़े बने ही हैं। यदि मनुष्य भी विषयों का कीड़ा बना हो तो वह पशु आदि से क्या विशेष हुआ! इस पांच फुट के हाड़-मांस के शरीर में रहते-रहते जब जीव निर्विकार मन वाला हो जाता है और तृष्णा को सर्वथा जीत लेता है तब वह अपने गौरव में प्रतिष्ठित हो जाता है। सारा सुख और श्रेष्ठता इस निर्मल मन की स्थिति में ही समझना चाहिए।

जिसका मन विषय-वासनाओं के दलदल से नहीं निकला है वह अन्य सर्व प्रकार से श्रेष्ठ होने पर भी तुच्छ है और जिसका मन इस दलदल से सर्वथा मुक्त होकर निष्काम, निर्हंकार, निर्मोह एवं वितृष्ण हो गया है वह अन्य प्रकार से तुच्छ होने पर भी महान-से-महान है। उसके बराबर कोई नहीं है। फिर उससे बड़ा तो कोई हो ही कैसे सकता है!

माया-नारि

बसन्त-5

तुम बुझ बुझ पण्डित कौनि नारि, काहु न ब्याहलि है कुमारि॥ 1॥
सब देवन मिलि हरिहि दीन्ह, चारिउ युग हरि संग लीन्ह॥ 2॥
प्रथम पदुमिनी रूप आहि, है साँपिनि जग खेदि खाहि॥ 3॥
ई बर जोवत ऊ बर नाहिं, अति रे तेज त्रिय रैनि ताहि॥ 4॥
कहहिं कबीर ये जग पियारि, अपने बलकवहिं रहल मारि॥ 5॥

शब्दार्थ—कुमारि=कुमारी, कुंआरी, जो ब्याही न गयी हो। हरि=विष्णु। पदुमिनी=पद्मिनी, स्त्रियों का उत्तम भेद। जोवत=खोजती है। बर=वर, दूल्हा, पति। रैनि=रात, वासना।

भावार्थ—हे पंडितो! तुम लोग बारम्बार बूझो और समझो कि वह कौन ऐसी स्त्री है जिसे कोई ब्याह कर अपनी पत्नी नहीं बना सका और जो आज तक कुंआरी बनी है॥ 1॥ कहते हैं कि सब देवताओं ने मिलकर लक्ष्मी को श्री विष्णु को दिया तो वे उसे चारों युगों से अपने साथ लिये हैं॥ 2॥ इस स्त्री का पहला एवं उत्तम लक्षण पद्मिनी है, परन्तु यह सर्पिणी है और संसार के लोगों को खदेड़कर खा जाती है॥ 3॥ यह अपने लक्षणों वाला दूल्हा खोजती है, परन्तु यदि इसे वैसा पति नहीं मिलता है तो इसे वासना का अत्यंत तीव्र वेग सहना पड़ता है॥ 4॥ कबीर साहेब कहते हैं कि यह जगत को प्यारी लगती है, परन्तु यह अपने जन्माये हुए बालकों को ही मारती है॥ 5॥

व्याख्या—सद्‌गुरु इस वसंत में एक ऐसी नारी का वर्णन करते हैं जो किसी से ब्याही नहीं गयी है और आज तक कुंआरी है। वह कौन नारी है, इसे समझने के लिए वे पंडितों को निमंत्रित करते हैं। क्योंकि पंडित सूक्ष्मदर्शी होते हैं। वस्तुतः तत्त्वविवेकी को ही पंडित कहा जाता है। प्रश्न होता है कि यह कौन नारी है जो आज तक किसी द्वारा ब्याही नहीं गयी है! यह है

'माया'। आज तक माया किसी के अधीन नहीं हुई। यह धरती अनादिकाल से पड़ी है। इसे भोगने के लिए बड़े-बड़े तूफान रचने वाले लोग हुए, परन्तु वे कुछ ही दिनों में कीड़े के समान इस धरती में समा गये। यह प्रसिद्ध लोकोक्ति अत्यन्त हृदयस्पर्शी है "यह वसुधा काहू की न भई।" माया की जितनी चीजें हैं धरती कह देने से सब का बोध हो जाता है क्योंकि "सबकी उत्पत्ति धरती।"[1] जीव को जो कुछ प्राप्त होता है वह सब माया है, और उसके पास नित्य रहने वाला नहीं है। अतएव यह मायारूपी नारी आज तक किसी द्वारा ब्याही नहीं गयी अर्थात किसी द्वारा अधिकृत नहीं की गयी। इस लक्षण से आगे के लिए भी समझा जा सकता है कि यह किसी के भी अधीन होने वाली नहीं है। जैसे रेल की छाया, अंजुली का जल स्थिर नहीं, वैसे माया अपने अधीन नहीं हो सकती। सद्गुरु कहते हैं कि हे पंडितो! इस बात पर गंभीरता से विचार करो और माया के मोह का त्याग करो। माया-मोह के त्याग में ही पांडित्य है।

कहा जाता है कि माया अपना सुन्दर वेष बनाकर एक महात्मा के पास गयी और उसने उनसे कहा कि आप मुझसे विवाह कर लें।

महात्मा—तू कितनी अवस्था की है?

माया—मैं अनादिकाल की हूं, मेरी अवस्था की सीमा नहीं।

महात्मा—क्या अभी तक तेरा विवाह नहीं हुआ?

माया—नहीं।

महात्मा—क्यों?

माया—संसारी मुझे चाहते हैं, परन्तु मैं उन्हें नहीं चाहती। त्यागी को मैं चाहती हूं, परन्तु वे मुझे नहीं चाहते, इसलिए अभी तक मैं कुंआरी हूं।

महात्मा—तो मैं भी तुझे नहीं चाहता।

यह सुनकर माया लज्जित होकर चली गयी।

"सब देवन मिलि हरिहि दीन्ह, चारिउ युग हरि संग लीन्ह।" पुराणों में तो समुद्र-मंथन की बात आती ही है।[2] कहते हैं समुद्र-मंथन से चौदह रत्न निकले।[3] उनमें से श्री अर्थात लक्ष्मी भी एक रत्न हैं जो समुद्र-मंथन करने

---

1. साखी 201।
2. हरिवंश पुराण, भविष्य पर्व, अध्याय 30।
3. श्री, मणि, रम्भा, वारुणी, अमी, शंख, गजराज।
कल्पवृक्ष, शशि, धेनु, धनु, धन्वन्तरि, विष, बाज॥

से उसमें से निकलीं।[1] कहते हैं कि जब लक्ष्मी निकलीं तब देवताओं ने मिलकर उन्हें श्री विष्णु को समर्पित कर दिया और श्री विष्णु ने लक्ष्मी को लेकर उन्हें चारों युगों तक अपनी पत्नी के रूप में रखा। पौराणिक धारणा यह है कि श्री विष्णु जगत के मालिक परम ईश्वर हैं और लक्ष्मी उनकी आदिशक्ति हैं। लक्ष्मी कभी श्री विष्णु से अलग नहीं होतीं। अन्य जीव के अधीन तो लक्ष्मी नहीं होतीं, परन्तु वे श्री विष्णु के नित्य अधीन रहती हैं।

कहना न होगा कि देहधारी कोई ऐसा विष्णु नहीं है कि वह अमर हो। इस बात को बीजक भर में बारम्बार दोहराया गया है कि ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव सब देह धरकर छोड़ चुके हैं। यह तथ्य है कि ब्रह्मादि नाम के ये तीनों महापुरुष रहे होंगे तो मनुष्य के रूप में जन्म लेकर कुछ दिन रहे होंगे और वृद्ध होकर शरीर छोड़ चुके होंगे। वैसे जिस ढंग से पुराणों में इनका वर्णन है उस ढंग से तो इनका अस्तित्व हो ही नहीं सकता। न वेद-शास्त्र इसके साक्षी हैं और न प्रकृति के नियम। चार हाथ, चार मुंह आदि का होना, उनका लोक-लोकांतरों में अपनी देह के सहित आना-जाना, करोड़ों-करोड़ों वर्ष रहना, जगत के उत्पत्ति, पालन, संहार करना आदि केवल मनोरंजन मात्र हैं।

1. भागवत, स्कन्ध 8, अध्याय 8।

यहां दूसरी पंक्ति में बताया गया है कि सब देवताओं ने मिलकर लक्ष्मी को श्री विष्णु के प्रति अर्पित किया और उन्होंने लक्ष्मी को पत्नी बनाकर कहावत के अनुसार चारों युगों तक साथ रखा। परन्तु इसके साथ इस पंक्ति में यह भी अर्थ छिपा है कि विष्णु के साथ लक्ष्मी का सदा रहना भी असंभव है। भले पौराणिक कल्पना हो कि श्री विष्णु तथा लक्ष्मी सदैव साथ रहते हैं। परन्तु विष्णु यदि देहधारी थे तो वे कब के देह छोड़ चुके होंगे और लक्ष्मी भी देह छोड़ चुकी होंगी। हर देहधारी संसार को छोड़ने के लिए एक दिन विवश है। भावनाओं के लोकों का विचरण जगत के तथ्य को नहीं बदल सकता।

"प्रथम पदुमिनी रूप आहि, है साँपिनि जग खेदि खाहि।" स्त्रियां चार प्रकार की मानी गयी हैं—पद्मिनी, चित्रणी, हस्तिनी तथा शंखिनी। इनके जोड़े पुरुष हैं क्रमशः शशा, मृग, वृषभ तथा गर्दभ। इनके अलावा दो उपलक्षणों वाली स्त्रियां मानी गयी हैं, इनके नाम हैं नागिनी तथा डंकिनी। इनके पुरुष हैं क्रमशः अश्व तथा महिष। इन सब का वर्णन कामशास्त्र तथा कोकशास्त्र में मिलता है। स्त्री और पुरुषों के शरीर के अंगों के लक्षणों को लेकर पंडित लोग निर्धारित करते हैं कि कौन स्त्री तथा पुरुष किस लक्षण के हैं। स्त्रियों में पद्मिनी के अंगों के लक्षण उत्तम हैं तथा पुरुषों में शशा के अंगों के लक्षण उत्तम हैं। इनके लक्षणों का वर्णन करना काम-वासना प्रदीपन में सहायक हो सकता है। इसलिए कल्याणार्थियों के लिए हानिकर समझकर इस प्रसंग को यहां नहीं बढ़ाया जा रहा है।

सद्गुरु कबीर वैराग्यप्रवर संत थे। उन्होंने स्त्रियों में उत्तम अंगों के लक्षणों वाली पद्मिनी का नाम लेकर काम-वासना पर वैराग्य का करारा कुल्हाड़ा चलाया है। वे कहते हैं कि यह पद्मिनी उत्तम लक्षणों वाली कहलाती है, परन्तु विवेक से देखें तो भयंकर सर्पिणि है और लोगों को खदेड़कर खा जाती है। कामी कवियों ने स्त्रियों को काम-वासना का खिलौना बना डाला है। उन्होंने स्त्रियों के एक-एक अंग का इतना श्रृंगारिक तथा कामोद्दीपक वर्णन किया है कि उससे स्त्री और पुरुष दोनों का पतन है। कामियों के ऐसे वर्णन तथा पुरुषों को स्त्रियों के प्रति लंपट देखकर वैराग्यवान संतों ने समाज को इस काम-वासना से विरत करने के लिए इससे मनुष्यों की पतनशीलता का वर्णन किया और स्त्रियों के शरीर में दोष-दर्शन कराया। यहां साहेब कहते हैं कि हे मनुष्य! जिस स्त्री-देह को तुम उत्तम लक्षणों वाली मानकर उसके प्रति आसक्त हो रहे हो, वह तेरे बंधनों का कारण है। काम-वासना के अधीन होकर केवल पुरुष ही नहीं, किन्तु नारी भी दुखों एवं बंधनों का शिकार होती है। अतएव काम-वासना ही नारी है और नर-नारी दोनों की देह में रहने वाले चेतन पुरुष हैं। अतएव इन चेतन पुरुषों के कल्याण के लिए आवश्यक है कि काम-वासनारूपी नारी के जाल से वे मुक्त हों।

"ई बर जोवत ऊ बर नाहिं, अति रे तेज त्रिय रैनि ताहि।" हर स्त्री अपना 'वर' खोजती है। अर्थात अपने लक्षणों वाला पति खोजती है, जैसे पद्मिनी शशा को, चित्रणी मृग को, हस्तिनी वृषभ को, शंखिनी गर्दभ को, नागिनी अश्व को तथा डंकिनी महिष को। यदि इनमें से किसी को अपना जोड़ा न मिलकर बेमेल मिलता है तो उसके मन को सन्तोष नहीं होता, बल्कि उसे काम-वासना की रात में अत्यन्त तीव्र मनोवेग सताते हैं। यह सब कामशास्त्र का विषय है। आंगिक अध्ययन के अनुसार इन बातों में कुछ सत्यता हो सकती है, परन्तु तथ्य तो यह है कि भोग से इच्छा तथा इच्छा से भोग का घनचक्कर बढ़ता है। अतृप्ति इच्छा का परिणाम है। इच्छा भोग का परिणाम है। काम-वासना का उद्वेग इसलिए होता है कि संसार के नर तथा नारी काम-भोग को महत्त्व देते हैं, उसी में लगे रहते हैं, इसलिए उसकी आदत बनकर इच्छा बन जाती है और आदत तथा इच्छा जीव को बैठने नहीं देतीं।

"कहहिं कबीर ये जग पियारि, अपने बलकवहिं रहल मारि।" कबीर साहेब कहते हैं कि यह माया जगत के लोगों को प्यारी लगती है, परन्तु उनको यह पता नहीं है कि यह अपने बालकों को ही मार खाती है। कबीर साहेब की यह सब वैरागी-भाषा है। कहा जाता है कि सर्पिनि अंडे देती है। अंडों से बच्चे निकलते हैं। सर्पिनि अपनी देह की कुंडली में बच्चों को रखकर उन्हें खाती है। जो बच्चा कहीं कुंडली से बाहर निकल जाता है वही बच पाता है। इसी प्रकार माया सबको जन्म देकर पुनः उनको अपनी कुंडली में बांधकर और उन्हें अपने में आसक्त कर मार खाती है।

इस वसन्त में 'नारि' शब्द में माया तथा स्त्री दोनों अर्थों का श्लेष है। अर्थात यहां नारि के ये दोनों अर्थ हैं। नारि का मुख्य अर्थ माया है जो किसी के अधीन नहीं होती, परंतु उसमें फंसने वाले भव-बंधनों में पड़कर मारे जाते हैं।

ज्ञानी जीव के लक्षण

बसन्त-6

माई मोर मनुसा अतिर सुजान, धन्धा कुटि कुटि करत बिहान॥ 1॥
बड़ी भोर उठि आँगन बाढ़ु, बड़ो खाँच ले गोबर काढ़ु॥ 2॥
बासी भात मनुसे लिहल खाय, बड़ो घैल लिये पानी को जाय॥ 3॥
अपने सैयाँ की मैं बाँधूँगी पाट, लै बेचूँगी हाटो हाट॥ 4॥
कहहिं कबीर ये हरि के काज, जोइया के ढिग रहि कौनि लाज॥ 5॥

शब्दार्थ—माई= माता, चेतनाशक्ति, आत्मशक्ति। मनुसा= मनुष्य, मर्द, पति। सुजान= समझदार, ज्ञानी। धन्धा= काम-काज, साधना। बिहान= सबेरा। ज्ञान। भोर= सबेरा, प्रात:काल। आँगन= हृदय। बाढ़ु= बुहारना। खाँच= टोकरी, अनासक्ति की टोकरी। गोबर= विषयासक्ति। काढ़ु= निकाल फेंकना। बासी भात= प्रारब्ध भोग।

बड़ो घैल= बड़ा घड़ा, सद्‌बुद्धि, अच्छी समझदारी। पानी= सत्संग, ज्ञान। सैयाँ= पति, चेतन पुरुष। पाट= कपड़ा, आंचल। हरि= ज्ञान। जोइया= पत्नी, स्वरूपस्थवृत्ति, आत्मा में रमने वाली वृत्ति। लाज= लज्जा।

रूपक—एक युवती लड़की अपनी ससुराल से पहली बार नैहर आयी, तो माता ने उससे उसकी ससुराल का कुशल-मंगल पूछा। ज्यादा तो यह पूछा कि तुम्हारे पतिदेव का स्वभाव कैसा है! पुत्री ने अपनी माता को बताया—हे माता! मेरे पतिदेव बड़े समझदार हैं। वे आधी रात के बाद से ही ढेंकी से धान कूटना शुरू करते हैं और उसे कूटते-कूटते सबेरा करते हैं। जब सबेरा हो जाता है तब घर-आंगन बुहार लेते हैं और एक बड़ी टोकरी लेकर पशु-शाला से गोबर निकालकर घूर में फेंक आते हैं। पतिदेव केवल परिश्रमी ही नहीं हैं, बड़े संतोषी भी हैं। वे बासी-भात खा लेते हैं। उसके बाद मेरे नहाने-धोने के लिए बड़े-बड़े घड़े लेकर पानी भरने जाते हैं। हे माता! मैं अपने ऐसे प्रेमी एवं वफादार पति की महिमा को अपने आंचल में बांध रखूंगी और उसे हाटोहाट बेचती फिरूंगी। अर्थात मैं अपने पतिदेव का सर्वत्र गुणानुवाद करती फिरूंगी। कबीर साहेब कहते हैं कि यही ज्ञान का व्यवहार है। ऐसी सौभाग्यवती पत्नी के साथ में रहने से क्या लज्जा है!

भावार्थ—स्वरूपस्थवृत्ति आत्मशक्ति से कहती है कि हे माता! मेरा पति चेतन देव बड़ा ज्ञानी है। यह निरंतर साधना करते-करते माया की अंधियारी का नाश कर देता है॥ 1॥ वह नित्य प्रातः उठकर विवेक-विचाररूपी झाड़ू से हृदयरूपी आंगन को बुहार देता है और अनासक्तिरूपी बड़ी टोकरी लेकर विषयासक्तिरूपी गोबर को निकालकर फेंक देता है॥ 2॥ वह अनासक्तिपूर्वक बासी रूप प्रारब्ध भोगों को भोगता है और अपनी विशाल समझदारी एवं सद्‌बुद्धिरूपी घड़े लेकर गुरु-संतों के सत्संग-सरोवर में निर्णयरूपी जल भरने जाता है॥ 3॥ हे चेतनाशक्ति माता! मैं अपने चेतन-पतिदेव की इस महिमा को अपने आंचल में बांधकर ग्राम, बाजार, शहर सर्वत्र इसका प्रचार करूंगी॥ 4॥ कबीर साहेब कहते हैं कि यही ज्ञान का काम है। चेतन पुरुष को ऐसी स्वरूपस्थवृत्ति रूपी पत्नी के साथ में रहने में कोई लज्जा नहीं होनी चाहिए॥ 5॥

व्याख्या—पिछले वसन्त में आया है "अपने बलकवहिं रहल मारि" यह माया अपने बालकों को ही मार रही है, क्योंकि "है साँपिनि जग खेदि खाहि" यह माया सांपिनि है। यह खदेड़कर खा जाती है। प्रश्न होता है कि क्या किसी प्रकार की पत्नी ठीक नहीं है! उत्तर में मानो सद्‌गुरु यह वसन्त बोलते हैं कि नहीं, ऐसी बात नहीं है। यह जो स्वरूपस्थवृत्ति एवं समाधिलीनवृत्तिरूपी पत्नी है, इसके साथ में रहने से कोई लज्जा नहीं करनी चाहिए। यह तो परमादर, परम प्रतिष्ठा ही का कारण नहीं, किन्तु परम शांति का कारण है।

"माई मोर मनुसा अतिरे सुजान, धन्धा कुटि कुटि करत बिहान।" स्वरूपस्थवृत्ति

एवं समाधिलीनवृत्ति कहती है कि हे चेतनाशक्ति एवं आत्मशक्ति माता! मेरा पति चेतनदेव बड़ा ज्ञानी है। वह निरंतर साधना द्वारा अज्ञान-रात का सर्वथा नाश कर देता है। यह चेतन चेतना का पति है। जिस चेतन एवं जीव को स्वरूपज्ञान की समझ हो जाती है, उसकी दुनिया बदल जाती है। ज्ञान होने का अर्थ है निरन्तर साधना में लगे रहना। जो साधक निरंतर साधना में लगा रहता है वह विहान कर देता है। विहान का शाब्दिक अर्थ है विशेष हान, अर्थात एकदम नाश, और विहान का लक्षणा अर्थ है सबेरा, क्योंकि जब अंधकार का एकदम नाश हो जाता है तब सबेरा हो जाता है। "धन्धा कुटि-कुटि" में धान कूटने की व्यंजना है। धान कूटने से उसके असार अंश छिलके निकल जाते हैं और सार स्वच्छ चावल रह जाता है। इसी प्रकार जो साधक निरंतर साधना करता है उसके मन से असार विषय-वासनाएं, गलत आदतें एवं माया-मोह निकल जाते हैं और शुद्ध चेतनस्वरूप की स्थिति रह जाती है। निरन्तर साधना का परिणाम ही है जीवन में शांति।

"बड़ी भोर उठि आँगन बाढु" संसार में देखा जाता है कि सावधान लोग एकदम सबेरे ही उठकर अपने घर-आंगन बुहारते हैं। ज्ञानी पुरुष का भी यही काम होता है। उसकी नींद ब्राह्ममुहूर्त में ही खुल जाती है और वह तुरन्त विवेक-विचार रूपी झाड़ू लेकर हृदयरूपी आंगन को बुहारने लगता है। सच्चा साधक वह नहीं है कि जो देर तक सोता रहता है। सच्चा साधक वह है जो ब्राह्ममुहूर्त में उठ जाता है। प्रातःकाल का मन बालक के मन के समान कोमल और स्वच्छ होता है। प्रातः उसके द्वारा साधना करना परम कर्तव्य है। इसके लिए आचरणों की पवित्रता आवश्यक है। जिसने पिछले दिन खुराफाती व्यवहार किया है सुबह उठकर उसका मन निर्मल बच्चे के मन के समान नहीं रह सकता। अतएव शांति-इच्छुक को चाहिए कि वह अपने सारे व्यवहार निष्कामभावपूर्वक, अहिंसापूर्वक एवं सद्भावपूर्वक करे। जिसके जीवन के सारे व्यवहार निष्काम एवं कोमलभावपूर्वक होते हैं उसका मन मक्खन के समान होता है, और प्रातःकाल तो अधिक स्वच्छ होता है। साधना के लिए प्रातःकाल बहुत अच्छा होता है। एक तो प्रकृति में शांति रहती है, दूसरी बात वातावरण प्राणप्रद वायु से व्याप्त रहता है, तीसरी बात मन हलका-फुलका रहता है। इसलिए प्रातःकाल ही उठना चाहिए और अपना मन शोधना चाहिए। प्रातःकाल किसी समस्या पर विचार करने से उसका समाधान अच्छा सूझता है। हम एकांत होकर जितना सोचेंगे, हमारे जीवन का व्यवहार उतना ही सुलझेगा।

"बड़ो खाँच ले गोबर काढु" पशु-शाला से गोबर निकाल तथा टोकरी में भरकर घूर में फेंका जाता है। यह ग्राम का नित्य का अनुभव है। साधक भी एक किसान है। उसके मन में जो विषयासक्ति का गोबर रोज इकट्ठा होता रहता है उसे वह अनासक्तिरूपी टोकरी में भरकर बाहर फेंक देता है। इसका अर्थ है कि साधक का यह परम कर्तव्य है कि वह सब समय मन को विषयासक्ति से निवृत्त करने का प्रयत्न

करता रहे। विषयासक्ति ही मलिनता है। इस मलिनता का त्याग करने वाला परमोज्ज्वल मानव है और वही परम शांति पाता है।

"बासी भात मनुसे लिहल खाय" गांवों में सुबह लोग बासी भात खाते हैं। यह भी गांव का अच्छा अनुभव है। बासीभात है प्रारब्धभोग। जो भात पिछले दिन का बनाया हुआ रखा है वही तो आज बासी है। इसी प्रकार जो पिछले जन्मों के कर्मभोगों के जोर से यह वर्तमान शरीर तथा इसके सुख-दुख भोग बने हैं यही प्रारब्ध है। विवेकवान इसे अनासक्त होकर भोगता है। ज्ञानी क्रियमाण कर्म का त्याग कर देता है, संचित कर्म ज्ञान से जल जाता है, परन्तु प्रारब्ध कर्म तो भोगना पड़ता है, जैसे श्वास लेना-छोड़ना, खाना-पीना, सोना-जागना, चलना-फिरना तथा इन सबके लिए श्रम करना आदि। शरीर-यात्रा ही प्रारब्ध भोग है और इसका अनासक्त होकर वर्तमान करना बासी भात खाना है। विवेकवान खाना-पीना आदि शरीर की सारी आवश्यक क्रियाओं को अनासक्त होकर करता है।

"बड़ो घैल लिये पानी को जाय" गांवों का यह सामान्य अनुभव है कि लोग बड़े-बड़े घड़े लेकर दूर कुआं, तालाब, झरने आदि से पानी लेने जाते हैं। अच्छी समझदारी ही मानो बड़ा घड़ा है, जिसे लेकर साधक साधु-सन्तों की संगतरूपी स्वच्छ सरोवर में जाता है और वहां से ज्ञान का पवित्र जल भर-भर कर लाता है। तात्पर्य यह है कि सच्चा साधक सदैव सत्संग-परायण होता है। वह नित्य सत्संग में बैठकर अपनी समझ को सद्ज्ञान से भरता जाता है।

"अपने सैयाँ की मैं बाँधूँगी पाट, लै बेचूँगी हाटो हाट।" स्वरूपस्थवृत्ति कहती है कि मैं अपने ऐसे पतिदेव की महिमा को सदैव अपने हृदय में रखूंगी और उसे सर्वत्र फैलाती रहूंगी। अर्थ यह है कि जो व्यक्ति उपर्युक्त दिव्य आचरणों से संपन्न होता है उसकी मनोवृत्तिरूपी पत्नी सदैव आनंदित होती है। जिसकी रहनी दिव्य है उसकी मनोवृत्ति आनन्दमय होगी ही, और जिसके ये दोनों हैं उसकी सुगंधी संसार में फैलेगी ही।

"कहहिं कबीर यह हरि के काज, जोइया के ढिग रहि कौनि लाज।" सद्गुरु कहते हैं कि यही ज्ञान का व्यवहार है। हरि ज्ञान है। गुरु को भी हरि कह सकते हैं। उसका भी अर्थ ज्ञान पर ही आयेगा। गुरु का तो यही काज है और ज्ञान का भी यही काज है कि जीवन की रहनी पवित्र हो, विषयासक्ति की सर्वथा निवृत्ति हो, मन शांत हो और स्वरूपस्थवृत्ति, समाधिलीनवृत्ति एवं शांतिरूपी पत्नी के साथ चेतन-पुरुष का निवास हो, तो ऐसी जोइया के ढिग रहने से जीव के लिए लज्जा की बात ही नहीं है। यह तो अत्यंत प्रशंसनीय है। जो चेतन पुरुष अपनी स्वरूपस्थवृत्तिरूपी पत्नी के साथ निरन्तर निवास करता है वह धन्य है। उसी का देहधारण करना सफल है। अर्थात जो जीव नित्य शांति में लीन है वह धन्य है।

वासनाओं को छोड़कर तुम स्वयं कृतार्थ हो

बसन्त-7

घरहि में बाबुल बाढ़लि रारि, उठि उठि लागलि चपल नारि॥ 1॥
एक बड़ी जाके पाँच हाथ, पाँचों के पचीस साथ॥ 2॥
पचीस बतावैं और और, और बतावैं कइ एक ठौर॥ 3॥
अन्तर मध्ये अन्त लेइ, झकझोरि झोरा जीवहिं देइ॥ 4॥
आपन आपन चाहैं भोग, कहु कैसे कुशल परिहैं योग॥ 5॥
विवेक विचार न करे कोय, सब खलक तमाशा देखें लोय॥ 6॥
मुख फारि हँसे राव रंक, ताते धरे न पावैं एको अंक॥ 7॥
नियरे न खोजैं बतावैं दूरि, चहुँदिश बागुलि रहलि पूरि॥ 8॥
लच्छ अहेरी एक जीव, ताते पुकारै पीव पीव॥ 9॥
अबकी बार जो होय चुकाव, कहहिं कबीर ताकी पूरी दाव॥10॥

शब्दार्थ—घर= शरीर, अंत:करण। बाबुल= बाबू, जीव। रारि= झगड़ा। एक= वासना। पाँच हाथ= पांच ज्ञानेन्द्रियां—कान, त्वचा, आंख, जिह्वा तथा नाक। पचीस= पचीस प्रकृतियां। अन्त= सर्वस्व, नाश। खलक= संसारी मनुष्य। अंक= चिह्न, लक्षण। बागुलि= बागुर, फांस, जाल। लच्छ= लाख, लाखों। अहेरी= शिकारी। चुकाव= अदा करना, निबटना, वासनाओं का पूर्ण त्याग करना। दाव= दावं, अवसर, कार्यसिद्धि का सुयोग।

भावार्थ—हे बाबू! घर ही में झगड़ा बढ़ा हुआ है, मन ही सदैव द्वंद्व-ग्रसित है। चंचल स्त्रियां उठ-उठकर झगड़ रही हैं॥ 1॥ एक स्त्री बड़ी है वह वासना है। उसके पांच हाथ हैं—कान, त्वचा, आंख, जिह्वा तथा नाक। इन पांचों के साथ पचीस प्रकृतियां हैं॥ 2॥ ये पचीसों जीव को भिन्न-भिन्न स्थानों पर ले जाती हैं। फिर तो वहां और अनेक गलत आदतें बन जाती हैं और वे उसे और अन्य-अन्य जगह ले जाकर घसीटती हैं॥ 3॥ ये वासनारूपी चपल स्त्रियां मनुष्य के भीतर घुसकर सर्वस्व हरण कर लेती हैं तथा उसका पतन कर देती हैं और उसे बारम्बार झकझोरती रहती हैं॥ 4॥ ये सारी इंद्रियां अपना-अपना भोग चाहती हैं। कहो भला! लोगों के कल्याण का संयोग कैसे होगा!॥ 5॥ कोई विवेक-विचार नहीं करता है, बल्कि संसारी लोग घुस-घुसकर विषयों का ही तमाशा देखते हैं जिससे उनका मन और उलझता है॥ 6॥ राजा हो या दरिद्र, जिससे विषयों की वासनाएं बढ़ें ऐसी क्रिया में ही लगे रहते हैं और उन्हीं में मुख फाड़-फाड़कर हंसते तथा आनंद मनाते हैं। इसीलिए वे शांति का एक लक्षण भी नहीं धारण कर पाते॥ 7॥ शिक्षित हो या अशिक्षित शांति, तृप्ति, परमात्मा, मोक्ष आदि शब्दों से व्यक्त अपने परम लक्ष्य को अपने पास एवं अपनी आत्मा में नहीं खोजते, बल्कि उसे दूर बताते हैं, परन्तु अपनी आत्मा के अलावा तो चारों तरफ बंधनों का ही जाल फैला है॥ 8॥ एक जीव के ऊपर लाखों शिकारी हैं, इसलिए जीव बेचारा अपने स्वरूप की महत्ता न समझकर ईश्वर-ईश्वर पुकारता रहता है॥ 9॥ परन्तु कबीर

साहेब कहते हैं कि यदि कोई आज इस जीवन में अपने स्वरूप को समझकर सारी वासनाओं का त्याग कर दे तो मानो उसने बाजी मार ली॥ 10॥

व्याख्या—"घर ही में बाबुल बाढ़लि रारि।" इस अर्धाली में "बाबुल' तथा 'रारि' ये दो शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। बाबुल का अर्थ पिता होता है। अवधक्षेत्र में बच्चे भी एक दूसरे को भाई या मित्र की दृष्टि से बाबुल कहते रहते हैं। 'रारि' कहते हैं झगड़ा को। कबीर साहेब मानव मात्र के लिए प्यार के भाव से बाबुल शब्द का प्रयोग करते हैं। अतएव यहां बाबुल का अर्थ है बाबू, भैया, मित्र आदि। साहेब कहते हैं कि हे भाई! घर ही में झगड़ा बढ़ गया है, फिर बाहर की क्या बात करें! कबीर साहेब हर विषय में बुनियाद को पकड़ते हैं। उत्साहीजन लोककल्याण की बात बहुत करते हैं, परन्तु कबीर साहेब आत्मकल्याण की बात करते हैं। लोग कहते हैं कि संसार के लोग भ्रष्ट हो गये हैं, परन्तु कबीर साहेब कहते हैं "कबीर हम सबते बुरे।" हम अपने हृदय को देखें कि हमारे में कुछ बुराई है कि नहीं। साहेब कहते हैं कि तुम दूसरे के झगड़े को क्या देखते हो! तुम अपने अन्दर झांककर देखो, तो तुम्हारे भीतर बहुत बड़ा झगड़ा मिलेगा। भीतर के झगड़े से ही बाहर का झगड़ा बढ़ता है। जिसके मन के भीतर झगड़ा नहीं रह जाता, उसके द्वारा बाहर झगड़ा नहीं होता। अतएव हमें चाहिए कि हम अपने मन के भीतर के झगड़े को समाप्त करें।

यह शरीर एक घर है और इसके भीतर सब समय झगड़ा चल रहा है। इस झगड़े में चपल स्त्रियां उठ-उठकर लगती रहती हैं। इसमें एक स्त्री बड़ी है, वह वासना है। उसके बाद पांच स्त्रियां हैं। वे मानो उस पहली वाली एक के पांच हाथ हैं अर्थात बल हैं। वे कान आदि पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं, और उनकी सहायिका पचीस स्त्रियां हैं। वे हैं पचीस प्रकृतियां। कथन बड़ा मनोवैज्ञानिक है। इस शरीर-घर में वासना बड़ी स्त्री है। यहां बड़ी का अर्थ है बलवती। यह वासना बलवती है। इसे रखकर कोई शांति नहीं पा सकता। इसे नष्टकर ही शांति मिल सकती है। इस वासनारूपी बलवती स्त्री के पांच हाथ अर्थात बल हैं कान, त्वचा, आंख, जिह्वा तथा नाक। इन पांच ज्ञानेन्द्रियों से क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ग्रहण किये जाते हैं। जीवन-रक्षा के लिए शुद्ध एवं अनासक्त होकर इन पांचों विषयों को ग्रहण करना पड़ता है। परन्तु जहां अविवेक है वहां इन इंद्रियों द्वारा दूषित पांचों विषयों का उपभोग होता है। इसलिए वासना अधिक बलवती होती है। जैसे एक तालाब हो और उसमें बाहर से पानी आने के लिए पांच नहरें हों। यदि हमें तालाब सुखाना है तो पहला काम नहरों के मुख को बांध देना है, जिससे उनसे तालाब में पानी न आवे, फिर पीछे तालाब के पानी को उलीच देना है, तब तालाब सूख जायेगा। वैसे यदि वासना का सरोवर सुखाना है तो पांचों ज्ञानेन्द्रियों को वश में करना पड़ेगा, क्योंकि इन्हीं द्वारा पांचों विषयों की आसक्ति अन्तःकरण-सरोवर में इकट्ठी होती है। पांचों ज्ञानेन्द्रियों के विषयोपभोग ही वासना को बल देते हैं। इसीलिए सद्गुरु ने वासनारूपी बलवती स्त्री के पांच हाथ इन इंद्रियों को

कहा है।

इन पांचों इंद्रियरूपी स्त्रियों की अन्य पचीस स्त्रियां सहायिका हैं। पृथ्वी तत्त्व की पांच प्रकृतियां हैं—हाड़, चाम, मांस, नस तथा रोम; जल की लार, मूत्र, वीर्य, रक्त और पसीना; अग्नि की भूख, प्यास, आलस्य, नींद तथा जमुहाई; वायु की बलकरन, संकोचन, पसारन, बोलन तथा धावन; स्थिर वायु या आकाश की काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा भय[1] माना गया है। ये प्रकृतियां हैं जो पांचों ज्ञानेन्द्रियों को बल देती हैं। ये पचीस प्रकृतिरूपी स्त्रियां जीव को अनेक तरफ खींचती हैं और यह जीव उनमें भटककर अपनी स्थिति से बहुत दूर हो जाता है।

सभी इंद्रियों, प्रकृतियों आदि का निचोड़ वासना है। यह वासना मनुष्य के भीतर धंस जाती है। "अन्तर मध्ये अन्त लेइ" और भीतर धंसकर जीव का सर्वस्व नष्ट कर देती है। जीव का सर्वस्व है शांति। वासना से शांति नष्ट होती है। हृदय में जितनी मात्रा में वासना होगी उतनी मात्रा में अशांति होगी। वासनाएं जीव को झकझोरती हैं। वासना के कारण ही तो जीव उद्वेगित होकर भटकता है। बड़े-बड़े धनपतियों, पदाधिकारियों एवं स्वामियों को कौन नींद नहीं लेने देता है? वह यही वासनाओं का उद्वेग ही है। जिसकी वासनाएं शांत हो गयी हैं वह जीवन में धन्य हो गया है।

इंद्रियां अपना-अपना भोग चाहती हैं, तो साहेब कहते हैं कि जीव के कल्याण का योग कब पड़ेगा! यदि मनुष्य अपनी इंद्रियों को निरंतर लंपट ही बनाये रखेगा तो उसका कल्याण कहां है! कोई बिरला होगा जो इस बात पर विचार करता होगा और विवेक के पथ में लगता होगा, शेष लोग अंधाधुंध वासना में पड़े हैं। संसारी लोग तो ऐसे ही तमाशे देखने में रात-दिन लगे हैं जिससे विषयों की वासना उत्तरोत्तर बढ़े। लोग वासना घटने वाला काम नहीं करते, किन्तु उत्तरोत्तर बढ़ने वाला काम करते हैं। जिसमें उनका पतन है उसी में उन्हें हंसी-खुशी लगती है। धनी हो या गरीब, राजा हो या प्रजा, शिक्षित हो या अशिक्षित, विषयों के आमोद-प्रमोद में ही अपनी शक्ति नष्ट कर रहे हैं। इसलिए उनके जीवन में कल्याण का एक लक्षण भी नहीं आता। वे आत्मशांति का एक लक्षण भी पकड़ नहीं पाते।

"नियरे न खोजैं बतावैं दूरि" सुख, शांति, ब्रह्म, परमात्मा, अल्लाह, खुदा, गॉड, निर्वाण, कैवल्य, मोक्ष आदि शब्द कहकर इनके लक्ष्य को लोग अपने निकट अर्थात अपनी आत्मा में, अपने आपा में नहीं खोजते, किन्तु दूर खोजते हैं। आदमी की यह सर्वाधिक भ्रांति है कि परमात्मा या मोक्ष 'स्व' नहीं, किन्तु 'पर' है। परन्तु यदि ये 'पर' हैं तो हमें स्थायी शांति दे नहीं सकते। वस्तुतः व्यक्ति की आत्मा ही परमात्मा है और वासना त्याग देना मोक्ष है। इसलिए परमात्मा और मोक्ष जीव से अलग नहीं, किन्तु

---

1. काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा भय प्रकृति नहीं, किन्तु मनोविकार हैं। मनोविकार मिटते हैं, प्रकृति नहीं मिटती।

जीव का ही स्वरूप है। परन्तु लोग बताते हैं कि परमात्मा दूर है तथा मोक्ष अलग मिलेगा। साहेब कहते हैं, "चहुँदिश बागुलि रहलि पूरि" अर्थात चारों दिशाओं में भ्रांति का जाल फैला है। संसारी तो संसारी ही हैं, पंडित तथा महात्मा कहलाने वाले लोग भी कितने हैं जो जीव को बाह्याचार में भटका देते हैं। "चहुँदिश बागुलि रहलि पूरि" यह सर्वत्र फैले हुए अन्धविश्वास के सम्बन्ध में मार्मिक वचन है। प्राय: जहां जाकर कल्याण की बात पूछो तो धार्मिक कहलाने वाले आकाश की ओर उंगली उठाते हैं, हृदय की ओर इशारा नहीं करते।

"लच्छ अहेरी एक जीव, ताते पुकारै पीव पीव।" एक जीव पर लाखों शिकारी हैं इसलिए वह आत्मविवेक खोकर ईश्वर-ईश्वर पुकारता रहता है। सोखा, ओझा, नाउत, बैगा, तांत्रिक, पंडे-पुजारी, फलित-ज्योतिषी, भटके हुए पंडित, भटके हुए साधु एवं भटके हुए गुरु इस मनुष्य को ऐसी भ्रांतिपूर्ण राय देते हैं कि यह स्वावलंबन, विवेक तथा आत्मविश्वास छोड़कर हर समय देवी, देवता तथा ईश्वर की दुहाई देता फिरता है। बिरले विवेकी मिलते हैं जो यह बतायें कि तुम स्वयं अपने कर्मों के कर्ता और विधाता हो; तुम स्वयं अपना उद्धार कर सकते हो; संसार से उद्धार होकर तुम्हारा कोई अलग आश्रय नहीं है, किन्तु तुम्हारी आत्मा स्वयं आश्रय है, तुम स्वयं अपने आप में पूर्ण हो।

"अबकी बार जो होय चुकाय, कहहिं कबीर ताकी पूरी दाव।" चुकाव कहते हैं छुटकारा को तथा समाप्त होने को। साहेब कहते हैं कि यदि अबकी बार सारी वासनाएं समाप्त कर दी गयीं तो मानो जीवन की बाजी मार ली गयी। इस जीवन में वही सर्वोच्च पद पर पहुंचा जिसने सारी वासनाओं, तृष्णाओं एवं एषणाओं को समाप्त कर दिया। दुख कहां है यदि वासनाएं समाप्त हो गयीं और सुख कहां है यदि वासनाएं बनी हैं। सद्गुरु कहते हैं कि हे साधक! तुम अबकी बार सावधान हो जाओ और वासनाओं को छोड़कर मुक्त हो जाओ।

इस प्रकार इस पूरे वसंत में हृदय-घर के वासनात्मक झगड़े का वर्णन कर अंत में सद्गुरु ने बताया है कि तुम्हारा लक्ष्य तुमसे दूर नहीं है, किन्तु वासनाओं को त्याग देने के बाद तुम स्वयं कृतार्थ हो।

माया के चक्कर से बचे वह पण्डित है

बसन्त-8

कर पल्लव केवल खेले नारि, पण्डित होय सो लेइ बिचारि॥1॥
कपरा न पहिरे रहै उघारि, निर्जिव से धनि अति रे पियारि।2॥
उलटी पलटी बाजु तार, काहू मारै काहू उबार॥3॥
कहैं कबीर दासन के दास, काहू सुख दै काहु निरास॥4॥

शब्दार्थ—कर पल्लव=हाथ की उंगुलियां। नारि=माया, मन का मोह।

कपरा=कपड़ा। निर्जीव=जड़ भौतिक वस्तुएं। धनि=युवती, वधू, माया। बाजु=बजाना। तार=ताल, हाथ पर हाथ मारकर लय उत्पन्न करना।

भावार्थ—कबीर साहेब कहते हैं कि माया ऐसा दावं खेलती है कि अपनी उंगलियों पर संसार के लोगों को नचाती है। जो सत-असत का विवेकी-पंडित होगा वह मेरी बातों पर विचार कर लेगा॥ 1॥ माया स्वयं कभी कपड़ा नहीं पहनती। वह सदैव नंगी रहती है। अर्थात वह निर्लज्ज है अथवा माया स्वयं जीव का आवरण है, उसका अन्य आवरण कुछ नहीं। माया भौतिक वस्तुओं के प्रति ही अधिक प्रेम उत्पन्न करती है॥ 2॥ वह अपनी हथेली उलट-पलटकर बजाती तथा संसार में एक लय उत्पन्न करती है और किसी को मारती है तथा किसी को बचाती है॥ 3॥ कबीर साहेब दासों के दास अर्थात अत्यंत विनम्र बनकर कहते हैं कि यह माया किसी को क्षणिक सुख देती है और किसी को निराश कर देती है। अथवा माया के चक्कर में पड़े सब जीव सुख-दुख तथा आशा-निराशा में पीड़ित रहते हैं॥ 4॥

व्याख्या—यहां भी 'नारि' माया का प्रतीक मात्र है। माया है मनुष्य के मन का मोह। अर्थात विषयों के प्रति जो उसके मन में मोह है वही माया है। जैसे कोई कल-बल करने में प्रवीण स्त्री हो और अपने पति को उंगली पर नचाती हो, वैसे यह माया है। 'उंगुली पर नचाना' एक प्रसिद्ध मुहावरा है। इसका अर्थ होता है इच्छानुसार काम कराना, इशारों पर नचाना, परेशान करना आदि। ऐसी कितनी ही स्त्रियां होती हैं जो अपने पति को अपनी उंगुली पर नचाती हैं। वे जैसा चाहती हैं उनके पति वैसा ही हर समय करने के लिए तैयार रहते हैं। मनुष्य के मन की माया इसी तरह है। मन का मोह माया है। यह माया नारी है। जीव उसका पति है, परन्तु यह माया-नारी जीव-पति को अपनी उंगुलियों पर नचाती है। आदमी हानिकर जानते हुए भी बीड़ी, सिगरेट, पान, तम्बाकू, गांजा, भांग, शराब, कबाब आदि का सेवन करता है। इसी प्रकार गंदी-गंदी आदतें जिन्हें मनुष्य जानता है कि ये मेरा पतनकारी हैं उन्हीं के वश होकर नाचता है। जैसे विवाह करके पत्नी लाने वाला मनुष्य है और उसके वश नाचने वाला वही मनुष्य है, वैसे गंदी आदतें बनाने वाला मनुष्य है तथा उन्हीं के अधीन होकर नाचने वाला मनुष्य है। सद्गुरु कहते हैं कि इस बात पर कोई पंडित ही विचार करेगा कि जीव की ही बनायी माया जीव को ही अपनी उंगुलियों पर नचा रही है। जिस दिन जो विचार करेगा उस दिन से वह अपने आप को माया से अलग करता जायेगा। ऐसा करना ही पांडित्य है।

"कपरा न पहिरे रहै उघारि, निर्जिव से धनि अति रे पियारि।" इस माया के दो लक्षण और हैं, एक तो यह कपड़ा न पहनकर सदा नंगी रहती है और दूसरी बात है यह निर्जिव वस्तुओं से बड़ा प्रेम करती है। माया सदैव नंगी रहती है। अर्थात यह निर्लज्ज है। इसे अपने अंग किसी को समर्पित करने में देरी नहीं तथा उससे हटने में देरी नहीं। देखो, वेश्या कैसी होती है! वह भी मानो कपड़ा नहीं पहनती। इसका

अभिधा अर्थ नहीं, लक्षणा अर्थ है। वैसे वेश्या कपड़ा पहनती है, परन्तु वह किसी के भी सामने सदैव निर्वस्त्र होने के लिए तैयार रहती है। भीड़ में लोग उससे मजाक करते हैं, उसके अंगों को छूते आदि हैं, परन्तु वह इससे लजाती नहीं है। वह किसी को भी अपनी देह बेचने के लिए हर समय तैयार रहती है, अतएव वह मानो सदैव नंगी ही रहती है। यही दशा माया की है। यह सदैव नंगी, निर्लज्ज तथा सर्वगामी है। जो वेश्या की संगत करता है वह अपनी आत्मदृष्टि से तो गिर ही जाता है, समाज की दृष्टि से भी गिर जाता है। इसी प्रकार जो माया से, गलत आदतों तथा मलिन वासनाओं से सम्बन्ध रखता है वह अपनी आत्मस्थिति से तो गिर ही जाता है, बाहर से भी हलका हो जाता है। जैसे मनुष्य के शरीर का आवरण कपड़े होते हैं, कपड़ों का आवरण दूसरा कुछ नहीं होता। कपड़े स्वयं आवरणहीन होते हैं, वैसे जीव का आवरण माया है, परन्तु माया का आवरण कुछ नहीं। अतएव माया सदैव आवरणहीन है, इसलिए वह मानो सदैव नंगी ही रहती है। जब जीव माया को देख लेता है, उसे पहचान लेता है तब वह मानो पंडित हो जाता है और माया निवृत्त हो जाती है। पंडित की दृष्टि से माया गायब हो जाती है। यह भाव सांख्यदर्शन की इस कारिका की याद दिलाता है "चेतन पुरुष यह विचार कर प्रकृति से उदासीन हो जाता है कि मैंने उसे देख लिया; और प्रकृति पुरुष द्वारा देखी जाने के कारण उस पुरुष के लिए व्यापार-शून्य हो जाती है। इस प्रकार शरीर रहते तक प्रकृति-पुरुष का संयोग रहने पर भी प्रकृति उस पुरुष के लिए सृष्टि का कारण नहीं बनती।"[1]

माया का अन्य लक्षण है कि यह निर्जीव वस्तुओं से अधिक प्यार करती है। देखते नहीं हो कि जमीन, मकान, रुपये-पैसे आदि जड़ वस्तुओं के लिए लोग पिता, भाई, गुरु, राजा आदि की हत्या करते हैं। इन्हीं सबके लिए चोरी, डाका, राहजनी, छल-कपट तथा नाना दुराचार किये जाते हैं। इन जड़-वस्तुओं की माया में पड़कर ही लोग चेतन प्राणी के साथ दुर्व्यवहार करते हैं। जो लोग जितना माया में आसक्त होते हैं वे उतना ही जीव के साथ निश्शीलता तथा जड़पदार्थों के साथ अनुराग करते हैं। सारी कठोरता तथा क्रूरता, माया में आसक्ति का फल है।

"उलटी पलटी बाजु तार, काहू मारै काहू उबार।" जैसे कोई मतवाली स्त्री अपने दोनों हाथों को उलट-पलटकर ताली बजाये और अपने बहुत-से रसिक पुरुषों के बीच में धमाल मचाये और किसी को मारे तथा किसी को उबारे वैसे संसार की माया मानो जीवों के बीच में उलट-पलट कर ताली बजाती है और परिवर्तन की एक लय उत्पन्न करती है और किसी को मारती है तथा किसी को बचाती है। माया के अनेक रूप हैं। मन का मोह माया है, यह ऊपर कहा गया है। यहां माया संसार की

---

1. दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या ।
सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य॥ सांख्यकारिका, 66॥

परिवर्तनशीलता है। इस परिवर्तनशील संसार में एक काल में कोई मरता है तथा कोई बचता है, परन्तु जो अभी बचता है वह आगे नहीं रह जाता।

"कहैं कबीर दासन के दास, काहू सुख दै काहु निरास।" यहां कबीर साहेब अपने आप को दासों का दास बताते हैं। यह उनकी अत्यन्त उदारता है। कबीर साहेब उनके सामने उग्र बन जाते हैं जो धर्म, ईश्वर तथा मोक्ष के नाम पर लोगों को मूर्ख बनाते हैं, परन्तु वे अपने आप में अत्यन्त विनम्र हैं। "दादा भाई बाप कै लेखों, चरणन होइहौं बन्दा।"[1] कहने वाले कबीर साहेब यहां भी अपने आप को 'दासों का दास' बताते हैं।

साहेब कहते हैं कि यह माया किसी को सुख देती है और किसी को निराश करती है। यह प्रक्रिया सब जीवों पर घूम-घूम कर आती रहती है। अर्थात माया के चक्कर में पड़े सब जीव सुख-दुख, आशा-निराशा के रहंट-चक्र में घूमते रहते हैं, वे चाहे धनी हों या निर्धन, राजा हों या रंक, शिक्षित हों या अशिक्षित, सब आशा-निराशा के झमेले में पड़े फूलते-पचकते रहते हैं।

इस प्रकार इस वसंत में 'नारी' माया का प्रतीक है। नर-नारी में कही जाने वाली नारी को यहां नारी नहीं कहा गया है, किन्तु नर और नारी दोनों के मन में रहने वाली आसक्ति तथा गलत आदतें माया है और यहां यही नारी है, जिसके चक्कर में पड़े समस्त नर-नारी दुखी हैं। इसलिए सबको माया का त्याग करना चाहिए। अर्थात मन के मोह का त्याग करना चाहिए।

देहाभिमान छोड़कर आत्माराम का भजन करो

बसन्त-9

ऐसो दुर्लभ जात शरीर, राम नाम भजु लागू तीर॥ 1॥
गये बेनु बलि गये कंश, दुर्योधन को बूड़ो बंश॥ 2॥
पृथु गये पृथिवी के राव, त्रिविक्रम गये रहे न काव॥ 3॥
छौ चकवै मण्डली के झारि, अजहूँ हो नर देखु बिचारि॥ 4॥
हनुमत कश्यप जनक बालि, ई सब छेंकल यम के द्वारि॥ 5॥
गोपीचन्द भल कीन्ह योग, जस रावण मार्‌यो करत भोग॥ 6॥
ऐसी जात देखि नर सबहिं जान, कहहिं कबीर भजु राम नाम॥ 7॥

शब्दार्थ—त्रिविक्रम=तीन डग (विष्णु के); विष्णु, वामन। छौ चकवै=छह चक्रवर्ती। मण्डली=समूह, छोटे-छोटे राजा मांडलिक कहलाते हैं और बारह राजाओं का अधिपति मंडलीक कहलाता है।

1. साखी 322।

भावार्थ—हे मनुष्य! ऐसे दुर्लभ शरीर का समय बीता जा रहा है, अतएव अविनाशी राम का भजन करो और संसार-सागर से पार लगो॥ 1॥ यहां से थोड़े दिनों में सब चले जाते हैं। देखो वेन, बलि तथा कंस जैसे बलवान राजा चले गये। दुर्योधन जैसे प्रतापी राजा का वंश डूब गया॥ 2॥ पृथ्वी के चक्रवर्ती सम्राट पृथु चले गये और बलि को छलने वाले वामन भी चले गये। यहां कोई भी नित्य रहने नहीं पाता॥ 3॥ हे मनुष्य! आज भी विचारकर देखो, मांडलिक राजाओं के मंडलीक छह चक्रवर्ती सब बाल-बच्चे सहित संसार से चले गये॥ 4॥ यहां तक कि हनुमान, कश्यप, जनक तथा वाली, ये सब भी मृत्यु के द्वारा घेर लिये गये॥ 5॥ गोपीचंद उत्तम योग करते हुए चले गये, उनसे विपरीत रावण भोग करते हुए चले गये॥ 6॥ कबीर साहेब कहते हैं कि इस प्रकार सबकी जान जाती हुई देखी जाती है। इसलिए माया का अहंकार एवं मोह छोड़कर अविनाशी राम का भजन करो॥ 7॥

व्याख्या—मानव शरीर दुर्लभ है। दुर्लभ उसे कहते हैं जिसका प्राप्त होना कठिन हो। देखो, संसार में नाना खानियों में असंख्यात जीव हैं, परन्तु मनुष्य बहुत थोड़े हैं। मानव-शरीर में ही विवेक उत्पन्न होता है। यहीं से भवबंधनों के नाश के उपाय किये जा सकते हैं। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि विवेकियों ने राम ऐसा नाम जिस तत्त्व का रखा है उसका स्मरण करो; क्योंकि वह अविनाशी है। तुम जिस माया का रात-दिन स्मरण करते हो वह नाशवान है। इसलिए उसके स्मरण में, उसके मोह में तुम्हारा पतन है। तुम संसार के राग में पड़कर ही भवधारा में बहते हो। परन्तु यदि तुम अविनाशी राम का भजन करो जो तुम्हारा स्वरूप ही है तो संसार-सागर से उद्धार हो जाये। तुम काम में लगे हो इसलिए राम का स्मरण छुटा हुआ है, परन्तु यदि राम में लग जाओ तो काम छूट जायेगा। काम कीचड़ है, राम स्वच्छ चेतन है। काम मलिनता है, राम परम पवित्र है। काम जगतरूप है, परन्तु राम निजस्वरूप है। अतएव कबीर साहेब कहते हैं कि काम-कीचड़ से निकलकर अविनाशी निजस्वरूप राम का भजन करो।

इस संसार में बड़े-बड़े नाम वाले आये, परन्तु थोड़े दिनों में सब अपने नौबत-नगाड़े बजवाकर यहां से कूच कर गये। जवानी, प्रभुता, पद, अधिकार, धन-दौलत थोड़े दिनों की लालिमा है। इनके आकर लौट जाने में देरी नहीं लगती। जो इनके अहंकार एवं मोह में डूबा है वह वज्र मूढ़ है। संसार की चीजें तो आत्मकल्याण और लोककल्याण करने के साधन मात्र हैं। इनका अहंकार करना भूल है। बिजली की चमक, बादल की छाया और संसार के ऐश्वर्य एक समान क्षणभंगुर हैं। हम मोह-मूढ़ बने इन्हीं में लिपटे रहते हैं। इतना ही नहीं, इनके लिए नामालूम क्या-क्या पाप करते हैं। कबीर देव कहते हैं कि संसार की क्षणिक माया का मोह छोड़ो और कभी न बिछुड़ने वाले अपने आत्माराम का भजन करो। जो क्षणिक संसार का मोह छोड़ देता है और अविनाशी आत्माराम में रमण करता है वह संसार-सागर से तर जाता है।

वेन तथा पृथु

राजा अंग तथा रानी सुनीथा से एक पुत्र पैदा हुआ उसका नाम वेन था। वेन दुष्ट था। वह खेलते समय बच्चों को पीड़ा देता था तथा मूक पशुओं को बाण से व्यर्थ में मार देता। राजा अंग ने उसे बहुत समझाया परन्तु उन्हें सफलता न मिली। उन्होंने सोचा कि कुपुत्र की अपेक्षा निर्वंश रहना अच्छा था। परन्तु कुछ क्षण में सोचा कि मुझे कुपूत मिला तो अच्छा ही है। मेरा मन संसार से विरक्त हो रहा है। एक रात राजा अंग सबको छोड़कर विरक्त हो वन में चले गये। प्रजा, मंत्री तथा पुरोहितों ने उन्हें उसी प्रकार वन में खोजा जैसे योग के यथार्थ मर्म को न जानने वाले लोग अपने हृदय में छिपे हुए परम तत्त्व को बाहर खोजते हैं।[1] अन्ततः वे राजा को नहीं पाये।

मंत्रियों की सम्मति न होने पर भी पुरोहितों ने राजकुमार वेन को इसलिए राजगद्दी पर बैठा दिया कि प्रजा में अराजकता न फैल जाये; परन्तु वेन राजगद्दी पर बैठकर और उन्मादी हो गया। वेन द्वारा उत्तरोत्तर प्रजा को पीड़ा मिलने लगी। अतः ब्राह्मणों ने उसकी हत्या कर दी। जब राजा न रहने से पुनः प्रजा में अव्यवस्था फैलने लगी तब ब्राह्मणों ने वेन के पुत्र पृथु को राजगद्दी पर बैठाया जो धर्मात्मा था।

बीच में पंडितों ने काल्पनिक बातें जोड़ी हैं। वह यह कि वेन को कोई संतान न थी। उसे ब्राह्मणों ने मार दिया। उसकी लाश पड़ी थी। ब्राह्मणों ने उसके जंघे को मथा तो उससे एक बालक निकला जो काला था। उसे ब्राह्मणों ने कहा 'निषिद' (बैठ जा)[2] इसलिए उसका नाम निषाद कहलाया, फिर तो उसी से निषाद–जाति ही बन गयी। फिर ब्राह्मणों ने वेन की भुजाओं को मथा तो उनसे एक स्त्री तथा एक पुरुष पैदा हुए।[3] स्त्री का नाम अर्चि तथा पुरुष का नाम पृथु हुआ। पृथु धर्मवान थे।

पृथु जब राजगद्दी पर बैठे, तब प्रजा में भुखमरी थी। राजा ने पृथ्वी से अन्न देने के लिए कहा। पृथ्वी ने उनकी बातों पार ध्यान नहीं दिया। पृथु ने कुपित होकर धन्वा–बाण सम्हाला। पृथ्वी गौ बनकर भागी। परन्तु कहीं शरण न पाकर पृथु की शरण ही में गयी। तब पृथु ने स्वयंभुव मनु को बछड़ा बनाकर पृथ्वीरूपी गौ से अन्न तथा औषधियों आदि को दुहा। राजा पृथु ने आगे चलकर सौ अश्वमेध यज्ञ किया। पीछे से उन्होंने तप किया और संसार से चले गये।[4] पृथ्वी का गौ बनना तथा पृथु का उसे दुहना एक प्रतीकात्मक कथन है। इसका मतलब यह है कि पृथु ने कृषि–विज्ञान द्वारा खेती की उन्नति की।

बलि

---

1. यथा निगूढ़ं पुरुषं कुयोगिनः । (भागवत 4/13/48)
2. भागवत, 4/14/45 ।
3. भागवत, 4/15/1-2 ।
4. वही, 4/15-23 ।

राजा बलि के पिता का नाम विरोचन तथा पितामह का नाम प्रह्लाद था। ये दान करने में प्रसिद्ध थे। विष्णु ने छलकर इनकी सरलता का दुरुपयोग किया और वामन रूप धारणकर इनका राज्य छीन लिया था।

कंस

कंस मथुरा के राजा उग्रसेन का क्षेत्रज पुत्र था। इसने मगधराज जरासंध की अस्ति तथा प्राप्ति नाम की दो कन्याओं का पाणिग्रहण किया था। इसने जरासंध की सहायता लेकर अपने पिता उग्रसेन को राजगद्दी से हटाकर उसे कारावास में डाल दिया था और यह स्वयं राजगद्दी पर बैठ गया था। यह श्री कृष्ण के क्रांतिकारी स्वभाव से डरकर उनसे शत्रुता रखता था। अंततः कृष्ण ने इसे मार डाला।

त्रिविक्रम

'त्रि' कहते हैं तीन को तथा 'विक्रम' कहते हैं कदम, डग एवं पग को। इसका रूढ़ अर्थ विष्णु है। अर्थात त्रिविक्रम वह है जिस विष्णु ने अपने तीन पग से बलि का सारा राज्य नाप लिया था। विष्णु ने अपने बड़े भाई इंद्र के संतोष के लिए बलि के साथ छलकर उनसे तीन पग जमीन मांगी और तीन पग में उनका सारा राज्य नाप लिया। तीन पग में पूरे राज्य को नाप लेने की बात आलंकारिक है। सार इतना ही है कि जिस वामन एवं विष्णु ने बलि के साथ छल कर उनका राज्य छीन लिया था वे भी उसे छोड़कर चले गये।

दुर्योधन, हनुमान, जनक, वाली

दुर्योधन धृतराष्ट्र का पुत्र था जो बहुत बड़ा योद्धा, सम्राट तथा अभिमानी था। हनुमान महावीर थे, जिन्होंने सीताहरण के बाद श्रीराम का काम बनाया था। जनक मिथिला के राजा तथा आत्मज्ञानी पुरुष थे। वाली किष्किंधा का राजा, महान बलवान तथा प्रतापवान था, परन्तु ये सब संसार से चले गये।

कश्यप

कश्यप[1] बहुत महत्त्वपूर्ण नाम है। कश्यप नाम के ऋग्वेद के ऋषि भी हैं; ऐतरेय ब्राह्मण में कश्यप पुरोहित हैं। शतपथ ब्राह्मण में कश्यप प्रजापति का नाम है। महाभारत तथा पुराणों के अनुसार ब्रह्मा के छह मानस-पुत्रों में से एक 'मरीच' थे जिन्होंने अपनी इच्छा से कश्यप नामक पुत्र पैदा किया। कश्यप ने दक्षप्रजापति की सत्तरह (17) पुत्रियों के साथ अपना विवाह किया। उन 17 पत्नियों से इस प्रकार सृष्टि हुई—

1. अदिति से आदित्य (देवता)
2. दिति से दैत्य
3. दनु ने दानव

---

1. कश्यप—हिन्दू धर्मकोश।

4. काष्ठा से अश्वादि
5. अनिष्टा से गंधर्व
6. सुरसा से राक्षस
7. इला से वृक्ष
8. मुनि से अप्सरागण
9. क्रोधवशा से सर्प
10. सुरभि से गौ और महिष
11. सरमा से श्वापद (हिंस्त्र पशु)
12. ताम्रा से श्येन–गृधादि
13. तिमि से यादोगण (जल जन्तु)
14. विनता से गरुड और वरुण
15. कद्रू से नाग
16. पतंगी से पतंग
17. यामिनी से सलभ

मार्कंडेय पुराण के अनुसार कश्यप की तेरह पत्नियां हैं। उनके नाम ये हैं— 1. दिति, 2. अदिति, 3. दनु, 4. विनता, 5. खसा, 6. कद्रु, 7. मुनि, 8. क्रोधा, 9. रिष्टा, 10. इरा, 11. ताम्रा, 12. इला और 13. प्रधा।

कश्यप एक गोत्र भी है जो बहुत व्यापक है। जिस व्यक्ति का कोई गोत्र नहीं मिलता उसका गोत्र कश्यप मान लिया जाता है, क्योंकि कश्यप से ही सबकी उत्पत्ति मानी गयी है।

कश्यप की 17 या 13 पत्नियों से मनुष्य ही नहीं, पशु, कीड़े, सांप–गोजर भी पैदा हुए यह निरी कल्पना है। सद्‌गुरु के कथन का तो मतलब यह है कि संसार में बड़े–बड़े नामधारी हुए और वे रह नहीं गये। इस संसार में वह सफल नहीं है जिसने केवल माया का संग्रह कर लिया है। सफल तो वह है जो संसार की आसक्ति का त्यागकर आत्माराम का भजन करता है।

भर्तृहरि के भांजे गोपीचन्द एक राजकुमार थे। वे विरक्त होकर गोरखपंथ में दीक्षित हो गये थे। वे योग में प्रवीण थे। इसके विरुद्ध प्रतापवान, बलवान एवं विद्वान सम्राट रावण भोग में प्रवीण था। साहेब कहते हैं कि रावण भोग करते मारा गया। यहां तक, भोग–कामना के वशीभूत हो परायी स्त्री का हरण किया और उसके फल में मारा गया। साहेब यहां गोपीचन्द तथा रावण का विरुद्ध उदाहरण देते हैं कि एक गोपीचन्द थे जिन्होंने राजपाट छोड़कर अच्छा योग किया और दूसरा रावण था जो विद्वान तथा प्रतापवान होकर भोगों के चक्कर में मारा गया। जीवन उसी का धन्य है जो भोगों से हटकर योग में लगता है, तथा सांसारिक कामनाओं से हटकर आत्माराम

में लगता है।

अहंकार छोड़ो तथा आत्माराम के भजन में लगो

बसन्त-10

सबहीं मद माते कोई न जाग, संगहि चोर घर मूसन लाग॥ 1॥
योगी माते योग ध्यान, पण्डित माते पढ़ि पुरान॥ 2॥
तपसी माते तप के भेव, संन्यासी माते कर हंमेव॥ 3॥
मोलना माते पढ़ि मुसाफ, काजी माते दै निसाफ॥ 4॥
संसारी माते माया के धार, राजा माते करि हंकार॥ 5॥
माते शुकदेव उद्धव अक्रूर, हनुमत माते लै लंगूर॥ 6॥
शिव माते हरि चरण सेव, कलि माते नामा जयदेव॥ 7॥
सत्य सत्य कहैं सुमृति वेद, जस रावण मारेउ घर के भेद॥ 8॥
चंचल मन के अधम काम, कहिं कबीर भजु राम नाम॥ 9॥

शब्दार्थ—मद= नशा, अहंकार। जाग= सावधान, होश-हवास। चोर= अहंकार, वासना। मूसन= चुराना। भेव= भेद, रहस्य। हंमेव= अहंकार, अहं ब्रह्मास्मि। मोलना= मौलवी। मुसाफ= कुरान शरीफ। निसाफ= इंसाफ, न्याय। धार= धारा, लहर। नामा= नामदेव। घर के भेद= घर की फूट।

भावार्थ—सब किसी-न-किसी प्रकार की मदिरा पीकर नशा में चूर हैं। कोई सावधान नहीं हो रहा है। उनके साथ ही में अहंकार-कामनारूपी चोर लगे हुए हैं जो उनके शांति-धन को चुरा रहे हैं॥ 1॥ योगी लोग योग तथा ध्यान के अहंकार में चूर हैं। पंडित लोग पुराण पढ़कर उसके अहंकार में डूबे हैं॥ 2॥ तपस्वी लोग तपस्या के मद में मतवाले हैं। संन्यासी लोग 'अहं ब्रह्मास्मि' की रट लगाकर अहंकार में डूबे हैं॥ 3॥ मौलाना लोग कुरान-शरीफ पढ़कर इस अहंकार में डूबे हैं कि हम तो खुदाई किताब के पाठक हैं। काजी लोग इसलाम के न्याय सुनाकर घमंड में चूर हैं कि यह ईश्वरीय कानून है॥ 4॥ संसारी लोग माया की लहर में डूबे हैं। राजा लोग विश्व अभिमान में बेभान हैं॥ 5॥ ज्ञान के नशे में शुकदेव, उद्धव तथा अक्रूर डूबे हैं। हनुमान अपनी पूंछ के घमंड में डूबे हैं॥ 6॥ शिवजी विष्णु के चरणों की सेवा कर मतवाले हुए और कलियुग में भक्ति के जोश में नामदेव तथा जयदेव मतवाले बने॥ 7॥ वेदों और धर्मशास्त्रों में यह बात पूरी-की-पूरी सही कही गयी है कि आदमी अपने ही अन्दर में उत्पन्न हुए अहंकार-कामना की आग में जलता है। जैसे रावण अपने घर की फूट से मारा गया वैसे हर व्यक्ति अपने ही भीतर के अहंकार-कामना रूपी हमलावरों से मारा जाता है॥ 8॥ चंचल मन के सभी काम नीच होते हैं, इसलिए सद्गुरु कबीर कहते हैं कि सब प्रकार अहंकार-कामना का परित्याग कर

अविनाशी आत्माराम का भजन करो॥ 9॥

व्याख्या—किन्हीं भी प्राणी, पदार्थ, पद, भाव, क्रिया आदि का सम्बन्ध होने पर यदि सावधान न रहे तो उनमें अहंकार जगता है। अहंकार के साथ कामना छिपी रहती है। ये अहंकार-कामना मनुष्य के भीतर रहे हुए चोर हैं जो उसके ज्ञान एवं शांति-धन को नित्य चुराते रहते हैं। साहेब कहते हैं कि लोग किसी-न-किसी प्रकार की मदिरा पीकर मारते हैं। सबके हृदय-घर में चोरी हो रही है, परन्तु लोगों को इसका पता नहीं है।

"योगी माते योग ध्यान" वैसे योग का अर्थ है चित्तवृत्ति का निरोध, जिससे चेतन जड़वर्ग से अलग होकर अपने स्वरूप में स्थिर हो जाता है। इसमें किसी प्रकार के अहंकार की गुंजाइश नहीं है, परन्तु अधिकतम योगी योग के बाह्याचार में उलझ जाते हैं, जैसे नेति, धोति, कपालि, कुंजल आदि षटकर्म करना, षटचक्र वेधन, ज्योति-दर्शन, नाद-श्रवण, आसन, मुद्रा दिखाना, ऋद्धि-सिद्धि तथा चमत्कार का दिखावा करना आदि। वे इन्हीं सबका अहंकार लिये घूमते हैं। जो योग-मार्ग सारे अहंकारों को दूरकर निजस्वरूप में स्थिर होने के लिए है, उसे ही अहंकार का कारण बना लेना अपनी ही असावधानी है।

"पण्डित माते पढ़ि पुरान" पंडित लोग पुराणों को पढ़कर मतवाले हैं। पुराणों में थोड़ा-सा सत्य लेकर शेष झूठी कथाओं की भरमार है। प्रायः हर कथा में यही दर्शाने की चेष्टा की गयी है कि ब्राह्मणों को जितना अधिक दान दिया जा सके उतना अच्छा है। ब्राह्मणनामधारी सबसे बड़ा है वह चाहे जैसा हो। नैतिकता पर जोर कम, किन्तु देवी, देवता, हरि तथा पूजा-पाठ एवं तीर्थ-नदी से सारे पापों का नाश एवं मोक्ष माना गया है। पंडितों ने पुराणों को पढ़कर उसके सारे वर्णन को सत्य मान लिया और वे उसी में मस्त हो गये।

"तपसी माते तप के भेव" तपस्वी लोगों ने तपस्या के गूढ़ रहस्यों को खोजा। वे जलशयन, अग्नितापन, खुले आकाश में निवास, घोर उपवास तथा और भी अनेक ऊलजलूल काया-कष्ट की विधियों की गवेषणा कर उनमें अपने शरीर को तपाने लगे। वे अपने आगे दूसरों को तुच्छ समझने लगे। वे काया को अधिक संताप देना ही कल्याण का रास्ता समझने लगे और उसी के क्रियाकलाप में डूब गये।

"संन्यासी माते कर हंमेव" संन्यासी लोग अहंकार में मतवाले हैं। उन्होंने समझा कि सच्चा ज्ञान केवल हमारे पास है। 'अहम् ब्रह्मास्मि' अर्थात मैं ब्रह्म हूं, मैं चेतन हूं, यह भाव सारे अहंकारों के विसर्जन का साधन है, परन्तु उन्होंने इसे अहंकार का साधन बना लिया। उन्होंने मान लिया कि हम सारे विश्व के कर्ता-धर्ता हैं जबकि वे अपने शरीर में पैदा हुई एक फुंसी को चुटकी बजाते नहीं अच्छा कर सकते। वे अपने पीठ-पीछे की बात नहीं जानते, किन्तु अहंकार करने लगे कि मैं सर्वत्र व्याप्त विश्व का नियन्ता हूं। वे प्रलाप करने लगे कि मैं ही सूरज हूं, मैं ही चांद हूं और मैं ही अनंत

विश्व-ब्रह्मांड हूं। कितने संन्यासी तो अहंकार में इतना चूर रहते हैं कि अभिवादन करने पर प्रत्याभिवादन नहीं कर सकते। यहां तक कि वे आशीर्वाद देने में अपनी हेठाई समझते हैं। उनके ख्याल से वे ठहरे ब्रह्म, और उनके अलावा कोई या कुछ है ही नहीं, फिर वे कुछ क्या मानें! अतः वे अपने आप को ही सर्वोच्च मान लिये।

"मोलना माते पढ़ि मुसाफ" मौलवी साहब कुरानशरीफ को पढ़कर मतवाले हुए। उन्होंने माना कि ईश्वर एक है और वह वही है जो मुहम्मद, कुरान तथा इसलाम को भेजा है। भले उसने पहले दूसरे पैगंबर तथा किताबें भेजी हों, परन्तु अब तो उसने मुहम्मद को खत्मा-नबी बनाकर भेजा है। अब इसके आगे न कोई दूसरा नबी आयेगा, न किताब आयेगा और न मजहब आयेगा। अतएव अनंत ब्रह्मांड तथा महाप्रलय तक के लिए बस एक ही ईश्वरीय धर्मग्रन्थ है कुरान, एक ही पैगंबर है मुहम्मद तथा एक ही रास्ता है इसलाम। इसलिए जो कुरान शरीफ पढ़ता है वही राहेखुदा है, बाकी लोग राहेजुदा एवं राहेदोजख हैं। लोग ऐसा मजहबी कुआं के मेढक बनते हैं कि उससे अधिक उन्हें कुछ पता ही नहीं होता और वे अपने कुएं में पड़े मस्त रहते हैं।

"काजी माते दै निसाफ" काजी लोग इसलाम मजहब के कानून-कायदे के अनुसार न्याय सुनाकर उसी में मतवाले हो गये। उन्हें न देश की परवाह है और न काल की। ईसा की छठी शताब्दी में अर्थात हजरत मुहम्मद के काल में अरब वालों के लिए जो कुछ न्याय था वही सब आज भी सारी दुनिया के लिए न्याय बनाने का हठ है। आये दिन संसार के मुसलिम राष्ट्र अपनी प्रजा को बेवकूफ बनाकर उन पर राज्य कायम रखने के लिए इसलाम-शासन की दुहाई देते हैं और समाज के विविध वर्गों पर अत्याचार करते हैं। सबसे दयनीय दशा तो स्त्रियों की बनायी जाती है। शताब्दियों पूर्व किसी देश के कानून संसार भर के सब समय के लिए कानून नहीं हो सकते। परन्तु काजियों को यही गर्व है कि इसलाम के कानून सब देश तथा सब काल के लिए समान हैं।

"संसारी माते माया के धार" संसार की आसक्ति में डूबे हुए संसारी लोग तो माया-मोह की धारा में बहते हुए अपने नशा में मतवाले हैं। उनके ख्याल से जवानी, धन, पद, अधिकार, प्रतिष्ठा सब अजर-अमर हैं। वे इनके लिए पाप-पुण्य सब करने के लिए तैयार हैं। उन्हें वर्षों में शायद एक बार भी न मौत की बात याद आती है और न इन सबके छूटने की। वे सब समय माया के उन्माद में चूर रहते हैं। जैसे आग से घिरा हुआ सांप क्रोध से फनफनाता हुआ ऐंठ-ऐंठ कर जल मरता है वैसे अंततः माया-अहंकारी की दशा होती है।

"राजा माते करि हंकार" राजा लोग अपने विश्व अहंकार में डूबे रहते हैं। इतिहास उठाकर देखो तो राजाओं, सम्राटों एवं चक्रवर्ती नामधारियों में से अनेकों ने जो-जो अत्याचार जनता पर किये हैं, अपने राज्य-विस्तार के लिए जो निरपराधों का खून बहाया है वह अत्यन्त निंदनीय है। अंततः सारे राजे-महाराजे बिजली की तरह

चमककर बुझ गये हैं। जब तक जो सत्ता में रहता है तब तक वह अपने आप को अजर–अमर माने रहता है, परन्तु कुछ दिनों के बाद उसका कोई नामलेवा नहीं रह जाता। असंख्य राजे–महाराजे हो गये, जिन्हें आज कोई जानता तक नहीं। क्या रखा है इस संसार के राज–काज में! परन्तु जो व्यक्ति जब जहां गद्दी पर बैठता है वह समझता है कि मैं अब अजर–अमर हूं और मेरी गद्दी अजर–अमर है।

"माते शुकदेव उद्धव अक्रूर" शुकदेव, उद्धव तथा अक्रूर ज्ञान में मतवाले हो गये। इन सब ज्ञानियों ने पहले तो अपनी आत्मा से देह तथा जगत को अलग बताया और पीछे देह–जगत सब कुछ को आत्मरूप ही बता दिया। ब्रह्मविचार करते–करते ब्रह्मविचार न रहकर जड़–चेतन एकतारूपी अविद्या का स्वरूप उपस्थित हो जाता है। शुकदेव मुनि ने राजा परीक्षित को आत्मज्ञान का सारा उपदेश देने के अंत में कहा— "सर्प अपने विषपूर्ण मुख से जीभ लपलपाते हुए तुम्हारे पैर को काट ले तो इसकी कोई परवाह नहीं करना, क्योंकि तुम शरीर और संसार को अपनी आत्मा से अलग नहीं समझोगे।"[1] यहां पर शुकदेव मुनि ने सारा गुड़ गोबर कर दिया। शरीर और संसार तो जड़ हैं, विकारी हैं तथा आत्मा चेतन और निर्विकार है। दोनों की एकता को अविद्या कहा गया है, फिर यह ज्ञान कैसे हो गया! इस प्रकार ब्रह्मज्ञान के नाम पर शुकदेव, उद्धव, अक्रूर आदि ज्ञानी जड़–चेतन एवं आत्मा–देह की एकता कहकर अध्यात्मक्षेत्र में महाभ्रम फैला दिये हैं। एक बार कहते हैं कि जड़–चेतन अलग–अलग हैं, देह तथा आत्मा सर्वथा भिन्न हैं और बाद में कहते हैं कि देह तथा आत्मा एक है तथा शरीर–संसार सब आत्मा ही है। यह सब ब्रह्मज्ञान के नशा में मतवाला हो जाना ही है।

"हनुमत माते लै लंगूर" हनुमान को अपनी पूंछ का घमंड हुआ। पूंछ तो एक कहावत मात्र है। हनुमान, सुग्रीव, वाली आदि न वानर थे और न उनको पूंछ थीं। यदि यह सब होता तो सुग्रीव तथा वाली की पत्नियों को भी पूंछ होतीं और वे भी वानरी के शक्ल में होतीं। जो मनुष्यों से बात करता है, कपड़ा पहनता है, राज–काज करता है, दूसरे मनुष्यों तथा राजाओं से प्रेम–वैर करता है, वह वानर कैसे हो सकता है! कबीर साहेब ने यहां रामायण के अनुसार कहा है, क्योंकि रामायण में हनुमान जी को पूंछ वाले वानर के रूप में चित्रित किया गया है।

विविध रामायणों में यह चित्रित किया गया है कि हनुमान को गर्व हो गया था, इसलिए उनको समय–समय से मुंह की खानी पड़ी। बलरामदास की रामायण में लिखा है कि जब लंकाविजय के बाद हनुमान श्रीराम के साथ भरद्वाज आश्रम में आये तब उनको यह बड़ा गर्व था कि मैंने राम का बड़ा महान कार्य किया है। श्रीराम ने

---

1. दशन्तं तक्षकं पादे लेलिहानं विषाननैः ।
न द्रक्ष्यसि शरीरं च विश्वं च पृथगात्मनः ॥ भागवत 12/5/12 ॥

हनुमान को भरद्वाज आश्रम के पास एक वन में किसी काम से भेजा, तो हनुमान अष्टक नामक एक असुर से परास्त हुए।[1] राम कियेन (अध्याय 23) के अनुसार जब हनुमान लंका गये तो वे लंका के पार नारद के आश्रम में पहुंच गये और उन्होंने नारद से एक रात रहने के लिए जगह मांगी। नारद ने एक छोटी कुटी बतायी कि इसमें रह लो, तो हनुमान ने अपने गर्व में अपना शरीर बढ़ाया। नारद ने अपने योगबल से जोरों का हिमपात कराया जिससे हनुमान सिमिट गये और उनका गर्व चूर हो गया। दूसरे दिन हनुमान एक सरोवर में नहाने गये तो नारद की प्रेरणा से एक जोंक हनुमान की ढोंढ़ी में लग गयी। हनुमान उसे हटा न सके। जब उन्होंने नारद से क्षमा मांगी तब वह गिर गयी। तोरवे रामायण के अनुसार जब हनुमान लंका-यात्रा में थे तब वे तृणविंदु मुनि से मिले। मुनि ने हनुमान की इस दृष्टि से परीक्षा ली कि क्या यह वानर ऐसा काम कर सकेगा! मुनि पद्मासन लगाकर बैठ गये और उन्होंने हनुमान से कहा कि मुझे उठाओ। हनुमान अपनी सारी शक्ति लगाने के बाद उन्हें उठा सके थे। इसलिए हनुमान का गर्व दूर हुआ।[2] परवर्ती रामकथाओं में कई जगह यह बात आयी कि हनुमान को गर्व हो गया था और इसलिए उनके गर्व का अन्त हुआ।

"शिव माते हरि चरण सेव" कहा जाता है कि शिवजी विष्णु की सेवा करके उसमें मतवाले हो गये। उन्होंने समझ लिया कि विष्णु की सेवा ही पर्याप्त है। और "कलि माते नामा जयदेव" कलियुग में नामदेव तथा जयदेव भक्तिरस में मतवाले हुए। नामदेव[3] ने महाराष्ट्र में रामोपासना चलायी तथा जयदेव[4] ने बंगाल में कृष्णोपासना चलायी। जयदेव ने उड़ीसा तथा उत्तर प्रदेश में भी अपना अभियान चलाया। इस प्रकार शिव, नामदेव तथा जयदेव विष्णु, राम एवं कृष्ण की दैहिक उपासना में ही मतवाले बनकर शुद्ध चेतनस्वरूप की स्थिति से दूर बने रह गये।

"सत्य सत्य कहैं सुमृति वेद" वेद और धर्मशास्त्र यह सत्य कहते हैं कि आदमी अपने भीतर अहंकार-कामादि दोषों से ही मारा जाता है। यहां पर कबीर साहेब ने वेद और स्मृति नाम लेकर और उन्हें सम्बन्धित विषय में सत्य का प्रतिपादक बताकर उनका आदर किया है। ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व—इन ग्रंथों को वेद कहा जाता है तथा स्मृति का अर्थ है धर्मशास्त्र, जिसमें श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और महाभारत, पुराण एवं मनु आदि समस्त स्मृतियां हैं। कबीर साहेब ने इनके गलत पक्षों को लेकर इनकी आलोचनाएं भी की हैं। परन्तु वे संत थे। उनको किसी से द्वेष नहीं था। वे सबकी अच्छाइयों को स्वीकारते थे। इसलिए वे यहां वेद और स्मृतियों के नाम लेकर

---

1. रामकथा, अनुच्छेद 608।
2. रामकथा, अनुच्छेद 531।
3. ईसा की 14वीं शताब्दी।
4. ईसा की 14वीं शताब्दी।

कहते हैं कि वे यह सही कहते हैं कि आदमी अपनी ही आग से जलता है। यहां का सरल अर्थ यह है कि समस्त वेद-शास्त्र एवं संसार के सारे धर्मशास्त्र यह ठीक ही कहते हैं कि आदमी अपने भीतर के भेद से ही मारा जाता है। जब आदमी में काम, क्रोध, अहंकार आदि उदय होते हैं, तब वह उन अपने विकारों से ही पतित होता है।

"जस रावण मारेउ घर के भेद" रावण की प्रसिद्ध कहानी है कि वह अपने घर में फूट पड़ने से मारा गया। जब विभीषण ने रावण से अलग होकर उसका सारा भेद राम को बताया तब रावण अपने शत्रु द्वारा मारा गया। लोकोक्ति है "घर का भेदिया लंका ढावै।" यही दशा जीव की है। जीव का मन जब उससे विचलित होकर अहंकारादि विकारों से मिल जाता है तब जीव माया में पतित होता है।

"चंचल मन के अधम काम" इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि चंचल मन के काम ही नीच होते हैं। वह जीव से फूटकर विषयों में मिलता है। जब मन आत्मा से विमुख तथा विषयों के अभिमुख होता है तभी तो व्यक्ति का पतन होता है। यही मन की चंचलता है। यही उसकी नीचता है। अतएव सद्गुरु कहते हैं "कहहिं कबीर भजु राम नाम" राम ऐसा नाम जिस तत्त्व का है उस अविनाशी का भजन, चिंतन एवं स्मरण करो। साधक जब राम का चिंतन करेगा तब स्वाभाविक ही विषयचिंतन नहीं होंगे। राम-भजन एवं राम-चिंतन से विषय-चिंतन समाप्त हो जाते हैं। आत्माराम के चिंतन से ही मन की चंचलता एवं विषय-विकार नष्ट होंगे।

काशी-महिमा के विषय में शिवजी से प्रश्न

बसन्त-11

शिवकाशी कैसी भई तुम्हारि, अजहूँ हो शिव लेह विचारि॥ 1॥
चोवा चन्दन अगर पान, घर घर सुमृति होत पुरान॥ 2॥
बहु विधि भवने लागू भोग, ऐसो नग्र कोलाहल करत लोग॥ 3॥
बहु विधि परजा लोग तोर, तेहि कारण चित ढीठ मोर॥ 4॥
हमरे बलकवा के इहै ज्ञान, तोहरा को समुझावै आन॥ 5॥
जो जेहि मन से रहल आय, जिव का मरण कहु कहाँ समाय॥ 6॥
ताकर जो कछु होय अकाज, ताहि दोष नहिं साहेब लाज॥ 7॥
हर हर्षित सो कहल भेव, जहाँ हम तहाँ दुसरा न केव॥ 8॥
दिना चारि मन धरहू धीर, जस देखैं तस कहहिं कबीर॥ 9॥

शब्दार्थ—चोवा= चोआ, कई गंध द्रव्यों को मिलाकर बनाया जाने वाला एक सुगंधित द्रव्य। अगर=एक सुगंधित लकड़ी, धूप, अगरबत्ती। सुमृति= स्मृति। नग्र= नगर, काशी शहर। परजा= शिष्य, शाखा। ढीठ= धृष्ट, बेअदब, संकोचरहित। अकाज= अकल्याण। हर= शिव, ज्ञानी। भेव= भेद, रहस्य। केव= कोई।

भावार्थ—हे शिव जी! तुम्हारी काशी कैसी हो गयी है? आज भी समय है, इस बात पर विचार कर लो॥ 1॥ चोवा, चंदन, अगर, पान आदि से तुम्हारी पूजा होती है, और घर-घर में स्मृतियों, धर्मशास्त्रों एवं पुराणों की कथा होती है॥ 2॥ घर-घर में विविध व्यंजनों के द्वारा तुम्हें भोग अर्पित किया जाता है। लोग शहर में हर-हर बम-बम एवं महादेव कहकर हल्ला करते हैं और तुम्हें पुकारते हैं॥ 3॥ यहां तुम्हारे भक्तों की भीड़ है, इसलिए तुमसे पूछने में मेरा मन भी निस्संकोच को गया है॥ 4॥ हम तुम्हारे सामने बालक हैं, अतएव हमारा ज्ञान थोड़ा है। तुम तो परम ज्ञानी हो, फिर तुम्हें दूसरा कौन समझावे!॥ 5॥ जिसके मन में जैसा आता है काशी की वैसी ही महिमा हांकता है—काशी में मरने से हत्यारा भी मुक्त हो जाता है, दुराचारी भी मुक्त हो जाता है, इत्यादि बातें धर्मग्रंथों में लिख रखी हैं। हे शिव जी! मैं तुमसे पूछता हूं कि ये नाना प्रकार कर्म करने वाले जीव शरीर छोड़कर कहां समायेंगे, कैसी दशा प्राप्त करेंगे, तुम्हीं बताओ!॥ 6॥ ध्यान रहे! तुम्हारी नगरी की महिमा के झांसे में पड़कर यदि जीवों का अकल्याण हुआ तो यह उनका दोष नहीं माना जायेगा। यह दोष स्वयं हुजूर को पड़ेगा॥ 7॥ कबीर साहेब की उक्त बातें सुनकर शिवजी हर्षित होकर कहने लगे—सुनो कबीर! जहां हम हैं वहां दूसरा कोई नहीं है। अर्थात शैव ज्ञानियों ने कहा कि काशी में शिव का निवास है। यहां यमराज नहीं आ सकता, इसलिए यहां कैसे भी कर्म वाले मनुष्य मरें, वे मुक्त ही हैं॥ 8॥ कबीर साहेब ने कहा कि इन मिथ्या महिमाओं के झांसे में पड़कर भले भक्त लोग चार दिन संतोष मान लें, परन्तु अंत में अपने-अपने कर्मों के फल सबको भोगने पड़ेंगे। कबीर तो वही कहते हैं जो देखते हैं, अर्थात जो वास्तविकता है॥ 9॥

व्याख्या—काशी, वाराणसी, अविमुक्त, आनन्दकानन, श्मशान, महाश्मशान आदि नामों से यह नगरी जानी जाती है। यह भारत की अति प्राचीन नगरी है। कम-से-कम तीन हजार वर्षों से इसकी प्रतिष्ठा है। कुछ विद्वान लिखते हैं कि काशी से कौशांबी (इलाहाबाद) तक कुश-घास बहुत थी इसलिए एक का नाम काशी तथा दूसरे का नाम कौशांबी[1] पड़ा। पंडितजन कहते भी हैं कि 'काश' का अर्थ है चमकता हुआ। इस नगरी में सन्तों और विद्वानों की तपस्या और विद्या की चमक थी इसलिए इस नगर का नाम काशी पड़ा। नगर के दक्षिण 'असि' तथा उत्तर 'वरणा' नदी है; इसलिए दोनों के बीच में बसे इस नगर को वाराणसी कहते हैं। इसी का अपभ्रंश बनारस है। यहां पहले बहुत जंगल था, संत-ऋषि रहते थे, इसलिए इसे आनन्दकानन भी कहते हैं। यहां श्मशान था। पुराकाल से यहां मरने से या कम-से-कम यहां अंत्येष्टि करने से मोक्ष की कल्पना थी, इसलिए यहां लोग दूर-दूर से मरने आते थे या

---

1. कौशांबी प्रयाग से पश्चिम-दक्षिण 50 किलोमीटर पर एक खंडहर के रूप में आज भी यमुना के उत्तरी तट पर विद्यमान है। यह पुराकाल में वत्सदेश (प्रयाग क्षेत्र) की राजधानी थी।

मर जाने के बाद शव जलाने के लिए यहां लाया जाता था, इसलिए यहां महाश्मशान था। आज भी यह सब बातें हैं। इस नगरी का एक नाम अविमुक्त भी है। 'अविमुक्त' का अर्थ 'बद्ध' होता है, परन्तु यहां यह अर्थ नहीं है। यहां अविमुक्त नाम एक महिमापरक अर्थ लेकर है। काशी खंड में लिखा है—"हे मुने! शिव और पार्वती प्रलयकाल में भी काशी का त्याग नहीं करते, इसलिए इस नगरी को अविमुक्त कहा जाता है।"[1] अविमुक्त अर्थात जिससे शिव और पार्वती कभी मुक्त एवं अलग न होते हों।

वैदिक ऋषि लिंग-पूजक नहीं थे। वे ऐसे भी किसी शिव की पूजा नहीं करते थे जो बैल पर बैठता हो, सिर पर गंगा तथा अर्धचंद्र धारण करता हो, राख लगाता हो, जिसके साथ उसकी पत्नी हो। वेदों में रुद्र है, परन्तु वह केवल तूफान का देवता है। लिंगपूजकों को वैदिकों ने 'शिश्नदेवाः' कहकर उनकी निन्दा की है। अतएव ऐतिहासिक अध्येताओं ने निष्कर्ष निकाला है कि भारत के आदिवासी लिंगपूजक थे जो अनार्य थे, अतएव आर्यों के आने के बाद भी काशी में अनार्यों द्वारा लिंग-पूजा होती रही। परन्तु धीरे-धीरे आर्यों ने लिंग-पूजा स्वीकार ली, फिर पीछे से आदिवासियों के लिंग तथा आर्यों के रुद्र का घालमेल कर लिया गया।

काशी पुराकाल से विद्या और साधना की नगरी बनी है। यहां वैदिक ब्राह्मणों का वर्चस्व रहा है। महात्मा बुद्ध ने भी अपना प्रथम उपदेश बनारस के उत्तर एक मृगदाव (वन) में दिया जो आजकल सारनाथ कहलाता है। स्वामी शंकराचार्य ने यहीं आकर अपने प्रचार का केन्द्र बनाया। कबीर साहेब का तो काशी जन्म, कर्म एवं साधना तथा उपदेश की स्थली ही रही। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी यहीं बैठकर रामचरित मानस लिखा। जहां तप, विद्या और ज्ञान का बोलबाला हो उस नगरी को मोक्ष-नगरी कहा जाना स्वाभाविक है। फिर तो महिमा के जोश में चल पड़ा कि काशी मोक्ष-नगरी है। यहां मरकर मुक्ति की कल्पना कर ली गयी। बात तो यहां से शुरू हुई थी कि काशी में विद्वान, तपस्वी एवं ज्ञानी जन रहते हैं। यदि कोई यहां आकर उनसे प्रेरणा ले तथा उनके उपदेश ग्रहण करे तो उसके लिए मोक्ष कार्य सरल हो जायेगा। परन्तु आगे चलकर महिमा के भोलेपन में इस तथ्य पर दृष्टि नहीं रही और यह मान लिया कि काशी में निवास मात्र मोक्ष का कारण है। कुछ उदाहरण लें—

"हे कुरुश्रेष्ठ! तीर्थों का सेवन करने वाला अविमुक्त (काशी) में जाकर और देवदेव महादेव के दर्शन कर ब्रह्महत्या के पाप से छूट जाता है। यदि काशी में ही शरीर छोड़ दे तो वह मुक्त हो जाता है।"[2] वाराणसी मेरा सर्वोत्तम तीर्थस्थल है। सभी

---

1. मुने प्रलयकालेपि नैतत् क्षेत्रं कदाचन।
विमुक्तं स्यात् शिवाभ्यां यदविमुक्तं ततो विदुः॥ (काशी खंड, अध्याय 26, हिन्दू धर्मकोश)
2. अविमुक्तं समासाद्य तीर्थसेवी कुरूद्वह।

प्राणियों के लिए यह मोक्ष का कारण है।[1] विषयासक्त चित्त धर्म-भक्ति को त्यक्त कर देने वाले लोग भी यदि काशी में मर जाते हैं, तो वे पुनः जन्म नहीं लेते। सहस्रों जन्मों के योग-साधन के उपरांत योग-प्राप्ति होती है; किन्तु काशी में मृत्यु होने से इसी जीवन में परम मोक्ष प्राप्त हो जाता है।[2] पापी, शठ एवं अधार्मिक व्यक्ति भी पापमुक्त हो जाता है, यदि वह अविमुक्त (काशी) में प्रवेश करता है।[3] भोगपराण एवं कामाचारिणी स्त्रियां भी यहां काल में मृत्यु पाने पर मोक्ष पाती हैं।[4] समय से ग्रह एवं नक्षत्र गिर सकते हैं, किन्तु अविमुक्त (काशी) में मरने से कभी भी पतन नहीं हो सकता।[5] दुष्ट प्रकृति वाले पुरुषों या स्त्रियों द्वारा जो भी दुष्टकर्म जान एवं अनजान में किये गये, जब वे अविमुक्त (काशी) में प्रवेश करते हैं तो वे (दुष्टकर्म) भस्म हो जाते हैं।[6] काशी में रहने वाला म्लेच्छ भी भाग्यशाली है, बाहर रहने वाला, चाहे वह दीक्षित (यज्ञ करने वाला) ही क्यों न हो, मुक्ति का भाजन नहीं हो सकता।[7]

कहना न होगा कि उक्त काशी की महिमा की बातें नशे में धुत्त होकर लिखी गयी हैं। इन विद्या के धनियों को इतनी भी अक्ल नहीं थी कि मोक्ष का अर्थ क्या है! वासना-निवृत्ति ही मोक्ष है जो जीवन में सबसे ऊंचा काम है और बड़े त्याग, तप एवं साधना का फल है, परन्तु तीर्थों में मूढ़ जनता से पुजवाने के लिए इन धर्म के धंधेबाजों ने मोक्ष के विषय में भ्रम पैदाकर अक्षम्य अपराध किया है और तीर्थों के नाम पर खूब पाप बढ़ाया है। जब सारे दुष्कर्मों के संस्कार काशी में पहुंचते ही कपूर की तरह उड़ जाते हैं तो पाप से क्यों डरा जाये! जो समझ नहीं रखते वे काशीवासी तो अपने आप में नैतिकता की कोई चिन्ता ही नहीं करेंगे। सभी तीर्थस्थलों के पंडे-पुजारी प्रायः लुटेरे हो गये हैं, क्योंकि वे कुछ भी करें, उनका मोक्ष तो रिज़र्व है।

शिवजी काशीवासी हैं और कबीर साहेब भी ठहरे काशीवासी। मानो दोनों की मुलाकात हो गयी हो। कबीर साहेब हर अन्याय के विरोधी हैं ही। शिवजी की काशी अज्ञान में डूबी है, यह देखकर कबीर साहेब ने शिव से प्रश्न कर दिया हो। संवाद बड़ा मनोहर है। जरा ध्यान दें। वस्तुतः कबीर साहेब ने अपनी कल्पना में शिव को संबोधित करते हुए काशी के अंधविश्वास का परदाफ़ाश किया है।

दर्शनाद् देवदेवस्य मुच्यते ब्रह्महत्यया॥
प्राणानुत्सृज्य तत्रैव मोक्षं प्राप्नोति मानवः। (महाभारत, वनपर्व 84/79-80)

1. मत्स्य पुराण, 180/47।
2. मत्स्य पुराण, 180/71 तथा 74।
3. मत्स्य पुराण, 183/11; पद्मपुराण, 1/33/38।
4. मत्स्य पुराण, 184/36।
5. मत्स्य पुराण, 185/61। काशी खंड 64/96।
6. नारदीय पुराण, उत्तर, 48/33-34।
7. काशी खंड, 85/15। (उद्धृत धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 3, पृ. 1345)

साहेब कहते हैं "शिव काशी कैसी भई तुम्हारि, अजहूँ हो शिव लेहु विचारि।" हे शिव जी, तुम्हारी काशी नगरी की दशा कैसी विचित्र हो गयी है! आज भी तो इस बात पर विचार करो। काशी के पंडे–पुजारी तीर्थयात्रियों के साथ कैसा अत्याचार करते हैं! काशी में रहने वाले सब समय मुक्त ही हैं इस मिथ्या धारणा ने काशीवासियों को पाप से निर्भय कर दिया है। काशी के लोग पाप करने से क्यों डरें! जिस शिव को यह कहा जाता है कि वह विश्व का संहारक है, वह अपने भक्तों को सन्मार्ग पर लाने की क्षमता नहीं रखता, यह कितनी बड़ी विडंबना है! साहेब कहते हैं कि हे शिवजी! तुम आज भी इस पर विचार करो और अपने भक्तों का सुधार करो।

काशी में बाह्याचार बहुत बढ़ गया है। ज्ञान उड़ गया, कर्मकांड फैल गया। चोआ, चन्दन, अगर, पान आदि से शिव तथा अन्य देव–मूर्तियों की पूजा हो रही है। स्मृति–पुराणादि भी घर–घर बांचे जा रहे हैं। शिव तथा अन्य देव–मूर्तियों को भोग भी घर–घर लगाया जा रहा है। जिस तरफ देखो काशी में हर–हर, बम–बम महादेव की आवाज सुनाई पड़ती है। भक्तों की तरफ से शिव के नाम पर इतना कोलाहल है और शिव का भक्तों की तरफ कोई ध्यान नहीं है कि वह अपने भक्तों को सद्‌बुद्धि दें।

'बहु विधि परजा लोग तोर, तेहि कारण चित ढीठ मोर।" साहेब कहते हैं कि हे शिवजी! तुम्हारे भक्तों की बहुत बड़ी भीड़ है, यह देखकर मेरा मन तुमसे बातें पूछने के लिए निस्संकोच हो गया है। भक्तों के कथनानुसार जब तुम हर समय सर्वसमर्थ के रूप में सब जगह विद्यमान हो और काशी में तो विशेष रूप में मौजूद हो तब यहां अंधेरखाता क्यों चलता है!

"हमरे बलकवा के इहै ज्ञान, तोहरा को समुझावै आन।" कबीर साहेब विनम्रतापूर्वक व्यंग्य भरे वचनों में कहते हैं कि हे शिवजी! हम तो बालक ठहरे! हमारी बुद्धि ही कितनी है! बालक का ज्ञान थोड़ा होता है। परन्तु तुम तो बड़े–बूढ़े हो। बहुत बड़े ज्ञानी हो। फिर तुम्हें दूसरा कौन समझा सकता है! न तुम्हें अपने भक्तों की खबर है कि वे क्या कर रहे हैं और न अपनी काशी का पता है कि उसमें क्या हो रहा है! दिया तले अंधेरा है। यदि कबीर साहेब आज होते तो उन्हें कहना पड़ता कि बिजली के लट्टू के ऊपर ही अंधेरा है। क्योंकि दिया के तले में अंधेरा होता है और लट्टू के ऊपर अंधेरा होता है। जहां से शिव जी टस–से–मस नहीं होते वही काशी अज्ञान, धांधलेबाजी और दुराचार में डूबी है। इससे अधिक दुख की बात और क्या हो सकती है!

"जो जेहि मन से रहल आय, जिव का मरण कहु कहाँ समाय।" जिसके मन में जो आता है वह काशी की वैसी ही महिमा हांकता है। काव्य देखो, पुराण देखो तथा अन्य धर्मग्रन्थ देखो तो विवेक–बुद्धि को ताख पर रखकर लेखकों ने काशी की महिमा लिखी है। चाहे जितना पापी हो, हत्यारा हो, दुराचारी हो, परन्तु काशी पहुंचते ही वह सारे पापों से छूट जाता है, निर्वाण एवं मोक्षपद पा जाता है। यह सब मनमानी एवं

उन्मादी वक्तव्य धर्म के धंधेबाजों के चलते रहते हैं। जिसके मन में जो आया महिमा के जोश में वैसा ही हांका। परन्तु साहेब कहते हैं "जिव का मरण कहु कहाँ समाय।" जीव मरकर कहां समाता है? जीव जब शरीर छोड़ देता है तब उसकी क्या स्थिति होती है? इस पर विचार करो। जीव ने जीवन में जैसे कर्म किये हैं, उन कर्मों के संस्कार उसके मन में अंकित रहते हैं। उन कर्मों के अनुसार जीव की गति होती है। कोई काशी, कोई अयोध्या, प्रयाग, गया, बद्री, कोई शिव, विष्णु, राम, कृष्ण उसके पाप को काट नहीं सकते। इनके स्वयं के ही कर्म नहीं कटे।[1] इन सबको अपने कर्म-फल भोग भोगने पड़े, फिर ये तुम्हारे कर्म कैसे काट सकते हैं! नदी स्नान, भूमि दर्शन तथा किसी तीर्थ का भ्रमण तुम्हारे मन के पाप को काट नहीं पायेंगे। तुम्हारे विवेक ग्रहण तथा दोषों के त्याग से ही तुम्हारे बन्धन कट सकते हैं। अतएव जीव जैसे-जैसे कर्म कर रखा है, वैसे-वैसे उसे फल भोगने पड़ेंगे।

"ताकर जो कछु होय अकाज, ताहि दोष नहिं साहेब लाज।" यदि काशी की मिथ्या महिमा में भूलकर मनुष्य उसी के भरोसे अपने कर्म नहीं सुधारे तो उसका अकल्याण होगा। परन्तु उसका दोष उस पर नहीं माना जायेगा। यह तो स्वयं शिव महाराज का दोष माना जायेगा, जो सब कुछ जानते हुए भी भक्तों के सामने सही बात नहीं कह रहे हैं। इसका तात्पर्य यह है कि काशी की मिथ्या महिमा से भक्तों के गुमराह होने का दोष भक्तों पर कम है, किन्तु इसके प्रचारकों पर ज्यादा है। प्रचारकों, पंडितों, पुरोहितों तथा साधु-संन्यासियों ने यह मिथ्या महिमा फैलाकर मनुष्यों को पथभ्रष्ट किया है।

उक्त बातें सुनकर शिव जी हर्षित होकर बोले। यहां शिव के बोलने का तात्पर्य है काशी की महिमा करने वाले शैव लोग हर्षित होकर बोले कि जहां शिव जी स्वयं निवास करते हैं वहां पाप और यम का प्रवेश नहीं हो सकता। यहां काशी की मिथ्या महिमा की पुष्टि शिव के द्वारा भी करा दी गयी है। क्योंकि पुराणों में ऐसी ही बातें शिव जी से कहलायी गयी हैं।

इसके बाद कबीर साहेब ने कहा कि लोग भले यह कहकर चार दिन संतोष करें कि काशीवास मात्र सारे पापों से मुक्त कर देगा, परन्तु यह बात सच नहीं है। वस्तुतः कबीर तो वही कहते हैं जो विवेक से देखते हैं। विवेक से यही ठहरता है कि जीव जैसा कर्म करेगा वैसा फल पायेगा। ये काशी आदि तीर्थ उसके पाप नहीं काट पायेंगे।

पाखंड छोड़कर आत्मशोधन करो

---

1. देखिए 'आपन कर्म न मेटो जाई।' (शब्द 110)

बसन्त-12

हमरे कहलक नहिं पतियार, आप बूड़े नर सलिल धार॥ 1॥
अन्धा कहै अन्धा पतियाय, जस बिश्वा के लगन धराय॥ 2॥
सो तो कहिये ऐसो अबूझ, खसम ठाढ़ ढिग नाहीं सूझ॥ 3॥
आपन आपन चाहैं मान, झूठ प्रपंच साँच करि जान॥ 4॥
झूठा कबहुँ न करिहैं काज, हौं बरजों तोहि सुनु निलाज॥ 5॥
छाड़हु पाखण्ड मानो बात, नहिं तो परबेहु यम के हाथ॥ 6॥
कहहिं कबीर नर किया न खोज, भटकि मुवा जस बन के रोझ॥ 7॥

शब्दार्थ—पतियार= पतिआर, विश्वास, प्रतीत। सलिलधार= पानी की धारा, वासना-प्रवाह। अन्धा= विवेकहीन। बिश्वा= वेश्या। लगन= लग्न, विवाह का मुहूर्त। खसम= पति, स्वामी, चेतन आत्मा। ढिग= पास। निलाज= निर्लज्ज। यम= वासना। रोझ= नीलगाय।

भावार्थ—मनुष्य हमारी बातों पर विश्वास नहीं करता। वह स्वयं भवसागर की धारा में डूबता है॥ 1॥ अंधे लोग अंधों की बातों पर विश्वास करते हैं। आदमी उसी प्रकार आत्मनिष्ठा छोड़कर नाना देवी-देवताओं की भावनाओं में बह रहा है जैसे वेश्या नित्य नये-नये लोगों को अपना पति बनाती है॥ 2॥ उसको तो ऐसा नासमझ कहना चाहिए कि जैसे किसी का स्वामी पास ही में खड़ा हो किन्तु उसे वह न दिखाई दे और वह अन्यों के साथ भटके, वैसे आत्मारूपी परमात्मा हृदय में ही विद्यमान है, परन्तु अज्ञानवश आदमी बाहर नये-नये परमात्मा खोजता फिरता है॥ 3॥ संप्रदायी लोग केवल अपने-अपने मान-सम्मान में अटके हुए हैं, इसलिए वे अपने बनाये झूठे आडम्बर को सच्चा समझते हैं॥ 4॥ परन्तु हे निर्लज्ज! सुन, मैं तुम्हें झूठ की तरफ जाने से रोकता हूं, क्योंकि असत्य तुम्हारा कल्याण नहीं कर सकता॥ 5॥ इसलिए पाखण्ड की बातें छोड़कर मेरी सत्य बातों को समझने का प्रयास करो, अन्यथा वासनाओं के हाथ में पड़े जगन्नगर में चक्कर काटा करोगे॥ 6॥ कबीर साहेब कहते हैं कि आदमी स्थिर होकर आत्म-अन्वेषण नहीं करता, प्रत्युत वन की नीलगायों की तरह भटक-भटक कर मरता है॥ 7॥

व्याख्या—कबीर साहेब ने देखा कि चारों ओर लोग झूठी बातों को धर्म, देवता तथा ईश्वर मानकर उनके जाल में उलझे हैं। यदि उनको सही राय दी जाती है तो वे उस पर ध्यान नहीं देते। जैसे कोई नदी की धारा में या समुद्र की लहरों में डूबता हो और बाहर खड़े अपने हितचिंतक के किये गये सहयोगों का आधार न पकड़ता हो, वैसे मनुष्य नाना भ्रांतियों में डूबता है, परन्तु सही पथ दिखाने वाले सन्तों की ओर वह निगाह ही नहीं डालता है।

संसार में अंधे अंधों को चला रहे हैं, तो वे दोनों कहीं कुएं में गिरकर डूबेंगे। जिसे स्वयं विवेक नहीं है वह दूसरे को तारने का ठेका ले रहा है। जो स्वयं भटका हो

वह दूसरे को रास्ता क्या बता सकता है! परन्तु संसार में ऐसे ही गुरु सैकड़ों मिलेंगे जिन्हें अपने तनोबदन की खबर नहीं, किन्तु वे दूसरों के उद्धार में लगे हैं। और ये आदमी भी बड़े भोले हैं। वेश्या के पास नये-नये पुरुष आते हैं, उसका अपना कोई पति नहीं है। यही दशा उन दिशाहीन भक्तों की है जिनको अपने स्वरूप का बोध न होने से वे नये-नये देवी-देवताओं के चक्कर में भटकते रहते हैं। ऐसे लोगों को महा अज्ञानी कहना चाहिए। जो बाहर देवी-देवताओं में भटकता है वह सदैव भटकता ही रह जायेगा, परन्तु उसे संतोष नहीं मिलेगा। बिना शीतल सुमिष्ट जल पाये ओस चाटने से भला प्यास कैसे जायेगी! देवों का देव परमदेव, परम परमात्मा तो हृदय-गुहा में विराजमान अपनी आत्मा ही है। यह अपनी चेतना, अपना आपा तथा 'स्व' यही तो असली ब्रह्म है, खुदा है, अल्लाह है, गॉड है। यही परम परमार्थ है। परन्तु मनुष्य की अपनी मूढ़ता यह है कि वह परमात्मा को, परमदेव को बाहर खोजता फिरता है।

अधिकतम सम्प्रदायों के लोगों को न सत्य को समझने की चेष्टा है और न आत्मज्ञान की पिपासा है। वे तो अपनी-अपनी गुरुवाई में लिपटे हैं और अपनी-अपनी वेषमर्यादा के चक्कर में लगे रहते हैं। उनको भूख है कि उनको सम्मान मिले, उनके नाम फैलें। इसलिए वे धर्म, भगवान, अवतार, देवी, देवता आदि के नाम पर बड़ी-बड़ी जालसाजियां करते हैं। वे अपनी झुठाई का जाल फैलाते हैं। वे अपने आप को अवतार एवं भगवान घोषित करते या शिष्यों से करवाते हैं। वे ऐसी झूठी-झूठी अफवाहें उड़ाते हैं या उनके शिष्य उनके लिए उड़ाते हैं कि जनता उनको चमत्कारी पुरुष माने, और चमत्कार छल-कपट के अलावा कुछ नहीं है। चाहे बड़े पुरुषों के नाम में जुड़े चमत्कार हों और चाहे धर्म के धन्धेबाजों के नामों में, वे सब छल-कपट के प्रपंच रहते हैं। बड़े पुरुषों ने तो अपने लिए स्वयं चमत्कार का प्रपंच लगाया नहीं है और जो स्वयं अपने विषय में चमत्कार स्वीकारता हो या किसी भी तरह चमत्कार को प्रश्रय देता हो वह चाहे जितना नाम-ग्राम में बड़ा हो, वस्तुतः धूर्त है। जो विश्व के नियमों के विरुद्ध है वह असत्य है।

सद्गुरु कहते हैं—"झूठा कबहुँ न करिहैं काज, हौं बरजों तोहि सुनु निलाज।" हे निर्लज्ज! सुन, मैं तुम्हें रोकता हूं। असत्य तेरा कल्याण नहीं कर सकता। चमत्कार तथा देवत्व का झांसा देकर कोई धर्म का धन्धेबाज धन तथा चेले भले बढ़ा ले, परन्तु उसकी अंतरात्मा संतुष्ट नहीं हो सकती। वे निर्लज्ज हैं जो एक तरफ तो धर्म और ईश्वर के भक्त बनते हैं और दूसरी तरफ अतिमानवीय, दैवीय, चमत्कारी तथा अतिशयोक्तिपूर्ण बातें करते हैं जो सब-की-सब झूठी होती हैं। जिसमें कपट, छल और दिखावा है, वही चमत्कारी बातें करता है। उसके पास शांति नहीं रह सकती। शांति तो उसके हृदय में रहती है जिसका हृदय निष्कपट, सरल तथा सत्यानुरागी हो। पाखंडी धन तथा जनता जुटा सकता है, परन्तु उसके मन में शांति नहीं आ सकती। असत्य हर जगह कंटक का पथ है और धर्म के नाम पर असत्य का आधार लेना तो

महापाप है।

इसलिए सद्‌गुरु कहते हैं "छाड़हु पाखंड मानो बात, नहिं तो परबेहु यम के हाथ।" पाखण्ड छोड़ दो और बात मानो, सदैव सत्य का आधार लो, अन्यथा वासनाओं के सिकंजे में फंसकर दुख भोगोगे। जो लोग मूढ़तावश असत्य में फंसे हैं, कल्याण तो उनका भी नहीं है, परन्तु वे मन से ईमानदार होने से उतने अशांत नहीं होंगे, किन्तु जो लोग धर्म के नाम पर धूर्त हैं, जान-बूझकर लोगों को असत्य में फंसाते हैं, उनको उनकी वासनाएं क्षमा नहीं कर सकतीं। कोई बाहर से धर्म का चाहे जितना साफ चोंगा पहन ले, परन्तु उसके भीतर की छलपूर्ण वासनाएं उसे कचोटती रहेंगी और उसकी आत्मा को पीड़ित करती रहेंगी। जो पाखंड नहीं छोड़ेगा वह यम के हाथों में अवश्य पड़ेगा। यम के हाथ हैं वासनाओं का जाल। आदमी बाहर किसी को छल सकता है, परन्तु उसकी अपनी अंतरात्मा जानती है कि वह क्या कर रहा है! उससे मनुष्य का बचना असंभव है। हम बाहर के लोगों से अपने को छिपा सकते हैं, किन्तु अपने भीतर वाले से नहीं छिपा सकते।

"कहहिं कबीर नर किया न खोज, भटकि मुवा जस बन के रोझ।" आदमी खोज नहीं करता है, किन्तु जंगल की नीलगायों की तरह भटक-भटक कर मरता है। जंगल की नीलगायें बड़ी तेज होती हैं। वे भय की थोड़ी ही आहट पाकर जोर से भागती हैं। इस अन्तिम पंक्ति में दो महत्त्वपूर्ण भाव वाले शब्द हैं 'खोजना' तथा 'भटकना'। खोजने वाला भटकता नहीं तथा भटकने वाला खोज नहीं कर सकता। बाहर की वस्तुओं को खोजने के लिए तो बाहर चलना भी पड़ता है; किन्तु यदि हम अपनी खोज करना चाहें तो उसके लिए भटकना बन्द करना पड़ता है। आत्म-खोज में भटकना स्वयमेव बन्द हो जाता है। अपने आप का शोधन करना कि मैं कौन हूं, किसमें बंधा हूं, मुझे छुटकारा कैसे मिलेगा, मुझे क्या चाहिए, इन बातों पर जो निरन्तर चिंतन करेगा उसको थोड़े दिनों में आत्मबोध एवं निजस्वरूप का बोध हो जायेगा। इसके लिए बोधवान सद्‌गुरु तथा विवेकी संतों का सत्संग करना चाहिए। भटकना तभी बन्द हो सकता है जब निजस्वरूप का बोध हो जाये।

फल छन्द

माया वसन्त विहार तजि,
निजरूप में निरवाध्य हो।
संयोग और वियोगमय,
जिसमें न अन्य उपाध्य हो॥
सत् न्याय अस दीन्हें प्रभो,
जो सर्व हितकर साध्य हो।
करुणा–निधान पिछान यह,
सेवक सदा पद राध्य हो॥

चौपाई

कामुक राग दूर सब डारे।
शुद्ध भद्र ह्वै मन को मारे॥
सोइ प्रेमी सत पारख धारे।
आप तरे औरन कहँ तारे॥

चाचर

हेतु छन्द

निश्चय सहन प्रयत्न आशा,
कोटि कोटि विहार में॥
तृष्णा बढ़ी चिल्लात हा! हा!!
पर न चेतत सार में॥
कामी वो क्रोधी लोभिया,
दम्भी छली जु हजार में।
रे जीव! जीवन व्यर्थ में,
क्यों खोवता कु–अहार में॥

दोहा

चाचर मेरो बैन सुनि, तृष्णा करि निर्मूल।
पर बोझा डालब सहज, निजपद निज अनुकूल॥

सद्गुरवे नमः

बीजक

(पारख-प्रबोधिनी व्याख्या-सहित)

सप्तम प्रकरण : चाचर

माया से वही बचता है जिसके मन में मोह नहीं समाता

चाचर-1

खेलति माया मोहनी, जिन्ह जेर कियो संसार॥ 1॥
रचेउ रंगते चूनरी, कोइ सुन्दरि पहिरे आय॥ 2॥
शोभा अद्‌भुत रूप वाकी, महिमा बरणि न जाय॥ 3॥
चन्द्र बदनि मृगलोचनी, माया बुन्दका दियो उघार॥ 4॥
जती सती सब मोहिया, गजगति ऐसी जाकी चाल॥ 5॥
नारद को मुख माँड़ि के, लीन्हों बसन छोड़ाय॥ 6॥
गर्भ गहेली गर्भ ते, उलटि चली मुसकाय॥ 7॥
शिव सन ब्रह्मा दौरि के, दूनों पकरे धाय॥ 8॥
फगुआ लीन्ह छुड़ाय के, बहुरि दियो छिटकाय॥ 9॥
अनहद धुनि बाजा बजै, श्रवण सुनत भौ चाव॥10॥
खेलनहारा खेलि हैं, जैसी वाकी दावँ॥11॥
ज्ञान ढाल आगे दियो, टारे टरै न पाँव॥12॥
खेलनहारा खेलि हैं, बहुरि न वाकी दावँ॥13॥
सुर नर मुनि औ देवता, गोरख दत्त औ व्यास॥14॥
सनक सनन्दन हारिया, और की केतिक बात॥15॥
छिलकत थोथे प्रेम सों, मारे पिचकारी गात॥16॥
कै लीन्हों बसि आपने, फिर फिर चितवत जात॥17॥
ज्ञान डाँग ले रोपिया, त्रिगुण दियो है साथ॥18॥
शिवसन ब्रह्मा लेन कहो है, और की केतिक बात॥19॥
एक ओर सुर नर मुनि ठाढ़े, एक अकेली आप॥20॥
दृष्टि परे उन काहु न छाड़े, कै लीन्हों एकै धाप॥21॥
जेते थे तेते लिए, घूँघट माहिं समोय॥22॥
कज्जल वाकी रेख है, अदग गया नहिं कोय॥23॥

इन्द्र कृष्ण द्वारे खड़े, लोचन ललचि लजाय॥24॥
कहहिं कबीर ते ऊबरे, जाहि न मोह समाय॥25॥

शब्दार्थ—जेर= दुर्बल, पराजित। चूनरी= चुनरी, लाल जमीन का कपड़ा जिस पर सफेद या दूसरे रंग की बूटियां बनी हों; सत, तम गुण से युक्त रजोगुण की त्रिगुणात्मिका चुनरी। बदनि= मुख वाली। बुन्दका= सेंदुर का गोल टीका, टिकुली। जती= त्यागी। सती= सत्यधारी, पतिव्रता। माँड़ि के= छिपाकर। बसन= लज्जारूपी वस्त्र। गर्भ गहेली= गर्व रखने वाली, मदोन्मत्ता। फगुआ= फगुआ खेलने के उपलक्ष्य में दिया जाने वाला उपहार (भेंट)। छिटकाय= फैला दिया, जगत की तृष्णा में बांध दिया। ढाल= तलवार की चोट रोकने के लिए चाम या धातु का बना गोल शस्त्र, ज्ञान रूपी ढाल। छिलकत= उछलते हैं। थोथे= उथले, मिथ्या। गात= शरीर। डाँग= डंडा, दंड, स्तंभ। रोपिया= स्थिर किया, गाड़ दिया। धाप= एक मील की या दो मील की लंबान, दौड़। रेख= चिह्न, छाप। अदग= निर्दोष, निष्कलंक।

भावार्थ—जिसने संसार के सारे जीवों को दुर्बल एवं पराजित कर दिया है वह मोहिनी-माया मानो जीवों के साथ फाग खेल रही है॥ 1॥ इसने रजोगुण की लाल जमीन पर सतोगुण तथा तमोगुण की सफेद तथा काले रंग की छाप डालकर त्रिगुण की चुनरी बनायी है जिसे कोई देहाभिमानी जीव ही पहनता है॥ 2॥ उस माया की रूप-शोभा अद्भुत है। उसकी महिमा का वर्णन नहीं किया जा सकता॥ 3॥ उसका मुख चंद्रमा-जैसा तथा आंखें मृगिनी-जैसी हैं। उस माया ने मस्तक में सेंदुर का गोल टीका लगाकर अपने मुख को उघाड़ रखा है॥ 4॥ त्यागी और सत्यधारी जो कोई उसके चपेट में आये सब विमोहित हो गये। जिसकी चाल ही मस्त हाथी की तरह है उससे कोई बिरला ही बचेगा॥ 5॥

उसने नारद का असली मुख छिपाकर बन्दर का बना दिया और उनके लज्जा के वस्त्र छीन लिये जिससे वे निर्लज्ज होकर सभा में माया के लिए उचकते फिरे॥ 6॥ वह अभिमानिनी माया नारद की मूर्खता पर गर्व से हंसती हुई लौटकर विष्णु के साथ चली गयी॥ 7॥ शिव के सहित ब्रह्मा को भी माया ने दौड़कर पकड़ लिया॥ 8॥ इस फाग के खेल में उसने उनको ध्यान-योग से वंचित कर दिया, और फिर भोगों की तृष्णा में उन्हें बिखेर दिया॥ 9॥ माया के आभूषणों एवं स्वर-संगीतों से जो उनको मधुर-ध्वनि सुनाई दी, उन्हें अनाहतनाद-जैसा पवित्र लगा, वे उसे अपने कान से सुनते ही उस माया की चाहना में पागल हो गये॥ 10॥ माया की घुड़दौड़ में खेलने वाले लोग जैसा दांव पाते हैं, खेलते हैं॥ 11॥ कितने ज्ञानियों ने अपने ज्ञान की ढाल आगे कर माया से युद्ध किया, परन्तु बहुत जोर लगाने पर भी वे माया के मजबूत पांव नहीं हटा सके॥ 12॥ माया के साथ खेलने वाले तो खेलेंगे ही। समय बीत जाने पर उनको पुनः माया के उपयोग का अवसर तो मिलेगा नहीं, अतः वे माया-भोग को ही परम सौभाग्य मानते हैं॥ 13॥ यहां तक कि प्रकार-भेद से सुर, नर, मुनि, देवता,

गोरख, दत्तात्रेय, वेदव्यास, सनक-सनंदनादि सब माया द्वारा परास्त किये गये हैं, फिर दूसरे की बात क्या चलायी जाये!॥ 14-15 ॥

माया, मोह की पिचकारी सबके शरीर पर मारती है और सब उसके क्षणिक प्रेम में उछलते हैं॥ 16 ॥ उसने लोगों को अपने वश में कर लिया है, और वह लौटकर पुनः-पुनः देखती है कि कोई मेरे फंदे से बच तो नहीं गया है, अथवा वह घूम-घूमकर लोगों को नेत्र-बाण मारती है और पुनः-पुनः मोहित करती है॥ 17 ॥ उसने देखने के लिए ज्ञान का स्तंभ गाड़ रखा है, परन्तु उसके साथ त्रिगुण लगा दिया है। अतएव शिव के सहित ब्रह्मा ने ज्ञान ग्रहण के बहाने मानो माया को ही लेने की बात की है, फिर दूसरे की बात ही क्या है!॥ 18-19 ॥ एक ओर तो देवता, मनुष्य तथा मुनिगण अर्थात सारी सृष्टि खड़ी है, और दूसरी ओर माया स्वयं अकेली खड़ी है। परन्तु उसने अपनी दृष्टि में आने वाले उन किसी को भी नहीं छोड़ा जो उसके मोह में पड़े। उसने अपनी एक ही दौड़ में सबको धर-दबोचा॥ 20-21 ॥ जितने मोहित जीव थे, माया ने सबको अपने घूंघट में विलीन कर लिया। उसकी छाप ही कालिख है जिससे निष्कलंक कोई नहीं गया॥ 22-23 ॥ यहां तक कि इंद्र और कृष्ण भी माया के द्वार पर खड़े हैं और उनके नेत्र माया को देखकर ललचा रहे हैं तथा इच्छा भर भोग न पाने से लज्जित हो रहे हैं॥ 24 ॥ कबीर साहेब कहते हैं कि माया से वही बचता है जिसके मन में मोह नहीं समाता॥ 25 ॥

व्याख्या—चांचर होली के अवसर पर गाया जाने वाला गीत है। होली भारतवर्ष का एक कामोद्दीपक एवं राग-रंग का उत्सव एवं पर्व है। यह फाल्गुन के उत्तरपक्ष से मनाया जाने लगता है। पूर्णिमा को होलिका दहन किया जाता है तथा चैत्र के प्रथम दिन मुख्य फाग खेला जाता है जिसमें लोग एक दूसरे के ऊपर रंग और अबीर छोड़ते हैं। भद्दे लोग धूल और कीचड़ भी छोड़ते हैं। होलाका (होलिका) का वर्णन 'जैमिनि' तथा 'काठकगृह्य' में है; इससे सिद्ध होता है कि यह उत्सव ईसा के पूर्व से ही प्रचलित था। इस समय ठंडी समाप्त होते ही नयी फसल आती है, वृक्षों के पुराने पत्ते प्रायः झड़कर नये पत्ते आते हैं, आम्र-वृक्षों तथा अनेक वृक्षों में मौर तथा फूल आते हैं तथा आता है ऋतुराज वसंत। इसलिए संसारी लोग इस अवसर पर होलिका तथा फाग के नाम पर हंसी, गीत, नाचना, बजाना, रंग, गुलाल, अबीर आदि से मनोरंजन करते हैं।

कबीर साहेब अत्यन्त संवेदनशील पुरुष थे। उन्होंने अपनी कविताओं में ऐसे भी विषय दिये हैं जो उत्सव तथा त्योहार के साथ जुड़े हैं। उन्होंने यहां चाचर प्रकरण रखकर उसमें दो चांचर गीत कहे हैं जिसमें फाग का खेल है। इस चाचर में माया की प्रबलता का वर्णन है। बताया गया है कि माया सबके साथ फाग खेल रही है। होली में होने वाली स्त्री-पुरुषों के पारस्परिक युद्ध-क्रीड़ा को भी चांचर कहते हैं। इसमें दोनों ओर से पिचकारी में रंग भरकर एक दूसरे पर छोड़ते हैं। इसमें प्रायः स्त्रियां ही विजयिनी होती हैं और पुरुष पराजित हुआ करते हैं।

साहेब कहते हैं कि यह माया मोहिनी है। यह लोगों को मोहती रहती है। यह मानो संसार के लोगों के साथ में फाग खेलती है और इसने सबको जेर कर लिया है। जेर का अर्थ है दुर्बल और पराजित। इस माया ने सबको अपने में फंसाकर दुर्बल तथा पराजित कर लिया है। यहां माया में स्त्री और माया का श्लेष है। वैसे माया है मन का विषयों के प्रति आकर्षण। चूंकि विषय मन को खींचते हैं इसलिए विषय भी माया है। इस प्रकार यह माया संसार के सभी स्त्री-पुरुषों को विमोहितकर उनका अध:पतन करती है।

इसने रंग से चुनरी रची है। चुनरी-कपड़े की जमीन लाल होती है और उस पर अन्य रंगों की छाप होती है। यह रजोगुण मानो लाल रंग है जो चुनरी की जमीन है और उस पर सतोगुण तथा तमोगुण के श्वेत एवं काले रंग की छाप है। इस प्रकार यह रंग-बिरंगी त्रिगुणात्मिका चुनरी कोई सुन्दरी ही पहनती है। यहां सुन्दरी का अर्थ है देहाध्यासी। जो विषयों के राग-रंग में डूबा है वही सुन्दरी है और वही त्रिगुणात्मिका चुनरी को ओढ़ने वाला है।

संसार के राग-रंग में बड़े-बड़े ज्ञानी कहलाने वाले भी मूढ़ बन गये, क्योंकि उनको ज्ञान का घमण्ड था। ज्ञान मात्र से साधक माया से नहीं बच सकता। उसके लिए चाहिए कि वह कुसंग का त्याग एवं सत्संग का आधार रखे तथा साधना में लगा रहे।

यहां बात आयी है "नारद को मुख माँड़ि के, लीन्हों बसन छोड़ाय। गर्भ गहेली गर्भ ते, उलटि चली मुसकाय।" इन दोनों पंक्तियों में नारद-मोह की तरफ संकेत है। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि इस नारद-मोह-प्रसंग को गोस्वामी तुलसीदास जी रचित रामचरितमानस के बालकांड के राजा शीलनिधि एवं विश्वमोहिनी की कथा से नहीं जोड़ना चाहिए। क्योंकि गोस्वामी जी कबीर साहेब के बाद हुए हैं। वस्तुत: गोस्वामी जी ने नारद मोह[1] का जो उल्लेख किया है उसका विकास महाभारत से लेकर महाभागवत-पुराण, शिवपुराणादि में हुआ है। अत: कबीर साहेब ने इन्हीं सब ग्रन्थों एवं समसामयिक जनश्रुतियों से लिया होगा। साहेब कहते हैं कि नारद-जैसे ज्ञानी-मुनि मोह-मूढ़ हो गये। उन्होंने लज्जा त्यागकर माया की दीनता स्वीकार की। अत: यदि कोई भी असावधान होगा तो वह माया से कैसे बच सकता है। शिव हों, ब्रह्मा हों या विष्णु, सब माया के चक्कर में पड़े रहे। इनके विषय में पुराण पढ़कर जाना जाता है कि माया ने इन सबकी मिट्टी पलीद की है। माया ने इन सबसे फगुआ खेल में भोग का उपहार लिया, इनका ज्ञान-ध्यान छुड़ा दिया और इन्हें माया के चक्कर में बिखेर दिया।

योगी लोग अनाहतनाद सुनते हैं। वह भी माया ही है। इस माया के आभूषणों,

1. नारद-मोह के विषय में 110वें शब्द "आपन कर्म न मेटो जाई" की व्याख्या में देखें।

गीतों आदि की मधुर-ध्वनि मानो ज्ञानियों के लिए अनाहतनाद बन गयी है। वे इसे सुनकर माया की चाह में पड़ गये। संसारी लोग भोगों की क्रीड़ा करते हैं। वे इसमें अपने उत्तम अवसर समझते हैं। वे समझते हैं कि जवानी ही विषयानन्द लेने का समय है। इसे चूकने न दें। फिर दावं नहीं मिलेगा। अतएव वे विषयों में डूबे हुए गोबरकीट बने रहते हैं और उन्हीं में अपने आप को कृतकृत्य मानते हैं।

"ज्ञान ढाल आगे दियो, टारे टरै न पाँव।" कितने ज्ञानियों ने अपनी ज्ञान-ढाल आगे देकर माया से युद्ध किया, परन्तु वे माया के मजबूत पैर हटा न सके और अंततः माया से परास्त हुए। वस्तुतः उन ज्ञानियों की ज्ञान-ढाल अज्ञानरूप ही थी। शुद्ध ज्ञान के सामने माया का अंधकार तो रुक ही नहीं सकता। परन्तु जहां ज्ञानाज्ञान मिलित को शुद्ध ज्ञान मान लिया जाता है, वहां सम्हलना बड़ा कठिन होता है। "खेलनहारा खेलि हैं, बहुरि न वाकी दावँ।" यह माया ज्ञान में मिलकर जीव को भुला देती है, या कहना चाहिए कि जीव ज्ञान के नाम पर सुखाध्यासवश अज्ञान में मिलकर पुनः विषयों का खेल खेलने लगता है और उसी में अपना उत्तम अवसर समझता है। ज्ञान के नाम पर जब उसे कुछ मान, कीर्ति, पूज्यता, प्रतिष्ठा एवं भोग वस्तुएं मिल जाती हैं तब वह उन्हीं में अपने आप को पूर्णकाम मान लेता है। यह उसकी दरिद्रता एवं तुच्छता है।

साहेब सुर, नर, मुनि, देवता तथा व्यास के साथ विरक्त गोरख, दत्तात्रेय, सनक-सनंदनादि को भी माया द्वारा हारे हुए बताते हैं। यहां उनके कथन का सूक्ष्म अर्थ है। माया केवल स्थूल-भोग ही नहीं है, किन्तु अपने शुद्ध चेतनस्वरूप आत्मा से अलग जो कुछ अपना माना जाये वह सब माया है। ज्ञानीजनों में भी जो कोई अपने स्वरूप एवं अपनी आत्मा से अलग परमात्मा तथा अपने लक्ष्य को मान बैठा है यह माया द्वारा मानो परास्त किया जाना ही है, और कोई अपनी आत्मा की गरिमा समझा भी तो उसे जड़ विश्व में मिलाकर अग-जग व्यापक होने की धारणा कर ली, जो माया ही है। कहने का अर्थ यह कि अपनी शुद्ध आत्मा में न स्थित होकर ज्ञानियों ने अपने मन की कल्पनाओं में स्थिति मानी, इसलिए मानो वे माया एवं मन से परास्त किये गये।

संसार का प्रेम छिछला है। उसके छिछले प्रेम में आंदोलित होना बालकपन है और सारा संसार इसी में भटक रहा है। जैसे फाग में एक दूसरे के शरीर पर रंग की पिचकारी मारते हैं, वैसे संसार के लोग एक दूसरे को आसक्ति-फांस में बांधकर संसार-सागर में डूबते-डुबाते हैं। इस माया ने सबको अपने वश में कर लिया है और वह पुनः-पुनः देखती जाती है कि कोई मेरे फंदे से बचा तो नहीं है। "फिर फिरि चितवत जात" में माया के मोह-बाण की व्यंजना है।

"ज्ञान डाँग ले रोपिया, त्रिगुण दियो है साथ। शिवसन ब्रह्मा लेन कहो है, और की केतिक बात।" जिसके साथ त्रिगुण लगा हुआ है ऐसा ज्ञानस्तंभ मानो माया ने ही रोपा है। जिस ज्ञान में जीव अपने शुद्ध चेतनस्वरूप से अलग अपने लक्ष्य की कल्पना करता हो तथा जिस ज्ञान में जड़ से सर्वथा अलग अपनी स्थिति न हो वह ज्ञान भले

ऐसा लगे कि यह तो ज्ञान का महान स्तंभ ही है, परन्तु उसे समझ लो कि वह त्रिगुणयुक्त है अर्थात मायारूप ही है। ऐसे मायायुक्त ज्ञान को शिव के सहित ब्रह्मा ने भी ग्रहण करने की बात कही है, फिर दूसरे की बात क्या कही जाये! जहां ज्ञानियों ने अपने ज्ञानातिरेक में यह कह डाला है कि मैं ही चांद, सूरज तथा अनंत विश्व-ब्रह्मांड हूं, वहां यही बात है कि ज्ञान के साथ त्रिगुण मिल गया है। यदि चेतन अपने साक्षीपन को भूलकर दृश्य भास को अपना रूप मानता है तो वह ज्ञान के नाम पर घोटाले में है। हां, सारे संकल्पों के त्याग देने के बाद जब शुद्ध चेतन मात्र रह जाता है तब साक्षी भी न रहकर केवल ज्ञान-मात्र रहता है। यही दशा उच्चतम है। परंतु जो ज्ञानी कहलाने वाले जड़ दृश्य भास को अपना स्वरूप मानते हैं वे मानो रूप बदलकर ज्ञान के चोंगे में माया में ही डूब रहे हैं।

साहेब कहते हैं कि माया बड़ी विचित्र है। एक ओर तो सुर, नर, मुनि आदि सृष्टि के सभी जीव खड़े हैं और दूसरी ओर केवल माया खड़ी है, परन्तु वह अपनी नजरों में आने वाले सभी लोगों को एक दौड़ में धर दबोचती है। यह माया किसी को स्थूल इन्द्रियों के भोगों में, किसी को मान-बड़ाई में, किसी को ब्रह्मज्ञान के नाम पर विश्व-अभिमान में, किसी को पूजा-पाठ एवं भक्ति के नाम पर पानी-पत्थरों में भटकाती है। माया के स्थूल-सूक्ष्म दोनों स्वरूपों को परखकर उससे अलग निज शुद्ध चेतनस्वरूप में स्थित होना बिरले पारखी का काम है। जो परखते-परखते माया के सारे स्थूल-सूक्ष्म जालों को काट पायेगा वही इससे पूर्णतया उबरेगा।

इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि जितने लोग थे उन सबको माया ने अपने घूंघट में समा लिया है। माया की रेख कज्जल है। अर्थात किसी प्रकार का दाग लग जाना मानो माया का लक्षण है और "अदग गया नहिं कोय" इस माया से कोई निष्कलंक नहीं गया। विशेष क्या कहें "इन्द्र कृष्ण द्वारे खड़े, लोचन ललचि लजाय।" देवेंद्र इन्द्र तथा महायोगिराज कहलाने वाले महाज्ञानी कृष्ण माया के द्वार पर करबद्ध खड़े हैं और उसकी झांकी के लिए ललचा रहे हैं। इन्द्र पुलोम दानव की हत्या कर उसकी सुन्दरी पुत्री शची को छीनते हैं और कृष्ण रुक्मी को हराकर उसकी बहिन रुक्मिणी को छीनते हैं।[1] इसके साथ "श्री कृष्ण ने सद्गुण-सम्पन्न उत्तम कुलवाली आठ कन्याओं से विवाह किया जो उनकी पटरानियां बनीं, वे हैं कालिंदी, मित्रविंदा, सत्या, जाम्बवंती, रोहिणी, लक्ष्मणा, सत्यभामा तथा तन्वंगी। इनके अलावा सोलह हजार और स्त्रियां थीं। इन सबके साथ निस्सीम बल वाले श्री कृष्ण ने उतने ही रूप धारणकर उनसे विवाह किया।"[2]

---

1. हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय 59। भागवत, 10/52/53।
   नोट—यह भी सच है कि शची इन्द्र को चाहती थी तथा रुक्मिणी श्रीकृष्ण को चाहती थी।
2. महीषीरष्ट कल्याणीस्ततोऽन्या मधुसूदनः।

1. रुक्मिणी—विदर्भदेशीय भीष्मक की पुत्री, जिसका हरणकर कृष्ण ने राक्षस विधि से विवाह किया। "राक्षसेन विधानेन उपयेम इति श्रुतम्।"[1]

2. कालिंदी—सूर्यपुत्री।

3. मित्रविंदा—श्रीकृष्ण की बुआ राजाधिदेवी के गर्भ से उत्पन्न।

4. सत्या—अयोध्यानरेश नग्नजित की पुत्री।

5. जांबवंती—जांबवंत की पुत्री।

6. रोहिणी—केकयनरेश की पुत्री। यह श्रीकृष्ण की बुआ श्रुतिकीर्ति की कन्या थी।

7. लक्ष्मणा—मद्रराज की पुत्री।

8. सत्यभामा—सत्राजित की पुत्री।

9. तन्वंगी—गांधारदेशीय राजा शैब्य की पुत्री।[2]

पण्डितों ने इन नौ रानियों एवं पत्नियों के बाद कृष्ण से सोलह हजार स्त्रियां जोड़ीं। इन सबको श्रीकृष्ण कैसे संतोष देते थे, इसके समाधान में पण्डितों ने लिखा है कि वे सोलह हजार कृष्ण बन जाते थे और एक-एक कृष्ण एक-एक पत्नी के साथ हो जाते थे। श्रीकृष्ण सपत्नीक तथा अनेक पत्नियों वाले थे यह ठीक है, परन्तु सोलह हजार पत्नियां उनसे जोड़ना पण्डितों के मन की मलिनता का फल है। इसके बाद हजारों पर-नारियों से रास करना तथा भागवत और ब्रह्मवैवर्त वर्णित रास एवं गर्गसंहिता वर्णित अरबों-खरबों स्त्रियों का सहवास सब असंभव तथा पण्डितों का कृष्ण के साथ अन्याय है। यदि श्री कृष्ण ने रास की होती तो युधिष्ठिर के यज्ञ में जब उनकी अग्रपूजा से कुपित होकर शिशुपाल ने उन्हें गालियां दी थीं तब वह उनके द्वारा की गयी रास का उल्लेख अवश्य करता, परन्तु महाभारत में ऐसा कुछ नहीं है।

यहां का भाव तो इतना ही है कि श्री कृष्ण-इन्द्रादि सब माया के वश हुए। प्रश्न होता है कि क्या माया से बचने का कोई उपाय है? इसके उत्तर में सद्गुरु कबीर कहते हैं "कहहिं कबीर ते ऊबरे, जाहि न मोह समाय।" जिसके मन में स्थूल-सूक्ष्म किसी

उपयेमे महाबाहुर्गुणोपेताः कुलोद्भवाः॥
कालिन्दीं मित्रविन्दां च सत्यां नग्नजितीमपि।
सुतां जाम्बवतश्चापि रोहिणीं कामरूपिणीं॥
मद्रराजसुतां चापि सुशीलां शुभलोचनाम्।
सात्राजितीं सत्यभामां लक्ष्मणां चारु हासिनीम्॥
शैब्यस्य च सुतां तन्वीं रूपेणाप्सरसोपमाम्।
स्त्रीसहस्त्राणि चान्यानि षोडशातुलविक्रमः॥
उपयेमे हृषीकेशः सर्वा भेजे स ताः समम्॥ (हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय 60, श्लोक 40-44)

1. भागवत, 10/52/18।

2. हरिवंश, विष्णुपर्व 60/40-44, गीता प्रेस, सटीक।

प्रकार की माया का मोह नहीं समाता उसका माया कुछ नहीं बिगाड़ सकती। वस्तुतः मोह ही माया है। जिसने स्थूल-सूक्ष्म सारे मोह का त्याग कर दिया है वह निर्विघ्न एवं सच्चा सुखी है।

चाचर-2

जारो जग का नेहरा, मन बौरा हो॥ 1॥
जामें सोग सन्ताप, समुझि मन बौरा हो॥ 2॥
तन धन से क्या गर्भ सी, मन बौरा हो॥ 3॥
भस्म कीन्ह जाके साज, समुझि मन बौरा हो॥ 4॥
बिना नेव का देव घरा, मन बौरा हो॥ 5॥
बिन कहगिल की ईंट, समुझि मन बौरा हो॥ 6॥
कालबूत की हस्तिनी, मन बौरा हो॥ 7॥
चित्र रचो जगदीश, समुझि मन बौरा हो॥ 8॥
काम अन्ध गज बशि परे, मन बौरा हो॥ 9॥
अंकुश सहियो सीस, समुझि मन बौरा हो॥10॥
मर्कट मूठी स्वाद की, मन बौरा हो॥11॥
लीन्हों भुजा पसारि, समुझि मन बौरा हो॥12॥
छूटन की संशय परी, मन बौरा हो॥13॥
घर घर नाचेउ द्वार, समुझि मन बौरा हो॥14॥
ऊँच नीच समझेउ नहीं, मन बौरा हो॥15॥
घर घर खायो डाँग, समुझि मन बौरा हो॥16॥
ज्यों सुवना ललनी गह्यो, मन बौरा हो॥17॥
ऐसो भरम विचार, समुझि मन बौरा हो॥18॥
पढ़े गुने क्या कीजिये, मन बौरा हो॥19॥
अन्त बिलैया खाय, समुझि मन बौरा हो॥20॥
सूने घर का पाहुना, मन बौरा हो॥21॥
ज्यों आवैं त्यों जाय, समुझि मन बौरा हो॥22॥
नहाने को तीरथ घना, मन बौरा हो॥23॥
पुजबे को बहु देव, समुझि मन बौरा हो॥24॥
बिनु पानी नर बूड़हीं, मन बौरा हो॥25॥
तुम टेकेउ राम जहाज, समुझि मन बौरा हो॥26॥
कहहिं कबीर जग भर्मिया, मन बौरा हो॥27॥
तुम छाड़हु हरि की सेव, समुझि मन बौरा हो॥28॥

शब्दार्थ—जारो= जाल, बंधन, अथवा जला डालो। नेहरा= मोह। साज= सामग्री, ठाट। कहगिल= गिलावा, गारा। कालबूत= मेहराब बनाने के लिए रखा गया

कच्चा भराव, कच्चा काम, कृत्रिम। जगदीश=जगत का ईश्वर, मन। अंकुश= गजबांक, हाथी हांकने का लोहे का छोटा शस्त्र। मर्कट=बंदर। डाँग=दंड, डंडा। सुवना=शुक, सुग्गा। ललनी=सुग्गा फंसाने की चरखी। टेकेउ=हठ पकड़ा है।

भावार्थ—हे पगले मन! संसार का मोह तुम्हारे फंसने के लिए जाल है। उसमें केवल शोक-संताप हैं, इसे समझ और मोह को जला दे॥ 1-2॥ हे पगले मन! ऐसे शरीर और धन का क्या अहंकार करता है जिसका शृंगार क्षण ही में खाक हो जाने वाला है॥ 3-4॥ हे पगले मन! तू इस बात को ठीक से समझ ले कि जैसे कोई देवालय बिना नींव के बना हो और उसकी दीवारों की ईंटों में गिलावा न लगा हो तो उसके ढहने में क्या देरी है, वैसे तुम्हारे सारे ऐश्वर्य क्षणभंगुर हैं॥ 5-6॥ हे पगले मन! जैसे काले कागज की हथिनी को सही मानकर कामांध हाथी उसके पास आता है और फंसा लिया जाता है तथा जीवनभर फीलवान का अंकुश सहता है, वैसे हे पगले! तू इस बात को समझ कि तू मन रूपी ईश्वर के बनाये स्त्री-पुत्रादि चित्रों में उलझकर जीवनभर मरता है॥ 7-10॥ हे मन पगले! स्वाद के वश बन्दर चने के लोभ से सुराही में हाथ डालता है और मुट्ठी में चने लेता है। वह न चने छोड़ता है और न उसकी मुट्ठी सुराही से निकलती है। फलतः बन्दर कलन्दर द्वारा हाथ फैलाकर पकड़ लिया जाता है। फिर बन्दर को उसके हाथ से छूटने का संशय होता है कि इसके बन्धनों से छुटूंगा कि नहीं। फिर वह ऊंच-नीच घर-घर तथा द्वार-द्वार नचाया जाता है और कलंदर के डंडे सहता है। यही दशा तुम्हारी है। तुम विषयों के लालच में पड़कर मनरूपी कलन्दर द्वारा जीवनभर संसार में नचाये जाते हो और संसार के डंडे सहते हो॥ 11-16॥ हे पगले मन! तुमने अपने आप को वैसे ही इस संसार के विषयों में सुख-भ्रम से बंधा हुआ मान लिया है जैसे शुक-पक्षी लालमिर्ची खाने के लोभ से नलिका-यंत्र में अपने आप को स्वयं बंधा हुआ मान लेता है॥ 17-18॥ हे पगले मन! इस बात को समझ कि केवल पढ़ने-गुनने से क्या होता है, यदि उसको अंत में माया-बिल्ली ने खा लिया॥ 19-20॥ हे पगले मन! तू इस बात को समझ कि जिस प्रकार सूने घर में आया हुआ पहुना जैसे भूखे-प्यासे आया वैसे लौट गया, उसी प्रकार तू इस संसार में अतृप्त होकर आया और अतृप्त ही लौट जाये तो जीवन का क्या फल मिला!॥ 21-22॥ हे पगले मन! तूने नहाने के लिए बहुत-सी नदियां और तीर्थ निर्धारित कर लिये और पूजने के लिए बहुत देवता बना लिये, और राम-नाम के जहाज का मोह पकड़ लिया, परन्तु तुम बिना पानी के डूब रहे हो, इसे समझो॥ 23-26॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे पगले मन! संसार के लोग तो भटके हुए हैं। हे संसार के लोगो! इस बात को समझो कि तुमने हरि का सेवन करना, अर्थात ज्ञानपथ से चलना छोड़ दिया है॥ 27-28॥

व्याख्या—यह दूसरा चांचर है। चांचर राग-रंग का विषय होता है; परन्तु विरक्त चूड़ामणि कबीर-रचित चाचर तो राग-रंग से वैराग्य कराने वाला विवेक से पूर्ण है।

उन्होंने इस पूरे चाचर में मन को सम्बोधित किया है और मन को पगला कहा है तथा उसे वास्तविकता समझने की राय दी है। विवेक कर देखा जाये तो प्रायः हर मनुष्य का मन पागल बना है। पागल अव्यवस्थित बातें सोचता है तथा अव्यवस्थित बातें करता है, वैसी ही दशा अन्य मनुष्यों की है। अन्तर यह है कि पागल कहा जाने वाला अपनी अव्यवस्थित बातें खुलकर कहता है तथा चेष्टा भी वह वैसी ही करता है और दूसरे मनुष्यों का मन अव्यवस्थित रहता है, उनका सोचना पागल-जैसा रहता है, परन्तु वे अपने मन के पागलपन को बुद्धि से दबाकर रखते हैं। साठ वर्ष का बूढ़ा पागल यदि सोचता है कि मैं बाइस वर्ष का हूं तो वह वैसे जबान से कहता भी है, परन्तु दूसरे साठ वर्ष के बूढ़े मन में तो सोच सकते हैं कि हम नवयुवक हैं, परन्तु जबान से वैसा नहीं कहते। विचार करके देखें तो सारा संसार भीतर-भीतर पागल है। वह ऊपर से तो होशहवास वाला बनता है, परन्तु भीतर से पागल रहता है। जिसका भीतरी पागलपन ज्यादा बढ़ जाता है उसका वह उभड़कर वाणी और कर्मों में आने लगता है। गाली, परनिंदा, असत्यभाषण, व्यभिचार, हत्या, चोरी, डाका, राहजनी, छल-कपटपूर्वक दूसरे का धन हड़पना तथा अन्य दुराचार भीतरी पागलपन का प्रकाशन है। इतना ही नहीं, मैं शरीर हूं, शरीर मेरा है, ये दुनिया के धन-दौलत तथा प्राणी-पदार्थ मेरे हैं, ऐसा मानना ही पागलपन है। विषयों में सुख है, यह मानना पागलपन है। इस आध्यात्मिक दृष्टिकोण को लेकर सद्गुरु ने मन को पागल कहा है।

सद्गुरु कहते हैं कि हे पगले मन! तू इस बात को भलीभांति समझ ले कि संसार का मोह तेरे फंसने का भयंकर जाल है। "जारो जग का नेहरा" 'जारो' को संज्ञा तथा क्रिया दोनों रूपों में मानकर उसका अर्थ किया जा सकता है। जारो का शुद्ध रूप है जार, जिसके दो अर्थ होते हैं, जाल तथा परस्त्री से प्रेम करने वाला। यहां पहला अर्थ ही उपयुक्त है, जाल। 'जारो' को ज्यों-का-त्यों रखकर अर्थ होगा 'जला दो'। संज्ञारूप में जारो का अर्थ 'जाल' तथा क्रिया रूप में 'जला दो' होगा। साहेब कहते हैं कि हे पगले मन! तू जिन प्राणी-पदार्थों में मोह करता है, जिन्हें अपना मानता है, वे तो तेरे फंसने के लिए जाल हैं। इसलिए इस मोह को जला दे। इसे ज्ञान की आग से राख कर दे। तू इस बात को समझ कि संसार के मोह में तुम्हें केवल शोक-संताप मिलते हैं। यह जीव अकेला आया है। यह अकेला है ही। इसे अपने आप को सदैव अकेला समझना चाहिए। इस संसार में कहीं और कभी भी ममता की रस्सी में नहीं बंधना चाहिए। कहीं ममता करो और शोक-संताप में जलो, यही ममता का फल है।

"तन धन से क्या गर्भ सी" तन और धन का क्या गर्व करते हो! चार दिनों में शरीर ढीलाढाला हो जाता है, रोग तथा बुढ़ापा से जीर्ण होकर काल के गाल में चला जाता है। और ऐसा ही नहीं, माता के गर्भ में, पैदा होने पर शिशुपन में, बालकपन में, तरुणाई में तथा भरी जवानी में—जब भी अवधि पूरी होती है इस देह के विनशते देरी नहीं लगती। यह शरीर एक दिन राख होता ही है, धन भी नष्ट हो जाता है। फिर

इसका क्या अहंकार किया जाये!

शरीर, परिवार, समाज, पद, प्रतिष्ठा, धन, वैभव वैसे क्षणिक हैं जैसे बिना नींव तथा गिलावा के बना मकान। इस संसार में कुछ भी स्ववश नहीं है। हाथ ही तुम्हारे हाथ में—वश में नहीं है। देह रहते-रहते जब कंपवायु धर दबोचता है तब गिलास उठाकर पानी पीना तथा मुख में ग्रास लेना कठिन हो जाता है।

जंगल में गड्ढा खोदकर उस पर टाटी रख देते हैं तथा टाटी पर कागज की हथिनी बनाकर खड़ी कर देते हैं। जंगली हाथी जब उधर आता है तब उसे असली हथिनी समझकर कामांध हो उसके पास दौड़ा जाता है। वहां जाते ही टाटी टूट जाती है और हाथी गड्ढे में गिरकर वहीं रहने के लिए विवश हो जाता है। फंसाने वाले कई दिनों तक उसे उसी में पड़े रहने देते हैं। वह भूख-प्यास से निर्बल हो जाता है। इसके बाद उसे जंजीर में फंसाकर और त्रास दे-देकर अपने वश में करता है और प्रशिक्षित करता है। फिर वह जीवनभर पराये हाथों में पड़ा रहता है तथा अपने सिर पर उसके अंकुश की मार सहता है।

मनुष्य की यही दशा है। वह कामांध होकर कालबूत की हस्तिनी में फंसता है। वह एक आकर्षक दिखते हुए जोड़े में फंस जाता है जो कालबूत के समान कच्चा, दिखाऊ तथा थोड़े दिनों में क्षीण हो जाने वाला है, परन्तु एक बार फंसकर जीवनभर उससे निकलना बड़ा कठिन हो जाता है। कोई बिरला ही वीर होगा जो उससे निकल सके। एक बार फंसे हुए मनुष्य के लिए फिर तो जीवनभर के लिए वह घनचक्कर चलना शुरू होता है, जिससे उबरना कठिन है। यह काम-वासना ही फांसी का तख्ता है। जिस पर विमूढ़ आदमी हंस-खेल तथा गा-बजाकर चढ़ता है। फांसी का तख्ता तो मिनटों में दुखों से मुक्त कर देता है, परन्तु यह काम-वासना का तख्ता जीवनभर छुट्टी नहीं देता। इस फांसी पर जो चढ़ा वह जीवनभर इसी पर लटका रहता है। यहां तक कि इसी वासना के कारण जीव जन्म-जन्मांतरों तक भटकता रहता है। मन ही जगदीश है, जगत का ईश्वर है। यही स्त्री-पुत्रादि का चित्र बनाकर खड़ा करता है जिसमें जीव फंसकर भटकता है।

बन्दर ने देखा कि सुराही में चने हैं। उसने लोभवश उसमें हाथ डाला और अपनी मुट्ठी चने से भर ली। मुट्ठी बंध जाने से सुराही से निकलती नहीं है; क्योंकि सुराही का मुख संकरा है और चने के लोभ से मुट्ठी खोलता नहीं है। इतने में कलंदर आकर अपने हाथ फैलाकर उसे बांध लेता है। फिर तो जीवनभर वह कलंदर का डंडा सहता है और उसके द्वारा घर-घर नचाया जाता है। यही दशा जीव की है। इन्द्रियों के सुख के लिए यह मूढ़ मन घर-गृहस्थी बसाता है। कुछ दिनों में संसार के विषयों में खूब आसक्त हो जाता है। यद्यपि उसे संसार से कष्ट मिलता है, परन्तु उसने विषयों के स्वाद की मुट्ठी पकड़ रखी है। वह उसे छोड़ना नहीं चाहता। यदि बन्दर चने का लोभ छोड़कर अपनी मुट्ठी खोल दे तो भागकर बच जाये, तथापि उसे लोभ ने जकड़ रखा है

जो मन की अदृश्य रस्सी है। इसी प्रकार मनुष्य यदि मोह-लोभ छोड़ दे तो उसे कोई शक्ति बांध नहीं सकती, परन्तु उसके मन की अदृश्य रस्सी उसे मजबूती से बांधे रखती है। जैसे बंदर ऊंच-नीच सभी के द्वार पर कलंदर का डंडा खाते हुए नाचता है, वैसे जीव जीवनभर संसार एवं मन का डंडा खाते हुए नाचता है और ऊंची-नीची नाना योनियों में भटकता है।

शुक-पक्षी लालमिर्ची को खाने के लोभ में नलिकायंत्र (चरखी) पर बैठता है। चरखी तो उसके फंसाने के लिए ही रखी रहती है। शुक-पक्षी के बैठते ही चरखी घूम जाती है। इतने में शुक भयभीत होकर उसे जोर से पकड़ लेता है। वह समझता है कि मैं पकड़ लिया गया हूं, परन्तु तथ्य यह रहता है कि लालमिर्ची के खाने के लोभ में पड़कर उसने स्वयं चरखी को पकड़ रखा है। इसके बाद शुक पिंजरे में बन्द कर लिया जाता है। यही दशा मनुष्य की है। मनुष्य विषयों के भोग के लालचवश गृहस्थीरूपी चरखी पर बैठता है और गृहस्थी-चरखी उसको लेकर घूम जाती है। वह गृहस्थी के चक्कर में स्वयं को फंसा लेता है; परन्तु उसे लगता है कि गृहस्थी ने मुझे पकड़ लिया है जबकि उसने स्वयं गृहस्थी पकड़ रखी है। वस्तुतः गृहस्थी तो है विषयवासना। यह जीव स्वयं उसे पकड़ता है और स्वयं उसमें अपने आप को उलझाता है।

"पढ़े गुने क्या कीजिए, मन बौरा हो। अन्त बिलैया खाय, समुझि मन बौरा हो॥" शुक-पक्षी मनुष्य के पिंजरे में पलकर बहुत पढ़ लेता है, परन्तु इससे क्या हुआ जब उसको अन्त में बिल्ली ने धरदबोचा। इसी प्रकार आदमी बहुत पढ़ा-लिखा, अनेक भाषा, अनेक शास्त्रों तथा अनेक विषयों का विद्वान हो गया, परन्तु अन्ततः यदि वह माया-बिल्ली द्वारा खा लिया गया तो उसका पढ़ना-लिखना सब मिट्टी है। गृहस्थ को भी सदाचारसम्पन्न तो होना ही चाहिए।

यहां थोड़ा विचार साधुओं के लिए कर लेना चाहिए। गृहस्थ लोग जो विशेष नौकरी-चाकरी करना चाहते हैं उनके लिए तो ठीक है कि वे स्कूली विद्या पढ़ते रहें, परन्तु विरक्त मार्गावलंबियों को घर-गृहस्थी में रहकर जितनी स्कूली विद्या पढ़ लिये हों उसी के आधार पर यहां अध्ययन में लगना चाहिए। साधुओं को डिग्री नहीं लेनी है। डिग्री लेने से उनके मन में केवल मोह बढ़ सकता है। उन्हें तो अध्ययन करना चाहिए। अध्ययन से ज्ञान बढ़ता है, कक्षा एवं डिग्री से नहीं। यदि साधु संत-गुरु के संरक्षण में रहकर खूब डूबकर अध्ययन करें तो उन्हें जो चाहिए—भाषा, व्याकरण, इतिहास, दर्शन—सब में पंडित हो जायेंगे। यह ठीक है कि साधु को साधना की गहराई में उतरना चाहिए और तपस्वी होना चाहिए, परन्तु उसे विद्वान भी होना चाहिए। किन्तु विद्वान होने के लिए उसे स्कूल, कालेज तथा विश्वविद्यालय का चक्कर काटने की आवश्यकता नहीं है। उसे संत और गुरुओं के साथ में रहकर अपने उपयोगी विषयों का अध्ययन करना चाहिए।

कालेज एवं विश्वविद्यालय में पढ़ने वाले साधु-छात्रों को अन्य गृहस्थ छात्रों के सम्पर्क में आना पड़ता है, और रजोगुणी तथा अनेक स्वभावों के गृहस्थ छात्रों का संसर्ग पाकर साधु-छात्रों के मन में रजोगुणी संस्कार आने लगते हैं। डिग्रियों की प्राप्ति के बाद कितने साधु-छात्रों के मन में नौकरी करने की वासना जग जाती है, फिर पीछे लुगाई की। यह ठीक है कि कुछ-न-कुछ साधक तो लौट ही जाते हैं चाहे वे कितने ही उच्च संतों के पास रहते हो; परन्तु यहां तो बात है मात्रा की। यदि गृहस्थों के संपर्क में युवक साधु ज्यादा आयेंगे तो उनके जीवन में गिरावट आयेगी।

अतएव साधुजनों को चाहिए कि अपने मठों एवं समाजों को साधना एवं विद्या—दोनों का केन्द्र बनावें। जितने मुमुक्षु विरक्ति-मार्ग में आवें उन्हें वैराग्य और साधना का प्रशिक्षण दिया जाये, साथ-साथ भाषा, व्याकरण, इतिहास, दर्शन आदि पढ़ाया जाये, जो साधु के धर्म-प्रचार में आवश्यक हैं। अतएव साधु-समाज साधना और विद्या दोनों का केन्द्र होना चाहिए। सद्‌गुरु कहते हैं कि बहुत पढ़ा-लिखा, परन्तु उसको माया-बिल्ली ने धरदबोचा तो पढ़ने-गुनने से क्या हुआ!

"सूने घर का पाहुना, मन बौरा हो। ज्यों आवैं त्यों जाय, समुझि मन बौरा हो॥" किसी घर पर पहुना आया, परन्तु घर पर ताला लगा है। वहां कोई है ही नहीं, तो पहुना बेचारा जैसा भूखा-प्यासा आया वैसा ही लौट गया। यही दशा उनकी है जिन्होंने उत्तम मानव जीवन पाकर अपना कल्याण नहीं कर लिया। जीव अतृप्त ही इस संसार में आया और अतृप्त होकर ही लौट गया, तो जिन्दगी पाने का क्या मतलब हुआ! संसार में धन मिला, परिवार मिला, प्रतिष्ठा मिली, परन्तु भीतर में संतोष नहीं मिला, शाश्वत शांति नहीं मिली, तो क्या मिला!

यह ठीक है कि आदमी ने नहाने के लिए बहुत नदियों एवं तीर्थों का निर्धारण किया है, पूजने के लिए बहुत-से देवी-देवताओं का सृजन किया है और संसार-सागर से पार जाने के लिए राम नाम के जहाज का पल्ला पकड़ा है; परन्तु ये सब बहुत ऊपर-ऊपर की बातें हैं। ये सब बच्चों के खिलौने के समान हैं, जो थोड़ा सात्त्विक मनोरंजन करते हैं। इतने मात्र से वासनाओं का क्षय, स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति नहीं होती। इसके लिए सच्चे सद्‌गुरु की खोज, सुव्यवस्थित सत्संग, उनसे विनम्रतापूर्वक निर्णय ग्रहण, साधना एवं अध्यात्म में गहरी पैठ होनी चाहिए। साहेब कहते हैं कि आदमी यह सब नहीं करता। वह बिना पानी के डूबता है। कोई पानी में डूबे तो स्वाभाविक लगता है, परन्तु बिना पानी के डूबता है तो यह आश्चर्य लगता है। आदमी मिथ्या मान्यताओं में बंधकर अपना जीवन नष्ट करता है।

"कहहिं कबीर जग भर्मिया, मन बौरा हो। तुम छाड़हु हरि सेव, समुझि मन बौरा हो।" सद्‌गुरु कहते हैं कि जगत के लोग भटक रहे हैं; क्योंकि उन्होंने हरि का सेवन करना छोड़ दिया है। हरि है ज्ञान, और संसार के लोग ज्ञान का सेवन करना त्याग दिये हैं। निष्पक्ष निर्णय द्वारा नीर-क्षीर-विवेक करना तथा नीर का त्यागकर केवल

क्षीर को ग्रहण करना, हरि का सेवन करना है। विवेक करने से जो असत्य एवं छूटने वाला सिद्ध हो, उसका मोह छोड़कर कभी न छूटने वाले निजात्मदेव में रमण करना ही हरि का सेवन करना है। परन्तु मनुष्य हरि का सेवन करना छोड़ दिया है। इसलिए वह भटकता है।

यदि ऐसा अर्थ किया जाये कि संसार के लोग भटक रहे हैं इसलिए तुम हरि का सेवन करना छोड़ दो, तो हरि का अर्थ माया मोह होगा। हरि के अनेक अर्थों में एक अर्थ माया भी है जिस पर 34 से 37वें शब्द में काफी विचार किया गया है। लोग माया के सेवन के कारण ही भटकते हैं, यदि आदमी माया का सेवन करना छोड़ दे तो उसका भटकना बंद हो जायेगा।

फल छन्द

निश्चय सहन प्रयत्न अब तो,
लौटि गुरुपद ओर भौ।
सद्ज्ञान अग्नी भस्म कंटक,
शान्त भाव स्वठौर भौ॥
अब तो न कुछ इच्छा रही,
केवल निरिच्छा जोर भौ।
निज शान्ति साधक रहनि में,
पारख परख लहि भोर भौ॥

चौपाई

संत पारखी पारख दाता।
कहहिं बोधपद वचन सुहाता॥
सोइ बोधक वच, मन वच भ्राता।
कहहिं कबीर परख पद त्राता॥

बेलि

हेतु छन्द

यह रमैया राम चेतन–
धाम है विश्राम का।
जड़ से परे अतिशय खरे,
ज्ञाता स्वयं अभिराम का॥
पै यह अविद्या बेलि माया,
भास ग्रन्थि अनादि का।
अजहूँ परख परकाश बिन,
त्रयताप दुःख विषादि का॥

दोहा

श्वान कोल खग मृग दशा, भूल अहो दे शूल।
भूल सोई विघटन हितू, दीन बन्धु कहि रूल॥

सद्गुरवे नमः

बीजक

(पारख-प्रबोधिनी व्याख्या-सहित)

अष्टम प्रकरण : बेलि

खरा और खोट परखो

बेलि-1

हंसा सरवर शरीर में, हो रमैया राम॥ 1॥
जागत चोर घर मूसहिं, हो रमैया राम॥ 2॥
जो जागत सो भागल, हो रमैया राम॥ 3॥
सोवत गैल बिगोय, हो रमैया राम॥ 4॥
आजु बसेरा नियरे, हो रमैया राम॥ 5॥
काल बसेरा बड़ि दूर, हो रमैया राम॥ 6॥
जइहो बिराने देश, हो रमैया राम॥ 7॥
नैन भरोगे दूर, हो रमैया राम॥ 8॥
त्रास मथन दधि मथन कियो, हो रमैया राम॥ 9॥
भवन मथेउ भरपूरि, हो रमैया राम॥10॥
फिरिके हंसा पाहुन भयो, हो रमैया राम॥11॥
बेधिन पद निर्बान, हो रमैया राम॥12॥
तुम हंसा मन मानिक, हो रमैया राम॥13॥
हटलो न मानेहु मोर, हो रमैया राम॥14॥
जस रे कियेहु तस पायेउ, हो रमैया राम॥15॥
हमरे दोष का देहु, हो रमैया राम॥16॥
अगम काटि गम कियेहु, हो रमैया राम॥17॥
सहज कियेहु विश्वास, हो रमैया राम॥18॥
राम नाम धन बनिज कियो, हो रमैया राम॥19॥
लादेउ बस्तु अमोल, हो रमैया राम॥20॥
पाँच लदनुवाँ लादि चले, हो रमैया राम॥21॥
नौ बहियाँ दश गोनि, हो रमैया राम॥22॥

पाँच लदनुवाँ खाँगि परे, हो रमैया राम॥23॥
खाखर डारिनि फोरि, हो रमैया राम॥24॥
शिर धुनि हंसा उड़ि चले, हो रमैया राम॥25॥
सरवर मीत जो हारि, हो रमैया राम॥26॥
आगि जो लागी सरवर में, हो रमैया राम॥27॥
सरवर जरि भौ धूरि, हो रमैया राम॥28॥
कहहिं कबीर सुनो सन्तो, हो रमैया राम॥29॥
परखि लेहु खरा खोट, हो रमैया राम॥30॥

शब्दार्थ—हंसा= हंस, जीव। सरवर= सरोवर, शरीर। रमैयाराम= हृदय में रमने वाला चेतन जीव। आजु= वर्तमान। काल= मृत्यु के बाद। बिराने देश= मनुष्येतर खानि, जड़ देश। दूर= मानवेतर योनि। त्रास= दुख। दधि= समुद्र, वाणी एवं संसार। भवन= देह। बेधिन= विखंडित किया। निर्बान= मोक्ष। मानिक= मानने वाला, लालमणि, माणिक्य। हटलो= रोकना। अगम= पहुंच के बाहर, मोक्षतत्त्व। गम= पहुंच, बाह्याचार। सहज= प्रार्थना-पूजादि। पाँच लदनुवाँ= अन्तःकरण पंचक, अन्तःकरण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार। नौबहियाँ= नौ बहंगी—नौ नाड़ियाँ—पुहुषा, पयस्विनी, गंधारी, हस्तिनी, कुहू, शंखिनी, अलंबुषा, गणेशिनी तथा वारुणी। दश गोनि= दस बोरे (थैले)—पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा पांच कर्मेन्द्रियां। खाँगि= खाँगना, गाय-बैल आदि के खुर पक जाने का रोग, दुर्बल। खाखर= खांखर, जिसमें बहुत छेद हों, शरीर। खरा= विशुद्ध, खालिस, सच्चा, निज चेतनस्वरूप। खोट= दोष, बुराई, घटिया माल।

भावार्थ—हे रमैयाराम चेतन! तुम हंस हो। तुम्हारा मानसरोवर शरीर के भीतर ही है; परन्तु दुख यह है कि तुम जाग्रतस्वरूप हो, फिर भी तुम्हारे हृदय-घर में कामादि चोर आत्म-धन को चुरा रहे हैं॥ 1-2॥ जो ठीक से जागता है वह इन चोरों के पास से भाग खड़ा होता है, परन्तु हे रमैया राम! जो सोता है, असावधान रहता है, वह अपने धन को खो देता है॥ 3-4॥ हे रमता चेतन! आज तुम्हारा निवास कल्याण-स्थल के बहुत निकट है; परन्तु यदि तुम कल्याण-साधना नहीं कर लिये तो कल तुम्हारा निवास बहुत दूर हो जायेगा। पता नहीं तुम किस योनि में पहुंच जाओ॥ 5-6॥ हे रमता राम! तुम्हारी अपनी स्वरूपस्थिति न होने से तुम पराये देश-पशु आदि योनियों में चले जाओगे, फिर कल्याण-साधन-स्थल से दूर पड़े नेत्रों में आंसू भर-भरकर रोते रहोगे॥ 7-8॥ हे रमैया राम! सांसारिक तापों से व्यथित होकर तुम्हारे मन में मंथन हुआ, इसलिए तुमने सुख के लिए मानो पूरा संसार-सागर ही मथ डाला, और भोगों में अपने इस शरीर को तो पूर्णरूप से मथा ही॥ 9-10॥ परन्तु हे रमैया राम! फल कुछ न मिला। यह जीव सुख के लिए फिर संसार का पहुना बना, जहां कि सुख नहीं है। इसने विषयों के वश होकर मोक्ष-पद को विखंडित कर दिया॥

11–12॥ हे रमैया राम! तुम हंस हो, तुम मन को प्रकाशित करने वाले माणिक्य हो, परन्तु तुम मेरा रोकथाम नहीं मानते हो और विमोहित होकर मन के ही चक्कर में पड़ जाते हो॥ 13–14॥ हे रमता चेतन! तुम जैसा कर्म करते हो वैसा फल पाते हो। मुझे दोष मत दो, क्योंकि मैंने तुम्हें पहले ही सावधान कर दिया है॥ 15–16॥

हे असंग चेतन! तूने अपने स्वरूप के भूलवश स्वरूपस्थिति एवं मोक्ष-तत्त्व को पहुंच के बाहर मानकर उसकी बात काट दी और कर्मकांड तथा कल्पित देवी-देवता-पूजन को अपनी पहुंच के भीतर मानकर उन्हीं के बाल-खेल में जीवनभर लगा रहा और सहज-प्राप्त तीर्थ-मूर्ति, रोजा-नमाज, प्रार्थना आदि बाह्याचार से पूर्ण कल्याण का विश्वास कर लिया॥ 17–18॥ हे रमैया राम! रामतत्त्व को समझने तथा उसमें स्थित होने को दरकिनार कर तूने रामनाम धन को व्यापार बना डाला, उस अनमोल धन को लादकर भी उसके बोध से जीवनभर वंचित रहा॥ 19–20॥ हे रमैया राम! बोझा ढोने वाले अंतःकरण पंचकरूप पांच टट्टू तुम्हारी मान्यताओं के बोझ को लाद ले चले। उसमें सहायक हुईं नौ नाड़ियां रूपी नौ बहंगी तथा दस इंद्रियांरूपी दस बोरे॥ 21–22॥ परन्तु हे रमैया राम! उक्त अंतःकरण पंचकरूप बोझा लादने वाले पांचों टट्टू दुर्बल हो गये, फिर तो असंख्य छिद्र भरे इस शरीर को फोड़ डाले॥ 23–24॥ अंततः हंस सिर पटककर उड़ चला और जो शरीर-सरोवर कल्याण-साधन होने से तुम्हारा मित्र था, उसे तुम हार चले॥ 25–26॥ हे रमैया राम! फिर तो तुम्हारे माने हुए शरीर-सरोवर में आग लगा दी गयी और वह जलकर धूल हो गया॥27–28॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो और हे रमता चेतन! सुनो, तुम स्वयं परख लो कि सत्य क्या है और असत्य क्या है, तुमसे न छूटने वाला क्या है तथा छूटने वाला क्या है!।29–30॥

व्याख्या—यह बेलि प्रकरण है। इसमें दो बेलि-छन्द हैं। बेलि का अर्थ होता है लता। माया मानो लता है, जिसने सबको लपेटकर बांध रखा है। तिरपनवें शब्द में सद्गुरु ने कहा है—"बेलि एक त्रिभुवन लपटानी, बाँध ते छूटै नहिं ज्ञानी। कहहिं कबीर हम जात पुकारा, पण्डित होय सो लेय बिचारा।"

इस ग्रन्थ में 'हंस' की व्याख्या कई जगह कर दी गयी है। अहंसः से अ और विसर्ग लुप्त होकर हंस शब्द बना है जिसका अर्थ होता है 'मैं वह हूं जो मैं चाहता हूं।'[1] मैं शांति चाहता हूं, तो मेरा स्वरूप ही शांत है। हंस प्रसिद्ध सफेद पक्षी है जो मानसरोवर में रहता है। कहावत है कि वह नीर-क्षीर-विवेक करता है। इस जीव में हंस शब्द के शाब्दिक तथा रूढ़, दोनों अर्थ उपयुक्त हैं। जीव स्वयं वह है जो चाहता है और वह ज्ञानस्वरूप होने से नीर-क्षीर विवेकी है। यह चेतन-हंस शरीर-सरोवर का निवासी है। "हंसा सरवर शरीर में" जीव-हंस शरीर-सरोवर में रहता है। सरवर का

1. अहंसः = अहम् + सः—मैं + वह (हूं)।

दूसरा अर्थ है चेतना एवं स्वरूपस्थितिरूपी मानसरोवर। इस दृष्टि से अर्थ होगा कि हे हंस! तुम्हारा मानसरोवर, तुम्हारे विहार एवं विलास का स्थान इस शरीर के भीतर तुम्हारी आत्मचेतना ही है। इस शरीर में दो सुख हैं, एक ऐंद्रिक तथा दूसरा अतीन्द्रिय। ऐंद्रिक-सुख जीव को विमोहितकर संसार में भटका देता है और अतीन्द्रिय-सुख जीव को संसार से मुक्त कर चिरशांति देता है। इन्द्रियों से विषयों का भोग ऐंद्रिक-सुख है, जिसमें पड़कर जीव को केवल भटकाव एवं अशांति मिलती है, और जहां इन्द्रियों का व्यापार तथा मन का भी व्यापार बन्द हो जाता है, उसके आगे निज चेतना का क्षेत्र है। इस दशा में स्थित होने से जो सुख का अनुभव होता है, वह अतींद्रिय है। यह दिव्य है। इसका अनुभव भी इस शरीर में रहते हुए ही हो सकता है। जो साधक इस अतीन्द्रिय-सुख को पूर्णतया पा जाता है उसका जीवन कृतकृत्य हो जाता है।

"जागत चोर घर मूसहिं, हो रमैया राम।" जैसे कोई अपने घर में जाग रहा हो, और चोर उसके घर में चोरी कर उसके धन को ले जा रहे हों तो यह उसकी कायरता है। एक व्यक्ति के घर में चोर घुसे थे। घर का मालिक खाट पर लेटा था और जाग रहा था। उसकी पत्नी भी जाग रही थी। उसने अपने पति को सावधान किया कि घर में चोर घुस आये हैं। पति ने पत्नी से कहा था कि मैं देख रहा हूं, जान रहा हूं। चोर माल लेकर घर से चल दिये, पुनः पत्नी ने उसे सावधान किया था, परन्तु उसने डरवश पुनः अपनी बात दोहरायी कि मैं देखता हूं, जानता हूं। जब चोर माल लेकर चले गये तब घर का मालिक तलवार-बंदूक पटकने लगा। वस्तुतः यह उसकी कायरता थी। वह स्वयं चोरों से डर रहा था। यही दशा मनुष्य की है। उसके हृदय-घर में काम, क्रोध, लोभ, मोहादि चोर घुसकर चोरी कर रहे हैं। जीव जानता है कि मेरे घर में चोरी हो रही है, परन्तु विषयासक्ति के कायरतावश उन्हें खदेड़ नहीं पाता। जीव स्वरूपतः जाग्रतस्वरूप एवं चेतनस्वरूप है। उसमें जानीव दशा है। वह हर समय जानता रहता है; परन्तु साधारण जानना काम नहीं करता। जब वह विषयासक्ति की नींद छोड़कर पूर्णतया जग जाता है तब उसकी दशा एकदम भिन्न हो जाती है। इसके लिए सद्गुरु अगली पंक्ति में कहते हैं—

"जो जागल सो भागल, हो रमैया राम।" जो जागता है वह भागता है। जागने का मतलब है भागना। कोई कहे कि मैं जागता हूं, परन्तु वह भागता नहीं है तो वह जाग कहां रहा है! भागने का मतलब है अपने मनोविकारों को छोड़कर और सीमित स्वार्थ से हटकर आत्मकल्याण और लोककल्याण में लग जाना। आज के प्रगतिशील कहते हैं कि "भागो न, बदलो"। परन्तु यह समझ लो कि सच्चे सन्त इस तरह नहीं भागते हैं कि वे समाज-कल्याण के काम को छोड़ देते हों। सच्चे सन्त अपने छुद्र स्वार्थ को छोड़कर विराट संसार के स्वार्थ एवं कल्याण में लग जाते हैं। यदि कोई ऐसा सन्त हो जो लोक के देखने में कोई जगत-कल्याण का कार्य न करता हो, परन्तु यदि वह पूर्ण साधनसम्पन्न है तो उससे अनेकों को सत्प्रेरणा मिलेगी। इसलिए उसे भी यह माना

जायेगा कि वह समाज को बदल रहा है। समाज केवल वक्तव्य देने से नहीं सुधरता, किन्तु पवित्र आचरणों का आदर्श पाकर सुधरता है। मूल बात यहां यह है कि जो पूर्ण जाग्रत हो जाता है वह मोह-माया से भागता है। महर्षि वेदव्यास शास्त्रों के महान ज्ञानी थे, परन्तु वे जगे नहीं थे, उनके पुत्र शुकदेव कोई शास्त्रज्ञानी नहीं थे, परन्तु वे जगे थे। इसलिए वे भाग खड़े हुए। गौतम बुद्ध के समय में बहुत-से प्रकांड पंडित रहे होंगे, परन्तु वे जहां के तहां पड़े रहे, किन्तु गौतम जग गये थे इसलिए वे भाग खड़े हुए। भर्तृहरि, गोपीचन्द आदि जग गये तो भाग खड़े हुए। ये तो बड़े-बड़े नाम हैं, कितने नाम ऐसे हैं जिनके विषय में हम परिचित नहीं हैं किन्तु वे जगे थे और मोह-माया से भगे थे। इस कथन का इतना ही अर्थ नहीं है कि जो घर-द्वार छोड़कर साधु-संन्यासी हो जाये, मात्र वही जगा है। वस्तुतः जिसके मन से मोह दूर हो जाये वही जगा है। मोह को छोड़ देने वाला ही दुखों से मुक्त होता है तथा संसार के लिए कल्याणकारी सिद्ध होता है।

"सोवत गैल बिगोय, हो रमैया राम" जो सोया वह खोया। सोने का मतलब है इन प्राप्त क्षणभंगुर प्राणी-पदार्थों में आसक्त होना। जहां से हमें क्षण-पल में सदैव के लिए चल देना है वहां के लिए राग-द्वेष करना मानो असावधान होकर सोना है। जागता वही है जो यहां कहीं भी राग-द्वेष नहीं करता। जो सदैव शरीरांत के दिन को देखता है और उसके लिए तैयार बैठा रहता है वह मानो हर समय जागता है। मोह करना सोना है तथा मोह-भंग कर देना जागना है। इसका अर्थ यह नहीं है कि ऐसा व्यक्ति केवल मौत की प्रतीक्षा करता है और दूसरा काम नहीं करता। वह जीवन तथा जगत के लिए महान काम करता है। ऐसी दिव्यदृष्टि वाले की स्थिति सर्वोच्च होती है।

"आजु बसेरा नियरे, हो रमैया राम। काल बसेरा बड़ि दूर, हो रमैया राम।" आज तुम्हारा बसेरा कल्याण के निकट है। यदि तुम आज अपना कल्याण नहीं कर लिये तो कल तुम्हारा बसेरा बड़ी दूर हो सकता है। मनुष्य-शरीर ही कल्याण के निकट है। यह जीव मानव-शरीर में रहकर ही अपना कल्याण कर सकता है। यदि इसने आज यहां असावधानी की और अपनी कल्याण-साधना नहीं कर ली, तो शरीर छूट जाने पर यह पता नहीं किन-किन योनियों में भटकने के लिए चल दे।

कबीर साहेब बड़ी करुणा से कहते हैं "जइहो बिराने देश, हो रमैया राम। नैन भरोगे दूर, हो रमैया राम।" जीव अज्ञानवश बहुत दूर चला जायेगा। दूर चले जाने को दो ढंग से समझ सकते हैं। एक तो कल्याण-साधन योग्य मनुष्य शरीर से बिछुड़कर अन्य खानियों में जाकर वहां नाना दुख सहना मानो दूर जाकर रोना है। समझने का दूसरा ढंग है कि जीव अपने स्वरूप का बोध न पाकर दृश्य-विषयों में उलझ जाता है, यही उसका दूर जाकर दुखी होना है। आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाये तो अपनी चेतना एवं आत्मा के अलावा देह-गेहादि एवं मनोमय सब बिराना देश है। जीव क्यों रोता है, वह क्यों दुखी होता है, क्योंकि वह अपना चेतन-देश छोड़कर जड़-बिराने देश में

चला जाता है। वह जितना संकल्प-विकल्पों में विलास करता है उतना दुखी रहता है और जितना संसार के प्राणी-पदार्थों में राग-द्वेष करता है उतना उनमें उलझ-उलझकर दुख पाता है। दूर पड़ा नेत्रों में आंसू भर-भरकर रोने का एकमात्र कारण है जड़दृश्यों में भटकाव। जो दृश्यों का राग छोड़कर निजस्वरूप चेतन में स्थित हो जाता है उसके सारे क्लेश समाप्त हो जाते हैं।

"त्रास मथन दधि मथन कियो, हो रमैया राम। भवन मथेउ भरपूरि, हो रमैया राम।" संसार के राग-द्वेष-वश शोक-संताप में मनुष्य का मन पीड़ित होता है। उसके मन में त्रास का मंथन होता है। संसार का सब कुछ क्षणभंगुर है, अतएव जिसका मन उसमें डूबा रहेगा वह निश्चित ही अनेक भय से पीड़ित रहेगा। अतएव मनुष्य के मन में दुख का मंथन होता है, तब वह दधि का मंथन करता है। यहां दधि का अर्थ दही नहीं, किन्तु समुद्र है। मनुष्य संसार-समुद्र का मंथन करता है। अपने इन्द्रिय-सुख और सम्मान-सुख को सुरक्षित रखने तथा उन्हें पाने के लिए वह संसार-समुद्र का मंथन करता है। इन्द्रिय-सुख और सम्मान के लिए संसार में रात-दिन भागा-दौड़ी करना मानो संसार-समुद्र का मंथन करना है। फिर वह 'भवन' को 'भरपूरि' मथता है। भवन है शरीर। यह भूला जीव इन्द्रिय-सुख के लिए अपने शरीर का मंथन करता है। यहां मंथन में सद्गुरु 'भरपूरि' विशेषण लगाते हैं। मनुष्य भोगों में अपने शरीर का अच्छी तरह दोहन करता है और सब प्रकार से क्षीण होता है। परन्तु इन्द्रिय-भोगों में बहादुरी दिखाने वाला आदमी कभी शांति का अनुभव नहीं कर सकता।

"फिरिके हंसा पाहुन भयो, हो रमैया राम। बेधिन पद निर्बान, हो रमैया राम।" उपर्युक्त प्रकार से भोगों तथा संसार के शोक-संताप में उलझे हुए जीव बारम्बार शरीर-संसार के पहुना बनते हैं; क्योंकि उन्होंने मोक्ष-पद का विखंडन किया है। अभिप्राय यह है कि वासनाओं के त्याग से मोक्ष मिलता है, परन्तु मनुष्य ने वासनाओं की वृद्धि करके मोक्ष-कार्य के उलटे काम किया है। इसलिए इसने निर्वाण पद को बेध डाला है, मोक्ष-पथ का उल्लंघन किया है। जीव को मन की वासनाओं से मुक्त होना चाहिए था, तो वह मन की वासनाओं में ही डूब गया है।

"तुम हंसा मन मानिक, हो रमैया राम। हटलो न मानेहु मोर, हो रमैया राम।" हे हंस चेतन! तुम मन को प्रकाशित करने वाले मणि हो। अर्थात जीव ही मन को मानने वाला तथा उसके ऊपर उसका कर्ता-धर्ता है। वह चाहे तो मन को अपने वश में कर सकता है। परन्तु वह तो मूढ़ होकर मन के वेग में ही बहता है। साहेब कहते हैं कि मैं तुम्हें रोकता हूं कि तुम मन की धारा में न बहो, परन्तु तुम मेरी बातें नहीं मानते हो। जीव ने अपने स्वरूप को भूलकर मन को ही सर्वोपरि मान लिया है। मणि प्रकाशमय होती है। उसके आस-पास की वस्तुएं मणि की चमक से ही चमकती हैं। मणि हवा-पानी या किसी वस्तु से बुझने वाली नहीं होती। मणि स्वतः प्रकाशस्वरूप है। इसी प्रकार यह जीव स्वतः ज्ञानमय है। मणि तो एक उदाहरण मात्र है। वस्तुतः देखा जाये

तो मणि जड़ एवं नाशवान है। परन्तु चेतन अविनाशी, शुद्ध-बुद्ध एवं ज्ञानमय है। वह ज्ञान से मन को आलोकित करता है। मन का साक्षी, मन का मानने वाला चेतन जीव मन के ऊपर है। उसे चाहिए कि वह मन का तत्त्वतः द्रष्टा बनकर अपने स्वरूप में शांत हो।

"जस रे कियेहु तस पायेहु, हो रमैया राम। हमरे दोष का देहु, हो रमैया राम।" साहेब कहते हैं कि भाई, हमें दोष मत देना कि आपने मुझे सावधान नहीं किया। हम तो तुम्हें सावधान कर रहे हैं। आज तक जैसे कर्म किये हो वैसे फल पाये हो, आगे भी जैसा करोगे, वैसा पाओगे। यह संसार का अकाट्य नियम है। "अपनी कमाई आप की, ना माई ना बाप की।" हमें गुरुजन सावधान करते हैं, परन्तु हम ऐसे मोहमूढ़ हो जाते हैं कि पतिंगे की तरह संसार की ज्वाला में कूद-कूदकर जलते हैं।

"अगम काटि गम कियेहु, हो रमैया राम। सहज कियेहु विश्वास, हो रमैया राम।" 'अगम' कहते हैं जहां अपनी पहुंच न हो और 'गम' कहते हैं जहां अपनी पहुंच हो। मनुष्य की स्थूल-बुद्धि होने से उसे स्वरूपज्ञान, आत्मतत्त्वचिंतन, स्वरूपस्थिति पहुंच के बाहर लगते हैं। इन्हें वह अगम मानता है; परन्तु तीर्थ-मूर्ति, रोजा-नमाज, प्रार्थना आदि पहुंच के भीतर मानता है। इसलिए अधिकतम मनुष्य न स्वयं निजस्वरूप का विचार करते हैं और न संतों की संगत में इस विषय पर खोज करते हैं। यदि कोई संत इस पर विचार भी देना चाहे तो लोग उसकी बातें काटकर स्थूलबुद्धि की बातें करने लगते हैं। साहेब कहते हैं कि यदि तुम जीवनभर बच्चे ही बने रहना चाहते हो, यदि तुम जीवनभर 'क' माने कबूतर तथा 'ख' माने खरगोश ही पढ़ना चाहते हो, तो तुम्हारा उद्धार कब होगा! बचपन का समय जीवन में थोड़ा होना चाहिए, फिर तो बुजुर्गी आनी ही चाहिए। यह कर्मकांड तथा स्थूल उपासना का समय बहुत थोड़ा होना चाहिए। जीवनभर गुड्डी-गुड्डे खेलते रहना कहां तक बुद्धिमानी है! साहेब कहते हैं कि हे रमैया राम! तुमने आत्मतत्त्व विचार एवं आत्मस्थिति को अगम मानकर छोड़ दिया और केवल कर्मकांड एवं जड़उपासना तथा प्रार्थना में लग गये और सहज, सांसारिक क्रियाओं में जीवनभर उलझे रहे। यह तुम्हारी काहिली है। स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति जिसे तुम अगम मान रखे हो वह अगम नहीं, किन्तु तुम्हारा निज सहजस्वरूप ही है, अतएव वह अति सुगम है। उसकी तरफ न ध्यान देना तुम्हारा दुर्भाग्य है।

"राम नाम धन बनिज कियो, हो रमैया राम। लादेउ बस्तु अमोल, हो रमैया राम।" आत्माराम परम धन है और वह अमोल वस्तु है, यह सच है। परन्तु तुम्हें उसका परिचय नहीं है। तुम केवल राम-नाम को ही बहुत बड़ा मान लिये और उसी को अनमोल धन मानकर उसको व्यापार का विषय बना लिये। जैसे कोई पानी नामक वस्तु, जो द्रव एवं शीतल होती है उसकी न तलाश करे तथा उसे न प्राप्त करे, बस केवल पानी-पानी जपने को ही उसके विषय में बड़ी उपलब्धि मान ले तो यह उसका

दुर्भाग्य है। पानी का अखंड कीर्तन करने से वहां पानी की एक बूंद भी नहीं उपस्थित हो सकती। इसी प्रकार कोई राम-नाम का अखंड कीर्तन करने लगे और जीवनभर करता रहे, परन्तु वह जब तक राम रूपी रत्न के पारखी के पास जाकर उसके विषय में निरख-परख न करेगा, तब तक उसे रामतत्त्व का सच्चा बोध नहीं होगा और जब तक राम का सच्चा बोध नहीं होगा तब तक उसमें स्थिति भी कैसी होगी! इन्द्रिय-मन तथा उनके व्यापार से परे निज चेतनस्वरूप ही राम है; परन्तु लोगों ने तो मन-इन्द्रियों के व्यापार को ही राम मान लिया है।

"पाँच लदनुवाँ लादि चले, हो रमैया राम। नौ बहियाँ दश गोनि, हो रमैया राम।" अंत:करण, मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार—ये पांच लदनुवां एवं लद्दू घोड़े या टट्टू हैं। सारे भास-अध्यास का बोझा ये ही लादकर चलते हैं। मन से मनन, चित्त से अनुसंधान, बुद्धि से निश्चय तथा अहंकार से करतूति होती है और चारों से संग्रहीत संस्कार अंत:करण में अध्यस्त हो जाते हैं। शुभाशुभ सारे अध्यासों को ये अंत:करण-पंचक लादकर चलते हैं। इसमें सहायक होती हैं नौ बहंगियां। बहंगी कहते हैं कांवर को जो बांस का फट्टा होता है। दोनों तरफ छींके लटकाकर उस पर माल ढोया जाता है। माल वहन करने के कारण उसे बहंगी कहते हैं। नौ नाड़ियों से ग्रथित यह काया मानो नौ अवयवों से बनी बहंगी है और पांच ज्ञानेन्द्रियां—आंख, नाक, कान, जीभ तथा चमड़ी और पांच कर्मेन्द्रियां—हाथ, पैर, मुख, गुदा तथा उपस्थ—ये दस गोनियां, बोरे एवं थैले हैं। इन्हीं पर नाना संस्कारों, वासनाओं एवं अध्यासों के माल ढोये जाते हैं। जीव इन्हीं पर सारे विषयों की वासनाएं ढोता है। और कहना न होगा कि निजात्मतत्त्व से विमुख होकर राम-रहीम के संस्कार भी मनुष्य इन्हीं अन्त:करण आदि साधनों से ढोता रहता है। जब तक राम को केवल मन-वाणी का विषय बनाये रखा जायेगा तब तक वह शरीर-मन का अध्यास ही होगा। जब आत्मतत्त्व के रूप में राम का बोध हो जायेगा तब मन, बुद्धि, वाणी से परे निजस्वरूप में स्थिति होगी।

"पाँच लदनुवाँ खाँगि परे, हो रमैया राम। खाखर डारिनि फोरि, हो रमैया राम।" एक दिन शरीर जीर्ण होता है और एक दिन नष्ट भी होता है। अतएव शरीर के साथ शरीर के भास-अध्यास भी खो जाते हैं। जब शरीर बूढ़ा होता है तब पांचों लद्दू घोड़े कमजोर हो जाते हैं। मन दृढ़ता से कुछ सोच नहीं पाता, चित्त देर तक किसी विषय का अनुसंधान नहीं कर पाता, बुद्धि का निश्चय ढीला हो जाता है, अहंकार का कार्य करतूति भी नहीं हो पाता, अन्त:करण से बातें भूल जाती हैं। मन-वाणी के व्यापारस्वरूप राम भी खो जाता है। यह शरीर तो असंख्य छिद्रों वाला होने से खांखर है। यह एक दिन फूट जाता है। जीव के साथ तो अन्य कुछ भी नहीं जाता। जीव के साथ तो केवल जीव ही जाता है। जिसने पहले ही समझ लिया कि यह जीव ही राम है तो वह राम को पा गया, क्योंकि वह स्वयं है। परन्तु यदि उसका राम केवल मन-वाणी का विषय रहा तो वह शरीर के साथ ही समाप्त हो गया।

"शिर धुनि हंसा उड़ि चले, हो रमैया राम। सरवर मीत जो हारि, हो रमैया राम।" जहां शरीर-खांखर फूटा कि चेतन हंस उड़ चला। हंस का यह मानव-शरीर मानसरोवर था। यह कल्याण-साधन होने से जीव का मित्र तुल्य था। परन्तु जीव ने इसका आदर न किया। इसे साधना में न लगाकर भोग में लगा दिया। इसलिए यह मानो इसे हार गया। जैसे युधिष्ठिर अपना सर्वस्व जुआ में हार गये और वन-वन भटके, वैसे यह जीव विषयों में फंसकर मोक्ष-साधन मानव-देह को हार जाता है। यह अपने दुरुपयोग से मित्र को शत्रु बना लेता है। जो शरीर कल्याणदायी है उसे बन्धनदायी बना लेता है।

"आगि जो लागी सरवर में, हो रमैया राम। सरवर जरि भौ धूरि, हो रमैया राम।" फिर तो हंस के निकल जाने पर शरीर-सरोवर में आग लगा दी जाती है और यह मिनटों में जलकर राख हो जाता है। सारी अहंता-ममताओं का केन्द्र शरीर था और वही राख हो गया, तो जीव जो कुछ मान रखा था उसमें क्या बचा! शरीर गया तो मानो उसके लिए दुनिया गयी। "कहहिं कबीर सुनो हो मुनिया, आप मरे पीछे डूबि गई दुनिया।" परन्तु जीवनभर मनुष्य की आंखों पर पट्टी बंधी रहती है। वह देह तथा देह सम्बन्धी प्राणी-पदार्थों एवं मान्यताओं को सत्य मानते हुए उन्हीं के पीछे पागल बना भटकता रहता है। देखते-देखते एक दिन ऐसा आता है कि उसका शरीर इस संसार-समुद्र में खो जाता है और उसी के साथ उसका अपना माना हुआ सब कुछ खो जाता है।

"कहहिं कबीर सुनो संतो, हो रमैया राम। परखि लेहु खरा खोट, हो रमैया राम।" सद्गुरु कबीर इस लंबे पद के अन्त में कहते हैं कि हे बटोही जीव! हे रमता राम! तुम स्वयं खरा और खोट को परख लो। देखो, जीव खरा है तथा शरीर खोट है, राम खरा है और काम खोट है। तुम्हारी अपनी आत्मा ही खरा है और जो कुछ अनात्म एवं जड़ है सब खोट है। ये अनेक शब्द कहे गये, परन्तु जीव, राम, आत्मा एक चेतनतत्त्व के नाम हैं जो मेरा स्वरूप है। यह निजस्वरूप चेतन ही खरा है, शेष सब खोट है। अतएव सबका मोह छोड़कर निजस्वरूप चेतन में स्थित होना चाहिए।

शास्त्र-प्रमाण के भटकाव से बचो

बेलि-2

भल सुमृति जहँड़ायेउ, हो रमैया राम॥ 1॥
धोखे कियेउ विश्वास, हो रमैया राम॥ 2॥
सो तो है बन्सी कसी, हो रमैया राम॥ 3॥
सो रे कियेहु विश्वास, हो रमैया राम॥ 4॥
ई तो है वेद शास्त्र, हो रमैया राम॥ 5॥

गुरु दीहल मोहि थापि, हो रमैया राम॥ 6॥
गोबर कोट उठायेउ, हो रमैया राम॥ 7॥
परिहरि जैबेहु खेत, हो रमैया राम॥ 8॥
मन बुधि जहवाँ न पहुँचे, हो रमैया राम॥ 9॥
तहाँ खोज कैसे होय, हो रमैया राम॥10॥
यह सुनि के मन धीरज धरहु, हो रमैया राम॥11॥
मन बढ़ि रहल लजाय, हो रमैया राम॥12॥
फिर पाछे जनि हेरहु, हो रमैया राम॥13॥
कालबूत सब आहि, हो रमैया राम॥14॥
कहहिं कबीर सुनो सन्तो, हो रमैया राम॥15॥
मन बुद्धि ढिग फैलायउ, हो रमैया राम॥16॥

शब्दार्थ—भल= अच्छी तरह। सुमृति= स्मृति-ग्रन्थ, धर्मशास्त्र। जहँड़ायेउ= ठगाया, हानि उठाया। बन्सी= मछली फंसाने की कटिया। कसी= बंधन। थापि= आरोपित कर देना, थोप देना, विश्वास कराना, मर्यादा कर देना। कोट= गढ़, किला। खेत= रणक्षेत्र, मैदान। बढ़ि= बढ़ा हुआ। हेरहु= खोजो। कालबूत= कच्चा भराव, नकली।

भावार्थ—हे रमता राम चेतन! हे मानव! तूने धर्मशास्त्रों के स्वतः प्रमाण के धोखे में पड़कर अपने आप को अच्छा ठगाया तथा खोया है। वस्तुतः तुमने धोखे में विश्वास कर लिया है॥ 1-2॥ परन्तु तुमने जिसमें विश्वास किया है वह तो चारे का प्रलोभन देकर लोहे के कांटे में मछली को फंसा लेने-जैसा है। अर्थात तुम मिथ्या प्रलोभन देकर फंसा लिये गये हो॥ 3-4॥

भक्तों ने कहा—हे महाराज! यह तो वेद-शास्त्रों की बातें हैं। गुरुओं ने कहा कि इन पर विश्वास करो। उन्होंने हमें शास्त्रों की मर्यादा में बांध दिया है॥ 5-6॥

सद्गुरु ने कहा—तुम तो शास्त्रों की दुहाई देकर उसी प्रकार अपना उद्धार सोचते हो जैसे कोई राजा अपने हमलावर-शत्रुओं से बचने के लिए गोबर का परकोटा उठाये। हे बटोही मनुष्य! ऐसी स्थिति में तुम्हें रणक्षेत्र छोड़कर भागना पड़ेगा॥ 7-8॥

हे सत्य-इच्छुक रमता राम! जहां मन और बुद्धि नहीं पहुंचती है वहां खोज कैसे की जा सकती है? यह सुनकर मन में धैर्य पकड़ो। तुम्हारी आत्मा से अलग न राम है, न रहीम है, न ईश्वर है और न ब्रह्म है॥ 9-11॥

उक्त बातें सुनकर भक्तों का कल्पना में फैला हुआ मन लज्जित हो गया॥ 12॥ (भक्तों के निरुत्तर हो जाने पर कबीर साहेब ने पुनः उन्हें समझाया—)

हे पथिक चेतन राम! अब पुनः लौटकर कुछ मत खोजो, क्योंकि तुम्हारी अपनी आत्मा से अलग जो कुछ तुम्हें मिलेगा वह सब नकली वस्तुएं हैं जो छूट

जायेंगी॥ 13-14॥

कबीर साहेब ने कहा कि हे संतो और हे रमैया राम! सुनो, अब तुम अपने मन और बुद्धि को अपने पास ही फैलाओ। अर्थात अब तुम बाहर कुछ न खोजकर सदैव आत्म-अनुसंधान करो॥ 15-16॥

व्याख्या—कबीर साहेब की पंक्ति-पंक्ति में क्रांति है, किन्तु कहीं-कहीं वह सघन है। इस बेलि में भी सघन है। इस बेलि की पहली ही पंक्ति में विदग्धात्मक स्वर है। वे कहते हैं कि हे मनुष्य! तू धर्मशास्त्रों के स्वतः प्रमाण के धोखे में विश्वास कर अपने को ठगा लिया है। धर्मशास्त्र किसी संप्रदाय एवं मजहब के हों, उन्हें आंख मूंदकर मानने पर उनकी अच्छी बातों के साथ अनर्थकारी बातें भी पल्ले पड़ेंगी। कबीर साहेब हिन्दू-परम्परा से जुड़े थे, इसलिए वे अधिकतम वेद-शास्त्र तथा भारतीय चिन्तनधारा के शास्त्रों के ही नाम लेते हैं चाहे समर्थन में और चाहे खंडन में। वैसे वे बीच-बीच में वेद के साथ कितेब कह देते हैं। वस्तुतः वे हिन्दू परम्परा में जुड़े होने से ज्यादा हिन्दू मान्यता तथा शास्त्र के नाम लेते हैं, परन्तु उनके कहने का अर्थ यह होता है कि संसार के सभी मत-मजहबों एवं धर्मशास्त्रों में कोई भी स्वतः प्रमाण नहीं है। किसी बात की प्रामाणिकता उसकी जांच-परख के बाद ही मानी या नहीं मानी जा सकती है।

नाना मत के गुरुओं एवं पुरोहितों ने अपने धर्मशास्त्रों पर ईश्वर की दुहाई देकर जनता से उनकी सारी बातें सत्य मानने की अपील की है। उन्होंने समाज को यह झांसा दिया है कि हमारे शास्त्र किसी अतिमानवीय शक्ति ईश्वर द्वारा भेजे गये या कहे गये हैं या ऐसे आप्त पुरुषों द्वारा कहे गये हैं जो पूर्णज्ञानी एवं सर्वज्ञ थे। उनके कथन में कुछ झूठ हो ही नहीं सकता है। इसलिए हमारे शास्त्रों पर थोड़ा भी विचार न करो, किन्तु उनकी सारी बातें ज्यों-की-त्यों मान लो।

कुछ ही संप्रदायों को छोड़कर दुनिया के शेष सभी मजहबों एवं परंपराओं में तथाकथित ईश्वर तथा देवताओं को खुश करने के लिए जीव-हत्या का विधान है जो महापाप है। परन्तु यह इसलिए चलता है कि इसके लिए ईश्वरीय या आप्त-प्रमाण वचन का झांसा दिया जाता है। मेरे मजहब के आदमी आस्तिक, दीनदार तथा पवित्र हैं और दूसरे मजहबों के आदमी नास्तिक, बेदीन तथा अपवित्र हैं, क्योंकि ऐसा हमारी इलहामी-किताबों तथा ईश्वरीय-शास्त्रों में लिखा है।

जन्म एवं कुल से ही विविध वर्ग के लोग छूत या अछूत होते हैं, ऊंच या नीच होते हैं, क्योंकि ऐसा ही हमारे धर्मशास्त्रों में लिखा है। प्रभु-वाणी ही ऐसी है। प्रभु ने ऐसा कहा है। यह ईश्वर-वचन, खुदाई-कलाम तथा आप्तवाणी ऐसा धोखा है कि इसी की आड़ में विविध मजहब के लोग आम जनता को दिग्भ्रमित कर उनका बौद्धिक तथा अन्य प्रकार का शोषण करते हैं। ईश्वरीय-वचन तथा आप्त-वचन का धोखा जब एक बार किसी के दिमाग पर बैठा दिया जाता है तब उसे तब तक मूढ़ बनाया जाता है

जब तक कि वह इस धोखे से न निकले।

मनुष्य के अलावा कोई ऐसी शक्ति नहीं है जिसने कोई किताब संसार में भेजी हो। यदि कोई कहता है कि हमारी किताब मानवेतर शक्ति द्वारा लिखी या भेजी गयी है तो वह छल-कपट से पूर्ण है। अब रहा आप्त-वचन। आप्तपुरुष उसे कहते हैं जो अपने जीवन में पूर्ण सदाचारी तथा ईमानदार है। परन्तु उनको सर्वज्ञ मान लेना भूल है। कोई पूर्ण सदाचारी तथा ईमानदार है तो वह चाहे जिस मत-मजहब का हो, मानवता के लिए वरदानस्वरूप है, पूज्य है। परन्तु यह समझ लेना चाहिए कि वह भी सर्वज्ञ नहीं है। उसकी हर बात बिना जांचे-परखे मानने की बात करना भूल है। एक कवि ने बड़ा अच्छा लिखा "कोई जाहिद (संयमी) है, परन्तु रास्ता भूला है, तो मैं उसका साथी कैसे बनूं; क्योंकि वह कहता है कि अल्लाह है और मैं कहता हूं कि अल्लाह मैं ही हूं।"[1] एक ऐसा आदमी है जो पूर्ण संयमी है, सच्चा है, ईमानदार है और उसका मन निरंतर संतुष्ट है, अर्थात वह जीवन्मुक्त है; परन्तु यदि वह साइकिल का पंचर बनाना नहीं जानता है तो उसके विषय में उसके वचन कैसे प्रमाण माने जा सकते हैं! इसलिए जिसे आप्त[2] पुरुष कहते हैं उसकी बातों को भी जो समझ में न आये जांच-परख करने के बाद ही स्वीकार या अस्वीकार करना चाहिए। जो बात तर्क, बुद्धि, युक्ति, विश्व के नियमों तथा अनुभव में न आये उस पर पुनर्विचार करना और उसकी जांच-परख करना अति आवश्यक है। संसार में कोई एक भी पुस्तक एवं शास्त्र स्वतः प्रमाण नहीं माना जाना चाहिए, किन्तु सभी बातों पर विचार करना चाहिए।

शास्त्रों को आदर न देना मानो अपने तथा मानवता के लिए घात करना है। उन्हें चोट पहुंचाकर अपनी ही हानि करना है। परन्तु यदि हम ईश्वर तथा आप्त की दुहाई देकर शास्त्रों की हर बात सिरे से स्वीकारते हैं तो मानो खाई में गिरते हैं। इसलिए हमें सभी मजहबों के धर्मशास्त्रों का आदर करते हुए उनकी बातों पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जांच-परख करना चाहिए। इसी में सबका आदर है, सत्य का बोध है और सबका कल्याण है।

सद्‌गुरु कहते हैं कि बटोही मानव! तूने धर्मशास्त्रों की सही-गलत सारी बातों पर विश्वास कर अपने आप को धोखे में डाल दिया और ठगा दिया। परन्तु यह समझ लो कि जहां गुरु तथा पुरोहित लोग युक्ति और विवेक से न समझाकर केवल स्वतः प्रमाण के जोर से समझा रहे हैं वहां दाल में काला है। वहां असत्य है, हिंसा है और धोखा है। देखो, बधिक-मछुवारा बंसी में चारा लगाकर उसे पानी में डालता है। वह

---

1. जाहिदे गुमराह का मैं किस तरह हमराह हूँ।
 वह कहे अल्लाह है और मैं कहूँ अल्लाह हूँ॥
2. आप्त का अर्थ है प्राप्त या पहुंचा हुआ।

मछलियों को धोखा देता है कि मैं तुम्हें चारा खिला रहा हूं। परन्तु तथ्य यह होता है कि मछलियां चारे के लोभ में उसे अपने मुख में ले लेती हैं और चारे के भीतर रहे हुए लोह के कांटे मछलियों के गलफड़ को बेधकर उन्हें फंसा लेते हैं और इस प्रकार मछलियां मारी जाती हैं। धर्मशास्त्रों की दुहाई देकर ऐसा ही किया जाता है। इसलिए साहेब कहते हैं कि हे मनुष्य! तूने जिसमें केवल विश्वास किया है और विवेक का आश्रय नहीं लिया है, वह 'बंसी कसी' है। अर्थात वह तेरे लिए बंसी-जैसा फंदा है।

उक्त तर्कयुक्त बातें सुनकर शास्त्रों के भक्त लोगों ने अपनी भावना का बयान दिया कि ये तो वेद-शास्त्रों की बातें हैं, ये ईश्वरीय एवं खुदाई बातें हैं, आप्त वचन हैं, इन पर हम थोड़ा भी विचार नहीं कर सकते। यदि इन पर हम विचार करते हैं तो नास्तिक, बेदीन, काफिर एवं अपवित्र हो जायेंगे। गुरुओं ने इन शास्त्रों की बातें हमारे ऊपर थोप दी हैं। उन्होंने कह दिया है कि यह धर्मशास्त्र ईश्वर-वाणी है, आप्त-वचन है। इसे इनकार न करना, अन्यथा नरक में जाओगे। तो महाराज! हम शास्त्रों को स्वत: प्रमाण मानते हैं। उन पर विचार नहीं करते।

कबीर साहेब उक्त लोगों को फटकारते हुए समझाते हैं कि तुम लोग वैसे नकली ज्ञान से अपनी रक्षा चाहते हो जैसे किसी राजा पर उसका हमलावर शत्रु हमला करने वाला हो और यह बात उस राजा ने सुन ली हो, तो वह अपने नगर के चारों तरफ गोबर की दीवार का परकोटा उठवाये कि इससे हमारी शत्रु के हमले से रक्षा होगी, तो वह राजा कितना नादान है! गोबर की दीवार को ढहाने में कितनी देर लगती है! जैसे गोबर का किला बेदम है वैसे ज्ञान की प्रामाणिकता के लिए यह बात बेदम है कि यह अमुक शास्त्र में लिखी है इसलिए सत्य है। लोग बातें करते समय कहते हैं कि साहेब, जरा ध्यान दीजिए, यह बात अमुक शास्त्र में लिखी है, यह प्रभु-वचन है, इसे कैसे नहीं मानोगे! वस्तुत: हमें यह कभी नहीं सोचना या कहना चाहिए कि यह बात कहां लिखी तथा किसने कही है; किन्तु यह सोचना चाहिए कि क्या लिखी है तथा क्या कही है! हजारों शास्त्र-वचन घड़े को कपड़ा नहीं बना सकते। गोबर के परकोटे की आड़ से यदि हमलावरों से युद्ध करना चाहोगे तो समझ लो कि तुम्हें रणक्षेत्र से भाग खड़ा होना पड़ेगा। जो विवेक तथा अनुभव को छोड़कर शास्त्रों के अंध-प्रमाणों पर बात करेगा उसे सत्संग छोड़कर भाग खड़ा होना पड़ेगा। वह तो निर्णय से मुख छिपाने वाला होगा। अंधप्रमाण का पुछलग्गू निर्णय से कतराता है।

"मन बुधि जहवाँ न पहुँचे, हो रमैया राम। तहाँ खोज कैसे होय, हो रमैया राम।" कई शास्त्र कहते हैं कि आत्मा से अलग परमात्मा है और उस परमात्मा में मन-बुद्धि की पहुंच नहीं है। अर्थात हम उसे मन तथा बुद्धि से नहीं जान सकते। इस प्रकार के प्रमाण तो शास्त्रों में बहुत हैं, परन्तु यहां एक देना काफी होगा। केन उपनिषद् का ऋषि कहता है—"वहां न आंखें पहुंचती हैं, न वाक् पहुंचता है, न मन पहुंचता है और न हम उसे जानते हैं। हम नहीं समझ पाते कि शिष्यों को उसका उपदेश कैसे

करें! वह ज्ञात तथा अज्ञात वस्तु से परे है। बस यही कह सकते हैं कि हम उसे अपने पूर्वजों से ऐसा ही सुनते आये हैं।"[1]

साहेब कहते हैं कि मनुष्य के पास बाहर की किसी भी वस्तु को जानने के लिए मन-बुद्धि आदि स्थूल-सूक्ष्म इन्द्रियां ही साधन हैं। इनसे जो कुछ जानने में आता है वह सब जड़ विषय है। इसीलिए कहा जाता है कि परमात्मा मन-बुद्धि से नहीं जाना जा सकता है। मन-बुद्धि की उसमें पहुंच ही नहीं है। साहेब कहते हैं कि सारी खोज का साधन आंख आदि पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा मन-बुद्धि आदि सूक्ष्म इन्द्रियां हैं। यदि इनसे परमात्मा की खोज नहीं होती है तो परमात्मा का ज्ञान कैसे होगा? उसकी खोज कैसे होगी?

व्यक्ति की आत्मा एवं चेतनस्वरूप भी मन-बुद्धि से परे है, परन्तु वह तो मन-बुद्धि का प्रकाशक है। उसे जानना नहीं है किन्तु वही सबको जानता है। परन्तु जब आत्मा से अलग परमात्मा की कल्पना की जाती है तब यह तर्क स्वाभाविक सामने आता है कि वह कैसे मिलेगा! जो मन-बुद्धि से जाना जायेगा वह तो जड़ माया होगा तब उसे किस साधन से जाना जायेगा! सद्गुरु कहते हैं कि मनुष्य के पास बाहरी वस्तु की खोज करने का साधन मन-बुद्धि ही है और यदि वह उनसे नहीं खोजा जा सकता है, तो वह मनुष्य को मिल भी नहीं सकता। फिर वह यदि कहीं हो भी तो उससे मनुष्य की आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। और यह भी सच है कि जो मन-बुद्धि में आता है वह पंचविषय-दृश्य है।

साहेब कहते हैं कि उक्त निर्णय सुनकर अपने आप में धैर्य धारण करो। तुमसे अलग कहीं कोई ऐसा परमात्मा नहीं है जो तुम्हें मिलेगा और तुम्हें कुछ देगा। तुम स्वयं परमात्मा हो। तुम सारे विकारों को छोड़ दो तो बस तुम्हें बाहर से कुछ नहीं चाहिए। तुम्हें केवल इच्छाएं छोड़नी हैं; कुछ पाना नहीं है। न तुम्हें परमात्मा पाना है, न मोक्ष पाना है, न शांति पाना है। तुम्हारे मन की सारी इच्छाएं छूट जाने पर तुम स्वयं परमात्मा हो, मुक्त तथा शांत हो। इसलिए तुम उक्त निर्णय सुनकर अपने आप में धैर्य पकड़ो, स्थिर होओ। तुम्हारा अधैर्य, तुम्हारी इच्छाएं, तुम्हारा निजस्वरूप का अज्ञान ही तुम्हें भटका रहे हैं। अतएव तुम अधैर्य, इच्छाएं तथा अज्ञान छोड़ो, तुम अपने आप में तृप्त हो जाओगे।

"मन बढ़ि रहल लजाय, हो रमैया राम।" उक्त बातें सुनकर भक्तों का मन लज्जित हो गया। उन्होंने सोचा कि हम शास्त्रों की दुहाई देकर तथा अलग परमात्मा खोजकर बहुत गलत कर रहे थे। साहेब ने ठीक समझाया है। ऐसा सत्य-द्रष्टा दुर्लभ

---

1. न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे॥ अनुक्रमणिका (केन उपनिषद् 1/3)

है। ऐसे गुरु के चरणों में सर्वस्व निछावर करना चाहिए। इतना निष्पक्ष एवं सत्यज्ञाता गुरु परम वंदनीय एवं श्रद्धेय हैं।

साहेब ने पुनः उन भक्तों से कहा "फिर पाछे जनि हेरहु, हो रमैया राम। कालबूत सब आहि, हो रमैया राम।" हे बटोही! यहां से जाकर, इन सत्य निर्णयों को भूलकर पीछे फिर न बाहर ईश्वर खोजने लगना! तेरी आत्मा एवं चेतना से अलग ईश्वर-परमात्मा सब कालबूत है, कृत्रिम है, नकली है। तुम्हारी आत्मा से अलग परमात्मा केवल मन से बनाया हुआ है, इसलिए नकली है। अतएव बाहर का नकली परमात्मा छोड़ो और स्वस्वरूप परमात्मा में विश्राम करो।

"कहहिं कबीर सुनो सन्तो, हो रमैया राम। मन बुद्धि ढिग फैलायउ, हो रमैया राम।" कबीर साहेब ने इस पद के अन्त में कहा कि हे संतो तथा हे रमताराम बटोही जीवो! तुम सब आगे के लिए सावधान रहना और अपने मन तथा बुद्धि को अपने पास फैलाना। अर्थात अपने मन-बुद्धि का उपयोग बाहरी काल्पनिक वस्तुओं की प्राप्ति की दुराशा में न करना, किन्तु आत्म-अनुसंधान में करना। यह जीव, यह आत्मा ही मन-बुद्धि का प्रकाशक है, परन्तु मन-बुद्धि से उलटकर इनसे आत्म-शोधन में सहायता मिलती है। साहेब कहते हैं कि तुम अपने मन और बुद्धि का उपयोग व्यर्थ की बातों में न करो, किन्तु अपने कल्याण में करो। मन-बुद्धि ढिग फैलाने का मतलब यही है कि उनसे आत्म-उद्धार की बातें सोची जायें।

फल छन्द

कैसा मिला सत्संग फल,
महिमा अमित को कहि सके।
जानत हृदय भाविक सदय,
गुरुदेव यश वाणी रुके॥
निज नयन मन शिर नम्र उर,
सेवा व भक्ती में जुटे।
तन मन व धन तृण अर्पि फल,
अविनाशि पद में अब डटे॥

चौपाई

जेहि दर्शन से जनम जनम के।
विगत क्षुधा अब शान्ति सदन के॥
स्वतः राम अभिराम रहन के।
सहित विवेक मनन सुवचन के॥

बिरहुली

हेतु छन्द

इस नित अनादि प्रवाह जग की,
मानि उत्पति जीव ये।
परब्रह्म ईश खुदाय कर्ता,
कब मिलेंगे पीव ये॥
संयोग माहि वियोग भय,
जाने नहीं भ्रम कीव ये।
भव-भय विरह नाशक बिरहुली,
करु श्रवण लहु घीव ये॥

दोहा

भव-विरही भव-बीज को, करै बिरहुली दग्ध।
सो विचारि पद लेहु जिव, अब न लहहु भव बग्ध॥

सद्गुरवे नमः

बीजक

(पारख-प्रबोधिनी व्याख्या-सहित)

नवम प्रकरण : बिरहुली

तुम्हारा लक्ष्य तुमसे बाहर नहीं है

बिरहुली-1

आदि अन्त नहिं होते बिरहुली। नहिं जर पल्लव डार बिरहुली॥ 1॥
निशि बासर नहिं होते बिरहुली। पौन पानि नहिं मूल बिरहुली॥ 2॥
ब्रह्मादिक सनकादिक बिरहुली। कथि गये योग अपार बिरहुली॥ 3॥
मास असारे शीतल बिरहुली। बोइनि सातों बीज बिरहुली॥ 4॥
नित गोड़ै नित सींचै बिरहुली। नित नव पल्लव डार बिरहुली॥ 5॥
छिछिलि बिरहुली छिछिलि बिरहुली। छिछिलि रहल तिहुँलोक बिरहुली॥ 6॥
फूल एक भल फुलल बिरहुली। फूलि रहल संसार बिरहुली॥ 7॥
सो फुल लोढ़े सन्त जना बिरहुली। बन्दि के राउर जाय बिरहुली॥ 8॥
सो फल बन्दे भक्त जना बिरहुली। डसिगौ बैतल साँप बिरहुली॥ 9॥
विषहर मन्त्र न मानै बिरहुली। गारुड़ बोले अपार बिरहुली॥10॥
विष की क्यारी तुम बोयहु बिरहुली। अब लोढ़त का पछिताहु बिरहुली॥11॥
जन्म जन्म यम अन्तरे बिरहुली। फल एक कनयर डार बिरहुली॥12॥
कहहिं कबीर सच पाव बिरहुली। जो फल चाखहु मोर बिरहुली॥13॥

शब्दार्थ—आदि= प्रारम्भ। अन्त= समाप्ति। बिरहुली= सर्पिणी (बिरहुला= सर्प), परन्तु यहां बिरहुली का अर्थ है प्रिय के वियोग से पीड़ित विरही। जर= जड़। डार= शाखा। मूल = कारण। मास असारे= आषाढ़ महीना, मानव शरीर। सातों बीज= शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, मन तथा अहंकार। छिछिलि= फैल गया। फूल एक= एषणा, वासना। लोढ़े= तोड़ते हैं। बन्दि= वंदनीय, सम्मानित। राउर= श्रेष्ठ। बैतल= पागल। विषहर मंत्र= विष का प्रभाव हरने वाला मंत्र, सच्चा ज्ञान। गारुड़= सांप का विष दूर करने वाला मंत्र, (गारुड़ी= सांप का जहर उतारने वाला, विष-वैद्य)। लोढ़त= तोड़ते, लुनते। यम= वासना। अन्तरे= दूर। कनयर= कनेर,

पांच प्रकार के फूलों वाले कनेर पेड़ होते हैं—उज्ज्वल, काला, लाल, पीला और गुलाबी; उज्ज्वल कनेर के फूल और जड़ घोटकर पिलाने से सर्प-विष दूर होता है। सच= सत्य, स्वरूपज्ञान।

भावार्थ—हे जीव! तुम्हारा न आरम्भ है और न नाश है। तुम निर्विकार हो, इसलिए तुम्हारा कोई दूसरा कारण एवं जड़ नहीं है और न तुम्हारी अन्य शाखा है न पल्लव। अर्थात न तुम किसी से पैदा हुए हो और न तुमसे अन्य कुछ पैदा हुआ है॥ 1॥ तुम्हारे देहातीत शुद्ध चेतनस्वरूप में न दिन है, न रात है, न जगत के कारणभूत बीज हैं, न पवन है और न पानी है॥ 2॥ निजात्म तत्त्व को पाने के लिए ब्रह्मादि-सनकादिकों ने असंख्य योग-प्रक्रियाओं का वर्णन किया है॥ 3॥ जैसे आषाढ़ महीने में पानी बरसने पर लोग खेतों में बीज बोते हैं, वैसे जीव मानव-शरीर रूपी कर्म-भूमिका में पांचों विषय, मन तथा अहंकार ये सातों बीज बोता है। अर्थात अहंता-ममतापूर्वक पांचों विषयों का व्यापार करता है॥ 4॥ नाना कर्मों द्वारा यह अंत:करणरूपी खेत मानो रोज गोड़ा और सींचा जाता है और इसमें संसार विस्तार के नित्य नयी-नयी शाखाएं तथा पल्लव-पत्र आते हैं॥ 5॥ यह कर्मों का वृक्ष मन, वाणी तथा शरीर रूपी तीनों लोकों में फैल जाता है॥ 6॥ इस कर्म-वृक्ष में एषणा एवं वासना का एक फूल खिलता है। विचारकर देखिए तो संसार में सबके मन-उपवन में यही फूल खिला है॥ 7॥ संतजन इस फूल को तोड़ देते हैं इसलिए वे पुत्रैषणा, वित्तैषणा एवं लोकैषणा से रहित होकर कृतार्थ हो जाते हैं और जगत में श्रेष्ठ और वंदनीय होकर मुक्त हो जाते हैं॥ 8॥ परंतु अपने से अलग परमात्मा मानकर उसके विरह में पीड़ित भक्त लोग मानो उस वासना-फूल की वंदना करते हैं। भले परमात्मा पाने की वासना है, परंतु है तो अपनी आत्मा से अलग की वासना ही। अतएव उस वासना-फूल में से जड़ाध्यास रूपी पागल-सांप निकलकर उन्हें काट लेता है॥ 9॥ यद्यपि विवेकी पारख की अपार वाणी बोलते हैं, परंतु विष को दूर करने वाला मंत्र उनको नहीं लगता जो अलग परमात्मा मानकर उसकी वियोगजनित पीड़ा से व्यथित हैं॥ 10॥ हे विरही जीवो! तुमने निजस्वरूप से भिन्न कुछ भी पाने की वासना बनाकर मानो क्यारी में विष के बीज बो दिये हैं। अब उनके फूल-फल चुनने में पश्चाताप क्या करते हो!॥ 11॥ हे विरही जीवो! वासनाओं ने तुम्हें जन्म-जन्मांतरों से निजस्वरूपस्थिति से दूर ही किया है। स्वरूपज्ञानपरक निर्णय वाणी कनेर वृक्ष की तरह कड़वी होती है, परंतु उसका फल (जड़) ही सर्प-दंस का विष दूर कर सकता है॥ 12॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे विरही जीवो! तभी सत्य का अमृतजीवन पाओगे जब मेरा कड़वा फल चखोगे॥ 13॥

व्याख्या—जीव अपने स्वरूप को न समझकर भटकता है। वह अपना प्रिय, अपना परमात्मा अपनी आत्मा से अलग मानकर उसके लिए पीड़ित होता है। प्रिय के वियोगजनित पीड़ा को ही विरह कहते हैं और ऐसा विरह जिसे हो, उसे विरही कहते

हैं। जैसा कि शब्दार्थ में बताया गया है कि बिरहुली का अर्थ होता है सर्पिणी और बिरहुला का अर्थ सर्प। परन्तु यहां बिरहुली का अर्थ है जो विरह-सर्प से डंसा जाकर पीड़ित है वह विरही भक्त।

साहेब कहते हैं कि हे विरही भक्तो, परमात्मा को अपनी आत्मा से अलग मानकर उसके भ्रमजनित वियोग से पीड़ित होकर भटकने वालो! तुम जरा अपनी तरफ देखो। तुम स्वयं पूर्णकाम हो। तुम्हें बाहर से कुछ नहीं चाहिए। "आदि अन्त नहिं होते बिरहुली। नहिं जर पल्लव डार बिरहुली।" हे जीव, न तुम्हारा आदि है और न अन्त। न तुम्हारी कभी शुरुआत हुई है और न कभी आखिर होगा। तुम सदा से हो और सदा रहोगे। तुम अनादि एवं अनंत हो। तुम्हारी कोई दूसरी जड़ नहीं है। तुम्हारा कोई दूसरा मूल नहीं है और न तो तुम दूसरे के मूल हो। न तुम्हारी कोई शाखा है और न पल्लव। अर्थात न तुम किसी से हुए हो और न तुमसे कोई होने वाला है। तुम नित्य, अनादि, अनंत, अजर, अमर, अविकार, शुद्ध-बुद्ध चेतन हो।

श्रुति के ऋषि भी कहते हैं "यह ज्ञानवान आत्मा न जन्मता है और न मरता है तथा न किसी से कोई पैदा होता है। यह तो अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीर के नष्ट होने पर यह नष्ट नहीं होता।"[1]

इतना ही नहीं, "निशि बासर नहिं होते बिरहुली। पौन पानि नहिं मूल बिरहुली।" रात, दिन, पवन, पानी तथा बीज, कुछ भी तुम्हारे स्वरूप में नहीं है। देहेंद्रिय संघात में रात-दिन का बोध होता है। इनका संबंध शुद्ध चेतन से कुछ भी नहीं है। जब साधक मन को समेटकर निर्विकल्प समाधि में लीन हो जाता है, वहां ही रात-दिन का भास नहीं होता, फिर देहेंद्रिय संघातरहित शुद्ध चेतन में रात और दिन तथा उनमें होने वाले व्यापार की कहां गंध है! इसी प्रकार पवन, पानी और जगत-बीज, यह सब संसार की चीजें हैं। शुद्ध चेतन में इनकी कोई पहुंच नहीं है। तात्पर्य यह है कि सारे विकारों तथा जड़ दृश्यों से रहित अपना शुद्ध चेतनस्वरूप है। अखंड, अजर, अमर है, तब उसमें कुछ मिलना या बिछुड़ना कैसे हो सकता है! जीव से कौन-सा परमात्मा बिछुड़ा है जो उससे मिलने के लिए उसे तड़फड़ाना चाहिए। इस अखंड चेतन स्वरूप को क्या मिलेगा और वह उसमें समायेगा! अखंड में कुछ समाता नहीं है। जो स्वयं अखंड, निर्विकार, स्वतः एवं पूर्णकाम है, वह अपने स्वरूप को भूलकर ही बाहर परमात्मा खोज रहा है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि विवेकियों की संगत में अपने आप का यथार्थ बोध प्राप्त करे।

"ब्रह्मादिक सनकादिक बिरहुली। कथि गये योग अपार बिरहुली।" ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार आदि प्राचीन महापुरुषों, ज्ञानियों तथा

---

1. न जायते म्रियते व विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ (कठ उपनिषद् 2/18)

योगियों ने निजात्मतत्त्व को पहचानने एवं उसमें स्थित होने के लिए अपार योग की प्रक्रियाओं का कथन किया है। अनेक ज्ञानियों ने तो आत्मा से अलग परमात्मा माना ही नहीं है। जिन्होंने माना भी है, उन्होंने भी किसी–न–किसी प्रकार घूमकर आत्मा को ही परमात्मा कह दिया है। किन्तु निजस्वरूप की ठीक पहचान न होने से लोग स्थित नहीं हो पाते, बाहर परमात्मा मानकर भटकते हैं।

"मास असारे शीतल बिरहुली। बोइनि सातों बीज बिरहुली।" जैसे गरमी के बाद आषाढ़ महीने में वर्षा शुरू होती है और जमीन शीतल एवं नम हो जाती है, तब किसान खेतों में बीज बोते हैं, वैसे अन्य योनियों के बाद जीव जब मानव–शरीर में आता है तब यहां वह कर्मों के बीज बोता है। वे कर्म–बीज पांचों विषयों में अहंता–ममता करने से ही होते हैं। अतएव शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, मन तथा अहंकार, ये मानो सातों बीज बन जाते हैं। जहां तक दृश्य जड़ है सब पांच विषय है। इन पांचों विषयों में सुख की मान्यता एवं अहंकार करने से सारे कर्म–बन्धन बनते हैं; अतएव मानो पांच विषय, मन तथा अहंकार ही कर्मबीज हैं। ये सब अन्य योनियों में भी रहते हैं, परन्तु वहां कर्म–बन्धन नहीं बनते। कर्म–बन्धन केवल मनुष्य–शरीर में ही बनते हैं और यहीं मिटते भी हैं।

"नित गोड़े नित सींचै बिरहुली। नित नव पल्लव डार बिरहुली।" जैसे खेत में बीज डालकर पौधे हो जाने पर किसान फसल के लिए गोड़ता, सींचता है, वैसे संसारी जीव राग–द्वेषादि से अपने कर्म की फसल को गोड़ते–सींचते हैं। इसलिए उनके संसार–वृक्ष में नित्य नयी–नयी शाखाएं आती हैं, पत्ते और पल्लव आते हैं। अर्थात कर्मी जीव अपने बन्धनों को नित्य बढ़ाता जाता है। फिर तो उसका संसार–वृक्ष इतना फैलता है कि उससे तीनों लोक छा जाता है। मन, वाणी और इन्द्रियां ही मानो जीव के तीनों लोक हैं। कर्मी जीवों के ये तीनों लोक कर्म–संस्कारों से छा जाते हैं। मनुष्य के दिन जितने बीतते हैं, वह सांसारिकता से उतना बोझिल होता जाता है।

"फूल एक भल फुलल बिरहुली। फूलि रहल संसार बिरहुली।" कर्म के वृक्ष में एक प्रसिद्ध फूल खिलता है जिसको एषणा एवं वासना कहते हैं। संसार में जहां तक जीव हैं सबके मन में यही फूल है। अन्य जीवों की वासनाएं बड़ी हलकी तथा धुंधली होती हैं। मनुष्य की वासनाएं प्रबल होती हैं। पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा, इन तीनों एषणाओं में सभी मनुष्य बंधे हैं। यह एषणा, चाहना एवं वासना ही फूल है जो सबके मनरूपी उपवन में खिला है।

"सो फुल लोढ़े सन्त जना बिरहुली। बन्दि के राउर जाय बिरहुली।" उक्त फूल को सन्त जन तोड़ते रहते हैं। अर्थात सन्त वह है जो अपने मन में उठी हुई एषणाओं, चाहनाओं एवं वासनाओं को त्यागता रहे। जैसे किसी वृक्ष में कली एवं फूल आये और माली यदि उन्हें तोड़ता रहे तो आगे फल होने की कोई संभावना नहीं है, वैसे यदि मनुष्य अपने मन की एषणाओं एवं इच्छाओं को त्यागता रहे तो वह भव–बंधनों

से मुक्त हो जायेगा। संत यही करते हैं। यही करने वाले को ही संत कहते हैं। वैसे साधना के प्रथम अवसर में ही एषणाएं रहती हैं जिन्हें साधक को त्यागना पड़ता है। साधना की पूर्ण परिपक्व अवस्था हो जाने पर मन में एषणाएं उठती ही नहीं। और यदि कोई एषणा आये भी तो संत उस कली को तोड़ फेंकते हैं। संत का यही संतत्व है एषणा एवं इच्छा रूपी फूल को निरंतर तोड़ते रहना।

जो इस प्रकार एषणा-विजयी एवं इच्छा-त्यागी हो जाता है वह संसार का वंदनीय हो जाता है और राउर हो जाता है। वह इस संसार से श्रेष्ठ एवं वंदनीय होकर जाता है। बंदि कहते हैं जो जेलखाना में बन्द हो अथवा जो वंदनीय हो। यहां वंदनीय अभिप्राय है। और राउर कहते हैं अंतःपुर को तथा श्रेष्ठ को, यहां अर्थ श्रेष्ठ है। इच्छाजित के लिए यहां दो विशेषण हैं, एक वंदि तथा दूसरा राउर। एक का अर्थ वंदनीय तथा दूसरे का श्रेष्ठ है। जिसने पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा का सर्वथा त्याग कर दिया है वह संसार में वंदनीय हो जाता है, महान हो जाता है, यह तो बाहरी बात हुई। वस्तुतः वह अपने भीतर से महान शांति का सागर, निर्भय तथा सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त हो जाता है। इच्छा-त्यागी के समान कोई नहीं। सद्‌गुरु कबीर ने अन्यत्र भी कहा है—

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुवा बे परवाह।
जिनको कछु नाहिं चाहिए, सो साहनपति साह॥

"सो फल बन्दे भक्त जना बिरहुली। डसिगौ बैतल साँप बिरहुली।" उस फल-फूल की, उस एषणा की भक्तजन वंदना करते हैं, उसकी उपासना करते हैं, इसलिए उन्हें उस फूल से निकलकर पागल सांप काट खाता है। यहां भक्त रह है जो अपनी आत्मा से अलग परमात्मा मानता है। उसे परमात्मा से मिलने की एषणा है, परमात्मा को पाने की इच्छा है। जब तक अपनी आत्मा से भिन्न कुछ भी वस्तु पाने की इच्छा है, तब तक मानो संसार की ही एषणा है। निजस्वरूप से भिन्न ईश्वर कालबूत ही तो है। अर्थात नकली ही तो है। जो कुछ अपनी आत्मा से अलग है वह माया है, जगत है, भले ही उसका नाम परमात्मा रख लिया गया हो। अतएव उसकी एषणा एवं कामना रखने से वियोगजनित पीड़ा होगी ही, क्योंकि वह कुछ नहीं है। वह मिलने वाला ही नहीं है। वह तो केवल विरहियों को तड़फाने वाला है। किसी विरही ने कहा है—

जो मैं ऐसा जानती, प्रीति किये दुख होय।
नगर ढिंढोरा पीटती, प्रेम न करियो कोय॥
प्रेम कियो रघुनाथ सो, बाढ़ी विरह अपार।
'राम-सखे' सहि जात नहिं, ज्यों नागिन विष झार॥

जीव से अलग कोई परमात्मा नहीं, जो मिले। रघुनाथ का अर्थ यदि राजा दशरथ का पुत्र श्री रामचन्द्र है तो वे भी नहीं मिल सकते, क्योंकि उनका शरीर छूटे हजारों

वर्ष बीत गये हैं। अलग से भगवान पाने की इच्छा रखने वालों को जीवनभर केवल रोना-तड़फना है। विरह के बावला सांप ने जिसे काट लिया है उसे जीवनभर केवल परेशान रहना है। जो जीवनभर छटपटाता रहे क्या उसे माना जायेगा कि वह परमात्मा को पा गया है! परमात्मा को पाने के लक्षण तो हैं आप्तकाम, अकाम, निष्काम, पूर्णकाम एवं तृप्तकाम हो जाना और यह तभी होगा जब अपनी आत्मा से अलग परमात्मा पाने का भ्रम मिट जायेगा। वस्तुतः निजस्वरूप का बोध, निजस्वरूप में स्थिति ही परमात्मा पाना है। आत्मा ही जब पूर्णकाम हो जाता है, अर्थात जब उसकी सारी एषणाएं छूट जाती हैं तब वही मानो परमात्मा हो गया। परन्तु विरही भक्तों की दशा इससे उलटी होती है। वे अलग से परमात्मा पाने के भ्रम को जीवनभर पाले रहते हैं और उसको लेकर जीवनभर रोते-कल्पते रहते हैं।

"विषहर मन्त्र न मानै बिरहुली। गारुड़ बोले अपार बिरहुली।" सर्पदंस से व्याप्त विष को दूर करने वाला मंत्र विषहर मंत्र कहलाता है। यह समझ लेने की बात है कि कुछ अंडबंड या सुव्यवस्थित ही सही, शब्दों का समूह कहकर छू कर देने से सांप का विष नहीं दूर होता। मंत्र के झाड़ने से सांप या बिच्छू का विष बिलकुल नहीं दूर होता। ऐसा करना केवल अंधविश्वास है। यह विज्ञानसिद्ध बात है कि मंत्र से विष नहीं दूर होता। विष तो औषध से ही दूर होता है। यहां गारुड का शुद्ध रूप गारुडी है जो सर्प-विष को दूर करता है। मंत्र से झाड़ने वाले को भी गारुडी कहते हैं तथा औषध से विष दूर करने वाले विष-वैद्य को भी गारुडी कहते हैं। यहां विषहर मंत्र और गारुडी क्रमशः स्वरूपज्ञान तथा सद्गुरु के लिए रूपक मात्र है।

कबीर साहेब कहते हैं यद्यपि सद्गुरु-गारुडी अपार ज्ञान की बातें बोलते हैं, तथापि विषहर-मंत्र एवं स्वरूपज्ञानपरक बातें विरही जीव नहीं मानते। जो भक्त लोग बाहर से ऐसे भगवान को पाने के लिए तड़फड़ा रहे हैं जिनके सारे अंग कमलों के समान सुन्दर तथा देखने में कोमल-कमनीय हैं या इसके अलावा साकार-निराकार किसी प्रकार ईश्वर का नक्शा बनाकर उससे मिलने के लिए लालायित हैं, उन्हें विवेकवान कितना ही समझावें कि यह सब तुम्हारे मन का धोखा है, तुम्हारी चेतना, तुम्हारी आत्मा के अलावा कोई परमात्मा नहीं है तो वे इस बात को नहीं समझते। सच है—

बिरह बाण जेहि लागिया, औषध लगे न ताहि।
सुसुकि सुसुकि मरि मरि जिवै, उठे कराहि कराहि॥ साखी 73॥

"विष की क्यारी तुम बोयहु बिरहुली। अब लोढ़त का पछिताहु बिरहुली।" हे विरही जीवो! तुमने बाहर से कुछ पाने की इच्छारूपी विषबीज बोकर उसकी फसल तैयार कर ली है, अब उसके असन्तोषरूपी फूल-फल चुनने में क्या पछतावा कर रहे हो! संसार में देखा जाता है कि आदमी जब संसार के भोगों का तीव्र इच्छावाला हो जाता है तब वह पुण्य हो या पाप, सारे कर्म करके उसे पाना चाहता है। उसे भोग तो

मन के अनुसार मिल नहीं सकते, और यदि मिल भी जायें, तो सब छूट जाते हैं। इन अपूर्ण भोगों की तीव्र इच्छा के वश होकर जो शुभाशुभ कर्म कर लिये जाते हैं, उनके फल जीव को संसार-नगर में भटकाने वाले एवं दुख देने वाले हो जाते हैं। जो विष की क्यारी बोयेगा उसके फूल-फल उसे लोढ़ने पड़ेंगे। रूपक में तो विवशता नहीं है। माली विष का पेड़ लगाकर भी उसके फूल-फल न चुने, उसे काटकर फेंक दे तो बन सकता है, परन्तु यह रूपक जिस अर्थ में दिया गया है उसमें स्ववशता नहीं है। कर्म कर लेने के बाद उसके फल भोगने ही पड़ेंगे, चाहे कोई भी हो। "विष की क्यारी तुम बोयहु बिरहुली। अब लोढ़त का पछिताहु बिरहुली।" इसमें दो अर्थों का श्लेष है। एक अर्थ है स्थूल शुभाशुभ कर्म तथा दूसरा अर्थ है बाहर से परमात्मा पाने का भ्रम। अंततः दोनों अर्थों का मूल एक ही है कि जो व्यक्ति अपनी आत्मा से अलग कुछ पाने की चेष्टा करेगा वह मानो विष के बीज बो रहा है और उसे उसके फल में केवल असन्तोष एवं अभाव का ही अनुभव करना पड़ेगा।

"जन्म जन्म यम अन्तरे बिरहुली।" जन्म-जन्मांतरों से वासनारूपी यम ने तुम्हें स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति से दूर किया है। इसको सीधा कहें तो होगा कि तुम अनादिकाल से बाहर से कुछ पाने की वासना में पड़कर आत्मबोध तथा आत्मशांति से वंचित रहे हो। ये एषणाएं, इच्छाएं एवं वासनाएं ही तो जीव को भटका रही हैं। तुम बाहर से कुछ पाना चाहते हो जो तुम्हारे मन का मात्र धोखा है। जीवन रहे तक शरीर की रक्षा के लिए कुछ रोटी-कपड़े की आवश्यकता है। फिर ये भी शरीर के साथ छूट जायेंगे। शेष इन्द्रिय-भोग तो मन को विकारग्रस्त बनाकर छूटने वाले ही हैं। जिसे तुम पाना चाहते हो वह तो तुम्हारा स्वरूप ही है। अतएव यदि भटकन से मुक्ति चाहते हो, शाश्वत शांति एवं अनन्त सुख चाहते हो तो सारी वासनाएं छोड़ दो और अपने स्वरूप में स्थित हो जाओ।

"फल एक कनयर डार बिरहुली। कहहिं कबीर सच पाव बिरहुली। जो फल चाखहु मोर बिरहुली।" साहेब कहते हैं कि जैसे उजले फूल वाले कनेर की जड़ तथा फूल को पीसकर पिलाने से सर्प-विष उतरता है, वैसे स्वरूपज्ञानपरक वाणी मानो कनेर का पेड़ है। वही तुम्हारे लिए औषध का काम करेगी। तुम बाहर से कुछ पाना चाहते हो, स्वरूपज्ञान की वाणी तुम्हें जाग्रत करेगी कि बाहर से तुम्हें केवल धोखा मिल सकता है, तत्त्व तो तुम्हारे भीतर है और वह तुम्हारा स्वरूप है। साहेब कहते हैं कि हे विरही जीवो! यदि मेरा स्वरूपज्ञानपरक विचार ग्रहण करोगे तो तुम्हें सत्य का बोध मिलेगा। बारम्बार सत्य निर्णय की वाणी पढ़ने से तथा वैसी ही वाणी सुनने से उसका मन पर प्रभाव पड़ता है। आज तक भ्रांति की वाणियों में तुम डूबे थे, इसलिए बाहर सुख तथा परमात्मा खोजते तथा भटकते रहे! अब स्वरूपज्ञान एवं आत्मज्ञान की वाणियों का अध्ययन करो, फिर धीरे-धीरे बाहर से कुछ पाने की भ्रमपूर्ण विरह-व्यथा मिट जायेगी। जब तक तुम बाहर से कुछ पाना चाहोगे, तब तक मन से पीड़ित

रहोगे, और जब निजस्वरूप का ज्ञान हो जायेगा तब वह भ्रम दूर हो जायेगा और जीवन में पूर्ण संतुष्ट हो जाओगे।

यहां सद्‌गुरु एक बहुत मार्के की बात कहते हैं। वे कहते हैं कि मेरी वाणी कनेर डाल का फल है जो कड़वा होता है, परन्तु उसको चखने से ही तुम्हें सत्य एवं शांति मिलेगी। सत्य कड़वा होता है क्योंकि वह अविवेकी मन के प्रतिकूल होता है।

फल छन्द

निज-निज गुणों युत गुण गुणी,
रवि तेज इव सो अनादि जू।
चैतन्य जड़ दुइ वस्तु हैं,
इसकी न उत्पत्ति बादि जू॥
अभाव से नहिं भाव हो,
सद् भाव ही सु अनादि जू।
जड़ कार्य-कारण से रहित,
पारख स्वच्छन्द समाधि जू॥

चौपाई

पढ़ैं बिरहुली अर्थ लगावैं।
उलझनि शोक समूह नशावैं॥
गुरु कबीर निज रूप प्रखावैं।
पारख पाय सोई रहि जावैं॥

हिण्डोला

हेतु छन्द

मनमोद हेतु हिण्डोल में,
झूलत लखे संसार को।
अतिही भयंकर मृत्यु हित,
जन्मादि ताप अपार को॥
हा! जन्म अगणित साजसाजे,
भोग विषयन धार को।
लहि हर्ष-शोक पतंग मानुष,
भ्रमत चक्र अधार को॥

दोहा

अग्नि जले जल में डुबे, फाँसी कष्ट अपार।
सुख-वश कहँ नहिं झूलहीं, देखत संत पुकार॥

सद्गुरवे नमः

बीजक

(पारख-प्रबोधिनी व्याख्या-सहित)

दशम प्रकरण : हिण्डोला

भ्रम का हिण्डोला

हिण्डोला-1

भरम हिण्डोला झूले, सब जग आय॥ 1॥
पाप पुण्य के खम्भा दोऊ, मेरु माया माँहि॥ 2॥
लोभ भँवरा विषय मरुवा, काम कीला ठानि॥3॥
शुभ अशुभ बनाये डाँड़ी, गहे दूनों पानि॥ 4॥
कर्म पटरिया बैठि के, को को न झूले आनि॥ 5॥
झूलत गण गन्धर्व मुनिवर, झूलत सुरपति इन्द्र॥ 6॥
झूलत नारद शारदा, झूलत ब्यास फणिन्द्र॥ 7॥
झूलत बिरंचि महेश शुक मुनि, झूलत सूरज चन्द्र॥ 8॥
आप निर्गुण सगुण होय, झूलिया गोबिन्द॥ 9॥
छौ चारि चौदह सात एकइस, तीनिउ लोक बनाय॥10॥
खानी बानी खोजि देखहु, अस्थिर कोइ न रहाय॥11॥
खण्ड ब्रह्माण्ड खोजि देखहु, छूटत कितहूँ नाहिं॥12॥
साधु संगति खोजि देखहु, जीव निस्तरि कित जाहिं॥13॥
शशि सूर रैनि शारदी, तहाँ तत्त्व परलय नाहिं॥14॥
काल अकाल परलय नहीं, तहाँ सन्त बिरले जाहिं॥15॥
तहाँ से बिछुरे बहु कल्प बीते, भूमि परे भुलाय॥16॥
साधु संगति खोजि देखहु, बहुरि न उलटि समाय॥17॥
ये झुलबे को भय नहीं, जो होय सन्त सुजान॥18॥
कहहिं कबीर सत सुकृत मिलै, तो बहुरि न झूले आन॥19॥

शब्दार्थ—मेरु=दोनों खम्भों के बीच की लकड़ी जो झूले को संतुलित रखती है। भँवर=भंवरकली, कील में जड़ी हुई वह कड़ी जो सब ओर घूम सके। इसके

आधार से झूला सब ओर घूमता है। मरुवा= वह लकड़ी जिसमें हिंडोला लटकाया जाता है—'मरुआ लगे नग ललित लीला, सुविधि सिल्प सँवारि'—सूरदास, बंडेर। पटरिया= जिसपर बैठकर लोग झूलते हैं। शारदा= सरस्वती, दुर्गा। फणीन्द्र= शेष जी। गोबिन्द= गो-पालक कृष्ण जी। छौ= छह शास्त्र—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदांत। चार= चारवेद—ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व। चौदह= चौदह विद्याएं—ब्रह्मज्ञान, रसायन, काव्य, वेद, ज्योतिष, व्याकरण, धनुर्विद्या, जलतरण, संगीत, वैद्यक, अश्वारोहण, कोकशास्त्र, नाटक-चाटक तथा चातुरी। सात= सात स्वर्ग। एकइस= इक्कीस भुवन। खानी= मोटी माया। बानी= झीनी माया। अस्थिर= स्थिर। निस्तरि= मुक्त होकर। शारदी= शरद ऋतु संबंधी। काल-अकाल= समय की अच्छी-बुरी स्थिति। सुजान= ज्ञानी। सत= जो तीनों काल में रहे, सत्य, निजस्वरूप का बोध। सुकृत= पुण्य, सत्कर्म।

भावार्थ—संसार के सारे जीव भ्रम के हिंडोले पर बैठकर झूलते हैं॥ 1॥ इस भ्रम के हिंडोले में पाप और पुण्य के खंभे हैं, माया का मेरु है, लोभ की भंवरकली है जो झूले को घुमाती है, विषय का मरुआ है जिसमें झूला पड़ा है, इसमें काम के कीले ठुंके हैं, शुभ और अशुभ के दो डंडे हैं जिन्हें मनुष्यों ने दोनों हाथों से पकड़ रखा है और कर्म की पटरी है जिस पर सब जीव बैठकर झूलते हैं। इस झूले में भला कौन-कौन नहीं आकर झूला!॥ 2-5॥

इस झूले में शिव के गण, गंधर्व, श्रेष्ठ मुनि, देवपति इंद्र, नारद, सरस्वती, दुर्गा, व्यास, शेष, ब्रह्मा, महेश, शुकमुनि, सूर्य, चंद्र, यहां तक कि निर्गुण ब्रह्म कहलाने वाले गोपाल कृष्ण भी सगुण होकर झूल रहे हैं॥ 6-9॥

चार वेद, छह शास्त्र तथा चौदह विद्याएं रचकर और सात स्वर्ग, इक्कीस भुवन एवं तीन लोकों की कल्पनाकर सब जीव भ्रम-हिंडोले पर झूल रहे हैं। खोजकर देखो, खानी और वाणी के जाल में उलझे हुए जीव स्थिर नहीं हैं॥ 10-11॥ इस ब्रह्मांड के खंड-खंड में खोजकर देख लो कहीं इस झूले से छूटने का साधन नहीं है॥ 12॥ हे सत्य शोधक! संतों की संगत में जाकर अनुसंधान करो कि जीव कृतार्थ होकर कहां जायेगा॥ 13॥

जहां चन्द्रमा, सूर्य, रात-दिन, शरद आदि ऋतुएं, जड़ तत्त्व एवं उनके कार्य, उत्पत्ति-प्रलय, समय की अनुकूल-प्रतिकूल स्थिति आदि नहीं हैं, उस शुद्ध चेतनस्वरूप में कोई बिरला संत स्थित होता है॥ 14-15॥ उस अपने दिव्य स्वरूप से जीव अनादिकाल से बिछुड़ा (विस्मृत) है और इस संसार में उलझकर अपनी स्थिति को भूल गया है॥ 16॥ अब संतों की संगत में बैठकर अपनी उस स्थिति का अनुसंधान करो, जिससे पुनः उलटकर संसार में न लीन होना पड़े॥ 17॥ जो पूर्ण विवेकवान संत हैं उन्हें इस भ्रम-हिण्डोले में झूलने का भय नहीं रह जाता। वे इसके प्रलोभन से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं॥ 18॥ कबीर साहेब कहते हैं कि जिसको निज

सत्य स्वरूप का बोध मिल गया और मन-वाणी-कर्मों की पवित्रतारूपी सुकृति की प्राप्ति हो गयी, वह लौटकर भ्रम-हिंडोले में नहीं झूलता॥ 19॥

व्याख्या—जीव जिस भ्रांति में अनादिकाल से भटक रहा है उसे झूले का रूपक देकर सद्गुरु ने कैसा मार्मिक ढंग से समझाया है; यह सोचते ही बनता है। जैसे खंभे, मेरु, मरुआ, भंवरकली, कांटी, डंडे, पटरी आदि के बिना झूले का रूप नहीं खड़ा होता, वैसे पाप-पुण्य, माया, लोभ, काम, शुभाशुभ वासनाएं, कर्म आदि के बिना यह भ्रम का हिंडोला, यह सांसारिकता एवं जन्म-मरण का हिंडोला नहीं खड़ा होता।

जिस हिंडोले में सब जीव झूल रहे हैं, वह भ्रम का है। भ्रम यह है कि सुख मेरी अपनी आत्मा से अलग है। इस भ्रम ने जीव को विषयों का दास बना दिया है। जो लोग विषयों की दासता से अपने आप को छुड़ा लेते हैं, वे मोक्ष और परमात्मा को अपने से अलग मानकर उनकी खोज करने लगते हैं, और इस भटकाव को वे धर्म मान लेते हैं। अतएव विषय-बंधन तो वैराग्य उदित होने पर छूट भी जाते हैं, परन्तु ईश्वर और मोक्ष खोजने का भ्रम नहीं मिटता, क्योंकि आदमी इन्हें जीवन का परम लक्ष्य समझता है। इस काम को समाज द्वारा बड़ी श्रद्धा से देखा जाता है और देखा जाना भी चाहिए, परन्तु यदि मनुष्य दिशा भूलकर चलता है तो उसके चलने से उसे गंतव्य नहीं मिल सकता। विषयों में सुख खोजना घृणित कार्य है, परन्तु मुक्ति और ईश्वर खोजना पुनीत कार्य है, किन्तु मोक्ष और ईश्वर को अपनी आत्मा से अलग खोजना विपरीत दिशा में जाना है। इस प्रकार अपनी आत्मा से अलग अपने कल्याण के लिए कुछ भी खोजना भ्रम-हिंडोले पर झूलना है।

इस भ्रम के हिंडोले में पहला अवयव है दो खंभे। झूला डालने के लिए पहले खंभे ही गाड़ने पड़ते हैं। इस भ्रम-हिंडोले के खंभे पाप और पुण्य हैं। जीव विषय-सुखों के लिए कर्म करता है और कर्म में दो प्रकार होते हैं एक पाप दूसरा पुण्य। जो कुछ करने से दूसरे को पीड़ा मिले तथा अपना मन मलिन हो वह पाप है और जो कुछ करने से दूसरों को सुख मिले और अपना मन प्रसन्न हो वह पुण्य है। ये पाप-पुण्य इस भ्रम-हिंडोले के स्तंभ हैं। पाप-कर्म तो बांधते ही हैं, पुण्य-कर्म भी उनमें अहंता-ममता हो जाने से बांधते हैं। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह पाप तो बिलकुल करे ही नहीं, पुण्य भी निष्काम होकर करे। जहां सकाम होकर किया गया वहां पुण्य भी बांधेगा।

झूले का संतुलन रखने वाला 'मेरु' है। इस भ्रम-हिंडोले में माया ही मेरु है। माया ही इस भ्रम-हिंडोले को संतुलित बनाये रखती है। माया कहते हैं मन के मोह को। दृश्यों के प्रति जो मन में मोह है यही माया है। यह जितना प्रबल होगा उतना भ्रम-हिंडोला बना रहेगा। मोह टूटने पर तो हिंडोला बिखर जायेगा। मोह असत्य में सत्य, घृणित में सौंदर्य, दुखद में सुखद, जड़देह में आत्मबुद्धि कराकर जीव को सदैव अंधकार में रखता है। यही माया है। जहां अपना पतन हो वहां सुखबुद्धि होना माया

है। मन का छलावा ही तो माया है। तुम देखो अपने मन को, कि यह कब-कब गंदी चीजों की याद कराकर उनमें सुखबुद्धि पैदा करता रहता है! जहां तुम्हारा कुछ नहीं है, वहीं सब कुछ होने का भ्रम होना माया है। यही भ्रम-हिंडोले का 'मेरु' है, शिखर है।

भंवर एवं भंवरकली उस कड़ी को कहते हैं जो कील में जड़ी हुई तो रहती है, परन्तु वह सब ओर घूम सकती है, जैसे पशुओं के गले की जंजीर में लगायी जाती है। झूला को घुमाने वाली भंवरकली होती है। इस भ्रम-हिंडोले की भंवरकली लोभ है। लोभ वह मनोवृत्ति है जिसमें जड़ वस्तुओं के लिए लालच, ललक एवं आकर्षण रहता है। यही तो भ्रम-हिंडोले को झुलाता है। भंवर झूले को घुमाने में सहायक है, वैसे लोभ भ्रम-हिंडोले को चक्कर देने में सहायक है। लोभ के कारण ही तो आदमी रात-दिन बैठना नहीं चाहता। जीवन धारण करने के लिए वस्तुएं तो सभी को चाहिए, परन्तु जो लोभवश हो जाता है वह भटकता रहता है। लोभी आदमी त्यागी नहीं हो सकता और जो त्यागी नहीं हो सकता वह शांति नहीं पा सकता। इसलिए यह लोभ भ्रम-हिंडोले को वेग से नचाने वाला है जिसमें सब जीव चक्कर काट रहे हैं।

जिस पर झूला लटकाया जाता है वह अवयव मरुआ कहलाता है। इस भ्रम-हिंडोले का मरुआ विषय है। विषय पांच हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध। इन्हीं विषयों के समवेत स्वरूप पर यह झूला लटका है। यह जीव शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध में क्रमशः कान, चाम, आंख, जीभ तथा नाक से रमण करता एवं आसक्त होता है। विषयों के वश होकर सारा संसार नाच रहा है। शब्द में हिरन, स्पर्श में हाथी, रूप में पतिंगे, रस में मछली तथा गंध में भंवरे मारे जाते हैं। मनुष्य में तो ये पांचों विषय प्रबल हैं, फिर इसकी दशा सर्वाधिक घृणित हो तो स्वाभाविक है। यह सच है कि मनुष्य में विवेक है, वह यदि अपने सुप्त विवेक को जगा ले तो सभी विषयों से छूट सकता है, परन्तु हिरन आदि नहीं छूट सकते, क्योंकि उनमें विवेक नहीं है। परन्तु मनुष्य पशु-पक्षियों से भी अधिक अविवेकी बन गया है। मनुष्य रात-दिन विषयों के वश नाचता है। कहीं शब्द में नाचता है, कहीं स्वाद में, कहीं गंध में नाचता है, कहीं रूप में और स्पर्श में तो इतना नाचता है कि कहना क्या! यही सब तो भ्रम-हिंडोला है।

हिण्डोला के सारे अवयव लोहे के कीले गाड़कर कसे होते हैं। इस भ्रम के हिण्डोले के सारे अवयवों को कसने में काम के कीले लगे हैं। काम का अर्थ कामना, इच्छा, एषणा है। ये पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा ही तो काम के कीले हैं। कीले निकल जायें तो झूला बिखर जाये, इसी प्रकार कामना का अन्त हो जाये तो भ्रम का हिण्डोला रहे ही नहीं। यह काम जीव को नचाता है। कामना में अंधे होकर ही लोग व्यभिचार, हत्या, डाका, छल-कपट एवं विश्वासघात करते हैं। कामना में प्रमत्त होकर ही लोग पिता, गुरु, पति, पत्नी आदि की हत्या करते हैं। कामना में अंधा होकर आदमी क्या-क्या नहीं करता है। यह कामना के कीले से कसा हुआ भ्रम-हिण्डोला

जीव को चक्कर कटा रहा है।

झूले पर बैठने के आसन होते हैं जिन पर बैठकर लोग झूलते हैं और उन आसनों के आधार डंडे होते हैं जो आसनों को टांगे रहते हैं। झूलने वाले दोनों हाथों से उन डंडों को पकड़े रहते हैं। इस भ्रम-हिण्डोले में कर्म पटरी एवं आसन हैं तथा शुभ और अशुभ वासनाएं डंडे हैं जिन्हें जीव ने पकड़ रखे हैं। इस हिण्डोला-पद के शुरू में पाप-पुण्य खम्भे कहे गये हैं और यहां शुभ और अशुभ डांडी कहे गये। इसमें भ्रम हो सकता है कि पाप-पुण्य ही तो अशुभ-शुभ हैं, फिर यहां पुनरुक्ति क्यों की गयी! परन्तु ऐसी बात नहीं है। पाप और पुण्य कर्म हैं, किन्तु शुभ-अशुभ वासनाएं हैं। सद्गुरु कहते हैं कि ये जीव शुभ और अशुभ वासनाओं के डंडे पकड़कर कर्म की आसनी पर बैठे झूल रहे हैं। किसी ने पूछा कि इस भ्रम-हिण्डोले पर कौन-कौन झूल रहा है? सद्गुरु ने उससे प्रतिप्रश्न में कहा कि यह पूछो कि इस झूले पर कौन-कौन नहीं झूल रहा है! सब तो झूल रहे हैं। इसके बाद सद्गुरु शिव के गण, गंधर्व, मुनिश्रेष्ठ, देवपति इंद्र, नारद, सरस्वती, दुर्गा, व्यास, शेष, ब्रह्मा, महेश, शुकमुनि, सूरज, चांद के नाम तो लेते ही हैं, वे कहते हैं निर्गुण ब्रह्म कहलाने वाले गोपालकृष्ण भी सगुण होकर झूल रहे हैं, अथवा निर्गुण-सगुण के झमेले में कृष्ण झूल रहे हैं।

उक्त सूची में सूरज-चांद के नाम भी आये हैं। वस्तुतः सूरज-चांद के नाम के देवता पुराणों में प्रसिद्ध हैं। उन्हीं के लिए यह प्रयोग होगा क्योंकि कर्म के एवं भ्रम के हिण्डोले पर जीवधारी ही के झूलने की बात कही जा सकती है। आकाश के जड़पिण्ड सूरज-चांद को तो इतना ही कहा जा सकता है कि वे प्राकृतिक गतिविधियों से झूल रहे हैं। परन्तु ये अचेतन होने से न इनमें मन है, न इन्हें सुख-दुख हैं और न इन्हें कुछ राय देने की आवश्यकता है। दूसरी एक महत्त्वपूर्ण बात है "आप निर्गुण-सगुण होय झूलिया गोबिन्द।" स्वयं गोपाल कृष्ण निर्गुण-सगुण के चक्कर में झूलते हैं, कथन के इस भाव को लेकर अवतारवादी धारणा वाले कहते हैं—"देखो, कबीर साहेब अवतार मानते थे। कबीर साहेब यहां कहते हैं कि कृष्ण मूलतः निर्गुण हैं, परन्तु सगुण अवतार लेकर झूलते हैं।"

वस्तुतः यहां कृष्ण को अवतार सिद्ध करने की बात नहीं है। जो कबीर बीजक भर में अवतारवाद का खंडन करते हैं वे यहां एकाएक उसका मंडन नहीं करने लगेंगे। वैसे सब जीव स्वरूपतः निर्गुण अर्थात प्रकृति-गति से परे हैं और कर्मवश सगुण अर्थात देहधारी हैं। श्रीकृष्ण या कोई भी, विश्व का कर्ता-धर्ता नहीं है। श्रीकृष्ण हों या श्रीराम, इनसे सम्बन्धित महाकाव्यों के पहले रूपों में अवतारवाद का उल्लेख नहीं था। यहां संदर्भ श्रीकृष्ण का है। ऋग्वेद (8/85/13-16)[1] में कृष्ण को शूरवीर,

---

1. ऋग्वेद के इस स्थल पर जहां खिल (परिशिष्ट) भाग है, वहां यह विषय 8/96/13-16 में पड़ता है।

कर्मकांडों का विरोधी तथा वन्य जातियों का रक्षक माना गया है और छांदोग्य उपनिषद् (3/17/6) में अध्यात्मज्ञान का जिज्ञासु, जिसे 'घोर आंगिरस' ने ज्ञान दिया है। महाभारत कौरव-पांडवों की कथाओं का काव्य है। इसके प्रथम संस्करण में जब इसका नाम 'जय' था कृष्ण की चर्चा कौरव-पांडवों के सम्बन्धी के रूप में थी। पीछे जितने दिन बीतते गये कृष्ण को अवतार और फिर पूर्ण परब्रह्म बनाया गया। समस्त वेद, वैदिक साहित्य तथा वैदिक शास्त्र में राम-कृष्ण के ब्रह्म होने तथा अवतार होने की चर्चा ही नहीं है। विवेक से तो यह सिद्ध ही है कि ये सब मनुष्य थे। अतएव यहां कृष्ण के अवतार की चर्चा नहीं है, किन्तु कबीर साहेब यहां व्यंग्य रूप में कहते हैं कि निर्गुण-सगुण ब्रह्म कहे जाने वाले श्रीकृष्ण बेचारे स्वयं इस भ्रम-हिण्डोले में झूल रहे हैं। वैसे तो सब देहधारी इस भ्रम-हिण्डोले में झूल रहे हैं, परन्तु कबीर साहेब यहां बड़ों-बड़ों के नाम इसलिए लेते हैं कि लोग इन्हें अतिमानवीय शक्ति से सम्पन्न होने की कल्पना करते हैं जो ज्ञान के क्षेत्र में एक भ्रम पैदा करने वाला है। साहेब कहते हैं कि सभी देहधारी वे चाहे जितने बड़े नाम-ग्राम वाले हों, इस संसार के झूले में झूल रहे हैं।

"छौ चारि चौदह सात एकइस, तीनिउ लोक बनाय। खानी बानी खोजि देखहु, अस्थिर कोइ न रहाय।" चार वेद, छह शास्त्र, चौदह विद्याएं रचकर तथा सात स्वर्ग, इक्कीस भुवन और तीन लोकों की कल्पना कर सब जीव इस झूले में झूल रहे हैं। इसका अर्थ है कि आदमी खानी जाल में तो उलझा ही है, वाणी जाल में भी खूब उलझा है। वेद-शास्त्रों एवं विविध विद्याओं में जीवन के भौतिक तथा आध्यात्मिक कल्याण के तत्त्व हैं, परन्तु उनमें ऐसे अंश भी हैं जो जीव को दिग्भ्रमित करते हैं। इसलिए परखदृष्टि से शोधकर ग्रहण करने वाला उनसे लाभ लेता है और जिसे परखदृष्टि नहीं है वह उनमें उलझता है। परम पारखी संत श्री रामरहस साहेब ने अपनी महान रचना पंचग्रंथी में लिखा है कि वेदादि समस्त वाणियों का बोध के लिए उपयोग करो।[1] जब शास्त्रों को स्वतः प्रमाण मान लिया जाता है और विश्वसत्ता के नियमों की कसौटी से उनके ज्ञान को नहीं कसा जाता है तब शास्त्र वाणीजाल हो जाते हैं। नाना लोक-लोकांतरों की कल्पना भी वाणीजाल है कि अमुक जगह स्वर्ग है, अमुक जगह मोक्षधाम है आदि। इंद्रिय-लम्पटता तथा प्राणी-पदार्थों के मोह-लोभ में उलझना खानी जाल में फंसना है तथा शास्त्रों की स्वतः प्रामाणिकता के भ्रम में पड़कर ज्ञान के क्षेत्र में तर्कहीन, विवेकहीन तथा विश्वनियमों के विरुद्ध बात मानना एवं करना वाणीजाल में उलझना है। साहेब कहते हैं कि तुम खोजकर देखो कि जो लोग खानी और वाणी के जाल में उलझे हैं उनको जीवन में शांति नहीं है। यह खानी-वाणी जाल ही तो भ्रम-हिण्डोला का सर्वांग रूप है। भोगैश्वर्य की कामना खानी जाल है तथा

1. वेद आदि बानी सबै, बोध हेतु उर धार॥ पंचग्रन्थी, गुरुबोध, दोहा 39॥

अंधविश्वासपूर्ण ज्ञान एवं अंध शास्त्रप्रमाणता वाणी जाल है। जिसका मन विषयों में डूबा है तथा बुद्धि भ्रम में डूबी है, उसे कहां शांति मिलेगी। कबीर साहेब के महावाक्यों में यह एक है "खानी बानी खोजि देखहु, अस्थिर कोइ न रहाय।"

"खण्ड ब्रह्माण्ड खोजि देखहु, छूटत कतहूँ नाहिं।" इस ब्रह्माण्ड के खंड-खंड में खोजकर देख लो, जीव को बंधनों से छूटने की कोई जगह नहीं है। अर्थात बाहर तो केवल जाल है। बाहर न कहीं स्वर्ग-लोक है और न मोक्ष-लोक है। इसलिए इस प्रकृतिजाल में मोक्ष का ठिकाना मत खोजना। सात स्वर्ग, सात तपक, जन्नत, साकेतलोक, गोलोक, ब्रह्मलोक, शिवलोक आदि सारे लोक केवल वाणीजाल हैं। कहीं कुछ नहीं है। जहां कहीं जमीन होगी और उसमें प्राणी होंगे वे घूम-फिरकर यहां की तरह बंधनों में होंगे। अतएव लोक-लोकांतरों में मोक्ष की कल्पना करना और इस भ्रम-हिण्डोले से छुटकारा की आशा करना सर्वथा व्यर्थ है।

"साधु संगति खोजि देखहु, जीव निस्तरि कित जाहिं।" सद्‌गुरु जिज्ञासुओं एवं मुमुक्षुओं को राय देते हैं कि तुम संतों की संगत में जाओ और वहां सेवा करते हुए श्रद्धा, भक्ति एवं बुद्धि पूर्वक सत्य की खोज करो। संतों के सत्संग में इसका शोधन करो कि जीव मुक्त होकर कहां जायेगा? यह जीव जब इस भ्रम-हिण्डोले से उतर जायेगा तब उससे मुक्त होने पर इसकी स्थिति क्या होगी। यह कहां स्थित होगा?

सद्‌गुरु कबीर उक्त प्रश्न का उत्तर स्वयं देते हैं "शशि सूर रैनि शारदी, तहाँ तत्त्व परलय नाहिं। काल अकाल परलय नहीं, तहाँ सन्त बिरले जाहिं।" यह जीव संसार के भ्रम-हिण्डोले से उतरकर एवं मन से मुक्त होकर जहां जाता है वहां न चन्द्रमा है, न सूरज है, न रात है, न दिन है, न शरद आदि ऋतुएं हैं। वहां जड़तत्त्व की कोई गंध भी नहीं है। इसलिए वहां उत्पत्ति-प्रलय रूप विकार की कोई गुंजाइश नहीं है। वहां समय की अनुकूलता-प्रतिकूलता का भी प्रश्न नहीं है। ऐसे दिव्य धाम में कोई बिरला संत पहुंचता है। यह है व्यक्ति का अपना स्वरूप, अपनी आत्मा, अपना आपा। इसी को पारख पद कहते हैं। इसी को कोई अपनी-अपनी भाषा में ब्रह्म, परमात्मा, निर्वाण, मोक्ष कुछ भी कह सकता है। देह में रहते-रहते जब साधक सारे संकल्पों को छोड़कर अपने चेतनस्वरूप में स्थित हो जाता है तब वह देह भी भूल जाता है। समुद्र के तट पर खड़ा हुआ व्यक्ति जब समुद्र की तरफ देखता है तब वह केवल जल देखता है और जब उधर पीठ कर देता है, तब जमीन की तरफ उसकी दृष्टि हो जाने से केवल थल देखता है। मन उपस्थित होने पर संसार दिखता है, जब मन विलीन हो गया तब केवल निज चेतनस्वरूप रह गया। वहां प्रकृति है ही नहीं। मन ही संसार को जीव के सामने उपस्थित करता है। अतएव जब मन शांत हो जाता है तब जीव अकेला रह जाता है। यही असंगता है, यही कैवल्य है और यही तत्त्वतः अद्वैत भी हो सकता है। समस्त जड़-चेतन मिलाकर अद्वैत की कल्पना करना भ्रम है। वस्तुतः सारी कल्पनाओं का अन्त अद्वैत है, अकेलापन है। तात्पर्य यह है कि मन तथा मन की

रागात्मक प्रवृत्तियां ही भ्रम-हिण्डोला है। इससे उतरने पर जीव केवल अपनी शुद्ध चेतना में स्थित हो जाता है जहां चांद-सूरज, दिन-रात आदि प्रकृति क्षेत्र नहीं है। इस दशा में कोई बिरला संत ठहरता है।

हर साधक को चाहिए कि वह प्रतिदिन कुछ समय के लिए एकांत में बैठकर सारे संकल्पों को छोड़ने का प्रयत्न करे। वैराग्य और अभ्यास जितने बढ़ेंगे इस काम में उतनी शीघ्र सफलता होगी। परिपक्व साधक तो बैठे-लेटे जब चाहता है तब सारे संकल्पों को छोड़कर केवल अपनी चेतना में स्थित हो जाता है। देह में रहते-रहते देहातीत शुद्ध चेतन की स्थिति का अनुभव करना चाहिए। इस स्थिति के प्रगाढ़ अभ्यासी को देह-गेहादि किसी का राग नहीं रह जाता।

हर मनुष्य की अंतरात्मा चाहती है कि हम निर्भय स्थान में पहुंच जायें। सारा प्रकृति-क्षेत्र परिवर्तनशील है और जहां तक परिवर्तन है, वहां तक निर्भयता नहीं है। हर आदमी का दिल यही चाहता है कि इस दुख भरे, परिवर्तनशील एवं क्षणभंगुर संसार से दूर कहीं ऐसी जगह में चले जायें जहां केवल स्थिरता, निर्भयता, शान्ति एवं सुख-ही-सुख हो। साहेब कहते हैं कि मैं तुम्हें ऐसी ही जगह बता रहा हूं जहां स्थूल चन्द्रमा, सूरज से लेकर सूक्ष्म जड़तत्त्व तक नहीं है। वहां समय की अनुकूलता-प्रतिकूलता का चक्कर नहीं है। वहां प्रकृति जाल है ही नहीं तो उत्पत्ति-प्रलय होने का प्रश्न ही कहां है! वहां तो समस्त जड़दृश्य जाल से परे केवल तुम-ही-तुम शुद्ध चेतन हो। यह निर्भय-पद है। सारी वासना छोड़ो और केवल अपनी चेतना में स्थित होओ। देह में रहते-रहते इस विदेह अवस्था को प्राप्त करो। इस साधना में डूबा साधक सब समय निर्भय एवं सुखी होता है।

"तहाँ से बिछुरे बहु कल्प बीते, भूमि परे भुलाय।" उक्त दिव्य स्थिति से बिछुड़े तुम्हारे बहुत कल्प हो गये। चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष का एक कल्प माना जाता है। ऐसे बहुत कल्प बीत गये हैं और तुम उक्त दिव्य एवं निर्भय स्थिति से बिछुड़कर इस भूमि पर एवं इस संसार में भटक रहे हो। यहां "बहु कल्प बीते" का शाब्दिक अर्थ है कि बहुत कल्प बीत गये हैं जिसका लाक्षणिक अर्थ है अनादिकाल का समय बीत गया है। गीता में आता है कि योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यात्माओं के लोक में जाकर वहां "शाश्वती: समा:"[1] अनंतकाल तक रहता है। 'शाश्वती: समा:' का अर्थ अनंतकाल होता है। परन्तु वहां कहने का भाव यह नहीं है, किन्तु भाव है कि बहुत वर्षों तक रहता है; क्योंकि ब्राह्मण-परम्परा में स्वर्ग को अक्षय नहीं माना गया है। इसीलिए उसी श्लोक में है कि वह जीवात्मा पवित्रात्मा तथा धनी लोगों के यहां जन्म लेता है। जब वह स्वर्ग के बाद जन्म लेता है तब वह स्वर्ग में "शाश्वती: समा:" कहां रहा! अतएव

---

1. प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥ गीता 6/41॥

यहां 'शाश्वती समा:' का अर्थ बहुत वर्षों तक है। इसी प्रकार बीजक के इस हिण्डोले में "बहु कल्प बीते" का शाब्दिक अर्थ हुआ कि बहुत कल्प बीत गये। परन्तु इसका लक्षणा अर्थ है कि अनादिकाल का समय बीत गया। जीव अनादिकाल से अपने स्वरूप को भूलकर भटक रहा है।

"तहाँ से बिछुरे बहु कल्प बीते, भूमि परे भुलाय।" इसका सपाट अर्थ यही है कि जीव पहले प्रकृति-जाल से रहित दिव्य स्वरूपस्थिति दशा में था, परन्तु बहुत कल्पों से वहां से बिछुड़ गया है और इस संसार में भटक रहा है। प्रश्न होता है कि मोक्ष-स्थिति में तो बंधन में आने का कोई कारण नहीं था, तो वह कैसे बंधन में आ गया! यह विषय इतना नाजुक है कि बंधन अनादि ही कहने पर इसका समाधान हो सकता है। पहले मुक्त होता तो बंधनों में क्यों आता! वस्तुत: जीव का मौलिक स्वरूप ऐसा है कि वह प्रकृतिजाल से सर्वथा अलग है, इसलिए वह बंधनों को छोड़कर अपने शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित हो सकता है। इसलिए कुल मिलाकर इस पंक्ति का अर्थ है कि जीव अनादिकाल से अपने स्वरूप को भूलकर संसार एवं प्रकृति-जाल में भटक रहा है।

"साधु संगति खोजि देखहु, बहुरि न उलटि समाय।" सद्गुरु कहते हैं कि हे मुमुक्षु! तुम संतों की संगति में जाकर निजस्वरूप का शोधन करो और अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान पाकर ऐसी दिव्य रहनी में रहो जिससे पुन: उलटकर गर्भवास में न लीन होना पड़े। जब तुम विषयों में नहीं लीन होगे तब गर्भवास में भी नहीं डूबोगे। कबीर साहेब शाश्वत मोक्ष मानते हैं। वे मोक्षतत्त्व तथा मोक्षरहनी दोनों की खोज करने के लिए साधु-संगति बताते हैं। डॉक्टरों की संगति से डॉक्टरी, विद्वानों की संगति से विद्या तथा वकीलों की संगति से वकालत का ज्ञान होता है, इसी प्रकार परमार्थ-परायण एवं जीवन्मुक्ति में रमने वाले संतों की संगति से मोक्षतत्त्व का ज्ञान होगा। शास्त्रज्ञानी मोक्ष का बौद्धिक व्याख्यान कर देगा, किन्तु जो मोक्ष-स्थिति में रम रहा है उसके द्वारा सही निर्देश मिलेगा। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि हे साधक! तुम साधु की संगत करो। उनकी उपासना एवं भक्ति करो। उनकी सेवा करो। उनसे इस मोक्षतत्त्व के विषय में प्रश्न करो। उनकी संगति में तुम्हें अपने स्वरूप की परख होगी और वासनाओं को त्यागकर स्वरूप में स्थित होने के लिए बल मिलेगा। वैराग्य-बोध-प्रिय संतों की संगति ही तुम्हें मोक्ष-पथ में शक्ति देगी।

"ये झुलबे को भय नहीं, जो होय सन्त सुजान।" जो सुजान संत है, जिसे अच्छी तरह जड़-चेतन के भिन्नत्व का, अपने स्वरूप का तथा मोक्ष की रहनी का ज्ञान है और जो सारी एषणाओं तथा वासनाओं को छोड़कर निजस्वरूप में स्थित है, उसे इस भ्रम-हिण्डोले पर झूलने का प्रश्न नहीं रह गया है। उसको यह भय नहीं होता है कि मैं पुन: फिसल जाऊंगा, क्योंकि उसकी विवेक-वैराग्य की दिव्य रहनी रहती है। वह कुसंग से दूर तथा सत्संग में निवास करता है। वह मोक्ष की समस्त रहनी का आचरण

करता है। वह हर समय वासनाओं को त्यागकर अपने असंग स्वरूप के विचार में मग्न रहता है। उसके मन से काम, क्रोध, लोभ, मोह, माया आदि का द्वन्द्व दूर हो जाता है। वह किसी के छूटने-विनशने के भय से मुक्त होता है।

हर जीव को हर समय भय सवार रहता है। अनुकूल लोग प्रतिकूल न हो जायें, धन मिट न जाये, शरीर में रोग न लग जाये, कोई एक्सीडेंट न हो जाये, या इसी प्रकार अनेक भय होते हैं। सुजान संत इन सारे द्वन्द्वों से रहित रहता है। जो अपनी चेतना में रमता है, उसके ख्याल में छूटने तथा मिटने की कोई वस्तु ही नहीं रह जाती। जो छूटने वाला था, उसका मोह उसने पहले छोड़ दिया है और जिसमें वह रमता है वह उसकी आत्मा ही है। वह उससे अलग नहीं हो सकती। इसलिए उसके सारे भय मिट जाते हैं। वह इसी जीवन में कृतकृत्य हो जाता है, आप्तकाम, अकाम, पूर्णकाम, निष्काम तथा प्राप्तकाम हो जाता है।

"कहहिं कबीर सत सुकृत मिलै, तो बहुरि न झूले आन।" जन्म-मरण के झूले से तभी छुटकारा मिलेगा जब सत सुकृत मिले। सत्य के साथ सुकृत की भी महान आवश्यकता है। सत उसे कहते हैं जो तीनों काल में रहे। ऐसे पदार्थ दो हैं एक जड़, दूसरा चेतन। जड़ में भी अनेक तत्त्व तथा उनके असंख्य परमाणु हैं, वे सब सत हैं; परन्तु जिस सत की प्राप्ति से मोक्ष मिलता है वह सत जड़ नहीं है। तो चेतन सत पर विचार कीजिए। चेतन भी एक नहीं, असंख्य हैं, परन्तु उन सभी चेतनों से भी मोक्ष में प्रयोजन नहीं। केवल अपने आप से प्रयोजन है। मैं चेतन हूं और सत हूं। सत्रहवीं शताब्दी के पाश्चात्य दार्शनिक डेकार्ट ने भी कहा था—

"यदि यह निश्चय हुआ कि मुझे संशय है तो यह भी निश्चय है कि मैं सोचता हूं; क्योंकि संशय करना एक प्रकार सोच या विचार है। पर जो वस्तु है ही नहीं, वह कैसे कुछ विचार कर सकती है। इसलिए यदि मैं विचार करता हूं तो मैं अवश्य हूं। इससे यह निःसंदेह सिद्ध हुआ कि मैं हूं!"

तात्पर्य यह कि 'मैं सत हूं' इसमें कोई कोरकसर नहीं। इसके साथ-साथ 'मैं चेतन हूं' यह भी निर्विवाद है। मनोविकार के सम्बन्ध में ही मैं विकारी बनता हूं, अन्यथा उसे हटाकर मैं निर्मल हूं, अर्थात मैं स्वरूप से सर्वथा शुद्ध हूं। चेतन विलक्षण वस्तु है, इसलिए वह जड़ से बना हुआ नहीं, अपितु अजन्मा है, इसीलिए वह किसी का अंश भी नहीं, क्योंकि अंश का नाश हो जाता है। वह अंशी भी नहीं, क्योंकि अंशी विकारी होता है, तभी उसमें अंश बनते हैं। अतएव मैं व्याप्य-व्यापक, अंश-अंशी तथा जड़ से सर्वथा पृथक सत-चिद्-शान्त हूं—इस प्रकार ठीक से समझ लेना ही सत की प्राप्ति है। 'सत' मैं हूं, अपने आप को ठीक से समझकर अपने आप में ही स्थित हो जाऊं, बस सत मिल गया।

उपर्युक्त सत का बोध प्राप्त कर उस सत में स्थित होना तब तक संभव नहीं जब तक 'सुकृत' न प्राप्त कर लें। जैसे जब तक खेत को कई बार जोत न लिया जाये,

उसमें खाद-पानी डालकर उसे उर्वर न बना लिया जाये, तब तक उसमें बीज डालना बेकार है। इसी प्रकार जब तक सुकृत का संचय न कर लिया जाये तब तक न सत का बोध होगा न उसमें स्थिति होगी।

प्रश्न होता है कि सुकृत क्या है! उत्तर में समझना चाहिए समस्त पुण्य आचरण ही सुकृत है। पहले तो चोरी, हिंसा, व्यभिचार, अभक्ष्य-भोजन तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि विकार छोड़ दिये जायें, पुनश्च अहिंसा, ब्रह्मचर्य, दान, दया, पवित्राचार, लोक-सेवा, प्राणि-रक्षा, विवेकी सन्त-गुरु की सेवा आदि किये जायें। यह मन-इंद्रियों का उत्तम-निर्मल व्यवहार ही सुकृत है। इसका आचरण करने वाला ही भाग्यवान है। अपने भाग्य के विधाता हम स्वयं हैं।

इस प्रकार उत्तम आचरण वाले व्यक्ति का हृदय कमाये हुए खेत की भांति उर्वर होता है। उसमें ज्ञान के बीज पड़ते ही उग आते हैं और थोड़े ही दिनों में लहलहाकर परमार्थ के वृक्ष सर्वांग हो जाते हैं और मुक्ति के उत्तम फल लग जाते हैं।

इस प्रकार 'सत' निजस्वरूप चेतन तथा सुकृत पवित्र रहनी है। स्वरूपबोध और रहनी, जब दोनों जीवन में हो जाते हैं तब जीव संसार के भ्रम-हिंडोले में पुनः नहीं झूलता। मेरा स्वरूप निर्मल तथा निर्विकार है यह सत का बोध तब काम देता है जब मन से मल एवं विकार छोड़ दिये जाते हैं। इसलिए स्वरूपज्ञान प्राप्त होने के साथ वासनाओं को त्यागकर स्वरूपस्थिति की दशा में ठहरना अत्यन्त आवश्यक है। सद्‌गुरु ने पूर्ण परख के साथ यह पंक्ति कही है—

कहहिं कबीर सत सुकृत मिलै, तो बहुरि न झूले आन।

इस झूले की आशा छोड़ो

हिंडोला-2

बहु बिधि चित्र बनाय के, हरि रचिन क्रीड़ा रास॥ 1॥
जाहि न इच्छा झूलबे की, ऐसी बुधि केहि पास॥ 2॥
झूलत झूलत बहुकल्प बीते, मन नहिं छाड़े आस॥ 3॥
रच्यो रहस हिण्डोरवा, निशि चारिउ युग चौमास॥ 4॥
कबहुँक ऊँचे कबहुँक नीचे, स्वर्ग भूत ले जाय॥ 5॥
अति भरमित भरम हिण्डोरवा, नेकु नहीं ठहराय॥ 6॥
डरपत हौं यह झूलबे को, राखु यादव राय॥ 7॥
कहैं कबीर गोपाल बिनती, शरण हरि तुम आय॥ 8॥

शब्दार्थ—क्रीड़ा= खेल। रास= शब्द, ध्वनि, कोलाहल, नृत्यक्रीड़ा। रहस= आमोद-प्रमोद, आनन्द। स्वर्ग= आकाश, लोकांतर। भूत= भूतल, जगत, यह लोक। नेकु= थोड़ा। यादव राय= श्रीकृष्ण।

भावार्थ—हरि ने अनेक प्रकार के चित्र बनाकर भ्रम-हिंडोले की नृत्य-क्रीड़ा का प्रवर्तन किया है॥ 1॥ इस पर झूलने की इच्छा जिसे न हो वैसी विवेकवती बुद्धि भला किसके पास होगी!॥ 2॥ इस विषय-रंग रूप भ्रम-हिंडोले पर झूलते-झूलते अनादिकाल का समय बीत गया है, परन्तु मन आज तक इससे नहीं ऊबता और अभी भी विषयों की आशा नहीं छोड़ता॥ 3॥ यह भ्रम-हिंडोले की नृत्यक्रीड़ा एवं आनंद-उत्सव ऐसा चला रखा है जो चारों युग रूपी चौमासा में रात-दिन चलता रहता है॥ 4॥ यह भ्रम-हिंडोला जीव को कभी ऊंची योनियों (मनुष्य) में ले जाता है और कभी नीची योनियों (पशु, पक्षी, कृमि आदि) में ले जाता है, कभी यह आकाश में ले जाता है और कभी भूतल पर ला पटकता है। यह भ्रम-हिंडोला अत्यंत भ्रमणशील है। यह थोड़ा भी स्थिर नहीं होता॥ 5-6॥ अबोधी जीव कहता है कि क्रीड़ा-रासरूपी हिंडोले के प्रवर्तक हे यादवपति श्री कृष्ण जी! मैं आपके बनाये झूले से भयभीत हूं। आप इस झूले को स्थिर कर दीजिये, जिससे मैं इससे उतर पड़ूं॥ 7॥ कबीर साहेब कहते हैं कि इस प्रकार अबोधी जीव गोपाल श्री हरि कृष्ण जी की शरण में जाकर उनसे विनती करते हैं॥ 8॥

व्याख्या—भ्रम-हिंडोले के साथ इस पद में रास शब्द का भी प्रयोग हुआ है। पौराणिक लोग मानते हैं कि इस रासक्रीड़ा का प्रवर्तन कार्तिक पूर्णिमा को श्री कृष्ण ने किया है। ऋग्वेद (8/85/13-16), छांदोग्य उपनिषद् (3/17/6) तथा महाभारत में जहां श्री कृष्ण की चर्चा है, रासलीला की गंध भी नहीं है। इसकी शुरुआत हरिवंश[1] पुराण से होती है, भागवत पुराण के रास पंचाध्यायी में यह फलती-फूलती है, ब्रह्मवैवर्त पुराण में इसका अधिक विस्तार होता है तथा गर्ग संहिता में यह अधिकतम फैल जाती है। इसके बाद जयदेव, सूरदास आदि अनेक रसिक भक्त-कवियों ने इसको अपने-अपने स्वर में फैलाया है।

यह हमारे देश का महा दुर्भाग्य रहा है कि जिन श्री कृष्ण तथा श्रीराम को हमने महान माना है, उन्हीं के चरित्र-हनन का हमने मूढ़तापूर्ण प्रयत्न किया है। ऊपर बताया गया कि वेद, उपनिषद् तथा महाभारत में जहां श्री कृष्ण की चर्चा है रास की गंध भी नहीं है। यहां तक कि युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में जब श्री कृष्ण की अग्रपूजा से क्षुब्ध होकर शिशुपाल ने उन्हें गालियां दी हैं[2] तब वह एक जबान में भी रास की चर्चा नहीं कर सका है। यदि श्री कृष्ण ने रास जैसा घृणित कार्य किया होता और इसका पहले कहीं चित्रण होता तो शिशुपाल इसको लेकर श्री कृष्ण की सभा में चींधी-चींधी उड़ा देता। परन्तु घोर दुख की बात है कि श्री कृष्ण के प्रेमी कहलाने वाले पण्डितों और भक्तों ने श्री कृष्ण के साथ रास जोड़कर उनके चेहरे को खराब

---

1. हरिवंश पुराण विष्णुपर्व, अध्याय 20।
2. महाभारत, सभापर्व, अध्याय 37 तथा 41।

किया है। इसी की नकल में पीछे से श्रीराम के चरित में रास जोड़ा गया। यह सर्वविदित है कि राम के जीवन चरित का प्रथम काव्य ग्रन्थ वाल्मीकीय रामायण है और उसमें श्री राम को एकपत्नीव्रती बताया गया है, परन्तु कृष्ण-कथा के साथ जोड़े गये रास को देखकर राम-भक्तों को भी यह लालच उत्पन्न हुआ और उन्होंने भी श्रीराम के जीवन में रासलीला जोड़ दी। इसके लिए हनुमत संहिता, बृहतकोशल खंड, ब्रह्मरामायण, चित्रकूट-माहात्म्य, भुशुंडि रामायण, महारामायण आदि देखने योग्य हैं।

रासक्रीड़ा-जैसे घृणित कृत्य का प्रवर्तक श्री कृष्ण को निरूपित करने का प्रयास उन्हीं के भक्तों ने किया। भारत की नस-नस में यह ऐसा समा गया है कि उसका स्वाभाविक रूप बन गया है। इस दूसरे हिंडोले में एक बार 'रास' तथा दूसरी बार 'रहस' शब्द आया है। दोनों का अर्थ एक है स्त्रियों के साथ नाचना-गाना, आमोद-प्रमोद करना तथा विषय-क्रीड़ा करना। यहां तो यह प्रतीक मात्र है। कबीर साहेब द्वारा वर्णित भ्रम-हिंडोले की रासक्रीड़ा जीव की अविद्या द्वारा संचालित मन का संसरण एवं विषय-वासना है जो सब के मन में है। परन्तु इस पद में रास तथा रहस कहकर कबीर साहेब ने तथाकथित रास-नायक श्रीकृष्ण का भी नाम लिया है। इस पद में दो बार हरि कहकर, एक बार यादवराय तथा एक बार गोपाल कहकर कृष्ण की याद की गयी है जो केवल प्रतीकात्मक कथन है।

ध्यान देने योग्य बात है कि कबीर साहेब पूरे बीजक में अवतारवाद का खंडन करते हैं। वे श्रीराम एवं श्रीकृष्ण को महापुरुष मानते हैं, परब्रह्म एवं विश्वनियंता नहीं। श्री कृष्ण के विषय में वे कहते हैं—

केतेहि कान्ह भये मुरलीधर, तिन्ह भी अन्त न पाया॥ शब्द 18॥
इन्द्र कृष्ण द्वारे खड़े, लोचन ललचि लजाय॥ चाचर 1॥
कृष्ण समीपी पाण्डवा, गले हिंवारे जाय।
लोहा को पारस मिलै, तो काहे को काई खाय॥ साखी 236॥

अर्थात—श्री कृष्ण-जैसे कितने वंशी बजाने वाले हुए, वे भी संसार को नहीं समझ सके। इन्द्र और कृष्ण सब माया के द्वार पर खड़े हैं। उनके नेत्र माया-भोगों के लिए ललचा रहे हैं और मनभर भोग न पाने से लज्जित हो रहे हैं। श्रीकृष्ण के पास रहने वाले पांडव अपने पाप-क्षय के लिए हिमालय में गल मरे। यदि लोहा को पारस-पत्थर मिल जायेगा तो उसे काई क्यों खायेगी! यदि पांडवों को परब्रह्म मिल गये थे, तो हिमालय जाने की क्या आवश्यकता थी!

श्रीकृष्ण की ईश्वरता पर इतना तीव्र तर्क देने वाले कबीर एकाएक उन्हें परमात्मा मानकर उनकी शरण में जाकर वन्दना करने लगें कि महाराज, मुझे भवजाल से बचाओ, यह कैसे हो सकता है! कबीर कोई अव्यवस्थित चित्त के व्यक्ति नहीं थे।

"बहु विधि चित्र बनाय के, हरि रचिन क्रीड़ा रास।" वस्तुतः मन ही हरि है। यही अनेक प्रकार मान्यताओं के चित्र बनाकर रासक्रीड़ा एवं विषयविलास की क्रीड़ा रचता

है। हर जीव अपने मन के बनाये विषय-वासनाओं के जाल में जीवनभर उलझता है। कोई ईश्वर जीव को फंसाने के लिए जाल रचता है, तो यह ईश्वर जीव को बन्धनों में फंसाने वाला ही है। ऐसे ईश्वर की उपासना करना घोर अविद्या है। वस्तुतः मलिन मन जीव को फंसाने के लिए जाल रचता है यह ठीक बात है। इसीलिए गंदे मन का त्याग करना उचित माना गया है। इस मन के बनाये भ्रम-हिंडोले एवं रासक्रीड़ा में सब जीव उलझे हैं। इसी भटकाव में पड़कर सब जीव पीड़ित हैं।

"जाहि न इच्छा झूलबे की, ऐसी बुधि केहि पास।" इस विषय-वासना के हिंडोले में जिसे झूलने की इच्छा न हो ऐसी बुद्धि भला किसके पास है! यह कितनी मार्मिक पंक्ति है! जो विषय-भोगों में न ललचाता हो, जिसे विषय-भोग दावानल के समान लगते हों, वे नर-नारी धन्य हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध इन पांच विषयों में आसक्त होकर तथा इनमें निरन्तर आकर्षित होकर ही जीव दयनीय दशा को प्राप्त है। मन की सबसे बड़ी दुर्बलता विषयासक्ति है। विषयासक्ति ही भवजाल है, विषयासक्ति ही भ्रम-हिंडोला है, विषयासक्ति ही जीव के लिए महारोग है। जिस जीव के मन से विषयासक्ति की निवृत्ति हो जाती है उसका मानो बेड़ा पार हो जाता है। जिसमें ऐसी बुद्धि आ जाती है कि विषयासक्ति नरक है, और जो अपने आप को उससे बचा लेता है, वह धन्य है, पूजने योग्य है।

"झूलत झूलत बहु कल्प बीते, मन नहिं छाड़े आस।" इस विषय-वासना के भ्रम-हिंडोले में झूलते-झूलते अनादिकाल का समय बीत गया है, फिर भी मनुष्य का मन उसकी आशा नहीं छोड़ता। भर्तृहरि जी कहते हैं कि मनुष्य जानता है कि वे ही दिन हैं, वे ही रात हैं, तो भी वे उन्हीं काम-धन्धों के पीछे दौड़ते हैं। मनुष्य जिन्हें अनेक बार कह और भोग चुके हैं उन्हीं क्षणिक विषयों तथा कामों में लगे रहते हैं। आश्चर्य है कि मनुष्यों को लज्जा नहीं आती।[1]

पतिंगे अनुभव करते हैं कि ज्योति में मेरे अंग जल रहे हैं, परन्तु मोहमाया का

---

1. रात्रिः सैव पुनः स एव दिवसो मत्वाऽबुधा जन्तवो।
धावन्त्युद्यमिनस्तथैव निभृतप्रारब्धतत्तत्क्रियाः॥
व्यापारै पुनरुक्तभुक्तविषयैरेवंविधेनाऽमुना।
संसारेण कदर्थिताः कथमहो मोहान्न लज्जामहे॥ वैराग्य शतक 78॥
उक्त श्लोक का सुन्दर हिन्दी अनुवाद श्री प्रतापसिंह का इस प्रकार है—
वे ही निसि वे ही दिवस, वे ही तिथि वे वार।
वे उद्यम वे ही क्रिया, वे ही विषय-विकार॥
वे ही विषय-विकार, सुनत देखत अरु सूंघत।
वे ही भोजन भोग, जागि सोवत अरु ऊंघत॥
महा निलज यह जीव, भोग में भयो विदेही।
अजहूँ पलटत नाहिं, कढ़त गुण वे के वे ही॥

ऐसा आवरण है कि वे ज्योति से चिपके जाते हैं। आदमी जिन प्राणी-पदार्थों, काम-धन्धों तथा विषय-वासनाओं में पड़कर सैकड़ों और हजारों बार पछताया है, उन्हीं में पुनः डूबता है। इस संसार के हिंडोले में दुख पाते हुए भी जीव इससे सुख की आशा नहीं छोड़ता यही उसकी प्रबल मोहमूढ़ता है।

"रच्यो रहस हिण्डोरवा, निशि चारिउ युग चौमास।" मनुष्य के मन ने यह विषयानंद का ऐसा हिंडोला रचा है जो चारों युग रूपी चौमासे में रात-दिन चलता रहता है। वर्षा के चौमासे में हिंडोला पड़ता है। साहेब कहते हैं कि भवबन्धनों का हिण्डोला सब समय चलता है; क्योंकि इसका चौमासा मानो चारों युग है। युगों की कल्पना के अनुसार सत्युग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग घूम-घूमकर आते रहते हैं। अतएव यहां चारों युग कहने का अर्थ है सब समय। साहेब कहते हैं कि भवबन्धनों का भ्रम-हिण्डोला चारों युग रूपी चौमासे में रात-दिन चलता है। यह अनादिकाल से निरन्तर चलने वाला भ्रम-हिण्डोला जीव को कभी ऊंची योनियों में ले जाता है और कभी नीची योनियों में। यह कभी जीव को आकाश में ले जाता है और कभी भूतल पर ला पटकता है। यह हिण्डोला अत्यन्त भ्रमणशील है। यह कभी जरा भी नहीं ठहरता। वस्तुतः मन का ठहरना ही हिण्डोले का ठहरना है, क्योंकि मन का मोह ही हिण्डोला है। जब तक मन शुद्ध एवं शांत नहीं होगा तब तक भटकाव बन्द नहीं होगा।

"डरपत हौं यह झूलबे को, राखु यादव राय। कहैं कबीर गोपाल बिनती, शरण हरि तुम आय।" कबीर साहेब कहते हैं कि यदुपति गोपाल श्री कृष्ण को हरि मानकर भावुक जीव उनकी शरण में जाकर उनकी वंदना करते हैं कि हे यादवनाथ! हम तुम्हारी शरण में आये हैं। तुम्हारा ही रचा यह संसार-रास तथा भ्रम-हिण्डोला है। तुम्हीं इसको रोककर हमें त्राण दे सकते हो। हमें इस हिण्डोले से उतारो, संसार-सागर से बचाओ।

परन्तु जिन्हें तत्त्वविवेक है, वे समझते हैं कि जीव का भ्रम-हिण्डोला तथा जीव का भव-बंधन जीव से अलग कोई दूसरा नहीं रचा है। जीव ही ने अपने अज्ञान से अपने झूलने के लिए यह भ्रम-हिण्डोला बना रखा है। इसी को ऐसा भी कहा जाता है कि यह हिण्डोला मन का बनाया है। दोनों का सार अर्थ एक है। जीव अपनी अशुद्ध मनोवृत्ति से ही तो अपने लिए भूलवश बंधन बनाता है तथा वही अपनी शुद्ध मनोवृत्ति से उसे तोड़ सकता है। अतएव हम अपने भव-बन्धनों को बनाने के संबंध में स्वयं उत्तरदायी हैं और हमीं उन्हें तोड़ सकते हैं। न किसी दूसरे ने इसे बनाया है और न कोई दूसरा तोड़ सकता है। जैसे मनुष्य ही पान, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट, शराब आदि की आदतें बनाकर उनमें उलझता है और स्वयं ही उन्हें बंधन समझकर तोड़ देता है, वैसे यह मन का भ्रम-हिण्डोला जीव ही ने अपने स्वरूप को भूलकर बना रखा है और वही अपने स्वरूप को समझकर इससे उतर जायेगा।

यहां रास तथा रहस शब्द आये हैं, अतएव लोकधारणानुसार रास के प्रवर्तक

यादव एवं गोपाल शब्द आये हैं जो श्री कृष्ण के लिए प्रयुक्त होते हैं। ये सब प्रतीकात्मक हैं।

वस्तुतः मन ही कृष्ण है, इसी ने इस भ्रम-हिण्डोले का रास रचा है। जीव अपने शुद्ध मन द्वारा ही इसे तोड़ सकता है। अतएव अशुद्ध मनरूपी हरि हिण्डोला रचने वाला है तथा शुद्ध मनरूपी हरि इसे उखाड़ फेंकने वाला है।

विवेकी झूले से अलग हो जाता है

हिण्डोला-3

लोभ मोह के खम्भा दोऊ, मन से रच्यो है हिण्डोर॥ 1॥
झूलहिं जीव जहान जहाँ लगि, कितहुँ न देखों थित ठौर॥ 2॥
चतुर झूलहिं चतुराइया, झूलहिं राजा शेष॥ 3॥
चाँद सूर्य दोउ झूलहीं, उनहुँ न आज्ञा भेष॥ 4॥
लख चौरासी जीव झूलहीं, रविसुत धरिया ध्यान॥ 5॥
कोटि कल्प युग बीतिया, अजहुँ न माने हारि॥ 6॥
धरति अकाश दोउ झूलहीं, झूलहिं पौना नीर॥ 7॥
देह धरे हरि झूलहीं, ठाढ़े देखहिं हंस कबीर॥ 8॥

शब्दार्थ—थित= स्थिति। ठौर= भूमिका। शेष= शेषनाग। रविसुत= यमराज, वासना। हरि= विष्णु, कृष्ण। हंस= विवेकी।

भावार्थ—लोभ और मोह के दो खम्भे गाड़कर मन से भ्रम-सुख का हिण्डोला खड़ा किया गया है॥ 1॥ जहां तक संसार के जीव हैं सब उसमें झूल रहे हैं। किसी को नहीं देखता हूं कि वह स्थिति-भूमिका में स्थिर हो॥ 2॥ चतुर लोग अपनी चतुराई में झूल रहे हैं, राजा अपने राज-मद में झूल रहे हैं और शेषनाग भी इस झूले पर झूल रहे हैं॥ 3॥ चांद और सूर्य, ये दोनों भी संसारचक्र में झूल रहे हैं। ये भी अपने वेष की आज्ञा नहीं टाल रहे हैं। आकाश में रहकर संसार को प्रकाश देना ही इनकी मर्यादा है॥ 4॥ चौरासी लाख योनियों के जीव वासना रूपी यम का ध्यान धारणकर, अर्थात वासना के वश होकर इस भ्रम-हिंडोले में झूल रहे हैं॥ 5॥ संसार के झूले में झूलते-झूलते करोड़ों कल्प और करोड़ों युग बीत गये, किंतु आज भी जीव उससे हार नहीं मानते॥ 6॥ धरती, आकाश, पवन तथा पानी भी झूल रहे हैं॥ 7॥ यहां तक स्वयं विष्णु देह धारण कर इस झूले में झूल रहे हैं। इस झूले को विवेकी-तटस्थ होकर देखते हैं॥ 8॥

व्याख्या—पहले हिण्डोले में भ्रम-हिण्डोला के पाप-पुण्य खम्भे कहे गये थे, इस तीसरे हिण्डोले में लोभ-मोह खम्भे कहे गये। यह केवल कथनशैली का अन्तर है, तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं है। देखे हुए लोक तथा सुने हुए परलोक के भोगों का

लोभ तथा अनुकूल प्राणियों के मोह में फंसकर ही तो जीव का मन भटक रहा है। यह मन ही तो हिण्डोला है और लोभ-मोहादि विकारों के शांत हो जाने पर मन का हिण्डोला शांत हो जाता है।

"झूलहिं जीव जहान जहाँ लगि, कितहुँ न देखों थित ठौर।" जहां तक संसार का विस्तार है और उसमें जितने जीव हैं सब झूल रहे हैं। जो मूर्ख हैं वे तो झूल ही रहे हैं, चतुर कहलाने वाले भी झूल रहे हैं। चतुर लोग अपनी चतुराई में झूल रहे हैं। जो संसार के भोगों में चतुराई दिखाता है वह मन के चक्कर में और झूलता है। राजा और शेष दोनों इस भ्रमचक्र में झूल रहे हैं। वैसे शेष स्वयं राजा थे। इसलिए राजा शेष का विशेषण मानकर भी समझा जा सकता है कि राजा शेषनाग भी इस भ्रम-हिंडोले में झूल रहे हैं। डॉ. रांगेय राघव लिखते हैं—"विष्णु आर्यों का बड़ा देवता है। नागजाति में प्रसिद्ध शेषनाग उनका पहला राजा था जो विष्णु का मित्र था। शेष के बाद वासुकि राजा था, वह देवों का मित्र था।"[1]

"चाँद सूर्य दोउ झूलहीं, उनहुँ न आज्ञा भेष।" चांद तथा सूर्य जड़पिंड हैं। इनका अपना वेष, अपनी मर्यादा है विश्व को प्रकाश देना। ये अपने नियमों का उल्लंघन न करते हुए निरन्तर प्रकृतिक्षेत्र में झूल रहे हैं। इसी प्रकार सद्‌गुरु धरती, आकाश, पवन, पानी कहकर प्रकृति-समुच्चय का मानो नाम ले लेते हैं और कहते हैं कि ये सब झूल रहे हैं। यह ध्यान रखना चाहिए कि जड़प्रकृति तथा उसके स्थूलपिंड अपने स्वाभाविक क्रियाओं से निरन्तर गति कर रहे हैं। उनमें न मन है, न चेतना तथा न काम, क्रोधादि। इसलिए उनका निरन्तर चक्कर काटना उनके लिए कोई दुख उत्पन्न करने वाला नहीं है। आदमी या अन्य प्राणी दौड़ते हैं तब वे थक जाते हैं, परेशान होते हैं, परन्तु हवा एवं पानी की धारा दौड़ती है तो उन्हें कोई परेशानी नहीं; क्योंकि जहां से सुख-दुखों की उत्पत्ति होती है वह चेतना है, और वह उनमें है नहीं। जीव के चक्कर काटने के साथ सद्‌गुरु ने चांद, सूरज, पवन, पानी, पृथ्वी आदि को भी गिनाकर यह बता दिया कि चेतन के साथ जड़प्रकृति भी निरन्तर गतिशील है। जड़ की गतिशीलता स्वभावसिद्ध है। वह कभी स्थिर नहीं हो सकता। उसे अपनी गति में कोई हैरानी भी नहीं है, किन्तु चेतन की गतिशीलता वासनावश है, इसलिए उसे हैरानी है। जड़ स्वभाव से गतिशील है इसलिए वह रुक नहीं सकता, किन्तु चेतन वासनावश गतिशील है इसलिए वह वासना त्यागकर स्थिर एवं अपने स्वरूप में शांत हो सकता है।

सद्‌गुरु कहते हैं कि जीव नाना योनियों में रविसुत का ध्यान धारणकर झूल रहे हैं। पौराणिक कथानुसार यमराज रवि के पुत्र हैं। यह तो प्रतीक मात्र है। वस्तुतः मन की वासनाएं ही यमराज हैं। इन्हीं वासनाओं को अपने ध्यान में रखकर जीव भटक

---

1. महायात्रा गाथा, भाग 1, अध्याय 2, पृ. 61।

रहा है। यदि वासनाएं छोड़ दे तो वह कृतार्थ हो जायेगा।

साहेब कहते हैं "कोटि कल्प युग बीतिया, अजहुँ न माने हारि।" कोटि कल्प युग का अर्थ अनादिकाल है। अनादिकाल का समय बीत गया है किन्तु जीव आज भी इस झूले से हार नहीं मानता। संसार के झूले में जीव अनादिकाल से संकट सहता आ रहा है, परन्तु वह उससे थकता नहीं है। संसार के विषयों में सारे दुख भोगते हुए भी उनसे उसे घृणा नहीं हो रही है। जिसे घृणा हो जाती है वह सबसे विरक्त हो जाता है। विरक्ति ही झूले से छूटने का तरीका है।

"देह धरे हरि झूलहीं, ठाढ़े देखहिं हंस कबीर।" साहेब कहते हैं कि लोग विष्णु को या राम-कृष्णादि को ब्रह्म मानते हैं, किन्तु वे भी देह धारणकर झूल रहे हैं। देह में ही नहीं, किन्तु सांसारिक वासनाओं में भी झूल रहे हैं। इसे केवल विवेकी साक्षी बनकर देखते हैं।

"ठाढ़े देखहिं हंस कबीर" में यह प्रश्न हो सकता है कि 'भ्रम-हिण्डोले' पर झूलते हुए सब जीवों को देखने वाले हंस या विवेकी पुरुष भी शरीर धारणकर ही देखते हैं, फिर शरीरधारी होने से वे भी उसी हिण्डोले पर सिद्ध हुए? उत्तर में समझना चाहिए कि आज तक तो वे भी इस झूले पर अवश्य थे, परन्तु अब उन्हें ज्ञान हो गया है। वे खानी-वाणी के सुख-भ्रम-हिण्डोले की दुखरूपता को समझ लिये हैं और उससे रहित हो गये हैं। परन्तु पूर्वजन्मों के प्रारब्ध कर्मवश स्थूल शरीर है। उसका निर्वाह आसक्ति-रहित होकर कर रहे हैं। जैसे बीज भून देने पर पुनः अंकुर नहीं फूटते, इसी प्रकार स्वरूपज्ञान तथा वैराग्यादि समस्त हंसगुण से चलकर सर्वासक्ति मिटा देने पर पुनः जीव संसार के जन्मादि चक्कर में नहीं आता। अतएव विवेकी पुरुष 'भ्रम-सुख-हिण्डोला' से उतरकर स्व-स्वरूप चेतन में स्थित हैं। वे शरीर रहे तक संसार-हिण्डोला के द्रष्टा रहकर उससे सुज्ञ जीवों को उतारकर स्वरूपस्थिति राज्य देते हैं।

सामान्य मनुष्य ज्ञानी पुरुषों को भी अपने सदृश खाते-पीते, सोते-जागते देखता है। तब वह सोचता है हमारे और इनमें क्या अन्तर है! परन्तु ज्ञानी के अन्तस्तल की उच्चस्थिति सामान्य मनुष्य क्या समझ सकता है! इस संसार-रहंटचक्र को ज्ञानी दुखों से पूर्ण देखता है। वह लोकहित की दृष्टि से शुभकर्म करते हुए भी उसमें आसक्त नहीं होता और अशुभ कर्म तो उससे होते ही नहीं। प्राणी, पदार्थ, अवस्था, परिस्थिति तथा पांचों विषयजगत के संस्कार ही जीव को बारम्बार जन्म-मरण में घुमाते हैं, इस रहस्य को भली-भांति समझकर विवेकी इनसे विरक्त रहता है।

जिसने समस्त दृश्य का राग अर्थात मोह छोड़ दिया है, जो अनुकूल-प्रतिकूल की आसक्ति और द्वेष में नहीं फंसता, जो अनुद्वेग तथा क्रोधरहित है, जो मन, वाणी, कर्म से गुप्त-प्रकट काम पर पूर्णरूपेण विजयी है, जो समता, शीतलता, दयालुता, मानवता से पूर्ण है, जिसका मन किसी पदार्थ में फंसा हुआ नहीं है, जिसका चित्त निर्मल है, जो

अपना कहे जाने वाले शरीर की ममता को छोड़ चुका है, जो जीवन तथा उसके सारे वैभव को तृणवत समझता है, जो अपने स्वरूप राम में ही निरन्तर रमण करने वाला है, वह शरीर में स्थित हुआ भी मानो अशरीर ही है। अन्यों की भांति खाते-पीते, सोते-जागते दिखते हुए भी उसकी मानसिक स्थिति बड़ी उच्च होती है।

ज्ञानी समझता है कि जिन प्राणी-पदार्थों के प्रति हमारे मन में आज महान आकर्षण है, उनका वियोग निश्चित है। उस वियोगकाल को बीत गये कभी हजारों, लाखों और करोड़ों वर्ष तथा कल्पों हो जायेंगे, फिर इन सब में क्या रखा है! अतएव अपने से भिन्न समस्त दृश्यों को विवेक से पृथक कर ज्ञानी अपने आप में ही रमण करता है। इसलिए वह लोकदृष्टि में संसार-शरीर में रहते हुए भी वास्तव में—ज्ञान की स्थिति में—उससे सर्वथा पृथक है।

ज्ञानी पुरुष संसार की अवहेलना नहीं करता और न उसका दुरुपयोग ही करता है। वह तो उसके साथ सुन्दर बरताव करता है। जो भोगों का त्यागी है उसी का बरताव दूसरों के लिए उज्ज्वल हो सकता है, क्योंकि वह निस्स्वार्थी होता है। अतः ज्ञानियों तथा सच्चे सन्तों द्वारा समाज का बहुत बड़ा कल्याण होता है। भौतिकता की चरमोन्नति के शिखर पर पहुंच जाने पर भी आत्मशांति नहीं मिलती। उसके लिए तो सन्तों द्वारा निर्दिष्ट अन्तर्मुख साधना ही है। प्रमादवश इसकी कोई अवहेलना भले करे, किन्तु इसका अपलाप असम्भव है।

सारांश यह है कि स्थितिवान-ज्ञानी पुरुष समाज का कल्याण करते हुए तथा अपना शरीर-निर्वाह लेते हुए निरन्तर ऐसी अतीन्द्रिय अवस्था एवं दिव्य स्थिति में रहते हैं जिसका विवरण जिह्वा नहीं दे सकती, साधना कर और उस अवस्था को प्राप्त करके अनुभव किया जा सकता है। कारावास में बन्दी-अपराधी भी रहता है और उसमें शिक्षक तथा डॉक्टर भी रहते हैं। परन्तु बन्दी पराधीन है और शिक्षक तथा डॉक्टर स्वतन्त्र हैं। इसी प्रकार संसार-शरीर में ज्ञानी-अज्ञानी दोनों रहते हैं, किन्तु ज्ञानी आसक्ति-विरहित मुक्तात्मा है और अज्ञानी आसक्ति में, विषय में आबद्ध है।

जिस 'भ्रम-सुख-हिण्डोले' पर बैठकर जीव अनादिकाल से जन्म-मरण में झूल रहा है, उस दुखमय हिण्डोले का परिचय देकर सद्गुरु ने उससे हंसों को छुड़ाया। अब स्वरूपस्थिति की रहनी धारण करने के लिए अगला विस्तृत साखी प्रकरण कहते हैं।

फल छन्द

सुनि पुकार दयालु के,
कुछ ध्यान आया जीव के।
सत्ता समेटा वेगि के,
लहि शान्त सत्य सुशीव के॥
मनदृढ़ विवेक-विराग के,
गुरु-भक्ति शुभ मग लीव के।
निज पर्ख अविचल धाम के,
विश्राम निर्भय धीव के॥

चौपाई

को है झूलत कौन है हेतू।
सो परखाय करायो चेतू॥
चेतन स्वतः शान्त ह्वै केतू।
धन्य-धन्य गुरु महिमा लेतू॥

साखी

हेतु छन्द

सत्य साक्षी कौन है,
सब थापता सो कौन है?
अनुमान औ परत्यक्ष किसको,
भासता वह कौन है?॥
साखी गवाही करि प्रमाणित,
पन्थ नाना गौन है।
इस हेतु साखी बैन से,
भ्रम-भूल हनि गुरु तौन है॥

दोहा

साक्ष्य-भास सब दुर लखे, तन-मन दुख लखि त्याग।
दुख त्यागक द्रष्टा परख, साक्षी लक्ष्य स्व पाग॥

सद्गुरवे नमः

बीजक

(पारख-प्रबोधिनी व्याख्या-सहित)

एकादश प्रकरण : साखी

मानव जीवन एवं मन का महत्त्व

साखी

जहिया जन्म मुक्ता हता, तहिया हता न कोय।
छठी तुम्हारी हौं जगा, तू कहाँ चला बिगोय॥ 1॥

शब्दार्थ—जहिया= जब। जन्म मुक्ता= मुक्त जन्म, स्वतन्त्र नरजन्म। हता न कोय= अन्य तीन खानियों के विवशताकृत बंधन नहीं थे। छठी= मन। हौं= अहंकार।

भावार्थ—जब-जब जीव स्वतन्त्र नरजन्म में था या वर्तमान में है, तब-तब मानवेतर अन्य तीन खानियों के विवशताकृत बंधन नहीं थे और न आज हैं। परन्तु हे जीव! तू मन में अहंकार जागृतकर और अपने आप को खोकर कहां जा रहा है?॥ 1॥

व्याख्या—'जहिया जन्म मुक्ता हता' का तात्पर्य 'जब जीव मुक्त था' करना योग्य नहीं। क्योंकि मूल पद में 'जहिया जीव मुक्ता हता' नहीं है, बल्कि 'जन्म मुक्ता' है। जन्म से नरजन्म का अभिप्राय है और मुक्ता से स्वतन्त्र। अर्थात मनुष्य-जन्म स्वतन्त्र साधन करने का क्षेत्र है और अन्य तीन खानियों की विवशताओं से रहित है। यदि जीव अन्य तीन खानियों में होता, तो कल्याण-साधना नहीं कर सकता। इसके लिए मनुष्य-शरीर ही योग्य है।

मनुष्य और मनुष्येतर खानियों में जो अन्तर है, वह स्पष्ट है। मनुष्य में मन की विशेषता है तथा अन्य खानियों के देहधारियों में शरीर-इंद्रियों की विशेषता है। वैसे सभी खानियों के जीवों के पास देह, इंद्रिय तथा मन हैं। परन्तु मानवेतर खानियों में देह-इंद्रिय की विशेषता है। मछली, हाथी आदि के समान मनुष्य भारी-भरकम नहीं होता। पक्षी के समान मनुष्य उड़ नहीं सकता। चींटी के समान दूर तक सूंघ नहीं सकता। गिद्ध के समान दूर तक देख नहीं सकता। घोड़े और नीलगाय के समान तेज दौड़ नहीं सकता। गधे-खच्चर के समान बोझा ढो नहीं सकता। पशु के बच्चे के समान जन्मते ही तैर नहीं सकता। पशु, पक्षी और कीड़े बिना सिखाये जैसे अपनी

स्वाभाविक कला में निपुण होते हैं, जैसे बया पक्षी का घोंसला बनाना, मधुमक्खियों का मधुरस इकट्ठा करना आदि, वैसे मनुष्य बिना सिखाये कोई कला का ज्ञाता हो नहीं सकता। इस प्रकार मानवेतर खानियों के जीवों में शरीर और इंद्रियों की विशेषता होती है।

मानव में मन की विशेषता है। 'मननात् मनुष्यः' मनन तथा विवेक करने के कारण ही मानव मनुष्य है। मानवेतर खानियों में मनन एवं विवेक नहीं है। यद्यपि वहां भी मन है। वे मन से अपने जीवन की मुख्य घटनाओं को याद रखते हैं। जैसे पशु दिन भर जंगल में चरते हैं, परन्तु शाम को अपने रहने के घर में आकर अपने खूंटे पर खड़े हो जाते हैं। पक्षी शाम को अपने घोंसले में आ जाते हैं तथा चींटियां अपने बिल में आ जाती हैं। मानवेतर प्राणी भी अपने जीवन–गुजर की क्रिया कर लेते हैं। मानव उनमें से कुछ ही देहधारियों को कुछ कला सिखा सकता है। परन्तु विशेष कला, विशेष ज्ञान उन्हें नहीं सिखाया जा सकता। जड़–चेतन, बन्ध–मोक्ष का भेद आदि उन्हें कुछ नहीं सिखाया जा सकता।

मानवेतर खानियों में प्राकृतिक संयम है। ज्ञान देकर उन्हें पूर्ण संयमी नहीं बनाया जा सकता। अधम कुत्ते भी केवल कार्तिक में कामांध होते हैं। अन्य महीनों में संयमी होते हैं। कितने ही पशु–पक्षी वार्षिक, छमाही, तिमाही आदि अपनी प्राकृतिक अवधि में ही नर–मादा संयोग करते हैं और प्रजनन करते हैं। परन्तु मनुष्य में यदि ज्ञान न हो तो वह हर समय कामी बना रहता है। उसमें प्रकृति की तरफ से संयम है ही नहीं। परन्तु मानवेतर प्राणी शिक्षा से ब्रह्मचारी नहीं बन सकते और मनुष्य शिक्षा एवं ज्ञान पाकर अखंड ब्रह्मचारी बन जाता है। मानवेतर प्राणियों में मन का जितना प्राकृतिक विकास है, बस उतना ही रहता है। उनमें शिक्षा से कोई ज्यादा विकास की संभावना नहीं है; किन्तु मनुष्य में शिक्षा द्वारा मन के विकास का विशाल क्षेत्र है। मनुष्य के मन में ज्ञान की अनन्त संभावनाएं हैं। अतएव मानव की विशेषता उसके विकासशील मन से है।

यह भी सच है कि मानवेतर प्राणियों में विकासशील मन न होने से वे ज्यादा दुखी नहीं रहते। एक पशु के सामने चारा डाल दो, वह उसे खायेगा। जब पेट भर जायेगा तब वह चिन्ता नहीं करेगा कि बचे हुए चारे को सुरक्षित रखूं और इसे कल खाऊंगा। वह उसी चारे पर टट्टी–पेशाब कर देगा। उसी पर बैठ जायेगा। कल क्या खाऊंगा, इसकी उसे चिन्ता नहीं है। किन्तु मनुष्य सालभर के खाने की वस्तु घर में सुरक्षित रखकर भी चिन्ता करता है कि आगे क्या खाऊंगा! एक बूढ़ा बैल शायद यह नहीं सोचता होगा कि मैं जवान हो जाऊं; परन्तु एक बूढ़ा आदमी सोचता है कि मैं जवान हो जाता, तो कितना अच्छा होता! मन की उलझनों के कारण इस संसार में केवल मनुष्य पागल होता है। घोड़ा, गधा, बैल आदि मानवेतर प्राणियों को आपने कभी पागल होते नहीं देखा होगा। हां, खोपड़ी में कीड़े पड़ने पर कुत्ते तथा मद चढ़ने

पर हाथी पागल हो जाते हैं, परन्तु ये दोनों ही भौतिक कारण से पागल होते हैं, मन की उलझन से नहीं। मन की उलझन से केवल मनुष्य पागल होता है। जो मनुष्य खुले रूप में पागल हो जाते हैं और गाली देते, अपने कपड़े फाड़ते तथा अंट-संट क्रिया करते घूमते हैं, वे तो पागल हैं ही। जो ऐसे नहीं होते हैं, स्वस्थ और सभ्य दिखते हैं, वे भी भीतर-भीतर पागल होते हैं। यदि एक बूढ़ा कहता हो कि मैं बाईस वर्ष का नौजवान हूं, एक दरिद्र अपनी टूटी झोपड़ी में बैठा यदि कहता हो कि मैं करोड़पति हूं, तो आप यही तो कहेंगे कि ये पागल हैं। यदि ऊपर से स्वस्थ और सभ्य लोगों के मन में भी ऐसी भावनाएं उठती रहती हैं, तो लोग पागल ही हैं। फरक यही है कि ये सभ्य पागल हैं। इस प्रकार जो मानव खुले रूप में पागल हैं वे तो पागल हैं ही, शेष भीतर-भीतर पागल हैं।

इसका कारण है मनुष्य के पास विकासशील मन का होना। मनुष्य का मन इतना अधिक सोचने की क्षमता रखता है कि यदि उसे ज्ञानपूर्वक नहीं रखा जाये, तो वह मनुष्य को पागल बनायेगा ही; परन्तु यदि उसे ज्ञानपूर्वक रखा जाये तो वह अपने तथा दूसरे के कल्याण का कारण बन जायेगा।

एक बार हम काशी-वास में थे। वहां पुस्तकें छप रहीं थीं। हम एक पुस्तक खरीदने के लिए चौक में गये। वहां न मिली। ज्ञानवापी पर गये। एक पुस्तकालय पर खड़े हुए। दुकानदार कोई पचास वर्ष की उम्र का मल्ल प्रौढ़ शरीर का मस्तमौला आदमी था। उसने हमसे छूटते ही कहा—"महाराज, यदि कहीं ईश्वर-विश्वर होता हो, तो उससे कह दीजियेगा कि मुझे अगला जन्म मनुष्य का न दे। वह मुझे बैल, कुत्ता, घोड़ा, पक्षी कुछ भी बना दे, किन्तु मनुष्य न बनाये। बैल होता तो जैसे टट्टी की हाजत लगती, तुरन्त दस सेकेंड में वहीं टट्टी कर देता। दुर्भाग्य से मनुष्य हूं। जब टट्टी लगती है तब गमछा, साबुन, लोटा लेकर टट्टी घर और बाथरूम में जाना पड़ता है। आधा घण्टा लग जाता है। महाराज, आप पुस्तक खरीदने के चक्कर में यहां भटक रहे हैं।"

मुझे उसकी बातों पर हंसी आ गयी। उसकी बातों में भी सार था। पशु मनुष्य से ज्यादा निश्चिंत होता है। परन्तु उसमें संभावनाएं कुछ भी नहीं हैं। मनुष्य में बड़ी संभावनाएं हैं। मानवेतर प्राणियों का मन विकासशील न होने से वे विवश हैं। मनुष्य का मन विकासशील होने से वह सोचने में स्वतन्त्र है। यदि मनुष्य विवेकपूर्वक सोचे तो उसे अपने बन्धनों को खोलने में स्वतंत्रता है। यदि वह अविवेकपूर्वक सोचता है, तो अपने को अधिक बांध लेता है। जिसके पास शक्ति है, वह उसका सदुपयोग करे तो वह अपने तथा दूसरे के लिए कल्याणप्रद हो जायेगी और यदि दुरुपयोग करे, तो अकल्याण करने वाली हो जायेगी।

"जहिया जन्म मुक्ता हता, तहिया हता न कोय" यह मानवीय स्वतंत्रतापरिचायक महामंत्र है। जीव जब-जब मानव-शरीर में रहता है, तब-तब उसके पास मानसिक

विवशता का कोई बंधन नहीं रहता। त्याग से ही बन्धन कटते हैं और त्याग करने में मनुष्य सर्वथा स्वतंत्र है। बाहर के प्राणी, पदार्थ, स्थान का त्याग मनुष्य जब चाहे कर सकता है और भीतर के काम, क्रोध, लोभ, मोह, देहाभिमान आदि का त्याग भी जब चाहे कर सकता है। अतएव मानव अपना कल्याण करने में सर्वथा स्वतन्त्र है।

"छठी तुम्हारी हौं जगा" छठे में तुम्हें अहंकार जगा। आंख, नाक, कान, जीभ तथा त्वचा ये पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं। इन पांचों ज्ञानेन्द्रियों के ऊपर छठां मन है। बीजक में जहां कहीं भी छठां[1] कहा गया है, वहां प्रायः मन का अभिप्राय है। हम बाहरी पांच विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध को क्रमशः कान, त्वचा, आंख, जीभ तथा नाक इन पांचों ज्ञानेन्द्रियों से जानते हैं। परन्तु भीतर सुख-दुख आदि का ज्ञान मन से होता है। इसलिए बाह्य पांच ज्ञानेन्द्रियों के बाद भीतर एक मन भी इंद्रिय है। हम पांचों ज्ञानेन्द्रियों को बाह्यकरण कहते हैं और भीतर ज्ञान के साधन को अन्तःकरण कहते हैं। करण कहते हैं ज्ञान के साधन को। बाह्यकरण पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं तथा अन्तःकरण मन है। अतएव मन पांच ज्ञानेन्द्रियों के ऊपर छठां है।

सद्गुरु कहते हैं मन बहुत काम की चीज है। विकासशील मन ही तो मनुष्य के जीवन में प्रमुख स्थान रखता है। उसी को विवेकपूर्ण बनाकर जीव का कल्याण होता है। दुर्भाग्य यह है कि उसी मन में मनुष्य को अहंकार जगता है। जो मन विनम्र और विशुद्ध बनकर मनुष्य के कल्याण में साधन बनता है, वही मन जब अहंकार से भर जाता है, तब गंदा बनकर मनुष्य के कल्याण का शत्रु बन जाता है। सद्गुरु कहते हैं "तू कहाँ चला बिगोय।" मन में अहंकार भरकर तू अपने को कहां खो चला!

बाह्य प्राणी, पदार्थों, नाम, रूपों एवं विविध कल्पनाओं का अहंकार मन में भर लेना, यही बन्धन है, और इन सारे अहंकारों को मन से निकालकर उसे खाली कर लेना, शुद्ध कर लेना, यही मोक्ष है।

सद्गुरु कहते हैं कि हे जीव! तू स्वतन्त्र मानव-जन्म पाया, अद्भुत शक्तिसम्पन्न विकासशील मन पाया; परन्तु तू उससे कल्याण का काम न करके, उलटे मन में संसारी अहंकार भरकर अपने को खो रहा है। अभी भी जाग।

छठों का अर्थ हंस-भूमिका भी किया जाता है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, ज्ञानमय एवं आनंदमय—इन पांच कोशों के ऊपर हंस-भूमिका है। इनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है—

1. अन्नमयकोश—अन्न से सुरक्षित रहने वाला इन्द्रियों का समूह शरीर अन्नमयकोश कहलाता है।

---

1. छठयें माँ सब गयल बिगोई॥ रमैनी 37॥
छठयें माह दरश सो पावै॥ रमैनी 52॥
छप्पर बाँचे घर जरे साखी॥ 68॥

2. प्राणमयकोश—अपान, समान, व्यान, उदान और प्राण इन पांच प्राणों का समूह, जो स्थूल देह-इन्द्रियों को सत्ता देता है।

3. मनोमयकोश—सब स्मृतियों (यादगीरियों) का जो केन्द्र मन है, और प्राणमयकोश को सत्ता देता है।

4. ज्ञानमयकोश—सत्य-असत्य निर्णय करने का साधन जो बुद्धि है, और मन को सत्ता देती है।

5. आनंदमयकोश—अहंकारजनित आनंद का समूह जो बुद्धि को सत्ता देता है।

उक्त पांचों कोश जीव के ऊपर आवरण हैं। इनकी वासना हंस-भूमिका में कटती है। मनुष्य के हृदय में जो मानवता, सद्गुण एवं विवेक-भूमिका है उसे हंस-भूमिका कहते हैं। हंस-भूमिका के संक्षिप्त लक्षण हैं—दया, शील, सत्य, धैर्य, विचार, स्वरूपज्ञान, वैराग्य और गुरुभक्ति। इसके अतिरिक्त अद्रोही, समता, मित्रजीव, अभय, अद्रुतनयन, क्षुधानिवारण, प्रियवचन, शांतिबुद्धि, पारखप्रत्यक्ष, सर्वसुखप्रकट, निर्णय, निर्विंद, प्रकाश, स्थिर, क्षमा, मिथ्यात्याग, सत्यग्रहण, निस्संदेह, साधुसेवन, हंतानिरसन, अस्ति-नास्तिपद निर्णय, यथार्थशुद्ध व्यवहार, यथार्थ पारख (विवेक) टकसार, बोध हेतु वेदादि वाणियों का ग्रहण।[1] यह सब हंस-भूमिका या हंस-देह के लक्षण हैं। इसको दैवीसंपदा, साधु संपत्ति एवं सद्गुणसमूह कह सकते हैं।

इस विवरण के अनुसार "छठी तुम्हारी हौं जगा" का अर्थ होगा कि हे जीव! तुम्हारी कल्याण करने की भूमिका तो छठीं हंसदशा है। तू उसे छोड़कर कहां माया में बहा जा रहा है।

छठीं का अर्थ जीव भी किया जा सकता है। धनौती कबीर मठ की बीजकटीका गुरुगमबूझ में यह बात जगह-जगह आयी है कि पांच तत्त्व छठम जीव। पांच तत्त्वों, पांच विषयों के ऊपर छठा जीव है। अतएव हे साधक "छठीं तुम्हारी' अर्थात तुम्हारी स्थिति तो पांच तत्त्व एवं पांच विषयों से रहित छठे जीव में है। अर्थात तेरी स्थिति तेरे अपने चेतनस्वरूप में है। तू अपनी स्वरूपस्थिति छोड़कर कहां भटका जा रहा है!

शब्दों की महत्ता और उनका मूल्यांकन

शब्द हमारा तू शब्द का, सुनि मति जाहु सरक।
जो चाहो निज तत्त्व को, तो शब्दहि लेह परख॥ 2॥

शब्दार्थ—शब्द= सारशब्द, निर्णय वचन। सरक= खिसक, पतित। निजतत्त्व= अपना मूल स्वरूप चेतन।

भावार्थ—हे मानव! जो हमारे निर्णय वचन हैं, तुम उनके अधिकारी हो, परन्तु

1. पंचग्रन्थी, गुरुबोध, प्रश्न 5।

उन्हें सुनकर खिसक न जाओ, प्रत्युत उनका आचरण करो। तुम यदि अपने मूल स्वरूप का बोध चाहते हो, तो सार-असार शब्दों की परख करो॥ 2॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर की वाणियां तथा उपदेश देश, जाति, संप्रदाय की संकुचित भावनाओं से परे, निष्पक्ष, सार्वभौमिक एवं यथार्थ-दर्शक हैं। अतः मानव मात्र उनका अधिकारी है। वे कुछ ऐसा कर्मकांड नहीं बता रहे हैं जिसे कोई एक समुदाय ही मान सके। उनकी सारी वाणियां, उनकी सारी शिक्षाएं जन-जन के लिए महौषधि हैं।

"शब्द हमारा तू शब्द का" यह वाक्यांश ध्यान देने योग्य है। 'जो हमारे शब्द हैं तू उनका अधिकारी है।' यहां शब्द से अर्थ उपदेश एवं विचार हैं। कबीर साहेब के द्वारा दिये गये उपदेश केवल उन्हीं के नहीं हैं, किन्तु मानो पूरी सत्ता द्वारा दिये गये उपदेश हैं। क्योंकि वे परम सत्य हैं। इसलिए उनके उपदेशों का मानव मात्र अधिकारी है। जो परम सत्य होता है वह सबका अपना होता है। हवा, पानी, आकाश, सूरज आदि सबके हैं। इसी प्रकार यथार्थ निर्णय सबके हैं।

"सुनि मति जाहु सरक।" यह वाक्यांश कहकर सद्गुरु अपने श्रोताओं को झकझोर देते हैं। संसार में श्रोताजन अधिकतम उपदेशों की यही दशा करते हैं। वे सुनते हैं, परन्तु सुनकर और उन्हें वहीं छोड़कर खिसक जाते हैं। वे प्रायः उनका आचरण नहीं करना चाहते। क्योंकि आचरण करने में त्याग की आवश्यकता होती है। हर मनुष्य कम-ज्यादा मात्रा में विषयासक्त है। विषयासक्ति त्याग मार्ग में बाधक है। इसको जीते बिना कोई न त्याग मार्ग में आगे बढ़ सकता है, न धर्म और अध्यात्म के उपदेशों का आचरण कर सकता है। विषयासक्ति का अर्थ केवल काम-भोग न लेना चाहिए, किन्तु मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदि का मोह भी है। दृश्यमात्र का मोह विषयासक्ति है। भोजन के गुणों का केवल वर्णन करने से तृप्ति नहीं होगी, किन्तु उसे पकाकर खाने से तृप्ति होगी। इसी प्रकार केवल उपदेश सुनना पर्याप्त नहीं है; किन्तु उसके आचरण करने से जीवन में संतोष मिलेगा।

"जो चाहो निज तत्त्व को, तो शब्दहि लेहु परख।" 'निज तत्त्व' बड़ा महत्त्वपूर्ण शब्द है। तत्त्व कहते हैं वास्तविकता, सार एवं स्वरूप को। संसार में मुख्य दो तत्त्व हैं 'निजतत्त्व' तथा 'परतत्त्व'। 'परतत्त्व' जड़ दृश्य है जो पांच विषयरूप है। 'निजतत्त्व' 'मैं' के रूप में विद्यमान चेतन है जो अपना स्वरूप है, सार है, वास्तविकता है। मनुष्य परतत्त्व-जड़-विषयों में रात-दिन बहता है। उसे निजतत्त्व का भान ही नहीं है। सारे क्लेशों की जड़ यही है। जिसे अपने धन का पता न हो, वह घूर पर एवं कचड़े में दाने ही तो बीनेगा! स्वरूपज्ञान बिना लोग कचड़े में दाने बीन रहे हैं। वे क्षणभंगुर जड़ दृश्य विषयों में आनन्द खोज रहे हैं। बाहर की चाहे जितनी चीजें मिलें, वे एक दिन छूट जायेंगी, परन्तु 'निजतत्त्व' निज से कभी अलग हो ही नहीं सकता। मेरी अपनी आत्मा, मेरा अपना चेतनस्वरूप, मेरा अपना निजतत्त्व है। विवेकी पारखी संतों के

सत्संग में इसको ठीक से समझना चाहिए और समझकर निजतत्त्व में स्थित होना चाहिए।

सद्गुरु कहते हैं कि निजतत्त्व का ज्ञान एवं निजतत्त्व में स्थिति चाहते हो "तो शब्दहि लेहु परख।" संसार में अध्यात्म के नाम पर अपार शब्दों की गूंज है। वे सभी शब्द 'निजतत्त्व' के सच्चे परिचायक नहीं हैं। अध्यात्म के नाम पर ऐसे-ऐसे शब्द हैं जो मनुष्य को 'निजतत्त्व' से दूर ले जाकर पटक देते हैं। संसार में ज्यादा धार्मिक एवं आध्यात्मिक लोग तो 'निजतत्त्व' के होशहवास में नहीं हैं। वे अपने लक्ष्य को सदैव अपने से बाहर ही खोजते रहते हैं। इसलिए उनके द्वारा उच्चरित वाणियां भी इतनी विशाल हैं कि नये जिज्ञासु उन्हीं में भटकते रहते हैं।

सद्गुरु कबीर परम पारखी हैं। वे कहते हैं कि यदि तुम निजतत्त्व चाहते हो तो शब्दों की परख करो। कौन-सा शब्द निर्णयपूर्ण एवं सार है और कौन-सा शब्द भ्रांतिपूर्ण एवं असार है, इसकी परख बिना रास्ता नहीं मिलेगा। महापुरुष, शास्त्र एवं विशाल जनसमुदाय जो कहता है वह सच है—इस धारणा का मोह छोड़ना पड़ेगा। बड़े पुरुष, शास्त्र एवं विशाल जनसमुदाय सब आदरणीय है; परन्तु सबकी बातों पर विचारकर तब उनका ग्रहण अथवा त्याग करना उचित है।

उलझनभरी वाणियों का परिचय देते हुए श्री तुलसीदास जी भी कहते हैं— "रोचक, भयानक तथा यथार्थ तीन प्रकार के शब्द हैं। वर (श्रेष्ठ-विधि योग्य), विघटन (खण्डन योग्य) दोनों प्रकार के शब्द केश के लट के समान एक में लिपटे हैं। बंधनों के कारणरूप अविरल (सघन) वाणी का अल (पसारा) होने से अयुक्त वाणीरूप पानी को पीकर अज्ञानी जीव भूले हैं।"

त्रिविधि भाँति के शब्द वर, विघटन लट परमान।
कारन अविरल अलपियत, तुलसी अविध भुलान॥ सतसई॥

इसलिए पारखी सन्तों की संगत करो, स्वयं पारखी बनो और परखकर सार-सत्य को मानो, असत्य को छोड़ो। 'निजतत्त्व' एवं अपना चेतनस्वरूप ही अपनी वास्तविकता है। इसे सत्संग-विवेक से ठीक से जानकर, इसी में स्थित होओ।

शब्द हमारा आदि का, शब्दै पैठा जीव।
फूल रहन की टोकरी, घोरे खाया घीव॥ 3॥

शब्दार्थ—आदि= मूल, मुख्य, सत्य। घोरे= घोर, मट्ठा, छांछ, कल्पित वाणी। घीव= घी।

भावार्थ—हमारे निर्णय शब्द जीव के मूल स्वरूप के परिचायक हैं। परन्तु जीव भ्रामक शब्दों में घुसा पड़ा है। मानव-शरीर तो सारशब्द रूपी फूल रखने की टोकरी है। जैसे घी मट्ठा में पड़ा रहने से खराब हो जाता है, वैसे जीव भ्रामक शब्दों में पड़ा रहने से पतित हो जाता है॥ 3॥

व्याख्या—"शब्द हमारा आदि का" इस साखी का प्रथम चतुर्थांश है। इसमें

आया हुआ 'आदि' बहुत महत्त्वपूर्ण है। 'आदि' के दो मुख्य अर्थ होते हैं, एक 'मूल' तथा दूसरा 'आरम्भ'। 'मूल' अर्थ वस्तु की वास्तविकता का परिचायक है और 'आरम्भ' शब्द किसी कालखण्ड में शुरू होने वाली गतिविधि का परिचायक है। इस साखी में आदि का अर्थ मूल है। इसके पूर्व की साखी में सद्गुरु 'निजतत्त्व' बता आये हैं। वही निजतत्त्व यहां आदि है, मूल है। सद्गुरु कहते हैं कि हमारे उपदेश मूलस्वरूप एवं निजतत्त्व के परिचय देने वाले हैं। आपने 37वीं रमैनी की साखी में भी कहा है कि बीजक गुप्त धन को बताता है, वैसे मेरे बीजक-शब्द शरीर में गुप्त जीव के स्वरूप को बताते हैं। अतएव सद्गुरु कबीर के सारे उपदेश स्वरूपज्ञान के लिए हैं।

"शब्दै पैठा जीव" यद्यपि मनुष्यजीव शब्दों की कुंडली एवं परिमंडल में सदैव घुसा पड़ा है; परन्तु वह निर्णय शब्दों से दूर है। वह सदैव सार तथा असार मिश्रित शब्दों में पड़ा है। मानव के भीतर-बाहर सदैव शब्द ही गूंजते हैं। नाना प्रकार के शब्दों से ही राग-द्वेष, हर्ष-शोक, हानि-लाभ, शत्रु-मित्र, देवी-देवता, भूत-प्रेत, शकुन-अपशकुन आदि की कल्पनाएं खड़ी होती हैं और जीव उन्हीं में उलझता है।

मनुष्य को मन-शक्ति के बाद दूसरी शब्द-शक्ति प्राप्त है। शब्दों में अपने मन के भावों को व्यक्त करना तथा दूसरे के व्यक्त भावों को उसके शब्दों द्वारा सुनना एवं समझना—यह मानव प्राणी की महान उपलब्धि है। जैसे इस प्रकरण की पहली साखी की व्याख्या में बताया गया है कि मनुष्य का मन विकासशील होने से उसमें अनेक संभावनाएं हैं; किन्तु मन का दुरुपयोग होने से वही मन महान दुखों एवं बन्धनों का कारण है; उसी प्रकार मानव में शब्द-शक्ति उसके विकास एवं मोक्ष-साधन के लिए वरदानस्वरूप है; परन्तु गलत शब्दों में फंस जाने से वही शब्दजाल मानव के लिए महान बन्धन का कारण है।

"शब्दै पैठा जीव" मानव जीव के बाहर-भीतर शब्द गूंज रहे हैं। यह शब्दों में बुरी तरह उलझा है। मोहन इसलिए दुखी है, क्योंकि उसको किसी ने अपमान के शब्द कह दिये हैं। गिरीश को इसलिए सदमा हो गया कि ज्योतिषी ने उसके ऊपर ग्रह का टेढ़ा होना बता दिया है। जगेश्वर को पुत्र पैदा हुआ है, फिर भी उसके घर में मातम है, क्योंकि पंडित ने बच्चे को सत्तइसा में पड़ा हुआ बता दिया है। माता ने जब से भूत-प्रेत तथा चुड़ैल की बात कही, तब से सुरेश अंधियारे से बहुत डरने लगा है। कहां तक गिनाया जाये, शब्दों के जाल ने मनुष्यों को तोड़ दिया है। शास्त्रों में शब्द लिखा है कि अमुक अछूत है, अमुक जाति में पैदा हुआ है। शास्त्र कहते हैं कि मनुष्य कठपुतली है, तुच्छ है। वह कर ही क्या सकता है! सब कुछ हरि-अधीन है।

मनुष्य को साहस लाना होगा। उसे शब्दों को चुनना होगा। कौन-से शब्द गलत हैं और कौन-से शब्द कल्याणकारी हैं। यह मानव-शरीर फूल रखने की टोकरी है "फूल रहन की टोकरी"। अच्छे-अच्छे निर्णय, ज्ञान, विवेक, समता तथा शीलप्रद

शब्दों को चुनकर हृदय में रखना होगा। सच्चा पारखी बनकर परखना होगा कि कौन-से शब्द हमारे लिए बन्धनप्रद हैं और कौन-से शब्द कल्याणप्रद हैं। हमें निर्भय होकर हर जगह केवल सार लेना होगा। तभी हम अपने को बन्धनों से छुड़ा सकते हैं। तभी हम इसी जीवन में परम सुखी हो सकते हैं।

"घोरे खाया घीव" अर्थात छांछ में पड़े रहने से घी खराब हो जाता है। इसी प्रकार गलत शब्दों में पड़े रहने से मनुष्य पागल हो जाता है। नाली का पानी पीने वाला तथा अपने कपड़े फाड़ने वाला ही पागल नहीं होता, किन्तु सुसभ्य व्यक्ति भी पागल होता है। जिसका मन अपने वश में नहीं है, जिसे अपने स्वत्व का बोध नहीं है, जिसका मन राग-द्वेष में पीड़ित है, जो अपने आपके बोध से विहीन बना परोक्ष में अपना लक्ष्य खोज रहा है, वे ही तो पागल हैं। घी जब रोज-रोज छांछ में ही पड़ा रहेगा, तब खराब होगा ही। जब मनुष्य कल्पना के शब्दों में ही, वाणीजाल में ही पड़ा रहेगा, तो बन्धनों में जड़कता जायेगा ही। इसलिए शब्दजाल से अपने आप को बचाना है। निजतत्त्व-बोध एवं शांतिप्रद शब्दों का ही संग्रह करना है।

शब्द बिना सुरति आँधरी, कहो कहाँ को जाय।
द्वार न पावै शब्द का, फिर फिर भटका खाय॥ 4॥

शब्दार्थ—शब्द= सारशब्द, निर्णय वचन। सुरति= लक्ष्य, मन। आँधरा= विवेकहीन। द्वार= गुरुमुख।

भावार्थ—निर्णय-वचनों को न पाने से मनुष्य का मन विवेकहीन होकर अंधा हो गया है। कहो भला, वह कहां जायेगा? वह शब्दों का द्वार गुरुमुख निर्णय वचन न पाने से बारंबार कल्पित शब्दों के भंवरजाल में भटका खाता है॥ 4॥

व्याख्या—शास्त्र-वचन एवं गुरु-वचन के नाम पर संसार में शब्दों का ऐसा भयंकर वन है, जिसमें से निकल पाना बहुत बहादुरी का काम है। निर्णय शब्दरूपी कसौटी न होने से मनुष्य का मन अंधा बना वाणी के घोर वन में भटक रहा है। श्री रामरहस साहेब ने कहा है कि एक शब्द-समुदाय में चार प्रकार की वाणियां हैं—काल, संधि, झांई और सार।[1] सारशब्द एवं निर्णय-वचन लेकर ही अन्य वाणियों को परखकर उनसे उबरा जा सकता है।

संसार में एक सृष्टिक्रम है, कारण-कार्य-व्यवस्था है तथा विश्व के शाश्वत नियम हैं। जिन वाणियों में तथ्यपरक वर्णन है वे ही सारशब्द हैं और जिनमें अनर्गल बातें, चमत्कार, अंधविश्वास एवं राग-द्वेषपूर्ण बातें हैं, वे सब त्याज्य हैं। किसी महापुरुष के ये वचन कितने मर्मस्पर्शी हैं—"आकाश से महान दैत्य केवल इसलिए नहीं उतरते हैं कि आप्त अथवा योग्य पुरुष ऐसा कहता है। मैं तथा तुम्हारे-जैसे अन्य पुरुष केवल

---

1. एक शब्द समुदाय जो, जामें चार प्रकार।
काल शब्द सन्धि शब्द, झांई औ पुनि सार॥ पंचग्रन्थी, टकसार॥

ऐसे ही कथनों को स्वीकारते हैं, जिनका समर्थन तर्क द्वारा हो सके।"[1] भामतीकार भी कहते हैं—"हजारों वेदवचन घड़े को कपड़ा नहीं बना सकते।"[2]

जैसे अंग में चुभे हुए कांटे को दूसरे कांटे से निकाला जाता है, वैसे निर्णयवचनों से भ्रामक वचनों के जाल को काटकर उससे विवेकवान निकल आते हैं। सद्गुरु कहते हैं—"द्वार न पावै शब्द का, फिर-फिर भटका खाय।" यदि मनुष्य शब्दों का द्वार न पाया, तो वह बारम्बार भ्रामक शब्दों के घेरे में भटकता रहेगा। शब्दों का द्वार है निर्णयवचन। इसी के बिना मनुष्य का मन अंधा बना भटकता है। अतएव हमें शब्द समूह का मोह न होना चाहिए, किन्तु निर्णयवचनों पर ध्यान देना चाहिए। इसके लिए पूर्ण निष्पक्षता की आवश्यकता है।

शब्द शब्द बहु अन्तरे, सार शब्द मथि लीजै।
कहहिं कबीर जहाँ सार शब्द नहिं, धृग जीवन सो जीजै॥ 5॥

शब्दार्थ—अन्तरे= भेद। धृग= धिक्कार है। जीजै= जीना।

भावार्थ—शब्द-शब्द में बड़ा भेद होता है। अतएव विवेक की मथानी से मथकर सारशब्दों को निकाल लो। सद्गुरु कहते हैं कि जिस मनुष्य में सारशब्दों का विचार और आदर नहीं है, वह व्यर्थ ही जीवन जी रहा है॥ 5॥

व्याख्या—उक्त साखी में सद्गुरु तीन बातें बताते हैं। पहली बात है शब्द-शब्द में बड़ा अन्तर होता है। शास्त्र, गुरु एवं परम्परा किसी के भी शब्द हों, वे विचारणीय हैं। दूसरी बात यह कि उन शब्दों का विवेक द्वारा मंथनकर उनमें से केवल सारशब्द एवं निर्णयवचनों को ले लें, शेष छोड़ दें। तीसरी बात है कि जो बिना विचार किये आंख मूंदकर मानता है और सारशब्दों का आदर नहीं करता, उसके जीवन को धिक्कार है।

सद्गुरु ने "सुनिये सबकी निबेरिये अपनी।"[3] कहकर शास्त्र, गुरु तथा परम्परा सबका आदर करते हुए अपने विवेक को प्रमुखता दी है। वे कहते हैं कि सबका आदर करो; परन्तु अपने विवेक का निरादर करना तो सब कुछ पर पानी फेर देना है। आखिर शास्त्र, गुरु और परम्परा की बातें भी तो अपने विवेक से ही समझी जा सकती हैं। अतएव विवेक का स्थान सर्वोच्च है। सद्गुरु कहते हैं कि विवेक की मथानी से वाणियों को मथो और उनमें से सार को निकाल लो और असार छोड़ दो।

वेदों के पूज्य ऋषि भी हमें यह राय देते हैं—"जहां पर विवेकवान चलनी से सत्तू छान लेने के समान मन से वाणी को छान लेते हैं, वहां मित्र मित्रता को जानते हैं

---

1. न ह्याप्तवचनान्नभसो निपतन्ति महासुरा।
युक्तिमदवचनं ग्राह्यं मयाऽन्यैश्च भवद्विधै॥ अनिरुद्धवृत्ति 1/26॥
2. न ह्यागमाः सहस्रमपि घटं पटयितुम् ईष्टे॥ भामती॥
3. बीजक, साखी 247।

और ऐसी वाणी में कल्याणप्रद लक्ष्मी निवास करती है।"[1] महाकवि कालिदास जी भी कहते हैं—"हर चीज इसलिए अच्छी नहीं मानी जा सकती कि वह पुरानी है। सिर्फ नयी होने से कोई चीज तुच्छ नहीं। विवेकवान ठीक परीक्षा के बाद इस या उस वस्तु को ग्रहण करते हैं। केवल मूर्ख मनुष्य दूसरों की बातों पर तुरन्त विश्वास कर पतित होते हैं।"[2] गोस्वामी तुलसीदास जी जैसे परम्परावादी महात्मा भी कह बैठते हैं—"जड़-चेतन और गुण-दोषों को मिलाकर कर्ता ने सृष्टि रची है। संत को चाहिए कि वे हंस के समान दोषरूपी पानी को छोड़कर केवल गुणरूपी दूध ग्रहण कर लें।"[3]

उक्त उदाहरणों को देने का तात्पर्य यह है कि जो वास्तविकता होती है, उसकी आवाज सब तरफ से किसी-न-किसी प्रकार उठती ही है। चीनी और रेत डाल दीजिये, तो चींटी भी परखकर चीनी ले लेगी और रेत छोड़ देगी। फिर विवेक-शक्तिसंपन्न मानव यदि नीर-क्षीर विवेक नहीं करता, तो उसकी जिन्दगी का क्या अर्थ है! सद्गुरु ने साखी ग्रंथ में भी कहा है—

साधू ऐसा चाहिए, जैसा सूप सुभाय।
सार-सार को गहि रहे, थोथा देय उड़ाय॥

शब्दै मारा गिर परा, शब्दै छोड़ा राज।
जिन्ह जिन्ह शब्द विवेकिया, तिनका सरिगौ काज॥ 6॥

शब्दार्थ—गिर परा= पतित हुआ। सरिगौ= बन गया।

भावार्थ—विषयासक्तिपूर्ण एवं भ्रामक शब्दों ने ऐसी चोट मारी कि उनसे घायल होकर कितने मनुष्य अपनी मानवता एवं कल्याणपद से पतित हो गये। परन्तु एक विवेक-वैराग्यपूर्ण शब्द सुनकर, राज्य तक की आसक्ति त्यागकर सुज्ञजन विरक्त हो जाते हैं। अतएव जिन-जिन लोगों ने सत-असत शब्दों का विवेक कर सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग किया, उनका कल्याण बन गया॥ 6॥

व्याख्या—"शब्दै मारा गिरा परा।" ऐसे-ऐसे शब्द होते हैं जिनकी मार से आदमी नीचे गिर जाता है। अच्छे-अच्छे साधक जब सजगता छोड़कर विषय-वासनाओं से भरे शब्दों तथा शृंगारिक गीतों को सुनते, शृंगारिक पुस्तकों एवं पत्र-पत्रिकाओं को पढ़ते हैं, तब धीरे-धीरे अपनी साधना से पतित हो जाते हैं। नारी जाति से अपरिचित ऋषि शृंग एकांत जंगल में युवती वेश्या के शृंगारिक शब्द सुनकर

---

1. सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि॥ ऋग्वेद 10/71/2॥

2. पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढ परप्रत्ययनेय बुद्धिः॥ मालविकाग्निमित्र॥

3. जड़ चेतन गुण दोष मय, विश्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुण गहहिं पय, परिहरि वारि विकार॥ मानस, बालकांड, दोहा 6॥

विमोहित हो गये। योगिराज मछंदरनाथ सिंहल की रानियों के रसीले शब्दों को सुनकर अपना योग-वैराग्य छोड़ बैठे। पतित स्त्रियों की विषयरस-वाणी सुन-सुनकर कितने साधक अपने पद से गिर जाते हैं, फिर सामान्य की बात ही क्या!

विषय-वासनावर्द्धक गीत एवं शब्द सुनने पर यदि साधक सावधान न रहे तो उधर के ही स्मरण होने लगेंगे और मन में विषय-वासना आ जायेगी। अतएव यह परम सत्य है कि ऐसे शब्द होते हैं जिनकी मार से मनुष्य अपने कल्याण पथ को छोड़ बैठता है। भ्रामक शब्दों को सुनकर मनुष्य भ्रम में पड़ जाता है।

"शब्दै छोड़ा राज।" यह भी परम सत्य है कि ऐसे-ऐसे भी शब्द होते हैं कि जिन्हें सुनकर राजा लोग राजपाट छोड़कर विरक्त हो जाते हैं। प्रत्यक्ष घटना देखकर और रथ-चालक से यह सुनकर कि रोग, बुढ़ापा एवं मृत्यु सबके पीछे हैं, गौतम के मन में वैराग्य का मंथन होने लगा और वे राज छोड़कर विरक्त हो गये। ऋषभदेव, महावीर, भर्तृहरि, गोपीचन्द कितने राजाओं ने राजपाट त्यागकर विरक्ति ले ली। लोककहावत के अनुसार गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपनी पत्नी द्वारा यह बात सुनकर "तुम्हें जितना प्रेम मेरे चाम से है, उतना राम से होता तो तुम्हारा कल्याण हो जाता" विरक्ति ले ली।

एक शब्द राग कराता है, दूसरा शब्द वैराग्य कराता है। एक शब्द भ्रम उत्पन्न करता है, दूसरा शब्द भ्रम का निवारण करता है। एक शब्द हंसने वाले को रुलाता है, एक शब्द रोने वाले को हंसाता है। एक शब्द शोक पैदा कर देता है, एक शब्द हर्ष ला देता है। एक शब्द शत्रुता का कारण बनता है, एक शब्द मित्रता का। एक शब्द तीर बनकर चुभ जाता है और हृदय को सालता है, एक शब्द मीठी औषध बन जाता है। एक शब्द बने काम को बिगाड़ देता है, एक शब्द बिगड़े काम को बना देता है। एक शब्द विघटन का कारण होता है, एक शब्द संगठन का। एक शब्द बंधन देता है, एक शब्द मोक्ष। अतएव बड़ी सावधानी से शब्दों का ग्रहण-त्याग करो।

सद्‌गुरु कहते हैं—"जिन्ह जिन्ह शब्द विवेकिया, तिनका सरिगौ काज॥" अर्थात जिन लोगों ने शब्दों का विवेक कर गलत का त्याग एवं ठीक का ग्रहण किया, उनका कल्याण हो गया।

मनुष्य के बिगड़ने-बनने में शब्दों का महत्त्व है। मन को विषयों की ओर खींचने वाले अश्लील उपन्यास, पत्र-पत्रिका, साहित्य, नाटक, कहानी, तथाकथित धर्मग्रन्थ—इन सबसे बचना चाहिए। श्रृंगारिक उपन्यास हो या रासलीला का ग्रंथ—दोनों ही कल्याण-विरोधी हैं। अनेक भाषाओं के विद्वान एवं परम विरक्त संत श्री भगवदाचार्य जी महाराज ने एक जगह लिखा है कि जिन्हें साधना से रहना हो और ब्रह्मचर्य-पालन करना हो, वे संस्कृत-साहित्य एवं उर्दू-साहित्य का पढ़ना एकदम त्याग दें, क्योंकि ये दोनों श्रृंगाररस-प्रधान हैं।

शब्द हमारा आदि का, पल पल करहू याद।
अन्त फलेगी माँहली, ऊपर की सब बाद॥ 7॥

शब्दार्थ—आदि का=मूल स्वरूप का। माँहली=अन्त:पुर में जाने वाला सेवक, महल में रहने वाला, तात्पर्य में स्वरूप में स्थित चेतन।

भावार्थ—हमारे निर्णय-शब्द मूल चेतनस्वरूप के परिचायक हैं, अत: ऐसे शब्दों का निरंतर मनन-चिंतन करो। इसके अंतिम फल में स्वरूपस्थिति रूपी महल के निवासी बन जाओगे, ऊपर की माया तो सब व्यर्थ है॥ 7॥

व्याख्या—कबीर देव के वचन बारंबार जीव का बोध देते हैं। कबीर देव इतने सजग पुरुष हैं कि वे बारंबार हमें अपनी वाणियों से जगाकर स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति की ओर खींचते हैं। वे कहते हैं कि मैं तुम्हें स्वरूपज्ञान की याद दिलाता हूं। तुम अपने चेतनस्वरूप की पल-पल याद करो। स्वरूपज्ञानपरक वाणियों का बारंबार स्मरण-मनन करने से स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति दृढ़ हो जाते हैं। इसका फल होता है कि जीव 'माहली' हो जाता है। वह अपने 'महल' में, अपने भवन में रहने लगता है।

जीव का महल क्या है? क्या जो यह ईंट, सीमेंट, लोहा, लकड़ी से महल खड़ा कर लिया गया है, यह जीव का महल है? बिलकुल नहीं। यह तो इस शरीर के रहने के लिए दो दिन का मुसाफिरखाना है। जीव का महल तो उसकी अपनी स्वरूपस्थिति है। स्वरूपस्थिति एवं आत्मस्थिति एक ऐसा पक्का-पोक्ता भवन है, जो न कभी गिरने वाला है और न छूटने वाला है।

वर्षा के पानी से भीगता, जेठ की धूप से तपता तथा पौष-माघ की ठंडी से कांपता आदमी जब गिरता-भागता अपने मजबूत और सुरक्षित मकान में आ जाता है, तब वह अपने आप को कितना सुरक्षित अनुभव करता है, कितना आनंदित होता है, यह सबका अपना अनुभव है। यह तो क्षणिक है। पुन: घर से निकलकर वर्षा, धूप तथा ठंडी में काम करने जाना पड़ता है। परन्तु जो वैराग्यप्रवर साधक संसार के तापों से भागकर अपने स्वरूपस्थिति-महल में पहुंच जाते हैं, वे सदा के लिए परमविश्राम, परम शांति एवं परमानन्द धाम में पहुंच जाते हैं। वे समझते हैं "ऊपर की सब बाद" सारी माया अन्तत: छूटने वाली है। इसमें मेरी क्या हानि, क्या लाभ! मेरा क्या छुटेगा, क्या मिटेगा! मैं तो अपनी स्थिति में स्थायी भवन पा गया हूं। अब मुझे बाहरी चीजों में कोई हानि-लाभ नहीं है। अब कुछ भी छूट जाने का भय नहीं रहा। सद्गुरु श्री रामरहस साहेब ने कहा है—"नित पारख प्रकाश जो, सोई निज घर जान।" तथा "बसै आनंद अटारी।" यह स्वरूपस्थिति ही निज घर तथा आनन्द अटारी है।

बाहर के मकान, महल शरीर के लिए आवश्यक होते हुए भी मन को तापों से मुक्त नहीं कर सकते। सब सुविधाओं में पूर्ण, संगमरमर पत्थरों से बने चमचमाते हुए विशाल भवन में पहुंचकर मन थोड़े समय के लिए बड़ा सुख का अनुभव कर सकता

है; परन्तु यदि उसी में बहुत काल या कुछ समय रहने का अवसर पड़ जाये, तो थोड़े दिनों में मन उदास हो जायेगा। जब किसी कारण से मन बेचैन होता है, तब मित्रों, स्वजनों एवं सब सुविधाओं से भरा भव्य-भवन भी श्मशान या जेलखाना के समान प्रतीत होता है। निरन्तर सुख से पूर्ण, शांतिमय, अक्षय तथा कभी न छूटने वाला महल स्वरूपस्थिति ही है। अतएव अपने आप में रमो, आत्माराम होओ।

स्वर्ग धरती पर है

जिन्ह जिन्ह सम्मल ना कियो, अस पुर पाटन पाय।
झालि परे दिन आथये, सम्मल कियो न जाय॥ 8॥

शब्दार्थ—सम्मल=शंबल, यात्रा के लिए भोजन पदार्थ, मार्ग का खर्च, धर्म तथा अध्यात्म की पूंजी। पुर=ग्राम, मानव शरीर। पाटन=बाजार, सत्संग। झालि=अन्धकार, बुढ़ापा की दुर्बलता। दिन आथये=जीवन का अन्त।

भावार्थ—ऐसा उत्तम नर-शरीर और सत्संग पाकर जिसने आध्यात्मिक पूंजी नहीं बना ली, वह बूढ़ा होने पर तथा जीवन के अन्त होने पर कुछ नहीं कर सकेगा॥ 8॥

व्याख्या—किसी को दूर जाना है तो उसे रास्ता के लिए खर्चा रखना पड़ता है, रुपये, खाने-पहनने की सामग्री आदि। इसी को 'शंबल' कहते हैं। शंबल का अर्थ आधार, सहारा आदि भी है। ये सभी अर्थ एक ही भाव को व्यक्त करते हैं। गांव तथा बाजार में ही शंबल जुटाया जा सकता है। यहां सबका आध्यात्मिक अभिप्राय है। यह मानव-शरीर गांव है और सत्संग बाजार है। इसी में आध्यात्मिक शंबल अर्जित किया जा सकता है।

अच्छे विचार, अच्छी वाणी तथा अच्छे आचरण का प्रयोग करने से मन में अच्छे संस्कार संग्रहीत होते हैं। ये अच्छे संस्कार ही जीव के लिए शंबल हैं, पूंजी हैं और जन्म-जन्मान्तर के लिए सुखद हैं। इस शंबल एवं पूंजी का उपार्जन आज ही संभव है।

आज हमारे पास आंखें न होतीं तो हम देख न सकते। पैर न होते, तो चल न सकते। हाथ न होते, तो सेवा का काम न कर सकते। बुद्धि न होती, तो समझ न सकते। पागल होते, तो नाली का पानी पीते। सत्संग और सद्ग्रंथ न मिले होते, तो अच्छे विचारों का संग्रह न कर पाते और हमारे कल्याण का आधार न बन पाता। सौभाग्य है कि हमें सब सुविधाएं प्राप्त हैं। अभी सब इंद्रियां ठीक हैं। स्वास्थ्य ठीक है। अवस्था साधना करने योग्य है। ऐसे सुनहले अवसर को यदि हम मलिन विषय-सेवन में लगाते हैं और कल्याण-साधना नहीं करते हैं, तो यह हमारा घोर प्रमाद है।

"झालि परे दिन आथये" अर्थात जब आंखों से दिखेगा कम, कान से सुनाई नहीं

देगा, पैर जमीन पर रखने से डगमगायेंगे, हाथ में बल नहीं रह जायेगा, बुद्धि में दृढ़ता नहीं रहेगी, मन से बातें भूल जाया करेंगी एवं सारा शरीर शिथिल हो जायेगा, और मौत निकट आ जायेगी, तब हम क्या कर सकते हैं! तब "सम्मल कियो न जाय।" तब हमसे कुछ भी होना सम्भव नहीं।

अतएव आज ही धर्म की कमाई करो। धन केवल अपने तथा अपने परिवार के भोगों में ही मत स्वाहा करो। धन से यथासंभव दान करो। दुखियों, अभावग्रस्तों की सहायता में लगाओ। संतों की सेवा तथा सत्साहित्य के प्रचार में लगाओ। सार्वजनिक सेवा-संस्थानों को दान करो। शरीर से दूसरों की सेवा करो। वाणी से प्रिय एवं हितकर बोलकर दूसरे की सेवा करो। मन से मानव मात्र के प्रति प्रिय तथा प्राणि मात्र पर दया का भाव रखो। आज सुनहला अवसर तुम्हें मिला है। इसे व्यर्थ न जाने दो। धन छुटेगा। शरीर छुटेगा। परिवार छुटेगा। पद और प्रतिष्ठा छुटेंगे। क्या रह जायेगा तुम्हारे पास! पैसा-पैसा बटोरकर क्या करोगे! क्या पुत्र के लिए! 'पूत सपूत तो का धन संचय' और 'पूत कपूत तो का धन संचय!' यदि पुत्र लायक होगा तो कमाकर खायेगा। उसके लिए संग्रह करने की आवश्यकता नहीं, और पुत्र नालायक होगा, तो उसके लिए संग्रह करके क्या करोगे! वह तो शराब-कबाब, जुआ-व्यभिचार आदि में संग्रहीत धन नष्ट कर देगा। अतएव अपने तन-धन को पर-सेवा में लगाकर पवित्र संस्कारों की पूंजी कमाओ। यही शांति का परम शंबल है। यही बड़ी पूंजी है। यह कल नहीं बन पायेगा। इसे आज ही बनाओ।

अन्ततः जीव का परम शंबल तो स्वरूपस्थिति है। सारी वासनाओं-इच्छाओं को छोड़कर जो अपने चेतनस्वरूप में स्थित हो गया, वह सदैव के लिए सम्राट हो गया। संसारी सम्राट का तो एक उदाहरण मात्र है। सम्राट बेचारा निश्चिंतता का सुख जानता ही नहीं है। स्वरूपस्थ एवं आत्माराम पुरुष तो सदैव चिंताहीन परम सुख का उपभोक्ता है। इसके लिए आज ही डट जाओ। किसी ने कितना सुंदर कहा है—

मानुष तन सद्गुरु मिलन, मोक्षहु इच्छा होय।
दुर्लभ तीनों परम हैं, पाय सुयोग न खोय॥

यहाँ ई सम्मल करिले, आगे विषई बाट।
स्वर्ग बिसाहन सब चले, जहाँ बनियाँ न हाट॥ 9॥

शब्दार्थ—यहाँ ई = नर जन्म में। आगे = मानवेतर खानियों में। बिसाहन = खरीदने।

भावार्थ—वर्तमान स्वस्थ नरजन्म में अपनी कल्याण-साधना कर लो। इसके अतिरिक्त पशु आदि खानियों में तो केवल विषयों का मार्ग है। सब जीव स्वर्ग में कल्याण-सौदा खरीदने चले, जहां न वणिक हैं, न बाजार। अर्थात जहां न सद्गुरु हैं, न सत्संग॥ 9॥

व्याख्या—मानव-जीवन कर्म-भूमिका है। यहीं कर्मों का निर्माण तथा ज्ञान द्वारा

कर्मों का अभाव भी होता है। मानव जीवन में ही विवेकबुद्धि है। यहीं धर्म का शंबल एवं अच्छे संस्कारों की पूंजी बनायी जा सकती है। यहीं सत्संग में अपने चेतनस्वरूप को ठीक से जानकर उसमें स्थिति की जा सकती है। मनुष्य-शरीर के बाद अन्य पशु आदि योनियों में तो केवल विषय-सेवन का ही रास्ता है। पशु-पक्षी आदि तो केवल पेट भरने की क्रिया करते हैं और प्रजनन करते हैं। पेट और भोग के अलावा वहां कुछ संभव ही नहीं है। अतएव हमारे मानव जीवन की सफलता पेट भरने और बच्चा पैदा करने में नहीं है, किन्तु सत्संग, विवेक, परसेवा, स्वरूपविचार आदि में रमने में है।

पौराणिक कल्पनाओं के आधार पर कुछ लोगों की यह धारणा है कि गंगादि नदियों में नहाकर, तीर्थों में निवास कर एवं मूर्तियों के दर्शन कर तथा अमुक मंत्र एवं नाम जपकर हम स्वर्ग-लाभ करेंगे। स्वर्ग में भगवान के पास पहुंचकर कृतार्थ हो जायेंगे। परन्तु यह सब बच्चों का मनोरंजन मात्र है। सद्गुरु कहते हैं "स्वर्ग बिसाहन सब चले, जहाँ बनियाँ न हाट।" वहां न तो बनिया है और न बाजार। अर्थात न कहीं स्वर्ग है और न वहां कोई भगवान।

स्वर्ग वहां नहीं है जहां पौराणिक लोग कल्पना करते हैं। वह तो यहीं है। इसी धरती पर विवेक-वैराग्यसंपन्न सद्गुरु भगवान हैं। संत एवं सज्जन लोग देवता हैं और सत्संग स्वर्ग है। हमें स्वर्ग धरती पर उतारना होगा। उतारना क्या धरती पर स्वर्ग है ही।

सद्गुरु कबीर का सारा ज्ञान ताजा, व्यावहारिक और तथ्य की धरती पर अवलंबित है। वे कहते हैं "यहाँ ई सम्मल करिले" इसी धरती पर स्वर्ग को बसा लो। आकाश में कोई स्वर्ग नहीं है।

तुम यह मानो कि तुम्हारा घर या आश्रम स्वर्ग है। उसमें रहने वाले सारे सदस्य देवता हैं। सुबह नींद खुलते ही जिन लोगों पर दृष्टि पड़े उन्हें देवता के रूप में देखो और उनका श्रद्धा, आदर एवं प्यार से सत्कार करो। सबसे मीठा बोलो, मीठा व्यवहार करो। घर, दुकान, दफ्तर, कारखाना, खेत तथा सड़क पर परिवार, ग्राहक, नौकर, स्वामी एवं जनता के रूप में जो मिलें, उन्हें देवी-देवता समझो। उनके साथ सुन्दर व्यवहार करो, तो देखोगे यह संसार स्वर्ग बन जायेगा। कम-से-कम तुम ऐसा व्यवहार करना सीखो, तो तुम्हारे लिए सर्वत्र स्वर्ग ही मिलेगा।

जीव की गरिमा और उसका स्वागत

जो जानहु जिव आपना, करहु जीव को सार।
जियरा ऐसा पाहुना, मिले न दूजी बार॥ 10॥

शब्दार्थ—सार= मुख्य, सर्वोत्तम, वास्तविक, पूर्णतः प्रमाणित, मूल, सत्य,

स्वागत।

भावार्थ—यदि जीव को अपना स्वरूप समझते हो, तो उसे पूर्णतः प्रमाणित सर्वोच्च सत्ता समझो और उसका स्वागत करो। जीव मानव शरीर में ऐसा पहुना है, जो लौटकर पुनः इसमें नहीं आयेगा॥ 10॥

व्याख्या—संसार के अधिकतम संप्रदायवादी कहते हैं कि जीव तो तुच्छ है, अंश, प्रतिबिंब, आभास, प्रतिभास है, यह अल्पज्ञ है; इच्छा, प्रयत्न, द्वेषादि से स्वरूपतः संबद्ध है। वे कहते हैं कि श्रेष्ठ तो ईश्वर एवं ब्रह्म है।

विचारकर देखा जाये कि यदि ईश्वर तथा ब्रह्म जीव से पृथक है, तो वह एक अनुमान है, जिसकी कल्पक जीव ने ही की है। जीव न होता तो ईश्वर एवं ब्रह्म की कल्पना कौन करता! वस्तुतः जीव अनुमात है और ईश्वर-ब्रह्म अनुमान (अटकल), जीव कल्पना है और ईश्वर-ब्रह्म कल्पना। जीव अपरोक्ष मैं के रूप में विद्यमान है, ईश्वर-ब्रह्म जीव द्वारा की गयी चर्चा मात्र है। जीव को तुच्छ कहने वाला जीव ही है जो अपनी भूल से ऐसा कह रहा है। जिस दिन जिस जीव को अपने स्वरूप की पहचान होगी, उस दिन वह जीव को तुच्छ कहने का अपराध न करेगा। जीव तुच्छ है तो शिवत्व की घटना कहां घटेगी? जीव को हटा देने के बाद ईश्वर-ब्रह्म का नामलेवा भी कोई न रहेगा। सद्‌गुरु श्री पूरण साहेब ने कहा है—"कबीर देव का यह प्रामाणिक निर्णय है कि जीव जो मूल है उसे न समझा गया, तो सब थोथा है।"[1] जीव को तुच्छ कहना तो आत्मघात है।

सद्‌गुरु कहते हैं कि जो लोग जीव को तुच्छ कहते हैं उनकी बातें जाने दो। परन्तु यदि तुम जीव को अपना स्वरूप समझते हो, तो उसकी महत्ता का बोध प्राप्त करो। जीव चेतन है, आत्मा (स्वयं स्वरूप) है, सर्वोच्च सत्ता है, व्यक्ति के अपने आप की यथार्थता है, ज्ञानस्वरूप है, अमृतस्वरूप है[2] तथा रामस्वरूप है।[3] इस सर्वोच्च सिद्धान्त की गरिमा को समझो और इस तथ्य का स्वागत करो। अर्थात जीव का स्वागत करो।

जीव का स्वागत करना, अपने आप का स्वागत करना है। अपने आप का स्वागत करना है अपने आप को सारे बन्धनों से छुड़ा लेना। जीव जब सारे बन्धनों से छूट जाता है, तब यही शिव है।

"जियरा ऐसा पाहुना, मिले न दूजी बार" यह मानव-शरीर पहुनाई की जगह है और जीव पहुना है। मानव-शरीर कल्याण करने का साधन है क्योंकि यह विवेक-

---

1. कहहिं कबीर पुकारि के, ये निर्णय परमान।
   जीव जमा जाने बिना, सबै खर्च में जान॥ निर्णयसार॥
2. बीजक, रमैनी साखी 10।
3. रमैनी 41।

प्रधान है। अतएव जीवन में विवेक जगाया जाये, मन के बन्धनों को तोड़ा जाये और जीव इस जीवन में परम विश्राम पा जाये; यही जीव का स्वागत करना है। यदि यह काम आज कर लिया गया, तो यही जीवन की सफलता है, जीव का इस शरीर में आने की सार्थकता है, अन्यथा सब थोथा है।

जीव जब शरीर छोड़ देगा, तो वह पुनः इसमें नहीं आयेगा और जीव इस शरीर से कब चला जाये, कोई नहीं जानता। इसलिए आत्म-कल्याण का काम शीघ्र करना चाहिए।

जो जानहु जग जीवना, जो जानहु सो जीव।
पानि पचावहु आपना, तो पानी माँगि न पीव॥ 11॥

शब्दार्थ—पानी= पानी, वाणी, वासना। पचावहु= नष्ट कर दो।

भावार्थ—यदि जगत में जीने की कला जानते हो और उस जीव को भी जानते हो जो तुम्हारा स्वरूप है, तो आज तक की ग्रहण की हुई सारी वासनाओं को नष्ट कर दो तथा आगे किसी प्रकार वासना संसार से न ग्रहण करो॥ 11॥

व्याख्या—उक्त साखी में चार बातें बतायी गयी हैं—स्वरूपज्ञान, जीने की कला, वासना निवृत्त करना तथा पुनः वासना न ग्रहण करना। हम इन पर थोड़ा-थोड़ा विचार करें।

पहली बात लें "जो जानहु सो जीव"। जीव के दो अर्थ होते हैं—देहधारी तथा शुद्ध चेतन। कहीं बिजली जल रही है और वहां बहुत-से पतिंगे आ गये, तो लोग कहते हैं 'बहुत जीव आ गये।' यहां देहधारी के लिए जीव कहा गया। दूसरा जीव का अर्थ शुद्ध चेतन है। वह देह में हो या देह से रहित अवस्था में हो, चेतन को जीव कहा जाता है। हमें यह समझना चाहिए कि हम देह नहीं हैं, किन्तु शुद्ध चेतन हैं, जीव हैं, ज्ञानस्वरूप हैं। अतएव देह का विनशना, मेरा अपना विनशना नहीं है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु कहें या आक्सीजन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन आदि कहें, ये सब जड़-तत्त्व हैं। इनमें चेतना का कोई गुण नहीं है। अतएव जीव, जिसका मौलिक स्वरूप ही चेतन है, वह जड़ से नहीं बना है, किन्तु स्वतन्त्र है। जो स्वतन्त्र होता है, वह नित्य, अनादि-अनन्त एवं अविनाशी होता है। अतः हमें समझना चाहिए कि हमारी न कभी उत्पत्ति हुई है और न कभी नाश होगा। विज्ञान के दृष्टिकोण से भी हर मौलिक पदार्थ नित्य है। चेतन जीव मौलिक है, अतः वह नित्य है, अविनाशी है। जब हमें दृढ़ बोध हो जाता है कि हम अविनाशी हैं, तब हमें संसार में किसी प्रकार का भय नहीं रह जाता। इस बोधभाव को जितना साधा जाये, उतना जीवन सुखद होगा। यह बोध आध्यात्मिक साधना का मूलाधार है।

दूसरी बात है "जो जानहु जग जीवना" अर्थात यदि जगत में जीना जानते हो तो। जगत में पैदा तो बहुत मनुष्य होते हैं, परन्तु जो ठीक से जीना जानता हो, वह बिरला है। मान लो, कोई व्यक्ति एक हजार रुपये लेकर व्यापार करना शुरू करता है, और

दो महीने में उसके पास आठ सौ रुपये की पूंजी रह गयी, चार महीने में छह सौ रुपये की। इसी प्रकार रोज उसकी पूंजी घटती गयी। वह मुनाफा तो कुछ भी नहीं कमा पाया, किन्तु उसका मूलधन ही नित्य घटता गया और आखिर में पूरा जमा धन समाप्त हो गया, तो स्पष्ट है कि उसका व्यापार घाटे में चलकर अंत में असफल हो गया।

इसी प्रकार हमारा जीवन एक व्यापार है। मनुष्य जन्म लेता है, शिशु के रूप में रहता है। उसका चित्त एकदम शुद्ध होता है। बालपन भी शुद्ध चित्त तथा चिन्तारहित बीतता है। जवानी आने पर मलिनता शुरू होती है, साथ-साथ चिन्ता भी। फिर भी जवानी में काफी कुछ उदारता, सरलता तथा मानसिक प्रसन्नता रहती है। परिपक्व अवस्था में पहुंचकर आदमी काफी चिंताक्रांत हो जाता है। बुढ़ापा में तो केवल चिन्ता एवं मन की खिन्नता ही शेष रह जाती है, और असंतोष में ही वह शरीर छोड़ देता है। यह जीवन व्यापार का घाटे में चलते-चलते अंततः निष्फल हो जाना है। ऐसा क्यों हुआ, क्योंकि हम जीवन जीने की कला नहीं समझ सके। यदि कुछ समझे भी हों, तो उसका जीवन में प्रयोग नहीं कर सके।

जीवन जीने की कला है जीवन में कहीं न उलझना। राग में, द्वेष में, ममता में, वैर में, काम, क्रोध, लोभ, मोहादि में, झगड़ा-झंझट में—कहीं भी अपने आप को न फंसाना ही जीवन जीने की अच्छी समझदारी का फल है। सद्गुरु विशाल देव ने कहा है "जगत में रहि कै चलो बचाय।" अपनी भूल और प्रलोभन से उलझनें आती हैं। दूसरे लोग भी कटुवचन, अपमान, वस्तुहानि, निन्दा आदि कर उलझाने के कारण बनते हैं। विवेकवान को अंदर-बाहर सावधान रहना पड़ेगा। यह बात नहीं कि जीवन में कहीं उलझनें आयेंगी ही नहीं। ऐसा तो किसी का भी जीवन नहीं होता है जिसमें कभी-न-कभी उलझन आये ही नहीं। सभी से कुछ-न-कुछ भूलें हो जाती हैं और अपने गलत व्यवहार से भी उलझनें आ जाती हैं। कोई जीवन की शुरुआत में ही परिपक्व नहीं हो जाता। बहुत ठोकरें खाने के बाद जीवन में परिपक्वता आती है। और परिपक्वता भी उसी को आती है जो समझदारी से काम करता है। अन्यथा जीवन बीत जाता है और कितने लोग बालक ही बने रहते हैं। सबके जीवन में बाहर से भी कुछ-न-कुछ उलझनें आ ही जाती हैं। खल लोगों का काम ही है दूसरे के मार्ग में रोड़े अटकाना। परन्तु विवेकवान शोध-शोधकर अपनी भूलों को छोड़ता है और दूसरों द्वारा आये हुए रोड़ों को समता-समझदारी से हटाते हुए अपना मार्ग प्रशस्त करता है।

इस संसार में चाहे अपने माने गये लोग हों और चाहे दूसरे, विचारों की भिन्नता होने पर उनसे लड़-लड़कर समाधान नहीं किया जा सकता। विवेकवान का काम है दूसरे द्वारा आये हुए आक्षेपों को सह लेना तथा सदैव कुसंग का त्याग करना। जो अपने माने गये हों, उनमें जिनको सुधार मिले, समता से विचार देकर उन्हें सुधारना तथा जो शक्ति के बाहर दिखें उनसे दूर हो जाना, यही समझदारी है। सार यह है कि

किसी मनुष्य की न तो ममता में बंधना और न वैर में। जो पांचों विषयों की आसक्ति को जीत लेता है और भोजन, वस्त्र, आवास आदि की आसक्ति भी त्याग देता है, केवल अनासक्त होकर जीवन-निर्वाह लेता है, वह कहीं नहीं बंधता।

कुल मिलाकर कहा जाये तो अनासक्ति ही जीवन जीने की कला है। जो व्यक्ति सर्वत्र अनासक्त होता है, वह जानबूझकर कहीं भी गलत काम नहीं करता। जो गलत नहीं करता, वह उलझता नहीं। बाहर से उलझाकर कोई उसे अशांत नहीं कर सकता। जिसका हृदय शुद्ध एवं दृढ़ है, जो पूर्ण परिपक्व हो चुका है, उसका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। अतएव अनासक्ति ही जीवन जीने की कला है। उठी हुई पहली बात "जो जानहु सो जीव" अर्थात अपने अविनाशी स्वरूप का ज्ञान अनासक्त होने में महान सहयोगी है।

तीसरी बात है "पानि पचावहु आपना" यह बहुत गम्भीर भाव का वाक्यांश है। यहां पानी का अर्थ वाणी और वासना है। वाणी अर्थात शब्द। मनुष्य के मन में निरन्तर शब्द गूंजते रहते हैं। अनेक प्रकार के भावना-उत्पादक शब्द मनुष्य के मन में भरे रहते हैं, और वह उन्हीं में निरन्तर ऊबता-डूबता रहता है। शब्द और वासना का घनिष्ठ सम्बन्ध है। मानवेतर प्राणियों में शब्दशक्ति बहुत कम होने से उनमें वासनाएं भी कम होती हैं। मनुष्य वासनाओं का पुंज बना रहता है; क्योंकि वह शब्दों को बहुत ग्रहण करता है। शब्दों के पीछे कुछ अर्थ होते हैं और अर्थों के पीछे उलझन।

शांति-इच्छुक को चाहिए कि उलझाने वाले शब्दों को तो वह एकदम छोड़ दे; किन्तु समाधि में पहुंचकर सारे शब्दों को छोड़ दे। शब्द छोड़ने पर स्मरण छूटेंगे तथा स्मरण छोड़ने पर शब्द छूटेंगे।[1]

अंततः 'पानी' का परिपाक अर्थ वासना ही है। वासना का अर्थ है आसक्तिपूर्ण संस्कार। अपने चेतनस्वरूप से जो कुछ पृथक है, उसके राग-द्वेषात्मक संस्कार ही वासना है। देह से जगत पर्यंत एवं पिंड से ब्रह्मांड तक जो कुछ जड़ दृश्य है, इसकी वासना ही जीव को परतन्त्र बनाती है। सद्गुरु कहते हैं कि आज तक जितनी वासनाएं ग्रहण कर रखे हो, उन्हें विवेक से नष्ट कर दो; और आगे संसार से मांगकर कोई नयी वासना मत ग्रहण करो। पुनः वासनाएं ग्रहण न करो यही चौथी बात है। जीवन जीने की यह सर्वोत्तम कला है कि आज तक संसार की जितनी अहंता, ममता एवं वासनाएं हमने ग्रहण कर रखी हैं, उन्हें त्याग दें और नयी अहंता-ममताएं एवं वासनाएं न ग्रहण करें। अहंकाररहित, ममतारहित एवं वासनारहित जीवन ही मुक्त जीवन है। यही सच्चा जीवन है। यही जीवन सच्चे अर्थों में सुखी रहता है।

उपदेष्टाओं को चेतावनी

1. शब्द पर पीछे 2 से 7वीं साखी की व्याख्या देखें।

पानि पियावत क्या फिरो, घर घर सायर बारि।
तृषावन्त जो होयगा, पीवेगा झख मारि॥ 12॥

शब्दार्थ—पानि=पानी, उपदेश। घर-घर=घट-घट, सबके मन में। सायर=समुद्र। झख=कुढ़न, अहंकार।

भावार्थ—उपदेश क्या देते फिरते हो! सबके मन में ज्ञान का सागर भरा है, अर्थात सबको अहंकार है कि हम ज्ञानी हैं। जो व्यक्ति सत्योपदेश का प्यासा होगा, वह अहंभाव छोड़कर स्वयं ग्रहण करेगा॥ 12॥

व्याख्या—कुछ उपदेशकों का मुंह हर समय चरचराता रहता है। वे इस ताक में रहते हैं कि कोई मिले तो मैं उसे उपदेश देना शुरू करूं। सुनने वाले चाहे थक जायें, परन्तु ऐसे उपदेशक नहीं थकते।

एक चर्च में एक पादरी प्रवचन देने आये। उनका प्रवचन शुरू हुआ। रात के दस बज गये, परन्तु उनकी वाणी रुक ही नहीं रही थी। लोग उठ-उठकर जाने लगे। काफी लोग चले गये, रात के ग्यारह बज गये। प्रवचन-कक्ष से सभी लोग चले गये थे, केवल एक आदमी था जो पादरी की तरफ निगाह लगाये बैठा था। पादरी ने कहा—"आपकी श्रद्धा धन्य है। आपको मेरे उपदेशों में रस आ रहा है। भले ही सब चले गये, जब तक आप सुनना चाहेंगे, मैं बोलता रहूंगा चाहे सुबह हो जाये। सत्पात्र एक काफी होता है।"

उस आदमी ने कहा—"महाशय! मैं इस चर्च का चौकीदार हूं। जब तक आप इस कक्ष से बाहर नहीं होंगे, तब तक मैं अपने घर जा नहीं सकता; क्योंकि इसमें मुझे ताला लगाना पड़ेगा।"

उपदेश देने और प्रवचन करने की अति मत करो। संसार भर को चेताकर उन्हें शिष्य तथा अनुगामी बनाने की इच्छा प्रबल मोह है। इससे संसार का तो कोई कल्याण नहीं होता, अपना अकल्याण होता है। संसारियों के मन में अनेक कल्पनाएं और कामनाएं भरी हैं। जब तक उनका भी लक्ष्य आपकी ओर नहीं होगा, तब तक आपके उपदेशों की झड़ी लगा देने मात्र से उनको बोध नहीं होगा।

पहले साधक बनो। विवेक-वैराग्यसंपन्न किसी सद्गुरु की शरण में जाओ। उनके चरणों में अपने आप को समर्पित करो। विनम्रतापूर्वक उनकी सेवा करो। स्वरूपज्ञान तथा पवित्र रहनी का बोध प्राप्त करो। शम, दम, एकांतवास, वैराग्य, द्रष्टा-अभ्यास और साधनों द्वारा स्वरूपस्थिति प्राप्त करो। संसार से पूर्ण अनासक्त होकर स्वरूपस्थिति में पूर्ण निमग्न हो जाने के बाद ही दूसरों को चेताने की बात सोचो। स्वयं तृप्त होकर ही दूसरों को उस तरफ प्रेरणा दे सकते हो। केवल वाणी से उपदेश पर्याप्त नहीं है। यही महापुरुषों का अनुक्रम है।

कितने उपदेष्टा नामधारी तो विवेक-वैराग्य तथा सदाचार की बातें ही दूर, वे साधारण आचरणों तक का पालन नहीं करते। वे बीड़ी-सिगरेट तथा गांजा-भांग

उड़ायेंगे, मुख में पान-तम्बाकू भरकर तब उपदेश देने खड़े होंगे। उनका मुंह देखो तो भड़भूज का भाड़ बना रहता है। जैसे भड़भूज भाड़ में लकड़ी, कंडे, पैरा, पत्ते आदि सब झोंकता रहता है, वैसे वे अपने मुंह में जो पाते हैं झोंकते रहते हैं। उपदेशकों, गुरुओं, अध्यापकों आदि के दांत मोती के समान चमकते रहने चाहिए।

अपात्रों के पीछे मत दौड़ो। सत्पात्रों को उपदेश दो। "जो जिव झाँकि न उपजै, तो कहा पुकार कबीर।" यदि व्यक्ति के मन में प्रेम न उत्पन्न हो तो उपदेश देने से क्या फायदा! अतएव सत्पात्रों को उपदेश दो।

"घर-घर सायर बारि" सबको अहंकार है कि हम ज्ञानी हैं। सबके मन में ज्ञान का सागर होने का अहंभाव है। मुझे तो कई बार ऐसा होता है। लोग मिलने आते हैं और जब तक पास में बैठे रहते हैं केवल अपनी बातें सुनाते रहते हैं। वे सुनना कुछ भी नहीं चाहते। जब वे अपना वक्तव्य देकर उठकर जाने लगते हैं तब कहते हैं कि आपके सत्संग से बड़ा आनन्द आया।

सद्‌गुरु विशाल साहेब से एक सज्जन मिलने आये। नमस्कार कर बैठ गये और लगे श्लोक पर श्लोक झाड़ने। बहुत देर तक वे धाराप्रवाह अपनी बातें कहते रहे; और बीच-बीच में विशाल देव से कहते जाते थे कि महाराज, आप कुछ सुनावें। विशाल देव चुप बैठे सुनते रहे। जब आगंतुक सज्जन बहुत समय तक बोलते रहे, तब अंत में उन्होंने पुनः कहा कि आप कुछ सुनावें। विशाल देव ने कहा—आपके शब्दों की भीड़ इतनी है कि उसमें घुस पाना ही कठिन है। जब कभी आप शांत होंगे, तब समय देखकर मैं भी कुछ कहूंगा।

वे सज्जन चले गये। कुछ दिनों के बाद पुनः आये और नमस्कार कर चुपचाप बैठ गये। दस-पन्द्रह मिनट बैठे रहे। वे भी चुप और विशाल देव भी चुप। वे इस चुप्पी से घबरा गये और उन्होंने कहा—"महाराज, कुछ सुनाइए।" विशालदेव ने कहा—अभी आप केवल बाहर से मौन हैं। आपके भीतर शब्दों की भीड़ उतनी ही है।

आदमी जब तक अपने मन को खाली कर, विनम्र होकर कुछ ग्रहण करने के लिए न बैठे, तब तक वह उपदेशों का पात्र नहीं है। जिसको सदुपदेशों की पिपासा होती है वह स्वयं विनम्र होकर गुरुजनों के निकट आता है। सद्‌गुरु ने इसी साखी प्रकरण में कहा है कि जिसमें ग्रहण करने की भावना होती है वह निरहंकारी होता है और जो अहंकारी होता है, वह ग्रहण करने वाला नहीं है। वह तो शब्दों की छाया पकड़कर घूमता है।[1]

गीताकार ने भी बताया है कि सत्योपदेश का अधिकारी कौन होता है! कहा है—"तत्त्व के जानने वाले ज्ञानियों की शरण में तू विनम्रतापूर्वक जाकर उनकी सेवा कर,

---

1. जहाँ गाहक तहाँ हौं नहीं, हौं तहाँ गाहक नाहिं।
बिना विवेक भटकत फिरे, पकरि शब्द की छाँहि॥ साखी 289॥

उनसे श्रद्धापूर्वक प्रश्न कर, वे तुम्हें उसका उपदेश करेंगे।"[1] यहां शिक्षा ग्रहण करने वाले के लिए तीन महत्त्वपूर्ण गुणों का वर्णन है—प्रणिपात, सेवा तथा प्रश्न। प्रणिपात का अर्थ है चरणों पर झुकना। अतएव विनय, सेवा तथा प्रश्न (जिज्ञासा) से ज्ञान पाने का अधिकार प्राप्त होता है।

सार्वजनिक सभा में तो प्रवक्ता प्रवचन देता है। हां, वह सभा में बैठे अधिकतम व्यक्तियों की योग्यता एवं पात्रता का अनुमान लगाकर तदनुसार उपदेश करता है। सार्वजनिक सभा में भी प्रवक्ता का यह कर्तव्य है कि वह ऐसा उपदेश करे जिससे कुछ-न-कुछ सभी प्रकार के पात्रों को शिक्षा मिल जाये।

चेतन हंस की गुरुता

हंसा मोति बिकानिया, कंचन थार भराय।
जो जाको मरम न जाने, सो ताको काह कराय॥ 13॥

शब्दार्थ—हंसा= जीव, चेतन, मनुष्य। मोति= मोती, मुक्ति। जो= भ्रमिक गुरु। जाको= मुक्ति का।

भावार्थ—जैसे हंस-पक्षी मोती चुगने के प्रलोभन में पड़कर तथा बधिक के जाल में फंसकर बाजार में बिक जाये, वैसे चेतन-मानव मुक्ति के प्रलोभन में पड़कर तथा थाली में स्वर्ण-मोहरें भरकर गुरुओं को अर्पित करता है और उनके जाल में फंसकर संसार-बाजार में बिक जाता है, किन्तु जो भ्रमिक एवं अधकचरे गुरु स्वयं मुक्ति का रहस्य नहीं जानते हैं, शिष्यों को क्या रास्ता बता सकते हैं! ॥ 13 ॥

व्याख्या—संसार में ज्ञान तथा मोक्ष के इच्छुकों की कमी नहीं है, परन्तु वे सच्चे सद्गुरु का आधार न पाकर भटक जाते हैं। विरही मुमुक्षु गुरु को अपने तन, मन तथा धन अर्पित करना चाहता है और यह उसका कर्तव्य ही है; परन्तु गुरु भी सही होना चाहिए।

शिष्य से तन, मन, धन अर्पित कराने वाले गुरु बहुत घूमते हैं, परन्तु वे स्वयं अध्यात्म का क, ख भी नहीं जानते।

किसी के लच्छेदार व्याख्यान सुनकर, रूप, जाति, प्रभुता, प्रचार देखकर अपने भावुकतावश शीघ्र ही उसको अपने तन, मन तथा धन को अर्पित करके, उसे अपना मोक्षदाता गुरु न मान लो। ऐसा न हो कि तुम धोखे में पड़ जाओ। यह जगत प्रसिद्ध उक्ति आदरणीय है "गुरु कीजै जानि के, पानी पीजै छानि के।"

गुरू गुरू में भेद है, गुरू गुरू में भाव।

---

1. तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ गीता ॥ 4/34॥

गुरू सदा सो बंदिये, शब्द लखावै दाव॥ कबीर अमृतवाणी॥

सोई पारख प्रगट गुरु, जहाँ नहीं अनुमान।

सुख प्रत्यक्ष पूरण अमल, रहै यथारथ जान॥ पंचग्रन्थी, गुरुबोध॥

अर्थात—गुरुजनों में अन्तर है। उनके मनोभाव भी भिन्न-भिन्न हैं। वही गुरु वन्दनीय है जो सार-असार शब्दों को परखने की युक्ति बताता है। उन्हीं गुरुद्वारा यथार्थ ज्ञान की प्रत्यक्षता होती है, जिनमें अनुमान-कल्पना एवं मिथ्या मान्यताएं नहीं हैं। ऐसे सद्गुरु के मिलने से जीवन्मुक्ति की प्रत्यक्ष, पूर्ण, निर्मल एवं यथार्थ शांति मिलेगी।

हंसा तू सुवर्ण वर्ण, क्या वर्णों मैं तोहिं।
तरिवर पाय पहेलिहो, तबै सराहौं तोहिं॥ 14॥

शब्दार्थ—हंसा=हंस, चेतन जीव। सुवर्ण=उत्तम ज्ञान वर्ण। तरिवर=तरुवर, वृक्ष, मानव-शरीर। पहेलिहो=रहस्य को समझोगे।

भावार्थ—हे चेतन! तू उत्तम ज्ञान-रंग है। मैं तेरी क्या प्रशंसा करूं। मनुष्य-शरीर तो पाये हुए हो, परन्तु जब अपने रहस्य को समझोगे, तभी मैं तुम्हारी प्रशंसा करूंगा॥ 14॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर इस साखी में पाठकों को दो बातों की ओर ध्यान दिलाना चाहते हैं। पहली बात जीव की श्रेष्ठता, दूसरी बात उसका रहस्य जानने की विशेषता।

यह जीव हंसरूप है। हंस एक सफेद पक्षी होता है। वह मानसरोवर जैसे स्वच्छ एवं विशाल सरोवर में रहता है। कवि कल्पनानुसार वह नीर-क्षीर विवेक करता है और मोती चुगता है। बातों को समझाने के लिए कवियों की अनेक कल्पनाएं होती हैं। सार यह है कि जीव शुद्ध चेतन है। वह मानव-शरीर जैसे उच्च शरीर में आज निवास कर रहा है। उसे नीर-क्षीर विवेकी होना चाहिए। उसे जड़-चेतन, बंध-मोक्ष, ग्राह्य-त्याज्य, खाद्य-अखाद्य, विधि-निषेध पर विचारकर सार ग्रहण करना चाहिए। उसे मोती चुगना चाहिए। अर्थात आत्मकल्याण का काम करना चाहिए। उसे सदैव सद्गुरु एवं स्वरूप-विचार तथा आत्मचिंतनरूपी मोती चुगना चाहिए।

''ह'' और ''स'' दो-वर्ण तथा एक मात्रा बिन्दु (.) मिलकर हंस शब्द बनता है। यदि इस शब्द का पदच्छेद किया जाये, तो बन जायेगा 'हम्-स', यदि पूर्ण संस्कृत में कहें तो हो जायेगा 'अहम्-सः'। 'अहम्' का अर्थ 'मैं' तथा 'सः' का अर्थ 'वह' है। भावार्थ हुआ कि 'वह' 'मैं' हूं जो मेरा उद्देश्य है। 'वह' अन्य पुरुष है तथा 'मैं' उत्तम पुरुष है। वह परमात्मा, वह ब्रह्म, वह राम, वह मोक्ष आदि जहां तक अपने परम प्राप्तव्य को 'वह' रूप में अर्थात अन्य पुरुष के रूप में देखा जाता है, एक अज्ञान है। हंस का हंसत्व है कि वह मैं हूं। 'अहम्-सः' अर्थात 'वह मैं' हूं। मैं ही ईश्वर हूं, ब्रह्म हूं, परमात्मा हूं, राम हूं, मोक्ष हूं। मेरा प्राप्तव्य मेरा अपना चेतनस्वरूप ही है। उसी के

लिए ये सारे विशेषण लगाये जा सकते हैं।

भारतीय परम्परा में चेतन जीव को हंस पुराकाल से ही कहा गया है। कबीर साहेब ने तो बीजक में दर्जनों बार चेतन के अर्थ में हंस का नाम लिया है।

सद्गुरु कहते हैं कि चेतन शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। परन्तु उसकी प्रशंसा मैं तब करूंगा, जब वह अपनी पहेली को समझ लेगा। पहेली कहते हैं घुमावदार बात को। अपने आप को समझने की बात सर्वाधिक घुमावदार है। यह बात मानव-शरीर में ही समझी जा सकती है, क्योंकि मानव-शरीर विवेक-प्रधान है।

निकट की वस्तुएं कम दिखती हैं। हम दूसरे के पहने हुए कपड़े के दाग को तो शीघ्र देख लेते हैं, परन्तु अपने शरीर पर पहने हुए कपड़े के दाग शीघ्र नहीं देख पाते। हम दूर के पर्वत, यहां तक करोड़ों किलोमीटर दूर के तारे को देख लेते हैं, परन्तु अपनी आंखों में लगे हुए कज्जल या अपनी आंखों के पास उगे हुए बाल को नहीं देख पाते। इसी प्रकार हम बाहर की वस्तुओं को जानते हैं, किन्तु अपने आप को नहीं जानते कि हम कौन हैं!

मनुष्य का सबसे बड़ा अज्ञान है कि वह अपने आप को नहीं जानता। वह भाषाओं का व्याकरण जानता है, वकालत, डॉक्टरी तथा इन्जीनियरिंग जानता है, खगोल-भूगोल तथा विश्व की अनेक पहेलियों को समझने की चेष्टा करता है, परन्तु वह अपनी पहेली नहीं समझता कि मैं कौन हूं!

अपने आप को न समझने से ही जीवन में अंधियारी है। हमारी दृष्टि विषय-मुखी है, इसलिए अपने आप को समझना एक पहेली हो गया है, परन्तु यदि हम विषयों से हटकर अपने आप को समझने की चेष्टा करें, तो यह समझना बड़ा सरल है। जो सबको समझता है, वह मैं ही तो हूं। मैं पांचों ज्ञानेन्द्रियों एवं मन द्वारा पांचों विषयों एवं संसार को जानता हूं और जानकर उनका ग्रहण-त्याग करता हूं। इसलिए मैं उन सबसे भिन्न शुद्ध चेतन हूं। विषयों को भोगने से इच्छाएं बनती हैं, अन्यथा मैं इच्छारहित, पूर्णकाम, अकाम, निष्काम, आप्तकाम एवं पूर्ण तृप्त हूं। सारा जड़ दृश्य मुझसे सर्वथा भिन्न होने से मैं असंग, निराधार एवं अकेला हूं। इस बोध में स्थित हो जाने से जीवन में केवल चिरशांति ही रह जाती है। यही मानव का लक्ष्य है। यही स्थिति प्राप्त करने पर सद्गुरु उसकी प्रशंसा करना चाहते हैं। वे कहते हैं, जीव मूलतः शुद्ध-मुक्त तो है ही, परन्तु जब वह व्यवहारतः भी अपने आप को वैसा कर ले, तब उसकी प्रशंसा है।

मनुष्य को चाहिए कि वह धन, पद, वर्ण, शरीर, विद्या, सम्मान, महंती, ऐश्वर्य आदि के सारे अहंकार छोड़कर निष्पक्षतापूर्वक सत्य को समझने का प्रयास करे। संसार की सारी चीजें नाशवान, क्षणभंगुर एवं स्वप्नवत हैं। अपना सत्य स्वरूप ही अपना परम निधान है। उसको समझना तथा उसमें स्थित होना ही सबसे बड़ी बुद्धिमानी है।

हंसा तू तो सबल था, हलुकी अपनी चाल।
रंग कुरंगे रंगिया, तैं किया और लगवार॥ 15॥

शब्दार्थ—रंग= भाव। कुरंगे= कुभावना में, विषय-वासना में। लगवार= उपपति, अपने ऊपर ईश्वरादि की कल्पना।

भावार्थ—हे चेतन! तू तो ज्ञान से अत्यंत ठोस, महान शक्तिशाली था और है। परन्तु अपने बुरे आचरणों से हलका हो गया है। तू विषय-वासनाओं और मन:कल्पनाओं के रंग में रंग गया है। तू स्वतन्त्र सम्राट होते हुए अपने ऊपर दूसरा मालिक मान रखा है॥ 15॥

व्याख्या—यह सबल जीव निर्बल क्यों बना है! इस साखी में सद्गुरु इसके दो कारण बताते हैं। एक है विषय-वासनाओं की आसक्ति और दूसरी बात है अपने ऊपर कर्ता-धर्ता मान लेना। इन दोनों कारणों से जीव की चाल हलकी हो गयी है। वह विषयों का एवं ईश्वर का मुहताज हो गया है।

शरीरधारी को पांचों विषयों का जीवन में उपयोग करना पड़ता है। अतएव विवेक तथा अनासक्तिपूर्वक शरीर-निर्वाह लेना कल्याण में सहायक है। परन्तु शरीर-निर्वाह के अलावा काम-भोग तथा अन्य राग-रंग जिससे मन में विषयों की आसक्ति पुष्ट होती हो, ऐसे विषय-सेवन से जीव विषयासक्ति एवं मोह में बंध जाता है। जिसका मन संसार के किसी भी विषय में बंधा है, वह न स्वतन्त्र हो सकता है और न सबल। यद्यपि जीव स्वत: सबल है, परन्तु विषयासक्ति के आवरण में पड़ने से उसे अपने बल की याद ही नहीं हो सकती। जो कहीं भी आसक्त है, वह कायर एवं निर्बल हो जाता है। राजा दशरथ की कैकेयी में आसक्ति होने से ही, वे कैकेयी के क्रुद्ध होने पर, उसके सामने दीन बने गिड़गिड़ा रहे थे।

कहीं भी मोह होने से ही आसक्ति बनती है, और जहां हम मोह करते हैं, उसकी कीमत अपने से अधिक मान लेते हैं। जब हम किसी विषय की कीमत अपने से अधिक मान लेते हैं, तब उससे हम छोटे हो जाते हैं। यही निर्बलता है। आध्यात्मिक दृष्टि से वही पूर्णरूप से सबल हो सकता है, जो कहीं भी आसक्त न हो। विषयों की सारहीनता तथा आसक्ति के दुष्परिणाम को जो पूर्णरूपेण समझता है, वह आसक्ति को सांप-बिच्छू एवं बाघ-सिंह से भी अधिक भयंकर समझता है।

दुर्बलता का दूसरा कारण है अपने ऊपर दूसरा कर्ता-धर्ता मान लेना। मनुष्य की इच्छाएं पूरी नहीं होतीं, इसलिए वह अपने आप को निर्बल मान लेता है और अपने ऊपर एक सर्वसमर्थ ईश्वर की कल्पना करता है और आशा करता है कि जब हम उसके सामने विनय-वंदना करेंगे, रोयें-गायेंगे तब वह हमारी सारी इच्छाओं को पूरी कर देगा। उक्त भावना को लेकर वह मन से निर्बल बना एक कल्पित धारणा के सामने जीवनभर घुटने टेककर रोता है।

इच्छाओं का न पूरी होना तो अपने अज्ञान से है। हम विषयासक्त हैं और नाना

इच्छाएं पैदा करते हैं, इसलिए वे पूरी नहीं होतीं। वस्तुतः इच्छाएं पूरी नहीं होतीं, वे निवृत्त की जाती हैं। जब ज्ञान हो जाता है और आदमी विषयों की आसक्ति छोड़ देता है, तब वह व्यर्थ इच्छाओं को उठाता ही नहीं। रही शरीर की मुख्य आवश्यकताएं, वे श्रम करने से अपने आप पूरी होती रहती हैं। उसके लिए किसी के सामने गिड़गिड़ाने की आवश्यकता नहीं है।

जहां तक संसार के प्राणी-पदार्थों का बिछुड़ना, बिगड़ना, विनशना, शरीर में रोग लगना तथा जीवन में उतार-चढ़ाव आना है, इसे कोई रोक नहीं सकता। रोग और समस्याओं के प्रतिरोध में संयम, श्रम और धैर्य का आधार लेना चाहिए। संसार के सारे प्राणी-पदार्थ नाशवान हैं, इन्हें कोई तथाकथित ईश्वर-परमात्मा भी स्थिर बनाये नहीं रख सकता।

मनुष्य ने अपने स्वतः सबल, शुद्ध चेतनस्वरूप की भूल से मन द्वारा ईश्वर की सृष्टि की और भक्तिभावना के नाम पर ईश्वर की मनःकल्पित धारणा में इतना आसक्त हो गया कि अपने आपा को भूल गया। प्रार्थना-वंदना के नाम पर रोना-गिड़गिड़ाना उसकी नियति हो गयी। भूलवश जीव मान लिया कि हम अंश, प्रतिबिम्ब, अल्पज्ञ एवं अनाथ हैं। जैसे मनुष्य अपने हाथों से मिट्टी, पत्थर, धातु आदि की मूर्ति बनाकर उसके सामने घुटने टेकता है, वैसे वह मन से ईश्वर की मूर्ति बनाकर उसके सामने घुटने टेकता है।

अपने ऊपर ईश्वर की अवधारणा बनाकर जीव कभी अपने सबल चेतनस्वरूप की पहचान नहीं कर सकता। ईश्वरवादी को अपनी महत्ता का सच्चा बोध कभी हो ही नहीं सकता।

अतएव सद्गुरु कहते हैं कि हे हंस चेतन! तू विषयासक्ति की दुर्बलता तथा अपने ऊपर कर्ता-धर्ता की बनायी हुई मान्यता को दूर कर। अपनी पूर्णता, सबलता, स्वतन्त्रता को पहचान और अपने गरिमामय स्वरूप में प्रतिष्ठित हो।

हंसा सरवर तजि चले, देही परिगौ सून।
कहहिं कबीर पुकारि के, तेहि दर तेही थून॥ 16॥

शब्दार्थ—सरवर= तालाब, देह।

भावार्थ—जब जीव शरीर छोड़कर चला जाता है, तब यह शरीर चेतना से शून्य होकर मुरदा हो जाता है। सद्गुरु जोर देकर कहते हैं कि कर्माध्यासी जीव पुनः उसी गर्भ में प्रवेश करता है, जहां उसका शरीर निर्मित होता है॥ 16॥

व्याख्या—शरीर जड़ है। यह तभी तक मंगलमय प्रतीत होता है, जब तक इसमें जीव निवास करता है। जीव के निकल जाने पर यह व्यर्थ है। अतः शरीर से जीव पृथक और सत्य है।

पृथ्वी, जलादि भौतिक तत्त्वसमुदाय प्रत्यक्ष और सत्य हैं। उनके असंख्य परमाणु अखण्ड हैं। कहा जाता है कि विज्ञान ने आज परमाणु का भी विखण्डन कर दिया है;

परन्तु परमाणु का अर्थ तो होता है, जो अत्यन्त छोटा हो, जिसका पुनः खण्डन न किया जा सके, अर्थात भौतिक द्रव्य की अन्तिम इकाई ही परमाणु है, वह अखण्ड ही होगा। उन भौतिक इकाइयों परमाणुओं का यौगिक रूप ही यह संसार है जो हमारे सामने है, यह प्रवाहरूप अनादि-अनंत है। यह केवल जड़ है। इसमें चेतन के कोई लक्षण नहीं हैं। यह दृश्य और भोग्य है। इसका द्रष्टा और भोक्ता संसारी चेतन अर्थात जीव है।

द्रष्टा और दृश्य, भोक्ता और भोग्य, चेतन और जड़ एक नहीं होते, दोनों के धर्म विरोधी हैं। मूल में जो गुण-धर्म नहीं रहेंगे, उसके कार्य में वे नहीं आ सकते। महुआ, गुड़, अन्न सड़ाकर शराब बनाने से उसमें जो नशा आ जाता है, तो उसके मूल—महुआ, गुड़, अन्न इत्यादि में सूक्ष्मरूप से नशा रहता है। महुआ आदि भी जड़ हैं, नशा भी जड़ है। इसमें कोई विलक्षणता नहीं। अतएव जड़ पदार्थों के संयोग से चेतन की उत्पत्ति होना सर्वथा असंभव है। इसी प्रकार चेतन में केवल ज्ञान-धर्म, ज्ञान-गुण, ज्ञान-आकार है, अर्थात वह केवल ज्ञानमय है। अतएव उससे जड़ भौतिक तत्त्वों की उत्पत्ति मानना भी सर्वथा अनुचित है, क्योंकि ऐसा होना असंभव है। अतएव जड़ भौतिक कारण-कार्य पदार्थों से नाना अविनाशी चेतन पृथक और स्वतन्त्र पदार्थ हैं।

जड़ तत्त्वों की अंतिम इकाई (परमाणु कहो या कुछ कहो) अदृश्य है, अखण्ड है। वह कहीं भी रहे, उसका नाश कभी नहीं। चेतन तो अभौतिक है, उसका सूक्ष्म और अदृश्य रहना स्वाभाविक है। वह चेतन भी कहीं रहे, उसका नाश नहीं। जड़ तत्त्वों के परमाणु कहीं भी रहें, वे अपने मूलतः गुण-धर्मों के अनुसार क्रिया करते रहेंगे। इसी प्रकार जब तक जगत-वासनाओं का नाश नहीं होता, तब तक जीव भी चाहे जहां रहे, वह शरीर धारण करके नाना क्रिया करना, पुनः छोड़ना और वासनावश शरीर धारण करना यह व्यवहार करता रहेगा।

भौतिक परमाणुओं में उनके गुण-धर्म-क्रियादि स्वभावसिद्ध हैं। अतएव उनका प्रवाह सदैव चलता रहेगा। परन्तु चेतन में जगत-वासना विषयासक्तिवश है। इसके नाश होने पर जगत-वासना का अंत हो सकता है और जगत-वासना नष्ट होने पर जीव का संसार में आना-जाना, जन्मना-मरना समाप्त हो जाता है। जड़ परमाणुओं में क्रिया स्वाभाविक है, इसलिए वह नित्य है। जीव जान-जान तथा मान-मानकर क्रिया करता है। यदि विवेकी सद्गुरु के सत्संग द्वारा अपने शुद्ध स्वरूप को समझ ले और जड़-वासना, जगदासक्ति में जैसे अनंत दुख भरे हैं वह ठीक-ठीक परख ले तो उसे अवश्य छोड़ देगा। फिर जगत-राग कट जाने पर जन्म-मरण का प्रश्न आ ही नहीं सकता। परन्तु जब तक जगत-वासना है, जीव नाना कर्म कर एक शरीर से दूसरे शरीर में परिभ्रमण करते तथा दुख भोगते हैं। मानव का अन्तिम और परमोच्च कर्तव्य तो यही है कि इन दुखों से छुट्टी ले। यह कोई नशा नहीं, यथार्थ ज्ञान की बात है। आसक्तिरहित पुरुष इसी शरीर में ऐसी शांति प्राप्त करता है जिसके अन्यत्र दर्शन भी

दुर्लभ हैं।

प्रकृत साखी में तो यह चर्चा है कि अविनाशी जीव शरीर को छोड़कर जब चल देता है, तब शरीर मुरदा हो जाता है और जीव पुनः कर्मवश दूसरा शरीर धारण करता है। अतः पुनर्जन्म और कर्म-फल-भोग सत्य हैं। इससे मुक्ति का मार्ग सद्गुरु ने बताया है—

"कहहिं कबीर सत सुकृत मिलै, तो बहुरि न झूलै आन।"

(बीजक, हिण्डोला-1)

हंस बकु देखा एक रंग, चरें हरियरे ताल।
हंस क्षीर ते जानिये, बकुहिं धरेंगे काल॥ 17॥

शब्दार्थ—हरियरे ताल= हरे-भरे सरोवर में।

भावार्थ—देखा कि हंस और बगले एक ही उज्ज्वल रंग में हैं, और हरे-भरे ताल में चर रहे हैं। परन्तु हंस की पहचान उसके नीर-क्षीर विवेक में होती है, और बगले की पहचान उसकी क्रूरता में होती है। वह मछली आदि जीवों को पकड़कर खाता है॥ 17॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर अपनी वाणियों में पदे-पदे रूपकों एवं अलंकारों का प्रयोग करने में बड़े प्रवीण हैं। ऐसे समर्थ कवि प्रयत्न कर अलंकारों का प्रयोग नहीं करते, किन्तु उनके हृदय से वह सब स्वाभाविक ढंग से निकलता रहता है। यहां सज्जन-असज्जन के लिए हंस-बकु तथा संसार के लिए हरे-भरे ताल के कितने सुन्दर रूपक हैं।

यह सच है कि मनुष्यों की आकृति और वस्त्रों से उन्हें बहुत ज्यादा नहीं पहचाना जा सकता। किसी नये आदमी की पहली पहचान का माध्यम उसकी आकृति और पहनाव है, दूसरा माध्यम उसकी बोली और तीसरा माध्यम उसके आचरण हैं। किसी की पूर्णतया पहचान उसके आचरण से ही होती है।

आजकल तो और मुश्किल हो गया है। पढ़ाई-लिखाई बढ़ गयी है। राजनीतिबाजी बढ़ गयी है तथा कपड़े की स्वच्छता भी बढ़ गयी है। अतएव बड़ी अच्छी पोशाक तथा मीठी और सभ्य भाषा में भी कुछ लोग ऐसे मिलते हैं जो मोर की तरह देखने में सुन्दर और मीठे बोलने वाले होते हैं, किन्तु खाते हैं सांप। मोर के वेष और भाषा में जो भूल जायेगा, वह उसकी सच्ची पहचान नहीं कर सकेगा। उसकी असली पहचान तो तब होती है जब उसे सांप खाते देखा जाता है।

बगला भी वेष में कितना उज्ज्वल हंस के तुल्य होता है। वह सरोवर के निकट अर्धउन्मीलित नेत्र कर बैठता है, तो लगता है कि तपस्वी ध्यान कर रहा है और कभी-कभी जब एक पैर उठाकर केवल एक ही पैर के बल खड़ा होता है, तब तो लगता है कि तपस्वी एक पैर पर ही खड़ा होकर तपस्या कर रहा है; परन्तु यह सब मछली पकड़ने की सुविधा के लिए करता है। उसकी असली पहचान तो तब होती है,

जब वह मछलियों पर टूट पड़ता है।

सफेदपोशी और सभ्यता का दिखावाकर दूसरे के अधिकार को छीनकर खाने वालों पर जब नजर डालिए तो दुनिया में उनका बहुत बड़ा दल दिखता है, जो ऊंचे से नीचे तक व्याप्त है। आज के विकास-युग में इसका भी काफी विकास हुआ है।

सद्गुरु कहते हैं कि इस संसार में हंस और बगले—दोनों हैं। किसी के स्वच्छ वेष में न भूल जाना चाहिए। केवल उसकी वाणी में भी मत धोखा खाना। उसकी ऊपरी मधुर चाल-ढाल से भी मत ठगाना। उसकी पहचान उसकी करनी से करना। यदि आदमी बगले के समान दूसरे की जान मारकर खाता है, दूसरे के अधिकार को हड़पता है, तो उसकी बाहरी सभ्यता और सफेदपोशी किस काम की!

हंस की पहचान नीर-क्षीर-विवेक में है। सज्जन हर जगह से बुराई त्यागकर केवल अच्छाई लेता है। संसार में अच्छाई-बुराई सब हैं। यदि हम हर जगह की बुराई लें तो हमारा पूरा जीवन बुराइयों से भर जायेगा। किन्तु सब जगह से अच्छाई चुनें, तो हमारा जीवन अच्छाइयों से भर जायेगा।

जो दूसरों की बुराइयों की चर्चा करता रहता है, जिसे परदोष-दर्शन में ही रुचि है, वह बगला है, काक है, जोंक है। न उसकी समाज में प्रतिष्ठा होती है और न अपनी अन्तरात्मा में। उसको जीवन में शांति मिल ही नहीं सकती।

हंस के लक्षण ही अलग होते हैं। विवेकवान पुरुष परदोष-दर्शन, परनिंदा, पर-चर्चा को अपनी विषय-वस्तु नहीं बनाता। "सोई कहंता सोइ होउगे"[1] हम जैसा कहेंगे, सुनेंगे तथा सोचेंगे, वैसा ही हो जायेंगे। अतएव सज्जन सदैव मधु इकट्ठा करता है। जिन्दगी का दीपक क्षणिक है। वह कब बुझ जायेगा, ठिकाना नहीं है। इसलिए हमें हरक्षण सावधान रहना चाहिए कि कोई गंदे संस्कार न ग्रहण हों। सद्गुरु कहते हैं कि तुम हंसवत क्षीरग्राही बनो, बगले की तरह किसी का मांस नहीं खाना।

जीव का बन्धन क्यों हैं?

काहे हरिनी दूबरी, यही हरियरे ताल।
लक्ष अहेरी एक मृग, केतिक टारों भाल॥ 18॥

शब्दार्थ—लक्ष=लाख की संख्या, तात्पर्य में बहुत। अहेरी=शिकारी। भाल=तीर, तीर का फल (नोक), भाला।

भावार्थ—ऐसे हरे-भरे ताल में हिरनी दुबली क्यों है? (हिरनी ने उत्तर दिया—) मुझ एक के ऊपर लाखों शिकारी बाण चला रहे हैं। मैं कितने बाणों से अपने आप को बचाऊं!

1. रमैनी, साखी 24।

अभिप्राय है कि विवेकसंपन्न मानव-जीवन को पाकर भी जीव दुखी क्यों है? उत्तर है कि उसके भीतर-बाहर लाखों शिकारी उसके पीछे पड़े हैं। वह अपने आप को कितने प्रहारों से बचाये!॥ 18 ॥

व्याख्या—यहां हिरनी एवं मृग जीव के लिए रूपक है। मानव-शरीर विवेकसंपन्न है। ऐसे उत्तम शरीर में रहकर भी जीव दुखी क्यों है? क्योंकि उसके बाहर-भीतर लाखों शिकारी उसे मार रहे हैं। भीतर विषयों की असंख्य इच्छाएं; काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, राग, द्वेषादि के अनेक कुसंस्कार; भ्रांति, अबोध, संशय आदि अज्ञान के दल अपने जहरीले बाणों से जीव पर निरन्तर वार करते हैं।

बाहर बहुत प्रकार के मनुष्यों की संगत है। उनमें एक-से-एक शूर-वीर हैं जो समझा-बुझाकर जीव को विषय-वासनाओं, भ्रांति, संदेह एवं अज्ञान की खाई में ढकेलने वाले हैं। सद्गुरु विशाल देव भी कहते हैं—"बाहर में कुसंग पांचों विषयों के पदार्थ एवं प्राणी हैं जो दुर्बुद्धि उत्पन्न कर मन को जलाते हैं, साथ में कुसंग शरीर, मन तथा इन्द्रियां हैं और भीतर में कुसंग इच्छाएं तथा चाहनाएं हैं।"[1]

इस प्रकार मन में अनादिअभ्यस्त विषय-वासनाएं तथा बाहर पांचों विषयों का गरम बाजार और प्राणी-पदार्थों का कुसंग मनुष्य को अविवेक की ओर ले जाने में निरन्तर सहायक बनते हैं। इनका फल यह होता है कि मनुष्य सदैव मन से मलिन, अध्यात्म से निर्बल एवं चित्त से दुखी बना रहता है।

मानव-जीवन दुख भोगने के लिए नहीं मिला है। मानव-जीवन में विवेक के बीज हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह सज्जनों एवं साधुओं की संगति करे, सद्ग्रन्थों का अध्ययन करे और एकांत में बैठ, हृदय की गहराई में उतरकर चिंतन करे और अपने विवेक को जगाये। हृदय में विवेक का प्रकाश जग जाने से मन की सारी दुर्बलताएं, विषय-वासनाएं एवं कुसंस्काररूपी अन्धकार गायब हो जायेगा। मन विवेक से सबल हो जाने पर बाहर के प्राणी-पदार्थ प्रलोभन नहीं उत्पन्न कर सकेंगे। जो दृढ़ संकल्प वाला व्यक्ति हृदय को ज्ञान से आलोकित कर लेता है, उस पर किसी का गांस-फांस नहीं लगता। कुसंगी लोग उसी को भुला पाते हैं जो भूलना चाहता है, और वासनाएं भी उसी को भटका पाती हैं जो भटकना चाहता है। जो सुज्ञ जीव सत्संग, स्वाध्याय एवं साधना के द्वारा विषयासक्ति और अज्ञान को हटा देता है, वह महान बलशाली हो जाता है। उसके जीवन में भटकाव नाम की कोई बात नहीं है। सद्गुरु रामरहस साहेब भी कहते हैं—

जिन जिन पारख पाये, तिन-तिन लागि न फाँस।
अज्ञ जीव परबस परे, समुझि परी नहिं गाँस॥ पंचग्रंथी, टकसार॥

---

1. बाहेर कुसँग पदारथ संगति, जड़ चेतन मिलि दुर्मति दाह।
साथै कुसँग देह मन इन्द्री, अन्दर कुसँग कामना चाह॥ भवयान 4/6/5॥

तीन लोक भौ पींजरा, पाप पुण्य भौ जाल।
सकल जीव सावज भये, एक अहेरी काल॥ 19॥

शब्दार्थ—तीन लोक=सत, रज, तम। सावज=शिकार। काल=मन की कल्पनाएं, अज्ञान।

भावार्थ—सत, रज और तम ये तीनों गुण पिंजड़े बन गये, पाप तथा पुण्य जाल बन गये और सब जीव इनमें फंसने वाले शिकार बन गये। एक अज्ञान-काल-शिकारी ने सबको फंसाकर मारा॥ 19॥

व्याख्या—किसी भी वस्तु का दुरुपयोग मनुष्य का पतनकारी तथा सदुपयोग कल्याणकारी है। सत, रज और तम—इन तीनों गुणों की जीवन में परम आवश्यकता है। यदि इनका सदुपयोग किया जाये तो ये जीवन के कल्याण में सहायक बनते हैं। पिण्ड और ब्रह्माण्ड सब कुछ तो त्रिगुणात्मक है। जीवन के क्षण-क्षण के व्यवहार में तीनों गुण बरतते हैं। ज्ञान, प्रसन्नता एवं एकाग्रता सतोगुण है, क्रियामात्र रजोगुण है और आलस्य, निद्रादि तमोगुण है। सतोगुण का कार्य ज्ञान तथा प्रसन्नता है और इसकी आवश्यकता है। परन्तु क्रियाशीलतारूप रजोगुण की भी आवश्यकता है। मैं इन पंक्तियों को लिख रहा हूं, यह भी रजोगुण का कार्य है। क्योंकि यह एक क्रियाशीलता है। जब हम सोने चलते हैं, तब बत्ती बुझा देते हैं। अन्धकार तथा नींद दोनों ही तमोगुण के कार्य हैं; परन्तु दोनों की जीवन में बड़ी आवश्यकता है, यह समझना सरल है।

इनका दुरुपयोग बंधन बन जाता है। ज्ञान सतोगुण का कार्य है, परन्तु यदि ज्ञान में अहंकार हो तो वही बंधन का कारण बनता है। ऐसे अन्य गुणों के विषय में भी समझें। गीताकार ने इस विषय को बड़ा साफ कहा है कि कैसे ये तीनों गुण बंधन बन जाते हैं। वे कहते हैं—

"हे निष्पाप! उनमें से सत्त्व निर्मल, प्रकाशस्वरूप तथा स्वास्थ्यप्रद है; अतएव वह सुख तथा ज्ञान की आसक्ति (अहंभाव) में बांधता है॥ 6॥ हे कौन्तेय! तुम यह समझो कि रागरूप रजोगुण कामना तथा आसक्ति से उत्पन्न हुआ है। वह जीव को कर्म की आसक्ति में बांधता है॥ 7॥ सब देहधारियों को भ्रम में डालने वाले तमस को अज्ञान से उत्पन्न हुआ समझो। हे अर्जुन! वह जीव को प्रमाद, आलस्य तथा निद्रा में बांधता है॥ 8॥[1]

---

1. तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥ 6॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनाम्॥ 7॥

उक्त तीनों गुणों के कार्य, जिनका सदुपयोग करने से वे कल्याणकारी होते हैं, उन्हीं का दुरुपयोग करने पर उक्त ढंग से जीव के फंसने के पिंजड़े बन जाते हैं।

"पाप पुण्य भौ जाल" सद्गुरु कहते हैं कि ये पाप और पुण्य दोनों जीव के फंसने के लिए जाल बन जाते हैं। जीवन में पाप को तो कोई स्थान नहीं मिलना चाहिए। निश्चित ही जीव के लिए यह केवल बंधन ही है। परन्तु पुण्य कर्मों की जीवन में महती आवश्यकता है। आदमी एकदम निष्क्रिय होकर हरक्षण नहीं रह सकता। यदि वह पुण्य कर्म एवं शुभ कार्य नहीं करेगा, तो उससे पाप एवं अशुभ कर्म होने लगेंगे। अतएव पुण्यकर्म करते रहने की बड़ी आवश्यकता है। हां, उसे अनासक्ति, अहंकार रहित तथा निष्काम भाव से करना चाहिए। परन्तु जब आदमी पुण्यकर्म कर उसका अहंकार करता है, तब वह उसके लिए बन्धन बन जाता है। पाप-कर्म तो अहंकारवश होते ही हैं, परन्तु मनुष्य जब पुण्य-कर्म करता है, तब अविवेकवश उसमें भी अहंकार कर लेता है। इसलिए पुण्य-कर्म भी जीव के लिए बन्धन बन जाते हैं। इसी लक्ष्य को लेकर सद्गुरु ने कहा है—

"कहहिं कबीर ये दोनों बेरी। एक लोहा एक सोना केरी॥"

इस प्रकार तीनों गुणों के कार्य और पाप-पुण्य कर्म जीव के अज्ञान तथा अहंकार-वश उसके फंसने के लिए पिंजड़े एवं जाल बन गये। इस जाल में जीवों को फंसाने वाला एक ही शिकारी है—काल! काल का अर्थ है मन की अविवेकपूर्ण कल्पनाएं। मन का अज्ञान, मन की कल्पनाएं, मन की मलिनता ही काल है। यदि यह काल मर जाये, तो कहीं कोई बन्धन नहीं। केवल मन शुद्ध हो जाये, तो जीवन के सारे व्यवहार इतने निर्मल हो जायेंगे कि तीनों गुणों के कार्य कल्याणकारी बन जायेंगे। तब जीवन में पाप तो होगा ही नहीं, पुण्य-कर्म भी निष्काम तथा निर्मानभाव से होंगे और जीवन पूर्ण निर्ग्रंथ, निर्मल, मुक्तरूप हो जायेगा।

लोभे जन्म गँमाइया, पापै खाया पून।
साधी सो आधी कहैं, तापर मेरा खून॥ 20॥

शब्दार्थ—पापै= लोभ ने। साधी= सिद्ध करने वाला, जो साधना में लगा हो, साधक, जीव। आधी= अधकचरा ज्ञान। खून= क्रोध, गुस्सा।

भावार्थ—लोग अपना जीवन लोभ में खो देते हैं। लोभ तो पाप की जड़ है। वह पुण्य को खा जाता है। अधकचरे गुरु साधक-जीव से परमार्थ की आधी-अधूरी बातें करते हैं। उन पर मुझे गुस्सा आता है॥ 20॥

व्याख्या—पुत्र का लोभ, स्त्री का लोभ, परिवार का लोभ, धन का लोभ, ऋद्धि-सिद्धि का लोभ, ईश्वर-दर्शन का लोभ, मोक्ष का लोभ—बहुत-से लोभ होते

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥ 8॥ गीता, अध्याय 14॥

हैं। इन लोभों में पड़कर आदमी अपना जीवन खोता है। ऐसे लोभियों को ठग-गुरु मिल जाते हैं और उन्हें मूर्ख बनाकर अपना उल्लू सीधा करते हैं। श्री गुरुदयाल साहेब ने कहा है—"लोभी के गांव में ठग उपासा नहीं रहता। जो जिस वस्तु का लोभी होता है उसी वस्तु को देने का झांसा देकर ठग उसे बेवकूफ बनाने के लिए उसके घर पर वास करता है।"[1]

जितना अनाड़ी गंवई अनपढ़ होता है, उतना ही अनाड़ी शहरी तथा पढ़ा-लिखा होता है। लोभ में पड़कर धोखेबाज गुरुओं से लोग ठगाते रहते हैं। काशी में एक समझदार कहे जाने वाले सेठ ने पंडित नामधारियों के झांसे में पड़कर गंगा के तट पर इसलिए ब्राह्मणों को भोजन कराया तथा उन्हें दक्षिणा दी थी, कि इससे मकान के तीसरे तल्ले पर नगरपालिका का पानी खूब चढ़ने लगेगा। क्षत्रियों के एक शिक्षित गांव में एक पंडित नामधारी अपने को नेपाल-नरेश का गुरु बताकर इस आधार पर हजारों रुपये उड़ा ले गया कि मैं पूजा कर दूंगा और तुम लोगों को पुत्र-रत्न की प्राप्ति हो जायेगी तथा अन्य अभाव दूर हो जायेंगे। अच्छे-अच्छे अधिकारी, जज, वकील, प्रोफेसर, राजनेता, मंत्री तक अपने-अपने मंगल के लिए झूठे तंत्र-मंत्र करने वाले धूर्तों के झांसे में पड़े बराबर अपने आप को उनसे ठगाते रहते हैं।

इलाहाबाद के पश्चिम पीपलगांव में एक धूर्त अपने हाथों से पानी का स्पर्श करके लोगों को इस आधार पर प्रसाद देने लगा कि इसके सेवन से सब प्रकार की सफलता मिलेगी, तो बोतल में पानी भर-भरकर जो भीड़ चारों तरफ से वहां पहुंचने लगी कि इलाहाबाद के रिक्शे, तांगे तथा टैक्सी वालों की चांदी हो गयी।

ईश्वर-दर्शन तथा मोक्ष के लोभियों को भी धूर्त लोग खूब ठगते हैं। गुरुआ लोग शून्य को, ज्योति को, शब्द-नाद आदि को ईश्वर-दर्शन बताकर उनसे अपना दासत्व कराते हैं।

वस्तुतः जो अपने पुरुषार्थ तथा प्रारब्ध में होता है वही मिलता है। पूजा करके, मंत्र-तंत्र करके कोई कुछ नहीं दे सकता। यदि यह सब करने से कुछ कभी मिल जाता है, तो यह एक तुक है। वह भी मिलता है अपने प्रारब्ध से ही, मंत्र-तंत्र एवं पूजा से नहीं। ईश्वर-दर्शन-जैसी चीज तो कुछ है ही नहीं। दर्शन दृश्य के होते हैं। वह सब माया है, जड़ है तथा अपने मन की कल्पना है। मोक्ष बाहर से मिलने की कोई वस्तु नहीं। वह तो मन का वासनाहीन होकर शांत हो जाना है, जो स्वरूपज्ञान, विवेक तथा अनासक्ति का फल है।

मनुष्यों का यह लोभरूपी पाप सत्यज्ञान, सत्यमार्ग एवं सत्यधर्मरूपी पुण्य का नाश करता है। कहा जाता है कि एक युवक पंडित पढ़-लिखकर काशी से अपने घर

---

1. कबीर लोभी के गांव में, ठग नहिं परे उपास।
जो जेहि मत को लोभिया, तेहि घर ठग को वास॥ कबीर परिचय॥

गया। उसका गौना लाया गया। नववधू पत्नी ने अपने पंडित-पति से पूछा—"आपने अपनी विद्या पढ़कर समाप्त कर ली?" पंडित ने सकारात्मक उत्तर दिया। पत्नी ने पूछा—"पाप का बाप क्या है?" पंडित ने कहा—"मैंने यह तो नहीं पढ़ा।" पत्नी ने कहा—"तब तुम्हारा सब पढ़ना बेकार है।"

पंडित अपनी अपढ़ पत्नी से पराजित होकर बहुत दुखी हुए और पुनः काशी चल दिये यह पढ़ने के लिए कि पाप का बाप क्या है!

काशी के जिस मुहल्ले में पंडित पहले रहते थे, उसी में एक वेश्या रहती थी। पंडित को लौट आया देख उन्हें बुलाकर उसने उनसे लौटने का कारण पूछा। पंडित ने कारण बता दिया। वेश्या ने आश्वासन दिया—"आप मेरे घर पर रहिए, मैं आज ही आपको बता दूंगी कि पाप का बाप क्या है!"

पंडित रुक गये। वेश्या ने एक थाली में जलपान लाया और साथ में दस अशर्फियां। पंडित संकोच में पड़ गये। वेश्या के हाथ का जलपान पंडित कब करने वाले थे! परन्तु साथ में दस अशर्फियां थीं। बहुत उठापटक के बाद अशर्फियों के लोभ ने उनको जलपान करने के लिए तैयार कर दिया।

वेश्या ने कुछ देर में भोजन की थाली लाकर पंडित के सामने रख दी और साथ में सौ अशर्फियां भी। पंडित जी बड़े सकते में पड़े। उन्होंने दरवाजे की तरफ देखा, कोई दूसरा नहीं था। उन्होंने अपने मन को समझाया। सौ अशर्फियां कम नहीं होती। पंडित भोजन जीम लिये।

चलने का समय हुआ। पंडित जी ने वेश्या से पूछा—"तो बताओ, पाप का बाप क्या है?" वेश्या ने कहा—"महाराज, क्या अभी बात समझ में नहीं आयी? क्या आप मेरे हाथ का भोजन कर सकते थे? यह तो अशर्फियों के लोभ ने ही कराया है। बस, पाप का बाप लोभ है, याद रखना!"

पंडित जी घर पर अपनी पत्नी से पराजित हुए थे। यहां एक वेश्या से पराजित हुए। 'पाप का बाप लोभ है,' हम लोग भी याद कर लें।

"साधी सो आधी कहैं" साधी कहते हैं जो सिद्ध करने में लगा हो। जो अपने जीवन के लक्ष्य को पाना चाहता है, वह साधक ही 'साधी' है। अधकचरे गुरु उनसे आधी बात करते हैं। गुरु कहलाने वाले जब स्वयं अधकचरे हैं, तब शिष्य एवं साधकों को भी आधी, अधूरी एवं अधकचरी बात ही बतायेंगे। 'नीम हकीम खतरे जान' जैसे अधकचरे डॉक्टर रोगियों के जीवन को ले डूबते हैं, वैसे अधकचरे गुरु साधकों के साधनात्मक जीवन को ले डूबते हैं।

सद्गुरु कहते हैं "तापर मेरा खून" ऐसे गुरुओं पर मुझे गुस्सा आता है। उनको जब स्वयं छाछ नहीं जुरता तब दूसरों को क्षीर बांटने क्यों चलते हैं! वे स्वयं खारी खाते हैं और दूसरों को कपूर बांटते हैं।

सार वचन का महत्त्व

आधी साखी सिर खड़ी, जो निरुवारी जाय।
क्या पण्डित की पोथिया, जो राति दिवस मिलि गाय॥ 21॥

शब्दार्थ—सिर खड़ी=रक्षक, पूर्ण कल्याणदायी एवं बोधप्रद। निरुवारी= निर्णय।

भावार्थ—यदि विचार एवं निर्णय करके आचरण में लायी जाये तो बोधप्रद आधी साखी भी पूर्ण कल्याणकारी हो सकती है। निर्णय-रहित पंडित की बड़ी-बड़ी पोथियों को रात-दिन गाने से क्या लाभ जिनमें स्वरूप का सच्चा बोध नहीं है॥ 21॥

व्याख्या—आधी साखी हो, आधा दोहा हो, चौपाई एवं श्लोक हो। अर्थात कोई छोटा-सा वाक्य हो; परन्तु यदि वह निर्णयपूर्ण वचन है और उसका हम पूर्ण विचारकर उसके आधार पर सार-असार, जड़-चेतन, बन्ध-मोक्ष का ठीक निर्णय कर लेते हैं, तो वह हमारे लिए पूर्ण कल्याणप्रद हो सकता है। संख्या एवं मात्रा का महत्त्व नहीं, गुण का महत्त्व है।

तथ्यपूर्ण आधी साखी भी हमारे सिर पर खड़ी हमारी रक्षा कर सकती है, यदि उस पर हम विचार करें और उसका आचरण करें।

"आधी साखी सिर खड़ी, जो निरुवारी जाय।" इस पंक्ति में मुख्य दो बातें हैं। एक तो यह कि आधी ही साखी हो, अर्थात छोटा ही वचन हो, परन्तु तथ्यपूर्ण हो। दूसरी बात है हम उसका निर्णय करें, शोध करें तथा उसका आचरण करें। 'निरुवार' का अर्थ है खोलना, छुड़ाना, मुक्त करना, सुलझाना, अलग-अलग करना, त्यागना, तय करना, फैसला करना आदि।

धर्म के क्षेत्र में बहुत-से संप्रदाय एवं धार्मिक लोग निर्णय करने, विचार करने एवं तर्क करने की राय नहीं देते। कबीर साहेब इसके विरुद्ध हैं। वे कहते हैं 'निरुवार' करना बहुत जरूरी है। जब हम बात-बात पर निर्णयकर सार तथा असार को अलग-अलग समझेंगे, तभी सार-ग्रहण एवं असार-त्याग होगा।

"क्या पण्डित की पोथिया, जो राति दिवस मिलि गाय।" सत्यासत्यविवेकिनी बुद्धि को 'पंडा' कहते हैं और जिसकी बुद्धि पंडा हो, उसको पंडित कहते हैं। इस प्रकार पंडित का मूल अर्थ विवेकी है। इसीलिए कबीर साहेब ने इस ग्रन्थ में जगह-जगह पंडितों को सादर सम्बोधित किया है—"बूझो पंडित ज्ञानी" तथा "कहहिं कबीर हम जात पुकारा, पंडित होय सो लेय विचारा।" इत्यादि।

परन्तु यहां पर पंडित का अर्थ विवेकी न होकर पत्राधारी पंडित पुरोहितों के लिए है। केवल ब्राह्मण नामधारी पुरोहित पंडितों के लिए ही नहीं, किन्तु संसार के किसी भी संप्रदाय के पुरोहित पंडित के लिए है। केवल ब्राह्मण पुरोहित-पंडितों की पोथियों में ही बकवास नहीं होती, किन्तु मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, जैन, कबीरपंथ, नानकपंथ एवं

अन्य सभी पंथों के पुरोहितों की पोथियों की कम-बेश यही दशा है। हर मत के पुरोहित-पंडितों की पोथियों में आकाश-पाताल के कुलावे मिलाये गये हैं। उनकी मोटी-मोटी पोथियां अतिशयोक्तियों, मिथ्या महिमाओं तथा सांप्रदायिक भावनाओं से पूर्ण रहती हैं। उनमें निर्णय वचन तो काक-तालीय न्याय कहीं किंचित होते हैं, परन्तु वे उन्हीं महिमाओं में दबे रहते हैं अतएव हमें निर्णयवचनों पर ध्यान देना चाहिए।

जीव की सर्वोच्चता

पाँच तत्त्व का पूतरा, युक्ति रची मैं कीव।
मैं तोहि पूछौं पण्डिता, शब्द बड़ा की जीव॥ 22॥

शब्दार्थ—पूतरा= पुतला, देह। कीव= कर दिया।

भावार्थ—पांच तत्त्वों के इस पुतले शरीर को मैंने ही रचकर तैयार किया है। हे पंडितो! मैं तुमसे पूछता हूं "शब्द बड़ा होता है कि जीव?" ॥ 22 ॥

व्याख्या—"युक्ति रची मैं कीव" में 'मैं' शब्द बड़ा महत्त्वपूर्ण है। सबके शरीर में एक ऐसी सत्ता निवास करती है जो रात-दिन कहती है—"मैं खाता हूं, मैं पीता हूं, मैं आता हूं, मैं जाता हूं, मैं यह काम करूंगा, मैं यह काम नहीं करूंगा इत्यादि।" यह 'मैं' शब्द जिस सत्ता से स्फुरित होता है, वह सत्ता ही जीव है।

सद्गुरु बताना चाहते हैं कि 'मैं' कहने वाला जीव ही इस शरीर को युक्तिपूर्वक बनाकर खड़ा करता है। वस्तुतः यह कथन लाक्षणिक है, क्योंकि जीव माता के पेट में जब रज-वीर्य के साथ जाता है, तब वह अचेत अवस्था में रहता है। अचेत जीव सोच-समझकर गर्भावस्था में शरीर बनाये, यह संभव ही नहीं है। एक लोहार या सुनार सावधान होकर युक्तिपूर्वक हथियार या आभूषण बनाता है, वैसे गर्भस्थ जीव शरीर नहीं बना सकता। जीव कर्मवासनाओं के सहित गर्भाशय में पहुंच जाता है और उसकी उपस्थिति मात्र से उसके शरीर की रचना उसके कर्मों के जोर से होती है। सार इतना ही है कि शरीर की रचना में अपने कर्मों के सहित जीव ही मुख्य कारण है। स्थूल कारण माता-पिता हैं यह तो सब जानते हैं, इसलिए उनका उल्लेख यहां नहीं हुआ।

पंडित लोग पोथियों के आधार पर कहते रहते हैं कि ईश्वर ने मनुष्य को पैदा किया है। ईश्वर माता के गर्भ में जीव के शरीर की रचना करता है। सद्गुरु कबीर कहते हैं कि हे पंडितो! मैं तुमसे पूछता हूं कि शब्द बड़ा होता है कि जीव? सारे शब्द जीव ही बोलता है। वेद, शास्त्र, कुरान, बाइबिल, पुराण, धर्मग्रन्थ आदि मनुष्य ही ने रचे हैं। ॐ, ईश्वर, ब्रह्म, राम-रहीम आदि शब्द भी जीव ही बोलता है। जीव न हो तो वर्णात्मक शब्दों का अस्तित्व ही न हो। अतएव पंडितों का यह कथन शब्द मात्र है कि मनुष्य को ईश्वर ने बनाया।

अतएव जीव की ही सत्ता से उसके कर्मानुसार शरीर बनता है और शरीर धारणकर जीव ही नाना शब्दों की रचना करता है। इसलिए हमें चाहिए कि शरीर और शब्द—दोनों कृत्रिम पदार्थों से ऊपर उठकर अपने असली स्वरूप जीव को पहचानें।

पाँच तत्त्व का पूतरा, मानुष धरिया नाँव।
एक कला के बीछुरे, बिकल होत सब ठाँव॥ 23॥

शब्दार्थ—एक कला= परख, सद्बुद्धि, स्वरूपज्ञान। बिकल= विकल, अशांत, कष्टित।

भावार्थ—पांच तत्त्व के पुतले इस शरीर को धारण करने से जीव का नाम मनुष्य रखा गया। परन्तु एक सद्बुद्धि के बिना यह सब जगह पीड़ित रहता है॥ 23॥

व्याख्या—सद्गुरु इस साखी में एक ही बात बताना चाहते हैं जो बहुत सरल होते हुए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। वह यह है कि जीव ने मनुष्य का पुतला तो जरूर धारण कर लिया, परन्तु मानवीय-गुण विवेक-बुद्धि उसमें नहीं है। इसलिए वह हर जगह दुखी है।

अधिकतम मनुष्यों के जीवन में केवल दुख देखा जाता है। यही नहीं कि जिनको खाने के लिए नहीं है वे ही दुखी हैं, किन्तु खाते-पीते भी दुखी हैं। इसके मूल में सद्बुद्धि का अभाव है।

एक युवक तथा एक युवती परस्पर विवाह के बंधन में जीवनभर के लिए बंध जाते हैं और दंपती कहलाते हैं। एक ही को अर्धांग या अर्धांगिनी कहा जाता है। दोनों को मिलाकर सर्वांग होता है। वे एक-दूसरे को दो-चार महीने तथा साल-दो साल सर्वथा नहीं समझ पाते हैं तो कोई बात नहीं; किन्तु दुख तो यह है कि कितने ही दंपती जीवनभर एक दूसरे को नहीं समझ पाते और सदा एक दूसरे से लड़ते रहते हैं। आप समझ सकते हैं कि पति-पत्नी के सदैव लड़ते रहने से उनकी संतान पर इसका कितना बुरा प्रभाव पड़ता है! कितने ही पति-पत्नी अपने जानकार बच्चों के सामने या उनके प्रकाश में परस्पर रसिक वार्ता एवं शृंगारिक हाव-भाव करते हैं। इन सबका बुरा प्रभाव बच्चों के मन में पड़ता है और ऐसे बच्चे आगे चलकर अपने माता-पिता के प्रति श्रद्धालु नहीं रह जाते।

एक ही माता के पेट से पैदा हुए भाई के सामन कौन प्यारा होगा; परन्तु संसार में अधिकतम भाई आगे चलकर एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या-द्वेष, वैर-विरोध में लग जाते हैं। कहते हैं शत्रु से बात करेंगे, किन्तु भाई से नहीं। संसार में कम लोग ऐसे हैं जो अपने पड़ोसियों से प्रेम करते हों; जबकि वे उनसे अपने लिए प्रेम चाहते हैं। मनुष्य, जो असली देवता है, उससे घृणा करता है। फिर जीवन में शांति कहां से आ सकती है! इन सबका कारण है सद्बुद्धि का अभाव।

नौकरी छूट न जाये, व्यापार में घाटा न हो जाये, व्यापार बंद न हो जाये, खेती मारी न जाये, प्रिय स्वजनों का वियोग न हो जाये, शरीर रोगी न हो जाये, समाज में

अपमान न हो जाये, इन-जैसे अनेक संशय मनुष्य के मन को रात-दिन चालते रहते हैं। जबकि इनमें से कई बातें तो जीवन में होती ही नहीं हैं, और यदि हो जाती हैं, तो जीवन के लिए दूसरा रास्ता निकल आता है। कई बार पहले से भी अच्छा रास्ता निकल आता है। सबसे बड़ी बेवकूफी तो हमारी यह होती है कि सोचते रहते हैं कि हम मर न जायें, जबकि मरना पक्का है। मर जायेंगे तो क्या बिगड़ जायेगा!

आदमी सद्बुद्धि के अभाव में मांस, शराब, गांजा, भांग, बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, गुड़ाखू, पान-सुपारी नामालूम क्या-क्या खाने-पीने की आदत बनाकर उनकी आदतों में तथा उनके परिणामस्वरूप रोगों एवं धनाभाव में पीड़ित रहता है।

यह परख ही नहीं है कि मैं कौन हूं! मनुष्य अपने आप चेतन देव को देह, मन, बुद्धि, आदि से पृथक नहीं समझता। इसके परिणाम में भोगबुद्धि रखकर मनुष्य रात-दिन विषय-वासनाओं में लिप्त रहता है। विषयासक्त आदमी इच्छाओं की भट्ठी में निरन्तर जलता है। भोग-क्रियाओं से इच्छाएं बनती हैं और इच्छाओं से भोगों में पुनः प्रवृत्ति होती है। भोगों के बाद पुनः इच्छाओं की ज्वाला धधकती है। भोगों में पड़े हुए मनुष्य का यह घनचक्कर कभी नहीं छूटता। भोगों का त्याग किये बिना इच्छा-ज्वाला कभी बुझ ही नहीं सकती। इच्छा-ज्वाला के बुझे बिना जीव हर जगह बिलबिलाता रहेगा।

जीव का शुद्ध स्वरूप चेतन है, निराधार एवं असंग है, पूर्णकाम तथा पूर्ण संतुष्ट है। परन्तु इस प्रकार अपने स्वरूप का बोध न होने से तथा इस बोध में न स्थित होने से "बिकल होत सब ठाँव" जीव हर जगह हर समय दुखी रहता है।

मानव-जीवन की मौलिकता विवेक में है। विवेक सब दुखों की खानि है। मानव की तकदीर में दुख नहीं लिखा है; किंतु विवेक लिखा है। परन्तु यह विवेक का प्रयोग नहीं करता, इसलिए दुखी रहता है। "एक कला के बीछुरे, बिकल होत सब ठाँव" यही एक कला विवेक है, जिसके अभाव में आदमी हर जगह अशांत है क्या पारिवारिक एवं सामाजिक व्यवहार में, क्या निर्वाहिक बातों में और क्या आध्यात्मिक दिशा में।

अतएव जिनके पास अच्छी समझ, सद्बुद्धि, विवेक एवं परख है, वे ही जीवन में सच्चे अर्थ में सुखी हो सकते हैं। सद्गुरु रामरहस साहेब ने कहा है—

फेर परा नहिं अंग में, नहिं इन्द्रीयन के माहिं।
फेर परा कछु बूझ में, सो निरुवारेहु नाहिं॥ पं. मा. दो. 21॥

रंगहि ते रंग ऊपजे, सब रंग देखा एक।
कौन रंग है जीव का, ताका करहु विवेक॥ 24॥

शब्दार्थ—रंग= रंग; लाल, पीला इत्यादि।

भावार्थ—रंगों से ही अन्य रंगों की उत्पत्ति होती है। अन्त में देखा गया, तो सब रंग एक—जड़ है। जीव का रंग कौन-सा है—इसका विवेक करो॥ 24॥

व्याख्या—सफेद चूना और पीली हल्दी मिला देने से लाल रंग की उत्पत्ति हो जाती है। इसी प्रकार अन्य रंगों के सम्मिश्रन से अनेक रंग बनते रहते हैं। परन्तु सभी रंग जड़ हैं। क्योंकि उनके मूल में पृथ्वी आदि जड़ तत्त्व रंगयुक्त हैं। इन्हीं से सब रंगों का विस्तार है। अर्थात मूल पृथ्वी आदि जड़ तत्त्वों के पीलादि रंग होने से, उनसे उत्पन्न वृक्ष, वनस्पति, फल, फूल, पत्ते, धातु आदि विविध पदार्थों में रंग हैं।

जीव का रंग लाल-पीलादि प्राकृतिक नहीं है। विवेक करना चाहिए कि वह क्या है! शब्दादिक पांचों विषयों को जानने के लिए श्रोत्रादिक पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं। उनमें श्रोत्र से शब्द जान सकते हैं, नेत्र से नहीं। नेत्र से ही रूप जान सकते हैं, घ्राण से नहीं। इस प्रकार जब अपने विषय को छोड़कर अन्य विषय ही का ज्ञान इन्द्रियों से नहीं होता, तो निर्विषय जीव का ज्ञान उनसे कैसे होगा!

अतएव जीव को समझने के लिए विवेक की आवश्यकता है। "मैंने ही नेत्र से रूप देखा, श्रोत्र से शब्द सुना, जिह्वा से रस चखा, घ्राण से गंध सूंघा, त्वचा से स्पर्श किया और मन से स्मरण किया।" यह ज्ञानकर्ता कौन है? वही जीव है, अर्थात मैं ही हूं। मैं सबको जानता हूं, अपने को क्या जानूं! मैं तो हूं ही। मैं न होऊं तो सबको जाने कौन!

जब जानत वह अन्य को, लहि मानन्दि सम्बन्ध।
घूमि लखत तब आपको, मैं जाना व तमन्ध॥

(भवयान, अपना बोध, 49)

अर्थ—मानन्दी (स्मरण) के सहारे, वह अन्य को जब जानता है, तब उससे घूमकर अपने को देखता है कि मैंने ही तो उन जड़-अन्धकारपूर्ण विषयों को जाना है। अतः मैं जनैया ही जीव हूं।

जो नाशै सो जीव न होई। जीव सदा अविनाशी सोई॥
पाँच तत्त्व का जानन हारा। तीनों गुण का करत विचारा॥
वीर्य रक्त तेज तम श्वासा। सबको जानि करत विश्वासा॥
शून्यहि जाने शून्य न होई। जाननहार जीव है सोई॥
जानहि आप जीव कहलाई। सबको जाने सब नहिं होई॥
जो पांचों तत्त्व जानै भाई। सो कहाँ आपु तत्त्व होय जाई॥
तत्त्वहि होय के तत्त्व समावत। सो पुनि तत्त्वहि कौन बतावत॥
जानहिं मात्र जीव है सोई। जान ते अधिक और नहिं कोई॥
पाँच तत्त्व यह जगत सब, जानै सो जीव जान।
कल्पै सोई कल्पना, मानै सो अनुमान॥

(निर्णयसार, दोहा 43)

चेतन-जड़, ज्ञाता-ज्ञेय, द्रष्टा-दृश्य, साक्षी-साक्ष्य दो ही वस्तु संसार में हैं। चेतन,

ज्ञाता, द्रष्टा, साक्षी सब जीव ही के पर्याय हैं।

पारख-स्थिति के साधनाकाल में सभी वासनाओं को त्याग देने पर जो शेष बचा रहता है, वही जीव का स्वरूप है। उसी को पारख कहते हैं। सबका अभाव करने पर, अभाव करने वाला अपने आप चेतन रहा, वही मै हूं।

वेदान्त-ग्रन्थों में भी आता है—'जीवो ब्रह्मैव नाऽपरः' अर्थात जीव ब्रह्म ही है, दूसरा नहीं; परन्तु भूल वहीं करते हैं, जब जीव को जड़-चेतनमिश्रित व्यापक अद्वैत कह देते हैं। वास्तव में जीव जड़ से भिन्न और नाना हैं।

जीव का रंग क्या है, इस पर सद्‌गुरु स्वयं प्रकाश डालते हुए अगली साखी में कहते हैं—

जाग्रत रूपी जीव है, शब्द सोहागा सेत।
जर्द बुन्द जल कूकुही, कहहिं कबीर कोइ देख॥ 25॥

शब्दार्थ—जाग्रत= ज्ञान। रूपी= रूप का, रंग का। सोहागा= सुहागा, एक क्षार-द्रव्य जो सोना गलाने के काम में आता है तथा इसकी दवाई भी बनती है। सेत= शीतल, जड़बुद्धि। जर्द= पीला, रज। बुन्द= वीर्य। जल-कूकुही= जल कुक्कुट, एक जलपक्षी, जल का फेन शरीर।

भावार्थ—जीव ज्ञान रंग का है, परन्तु भ्रांति एवं विषय-वासनापूर्ण शब्दरूपी सुहागा पाकर यह स्वर्णमय चेतन जीव अपने पद से पिघलकर जड़-बुद्धि का हो गया है। अतएव यह कर्म-वासनावश पिता के वीर्य एवं माता के रज में मिलकर जल बुदबुदारूप शरीर को धारण करता है। सद्‌गुरु कबीर कहते हैं कि इस प्रकार कोई बिरला ही समझता है॥ 25॥

व्याख्या—चौबीसवीं साखी में सद्‌गुरु ने स्वयं प्रश्न उठाया था कि जीव का रंग क्या है! साथ-साथ यह भी बताया था कि उसके लिए विवेक करो। क्योंकि जीव का रंग कोई भौतिक नहीं कि आंख से देखने की वस्तु हो। वह तो विवेक से ही समझा जा सकता है।

इस साखी में सद्‌गुरु आरम्भ में ही बताते हैं "जाग्रत रूपी जीव है" जाग्रत का अर्थ ज्ञान तथा रूपी का अर्थ रंगवाला है। अर्थात जीव ज्ञान रंग का है। क्या ज्ञान भी कोई रंग है! ज्ञान कोई लाल-पीलादि की तरह रंग नहीं है। तात्पर्य इतना ही है कि जीव केवल ज्ञानस्वरूप है। शुद्धस्वरूप चेतन जीव की मौलिकता ज्ञान में है। जड़-पदार्थों में गुण, धर्म, क्रिया, आकारादि होते हैं। जैसे पृथ्वी का गुण गंध, धर्म (स्वभाव) कठोर, क्रिया सहज, आकार स्थूलतम है। जल का गुण रस, धर्म शीतल, क्रिया अधो, आकार स्थूल है। आग का गुण रूप, धर्म उष्ण, क्रिया ऊर्ध्व तथा आकार सूक्ष्म है। वायु के गुण स्पर्श और शब्द, धर्म कोमल, क्रिया तिरछी तथा आकार

सूक्ष्मतम है।[1] इसी प्रकार यदि जीव के गुण, धर्म, क्रिया तथा आकार पूछा जाये कि क्या हैं, तो यही कहना होगा कि उसका गुण ज्ञान है, धर्म ज्ञान है, क्रिया ज्ञान है तथा आकार ज्ञान है। उसमें ज्ञान के अलावा कोई लक्षण नहीं है। जीव केवल ज्ञान का ठोस स्वरूप है।

सद्‌गुरु कहते हैं कि ऐसा शुद्ध ज्ञानस्वरूप जीव ''शब्द सोहागा सेत'' हो गया है। अर्थात शब्दों का सुहागा पाकर और पिघलकर जड़बुद्धि का हो गया है। आप जानते हैं कि सोना में सुहागा डालकर आंच दिखाने से सोना पिघल जाता है। जीव किस तरह पिघल गया है? यहां पिघलने का अर्थ यह नहीं है कि जीव सोना की तरह पिघलकर पतला एवं द्रव हो गया है। यहां का कथन भावनात्मक अर्थ में है। अर्थात जीव का मन पिघल गया है। उसका मन विषय-वासना एवं भ्रांतियों में पड़कर बहने लगा है। ऐसा क्यों हुआ? क्योंकि शब्दों का सुहागा पा गया।

साखी प्रकरण के शुरू में कहा गया है कि जीव के पास मन-शक्ति के साथ शब्द-शक्ति भी प्रबल है। जिससे मन में विषय-वासनाएं बढ़ें तथा नाना भ्रांतियां खड़ी हों, संसार में ऐसे शब्दों की गूंज है। मनुष्य उन्हें सुन-सुनकर अपने पद से पतित होता रहता है। मनुष्य विषय-वासनाओं का अध्यासी तो है ही, वह जो देवी-देवताओं तथा अदृश्य कल्पनाओं की भ्रांतियों में पड़ता रहता है, इसमें मुख्य कारण है कि संसार में सर्वत्र भ्रामक शब्दों का जोर है। उन्हें सुन-सुनकर मनुष्य का मन भ्रमित होता रहता है। विषय-वासनावर्धक एवं भ्रामक शब्दों को सुन-सुनकर मनुष्य के मन में जड़तारूपी बर्फ का गोला जम गया है। वह भ्रामक शब्दों को पाकर 'सेत' हो गया, ठंडा हो गया एवं जड़बुद्धि का हो गया है।

इस जड़ता के कारण ही ''जर्द बुन्द जल कूकुही'' की दशा में पहुंचता है। यह भ्रमित जीव कर्मवासनावश माता-पिता के रज-वीर्य में मिलकर जलबुदबुदारूप शरीर की रचना करता है। अभिप्राय यह है कि यह अध्यासी जीव जन्म-मरण के प्रवाह में पड़ा रहता है।

''कहहिं कबीर कोइ देख'' सद्‌गुरु कहते हैं कि इस प्रकार सम्यकरूप से जीव को बिरला समझता है। पहली बात है कि जीव शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। उसका मौलिक स्वरूप पूर्ण जाग्रत एवं चैतन्य है। परन्तु वह संसार की विषय-वासनाओं एवं शब्दजाल में पड़कर जड़बुद्धि का हो गया है। संसार में भटकने का कारण यही है।

चौबीसवीं साखी में सद्‌गुरु ने स्वयं जीव के रंग का प्रश्न उठाया और उस पर विवेक करने की बात कही। इस साखी में उन्होंने जीव को जाग्रतरूप बताया है। इस साखी में पूर्ण जोर जीव की चैतन्यता पर है। सद्‌गुरु कहना चाहते हैं कि हे मनुष्य जीव! तू पूर्ण जाग्रतस्वरूप, ज्ञानस्वरूप एवं चैतन्य है। तेरे स्वरूप में किंचित भी

1. आकाश केवल शून्य को कहते हैं। उसमें शून्यता के अलावा कुछ नहीं है।

जड़ता नहीं है। तेरे में जड़ता का केवल बाहर से आरोपण है। तू भ्रामक शब्दों को सुन-सुनकर जड़ बन गया है। तू शब्दों का जाल तोड़ दे और जड़ता-बुद्धि की चादर उतारकर फेंक दे। जैसे तेरा मौलिकस्वरूप जाग्रत एवं चैतन्य है, वैसे तू रहनी में पूर्ण जाग्रत हो जा। "संतो जागत नींद न कीजै। काल न खाय कल्प नहिं ब्यापै, देह जरा नहि छीजै।"[1]

पाँच तत्त्व ले या तन कीन्हा, सो तन ले काहि ले दीन्हा।
कर्महिं के वश जीव कहत हैं, कर्महिं को जिव दीन्हा॥ 26॥

शब्दार्थ—वश= अधीन, बन्धन में।

भावार्थ—पांच तत्त्वों को लेकर इस उत्तम मानव-शरीर की रचना हुई; परन्तु हे जीव! तूने इसे किस कर्म-प्रपंच में झोंक दिया! सभी महापुरुष तथा शास्त्र यही कहते हैं कि जीव कर्मों के बन्धनों में पड़कर ही भटकता है। आश्चर्य होता है कि उन्हीं कर्म-बन्धनों में बंधने का उपदेश पंडितजन पुनः करते हैं॥ 26॥

व्याख्या—माटी, पानी, आग, हवा—इन चार तत्त्वों से शरीर बनता है और पांचवां आकाश तत्त्व शरीर के भीतर स्वयं हो जाता है। द्रव्य माटी, पानी, आग, हवा ही हैं। इसीलिए इन्हीं में क्रिया भी है। आकाश न कोई द्रव्य है और न उसमें क्रिया संभव है। आकाश तो शून्य को कहते हैं। बीजक भर में सद्गुरु ने जहां कहीं जड़तत्त्वों के नाम लिये हैं वहां पांच कहे हैं।

कुछ लोग नयी खोज की बात सुनकर बहुत हायतोबा करने लगते हैं। अपने आप को परम्परावादी सिद्ध करने वाले लोग जब सुनते हैं "आकाश कोई द्रव्य नहीं है, वह शून्य है; इसलिए उसमें क्रिया नहीं, कोई गुण-धर्म नहीं।" तब वे जमीन को सर पर उठा लेते हैं। वे ऐसा कहने वालों को नास्तिक कहना शुरू करते हैं। चूंकि नास्तिक दुर्बल सिद्धान्त वालों की भाषा है। उन शूर-वीरों ने दूसरों को गाली देने के लिए 'नास्तिक' शब्द का चुनाव कर रखा है। जिनसे उनका किसी बात में विमत होता है, वे उनके ऊपर झट से 'नास्तिक' की मोहर मार देते हैं। परन्तु उन भोलों को यह पता नहीं है कि उनसे भिन्न मत रखने वाले अनेक मतावलंबियों के ख्याल से वे भी स्वयं नास्तिक हैं।

जो नयी खोज का तिरस्कार करता है, वह अपने अनजाने में कबीर साहेब का ही तिरस्कार करता है। कबीर साहेब के कई विचार उनकी खोज हैं। जो नयी खोज में निष्ठा रखता है, वह अपने अनुयायियों की नयी खोज न पसन्द करे, यह कैसे हो सकता है!

अपने आप को परम्परावादी कहलाने वाले लोग भी यह कहते हैं कि आकाश में क्रिया नहीं है। बुद्धि का थोड़ा भी प्रयोग करने से सहज समझा जा सकता है कि कोई

1. बीजक, शब्द 2।

भी जड़ द्रव्य बिना क्रिया के नहीं रह सकता है। जब आकाश द्रव्य है, तब उसमें क्रिया क्यों नहीं? और जब आकाश में क्रिया नहीं, तब वह द्रव्य कैसे है? जब आकाश द्रव्य नहीं और उसमें कोई क्रिया नहीं तब उसमें किसी प्रकार के गुण-धर्म कैसे सिद्ध होंगे?

परम्परावादी होने का स्वाभिमान रखने वाले लोग कहते हैं कि शास्त्रों में शब्द-गुण आकाश का बताया गया है। इसके उत्तर में प्रसिद्ध विद्वान डॉ. सम्पूर्णानन्द लिखते हैं—

"शब्द का अर्थ स्वन—उस प्रकार का संवित्, जो दो क्षैत वस्तुओं के टकराने पर होता है—माना जाता है और श्रवणेन्द्रिय उसका ग्राहक मानी जाती है। यह बात ठीक है, परन्तु स्वन का क्षेत्र तो बहुत संकुचित है। वैज्ञानिक प्रयोगों से सिद्ध है कि यदि किसी प्रकार के आघात के कारण कोई वस्तु प्रकम्पित हो उठे और उसके चारों ओर कोई ऐसा ठोस या तरल माध्यम हो जो हमारे कान तक पहुंचता हो तो उस माध्यम में एक प्रकार की लहर उत्पन्न होती है जिसके फलस्वरूप हमको स्वन-संवित् होता है। हमारे नाड़ि-संस्थान की बनावट ऐसी है कि यदि वस्तु का कंपन लगभग सोलह बार प्रति सेकेंड से कम या लगभग पचास हजार प्रति सेकेंड से अधिक हो तो स्वन नहीं सुन पड़ता। जहां कोई ठोस या तरल माध्यम नहीं है, वहां कंपन भले ही हो परन्तु स्वन नहीं आ सकता। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि से हमको प्रकाश मिलता है, स्वन नहीं। **किन्तु पोथियों के आधार पर पंडित-संप्रदाय शब्द का संबंध आकाश से जोड़ता है जो सर्वथा अवैज्ञानिक जान पड़ता है**"[1]

सद्‌गुरु ने भी जहां कहीं जड़तत्त्वों के नाम लिये हैं निश्चित ही पांच कहे हैं। परन्तु उन्होंने जहां तत्त्वों की क्रिया बतायी है, वहां चार तत्त्वों का वर्णन किया है; इसे हम 78वीं रमैनी में पढ़ सकते हैं।[2]

गीताकार लिखते हैं "इस आत्मा को न शस्त्र काट सकते हैं, न आग जला सकती है, न पानी गीला कर सकता है और न वायु इसे सुखा सकता है।"[3] शस्त्र पृथ्वी तत्त्व से बना है और अन्य अग्नि, जल तथा वायु के नाम लेकर गीताकार कहते हैं कि ये चारों तत्त्व जीवात्मा पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकते; क्योंकि वह अजर-अमर है। आकाश कोई द्रव्य न होने से न उसमें क्रिया है और न उसका किसी पर कुछ प्रभाव पड़ता है। इसलिए उसका यहां नाम ही नहीं लिया गया। स्वामी चिद्‌भावानंद जी गीता

---

1. चिद्विलास, आदि शब्दाधिकरण।
2. अगिन कहै मैं ई तन जारों। पानि कहै मैं जरत उबारों॥
   धरती कहै मोहि मिलि जाई। पवन कहै संग लेउँ उड़ाई॥
3. नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
   न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ गीता, 2/23॥

पर लिखित अपनी इंगलिश टीका में प्रस्तुत श्लोक की व्याख्या में लिखते हैं—

"पांच तत्त्वों में एक तत्त्व आकाश क्रियाहीन है। इसलिए उसका वर्णन यहां नहीं किया गया। दूसरे चार तत्त्वों—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु की क्रियाएं आत्मा पर प्रभाव नहीं डाल सकतीं। अस्त्र द्रव्य से बना हुआ होता है जो पृथ्वी है। आत्मा की अखंड सत्ता है, शस्त्र उसकी क्षति नहीं कर सकता।"[1]

सद्गुरु कहते हैं "पांच तत्त्व ले या तन कीन्हा, सो तन ले काहि ले दीन्हा।" पांच तत्त्वों को लेकर तूने कर्मों के बल से इस उत्तम मानव-शरीर की रचना की जिससे तू मोक्ष-साधना कर सकता है; परंतु तू इसे लेकर कहां दे दिया? इस मोक्ष-साधन-शरीर को तू किस कर्म-प्रपंच में लगा रहा है? जिस मानव-शरीर से बंधन काटने का काम करना चाहिए, उससे बंधन बना रहा है।

"कर्महिं के वश जीव कहत हैं, कर्महि को जिव दीन्हा।" सभी संप्रदाय के साधक, पंडित तथा पुरोहित यही कहते हैं कि जीव कर्म के वश जगन्नगर में नाच रहा है। परंतु इतना कहते-समझते हुए भी वे उसे प्रत्यक्ष इंद्रिय-भोग तथा परोक्ष मन:कल्पना के जाल में रखने वाले कर्म-प्रपंच का ही उपदेश देते हैं। वे उसे कर्मों के आयाम से ऊपर उठकर अपरोक्ष अविचल स्वरूपस्थिति का उपदेश नहीं देते जहां सर्व दुखों का सर्वदा के लिए अंत है। इसमें मूलकारण है उपदेष्टाओं का स्वरूप-अबोध। 'जो जाको मर्म न जाने, सो ताको काह कराय।'

पाँच तत्त्व के भीतरे, गुप्त बस्तु अस्थान।
बिरला मर्म कोई पाइहैं, गुरु के शब्द प्रमान॥ 27॥

शब्दार्थ—गुप्त वस्तु= अदृश्य चेतन जीव। मर्म= रहस्य, भेद।

भावार्थ—पांच तत्त्वों से बने इस शरीर के भीतर-स्थान में एक अदृश्य ज्ञानस्वरूप चेतन जीव निवास करता है। परन्तु सद्गुरु के निर्णय वचनों के प्रमाणों से कोई बिरला उसका भेद ठीक से जान सकता है॥ 27॥

व्याख्या—सामान्य लोग यही समझते हैं कि यह जड़ तत्त्वों से निर्मित शरीर ही सब कुछ है। परन्तु विचार करने पर साधारण आदमी भी इस बात को समझ सकता है कि इस जड़काया को चलाने वाला इससे भिन्न चेतन जीव है जो इस शरीर में रहकर इसे उसी प्रकार चलाता है जैसे गाड़ी में बैठकर गाड़ी का चालक गाड़ी को चलाता है। यद्यपि वह आंख से नहीं दिखता, तथापि वह अखण्ड ज्ञानस्वरूप पदार्थ है। जैसे वायु पदार्थ होते हुए भी आंखों से नहीं दिखता, वैसे जीव स्वतंत्र पदार्थ होते हुए भी नहीं दिखता। जैसे त्वचा में लगने से और वृक्षादि हिलने से वायु का ज्ञान होता है,

---

1. Among the five elements Akash is one that is actionless. So no reference to it is made here. The actions of the other four elements do not affect the Ataman. Weapons are made of the stuff which the earth is. Ataman being indivisible, weapons cannot hurt it.

(Shri Ramkrishna Tapovanam. Tirupparaitturai)

वैसे देहों में सुख-दुख का ज्ञान करने वाला होने से जीव का ज्ञान होता है। उसके निकल जाने पर शरीर में कोई ज्ञान नहीं होता। शरीर नाशवान है, चेतन जीव अविनाशी है। यह प्रत्यक्ष विवेक का विषय है। इस तत्त्वज्ञान का समस्त भारतीय वाङ्मय समर्थन करता है। इसलाम भी इस बात पर हस्ताक्षर करता है। प्राचीन दार्शनिक जनाब ग़ज़ाली लिखते हैं—"शरीर तेरे अपने लक्षणों (स्वरूपों) में नहीं है; इसलिए इसका नष्ट होना तेरा अपना नष्ट होना नहीं है।"[1]

मिट्टी, पानी, आग, हवादि कहें या ऑक्सीजन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन आदि कहें जो कुछ कारण तथा कार्य पदार्थों के रूप में जड़ तत्त्व फैले हैं, सब केवल जड़ हैं। परन्तु हर आदमी यह अनुभव कर सकता है कि मैं जड़ नहीं, चेतन हूं। अपने आप का अनुभव सब समय सबको होता है। 'मैं हूं' यह सबको पता है। परन्तु बिना सद्गुरु के उपदेश के इसका ठीक से बोध सहजतया नहीं होता। कैसा आश्चर्य है! जानते हुए जीव अनजान बना रहता है। स्वयं होते हुए स्वयं का ज्ञान तत्त्वतः नहीं रहता।

इसलिए सत्य इच्छुक को चाहिए कि वह किसी बोधवान सद्गुरु के पास जाकर विनम्रतापूर्वक सेवा करते हुए उनके सत्संग द्वारा स्वरूप के रहस्य को समझने की चेष्टा करे। सब कुछ जाना, किन्तु अपने को नहीं जाना, सब कुछ पाया, किन्तु अपने आप को नहीं पाया तो उसका सब जानना और पाना निरर्थक है। स्वरूपज्ञान सर्वोच्च ज्ञान है तथा स्वरूपस्थिति सर्वोच्च उपलब्धि है।

असुन्न तखत अड़ि आसना, पिण्ड झरोखे नूर।
जाके दिल में हौं बसा, सैना लिये हजूर॥ 28॥

शब्दार्थ—असुन्न= शून्य-रहित, सत्य पदार्थ, चेतन। तखत= सिंहासन, पद। अड़ि= अडिग। पिण्ड= शरीर। झरोखे= इन्द्रियां। नूर= प्रकाश, चैतन्यता। हौं= मैं, चेतन। सैना= ज्ञान-प्रकाशरूप फौज। हजूर= हुजूर, सामने आना, उपस्थिति।

भावार्थ—हे जीव! जिसने शरीर के इन्द्रिय-झरोखों से अपना ज्ञान-प्रकाश फैला रखा है, वह सत्य चेतनस्वरूप ही तुम्हारी अविचल स्थिति-दशा है। ज्ञान-प्रकाश की सेना लेकर 'मैं' के रूप में सभी दिलों में वही उपस्थित है॥ 28॥

व्याख्या—असुन्न का अर्थ ही है जो शून्य न हो, जो सत्य हो, पदार्थ हो, गुण-धर्मयुत सत्तावान हो। तखत तख्त है जिसका अर्थ सिंहासन होता है। अड़ि आसना का अर्थ है अडिग आसन, अविचल निवास। इस प्रकार अर्थ हुआ कि जीव की अविचल स्थिति सत्य पदार्थ में है। वह चेतन है। उसी चेतन का प्रकाश इन्द्रिय-झरोखों से बाहर फैल रहा है। वही आंखों से देखता है, कानों से सुनता है, नाक से सूंघता है, जीभ से चखता है, त्वचा से छूता है और मन से सोचता है। जैसे किसी मकान में

---

1. व लैस' ल्-बद्नो मिन् क़वामे जातेका।
फ इन्हदाम' ल्-बद्ने ला यअ्दमो-का॥ राहुल कृत दर्शन दिग्दर्शन, पृष्ठ 171॥

प्रकाश जलता है, तो मकान के झरोखों से प्रकाश की किरणें बाहर भी फैलती हैं, वैसे इस शरीर में चेतन निवास करता है, तो उसका ज्ञान-प्रकाश इन्द्रिय-झरोखों द्वारा बाहर भी फैलता है।

"जाके दिल में हौं बसा" यहां जाके दिल से तात्पर्य सभी दिलों से है। अर्थात जीव सभी के भीतर हौं के रूप में, मैं के रूप में बसता है। जितने मैं-तू कहने वाले या अपनी चेतना का संकेत करने वाले हैं, वे ही चेतन जीव हैं। वही मैं हूं, वही आप हैं। सब चेतन जीवों का अस्तित्व भिन्न-भिन्न होते हुए भी, सबके स्वरूप एक समान ज्ञानरूप हैं। यह चेतन ही सर्वोपरि है। यह चेतन जब तक शरीर में रहता है, तब तक इन्द्रियां अपना-अपना काम करती हैं। उसके निकल जाने पर सब सूना हो जाता है।

जीव का अपना चेतनस्वरूप ही अपना निधान है, आश्रयस्थल, विश्रामस्थल तथा स्थितिस्थल है। जैसे बाहर गया हुआ थका-मांदा आदमी लौटकर अपने घर में विश्राम पाता है, वैसे संसार से थका जीव अपने चेतनस्वरूप में स्थित होकर ही विश्राम पाता है। अतएव हमें चाहिए कि हम अपने स्वरूप में अविचल भाव से स्थित हों। यही जीवन का चरमोत्कर्ष है।

हृदया भीतर आरसी, मुख देखा नहिं जाय।
मुख तो तबहीं देखिहो, जब दिल की दुबिधा जाय॥ 29॥

शब्दार्थ—आरसी= आइना, दर्पण, विवेक। दुबिधा= द्विधा, दो भागों में बंटे रहना, संशय।

भावार्थ—हर मनुष्य के हृदय में विवेक का दर्पण है, परन्तु वह उसमें अपना वास्तविक चेहरा नहीं देख पाता। वह अपने आपा को उसमें तभी देखेगा जब उसके मन का दो-तरफापन मिट जायेगा॥ 29॥

व्याख्या—मनुष्य की मुख्य शक्ति है उसका विवेक। हर मनुष्य के दिल में विवेक-दर्पण विद्यमान है। जैसे दर्पण में मनुष्य अपना चेहरा देखता है, वैसे हर मनुष्य विवेक-बल से अपने स्वरूप को ठीक से समझ सकता है। प्रश्न होता है कि हर मनुष्य को आत्मज्ञान क्यों नहीं हो जाता! कारण है कि इधर वह ध्यान नहीं देता। दूसरी बात है कि उसके दिल में अनेक भ्रांतियां, विषयासक्ति एवं देहाभिमान का आवरण है। अच्छे दर्पण में भी मैल जम जाने से उसमें मुख नहीं दिखता। प्राप्त शक्ति का कोई सदुपयोग न करे तो उससे लाभ नहीं मिल सकता। घर में गड़े धन को कोई निकालकर उसका उपयोग न करे तो वह कंगाल सरीखा ही बना रहेगा। देहाभिमान और विषयासक्ति के कारण हर आदमी अपने आप की वास्तविकता से बेभान रहता है। जो लोग बहुत-कुछ शुद्ध चित्त के होते हैं, उनमें भी अधिकतर लोग भ्रांति में जीते हैं।

मन का दुविधा में होना किसी भी दिशा में सफलता का बहुत बड़ा अवरोध है। दुविधा का अर्थ है दो-विधा, अर्थात एक बात में दो विरोधी दिशाओं में सोचना।

विरोधी धारा के चिंतन में पड़ा मनुष्य अपने स्वरूप को नहीं पहचान सकता।

हमें यह समझ लेना चाहिए कि बाहर हमारा कुछ नहीं है। बाहर तो केवल जड़-दृश्य है। मेरी अपनी चेतना ही मेरा आश्रयस्थल है। मनुष्य की अपनी आत्मा के अलावा देवी-देवता तथा ईश्वर-परमात्मा केवल शब्द हैं। देवता का देवता, ईश्वर का ईश्वर तथा परमात्मा का परमात्मा व्यक्ति की अपनी आत्मा है। ईश्वर तथा परमात्मा के दर्शन केवल शब्दजाल हैं। दर्शन तो जड़दृश्य के होते हैं। अपना स्वरूप तो द्रष्टा है। अतएव साधक को चाहिए कि वह सारे दर्शनों का मोह छोड़कर विवेक द्वारा अपने आप को समझे तथा अपने आप में स्थित हो।

आंख सबको देखती है, परन्तु अपने आप को नहीं देखती। किन्तु रूप का ज्ञान होने से यह सिद्ध हो जाता है कि हमारी आंखें हैं। बिना आंखों के रूप दिखेगा ही नहीं। इसी प्रकार चेतन सबको जानता है, परन्तु आपने आप को ठीक से नहीं जानता। किन्तु सबको जानते रहने से उसका अपना रहना सिद्ध हो जाता है। यदि वह न हो तो सबको जाने कौन! इस तथ्य को हृदयंगम करने के लिए हृदय-दर्पण को मांजते रहना चाहिए।

जब दर्शन को दिल चहिए, तब दर्पण माँजत रहिए।
जब दर्पण लागी काई, तब दर्श कहां से पाई॥

श्री निर्मल साहेब कहते हैं—

आदर्श मति में मैल से भरा है। निजरूप तिनको नहीं दिख पड़ा है॥
यदि तुम कहो जीव कैसा कहां है? नहीं देख पड़ता स्वयं कह रहा है॥
अपना नयन देखना जो तू चाहै। आदर्श निर्मल में करले निगाहै॥
बुद्धी निर्मल स्वच्छ अपनी बनाओ। अपने स्वतः रूप को देख पाओ॥

(न्यायनामा)

सद्गुरु विशाल साहेब कहते हैं—

संस्कार ह्वै शुद्ध जब, हटै दृश्य से भाव।
सत्य शोध तब जीव करि, प्रिये धर्म गुरु राव॥
अंतस थिर ज्वाला रहित, अभय न चिंता जब्ब।
फिक्र रहित मन निरस जहँ, शोध यथारथ तब्ब॥

(मुक्तिद्वार, स्वतन्त्र जीव शतक 70, 72)

स्वरूपस्थिति एवं आत्मस्थिति की उच्चता

गाँव ऊँचे पहाड़ पर, औ मोटा की बाँह।

कबीर अस ठाकुर सेइये, उबरिये जाकी छाँह॥ 30॥

शब्दार्थ—गाँव= स्थिति। मोटा= श्रेष्ठ, बड़ा। ठाकुर= स्वामी, संत, सद्‌गुरु। छाँह= छाया, आश्रय।

भावार्थ—जीव की स्थिति उच्च चैतन्य शिखर पर है। हे मनुष्य! तुम उन श्रेष्ठ संत एवं सद्‌गुरु का सहारा लो और उनकी सेवा करो जिनकी शरण से तुम्हारा संसार-सागर से उद्धार हो॥ 30॥

व्याख्या—अपना गांव यदि ऊंचे पहाड़ पर हो तो कितना ही बाढ़-बूड़ा आवे कोई परवाह नहीं है। जीव का गांव, जीव की स्थिति-दशा उच्च चैतन्य-शिखर पर है। जो अपने चैतन्य-शिखर पर स्थित हो जाता है उसे संसारी-चिंताएं छू नहीं सकतीं। जैसे उच्च पर्वत पर चढ़ा हुआ आदमी जब वहां से जमीन की तरफ देखता है तब उसे गांव बच्चों के खिलौने सरीखे तथा मनुष्य कीड़ों के रेंगने जैसे लगते हैं, उसी प्रकार जो अपने चेतनस्वरूप में स्थित हो जाता है उसे सारा संसार बौना लगता है। उसकी दृष्टि में धन, परिवार, समाज, मान-बड़ाई, प्रभुता आदि बहुत तुच्छ लगते हैं। स्वरूपस्थिति की गरिमा ऐसी है कि उसको पा जाने के बाद सब कुछ फीका हो जाता है।

प्रश्न होता है कि ऐसी उच्च स्थिति कैसे मिलेगी? स्वयं परिश्रम तो करना ही पड़ेगा, परन्तु इसके लिए सच्चे सद्‌गुरु एवं संतों का आधार अति आवश्यक है। इसलिए सद्‌गुरु कहते हैं कि 'मोटा की बांह' पकड़ो। मोटा, गुजराती में बड़े को कहते हैं। अर्थ है जो उस उच्च स्थिति को प्राप्त है उसकी शरण लो, उसकी सेवा करो। ठाकुर बंगला भाषा में संत एवं सद्‌गुरु को कहते हैं। समन्वयवादी एवं बहुश्रुत कबीर इस साखी की पहली पंक्ति में 'मोटा' गुजराती भाषा से लेते हैं तथा दूसरी पंक्ति में 'ठाकुर' बंगला भाषा से। वे कहते हैं कि जो ज्ञान, आचरण तथा रहनीसंपन्न संत-सद्‌गुरु हैं उनकी शरण लेकर, उनकी सेवा कर और उनके आश्रय में रहकर तुम साधना करोगे तो विषयों के कीचड़ से उठकर स्वरूपस्थिति की उच्च चोटी पर पहुंच जाओगे।

वकीलों की संगत से वकालत, डॉक्टरों की संगत से डॉक्टरी तथा विद्वानों की संगत से विद्वता आती है, इसी प्रकार विवेक-वैराग्यसंपन्न संत एवं सद्‌गुरु की संगत से ही स्वरूपस्थिति की उच्च चोटी पर चढ़ा जा सकता है। ऊंचे काम के लिए सामने ऊंचे आदर्श का बल चाहिए।

जेहि मारग गये पण्डिता, तेई गई बहीर।
ऊँची घाटी राम की, तेहि चढ़ि रहै कबीर॥ 31॥
ये कबीर तैं उतरि रहु, तेरो सम्मल परोहन साथ।
सम्मल घटे न पगु थके, जीव बिराने हाथ॥ 32॥

शब्दार्थ—पंडित= पुरोहित। बहीर= भीड़। घाटी= दो पर्वतों के बीच की ढलान

की जमीन, तात्पर्य में ऊंची जगह। सम्मल=शंबल, यात्रा के लिए भोज्य पदार्थ, पाथेय। परोहन=घोड़ा, गाड़ी आदि सवारी या बोझा ढोने वाले पशु।

भावार्थ—जिस रास्ते से पुरोहित एवं पंडित लोग जाते हैं, उसी रास्ते से भीड़ भी जाती है, किन्तु कबीर तो सबसे अलग एवं स्वतंत्र होकर स्वरूपस्थिति रूपी राम की ऊंची घाटी पर चढ़ जाता है॥ 31॥ परन्तु हे कबीर, संसार के जीव अविवेकवश दूसरों के हाथों में पड़े हुए भटक रहे हैं। अतएव तुम उनके उद्धार के लिए राम की ऊंची घाटी एवं समाधि-सुख छोड़कर लोगों के बीच में उतर आओ। क्योंकि तुम्हारे पास विवेकज्ञान का शंबल है, पाथेय है और स्वावलंबन तथा स्व-श्रम का परोहन है। वे तुम्हारे पास से घटने वाले नहीं हैं। अतएव ऐसा करने से तुम्हारा कुछ बिगड़ेगा नहीं, किन्तु भूले जीवों का उद्धार होगा॥ 32॥

व्याख्या—पंडितों एवं पुरोहितों ने रोचक-भयानक शब्दों के ऐसे जाल बिछा रखे हैं कि आम जनता उनमें फंस-सी गयी है। इसलिए जिधर पंडित तथा पुरोहित चलते हैं उधर ही भीड़ के लोग भी चलते हैं। पंडित और भीड़ ये दोनों शब्दों का चयन अद्‌भुत है। पंडित का अर्थ केवल ब्राह्मण नामधारी पुरोहित नहीं होता, किन्तु संसार के नाना मतों में जो भी पुरोहित हैं वे कर्मकांड के जाल में अपने आस-पास के समाज को फंसाते हैं। हिन्दुओं में पुरोहितों के ही समान ईसाइयों के पोप-पादरी, मुसलमानों के मुल्ला तथा अन्य अनेक मतों के पुरोहितों ने ऐसा जाल बुन रखा है कि उसमें से मनुष्यों का निकलना कठिन हो गया है।

हर समूह एवं परंपरा में पुरोहितों की कुछ आवश्यकता है। जन्म, विवाह एवं मृत्यु-संस्कार कराने के लिए पुरोहितों का काम लगता है। इन तीनों में विवाह-संस्कार मुख्य है, क्योंकि इसमें वर तथा कन्या के मन को एक दूसरे से बांधने के लिए कुछ संस्कार डालने की आवश्यकता पड़ती है। शेष जन्म-संस्कार तथा मृत्यु-संस्कार तो केवल औपचारिक हैं। पैदा हुआ शिशु, कुछ नहीं जानता कि तुम उसके लिए कौन-से मन्त्र पढ़ रहे हो और क्या कर रहे हो। मर चुके हुए मनुष्य के लिए तो कुछ भी करना व्यर्थ है। हां, शोकित परिवार के लिए ज्ञान के ग्रन्थों का पाठ तथा ज्ञानचर्चा कल्याणकारी है।

परन्तु इन संस्कारों में पुरोहितों ने बहुत बड़ा जाल रच रखा है और इससे हटकर अन्य क्रियाओं में भी समाज को उलझा दिया है। देवी-देवता, भूत-प्रेत, शकुन-अपशकुन, ग्रह-लग्न, मुहूर्त आदि के नाना भय देकर सबको अपनी मुट्ठी में पकड़ रखा है। ईश्वर और मोक्ष भी अपनी आत्मा से अलग बताकर उसके लिए लोगों को नाना कर्म-उपासनाओं में दौड़ा रखा है। इन नाना मत के पुरोहितों के पीछे ही भीड़ चलती है। भीड़ का अर्थ ही है भोले-भाले लोगों का समूह। कबीर साहेब ने यहां जानबूझकर भीड़ अर्थ वाला बहीर शब्द का प्रयोग किया है।

कबीर साहेब कहते हैं कि मैं न पंडित एवं पुरोहितों के पीछे चल सकता हूं और

न भीड़ के साथ। मेरा रास्ता इन सबसे अलग है। यह तो राम की ऊंची घाटी है। यही मेरा रास्ता है। घाटी दो पर्वतों के बीच दर्रे को कहते हैं जहां पहाड़ों की ढाल हो। दो पहाड़ों के बीच की नीची एवं समतल जमीन घाटी कहलाती है। परन्तु इस घाटी के साथ ऊंची विशेषण लगाकर सद्गुरु ने इसे सामान्य रास्ते से श्रेष्ठ होने की व्यंजना की है। यहां घाटी का अर्थ पर्वत के पास नीची जमीन का शाब्दिक अर्थ न लेकर व्यंजना अर्थ लेना चाहिए। सद्गुरु कहते हैं "ऊंची घाट राम की"। घाटी के साथ ऊंची विशेषण लगाकर राम के ऊंचे रास्ते की व्यंजना है। राम का रास्ता ऊंचा है। उस रास्ते पर चलने वाले के लिए पुरोहितों के जंजाल से छुटकारा है। राम की ऊंची घाटी है स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति। यह जीव, यह आत्मा ही राम है और उसमें स्थित हो जाना ही राम की ऊंची घाटी में पहुंच जाना है। सहज-समाधि ही ऊंची घाटी है।

अगली 32वीं साखी में सद्गुरु ने स्वयं को संबोधित करके कहा है—हे कबीर! तुम देखो इस संसार को। संसार के लोग नाना पुरोहितों द्वारा धर्म के नाम पर दीन बना दिये गये हैं। संसार के लोग चाहे वे अपढ़ हों या पढ़े-लिखे; भेड़ की भीड़ बन गये हैं और उन्हें पुरोहित लोग रोचक-भयानक कथन के डंडे से हांक रहे हैं। समझदारों का समूह समाज कहलाता है और पशुओं तथा मूर्खों का समूह समज। संसार में समाज कम दिखता है समज ज्यादा। यह समज ही भीड़ है। संसार के लोग भीड़ बन गये हैं। अतएव तुम राम की घाटी से, समाधि के सुख से उतरकर संसार के बीच में आ जाओ और इस भीड़ का उद्धार करो। इस भीड़ को बताओ कि तुम भीड़ मत बनो। इस प्रवृत्ति में तुम्हारी कोई हानि न होगी; क्योंकि तुम्हारे पास शंबल और परोहन है। तुम विवेक-बल तथा पुरुषार्थ-परिश्रम से युक्त हो। जीवनभर तुम्हारा शंबल घटने वाला नहीं है और न तुम्हारे श्रम के पैर थकने वाले हैं। तुम केवल समाधिलीन होकर न बैठो, किन्तु जन-कल्याण करते हुए सदैव सहज-समाधि में रहने का विचार रखो।

यहां समाधि में लीन होने का खण्डन नहीं है, किन्तु संसार पर अधिक करुणा का प्रकाश है। सद्गुरु ने बीजकभर में ध्यान, समाधि तथा स्वरूपस्थिति की लीनता पर अत्यन्त प्रकाश डाला है। साधक को स्वरूपस्थिति का काम पहले करना चाहिए, धर्म प्रचार पीछे।

कबीर का घर शिखर पर, जहाँ सिलहली गैल।
पाँव न टिके पपीलका, तहाँ खलकन लादै बैल॥ 33॥

शब्दार्थ—शिखर= सर्वोच्च चेतन तत्त्व। सिलहली= रपटीला, फिसलनयुक्त। पपीलका= पिपीलका, चींटी। खलकन= संसारी लोग।

भावार्थ—जीव की शाश्वत स्थिति उसके अपने सर्वोच्च स्वस्वरूप चेतन में है। उस तक पहुंचने का रास्ता फिसलन से भरा है। जहां चींटी के पैर नहीं टिकते, वहां संसार के लोग बैल पर सामान लादकर व्यापार करना चाहते हैं॥ 33॥

व्याख्या—यहां कबीर का अर्थ केवल ग्रन्थकार कबीर साहेब नहीं है, किन्तु

जीववाची है। सद्‌गुरु कहते हैं कि जीव की अपनी नित्य स्थिति उसके अपने चेतनस्वरूप में है। जीव का अपना चेतनस्वरूप ही तो सर्वोच्च है। सारी वासनाओं को छोड़कर अपनी चेतना में ही सदैव स्थित रहना जीवन का सर्वोच्च शिखर है। इस स्थिति में जो पहुंच जाता है, वह सदैव के लिए कृतकृत्य हो जाता है।

परन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि इसका रास्ता रपटीला है, फिसलन से भरा है। पहली बात तो यह है कि लोग नाना मान्यताओं, कल्पनाओं एवं भ्रांतियों में पड़े हैं, वे उन्हें छोड़ने के लिए तैयार नहीं होते। वे परमात्मा और मोक्ष को भी अपने से अलग ही देखते रहते हैं। अतएव स्वस्वरूप का सच्चा बोध होना ही दुर्लभ हो जाता है। दूसरी बात है विषय-वासनाओं का त्याग। अच्छी संगत और दृढ़ पुरुषार्थ के बिना मन एकदम निर्विषय नहीं होता। साधना में निरंतरता और सावधानी की महती आवश्यकता है। वस्तुतः सावधानी ही साधना है। थोड़ा-सा असावधान हुए कि विषयों का चिंतन आ सकता है और विषयों का चिंतन करने वाला मन स्व-स्वरूप चेतन में नहीं स्थित हो सकता। अतएव स्वरूपस्थिति का मार्ग फिसलन से भरा है। परन्तु इन बातों को पढ़-सुनकर घबराने की बात नहीं है। खतरों को न बताया जाये तो सावधानी आयेगी कैसे!

वस्तुतः स्वरूपस्थिति का रास्ता स्वच्छ है। उसमें फिसलन तो है ही नहीं। फिसलन तो विषय-वासनाओं का रास्ता है। जिसने मन, वाणी तथा कर्मों से विषय-वासनाओं का त्याग कर दिया, उसके जीवन में स्वरूपस्थिति का मधु है, अमृत है। यदि व्यक्ति ठीक से समझकर विषयों से सावधान हो जाये और स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति के मार्ग पर चलने लगे, तो कृतार्थ हो जाये। राजा होकर कोई घूर पर तथा कचड़े में दाने क्यों बीनेगा! स्वरूपस्थिति का साम्राज्य पाकर विषयों के कीचड़ की ओर नजर भी क्यों उठायेगा! जिसको निर्विषय स्वरूपस्थिति का सिंहासन मिल गया, वह आनन्दकन्द हो जाता है।

"पाँव न टिके पपीलका, तहाँ खलकन लादै बैल।" संसार के लोग समझदार नहीं हैं। जिस रास्ते में चींटी के पैर न जमते हों, वहां बैल ले जाकर व्यापार करने की बात ही नहीं सोची जा सकती। अभिप्राय यह है कि स्वरूपस्थिति एवं मुक्ति होती है सारे विषयों का त्याग करके, परन्तु उसे प्राप्त करने के लिए लोग नदी-स्नान, मूर्ति-दर्शन, व्रत-उपवास, हवन-तर्पण, नामसंकीर्तन आदि करते हैं। यह ठीक है कि ये सब साधारण मनुष्यों के लिए सात्त्विक उत्साह उत्पन्न करते हैं। परन्तु इतने ही में रुक जाना अविवेक है। अलग से मोक्ष पाने का भ्रम तथा ईश्वर-दर्शन की सनक, यह वहां बैल पर सामान लादकर व्यापार करने-जैसी ही बात है जहां चींटी के पैर न टिकते हों। मोक्ष कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो कहीं बाहर से मिले। ईश्वर कुछ ऐसा नहीं जिसके दर्शन होते हों। दर्शन रूप विषय के होते हैं जो जड़ माया है। वस्तुतः सब वासनाओं को छोड़कर चेतन का अपने आप शांत हो जाना ही मोक्ष है, यही ईश्वर की प्राप्ति है

या और कुछ कहना चाहो इसे कह लो। इसके अलावा परमार्थ की कोई परिनिष्ठित परिभाषा नहीं है।

बिन देखे वह देश की, बात कहै सो कूर।
आपुहि खारी खात है, बेंचत फिरै कपूर॥ 34॥

शब्दार्थ—वह देश= मोक्ष, स्वरूपस्थिति। कूर= कायर, मूर्ख। खारी= नमक, विषय भोग। कपूर= दारचीनी की जाति के पेड़ों से निकला हुआ एक सुगन्धित सफेद द्रव्य, तात्पर्य में श्रेष्ठ ज्ञान।

भावार्थ—जीवन्मुक्ति एवं स्वरूपस्थिति का अनुभव किये बिना जो उसका अधिकारपूर्वक व्याख्यान करते हैं, वे कायर एवं मूर्ख हैं। वे स्वयं तो विषय-भोगरूपी नमक खाते हैं और दूसरे को श्रेष्ठ ज्ञानरूपी कपूर बांटते फिरते हैं॥ 34॥

व्याख्या—ज्योति-दर्शन, अमृतवल्लरी-पान, प्राणायाम, आसन, मुद्रा, अनाहतनाद-शब्द-श्रवण आदि करके हठयोगी लोग इन्द्रियजन्य विषयों एवं जड़भावों के भीतर ही अपना अनुभव रखते हैं। दूसरी तरफ शास्त्र-ज्ञानी एवं वाचिक-ज्ञानी लोग भी विषय-वासनाओं एवं राग-द्वेष में ही रात-दिन उलझे रहते हैं, परन्तु ये लोग अपने व्याख्यान में जीवन्मुक्तिस्थिति, मोक्ष एवं परमपद की बात निचोड़कर कह देते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि यह सब कायरता एवं मूर्खता के लक्षण हैं। स्वयं उस तत्त्व को ठीक से समझो और साधना द्वारा उस दशा में स्थित होओ, तब उसे साधिकार दूसरों के सामने कहने के अधिकारी बन सकते हो। "आपुहि खारी खात है, बेंचत फिरै कपूर।" वाचिकज्ञानियों के लिए व्यंग्य है।

शब्द शब्द सब कोई कहैं, वो तो शब्द विदेह।
जिभ्या पर आवै नहीं, निरखि परखि करि लेह॥ 35॥

शब्दार्थ—शब्द विदेह= शब्दरूपी देह से रहित, जो शब्द से पृथक हो, शुद्ध चेतन। निरखि परखि= यथार्थ विवेक, पूर्ण पारख।

भावार्थ—सभी मतवादी शब्द-ही-शब्द को अपना उपास्य एवं लक्ष्य कहते हैं, परन्तु व्यक्ति का जो उपासनीय एवं लक्ष्य है वह तो शब्द के जालों से सर्वथा रहित शुद्ध चेतन है। वह जीभ पर आने की वस्तु नहीं है। उसकी केवल निरख-परख करो॥35॥

व्याख्या—लोग ईश्वर, ब्रह्म, राम, ॐ, प्रणव, वोहं, सोहं, खुदा, गॉड आदि शब्दों की झड़ी लगाते रहते हैं, परन्तु क्या परम तत्त्व शब्द है? सारे शब्द हवा के झोंके हैं। उनमें तथ्य नहीं मिलेगा। वह तो शब्द-विदेह है। वह शब्द-काया से रहित है। अर्थात वह शब्दस्वरूप नहीं है। वह जीभ पर आने वाली वस्तु नहीं है। किन्तु उसी की सत्ता से शब्द बोले जाते हैं, शब्द सुने जाते हैं, दृश्य देखे जाते हैं, गंध सूंघे जाते हैं, स्पर्श ग्रहण किये जाते हैं तथा स्वाद चखे जाते हैं। वह शब्द नहीं, शब्दों का ज्ञाता है और स्पर्श, रस, गंध, रूप एवं संकल्प-विकल्पों का भी ज्ञाता है।

यहां सद्गुरु ने स्वस्वरूप को समझने के लिए निरख-परख का रास्ता बताया है। 'निरख' का अर्थ है देखना, 'परख' का अर्थ है परीक्षा करना। निरख शब्द का प्रयोगकर यहां आंख से देखने की बात नहीं है। यहां अभिधा अर्थ नहीं किन्तु लक्षणा अर्थ है। यहां 'निरख-परख' का संयुक्त अर्थ है गहराई से समझना।

मैं शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध—इन पांचों विषयों को जानता हूं, परन्तु मैं कौन हूं? पांचों विषय जड़ हैं और इन पांचों विषयों को जानने वाला मैं इनका द्रष्टा, मंता, ज्ञाता एवं बोद्धा हूं। द्रष्टा एवं बोद्धा चेतन होता है; अतएव मैं चेतन हूं। विषयों एवं बाहर से लौटकर जब व्यक्ति अंतर्मुख होता है, तब वह अपनी निरख-परख कर पाता है।

संकल्पों का आवरण जड़दृश्यों को उपस्थित करता है। जब साधक संकल्पों का त्याग कर देता है, तब उसे अपने स्वरूप का पूर्ण अनुभव होता है। "सोने के बरतन से सत्य का मुख ढका है।"[1] रमणीय प्रतीत होने वाले विषयों के स्मरणों से स्वरूपज्ञान आच्छादित रहता है। उसके हटने पर साधक स्वरूपस्थिति का साम्राज्य पाता है। स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति केवल कहने की नहीं, रहने की बात है।

जो अपने स्वरूप को न समझकर केवल शब्दों के पीछे भागते हैं, उनके लिए सद्गुरु अगली साखी में कहते हैं।

पर्वत ऊपर हर बहै, घोड़ा चढ़ि बसै गाँव।
बिना फूल भौंरा रस चाहै, कहु बिरवा को नाँव॥ 36॥

शब्दार्थ—बहै= चलना। बिरवा= पेड़।

भावार्थ—अपनी आत्मा को परम तत्त्व न समझकर शब्द-जालों में पड़े हुए जो अलग परमात्मा या मोक्ष खोजते हैं, वे मानो पत्थर पर हल चलाना चाहते हैं, घोड़े पर चढ़कर उस पर गांव बसाना चाहते हैं और उनका मन-भौंरा बिना फूल के ही रस चाहता है। कहो भला, कल्पना को छोड़कर उस वृक्ष का नाम क्या हो सकता है!॥ 36॥

व्याख्या—पत्थर के ऊपर हल नहीं चलता। चंचल घोड़े पर गांव नहीं बसता। बिना फूल के भौंरे को रस नहीं मिलता। जैसे उक्त बातों का होना असम्भव है, वैसे स्वरूपज्ञान तथा स्थिति छोड़कर एवं स्वात्माराम में रमण से हटकर कहीं भी बाहर सुख-शांति नहीं मिल सकती।

लोग पुराणों, महाकाव्यों एवं धर्मशास्त्रों की बातें पढ़ते और सुनते हैं और उनमें वर्णित स्वर्गों के काल्पनिक एवं मनोरम दृश्यों में खो जाते हैं। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि सभी परम्परा वालों ने अपने मन को बहलाने के लिए स्वर्ग का सुन्दर-से-सुन्दर रूप खींचा है। सभी मतवालों ने ऐसे ईश्वर का भी रूप गढ़ा है जो अपने भक्तों द्वारा

---

1. हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। (ईश उपनिषद् 15)

अपनी थोड़ी खुशामद करने पर उन्हें सारी सुख-सुविधा देने के लिए तैयार बैठा है। आदमी की भोगों की इच्छाएं इस जीवन में पूरी नहीं होतीं। वे पूरी हो भी नहीं सकतीं। किसी की पूरी नहीं हुई हैं। तो यहां की अपूर्ण इच्छाओं की सृष्टि के रूप में उसने आकाश में स्वर्ग-लोक की कल्पना की है। वहां भगवान हैं, देवता हैं, दिव्य भोग हैं। परंतु स्वर्गलोक, वहां के भगवान तथा देवता तो झूठे हैं ही, वहां के दिव्य भोग वही हैं जो मलिन इन्द्रियों की क्रियाएं हैं। अप्सराएं, हूरें, गिल्में तथा इनसे मिलने वाले भोग वही हैं जो यहां शूकर-कूकर और बन्दर भोगते हैं। इतनी घृणित वस्तुओं में जिसका मन रमता हो उसने अध्यात्म की छाया भी नहीं हुई है।

वासना-त्याग मोक्ष है

चन्दन बास निवारहू, तुझ कारण बन काटिया॥
जियत जीव जनि मारहू, मुये सबै निपातिया॥ 37॥

शब्दार्थ—चन्दन=एक सुगंधित लकड़ी या उसका वृक्ष, तात्पर्य में चेतन जीव। बास=गंध, वासना। निवारहू=त्याग करो। बन=जंगल, भ्रम-मान्यताएं। निपातिया=नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—हे चेतन मनुष्य! तू वासनाओं का त्याग कर। तेरे कल्याण के लिए मैंने भ्रांतियों का जंगल काट दिया है। तपस्या के नाम पर जीते जी अपने को मत पीड़ित करो या उपवास करके आत्महत्या मत करो। यदि शरीर को पीड़ित करने एवं आत्महत्या करने से मोक्ष होना माने, तो शरीरांत में सब नष्ट हो जाते हैं, फिर तो सबका मोक्ष होना सुकर हो जाना चाहिए॥ 37॥

व्याख्या—मनुष्य दुखों से पीड़ित है। वह उससे छूटना चाहता है। दुखों से छूट जाना ही मोक्ष है। परन्तु मोक्ष के विषय में लोगों को बड़ी-बड़ी भ्रांतियां हैं। नाना धार्मिक ग्रंथों में मोक्ष के बड़े तर्कहीन नुस्खे दिये गये हैं। अमुक मंत्र या नाम जपने मात्र से मोक्ष, अमुक नदी में नहाने से मोक्ष, अमुक नगर में बसने से मोक्ष, घोर तपस्या द्वारा शरीर को सुखाने से मोक्ष, किसी तथाकथित तीर्थ में आत्महत्या करने से मोक्ष, अन्न-जल छोड़कर निरन्तर उपवास करते-करते शरीर त्याग देने से मोक्ष, किसी मजहब, किताब एवं कल्पित ईश्वर में विश्वास करने से मोक्ष, यहां तक कि वैयाकरणों ने शब्द रटने से मोक्ष मान लिया, संगीत वालों ने स्वर-साधना ही से, कामियों ने संभोग से ही मोक्ष मान लिया है और अवतारवादियों ने तथाकथित अवतारों द्वारा जिनकी हत्या कर दी गयी उनका भी मोक्ष मान लिया है।

सद्गुरु ने यहां चेतन मनुष्य को चन्दन शब्द से सम्बोधित करके कहा है कि हे मानव! तू वासना का त्याग कर। वासना का त्याग ही मोक्ष है। सद्गुरु कहते हैं कि मैंने तेरे कल्याण के लिए भ्रांतियों का जंगल काट डाला है। मोक्ष के सस्ते तथा तर्कहीन नुस्खों का परदाफ़ाश कर दिया है। अब तेरा काम है कि तू स्वयं सत्यासत्य को समझ और अपना कल्याण कर!

मोक्ष न तो किसी बाहरी क्रिया का फल है और न किसी में मिलना या कहीं अन्यत्र पहुंचना मोक्ष है। मोक्ष है सारी वासनाओं का त्याग। वासनाएं ही जीव के लिए बन्धन हैं। उनके सर्वथा नष्ट हो जाने पर बन्धन समाप्त हो जाते हैं। बस यही मोक्ष है।

काम-भोग, राग-रंग, विषय-विलास की वासना तथा क्रिया का त्याग तो करना ही चाहिए, जीवन-निर्वाह के लिए जो आवश्यक हैं जैसे भोजन, वस्त्रादि इनकी भी वासना नहीं होना चाहिए। हमें जीवन-निर्वाह के लिए

खाना चाहिए, स्वाद के लिए नहीं, शरीर ढकने के लिए पहनना चाहिए, प्रदर्शन के लिए नहीं। जब मन चारों तरफ से अनासक्त एवं वासना-विहीन हो जाता है, तब हमारे लिए सर्वत्र मानो अमृत-ही-अमृत उपलब्ध हो जाता है; क्योंकि तब हमारा हृदय परम शांत हो जाता है।

सद्गुरु कहते हैं कि मोक्ष के लिए "जियत जीव जनि मारहू" जीते जी अपने आप को पीड़ा मत दो। अन्न-वस्त्र त्यागने से मोक्ष नहीं मिलता। शरीर को पीड़ा देकर मोक्ष की कल्पना गंवारूपन है। यदि शरीर को संताप देकर तथा इसकी हत्या करके मोक्ष होता तो मरने पर सबका मोक्ष मानना चाहिए। परन्तु यह बात सच नहीं है।

जीवन-निर्वाह में मध्यवर्ती व्यवहार होना चाहिए। विषय-विलास गलत है, परन्तु शरीर को संताप देना भी गलत है। ठूंसकर खाना गलत है, परन्तु अधिक उपवास भी गलत है। फैशनेबुल होना गलत है, परन्तु दिखाने के लिए फटा, मैला एवं टाट लपेटना भी गलत है। बहु-व्यवहार गलत है, परन्तु एकदम निष्क्रिय रहना भी गलत है। निरन्तर भीड़ में रहना गलत है, परन्तु साधु-संगत छोड़कर सब समय अलग-थलग रहना भी गलत है।

मोक्ष के लिए तपस्या का स्थान गौण है, साधना की प्रधानता है। तपस्या दिखाऊ, उत्तेजक और प्रचारक होती है, किन्तु साधना गम्भीर और अन्तर्मुख होती है। गीता में महाराज श्रीकृष्ण के मुख से भी यही कहलवाया गया— "आहार, विहार, चेष्टा, कर्म, सोना तथा जागना मध्यवर्ती रखने से ही योग दुख का नाशक होता है।"[1] गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा—"देह सुखाने तथा केवल ध्यान करने से वासना नहीं मिटती, उसके लिए ज्ञान पर विचार करना आवश्यक है।"[2] उन्होंने और भी कहा है—

माधो मोह पास किमि टूटै।
बाहर कोटि उपाय करिय, अभिअन्तर ग्रन्थि न टूटै॥
घृत पूरण कटाह अन्तर्गत, ससि प्रतिबिम्ब लखावै।
इंधन अनल लगाय कल्प शत, औटत नास न पावै॥
तरु कटोर महँ रह बिहंग, तरु काटै मरै न जैसे।
साधन करिय विचारहीन मन, सुद्ध होय नहिं तैसे॥
अन्तर मलिन विषयवस मन, तन पावन करिय पखारे।
मरइ न उरग अनेक जतन, बल्मीक विविध विधि मारे॥

---

1. युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ गीता 6/17॥
2. देह सुखाय पिंजर करे, धरे रैन दिन ध्यान।
तुलसी मिटै न वासना, बिना विचारे ज्ञान॥

तुलसी दास हरि गुरु करुना बिन, विमल विवेक न होई।
बिन विवेक संसार घोर निधि, पार न पावै कोई॥

गोस्वामी जी के उक्त वचनों से उनके व्यर्थ महिमापरक वचन अपने आप कट जाते हैं, जैसे—"चारि खानि जग जीव अपारा। अवध तजे तन नहिं संसारा।" रामेश्वर के लिए—"जो गंगा जल आनि चढ़ावहिं। सो सायुज्य मुक्ति पद पावहिं।" आदि। मोक्ष न छूमन्तर की चीज है और न शरीर को संताप देने से मिलता है। वासना का त्याग ही मोक्ष है। अपनी आत्मा से अलग जो कुछ है सबकी वासना का त्याग मोक्ष है।

चन्दन सर्प लपेटिया, चन्दन काह कराय॥
रोम रोम विष भीनिया, अमृत कहाँ समाय॥ 38॥

शब्दार्थ—चंदन=चेतन-मनुष्य। सर्प=अहंकार। विष=विषयासक्ति। अमृत=स्वरूपविचार, आत्मविचार, वासनाहीन दशा, शांति।

भावार्थ—जीव को अहंकार सर्प ने लपेट रखा है, अत: जीव बेचारा क्या करे! उसके रोम-रोम में तो विषयासक्ति भीनी हुई है, फिर उसमें स्वरूप-विचार एवं शांतिरूपी अमृत कहां समाये?[1] ॥ 38॥

व्याख्या—जीव का मौलिक स्वरूप निर्विकार है। परन्तु वह सांसारिक प्राणी-पदार्थों एवं देहादि के अहंकार में पड़कर विषयासक्तिरूपी विष से लिप्त हो गया है। सर्प लपेटिया, विष भीनिया तथा अमृत कहां समाय—ये तीनों वाक्य-खण्ड बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। जीव को अहंकार-सर्प ने लपेट रखा है। अहंकार-सर्प कोई स्वतंत्र प्राणी नहीं है जो दौड़कर जीव को लिपट जाये। तात्पर्य यह है कि जीव अपने स्वरूप को भूलकर देह-गेहादि विजाति भौतिक वस्तुओं में अहंता-ममता कर लिया है। यह अहंता-ममता ही उसके लिए सर्प बन गयी। हमने स्वयं अपने आप की भूल से अहंकार-सर्प को जन्म दिया है जो हमारे लिए दुख का कारण बना है।

"रोम रोम विष भीनिया" में विषयासक्ति की प्रबलता के लिए व्यंजना है। 'भीनिया' शब्द जानबूझकर प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ होता है ओतप्रोत होना। मनुष्य का मन विषयों से ओतप्रोत है। उसमें विषयों के अध्यास अत्यन्त प्रबलता से जम गये हैं। सद्गुरु कबीर कहते हैं कि फिर उसमें अमृत कहां समायेगा! स्वरूपविचार, आत्मविचार, पारखविचार एवं आत्मचिन्तन विषयी मन में कैसे हो!

---

1. इस साखी को हम इस प्रकार भी समझ सकते हैं—शीतल चंदन में सर्प के लिपटे रहने पर भी, सर्प के रोम-रोम में विष रहने से, उसमें चन्दन की शीतलता इस प्रकार प्रविष्ट नहीं होती जिससे उसका विष दूर हो जाये, इसी प्रकार दुष्टजन सत्संग में रहकर भी दुर्गुणरूपी विष से दूर नहीं हो पाते।

उक्त बातें पढ़-सुनकर मनुष्य को घबराने की आवश्यकता नहीं है। जो सर्वसामान्य की बातें हैं वे यहां बतायी गयी हैं। विषयासक्ति प्रबल होते हुए भी अन्धकार मात्र है, जो ज्ञानप्रकाश के उदय होते ही टिक नहीं सकती। घोर अन्धकार में आदमी को कुछ नहीं सूझता। वह लाठी, तलवार, बंदूक के प्रयोग से समाप्त भी नहीं होता। किन्तु घोर-से-घोर अन्धकार प्रकाश जलाते ही गायब हो जाता है। तब प्रतीत होता है कि मानो अन्धकार कभी था ही नहीं। इसी प्रकार देहाभिमान एवं विषयासक्ति अत्यन्त प्रबल दिखते हुए भी स्वरूपज्ञान उदय होते ही गायब हो जाते हैं। फिर पता नहीं चलता ये कभी थे भी। विवेकज्ञान एवं पारख की दिव्य दृष्टि का तेज अत्यन्त जाज्वल्यमान है। उसमें मन के किसी प्रकार का अन्धकार टिक नहीं सकता।

सिद्धांततः जीव अमृत है। अमृत का अर्थ ही अ-मर, अ-मृत है। व्यवहारतः वासना का त्याग अमृत है। वासना ही विष है। उसका त्याग अमृत है। व्यवहार के बिना सिद्धांत काम नहीं करता। जीव स्वरूपतः अमृत होते हुए भी दुखी है; क्योंकि वह व्यवहारतः अमृतत्व से दूर है। वह निर्वासनिक नहीं है।

वासना विष है, फोड़ा है, पीड़ा है, दर्द है। जिसने वासनाओं का त्याग कर दिया है, वह अमृत हो गया है, वह नीरोग है, सुखी है और महा शांत है।

ज्यों मोदाद समसान शिल, सबै रूप समसान॥
कहहिं कबीर वह सावज कीगति, तबकी देखि भुकान॥ 39॥

शब्दार्थ—मोदाद=स्फटिक पत्थर। समसान शिल=प्राप्त रंग के समान हो जाने वाला पत्थर। सावज=साउज, पशु, साउज उस पशु को कहते हैं जिसका शिकार किया जाये; यहां का अभिप्राय है कुत्ता।

भावार्थ—जैसे स्वच्छ कांच के समान स्फटिक पत्थर होता है जिसे प्राप्त रंग के अनुसार प्रतीत होने के नाते समसान शिला भी कहते हैं, वह सभी रूपों एवं रंगों को ग्रहण करता है, वैसे मनुष्य का मन है। यह प्राप्त वृत्तियों के रंग में रंगकर उस-उस के अनुसार बन जाता है। सद्गुरु कहते हैं कि जैसे कुत्ता शीशमहल में अपने प्रतिबिंब देखकर और उन्हें अपना प्रतिद्वंद्वी मानकर उन्हें परास्त करने के लिए भूंक-भूंककर मरता है, वैसे मनुष्य भ्रमवश अपनी ही भावनाओं को सबमें प्रतिबिंबित करके राग-द्वेष में भूंक-भूंककर मरता है॥ 39॥

व्याख्या—सद्गुरु ने इस साखी में मनुष्य के मन को स्फटिक पत्थर तथा कुत्ते के सुन्दर उदाहरण देकर जिस प्रकार से समझाया है, वह अत्यन्त तलस्पर्शी है। स्फटिक पत्थर स्वच्छ कांच के समान होता है। उसके सामने जितने रंग या रूप आते हैं, वह उन्हें ग्रहण करता रहता है। यदि उसके सामने

लाल रंग आया तो उसमें लाल रंग प्रतिबिंबित हो जाता है। पीला रंग आया तो पीला रंग प्रतिबिंबित हो जाता है। मन की यही दशा है। उसके सामने काम आया तो वह काममय लगता है, क्रोध आया तो क्रोधमय। यदि मन के सामने दुख की वृत्ति आयी तो मन दुखमय बन जाता है और यदि उसके सामने सुख आया तो वह सुखमय बन जाता है। मन में वासनाएं आयीं तो वह वासनामय एवं बन्धनरूप बन जाता है और यदि मन में वासनाहीन भावना आयी तो वह मुक्त तथा शांतिमय हो जाता है। यह सब कहने का अर्थ यह है कि मन अपने आप में न सुखरूप है न दुखरूप, न बन्धनरूप है न मुक्तरूप, न पापरूप है न पुण्यरूप। वस्तुतः जैसी-जैसी वृत्तियां उसके सामने आती हैं वह वैसे-वैसे बनता रहता है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह मन को न कोसकर अपनी वृत्तियों को सुधारे। वृत्तियों के सुधर जाने पर मन अपने आप सुधर जाता है।

स्फटिक पत्थर स्वच्छ है, उसमें पड़े हुए प्रतिबिंब तो अन्य वस्तुओं के हैं, अतएव प्रतिबिंब कोई सत्यवस्तु नहीं है, जो व्यक्ति ऐसा समझता है वह प्रतिबिंबों से प्रभावित नहीं होता। इसी प्रकार जो विवेकवान यह समझता है कि सुख-दुख विकारादि सारी वृत्तियां मन में पड़े हुए प्रतिबिंब के समान हैं, न मन मेरा स्वरूप है और न मन में पड़े हुए विकारों के प्रतिबिंब ही मेरे स्वरूप हैं; मैं तो इन सबसे सर्वथा भिन्न शुद्ध चेतन हूं, वह सुख-दुख द्वन्द्वों से रहित निर्विकार होता है। विवेकवान साधक मन और मन के द्वन्द्वों का द्रष्टा बन जाता है। अपने आप को मन तथा उसके विकारों से अलग कर लेना ही तो मोक्ष है, कल्याण है और परमपद की प्राप्ति है।

दूसरा उदाहरण कुत्ते का है। कुत्ता ऐसे मकान में घुस गया जहां सब तरफ दीवारों पर दर्पण लगे थे। उसने उसमें अपने प्रतिबिम्ब देखे। उसने समझा कि ये मेरे विरोधी कुत्ते हैं। वह भूंकने लगा और भूंकते-भूंकते मर गया। संसारी लोगों की यही दशा है। वे अपने मन में अपनी वृत्तियों की ही परिछाईं देखते हैं। जैसे उनके मन के ख्याल होते हैं उन्हें संसार के लोग वैसे लगते हैं।

जब हम किसी से द्वेष कर लेते हैं चाहे वह कितना ही अच्छा हो, तब वह हमें बुरा लगता है; और जब हम किसी से मोह कर लेते हैं चाहे वह भले ही बहुत बुरे आचरण का हो, वह हमें अच्छा लगता है। हमारे ख्याल बुरे हैं तो संसार बुरा लगता है, यदि अच्छे हैं तो अच्छा लगता है। जैसे कुत्ता शीशे में प्रतिबिम्ब देखकर तथा भूंक-भूंककर मरता है वैसे हम अपने मन के राग-द्वेष के वश होकर उन्हीं भावनाओं के चश्मे से संसार को देख-देखकर तथा उलझ-उलझकर मरते हैं।

स्फटिक पत्थर तथा कुत्ता—दोनों के उदाहरणों में सार यही है कि हमें मन की वृत्तियों को ही सुधारना है।

हठ और दृढ़ संकल्प-शक्ति का भेद

गही टेक छोड़ै नहीं, जीभ चोंच जरि जाय॥
ऐसो तप्त अंगार है, ताहि चकोर चबाय॥ 40॥
चकोर भरोसे चन्द्र के, निगलै तप्त अंगार॥
कहैं कबीर डाहै नहीं, ऐसी वस्तु लगार॥ 41॥

शब्दार्थ—टेक=संकल्प, हठ, पक्ष, आश्रय। लगार=लगाव, प्रेम।

भावार्थ—चकोर पक्षी चन्द्रमा का प्रेमी होता है वह उसके प्रेमपक्ष को कभी नहीं छोड़ता। वह तप्त अंगार को भी चन्द्रमा का अंश मानकर निगल जाता है चाहे उसकी जीभ एवं चोंच भले जल जायें। लगाव ऐसी वस्तु है कि वह जलता भी नहीं॥ 40-41॥

व्याख्या—यह प्रसिद्धि है कि चकोर पक्षी रात में चन्द्रमा के उगते ही उसकी ओर टकटकी लगाकर देखता है; क्योंकि चकोर चन्द्रमा का अत्यन्त प्रेमी होता है। उसके सामने यदि प्रज्वलित अंगार डाल दिया जाये तो उसे भी वह चन्द्रमा का अंश मानकर निगल जाता है। वह जलने की बात को लेकर डरता नहीं।

चन्द्र-चकोर का उदाहरण एकनिष्ठ समर्पित भाव के लिए है। यदि यह गलत की ओर है तो बन्धनप्रद है और यदि सत्य की ओर है तो कल्याणप्रद है। सद्‌गुरु ने चौबीसवीं रमैनी के शुरू ही में कहा है "चन्द्र चकोर की ऐसी बात जनाई। मानुष बुद्धि दीन्ह पलटाई।" अर्थात गुरुओं ने उपासकों को ऐसा उपदेश किया है कि जैसे चकोर चन्द्रमा में हठपूर्वक प्रेम करता है वैसे तुम हठपूर्वक ईश्वर में प्रेम करो। अपनी आत्मा से अलग ईश्वर एक कल्पित अवधारणा है और उसमें हठ एवं पक्षपूर्वक प्रेम करने का मतलब है स्वतंत्र विवेकसंपन्न मानवीयबुद्धि का परित्याग कर देना। अतएव सद्‌गुरु कहते हैं कि गुरुओं ने लोगों को चन्द्र-चकोर की बात बताकर तथा मानवीयबुद्धि को पलटकर उसे पशुबुद्धि का बना दिया। हाथ से बनायी हुई मूर्ति को तथा मन से बनायी अवधारणा को जो ईश्वर-परमात्मा मानकर उसी में पक्ष एवं हठ करके पड़ा रहेगा, उसे आत्मज्ञान एवं स्वरूपज्ञान कब होगा! अतएव मनुष्य को हठी एवं पक्षपाती न होकर विनम्र तथा उदार होना चाहिए और हर बात जांच-परखकर मानना चाहिए। यदि परख करने पर पूर्व की मानी हुई बात गलत ठहरती हो तो उसे छोड़ देना चाहिए। गलत एवं असत्य का पक्ष

पकड़ने से किसी का कल्याण तो हो नहीं सकता, उलटे अकल्याण एवं बन्धन हैं।

परन्तु, यदि कोई सत्यज्ञान, सत्य रहनी एवं सत्य आचरण में अविचल भाव से दृढ़ है तो उसके इस टेक का अर्थ पक्ष तथा हठ न होकर आश्रय, आधार एवं अवलंब होगा। कहा जाता है—"ठांव गुण कारी, ठांव गुण काजर।" अर्थात वही चीज गालों में लग जाये तो कालिख कहलाती है और आंखों में लग जाये तो काजल कहलाती है। मन की दृढ़ता असत्य में हो जाये तो वह पक्ष एवं हठ के नाम से जानी जायेगी, परन्तु वही दृढ़ता सत्य में हो जाये तो सत्य संकल्प के नाम से जानी जायेगी।

कोई व्यक्ति जब किसी डाकू, हत्यारे एवं आततायी को मारकर किसी सज्जन की रक्षा करता है तब उसे साहसी तथा शूर-वीर कहकर उसका सम्मान किया जाता है; और जब कोई व्यक्ति स्वयं डाकू एवं हत्यारा बनकर किसी की हत्या करता है तब उसे क्रूर एवं आततायी कहा जाता है। दोनों घटनाओं में उन दोनों व्यक्तियों द्वारा हत्या की एक-जैसी ही क्रिया हुई है, परन्तु दोनों के मानसिक स्तर में महान अन्तर रहा है। इसी प्रकार हठ तथा दृढ़ संकल्प—दोनों में एक-जैसी मजबूत पकड़ की क्रिया है, परन्तु दोनों के भावों एवं परिणामों में महान अन्तर है। असत्य के प्रति मजबूत पकड़ हठ है तथा सत्य के प्रति मजबूत पकड़ दृढ़ संकल्प है।

इस मंथन से यह सिद्ध हुआ कि हम मेहनत एक-जैसी ही करते हैं, परन्तु सही दिशा में चलने से अपने गंतव्य तक पहुंचते हैं और गलत दिशा में चलने से अपने गंतव्य से बहुत दूर हो जाते हैं। अतएव मन तथा शरीर की क्रिया का अपना महत्त्व होते हुए भी विवेक का सर्वोपरि महत्त्व है। मनुष्य को भावनाओं के जोश में बहना नहीं चाहिए, किंतु विनम्रता एवं निष्पक्षता पूर्वक सत्यासत्य का निर्णय करना चाहिए।

संसार में अधिकतम लोग ऐसे हैं जो भावनाओं में बहते हैं। वे जो हठ पकड़ लेते हैं, छोड़ते नहीं।

एक बदमाश था। वह राज्य-कर्मचारियों द्वारा पकड़ा गया। राजा ने दण्डस्वरूप उसकी नाक कटवा ली और उसे छोड़ दिया। वह अपना देश छोड़कर दूर चला गया। उसने साधु का वेष बना लिया और लोगों से कहने लगा कि यह नाक ईश्वर-दर्शन में रुकावट करती थी, इसलिए मैंने इसको काटकर फेंक दिया है। अब हर समय ईश्वर के खुले दर्शन होते हैं। ऐसी बातें कहकर वह लोगों के सामने ताली बजाकर नाचता था कि हम धन्य हैं। हमें हर समय ईश्वर के दर्शन हो रहे हैं।

आप जानते हैं कि संसार में ईश्वर-दर्शन के प्रेमी बहुत हैं। लोग उसके

पास आने लगे और उससे निवेदन करने लगे कि हे गुरुदेव! हमारी भी नाक काटकर आप हमें विधिवत दीक्षा दें जिससे हम भी ईश्वर के दर्शन कर सकें। वह लोगों की नाक काटकर उन्हें अपना चेला बनाने लगा। नाक काटने के बाद वह उनके कानों में मन्त्र देने के नाम पर यही बताता था कि देखो, अब तो तुम्हारी नाक कट ही गयी है। अब समाज को यही बताओ कि हमारी नाक कट जाने से हमें ईश्वर के साक्षात दिव्य दर्शन होते हैं। चेले उस धूर्त गुरु के पक्षपाती होते गये और उसकी बातें दोहराते गये। लोग नाक कट जाने पर नाचने लगते थे और कहने लगते थे कि हम धन्य हैं। हमें गुरुकृपा से ईश्वर-दर्शन हो रहे हैं। इस ईश्वर-दर्शन के मोह में सैकड़ों ने अपनी नाक कटवायी और कटवा लेने के बाद उस धूर्त-गुरु के पक्षपात में पड़कर उसी का राग अलापने लगे।

एक राजा ने ईश्वर-दर्शन की इच्छा अपने मन्त्री से बतायी और अपनी नाक कटवाने की बात कही। मन्त्री समझदार था। उसने कहा—हुजूर, पहले किसी विश्वासपात्र नौकर की नाक कटवाकर देख लिया जाये कि उसे ईश्वर-दर्शन होते हैं या यह सब जालसाजी है। यदि यह ईश्वर-दर्शन सच है तो नाक कटवाना कोई बड़ी बात नहीं है। मैं भी अपनी नाक कटवा सकता हूं। एक नौकर को उस धूर्त गुरु के पास भेजकर उसकी नाक कटवायी गयी। ईश्वर-दर्शन तो वैसे ही फर्जी है, नाक कटाकर करने की बात तो और ही बेवकूफी है। नौकर ने राजा तथा मंत्री को वास्तविकता बतायी कि ईश्वर-दर्शन नहीं हो रहे हैं। यह धूर्त है। वह पकड़ लिया गया और कारागार में डाल दिया गया।

यह कहानी चाहे काल्पनिक हो; परन्तु इसका सार सत्य है। संसार में अनेक धूर्तगुरु लोगों को ईश्वर-दर्शन का झांसा देकर अपने जाल में फंसाते हैं और लोग जब फंस जाते हैं तब वे चन्द्र-चकोर के उदाहरण के अनुसार उसके पक्षपाती हो जाते हैं। इससे उनका पतन होता है।

इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह निर्मान तथा निष्पक्ष विवेकी हो। वह सदैव असत्य के त्याग एवं सत्य के ग्रहण के लिए तत्पर रहे। असत्य का पक्ष मनुष्य के लिए अहितकर है, सत्य ही मनुष्य का अपना हितकर है। हां, वह सत्य में अविचल भाव से दृढ़ हो।

दृश्य-ज्योति का द्रष्टा चेतन श्रेष्ठ है

झिलमिल झगरा झूलते, बाकी छूटि न काहु॥
गोरख अटके कालपुर, कौन कहावै साहु॥ 42॥

शब्दार्थ—झिलमिल=हिलता हुआ ज्योति-प्रकाश। अटके=फंसे, बंधन में पड़े। कालपुर=कल्पना का नगर। साहु=साधु, विवेकी।

भावार्थ—प्राणायाम करते हुए त्राटकादि मुद्रा द्वारा झिलमिल ज्योति देखने के झगड़े में पड़कर सभी योगी इस भ्रम-झूले में झूलते हैं। इनमें से इससे कोई नहीं बचा। गोरखनाथ-जैसे महापुरुष भी इस कल्पना के नगर में फंस गये, फिर दूसरा कौन विवेकी कहलायेगा ! ॥ 42 ॥

व्याख्या—कुछ साधक अपने हृदय में एक बिन्दुरूप ज्योति की कल्पना करते हैं और उसमें अपने मन को रोकते अर्थात उस ज्योति-बिन्दु का ध्यान करते हैं। फिर यह कल्पना करते हैं कि वह ज्योति फैलती जा रही है। वह पूरे हृदय में फैल गयी है, पूरे शरीर में फैल गयी है, फिर वह मीलों की गोलाई में फैल गयी है, अंततः अनंत विश्व-ब्रह्मांड में फैल गयी है।

कुछ साधक उस बिन्दु को उतने ही रूप में नित्य देखते हुए ध्यान करते हैं; उसके फैलने की कल्पना नहीं करते। कुछ साधक उस बिन्दु को नाभि में, तो कोई त्रिकुटी में, कोई ब्रह्मरंध्र में देखते हुए उसका ध्यान करते हैं।

कुछ साधक शरीर के बाहर उस ज्योति को देखते हैं। इसके लिए त्राटक मुद्रा करना पड़ता है। दोनों भौंहों के बीच में खुले नेत्रों से एकटक देखने से या सामने किसी दीवार में एक गोल बिन्दु बनाकर उसे अनिमेष देखने से आंखों में गरमी आ जाने पर ज्योति दिखती है। "जब तक नेत्रों से अश्रुपात न हो तब तक अनिमेष (बिना पलक गिराये) किसी सूक्ष्म पदार्थ की ओर देखते रहने को बुधजन त्राटक-योग कहते हैं।"[1]

कुछ साधक आंखों को भींचने पर जो उसमें गरमी होती है उसे ही देखते हैं और वे आंखें बन्दकर देर तक उसी ज्योति के ध्यान में मग्न रहते हैं। आखें बन्द करने से अन्धकार, प्रकाश तथा प्रकाश के कई रंग दिखते हैं। उन्हीं में वे अपने मन को केन्द्रित करते हैं। कुछ साधक बन्द आंखों पर उंगली लगाकर हलका-सा दबाते हैं इससे उसमें गरमी होने से ज्योति दिखने लगती है। इस प्रकार ज्योति-दर्शन के अनेक तरीके हैं।

इस प्रकार ज्योति को ही आत्मा या परमात्मा मान लेने की बात और उस ज्योति को देखकर यह मान लेना कि परमात्मा के दर्शन हो गये तथा परमात्मा मिल गया एक महा भ्रम है। ज्योति तो आंख की गरमी है। ज्योति जड़-दृश्य है। उसके द्रष्टा तुम चेतन हो। दृश्य कभी श्रेष्ठ नहीं होता, किन्तु द्रष्टा ही श्रेष्ठ होता है। ज्योति, नाद आदि में मन रोकने का प्रयास एक क्रियायोग है। ये कुछ समय के लिए मन रोकने के आधार हैं। ये व्यक्ति के आत्मस्वरूप नहीं हैं। सद्गुरु कहते हैं कि इनमें अटक जाना कल्पना में फंस जाना है। अपने

---

1. निमेषोन्मेषकौ त्यक्त्वा सूक्ष्मलक्ष्यं निरीक्षयेत्।
यावदश्रूणि मुञ्चन्ति त्राटकं प्रोच्यते बुधैः ॥ हठयोग संहिता 4/43 ॥

स्वरूप से अलग किसी वस्तु एवं अवधारणा को अपना लक्ष्य एवं विश्रामस्थल मान लेना कालपुर में फंस जाना है।

योगी तथा संत के शरीर भी नाशवान हैं

गोरख रसिया योग के, मुये न जारी देह॥
माँस गली माटी मिली, कोरो माँजी देह॥ 43॥

शब्दार्थ—रसिया=रसिक, प्रेमी। कोरो=शरीर की हड्डियां। माँजी=साधना से चमकने लगीं।

भावार्थ—श्री गोरखनाथ जी योगाभ्यास के बड़े प्रेमी थे। उन्होंने अपने शरीर को योगाभ्यास में इसलिए तपाया कि यह अमर हो जाये। फलतः उनके शरीर का मांस गलकर मिट्टी में मिल गया। अभिप्राय है कि उन्होंने योगाभ्यास से मांस को गला डाला और उनकी देह की हड्डियां मंजे हुए बरतन के समान चमकने लगीं॥ 43॥

व्याख्या—योगाभ्यास से या काया-कल्प से शरीर को अजर-अमर बनाया जा सकता है—यह भ्रम बहुत पुराना है। कहा जाता है योगिराज गोरखनाथ जी ने अपने शरीर को योगबल से अमर कर लिया था। आज भी बहुत लोगों को भ्रम है कि गोरखनाथ जी आज भी अपने शरीर से विद्यमान हैं और हिमालय की कंदराओं में निवास करते हैं। परन्तु ये सारी बातें फर्जी हैं। कबीर साहेब ने ऐसी भ्रांतियों को काटने के लिए ही कहा है—"नाथ मछन्दर बाँचे नहीं, गोरख दत्त औ व्यास। कहहिं कबीर पुकारि के, ई सब परे काल के फाँस॥"[1] अर्थात मछन्दरनाथ, गोरखनाथ, दत्तात्रेय, वेदव्यास आदि किसी का शरीर नहीं बचा। सभी देहधारी काल के गाल में जाते हैं। यहां तक "गये राम औ गये लछमना।"[2] सृष्टि का नियम है जो शरीर धारण करता है, वह मरता है। चेतन अजर-अमर है, परन्तु शरीर तो किसी का भी अमर नहीं है। अनेक कणों के संयोग से जो शरीर एक दिन बना है, वह बिखरकर नष्ट होगा ही। "जो ऊगे सो आथवै, फूले सो कुम्हिलाय। जो चूने सो ढहि परे, जन्मे सो मरि जाय॥"[3] इस परम सत्य को कोई झुठला नहीं सकता।

योगाभ्यास से आयु बहुत लम्बी हो जाती है, यह भी एक भ्रम है। अच्छे-अच्छे योगी भी अल्पायु होते हैं और विषयी-पामर भी दीर्घायु होते हैं। किसका शरीर कितने दिनों तक रहता है इसका महत्त्व भी नहीं है। महत्त्व है

---

1. रमैनी साखी 54।
2. रमैनी 55।
3. कबीर अमृतवाणी।

कि कौन आदमी अपनी सीमित जिन्दगी में कितना आत्मकल्याण तथा लोककल्याण करता है।

कितने योगी एवं साधु-संन्यासी हैं जो अपनी उम्र बहुत लम्बी बताते हैं। कहावत है—"योगी अपनी उम्र लम्बी बताता है और वेश्या अपनी उम्र कम!" एक गुरु बताते हैं कि मेरे गुरु आठ सौ वर्ष की उम्र के हैं। वे हिमालय में रहते हैं। वायव्यरूप में कहीं भी पहुंचकर पुनः वे स्थूल शरीर वाले हो जाते हैं। एक तपस्वी महात्मा जो बहुत दिनों से जगह-जगह नदियों के किनारे मचान पर नंगे रहा करते हैं, उनके पीछे अनेक चमत्कार जोड़े जाते हैं। उन्हें सैकड़ों वर्षों का बताया जाता है। जबकि वे अभी सौ वर्ष की उम्र से भी कुछ कम ही होंगे।[1]

कहा जाता है कि बिना दो नम्बर का व्यापार किये धन नहीं बढ़ता है, इसी प्रकार बिना दो नम्बर का प्रचार किये धर्म नहीं बढ़ता। झुठाई और जालसाजी के आधार पर चमत्कारी बात करने वालों का धर्म है धन और जन का अधिक संग्रह। उनके धर्म की परिभाषा सत्य नहीं है, किन्तु धन-जन का विस्तार है। एक ने कहा कि मेरे गुरुजी की उम्र इस समय तीन सौ वर्ष है। अगले आदमी ने पूछा कि आप इस बात को कैसे जानते हैं? उसने कहा कि दो सौ वर्ष से तो मैं ही उनकी सेवा कर रहा हूं। एक विवेकी सन्त से एक साधु मिलने आये। उस समय उस साधु की उम्र साठ वर्ष की रही होगी। उन्होंने सन्त जी से कहा—'साहेब, आपको मैं साठ वर्ष का लगता हूंगा, परंतु इस समय मेरी उम्र नब्बे वर्ष की है।' उन संत की उम्र उस समय असी की रही होगी। उन्होंने उनसे व्यंग्य में कहा—'हां, ऐसा होता है। आपही को मैं असी वर्ष का लगता हूंगा, परन्तु मैं दो सौ वर्ष का हूं।'

वे वेषधारी-साधु लज्जित हो गये और समझ गये कि सन्त जी ने मुझे उत्तर दिया है। झूठ बोलना वैसे ही पाप है, फिर अपनी उम्र ज्यादा बताने से क्या फायदा है! आज भी उत्तरी भारत के योगी टाइप के कुछ साधु अपने आप को एक सौ बीस वर्ष तथा एक सौ चालीस वर्ष का बताते रहते हैं जो उनके मन का केवल व्यामोह है।

श्री पूरण साहेब, श्री निर्मल साहेब, आदि शंकराचार्य, स्वामी विवेकानंद, स्वामी रामतीर्थ, महात्मा ईसा, ज्ञानदेव आदि संसार की ये बड़ी-बड़ी विभूतियां अपनी-अपनी थोड़ी आयु में जो काम करके जगत का कल्याण किये वह अत्यंत प्रशंसनीय है। महापुरुष यदि धरती पर ज्यादा दिन रहें, तो संसार का ज्यादा कल्याण है, यह बात सच है। परन्तु किसी को अपनी या दूसरे की उम्र बढ़ाकर बताने से किसी का कल्याण नहीं।

---

1. सन् 1987 ई. में।

वस्तुतः मध्ययुग के धर्मग्रंथों, पुराणों, महाकाव्यों में जो अनेक व्यक्तियों के नामों के साथ उनकी उम्र के विषय में बढ़ा-चढ़ाकर लिखा गया है उसका प्रभाव पीछे की पीढ़ी पर कुछ-न-कुछ आना ही था। "राजा प्रियव्रत ग्यारह अरब वर्ष राज्य करते हैं,[1] राजा दशरथ की जब साठ हजार वर्ष की उम्र होती है तब वे श्री राम को युवराज बनाने की बातें सोचते हैं,[2] श्री राम ग्यारह हजार वर्ष राज्य करते हैं,[3] शिव जी सतासी हजार वर्ष तक समाधि ही में बैठे रहते हैं,[4] पार्वती जी चार हजार वर्ष से अधिक तपस्या करती हैं,[5] कांकभुशुंड जी एक ही आश्रम पर सत्ताइस कल्प (एक खरब, सोलह अरब, चौसठ करोड़ वर्ष) तक निवास करते हैं।[6] कहां तक गिनाया जाये, यह सूची बहुत लम्बी बनायी जा सकती है। वेदों के ऋषि ही बेचारे चतुर नहीं थे। उन्होंने केवल सौ वर्ष जीने की कल्पना की है।[7] छांदोग्य उपनिषद् के ऋषि कहते हैं कि इतरा के पुत्र महीदास ने एक सौ सोलह वर्ष की लम्बी आयु पायी थी।[8] यह तथ्यपूर्ण है। वेद, शास्त्र और उपनिषदों के ऋषि ईमानदार थे। ये पुराणों के लेखक बड़े चालाक हो गये थे। इन्हें कुछ भी लिखने और कहने में संकोच नहीं था। वस्तुतः प्राचीन ऋषियों ने सौ वर्ष की पूरी आयु मानकर ही पचीस-पचीस वर्ष के लिए चार आश्रमों की व्यवस्था की थी।

अधिकतम मनुष्य तो सौ वर्ष के भीतर ही मर जाते हैं। कोई-कोई सौ के ऊपर जाता है। इस समय कबीरपंथ के महान संत षटशास्त्री श्री हनुमान साहेब जी[9] काशीवास कर रहे हैं जो एक सौ सात-आठ वर्षों के हैं। सद्गुरु

---

1. श्री मद्भागवत, स्कंध 5, अध्याय 1, श्लोक 29। आगे 31वें श्लोक में कहा गया है कि राजा प्रियव्रत के रथ के पहिये की लीकों से सात समुद्र बने जिससे पृथ्वी सात द्वीपों वाली हो गयी।
2. वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग 2, श्लोक 8। मूल श्लोक में है कई हजार वर्ष, टीका में साठ हजार वर्ष—गीता प्रेस।
3. वाल्मीकीय रामायण, युद्धकांड, सर्ग 128, श्लोक 106, गीता प्रेस।
4. बीते संबत सहस सतासी। तजी समाधि संभु अविनाशी।

   (मानस, बालकांड, दोहा 59 के आगे)
5. संबत सहस मूल फल खाए। सागु खाइ सत बरस गवांए॥
   कुछ दिन भोजन बारि बतासा। फिर कठिन कुछ दिन उपवासा॥
   बेल पाती महि परई सुखाई। तीन सहस संबत सोइ खाई॥

   (मानस, बालकांड, दोहा 73 के आगे)
6. इहां बसत मोहि सुनु खग ईसा। बीते कलप सात औ बीसा॥

   (मानस, उत्तरकांड, दोहा 113 के बाद)
7. जीवेम शरदः शतम्। (यजुर्वेद 36/24)
8. छांदोग्य उपनिषद्, प्रपाठक 3, खंड 16, मन्त्र 7।
9. श्रद्धेय श्री हनुमान साहेब षटशास्त्री का 18-4-88 ई. को काशी में शरीरांत हो गया।

कबीर साहेब की कुल आयु लगभग एक सौ बीस वर्ष की थी। इससे थोड़ी अधिक कहीं किसी की हो सकती है। किन्तु कोई भी व्यक्ति सैकड़ों वर्ष नहीं जीता।

साधु के बंधन

बन ते भागि बेहड़े परा, करहा अपनी बान॥
बेदन करहा कासो कहै, को करहा को जान॥ 44॥

शब्दार्थ—बेहड़े=बीहड़, ऊबड़-खाबड़, भयंकर स्थान। करहा=खरहा, शशा, खरगोश। बान=स्वभाव। बेदन=वेदना, कष्ट।

भावार्थ—खरगोश अन्य हिंसक जंतुओं के डर से अपने दौड़ने के स्वभाववश भागकर एक उलझे हुए भयंकर स्थान में जा गिरा। अब वह अपनी पीड़ा किससे कहे! उसके दर्द को अन्य कौन समझेगा! अभिप्राय है कि मनुष्य गृहस्थी के बंधनों से भागकर साधु का वेष धारण किया और किसी सम्प्रदाय में दीक्षित हो गया, परंतु अपने फंसने के स्वभाववश वहां भी प्रपंच बनाकर उसमें बंध गया। अब वह अपने दुख को किससे कहे, उसके कष्ट को कौन दूर करे!॥ 44॥

व्याख्या—खरगोश का तेज दौड़ने का स्वभाव होता है। वह अपने इस स्वभाव से हिंसक जंतुओं के हमले से भागकर बचता है, परन्तु यदि कहीं तेज दौड़कर उलझी हुई जगह में गिर पड़ता है, तो फंसकर दुख ही भोगता है।

मनुष्य ने इन्द्रिय-भोगों के लोभवश तथा सम्मान के मोहवश अपने आप को जगह-जगह बंधनों में बांधने का स्वभाव बना लिया है। कुछ सात्त्विक संस्कार के मनुष्य इन बंधनों से बचने के लिए घर-गृहस्थी से भागते हैं और जाकर किसी सम्प्रदाय में दीक्षित हो जाते हैं। यदि उनमें विवेक की क्षमता नहीं है और अनासक्तिपूर्वक पवित्र रहनी में नहीं रह पाते तो वे वहां भी अपने लिए अनेक बंधन बना लेते हैं।

जो लोग साधु-वेष में आते ही हैं धन, अधिकार तथा मान-महंती के लिए, उनका हाल तो पहले से ही खस्ता है। वे साधु माने ही नहीं जा सकते। जो पहले पवित्र भाव से आते हैं, परन्तु पीछे साधु-वेष धारणकर बन्धनों में उलझ जाते हैं उनके लिए इस प्रसंग में चेतावनी है।

इस प्रसंग में गृहस्थों की बात नहीं, किन्तु विरक्त एवं साधुओं की चर्चा है। कौन साधु निर्बंध है तथा कौन बंधमान है, यह कह पाना एक कठिन काम है। जिनमें विवेक की कमी है उनमें एक दूसरे को बंधमान मानते हैं। मठाधीश-साधु भ्रमणशील-साधु को इच्छावश भटकने वाला मानता है और भ्रमणशील-साधु मठाधीश-साधु को बंधनों में बंधा हुआ मानता है। कितने

साधु मठों में कमाते-खाते हुए साधारण जीवन व्यतीत करते हैं तथा कितने भ्रमणशील-साधु भी घूमते-विचरते हुए साधारण जीवन व्यतीत करते हैं। कुछ साधु वेषधारी मठों में रहकर विषयासक्ति तथा लड़ाई-झगड़े में समय गंवाते हैं और कुछ भ्रमणशील मन के गुलाम बने चक्रवात की तरह जहां-तहां भटकते रहते हैं। आश्रम एवं मठों में तथा आश्रम-विहीन भ्रमण—दोनों में विवेकवान सन्त भी होते हैं।

कितने मठों एवं आश्रमों में साधुओं की आध्यात्मिक पढ़ाई-लिखाई होती है। वे साधना करते हैं, जन-सेवा भी करते हैं। उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ तो हर जगह होते हैं। यदि वे निष्ठापूर्वक आगे बढ़ रहे हैं तो प्रशंसनीय हैं। साधुओं का आरम्भिक प्रशिक्षण, उनकी विधिवत शिक्षा-दीक्षा तथा धार्मिक ग्रन्थों का प्रकाशन, यह सब आश्रम में ही सम्भव है। आश्रमधारियों को केवल आश्रम में ही नहीं बैठ जाना चाहिए। उन्हें समय-समय से जनता में निकलकर पवित्र विचारों का प्रचार करना चाहिए और स्वयं साधना में रहते हुए जीवनलक्ष्य शांति की प्राप्ति के लिए प्रयत्नवान रहना चाहिए। आश्रमविहीन साधुओं को विवेकपूर्वक विचरण करते हुए अपने और दूसरे के कल्याण के यत्न करना चाहिए।

अपने में त्याग की ऊंचाई और दूसरे में बंधनों की उपस्थिति देखने का पचड़ा बहुत-से साधुओं के दिमाग में होता है। मामूली ही नहीं, बड़े-बड़े कहलाने वालों में भी यह मानसिक रोग होता है।

एक बार एक सन्त अपने त्याग की बड़ी महिमा गाने लगे। वे पैसे नहीं छूते थे। कपड़े सीमित रखते थे। और भी उनमें कई बाहरी दिखावा के त्याग थे। उनसे कहा गया कि महाराज, त्याग तो बहुत बड़ी चीज है। आपके ही सम्प्रदाय की दूसरी शाखा में दिगंबर साधु होते हैं। वे कपड़ा तक नहीं पहनते। उनका त्याग धन्य है।

उन्होंने छूटते हुए कहा कि वे नरक में जाते हैं। क्योंकि ठण्डी में उनके शिष्य जमीन में गड्ढा खोदकर तथा उसमें इंधन डालकर जलाते हैं। जब गड्ढा गरम हो जाता है तब वे दिगम्बर साधु उसमें रहते हैं।

त्याग-तपस्या में प्रवीण साधु भी इस प्रकार दूसरों को बंधमान और अपने आप को निर्बंध होने की डींग हांकते रहते हैं। सच्चा साधक एवं सन्त दूसरे के बंधनों को देखने और कहने के चक्कर में नहीं रहता। वह तो अपने मन के बन्धनों को देखता है और उनसे अपने आप को बचाता है। आदमी अपने मन के बन्धनों को जान सकता है, परन्तु उसकी उधर दृष्टि नहीं रहती और दूसरे के बन्धनों को वह कैसे जान सकता है, परन्तु उसको जानने की कोशिश में रहता है और मन की कल्पना के अनुसार दूसरे के बन्धनों को

कहता फिरता है।

साधक साधु को चाहिए कि वह दूसरों के बन्धनों का पता लगाने तथा कहने के चक्कर में न पड़े, किन्तु अपने बन्धनों को देखे तथा उन्हें निकाले। राग-द्वेष बन्धन हैं। उनका फल दुखी होना है। जिसके मन में खीज, दुख एवं संताप है, वह राग-द्वेष वाला है और वही बंधमान है। इस कसौटी से सदैव अपने को कसे। साधक को चाहिए कि वह देखे कि मैं दुखी तो नहीं होता हूं। यदि दुखी होता हूं तो दोषी हूं।

लोग घर छोड़कर साधु-वेष में आते हैं और यहां आकर यदि वे राग-द्वेष, झगड़ा-लड़ाई, चिंता, शोक, मोह, विकलता, अशांति, दुख आदि में ही पड़े हैं तो उनका साधु-वेष में आना बेकार है। मनुष्य भोग-मान के आसक्तिवश बन्धन बनाने का स्वभाव वाला हो गया है। साधक को चाहिए कि वह बन्धनों से बचे।

साधक को चाहिए कि वह निवृत्ति एवं प्रवृत्ति तथा बन्धन एवं निर्बंधता को स्थूल दृष्टि से न देखे। निवृत्ति में प्रवृत्ति तथा प्रवृत्ति में निवृत्ति होती है। सब काम विवेकपूर्वक ही होना चाहिए।

राग-द्वेष तो बन्धन हैं ही, बन्धनों का एक दूसरा भी आयाम है, वह है अबोधवश अपने लक्ष्य को बाहर खोजना। कितने विरक्त साधु देवी-देवताओं के चक्कर में पड़े भटकते हैं और अपने लक्ष्य को किसी बाहरी ईश्वर में खोजते हैं। ऐसे लोग अपने संप्रदाय की मर्यादा के मोह में पड़े रहते हैं और उसे जान जाने पर भी तोड़ नहीं पाते। वे ऐसा करने में अपनी प्रतिष्ठा की हानि समझते हैं। परन्तु आत्मकल्याण के लिए तो भोग और मान—सबका त्याग करना पड़ता है। ठीक ही कहा है—

साधू होना चाहिये, पक्का ह्वै के खेल।
कच्चा सरसों पेरि के, खरी भया नहिं तेल॥

(बीजक, साखी 280)

जेहि त्यागन पहिले किह्यो, कियो न तेहि को ख्याल।
परलोभन के फन्द पड़ि, तलफि रह्यो जिमि बाल॥

(विशालवचनामृत)

घर में रहु तो भक्ति करु, नातरु करु वैराग।
वैरागी बन्धन करै, ताको बड़ो अभाग॥

बहुत दिवस ते हींड़िया, शून्य समाधि लगाय॥
करहा पड़ा गाड़ में, दूरि परा पछिताय॥ 45॥

शब्दार्थ—हींड़िया=खोज किया, भटकता रहा। करहा=खरगोश। गाड़= गड्डा।

भावार्थ—हठयोगी आदि अनेक साधक शून्य में समाधि लगाकर बहुत दिनों तक ब्रह्म को खोजते रहे, परन्तु वह न मिला। इनकी दशा वैसे हुई जैसे खरगोश अपने निवास स्थान से दूर किसी कंटीले तथा झाड़दार गहरे गड्ढे में पड़ा पश्चाताप कर रहा हो॥ 45॥

व्याख्या—आध्यात्मिक क्षेत्र में यह बहुत बड़ा भ्रम है कि परमात्मा एवं ब्रह्म व्यक्ति की अपनी आत्मा से कोई अलग वस्तु है और खोज करने पर मिलती है। कोई कर्मकांड के द्वारा हवन-तर्पण आदि कर उसे खोजता है, कोई शास्त्र-अध्ययन द्वारा खोजता है, कोई तीर्थों में खोजता है, कोई मूर्ति आदि की पूजा द्वारा खोजता है, कोई ध्यान-समाधि द्वारा खोजता है। हठयोगी आदि शून्य में समाधि लगाकर खोजते हैं।

पहली बात तो यह समझ लेना चाहिए कि व्यक्ति की अपनी चेतना एवं आत्मा के अलावा कहीं कोई परमात्मा नहीं है जो मिल सके। दूसरी बात है शून्य में समाधि लगाकर ब्रह्म को खोजने की बात। इसे थोड़ा समझ लें तो बात सीधी हो जाये। समाधि लगाकर शून्य में खोजना नहीं है, किन्तु समाधि द्वारा संकल्पों को शून्य कर देना है। संकल्पों के शून्य हो जाने पर व्यक्ति की अपनी चेतना मात्र रह जाती है, वही परम तत्त्व है। जब तक संकल्प रहते हैं तब तक जड़दृश्य-प्रपंच रहता है और जब संकल्प समाप्त हो गये अर्थात संकल्पों का शून्यत्व हो गया, तब दृश्य समाप्त हो गया। फिर तब अपने चेतनस्वरूप का बोध मात्र रह जाता है।

इस प्रकार खोजकर कुछ पाना नहीं है, किन्तु आज तक जो कुछ अपने स्वरूप से भिन्न वस्तुओं एवं अवधारणाओं को अपनी मान रखा है उन्हें केवल छोड़ना है। बाहरी सब कुछ छूट जाने पर स्वस्वरूप अपने आप रह जाता है।

बाहरी शून्य, ज्योति, नाद आदि में लीन होना एक भास-अध्यास में लीन होना है जो विजाति एवं नाशवान है। अपने सत्य चेतनस्वरूप की स्थिति ही नित्य है, क्योंकि उसका अपने आप से कभी वियोग नहीं।

कबीर भरम न भाजिया, बहुबिधि धरिया भेष॥
साँईं के परचावते, अन्तर रहि गइ रेष॥ 46॥

शब्दार्थ—साँईं=ब्रह्म। परचावते=परिचय करते-कराते। अन्तर=मन में। रेष=हानि, क्षति, रेख, लकीर, अध्यास, वासना।

भावार्थ—सद्गुरु कहते हैं कि लोग नाना सम्प्रदायों में भक्त तथा साधुओं के नाना वेष धारण कर लेते हैं और उनके कर्मकांड तथा वाणी-जाल

में उलझ जाते हैं, परन्तु उनके मन की भ्रांति नहीं मिटती। गुरु और शिष्य परस्पर ब्रह्म का परिचय करते-कराते हुए घोटाले में रह जाते हैं और उनके मन में किसी-न-किसी रूप में संसार की वासना शेष रह जाती है॥ 46 ॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर के वचन अत्यन्त मार्मिक होते हैं। वे कहते हैं कि लोग भक्त तथा साधु के वेष तो धारण कर लेते हैं और अपने-अपने वेष एवं सम्प्रदाय के अनुसार टंट-घंट करते हैं, धर्मशास्त्र पढ़ते हैं, जप-कीर्तन करते हैं, रोजा-हज्ज-नमाज एवं तीर्थ करते हैं; तपस्या, ध्यान और भी जिनसे जो बन पड़ता है वह सब करते हैं, परन्तु उनके मन की भ्रांति नहीं जाती। वे जीवनभर भगवान और मुक्ति को बाहर टटोलते रहते हैं।

कितने दिल के सच्चे साधक होते हैं, परन्तु सच्चे पारखी गुरु के अभाव में वे साधना-तपस्या करते हुए भी निर्भ्रांत नहीं हो पाते। उन्हें सृष्टि के विषय में कारण-कार्य-व्यवस्था का भी ज्ञान नहीं होता, इसलिए वे सदैव चमत्कारों के चक्कर में पड़े रहते हैं। धर्मग्रन्थों में लिखी अतिशयोक्तियों, साधु-महात्माओं एवं तथाकथित अवतारों, पैगम्बरों के नाम से जुड़े हुए चमत्कारों को वे सत्य मानते हैं; क्योंकि न उनमें निर्भयता एवं निष्पक्षतापर्वूक स्वतंत्र चिंतन करने का ख्याल है और न उन्हें सच्चे पारखी गुरु मिले हैं कि उनकी आंखों में उंगली डालकर उन्हें सत्य दिखा सकें। अतएव न उन्हें जड़-चेतन का भिन्न विवेक है, न जगत के पदार्थों के गुण-स्वभावों का ध्यान है और न वे विश्व के शाश्वत नियमों पर ध्यान देना चाहते हैं। क्योंकि विश्व की वास्तविकता जान लेने पर उनके मन में पले हुए देवी-देवता तथा चमत्कार-पोषित सारे संस्कार छटने लगते हैं। इसलिए वे सत्य ज्ञान से घबराते हैं। ऐतिहासिक अध्ययन करते ही देवी-देवताओं एवं अवतारवाद की बालू-भित्ति भहराने लगती है, स्वरूपज्ञान में आत्म-भिन्न ईश्वर के ख्वाब मिटने लगते हैं। इसलिए ये नाना संप्रदाय के भक्त-साधु सत्संग एवं निर्णय से दूर भागते हैं। प्रकाश में आने से उन्हें यह भय है कि उनका युगों का प्यारा अन्धकार गायब हो जायेगा। अतएव सद्गुरु का यह हृदय को झकझोर देने वाला वचन याद आता है "कबीर भरम न भाजिया, बहुबिधि धरिया भेष।"

कितने गुरु और शिष्य ब्रह्म को समझाने और समझने का प्रयास करते हैं, परस्पर अन्वय-व्यतिरेक अर्थात नियम एवं अपवाद, संगति और असंगति पर चर्चा करते हैं और वे अपने आप को ब्रह्मज्ञानी भी मान लेते हैं, परन्तु उनके मन में संसार की लकीर बनी रह जाती है। वे कभी कहते हैं कि ब्रह्म और जगत अलग-अलग हैं और कभी कहते हैं कि दोनों एक ही है। कभी कहते हैं संसार प्रभु की लीला है और कभी कहते हैं कि यह संसार प्रभु से अलग कहां है ! कभी कहते हैं कि प्रभु अपने भीतर ही है और कभी वे व्याकुल

होकर प्रभु को बाहर खोजने लगते हैं। कभी कहते हैं विषय-भोगों एवं उनकी वासनाओं का पूर्ण त्याग हुए बिना कल्याण नहीं और कभी कहते हैं कि भोग और त्याग दोनों बराबर हैं। वे कहते हैं कि विषयों में तो आनन्द है नहीं, यदि विषयों के भोग में आनन्द आ रहा है तो ब्रह्मानन्द ही है। इसलिए 'भोगानन्द, विषयानन्द, ब्रह्मानन्द जहां देखो तहां आनन्द ही आनन्द छाया है।' इस प्रकार पारख बिना सब भटक रहे हैं। सद्गुरु का यह वचन अत्यन्त तलस्पर्शी है "साईं के परचावते, अन्तर रहि गइ रेष।" रेष कहते हैं हानि एवं क्षति को। यदि स्वरूपज्ञान का सच्चा बोध नहीं हुआ, विषय-वासनाओं का पूर्ण त्याग होकर स्वरूपस्थिति नहीं हुई तो यही तो भारी हानि है। रेष को यदि रेख पढ़ें तो अर्थ होता है लकीर, अध्यास एवं वासना। अपने चेतनस्वरूप को जड़ से सर्वथा भिन्न समझकर और विषय-वासनाओं का सर्वथा त्याग कर जब तक स्वरूपस्थिति नहीं होती, तब तक किसी-न-किसी प्रकार जगत का अध्यास मन में रहता ही है और तब तक जीव को भटकना ही पड़ेगा।

श्री रामरहस साहेब ने सच कहा है—

आप अपन पौ भेद बिनु, उलटि पलटि अरुझाय।
गुरु बिन मिटै न दुगदुगी, अनबनि यतन नशाय॥

(पंचग्रन्थी, रमैनी 25)

जीवन-जुआ में हार से बचो

बिनु डाँड़े जग डाँड़िया, सोरठ परिया डाँड़॥
बाटनि हारे लोभिया, गुर ते मीठी खाँड़॥ 47॥

शब्दार्थ—बिनु डाँड़े=बिना दंड किये। डाँड़िया=दंडित हुआ। सोरठ=जुआ (सोर=सोलह, ठ=ठौर—सोलह जगह—जुआ खेलने के सोलह कोष्ठक)। डाँड़=व्यर्थ। बाटनि=जुआ में पड़ने वाली चिट्ठी, दावं, बाजी। गुर=गुड़। खांड़=शकर।

भावार्थ—संसार के लोगों को किसी ने दण्डित नहीं किया, किन्तु ये अपने अज्ञानवश स्वयं ही दण्डित हुए। इनका मानव-जीवनरूपी जुआ व्यर्थ गया। ये सुख के लोभी अपने कल्याण की इच्छा का दावं हार गये। गुड़ से शकर मीठा होता है, परन्तु ये गुड़ को शकर न बना सके अर्थात जीवन को तपाकर आध्यात्मिक लाभ न ले सके॥ 47॥

व्याख्या—मानव जीवन एक जुआ है। मनुष्य इसमें अपने कल्याण की इच्छा का दावं लगाता है, अपनी समझ के अनुसार श्रम भी करता है; परन्तु समझ ठीक न होने से वह जीवन-जुआ में कल्याण की बाजी हार जाता है।

वह गुड़ को शकर नहीं बना पाता अर्थात अपने कच्चे माल को पक्का नहीं बना पाता, जीवन को तपाकर इसे उच्च नहीं बना पाता। यही जीवन की सबसे बड़ी हार है।

किसी हारे हुए जुआड़ी को देखो, उसकी कितनी दयनीय दशा होती है। ऋग्वेद के ऋषि कवष ने जुआड़ी की दुर्दशा का चित्र खींचा है जो ऋग्वेद के दसवें मण्डल के चौंतीसवें सूक्त में सुसज्जित है। उसमें से केवल दसवें तथा ग्यारहवें मन्त्र का अर्थ यहां देखें—"जुआड़ी की स्त्री दीन-हीन वेष में यातना भोगती रहती है। पुत्र कहां-कहां घूमा करता है—ऐसा सोचकर जुआड़ी की माता व्याकुल रहा करती है। जो जुआड़ी को उधार देता है, वह इस सन्देह में रहता है कि मेरा धन फिर मिलेगा या नहीं। जुआड़ी बेचारा दूसरे के घर में रात काटा करता है॥ 10॥ अपनी स्त्री की दशा देखकर जुआड़ी का हृदय फटा करता है। अन्यान्य स्त्रियों का सौभाग्य और सुन्दर अट्टालिका देखकर जुआड़ी को सन्ताप होता है। जो जुआड़ी प्रातःकाल घोड़े की सवारी पर आता है, वही संध्या-समय दरिद्र के समान जाड़े से बचने के लिए आग तापता है—शरीर पर वस्त्र भी नहीं रहता॥ 11॥"[1]

संसार में देखो तो लगेगा कि अधिकतम लोग अपने जीवन-जुआ को हार गये हैं। जीवन जितना बीतता जाये, जीवन में सुख, शांति, प्रसन्नता बढ़ते जायें, तो यह जीवन-जुआ में जीत हुई; परन्तु देखो संसार को। निर्धन दुखी हैं, धनी दुखी हैं। पुत्रहीन दुखी हैं, पुत्रवान दुखी हैं। मूढ़ दुखी हैं, चतुर दुखी हैं। अशिक्षित दुखी हैं, विद्वान दुखी हैं। अकिंचन दुखी हैं, सम्पन्न दुखी हैं। तिरस्कृत दुखी हैं, सम्मानित दुखी हैं। इन बाहरी प्राणी, पदार्थों एवं प्रतिष्ठा से भला स्थायी प्रसन्नता कैसे मिल सकती है! बिना सच्ची समझ और पवित्र आचरण के ये बाहरी भवन एवं उद्यान से भीतर का नन्दन-वन कैसे खिल सकता है!

सद्‌गुरु कहते हैं "बिनु डाँड़े जग डँड़िया" बिना दण्डित किये संसार के लोग दण्डित हुए। इन मनुष्यों को न कोई भगवान दण्ड दे रहा है और न कोई शैतान! ये अपने अज्ञान और मन, वाणी तथा इन्द्रियों के दुष्कर्मवश दंडित हो रहे हैं। "बाटनि हारे लोभिया" संसार की चीजों में लोभ-मोह करने से जीवन में हार होगी ही।

राम को वनवास का दण्ड कौन दिया? उन्हीं की भूल। देखिए वाल्मीकीय रामायण के अयोध्या कांड का चौथा सर्ग। दशरथ द्वारा राम को युवराज बनाने की बात कहने पर राम उसका प्रतिवाद नहीं करते कि भरत

---

1. ऋग्वेद, मंडल 10, सूक्त 34, मन्त्र 10, 11।

तथा शत्रुघ्न को भी उनके ननिहाल से बुला लें। राम गद्दी के लिए तैयार हो जाते हैं। थोड़े समय में दशरथ पुनः राम को बुलाते हैं कि कल ही तुम्हारा तिलक हो जाना चाहिए। जब तक भरत अयोध्या से दूर हैं तब तक हो जाना चाहिए। यद्यपि वे सज्जन हैं, तुम्हारे प्रेमी हैं, परन्तु सज्जन का भी समय से मन बदल जाता है।[1] इस पर राम एक वचन भी नहीं कहते हैं और प्रस्ताव स्वीकार कर उसके लिए अनुष्ठान में लग जाते हैं। वन जाकर भी उनके दुख क्यों बढ़ते हैं! कथानुसार वे शूर्पणखा का धैर्यपूर्वक दूसरे तरीके से निवारण न कर उसके नाक-कान कटवा देते हैं। उन्होंने विश्वामित्र के यज्ञस्थल से जैसे मारीच को बिना फल के बाण से शत योजन दूर फेंक दिया था, वैसे शूर्पणखा को भी लंका फेंक देते, उसके नाक-कान न कटवाते तो कितना सुंदर था! इतना ही नहीं, राम और सीता—दोनों ही सुन्दर मृग के लोभ में पड़कर लक्ष्मण की चेतावनी की भी अवहेलना कर देते हैं और चमकते हुए मृग के पीछे दौड़ते हैं। यहीं से उनके जीवन में दुख गहराता है। आगे चलकर इस अपनी नैतिकता के प्रघटनन में वाली को भी छिपकर मारते हैं। उनके जीवन में दुख निरन्तर बढ़ता जाता है।

कौरवों तथा पांडवों को किसने दुखी किया था! आपस के राग-द्वेष तथा जुआ जैसे अधम काम ने। उसमें भी राज्य को, स्वयं को, भाई को, यहां तक कि पत्नी-द्रौपदी तक को जुआ के दावं पर लगा देना, छीः! इससे अधिक दुख को निमंत्रित करने का और क्या साधन हो सकता है!

यादवों के विनाश का दुख क्यों आया! क्या किसी दूसरे ने उनको दुख दिया! उनके अपने स्वयं के राग-द्वेष तथा मनोमालिन्यता ने उन्हें तोड़कर तथा उनका सर्वनाश करके रख दिया।

कोई दूसरा हमें दुख नहीं दे सकता। हमारे मन के लोभ-मोह से हमारी बुद्धि में भ्रम पड़ता है और बुद्धि भ्रमित होने से हम गलत काम करते हैं। ऊपर राम, कृष्ण, पांडव आदि के उदाहरण इसलिए दिये गये कि हम यह समझ लें कि बड़े-बड़े लोग भी लोभ-मोह में फंसकर जीवन की बाजी हारते हैं और जीवन में दुख उठाते हैं, फिर हम किस खेत की मूली हैं!

"बाटनि हारे लोभिया" यहां लोभिया शब्द में जीवन की सारी कमजोरियों की व्यंजना है। लोभी व्यक्ति सर्वाधिक कमजोर आदमी होता है। सांसारिक प्राणी-पदार्थों के लोभ-मोह में पड़कर ही हम प्रपंच में फंसते हैं और अपने कल्याण की बाजी हार जाते हैं। इस जीवन में त्यागी ही सुखी हो सकता है, लोभी एवं भोगी नहीं। जीवन में सुख का रहस्य अनासक्ति ही है। सब तरफ

---

1. वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग 4, श्लोक 25 से 29। गीताप्रेस गोरखपुर।

से पूर्ण अनासक्त व्यक्ति ही पूर्ण सुखी हो सकता है।

"गुर ते मीठी खाँड़" गुड़ से शकर मीठा होता है; परन्तु गुड़ से शकर बनाने में परिश्रम है। इसी प्रकार सांसारिक वस्तुओं से सम्पन्न भौतिकता से आध्यात्मिक ऊंचाई पर पहुंचा हुआ जीवन सच्चे अर्थ में सुखी होता है; परन्तु इसके लिए मनुष्य को त्याग और तप करना पड़ता है। गुड़ कच्चा माल है और उसको शकर बना देने पर पक्का माल बन जाता है। भौतिक जीवन एक कच्चा माल है। परन्तु जब यह आध्यात्मिक उन्नति के शिखर पर पहुंच जाता है तब पक्का माल बन जाता है। किन्तु इसके लिए श्रम करना पड़ता है। मनुष्य को चाहिए कि वह केवल कमाते-खाते हुए साधारण जीवन ही न जीये, किन्तु अपनी आत्मा को, अपने आपा को एवं अपने स्वरूप को पहचाने, इन्द्रियों के मलिन भोगों का त्याग करे, मन के राग-द्वेष का त्याग करे, चित्त को निर्मल करे, अपने स्वरूप में स्थित होवे। जीवन की सर्वोच्च दशा को प्राप्त करे।

जीव देह से सर्वथा भिन्न है

मलयागिर की बास में, वृक्ष रहा सब गोय॥
कहबे को चन्दन भया, मलयागिर ना होय॥ 48॥

शब्दार्थ—मलयागिर=मलयगिरि, दक्षिण भारत का एक पर्वत जिसमें चन्दन-वृक्षों की बहुलता है; चन्दन, तात्पर्य में चेतन। बास=सुगंधी, चैतन्यता। गोय=लीन, छिपा हुआ।

भावार्थ—मलयगिरि की सुगंधी में उसके आस-पास के सारे वृक्ष ओतप्रोत हो जाते हैं। वे कहने मात्र के लिए चन्दन बन जाते हैं, परन्तु मलयगिरि नहीं हो सकते। इसी प्रकार चेतन की चैतन्यता में पूर्ण शरीर चैतन्यवत प्रतीत होता है, परन्तु शरीर मूलतः चेतन नहीं हो सकता॥ 48॥

व्याख्या—उक्त साखी अन्योक्ति अलंकार में कही गयी है। पूरी साखी में ऊपरी तौर से मलयगिरि, उसकी वास, अन्य वृक्ष आदि का वर्णन है, परन्तु उसकी व्यंजना चेतन और जड़-देह की तरफ है।

मलयगिरि की सुगंधी से अन्य वृक्षों में सुगंधी आ सकती है, परन्तु वे सारे वृक्ष मलयगिरि नहीं हो सकते। इसी प्रकार जीव के संसर्ग से यह जड़-काया चेतनवत भासती है, परन्तु यह शुद्ध चेतन नहीं हो सकती। जीव अलग है और शरीर अलग है। जैसे गाड़ी में चालक बैठकर गाड़ी चलाता है, वैसे शरीर में स्थित होकर जीव शरीर को चलाता है। जैसे मकान में रहने वाला मकान-मालिक मकान से अलग है, वैसे शरीर में रहने वाला जीव शरीर से

अलग है।

जीव शरीर को अपना स्वरूप मान लेता है, यही सारे दुखों का कारण है। शरीर को अपना स्वरूप मान लेने पर उसका अहंकार होता है। फिर काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि सारे विकार उत्पन्न होते हैं। शरीर में अहंता-ममता करके ही तो सारे दुख उत्पन्न होते हैं। यदि हम एकांत में बैठकर या लेटे हुए ही मन में विचार करें कि शरीर मिट गया है, जला दिया गया है, राख होकर उड़ गया है, मेरे पास शरीर नहीं है, मैं केवल शुद्ध चेतन हूं, तो ऐसी स्थिति में फिर क्या दुख रहेगा! सारे दुख शरीर के अहंकार से पैदा होते हैं। शरीर तो केवल कल्याण-साधन है। जैसे पतरी भोजन करने के लिए मिलती है, भोजन करने के बाद वह निरर्थक हो जाती है, वैसे शरीर केवल आत्मकल्याण एवं पर-सेवा का साधन मात्र है, अंत में यह एक दिन निरर्थक हो जाता है।

साधक को चाहिए कि वह अपने मन को देहाभिमान के ज्वर से मुक्त करे। देहाभिमान फोड़ा है, पीड़ा है, क्लेश है। मैं केवल शुद्ध चेतन हूं, इस वास्तविक भाव में निमग्न रहने पर साधक कृतार्थ हो जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् का ऋषि कहता है—"जिस व्यक्ति ने जान लिया कि 'अयमस्मि' मैं यह चेतन पुरुष हूं, वह किस इच्छा एवं किस कामना से शरीर के पीछे चलकर जन्म-मरण के बुखार को चढ़ाये रखेगा।" यथा—

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥

(बृहदारण्यक उपनिषद् 4/4/12)

विनयावत ही सत्संग से लाभ ले सकता है

मलयागिर की बास में, बेधा ढाँक पलास॥
बेना कबहुँ न बेधिया, जुग जुग रहिया पास॥ 49॥

शब्दार्थ—बेना=बांस।

भावार्थ—ढांक-पलाश जैसे साधारण पेड़-पौधे भी सरस होने से मलयगिरि की सुगंध में सुवासित होकर चंदन बन जाते हैं। परन्तु बांस-जैसे बड़े वृक्ष भी गांठदार, पोले तथा नीरस होने से मलयगिरि की सुगंधी को नहीं ग्रहण कर पाते, भले ही वे मलयगिरि के पास बहुत काल से रहते हों। इसी प्रकार साधारण मनुष्य अपनी विनम्रता के कारण सत्संग से लाभ लेकर महान हो जाते हैं, परन्तु बड़प्पन के अहंकारी लोग चाहे नित्य साधुजनों के पास ही रहें, उनसे कोई लाभ नहीं ले पाते॥ 49॥

व्याख्या—सब जानते हैं कि ढांक-पलाश के पेड़ बहुत साधारण होते

हैं। परन्तु उनमें बांस-जैसी गांठ नहीं होती, बांस-जैसा पोलापन नहीं होता और बांस-जैसी नीरसता नहीं होती। वे निर्ग्रंथ, ठोस तथा सरस होते हैं, इसलिए छोटे-छोटे होने पर भी मलयगिरि के निकट होने से उनकी सुगंध में सुवासित होकर चन्दन बन जाते हैं। किन्तु बांस बड़े ऊंचे होने पर भी वे कठोर गांठ वाले, पोले तथा नीरस होते हैं। इसलिए उनमें मलयगिरि की सुगंधी नहीं बिंधती।

इस अन्योक्ति अलंकार का प्रयोग सत्संग से लाभ ले पाने और न ले पाने के विषय में है। उदाहरण में ऐसा होता है कि नहीं, अर्थात मलयगिरि की सुगंध से अन्य वृक्ष चन्दन बनते हैं कि नहीं, इन पंक्तियों का लेखक नहीं जानता। ऐसा न होता हो, तो भी कोई हानि नहीं। कितने उदाहरण सिद्धांत को समझाने के लिए दिये जाते हैं। सिद्धांत में यह सच है कि विनम्र जीव सत्संग से लाभ ले पाते हैं, अहंकारी नहीं।

बांस में पोलापन, गांठ तथा नीरसता है। जो मनुष्य अहंकाररूपी गांठ, कपटरूपी पोलापन तथा श्रद्धाहीनतारूपी नीरसता रखेगा वह चाहे कितना बड़ा विद्वान, तथाकथित उच्च कुलोत्पन्न, धनवान एवं प्रतिष्ठित हो, सत्संग से कोई लाभ नहीं ले सकेगा। परन्तु कोई अशिक्षित हो, तथाकथित निम्न कुल में उत्पन्न हो, धन तथा प्रतिष्ठा से हीन हो, परन्तु विनम्र, निष्कपट तथा श्रद्धालु है, तो निश्चित ही वह सत्संग से महान बन जायेगा।

अहंकार, कपट तथा भावनाहीनता मनुष्य की बहुत बड़ी कुरूपता है। इस कुरूपता को रखकर आदमी प्रायः हर तरफ असफल रहता है। आध्यात्मिक-मार्ग में तो इस कुरूपता को रखकर कोई प्रवेश ही नहीं पा सकता। निर्मानता, निष्कपटता एवं भावना मनुष्य का उच्चतम सौंदर्य है। इससे कौन नहीं मोहित होता ! इसके बिना चमड़ी का सौंदर्य दो कौड़ी का है।

उच्च कुल, विद्या, धन और प्रतिष्ठा इन्हीं सब का अहंकार होता है। पूरी मानवजाति उच्च कुल है। इसमें ऊंच-नीच कुल कौन है ! अतएव मानव के भीतर ऊंच-नीच कुल मानना केवल मिथ्या अहंकार तथा हीनभावना की ग्रंथि है। सारी विद्याएं वस्तु को जानने तथा जनाने के लिए हैं। यदि अनेक विद्याओं का ज्ञाता होकर भी मनुष्य मानवीय गुणों से रहित रहा, तो उसकी विद्या किस काम की ! धन तो शरीर-निर्वाह की वस्तु है। धन लोगों के पास कम-वेश होता ही है। अरबपति भी केवल पेट की अग्नि शांत करता है और दरिद्र भी। इसलिए कुछ कंकर-पत्थररूपी धन से युक्त होने से कोई श्रेष्ठ नहीं हो सकता। संसार में प्रतिष्ठा तो दुराचारी को भी मिल जाती है; क्योंकि लोगों द्वारा प्रतिष्ठा पाने के बहुत कारण होते हैं।

वस्तुतः सच्चा मानव वही है जो विनम्र, निष्कपट तथा भावना-प्रधान है

और जो सत्पुरुषों की संगत से सद्‌गुण एवं सद्ज्ञान प्राप्तकर अपना कल्याण करता है और दूसरों के कल्याण में सहयोग करता है।

भक्ति द्वारा आदमी ऊपर उठता है। अहंकारी आदमी भक्त नहीं हो सकता। इतिहाससिद्ध बात है कि कितने ही उच्च कहलाने वाले लोग अपने अहंकारवश पतित हो गये और लोकदृष्टि में निम्न कहलाने वाले लोग सत्संग-भक्ति के प्रताप से महान हो गये। किसी ने कैसा सुन्दर कहा है— "बैठी पड़ाइनि बैठी सुकुलाइन, आइगै विमान गंधकिनिया कै, मोका भावैल भक्ति भिलिनिया कै।" गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं—

तुलसी भगत शपच भलो, भजै रैन दिन राम।
ऊंचो कुल केहि काम को, जहाँ न हरि को नाम॥
अति ऊंचे भूधरिन पर, भुजगन को अस्थान।
तुलसी अति नीचे सुखद, ईख अन्न अरु पान॥ वैराग्य संदीपनी॥
नीच नीच सब तरि गये, संत चरन लौलीन।
तुलसी जातिहि के मदे, बूड़े बहुत कुलीन॥

सदगुरु कबीर और भी कहते हैं—

बड़े गये बड़ापने, रोम रोम हंकार।
सतगुरु के परचै बिना, चारों बरन चमार॥
सब ते लघुता भली, लघुता से सब होय।
जस दुतिया को चन्द्रमा, सीस नावैं सब कोय॥ साखी 139/323॥

जीव की स्वरूपस्थिति नौ कोस की दूरी पर

चलते चलते पगु थका, नग्र रहा नौ कोस॥
बीचहि में डेरा परा, कहहु कौन को दोष॥ 50॥

शब्दार्थ—नग्र=नगर, गंतव्य, अपनी स्थिति। नौ कोस=मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध या नौ कोस—अन्नमय, शब्दमय, प्राणमय, आनन्दमय, मनोमय, प्रकाशमय, ज्ञानमय, आकाशमय तथा विज्ञानमय[1]। डेरा=पड़ाव।

भावार्थ—मानो कोई यात्री हो। वह सुबह से चल रहा हो। चलते-चलते

1. स्थूल शरीर—अन्नमय कोश; शब्द समूह—शब्दमय कोश; पंचप्राणादि का समुच्चय—प्राणमय कोश; दृश्यविषयों का अहंकार—आनंदमय कोश; वासना का समुच्चय—मनोमय कोश; दृश्य-भास—प्रकाशमय कोश, दृश्य ज्ञान—ज्ञानमय कोश; आकाश को आत्मरूप मानना—आकाशमय कोश तथा जड़-चेतन अभिन्न एक मानना—विज्ञानमय कोश है। ये स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति से दूर रखने वाले हैं।

उसके पैर थक गये हों, अभी उसका मूल निवास स्थान नौ कोस की दूरी पर हो, इतने में शाम आ गयी हो। इसलिए बीच में ही उसका पड़ाव पड़ गया हो, तो कहो, इसमें किसका दोष है ! वस्तुतः चलने वाले का दोष है जो सही रास्ते से न चलकर भटक गया है। भटकने वाले का रास्ता लंबा हो ही जाता है।

इसी प्रकार कर्म, उपासना, ज्ञान सभी मार्गों में चलते-चलते मनुष्य का जीवन थक जाता है और वह बूढ़ा हो जाता है, परन्तु आत्मस्थिति एवं स्वरूपस्थिति, चतुष्टय अंतःकरण में संस्कारित पांचों विषयों की आसक्तिरूपी नौ कोस की दूरी पर ही रह जाती है और मौत का समय आ जाता है। इसमें कहो भला किसका दोष है ! दोष चलने वाले का ही है, जो कल्याण का सही रास्ता न पकड़कर भूले पथ में भटक गया है॥ 50॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर ने इस साखी में "नग्र रहा नौ कोस" कहा है। इस ग्रंथ में अन्यत्र भी "नौ मन सूत अरुझि नहिं सुरझे"[1] "नौ मन दूध बटोरि के, टिपके किया बिनाश।"[2] आदि कहा है। कहावत भी है "न नौ मन तेल जुरेगा, न राधा नाचेगी।"

वस्तुतः संख्या के अंक 1 से 9 तक ही होते हैं। आगे शून्य (0) होता है। इसलिए भारतीय परंपरा में संख्या की व्यंजना के लिए "नौ" का प्रयोग किया जाता है।

कल्याण के प्रेमी संसार में बहुत हैं। गुरुजन उन्हें ज्ञान तथा साधना के नाम पर जो कुछ बता देते हैं वे उसको लेकर चलते हैं। परन्तु उनकी जिन्दगी बीत जाने पर भी उनका गंतव्य, उनका स्वरूपस्थितिरूपी निवासस्थल नौ कोस अर्थात बहुत दूरी पर रह जाता है। नौ कोस हैं मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार, शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध। शब्दादि पांचों विषय का मन से मनन कर, चित्त से अनुसंधान कर, बुद्धि से उनमें सुख निश्चय कर तथा अहंकार से उनकी करतूति करके जो उनकी आसक्ति बना ली गयी है, स्वरूपस्थिति तक पहुंचने में यही मानो नौ कोस का अन्तर रह जाना है। कर्म, उपासना, ज्ञान, जप, योग, तप आदि के नाम पर मनुष्य जीवनभर बहुत कुछ करता रहा, किन्तु यदि उसके अंतःकरण से विषयासक्ति की रेखा सर्वथा नहीं मिटी है तो स्वरूपस्थिति नहीं हो सकती। सद्गुरु पूछते हैं कि बताओ, इसमें दोष किसका है?

दोष दूसरों का तो नहीं बताया जा सकता। दोष उस असावधान व्यक्ति

---

1. बीजक, शब्द 85।
2. बीजक, साखी 197।

का ही है जो "जाना नहीं बूझा नहीं, समुझि किया नहिं गौन। अंधे को अंधा मिला, राह बतावै कौन॥"[1]

स्वरूप का यथार्थ बोध न होने से विषयासक्ति सर्वथा नहीं मिटती। लोग काम-भोग तथा देह का अहंकार छोड़ देते हैं, परन्तु यदि उन्होंने यह मान रखा है कि मेरा लक्ष्य कहीं बाहर है, मेरा गंतव्यरूपी नगर मेरी आत्मा से अलग है तो यह पंच विषय तथा चतुष्टय अंतःकरण से अलग नहीं है। यदि साधक ने यह मान लिया कि मैं ही यह विश्व-ब्रह्मांड हूं, जैसे जल और उसकी तरंग एक है, जैसे मिट्टी और उससे बने घट एक है, जैसे स्वर्ण तथा उससे बने आभूषण एक है, उसी प्रकार मैं और यह संसार एक है, तो इस महाभ्रांति में पड़ने से साधक चतुष्टय अंतःकरण एवं पांचों विषयों से अलग कहां हुआ! इस भ्रांत मान्यता में पड़ने से अपना चेतनस्वरूप जड़ की मान्यता से अलग हो ही नहीं सकता है। लोग कर्मकांड का व्यवहार तो सांसारिक भोगों के लिए करते ही हैं, उपासना में भी अपनी आत्मा से अलग परमात्मा मानकर पांचों विषयों से परे नहीं जाते और यदि ज्ञान भी उपर्युक्त प्रकार से जड़-चेतन को एक में मिला देता है तो साधक विषयों से निवृत्त कैसे हो सकता है! अतएव परख न होने से मनुष्य कर्म, उपासना तथा ज्ञान के नाम पर नवधा प्रकृति एवं नौ कोशों के भीतर ही उलझ जाता है।

पांचों विषयों एवं चतुष्टय अंतःकरण तथा समस्त दृश्य-भासों का मैं साक्षी उनसे सर्वथा भिन्न शुद्ध चेतन हूं, इस तत्त्व का बोध एवं इस बोध में स्थिति होने पर ही जीव का अपना नगर, अपना आश्रयस्थल एवं अपना निधान मिलता है।

जीव को कहीं से चलकर कहीं अन्यत्र पहुंचना नहीं है। जीव तथा जीव की स्वरूपस्थिति में नौ कोसों की दूरी का अर्थ यह नहीं है कि जीव को अपनी स्थिति के लिए एक जगह से चलकर दूसरी जगह जाना पड़ेगा। वस्तुतः जीव ही जीव की स्थिति-भूमिका है। हर मौलिक वस्तु का आश्रयस्थल उसका अपना स्वरूप ही होता है। इसी प्रकार जीव का शुद्ध स्वरूप चेतन ही उसका अपना आश्रयस्थल एवं स्थिति दशा है। वस्तुतः जीव अपने स्वरूप की मौलिकता न समझकर चतुष्टय अन्तःकरण एवं पाचों विषयों में भटक गया है। जैसे कोई व्यक्ति अपने घर पर ही हो, परन्तु नशा कर लेने के कारण उसे भ्रम हो गया हो कि मैं अपने घर से दूर कहीं विदेश में हूं और जब उसका नशा दूर हो जाये तब वह समझे कि मैंने अपने घर को पा लिया, वैसे ही जीव अपने स्वरूप के अज्ञानवश, अविद्या के नशा से दृश्यों

---

1. बीजक, साखी 153।

को ही अपना स्वरूप मानकर अपने आपा से दूर पड़ा हुआ-सा है। अतएव अविद्या दूर होने पर जहां अपने आप को जड़ दृश्यों से अलग समझकर अपने आप में आ गया, बस कृतार्थ हो जायेगा।

जीवन की असावधानी

झालि परे दिन आथये, अन्तर पर गइ साँझ॥
बहुत रसिक के लागते, बिस्वा रहि गइ बाँझ॥ 51॥

शब्दार्थ—झालि परे=झोला पड़ना, शाम का धुंधलापन, तात्पर्य में इन्द्रियों की निर्बलता। दिन आथये=रात होना, बुढ़ापा। अन्तर=भीतर। रसिक=विषयी।

भावार्थ—जैसे किसी पथिक के अपने गंतव्य पर पहुंचने से पहले ही संध्या हो जाये, दिन डूब जाये और रात का झोला पड़ने लगे, वैसे व्यक्ति अपनी स्वरूपस्थिति के पाने के पूर्व ही बूढ़ा हो जाता है, उसकी इन्द्रियां निर्बल हो जाती हैं, उसके मन में अंधियारा हो जाता है और मौत का समय आ जाता है। जैसे वेश्या से बहुत विषयी पुरुषों के लगने के कारण वह बंध्या रह जाये, वैसे जीव अनेक विषयों एवं कल्पित देवी-देवताओं में लगने के कारण स्वरूपस्थिति से दूर रह जाता है॥ 51॥

व्याख्या—मनुष्य की असावधानी पर सद्गुरु दो सटीक उदाहरण देते हैं, एक रास्ते की अंधियारी का तथा दूसरा वेश्या का। आदमी चलते-चलते अपने गंतव्य पर न पहुंचे और बीच ही में रात हो जाये तो यह उसके लिए दुखद है। इसी प्रकार यदि मनुष्य ने अपनी स्वरूपस्थिति, आत्मस्थिति, परम संतोष एवं अविचल शांति नहीं पायी है और बीच ही में वह बूढ़ा हो गया, उसकी इन्द्रियां निर्बल हो गयीं, मन भी भ्रांत हो गया और सब कुछ ढीलाढाला हो गया तो वह दांव चूक गया। जिसने स्वस्थ रहते हुए जीवन का चरम एवं परम लक्ष्य परम शांति की प्राप्ति नहीं कर ली, उसका जीवन भौतिक क्षेत्र में सफल होते हुए भी वस्तुतः सर्वथा असफल है। बाहर का सब कुछ पाकर क्या किया यदि उसने अपने आप को खो दिया! जैसे बालक खिलौने खेलने में समय बिता देता है, वैसे आदमी विषय-भोग, राग-द्वेष, चिन्ता-फिक्र में सारे समय गवां देता है।

वेश्याएं बहुत पुरुषों के संग में फंसकर अंततः कहीं की नहीं रह जातीं, इसी प्रकार जीव नाना विषय-वासनाओं, देवी-देवताओं की मान्यताओं में फंसकर अंततः कहीं का नहीं रह जाता।

इन्द्रियों के सारे विषय केवल मोह एवं भ्रम पैदा करने वाले हैं। इसी प्रकार अपने आत्मस्वरूप से अलग कहीं भी देवी-देवादि माने जाते हैं, सब

हमारी ही कल्पनाएं हैं। अपनी मानसिक कल्पनाओं में फंसकर अपना पतन करना है। जहां तक जीव अपने चेतनस्वरूप को छोड़कर अलग मन लगायेगा, वहां तक वह केवल भटकेगा। अतएव साधक को चाहिए कि वह बाहर भटकना छोड़कर अपने आपा को पहचाने और अपने स्वरूप में स्थित हो।

लक्ष्य अत्यंत निकट है

मन कहै कब जाइये, चित्त कहै कब जाव॥
छौ मास के हींड़ते, आध कोस पर गाँव॥ 52॥

शब्दार्थ—छौ मास=छह महीने, तात्पर्य में छह शास्त्र—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदांत या छह वेदांग—शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छंद, ज्योतिष और व्याकरण; इनका विवरण पीछे 28वें शब्द की व्याख्या में देखें। हींड़ते=खोजते, भटकते। आध कोस=एक मील, तात्पर्य में बहुत निकट, केवल मन का परदा—माया।

भावार्थ—स्वर्ग, मोक्ष एवं ब्रह्म-धाम की प्रशंसा सुनकर मनुष्यों का मन कहने लगा कि हे भगवान, वहां कब पहुंचेंगे और चित्त कहने लगा कि वहां कब जायेंगे ! परन्तु इन मुमुक्षुओं की दशा वैसी हुई जैसे कुछ लोग छह महीने से भटकते हुए अपना गांव खोज रहे हों, जबकि वह पास में, आध ही कोस पर हो, किन्तु भ्रमवश न पाते हों॥ 52॥

व्याख्या—धर्मशास्त्रों, महाकाव्यों, पुराणों तथा धर्मग्रन्थों में स्वर्ग, मोक्ष, ब्रह्मधाम, साकेतलोक, बैकुण्ठलोक, गोलोक, शिवलोक, सतलोक, जन्नत एवं परमात्मा के धाम का बड़ा रोचक वर्णन है। उन्हें पढ़ तथा सुनकर भावुक-भक्तों के मन और चित्त वहां पहुंचने के लिए व्याकुल होने लगते हैं। अतएव वहां पहुंचने के लिए वे यज्ञ-हवन, पूजा-पाठ, योग-तपस्या, तीर्थ-व्रत करते हैं और नाना धर्मग्रन्थों का अध्ययन करते हैं। वहां पहुंचने के लिए लोग वेदों को पढ़ते हैं और छह वेदांगों—शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छंद, ज्योतिष तथा व्याकरण को पढ़ते हैं; सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदांत को पढ़ते हैं। इन ग्रन्थों, इन कर्मकांडों में मोक्ष, स्वर्ग एवं ब्रह्मधाम को खूब खोजते हैं। परन्तु स्वरूपज्ञान बिना कोरे-के-कोरे रह जाते हैं।

कुछ गंजेड़ी लोग थे। वे अपने गांव का रास्ता भूल गये थे। वे अपने गांव की तलाश छह महीने से कर रहे थे। उनका गांव तो उनसे आध कोस पर ही था; परन्तु सब तो थे गंजेड़ी। सब गांजा का दम लगाते थे, गप्पे मारते थे और जंगल में चक्कर लगाया करते थे।

"छौ मास के हींड़ते, आध कोस पर गाँव" सद्गुरु का यह विद्वानों पर करारा व्यंग्य है। यदि आदमी एक दिन में केवल पांच कोस चले तो छह महीने में नौ सौ कोस जाया जा सकता है। परन्तु यहां तो गांव केवल आध कोस पर है और उसे छह महीने से खोज रहे हैं। इससे अधिक भटकाव और क्या हो सकता है! विद्वान लोग छहों शास्त्रों का अध्ययन कर रहे हैं, छहों वेदांगों को पढ़ रहे हैं, परन्तु उनको यह पता नहीं है कि गांव तो केवल आध कोस पर है। बहुत निकट है ब्रह्मधाम, स्वर्ग तथा मोक्षधाम!

वह आध कोस केवल मन की माया है। आध कोस का यहां बहुत बारीक अर्थ करने की आवश्यकता नहीं है। "आध कोस" में उसके लिए अत्यंत निकटता की व्यंजना है। केवल आध कोस पर गांव और तुम वहां पहुंचने के लिए छह महीने से भटक रहे हो! छह महीने से उसे खोज रहे हो! कितना आश्चर्य!

वस्तुतः अपने चेतनस्वरूप की स्थिति ही ब्रह्मधाम, स्वर्ग, मोक्षधाम, साकेतलोक, गोलोक एवं सतलोक है। इसे खोजना नहीं है, समझना है और समझकर तथा बाहरी जगत से लौटकर अपने आत्मस्वरूप में आ जाना है। व्यक्ति से उसके मोक्षधाम का अन्तर केवल आध कोस है। वह है मन-माया का परदा। भ्रांति कट जाने पर व्यक्ति को पता लगता है कि हम जिस ब्रह्म को, राम को, परमात्मा को खोज रहे हैं वह तो मेरा अपना आत्मस्वरूप ही है। यह स्वरूपस्थिति ही ब्रह्मधाम एवं सतलोक में पहुंचना है। जो अपने चेतन स्वरूप में, पारखस्वरूप में स्थित हो गया वह ब्रह्मधाम पा गया, सतलोक पा गया। स्वरूप की स्थिति हो जाने पर कुछ पाना बाकी नहीं रह जाता।

भजन के लिए भोजन जरूरी है

गृह तजि के भये उदासी, बन खण्ड तप को जाय॥
चोली थाकी मारिया, बेरई चुनि चुनि खाय॥ 53॥

शब्दार्थ—उदासी=वैरागी। चोली=शरीर। बेरई=बेर फल।

भावार्थ—कितने लोग भावुकता में पड़कर और घर छोड़कर वैरागी हो जाते हैं तथा जंगलों में तपस्या करने चले जाते हैं। जब उनकी भावना का जोश उतरता है, भूख लगती है, काया निर्बल होती है, तब वे बेर-जैसे साधारण फल भी चुन-चुन कर खाते हैं और अपना पेट भरते हैं॥ 53॥

व्याख्या—क्षणिक वैराग्य एवं भावुकता से काम नहीं चलता। जो क्षणिक वैराग्य से घर छोड़कर बाहर निकलता है, यदि थोड़ी-सी कठिनाई उसके सामने आती है तो उसके कच्चे ढीले हो जाते हैं। वह घर-गृहस्थी में

रहकर चाहे जितनी कठिनाई सह ले, परन्तु साधुमार्ग की कठिनाई तब तक नहीं सह पायेगा जब तक उसे साधुत्व एवं वैराग्य में लाभ निश्चय न हो। मनुष्य खेती, व्यापार, नौकरी में बहुत कठिनाई सहकर उन्हें हर्षपूर्वक करता है। वह माता-पिता का तो सहता ही है, पत्नी, बच्चे और नये-नये लोगों का उसे सहना पड़ता है। इस संसार में बिना सहन किये कहीं भी नहीं चल सकता। यदि कोई व्यक्ति किसी दिशा में कुछ करना चाहता है तो उसे सहना पड़ेगा। बिना विवेक के, केवल भावुकता में घर छोड़कर वैरागी बनने वाले की दशा दयनीय होती है। वह न इधर का होता है और न उधर का!

एक सच्ची घटना है। शहर में रहने वाले एक संपन्न आदमी, जिनकी उम्र साठ वर्ष के करीब होगी, अपने बच्चों से घबराकर निकट के एक साधु आश्रम में चले गये। उनके बच्चों में कोई डॉक्टर, कोई वकील तथा कोई इंजीनियर था। सबने समझाया। उन्होंने नहीं माना। वे जब गुरु-स्थान पर जाते थे, उनके खाने-पीने की थोड़ी अलग व्यवस्था हो जाती थी। वे मानो समझते थे कि मेरे लिए साधु समाज की ओर से अलग व्यवस्था होती रहेगी। नहीं भी होगी, तो भी सर्वसामान्य साधु की तरह हम अपना जीवन बिता लेंगे।

जब वे सज्जन साधु-समाज में स्थायी रूप से रहने लगे, तब कुछ दिनों में उनके लिए अलग व्यवस्था जो होती थी, बन्द हो गयी। वह बन्द होना ही था। एक समाज दो भांति नहीं चल सकता। चलना भी नहीं चाहिए। सुबह चने आदि का जलपान जो सब साधुओं को मिलता वही उन्हें भी मिल जाता। दोपहर एवं शाम को दाल, भात, रोटी और सब्जी। और यह बहुत सादे, फीके और साधारण स्तर के। जमीन पर चटाई पर सोना।

कुछ दिनों के बाद उन्हें अपने घर की याद जोरों से आने लगी। उनको ख्याल होता "भले, घर में बच्चों से मनमुटाव चलता था, पत्नी उखड़ी-उखड़ी रहती थी, परन्तु सुबह की चाय तथा उसके साथ कभी चिल्ला, कभी पावरोटी, कभी मिठाई, कभी समोसे, कभी जलेबी मिल जाते थे। दोपहर एवं शाम को महीन चावल का भात, गाढ़ी दाल, मसालेदार तरकारियां, घी से चुपड़ी चपातियां मिलती थीं। पलंग पर डनलप के गद्दे पर सोते थे। रात में सोते वक्त एक पाव दूध भी मिल जाता था। गाड़ी पर बैठकर घूमने का अवसर भी मिल जाता था। अपना घर था। क्या परिवार वालों से मनमुटाव होने से कोई घर छोड़ देता है!"

उनके गुरुजी भी उनके मन को कुछ-कुछ समझने लगे थे, परन्तु इस विषय पर दोनों ने आपस में अभी कोई बात नहीं की थी।

एक दिन वे सज्जन स्नान करके धूप में खड़े थे और अपने एक हाथ से

दूसरे हाथ की कलाई पकड़कर नाप रहे थे और देख रहे थे कि घर की अपेक्षा यहां साधु-समाज में आने पर कितने दुबले हो गये हैं। पीछे से गुरुजी आ गये। उन्होंने कहा—"क्या भैया, दुबले हो गये?" वे बेचारे बहुत लज्जित हो गये। उन्होंने अपने मन की व्यथा कह सुनायी कि महाराज, मैं साधु-समाज में रह नहीं पाऊंगा। किन्तु जिस जोश-खरोश से मैं घर छोड़कर यहां रहने आया हूं, उसको देखते हुए यदि मैं घर लौटूंगा, तो परिवार की दृष्टि में दो कौड़ी का हो जाऊंगा। महाराज, कोई उपाय लगाइए जिससे सांप मर जाये, किन्तु लाठी न टूटे।

महात्मा भी चलते-पुर्जे आदमी थे, बहुत व्यावहारिक थे। उन्होंने एकांत में बैठाकर उन्हें सारी सावधानी बता दी कि तुम किस प्रकार गम्भीर बीमार तथा बेहोश बनो और आगे घर जाने पर क्या-क्या तुम्हें कहना है, सब समझा दिया।

वे सज्जन बीमार होकर बेहोश हो गये। महात्मा ने उनके घर सन्देश भेजा। लड़के कार लेकर आश्रम पर पहुंचे। उन्होंने देखा कि पिताजी एकदम बेहोश हैं। उन्होंने महात्मा से आज्ञा मांगी कि महाराज, इन्हें घर ले जाने की अनुमति दें। महात्मा ने अनुमति दे दी। साथ में स्वयं गाड़ी में बैठकर उनके घर गये।

डॉक्टर बुलाये गये। उन्हें कुछ पता नहीं चल रहा था कि कौन बीमारी है। कुछ दवा दी गयी। वे आधे घंटे में होश में आये। उन्होंने पूरे होश में आने पर पूछा—"मैं कहां हूं?"

महात्मा ने कहा—"तुम अपने घर अपने बच्चों के बीच में हो।" वे तुरंत रो पड़े, और बड़े जोरों से चिल्ला-चिल्ला कर कहने लगे कि महाराज, यहां मुझे कौन ले आया? मैं यहां नहीं रह सकता। मैंने तो सन्तों के चरणों में ही रहकर इस देह का अन्त करने को सोचा है। मुझे शीघ्र संताश्रम ले चलें। मैं एक घंटा भी घर-परिवार में नहीं रह सकता।

बच्चों ने उन्हें मनाना शुरू किया। बच्चों को अपना अपमान लग रहा था कि हम सब संपन्न होकर पिता की सेवा न करें तो लोग क्या कहेंगे ! बच्चों ने महात्मा से भी उन्हें समझाने के लिए कहा।

महात्मा ने उन्हें समझाया—"तुम हठ छोड़ दो। मुझे गुरु मानते हो, तो मेरी कड़ी आज्ञा है कि तुम घर में रहो। मेरी आज्ञा मानो। तुम्हारे बच्चे तुम्हारी सेवा करना चाहते हैं।"

उन्होंने बड़ी रोनी सूरत बनाकर स्वीकार किया और कहा कि जब आप ही की ऐसी कड़ी आज्ञा है, तो मैं विवश हूं।

ऐसे चालाक महात्मा एवं गुरु सबको तो नहीं मिलते कि ऐसे लोगों की

मर्यादा बनाये रखते हुए उन्हें घर वापस कर सकें। इसलिए बहुत समझ-बूझकर घर छोड़ना चाहिए। भावुकता में पड़ना ठीक नहीं।

जंगल में तप करने की पिनक का समय अब तो और नहीं रहा। क्योंकि अब पहले सरीखा न वन में फल है न कंद। यहां तक कि वन का ही अधिकतम सफाया हो गया है। शरीर को संतुलित आहार देकर ही इससे भजन बन सकता है। कबीर साहेब ने कहा है—

कबीर भूख कुतिया अहै, करे भजन में भंग।
याको टुकड़ा डारि के, करो भजन निस्संग॥ कबीर अमृतवाणी॥

स्वरूपराम में स्थित पुरुष की उच्चता

राम नाम जिन चीन्हिया, झीना पिंजर तासु॥
नैन न आवै नींदरी, अंग न जामें माँसु॥ 54॥

शब्दार्थ—चीन्हिया=पहचाना, परख की। झीना=दुर्बल। पिंजर=शरीर। जामें=बढ़ना।

भावार्थ—जिसका नाम राम है उस आत्मतत्त्व की जिन्होंने परख की, उसका शरीर दुर्बल होता है, उसके नेत्रों में नींद नहीं आती तथा उसके अंगों में मांस नहीं बढ़ता॥ 54॥

व्याख्या—लोग केवल राम-नाम जपते हैं। केवल जपने से कोई बड़ी घटना जीवन में घट जायेगी यह मात्र सुनी-सुनायी महिमा की बात है। परन्तु करना राम-नाम की परख की है कि वस्तुतः राम-नाम है क्या! राम तो एक नाम है, संज्ञा है एवं पद है; परन्तु इसका पदार्थ क्या है! पदार्थ तो चेतन है जो निजस्वरूप है। सद्गुरु ने कहा है "हृदया बसै तेहि राम न जाना"। राम तो हृदय में बसने वाली चेतन सत्ता है, वही मेरा स्वरूप है, अर्थात वही मैं हूं।

जब ऐसी पक्की परख हो जाती है तब यही निजस्वरूप का बोध कहलाता है। निजस्वरूप का बोध हो जाने पर शरीर निस्सार हो जाता है। तब शरीर केवल साधन की वस्तु लगता है, भोग की नहीं। यहां सद्गुरु ने शरीर के लिए 'झीना पिंजर' शब्दों का प्रयोग किया है जिसका शब्दार्थ होता है दुर्बल काया। परन्तु शब्दार्थ लेने से काम नहीं चलता। बोधवान का शरीर दुर्बल ही हो, ऐसी बात नहीं है। वे बलवान शरीर के भी हो सकते हैं। वस्तुतः झीना पिंजर, नैन न आवै नींदरी तथा अंग न जामें माँसु, इन तीनों संयुक्त शब्दों के अर्थ शाब्दिक नहीं, किन्तु लाक्षणिक होने चाहिए। इनके अर्थ क्रमशः इस प्रकार किये जा सकते हैं, जैसे कि बोधवान पुरुष शरीर से अनासक्त होते हैं,

उन्हें देहबन्धन से मुक्त होने के लिए बेचैनी रहती है और वे इन्द्रियों के भोग से उपरत होते हैं।

वस्तुतः "झीना पिंजर" और "अंग न जामें माँसु" का अर्थ एक ही है, जिसका सार अभिप्राय है शरीराभिमान से मुक्त हो जाना। निज चेतनस्वरूप राम को पहचानने का अर्थ ही है देहाभिमान का विलय हो जाना।

ऐसे पुरुष को नेत्रों में नींद नहीं आती, यदि इसका यही स्थूल अर्थ लिया जाये तो अनर्थ है। हर ज्ञानी पुरुष नींद के समय जमकर सोता है। काम भर सोना ही चाहिए। यहां "नैन न आवै नींदरी" का अर्थ है देहबन्धन से छूटकर मुक्त होने की उत्कट अभिलाषा। इस संसार के मोह में न फंसना मानो नींद न लेना है। इसी भाव को लेकर सद्गुरु ने दूसरे शब्द में कहा है "संतो जागत नींद न कीजै" हे संतो ! जागते रहो, नींद न करो। यहां सद्गुरु ने मुमुक्षुओं को यह आज्ञा नहीं दी है कि वे देह-विश्राम के लिए जो सोते हैं वह बन्द कर दें, किन्तु उन्होंने बताया है कि तुम इस माया नगरी में कहीं भूल न जाओ।

रामतत्त्व एवं निजस्वरूप की पूर्ण पहचान का अभिप्राय ही यही है कि उसे संसार से उचाट हो जाये। वह देह के अभिमान को छोड़ दे और इन्द्रियों के भोगों से एकदम विरत हो जाये।

जो जन भीजै रामरस, बिगसित कबहुँ न रूख॥
अनुभव भाव न दरसे, ते नर सुख न दूख॥ 55॥

शब्दार्थ—भीजै=भीगना, लीन होना, ओतप्रोत होना। रामरस= स्वरूपप्रेम, आत्मचिंतन। बिगसित=विकसित, प्रफुल्लित, आनंदित। रूख= उदास, कष्टित।

भावार्थ—जो साधक आत्मचिंतन में सदैव डूबे रहते हैं, वे न सांसारिक उपलब्धियों में हर्षित होते हैं और न उनके चले जाने से शोकित होते हैं। सदैव स्वरूपस्थिति के अनुभव में लीन होने से उन्हें सांसारिक भाव-तरंगें नहीं प्रभावित कर पातीं। अतएव वे सांसारिक वस्तुओं के मिलन-बिछुड़न में न सुखी होते हैं और न दुखी होते हैं॥ 55॥

व्याख्या—आत्मचिंतन एवं स्वरूपस्थिति में निमग्न साधक मानो रामरस से ओतप्रोत होता है। अपनी चेतना एवं आपा ही तो राम है और उस भाव में डूबा साधक रामरस में भीगा हुआ है। ऐसे साधक के मन में हर्ष-शोक नहीं रहते। वह सब समय निर्द्वंद्व रहता है।

"अनुभव भाव न दरसे" इस वाक्यांश का इस साखी में एक साथ अर्थ नहीं बैठता। इसमें "अनुभव भाव" का अलग तथा "न दरसे" का अलग अर्थ होगा। अर्थात स्वरूपचिंतन में लीन पुरुष अनुभव-भाव में डूबा रहता

है। उसे अन्य भावनाएं नहीं दरसतीं। ऐसा ही विभागपूर्वक अर्थ बैठता है। पूरे वाक्यांश का एक साथ अर्थ करने से हो जायेगा कि उन्हें अनुभव का भाव नहीं दरसता, जो प्रसंग के अनुकूल नहीं है।

हमारा राम हमसे अलग नहीं हो सकता कि खो जाये। बाहर कोई राम नहीं जिससे हमें मिलने की आवश्यकता का आभास हो। बीजक के पाठफल में आया है 'अस्ति आत्माराम है' आत्माराम ही परम वास्तविकता है। इसके चिंतन-रस में जो डूबा रहता है, वह किस बात का भय करे, किसका लोभ करे और किसकी चाह करे ! जिसे अपने स्वरूप की गरिमा का पूर्ण पता लग जाता है, वह सारे जड़-दृश्यों से अतीत शुद्ध-बुद्ध एवं आत्मतृप्त होता है। आत्मतृप्त व्यक्ति को बाहर से पाने की कुछ वासना नहीं रह जाती।

श्री रामरहस साहेब ने भी अपने चेतनस्वरूप को ही राम कहते हुए कहा है—"धीरज दया तत्त्व संयुक्ता। राम भूमिका बासक युक्ता॥ आनन्द सिन्धु अहन्तातीता। राम रूपमय परम पुनीता॥" इस प्रकार अपने अविनाशी स्वरूप राम में रमण करने वाला साधक संसार के शोक-मोह से ऊपर उठ जाता है। वह सदैव एकरस कृतार्थस्वरूप है।

यथार्थ परख से बंधनों का सर्वथा नाश

काटे आम न मौरसी, फाटे जुटै न कान॥
गोरख पारस परसे बिना, कौने को नुकसान॥ 56॥

शब्दार्थ—मौरसी=बौर लगना, मंजरी लगना। पारस=एक कल्पित पत्थर जिसमें लोहा के छू जाने से सोना बन जाने की कल्पना की जाती है।

भावार्थ—आम का पेड़ काट देने पर न वह पुन: विकसित होता है और न उसमें बौर लगते हैं। इसी प्रकार कान को फाड़ देने पर वह पुन: नहीं जुटता। ऐसे ही सारी वासनाओं को परख कर छोड़ देने पर जीव पुन: भवबंधनों में नहीं पड़ता। हे योगिराज गोरखनाथ ! यदि लोहा पारस-पत्थर का स्पर्श नहीं करता है तो किसकी हानि है, लोहे की या पारस की? वस्तुत: लोहे की ही हानि है। इसी प्रकार यदि व्यक्ति पारखी गुरु के पास जाकर और उनसे प्रेरणा लेकर सारे भवबंधनों को नहीं छोड़ता है तो व्यक्ति की ही हानि है॥ 56॥

व्याख्या—कई प्रकार के पेड़ होते हैं उन्हें काट देने पर उनकी जड़ों से दूसरे पेड़ तैयार होकर वे फलने-फूलने लगते हैं, जैसे केले, फालसा, गन्ना आदि। परन्तु आम के पेड़ के लिए यह बात नहीं है। वह काट देने पर न बढ़ता है और न फूलता-फलता है। इसी प्रकार कान की बात है। कान छेद

देने पर यदि उसमें कोई आभूषण न पहना जाये तो वह कुछ दिनों में बंद हो जायेगा। परन्तु यदि उसे फाड़ दिया जाये तो वह नहीं जुटता।

उक्त दोनों उदाहरण देकर सद्गुरु जो समझाना चाहते हैं उसे वे खोल कर अलग शब्दों में तो नहीं कहते, परन्तु वही बताना उनका मुख्य लक्ष्य है। वह है वासना-निवृत्ति के बाद जीव का पुनः भवबंधनों में न पड़ना। यह जीव माया-जाल में फंसा हुआ है जिससे उसका मूलतः कोई सम्बन्ध नहीं है। गांजा, भांग, शराब, जुआ, जिन व्यसनों के बन्धनों में मनुष्य फंस जाता है उनसे उसका क्या मौलिक सम्बन्ध है ! एक लड़की किसी अपरिचित लड़के के साथ, एक लड़का किसी अपरिचित लड़की के साथ अपने आप को जीवनभर के लिए बांध देते हैं; किन्तु विचारकर देखो, उन दोनों का क्या मौलिक सम्बन्ध था और आगे छूट जाने पर क्या रहेगा ! यह ठीक है कि व्यावहारिक जगत का दूसरा दृष्टिकोण है। परन्तु परमार्थतः किसी का क्या नाता है !

यह जीव अकेला आया है और अकेला जायेगा। बीच का सारा सम्बन्ध मान्यता मात्र है और इसी में मनुष्य सारे भव-बंधन बनाता है। अतएव जो ठीक से परखकर इन्हें सर्वथा छोड़ देता है वह इनके बंधनों से मुक्त हो जाता है।

सारा दृश्य-संसार जीव से सर्वथा अलग है। अतएव जब जिसको उसके राग की बन्धनरूपता का पता लग जाता है और वह उसे दुखरूप परखकर छोड़ देता है, तब उसका उसमें फंसने का कारण नहीं हो सकता। जो वस्तु स्वाभाविक हमसे अलग है, उसका त्याग सहज है। सारा संसार जीव से अलग है। अतएव उसका राग छोड़ देना उसके लिए सहज है।

पारस-पत्थर सर्वथा काल्पनिक है। लोक-प्रचलित कहानी है कि पारस-पत्थर में यदि लोहा छू जाये तो सोना बन जाता है। यह उदाहरण कवि-जगत में खूब चलता है। वास्तव में बातों को समझाने के लिए ऐसे तरीके अच्छे होते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि यदि लोहा अपने आप को पारस-पत्थर से नहीं छुआता है तो वह सोना नहीं बन सकता। इसलिए न छुआने से उसी का नुकसान है। इसी प्रकार कोई साधक सच्चे पारखी सद्गुरु के पास नहीं जाता, उनसे जड़-चेतन की परख तथा अपने भव-बंधनों की पहचान नहीं करता है, तो उसी का नुकसान है। सद्गुरु का कोई नुकसान नहीं।

अतएव कल्याणार्थी को चाहिए कि वह अपने कल्याण के लिए बोध और रहनीसंपन्न पारखी सद्गुरु की शरण में जाये। उनसे जड़-चेतन, बन्ध-मोक्ष की ठीक से परख प्राप्त करे, और सारे भव-बंधनों को आज ही छोड़कर पूर्णतया कृतार्थ हो जाये। श्री रामरहस साहेब कहते हैं—

हंस द्रष्टा पद थीर लही, परखाये सब जाल।
सदा सुखारी पारखी, नजरे नजर निहाल॥

(पंच. गुरु. दो. 226)

इस साखी में सद्‌गुरु ने गोरखनाथ जी का नाम लेकर उनको सम्बोधित किया है। गोरखनाथ कबीर साहेब से करीब चार सौ वर्ष पहले हो चुके हैं अतएव उनका आमने-सामने होना तो असम्भव है, वस्तुतः गोरख का नाम लेकर सद्‌गुरु ने गोरखपंथियों की याद की है। उन्हें प्रेरित किया है कि वे केवल हठयोग में न रुके रहकर सत्यासत्य की परख करें।

पारस रूपी जीव है, लोह रूप संसार॥
पारस ते पारस भया, परख भया टकसार॥ 57॥

शब्दार्थ—परख=गुण-दोष की पहचान एवं सत्यासत्य जानने की शक्ति, परीक्षा। टकसार=टकसाल, सिक्के ढलने का स्थान, निर्दोष वस्तु, खरा, सत्संग।

भावार्थ—जीव पारसरूप है तथा संसार लोहरूप है। अर्थात जीव चेतन है और संसार जड़ है। जैसे पारस से छू जाने पर लोहा सोना हो जाता है, वैसे चेतन के सम्बंध से जड़ शरीर चेतनवत हो जाता है। पारस के स्पर्श से लोहा केवल सोना होता है, पारस नहीं, परन्तु पारखी सद्‌गुरु के संसर्ग से मनुष्य पारखी हो जाता है। यही पारस से पारस होना है। और सत्यासत्य की परख सत्संग में होती है॥ 57॥

व्याख्या—पारस से छू जाने पर लोहा सोना हो जाता है यह तो केवल कल्पना है। परन्तु यह वास्तविकता है कि चेतन जीव के संसर्ग से जड़ शरीर चेतनवत भासता है। जब तक चेतन जीव इस शरीर में है तब तक यह सारी क्रियाएं कर रहा है, जैसे ही शरीर में से जीव निकलकर चला जाता है वैसे ही शरीर निरर्थक हो जाता है। "पारस रूपी जीव है, लोह रूप संसार" जड़-चेतन का यह भिन्न विवेक है, जिसे सद्‌गुरु ने आलंकारिक शब्दों में कहा है।

"पारस ते पारस भया"[1] बहुत महत्त्वपूर्ण भाव है। कहावत के अनुसार पारस तो लोहा को केवल सोना बनाता है, पारस नहीं। किन्तु सद्‌गुरु अपने शरणागत को सद्‌गुरु ही बनाता है। कोई गुरु अपने शिष्य को शिष्य नहीं बनाता, किन्तु गुरु बनाता है। गुरु बनाने का अर्थ है श्रेष्ठ, शुद्ध-बुद्ध एवं निर्मल बनाना। सद्‌गुरु ने स्वयं कहा है—"जो तू चाहै मूझको, छाँड़ सकल

---

1. जो लोहा को सोना करे, सो पारस है कच्चा।
जो लोहा को पारस करे, सो पारस है पक्का।

की आस। मुझ ही ऐसा हो रहो, सब सुख तेरे पास।"[1] यहां सद्गुरु शिष्य से कहते हैं कि तुम संसार की कामनाएं एवं आशाएं छोड़कर मेरे समान बन जाओ, फिर सब सुख तुम्हारे पास होगा।

"परख भया टकसार" सब की परख सत्संग में होती है। टकसाल वह स्थान है जहां सिक्के ढलते हैं। टकसाल प्रामाणिक स्थल है। टकसाल निर्दोष एवं खरी वस्तु को भी कहते हैं। जहां निष्पक्ष खरा-खरा निर्णय होता है उस सत्संग में ही सत्य तथा असत्य की परख होती है। शास्त्र, परम्परा, बड़ा जनसमूह, बड़े पुरुष आदि का पक्ष जहां होगा, वहां सत्यासत्य का निर्णय होना असंभव है। शास्त्र, परम्परा, गुरु सब आदरणीय और मान्य हैं, परन्तु स्वविवेक की बलि चढ़ाकर नहीं। हम शास्त्रों तथा महापुरुषों की बातों को भी अपने विवेक से ही समझते हैं। जहां स्वतंत्र विवेक का आदर है वहीं सच्चा ज्ञान है, वहीं सत्य है, वहीं मानवता है और वहीं कल्याण है।

"परख भया टकसार" वस्तुतः परख ही टकसार है। परख एवं पारख ही ज्ञान के लिए परम प्रमाण है। 'प्रमा' का अर्थ ज्ञान है और वह जिस साधन से हो उसको प्रमाण कहते हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, संभव तथा ऐतिह्य[2] कुल आठ प्रमाण माने गये हैं। परन्तु परख प्रमाण सबके ऊपर है। परख ही टकसार है, परख ही खरा एवं चोखा ज्ञानपथ है। परख या पारख जीव का स्वरूप ही है। एक चींटी भी बालू में से चीनी-कण परखकर निकाल लेती है। मनुष्य शरीर तो उत्तम भूमिका है। यहां जीव का परख-गुण अत्यन्त विकसित है। शर्त यह है कि व्यक्ति जड़संस्कारों एवं गलत भावनाओं में फंसकर अपने परख-गुण की उपेक्षा न करे। यदि मनुष्य सारे पक्षपात को हटाकर स्वतंत्र परख एवं पारख का उपयोग करे तो वह सत्य ज्ञान पाकर इसी जीवन में कृतार्थ हो जाये।

प्रेम और सत्य उपासनीय है

प्रेम पाट का चोलना, पहिर कबीरू नाच॥
पानिप दीन्हों तासु को, जो तन मन बोले साँच॥ 58॥

शब्दार्थ—पाट=वस्त्र। चोलना=साधुओं का लम्बा कुरता, अलफी, अंगरखा। कबीरू=काया में वीर जीव, मनुष्य। नाच=जीवन का व्यवहार करना। पानिप=ओप, दुति, कांति, चमक, मर्यादा। बोले=बोलना, वचन।

भावार्थ—हे मनुष्य! प्रेमरूपी वस्त्र का अंगरखा पहनकर नाचो, अर्थात

1. साखी 298।
2. इनका विवरण कबीर दर्शन, अध्याय 3, सन्दर्भ 'प्रमाण' में देखें।

अपने जीवन के सारे व्यवहार प्रेमपूर्वक करो। यह विश्व-प्रकृति उसी के जीवन में चमक देती है और विवेकवान मानव भी उसी की मर्यादा करते हैं जिसके तन में, मन में और वचन में एक सत्य ही समाया हो॥ 58॥

व्याख्या—राग-द्वेष, ईर्ष्या-घृणा, चिंता-शोक, विकलता आदि में जीवन जीने वाले तो बहुत लोग हैं; किन्तु प्रेम में जीवन जीने वाला व्यक्ति दुर्लभ है। यदि सभी लोग प्रेम में जीवन जीने लगें तो यह धरती स्वर्ग बन जाये। ग्रंथकर्ता मानो अपने आप को ही सम्बोधितकर मानव मात्र को कहते हों कि हे कबीर, प्रेम-पाट का चोलना पहनकर नाचो। यहां "नाचो' का अभिधा अर्थ नहीं, किन्तु 'लक्षणा' अर्थ है। ग्रंथकार ने भक्ति के नाम पर नाचने-कूदने को बुरा कहा है। उन्होंने 67वीं रमैनी में कहा है—"देह हलाय भक्ति नहिं होई। स्वाँग धरे नर बहु विधि जोई॥" अर्थात अनेक प्रकार से स्वांग बनाकर भक्ति के नाम पर जो देह हिलाया एवं नाचा-कूदा जाता है, इससे भक्ति नहीं होती।

यहां नाचने का अर्थ है अपने जीवन का व्यवहार करना। "प्रेम पाट का चोलना, पहिर कबीरू नाच।" इस पंक्ति के अलंकार को हटाकर सीधा अर्थ होगा 'हे मानव, सबसे प्रेम का व्यवहार करो।'

संसार में प्रेम दुर्लभ वस्तु है। परिवार या समाज के नाम से संसार में कई मनुष्य एक साथ रहते हैं, परन्तु वे वहां परस्पर प्रेमपूर्वक रहते हों, यह बहुत बड़ी बात है। किसी युवक-युवती की पारस्परिक आसक्ति प्रेम नहीं है। वह मोह है। प्रेम में निष्काम भावपूर्वक सेवा की जाती है, मोह में भोग पाने की भावना होती है। प्रेम तक पहुंचने में स्वार्थ का परदा है। जो व्यक्ति अपना स्वार्थ जितना कम कर देता है वह उतना ही प्रेम का व्यवहार अधिक कर सकता है। स्वार्थ को जीते बिना जीवन में प्रेम का उदय नहीं हो सकता। अपने झूठे अहंकार तथा झूठे स्वार्थ के व्यामोह में पड़कर लोगों में पारस्परिक प्रेम नहीं रह जाता। प्रेमविहीन जीवन रूखा तथा निराशाग्रस्त हो जाता है। जिस परिवार एवं समाज में व्यक्तियों में परस्पर प्रेम नहीं है, वहां कलह, कटुता, आपाधापी एवं राग-द्वेष का ही बाजार गरम रहता है। जिसके जीवन में प्रेम का संचार नहीं है, जो मानव मात्र के प्रति प्रेम एवं जीव मात्र के प्रति करुणा नहीं रखता, उसका जीवन नहीं, श्मशान है। इसलिए सद्गुरु ने कहा है कि पोथी पढ़-पढ़ के जगत के लोग मर जाते हैं, परन्तु वे पंडित नहीं होते। जो प्रेम का ढाई अक्षर पढ़ लेता है वह पंडित हो जाता है। "पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित हुआ न कोय। ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय।"

यदि हम परस्पर प्रेम का व्यवहार रखते हैं तो सूखी रोटी खाकर, फटे वस्त्र पहनकर और टूटी झोपड़ी में फटी चटाई पर सोकर भी सुख से रह

सकते हैं; और यदि हम अपने साथियों में प्रेम का व्यवहार न रखकर घृणा, द्वेष आदि का व्यवहार रखते हैं, तो कीमती भोजन, वस्त्र, आसन, आवास आदि का उपभोग करते हुए भी अशांत एवं नरक का जीवन बिताते हैं। हम जहां जायें, जितने प्राणी मिलें, सबको प्रेम की निगाह से देखें और सबसे प्रेम का व्यवहार करें, यही प्रेमपाट का चोलना पहनकर नाचना है। हमारे जीवन का सारा व्यवहार प्रेमपूर्ण होना चाहिए।

सद्गुरु इस साखी में दूसरी बात कहते हैं "पानिप दीन्हों तासु को, जो तन मन बोले साँच।" यह प्रकृति, ये विश्व के नियम, यह संसार की कारण-कार्य-व्यवस्था उसी के जीवन में तेज भरते हैं, उसी के जीवन को चमक देते हैं जिसके तन, मन और वचन में सत्य की प्रतिष्ठा होती है। मनुष्य भूल कर सकता है, किसी के अपराध पर क्षमा भी कर सकता है क्योंकि वह ज्ञानवान है; परन्तु प्रकृति बेजान होने से न उसमें भूल होती है और न क्षमा-भाव। वह तो अनादि स्वतः स्वचालित कम्प्यूटर है। हम जो कुछ करेंगे उसका परिणाम वह हमारे सामने कर देगी। हमने किसी को गाली दी, हो सकता है वह ज्ञानी हो, हमें क्षमा कर दे। परन्तु हमारा मन हमें क्षमा नहीं करेगा। गाली देने से हमारे मन की मलिनता हमें कष्ट देगी। हम चार रोटी की जगह पांच या छह खायेंगे तो हमारी आंत हमें तुरन्त दण्ड देगी ही।

इसी प्रकार यदि हम शरीर से सत्य का आचरण करते हैं, वाणी से सत्य बोलते हैं और मन में सत्य की प्रतिष्ठा रखते हैं; अर्थात हमारे मन, वाणी तथा कर्म सत्य के बोध, भाव एवं आचरण से सम्पन्न हैं, तो इन सबका हमें प्रचार नहीं करना पड़ेगा कि लोग मुझे सत्यपरायण समझ लें। इसका परिणाम तो पूरी प्रकृति से हमें मधु मिलेगा। ऋग्वेद का ऋषि इसी स्थल के लिए तो कहता है—"ऋत एवं सत्य के पथ पर चलने वाले के लिए हवाएं मधु ढोती हैं, नदियां मधु बहाती हैं तथा वनस्पतियां मधु बरसाती हैं।"[1]

हमारा जीवन जितना असत्य में लिपटा होता है, उतना हमें सत्य के उत्तम फल से अविश्वास होता है। असत्य हो या सत्य, उसका फल मिलना अटल है। सद्गुरु कहते हैं कि तुम अविश्वास छोड़ दो और अपने तन, मन तथा वचन में सत्य का आचरण करो, तो पूरी सत्ता की ओर से तुम्हें प्रकाश मिलेगा, प्रकृति तुम्हारे पथ में आलोक फैलायेगी। संसार के समझदार लोग भी सत्यपरायण को ही प्रतिष्ठा देते हैं। सत्य अमोघ है, अटल है, अमृत है, कल्याणस्वरूप है, अतः हमें सत्यपरायण होना चाहिए।

इस साखी में दो बातें बतायी गयी हैं; पहली है सबसे प्रेम का व्यवहार

---

1. मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। (ऋग्वेद 1/90/6)

करना और दूसरी है अपने तन, मन और वचन में सत्य की प्रतिष्ठा रखना। इन दोनों का फल बताया गया है जीवन में चमक एवं मर्यादा की प्राप्ति। वस्तुतः प्रेम जीवन का उच्चतम सौंदर्य है और सत्य जीवन का प्राणतत्त्व। प्रेम और सत्य एक दूसरे के पूरक हैं। प्रेम में निस्स्वार्थता है, निस्स्वार्थता में सत्य है और जहां सत्य है वहीं प्रेम है। जिसका जीवन प्रेम तथा सत्य से परिपूर्ण है वह इस भवसागर से अपने तथा दूसरे के तरने के लिए जहाज है।

हम अपनी छाया से भयभीत हैं

दर्पण केरी गुफा में, स्वनहा पैठा धाय॥
देखि प्रतीमा आपनी, भूँकि भूँकि मरि जाय॥ 59॥

शब्दार्थ—गुफा=पहाड़ या जमीन में बना हुआ गढ़ा, कमरा, कक्ष। स्वनहा=श्वान, कुत्ता। प्रतीमा=प्रतिमा, छाया, प्रतिबिम्ब।

भावार्थ—मानो एक कुत्ता दौड़कर दर्पणों के किसी कक्ष में घुस गया और उन दर्पणों में अपने शरीर के प्रतिबिम्ब देखकर तथा उन्हें अपने प्रतिद्वंद्वी एवं वैरी मानकर उनके विरोध में भूंक-भूंककर मर गया। इसी प्रकार मनुष्य अपने मन की कलुषित भावनाओं की प्रतिछाया दूसरे लोगों में आरोपित कर, उनसे राग-द्वेष कर और लड़-झगड़कर अपने जीवन को बरबाद करता है॥ 59॥

व्याख्या—58वीं साखी में प्रेम और सत्य के व्यवहार की चर्चा की गयी थी। उसके विरोधी भाव की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए सद्गुरु कहते हैं कि मनुष्य न तो अपने जीवन में प्रेम को स्थान देता है और न सत्य को; किन्तु वह अपनी मलिन भावनाओं को अपने आस-पास के लोगों में प्रतिबिम्बित करता रहता है। हम जितना असत्य तथा राग-द्वेष में लिप्त होते हैं उतना दूसरों पर संदेह करने वाले होते हैं। जैसे कुत्ता अपने प्रतिबिम्ब को ही अपना वैरी मानकर उससे लड़ता है, वैसे ही हम अपने मलिन मनोभावों के नाते दूसरों में संदेह करते हैं कि वे हमारे विरोधी हैं और फिर हम उनसे मोर्चाबन्दी करने लगते हैं।

हम अपनी मलिन भावनाओं के कारण अपनी छाया से ही भयभीत हैं। हमारी अनैतिकता, हमारे मन की मलिनता, हमारे मन की अपराधी भावनाएं हमें क्षमा नहीं कर सकतीं। कैकेयी राम से वन में मिलकर उनसे सांत्वना पाने के बाद भी अपने दुष्कर्मों के कारण सदैव अनुताप में जलती रहती थी। कहते हैं औरंगजेब मरते समय अपने मन में अपने ऊपर गायों तथा हिन्दुओं द्वारा हमला होते हुए देखता था, क्योंकि उसने अपने जीवन में गायों तथा हिन्दुओं

को खूब सताया था। हम कितना ही पूजा-पाठ, तीर्थ-व्रत, रोजा-हज्ज करते रहें और गिड़गिड़ाकर किसी ईश्वर से क्षमा मांगते रहें; किन्तु यदि हमारे जीवन में दुष्कर्म हैं तो हमारी अन्तरात्मा हमें कभी क्षमा नहीं कर सकती। पापी आदमी कीमती भोजन, वस्त्र, वाहन, आवास में सुख नहीं पा सकता। आदमी अपने मलिन भाव तथा मलिन आचरणों के कारण आप ही अपना शत्रु है तथा अपने पवित्र भावों तथा पवित्र आचरणों के कारण अपना मित्र है।

कुत्ते के प्रतिबिम्ब कुत्ते के शत्रु नहीं हैं। वह अपनी मूर्खता से उन्हें शत्रु मानकर उनके विरोध में भूंक-भूंककर मरता है। इसी प्रकार इस संसार में हमारा कोई शत्रु नहीं है। हम अपनी मूर्खता एवं मनोमालिन्य से दूसरों में शत्रुत्व की कल्पना कर राग-द्वेष एवं झगड़े-झंझट में अपने जीवन को नरक बनाते हैं। कोई अपने अज्ञानवश हमसे शत्रुता माने भी, परन्तु यदि हमारा मन पवित्र है, हम उसे शत्रु की निगाह से नहीं देखते तो वह हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकता। हमारी दुर्भावना एवं हमारे दुष्कर्म के अलावा संसार में न हमारा कोई शत्रु है और न कोई हमारा कुछ बिगाड़ सकता है। मनुष्य अपनी ही अपराधी भावनाओं के छाया-पुरुष अपने चारों तरफ खड़ा करता रहता है और उन्हीं से भयभीत होकर जीवनभर कलह कर-कर मरता है।

ज्यों दर्पण प्रतिबिम्ब देखिये, आपु दुहुँनमा सोय॥
यह तत्त्व से वह तत्त्व है, याही से वह होय॥ 60॥

शब्दार्थ—प्रतिबिम्ब=बिम्ब की छाया, परछाईं। आप=स्वयं व्यक्ति।

भावार्थ—जैसे मनुष्य दर्पण में अपने शरीर का प्रतिबिम्ब देखता है, तो बिम्ब शरीर एवं प्रतिबिम्ब छाया—दोनों में उसी की ही सत्ता रहती है। बिम्ब-तत्त्व से ही प्रतिबिम्ब-तत्त्व बनता है, दर्पण में इस शरीर की ही छाया पड़ती है, वैसे जिस प्रकार हमारी मान्यता होती है, उसी प्रकार हमारी भावना बनती है॥ 60॥

व्याख्या—बिम्ब की सत्ता न हो तो प्रतिबिम्ब की सत्ता नहीं हो सकती। बिम्ब शरीर है, प्रतिबिम्ब दर्पण में पड़ी हुई शरीर की छाया है। शरीर में व्यक्ति की सत्ता है, तो मानो छाया में भी व्यक्ति की सत्ता है। जैसा बिम्ब होगा वैसा प्रतिबिम्ब होगा। यदि बिम्ब में अर्थात चेहरे में काला धप्पा लगा है तो प्रतिबिम्ब में भी धप्पा लगा होगा और यदि चेहरा साफ है तो छाया भी साफ होगी। हमारी मान्यताएं बिम्ब हैं और भावनाएं प्रतिबिम्ब हैं। जैसी मान्यता, वैसी भावना। यदि हमने किसी को शत्रु मान लिया है वह भले ही बहुत अच्छा आदमी हो, तो उसकी याद में हमारा मन अवश्य खराब होगा। जब हमें वह मिलेगा उसके लिए हमारी गलत भावनाएं सामने उभर आयेंगी।

यदि हमने किसी को मित्र मान लिया है तो उसकी याद में, उसके मिलने में, उसकी संगत में हमें आनन्द की अनुभूति होगी। हमारी सारी भावनाएं हमारी अवधारणाओं की छाया मात्र हैं। हम मलिन भावनाओं से तभी ऊपर उठ सकते हैं जब मलिन अवधारणाओं एवं मान्यताओं से ऊपर उठें। हमारी भावनाओं की गंदगी ही हमारा आध्यात्मिक पतन तथा हमारा नरक है और हमारी भावनाओं की पवित्रता ही हमारी आध्यात्मिक उन्नति है, हमारे जीवन का स्वर्ग है।

कीड़ी से कुंजर तक, पेट भरने की चिन्ता सबको है। पेट के लिए तो सब प्रयत्न करते ही हैं। मानव की सबसे बड़ी विशेषता है उसका अपने मन को पवित्र करना। मन की पवित्रता के समान संसार में कोई दूसरा सुख नहीं है। लोग अपने चाम के चेहरे को तो बारम्बार दर्पण में देखकर उसके दाग को दूर करते रहते हैं, परन्तु अपने मन के चेहरे को साफ करने की चिंता बहुत कम लोगों को है। यह मन का चेहरा ही प्रतिबिम्ब बनता है। यदि हमारा मन साफ है तो पूरा जीवन पवित्र, सुखद एवं शांतिमय होगा।

शास्त्रों से मानव श्रेष्ठ है

जोबन सायर मूझते, रसिया लाल कराय॥
अब कबीर पाँजी परे, पन्थी आवहिं जाय॥ 61॥

शब्दार्थ—जो=जो। बन=जंगल, वाणी का विस्तार। सायर=समुद्र, वेद-शास्त्रादि। मूझते=मुझ मनुष्य जीव ही से। रसिया=वाणी के रसिक। लाल=उत्तम मणि। कराय=किये। पाँजी=मार्ग। पन्थी=जीव।

भावार्थ—संसार में जो वाणी का वन एवं वाणी का समुद्र है वह मुझ-जैसे मनुष्यों से ही पैदा हुआ है। वाणी के रसिक लोग उसे लाल-मणि मानकर बिना विचार किये सांच-झूठ सभी वाणियों को प्रमाण रूप मानने लगते हैं। किसी वाणी के बन जाने के बाद लोगों के लिए वही रास्ता बन जाती है और पथिक लोग उसी के आधार पर जीवन-यात्रा करने लगते हैं, प्राय: विचार नहीं करते॥ 61॥

व्याख्या—संसार में वाणियों का विस्तार वन और समुद्र जैसा है। हजारों शास्त्र हैं और असंख्य वाणियां हैं। लिपिबद्ध एवं पुस्तकों के रूप में जो हैं वे तो हैं ही, मौखिक रूप से मनुष्य-समूह में जो गूंजती हैं उन वाणियों की भी कोई गणना नहीं हो सकती। इन वाणियों में कल्याणकारी तो थोड़ी हैं, विनाशकारी अधिक हैं। जिनसे विषय-वासनाओं और काम-क्रोधादि की ज्वाला प्रदीप्त हो ऐसी वाणियों का सर्वत्र बोलबाला है। धर्मशास्त्र के नाम पर जितनी वाणियां बनी या बनती हैं, उनमें प्राय: विचार करने की छूट नहीं दी

जाती। धर्मशास्त्र के नाम पर एक बार जो वाणियां कह या लिख दी गयीं, उनमें चाहे जितना अनर्गल, बे-सिर-पैर की, हानिकारी एवं झूठी बातें हों, नकारी नहीं जा सकतीं। यदि उन्हें कोई नकारता है तो उसे नास्तिक, काफिर या अपवित्र करार दिया जाता है। उसको अधर्मी सिद्ध किया जाता है।

धार्मिक नामधारियों ने अपने मन की बेतुकी बातों को अपनी पुस्तकों में किसी काल्पनिक ईश्वर, पैगम्बर तथा अवतारों के द्वारा कहलवा लिया है। अब उन पर कोई विचार करता है तो वह गाली का पात्र बन जाता है। इसलिए शिक्षित और अशिक्षित दोनों मूढ़ बने हुए धर्मशास्त्रों के नाम पर अनर्गल बातें ढोते चले जाते हैं। इस दिशा में अशिक्षित से शिक्षित कोई बहुत भिन्न नहीं होते। सांसारिक शिक्षाएं कोई बड़ी बात नहीं हैं। मनुष्य थोड़े दिनों के अभ्यास से चिकित्सा, कानून, यंत्र, व्याकरण आदि का ज्ञान प्राप्त कर लेता है; परन्तु उसका सब तरफ से निष्पक्ष होकर तत्त्व-विवेक करना बहुत बड़ी बात है। इसलिए अच्छे-अच्छे जज, वकील, डॉक्टर, इंजीनियर, प्रोफेसर, शास्त्री, आचार्य, आई.ए.एस. गोबरगणेश बने हुए नाना चमत्कारों, अन्धविश्वासों तथा भौतिक उपलब्धि के लिए धूर्त सोखा-ओझाओं, तांत्रिकों, पूजा के बल पर सारी सिद्धि प्रदान करने वाले महात्मा एवं पंडित नामधारियों के चंगुल में फंसे हुए भटकते रहते हैं।

भूत-प्रेत की बातें, शकुन-अपशकुन, स्वप्नविचार और फलितज्योतिष की बातें, ऋद्धि-सिद्धि की बातें, मन्त्र-तन्त्र तथा देवी-देवताओं की बातें जादू-टोना की बातें, भाग्य-विचार और राशिफल की बातें और इस तरह की सैकड़ों, अनर्गल बातें महाकाव्यों, पुराणों, धर्मशास्त्रों में बड़े नामधारी लोगों की जुबान से एवं लेखनी से कहलवा तथा लिखवा दी गयी हैं। अब तो बस जनता का इस रास्ते पर चलना ही चारा रह गया है। वह विचार नहीं कर सकती। यदि विचार करती है तो परम्परा-विरोधी है, अपने धर्म तथा संस्कृति का नाशक है। और भी पता नहीं क्या-क्या गाली उसे दी जाती है। धर्मशास्त्र तथा महापुरुष एवं प्रभु के नाम पर हमारे पैर पकड़कर पीछे खींचे जाते हैं। हमें पुनः जंगली युग में ले जाने का प्रयास किया जाता है। वाणी के रसिक लोग धर्म के नाम पर कही गयी एक-एक बात को लाल-मणि के समान मान रहे हैं। परन्तु जो लिखा या छपा हो वह सब सत्य नहीं तथा जो कुछ चमकता हो वह सब सोना नहीं। हर बात पर विचार करना मानव का धर्म है।

क्रांतिद्रष्टा सद्गुरु कबीर कहते हैं कि सारे वेद, शास्त्र, बाइबिल, कुरान तथा विश्व की सारी लिखित तथा अलिखित वाणियां मुझ-जैसे मनुष्यों की ही बनायी हैं। इसलिए सब पर विचार करना हमारा अधिकार है। मनुष्य के अलावा कोई ऐसी शक्ति नहीं है जिसने कोई वाणी या ग्रन्थ रचा हो या रच

सकता हो। सारी वाणी-रचना मानव की है। इसलिए मानव का कर्तव्य है कि वह हर वाणी पर परख की कसौटी लगाये। सार को ले और अनर्गल बातों को निर्भय होकर छोड़ दे। निष्पक्षता एवं निर्भयता के बिना सत्य का मोती नहीं मिल सकता।

उपर्युक्त साखी का एक अर्थ और किया जाता है। पहले वाले अर्थ में जोबन को 'जो बन' अलग-अलग करके पढ़ा जाता है। परन्तु दूसरे अर्थ में जोबन एक में पढ़ा जाता है और इसका अर्थ है जवानी। सायर का अर्थ समुद्र है ही। मूझते का अर्थ है मूर्च्छित होना। 'मूझना' मूर्च्छित होने को कहते हैं। घनानन्द ने लिखा है "सोचनि जूझत मूझत ज्यौं।"[1]

अतएव अर्थ हुआ कि जवानी के समुद्र एवं विषय-वासना की मूर्च्छा में पड़े हुए लोग विषय-भोगों को ही लाल-मणि मानकर उन्हीं की उपलब्धि में अपने जीवन को कृतार्थ समझने लगते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि पीछे से यह विषय-सेवन ही जीवन का रास्ता बन जाता है। इसी अध्यास-वश जीव बारम्बार जन्म-मरण के फेरे में घूमते हैं।

मनुष्य अपनी किशोर अवस्था में स्वतंत्र रहता है। यदि वह जीवनपर्यंत स्वतंत्र रहना चाहता है तो भी संसार के धुरंधर मायावी लोग उसे नाना भय और लालच दिखाकर विषय-वासना के खूंटे में बांध देते हैं। फिर तो वह संसार का चक्कर काटता रहता है। अतएव साधक को विषय-वासना का जाल स्वयं काटना होगा। इसके लिए अनासक्ति और निर्भयता की परम आवश्यकता है।

स्वरूपस्थ व्यक्ति ही सम्राट है

दोहरा तो नौ तन भया, पदहि न चीन्हैं कोय॥
जिन्ह यह शब्द विवेकिया, छत्र धनी है सोय॥ 62॥

शब्दार्थ—दोहरा=दो परतों का, दूसरा, विजाति, दुगुना, दोहा। नौ=नव, नवीन। पदहि=पद को, स्व स्वरूप चेतन को। छत्रधनी=राजा, स्वतंत्र, सुखी।

भावार्थ—जीव अपने शुद्ध चेतनस्वरूप को भूलकर दूसरी एवं विजाति दृश्य-माया में मोह करता है, इसलिए उसे भव-सागर में भटकते हुए नये-नये शरीरों की प्राप्ति होती है। क्योंकि विजाति जड़-दृश्यों से हटकर कोई अपने चेतनस्वरूप को तो पहचानता नहीं। जो व्यक्ति उक्त बातों पर विवेक कर तथा जड़-दृश्यों का राग छोड़कर अपने शुद्ध चेतनस्वरूप में स्थित होता

---

1. मूझना, बृहत् हिन्दी कोश, ज्ञानमंडल लि., कबीर रोड, काशी।

है, वह स्वरूपस्थिति के उच्चासन पर आरूढ़ होकर स्वतंत्र, सुखी एवं सम्राट हो जाता है॥ 62॥

व्याख्या—दोहरा, दुगुना, दूसरा, द्वैत-जड़ दृश्य माया में राग करना ही भवधार में बहने का कारण है। जब हम अपने शुद्ध चेतनस्वरूप को भूलकर देह-गेह आदि में मोह करते हैं, तभी अपने पद से गिर जाते हैं। 'स्व' और 'पर' दो ही तत्त्व हैं। स्व चेतनस्वरूप है और पर जड़स्वरूप है। जब हम जड़ में लोभ करते हैं तब उसके मूल में अपने स्वरूप का विस्मरण ही है।

"पदहि न चीन्हैं कोय" कोई अपने पद को नहीं पहचानता कि मैं कौन हूं। संसार के अधिकतम लोग देह ही को अपना स्वरूप समझते हैं। मैं अजर, अमर, अखण्ड शुद्ध चेतन हूं यह विवेक न होने से मनुष्य देहाभिमानवश सदैव दुखी बना रहता है। देहाभिमान ही आध्यात्मिक दुर्बलता है। इसे त्यागकर स्वरूपज्ञान में प्रतिष्ठित होना महान बलवान हो जाना है। स्वरूप-विवेक, स्वरूप-स्मरण तथा स्वरूप-स्थिति आध्यात्मिक-उन्नति का उच्चतम शिखर है। इस अवस्था में पहुंच जाना ही सम्राट हो जाना है। स्वरूपस्थ व्यक्ति छत्रधनी है, बादशाहों का भी बादशाह है। जिसकी सारी कामनाएं बुझ गयीं और जो अपने अविनाशी राम में लीन है, वह सर्वोच्च है।

उक्त साखी का थोड़ा पाठान्तर से दूसरा भी अर्थ किया जाता है। इस अर्थ में 'नौ तन' की जगह पर 'नूतन' पाठ है। इसका अर्थ है—मेरे दोहे नूतन हैं, नये हैं, परन्तु मेरे पदों को लोग नहीं समझते। जिन्होंने मेरे शब्दों पर विवेक किया है या करते हैं वे सत्यस्वरूप में प्रतिष्ठित होकर सम्राट हो जाते हैं।

पवित्रात्मा पुरुष प्रकाश-स्तम्भ है

कबीर जात पुकारिया, चढ़ि चन्दन की डार॥
बाट लगाये ना लगे, पुनि का लेत हमार॥ 63॥

शब्दार्थ—चन्दन की डार=मानवीय सद्‌गुण, चेतनस्वरूप की स्थिति। बाट=रास्ता।

भावार्थ—कबीर साहेब कहते हैं कि मैं अपने मानवीय सद्‌गुण एवं आत्मस्वरूप की स्थिति में आरूढ़ होकर संसार के लिए भी सन्मार्ग बताये जा रहा हूं। यदि संसार के लोग बताये हुए सन्मार्ग पर नहीं लगेंगे तो हमारा क्या नुकसान करेंगे, अपना ही अहित करेंगे॥ 63॥

व्याख्या—मानवीय सद्‌गुण तथा स्वरूपस्थिति के समान कोई सुगंधी नहीं है। परन्तु उदाहरण के लिए चन्दन के सिवा और किसका नाम लिया जाये! अतएव सद्‌गुरु ने यहां चन्दन की डाली का सुन्दर रूपक दिया है।

मानवीय सद्‌गुण एवं स्वरूपस्थिति चन्दन की डाली है जिसमें हर समय सुगंधी है। दया, शील, क्षमा, करुणा, संतोष, सत्य आदि मानवीय सद्‌गुण हैं और सारी जड़ वासनाओं को छोड़कर अपने आत्मस्वरूप एवं चेतनस्वरूप में स्थित हो जाना स्वरूपस्थिति है। सद्‌गुरु इस दशा में स्थित हैं और इसी मार्ग पर लाने के लिए वे संसार के लोगों को पुकार रहे हैं। जो व्यक्ति उनके वचनों पर ध्यान देगा, उन्हें सुन-विचारकर उनका आचरण करेगा, वही कृतार्थ हो जायेगा।

सद्‌गुरु कहते हैं कि जो मेरी बातों पर ध्यान नहीं देगा, वह मेरा क्या बिगाड़ेगा ! वह अपना ही नुकसान करेगा।

"बाट लगाये ना लगे, पुनि का लेत हमार" यह मजबूरी संसार के सभी महापुरुषों के सामने थी और आज भी है। हमारे बीच महापुरुष आते हैं, परन्तु हम अपने प्रमादवश उन्हें नहीं समझ पाते। उनके बताये हुए सन्मार्ग पर चलना तो दूर, हम उनके प्रति द्वेष-भाव कर अपने अन्तःकरण को बिगाड़ते हैं। संसार के सभी महापुरुषों की अवहेलना करने वाले लोग उनके सामने ही थे। परन्तु इसको लेकर उन्होंने अपना काम बन्द नहीं किया। वे स्वयं अपने शुभ-मार्ग पर चलते रहे और दूसरों के लिए सत्प्रेरणा देते रहे। जो उनकी ओर ध्यान दिये वे उनसे लाभ लेकर अपना कल्याण करते रहे।

पवित्रात्मा पुरुष मानव-समाज के लिए प्रकाशस्तंभ होते हैं। यदि सच्चे ज्ञान एवं पवित्र रहनी से संपन्न पुरुष हमारे बीच में होते हैं तो वे हमारे लिए एवं मानव-समाज के लिए अमोघ वरदान होते हैं। ज्ञान तथा सद्‌गुण की बात कहने वाले लोग तो हमें बहुत मिल जाते हैं, परन्तु जो उनके आचरणों से संपन्न हों, ऐसे व्यक्ति दुर्लभ हैं। यदि ऐसे पुरुष हमारे बीच हों तो वे हमारे लिए प्रेरणास्रोत हैं और हमारा परम सौभाग्य है। अतएव हमें महापुरुषों से प्रेरणा लेकर अपने जीवन को ऊपर उठाना चाहिए।

सत्य सर्वोपरि उपलब्धि एवं सुख है

सब ते साँचा भला, जो साँचा दिल होय॥
साँच बिना सुख नाहिना, कोटि करे जो कोय॥ 64॥

शब्दार्थ—नाहिना=नहीं है।

भावार्थ—यदि हम अपने हृदय में सत्य की प्रतिष्ठा कर सकें तो सत्य के समान संसार में अन्य कोई उपलब्धि नहीं है। चाहे कोई करोड़ों उपाय करे, किन्तु सत्य ज्ञान एवं सत्य आचरण के बिना सच्चा सुख नहीं मिल सकता॥ 64॥

व्याख्या—लोग कहते हैं कि झूठ के बिना काम नहीं चलता। परन्तु उन्हें

समझना चाहिए कि वे झूठ को भी सत्य के आधार पर ही चलाते हैं। वे झूठ बोलकर भी यही कहते हैं कि यह सत्य है। यदि यह कह दिया जाये कि जो मैं बोल रहा हूं वह झूठ है तो उसे कौन मानेगा!

लोग विवाह-शादी में झूठ बोलने में संकोच नहीं करते। इसमें झूठ बोलना धर्म समझते हैं। व्यापार तो बिना झूठ के चल ही नहीं सकता, यह बात मन में पहले ही पक्की कर ली जाती है। वस्तुतः हम झूठ बोल-बोलकर एक दूसरे के लिए इतने अविश्वासी हो गये हैं कि इसको लेकर हमें और झूठ बोलना पड़ रहा है। हम झूठ बोलकर दूसरों को धोखा देते हैं और दूसरे लोग झूठ बोलकर हमें धोखा देते हैं।

हम झूठ बोलकर रात-दिन चाहे जितना राइट-रांग करते हों, परन्तु यदि कोई दूसरा व्यक्ति झूठ बोलकर हमें धोखा देना चाहे और हम इस बात को समझ सकें तो हम उसे पसन्द नहीं करेंगे। जो लोग व्यापार में प्रतिदिन हजारों-लाखों का गोलमाल करते हैं वे ही अपने नौकर द्वारा दस पैसे की चोरी पर उसे डण्डे से मारते हैं। हमें अपना झूठ भले पसन्द हो, परन्तु हमारे अपने तयीं दूसरों द्वारा किया गया झूठा व्यवहार कतई पसंद नहीं होता। जब हम अपने लिए किसी द्वारा झूठा व्यवहार नहीं चाहते, तब यह भी बात समझ में आ सकती है कि कोई भी अपने लिए दूसरों द्वारा झूठा व्यवहार नहीं चाहता। मानवता का अर्थ यही है कि हम दूसरों द्वारा अपने लिए जैसा व्यवहार चाहते हैं वैसा ही व्यवहार दूसरों के लिए करें। हम अपने लिए दूसरों द्वारा सत्य और निश्छल व्यवहार चाहते हैं, अतएव हम भी दूसरों के साथ सत्य एवं निश्छल व्यवहार करें।

सद्‌गुरु इस साखी में कहते हैं कि सत्य सबसे भली वस्तु है। सत्य क्या वस्तु है? वस्तु का सत्य ज्ञान, सत्य भावना, सत्य वचन एवं सत्य आचरण; ये चतुर्विध सत्य की धारणा ही सत्य को ग्रहण करना है। पहली बात वस्तु का सत्य ज्ञान है। जड़ और चेतन के उनके अपने गुण-धर्मों के सहित उन्हें तत्त्वतः समझ लेना सत्य ज्ञान है। पानी कोई देवता बरसाता है यह असत्य ज्ञान है। जड़ प्रकृति की अपनी अनुकूल योग्यता से पानी बरसता है। जब उसकी अनुकूल योग्यता नहीं रहती तब नहीं बरसता। यदि कोई देवता बरसाये तो आवश्यकतानुसार बरसाये। देव चेतन होने से वह अतिवर्षण एवं अवर्षण नहीं कर सकता जिससे प्राणियों को कष्ट हो। परन्तु देखा जाता है कि कहीं अतिवर्षण से क्षेत्र-का-क्षेत्र बह जाता है और कहीं अवर्षण से क्षेत्र-का-क्षेत्र सूखा और अकाल से कराहता रहता है। वर्षा, शीत, धूप, ओला, पाला, नदी-झरना का बहना, वनस्पतियों का उगना, बढ़ना, उनमें फूल-फल का आना, छह ऋतुओं का परिवर्तन होना, भूचाल आना, ज्वालामुखी का

फूटना तथा और सारी जड़ प्रकृति से होने वाली घटनाएं किसी चेतन देव, भूत, प्रेत आदि की अपेक्षा नहीं रखतीं। जड़ तत्त्वों के उनके गुण, धर्म एवं क्रियादि उनमें अंतर्निहित हैं, जिनसे जड़ात्मक सृष्टि अबाध गति से चलती है। जड़ से सर्वथा भिन्न चेतन असंख्य हैं जो केवल ज्ञानस्वरूप हैं। वे जड़-वासनावश देह धारणकर संसार में भटक रहे हैं। मनुष्य शरीर में स्वरूपज्ञान पाकर तथा वासना का त्यागकर वे मुक्त हो सकते हैं। मनुष्य, पशु, अण्डज तथा उष्मज के अलावा देव, भूत, प्रेत आदि कोई योनि एवं खानि का अस्तित्व नहीं है। मनुष्य के अलावा मनुष्य का कोई उद्धारक नहीं है। अपने कर्मों से ही अपना उत्थान या पतन, बंध या मोक्ष है। प्रत्यक्ष सृष्टिक्रम के विरुद्ध संसार में जितनी बातें चमत्कारिक रूप में मान्य हैं वे सब मनुष्य के अज्ञान से फैली हैं। चमत्कारों के मूल में धूर्तता है या मूर्खता। इस प्रकार जड़-चेतन को उनके अन्तर्निहित गुण-धर्मों के द्वारा ठीक से समझना सत्य ज्ञान है।

दूसरी बात है सत्यभावना। हम जिस वस्तु को जिस तरह समझते हों उसको उसी तरह मानें। झूठी मान्यताओं को मन में कभी स्थान न दें। हमारा मन वस्तुपरक होना चाहिए, कल्पनापरक नहीं। सत्यज्ञान को मन में पूर्णतया स्थान मिल जाने पर आगे वचन तथा आचरण में भी सत्य प्रतिष्ठित होता है। मन मूल है। उसके बाद वचन तथा क्रियाएं हैं। अतएव प्राप्त सद्ज्ञान को मन में पूर्णतया स्थान मिलना चाहिए। हमारा मन सत्यज्ञान से ओत-प्रोत होना चाहिए।

तीसरी बात है सत्यवचन। हम जिस वस्तु को जैसे सुने हैं, जैसे जानते हैं, जैसे मानते हैं उसे ठीक उसी प्रकार कहना सत्य-वचन है। लोग थोड़ी-थोड़ी बातों में झूठ बोलते रहते हैं। कितने लोगों का झूठ बोलना उनके जीवन का नियम ही होता है। कितने लोग कभी-कभी अपवादस्वरूप झूठ बोलते हैं। कुछ लोग जान-बूझकर कभी झूठ नहीं बोलते। वे सब समय हृदय को सरल एवं निश्छल रखते हैं और हृदय में जैसी बात है वैसी ही कहते हैं। प्रश्न होता है कि किसी निरपराध प्राणी की जान बचाने के लिए झूठ बोलना ठीक है या नहीं। मेरे विचार से ऐसी जगह झूठ बोलना भी यदि पाप हो तो भी यह पाप करके निरपराध प्राणी की जान की रक्षा करनी चाहिए। हमें चाहिए कि हम सत्य बोलने में श्रद्धा करें।

चौथी बात है सत्य का आचरण। सत्य को जान या कहकर ही न रह जायें, उसका जीवन में आचरण करें। हम यदि समझ लिये हैं कि व्यभिचार, हत्या, चोरी, परनिंदा, द्वेष, काम, क्रोधादि गलत हैं, तो हमें चाहिए कि इनसे दूर रहने के प्रयत्न में लगे रहें और दया, क्षमा, शील, संतोष, परसेवा,

ब्रह्मचर्य, वासना-निवृत्ति आदि यदि सत्य-पथ हैं ऐसी समझ हो गयी हो तो इनका हम अनुसरण करें।

इस प्रकार सद्गुरु कहते हैं कि यदि सत्य को हम अपने जीवन में धारण कर सकें तो इसके समान कोई उपलब्धि नहीं है। इसके बिना जीवन में सच्चा सुख मिल भी नहीं सकता। इन्द्रिय-भोग-विलास एवं मिथ्या ममता एवं स्वार्थ में हम जितना चिपके रहते हैं उतना सत्य से दूर रहते हैं और झूठ का आश्रय लेते हैं। जब हम स्वार्थ को जीत लेते हैं तब झूठ से दूर तथा सत्य में लीन हो जाते हैं। सत्यज्ञान, सत्यभावना, सत्यवचन एवं सत्याचरण से संपन्न व्यक्ति भीतर-बाहर स्वस्थ, सदैव प्रसन्न, आनंदित एवं निर्भय होता है। इसके सुख के आगे जगत के सारे सुख तुच्छ हैं। उसकी आत्मा सत्य के व्यावहारिकस्वरूप में प्रतिष्ठित होकर सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त होती है। उसके समान न कोई देवता है, न ईश्वर है, अपितु वही सर्वोच्च देवता है, ईश्वर है और गुरु है।

महाभारतकार कहते हैं कि जो वेदों को जानता है वह वेदों के उस भेद को नहीं जानता जो जानने योग्य है। जो सत्य में स्थित है वही वेदों के जानने योग्य भेद को जानता है।[1] वे कहते हैं कि वेदों का रहस्य सत्य है, सत्य का रहस्य आत्म-संयम है, आत्मसंयम का रहस्य मोक्ष है, यही संपूर्ण शास्त्रों का सार है।[2] रामायणकार श्री राम से कहलाते हैं कि संसार में सत्य ही ईश्वर है। धर्म सदैव सत्य पर ही टिका रहता है। सबका आधार सत्य है। सत्य से पृथक कहीं परमपद नहीं है। दान, यज्ञ, होम, तपस्या, वेद—सब सत्य पर ही ठहरे हैं। अतएव सबको सत्य में अनुरक्त होना चाहिए।[3]

साँचा सौदा कीजिये, अपने मन में जानि॥
साँचे हीरा पाइये, झूठे मूलहु हानि॥ 65॥

शब्दार्थ—सौदा=खरीद-बेची, माल। हीरा=एक बहुमूल्य रत्न जो सफेद चमकवाला और अत्यन्त कठोर होता है, तात्पर्य में सत्यज्ञान एवं कल्याण।

भावार्थ—अपने मन में जान-समझकर असली माल खरीदो और बेचो,

---

1. यो वेद वेदान् न स वेद वेद्यम्।
   सत्ये स्थितो यस्तु स वेद वेद्यम्॥ महाभारत, सनत्सुजातीय पर्व॥
2. वेदस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः।
   दमस्योपनिषन्मोक्ष एतत् सर्वानुशासनम्॥ महाभारत, शांतिपर्व 299/13॥
3. सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः।
   सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्॥
   दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च।
   वेदाः सत्य प्रतिष्ठा नास्तस्मात् सत्यपरो भवेत्॥ (वाल्मीकीय रामायण 2/109/13-14)

अर्थात सत्यज्ञान को लो और दो। सच्चे और निश्छल मन वाले होकर ही सत्यज्ञान एवं कल्याण पाओगे। झूठ का आश्रय लेने से तो मूलधन की भी हानि होगी। अर्थात असत्य बातों में पड़कर तो साधारण जीवन का सुख भी नष्ट हो जायेगा॥ 65॥

व्याख्या—कुछ लोग व्यापार शुरू करते हैं तो वे अपनी दुकान एवं गोदाम में ज्यादा नकली माल रखते हैं। वे असली माल में भी नकली माल मिला देते हैं। खाने-पीने की वस्तुओं एवं दवाओं में भी नकली माल मिला देते हैं। यहां तक कि हानिकर चीजें मिला देते हैं। ऐसे नराधम एवं पापी लोगों के लोक-परलोक दोनों बिगड़ते हैं। उनको जीवन में शांति तो मिल ही नहीं सकती। उनका व्यापार भी कुछ दिनों में बैठ जाता है और यदि उनकी धांधलेबाजी ज्यादा दिनों तक चलती रही, तो भी यह पक्का समझ लो कि इस प्रकृति के क्षेत्र में न्याय में देर भले हो, अन्धेर नहीं है। कारण-कार्य की ऐसी स्वचालित व्यवस्था है जिसमें अपने कर्म के फल-भोग आने ही हैं। लहसुन-प्याज खाने वाले को दुर्गंधी की डकार आयेगी ही। जो व्यापारी अधिक मुनाफे के लोभ में पड़कर अपने ग्राहकों को कच्चा माल देकर सच्चे माल के पैसे लेगा, तौल-नाप में कम देगा, डांड़ी-पसंगे मारेगा या अन्य ढंग से ठगेगा, उसका कुछ दिनों में व्यवहार भी बिगड़ेगा और धर्म तो उसका बिगड़ा ही है। अतएव व्यापारियों को चाहिए कि वे माल सच्चा रखें। अपने ग्राहकों को ईमानदारी से सौदा दें। उनसे उचित मुनाफा लें। ऐसा सच्चा सौदा करने वाले का व्यापार स्थायी होगा। उसके लोक-परलोक दोनों बनेंगे।

संसार में कुछ गुरु नामधारी भी पक्के धूर्त होते हैं। जैसे दो नम्बर के धंधा के बिना व्यापार में धन नहीं बढ़ता, वैसे दो नम्बर के प्रचार के बिना उनका धर्म नहीं बढ़ता। उनका धर्म है धन और अनुयायियों की भीड़। ऐसे धूर्त गुरु स्वयं या अपने अनुयायियों द्वारा खुद को अवतार घोषित करते या करवाते हैं, अपने सम्बन्ध में चमत्कार का प्रचार करते या करवाते हैं, नाना सनसनीखेज बातें अपने लिए लिखते या लिखवाते तथा कहते या कहलवाते हैं। ऐसे धूर्तों के चक्कर में केवल अनपढ़ मूर्ख ही नहीं पड़ते, किन्तु ज्यादा तो पढ़े-लिखे मूर्ख पड़ते हैं।

सद्‌गुरु कबीर हमें सावधान करते हुए बताते हैं "साँचा सौदा कीजिये, अपने मन में जानि" वे कहते हैं कि सत्य का सौदा करो। इसके लिए श्रद्धा-विश्वास रखो, किन्तु हर बात को अपने मन में जानने की भी चेष्टा करो। अपने विवेक से बातों को तौलो, परख की कसौटी लगाओ। चाहे शास्त्रों की बातें हों, चाहे गुरुजनों की और चाहे जनसमूह की, सबको ठोक-बजाकर, जांच-परखकर उनका ग्रहण या त्याग करो।

ध्यान रहे, तुम जितने पाप करोगे, उनका फल तुम्हें भोगना पड़ेगा। नदी-स्नान, मूर्ति-मंदिर-दर्शन, नाम-जप, तीर्थ-सेवन तथा अन्य कर्मकांडों से पाप कट नहीं सकते। किसी के पूजा कर देने से, आशीर्वाद दे देने से तुम्हें पुत्र, धन, नीरोग्यता, विजय आदि नहीं मिल सकते। इनके लिए तुम्हारे प्रारब्ध तथा पुरुषार्थ एवं सत्कर्म ही काम देंगे। सत्संग, सत्कर्म, सद्गुण, स्वरूपज्ञान-आत्मज्ञान यह सब सांचा सौदा है। इस सौदे को खरीदो।

"साँचे हीरा पाइये, झूठे मूलहू हानि" सच्चे दिल से निष्पक्ष एवं निर्भय होकर सत्य का सौदा करने पर ही सत्यज्ञान तथा शांति मिलेगी। जो झूठ का व्यापार करेगा, किसी दिन उसकी मूल पूंजी भी डूबेगी। इसी प्रकार अन्धविश्वास, चमत्कार एवं धूर्त गुरुओं की वाहवाही में पड़कर जो उनके कच्चे ज्ञान के चक्कर में पड़ेगा, उसका साधारण जीवन भी खराब होगा, आगे स्वरूपस्थिति एवं जीवन्मुक्ति का होना तो बहुत दूर है।

सुकृत बचन माने नहीं, आपु न करे विचार॥
कहहिं कबीर पुकारि के, सपनेहु गया संसार॥ 66॥

शब्दार्थ—सुकृत=पुण्य, सत्य, संत। आपु=स्वयं।

भावार्थ—लोग संतों के पवित्र एवं सत्य वचनों को मानते नहीं और स्वयं भी विचारकर सत्यज्ञान एवं सत्य आचरण ग्रहण करते नहीं। कबीर साहेब लोगों को बलपूर्वक पुकारकर कहते हैं कि संसार के लोग अपने जीवन को स्वप्न के समान व्यर्थ खोकर चले गये और चले जा रहे हैं॥ 66॥

व्याख्या—बृहत् हिन्दी कोष में सुकृत के इतने अर्थ किये गये हैं—पुण्य, सत्कर्म, दान, दया, पारितोषिक तथा सौभाग्य; विशेषण में इसके अर्थ इतने हैं—शुभ, सुविहित, भाग्यवान, ठीक तरह से किया हुआ, सुनिर्मित तथा जिसके साथ सदय व्यवहार किया गया हो। इस साखी की प्रथम पंक्ति का सार इतना ही है कि लोग संतों के पुण्य एवं सच्चे वचन नहीं मानते और स्वयं भी निष्पक्ष होकर विचार नहीं करते। सत्य के बोध के लिए दो ही तरीके हैं, एक तरीका है जिज्ञासु के सौभाग्य से उसे कोई ऐसे संत पुरुष एवं गुरु मिल जायें जो सारे पक्षपातों से रहित परम विवेकी हों और जिज्ञासु उनके वचनों पर श्रद्धापूर्वक ध्यान दे। अथवा वह स्वयं इतना निष्पक्ष एवं स्वतंत्र चिन्तनप्रवीण हो कि हर बात पर स्वतः तटस्थ होकर विचार करे। वस्तुतः सत्संग एवं स्वतः विवेक आवश्यकता दोनों की है। हमें गुरु-संतों के सत्संग-निर्णय का आधार भी चाहिए और अपना निष्पक्ष विवेक-बल भी चाहिए।

खेद यह है कि संसार के अधिकतम लोग न अपने विवेक का उपयोग करते हैं और न संत-पुरुषों का आधार लेते हैं। वे पशु-सदृश कमाते-खाते

और विषय-भोगों में जीवन व्यतीत करते हैं। शरीर धारण करके जो कल्याण का काम करना चाहिए उसे वे नहीं कर पाते हैं और एक दिन जीवन सपने की तरह समाप्त हो जाता है। जीवन में बौद्धिक और मानसिक संतोष प्राप्त हो तो जीवन सफल है। अन्यथा यह सपने के समान मिला और गया, हाथ में कुछ भी नहीं आया।

ज्ञान की आग

आगि जो लागि समुद्र में, धुवाँ न परगट होय॥
की जाने जो जरि मुवा, की जाकी लाई होय॥ 67॥

शब्दार्थ—समुद्र=अंतःकरण। लाई=लायी हुई, लाइ-आग।

भावार्थ—साधक के हृदयरूपी समुद्र में ज्ञान की आग लग गयी। इसमें तो धुआं प्रकट होता नहीं है कि बाहर से कोई आग का अनुमान कर सके। इस आग को वही जानेगा जो इसमें जलकर मर चुका है, अर्थात ज्ञानाग्नि से जिसकी सारी आसक्तियां जलकर समाप्त हो गयी हैं और वह जीवन्मुक्त हो चुका है या इसे वह सद्गुरु जानेगा जिसने इस आग को लाकर साधक के हृदय में लगायी हो॥ 67॥

व्याख्या—मनुष्य कहीं आग जलते हुए देखता है और उसके साथ यह भी देखता है कि उसमें से धुआं निकल रहा है। दूसरे समय में वही आदमी जब दूर से कहीं धुआं उठता हुआ देखता है, तो पूर्व ज्ञान के आधार पर उसे धुआं देखकर वहां आग जलने का अनुमान होता है। फिर आदमी का यह ज्ञान सहज हो जाता है कि जहां-जहां धुआं होता है वहां-वहां आग होती है।

साधक के हृदय में ज्ञान की आग लगती है। इसमें धुआं नहीं प्रकट होता। इसलिए इस आग का ज्ञान दूसरों को नहीं हो पाता। इसीलिए अच्छे-अच्छे साधक और संतों को भी दूसरे लोग नहीं समझ पाते, अतएव उनके लिए वे गलत धारणा बनाये रखते हैं। कितने सज्जन लोग भी संतों एवं साधकों को नहीं समझ पाते। वस्तुतः यह आग स्वसंवेद्य है। यह जिसके हृदय में लगती है, वही जानता है। जैसे आग लगने पर वहां की सारी चीजें जल जाती हैं, वैसे जिसके हृदय-सागर में ज्ञान की आग लग जाती है उसके हृदय के सारे विकार जल जाते हैं। काम, क्रोध, लोभादि विकार ही तो जीव के लिए बंधन हैं और जब यही जल जाते हैं, तब बंधन समाप्त हो जाते हैं। जंगल में आग लगती है, समुद्र में नहीं, क्योंकि समुद्र पानी की राशि है। कबीर साहेब उलटवांसी कहने में प्रवीण हैं। वे यहां भी उलटवांसी कहते हैं, परन्तु अर्थ तो उनका सदैव सीधा होता है और मन पर चोट करने वाला।

हृदय में ज्ञान की आग लगी और सारे विकार जलकर समाप्त हो गये।

जीव का कल्याण हो गया। इसे कोई बाहर का आदमी जाने या न जाने, क्या अन्तर पड़ता है ! बाहर का आदमी जान भी नहीं सकता। उदाहरण साक्षी है। संसार के सिद्ध पुरुषों को कहां संसार के लोगों ने जाना है ! यदि वे उन्हें जान गये होते तो उनकी खिल्ली क्यों उड़ाते। महापुरुषों की कम कीमत आंकने वाले संसार में लोग रहे हैं। लोग अपने दिल को तो ठीक से समझ नहीं पाते, दूसरे के दिल को कैसे समझ पायें ! इसलिए दूसरे के विषय में अपनी कोई धारणा भी नहीं बनाना चाहिए।

जिसके हृदय में ज्ञान की आग लग चुकी है, और उसके सारे विकार जल चुके हैं, उसे इस बात को बाहर के लोगों को बताने की कोई इच्छा भी नहीं होती। क्योंकि इच्छाएं तो सारी जल चुकी होती हैं। मैं मुक्त हूं, यह कहने की उसे क्या आवश्यकता ! इसका रहस्य वह खुद जानता है या जिसने ज्ञानाग्नि लगायी, वह सद्गुरु जानता है। परन्तु सद्गुरु का काम भी समाप्त हो गया रहता है। इस अपने हृदय में लगी ज्ञानाग्नि का पूर्णतया बोध साधक को ही होता है। वह इसका प्रदर्शन नहीं करता। वह सदैव मस्त होता है। उसकी अपनी रस-गागरी से छलके हुए अनुभव-रस से कोई लाभ ले ले तो यह संसार का काम है। वह तो अपने आप में पूर्णकाम, पूर्णतृप्त एवं आनन्दकंद होता है। सद्गुरु ने उसके लक्षणों में अन्यत्र कहा है—

मन मस्त हुआ तब क्यों बोले।
हीरा पायो गाँठि गँठियायो, बार बार वाको क्यों खोले॥
हलकी थी तब चढ़ी तराजू, पूरा भया तब क्यों तोले॥ 1॥
सुरत कलारी भई मतवारी, मदवा पी गई बिन तोले॥
हंसा पायो मानसरोवर, ताल तलैया क्यों डोले॥ 2॥
तेरा साहेब है घट भीतर, बाहर नैना क्यों खोले॥
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, साहेब मिलि गये तिल ओले॥ 3॥

लाई लावनहार की, जाकी लाई पर जरे॥
बलिहारी लावनहार की, छप्पर बाँचे घर जरे॥ 68॥

शब्दार्थ—लाई=लायी हुई, 'लाइ' आग को भी कहते हैं; तात्पर्य में प्रेम एवं ज्ञान की आग अर्थात लगन। लावनहार=सद्गुरु। पर=पंख, खानी-वाणी अर्थात स्थूल-सूक्ष्म माया तथा राग-द्वेष के पंख। बलिहारी=प्रशंसा। छप्पर=छाजन, तात्पर्य में छप्पर=छह के ऊपर—पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा छठां मन के ऊपर जीव। घर=अहंता-ममता।

भावार्थ—साधक के हृदय में लाकर लगायी हुई ज्ञान की आग सद्गुरु की है, जिसकी आग से साधक के स्थूल-सूक्ष्म माया के आसक्ति रूपी पंख या राग-द्वेष के पंख जल गये और जीव-पक्षी का संसार के विषयों में उड़ना

बंद हो गया। ज्ञानाग्नि लाकर लगाने वाले सद्‌गुरु की प्रशंसा है। इस ज्ञानाग्नि में छप्पर तो बच जाता है और घर जल जाता है अर्थात जीव का उद्धार हो जाता है और सांसारिक अहंता-ममता का घर जल जाता है॥ 68॥

व्याख्या—सद्‌गुरु कबीर की बात-बात में सुन्दर अलंकार हैं, उलटवांसियां हैं, जो उद्‌बोधन के साथ हैं और पढ़ने वाले के मन को मोह लेते हैं। इस साखी की पहली पंक्ति में महत्त्वपूर्ण बात है कि सद्‌गुरु ने आग लगायी और जीव के पंख जल गये। यह संसारी जीव स्थूल-सूक्ष्म माया की आसक्ति के पंख से संसार में उड़ता है। प्राणी-पदार्थों का मोह स्थूल माया की आसक्ति है और मान-सम्मान, ऋद्धि-सिद्धि, परोक्ष देवी-देवादि का मोह सूक्ष्म माया की आसक्ति है। इन्हें ही बीजक की भाषा में खानी-वाणी भी कहते हैं। ये स्थूल-सूक्ष्म माया की आसक्तियां मानो संसारी जीव के वे पंख हैं जिनके सहारे यह संसार के भ्रमजाल में उड़ता रहता है और इससे इसको कभी विश्राम नहीं मिलता। जब सद्‌गुरु साधक के हृदय में ज्ञान की आग लगा देते हैं तब जीव के वे पंख जल जाते हैं जिनसे वह भटकता था। अतएव उसका भटकना बंद हो जाता है।

यह जीव जमीन, मकान, रुपये-पैसे, परिवार, समाज आदि प्राणी-पदार्थों के लोभ-मोह में पड़कर ही तो भटकता है, परन्तु इनमें से क्या उसके हैं! यह ठीक है कि मनुष्य को जीवनभर इनका व्यवहार लेना पड़ता है, परन्तु एक होता है केवल कर्तव्यदृष्टि से एवं विवेकपूर्वक और दूसरा होता है लोभ-मोहपूर्वक। जहां लोभ-मोहपूर्वक होता है वहीं बंधन होता है। यह स्थूल माया की आसक्ति जीव को भटकाती है। दूसरी आसक्ति है मान-सम्मान की या यह व्यामोह कि हमसे अलग कोई देवी-देवता या ईश्वर-परमात्मा है और जब वह मिल जायेगा तब हम कृतार्थ हो जायेंगे। इसके लिए भी जीव भटकता है। जब साधक को सच्चे एवं पारखी सद्‌गुरु मिलते हैं और उसे यह लखा देते हैं कि तुमसे अलग न तुम्हारा कोई त्राता है, न उद्धारक है, न आश्रय है, न आनन्दधाम है। तुम ही तुम्हारे त्राता, उद्धारक, आश्रयस्थल एवं आनन्दधाम हो, तब साधक का संसार में उड़ना बंद हो जाता है। वह कहां जाये, क्या लेने जाये! बाहर तो उसका कुछ है नहीं। उसका जो कुछ अपना है वह उसका आत्मस्वरूप है। वह स्वयं ही अपना सर्वस्व है। अपने आप को पा जाने के बाद संसार में उसके लिए कुछ भी प्राप्तव्य नहीं रह जाता। अतएव सद्‌गुरुप्रदत्त ज्ञानाग्नि से जीव को भटकाने वाले राग-द्वेष, स्थूल-सूक्ष्म माया के पंख जल जाते हैं।

"छप्पर बाँचे घर जरे" दूसरी पंक्ति का यह महत्त्वपूर्ण कथन है। किसी भी मकान में आग लगने पर पहले छप्पर ही जलता है; क्योंकि वह घास-

फूस का होता है। परन्तु यहां तो घर जल गया और छप्पर बच गया। यहां भी शाब्दिक नहीं, किन्तु लाक्षणिक अर्थ है। यहां छप्पर का अर्थ है छह के ऊपर। आंख, नाक, कान, जीभ तथा चमड़ी ये पांच ज्ञानेन्द्रियां और छठां मन है। इन छहों के ऊपर सातवां चेतन जीव है। यही 37वीं रमैनी का सातवां सयान है जिसे सद्गुरु ने लोक तथा वेद दोनों से प्रमाणित करने की प्रतिज्ञा की है, और उसके आगे साखी में उसी को बीजक का गुप्त वित्त कहा है।[1] इस प्रकार छप्पर—छह (पांच ज्ञानेन्द्रियां और मन) के ऊपर जीव है उसका उद्धार हो जाता है, क्योंकि ज्ञान की आग से अहंकार का घर जल जाता है। जीव अपने स्वरूप को भूलकर मिथ्या मान्यताओं का अहंकार कर लेता है। स्वरूपज्ञान उदय होने पर अहंकार का घर जल जाता है। "घर जारे घर ऊबरे, घर राखे घर जाय" सद्गुरु का यह वचन भी इस बात को पुष्ट करता है। जो अहंकार का घर जला देता है उसका स्वरूपस्थिति-घर बच जाता है और जो अहंकार का घर बचाये रखता है उसका स्वरूपस्थिति-घर नष्ट हो जाता है। सारांश यह है कि संसार के देह-गेहादि की अहंता-ममता त्यागे बिना जीव का उद्धार नहीं हो सकता। परन्तु यहां तो सद्गुरु की ज्ञानाग्नि से अहंता-ममता का घर जल गया और जीव कृतार्थ हो गया।

"बलिहारी लावनहार की" इन सब में गुरु की सर्वाधिक प्रशंसा है जिसने ज्ञान की आग लाकर साधक के हृदय में लगायी। अतएव गुरु ही सर्वोपरि वंदनीय है।

जीव की सर्वोच्चता

बुन्द जो परा समुद्र में, सो जानत सब कोय॥
समुद्र समाना बुन्द में, सो जाने बिरला कोय॥ 69॥

शब्दार्थ—बिरला कोय=थोड़े लोग, कोई-कोई।

भावार्थ—बारिश में जो जल की बूंदें समुद्र में पड़ती हैं, उन्हें सब जानते हैं, परन्तु सूर्य की गरमी और वायु के संपर्क से समुद्र का जल वाष्परूप में उड़कर और बादल बनकर बूंद में समाया है इसे कोई बिरला जानता है। जीव ब्रह्म में लीन होता है इसे बहुत लोग कहते हैं, परन्तु ब्रह्म जीव ही में लीन है, अर्थात ब्रह्मत्व, श्रेष्ठत्व जीव ही में निहित है, इस तथ्य को कोई बिरला जानता है॥ 69॥

व्याख्या—लोगों की मानसिकता को ऐसा लकवा मार गया है कि वे

---

1. सतयाँ सयान जो जानहु भाई। लोक वेद मों देउँ देखाई॥
साखी—बीजक बित्त बतावै, जो बित्त गुप्ता होय।
ऐसे शब्द बतावै जीवको, बूझै बिरला कोय॥ बीजक, रमैनी 37॥

घूम-फिरकर जीव को तुच्छ सिद्ध करते हैं और ब्रह्म को बड़ा। जीव स्वयं-प्रत्यक्ष है और ब्रह्म मन की कल्पना। परन्तु मनुष्य की प्रायः आदत है कि वह थाली के लड्डू छोड़कर मनःकल्पना के लड्डू खाना चाहता है। सारे वेद-शास्त्रों, ज्ञान-विज्ञानों तथा ईश्वर-ब्रह्म की भी कल्पना करने वाला जीव ही है। जीव यदि ब्रह्म की कल्पना न करता तो उसकी चर्चा ही कहीं नहीं होती। कबीर साहेब यथार्थवादी संत हैं वे जीव के महत्त्व को प्रदर्शित करते हैं।

उक्त साखी के उदाहरण बूंद-समुद्र की घटना दोनों प्रकार से सत्य है। अर्थात बूंदें समुद्र में गिरती हैं तथा समुद्र भाप बनकर बूंद में समाता है। बूंदों का समुद्र में गिरना सब जानते हैं, परन्तु समुद्र का बूंद बनना समझदार लोग जानते हैं। कोई भी उदाहरण एक अंश में लिया जाता है। जीव से अलग ब्रह्म ऐसा कुछ नहीं है कि उसमें जीव लीन हो, परन्तु जीव स्वयं प्रत्यक्ष है जिसके मन में ब्रह्म की कल्पना विद्यमान है। संसार में हल्ला है कि जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है; परन्तु सद्गुरु कहते हैं कि यह तो कोई समझदार ही समझेगा कि जीव से अलग ब्रह्म का कोई अस्तित्व नहीं है, जीव ही में ब्रह्मत्व लीन है।

'बृहत्त्वात् ब्रह्म' जीव में बृहत् अर्थात् महान होने का बीज है। हम जिस ब्रह्मत्व की कल्पना करते हैं, जीव को हटा देने पर उसकी कल्पना ही संभव नहीं है। महान होने की सारी संभावनाएं जीव ही में हैं। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर जीव थे; जरथुस्त्र, सुकरात, लाओत्जे, मूसा, ईसा, मुहम्मद जीव थे; शंकर, उदयन, धर्मकीर्ति, कबीर, नानक, दयानन्द, विवेकानन्द जीव थे; वाल्मीकि, व्यास, सूर, तुलसी जीव थे; ज्ञान-विज्ञान के सारे अन्वेषक सब तो जीव थे। जीव के अलावा कौन है जिसने धरती पर आकर कोई ज्ञान-विज्ञान का स्वरूप प्रदर्शित किया हो! सारे शास्त्र, सारी विद्याओं और सारे ज्ञान-विज्ञान का जनक जीव है। जीव अपने स्वरूप को न समझकर संसार के विषय-भोगों की इच्छा करके भटकता है और जीव ही अपने स्वरूप को समझकर तथा सारी इच्छाओं को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है और कृतकृत्य हो जाता है।

अतएव जीव ब्रह्म में नहीं लीन होता है, किन्तु ब्रह्मत्व जीव ही में लीन है। सोचने की शुरुआत ब्रह्म की तरफ से मत करो, किन्तु जीव की तरफ से करो। ब्रह्मत्व, श्रेष्ठत्व, शिवत्व जीव के गुण हैं। इस संसार में जीव सर्वोच्च सत्ता है। सभी व्यक्तियों के भीतर 'मैं हूं' यह आभास करने वाला जीव ही है। जीव कृतार्थ एवं मुक्त हो जाने पर किसी ब्रह्म में लीन नहीं होता है, क्योंकि जीव से अलग कहीं कोई ब्रह्म नहीं है; किन्तु जीव में ब्रह्मत्व का, शिवत्व का,

श्रेष्ठत्व का, गुरुत्व का अर्थात उसके अपने चेतनस्वरूप का पूर्णतया उद्घाटन होता है, तब वह कृतार्थ हो जाता है, सब तरफ से मुक्त हो जाता है। इनका अर्थ यही है कि जीव जान लेता है कि मैं स्वयं पूर्णकाम हूं, अखंड, शुद्ध-बुद्ध चेतन हूं, स्वभावतः परम तृप्त हूं और इस प्रकार जानकर तदनुरूप स्वरूपस्थ हो जाता है, तब वह कृतार्थ हो जाता है। इस स्वरूपस्थिति को ही अपनी-अपनी भाषा में कोई कुछ कह ले। जीव अपने स्वरूप में स्थित होता है, पर-स्वरूप में नहीं। पर-स्वरूप में किसी की भी स्थायी स्थिति नहीं होती।

जहर जिमी दै रोपिया, अमी सींचे सौ बार॥
कबीर खलक ना तजै, जामें जौन विचार॥ 70॥

शब्दार्थ—जहर=विष, विषय, कल्पना। जिमी=पृथ्वी, अंतःकरण। रोपिया=लगाया। अमी=अमृत, सत्योपदेश। खलक=जीवसमष्टि, लोक-समूह, संसार के लोग।

भावार्थ—यदि जमीन में जहर का पेड़ लगा दिया गया है तो उसे सौ बार भी अमृत से सींचने पर उसका जहर नहीं जा सकता। सद्गुरु कहते हैं कि इसी प्रकार जिसके मन में जो उलटे-सीधे विचार धंस जाते हैं, वे उसे नहीं निकालते, चाहे उन्हें सैकड़ों बार सत्योपदेश दिये जायें॥ 70॥

व्याख्या—लगता है कि पूर्व की 69वीं साखी का भाव मन में लेकर यह साखी कही गयी है। सद्गुरु कहना चाहते हैं कि लोगों के मन में ये विचार धंस गये हैं कि जीव से ब्रह्म अलग है, जीव तुच्छ है, ब्रह्म श्रेष्ठ है आदि। इतना ही क्या, देवी-देवता, भूत-प्रेत, मंत्र-तंत्र-यंत्र, शकुन-अपशकुन, स्वप्नविचार, दिशाशूल, ग्रहकोप, लग्न-मुहूर्त और भी नामालूम कितने भ्रम मनुष्यों ने अपने-अपने मन में पाल रखे हैं। इन सबके मिथ्यात्व पर कितना ही समझाओ, किंतु संसार के लोग कहते हैं, क्या पहले के लोग सब भूले थे, बड़े-बड़े पण्डित, ऋषि-मुनि, साधु-महात्मा सब गलत थे जो यह सब सत्य कहते थे। लोग अपनी आंखों से देखना ही नहीं चाहते। "अंधे अंधा पेलिया, दोऊ कूप पराय" की बातें चरितार्थ करते हैं।

लोगों के मन अत्यन्त दुर्बल हैं। लोग अपने स्वरूप को पहचानकर तथा अपने आप को शुद्ध कर कृतार्थ होना नहीं चाहते; किन्तु अपने से अलग किसी सर्वसमर्थ की कल्पनाकर, उसके सामने रो-गिड़गिड़ाकर तथा घुटने टेककर कल्याण चाहते हैं, जो वास्तविकता के विरुद्ध है। मैले कपड़े प्रार्थना करके साफ नहीं होंगे, किन्तु धुलकर साफ होंगे। कोई विद्यार्थी प्रार्थना एवं पूजा करके विद्वान, डॉक्टर, इंजीनियर, वकील तथा आई. ए. एस. नहीं होगा, किन्तु मेहनत से पढ़कर तथा अभ्यास करके होगा। यदि जीव तुच्छ है तो वह

किसी की प्रार्थना करके महान नहीं होगा। लोगों के मन में यह बात धंसी है कि जीव तुच्छ है। वह जब ईश्वर की प्रार्थना करेगा, उसकी भक्ति करेगा तब वह उसकी शरण पाकर महान हो जायेगा। यह भलीभांति समझ लो कि कोई किसी की शरण पाने मात्र से महान नहीं होता; किन्तु व्यक्ति में उन्नति की संभावनाएं रहती हैं तभी किसी का सहयोग पाकर उन संभावनाओं का उद्घाटन हो जाता है। जीव में शिवत्व अंतर्निहित न हो तो वह कभी भी शिव अर्थात कृतार्थ नहीं हो सकता। गुरु भी केवल प्रेरणा दे सकता है। जब व्यक्ति में बल होता है तभी वह उस प्रेरणा का भी सदुपयोग कर सकता है। प्रार्थना मन को कोमल बनाने का तरीका मात्र है। ज्यादा रोने-धोने से कुछ होने-जाने वाला नहीं है।

मनुष्य को चाहिए कि वह स्वरूप को पहचाने, अपने आप को निर्मल करे। उसका अपना आपा शुद्ध चेतन है। वह केवल अपने आप को न पहचान कर सांसारिक वासनाओं के अधीन बना दुखी है। जब वह अपने आपा को पहचान लेगा और सांसारिक वासनाओं को जीतकर अपने स्वरूप में स्थित हो जायेगा, तब पूर्ण हो जायेगा। वह स्वयं ब्रह्म का ब्रह्म एवं परमात्मा का परमात्मा हो जायेगा। वह वही है ही, केवल पहचानना तथा ठहरना है।

मुमुक्षु की पुकार

धौंकी डाही लाकड़ी, वो भी करे पुकार॥
अब जो जाय लोहार घर, डाहै दूजी बार॥ 71॥

शब्दार्थ—धौं=एक प्रकार के पेड़ का नाम, जिसकी लकड़ी धीरे-धीरे जलती है, इसे जलाकर कोयला बनाया जाता है। डाहै=जलाना।

भावार्थ—जली हुई धौं की लकड़ी कोयला बनकर चिल्लाती है कि यदि मैं लोहार के घर गयी तो वह मुझे पुनः जलायेगा। अर्थात जन्म-जन्मान्तरों एवं गर्भवास से पीड़ित मुमुक्षु जीव सद्गुरु की शरण में पुकारता है कि हे सद्गुरु, अब मुझे संसार-सागर से बचा लो, अन्यथा यदि अज्ञानरूपी लोहार के हाथों में पड़ गया तो मैं उसके द्वारा पुनः संसार के तापों में जलाया जाऊंगा॥ 71॥

व्याख्या—धौं नाम के पेड़ की लकड़ी को पहले जलाकर कोयला बनाया जाता है। फिर वह कोयला जब लोहार के घर जाता है तब उसे लोहार पुनः जलाता है। सद्गुरु ने यह सुन्दर एवं सटीक रूपक मुमुक्षु के लिए दिया है। धौं की लकड़ी एक बार जलकर कोयला हो गयी है। अब मानो वह चिल्ला रही हो कि कोई मुझे लोहार के हाथों में जाने से बचा ले। अन्यथा

वह मुझे पुनः जलायेगा। कितना द्रावक रूपक है !

यह जीव अनादिकाल से संसार के तापों में जलता आ रहा है। गर्भवास, जन्म, जरा, मृत्यु तथा संसार में शरीर धारण करके नाना कष्ट सहते हुए इसने असीम आंसू बहाये हैं। महात्मा बुद्ध ने कहा है—'भिक्षुओ, चारों समुद्रों में उतना पानी नहीं होगा जितना आंसू तूने अनादिकाल से प्रिय के वियोग, अप्रिय के संयोग तथा नाना कष्टों में बहाया है।' संसार में तो थोड़ी तरुणाई आते ही सभी लोग विषय-वासनाओं की ओर अभिमुख होने लगते हैं। इस संसार में कोई-कोई सुज्ञ-संस्कारी जीव संसार के तापों एवं दुखों को दृष्टिगत रखते हुए सद्गुरु की शरण में पुकार करते हैं। वे विषयों के ताप से बचकर सत्संग, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य एवं आध्यात्मिक साधना की शीतल छाया में विश्रांति चाहते हैं।

जीव अनादिकाल से संसार के दुखों में जलता आया है। अब यदि आज पुनः अज्ञान-लोहार के हाथों में पड़ेगा तो पुनः जलेगा। अज्ञानवश विषयों का बाहरी रूप अत्यन्त आकर्षक लगता है, परन्तु उसके भीतर सांप-बिच्छू, बाघ-सिंह के समान महान दुख भरे हैं। विषय-वासना पीड़ा है, फोड़ा है, दुख है, संताप है। परन्तु इसे ऐसा समझ पाना सबको बड़ा कठिन है। अनेक जन्मों का कोई दिव्य संस्कारी जीव ही विषयों की दुखरूपता को समझकर इनसे बच पायेगा और जीवनपर्यन्त इनसे अलग रहकर कृतार्थ हो जायेगा। विषयवासना ऐसी मोहक राक्षसी है कि व्यक्ति को मोहकर चूस लेती है और अन्त में निकम्मा बनाकर छोड़ देती है। वे धन्य हैं, वन्दनीय हैं तथा पूजनीय हैं जो इन भ्रामक एवं दुखपूर्ण विषयों से विरत होकर अविनाशी स्वरूप की स्थिति में लवलीन हैं।

बन्दीछोर छोड़ावहिं, मेटि मेटि यम फाँस।
धन्य धन्य सो जीव है, तजहिं महा भव गाँस॥

(पंचग्रन्थी, टकसार, साखी 266)

सभी वासनाओं का त्याग ही मोक्ष है

बिरह की ओदी लाकड़ी, सपचै औ धुँधुवाय॥
दुख ते तबहीं बाँचिहो, जब सकलो जरि जाय॥ 72॥

शब्दार्थ—बिरह=विरह, वियोग, जुदाई, वियोग में अनुभूत होने वाला अनुराग। ओदी=गीली। सपचै=धीरे-धीरे सुलगना। धुँधुवाय=धू-धू शब्द करना।

भावार्थ—जैसे पानी से भीगी गीली लकड़ी को जलाने पर वह धू-धू

कर सुलगती है, ठीक से जलती नहीं, उसका धू-धू कर सुलगना तभी समाप्त होता है जब वह पूर्णतया जल जाती है, वैसे जो व्यक्ति अपने सुख एवं लक्ष्य को अपने से अलग मानकर उसके वियोग की पीड़ा का अनुभव करता है वह मन-ही-मन निरंतर सुलगता और रोता रहता है। इस दुख से वह तभी बचता है जब उसके मन की सारी वासनाएं एवं कल्पनाएं जल जाती हैं॥ 72 ॥

व्याख्या—विरह का अर्थ ही होता है बिछुड़न या बिछड़ने के अनुभव की पीड़ा। जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान न होने से वह समझता है कि मेरा सच्चा सुख, परमात्मा एवं मोक्ष मुझसे अलग है। अलग मानकर वह उसको पाने के लिए निरंतर लालायित रहता है। अलग कुछ न होने से उसे बाहर से कुछ नहीं मिलता। परन्तु वह भ्रमजन्य वियोग के अनुभव की पीड़ा से सदैव पीड़ित रहता है। अपने माने हुए बिछुड़े सुख को कोई पांचों विषयों में खोजता है और कोई किसी परमात्मा एवं मुक्ति में। इस प्रकार उधर विषयी मनुष्य विषयों में सुख खोजते-खोजते एवं विषयों को भोगते-भोगते अन्त में दयनीय दशा को प्राप्त होते हैं। उन्हें सुख मिलता नहीं, किन्तु इच्छा, तृष्णा की वृद्धि एवं क्षीणता, रोग आदि का संताप मिलता है और वे अपने जीवन से निराश हो जाते हैं। इधर धर्म के क्षेत्र में पोथी-पाठ, तीर्थ-सेवन, मूर्ति-पूजन, नाम-जप, काया-तप, योग-याग आदि करते हुए लोग बाहर परमात्मा एवं मोक्ष को खोजते-खोजते सारी आयु गवां देते हैं। उन्हें बाहर से कहीं कुछ नहीं मिलता और वे अन्त में जीवन से निराश होकर किंकर्तव्य-विमूढ़ हो जाते हैं। इस प्रकार न तो विषयी जीवों को विषयों में स्थायी सुख मिलता है और न धर्मी लोगों को जप-तपादि से बाहर परमात्मा एवं मोक्ष मिलता है। अतः ये दोनों ही जीवनभर सपचते और धुंधुवाते रहते हैं और व्यर्थ में पीड़ित होते रहते हैं।

सद्‌गुरु कहते हैं "दुख ते तबहीं बाँचिहो, जब सकलो जरि जाय" यह जीव सारे दुखों से तभी बचेगा जब इसके मन की सारी वासनाएं-कल्पनाएं ज्ञानाग्नि से जलकर समाप्त हो जायेंगी। पहले तो मनुष्य को यह समझ लेना होगा कि हमारा सच्चा सुख, परमात्मा एवं मोक्ष हमारी अपनी आत्मा से अलग कुछ नहीं है। जब हमारे सुख से, परमात्मा से एवं मोक्ष से हमारा वियोग ही नहीं है तब वियोगजनित पीड़ा होने का प्रसंग ही नहीं है। जब मेरी अपनी आत्मा से अलग मेरा प्राप्तव्य हो तब तो मैं उसकी कल्पना, वासना या इच्छा करूं, और जब अलग मेरा प्राप्तव्य है ही नहीं तो मैं किसकी इच्छा करूं! सुख, परमात्मा या मोक्ष पाना नहीं है, किन्तु दुखों से बचना है, और जीव दुखों से तभी बचता है जब उसके मन की सारी वासनाएं, इच्छाएं जलकर समाप्त हो जाती हैं "दुख ते तबही बाँचिहो, जब सकलो जरि जाय।"

जब तक कुछ भी पाने की इच्छा एवं वासना है तब तक दुख है और जब वासनाएं समाप्त हो गयीं तब सारे दुख समाप्त हो जाते हैं। यह दुखों का समाप्त हो जाना ही सुख, परमात्मा या मोक्ष पाना है। क्योंकि पाना तो कुछ भी नहीं है। पायी हुई वस्तु मायिक तथा विजाति होती है, इसलिए उनका पुनः छूट जाना निश्चित रहता है। इस मिलने तथा छूटने के झमेले में पड़कर ही तो जीव नाना कष्ट झेल रहा है। मिलने के भ्रम में ही तो विरह-वियोग की आग में जीव जलता है। यह सारा उपद्रव स्वरूपज्ञान के अभाव का फल है। अतः हमें अपने पूर्णकाम चेतनस्वरूप को समझकर सारी वासनाओं से मुक्त हो जाना चाहिए तभी हमारी दुख से सर्वथा निवृत्ति हो सकती है।

विरही जीवों की दीनता

बिरह बाण जेहि लागिया, औषध लगे न ताहि॥
सुसुकि सुसुकि मरि मरि जिवै, उठे कराहि कराहि॥ 73॥

शब्दार्थ—औषध=स्वरूप-विचार। कराहि=पीड़ित।

भावार्थ—जिसको विरह का बाण लग गया है, अर्थात जो समझता है कि मेरा लक्ष्य मुझसे अलग है, उसको स्वरूप-विचार की औषधि नहीं लगती। वह तो अपने लक्ष्य को पाने के लिए सुबक-सुबककर रोता है, मूर्च्छित होता है, जागता है और अपने प्रियतम के वियोग की याद में बारम्बार कराह उठता है॥ 73॥

व्याख्या—संसार में यह भ्रम पालने वाले अधिकतम लोग हैं कि परमात्मा से हम बिछुड़ गये हैं। इस वियोग का हम जितनी तीव्रता से अनुभव करेंगे परमात्मा उतनी ही जल्दी हमें दर्शन देगा। जो लोग ऐसे गहरे भ्रम में पड़े हैं उनके सामने यदि स्वरूप-विचार की बातें करो कि तुम्हारा परमात्मा तुमसे अलग नहीं है, तुम्हारा आपा तुमसे बिछुड़ ही नहीं सकता, तुम्हें बाहर से कुछ पाना नहीं है, तुम्हें केवल सारी वासनाओं को छोड़कर अपने स्वरूप में लौट आना है, तुम स्वयं शुद्ध-बुद्ध अविनाशी चेतन हो, तुम वासनाओं को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित होओ, इत्यादि; तो यह औषध उनको नहीं लगती। वे तो परमात्मा को पाने के लिए रोने-पीटने में आनन्द मानते हैं।

लोग रोकर, गाकर तथा नाच-कूदकर ईश्वर को रिझाने के चक्कर में पड़े रहते हैं। आज भी ईश्वर पाने के ऐसे सनकी हैं जो समझते हैं कि यदि हम ईश्वर के दर्शन के लिए हठपूर्वक पर्वत से कूद पड़ेंगे तो वह नीचे से हमें अपनी गोद में उठा लेगा। और जब वे जोश में कूद पड़ते हैं तब उनके हाथ-

पैर टूट जाने के अलावा कुछ नहीं होता।[1] ऐसा कोई ईश्वर होता तो कम-से-कम ईश्वर के नाम पर लड़ने वालों तथा खून-खराबा करने वालों को तो वह समझा-बुझाकर अब तक ठीक रास्ते पर ला ही दिया होता। यह सर्वसमर्थ ईश्वर व्यभिचार, चोरी, डाका, हत्या, आतंकवाद, मिलावटबाजी, कालाबाजारी, घूसखोरी एवं समस्त क्रूर-कर्मों को समाप्त कर संसार में आनन्द का राज्य कायम कर दिया होता। परन्तु ऐसा कुछ नहीं है। संसार में सर्वत्र कारण-कार्य की व्यवस्था व्याप्त है। जो व्यक्ति जैसा कार्य करता है वह वैसा फल पाता है। उसके कर्मों के नियम ही उसे फल दे देते हैं। बस, संसार के शाश्वत नियमों को ही ईश्वर कह सकते हैं। इसके अलावा कोई ईश्वर नहीं, जो कहीं बैठा कुछ कर रहा हो या किसी के रोने-गाने से वह उसको आकर दर्शन दे तथा उसका कोई कल्याण कर दे। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने कर्मों को सुधारे, अपने आत्मस्वरूप पहचाने और सारी वासनाओं को छोड़कर अपने आत्माराम में स्थित हो।

सत्य-शोधक सब समय रहते हैं

साँचा शब्द कबीर का, हृदया देखु विचार॥
चित्तहु दै समझै नहीं, मोहिं कहत भैल जुगचार॥ 74॥

शब्दार्थ—चित्तहु दै=ध्यान देकर। जुगचार=चारों युग, सब समय।

---

1. एक वैष्णव महात्मा राजस्थान, जिला बारां, तहसील किसनगंज के रामगढ़ पर्वत के बीच माला नाम की जगह में रहते थे। वे विरही भक्त थे, साथ-साथ भागवत-कथा भी कहते थे। वे भागवत में पढ़ते तथा कथा में भी कहते थे कि हृदय में बसने वाला आत्मा ही परमात्मा है, परंतु भागवत वर्णित ध्रुव और प्रह्लाद की कथाओं को भी सत्य मानते थे और उन्हें बड़े रसपूर्वक कहते थे

उन्होंने एक दिन भक्ति-भावना के जोश में सभा में घोषणा कर दी कि अगली अमुक तिथि को यदि ईश्वर मुझे दर्शन नहीं देगा तो मैं आग में कूदकर जल मरूंगा।

उन्होंने निश्चित तिथि को दोपहर तक अपने श्रोताओं तथा दर्शनार्थियों को आश्रम से बिदा कर दिया। उनके दो भक्त प्रह्लाद तथा श्रवण कुमार जो अधिक प्रेमी थे, हठपूर्वक आश्रम में रह गये।

शाम हुई। महात्मा ने पहले से ही इकट्ठी की हुई सूखी लकड़ियों के ढेर में आग लगा दी। इसके बाद उन्होंने उच्च स्वर में पुकारा कि ईश्वर मुझे दर्शन दे, अन्यथा मैं इस आग में जल मरूंगा। उनके दोनों भक्त हाथ जोड़कर उनसे विनय करते रहे कि महाराज ! आप तो रोज यह भी कहते थे कि आत्मा ही परमात्मा है जो हृदय में है, फिर आप किस बाहरी ईश्वर के दर्शन का हठ करते हैं।

महात्मा ने भक्तों को जोर से डांटा तुम लोग चुप रहो, और पुनः उन्होंने ईश्वर को दर्शन देने के लिए पुकारा, इसके बाद तीसरी बार पुकारा, और जब कोई ईश्वर आते नहीं दिखा तब महात्मा ने आग में छलांग लगा लिया और मिनटों में छटपटा कर जल मरे। यह घटना लगभग सन् 1970 की है।

भावार्थ—कबीर के वचन सत्य के परिचायक हैं, इसलिए हे मानव, तुम उनको हृदय में विचारकर समझो। सद्गुरु कहते हैं कि लोग ध्यान देकर समझते नहीं हैं, मेरे-जैसे उपदेष्टा सभी समय पर संसार को समझाते आ रहे हैं॥ 74॥

व्याख्या—"साँचा शब्द कबीर का" इसे ऊपरी तौर पर देखने से यह कबीर साहेब की गर्वोक्ति लगती है। परन्तु संसार में कभी-कभी ऐसे पूर्ण पुरुष होते रहते हैं जो अपनी बातों को संसार के सामने अधिकारपूर्वक कह सकते हैं। कबीर साहेब ऐसे ही संतशिरोमणि एवं पूर्ण पुरुथ थे जिनकी दृष्टि में सत्य और असत्य अलग-अलग साफ झलकते थे। इसलिए वे कह सकते थे कि मेरे शब्द, मेरे वचन सत्य के परिचायक हैं। परन्तु कबीर साहेब ने ऐसा कहकर यह नहीं कहा है कि मेरी बातें बिना विचार किये मान लो। वे कहते हैं "हृदया देखु विचार" यह उनका चैलेंज है कि मैं सत्य कहता हूं, इसलिए मेरी बातें अपने हृदय में विचारकर देखो। देखो सत्य है कि नहीं। यदि सत्य है तो मानो, अन्यथा छोड़ो। सद्गुरु ने इसी प्रकरण की 247वीं साखी में कहा है "सुनिये सबकी, निबरिये अपनी" सबकी बातें सुनो, परन्तु अपने विवेक से उनका निर्णय करो। असत्य को छोड़ो तथा सत्य को ग्रहण करो।

जिसका कोई कल्पित ईश्वर नहीं था, जिसका कोई अवतार या पैगम्बर नहीं था, जिसका कोई ईश्वरीय शास्त्र नहीं था तथा जिसका कोई मजहब नहीं था, वह निरपेक्ष कबीर अपनी कौन-सी बात संसार से जोर देकर मनवाना चाहेगा! उसे क्या पड़ी है जोर-जबर्दस्ती करने की! हां, उसने सारी भ्रांतियों को काटकर और धर्म एवं अध्यात्म पर छाये हुए सारे जालों को फाड़कर केवल सार-सत्य ग्रहण किया था और उस सार-सत्य को समाज के सामने साधिकार प्रदर्शित किया था और संसार के लोगों को ललकारा था कि तुम लोग भी मेरे सत्य-परिचायक वचनों का विचार करो, हार्दिक विचार करो, यदि सत्य लगता है तो उन्हें ग्रहणकर तुम लोग भी भ्रांतियों से मुक्त हो जाओ।

सद्गुरु कहते हैं "चित्तहु दै समझै नहीं" लोग चित्त देकर नहीं समझते। खरे निर्णयों पर ध्यान देकर उन्हें समझना नहीं चाहते, प्रत्युत अंधविश्वास की बातों में ही लीन रहते हैं। अन्ध-परम्परा एवं अन्धविश्वास की बातों में समझने की मेहनत नहीं रहती। वहां तो केवल मान लेने की बातें रहती हैं। "अन्धेनैव नियमाना यथान्धाः" उक्ति अनुसार वहां तो तो अन्धा अन्धे को चलाता है। वहां आंखों से देखकर चलना नहीं रहता, किन्तु अन्धों की भीड़ एक दूसरे को ठेलते हुए या दूसरे की पूंछ पकड़कर चलती है। भावनावादी लोग ध्यान देकर समझने का परिश्रम नहीं करना चाहते। क्योंकि खरी बातों

पर ध्यान देने से केवल भावना में मानी गयी बातें उड़ने लगती हैं और यह बात भावनावादियों को असह्य होती है। वे प्रकाश नहीं चाहते; क्योंकि प्रकाश में उनका अन्धकार समाप्त होने लगता है। ऐसे मताग्रही, पूर्वग्रही एवं परम्परा में चिपके हुए लोगों को सत्य का मोती नहीं मिल सकता।

"मोहिं कहत भैल जुग चार" सद्गुरु कहते हैं कि मुझे सत्य की बात कहते हुए चारों युग बीत गये। जो कबीर साहेब को अवतार मानते हैं और कहते हैं कि कबीर साहेब सत्युग, त्रेता, द्वापर एवं कलियुग में क्रमशः सत्सुकृत, मुनीन्द्र, करुणामय और कबीर नाम धराकर संसार में ज्ञान का प्रचार करने आते हैं, और वे जब आवश्यकता प्रतीत होती है तब संसार में आ जाते हैं, उनके लिए यहां अर्थ करना बड़ा सरल है। इस साखी से उन्हें अपनी मान्यता को फैलाने में सरलता मिलती है। परन्तु कबीर जैसे खरे पुरुष जिन्होंने सारे ढकोसलों एवं अवतारवाद का परदाफ़ाश किया है, स्वयं को अवतार बतायें यह संभव ही नहीं। वस्तुतः "मोहिं कहत भैल जुग चार" का अभिधा अर्थ नहीं, किन्तु लक्षणा अर्थ है। 'मोहिं' केवल कबीर साहेब के व्यक्तित्व का वाचक नहीं है किन्तु समस्त सत्यद्रष्टा गुरुजनों के लिए है और 'जुग चार' का अर्थ कल्पित सत्युग, त्रेता, द्वापर एवं कलियुग का वाचक नहीं है, किन्तु समय की व्यापकता का वाचक है। अतएव "मोहिं कहत भैल जुग चार" का अर्थ होगा कि मेरे-जैसे लोगों ने सब समय सत्य बातें संसार के लोगों के सामने कहीं हैं। सत्य के द्रष्टा समय-समय पर होते आये हैं। परन्तु संसार के लोगों में से कम लोगों ने उनकी बातों पर ध्यान दिया है, अन्धविश्वास की बातों में ज्यादा लोग पड़े रहे।

इस पूरी साखी में सद्गुरु सत्य पर जोर डालते हैं। वे अगली साखी भी इसी क्रम में कहते हैं—

जीवन का सच्चा व्यापार

जो तू साँचा बाणिया, साँची हाट लगाव॥
अन्दर झारू देइके, कूरा दूरि बहाव॥ 75॥

शब्दार्थ—हाट=बाजार, सत्संग। अन्दर=अन्तःकरण।

भावार्थ—यदि तू सच्चे ज्ञान का व्यापारी है तो सत्संगरूप सच्चा बाजार लगा। विवेक-विचाररूपी बुहारी से अंतःकरण को बुहारकर भ्रांति एवं विकाररूपी कचड़े को दूर फेंक दे॥ 75॥

व्याख्या—मनुष्य को सच्चा व्यापारी होना चाहिए। व्यापार का अच्छा तरीका यह है कि सुबह पहले दुकान को झाड़ू से बुहारकर सारे कूड़े-कचड़े को दूर फेंक दे। उसके बाद दुकान में सच्चा माल लगाकर उसे उचित दाम

पर बेचे। तुम स्वयं किसी से धोखा नहीं खाना चाहते हो, इसलिए तुम भी किसी को धोखा न दो। किसी वस्तु में मिलावट न करो। माल अच्छा रखो। यदि दोयम-माल है तो उसे ग्राहक को बता दो कि दोयम-माल है और उसी प्रकार उसका कम दाम लगाओ। किसी प्रकार से किसी ग्राहक को धोखा न दो। ग्राहकों को देवी-देवता समझो। उन्हें सत्कारपूर्वक उचित दाम पर माल दो। जहां तुम्हें माल खरीदना हो, वहां तुम भी सच्चा माल खरीदो।

तुम्हारा यह जीवन भी एक व्यापार है और कहना चाहिए कि यही सच्चा व्यापार है। यदि कोई दस हजार रुपये लेकर व्यापार शुरू करता है और दो महीने में उसके पास आठ ही हजार रह जायें, चार महीने में छह हजार, आठ महीने में चार हजार, इस प्रकार मुनाफा तो उसे कुछ मिले न, बल्कि जमा धन भी खोता जाये और अन्त में सब रुपये समाप्त हो जायें, तो यह व्यापार सफल नहीं हुआ। इसी प्रकार मनुष्य जितना प्रसन्न बचपन में रहता है, जवानी में नहीं, जवानी में जितना प्रसन्न रहता है उतना परिपक्वास्था में नहीं और बुढ़ापा तक तो उसकी प्रसन्नता पर दीवाला पिट जाता है। बाहर के व्यापार में तो बहुत लोग सफल देखे जाते हैं, परन्तु जीवन के व्यापार में अधिकतम लोगों का दीवाला पिटना ही देखा जाता है। व्यापार तब सफल माना जायेगा कि जितने रुपये लेकर व्यापार शुरू किया गया है दिन-प्रतिदिन उस धन में बढ़ोत्तरी होती जाये। इसी प्रकार जीवन-व्यापार उसी का सफल है जिसके जीवन में दिन-प्रतिदिन मानसिक प्रसन्नता, खुशी, आनन्द, निर्भयता आदि बढ़ते जायें। यह तभी संभव है जब मनुष्य अपने जीवन में सच्चे माल की खरीद-बेची करने वाला हो।

सच्चे ज्ञान तथा अच्छे कर्मों का संग्रह ही जीवन का सच्चा व्यापार है। सच्चा ज्ञान वह है जो विश्व के शाश्वत नियमों के अनुकूल है, जो तर्कयुत, युक्तियुत और विवेकसम्मत है तथा जिसमें कारण-कार्य-व्यवस्था के हस्ताक्षर हैं। अन्ततः सभी ज्ञानों का अंत स्वरूपज्ञान है। जिसने अपने आपा की पहचान नहीं की उसका बाहरी सारा ज्ञान थोथा है। दूसरा है अच्छे कर्मों का संग्रह। अपने इन्द्रिय तथा मन का संयम और दूसरे प्राणियों के साथ सहानुभूति का बरताव, यही अच्छे कर्म हैं। सच्चे ज्ञान से बौद्धिक संतोष मिलता है और अच्छे कर्मों से दिल को संतोष मिलता है। जिसके दिमाग तथा दिल दोनों संतुष्ट हैं उसी का जीवन-व्यापार सच्चा है।

सद्गुरु इसके लिए बताते हैं कि विवेक-विचार के झाड़ू लेकर अन्तःकरण के कूड़े-कचड़े सदैव बुहारते रहो। सुबह आंगन या घर बुहारने के बाद शाम को पुनः बुहारना पड़ता है। तुम जब अपने घर तथा आंगन बुहारते हो तब उनमें कुछ-न-कुछ कचड़ा निकलता है। इसी प्रकार अपने

अन्तःकरण पर ध्यान रखो। इसमें कुछ-न-कुछ मनोविकार के कचड़े आते रहने की संभावना रहती है। अतएव जीवन के सच्चे व्यापारी का यह परम कर्तव्य है कि वह विवेक-विचार के झाड़ू लेकर सब समय अपने अन्तःकरण को बुहारता रहे और उसके कचड़े को दूर फेंकता रहे। हवा से तथा रात-दिन के व्यवहार से घर-आंगन में कचड़े आते रहते हैं। इसी प्रकार अपने मन की कमजोरियों से तथा बाहरी प्राणी-पदार्थों के सम्बन्ध से अन्तःकरण में विकार आने की सम्भावना रहती है। अतएव साधक को सतत सावधान रहना चाहिए। अधिक प्राणी-पदार्थों के व्यवहार से बचना चाहिए, और जितने प्राणी-पदार्थों का व्यवहार लेना पड़े उनमें सावधान रहना चाहिए।

जैसे व्यापार में कई गलत माल के व्यापार होते हैं, वैसे धार्मिक क्षेत्र में कितने गुरु-चेले ज्ञान-भक्ति के नाम पर अन्धविश्वास, चमत्कार, मिथ्या महिमा का ही आश्रय पकड़े हुए जीवन बिताते हैं। वे कर्मों का ज्यादा न सुधारकर पूजा-पाठ, जप-स्नान, तीर्थ-व्रतादि तक ही सीमित रहते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि यदि तुम्हें जीवन में सच्चा सुख, सच्ची शांति चाहिए तो तुम सच्चे अध्यात्म-पथ के व्यापारी बनो, सदैव मन को साफ रखो और सच्चे ज्ञान तथा पवित्र आचरण में निष्ठ रहो।

बुराइयों से बचने के लिए पांडित्य नहीं, सरल हृदय चाहिए

कोठी तो है काठ की, ढिग ढिग दीन्हीं आग॥
पण्डित जरि झोली भये, साकट उबरे भाग॥ 76॥

शब्दार्थ—कोठी=मकान, शरीर, संसार। काठ=लकड़ी, जड़। आग= विषय-वासना, काम-क्रोध-लोभादि। झोली=राख। साकट=निगुरा, अशिक्षित।

भावार्थ—लकड़ी का मकान हो, उसमें जगह-जगह आग सुलगा दी गयी हो और उसमें जोरों से आग लग गयी हो। उसमें पंडित तथा अशिक्षित दोनों रहते हों। तुम्हें आश्चर्य होगा कि पंडित तो जलकर राख हो गये और अशिक्षित भागकर बच गये। यह शरीर तथा संसार काठ की कोठी है। इसमें विषय-वासना एवं काम, क्रोध, लोभ, मोह रूपी आग जगह-जगह लगी है। पंडित, विद्वान एवं शिक्षित कहलाने वाले लोग अपने ज्ञान के मद में पड़कर इस आग में जलकर मरते हैं और सरल-हृदय अशिक्षित लोग इससे भागकर बच जाते हैं॥ 76॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर अपने सारे विचार प्रायः रूपकों एवं अलंकारों में कहते हैं। यहां शरीर तथा संसार के लिए काठ की कोठी का रूपक है तथा

कामादि विकारों के लिए आग का रूपक है। यह साखी की पहली पंक्ति का विषय है। काठ की कोठी में जगह-जगह आग का जलाना खतरे से खाली नहीं है। इस जड़-शरीर में प्रत्येक इन्द्रिय के साथ विषयों के संस्कार हैं। मन विषय-वासनाओं से संस्कारित ही है। कहना चाहिए कि मनुष्य के रोम-रोम में विषय-वासनाएं भीनी हैं। बाहर भी जगह-जगह विषय-वासनाओं को उत्तेजना देने वाले शब्द, दृश्य आदि का बाजार गरम है। जीव ऐसे शरीर एवं संसार में रह रहा है, जहां सर्वत्र विषयों का बाजार लगा है। लोग काम, क्रोध, मोहादि की आग में जल रहे हैं।

"पंडित जरि झोली भये, साकट उबरे भाग" सद्‌गुरु कबीर कहते हैं कि संसार में पण्डित भी हैं और अशिक्षित भी हैं, किन्तु पंडित तथा विद्वान लोग प्रायः अपने वाचिक एवं बौद्धिक ज्ञान की लफ्फड़बाजी में पड़कर वासनाओं तथा बुराइयों में जलकर मरते हैं और अशिक्षितों में कई सरल हृदय होने से संतों के विचार सुन तथा धारणकर बुराइयों की आग से भागकर बच जाते हैं।

सभी विद्वान तथा पंडित विपथगामी हों और सभी अशिक्षित सुपथगामी हों यह नियम नहीं है। सद्‌गुरु ने संसार की बहुतायत ऐसी दशा देखकर यह बात कही है। ज्यादातर पंडित और विद्वान लोग जीवनभर चिकनी-चुपड़ी बातें ही बनाते रह जाते हैं। वे अपने ज्ञान का प्रयोग प्रायः दूसरों को प्रभावित करने के लिए करते हैं या अपने दोषों को ढांकने के लिए। वे मसालची की तरह दूसरों को प्रकाश दिखाते हैं और स्वयं प्राय: अंधकार में रहते हैं। घोट-छानकर तथा बोतल चढ़ाकर आज-कल विद्वान लोग अच्छी-अच्छी कविताएं लिखते हैं, मंच पर कविता पाठ करते हैं, अच्छे-अच्छे लेख लिखते हैं तथा सभा में स्पीच देते हैं। वे विचार देने में, वक्तव्य देने में बहुत माहिर होते हैं, परन्तु उन्हें सदाचरण से कोई मतलब नहीं होता। परन्तु प्रायः अशिक्षित तथा सीधे-साधे लोग थोड़े ज्ञान को पकड़कर उसका आचरण करने लग जाते हैं और वे अपने जीवन का कल्याण कर लेते हैं।

इस साखी का सार यह है कि इन विषय-वासनाओं एवं बुराइयों की आग से कोई केवल पांडित्य-प्रदर्शन द्वारा नहीं बच सकता। इसके लिए सरल हृदय होना चाहिए। गुरु-संतों के सामने अपने पांडित्य का प्रदर्शन छोड़कर भोला-भाला बन जाना चाहिए, तभी जीवन में कुछ प्राप्त हो सकता है। केवल बुद्धिमानी दिखाने एवं वाक्यबरबरता से मन और इन्द्रियां स्ववश नहीं होते। इसके लिए भक्त, साधक और सरल हृदय बनकर साधना करना पड़ता है।

यथार्थ सद्‌गुरु बिरले हैं

सावन केरा सेहरा, बुन्द परा असमान॥

सारी दुनियाँ वैष्णव भई, गुरु नहिं लागा कान॥ 77॥

शब्दार्थ—जैसे सावन महीने में वर्षा की झड़ी लग जाती है और आकाश से मेघमालाओं द्वारा घनाकर जलबूंदें पृथ्वी पर गिरती हैं, वैसे संसार में गुरुओं के अपार दल हो गये हैं और उन्होंने वर्षा-बुन्दवत गुरु-मन्त्रों की झड़ी लगा दी है। इसमें संसार के प्रायः सारे लोग भक्त तो हो गये हैं, परन्तु सच्चे गुरु इनके कानों में सत्योपदेश नहीं दिये, अर्थात इन्हें सच्चे गुरु नहीं मिले॥ 77॥

व्याख्या—श्रावण की रिमझिम बारिश में सारा भू-क्षेत्र पानी से तरबतर हो जाता है। इसी प्रकार विविध गुरुओं के उपदेशों से संसार के लोग दीक्षित हो जाते हैं। किसी गुरु द्वारा मन्त्र दीक्षा पाकर दीक्षित हो जाना, वैष्णव एवं भक्त हो जाना एक अलग बात है, किन्तु सच्चे गुरु की शरण पाकर उनके सत्योपदेशों से सारी भ्रांतियों का कट जाना बिलकुल अलग बात है। कबीर देव कहते हैं कि सारी दुनिया के लोग भक्त तो हो गये, परन्तु क्या उन सबको सच्चे गुरु मिले हैं! "गुरुवा तो सस्ते भये, कौड़ी अर्थ पचास। अपने तन की सुधि नहीं, शिष्य करन की आश।"[1] ऐसे गुरुओं से शिष्यों का कोई कल्याण नहीं होने वाला है। "गुरु तो ऐसा चाहिए, ज्यों सिकलीगर होय। जन्म जन्म का मूरचा, गुरु पल में डारे खोय॥"[2]

यथार्थ सद्गुरु वह है जो जड़-चेतन की वास्तविकता का ज्ञाता है, विषय-विकारों से मुक्त और स्वरूपज्ञान की स्थिति में रमने वाला है। वह स्वयं निर्बंध है और शिष्यों को निर्बंधता का रास्ता बताता है। जिसके जीवन से, वाणी से, संगत से, यहां तक कि याद से आध्यात्मिकता का प्रकाश मिले, वह सद्गुरु है। सद्गुरु वह व्यक्तित्व है जिससे आध्यात्मिकता का रस निरन्तर टपकता है। यह भी सच है कि हमारे में भी यह क्षमता होना चाहिए कि हम उसे पहचान सकें। किन्तु यह तथ्य है कि यदि ऐसा पूर्ण सद्गुरु मिल जाये और शिष्य में पात्रत्व है, उसे आध्यात्मिक भूख है तो यह निश्चित है कि वह कृतार्थ हो जायेगा। सूरज चकमक में आग उत्पन्न करता है, इसी प्रकार यथार्थ सद्गुरु का ज्ञान सत्पात्र में फलित होता है।

उठो जागो

ढिग बूड़ा उतरा नहीं, याहि अँदेशा मोहिं॥
सलिल मोह की धार में, क्या नींदरि आई तोहिं॥ 78॥

शब्दार्थ—ढिग=पास में। अँदेशा=अंदेशा, सोच, चिंता, शक, खतरा। सलिल=पानी।

---

1. पंचग्रंथी, मानुष विचार, मसला 4।
2. पंचग्रंथी, मानुष विचार, साखी 29।

भावार्थ—कल्याण के अत्यंत सन्निकट नर-शरीर ही में जीव डूब गया, अथवा अपने पास अन्तःकरण के ही संशय-समुद्र में डूब गया और पुनः उतराया नहीं। मुझे यही सोच है कि मोह की जल-धारा में तुम्हें कैसे नींद आ गयी ! ॥ 78 ॥

व्याख्या—इस साखी में 'ढिग' शब्द ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। कोई मनुष्य दूर-दराज जाकर किसी नदी में डूब जाये तो अलग बात है। परन्तु रहने के निवास के पास में ही डूब जाये जहां सब प्रकार बचने के साधन हैं तो यह चिंता का विषय हो जाता है। यह जीव पशु-पक्षी, कृमि-कीटादि खानियों में रहकर यदि पशुत्व एवं मूढ़तापूर्ण कर्मों में लीन रहता है तो यह स्वाभाविक लगता है; क्योंकि वहां विवेक नहीं है। परन्तु विवेक-साधनसंपन्न मानव-शरीर में आकर यदि जीव पशुत्व कर्मों में डूबकर अपने आप को खोता है तो यह विवेकियों के लिए चिंता का विषय है। यह मानव-शरीर कल्याण के निकट है। यहां जीव के उद्धार के लिए सत्संग, सद्ग्रन्थ, सद्विचारादि सब प्रकार के साधन हैं। किन्तु आश्चर्य है कि जीव इतनी योग्यता पाकर भी आत्म-कल्याण का काम न कर भव-बंधनों का काम करता है। जहां से वह तर सकता है, वहीं डूब रहा है।

'ढिग' का अभिप्राय अन्तःकरण भी है। जीव के सर्वाधिक निकट उसका अन्तःकरण है, उसके बाद इन्द्रियां, शरीर, फिर संसार के अन्य क्षेत्र हैं। अतः जीव का सबसे पास उसका अन्तःकरण एवं दिल है। जीव हर समय अपने अन्तःकरण के संशय-समुद्र एवं वासना-सागर में डूबता रहता है। तरने की जगह अन्तःकरण एवं दिल ही है। जब मनुष्य अपने मन के सागर से ऊपर उठ जाता है तभी वह कृतार्थ होता है। परन्तु खेद है कि वह मन के वासना-सागर में ही सदैव डूबा रहता है।

'ढिग बूड़ा' को हम इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि जैसे कोई व्यक्ति नदी का बड़ा पाट तैरते-तैरते घाट के पास आ गया हो, और वहीं डूब जाये, वैसे कोई भक्त, साधक या साधु हो, वह लम्बे समय से साधना करते हुए अपनी बहुत-सी कमजोरियों को दूर करता हुआ कल्याण के निकट पहुंच गया हो और इसके बाद वह कुसंग-प्रेमी बनकर अपना पतन कर ले, तो यह सोचनीय स्थिति है।

मान लो कोई डूब गया तो डूब गया, परन्तु समय रहते हुए यदि "उतरा नहीं" तो "याहि अँदेशा मोहिं" होना स्वाभाविक है। फिसलनभरी नदी में पैर का फिसल जाना कोई आश्चर्य नहीं, किन्तु उससे निकलने का प्रयास ही नहीं करना गलत है। नदी में तो गिरकर असमर्थता भी हो सकती है कि आदमी न निकल सके। परन्तु जीवन की फिसलन में ऐसी बात नहीं है। माना कि

जीवन फिसलन से भरा है; परन्तु मनुष्य में यह सामर्थ्य है कि वह अपने आप को सभी फिसलनों से एकदम बचा सकता है। सद्गुरु कहते हैं कि चिंता का एक विषय तो यह है कि कल्याण के निकट आकर पुनः संसार-सागर में डूब जाना, और चिन्ता का दूसरा विषय है कि डूब गये तो डूब गये, परन्तु निकलने के लिए पुनः प्रयास ही न करना। किसी ने कितना अच्छा कहा है—"गिरते हैं शहसवार[1] ही, मैदाने जंग में। वे तिफ्ल[2] क्या गिरेंगे, जो घुटनों के बल चलें॥" अर्थात युद्ध क्षेत्र में कुशल घुड़सवार ही समय पर गिर भी सकता है। वे बालक क्या गिरेंगे जो घुटनों के बल पर चलते हैं। जो चलता है वह गिर भी सकता है किन्तु जो बैठा है वह क्या गिरेगा ! यदि कहीं कुछ गड़बड़ हो रहा है तो इसका अर्थ है कि वहां कुछ घटना घट रही है, वहां कुछ गतिविधि है, कुछ हलचल है। मुरदा क्या अपराध करेगा, अपराध जिंदा आदमी से ही हो सकता है, और वही कुछ मंगल का काम भी कर सकता है। इसलिए सद्गुरु कबीर कहते हैं कि सबसे ज्यादा अंदेशा और चिंता तो इस बात की है कि आदमी एक बार डूबकर फिर उतराया नहीं। उससे एक बार या कई बार भी गलती हो गयी तो हो गयी। उसे पुनः अपने आप को गलतियों से मुक्त करने का प्रयास करना चाहिए।

पानी में डूबा हुआ आदमी पुनः उतराया नहीं, तो कबीर साहेब ने वहां जाकर उससे प्रश्न किया "सलिल मोह की धार में, क्या नींदरि आई तोहिं?" अरे, क्या पानी की धारा में तुझे मोह की नींद आ गयी है? क्या तूने डूबना ही आनन्द मान लिया है? हमारी दशा यही है। हमने मोह की धारा में नींद लेना ही अच्छा मान लिया है। एक बार थोड़ा फिसल गये, तो आदमी सोचता है कि अब तो फिसल ही गये हो, अब तो जीवनभर कीचड़ में ही पड़े रहना है। अब उठना नहीं है कीचड़ में से।

लोगों की यह दुर्बलता देखकर कबीर साहेब को चिंता है। ऐसी चिंता भी होती है उसे ही जो ज्यादा संवेदनशील हो, सब समझता हो और करुणाशील हो। उन्हें लोगों के पतन पर करुणा है। परन्तु उनकी चिंता का उपयोग हमें करना चाहिए। हमें फिसलकर कीचड़ में पड़े नहीं रहना चाहिए। हमें कीचड़ में ही नींद नहीं लेना चाहिए। हमें जागना चाहिए।

कथनी से अधिक करनी तथा रहनी की आवश्यकता है

साखी कहै गहै नहीं, चाल चली नहिं जाय॥

---

1. 'शहसवार' का अर्थ है कुशल घुड़सवार।
2. 'तिफ्ल' कहते हैं बालक को।

सलिल धार नदिया बहै, पाँव कहाँ ठहराय॥ 79॥

शब्दार्थ—साखी=दोहा छंद, साक्षी चेतन। चाल=आचरण, रहनी। सलिल=पानी, वासना। पाँव=धैर्य।

भावार्थ—लोग साखी-शब्द या ज्ञान के वचन कहते हैं अथवा मैं साक्षी स्वरूप चेतन हूं, यह कहते हैं, परन्तु इनके भाव हृदय में ग्रहण नहीं करते और इन भावों के अनुसार आचरण नहीं करते। नदी में पानी की जोरदार धारा बहती है, फिर वहां पैर कहां ठहरे, अर्थात अन्त:करण में वासनाओं का जोर है फिर उसमें धैर्य कहां रहे !॥ 79॥

व्याख्या—साखी दोहा छंद है जिसकी दोनों पंक्तियों में शुरू-शुरू में तेरह-तेरह तथा अन्त-अन्त में ग्यारह-ग्यारह मात्राएं होती हैं। इसे लोगों ने दोहा कहा है और कबीर साहेब ने साखी कही है। साखी का अर्थ गवाह भी होता है जो किसी विवाद का प्रत्यक्षदर्शी होता है। उसी की कही हुई बातों का प्रमाण मानकर विवाद सुलझाया जाता है। साखी का तीसरा आध्यात्मिक अर्थ है साक्षी चेतन। सबके भीतर मैं के रूप में साक्षी चेतन निवास करता है। मैं साक्षी-देखनेवाला-द्रष्टा हूं।

सद्‌गुरु कहते हैं कि लोग साखी, शब्द एवं ज्ञान के वचन तो कहते हैं, परन्तु उनके भाव हृदय में ग्रहण करना बड़ा कठिन मानते हैं फिर उन्हें आचरण में लाना और कठिन मानते हैं। तो ऐसी कमजोरी रखकर कोई ज्ञान की चर्चा मात्र से क्या कल्याण कर सकता है ! कबीर साहेब संसार में लम्बे समय तक रहे हैं। उन्होंने करीब एक सौ बीस वर्ष की उम्र में अपना शरीर छोड़ा है। अत: इतनी लम्बी अवधि में उन्होंने अपने अनुयायियों में से ही अनेकों को देखा होगा कि साखी-शब्द तो खूब रट रहे हैं, परन्तु न उनके भाव को समझना चाहते हैं और न उनके अनुसार रहनी में चलना चाहते हैं। सब समय ऐसे लोग रहे हैं और आज भी हैं जो साखी-शब्दों, दोहा-चौपाइयों, मन्त्र-श्लोकों, इतिहास-पुराणों एवं धर्मशास्त्रों के वचनों के धनी हैं। वे बहुत जानते हैं, बहुत बोलते हैं और निचोड़कर सार कह देते हैं, परन्तु उन बातों का वे अपने जीवन में आचरण नहीं करते। तथागत बुद्ध ने ऐसे लोगों को दूसरों की गायें गिनने वाला बताया है, जिनसे उन्हें दूध एक कुल्ला भी नहीं मिलता है। कोई वचनों से लाख-करोड़ रुपये गिनता रहे और हाथ में एक कौड़ी भी न हो तो क्या लाभ !

साखी का आध्यात्मिक अर्थ साक्षी चेतन है। यदि कोई यह कहे कि मैं साक्षी चेतन हूं, परन्तु वह विषय-वासनाओं में बहता हो तो उसका यह प्रदर्शन मात्र हुआ। साक्षी-भाव के ग्रहण का अर्थ होता है तटस्थ एवं उदासीन होकर देखना, बहना नहीं। जैसे कोई नदी के तट पर बैठा हुआ आदमी नदी

की धारा को एवं उसकी तरंग-मालाओं को केवल देखता है, उसमें बहता नहीं, वैसे ज्ञानी-पुरुष साक्षी-भाव से संसार को केवल देखता है, उसमें बहता नहीं। साक्षी एवं गवाह की विशेषता है निष्पक्ष होना। इसी प्रकार साक्षीभाव की विशेषता है अनासक्त होना। जब तक शरीर है तब तक तो यह हो नहीं सकता कि वह कुछ देखे-सुने ही नहीं। देखना, सुनना, जानना देहधारी का स्वभाव है। ज्ञानी जीवनभर साक्षी-भाव वाला होता है। वह देखता और जानता है, परन्तु कहीं पर भी आसक्त नहीं होता। यह साक्षी-भाव जीवन की सर्वोच्च रहनी है।

कोई व्यक्ति पुस्तकों एवं संतों के प्रवचनों से जानकर कहने लग जाये कि मैं साक्षी मात्र चेतन हूं, परन्तु इसके साथ वह नाना व्यसनों तथा काम, क्रोधादि में बहता हो तो यह वचनमात्र का साक्षी-कथन न उसके हृदय को सन्तोष दे सकेगा और न दूसरे के हृदय को। "साखी कहै गहै नहीं, चाल चली नहिं जाय" सद्गुरु की यह बहुत बड़ी मार है वाचिक ज्ञानियों पर। ऐसे जबर्दस्त चांटे से भी यदि हम नहीं चेतेंगे तो कब चेतेंगे!

"सलिल धार नदिया बहै, पाँव कहाँ ठहराय।" नदी में बहुत जोरों की धारा बहती हो तो उसमें पैर कहां ठहर सकते हैं! मनुष्य का हृदय भयंकर नदी है। उसमें इच्छा-वासनाओं एवं भोग-इच्छाओं की प्रबल धारा बहती है। इसलिए आदमी धैर्य नहीं रख पाता और बारम्बार उसमें बह जाता है। फिर तो साखी-शब्द एवं ज्ञान की बातें केवल वचनों में धरी रह जाती हैं। बहुत-सी वाणियों के याद होने तथा उनके अर्थ जान लेने मात्र से कोई मन की धारा से नहीं बच सकता। इसके लिए तो ज्ञान की थोड़ी बात भी हो, उसकी बारंबार मन में भावना करने से तथा उसके अनुसार जीवन में आचरण करने से साधक मन की धारा से बच सकता है। यदि साधक अपनी कमजोरियों के लिए ग्लानि न करे, उन्हें जीतने के लिए प्रतिज्ञा तथा मन में अविचल धारणा न बनाये, कुसंग से दूर रहकर तथा सत्संग का बल लेकर ज्ञान का अभ्यास न करे, तो कंठ की हुई वाणी कुछ नहीं कर सकती।

"सलिल धार नदिया बहै, पाँव कहाँ ठहराय।" इस वचन से किसी साधक को साहसहीन नहीं होना चाहिए। आखिर आदमी प्राप्त-ज्ञान के अनुसार आचरण क्यों नहीं बना पाता? इसमें एक ही कारण है, भोगों की आसक्ति। यह तथ्य है तो इसकी ओर इशारा न करना, खतरे से सावधान न करना ठीक नहीं है। परन्तु यह समझना चाहिए कि मन में विषय-वासनाओं का जोर केवल अज्ञान से है, असावधानी से है। जो प्रयत्नपूर्वक अपने हृदय में विवेक जाग्रत करेगा, गलत संकल्पों से सावधान रहकर साक्षी-भाव से रहेगा, उसके लिए विषय-वासनाएं कुछ नहीं हैं। विषय-वासनाएं स्मरण मात्र

हैं। उनका स्मरण न करने से चित्त शुद्ध एवं ज्ञान-वैराग्य में सबल हो जाता है। अतएव साधक को प्राप्त ज्ञान के अनुसार आचरण करना चाहिए। उसे साक्षी-भाव से रहना चाहिए और मन को विषय-चिन्तन से हटाकर रचनात्मक कार्य एवं स्वरूपज्ञान में लगाना चाहिए।

कहन्ता तो बहुते मिला, गहन्ता मिला न कोय॥
सो कहन्ता बहि जान दे, जो न गहन्ता होय॥ 80॥

शब्दार्थ—कहन्ता=कहने वाला। गहन्ता=ग्रहण करने वाला।

भावार्थ—ज्ञान का कथन करने वाले तो बहुत मिलते हैं, परन्तु उसका भाव एवं आचरण ग्रहण करने वाले बहुत कम मिलते हैं। जो ज्ञान का भाव एवं आचरण नहीं ग्रहण करता, उसे भटकने दो, उसके पीछे मत लगो॥ 80॥

व्याख्या—ज्ञान की कथा करने वाले, प्रवचन देकर दूसरों को सुनाने वाले तथा अच्छी-अच्छी सीख देकर दूसरों को समझाने वाले लोग बहुत मिलते हैं; परन्तु उन्हीं सब बातों का स्वयं आचरण धारण करने वाले लोग कम मिलते हैं। यहां सद्गुरु ने कहा है "गहन्ता मिला न कोय"। इस कथन को ऊपरी तौर पर देखने से लगता है कि आचरण करने वाला उन्हें कोई मिला ही नहीं। परन्तु सार अर्थ यह नहीं है। जैसे किसी ने किसी को चार-छह बार किसी विषय में समझाया और उसने उस सीख पर ध्यान नहीं दिया, तो समझाने वाले ने समय आने पर किसी से कहा कि भैया, उन्हें तो मैंने हजार बार समझाया, परन्तु उन्होंने मेरी बातें नहीं मानीं। वस्तुतः समझाने वाले ने चार-छह बार ही समझाया; परन्तु उसे हजार बार कहकर उसने एक मुहावरे का प्रयोग कर दिया जो व्यंग्य लेकर होता है। उसी प्रकार यहां "गहन्ता मिला न कोय" एक व्यंग्यात्मक मुहावरा बन गया है। इसका सार अर्थ यही है कि आचरण करने वाले कम लोग मिलते हैं।

सद्गुरु कहते हैं "सो कहन्ता बहि जान दे, जो न गहन्ता होय"। जो आचरण नहीं धारण करता, जो केवल कथक्कड़ी है, ऐसे लोगों को भटकने दो। ऐसे लोगों के पीछे न लगो। जो केवल वचनों का धनी है, यदि उसके प्रलोभन में पड़ोगे कि वह तुम्हारा उद्धार कर देगा, तो समझ लो कि वह तुम्हें डुबायेगा। चाहे व्यवहार का क्षेत्र हो चाहे परमार्थ का, जो आचरणरहित केवल बातूनी है वह धोखा देने के सिवा कुछ नहीं कर सकता। व्यावहारिक क्षेत्र में जो तुम्हें लंबी-लंबी दिलासाएं देता है, समझ लो कि उसे तुम्हारा कोई सहयोग नहीं करना है। जो सहयोग करना चाहता है, वह लंबी दिलासाएं नहीं दे सकता। उसे अपनी बातों को आचरण में उतारना है इसलिए वह बहुत सम्भालकर बोलेगा और जिसे कुछ नहीं करना है वह वचनों से तुम्हें सब कुछ देने के लिए तैयार हो जायेगा। यही बात परमार्थ क्षेत्र में है। जो रहनी-

रहित है वह फट-फट बोलता रहता है और जो रहनी संपन्न है वह विचारपूर्वक बोलता है, और जो कुछ बोलता है वह गंभीरतापूर्ण रहता है। इसलिए सद्‌गुरु ने 70वीं रमैनी में कहा है—"कहहिं कबीर अर्ध घट डोलै। पूरा होय विचार लै बोलै॥"

आचरणरहित ज्ञान कागज के फूल के समान हैं जो देखने में सुन्दर हैं, परन्तु उनमें फूल का कोई गुण नहीं है। महाभारत में राजा युधिष्ठिर मानो कबीर साहेब की ही भाषा में बोलते हुए कहते हैं—"पढ़ने वाले, पढ़ाने वाले और शास्त्रों के चिन्तन करने वाले सब व्यसनी और मूर्ख हैं। जो आचरणसंपन्न है वही पंडित है।" मूल वचन इस प्रकार है—

पठकाः पाठकाश्चैव चान्ये शास्त्रविचिन्तकाः।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान् स पण्डितः॥

(महाभारत, वनपर्व, 313/110)

गुरुजनों से वार्ता कैसे करें

एक एक निरुवारिये, जो निरुवारी जाय॥
दोय मुख का बोलना, घना तमाचा खाय॥ 81॥

शब्दार्थ—निरुवारिये=निर्णय कीजिये, सुलझाइए। घना=बहुत कठिन। तमाचा=चपत।

भावार्थ—सत्संग में एक-एक बात का निर्णय करो। जिसका निर्णय हो जाये उसका यथायोग्य ग्रहण या त्याग करो। जो दो-मुखी बातें करता है, वह कठोर चपत खाता है॥ 81॥

व्याख्या—कुछ लोग ऐसे होते हैं जो सत्संग में इसलिए पहुंचते हैं कि हम संत-मंडली के मुख्य संत को हरा दें और समाज में अपना वर्चस्व कायम कर दें। वे कोई प्रश्न करेंगे, उसका उत्तर हो नहीं पायेगा, उसी में एक-दो प्रश्न और कर देंगे। मुख्य विषय के विपरीत बात उठा देंगे। वे कुछ दाहिने चलेंगे तो कुछ बायें। कबीर साहेब को भी ऐसे लोग अनेक बार मिले होंगे। मानो उन्होंने किसी ऐसे ही दो-मुंहे आदमी को लक्ष्य लेकर उक्त साखी कही हो। कोई ऐसा व्यक्ति आया हो जो केवल अपनी विजय के चक्कर में पड़कर प्रश्न-पर-प्रश्न और विरोधी प्रश्न करता गया हो, तो मानो सद्‌गुरु ने कहा हो, देखो भाई, एक-एक बात को सुलझाओ। दो-मुंही बातें मत करो। दो-मुंही बातें करोगे तो चांटे खाओगे। क्या कबीर साहेब किसी को चांटे मारते थे! वस्तुतः जो ऐसी प्रवृत्ति का आदमी होता है उसे स्वयं में चांटे मिल जाते हैं। कारण-कार्य-व्यवस्था का सर्वत्र जाल फैला है। जो व्यक्ति अपना मन इतना चंचल और खराब रखेगा कि संतों के पास जाकर उनसे विनम्रता,

निश्छलता एवं सेवापूर्वक कुछ प्राप्त करने की जगह पर उनको हराने के चक्कर में रहेगा, उसका व्यक्तित्व अपने आप गिर जायेगा।

जिज्ञासु को चाहिए कि वह किन्हीं संत के पास जाये तो विनम्रतापूर्वक उनका अभिवादन करे। इसके बाद वहां की मर्यादा के अनुसार तथा वहां के लोगों के निर्देशानुसार शिष्टतापूर्वक आसन ग्रहण करे। कहीं जाकर यथासंभव पीछे और नीचे बैठने का प्रयत्न रखे। संत पुरुष जो कुछ उपदेश दें उन्हें श्रवणकर जो काम की वस्तु हो उसे ग्रहण करे। यदि उनसे प्रश्न करना है तो उनकी आज्ञा लेकर विनय-भाव से निश्छलतापूर्वक प्रश्न करे। एक प्रश्न के सुलझ जाने पर यदि अवसर हो तो अन्य प्रश्न करे। प्रश्नोत्तर में हठ, पक्षपात, वाक्यप्रदर्शन एवं विवाद न कर सभ्यतापूर्वक बातों को समझे और समझाये। जितनी बातें समझ में आ जावें उनमें से जो ग्रहण करने योग्य हों उन्हें ग्रहण करे और जो त्यागने योग्य हों उनका त्याग करे। जहां परस्पर मतभेद हो ऐसी बातों को न छेड़े। यदि परस्पर प्रेम एवं विश्वसनीयता हो तो मतभेद की बातों पर भी चर्चा की जा सकती है। परंतु यदि उस विषय में दोनों व्यक्ति अपने-अपने विचारों में दृढ़ हैं तो उन पर बात करने का कोई फल नहीं है। जो सिद्धांततः मतभेद हैं उन पर चर्चा करने से कभी कोई हल नहीं होता। यदि सावधान न रहे तो केवल कटुता बढ़ती है। सैद्धांतिक मतभेद को लेकर जब कहीं दो पक्ष के लोग बातें करते हैं, तब प्रायः यही होता है कि दूसरे की बातों पर ध्यान न देकर केवल अपनी बातें कही जाती हैं। ऐसी स्थिति में श्रम दोनों तरफ से होता है और लाभ किसी का नहीं होता। इसलिए दार्शनिक सिद्धान्तों के मतभेद को लेकर बात उठाने की आवश्यकता ही नहीं है। यह तो जब एक गुरुस्थानीय हो और दूसरा जिज्ञासु तब दार्शनिक बातों को समझने-समझाने की बात उठती है। दो परिपक्व विचारों वाले लोगों को इस दिशा में मौन रहना ही परस्पर मैत्री के बने रहने का कारण हो सकता है। दो व्यक्तियों के मिलन का फल होना चाहिए कि दोनों दोनों से कुछ सत्प्रेरणा लें। यदि वे परस्पर सत्प्रेरणा न ले सकें तो मिलना निरर्थक ही नहीं, अनर्थक हो जाता है।

वाणी पर संयम करो

जिभ्या केरे बन्द दे, बहु बोलन निरुवार॥
पारखी से संग करु, गुरुमुख शब्द विचार॥ 82॥

शब्दार्थ—बन्द दे=संयम करो। निरुवार=त्याग करो। पारखी=सत्य-असत्य के परीक्षक, निष्पक्ष द्रष्टा। गुरुमुख=निर्णय वचन।

भावार्थ—अनावश्यक बोलना छोड़कर वाणी पर संयम करो, सारासार के निष्पक्ष पारखी संतों की संगत करो और निर्णय वचनों पर विचार करो॥

82 ॥

व्याख्या—इस साखी में मुख्य तीन बातें बतायी गयी हैं, (1) बहुत बोलना त्यागकर वाणी का संयम करना, (2) पारखी की संगत करना तथा (3) गुरुमुख वचनों पर विचार करना।

(1) "जिभ्या केरे बन्द दे, बहु बोलन निरुवार।" इसकी महती आवश्यकता है। सद्गुरु कहते हैं कि वाणी को बन्द कर दो और बहुत बोलना छोड़ दो। जो व्यक्ति बहुत बोलता है उसका व्यक्तित्व हलका हो जाता है। ज्यादा बोलने वाला झूठ ही नहीं बोलता, किन्तु निरर्थक, अश्लील, कटु, मजाक, मर्मांतक व्यंग्य एवं दूसरों को पीड़ा देने वाले अन्य प्रकार के भी वचन बोलता है। ज्यादा बोलने से कुछ ऐसी बातें समय से निकल आती हैं जिनसे बेवजह झगड़ा खड़ा हो जाता है। बहुत बोलने वालों से लोग न मित्रता करना चाहते हैं और न व्यवहार रखना चाहते हैं। कितने लोगों का मुंह इतना चरचराया रहता है कि वे किसी से मिलते ही बोलना शुरू करते हैं और कहां बन्द करना चाहिए यह नहीं जानते। ऐसे लोग अगले आदमी का दिमाग चाट लेते हैं। ऐसे लोग संतों से मिलने पर भी अपनी ही हांकते जाते हैं। वे जब तक उनके पास बैठे रहेंगे बे-सिर-पैर की बातें करते रहेंगे और जब उठकर चलेंगे तब संत जी से कहेंगे कि आपके सत्संग से बड़ा आनन्द आया। वास्तव में उन्हें कोई श्रोता नहीं मिला होगा, इसलिए वे संत को ही बैठे-ठाले देखकर वहीं झख मारने आ गये, और झख मार लिये, दिल का गुब्बार कुछ समय के लिए निकल गया तो उन्हें आनन्द आ गया।

कान दो तथा आंखें दो हैं, परन्तु मुख एक ही है, अतः उनसे चार बातें सुन तथा देखकर एक बात बोलना उचित है। कम बोलने से बहुत-से उपद्रव अपने आप समाप्त हो जाते हैं। वाक्य-संयम बिना किये मन में शांति आ ही नहीं सकती। कम बोलने से भीतर शांति आती है और बाहर से व्यक्तित्व गंभीर हो जाता है। उसकी बातों का वजन होता है। अतएव व्यवहार तथा परमार्थ दोनों दिशाओं में प्रगति के लिए वाक्य-संयम की महती आवश्यकता है।

(2) "पारखी से संग करु" महत्त्वपूर्ण विषय है। जो गुण और दोषों की परीक्षा कर सके वह पारखी है। इसी प्रकार जो जड़ और चेतन, बंध और मोक्ष, शुभ और अशुभ की परीक्षा कर सके वह पारखी है। पारखी वही हो सकता है जो शास्त्र, परम्परा, गुरु, अपनी अवधारणा, किसी का भी पक्षपात न रखता हो। सब तरफ से निष्पक्ष व्यक्ति ही सच्चा पारखी हो सकता है। पूर्वग्रह, दुराग्रह, हठ, पक्षपात करने वाला कभी पारखी नहीं हो सकता। भौतिक क्षेत्र में जैसे वैज्ञानिक उदार होता है और उसके प्रयोग में जो आता है

उसे स्वीकारता है, वैसे पारखी उदार होता है, अतएव जो उसकी स्वतन्त्र परीक्षा में आता है उसे वह स्वीकार करता है। विनयभावपूर्वक सब जगह सार लेने वाला पारखी होता है।

ऊपर पारखी का बौद्धिकरूप बताया गया। पारखी का साधनात्मक रूप भी बड़ा उच्च होता है। पारखी ज्ञान ही से सबकी परख करता है, अतएव उसका अपने ज्ञानस्वरूप में स्थित हो जाना ही पारख-समाधि है। जो सबको परख-परखकर छोड़ता रहता है और अपने आप शांत रहता है वह पारखी है। विषयों का त्याग, व्यवहार में दया, शील, सत्य, क्षमा, धैर्य, विवेकादि का आचरण करते हुए जो स्व-स्वरूप में रमता है, वह पारखी है। सारी वासनाओं को छोड़कर अपने आपा, अपने चेतनस्वरूप-पारखस्वरूप में स्थित होना पारखी का लक्षण है। ऐसे पारखी की संगत करना चाहिए, तभी हमारे भीतर में रहा हुआ पारख-गुण उद्घाटित होगा।

(3) "गुरुमुख शब्द विचार" केवल किसी गुरु-नामधारी के मुख से निकलने से कोई बात गुरुमुख नहीं हो जाती। निर्णयवचन ही गुरुमुख है। शास्त्रों में पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष एवं रोचक, भयानक और यथार्थ वचन होते हैं। इसी प्रकार बीजक में जीवमुख, मायामुख, ब्रह्ममुख तथ गुरुमुख अथवा काल, संधि, झाईं और सार के वचन हैं। उत्तरपक्ष, यथार्थ, गुरुमुख तथा सार सब एक बात है। जो तर्कयुक्त, विवेकसम्मत तथा विश्व के शाश्वत नियमों के अनुकूल है, वही निर्णय गुरुमुख वचन है। पूर्णपारखी गुरु जो कह दे, वह गुरुमुख वचन हो सकता है; परन्तु उसकी कसौटी भी अंततः निर्णय, विवेक एवं परख ही है। सद्गुरु कहते हैं कि गुरुमुख शब्दों का विचार करो। जो निर्णय के वचन हैं, तर्कयुक्त एवं विवेकसम्मत वचन हैं उन्हीं का चिन्तन-मनन करने से कल्याण है, शेष वचन तो परखकर त्याग करने के लिए हैं।

इस प्रकार इस साखी में सद्गुरु ने बताया कि बहुत बोलना छोड़कर वाक्य-संयम करो, पारखी की संगत करो, तथा गुरुमुख वचनों का चिन्तन करो।

जाके जिभ्या बन्द नहिं, हृदया नाहीं साँच ॥
ताके संग न लागिये, घाले बटिया माँझ ॥ 83 ॥

शब्दार्थ—घाले=छोड़े। बटिया=मार्ग। माँझ=में।

भावार्थ—जिसकी वाणी में संयम नहीं है और हृदय में सचाई नहीं है, उसका साथ मत करो। वह बीच रास्ते में ही तुम्हें छोड़ देगा। अर्थात तुम्हें लक्ष्य तक नहीं पहुंचा सकता ॥ 83 ॥

व्याख्या—इस साखी में उसकी संगत करने से रोका गया है जिसकी वाणी में संयम तथा हृदय में सचाई नहीं है। कुछ लोग ऐसे होते हैं जिन्हें

इसकी कोई खबर नहीं होती कि कब क्या बोलना चाहिए! उनका मुंह बिना विचार किये सब समय चलता रहता है। वे कब क्या बोल दें इसका कोई भरोसा नहीं है। ऐसे लोग स्वयं तो उलझे होते हैं दूसरों को भी उलझन में डालते हैं। वस्तुतः हृदय में सचाई न होने से ही वाणी में असंयम आता है। वाणी और इन्द्रियों में जहां तक अव्यवस्था है उसका मूल है मन की अव्यवस्था। ऐसे कितने लोग होते हैं जिन्हें सांच-झूठ से कोई फरक नहीं पड़ता, केवल उनका स्वार्थ सिद्ध होना चाहिए। उन्हें जिसमें अपने माने हुए स्वार्थ की सिद्धि दिखती है, वह काम करते हैं चाहे उसमें उन्हें झूठ बोलना पड़े चाहे सांच। ऐसे लोग अपने माता, पिता, गुरु तथा पूज्यों को भी धोखा दे सकते हैं, दूसरों के लिए तो कहना ही क्या! जिसे झूठ बोलने में संकोच नहीं है, वह कौन-सा पाप नहीं कर सकता। इसलिए सद्गुरु ने इसी प्रकरण में 334वीं साखी में कहा है "साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।" जिसका मन एक बार भी सत्य से फिसलकर नीचे आ जाता है और झूठ का आश्रय ले लेता है, उसे धीरे-धीरे झूठ बोलने में निर्भयता हो जाती है। झूठ बोलकर आदमी अपने आप को धोखा देता है और दूसरों को भी धोखा देता है। झूठ बोलने वालों से लोगों का विश्वास उठ जाता है। जंगल में गाय चराते हुए एक ग्वाले ने हल्ला किया कि दौड़ो-दौड़ो मेरी गाय को सिंह ले जा रहा है। आस-पास के किसान दौड़ते हुए आये। ग्वाला हंसने लगा और कहा कि मैं अंदाज रहा था कि आप लोग समय पड़ने पर आयेंगे कि नहीं। वैसे यहां कोई सिंह नहीं आया है। किसान लोग अपने-अपने खेतों में लौट गये। उस ग्वाले ने दूसरे दिन पुनः सिंह आने का हल्ला किया। फिर किसान लोग आये और उसने हंसकर अंदाजने की बात कही। तीसरे दिन सचमुच सिंह आ गया और एक गाय को लेकर जाने लगा। ग्वाले ने पुनः हल्ला किया। परन्तु उसके असत्य भाषण की आदत समझकर कोई उसकी सहायता के लिए नहीं आया। अतः आदमी यदि असत्य बोलने का आदती हो जाता है तो लोग उसकी बातों का विश्वास करना छोड़ देते हैं। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि जिसके हृदय में सचाई नहीं है तथा वाणी में संयम नहीं है उसका साथ मत करो।

जगत के कितने तरन-तारन गुरुनामधारी होते हैं जिनके हृदय में झुठाई का ही साम्राज्य होता है। एक प्रसिद्ध गुरुनामधारी कुछ दिनों में सभाओं तथा समाचार-पत्रों के माध्यम से अपने विषय में किसी एक या दो चमत्कारों का प्रचार करवाते थे और चमत्कार का मतलब ही है शुद्ध झूठ। आज बीसवीं शताब्दी के आखिर में भारत में कई दर्जन गुरुनामधारी तथाकथित ईश्वर के अवतार बने बैठे हैं। वे स्वयं अपनी लेखनी और वाणी से तथा अपने शिष्यों से अपने विषय में चमत्कारी पुरुष तथा अवतार सिद्ध करने तथा करवाने के

चक्कर में पड़े रहते हैं। वे अपने विषय में सृष्टि-क्रम के विरुद्ध, विश्व के शाश्वत नियमों एवं प्रकृति की कारण-कार्य व्यवस्था के विरुद्ध बातें करते और करवाते हैं। धूर्त लोग इसका प्रचार करते हैं कि चमत्कार अध्यात्म की शक्ति है और मूर्ख लोग इसे स्वीकार करते हैं। जनता के दिमाग पर चमत्कार का परदा डालकर उससे कुछ भी मनवाया जा सकता है। धार्मिक कहे जाने वाले ग्रन्थों में चमत्कार के वर्णनों की भरमार होने से जनता धर्म के नाम पर और मूढ़ बना दी गयी है। सारे चमत्कार धूर्तों और मूर्खों के बीच की बातें हैं।

इस प्रकार जिन गुरुनामधारियों के हृदय में चमत्कार तथा मिथ्या महिमा के नाम पर झुठाई भरी हुई है और जिनकी वाणी, लेखनी तथा अनुयायियों द्वारा उन्हीं मिथ्या बातों का प्रचार किया जा रहा है, जिज्ञासु को चाहिए कि ऐसे लोगों से सावधान रहे, दूर रहे। ऐसे लोग अपनी आत्मा को ही छल चुके हैं। वे दूसरे का क्या कल्याण करेंगे।

जिसके हृदय में धर्म और ईश्वर के नाम पर नाना मिथ्या भ्रांतियां पलती हैं, जिन्हें अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं है, जो अपने जीवन के लक्ष्य, मोक्ष एवं परमात्मा को अपनी आत्मा से अलग बताता है, जो वासना त्याग से मोक्ष न मानकर नाना टंट-घंट से ही कृतार्थ होने की बात करता है; सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे लोगों से सावधान रहो। वाक्यसंयमी, सत्यवादी, सत्यबोधनिष्ठ मित्र एवं संत-गुरु की संगत करो। वहीं कल्याण है।

पूरा साहेब सेइये, सब विधि पूरा होय।
ओछे से नेह लगाय के, मूलहु आवै खोय॥ बीजक, साखी 309॥

प्राणी तो जिभ्या डिगा, छिन छिन बोल कुबोल॥
मन के घाले भरमत फिरे, कालहिं देत हिंडोल॥ 84॥

शब्दार्थ—डिगा=विचलित। कालहिं=कल्पनाएं। हिंडोल=झूला, चक्कर।

भावार्थ—मनुष्य ने तो अपनी वाणी को चंचल कर रखा है और वह क्षण-क्षण गलत बातें बोलता है। वह मन के चक्कर में भटकता फिरता है। उसे कल्पनाएं नाना भ्रांतियों एवं राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि के झूले में झुला रही हैं॥ 84॥

व्याख्या—सद्गुरु इस साखी में पुनः वाणी और मन की चंचलता पर प्रकाश डालते हुए उसके परिणाम की ओर इशारा करते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि मनुष्य ने अपने आप को इतना गिरा लिया है कि उसकी वाणी हर समय विचलित रहती है। वह क्षण-क्षण में कुबोल बोलता है। असत्य, कटु, गाली, भद्दे, अश्लील, असभ्य तथा अमंगल बोली को कुबोल कहा जाता है। कितने लोग बात-बात में गाली देते हैं। परिवार वालों को, नौकरों को, पशु-पक्षियों

को, यहां तक कि हवा-बयार, पेड़-पौधों, थाली-लोटा एवं समस्त जड़-चेतन को गालियां सुनाते रहते हैं। गाली तो कोई स्वीकारता नहीं। गाली तो गाली देने वाले को ही पड़ती है। परन्तु प्रमादी आदमी को इसका कहां ख्याल है ! कितने लोगों को तो सुबह से शाम तक अर्थात वे जब तक जागते रहते हैं टट्टी-पेशाब त्यागने की इन्द्रियों के नाम ही याद रहते हैं। वे उन्हीं नामों से अपनी वाणियों को हर समय सुशोभित करते रहते हैं। कितने लोग हर समय अश्लील शब्दों से मजाक करते रहने में ही अपनी शूर-वीरता समझते हैं। कितने लोग ऐसे जोर-जोर से चिल्लाते हैं कि बैठा हुआ कौआ भी भयभीत होकर भाग जाये। कितने घरों की बातचीत बराबर दूसरों के घरों में सुनायी पड़ती है। ये सब कुबोल हैं। ऐसा व्यवहार करने वाले का व्यक्तित्व गिर जाता है।

मनुष्य का मन चंचल है। वह क्षण-क्षण कहां भटक जाता है कोई ठिकाना नहीं। इसी मन की चंचलता में पड़ा व्यक्ति भटकता रहता है। यह मन का भटकाव ही वाणी के भटकाव में कारण है। मन की चंचलता से आदमी निरन्तर चक्कर काट रहा है। "मन के घाले भरमत फिरे" बड़ा मार्मिक वचन है। संसार के सारे मनुष्य मन के भ्रम में पड़े हुए भटक रहे हैं। "कालहिं देत हिंडोल" मन काल के झूले में मनुष्य को झुलाता है। काल है कल्पनाएं। हर्ष-शोक, राग-द्वेष कल्पनाएं हैं। इन कल्पनाओं के हिंडोले हैं जिनमें व्यक्ति रात-दिन झूलता है। मन की मानी हुई अनुकूलता को पाकर हर्ष, प्रतिकूलता तो पाकर शोक, अपना मानकर राग तथा विरोधी मानकर द्वेष—यह सब मन का ही तो प्रपंच है। इन्हीं हिंडोले में पड़ा जीव निरन्तर झूला झूलता है।

मनुष्य को चाहिए कि वह अपने मन को संयत करे और वाणी को वश में करे। सत्य, मिष्ट, संयत एवं कम बोलने से व्यक्तित्व उभरता है। उसकी बातों का समाज में वजन होता है। वह लोकप्रिय होता है। घर में, परिवार में, अपने लोगों में उतने ही स्वर में बातें करना चाहिए कि जिसे वे लोग आराम से सुन लें जिन्हें हम सुनाना चाहते हैं। बातों में कटुता, अश्शील एवं नोंक-झोंक न हों। व्यवहार में परस्पर ऊंच-नीच हो जाने पर उन बातों को मन में बनाये न रखे, अन्यथा उन भावनाओं को लेकर बातें भी इस तरह निकलेंगी जिससे व्यवहार खराब हो जायेगा। एक साथ रहने से व्यवहार में कभी ऊंचा-नीचा हो जाना सहज है। परन्तु इन बातों को लेकर परस्पर कसक, ताना एवं नोंक-झोंक की बातें नहीं होना चाहिए। मनुष्य केवल वाणी का सुधार कर ले तो उसका बहुत व्यवहार सुधर जाये। वाणी सुधार के लिए मन को वश में करना ही पड़ेगा।

मन से गलत बातों को निकाल दो

हिलगी भाल शरीर में, तीर रहा है टूट॥
चुम्बक बिना न नीकरे, कोटि पाहन गये छूट॥ 85॥

शब्दार्थ—हिलगी=घुस गयी। भाल=तीर का फल, नोक। चुम्बक=एक पत्थर जो लोहा को अपनी ओर खींचता है।

भावार्थ—शरीर में तीर घुसकर और उसका नोक टूटकर शरीर के अन्दर रह गया। वह चुम्बक-पत्थर के बिना नहीं निकल सकता। अन्य करोड़ों पत्थर उसे नहीं निकाल सकते। इसी प्रकार मनुष्य के मन में वचन के बाण घुसकर उसमें जम गये हैं। बिना विवेक-ज्ञान के वे नहीं निकल सकते। करोड़ों थोथे ज्ञान उनके लिए बेकार हैं॥ 85॥

व्याख्या—तीर के फल एवं नोक टूटकर जब शरीर में रह जाते हैं तब चुम्बक-पत्थर उसके निकट ले जाने से वे उसकी तरफ खिंचकर निकल आते हैं। अन्य पत्थरों में यह सामर्थ्य नहीं है। इस साखी में बाण तथा चुम्बक के दो सटीक उदाहरण देकर मुख्य दो बातों पर प्रकाश डाला गया है। एक तो मनुष्य के मन में वचन-बाण जब धंस जाते हैं तब उनका निकलना मुश्किल हो जाता है। दूसरा यदि वे निकलते हैं तो साधारण ज्ञान से नहीं, चुम्बकीय ज्ञान से। हम वचन-बाणों को दो हिस्सों में बांटते हैं, एक नित्य के व्यवहार में लगे वचन-बाण तथा दूसरा आध्यात्मिक और धार्मिक भ्रांतियों के वचन-बाण।

हर मनुष्य को प्राणियों और पदार्थों का व्यवहार करना पड़ता है। पदार्थ निर्जीव होते हैं, इसलिए उनका व्यवहार करने में अधिक विघ्न नहीं होता। प्राणियों का व्यवहार कठिन है। यहां प्राणियों का अर्थ मनुष्य-प्राणियों से है। हम पशु-पक्षियों को पालते हैं। उनके भोजन, पानी तथा निवास का ठीक प्रबन्ध कर दें तो उनके संबंध में अन्य कोई खास झमेला नहीं है। किन्तु मनुष्यों का व्यवहार बहुत कठिन है। एक छोटा बच्चा होता है। यदि उसका मन असंतुष्ट हो गया तो वह रोता रहेगा। उसको समझाना थोड़े समय के लिए एक समस्या हो जाती है। फिर सयानों की बातें ही न्यारी हैं। इस प्रकरण में आरम्भ की साखियों में बताया गया है कि मनुष्य के पास दो महान शक्तियां है मन और वाणी। ये दोनों बड़े संवेदनशील हैं, बड़े उपयोगी हैं। ये मनुष्य की उन्नति के आधारस्तंभ हैं, परन्तु यदि इनका दुरुपयोग हुआ तो ये दोनों ही खतरनाक बन जाते हैं। इसलिए संतों ने बारंबार मन और वाणी को वश में करने पर जोर डाला है। मनुष्य का मन थोड़े-थोड़े में बदलता है और जैसे मन बदलता है वैसे उसकी वाणी बदलती है। जहां चार बरतन रहते हैं वहां

उनमें टकराकर आवाज हो जाना स्वाभाविक है। समझदार का काम है उन्हें सहेज कर रखना। परिवार तथा समाज में जहां अनेक लोग हैं परस्पर के व्यवहार में कभी-न-कभी उंच-नीच हो सकता है। अच्छी समझ न होने से व्यवहार के थोड़ा व्यतिक्रम होने से उनके मन में भी अन्तर आ जाता है, और मन में अन्तर आने से उनकी वाणी में भी अन्तर आ सकता है। जब व्यक्ति किसी की मार्मिक वाणी सुनता है तो गहरा विवेक न होने से वह उसके मन की गहराई में बैठ जाती है। वह उसे समय-समय पर याद करता है और कहने वाले के लिए अपने मन में द्वेष बनाये रखता है। तीर के नोक टूटकर शरीर में रह जाने के समान उसके मन में वे मार्मिक वचन रुक जाते हैं। जैसे शरीर में रहे हुए बाण के नोक शरीर में कसक एवं पीड़ा उत्पन्न करते हैं वैसे उस आदमी के मन में मार्मिक वचन रह-रहकर पीड़ा पहुंचाते रहते हैं। इसलिए कबीर साहेब ने इसी प्रकरण की 301वीं साखी में कहा है "मधुर बचन है औषधी, कटुक वचन है तीर। श्रवण द्वार होय संचरे, सालै सकल शरीर॥" किसी अन्य ने कहा है "बचन बाण मत मारिये, बरु सिर लेहु उतार। सज्जन दुख अपने सहैं, औरों को उपकार॥" हर मनुष्य किसी-न-किसी के वचन-बाण से बिंधता रहता है और उसके कुछ अवसर ऐसे होते हैं जिनमें उसे वाक्-बाणों से काफी पीड़ित होना पड़ता है। वे वाक्-बाण उसे बहुत दिनों तक याद हो-होकर पीड़ित करते रहते हैं। मनुष्य को जितना वाणियों से आहत एवं घायल देखा जाता है उतना तीर-तलवार से नहीं।

सद्‌गुरु कहते हैं कि ये साधारण ज्ञान से निकलने वाले नहीं हैं। इसके लिए चुम्बकीय ज्ञान चाहिए। देखा जाता है कि अच्छे-अच्छे लोग वाक्-बाण से पीड़ित होकर अस्त-व्यस्त रहते हैं। वे वर्षों पुरानी किसी की कही हुई मार्मिक बातें याद कर असंतुष्ट हो जाते हैं। सद्‌गुरु कहते हैं कि ये साधारण ज्ञान से नहीं, चुम्बकीय ज्ञान से निकलेंगी। वस्तुतः गहरा विवेक ही चुम्बकीय ज्ञान है। जब हमारी परख-शक्ति प्रबल होती है, तब हम अपने ऊपर घटने वाली सारी बातों का समाधान कर लेते हैं। हम यहां इसके विषय में थोड़ा समाधान सोचें।

पहली बात, जिसे हमने अपने लिए बहुत मार्मिक वचन मान लिया है, हो सकता है उसे कहने वाले ने इतनी गहराई से न लिया हो और इसके मूल में उसका मन इतना खराब न हो जितना हम उसके लिए सोचते हैं। दूसरी बात, हो सकता है उसने इसे कहने के बाद अपनी भूल का अनुभव किया हो, इसके लिए उसके मन में काफी ग्लानि हो और अब उसका मन शुद्ध हो तथा उसके मन में हमारे प्रति अच्छी धारणा हो गयी हो। तीसरी बात, किसी की उत्तेजना में कही हुई बात को यदि हम अपने मन में स्थान देते हैं तो इससे

हमारी ही नासमझी सिद्ध होती है। चौथी बात, हमें अपने आप को इतना बड़ा नहीं मान लेना चाहिए कि हमें कोई कुछ कहे ही नहीं। पांचवीं बात, हमें अपने पुत्र, शिष्य एवं पद में अन्य छोटे लोगों से भी अपने लिए लम्बी आशा नहीं रखना चाहिए। वे अपने कर्तव्य जानें, हमें केवल अपने कर्तव्यों पर ध्यान देना चाहिए। छठीं बात, सारे शब्द हवा के झोंकें हैं। हमें दूसरों की बातों पर न ध्यान देकर अपने आप का निरीक्षण करना चाहिए। सातवीं बात, हमें हर हालत में अपने मन को शांत रखना है। इन स्वप्नवत बातों में उलझने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। इन-जैसी अन्य युक्तियों को सोचकर मन में गहरा विवेक पैदा करना चाहिए और अपने मन से सभी ऐसी बातों को निकाल देना चाहिए जिनसे दुख हो। चुम्बकीय-ज्ञान विवेकज्ञान है, रहनी का ज्ञान है। अनेक प्रकार की बातें ही तो मन में धंसकर उलझनों का कारण बनती हैं। उनको मन से निकालने के लिए केवल विवेकज्ञान एवं चित्त की निरख-परख ही है।

दूसरी बातें होती हैं आध्यात्मिक एवं धार्मिक भ्रांतियों की। भूत-प्रेत, जादू-मंत्र, तंत्र, देवी-देवता, परोक्ष कर्ता-धर्ता, चमत्कार एवं नाना अंधविश्वासों की; जो धर्मग्रन्थों एवं नाना मतों के गुरुओं द्वारा युग-युगों से फैलायी गयी हैं। ये सारी बातें मनुष्य के दिल में धंसकर बैठ गयी हैं। ये साधारण ज्ञान से निकलने वाली नहीं हैं। इनको निकालने के लिए चुम्बकीय-ज्ञान चाहिए। पारखज्ञान के बिना इनका निकलना असंभव है। अतएव हमें पारखी संतों-भक्तों का सत्संग करते हुए हर बात में नीर-क्षीर विवेक करना चाहिए।

आरामतलबी साधना-पथ का नाशक

आगे सीढ़ी साँकरी, पीछे चकनाचूर॥
परदा तर की सुन्दरी, रही धका से दूर॥ 86॥

शब्दार्थ—परदा=अविद्यारूपी आवरण। सुन्दरी=विषयासक्त। धका= किनारा, तट, कल्याणपथ।

भावार्थ—कोई बहुत ऊंची जगह पर चढ़ गया हो, परंतु वहां से और भी ऊंची जगह पर चढ़ना हो और ऊंचे पर जाने के लिए आगे सीढ़ी बहुत संकरी तथा खड़ी हो। नीचे जितना पार कर आया हो वह भी बहुत गहरा हो। ऐसी अवस्था में धैर्यहीन यात्री की स्थिति बड़ी कायरतापूर्वक हो जाती है। वह ऊपर देखता है तो सीढ़ी बहुत संकरी तथा खड़ी है, उस पर चढ़ने की हिमम्त नहीं हो रही है और पीछे देखता है तो बहुत गहरा है, उसे देखकर मन चकनाचूर हो जाता है। अतः वह कायरतापूर्वक बैठ जाता है। इसी प्रकार

कोई परदे के भीतर रहने वाली सुकुमारी सुन्दरी नारी हो, वह नावका पर समुद्र की यात्रा कर रही हो, बीच में झंझावात आने से उसे धूप और हवा सहन न होती हो, इसीलिए वह बीच ही में से अपनी यात्रा स्थगित कर किनारे से दूर मझधार में ही लंगर डालकर बैठ गयी हो, तो उसकी दशा भी दयनीय हो जाती है।

विषयासक्त, सुखाध्यासी एवं आरामतलब लोगों की यही दशा है। कुछ शुद्ध संस्कार होने से मनुष्य कल्याण-पथ में चल पड़ा। परन्तु उसे कुछ चलकर आगे का मार्ग कठिन दिखा और पीछे संसार में विषयासक्तिजनित दुख देखता है, तो उसका मन चकनाचूर हो जाता है। इस प्रकार वह परदातर की सुन्दरी बनकर अर्थात आसक्ति को जीवन-प्राण मानकर बीच धारा में ही पड़ा रह गया, कल्याण-तट पर नहीं लगा॥ 86 ॥

व्याख्या—ऐसे कुछ लोग होते हैं जिनके मन में कुछ शुद्ध संस्कार होते हैं और अध्यात्म की ऊंची चोटी पर चढ़ने का उत्साह होता है। वे कुछ चल पड़ते हैं। चलने के बाद उन्हें कठिन लगता है। ऊपर चढ़ना उन्हें संकरी सीढ़ी पर चढ़ने से भी दुर्गम लगता है और जब वे संसार की तरफ देखते हैं तब उसके दुख से भी उनका मन पीड़ित होता है। वे अपने आप को ऊपर चढ़ने में असमर्थ पाते हैं, परन्तु सांसारिकता के भावी परिणाम को देखते हुए विषयासक्तिजनित दुख से भी उनका मन भयाक्रांत होता है। किन्तु ऐसे कायर-कुपूत लोग क्या कर सकते हैं ! परदातर की सुन्दरी बनकर कोई क्या करेगा ! तथाकथित बड़े घराने की नारियां परदे के भीतर रहती हैं। यदि उनको प्यास लगी हो और कोई पानी लाकर देने वाला न हो तो वे परदे से निकलकर स्वयं पानी लेने नहीं जातीं। प्यासी घर में बैठी रहेंगी, परन्तु परदे से निकलकर पानी नहीं लेना चाहेंगी। इस प्रकार परदा-प्रथा के कुप्रचलन के घेरे में पड़ी जहां नारियां निष्क्रिय बनी हैं, वहां मानो समाज के आधे अंग को लकवा मार गया है। अतएव नारियों को भी चाहिए कि वे परदे से निकलकर अपने विकास के हर क्षेत्र में हाथ बटाएं।

जो साधक परदातर की सुन्दरी बनते हैं वे व्यवहार की उन्नति भी नहीं कर सकते, परमार्थ की तो बात ही दूर है। कितने लोग देखादेखी घर छोड़कर साधु बनने चलते हैं; परन्तु संतों में जाकर वे सेवा का काम करने से कतराते हैं। हर जगह कर्मों से ही जीवन सुन्दर बनता है। यदि कोई झाड़ू न लगाये तो घर-द्वार गंदा रहेगा। दातौन तथा मंजन करने से दांत साफ रहते हैं। शरीर और कपड़े धोने से उनमें स्वच्छता रहती है। लीपने-पोतने, धोने-मांजने से घर तथा बरतन साफ रहते हैं। काम करने से रोटी पेट में जाती है। कर्मठ व्यक्ति ही भव का भूषण है। निकम्मा आदमी परिवार एवं समाज का कोढ़

है। परन्तु कुछ लोग निकम्मापन को मोक्ष-साधना समझते हैं। निकम्मे लोग खाने-पीने, वस्त्र-आसन, पूजा-सम्मान लेने में आगे रहते हैं, परन्तु सेवा करने में सदैव पीछे। जो व्यक्ति स्वादासक्त है, जीभ का चटोर है, स्वार्थ में चंट, अभिमानी तथा आलसी है वह साधना क्या खाक करेगा! वह तो गृहस्थी में रहकर भी उन्नतिहीन रहेगा।

साधक के अंग सेवा करने के लिए फड़कते रहना चाहिए। भोजन, वस्त्र, आसन, आवास आदि स्वार्थ में पीछे रहना चाहिए। इन्हें प्रलोभनरहित केवल गुजर के लिए लेना चाहिए। भोगों का कड़ाई से त्याग करना चाहिए और जीवन में कठिनाई सहने का अभ्यास करना चाहिए। जो एक सैनिक की तरह सतर्क, श्रमशील, स्वावलंबी नहीं होगा, वह साधना के मार्ग में आगे नहीं बढ़ सकता। साधक को अत्यन्त निर्मान होना चाहिए। जो संतों की चरण-रज नहीं बन सकता वह साधक नहीं बन सकता। सद्‌गुरु ने साखी ग्रन्थ में साधकों के लिए कहा है, "अब तो ऐसा होय रहे, पांव तले की धूलि।" तथा "नन्हा होय के पीव" कोई नन्हा शिशु होकर ही माता का दूध पी सकता है। जवान होकर नहीं। यदि जीवन में कुछ पाना है तो दासातन तथा सेवा करने की महती आवश्यकता है।

इस साखी का सार यही है कि कुछ साधक भले सांसारिकता में अपना पतन देखते हैं, परन्तु वे आगे साधना में बढ़ने की हिम्मत भी नहीं रखते; क्योंकि वे इन्द्रिय-सुख के कीड़े तथा आरामतलब हैं। साधक को इन कमजोरियों से हटकर त्याग, वैराग्य, सेवा, श्रम, भक्ति एवं साधना में जुट जाना चाहिए।

हम अपने आप में, भूलवश पराये बने हैं

संसारी समय बिचारी, कोइ ग्रेही कोइ जोग॥
औसर मारे जात है, तैं चेत बिराने लोग॥ 87॥

शब्दार्थ—संसारी=दुनियादारी में डूबे लोग। मारे=व्यर्थ। बिराने लोग= पराये लोग, जिसका अपना आपा भूलवश पराया-सा हो गया हो।

भावार्थ—संसार के लोगों पर जब समय की मार पड़ती है अर्थात जब उन्हें कोई ज्यादा कष्ट होता है, तब वे विचार में पड़ जाते हैं, और सोचने लगते हैं कि हम चाहते हैं सुख, परंतु मिलता है दुख। तो निश्चित ही हमें सुख और दुख देने वाला कोई दूसरा है। अतएव ऐसा सोचकर उनमें से कोई तो गृहस्थी में रहकर ही कीर्तन-भजन, अर्चन-वन्दन एवं नवधा-भक्ति आदि करने लगता है, और कोई घर छोड़कर योगी-संन्यासी होकर तप-ध्यान आदि द्वारा उसे खोजने लगता है। सद्‌गुरु कहते हैं कि तेरे सुनहले अवसर व्यर्थ

समाप्त हो रहे हैं, तू अपने घर में रहते हुए भी पराये बने हुए के समान अपने उच्चतम चेतनस्वरूप से बे-भान बना है। हे मानव! सावधान हो जा!॥ 87॥

व्याख्या—आदमी अपनी विवशताओं के मूल में अपने कर्मों के फल तथा विश्वसत्ता के नियमों को नहीं देखता, किन्तु भावुकतापूर्वक कोप और कृपा के गुणों से बने हुए किसी सर्वसमर्थ देव को देखता है, जो उसके ख्याल से सबसे ऊपर बैठा उसे झांक रहा है। वह अपने कर्मों एवं प्रकृति के नियमों को न समझकर अपने सुख-दुख दाता के रूप में एक व्यक्ति-ईश्वर की कल्पना कर लेता है। तब फिर वह यह सोचता है कि उसे पूजा, प्रार्थना तथा ध्यान-आराधना से खुश किया जा सके तो वह मेरे ऊपर कोप करना छोड़ देगा और मुझे राहत देने लगेगा; और जब मेरी भक्ति से पूर्ण संतुष्ट हो जायेगा तब मुझे मोक्ष दे देगा, अपने आनन्दधाम में बुला लेगा आदि।

कहना न होगा कि ऐसा कोई देव नहीं है जिसकी पूजा-प्रार्थना करके हम उसके द्वारा निर्विघ्न सुख-शांति की गारंटी पा सकें। हमें दुखों से मुक्त होने के लिए तात्त्विक विवेक प्राप्त करना चाहिए। सच्ची समझ से ही दुख मिट सकते हैं। इसके लिए दो बातों को समझ लेना चाहिए। पहली बात अपने कर्मों के परिणाम तथा दूसरी बात प्रकृति के नियम। हम पहली बात को लें। हमने जो कुछ कर्म किये हैं वे चाहे पहले जन्म के हों या इस जन्म के, उनके फल भोगने पड़ेंगे। वे टल नहीं सकते। हजार ईश्वर मिलकर कर्म-फल-भोग मिटा नहीं सकते। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, राम, कृष्ण सबको अपने कर्म-फल-भोग भोगने पड़े। भावुक लोग कहते हैं कि ईश्वर राम तथा कृष्ण बनकर धरती पर आया था; परन्तु आप रामायण पढ़कर जानते हैं कि अपने कर्म-फल-भोग के चक्कर में राम बेचारे जीवनभर रोते रहे। कृष्ण को रोने की आदत नहीं थी, परन्तु अपने कर्म-फल-भोग उनको भी भोगने पड़े। पहले उन्नति तथा अन्त में अवनति के दिन उन्हें भी देखने पड़े। जो कुछ जीव ने कर रखा है उसे उसके फल पाने हैं। अतः उसे अपने कर्मों का सुधार करना चाहिए।

दूसरी बात है विश्व के एवं प्रकृति के शाश्वत नियम। उन्हें कोई टाल नहीं सकता। शरीर जड़ तत्त्वों के कणों के जोड़ से बना है, तो उसमें परिवर्तन एवं बिखराव होगा ही। जब शरीर एक दिन जन्मा है तो एक दिन मरेगा ही। परिवार तथा समाज के लोग एवं मित्रजन एक-एक दिन मिले हैं तो उनका एक-एक दिन बिछुड़ जाना स्वाभाविक है। प्रकृति का नियम ही है परिवर्तन, तो उसे रोककर स्थायी कौन कर सकता है! तथाकथित ईश्वर भी नहीं कर सकता। ऐसी अवस्था में संसार के प्राणी-पदार्थों पर अपनी स्ववशता बनाये

रखने का व्यामोह छोड़ देना चाहिए। चाहे आदमी गृहस्थी में रहे और चाहे साधु-संन्यासी बन जाये, उसे केवल पूजा-प्रार्थना एवं ध्यान में किसी ईश्वर को खोजने से ज्यादा लाभ मिलने वाला नहीं है। इन सबसे एक सात्त्विक मनोरंजन एवं प्रसन्नता मिल सकती है, किन्तु स्थायी दुखों का अन्त नहीं हो सकता।

सद्‌गुरु ने इस साखी की दूसरी पंक्ति में बहुत महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं "औसर मारे जात है, तैं चेत बिराने लोग।" सद्‌गुरु कहते हैं कि मनुष्य के सुनहले अवसर कल्पित देवी-देवताओं की पूजा-प्रार्थना एवं कर्मकांड के पचड़े में ही बीतते जा रहे हैं। मनुष्य अपनी अवधारणा से बनाये हुए किसी बाहरी ईश्वर की खोज में अपने रत्न समय को खो रहा है। इसके आगे कबीर देव इस साखी की सर्वाधिक मार्मिक बातें कहते हैं—"तैं चेत बिराने लोग"। बिराने लोग का अर्थ है पराये लोग, बेगाना आदमी। जैसे कोई अपने घर में रहते हुए भी अपनी गलती से पराये की तरह रहता हो, और परिवार वाले उसका स्वागत न करते हों; वैसे यह जीव अपने आप में मूलतः अजर, अमर, अखंड, पूर्णकाम, पूर्णतृप्त एवं कल्याणस्वरूप है, परन्तु अपने स्वरूप की भूल से पराया बना है। अपना आपा ही अपने लिए पराया बन गया। जैसे कोई बादशाह अपने शत्रु द्वारा अपने ही राजभवन में कैद कर दिया गया हो, वैसे यह जीव अपने आप दुखरहित एवं परम शांत होते हुए भूलवश अत्यन्त दुखी बन गया है। अथवा यह अपने साधन-धाम मानव शरीर में रहते हुए भी भूलवश बंधनों में उलझ गया है। शरीर, मन, प्राणी, पदार्थ आदि जो हमारे कल्याण के साधन बन सकते थे, वे ही हमारे भूलवश हमारे लिए बंधन के कारण बन गये हैं। हम भूलवश स्वयं अपने आप के शत्रु बन गये।

सद्‌गुरु कहते हैं कि हे बेगाना जीव ! चेत, हे अपने आपा के महत्त्व को न समझने वाला जीव ! सावधान हो जा ! तू अपने आप के कल्याण का कर्ता और विधाता है ! तू स्वयं पूर्णकाम एवं पूर्णतृप्त है !

संशय-सागर से पार होओ

संशय सब जग खण्डिया, संशय खण्डे न कोय॥
संशय खण्डे सो जना, जो शब्द विवेकी होय॥ ४४॥

शब्दार्थ—संशय=अनिश्चय, संदेह। खण्डिया=नष्ट किया।

भावार्थ—संदेह और अनिश्चय ने संसार के सारे मनुष्यों के मन को उलझा दिया है; किन्तु संदेह एवं अनिश्चय का नाश किसी ने नहीं किया। इनका नाश वही करता है, जो शब्दों का विवेकी होता है॥ ४४॥

व्याख्या—संशय, सन्देह, अनिश्चय मनुष्य के मन की बहुत बड़ी कमजोरी है। आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक तीनों क्षेत्रों में

मनुष्य संशयग्रसित रहता है। हम पहले आधिभौतिक (प्राणी) क्षेत्र की बातें लें। पत्नी यदि किसी दूसरे पुरुष से हंसकर बातें कर ले तो पति के मन में संशय होने लगता है कि इसका मन पर-पुरुष में तो नहीं विचलित है ! यदि पति थोड़ी देर रात में घर लौटा और कारणवश यह घटना कई दिनों तक हुई तो पत्नी का मन अपने पति के लिए शंकालु हो जाता है कि यह कहीं परायी-स्त्री में तो नहीं लग रहा है ! माता-पिता अपने युवक लड़के पर सन्देह करने लगते हैं कि यह अपनी पत्नी के अधीन तो नहीं होता जा रहा है। बुढ़ापा में हमारी सेवा करेगा भी कि नहीं ! लड़के माता-पिता के प्रति संदेह करने लगते हैं कि इन्होंने अपना धन हमसे छिपाकर तो नहीं रखा है ! भाई पर सन्देह होने लगता है कि यह हमें बेवकूफ बनाता होगा। मित्र पर, पड़ोसी पर सन्देह होता है। दुकानदार पर हमें सन्देह होता ही है कि यह हमें ठग रहा होगा। आदमी मिथ्या स्वार्थ की पूर्ति के लिए इतना चालाक हो गया है कि उसका अपना ही छली मन हर जगह प्रतिबिम्बित होता रहता है। ऐसा भी अवसर आता है कि हमें लोग छलते हैं, परन्तु अधिक तो हमारे मन की कमजोरी होती है और हम कौए की तरह सब पर सन्देह करते रहते हैं। जिसका मन जितना ही अनैतिक होता है उसका मन उतना ही सब पर सन्देह करने वाला होता है। यह सन्देह ऐसा घुन है कि अन्दर-अन्दर चालकर व्यवहार को खराब कर देता है। कितने ही परिवार तथा समाज आपसी सन्देह एवं संशय के कारण एक-दूसरे पर अविश्वास करके अपना पतन कर लेते हैं। परस्पर विश्वास उन्नति का कारण है और अविश्वास पतन का। हेनरी फोर्ड ने लिखा है—"साथ-साथ मिलना प्रारंभ है, साथ-साथ बने रहना प्रगति है और साथ-साथ काम करना सफलता है।" परन्तु यह सब तभी सम्भव है जब एक दूसरे के प्रति विश्वास हो। विवेकवान संशय दूर करके अपने मन को स्वस्थ रखता है। इसका मतलब यह नहीं है कि वह अपरिचितों से भी सावधान नहीं होता। वह सावधानी की जगह पर सावधान रहता है; परन्तु उसके मन में सन्देह के घुन नहीं होते। इसलिए उसके परिवार या समाज का आपसी व्यवहार विश्वसनीय, मधुर एवं दृढ़ होता है। विवेकी मनुष्य आपसी व्यवहार में कभी थोड़ा ऊंचा-नीचा हो जाने पर एक दूसरे पर सन्देह नहीं करते, किन्तु वे समझते हैं कि यह मनुष्य की स्वभावजनित भूल है। विवेकी मनुष्य आपस में प्रेम एवं विश्वास को दृढ़ रखते हैं।

कई बार मनुष्य संशय करता है कि अमुक लोग हमें गिराना चाहते हैं; परन्तु जांच करने पर ऐसी बात नहीं रहती। कई बार आदमी सोचता है कि मैं अमुक जगह जाऊंगा तो अमुक-अमुक लोग मेरा विरोध करेंगे। परन्तु वास्तविकता यह होती है कि वे उसका आदर करते हैं। परिवार में, समाज में, पड़ोस में या जहां तक संशय एवं सन्देह का रोग है, सब इसी प्रकार ज्यादातर

भ्रमजनित है। यदि लोगों को थोड़ा-मोड़ा विरोध होता भी है तो मिलने पर वह समाप्त हो जाता है या कम हो जाता है। इसलिए विवेकवान का कर्तव्य है कि वह अपने मन को सन्देहरहित स्वस्थ रखे।

दूसरा आधिदैविक संशय होता है। पृथ्वी, चांद, सूरज, नक्षत्र आदि को किसने बनाया होगा; वर्षा, शीत, गरमी, छह ऋतुओं का परिवर्तन कैसे होता है; यह सृष्टि कौन चलाता है, इत्यादि संशय एवं अनिश्चय हैं। विवेकवान समझता है कि पृथ्वी, सूरज, चन्द्रमा तथा असंख्य तारे जड़-प्रकृति के खेल हैं। ये सब जड़-प्रकृति की स्वाभाविक रचना है। जड़तत्त्वों में अपने अन्तर्निहित गुण, धर्म, क्रियादि हैं। उन्हीं से जड़ात्मक सृष्टि स्वयमेव चलती है। वर्षा, गरमी, शीत, भूचाल, ज्वालामुखी, वनस्पति आदि सब का होना-जाना जड़-प्रकृति के गुण-धर्मों से अपने आप है। इधर असंख्य जीव अपने कर्म-संस्कारों के अधीन शरीर धरते-छोड़ते तथा कर्म-फल-भोग भोगते हैं। मनुष्य वासनाओं का त्यागकर इसी जीवन में कृतार्थ भी हो जाता है। मनुष्य के ऊपर कोई भूत-प्रेत, देवी-देवता, कर्ता-धर्ता नहीं है जो उसका किसी प्रकार हानि-लाभ कर सके। इस प्रकार विवेकवान इन सबके विषय में निस्सन्देह होता है।

तीसरा आध्यात्मिक संशय होता है। मनुष्य सोचता है कि मैं किसी का अंश हूं या स्वतः अविनाशी हूं! मुझे कोई भगवान या शैतान लाभ-हानि पहुंचाने वाला है कि हमारे शुभाशुभकर्म ही हैं ! हम भक्ति, वैराग्य तथा ज्ञान के पथ पर चलकर इसी जीवन में कल्याण प्राप्त कर सकते हैं कि नहीं ! ऐसे-ऐसे अनेक अनिश्चय, संशय एवं सन्देह होते हैं। विवेकवान समझता है कि हमारी अपनी आत्मा न किसी का अंश है न अंशी, न व्याप्य है न व्यापक, किन्तु सबका साक्षी शुद्ध स्वरूप अविनाशी चेतन है। हमारे अपने अज्ञान तथा ज्ञान ही बंधन-मोक्ष के कारण हैं। हम इसी जीवन में अपने आप का कल्याण कर सकते हैं। इस प्रकार विवेकवान अपने कल्याण के लिए स्वयं को किसी देवी-देवता पर निर्भर नहीं करता। वह समझता है कि हमारा कल्याण हमारे सन्मार्ग का फल है। उसमें सहयोगी विवेकवान संत-सद्गुरु हैं। सद्गुरु ने इस साखी में बताया है कि जो शब्दों का विवेकी होता है, वह निस्सन्देह बोधवान होता है। लोग शब्दों के जाल में उलझे हैं। जिसने शब्दों की परीक्षा कर ली है और जो जड़-चेतन की वास्तविकता के अनुसार ही शब्दों को मान्यता या अमान्यता देता है, वह शब्दों के जाल में नहीं भटकता। "आकाश से महान दैत्य केवल इसलिए नहीं उतरते कि कोई आप्त या योग्य पुरुष ऐसा कहता है। मैं तथा तुम्हारे-जैसे अन्य पुरुष केवल ऐसे ही कथनों

को स्वीकार करते हैं जिनका समर्थन तर्क द्वारा हो सके।"[1] भामतीकार वाचस्पति मिश्र भी कहते हैं—"हजारों वेद-वचन घड़े को कपड़ा नहीं बना सकते।"[2]

"संशय खण्डे सो जना, जो शब्द विवेकी होय।" जो शब्दों का विवेकी होता है वह संशय का खण्डन करता है। विवेकी पुरुष कहे हुए शब्दों से सत्ता को नहीं तौलता है, किन्तु सत्ता से शब्दों को तौलता है। कहीं किसी ने शब्द कहे हैं या लिखे हैं इसलिए संसार उसके अनुसार नहीं होता, किन्तु संसार जैसा है उसके अनुसार ही कहे हुए या लिखे हुए शब्द मान्य हो सकते हैं। राजा सगर की पत्नी को एक साथ साठ हजार बच्चे पैदा हो गये ऐसा पुराणों में लिखा है इसलिए ऐसा हुआ होगा, ऐसा विवेकी नहीं मानता, किन्तु संसार में ऐसा नहीं होता, इसलिए यह पुराण का शब्द ही गलत है। भरत चित्रकूट के तीर्थों के दर्शन में नंगे पैर चलते हैं, इसलिए पृथ्वी ने अपने आप को कोमल बना लिया, ऐसा गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा है इसलिए यह बात सत्य नहीं हो सकती, बल्कि संसार में ऐसा नहीं होता चाहे जितना बड़ा ज्ञानी या भक्त पैदल चलता हो, जहां की पृथ्वी जैसी है वैसी ही रहती है, इसलिए गोस्वामी जी का यह कथन उनकी केवल भावुकता है। किसी के लिख या कह देने से जड़-चेतनात्मक सत्ता वैसी हो नहीं जाती; किन्तु जड़-चेतन की जैसी सत्ता है, जैसे उनके गुण-धर्म हैं वैसे लिखने तथा कहने से वे शब्द प्रामाणिक माने जाते हैं। यदि विश्वसत्ता तथा उनके नियमों के विरुद्ध शब्द हैं तो वे चाहे किसी शास्त्र के या महापुरुष के हों, विवेकियों के लिए मान्य नहीं हो सकते।

बातें समझने के बाद मानो

बोलन है बहु भाँति का, तेरे नैनन किछउ न सूझ॥
कहहिं कबीर बिचारि के, तैं घट घट बानी बूझ॥ 89॥

शब्दार्थ—बोलन=वाणी, बातें, शब्द। घट-घट=हर दिल, प्रत्येक अन्तःकरण।

भावार्थ—संसार में बातें बहुत प्रकार की होती हैं। तेरे भीतर के नेत्रों से तो कुछ सूझता नहीं है, तू सभी बातों को आंख मूंदकर मान लेता है। सद्गुरु कहते हैं कि हे मानव ! तू सबकी जुबानों से निकली हुई बातों को परखकर समझने का प्रयत्न कर॥ 89॥

---

1. न ह्याप्तवचनान्नभसो निपतन्ति महासुरा।
युक्तिमदवचनं ग्राह्यं मयाऽन्यैश्च भवद्विधै॥ अनिरुद्धवृत्ति, 1/26॥
2. न ह्यागमाः सहस्रमपि घटं पटयितुम् ईष्टे॥ भामती॥

व्याख्या—कबीर साहेब वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाले सन्त पुरुष हैं। वे शास्त्र-प्रमाण एवं आप्त-वचन के नाम पर शब्दों को आंख मूंदकर मानने को अस्वीकार करते है। पुराकाल में महर्षि कपिल ने शब्दों की छान-बीन करके मानने तथा न मानने की राय दी थी। आंख मूंदकर शब्द मान लेना चाहिए इसके वे घोर विरोधी थे। महर्षि कणाद तथा महात्मा बुद्ध ने शब्द को प्रमाण कोटि में रखा ही नहीं। इसलिए शब्द प्रमाण से अपने सिद्धांत को जिलाने वाले वेदांती इनसे नाखुश थे। बीच-बीच में तो जाने-अनजाने में सबके मुख तथा लेखनी से यह बात निकल जाती है कि नीर-क्षीर विवेक करना चाहिए। कबीर तो मानो क्रांति के सुगठित व्यक्तित्व ही थे। वे उक्त साखी में बहुत बड़ी क्रांति की बात कह देते हैं।

वे कहते हैं—"बोलन है बहु भाँति का" अर्थात संसार में बोलना, बात, वाणी, शब्द, लेख बहुत प्रकार के हैं। अच्छे-अच्छे प्रसिद्ध ऋषि-मुनियों, संत-महात्माओं, कवि-लेखकों एवं पीर-पैगम्बरों के नाम पर ऐसी-ऐसी बातें लिखी मिलती हैं जिनका विश्वसत्ता एवं प्रकृति के शाश्वत नियमों से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है, परन्तु उन बातों को धार्मिकों द्वारा आप्त-वचन एवं शास्त्र-वचन के नाम पर जनता के गले उतारने का प्रयत्न किया जाता है और जो उन पर विचार करना चाहता है उसे नास्तिक, काफिर एवं अपवित्र होने का करार दिया जाता है। किन्तु कोई बात इसलिए सत नहीं हो सकती है कि वह किसी बड़े नाम के पुरुष या बड़े नाम के शास्त्र से जुड़ी है। वह तब सत हो सकती है जब वह विश्वसत्ता एवं प्रकृति के शाश्वत नियमों के अनुकूल हो। किसी शास्त्र में लिखे होने के नाते उन शब्दों के अनुसार विश्वसत्ता एवं प्रकृति के नियम नहीं हो जाते, किन्तु विश्वसत्ता एवं प्रकृति के शाश्वत नियमों के अनुसार यदि शब्द हैं तो प्रामाणिक होते हैं, अन्यथा वे मनगढ़ंत हैं। कहीं लिखा है कि हनुमान जी सूरज को निगल गये तो इस लेख के नाते यह प्रकृति में घटना नहीं बन सकती। सूरज पृथ्वी से तेरह लाख गुना बड़ा दहकता हुआ आग का पिंड है। उसे किसी व्यक्ति द्वारा निगल जाने की बात बाल-विनोद के अलावा कुछ नहीं है। हनुमान जी शत योजन अर्थात करीब बारह सौ किलोमीटर समुद्र का पाट कूद गये और उसके बाद केवल पांच दिनों में समुद्र पर सौ योजन लम्बा तथा दस योजन चौड़ा अर्थात लगभग बारह सौ किलोमीटर लम्बा तथा एक सौ बीस किलोमीटर चौड़ा पत्थर का पुल बन गया।[1] यह

1. वाल्मीकीय रामायण, युद्धकांड, सर्ग 22, श्लोक 68 से 76।

सब काव्य के अद्भुत-रस के अलावा कुछ नहीं है। कबीर साहेब ने मुरदे को जिला दिया, जगन्नाथ में समुद्र को रोक दिया, टूटी चौकी तथा पत्थर के जांत को अपनी आज्ञा मात्र से चला दिया, भैंसे से वेद-मंत्र का पाठ करवा दिया, आदि-जैसी बातें सोलहों आने झूठी हैं और कबीर साहेब के खरे ज्ञान के विपरीत हैं। आज राम, कृष्ण, हनुमान, कबीर, ईसा आदि महापुरुष आ जायें तो वे अपने-अपने अनुयायियों को उनके झूठे प्रचार पर उन्हें खूब फटकारेंगे। अधिकतम धर्म वाले महिमा के नाम पर झूठ बोलने में डरते ही नहीं। वे एक तरफ कहते हैं कि सत्य के समान दूसरा धर्म नहीं और दूसरी तरफ वे गला फाड़-फाड़कर झूठ बोलते तथा लिखते हैं।

कबीर साहेब कहते हैं "तेरे नैनन किछउ न सूझ" हे मानव ! तेरे नेत्रों से कुछ दिखाई नहीं देता। क्योंकि तू तथाकथित धार्मिकों द्वारा अंध श्रद्धा का उपदेश देकर अंधा बना दिया गया है। धर्मगुरुओं ने तेरी आंखों में अज्ञान की पट्टी बांध दी है। उन्होंने तुझे पशु बनाकर मूक होकर चलने की आज्ञा दी है और अब तू चूं भी नहीं कर सकता है। परन्तु तू समझ ले कि इस तरह विवेकहीन होकर न तुम्हें बौद्धिक संतोष मिलेगा न आत्मिक।

"कहहिं कबीर विचारि के, तैं घट-घट बानी बूझ।" सद्गुरु विचारकर कहते हैं कि तुम लोग सबकी बातों को समझने की चेष्टा करो, आंखें मूंदकर मानने की नहीं। हे सत्य के इच्छुको, तुम लोग सबकी बातों पर परख की कसौटी लगाओ। तर्कपूर्ण, युक्तियुत एवं विश्वसत्ता तथा प्रकृति के शाश्वत नियमों से मेल खाने वाले वचनों को ही मानो। बिना सिर-पैर की तथा अनर्गल बातों को दूर से ही त्याग दो।

सद्गुरु यह नहीं कहते कि तुम किसी की बातें न मानो या सबकी बातों की अवहेलना कर दो। वे तो कहते हैं "तैं घट-घट बानी बूझ" अर्थात सबके घट से निकली वाणियों को बूझने की चेष्टा करो। उन्हें अच्छी तरह समझ लो कि उनकी वास्तविकता क्या है ! इसके बाद जो त्यागने योग्य है त्याग दो और जो ग्रहण करने योग्य है ग्रहण करो।

हम इस साखी का भाव सामान्य व्यवहार के अर्थों में भी ले सकते हैं। "बोलन है बहु भाँति का" संसार के लोगों की बातें अनेक प्रकार से कही जाती हैं। जब तुमसे कोई आदमी मिले और वह अपनी बातें कहे, तब तुम उसकी बातों को समझने की चेष्टा करो। किसी सही आदमी को धोखेबाज समझकर तुम कहीं उसकी अवहेलना न कर दो, और कहीं किसी धोखेबाज आदमी की चिकनी-चुपड़ी बातों में आकर अपने आप को ठगा न दो। ऐसा कई बार होता है कि हम असली आदमी पर भी शंका कर लेते हैं, उसके

साथ न्याय नहीं कर पाते और कई बार एकदम धोखेबाज की मोहक बातों में फंसकर अपने आप को ठगा देते हैं। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि तुम घट-घट से निकली बातों को समझने की चेष्टा करना। सावधान रहना। कहीं ठगाना नहीं।

मन से ऊपर उठकर, स्वरूप में स्थित होओ

मूल गहे ते काम है, मैं मत भरम भुलाव॥
मन सायर मनसा लहरि, बहै कतहुँ मत जाव॥ 90॥

शब्दार्थ—मूल=वस्तुतत्त्व, निजस्वरूप। सायर=समुद्र। मनसा=इच्छा। लहरि=तरंग।

भावार्थ—निजस्वरूप का बोध एवं स्थिति ग्रहण करने से ही कल्याण है। हे मानव! तू नाना वाणियों एवं मान्यताओं के भ्रम में पड़कर अपने स्वरूप को मत भूल। मन समुद्र है और उसकी इच्छाएं तरंगें हैं, उनमें बहकर कहीं मत जा!॥ 90॥

व्याख्या—सद्गुरु ने इस साखी में सम्पूर्ण अध्यात्म का सार कह दिया है। किसी भी विषय में एक सिद्धांत होता है और दूसरा व्यवहार, जिसको आज की भाषा में क्रमशः थ्योरी तथा प्रैक्टिकल कहा जाता है। इस साखी के 'मूल' शब्द में सिद्धांत की व्यंजना है और "मन सायर मनसा लहरि, बहै कतहुँ मत जाव।" में व्यवहार की व्यंजना है। कबीर देव कहते हैं—"मूल गहे ते काम है"। मूल है मनुष्य का अपना 'आपा' निजस्वरूप। मनुष्य का निजस्वरूप है चेतन। 'मैं हूं' ऐसा स्वीकार करने वाला जड़ नहीं होता, किन्तु चेतन होता है। मैं का लक्षण है ज्ञान। मैं ज्ञानस्वरूप हूं; बस, इस स्थिति में रहना ही अपने मूल स्वरूप में रहना है। किन्तु संसार में भ्रामक शब्दों का जोर है और स्वरूपज्ञान के शब्दों की अत्यन्त कमी, इसलिए मनुष्य भ्रांतियों की धारा में निरन्तर बहता रहता है। सद्गुरु कहते हैं—"तैं मत भरम भुलाव" जीव भ्रमित होकर ही अपने आप को भूलता है अथवा स्वयं स्वरूप की भूल के कारण ही बाहरी बातों में भ्रमित होता है। संसार में तो ऐसी वाणियों का अधिकतम जोर है कि जीव तुच्छ है, अंश है, प्रतिबिम्ब एवं आभास है, जीव कर ही क्या सकता है, वह तो प्रभु के अधीन है, जीव तो कठपुतली है, प्रभु सूत्रधार है, वह जैसा नचावे वैसा जीव नाचे। धर्म के अधिकतम ग्रंथों में मनुष्य के आपा को इतना कुचल दिया गया है कि उसके मन में यह भ्रम बैठ गया है कि हम स्वभावतः तुच्छ हैं। मनुष्य ने यह भ्रम कर लिया है कि हमें डुबाने तथा तारने वाला हमसे अलग कोई बैठा है। इस भ्रांति में पड़कर मनुष्य के मन में बर्फ का गोला जम गया है कि हम अपने आप का उद्धार

करने में समर्थ नहीं हैं। सद्गुरु कहते हैं—"तैं मत भरम भुलाव"। तू वाणी-जाल की भ्रांतियों में पड़कर अपने महत्त्व को मत भूल। तू महान समर्थ है। तू ईश्वर का ईश्वर है, परमात्मा का परमात्मा है और ब्रह्म का ब्रह्म है। ईश्वर, परमात्मा और ब्रह्म शब्द का उच्चारण तूने ही किया है। तूने अपने स्वरूप को भूलकर अपना मालिक अलग मान रखा है। तू अपने आप को तुच्छ मानने का भ्रम न कर। तू अपने आप को, अपने सत्य स्वरूप को, अपनी आत्मा को समझने का प्रयत्न कर। तू ज्ञानस्वरूप, अपने आप के उद्धार करने में पूर्ण समर्थ तथा स्वतः परमतृप्त स्वरूप है। तेरे लिए तू काफी है। तू अपनी सत्ता और महत्ता को समझ !

"मन सायर मनसा लहरि, बहै कतहुँ मत जाव।" मन समुद्र है, इच्छाएं तरंगें हैं। इनमें बहकर कहीं मत जाओ। बस, यही तो साधना है। आप जानते हैं कि समुद्र कितना विशाल होता है और उसमें कैसी असंख्य उत्ताल तरंगें होती हैं ! किन्तु लाखों साधारण-से-साधारण आदमी भी उसको जहाज द्वारा पार करते हैं। परन्तु इच्छा-तरंगों से भरे हुए मन-समुद्र को पार करने वाले कम लोग होते हैं। बाहर का समुद्र सब देखते हैं। उसकी उठती हुई तरंगें एवं ज्वार-भाटे सब देखते हैं, परन्तु मन का समुद्र बाहरी आंखों से देखने की चीज नहीं है। सबका अपना-अपना मन स्व-संवेद्य है। अर्थात हर व्यक्ति अपना मन स्वयं ही जान सकता है। इस मनरूपी समुद्र में न कोई गहराई है, न चौड़ाई है, न पानी है, न तरंगें हैं; परन्तु दूसरी दृष्टि से देखिए तो इसकी गहराई, चौड़ाई एवं विस्तार, इसका वासनारूपी पानी तथा इच्छारूपी ज्वार-भाटे इतने प्रबल हैं कि हर आदमी इन्हीं में रात-दिन बहकर भटक रहा है। सद्गुरु कहते हैं कि मन-समुद्र तथा इच्छा-तरंगों में बहकर कहीं मत जाना। भजन तथा साधना की यह कसौटी है कि साधक मन की तरंगों में न बहे।

जो संसार के भ्रम तथा भुलावे में नहीं पड़ेगा, जो अपने मूल स्वरूप को ग्रहण कर लेगा। अर्थात जो अपने चेतन-स्वरूप की सत्ता और महत्ता को समझकर अपने आप ही में निमग्न हो जायेगा, वह निश्चित ही मन-मनसा से पार हो जायेगा। श्री भर्तृहरि जी ने भी बहुत सुन्दर ढंग से कहा है—"आशा नाम की एक नदी है, जिसमें अनेक मनोरथों का जल भरा हुआ है, इसमें तृष्णा की तरंगें हैं, राग के ग्राह तथा द्वेष के विषैले पक्षी हैं। यह नदी धैर्यरूपी पेड़ को निरन्तर उखाड़ती है। इसमें मोह के भंवर हैं और चिंता के तट हैं। इसको पवित्र मन वाले योगी पुरुष पार कर जाते हैं।"[1]

---

1. आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरङ्गाकुला,
   रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी।

विषयी जीवन का अंत निराशा है

भँवर बिलम्बे बाग में, बहु फूलन की बास॥
ऐसे जीव बिलम्बे विषय में, अन्तहु चले निरास॥ 91॥

शब्दार्थ—भँवर=भ्रमर, जीव। बिलम्बे=बिलमे, भूले, आसक्त हुए।

भावार्थ—जैसे भौंरे बाग में बहुत फूलों की सुगंधी में भूल जाते हैं, वैसे जीव संसार के विषयों में आसक्त होकर अपने आप को भूल जाते हैं और अंत में उन्हें निराश होकर इस संसार से चले जाना पड़ता है॥ 91॥

व्याख्या—बागों में बहुत प्रकार के फूल होते हैं। भौंरे उनमें आकर उनका रस लेते हैं। वे उनमें इतना लीन हो जाते हैं कि कितने उनमें अपने प्राण भी गवां बैठते हैं। इसी प्रकार मनुष्य संसार के विविध विषयों में आसक्त होकर उनमें उलझ जाते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध ये पांच विषय हैं। इनमें ये जीव निरन्तर लीन रहते हैं। इनकी आसक्ति के कारण इन्हें अपने स्वरूप का स्मरण तक नहीं होता कि मैं कौन हूं, कहां आया हूं, कहां डूब गया हूं।

जवानी की चटक-चांदनी चार दिनों के लिए आती है। संसार के नर तथा नारी इसी क्षणिक चमक-दमक में भूल जाते हैं। आदमी बन्दर के समान अत्यन्त चंचल और विषयी हो जाता है। कितने युवक-युवती तो काम-भोग को इतना जीवन-प्राण मान लेते हैं कि थोड़े दिनों में वे अपने आप को परास्त कर देते हैं, और अनेक रोगों से ग्रसित होकर अल्पायु में ही काल के गाल में चले जाते हैं। कितने लोग इतने उन्मादी नहीं होते, परन्तु तो भी वे विषय-सेवन ही जीवन-लाभ मानते हैं। अज्ञानवश उन्हें जवानी, परिवार, धन, प्रभुत्व सब चिरंतन और सत्य दिखते हैं। वे रात-दिन इन्हीं में आसक्त रहते हैं। इनसे एक क्षण भी अपने मन को हटाकर अपने अविनाशी स्वरूप के शोध-बोध एवं साधु-संगत में नहीं लगाते। निरन्तर विषयों में क्षीण होते-होते उनके दिन बीत जाते हैं। थोड़े दिनों में जवानी की चमक चली जाती है। शरीर के ओज एवं गरमी क्षीण हो जाते हैं। पति-पत्नी का पारस्परिक आकर्षण समाप्त हो जाता है। जिन बच्चों के लिए मनोरम स्वप्न देखते थे, जिनसे लम्बी-लम्बी आशाएं करते थे, वे जवान हो-होकर तथा अपने बीवी-बच्चों, काम-धंधों एवं स्वार्थ में फंसकर नीरस हो जाते हैं। उनसे अपने मन की उम्मीदें क्षीण होने लगती हैं। जिन प्राणी-पदार्थों से महा आनन्द-रस की आशा थी, वे सब धोखा लगने लगते हैं। आदमी "अन्तहु चले निराश" अन्त

मोहावर्त्तसुदुस्तराऽतिगहना प्रोत्तुंगचिन्तातटी,
तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नंदन्ति योगीश्वराः॥ वैराग्य शतक, 42॥

में संसार से निराश होकर चल देता है।

यह मानव जीवन शूकर-कूकर, बन्दर तथा गौबरौले-कीड़े के समान मलिन भोगों में उलझे रहने के लिए नहीं है। यह विवेकसंपन्न भूमिका है। यहां जीव को अपने अविनाशी स्वरूप का शोधन करना चाहिए। इसे क्षणि भोगों में नहीं उलझाना चाहिए जिसका फल अन्त में निराशा है। हमें अविनाशी स्वरूपबोध में स्थित होना चाहिए जिसका परिणाम अनंत सुख एवं शांति है।

भंवरजाल तथा बगुजाल से सावधान

भँवरजाल बगुजाल है, बूड़े बहुत अचेत॥
कहहिं कबीर ते बाँचि हैं, जाके हृदय विवेक॥ 92॥

शब्दार्थ—भंवरजाल=सांसारिक झंझट, खानी जाल, मोटी माया। बगुजाल=वाणी जाल, भ्रममान्यताओं का जाल, झीनी माया। अचेत= असावधान, विवेकहीन।

भावार्थ—मोटी माया तथा झीनी माया के दो बहुत बड़े जाल हैं, इनमें बहुत-से लोग फंस जाते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि इनसे वही बचेगा जिसके हृदय में विवेक होगा॥ 92॥

व्याख्या—नदी के गहरे पानी में कहीं-कहीं भंवर होता है। भंवर का अर्थ है पानी का गोलाई में चक्कर काटना। इस चक्कर में जो प्राणी पड़ जाते हैं, वे उससे शीघ्र निकल नहीं पाते, अधिक तो डूब जाते हैं। काम-भोग तथा इसके लिए घर-गृहस्थी का शृंगार एवं सांसारिक झंझट और इनका मोह भंवरजाल है। यही मोटी माया है। यही खानीजाल है। जैसे पानी के भंवर में पड़ा हुआ मनुष्य घूम-घूमकर उसी में डूबता है, वैसे सांसारिक मोह-माया के भंवर में पड़ा हुआ जीव घूम-घूमकर उसी में डूबता है। कितने गृहस्थ लोग प्राय: कहते हैं कि क्या करें साहेब, संसार के भंवरजाल में ऐसा पड़ा हूं कि उसमें से निकल नहीं पाता हूं। प्राणी-पदार्थों का मोह ही भंवरजाल है। पानी के भंवर से बहुत लोग निकल जाते हैं, परन्तु मोह के भंवर से कोई बिरला ही निकलता है।

दूसरा बगुजाल है। बगला सफेद होता है। वह जलाशय के पास अर्धखुले नेत्र करके बैठता है, और कभी-कभी एक पैर उठाकर केवल एक पैर के बल पर ही बैठता है। मालूम होता है कि कोई बहुत बड़े सिद्धयोगी हैं और एक पैर के बल पर खड़े होकर ध्यान में मग्न हैं। परन्तु उसकी यह सारी गतिविधियां मछली पकड़ने के लिए होती हैं। इसी प्रकार धर्म के क्षेत्र में बहुत ऐसे गुरुनामधारी हैं जो अपना अनेक चमत्कारी रूप दिखाकर एवं नाना

प्रकार ढोंग-ढकोसले करके भावना-प्रधान जनता को अपने जाल में फंसाते हैं और उनमें शिक्षित तथा अशिक्षित सभी वर्ग के लोग फंसते हैं। इसको कहते हैं वाणीजाल एवं झीनीमाया। कोई ईश्वर के दर्शन करा रहा है, कोई चुटकी बजाते मोक्ष दे रहा है, कोई किसी की तथाकथित कुण्डलिनी जाग्रत करा रहा है, कोई ऋद्धि-सिद्धि दे रहा है, कोई पुत्र, धन, नीरोग्यता, विजय आदि दे रहा है। कोई तांत्रिक बना है, कोई सिद्धयोगी, कोई अवतार, कोई पैगंबर। संसार के लोग लोभी हैं। इसलिए ठग लोग उन्हें लाभ का झांसा देकर ठग रहे हैं। वे अपना बगुजाल नये-नये प्रकार से तैयार कर तथा संसार में फैलाकर लोगों को फंसाते रहते हैं।

उपर्युक्त भंवरजाल तथा बगुजाल में वे लोग फंसते हैं जो अचेत हैं और संसार में ज्यादा अचेत ही हैं। कितने लोग हैं जो माया-मोह तथा भ्रामक गुरुओं के फंदे से अपने आप को बचा सकते हैं ! सद्गुरु ने इन भवजालों से बचने का रास्ता बताया है—विवेक। "कहहिं कबीर ते बाँचि हैं, जाके हृदय विवेक"। विवेक मन की वह शक्ति है जिससे चेतन-जड़, आत्मा-परमात्मा, पुरुष-प्रकृति, स्व-पर के भेद का पता लगता है और उनकी पहचान होती है। विवेक से ही सत्य-असत्य, शुभ-अशुभ, हित-अहित की परख होती है। विवेक हृदय का प्रकाश है जिससे जहां जो कुछ है वैसा समझ में आने लगता है। फिर माया के सारे जाल टूटने लगते हैं।

सद्गुरु माया-जाल से बचने के लिए अपनी आत्मा से अलग किसी अदृश्य-शक्ति की प्रार्थना-वन्दना करना नहीं बताते। वे जीव को परमुखापेक्षी बनने की राय न देकर उसे स्वावलंबी होने का निर्देश करते हैं। हे मानव ! तू विवेकवान संत-गुरुजनों की संगत कर ! अपने हृदय में विवेक का प्रकाश जला और सारे भव-बन्धनों से मुक्ति ले ! भंवरजाल तथा बगुजाल से बचकर सदैव अपने विवेक में जागता रह ! कभी अचेत न होना ! सावधानी ही साधना है !

हरि के लिए मन का भटकाव

तीन लोक टीड़ी भया, उड़ा जो मन के साथ॥
हरिजन हरि जाने बिना, परे काल के हाथ॥ 93॥

शब्दार्थ—तीन लोक=सतोगुणी, रजोगुणी तथा तमोगुणी मनुष्य। टीड़ी=टिड्डी, पंखवाले लाल रंग के कीड़े जो फसल को हानि पहुंचाते हैं। हरिजन=हरि-भक्त। काल=मन:कल्पना।

भावार्थ—जैसे टिड्डी कीड़े हवा के साथ उड़कर यत्र-तत्र नष्ट हो जाते हैं, वैसे त्रिगुणी मनुष्य मन की कल्पनाओं के साथ उड़कर जहां-तहां पतित हो

जाते हैं। हरि-भक्त हरि का रहस्य न समझकर मन की कल्पनाओं के फंदे में फंस गये॥ 93॥

व्याख्या—टिड्डी पंखवाले लाल रंग के कीड़े होते हैं। ये प्रायः पर्वतों में होते हैं। ये कभी-कभार वहां से उड़कर हवा के रुख के अनुसार किसी दिशा में बह चलते हैं। ये एक साथ लाखों-करोड़ों की तादाद में चलते हैं जिससे दूर से आकाश लाल-लाल दिखने लगता है। ये जहां पेड़े-पौधे एवं फसलों पर गिरते हैं उन्हें चरकर साफ कर देते हैं। इसलिए ये जिधर चलते हैं उधर की जनता सावधान हो जाती है और बाजा बजाकर उन्हें खदेड़ती है और फसल आदि में इनके आ गिरने पर डंडे, झाड़ू एवं झांखर से इन्हें मारकर समाप्त करती है।

सद्‌गुरु कहते हैं कि जैसे टिड्डी कीड़े हवा के झोंके में उड़कर नष्ट होते हैं, वैसे संसार के लोग अपने मन की कल्पनाओं के झोंके में उड़कर यत्र-तत्र नष्ट होते हैं। इस साखी में टिड्डी का उदाहरण देकर यह बताया गया है कि मनुष्य अपने मन की कल्पनाओं में बहता है। मनुष्य अनेक इच्छाएं करके अभावग्रस्त रहता है। क्योंकि आदमी के मन में जितनी इच्छाएं उठ खड़ी होती हैं उन सबकी पूर्ति होना असंभव है। ऐसी दशा में निरंतर अभाव एवं असंतोष का अनुभव करने के अलावा कोई चारा ही नहीं है। इन्हीं अभावों की पूर्ति के लिए आदमी अपनी आत्मा के अलावा किसी दैवी शक्ति की कल्पना करता है। अपनी आत्मा एवं अपने स्वरूप की पहचान न करना, जगत की परिवर्तनशीलता को न समझना, अपने लिए कर्मफल-भोग की अनिवार्यता न जानना—इन सब कारणों से आदमी का मन इतना कमजोर होता है कि वह पदे-पदे देवी-देवता तथा ईश्वर-परमात्मा मानता रहता है। इसी बीच प्रारब्धवशात उसे कोई सांसारिक लाभ हो जाता है तो वह समझता है कि यह अमुक देवी तथा देवता की कृपा का फल है या ईश्वर ने हमारे ऊपर कृपा कर दी है। कुछ लोग कहते हैं कि भाई, विरक्तों की बात छोड़ दीजिए, गृहस्थों को ऐसी धारणा रखनी ही पड़ती है। परन्तु चाहे गृहस्थ हो या विरक्त, यह धारणा किसी के लिए कल्याणप्रद नहीं है। यह धारणा तो मनुष्य के मन को केवल कमजोर बनाती है। इससे किसी का वास्तविक लाभ नहीं है। इससे तो केवल हानि है।

मनुष्य का अपना आपा अर्थात जीव अमर है। उसका कोई नाश नहीं कर सकता। शरीर नाशवान है। इसको मरने से कोई बचा नहीं सकता। जब तक जीवन की अवधि है तब तक शरीर कोई छीन नहीं सकता और अवधि समाप्त होने पर इसे कोई मरने से रोक नहीं सकता। जीव ने पहले या आज जो कुछ कर्म किये हैं उनके फल-भोग उसे भोगने हैं। उनसे भी उसे कोई

बचा नहीं सकता। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, राम, कृष्णादि सब ने अपने कर्म-फल-भोग भोगे हैं। फिर कायर होकर देवी-देवता पुकारने से केवल अपने समय और शक्ति को बरबाद करने के अलावा क्या है !

जड़ और चेतन की सत्ता का वास्तविक बोध न होने से कमजोर मन वालों ने अपनी आत्मा से अलग हरि एवं ईश्वर की कल्पना की और उसकी महिमा में धीरे-धीरे अपार वाणियां बन गयीं। इन वाणियों को सुन-सुनकर मनुष्यों का मन आकाश में उड़ने लगा। धर्मग्रन्थों में हरि के ऐसे आकर्षक रूप निरूपित किये गये कि भक्ति द्वारा उस तक पहुंचने पर परमानन्द प्राप्त होने के सपने दिखने लगे। स्वर्ग की कल्पना, स्वर्ग में दिव्य भोगों की कल्पना, वहां बैठे व्यक्ति-ईश्वर से मिलकर अनन्तकाल तक के लिए अनन्त आनन्द प्राप्ति की कल्पना, इन सारी कल्पनाओं ने हरिजनों को टिड्डी-दल की तरह उड़ाया और ये अपने मन की कल्पना में उड़ने लगे। परन्तु "हरिजन हरि जाने बिना, परे काल के हाथ।" हरिजन लोग यह नहीं समझ सके कि यह मन की कल्पना दिवास्वप्न है। मनुष्य की आत्मा से अलग ऐसा कोई हरि नहीं है जिसका कहीं धाम या लोक हो और वह मिलता हो। यह सब तो केवल मन की कल्पना है। जब तक जीव इन कल्पनाओं के हाथों में पड़ा रहेगा तब तक यह भटकता रहेगा। ये कल्पनाएं ही काल हैं, पीड़ा देने वाली हैं। जब जीव सारी कल्पनाएं छोड़ देता है तब वह स्वयं में पूर्ण संतुष्ट हो जाता है। चाहे साधु हो या गृहस्थ, वह जितनी कल्पनाएं एवं संसार की इच्छाएं छोड़ता जायेगा उतना संतुष्ट होता जायेगा। मनुष्य की अपनी आत्मा ही हरि है, परमात्मा है, परब्रह्म है। अपने चेतनस्वरूप का विस्मरण कर, अपने आपा की स्थिति छोड़कर तो हम केवल मन की कल्पनाओं में ही उड़ने लगते हैं। अतएव अपने स्वरूप से अलग हरि खोजने वालों के लिए सद्गुरु कबीर का यह करारा व्यंग्य है—"हरिजन हरि जाने बिना, परे काल के हाथ।"

मन की लहरें विवेक से शांत होती हैं

नाना रंग तरंग है, मन मकरन्द असूझ॥
कहहिं कबीर पुकारि के, तैं अकिल कला ले बूझ॥ 94॥

शब्दार्थ—रंग तरंग=भावनाओं की लहरें। मकरन्द=फूलों का रस, मधु, फूलों का केसर, भ्रमर-कीड़ा। असूझ=अंधा। अकिल कला=अक्ल का गुण, विवेक बुद्धि, परख।

भावार्थ—कल्पनाओं एवं भावनाओं की नाना लहरें हैं। मन भंवरा उनमें पड़कर अंधा बना रहता है। कबीर साहेब मनुष्यों की भीड़ में सबको उच्चस्वर में सुनाकर कह रहे हैं—हे मनुष्यो ! तुम इनसे पार होने के लिए विवेकी गुरु के

पास विवेकज्ञान एवं परखरूपी साधन जानने का प्रयास करो॥ 94॥

व्याख्या—"नाना रंग तरंग है" मन की अनेक भावनाओं की लहरें हैं। जीभ से स्वाद चखने की लहरें, आंखों से अनुकूल रूप देखने की लहरें, नाक से गंध सूंघने की लहरें, कानों से अनुकूल शब्द सुनने की लहरें, त्वचा से कोमल तथा अनुकूल स्पर्श करने की लहरें, मन से संकल्प-विकल्प की लहरें; पत्नी, संतान, धन, ऐश्वर्य, सम्मान, प्रतिष्ठादि प्राप्त करके उनमें विलसने की लहरें। मनुष्य के मन में हर क्षण अनगिनत लहरें उठती रहती हैं। इन सबके मूल में है मन और इन्द्रियों के संपर्क में आने वाले विषयों के संयोग में उत्पन्न सुख-भ्रम। विषय-सुख-भ्रम की भावनाओं की लहरें-पर-लहरें आती हैं और मनुष्य का मन-भंवरा सदैव इन्हीं में अंधा बना रहता है। "मन मकरन्द असूझ"। मकरन्द के अर्थ पुष्परस, मधु तथा पुष्प-केसर होते हैं और मकरन्द का अर्थ भ्रमर एवं भौंरा-कीड़ा भी होता है। इसलिए मन विषय-रस में अंधा बना रहता है या मन-भंवरा विषय-रस में अंधा बना रहता है, दोनों तरह से अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। सार अर्थ यही है कि मन विषयों की भावनाओं में डूबकर मूढ़ हो जाता है।

केवल स्थूल विषयों में मन मूढ़ बना रहता है ऐसी बात नहीं है, किन्तु लोक-लोकान्तर, देवी-देवता तथा कमलों के समान हाथ, पैर, मुख, आंख, छाती, गाल वाले ईश्वर को भी देखने एवं पाने के लिए मनुष्य का मन मतवाला बना रहता है। इस प्रकार मनुष्य का मन सांसारिक विषयों तथा धार्मिक काल्पनिक भावनाओं की लहरों में भी मतवाला बना रहता है।

"कहहिं कबीर पुकारि के, तैं अकिल कला ले बूझ" कबीर साहेब जोर देकर कहते हैं कि तुम अक्ल का गुण प्राप्त करो। निष्पक्ष गुरु-संतों के बीच में जाकर यह समझो कि अकिल-कला क्या है! अकिल-कला से ही इन तरंगों में बहने से बच पाओगे। अकिल-कला, सद्बुद्धि, विवेकज्ञान एवं परख ये सब करीब-करीब एकार्थबोधक हैं। मनुष्य विवेकज्ञान द्वारा ही मन की तरंगों से अपने आप को बचा पायेगा।

मनुष्य के निज स्वरूप चेतन से अलग जो कुछ है या तो दृश्य जड़ तत्त्वों का पसारा है या मनःकल्पनाओं का पसारा, और ये दोनों मन द्वारा ही जीव के सामने होते हैं। अतएव जीव का जगत से संबंध जोड़ने वाला केवल मन ही है। यही मन तरंगवान बनकर लहरों-पर-लहर लाकर जीव के सामने संसार उपस्थित करता है। जब मनुष्य को विवेक-ज्ञान उदय होता है कि मैं शुद्ध चेतन हूं और मन तथा मन से प्रतीतमान सारा संसार मुझसे सर्वथा पृथक है, तब वह मन सहित सारे दृश्यों को छोड़कर मात्र अपने चेतनस्वरूप में स्थित हो जाता है। मन की तरंग शांत हो जाने पर उसके लिए संसार शांत हो जाता

है। मन से ही विषयों की कल्पना होती है तथा मन से ही देवी-देवादि की। अकिल-कला—विवेक-ज्ञान द्वारा जब मन शांत हो जाता है, तब नाना रंग-तरंगें समाप्त हो जाती हैं और जीव असंग स्वरूपस्थ हो जाता है।

मन की चंचलता को जीतो

बाजीगर का बाँदरा, ऐसा जीव मन के साथ॥
नाना नाच नचाय के, ले राखे अपने हाथ॥ 95॥

शब्दार्थ—बाजीगर=जादू का खेल दिखाने वाला।

भावार्थ—जैसे बाजीगर बन्दर को नचाता है और उससे नाना खेल कराकर उसे अपने हाथों में रखता है, वैसे ही मन जीव को नाना नाचों में नचाता है और सदैव अपने वश में रखता है॥ 95॥

व्याख्या—जीव स्वतंत्र चेतन है और मन एक आभास मात्र है। परंतु कैसा आश्चर्य है कि सत्य चेतन जीव असत्य मन के हाथों बिक गया है। बाजीगर बन्दर को डोरी में बांधकर रखता है और उसे अपनी इच्छा के अनुसार नचाता है। खेद है कि वैसे ही मन जीव को आसक्ति की डोरी में बांधकर उसे अपने वश में रखता है और अपने इच्छानुसार नचाता है। आप देखते नहीं, अच्छे-अच्छे सभ्य तथा पढ़े-लिखे लोग बीड़ी-सिगरेट, चरस-तम्बाकू आदि खाने-पीने की आदत बना लेते हैं और उनकी आसक्ति में बंधकर सदैव अपने मन की गुलामी करते हैं! वे समझते भी हैं कि ये सब गलत हैं, स्वास्थ्य और शांति के शत्रु हैं; परन्तु अपने मन को नहीं रोक पाते। इसी प्रकार शराब, मांस, काम-भोग तथा नाना प्रकार के विषयों में आदत बनाकर उनकी आसक्ति में बंधा जीव मन के हाथ बिका रहता है और जीवनभर नाचता रहता है।

जैसे एक सम्राट नशा कर लेने से अपने आप को भिखारी मानकर दुखी हो, वैसे जीव स्वरूपतः सम्राट होकर भी अपने स्वरूप के अज्ञान से मन के वश दुखी है। ये विषय की इच्छाएं ही तो जीव को संसार में नाना नाच नचाती हैं। यदि जीव विषयों की इच्छा छोड़ दे, तो उसे कौन विवश कर सकता है! जीव का शुद्ध स्वरूप विषयों से रहित है। उसे अपने आप को पहचानना चाहिए। जो तंबाकू नहीं खाता, बीड़ी-सिगरेट नहीं पीता, वह इनके लिए कहां नाचता है! इसलिए मन के वश में पड़कर नाचने का अर्थ है विषयों की आसक्ति के वश होकर नाचना। बंधन है विषयासक्ति और मोक्ष है सभी आसक्तियों से मुक्त हो जाना।

मन नचाता है, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि मन कोई सबल जानवर है और वह हमें पकड़कर नचाता है। मन तो एक काम-काज का साधन है।

परन्तु जब मन में संसार के नाना विषयों की आसक्ति बनी रहती है और हम उन-उन विषयों में खिंच-खिंचकर भटकते हैं, तो कहा जाता है कि मन हमें नचाता है। यदि हम विवेकपूर्वक जीवन जीयें और विषयों की आसक्ति छोड़ दें, अनासक्तिपूर्वक जीवन-निर्वाह लेते हुए शेष अन्य विषयों के उपभोग भी छोड़ दें, तो इस प्रकार विषयों के भोग तथा आसक्ति छोड़ देने पर हमारा मन अनासक्त, शुद्ध एवं संयत हो जाता है। फिर तो वही मन हमारे लिए शांति का कारण बन जाता है। विषयों में आसक्त मन जीव को भटकाता है और अनासक्त मन शांति का अनुभव कराता है।

ई मन चंचल ई मन चोर, ई मन शुद्ध ठगहार॥
मन मन करते सुर-नर मुनि जहँड़े, मन के लक्ष दुवार॥ 96॥

शब्दार्थ—शुद्ध=केवल, खालिस। जहँड़े=नष्ट हुए। लक्ष=लाख की संख्या, लक्ष्य-स्मरण। दुवार=दरवाजा।

भावार्थ—यह मन चंचल है, यह मन चोर है और यह मन केवल ठगहार है। मन पर विचार और चर्चा करते-करते देवता, मनुष्य और मुनि लोग भी मन ही की धारा में बह गये; क्योंकि मन को निकल भागने के लिए लाखों दरवाजे हैं॥ 96॥

व्याख्या—मन की चंचलता सर्वविदित है। संसार के सभी लोग तो मन से परेशान हैं। जहां जाओ, जितने लोग मिलते हैं सब यही कहते हैं कि मन अशांत है, मन वश में नहीं हो रहा है। संसार की वे सारी चीजें हैं जो जीवन के लिए चाहिए; परन्तु मन ही नहीं शांत होता। मनुष्य को नींद क्यों नहीं आती है, क्योंकि मन परेशान है। पूजा में बैठे हैं, ध्यान में बैठे हैं, कथा-कीर्तन में बैठे हैं, परन्तु मन कहां-कहां घूम रहा है, यह अन्दर वाला ही जान सकता है, ऊपर वाला नहीं जान सकता। पवित्र स्थान में बैठे-बैठे मन क्षण ही में कितनी गंदी-गंदी जगहों में जा सकता है यह सर्वसामान्य का अपना-अपना अनुभव है। यह मन पल मात्र में कश्मीर से कन्याकुमारी तथा भारत से अमेरिका ही नहीं, किन्तु जहां तक उसकी कल्पना में आ जाये आकाश-पाताल नाप लेता है। मन का भटकाव ही तो जीव का भवजाल में पड़ा रहना है।

यह मन चोर है। जिन-जिन विषयों में आसक्ति बनी है, उन-उन में मन चुपके से चल देता है। मन अपना दांव खेलने में चतुर है। सबसे छिपाकर इच्छित भोगों में पहुंच जाता है। सद्गुरु कहते हैं कि इतना ही नहीं, मन शुद्ध ठगहार है। यहां शुद्ध शब्द ठगहार का विशेषण है। अर्थात यह मन खालिस ठगहार है। ठगहार आदमी लोगों को अच्छे माल का झांसा देकर बुरा माल बेच देता है। ठगहार सोना का कड़ा दिखाकर ग्राहक से भरपूर दाम ले लेता

है, परन्तु जब ग्राहक कड़ा लेकर घर जाता है और सुनार से उसकी परख कराता है तब वह पीतल ठहरता है। यह मन भी जीव के साथ यही करता है। धर्म का लोभ दिखाकर अधर्म में लगाता है। जीव कहता है विषय-मार्ग में नहीं चलूंगा, मैं तो ज्ञान, भक्ति, वैराग्य के मार्ग में चलूंगा। मन कहता है कोई बात नहीं, मैं तुम्हारी इच्छा के अनुसार ही चलूंगा। इस प्रकार मन ऊपर-ऊपर जीव को धर्म का झांसा देकर ज्ञान, भक्ति, वैराग्य के स्मरण करते-करते विषय के चिन्तन में ले जाकर पहुंचा देता है। मन जीव को ठगना खूब जानता है। वह जीव के परमार्थ-मार्ग में मिल-मिलकर स्वार्थ में उसे घसीटता रहता है। देखते नहीं हो, कितने धर्म, भक्ति और ज्ञान-वैराग्य का जामा पहने हुए लोग थोड़े दिनों में अपने मार्ग से भटककर कहां-कहां विचरने लगते हैं।

"मन मन करते सुर नर मुनि जहँड़े" बड़ा मार्मिक वचन है। सुर देवता हैं, नर मनुष्य हैं और मुनि मननशील तपस्वी हैं। देवताओं की दशा तो सदैव दयनीय रही है। पुराकाल में देवता भारत के उत्तराखण्ड में बसने वाली एक जाति थी जो धन-सम्पन्न थी। उनमें नर तथा नारी वैवाहिक बंधन में नहीं रहते थे। वे यौनाचार में अत्यंत उच्छृंखल थे। देवपति इन्द्र का चरित्र जगजाहिर है जिसने पुलोम नाम के दानव तथा उसके संभावित दामाद की हत्या कर उसकी पुत्री शची को छीन लिया और उसे अपनी पत्नी बना लिया तथा जगह-जगह अपने आचरण की शिथिलता का व्यवहार करता रहा। देवता के बाद मनुष्यों की दशा तो सामने है जो विषयों के कीट बने घिनौने-से-घिनौने काम करने पर उतारू हो जाते हैं। तीसरे हैं, मुनिजन, जिनमें अनेक लोग मन के चक्कर में पड़कर अपने तप तथा ध्यान को तिलांजलि देकर काम, क्रोध तथा लोभ की धारा में बहते रहे। अतएव सद्गुरु कहते हैं कि मन पर विचार और चर्चा करते-करते ये देवता, मनुष्य तथा मुनिजन भी मन की धारा में ही बहते रहे।

"मन के लक्ष दुवार" मन को निकल भागने के लिए लाखों दरवाजे हैं। किस रास्ते से मन कब भाग जाता है साधारण मनुष्य इसका पता भी नहीं पाता है। यह शुभ रास्ते में होते हुए भी अशुभ में चला जाता है। मन का चक्कर बहुत घुमावदार है।

इस साखी में 'शुद्ध ठगहार' तथा 'लक्ष दुवार' के दूसरे अर्थ भी किये जा सकते हैं। 'ठगहार' का 'शुद्ध' शब्द विशेषण न मानकर यदि उसका अलग से अर्थ किया जाये तो अभिप्राय होगा कि मन शुद्ध भी है और ठगहार भी है। मन के दो पहलू हैं एक शुद्ध तथा दूसरा अशुद्ध। अशुद्ध मन ठगहार है और

वही बन्धन का कारण है। शुद्ध मन सरल है तथा मोक्ष का कारण है।

'मन के लक्ष दुवार' में दूसरा अर्थ होगा कि मन के निकल भागने का दरवाजा लक्ष्य एवं स्मरण ही है अर्थात मन के निकल भागने का केवल एक दरवाजा है और वह लक्ष्य, स्मरण एवं ख्याल है। इसलिए यदि साधक अपने स्मरण पर सावधान रहे तो मन गलत रास्ते में जाने की गुंजाइश ही नहीं पायेगा। जैसे किसी के दरवाजे पर डाकू आ गये हों, किन्तु घर का मालिक घर के भीतर दरवाजे पर तलवार लेकर बैठा है। घर में घुसने का मात्र वही एक दरवाजा है। अतः जो डाकू दरवाजे में सिर डालता है, घर का मालिक उसका सिर काट देता है। दूसरा दरवाजा ही नहीं है कि डाकू घुस जायें, वैसे मन को भागने का एक ही दरवाजा है स्मरण; और साधक सावधान होकर यदि स्मरण पर निरन्तर बैठा है तो मन कहां जा सकता है! जो साधक हर क्षण अपने स्मरणों का साक्षी बना रहता है, वह मन के प्रपंच से मुक्त हो जाता है।

यह तो पिछली साखी की व्याख्या में ही निवेदन किया गया है कि मन कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है कि वह जीव को विवश कर सके। वस्तुतः जीव ही अपने स्वरूप को भूलकर नाना विषयों में आसक्त हो जाता है, इसलिए उन सब में मन भटकता है। जिसको स्वरूप का ज्ञान हुआ और विषयों की आसक्ति समाप्त हुई, वह बड़ी सरलता से मन का साक्षी होकर शांति को प्राप्त होता है। भूल दशा में जो मन क्षण मात्र के लिए स्थिर नहीं होता, वही ज्ञान-दशा में इतना शांत हो जाता है कि उससे देह-व्यवहार का काम लेने के लिए उसे जगाना पड़ता है, तब वह व्यवहार में प्रवृत्त होता है।

राम-वियोगी को खरा सत्य कहकर दुखाओ मत

बिरह भुवंगम तन डँसो, मन्त्र न माने कोय॥
राम बियोगी न जिये, जिये तो बाउर होय॥ 97॥
राम बियोगी बिकल तन, इन्ह दुखवो मति कोय॥
छूवत ही मरि जायँगे, तालाबेली होय॥ 98॥
बिरह भुवंगम पैठि के, कीन्ह करेजे घाव॥
साधू अंग न मोरिहैं, ज्यों भावै त्यों खाव॥ 99॥

शब्दार्थ—विरह=वियोग, जुदाई, बिछुड़न में अनुभूत होने वाला अनुराग। भुवंगम=सर्प। बाउर=पागल। तालाबेली=व्याकुलता, तिलमिलाहट। पैठि के=घुसकर।

भावार्थ—जिसको राम-वियोग के सांप ने डस लिया है, उसे किसी प्रकार के उपदेशरूप मंत्र नहीं लगते। राम-वियोगी जीवित नहीं रह सकता, यदि कदाचित जीवित रह जाये, तो पागल हो जाता है॥ 97॥ जो लोग राम

को अपनी आत्मा से अलग मानकर उसकी वियोगजनित पीड़ा से पीड़ित रहते हैं, उन्हें यह कहकर मत दुखाओ कि तुम्हारी आत्मा से अलग कहीं कोई राम नहीं है। क्योंकि वे इतनी बातें सुनते ही तिलमिलाकर अत्यंत पीड़ित हो जायेंगे॥ 98॥ ईश्वर-वियोगजनित सर्प ने उनके हृदय में घुसकर घाव बना दिया है। परन्तु वे साधक विरह-सर्प से अपने अंग नहीं बचाते, वह जैसा चाहे उन्हें खा ले॥ 99॥

व्याख्या—वैसे ईश्वर-ईश्वर कहने वाले अधिकतम लोग हैं, उनकी बात छोड़िये। परन्तु कुछ लोग ऐसे होते हैं कि वे ईश्वर-वियोग से अत्यन्त बेचैन होते हैं। उन्होंने यह मान रखा है कि मेरी आत्मा से अलग ईश्वर है, मैं उससे बिछुड़ गया हूं, वह अलग है तथा मैं अलग हूं। इस भ्रमजनित अलगाव की अनुभूति उन्हें तीव्रतम रूप से होती है। मानो विरह के सांप ने उन्हें काट खाया हो। विरह का अर्थ ही होता है वियोग में अनुभूत होने वाला अनुराग। ऐसे लोगों को कोई मन्त्र नहीं लगता है। ऐसे लोगों को यदि आप यह समझाओ कि नहीं, आपसे अलग ईश्वर नहीं है, आपकी आत्मा ही सर्वोच्च है, आपका चेतनस्वरूप ही परम सत्ता है, तो यह सब बातें उनके गले उतरने की नहीं होंगी। वे इस बात को समझ ही नहीं सकते। ऐसे राम-वियोगी लोग जीते रहना भी पसंद नहीं करते। वे सोचते हैं कि जिस शरीर से प्रभु के दर्शन नहीं हुए, वह शरीर रखकर क्या होगा ! अतएव वे अपना शरीर तक त्याग देते हैं। यदि वे जीवित भी रहते हैं तो पागल होकर जीते हैं। उन्मत्त की तरह चेष्टा करते हैं। वे सदैव वनों एवं बादलों की श्यामता में, समुद्र की लहरों में, आकाश की अनंतता में तथा प्रकृति की क्रियाओं में उसे खोजते हैं। यद्यपि उनका यह सब केवल पागलपन ही रहता है; तथापि वे अपने इस पागलपन को सच्ची ईश्वर-निष्ठा मानते हैं। संसार के लोग भी उनको उच्चकोटि के भक्त एवं संत मानते हैं। उनके इस उन्माद से उनके सांसारिक विषय छूट जाते हैं। इसलिए उनका जीवन स्वच्छ हो जाता है। इसमें दो राय नहीं है। परन्तु ईश्वर को अलग खोजने का अज्ञान उनको जीवनभर केवल भटकाता है।

इस प्रकार विरह-व्यथा में व्याकुल भावुक साधकों से किसी को सीधे यह नहीं कहना चाहिए कि तुम जिसे खोज रहे हो वह केवल तुम्हारे मन की सनक है, वह कोई वस्तु नहीं है, कोई सत्ता नहीं है, वह केवल भावुकों का किया हुआ प्रलाप है इत्यादि, क्योंकि ऐसी खरी बातें सुनकर वे तिलमिला उठेंगे। ऐसे शब्द कह देना मानो उनको मृत्युदण्ड दे देना है। इसलिए विवेकियों को चाहिए कि वे उन्हें सत्य कहकर दुख न दें। "इन्ह दुखवो मति कोय" यह गुरुदेव का उनसे करुणापूर्वक आग्रह है जो सत्य के उपदेष्टा हैं। जो किसी भावना को लेकर अपने जीवन को सदाचारपूर्ण तथा दैवीसंपदायुक्त

बिता रहा है, वह सन्मार्ग में तो लगा ही है। आचरण तो उसके पवित्र ही हैं। भले ही वह बहुत बड़े भ्रम में है। सबके सामने सारा सत्य एक साथ नहीं कहा जा सकता। सारा सत्य एक साथ कह देने से ऐसे लोग समझ तो पाते नहीं, उलटे खिन्न हो जाते हैं। इसलिए "जेहि कर जहाँ बँधावा होई। ताहि सराहि मिलै पुनि सोई॥"[1] अर्थात जिसका मन जिसमें बंधा हो उसकी थोड़ी प्रशंसा कर उनसे व्यवहार करना चाहिए। जब धीरे-धीरे उनका प्रेम हो जाये, तथा पात्रता देखकर उन्हें सत्य बताना चाहिए। वह भी उतना ही, जितना वे प्रसन्नता से सहन कर सकें।

संभवतः सन् 1966 ई. की बात है। श्री विशाल साहेब बाराबंकी जिले के ब्राह्मणपुरवा ग्राम में निवास कर रहे थे। इन पंक्तियों का लेखक उनके दर्शनार्थ गया था। एक शाम एक अनपढ़ गंवई बुड्ढा श्री विशाल साहेब से मिलने आया। वह विशालदेव का पूर्व परिचित था। वह विशालदेव से कहने लगा—"साहेब, मैं कई दिनों से आपके दर्शनार्थ आना चाहता था, परन्तु मैं जैसे तैयार होकर आपके पास आने के लिए चलता था, वैसे 'वह' मेरे पैर पकड़ लेता था।" यहां उसका 'वह' प्रेत था। वह मानता था कि प्रेत मुझे आने नहीं देता था।

श्री विशाल साहेब ने उससे कहा—"यदि तुम बिलकुल आने के लिए ठान ही लेते, तो 'वह' तुम्हारे पैर छोड़ देता।"

जब बुड्ढा अपने घर चला गया, तब मैंने गुरुवर विशालदेव से कहा—"साहेब, आपने उसे यह क्यों नहीं बताया कि 'वह' अर्थात भूत-प्रेत कुछ नहीं है। वह केवल तुम्हारा भ्रम है।" विशालदेव ने कहा—"यदि मैं साफ-साफ भूत-प्रेत का खंडन कर देता, तो वह दुखी तथा नाराज हो जाता और तुरन्त चला जाता और फिर वह कभी लौटकर नहीं मिलता। क्योंकि मैंने उसकी मानसिकता का अन्दाज लगा लिया था। यदि वह बराबर आयेगा और उसकी कुछ पात्रता कभी देखूंगा तो उसे समझाऊंगा। अन्यथा वह जैसा है वैसा रहेगा, संतों का प्रेम तो नहीं छोड़ेगा!" भूत-प्रेत मानने वालों के मन का भी इतना संभाल विशालदेव करते थे।

इसका यह अर्थ नहीं है कि सत्य बातें कहने में हिचकना चाहिए। बिना सत्य कहे लोगों को बोध कैसे होगा! एकदम झकझोरकर भी सत्य बातें कहना पड़ता है। परन्तु व्यक्तिगत किसी अत्यन्त भावुक एवं अपात्र व्यक्ति को सीधे उसकी भावना के विरोध में कहना, न अपने लिए कल्याणकर है और न उसके लिए। हम इसलिए तो सत्य कहना चाहते हैं कि अगला आदमी समझ

---

1. श्री रामरहस साहेब, पंचग्रंथी, गुरुबोध।

जाये। परन्तु वह समझने के बदले दुखी हो गया तथा उपदेष्टा के लिए ही द्वेष बना लिया, तो सत्य कहकर किसी का भी क्या फायदा हुआ !

व्यक्तिगत किसी आगंतुक जिज्ञासु से चर्चा का विषय अलग होता है, सभा में कहने का विषय कुछ अलग होता है। कितनी बातें ऐसी हैं जो सभा में तो कही जा सकती हैं, परन्तु वे सब ज्यों-का-त्यों पुस्तकों में नहीं लिखी जा सकतीं और कितनी ऐसी बातें हैं जो पुस्तकों में लिखी जा सकती हैं, परन्तु वैसी-की-वैसी ही सभा में नहीं कही जा सकतीं।

किसी सत्पात्र जिज्ञासु को व्यक्तिगत रूप में खूब खरा उपदेश किया जा सकता है, परन्तु उतना ही खरा सार्वजनिक सभा में कहना हितकर नहीं होता। कहीं किसी भावुक आगंतुक को व्यक्तिगत रूप में ज्यादा खरा निर्णय नहीं सुनाया जा सकता है, परन्तु सभा में सार्वजनिक होने से तथा उसमें अधिक सत्पात्र हैं तो खरी बातें कहीं जा सकती हैं। ज्यादातर सभा में हर प्रकार की मानसिकता वाले व्यक्ति होने से वहां ऐसी ही बातें कहना उचित रहता है जिससे वहां के सभी श्रोताओं को कुछ-न-कुछ लाभ मिल सके। कहीं-कहीं सभा में बहुत कुछ मीठा बनाकर कहा जा सकता है जबकि पुस्तकों में वैसा नहीं लिखा जा सकता। पुस्तकों में खरी एवं स्पष्ट बातें इसलिए लिखा जाना आवश्यक रहता है जिससे दूर-निकट तथा देश-विदेश के लोग पढ़कर निर्भ्रांत ज्ञान प्राप्त कर सकें।

वक्ता वही सफल होता है जो देश, काल तथा पात्रता का ज्ञान रखकर अपना वक्तव्य देता है। वक्ता को यह ध्यान रखना चाहिए कि जिसके कल्याण के लिए हम कुछ कह रहे हैं उसे कुछ-न-कुछ लाभ अवश्य हो। हमारे सत्य के जोश में अगले आदमी को यदि लाभ न होकर दुख हो तो हमारा परिश्रम बेकार हुआ। यह भी सत्य है कि कभी-कभी खरी तथा सत्य बातें सुनकर हमारे दिल को ठेस लगती है और हम अपनी धारणा एवं भावना के प्रति शंकालु हो जाते हैं और सत्य की खोज के लिए मन में जिज्ञासा उत्पन्न होती है। इन पंक्तियों के लेखक को स्वयं पहले ऐसा हुआ था जब सुना कि "खम्भ फोरि जो बाहर होई, ताहि पतीजे सब कोई। हरणाकुश नख वोद्र बिदारा, सो कर्ता नहिं होई।"[1] अर्थात नृसिंह का खम्भा फोड़कर निकलने-जैसी बहुत-सी कथाएं काल्पनिक हैं तब दिल को ठेस लगी और यह हुआ कि क्या पुराने सब ऋषि-मुनि-पंडित बेवकूफ थे जिन्होंने यह सब माने और लिखे हैं ! क्या केवल कबीर साहेब तथा कबीरपंथी ही सत्य समझते हैं ! भगवान के विषय में ऐसी शंका करने वाले नास्तिक हैं !

---

1. बीजक, शब्द 8।

परन्तु कबीर साहेब एवं पारखी संतों की बातें पढ़ते-सुनते मन में ऐसा लगने लगा कि इनकी बातें बुद्धिपूर्वक हैं। मैं ही तो भ्रम में नहीं हूं! अपनी मान्यता के प्रति संदेह होने लगा। सत्य की खोज शुरू हुई और दो ही महीने में रास्ता साफ हो गया।

यह सब लिखने का अर्थ यह है कि बिना साफ निर्णय किये जिज्ञासु को सत्य का बोध नहीं होगा, परन्तु देश, काल, पात्रता देखकर ही उपदेश किया जा सकता है तथा किसी को राय दी जा सकती है। उपदेश, चर्चा, राय, बात बहुत संवेदनशील विषय हैं। इन सबका बहुत सावधानी से ही प्रयोग करना योग्य है।

"बिरह भुवंगम पैठि के, कीन्ह करेजे घाव" उनके मन में इस भावना का मानो घाव बना हुआ है कि परमात्मा मुझसे अलग है। वे इस भावना से अपना उबार भी नहीं चाहते हैं; क्योंकि उन्हें अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं है। अतएव ऐसे लोगों का बिना दिल दुखाये, इनसे व्यवहार करो। इनके मनोनुकूल बातें कहकर पहले इनमें प्रेम उत्पन्न करो। जब इनमें सत्य खोजने के लिए प्रेम जग जाये, तब इन्हें धीरे-धीरे सत्य समझाने की चेष्टा करो। यदि इनके मन में सत्य-खोज की चेष्टा न जगे, तो केवल प्रेम का व्यवहार ही काफी है।

"साधू अंग न मोरिहैं, ज्यों भावै त्यों खाव॥" वे विरही साधु ईश्वर-वियोग जनित पीड़ा को ही सुख समझते हैं। विरह-वेदना में चाहे जितना दुख हो वे उसमें दृढ़ रहते हैं।

धर्म-भक्ति के नाम पर पशु मत बनो

करक करेजे गड़ि रही, बचन बृक्ष की फाँस॥
निकसाये निकसे नहीं, रही सो काहू गाँस॥ 100॥

शब्दार्थ—करक=रुक-रुककर होने वाली पीड़ा, कांटे। फाँस=पाश, फंदा; बांस आदि का कड़ा रेशा या पतली तीली जो कांटे की तरह चुभ जाये, किरिच, मन में चुभने एवं खटकने वाली बात। काहू=कोई, भावुक, विवेकरहित। गाँस=तीर का फल, रुकावट, गांठ, फंदा।

भावार्थ—वाणीरूपी पेड़ के कांटे मनुष्यों के कलेजे में चुभ गये हैं। वे रुक-रुककर पीड़ा करते हैं। वे किसी के निकालने पर भी नहीं निकलते। वे भावुकों के दिलों में चुभकर रुके हुए हैं॥ 100॥

व्याख्या—बांस आदि पेड़ों के नुकीले रेशे जब मनुष्य के किसी अंग में गड़कर अन्दर-ही-अन्दर टूट जाते हैं तब उनका निकलना कठिन हो जाता है। वे अन्दर रहकर घाव बनाते हैं तथा रुक-रुककर पीड़ा करते हैं। इन

चुभने वाले रेशों को फांस कहते हैं तथा उनसे होने वाली पीड़ा को करक कहते हैं। सद्‌गुरु कहते हैं कि वचनों के भी पेड़ होते हैं जिनके कंटीले रेशे मनुष्य के हृदय के भीतर चुभ गये हैं और ऐसे चुभे हैं कि टूटकर अन्दर ही रह गये हैं। वे अन्दर ही घाव बना दिये हैं। उनका निकलना सरल नहीं है। सद्‌गुरु कहते हैं—"रही सो काहू गाँस"। काहू में भावुकों एवं विवेकरहितों के लिए व्यंजना है। जो केवल भावुक है तथा विवेक को अलग रखकर बातें करता है उसी के मन में जैसी-तैसी वाणियों के कांटे धंसे रहते हैं और नहीं निकलते। विवेकवान उन्हें निकाल फेंकता है।

यहां वचनों के कांटे के अर्थ आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक दोनों में लगते हैं। प्रसंगानुसार मुख्य अर्थ आध्यात्मिक वचनों के विषय में ही है। भूत, प्रेत, देवी, देवतादि समस्त चमत्कारिक अवधारणाओं के विषय में मनुष्यों ने धर्मग्रन्थों से जितने वचन पढ़ तथा सुन रखे हैं वे उनके हृदय में पूर्णतया चुभ गये हैं। मनुष्य धर्म के नाम पर तथ्यपूर्ण वचनों के साथ-साथ सैकड़ों बे-सिर-पैर की बातों को भी परम प्रमाण मानकर उन्हें छाती-पेटे लगाये रखता है। सबसे ज्यादा व्यामोह प्रभु-वचन एवं आप्त-वचनों का है। आदमी धर्म और भक्ति के नाम पर इतना अंधा बन जाता है कि उनके नाम पर धर्मग्रन्थों में जो कुछ कहा गया है, उन पर विचार करना ही नहीं चाहता। मालूम होता है कि धर्मभक्ति का सचाई से कोई रिश्ता ही नहीं है। चमत्कार, अंधविश्वास एवं पोंगापंथी बातों पर कसौटी लगायी जाये, उन्हें परखने की बात की जाये, तो लोग "पाप होय गौ घात समाना" कहकर कानों में उंगली लगा लेते हैं और भाग खड़े होते हैं या लड़ने लगते हैं। तब यह बात चरितार्थ होती है "निकसाये निकसे नहीं, रही सो काहू गाँस।"

दूसरे व्यावहारिक क्षेत्र के वचन हैं। किसी ने किसी को कुछ कह दिया है और उसके मन में वह बात चुभ गयी है तो निकालने पर भी नहीं निकलती है। यह सब अविवेक का फल है। जिसके मन में विवेक है, परख है, उसके ऊपर किसी का गांस-फांस नहीं लगता। न वह धर्म और भक्ति के नाम पर अपनी बुद्धि को बेच देता है और न किसी के वचन-बाण से व्यथित होता है। किसी के भला-बुरा कह देने से हम क्यों पीड़ित हों! किसी की बातों से यदि हम क्षुब्ध होते रहें तो इसका अर्थ है कि हम पशु हैं और हमें कोई जिधर चाहे हांकता रहे और हम दूसरों द्वारा हांके जाते रहें। हम पशु हैं कि मनुष्य, इसकी परख केवल मानव-शरीर से नहीं होती है, किन्तु इसके लिए विवेक कसौटी है। यदि हम हर बात पर विवेककर स्वतः दृष्टि से सार तथा असार का निर्णय करते हैं तो हम मनुष्य हैं और यदि हम केवल दूसरों द्वारा हांके जा रहे हैं तो पशु हैं।

काल का स्वरूप

काला सर्प शरीर में, खाइनि सब जग झारि॥
बिरले ते जन बाँचि हैं, जो रामहि भजे बिचारि॥ 101॥

शब्दार्थ—काला सर्प=काम, अहंकार, कल्पना। झारि=बिलकुल, निपट, समूह, सब। भजै=सेवा करना, स्मरण करना, स्वत्व, विभाजन।

भावार्थ—कामरूपी काला सर्प सबके हृदय में बसता है। उसने संसार के सभी लोगों को निपट खा लिया है। उससे वही बिरला बचता है, जो विचारपूर्वक राम का भजन करता है॥ 101॥

व्याख्या—एक तरफ काम है और दूसरी तरफ राम है। सद्गुरु उक्त साखी की पहली पंक्ति में काला सर्प का वर्णन करते हैं जिसने सबको डस रखा है और दूसरी पंक्ति में उस जहर से बचने का तरीका बताते हैं राम का भजन। निचली पंक्ति में उन्होंने राम का नाम साफ कहा है, परन्तु पहली पंक्ति में काम आदि न कहकर केवल काला सर्प कहा है। काला सर्प की उन्होंने कोई स्पष्ट व्याख्या नहीं की है। परंतु संसार के सभी लोगों को खा जाने वाला और मनुष्य के शरीर में ही रहने वाला वह कौन-सा काला सर्प हो सकता है! वह काला सर्प काम, कल्पना और अहंकार ही है। काम सारे भव-बंधनों की धुरी है। काम का अर्थ स्थूल संभोग की वासना तो है ही, किन्तु समस्त सांसारिक इच्छाएं काम हैं। किसी तरफ जब काम सफल होता है एवं इच्छाएं पूरी होती हैं तब लोभ बढ़ता है और जब कामनाओं में भंग पड़ता है तब क्रोध होता है। इस प्रकार काम मूल में रहता है और इसके आस-पास लोभ और क्रोध रहते हैं। ये तीनों भयंकर सर्प हैं जो मनुष्य के भीतर रहकर उसे निरंतर खोखला बनाते हैं।

देह में अहंकार उदय होने से काम उत्पन्न होता है। इसलिए देहाभिमान को काला सर्प कह सकते हैं। जब तक देहाभिमान रहता है, मनुष्य विकारों से मुक्त नहीं हो सकता। कामना तथा अहंकार से मन में नाना कल्पनाएं उत्पन्न होती हैं। अतएव ये कल्पनाएं काला सर्प हैं। यह सब का सार यह हुआ कि निजस्वरूप से हटकर विषयों की तरफ रुझान ही काला सर्प है। इसलिए काला सर्प का मूल अर्थ काम ही है। काम काला सर्प है। यह मनुष्य के शरीर में रहता है और भीतर-भीतर उसे संसारासक्त बनाकर स्वरूपस्थिति से दूर रखता है। हर आदमी हर समय प्राय: किसी-न-किसी विषय में आसक्त रहता है। सभी विषयों में स्पर्श विषय प्रचंड है जिसे काम-भोग भी कहते हैं। काम-भोग सहित समस्त विषयों की आसक्ति से बचने का केवल एक ही तरीका है—विचारपूर्वक राम का भजन।

संसार में जितने प्रकार के राम-भजन चलते हैं, वे चाहे सगुण मानकर हों या निर्गुण, अल्लाह कहकर हो या गॉड कहकर, ब्रह्म कहकर हो या ईश्वर; और भजन की विधि चाहे जैसी हो जप, कीर्तन, नमाज, पूजा, उपासना, प्रार्थना—सब में साधक के मन की शुद्धि की दिशा में कुछ-न-कुछ काम होता है। सभी रूपों और विषयों में मनुष्य के मन का वातावरण कुछ-न-कुछ पवित्र बनता है। राम और ईश्वर मानकर उसके भजन में चाहे आदमी कल्पनालोक में ही विचरता हो, परन्तु उस समय उसका मन कुछ-न-कुछ निर्विषय एवं पवित्र होता है। परन्तु यहां सद्‌गुरु विचारपूर्वक राम-भजन की बात कहते हैं।

यह सर्वविदित है कि कबीर का राम व्यक्ति का अपना चेतनस्वरूप ही है अर्थात अपनी अंतरात्मा है। सबके भीतर 'मैं हूं' यह आत्म-अस्तित्व का भान है। जब सद्‌गुरु तथा संतों की कृपा से यह बोध के रूप में हो जाता है, तब जीवन बदल जाता है। "हृदया बसे तेहि राम न जाना।"[1] सद्‌गुरु कबीर जीव ही को राम मानते हैं। जीव ही मूल है। चेतन, आत्मा, राम आदि सब उसी के नाम हैं। 37वीं रमैनी की साखी में जहां उन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम बीजक रखने का संकेत किया है तथा बीजक का महत्त्व बताया है, वहां बीजक निर्देशित मूल धन एवं अपना सिद्धान्त 'जीव' ही बताया है।[2] अतएव बीजक का प्रतिपाद्य सिद्धान्त जीव है। क्योंकि जीव ही तो समस्त ज्ञान-विज्ञान का निधान है। सद्‌गुरु ने इस जीव अर्थात शुद्ध मूल चेतन को ही राम कहा है जो 'मैं' के रूप में सभी शरीरों में विद्यमान है। यह गुण में एक तथा व्यक्तित्व में अनेक है अर्थात सभी जीव अलग-अलग हैं, परन्तु सबका गुण एक ज्ञान है। अतएव यह हृदय-निवासी चेतन ही राम है।

भजन का मूल अर्थ है सेवा करना, दूसरा अर्थ है स्मरण करना। हिन्दी भाषा के अनुसार भजन के अर्थ स्वत्व तथा विभाजन भी होते हैं। राम-भजन है राम की सेवा करना। राम की सेवा का अर्थ है अपनी आत्मा को सारे भवबंधनों से छुड़ा लेना। मेरा चेतनस्वरूप सारे जड़-दृश्यों से भिन्न शुद्ध-बुद्ध है, यह स्वरूप-स्मरण ही राम भजन है। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि भजन का अर्थ 'स्वत्व' भी होता है। इसलिए अपने 'स्वत्व' में प्रतिष्ठित रहना भजन है। अपना स्वत्व, अपना आपा है, चेतनस्वरूप है। भजन का अर्थ विभाजन भी बताया गया है। इसलिए जड़ से अपना विभाग कर लेना, यह पूर्ण समझ लेना कि मैं जड़ से अलग हूं और इस भाव को एकरस बनाना

---

1. बीजक, रमैनी 41।
2. बीजक बित्त बतावै, जो बित गुप्ता होय।
ऐसे शब्द बतावै जीव को, बूझै बिरला कोय॥ रमैनी साखी 37॥

भजन है। सब मिलाकर सार यह हुआ कि अपने चेतनस्वरूप को जड़ से सर्वथा अलग समझकर निरन्तर चेतनाकार वृत्ति में ही रमण करना राम-भजन है। स्व-स्वरूप चेतन ही राम है और उसमें निरन्तर स्थित होना ही विचारपूर्वक रामभजन है।

अपने आप को देह मानना काम की स्थिति है तथा अपने आप को चेतन मानना राम की स्थिति है। देहाभिमान एवं काम-कल्पनाएं काले सर्प हैं। इससे बचाव तब होता है जब हम अपने चेतन राम में सदैव रमते हैं। काम-कीचड़ छोड़ने पर ही राम-भजन संभव है तथा राम-भजन करने पर काम-कीचड़ से अपने आप मुक्ति होती है। काम छोड़ने पर राम-भजन संभव होता है तथा राम-भजन बढ़ने पर काम समाप्त होता है।

काला सर्प का अर्थ काल एवं समय भी किया जा सकता है जो शरीर के साथ लगा रहता है और धीरे-धीरे शरीर को जीर्ण बनाता है। इससे वही बचता है जो राम-भजन करता है। इसका अर्थ यही है कि अविनाशी चेतन राम में रमने वाला अपने आप को नश्वर देह से अलग समझ लेता है। इसलिए शरीर का जीर्ण होना या नाश होना वह अपना जीर्ण होना या अपनी मृत्यु होना नहीं समझता। अविनाशी-राम का भजन करने वाला व्यक्ति विनाशी शरीर की आसक्ति से मुक्त होता है।

काल खड़ा शिर ऊपरे, तैं जागु बिराने मीत॥
जाका घर है गैल में, सो कस सोवे निश्चिन्त॥ 102॥

शब्दार्थ—काल=काम, कल्पना, मृत्यु। बिराने मीत=पराये का मित्र, माया का मोही। गैल=मार्ग।

भावार्थ—हे माया मोही मानव ! तू सावधान हो जा ! तेरे सिर पर काल खड़ा है। जिसका निवास-स्थल काल के मार्ग में है, वह निश्चिंत होकर क्यों सो रहा है !॥ 102 ॥

व्याख्या—काम, अहंकार, मन की नाना कल्पनाएं ही काल हैं जो मनुष्य के सिर पर सदैव मंडराते रहते हैं। मनुष्य सदैव इन्हीं में तो डूबा रहता है। हमारी हर समय आध्यात्मिक मृत्यु इन काम तथा कल्पनाओं के द्वारा ही होती रहती है। हमारा घर काम तथा कल्पनाओं के रास्ते में है। यह शरीर काम-वासनाओं से वासित है। इसमें वासनाओं तथा कल्पनाओं के उठने की संभावना रहती है। इसलिए हम जब तक इस शरीर में हैं सतत सावधान रहें। हम मन तथा वासनाओं पर विजयी हो गये यह मानकर कभी असावधान न हों। सावधानी हटी, कि दुर्घटना घटी। मन पर पूर्ण विजयी हो जाने पर भी जब तक शरीर है तब तक निरन्तर सावधानी की आवश्यकता है। जो साधक अन्दर की वासनाओं को उठने नहीं देगा और बाहर के कुसंग से सदैव दूर

रहेगा उसे ही जीवन में परम शांति की प्राप्ति होगी। श्री रामरहस साहेब ने कहा है—

जो जिव परख विलास में, लहै सदा सुख चैन।
तिन्ह के त्रास न काल के, और कहे को बैन॥ पंचग्रन्थी, टकसार 224॥

काल का प्रसिद्ध अर्थ समय एवं मृत्यु तो है ही। सद्गुरु कहते हैं कि हे माया-मोह में डूबा हुआ आदमी, सावधान हो जा। तेरे सिर पर काल मंडरा रहा है। जो काल के रास्ते में हो उसे लापरवाह नहीं होना चाहिए। 'बिराने मीत' का अर्थ दो ढंग से समझा जा सकता है। एक ढंग से अर्थ किया जा चुका है कि बिराने का मीत, पराये का प्रेमी। पराया है माया। जीव उसका मोही हो गया है। दूसरे ढंग से मीत शब्द संबोधन है। अर्थात हे मित्र! तू अपने आप में पराया हो गया। जैसे कोई अपने गलत आचरण के कारण अपने घर में रहकर भी सबसे उपेक्षित रहने के कारण पराया-सा बना रहे, वैसे हम अपने आप में पूर्ण होते हुए भी अपने अज्ञान एवं विषय-वासनावश स्वयं से ही उपेक्षित होकर पराये हो गये हैं।

हमें अपने आप में जागना चाहिए। सब समय सब कुछ काल के गाल में जा रहा है। यहां सब कुछ नश्वर है। इन नश्वर प्राणी-पदार्थों में अपना मन आबद्ध नहीं करना चाहिए। हमें शरीर की नश्वरता, काम-वासनाओं एवं कल्पनाओं की बन्धनरूपता दृष्टिगत रखते हुए अपने उद्धार के लिए सतत सावधान रहना चाहिए।

कल काठी कालू घुना, जतन जतन घुन खाय॥
काया मध्ये काल बसत है, मर्म न काहू पाय॥ 103॥

शब्दार्थ—कल=कोमल, कमजोर। काठी=काठ का बना हुआ, जड़ देह, देह की गठन। कालू=काल, समय, काम, कल्पना। घुन=घुन, काठ को खाने वाला एक कीड़ा। जतन-जतन=धीरे-धीरे।

भावार्थ—जड़ तत्त्वों से बना यह शरीर एवं शरीर की गठन बहुत कमजोर है। इसमें काल का घुन लगा है और वह धीरे-धीरे इसे खाकर निकम्मा बना रहा है। कोई यह रहस्य नहीं जानता कि शरीर के अन्दर ही काल रहता है॥ 103॥

व्याख्या—काठ की चीजों में जब घुन-कीड़े लग जाते हैं तब उन्हें वे भीतर-ही-भीतर चालकर निकम्मा बना देते हैं। काठ तो ऊपर चिकना तथा ठोस दिखता है, परन्तु भीतर-भीतर खोखला एवं कमजोर हो जाता है। हमारे शरीर की यही दशा है। यह तो स्वभाव ही से 'कल' है। अर्थात कोमल एवं कमजोर है। एक लकड़ी तथा पत्थर की बनी चीज की तो वैज्ञानिकों द्वारा आयु निर्धारित की जा सकती है और यह विश्वास किया जा सकता है कि यह

इतने वर्षों तक रहेगी; परन्तु इस शरीर के लिए ऐसा कुछ नहीं कहा जा सकता। यह तो हाड़, मांस, नस, चाम जैसे कमजोर पदार्थों से हजारों जोड़ों के द्वारा बना है। इसके टिके रहने में ही आश्चर्य होता है मिटने में क्या आश्चर्य है ! इतना कमजोर शरीर पचास-पचास तथा सौ-सौ वर्ष तक टिका रहता है यही अचंभा लगता है। इसके तो 'रहबे को अचरज है, जात अचम्भौ कौन !''

शरीर का साज वैसे ही कमजोर है। दूसरे इसके भीतर काल का घुन लगा हुआ है। हर आदमी का शरीर हर समय बदलता है। यह निरन्तर धीरे-धीरे काल के मुख में जा रहा है। काल तो काया के बीच में ही रहता है, परन्तु इसका रहस्य बिरला ही समझता है। स्थूल बुद्धि वाले समझते हैं कि हमारी आयु बड़ी हो रही है, परन्तु वस्तुतः आयु निरन्तर घट रही है। पानी से भरी हुई टंकी जैसे मोरी द्वारा पानी के धीरे-धीरे निकलते-निकलते एक दिन खाली हो जाती है, वैसे यह शरीर श्वास निकलते-निकलते एक दिन खाली हो जाता है।

काल के दूसरे अर्थ में काम तथा कल्पनाएं हैं, जो मनुष्य के दुर्बल शरीर में घुन के समान लगकर उसको निस्तेज बनाते हैं। आदमी ऊपर-ऊपर चिकना-चुपड़ा लगता है, परन्तु भीतर वह मलिन वासनाओं का गुलाम होता है। वासनाएं एवं कल्पनाएं मनुष्य के भीतर ही बसती हैं। यदि मनुष्य चाहे तो विवेक द्वारा उनका संहार कर सकता है। परन्तु वह इस रहस्य को नहीं समझ पाता। काम, कल्पना एवं वासना पर विजय ही काल को जीत लेना है। मृत्यु काल नहीं है जो केवल शरीर को मारती है। कामनाएं एवं वासनाएं काल हैं जो जीव को अंधकार में भटकाती हैं। अतएव हमें कामनाओं को जीतना चाहिए।

माया का स्वरूप

मन माया की कोठरी, तन संशय का कोट॥
विषहर मन्त्र माने नहीं, काल सर्प की चोट॥ 104॥

शब्दार्थ—माया=धोखा, अध्यास, वासना, आसक्ति। संशय=दुविधा, अनिश्चय, संदेह, भ्रम। कोट=किला, गढ़, दुर्ग। काल सर्प=काम, अहंकार, अज्ञान, कल्पना। विषहर मंत्र=अज्ञान-विष को दूर करने वाला सत्योपदेश।

भावार्थ—यह मन माया की कोठरी है और शरीर संदेहों एवं भ्रांतियों का किला है। अज्ञानरूपी सांप ने मनुष्य को डसकर उसके अंग में ऐसा घाव बना दिया है कि उस पर सत्योपदेश का कोई प्रभाव नहीं पड़ता जिससे उसका विष दूर हो॥ 104॥

व्याख्या—जैसे कपड़ों से भरी कोठरी, बरतनों से भरी कोठरी या किसी

वस्तु से भरी कोठरी होती है, वैसे माया से भरी एक कोठरी है और वह मन है। मन माया की कोठरी है। साधारण मनुष्यों के मन में माया-ही-माया भरी होती है। माया है धोखा। रात में पेड़ का ठूंठ देखकर चोर का धोखा होता है। रस्सी में सांप का धोखा होता है। इसी प्रकार सांसारिक विषयों में स्थायी सुख-प्राप्ति का धोखा होता है। मनुष्य के मन में अनेक प्रकार के अध्यास, कुसंस्कार, कुवासनाएं एवं आसक्तियां भरी हैं। ये ही माया हैं।

कुछ लोग समझते हैं कि माया की स्वतन्त्र सत्ता है या किसी प्रभु के द्वारा प्रेरित है और जीव के न चाहने पर भी वह उस पर कूदकर चढ़ लेती है और उसे परेशान करती है। सद्गुरु कबीर कहते हैं कि ऐसी कोई माया नहीं है जो मनुष्य के मन से कहीं बाहर अपनी सत्ता रखती हो और जीव के अलावा किसी दूसरे द्वारा प्रेरित होती हो। बस, मन के अन्दर पांचों विषयों का मोह बना रहता है, वही माया है। इसलिए यह मानना कि हमें कोई अन्य माया में बांध देता है, निपट अज्ञान है। यह हमारा मन ही माया की कोठरी है। इसी में से माया निकलती है और हमें परेशान करती है। और यह भी समझ लो कि यह माया हमारी ही बनायी है। हमने ही इसको सृजा है। अपने चेतनस्वरूप के अलावा जो कुछ दृश्य-विषय है उसमें अहंता-ममता एवं राग कर लेना यही माया है। और यह हम ही तो करते हैं ! हमें अपने वास्तविक स्वरूप का भान नहीं रहता, इसलिए हम जो कुछ देखते-सुनते हैं उसमें राग करते हैं या द्वेष करते हैं। यह हमारे बनाये राग-द्वेष ही हमें बांधने के लिए माया बन जाते हैं।

मान लो, किसी कोठरी में गायें हैं तो कोठरी खुलने पर उसमें से गायें निकलती हैं, किसी कोठरी में बकरियां हैं तो उसके खुलने पर उसमें से बकरियां निकलती हैं। इसी प्रकार मनुष्य की जैसे नींद खुलती है तुरन्त ही मन की कोठरी खुल जाती है और उसमें से माया निकलने लगती है। कहीं किसी के लिए ममता-मोह की याद होती है तो किसी के प्रति द्वेष और घृणा की, कभी मन से काम-संकल्प उठते हैं तो कभी क्रोध, कभी लोभ तो कभी ईर्ष्या, कभी चिन्ता तो कभी ग्लानि के संकल्प। अर्थ यह कि आदमी जब तक जागता है तब तक उसके मन में किसी-न-किसी प्रकार की मलिनता ही आती रहती है, यही माया है। और जाग्रत-अवस्था ही क्या, सोते समय में भी जब तक आदमी गाढ़ी नींद में नहीं रहता तब तक तो अर्ध सुषुप्ति ही रहती है, यही स्वप्न की अवस्था है। स्वप्न में भी जीव माया के द्वंद्व में पड़ा रहता है। उसे स्वप्न में आभास होता है कि हमें मानो हाथी खदेड़ रहा है, सांप पीछा कर रहा है, शत्रु से हम घिर गये हैं, नदी में डूब रहे हैं, कामभोग में प्रवृत्त हो रहे हैं, क्रोध तथा ईर्ष्या में जल रहे हैं। जीव स्वप्न में भी चैन से

नहीं रहता है। गाढ़ी नींद एवं प्रगाढ़ सुषुप्ति में तो कुछ भान नहीं रहता, परन्तु जागृति तथा स्वप्न के बीज सुषुप्ति में भी रहते हैं इसलिए अज्ञानी मनुष्य के मन में सुषुप्ति में भी माया बीजरूप में बनी रहती है। इसलिए जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओं में मनुष्य के मन में माया ही व्याप्त रहती है।

"तन संशय का कोट" शरीर संदेहों, दुविधाओं एवं भ्रांतियों का मानो किला है। मनुष्य के जीवन में संशय का अंबार है। व्यापार रुक न जाये, नौकरी छूट न जाये, खेती डूब न जाये, प्रियजन बिछुड़ न जायें या विमुख न हो जायें, शरीर रोगी न हो जाये, शरीर छूट न जाये, जीवन लक्ष्य क्या है, परमात्मा आत्मा ही है या कहीं बाहर है, मोक्ष जीवन रहते ही मिलता है कि मरने के बाद, साधना क्षेत्र में मैं सफल हो सकता हूं कि नहीं, यदि साधु बन जाऊं तो गुजर होगा कि नहीं, ऐसे-ऐसे अनेक संशय मनुष्य के चित्त को चालते रहते हैं। जो आदमी संशयग्रसित होता है, वह अपने लक्ष्य में सफल नहीं हो सकता। संशय अनिश्चय और भ्रम है जो मनुष्य को सदैव चंचल रखता है।

"विषहर मंत्र माने नहीं, काल सर्प की चोट" काल रूपी सर्प ने मनुष्य के मन में ऐसी चोट कर दी है, उसने ऐसा घाव बना दिया है, इस तरह डस लिया है कि मनुष्य विषहर-मंत्र नहीं मानता। जो विष का हरण कर ले वह विषहर-मंत्र है। विषहर-मंत्र स्वरूपज्ञान है, सत्योपदेश है। मनुष्य उसे नहीं मानता; क्योंकि काल-सर्प ने उसे अपने विष से अत्यन्त प्रभावित कर दिया है। काल-सर्प अज्ञान है, काम-वासना है, अहंता-ममता है और नाना मानसिक कल्पनाएं हैं। खानी-जाल का मुख्य अध्यास है काम-वासना तथा वाणी-जाल का मुख्य अध्यास है अपने चेतनस्वरूप से अलग अपना लक्ष्य खोजना, और दोनों का समवेत रूप है अज्ञान। इस अज्ञान से ही विषयों के लिए नाना कल्पनाएं उठती हैं तथा बाहर से देवी-देवता और ईश्वर-ब्रह्म पाने की कल्पनाएं उठती हैं। इन सारी कल्पनाओं में जो अत्यन्त जकड़ा है, उस पर स्वरूपज्ञान की बातों का प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु यह भी कथन का एक प्रकार ही है। सद्गुरु ने 29वीं रमैनी में कहा है—'गारुड़ सो जो मरत जियावै"। औषधि तो वही है जो विष से प्रभावित मरते हुए आदमी को जिला दे। बातें दोनों हैं। अधिक तो यही है कि अज्ञान में अत्यन्त जकड़े आदमियों को उपदेश नहीं लगता; परन्तु कहीं-कहीं देखा जाता है कि अत्यन्त व्यामोहित आदमी भी सत्योपदेश पाकर एकदम जग जाते हैं। इसलिए गुरुजन सदैव यही प्रयत्न करते हैं कि लोग माया-मोह से जगकर अपना कल्याण करें।

मन माया तो एक है, माया मनहिं समाय।
तीन लोक संशय परी, मैं काहि कहौं समुझाय॥ 105॥

शब्दार्थ—तीन लोक=पृथ्वी, पृथ्वी के नीचे तथा पृथ्वी से ऊपर, समस्त संसार; त्रिगुणी जीवजगत।

भावार्थ—जल-तरंग न्याय मन और माया एक ही है। माया मन में ही लीन है। परंतु संसार के लोगों के हृदय में यह भ्रम है कि माया मनुष्य के मन से अलग एक निरपेक्ष तत्त्व है जो किसी ईश्वर या ब्रह्म से चालित है और उसके द्वारा वह जीवों पर दौड़ा दी जाती है। सद्गुरु कहते हैं कि मैं किसको-किसको समझाकर कहूं कि ऐसी बातें नहीं हैं, किन्तु माया मनुष्य के मन की कल्पना ही है॥ 105॥

व्याख्या—"मन माया तो एक है, माया मनहिं समाय" जैसे पानी और उसमें उठने वाली तरंगें दो होते हुए भी अन्ततः एक है, वैसे मन तथा उसमें उठती हुई कल्पनाएं दो होते हुए अन्ततः एक है। पानी को हटा देने पर तरंगों का अस्तित्व नहीं हो सकता, इसी प्रकार मन के लीन हो जाने पर कल्पनाओं एवं संकल्पों का अस्तित्व नहीं हो सकता।

"मन माया तो एक है" इस बात को हमें ठीक से समझ लेना चाहिए। यदि मन और माया एक है तो यह प्रश्न उठता है कि ज्ञानी पुरुष का भी जब तक शरीर रहता है तब तक मन रहता ही है और तब तक फिर उसके पास माया भी रहेगी ही, क्योंकि मन-माया एक है। इसलिए ज्ञानी पुरुष भी जीवनभर माया से मुक्त नहीं हो सकता। फिर उसका ज्ञानी होना कहना निरर्थक हो जाता है। वस्तुतः शुद्ध मन भी माया ही है, क्योंकि मन अपना चेतनस्वरूप तो नहीं है, किन्तु शुद्ध मन बन्धन नहीं मोक्ष में सहायक है। जो माया बंधन करती है वह है अज्ञान, काम, क्रोधादि एवं कल्पनाएं, जिनकी चर्चा पिछली साखी में विस्तारपूर्वक हो चुकी है। वह माया भी मन ही में लीन है। मन से अलग उसका अस्तित्व नहीं है। जैसे पानी में लहर तथा हवा में आंधी उठती है, परन्तु लहर और आंधी के न रहने पर भी पानी और हवा रहते हैं वैसे मन में ही कामादि विकाररूपी माया उठती है, परन्तु कामादि विकाररूपी माया के न रहने पर भी मन रहता है। विकारों का न रहना ही माया से मुक्ति है। मन तो जीवनपर्यन्त रहता ही है। शुद्ध मन मोक्ष का कारण बनता है, बंधन का नहीं। माया मन में रहती है यह कहने का अर्थ यही है कि मनुष्य के मन को छोड़कर माया की कहीं अलग सत्ता नहीं है। यदि साधक विकारहीन मन वाला हो गया, तो वह माया से मुक्त है।

"तीन लोक संशय परी, मैं काहि कहौं समुझाय" संसार के प्रायः सभी लोगों को यह भ्रम है कि माया मनुष्य के मन से अलग कोई बलवान सत्ता है। ईश्वरवादी तथा ब्रह्मवादी दोनों ने माया की विचित्र व्याख्या कर डाली है। हिन्दू-ईश्वरवादियों ने मान रखा है कि माया तो ईश्वर की शक्ति है। उसी ने

जगत-जीवों को फंसा रखा है। ईश्वर ने अपने माया-जाल में सबको फंसाया है। "हरि माया अति दुस्तर, तरि न जाय बिहंगेश" तथा "उमा दारु जोषित की नाईं। सबहिं नचावत राम गोसाई।"[1] लोगों की जुबान पर रहती है "प्रभु माया बलीयसी"। कुछ लोगों के मतानुसार सत्पुरुष तथा ईश्वर से भी बलवान कालनिरंजन है जो ईश्वर के राज्य में गड़बड़ी मचाता है और जीवों को भटकाकर ईश्वर से विमुख करता रहता है। सामी[2] मजहब वाले प्राय: एक ऐसा शैतान मानते हैं, जो जीवों को भ्रम में डालकर अल्लाह से विमुख कर देता है। अद्वैत ब्रह्मवादी कहते हैं कि माया अघटित घटना पटीयसी, दुरत्यया तथा अनिर्वचनीया है। स्वामी शंकर कहते हैं—"माया को सत कहूं तो ठीक नहीं, असत कहूं तो ठीक नहीं तथा उभयात्मक कहूं तो ठीक नहीं, इसी प्रकार माया को ब्रह्म से भिन्न, अभिन्न तथा उभयात्मक और अंग-सहित, अंगरहित एवं उभयात्मक कहते नहीं बनता। वस्तुत: माया महान अद्भुत और अनिर्वचनीया—कहने में न आने वाली है।"[3] ब्रह्मवादी लोग प्रत्यक्ष जगत को, जो जड़तत्त्वों के स्वभावसिद्ध क्रियावान कणों का फल है किसी अकथनीय माया का फल होने की कल्पना करते हैं, इसलिए माया की व्याख्या और उलझ जाती है। इस प्रकार ईश्वरवादियों तथा ब्रह्मवादियों ने माया की परिभाषा ऐसी उलझा रखी है जो मनुष्य के समझने में न आवे। बल्कि उससे यही भ्रम हो कि माया ईश्वर की एक ऐसी शक्ति है, या ऐसी स्वतन्त्र सत्ता है जो जीव को जैसा चाहे नचाती रहे और जीव का उसमें कोई वश न चले। ऐसी अवस्था में मनुष्य माया के सामने केवल लाचार बनकर रह जाता है। वह केवल ईश्वर का नाम लेकर रात-दिन विनती किया करे, गिड़गिड़ाया करे, जब ईश्वर की मर्जी हो तो जीव को माया से मुक्त कर दे और जब चाहे उसे माया में पुन: डाल दे।

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि मैं किसको-किसको समझाकर कहूं कि मनुष्य के मन में रहे हुए मोह के अलावा कहीं कोई माया नहीं है और मोह बनता है व्यक्ति के अपने स्वरूप के अज्ञान से। अतएव माया के निर्माण में जीव की अपनी भूल ही कारण है। वह यदि अपनी भूल छोड़ दे तो माया अपने आप मर जाये। मनुष्य जब तक बीड़ी-तम्बाकू का सेवन नहीं करता तब तक उसके सम्बन्ध में कोई माया नहीं है और जब वह उनका सेवन करने लगता है और उनकी आदत बन जाती है, उनमें मोह हो जाता है, तब बस,

---

1. रामचरित मानस।
2. अरब, असीरिया, बेबिलोन आदि के क्षेत्र के निवासियों को सामी कहते हैं।
3. सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो महद्भुतानिर्वचनीयरूपा॥ (विवेकचूड़ामणि, श्लोक 111)

माया उपस्थित हो जाती है; और जब वह उन्हें दुखरूप जानकर छोड़ देता है, तब कुछ दिनों में माया समाप्त हो जाती है। उसे बीड़ी-तम्बाकू के लिए कोई आकर्षण नहीं रह जाता। कोई युवक-युवती परस्पर मिलते हैं, किन्तु कोई माया नहीं। जब वे एक-दूसरे से मोह कर लेते हैं तब एक दूसरे के बिना रह नहीं पाते, बस यही माया आ गयी। इस प्रकार जीव स्वयं अपने भूलवश माया बनाता है और विवेक कर वही उसे मिटा भी सकता है। जो माया मुझे भटका रही है, वह मेरी ही भूल का परिणाम है और मेरे ही ज्ञान तथा साधना से उसका नाश होगा। उसमें किसी ईश्वर या ब्रह्म से कोई मतलब नहीं है। यह मनुष्य की अपनी जिम्मेदारी है। वह चाहे अपने मन में माया को बनाये रखकर उसके फल में दुख भोगता रहे और चाहे तो उसे मिटाकर निर्बंध हो जाये। जो भेद नहीं समझ पाते वे बीजक की वाणियों में भी ऐसे अर्थों की कल्पना कर लेते हैं जिससे माया का रूप जीव के मन से अलग तथा उसके अधिकार के बाहर किसी दूसरे के हाथों में हो; जैसे "राम तेरी माया दुन्द मचावै" तथा "ई माया रघुनाथ की बौरी खेलन चली अहेरा हो।"[1] इत्यादि। परन्तु यहां राम एवं रघुनाथ का अर्थ जीव ही है। जीव ही की बनायी माया है जो द्वन्द्व मचाती है और जीव का ही शिकार करती है। क्या बीड़ी, तम्बाकू, सिगरेट, शराब तथा काम-भोग की आदत बना लेने के बाद लोग अपनी आदतों के शिकार नहीं होते! हम अपनी बनायी माया में स्वयं फंसते हैं। "मन माया की कोठरी, मन माया तो एक है, माया मनहि समाय" आदि की कसौटी से "राम तेरी माया दुन्द मचावै" तथा "ई माया रघुनाथ की बौरी" आदि को कसना चाहिए।

कबीर साहेब हर जगह साफ, सीधी और सपाट बातें कहते हैं। वे कहते हैं कि माया किसी ईश्वर तथा ब्रह्म द्वारा प्रेरित नहीं है जो तुम्हारे ऊपर जबर्दस्ती कूद पड़े और तुम्हें विवश कर दे। माया तुम्हारी बनायी है इसलिए तुम उसे मिटाकर मुक्त होने में स्वतन्त्र हो।

सुख का मोह दुखदायी है

बेह्रा दीन्हों खेत को, बेह्रा खेतहिं खाय।
तीन लोक संशय परी, मैं काहि कहौं समुझाय॥ 106॥

शब्दार्थ—बेह्रा=बाड़, फसल की रक्षा के लिए कांटे, बांस आदि का बनाया घेरा; तात्पर्य में माया। तीन लोक=सभी मनुष्य।

भावार्थ—बाड़ फसल की रक्षा के लिए लगायी जाती है, परन्तु दुख की बात है कि यहां बाड़ ही फसल को खा रही है, अर्थात मनुष्य माया का

---

1. शब्द 13 तथा कहरा 12।

फैलाव अपने सुख के लिए करता है, परन्तु उसकी फैलायी हुई माया ही उसे दुख देती है। मैं किसको-किसको समझाऊं, सारे संसार में यह भ्रम है कि माया जीव को सुख देती है॥ 106 ॥

व्याख्या—किसान लोग कोई फसल लगाते हैं ज्यादातर सब्जी आदि की, तब वे उसके चारों ओर कांटे, बांस या अन्य लकड़ियों की बाड़ लगाते हैं जिससे फसल की रक्षा हो सके। यदि बाड़ न लगाये तो पशुओं से चर जाने का भय रहता है। परन्तु यदि बाड़ ही फसल को चर ले तो दूसरा क्या उपाय! तात्पर्य है मनुष्य अपने सुख के लिए माया का विस्तार करता है, परन्तु वह माया का फैलाव ही जीव को संताप देता है। एक स्वच्छन्द नवयुवक होता है। वह यदि माता-पितादि की सेवा करे और साथ-साथ अपनी आध्यात्मिक उन्नति करे तो उसका जीवन कल्याण की तरफ अग्रसर हो। परन्तु वह अपने सुख की कल्पना करके मन में एक मोह उत्पन्न करता है। यह मोह ही माया है, और इस माया के विस्तार में वह अपनी शादी करता है, बच्चे पैदा करता है, धन-संग्रह एवं परिवार बढ़ाता है। उसके बाद जीवनभर उनमें उलझ-उलझकर दुख पाता है। युवक को पहला व्यामोह होता है इन्द्रिय-सुख का। इसी व्यामोह में वह अपने आप को वैवाहिक बन्धनों में बांधता है। उसे दूसरा व्यामोह होता है बुढ़ापा की विवशता का। हर पति-पत्नी अपने बुढ़ापा को लेकर काफी भयभीत रहते हैं कि उस समय हमारी सेवा कौन करेगा! परन्तु यह एक व्यामोह मात्र है। संसार में देखा जाता है कि बाल-बच्चों वाले मनुष्यों की अपेक्षा वे ज्यादा सुखी होते हैं जिनके बाल-बच्चे नहीं होते, बशर्ते वे अपने मन में बाल-बच्चों की कमी न महसूस करें। अधिकतम बाल-बच्चे वाले दुखी ही देखे जाते हैं। बुढ़ापा में सेवा कौन करेगा, यह भय बेकार है। सबको सेवा की जरूरत नहीं पड़ती। यदि जरूरत पड़ जाती है तो कोई-न-कोई सेवा करने वाला मिल जाता है। मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी स्वस्थ अवस्था में दूसरों की सेवा करने के लिए तत्पर रहे।

आदमी बैठा-बैठा घबराता है, बोर होता है, तो वह अपने चैन के लिए ताश खेलने लगता है। पीछे उसकी आदत हो जाने पर उसे बिना ताश खेले नहीं रहा जाता। यदि उसे कोई ताश खेलने वाला न मिला तो वह बेचैन होता है। शराब, बीड़ी-सिगरेट, पान-तम्बाकू, मांस, मैथुन आदि का सेवन आदमी अपने मन-इन्द्रियों के सुख के लिए करता है, परन्तु ये सब इसको दुख देने वाले हो जाते हैं। उलटी बुद्धि में हम जो कुछ करते हैं वह सब हमारे लिए दुख का साधन बनता है।

जीवन-रक्षा के लिए उपाय करना ठीक है, आवश्यक है। मनुष्य को

भोजन, वस्त्र, औषध, आवास तथा अन्य जीवनधारणोपयोगी वस्तुओं की आवश्यकता है। उसके लिए मनुष्य को श्रम करना चाहिए। परन्तु इसमें भी संतुलन का ध्यान रखना चाहिए। अज्ञानवश जीवन-निर्वाह में संतोषवृत्ति न रखने से लोग तृष्णा की धारा में पड़ जाते हैं। जितना कम-से-कम तथा साधारण-से-साधारण चीजों से गुजर किया जा सके, अच्छा है। अन्यथा यदि आदमी बहुत उत्तम-उत्तम एवं अच्छे-अच्छे के चक्कर में पड़ेगा तो मानो बेह्रा खेत खाने लगेगा। शुद्ध और स्वास्थ्यप्रद भोजन की सामग्री सन्तुलित मात्रा में पेट में डाल देना चाहिए जिससे शरीर आराम से चल सके। यदि कोई भोजन में अधिक कीमती और स्वाद के चक्कर में पड़ेगा, तो वह एक तो यह सब प्राप्त करने के लिए परेशान होगा, नीति-अनीति की परवाह भी छोड़ सकता है; और दूसरी बात यह है कि वह स्वाद के चक्कर में असंतुलित भोजन करके पेट को खराब करेगा और रोगी बनेगा। भोजन खाया जाना चाहिए तृप्ति के लिए, तो वह हो जायेगा रोग और दुख के लिए। यह बेह्रा के खेत खाने की बात हुई।

हमारे जीवन में पदार्थों का संग्रह एवं प्राणियों का सम्बन्ध विवेकपूर्वक होना चाहिए। यह सब अपने तथा दूसरे के कल्याण के लिए होना चाहिए। ऐसा न हो कि यह सब अपने तथा दूसरे के लिए राग-द्वेषजनित भव-बंधनों का निर्माण करने लगे। सारी प्रवृत्तियों का फल निवृत्ति होना चाहिए। सारे सम्बन्धों का फल सम्बन्धजनित बंधनों को तोड़ने के लिए होना चाहिए। हमारे शरीरधारण का फल ही होना चाहिए सारी विषयासक्तियों को नष्टकर अपने चेतनस्वरूप में स्थित होने के लिए। हमारे जीवन के हर सम्बन्ध, प्रवृत्ति एवं क्रिया का फल स्थायी सुख, शांति, निर्बंधता, स्वच्छन्दता एवं मोक्ष होना चाहिए।

यदि हम जो कुछ करते हैं वह सब हमारे लिए फूल न बनकर कांटे बनते हैं तो इसके अन्तराल में हमारा कोई व्यामोह है, बेसमझी है। दूसरे में सामर्थ्य नहीं है कि हमें वह दुख दे सके। हम स्वयं अपने अविवेकवश दुख बनाते हैं। यदि हमारा चित्त शुद्ध है तो दूसरे के द्वारा घटायी गयी अप्रिय घटना भी हम पर प्रभाव नहीं डाल सकती। हमारे लिए बंधन एवं दुख तो केवल हमारी बेसमझी है। हम व्यामोहित होकर, माया में उलझकर जो कुछ करते हैं वह करते तो हैं अपने सुख के लिए, परन्तु वे हमारे लिए दुख एवं बंधनों के कारण बनते हैं, बाड़ खेत खाती है।

परन्तु सबको तो यही भ्रम है कि माया सुखदायी है। "तीन लोक संशय परी, मैं काहि कहौं समुझाय" सारा संसार तो मोह की धारा में डूबा है, किसको-किसको समझाया जाये! हर मनुष्य के मन में माया की मूर्च्छा है।

केवल प्रतिशत का अन्तर है। किसी के मन में शत-प्रतिशत मूर्च्छा है, किसी के मन में नब्बे, असी या इससे कम। जिसके मन में जितनी मूर्च्छा की मात्रा कम है वह उतना ही सुलझा होता है, सुखी होता है। जो माया की मूर्च्छा से एकदम निकल गया है, वह धन्य है, वही जीवन्मुक्त है। यही जीवन की सार्थकता है।

विवेक से मन की लहरों पर विजय

मन सायर मनसा लहरि, बूड़े बहुत अचेत।
कहहिं कबीर ते बाँचि हैं, जाके हृदय विवेक॥ 107॥

शब्दार्थ—सायर=समुद्र। मनसा=मन से उत्पन्न इच्छाएं-कल्पनाएं। लहरि=तरंग। विवेक=सत्य-असत्य परख करने की शक्ति।

भावार्थ—मन समुद्र है और उससे उत्पन्न नाना इच्छाएं एवं कल्पनाएं लहरें हैं। इनमें बहुत-से असावधान लोग डूब गये हैं। सद्गुरु कहते हैं कि इनसे वही बचेगा जिसके हृदय में सत्य तथा असत्य एवं स्व और पर को परखने की शक्ति होगी॥ 107॥

व्याख्या—आप कभी समुद्र के तट पर गये हों तो देखे होंगे वह कितना विशाल होता है। हम जब समुद्र की तरफ मुख कर उसके तट पर खड़े होते हैं, तब हमारी दृष्टि में केवल समुद्र का पानी होता है। आगे चलकर हमें लगता है कि सफेद-श्याम पानी तथा सफेद-श्याम आकाश मिलकर एक हो गये हैं। समुद्र की विशालता मनोहर भी लगती है और भयावह भी। समुद्र में समय-समय पर बड़े जोरों से ज्वार आते हैं। समुद्र के पानी का ऊपर उठना ज्वार कहलाता है और गिर जाना भाटा कहलाता है। जब ज्वार-भाटे नहीं रहते, तब भी समुद्र में हर समय 'हहा-हहा' की आवाजें करते हुए ऊंची-ऊंची लहरें आती रहती हैं। समुद्र का पानी कभी शांत नहीं रहता। उसमें हर समय लहर-पर-लहर उठती रहती है।

सद्गुरु कहते हैं कि मनुष्य का मन भी एक विशाल समुद्र है जिसमें इच्छाओं, संकल्पों, कल्पनाओं एवं स्मरणों की लहरें निरन्तर उठती रहती हैं। जैसे समुद्र में बीच-बीच में ज्वार-भाटे आते हैं, बाकी समय में लहरें तो निरंतर उठती हैं; वैसे मनुष्य के मन में बीच-बीच में काम, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष, शोक, भय आदि के बड़े-बड़े ज्वार-भाटे आते हैं, परन्तु सामान्य विषयासक्ति एवं राग-द्वेष तथा सुख-दुख के द्वन्द्वात्मक स्मरण प्राय: सब समय उठते रहते हैं। जहाज पर बैठकर साधारण-से-साधारण लोग भी विशाल समुद्र को पार कर जाते हैं और भीड़-की-भीड़ पार होती रहती है। परन्तु इस मन के समुद्र से कोई बिरला पार होता है।

जैसे समुद्र से ही लहरें उठती हैं, वैसे मन से संकल्प-विकल्प की लहरें उठती हैं। "मन सायर मनसा लहरि" कहने का तरीका कितना चोटदार है ! 'मनसा' का अर्थ ही है जो मन से पैदा हो। इच्छा, वासना तथा कल्पनाओं की लहरें मन से ही उठती हैं। ऐसे कम लोग होते हैं जो जीवन-गुजर की चीजों के कम होने से परेशान हों। देखा जाता है कि मनुष्य खाते-पीते, सुविधा प्राप्त हैं, परन्तु उनके मन की इच्छाएं, संकल्प-विकल्प एवं कल्पनाएं उन्हें चैन से नहीं रहने देतीं। मनसा मन के विकार हैं। मन के विकार ही लहरें बनकर जीव को निरन्तर थपेड़े देते रहते हैं। इन मन की तरंगों में डूबते रहने के मूल में है अपनी असावधानी। सद्गुरु कहते हैं—"बूड़े बहुत अचेत"। अचेत, असावधान एवं बेहवास लोग ही मन के सागर में डूबते हैं। जो बिलकुल बेहवास हैं वे तो हर समय मन की तरंगों में ही डूबे रहते हैं, परन्तु जो साधक है, वह भी जिस समय अचेत हो जायेगा, सावधानी छोड़ देगा, उस समय मन की तरंगों में डूबने लगेगा। साधक ध्यान में बैठता है, परन्तु यदि असावधान है तो वह संकल्पों में बहता रहेगा। उसके ध्यान का समय बीत जायेगा और ध्यान नहीं लगेगा। सावधानी हटी और दुर्घटना घटी। अतएव सावधानी ही साधना है।

इन मन की तरंगों से वही बचता है जिसके हृदय में विवेक है। विवेक परख शक्ति का नाम है। सत्य-असत्य, सार-असार, चेतन-जड़ तथा स्व और पर की जिसे परख है उसकी दिव्यदृष्टि होती है। 'विवेक' बड़ा वजनदार है। बुद्धि भ्रम में पड़ सकती है, किन्तु विवेक भ्रम में नहीं पड़ता। जब तक मन में भ्रम है, तब तक विवेक नहीं है। विवेक एक्स-रे मशीन है, जिसके द्वारा अन्दर की वास्तविकता देख ली जाती है। आप जानते हैं कि डॉक्टर लोग एक्स-रे मशीन से शरीर के भीतर की हड्डियों के चित्र ले लेते हैं। इसी प्रकार जिसके हृदय में विवेक है वह देखता है कि रमणीय माने गये शरीर, जवानी, पत्नी, बच्चे, धन, मकान, प्रतिष्ठा, पूज्यता में क्या सार है ! नर-नारियों के सारे शरीर हाड़-चाम के ढांचे हैं। उनमें मल-मूत्र भरे हैं। सारे देहधारी इच्छा-कामना की आग में जल रहे हैं। इनके संयोग एवं मोह में कहां सुख तथा कहां शांति है ! सारे संयोग क्षणिक हैं। इसलिए संयोगजनित सुख भी क्षणिक हैं। इन क्षणिक तथा भ्रमजनित विषय-सुखों में आसक्त होकर नाना इच्छाएं बन जाती हैं और जीव इसी भवजाल में भटकता रहता है। मेरा अपना स्वरूप शुद्ध चेतन है। मनस्तरंगों के नाते ही सारा संसार मेरे सामने उपस्थित होता है। मनस्तरंगों को हटा देने पर मैं असंग, निराधार, कैवल्यस्वरूप शुद्ध चेतन मात्र रह जाता हूं। ऐसा विवेक, ऐसी परख जिसके हृदय में विद्यमान है, वह 'मन सायर' तथा 'मनसा लहरि' से बाहर

स्वरूपस्थिति एवं आत्मस्थिति के उच्चतम शिखर पर विराजमान होता है।

विवेक के प्रदीप्त होने पर ही वैराग्य उत्पन्न होता है जो मन की अनासक्ति अवस्था है। अनासक्त मन वाला संसार-सागर से तर जाता है। जिसे कहीं आसक्ति नहीं, वह कहीं भी नहीं बंध सकता। विवेकवान व्यक्ति व्यवहार में भी सुलझा हुआ होता है। सारी उलझन का कारण आसक्ति है। आसक्ति के कारण ही आदमी दोषजनक व्यवहार करता है। जब आसक्ति ही नहीं तब दोषजनक व्यवहार होने का प्रश्न ही नहीं। जिसका व्यवहार दोषजनक नहीं होगा, वह सुलझा होगा। अतएव अचेत आदमी ही मन की धारा में बहता है, विवेकवान जाग्रत होता है। वह मन-मनसा की धारा से पार होता है।

सद्गुरु ने समुद्र तथा उसकी लहरों का उदाहरण देकर मन तथा मन के विकारों को समझाया है। समुद्र एवं उसकी लहरों में जड़-प्रकृति कारण है जो स्वाभाविक है। अर्थात जब तक समुद्र है तब तक उसमें लहरें उठेंगी ही। वे बंद नहीं हो सकतीं। परन्तु मनुष्य के मन की लहरों का कारण है उसकी असावधानी तथा अविवेक। उनके मिट जाने पर मन की लहरें शांत हो जाती हैं। समुद्र जड़ होने से उसकी स्वभावसिद्ध क्रिया है; इसलिए उसका रुकना असंभव है। उसकी क्रिया तभी रुक सकती है जब जड़ प्रकृति में ही कोई ऐसा परिवर्तन हो। परन्तु मनुष्य चेतन है। वह अपने अज्ञान से मन में लहर उठाता है और ज्ञान होने पर मन को शांत कर देता है।

एकांत-शांत प्रदेश में स्थिर आसन से बैठना चाहिए। फिर विवेक-वैराग्यपूर्वक मन की तरंगों को छोड़-छोड़कर शांत होना चाहिए। विवेक-साधना से जब अन्त:करण में वैराग्य का अधिक प्रकाश हो जाये, तब स्मरणों का केवल द्रष्टा बने रहना चाहिए। अर्थात दृढ़तापूर्वक यही ध्यान रखे कि सब स्मरण शांत हो जायें। जब कोई स्मरण उठे तो उसका तुरन्त द्रष्टा बन जाये, उसमें मिले नहीं। फिर वह स्मरण अपने आप लुप्त हो जायेगा।

उपर्युक्त प्रकार से निरन्तर अभ्यास करते-करते कुछ दिनों में ऐसी अवस्था प्राप्त होगी, जब स्मरणों का द्रष्टा बनने में सरलता हो जायेगी; और फिर स्मरण शांत होकर निश्चलता हो जायेगी। इस अवस्था में द्रष्टापन भी नहीं रहेगा। क्योंकि स्मरण सम्मुख रहने पर ही जीव द्रष्टा है, अन्यथा चेतन मात्र एवं ज्ञान मात्र है। परन्तु ध्यान यह होना चाहिए कि इस समय में निद्रा-तन्द्रा या मूढ़ता न आने पाये। इसी को स्थिति अवस्था कहते हैं, जो साधना का फल एवं सर्वोच्च पद है।

इसके अनन्तर उठते-बैठते, चलते-फिरते निरन्तर विवेक अवस्था में जाग्रत रहना—यह साधना का अन्तिम फल है। क्योंकि यदि कोई एक काल में तो समाधिस्थ हो जाये, परन्तु अन्य काल में मन-माया से सावधान न रहे

या अधिक प्रपंचाकार रहे, तो यह साधना का कोई फल नहीं। जो हर क्षण मन-माया से सावधान रहता है, वही समाधिस्थ एवं विवेकवान पुरुष है।

इस कार्य के लिए व्यवहार-प्रपंच की कमी, ब्रह्मचर्य का अखण्ड पालन, वैराग्य-भावना, सदाचार, मन:कल्पित भोगों का सर्वथा त्याग, निर्वाह में सादगी और सन्तोष, वैराग्यवानों का सत्संग, वैराग्य-बोधपूर्ण सद्ग्रन्थों का अध्ययन तथा एकांत-सेवन की महान आवश्यकता है।

इस प्रकार विवेक या द्रष्टा-अभ्यास के लिए सद्गुरु ने उपदेश दिये हैं। इसी को श्री रामहरस साहेब भी पुष्ट करते हैं—

मैं मेरी संकल्प यह, सोई दुख की खान।
ताहि त्यागि गुरु परख लहै, द्रष्टा सोई सुजान॥ 219॥
जग सुख अनित बिचार बुधि, ब्रह्म सुखहिं लौ लीन।
द्रष्टा दोऊ सुखन को, मिथ्या जानहु लीन॥ 233॥
अपनी दृष्टि प्रताप बल, गुरु उपदेश विशेष।
सत्संगति सुख नित्यप्रति, द्रष्टा पारखी देख॥ 234॥
सोई पारख प्रगट गुरु, जहाँ नहीं अनुमान।
सुख प्रत्यक्ष पूरण अमल, रहै यथारथ जान॥ 235॥

(पंचग्रन्थी, गुरुबोध)

श्री पूरण साहेब कहते हैं—

पारख ऊपर थिर ह्वै रहना। सकल परखना नहिं कछु गहना। निर्णयसार॥

हंस समाधी एक ही, सदा निरन्तर होय।
इनते जो विचलै नहीं, लेहु परख पद सोय॥ 25॥
पारख भूमिका भिन्न है, मिलै न काहु को भाय।
परखत परखत हंस को, ता भूमिका को पाय॥ 27॥
जाते सकलो परखिया, सो पारख निज रूप।
तहाँ होय रहु थीर तू, नहिं झाँईं भ्रमकूप॥ 28॥ त्रिज्या॥

श्री विशाल साहेब कहते हैं—

स्मरणों को मेटे बिना, कौन मनुष अस आज।
नित नित आपति न सहै, साधु स्ववश तेहि काज॥ 102॥
क्रिया जहाँ तक जड़ सबै, एक लेय एक ठेल।
भिन्न आप लखि ताहि से, पारख स्वबल अकेल॥ 105॥
जैसी रुकती वृत्ति लखि, तैसहिं शान्ती आय।
चिंतन होवै और जब, तबहीं न ठहराय॥ 106॥
मन देखत मन लीन नहिं, निज शक्ती लौटारि।
शक्ती जब पावै नहीं, तबसो क्षीण निहारि॥ 113॥

सबै काम को छोड़ि के, रहे आप में आप।
पारख पाय अनाथ गत, मिटै जगत दुख पाप॥ 119॥

(मुक्तिद्वार, शांतिशतक)

श्री गुरुदयाल साहेब कहते हैं—

चितवन करन जगत की, जौं लौं नहिं अति अन्त।
कहहिं कबीर पुकारि के, तौं लौं होय न सन्त॥

(कबीर परिचय, 208)

श्री काशी साहेब कहते हैं—

वैराग्य को आसन विवेक की माला। शांति हिये दृढ़ धरना जी॥ 1॥
परख करु मणका सुरत को धागा। नास्ति माया को फेरना जी॥ 2॥
'परख प्रकाशी हंस सत्य है'। जाप सो हरदम जपना जी॥ 3॥
कायाबीर तब कबीर कहावै। बीजक का यही कहना जी॥ 4॥

(जड़-चेतन भेद प्रकाश)

बुद्धि के सागर धूर्तों से सावधान

सायर बुद्धि बनाय के, बाँयें बिचक्षण चोर॥
सारी दुनियाँ जहँड़े गई, कोई न लागा ठौर॥ 108॥

शब्दार्थ—सायर=समुद्र। बाँये=विपरीत, बाममार्ग, कुपथ, उलटा पथ। बिचक्षण=विद्वान, दूरदर्शी, चतुर, पारगत, दक्ष। जहँड़े=नष्ट। ठौर=स्थिति, शांति।

भावार्थ—जीवों के ज्ञानधन एवं मानवता की चोरी करने वाले कुपथगामी विद्वानों ने अपनी बुद्धि को समुद्रवत विशाल बनाकर एवं नाना भ्रमपूर्ण ग्रन्थों को रचकर समाज का पतन किया है। इसी में पड़कर संसार के सारे लोगों के विवेक-विचार नष्ट हो गये हैं। कोई अपनी स्थिति को नहीं प्राप्त हुआ॥ 108॥

व्याख्या—हर समय में कुछ ऐसे लोग होते हैं जो बुद्धि के सागर, प्रतिभा के धनी, विद्वान, चतुर, ज्ञान में पारगत एवं समाज को समझने में दक्ष होते हैं। परन्तु वे स्वयं कुपथगामी होते हैं। वे विद्या-बुद्धि, धर्म एवं परमार्थ की आड़ में सांसारिक भोगों एवं ऐश्वर्यों को भोगने की इच्छा वाले होते हैं। इसलिए वे दूसरे के साथ छल करते हैं। वे मानो जनता के ज्ञानधन एवं मानवीय गुणों की चोरी करते हैं। वे समाज को गलत दिशानिर्देश करते हैं। वे अपने आप के विषय में प्रचारित करते हैं कि हम भगवान या भगवान के अवतार या पूर्व महापुरुषों के अवतार या ईश्वर के पैगंबर हैं। वे अपने आप को समाज में चमत्कारिक रूप में प्रचारित करते या करवाते हैं। चमत्कार, जो

केवल एक छलावा है, इसके वे बड़े प्रेमी होते हैं। वे झूठे चमत्कारों से अपने आप को मंडित करते और करवाते हैं। वे मानव की बुद्धि का शोषण करते हैं। वे मानव के विवेक को चुराते हैं। जो विश्व के शाश्वत नियम हैं, कारण-कार्य-व्यवस्था है, प्रकृति के गुण-धर्म हैं, उनको वे झुठलाते हैं और भ्रमजनित बातें संसार में फैलाकर, समाज को सदैव बेवकूफ बनाये रखना चाहते हैं।

वे प्रचारित करते हैं कि उनके प्रताप से मुरदा जी जाता है, सूखे काठ हरे हो जाते हैं, पत्थर की सिल्ली बढ़ जाती है, पानी घी हो जाता है, नदी सूख जाती है, बांझ को पुत्र हो जाता है, अंधे को आंखें तथा कोढ़ी को सुन्दर काया मिल जाती है, एक-दो खुराक भोजन में हजारों लोग पेट भर खा लेते हैं, सारी ऋद्धि-सिद्धियां अचानक मिनटों में प्रकट हो जाती हैं। चूंकि वंचकों ने ऐसी-ऐसी बातों का प्रचार प्राचीनतम काल से किया है, इसलिए उन्हें ऐसी झूठी बातों को अपने जीवन से जोड़ने में सरलता रहती है। धर्म, भगवान तथा महात्मा के नाम पर जितना अधिक झूठ बोला जा सके उतना अधिक जनता को मूर्ख बनाया जा सकता है। धूर्त चमत्कारों की बात फैलाते हैं और मूर्ख उनमें फंसते हैं। ऐसे लोगों का त्याग दिखावा मात्र एवं पाखण्डपूर्ण होता है। ऐसे लोगों को परमार्थ की आड़ में भोगों की लालसा होती है। इसलिए वे भोग और योग को एक मानते हैं। वे अपने अनुगामियों को काफी छूट देते हैं जिससे उनका दल बढ़ता जाये।

"सारी दुनिया जहँड़े गई, कोई न लागा ठौर" उक्त-जैसे धोखे में पड़कर प्राय: सारा संसार भटक गया है। गुरुओं ने कोई-न-कोई अंधविश्वास अनुगामियों को पकड़ा दिया है और वे उसमें चिपककर अपनी विवेक-बुद्धि खो बैठे हैं। भटके हुए मनुष्यों को कहां ठौर लग सकता है !

स्वार्थी पूंजीपति जनता का आर्थिक शोषण करते हैं और धोखेबाज धार्मिक गुरु जनता का बौद्धिक शोषण करते हैं। जब कोई धार्मिक गुरु बताता है कि महात्मा या गुरु या भगवान की कृपा से पानी बरसता है, तब वह मनुष्य की बुद्धि का शोषण करता है। क्योंकि पानी बरसने के जितने कारण हैं, वे जड़प्रकृति के अपने नियम हैं। प्रकृति में जब उन नियमों का संयोग हो जाता है तब पानी बरसता है, अन्यथा नहीं बरसता। उसमें किसी देवी, देवता, भगवान, गुरु और महात्मा का कुछ भी वश नहीं है, अन्यथा अवर्षण तथा अतिवर्षण होते ही नहीं। परन्तु पानी बरसने के कारण में भगवान, गुरु और महात्माओं को जोड़कर मनुष्य की बुद्धि को दिग्भ्रमित कर दिया जाता है। एक बार मनुष्य के मन में जब अंधविश्वास बैठा दिया जाता है, तब वह सोचने-विचारने की शक्ति से सदैव के लिए पंगु हो जाता है। फिर तो उससे

सारी मूर्खतापूर्ण बातें मनवायी जा सकती हैं। अतएव ये जनता की विवेक-बुद्धि एवं मानवीय गुणों को चुराने वाले विपथगामी बुद्धि के सागर लोगों ने जनता का बड़ा अहित किया है। ये समाज के कीड़े हैं। ये मानव-समाज को खोखला बनाते हैं। इनके चक्कर में पड़कर संसार के लोग भटक गये हैं। अतएव इनसे सावधान होने की आवश्यकता है।

सच्चा मानव कौन?

मानुष ह्वै के ना मुवा, मुवा सो डाँगर ढोर॥
एकौ जीव ठौर नहिं लागा, भया सो हाथी घोर॥ 109॥

शब्दार्थ—डाँगर ढोर=डंगर-ढोर, गाय भैंस आदि चौपाया पशु। ठौर= स्थिति, स्वरूपस्थिति, शांति। घोर=घोड़ा।

भावार्थ—मनुष्य ने मानवीय-बुद्धि एवं मानवता के आचरण धारण करके जीवन नहीं बिताया, किन्तु पशु-बुद्धि एवं पशु-आचरण करके मरा। इसलिए ऐसे में से एक जीव भी अपनी आत्मस्थिति एवं निजस्वरूप की स्थिति न पा सका, बल्कि हाथी-घोड़े आदि पशु-स्वभाव का बनकर चला गया। अथवा मरकर हाथी-घोड़े आदि पशु खानियों में गया।

अथवा "मानुष ह्वै के ना मुवा" जो व्यक्ति मानवीय बुद्धि एवं मानवीय आचरण धारण किया, वह मरा नहीं, किन्तु अमरत्व को पा गया। मरता तो वह है जो पशुबुद्धि वाला देहाभिमानी है! ऐसे जीव स्वरूपस्थिति न पाकर हाथी-घोड़े आदि पशु होते हैं॥ 109॥

व्याख्या—विवेकी होना ही मनुष्य होना है। बौद्धिक संतोष, चारित्रिक सन्तोष और आत्मिक संतोष ही जीवन की ऊंचाई है। विवेक के पूर्ण उदय होने पर बौद्धिक सन्तोष होता है; मन, वाणी तथा इन्द्रियों से सारी बुराइयों के दूर हो जाने पर चारित्रिक सन्तोष होता है और वासनाओं की पूर्ण निवृत्ति होने पर आत्मिक संतोष होता है। जड़ और चेतन में उनके अपने गुण-धर्म अन्तर्निहित हैं जिनसे संसार की गतिविधि चलती है। संसार में सब कुछ नियमबद्ध है। यहां कुछ भी अजूबा या चमत्कार नहीं होता है। हर घटना के पीछे कारण है। पांचों विषयों एवं जड़-दृश्यों का द्रष्टा चेतन स्वयं ज्ञानरूप है, वही व्यक्ति का निजस्वरूप है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, राग, द्वेष, देहाभिमान आदि का त्याग कर दया, क्षमा, सत्य, शील, विचार, सन्तोषादि धारणकर अपने चेतनस्वरूप में स्थित होना ही मनुष्य होना है। जो ऐसा मनुष्य हो जाता है वह मरता नहीं "मानुष ह्वै के ना मुवा"। जो इस प्रकार सच्चा मनुष्य हुआ, वह अमर हो गया। मरता तो वह है जो डंगर-ढोर है। जो यह मानता है कि मैं देह हूं, खाना-पीना तथा विषय-भोगना जीवन का लाभ

है, ऐसा देहाभिमानी मनुष्य मरता है। देह ही तो मरती है और जो अपने आप को देह मानता है वही मरता है। वही समझता है कि मैं मर रहा हूं। परन्तु जो यह जानता है कि मैं अमर चेतन हूं, वह मरने का भ्रम क्यों करेगा! जिसे विवेकज्ञान है, वह अपने आप को अमर जीव एवं आत्मा मानता है। उसे अपने आप के विषय में मरने का भय नहीं हो सकता। वह निर्भय, स्वच्छंद एवं निर्बंध हो जाता है।

खेद है कि संसार में इस ढंग के मनुष्य बिरले-बिरले हैं। शेष तो पशुबुद्धि वाले हैं। वे अपने आप को देह समझते हैं। सदैव पेट भरने, इंद्रिय-भोगों में उलझे रहने तथा इन सबके लिए धन्धा करने में ही वे अपने आप को कृतार्थ मानते हैं। इसलिए वे सदैव मृत्युभय से भीत रहते हैं। वे आज पशु-स्वभाव के हैं और मरने पर भी पशु ही रहेंगे। परन्तु जो आज मुक्त है, अपने चेतनस्वरूप में स्थित है, निर्भय है, वह आगे भी अमर स्थिति में ही रहेगा।

सद्‌गुरु कबीर की भाषा में जीवन्मुक्त पुरुष ही पूर्ण मनुष्य है। जो शरीर में रहते हुए सारी भ्रांतियों, भयों एवं मानसिक द्वन्द्वों से मुक्त है, वही जीवन्मुक्त है। वही पूर्ण मनुष्य है। स्वरूपस्थ होना ही न मरना एवं अमर होना है; और देहाभिमानी तथा भोगासक्त होना ही मर जाना है।

मानुष मानुष सबै कहावै। मानुष बुद्धि कोई बिरला पावै॥
मानुष बुद्धि बिरला संसारा। कोई जाने जाननहारा॥

(पंचग्रंथी, मानुष विचार)

सत्योपदेश न मानना अपराध है

मानुष तैं बड़ पापिया, अक्षर गुरुहि न मान।
बार बार बन कूकुही, गर्भ धरे और ध्यान॥ 110॥

शब्दार्थ—मानुष=मनुष्य। अक्षर=अविनाशी, अक्षय, चेतन जीव। बन कूकुही=बनकुकुही, बनमुरगी।

भावार्थ—हे भूला मानव! तू बड़ा पापी है जो गुरु के दिये हुए अविनाशी स्वरूप के उपदेश को नहीं मानता और नाशवान देहादि में पचता है। जैसे बनमुरगी बारम्बार गर्भ धारणकर अंडे देती है और उन्हीं के सेने में ध्यान रखती है, वैसे तू भी देह, गेह, परिवार आदि का अहंकार कर उन्हीं की सुरक्षा में सदैव ध्यान रखता है और अविनाशी निर्भय स्थिति से दूर रहता है॥ 110॥

व्याख्या—यह मनुष्य का सबसे बड़ा पाप है जो वह सच्चे गुरु के उपदेश पर ध्यान नहीं देता। गुरु का उपदेश है कि मनुष्य का अपना आपा अमर है। अक्षर का अर्थ अविनाशी होता है तथा उपदेश भी। गुरु के उपदेश,

गुरु के बताये हुए अविनाशी तत्त्वबोध का तिरस्कार करना मनुष्य का बहुत बड़ा अपराध है। इस पाप का फल होता है कि मनुष्य अपने अविनाशी चेतनस्वरूप के परिचय से वंचित रह जाता है। उसकी कभी आत्मबुद्धि बन ही नहीं पाती, उसकी सदैव देहबुद्धि रहती है। वह देह के खान-पान, शृंगार एवं इन्द्रिय-भोगों में ही सदैव लीन रहता है। पेट, भोग और धन्धा इससे अधिक उसका कुछ उद्देश्य नहीं रहता। इसलिए वह संसारासक्त होता है। संसारासक्त आदमी सदैव संसार के विषयों का ध्यान करता है; क्योंकि उसका उन्हीं में अहंभाव होता है। जो व्यक्ति जिसमें अपनापन जोड़ता है, वह उसी का ध्यान करता है। सद्गुरु ने इसके लिए इस साखी की दूसरी पंक्ति में बड़ा मार्मिक व्यंग्य किया है "बार-बार बन कूकुही, गर्भ धरे और ध्यान"। कुकुही[1] का अर्थ ही होता है बनमुरगी। बनमुरगी बारम्बार गर्भ धारण करती है और अंडे देकर उनको सेती है। अंडे के सेने में उसे अंडे का ही ध्यान करना पड़ता है।

संसारी मनुष्यों का सांसारिक प्राणी-पदार्थों को अपना होने का अहंकार करना, मानो उनका गर्भ धारण करना है। यह गर्भ वह बारम्बार धारण करता है। मनुष्य सदैव सांसारिक प्राणी-पदार्थों के अहंकार ही में डूबा रहता है। इसलिए वह उन्हीं का सदैव ध्यान भी करता है। संसारी मनुष्य सदैव विषयों के चिन्तन में डूबा रहता है। उसका मन सदैव विनशने वाले विकारी प्राणी-पदार्थों का जप करता है। वह सदैव काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, राग, द्वेष, ईर्ष्या, संताप आदि मानसिक विकारों में जलता है।

सत्ता में मुख्य दो तत्त्व हैं क्षर तथा अक्षर।[2] क्षर का अर्थ है नाशवान। जो चीज सदैव बदलती रहे वही क्षर है। देह, गेह, धन, सम्मान और संसार के सारे जड़-पदार्थों की यही दशा है। वे सदैव बदलते रहते हैं। उनका एकरस रहना असंभव है। इसलिए उनमें अहंता-ममता करने वालों का चित्त भी दुखी रहता है। जो आज है और कल नहीं है, उसमें अहंता-ममता करना कष्टकारक होगा ही। दूसरा अक्षर तत्त्व है। अक्षर का अर्थ है अविनाशी, एकरस। वह व्यक्ति का अपना आपा है। अपना चेतनस्वरूप, अपनी आत्मा अविनाशी है। अपने आपा की अनुपस्थिति का आभास कभी किसी को नहीं होता है। परन्तु मनुष्य इस अविनाशी स्वरूपबोध से जीवनभर वंचित रहता

---

1. बृहत् हिन्दी कोश।
2. कुछ लोग क्षर तथा अक्षर से परे एक निःअक्षर तत्त्व की कल्पना करते हैं, जो एक भ्रांति है। लक्षण ही केवल दो हैं एक क्षर तथा दूसरा अक्षर, एक नाशवान तथा दूसरा अविनाशी। अविनाशी के ऊपर दूसरे अविनाशी की कल्पना निरर्थक है। क्षर तथा अक्षर दो लक्षण हो जाने पर निःअक्षर केवल एक कल्पना ही है।

है। इसलिए उसकी बुद्धि सदैव क्षर वस्तु में लगी रहती है। वह सदैव नाशवान विषयों का चिंतन करता है और भय से पूर्ण रहता है। आदमी बनमुरगी बना सदैव अण्डे-बच्चे देता रहता है और उन्हीं के मोह में लिपटा हुआ सदैव पीड़ा-पर-पीड़ा भोगता रहता है। सद्गुरु अक्षर का बोध देते हैं। वे बताते हैं कि हे मनुष्य ! तेरा वास्तविक स्वरूप अविनाशी है, तू अक्षर है, अक्षय है। तू अपने अक्षय स्वरूप का ज्ञान एवं स्मरण छोड़कर क्षयशील नाशवान चीजों में क्यों रमता है ! अतएव विषयों का त्याग कर और अपने अविनाशी स्वरूप में स्थित हो।

मानुष बिचारा क्या करे, जाके कहै न खुलै कपाट।
स्वनहा चौक बैठाय के, फिर फिर ऐपन चाट॥ 111॥

शब्दार्थ—मानुष=विवेकवान, शिक्षक। बिचारा=बेचारा, विवश। कपाट=किंवाड़, अज्ञान का परदा। स्वनहा=कुत्ता। चौक=चौका, वेदी। ऐपन=चावल और हल्दी एक साथ पीसकर बनाया हुआ लेप जो मांगलिक कार्यों एवं पूजन में काम आता है।

भावार्थ—बेचारे विवेकवान सत्योपदेश देकर क्या करें जब उनके कहने पर भी संसारियों का हृदय-कपाट नहीं खुलता। जैसे किसी ने पूजा के समय वेदी पर कुत्ता को बैठा दिया और वह अपने स्वभाववश बारम्बार मांगलिक पदार्थों को चाटकर उसे अशुद्ध करता रहा, वैसे मनुष्य का लोलुप मन बारम्बार विषयों में डूबकर गुरु के सत्योपदेश पर पानी फेरता रहता है ॥ 111॥

व्याख्या—इस साखी के पूर्व की 110वीं साखी में 'मानुष' शब्द संबोधन में कहकर उन लोगों को निर्देशित किया गया था जो गुरु के अविनाशी तत्त्वबोध के उपदेश को नहीं समझते और नहीं मानते; परंतु इस साखी में 'मानुष' शब्द का प्रयोग विवेकवान एवं गुरु-संतों के लिए किया गया है जो उपदेष्टा हैं। इस साखी में उपेष्टाओं की विवशता तथा श्रोताओं की लोलुपता पर प्रकाश डाला गया है, और उनके लोलुप मन के लिए कुत्ते का उदाहरण दिया गया है।

गुरुजनों का काम है कि वे स्वयं आचरण से रहें तथा दूसरों को अपने वचनों से उस तरफ प्रेरित करें। इसके बाद उनका काम पूरा है। कोई उपदेष्टा या गुरु किसी के दिल में घुसकर उसे बदल नहीं सकता। यदि कोई उपदेष्टा या गुरु स्वयं आचरण में नहीं चलता है, केवल दूसरों को उपदेश देता है, तो यह कहा जा सकता है कि श्रोता एवं जिज्ञासु क्या करें, जब उन्हें केवल मौखिक उपदेश मिलता है, गुरुजनों के दिव्य आचरणों के आदर्श नहीं, तब वे कैसे सुधरें ! परन्तु यदि उपदेष्टा एवं गुरुजन स्वयं पवित्र आचरण में चलते हैं, उनके आदर्श दिव्य हैं और अपनी वाणी से भी वे लोगों को प्रेरित करते हैं तो

इसके आगे वे क्या कर सकते हैं ! बड़े-से-बड़े गुरु में यह शक्ति नहीं है कि वे किसी को जबरदस्ती बदल दें। कुछ लोग कहते हैं कि महान गुरु एवं पहुंचा हुआ पुरुष श्रोता एवं शिष्य को बलपूर्वक बदल सकता है। 'शक्तिपात' का व्यामोह संसार में बहुत लोगों को है। ऐसे लोग कहते हैं कि समर्थ गुरु अपनी शक्ति शिष्य में बलपूर्वक डाल देता है और शिष्य तुरंत बदल जाता है। परन्तु यह सब भ्रांति के अलावा कुछ नहीं है। हां, यह बात ठीक है कि योग्य शिष्य को जब समर्थ गुरु मिल जाता है तब वह बहुत शीघ्र यथार्थ ज्ञान एवं साधना में आगे बढ़ जाता है। यदि श्रोता एवं शिष्य अपना हृदय-कपाट भीतर से नहीं खोलता है तो गुरु मात्र बाहर से खोलकर क्या करेगा ! मान लो, एक आदमी एक कोठरी में बन्द है। कोठरी के फाटक में बाहर से ताला लगा है और भीतर से भी। बाहर रहे हुए आदमी ने बाहर का ताला खोल दिया, सांकल भी हटा दिया। अब फाटक तभी खुलेगा जब भीतर का बन्द आदमी भीतर से ताला खोलकर सांकल हटा दे। बाहर का आदमी भीतर से कैसे खोल सकता है। इसी प्रकार गुरुजन स्वयं पवित्र आचरण में चलकर दूसरों को उपदेश दें, बस उनका यही कर्तव्य है। इसके आगे श्रोता एवं शिष्य का काम है कि वह अपने अन्दर की मलिनता को मन में दृढ़ निर्वेद करके मिटाये।

यदि आदमी कुत्ते की तरह लोलुप है तो वह आध्यात्मिक साधना में कोई प्रगति नहीं कर सकता। वैसे मनुष्य के समान कुत्ते लोलुप नहीं होते। उनके सामने रोटी, भात, दाल, सब्जी, चटनी आदि रख दीजिए, तो वे रोटी-भात खा सकते हैं, उनका मन हुआ तो थोड़ी दाल भी खा सकते हैं; परन्तु सब्जी, चटनी नहीं खायेंगे। सब्जी में यदि मसाला है तो उसे छूयेंगे भी नहीं। कुत्ते केवल कार्तिक में कामांध होते हैं, और विवेकहीन आदमी तो बारहों महीने कामांध होता है। इस साखी में 'स्वनहा...ऐपन चाट' का उदाहरण केवल एक अंश में है। कुत्ते आदि पशुओं एवं मानवेतर देहधारियों में जितने संयम हैं, सब उनके स्वभाववश हैं तथा जितनी लोलुपता है वह भी स्वभाववश है। वेदी में बैठे हुए कुत्ते के मांगलिक पदार्थों को बारम्बार चाट लेने के समान यदि हम विषयों में लोलुप होकर सदैव उन्हीं में लीन रहते हैं तो सत्योपदेश का क्या प्रभाव होगा। मनुष्य गुरु के उपेदश क्यों नहीं धारण कर पाता ! केवल एक ही बात है विषयासक्ति। गलत आदतें, विषयासक्ति एवं काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेषादि छोड़ना ही तो गुरु के उपदेश को मानना तथा उसका आचरण करना है। इसलिए केवल ज्ञान की हजार बातें करने से कुछ नहीं हो सकता। जब तक हम विषयों की आसक्ति छोड़कर गलत आदतों से मुक्त नहीं होते हैं तब तक हमारे सारे ज्ञान केवल भूसी पछोरना है।

मानुष बिचारा क्या करे, जाके शून्य शरीर।
जो जिव झाँकि न ऊपजे, तो कहा पुकार कबीर॥ 112॥

शब्दार्थ—शून्य शरीर=श्रद्धाभाव से रहित हृदय। झाँकि=झांकी, देखने की क्रिया, दर्शन, दृश्य, प्रेम-उत्साह।

भावार्थ—विवेकवान उपदेशक बेचारे उपदेश देकर उसे क्या लाभ पहुंचा सकते हैं जिसका हृदय श्रद्धाभाव से रहित है। सद्‌गुरु कहते हैं कि उसे पुकारकर क्या बुलाया जाये जिसे साथ में आने का उत्साह नहीं है ! अर्थात जिसके दिल में स्वरूप-साक्षात्कार एवं आत्मकल्याण का प्रेम नहीं जगता, उसको उपदेश देकर क्या लाभ !॥ 112॥

व्याख्या—स्वरूपज्ञान, स्वरूपसाक्षात्कार एवं स्वरूपस्थिति की पिपासा बहुत कम लोगों को हुआ करती है। कहा जाता है कि जब महात्मा बुद्ध को समाधिलाभ हुआ और वे पूर्ण बुद्धत्व को प्राप्त हो गये, तब उन्होंने सोचा कि मेरा क्या कर्तव्य है ! उन्होंने एक बार विचार किया कि जिस आत्मशांति का लाभ मुझे हुआ है उसे दूसरों को भी बांटू। इसके बाद उन्होंने सोचा कि इसे लेने वाला कौन मिलेगा ! सारा संसार तो घोर अंधकार में डूबा है। परमार्थ की बातें कौन सुनने वाला है ! अतएव जिस शांति की उपलब्धि हुई है उसी में नित्य रमण करो और छोड़ो संसार को चेताने का चक्कर ! परन्तु कुछ क्षण के बाद उन्होंने पुन: विचार किया कि जैसे मेरे मन में इस परमार्थतत्त्व की पिपासा जगी और इसके लिए मैंने अपने आप को समर्पित कर दिया, वैसे दूसरे भी लोग हो सकते हैं। अत: उन्होंने दूसरे जिज्ञासुओं को अपना उपलब्ध ज्ञान देना शुरू कर दिया।

यहां इस साखी में सद्‌गुरु कबीर भी आत्मकल्याण के जिज्ञासुओं की दुर्बलता बताते हैं। वे इसमें यह नहीं कहते कि संसार में पात्रत्व वाले हैं ही नहीं, किन्तु यह कहते हैं कि जो पात्र नहीं है, उसके पीछे पड़ने से कोई लाभ नहीं। ज्ञान की बातें उसी से कहना ठीक है जिसके मन में कम-से-कम ज्ञान की बातों को सुनने की जिज्ञासा एवं उत्साह हो। 'भैंस के आगे बेन बजावे, भैंस ठाढ़ पगुराय' अर्थात कोई भैंस के आगे बाजा बजावे, परन्तु भैंस को उससे कोई आनन्द नहीं आता। वह उसके महत्त्व को कुछ नहीं समझती। वह खड़ी होकर जुगाली करती है। इसी प्रकार जिसे ज्ञान एवं अध्यात्म की बातों को सुनने की बिलकुल ही श्रद्धा नहीं है उसके सामने कुछ कहना अपना समय बरबाद करना है। सद्‌गुरु कहते हैं कि उपदेष्टा बेचारे उसे क्या उपदेश करेंगे जिसका शरीर शून्य है ! शरीर शून्य होने का अर्थ है भावनाहीन होना।

"जो जिव झाँकि न ऊपजे, तो कहा पुकार कबीर" झांकी कहते हैं दृश्य, दर्शन एवं प्रेम को। यहां अभिप्राय प्रेम है। हम किसी को पुकारकर अपने

पास बुलाते हैं, परन्तु वह हमारे पास आना नहीं चाहता, तो हमारा पुकारना निरर्थक है। इसी प्रकार हम किसी को उपदेश देकर उसे भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्यमार्ग पर लाना चाहते हैं, परन्तु उसे इस तरफ थोड़ी भी रुचि नहीं है, तो उसे उपदेश देकर अपना और उसका समय बरबाद करना है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है—

जो न सुनिय तेहि का कहिय, कहा सुनाइय ताहि।
तुलसी तेहि उपदेशिबो, तासु सरिस मति जाहि॥ तुलसी सतसई॥

जीवन में चूक मत करो

मानुष जन्म नर पायके, चूके अबकी घात।
जाय परे भवचक्र में, सहे घनेरी लात॥ 113॥

शब्दार्थ—घात=दावं, अवसर। भवचक्र=जन्म-मरण चक्कर, संसार में भटकाव। घनेरी=बहुत।

भावार्थ—जीव ने विवेक-प्रधान मानव-जन्म को पाकर भी यदि ऐसे सुनहले अवसर में स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति का काम नहीं किया और इस महत्त्वपूर्ण अवसर को व्यर्थ खो दिया तो वह जाकर पुनः जन्म-मरण के चक्कर में पड़कर असीमित दुख भोगता रहेगा॥ 113॥

व्याख्या—आदमी वही रहता है, परन्तु जब वह बैलगाड़ी की सवारी पर चलता है, तब उसकी गति बहुत मंद होती है, पर रेलगाड़ी एवं कार की सवारी पर वह तेज चलता है; परन्तु यदि उसने वायुयान की सवारी की तो वह बहुत तेज गति से चलता है। सामान्य आंखों से हम चीजों के सामान्य रूप ही देख पाते हैं; परन्तु सूक्ष्मदर्शक एवं दूरदर्शक से हम सूक्ष्म वस्तुओं एवं दूर की वस्तुओं को भी देख लेते हैं। इसी प्रकार जीव तो वही है, परन्तु जब वह मनुष्येतर खानियों में रहता है तब केवल पेट तथा भोग तक सीमित रहता है, परन्तु जब वह मानव-शरीर में आता है तब विवेक-ज्ञान की भूमिका में पहुंच जाता है। अन्य खानियां अंधकारपूर्ण हैं, मानव शरीर प्रकाशस्थल है। जीव का मानव शरीर में आना उसका एक सुनहला अवसर है। मानव-शरीर में विवेक जग सकता है। यहीं सत्संग प्राप्त होता है। यहीं जीव अपने स्वरूप को समझ सकता है। यहीं साधना करके सारी जड़ वासनाओं का क्षय कर सकता है।

ऐसा उत्तम मानव चोला पाकर भी जो इसे पशु-सदृश कामों में लगाये रखता है, वह मानो अपने सुनहले दावं को चूक रहा है। अवसर ऐसा देवता है जिसके सिर के अगले भाग में तो चोटी है किंतु पिछले भाग में केवल

सफाचट है। अतः यदि उसके आते ही उसकी चोटी पकड़ ली गयी तो वह अपने हाथों में आ जायेगा। अन्यथा जब वह लौट पड़ता है तब उसे पकड़ा नहीं जा सकता। जो लोग अपनी जवानी को काम-भोग, लड़ाई-झगड़े एवं राग-द्वेष में क्षीण करते हैं, वे बुढ़ापा में पहुंचकर केवल पश्चाताप करते हैं।

मनुष्य जीवन का अवसर सर्वाधिक मूल्यवान है। हम अपने जीवन के अवसर में धन कमा सकते हैं, किन्तु धन देकर जीवन के बीते अवसर को लौटा नहीं सकते। इसी प्रकार हम जीवन के अवसर में परिवार, विद्या, प्रतिष्ठा, शासन, अधिकारादि संसार के सारे ऐश्वर्य को प्राप्त कर सकते हैं; परन्तु उन सबसे जीवन के बीते अवसर को पुनः लौटा नहीं सकते। हम जीवन में जो कुछ पाते हैं वे सब अंततः छूट जाते हैं। परन्तु यदि हमने अपने जीवन में आत्मज्ञान एवं आत्मस्थिति की प्राप्ति की, तो यह कभी छूटने वाली वस्तु नहीं है और इसी में हमें परम सुख एवं परमशांति मिलती है। विवेकप्रधान एवं मोक्ष साधन करने योग्य मानव शरीर को पाकर यदि हमने यह काम नहीं किया और इस सुनहले अवसर में यदि हम जीवनभर ईंट-पत्थर और संसार के अन्य सारे क्षणभंगुर पदार्थ बटोरते रहे तो हमने क्या समझदारी का काम किया ! जिस जीवन में हमें अनंत मोक्ष, अनंत शांति एवं अनंत सुख की प्राप्ति हो सकती है, यदि उसे हमने मलिन भोगों में बिताया, तो हम-जैसा मूर्ख कौन होगा ! हम स्वप्नवत सांसारिक प्राणी-पदार्थों के मोह-लोभ में उलझकर अपने कल्याण-साधना करने योग्य दावं को चूक जाते हैं और उसका फल होता है जीवन की हार !

यदि जीव ने आज अपना कल्याण नहीं कर लिया, तो वह आज और आगे के लिए दुख का पात्र बन गया। "जाय परे भवचक्र में, सहे घनेरी लात" जीव ने यदि आज भवबन्धनों से मुक्ति नहीं ले ली तो वह पुनः नाना योनियों में भटक-भटककर असीम दुख भोगता रहेगा। आप देखते हैं कि जीव कीड़े-मकोड़ों के नाना शरीर धारणकर मनुष्यों एवं पशुओं के पैरों से रात-दिन रगड़े जाते हैं। बारम्बार जन्मना और मरना, यह महान दुख है। शरीर यात्रा एवं संसार के भ्रमण में गर्भवास, जन्म, बाल्य, युवा, जरा, रोग, विपत्ति तथा मरण के नाना दुखों को भोगना, यही जीव का व्यवसाय है। जीव जब तक जन्म धारण करता रहेगा, तब तक वह क्षणभंगुरता के प्रवाह में ही निरन्तर बहता रहेगा और तब तक उसे शांति कहां है !

रतन का जतन करु, माँड़ी का सिंगार।
आया कबीरा फिर गया, झूठा है हंकार॥ 114॥

शब्दार्थ—रतन=रत्न, मानव शरीर, जीव एवं चेतन-आत्मा। जतन=यत्न, उद्योग, उपाय, सार-सम्हाल। माँड़ी=कपड़े के सूत पर चढ़ाया

जाने वाला चावल का पसेव, दिखाऊ, मंडी, बाजार।

भावार्थ—मानव-शरीररूपी रत्न को अच्छे उपाय से रखो, अथवा महान-रत्न अपने जीव को, अपनी चेतन-आत्मा को सम्हालकर रखो। जिस माया के शृंगार एवं चटक-मटक में तुम भूलते हो, वह पसेव चढ़े हुए चिकने कपड़े या सजे हुए बाजार के समान दिखाऊ एवं क्षणभंगुर है। सद्गुरु कहते हैं कि जीव संसार में आते हैं और फिर थोड़े दिनों में लौट जाते हैं, इसलिए यहां का अहंकार मिथ्या है॥ 114॥

व्याख्या—इस साखी में आये हुए रत्न शब्द का अभिधा अर्थ नहीं, किन्तु लक्षणा अर्थ है। रत्न के लक्षणा अर्थ में मानव-शरीर भी हो सकता है तथा जीव भी। मानव-शरीर एक ऐसा रत्न है जो बहुत थोड़े समय के लिए मिला है। इसको यत्नपूर्वक रखना मनुष्य की बुद्धिमानी है। अधिकतम लोग इस शरीर को पाकर जवानी आते ही इतरा जाते हैं। वे अपनी जवानी की उष्मा में प्रमत्त होकर भोगों पर टूट पड़ते हैं और अपने इस रत्न को मलिन भोगों में खो देते हैं। सद्गुरु कहते हैं "रतन का जतन करु" इस रत्न को यत्न से रखो। यत्न का अर्थ है उपाय, साधना एवं सार-सम्हाल। मन के विकारी वेगों में बहो मत। जवानी की बाढ़ थोड़े दिनों की है। इस बाढ़ में बह जाने वाला आदमी पीछे पछताता है। शक्ति खो जाने के बाद यदि होश आये तो किस काम का! तुम्हारी जवानी पर बाहरी प्राणियों के हमले होते हैं, भीतरी काम, क्रोध, लोभ, मोहादि के हमले होते हैं। तुम इन सबसे सावधान रहो। जवानी के क्षणिक भ्रमसुख की गुदगुदाहट में जो अपने आप को खो देता है, वह शेष जीवन में रोता रहता है। ऐसे लोग ही संसार में अधिकतम होते हैं जो जोश में होश खोकर बेवकूफ बने शेष जीवन में पश्चाताप करते रहते हैं। काम, क्रोध, राग, द्वेष और संसार के प्रपंचों में उलझने का फल है मलिनता, उद्वेग, इच्छा की वृद्धि, क्षीणता, अशांति एवं जन्म-जन्मान्तरों तक भटकाव, परन्तु इस शरीर को यत्न से रखकर एवं साधना-संयम से रखकर निवृत्ति का फल है आज और आगे सदा के लिए परम शांति। जो शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि को यत्न एवं संयम से रखता है वही मानो जीवरूपी रत्न को सम्हाल कर रखता है। मनुष्य का अपना मूल आपा जीव, चेतन एवं आत्मा तो शुद्ध-बुद्ध एवं स्वभावतः मुक्तरूप ही है। उसे सम्हालना नहीं है, बल्कि मन-इन्द्रियों को सम्हाल लेने के बाद, सब ठीक है।

मनुष्य अपने आप को क्यों नहीं सम्हाल पाता! वह मन-इन्द्रियों के उद्वेगों में क्यों बह जाता है! क्योंकि वह संसार के शृंगार एवं चटक-मटक में भूल जाता है। किसी ने कितना सुन्दर कहा है—"चटक मटक में दुनिया रीझे, राग-रंग में नारी। भाव भक्ति में साधू रीझे, तीनों निपट अनारी॥" संसार

के सारे राग-रंग एवं चटक-मटक क्षणिक होते हैं। कपड़े पर माड़ी चढ़ी होने से वह चिकना दिखता है, परन्तु धुल जाने के बाद उसका खुरदरापन प्रकट हो जाता है। माड़ी, मंडी एवं बाजार की भी यही दशा है। जिस समय बाजार सजता है उस समय उसकी रौनक देखते ही बनती है। परन्तु कुछ ही समय के बाद बाजार उजड़ जाने पर सब कुछ अनसुहाता हो जाता है। जवानी की चमक-दमक, मित्रों का मिलना, पद, अधिकार, शासन, स्वामित्व सब कुछ 'माँड़ी का सिंगार' है, क्षणिक दिखावा है और हम इन्हीं सब में भूलकर अपने आप को खो देते हैं।

"आया कबीरा फिर गया, झूठा है हंकार" इस संसार में जीव मुफलिस बनकर आता है और तवंगर बनकर आता है, गरीब बनकर आता है और धनी बनकर आता है, बलवान बनकर आता है और निर्बल बनकर आता है, विद्वान बनकर आता है और निरक्षर बनकर आता है, शासक बनकर आता है और शासित बनकर आता है, परन्तु आकर सब थोड़े दिनों में लौट जाते हैं। बड़े-बड़े ऐश्वर्यशाली एवं घमंडी भी यहां रहने नहीं पाते। इसलिए कबीर देव कहते हैं कि यहां का अहंकार करना झूठा है। शिवि, मांधाता, नहुष आदि महाराजे तथा उनके ऐश्वर्य कहां गये! सूर्यवंश, चंद्रवंश, राम, कृष्ण, कौरव-पांडव और उनके ऐश्वर्य का कहीं पता भी नहीं लगता। मौर्यवंश, गुप्तवंश, पृथ्वीराज, जयचन्द, चंगेज खां, नादिरशाह, बाबर, अकबर, औरंगजेब, फिरंगी तथा अभी कल के हिटलर, नेपोलियन, मुसोलिनी आदि के केवल नाम शेष हैं। केवल उनके किये हुए कर्तव्यों के 'उत्तम मध्यम बाजन बाजा' के अनुसार भली-बुरी चर्चा रह गयी है, वह भी कुछ लोगों की। शेष को तो कोई जानता भी नहीं है। सद्गुरु कहते हैं कि हे मानव "झूठा है हंकार" यहां का अहंकार करना व्यर्थ है। इसलिए यहां के सारे अहंकारों को छोड़! यहां की क्षणिक चटक-मटक में मत फंस! अपने जीवन का उद्धार कर! रतन का जतन कर! अन्यथा तेरा कोई साथी नहीं होगा।

काहे गरब करे नर मूरख, यह सब दुनिया फानी है।
बिनसि जाय सपने की माया, जिमि अँजुली का पानी है॥

मानुष जन्म दुर्लभ है, बहुरि न दूजी बार।
पक्का फल जो गिर पड़ा, बहुरि न लागै डार॥ 115॥

शब्दार्थ—दुर्लभ=कठिनता से मिलने वाला। बहुरि=पुनः, दोबारा।

भावार्थ—मनुष्य का जन्म पुनः मिलना बड़ा कठिन है। पके फल जब डाली से टूटकर गिर पड़ते हैं तब वे पुनः लौटकर उसमें नहीं लगते। इसी प्रकार जीव जब देह छोड़कर चला जाता है तब पुनः उसमें नहीं लौटता॥ 115॥

व्याख्या—पुनर्जन्म सिद्धांतानुसार यह विश्वास किया जाता है कि जीव संसार के चौरासी लाख योनियों में या असंख्य योनियों में कर्मवासनावश भटकता है। वह अपने किसी अच्छे कर्म के बल पर सौभाग्य से कभी-कभी मानव-शरीर पाता है। अन्य खानि की देहें तो केवल भोगभूमिका हैं। वहां कल्याण-सुधार का कोई अवसर नहीं है। केवल मानव-शरीर कर्मभूमिका है। यहीं कल्याण-सुधार की साधना की जा सकती है। परन्तु जीव अपनी असावधानी से इस मानव-शरीर के सुनहले अवसर को पशुवत खाने-भोगने में बिता देता है और यहां से बिना आत्मकल्याण किये चला जाता है।

इसके लिए एक सुन्दर एवं प्रचलित उदाहरण दिया जाता है। एक शहर था। उसके चारों ओर एक परकोटा खिंचा था। उस परकोटे में केवल एक दरवाजा था। उस शहर में एक अंधा रहता था। एक बार उसका मन हुआ कि इस परकोटे से मैं बाहर चला जाऊं, उसने लोगों से उससे निकलने का रास्ता पूछा। लोगों ने कहा कि तुम इस परकोटे की दीवार को पकड़े-पकड़े चले जाओ, तो तुम्हें एक जगह दरवाजा मिल जायेगा। फिर तुम वहीं से बाहर निकल जाना। उसने वैसा ही किया। परन्तु उसके शरीर में खाज का रोग था। वह बीच-बीच में दीवार को छोड़कर खुजलाने का काम करने लगता था और चलता भी रहता था और पुनः दीवार पकड़ लेता था। ऐसा संयोग कि जब वह दरवाजे के निकट आता था, उसे खुजली लग जाती थी और वह दीवार छोड़कर चलते-चलते खुजलाने लगता था। फलतः दरवाजा छूट जाता था और उसके हाथ में पुनः दीवार आ जाती थी। वह जब-जब दरवाजे के पास आता था, तब-तब यही दशा होती थी।

इसका तात्पर्य यह है कि असंख्य योनियों एवं खानियों का एक विशाल परकोटा है। उससे निकलने का एक ही दरवाजा है—मानव-शरीर। परन्तु जब जीव मानव-शरीर में आता है तब उसे विषय-वासनाओं एवं संसार के राग-द्वेष की खुजली लग जाती है। इसलिए वह इससे निकलने की अपेक्षा खुजली खुजलाने लगता है और इसी में यह मानव-शरीररूपी दरवाजा छूट जाता है और जीव पुनः नाना योनियों का चक्कर काटने लगता है। मान्यता चौरासी लाख योनियों की है। परन्तु पारखी सन्त इस संख्या पर विश्वास नहीं करते हैं। वे कहते हैं कि शायद आज तक कोई देहधारियों की योनियों एवं खानियों की सम्पूर्ण गणना नहीं कर सका है। कहा जाता है कि आजकल के जीवविज्ञानियों ने दस लाख योनियों तक की गणना कर ली है। उसके आगे अभी प्रयास जारी है। संख्या जो हो, यह निश्चित है कि देहधारियों की योनियां बहुत हैं और असंख्य कहना ही ठीक है। पारखी सन्त चौरासी का अर्थ करते हैं चार राशियां, अर्थात चार ढेरियां। वे हैं मनुष्य, पशु, पक्षी एवं कीड़े।

पारखी सन्त वृक्ष-वनस्पतियों में चेतन जीव का होना नहीं मानते। इसलिए वनस्पति को वे सचेतन खानि नहीं मानते। इसलिए वे चार राशियों में उसे नहीं लेते।

सद्गुरु इस साखी में इस बात पर जोर देते हैं कि मानव-शरीर ही कल्याण-साधना करने की भूमिका है और साथ-साथ क्षणिक भी है तथा छूटकर शीघ्र मिलने वाला भी नहीं है। इसलिए इस मानव-जीवन के सुनहले अवसर को असावधानी में, विषय-वासनाओं में एवं राग-द्वेष के झगड़े में न बिताओ। बल्कि इस जीवन में एक-एक क्षण का सद्साधना में दोहन करो। ऐसा अवसर मिलना सहज नहीं है। ऐसे अवसर को जो व्यर्थ खोता है वह कितना भोला है !

मानव-शरीर की दुर्लभता में सद्गुरु डाली से टूटे हुए फल का उदाहरण देते हैं। जब पके फल डाली से टूटकर गिर पड़ते हैं तब वे पुनः उसमें नहीं लगते। इसी प्रकार जब जीव शरीर को छोड़ देता है तब पुनः वह उसी शरीर में प्रवेश नहीं करता, और दूसरा मानव-शरीर मिलना भी सहज नहीं रहता। वह तो पुनः जब उसके अच्छे कर्म फलोन्मुख होंगे तभी मानव-शरीर पायेगा।

"पक्का फल जो गिर पड़ा, बहुरि न लागै डार" इस पंक्ति का यह अर्थ लगाना इसका दुरुपयोग है कि जैसे फल डाली से टूटकर पुनः उसमें नहीं लगते, वैसे आदमी मरकर पुनः दूसरी देह नहीं धरता। कबीर साहेब की अपनी मान्यता है कि जीव चेतन हैं, अविनाशी हैं और कर्म संस्कारों के अधीन नाना योनियों में भटकते हैं। वे वासनावश बंधे हैं और मानव-शरीर में सत्संग, विवेक एवं स्वस्वरूप का ज्ञान पाकर भव-बंधनों एवं जन्म-मरण के प्रवाह से मुक्त हो सकते हैं। "कहहिं कबीर सत सुकृत मिले, तो बहुरि न झूलै आन।"[1]

यहां पके फल के डाली से टूटकर उसमें न लगने की बात का उदाहरण केवल मानव-शरीर की दुर्लभता पर दिया गया है जिसमें उदाहरण का केवल एक अंश लिया गया है, कि जीव शरीर छोड़कर फिर उस शरीर में नहीं आता। इस साखी का सार कथन यह है कि हम इस दुर्लभ मानव-जीवन को विषय-प्रपंच में न खोयें। इससे हम अपने जीवन का कल्याण करें।

भक्ति से स्वरूपस्थिति की ओर बढ़ो

बाँह मरोरे जात हो, मोहि सोवत लिये जगाय।
कहहिं कबीर पुकारि के, ई पिण्डे होहु कि जाय॥ 116॥

---

1. हिंडोला 1।

शब्दार्थ—बाँह मरोरे=हाथ छुड़ाकर। ई पिण्डे=इस मानव-शरीर में।

भावार्थ—शिष्य कहता है कि हे सद्‌गुरु ! आपने मुझे सोये हुए से जगा लिया है और मैंने आपकी बांह पकड़ ली है। परन्तु आप मुझसे अपनी बांह छुड़ाकर और मुझसे विरत होकर अपनी असंग स्थिति में जा रहे हैं, फिर मेरा उद्धार कैसे होगा? सद्‌गुरु ने मानो शिष्य से दूर जाते हुए पुकारकर उसे बता दिया हो कि हे शिष्य ! तू इसी शरीर में रहते हुए अपने चेतनस्वरूप में स्थित हो, अन्यथा भ्रम में तेरा समय बीत जायेगा॥ 116॥

व्याख्या—इस साखी का भाव बड़ा मनोहर तथा मार्मिक है। सद्‌गुरु ने बारम्बार दोहराया कि अपने स्वरूप में स्थित होओ। इसे सुनकर जिसमें स्वरूपस्थिति की परिपक्वता नहीं है वह शिष्य घबरा गया। उसने देखा कि गुरु ने हमें मोह-नींद से तो जगा लिया है, परन्तु अब वे कहते हैं कि तुम अपने स्वरूप में स्थित होओ। इसके आगे वे मुझसे असंग होकर अपनी स्वरूपस्थिति में रहते हैं। अब आगे वे मुझे कोई सहारा नहीं दे रहे हैं। यह सब सोचकर शिष्य व्याकुल हो गया और उसने गुरु से कहा कि हे सद्‌गुरु ! मैं तो माता-पिता, भाई, पत्नी, बच्चे आदि के मोह तथा पांचों विषयों के भोग की आसक्ति में डूबा था। मैं संसार की मोह-नींद में ऐसा प्रगाढ़ सोया था कि मुझे कुछ होशहवास नहीं था। आपने मेरे ऊपर कृपा की और मुझे बताया कि तुम देह नहीं हो, शुद्ध चेतन हो, असंग हो, अकेला हो, तुम्हारा कोई नहीं है और तुम किसी के नहीं हो। भोग भोगना तुम्हारा जीवन-लाभ नहीं है, किन्तु इसमें तुम्हारा पतन है। तुम सारे विषयों की आसक्ति छोड़कर अपने स्वरूप को पहचानो। हे सद्‌गुरो ! यह आपका भव-नाशक बाण लगते ही मेरी मोह-नींद खुल गयी, और मैंने संसार से पीठ देकर आपके हाथ पकड़ लिये। मैंने सारे सहारे छोड़ दिये, केवल आपकी बांह पकड़ी, क्योंकि आपने 'मोटा की बाँह'[1] पकड़ने की आज्ञा दी है। हे सद्‌गुरो ! अब आप मुझसे अपने हाथ छुड़ाकर भाग रहे हैं। आप मुझसे निराश, उदास एवं असंग होकर अपने भजन में लीन रहते हैं। परन्तु मैं तो आपका सहारा छोड़कर, आपकी भक्ति-सेवा को छोड़कर कहीं का नहीं रह जाऊंगा। मैं नहीं जानता कि अपने स्वरूप में कैसे स्थित हुआ जाता है। मैं तो आपकी भक्ति करना जानता हूं, स्वरूपस्थिति नहीं। मैं तो आपके ध्यान में ही सदैव लीन रहना चाहता हूं। आपका सहारा, आपकी सेवा-भक्ति, आपका ध्यान, आपके प्रति प्रेम, यही सब मेरे शंबल हैं। इसके आगे मैं कुछ नहीं जानता। इसलिए हे सद्‌गुरु ! आप मेरे हाथ मरोड़िए मत। मेरे हाथों से अपने हाथ छुड़ाइए मत। मुझसे अपना

---

1. साखी 30।

पल्ला मत झाड़िए!

निश्चित है कि कुछ साधक उक्त भाव-दशा में ही जीवनभर बने रह जायें तो उनका बड़ा कल्याण है; क्योंकि कुछ साधक ऐसे होते हैं कि उनकी योग्यता उक्त भाव-दशा से आगे बढ़ने की तत्काल नहीं होती। परन्तु यह तो समझना ही होगा कि मंजिल इससे आगे है। जहां हमें पहुंचना है, जो हमारा गंतव्य है, उद्देश्य है, वह इस भक्ति-भावना से आगे है। हम रात में कहीं जा रहे हैं। जहां जा रहे हैं, लोगों से उसका पता पूछते हैं। किसी ने दिखाया कि देखो, वह आगे चार फर्लांग पर बत्ती जल रही है। वही वह जगह है जहां तुम जाना चाहते हो। हम उस बत्ती के प्रकाश को देखते हुए आगे बढ़ते हैं। जब प्रकाश के पास पहुंच जाते हैं तब प्रकाश को नहीं देखते, किन्तु प्रकाश में देखते हैं। अर्थात तब प्रकाश में उस जगह को, उस जगह में रहे हुए प्राणी-पदार्थों को देखते हैं और देखते हैं उन्हें जिनसे हम मिलने गये हैं। यदि प्रकाश के पास जाकर प्रकाश में न देखें किन्तु प्रकाश को ही देखते रहें और वहां बैठकर या खड़े रहकर बत्ती को ही निहारते रहें तो लोग हमें देखकर यही कहेंगे कि यह पागल आदमी है। कल्पना करो कि कोई व्यक्ति अपने मित्र से मिलने जाये और वहां पहुंचकर अपने मित्र पर नजर ही न ले जाये, वह केवल वहां की जलती हुई बत्ती को ही देखता रहे तो उसे लोग पागल न मानेंगे तो क्या मानेंगे! जब वह प्रकाश से दूर था तब प्रकाश को देखकर उसकी तरफ बढ़ रहा था यह तो ठीक था; परन्तु जब प्रकाश के पास पहुंच गया, तब तो उसे प्रकाश को न देखकर प्रकाश में ही देखना चाहिए। यही प्रकाश के पास पहुंचने की सार्थकता है।

बोधदाता, प्रेरक तथा रक्षक सद्गुरु का सहारा, सेवा-भक्ति, ध्यान, प्रेम सब ठीक है। इसके बिना मुमुक्षु अपने गंतव्य पर पहुंच ही नहीं पायेगा। परन्तु अंततः स्वरूपध्यान ही गुरुध्यान है। यदि साधक गुरु के शरीर के ही ध्यान में जीवनभर लगा रहा तो वह अपने गंतव्य से अभी दूर ही पड़ा है। गुरु का शरीर भी तो भौतिक ही है। जीव को किसी अन्य गुरु, कबीर या ईश्वर-ब्रह्म में नहीं लीन होना है, किन्तु उसे अपने आप ही में लीन होना है। हमारी अविचल स्थिति हमारे अपने स्वरूप में ही हो सकती है। हम पहले गुरुज्ञान-प्रकाश को देखें। उसके बाद उस प्रकाश में अपने आप को देखें। गुरु ने बताया है "जो तू चाहै मूझको, छाँड़ सकल की आस। मुझ ही ऐसा होय रहो, सब सुख तेरे पास॥"[1]

अतएव शिष्य की विरह-व्यथा देखकर गुरु ने उसे पुकारकर कह दिया

---

1. साखी 298।

कि हे प्रिय शिष्य ! तू क्यों कायर बन रहा है ! तू संसार के मोह को छोड़कर कहीं मेरे शरीर का ही मोही न बन जाये ! अरे, तू सारे मोह को छोड़ दे। तेरी स्थिति न किसी बाहरी गुरु में है, न कबीर में, न किसी ईश्वर-ब्रह्म में। तेरी स्थिति तो तेरे अपने चेतनस्वरूप में है। अतएव इसी पिंड में, इसी शरीर में रहते हुए तू अपने स्वरूप में स्थित हो, नहीं तो तू भ्रम में चला जायेगा। यह मोह भी मत कर कि इस जीवन में भक्ति करेंगे और अगले जीवन एवं अगले जन्म में स्वरूपस्थिति करेंगे। अगले जीवन का भी मोह छोड़ दे। तू इसी शरीर में रहते हुए स्वरूपस्थिति कर !

सद्गुरु श्री पूरण साहेब ने उक्त साखी की दूसरी पंक्ति की टीका करते हुए लिखा है—"हे विचारवान जीव ! तू यथार्थ पारख करके देखो कि जाको तुम कबीर कहते हो और गुरु कहते हो, सो कहां है? हक नाहक मिथ्या धोखे में पड़ो मत, इस पिंड में पारख पर स्थित होओ। जासे तुमने सब परखा, सोई पारख और गुरुपद, ताके ऊपर और कुछ नहीं। यह जान के तुम हू पारख होहु कि भ्रम में चले जाओ मत। "हम तो कहीं आयं न जायं। सदा एकरस नहीं नशायं।" सो तू कहीं घबराय के पारख छोड़ के मत जाना।"[1] श्री पूरण साहेब ने और भी कहा है—

पारख में हम तुम हैं एका। देह भाव से भिन्न विवेका॥
पारख में समता होय जाई। शिष्य भाव न रहे गुरुवाई॥
देह भाव से दास कहावै। पारख भाव से एक होय जावै॥ निर्णयसार॥
जाते सकलो परखिया, सो पारख निज रूप।
तहाँ होय रहु स्थीर तू, नहिं झांई भ्रम कूप॥ त्रिज्या॥

लोग वाक्जाल एवं अंधविश्वास में उलझ गये हैं

साखी पुरन्दर ढहि परे, बिबि अक्षर युग चार।
कबीर रसनारम्भन होत है, कोइ कै न सकै निरुवार॥ 117॥

शब्दार्थ—साखी=साक्षी, गवाह, प्रमाणित करने वाला। पुरन्दर=इंद्र, कर्मकांडी। ढहि परे=फिसलकर गिर पड़े। बिबि अक्षर=दो अक्षर—सो-हं, वो-हं, रा-म आदि। युग चार=चारों युग। रसनारम्भन=वाणी का रसास्वादन, वाक्यजाल का विस्तार। निरुवार=निर्णय।

भावार्थ—चारों युगों से अर्थात बहुत काल से दो अक्षरों के जप से मोक्ष मानने वाले उपासक तथा कर्मकांड से स्वर्ग मानने वाले और उसे प्रमाणित

---

1. त्रिज्या।

करने वाले इन्द्र अपनी वास्तविक स्थिति से फिसलकर नीचे गिर गये हैं। सद्गुरु कहते हैं कि हर जगह प्राय: वाक्यजाल का विस्तार हो रहा है। कोई सत्यासत्य निर्णय कर बंधनों को नहीं छुड़ाता॥ 117॥

व्याख्या—भारत की प्राचीनतम पुस्तकें वेदों तथा ब्राह्मणों आदि को देखने से पता चलता है कि उस समय कर्मकांड का बड़ा जोर था। उन लोगों को यह विश्वास था कि आग में आहुति डालकर उसकी सुगंध से हम देवताओं को खुश कर सकते हैं। इसके बदले में आकाश में बैठे देवता प्रसन्न होकर वर्षा करेंगे और हमारी पृथ्वी धन-धान्य एवं पशुओं से सम्पन्न होगी; और मरने के बाद हमें स्वर्ग मिलेगा। वस्तुत: यह कर्मकांड पुरोहितों का पेटधन्धा था। इसलिए उन्होंने इसके पीछे यह सब अंधविश्वास लगा रखा था। आर्यों की गद्दी पर जो बैठता था, वह इन्द्र कहलाता था। इन्द्र का यह काम होता था कि जनता में अधिक-से-अधिक यज्ञ-हवन का प्रचार कराये, क्योंकि उसको यज्ञ से अधिक लाभ होता था। इसलिए इन्द्र यज्ञ का गवाह होता था। वह जनता में प्रमाणित करता था कि तुम्हें यज्ञ से इस लोक में धन, परिवार, पशु आदि मिलेंगे तथा परलोक में स्वर्ग मिलेगा। सद्गुरु कहते हैं कि इन्द्र यज्ञ के विषय में गवाह बनकर कर्मकांड में फिसल गया है। यहां पुरन्दर कहकर सभी कर्मकांडियों को इंगित किया गया है। कर्मकांडी लोग स्वरूपज्ञान एवं आत्मविवेक छोड़कर 'स्वाहा-स्वाहा' में लगे रहते हैं और अपने पूरे जीवन को मानो भूसी कूटने में ही बिता देते हैं। प्राणियों के अलावा न कोई देवता है जो हमारे हवन-कर्म से खुश होगा और कुछ दे सकेगा और न इस जीवन को छोड़कर कहीं स्वर्ग-नरक है। हवन करने से वर्षा होने की बात तो एकदम भोलापन है। पहले जमाने में ज्यादा पानी इसलिए नहीं बरसता था कि उस समय हवन होता था; किन्तु इसलिए बरसता था कि उस समय वन-वनस्पतियां ज्यादा थीं। फिर सूखे तथा अकाल पहले भी पड़ते थे। हवन करना तो धन को आग में डालकर उसे बरबाद करना है। इसके पीछे अंधविश्वास और पुरोहितों के पेटधंधे के अलावा कुछ नहीं है। वर्षा और वातावरण की शुद्धि के लिए तो अधिक-से-अधिक पेड़-पौधे लगाना ही विज्ञान तथा विवेकसम्मत है।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री लिखते हैं—"यह स्पष्ट है कि यज्ञ मध्यकालीन ब्राह्मणों की पेटपूजा का ढकोसला मात्र था। ऋषि दयानन्द इस ढकोसले को अस्वीकार करते हैं। वे यह कहते हैं कि यज्ञ करने से हवा शुद्ध रहती है। अतएव यज्ञ करना आवश्यक है। लेकिन विचारकर देखा जाये तो यह यज्ञ केवल वायु शुद्धि के लिए ही नहीं, अपितु यह अंधविश्वास एवं अंधपरम्परा का द्योतक भी है जो कि मध्ययुग के वैदिक पुरुषों में था। सत्यार्थ प्रकाश के

आरम्भ में इन तमाम देवताओं का अर्थ ईश्वर करने पर भी इन देवताओं से छुटकारा नहीं मिलता है।"[1]..."वायु की शुद्धि के लिए तो अग्निहोत्र होता ही नहीं है, वह तो विविध कारणों से होता है, क्योंकि आग जलाने से सदा वायु अशुद्ध होता है।"[2]

पुराकाल से ही यह भ्रम है कि अमुक नाम के जप से जीव के सारे बंधन कट जाते हैं। इसको लेकर "बिबि अक्षर का कीन्ह बँधाना"[3] वो-हं, सो-हं, रा-म आदि दो अक्षरों के नामों की कल्पना की गयी। इन-जैसों तथा अन्य नाम और मंत्रों का जप केवल मन को एकाग्र करने के लिए आरम्भिक साधना है न कि ये कोई पाप काटते हैं या तुरत-फुरत में मोक्ष देते हैं। जिसका जितना मूल्य हो उतना ही मानना ठीक है, अन्यथा मिथ्या महिमा में मनुष्य केवल भ्रम में पड़ता है।

सद्गुरु कहते हैं कि संसार में ज्यादातर तो धर्म के नाम पर रसनारंभन होता है। आदमी वाक्यजाल के विस्तार में उलझ गया है। वाक्यजाल का इतना व्यामोह हो गया है कि आदमी सही निर्णय करने की हिम्मत नहीं रखता। "कबीर रसनारम्भन होत है, कोइ कै न सके निरुवार" यह बड़ा मार्मिक वचन है। धर्म के नाम पर लंबी-चौड़ी बातें हांकी जा रही हैं। पहली बात तो यह है कि अंधविश्वास के कारण उनकी वास्तविकता को समझने की चेष्टा ही नहीं की जाती। यदि कुछ समझने में भी आती है, तो उसे समाज में स्वीकारने, घोषित करने तथा उसके अनुसार जीवन बनाने का साहस नहीं होता। ऐसे मुरदा लोग अपने जीवन में यथार्थ ज्ञान की तरफ क्या प्रगति कर सकते हैं!

'साखी' का अर्थ साक्षी है। साक्षी चेतन है। यही सबको जानता है। यह सबसे अनासक्त होकर अपने स्वरूप में स्थित रहे इसका यही साक्षित्व है। परन्तु यदि पहले अपने आप को समस्त जड़-दृश्यों का साक्षी मानकर भी, पीछे यह मान लिया जाये कि मैं ही यह सब जड़ दृश्य जगत हूं, मैं ही अनंत विश्व-ब्रह्मांड हूं, तो यह साक्षी का साक्ष्य एवं जड़दृश्य में ढह पड़ना है, फिसल जाना है। पहले अपने आप को साक्षी मानकर पीछे सर्व जगत को अपना स्वरूप मान लेने से अपना जड़ में पतन हो जाता है। इस प्रकार साक्षी-ज्ञानी, पुरंदर-कर्मी तथा बिबिअक्षर-उपासक यथार्थ स्वरूपज्ञान के अभाव में अपनी वास्तविक स्थिति से फिसल जाते हैं। ये सब रसनारंभन

---

1. धर्म के नाम पर, पृ. 147-148।
2. वही, पृ. 149-150।
3. रमैनी 5।

करते हैं। ये कोई जड़-चेतन का, स्व-पर का ठीक से निर्णय नहीं करते। पारख के अभाव में सब भटक रहे हैं।

उक्त बातों से शंका उठ सकती है कि क्या कर्म-उपासनादि सब बिलकुल बेकार हैं। इसके समाधान में सद्‌गुरु ने अगली साखी कही है—

क्रमशः आगे बढ़ो

बेड़ा बाँधिन सर्प का, भवसागर के माँहिं।
जो छोड़े तो बूड़े, गहै तो डँसे बाँहिं॥ 118॥

शब्दार्थ—बेड़ा=बड़े-बड़े लट्ठों या तख्तों आदि से बनाया हुआ ढांचा, जिस पर बैठकर नदी आदि पार करते हैं।

भावार्थ—कई लोगों ने कई सांपों को एक में बांधकर उसका बेड़ा बनाया और उसी को पकड़कर समुद्र पार करने लगे। अब यदि उस बेड़े को छोड़ते हैं तो समुद्र में डूबते हैं और यदि उसे पकड़े रखते हैं तो वे बेड़े के सांप उनके हाथ काटते हैं और उन्हें विष से बेभान करते हैं। ये अबोधमिश्रित ज्ञान, कर्मकांड एवं देवी-देवादि की उपासनाएं सांपों के बेड़े हैं। मनुष्य इन्हीं द्वारा संसार-सागर से पार होना चाहता है। यदि बिना स्वरूपज्ञान के इन्हें छोड़ता है, तो भोगवादी होकर संसार-सागर में एकदम डूब जाता है और यदि जीवनपर्यंत इन्हीं में पड़ा रहता हौ, तो इनके विष से आक्रांत होता है। अतएव पारखी-विवेकी का सत्संग करते हुए स्वरूपज्ञान पाकर इन्हें छोड़ना चाहिए॥ 118॥

व्याख्या—कबीर साहेब कितने दूरदर्शी हैं यह उनकी सारी वाणियों से जाहिर है; परन्तु इस साखी से तो उनकी कोमलता का ज्वलंत रूप सामने आता है। वे यह नहीं चाहते कि धर्म के नाम पर साधारण जनता जो कुछ आम-घास कर रही है उसे वह तुरन्त छोड़ दे। हवन के नाम पर हजारों-हजारों की सम्पत्ति आग में फूंक देना तो मानवता के साथ अन्याय है; परन्तु हल्का-फुल्का हवन-तर्पण, जप-कीर्तन, रोजा-नमाज, प्रार्थना-पूजा आदि मनुष्य का सात्त्विक मनोरंजन करते हैं। इससे मनुष्य का चित्त कुछ-न-कुछ शुद्ध होता है। परन्तु यदि यह मान लिया गया कि इन्हीं सबसे जीव को परमपद मिल जायेगा, तो यह भ्रम है। यदि इन्हीं में मनुष्य को यह भ्रम हो जाये कि ये ही कल्याण कर देंगे, तो इनका विष मनुष्य को आक्रांत कर देगा। आदमी कर्मकांड, देवी-देवताओं की उपासना तथा मिथ्या ज्ञान का अहंकारी होकर सत्य-शोधन की तरफ ध्यान भी नहीं देता। ज्ञान के नाम पर विश्व-अभिमान, कर्मकांड के नाम पर उसका ईश्वरीय-आज्ञा होने का अहंकार तथा उपासना के नाम पर मिथ्या मान्यताओं का घमंड यह सब सांप का विष ही

है। इन सारी मान्यताओं के जाल को काटकर तथा इनसे आगे बढ़कर स्वरूप का शोधन होता है।

परन्तु यदि सच्चे सद्गुरु नहीं मिले हैं जो सबकी परख कराकर स्वरूपबोध दे सकें, तो मनुष्य को पिनक में आकर अपने कर्म-उपासनादि मार्ग नहीं छोड़ देना चाहिए। उसे चाहिए कि वह जो कुछ समझा हो और उसे जिसमें विश्वास हो, करता चले। उसके साथ अपने चित्त को उदार रखते हुए सत्य को भी समझने का प्रयास करता चले। उसे जब पारखी गुरु मिलेंगे तब वह उनके सत्संग से जैसे-जैसे सारासार समझता जायेगा, वैसे-वैसे असार से हटकर सार को ग्रहण करता जायेगा। सद्गुरु श्री रामरहस साहेब ने कहा है—

जस जस परखत फीका होई। व्यापै न काल कला पुनि सोई॥ पंचग्रन्थी॥

सत्पात्र बनो

हाथ कटोरा खोवा भरा, मग जोवत दिन जाय।
कबीर उतरा चित्त से, छाँछ दियो नहिं जाय॥ 119॥

शब्दार्थ—खोवा=खोया, मावा। मग जोवत=रास्ता देखते। छाँछ=मट्ठा।

भावार्थ—जिस प्रकार खोया (मावा) से भरा कटोरा लेकर प्रिय का मार्ग देखते-देखते किसी के दिन जायें कि प्रिय आये तो उसे प्रेमपूर्वक खिला दूं, परन्तु प्रिय के दुराचरण के कारण यदि वह प्रेमी के चित्त से उतर जाये तो प्रेमी को उसे मट्ठा देने की भी इच्छा नहीं होगी; उसी प्रकार अन्त:करणरूपी हाथ के प्रेमरूपी पात्र में बोधरूपी खोया भरकर जिज्ञासुओं का मार्ग देखते ही सद्गुरु के दिन जाते हैं; परन्तु व्यक्ति जब अपने दुराचरण के कारण गुरु के चित्त से उतर जाता है, तब बोधरूपी खोया कौन कहे, उसे मट्ठारूपी व्यावहारिक सीख देने का भी मन नहीं होता॥ 119॥

व्याख्या—यह मनुष्य का सहज स्वभाव है कि वह प्रेमवश जिसे अपना सर्वस्व देना चाहता है वही व्यक्ति जब चित्त से उतर जाता है तब उसे फूटी आंखों से भी देखना नहीं चाहता। परन्तु यह उदाहरण उस पर नहीं लगता जो निष्काम है, राग-द्वेष से रहित है। सद्गुरु, संत और सज्जन सद्शिक्षा देकर सबका कल्याण करना चाहते हैं।

इस साखी की पहली पंक्ति में गुरु की उदारता का वर्णन है। वर्णन सब बड़े रोचक ढंग से है। गुरु सच्चे जिज्ञासु एवं मुमुक्षुओं का रास्ता देखते हैं कि कोई सत्पात्र आवे तो उसे मैं सत्बोध देकर उसके उद्धार में सहयोगी बनूं। इसका अर्थ यह नहीं है कि गुरु शिष्य के लिए बेताब होता है। सच्चा गुरु वही है जो संसार से निष्काम है। परन्तु वह निष्काम होकर भी संसार का हित

करना चाहता है और सत्पात्र को सत्प्रेरणा देने के लिए उत्सुक रहता है। परंतु कोई जानबूझकर यदि सन्मार्ग से विचलित होकर विपथ में जा रहा है, तो उसके सुधारने का गुरु का क्या चारा है ! चित्त से उतरे हुए को छांछ भी देने का मन नहीं कहता, इसका अर्थ यह नहीं है कि किसी का दुर्व्यवहार देखकर गुरु उससे द्वेष कर लेता है। जो द्वेष करता है वह गुरु हो ही नहीं सकता। गुरु तो वह है जो राग और द्वेष दोनों से मुक्त है। परन्तु उसे भी अपात्र तथा अयोग्य से उदास होना ही पड़ता है। अतएव जिज्ञासु का कर्तव्य है कि वह स्वयं सत्पात्र बनने का प्रयत्न करे। सत्पात्र के लिए कुछ दुर्लभ नहीं है।

जगत-सत्ता और आत्म-सत्ता का बोध

एक कहौं तो है नहीं, दोय कहौं तो गारि।
है जैसा रहै तैसा, कहहिं कबीर बिचारि॥ 120॥

शब्दार्थ—गारि=गाली, अनुचित बात।

भावार्थ—यदि मैं कहूं कि तत्त्व एक है तो वैसा है ही नहीं, परन्तु यदि कहूं कि जीव का आश्रय-स्थल कोई दूसरा है तो यह भी अनुचित बात है। इसलिए कबीर साहेब विचारपूर्वक कहते हैं कि जैसी वास्तविकता है वैसी दशा में ही स्थित होना चाहिए॥ 120॥

व्याख्या—कुछ लोगों का ख्याल है कि समस्त सत्ता केवल एक ही तत्त्व है। ऐसे लोग कहते हैं कि सत्ता एक ही है जो सर्वगत, सर्वव्याप्त और अखण्ड है। उसमें सजाति, विजाति और स्वगत का कोई भेद नहीं है। वह एक सत्ता केवल चेतन है। परन्तु यह सिद्धांत केवल धारणा है, तथ्य नहीं। जड़ और चेतन दोनों सर्वथा भिन्न हैं। न जड़ चेतन हो सकता है और न चेतन जड़ हो सकता है। फिर जड़ में भी अनेक तत्त्व हैं जो एक दूसरे में नहीं बदल सकते। मिट्टी, पानी, आग, हवा ये चारों जड़ तत्त्व एक दूसरे से भिन्न हैं। वैज्ञानिकों ने शताधिक तत्त्वों का निर्धारण किया है। आक्सीजन हाइड्रोजन में नहीं बदल सकता। ऐसे अनेक मौलिक तत्त्व दूसरे में नहीं बदल सकते। इधर एक जीव दूसरे जीव से अलग है, इसलिए एक जीव के सुख-दुख एवं बंध-मोक्ष दूसरे के नहीं हो सकते। इस प्रकार जड़-चेतन की भिन्नता एवं जीव-जीव की भिन्नता इतना ज्वलंत है कि इन सबको एक ही तत्त्व मान लेने की बात संभव ही नहीं है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं—"एक कहौं तो है नहीं"। यदि यह कहा जाये कि एक ही तत्त्व है तो ऐसी वास्तविकता ही नहीं है।

व्यापक शब्द महिमापरक है। संसार में एक भी ऐसा तत्त्व नहीं है जो एक, अखंड एवं व्याप्त हो। यदि एक अखंड व्याप्त सत्ता हो तो दूसरे का अस्तित्व ही नहीं हो सकता। इसके अलावा एक अखंड, व्याप्त सत्ता होने से

गति एवं सृष्टि असंभव है। अतः निरन्तर परिवर्तनशील संसार में एक अखंड व्याप्त सत्ता कहना हद दर्जे का व्यामोह है। इसलिए अनेक जड़तत्त्वों की सत्ता अलग-अलग है और अनेक जीवों की सत्ता अलग-अलग है। यह ठीक है कि सबका सत्तापन एक है, अर्थात सबकी सत्ता है। किन्तु वे सब एक दूसरे से अपना-अपना अलग-अलग व्यक्तित्व रखते हैं। इसलिए केवल एक ही तत्त्व है यह नहीं कहा जा सकता। यह आनुभविक जगत का वर्णन हुआ। जगत का व्यवहार ही द्वैत में चल रहा है। सबको एक कैसे कहा जा सकता है!

अब परमार्थ क्षेत्र में आइए। परमार्थ—परम+अर्थ=श्रेष्ठ प्रयोजन—स्वरूपस्थिति में आइए, इसमें "दोय कहौं तो गारि" होगी ही। जब सारे संकल्प छूट जाते हैं, तब समाधि होती है। यही स्वरूपस्थिति है। इसमें दो की गुंजाइश ही नहीं है। जब तक दो है तब तक समाधि नहीं, स्वरूपस्थिति नहीं। संकल्पों एवं स्मरणों के कारण ही संसार जीव के सामने होता है। यदि स्मरण एवं संकल्प ही समाप्त हो गये तो जीव के सामने संसार आ ही नहीं सकता। वहां न जड़तत्त्वों का सम्बन्ध संभव है और न दूसरे जीवों का। यदि मेरे संकल्प समाप्त हुए तो मेरे लिए द्वैत समाप्त हुआ। फिर रह गया शेष शुद्ध स्वरूपस्थ चेतन। फिर वहां दो कहना जीव को गाली देना है। उसकी तौहीनी करना है। जीव का आश्रय-स्थल दूसरा नहीं है। वह अपने शुद्ध स्वरूप से अलग किसी ईश्वर-ब्रह्म में नहीं लीन होता है। कोई भी मौलिक तत्त्व किसी दूसरे के स्वरूप में स्थायी आश्रय नहीं पा सकता। यदि कोई कहता है कि जीव का आश्रय उससे अलग कोई ईश्वर या ब्रह्म है तो वह मानो जीव को गाली देता है। और ऐसी गाली नाना मत वालों ने दी है। उन्होंने कहा है कि जीव अंश है, प्रतिबिम्ब है, आभास एवं परिच्छिन्न है, जीव तो तुच्छ है, श्रेष्ठ ब्रह्म है, जो उससे अलग है। यह सब जीव को गाली देने वाली बात है। कबीर देव कहते हैं कि यदि जीव तुच्छ है तो श्रेष्ठ कौन है! जीव को हटा देने पर शिवत्व कहां फलित होगा? जीव से अलग ईश्वर-ब्रह्म की कल्पना केवल कल्पना ही है, केवल अवधारणा ही है। जीव स्वयं प्रत्यक्ष है। वह खुद अपना आश्रय है। वह स्वतः अपना निधान है। जीव की स्व-रूप में ही स्थिति होती है, पर-रूप में नहीं। इसलिए स्वरूपस्थिति में कोई द्वैत नहीं होता। स्वरूपस्थिति में चेतन अकेला रहता है। यदि तथ्यपूर्ण अद्वैत है तो यही है।

जो महापुरुष जड़-चेतन को मिलाकर अद्वैत की कल्पना करते हैं, वे केवल कल्पना करते हैं। वैसी सत्ता तो ही है नहीं। उन्हें जगत का डर लगा रहता है कि जगत यदि ब्रह्म से अलग सिद्ध हो जायेगा तो ब्रह्म का घाटा हो

जायेगा। परन्तु जगत तो है ही। पृथ्वी, चांद, सूरज तथा असंख्य तारों से भरे इस जड़-जगत को कोई अद्वैत की फूंक से कहां उड़ा सकता है! अद्वैत सिद्ध करने का मतलब है द्वैत की सिद्धि। भोले लोगों ने अद्वैत सिद्धि में ही पुस्तकें नहीं बनायी हैं, किन्तु 'अद्वैत-सिद्धि' नाम की भी पुस्तक लिखी है। अद्वैत में विश्वास हो जाने पर वह किसके सामने अद्वैत सिद्ध करेगा? अद्वैत में विश्वास हो जाने पर कम-से-कम वह मौन तो हो ही जायेगा। इसलिए सद्गुरु ने कहा है अद्वैत तो हो ही नहीं सकता। समस्त सत्ता अद्वैत नहीं है। सत्ता के नाना भेद हैं। अद्वैत है स्वरूपस्थिति में। स्वरूपस्थिति में दो नहीं हो सकते। स्वरूपस्थिति असंग-दशा है।

अतएव कबीर साहेब कहते हैं कि मैं विश्व-सत्ता और स्वरूपस्थिति— दोनों पर गंभीरतापूर्वक विचारकर कहता हूं कि जो जैसा है, वह वैसा ही रहेगा। अद्वैत तथा जगत को मिथ्या कहने से न सब सत्ता एक में मिलकर अद्वैत हो जायेगा और न जगत मिथ्या हो जायेगा और स्वरूपस्थिति में न दूसरे की सत्ता होना संभव हो जायेगा। पुराकाल से अनेक अद्वैतवादी इस विविधतापूर्ण विश्वसत्ता को अद्वैत कहते-कहते चले गये, परन्तु यह सब समय जैसा है वैसा ही विद्यमान है और आगे भी यह ऐसा ही रहेगा। इसके विपरीत जब जिस साधक ने स्वरूपस्थिति की है तब वह असंग हो गया है। कभी किसी जीव की स्वरूपस्थिति में किसी दूसरे की गुंजाइश नहीं हो सकी है और न आगे हो सकेगी। जो जीव स्वरूपस्थ होगा, वह केवल होगा, असंग होगा, निराधार होगा, अद्वैत होगा, अकेला होगा। वहां दो कहना ही गलत बात है। अतएव "है जैसा रहै तैसा, कहहिं कबीर बिचारि" परमसत्य है।

अमृत की पुड़िया

अम्मृत केरी पूरिया, बहु बिधि दीन्हा छोरि।
आप सरीखा जो मिलै, ताहि पियावहु घोरि॥ 121॥

शब्दार्थ—अम्मृत=अमृत, न मरा हुआ, न मरने वाला, अमर जीव। अम्मृत केरी पूरिया=स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति के उपदेश।

भावार्थ—सद्गुरु कहते हैं कि हे विवेकियो! मैंने अविनाशी जीव के स्वरूपज्ञान और स्वरूपस्थिति की रहनी के उपदेश की गठरी खोलकर रख दी है। अब तुम्हारे सरीखा सत्पात्र कोई मिले तो तुम भी उसको उसे घोलकर पिला देना॥ 121॥

व्याख्या—'अ' उपसर्ग है जिसका अर्थ निषेधात्मक है और 'मृत' मरे हुए को कहते हैं। अतएव जब 'मृत' में 'अ' मिलाकर अ-मृत शब्द बनता है तब उसका अर्थ होता है जो न मरा हो अमर, चेतन। वह जीव ही है। जीव

ही अमृत है। जीव के स्वरूप के परिचय का विवरण तथा जीव की स्वरूपस्थिति के साधन-स्वरूप रहनी का विवरण अमृत की पुड़िया है। पूरिया छोटी गठरी को कहते हैं। यहां छोटी से मतलब नहीं है। यहां अर्थ है गठरी। मानो कोई शकर की गठरी खोलकर उसमें से शकर निकाल तथा शर्बत बनाकर किसी प्यासे आदमी को पिला दे और उससे कहे कि देखो, जो प्यासा मिले उसे इसमें से शकर निकालकर तथा उसका शर्बत घोलकर उसे पिला देना। इसी प्रकार सद्गुरु ने सत्पात्रों को स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति की सीख दी है और उन्हें उपदेश दिया है कि यदि तुम्हें कोई तुम्हारे सरीखा सत्पात्र मिले तो तुम भी उसे स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति के उपदेश देने का प्रयास करो।

अमृत बड़ा प्यारा शब्द है। अमृत शब्द सुनते ही मन में मीठी वस्तु का आकार खिंच जाता है। जब कोई बहुत मीठा फल खाता है, तब वह उसकी प्रशंसा में कहता है कि यह तो ऐसा मीठा है जैसे अमृत। स्वादिष्ट भोजन खाकर लोग कहते हैं कि भाई, भोजन क्या था अमृत था। किसी के मधुर स्वभाव की लोग प्रशंसा कर कहते हैं कि उसका स्वभाव तो अमृत है। मीठे वचन को भी लोग अमृत कहते हैं। 'उनकी बात तो अमृत के समान होती है।' वस्तुतः भौतिक क्षेत्र में अन्न और मीठे वचन अमृत हैं। अन्न से अर्थ आहार है। आहार ग्रहण करने से ही मनुष्य जीवित रह सकता है, इसलिए आहार अमृत है और मीठे वचन सुनकर मनुष्य का मन संतुष्ट होता है, इसलिए वह भी अमृत है। परन्तु यह ध्यान रहे कि हर जगह मीठी वस्तु ही अमृत नहीं है। रोग में मीठा विष का काम करता है और कड़वी दवाई अमृत बन जाती है। इसी प्रकार झूठी मीठी बातें अन्ततः मनुष्य का अहित करती हैं; परन्तु सत्य कड़वे वचन कल्याणकारी होते हैं। यह आवश्यक है कि सत्य को जितना मीठा बनाया जा सके, अच्छा है।

संसार में विष होता है जिसको खाकर प्राणी मर सकता है, परन्तु अमृत कहीं नहीं होता जिसे खाकर मृत व्यक्ति जी जाये, या कोई जीवित प्राणी उसे खाकर सदा के लिए देहसहित अमर हो जाये। वस्तुतः जीव का अपना मौलिक चेतनस्वरूप ही अमृत है, जो अजर-अमर है। निजस्वरूप में स्थित होने के लिए दया, शील, सत्य, धैर्य, क्षमा, विचार, विवेक, वैराग्य, सत्पुरुषों के प्रति भक्ति, शम, दम, संयम आदि रहनी की आवश्यकता है। यह दिव्य रहनी अमृत है। इस दिव्य रहनी का सार है इच्छात्याग। सिद्धांत में जीव अमृत है तथा व्यवहार में इच्छात्याग अमृत है। दसवीं रमैनी की साखी में सद्गुरु ने इस बात पर प्रकाश डाला है "अमृत वस्तु जानै नहीं, मगन भया सब लोय। कहहिं कबीर कामो नहीं, जीवहिं मरण न होय॥" कामना का

त्याग और जीव की अमरता यही अमृत है। जीव स्वभावतः अमर है। उसकी अमरता के लिए कुछ करना नहीं है। करना है कामना का त्याग। कामना का त्याग कर देने के बाद व्यक्ति का व्यक्तित्व अमृत हो जाता है। गुरु-संतों के सारे उपदेश मानो इसी एक ही बात के लिए हैं कि कामनाओं का त्याग करो। स्वरूपस्थिति की रहनी इसी एक ही बात में समायी है कि मनुष्य इच्छाओं से मुक्त हो। जिसने संसार के भोगों की इच्छाएं छोड़ दी हैं उसे क्या बंधन है! विशाल देव ने कहा है—"जो इच्छा छोड़े फिरे, तेहिको को गहि लीन" जो इच्छाओं को त्यागकर विचरण करता एवं संसार में रहता है, उसको बंधनों में बांधने की क्षमता किसे है! हमारी इच्छाएं ही हमें बांधती हैं। धन की इच्छा दरिद्रता का बोध कराती है, सम्मान की इच्छा अपमान का बोध कराती है, सुख की इच्छा दुख का बोध कराती है। तात्पर्य यह है कि हमारे मन की इच्छाएं ही हमारे मन में अभाव, असन्तोष एवं कमी का अनुभव कराती हैं। जब हमारे मन से सारी इच्छाएं निकल जाती हैं, तब अपने अमृतस्वरूप का हमें अनुभव होता है। अतएव इच्छा ही विष है और इच्छात्याग ही अमृत है। सारे आध्यात्मिक उपदेशों का यही निष्कर्ष है कि इच्छाओं का त्याग करो। जो इच्छाओं का त्यागी होता है, वह सबको प्यारा होता है। इच्छाओं का त्याग करने वाला किसी से विवाद कर ही नहीं सकता। जब कुछ चाहिए ही नहीं, तो किसी से झगड़ा कैसा! इच्छाओं का त्याग कर देने से भीतर का झगड़ा समाप्त हो जाता है और बाहर का भी झगड़ा समाप्त हो जाता है। इच्छात्यागी का मन शान्त होता है। उसे बाहर किसी आदमी से वैर-विरोध नहीं रहता। सद्गुरु ने हमारे लिए अमृत की पुड़िया खोल दी है—

जो तू चाहै मूझको, छाँड़ सकल की आस।
मुझ ही ऐसा होय रहो, सब सुख तेरे पास॥ साखी 298॥

अमृत केरी मोटरी, शिर से धरी उतार॥
जाहि कहौं मैं एक है, सो मोहिं कहै दुइ चार॥ 122॥

शब्दार्थ—अमृत केरी मोटरी=स्वरूपज्ञान और इच्छात्याग की रहनी।

भावार्थ—लोगों ने अमृत की गठरी अपने सिर से उतारकर अलग रख दी है। अर्थात लोगों ने स्वरूपविचार और इच्छात्याग की रहनी को तिलांजलि दे दी है। मैं जिससे कहता हूं कि एक जीव ही सत है, अतः सारी इच्छाएं त्यागकर निजस्वरूप में स्थित होओ, वह मुझे दो-चार टेढ़ी-सीधी बातें सुनाने लगता है, अथवा वह जीव के ऊपर दो-चार देवी-देवताओं की बातें करने लगता है॥ 122॥

व्याख्या—संसार में अध्यात्म और धर्म के नाम पर जो नाना मत-

मतांतरों के मनुष्यों की भीड़ है, उसने मानो अमृत की गठरी अपने सिर से उतारकर अलग रख दी है। धार्मिक भीड़ के मनुष्य न तो निजस्वरूप का विचार करते हैं और न इच्छाओं के त्याग पर ध्यान देते हैं। वे तो किसी कल्पित भगवान-भवानी तथा देवी-देवताओं को पूजा-प्रार्थना के द्वारा खुश करके उनसे सारी ऋद्धि-सिद्धियां पाना चाहते हैं। परन्तु यह सब मन के भ्रम के अलावा कुछ नहीं है। जीव के अलावा न कोई भगवान है और न कोई देवी-देवता। भगवान, ईश्वर, ब्रह्म, परमात्मा, देवी, देवतादि सब जीव के ही विशेषण हैं। जीव यदि अपने अस्तित्व से अलग इन सबकी कल्पना करता है, तो वह केवल अपने आप को भटकाव के रास्ते में ले जाता है। अतएव यह जीव ही भगवान है, ईश्वर है, ब्रह्म है, परमात्मा है, देवी-देवता है, अर्थात यही सर्वोच्च सत्ता है। जब तक बाहरी सारी कल्पनाओं का त्याग नहीं किया जायेगा, तब तक कोई निजस्वरूप का ज्ञान तथा स्वरूपस्थिति नहीं पा सकता।

लोग देवी-देवताओं की भ्रांतियों में इतने डूबे हैं कि उनसे स्वरूपज्ञान की बातें कहो तो वे नाखुश होकर बड़बड़ाने लगते हैं। वे जीव को तुच्छ कहते हैं। निजस्वरूप क्या है उन्हें इसका सपने में भी भास नहीं है। जब उनसे कहा जाता है कि तुम अपने आप को पहचानो, तो वे कहते हैं कि हम तो कुछ नहीं हैं। उन भोलों को यह सूझ नहीं है कि यदि वे कुछ नहीं हैं तो उनके लिए देवी-देवता तथा ईश्वर-ब्रह्म किस काम के! पहले वे कुछ हैं तब उनके लिए किसी अन्य की आवश्यकता है। यदि वे ही कुछ नहीं हैं, तो "नहीं-नहीं फिर कौन कहां!" लोग बैसाखी के सहारे चलने के आदी हैं, इसलिए स्वतंत्र होकर चलने में डरते हैं। किन्तु सारी कल्पनाओं एवं इच्छाओं को छोड़े बिना कोई निजस्वरूप की न ठीक से पहचान कर सकता है और न निजस्वरूप की स्थिति पा सकता है।

ऋषि-मुनि तथा वेदों के सारतत्त्व का समर्थन

जाके मुनिवर तप करें, वेद थके गुण गाय।
सोई देउँ सिखापना, कोई नहीं पतियाय॥ 123॥

शब्दार्थ—जाके=जिसके लिए, स्वरूपस्थिति एवं मोक्ष के लिए। सिखापना=शिक्षा। पतियाय=विश्वास।

भावार्थ—जिस स्वरूपज्ञान, स्वरूपस्थिति एवं मोक्ष की प्राप्ति के लिए श्रेष्ठ मुनिजनों ने तप किया है, तथा जिसके अनंत गुण गाने में वेद असमर्थ हो जाते हैं, मैं उसी की शिक्षा देता हूं, परन्तु कोई विश्वास नहीं करता॥ 123॥

व्याख्या—यह ठीक है कि कबीर साहेब ऋषि-मुनियों एवं वेद-शास्त्रों

की अन्धपरम्परा एवं उनकी अहितकारी मिथ्या महिमाओं की कटु आलोचना करते हैं जिसे हम इस बीजक में जगह-जगह देख सकते हैं। परन्तु यह भी उतना ही सच है कि वे अपने आप को उनका अनुगामी मानते हैं। इस बात को भी हम बीजक में सर्वत्र देख सकते हैं। इस साखी में उसका ज्वलंत रूप है। प्रश्न हो सकता है कि अनुगामी तो आलोचना कैसी और आलोचना तो अनुगामी कैसा? मनुष्यों में या कहना चाहिए धार्मिक कहलाने वाले लोगों में यही जड़ता है कि वे जिसके अनुगामी बन जाते हैं उसकी सड़ी-गली बातों को भी स्वीकारते रहते हैं। यदि उनका हृदय उन बातों को न स्वीकारे तो भी वे ऊपर-ऊपर उनका समर्थन करते रहते हैं, और वे जिनके अनुगामी नहीं हैं, उनकी अच्छी-से-अच्छी बातों पर भी ध्यान नहीं देते; या जिनकी कुछ बातें खटकने वाली हो गयीं, तो उनकी अच्छी बातों को भी वे नकारते हैं।

कबीर साहेब उक्त धारणा से बिलकुल अलग पुरुष हैं। वे ऋषि-मुनियों तथा वेद-शास्त्रों को आदर देते हैं। अपने आप को उनका अनुगामी बताते हैं, परन्तु उनके विषय में लगाये गये अन्धविश्वासों को वे निर्भय होकर अस्वीकार देते हैं। दूसरे लोग भी अपनी पुरानी परम्परा की अत्यन्त युग-बाह्य एवं हानिकारी बातें कुछ-न-कुछ छोड़ देते हैं। प्रत्यक्ष है वैदिक युग में प्रचलित अश्वमेध, गोमेध, यहां तक ऐतरेय ब्राह्मण[1] में वर्णित नरमेध यज्ञ आज कोई वैदिक कहलाने वाला नहीं करता। अतिथि के रूप में राजा, ऋषि एवं किसी बड़े ब्राह्मण के घर में पधारने पर उनके मधुपर्क[2] (जलपान) के लिए बड़ा बैल, बछड़ा एवं बकरा काटने की बात आज सोची भी नहीं जा सकती। पुराने समय में कमजोर वर्ग के मनुष्यों को गुलाम बनाकर उन्हें बेचा-खरीदा जाता था। आज यह काम नहीं किया जाता। अतएव हर परम्परा के लोग अपनी पूर्वपरम्परा की बहुत बेकार बातें छोड़ते हैं। कबीर साहेब की स्थिति सभी परम्परा वालों से बिलकुल अलग है। वे किसी परम्परा के जड़ एवं रूढ़

---

1. ऐतरेय ब्राह्मण (अध्याय 33, खंड 3)।
2. तद्यथैवादो मनुष्यराज आगतेऽन्यस्मिन्वार्हत्युक्षाणं वा वेहतं वा क्षदन्त एवमेवास्मा एतत्क्षदन्ते यदग्निं मन्थन्त्यग्निर्हि देवानां पशुः। (ऐतरेय ब्राह्मण 3/4), वसिष्ठ धर्मसूत्र 4/8; पाणिनि अष्टाध्यायी 3/4/73 में भी देखें। सिद्धांतकौमुदी में कहा गया "गोहन्ति अस्मैगोघ्नोऽतिथिः— अर्थात जिसके सत्कार में गाय मारी जाये वह अतिथि है। देखें वेद प्रवचन, पृ. 359, लेखक पंडित गंगाप्रसाद उपाध्याय। कहा गया राजा या ब्राह्मण के अतिथि रूप में आने पर एक बैल या बकरा पकाया गया (शतपथ ब्राह्मण 3/4/1/2; याज्ञवल्क्य 1/109)। कहा गया कि यहां यद्यपि श्रोत्रिय (विद्वान ब्राह्मण) यदि अतिथि रूप में घर पर आया हो, तो उसकी तृप्ति के लिए गाय मारना चाहिए, किन्तु यह धर्म कलियुग में नहीं चलता, किन्तु अन्य युग में चलता है। यथा— अत्र यद्यपि गृहागतश्रोत्रियतृप्तर्थं गोवधः कर्तव्य इति श्रूतते तथापि कलियुगे नायं धर्मः किन्तु युगान्तरे। (आह्निक प्रकाश, पृ. 451), धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ. 408।

अनुगामी नहीं हैं; परंतु वे इतने विनम्र हैं कि किसी की भी अच्छाइओं को बेहिचक स्वीकारते हैं। वे किसी भी परम्परा को अपना मानकर उसका थोड़ा भी कूड़ाकचड़ा नहीं स्वीकारते, परंतु सत्य बालक भी कहे तो वे उसे गुरुवचन मानकर सिर से स्वीकार लेते हैं।

अब हम साखी के मूल विचार पर आवें। सद्गुरु कहते हैं कि जिस स्वरूपज्ञान, स्वरूपस्थिति एवं मोक्ष की प्रशंसा वेद-शास्त्र करते हैं और उसे पाने के लिए ऋषि-मुनिजन तपस्या करते हैं, मैं उसी का उपदेश कर रहा हूं। प्राचीनकाल में जब ऋषिगण हवन-तर्पण एवं यज्ञ-याग का परित्याग कर अध्यात्म की तरफ लगे थे तब उन्होंने देवी-देवताओं की कल्पनाएं छोड़ दी थीं। उनमें से ज्यादा ऋषियों का विचार ईश्वरपरक नहीं, किंतु आत्मपरक था। वेद के आध्यात्मिक ऋषि कहते हैं—"फैले हुए ऋत के तंतुओं को भेद डालने वाला व्यक्ति उसको देख लेता है, वही हो जाता है, वह वही है ही।"[1] तथा "जो वाणी मन, आंख, कान, प्राणादि से नहीं जाना जाता है, किन्तु जो वाणी, मन, आंख, कान, प्राणादि से जानता है वही ब्रह्म है।[2] मैं ब्रह्म हूं,[3] वह तू ही है,[4] यह आत्मा ब्रह्म है,[5] ज्ञान ही ब्रह्म है।[6] भारतीय दर्शनों के पितामह परम ऋषि कपिल के अनुगामी ईश्वरकृष्ण कपिल के विचार कहते हैं—"इस प्रकार तत्त्व के अभ्यास से जब ज्ञानी को निश्चय हो जाता है कि मेरे में क्रिया नहीं, मेरे में शरीरादि नहीं तथा मैं कर्ता नहीं, तब कुछ बन्धन शेष नहीं रहता। अतः तब भ्रम के दूर हो जाने से विशुद्ध केवलज्ञान उत्पन्न होता है।"[7] कठ उपनिषद् के ऋषि कहते हैं—"जब पांचों ज्ञानेन्द्रियों तथा मन सहित बुद्धि की हलचल शांत हो जाती है तब इसे ही परम गति कहते हैं।"[8]

वेदों के अन्तभाग उपनिषदें ज्यादातर आत्मपरक विचार व्यक्त करती हैं। वैदिक छहों शास्त्रों में मीमांसा को छोड़कर अन्य पांच शास्त्र अधिकतम आत्मपरक विचार ही रखते हैं। मीमांसा कर्मकांड में व्यस्त अवश्य है, परन्तु वह जहां आध्यात्मिक चर्चा करती है वहां आत्मपरक ही करती है, ईश्वरपरक

---

1. ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत् तदभवत् तदासीत्। (यजुर्वेद, अ. 32, मंत्र 12)
2. केन उपनिषद् 1/4-8।
3. अहंब्रह्मास्मि—यजुर्वेद, वृहदारण्यक उपनिषद् 1/4/10।
4. तत्त्वमसि—सामवेद, छांदोग्य उपनिषद् 6/8/7।
5. अयमात्मा ब्रह्म—अथर्ववेद, मांडूक्य उपनिषद् 2।
6. प्रज्ञानं ब्रह्म—ऋग्वेद, ऐतरेय उपनिषद् 3/1/3।
7. एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
   अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥ सांख्यकारिका 64॥
8. यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
   बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥ कठोपनिषद् 2/3/10॥

नहीं। जैन-विचार आत्मपरक है ही, बौद्ध-विचार भी अपने ढंग से आत्मपरक ही है—'अत्ताहि अत्तनो नाथो अत्ताहि अत्तनो गति।'

यह सच है कि उपनिषदों तथा वैदिक धर्मशास्त्रों में आत्मा के विषय में जगह-जगह साफ बात कहने के साथ-साथ अनेक जगह उनके विचारों में गड्ड-मड्ड कर दिया गया है। अनेक जगह आत्मा को व्यापक, अंश, जड़ से अभिन्न आदि कहकर स्वरूपविचार एवं आत्मविवेक को उलझा दिया गया है। जैन-विचार भी आत्मा को संकोच-विकासवान मानकर तथा बौद्धविचार क्षणिक मानकर आत्मविचार में परिनिष्ठित मत नहीं रखते। इसलिए सद्गुरु कबीर के परखदृष्टिपरक विचार मनन करना अत्यन्त आवश्यक है।

"जाके मुनिवर तप करें, वेद थके गुण गाय।" यहां मुनि से वैदिक मुनि, जैन मुनि, बौद्ध मुनि एवं महात्मा सब आ जाते हैं। और इतना ही क्या ऋषि, मुनि, पीर, औलिया सबकी आलोचना करने वाले तथा इन सबको आदर देने वाले निराले संत कबीर विश्व के सभी महापुरुषों के सार-विचार को स्वीकारते हैं। परन्तु वे सब पर अपनी परख कसौटी लगाकर "सार-सार को गहि रहे, थोथा देय उड़ाय" का सिद्धांत रखते हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि संसार के सभी महापुरुषों तथा वेद-शास्त्रों का यही सार विचार है कि विषय-वासनाओं एवं सांसारिक इच्छाओं को छोड़कर अपने स्वरूप एवं स्व-आत्मतत्त्व में स्थित होओ। यही शिक्षा मैं भी दे रहा हूं, परन्तु लोग विश्वास नहीं करते। विश्वास न करने का कारण है कबीर का परंपरा के प्रति विद्रोही स्वर। लोग जब अपनी परंपरा के प्रति कबीर के विरोधी स्वर सुनते हैं, तब उन्हें यह भ्रम हो जाता है कि कबीर तो हमारे विरोधी हैं। परंतु वस्तुतथ्य यह नहीं है। कबीर हर परंपरा में पल रहे कूड़ेकचड़े के विरोधी हैं, परन्तु उनके सत्य के समर्थक हैं।

"कोई नहीं पतियाय" कथन भी सापेक्ष है। कबीर साहेब के काल में ही उनके पैंतीस-चालीस वर्ष की उम्र में उनके साथ में हजारों लोग हो गये थे। उनकी परिपक्व तथा वृद्धावस्था तक तो वे पूरे भारत में तथा आस-पास के देशों तक में गूंज गये थे और उनके पीछे लाखों अनुगामी एवं समर्थक हो गये थे। फिर तो दिन बीतते गये और कबीर-विचारों की प्रखर चमक बढ़ती गयी। मनुष्य जितना-जितना उदार होता गया कबीर के निकट होता गया। आज संसार के हर संप्रदाय के बहुसंख्यक तथा आमजनता, विद्वान एवं चिंतक कबीर-विचार के समर्थक होते जा रहे हैं। आज ईसा की बीसवीं शताब्दी के आखिर में तो उन पर देश-विदेश में सर्वाधिक लिखा और सोचा जा रहा है। जैसा कि काशी के एक विद्वान ने सन् 1969 ई. में कहा था कि आज तो कबीर-युग है। जो कबीर चाहते थे, जीवनभर कहे तथा किये थे,

उन सबका समर्थन आज प्रबुद्ध-समाज तथा आम-समाज भी कर रहा है और यह उन विद्वान का ही मत नहीं था, सर्वाधिक लोगों का मत है। इतना ही नहीं, आज सरकारें भी वही मानव-समानता के कानून बना रही हैं जिन्हें कबीर साहेब चाहते थे।

मानव शरीर एवं जीव की विशेषता

एक ते अनन्त भौ, अनन्त एक ह्वै आय।
परिचय भई जब एकते, तब अनन्तो एकै माहि समाय॥ 124॥

शब्दार्थ—एक ते=मनुष्य शरीर से। अनंत=असंख्य कर्म एवं योनियां। परिचय=परख। समाय=नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—एक मनुष्य शरीर ही कर्मभूमि है। इसी में जीव असंख्य कर्म करता है जिनके फलस्वरूप वह असंख्य योनियों में भटकता है। परन्तु असंख्य योनियों में से भटककर जीव पुनः मनुष्य शरीर में आता है "भूलि भटक नर फिर घट आया।"[1] जब उसे इस एक मनुष्य शरीर में स्वरूप की परख हो जाती है तब असंख्य कर्मसंस्कार तथा नाना योनियों के अध्यास यहां नष्ट हो जाते हैं और जीव मुक्त हो जाता है। अथवा एक जीव से ही सारे ज्ञान-विज्ञान पैदा होते हैं। अतः जब निज स्वरूप से परिचय हो जाता है तब सारे ज्ञान-विज्ञान अपने में समाये हुए लगते हैं॥ 124॥

व्याख्या—मनुष्य शरीर कर्मभूमिका है, अतएव कर्म यहीं बनते हैं। इसी एक मानव शरीर में रहकर जीव इतने कर्म कर लेता है कि वह असंख्य खानियों में असंख्य सुख-दुख भोगता रहता है। मनुष्य-शरीर कर्म-भूमि तथा फलभोग-भूमि दोनों हैं, किन्तु मानवेतर खानियां केवल भोग-भूमि हैं, वे कर्म-भूमि नहीं हैं। कर्मों का बन्धन बनता मानव-शरीर में है तथा कटता भी मानव-शरीर में ही है। चारों खानियों के बन्धन केवल विषयासक्ति है। विषय केवल पांच हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध। इनकी आसक्ति मिट जाने पर सभी बन्धन कट जाते हैं। अतएव यदि जीव ने मानव-शरीर में रहकर पांचों विषयों की आसक्ति मिटा दी है तो उसके लिए किसी खानि का कोई बन्धन नहीं बचता है। श्री विशाल साहेब ने मुक्तिद्वार के निवृत्ति साहस शतक में इसको विवरणपूर्वक बताया है।[2]

---

1. रमैनी 25।
2. मनुष्य देह से जो प्रकट, वहँ ही से सो छूट।
करि पुरुषारथ ध्वंस करि, राग मनोमय लूट॥ 95॥
मनुष्य देह सद्बोध जो, पाय आपनो धाम।
क्षय मानन्दी जीव करि, संचित बचै न काम॥ 96॥
शुद्ध स्वरूप चैतन्य है, आप आप निश्चेष्ट।

इस साखी को हम इस ढंग से भी समझ सकते हैं कि एक जीव से ही अनन्त कर्म, कल्पनाएं, वासनाएं एवं ज्ञान-विज्ञान का विस्तार होता है। अनंत तो दोनों अर्थों में ही उपलक्षण मात्र है; क्योंकि अनंत किसी से पैदा नहीं होता, अनंत की तो केवल सत्ता होती है और जो किसी से पैदा होता है, वह अनंत हो ही नहीं सकता। वह असंख्य हो सकता है। जैसे हम यह कह सकते हैं कि शरीर में बाल असंख्य हैं, परन्तु यह नहीं कह सकते कि वे अनंत हैं। इसी प्रकार पैदा होने वाला पदार्थ अनंत नहीं हो सकता। अतएव यहां साखी में प्रयुक्त अनन्त शब्द असंख्य का उपलक्षण मात्र है। तो बात चल रही थी कि एक जीव से ही असंख्य कल्पनाएं तथा ज्ञान-विज्ञान का विस्तार होता है, परंतु समस्त ज्ञान-विज्ञान का पर्यवसान एक जीव ही में होता है। जीव को छोड़कर ज्ञान-विज्ञान का कोई निधान ही नहीं है। अतएव जब एक अपने जीव से, निजस्वरूप से एवं अपने आपा से परिचय हो जाता है, तब असंख्य ज्ञान-विज्ञान एक जीव ही में समाये हुए लगते हैं। जीव को छोड़कर ज्ञान का कहीं कोई आधार नहीं है। ज्ञान-स्वरूप केवल जीव है, चेतन है, व्यक्ति का स्वरूप एवं आत्मा है।

अथवा एक मनुष्य ही तो असंख्य बन्धन बनाता है। वह पहले अकेला रहता है। पीछे एक-एक बन्धन एवं प्राणी-पदार्थों से ममता बनाता जाता है और कुछ दिनों में वह असंख्य बन्धनों में बंध जाता है। परन्तु जब उसे अपने आप का परिचय हो जाता है कि मैं ही तो सभी बन्धनों का बनाने वाला हूं, इसलिए मैं इन बन्धनों को छोड़ भी सकता हूं, तो वह सारे बन्धनों को छोड़कर असंग हो जाता है।

एक ब्रह्म से अनंत जगत पैदा हो गया और अंततः अनंत जगत एक ब्रह्म ही है। जिसे जब एक ब्रह्म से परिचय हो जाता है तब उसे अनंत जगत एक ब्रह्म में ही लीन प्रतीत होता है। यह अर्थ भी किया जा सकता है, परंतु इस भाव का बीजकभर में खंडन है।[1] कोई भी विचारक स्व-सिद्धांत का एक शब्द में भी खंडन नहीं करता। सद्‌गुरु ने जड़-चेतन अभिन्नवाद का बारम्बार खंडन किया है। इसलिए यह उनका सिद्धांत नहीं हो सकता। फिर यह विवेक के विरुद्ध तो है ही। ब्रह्म जब चेतन है तब उससे जड़-जगत कैसे पैदा होगा। "कारणगुणपूर्वकः कार्य्यगुणोदृष्टः।"[2] अर्थात जो गुण कारण में होते हैं वही

स्वरूपज्ञान में जो ठहर, तहाँ न कोई एष्ट॥ 101॥
नात छूट सब देह से, कौन मिले तेहि हेर।
जड़ कर्मन की गति कहाँ, जहाँ भूल निरबेर॥ 102॥ (मुक्तिद्वार, निवृत्ति साहस शतक)

1. रमैनी, 8, शब्द 52, 67, 112, 115, साखी 346-350 इत्यादि।
2. वैशेषिक दर्शन, 2/1/24।

कार्य में होते हैं। फिर चेतन ब्रह्म से जड़-जगत कैसे बन जायेगा। और जब ब्रह्म और जगत एक है तो ऐसे ब्रह्म से क्या कल्याण हो सकता है जो स्वयं विकारी है ! अतएव जड़ जगत तथा जगतस्वरूप ब्रह्म से हटकर दोनों का द्रष्टा अपना चेतन स्वरूप ही अपना निधान है।

सबका लक्ष्य मोक्ष है

एक शब्द गुरुदेव का, ताका अनन्त विचार।
थाके मुनिजन पण्डिता, बेद न पावैं पार॥ 125॥

शब्दार्थ—एक शब्द=मोक्ष। अनन्त=असंख्य, यहां भी अनंत शब्द असंख्य का ही भाव प्रकट करता है। पार=अन्त, सीमा, तथ्य।

भावार्थ—'मोक्ष'—गुरुदेव के इस एक शब्द पर मनीषियों ने असंख्य विचार किये हैं। मुनिजन तथा विद्वानजन विचार करके थक गये हैं। वेदों ने इसका पार नहीं पाया है॥ 125॥

व्याख्या—इस अनादिकालीन जगतीतल पर समस्त धार्मिक गुरुजनों ने जीवों के मोक्ष की मान्यता एक स्वर से की है, क्योंकि यही जीवन का मुख्य उद्देश्य है। दुखों से सर्वथा छूट जाना ही मोक्ष है और यही सभी जीवों का मुख्य लक्ष्य है। परन्तु इस पर विचार असंख्य प्रकार से किये गये हैं। सारे धार्मिक संप्रदायों तथा आध्यात्मिक चिन्तकों का एकमात्र लक्ष्य है जीव का दुखों से मुक्त होना। इसी दुखनिवृत्ति के लिए देवी, देवता, ईश्वर, ब्रह्म आदि सबकी कल्पना की गयी है। सद्गुरु जीव है, मुनिजन, पण्डितजन, पीर-पादरीजन जीव हैं, वेद-शास्त्र तथा किताब-कुरानादि समस्त ग्रन्थों के रचयिता भी जीव हैं। यहां तक कि सारे ज्ञान-विज्ञान का मूल जीव है। अतः जीव अपने दुखों से मुक्त होने के लिए ही सारे विचार करता है। वह केवल धार्मिक एवं आध्यात्मिक दिशा में ही नहीं, किन्तु किसी भी दिशा में जो कुछ सोचता और करता है, उसके मूल में उसका अपना दुख-छुटकारा ही उद्देश्य रहता है। यह बात अलग है कि समझ गलत होने से जीव अपने विचार और कर्मों से दुख पाता है, परन्तु वह सदैव यही चाहता है कि हमारे सारे दुख दूर हो जायें, और दुखों का दूर हो जाना ही मोक्ष है।

समझ सही न होने से कोई समझता है कि जीव से अलग देवी-देवता हैं, उनकी प्रार्थना करने, पूजा करने तथा उन्हें मनाने से वे हमारे दुख दूर कर देंगे। कोई समझता है कि देवी-देवता तो झूठे हैं, परन्तु एक ईश्वर या ब्रह्म है। यदि हम उसकी प्रार्थना, पूजा एवं वंदना करेंगे, तो वह हमारा दुख दूर कर देगा। इसी प्रकार असंख्य कल्पनाएं की गयीं और आदमी मोक्ष के लिए भटकता गया। ऋषि, मुनि, पंडित, पोप, पीर, औलिया भी मोक्ष के लिए नाना कर्मों में भटकते गये। वेद-शास्त्रों में इतने विविध विचार कहे गये जो केवल

एक दूसरे से भिन्न ही नहीं, किन्तु कहीं-कहीं परस्पर विरोधी भी हैं।

चाहे कोई देवी-देवतादि की कल्पित अवधारणा हो और चाहे कोई व्यक्ति रूप में महापुरुष की अवधारणा हो, उसकी प्रार्थना-पूजादि करने से मन में थोड़ी कोमलता आ सकती है और व्यक्ति का थोड़ा सात्त्विक मनोरंजन हो सकता है। भक्ति-भावना के लिए यह सब ठीक है। परन्तु दुखों की निवृत्ति तो दुखों की जड़ों को खोदकर फेंकने से ही होगी। दुखों की जड़ें हैं काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, ईर्ष्या, परसंताप, विषयासक्ति; और इन सबके मूल में है अपने स्वरूप का अज्ञान। जब तक जीव को अपने स्वरूप की परख नहीं होगी और विषयासक्ति तथा उनसे उत्पन्न दोषों को नहीं छोड़ेगा, तब तक उसका दुख दूर कभी नहीं हो सकता। सारे दुखों का दूर हो जाना ही मोक्ष है।

मोक्ष-प्राप्ति अर्थात दुखों से छुटकारा के साधनों को लेकर संसार में असंख्य विचार हैं। कोई देवी-देवादि की पूजा-प्रार्थना, कोई तीर्थाटन, कोई भूत-प्रेत आराधना, कोई प्राकृतिक दृश्यों के दर्शन, कोई हठयोग, कोई पूर्ण विश्व को अपना स्वरूप मान लेने की बात, कोई शब्द और कोई तो मांस, मदिरा, मीन, मुद्रा, मैथुन का सेवन ही मोक्ष साधन मान लेता है। कोई गांजा, भांग तथा शराब के नशा में धुत्त रहने में ही मोक्ष माने बैठा है। यह ठीक है कि अपनी मान्य-भावनाओं तथा आदतों में मनुष्य को क्षणिक संतोष मिलता है, परन्तु यह सब अज्ञान का पसारा है। वस्तुतः विषयासक्ति तथा सारे दोषों की सर्वथा निवृत्ति एवं स्वरूपस्थिति प्राप्त होने पर ही सारे दुखों की निवृत्ति होती है और यही मोक्ष है।

स्वरूपज्ञान भ्रांतियों से ढका है

राउर के पिछवारे, गावैं चारिउ सैन।
जीव परा बहु लूट में, ना कछु लेन न देन॥ 126॥

शब्दार्थ—राउर=अंतःपुर, श्रेष्ठ। पिछवारे=पीछे भाग में, धुंधलके में। चारिउ=चार वेद। सैन=संकेत, इशारा। लूट=छीनाझपटी।

भावार्थ—चारों वेद श्रेष्ठतत्त्व के विषय में धुंधलके में संकेत करते हैं। जीव बहुत छीनाझपटी में पड़ा है। मूलतः विचार किया जाये तो जीव को संसार से कुछ प्रयोजन नहीं है॥ 126॥

व्याख्या—सद्गुरु ने पिछली साखी में कहा था "वेद न पावैं पार" वेद भी तथ्य कहने में असमर्थ हो गये हैं। यद्यपि वेदों में भी जगह-जगह तथ्य की बातें कह दी गयी हैं; परन्तु उनके विपरीत उनमें बहुत बातें कही गयी हैं। इसलिए उनका ज्ञान गोलमाल हो गया है। उनमें से छानकर सार ले लेना सबके लिए सहज नहीं है। इन्हीं सब बातों को लेकर सद्गुरु इस साखी में

कहते हैं—"राउर के पिछवारे, गावैं चारिउ सैन" चारों वेद श्रेष्ठतत्त्व के पीछे-भाग में खड़े होकर केवल उसका संकेत करते हैं। राउर के दो मुख्य अर्थ होते हैं अंत:पुर और श्रेष्ठ। यहां का अर्थ श्रेष्ठ है। वेदों के सर्वाधिक सूक्तों में प्राकृतिक शक्तियों को देवी-देवता मानकर उन्हीं की वंदना एवं प्रशंसा की गयी है। कहीं इन सारे देवी-देवताओं का समवेत रूप "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति"[1] कहकर आदित्य पर चित्त टिका दिया गया है। आत्मपरक विचार बहुत कम मिलते हैं। इसलिए वैदिकजन आत्मपरक विचारों वाले मंत्रों का भी अर्थ देवी-देवताओं में लगा देते हैं।

वस्तुत: 'राउर' श्रेष्ठ एवं सर्वश्रेष्ठ जीव है, व्यक्ति की अपनी आत्मा है, चेतन है। परन्तु निर्भ्रांतरूप से धर्मशास्त्रों में ऐसा सब जगह नहीं कहा जाता। वेदों में तो ऐसी बातें कहीं नाम मात्र हैं। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि चारों वेद श्रेष्ठ तत्त्व के विषय में केवल धुंधलके में संकेत करते हैं। श्रीमद्भागवतकार भी कहते हैं—"लौकिक व्यवहार के समान ही वैदिक व्यवहार भी सत्य नहीं है क्योंकि वेदवाक्य भी विशेषत: गृहस्थजनोचित यज्ञविधि के विस्तार में ही व्यस्त हैं। राग-द्वेष-रहित विशुद्ध तत्त्वज्ञान की पूरी-पूरी अभिव्यक्ति प्राय: उनमें भी नहीं है।"[2]

इसलिए सद्गुरु कहते हैं "जीव परा बहु लूट में" जीव बहुत छीना-झपटी में पड़ा है। गुरुओं तथा धर्मशास्त्रों का जाल इतना विशाल है और इन सब में स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति से दूर करने वाली इतनी बातें भरी हैं कि जीव उनमें भटक गया है। जीव के अपने आप के विचार इतने नुच गये हैं कि वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया है। नाना मत के गुरुओं ने जीव को तुच्छ कहने की गहरी भूल की है। इसलिए उसे यह भ्रम हो गया है कि मैं तुच्छ हूं। खानी-बानी की सारी मान्यताएं जीव ही अपने मन में बनाता है और स्वयं ही उन मान्यताओं में पड़कर लुट जाता है। जीव ने अपने आपा के विचार को अपनी जड़-मान्यताओं में खो दिया है। उसने अपने आपा से अपनी मान्यताओं को ही श्रेष्ठ मान लिया है। खानी जाल के प्राणी-पदार्थों में तथा बानी जाल के नाना देवी-देवताओं की मान्यताओं में जकड़कर जीव लुट गया है। सद्गुरु कहते हैं "ना कछु लेन न देन" इनसे जीव का कुछ लेना-देना नहीं, कुछ प्रयोजन नहीं। जीव से जो कुछ पृथक है, वह उसका नहीं है। जीव का केवल जीव है। आत्मा से भिन्न आत्मा का क्या है ! जीव आज जिनमें

---

1. ऋग्वेद 1/164/46।
2. तथैव राजन्नुरुगार्हमेधवितानविद्योरविजृम्भितेषु।
न वेदवादेषु हि तत्त्ववाद: प्रायेण शुद्धो नु चकास्ति साधु:॥
(श्री मद्भागवत 5/11/2, टीका गीताप्रेस)

उलझकर अपने स्वरूप को भूल रहा है, वे उसके नहीं हैं। इसलिए व्यक्ति को चाहिए कि वह सारी मान्यताओं से लौटकर अपने स्वरूप को पहचाने और उसमें स्थित हो।

अनासक्ति से अमरता की प्राप्ति

चौगोड़ा के देखते, ब्याधा भागा जाय।
अचरज एक देखो हो सन्तो, मूवा कालहिं खाय॥ 127॥

शब्दार्थ—चौगोड़ा=खरगोश, शशा; तात्पर्य में जीव, यहां अर्थ है ज्ञानी जीव। ब्याधा=बधिक, शिकारी-काम-क्रोधादि। मूवा=मुरदा, ज्ञानद्वारा मरा हुआ मन, अनासक्त मन। काल=समय, मौत, क्षणभंगुरता, भवबंधन।

भावार्थ—शशा को देखकर शिकारी भयवश भाग खड़ा हुआ। हे संतो ! एक आश्चर्य और देखता हूं कि मुरदा ने काल को खा लिया है। अर्थात आज तक शिकार बना हुआ जीव ज्ञानवान हो जाने से उसे देखकर कामादि शिकारी भाग खड़े हुए और ज्ञानबल से मरे हुए मन ने भव-बंधनों को नष्ट कर दिया॥ 127॥

व्याख्या—कबीर साहेब उलटवांसी कहने में प्रसिद्ध हैं ही। जगत जानता है कि शिकारी को देखकर शिकार भागता है। परन्तु यहां शिकार को देखकर शिकारी ही भाग खड़ा हुआ। क्योंकि समय बदल गया है। अनादिकाल से जीवरूपी शशा काम-क्रोधादि शिकारियों का शिकार बना रहा। जीव क्षण-क्षण तो काम-क्रोधादि का शिकार होता है, परन्तु जब जीव को ज्ञान हो जाता है, सद्गुरु तथा सन्तों की संगत हो जाती है और उनकी संगत से जब वह अपने ऊपर शिकार करने वाले काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेषादि की परख कर लेता है, तब वह उनसे सावधान हो जाता है। सत्संग तथा विवेक द्वारा जीव के अन्दर छिपा हुआ ज्ञान उद्घाटित हो जाता है। अतएव तब जीव के ज्ञानतेज से भयभीत होकर कामादि शिकारी-शत्रु भाग खड़े होते हैं। ये सब आलंकारिक भाषा के कथन हैं। इसका अर्थ यही है कि ज्ञानोदय होने पर कामादि का अन्त हो जाता है।

कबीर देव कहते हैं कि हे सन्तो ! मैं एक आश्चर्य और देखता हूं कि मुरदा काल को खाता है। आप जानते हैं कि काल सब को खाकर उन्हें मुरदा बनाता है, परन्तु यहां उलटा हुआ कि मुरदा ही ने काल को खा लिया। मुरदा का अर्थ साफ है। जब प्राणी मर जाता है, जीव चला जाता है, तब देह को मुरदा कहते हैं। परन्तु काल किसे कहते हैं यह थोड़ा समझने-जैसी बात है। काल का पहला अर्थ समय है, जो वैसे तो अनादि तथा अनन्त है, परन्तु उसे क्षण, पल, सेकेंड, मिनट, घंटा, दिन, रात, सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष, शताब्दी आदि में विभाजित कर समझने की चेष्टा की जाती है। जब किसी प्राणी के जीवन

का समय पूरा हो जाता है तब हम कहते हैं कि उसका काल आ गया। काल आ गया का अर्थ समय आ गया, समय पूरा हो गया। और इसी को कहा जाता है मौत आ गयी।

काल का अर्थ क्षणभंगुरता भी है; क्योंकि संसार की सारी चीजें देश तथा काल के आयाम में गति करती हैं। मानो पर्वत से एक पत्थर टूटकर लुढ़कता है, तो उसके लुढ़कने में कुछ समय लगता है और कुछ देश; क्योंकि पत्थर चक्कर काटते हुए एक जगह से दूसरी जगह खिसकता है, तो इसमें देश और काल दोनों लगते हैं। हमारी नाक से सांस निकलती है और फिर लौटती है। इसमें भी देश तथा काल का उपयोग होता है। क्रिया मात्र में देश तथा काल का उपयोग होता है। कहा जाता है कि सारी वस्तुएं कालग्रसित हैं। काल सबको खाता है। हम देखते हैं कि समय आने पर आदमी बूढ़ा हो जाता है, मकान जीर्ण होकर गिर जाता है, पेड़ पुराना होकर गिर जाता है, परन्तु ये सब एक काल में जीर्ण नहीं होते, किन्तु क्षण-क्षण जीर्ण होते हैं। इसलिए पदार्थों की गतिविधि में काल व्याप्त रहता है। काल तो कोई वस्तु नहीं। वह तो केवल समय है और हर समय है। परन्तु उसके आयाम में वस्तुएं बदलती हैं तो हम वस्तु की क्षणभंगुरता को काल पर आरोपित कर लेते हैं। इसलिए हम कहते हैं कि काल क्षणभंगुर है। वस्तुतः वस्तुओं में निर्माण क्षणभंगुर है। या सीधे कहें तो जगत की निर्मित वस्तुएं क्षणभंगुर है। काल का अर्थ भवबंधन भी है। भवबंधन हैं काम, क्रोध, लोभादि की मन में कल्पनाएं उठते रहना। वस्तुतः जीव के लिए यही काल है।

सद्‌गुरु कहते हैं—"मूवा कालहिं खाय" मुरदा ने काल को खा लिया। यहां मुवा का अर्थ है मरा हुआ मन। जब मन विषयासक्ति एवं जड़ देह-गेहादि के अहंकार से सर्वथा मुक्त हो जाता है, तब उसे मरा हुआ कहा जाता है। यह मरा हुआ मन, अर्थात अनासक्त मन काल को खा लेता है। अनासक्त मन क्षणभंगुर पदार्थों में नहीं रमता। वह क्षणभंगुर को छोड़कर शांत हो जाता है और अविनाशी स्वरूप चेतन-राम में स्थित हो जाता है। ऐसे मन ने मानो काल को खा लिया। वह मानो देश-काल से मुक्त हो गया। जिस जीव का मन अनासक्त है, संसार के राग-रंग से मर चुका है, वह अपने अविनाशी स्वरूप में स्थित है। इसलिए उसके समय का चक्कर, काल की गतिशीलता, पदार्थों की गतिशीलता, शरीर की मौत, आसक्ति तथा अहंकाररूपी भवबंधन—सब-के-सब समाप्त हो गये। अनासक्त मन काल का काल हो जाता है। जिसका मन मर गया, मानो उसका संसार ठंडा हो गया। अर्थात अनासक्त मन वाले के लिए न शरीर की मौत का भय है न संसार के क्षणभंगुर पदार्थों के छूटने का भय है और न काम-क्रोधादि शत्रुओं का भय

है। भय का कारण आसक्ति है। आसक्ति मिट जाने पर भय मात्र का अन्त हो गया। निर्भयता ही अमरता है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं "मूवा कालहिं खाय" अनासक्त मन ने सारी पीड़ाओं को समाप्त कर दिया और जीव अमरता के राज्य में विराजमान हो गया।

मन, बिना मूड़ का चोर है

तीन लोक चोरी भई, सबका सरबस लीन्ह।
बिना मूड़ का चोरवा, परा न काहू चीन्ह॥ 128॥

शब्दार्थ—तीन लोक=सत, रज, तम इन तीनों गुणों में आसक्त जीव-जगत। चोरवा=मन।

भावार्थ—तीनों गुणों में आसक्त जीवों के हृदय में चोरी हो गयी, और मन रूपी चोर ने सबका सर्वस्व चुरा लिया। वह चोर बिना सिर का है, इसलिए उसे कोई पहचान नहीं पाया॥ 128॥

व्याख्या—दो जगत हैं—भौतिक तथा मानसिक। दोनों सत, रज तथा तम गुणों से व्याप्त हैं। भौतिक जगत में रचना रज है, पुष्टि सत है तथा क्षय तम है। मानसिक-जगत में इच्छा तथा क्रिया रज है, ज्ञान एवं प्रसन्नता सत है और आलस्य-निद्रादि तम है। यहां मानसिक-जगत से तात्पर्य है। तीन लोक का अर्थ है त्रिगुणी जीव। त्रिगुणी जीवों के हृदय में चोरी हो गयी। तीन लोक का अर्थ विश्व की समग्रता से भी है। पृथ्वी, पृथ्वी के नीचे के लोक तथा पृथ्वी के ऊपर के लोक, अर्थात समस्त विश्व-ब्रह्मांड में जहां तक जीव हैं, सबके भीतर चोरी हो गयी। चोर ने सबका सब कुछ चुरा लिया। यह मन चोर है। इसने जीव का सब कुछ चुरा लिया है। "सबका सरबस लीन्ह" बड़ा मार्मिक वचन है। जीव का सर्वस्व है उसका अपना आपा, उसका अपना स्वरूप, मन ने उसी की याद को चुरा लिया है। कबीर साहेब तो अपनी प्रायः सारी बातें अलंकारों में कहते हैं। अलंकारों से कथन में मनोहरता एवं बोधप्रदता आती है; परन्तु अंततः अलंकारों के जाल को हटाकर ही बात ठीक से समझने में आती है। चोर स्वतन्त्र मनुष्य होता है। उसकी स्वतन्त्र इच्छा एवं क्रिया होती है। परन्तु मन-चोर ऐसा स्वतन्त्र कुछ नहीं है। वह ऐसा स्वतन्त्र चोर नहीं है कि जीव के न चाहने पर भी उसके दिल में चोरी करता रहे। मन तो एक आभ्यासिक-वृत्ति है। किसी ने तम्बाकू खाने की आदत बना ली। अब उसके हृदय में बारम्बार तम्बाकू खाने की ललक होती है। आदमी समझता है कि तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट, गांजा, भांग, शराब, ये सारी चीजें धन, स्वास्थ्य और शांति के लिए हानिकारक हैं, परन्तु इनकी आसक्ति में बंधा हुआ इनकी तरफ खिंचा रहता है। मन ने मानो उसके हृदय के विवेक

को चुरा लिया है। जीव चाहे तो मन को मार सकता है। उसे अपने वश में कर सकता है। परन्तु वह स्वयं प्रलोभन में पड़ा हुआ, अपने स्वरूपज्ञान से बेभान उन्हीं आदतों में पिसता रहता है।

मन चोर ने सबका सर्वस्व चुरा लिया है। जीव का सर्वस्व है उसका अपना आपा, उसका अपना स्वरूप। जीव ने अपने स्वरूप को विस्मृत कर रखा है और वह विषयों में भटका है। विषयों की आसक्ति होने से उसकी उसी में आभ्यासिक-वृत्ति बन गयी है, वही वृत्ति मन कहलाती है। वही हर समय मानो जीव को छलती रहती है। काम-भोग की आभ्यासिक-वृत्ति हृदय में आयी और उसने हृदय का निष्काम-धन चुरा लिया। क्रोध-वृत्ति आयी और क्षमा-धन चुरा गया। लोभ-वृत्ति आयी और संतोष-धन लुट गया। राग-द्वेष वृत्ति आयी और निष्प्रपंच-धन लुट गया। देहाभिमान-वृत्ति आयी और स्वरूपज्ञान-धन चुरा गया। सबके दिल-घर में सब समय चोरी होती रहती है। हर क्षण हमारी बुरी आदतें हमें छलती रहती हैं। हम हर क्षण अपनी बनायी दुर्वृत्तियों से अपने आप को ठगाते रहते हैं। मन चोर ने हमारा सर्वस्व हर लिया है। कहना चाहिए कि हम अपनी भूल से अपने सर्वस्व को खो चुके हैं। हमारा सर्वस्व हमारी आत्म-चेतना, स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति है और स्वरूपस्थिति के सहायक सत्य, शील, दया, क्षमा, विचार, संतोष आदि सद्गुण हैं। हम इनका परिचय तथा याद भूल जाते हैं। इसलिए मानो हमारा सारा धन लुट जाता है और हम दरिद्र बनकर भटकते हैं। जिसके पास अच्छे संस्कार न रह जायें, जो अपने आपा में न जीता हो, उसके समान दुखी तथा दरिद्र कौन होगा!

"बिना मूड़ का चोरवा, परा न काहू चीन्ह" यदि चोर के धड़ पर सिर ही न हो तो उसे कैसे पहचाना जा सकता है! मुंह से ही किसी को पहचाना जा सकता है। सिर न होने से मुंह होने की बात ही नहीं उठती। यह मन ऐसा ही चोर है जिसके पास कोई एक मुंह नहीं है। इसके अनेक मुखौटे हैं। यह क्षण-क्षण नकली चेहरा बनाना जानता है। यह मन काम-भावना का सीधा रूप लेकर भी जीव को ठगता है और निष्काम का चेहरा बनाकर भी पीछे से उसमें सकाम-भावना को मिलाकर ठगता है। तुम मन से कहोगे कि शुभ का स्मरण करो। मन कहेगा बड़ी अच्छी बात है, मैं शुभ का ही स्मरण करूंगा। मन शुभ का ही स्मरण शुरू करेगा और धीरे-से ले जाकर जीव को अशुभ में पटक देगा। साधक प्रायः शिकायत करते हैं कि हम ध्यान करने बैठते हैं, भजन करने बैठते हैं, मन पहले ध्यान-भजन में लग भी जाता है; परन्तु पता नहीं चलता कि यह चांडाल कब हमें विषय-प्रपंचों में पहुंचा देता है। यह मन की चालाकी है। मन अपनी ओर मोड़ने में माहिर है। यह केवल काम,

क्रोधादि के अशुभ चेहरे ही नहीं, ज्ञान, भक्ति, वैराग्य के शुभ चेहरे बनाकर भी सावधान न रहने पर ठग लेता है। अतएव मन के नाना नकली चेहरे हैं। यह एक चेहरे में नहीं रहता। इसलिए सहज लोग इसे नहीं पहचान पाते। यह सब कहने का अर्थ यही है कि हमारे मन की विषयासक्ति हमें बलात विषयों में खींच ले जाती है। किन्तु जब हम अपने स्वरूप को तथा अपने मन के स्वरूप को ठीक से परख लेते हैं तब मन हमारे अधीन हो जाता है। मेरी भूल तथा असावधानी के अलावा मन कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है जो मुझे विवश कर सके। जब साधक अपने अविनाशी स्वरूप को पहचान लेता है और सबसे अनासक्त होकर स्वरूपविचार में ही रमने लगता है तब मन उसका अनुगामी हो जाता है। तब उसका कहीं भटकने का प्रश्न ही नहीं रह जाता।

संसार की दुखद चक्की

चक्की चलती देख के, मेरे नैनन आया रोय॥
दुइ पाट भीतर आय के, साबुत गया न कोय॥ 129॥

शब्दार्थ—दुइ पाट=द्रव्य-गति, तन-मन, जन्म-मरण, खानी-वाणी, मोटीमाया-झीनीमाया, राग-द्वेष। साबुत=साबित, अखंड, समूचा, बेदाग।

भावार्थ—संसार की चक्की चलती देखकर मेरे नेत्रों से रुलाई आ गयी। दो पाटों के बीच आकर कोई बेदाग नहीं गया॥ 129॥

व्याख्या—कबीर देव की यह साखी बहुत प्रसिद्ध है। चक्की दो पाटों की होती है। उसमें अन्न के दाने पिसते हैं। यह संसार मानो विशाल चक्की है। यह निरन्तर चलती है। जहां तक दृश्यमान संसार है निरन्तर गतिशील है। इसमें रहने वाले प्राणियों के शरीर तथा सारे पदार्थ अनवरत पिसते रहते हैं। द्रव्य और गति मानो ये दो पाट हैं। इनमें सारा संसार पीसा जा रहा है। जितने भौतिक द्रव्य हैं सबमें गति है और गति जहां तक है भौतिक द्रव्य है। द्रव्य और गति यही संसार-चक्की के दो पाट हैं जिसमें अनंत विश्व निरन्तर पीसा जा रहा है। यहां सारे पदार्थ परिवर्तनशील हैं तथा सारे प्राणी मौत के सामने दीन हैं। विश्व के बड़े-से-बड़े समर्थ नर-नारी भी मौत के आते ही क्षण-मात्र में इस दुनिया से उठ जाते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, व्यास, वसिष्ठ, ईसा, मूसा, मुहम्मद, गोरख, कबीर, दयानन्द, विवेकानन्द बड़ी-बड़ी हस्तियां चली गयीं। फरक इतना ही है कि ये सब अपनी यश-काया से अमर हैं। जिन्होंने अपने मन, वाणी तथा काया को जीतकर संसार से अनासक्ति प्राप्त कर ली वे अपने आध्यात्मिक स्वरूप में स्थिर होकर अमर हो गये। अन्यथा बड़े-बड़े राजे-महाराजे कीड़े-मकोड़े के समान आते-जाते रहते हैं।

अथवा तन और मन दो पाटों की चक्की है। इसमें संसार के सारे जीव पिसते हैं। शरीर के निर्वाह-धन्धों, रोग-व्याधि तथा नाना दैहिक उपद्रव एवं मन के राग-द्वेष, चिंता-विकलता, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि में सभी जीव पीसे जा रहे हैं। अथवा जन्म-मरण के दो पाटों की चक्की में सब जीव पीसे जा रहे हैं। ये जीव जन्म-मरण के चक्कर में, गर्भवास, बाल्यकालिक, जवानी के प्रमादजनित, बुढ़ापा के विवशताजनित तथा जीवन के नाना उपद्रवों में निरन्तर पिसते हैं। अथवा खानी तथा वाणी इन दो पाटों की चक्की में सब जीव निरंतर पीसे जा रहे हैं। खानी है मोटी माया और वाणी है झीनी माया। प्राणी-पदार्थों के लोभ-मोह में जीवन का उलझे रहना खानी जाल के बंधन हैं तथा अपने चेतनस्वरूप से अलग देवी-देवता, ईश्वर-ब्रह्म, गति-मुक्ति, स्वर्ग तथा लोक-लोकांतरों की कल्पना करना वाणी जाल के बंधन हैं। इस प्रकार खानी और वाणी जाल के इन दो पाटों में संसार के सारे लोग पीसे जा रहे हैं। सद्गुरु ने प्रथम हिंडोले में कहा है—"खानी बानी खोजि देखहु, अस्थिर कोई न रहाय" अर्थात खोज करके देखो जो खानी और वाणी के जाल में पड़े हैं उनमें से कोई भी जीव शांति-स्थिति को नहीं पाता।

सबका सार अर्थ यह है कि राग और द्वेष इन दो पाटों की चक्की में सारे जीव निरन्तर पिस रहे हैं। सद्गुरु कहते हैं कि जीवों की यह दुखद दशा देखकर मेरे नेत्रों में आंसू आ गये, मेरा दिल रो दिया। संसारी आदमी अपने पत्नी-बच्चे के दुखों को देखकर रोते हैं, या वे जिसे अपना माने रखते हैं उन्हीं के दुखों से रोते हैं, परन्तु जो कहीं किसी में ममता नहीं करता, वह सब में समता रखता है। ऐसे पुरुष का हृदय अत्यन्त शुद्ध होता है, और वही संसार के सारे लोगों के दुखों को देखकर रोता है। कबीर साहेब का दिल विशाल था। वे संसार के सारे लोगों के दुखों को देखकर रोते हैं।

जो चीज बनती है वह बिगड़ती है। शरीर निर्मित हुआ है तो नष्ट होगा ही। सारे भौतिक पदार्थों का निर्माण विनाश के मुख में है। इन्हें रोके रखना एवं स्थिर रखना किसी के वश की बात नहीं है। इन्हें रोके रखने की कल्पना कोई फायदेमंद भी नहीं है। जो जीव के लिए कल्याणकर है और जिसे वह कर सकता है वह है राग-द्वेष का त्याग। जिसके मन के राग-द्वेष की चक्की बन्द हो जाती है उसके मन का पिसना बन्द हो जाता है। राग-द्वेष से मुक्त हुआ मनुष्य परम शांति का सागर हो जाता है। जिसे किसी से राग नहीं है और किसी से द्वेष नहीं है उसके सारे द्वन्द्व, सारे झगड़े, सारे उपद्रव समाप्त हो जाते हैं। उसकी दृष्टि में मित्र तो मित्र है ही, शत्रु भी मित्र ही है। कोई अपने अज्ञानवश उससे शत्रुता भले कर ले, परन्तु वह उससे भी शत्रुभाव नहीं रख सकता। वह तो मलिन मन वालों पर दया करता है। वह समझता है कि ये

अपने अज्ञानवश दीन हैं। ये अपने मनोमालिन्यतावश अपना ही अहित कर रहे हैं। ये दया-क्षमा के पात्र हैं। जिनकी राग-द्वेष की चक्की बन्द हो गयी, उनका संसार-सागर मानो सूख गया। वे सब समय निर्भय, निर्द्वन्द्व, स्वछन्द, मुक्त एवं कृतकृत्य रूप होते हैं।

साधु के वेष में चोर

चार चोर चोरी चले, पगु पनहीं उतार॥
चारिउ दर थूनी हनी, पण्डित करहु बिचार॥ 130॥

शब्दार्थ—पनहीं=जूती। दर=छिद्र, स्थल। थूनी=खंभा। हनी=गाड़ दी।

भावार्थ—मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार—ये चार चोर चुपचाप जीव के ज्ञान-धन की चोरी करने के लिए चले और विषयों के मनन, चिंतन, निश्चय एवं करतूति रूप चार दरों में भास-अध्यास की थूनियां गाड़ दीं। हे पण्डितो, इन पर विचार करो और इनके फंदों से बचो॥ 130॥

व्याख्या—जूते पहनकर चलने में आवाज होती है, इसलिए सावधान चोर पैर से जूते निकालकर नंगे पैर चोरी करने के लिए चलते हैं। मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार मानो ये चार चोर हैं। ये बड़ी कोमलता एवं सावधानी से जीव के भाव में मिलकर उसके ज्ञान-धन को चुराते हैं। मन चुपके-चुपके विषयों का मनन करता रहता है; बुद्धि भीतर-ही-भीतर विषयों में सुख का निश्चय करती रहती है; चित्त विषयों के अनुसंधान में लगा रहता है, और अहंकार विषयों की स्वीकृति तथा करतूति में लगा रहता है। इस प्रकार "चौपर खेल होत घट भीतर, जन्म का पासा डारा। दमदम की कोइ खबरि न जाने, कोई कै न सकै निरुवारा।"[1] हर आदमी के दिल में ये चौपर-खेल ये चार चोरों द्वारा चोरी होती रहती है। इन चारों चोरों ने चारों दरों में अध्यास-वासना की जबर्दस्त थूनियां गाड़ दी हैं। कबीर साहेब पण्डितों को राय देते हैं कि वे इस पर विचार करें। पण्डित प्रज्ञावान को कहते हैं। जिसकी बुद्धि सूक्ष्म है, सत्यासत्य विवेकिनी है, उसकी बुद्धि पंडा है, और जिसकी बुद्धि पंडा है वह पंडित है। ऐसा पंडित ही इस विषय पर विचार कर सकता है। पण्डित कोई काल्पनिक वर्ण एवं जाति से संबंध नहीं रखता। उसका संबंध केवल सत्यासत्य विवेकिनी बुद्धि से है। विवेकी पुरुष ही विषयों की ओर उन्मुख मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार को उनसे लौटाकर स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति की ओर ला सकता है।

इस साखी को इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि चतुर्वर्णव्यवस्था

1. शब्द 86।

की चारों भावनाएं मानो चार चोर हैं और ये अपने पैर से जूते निकालकर, बड़ी कोमलता एवं धार्मिकता का मुलम्मा चढ़ाकर मनुष्यों के दिलों में चोरी करने चले और चारों वर्णों की दरों में अपनी कल्पना एवं भेदभावना की थूनी गाड़ दी है। हे पण्डितो, इस पर विचार करो।

चतुर्वर्णव्यवस्था एकदम आरंभ में चाहे केवल कर्मों का बंटवारा रही हो और शुद्ध भावना से यह व्यवस्था की गयी हो तथा इसके पीछे किसी को नीच-ऊंच बताने एवं थापने की बात बिलकुल न रही हो, परन्तु हम लोगों के सामने जो धर्मशास्त्रों में इसका रूप है वह भेदभाव से भरा हुआ, अज्ञानपूर्ण, घृणित एवं क्रूर है। तथाकथित वर्णव्यवस्था के विधान में एक वर्ण जन्म से ही अत्यन्त ऊंच मान लिया गया है, दूसरा निम्न, तीसरा निम्नतर तथा चौथा निम्नतम। वर्णव्यवस्था की क्रूरता ने एक विशाल वर्ग को शूद्र कहकर उस पर ऐसा क्रूरतम पंजा कसा कि उसे आज तक उससे मुक्त होने की पूरी सुविधा नहीं मिली। इस वर्णव्यवस्था की गर्हित भावना ने स्त्री, वैश्य और शूद्र को पाप-योनि कहा। यह भेदभावना का विष बोने वाली वर्णव्यवस्था धर्म के नाम पर चलायी गयी। इसने "पगु पनहीं उतार" कर ऊपर से बड़ी कोमल भावना दिखायी। कहा गया कि शूद्र तो सवर्णों की सेवा करते-करते तथा उनके जूते-लात खाते-खाते ही मुक्त हो जायेगा। इसने राम द्वारा शंबूक शूद्र की हत्या तथा बलराम द्वारा सूत की हत्या का काल्पनिक चित्रण करके उन्हें मुक्ति देने की बात बतायी।

कबीर साहेब कहते हैं—"पण्डित करहु विचार" हे पण्डितो, हे समझदारो, विचार करो कि सब मनुष्य जन्म से एक समान हैं। सबके शरीर एक समान हाड़-मांस के हैं और सबके अन्दर एक ही प्रकार के जीव निवास करते हैं, फिर इसमें मूलतः कौन बड़ा है और कौन छोटा है! केवल अपने गुण-कर्मों से ही आदमी छोटा-बड़ा होता है। मानव मात्र मूलतः एक समान है।

सत्य ही चारों वेदों का सार है

बलिहारी वह दूध की, जामें निकरे घीव॥
आधी साखी कबीर की, चारि वेद का जीव॥ 131॥

शब्दार्थ—बलिहारी=निछावर होना, कुर्बान होना, प्रशंसा। जीव=चेतन, सारतत्त्व।

भावार्थ—उस दूध की प्रशंसा की जाती है जिसमें अधिक मात्रा में घी निकलता है। इसी प्रकार उस वाणी की प्रशंसा की जाती है जिसमें जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान होता है। स्वरूपज्ञान-परिचायक कबीर की आधी

साखी भी चारों वेदों का सारतत्त्व है॥ 131॥

व्याख्या—जब लोग दुधार गाय और भैंस बेचते हैं, तब वे ग्राहकों से कहते हैं कि भैया, हमारी गाय और भैंस के दूध में घी-ही-घी है। भैंस के विषय में यह बात ज्यादा कही जाती है। कई भैंस घियार होती हैं। अर्थात उनके दूध में ज्यादा घी होता है। अतएव दूध वही प्रशंसनीय है जिसमें घी की मात्रा अधिक है। इसी प्रकार वाणी वही प्रशंसनीय है जिसमें जड़-चेतन, सार-असार, कर्तव्य-अकर्तव्य, गुण-दोष, ग्राह्य-त्याज्य, बंध-मोक्ष आदि का तात्त्विक विवेचन हो। उन्हीं वाणियों, ग्रन्थों एवं शास्त्रों की बड़ाई है जिनमें तर्कयुक्त कारण-कार्य-व्यवस्था-संबलित तथा विश्व के नियमों के अनुकूल कथन है; और अंततः सारे जड़ दृश्यों को हटाकर अपने स्वरूप का यथार्थ-बोध वर्णन है। जैसे "जो जानहु जग जीवना, जो जानहु सो जीव।"[1] अथवा "जेहि खोजत कल्पौ गया, घटहि माहिं सो मूर"[2] या "जब लग दिल पर दिल नहीं, तब लग सब सुख नाहिं"[3] इत्यादि आधी साखी भी मानो चारों वेदों का सारतत्त्व है।

"आधी साखी कबीर की, चारि वेद का जीव" इसे कबीर की गर्वोक्ति मानी जा सकती है। वे अपनी आधी साखी को भी मानो चारों वेदों का सारतत्त्व मानते हैं। इस पंक्ति में पहली बात तो यह है कि उनकी वेदों के प्रति श्रद्धा की ध्वनि है। दूसरी बात यह है कि उनकी वाणियों में सचमुच केवल तथ्य भरा है। जैसे इस साखी की पहली पंक्ति में कहा गया कि दूध वही प्रशंसनीय है जिसमें घी की मात्रा अधिक हो, तो सचमुच ही कबीर की वाणीरूपी दूध में घी-ही-घी है, सार-ही-सार है। कबीर की वाणी इतनी सारगर्भित है कि उसका भावपूर्वक मनन करने से तथ्य सामने आ जाता है। अतएव "आधी साखी कबीर की, चारि वेद का जीव" उनकी गर्वोक्ति नहीं, किन्तु चांद-सूरज के समान सत्य है। वे समर्थ पुरुष थे; ऐसा कह सकते थे। वे धर्म और श्रद्धा के नाम पर लचर बातें नहीं करते, किन्तु खरी एवं तथ्यपूर्ण करते हैं। कबीर देव धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में रहते हुए भी वैज्ञानिक हैं। उनका दृष्टिकोण इतना तार्किक, युक्तियुक्त, विश्वसत्ता के नियमों के अनुकूल तथा तथ्यपूर्ण है कि आश्चर्य होता है कि उस अंधे युग में कबीर इतना सारा सत्य डंके की चोट पर कैसे कह गये! जिस देश तथा काल में धर्म तथा श्रद्धा के नाम पर सर्वत्र पोंगापंथीपन, कट्टरपन एवं हठधर्मिता थी, उस देश और काल में कबीर केवल खरा-खरा कहते रहे, यह उनकी सत्य में

---

1. साखी 10।
2. साखी 282।
3. साखी 296।

अविचल प्रतिष्ठा का बल एवं अदम्य साहस था। जो अपना कोई स्वार्थ नहीं रखता, वही खरा सत्य कह सकता है। कबीर ऐसे थे। उन्होंने अपने स्वार्थ के लिए कभी कुछ नहीं सोचा, इसलिए वे एकबारगी सत्य कह सके। अतः वे यदि अपनी वाणियों में से आधी साखी को भी चार वेद का जीव कहें तो आश्चर्य नहीं।

पारखी प्रशंसनीय है

बलिहारी तेहि पुरुष की, जो परचित परखनहार॥
साई दीन्हों खाँड़ को, खारी बूझे गँवार॥ 132॥

शब्दार्थ—साई=बयाना, पेशगी, अग्रिम। खाँड़=चीनी, शकर। खारी= नमक। बूझे=समझता है, मांगता है, अथवा बोझे=लादता है। गँवार=नादान।

भावार्थ—मैं उस मानव की प्रशंसा करता हूं और उस पर अपने आप को न्योछावर करता हूं जो सार-असार से परिचित है या उनका परखने वाला है। परंतु मैं उस नादान की क्या प्रशंसा करूं जिसने शकर लादने के लिए बयाना दिया है और जब माल तौलाना हुआ तब नमक तौलने तथा लादने लगा। अर्थात सत्यज्ञान पाने के लिए गुरुओं की सेवा की, परन्तु उनसे ज्ञान के नाम पर भ्रांति का बोझा लादने लगा॥ 132॥

व्याख्या—कबीर देव की हर वाणी में क्रांति है। वे उसकी प्रशंसा करते हैं जो परिचित तथा परखनहार है। परिचित तथा परखनहार ये दोनों शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। परिचित वह है जिसने सार-असार, स्व-पर, चेतन-जड़, मोक्ष-बंध आदि को परख लिया है; और परखनहार वह है जिसका परखना चालू है, जो वर्तमान में छानबीन कर रहा है कि क्या सार है, क्या असार है, तथा क्या स्व है, क्या पर है आदि।

अपने स्वरूप का परिचय पा लेना, अपनी आत्मा को पहचान लेना एवं अपने आपा को परख लेना जीवन में सर्वोच्च ज्ञान है। अपने चेतनस्वरूप के अलावा जो कुछ दृश्य जड़वर्ग है उसकी भी परख कर लेना बहुत आवश्यक है, क्योंकि उसी में बराबर भ्रम होता है। चेतन की तरह ही जड़-दृश्य भी अनादि-अनन्त है और अपने अनादिनिहित गुण, धर्म, क्रियादि से स्वतः स्वचालित है। उसमें किसी प्रकार की दैवीशक्ति की कल्पना करना अज्ञान का फल है। जड़प्रकृति के अपने अनादिसिद्ध स्वभाव एवं गुण-क्रियाओं से जगत की व्यवस्था अबाधगति से निरन्तर चल रही है और आगे चलती जायेगी। जड़दृश्यों से भिन्न चेतन सत्ता है जो संख्या में अनेक एवं असंख्य हैं और उनके गुण-धर्म एक ज्ञान है। सारी जड़वासनाओं को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित होना ही जीवन का सार है। यह बोध जड़-चेतन का परिचित

स्वरूप है। दूसरे लोग हैं जो इनकी परख करने में लगे हैं। अथवा जो व्यक्ति जड़-चेतन से पूर्ण परिचित हो गया, उसे भी जीवनभर परखनहार बने रहना तो पड़ता ही है। क्योंकि जीवनपर्यन्त संसार सामने है। संसार में नयी-नयी बातें, नये-नये बन्धन एवं नयी-नयी उलझनें आने की संभावना रहती है। इसलिए विवेकवान नर-नारी परिचित होते हुए भी जीवनपर्यन्त परखनहार है। "सदा विचार करहु तुम भाई। जब लग देह बिखरि नहिं जाई॥ पारख ऊपर थिर होय रहना। सकल परखना ना कछु गहना॥"[1] सद्गुरु ऐसे लोगों की प्रशंसा करते हैं और उन पर अपने आप को न्योछावर कर देते हैं, जो धर्म के नाम पर कही गयी बातों को आंख मूंदकर मानता नहीं, परन्तु विवेक की आंखें खोलकर उन्हें देखता है, परखता है, तब मानता है। कबीर देव अन्धा अनुगामी नहीं चाहते, तर्कशील साथी चाहते हैं। उस सत्यपरायण साथी को वे अपना दास न बनाकर उसके प्रशंसक हो जाते हैं। और इतना ही क्या, वे तो ऐसे व्यक्ति को कह बैठते हैं—"कहहिं कबीर जो अबकी बूझै, सोई गुरू हम चेला।"

परन्तु कबीर देव ऐसे लोगों से बहुत उदास और दुखी होते हैं जो विवेक का प्रयोग नहीं करना चाहते। "वी वाक बाई फ़ेथ, नॉट बाई साइट" के वे घोर विरोधी हैं। अर्थात जो लोग कहते हैं कि हम विश्वास से चलते हैं, देखकर नहीं, कबीर साहेब उनको पसंद नहीं करते। वे कहते हैं कि बिना देखे-भाले एवं बिना जांचे-परखे विश्वास पर विश्वास कैसे कर लें ! यह ठीक है कि अध्यापक के कहे हुए क माने कबूतर तथा ख माने खरगोश पर बच्चा विश्वास कर ले, परन्तु अध्यापक उसे कब तक बच्चा बनाये रखना चाहेगा ! धार्मिक लोग प्रायः जनता को हर समय बच्चा ही बनाये रखना चाहते हैं। यह भी ठीक है कि जिज्ञासु का हृदय बच्चे के समान सरल होना चाहिए, परन्तु इसके साथ उसे पारखी भी होना चाहिए।

सद्गुरु ने उन भक्तों पर इस साखी की दूसरी पंक्ति में करारा व्यंग्य किया है जो "साई दीन्हों खाँड़ को, खारी बूझे गँवार" बयाना देते हैं शकर लेने के लिए, परन्तु भोले नमक लेते हैं। गुरुओं की सेवा की सत्यज्ञान पाने के लिए, परन्तु धर्म के नाम पर भावुकों ने नाना भ्रांतियों को लाद लिया। धर्म और भक्ति के नाम पर ज्यादातर चमत्कार, अन्धविश्वास तथा बे-सिर-पैर की बातें ही हांकी जाती हैं। अधिकतम गुरु इन्हीं का प्रचार करते हैं और भक्तों के पल्ले यही पड़ता है। गुरुओं को इन्हीं सब बातों में अधिक धन और जन मिलते हैं। इसलिए वे अपने भक्तों को विवेक नहीं देना चाहते। अधिकतम

---

1. सद्गुरु पूरण साहेब, निर्णयसार।

गुरुजन धर्म और भक्ति की ऐसी ही घुट्टी पिलाते हैं जिससे भक्तजनों के चिन्तन और विवेक की शक्ति खो जाती है। इसलिए धार्मिक क्षेत्र में घोर अन्धविश्वास व्याप्त है। यद्यपि धर्म के अर्थ विश्व के नियम, कारण-कार्य-व्यवस्था, मनुष्य के कर्तव्य एवं नैतिकता हैं, तथापि अन्धविश्वासियों एवं स्वार्थियों ने उसका अर्थ पोंगापंथीपन बना दिया है। आदमी श्रद्धा के नाम पर आंखें मीच लेता है। वस्तुतः श्रद्धा का अर्थ है सत्य को धारण करने वाली मानसिक शक्ति; श्रत=सत + धा=धारण करना। परन्तु लोगों ने मान रखा है धर्म तथा श्रद्धा के नाम पर बुद्धि-विवेक में ताला लगा देना और केवल गुरुओं के बताए पथ पर आंख मूंदकर चलना। निश्चित है यह खतरनाक रास्ता है। कबीर देव कहते हैं कि सत्यासत्य परखो। सदैव सार-असार पर विचार करो। बिना विचार किये कुछ भी मत मानो। वही प्रशंसनीय है जो परिचित तथा परखनहार है।

काल कला सब परखि ले, जेते हैं सब फाँस।
बिन पारख सोइ बीज है, जन्म मरण के गाँस॥ पंचग्रन्थी, टकसार॥

भय के कारण विषयासक्ति और अहंकार

विष के बिरवे घर किया, रहा सर्प लपटाय॥
ताते जियरहिं डर भया, जागत रैनि बिहाय॥ 133॥

शब्दार्थ—बिरवे=वृक्ष। जागत=दिन। रैनि=रात। बिहाय=बीतना।

भावार्थ—किसी ने जहर के पेड़ पर अपना निवास स्थान बनाया, जिसमें सांप लिपटे हैं। इसलिए उसके जी में भय समाया है और वह भय में ही रात और दिन बिता रहा है। अर्थात अहंकार-सर्प से लिपटे हुए विषयों में जीव आसक्त है। इसलिए उसके रात-दिन भय में बीत रहे हैं॥ 133॥

व्याख्या—विष का पेड़ हो और उसमें जहरीले तथा भयंकर सांप लिपटे हों, यदि उस पर कोई अपना निवासस्थान बनाये, तो वह भय का कारण बनेगा ही। ऐसे पेड़ पर रहने वाले के रात-दिन भय में बीतेंगे। वीतराग कबीर देव उक्त चुभता हुआ उदाहरण देकर विषयासक्तों तथा देहाभिमानियों की आंखों में उंगली डालकर उन्हें जगाते हैं। मनुष्य विषयासक्तिरूपी विष-वृक्ष में चिपका है जिसमें अहंकार के भयंकर सांप लिपटे हैं। अलंकार के जंजाल को हटाकर अर्थ होगा कि जीव विषयासक्ति तथा सांसारिक प्राणी-पदार्थों के अहंकार में डूबा है। इस विषयासक्ति तथा अहंकार के कारण ही वह सदैव भयभीत रहता है। उसके दिन और रात भय में ही बीतते हैं।

सुख तथा सम्मान न मिलने या उनके छूट जाने का भय, रोग लगने, बुढ़ापा आने तथा प्रियजनों के बिछुड़ने का भय, अन्ततः मृत्यु का भय क्यों

होता है! इन सारे भयों के मूल में है देह-गेहादि तथा प्राणी-पदार्थों में अहंता-ममता का होना! विषयासक्ति जहर है तथा देह-गेहादि सांसारिक ऐश्वर्य का अहंकार सांप है। इन दोनों को पालकर कोई सुख से सो नहीं सकता। विषयासक्ति एवं देहाभिमान में चिपककर कोई निर्भयता का सुख पा ही नहीं सकता। आदमी की नींद खुलती है और वह भय को छाती से लगाये हुए उठता है। पहला भय होता है घर में चोरी न हो गयी हो। दूसरा भय होता कि खाट के नीचे पैर रखते ही सांप न डस ले। फिर तो भय का सिलसिला शुरू हो जाता है। कहीं चले तो एक्सीडेंट का भय सवार हो जाता है। बच्चा स्कूल गया तो उसके लौटने तक मन में खतरा का भय बना रहता है। व्यापार रुकने, नौकरी छूट जाने, खेती डूब जाने का भय बना ही रहता है। भय की संख्या करना बेकार है। देहाभिमानी जीव के रात-दिन केवल भय में बीतते हैं। इन सबों का मतलब यह नहीं है कि आदमी कहीं सावधान न रहे। सावधान तो हर जगह रहना चाहिए, परन्तु भय पालना एक मानसिक बीमारी है। जो कुछ भवितव्य है, रुक नहीं सकता। उसके लिए भय पालना अपने आप को विक्षिप्त बनाना है। भय करने से लाभ तो रत्तीभर नहीं होता, केवल हानि होती है। निर्भय रहने से हानि बिलकुल नहीं, किन्तु केवल लाभ-ही-लाभ है।

हम निर्भय कैसे हों जब विषय-भोगों एवं उनकी वासनाओं में रात-दिन डूबे हैं और रत्ती-रत्ती चीजों में अहंता-ममता बना रखे हैं। जो विषयों की गुदगुदाहट को प्राणों के समान प्रिय मानते हैं उन्हें रात-दिन दुखों की भट्ठी में जलना ही है। राग भय का कारण होता है और वैराग्य निर्भयता का। भर्तृहरि का यह वाक्य अत्यन्त तलस्पर्शी है "वैराग्यमेवाभयम्"—वैराग्यम्-एव-अभयम्—वैराग्य ही निर्भयता है। इसीलिए कबीर देव कहते हैं—"चाह गई चिंता मिटी, मनुवा बेपरवाह। जिनको कुछ नहिं चाहिए, सोई शाहंशाह॥"

आदमी स्त्री, पुत्र, धन, परिवार, देह-गेहादि में निरन्तर आसक्त है। इसलिए वह रात-दिन उनकी चिन्ता में डूबा हुआ पीड़ित रहता है। उसके भय और चिन्ता ही में रात-दिन जाते हैं। "जागत रैनि बिहाय" का अर्थ इस ढंग से भी समझ सकते हैं कि दिन तो दिन ही, उसकी रात भी चिन्ता एवं भय में जागते-जागते बीत जाती है। अधिकतम धनवानों को रात में नींद कहां पड़ती है! बिरले धनी अपनी स्वाभाविक नींद में सोते हैं। वे नींद की गोली खाते हैं तब उन्हें मुर्च्छा-जैसी नींद आती है। संसार में करोड़ों रुपयों की लागत में नींद की गोलियां बनती हैं और उनकी खपत प्रायः धनवानों में ही होती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि गरीब लोग विषयासक्ति तथा अहंकार से छूटे होते हैं। वे भी आसक्ति एवं अहंकार में डूबे हैं; परन्तु उनके पास आसक्ति तथा

अहंकार करने के साधन थोड़े हैं, इसलिए वे उतने चिंतित एवं भयभीत नहीं हैं जितने धनी कहलाने वाले। अंततः तो अबोधग्रसित सारे प्राणी अहंता-ममता में डूबे रात-दिन चिन्ता एवं भय के शिकार हैं।

"जागत रैनि बिहाय" को हम इस ढंग से समझ सकते हैं कि सद्गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य, जाग्रत एवं सावधान होकर अज्ञानरूपी रात को समाप्त कर, अर्थात नष्ट कर !

जो घर हैगा सर्प का, सो घर साध न होय॥
सकल सम्पदा ले गये, विष भरि लागा सोय॥ 134॥

शब्दार्थ—हैगा=है। साध=साधु, महात्मा। सम्पदा=ज्ञान तथा सद्गुण धन, दैवी संपदा। सोय=आसक्ति एवं अहंकार।

भावार्थ—जो सांप का घर है, वह साधु का घर नहीं है। अर्थात विषयासक्ति और देहादि का अहंकार साधना का पथ नहीं है। ये विषयासक्ति और अहंकार तो जीव की सारी आध्यात्मिक शक्ति नष्ट कर देते हैं और सांसारिकता का विष लेकर उसमें चिपक जाते हैं॥ 134॥

व्याख्या—विषयासक्ति और देह-गेहादि सांसारिक प्राणी-पदार्थों की अहंता-ममता सर्प है। सांप का घर साधु का घर नहीं हो सकता। जिसके मन में विषयासक्ति तथा अहंकार निवास करते हैं, उसके मन में साधुत्व कैसे रह सकता है ! वैसे विषयासक्ति तथा देहाभिमान सभी जीवों के मन में अनादि अभ्यस्त हैं। इसलिए ये सबके मन में हैं। परन्तु एक होता है जो इन्हें नष्ट करने की साधना करता है और दूसरा है जो इन्हें निरन्तर पालता है। दोनों में बड़ा अन्तर है। जो व्यक्ति अपने मन में विषयासक्ति तथा देहाभिमान-सर्पों को पालेगा वह साधना के पथ में नहीं चल सकता और साधुत्व की स्थिति नहीं पा सकता। साधक तो वह होता है जो विषयों को विष के समान जानकर उनसे दूर रहता है और समस्त अहंकारों का क्षण-क्षण त्याग करता है। जीव भूलवश क्षण-क्षण देह-गेहादि संसार की वस्तुओं में अपने आप को जोड़कर उनका अहंकार करने लगता है। विवेकवान मन में उठी हुई अहंता-ममता को क्षण-क्षण त्यागते रहते हैं।

ये विषयासक्ति तथा अहंकार ऐसे सर्प हैं जो अपने दंसन से जीव की सारी दैवीसंपत्ति को विनष्ट कर देते हैं। जिसके मन में जितनी मात्रा में विषयासक्ति तथा अहंकार होंगे उसका मन उतनी मात्रा में सद्गुणों से वंचित होगा। शील, दया, क्षमा, सत्य, धैर्य, विचार, निर्भयता, स्वच्छता, भक्ति, विवेक, वैराग्यादि सद्गुण एवं दैवीसंपदा ही तो मनुष्य के जीवन में सुगंधी भरते हैं, और जो इन्हीं से खाली हो जायेगा, उसके जीवन में सुख-शांति का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। "सकल संपदा ले गये" जिसकी सारी संपत्ति चोर

उठा ले गये हों, उसकी जो दशा होती है वह तो दूसरों की सहायता से भी तुरन्त सुधर सकती है, परन्तु जिसकी सारी सद्गुण-संपत्ति नष्ट हो गयी हो उसकी क्षतिपूर्ति दूसरा कौन कर सकता है! ये विषयासक्ति तथा अहंकार जीव को दीन बना देते हैं और अंततः "विष भरि लागा सोय" विष भरकर जीव को लग जाते हैं। अर्थात इन दोनों का विकराल विष जीव पर चढ़ जाता है। जिनका उतरना सरल नहीं है। अतएव सद्गुरु चेतावनी देते हैं कि विषयासक्ति तथा अहंकार सांप हैं। इन्हें निर्दय होकर मारो, तभी सुख से सो सकते हो।

शरीर-निर्माण, काल का पड़ाव है

घुँघुँची भर के बोइये, उपजा पसेरी आठ॥
डेरा परा काल का, साँझ सकारे जात॥ 135॥
मन भर के बोइये, घुँघुँची भर नहिं होय॥
कहा हमार माने नहीं, अन्तहु चले बिगोय॥ 136॥

शब्दार्थ—घुँघुँची=घुंघची, एक लता का लाल या सफेद रंग का बीज, गुंजा। डेरा=पड़ाव, निवास। बिगोय=नष्ट।

भावार्थ—पुरुष द्वारा नारी-क्षेत्र में थोड़ी मात्रा में सजीव वीर्य सिंचन से पांच विषय एवं तीन गुण से सम्बन्धित मानो आठ पसेरी एवं मन भर का शरीर पैदा हो जाता है। और शरीर के पैदा होते ही मानो उसमें काल का पड़ाव पड़ जाता है। रात और दिन बीतते हैं और शरीर क्षीण होता है। परन्तु यदि कोई पांच विषय एवं तीन गुणयुक्त इस आठ पसेरी के निर्जीव शरीर को गाड़ दे और इससे चाहे कि एक देहधारी का पिंड पैदा हो जाये तो असम्भव है। जीवन-निर्माण का एक प्राकृतिक-क्रम है। सब कुछ या कुछ भी अचानक नहीं हो जाता है। परन्तु लोग मेरी कारण-कार्य-व्यवस्था के विचारों को नहीं समझते, अतः वे भौतिकवादी दृष्टि अपनाकर अन्त में अपने आप को खोकर चलते हैं।

अथवा सकाम कर्मों के थोड़ा बीज बोने पर भी शरीर का निर्माण हो जाता है, और शरीर का निर्माण होने के बाद मानो उसमें काल का डेरा पड़ जाता है। रात और दिन बीतते हैं तथा शरीर क्षीण होता है। परन्तु यदि कोई बहुत ज्यादा कर्म करे, किन्तु उसमें सकाम-भावना न हो तो वे ज्यादा कर्म भी जन्म के थोड़ा भी कारण नहीं बनते। परन्तु लोग मेरे विचारों पर ध्यान नहीं देते और सकाम कर्मों में डूबकर अपने आप को जन्मादि चक्कर में डालकर नष्ट करते हैं॥ 135-136॥

व्याख्या—ऊपर की दोनों साखियां एक विषय की हैं। इसलिए इन्हें एक साथ रखकर समझने की चेष्टा की गयी है। इन्हें दो तरीके से समझने का प्रयास किया गया है, जो ऊपर द्रष्टव्य है। शरीर धारण करने के दो बीज होते हैं, एक शरीर का बीज (वीर्य) एवं दूसरा मन का बीज (सकाम कर्म); इसलिए इन दोनों को लेकर ऊपर की दोनों साखियों को समझना चाहिए।

जीवन केवल भौतिक पदार्थों से नहीं बनता है; परन्तु इसमें जड़ और चेतन दोनों का योग होता है। जड़ पदार्थों से शरीर बनता है और चेतन जीव उसमें रहकर द्रष्टा, भोक्ता एवं कर्ता के रूप में स्वामित्व करता है। "घुँघुँची भर के बोइये" थोड़ा-सा वीर्य नारी-क्षेत्र में सिंतन करने से यह आठ पसेरी का शरीर पैदा होता है। यहां घुंघची भर से यह मतलब नहीं है कि ठीक घुंघची की तौल में वीर्य से शरीर बनता है। यहां घुंघची का शाब्दिक अर्थ नहीं, किन्तु लाक्षणिक है। तात्पर्य है कि थोड़े-से वीर्य से गर्भ ठहरकर शरीर का निर्माण हो जाता है, क्योंकि वह थोड़ा वीर्य भी सजीव है। उसमें जीव का निवास है जो जड़ के लक्षणों से रहित एवं अभौतिक है। कहने का अर्थ यह है कि केवल भौतिक पदार्थों से जीवन नहीं निर्मित होता है। वहां जीव की उपस्थिति अनिवार्य है। यदि केवल भौतिक पदार्थों से जीवन धारण हो तब तो मनुष्य के मरने पर उसके मृतक शरीर को ही कहीं गाड़ दिया जाये और उससे कोई देहधारी पैदा हो जाना चाहिए। या यों ही भौतिक पदार्थों को इकट्ठाकर जीव का निर्माण कर लेना चाहिए। अतएव जीवन यों ही नहीं खड़ा हो जाता है। जीवन धारण करने की एक कारण-कार्य-व्यवस्था है, एक अनादि नियम है और वह है सजीव वीर्य का नारी क्षेत्र में पहुंचना। सद्गुरु कहते हैं कि मेरी इन बातों को वे लोग नहीं मानते जो केवल भौतिकवाद के चश्मे से जीवन को देखते हैं। परन्तु इस तथ्य को न मानने का फल होता है उनका विनाश। वे देह ही को सब कुछ मानकर अपनी आत्मा को, अपने अविनाशी चेतनस्वरूप को भूलते हैं। अपने आपा को भूलने वाला पतित ही होगा।

जीवन धारण का दूसरा बीज है कर्मवासना। मनुष्य सारे कर्म विषयासक्तिपूर्वक करता है। इन्हीं कर्मों को सकाम कर्म कहते हैं। थोड़ा भी सकाम कर्म जीव के लिए पुनः देह धराने में कारण बनता है। इसलिए कोई भवबंधनों से छूटना चाहे तो वह सारे सकाम कर्मों का त्याग करे। यदि उसके मन में थोड़ा भी सकाम कर्म रहा, थोड़ी भी विषयासक्ति रही, तो उसे भवाब्धि में भटकना पड़ेगा। उसके जन्म-मरण के चक्कर नहीं मिट सकते। परन्तु यदि कोई बहुत कर्म करे, किन्तु उसमें उसका अपना स्वार्थ-भाव न हो, केवल दूसरे के कल्याण का भाव हो, तो वह उसके जन्म-मरण का कारण

नहीं बनेगा। सकाम कर्म थोड़ी मात्रा में हो, तो भी वह जीव को बांधता है और निष्काम कर्म अधिक मात्रा में हो तो भी वह नहीं बांध सकता। इस रहस्य को जो नहीं समझते वे या तो सकाम कर्मों में रात-दिन डूबे रहते हैं या सारे कर्मों को छोड़कर रात-दिन निठल्ले बने बैठे रहते हैं और यह ढोंग करते हैं कि हम त्यागी हैं जबकि वे मन से प्रपंचों का ही स्मरण करते हुए जन्म-मरण के बीज ही बनाते हैं। ऐसे लोग अंततः विनष्ट होते हैं।

कर्म न करने से तो जीवन-निर्वाह भी नहीं हो सकता। हमारे जीवन-निर्वाह में अन्य हजारों लोगों का सहयोग है, इसलिए हमें कुछ ऐसे कर्म करने चाहिए जो दूसरे लोगों के कल्याण में सहयोगी हों। कर्म से ही जीवन, समाज तथा संसार में रौनक है, नहीं तो संसार श्मशान बन जाये। इसलिए हर व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह आत्मकल्याण एवं लोककल्याण के लिए कर्म करे। बस, कर्म करने में इतना ही ध्यान रखना चाहिए कि वह सकाम न हो। यहां सकाम का अर्थ है विषयासक्ति। हमारे कर्म इंद्रिय और मन के मलिन भोगों के लिए नहीं होने चाहिए, किन्तु अनासक्तिपूर्वक शुद्ध देहनिर्वाह, आत्मकल्याण एवं लोककल्याण के लिए होने चाहिए। उदाहरणार्थ, भोजन, भूख-ज्वाला को शांत करने के लिए हो, जीभ-स्वाद के लिए नहीं। सारा सम्बन्ध, सम्बन्धों से मुक्त होने के लिए हो, बंधनों में बंधने के लिए नहीं। नाना व्यसन, राग-रंग, मैथुन, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि का सर्वथा त्याग हो। अनासक्त जीव ही स्वरूपस्थिति के राज्य में प्रविष्ट हो सकता है।

"डेरा परा काल का, साँझ सकारे जात" यह पंक्ति बड़ी हृदयस्पर्शी है। माता के गर्भ में जीव के शरीर की रचना शुरू होती है और मानो उसके साथ ही वहां काल का पड़ाव पड़ जाता है। जितने क्षण बीतते हैं जीवन क्षीण होता है। "साँझ सकारे जात"—"सुबह होती है शाम होती है, उम्र यों ही तमाम होती है"। सबेरा हुआ और शाम हुई, ऐसे देखते-देखते जीवन समाप्त हो जाता है। इस प्रकार यह जीव जन्म-मरण में पड़ा हुआ सदैव क्षणभंगुरता की धारा में बहता है। शरीर का निर्माण होना ही मानो काल का डेरा पड़ना है। शरीर काल-कवलित है और जीव कालातीत है। शरीर में आना काल के चक्कर में पड़कर बारम्बार पीड़ित होना है और स्वरूपज्ञान होना काल से मुक्त होकर अमर स्थिति में पहुंचना है। इसलिए साधक को चाहिए कि वह देहाभिमान को छोड़कर अमर आत्मस्वरूप की स्थिति में विराजमान हो। निजस्वरूप की स्थिति ही अमृत है, अविचल पद है और अनन्त जीवन है।

रहनी के पंचामृत

आपा तजै हरि भजै, नख सिख तजै विकार ॥

सब जीवन से निर्बैर रहै, साधु मता है सार॥ 137॥

शब्दार्थ—आपा=अहंकार। साधु मता=सुविचारित पथ, उत्तम विचार, शील स्वभाव, त्याग भाव, मानवता।

भावार्थ—अहंकार को छोड़े, हरि का भजन करे, नख से शिखा तक के विकारों का परित्याग करे, सभी जीवों से निर्वैर रहे और उत्तम विचारों के पथ पर चले, यही जीवन में सार है॥ 137॥

व्याख्या—यह साखी बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें जीवन-कल्याण के लिए पांच उत्तम बातें बतायी गयी हैं, जिनके आचरण से जीवन महान हो जाता है। वे पांच बातें हैं—अहंकार का त्याग, हरिभजन, सर्वदोषों का त्याग, सबसे निर्वैरत्व तथा साधुमत। हम इन पर अलग-अलग विचार करें।

"आपा तजै"—आपा के तीन अर्थ हैं। आपा का मुख्य अर्थ अपना स्वरूप एवं अपना स्वत्व है, दूसरा अर्थ अहंकार है और तीसरा अर्थ सुध-बुध एवं होश है। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि आपा का मुख्य अर्थ अपना स्वरूप है। आपा कहते ही हैं अपने आप को, अपनी सत्ता एवं अपने स्वरूप को। परन्तु जब भूलवश जड़ देह को अपना आपा मान लिया जाता है कि मैं शरीर हूं, तब यह अशुद्ध ज्ञान हो जाता है। यहां पर जो अपना नहीं है उसे अपना मान लिया गया। इसलिए यह आपा अहंकार कहलाता है। इसी आपा एवं अहंकार को छोड़ने की बात बतायी गयी है। यद्यपि इस साखी में तीसरी बात है नख से शिखा तक के सारे विकारों को छोड़ना; जिसमें अहंकार एक विकार होने से वह आ ही जाता है। परन्तु अहंकार का सर्वाधिक महत्त्व होने से सद्गुरु ने इसे अलग से और पहलेपहल रखा है। अहंकार सारे बंधनों की जड़ है। देह-गेहादि सांसारिक प्राणी-पदार्थों में मैं-मेरा मान लेने के बाद ही सारे बंधन बनते हैं और सारे दुखों की उत्पत्ति होती है, और मात्र एक अहंकार के छूट जाने पर सारे बंधन समाप्त हो जाते हैं।

जो अपना नहीं है उसे अपना मानना अनैतिकता है और यही बंधन बनाता है। किन्तु जो अपना हो उसे अपना मानना ठीक है। जैसे कोई मकान मेरा नहीं है, यदि मैं उसे अपना मानता हूं, उसमें घुसकर रहना चाहता हूं तो यह एक अनैतिक काम है। इससे मैं पकड़ा जाकर जेल जाऊंगा। क्योंकि मैं उस पर कब्जा करना चाहता हूं जो अपना नहीं है। परन्तु मैं जमीन खरीदकर अपना मकान बना लूं, तो वह मेरा अपना है। उसमें से मुझे न कोई निकाल सकता है, न जेल भेज सकता है और न कोई परेशान कर सकता है; क्योंकि वह तो मेरा अपना है। उसमें मैं सुखपूर्वक रह सकता हूं। यह तो उदाहरण हुआ। विचार करके देखा जाये तो मेरी अपनी आत्मा के अलावा यहां मेरा कुछ भी नहीं है। और-तो-और, यह अपनी मानी देह भी अपनी नहीं है।

अतएव यदि हम देह को अपनी मानते हैं, इसमें अहंता-ममता करते हैं, तो हम तात्त्विकदृष्टि से अनैतिक व्यवहार करते हैं। क्योंकि जो अपनी नहीं है उस देह को अपनी मानने का अपराध करते हैं। अतएव इसके फल में हमारा जेल होगा ही, हमें बंधन मिलेगा ही। सद्गुरु ने इस साखी में आपा तजने की बात कही है। इसलिए यहां के आपा का अर्थ न अपना स्वरूप है, न सुध-बुध है। क्योंकि इन्हें त्यागने की बात तो कही ही कैसे जायेगी ! बल्कि इन्हें रखना ही जीवन है। अतएव इस साखी के आपा का अर्थ है अहंकार। सद्गुरु कहते हैं कि सारे अहंकारों का परित्याग करे। देहादि के अहंकार में पड़कर ही सारा संसार जल रहा है। इसे त्यागकर ही शीतलता मिलेगी।

यहां 'हरिभजै'[1] का अर्थ विधिपरक है। मान लो हरि का अर्थ भगवान है। तो भगवान क्या हो सकता है ! भगवान के दो भेद माने जाते हैं सगुण और निर्गुण। सगुण भगवान देहधारी होता है। वह देहधारी भगवान मनुष्य है। इसलिए हरि का एक अर्थ कोशकारों ने मनुष्य भी माना है। यदि मनुष्य हरि है तो उसकी सेवा करना हरिभजन है, क्योंकि भजन का मुख्य अर्थ सेवा है। वैसे मनुष्यों में श्रेष्ठ मनुष्य पवित्रात्मा होते हैं जिन्हें हम सन्त कहते हैं। प्राणिमात्र एवं मानवमात्र की सेवा हरि सेवा है। उसमें सन्तों की सेवा हरि सेवा है ही। यही सगुण भगवान का भजन है। प्राणिजगत ही सगुण भगवान है और उसकी सेवा ही हरिभजन है। जो लोग जीव से अलग हरि की कल्पना करते हैं, वे भी जब कहते हैं कि हरि की सेवा करना चाहिए, तब यही कहते हैं कि जीव की सेवा ही हरिसेवा है। जब जीव से हरि अलग है, तब जीव की सेवा हरिसेवा कैसे है ! वे जीव से अलग हरि की कल्पना भले करते रहें, किन्तु जीव को हटाकर हरि कुछ हाथ में आ नहीं सकता। अतएव प्राणिसेवा, मनुष्यसेवा, जीवसेवा ही हरिसेवा एवं हरिभजन है।

दूसरा हरि का स्वरूप निर्गुण है जो मानसिक तथा भौतिक आयाम से परे शुद्ध चेतन है। वह मनुष्य का अपना आपा है, अपना चेतनस्वरूप है। उसका भजन है स्मरण। भजन का एक अर्थ स्वत्व तथा एक अर्थ विभाजन भी है। अतएव अपने शुद्ध चेतनस्वरूप का प्रकृति से विभाग करके, अलग करके उस स्वत्व में स्थित हो जाना ही निर्गुण हरि का भजन है। मन और भौतिक क्षेत्र से अलग शुद्ध चेतन ही निर्गुण है। वह शुद्ध चेतनस्वरूप ही तो मेरा अपना आपा एवं स्वत्व है। उसमें स्थित हो जाना ही हरिभजन है। इसलिए अन्ततः स्वरूपस्थिति ही हरिभजन है। अतएव यथाशक्ति प्राणियों की सेवा करना, संतपुरुषों की सेवा करना और अपने स्वरूप में स्थित होना, यही

---

1. 'हरि' का ऐतिहासिक अध्ययन 34वें शब्द की व्याख्या में देखें।

हरिभजन है। ''कर से काम, मन से राम। कहहिं कबीर सरै दोउ काम॥'' हाथ से परसेवा तथा मन से स्वरूपस्मरण एवं स्वरूपस्थिति, यही परिनिष्ठित हरिभजन है।

सगुण क्षेत्र में निर्जीव मूर्तियों, चित्रों एवं कब्रों की आरती उतारना, उनको भोग लगाना भले कोई सगुण हरिसेवा माने; परन्तु सजीव प्राणियों की सेवा ही असली हरि की सेवा है। इसी प्रकार निर्गुण क्षेत्र में अपनी आत्मा से अलग मन की कल्पनाओं एवं शून्य में भले कोई हरि को देखता फिरे, परन्तु स्वरूपस्थिति ही असली हरिभजन है। कबीर साहेब का हरि मन की कल्पनाओं का नहीं, किन्तु हृदयनिवासी आत्मस्वरूप चेतन है।

''नख सिख तजै विकार''—एड़ी से चोटी तक के सारे दोषों का सर्वथा परित्याग करे। संतजन सारे विकारों को तीन वर्गों में बांटते हैं वे हैं शरीर, वाणी और मन। शरीर के तीन दोष—चोरी, हत्या एवं व्यभिचार; वाणी के तीन दोष—गाली, निंदा और झूठ तथा मन के चार दोष—ईर्ष्या, क्रोध, मान और छल। इन सब का त्याग जीवन की विशेषता है। सद्गुरु कहते हैं कि नख से शिखा तक के सारे विकारों को त्यागना ही सच्चा भजन है। भजन की, भक्ति एवं ज्ञान की यह कसौटी है। यदि जीवन निर्दोष है तो यही जीवन की ऊंचाई है। विद्वान, बुद्धिमान, शास्त्रज्ञानी, पूज्य, प्रतिष्ठित व्यक्ति श्रेष्ठ एवं सुखी नहीं होता, यदि उसने जीवन के दोषों का त्याग नहीं किया है। किसी भी वाद, किसी भी सिद्धांत, किसी भी सम्प्रदाय का अहंकार एकदम थोथा है, यदि उसने जीवन के दोषों का त्याग नहीं किया है, जीवन की निर्दोषिता के समान न कोई भौतिक उपलब्धि है और न कोई सुख। निर्दोष जीवन ही स्वरूपस्थिति के साम्राज्य में प्रवेश करता है। श्रुति वचन है ''यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः'' अर्थात आत्मसाक्षात्कार वही करता है जो धीरे-धीरे यत्नपूर्वक क्षीणदोष हो गया है। जिसने सारे दोषों को नष्ट कर दिया है, वही स्वरूपस्थिति का अधिकारी है।

''सब जीवन से निर्बैर रहे''—जीवन में 'सब' विशेषण लगाकर सद्गुरु ने सार्वभौमिक प्रेम, करुणा एवं दया करने की प्रेरणा दी है। किसी से भी वैर न करे। पर-मत वालों से वैर, पर-जाति एवं पर-वर्ण वालों से वैर, पर-घर, पर-परिवार, पर-समाज, पर-दोष वालों से ही नहीं, किन्तु किसी जीव से भी वैर न रखे। सब जीवों से निर्वैरत्व की भावना रखे। इसी में सुख है, शांति है, विजय है और समृद्धि है। आदमी मान्यता का एक घेरा बना लेता है और उस संकीर्णता में अपने मन को बन्द कर लेता है। इसलिए वह किसी से ममता तथा किसी से वैर करने लगता है। सद्गुरु कहते हैं कि सारी संकीर्णता छोड़ दो। जो व्यक्ति तुमसे वैर करता है उससे भी तुम वैर न करो। ''निर्बैरी बरते

जग माहीं। मन वच कर्म घात कोउ नाहीं॥"

"साधुमता"—साधुमत का अर्थ है उत्तम विचार, शील स्वभाव एवं त्यागभाव। सद्‌गुरु कहते हैं कि सुविचारित पथ पर चलो। अपने मन, वाणी तथा इंद्रियों का ऐसा व्यवहार करो कि दूसरे को यथासम्भव कष्ट न हो, और त्याग-भाव से रहो। साधुमत का अर्थ यह भी है कि जैसे मानवमात्र की एक जाति है, वैसे उन्हें एक जाति का समझो। ऊंच-नीच, छुआछूत आदि का पाखण्ड दूर करो। निर्जीव पदार्थों एवं पुतलों को न पूजो, किसी व्यक्ति को जगतकर्ता मत समझो। अर्थात जातिवाद, वर्णवाद, छुआछूतवाद, मूर्तिपूजावाद, अवतारवाद, देवी-देवतावाद से रहित शुद्ध आत्मज्ञानी एवं सदाचारी बनो।

उक्त पांचों बातों के हो जाने पर सद्‌गुरु कहते हैं कि तब जीवन का मानो सार प्राप्त हुआ। स्वरूपस्थिति-रहनी के ये पंचामृत हैं। इन्हें अपने आचरण में उतारने का प्रयत्न करो।

निर्पक्ष होय के हरि भजै

पछापछी के कारने, सब जग रहा भुलान॥
निर्पक्ष होय के हरि भजै, सोई सन्त सुजान॥ 138॥

शब्दार्थ—पछापक्षी=पक्ष-अपक्ष, लगाव तथा वितृष्णा, रुझान और उदासीनता, राग और द्वेष।

भावार्थ—मनुष्य किसी मत में तो पक्षपात एवं मोह करके उसकी सड़ी-गली बातों से भी चिपका रहता है और अन्य मतों से उदासीनता ही नहीं घृणा भी करने लगता है, इसलिए उनकी सच्ची बातों पर भी ध्यान नहीं देता। इसी राग-द्वेष के कारण सारा संसार भटका हुआ है। सद्‌गुरु कहते हैं कि वही प्रबुद्ध संत है जो निष्पक्ष होकर हरि-भजन करता है॥ 138॥

व्याख्या—कबीरदेव की एक-एक बात इतनी धारदार एवं शतप्रतिशत तथ्यपूर्ण होती है कि मन मूक होकर उसे सोचता ही रह जाता है। सच तो है, केवल संसारी ही नहीं, धार्मिक लोग भी राग-द्वेष में भटके हुए हैं। मनुष्य मजहब, समाज, पंथ एवं सम्प्रदाय की एक सीमा बना लेता है और उस सीमा के भीतर जो कुछ होता है उसे परम सत्य मान लेता है। चाहे उसमें कुछ बड़ी ही भोड़ी एवं निरर्थक बातें हों, परन्तु वह उन्हें छाती-पेट लगाये रखता है। किन्तु दूसरे मतों की अच्छी-से-अच्छी बातें भी नहीं स्वीकार पाता, क्योंकि वह उन मतों को तुच्छ समझता है। लोग बड़े अहंकारपूर्वक कहते हैं कि हमारे मत ईश्वर-प्रदत्त हैं, हमारी किताबें ईश्वर की वाणी हैं तथा हमारे इष्ट एवं पंथाचार्य ईश्वर के अवतार, ईश्वर के पुत्र या ईश्वर के संदेशवाहक हैं। परन्तु वे बहादुर लोग दूसरे अन्य मतों एवं ग्रन्थों को मानवकल्पित मानते हैं। वस्तुतः

वेद, बाइबिल, कुरानादि संसार की सारी किताबें मानवों की रचनाएं हैं। सारे मत-मजहब मानव के निर्धारित हैं एवं राम, कृष्ण, ईसा, मुहम्मद आदि सारे महापुरुष केवल मानव हैं। इसलिए किसी की किताबें तथा मजहब स्वतः प्रमाण नहीं। सब की बातों पर परख की कसौटी लगाकर ही उनमें सार तथा असार का ग्रहण और त्याग करना चाहिए। महाभारतकार ठीक कहते हैं—"नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्" अर्थात केवल एक ऋषि नहीं है, जिसका मत प्रमाण मान लिया जाये। ऋषि बहुत हैं, इसलिए सबकी बातों पर विचार करके ही उनमें से मान्य-अमान्य किया जा सकता है। वेद-ऋचाओं के बहुत ऋषि हैं। उपनिषदों के अनेक ऋषि हैं। वैदिक छह शास्त्रों के ही कपिल, कणाद, जैमिनि, पतंजलि, गौतम, वादरायण छह ऋषि हैं और छहों के विचारों में केवल अन्तर ही नहीं, कहीं-कहीं विरोध भी है। फिर बुद्ध, महावीर, जरथ्रुस्त्र, कनफ्यूसियस, लाओत्जे, ईसा, मोहम्मद कितने नाम लिये जायें ! इनमें से किसका सत्कार तथा किसका तिरस्कार किया जाये ! इनमें से कौन अपना है, कौन पराया है ! इसलिए निष्पक्ष व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह किसी की बातों को आंख मूंदकर न माने और किसी की बातों को बिना विचार किये तिरस्कृत न करे। किन्तु परखकर सार का ग्रहण एवं असार का त्याग करे।

मनुष्य दूसरे मतों की तर्कहीन बातों को बड़ी शीघ्रता से समझ लेता है कि यह तर्कहीन है; परन्तु अपने मत की तर्कहीन बातों में चिपका रहता है। या तो उसकी तर्कहीनता पर उसकी दृष्टि ही नहीं जाती, या जाती भी है तो वह उसे बाहर से स्वीकार नहीं कर पाता। एक उदाहरण लें। उत्तर प्रदेश के बहराइच जिले में गाजीमियां की कब्र है। लोगों को अंधविश्वास है कि उस कब्र के दर्शन तथा उसके धोये हुए जल के स्पर्श से अन्धे को आंख, वंध्या को संतान एवं कोढ़ी को नीरोग्यता मिलती है। गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज कहते हैं—"बहराइच में जाकर तथा गाजीमियां के मजार एवं कब्र के दर्शन कर किस अन्धे ने आंखें पायीं, किस वंध्या ने पुत्र पाया तथा किस कोढ़ी ने नीरोग्यता पायी?"[1] दूसरे के अंधविश्वास पर इतना वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने

---

1. लही आंख कब आंधरे, बांझ पूत कब ल्याइ।
कब कोढ़ी काया लही, जग बहराइच जाइ॥ दोहावली॥
अयोध्या के पश्चिमोत्तर कोण पर स्थित बहराइच शहर है जो उस क्षेत्र का जिला-कार्यालय है। इस शहर में सैयद सालारगंज मसऊद गाजी (गाजीमियां) की दरगाह है। हर साल जेठ महीने में यहां बहुत विशाल मेला लगता है। यहां कोढ़ी, अंधे, वंध्या आदि अपनी नाना इच्छाओं की पूर्ति के लिए आते हैं और चढ़ावा-बजावा करते हैं। सैयद सालारगंज मसऊद गाजी महमूद गजनवी का भांजा था। वह गाजी (वीर) बनने के लिए अवध की ओर बढ़ आया था। श्रावस्ती के राजा

वाले गोस्वामीजी अयोध्या की महिमा में लिखते हैं—"मनुष्य, पशु, पक्षी, कृमादि चारों खानियों के अपार जीवों में से जितने जीव अयोध्या में शरीर छोड़ते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं।"[1] अतः दूसरे मतों में निहित अंधविश्वास को समझना सरल है, अपने मत में निहित अंधविश्वास को समझना बड़ा कठिन है। इसमें कोई बड़ी बात नहीं है, केवल पक्षपात कारण है। कितने कबीरपंथी महापुरुष हैं जो एक सांस में राम, कृष्ण, व्यास, वसिष्ठ, हनुमान, ईसा, मुहम्मद सब को गिना देते हैं कि सब मर गये। परन्तु वे ही, जब कबीर पर बात आती है तब भावुक हो जाते हैं और कहते हैं कि कबीर साहेब का शरीर पांचभौतिक नहीं था। वे तो जब चाहे संसार में आते-जाते रह सकते हैं। न वे कभी माता-पिता से पैदा हुए और न मरण को प्राप्त हुए। वे तो पक्की देह के हैं। ये सारी बातें बेवजह का बखेड़ा है। इसमें न किसी की बड़ाई है न छोटाई। ये सब मनुष्य हैं। सब ने माता-पिता से देहधारण किया है और सब की देह एक दिन छूट गयीं हैं। उन महापुरुषों की विशेषता उनके ज्ञान एवं आचरण से है। मोक्ष किसी नदी, तालाब एवं नगर में मरने से नहीं, किन्तु स्वरूपज्ञान एवं वासना-त्याग से है। बाकी सारी महिमाएं मनुष्यों को पथभ्रष्ट करने वाली हैं।

"निर्पक्ष होय के हरि भजै, सोई सन्त सुजान" सद्गुरु कहते हैं कि वही ज्ञानी सन्त है जो सारे पक्षपातों को छोड़कर हरिभजन करता है। हरिभजन क्या है। इसका समाधान पिछली 137वीं साखी में किया जा चुका है। राम, कृष्ण, ईसा, मुहम्मद, हनुमान, गणेश, ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, कबीर, नानक, बुद्ध, महावीर, दयानन्द, विवेकानन्द आदि किसी के पक्ष में सटना या इन सब में किसी को भजना-जपना हरिभजन नहीं है। किन्तु निष्पक्ष हरिभजन है प्राणिमात्र के प्रति करुणा, सेवाभाव एवं यथासाध्य सेवाक्रिया, सन्तसेवा एवं स्वरूपस्थिति। निष्पक्ष हरिभजन है "कर से काम, मन से राम।" प्राणियों की सेवा और निजस्वरूप की स्थिति यही "निर्पक्ष होय के हरि भजै" का अभिप्राय है। इसमें किसी के मजहबी क्रियाकलापों, देवी-देवताओं, कल्पित भगवानों का सत्कार-तिरस्कार नहीं है। किन्तु सबका सार, निष्पक्ष, तथ्यपूर्ण स्थिति है।

चमार और ब्राह्मण कौन?

बड़े गये बड़ापने, रोम रोम हंकार॥
सतगुरु के परचै बिना, चारों बरन चमार॥ 139॥

सुहृददेव के हाथों वह मारा गया था। इसी की कब्र बहराइच में बनी है जिसे लोग पूजते हैं।

1. चारि खानि जग जीव अपारा। अवध तजै तन नहिं संसारा॥ मानस॥

शब्दार्थ—चारों बरन=चारों वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र।

भावार्थ—कितने बड़े कहलाने वाले अपने मिथ्या बड़प्पन के मद में नीचे गिर गये, क्योंकि उनके रोयें-रोयें में अहंकार भरा था। सद्गुरु के द्वारा स्वरूपज्ञान पाये बिना दैहिक बुद्धि रखने वाले चारों वर्ण के लोग चमार हैं, क्योंकि उनकी समझ चाम की देह तक है॥ 139॥

व्याख्या—मनुष्य की सबसे बड़ी भूल है भौतिक पदार्थों का अहंकार करना। धन, विद्या, पद, काल्पनिक जाति, शरीर, जवानी, सौंदर्य आदि भौतिक पदार्थों में मनुष्य अपना इतना तादात्म्य कर लेता है कि इन क्षणिक वस्तुओं को लेकर इतराता रहता है। सारे अहंकारों की जड़ शरीर है और उसके गलते तथा विनशते देर नहीं लगती। फिर आदमी किस चीज का मद करता है! शरीर विनशते ही सारे प्राणी-पदार्थों से जीव का संबंध कट जाता है। फिर उसका क्या रह जाता है! कुछ ईंट, पत्थर, धातु एवं कागज के टुकड़ों को बटोरकर आदमी अपने आप को धनी मान लेता है। पेट की ज्वाला शांत करने के लिए थोड़ा अन्न, तन ढकने के लिए दो टुकड़े कपड़े तथा सिर ढकने के लिए थोड़ी छत, यही तो जीवन-निर्वाह के लिए चाहिए। इससे अधिक धन का क्या घमण्ड है! मूढ़ मानव कुछ लोहा-लक्कड़ एवं कूड़ा-कबाड़ बटोरकर अपने आप के लिए धनी होने का घमण्ड कर लेता है। किसी ने ठीक कहा है—

नशा दौलत का जिस पर आन चढ़ा।
सर के शैतान पर एक और भी शैतान चढ़ा॥

विद्या का क्या घमण्ड! कुछ काल्पनिक रूढ़ियों को भाषा तथा सांकेतिक चिह्नों को लिपि कहते हैं। इन्हीं को रट-रटाकर विद्वान होने का घमण्ड होता है। सारी तथाकथित विद्याएं वस्तुओं को जानने तथा जनाने के लिए हैं। अनपढ़ उन्हें अपनी भाषा में जानते-जनाते रहते हैं। पशु-पक्षी आदि बिना भाषा का प्रयोग किये अपना शरीर-निर्वाह करते रहते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि विद्या नहीं पढ़ना चाहिए। अर्थ है कि सारी विद्याओं का फल है अपना और समाज का उनके द्वारा भौतिक एवं आध्यात्मिक कल्याण करना, न कि उनका घमण्ड करना। घमण्ड करने से तो विद्या अविद्या बन जाती है।

सुन्दरता बहुत जल्दी मिट जाती है। जवानी जाते देर नहीं लगती। पद और अधिकार केवल दो दिन की चांदनी है। पूज्यता-प्रतिष्ठा क्षणिक हैं। इन स्वप्नवत पदार्थों का अहंकार करना भोलापन है, बचपना है। वर्णों एवं संप्रदायों का घोर अहंकार होता है। कितने स्वामी लोग दूसरे त्यागी-से-त्यागी का भी नमस्कार कर ही नहीं सकते। उन्हें कोई नमस्कार करे और वे उसकी ओर ताक दें तो बड़ी बात है। परन्तु उनको पता नहीं है कि उनको तुच्छ

समझने वाले दूसरे संप्रदायाभिमानी उनसे बढ़-चढ़कर हैं। यहां तो सब तथाकथित ईश्वर एवं सत्य के इकलौते पुत्र एवं ठेकेदार हैं। अमुक संप्रदाय का नाम लेना बेकार है, घमण्ड राजा, जिसके अन्दर केवल भूसी एवं भंगार है, सबके ऊपर खड़ा गरजता है।

वर्णव्यवस्था की लाश सड़ गयी है और उसमें से केवल बदबू निकल रही है, परन्तु उसको लेकर अहंकार में कमी नहीं है। तथाकथित ब्राह्मण ही अहंकारी हों ऐसी बात नहीं है। दूसरे वर्ण एवं जाति के कहलाने वाले लोग भी अहंकार के बुखार से पीड़ित हैं। आज भी एक आदमी दूसरे आदमी को जन्मजात अछूत मानने का पाप करता है। जबकि दोनों हाड़-मांस के ढांचे हैं। दोनों के पेट में टट्टी-पेशाब भरी है। जब तक अविनाशी स्वरूप-राम का बोध नहीं है, जब तक यह माना जाता है कि मैं देह हूं, तब तक चारों वर्ण के लोग चमार हैं। कबीर देव तीखे वचन कहते हैं "सद्गुरु के परचै बिना, चारों बरन चमार।" सारे अहंकारों का मूल देह है, अतः जब तक आदमी जाति, वर्ण आदि का अहंकार करता है, तब तक वह केवल चमार है। जीव एवं आत्मा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, जैन, बौद्धादि नहीं है। वह शुद्ध चेतन है। वर्ण, जाति आदि के सारे भेद देह में ही कल्पित किये जाते हैं, इसलिए वर्णादि का अहंकार करने वाले चाम की देह की बुद्धि रखने वाले हैं, इसलिए वे चमार हैं। कबीर साहेब ने एक वर्ण को चमार नहीं कहा। उन्होंने सारे देहाभिमानियों को चमार कहा।

एक मनोरंजक कहानी है। मिथिला में राजा जनक की सभा लगी थी। सभा में ऋषि, मुनि, ज्ञानी, ब्रह्मज्ञानी एवं ब्रह्मजन विद्यमान थे। वहां एकाएक अष्टावक्र मुनि आ गये। उनके आठों अंग टेढ़े थे। वहां सभी ज्ञानी राजा जनक को ब्रह्मज्ञान देने आये थे। अष्टावक्र भी जनक को ज्ञान देने ही गये थे। अष्टावक्र को देखकर पूरी सभा हंस पड़ी। अष्टावक्र ने भी सभा को देखकर हंस दिया। सभा के ज्ञानियों ने अष्टावक्र से पूछा—"आप क्यों हंसे?" अष्टावक्र ने उलटकर ज्ञानियों से पूछ लिया कि आप लोग क्यों हंसे? ज्ञानियों ने कहा—"हम लोग यह सोचकर हंसे कि अष्टावक्र आठों अंगों के टेढ़े हैं और ये राजा जनक को ज्ञान देने आये हैं।" अष्टावक्र ने कहा—"मैं यह सोचकर हंसा कि ये चमारों की मण्डली राजा जनक को ज्ञान देने के लिए बैठी है।" सभा के लोग अष्टावक्र पर क्रुद्ध हो गये कि आपने हमें चमार क्यों कहा! अष्टावक्र ने कहा कि जो चाम की बुद्धि रखता हो वह चमार नहीं तो क्या है! आप लोग मेरे चाम की देह ही को तो देखकर हंसे हैं कि यह टेढ़ी-मेढ़ी है। गन्ना टेढ़ा होकर भी उसके अन्दर का रस टेढ़ा नहीं होता। नदी टेढ़ी होने पर भी उसका पानी टेढ़ा नहीं होता। महत्त्व देह का नहीं, ज्ञान का है।

अष्टावक्र के सटीक उत्तर पाकर ब्रह्मसमाज लज्जित हो गया।

अतएव एक मानव जाति में यदि भेद किया जाये तो केवल दो जातियां बनती हैं एक चमार तथा दूसरा ब्राह्मण। जो अपने आप को देह मानता है वह चमार है और जो अपने आप को चेतन आत्मा मानता है वह ब्राह्मण है।

बिना अहंकार का त्याग किये मोटी माया का त्याग निरर्थक है

माया तजे क्या भया, जो मान तजा नहिं जाय ॥
जेहि माने मुनिवर ठगे, सो मान सबन को खाय ॥ 140 ॥

शब्दार्थ—माया=मोटी चीजें, घर-परिवार। मान=अपने में बड़प्पन का घमण्ड एवं पूज्य होने का भाव। माने=मान्यता, अहंता-ममता।

भावार्थ—स्त्री, पुत्र, घर, धन त्यागकर कोई साधुवेष धर लिया तो क्या विशेषता हो गयी, यदि उसने अपने माने हुए बड़प्पन का घमण्ड नहीं छोड़ा। जिस बड़प्पन के अहंकार ने बड़े-बड़े ऋषियों-मुनियों को पथभ्रष्ट कर दिया, वही अहंकार आज भी सबको भ्रष्ट कर रहा है ॥ 140 ॥

व्याख्या—पिछली साखी में सद्गुरु ने ज्यादातर वर्ण-जाति के अहंकार पर चोट की थी। इस साखी में विरक्त नामधारियों के अहंकार पर चोट है। साधु का वेष ही मृतक का चिह्न है जिसमें पूरी विनम्रता है। जो संसार से मर गया, उसे क्या अहंकार हो सकता है! संसार में जीव देह को छोड़कर चला जाता है तब उसे मरना कहा जाता है, और साधु दशा में मन के सारे अहंकार जब समाप्त हो जाते हैं तब उसे साधुत्व कहा जाता है। परन्तु आश्चर्य है कि कितने लोग साधु का वेष धारण करने पर अहंकार की महामूर्ति हो जाते हैं। धन का नशा, विद्या का नशा, पद का नशा तो होता ही है, त्याग का भी नशा आ जाता है। सारे नशा जीव को पतित करने वाले हैं। आप पुराण तथा महाकाव्य पढ़िये तो पता चलेगा कि ऋषि-मुनि कैसे थोड़ी-थोड़ी बातों को लेकर एक दूसरे को शाप देते, मारा-मारी करते, एक दूसरे के आश्रम जलाते थे। वसिष्ठ विश्वामित्र का तथा विश्वामित्र वसिष्ठ का विध्वंस करते हैं। जितना त्याग और तप उससे कहीं ज्यादा क्रोध और अहंकार! बाहरी त्याग तब तक निरर्थक है जब तक मन पूर्ण अहंकार का त्यागी नहीं होता।

अहंकारी आदमी भ्रांति में जीता है। कोई अपने मत को पुराना तथा युक्तियुक्त बताता है तो कोई अपने मत को। कोई अपने मत को ईश्वर की नाक की सिधाई में बताता है तो कोई अपने मत को अल्लामियां की आवाज। वे अलग-अलग समझते हैं कि केवल वे ही सत्य को समझ सके हैं। आज तक लोगों ने केवल ईश्वर के विषय में कल्पनाएं की हैं, ईश्वर ने किसी को अपना कोई संदेश नहीं दिया है। परन्तु ऐसा भी मिथ्याभिमान किया गया है

कि हमने ईश्वर से मुलाकात की है। उसने हमें ही संसार को तारने की ठेकेदारी दी है। संसार में हजारों मत हैं। उनमें अधिकतम ऐसे हैं जो अपने आप को आस्तिक तथा दूसरे को नास्तिक माने बैठे हैं। ये सारे अहंकार मिथ्या हैं। सभी मनुष्य मूलतः समान हैं। जो जितना ही प्रेम, समता, एकता, निर्मानता, सर्वभूतहित की भावना रखता है वह उतना ही वास्तविकता को समझता है।

माया से वैराग्य

माया के झक जग जरे, कनक कामिनी लाग॥
कहहिं कबीर कस बाँचिहो, रुई लपेटी आग॥ 141॥

शब्दार्थ—झक=सनक, खब्त, धुन, पागलपन, ताप, आंच, आग की लपट। कनक=धन, अर्थ। कामिनी=काम-मद वाली स्त्री, कामवासना। लाग=आसक्ति।

भावार्थ—संसार के लोग अर्थ और काम-भोग में आसक्त होकर माया रूपी आग की लपट में जलते हैं। सद्‌गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य! तुम उसी प्रकार माया में आसक्त होकर जलने से बच नहीं सकते, जैसे आग में लिपटी हुई रुई नहीं बच सकती॥ 141॥

व्याख्या—सद्‌गुरु ने 139वीं साखी में वर्णाभिमान पर एवं 140वीं साखी में त्यागियों के अहंकार पर चोट की थी। इस साखी में वे मोटी माया की आसक्ति पर चोट करते हैं। मोटी माया को व्यंजित करने के लिए हिन्दी-जगत में कनक-कामिनी शब्द मानो एक मुहावरा बन गया है। वैसे बृहत् हिन्दी कोश में कनक के अर्थ गेहूं का आटा, सोना, धतूरा, पलाश, कालीय वृक्ष, नाग केशर और चम्पा किये गये हैं। परन्तु इस संदर्भ में कनक का स्थूल अर्थ सोना है। इसी प्रकार कामिनी के अर्थ कामवेग का अनुभव करने वाली स्त्री, कामनायुक्त स्त्री, सुन्दरी स्त्री, भीरु स्त्री, मदिरा, दारुहल्दी तथा बांदा किये गये हैं। परन्तु इस संदर्भ में कामिनी का अर्थ कामवेग का अनुभव करने वाली स्त्री है। कनक का यहां शाब्दिक अर्थ केवल सोना माना जाये तो विचारकर देखिए कि आज कितने लोग हैं जो सोना में आसक्त हैं! ज्यादातर लोग कागज के रुपये, मकान, जमीन, कपड़े, बरतन, गहने आदि में आसक्त हैं। इसलिए यहां सोना का शाब्दिक अर्थ नहीं, किन्तु लाक्षणिक अर्थ ग्रहण करना चाहिए, वह है जड़ पदार्थ, जिसे धन के रूप में माना गया है। कामिनी का यहां शाब्दिक अर्थ है स्त्री। परन्तु आखिर स्त्री भी तो जीव ही है। उसके लिए भी तो माया ही बन्धन है। यदि पुरुष के लिए स्त्री की आसक्ति बन्धन है, तो स्त्री के लिए पुरुष की आसक्ति बंधन है। अतएव यदि पुरुष के

लिए स्त्री माया है, तो स्त्री के लिए पुरुष माया है। पुरुष वैराग्य-पथ का पथिक अधिक हुआ। पुरुष के मन में स्त्री-देह की आसक्ति है। इसलिए जब उसके मन में स्त्री-देह के लिए आकर्षण आया, तब उसने अपने मन को उससे विरत करने के लिए स्त्री-देह में दोषदर्शन किया, उसे माया तथा आग कहा। विरक्त पुरुष ही ज्यादातर लेखक हुए। इसलिए उन्होंने कनक के साथ कामिनी शब्द का प्रयोग करके धन और स्त्री से विरक्त होने के लिए कविताएं लिखीं। यहां स्त्री को गलत मानने का अभिप्राय नहीं है; किन्तु कामासक्ति से मुक्त होने का अभिप्राय है। इसलिए कबीर साहेब ने कनक-कामिनी के नाम जहां लिये, वहां उन्होंने उसे माया कहा। परन्तु जब उन्होंने नर-नारी की समानता की बात कही तब उन्होंने कहा "को पुरुषा को नारी"[1] तथा "जेते औरत मर्द उपाने, सो सब रूप तुम्हारा।"[2]

इस विचार-मंथन से यहां कनक-कामिनी का लक्षणार्थ है अर्थ और कामभोग। संसार के स्त्री और पुरुष अर्थ और कामभोग में डूबकर माया की आग में जल रहे हैं। प्राणी-पदार्थ माया हैं, यह कथन सापेक्ष है। वस्तुतः जब हमें प्राणी और पदार्थों में मोह हो जाता है तब वे हमारे लिए माया बन जाते हैं। इसलिए हमारे मन का मोह ही माया है। यदि हमें कहीं मोह न हो तो, हमारे लिए कहीं माया नहीं है। आदमी इन्द्रियों के भोग में आसक्त होता है। आसक्तिवश उसे अधिक धन की आवश्यकता प्रतीत होती है। इस प्रकार विषयासक्त आदमी कामभोग और धन में आसक्त होकर रात-दिन उसकी आग में जलता है। इच्छा, तृष्णा, अपूर्ति, खिन्नता, अभाव, असंतोष, क्षीणता, वियोग आदि ही तो माया की आग है। जो धन और भोगों में आसक्त होगा वह इन सब की आग में जलेगा ही। सद्गुरु ने इसके लिए अत्यन्त सटीक एवं सुन्दर उदाहरण दिया है "रुई लपेटी आग"। रुई आग में लिपट जाये, तो उसका जलना निश्चित है। इसी प्रकार जो धन और काम-भोग में लिपटा है उसका माया की आग में जलना निश्चित है। 'झक' का अर्थ सनक भी है। इससे अर्थ होगा कि माया के पागलपन में पड़कर आदमी जलता है।

विवेकवान कामभोग का एकदम त्याग कर देता है और धन से अनासक्तिपूर्वक केवल शरीर-निर्वाह लेता है। वह सभी नर-नारियों को सजाति जीव जानकर सबसे विवेकपूर्वक बरताव करता है और काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि को त्यागकर जीते जी मुक्त होकर कालपेक्ष करता है।

माया जग साँपिनि भई, विष ले पैठि पताल॥

---

1. शब्द 48, 75।
2. शब्द 97।

सब जग फन्दे फन्दिया, चले कबीरू काछ॥ 142॥

शब्दार्थ—माया=विषयासक्ति। पताल=हृदय, मन। काछ=त्याग, बचाकर अलग हो जाना।

भावार्थ—संसार में माया भयंकर सर्पिणी हो गयी है जो विषयासक्ति रूपी विष को लेकर मनुष्य के हृदय में पैठ गयी है। संसार के सारे लोग इस बन्धन में बंध गये हैं, परन्तु कबीर इससे अपने आप को बचाकर अलग हो गये॥ 142॥

व्याख्या—कबीर तीव्र विरक्त पुरुष थे। उनको गृहस्थ बताने वाले गहरी भूल में हैं। कबीर की वाणी-वाणी में वैराग्य की तीव्रता है। वे कहते हैं कि संसार के सांप सांप नहीं हैं। उसके काटने से तो केवल शरीर मर सकता है। परन्तु यह माया भयंकर सर्पिणी है। माया है कामभोग, माया है प्राणी-पदार्थों का लोभ-मोह। इस माया सर्पिणी के डसने से जीव अपने कल्याण से दूर हो जाता है। माया आसक्ति का जहर लेकर मनुष्य के हृदय में घुस जाती है। "विष ले पैठि पताल" बड़ा मार्मिक वचन है। किस तरह विषयों का अध्यास मनुष्य के हृदय की गहराई में धंस जाता है, इसे विवेकवान ही समझता है। विषयासक्त मन पूरी जागृति अवस्था में विषयों का चिन्तन करता है, स्वप्न में उसी का विलास करता है तथा सुषुप्ति में उसी के बीज उसमें लीन रहते हैं। विषयसुख जो वस्तुतः सर्प है, विष है, फांसी है और इन सबसे भी भयंकर है, अज्ञानवश जीव ने उसे ही अमृत मान रखा है। इसलिए वह मलिनता से अपने आप को छुड़ा नहीं पाता! तीव्र घृणादृष्टि हुए बिना विषयों के अध्यास नहीं छूट सकते। यह मानसिक नियम है कि जिससे तीव्र घृणा होती है हृदय से उसी का अभाव होता है। विषय-वासना ही माया है। इसका पूर्ण त्याग हुए बिना स्वरूपस्थिति नहीं मिल सकती और विषय-वासनाओं का पूर्ण त्याग तभी होगा जब उनसे घृणा हो, उनमें दोष-दर्शन हो।

सारा संसार विषय-वासना में डूबा है। बिरले सुज्ञ जीव इससे मुक्त होने का प्रयास करते हैं। नीम के कीड़े नीम में आनन्द मानते हैं, गोबर के कीड़े गोबर तथा मल में ही आनन्द मानते हैं, इसी प्रकार जीव अपने स्वरूप को भूलकर विषयों में इतना डूब गया है कि उसे विषय ही सुखप्रद लगते हैं, जबकि सारी पीड़ाओं का कारण विषय-वासना ही है। जैसे तम्बाकू, बीड़ी-सिगरेट, गांजा-भांग एवं शराब की आदत में डूबे आदमी उनसे नाना दुख पाकर भी उन्हीं में लीन रहते हैं, वैसे विषयों से ही सारा कष्ट पाते हुए भी जीव व्यामोहवश एवं मायावश पुनः-पुनः उन्हीं में डूबता है।

"चले कबीरू काछ" इसमें कबीरू और काछ दो शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। 'कबीरू' शब्द का सद्गुरु अपने आप के लिए भी प्रयोग कर सकते हैं और

सामान्य मुमुक्षु के लिए भी। यह तो निर्विवाद है कि सद्‌गुरु ने 'कबीर' शब्द का प्रयोग बीजक में अपने नाम के साथ-साथ सामान्य जीवों के लिए भी किया है, जिसे आप 86वें शब्द में देख सकते हैं। जिसमें एक बार 'कबिरा' तथा चार बार 'कबीरा' शब्द का प्रयोग करके अन्त में छठवीं बार 'कहहिं' के साथ 'कबीर' शब्द का प्रयोग हुआ है। यहां का अर्थ है कि कोई मुमुक्षु जीव ही विषय-वासनाओं से बचकर या उन्हें त्यागकर अलग हो जाता है। वह संसार में धन्य है जो विषय-सर्प को मारकर अपनी स्वरूपस्थिति रूपी गुहा में विराजमान होता है।

साँप बिच्छू का मन्त्र है, माहुरहू झारा जाय॥
विकट नारि के पाले परे, काढ़ि कलेजा खाय॥ 143॥

शब्दार्थ—मन्त्र=राय, सलाह। माहुर=विष, जहर। झारा=गिराया। पाले=वश में, चंगुल में।

भावार्थ—सर्प तथा बिच्छू के काट और छेद लेने पर उनके विष को दूर करने के लिए वैद्य एवं डॉक्टरों की अनेक राय हैं। खाया हुआ विष भी औषध देकर टट्टी एवं वमन द्वारा गिराया जा सकता है। परन्तु भयंकर स्त्री के चंगुल में फंस जाने पर उसके विष से छुटकारा पाना कठिन है। वह पुरुष का कलेजा निकालकर खा लेती है॥ 143॥

व्याख्या—यह प्रश्न किया जा सकता है कि कबीर साहेब यह मानते हैं कि सांप तथा बिच्छू के काटने एवं छेदने पर उसके विष को दूर करने के लिए मन्त्र होते हैं। इस प्रकार कबीर साहेब मन्त्र को मानते हैं। इसका उत्तर है कि मन्त्र का जो अर्थ 'चल छू' मान रखा है वह एक महाभ्रम है। मन्त्र का मुख्य अर्थ ही है राय एवं सलाह। कबीर साहेब ने सारे पाखण्डों का खण्डन किया है तो वे छू मन्तर को कैसे मान सकते हैं! "मन्त्र तन्त्र सब झूठ है, मत भरमो जग कोय" यह साखीग्रन्थ की साखी छूमंतर के पाखण्ड को एकदम काटती है। विवेक और विज्ञान दोनों छूमंतर का खण्डन करते हैं। मान लो किसी को बिच्छू ने छेद लिया, तो झाड़ने वाले ने मन्त्र पढ़ना शुरू किया "छ कारी, छ पियरी, छ भूरी, अठारहों चली गंगा नहाय। बिच्छू उतरे पोढ़-पोढ़, बिच्छू उतरे नख के पोढ़, गौरा पारबती की दोहाई, लोना चमाइन की दोहाई, चल छू...।" तो क्या इतने शब्द कहने से विष उतर जायेगा? विष द्रव्य होता है। वह रक्त में घुल जाता है। वह कुछ शब्द कहने से उतर कैसे जायेगा! वह दवा करने से ही उतरेगा। जहां मन्त्र से झाड़ने से विष उतरता दिखे, वहां समझना चाहिए कि या तो वे बिच्छू या सर्प जहरीले नहीं थे या तो झाड़ते समय झाड़ने वाले ने चुपके से किसी दवाई का प्रयोग किया है। संपेरों को

जब सांप काटता है, तब वे झाड़ते नहीं, किन्तु दवा करते हैं। वे दूसरों को बेवकूफ बनाने के लिए उन्हें भले झाड़ते हों, परन्तु अपने लिए मन्त्र से न झाड़कर दवा ही करते हैं। विज्ञान झाड़-फूंक को बिलकुल नहीं मानता। वह दवा को ही मानता है। इन पंक्तियों के लेखक के सामने की कई घटनाएं हैं जिनमें मनुष्य को विषधर सर्प ने काटा और लोग झाड़ते-फूंकते रह गये, परन्तु आदमी मर गया और जहां दवा की गयी, आदमी बच गया। आजकल सर्प के विष का ही इंजेक्शन होता है जो बड़े नगरों के अस्पतालों में होता है। उसके लग जाने पर सर्प से डसा आदमी बिलकुल बच जाता है।

जादूगर मन्त्र के बल पर मिठाई, रुपये, घड़ी आदि तुरन्त बना देते हैं। वे हाथ आकाश में लहराते हैं और मन्त्र के बल पर उनके हाथ में उनकी मनचाही वस्तुएं आ जाती हैं—ऐसी बातें केवल भ्रमपूर्ण हैं। मन्त्र से कोई वस्तु नहीं बन सकती। मिठाई बनाने के लिए शकर, घी, मैदा, बेसन, कढ़ाई, चूल्हा, आग तथा हलवाई चाहिए, तब मिठाई बनती है। घड़ी बनाने की बात लो। उसके लिए पहले लोहा जिस पत्थर से मिलता है, उस पत्थर को तोड़कर लोहा के कारखाने में लाना होता है। पत्थर गलाकर उसे शुद्ध कर ढालते हैं, पीछे छड़ बनाते हैं। फिर पतली सींक। उसके बाद छोटे-छोटे पुर्जे बनते हैं। तब उसके बाद घड़ी बनायी जाती है। सिक्के ढालने की बात भी ऐसी ही है। केवल आकाश में हाथ लहराकर मन्त्र फूंक देने से कुछ भी नहीं बन सकता। परंतु धूर्त ऐसे-ऐसे झांसे में संसार को डालते हैं और मूर्ख इस झांसे में पड़ते हैं। नकली नोट बनाते कोई पकड़ा जाये तो सरकार उसे कड़ा दण्ड देती है। परन्तु जादूगर नामधारी कचहरियों के सामने ही हाथ की सफाई से नोट दिखाकर कहते हैं कि हमने मन्त्र के बल पर इन्हें बना दिये हैं और उन्हें सरकार नहीं पकड़ती। क्योंकि सरकार जानती है कि हाथ की सफाई, बात की सफाई, वस्तु की बनावट, दवाई आदि से जादूगर कुछ-का-कुछ दिखाते हैं। इसमें कोई सार नहीं है।

धूर्त लोग ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करने के लिए मन्त्र सिद्ध करने का झांसा देकर मूर्खों को ठगते हैं। भला, किन्हीं शब्दों को दोहरा देने से संसार की धन-दौलत वहां कैसे आ जायेगी ! मान लो, किसी ने मन्त्र पढ़ा "ओम् लवंग चले, सुपारी चले, चन्द्रमा-सूरज का बहन चले, तैंतीस करोड़ देवता का बहन चले, आगे अगाड़ी, पीछे पछाड़ी ताला तोड़ भण्डार खोल, रिद्धि-सिद्धि खींच लाओ मेरे पास, गुरु सकत मेरी भगति। पुरो मन्त्र ईश्वरम् वाचा।" क्या इस तथाकथित ऋद्धि-सिद्धि के मन्त्र को बारम्बार दोहराने से मनचाही धन-दौलत तुरत-फुरत में मिल जायेगी? बिलकुल झूठ। धन-दौलत के लिए मनुष्य को परिश्रम करना चाहिए। अतएव मन्त्र-तन्त्र सब धोखा है, जो

मनुष्य को ठगने के लिए है। इतना ही क्या, फलित ज्योतिष का ढकोसला मनुष्य को ठगता है। इस व्यामोह से अखबार वाले भी नहीं बचे हैं। करीब-करीब हर अखबार में राशिफल दिया जाता है जो केवल मनुष्य को बेवकूफ बनाने वाला है। इसी प्रकार दिशाशूल, शकुन, अपशकुन, स्वप्न-विचार, अंग फड़कने का विचार आदि सब मानसिक भ्रम है। शरीर में हवा है, इसलिए कभी-कभी वायुविकार होने से अंग फड़कते हैं। उनमें शकुन-अपशकुन मानना निरर्थक है।

"माहुरहू झारा जाय" का अर्थ यही है कि किसी ने विष खा लिया है तो उसे दवाई खिलाकर, उसे टट्टी एवं उलटी कराकर उसके शरीर से जहर निकाल दिया जा सकता है। परंतु "विकट नारि के पाले परे, काढ़ि कलेजा खाय" भयंकर स्त्री के चंगुल में फंसे हुए पुरुष का वह कलेजा निकालकर खा जाती है। यहां पहला अभिप्राय है कबीर साहेब का वैरागीपन। वे अखण्ड वैराग्यवान पुरुष थे। जहां काम-भोग का प्रसंग आता है वे स्त्री-देह की तीव्र आलोचना करते हैं। इसमें स्त्रियों के प्रति द्वेष एवं घृणा का अर्थ लगाना वैरागीपन की मानसिकता को न समझना है। स्त्री-देह की प्रशंसा करने वाले ही स्त्रियों को नरक में ढकेलने वाले होते हैं। वे स्त्रियों को भोग की मशीन मानकर उनके साथ अत्याचार करते हैं। परन्तु स्त्री-देह से घृणा करने वाले वैराग्यवान संत स्त्री को मां-स्वरूपा मानते हैं। वे उनको कभी संताप नहीं देते। संत कभी स्त्री जाति के पतन में कारण नहीं होते, बल्कि उनकी उन्नति के कारण होते हैं। इसलिए कबीर साहेब जैसे तीव्र वैरागी संत ने अपने ग्रन्थ-रत्न बीजक में नर-नारी की समानता को मुक्त कंठ से सराहा है। उन्होंने कहा है "को पुरुषा को नारी" अथवा "जेते औरत मर्द उपाने, सो सब रूप तुम्हारा"[1] आदि।

स्त्री-देह की निंदा वैरागी-पुरुषों की अपनी मानसिक कमजोरी है। कितने वैरागी संत पूर्ण अनासक्त हैं; परन्तु वे दूसरे वैरागी पुरुषों को सजग रहने के लिए स्त्री-देह में घृणा उत्पन्न कराने के लिए ऐसे शब्द कहते हैं। परन्तु यही सब बातें कल्याणार्थी नारियों को पुरुषों के प्रति भी चाहिए। वस्तुतः न नारी के लिए नर दोषी है और न नर के लिए नारी दोषी है। दोष है अपने-अपने मन की आसक्ति का। उसे विवेकपूर्वक ध्वंस करना चाहिए। फिर इस साखी में "बिकट नारी" कहने से कर्कसा नारी का भी अभिप्राय हो सकता है। जिसको कर्कसा स्त्री पत्नी के रूप में मिल जाती है उसका जीवन पीड़ित हो जाता है। एक कवि ने कर्कसा स्त्री का चित्रण बड़े सुन्दर ढंग से किया है—

1. शब्द, 48, 75, 97।

सासु के देखे सिंहनी सी जमुहाई लेत,
ससुर के देखे डाकिनी सी डरपावती।
ननद के देखे नागिनी सी फुफकारे बैठि,
देवर के देखे बाघिनी सी मुख बावती।
भनत प्रधान मूंछें जारति परोसिन की,
खसम के देखे खाँव-खाँव करि धावती।
कर्कसा कसाइन कुबुद्धिन कुलक्षिनि ये,
कर्म के फूटे घर ऐसी नारि आवती।

परन्तु उक्त कुलक्षणों से संयुक्त पुरुष भी होते हैं, जो अपनी पत्नी के लिए दुर्भाग्यस्वरूप होते हैं। अच्छे संस्कारों से संयुक्त नर तथा नारी भी होते हैं जो एक दूसरे के लिए सहयोगी एवं मित्र होते हैं। इतना तो तय है कि जो स्त्री या पुरुष मुमुक्षु हैं, उनके लिए पति या पत्नी की अनुकूलता फांसी एवं विष के तुल्य है। क्योंकि वे एक दूसरे की अनुकूलता के चक्कर में फंसकर विषय-वासना की फांसी से नहीं उतर सकते। इसलिए वैराग्यवान नर तथा नारी को विरोधी आलंबन से सदैव दूर रहना चाहिए।

तीनों गुणों पर विजयी बनो

तामस केरे तीन गुण, भँवर लेइ तहाँ बास॥
एकै डारी तीन फल, भाँटा ऊख कपास॥ 144॥

शब्दार्थ—तामस=अंधकार, जड़, तम:प्रधान माया। तीनगुण=सत, रज तथा तम। भँवर=मन, अर्थात मनवशी जीव। बास=गंध, वासना, निवास, आसक्ति। एकै डारी=माया, जड़-प्रकृति। भाँटा=तमोगुण। ऊख=सतोगुण। कपास=रजोगुण।

भावार्थ—तम:प्रधान माया के सत, रज तथा तम तीन गुण हैं। इन्हीं में वासनावशी जीव आसक्त हैं। एक ही डाली में भांटा, ऊख और कपास फले हों तो यह अद्‌भुत घटना होगी। माया एवं प्रकृति में यही घटना घटी है। यहां सत, रज और तम एक ही प्रकृति में विद्यमान हैं॥ 144॥

व्याख्या—तामस कहते हैं अंधकार को, सर्प को एवं माया को। "माया जग साँपिनि भई" यह 142वीं साखी में देख आये हैं। सद्‌गुरु कहते हैं कि सत, रज तथा तम—तीनों गुण माया के पेट में हैं। अथवा एक माया की डाली में ये तीनों गुणरूपी फल फले हैं जो परस्पर विरोधी हैं। आप किसी एक डाली में भांटा, ऊख और कपास को फले हुए देखें, तो आश्चर्य अवश्य होगा। माया एवं प्रकृति की डाली में यही बात है। इसमें परस्पर विरोधी तीनों गुण एक साथ रहकर जगत का कार्य संपादित करते हैं। आप जानते हैं कि

तेल, बत्ती और आग परस्पर विरुद्ध गुण वाले हैं, परन्तु वे इकट्ठे होकर प्रकाश बन जाते हैं और लोगों को प्रकाश देते हैं। इसी प्रकार सत, रज एवं तम गुण विरोधी होकर भी जगत के कार्यों का संपादन करते हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि जीव का मन-भंवरा इसी त्रिगुणात्मक जगत के पदार्थों में गंध लेता रहता है। यह इन्हीं मलिन विषयों में निरन्तर रमता रहता है, और इसके फल में सुख-दुख भोगता रहता है। यह ठीक है कि सत, रज एवं तम गुण के परिणाम भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु हैं सब क्षणिक। गीताकार कहते हैं—"सतोगुण उच्च गति को, रजोगुण मध्य गति को तथा तमोगुण निम्न गति को ले जाते हैं।"[1] इसलिए गीताकार तीनों गुणों के कार्यों से अलग होने की राय देते हैं "हे अर्जुन! सभी वेद तीनों गुणों के कार्यरूप संसार की ही व्याख्या करने वाले हैं। इसलिए तुम वेदों के उपदेशरूप तीनों गुणों के आयाम से अलग हो जाओ। तुम द्वन्द्वरहित, नित्य सत्य में स्थित और भौतिक पदार्थों के संग्रह तथा उनकी रक्षा से विरत होकर अपने आत्मा में लीन हो जाओ।"[2] श्री रामरहस साहेब कहते हैं—"पारख सबकी थीर पद, ठहरि रहे सत्संग। मन माया कृत गुणन को, देखे मिथ्या भंग।"[3]

प्रश्न होता है कि ज्ञानी-से-ज्ञानी पुरुष भी जब तक शरीर में है तब तक उसे तीनों गुणों के कार्यों में बरताव करना ही पड़ेगा; क्योंकि उसके शरीर और मन तीनों गुणों के कार्य हैं। केवल समाधि काल ही गुणातीत-अवस्था है जो थोड़े समय के लिए होती है। वस्तुतः विवेकवान तीनों गुणों को शोधकर उनका बरताव करते हैं। दुरुपयोग करने से अच्छी वस्तु भी बुरा परिणाम देती है और सदुपयोग करने से बुरी वस्तु भी अच्छा परिणाम देती है। अन्न अमृत है, परन्तु उसका दुरुपयोग किया जाये, उसे ज्यादा खा लिया जाये या उसे गलत पकाकर खाया जाये तो वह जहर बन जायेगा और स्वास्थ्य के लिए अहितकर होगा; परन्तु कालकूट भयंकर विष है, उसे शोधकर औषध बना लिये जाने पर वह अमृत का काम देता है।

सतोगुण के कार्य ज्ञान, प्रसन्नता एवं एकाग्रता हैं। विवेकवान पुरुष इनका स्वरूपज्ञान, चित्त की स्वच्छता एवं समाधि के लिए प्रयोग करता है। रजोगुण के कार्य इच्छा एवं क्रियाशीलता हैं। विवेकवान इसका अनासक्तिपूर्वक जीवन-निर्वाह तथा दूसरों की सेवा के कार्यों में उपयोग करता है। तमोगुण के

---

1. ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
   जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥ गीता 14/18॥
2. त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
   निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ गीता 2/45॥
3. पंचग्रन्थी, गुरुबोध 217।

कार्य आलस्य, निद्रा तथा निष्क्रियता हैं। विवेकवान इनका उपयोग अनासक्तिपूर्वक जीवन-निर्वाह के लिए निद्रादि में करता है।

इस प्रकार विवेकवान तीनों गुणों को शोधकर उनका अनासक्तिपूर्वक अपने तथा दूसरे के आध्यात्मिक तथा भौतिक कल्याण में उपयोग करता है। इसलिए उसके लिए तीनों गुण बन्धन न बनकर कल्याण में सहायक हो जाते हैं।

मन-हाथी पर विवेक-अंकुश चाहिए

मन मतंग गइयर हने, मनसा भई सचान ॥
जन्त्र मन्त्र माने नहीं, लागी उड़ि उड़ि खान ॥ 145 ॥

शब्दार्थ—मतंग=हाथी। गइयर=हाथीवान, महावत। हने=मारता है। मनसा=मन से उत्पन्न, इच्छाएं। सचान=बाज पक्षी। जन्त्र=यंत्र, अंक या अक्षरों से युक्त विशेष आकार का कोष्ठ जिनमें देवताओं का वास मानते हैं, यामल नाम के ग्रन्थ में तन्त्र का वर्णन है। मन्त्र=कुछ वह शब्दसमूह जिसके जप से किसी देवता की सिद्धि या अलौकिक शक्ति की प्राप्ति होना मानते हैं।

भावार्थ—मन उन्मत्त-हाथी के समान है, यह जीवरूपी महावत को मारता रहता है और इच्छाएं बाज-पक्षी के समान हैं, वे उड़-उड़कर मनुष्य को खाती रहती हैं। इन पर यन्त्र-मन्त्र का प्रभाव नहीं पड़ता ॥ 145 ॥

व्याख्या—जीव अविनाशी चेतन है और मन एक आभ्यासिक वृत्ति मात्र है; किन्तु जीव अपने स्वरूप को भूलकर दीन बन गया है और उसकी बनायी वृत्ति ही उसके ऊपर सवार हो गयी है। महावत हाथी पर सवार होकर गजबाज एवं अंकुश से उसको अपने वश में रखता है। परन्तु यदि हाथी उन्मत्त हो जाये तो वह महावत को गिराकर मार देता है। हाथी एक प्राणवान स्वतंत्र देहधारी है, इसलिए वह महावत को मार सकता है। परन्तु मन कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है जो जीव को बलात मार दे। मन तो इसलिए जीव को परेशान करता है क्योंकि जीव अपने स्वरूप को भूलकर विषयों में ही लीन रहता है। यदि जीव अपने स्वरूप को पहचान ले और अपने आप में स्थिर हो जाये तो मन उसका गुलाम हो जायेगा। जिसे अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है और जो इच्छाओं को छोड़ देता है, मन उसके अधीन हो जाता है। परन्तु ऐसा न होने से जीव अपने स्वरूप को नहीं जानता और विषयों में डूबा रहता है। इसलिए उसे मन उद्वेगित करता रहता है और उसकी विषय-इच्छाएं बाजपक्षी की तरह उस पर झपट्टा मारती रहती हैं।

सद्गुरु ने मन और उसकी इच्छाओं के लिए क्रमशः उन्मत्त हाथी और बाजपक्षी के सुन्दर एवं सटीक उदाहरण दिये हैं। मन और इच्छाएं यद्यपि

हाथी और बाजपक्षी के समान कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं रखते; वे केवल जीव के आभास मात्र हैं, तथापि जीव के अपने अज्ञानवश मानो वे स्वतन्त्र बलशाली होकर जीव को गिराने में समर्थ हो गये हैं। बीड़ी और तम्बाकू की आदत कौन-सी स्वतन्त्र शक्तिवान इकाई है, परन्तु जीव उसमें पड़कर उसी से अपने आप को परास्त पाता है। अविवेकी मनुष्य मन और वासनाओं में निरन्तर उलझा हुआ उनका गुलाम बना रहता है।

सद्गुरु कहते हैं—"जंत्र मंत्र माने नहीं, लागी उड़ि उड़ि खान" जैसे बाजपक्षी उड़-उड़कर कमजोर पक्षियों को मार-मार कर खा रहे हों, वैसे मनुष्य की अपनी ही बनायी इच्छाएं उसे खा रही हैं। इसमें यंत्र-मंत्र का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सिद्धि के रूप में माने गये यंत्र-मंत्र झूठे हैं और केवल मूर्ख मनुष्यों को फंसाने के लिए षड्यंत्र हैं। सद्गुरु कहते हैं कि बड़े-बड़े मंत्र-तंत्रधारी मन एवं वासनाओं के गुलाम होते हैं। मन को जीतने में ऐसे पाखंडपूर्ण मंत्र-तंत्र काम नहीं देते।

सार अभिप्राय यह है कि यदि मनुष्य को विवेकज्ञान न हो तो उसके सारे उपाय व्यर्थ हो जाते हैं। मन और इच्छाओं पर विजय पाने के लिए विवेक-ज्ञान की आवश्यकता है। इसका संकेत सद्गुरु अगली साखी में करते हैं।

मन गयन्द माने नहीं, चले सुरति के साथ ॥
महावत बिचारा क्या करे, जो अंकुश नाहीं हाथ ॥ 146 ॥

शब्दार्थ—गयन्द=गजेन्द्र, बड़ा हाथी। सुरति=सुरत, ध्यान, याद। महावत=हाथीवान, हाथी को हांकने वाला। अंकुश=लोहे का एक प्रकार का भाला जिसे महावत हाथी के सिर पर कोंचकर उसे चलाता तथा अपने वश में रखता है।

भावार्थ—मनरूपी उन्मत्त हाथी नियंत्रण नहीं मानता, वह तो विषयों की याद के साथ चलता है। जीव रूपी महावत बेचारा क्या करे जब उसके हाथ में विवेक का अंकुश नहीं है ॥ 146 ॥

व्याख्या—उन्मत्त हाथी पर बैठना और हाथों में अंकुश न होना अपनी जान को जोखिम में डालना है। इसी प्रकार विवेक के बिना मन के साथ रहना खतरे से खाली नहीं है। साधारण-से-साधारण आदमी भी सायकिल में, मोटरकार में तथा गाड़ी में ब्रेक लगाते हैं, परन्तु अपनी इच्छाओं एवं मन में ब्रेक लगाना भूल जाते हैं।

मन विषयों की याद के साथ चलता है। वह सहज नियंत्रण नहीं मानता। यह सबका अपना अनुभव है। जीव के मन में अनादिकाल से पांचों विषयों के राग हैं। अतएव विषयों की याद होते ही मन उसके साथ चल देता है और विकारपूर्ण स्मरण कराता रहता है। विषयों का रागात्मक स्मरण ही बंधन है।

विषय-स्मरण से आगे चलकर मनोविकार तथा स्थूल इंद्रियों की मलिन क्रियाएं होती हैं। इसलिए मन पर नियंत्रण होना अत्यंत आवश्यक है। मन पर नियंत्रण करने के लिए विवेक का अंकुश चाहिए। विवेक जितना गहरा होता जाता है, उतना ही विषयों के सारे आकर्षण समाप्त होते जाते हैं। विवेक होने पर हर वस्तु की वास्तविकता का बोध होता है। वास्तविकता का बोध हो जाने पर आकर्षण का प्रश्न ही नहीं उठता। हम सच्चाई न जानकर ही विषयों में खिंचते हैं। यदि हमें विषयों की वास्तविकता का बोध हो जाये तो उनमें हमें नीरसता एवं व्यर्थता के अलावा कुछ नहीं लगेगा। मन के भटकने का एकमात्र कारण है विषयों के प्रति व्यामोह। उसके हट जाने पर मन न उन्मत्त हाथी रह जाता है न बाजपक्षी। तब मन जीव का अनुगामी बन जाता है। अतएव विवेक के अंकुश से मन को चलाने का अभ्यास करना चाहिए।

विवेक परम प्रकाश है। विवेक दिव्यदृष्टि है। जो साधक निरन्तर विवेक के प्रकाश में रहता है, उसके भटकने का प्रश्न ही नहीं उठ सकता है।

माया ही भंगिनि है

ई माया है चूहड़ी, औ चूहड़ों की जोय॥
बाप पूत अरुझाय के, संग न काहु के होय॥ 147॥

शब्दार्थ—माया=अहंता-ममता, विकार। चूहड़ी=भंगिनि। चूहड़ों= भंगियों। जोय=जोरू, पत्नी। बाप पूत=जीव और मन या समस्त मनुष्य।

भावार्थ—टट्टी साफ करने वाले भंगी या भंगिनी नहीं हैं। वे तो पवित्र मानव हैं। भंगिनी तो यह माया है और यह मलिन मनरूपी भंगी की जोरू है। यह जीव और मन को परस्पर उलझाकर किसी के साथ में नहीं होती॥ 147॥

व्याख्या—टट्टी करके जगह को गंदी कर देने वाले पवित्र मानव कहलाते हैं और टट्टी को हटाकर जगह को साफ कर देने वाले लोग गंदे भंगी कहलाते हैं। यह कैसी उलटी बुद्धि का फल है! भंगी या निम्न कहे जाने वाले लोग तो इसलिए गंदे दिखते हैं कि उनकी आर्थिक स्थिति कमजोर है और साथ-साथ उनमें शिक्षा का अभाव होने से उच्च संस्कार नहीं हैं। कोई टट्टी साफ करने से गंदा नहीं होता, किन्तु सफाई न रखने से गंदा होता है। इधर भंगी कहे जाने वाले बंधुओं का भी जीवन-स्तर सुधरा है, तो वे भी साफ-सुथरे दिखने लगे हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय नामधारी भी जो अर्थ और शिक्षा से वंचित हैं, उनका जीवन-स्तर स्वच्छ नहीं है।

भंगी नाम यदि गंदगी का वाचक है तो वह भंगी नाम की जाति नहीं है, किन्तु माया है। यह माया ही गंदगी है। माया है मन का विकार। काम, क्रोध,

लोभ, मोह, राग, द्वेष आदि मन की मलिनता माया है। इसलिए यह मलिनता जिसके सम्पर्क से उत्पन्न होती है उसे भी माया कहा जाता है। माया के पारिभाषिक शब्द कंचन-कामिनी भी कहे जाते हैं जो अगली साखी में आयेंगे। 59वें शब्द में सद्गुरु ने माया को महाठगिनी बताते हुए कहा है कि माया केशव के घर में कमला, शिव के भवन में भवानी, ब्रह्मा के घर में ब्रह्मानी, पंडा के घर में मूर्ति, तीर्थ में पानी, योगी के घर में योगिनि, राजा के घर में रानी, धनी के घर में हीरा, गरीब के घर में कौड़ी कानी तथा भक्तों के घर में भक्तिनि बनकर बैठी है। इन सब का अर्थ यही है कि जीव जिन-जिन माध्यमों से अपने आप को भूलकर विचलित हो जाये, वह सब माया है। मूलतः विचलन ही माया है, भटकाव ही माया है। परन्तु जिनको लेकर तथा जिनमें खिंचकर जीव भटकता है वह सब भी मानो माया ही है। ऐसा विचार आये बिना मन में आकर्षण-प्रधान वस्तुओं से वैराग्य नहीं हो सकता और मन में वैराग्य हुए बिना कोई माया से, विचलन एवं भटकाव से बच नहीं सकता।

सद्गुरु कहते हैं कि माया भंगिनि है, मैली है, गंदगी से भरी है और "चूहड़ों की जोय" है। विषयासक्त मन चूहड़ है, भंगी है, मैला है, गंदा है। माया उसी की जोरू है। वैराग्यप्रवर सन्त कबीर देव माया को कितनी तुच्छ दृष्टि से देखते हैं इसका स्पष्टीकरण उनकी वाणियों में पदे-पदे होता है और बीच-बीच में इसका विदग्धात्मक रूप सामने आ जाता है।

मैला मन भंगी है और मन की मलिनता भंगिनि है। जब मन में कामवासना आये तब वह भंगी का रूप होता है। जब मन में क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष आ जाते हैं, उस समय हमारा मन भंगी बन जाता है। जिस समय मनुष्य का मन भ्रमित हो, वह जानो उस समय माया से पूर्ण है। और यही कबीर देव की भाषा में भंगी होना है। अब जरा हर आदमी अपने भीतर टटोलकर देखे कि उसका मन कब-कब भंगी बनता है। तथाकथित बड़े-बड़े पंक्तिपावन ब्राह्मण, दंडी, महात्मा, जन्मजात वर्णव्यवस्था के पक्षधर लोग अपने मन की परख करेंगे तो लगेगा कि उनका मन कितने समय तक भंगी बना रहता है। इसी प्रकार दूसरे लोग भी देखें और अपने अन्दर के भंगी को निकाल बाहर फेंके। 139वीं साखी में सद्गुरु ने बताया है कि जिन्हें सद्गुरु से अपने अविनाशी स्वरूप का परिचय नहीं प्राप्त हुआ है वे सब चर्मदेह की बुद्धि रखने वाले मानो चमार ही हैं, भले ही वे तथाकथित चारों वर्णों में से किसी वर्ण के हों। इस प्रकार वैज्ञानिक तथा मानवता का दृष्टिकोण रखने वाले कबीरदेव की भाषा में देहाभिमानी मन चमार है तथा माया एवं विकारों में लिप्त मन भंगी है। चाम कमाना तथा टट्टी साफ करना तो समाज का

रचनात्मक एवं पवित्र काम है। वस्तुतः देहाभिमानी तथा मलिन मन वाला होना चमार और भंगी होना है।

"बाप पूत अरुझाय के, संग न काहु के होय"। बाप जीव है और मन जीव द्वारा निर्मित होने से मानो जीव का पुत्र है। इस प्रकार माया जीव तथा मन को उलझा देती है, और यह किसी का कल्याणकारी नहीं है। मायावश ही जीव अपने मन के जाल में उलझ जाता है। बाप-पूत का अर्थ समस्त मनुष्य भी किया जा सकता है, क्योंकि बाप-पूत के भीतर ही पूरा मानव समाज होता है। अतएव यह माया, यह भ्रम, यह मन का विकार मानवमात्र को केवल भटकाने में कारण है। यह किसी का कल्याणकारी नहीं है। अथवा जिन प्राणी-पदार्थों में उलझकर हम अपने कल्याण से वंचित रह जाते हैं, वे अंततः हमारे साथी नहीं होते। अतएव हम माया से सावधान रहें।

कनक-कामिनी से सावधान

कनक कामिनी देखि के, तू मत भूल सुरंग॥
मिलन बिछुरन दुहेलरा, जस केंचुलि तजत भुवंग॥ 148॥

शब्दार्थ—सुरंग=उत्तम रंग, ज्ञानस्वरूप। दुहेलरा=दुखदायी। केंचुलि= केंचुली, सर्प के शरीर पर का झिल्लीदार पतला चमड़ा जो प्रत्येक वर्ष जाड़े में सूखकर गिर जाता है। भुवंग=सर्प।

भावार्थ—हे ज्ञानस्वरूप जीव! धन-ऐश्वर्य और स्त्री-पुत्रादि की चमक-दमक देखकर तू मत भूल! सांप के शरीर में केंचुली आने और उसके जाने—दोनों में जैसे उसे कष्ट होता है, वैसे माया के प्राप्त करने तथा उसके बिछुड़ने—दोनों में जीव को कष्ट होता है॥ 148॥

व्याख्या—कबीरदेव की सारी बातें प्रायः उदाहरण सहित तथा सटीक होती हैं। वे कहते हैं कि हर वर्ष सांप के शरीर पर रहा हुआ झिल्लीदार चाम सूखकर जाड़े में उखड़ जाता है और निकल जाता है और भीतर से नया चाम शरीर पर आ जाता है। उसे केंचुली कहते हैं। जब सांप की केंचुली सूख जाती है तब उसे असुविधा होती है। उसे उससे कष्ट मिलता है, और जब केंचुली शरीर से उतर जाती है, तब भीतर का कोमल चाम कांटे-कंकड़ों एवं कठोर घास-फूसों में लगकर कष्ट पहुंचता है। उसके कोमल चाम को चींटियां काटती हैं। इस प्रकार केंचुली के आने पर तथा शरीर पर से उसके उतर जाने पर—दोनों में सांप को कष्ट होता है। इसी तरह संसार की माया के संग्रह में कष्ट होता है। बहुत परेशानी उठाकर ही माया इकट्ठी की जाती है और जब चली जाती है तब भी जीव को बड़ा कष्ट होता है।

सद्गुरु ने यहां माया के लिए पारिभाषिक शब्द कंचन-कामिनी का प्रयोग

किया है जो बहुत प्रसिद्ध है। कंचन का शाब्दिक अर्थ सोना तथा कामिनी का अर्थ काममद में मतवाली स्त्री है। परन्तु यहां शाब्दिक अर्थ नहीं है; किन्तु लाक्षणिक अर्थ होने से उसका अभिप्राय व्यापक है। कंचन का अभिप्राय समस्त जगत-पदार्थ है जो धन तथा ऐश्वर्य के रूप में माना जाता है तथा कामिनी से अभिप्राय है काम-वासना का आलंबन, अर्थात जिसके सम्पर्क में आने से काम-वासना के प्रदीप्त होने की सम्भावना हो। प्रायः युवती स्त्री के सम्पर्क से पुरुष के मन में तथा युवक पुरुष के सम्पर्क से स्त्री के मन में काम-वासना का उद्दीपन होने की सम्भावना रहती है। अतएव स्त्री-पुरुष मानो एक दूसरे के लिए कामिनी बन सकते हैं। पुरुष ज्यादा वैराग्य-प्रधान हुआ है, इसलिए उसने कामिनी कहकर स्त्री को ही ज्यादा माया माना है। परन्तु स्त्री कोई निर्जीव पदार्थ तो नहीं है। उसके भीतर भी वही चेतन है। उसके लिए भी काम-क्रोधादि बंधन हैं। अतएव मुमुक्ष्वी एवं कल्याणार्थी स्त्रियों के लिए कामवासना उद्दीपक पुरुष ही कामिनी है, माया है। वस्तुतः न स्त्री माया है और न पुरुष। माया तो अपने मन की अविद्या है, विकार है, मोह है। हम मोहग्रस्त होते हैं तो बाहरी स्त्री-पुरुषों को देखकर आकर्षित होते हैं। यदि हमारे मन का मोह मिट जाये तो कंचन-कामिनी क्या है! सारे धन धातु, पत्थर एवं कागज के टुकड़े तथा मिट्टी-गोबर हैं और सारे नर-नारी हाड़-मांस के ढांचे हैं। मन की माया मिट जाने पर संसार में आकर्षण की कोई बात ही नहीं रह जाती।

यह सब सच होने पर भी जीव अनादि अविद्या-वश होने से वह जिन प्राणी-पदार्थों को देख-सुनकर भूलता है उनके संक्षित नाम कंचन-कामिनी हैं। सद्गुरु कहते हैं कि हे जीव! तू सुरंग है, ज्ञान रंग है। तेरा स्वरूप दिव्य है। तू अपने आप को भूलकर ही कंचन-कामिनी में मोह करता है या उन्हें देख-सुनकर, उनमें मोहित होकर अपने आप को भूलता है। कबीर देव कहते हैं कि हे मनुष्य, तू कंचन-कामिनी को देखकर विमोहित मत हो। इनको प्राप्त करने में भी परेशानी है, रक्षा करने में भी तथा इनके छूट जाने में भी केवल दुख है। बड़े परिश्रम एवं जुगाड़ के बाद संसार के प्राणी-पदार्थ इकट्ठे होते हैं। इसलिए इनके संग्रह में कष्ट झेलना पड़ता है। फिर इनको बनाये रखने में काफी चिंता एवं परेशानी है और इनके छूट जाने पर तो केवल दुख का अनुभव होता ही है। फिर दुनिया के प्राणी-पदार्थों के व्यामोह में पड़कर हम क्यों दुख उठायें! सद्गुरु हमें सावधान करते हैं कि कनक-कामिनी में एवं प्राणी-पदार्थों में विमोहित नहीं होना, सबसे अनाकृष्ट होकर अपने स्वरूप में स्थित होना।

सब शरीरधारी प्रकृति के अधीन हैं

माया केरी बसि परे, ब्रह्मा विष्ण महेश॥
नारद शारद सनक सनन्दन, गौरी पूत गणेश॥ 149॥

शब्दार्थ—शारद=शारदा, सरस्वती।

भावार्थ—ब्रह्मा, विष्णु, महेश, नारद, सरस्वती, सनक, सनंदन, सनातन, सनत्कुमार तथा गौरी के पुत्र गणेश—सब मायिक प्रकृति के अधीन हुए॥ 149॥

व्याख्या—क्रांतिकारी तथा सत्यद्रष्टा कबीर देव सारी भ्रांतियों को चोट देकर मानो उन्हें भहरा देना चाहते हैं। धार्मिक ग्रन्थों में ऐसा लिख दिया गया है कि ब्रह्मा, विष्णु, महादेवादि नित्य हैं। नारद जब चाहें जहां आयें-जायें। वे भी सदैव हैं और लोक-लोकांतर चलते रहते हैं। इसी प्रकार अन्य काल्पनिक देवी-देवताओं की नित्यता का भ्रम है। गणेश सबके मंगल करने वाले हैं और नित्य विद्यमान हैं आदि।

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि यह सब भ्रम है। कितने ही देवी-देवता तो मनुष्यों ने समय-समय से मन की कल्पनाओं से गढ़ डाला है। ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव ये तीनों ही क्रमशः रज, सत एवं तम गुण के प्रतिनिधित्व करने वाले काल्पनिक देवता हैं। गणेश भी काल्पनिक ही हैं। इनका रूप ही एक व्यंग्य चित्र के अनुसार बड़ा पेट, एक दांत, हाथी की सूंड़ और चूहा का वाहन है। सब-का-सब काल्पनिक। नारद, सनकादि व्यक्ति रूप कभी हुए होंगे। परन्तु सबके शरीर मायामय एवं प्रकृति निर्मित रहे हैं। इसलिए सब एक दिन जन्म लेकर अपने जीवन के क्रिया-कलाप करके संसार से चले गये। कोई भी यहां शरीर से अजर-अमर होकर रहने वाला नहीं है। किसी देवी-देवता आदि के नाम की माला फेरकर हम भवबंधनों से मुक्त नहीं हो सकते और न सांसारिक उन्नति ही कर सकते हैं। इन सबके लिए सही दिशा में परिश्रम तथा जीवन-सुधार ही शंबल है।

कोई काल्पनिक देवता हमारा किसी प्रकार का कल्याण नहीं कर सकता। हमारा मंगल काल्पनिक गणेश नहीं कर सकते, किन्तु हमारे मंगल में हमारे अच्छे कर्म ही कारण हैं। इसलिए काल्पनिक देवी-देवताओं की आशा छोड़कर अपने पुरुषार्थ का भरोसा करो।

परमात्मा तुम्हारा स्वरूप है

पीपरि एक जो महा गम्भानि, ताकर मर्म कोइ नहिं जानि॥
डार लम्बाय फल कोइ न पाय, खसम अछत बहु पीपरे जाय॥ 150॥

शब्दार्थ—पीपरि=पीपल, बरगद की जाति का एक पेड़, तात्पर्य में वाणी। गम्भानि=फैला, बढ़ा। मर्म=रहस्य, भेद। लम्बाय=विस्तार, फैला हुआ, झुकाना। खसम=पति, मालिक। अछत=विद्यमान, रहते हुए।

भावार्थ—जैसे एक वृक्ष विशालरूप में फैला हो, परन्तु उसका रहस्य लोग न समझते हों, सब उसकी डाली पकड़कर झुकाते हों कि फल तोड़ें, परन्तु उसमें फल न मिलता हो, वैसे वाणी का एक विशाल वृक्ष संसार भर में फैला है। उस वाणी में परमात्मा या मोक्ष फल मिलने की बात बतायी गयी है, परन्तु उसका रहस्य लोग नहीं जानते। अतः वे उस वाणी-जाल में मोक्ष या परमात्मा खोजते हैं। सब लोग उसकी शाखारूप नाना शास्त्रों का मंथन करते हैं, परन्तु इससे किसी को परमात्मा एवं मोक्षरूपी फल नहीं मिलता। मोक्ष या परमात्मा तो जीव का स्वरूप ही है। जीव ही जीव का मालिक है, खसम है, परन्तु ऐसा न समझकर जीव अपने पति को, अपने से अलग बहुत-से वाणी-जाल एवं देवी-देवताओं में खोजता है॥ 150॥

व्याख्या—ग्रन्थकार ने यहां वाणी-जाल के विस्तार को विशाल पीपल एवं बरगद के वृक्ष के उदाहरण से समझाने का प्रयास किया है। पीपल या बरगद का पेड़ बहुत विशाल होता है, परन्तु उसमें ऐसा कोई फल नहीं होता है जो मानव को तृप्ति दे सके। वाणी का वृक्ष तो बहुत विशाल है, संसार की एक-एक किताब उसकी एक-एक शाखा है। अब सोचो कि वाणीरूपी वृक्ष की कितनी अगणित शाखाएं हैं। यह वाणी का वृक्ष संसार में इतना विशालरूप में फैला कि इसमें पड़कर सब चकित हो गये। इस वाणी में सर्वाधिक महत्त्व परमात्मा को पाने का फैला। सर्वाधिक धार्मिक ग्रन्थों में इसी बात की महिमा फैली कि परमात्मा को प्राप्त करना जीवन का लक्ष्य है। अब इस परमात्मा को पाने के लिए कोई वेदों में उसे खोजने लगा, कोई बाइबिल एवं कुरान में, कोई गीता में, कोई रामायण में तथा कोई अन्य-अन्य ग्रन्थों में। कोई वाणियों के प्रमाण से अनेक देवी-देवताओं में उस परमात्मा को खोजने लगा, कोई नाद, बिन्दु, ज्योति, त्रिकुटी, हठयोग या काल्पनिक स्वर्गलोक में खोजने लगा। वाणी-वृक्ष की लम्बी-लम्बी डालियों में सब लोग उसे खोज रहे हैं। अथवा जैसे कोई पीपल की डालियों को झुका-झुकाकर उसमें सुस्वादु फल खोजे, परन्तु ऐसा कुछ भी उसमें न मिले, वैसे लोग ग्रन्थों का मंथनकर उसके प्रमाण से बाहर से परमात्मा पाना चाहते हैं। नाना मजहबों के ग्रन्थों में लिखा है कि परमात्मा सांवला है, गोरा है, कमलों के समान उसके हाथ, पैर, मुख, आंखें, छाती, कपोल आदि हैं। वह दो हाथ वाला, चार हाथ वाला, आठ हाथ वाला तथा हजार हाथ वाला है। वह सातवें तपक पर रहता है, स्वर्गलोक में रहता है। वह सर्वत्र रहता है और सच्चे दिल से पुकारते ही आकर सामने खड़ा हो जाता है। उसने खम्भा फाड़कर तथा हिरण्यकश्यपु को मारकर प्रहलाद को बचाया है, ध्रुव को दर्शन दिया है। बहुतों को दर्शन दिया है। वह परमात्मा जो चाहे वही कर सकता है। वह

चाहे तो सूरज को कमल-फूल बना दे और कमल-फूल को सूरज। सच्चे दिल से पुकारो, वह आ जायेगा और तुम्हें अपनी गोद में उठाकर ब्रह्मलोक में ले जायेगा, जहां दिव्य भोग हैं। और भी वाणियों में खुदा, ईश्वर, गॉड, परमात्मा एवं ब्रह्म के लिए जो वर्णन है वह बड़ा रोचक है। परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वत्र, सर्वशक्तिमान, न्यायी तथा दयालु है। इतने सारे महत्तम गुण केवल परमात्मा की कल्पना में ही हैं। वस्तुतः परमात्मा जैसी सुन्दर कल्पना दूसरी नहीं है। परन्तु खेद यह है कि ऐसा परमात्मा कहीं नहीं है, अन्यथा वह अपने ही नाम पर लड़ने वाले तथा दूसरों का खून बहाने वाले भक्तों को अवश्य समझा देता। नाना मजहब वाले ईश्वर के नाम से लड़ते हैं, परन्तु ईश्वर मौन है। डाकू, हत्यारे, चोर, व्यभिचारी, घूसखोर, कालाबाजारी करने वाले आदि को वह कुछ भी नहीं रोकता है। अन्यथा क्या सर्वत्र व्यापक सर्वशक्तिमान ईश्वर का वश न चलता इनको सुधारने में। वह चाहता तो अवश्य इनको ठीक कर देता। वस्तुतः कुछ ऐसा है नहीं। तथ्य यह है कि मनुष्य यह चाहता है कि ऐसा सर्वसमर्थ कोई होता तो हमारा कल्याण कर देता। यह केवल भले मनुष्य की चाहना है। धार्मिक ग्रंथों में ईश्वर के विषय में सनकी ढंग से अत्यन्त भावुकतापूर्वक लिख दिया गया है, इसलिए उसे पढ़-पढ़कर भावुक लोग उसकी तलाश में पड़े हैं।

सद्गुरु कहते हैं—"डार लम्बाय फल कोइ न पाय" सब भावुक लोग ईश्वर को खोजते हैं, परन्तु उसे कोई नहीं पाता। वह मिल नहीं सकता। जीव से अलग ईश्वर या परमात्मा कहीं कुछ भी नहीं है तो वह मिलेगा कैसे ! मिलने-बिछुड़ने वाली वस्तु तो माया होती है। "खसम अछत बहु पीपरे जाय" मालिक विद्यमान होते हुए भी उसे बाहर खोजा जा रहा है। परमात्मा मौजूद है और उसे बाहर खोजा जा रहा है। इससे अधिक भटकाव और क्या हो सकता है ! यह जीव ही शिव है। यह आत्मा ही परमात्मा है। यह मनुष्य का 'स्व' एवं स्व-स्वरूप चेतन ही उसका अपना आप स्वामी है। परन्तु इसे न समझकर वह "बहु पीपरे जाय"। बहुत-सी वाणियों एवं कल्पनाओं में भटके जीव अलग-अलग अपना पति खोज रहे हैं। परमात्मा या मोक्ष अपनी आत्मा से अलग खोजना ही भ्रम है।

कुसंग से बचो

साहू से भौ चोरवा, चोरहु से भौ हीत॥
तब जानोगे जीयरा, जबरे परेगी तूझ॥ 151॥

शब्दार्थ—साहू=साहु, साधु, सज्जन, भला आदमी, जीव। चोरवा=चोर, कल्पनाएं, मन का संदेह। हीत=हित, रखा हुआ, गृहीत, अनुकूल, मित्र।

भावार्थ—मनुष्यजीव मूलरूप से शुद्ध साधु एवं निर्मल है, परन्तु इसे अपने स्वरूप का ज्ञान न होने से इसके मन में संदेह का चोर पैदा हुआ और उसी संदेह को इसने अपना मित्र मान लिया। सद्गुरु कहते हैं कि हे जीव ! तुम्हें तब पता चलेगा जब इसका परिणाम भुगतना पड़ेगा॥ 151॥

व्याख्या—मनुष्य का मौलिक स्वरूप शुद्ध चेतन, पूर्णकाम एवं पूर्णतृप्त है। परन्तु संसार में धर्मशास्त्रों के नाम से अपार वाणीजाल का विस्तार है, और उनमें रोचक, भयानक के अंश पर्याप्त मात्रा में भरे हैं। मनुष्य उन्हें पढ़-सुनकर दिग्भ्रमित हो जाते हैं। उसके मन में नाना संदेह पैदा हो जाते हैं। संदेह चोर है जो मनुष्य के मन को निरंतर खोखला बनाता है। मनुष्य ने अपने स्वरूप को भूलकर मन में नाना संदेह पैदा कर लिया और पीछे से उन्हीं संदेहों से उसने मित्रता कर ली इसने अपने जीवन में ''आपुहि बरि आपन गर बन्धा'' वाली बात चरितार्थ कर ली। जीव ही तो अपने स्वरूप को भूलकर अपने ऊपर नाना देव-गोसैयां की कल्पना एवं स्थापना करता है। मनुष्य ने ही भूत-प्रेत, शकुन-अपशकुन एवं नाना देवी-देवताओं की कल्पनाकर उन्हें अपने ऊपर मान लिया है।

धर्मशास्त्रों से हटकर कामशास्त्र भी बने जिनमें कामवासना की बड़ाई की गयी। श्रृंगारिक वाणियों का विस्तार कामशास्त्र ही में नहीं किन्तु अनेक धार्मिक ग्रन्थों में भी हुआ। मनुष्य ने अपने स्वरूप के अज्ञान से नाना कल्पनाओं एवं कल्पनापूर्ण वाणियों का विस्तार किया और अपने ही बनाये हुए कल्पना-जाल में स्वयं अधिकाधिक उलझता गया। परन्तु इन सब का दुखद परिणाम तो जीव पर ही आना है। इसीलिए सद्गुरु कहते हैं—''तब जानोगे जीयरा, जबरे परेगी तूझ'' अपनी कमाई का फल स्वयं को ही भोगना पड़ता है। लोकोक्ति भी है ''अपनी कमाई आप को, ना माई ना बाप को।''

इस साखी को इस ढंग से भी समझा जा सकता है कि मानो कोई सज्जन-स्वभाव का आदमी हो, उसने प्रसंगवशात चोरों से मित्रता कर ली हो और उन चोरों का साथ करने से वह भी चोर बन गया हो, तो सद्गुरु ने उसे समझाया हो कि हे मनुष्य ! इसके परिणाम का पता तुम्हें तब होगा जब तुम राजकर्मचारियों द्वारा पकड़े जाकर पीटे जाओगे।

सज्जन से सज्जन व्यक्ति भी कुसंग में पड़कर पतित होते हैं। चोरी करना, व्यभिचार करना, शराब, मांस, गांजा-भांग, बीड़ी-सिगरेट, तम्बाकू, पान आदि का सेवन करना, गाली देना, मसखरापन करना, जुआ-ताश आदि खेलना, थोड़ी-थोड़ी बातों को लेकर जगह-जगह लड़ाई-झगड़े करना तथा इन-जैसे बहुत-से दोष एवं दुर्गुण मनुष्य कुसंग में पड़कर सीखता और करता है। आदमी जैसी संगत करता है वैसी ही उसे रंगत लगती है। इसलिए सद्गुरु

हमें सावधान करते हैं कि हे मनुष्य, तू कुसंग और कुकर्मों से अपने आप को बचा, अन्यथा उसका फल तुझे दुखदायी होगा।

इस साखी को हम इस ढंग से भी समझ सकते हैं कि यदि मनुष्य साधु-सज्जनों से चोर बनता है अर्थात उनसे अपना मुख छिपाता है और चोरों, बदमाशों एवं गलत आचरण वालों से मित्रता करता है तो इसका परिणाम उसके लिए दुखद होगा। उसे सावधान हो जाना चाहिए और कुसंग से हटकर साधु-संगति करना चाहिए।

सद्गुरु की अनिवार्यता

ताकी पूरी क्यों परे, जाके गुरु न लखाई बाट॥
ताके बेड़ा बूड़ि हैं, फिरि फिरि औघट घाट॥ 152॥

शब्दार्थ—पूरी=पूर्णता, आप्तकामता, सिद्धि, कल्याण। बाट=रास्ता, सत्यज्ञान का पथ। बेड़ा=लट्ठों एवं तख्तों से बनायी हुई नाव। औघट घाट=दुर्गम स्थल, पतनपथ।

भावार्थ—उस मनुष्य का कल्याण कैसे होगा जिसको सद्गुरु ने सत्य का रास्ता नहीं बताया है। उसकी नाव तो बारम्बार कुघाट में डूबेगी। वह उत्तरोत्तर पतनपथ में जायेगा॥ 152॥

व्याख्या—कुछ लोग कहते हैं कि किसी गुरु की क्या आवश्यकता ! गुरु तो अन्दर बैठा है। सद्ग्रन्थ पढ़ लें और संतों के प्रवचन सुन लें, बस इतने से ज्ञान प्राप्त करके हम अपना कल्याण कर सकते हैं। किसी गुरु से जुड़ने की क्या जरूरत है ! यह सब जब पढ़े-लिखे लोग कहते हैं तब और अजीब लगता है। किसी अध्यापकरूपी गुरु से जुड़े बिना कोई किसी भाषा एवं लिपि का ज्ञान नहीं पा सकता। साइकिल का पंचर बनाने का ज्ञान भी हमें तब होता है जब उसे कोई उस्ताद बताता है। हम जिसके ग्रन्थ पढ़कर ज्ञान पाते हैं, वह हमारा गुरु हुआ ही। जिसके प्रवचन से हमें प्रेरणा मिलती है वह भी हमारा गुरु हुआ। यह ठीक है कि हमारे अन्दर विवेकरूपी गुरु बैठा है, परन्तु बाहरी गुरु के बिना विवेक का सर्वथा जग जाना भी बड़ा कठिन है। चकमक में आग है, परन्तु बिना घिसे वह प्रकट नहीं होती। जड़ और चेतन का पृथक ज्ञान तथा स्वरूप का सच्चा बोध प्राप्त करने के लिए सत्संग और विवेक दोनों चाहिए। स्वरूपज्ञान हो जाने के बाद उसमें ठहरने के लिए दिव्य रहनी का बल चाहिए और यह किसी रहनीसंपन्न सद्गुरु-संत की उपासना से अधिक सुकर होती है। विशाल देव ने सच कहा है—"वैराग्यवान के संग बिन, होय नहीं बैराग। संगत हू फल ना मिले, बिन साँचा मन लाग।" डॉक्टर के साथ डॉक्टरी का अभ्यास सफल होता है, वकील के साथ वकालत का,

विद्वान के साथ विद्वता का। इसी प्रकार अन्य दिशा में भी समझ लें। इसी ढंग से सद्गुरु के द्वारा पथ-प्रदर्शन पाये बिना कोई जीवन में पूर्णता नहीं पा सकता।

पूरी पड़ना एवं जीवन में पूर्णता होना क्या है? वस्तुतः बुद्धि और हृदय को संतोष मिलना ही पूर्णता पाना है। बुद्धि को तब संतोष मिलता है जब अन्धविश्वास, चमत्कार तथा अनर्गल बातों से हटकर कारण-कार्य-व्यवस्था, विश्व के शाश्वत नियमों तथा प्रकृति के गुण-धर्मों का यथार्थ बोध होता है। ऐसी अवस्था आ जाने पर मनुष्य किसी भी बुद्धिविरोधी बात में नहीं उलझता, वह चाहे किसी धर्मशास्त्र की हो या जनश्रुति की हो या कहीं की भी हो। संसार में सब कुछ नियमतः ही होता है। वह समझता है कि कोई प्राणधारी सूरज को नहीं निगल सकता, किसी स्त्री को एक साथ हजारों बच्चे नहीं पैदा हो सकते, कोई साधु-महात्मा नामधारी मुरदे को नहीं जिला सकता। वह वर तथा शाप की झुठाइयों को समझ लेता है। वह समझता है कि मनुष्य के अपने शुभकर्म उसके लिए वर तथा अशुभ कर्म शाप बनते हैं। वह तर्कहीन, युक्तिविरुद्ध तथा विश्व के नियमों के विरुद्ध बातों को नहीं मानता, भले ही वह धर्म, भगवान, देवी-देवता तथा महात्मा से जुड़ी हो। जड़ और चेतन का ठीक ज्ञान हो जाने पर मनुष्य को पूर्ण बौद्धिक संतोष मिल जाता है। जब अपनी आत्मा के अलावा कहीं कोई दिव्यशक्ति खोजने की बात नहीं रहती, तब पूर्ण बौद्धिक संतोष होता है।

दूसरा है हार्दिक संतोष, हृदय को संतोष। यह तब प्राप्त होता है जब जीवन पवित्र एवं दिव्य रहनी से संपन्न हो जाता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, छल, कपट तथा मन की सारी मलिनताएं जब समाप्त हो जाती हैं, तब मन आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है। सारतः, स्वरूपज्ञान से बौद्धिक संतोष तथा स्वरूपस्थिति से हार्दिक संतोष होते हैं। परन्तु यह सब रहनी एवं बोधसंपन्न सद्गुरु के पथ-प्रदर्शन में ही संभव है। जिसने सच्चे सद्गुरु द्वारा अपना पथ-प्रदर्शन नहीं पाया, उसकी नाव कुघाट में डूबती है। कुघाट में या औघट में डूबना क्या है? भूत, प्रेत, देवी, देवता, मंत्र, तंत्र, ग्रह, लगन, जादू, टोना, चमत्कार, काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, विषय-वासना आदि में उलझ जाना नाव का कुघाट में डूबना है। सच्चे सद्गुरु की भक्ति एवं ज्ञान से वंचित व्यक्ति नाना संदेहों, भ्रमों तथा मानसिक सागर में बारम्बार डूबता रहता है। अबोधी तथा गुरुविमुख व्यक्ति को संसार में डूबना ही है।

"बिना रे खेवइया नइया कैसे लागे पार हो।"

जाना नहीं बूझा नहीं, समुझि किया नहिं गौन ॥

अन्धे को अन्धा मिला, राह बतावै कौन॥ 153॥

शब्दार्थ—गौन=गमन, यात्रा। राह=रास्ता, सत्पथ।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने गंतव्य का रास्ता स्वयं न जानता हो और दूसरे जानकारों से पूछा भी न हो, इस प्रकार बिना रास्ता को समझे-बूझे उसने अपनी यात्रा आरम्भ कर दी हो, वह आंख का अंधा भी हो और संयोग से उसे रास्ते में अन्धा व्यक्ति मिल जाये, तो उसे सही रास्ता कौन बतायेगा! इसी प्रकार जिसे स्वयं जड़-चेतन का ठीक बोध नहीं है और वह किसी यथार्थ सद्गुरु की शरण में विनम्रतापूर्वक जाकर तथा उनकी सेवा-भक्ति करके उनसे पूछा भी नहीं है। इस प्रकार जो बिना परमार्थ को ठीक से समझे-बूझे चल दिया हो, वह स्वयं तो अबोधी है ही, उसे रास्ते में दूसरे भी अबोधी ही मिलते हैं, फिर उसे कल्याण का रास्ता कौन बतायेगा!॥ 153॥

व्याख्या—कितने अहंकारी जीव हैं वे किसी गुरु के चरणों में न झुकना चाहते हैं और न उनकी सेवा कर उनके अधीन होकर विनम्रतापूर्वक कुछ सीखना चाहते हैं। बस, वे धर्मग्रन्थों की कुछ उलटी-सीधी सुनी-सुनाई बातों को ले उड़ते हैं और इतने ही में अपने आप को धर्मधुरंधर तथा परमार्थपथ के गहरे अनुभवी समझने लगते हैं। वे अपने सरीखे ही अधूरे लोगों में बैठकर धर्म एवं परमार्थ के नाम पर कुछ अधूरी और छिछली बातें करते हैं और "सब अंधरन में कनवे राजा" की तरह अपने आप को बहुत बड़ा मान लेते हैं।

कुछ परमार्थ-पथ के पथिक विनम्र एवं सच्चे दिल के होते हैं, परन्तु वे धर्म के नाम पर केवल अंधश्रद्धा के पुजारी होते हैं। वे पोथी, परंपरा, गुरुजन, समाज आदि की लकीरों से हटकर स्वतंत्र छानबीन नहीं करना चाहते। वे अपने स्वतंत्र विवेक का आदर नहीं करना चाहते। पोथी, परंपरा, गुरु, सब आदरणीय हैं, परन्तु अपने विवेक का भी तो आदर करना चाहिए। क्यों, कैसे, कौन, कहां, क्या आदि तर्क के बिना कभी भी सत्य का बोध नहीं हो सकता। तर्क उन्मादपूर्वक नहीं, किन्तु विवेकपूर्वक होना चाहिए। श्रद्धा और बुद्धि दोनों का समन्वय चाहिए। उन गुरुओं तथा संतों से सत्य का बोध नहीं हो सकता जो सदाचारी तथा विद्वान भले हों, परन्तु जिन्होंने श्रद्धा के नाम पर अपनी आंखों में पट्टी बांध रखी है। जो गुरु शास्त्रों की दोहाई एवं केवल शब्दप्रमाण पर अपनी मान्यताओं को शिष्यों एवं श्रोताओं पर लादना चाहता है उससे सत्य का मोती नहीं मिल सकता। जिन्होंने श्रद्धा के नाम पर स्वयं अपनी आंखें बन्द कर रखीं हैं वे दूसरों की आंखों का प्रकाश नहीं बन सकते। अतएव जिज्ञासु को श्रद्धा एवं विवेकपूर्वक सत्य का खोजी होना चाहिए।

जाका गुरु है आँधरा, चेला काह कराय॥
अन्धे अन्धा पेलिया, दोऊ कूप पराय॥ 154॥

शब्दार्थ—आँधरा=जड़-चेतन के विवेक से रहित।

भावार्थ—जिसका गुरु ही जड़-चेतन एवं सार-असार के विवेक से रहित है, वह शिष्य बेचारा क्या करे! अंततः गुरु-शिष्य दोनों विवेकहीन बने अंध-परंपरा में एक दूसरे को ठेलते हुए अज्ञान एवं कल्पना के कुएं में पड़े रहते हैं॥ 154॥

व्याख्या—कबीर साहेब गुरु को सर्वोपरि महत्त्व देते हैं, परन्तु अंधविश्वासपूर्वक नहीं। कबीर साहेब विवेकहीन गुरु को छोड़ देने की राय देते हैं—"झूठे गुरु के पक्ष को, तजत न कीजै बार। द्वार न पावै शब्द का, भटके बारम्बार॥" जो गुरु नामधारी विवेकहीन है, स्वार्थ में अंधा और राग-द्वेष में डूबा है उससे शिष्यों का क्या उद्धार होगा! मान लो, वह सदाचारी तथा ईमानदार है, परन्तु उसे जड़ तथा चेतन क्या हैं, दोनों के गुण, धर्म, स्वभावादि क्या हैं; मैं कौन हूं, जगत क्या है, मेरा स्वरूप क्या है, मेरी स्थिति क्या है—इन सब बातों की कोई जानकारी नहीं है, वह अंध परंपरा से हटकर स्वतंत्र सोचना भी नहीं चाहता है, तो ऐसे गुरु से शिष्य का कल्याण कैसे होगा! शिष्य प्रथम अबोध में रहता ही है, तभी वह बोध पाने के लिए गुरु की शरण में जाता है। अब यदि गुरु भी अबोधी है, तो वह शिष्य का कल्याण कैसे करेगा! जैसे दो अन्धे एक दूसरे को ठेलते हुए दोनों कुएं में गिर पड़ें, वैसे विवेकहीन गुरु और चेले दोनों एक दूसरे से अविवेक की बातें करते-करते अज्ञान तथा कल्पना के कुएं में ही पड़े रहते हैं।

शिष्य को सही रास्ता वही गुरु बता सकता है जो सत्य स्वरूप का बोधवान, पवित्र रहनी से संपन्न तथा निष्पक्ष विचारक है। परन्तु जो स्वयं विवेकहीन है वह दूसरे को क्या रास्ता बतायेगा!

महिमा के भेड़ियाधंसान में मत पड़ो

लोगों केरि अथाइया, मति कोइ पैठो धाय॥
एकै खेत चरत हैं, बाघ गधेहरा गाय॥ 155॥

शब्दार्थ—अथाइया=अथाई, भीड़। बाघ=रजोगुणी। गधेहरा=गधा, तमोगुणी। गाय=सतोगुणी।

भावार्थ—जहां निर्णय नहीं है ऐसी भीड़ में किसी सत्यइच्छुक जिज्ञासु को दौड़कर नहीं घुसना चाहिए। वहां तो एक ही खेत में बाघ, गधा और गाय एक साथ चरते हैं। अर्थात वहां सब धान साढ़े बाइस पसेरी है॥ 155॥

व्याख्या—सद्गुरु सत्यज्ञान के इच्छुक को सावधान करते हैं कि वह

किसी भीड़ को देखकर तथा उसकी महिमा में प्रभावित होकर उसमें न घुसे। हर समय में ऐसे गुरुनामधारी होते हैं जो मनुष्यों की भीड़ जुटाने के लिए अपने व्यक्तित्व में चमत्कार जोड़ते हैं। वे किसी तथाकथित ईश्वर एवं भगवान के अवतार बनते हैं, सिद्ध बनते हैं, चमत्कार के नाम पर जालसाजी करते हैं, योग के नाम पर भोगों की छूट देते हैं। वे हजार झूठी-झूठी बातें गढ़-गढ़ कर समाज में फैलाते हैं और इस वातावरण में संसार के अन्धे लोग उनके पास इकट्ठे हो जाते हैं। अन्धे केवल गंवई तथा अनपढ़ लोग ही नहीं होते, किन्तु शहरी तथा पढ़े-लिखे लोग भी होते हैं। अनपढ़ लोग तो सरल अंधविश्वासी होते हैं, परन्तु पढ़े-लिखे लोग काइयां तथा चतुर अंधविश्वासी होते हैं। वे नाना षड्यन्त्र रचकर तथा विज्ञान का भी दुरुपयोग करके अन्धविश्वास की सिद्धि करते हैं।

जहां चमत्कार के नाम पर जालसाजी है वहां पर पढ़े तथा अनपढ़ भोले लोगों की भीड़ इकट्ठी हो जाती है। उस भीड़ की प्रशंसा करते हुए वे लोग कहते हैं "हमारे गुरु के बड़े-बड़े चेले हैं। सेठ, धनी, डॉक्टर, इंजीनियर, वकील, जज, प्रोफेसर, कुलपति, राजनेता, मन्त्री, विद्वान-पण्डित आदि उनके अनुगामी हैं।" परन्तु क्या धनी, पढ़े-लिखे लोग और राजनेता के किसी के शिष्य हो जाने से उनकी महत्ता बढ़ जाती है ! धनी, तथाकथित विद्वान तथा नेता कम अन्धविश्वासी नहीं होते। अतएव किसी गुरुनामधारी के पास मनुष्यों की बड़ी भीड़ देखकर उसमें मोहित न होना चाहिए, किन्तु अपने विवेक की आंखें खोलकर सत्यासत्य समझने की चेष्टा करना चाहिए। जहां ज्यादा धोखाधड़ी होती है, वहीं ज्यादा भीड़ होती है। जहां सत्य का सौदा होता है, वहां प्रायः थोड़े लोग होते हैं। इसलिए साधक को क्वांटिटि नहीं, किन्तु क्वालिटि देखना चाहिए। अर्थात संख्या नहीं, गुण देखना चाहिए। प्रायः लोगों को भीड़ का मोह होता है। लोग समझते हैं कि जहां बड़ी भीड़ है वहां सत्य होगा। यह उनको पता नहीं कि बड़ी भीड़ सदैव प्रायः चमत्कार का झांसा देकर इकट्ठी की जाती है। पुत्र, धन, नीरोग्यता, विजय, प्रतिष्ठा, पद एवं तथाकथित ऋद्धि-सिद्धि पाने के लिए ही अधिक लोग लालायित रहते हैं, और इन सकामियों को धूर्त लोग झूठे चमत्कार का झांसा देकर फंसा लेते हैं। ऐसे लोग सदैव थोड़े होते हैं जिन्हें सत्यज्ञान की इच्छा है, जो रहस्य की गुत्थी सुलझाना चाहते हैं, जिन्हें जीवन में सद्गुण, स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति प्रिय है। अतएव सद्गुरु कहते हैं कि हे सत्य के इच्छुक ! तुम भीड़ के मोह में न पड़ना, भीड़ में न घुसना। यदि तुम सत्य का बोध चाहते हो, तो विवेकवान गुरु की खोज करना।

धंधेबाज गुरुओं की एक मुख्य पहचान यह भी होती है कि उनके यहां

बाघ, गधा और गाय एक साथ एक ही खेत में चरते हैं। अर्थात वहां पर सदाचार-दुराचार, भोग-योग, जड़-चेतन, खाद्य-अखाद्य, कर्तव्य-अकर्तव्य किसी का विवेक नहीं होता। ऐसे समाज में सब समय सब लोग मुक्त ही होते हैं चाहे वे जैसा भी व्यवहार करते हों। ऐसे सस्ते नुस्खे में भीड़ इकट्ठी होती ही है। सद्‌गुरु कहते हैं कि ऐसी भीड़ से सदैव बचो। पढ़ा-लिखा समाज, धनी समाज, तथाकथित उच्च वर्ण एवं उच्च वर्ग का समाज—सत्यइच्छुक को इन सबका भी मोह नहीं होना चाहिए। जिसे सत्यज्ञान का मोती चाहिए वह सारे मोह को छोड़कर केवल सत्य का खोजी हो। सत्य निर्णय चाहे बड़े समाज से जुड़कर मिले या छोटे समाज से जुड़कर मिले, तथाकथित उच्च वर्ग से जुड़कर या निम्न कहे जाने वाले समाज से जुड़कर, विद्वान कहे जाने वाले समाज से जुड़कर या अपढ़ कहे जाने वाले समाज से जुड़कर मिले; वही उपासनीय है, वही सेवनीय है। वह आंजन किस काम का जिससे आंखें ही फूट जायें। वह समाज, वर्ग एवं भीड़ किस काम के जिसमें सत्यज्ञान न मिलकर भटकाव मिलता है। काम तो आता है कुआं-नदी का पानी, समुद्र लेकर क्या करेंगे !

जड़तापूर्ण मनुष्य को उपदेश नहीं लगता

चारिमास घन बर्षिया, अति अपूर जल नीर॥
पहिरे जड़ तन बखतरी, चुभै न एकौ तीर॥ 156॥

शब्दार्थ—घन=बादल। अपूर=भरपूर, प्रचुर। जड़=अज्ञान, जड़ता। बखतरी=बकतर, लोहे का कवच।

भावार्थ—बादल चारों महीने वर्षा काल में भरपूर पानी बरसाये, किन्तु ऊसर जमीन में जैसे कुछ न पैदा हो, और किसी द्वारा बाणों की भरपूर वर्षा करने पर भी लोहे का कवच पहने होने से उसके अंग में एक भी बाण न चुभे, वैसे जिसने जड़ता का कवच पहन रखा है उसे ज्ञान की एक बात भी नहीं लगती, चाहे उसके सामने कोई ज्ञान-वाणी की अपार वर्षा करता रहे॥ 156॥

व्याख्या—घनघोर वर्षा होने पर भी ऊसर जमीन में कुछ नहीं पैदा होता। जिनका हृदय जड़ता से पूर्ण है उनकी दशा यही है। जैसे वर्षाकाल के चारों महीनों में निरन्तर वर्षा होती रहे, तो भी ऊसर जमीन ऊसर ही रहती है, वैसे चौमासा संतों के उपदेश सुनते-सुनते भी ज्ञान का जीवन पर यदि कोई असर न हो तो यही माना जायेगा कि हृदय अत्यन्त मलिन है। पुराकाल में संतजन कहीं एक आश्रम पर चौमासा वर्षा रहते थे। वहां रोज सत्संग एवं ज्ञान की चर्चा होती थी। कबीर साहेब के समय में भी ऐसी बात थी। मानो

सद्गुरु कबीर किसी ऐसे ही व्यक्ति को लक्ष्य कर अपनी यह बात कह रहे हों, जो उन सभी के लिए लागू होती है जो स्वभाव से ही जड़तापूर्ण हैं।

दूसरा उदाहरण बाण-वर्षा का है। कोई किसी के ऊपर बाणों की जोरदार वर्षा कर रहा हो, परन्तु जिस पर वह बाण वर्षा कर रहा हो उसने लोहे का कवच पहन रखा हो तो उसे एक बाण भी नहीं लगेगा। इसी प्रकार जिसने अपने मन पर जड़ता का कवच डाल रखा है उस पर ज्ञान का प्रभाव नहीं पड़ता।

यह प्रायः सभी उपदेष्टाओं का अपना अनुभव रहता है कि कुछ लोग ऐसे होते हैं जिन पर उपदेश का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

इन्द्रिय-लंपट व्यक्ति गुरु-उपदेशों से दूर भागता है

गुरु की भेली जिव डरे, काया सींचनहार।
कुमति कमाई मन बसे, लाग जुवा की लार॥ 157॥

शब्दार्थ—भेली=भये से, होने से, संगत से अथवा भेली (गुड़-पिंड सदृश) मिष्ट उपदेश से। काया सींचनहार=भोगों से इन्द्रियों को तृप्त करने वाला। लार=कतार, पंक्ति, लालच, आदत, व्यसन।

भावार्थ—भोगों से इन्द्रियों को तृप्त करने वाले देहाभिमानी लोग सच्चे सद्गुरु की शरणाधीनता एवं संगत से अथवा उनके मिष्ट उपदेशों से डरते हैं—दूर भागते हैं। कुबुद्धिपूर्वक कमाये हुए धन एवं भोग-ऐश्वर्य में ही उनका मन बसता है। उन्हें जुआ के व्यसन के समान अंट-संट धन कमाकर उसे भोगने की आदत हो जाती है॥ 157॥

व्याख्या—"गुरु की भेली जिव डरे" में आये हुए 'भेली' शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं। 'भेली' अर्थात भये से, होने से, गुरु का होने से, गुरु की शरण जाने से, गुरु की संगत से। भेली का अर्थ गुड़ का पिंड भी होता है, जिससे अर्थ होगा कि भेली के समान गुरु के मीठे उपदेशों से जीव डरता है। दोनों अर्थों में कोई अन्तर नहीं है। सार यह हुआ कि मनुष्य गुरु के कल्याणकारी उपदेशों से दूर भागता है। सद्गुरु कबीर इसका कारण बताते हैं कि मनुष्य 'काया सींचनहार' बन गया है। सींचने का अर्थ है पानी से जमीन को तर करना, अच्छी तरह भिगो देना। जो मनुष्य भोगों से अपनी इन्द्रियों को निरन्तर सींचता है, वह गुरु के मीठे उपदेशों से डरता है। गुरु का उपदेश है कि इन्द्रियों के भोगों का त्याग करो। इसलिए जो भोगों में रात-दिन लीन है वह गुरु के उपदेशों से दूर भागेगा ही। कितने सत्संगी इसलिए संतों के पास आना बंद कर देते हैं, क्योंकि उन्होंने बीड़ी-तम्बाकू पीना-खाना शुरू कर दिये हैं। उनको डर है कि गुरु-संतों के पास जाने पर हम डांटे जायेंगे।

इन्द्रिय-भोग प्रेय-मार्ग है और गुरु-उपदेश श्रेय-मार्ग है। प्रेय-मार्ग पहले बड़ा प्यारा लगता है, परन्तु उसका परिणाम भयंकर पतन है और श्रेय-मार्ग पहले बड़ा कठिन लगता है, परन्तु उसका परिणाम अमृत है, स्थायी शांति है। किन्तु अविद्यावश मनुष्य इन्द्रिय-भोगों में उलझ जाता है। जो व्यक्ति जितना ही विषयों में लीन होगा, वह उतना ही गुरु उपदेशों एवं सत्संग से दूर भागेगा।

"कुमति कमाई मन बसे" अधिक भोगपरायण व्यक्ति का मन कुबुद्धिपूर्वक धन कमाने में बसता है। जो व्यक्ति इन्द्रियों का अधिक भोग चाहता है वह येनकेनप्रकारेण धन कमाता है। घूसखोरी, मिलावटबाजी, चोरबाजारी, चोरी, डाका—भोगी आदमी सब कुछ करने के लिए तैयार रहता है। लोग धन के लिए गुरु की हत्या करते हैं, माता-पिता को विष देते हैं, भाई की हत्या करते हैं। जो व्यक्ति जितना ही भोगों को महत्त्व देता है वह उतना ही धन पाने के लिए कुबुद्धिपूर्वक प्रयास करता है। यदि हम नाजायज तरीके से धन कमाते हैं तो इसका मतलब यह है कि हम किसी का हक छीनते हैं। हम स्वयं नहीं चाहते हैं कि कोई हमारा हक छीने। इसलिए हमारी मानवता यही है कि हम किसी का हक न छीनें। परन्तु भोगी आदमी अपने मिथ्या स्वार्थ में अंधा होता है। वह जो अप्रिय घटना अपने लिए नहीं चाहता, वही दूसरों के लिए करता है। परन्तु दूसरों को कष्ट देकर कोई सुखी नहीं हो सकता। सद्गृहस्थ भोगों में संयम रखता है। वह यथासंभव संयम से चलता है। इसलिए उसे दूसरे के हक को मारने की जरूरत नहीं पड़ती। जब आदमी "काया सींचनहार" बनता है तब उसे 'कुमति कमाई मन बसे" की स्थिति प्राप्त होती है। ये दोनों वाक्यांश बड़े मार्मिक हैं। काया को सींचने वाला इन्द्रिय-लंपट होता है और इन्द्रिय-लंपट क्या-क्या कुकर्म नहीं कर सकता !

इन्द्रिय-लंपटता और कुबुद्धिपूर्वक धन कमाने की बात को सद्गुरु जुए के व्यसन से समझाते हैं। जिसे जुआ खेलने की आदत हो जाती है, वह उससे अपना पतन देखते हुए भी उसी में चिपका रहता है। इसी प्रकार जिसे इन्द्रिय-भोगों में लंपटता तथा उसके लिए अंटसंट धन कमाने की आदत हो जाती है वह उनमें अपना अध:पतन जानते हुए भी उन्हीं में डूबा रहता है।

जो जितना ही भोगी होता है वह उतनी ही हिंसा करता है। हिंसा का मतलब है दूसरों का हक मारना। भोगपरायणता से वैसे ही बुद्धि मलिन होती है, उसके साथ हिंसा करने से मनुष्य का और अध:पतन होता है। अतएव इनसे छूटने के लिए भोगों का त्याग अत्यन्त आवश्यक है। भोगों के त्याग के लिए विवेकवती बुद्धि चाहिए। इसके लिए गुरु-संतों के उपदेश तथा उनकी संगत की महती आवश्यकता है। अतएव गुरु के जिन उपदेशों से जीव डरता है—दूर भागता है, उन्हीं की उसे अत्यन्त आवश्यकता है, उनके बिना जीव

का दुख कभी नहीं छूट सकता।

जीव का कुशल कहां है?

तन संशय मन सोनहा, काल अहेरी नीत॥
एकै डाँग बसेरवा, कुशल पूछो का मीत॥ 158॥

शब्दार्थ—सोनहा=कुत्ते की जाति का एक जंगली पशु जो बाघ को भी मार डालता है,[1] कुत्ता। काल=कल्पनाएं, अज्ञान। अहेरी=शिकारी। डाँग=जंगल, स्थान।

भावार्थ—शशा, कुत्ता और शिकारी एक ही जगह पर हों, तो शशा का कुशल कहां! शरीर संशय का घर है, मन कुत्ता है और अज्ञान शिकारी है। ये एक ही जगह पर नित्य रहते हैं, फिर हे मित्र! कुशल क्या पूछते हो!॥158॥

व्याख्या—"तन संशय का कोट"[2] उक्ति के अनुसार यह शरीर अनेक संदेहों, संशयों एवं भ्रांतियों का किला है। शरीर का गुजर कैसे होगा, बुढ़ापा एवं व्याधि में सेवा कौन करेगा, नौकरी छूट न जाये, खेती डूब न जाये, व्यापार रुक न जाये, स्वजन तथा मित्र विमुख न हो जायें, शरीर रोगी न हो जाये, चोर, डाकू तथा शत्रु हमारा सब कुछ छीन न लें, हमारी जान के जोखिम न हो जाये, हमारा समाज में अपमान न हो जाये, कहीं चलें तो एक्सीडेंट न हो जाये—कहां तक गिनाया जाये, अनेक संशयों से मनुष्य निरन्तर पीड़ित रहता है। अनेक आध्यात्मिक संशय भी लगे रहते हैं। मैं शरीर हूं या मन हूं या प्राण हूं या इनसे अलग अविनाशी हूं, मरने के बाद मैं रहता हूं या नहीं, मोक्ष कोई दशा है या नहीं आदि संशय मनुष्यों को बने रहते हैं।

"मन सोनहा" मन तीव्र हिंसक पशु है। यद्यपि मन कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है। मन केवल हमारे बनाये संस्कारों का स्वरूप है। परन्तु विषयों के आसक्तिवश वह बलवान बन बैठा है। मन क्षण-क्षण मलिन विषयों पर झपट्टा मारता है। कुत्ते के सूखी हड्डी चूसने के समान मन नीरस विषयों में डूबा रहता है। और "काल अहेरी" है। काल है कल्पनाएं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, हर्ष, शोक, मान, अपमान आदि की कल्पनाएं मन को निरंतर पीड़ित करती रहती हैं। मूल रूप में अज्ञान ही काल है। इसी से तो कल्पनाएं उठती हैं। अज्ञान ही पीड़ा है, दुख है। सद्गुरु कहते हैं ये सब सदैव जीव के साथ बने रहते हैं, तो हे मित्र! तुम क्या कुशल पूछते हो!

जीव का कुशल कब है! जब सारे संशयों का नाश हो जाये। जो कुछ

---

1. बृहत् हिन्दी कोश।
2. साखी 104।

मिला है, वह छूटेगा, क्षण-क्षण छूट रहा है। सबसे निकट माना गया अपना शरीर क्षण-क्षण बदल रहा है और एक दिन यह पलमात्र में सदैव के लिए लीन हो जायेगा। जब तक जीवन है इसका गुजर होगा ही। यदि निर्वाह का एक आधार कारणवश छूट जाये तो दूसरा आधार बन जायेगा। मैं शरीर, प्राण, मनादि समस्त जड़दृश्यों से पृथक शुद्ध अविनाशी चेतन हूं। स्व-स्वरूप ही मेरा अपना निधान है जो स्वभावतः पूर्णकाम है। सारी विषय-इच्छाओं को छोड़ देने के बाद मैं स्वरूपस्थ परमानंदमय हूं। "अबकी पुरिया जो निरुवारे, सो जन सदा अनन्दा।"[1] इस स्थिति को प्राप्त करके मन निर्मल होकर एकाग्र हो जाता है और सारी कल्पनाएं शांत हो जाती हैं। ऐसी स्थिति पाकर ही जीव का कुशल है। यदि यह स्थिति नहीं पायी गयी तो जीव का कुशल कहां है !

धोखेबाज एवं अधूरे गुरुओं से सावधान

साहु चोर चीन्है नहीं, अन्धा मति का हीन॥
पारख बिना बिनाश है, कर बिचार होहु भीन॥ 159॥

शब्दार्थ—साहु=साधु, सज्जन, सत्यवादी, सद्गुरु। चोर=धूर्त, गुरुआ। पारख=परख, गुण-दोष की पहचान। भीन=भिन्न।

भावार्थ—विवेकहीन अंधा मनुष्य यह नहीं पहचानता कि सच्चा सद्गुरु कौन है तथा भटकाने वाला धूर्त गुरुआ कौन है। सारासार न परखने से ही मनुष्य पतनपथ में जाता है। अतएव हे जिज्ञासु ! विचार करके असत्यमार्ग और सारे विजाति तत्त्वों से अलग हो जाओ॥ 159॥

व्याख्या—जैसे श्रेष्ठी शब्द का अपभ्रंश होकर सेठ शब्द बना है, वैसे साधु से साहु शब्द बना हुआ लगता है। साहु का अर्थ ही है जो सत्य का व्यवहार रखता हो। सज्जन एवं ईमानदार को साहु कहते हैं। जो कहीं दूर-दराज से माल लाकर पब्लिक में बेचता था और पब्लिक से माल खरीदकर दूर-दराज देश में ले जाकर बेचता था, उस व्यापारी को सच्चा, ईमानदार एवं सज्जन मानकर उसके नाम साहु (साधु) एवं महाजन (महान मनुष्य) रखे गये थे। खेद है कि अपनी चोरबाजारी, जमाखोरी, मिलावटबाजी, चोरी एवं बेईमानी के कारण वही वर्ग आज सबसे अधिक धोखेबाज, बेईमान एवं चोर माना जाता है। यह भी सच है कि आज भी कितने व्यापारी अपेक्षया ईमानदार हैं। परन्तु धोखेबाज व्यापारियों के गलत आदर्श के कारण उन्हें भी संदेह की दृष्टि से देखा जाता है।

---

1. साखी 322।

गुरुदर्जा तो सर्वोच्च है। गुरु वह है जिसका ज्ञान सच्चा हो तथा आचरण सच्चा हो, परन्तु खेद है कि गुरु नाम से धन्धेबाज ही नहीं धोखेबाज भी अधिक हो गये हैं। वे अपने छूमंतर से शिष्यों के सारे पाप काटते रहते हैं, चमत्कार एवं ऋद्धि-सिद्धि का झांसा देकर समाज को बेवकूफ बनाते हैं। वे अपने आप को तथाकथित ईश्वर के अवतार घोषित करते हैं। प्रसिद्ध संतों के अवतार बनते हैं। वे आनन-फानन में शिष्यों को ईश्वर-दर्शन कराते हैं, उन्हें मोक्ष देते हैं। कितने गुरु धोखेबाज एवं धन्धेबाज नहीं होते, वे हृदय से सच्चे एवं ईमानदार होते हैं, उनके आचरण भी अच्छे होते हैं; परन्तु उनकी दार्शनिक भ्रांतियां कटी नहीं रहतीं। उन्हें जड़-चेतन का ठीक से भिन्न विवेक नहीं रहता। वे शिष्यों को किसी कल्पित अवधारणा में लगाकर उन्हें स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति से दूर ही रखते हैं। अतएव वे हृदय से ईमानदार होने पर भी पूरे गुरु नहीं हैं। उनके द्वारा शिष्यों के भ्रम नहीं कट सकते।

कबीर साहेब कहते हैं कि विवेकहीन व्यक्ति सच्चे सद्गुरु तथा धन्धेबाज, धोखेबाज एवं ज्ञानहीन गुरुओं की परख नहीं कर पाता। ज्यादा शिक्षित-अशिक्षित तो धन्धेबाज, धोखेबाज गुरुओं के चक्कर में ही फंस जाते हैं। उसके बाद के लोगों में अधिक लोग विवेकरहित गुरुओं के पास अटक जाते हैं। कोई बिरले ही सच्चे गुरु की परखकर उनकी शरण में पहुंच पाते हैं। सद्गुरु कहते हैं "पारख बिना बिनाश है" तुम्हें सांच-झूठ की परख न होने से तुम्हारा पतन है। गुरु शब्द के मोह में पड़ना महा मायाजाल है। जो ईमानदार नहीं, जो तर्कयुक्त बात नहीं करता, जिसके जीवन में विसंगतियां हैं, जो समाज को बेवकूफ बनाने पर तुला है, ऐसे गुरु नामधारियों का दूर से ही नमस्कार कर लेना चाहिए। सद्गुरु ने साखीग्रन्थ में दोनों बातें कहीं हैं "झूठे गुरु के पक्ष को, तजत न कीजै बार" तथा "साँचे गुरु के पक्ष में, दीजे मन ठहराय।"

"कर बिचार होहु भीन" विचार करके सारी भ्रांतियों से अलग हो जाओ। अथवा जड़-चेतन का भिन्न विवेककर अपने चेतनस्वरूप को जड़ से अलग कर लो। जड़-चेतन को एक मान लेना ज्ञान नहीं है, किन्तु चेतन को जड़ से अलग समझना वास्तविक ज्ञान है। सबको परखकर उन्हें छोड़ देना और अपने स्वरूप में स्थित होना ही पारख-विवेक है। अपने स्वरूप से अलग कुछ अवश्य है जिसका विचार करके उससे अलग होने की बात सद्गुरु बताते हैं, वह है जड़-दृश्य। जड़ से अलग होकर ही अपने स्वरूप में स्थिति हो सकती है।

सच्चे गुरु की शरण लो

गुरु सिकलीगर कीजिये, मनहि मस्कला देय॥

शब्द छोलना छोलिके, चित दर्पण करि लेय॥ 160॥

शब्दार्थ—सिकलीगर=धारदार हथियारों पर सान रखने वाला। मस्कला=मसकला, सिकलीगरों का औजार जिसकी रगड़ से धातुओं में चमक आती है। छोलना=साफ करने का औजार। दर्पण=शीशा, स्वच्छ।

भावार्थ—जिस प्रकार सिकलीगर मसकला देकर धातुओं को उज्ज्वल कर देता है, उसी प्रकार ऐसे सद्गुरु की शरण लो जो तुम्हारे मन पर विवेक का मसकला देकर, निर्णय शब्दरूपी छोलने से छीलकर और मल, विक्षेप तथा आवरणरूपी मूर्चा को झाड़कर तुम्हारे चित्त को दर्पणवत स्वच्छ बना दे॥ 160॥

व्याख्या—लोकोक्ति है "गुरु कीजै जानि के, पानी पीजै छानि के।" भावुकता में पड़कर और आंखें मूंदकर किसी को गुरु नहीं मान लेना चाहिए। कबीर देव हमें आज्ञा देते हैं कि गुरु अवश्य करो; परन्तु वह ऐसा होना चाहिए जैसे सिकलीगर होता है। सिकलीगर के पास हम चाकू, उस्तुरा या अन्य औजार ले जाते हैं, तो वह उन्हें लेकर मसकला पर चढ़ाता है और मांजकर एकदम उज्ज्वल एवं धारदार कर देता है। इसी प्रकार सच्चा सद्गुरु होता है। वह शिष्य के मन को विवेक के मसकले पर चढ़ाकर उसे माजता है। वह निर्णय शब्दों के छोलने से उसके चित्त को छीलता है। उसके कसर-विकार को निकालता है। साखीग्रन्थ में भी सद्गुरु का यह प्रसिद्ध वचन है "गुरु कुम्हार शिष्य कुम्भ है, गढ़ि-गढ़ि काढ़े खोट। भीतर हाथ सहार दे, बाहर बाहै चोट॥" कुम्हार मिट्टी के घड़े को सुन्दर, सुडौल एवं विस्तृत बनाने के लिए उसके भीतर एक हाथ का सहारा देकर ऊपर से पीटता है। यदि वह घड़े को बाहर से न पीटे तो वह सुन्दर नहीं बनेगा और यदि पीटते समय भीतर से सहारा न दे तो वह टूट जायेगा। कुशल गुरु शिष्यों को पुत्रवत स्नेह देता है, परन्तु उसे ज्ञान तथा आचरण की कड़ी शिक्षा देकर सुसभ्य बनाता है। वह संकोच एवं मुलाहिजे में पड़कर शिष्यों की गलतियों पर उन्हें छूट नहीं देता। माता अपने बच्चों को जैसे स्नेह देती है, सच्चा सद्गुरु वैसे शिष्यों को स्नेह देता है, परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि वह उन्हें ढील छोड़ देता है। सच्चा सद्गुरु शिष्यों पर कड़ा अनुशासन रखता है।

गुरु के पास जब तक किसी प्रकार की विशेषता नहीं होती तब तक वह शिष्यों के मान का मर्दन नहीं कर सकता और शिष्यों का मान मर्दित हुए बिना वे गुरु को सर्वथा समर्पित नहीं हो सकते। शिष्यों की अपेक्षा गुरु में मुख्य बातों की विशेषता होनी चाहिए। गुरु में त्याग, तप, ज्ञान, विद्या, अध्ययन, अनुभव, वक्तृत्व कुछ भी अधिक चाहिए। बिना गुरु में वजनदारी हुए, शिष्य उसके सामने पूर्णतया विनयावनत नहीं होते। गुरु के मुख्य गुण हैं सच्चा

ज्ञान, पवित्र रहनी, स्नेहिल हृदय तथा अनुशासन-प्रियता। शिष्यों को निभाना कोई सरल काम नहीं है। उसमें भी समर्पित शिष्यों को, जो जीवनभर के लिए गुरु के साथ हो जाते हैं। स्वयं लचर गुरु शिष्यों को नहीं निभा सकता। गुरु का काम है कि वह स्वयं अपने बोध एवं स्वरूपस्थिति में पूर्ण हो तथा शिष्यों को उनकी कड़ी सीख दे। गुरु को चाहिए कि वह अपनी तरफ से शिष्यों के प्रति उपदेश देने में तथा उन पर कड़ी निगरानी रखने में कोई कसर न रखे।

जो गुरु शिष्यों की संख्या बढ़ाने के चक्कर में पड़ जाते हैं, वे ऐरे-गैरे-नत्थूखैरे को बटोरकर एक दल तो बना लेते हैं, परन्तु वह दल केवल सड़न उत्पन्न करता है। शिष्यों की संख्या बढ़ाने की कोई रुचि नहीं होनी चाहिए। पूर्ण परीक्षा करके तथा अच्छी तरह गढ़-तराशकर ही शिष्यों को स्वीकारना चाहिए। जो अपनी सामाजिक स्थिति के सामान्य नियमों का भी उल्लंघन करता है, वैसे शिष्यों को दूर कर देना ही समाज के लिए कल्याणकर है। जिसमें त्याग, भक्ति, विनयभाव, जिज्ञासा एवं मुमुक्षा भावना है वही गुरु के अनुशासन में रुक सकता है और वही गुरु शिष्य का कल्याण कर सकता है जो अपने जीवन-दर्शन एवं वचनों से शिष्यों को ज्ञान, रहनी और अनुशासन की खरी शिक्षा दे सके।

सद्गुरु ने इस साखी में शिष्य के चित्त को शुद्ध करने के लिए मसकला और छोलना इन दो औजारों का उदाहरण दिया है जो परख और विवेक हैं। शिष्य के शुद्ध हुए चित्त को स्वच्छ दर्पण एवं शीशे से समझाया गया है। गुरु में सिकलीगर का उदाहरण घटाया गया है। इतने सारे आलंकारिक उदाहरणों को देकर सद्गुरु ने अपने कथ्य को सरल और सटीक बनाया है। सबका सार यही है कि जिज्ञासु को ऐसे गुरु की शरण में जाना चाहिए जो शिष्य में आध्यात्मिक चमक लाने के लिए उसे परख एवं विवेक का भरपूर सहारा दे।

मूर्खों को चेताना व्यर्थ है

मूरख के सिखलावते, ज्ञान गाँठि का जाय।
कोइला होय न ऊजरा, जो सौ मन साबुन लाय॥ 161 ॥

शब्दार्थ—गाँठि का=पास का, हृदय का।

भावार्थ—मूर्ख मनुष्य को सीख देने पर उसके द्वारा उसका दुरुपयोग होने के कारण उपदेष्टा के हृदय की शांति भंग होती है। मूर्ख उसी प्रकार हजारों उपदेश देने पर भी शुद्ध नहीं होता, जिस प्रकार सौ मन साबुन लगाकर धोने पर भी कोयला उजला नहीं होता॥ 161 ॥

व्याख्या—कबीर केवल संतशिरोमणि ही नहीं हैं, किन्तु कवि-कुलभूषण भी हैं। वे पदे-पदे इतने सुन्दर, सटीक और सचोट उदाहरण देते हैं कि

विषय-वस्तु समझना अत्यंत सरल हो जाता है। कबीर के काव्य को पढ़ते समय उनके काव्य-कौशल, अलंकार, उदाहरण तथा सचोट तार्किक कथ्यों पर मन मुग्ध हो जाता है। आलंकारिक काव्य-कौशल प्रदर्शित करने वाले तो दूसरे कवि भी बहुत हैं, परन्तु हर बात में तार्किक चिन्तन देने वाले कबीर हैं।

इस साखी में सद्‌गुरु ने एक सरल बात पर प्रकाश डाला है। वे कहते हैं, कि यदि मूर्ख मनुष्य को उपदेश दिया जाये तो वह उससे लाभ लेगा नहीं, बल्कि उलटकर उसका दुरुपयोग करेगा। वह अच्छी सीख एवं उपदेश का गुप्त या प्रकट मजाक उड़ायेगा, हंसी करेगा या सीख देते समय उद्दण्डतापूर्वक जवाब देगा, अथवा सीख के उलटे आचरण करके समाज में अपनी वरीयता जाहिर करना चाहेगा। ऐसे लोगों को उपदेश देने से उनके द्वारा उपदेशों की अवहेलना होने के कारण उपदेष्टा में असंतोष आ सकता है और उसकी शांति भंग हो सकती है। यही उपदेष्टा की गांठ का ज्ञान चला जाना है। उपदेष्टा चला मूर्ख को शांति देने, तो उसको कोई लाभ नहीं हुआ, उलटे उपदेष्टा की ही शांति भंग हो गयी।

आप जानते हैं कि कोयला भीतर से बाहर तक स्वरूपतः काला होता है। उसे सौ मन साबुन लगाकर पानी से धोया जाये तो भी वह उजला होने वाला नहीं है। मूर्खों की यही दशा है। वे भीतर से बाहर तक काले कोयले हैं। वे शुद्ध नहीं हो सकते, चाहे उन्हें लाख उपदेश दिये जायें। यह कहा जा सकता है कि कोयला तो जड़ है, किन्तु मनुष्य चेतन है। वह अपनी दृष्टि बदल दे तो अवश्य सुधर जायेगा। यह तर्क ठीक होने पर भी कहना पड़ता है कि कुछ लोग ऐसे होते हैं जो हजार सीख देने पर भी सुधर नहीं सकते। यह सभी महामनीषियों का अनुभव है। कबीर साहेब के परवर्ती गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज भी कहते हैं—"मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलें बिरंचि सम। फूले फलै न बेत, यदपि सुधा बरसै जलद॥" गोस्वामी जी ने तो इस सोरठा में इतना ही बताया कि मूर्ख श्रेष्ठ गुरु द्वारा भी नहीं चेत सकता। कबीर साहेब ने उक्त साखी में कहा कि वह चेत तो सकता ही नहीं, उलटकर चेताने वाले की ही शांति भंग होगी। और यह तथ्य है। अतएव गुरुजनों को चाहिए कि शिक्षा पर क्रोध प्रकट करने या उसकी अवहेलना करने वाले शिष्य का परित्याग करे।

"कोइला होय न ऊजरा, जो सौ मन साबुन लाय।" इस कथन पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि कोयला सौ मन साबुन से उजला नहीं होगा तो क्या सौ मन से ज्यादा साबुन लगाने पर उजला हो जायेगा? उत्तर में समझना चाहिए कि यहां सौ मन वजन साबुन से मतलब नहीं है। यह "सौ मन साबुन" भी एक मुहावरा हो गया है। जिसका अर्थ लाक्षणिक है कि चाहे

जितना साबुन लगाने पर भी कोयला उजला नहीं होगा। इसी प्रकार मूर्ख को सौ बार या हजार बार समझाने पर भी वह नहीं चेतेगा। इस कथन में सौ या हजार बार समझाने की बात एक मुहावरा है जिसका लाक्षणिक अर्थ है कि चाहे जितना समझाओ, मूर्ख नहीं चेत सकता।

मूढ़ कर्मिया मानवा, नख शिख पाखर आहि ॥
बाहनहारा क्या करै, जो बान न लागै ताहि॥ 162॥

शब्दार्थ—पाखर=लोहे की वह झूल जो लड़ाई में हाथी या घोड़े पर उनकी रक्षा के लिए डाली जाती है। बाहनहारा=बाण चलाने वाला, तात्पर्य में उपदेशक।

भावार्थ—मूढ़ता का आचरण करने वाले मनुष्य के तो एड़ी से चोटी तक मूर्खता की झूल पड़ी है, फिर ज्ञानोपदेशरूपी बाण चलाने वाले उपदेशक संत-गुरु क्या करें जबकि मूढ़ श्रोता को एक बाण भी नहीं लगता॥ 162॥

व्याख्या—पुराकाल में जब सैनिक हाथी-घोड़े पर बैठकर और धन्वा-बाण चलाकर लड़ते थे, तब वे स्वयं लोहे का बकतर पहनते थे और हाथी-घोड़े को भी लोहे की झूल पहना देते थे जिससे शत्रुओं के बाण उनके अंगों को न बेध सकें। सद्गुरु कहते हैं कि मूर्ख मनुष्य मानो अपने सर्वांग में मूर्खता एवं हठता की झूल पहन रखा है। उसको चाहे जितना उपदेश करो, उस पर कोई प्रभाव पड़ने वाला नहीं है। यहां सद्गुरु उपदेष्टाओं को यह बताना चाहते हैं कि जो मूर्ख, अत्यन्त हठी एवं सर्वथा अपात्र हैं, उनको चेताने के पीछे मत पड़ो। इससे उनका कोई लाभ होने वाला नहीं है और तुम्हारी हानि है। एक तो तुम अपने अमोल समय को व्यर्थ में खोओगे, दूसरे उनके द्वारा अपने उपदेशों की अवहेलना देखकर व्यर्थ कष्ट होगा। अतएव जिस व्यापार में अपना और दूसरे किसी का भी लाभ न हो वह क्यों किया जाये!

संसार सेमल फल के समान असार है

सेमर केरा सूवना, छिवले बैठा जाय॥
चोंच सँवारे सिर धुनै, ई उसही को भाय॥ 163॥

शब्दार्थ—छिवले=ढाक-पलास।

भावार्थ—सेमल-वृक्ष पर रहने वाला सुग्गा उड़कर पलास के वृक्ष पर जा बैठा। उसके फल में भी चोंच मारने पर जब उसकी सारहीनता प्रतीत हुई तो सिर पटककर पश्चाताप करने लगा और सोचने लगा कि यह भी सेमल का भाई-बिरादर है॥ 163॥

व्याख्या—सुग्गा ने सेमल-फल को खाने की आशा से उनका सेवन

किया। सेमल-फल के पकने पर जब उनमें उसने चोंच मारी तो नीरस रुई निकली। अतएव वह वहां से उड़कर पास के पलास के पेड़ पर जा बैठा। उसने उसके फल में चोंच मारी तो वह भी सारहीन तथा कुस्वाद युक्त ठहरा। यह भी उसी के समान है यह विचारकर उसे कष्ट हुआ। मनुष्य की यही दशा है। वह एक भोग से दूसरे भोग के पास जाता है और उसे हर भोग में सेमल के फल के समान सारहीनता का अनुभव होता है। पहले सुग्गा सेमल के फूल एवं फल का सेवन करता है। उनके इर्द-गिर्द मंडराता है। जब फल पकते हैं और उनमें चोंच मारने पर नीरस रुई निकलती है तब उसकी आशा पर पानी फिर जाता है। इसी प्रकार मनुष्य की दशा है। वह जवानी में काम-भोग के प्रति आकर्षित होता है। परंतु सारी परतंत्रता एवं मलिनता का कारण काम-भोग बनता है। फिर उसे पुत्र-धन से सुख की आशा होती है, परन्तु थोड़े दिनों में उनकी सारहीनता का भी परिचय मिल जाता है। आदमी स्त्री, पुत्र, धन, पद, मान, प्रतिष्ठा आदि एक भोग के बाद दूसरे भोगों की ओर दौड़ लगाता है। पहली बात यह है कि उसे इच्छानुसार भोग मिलते ही नहीं और यदि कुछ लूले-लंगड़े मिल भी गये, तो उनमें उसे संतोष नहीं मिलता। यदि इच्छित भोग भी मिल जायें तो भी उनमें तृप्ति कहां है! भोगों में लगने पर जीवन में भटकाव के अलावा कुछ नहीं है।

सद्‌गुरु कहते हैं कि संसार के भोगों में इतना ही अन्तर है कि कोई सेमल के फल के समान है और कोई पलास के फल के समान। सेमल के फल में एकदम नीरस रुई है और पलास के फल में भी करीब-करीब वही नीरसता है। मन-इन्द्रियों से अनुभव में आने वाले सारे पांचों विषयों के भोगों की दशा यही है। संसार के बड़े-से-बड़े कहे जाने वाले भोग जिनके लिए आदमी सारे पाप करने के लिए तैयार रहता है, एकदम सारहीन हैं।

सेमर सुवना बेगि तजु, तेरी घनी बिगुर्ची पाँख॥
ऐसा सेमर जो सेवै, जाके हृदया नाहीं आँख॥ 164॥

शब्दार्थ—बेगि=शीघ्र। घनी=बहुत। बिगुर्ची=उलझी।

भावार्थ—हे सुग्गे! सारहीन फल वाले सेमल के पेड़ को शीघ्र छोड़ दे। सेमल की रुई में तेरे पंख बहुत उलझ गये हैं। ऐसे नीरस सेमल-फल का सेवन वही करता है जिसके हृदय में विवेक की आंखें नहीं होतीं॥ 164॥

व्याख्या—वैराग्यप्रवर सद्‌गुरु कबीर की दृष्टि पारदर्शी है। वे संसार के विषयों में डूबे हुए मनुष्यों को सावधान कर रहे हैं कि हे मनुष्य! तू इन नीरस भोगों को शीघ्र छोड़ दे। जिन ज्ञान-वैराग्य के पंखों से तू उड़कर भवचक्र से भाग सकता है वे विषयासक्ति में उलझ गये हैं। आदमी जितना भोगों तथा संसार की आशा-तृष्णा में डूबता है उतना ही संसार में उलझता है। संसार में

उलझकर उसे दुख तथा पश्चाताप के सिवा कुछ नहीं मिलता है। संसार के बड़े-बड़े कहे जाने वाले ऐश्वर्य अन्त में मिट्टी में मिल जाते हैं। उनके मोह तथा अध्यास-वश जीव को केवल दुख एवं भव-बंधन मिलते हैं। जैसे सेमल के फूल तथा फल केवल देखने में मनोहर और आकर्षक लगते हैं, परन्तु उनमें सार कुछ भी नहीं है, वैसे धन, परिवार, मान, बड़ाई तथा संसार के ऐश्वर्य देखने में आकर्षक लगते हैं, परन्तु अन्त में उनमें कुछ भी सार नहीं है।

सद्गुरु कहते हैं कि हे मूढ़ सुग्गे ! तू शीघ्र सेमल को छोड़ दे। अर्थात हे मूढ़ मानव ! तू जल्दी से इस दिखावे से भरे संसार का मोह छोड़ दे। जिन मायावी प्राणी-पदार्थों के मोह में तू मूढ़ बना है वे अन्ततः कुछ नहीं हैं। सांसारिक माया की निस्सारता के लिए सेमल के फूल-फल के उदाहरण के समान दूसरा क्या हो सकता है ! इतने पर भी हमारी आंखें न खुलें तो दूसरा क्या उपाय है ! कुत्ते दस बार डंडे खाकर भी हंडी में मुंह डालते हैं, वैसे हम संसार से ठोकर खाकर भी उसके मोह में मूढ़ बनते हैं। चारों तरफ से असंतोष पाकर भी मोह-मूढ़ मन नहीं जागता, मोह तथा विषयासक्ति से उसे घृणा नहीं होती तो उसका उद्धार कैसे होगा ! जहां सब कुछ नाशवान है, वहां किससे मोह-ममता की जाये !

सद्गुरु कहते हैं "ऐसा सेमर जो सेवै, जाके हृदया नाहीं आँख।" जिसके हृदय की आंखें—विवेक-विचार—नहीं हैं वही इन सारहीन मायावी वस्तुओं में मोह-मूढ़ बनता है। विचारकर देखा जाये तो संसार में कोई बिरला होगा जिसके हृदय की आंखें खुली हैं, अन्यथा सबकी बन्द हैं। सद्गुरु कहते हैं कि माया-मोह से जागो ! हृदय की आंखें खोलो !

सेमर सुवना सेइया, दुइ ढेंढ़ी की आस॥
ढेंढ़ी फूटि चनाक दै, सुवना चलै निरास॥ 165॥

शब्दार्थ—दुई ढेंढ़ी=दो फल, लक्षणा अर्थ में कुछ फल, तात्पर्य में दृष्ट और श्रुत भोग।

भावार्थ—सुग्गों ने कुछ फल की आशा में सेमल के फूल और फल का सेवन किया, परन्तु जब सेमल के फूल पककर चटाक से फूटने लगे और उनमें से नीरस रोयें निकलकर उड़ने लगे, तब सुग्गे निराश होकर उड़ चले। इसी प्रकार मनुष्य देखे और सुने हुए भोगों को भोगने की आशा में सांसारिक माया का सेवन करते हैं, परन्तु संसार की नश्वरता और स्वार्थपरता की कलई खुलने पर निराश होकर संसार से चले जाते हैं॥ 165॥

व्याख्या—मनुष्यों को दृष्ट और श्रुत दो प्रकार के भोगों का लालच है। दृष्ट का अर्थ है संसार के पांचों विषयों के भोग जो इन्द्रियों के सामने हैं; और

श्रुत का अर्थ है सुने हुए भोग जो काल्पनिक देव, ईश्वर एवं स्वर्ग से प्राप्त माने गये हैं। श्रुत-भोग तो निरी कल्पना ही हैं, परन्तु जो संसार के दृष्ट-भोग हैं वे भी नश्वर हैं और मनुष्यों की स्वार्थपरता में पड़े हुए चारों तरफ से खींचतान के हैं।

शरीर के गुजर के लिए तो सबको श्रम करना पड़ता है और उसके लिए साधन जुटाना पड़ता है। यह आवश्यक है। इसके बिना जीवन नहीं चल सकता। जीवन-निर्वाह का धन्धा करना बंधन नहीं बनता। जीवन-निर्वाह के अलावा है इंद्रियों के भोग, प्राणी-पदार्थों से मोह-ममता एवं लोभ-लालच। ये सब जीव के लिए फांसी बनते हैं। मनुष्य का देह-निर्वाह तो थोड़ी-सी चीजों में हो सकता है, वह भोगों के लालच में मारा जाता है। विमोहित मानव संसार के प्राणी-पदार्थों में स्थायी सुख ढूंढ़ता है जो आकाशकुसुम के समान असम्भव है। संसार के प्राणी-पदार्थों से केवल शरीर-निर्वाह होता है। मन का स्थायी सुख तो मन की निर्मलता, स्वच्छता एवं एकाग्रता में है। जितना माया-मोह छोड़ो, उतना सुख है। मूढ़ मन समझता है कि जितनी मोह-माया करो, उतना सुख मिलेगा। जवानी, धन, काम-भोग, स्त्री, पुत्र, प्रतिष्ठा आदि से सुख पाने का महान भ्रम होता है, परन्तु जब प्राणियों की स्वार्थपरता का व्यवहार सामने आता है और बुढ़ापा आने पर सब कुछ की नश्वरता का अनुभव होता है तब मनुष्य का मन निराश हो जाता है; परन्तु तब तक उसके सुनहले अवसर बीत चुके होते हैं। इस प्रकार परमशांति और परमानन्द के अनुभव करने के स्थान रूप मानव-शरीर को जीव गोबर-कीड़े के समान बिताकर संसार से चला जाता है। अतएव उसे अवसर रहते ही चेत जाना चाहिए। 'स्व' तथा 'पर' दो सत्ताएं हैं। 'स्व' का विस्मरण तथा 'पर' का मोह ही पीड़ाप्रद है और 'स्व' का अनुराग तथा 'पर' से विराग सुख-मूल है। संसार से पूर्ण अनासक्त होकर स्वरूपस्थिति में ठहरने से ही जीव स्थायी सुखी हो सकता है।

दूसरे के भरोसे पर मत रहो

लोग भरोसे कौन के, बैठ रहै अरगाय ॥
ऐसे जियरहिं जम लूटे, जस मटिया लुटे कसाय ॥ 166 ॥

शब्दार्थ—अरगाय=अलग होकर, चुप्पी साधकर, हाथ पर हाथ धरकर, आलस्यपूर्वक। जम=यम, वासनाएं। मटिया=मांस।

भावार्थ—संसार के लोग किस देव-गोसैयां के भरोसे हाथ-पर-हाथ धरे एवं चुप्पी साधकर बैठे हैं! ऐसे आलसी मनुष्यों को वासनाएं उसी प्रकार लूटती हैं जैसे कसाई मांस को ॥ 166 ॥

व्याख्या—मैं किंचिज्ञ, अल्पज्ञ और तुच्छ हूं, सर्वथा बलहीन हूं, हरि-माया अति बलवती है, प्रभु ही चाहे तारे और चाहे डुबावे, अथवा माया अनिर्वचनीया, अघटित-घटना-पटीयसी और दुरत्यया है—ऐसी कल्पना कर कितने मनुष्य आत्मविश्वास खो बैठते हैं। यह 'देव-देव आलसी पुकारा' के अलावा और कुछ नहीं है। कुछ भावुकों ने आम जनता को यह पाठ पढ़ाया है—"जीव तुच्छ है। वह कुछ नहीं कर सकता। यदि कोई ऐसा समझ ले और सब ईश्वर के भरोसे छोड़ दे, तो ईश्वर उसका सब कुछ कर देगा।" यह मानव मन को दुर्बल बनाना है। कोई ऐसा ईश्वर नहीं है जो बिना कमाई किये खेत में फसल दे दे, बुद्धि में विद्या दे दे तथा मन में मोक्ष दे दे। मनुष्य जब तक स्वयं श्रम नहीं करता तब तक उसे कुछ मिलने वाला नहीं है। संत-सद्गुरु भी केवल प्रेरणा देने वाले हैं, साधना-क्षेत्र पर स्वयं चलकर ही मोक्ष पाया जा सकता है। हम सपने में नदी में डूब रहे हैं, बाहर चाहे सैकड़ों नौकाएं बंधी हों, परन्तु बिना अपनी नींद खुले हम उससे बच नहीं सकते। मनुष्य का उद्धार करने वाला न कोई देव है और न कोई ईश्वर। उसे अपना उद्धार स्वयं करना है। यदि कोई देव या ईश्वर उद्धार करने वाले होते तो वे आज तक सारे जीवों का दुखों से उद्धार कर दिये होते। कहते हैं कि जब कोई कातरभाव से उनकी प्रार्थना करता है तब वे उसका उद्धार करते हैं। इतने लापरवाह और खुशामदपसंद देव और ईश्वर जो स्वयं दुर्बलताओं के शिकार हैं, वे दूसरे का क्या उद्धार कर सकते हैं! किसी कल्पित देव और ईश्वर का भरोसा करना अपने मन को क्षणिक सन्तोष देना मात्र है।

मनुष्य अपना कल्याण करने में स्वयं समर्थ है। हमारे पूर्वजों ने भी कहा है "नायमात्मा बलहीनेनलभ्यः" बलहीन व्यक्ति आत्मलाभ नहीं कर सकता। सद्गुरु कहते हैं कि तुम किसके भरोसे आलसी बनकर बैठे हो! कौन दूसरा तुम्हारा उद्धार कर देगा? वासनाएं जो बंधन हैं, वे तुम्हारे मन में हैं। उन्हें तुम्हीं नष्ट कर सकते हो। उन्हें कोई दूसरा नहीं मिटा सकता। जो व्यक्ति किसी दूसरे देव तथा ईश्वर के भरोसे बैठकर अपना कल्याण चाहता है, उसे यमराज लूटता है। यमराज है वासनाएं। आलसी मनुष्यों को उनके मन की वासनाएं रात-दिन रुलाती हैं। जिसके हृदय में आत्मज्ञान, आत्मविश्वास तथा आत्मनियंत्रण नहीं है उसका उद्धार करने वाला दूसरा कोई नहीं है।

संसार का काम दूसरों के भरोसे पर छोड़ना भी पड़ता है, परन्तु आत्मकल्याण का काम तो बिलकुल स्वयं को ही करना पड़ता है। यदि हम घर नहीं बना सके तो हमारे परिवार या समाज के दूसरे व्यक्ति उसे बना लेंगे। इसी प्रकार अमुक काम हम नहीं कर सके तो उसे दूसरा साथी कर लेगा; परन्तु हमारा आत्मकल्याण दूसरा नहीं कर सकता। उसे तो हमें ही करना

पड़ेगा। अतएव अपनी जिम्मेदारी से कतराकर हम छुट्टी नहीं पा सकते। हमें अपना उद्धार स्वयं के पुरुषार्थ से करना है, यह निश्चय कर उसके लिए डट पड़ना चाहिए।

सर्वोच्च सन्त के लक्षण

समुझि बूझि जड़ हो रहै, बल तजि निर्बल होय॥
कहहिं कबीर ता सन्त का, पला न पकरै कोय॥ 167॥

शब्दार्थ—जड़=मौन, भोलाभाला। बल=अहंकार। पला=पल्ला, आंचल, कपड़े का छोर, दामन, अंगरखे का निचला भाग।

भावार्थ—विवेकवान पुरुष सत्य को भली-भांति समझ-बूझकर भोले-भाले बन जाते हैं और सम्पूर्ण अहंकार को छोड़कर निर्मानी हो जाते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे निर्मल संत का कोई पल्ला नहीं पकड़ सकता, अर्थात उन्हें कोई प्रपंची नहीं बना सकता॥ 167॥

व्याख्या—शास्त्रज्ञानी, बौद्धिकज्ञानी एवं वाचिकज्ञानी ही अपने अर्जित ज्ञान का जा-बेजा प्रदर्शन करता रहता है। उसकी "बदो तो पंच न बदो तो पंच" वाली दशा रहती है। वह अनधिकारी के सामने भी अपना ज्ञान झाड़ता रहता है। उसे जनता को यह बताना रहता है कि मैं बहुत बड़ा ज्ञानी हूं। वह जानकारी को ही ज्ञान मानता है और उसका हर जगह प्रदर्शन करते रहना ज्ञान की स्थिति मानता है।

सच्चे ज्ञानी की स्थिति इससे भिन्न होती है। सच्चा ज्ञानी वह है जिसने गलत और सही को, जड़ और चेतन को, बंधन और मोक्ष को तथा प्रापंचिकता एवं दिव्य रहनी के भेद को ठीक से जान लिया है और जानकर त्यागने योग्य को जीवन से त्याग दिया है और पवित्र रहनी में रहकर अपने दिव्य चेतनस्वरूप में रमता है। वह अपने अन्तःकरण और वाणी को विशेषतः मौन रखता है। वह केवल पात्र देखकर उसके कल्याण के लिए कुछ कहता है।

यह नहीं समझना चाहिए कि सच्चे ज्ञानी का अर्थ वाणी को पूर्णतया मौन कर देना है। वस्तुतः उसका मन मौन हो जाता है। मौन हो जाने का तात्पर्य अनासक्त हो जाने से निर्वात हो जाना है। उसके मन में कोई द्वन्द्व नहीं रहता। उसके सारे तर्क शांत हो जाते हैं। उसके सारे भौतिक नाम-रूप मिथ्या हो जाते हैं, इसलिए वह अपने नाम-रूप की निंदा-प्रशंसा में आंदोलित नहीं होता। उसके चित्त में द्वन्द्व नाम की कोई बात नहीं होती। अतएव वह जानने योग्य को जानकर तथा करने योग्य को करके भी भोलाभाला बन जाता है। उसका चित्त तरंगरहित सागर की तरह प्रशांत होता है। वह अपने आप को

समस्त भौतिक सत्ता से सर्वथा अलग कर लेता है। इसलिए उसके मन से समस्त भौतिक पदार्थों, पद एवं प्राणियों की अहंता-ममता का सर्वथा अन्त हो जाता है। अतएव वह सारे बल को छोड़ देता है। वह शरीरबल, बुद्धिबल, विद्याबल, शासनबल, स्वामित्वबल, जनबल, धनबल आदि समस्त बलों को अपनी आत्मा से अलग समझकर उनके अहंकार से सर्वथा अलग हो जाता है। वह सब बलों को छोड़कर निर्बल हो जाता है। ऐसा निर्बल व्यक्ति आत्मिक बल से महान बलवान हो जाता है। जो भौतिक बल का अहंकार छोड़ देता है उसका बल अपार हो जाता है।

जिसने वास्तविकता को समझकर सारे अहंकार को छोड़ दिया और भोलाभाला बन गया वह ज्ञानी पुरुष सबकी पकड़ से बाहर हो जाता है। उसका कोई पल्ला नहीं पकड़ सकता। पल्ला का अर्थ है शरीर में पहने हुए कपड़े का छोर। यदि हमें किसी मनुष्य को पकड़कर उसको वश में करना है तो उसके पहने हुए कपड़े को पकड़ने से वह शीघ्र वश में हो जाता है। उसके हाथ, कमर या पैर पकड़ने से वह झिड़ककर तथा अपने आप को छुड़ाकर भाग सकता है, परन्तु जब उसके पहने हुए कपड़े को पकड़ लिया जाता है तब वह नहीं छुड़ा सकता।

जो मूर्ख और निर्बल है वह किसी काम लायक नहीं है, परन्तु जो जानने योग्य को जानकर और करने योग्य को करके मूर्ख तथा निर्बल बन जाता है, अर्थात भोलाभाला तथा निर्मानी बन जाता है, वह वस्तुतः महाज्ञानी एवं महा बलवान हो जाता है। उसका कोई पल्ला नहीं पकड़ सकता। अहंकारी आदमी ही फंसता है। जिसके सारे अहंकार बीत चुके हैं उसे कोई फंसा नहीं सकता।

अपने आपको चारों ओर से समेट लेना ही मोक्ष है। ऋषि सनत्कुमार कहते हैं—

"यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा।"[1] अर्थात जहां कुछ अन्य नहीं देखता, कुछ अन्य नहीं सुनता एवं कुछ अन्य नहीं जानता, वह भूमा है।

मौलाना रूम कहते हैं—

चश्म बंदौ गोश बंदौ लब बिबंद।
गर न बीनी सर्रेहक़ बरमन बखंद॥

अर्थात आंखें बंद कर लो, कान बंद कर लो और ओठों को बंद कर लो, इतने पर भी सत्य के दर्शन न हों तो मेरा मजाक उड़ाना।

पहुंचा हुआ सन्त लड़ता नहीं। वह हार मानता है। वह हारकर जीत जाता

1. छांदोग्य उपनिषद् 7/24/1।

है और अहंकारी आदमी जीतकर हार जाता है। "हारा सो हरि को मिले, जीता जमपुर जाय।" निर्मान व्यक्ति शांति पाता है और अहंकारी वासनाओं के द्वन्द्व में उलझता है। शांति ही हरि है और वासनाओं का द्वन्द्व ही यमपुर है। अतएव सच्चा सन्त, पूर्ण सन्त निर्मान एवं निर्द्वंद्व होकर विचरता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने कितना अच्छा कहा है—

अनुराग सो निजरूप जो जग तें बिलच्छन देखिए।
सन्तोष सम सीतल सदा दम देहवंत न लेखिए॥
निरमल निरामय एकरस तेहि हरष सोक न ब्यापई।
त्रैलोक पावन सो सदा जाकी दशा ऐसी भई।

(विनय पत्रिका, पद 137/11)

सच्चे सिद्धान्त और मनुष्य की पहचान

हीरा सोइ सराहिये, सहै घनन की चोट॥
कपट कुरंगी मानवा, परखत निकरा खोट॥ 168॥

शब्दार्थ—हीरा=एक बहुमूल्य रत्न जो अत्यन्त कठिन और सफेद चमक वाला होता है, सत्य बात, सत्य सिद्धांत, अच्छा आदमी, पूर्ण संत। घनन=घन का बहुवचन, लुहार का भारी हथौड़ा घन कहलाता है। कुरंगी=कुभावनाओं से भरा। खोट=बुराई, दोष, खोटा-घटिया, दुरात्मा।

भावार्थ—हीरा वही प्रशंसनीय है जो घनों की चोट सहन कर ले और न टूटे। इसी प्रकार बात, सिद्धांत एवं मनुष्य वे ही प्रशंसनीय हैं जो तर्कों तथा द्वंद्वों में न टूटें। परन्तु कपट और कुभावनाओं से भरे मनुष्यों पर, परख की कसौटी लगाते ही वे खोटे निकलते हैं॥ 168॥

व्याख्या—हीरा एकदम उज्ज्वल और बहुत कठोर होता है। उस पर घन की चोट मारने पर भी वह नहीं टूटता। मशीन में दो हीरे लगाकर उन्हें लड़ाया जाता है तब वे एक दूसरे को काटते हैं। हीरा ही हीरे को काटता है। वह घन से नहीं टूटता। यहां हीरे का उदाहरण केवल इतना ही है कि वह घनों की चोट सहता है। उनसे टूटता नहीं। सद्गुरु इस उदाहरण से यह बताना चाहते हैं कि सत्य बात एवं सत्य सिद्धांत इसी प्रकार ठोस होते हैं। वे तर्कों से कटते नहीं। उन्हें कोई न माने यह अलग बात है, परन्तु वे अटल हैं। सिद्धान्त का अर्थ है जो अन्त में सिद्ध हो, सिद्ध + अन्त=सिद्धांत। जो सारे निर्णयों के बाद निष्कर्ष हो वही सिद्धांत है। नाना मतों द्वारा प्रचलित अवधारणाएं सिद्धांत नहीं हैं, किन्तु विश्व के शाश्वत नियमों के अनुकूल तथ्य सिद्धांत है। झूठी दैवीकल्पना और धूर्ततापूर्ण चमत्कार सिद्धांत नहीं है, किन्तु वस्तुपरक बुद्धि द्वारा एवं जड़-चेतन के गुण-धर्मों द्वारा उनकी ठीक से परख कर लेने के बाद

स्थिर तथ्य सिद्धान्त है। वह अकाट्य होता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध—ये पांचों विषय दृश्य और इनके द्रष्टा, विषयी अर्थात विषयों को जानने वाले नाना चेतन हैं, ये परम सत्य हैं। जड़ और चेतन अर्थात प्रकृति और पुरुष दोनों सत्य हैं। जड़ विजाति, विकारी, परिवर्तनशील और मुझ चेतन से सर्वथा अलग है और चेतन निर्विकारी तथा मेरा सहज स्वरूप है। अतएव जड़-वासनाओं को छोड़कर अपने सहज चेतनस्वरूप में स्थित होना ही मनुष्य का परम उद्देश्य है—यही शाश्वत सिद्धांत है। यह अकाट्य है। शक्ति चले तक किसी प्राणी को कष्ट न पहुंचाना, किन्तु जहां तक बन सके दूसरे को सुख-सुविधा देना मानव का धर्म है, यह परम सिद्धांत है। हम दुख नहीं चाहते। इसी प्रकार दूसरे प्राणी भी दुख नहीं चाहते; अतएव किसी को दुख न पहुंचाना हमारी मानवता है और यही अपने लिए भी सुरक्षित पथ है। जो दूसरों को दुख देगा या देना चाहेगा, वह स्वयं दुखों से खाली नहीं रहेगा। इसलिए सबके साथ दया और प्रेम का बरताव ही सुरक्षित पथ है। यह अकाट्य बात एवं अटल सिद्धांत है। यह तर्कों से कट नहीं सकता।

इसी प्रकार वह मनुष्य प्रशंसनीय है जो दुख-सुख, हानि-लाभ, मान-अपमान आदि से विचलित न हो। संसार में वे ही ऊंचे उठते हैं जो प्रतिकूल परिस्थितियों के आने पर उनसे विचलित न होकर अपने सत्पथ पर बने रहते हैं। बुद्ध, महावीर, सुकरात, ईसा, कबीर, नानक, दयानन्द, विवेकानन्द, गांधी आदि अनेक नाम लिये जा सकते हैं जो प्रतिकूलता आने पर उसे सहते रहे और अपने सत्पथ में अडिग बने रहे। प्रतिकूल परिस्थितियों के सामने झुक जाने वाला व्यक्ति सत्पथ पर नहीं चल सकता। उपर्युक्त सभी नामों में कबीर अत्यन्त निर्भीक नाम है जिसने सबकी गलतियों पर करारा तर्क किया और उन सबके द्वारा प्रतिकूलता पाकर उन्हें अमृत के समान सहा और सब पर विजयी हुआ। "हीरा सोई सराहिये, सहै घनन की चोट" यह पंक्ति, इस पंक्ति के कहने वाले पर ही ज्वलंतरूप से घटती है। जो सुख-सम्मान और जीवन-मृत्यु की परवाह छोड़ देता है उसका रास्ता कोई नहीं रोक सकता। मखमली गद्दे में पड़े-पड़े रबड़ी-मलाई चाटते-चाटते मर जाने वाले बहुत हैं जिनका कोई मूल्य नहीं है। आधा पेट सूखी रोटी खाकर जन-सेवा करने वाले, कांटों की टोपी पहनने वाले, विष का प्याला पीने वाले, क्रास तथा सूली-फांसी पर चढ़ने वाले, खांड़े की धार पर चलने वाले, पिस्तौल की गोली खाने वाले वे धन्य हैं जो जीवनभर किसी भय के सामने अपने सत्पथ से रत्तीभर विचलित नहीं हुए। वे ही संसार में हीरा हैं। जड़ हीरे का उदाहरण तो एक उपलक्षण मात्र है। अविचलित महामानव संसार में सर्वोच्च है।

"कपट कुरंगी मानवा, परखत निकरा खोट" कपट और बुरी भावनाओं

से भरा हुआ आदमी परख लगाते ही खोटा निकल जाता है। जैसे असत्य बातें परख की कसौटी पर कसते ही निरर्थक हो जाती हैं, वैसे कच्चा आदमी भी कसौटी में नहीं ठहरता। ऐसे लोग थोड़ी कठिनाई आने पर सत्पथ छोड़ बैठते हैं। अंग्रेजी शासन के विरोध में कांग्रेस द्वारा चलाये गये सन् 1942 के आंदोलन में जब कांग्रेसी कार्यकर्ता पकड़-पकड़कर जेल ले जाये जाने लगे तब जहां शूरवीर कार्यकर्ता अंग्रेजी शासन को ललकारते हुए हंस-हंस कर जेल जाते थे, वहां कोई ऐसा भी कच्चा निकलता था जो माफी मांगकर जेल जाने से अपने आप को बचा लेता था। ऐसे लोगों की दुनिया में क्या कीमत है! जो कांटों की शय्या से भागता है वह कुछ नहीं कर सकता। 'भुजगशयनम्' होकर भी 'शांताकारम्' रहने वाला ही 'विष्णु' हो सकता है, व्यापक एवं महान हो सकता है। सांप पर सोकर शांत रहना एक आलंकारिक कथन है। इसका मतलब है प्रतिकूल परिस्थितियों को झेलते हुए भी शांत रहना।

हरि हीरा जन जौहरी, सबन पसारी हाट॥
जब आवै जन जौहरी, तब हीरों की साट॥ 169॥

शब्दार्थ—हरि=ज्ञान। जन=नाना मत के गुरुजन। हाट=बाजार, सत्संग। जन जौहरी=पारखी। साट=परख।

भावार्थ—सभी मत के गुरुजनों ने अपने ज्ञानरूपी हीरों को सत्संगरूपी बाजार में फैलाकर दुकानें लगा रखीं हैं। परन्तु जब कोई ज्ञान-हीरे का सच्चा पारखी आयेगा, तब इनके हीरों की परख करेगा। सच्चा पारखी ही असली तथा नकली हीरे की परख करता है॥ 169॥

व्याख्या—नाना मत के गुरुओं ने जो कुछ अवधारणाएं बना रखी हैं उन्होंने उन्हें सच्चा ज्ञान मान रखा है, परन्तु ज्ञान वही सच्चा है जो तर्कयुक्त एवं विवेकपूर्ण है। नाना स्वर्गलोकों की कल्पनाएं, उनमें कल्पित देवी-देवताओं एवं जोरावर ईश्वर के रहने की अवधारणाएं एवं उनकी खुशामद करने वालों को वहां पहुंचकर दिव्य भोगों की प्राप्ति, उन दिव्य भोगों की चरम परिणति हूरों (अप्सराओं, वेश्याओं) और गिल्मों (सुन्दर युवकों) से सहवास—मल-मूत्र का विलास जो इस दुनिया में सूअर, कुत्ते, बन्दर भी यथेष्ठ करते रहते हैं—दुनिया के बहुत बड़े हिस्से के लोगों का यही परम ज्ञान है!

बहुत-से लोग अपनी आत्मा से अलग परमात्मा की कल्पना करते हैं और उसे परम सत्यवत सिद्ध करते हैं। इतना ही नहीं, वे उससे मिलकर परमानंद पाने की भी आशा रखते हैं। कितने लोग किसी देहधारी मनुष्य को जो हजारों वर्ष पहले जन्म कर मर चुका है, अनन्त ब्रह्मांडनायक मानकर

उससे आज मिलने की आशा ही नहीं परम विश्वास रखते हैं और उससे मिलकर सुखी हो जाने की आशा रखते हैं। कितने लोग कवियों तथा भावुकों द्वारा गढ़े गये कल्पित देवी-देवताओं को इतना परम सत्य मान रखे हैं कि वे सब अभी अपनी पूरी शक्ति से विद्यमान हैं और जो चाहें वह कर सकते हैं। उनकी प्रार्थना, खुशामद एवं पूजा करने से वे सब प्रकार की ऋद्धि-सिद्धि दे सकते हैं। जबकि उनका पोलखाता यह है कि उनकी मूर्तियां ही मन्दिरों से चोर उठा ले जाते हैं और वे उनका कुछ नहीं कर पाते। कितने लोग मंत्र, तंत्र, भूत-प्रेत आदि की जालसाजी को ही परम विद्या एवं ज्ञान मान रखे हैं जो केवल मक्कारी है। कितने लोगों का ज्ञान है धर्म, भगवान और महात्माओं के नाम पर गढ़ा गया चमत्कार, जो एक जालसाजी है। धर्म, भगवान एवं महात्माओं के नाम पर जहां जो कुछ कह या लिख दिया जाता है उस पर कोई तर्क करने की हिम्मत नहीं रखता। इस प्रकार ज्ञान तथा हीरे के नाम पर बहुत कुछ कूड़ा-कबाड़ बिकता रहता है।

जब ज्ञान का पारखी आता है, तब वह अपनी परख की कसौटी लगाकर सबकी परख करता है। वह तर्क, युक्ति एवं विवेक का सहारा लेता है। वह देखता है कि विश्व के नियम क्या हैं और उनके द्वारा वह सारे ज्ञान को कसता है। जिसने ईश्वर, गुरु तथा धर्मशास्त्र के नाम पर अपनी अक्ल को बेच दिया है वह ज्ञान का सच्चा हीरा कभी नहीं पा सकता। गुरु आदरणीय हैं तथा शास्त्र आदरणीय हैं, परन्तु अपनी विवेकबुद्धि कम आदरणीय नहीं है, बल्कि वही मुख्य है। हम अपनी विवेकबुद्धि से ही गुरुओं एवं शास्त्रों की बातों को समझ पायेंगे। बुद्धिहीन आदमी के लिए गुरु तथा शास्त्र निरर्थक हैं। शास्त्रों की दोहाई देते-देते सच्चा ज्ञान लुप्त हो गया है। सच्चे ज्ञान के लिए तर्क तथा निरख-परख की महती आवश्यकता है।

जड़-चेतन का निर्णय, उनमें निहित एवं स्वभावसिद्ध गुण-धर्मों से जगत की स्थिति, जड़ से भिन्न अपने चेतनस्वरूप का बोध, सदाचार एवं नैतिकता से चित्तशुद्धि, वासनाओं का त्याग कर स्वरूपस्थिति—ये सब सच्चे ज्ञान के हीरे हैं। पारखी इन्हें ही लेते हैं, शेष को परखकर छोड़ देते हैं।

हीरा तहाँ न खोलिये, जहँ कुँजरों की हाट॥
सहजै गाँठी बाँधि के, लगिये अपनी बाट॥ 170॥

शब्दार्थ—कुँजरों=साग-पात बेचने वाले। हाट=बाजार। बाट=मार्ग, रास्ता।

भावार्थ—हीरे की दुकान वहां नहीं लगाना चाहिए जहां साग-पात बेचने वाले कुंजड़ों का बाजार हो। वहां से तो हीरे को धीरे से गांठ में बांध कर अपना मार्ग पकड़ना चाहिए। अर्थात अपात्रों के सामने ज्ञान की बातें करना

निरर्थक है ॥ 170 ॥

व्याख्या—सब्जी मण्डी में यदि कोई जौहरी अपने हीरों की दुकान लगावे तो उसके हीरे बिक नहीं सकते। क्योंकि एक तो साग-पात बेचने तथा खरीदने वाले हीरे की परख नहीं जानते हैं, दूसरी बात उनके पास वहां उतने रुपये होते ही नहीं कि हीरे खरीद सकें। इसी प्रकार जो स्थूल उपासना, स्थूल कर्मकांड एवं मन्त्र-तन्त्र में उलझे हैं वे जड़-चेतन का निर्णय, विश्व के शाश्वत नियम, स्वरूपज्ञान, वासना-त्याग, स्वरूपस्थिति आदि की बातों को समझना ही नहीं चाहते। इसलिए उनके सामने अपनी बातें कहकर अपने समय और शक्ति को क्यों बरबाद करे, क्योंकि वे उनसे कोई लाभ नहीं ले सकते। वे तर्कपूर्ण एवं तात्त्विक बातें इसलिए भी नहीं समझना चाहते कि उनकी काल्पनिक मान्यताएं धराशायी हो जायेंगी। ऐसे लोग सत्य निर्णय से दूर भागते हैं। इसके अलावा कुछ लोग तो ऐसे मूढ़ होते हैं कि वे निर्णय को समझ ही नहीं सकते।

यहां एक प्रश्न उठता है कि यदि साधारण जनता में सत्य नहीं कहा जायेगा तो उनको उसे समझने का अवसर कब मिलेगा? देखा भी जाता है कि जड़-से-जड़ कर्मी-उपासक सत्य को सुनकर जग जाते हैं। पारख सिद्धान्त में आने वाले कितने ही लोग पहले के घोर कर्मी-उपासक होते हैं। यदि जड़ मान्यताओं में उलझे हुए लोगों को खरे निर्णय नहीं सुनाये जायेंगे, तो उनको सत्यज्ञान नहीं हो सकता। अपनी सत्य बात जब जनता में कही जायेगी, तब उसमें से जो पात्र होगा वह ग्रहण कर लेगा। ऐसी बातों का अनुभव भी किया जाता है।

उक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि सभी कथन प्रायः सापेक्ष होते हैं। अर्थात हर कथन में एक पक्ष होता है, परन्तु उसके साथ दूसरा पक्ष भी होता है। कुंजड़ों की हाट में हीरे नहीं बिक सकते, यह कथन परम सत्य है। इसी प्रकार कहीं-कहीं ऐसा होता है कि वहां सत्य निर्णय करना अपने समय तथा शक्ति का दुरुपयोग करना है। लोकोक्ति है "अंधों के आगे रोना, अपना दीदा खोना" अथवा "भैंस के आगे बेन बजावै, भैंस ठाढ़ि पगुराय"। ऐसे अनेक स्थल मिलते हैं कि वहां चुप रहना ही ठीक पड़ता है, "सहजै गाँठी बाँधिके, लगिये अपनी बाट।" की बात ही ठीक रहती है, क्योंकि वहां के लोग बिलकुल पात्र नहीं होते। यह भी है कि जो आदमी किसी समय अपात्र होते हैं, दूसरे समय वे पात्र हो जाते हैं। व्यक्तिगत पात्रता देखकर उपदेश करना पड़ता है। समूह तथा सभा में सब प्रकार की बातें कही जा सकतीं हैं। फिर वहां भी यह तो ध्यान रखना ही चाहिए कि सभा के बहुसंख्यक लोगों का मानसिक स्तर क्या है!

इस साखी का सार इतना ही है कि जो व्यक्ति जिस बात का पात्र नहीं है उसके सामने वैसी बात करके अपने तथा उसके समय को बरबाद न करे।

हीरा परा बजार में, रहा छार लपटाय॥
केतेहिं मूरख पचि मुये, कोइ पारखि लिया उठाय॥ 171॥

शब्दार्थ—छार=धूल। पारखि=पारखी, परखने वाला, विवेकी।

भावार्थ—हीरा बाजार में पड़ा है और उस पर धूल लिपट गयी है। कितने मूर्ख मनुष्य उसकी खोज में दुखी होकर उसके आस-पास से आते-जाते हैं और उसे नहीं पहचान पाते। परन्तु जो उसका पारखी है, वह उसे पहचानकर उठा लेता है। अर्थात सत्य का हीरा हम लोगों के बीच में ही है, परन्तु उसे सब नहीं परख पाते, कोई पारखी परखकर ग्रहण करता है॥ 171॥

व्याख्या—सत्य ज्ञान, सत्य पदार्थ हीरा है और वह जीव ही है। मनुष्य के लिए उसकी अपनी आत्मा ही परम सत्य और हीरा है। उसका ज्ञान हो जाना मानो हीरे को पा जाना है। मनुष्य सत्य ज्ञान का हीरा पाना चाहता है। परन्तु उसे हीरे की परख नहीं है। जैसे हीरा धूल में लिपटा हो और अनाड़ी आदमी उसे कांच की गोली समझकर छोड़ दे, वैसे यह हृदय-निवासी जीव मल, विक्षेप तथा आवरणों से लिपटा है, इसलिए संसार के बहुत-से ज्ञानी कहलाने वाले लोग इसे तुच्छ समझते हैं। लोग कहते हैं "यह जीव तो अंश, प्रतिबिंब, आभास आदि है, यह तो इच्छा-द्वेष में लिपटा अल्पज्ञ है। यह तो केवल सत्-चिद् है, सच्चिदानंद इससे अलग है। जीव अपने आप में कभी पूर्ण नहीं हो सकता। यह तो परमात्मा को पाकर ही पूर्ण हो सकता है, इत्यादि।" यह सारी अवधारणाएं जीव के महत्त्व को न समझने का परिणाम है। यह ठीक है कि जीव अल्पज्ञ है, परन्तु इससे अलग सर्वज्ञ की केवल कल्पना है। अल्पज्ञ और बहुज्ञ देखे जाते हैं, जो जीव हैं। सर्वज्ञ की तो केवल कल्पना है। जीव अपने स्वरूप के अज्ञान से दुखी है। परन्तु वह अपने दिव्य स्वरूप को समझकर तथा संसार की इच्छाएं छोड़कर पूर्ण सुखी हो सकता है। हमारे अपने लिए दूसरे से प्राप्त सुख कभी स्थायी नहीं हो सकता। हमारे लिए स्थायी सुख वही होगा जो हमारा अपना है। मनुष्य अपने स्वरूप को न पहचानता है और न संसार की इच्छाएं छोड़ता है, इसलिए वह अलग ईश्वर-ईश्वर पुकारता रहता है कि वह आकर हमें सुख देगा। यदि व्यक्ति अपने ज्ञानस्वरूप को समझ ले और संसार की इच्छाएं छोड़ दे, तो वह स्वयं सुख एवं आनन्द का सागर है। उसे किसी ईश्वर तथा ब्रह्म को पुकारने की आवश्यकता नहीं है।

कुछ लोग कहते हैं "जीव तो असमर्थ है। यह तो चांद-सूरज का एक टुकड़ा भी नहीं बना सकता, ईश्वर समर्थ है जिसने अनन्त ब्रह्मांड बनाया है।"

ये सारी बातें अज्ञान की हैं। अनन्त विश्व-ब्रह्मांड अपने गुण-धर्मों से स्वयंसिद्ध पदार्थ है। द्रव्य और गति नित्य हैं। इनसे जगत के पदार्थों के संव्यूहन और विघटन होते रहते हैं। इसे किसी ईश्वर ने बनाया नहीं है। सारा संसार किसी ईश्वर ने बनाया है, यह बच्चों की घोषणा की तरह है। जीव चांद-सूरज का एक टुकड़ा नहीं बना सकता, तो कागज, कलम, किताब, मकान, मशीन, ट्रेन, मोटर आदि तो बना ही सकता है। ईश्वर तो सायकल का एक पंचर भी नहीं बना सकता। क्योंकि जीव से अलग ईश्वर कोई वस्तु ही नहीं है। चाहे अल्पज्ञ कहो या बहुज्ञ या सर्वज्ञ, जो कुछ ज्ञाता है यह जीव ही है। जीव से अलग ज्ञाता नाम की कोई चीज नहीं है। सारे ज्ञान-विज्ञान का आविष्कारक जीव है ! जीव से अलग ईश्वर-ब्रह्म तो जीव ही की कल्पना है। जीव अपने से अलग ईश्वर-ब्रह्म की कल्पना इसलिए करता है क्योंकि उसे अपने पूर्ण स्वरूप का ज्ञान नहीं है। जिसे अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है वह अपने से अलग ईश्वर-ब्रह्म को पाने का भटकाव छोड़ देता है।

"केतेहिं मूरख पचि मुये" कितने ही अनाड़ी लोग जीवनभर हीरा खोजते रह जाते हैं और वह नहीं मिलता, क्योंकि उन्होंने हीरा को अपने से अलग मान रखा है। उन्हें धूल में लिपटा हीरा, हीरा नहीं लगता। उन्हें भूख-प्यास, हाड़-मांस में लिपटा जीव, शिव नहीं लगता। इसलिए वे जीवनभर जीव की, अपने स्वरूप की अवहेलना ही करते रह जाते हैं। मृगा अपनी नाभि में स्थित सुगंधि के आधार कस्तूरी को जीवनभर बाहर ही खोजते-खोजते अन्त में उसकी अप्राप्ति की अनुभूति ही में मर जाता है। मूर्ख मनुष्य की दशा भी ऐसी ही है। वह परमानंदमय परमात्मा को जीवनभर अलग ही खोजते-खोजते उसकी अप्राप्ति की अनुभूति में ही मर जाता है। यदि वह जान पाता कि परमानन्दमय परमात्मा मैं ही हूं तो उसका भटकाव बन्द हो जाता। अपने चेतनस्वरूप को न समझने तथा विषयों की इच्छा करने से ही सारे दुख हैं। स्वरूपज्ञान तथा इच्छानिवृत्ति के बाद व्यक्ति स्वयं परम कल्याणमय हो जाता है। अतएव "कोइ पारखि लिया उठाय" परम सत्य तथ्य है। जो अपने स्वरूप का पारखी है वह अलग नहीं भटकता। पारखी का भटकाव मिट जाता है।

इस साखी का अर्थ हम इस ढंग से भी समझ सकते हैं—संत रूप हीरा संसार-बाजार में पड़े हैं। उनके ऊपर धूल लिपटी है अर्थात वे भी जल, भोजन, वस्त्र, औषध आदि का सेवन करते हैं, उनके पास भी भौतिक शरीर तथा उसके व्यवहार हैं। इसलिए साधारण बुद्धि वाले मनुष्य संतों को नहीं परख पाते। वे समझते हैं कि साधु वह है, जो खाता-पीता न हो या अलौकिक रूप से रहता हो। परन्तु कोई संतों का पारखी समझता है कि क्या

ज्ञानी तथा क्या अज्ञानी, सब देहधारियों को जीवन की सामान्य आवश्यकताओं को लेना ही पड़ता है। संत का संतत्व उसके ज्ञान तथा पवित्र रहनी में है। ज्ञानी तथा अज्ञानी का शारीरिक दृष्टि से कोई बड़ा अन्तर नहीं रहता, किन्तु मानसिक दशा में जमीन-आसमान का अन्तर रहता है। संतों का पारखी ही संतों का मूल्य समझता है, बे-पारखी संतों की अवहेलना करते हैं।

हीरों की ओबरी नहीं, मलयागिरि नहिं पाँत ॥
सिंहों के लेहँड़ा नहीं, साधु न चले जमात॥ 172॥

शब्दार्थ—ओबरी=कोठरी। लेहँड़ा=झुंड। जमात=भीड़, समाज।

भावार्थ—उत्तम हीरों से भरी कोठरी नहीं होती, पंक्ति की पंक्ति मलयगिरि नहीं होते, सिंहों के झुंड नहीं होते और पूर्णत्व प्राप्त संतों की भीड़ नहीं होती॥ 172॥

व्याख्या—जौहरियों के यहां उत्तम हीरों से मकान-के-मकान नहीं भरे रहते हैं। उत्तम हीरे तो थोड़ी संख्या में होते हैं। इसी प्रकार मलयगिरि के सही पेड़ पर्वतों में कहीं बिरले होते हैं। उनका कोई बाग नहीं होता। वन में सिंह भी झुंड-के-झुंड नहीं होते। वे कहीं-कहीं इक्के-दुक्के होते हैं। पूर्णत्व प्राप्त संतों की बात भी यही है। वे कहीं-कहीं बिरले होते हैं।

कुछ लोग उक्त साखी को लेकर कुतर्क करते हैं—"साधु न चले जमात—साधु की जमात नहीं होती अर्थात समाज बांधकर संत नहीं चलते। जहां जमात या समाज है वहां संत नहीं, और जहां संत है वहां जमात या समाज नहीं।" ऐसा कुतर्क वही करता है जो अधूरी बुद्धि का होता है। उक्त साखी में संत-समाज का खण्डन नहीं है। यहां "साधु न चले जमात" कहकर सद्गुरु ने साधु शब्द से पूर्णत्व प्राप्त एवं जीवन्मुक्त संतों की ओर इशारा किया है। यह बात सच है कि जीवन्मुक्त संतों की भीड़ नहीं होती। वे बिरले-बिरले होते हैं, परन्तु इससे कोई यह अर्थ लगा ले कि यहां सामान्य साधुओं का तिरस्कार किया गया है, तो गलत है। कक्षा एक में पढ़ता हुआ बच्चा भी विद्यार्थी है और एम. ए. में पढ़ता हुआ युवक भी विद्यार्थी है। कक्षा एक में पढ़ता हुआ विद्यार्थी निंदनीय नहीं है। वह भी पढ़ता रहा तो किसी दिन एम. ए. में पहुंच जायेगा। इसी प्रकार साधारण साधना में चलने वाले साधक भी साधु हैं और पूर्णत्व को प्राप्त साधक भी साधु हैं। साधारण साधु निंदनीय नहीं हैं। यदि साधना में लगे रहें तो वे भी एक दिन पूर्णत्व प्राप्त कर लेंगे। अतएव इस साखी में जीवन्मुक्त एवं पूर्णत्वप्राप्त संत की विरलता बतायी गयी है। साधारण साधु की इसमें निंदा या उपेक्षा नहीं है। श्री रामरहस साहेब ने दोनों का समन्वय करके कहा है—

साधु साधु सबहीं बड़े, अपनी अपनी ठौर।

शब्द विवेकी पारखी, ते माथे के मौर॥ पंचग्रन्थी॥

जिस व्यक्ति ने जानने योग्य को जान लिया, करने योग्य को कर लिया तथा पाने योग्य को पा लिया, वह कृतार्थ हुआ पूर्णत्वप्राप्त संत है। जानने योग्य अपना स्वरूप एवं अपनी आत्मा है, उसे जान लिया; करने योग्य वासना का त्याग है, उसे कर लिया तथा पाने योग्य स्वरूपस्थिति है उसे पा लिया, तो ऐसे मनुष्य को अब न कुछ जानना बाकी रहा, न करना तथा न पाना शेष रहा। ऐसा पूर्ण तृप्त मनुष्य ही पूरा संत है और ऐसे संत विरल होते ही हैं।

सत्यज्ञान सम्प्रदायों से ऊपर है

अपने अपने शिरों का, सबन लीन्ह है मान॥
हरि की बात दुरन्तरी, परी न काहू जान॥ 173॥

शब्दार्थ—शिरों का=आरम्भ, परम्परा का। हरि=तत्त्व-बोध, यथार्थ ज्ञान। दुरन्तरी=दुर्विज्ञेय, जानने में कठिन, दूर।

भावार्थ—संसार के प्राय: सभी लोग निरख-परख किये बिना अपनी-अपनी परम्परा एवं सम्प्रदाय की बातों को स्वीकार लेते हैं, इसलिए यथार्थ ज्ञान की बातें समझना उनके लिए अत्यंत कठिन हो जाता है। कोई भी व्यक्ति केवल परम्परावादी बनकर सत्य को नहीं समझ सकता॥ 173॥

व्याख्या—प्राय: हर व्यक्ति किसी सम्प्रदाय, मजहब एवं परम्परा में जन्म लेता है। जो आदमी जिस परम्परा में जन्म लेता है, वह उसकी रीति तथा नियमों का प्राय: पालन करने लगता है और उसकी निर्धारित बातों को मानने लगता है। यह बात सामान्य लोगों के लिए एक पक्ष में हितकर है, परन्तु आगे चलकर सच्चा ज्ञान पाने के मार्ग में बहुत बड़ा अवरोधक है। हर परम्परा में जीवन जीने के कुछ अच्छे नियम बताये गये हैं और उनकी कुछ निर्धारित मान्यताएं हैं, जिनमें भले ही बहुत-सी बातें केवल काल्पनिक हों, परन्तु उन बातों से किसी न किसी प्रकार मनुष्य को अच्छे मार्ग पर चलने की प्रेरणा मिलती है। इसलिए सामान्य मनुष्य अपनी परम्परा के अनुसार कुछ अच्छे नियमों का पालन करते हुए यदि सदाचार से चल रहा है तो यह ठीक है। हां, यदि धर्म, देवी, देवता तथा ईश्वर के नाम पर वध, बलि या कुर्बानी कहकर जीव-हत्या की जाती है तो यह अत्यन्त पाप है, सबके लिए त्याज्य है। अतएव हत्यादि कलुषित नियम एवं मान्यताएं छोड़कर अन्य नियमों एवं मान्यताओं से मनुष्यों का कुछ लाभ होता है।

इस साखी में सद्‌गुरु बड़ी ऊंची बातें कहते हैं। वे कहते हैं कि यदि किसी को सत्यज्ञान का मोती पाना है, तो उसे परम्परा का मोह छोड़ना

पड़ेगा। यह ठीक है कि हर जनसमूह की एक परम्परा बन जाती है और हर परम्परा में कुछ औपचारिक नियम भी होते हैं, और उनका पालन करना ठीक होता है। परन्तु वस्तुज्ञान की जगह पर केवल परम्परा का पुछलग्गू बने रहने से काम नहीं चल सकता। यदि सौभाग्य से अपनी ऐसी परम्परा या सम्प्रदाय है जिसमें सारे ज्ञान निर्दोष, तथ्यपूर्ण एवं ठोस हैं तो अति उत्तम है। परन्तु यदि हम जिस परम्परा में हैं, उसकी अनेक या कुछ बातें तर्कपूर्ण एवं विवेकपूर्ण नहीं हैं तो उन पर पुनर्विचार करना चाहिए। कुछ स्वागत तथा शिष्टाचार के नियम, कुछ वेष, चिह्न तथा कुछ ऐसी ही औपचारिकताएं चलते रहना कोई बात नहीं है; परन्तु यदि वस्तुबोध, आचरण एवं रहनी में ही भ्रांति उत्पन्न करने वाले नियम, मान्यताएं एवं सिद्धांत हैं तो ऐसी परम्परा का मोह पकड़े रहने से जीव का कोई कल्याण नहीं है। हर बात को बेमन से मानते हुए हम इसलिए परम्परा में घसिटते जायें कि उसे हमारे पूर्वजों ने माना है, सत्यज्ञान पाने के पक्ष में महा अवरोधक है।

वैसे परम्परा से हमें बहुत-सी अच्छी तथा सत्य बातें सहज ही मिल जाती हैं। इसलिए न परम्परा का खंडन करने की आवश्यकता है और न उसकी उपेक्षा करना चाहिए। परन्तु परम्परा एवं सम्प्रदाय की भक्ति के नाम पर असत्य को पालते रहने से किसी का भी कल्याण नहीं है। यह साखी अत्यन्त मार्मिक है। जरा फिर से पूरी साखी पर ध्यान देते हुए उसका मनन करें—"अपने अपने शिरों का, सबन लीन्ह है मान। हरि की बात दुरन्तरी, परी न काहू जान॥" सभी मत वालों ने अपनी-अपनी परम्परा-पोषित अवधारणाओं को बिना न-नु-न-च किये मान लिया, इसलिए इन्हें हरि एवं सत्य को समझना कठिन हो गया है। किसी का ईश्वर चार हाथ वाला है, क्योंकि उसकी परम्परा में वही बताया गया है। किसी का ईश्वर धनुर्धारी है, क्योंकि उसके मत में उसी को ईश्वर कहा गया है। किसी का ईश्वर बंशीधारी है, किसी का जटा तथा अर्धचन्द्रधारी। किसी का ईश्वर ब्रह्मलोकवासी है, किसी का गोलोक, किसी का साकेतलोक, किसी का सत्यलोक, किसी का शिवलोक, किसी का सातवें स्वर्ग पर तथा किसी का ईश्वर सातवें तपक पर रहता है। किसी का ईश्वर रास रचाता है तो किसी का ईश्वर नरक तथा रोजकयामत की आग उद्गारता है। किसी के यहां ईश्वर का दूत आया है, किसी के यहां ईश्वर का पुत्र तथा किसी के यहां ईश्वर के अवतार। जिन-जिन की परंपराओं में जो-जो कल्पनाएं गढ़ ली गयी हैं उनमें उन्हीं की लकीर पीटी जाती है। नाना मत के भोले लोगों ने मान रखा है कि हमारी किताबें ईश्वर ने गिरायी हैं। वे बड़े अहंकारपूर्वक कहते हैं कि केवल उन्हीं के मत ईश्वरप्रदत्त तथा स्वर्ग एवं मोक्ष के रास्ते हैं, शेष के मनगढ़ंत एवं काफिरों तथा नास्तिकों

के रास्ते हैं। जिन मतवादियों को ईश्वर की ठेकेदारी का भूत सवार होता है, उनके पैर जमीन पर नहीं पड़ते। वे अन्य को काफिर तथा नास्तिक कहते नहीं अघाते, यद्यपि वे स्वयं केवल कल्पनालोक की परी के स्वप्न देखते रहते हैं।

ऐसे लोगों को हरि की बात समझ में नहीं आ सकती। हरि, परमात्मा, आत्मा, ब्रह्म, खुदा=खुद-आ, स्वयं चेतन ही है। केवल परम्पराओं का पुछलग्गू बनकर स्वरूपज्ञान एवं आत्मज्ञान नहीं हो सकता। सारे संस्कारों को हटाकर ही अपने आप को समझा जा सकता है। जो जड़ पांचों विषयों को जानता है तथा अपनी आत्मा से अलग ईश्वरादि की कल्पना करता है, वह सर्व-कल्पक तथा सर्वज्ञाता चेतन ही सर्वोपरि है। परन्तु इस तथ्य को तभी समझा जा सकता है जब परम्पराओं एवं सांप्रदायिक गतानुगतिका को त्यागकर स्वतंत्र विचार किया जाये।

राम जीव से बाहर नहीं

हाड़ जरै जस लाकड़ी, बार जरै जस घास।।
कबिरा जरे रामरस, जस कोठी जरै कपास।। 174।।

शब्दार्थ—बार=बाल। कबिरा=परोक्ष उपासक जीव। कोठी=बखारी, डेहरी।

भावार्थ—मृत शरीर का दाह करने पर उसकी हड्डी लकड़ी के समान जलती है और बाल घास के समान जलते हैं, परन्तु परोक्ष में राम मानकर उसकी उपासना एवं विरह-वेदना में जीव उसी प्रकार भीतर-भीतर जलता रहा जैसे कोठी में कपास जल जाये और बाहर पता न चले।। 174।।

व्याख्या—सद्गुरु ने इस साखी में शरीर और भ्रांत लक्ष्य की निस्सारता पर एक साथ प्रकाश डाला है। वे कहते हैं कि इस शरीर की क्या विशेषता है! यह देखते-देखते एक दिन निर्जीव हो जाता है तब इसका कोई मूल्य नहीं रहता। इसे लोग मिट्टी में गाड़ देते हैं या पानी में फेंक देते हैं या लकड़ी में रखकर जला देते हैं। यदि इसे मिट्टी में गाड़ दिये तो यह कुछ ही दिनों में सड़कर मिट्टी बन जाता है, यदि पानी में फेंक दिये तो मछली, कछुआ का भोजन बन जाता है और यदि लकड़ी में रखकर जला दिये तो इसकी हड्डी लकड़ी के समान जल जाती है और बाल घास के समान जल जाते हैं। अंततः शरीर का कोई अस्तित्व नहीं रह जाता।

इधर जीवन का लक्ष्य परमशांति की प्राप्ति रहा, वह सफल नहीं हुआ। क्योंकि मनुष्य को राम का यथार्थ बोध नहीं हुआ। उसे यह ज्ञान ही नहीं हुआ कि राम निज स्वरूप ही है और जड़-वासनाओं को त्याग कर निजस्वरूप में स्थित होना ही राम में रमना या राम को पाना है। जीव तो अपने स्वरूप के

भूलवश राम को अपने से अलग मानकर उसके दर्शनार्थ रात-दिन व्याकुल बना भटकता रहा। जैसे कोठी के भीतर रखी हुई रुई में किसी कारणवश आग लग जाये और वह भीतर-ही-भीतर जलकर राख हो जाये, वैसे मनुष्य के भीतर-ही-भीतर जीवनभर राम-वियोग की अग्नि धधकती रही और वह उसमें जलता रहा; परन्तु जीव से अलग कोई राम हो, तो वह मिले। जो लोग भ्रमवश अपनी आत्मा से अलग राम मानकर उसके वियोग का काल्पनिक अनुभव करते हैं, वे जीवनभर केवल दुख का अनुभव करते हैं और अपने समय और शक्ति की बरबादी करते हैं। अलग जब राम है ही नहीं तब वह मिलेगा क्या! इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह अलग राम की कल्पना छोड़कर अपने स्वरूप को पहचाने, वही राम है, वही रहीम है।

मनुष्य का भटकाव

घाट भुलाना बाट बिनु, भेष भुलाना कान॥
जाकी माड़ी जगत में, सो न परा पहिचान॥ 175॥

शब्दार्थ—घाट=नदी-पार जाने का स्थान, तात्पर्य में मोक्षद्वार। बाट=रास्ता, यथार्थ ज्ञान-पथ। कान=कानि, मर्यादा। माड़ी=धारण करना, सजाना, पूजना, ठानना।

भावार्थ—जैसे रास्ता न मिलने से नदी पार जाने का घाट भूल जाये, वैसे यथार्थ ज्ञान-पथ न मिलने से मोक्ष-द्वार भूल जाता है। मोक्ष-पथगामी तथा मोक्षोपदेशक साधु लोग तो अपने वेष की मर्यादा एवं मान-महंती में भूल जाते हैं और जिस जीव के कर्तव्यों की शोभा संसार में फैली है, मनुष्य को उसकी पहचान नहीं होती॥ 175॥

व्याख्या—किसी नदी को पार जाने के लिए उसके घाट पर जाना होता है। जहां घाट नहीं है वहां से नदी को पार नहीं किया जा सकता। परन्तु यदि घाट का रास्ता ही भूल जाये तो उस पर नहीं पहुंचा जा सकता। मन की उलझनें एक भयंकर नदी है। इससे पार जाने के लिए विवेक घाट है। परन्तु विवेक तक पहुंचने के लिए सत्संग और श्रद्धासंबलित निष्पक्ष बुद्धि का रास्ता चाहिए। आदमी उन्हें ही भूल गया है। बहुधा आदमी न तो विवेकवान संतों की संगत करता है, न श्रद्धापूर्वक निष्पक्ष बुद्धि का प्रयोग करता है। इसलिए न उसके हृदय में विवेक जगता है और न वह संसार-सागर से अर्थात मन की उलझनों से पार पाता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, चिंता, शोक, विकलता आदि मन की उलझनें ही संसार-सागर है। बाहर का स्थूल संसार हमें नहीं बांध सकता यदि हमारे मन का संसार शांत हो जाये।

जिन संतों की संगत से हमें संसार-सागर से पार जाने का रास्ता मिलता

है उनमें से अधिक लोग अपने-अपने वेष की मर्यादा में भूल गये हैं। जिन संतों को चाहिए था कि वे समस्त सांसारिक बंधनों को मायामय, स्वप्नवत एवं तुच्छ समझकर उससे पार जाने का अपने जीवन में उच्च आदर्श चरितार्थ करते और संसार के लोगों के सामने प्रमाणस्वरूप बनते, वे स्वयं मान-महंती, मूलगद्दी-शाखागद्दी तथा ऊंच-नीच के चक्कर में पड़कर राग-द्वेष के शिकार बने हुए हैं। जैसे गृहस्थी में लोग जाति-पांति के पाखंड में उलझे हैं, वैसे प्रायः साधु लोग वेष के पाखंड में उलझे हैं। कौन मूलगद्दी का है, कौन शाखागद्दी का है, कौन बड़े महंत, मंडलेश्वर, आचार्य और स्वामी हैं तथा कौन छोटे; किसकी गद्दी तथा पाटला दायें लगते हैं और किसके बायें, किसका पाटला आधा इंच ऊंचा है और किसका आधा इंच नीचा, भोजन में किसकी थाली पहले आयी और किसकी दो सेकेण्ड पीछे, पूजा के समय किसके गले में पहले माला पड़ी तथा किसके पीछे—इन-जैसी बहुत बातों का मानसरोग से ग्रसित वेषधारियों में बहुत बारीकी से विचार किया जाता है। जो महात्मा और स्वामी लोग संसार को मायामय, स्वप्नवत और तुच्छ कहते नहीं अघाते, वे ही थोड़ी-थोड़ी बातों में मान-अपमान का बोध करते हुए मानस-सागर में डूबते-उतराते रहते हैं। वे संसार के घर, गृहस्थी, स्त्री, पुत्र, धन आदि को झूठे कहते हैं, परन्तु अपने मठ, मन्दिर, लकड़ी और रुई-कपड़े की गद्दी तथा शिष्य-शाखा को सत्य ही माने बैठे रहते हैं। इस प्रकार बहुधा वेषधारी लोग वेष की मर्यादा में अपने कर्तव्य-पथ को भूल गये हैं। मन की उलझनों से मुक्त होने की इच्छा रखने वाले मुमुक्षुओं के लिए जो आदर्श बन सकते हैं वे वेषधारी लोग स्वयं मान-मर्यादा की उलझनों में उलझे हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि मर्यादा की कोई आवश्यकता नहीं है या आज कोई सच्चे संत हैं ही नहीं। संसार में कुछ मर्यादाएं हैं, परन्तु वे बोझिल नहीं होनी चाहिए और न उनमें उलझना चाहिए। दूसरे की मर्यादा का पालन कर देना चाहिए और स्वयं को सरल रखना चाहिए। सब समय में पृथ्वी पर सच्चे सन्त रहते हैं और आज भी हैं। जिज्ञासु और मुमुक्षु को उन्हें पहचानना चाहिए तथा उनकी संगत से लाभ लेना चाहिए।

"जाकी माड़ी जगत में, सो न परा पहिचान।" 'माड़ना' शब्द का अर्थ है धारण करना, सजाना, पूजना एवं ठानना। इसलिए माड़ी का अर्थ हो जायेगा सम्पादित एवं सजाया हुआ। जड़ और चेतन दो सत्ताएं हैं। संसार में इन्हीं की माड़ी है। सारी भौतिक वस्तुओं का धारण करना, उन्हें सजाना एवं सम्पादित करना जड़सत्ता का स्वभाव है और ज्ञान-विज्ञान का धारण करना, उन्हें सजाना, पूजा-सत्कार का भाव प्रकट करना तथा किसी काम को ठानना, निश्चय करके करना—यह सब चेतन जीव का काम है। जगत में जहां तक

जो कुछ होता है इन्हीं जड़-चेतनों की सत्ता का खेल है। परन्तु आदमी तो घाट का बाट ही भूल गया है। इसलिए वह संसार की सारी गतिविधियों में कल्पित देवी-देवताओं की लीला देखता है। भूलवश आदमी ही आदमी को छल रहा है। वेद, बाइबिल, कुरानादि सारे शास्त्रों को मनुष्य ने रचा है, परन्तु उसने उनकी सारी बातों को जनता से मनवाने के लिए यह कहा कि यह ईश्वर के रचे हैं या ईश्वर के भेजे हैं। इस छलावे ने मुख्य दो नुकसान किये, एक तो सारे शास्त्र रचने का श्रेय जो मनुष्य को था उसे उससे हटाकर कल्पित ईश्वर पर लाद दिया गया; दूसरा नुकसान यह हुआ कि वेद, बाइबिल, कुरान एवं धर्मशास्त्र के नाम पर जितनी किताबें हैं उनकी सारी बातों को मनुष्यों को मानना चाहिए; क्योंकि वे ईश्वरप्रदत्त हैं। शास्त्रों की बातें चाहे जितनी बिना सिर-पैर की तथा युगबाह्य हों; परन्तु उन्हें मानना पड़ेगा। जो नहीं मानेगा वह नास्तिक है, काफिर है। ज्ञान-विज्ञान के धारण करने वाले जीव हैं, परन्तु उन्हें तुच्छ, अल्पज्ञ एवं कठपुतली कहा गया और जो केवल जीव की कल्पनाएं हैं, वे देवी-देवता, ईश्वरादि सर्वज्ञ और सर्वकर्ता बन गये। पानी का बरसना अथवा न बरसना जड़ प्रकृति की योग्यता-अयोग्यता पर निर्भर करता है, परन्तु उन्हें काल्पनिक ईश्वर पर डाल दिया गया। प्रत्यक्ष अनुभूत जड़-चेतन की सारी विभूति को कल्पित देवों की विभूति मानकर मनुष्य ने सत्य के साथ कृतघ्नता और असत्य की वकालत की। पथ-प्रदर्शक महात्मा लोग अपनी शास्त्रीय मर्यादाओं में भूलकर जनता के लिए सत्य की ओर प्रेरक न बन सके।

इस प्रकार घाट का बाट भूल जाने से, तथा प्रेरक के ही दिग्भ्रमित हो जाने से मनुष्य का मूल्य गिर गया। न उसे भ्रमरहित दृष्टि मिली और न वह मन की उलझनों से पार हुआ। उसकी बुद्धि भी उलझी रही तथा मन भी उलझा रहा।

अपात्र को उपदेश देने के पीछे मत पड़ो

मूरख सों क्या बोलिये, शठ सों काह बसाय॥
पाहन में क्या मारिये, जो चोखा तीर नसाय॥ 176॥

शब्दार्थ—मूरख=मूर्ख, नासमझ, झूठ का पक्ष लेने वाला। शठ=छली, धूर्त। बसाय=वश चलना, शक्ति चलना।

भावार्थ—मूर्ख से बात करके क्या फल होगा तथा शठ से अपना क्या वश चलेगा ! चोखा तीर भी पत्थर में मारने से क्या प्रयोजन हल होगा ! पत्थर तो टूटेगा नहीं, तीर ही टूट जायेगा। इसी प्रकार उत्तम उपदेश भी अपात्र का तो कोई लाभ नहीं कर सकेगा, स्वयं व्यर्थ जायेगा॥ 176॥

व्याख्या—जो नासमझ हो उसे मूर्ख कहते हैं और झूठ का पक्ष लेने वाले को भी मूर्ख कहते हैं। धूर्त और छली को शठ कहते हैं। शठ का अर्थ मूढ़ता में चिपके रहना भी है। सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे लोगों को उपदेश देने के चक्कर में नहीं रहना चाहिए जो मूर्ख और शठ हैं। ऐसे लोग पत्थर के समान हैं, जिनमें तीर चुभ नहीं सकते, बल्कि वे स्वयं टूट जाते हैं। कुछ लोग ऐसे मूढ़ होते हैं कि उनको उपदेश देने के पीछे पड़ने से उपदेष्टा के समय तथा शक्ति का अपव्यय होता है और उनका कोई कल्याण नहीं होता। अतएव अपात्रों को चेताने के पीछे ज्यादा नहीं पड़ना चाहिए।

जैसी गोली गुमज की, नीच परी ढहराय॥
तैसा हृदया मूरख का, शब्द नहीं ठहराय॥ 177॥

शब्दार्थ—गुमज=गुंबद, शिवालय आदि की गोल छत।

भावार्थ—मंदिर के गोल गुंबद पर रखी गोली लुढ़ककर नीचे गिर पड़ती है। इसी प्रकार मूर्ख मनुष्य का हृदय होता है, उसमें निर्णय शब्द नहीं ठहरता॥ 177॥

व्याख्या—आप गुंबद पर गोली रखकर देख लीजिए, वह वहां टिक नहीं सकती। गुंबद भी गोल तथा गोली भी गोल, अतः उसके वहां टिकने का प्रश्न ही नहीं है। इसी प्रकार ज्ञान की बातें मूर्खों के मन में ठहर नहीं सकतीं। जो व्यक्ति बात को समझ ही नहीं सकता और समझ भी जाये तो उसे मान नहीं सकता, उसके पीछे अपना समय नष्ट करने की क्या आवश्यकता! कहा है—

अति खल को शिक्षा नहिं लागत।
दुक्ख परे पर आपुहि जागत॥ विश्राम सागर॥

ऊपर की दोऊ गईं, हियहु की गईं हेराय॥
कहहिं कबीर जाकी चारिउ गईं, ताको काह उपाय॥ 178॥

शब्दार्थ—उपाय=युक्ति।

भावार्थ—ऊपर के दोनों चर्मनेत्रों से देखकर जो सत्यज्ञान एवं अच्छे आचरणों से नहीं चलता, और जिसके हृदय के विवेक-विचार रूपी नेत्र भी फूट गये हैं, सद्गुरु कहते हैं कि इस प्रकार जिसके चारों नेत्र नहीं रह गये, उसके कल्याण का क्या उपाय है!॥ 178॥

व्याख्या—मनुष्य के चार नेत्र होते हैं, दो बाहरी चर्म के और दो भीतरी विवेक-विचार के। बाहरी नेत्रों से देखकर बहुत कुछ समझा जा सकता है और अपने को सुधारा जा सकता है। हम संसार में देखते हैं कि सब जीव अपने-अपने कर्मों के फल भोग रहे हैं। संसार में जो व्यक्ति बुरे कर्म करते हैं, उन्हें देर या सबेर उनके फल भोगने पड़ते हैं। यह प्रकृति का अटल नियम

है कि क्रिया की प्रतिक्रिया, बल का प्रतिबल, ध्वनि की प्रतिध्वनि एवं बिम्ब के प्रतिबिम्ब होते हैं। हम जो कुछ करते हैं उनका फल आता ही है, यह संसार में नजरोनजर देखा जाता है। रावण जैसा बलवान एवं विद्वान व्यक्ति परस्त्रीहरण करने से समूल नष्ट हुआ। युधिष्ठिर जैसे नीति-निपुण धर्मज्ञ पुरुष जुए के व्यसन में लीन होने से पूरे परिवार सहित दर-दर ठोकर खाये। दुर्योधन ने भाई के हक को मार लिया, पांडवों को धोखा देकर उनका राज्य जीत लिया और शर्त के अनुसार पांडवों के बारह वर्ष वनवास तथा एक वर्ष अज्ञातवास रहने पर भी उन्हें राज्य नहीं लौटाया, इसके फल में उसका समूल नाश हुआ। राज्य के लोभ में युधिष्ठिर ने बंधु-कौरवों का विनाश किया तो इसके फल में शेष जीवन मानसिक अनुताप में जलते रहे और अन्त दुखद हुआ। हिटलर, मुसोलिनि आदि सबके आततायीपन का अंतिम परिणाम उनके लिए दुखद हुआ। संसार में देखा जाता है कि जो दूसरों को मारता या मरवाता है वह प्रायः मारा जाता है। दूसरों को भय देने वाला स्वयं भय पाता है और जो दूसरों को निर्भयता एवं प्रेम देता है वह दूसरों से निर्भयता एवं प्रेम पाता है।

हम आंखों से देखते हैं कि जवानी के मद में चमकता हुआ मनुष्य एक दिन रोगी और बूढ़ा होकर पके धान के पौधे के समान झुक जाता है। हम जिनका एक दिन घर, परिवार, समाज एवं देश में वर्चस्व देखते हैं उन्हीं का उनमें रहते हुए पतन देखते हैं। हम सभी संग्रहों का विनाश, सभी उन्नतियों का पतन, सभी संयोगों का वियोग तथा सभी जन्में हुए प्राणियों की मृत्यु रोज अपनी आंखों से देखते हैं, फिर भी होश में नहीं आते, मोह से नहीं जागते तो क्या उपाय है! बौद्धगया, नालंदा, कुशीनारा, श्रावस्ती, कौशांबी, सारनाथ आदि में बौद्ध-भिक्षुओं के तथा आगरा, फतेहपुरसीकरी, दिल्ली आदि में मुसलिम सल्तनत के अवशेष देखिए तो उनके अब केवल नाम शेष रह गये हैं।

हम हृदय के नेत्रों से अर्थात विवेक-विचार से देख सकते हैं कि सारे मायावी दृश्यों का परिवर्तन है और जीवों को अपने कर्मों के फल निश्चित ही भोगने हैं। इन बातों को जान-समझ एवं देख-सुनकर भी जो सत्य को नहीं समझना चाहता, उसके उद्धार का कोई रास्ता नहीं हो सकता। अतएव सद्गुरु की यह साखी अत्यन्त मार्मिक है—"ऊपर की दोऊ गई, हियहु की गईं हेराय। कहहिं कबीर जाकी चारिउ गईं, ताको काह उपाय॥" ऐसे मनुष्य को समझाकर जगाना बड़ा कठिन काम है जो न देख-सुनकर चेतना चाहता है और न विवेक-विचार करके। अतः उसके चेताने का कोई उपाय नहीं है।

केते दिन ऐसे गये, अनरूचे का नेह॥

ऊषर बोय न ऊपजै, जो अति घन बरसे मेह॥ 179॥

शब्दार्थ—अनरूचे=रुचि न रखने वाले अश्रद्धालु। नेह=प्रेम। घन= बादल। मेह=झड़ी, वर्षा।

भावार्थ—उपदेशक के कितने ही दिन अश्रद्धालु व्यक्ति से प्रेम करने तथा उसे उपदेश देने के चक्कर में व्यर्थ चले जाते हैं। बादल चाहे अत्यंत बारिश करके झड़ी कर दें, परन्तु ऊसर जमीन में बीज बोने से उसमें कुछ उत्पन्न नहीं होता॥ 179॥

व्याख्या—उदाहरण कितना सटीक है! यदि ऊसर जमीन में खूब पानी बरसे और उसमें बीज बोये जायें तो क्या आशा की जा सकती है कि उसमें फसल होगी, कदापि नहीं! चाहे जितना पानी बरसे तथा चाहे जितने बीज डालो, परन्तु ऊसर जमीन में कुछ पैदा होने वाला नहीं है। इसी प्रकार जिसके हृदय में प्रेम, उत्साह एवं श्रद्धा नहीं है उसको उपदेश देने का कोई फल नहीं हो सकता। यह हो सकता है कि ऐसे व्यक्ति को यदि बारम्बार उपदेश देने का प्रयास किया जाये तो वह समझने की अपेक्षा रुष्ट हो जाये। जनसभा में भाषण एवं प्रवचन करना एक अलग बात है, परन्तु व्यक्तिगत उसी को सीख देना चाहिए जिसकी रुचि हो। हर व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह अपने आप का कल्याण करे। यदि व्यक्तिगत किसी को उपदेश देने की बात हो तो उसी को उपदेश दे जो श्रद्धा रखता हो, जिसे सीख सुनने का उत्साह हो। अपने रत्नतुल्य समय को ऐसे लोगों को उपेदश देने में नहीं लगाना चाहिए जो उपदेश के प्रति अरुचि रखने वाला हो।

मैं रोवों यह जगत को, मोको रोवे न कोय॥
मोको रोवे सो जना, जो शब्द विवेकी होय॥ 180॥

शब्दार्थ—मैं रोवों=सबके दुखों से दुखी होकर उन्हें कल्याण का रास्ता बताता हूं।

भावार्थ—मैं जगत के जीवों को दुखी देकर उनके दुखों से स्वयं दुखी होकर उन्हें सन्मार्ग बताता हूं, परन्तु वे आर्त होकर उत्साहपूर्वक मेरी बातों पर ध्यान नहीं देते। मेरी बातों पर वही ध्यान देता है जो शब्दों का विवेकी है॥ 180॥

व्याख्या—यदि हम किसी व्यक्ति में ममता करते हैं तो उसके सुख-दुख हमारे सुख-दुख बन जाते हैं। अर्थात उसके सुख में हम सुखी होते हैं और दुख में दुखी होते हैं। यह हमारी ममता जितने लोगों में बढ़ती जाती है उतने लोगों के सुख-दुख हमारे सुख-दुख बनते जाते हैं। यदि हम अपने पूरे परिवार में ममता करते हैं, तो पूरे परिवार के सुख-दुख हमारे सुख-दुख बन

जाते हैं। यदि हम पूरे गांव या मोहल्ला में ममता करते हैं तो उनके सुख-दुख हमारे सुख-दुख बन जाते हैं, और यदि पूरे एतराफ एवं देश में ममता करते हैं तो उनके सुख-दुख हमारे सुख-दुख बन जाते हैं। कबीर उच्चतम मानव हैं। उनकी ममता पूरे जगत के प्राणियों में हो गयी थी इसलिए वे पूरे जगत के लिए रोते थे। जिसके मन में पूरे जगत के प्राणियों में ममता हो जाती है, उसके मन में वस्तुतः समता हो जाती है। पूरे जगत के प्राणियों के प्रति हुई ममता को ही समता कहते हैं। ममता तब तक मानी जाती है जब तक वह किसी एक में हो, और जब सम्पूर्ण विश्व के प्रति ममता हो गयी हो यही समता है। उसकी दृष्टि में पराया कोई नहीं रहा। कबीर ऐसे ही उच्चतम संत हैं जो पूरे जगत के लोगों को अपना मानकर उनके दुखों से दुखी होकर रोते हैं।

कैसा अद्भुत है ! संसारी लोग अपने पत्नी, बच्चे तथा स्वजनों के लिए रोते हैं, परन्तु जो माया-मोह के त्यागी हैं वे कबीर जैसे महत्तम संत पूरे संसार के लिए रोते हैं। अब सोचो, हितचिंतन का सर्वाधिक आयाम किसका है, संसारी का या संसार-त्यागी का ! अतएव जो व्यक्ति संसार से जितना अनासक्त रह सकता है वह उतना ही संसार का हितचिन्तन तथा हित कर सकता है।

सद्गुरु कहते हैं कि मैं संसार को सन्मार्ग पर लाना चाहता हूं, परन्तु संसार के लोग मेरी बातों पर ध्यान नहीं देते। मेरी बातों पर वही ध्यान देता है जो शब्दों का विवेकी है। "मोको रोवे सो जना, जो शब्द विवेकी होय" यह बड़ा मार्मिक वचन है। कबीर के विचारों को वह नहीं समझ सकता जो केवल परम्परा की पूंछ पकड़कर चलता है। उन्हें तो वही समझ सकता है जिसके हृदय में विवेक है। जो सार-असार, जड़-चेतन का निर्णय करने की क्षमता रखता हो वही कबीर साहेब की वाणी को समझ सकता है। कबीर नीर-क्षीर विवेकी हैं। कबीर की वाणी भावुकों द्वारा तथाकथित परमात्मा के वचन मानकर पूजने की वस्तु नहीं है, किन्तु अन्वीक्षकी-बुद्धि से समझने की है। कबीर अंधश्रद्धा की चट्टान तोड़कर मानवीय बुद्धि की अजस्रधारा प्रवाहित करते हैं। श्रद्धा के नाम से अंधे लोग कबीर को नहीं समझ सकते, किन्तु जो श्रद्धा और बुद्धि से समन्वित विवेक के पक्षधर हैं वे कबीर की बातें समझ सकते हैं। कबीर की वाणी में हवाई महल नहीं है, किन्तु स्थिर भूमि है। वे हमें तात्त्विक और वस्तुपरक विचार देते हैं और छिछले सतह से हटकर आत्मा की गहराई में पहुंचने की राय देते हैं।

सारा संसार तो विषयों के और धर्म के पाखण्ड-सागर में डूबकर दुखी है। इन दोनों दुखों से जीव का उद्धार करना कबीर साहेब का मंतव्य है।

आत्म-परिचय ही परमात्म-परिचय है

साहेब साहेब सब कहैं, मोहिं अँदेशा और ॥
साहेब से परिचय नहीं, बैठोगे केहि ठौर॥ 181॥

शब्दार्थ—साहेब=स्वामी, ईश्वर, अल्लाह। अँदेशा=संदेह, चिंता।

भावार्थ—संसार के प्रायः सब लोग साहेब-साहेब कहते रहते हैं, परन्तु मुझे तो और ही चिंता है कि इन लोगों को सच्चे साहेब से तो परिचय नहीं है, फिर ये किस स्थान पर बैठेंगे—इनकी स्थिति कहां होगी !॥ 181 ॥

व्याख्या—साहेब का शुद्ध रूप 'साहब' माना जाता है। 'साहब' अरबी भाषा का शब्द है। मुसलमानों के भारत आने पर अरबी भाषा के शब्द भारत में प्रचलित हुए और संत-कवियों ने इस शब्द को अपने काव्यों में लिया। कबीर-जैसे निर्गुण-धारा के संत ही नहीं, किन्तु तुलसी-जैसे सगुण-धारा के कवियों ने भी साहेब शब्द का पर्याप्त प्रयोग किया। साहेब के अर्थ मित्र, साथी, मालिक, स्वामी, हाकिम, सरदार, ईश्वर (संत कवि), आदरणीय[1] आदि किये जाते हैं। यहां साहेब[2] का अर्थ वह स्वामी है जो जीव का निधान, आश्रय एवं स्थिति-स्थल है। उसी का लक्ष्य रखकर सब लोग साहेब-साहेब अथवा ईश्वर-परमात्मा कहते रहते हैं। कबीर देव कहते हैं कि लोग साहेब, ईश्वर, मालिक, परमात्मा, ब्रह्म, अल्लाह, गॉड आदि तो अवश्य कहते हैं,

---

1. बृहत् हिन्दी कोश।
2. कुछ लोग कहते है कि "साहेब' शब्द तो विदेशी है। इसे आप लोग क्यों लेते हैं? ऐसे लोग संकुचित-हृदय होते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज कहते हैं "सेवक कर पद नयन सो, मुख सो साहिब होय...सरल सबल साहिब रघुराजू।"—उन्होंने अपनी वाणी में साहिब शब्द का पुष्कल प्रयोग किया है।
   प्राचीनतम ग्रंथ वेद में हर्म्यम्, हर्म्यः तथा हर्म्य घर तथा भवन के अर्थ में उसी प्रकार प्रयुक्त हैं जैसे अरबी भाषा में 'हरम' शब्द का अर्थ भवन होता है। देखिये ऋग्वेद 1/121/1; 1/166/4; 7/55/6; 7/56/16; 9/71/4; 9/78/3; 10/73/10; अथर्ववेद 18/4/55 इत्यादि। वेद में दुआ प्रार्थना के अर्थ में उसी प्रकार प्रयुक्त है जिस प्रकार अरबी भाषा में दुआ का अर्थ प्रार्थना होता है। ऋषि कहते हैं "देवेषु कृणुतो दुवः" (ऋग्वेद 8/31/9) अर्थात हम देवता की दुआ एवं प्रार्थना करते हैं। और यह प्रयोग अनेक स्थलों पर आया है, ऋ. 1/37/14; 5/42/11; आदि। ऋग्वेद (10/106) में जर्भरी, तुर्फरीतू, नैतोशा, तुर्फरी, पर्फरीका, जेमना, मदेरू, चर्चरम्, तर्तरीथ, खरमज्रा, खरज्रु, पर्फरतू, सनेरू, फारिवा, चचरा, नीचीन, कीनारा आदि शब्द आते हैं। वेद में अन्यत्र भी आलगी, बिलगी आदि अनेक शब्द आते हैं, जिनमें अनेक को विद्वान लोग बैबिलोन भाषा के शब्द मानते हैं।
   अथर्ववेद (6/16) में तीन मंत्रों का एक छोटा सूक्त आता है। उसमें आबयो, अनाबयो, विहल्ह, मदावती, तैविलिके, ऐलब; ऐलयीत, अलसाला, सिलांजाला, नीलगलसाला आदि शब्द आते हैं जो निश्चित ही किसी देश एवं क्षेत्र की भाषा के शब्द हैं।
   प्रसिद्ध और जगत्व्यापी भाषा इंगलिश से उससे भिन्न भाषाओं के शब्द निकाल दिये जायें, तो इंगलिश भाषा दरिद्र हो जायेगी।
   भिन्न भाषा, उनके शब्द, भिन्न परंपरा, संप्रदायों, देशों आदि से अपने को सर्वथा अलग करके कोई व्यक्ति और परंपरा नहीं जी सकते।

परन्तु उन कहने वालों को असली साहेब से परिचय नहीं है। लोग साहेब-ईश्वर आदि शब्दों की ढेरी लगाते हैं, परन्तु क्या वह शब्दों की ढेरी है "शब्द शब्द सब कोई कहैं, वो तो शब्द विदेह।"[1]

पहली बात यह समझने की है कि जीव का आश्रय-स्थल जीव से अलग नहीं हो सकता। व्यक्ति का निज स्वरूप चेतन है। वही उसका आश्रय-स्थल है। परन्तु मनुष्य समझता है कि हमारा आश्रय-स्थल कोई अलग से ईश्वर है। यह तो थोड़ी अक्ल का प्रयोग करने से मालूम हो सकता है कि हर मौलिक पदार्थ का आश्रय-स्थल उसका अपना स्वरूप ही होता है। जीव से अलग परमात्मा-ईश्वर तो हम केवल शब्दों में कहते हैं। वह कोई अनुभव का विषय नहीं है। अनुभव का विषय व्यक्ति का अपना चेतनस्वरूप है। जीव आनुभाविक तथ्य है और ईश्वर केवल अनुमान का विषय है। जीव आनुभविक तथ्य है—इस वाक्य का अर्थ यह नहीं है कि वह विषय है, किन्तु वही विषयी, अर्थात अहम पदार्थ है। वही सबका द्रष्टा, साक्षी एवं चेतन है। जीव ही जीव का साहेब है। आत्मा ही आत्मा का निधान है। मेरा साहेब मुझसे अलग नहीं है। "तेरा साहेब है घट भीतर, बाहर नैना क्यों खोले।"

कबीर देव का यह कहना बिलकुल यथार्थ है कि लोग साहेब-साहेब तो कहते हैं; परन्तु इन्हें साहेब का कोई परिचय नहीं है, फिर इनकी स्थिति कहां होगी ! लोग ईश्वर-परमात्मा के शब्दों के जोर में पड़े हैं किन्तु "बाँझ हिलावे पालना, तामें कौन सवाद।" ईश्वर-परमात्मा शब्दों से कुछ काम नहीं चल सकता। जीव की स्थिति स्व-स्वरूप में ही होगी। अतएव जीव ही परम साहेब है। इसलिए सद्गुरु अगली साखी में कहते हैं—

जीव बिना जिव बाँचे नहीं, जिव का जीव अधार॥
जीव दया करि पालिये, पण्डित करो विचार॥ 182॥

शब्दार्थ—अधार=आधार, सहारा।

भावार्थ—जीव के बिना जीव का कल्याण नहीं होता। जीव ही जीव का सहारा बनता है। इसलिए हे पण्डितो ! इस बात पर विचार करो और दया करके जीवों की रक्षा करो॥ 182॥

व्याख्या—यदि जीव का कोई रक्षक है तो अन्य जीव ही है। आध्यात्मिक दृष्टि से देखें तो जीव के कल्याण में सहयोग दूसरे जीव ही करते हैं। साधारण मनुष्य जीव हैं और संत-गुरुजन भी जीव ही हैं। साधारण जिज्ञासु एवं मुमुक्षु जीवों के कल्याण में संत-गुरु ही तो सहयोग करते हैं।

---

1. साखी 35।

देवी-देवादि तो जीव के गढ़े हुए शब्द मात्र हैं। उनकी भावना करके मनुष्य अपने मन को केवल थोड़ा संतोष देता है, उनसे कुछ पाता नहीं है, क्योंकि वे कुछ हैं नहीं। यदि जीव कहीं से सहारा पाता है तो वह दूसरे जीव ही से पाता है। आदमी ऐसी कृतघ्नता करता है कि जिन मनुष्य जीवों से उसके निर्वाह तथा परमार्थ में सहयोग मिलता है उनकी महत्ता की उसे याद नहीं आती और 'दूर के ढोल सुहावन' के अनुसार वह देवी-देवताओं के गीत गाता फिरता है। एक जगह नयी सड़क बनी थी। कहा गया कि अच्छा हुआ, यहां नयी सड़क बन गयी। वहां के लोगों ने कहा "हां, महाराज! ईश्वर की कृपा से यहां अच्छी सड़क बन गयी।" उनसे कहा गया कि जिन मनुष्यों की बनायी योजना तथा अथक श्रम से इस सड़क का निर्माण हुआ, उनका उपकार आप लोगों ने एक वाक्य में भी नहीं व्यक्त किया और एक काल्पनिक आदर्श की दोहाई देने लगे। मनुष्य की दृष्टि यथार्थवादी मानवीय से हटकर काल्पनिक दैवीय हो गयी है। वह मनुष्य को नहीं, देव को श्रेय देता है। मनुष्य सच है, देव झूठे हैं। ज्ञान-विज्ञान की सारी विभूतियां मनुष्य की हैं। अतएव जीव ही जीव का कल्याण करने वाला है। परन्तु खेद है, लोग जीव की प्रशंसा न कर देव की करते हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि हे सत्यासत्य-विवेकिनी बुद्धि वाले पण्डितो! जीवों पर दया करो और उनको निर्भ्रांत ज्ञान देकर उन्हें सारे भ्रमों से मुक्त होने में सहयोग करो। पण्डित और साधु, समाज के पथ-प्रदर्शक हैं। यदि वे ज्ञान एवं धर्म के नाम पर भ्रांति फैलाते हैं तो जनता के कल्याण का कोई सहारा नहीं है, और यदि समाज में सच्चे ज्ञान का प्रकाश करते हैं तो जीवों का परम हित है। साधु और पण्डित समाज में दैववाद को निरस्त कर मानवतावाद का प्रचार करें। कल्पित देव की महिमा को हटाकर मानव की महिमा एवं जीव की महत्ता पर प्रकाश डालें। जीव की ही संसार में सर्वोच्च सत्ता है। जीव को हटा देने पर शिव बेजान है। सारे देव निर्जीव अर्थात मनःकल्पित हैं। जीव सबका कल्पक है।

इस साखी में दूसरा श्लेष अर्थ है कि जीव के बिना जीव की रक्षा नहीं होती। जीव ही जीव का आधार है। इसलिए हे पण्डित! विचारकर जीवों पर दया करो, देवी-देवादि के नाम पर उनकी हत्या न करो, न कराओ। कबीर साहेब ने यहां कहा है "जीव बिना जीव बाँचे नहीं, जिव का जीव अधार" तो मांसाहारियों ने इसे उलटकर एक पंक्ति बना रखी है "बिना जीव जीवै नहीं, जीवहिं जीव आहार।" यह ठीक है कि पशु, पक्षी, कृमादि में कुछ ऐसी जातियां हैं जो एक दूसरे को अपना आहार बना लेती हैं। परन्तु मनुष्य के लिए यह पंक्ति उपयुक्त नहीं है। सच्चा मानव किसी जीव को अपना आहार

नहीं बनाता है, किन्तु स्वयं दूसरे जीवों की रक्षा में आधार बनता है। जीयो और जीने दो, यही मानवता है।

कुछ मांसाहारी लोग बड़ी बारीकी से यह सिद्ध करते हैं कि कोई भी जीव-हत्या एवं मांसाहार से नहीं बच सकता। वे कहते हैं कि यदि हम दूध-दही खाते हैं तो मांसाहार हुआ, क्योंकि पशु के शरीर से दूध आता है। वे यहां तक दावा करना चाहते हैं कि अन्न, फल, कंद सब में जीव है। यदि हम इन्हें खाते हैं तो मानो जीवहत्या और मांसाहार करते हैं। परन्तु ये सारी दलीलें निरर्थक हैं। दूधाहार मांसाहार नहीं है। अन्न, फल, कंद एवं समस्त वनस्पति निर्जीव केवल अंकुरज हैं। उन्हें सजीव मानने का केवल भ्रम है। दूध, फल और मांस एक साथ रख दिये जायें, तो सहज समझा जा सकता है कि दूध और फल देखने में ही स्वच्छ लगते हैं और मांस घृणित है। अपने ही मुख के दांत या चाम उखड़ या कट जायें तो हम उन्हें मुख में नहीं रख पायेंगे। फिर भी सभ्य कहलाने वाला आदमी निर्दय बनकर दूसरे जीवों की हत्या करता है और उनके घृणित मांस को हिंस्र पशु की तरह खा जाता है। सद्गुरु कहते हैं जीव दया पालन करो और मांसाहार का त्याग करो।

आत्मतृप्ति का सर्वोच्च स्वरूप

हम तो सबकी कही, मोको कोइ न जान॥
तब भी अच्छा अब भी अच्छा, जुग जुग होउँ न आन॥ 183॥

शब्दार्थ—तब=भूतपूर्व। अब=वर्तमान। जुग-जुग=युग-युग, भविष्य में। आन=दूसरा, खोटा।

भावार्थ—कबीर साहेब कहते हैं कि मैंने सबकी कसर-खोट की परख कराकर सबके कल्याण के लिए समान सत्पथ बता दिया है, परन्तु मेरे रहस्य को कोई नहीं समझता। तो भी, मैं पहले संतुष्ट था, आज संतुष्ट हूं तथा आगे भी विकारी होने वाला नहीं। मैं सब समय संतुष्ट रहूंगा॥ 183॥

व्याख्या—कबीर साहेब किसी तथाकथित ईश्वर, पैगंबर, अवतार, ईश्वरीय मजहब, ईश्वरीय पोथी के पक्षधर नहीं थे। वे इन सबके विरोधी, शुद्ध मानवतावादी, मानवीय बुद्धि के प्रशंसक एवं आत्मपरायण थे। इसलिए उन्होंने कहा—"हम तो सबकी कही"। उन्होंने भारत में उस समय प्रचलित दो विशाल समाज हिन्दू और मुसलमानों के अंधविश्वासों, चमत्कारों, दैवीकल्पनाओं, मिथ्या अहंकारों की तीव्र आलोचना की थी। उन्होंने पण्डित, मुल्ला, योगी, अवधूत, वेषधारी तथा कच्चे गुरुओं को खुलकर ललकारा था। उन्होंने सबकी आंखों में उंगली डालकर उन्हें जगाने का प्रयास किया। उन्होंने सबके कान उमेठे, सबको चुटकी काटी, सबको झकझोर कर जगाया।

वे किसी की गलती पर उसे क्षमा करना नहीं जानते थे। वे सबकी गलती पर टोकते थे, रोकते थे और उसे मीठे तथा कठोर शब्दों में भी फटकारते थे। उनकी कड़ी डांट-फटकार से पहले लोग क्षुब्ध हुए थे, परन्तु पीछे सब उनके प्रेमी हो गये। क्योंकि आगे चलकर लोगों ने देखा कि उनके मन में किसी के लिए द्वेष नहीं, किन्तु अपार प्रेम था। वे कोई कल्पित ईश्वरीय चमत्कार एवं मजहब बनाकर लोगों को अपना अनुगामी बनाने के लिए कुछ नहीं कर रहे थे। वे किसी को नास्तिक एवं काफिर कहकर कोई तथाकथित खुदाई मजहब नहीं चला रहे थे। वे ईश्वर और धर्म के नाम पर मनुष्य के साथ छल नहीं कर रहे थे। किन्तु वे मानव को मानवीय बातें बता रहे थे। वे समाज को तथाकथित दैवी तथा ईश्वरीय बवंडर से हटाकर मानवीय-कर्म, मानवीय-बुद्धि, मानवीय-आचरण एवं मानवीय-रहनी की ओर ला रहे थे। मजहब वाले धर्म और ईश्वर के नाम पर मानवता के साथ छल करते हैं। वे उन्हें अतिमानवीय एवं दैवी चमत्कार बताकर सर्वोच्च सत्ता के ठेकेदार बनते हैं और दूसरों को नास्तिक तथा काफिर कहते हैं। वे मानव को तुच्छ बताकर उन्हें शून्य तथा पत्थर के सामने घुटने टेकने की राय देते हैं। कबीर साहेब इन सबके विरुद्ध थे। कबीर साहेब चाहते थे कि मानव मानव के महत्त्व को जाने। मानव किसी कल्पित ईश्वर के विराट स्वरूप को नहीं, किन्तु मानव के विराट स्वरूप को समझे। मानव की चेतना ही सर्वोच्च है। वे इस ज्वलंत सिद्धांत के पक्षधर थे। लोगों ने कबीर के इस वज्रादपि कठोर तथा कुसुमादपि कोमल स्वरूप को देखा। अर्थात लोगों ने समझा कि कबीर अन्याय तथा अंधविश्वास के प्रति कठोर हैं; परन्तु मानवता के प्रति अत्यन्त कोमल हैं। बल्कि कहना चाहिए कि मानवता के प्रति अत्यन्त कोमल होने के नाते ही वे अन्याय एवं अंधविश्वास के प्रति कठोर हैं। अतएव कबीर का सर्वोपकारी रूप समाज के सामने आया।

परन्तु फिर भी सद्गुरु कहते हैं "मोको कोइ न जान"। इसका अर्थ यही है कि कबीर के मानवतावादी विचारों और स्वरूपज्ञान के विषय को बहुत थोड़े लोग समझे। सारे दैवी शब्दाडंबरों को हटाकर केवल निजस्वरूप चेतन में स्थित होना एवं आत्मपरायण होना—उनके इस आध्यात्मिक सिद्धांत को कम लोग समझ सके। "मोको कोइ न जान" का शाब्दिक अर्थ नहीं लगाना चाहिए, किन्तु लाक्षणिक अर्थ लगाना चाहिए। लाक्षणिक अर्थ है कि उनके तत्त्वबोध एवं पारखपद के उपदेश को कम लोग जान सके। कबीर साहेब ने बीजक भर में जीव को सर्वोच्च सत्ता बताया है। जीव के लिए उन्होंने राम शब्द का प्रयोग भी बहुत किया है। उनका कथित सकारात्मक हरि भी जीव ही है। अभी ऊपर 182वीं साखी में भी जीव की महत्ता पर ही उन्होंने प्रकाश

डाला है। जीव, जो सारे ज्ञान-विज्ञान का मूलाधार है, उसे मजहब वाले तुच्छ कह रहे थे। कबीर देव को यह बहुत खटका, इसलिए उन्होंने कल्पित महत्त्व का खण्डन किया, और जीव तथा मानव की महत्ता का मण्डन किया। परन्तु कबीर साहेब के मानवतावादी, जीववादी एवं स्वरूपज्ञान के सिद्धांत को कम लोग समझ सके।

सद्‌गुरु कहते हैं कि मेरा काम था सत्य रास्ता बता देना। अब उसे जो समझता है तो उसका कल्याण है और जो नहीं समझना चाहता है तो उसका अकल्याण है। इन बातों को लेकर मेरी स्थिति में कोई अन्तर नहीं आ सकता। मैं उपदेश देने के पहले पूर्णकाम एवं संतुष्ट था, वर्तमान में संतुष्ट हूं तथा आगे भी संतुष्ट रहूंगा। कबीर साहेब अपने निर्धारित सत्य को फैलाने के लिए भावुक नहीं थे। वे समझते थे कि पूरे संसार को कोई कभी जगा नहीं सका है। हर सत्यद्रष्टा का कर्तव्य है कि वह स्वयं सत्यपरायण हो तथा समाज को उसका उपदेश करे। उसके उपदेश को कितने लोग मानते हैं, और कितने नहीं, इसकी चिंता वह न करे। इसकी चिंता करने से कोई फायदा नहीं है। उपदेष्टा इसीलिए तो उपदेश करता है कि लोग उसकी बातों को समझकर कृतार्थ हो जायें और यदि उपदेष्टा स्वयं कृतार्थ न हो तो उसके उपदेश का फल जब उसे ही नहीं हुआ, तो दूसरे से क्या आशा की जाये कि वह उस उपदेश से कृतार्थ हो जायेगा! अतएव उपदेष्टा की कृतकृत्य एवं पूर्णकाम अवस्था ही उसके उपदेशों की गरिमा है। कबीर इसलिए उच्चतम संत हैं कि वे दूसरों को जगाने के लिए भरपूर श्रम करते हैं, परन्तु स्वयं कभी असंतुष्ट नहीं हैं। वे सब समय पूर्णकाम, अकाम, निष्काम एवं आप्तकाम हैं। यह कबीर की समुद्र के समान गहराई तथा हिमालय के समान ऊंचाई है। आत्मतृप्ति के समान दुनिया में कोई अन्य उपलब्धि नहीं है। यही सर्वोच्च उपलब्धि है। यही चरम गंतव्य है। इसके आगे कहीं नहीं जाना है। आत्मसंतुष्ट मनुष्य सच्चा सम्राट है। अतएव सद्‌गुरु का यह महावाक्य हृदय को छूने वाला है "तब भी अच्छा अब भी अच्छा, जुग जुग होउँ न आन।"

गुरुओं के भयंकर जाल

प्रगट कहौं तो मारिया, परदा लखै न कोय॥
सहना छिपा पयार तर, को कहि बैरी होय॥ 184॥

शब्दार्थ—परदा=रहस्य, भेद, आड़ा। सहना=शहना, चौकीदार, कोतवाल, फसल की रखवाली करने वाला सरकारी कर्मचारी (दो मनुष्यों के खेत के झगड़े में न्याय होने के समय तक जो उसकी फसल की रक्षा करता तथा फसल के अन्न को सुरक्षित रखता है उसे यहां शहना कहा गया है),

भ्रामक गुरु। पयार=पयाल, पैरा, अन्नरहित डंठल, घास, सारहीन वाणीजाल।

भावार्थ—यदि सत्य और असत्य को खोलकर कहा जाये तो अंधविश्वास के पक्षधर लोग मारने दौड़ते हैं और यदि कोई आड़ लेकर कहा जाये तो लोग भेद नहीं समझ पाते। चौकीदार पुवाल के नीचे छिपकर अन्न चुरा रहा है, अर्थात भ्रामक गुरु सारहीन वाणियों की आड़ लेकर लोगों को भटका रहे हैं—ऐसा कहकर कौन उनका वैरी बने!॥ 184॥

व्याख्या—कबीर साहेब की पंक्ति-पंक्ति में आग है। वे कहते हैं कि सत्य को सत्य और असत्य को असत्य खोलकर कह दिया जाये तो धर्म के नाम पर जालसाजी फैलाकर रोटी कमाने वाले लोग मारने दौड़ते हैं। ऋद्धि-सिद्धि देने वाले, पुत्र-धन देने वाले, चमत्कार दिखाने वाले, ईश्वर के दर्शन कराने वाले, चुटकी बजाते ही ध्यान में पहुंचा देने वाले, तथाकथित कुंडलिनी जगा देने वाले तथा आनन-फानन में मुक्ति देने वाले धूर्त गुरुओं का सब समय बोलबाला रहा है। किसी भी क्रांतिकारी विचार का विरोध पुरोहित वर्ग कठमुल्ला तबके ने किया है, क्योंकि ये धर्म को धन्धा बनाकर उसके बल पर रोटी कमाने वाले होते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि धर्म का प्रचार करने वाले जनता से रोटी पाने के अधिकारी नहीं हैं! वे रोटी पाने के अधिकारी हैं। यहां कहने का अर्थ है कि जो धर्मगुरु का जामा पहनकर सत्य से दूर हैं और धर्म के नाम पर अंधविश्वास फैलाकर समाज को बेवकूफ बनाते हैं, वे सत्यनिर्णय एवं क्रांतिकारी विचारों से डरते हैं। वे समझते हैं कि समाज में जितना ही सत्य का प्रचार होगा, लोग जितना ही कारण-कार्य-व्यवस्था को समझते जायेंगे, उतना ही अन्धविश्वास पर पले धर्म के नाम पर चलने वाले धन्धे रुकते जायेंगे। इसलिए किसी भी परम्परा का पुरोहित-वर्ग सत्यज्ञान का प्रचार नहीं चाहता, अपितु वह केवल कर्मकांड का प्रचार चाहता है। बेचारा ब्राह्मण-पुरोहित ही नहीं, कबीरपंथ का पुरोहित जो चौका-आरती के बल पर जीव को सतलोक भेजने का दावा करता है, कबीर साहेब के सत्यज्ञान का प्रचार नहीं चाहता। यहां तक कि उनमें से कितने इस बीजक ग्रंथ से कतराते हैं।

सद्‌गुरु कहते हैं कि साफ कहने से ऐसे लोग रुष्ट होते हैं। परन्तु यदि जनता को कोई आड़ लेकर समझाया जाये तो वे भेद नहीं समझ पाते। इसलिए खुलासा निर्णय करना अत्यन्त आवश्यक है। साफ निर्णय के बिना सच्चा बोध नहीं होता।

शहना एवं शह्ना अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ चौकीदार होता है। यह गांवों में उस चौकीदार के लिए विशेष रूढ़ है जो किसी विवादग्रस्त खेत की फसलों की रक्षा करता है और उसकी आमदनी को तब तक सुरक्षित

रखता है जब तक वादी-प्रतिवादी के बीच विवाद सुलझ न जाये। जब विवाद सुलझ जाता है तब उस खेत की सारी आमदनी विजयी पक्ष को मिल जाती है। उसमें शहना को केवल अपना पारिश्रमिक मिलता है। परन्तु ज्यादातर शहना खलिहान में फसल के डंठल से ही अन्न झाड़कर चुरा लेता है। जो वादी-प्रतिवादी के बीच में धन की रक्षा की जिम्मेदारी ले, वही धन को हड़प जाये, तो रक्षा का दूसरा क्या आधार हो सकता है ! नाना मत के गुरु लोग शहना हैं। वे पुवाल के नीचे छिपकर अन्न को चुरा रहे हैं। कल्पित वाणियां ही मानो पुवाल हैं। पुवाल में अन्न नहीं होता। जब डंठल से अन्न झाड़ लिया जाता है तब उसे पुवाल कहते हैं। इसी प्रकार विशेषतः सत्यज्ञान से रहित अन्धविश्वासपूर्ण वाणियों की आड़ में ही छद्म गुरु लोग अपना भ्रमजाल फैलाते हैं। चतुर लोग अपनी किताबों को ईश्वरप्रदत्त बताकर तथा बड़े नामों के संवादों में लिखे ग्रन्थों का हवाला देकर कि देखो, यह अमुक महापुरुष ने कहा है, अपनी भ्रम मान्यता को जनता से मनवाते हैं। उनकी ऊलजलूल बातें क्यों मान लेना चाहिए, क्योंकि वे प्रभुवचन हैं, ईश्वर ने कहा है, ईश्वर के अवतार, पैगम्बर या ईश्वर के पुत्र ने कहा है, या अमुक बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, महात्मा तथा संत ने कहा है।

कबीर साहेब कहते हैं कि यह कहकर कौन बैरी बने कि कोई पुस्तक आकाशीय ईश्वर ने नहीं बनायी है। सारी किताबें मानव-रचित हैं। संसार में कोई भी अवतार, पैगम्बर एवं ईश्वर-पुत्र नहीं है। विश्व के सारे महापुरुष मानव हैं। किसी ग्रंथ की किसी बात की प्रामाणिकता किसी अमुक बड़े नाम से जोड़ने से नहीं हो जाती, किंतु युक्तियुक्त, तर्कपूर्ण एवं न्याय-संगत होने से होती है। किसी बात को परखने के लिए विश्वनियम, विवेकबुद्धि एवं मानव-अनुभव है।

देश विदेशे हौं फिरा, मनहीं भरा सुकाल ॥
जाको ढूँढ़त हौं फिरा, ताका परा दुकाल ॥ 185 ॥

शब्दार्थ—हौं=मैं। सुकाल=उत्तम समय। दुकाल=अकाल-पर-अकाल, बुरा समय।

भावार्थ—मैं देश-विदेश में घूमा तो पाया कि सर्वत्र मन की कल्पनाओं का सुराज है। मैं जिस सत्य के पारखी को खोजता फिरता हूं, उसका अभाव है ॥ 185 ॥

व्याख्या—अविद्वान हो या विद्वान, गंवई हो शहरी, सब आदमी अन्धविश्वास में डूबे हैं; क्योंकि सदैव से गुरुओं, महंतों एवं पण्डितों द्वारा उन्हें अन्धविश्वास का पाठ पढ़ाया गया है। सिद्ध महात्मा उड़ सकते हैं, लुप्त होकर कहीं अलग प्रकट हो सकते हैं, पानी पर चल सकते हैं, सबके मन को

जान सकते हैं, देवी-देवता सच हैं, वे जो चाहें सो कर सकते हैं, महात्मा एवं देवता ऋद्धि-सिद्धि प्रकट कर सकते हैं। भगवान कमल फूल पर सूरज एवं सूरज पर कमल फूल उगा सकते हैं। इतना ही क्या, जितनी बिना सिर-पैर की बातें कही जा सकती हैं, पण्डित, महात्मा, महंत, मौलवी, पादरी, ज्ञानी तथा उपदेष्टा नामधारी व्यास-गद्दियों से बकते रहते हैं और इन सब बातों को सुन-सुनकर निरक्षर तथा साक्षर जनता झूमती रहती है और इन सबको सत्य मानती रहती है। सद्‌गुरु कहते हैं कि देश-विदेश में घूमकर मैंने देख लिया है, सर्वत्र मन का सुकाल है। अर्थात सर्वत्र मन-मानंदी, मनःकल्पनाओं, बे-सिर-पैर की बातों की ही गूंज है। धर्म तथा भगवान के नाम पर सारी मूर्खतापूर्ण बातें चलती रहती हैं।

मैं जिस सत्य के पारखी को खोजता फिरता हूं उसका दुष्काल पड़ा है। मैं चाहता हूं कि मनुष्य आंख मूंदकर किसी की भी बात न माने। गुरु, शास्त्र, तथाकथित प्रभुवचन सब पर विवेक करना मनुष्य का परम कर्तव्य है। धर्म के धन्धेबाजों ने समाज को जितना बेवकूफ बनाया है वह अक्षम्य है। धर्म के नाम पर चलने वाली बातों को आंख मूंदकर मानने का प्रचलन पुराकाल से है, क्योंकि समाज को बताया गया है कि संत-वचन, गुरु-वचन, शास्त्र-वचन तथा प्रभु-वचन पर तुम विचार करने के अधिकारी नहीं हो। उन्हें तो तुम्हें बिना चीं-पूं किये मान लेना है। कहना न होगा कि इस धूर्ततापूर्ण धारणा ने मनुष्य के मस्तिष्क को निष्क्रिय बना दिया है। उसने सोचने की क्षमता को हर लिया है। कबीर साहेब इस धारणा के बिलकुल विरुद्ध हैं। वे कहते हैं कि तुम सबकी बात पर सोचने के अधिकारी हो। इसलिए श्री रामरहस साहेब ने कहा—"शब्द कहे सो कीजिये, गुरुवा बड़े लबार। अपने-अपने स्वार्थ के, ठौर-ठौर बटपार॥" अर्थात निर्णय से जो सत्य हो उसे ही स्वीकार करो, गुरुआ लोग तो बड़े लबार हो गये हैं। ये अपनी-अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए जगह-जगह जनता को लूट रहे हैं।

सद्‌गुरु कबीर कहते हैं कि मैं जिस पारखी को खोजता हूं वह नहीं मिलता। परखकर बात मानने वालों का अभाव है। धर्म और अध्यात्म के स्वस्थ स्वरूप तब तक नहीं प्रतिष्ठित हो सकते हैं जब तक हर आदमी अपने विवेक का आदर नहीं करने लगता। कबीर साहेब कहते हैं कि आंख मूंदकर मानने वाले मत बनो, किन्तु विवेक-नेत्रों से देखकर मानो। 'कौटिलीय अर्थशास्त्रम्' में, जो ईसापूर्व चौथी शताब्दी में बना है, अन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता और दण्ड—चार विद्याओं का वर्णन है। सांख्य, योग तथा लोकायत—इन्हें अन्वीक्षकी विद्या कहा गया है। कबीर साहेब मानो स्वस्थ अन्वीक्षकी विद्या

का प्रचार चाहते हैं। वे अन्वीक्षण[1], परीक्षण के बाद तथ्य को स्वीकारने की राय देते हैं। कबीर धर्म के क्षेत्र में वैज्ञानिक हैं।

कलि खोटा जग आँधरा, शब्द न माने कोय॥
जाहि कहौं हित आपना, सो उठि बैरी होय॥ 186॥

शब्दार्थ—कलि=कलह, झगड़ा, युद्ध, पाप-बुद्धि, कलियुग[2]। खोटा=बुरा।

भावार्थ—कलह एवं झगड़ा बुरी बात है। जगत के लोग विवेकहीन हैं, वे निर्णय-वचन नहीं मानते। मैं जिसको सजाति मानव-बंधु मानकर उसके ही कल्याण के लिए उसे सही रास्ता बताता हूं, वही उठकर शत्रु बनने का प्रयास करता है॥ 186॥

व्याख्या—"कलि खोटा" कथन सहज भी हो सकता है कि कलियुग बुरा है, परन्तु इसका उपर्युक्त अर्थ ही तात्त्विक है। सद्गुरु कहते हैं कि कलह करना, झगड़ा करना बुरी बात है। किसी से झगड़ाकर जबर्दस्ती सत्य बात मनवायी भी नहीं जा सकती। संसार के बहुधा लोग विवेकहीन हैं। "शब्द न माने कोय" यहां शब्द से अभिप्राय निर्णय वचन है, क्योंकि आंख मूंदकर किसी शब्द को मानने का खण्डन तो सद्गुरु स्वयं करते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि जगत के लोग ऐसे अन्धे हैं कि वे जिस परम्परा की पूंछ पकड़ लिये हैं; उसमें हानि दिखते हुए भी उसको नहीं छोड़ते। वे अन्धविश्वास में गड़े हुए हैं। उन्हें निर्णय के वचन, कारण-कार्य-व्यवस्था एवं विश्व के शाश्वत नियमों के अनुकूल विचार बताये जायें, तो वे उन्हें सुनने के लिए भी तैयार नहीं हैं। परन्तु यदि उन्हें आकाश-पाताल को मिलाने वाली बातें कही जायें, तो वे उसे बड़ी चाव से सुनते हैं।

कबीर देव कहते हैं कि मैं मानता हूं कि संसार के सारे मनुष्य मेरे सजाति हैं, अपने बंधु हैं। इसलिए मैं उन्हें अपना मानकर सही रास्ता दिखाना चाहता हूं, परन्तु वे भोले हैं। वे तो सही रास्ते से चिढ़ते हैं। वे अपने हितचिंतक को नहीं पहचानते और उनसे वैर ठान लेते हैं। जो लोग उन्हें मूर्ख बनाकर लूटते हैं, उन्हें वे पसंद करते हैं। क्योंकि वे उन्हें ऋद्धि-सिद्धि देने का झांसा देते हैं,

---

1. अन्वीक्षकी-विद्या सर्वदा सब विद्याओं का प्रदीप, सभी कर्मों का साधन और सभी धर्मों का आश्रय मानी गयी है। मूल वचन इस प्रकार है—
प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षकी मता॥ (कौटिलीय अर्थशास्त्रम् पहला प्रकरण)
2. कलि—पु. (सं.) कलह; झगड़ा; युद्ध; चार युगों में से चौथा जिसकी आयु 4 लाख 32 हजार मानव-वर्ष मानी जाती है; कलियुग का अधिष्ठाता असुर; पाप-बुद्धि; आदि।
(बृहत्-हिन्दी कोश)

चमत्कारी बातें करते हैं, सिद्ध, अवतार या पैगंबर बनते हैं, अपने में अलौकिकता का पाखण्ड करते हैं तथा भक्तों को केवल पूजा के बल पर भोग और मोक्ष देने का प्रलोभन देते हैं। संसारियों को बिना त्याग-तप किये मुक्ति पाने की आशा प्रबल है। उनकी इस कमजोरी का लाभ उठाते हैं धूर्त गुरुआ लोग। भक्त लोगों को अपने जाल में फंसाये रखने के लिए वे चमत्कार, प्रलोभन, भय—सब कुछ दिखाते हैं। धूर्त गुरुओं के शिकंजे में फंसे लोगों को निर्णय वचन अच्छे नहीं लगते और न अच्छे लगते हैं निर्णय-वचन कहने वाले। "जाहि कहौं हित आपना, सो उठि बैरी होय।" इसी भाव की प्रतिध्वनि है।

मसि कागद छूओं नहीं

मसि कागद छूवों नहीं, कलम गहों नहिं हाथ ॥
चारिउ युग का महातम, कबीर मुखहि जनाई बात ॥ 187 ॥

शब्दार्थ—मसि=स्याही। महातम=माहात्म्य, विशेषता।

भावार्थ—मैं स्याही और कागज नहीं छूता और न कलम हाथ में पकड़ता हूं, चारों युगों में जिसकी महत्ता है, मैं उसकी बातें मुख से ही बता देता हूं ॥ 187 ॥

व्याख्या—उक्त साखी को लेकर विद्वानों ने यह भ्रम पाल रखा है कि कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे। यद्यपि पढ़ाई-लिखाई कोई बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है तत्त्व-बोध। इस बात की चर्चा पीछे कर आये हैं कि छंदोविद, वेदविद तथा वेद्यविद इन तीनों में वेद्यविद ही श्रेष्ठ है। जो छंदों के रहस्य को जानता है वह छंदोविद है, जो वेदमन्त्रों के अर्थ को जानता है वह वेदविद है और जो जानने योग्य को जानता है वह वेद्यविद है। अतएव पढ़ा-लिखा हो या नहीं, वेद्यविद ही सर्वोपरि है। कबीर साहेब वेद्यविद थे। वे जानने योग्य को जानते थे। अतएव वे पढ़े-लिखे रहे हों या नहीं, उनकी वरीयता में कोई शंका नहीं। विद्वानजन भी इस बात को मानते हैं।

परन्तु उक्त साखी से क्या यह सिद्ध होता है कि कबीर साहेब पढ़े-लिखे नहीं थे! उक्त साखी से तो यह बात सिद्ध होती है कि उन्होंने अपनी बातों को बताने के लिए उन्हें स्वयं कागज पर नहीं लिखा, किन्तु जबान से कहकर बताया है। अतएव कबीर साहेब ने अपनी बातें कविता में कही होंगी और शिष्यों ने लिख लिया होगा। उन्हीं का संग्रह बीजक ग्रंथ है। इसकी प्रामाणिकता में आज ताजा उदाहरण श्री विशाल साहेब का दिया जा सकता है। सद्गुरु विशाल साहेब जो पारख सिद्धांत के महान मनीषी हैं और जिनका कार्यकाल ईसा की बीसवीं शताब्दी है, अपने हाथों से उन्होंने एक अक्षर भी नहीं लिखा है। उन्होंने पद, साखी आदि बनाकर शिष्यों के सामने कह दिया

और शिष्यों ने लिख लिया। इस प्रकार उनकी वाणियों से भवयान, मुक्तिद्वार, सत्यनिष्ठा तथा नवनियम ये चार महान ग्रंथ निर्मित हुए। विशालदेव के इन चार ग्रन्थों में एक शब्द भी अन्य का जोड़ा हुआ नहीं है, उन्हीं के बनाये सारे पद हैं। उन्हीं के संयोजित प्रसंग तथा प्रकरण हैं और उन्हीं के दिये ग्रन्थों के नाम हैं।

पुराकाल में ऐसे ऋषिगण होते थे, जो केवल बोल देते थे और शिष्यगण लिख लेते थे। कहा जाता है कि पूरा महाभारत वेदव्यास जी ने केवल अपने मुख से बोला है, गणेश जी ने लिखा है। गणेश काल्पनिक व्यंग्यचित्र जैसा होने से यह बात विश्वसनीय न हो तो भी आजकल के सभी बड़े अधिकारी एक चिट्ठी भी बोलकर अपने क्लर्क से लिखवाते हैं, जज बोलकर अपने स्टेनो से जजमेंट लिखवाते हैं तथा अनेक लेखक और कवि बोलकर अपने निबंध और कविता अपने क्लर्क से लिखवाते हैं। परन्तु वे आलेख और रचना लिखने वालों के नहीं, किन्तु बोलकर लिखवाने वालों के माने जाते हैं। अतएव कबीर साहेब अपनी रचना को समय-समय से शिष्यों के बीच में बोलते गये और शिष्यों ने उसे लिख लिया है। कबीर साहेब ने अपने ग्रंथ का नाम स्वयं 'बीजक' रखा है, यह 37वीं रमैनी की साखी से समझा जा सकता है—''बीजक बित्त बतावै, जो बित्त गुप्ता होय। ऐसे शब्द बतावै जीव को, बूझै बिरला कोय॥'' प्रकरणों के नाम भी उन्हीं के रखे हुए हैं, क्योंकि छंदों के अनुसार ही प्रकरणों के नाम हैं। ''साखी आँखी ज्ञान की...।'' कहकर तो साखी प्रकरण व्यक्त ही किया गया है।

अब प्रश्न होता है कि क्या कबीर साहेब पढ़े-लिखे नहीं थे? इसका समाधान तो इस पूरे बीजक को पढ़कर ही किया जा सकता है। जो वेदों, स्मृतियों, पुराणों, महाकाव्यों तथा शास्त्रों का मर्म नहीं जानता, वह बीजक के सभी पदों का अर्थ नहीं समझ सकता। कबीर साहेब ने तो उक्त शास्त्रों के विषयों के हवाले दिये हैं। अनुभवी पुरुष केवल अपना अनुभव कह सकता है, शास्त्रों के हवाले नहीं दे सकता। शास्त्रों के हवाले तो तभी दिये जा सकते हैं, जब उनका अध्ययन कर लिया गया हो। कबीर साहेब के इस महान ग्रन्थ बीजक को शुरू से आखिर तक मननपूर्वक पढ़ जाना चाहिए तब यह निर्णय लेना चाहिए कि वे पढ़े-लिखे थे कि नहीं। इन पंक्तियों के लेखक के विचार से वे भले शास्त्री एवं व्याकरणाचार्य नहीं रहे हों, परन्तु इतना अवश्य पढ़े रहे होंगे जिससे शास्त्रों को भलीभांति समझ सकें।

चतुर्दिक सावधान

फहम आगे फहम पाछे, फहम दाहिने डेरि॥

फहम पर जो फहम करै, सो फहम है मेरि॥ 188॥

शब्दार्थ—फहम=फ़ह्म, अक्ल, समझ, सावधानी। डेरि=बायां।

भावार्थ—जो व्यक्ति आगे, पीछे, दाहिने तथा बायें समझ और सावधानी का प्रयोग करता है तथा सावधानी पर सावधानी बरतता है, वह मानो मेरी तरह सावधान रहता है॥ 188॥

व्याख्या—रघुपति सहाय फिराक गोरखपुरी उर्दू काव्य के महान कवि हो गये हैं, उन्होंने लिखा है कि कबीर के सिर से पैर तक मानो आंखें-ही-आंखें थीं जो कभी झपकती नहीं थीं। सचमुच तो समझ, अक्ल और सावधानी का इतना बड़ा प्रयोग करने वाला व्यक्ति कभी-कभी कोई-कोई होता है। उक्त साखी कितनी मार्मिक है। गुरुदेव कहते हैं कि आगे-पीछे, दायें-बायें—सर्वत्र समझदारी का प्रयोग करो। इतना जागते रहो कि समझ-पर-समझ रखो तथा सावधानी-पर-सावधानी रखो। वस्तुतः सावधानी ही साधना है। सावधानी हटी की दुर्घटना घटी, यह रेलवे-यार्ड का बोर्ड केवल वहीं के लिए सार्थक नहीं है, किन्तु हृदय-यार्ड के लिए ज्यादा सटीक है।

इस साखी में 'फहम' शब्द का प्रयोग छह बार हुआ है। बृहत हिन्दी कोश ने फहम का अर्थ अक्ल एवं समझ किया है, परन्तु इस प्रसंग में इस अर्थ के साथ जो महत्त्वपूर्ण अर्थ है वह है सावधानी। समझ और सावधानी सजाति भाव वाले हैं। समझ की सार्थकता सावधानी में है। हम इन दोनों शब्दों पर थोड़ा-थोड़ा विचार करें।

समझ का अर्थ ज्ञान एवं बोध है। सारा दुख समझ के अभाव में है। यदि किसी बात को लेकर मन उलझा है तो इसके मूल में समझ की कमी है। श्रद्धा का प्रचलित अर्थ जन-समूह में जो व्याप्त है उसको देखते हुए यही कहना पड़ता है कि श्रद्धा से समझ वजनदार है। जिसमें समझदारी नहीं है वह यदि श्रद्धा करता है, तो उसकी श्रद्धा के समाप्त होने में देरी नहीं लगेगी। समझदारीरहित श्रद्धालु केवल भावुक होता है। उसकी श्रद्धा बालू पर पड़े पानी की तरह है जिसके सूखने में देरी नहीं लगती। जो श्रद्धा समझदारी के संयुक्त है वह स्थायी होती है। शब्दशः 'श्रद्धा' का जो अर्थ है वह समझदारी-संबलित ही है। 'श्रद्धा' शब्द 'श्रत्' और 'धा' दो पदों के मिलने पर बनता है। 'श्रत्' का अर्थ होता है 'सत्य' और 'धा' का अर्थ होता है 'धारण करना'। अर्थात सत्य को धारण करना श्रद्धा है और सत्य का धारण समझ होने पर ही सम्भव है। जो समझता है कि सत्य क्या है और असत्य क्या है, वही असत्य को छोड़कर सत्य धारण कर सकता है। सच्ची समझदारी होने से श्रद्धा अपने आप हो जाती है। जो सत्य के महत्त्व को समझ लेगा, उसमें सत्य अपने आप धारण हो जायेगा।

प्रकृति के खेल को देखकर उसके पीछे जो दैवी-कल्पना होती है उसमें कारण है प्रकृति के विषय में समझ का अभाव। यदि हम प्रकृति को समझ जायें तो हमें यह ज्ञान हो जायेगा कि प्रकृति एवं जड़तत्त्व नित्य हैं और उनमें गुण-धर्म स्वभावसिद्ध एवं स्वतः निहित हैं। इस अनंत विश्व-ब्रह्मांड को कोई चेतन नहीं चला रहा है, किन्तु इनमें स्वतः सिद्ध गुण, धर्म, क्रियादि हैं जिनसे वे अनादि स्वतः स्वचालित हैं। जीव शरीर छोड़कर दूसरे शरीर धारण करते हैं, इसलिए भूत-प्रेत की कल्पना निरर्थक है। जड़-चेतन की सच्ची समझ हो जाने पर जितना दैवीचमत्कार, भूत-प्रेत तथा सुख-दुख देने वाली अदृश्य शक्ति का बवंडर है अपने आप समाप्त हो जाता है। तब यह बोध हो जाता है कि जीव के कर्म ही उसके सुख-दुख के कारण होते हैं। सही समझ हो जाने पर यह अपने आप साफ हो जाता है कि परमात्मा या मोक्ष अपनी आत्मा से कहीं कुछ अलग नहीं है जो मिलता हो। वस्तुतः सारी कामनाओं का त्याग करके स्वरूपस्थिति ही अध्यात्म की सर्वोच्च दशा है। सच्ची समझ वाला व्यक्ति कहीं व्यवहार में उलझता नहीं है। सच्ची समझ का अर्थ ही है कि वह वस्तुओं, प्राणियों तथा व्यवहारों का उचित ग्रहण और त्याग जानता है। अपने स्वरूप के विषय में, जड़ तत्त्वों के विषय में, व्यवहार के विषय में, साधना एवं शांति के विषय में; अर्थात आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों दिशाओं की उन्नति एवं जीवन के लिए विश्रांति के विषय में सच्ची समझ रखना ही आगे-पीछे, दायें-बायें फहम एवं समझ रखना है। फहम-पर-फहम, समझ-पर-समझ रखना भी यही है कि हर बात में समझने का प्रयत्न करना। आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों दिशाओं में ज्ञान तथा समझ प्राप्त करने की शक्ति हर मनुष्य में है। सारे बंधन, सारे दुख एवं सारी अशांति नासमझी तथा अज्ञान का फल है। हर दिशा में सच्ची समझ एवं सच्चा ज्ञान हो जाने से जीव सदैव सुखी रहता है।

फहम का दूसरा महत्त्वपूर्ण अर्थ सावधानी है। जो व्यवहार तथा परमार्थ सभी दिशाओं में सावधान रहता है वह सुखपूर्वक जागता है तथा सुखपूर्वक सोता है। जो व्यक्ति आगे-पीछे, दायें-बायें सब तरफ सावधान रहता है, वह न बाहरी व्यवहार में उलझता है और न भीतरी मन के द्वंद्वों में उलझता है। निरंतर सावधान एवं अखंड जाग्रत व्यक्ति ही जीवन्मुक्त है। सद्‌गुरु कहते हैं "फहम पर जो फहम करे, सो फहम है मेरि" जो सावधानी-पर-सावधानी रखता है वह मेरी तरह सावधान रहता है। यह कबीर साहेब की गर्वोक्ति नहीं, किन्तु सहजोक्ति है। वे अधिकृत जाग्रत पुरुष, सहज जाग्रत पुरुष एवं स्वयंसिद्ध जाग्रत पुरुष थे। सावधानी एवं जागृति जिसका सहज स्वरूप बन जाती है, वह साधकों से कह सकता है कि तुम लोग मेरी तरह सावधान रहो।

अथवा जो निरंतर जाग्रत है वह मानो मेरा प्रतिरूप है।

गृहस्थ, विरक्त और जीवन्मुक्त

हद चले सो मानवा, बेहद चले सो साध॥
हद बेहद दोऊ तजे, ताकर मता अगाध॥ 189॥

शब्दार्थ—हद=गृहस्थीमर्यादा। बेहद=वेषमर्यादा। अगाध=अथाह, अपार, दूसरे के लिए दुर्बोध, सर्वोच्च।

भावार्थ—जो सर्व दुराचरणों को त्यागकर, माता-पितादि सर्व गुरुजनों की सेवा-भक्ति करते हुए सदाचरणपूर्वक गृहस्थी मर्यादानुसार चलता है वह मनुष्य है। जो गृहस्थी से हटकर तथा किसी सम्प्रदाय में दीक्षा लेकर त्याग-वैराग्यपूर्वक चलता है, वह साधु है। और जो उक्त दोनों से परे होकर स्वरूपस्थिति में रमता है, उसका अनुभव दूसरे के लिए दुर्बोध है, वह सर्वोच्च है॥ 189॥

व्याख्या—मानव के तीन स्तर हैं—गृहस्थ, विरक्त तथा जीवन्मुक्त। इन तीनों के लिए सद्गुरु ने इस साखी में प्रकाश डाला है। सद्गुरु ने इस साखी में मानव, साधु तथा गुणातीत तीन श्रेणियों में सबको विभाजित करके उन्हें इंगित किया है।

पहली बात है "हद चले सो मानवा"। हद गृहस्थी मर्यादा है। गृहस्थ किसे कहना चाहिए? जो गृह-स्थ, अर्थात घर में रहता हो वह गृहस्थ है। परन्तु यह परिभाषा निर्दोष नहीं है, क्योंकि घर में विरक्त संत भी रहते हैं, भले वे दूसरों के एवं भक्तों के घर में रहते हों, परंतु रहते तो घर में ही हैं। संतों के आश्रम एवं मठ होते हैं, उनमें रहना भी तो घर में ही रहना हुआ। अतएव जो वैवाहिक-बंधनों में बंधकर रहता है, वह गृहस्थ है। लड़की तथा लड़के का विवाह कब होना चाहिए यह साफ है। लड़के का विवाह तब होना चाहिए जब वह शिक्षा-दीक्षा में उत्तीर्ण होकर धन कमाते हुए आर्थिक दृष्टि से अपने कदमों पर खड़ा हो जाये। इसके लिए कम-से-कम उसकी तीस वर्ष की उम्र हो ही जायेगी। और लड़की की शादी तब होनी चाहिए जब वह भी गृहस्थी की जिम्मेदारी को भलीभांति समझ ले और उसकी उम्र कम-से-कम बीस-बाईस वर्षों की हो जाये। इससे ऊपर हो जाये तो कोई बुरा नहीं। बाल-विवाह बच्चों की हत्या है। एक आदमी अपने बच्चे की थोड़ी उम्र में शादी कर दे तथा दूसरा तलवार से अपने बच्चे का गला काट दे तो दोनों हत्यारे हैं। परन्तु जिसने गला काट दिया उस हत्यारे ने अपने बच्चे को एक ही बार में समाप्त कर दिया, परन्तु बाल-विवाह करने वाला पिता अपने बच्चे को मानो जीवनभर मुरही छूरी से रेत-रेतकर मारता है।

दहेज प्रथा महापाप है। भारत आजाद होने के पहले सोचा जाता था कि जब भारत आजाद होगा तब शिक्षा काफी बढ़ जायेगी। लोग इतने शिक्षित हो जायेंगे कि वे स्वयं दहेज से घृणा करेंगे और विवाह बिना दहेज लिये करेंगे। परन्तु बात उलटी हुई। आदमी जितना शिक्षित हुआ है उतना लोभी हुआ है। कुछ को अपवाद रूप में छोड़कर शिक्षा से दहेज बढ़ा है। पुत्र वाले अपने पुत्र को शिक्षा दिलाने में जितने रुपये खर्च किये हैं उन्हें चक्रवृद्धि ब्याज के दर से मानो लड़की वालों से वसूल लेना चाहते हैं। परन्तु जब उन्हें स्वयं अपनी लड़की की शादी में भटकना पड़ता है और दहेज के दुष्चक्र में पड़ना पड़ता है तब उन्हें आकाश के तारे दिखाई देने लगते हैं। दुलहन तो खुद दहेज है। इसके बाद भी दहेज मांगना पाप है। दहेज लेना और देना दोनों पाप है।

बच्चों को अच्छे संस्कार देना माता-पिता के कर्तव्य हैं और यह तभी संभव है जब माता-पिता स्वयं अच्छे संस्कारों से संपन्न हो जायें। जिन घरों में सुबह से उठकर हल्ला होता है, घर के सभी सदस्य जोर-जोर से चिल्लाकर बोलते हैं, एक दूसरे को कठोर वचन कहते हैं, जिनके घर की सारी वस्तुएं बिखरी तथा अव्यवस्थित जहां-तहां पड़ी रहतीं हैं, घर में जगह-जगह थूक, बच्चे की टट्टी-पेशाब एवं अन्य गंदगी पड़ी रहती है, फर्श, दीवार और पूरा घर गंदा रहता है, कपड़े गंदे, बच्चे गंदे और सब कुछ अस्तव्यस्त रहता है, वहां बच्चों को अच्छे संस्कार कहां मिल सकते हैं! जहां अण्डा, मांस, मछली, शराब-कबाब चलते हैं, जहां गांजा, भांग, बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, पान, गुड़ाखू आदि गंदे व्यसनों का बोलबाला है, ऐसे घरों में बच्चों को अच्छे संस्कार कैसे मिल सकते हैं! वहां तो बच्चों को बुरे संस्कार मिलेंगे। अतएव घर-द्वार स्वच्छ होने चाहिए। घर की सारी चीजें कायदे से रखी होनी चाहिए। घर के लोगों को एक दूसरे के साथ कोमल तथा धीमी आवाज में बोलना चाहिए। सुबह उठकर बड़ों का नमस्कार, छोटों को प्यार तथा परस्पर स्नेह का व्यवहार करना चाहिए। मांस, अण्डा, मछली, शराब, गांजा, भांग, बीड़ी, तम्बाकू, पान, गुड़ाखू आदि का सर्वथा त्याग होना चाहिए। परिवार के शुद्ध, सात्त्विक आचार-व्यवहार होने चाहिए। बच्चों की संख्या एक-दो काफी है।

बच्चों के पांच वर्ष की उम्र तक प्यार, उसके बाद उन पर कड़ी दृष्टि। कड़ी दृष्टि का मतलब गाली-मार कदापि नहीं। बस, उन पर यह निगरानी रखी जाये कि वे कोई गलत काम न करें। जब वे सोलह वर्ष के हो जायें, तब उनसे भाईचारे का व्यवहार करें। जवान लड़कों को सभी कोई सीख देनी हो तो एकांत में, अकेले में प्यार एवं सहारे में दो। पति-पत्नी, पिता-पुत्र, भाई-भाई, सास-बहू आदि सबका पारस्परिक व्यवहार मधुर होना चाहिए। इसके

लिए निम्न सात सूत्रों का प्रयोग करना चाहिए—

1. अपने कर्तव्यों का पालन तथा दूसरों के अधिकारों की रक्षा।

2. स्वयं सहना परंतु दूसरों को सहाने की चेष्टा न करना।

3. स्वयं दूसरों की उचित बातें मान लेना परंतु अपनी बातें दूसरों को बलात मनवाने का प्रयास न करना।

4. स्वयं अपनी इच्छाओं पर संयम करना और यथासंभव दूसरे की उचित इच्छाओं को पूर्ण होने देना।

5. प्यार के एवं मीठे वचन बोलना।

6. सबसे कोमल व्यवहार करना।

7. मन में सबके प्रति स्नेह का भाव रखना।

हम परिवार तथा समाज के जिन व्यक्तियों की कुण्डली में बैठे हैं, उसमें शुद्ध स्नेह एवं प्रेम का व्यवहार रहने से ही जीवन में स्वर्ग उतर सकता है। यदि साथ रहने वाले लोग आपस में मधुरता के व्यवहारपूर्वक नहीं रह सकते तो उनका जीवन सुखी नहीं हो सकता। कितने घरों के लोग जब शाम को इकट्ठे होते हैं, तब वे एक-दूसरे से खुलकर बातें नहीं करते, अपने-अपने काम का लेखा-जोखा दूसरों को नहीं देते, कल क्या करना है, इस पर सर्वसंमति से विचार नहीं करते। घर में कोई पूजा, पाठ, कथा, कीर्तन, सत्संग आदि का काम नहीं करते; भाई, पिता, पुत्र आदि के साथ बैठकर भोजन करने तक की उदारता नहीं कर पाते; ऐसे घरों में नरक निवास करता है। ऐसे घर बहुत जल्दी नष्ट होते हैं। यादव-वंश का विनाश इसी तरह हुआ था। श्रीकृष्ण महाराज ने अपने बुढ़ापे में नारद जी के पास जाकर उनसे परिवार में समता रखने के उपाय पूछे थे। उन्होंने नारद से कहा था कि जो समझदार न हो, समझदार होकर भी मित्र न हो और मित्र होकर भी अपना मन वश में न रख पाता हो उससे अपनी गुप्त बातें न कहे। आप समझदार, मित्र तथा स्ववश मन वाले हैं, इससे मैं अपनी गुप्त बातें आपसे कहता हूं।

श्रीकृष्ण जी कहते हैं—"मैं अपनी प्रभुता दिखाकर परिवार वालों को दास नहीं बनाना चाहता। मैं प्राप्त भोग भी आधा परिवार के लिए छोड़ देता हूं। नारद! जैसे कोई अरणीकाष्ठ मथन करके आग पैदा करे, वैसे मेरे कुटुम्बियों के कटु वचन मेरे हृदय को जलाते रहते हैं। बड़े भाई बलराम बल-मद में चूर हैं, छोटे भाई गद बहुत सुकुमार बनते हैं और कुछ नहीं करना चाहते, रहा बड़ा लड़का प्रद्युम्न, वह अपने शारीरिक रूप-सौंदर्य में मस्त है। इस प्रकार मैं असहाय हूं। मेरे परिवार में बड़े-बड़े बलशाली हैं, परन्तु आहुक और अक्रूर ने आपस में वैमनस्य करके मेरा रास्ता रोक दिया है। मैं उनमें से किसी एक का पक्ष नहीं ले सकता। वे दोनों योग्य और मेरे

प्रिय हैं। परन्तु मेरी बातें मानकर वे आपस में प्रेम नहीं करते। जैसे किसी माता के दो पुत्र हों। दोनों परस्पर जुआ खेलते हों, तो माता एक की तो जीत चाहे, और दूसरे की हार न चाहे, यही मेरी उन दोनों के लिए दशा है। मैं परिवार वालों के पारस्परिक वैमनस्य से बहुत पीड़ित हूं। इसके समाधान का आप उपाय बतावें।"

नारद ने कहा—महाराज कृष्ण ! विपत्ति दो प्रकार की होती है। एक बाहर से आ जाती है तथा दूसरी अपने भीतर पैदा होती है। आपके ऊपर आयी विपत्ति आपकी ही बनायी है। आपने अपने वंशजों को लड़ना सिखाया। वे जीवनभर लड़ाइयां करते रहे। अब बाहरी लड़ाइयां समाप्त हो गयीं हैं, तो वे कहां लड़ें ! लड़ाई की आदत होने से अब आपस में लड़ रहे हैं। देखिए, मैं सुलझाने की युक्ति बताता हूं। प्रयोग करके देखें। पहली बात, परिवार वालों से कष्ट पाकर भी उनसे मीठे वचन बोलें। दूसरी बात, उन्हें उपभोग की वस्तुएं निष्पक्षतापूर्वक एवं उदारता से देते रहें। अर्थात धन का उचित बटवारा करते रहें। और तीसरी बात, साथियों का मन देखकर उनसे काम लें। जिसने अपने मन को वश में नहीं किया है, जो गम्भीर, सहनशील एवं विशाल हृदय का नहीं है, वह परिवार एवं समाज को नहीं चला सकता। समतल भूमि में कमजोर बैल भी बोझा ढो लेते हैं, परन्तु ऊंची-नीची भूमि में बलवान बैल ही बोझा ढो सकते हैं। "हे केशव ! आप इस यादवकुल के मुखिया हैं। यदि इस कुल में फूट पड़ जायेगी तो पूरे संघ का विनाश हो जायेगा। आप इस प्रकार व्यवहार करें कि आपके रहते हुए इस यादव-गणतंत्र-राज्य का विनाश न हो।"[1]

जिनके घर के सदस्य शाम को जब इकट्ठे होते हैं, तब एक-दूसरे से हंस-हंसकर बातें करते हैं, सब अपने-अपने काम का एक-दूसरे को लेखाजोखा देते हैं, कल क्या करना है इस पर विचार कर लेते हैं, सब सदस्य एक साथ बैठकर भोजन करते हैं, भोजन के पहले या पीछे सत्संग, कथा-वार्ता आदि कोई सामूहिक धार्मिक कृत्य करते हैं, उनके घर में स्वर्ग का निवास रहता है। जिस परिवार या समाज में सब काम आपस में मिल-बैठकर विचारकर करते हैं, वह परिवार या समाज दीर्घजीवी तथा सुखी होता है। और कुछ कर पावे या नहीं, परन्तु जिस परिवार में चौबीस घंटे में सब लोग एक बार हंस-बोल लेते हैं, वह परिवार सुलझा होता है। घर के परिवार में दिन में एक बार तो हंसी का कहकहा मच ही जाना चाहिए।

गृहस्थ को चाहिए कि वह अपनी कमाई का एक हिस्सा दान करे। दान

---

1. भेदाद् विनाशः संघानां संघमुख्योऽसि केशव।
यथा त्वां प्राप्य नोत्सीदेत् अयं संघस्तथा कुरु॥ (महाभारत, शांति पर्व, अध्याय 81, श्लोक 25)

के पात्र सार्वजनिक कल्याण की संस्थाएं हैं, लोकमंगल में विचरने वाले निर्मल सन्त हैं तथा असहाय लोग हैं। हर गृहस्थ को अपने जीवन में किसी सच्चे आध्यात्मिक गुरु की शरण में जाना चाहिए और उनके द्वारा अपने जीवन में दिशानिर्देश लेना चाहिए। सन्तों की सेवा तथा उनके सत्संग में लगकर बोध प्राप्त करना चाहिए। सत्संग इंजन है तथा गृहस्थ डिब्बे हैं। यदि गृहस्थ सत्संग में लगे रहेंगे तो वे अवश्य अपने गंतव्य को पहुंचेंगे। उन्हें सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय करते रहना चाहिए, जिससे उनकी सद्बुद्धि बनी रहे।

इस प्रकार जो व्यक्ति सदाचार से चलते हुए गृहस्थी मर्यादा का पालन करता है, वह मानव है।

"बेहद चले सो साध" जिसे गृहस्थी से वैराग्य हो जाता है और जो उससे विरक्त होकर किसी साधु-समाज में दीक्षित हो साधना करता है, वह साधु है। किसी को अधकचरे में घर नहीं छोड़ना चाहिए। पक्का वैराग्य तथा त्याग की सच्ची समझ होने पर घर का त्याग करना चाहिए। घर को छोड़कर किसी सच्चे वैराग्यवान संत की शरण में जाकर उनकी सेवा, सत्संग तथा स्वाध्याय करते हुए साधना से रहना चाहिए। दीर्घकाल तक साधु का वेष न लेकर सेवकभाव से रहकर गुरु के पास सेवा-साधना में बिताने पर वैराग्य की परिपक्वता हो जाती है। विरक्त हो जाने पर पूर्वाश्रम घर-परिवार का कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए। उसे व्यक्तिगत जीवन के लिए विशेष संग्रह नहीं करना चाहिए। उसे स्त्री का पूर्ण त्यागी होना चाहिए। शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए सत्संग में निवास करना चाहिए। उसे झाड़-फूंक, फलित ज्योतिष का पाखंड तथा और किसी प्रकार के निरर्थक लोकरंजन के काम नहीं करना चाहिए। साधु जिस सम्प्रदाय में रहे, उसके नियमों का पालन करते हुए उसे पूर्ण विरक्तिभाव में स्थित रहना चाहिए। इस प्रकार गृहस्थीरूपी हद से निकलकर विरक्त हुआ त्यागी बेहद चलने वाला है और वही साधु है।

"हद बेहद दोऊ तजे, ताकर मता अगाध" यह तीसरी श्रेणी का पुरुष सर्वोच्च होता है। जिसने गृहस्थी का त्याग किया और साधुदशा के सम्प्रदाय विशेष एवं वेषमर्यादा के अहंकार का भी त्याग करके शुद्ध स्वरूपस्थिति दशा में ठहर गया, उसका मत अगाध है। व्यक्ति का अपना मौलिक स्वरूप शुद्ध चेतन है। वह तीनों से परे ज्ञानमात्र है। स्वरूपस्थिति की दो दशाएं हैं; एक व्यवहारकाल की तथा दूसरी समाधिकाल की। परम स्थिति में पहुंचा संत व्यवहारकाल में राग-द्वेष और शोक-मोह से मुक्त होता है तथा समाधिकाल में सारे संकल्पों से रहित होता है। वह भौतिक धरातल से उठा हुआ सदैव स्वरूप में ही निमग्न रहता है। वह गृहस्थी से तो मुक्त होता ही है, विरक्ति की सांप्रदायिक संकुचितताओं से भी मुक्त होता है। भले ही उसका शरीर

किसी सम्प्रदाय विशेष में हो तथा वह किसी सम्प्रदाय के वेष से संयुक्त हो, परन्तु उसकी अन्तरात्मा सारी सांप्रदायिकताओं से परे होती है। इसलिए वह हद तथा बेहद—दोनों से परे होता है। उसके लिए ही सद्गुरु ने कहा है—

समुझि बूझि जड़ हो रहै, बल तजि निर्बल होय।
कहहिं कबीर ता सन्त का, पला न पकरै कोय॥ बीजक, साखी 167॥

बोधवान तथा स्वरूपस्थ पुरुष मतवाद एवं सांप्रदायिकता में नहीं पड़ता। क्योंकि "ताकर मता अगाध" होता है। जो स्वरूपविचार एवं स्वरूपस्थिति की अगाध-दशा में पहुंचा हुआ है, उसके लिए मतवाद का कोई मूल्य नहीं है। तब तक तो मतवाद छिलके की तरह उतर जाता है। स्वरूपस्थिति तक पहुंचे हुए संतों की दशा एक होती है। उनके देह-व्यवहार अवश्य भिन्न होते हैं, परन्तु उनकी दशा एक होती है। इसी क्रम में सद्गुरु अगली साखी कहते हैं।

सभी ज्ञानियों की एक स्थिति

समुझे की गति एक है, जिन्ह समुझा सब ठौर॥
कहहिं कबीर ये बीच के, बलकहिं और कि और॥ 190॥

शब्दार्थ—गति=चाल, आचरण, हरकत, पहुंच, सीमा, दशा, स्थिति, ज्ञान, मोक्ष। ठौर=स्थिति। बीच के=अधकचरे, अधूरे। बलकहिं=उबलते हैं, खौलते हैं, उमगते हैं, बक-बक करते हैं।

भावार्थ—जिन्होंने जड़-चेतन की समस्त स्थितियों, गुण-धर्मों एवं जड़ से सर्वथा भिन्न अपने चेतन स्वरूप को समझ लिया है और समझकर चिर विश्राम पा लिया है, उन सब ज्ञानियों के एक ज्ञान, एक आचरण, एक स्थिति एवं एक समान मोक्षावस्था होती है। सद्गुरु कहते हैं कि अधकचरे-अधूरे लोग ही अन्य-का-अन्य बकते हैं॥ 190॥

व्याख्या—"समुझे की गति एक है" बहुत वजनदार वचन है। व्यावहारिक क्षेत्र में भी सभी समझदारों की दशा एक होती है। समझदार लोग किसी बात को लेकर आपस में लड़ते नहीं। वे विचारों की भिन्नता होते हुए भी आपस में निर्विरोध बरताव करते हैं। वे आपस के विरोधी विचारों को अनदेखा कर जिन सिद्धांतों में सबके विचार मिलते हैं, उनको लेकर समन्वयात्मक व्यवहार बरतते हैं। यही सुख का रास्ता भी है। समझदार आदमी जब किसी अन्य से मिलता है, तब वह बात का आरम्भ उन विचारों से नहीं करता जहां मत नहीं मिलते हैं, किन्तु वहां से शुरू करता है जहां से दोनों के मत मिलते हैं। वह अपरिचित विचारों वाले लोगों के सामने सारा सत्य खोलकर कहने की उत्सुकता नहीं प्रकट करता। सब जगह सारे सत्य

एक साथ नहीं कहे जा सकते। यदि कोई ऐसा कहता है तो वह अपने उद्देश्य में असफल होगा। व्यक्ति को स्वयं सोचना चाहिए कि उसके विषय में यदि कोई सारा सत्य कह दे, तो शायद वह नहीं सह पायेगा, तो दूसरे के प्रति वह असमय में बहुत खरा क्यों बनना चाहता है !

मिलने-जुलने वालों में परस्पर प्रेम-व्यवहार बना रहे यह व्यक्ति और समाज के लिए बहुत बड़ी उपलब्धि है। परस्पर प्रेम व्यवहार बने रहने पर वे एक दूसरे के भी विचार सुनने की उदारता कर सकते हैं। परस्पर के प्रेम-व्यवहार से ही आदमी एक दूसरे के निकट आते हैं और निकट आने पर एक दूसरे के विचारों को समझते हैं। यदि अपने निर्धारित सत्य के जोश में दूसरों के संस्कारों के विरुद्ध खरा-खोटा कह दिया गया, तो हमारे विचारों के प्रति उनकी सहानुभूति समाप्त हो जायेगी। फिर तो वे हमारे परम सत्यों को समझकर भी नहीं समझना चाहेंगे। ऐसे उत्तम जिज्ञासु संसार में बहुत कम हैं जो केवल खरी बातें सुनकर उनको स्वीकार कर लें। संसार के लोग नाना संस्कारों में जकड़े हैं, उन्हें प्रेम व्यवहार एवं सहारे से ही सत्य मार्ग में लाया जा सकता है। अंततः तो सत्य खरा रूप में कहना ही पड़ेगा। उसके बिना सत्य का बोध नहीं हो सकता। परन्तु देश, काल, समाज आदि देखकर ही कुछ कहना चाहिए जिससे कथन सार्थक हो। इन सबका मतलब यह है कि समझदार आदमी परस्पर के व्यवहार में तथा किसी को अपने विचार देने के सम्बन्ध में भी नहीं उलझता।

"समुझे की गति एक है, जिन्ह समुझा सब ठौर" इस पंक्ति का भाव ज्यादा गहरे में है। जिन्होंने सब ठौर को समझ लिया है उन समझदारों की दशा एक होती है। जड़ और चेतन का भेद, उनके गुण एवं लक्षण, जगत की स्थिति, स्वरूप का तथ्य, स्वरूपस्थिति की रहनी तथा उसकी दशा—इन सारी बातों को जो समझकर यथावत ग्रहण और त्याग करता है और अपनी रहनी में रहता है, ऐसे सभी ज्ञानियों की दशा एक होती है। जो समझने योग्य को समझ लेता है उसकी बुद्धि निर्भ्रांत हो जाती है, और जो करने योग्य को कर लेता है उसका मन शांत हो जाता है। अतः निर्भ्रांत बुद्धि और शांत मन वालों की दशा एक होती है।

"सब ठौर" समझना क्या है? क्या यहां संसार की हर कला के ज्ञान की बात कही जा रही है? संसार की हर कला का ज्ञान एक ही व्यक्ति को हो पाना असंभव है। हम जीवनभर अपने शरीर के रोयें की संख्या से ही अनभिज्ञ रहते हैं। यहां हर ठौर से मतलब है जिससे हमारा मन बौद्धिक और मानसिक उलझनों से मुक्त होकर प्रशांत हो सके उसे समझ लेना। अच्छी समझ जीवन का सर्वस्व है। सारे विषयों से निवृत्त होकर अपने आप में

स्थित होना यही सबसे बड़ी समझ है। निष्काम हुए बिना कोई स्वरूपस्थ नहीं हो सकता और निष्काम पुरुषों में विवाद होने की बात ही नहीं उठ सकती। संसार के जितने मनुष्य विषयों से निवृत्त होकर आत्माराम हो जाते हैं, उन सबकी दशा एक होती है। उनके देह-व्यवहार में भिन्नता हो सकती है, परन्तु उनकी मानसिक दशा में कोई अन्तर नहीं हो सकता। सभी निष्काम लोग समान प्रशांत होते हैं, जो प्रशांत होते हैं वे विवाद-रहित होते हैं।

"कहहिं कबीर ये बीच के, बलकहिं और कि और"। सद्गुरु कहते हैं, ये जो बीच के लोग हैं, जो रास्ते में हैं, अभी मंजिल में नहीं पहुंचे हैं, वे और-का-और बकते हैं। वे ही बटलोई के अदहन की तरह उबलते हैं। वे ही अपनी श्रेष्ठता जाहिर करते हुए दूसरों को तुच्छ कहते हैं। "अधजल गगरी छलकत जाय" या "कहहिं कबीर अर्ध घट डोलै" अधूरा आदमी ही अन्यथा बात करता है। जिसने सब ठौर समझकर जीवन में विश्राम पाया है वह निर्विवाद होता है और ऐसे जितने लोग हैं सबकी दशा एक समान दिव्य होती है।

रास्ते हैं, चलने वाले चाहिए

राह बिचारी क्या करे, जो पन्थि न चले बिचार ॥
आपन मारग छोड़ि के, फिरे उजार उजार ॥ 191 ॥

शब्दार्थ—बिचारी=बेचारी। उजार=ध्वस्त, उजड़ा हुआ, वीरान, जनशून्य, जंगल, कांटा-खाईं, कुपंथ।

भावार्थ—बेचारी अच्छी राह क्या करे, जब पथिक विचारपूर्वक उस पर नहीं चलता और अपना रास्ता छोड़कर वीरान में भटकता है ॥ 191 ॥

व्याख्या—महापुरुषों ने स्वयं आचरण एवं रहनी में चलकर, मुख से सन्मार्ग बताकर तथा निर्णय के वचन ग्रन्थों में लिखकर जीवों के कल्याण का पथ प्रशस्त कर दिया है, अब यह जिज्ञासु एवं मुमुक्षु का कर्तव्य है कि वह स्वयं विचारपूर्वक उस पर चले। यदि वह उस पर नहीं चलता है तो पथ का क्या दोष है !

अच्छा रास्ता सामने है, कोई उसे त्यागकर कांटा-खाईं में कूद-कूदकर चलता है तो उसको रास्ते पर लाने का क्या उपाय है ! जो संतों के शुभाचारों, ज्ञान एवं विवेकपूर्ण वचनों का आदरकर उनके अनुसार अपना जीवन नहीं बनाता है उसे कोई कैसे सुधार पायेगा !

मृत्यु जीवन का परम सत्य है

मूवा है मरि जाहुगे, मुये कि बाजी ढोल ॥
सपन सनेही जग भया, सहिदानी रहिगौ बोल ॥ 192 ॥

शब्दार्थ—सहिदानी=चिह्न, पहचान, निशान। बोल=वाणी, चर्चा।

भावार्थ—पहले के लोग मर चुके हैं। तुम भी मर जाओगे। मुये चाम का ही तो ढोल बजता है। संसार के लोग सपने में मिले हुए प्राणी-पदार्थों के मोही बने हैं। एक दिन यह सपना टूट जाता है। मर जाने के बाद लोगों में उसकी चर्चा ही कुछ दिनों तक पहचान रह जाती है॥ 192॥

व्याख्या—मृत्यु जीवन का परम सत्य है। इसको झुठलाया नहीं जा सकता। परन्तु खेद है कि मनुष्य इसको झुठलाने में जीवनभर लगा रहता है। लोग मृत्यु को याद नहीं रखना चाहते। यदि कोई उसकी याद कराना चाहे तो नाखुश हो जाते हैं। किसी पुत्र-जन्म, विवाह आदि के अवसर पर यदि कोई किसी की मृत्यु का नाम ले ले, तो देखोगे कि लोग डपट लेंगे 'चुप भी रहो भले आदमी! ऐसे मंगल के अवसर पर मुख से अशुभ क्या निकालते हो!' मालूम होता है कि जन्म और विवाह ही केवल शुभ एवं मंगल हैं और मृत्यु अमंगल! परन्तु ध्यान रखो कि किसी के जन्म और विवाह की गहमागहमी में तो हम माया-मोह में भूल जाते हैं और किसी की मृत्यु की चर्चा या मृत्यु की याद में हमारा मन संसार से हटकर शांत होता है और सत्यता के धरातल पर पहुंचता है। किन्तु आदमी तो माया-मोह में ऐसा व्यामोहित है कि वह हर समय अपने आप को छलता है। लोग दुकान बन्द नहीं करते, दीपक नहीं बुझाते, किन्तु दुकान एवं दीपक को बढ़ाते हैं। जब उन्हें दुकान बन्द करना होता और दीपक बुझाना होता है तब वे अपने साथी एवं नौकर से कहते हैं कि दुकान बढ़ा दो तथा दीपक बढ़ा दो। शुतुरमुर्ग एक ऊंचा जानवर होता है। कहा जाता है कि जब सिंह उसके ऊपर हमला करता है तब वह अपने मुख को बालू या कचड़े में गाड़ देता है और आंखें बंद कर लेता है। वह समझता होगा कि मैं जब सिंह को नहीं देखूंगा तो वह भी मुझे नहीं देखेगा। यही दशा व्यामोहित मनुष्य की है। वह सोचता है कि यदि मैं मौत की याद नहीं करूंगा तो वह मुझे भी भूली रहेगी। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि हम चाहे मौत को याद रखें या न रखें, वह हमारे सोते-जागते चौबीसों घंटे प्रति पल हमारी ओर निरन्तर आ रही है। उसका आना कोई रोक नहीं सकता है। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद, कबीर, नानक चाहे जितने बड़े नाम लिये जायें उसे कोई नहीं रोक पाया है। उसने सबके शरीर को छीन लिया है।

इसलिए सद्गुरु कबीर कहते हैं कि पहले के सभी लोग मर चुके हैं और हे विमेहित मानव! तुम भी मर जाओगे। सटीक उदाहरण देने में कुशल कबीर देव कहते हैं कि मुये चाम का ही ढोल बजता है। जिन्दा चाम का ढोल बन ही नहीं सकता। जब पशु मर जाता है, तब उसके चाम को निकालकर ढोल मढ़ा जाता है। इस प्रकार मुये चाम का ही ढोल बजता है। इसी प्रकार

जब आदमी मर जाता है तब उसके बाद कुछ लोग उसकी कुछ दिनों तक चर्चा करते हैं। उसकी अच्छाइयों को लेकर उसकी अच्छी चर्चा चलती है, तथा बुराइयों को लेकर बुरी चर्चा होती है। मनुष्य के मर जाने के बाद कुछ दिनों तक उसकी सहिदानी, उसकी पहचान केवल उसके विषय में चर्चा है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह शरीर के जीने या मरने की चिन्ता न कर यह चिन्ता करे कि हमसे बुरे कर्म न हों। हमारे बुरे कर्म हमें तुरन्त दुख देने लगते हैं और उसको लेकर हमारे जीवित काल में तथा मरने के बाद भी हमारे लिए बुरी चर्चा होती है। वस्तुतः जीवित रहकर भी वही मरा है जिसके लिए सर्वत्र बुरी चर्चा है और मरकर भी मानो वही जीवित है जिसके विषय में सर्वत्र अच्छी चर्चा है।

"सपन सनेही जग भया" संसार के लोग सपने के प्रेमी बने हैं। सपने में मोहक प्राणी और पदार्थ मिलते हैं, बहुत सारी अनुकूलताएं मिलती हैं। उनमें उस समय मोह भी होता है; परन्तु नींद टूटते ही सपना समाप्त हो जाता है। स्वप्न की बुरी घटनाएं भी जागने पर नहीं रह जाती हैं। सद्गुरु कहते हैं कि हे मानव! तू मृत्यु का शिकार है। तू इन सपने के प्राणी-पदार्थों के मोह में पड़कर बुरे कर्म मत कर! तू किसका गर्व करता है! पहले के लोग मर चुके हैं। तू भी मर जायेगा। यहां क्या स्थायी है! यहां से सबको एक दिन जाना है। जाने के बाद थोड़े दिनों तक लोग तुम्हारी चर्चा करेंगे। उसके बाद भूल जायेंगे। इसलिए इस सपने से जागकर हमें स्वरूपस्थिति करना चाहिए।

मूवा है मरि जाहुगे, बिन शिर थोथी भाल॥
परेहु करायल बृक्ष तर, आज मरहु की काल॥ 193॥

शब्दार्थ—शिर=सिर, खोपड़ी, किसी वस्तु का अग्र-भाग, यहां अर्थ है भाला की नोंक एवं धार। थोथी भाल=भोथरा भाला, धाररहित भाला। करायल वृक्ष=करील का पेड़ जो बिना पत्ते के केवल कांटों का झाड़ीदार होता है, तात्पर्य में नाशवान संसार।

भावार्थ—पहले के लोग मर चुके हैं। तुम भी अविवेकरूपी बिना धार के भोथरे भाले के प्रहारों से एक दिन मर जाओगे। क्षणभंगुर संसार रूपी बिना पत्ते एवं बिना छाया के कंटीले झाड़ीदार करील पेड़ के नीचे पड़े हो, आज मरो या काल॥ 193॥

व्याख्या—कबीर साहेब की पैनी वैराग्य दृष्टि और कहने का तीखे उदाहरण-सहित अद्भुत विदग्धात्मक तरीका हृदय को झकझोर देते हैं। साहेब कहते हैं कि पहले के सभी लोग मर चुके हैं, तुम्हें भी मर जाना है। बिना धार एवं भोथरे भाले से मार-मारकर यदि किसी की हत्या की जाये तो

उसको बड़ी पीड़ा होगी और देरी में मर सकेगा। तेज धार के हथियार से मारने पर आदमी जल्दी मर जाता है, परन्तु भोथरे हथियार से मारने पर बड़े दुखपूर्वक देर में मरता है। जो अविवेक एवं मोह से ग्रसित है, उसका मरना मानो भोथरे हथियार से होता है। जो व्यक्ति जीवनभर राग-द्वेष, शोक-मोह, चिंता-विकलता आदि में पिस-पिसकर मरता है वह मानो भोथरे हथियार से मारा जाकर मरता है। जीवन की सफलता सदैव मन का प्रसन्न रहना है। दुखी रहना या प्रसन्न रहना यह ज्यादा भौतिक स्थितियों पर निर्भर नहीं करता, किन्तु अविवेक तथा विवेक पर निर्भर रहता है। इसलिए जब मनुष्य का पूर्ण विवेक उदय हो जाता है तब वह कृतार्थ हो जाता है और हर समय प्रसन्न रहता है। परन्तु जब तक यह स्थिति नहीं आती, चाहे आदमी कितना धनी एवं सब चीजों से संपन्न हो, दुखी रहता है। संसार के अधिकतम लोग दुखी ही दिखते हैं। कोई बिरला है जो विवेकसंपन्न है और सुखी है। अतएव सद्गुरु कहते हैं कि हे मानव! तू माया के मोह में आसक्त होकर निरन्तर पीड़ित है और इस संसार में विषय-इच्छा एवं चिन्ता-शोक में तिल-तिलकर पीड़ित होता है, और इसी रफ्तार में तेरा अन्त आ जाता है।

करील के पेड़ में पत्ते नहीं होते। वह कांटायुक्त एवं झाड़ीदार होता है। उसमें न छाया होती है न फल। यह क्षणभंगुर संसार इसी प्रकार है। इसमें न जीव को शीतलता मिलती है न इसमें कोई उत्तम फल है। भौतिक पदार्थों के रागी आदमी को जीवनभर परिवर्तनशीलता एवं क्षणभंगुरता का अनुभव करते हुए अन्त में यहां से चला जाना पड़ता है। भौतिक उपलब्धियों का अन्ततः कोई फल नहीं होता। सब कुछ जहां-का-तहां रह जाता है, जीव अकेला चला जाता है। व्यामोहित मनुष्य को धन, भवन, स्त्री, पति, पुत्र, प्रतिष्ठा आदि से सुख प्राप्ति की बड़ी लम्बी आशा रहती है, परन्तु उसके जीवन के दिन जितने बीतते हैं उसे सबकी असारता का अनुभव होता जाता है। भौतिकता के रागियों को अंततः इस संसार से केवल निराशा ही हाथ लगती है। वह निराशा ही में मरकर चला जाता है। जीवन में शांति तब मिलती है जब समस्त भौतिक पदार्थों से अनासक्त होकर अपने अविनाशी स्वरूप में स्थिति हो।

हमारे निर्णय ज्ञानपरक हैं

बोली हमारी पूर्व की, हमें लखै नहिं कोय॥
हमको तो सोई लखै, जो धुर पूरब का होय॥ 194॥

शब्दार्थ—बोली=बातें, निर्णय। पूर्व की=ज्ञान दिशा की, ज्ञानपरक। धुर=ध्रुव, दृढ़, पक्का, निश्चय।

भावार्थ—हमारे निर्णय ज्ञानपरक हैं, हमारी बातें वे लोग ठीक से नहीं समझ सकते जो केवल कर्म-उपासनादि में डूबे हैं। हमारे निर्णय तो सम्यक वही समझ सकता है जो निश्चयपूर्वक ज्ञानपरक बुद्धि वाला है॥ 194॥

व्याख्या—बच्चों को पहली कक्षा में ही पढ़ाया जाता है कि बच्चो ! जब सूरज उगे तब तुम उसके सामने मुख करके खड़े हो जाओ, और अपने दोनों हाथों को दोनों ओर फैला लो। अब यह समझो कि तुम्हारे मुख के सामने जिधर सूरज उगा है वह पूर्व दिशा है, पीठ की तरफ पश्चिम, दाहिने हाथ की तरफ दक्षिण तथा बायें हाथ की तरफ उत्तर दिशा है। अतएव जिधर सूरज उगता है उस दिशा को पूर्व कहते हैं। सूर्य प्रकाशस्वरूप है। प्रकाश ज्ञान का प्रतीक है। अतएव पूर्व का लाक्षणिक अर्थ है ज्ञान। "बोली हमारी पूर्व की" कहकर सद्‌गुरु हमें यह बताते हैं कि हमारी बातें ज्ञानपरक हैं। जो लोग भावुकतापूर्वक अनेक काल्पनिक देवी-देवतादि की भक्ति-भावना में एवं नाना प्रकार के कर्मकांडों में डूबे हैं, उन्हें मेरी सारी बातें समझ में आना बड़ी कठिन बात है। भावुक तथा मोटी बुद्धि वाले लोग ज्ञान की धारदार बातें पहले तो सहन हीं नहीं कर पाते, समझना और दूर की बात है।

सद्‌गुरु कहते हैं कि हमें वही समझ सकता है, अर्थात हमारे निर्णयों को वही बूझ सकता है जो निश्चयपूर्वक ज्ञान दिशा वाला हो। जिसकी बुद्धि केवल कहीं भावुक होकर बंधी नहीं है, किन्तु निष्पक्ष, उदार एवं निर्णयवती है, वही कबीर साहेब की बातों को समझ सकता है। कबीर किसी तथाकथित ईश्वर, ईश्वर के अवतार, पैगम्बर, ईश्वर की किताब, ईश्वरीय संप्रदाय एवं देवी-देवताओं में बंधे नहीं थे। वे मानसिक गुलामी करना जानते ही नहीं थे। वे श्रद्धा-भक्ति के नाम पर आंख मूंदकर चलना पसंद नहीं करते थे। उन्होंने श्रद्धा-भक्ति के नाम पर चलाये गये समस्त अंधविश्वासों एवं अंधरूढ़ियों को झकझोरकर उखाड़ दिया है। वे सत्यज्ञान में निष्ठा रखने को ही श्रद्धा समझते थे। श्रद्धा है भी सत्य को धारण करना। बिना समझे-बूझे आंख मूंदकर बिना सिर-पैर की बातों में मोह कर लेना अंधश्रद्धा है। कबीर साहेब इसके घोर विरोधी हैं। वे केवल सत्य के मोती के व्यापारी हैं। इसलिए कंकड़ और ठीकरे को ही पहचानने वाले लोग कबीर के मोती को कैसे पहचान सकते हैं ! उनके हीरे-मोती पारखी ही परखेंगे जो निश्चयपूर्वक, ज्ञानपूर्वक बुद्धि रखते हैं। किसी जड़-संस्कार में बंधकर कबीर की बात समझ पाना बड़ा मुश्किल है। उनकी बातें समझने के लिए उन जैसा खुला दिल होना चाहिए।

इस साखी का अनेक विद्वान स्थूल अर्थ करते हैं। उनके ख्याल से कबीर कहते हैं कि हमारी बोली पूर्व की अर्थात बनारस की है। हमारी बातें दूसरे लोग नहीं समझ सकते, केवल वे ही समझ सकते हैं जो निश्चयपूर्वक बनारस

के आस-पास के होंगे।

उक्त अर्थ बहुत छिछला है। संत की वाणी सार्वभौमिक होती है और कबीर जैसे सार्वभौमिक चिंतक की वाणी स्वाभाविक ही सार्वभौमिक है। "देश विदेशे हौं फिरा" कहने वाले कबीर अपनी बातों का अधिकारी केवल बनारस के आस-पास वालों को ही मान लें यह कैसे हो सकता है ! प्रत्यक्ष ही उनकी वाणी आज पूरा भारत समझ रहा है और पूरा विश्व समझने का प्रयत्न कर रहा है। अतएव यह अर्थ उपयुक्त नहीं है। फिर बनारस पूर्व कैसे है ! राजस्थान, पंजाब, हरियाणा, दिल्ली आदि के ख्याल से बनारस पूर्व है, परन्तु बिहार, बंगाल आदि के ख्याल से तो पश्चिम है, नेपाल से दक्षिण तथा मध्य प्रदेश, मद्रास आदि से उत्तर है। दिशाएं देशसापेक्ष होती हैं। दिशाएं अपने आप में स्वतंत्र नहीं हैं। इसलिए बनारस का अर्थ पूर्व होगा तो सापेक्ष ही। फिर बनारस पश्चिम, उत्तर और दक्षिण भी होगा। अतएव ज्ञान ही पूर्व है। ज्ञानपरक बुद्धि वाले ही कबीर साहेब की वाणी को पूर्णतया समझ सकते हैं। यही उपयुक्त अर्थ है।

संसार का घमण्ड बेकार है

जाके चलते रौंदे परा, धरती होय बेहाल ॥
सो सावत घामें जरे, पण्डित करहु विचार॥ 195॥

शब्दार्थ—रौंदे परा=मर्दन हो गया, रगड़ गया। सावत=सामंत, पड़ोसी, मांडलिक, राजा, बड़ा जमींदार, नायक, योद्धा।

भावार्थ—हे पंडितो ! विचार करो, जिनके चलने के कारण पद-मर्दन से जमीन रगड़ जाती थी और धरती के जीव परेशान हो जाते थे, वे राजे-महाराजे एवं योद्धागण युद्धस्थल में अधमरे पड़े धूप में जलते हैं॥ 195॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर ने अपने समय में जमींदारों, छोटे तथा बड़े राजों-महाराजों, मांडलिकों, योद्धाओं आदि को देखा था जो दूसरों को लूटते थे, मारते थे, काटते थे और थोड़ी-थोड़ी बातों में युद्ध ठान देते थे। जो बड़े डाकू हो जाते थे, वे ही महाराजाधिराज हो जाते थे। वे ईश्वर बनकर जनता से पुजवाते थे। ये सब अपने फौज-फक्कड़ के सहित जिधर चलते थे उधर की जमीन रौंद जाती थी, फसलें रगड़ जाती थीं, बिना रास्ते के रास्ते बन जाते थे और उस भूखंड के सारे जीव उनके आतंक से परेशान हो जाते थे। इन रजवाड़ों एवं लड़ाकुओं के आतंक से जनता सदैव आतंकित रहती थी। सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे राजाओं और लड़ाकुओं की भी अन्तिम दशा क्या होती थी यह जगजाहिर है। ये रात-दिन दूसरों को मारने वाले स्वयं युद्ध में मारे जाते थे, अस्त्र-शस्त्र से घायल हो अधमरे पड़े धूप में जलते थे, और इन्हें जल्दी कोई पानी देने वाला नहीं मिलता था।

राज्य की तृष्णा में पड़े हुए अहंकारी एवं क्रूर रजवाड़ों की यही दशा होती थी। अपने अहंकार का निरन्तर पोषण करने वाले इन स्वार्थी और घमण्डी राजाओं का पूरा जीवन दुख में बीतते हुए अन्त घोर दुख और निराशा में जाता था। बहुत कुछ अच्छे आदर्श रखने वाले राम, कृष्ण, पांडवों तथा कौरवों के जीवन भी विशेषतः युद्ध में बीतते हुए अन्त में घोर निराशा, आत्महत्या एवं युद्ध में ही समाप्त हुए। फिर हिटलर, मुसोलिनि आदि की दशा ही खतरनाक है। जीवनभर गौवों और हिन्दुओं को सताने वाला औरंगजेब लगभग अपने पैंसठ से नब्बे वर्ष की उम्र तक दिल्ली से दूर महाराष्ट्र के पर्वतीय क्षेत्रों में तम्बू में रहता था तथा घोड़े पर बैठकर युद्ध के लिए भटकता हुआ दुख में अपने जीवन का अन्त किया। मरते समय उसने कहा—''जिंदगी तो बेशकीमती थी, लेकिन वह बेकार चली गयी।'' अविवेकपूर्ण स्वार्थ, भोगपरायणता, घमण्ड, सबको अपने वश में करके सब पर शासन करने की लालसा आदि प्रवृत्ति रखने वाले लोगों का जीवन अशांत होता ही है और अंत में भयंकर पतन होता है।

पायन पुहुमी नापते, दरिया करते फाल॥
हाथन पर्वत तौलते, तेहि धरि खायो काल॥ 196॥

शब्दार्थ—पुहुमी=पृथ्वी। दरिया=नदी, समुद्र। फाल=डग (एक स्थान से दूसरे स्थान पर पैर रखना), फलांग, छलांग, एक बार में ही कूद जाना। धरि=पकड़कर। काल=मृत्यु।

भावार्थ—जो अपने पैरों से पूरी पृथ्वी नाप लेते थे, समुद्र को एक ही छलांग में कूद जाते थे और अपने हाथों से पर्वत उठा लेते थे, उन्हें भी मौत ने धर दबोचा॥ 196॥

व्याख्या—''पायन पुहुमी नापते'' का अर्थ है कि जो लोग पृथ्वी की एक ओर से दूसरी ओर तक यात्रा करते थे, पूरी पृथ्वी को अपने वश में करने के लिए उसमें हमले करते रहते थे जैसे सिकन्दर, चंगेजखां आदि और जो लोग 'दरिया करते फाल'' समुद्र की बड़ी-बड़ी यात्राएं करते रहते थे जैसे अगस्त्य, कोलम्बस, वास्कोडिगामा आदि और ''हाथन पर्वत तौलते'' अर्थात बड़-बड़े काम करते रहते थे, जैसे मिश्र के पिरामिड, चीन की दीवार आदि का निर्माण, उन्हें भी मौत ने धर दबोचा।

पुराणों के अनुसार माना जाता है कि वामन[1] ने अपने तीन डग से पूरी

---

1. ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के बाइसवें सूक्त के 16, 17 और 18वां मन्त्र इस विषय में हैं। इनमें सत्रहवां मन्त्र है ''इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूहडमस्य पांसुरे (ऋग्वेद 1/22/17) इसके अनुवाद में प्रसिद्ध वेद-विद्वान श्री रामगोविंद त्रिवेदी ने लिखा है—''विष्णु ने इस जगत की परिक्रमा की, उन्होंने तीन प्रकार से अपने पैर रखे और उनके धूलियुत पैर से जगत छिप-सा

पृथ्वी को नापकर राजा बलि को छल लिया था और पूरी पृथ्वी को अपने वश में कर लिया था, रामायण के अनुसार हनुमान जी सौ योजन समुद्र एक ही छलांग में कूद गये थे और रावण ने अपने हाथों से कैलाश पर्वत को, हनुमान ने हिमालय के खंड पर्वत को बूटी लाने के लिए और श्रीकृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को हाथों पर उठा लिया था, परन्तु ये सब भी कालबली से न बचे। लोग वामन को भगवान, हनुमान को देवता तथा कृष्ण को परब्रह्म मानकर उनका सब समय रहना मानते हैं कि वे जब चाहें तब सबके बीच आ सकते हैं, जो चाहें कर सकते हैं, क्योंकि वे सर्वसमर्थ हैं। कबीर साहेब मिथ्या महिमा के विरोधी एवं तथ्य के द्रष्टा हैं; अतः वे कहते हैं कि यह बात गलत है कि ये सब समय मौजूद हैं तथा जब चाहें आ सकते हैं तथा जो चाहें कर सकते हैं। वस्तुतः ये सब अन्य मनुष्य की तरह ही अपने-अपने समय में मर चुके हैं।

यह भी अतिशयोक्ति है कि वामन ने पूरी पृथ्वी को तीन डग से नाप लिया, हनुमान सौ योजन समुद्र कूद गये तथा रावण, हनुमान और कृष्ण ने पर्वत को हाथ पर उठा लिया।

अज्ञान सारी योग्यताओं का नाशक है

नौ मन दूध बटोरि के, टिपके किया बिनाश॥
दूध फाटि काँजी भया, हुवा घृत का नाश॥ 197॥

शब्दार्थ—टिपके=बूंद, खट्टी बूंद। काँजी=फटे हुए दूध का पानी, कसैला।

भावार्थ—नौ मन दूध इकट्ठा किया गया, परन्तु उसमें सिरका आदि खट्टे रस की कुछ बूंदें डाल दी गयीं, तो वह सारा दूध नष्ट हो गया, क्योंकि दूध फटकर खट्टा पानी हो गया और घी का नाश हो गया। अभिप्राय है कि पांच तत्त्व, तीन गुण युक्त मानव शरीर में नवां जीव विद्यमान है, परन्तु एक अज्ञान

गया।" यह एक रूपक लगता है जिसके द्वारा ऋषि जगत में अन्तर्निहित शक्ति को समझाना चाहता है, परन्तु पौराणिकों ने इसको लेकर कहानी बना डाली कि विष्णु नाम के देवता ने वामन रूप धारणकर बलि को छल लिया और उनके समस्त विश्व का राज्य या पूरा भूमंडल अपने तीन पगों में नाप लिया।

इसका अर्थ हो सकता है कि विष्णु विश्व में अन्तर्निहित शक्ति है जिसे ऋत भी कहते हैं। वह मानो सत, रज एवं तम इन तीन पदों की गतिवाला है और उसी की धूल एवं गतिविधि से जगत ढका है। भारतीय-अभारतीय समस्त वैदिक विद्वान इस बात में प्रायः एकमत हैं कि सूर्य विष्णु है, उसकी किरणें उसके पग हैं। उनका पृथ्वी, अंतरिक्ष तथा द्युलोक में पड़ना उसका तीन पग से तीनों लोक नाप लेना है। जगत को समझने के सुन्दर रूपक को भोले पौराणिकों ने बालक का खेल बना डाला है और एक तरफ विष्णु को परम देवता बताकर दूसरी तरफ उन्हें धोखाधड़ी करने वाला भी सिद्ध किया। पुराणों की अनेक कहानियां चोरी, व्यभिचार, छल, कपट, धोखा आदि से रंग दी गयी हैं।

के कारण जीवन व्यर्थ गया और जीव दुख में ही पड़ा रहा॥ 197॥

व्याख्या—यहां नौ मन दूध इकट्ठा करने की बात कही गयी है जिसका लाक्षणिक अर्थ पांच तत्त्व तथा तीन गुण युक्त अष्टधाप्रकृति और नवां जीव किया गया है। अर्थात अष्टधा प्रकृतियुक्त उत्तम मानव शरीर में जीव निवास करता है, परन्तु एक अज्ञान का टिपका पड़ने से उसकी सारी योग्यता व्यर्थ हो जाती है।

वैसे "नौ मन दूध" का अष्टधा प्रकृति एवं जीव अर्थ न किया जाये तो भी काम बन सकता है। नौ मन दूध का लाक्षणिक अर्थ है पूरी योग्यता। इसमें कारण है 1 से 9 की संख्या के अंक। इसके बाद शून्य (0) होता है। ये ही घूम-घूमकर संख्या बनाते हैं। इसलिए 'नौ मन' संख्या की अधिकता का सूचक है। जैसे कहावत है "न नौ मन तेल इकट्ठा होगा, न राधा नाचेगी।" आठ मन या दस मन कहने का प्रचलन नहीं है, किन्तु नौ मन कहने का ही प्रचलन है। अतएव "नौ मन दूध बटोरि के" का सरल लाक्षणिक अर्थ है कि मानव जीवन की सारी योग्यता प्राप्त हो जाने पर भी जीव एक अज्ञान के कारण भटकता है। उदाहरण कितना सुन्दर और सटीक है। बहुत दूध इकट्ठा किया गया और उसमें थोड़ा कसैला पदार्थ डाल दिया गया तो वह न दूध रह जाता है न दही बन पाता है और न उसमें से घी ही निकलता है। वह सब-का-सब नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार इस उत्तम मानव शरीर की सुन्दर योग्यता एक अज्ञान के कारण पूरी-की-पूरी व्यर्थ जाती है। अज्ञान के कारण मनुष्य अपनी उत्तम योग्यता का दुरुपयोग करता है। किसी वस्तु के सदुपयोग के मूल में ज्ञान है और दुरुपयोग के मूल में अज्ञान। सदुपयोग कल्याणकर तथा दुरुपयोग अकल्याणकर है। नौ मन दूध में कोई कसैला डाल दे और वह फटकर खराब हो जाये तो यह कितना कष्टकर होगा ! जिसका दूध होगा उसे बड़ा दुख होगा। परन्तु मानव-शरीर की इस उत्तम योग्यता का हम अपने अज्ञानवश खिलवाड़ करते हैं। इसे मलिन विषयों में, दुर्व्यसनों में, व्यर्थ बकवाद में और आलस्य-प्रमाद में खोते हैं, इसलिए न हम व्यवहार में सुखी होते हैं और न परमार्थ-लाभ कर पाते हैं। अतएव हमें अपने समय और शक्ति का दुरुपयोग न कर सदुपयोग करना चाहिए। इसके लिए हमें सच्चे सद्‌गुरु और संतों की शरण में जाकर अपने मन के अज्ञान को दूर करना चाहिए और अपने आप को समझना चाहिए कि हम कौन हैं, किसमें फंसे हैं, दुख क्यों है तथा उससे पूर्ण छुटकारा कैसे होगा !

हिन्दू और मुसलमानों की भूल

कितनो मनावो पाँव परि, कितनो मनावो रोय॥

हिन्दू पूजे देवता, तुरुक न काहू होय॥ 198॥

शब्दार्थ—तुरुक=तुर्क, तुर्किस्तान का रहने वाला, तात्पर्य में मुसलमान।

भावार्थ—पांव पड़कर और रो-रोकर चाहे जितना मनाओ, परन्तु हिन्दू जड़-देवता पूजना नहीं छोड़ते और मुसलमान शून्य में पुकारना नहीं छोड़ते॥ 198॥

व्याख्या—क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, ईश्वर को प्राणियों में नहीं देखते। वे जीव को परमात्मा नहीं समझते। वे या तो मिट्टी, पत्थर, काष्ट तथा अष्ट धातुओं की मूर्तियों में परमात्मा को देखते हैं या शून्य-आकाश में देखते हैं। इसलिए वे देवता या ईश्वर को प्रेम-समर्पण के लिए बकरा, मुरगा, सूअर, भेड़, ऊंट, गाय आदि काटते हैं, जो घोर जंगलीपन है। देहधारी प्रत्यक्ष देवता हैं, उन्हें पत्थर के देवता या शून्य के ईश्वर के नाम पर काट देना कितना घोर अज्ञान है ! पत्थर आदि जड़ की पिंडी ईश्वर नहीं है और न शून्य आकाश ईश्वर है। ईश्वर तो ये मानव हैं, ये प्राणधारी हैं। इनकी पूजा करना चाहिए, इनका सत्कार करना चाहिए। लेकिन खेद है कि आदमी के दिमाग को लकवा मार गया है। वह पत्थर, पेड़, पानी, पहाड़, चांद, सूरज, आग, हवा, आकाश, सभी निर्जीव पदार्थों को पूज लेता है, परन्तु जो सजीव हैं और असली देवता हैं उनका तिरस्कार करता है। इतना ही नहीं, निर्जीव के आगे सजीव की हत्या करता है।

कबीर देव कितना मार्मिक वचन कहते हैं कि इन हिन्दू-मुसलमानों के सामने चाहे जितना हाथ जोड़कर समझाओ, इनके पैरों पर पड़कर समझाओ, रो-रोकर समझाओ, गिड़गिड़ाकर समझाओ, परन्तु ये न जड़ देवी-देवता पूजना छोड़ते हैं और न शून्य में पुकारना छोड़ते हैं। "न काहू होय" वचन में शून्य के लिए व्यंजना है। इसका स्थूल अर्थ है कि मुसलमान किसी के नहीं होते। परन्तु भावार्थ है कि ये शून्य में पुकारते हैं। किन्तु कबीर देव कहते हैं कि न पत्थर में परमात्मा है और न शून्य में। वह तो सभी प्राणियों में है। अतएव प्राणियों पर दया एवं उनसे प्रेम करना ही परमात्मा की भक्ति है। यह आत्मा ही शुद्ध होने पर परमात्मा है। इससे अलग खोजना भ्रम है।

हिन्दू और मुसलमान दोनों पत्थर और दीवार के पुजारी हैं। दोनों भटके हुए हैं। जनाब अमीर मीनाई कहते हैं—

शेख कहता है बिरहमन को, बिरहमन वाको सख़्त।
काब और बुतखाने में, पत्थर है पत्थर का जवाब॥

अर्थात—मुल्ला और पंडित एक दूसरे को बुरा कहते हैं, परन्तु काबा और मंदिर—दोनों जगह पत्थर की पूजा है। हिन्दू मन्दिरों में पत्थर की मूर्ति पूजते हैं और मुसलमान काबा में पत्थर की परिक्रमा करके उसे चूमते हैं।

यहां अधिकतम हिन्दू-मुसलमानों की बात बतायी गयी है। दोनों में जो

विवेकी हैं, वे न पत्थर पूजते हैं न शून्य में पुकारते हैं और न ईश्वर तथा देवी-देवता के नाम पर जीव-वध करते हैं। वे तो मनुष्यों से प्रेम और सभी प्राणियों पर दया तथा रहम का बरताव करते हैं।

तुर्क

'तुरुक' का शुद्ध शब्द 'तुर्क' है जो फारसी भाषा का शब्द है। इसे संस्कृत-भाषा के पंडितों ने 'तुरुष्क' कहा है।

तुरुक कहने से मुसलमान अर्थ प्रकट होता है। परन्तु तुर्क मूलतः मुसलमान नहीं थे। तुर्क-जाति आज के अफगानिस्तान तथा उसके उत्तरी सीमावर्ती क्षेत्रों, जैसे कि रूस के कज़ाकिस्तान तथा चीन के 'सिकियांग' का निवासी थी। तुर्क जाति बड़ी बरबर और लड़ाकू थी। हजरत मुहम्मद के जीवनकाल में ही 'ईराक' जो अरब के उत्तर है, मुसलमान हो गया था। पीछे से 'ईरान' भी मुसलमान हो गया, जहां आर्य सभ्यता के लोग पारसीधर्म के नाम से बसते थे। तुर्क लोग नवीं शताब्दी के अन्त से ईरान के मुसलमानों को परेशान करने लगे थे। मुसलमानों ने इन तुर्कों के विरुद्ध लड़ने के लिए 'ग़ाज़ी'[1] नाम की एक नयी सेना संगठित की जो अपने आप को इसलाम का रक्षक कहती थी। इसके सिपाही या तो वेतन लेते नहीं थे या बहुत कम लेते थे। ये हमला एवं युद्ध में लूटपाट के माल से अपना गुजर करते थे।

कुछ दिनों में तुर्क लोग मुसलमान बनते गये और वे स्वयं इसलाम के कट्टर रक्षक होते गये। ये तुर्क मुसलमान अन्य तुर्कों से भी युद्ध करने लगे जो मुसलमान नहीं थे तथा गैर तुर्कों से भी युद्ध कर इसलामी राज फैलाने लगे। आगे चलकर प्रायः सारे तुर्क मुसलमान हो गये। ये मूलतः खूंख्वार लड़ाकू थे, अतः मुसलमान बनने के बाद भी ये वैसे लड़ाकू रहे।

अफगानिस्तान में 'गजनी' एक नगर है। वहां का तुर्क सरदार 'महमूद' था जिसकी कई पीढ़ी पूर्व से मुसलमान हो गयी थी। यह सरदार जब 997 ई. में गजनी की गद्दी पर बैठा तब अपनी स्वतन्त्र सत्ता की सूचना देने के लिए इसने सुल्तान की पदवी धारण की। यही 'महमूद गजनवी'[2] के नाम से विख्यात हुआ। इसने भारत पर सत्तरह हमले और लूटमार किये। इसने अनेक नगर तथा मन्दिर लूटने के साथ 1025 ई. में गुजरात के प्रसिद्ध सोमनाथ के मन्दिर को लूटा। यह भारत को लूटकर गजनी नगर का श्रृंगार करता था।

अफगानिस्तान में ही 'गोर' नाम की जगह है। यहां का रहने वाला तुर्क

---

1. ग़ाज़ी का अर्थ है—काफिरों से लड़ने वाला मुसलमान योद्धा; विजेता तथा शूरवीर।
(बृहत् हिन्दी कोश)

2. महमूद गजनवी का शासन काल 997-1030 ई.।

सरदार 'मुहम्मद' था जिसे 'मुहम्मद गोरी'[1] कहा जाता है। यह गोर तथा गजनी दोनों का शासक था। इसने भी भारत पर हमलाकर एक बार दिल्ली के पास 'तराइन' नामक जगह में पृथ्वीराज से हारकर दुबारा 1192 ई. में पृथ्वीराज को परास्त किया था तथा अपने तुर्क सरदारों को दिल्ली तथा उत्तरी भारत के एक विशाल क्षेत्र पर स्थापित कर दिया था। तब से धीरे-धीरे तुर्कों का राज्य भारत पर हुआ।

पीछे भारत के लोग भी मुसलमान बनते गये। परन्तु तुर्क मुसलमान भारतीय मुसलमानों को तुच्छ मानते थे। यह प्रक्रिया काफी दिन चली। आगे चलकर तुर्क मुसलमान का पर्याय बन गया। क्योंकि तुर्क मुसलमानों का ही भारत पर पहला प्रभाव पड़ा था। इसलिए भारत में मुसलमान नाम लेने की अपेक्षा तुर्क शब्द का ज्यादा प्रयोग हुआ जैसे तुर्किया नाई, तुर्किया धोबी, तुर्किया तेली आदि। उत्तरी भारत में जब कोई किसी को ज्यादा परेशान करता है, तब लोग कहते हैं कि भाई, मुझे तुर्क मत बनाओ। इसी प्रभाव से सद्गुरु कबीर ने भी हिन्दू और मुसलमान को जहां युग्म रूप में उपस्थित करना हुआ है, वहां प्रायः हिन्दू-तुरुक ही कहा है।

मनुष्यों के गुणों की विशेषता है

मानुष तेरा गुण बड़ा, माँसु न आवे काज॥
हाड़ न होते आभरण, त्वचा न बाजन बाज॥ 199॥

शब्दार्थ—आभरण=आभूषण, गहना।

भावार्थ—हे मनुष्य! तेरे दयादि सद्गुण ही श्रेष्ठ हैं, अन्यथा तेरा शरीर व्यर्थ है। न तेरा मांस किसी के काम में आता है, न तेरी हड्डी के आभूषण बनते हैं और न तेरे चाम के बाजे बनकर बजते हैं॥ 199॥

व्याख्या—मनुष्य की विशेषता उसके उत्तम विचारों एवं सद्गुणों में है। यदि उसने मानवीय विचार एवं मानवीय गुणों का अपने जीवन में विकास नहीं किया तो वह पशुओं से खराब है। पशुओं के चाम, हड्डी, मांस, बाल आदि सभी अंग दूसरे के काम में आ जाते हैं। पशु अपने जीवनकाल में तथा मर जाने पर भी दूसरों की सेवा में लग जाते हैं। पशु अपने स्वाभाविक कर्म को छोड़कर कोई दुष्कर्म नहीं करते। इसलिए उनके जीवन में नये कर्म-बन्धन नहीं बनते। पशु किसी की फसल को यदि चरता है तो पेट भर जाने के बाद चरना छोड़ देता है। परन्तु मनुष्य का पेट भरा रहने पर भी वह दूसरे के घर में चोरी करता है, जेब काटता है, मिलावटबाजी, घूसखोरी,

---

1. मुहम्मद गोरी का शासन काल 1173-1206 ई.।

चोरबाजारी, जमाखोरी, धोखेबाजी आदि सभी अपराध करता है।

जिन पशु-पक्षियों के जो स्वाभाविक भोजन हैं वे उन्हें ही ग्रहण करते हैं। जो पशु-पक्षी मांसाहारी होते हैं, वे ही मांस खाते हैं, अन्य जो शाकाहारी होते हैं वे प्रायः मांस नहीं खाते। मनुष्य ऐसा जंतु है जो शाकाहारी होकर भी मांस खाता है। वह बैल, भैंसा, सूअर, मछली, मेढक, बन्दर, सांप, बकरे, भेड़े, मुरगे आदि सब चट कर जाता है। और इतना ही नहीं, शराब, गांजा, भांग, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट आदि नाना प्रकार के नशाओं का सेवन करता है। मांसाहारी तो कह सकते हैं कि हम प्रोटीन खाते हैं, परन्तु नशेड़ी क्या कहेंगे ! वे तो समस्त तम्बाकुओं में निकोटिन नाम का जहर खाते हैं। मनुष्य का आहार जितना खराब है उतना किसी जन्तु का नहीं है। अन्य प्राणियों के आहार में स्वाभाविकता एवं संयम होने से वे ज्यादा रोगी नहीं होते, परन्तु मनुष्य अपने आहार बिगाड़कर रोगी बना रहता है।

हर प्रकार के पशु-पक्षियों में उनकी खानियों के अनुसार प्रायः अपने प्राकृतिक नियम होते हैं, उन्हीं के अनुसार वे वार्षिक, छमाही, तिमाही आदि यौन सम्बन्ध करते हैं। अधम पशु कुत्ते भी केवल कार्तिक में कामोन्माद में होते हैं। परन्तु मनुष्य ऐसा जन्तु है कि वह यदि विवेक से काम नहीं लेता तो बारहों महीनें पागल बना रहता है। कामोन्माद में नाना रोगों से ग्रसित होना यह मानव में ही है, मानवेतर प्राणी ऐसा नहीं होता। मानवेतर प्राणियों में प्राकृतिक संयम होता है।

मनुष्य जितना मोहग्रसित है उतना कोई अन्य प्राणी नहीं है। गाय अपने नवजात बछड़े के लिए ज्यादा स्नेह रखती है, परन्तु थोड़े दिनों में वह उसे भूल जाती है। परन्तु मानव मरते तक बाल-बच्चे एवं कुटुम्बियों के मोहपाश में बंधा घसिटता रहता है। वह परिवार की रक्षा करे यह तो ठीक है, परन्तु वह तो रक्षा कम, मोह-वैर ज्यादा करता है, जो उसके लिए भवबन्धन है।

पशु, पक्षी और कीड़े तक उतने भयग्रसित नहीं होते जितना मनुष्य भयभीत होता है। अपमान-भय, रोग-भय, रोजी के छिन जाने का भय, शत्रु-भय, मृत्यु-भय, यहां तक मिथ्या भूत, प्रेत, टोनही, ग्रह, शकुन, अपशकुन आदि के भय उसे सताते रहते हैं। श्मशान में कब्रों के अन्दर भी चींटी, सांप, बिच्छू, छिपकली, चूहे आदि जानवर रहते हैं, श्मशान में बैल, गाय, पक्षी या अन्य मानवेतर प्राणी रात में भी आनन्द से सोते हैं। परन्तु मनुष्य रात में यदि श्मशान में पहुंच जाये तो उसे भूत-प्रेत दबोच लेते हैं। अतएव भूत, प्रेत, टोनही आदि का रोग केवल मानव को ही लगता है, अन्य प्राणियों को नहीं।

इस संसार में सबसे अधिक चिंताग्रस्त, रोगी, असंयत, कामी, क्रोधी, छली, दुर्व्यसनी, धोखेबाज, भयभीत एवं दुखी केवल मनुष्य है। मनुष्य के

अलावा प्राणी इतने दुखी, दुर्व्यसनी एवं परेशान नहीं हैं।

परन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि सिंह आदि हिंसक एवं मांसाहारी जानवर शिक्षा देने से दयालु तथा शाकाहारी नहीं हो सकते। कुत्ते भले ही कार्तिक में कामोन्मादी हों तथा अन्य महीने में स्वाभाविक संयत हों, परन्तु वे शिक्षा पाकर आजीवन ब्रह्मचारी नहीं हो सकते। परन्तु मनुष्य जीवनभर के लिए शाकाहारी तथा ब्रह्मचारी हो जाते हैं। मनुष्य इसीलिए ज्यादा बिगड़ा एवं दुखी है, क्योंकि उसमें अधिक संभावनाएं हैं। जब वह विचार करके अपने मानवीय गुणों का विकास करता है तब वही परमपद की गद्दी पर भी आसीन हो सकता है। यह संभावना मानवेतर प्राणियों में नहीं है।

मनुष्य में मन एवं वाणी की प्रबल शक्ति है। उसमें विचार का महान बल है। उसमें अनन्त संभावनाएं हैं। इसलिए जब वह अच्छी समझ से काम नहीं लेता, तब पशुओं से भी नीची दशा में पहुंच जाता है, और यदि वह अपने विचारों का उपयोग करता है तो महान हो जाता है। विचारहीन-मानव पशु से भी पतित है; परन्तु यदि उसने अपनी विचार-शक्ति का सम्यक उपयोग किया है तो उसके समान कोई देवता या परमात्मा नहीं है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह अपने निकम्मे शरीर का अहंकार छोड़कर सुन्दर विचारों का उपयोग करे और दया, शील, क्षमा, सत्य, धैर्य, अहिंसा, करुणा, विवेक, वैराग्य, भक्ति आदि सद्‍गुणों का संवर्धन करे। मनुष्य की विशेषता उसके मानवीय विचारों एवं सद्‍गुणों में ही है।

स्वतन्त्र विचार

जो मोहि जाने, ताहि मैं जानौं॥
लोक वेद का, कहा न मानौं॥ 200॥

शब्दार्थ—लोक=लोकाचार, सांसारिक व्यवहार। वेद=शास्त्र, शास्त्र-प्रमाण एवं शास्त्रव्यवहार।

भावार्थ—जो व्यक्ति मेरी वास्तविकता को समझता है, मेरे विचारों एवं संकेतों को स्वीकारता है, मैं उसे निभाने का प्रयास करता हूं, इसमें लोकाचार तथा शास्त्र-प्रमाण आड़े आयें, तो मैं उनकी परवाह नहीं करता॥ 200॥

व्याख्या—समाज, धर्म तथा अध्यात्म क्षेत्र के अत्यन्त क्रांतिकारी एवं स्वतन्त्र चिंतक कबीर देव के निर्भय स्वर बीजक में पदे-पदे सुनाई देते हैं। उक्त दोनों छोटी-छोटी पंक्तियों में कितने प्राणवान विचार हैं, कितने निर्भीक एवं सहज स्वर हैं यह विचारते ही बनता है। कबीर को भय कहीं छू नहीं गया था। जो सत्य है, उसमें रहना है और उसे कहना है यह उनका निश्चय था। उन्होंने मृत्यु का भय त्याग दिया था। इसलिए उन्हें सत्य कहने में कोई

डर नहीं था।

वे कहते हैं कि जो मुझे जानता है उसे मैं जानता हूं और इसमें लोक-वेद का बन्धन नहीं मानता। इसका अर्थ यह है कि कबीर साहेब के जो स्वतंत्र विचार हैं उनको स्वीकारने वालों को वे अपना लेते हैं। उनके सामाजिक विचार हैं कि सभी मानव एक समान हैं। काल्पनिक जाति और वर्ण के नाते कोई छूत है और कोई अछूत है, कोई कल्याण का अधिकारी है और कोई अधिकारी नहीं है, इस बात को कबीर साहेब बिलकुल नहीं मानते। वे पूरे मानव को मूलरूप से एक समान मानते हैं। यह अलग बात है कि अपनी मानसिक तथा शारीरिक क्षमता के अनुसार लोग विविध क्षेत्रों में उन्नति करते हैं। तो यह हर तथाकथित वर्ण और जाति में रहने वाले व्यक्तियों की बात है। सब में उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ तथा विविध योग्यता वाले मनुष्य होते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रियादि नामधारियों में भी मोटी बुद्धि तथा भोगपरायण व्यक्ति होते हैं। तथाकथित शूद्र एवं अंत्यज नामधारियों में भी तीव्र बुद्धि एवं अध्यात्मपरायण व्यक्ति होते हैं।

कबीर साहेब के ख्याल से हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी, जैन, बौद्धादि नाम जो धर्म में लगाये जाते हैं यह गलत है। धर्म हिन्दू नहीं है, मुसलमान, ईसाई, जैन तथा बौद्धादि नहीं है, किन्तु वह केवल धर्म है। धर्म है शील, धर्म है दूसरे के प्रति करुणा एवं प्रेम यह मानव का मूल स्वभाव है। हिन्दू, मुसलमानादि तो समाज हैं जो देश-काल-सापेक्ष हैं। ईसा की इस बीसवीं शताब्दी के पूर्व करीब चौदह सौ वर्षों से मुसलमान, दो हजार वर्षों से ईसाई, चौबीस-पचीस सौ वर्षों से हिन्दू तथा बौद्ध, इससे कुछ पुराने जैन, यहूदी आदि हैं। यह सभी नाम, इनके बाह्याचार किसी देश एवं किसी काल में निर्मित हुए हैं, इसलिए ये देश-काल-सापेक्ष हैं, किन्तु धर्म तो देश-काल से निरपेक्ष, सार्वदेशिक, सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक होता है। भिन्न किताब, महापुरुष एवं परम्परा में श्रद्धा रखना और भिन्न नाम, रूप, वेष, बाह्याचार को मानना एवं उनका आचरण करना यही सब समाज, पंथ एवं संप्रदाय बनाते हैं। परन्तु धर्म का लक्षण केवल सबके साथ शील, करुणा, अहिंसा, दयादि मानवीय गुणों का व्यवहार करना है। कबीर साहेब कहते हैं कि "बाँग नमाज कलमा नहिं होते, रामहु नाहिं खुदाई"[1] अर्थात जब बांग नहीं दी जाती थी, नमाज नहीं पढ़ी जाती थी, कलमा का पाठ नहीं किया जाता था, राम-राम या खुदा-खुदा नहीं कहा जाता था, तब क्या धर्म नहीं था ! धर्म बाहरी नाम, रूप एवं क्रियाकलाप नहीं है, किन्तु मानवता है।

---

1. बीजक, शब्द 22।

कबीर देव कहते हैं कि परमात्मा या मोक्ष मनुष्य की आत्मा से कोई बाहरी चीज नहीं है। मन का अनासक्त होकर शांत हो जाना ही मोक्ष है और अपनी आत्मा की परमात्मा है। प्राणी ही देवता है, प्रेम ही स्वर्ग है। कबीर देव कहते हैं कि यदि इस प्रकार कोई मेरी बातों को समझता है तो मैं उसे अपना लेता हूं। इसमें लोकव्यवहार तथा शास्त्र-प्रमाण आड़े आयें तो मैं उसकी परवाह नहीं करता। वे कहते हैं कि संसार क्या कह रहा है न मुझे इसकी चिंता है और नाना मतों के शास्त्र क्या कह रहे हैं न इसकी चिन्ता है। मुझे यह चिंता है कि सत्य क्या है! "नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्" एक ऋषि, एक पैगम्बर एवं एक शास्त्र नहीं है जिसका मत प्रमाण मान लिया जाये। बहुत ऋषि हैं और बहुत शास्त्र हैं, इसलिए विवेक से सारासार निर्णय करना है "सुनिये सबकी निबेरिये अपनी।"[1]

लोक-वेद के कहा न मानने वाले बहुत लोग होते हैं, किन्तु वे पतन-पथ में जाते हैं। उन्मादपूर्वक लोक-वेद की परवाह न करना मानव के लिए अमंगलकर है। लोक-वेद मानव को संयम के पथ पर रखने के लिए शंबल हैं, किन्तु कबीर जैसे स्वतः संयत, मानवता की महामूर्ति, धर्म की धुरी और अध्यात्म के प्रौढ़ संतपुरुष की बात ही निराली है। वे मानव को सत्य की दिशा देने के लिए लोक-वेद की परवाह छोड़ते हैं, क्योंकि लोक और तथाकथित शास्त्र-प्रमाण ने मानव के साथ छल किया है। अनेक शास्त्रों में मानवों के अमुक तथाकथित वर्ण एवं जाति को नीच, अछूत और उच्च संस्कारों के अयोग्य कहकर उनके साथ छल किया है। शास्त्रों ने कहा कि यह शास्त्र ईश्वर का भेजा है, जो इसे नहीं मानता है वह नास्तिक, काफिर एवं नापाक है। यह मनुष्य के साथ छल करना है। यह शास्त्रों की ऊलजलूल बातों को सबसे मनवाने का हथकंडा है। आज देखिए मृत्युभोज, दहेजप्रथा, छुआछूत, ऊंच-नीच भावादि, भूत-प्रेत तथा अनेक अंधविश्वास जो मानव के लिए अकल्याणकर हैं, लोक-वेद की ही देन हैं। अर्थात लोक और शास्त्र-प्रमाण के नाम पर बहुत सारे कूड़े-कचड़े चलते हैं। 'प्रभुवचन' घोषित कर देने पर मानवता के लिए विषैली बातों का भी नकारा जाना कठिन हो जाता है। कबीर देव कहते हैं कि जो मानवता के लिए अहितकर हैं, मैं ऐसी बातों को नहीं मानता वे चाहे लोकसंमत हों, चाहे किसी ऋषि या पैगम्बर की हों या किसी तथाकथित प्रभु की हों। मैं सत-पथ का राही हूं और उस पर चलने वालों का हमराही हूं।

स्वतन्त्र चिंतन के ये कबीरी-स्वर वेदों, शास्त्रों, उपनिषदों, पुराणों तक में

---

1. साखी 247।

भी यत्र-तत्र मिल सकते हैं। वैदिक ऋषि सोभरि कहते हैं—"हे अग्निदेव ! यदि तुम मुझ जैसे मर्त्य मानव होते और मैं तुम जैसा अमर देवता होता, तो जानते हो मैं क्या करता ! मेरी स्तुति करने वाला न मूर्ख होता, न संकट में फंसता और न पापलिप्त होता।"[1] "तुम्हारा सत्य तथा अमृत कहां गया और तुम्हें दी गयी आहुतियां कहां गयीं।"[2] इन पंक्तियों में वैदिक देवताओं की निरर्थकता वैदिक ऋषियों के मुख से ही प्रकट हुई है। अंगिरा शौनक से कहते हैं—"ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद तथा ज्योतिष—ये चार वेद, छह वेदांग सांसारिक विद्याएं हैं। इनसे परमार्थ का बोध नहीं होता। जिससे अविनाशी का बोध होता है, वह इससे परे है।"[3] भागवत पुराण के लेखक कहते हैं—"लौकिक व्यवहार के समान ही वैदिक व्यवहार भी सत्य नहीं हैं, क्योंकि वेदवाक्य प्रायः गृहस्थजनोचित यज्ञविधि के विस्तार में ही व्यस्त हैं। राग-द्वेष दोषों से रहित विशुद्ध तत्त्वज्ञान की पूरी अभिव्यक्ति उनमें भी नहीं है।"[4] भामतीकार कहते हैं—"हजारों वेदवचन घड़े को कपड़ा नहीं बना सकते।"[5] अतएव कोई बात इसलिए नहीं मान्य होनी चाहिए कि वह लोक तथा शास्त्रों द्वारा मान्य है, परन्तु इसलिए मान्य होनी चाहिए कि वह मानव के लिए कल्याणकारी है।

मनुष्य जीव का सर्वोपरि महत्त्व

सबकी उत्पति धरती, सब जीवन प्रतिपाल॥
धरती न जानै आप गुण, ऐसा गुरू विचार॥ 201॥
धरती जानति आप गुण, कधी न होती डोल॥
तिल तिल गरुवी होती, रहति ठिकों की मोल॥ 202॥

शब्दार्थ—गुरू विचार=श्रेष्ठ विचार। डोल=चंचल, भूकंप। तिल-तिल=सर्वांग। गरुवी=वजनदार, गंभीर, गौरवशाली। ठिकों=ठीक, उचित, मर्यादा। मोल=मूल्य, महत्त्व।

भावार्थ—सबकी उत्पत्ति धरती से होती है और सबका पालन भी धरती

---

1. यदग्ने मर्त्यस्त्वं स्यामहं मित्रो अमर्त्यः।
न मे स्तोता मतीवा न दुर्हितः स्यादग्ने न पापया॥
(ऋग्वेद, ऋग्वेद सूक्त विकास, पृ. 133, लेखक प्र. ह. र. दिवेकर)
2. कद्व ऋतं कदामृतं का प्रत्ना व आहुतिः। (वही)
3. तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते॥ (मुण्डक उपनिषद् 1/5)
4. तथैव राजन्नुरुगार्हमेध वितान विद्योरु विजृम्भितेषु।
न वेदवादेषु हि तत्त्ववादः प्रायेण शुद्धो नु चकास्ति साधुः॥ भागवत 5/11/2॥
5. नाह्यागमाः सहस्रमपि घटं पटयितुं ईष्टे। (भामती)

से होता है, परन्तु धरती इस अपने महान गुण को नहीं जानती। यदि धरती इसे जानती तो वह कभी चंचल नहीं होती। वह सर्वांग वजनदार और अपनी ठीक मर्यादा में रहती। तात्पर्य है कि जीव सारे ज्ञान-विज्ञान का जनक है और सारे ज्ञान तथा कला का रक्षक है, परन्तु वह अपने इस महान गुण एवं महान विचार को नहीं जानता। यदि वह इसे जानता तो अपने स्वरूप से चंचल नहीं होता। वह सर्वांग गंभीर रहकर अपनी स्वरूपस्थिति में रहता॥ 201-202॥

व्याख्या—सारी भौतिक उन्नति का आधार धरती है, इसी प्रकार सारे ज्ञान-विज्ञान की उन्नति का आधार जीव है। उक्त दोनों साखियों में जीव प्रमा है और धरती प्रमाण है। सद्‌गुरु ने यहां जीव के महत्त्व को समझाने के लिए धरती की महत्ता का वर्णन किया है। कबीर देव ने बीजक में जगह-जगह प्रमा का नाम लिये बिना केवल प्रमाणों से अपनी बातें समझाने की चेष्टा की है। इसे अन्योक्ति अलंकार या अर्थालंकार कह सकते हैं। उक्त दोनों साखियों में भी अन्योक्ति अलंकार का प्रयोग किया गया है।

सद्‌गुरु कहते हैं कि धरती से ही सबकी उत्पत्ति होती है और उसी से ही सबका पालन होता है। बात सर्वथा सच है। वन, वृक्ष, वनस्पति, अन्न, फल, कंद, कोयला, पत्थर, सोना, अनेक रत्न, अनेक धातु, पेट्रोल, तेल—सब कुछ तो धरती से पैदा होता है। सभी खानियों की देहें भी तो पार्थिव ही हैं। वे भी मानो धरती से ही पैदा होती हैं; और सभी प्राणियों की रक्षा भी धरती से ही होती है। इस प्रकार सारी भौतिक सृष्टि, स्थिति एवं पालन का आधार धरती है। इतना होने पर भी धरती इन अपने महान गुणों को नहीं जानती। यदि वह अपने गुणों को जानती तो चंचल न होती। समय-समय से भूकंप आता है। पृथ्वी दहल जाती है। ऐसा क्यों होता! वह अचल रहती, वह अपनी मर्यादा में रहती।

यहां धरती का लक्षणा अर्थ जीव है। धरती का नाम लेकर सद्‌गुरु कबीर ने मनुष्य जीव की ओर संकेत किया है। मनुष्य जीव ही से सारे ज्ञान-विज्ञान की उत्पत्ति है। वेद, कुरान, बाइबिल, जिंदावेस्ता, समस्त धर्मशास्त्र, समस्त भौतिक विज्ञान, समस्त विद्याएं, समस्त कला-कौशल, पुनर्जन्म, बंध-मोक्ष, परलोक, ईश्वर, ब्रह्म, परमात्मा, अल्लाह, गॉड, देवी-देवता, अवतारवाद, पैगंबरवाद की धारणा, निर्धारण एवं कल्पना—इस मनुष्य जीव ही ने किया है। मनुष्य जीव के अलावा ज्ञान-विज्ञान का कोई कारण नहीं है। अल्पज्ञ, बहुज्ञ और सर्वज्ञ चाहे जो कहो, जीव ही है। जीव के अलावा सर्वज्ञ की केवल कल्पना है और उस कल्पना का करने वाला भी जीव ही है। इस तरह भी कह सकते हैं कि मनुष्य जीव ही ने वेद, बाइबिल, कुरान, जिंदावेस्ता एवं सर्व धर्मशास्त्र बनाये हैं। जीव ही ने ईश्वर की कल्पना की है। जीव ही ने

देवताओं की अवधारणा की है। जीव ही ने अवतारवाद तथा पैगम्बरवाद को सृजा है। जीव ही ने तीर्थों का निर्माण किया है। जीव ही ने ज्ञान-विज्ञान को शोधा है। जीव ही ने नाना कला-कौशल की खोज की है। इस प्रकार सारा ज्ञानमय क्षेत्र जीव की खोज है, जीव की महत्ता है।

ऐसा महान मनुष्य जीव अपने महत्त्व को नहीं समझता है। वह ऐसे 'गुरु विचार' एवं श्रेष्ठ विचार को नहीं समझ पाता है। सारे शास्त्र, ईश्वर एवं देवताओं का सृजेता जीव अपने ही सृजन एवं कृतियों का गुलाम बन गया है। मनुष्य अपने ही हाथों से मिट्टी का देवता बनाता है और स्वयं उसके सामने घुटने टेककर उससे भोग और मोक्ष मांगता है। इससे अधिक अज्ञान और क्या हो सकता है! इसी प्रकार अपने ही मन से गढ़े हुए ईश्वर से सारी कामनाओं की पूर्ति के लिए आशा रखता है।

सद्गुरु कहते हैं कि यदि मनुष्य अपने महत्त्व को समझता, यदि वह अपने चेतन स्वरूप को ठीक से जान लेता तो इस प्रकार दर-दर का भिखार नहीं होता। वह कभी चंचल होकर न विषयों के पीछे दौड़ता और न देवी-देवताओं के पीछे। जिसने अपने अविनाशी, स्वयं प्रकाशी, पूर्णकाम, अकाम, निष्काम, प्राप्तकाम, आप्तकाम चेतनस्वरूप को समझ लिया है वह किसलिए चंचल हो! "जिसने समझ लिया कि यह चेतन पुरुष, यह अपनी आत्मा ही सर्वोच्च है, वह किसलिए, किस कामना के लिए शरीर के पीछे पड़कर अपने ऊपर जन्म-मरण का ज्वर चढ़ाये रखेगा, वह क्यों भोगों में पड़कर तपेगा!"[1] वह बोधवान तो सर्वांग गंभीर एवं अबोल-अडोल होता है। वह खानी-वाणी के सारे बंधनों को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित होता है। वह अपनी स्वरूपस्थिति की मर्यादा में अचल रहता है। स्वरूपज्ञान के बाद स्वरूपस्थिति ही तो मनुष्य का गंतव्य है। जिसने अपने गुणों को पहचाना वह स्वयं ईश्वर हो जाता है, तृप्त हो जाता है। उसकी दीनता सदैव के लिए समाप्त हो जाती है।

तथ्य में एकता है

जहिया किर्तम ना हता, धरती हती न नीर॥
उत्पति परलय ना हती, तबकी कहैं कबीर॥ 203॥

शब्दार्थ—किर्तम=कृत्रिम, बनावटी, जगत। हता=था। हती=थी।

भावार्थ—कबीर साहेब कहते हैं कि मान लो जब यह बनावटी जगत नहीं था, धरती तथा पानी नहीं थे, उत्पत्ति और प्रलय नहीं थे, तब तुम्हारे आज के माने हुए सारे भेदभाव कहां थे?॥ 203॥

---

1. आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥ बृहदारण्यक उपनिषद् 4/4/12॥

व्याख्या—प्राय: सभी मतवादी मानते हैं कि यह सृष्टि पहले नहीं थी। वे कहते हैं कि न पहले पृथ्वी थी, न जल था, न आग थी, न हवा थी। कुछ लोग तो यह भी कहने का साहस करते हैं कि पहले आकाश भी नहीं था। थोड़े समय के लिए मान लिया जाये कि ठीक है यह सब पहले नहीं था। तो मैं पूछता हूं कि ये वेद, बाइबिल, कुरान, जिंदावेस्ता एवं सारे धर्मशास्त्र कहां थे ! ये हिन्दू, मुसलमान, इसाई, यहूदी, पारसी, जैन, बौद्धादि के भेदभाव कहां थे ! ये ब्राह्मण और शूद्र नाम की ऊंच-नीच भावनाएं कहां थीं ! इसका मतलब है कि यह सब कलह-कल्पना पीछे का बनावटी प्रपंच है। फिर इन्हें क्यों पत्थर की लकीर मानते हो ! एक तरफ पूरे संसार को बीच में बना हुआ मानते हो और दूसरी तरफ भेदभाव की सारी दीवारें स्वयंभू एवं अजर-अमर मान रखे हो। यह कितनी दो मुंही बातें हैं !

वस्तुत: सारे जड़तत्त्व एवं चेतन जीव नित्य, अनादि तथा अनंत हैं। उनके गुण-धर्म उनमें अनादि निहित एवं स्वभावसिद्ध हैं ! इसलिए यह जगत भी बनता-बिगड़ता हुआ अनादिसिद्ध है। मूलद्रव्य जड़-चेतन नित्य हैं और उनमें उनके गुण-धर्म नित्य हैं, तो उनसे जगत की प्रक्रिया भी नित्य है। इस अनादि प्रवाहमय जगत में न किसी ईश्वर ने उसमें कुछ बनाया है न किताब, संप्रदाय बनाये हैं और न मानवों में कोई भेदभाव कायम किया है। ये सारे भेदभाव भूले मनुष्यों के अपने अहंकार का फल है।

इस अनादि जगत में समय-समय से बुद्धिमान लोग पैदा होते रहे। उनमें जो ईमानदार थे, उन्होंने शुद्ध मानवता की एवं तथ्य की बातें कहीं और जो चतुर-चालाक थे, वे ईश्वरवाद, अवतारवाद, पैगम्बरवाद तथा दैववाद का दबदबा कायम कर अपने मत को आस्तिक एवं दीनदार कहकर दूसरे मतों को नास्तिक तथा काफिर करार दिये। उन्होंने अपने वर्ण एवं जाति को पुनीत तथा दूसरों को अशुद्ध घोषित किये। उन्होंने धर्म और अध्यात्म के नाम पर सांप्रदायिकता के विष बोये। उन्होंने जितना समाज का कल्याण किया उससे ज्यादा अकल्याण किया।

सद्‌गुरु कबीर कहते हैं कि मूलतत्त्व में कोई विभेद नहीं है। मिट्टी, पानी, आग, हवा, आकाश समान हैं। इनसे भिन्न चेतन जीव भी मूलत: समान हैं। संसार की गतिविधि भी अपने नियमों में निरन्तर चलती हुई मूलत: समान है। नैतिकता के नियम भी मानव के मन में समान हैं। कोई भी मानव हो यदि वह चोरी, हत्या, व्यभिचार, झूठ, छल, परनिंदा, ईर्ष्या आदि करता है तो उसका मन मलिन, चंचल एवं पीड़ित होगा, और यदि वह परसेवा, ब्रह्मचर्य, दया, सत्य, निष्कपटता, निष्छलता, परोपकारादि का बरताव करता है तो उसके मन में प्रसन्नता एवं शांति आयेगी। भूख-प्यास, नींद तथा शरीर की

मूल आवश्यकताएं सबको समान ही लगती हैं। सभी मनुष्य एक समान आंख से देखते, पैर से चलते, हाथ से काम करते, कान से सुनते, नाक से सूंघते, जीभ से चखते, त्वचा से छूते, मन से सोचते और गुदा तथा उपस्थ से टट्टी-पेशाब करते हैं। तो आखिर मनुष्य-मनुष्य में क्या भेद है! अतएव चालाक मनुष्यों ने काल्पनिक ईश्वर, स्वयंभू शास्त्र तथा जन्मजात ऊंच-नीच की भावना का तूदा खड़ा करके मनुष्य-समाज का घोर अहित किया है। इसने मनुष्य को मनुष्य नहीं रहने दिया। उसके बीच में इसने पत्थर की लकीर कायम करने का प्रयास किया। नाना भेदभाव खड़े किये। चालाक मनुष्यों ने मानव-समाज को काट-काटकर रख दिया। लोग कहते हैं कि गर्व के साथ कहो कि हम मुसलमान हैं, गर्व के साथ कहो कि हम हिन्दू हैं इत्यादि। इन अक्ल के धनियों को यह नहीं सूझता कि मनुष्य केवल मनुष्य है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी, जैन, बौद्धादि सब केवल मिथ्या शब्दजाल हैं। कबीर कहते हैं कि विनम्रता से कहो कि हम मनुष्य हैं, केवल मनुष्य!

सारे शास्त्र एवं मान्यताएं मनुष्य की रचनाएं हैं। अतः मनुष्य सारे शास्त्र एवं मान्यताओं से श्रेष्ठ है। सद्गुरु ने सातवीं रमैनी में "तहिया होते पवन नहिं पानी। तहिया सृष्टि कौन उत्पानी" इत्यादि कहकर यह ध्वनित किया है कि सारी सृष्टि एवं सृष्टि के तत्त्व सब समय हैं। जगत अनादि और अनंत है। परन्तु संसार के अनेक मतवादी यही मानते हैं कि संसार पहले नहीं था। यहां तक कि धरती, नीर आदि तक नहीं थे। सद्गुरु कहते हैं तो ये भेदभाव की दीवारें कहां थीं? सृष्टि के सारे जड़-चेतन तत्त्व नित्य हैं। उनमें ही सृष्टि बनती-बिगड़ती रहती है। मूल द्रव्य रहे बिना सृष्टि किसमें बनेगी! अभाव से भाव नहीं होता। अतः मूल द्रव्य नित्य हैं। उनमें उनके गुण-धर्म नित्य हैं। उनसे सृष्टि-प्रपंच प्रवाहरूप नित्य है और सारे भेदभाव मनुष्य के बनाये हुए बीच के हैं।

मन और वाणी से उच्चस्थिति

जहाँ बोल तहाँ अक्षर आया, जहाँ अक्षर तहाँ मनहि दृढ़ाया॥
बोल अबोल एक होय जाई, जिन्ह यह लखा सो बिरला होई॥ 204॥

शब्दार्थ—बोल=बात, वाणी। अक्षर=वर्ण। बोल अबोल=वाणी उच्चारण और मौन। लखा=समझ लिया।

भावार्थ—जहां बात बोली जाती है, वहां वर्णों के समूह आ जाते हैं जिनसे शब्द और वाक्य बनते हैं। उनके कुछ अर्थ लगाकर मनुष्य अपने मन में कुछ मान्यता बना लेता है। परन्तु जो व्यक्ति वाणी और मौन—दोनों स्थितियों को एक समान समझ लेता है और दोनों दशाओं में समान निर्विकार

एवं प्रशांत रहता है, वह संसार में बिरला है॥ 204 ॥

व्याख्या—मनुष्य की दो बहुत बड़ी शक्तियां हैं वाणी और मन। मानवेतर प्राणियों में भी ये हैं, परन्तु बीज रूप में। उनमें इनका विकास नहीं होता। उनमें इनके विकास की संभावना ही नहीं है। केवल मानव-प्राणी में ही मन और वाणी का विकास होता है। इसलिए मानव ज्यादा समझता है तथा अपने मन की बातों को वाणी द्वारा दूसरे से कहता है और दूसरे मानव की बातों को सुनता और समझता है। मनुष्य के विकास के लिए ये मन तथा वाणी वरदानस्वरूप हैं, परन्तु यदि इनका दुरुपयोग किया जाये तो ये महान अभिशाप बन जाते हैं। अच्छी समझ होने से मन और वाणी मनुष्य के भौतिक तथा आत्मिक कल्याण के साधन बन जाते हैं और यदि समझ गलत है तो ये ही मन और वाणी मनुष्य के लिए दुखदायी बन जाते हैं। मानवेतर प्राणियों में मन तथा वाणी का विकास न होने से वे किसी दिशा में उन्नति नहीं कर सकते, परन्तु उनका उनसे अधिक न पतन हो सकता है और न वे ज्यादा दुखी होते हैं।

बैल, घोड़ा, गधा, हाथी, कबूतर आदि के सामने खड़े होकर तुम उन्हें चाहे जितनी गाली दो, वे इससे प्रभावित नहीं होंगे, परन्तु मनुष्य को आधी बात अनसुहाती कह दी जाये, तो उसे चोट लग जायेगी। सारा मनुष्य-समाज बातों के झकझोर में पीड़ित है। शास्त्र यही रचता है, यही पढ़ता है। यही शब्दों से जागता है और शब्दों से भटक जाता है। कोई शब्द बंधन बनाता है और कोई शब्द बंधन काटता है। हर आदमी के दिमाग में शब्द भरे हैं। वह शब्दों से हर समय उद्वेगित रहता है।

इस साखी में सद्गुरु ने कहा है "जहाँ बोल तहाँ अक्षर आया, जहाँ अक्षर तहाँ मनहि दृढ़ाया।" आदमी जैसे कुछ बोलता है वैसे उसके मुख से कुछ अक्षर निकलते हैं जो शब्द और वाक्य के रूप लेते हैं। फिर उनके कुछ अर्थ निकाल लिये जाते हैं और उन अर्थों में मन एक मान्यता निश्चित कर लेता है। राग, द्वेष, अनुकूल, प्रतिकूल, हर्ष, क्लेश, आनन्द, दुख सब कुछ शब्दों के आंदोलन से मन में उठते रहते हैं। मन-सागर में शब्दों के झंझावात से नाना तरंगें उठती हैं। मनुष्य के साथ यह भयंकर रोग है। संसार के अधिकतम मनुष्य विवेकरहित हैं, इसलिए वे शब्दों के झोकों में निरंतर आंदोलित रहते हैं। आप कहीं जायें। रास्ते चलते हुए दो आदमियों को देखें। वे पैदल चल रहे हैं, ट्रेन या बस में चल रहे हैं, बातों में उलझे होंगे। "अमुक ने मुझे यह कह दिया। मैं उससे कम नहीं हूं। यदि वह चलेगा डाल-डाल, तो मैं चलूंगा पात-पात। मैं उसको देख लूंगा। उसमें क्या दम है, इत्यादि।" आदमी शब्द सुनता है। उसका कुछ अर्थ लगाता है और उसी में उलझा रहता है।

"बोल अबोल एक होय जाई, जिन्ह यह लखा सो बिरला होई।" जो वाणी बोलते समय या मौन रहते समय, अथवा वाणी सुनते समय या वाणीविहीन मौन एवं सन्नाटे के समय, एक समान शांत रहता है, उन दोनों स्थितियों को एक समान समझता है, वह बिरला व्यक्ति है। अभिप्राय है कि जिसे बातों की चोट नहीं लगती, वह धन्य है। 'बातों की चोट न लगने' के दो अर्थ हो सकते हैं। एक वह आदमी है जिसे चाहे जितनी शिक्षा दो, वह जागता नहीं, क्योंकि उसे बातों की चोट ही नहीं लगती। गधों को चार डंडे मार दो तो भी वे वैसे ही रहते हैं। उनमें खास प्रगति नहीं होती। वैसे कुछ आदमी होते हैं। उन्हें चाहे जितना तीखे उपदेश करो, वे मानो सुनते ही नहीं हैं। उनके जीवन में कोई सुधार की संभावना नहीं। इस प्रकार बातों की चोट न लगना दुर्भाग्यपूर्ण है। समझदार आदमी को बातों की चोट लगती है। वह किसी की सच्ची सीख से आंदोलित हो जाता है और अपने आप में जगकर बुराइयों से ऊपर उठ जाता है।

यहां जो बातों की चोट न लगने की बात है और "बोल अबोल में एक हो जाना है" यह उच्चतम ज्ञान की स्थिति है। सब कुछ समझ-बूझ लेने के बाद जिसका मन भौतिक धरातल से ऊपर उठ जाता है वह सब समय मुक्त होता है। सारे शब्द वायु के झोंके मात्र हैं। उनमें आंदोलित होने की आवश्यकता ही नहीं है। किसी के भी मुख से यदि कोई अन्यथा बात निकलती है तो उस समय वह संतुलित नहीं है और असंयत आदमी की बात की परवाह करने की आवश्यकता नहीं है। यदि मैं किसी की बातों से क्षुब्ध होता हूं तो मैं पशु हूं और मानो उसने मुझे अपनी बातों के डंडे से हांक दिया। मेरा किसी पर क्या वश है ! किसी को अपने वश में रखने की आवश्यकता भी क्या है ! मैं स्वयं अपने वश में रहूं इतना काफी है। जहां अनुगामियों, परिवार तथा समाज को चलाने की बात है, उनका स्वामित्व एवं सेवा करने की बात है वहां बिलकुल यह नहीं चल सकता। वहां किसी के असंयत व्यवहार तथा बात देख-सुनकर उसे हिदायत करना पड़ेगा, दंड भी देना पड़ सकता है। परन्तु अपने व्यक्तिगत जीवन के लिए ज्ञानी पुरुष अनुकूल-प्रतिकूल बातों में सम होता है।

ज्ञानी पुरुष स्वरूपभाव में स्थित होता है। अपना चेतनस्वरूप सारे विकारों से रहित है। न उसमें तन है, न मन है और न वाणी है। अतएव वह काम, क्रोध, लोभ, मोहादि सारे विकारों से सर्वथा रहित शुद्ध-बुद्ध है। ऐसे भाव में जो स्थित होता है उसकी दृष्टि में सारे संसार का सम्बन्ध एवं प्रतीत एक स्वप्नभास है। वह अपने आप को सदैव तन, मन तथा वाणी से अतीत देखता है। इसलिए वह बोल-अबोल में सम रहता है। वह वाणी-व्यापार

तथा मौन दोनों में निर्विकार रहता है। वह कुछ बोलता है तो सार्थक एवं कल्याणकर, अन्यथा मौन रहता है। वह दूसरों की बातों से न क्षुब्ध होकर सदैव प्रशांत रहता है। ऐसे लोग बिरले हैं और वे धन्य हैं।

कर्मों के बन्धन और उससे मुक्ति

तौ लौं तारा जगमगै, जौ लौं उगै न सूर॥
तौ लौं जीव कर्म वश डोलै, जौ लौं ज्ञान न पूर॥ 205॥

शब्दार्थ—सूर=सूर्य। डोले=भटकता है। पूर=पूर्ण।

भावार्थ—तारे तभी तक जगमगाते हैं जब तक सूर्य उदित नहीं होता, इसी प्रकार जीव तभी तक कर्मों में बंधा हुआ भटकता है जब तक पूर्ण स्वरूपज्ञान उदित नहीं होता॥ 205॥

व्याख्या—उदाहरण कितना सटीक एवं ज्वलंत है यह समझते ही बनता है। रात में तारे जगमगाते हैं। वे अपनी पूर्ण चमक-दमक के साथ प्रकाश करते हैं। परन्तु उनकी चमक-दमक तभी तक है जब तक सूर्य उदित नहीं होता। सूर्य के उदय होते ही वे दिखाई भी नहीं देते। यही दशा जीवों के कर्मों की है। सब जीव शुभाशुभ कर्मों के अधीन बने संसार-सागर में भटक रहे हैं। यह कर्मों की जगमगाहट इसलिए है कि जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं है। जब स्वरूपज्ञानरूपी सूर्योदय होता है तब अज्ञान-अंधकार अपने आप समाप्त हो जाता है। फिर जीव का भटकना भी बन्द हो जाता है।

जन्म-मरण से छूटकर जीव का विदेहमुक्त हो जाना, यह जीव का भटकना बंद होना है। परन्तु इसका व्यावहारिक पक्ष है देह रहते-रहते मानसिक द्वन्द्वों से मुक्त होकर प्रशांत हो जाना, जो सबके अनुभव की बात है। यही सर्वाधिक उपयोगी है। ज्ञानोदय का अर्थ यह नहीं है कि बहुत बौद्धिक ज्ञान या शास्त्रज्ञान हो जाये। ज्ञानोदय का अर्थ है अपने चेतनस्वरूप को जड़ से सर्वथा भिन्न समझकर विषय-वासनाओं का अत्यन्त अभाव हो जाना। न इसमें बहुत बौद्धिक ज्ञान की आवश्यकता है और न ज्यादा शास्त्रज्ञान की। इसका मतलब यह नहीं है कि स्वरूपज्ञानी पुरुष को बुद्धि और शास्त्र का उपयोग नहीं करना चाहिए। स्वरूपज्ञानी पुरुष तो बुद्धि का उत्तम उपयोग करता है। उसकी बुद्धि वस्तुपरक एवं तथ्यपरक होती है। वह शास्त्रों का ज्ञाता भी हो सकता है। परन्तु स्वरूपज्ञान के मूल में केवल विषयों की अनासक्ति ही तथ्य है। न उसके लिए बहुत शास्त्रज्ञान चाहिए और न बुद्धि में दुनियाभर की जानकारी। कितने बहुत शास्त्रज्ञानी एवं अपनी बुद्धि में दुनिया की बातों की बहुत जानकारी का कूड़ा-कबाड़ भरे हुए लोग केवल मन-इन्द्रियों के गुलाम होते हैं। जिस ज्ञान से आत्मशांति मिलती है वह शास्त्रज्ञान

एवं बहुत जानकारी नहीं है, किन्तु स्वरूपज्ञान और वैराग्य है। ज्ञान का व्यावहारिक पक्ष पवित्र रहनी है। पवित्र रहनी का अर्थ गलत आदतों, दुर्व्यसनों एवं समस्त विषयासक्तियों से सर्वथा मुक्त होना है।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, हर्ष, शोकादि के वश होकर दुखी रहना जीव का भटकना है। यह सब स्वरूप के अज्ञान तथा विषयासक्ति के वश होता है। जब स्वरूप का ज्ञान हो जाता है और विषयासक्ति मिट जाती है, तब मन के सारे आंदोलन समाप्त हो जाते हैं। विषयासक्तिवश ही तो चाहनाएं उठती हैं और चाहनाएं ही जीव को भटकाती हैं। जिसने चाहनाओं का त्याग कर दिया वह निश्चल एवं शांत हो गया। पूर्ण ज्ञानोदय होने का अर्थ है सारे आकर्षणों से रहित होकर अपने आप में पूर्ण शांत होना।

जीव का स्थायी निवास उसका अपना स्वरूप है

नाँव न जाने गाँव का, भूला मारग जाय॥
काल गड़ेगा काँटा, अगमन खसी कराय॥ 206॥

शब्दार्थ—काल=कल्पनाएं, वासनाएं। अगमन=पहले से। खसी कराय= गिरा देना, त्याग देना।

भावार्थ—यदि कोई अपने गंतव्य-ग्राम का नाम न जानता हो और उसके पथ को भूलकर विपथ में भटक रहा हो, तो उसके पैरों में कांटे गड़ेंगे। उसे चाहिए कि वह पहले ही सावधान हो, अपने ग्राम के पथ को जाने और विपथ छोड़कर अपने पथ में चले। इसी प्रकार जो स्वरूपस्थिति की दशा का ज्ञान तो दूर, नाम भी नहीं जानता, और अपनी स्वरूपस्थिति के ज्ञान एवं रहनी से अलग पड़ा भूले पथ में जा रहा है, उसे कल्पनाओं एवं वासनाओं के कांटे गड़ेंगे। इसलिए समझदार का काम है कि वह पहले से ही विपथ का त्यागकर स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति के पथ पर चले॥ 206॥

व्याख्या—आपको एक ऐसा आदमी मिले जिससे आप पूछें कि तुम कौन हो, कहां जा रहे हो! वह बताये कि मैं नहीं जानता हूं कि मैं कौन हूं तथा यह भी नहीं जानता कि मैं कहां जा रहा हूं, तो आप उसे अर्धविक्षिप्त ही कहेंगे। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से देखा जाये तो संसार के मनुष्यों की यही दशा है। वे नहीं जानते कि वे कौन हैं और उनका स्थायी निवास का गांव कहां है।

एक युवक महात्माओं के पास जाकर उनसे कहता है कि आप मुझे भगवान के दर्शन करा दें तो मैं आपको अपना गुरु मान लूं। महात्मा लोग लाचार होकर कहते कि भगवान के दर्शन तो हमने ही नहीं पाये हैं तो आपको कैसे करा दें! कुछ दिनों में उसे एक महात्मा मिल गये। उन्होंने कहा कि मैं

तुम्हें भगवान के दर्शन करा दूंगा, परन्तु तुम पहले अपने स्थायी नाम तथा पता मुझे बता दो। मैं भगवान के यहां तुम्हारी ओर से एक चिट्ठी लिख दूं। फिर भगवान की आज्ञा हो जाने पर मैं तुम्हें उनके पास ले जाकर उनके दर्शन करा दूंगा।

उसने कहा कि मेरा नाम केशव है तथा मेरा पता भारत की राजधानी दिल्ली है। महात्मा ने कहा कि तुम्हारा नाम केशव कब से पड़ा? उसने कहा—जन्म के बाद।

महात्मा ने कहा कि तुम्हारा नाम नकली है; क्योंकि यह बीच का रखा नाम है। तुम अपना असली नाम बताओ जो स्थायी है। उसने कहा—"तो मेरा असली नाम क्या हो सकता है?' महात्मा ने कहा—'यह तुम जानो।' महात्मा ने पुनः कहा कि अच्छा, तुम दिल्ली में कब से रहते हो? उसने कहा—'जन्म से ही।' महात्मा ने कहा—'जन्म के पहले कहां रहते थे?' उसने कहा—'मैं नहीं जानता।' महात्मा ने कहा—'तुम्हारा पता भी गलत एवं नकली है। परमात्मा के यहां से तो असली नाम एवं पता होने पर ही लौटकर चिट्ठी आती है।' उसने कहा—'तो मेरे असली नाम-पता क्या हैं?' महात्मा ने कहा—'यह तुम जानो।'

अब वह युवक परमात्मा को खोजना छोड़कर अपने असली नाम और पता की खोज करने लगा। महात्माओं के पास जाकर पूछता कि मेरे असली नाम और पता क्या हैं! उसे धीरे-धीरे सत्संग से पता चला कि सबका नामकरण करने वाला जीव नामी है। सारे नाम नकली हैं और जीव असली है। और जीव का स्थायी निवास एवं पता उसका अपना स्वरूप ही है। जीव कहीं भी चला जाये, वह अपने स्वरूप को छोड़कर अलग नहीं हो सकता। "नित पारख प्रकाश में, सोई निज घर जान। बिन घर पाये आपना, परे न यम पहिचान॥"[1] जीव का स्थायी गांव, स्थायी निवास, विश्रामस्थल एवं निधान जीव का स्वरूप एवं स्वरूपस्थिति है।

कितने साधक एवं महात्मा कहलाने वाले लोग भी स्वरूपस्थिति का नाम तक नहीं जानते। वे रात-दिन भगवान, ईश्वर या परमात्मा को खोजते हैं। परन्तु यह सब जीव से हटकर एक शब्द-बवंडर है। भगवान, ईश्वर, परमात्मा, ब्रह्म आदि शब्दों की चरितार्थता भी जीव ही में होती है। जीव ही स्वयंप्रत्यक्ष तथ्य है। मनुष्य अपने स्वरूप को न जानकर कहीं ईश्वर, परमात्मा या मोक्ष के नाम पर बाहर भटकता जा रहा है और कहीं विषय-वासनाओं के मोह में भटकता जा रहा है। इन दोनों का परिणाम है वासनाओं

1. पंचग्रन्थी।

के कांटों में उलझ जाना। निज चेतनस्वरूप से अलग परोक्ष या प्रत्यक्ष जो कुछ है, सब केवल विषय-वासना है। मन से जो कुछ मानकर उसमें उलझा जाये वह सब वासना ही में उलझना है। वासनाएं कांटे हैं जो जीव को कष्ट देती हैं। हम पांच विषयों के भोगों की इच्छा में भटकते हैं तो वासनाओं के कांटों में उलझे हैं और अपनी आत्मा से अलग परमात्मा या मोक्ष खोजने के भ्रम में पड़े हैं तो यह भी मानो वासनाओं के कांटों में ही उलझना है।

अतएव सद्‌गुरु कहते हैं—"अगमन खसी कराय" पहले ही पारखी संतों की संगत कर स्वरूप को ठीक से समझ लो और अलग की सारी वासनाएं छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित हो जाओ। अपना आत्मस्वरूप एवं चेतनस्वरूप ही अपना गांव है। वही अपना स्थायी निवास-स्थान एवं विश्रामस्थल है। जीव को परम विश्राम अपने स्वरूप में ही मिलेगा। इसका दिशा-निर्देश करने वाला सद्‌गुरु है।

'बिना रे खेवैया नैया कैसे लागे पार हो।"

साधु-संगति कल्याणकर है।

संगति कीजै साधु की, हरै और की व्याधि ॥
ओछी संगति कूर की, आठों पहर उपाधि ॥ 207 ॥
संगति से सुख ऊपजे, कुसंगति से दुख होय ॥
कहहिं कबीर तहाँ जाइये, जहाँ अपनी संगति होय ॥ 208 ॥

शब्दार्थ—संगति=सत्संग। व्याधि=मन के विकार, मन की पीड़ा। कूर= क्रूर, निर्दय, नालायक, कायर, निकम्मा, मूर्ख। पहर=तीन घंटे का समय। उपाधि=छल, धोखा, झगड़ा। अपनी संगति=सज्जन-संतों की संगत।

भावार्थ—संतों की संगत करो, वे दूसरे के मन के विकार एवं पीड़ा को दूर करते हैं। निर्दय, कायर एवं मूर्ख की संगत करने से मानो चौबीसों घंटे छलावा एवं झगड़े में पड़ा रहना है। सत्संग से सुख उत्पन्न होता है और कुसंगति से दुख होता है, इसलिए कबीर देव कहते हैं कि वहां जाना चाहिए जहां अपनी संगति हो ॥ 207-208 ॥

व्याख्या—मानव-जीवन में संगत का बहुत बड़ा महत्त्व है। अधम-से-अधम लोग भी सज्जनों तथा संतों की संगत से ऊंचे उठ जाते हैं और अच्छे-अच्छे लोग कुसंगत में पड़कर अपना पतन कर लेते हैं। जीवन में जितने दुर्गुण एवं दुर्व्यसन आते हैं, प्राय: कुसंगत के कारण और आदमी ऊपर उठता है सुसंगत के कारण। कोयला में आग न होने से उसको छूने पर वह भले ही न जलाये, परन्तु काला दाग तो लगा ही देता है। इसी प्रकार गलत आदमी का संग करने से हम में तत्काल भले ही दोष न आयें, परन्तु लोगों की दृष्टि से

हम गिर तो जायेंगे ही। एक ने एक से कहा कि मुझे यह बता दो कि वह किसके साथ बराबर उठता-बैठता है, तो मैं बता दूं कि उसके आचरण कैसे हैं। आदमी का मन गीली मिट्टी के तुल्य है। वह जैसा सांचा पाता है, वैसा ढल जाता है। मजबूत मन वाले कम लोग होते हैं जो कुसंगत पाकर उसमें न फिसलें। परन्तु यदि कोई बराबर कुसंगत करता रहेगा तो दृढ़ मन वाला भी फिसल जायेगा। कुसंगत में प्रेम करना ही बुरी बात है। यह अलग बात है कि यदि संयोग से गलत लोगों का संग पड़ जाये, तो सावधान होकर उनके बुरे प्रभाव से अपने आप को बचा ले, और जितना सम्भव हो उनसे अपने आप को शीघ्र अलग कर ले। जो कुसंग में प्रेम करेगा वह पतन से बच नहीं सकता। कुसंगत से प्रेम करना ही अपने पतन को निमंत्रण देना है। जो अच्छे-अच्छे साधक भी अपने पद से गिर जाते हैं, उसमें संग-दोष अर्थात कुसंग ही कारण होता है। बलवान भी कुसंग में प्रेम करने से आज नहीं तो कल, फिसलेगा ही, और कमजोर आदमी भी यदि अच्छी संगत में बना रहे तो वह प्रपंच से बचा रहेगा।

बुराइयों से ज्यादा बुरा एवं पतन में कारण बुरा आदमी है। धूप गरम होती है, परन्तु धूप में तपी बालुका बहुत ज्यादा गरम होती है। बुराइयों में डूबा बुरा आदमी अपनी युक्ति-प्रयुक्ति से समझा-बुझाकर दूसरों को पतित करने में कारण बनता है। कुसंग वह आलंबन है जो मनुष्य के मन में विकार उत्पन्न करता है। सद्गुरु श्री विशाल साहेब ने कहा है—"शरीर के जिन अंगों को देखने से मन मलिन हो, वह कुअंग है, जिस जगह रहने से मन पर बुरा प्रभाव पड़े वह कुठांव है, जिस मनुष्य की संगत से मन मलिन हो वह कुमनुष्य है, जिस स्मरण में मलिनता आये वह कुमन है, जिस वाणी के बोलने तथा सुनने से मन मलिन हो वह कुवाक्य है, जिस देश में रहने से पतन का भय हो वह कुदेश है, जिसे खाने से उत्तेजना हो वह कुखाद्य है, जिस वस्तु के उपयोग से मन रजोगुणी होकर मलिन हो वह कुवस्तु है, जिन प्राणियों से भय हो वे कुजन्तु हैं, जिस कर्म के करने से मन मलिन हो वह कुकर्म है—ऐसे कुसंग मनुष्य को हमेशा मिलते रहते हैं॥"[1] इनसे सावधान रहना चाहिए।

सद्गुरु कबीर ने इस साखी में बताया है कि सदैव साधु की संगत करो। साधु का अर्थ केवल साधुवेषधारी नहीं है। कितने साधुवेषधारी हैं जो दुर्व्यसन, दुर्गुण एवं राग-द्वेष के भंडार बने रहते हैं और निश्चित ही उनकी

---

1. कुअंग कुठाम कुमनुष्य जो, कुमन कुवाक्य कुदेश।
कुखाद्य कुबस्तु कुजन्तु है, कुकरम कुसंग हमेश॥ (मुक्तिद्वार, बंधमोक्ष शतक 100)

संगत मनुष्य के पतन में कारण होती है। अतः साधुवेष हो या न हो, जो शुद्ध बुद्धि वाला एवं पवित्र आचरण वाला है वही साधु है। उसी की संगत करने से मनुष्य को सत्प्रेरणा मिल सकती है। सद्‌गुरु कहते हैं कि साधु की संगत करो। वे तुम्हारे मन की पीड़ा को हरेंगे। सच्चे साधु-संतों के दर्शन, वचन, संगत एवं वार्तालाप मनुष्य के अज्ञान एवं शोक-मोह का निराकरण करने वाले हैं जिनकी संगत में रहने से मन प्रसन्न रहे, मनोविकार दूर रहें और आत्मशांति रहे, उनकी संगत ही साधु-संगत है।

जब हम क्रूर की संगत करते हैं, निर्दय और निकम्मे व्यक्ति की संगत करते हैं तथा कायर और मूर्ख की संगत करते हैं, तब हमारे जीवन में पदे-पदे छलावा एवं धोखा मिलते हैं और मिलते हैं झगड़ा-द्वन्द्व! कायरों की संगत से अपने में कायरपन ही तो आयेगा। निकम्मे लोगों की संगत से निकम्मापन आयेगा। गलत लोगों की संगत से हमारे मन, वाणी, कर्म बुरी ओर जायेंगे। जिसका जीवन दूषित हो जायेगा वह अन्दर-बाहर केवल द्वन्द्वग्रसित ही रहेगा। एक पहर में तीन घंटे होते हैं, आठ पहर में चौबीस घंटे। कुसंगत में रहने से चौबीसों घंटे मत्थे पर उपद्रव ही रहता है। उपाधि का अर्थ है धोखा, छलावा एवं उपद्रव। कुसंग करने से यही फल मिलते हैं।

कुसंगति से दुख मिलता है और सुसंगति से सुख मिलता है यह भलीभांति समझकर सदैव सुसंगत में रहना चाहिए। "कहहिं कबीर तहाँ जाइये, जहाँ अपनी संगति होय।" अपनी संगत का अर्थ है अपने जीव के उद्धार के लिए अनुकूल वातावरण। जहां रहने से मन प्रसन्न रहे, वह अपनी संगत है। साखी ग्रन्थ में एक साखी है—"इष्ट मिले औ मन मिले, मिले सकल रस रीति। कबीर तहाँ पर जाइये, यह संतन की प्रीति॥" अच्छी संगत कहीं की भी हो जीव के लिए कल्याणकर है, परन्तु जिस संगत में अपने स्वभाव, रीति, नीति, विचार, संस्कार सब मिलते हैं, वहां जाने तथा रहने में स्वाभाविक सुख होता है।

साधना में निरंतरता सफलता की कुंजी है

जैसी लागी ओर की, वैसे निबहै छोर॥
कौड़ी कौड़ी जोरि के, पूँजी लक्ष करोर॥ 209॥

शब्दार्थ—ओर=आरम्भ। निबहै=निभना। छोर=अन्त। पूंजी=संचित सम्पत्ति, जमा धन।

भावार्थ—आदमी जिस उत्साह से आरंभ में किसी काम में लगता है यदि उसी उत्साह से अन्त तक उसे निभाता है तो उसमें उसकी सफलता निश्चित है। धीरे-धीरे कौड़ी-कौड़ी जोड़कर ही किसी दिन लाख-करोड़ की

संपत्ति हो जाती है॥ 209॥

व्याख्या—किसी उद्देश्य एवं क्षेत्र में शुरू से आखिर तक एक समान उत्साह से लगे रहने वाले कम लोग होते हैं। इसीलिए जीवन में सफल कम ही लोग होते हैं। साखीग्रन्थ की एक साखी है—"भक्ति भाव भादौं नदी, सबै चली घहराय। सरिता सोई सराहिए, जेठ मास ठहराय।" किसी काम में आरम्भ में उत्साह होता है। आगे चलकर आदमी ठण्डा हो जाता है। विद्या, कला, धन, भक्ति, धर्म, अध्यात्म किसी भी दिशा में यदि उन्नति करना है तो उसमें शुरू से आखिर तक उत्साहपूर्वक एक समान लगे रहना चाहिए।

एक संगीतज्ञ के संगीत से प्रभावित होकर एक आदमी ने कहा कि मैं भी चाहता हूं कि आपकी तरह बड़ा संगीतज्ञ बनूं। संगीतज्ञ ने कहा कि यह कोई बड़ी बात नहीं है, लगातार उत्साहपूर्वक तीस-पैंतीस वर्षों तक लगे रहिए, आप भी अच्छे संगीतज्ञ हो जायेंगे। आदमी किसी का कलात्मक तबलावादन, हारमोनियमस्वर, गायन, चित्रकला, वक्तृता, लेखनसम्पन्नता, धनसम्पन्नता, आध्यात्मिकसम्पन्नता आदि देखता है तो चाहता है कि वह भी उन्हीं जैसा हो जाये तो बहुत अच्छी बात होती। परन्तु वह यह नहीं समझता कि इन सब उपलब्धियों के पीछे उन लोगों ने कितनी तपस्याएं एवं साधनाएं की हैं। एक-एक बूंद गिरते-गिरते घड़ा भरता है, इसी प्रकार धन, विद्या और धर्म का थोड़ा-थोड़ा संग्रह होते-होते बहुत हो जाते हैं।

जो अपने निश्चित लक्ष्य को पाने के लिए लगातार दीर्घकाल तक एक समान श्रम कर सकता है वही सफल हो सकता है। संतों की संगत पाकर कुछ लोग शुरू-शुरू में बहुत ज्यादा भक्तिभावना में ओतप्रोत हो जाते हैं, परन्तु थोड़े दिनों में वे उसे प्रायः भूल जाते हैं। कितने लोग उत्साहपूर्वक वैराग्य और साधना में लगते हैं, परन्तु उनका उत्साह ज्यादा दिन तक नहीं टिकता। ऐसे लोग पुनः मन की मलिनता में घिर जाते हैं। तब वे कहते हैं कि वैराग्य, भक्ति, साधना, अध्यात्म सब बकवास है। जिस किसान को केवल फसल पाने ही में आनंद आता है, किसानी में नहीं; जिस व्यापारी को मुनाफा में ही आनन्द आता है, व्यापार के श्रम में नहीं तथा जिस साधक को साध्य पाने में ही आनन्द है, साधना में नहीं; वह न सच्चा किसान है, न सच्चा व्यापारी है और न सच्चा साधक। अतएव जिसको श्रम एवं साधना में आनन्द आता है वही किसी दिशा में सिद्धिलाभ में सफल होता है। त्याग, तप और अनवरत श्रमपूर्वक साधना, यही सफलता की कुंजी है। कायर आदमी इन सबसे डरता है और इनसे डरने वाला कभी किसी दिशा में भी सफल नहीं हो सकता। शिक्षित नवयुवक साधक घर छोड़कर विरक्ति-मार्ग में आते हैं। उनसे कहा जाता है कि तुम सेवाकार्य के बाद जितना समय निकाल पाओ

स्वाध्याय में लगाओ; परन्तु सभी युवक पूरे मन तथा पूरे समय को स्वाध्याय में नहीं लगा पाते और ऐसा किये बिना वे कभी भी बहुज्ञ तथा विद्वान नहीं हो सकते। इसी प्रकार यदि वे तत्परतापूर्वक वैराग्य तथा साधना में नहीं लगते तो अपनी आध्यात्मिक उन्नति नहीं कर सकते।

सद्गुरु ने इस साखी में पहली पंक्ति कही है "जैसी लागी ओर की, वैसे निबहै छोर"। इस पंक्ति के सारे शब्द वैज्ञानिक तथ्य से पूर्ण हैं। मनुष्य किसी दिशा की ओर में लगता है तो उसे चाहिए कि वह उसे छोर तक निभाये। 'ओर' आरम्भ है, 'छोर' अन्त है, 'लगना' उत्साह से काम शुरू करना है और 'निभाना' अन्त तक उत्साहपूर्वक काम पूरा करना है। किसी दिशा में सफलता की यही कुंजी है। परन्तु यह सब करने में तप, त्याग, श्रम, साधना के साथ समय भी लगता है। कोई चाहे कि खेत में बीज बोकर तुरन्त फसल काट ले, तो यह उसका बालकपन ही है। सब कुछ करने के साथ फल पाने में धैर्य रखना बहुत आवश्यक है। इसीलिए गीताकार ने कहा है कि कर्म तो करो, परन्तु फल पाने की इच्छा ही न करो। यह बात अटपटी लगती है। जिसे फल पाने की इच्छा की नहीं होगी वह कर्म क्यों करेगा ! कर्म किया ही जाता है फल पाने के लिए। वस्तुतः गीताकार कहते हैं कि तुम किसी भी कर्म के फल पाने की बेताबी छोड़ दो। उसके विषय में धैर्य रखो, अन्यथा तुम अपने कर्म व्यवस्थित ढंग से नहीं कर पाओगे। तुम आज बीज बोकर कल उसे खोदकर देखोगे कि वे उग रहे हैं कि नहीं। इस प्रकार बीज को खोदकर देखने से बीज अंकुरित ही नहीं होंगे, तो फल कहां से आयेंगे ! लगन से कर्म करते चलो और धैर्य रखो। समय आयेगा और फल अपने आप मिलेगा।

सद्गुरु कहते हैं—"कौड़ी कौड़ी जोरि के, पूंजी लक्ष करोर"। इस पंक्ति में गरीब, दीन तथा दुर्बल साधकों के लिए भी उन्नति की अनन्त सम्भावनाएं एवं आशा-विश्वास की प्रखर किरणें हैं। जब बच्चा पढ़ने जाता है, तब उसे दस बार वर्णमाला का परिचय कराने पर भी वह उसे भूल-भूल जाता है। लगता है कि वह उसे याद ही नहीं कर पायेगा। परन्तु वही बच्चा एक लम्बे समय के अन्तराल में किसी महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय में गूढ़-गूढ़ विषयों पर व्याख्यान देता है। जब कुआं खोदना तथा घर बनाना शुरू किया जाता है, तब विश्वास भी नहीं होता है कि पानी निकल आयेगा और घर पूरा बन जायेगा। परन्तु एक दिन वे काम पूरे हो जाते हैं। किसी भी दिशा में सम्पन्नता एकाएक नहीं होती। जो साधक निरन्तर सेवा, स्वाध्याय, साधना की त्रिवेणी में निमज्जन करता है वह धीरे-धीरे भक्ति, ज्ञान, वैराग्य एवं इन सब के फल रूप में परमशांति की उपलब्धि करता है। सही दिशा में निरन्तर उत्साहपूर्वक श्रम करने से सफलता में सन्देह करने की बात ही नहीं है।

भौतिक क्षेत्र में कभी असफलता हो भी सकती है, परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में सच्ची निष्ठा से निरन्तर श्रम करने के बाद सफलता निश्चित है। बस तप, त्याग, श्रमपूर्वक साधना और धैर्य होना चाहिए और इन सब को आजीवन चलते रहना चाहिए।

जीवन की क्षणभंगुरता

आजु काल दिन कैइक में, अस्थिर नाहिं शरीर॥
कहहिं कबीर कस राखिहो, काँचे बासन नीर॥ 210॥

शब्दार्थ—कैइक=कई एक, कुछ दिनों में। बासन=बरतन।

भावार्थ—आज, कल या कुछ दिनों के बाद शरीर छूट जायेगा, क्योंकि वह स्थिर रहने वाला नहीं है। कबीर साहेब कहते हैं कि मिट्टी के कच्चे बरतन में पानी भरकर कैसे रख सकते हो ! इसी प्रकार इस नाशवान शरीर में जीव ज्यादा दिनों तक नहीं टिक सकता॥ 210॥

व्याख्या—साधना की दृष्टि से मानव जीवन सर्वोत्तम है, परन्तु भौतिक दृष्टि से देखा जाये तो यह रोगों का घर, कूड़ा-कचड़ा तथा अत्यन्त क्षणभंगुर है। इस मानव जीवन में आकर यथासम्भव दूसरे की सेवा और अपनी आत्मशांति यही जीवन का सार है। बाकी तो केवल द्वन्द्व है।

मिट्टी के कच्चे बरतन में यदि पानी भरकर रखा जाये तो वह कब तक टिकेगा ! हमारे शरीर की यही दशा है। यह आजकल में या कुछ दिनों में जाने वाला है। पानी के बुलबुले, ओस के कण और बादल की पुतली के समान इसके बिनसने में देरी नहीं लगती। बिजली की चमक के समान जवानी और जीवन दोनों गायब हो जाते हैं। विमोहित मानव दो दिन की जवानी की चमक-दमक में मतवाला बनकर अपनी सावधानी खो देता है। जिस शरीर का एक क्षण के लिए विश्वास नहीं किया जा सकता, उसे वह भूलवश अजर-अमर मान लेता है। जवान-जवान लोग भी देखते-देखते भूलुंठित हो जाते हैं। एक बड़े डॉक्टर साहेब फोन पर बात करते-करते लुढ़क गये और सदा के लिए बिदा हो गये। एक वकील साहब कुर्सी पर बैठे अपने मुवक्किल से बात कर रहे थे, उनकी हृदयगति रुक गयी और वे मर गये। एक करोड़पति सेठ जी कार से अपने दफ्तर जा रहे थे, बीच में एक्सीडेंट हो गया और वे वहीं ढेर हो गये। यह सब देहधारियों की सहज गति है।

विमोहित मानव भोगों का अत्यन्त शृंगार करता है। वह सोचता है कि इन सारे भोगों को मैं भोगूंगा, परन्तु बीच में उसे काल उठा लेता है और उसके सारे-के-सारे भोग धरे रह जाते हैं। देहाभिमानी आदमी दीन होता है। जैसे

बिल्ली चूहे को अचानक धर दबोचती है, वैसे काल मनुष्य को अचानक धर दबोचता है। मूढ़ मानव जब तक जीता है अहंकार में इतराता रहता है। वह अपने आगे किसी को नहीं गिनता। वह सबको टेढ़ी-सीधी सुनाता रहता है। उसके ख्याल से सब मर जायें तो मर जायें परन्तु वह नहीं मरेगा। परन्तु उसको आभास भी नहीं होता है कि आज मैं नहीं रह जाऊंगा और उसे काल अचानक उठा लेता है। जितना सम्भव होता है आदमी अपने आप को भूल-भुलैया में रखना चाहता है।

जो विवेकी हैं, सावधान हैं, वे शरीर को विचार से पहले ही छोड़े रहते हैं। जो सब समय शरीर को मृत्युमय देखता है उससे न अपराध होता है और न वह अशांत होता है। उसके सामने मौत आने पर वह आंदोलित नहीं होता, क्योंकि वह उसके लिए पहले से ही तैयार है। हमें भी चाहिए कि हम हर समय मृत्यु का स्वागत करने के लिए तैयार रहें।

मोक्ष के माध्यम

बहु बन्धन से बाँधिया, एक बिचारा जीव॥
की बल छूटै आपने, की रे छुड़ावै पीव॥ 211॥

शब्दार्थ—पीव=प्रियतम, सद्‌गुरु।

भावार्थ—बेचारा एक जीव बहुत बंधनों से बंधा है। या तो यह स्वयं अपने विवेक-बल से बंधनों से मुक्त हो जाये, या सद्‌गुरु इसको भवजाल परखाकर उससे छुड़ा दें॥ 211॥

व्याख्या—काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, चिंता, विकलता अनेक मानसिक बन्धन हैं। भूत-प्रेत, देवी-देवता, शकुन-अपशकुन, ग्रह-लग्न, दिशा-शूल, जादू-टोना, मंत्र-तंत्र तथा इसी प्रकार अनेक भ्रांतियों के बन्धन हैं। वर्ण-आश्रम, जाति-पांति, ऊंच-नीच आदि मिथ्या मान्यताओं के अनेक लौकिक बंधन हैं। शास्त्रों के महाजाल हैं जिनमें असंख्य अदृश्य कल्पनाओं की भरमार है। अपनी आत्मा से अलग मोक्ष और परमात्मा पाने का महाभ्रम का बंधन है। गिनाकर कहां तक कहा जाये, जीव असंख्य बंधनों में बंधा है। सभी बन्धनों को हम एक शब्द में व्यक्त कर सकते हैं वह है 'मान्यता'। जीव का स्वरूप शुद्ध चेतन है। हम अपनी चेतना के अलावा जितनी मान्यताएं बनाते हैं वे सब हमारे लिए बंधन बनती हैं। कुछ मान्यताएं व्यवहार चलाने के लिए आवश्यक होती हैं। जैसे शरीर का कुछ नाम रखना पड़ता है, वैसे ही अन्य कुछ मान्यताएं होती हैं। परन्तु व्यवहार चलाने के लिए मान्यताएं और अविवेक से बनी दृढ़ मान्यताएं दोनों में जमीन-आसमान का अन्तर होता है। अपने स्वरूप से अलग हम जितनी दृढ़ मान्यताएं करते हैं वे ही हमारे बंधन

का कारण बनती हैं।

सद्गुरु ने इन अपार बंधनों के बीच में पड़े हुए जीवों को बेचारा शब्द से याद किया है। बेचारा फारसी शब्द है। चारा कहते हैं उपाय या इलाज को। बेचारा कहते हैं निरुपाय को, विवश को। यह जीव बहुत-से बंधनों में जकड़कर निरुपाय-सा हो गया है। इसे न अपने स्वरूप का बोध है और न बंधनों की परख। इसलिए यह लाचार बना दुख भोग रहा है। साधारण-सी बात है कि पढ़े-लिखे समझदार आदमी भी बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, पान, शराब आदि निरर्थक एवं हानिकारी चीजों को खाने-पीने की आदत बना लेते हैं, तो वे उनके बिना रह नहीं पाते। वे उन व्यसनों के कारण दुख भोगते हुए भी उन्हीं में घसिटते जाते हैं। जब उन्हें स्व-विवेक से या किसी के चेताने से उनमें दृढ़ ग्लानि होती है तभी वे उनसे अपने आप को मुक्त कर पाते हैं।

बंधनों से मुक्त होने के लिए सद्गुरु ने दो उपाय बताये हैं, पहला है अपना विवेक-बल और दूसरा है गुरु का उपदेश-बल। इसका अर्थ यही हो सकता है कि या तो मनुष्य अपने विवेक-बल से अपने स्वरूप को समझ ले तथा अपने बंधन रूप सारी जड़-मान्यताओं एवं आसक्तियों को समझ ले और उनका त्याग कर दे, या तो कोई ऐसा योग्य बोधवान सद्गुरु उसे मिले और सब प्रकार की परख देकर उसे बंधनों से मुक्त होने के लिए प्रेरित करे और वह इस प्रकार गुरु का बल पाकर अपने आप को भव-बन्धनों से मुक्त करे।

हर हालत में मनुष्य को बंधनों का त्याग स्वयं ही करना पड़ेगा, निर्देश अपने विवेक-बल का हो या सद्गुरु का हो। वैसे हर साधक को स्वविवेक बल की और बाहरी गुरु के उपदेश की आवश्यकता पड़ती है। बिना बाहरी सहयोग के, बिना किसी-न-किसी प्रकार गुरु की सहायता के मनुष्य का विवेक जग नहीं सकता; और चाहे जितने बड़े वैराग्यवान एवं बोधवान सद्गुरु मिल जायें, परन्तु अपने विवेक के बिना कोई भव-बंधनों से मुक्त नहीं हो सकता। कहा जाता है कि बुद्ध और कबीर के कोई गुरु नहीं थे। इन्होंने अपने विवेक-बल से ही अपना पथ निर्धारित किया था, परन्तु हम यह भूल जाते हैं कि इन युगपुरुषों को उत्तम संस्कार देने वाले इनके माता-पिता, अध्यापक, अनेक मनुष्य, मनुष्यों के समाज रहे हैं। बुद्ध ने सांख्यवादी महात्मा आलार कालाम और अनेक ऋषियों से बहुत कुछ सीखा होगा, और किंवदंती के अनुसार कबीर ने रामानंद आदि महात्माओं से अनेक निर्देश ग्रहण किये होंगे। जितने जिज्ञासु होते हैं वे अनेक मनुष्यों, प्राणियों, पदार्थों तथा घटनाओं से प्रेरणा लेते हैं। किसी की अच्छाइयों से ही नहीं, गलतियों से भी अच्छी प्रेरणा ले लेते हैं। तो यह कैसे कहा जा सकता है कि कोई

महापुरुष अन्य से कोई सहायता लिये बिना उच्चतम बन गया है। सभी महापुरुष अपनी पूर्वपरम्परा से बहुत कुछ पाते हैं। यह भी ठीक है कि बुद्ध और कबीर जैसे स्वतन्त्रप्रज्ञ महापुरुष परंपरा से हटकर स्व-विवेक से चलते हैं; परन्तु यह भी परम सत्य है कि वे अपनी परंपरा को पूर्ण रूप से छोड़ नहीं देते हैं। कोई भी अपनी पूर्वपरंपरा को छोड़कर जी भी नहीं सकता। यदि हम अपनी पूर्वपरंपरा को छोड़ दें तो बोल भी नहीं पायेंगे। पूर्व निर्धारित स्वर और व्यंजनों में ही तो हम बोलते हैं। पूर्वप्रवाहित परंपरा में ही तो हम जीवन जीने के अनेक कायदे, बरतने की अनेक संज्ञाएं और बोध के अनेक परिचय प्राप्त करते हैं।

सद्गुरु ने यहां "की बल छूटै आपने, की रे छुड़ावे पीव" कहकर इन दोनों की विशेषताओं पर बल दिया है। यहां का अभिप्राय यह है कि कोई ऐसा मुमुक्षु होता है जिसे कोई ऐसा सद्गुरु नहीं मिलता कि जिसके निर्देश तथा आदर्श को लेकर वह अपने पूरे आध्यात्मिक पथ पर चले। उसे ऐसा विश्वसनीय गुरु मिला ही नहीं कि वह अपने आप को शिशु बनाकर उनकी गोद में डाल दे और उनके निर्देश पर अपना कल्याण कर ले। परन्तु संवेदनशील और निष्पक्ष दृष्टिवाला होने से उसने अपने विवेक बल का पूर्ण उपयोग किया और शास्त्रगत, लोकगत, परंपरागत, जातिगत सारे अंधविश्वासों, गलत बातों एवं अविवेकपूर्ण धारणाओं को अस्वीकारते हुए अपना सत्य पथ निर्धारित कर लिया और उस पर चलकर बंधनों से अपने आप को मुक्त कर लिया। बुद्ध और कबीर दोनों के विषय में ऐसी घटनाएं घटी हैं। उन्होंने आलार कालाम तथा रामानंद से भले ही बहुत-कुछ या थोड़ा-बहुत सीखा हो तथा अन्य से बहुत-कुछ सीखा हो; परन्तु इन्हें कोई ऐसा पूर्ण गुरु तो नहीं ही मिला, जिनकी गोद में ये अपने आप को डालकर निश्चिंत हो जाते।

दूसरे वे मुमुक्षु हैं जिन्हें बोध-वैराग्य संपन्न सद्गुरु मिल गये हैं और उन्होंने अपने आप को उनकी शरण में डालकर उनके आदेश, निर्देश तथा आदर्श के अनुसार रहकर अपना कल्याण कर लिया है। जिनके बंधन कटते हैं वे इन्हीं दोनों स्थितियों में से किसी एक स्थिति में रहने वाले होते हैं।

ऐसे भी साधु-भक्त तथा साधक कहलाने वाले होते हैं जो स्वयं को सिद्ध घोषित करते फिरते हैं, अतएव वे किसी के सामने झुकना नहीं चाहते, किसी का बनकर, किसी के अनुशासन में रहकर चलना नहीं चाहते। उनमें विवेक तो कुछ नहीं, वे देह-स्वार्थ और अहंकार की मूर्ति होते हैं। अतएव ऐसे लोग साधु-भक्त और साधक नाम धराकर अपने आप को छलते हैं और समाज को धोखा देते हैं।

दूसरे ऐसे भी लोग होते हैं जो अपने आप को किसी गुरु के अधीन बनाये

तो रखते हैं, परन्तु वे गुरु अधूरे होते हैं और स्वयं शिष्य भी अधूरे होते हैं ऐसे लोग बंधन नहीं काट सकते। हां, यदि वे ईमानदार हैं तो कुछ-न-कुछ शुभ मार्ग में चलते रहते हैं।

विशेष सद्गुरु की शरण लिये बिना केवल अपने विशेष विवेक-बल से ही सारे भव-बंधनों को तोड़कर मुक्ति प्राप्त करना सबके लिए सरल नहीं है। यह घटना कभी-कभी किसी-किसी विशेष पुरुष ही में घट सकती है। इसलिए कबीर साहेब ने सद्गुरु की अनिवार्यता पर बल दिया है। उन्होंने कहा—"जाको सद्गुरु न मिला, व्याकुल दहुँदिश धाय। आँखि न सूझै बावरा, घर जरै घूर बुताय॥"[1]

विशेष सद्गुरु के बिना किसी-किसी को बोध हो जाता हौ, इसका संकेत श्री रामरहस साहेब ने अपनी महान रचना पंचग्रन्थी में कई जगह किया है। एक जगह का उदाहरण लें जहां कबीर देव के विषय में स्वतः बोध होने के संकेत हैं—

देखि अनेक रीति अकुलाना। निज शोधन तब कियो सुजाना॥
ठहरि यथारथ पारख कीन्हा। लहत प्रकाश स्वतः पद चीन्हा॥
स्वतः दृष्टि जब जेहि भई भाई। तेई गुरुपद ठहर प्रखाई॥
पारख में ठहरे बुधिवन्ता। देखि दशा निज नाहिन हन्ता॥[2]

सद्गुरु श्री विशाल साहेब द्वारा प्रमाणित श्री प्रेम साहेब का लेख है—

"(1) अखण्ड सुख की इच्छा करना, (2) दुख में कष्टित होना, (3) अनेक जन्मों के शुभ संस्कार समय पर उदित होना, (4) विषयों में सुख मानकर भोगते हुए बार-बार असंतुष्ट ही रह जाना, (5) मोक्ष की इच्छा करना, (6) अनेक मनुष्य तथा अनेक जन्तुओं के संग से अनेक प्रकार के ज्ञान उत्पन्न होना, तथा (7) स्वयं अपर प्रकाश; ये सात योग्यताएं जिस घट में एकत्र हुईं वे स्वयं जंगल में बूटी शोध लेने वत स्वतः पारख पद का प्रकाश किये हैं।"[3]

सद्गुरु श्री विशाल साहेब और कहते हैं—

अबोध से होवै बोध है, जीव अबन्ध के हेत।
स्वयं गुरू ह्वै जात है, पाय योग्यता जेत॥
बोध मिलै जेहि और से, तेहि को और से भेष।
स्वयंबोध को प्राप्त जो, सो तो स्वयं सुभेष॥

---

1. बीजक, साखी 245।
2. पंचग्रंथी, गुरुबोध।
3. मुमुक्षुस्थिति, 17वीं शिक्षा।

झूठ इष्ट लखि जाहि जब, नहिं तेहि भेष सोहान।
सत्य प्रिये सिद्धान्त लखि, तेहि का भेष मिठान॥[1]

भागवत में कृष्ण-उद्धव संवाद में श्री कृष्ण से कहलाया गया है—"इस संसार में जो विवेकी पुरुष हैं वे संसार के जड़ और चेतन तत्त्व पर विचार करके कि मैं कौन हूं तथा जगत क्या है, अपनी आत्मा द्वारा अपनी आत्मा को समस्त भवबंधनों से स्वयं मुक्त कर लेते हैं॥"[2]

जीवहत्या, तीर्थ और दान के सम्बन्ध

जीव मति मारो बापुरा, सबका एकै प्राण॥
हत्या कबहुँ न छूटिहैं, जो कोटिन सुनो पुराण॥ 212॥
जीव घात ना कीजिये, बहुरि लेत वै कान॥
तीरथ गये न बाँचिहो, जो कोटि हीरा देहु दान॥ 213॥

शब्दार्थ—मति=मत, नहीं। बापुरा=गरीब, बेचारा, विवश। घात=चोट, हत्या। कान=बदला।

भावार्थ—हे मनुष्यो ! सभी देहधारी जीव बेचारे स्वयं दुखी हैं, उनको चोट न पहुंचाओ एवं उनकी हत्या न करो। सभी देहधारियों को प्राण एक समान प्रिय हैं, कोई तकलीफ नहीं चाहता। चाहे तुम करोड़ों पुराण सुनो, हत्या करने के पाप से कभी नहीं मुक्त हो सकते हो जब तक उसके फल के भोगों को भोग नहीं लोगे। अतएव किसी जीव को चोट न पहुंचाओ एवं उनकी हत्या न करो। जिनको तुम चोट पहुंचाते हो वे भी तुमसे बदला लेते हैं। तुम जीव-हत्या के पाप से मुक्त नहीं हो सकते चाहे तीर्थ में नहाओ और चाहे करोड़ों हीरे का दान करो॥ 212-213॥

व्याख्या—सामान्य तो सामान्य ही है, कितने धार्मिक कहलाने वाले होते हैं जो मनुष्य के अलावा अन्य प्राणियों को मारकर खाने की वस्तु समझते हैं। शायद वे मनुष्य को भी मारकर खाने की वस्तु समझते, परन्तु मजबूरी यह है कि मनुष्य बलवान प्राणी है। उसे मारकर खाना सरल नहीं है। इसलिए शायद उसने मनुष्यों को अवध्य तथा अखाद्य माना। चीता, सिंह आदि मांसाहारी प्राणी हैं इसलिए वे प्राणियों को मारते तथा खाते हैं; परन्तु वे केवल अपने पेट भरने के लिए ही मारते हैं, किन्तु हिंसक आदमी ऐसा जानवर है जो मूलतः शाकाहारी है, परन्तु वह अपने जीभ-स्वाद के लिए प्राणियों को मारता

---

1. सत्यनिष्ठा, गुरुनिर्णय, साखी 7, 10, 11।
2. प्रायेण मनुजा लोके लोकतत्त्वविचक्षणाः।
   समुद्धरन्ति ह्यात्मानमात्मनैवाशुभाशयात् ॥ श्रीमद्भागवत, 11/7/19॥

है और केवल अपने पेट भरने के लिए ही नहीं, किन्तु प्राणियों की हत्या करके वह उनकी लाशों की राशि इकट्ठा करता है।

कितने चतुर लोग ईश्वर तथा देवी-देवताओं के नाम पर जीवों को मारकर खाते हैं और कहते हैं कि इसमें पाप नहीं पड़ता। उन्होंने उस जीवहत्या के नाम कुर्बानी तथा बलि रख लिये हैं; परन्तु न तो नाम बदलने से जीवहत्या के पाप से मुक्ति मिलेगी और न तथाकथित ईश्वर एवं देवी-देवताओं के नाम लेने से। जीवहत्या एक क्रूरता है जो मनुष्य के मन को क्रूर बनाता है। इसे हम मांसाहारी तथा शाकाहारी प्राणियों के स्वभाव से समझ सकते हैं। शाकाहारी प्राणी सरल होते हैं और मांसाहारी क्रूर।

सद्‌गुरु कबीर अहिंसा के परम पुजारी हैं। वे मानव तथा मानवेतर प्राणियों को एक समान प्राणधारी मानकर सबके साथ प्रेम एवं दया का व्यवहार करना उचित समझते हैं। वे कहते हैं कि शक्ति चले तक किसी को कष्ट न दो। "जीव मति मारो बापुरा, सबका एकै प्राण" वे कहते हैं कि सभी जीवों को एक समान अपने प्राण प्रिय हैं। कोई पीड़ा नहीं चाहता अतएव किसी को पीड़ा देना मानवता के विरुद्ध है। यदि हम किसी को पीड़ा देंगे, तो वह हमसे बदला लेना चाहेगा। मानव ही नहीं, मानवेतर प्राणी भी अपने सताने वालों से सावधान रहते हैं और अवसर आने पर वे बदला लेने का प्रयास करते हैं। "बहुरि लेत वै कान" एक स्वाभाविक तथ्य है तथा इसका अर्थ जन्मांतर में बदला लेने के विश्वास पर भी निर्भर है। जन्मांतरवाद के सिद्धान्त में यह माना जाता है कि जिसकी हत्या की गयी है यदि वह संसारीबुद्धिवाला है तो वह जन्मांतर में अपने हत्यारे की हत्या करके बदला लेता है। वस्तुतः वह बदला ले या न ले, हत्यारा अपने पापकर्म के वशीभूत होकर स्वयं दुख पायेगा। यह तो वैज्ञानिक तथ्य है कि जो दूसरे को कष्ट देगा वह कष्ट पायेगा। हत्यारे का स्वभाव ऐसा क्रूर बन जाता है कि वह अपने क्रूर संस्कारों द्वारा स्वयं कष्ट पाता है।

लोगों ने यह भी ढकोसला बना रखा है कि चाहे जितने हत्यादि पाप किये गये हों, परन्तु यदि पण्डितों से पुराण सुन लिये जायें, तीर्थ यात्रा कर ली जाये और ब्राह्मणों को हीरे, जवाहरात, अन्न, वस्त्रादि के दान कर दिये जायें, तो सारे पाप नष्ट हो जायेंगे। परन्तु यह छलावा है, चालाक लोगों द्वारा भोले लोगों को मूर्ख बनाने के तरीके हैं। कबीर देव कहते हैं कि हत्या करने के पाप के फल-भोग से तुम नहीं बच सकते हो चाहे करोड़ों पुराण सुनो, करोड़ों तीर्थों में घूमो एवं करोड़ों हीरे का दान करो।

लहसुन, प्याज खाकर उसकी दुर्गंधी की डकार से नहीं बचा जा सकता, चाहे कितने ही गंगास्नान, दान, पूजा-पाठ आदि किये जायें। इसी प्रकार

किसी प्राणी की हत्या कर उसके पाप से नहीं बचा जा सकता, चाहे जितने पुराण-श्रवण, दान एवं तीर्थ किये जायें। इसलिए सबसे बड़ा पुण्य है अहिंसा-धर्म।

तीरथ गये तीन जना, चित चंचल मनचोर॥
एकौ पाप न काटिया, लादिनि मन दश और॥ 214॥
तीरथ गये ते बहि मुये, जूड़े पानि नहाय॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, राक्षस होय पछिताय॥ 215॥
तीरथ भई विष बेलरी, रही युगन युग छाय॥
कबिरन मूल निकन्दिया, कौन हलाहल खाय॥ 216॥

शब्दार्थ—मन दश=दस मन, दसों इन्द्रियों के मानसिक विकार। राक्षस=क्रूर प्राणी। बेलरी=बेलि, लता। मूल=जड़। निकन्दिया=नष्ट किया। हलाहल=भयंकर विष।

भावार्थ—हत्यादि पापकर्म करके चित्त के चंचल, मन के कपटी और स्वभाव के चोर ये तीन लोग तीर्थ करने गये, परन्तु ये अपने किये हुए एक पाप को भी तो काट नहीं सके, बल्कि दस मन पाप और लाद लिये, क्योंकि तीर्थों के बल पर इनको पाप करने की छूट मिल गयी, अथवा तीर्थों में जाकर इनके दसों इन्द्रियों से उत्पन्न मानसिक विकार बढ़ गये॥ 214॥ ऐसे लोग जो तीर्थ में गये वे मानो ठंडे पानी में नहाकर और अपने पाप के प्रवाह में बहकर मर गये। सद्गुरु कहते हैं कि हे संतो! ऐसे कुकर्मी लोग तामसी योनि में जाकर दुख भोगते रहेंगे॥ 215॥ मिथ्या महिमा से मंडित तथा पाप काटने के ठेकेदार बने तीर्थ विष की लता हो गये, और बहुत काल से मनुष्यों के मन पर छाये हुए हैं। विवेकियों ने तो इसकी जड़ ही खोदकर नष्ट कर दी है, क्योंकि विष खाकर कौन मरे! अर्थात तथाकथित तीर्थों के धोखे में कौन पाप करे!॥ 216॥

व्याख्या—भारत की प्राचीनतम पुस्तक ऋग्वेद[1] में तीर्थ शब्द आया है जिसका अर्थ पथ एवं सड़क है। संस्कृत कोशकार भी तीर्थ का पहला अर्थ मार्ग, सड़क, रास्ता, घाट[2] करते हैं। सम्भवतः वैदिक युग में तीर्थों का निर्माण नहीं हुआ था। भारतरत्न महामहोपाध्याय डॉ. वामन काणे ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में लिखा है कि तीर्थ तीन विशेषताओं को लेकर निर्मित होते हैं—"स्थल की कुछ आश्चर्यजनक प्राकृतिक विशेषताओं के कारण, या किसी जलीय स्थल की अनोखी रमणीयता के कारण, या किसी तपःपूत ऋषि या

1. ऋग्वेद 1/169/6; 1/173/11; 4/29/3।
2. वामन शिवराम आप्टेकृत संस्कृत-हिन्दी कोश।

मुनि के वहां (स्नान करने, तप-साधना करने आदि के लिए) रहने के कारण।"[1] सार यह है कि नदी-पर्वत आदि की विलक्षण प्राकृतिक छटा की भूमि एवं महापुरुषों की जन्म एवं कर्मस्थली पवित्रस्थल मान लिये जाते हैं और उन्हें पीछे तीर्थ कहा जाने लगता है। किसी समुद्र, नदी, नदियों के संगम, पर्वत आदि के पास जाने पर मन प्रसन्न होता है और युगपुरुष तथा पवित्र पुरुषों की जन्मस्थली एवं तपःस्थली पर जाने पर मन को सत्प्रेरणा मिलती है। अतः ऐसे स्थलों को तीर्थ नाम देकर वहां जाना-आना अच्छा है। भारत के भिन्न-भिन्न कोनों में हमारे पूर्वजों ने तीर्थ कायम किये थे जिससे लोग कभी-कभी वहां की यात्रा करें। इससे उनमें ज्ञान बढ़ेगा, त्याग बढ़ेगा, घर-परिवार का मोह घटेगा, दान-परोपकार में रुचि बढ़ेगी, अपने देश के विभिन्न वर्गों के मनुष्यों, बोलियों, रीति-रिवाजों, धार्मिक संस्कारों, कमजोरियों एवं अच्छाइयों का ज्ञान होगा, राष्ट्रीय भावना बढ़ेगी। लगेगा कि हम अनेक वर्गों, संस्कारों, बोलियों आदि में विभाजित होकर भी एक हैं। अतएव इन सब दृष्टिकोणों को लेकर देश का पर्यटन हर देशवासी को करना चाहिए। पर्यटन स्थलों पर जो यात्रियों को रहने, बसने, सुरक्षा आदि की सुविधा दें, यात्रियों को उन्हें पारिश्रमिक भी देना चाहिए। इन दृष्टिकोणों से तीर्थ कहे जाने वाले स्थानों का भ्रमण करना अच्छा है।

परन्तु तीर्थों की दशा बहुत बिगड़ गयी है। तीर्थों के पंडित-पुजारी एवं पंडों ने पुराकाल से ही तीर्थों की महिमा अतिशयोक्तिपूर्वक बढ़ा डाली है। 'धर्मशास्त्र का इतिहास' लिखने वाले डॉ. वामन काणे लिखते हैं—"तीर्थों में स्थायी रूप से रहने वाले विशेषतः तीर्थ-पुरोहितों (पण्डों) ने दान-लाभ से उत्तेजित होकर संदिग्ध प्रमाणों से युक्त बहुत-से माहात्म्यों का नाम जोड़ दिया।[2]...पुराणों, माहात्म्यों एवं निबंधों के लेखकों में एक मनोवृत्ति यह भी रही कि वे बहुत बढ़ा-चढ़ाकर अतिशयोक्तिपूर्ण विस्तार करते हैं। यदि कोई व्यक्ति किसी एक तीर्थ के ही विषय में पढ़े और उसके विषय में उल्लिखित प्रशस्तियों पर ध्यान न दे तो वह ऐसा अनुभव कर सकता है कि एक ही तीर्थ की यात्रा से इस जीवन एवं परलोक में उसकी सारी अभिलाषाएं पूर्ण हो सकती हैं और काशी-प्रयाग जैसे तीर्थों में जाने के उपरांत उसे न तो यज्ञ करने चाहिए, और न दान आदि अन्य कर्म करने चाहिए। कुछ अनोखे उदाहरण यहां दिये जा रहे हैं। वनपर्व (82/26-27) में यहां तक आया है कि देव लोगों एवं ऋषि लोगों ने पुष्कर में सिद्धि प्राप्त की और जो भी कोई वहां स्नान करता है एवं श्रद्धापूर्वक देवों एवं अपने पितरों की पूजा करता है

---

1. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 3, पृ. 1301।
2. वही, पृ. 1309।

वह अश्वमेध करने का दस गुना फल पाता है। पद्मपुराण (5वां खण्ड, 27/78) ने पुष्कर के विषय में लिखा है कि उससे बढ़कर संसार में कोई अन्य तीर्थ नहीं हैं। वनपर्व (83/145) ने पृथूदक की प्रशस्ति करते हुए कहा है कि कुरुक्षेत्र पुनीत है, सरस्वती कुरुक्षेत्र से अधिक पुनीत है और पृथूदक सभी तीर्थों में उच्च एवं पुनीत है। मत्स्यपुराण (186/11) ने कतिपय तीर्थों की तुलनात्मक पुनीतता का उल्लेख यों किया है—'सरस्वती का जल तीन दिनों के स्नान से पवित्र करता है, यमुना का सात दिनों में, गंगा का जल तत्क्षण, किन्तु नर्मदा का जल केवल दर्शन से ही पवित्र करता है।' वाराणसी की प्रशस्ति में कूर्मपुराण (1/31/64) में आया है—'वाराणसी से बढ़कर कोई अन्य स्थल नहीं है और न कोई ऐसा होगा ही।' अतिशयोक्ति करने की बद्धमूलता इतनी आगे बढ़ गयी कि लोगों ने कह दिया कि आमरण काशी में निवास कर लेने से न केवल ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त हो जाता है, प्रत्युत वह जन्म-मरण के न समाप्त होने वाले चक्र से भी बच जाता है और पुनः जन्म नहीं लेता। यही बात लिंगपुराण (1/92/63 एवं 94) ने भी कही है। वामनपुराण में आया है—चार प्रकार से मुक्ति प्राप्त हो सकती है; ब्रह्मज्ञान, गयाश्राद्ध, छीनकर या भगाकर ले जायी जाती गायों को बचाने में मरण, कुरुक्षेत्र में निवास। जो कुरुक्षेत्र में मर जाते हैं वे पुनः पृथ्वी पर लौटकर नहीं आते। काशी में निवास मात्र की इतनी प्रशंसा के विषय में मत्स्यपुराण (181/23), अग्निपुराण (112/3) एवं अन्य पुराणों ने इतना कह डाला है कि काशी में जाने के उपरांत व्यक्ति को अपने पैरों को पत्थर से कुचल डालना चाहिए (जिससे कि वह अन्य तीर्थों में न जा सके) और सदा के लिए काशी में ही रह जाना चाहिए।"[1] वामन काणे जी आगे लिखते हैं—"धर्मशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों में तीर्थ पर जो साहित्य है वह अपेक्षाकृत सबसे अधिक विशद है। वैदिक साहित्य को छोड़कर महाभारत एवं पुराणों में कम से कम 40,000 (चालीस हजार) श्लोक तीर्थों, उपतीर्थों एवं उनसे संबंधित किंवदंतियों के विषय में ही प्रणीत हैं।"[2]

पुराणों में तीर्थों की इतनी महिमा बढ़ायी गयी कि आदमी चाहे जितना पाप करे, परन्तु तीर्थ में जाने, नदी-स्नान करने एवं देव-दर्शन से सब पाप कट जाते हैं। कहा गया कि—"नर्मदा का नाम लेने से एक जन्म का पाप कटता है, उसके दर्शन करने से तीन जन्मों का तथा उसमें स्नान करने से तो हजारों जन्मों का पाप भस्म हो जाता है। सैकड़ों योजन दूर से ही गंगा का

---

1. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 3, पृष्ठ 1309-1310।
2. वही, पृष्ठ 1318।

नाम लेने से तीन जन्मों का पाप नष्ट हो जाता है।"[1] वनपर्व में कहा गया— "ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तीर्थ में स्नान करने से फिर जन्म नहीं लेते। इतना ही नहीं, स्त्री हो या पुरुष, उसने जीवन में जितना भी पाप किया हो पुष्कर में स्नान करने से वे सब नष्ट हो जाते हैं॥[2]

गोस्वामी जी ने कहा—

आकर चारि जीव जग अहहिं। कासी मरत परम पद लहहीं॥
जो गति अगम महामुनि गावहिं। तव पुर कीट पतंगहु पावहिं॥
जो रामेश्वर दर्शन करिहहिं। सो तनु तजि ममलोक सिधरिहहिं॥
जो गंगा जल आनि चढ़ाइहिं। सो सायुज्य मुकुति नर पाइहिं॥
मम कृत सेतु जो दरसनु करिही। सो बिनु श्रम भवसागर तरिही॥
चारि खानि जग जीव अपारा। अवध तजे तन नहिं संसारा॥

अर्थात "चारों खानि के देहधारी काशी में मरने से मुक्ति पाते हैं। जिस मुक्तिगति को महान मुनिजन अगम बताते हैं उसे आपके नगर में कीटपतंग भी पा जाते हैं। जो रामेश्वर के दर्शन करेगा वह शरीर छोड़कर मेरे धाम (स्वर्ग) में पहुंचेगा। जो व्यक्ति रामेश्वर में गंगा जल लाकर चढ़ायेगा वह सायुज्य मुक्ति पायेगा। यहां तक मेरे द्वारा निर्मित सेतु के जो दर्शन करेगा वह बिना परिश्रम के ही भवसागर पार हो जायेगा। चार खानि के अपार जगज्जीव अयोध्या में शरीर छोड़कर मुक्त हो जाते हैं।" यह है कविकुल भूषण गोस्वामी तुलसीदास जी की घोषणा। गोस्वामी जी ने सभी पुराणों से अपना पुराण आगे बढ़ा दिया।

तुलसी कबीर के बाद हुए हैं। कबीर के युग में जो तीर्थों की मिथ्या महिमा करके संसार के लोगों को गुमराह किया जा रहा था, उससे कबीर को बड़ी पीड़ा हुई। सारे पाप करके तीर्थों में जाने से सब पाप कट जाते हैं यह मान्यता तो मनुष्य के पापों को बढ़ाने वाली हुई। सद्‌गुरु कहते हैं कि चित्त के चंचल, मन के कपटी तथा स्वभाव के चोर लोग तीर्थों में जाकर पाप तो एक भी नहीं काट पाते हैं, उलटे ऊपर दस मन पाप ही लादते हैं। यहां दस मन लक्षणा अर्थ में पाप की अधिकता का द्योतक है, या दसों इन्द्रियों के पाप का बढ़ाना भी अर्थ किया जा सकता है।

---

1. विष्णु पुराण (2/8/121), कबीर दर्शन, अध्याय 1, तीर्थ।
2. ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा वा राजसत्तम।
   न वै योनौ प्रजायन्ते स्नातास्तीर्थे महात्मनः॥ 30-31॥
   जन्मप्रभृति यत् पापं स्त्रिया वा पुरुषेण वा।
   पुष्करे स्नातमात्रस्य सर्वमेव प्रणश्यति॥ 33-34॥ (महाभारत, वनपर्व, अध्याय 82)

"तीरथ गये ते बहि मुये" हत्यादि पाप कर उसके काटने के चक्कर में जो तीर्थों में जाते हैं और जूड़े पानी में नहाते हैं वे मानो अपने पापों में बहकर मरते हैं। साहेब कहते हैं कि ऐसे लोग राक्षस होकर पश्चाताप करते हैं। अर्थात हिंसा राक्षसी कर्म है, उसे करते हैं, परन्तु पापों से छूटने के लिए तीर्थों का सहारा ढूंढ़ते हैं। ऐसे लोगों को आज जीवन में तथा भविष्य में भी केवल पछताना पड़ेगा। हिंसा करने वाला आज ही राक्षस है और वह आगे भी उसके परिणाम में तामसी योनि में जाकर दुख भोगेगा।

ऊपर 212 से 213वीं साखी में सद्गुरु ने हिंसावृत्ति वालों को चेतावनी दी है कि तुम हिंसादि पाप करके उसके फल से छूटने के लिए जो दान, पुराणश्रवण एवं तीर्थ आदि का आधार लेते हो, वह तुम्हारा अपने आपके साथ छलावा है। तुम जीवहत्या के पाप से दान, पुराणश्रवण एवं तीर्थ-सेवन करके बच नहीं सकते। अतः हिंसावृत्ति का त्याग करो। इसी क्रम में सद्गुरु ने उन्हें जोरदार शब्दों में 214 से 216वीं साखियों में लताड़ा है जो हिंसादि पापकर्म बराबर करते जाते हैं और सारे पाप तीर्थसेवन करके काटने का ढोंग भी करते जाते हैं। इस तथ्य को न समझकर एक ग्रन्थचुम्बक ने मिथ्या प्रलाप किया है कि कबीर ने तो यहां तीर्थयात्रियों को राक्षस होना बताया है। विष्णुपुराण में कहा गया है कि जो अपने कर्तव्यकर्मों का परित्याग कर केवल कृष्ण-कृष्ण जपते रहते हैं वे हरिद्वेषी और पापी हैं, क्योंकि कृष्ण ने धर्म-कर्म के लिए ही जन्मधारण किया था।[1] अब इसमें कोई अपने अल्पज्ञतावश यह कहे कि विष्णुपुराण के लेखक ने तो कृष्ण-नाम जपने वाले को हरिद्वेषी और पापी कहा है, तो यह कहने वाले की बुद्धि की महिमा है। किस संदर्भ में बात कही गयी है इसका विचार किये बिना उस पर समीक्षा करना अपना छिछलापन है। अतएव उक्त साखियों में सामान्य तीर्थयात्रियों को राक्षस होने की बात नहीं कही गयी है, किन्तु तीर्थों की मिथ्या महिमाओं के बल पर पाप कटने के धोखे में हिंसा करते रहने वालों के लिए ये साखियां कही गयी हैं।

तीर्थों की महिमा करने वाले भी जब तीर्थों से घबराये हैं तब उन्होंने कहा है—"सत्य, क्षमा, इन्द्रियसंयम, दया, ऋजुता, दान, आत्मनिग्रह, संतोष, ब्रह्मचर्य, मृदुवाणी, ज्ञान, धैर्य और तप तीर्थ हैं और सर्वोच्च तीर्थ मनशुद्धि है। उनमें यह भी आया है कि जो लोभी, दुष्ट, क्रूर, प्रवंचक, कपटाचारी, विषयासक्त हैं वे सभी तीर्थों में स्नान करने के बाद भी पापी एवं अपवित्र रहते हैं। क्योंकि मछलियां जल में जन्म लेती हैं, वहीं मर जाती हैं; परन्तु स्वर्ग को नहीं जातीं, क्योंकि उनके मन पवित्र नहीं होते। यदि मन शुद्ध नहीं

---

1. अपहाय निजं कर्म कृष्णकृष्णेति वादिनः।
ते हरिद्वेष्णः पापाः धर्मार्थं जन्म यद्धरेः ॥ विष्णुपुराण ॥

है तो दान, यज्ञ, तप, स्वच्छता, तीर्थयात्रा एवं विद्या को तीर्थ का पद नहीं प्राप्त हो सकता।"[1]

तीर्थों की अति महिमा करने वाले गोस्वामी तुलसीदासजी जब तीर्थों के पण्डे-पुजारियों के अत्याचार देखकर घबराये तब उन्होंने भी कहा—"देवमन्दिरों, तीर्थों और पुरियों में निर्लज्जतापूर्वक निपट दुष्कर्म हो रहे हैं। मानो कलिकाल अपनी पूरी फौज सहित वहां किला रोपकर जमा है।"[2]

कुछ आदमी गंगा स्नान करने जा रहे थे। जिस ट्रेन में वे चल रहे थे, एक महात्मा भी आकर बैठ गये। वे लोग सिगरेट पीने लगे। संत ने कहा कि जब तक आप तीर्थयात्री हैं जब तक तो सिगरेट न पीयें। उन्होंने कहा कि हम लोग तो शराब भी पीते हैं और पता नहीं क्या-क्या उलटा-सीधा करते हैं। हम जितना पाप वर्ष में करते हैं एक बार गंगा में नहा लेते हैं और वे सारे पाप कट जाते हैं। महात्मा ने गंगा से पूछा। गंगा ने कहा कि मैं किसी का पाप अपने पास नहीं रखती, नहीं तो मैं सूख जाती। मैं तो नहाने वालों के सारे पाप अपनी धारा के साथ समुद्र में पहुंचा देती हूं। समुद्र से पूछने पर उसने कहा कि मैं बादलों को पाप सौंप देता हूं; क्योंकि मेरा पानी सूरज की गरमी तथा हवा से हरदम भाप बनता है और भाप ही बादल बनता है। महात्मा ने बादलों से पूछा। बादलों ने कहा कि हम पापियों के पाप अपने पास रखें तो भस्म हो जायेंगे, इसलिए जिनके पाप रहते हैं हम उन्हीं पर उन्हें बरसा देते हैं।

नदी, समुद्र, बादल आदि तो जड़ हैं। वे बात क्या करेंगे! तात्पर्य यह है कि तीर्थों में नहाने से न पाप कटते हैं, न मोक्ष होता है। ये सब बातें तो पण्डे-पुजारियों की पेटपूजा के लिए गढ़ी गयी महिमाएं हैं। हां, देशाटन, महापुरुषों के दर्शन एवं सत्संग के लिए देश के विभिन्न स्थलों एवं तीर्थ कहे जाने वाले स्थानों में जाना चाहिए।

माया की जड़ काटो

ये गुणवन्ती बेलरी, तव गुण बर्णि न जाय॥
जर काटे ते हरियरी, सींचे ते कुम्हिलाय॥ 217॥

शब्दार्थ—गुणवन्ती=गुणवाली। बेलरी=बेलि, लता, मनोवृत्ति। तव

---

1. सत्यं तीर्थं क्षमा तीर्थं...तीर्थानामुत्तमं तीर्थं विशुद्धिर्मनसः पुनः॥...जायन्ते च म्रियन्ते च जलेष्वेव जलौकसः। न च गच्छन्ति ते स्वर्गमविशुद्धमनोमलाः॥...दानमिज्या तपः शौचं तीर्थसेवा श्रुतं तथा। सर्वाण्येतान्यतीर्थानि यदि भावो न निर्मलः॥ स्कन्दपुराण (काशीखंड 6/28-45), पद्मपुराण (उत्तरखंड 237/11-28), मिलाइए मत्स्यपुराण (22/80—सत्यं तीर्थं दया तीर्थम्...)। धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 3, पृ. 1308।
2. सुर सदनन तीरथ पुरिन, निपट कुकाज कुलाज।
   मनहु मवासे मारि कलि, राजत सहित समाज॥ दोहावली॥

गुण=तुम्हारी महिमा। हरियरी=हरीभरी, प्रसन्न। कुम्हिलाय=मुरझा जाना, दुखी होना।

भावार्थ—हे गुणवती लता मनोवृत्ति! तुम्हारी महिमा अपरम्पार है। उसका कोई वर्णन नहीं कर सकता। तुम्हारी विषयासक्ति एवं अहंता-ममतारूपी जड़ काट देने से तू प्रसन्न एवं सुखी होती है और यदि भोगों से तू सींची जाये, तो मलिन होकर दुखी हो जाती है॥ 217॥

व्याख्या—'गुणवन्ती बेलरी' त्रिगुणात्मिका माया है और वह है मनोवृत्ति। मन की मान्यता, भौतिक पदार्थों एवं परोक्ष कल्पनाओं में अहंता-ममता उसकी जड़ है। जीव अपने स्वरूप के अलावा जो कुछ मान लेता है वही माया बन जाता है। उसकी जड़ है अहंता-ममता। विजाति पदार्थों एवं परोक्ष मान्यताओं में अहंता-ममता करने से माया बलवती होती है अर्थात मन का मोह प्रबल होता है। मनोवृत्ति ही माया है जिसके दो रूप हैं एक बंधनप्रद और दूसरा मोक्ष में सहायक। यह मनोवृत्ति ही तो है जो नाना विषयों में रागवती बनती है और यह भी मनोवृत्ति ही है जो वैराग्य, स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति में रमती है। हमारी मनोवृत्ति तब माया बनती है जब उसके मूल में विजाति पदार्थों के प्रति या परोक्ष कल्पनाओं के प्रति अहंता-ममता बनती है, और नाना मान्यताओं का जाल बिछता है। इसे काट दिया जाये, अर्थात अहंता-ममताओं एवं मान्यताओं को छिन्न कर दिया जाये तो मनोवृत्ति प्रसन्न, सुखी एवं संतुष्ट हो जाती है और यदि इसे भोगों तथा नाना कल्पनाओं से सींचा जाये तो यह दुखी होती है।

कवि-कुल-भूषण कबीर की वाणियों की पंक्ति-पंक्ति में अलंकारों का सुंदर प्रयोग है। इस साखी में भी गुणवन्ती लता का सुन्दर रूपक है और विरोधाभास अलंकार का प्रयोग है। विरोधाभास अलंकार उसे कहते हैं जहां सचमुच विरोध न होकर केवल विरोध का आभास होता है। जड़ काटने से लता का हरा-भरा होना और सींचने से मुरझा जाना चौंकाने वाली बात है। कबीर साहेब बीच-बीच में उलटवांसी तथा विरोधाभास की बातें कह-कहकर अपने पाठकों एवं श्रोताओं को चौंकाते रहते हैं। इससे पाठक एवं श्रोता को उनके उपदेशों में रुचि तो जगती ही है, साथ-साथ आशय समझ जाने पर कथन के चुटीलेपन के कारण मन में तीव्र संवेदना एवं चेतावनी के उद्रेक होते हैं।

हम इस साखी को सरलता से समझें तो अर्थ होगा कि अहंता-ममता को नष्ट कर देने से ही मनुष्य की मनोवृत्ति संतुष्ट हो सकती है और यदि अहंता-ममता को सींचा गया तो मनोवृत्ति मलिन होकर सदैव दुखी रहेगी।

पूर्व की साखियों में मिथ्या महिमा से मंडित तीर्थों को विष की लता कहा

गया था, परन्तु प्रस्तुत साखी में 'गुणवन्ती बेलरी' से ध्वनित माया-लता केवल तीर्थों की मान्यता तक सीमित नहीं है। इस साखी में मनोवृत्ति मात्र लता है। मनुष्य की मनोवृत्ति प्रसन्न है या मलिन है, यही तो जीवन की सफलता या असफलता का रहस्य है। भौतिक अनुकूलताओं से जो मनुष्य का मन प्रसन्न होता है, वह क्षणिक है। क्योंकि भौतिक स्थितियां परिवर्तनशील हैं, इसलिए उन पर अवलंबित प्रसन्नता एकरस नहीं रह सकती। मनुष्य की आत्मा अपरिवर्तित तथा एकरस है, इसलिए अपनी आत्मा पर अवलंबित प्रसन्नता एकरस रहती है। वस्तुनिष्ठ सुख तथा आत्मनिष्ठ सुख में बड़ा अंतर है। वस्तुनिष्ठ सुख क्षणिक है और आत्मनिष्ठ सुख अनन्त है।

माया की जड़ काटने से ही मनोवृत्ति चिरंतन सुखी हो सकती है। माया की जड़ सींचने से मनोवृत्ति दुखों में डूबी रहने के अलावा कुछ नहीं होगा। जो जितना दुनिया के राग-रंग में डूबेगा वह उतना ही दुखी रहेगा, और जो जितना ही इससे विरत रहेगा वह उतना सुखी रहेगा। समस्त सांसारिक उपलब्धियां विनश्वर हैं। उनमें अपने मन को रमाना पीड़ा को निमंत्रण देना है। निर्भयतापूर्वक सारी अहंताओं को काट देना ही सुख के सागर में पहुंचना है।

इस साखी में लता, जड़, काटना, सींचना, हरा-भरा होना, कुम्हलाना आदि रूपक एवं अलंकार हैं जो विषय-वस्तु के समझने में सहयोग करते ही हैं, कथन को रोचक भी बनाते हैं और विरोधाभास कथन तो पाठक के मन को और खींचता है।

बेलि कुढंगी फल बुरो, फुलवा कुबुधि बसाय॥
ओर विनष्टी तूमरी, तेरो सरोपात करुवाय॥ 218॥

शब्दार्थ—बेलि=लता, माया, मनोवृत्ति। कुढंगी=कुपथगामी। बसाय=बदबू करता है, दुर्गन्ध करता है। ओर=आरम्भ, शुरुआत। तूमरी=तुमड़ी। सरोपात=संपूर्ण पत्ते। करुवाय=कड़वे एवं तीखे लगना।

भावार्थ—मनोवृत्तिरूपी माया-लता विपथगामिनी है, इसलिए इसका फल बुरा होना ही है, क्योंकि इसके कुबुद्धिरूपी फूल पहले से ही दुर्गन्ध देते हैं। हे कड़वी-तुमड़ी माया! जहां से तेरा आरम्भ होता है, तू उस जीव का ही पतन करती है। तेरे संपूर्ण कर्मरूपी पत्ते कड़वे हैं॥ 218॥

व्याख्या—इस साखी में भी रूपकों तथा अलंकारों का घटाटोप है। बेलि, फल, फूल, तुमड़ी, पत्ते और इनका विपथगामी होना, दुर्गन्ध देना, अपने जनक का विनाशक होना तथा कड़वा होना—ये सब विषय-वस्तुओं को समझने में सरलता उत्पन्न करते हैं।

मनुष्य की मनोवृत्ति ही माया-बेलि है जो कुढंगी अर्थात विपथगामिनी

है। जब मनोवृत्ति विपथगामिनी होगी तब उसका फल बुरा होना ही है। कुबुद्धि फूल है जो दुर्गन्ध से पूर्ण है। कुबुद्धि से कुकर्म तथा कुकर्म से कुफल यह प्रकृति का विधान है। "बेलि कुढंगी, फल बुरो, फुलवा कुबुधि बसाय, ओर विनष्टी, सरोपात करुवाय" ये सभी वचन चुभने वाले हैं। पहली बात है कुबुद्धि के फूल, जो दुर्गन्ध देते हैं। फूल से ही फल होते हैं। कुबुद्धि फूल है, उससे कुकर्म होते हैं। कुबुद्धि की दुर्गन्धी मनुष्य को निरंतर सड़ाती है। कुबुद्धि की दुर्गन्धी दूर-दूर तक फैल जाती है। रावण की कुबुद्धि थी परस्त्री में विमोहित होकर उसका हरण कर लेना और हितचिन्तकों द्वारा समझाये जाने पर भी उसे न लौटाना, युधिष्ठिर की कुबुद्धि थी जुआ खेलना और उसमें भाई-पत्नी सहित स्वयं को हार जाना। दुर्योधन की कुबुद्धि थी पांडवों के बारह वर्ष वनवास तथा एक वर्ष अज्ञातवास की शर्त को पूरा कर देने पर भी उन्हें उनका राज्य न लौटाना, कृष्णवंशी यादवों की कुबुद्धि थी शासनबल, जनबल, धनबल, शरीरबल आदि के नशे में शराबी-कबाबी होकर आपस में एक-दूसरे की अवहेलना करना। इन सब कुबुद्धियों का फल क्या हुआ? यह सब जानते हैं कि इनका सर्वनाश हुआ। ये तो बड़े-बड़े नाम हैं जिनके इतिहास बन गये हैं। छोटे-छोटे नाम सर्वसामान्य हैं जो सर्वत्र कम-बेश अपनी दुर्गन्धी फैलाते हैं। कुबुद्धि ऐसा फल है जिसमें केवल दुर्गन्धी है। कुबुद्धि से ही मनुष्य की मनोवृत्तिरूपी बेलि कुपथ में चलती है। उसमें कड़वे कर्मरूपी पत्ते लगते हैं और तीखे फल फलते हैं।

पर-निंदा, ईर्ष्या, क्रोध, वैर, लड़ाई-झगड़े, व्यभिचार, चोरी, हत्या, अभक्ष्य-भक्षणादि दुर्बुद्धि के प्रकाश हैं। दुर्बुद्धि के कारण ही मनुष्य जीवनभर राग-द्वेष की आग में जलते हैं। वे समझते हैं कि हम इस संसार में सदैव रहेंगे और ये जो धन, भवन, स्वजन आदि मिले हैं, इनका सदैव उपभोग करेंगे। कुबुद्धि के कारण मनुष्य की मनोवृत्ति सदैव अनर्थ में भटकती है। इससे मनुष्य बुरे कर्म कर उसके कड़वे फल चखता है। जीवन में आदमी कितना धन कमाया तथा कितने जनसमूह को अपना अनुगामी या साथी बनाया, कितना प्रसिद्ध हुआ इन सबका कोई मूल्य नहीं है। इन सब में उसके जीवन का कोई महत्त्व नहीं है। जीवन का महत्त्व है सद्बुद्धि, संयत मनोवृत्ति एवं विवेकपूर्ण कर्म में। इन्हीं सब से जीवन में मधु इकट्ठा होता है। आदमी कितने कीमती भोजन, वस्त्र, वाहन, भवन आदि का उपयोग करता है इससे उसके जीवन के सार का मूल्यांकन नहीं होता, किन्तु उसका मूल्यांकन इससे होता है कि उसके मन, बुद्धि एवं कर्म कितने संयत, शुद्ध और शांत हैं।

सद्गुरु ने माया को "ओर विनष्टी तूमरी" कहा है। मनोवृत्ति ही तो माया है और इसका 'ओर' अर्थात आरम्भ जीव ही है। यह जीव ही तो मनोवृत्ति

का जनक है और यह उसी का पतन करती है। जीव अपनी ही मलिन मनोवृत्तियों से पतित होता है। परन्तु यही मनोवृत्ति यदि पवित्र हो जाये तो जीव का कल्याणकारक हो जाये। जैसे पानी मनुष्य की असावधानी से डुबाता है, परन्तु यदि तैरना जाने तो पानी तैरने में सहयोग करता है, इसी प्रकार मनोवृत्ति जीव को उसकी ही असावधानी से डूबाती है और यदि साधक सावधान है तो उसके मोक्ष में सहायक होती है।

मन का स्वरूप

पानी ते अति पातला, धूवाँ ते अति झीन॥
पौनहु ते उतावला, सो दोस्त कबीरन कीन॥ 219॥

शब्दार्थ—कबीरन=जीवों ने।

भावार्थ—जो पानी से अत्यंत पतला है, धुआं से बहुत बारीक है और वायु से अधिक चंचल है, ऐसे मन से जीवों ने मित्रता की है॥ 219॥

व्याख्या—पानी, धुआं और वायु तो वस्तु हैं, परन्तु मन कोई वस्तु नहीं। यह देखे, सुने और भोगे हुए विषयों के संस्कारों का समुच्चय मात्र है। ऊपर की साखियों में मनोवृत्तिरूपी माया-लता का वर्णन है। उसी मन की सूक्ष्मता एवं चंचलता का इस साखी में दिग्दर्शन कराया गया है।

मन एक ऐसा साधन है जिसके बिना कोई काम नहीं हो सकता। जैसे कुल्हाड़ी में लकड़ी का बेंट लगाकर तब लकड़ियां काटी जाती हैं, वैसे मन को लेकर ही मन का निग्रह किया जाता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेषादि मन के आधार में उठते हैं, तो भक्ति, विवेक, वैराग्यादि भी मन के आधार में ही रहते हैं। मन के उपस्थित हुए बिना न बुरा काम होता है और न भला काम। मन न होता तो भवसागर न होता। इस मन ने ही भवसागर बनाया है और इस मन के द्वारा ही भवसागर सुखाया जा सकता है। किसी विद्वान ने ठीक ही कहा है कि मन मनुष्य के बंधन और मोक्ष का कारण है।[1] विषयासक्त मन मनुष्य के लिए बंधन बनाता है और निर्विषय मन बंधनों से मुक्त करता है। मन न होता तो प्रपंच ही न होता यह सच है, परन्तु मन है ही और उसके द्वारा रचा हुआ प्रपंच भी है ही, तो अब विवेकवान का काम है कि वह उस मन को लेकर मन के प्रपंचों को शांत कर दे।

मनुष्य अविवेकवश मन की चंचलता ही में आनन्द मानता है। परन्तु मन की चंचलता में खुजली-जैसा आनन्द है जो क्षणिक है और उसके पीछे

---

1. मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

केवल जलन है। इसी प्रकार मनुष्य अपने मन को विषयों में लगाकर उसे चंचल करता है। मनुष्य की रजोगुणी वृत्ति के कारण उसे विषयों में आनन्द लगता है, परन्तु वह अत्यन्त क्षणिक है और उसके परिणाम में मन की घोर अशांति है। मन की चंचलता और चहल-पहल में ही रजोगुणी व्यक्ति आनन्द मानता है। मन की शांति में उसे शून्यता, निराशा और निरर्थकता लगती है। परन्तु यह तो विवेकवान ही समझते हैं कि जब मन निर्विचार होकर शांत हो जाता है तब जीवन के कितने दिव्य क्षण होते हैं। लौकिक दृष्टि में विस्तार विकास है और आध्यात्मिक दृष्टि में विस्तार समाप्त कर देना जीवन के उच्चतम शिखर पर पहुंचना है। विस्तार में मन केन्द्र छोड़कर बाहर तैरता है, और विस्तार समाप्त हो जाने पर केन्द्र में आकर शांत हो जाता है। विस्तार मान्यताओं का लोक है और केन्द्र व्यक्ति का निजस्वरूप है, जो शुद्ध चेतन है, आत्मा है, जीव है। विस्तार में चहल-पहल अवश्य है, परन्तु उसमें विश्राम नहीं है। मन जब केन्द्र में लौट आता है, अर्थात स्वरूपस्थ हो जाता है, तब सारी चहल-पहल समाप्त हो जाती है, और उसे वहां परम विश्राम मिल जाता है। कम-बेश, हानि-लाभ, संयोग-वियोग, शत्रु-मित्र, सुख-दुख, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि सब मन के ही प्रपंच हैं। ये सारे प्रपंच न होते तो मेरा क्या नुकसान होता! वस्तुतः इन प्रपंचों में पड़ा रहना ही अपना नुकसान है। इनसे मुक्त हो जाना ही अपना सच्चा फायदा है।

कैसा आश्चर्य है कि जीव अनादिकाल से मन के प्रपंचों में दौड़ते-दौड़ते और उसमें सारी दुर्गति सहते-सहते आज भी उससे नहीं थकता है। मन के विस्तार में पड़कर उन्हीं-उन्हीं मलिन विषयों को असंख्य बार भोग चुके हैं और असंख्य बार पश्चाताप कर चुके हैं, फिर भी मनुष्य न जागे तो क्या उपाय! जिन विषयों में आज तक विश्राम न मिला, उनमें आगे कैसे विश्राम मिल जायेगा!

मन ही जीव के सामने सारे संसार को उपस्थित करता रहता है। यदि मन शांत हो जाये तो जीव के लिए मानो संसार शांत हो जाये। मन की गति सूक्ष्म है। वह मानो जीव को परमार्थ से घुमाकर स्वार्थ में तथा ज्ञान से हटाकर विषयों में लगा देता है। परन्तु बिलकुल ऐसी बात है नहीं। वस्तुतः हमारी आदतें बिगड़ी हैं। हम विषयों के रागी हैं, इसलिए बारम्बार उसकी तरफ फिसल जाते हैं। फिसलने में मन सहायक मात्र बनता है। यदि हमें पूर्ण ज्ञान तथा विषयों से वैराग्य हो जाये तो मन निवृत्ति में सहायक बनेगा। रागात्मक दशा में मन जितना चंचल रहता है, पूर्ण ज्ञान-वैराग्य दशा हो जाने पर मन उतना ही स्थिर हो जाता है। जो मन अज्ञानदशा में एक क्षण स्थिर नहीं होता, वही ज्ञानदशा में चंचल नहीं होता। मन जब समाधि तथा शांति सुख का रस

चख लेता है, तब उसे विषय-रस फीके एवं तुच्छ हो जाते हैं। जो मन कभी स्थिर नहीं होता था, वही मन स्वरूपस्थिति की पूर्ण परिपक्वता में समाधि एवं शांति-सुख से हटना नहीं चाहता। प्रशांत मन वाले साधक को अपने मन को कोच-कोचकर जगाना पड़ता है। उसे व्यवहार में लगाना पड़ता है। क्योंकि ज्ञानी-से ज्ञानी को भी जीवन का व्यवहार करना पड़ता है।

ज्ञानी आलसी नहीं होता। आलस्य के कारण कुछ करने का मन न होना बिलकुल अलग बात है। यह तो पतन का रास्ता है। ज्ञानी श्रमशील होता है। परन्तु उसका मन शांतिपरायण होता है। विवेकवान का मन गैसबत्ती में लगे हुए मेंथल के समान होता है जो वर्तमान में प्रकाश तो देता है, परन्तु जलकर राख हो चुका होता है। अतः वह उससे खोलकर दूसरी गैसबत्ती में नहीं लगाया जा सकता। अज्ञानदशा में मन जितना ही चंचल और पाजी रहता है ज्ञानदशा में उतना ही शांत एवं शुद्ध हो जाता है। अतएव मन वायु के समान चंचल है, यह पढ़-सुनकर घबराने की आवश्यकता नहीं है। यह तो सामान्य स्थिति का वर्णन है। मन साधना द्वारा शुद्ध, शांत एवं समाधिनिष्ठ बना लिया जा सकता है और यह सब करने में कठिनाई नहीं, किन्तु सरलता है, केवल सच्ची समझ तथा वैराग्य होना चाहिए।

जीव ही सर्वोच्च है

सतगुरु बचन सुनो हो सन्तो, मति लीजै शिर भार।
हो हजूर ठाढ़ कहत हौं, अब तैं सम्हर सँभार॥ 220॥

शब्दार्थ—मति=मत, नहीं। हजूर=हुजूर, उपस्थित, श्रीमान, स्वामी, श्रेष्ठतम। ठाढ़=खड़ा, दृढ़। सम्हार=समर, युद्ध अथवा संभलना, अपने आप को संयत करना। सँभार=संभालना, रक्षा करना।

ध्यान ही नहीं देते। कारण है "गुरु की भेली जिव डरे, काया सींचनहार। कुमति कमाई मन बसे, लाग जुवा की लार॥" मनुष्य तो भोगों से इन्द्रियों को सींचने वाला है। गुरु के वचन इसके विरोध में हैं, इसलिए वह उनसे दूर भागता है। वह तो कुबुद्धिपूर्वक कमाये हुए धन में अपना मन रखता है और उनका भोग करना चाहता है। उसे तो जुए की आदत की तरह विषयों की आदत लगी है। अतएव कल्याण का पहला द्वार है सद्‌गुरु के वचनों पर ध्यान देना, उन्हें सुनना तथा मनन करना। दूसरी बात है "मति लीजै शिर भार" सिर पर बोझा मत उठाओ। अनेक मान्यताओं का बोझा लेकर जीव पिस रहा है। यह पेड़, पहाड़, पानी, पत्थर, चांद, सूरज, हवा, आकाश तथा अनेक काल्पनिक अवधारणाओं को देवता मानकर उनके सामने घुटने टेक रहा है। मनुष्य की अविवेकवश मानो नियति ही हो गयी है जड़पिंडों एवं मन की अवधारणों को देवी-देवता मानकर उनके सामने गिड़गिड़ाना। इतना ही क्या, मनुष्य ने भूत-प्रेत, ग्रह-लग्न, दिशाशूल, मंत्र-तंत्र, शकुन-अपशकुन आदि अनेक भ्रांतियों को पाल रखा है। सद्‌गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य! तुम इन मिथ्या मान्यताओं का बोझा मत लादो। यदि पहले से लाद रखे हो तो उसे फेंक दो। तुम्हारी अपनी आत्मा के अलावा कोई ऐसी अदृश्य शक्ति नहीं है जो तुम्हारे ऊपर कोप या कृपा कर सके। तुम्हारे दुष्कर्म ही तुम्हारे ऊपर कोप बन जाते हैं तथा तुम्हारे सत्कर्म तुम्हारे ऊपर कृपा बन जाते हैं। अतएव तुम अपने कर्मों का सुधार कर लो, बस हो गया भजन!

"हो हजूर ठाढ़ कहत हौं" यह तीसरी बात सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं आंदोलनकारी है। कबीर देव कहते हैं कि मैं खड़ा होकर कह रहा हूं कि तुम खुद हुजूर हो। खड़ा होकर कहने का तात्पर्य है दृढ़तापूर्वक कहना। सद्‌गुरु कहते हैं कि मैं दृढ़तापूर्वक कहता हूं कि तुम स्वयं हुजूर हो, स्वामी हो, सम्राट हो, तुम स्वयं परमात्मा हो। हे मनुष्य! तुम किस परमात्मा को खोज रहे हो! तुम्हारे अलावा तुम्हारा कोई परमात्मा नहीं है। तुम अपने अविनाशी आत्मतत्त्व को न समझकर ही दर-दर भटक रहे हो। आश्चर्य है कि परमात्मा ही परमात्मा को खोज रहा है।

मनुष्य की मानसिकता है पूजने की। पूजना अच्छा है। मर्यादा में बड़े तथा पवित्र पुरुषों की पूजा करना या प्राणिमात्र का सत्काररूपी पूजा करना उत्तम है। परन्तु अपने आप में दीनता की मानसिकता बनाना बहुत गलत है। बेजान पिंडों तथा शून्य को पूजना और उनसे भोग तथा मोक्ष मांगना अपने आप का पतन करना है। जब स्वरूप का ज्ञान तथा कर्मफल भोग का बोध हो जाता है, तब कहीं रोने-गिड़गिड़ाने की आवश्यकता नहीं रह जाती। बोधवान पुरुष भोग और मोक्ष को अपने कर्म एवं श्रम का फल मानता है जो वास्तविकता है। सद्‌गुरु कहते हैं कि मनुष्य! तू अपनी श्रेष्ठता को समझ, अपने स्वरूप को पहचान,

अपनी महानता में प्रतिष्ठित हो।

चौथी बात है "अब तैं सम्हर सँभार" सम्हर के अर्थ समर और संभलना दोनों ही सकते हैं। दोनों अर्थों से मूल आशय में अन्तर नहीं पड़ता। एक में अर्थ होगा कि तू मन के युद्ध में अपने आप को संभाल, अपने आप की रक्षा कर, और दूसरे में अर्थ होगा कि तू अपने आप में संभल तथा दूसरों को संभाल। अर्थात अपने स्वरूप को पहचानकर स्वयं की रक्षा करो और दूसरों को भी भवबन्धनों से बचने में सहयोग करो। अपने स्वरूप की पहचान हो जाने के बाद साधक का मात्र एक काम रह जाता है 'अपने आप को मन की धारा से बचाना'। इसके साथ दूसरे जिज्ञासु एवं मुमुक्षुओं को भी इस दिशा में प्रेरित करना।

अपने आप को मन की धारा से अलग करना यही तो साधना है। मन में ही तो सारा कूड़ा-कबाड़ भरा रहता है। जो साधक मन को अलग कर देता है वह स्वच्छ हो जाता है। ऊपर की पंक्ति के दूसरे चरण में ही कहा गया है "मति लीजै शिर भार" अर्थात तुम अपने स्वरूपज्ञान के अलावा कोई मान्यता बनाकर उसका बोझ मत लादो। मन की संकल्परूपी कली को तोड़ते रहो, फिर न फूल होंगे न फल। राग मानना, द्वेष मानना तथा अनेक प्रकार की मान्यताओं का जाल बनाना यही सब तो जीव की महानता को नष्ट करते हैं। जब जीव सारी मानयताओं के बोझ से तथा मन की धारा से मुक्त हो जाता है, तब वह सदा आनन्दस्वरूप हो जाता है। "अबकी पूरिया जो निरुवारे, सो जन सदा अनंदा।" जो साधक आज वासनाओं का त्याग कर देता है वह सदैव के लिए आनंदस्वरूप हो जाता है। अर्थात वह सदा के लिए दुखों से छूट जाता है।

कड़वी माया-लता औार छुटा हुआ सिद्ध

वो करुवाई बेलरी, औ करुवा फल तोर।
सिद्ध नाम जब पाइये, बेलि बिछोहा होर॥ 221॥
सिद्ध भया तो क्या भया, चहुँदिश फूटी बास।
अन्तर वाके बीज है, फिर जामन की आस॥ 222॥

शब्दार्थ—करुवाई=कड़वी, तिक्त। बेलरी=लता, रायपेहंटा नाम की एक कड़वी लता जिसके पत्ते और कच्चे फल कड़वे होते हैं, माया। सिद्ध=पका हुआ, लक्ष्यप्राप्त। बास=गंध, वासना। अन्तर=भीतर।

भावार्थ—रायपेहंटा नाम की लता होती है जिसके पत्ते और फल सब कड़वे होते हैं, परन्तु जब उसके फल पक जाते हैं तब उसकी सुगंध चारों ओर फैल जाती है और फल बेलि से टुटकर अपने आप अलग हो जाते हैं। परन्तु

उनके पकने से क्या हुआ! उनके भीतर के बीज तो कड़वी लता ही पैदा करते हैं। उक्त उदाहरण देकर सद्गुरु कहते हैं—

हे कड़वी माया-लता! तेरे फल कड़वे हैं। जो सिद्ध कहलाने लगता है, वह माया लता से अलग हो जाता है, यह ठीक है। परन्तु ऐसा सिद्ध होने से क्या लाभ हुआ जिसके भीतर से वासनाएं फूटकर चारों तरफ फैल गयीं, और अन्दर में जगत के बीज है तथा उनके पुनः उगने की संभावना है॥ 221-222॥

व्याख्या—कोई भी उदाहरण सर्वांश में नहीं होता। सिद्धान्त को समझाने के लिए किसी वस्तु के किसी अंश का उदाहरण दिया जाता है। माया ऐसी लता है जो कड़वी है। उसके पत्ते कड़वे हैं और फल कड़वे हैं। सांसारिक प्राणी-पदार्थों का मोह, माया है या कहना चाहिए मन की रागात्मक वृत्ति माया है। यह कड़वी है। इसका परिणाम तीखा है। जो व्यक्ति जितना ही संसार में रागी होगा वह उतना ही पीड़ा भोगगा।

कोई व्यक्ति जब सिद्ध हो जाता है तब वह माया-लता से अलग हो जाता है। 'सिद्ध' का अर्थ ही है 'मुक्त'। जो अपने स्वरूप में स्थित हो गया, पूर्णकाम एवं सफल मनोरथ हो गया वह सिद्ध है, मुक्त है। उसका सम्बन्ध माया से कट जाता है। अर्थात वह संसार में एवं पांचों विषयों तथा प्राणी-पदार्थों में राग नहीं करता। उसका मन निर्मल एवं समाधिनिष्ठ हो जाता है। जैसे पका हुआ फल अपने आप पेड़ से चू पड़ता है, वैसे अनासक्त मन एवं सिद्ध पुरुष विषयासक्ति से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

परन्तु ऐसे भी सिद्ध होते हैं जो वस्तुतः सिद्ध नहीं होते, किन्तु सिद्धई का ढोंग करते हैं। उनमें सिद्ध होने का तामझाम होता है, ऊपरी दिखावा होता है। वे दिखावे के ऐसे आचरण करते हैं जिससे संसार के लोग यह समझें कि वे सिद्ध हैं। जो अपने आप को समाज में सिद्ध प्रदर्शित करना चाहता है वह तो सांसारिक वासनाओं से भरा है। उसके अन्दर तो प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा एवं लोकैषणा, वित्तैषणा तथा पुत्रैषणा (शिष्यैषणा) भरी है। उसके अन्दर में फिर से वासना-बीज जागने की आशा है। वह माया से मुक्त कहां है! वह मोटी माया छोड़कर झीनी माया में उलझ गया है। कोई अपने आप को ईश्वर का अवतार घोषित करता है, कोई किसी महापुरुष का अवतार बनता है। कोई दूधाहारी तथा फलाहारी बनकर अपने आप को सिद्ध बताता है। कोई अन्य प्रकार के विचित्र आचरण करके अपने आप को सिद्ध प्रदर्शित करना चाहता है। अतएव विचित्र बेढंगे तथा दिखावे के आचरण करके जो समाज में अपने आपको सिद्ध दिखलाना चाहते हैं, वे वासनाओं के दास होते हैं। उनके अन्दर जगत वासनाओं के बीज होते हैं। अतएव वे मानो पुनः संसार में लौटे हुए लोग हैं।

इस साखी में संभवतः पूर्ण सिद्धि की ओर बढ़ रहे संतों को भी राय दी गयी

है कि सावधानी छोड़ना ठीक नहीं, क्योंकि शरीर रहते वासनाओं के अंकुर पुनः पौधे बन सकते हैं।

कुछ लोग अपने आप को ऐसा ब्रह्म मानते हैं जिसके भीतर सारा जगत लीन है। वे कहते हैं—"जैसे जल और जल की तरंगें, मिट्टी और मिट्टी से बने घड़े तथा स्वर्ण और उससे बने गहने एक हैं; वैसे ब्रह्म और जगत एक है। मैं ब्रह्म हूं और सारा विश्व मुझमें लीन है। जगत मुझसे अलग नहीं।" इस प्रकार धारणा रखकर वे सिद्ध बनते हैं। तो यह सिद्धि भी कच्ची है। क्योंकि जिसमें सारा जगत लीन है उससे समय आने पर जगत फूटकर निकलेगा ही। "अन्तर वाके बीज है, फिर जामन की आस" वचन उसके लिए सटीक है। जो अपने आप को जगत से अभिन्न मानता है, वह जगत से कब मुक्त हो सकता है!

अतएव साधक को चाहिए कि वह अपने आप को शुद्ध चेतन मात्र समझे, और यह समझे कि शुद्ध चेतन में जड़ जगत का लेश भी नहीं है। इस प्रकार अपने आप को निराधार, असंग एवं अकेला समझकर अपने स्वरूप में स्थित हो और साधना तथा आचरण में भी किसी प्रकार का दिखावा न करे तभी वह सिद्ध, मुक्त एवं माया से अतीत होकर सदैव के लिए कृतार्थ हो सकता है।

शास्त्र तथा प्रभुवचन के जाल से बचो

परदे पानी ढारिया, सन्तो करो बिचार।
शरमा शरमी पचि मुवा, काल घसीटनहार॥ 223॥

शब्दार्थ—परदे=परदा, आधार आड़। पानी=वाणी, बात। काल= कल्पनाएं, वासनाएं।

भावार्थ—हे सन्तो! विचार करो, जैसे कोई अपने आप को छिपाकर परदे के भीतर से पानी ढाल दे, लोगों के देखने में पानी तो बहता हुआ दिखे, परन्तु पानी ढालने वाला न दिखे, वैसे नाना मत-महजबों के गुरुओं ने ईश्वर, अवतार, पैगम्बर, आप्तपुरुष तथा शास्त्र की आड़ में अपनी बातों को जनता से मनवाने का षड्यंत्र किया है। इस कसर को जो लोग समझ भी जाते हैं उनमें भी कुछ ऐसे होते हैं जो लोक-लाज के चक्कर में पड़कर उसी अंधविश्वास के घेरे में पच-पचकर मरते हैं। उनको उनके मन की कल्पनाएं एवं वासनाएं घसीटने वाली हैं॥ 223॥

व्याख्या—ईमानदारी से धर्म और अध्यात्म के उपदेश करने वाले संसार में कम हैं। अनेक मजहबों तथा सम्प्रदायों की बहुत-सी बातें बिना सिर-पैर की हैं। उनकी बातों को न तर्क से मतलब है और न विवेक से। न उन्हें संसार के नियमों की परवाह है न विश्वसत्ता की कारण-कार्य व्यवस्था की। वे अपनी ऊलजलूल बातें समाज से मनवाना चाहते हैं। यदि वे ईमानदार बनकर कहें कि

ये हमारे विचार हैं तो उनके मानने वाले बहुत कम हों। अतएव उन्होंने यह कहा कि जो हम कहते हैं वे बातें ईश्वर की भेजी हुई हैं। यह ईश्वर के पैगम्बर ने, ईश्वर के पुत्र ने तथा ईश्वर के अवतार ने कहा है। यह सिद्धपुरुष तथा आप्तपुरुष ने कहा है। यह शास्त्र-प्रमाण है। यह प्रभुवचन है। और इतना ही नहीं, उन्होंने यह भी कहा कि जो इन बातों को नहीं मानेगा वह नास्तिक है, काफिर है तथा नापाक है। वह नरक की आग में जलाया जायेगा।

इस प्रकार धर्म के नाम पर चलने वाले नाना मजहबों एवं सम्प्रदायों ने मानवता के साथ छल किया। उन्होंने मानव-समाज को धोखा दिया, गलत दिशा-निर्देश देकर उन्हें गुमराह किया। उन्होंने मानव के स्वतंत्र-विचारों का वध किया। उन्होंने मानव-समाज को सब समय के लिए अपने पीछे चलने वाला पशु बना लिया। यह मजहबों का मानव के साथ घोर अपराध था। यह ठीक है कि कुछ चतुर लोगों ने अत्यन्त मूढ़ मनुष्यों को पहले शुभमार्ग में लाने के लिए ऐसा षड्यंत्र किया हो; परन्तु इससे मानव-समाज को लाभ अत्यन्त अल्प मिला; परन्तु हानि सीमातीत हुई। खुदाई सन्देश तथा प्रभु-वचन के धोखे में ही धर्म के नाम पर सहस्राब्दियों से घोर रक्तपात होते रहे। आज भी तथाकथित हर ईश्वरीय मत के मिथ्याभिमानी कठमुल्ले मुट्ठी भींजकर यही कहते हैं कि हमारी बातें ईश्वरीय हैं; और दूसरे की बातें मनुष्यों की कल्पनाएं। जबकि सबकी बातें मनुष्यों की कल्पनाएं ही हैं। मनुष्य के अलावा न कभी कोई ईश्वर या प्रभु पैदा हुआ और न आगे पैदा होने की उम्मीद की जा सकती है। इसलिए सत्य के अनुसंधाताओं को यह समझना चाहिए कि संसार की सारी बातें चाहे वे मौखिक हों या लिखित, उनके नाम वेद, बाइबिल, कुरान, पुराण हों या धर्मशास्त्र—संसार का सारा वाङ्मय मनुष्यों की देन है। अब यह विवेकी का काम है कि उनमें से सारासार का विचार करके असार को छोड़े और सार को ग्रहण करे। सत्य के इच्छुकों को न किसी की वाणी की अवहेलना करना चाहिए और न आंख मूंदकर समर्थन। उसे चाहिए कि वह सुने तथा पढ़े हुए वचनों पर विचार करे कि क्या तर्क से, युक्ति से, विश्वसत्ता के नियमों से एवं संसार की कारण-कार्य-व्यवस्था से इनका तालमेल बैठता है! यदि बैठता है तो ग्राह्य है, अन्यथा त्याज्य।

परन्तु लोग शर्माशर्मी में मरते हैं। लोग भीतर से जान जाते हैं कि हमारी मान्य बातें मिथ्या हैं, ढोंग-ढकोसलों से भरी हुई दकियानूसी हैं, फिर भी वे उनका ऊपर से समर्थन करते रहते हैं। उन्हें यह लोक-लाज सताता है कि अपनी मान्य बातों को गलत कहेंगे तो संसार के लोग यही कहेंगे कि ये आज तक भटकाव में थे। इसलिए वे जिस पूंछ को पकड़ लिये हैं उसे पकड़े घसिटते जाते हैं। किसी धूर्त के बहकावे में आकर तथाकथित ईश्वर-दर्शन के लिए

उन्होंने एक बार अपनी नाक कटा ली, तो नाचते और कहते जा रहे हैं कि ईश्वर दिख रहा है। ऐसे लोगों को सत्य का मोती नहीं मिलता है। जो "शरमा शरमी पचि मुवा" चरितार्थ करेगा, उसे "काल घसीटनहार" होगा ही। सत्यज्ञान पाने के लिए "लोकलाज कुल की मरजादा, इहै गले की फांसी" समझकर इन्हें सर्वथा त्यागना होगा। शास्त्र, परम्परा, जनमानस, महापुरुष सबका मोह छोड़कर सत्यज्ञान मिलता है।

स्व-सत्ता ही अपना परम अस्तित्व है

अस्ति कहौं तो कोइ न पतीजे, बिना अस्ति का सिद्धा।
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, हीरी हीरा बेधा॥ 224॥

शब्दार्थ—अस्ति=सत्ता, भाव, विद्यमानता। पतीजै=प्रतीति करना, विश्वास करना। सिद्धा=सिद्ध, प्रमाणित, परम सत्य, मुक्त। हीरी=हीरकणी, हीरे के कण। हीरा=एक बहुमूल्य रत्न जो बहुत कठोर तथा सफेद होता है।

भावार्थ—मनुष्य का आत्म-अस्तित्व सर्वथा सत्य एवं विद्यमान वस्तु है, उसकी ओर सुझाव देता हूं तो कोई उस पर विश्वास नहीं करता। लोग अत्यंत मिथ्या एवं काल्पनिक वस्तु का पक्ष लेकर सिद्ध बन रहे हैं। सद्गुरु कबीर कहते हैं कि हे संतो! सुनो, जैसे हीरकणी हीरे को काट देती है, वैसे मनुष्य-जीव से ही उठी कल्पना उसे ही पथभ्रष्ट कर रही है॥ 224॥

व्याख्या—'अस्ति' कहते हैं होने को, विद्यमानता को, वह 'मैं' के रूप में है। 'मैं' के दो रूप होते हैं एक मायिक तथा दूसरा आत्मिक। शरीर तथा शरीर के नाम-रूपादि में जहां तक मैं का आरोप किया जाता है, वह मायिक है, और चेतन-सत्ता मात्र 'मैं' आत्मिक और परमसत्य है। यह 'मैं' ही परम सत्ता है। "अपने आप के विषय में यह किसी को संदेह नहीं होता है कि मैं हूं या नहीं हूं।"[1] मैं तो निस्संदेह हूं। सत्रहवीं शताब्दी के यूरोपीय दार्शनिक रेने डेकार्ट ने कहा है कि संदेह करना भी एक सोचना है और यदि सोचने वाला ही न हो तो कौन सोचेगा, कौन संदेह करेगा! अतएव यदि मैं किसी विषय में संदेह करता हूं तो इसका अर्थ कि मैं सोचता हूं। "मैं सोचता हूं तो मैं हूं।"[2] सर राधाकृष्णन ने 'आत्मिक साहचर्य' में लिखा है कि पायलेट ने प्रश्न किया था कि सत्य क्या है, परन्तु जीसस ने इसका उत्तर देने का प्रयत्न नहीं किया। यद्यपि एक अन्य सन्दर्भ में उन्होंने कहा था "मैं ही सत्य हूं।"

अतएव जीव ही परम विद्यमान सत्ता है, एवं मनुष्य की आत्मा ही परम अस्तित्व है। परन्तु यह बात लोग समझ नहीं पाते। मैं ही परम सत्य हूं, यह

---

1. न हि कश्चित् सन्दिग्धे ऽहं वा न ऽहं वा इति॥ भामती॥
2. I think therefore I am.

बात लोगों के गले ही नहीं उतरती। वे यह समझ नहीं पाते कि सत्य पाया नहीं जाता, किन्तु सत्य का केवल ज्ञान पाया जाता है। यदि कोई सत्य मनुष्य की आत्मा से अलग है तो वह मनुष्य का अपना सत्य कभी नहीं हो सकता। मेरा काम तो मेरा सत्य देगा। अर्थात मेरा अपना सत्य ही मेरे काम का हो सकता है। बाहर के हजार देवी-देवता या ईश्वर-परमात्मा मेरे काम के नहीं हो सकते। मेरे काम का देवता, मेरे काम का परमात्मा तो वही हो सकता है जो मेरा अपना हो, और वह है मेरा निजस्वरूप चेतन, मेरी अपनी अन्तरात्मा। मैं बाहर के परमात्मा को पाकर भी नहीं पा सकता, और अपनी अन्तरात्मारूपी परमात्मा को छोड़कर भी नहीं छोड़ सकता। मुझे बाहर से जो कुछ मिलेगा वह मन और इन्द्रियजन्य अनुभव होगा जो पांचों विषयों का होगा। इसलिए मैं परमात्मा को बाहर से पाने का भ्रम पालता हूं तो धोखे में हूं। बाहर से तो मैं जो कुछ परमात्मा के नाम पर पाऊंगा वह विषय होगा। परन्तु अपना स्वरूप पाना नहीं है। वह तो मैं ही हूं। केवल उसके विषय में भूल है, उसे मात्र याद कर लेना है और उसी दशा में स्थित हो जाना है।

लोग बिना 'अस्ति' के सिद्ध बन रहे हैं। अपनी आत्मा से अलग परमात्मा को पाकर मुक्त होना चाहते हैं। अरे, अपनी आत्मा से अलग जो कुछ प्राप्त होगा, वह माया होगी। उसमें सिद्धि न मिलकर भटकाव मिलेगा। यह तो वही दशा हुई कि हीरे से हीरकणी[1] निकलती है और उसी हीरे को काटती है। इसी प्रकार जीव ही का मानसिक भ्रम जीव को भटकाता है। जीव अपने समर्थ, सम्पन्न एवं विद्यमान स्वरूप को भूलकर अविद्यमान वस्तु की कल्पना करता है और अपने हाथों अपने पैर में कुल्हाड़ी मारने के अविवेक के समान अपने स्वरूप से पतित होता है। अतएव मन की सारी कल्पनाएं छोड़कर मुझे अपने अस्तित्व में स्थित होना चाहिए।

सज्जन और दुर्जन के स्वभाव

सोना सज्जन साधुजन, टूटि जुरैं सौ बार।
कुजन कुम्भ कुम्हार का, एकै धका दरार॥ 225॥

शब्दार्थ—कुम्भ=घड़ा। धका=धक्का, चोट। दरार=संधि, फट जाना।

भावार्थ—सोना, सज्जन एवं साधुजन स्वभावतः कोमल होने के कारण सैकड़ों बार टूटकर भी जुट जाते हैं। परन्तु दुष्ट और कुम्हार का घड़ा, ये दोनों स्वभाव से कठोर होने के कारण एक ही चोट में सदैव के लिए फट जाते हैं

---

1. मशीन में दो हीरे लगाकर उन्हें आपस में लड़ाते हैं और वे एक दूसरे को काटते हैं। इस परस्पर रगड़ में जो हीरे का चूर गिरता है उसे हीरकणी या हीरी कहते हैं। फिर इस हीरकणी से हीरे को काटते हैं। हीरा दूसरे औजार से नहीं कटता।

और पुनः कभी नहीं मिलते॥ 225॥

व्याख्या—महाकवि कबीर ने इस साखी में सोना-सज्जन-साधुजन तथा कुजन-कुम्भ-कुम्हार कहकर कमाल के अनुप्रास अलंकार का प्रयोग किया है। साखी का भाव अत्यन्त उच्च है यह अलग बात है। सज्जन तथा साधुजन की कोमलता के लिए सोना का उदाहरण है। सोने के गहने बनते हैं। वे अनेक बार टूटते हैं तथा उन्हें गलाकर पुनः उनके अनेक बार नये-नये गहने बना लिये जाते हैं। यही बात सज्जनों एवं साधुजनों की है। उनमें कारणवश कभी-कभी मत विभिन्नता हो जाये तो वे उसे अनदेख कर समय-समय पर परस्पर मिल जाते हैं। मत की भिन्नता संसार का स्वभाव है, परन्तु इसको लेकर सज्जन तथा साधुजन मन में वैर नहीं बनाते। यदि कोई अपने मन में किसी के लिए वैर पालता है तो इससे उसकी अपनी ही हानि है। किसी के लिए भी मन में वैर पालने से मन की दशा खराब होती है। जहां मन की दशा ही खराब हो गयी वहां शांति कहां मिल सकती है!

यदि किन्हीं सज्जन एवं संत के प्रति कोई घोर विरोध करता हो, उनकी ईर्ष्या में लगा हो उनकी निंदा करके उनके विषय में सर्वत्र बुराई का प्रचार करता हो और हर क्षेत्र में उनके प्रति अत्यन्त द्वेषपूर्वक पेश आता हो, तो ऐसी स्थिति में भी सज्जन एवं साधुजन उससे वैर या ईर्ष्या नहीं करते। वे उससे उपेक्षा करके भले रहते हों। अर्थात उससे तटस्थ होकर न उसकी बुराई करते हों और न भलाई। परन्तु वे उससे द्वेष नहीं करते। सज्जन और साधुजन अपने घोर द्वेषी को भी सामने पाकर उससे अभिवादन कर लेते तथा कुशल-समाचार पूछ लेते हैं; क्योंकि उनके मन में उसके प्रति द्वेष रहता ही नहीं है। यह अलग बात है कि ऐसी जगह ज्यादा व्यवहार नहीं बन सकता। जहां अगली तरफ से दिल खोलकर मिलना ही न हो वहां ज्यादा व्यवहार कैसे संभव है! परन्तु सज्जन और साधु अपने मन को सदैव निर्मल रखते हैं, अतएव द्वेषी व्यक्ति के प्रति भी वे अपना मन स्वच्छ रखते हैं। जो केवल वेष से नहीं, सचमुच सज्जन तथा साधु हैं उनका मन स्वाभाविक स्वच्छ होता है। उनमें किसी के प्रति भी विकार आ नहीं सकते।

शरीर पानी का बुलबुला है। इसके फूटने में देरी नहीं लगती। फिर ऐसे क्षणभंगुर जीवन में किससे वैर किया जाये! वैर-विरोध में तो लाभ किसी का नहीं, केवल हानि है। जिस काम में अपनी ही हानि हो, समझदार आदमी उसे क्यों करेगा! परन्तु जो ईर्ष्या-द्वेष और वैर-विरोध में ही रात-दिन लगा हो, उसके व्यवहार से अपने आप को बचाना सज्जन का काम होता है। क्योंकि उससे ज्यादा व्यवहार बढ़ाने से लाभ तो होता नहीं, उलटे अशांति होती है। इसलिए सज्जन और साधुजन अपने आप को दुर्जनों से बचाकर अपने मन को

सदैव सबके प्रति स्वच्छ रखते हैं।

यहां पहली पंक्ति का भाव यह है कि यदि दोनों तरफ से सज्जन–सज्जन तथा साधु–साधु स्वभाव के लोग हैं, तो पहली बात वहां आपस में खटपट होगी ही नहीं। यदि कभी खटपट होती है तो किसी तरफ से कुछ गलतफहमी है, और वे उसे आपस में समझकर देर–सबेर सुधार लेते हैं। जहां दोनों तरफ से सज्जनता एवं साधुता है, वहां कोई गलतफहमी ज्यादा समय तक रह ही नहीं सकती। कहीं–कहीं देखा जाता है कि दोनों तरफ सज्जन एवं भक्त हैं तथा दोनों तरफ त्यागी–वैरागी साधु हैं, परन्तु वे जीवनभर आपस में भिड़े वैर–विरोध में कमाल दिखाते रहते हैं। तो इसमें कारण यह है कि उनके जीवन में कई प्रकार के सदाचार अवश्य हैं; परन्तु उनमें भौतिक स्वार्थ एवं अहंकार भावना की प्रबलता है। अतएव वे आपस में जीवनभर परस्पर लड़ते रहते या वैर बांधे रहते हैं। जब तक स्वार्थ तथा अहंकार का भ्रम नहीं टूटता तब तक कोमलता आ ही नहीं सकती। कितने लोग ऐसे होते हैं जो कई अंशों में कट्टर त्यागी होते हैं, परन्तु कई अंशों में इतने कमजोर होते हैं कि वे जीवनभर उलझे रहते हैं। अपनी इन कमजोरियों के कारण कई सज्जन एवं साधु कहलाने वाले लोग भी राग–द्वेष में उलझे होने के कारण समाज के लिए बिगड़ी घड़ी बने रहते हैं। विश्वामित्र और वसिष्ठ दोनों कथित ब्रह्मज्ञानी एवं तपस्वी पुरुष थे, परन्तु दोनों एक दूसरे को उखाड़ने के चक्कर में पड़े रहे। विश्वामित्र ने वसिष्ठ के पुत्रों की हत्या की तथा उनके आश्रम को आग में समर्पित कर दिया और वसिष्ठ ने विश्वामित्र के सौ पुत्रों की हत्या की और इतना ही नहीं, वे पहल, यवन, कम्बोज, बर्बर, म्लेक्ष, हारीत, किरात आदि को अपना सहयोगी बनाकर विश्वामित्र को उच्छिन्न करने में लग गये।[1]

यदि सचमुच दोनों तरफ से सज्जन एवं साधु पुरुष हैं तो वे आपस में सौ बार भी टूटकर जुट जायेंगे। वैसे वे सौ बार टूटेंगे ही नहीं। "टूटि जुरैं सौ बार" तो एक मुहावरा जैसा है। सौ बार जुटने का शाब्दिक अर्थ न कर लाक्षणिक करना चाहिए। अर्थात सज्जन अनेक बार भी टूटकर जुट जाते हैं। एक तरफ सचमुच सज्जन एवं साधु हैं और दूसरी तरफ सज्जन तथा साधुवेष में क्रूर संस्कार वाले हैं, तो सज्जन पुरुष अपनी ओर से नम्र ही रहकर बरताव करते हैं। वे कभी क्रूर नहीं बनते। सोना अपना स्वभाव छोड़ ही नहीं सकता। वह असंख्य बार टूटकर जुटता रहेगा। इसी प्रकार सज्जन एवं साधुजन भी अपना निर्मल स्वभाव नहीं छोड़ सकते। उनमें चाहे जितना विमत हो, परन्तु वे एक दूसरे के प्रति प्रेम तथा मधुर व्यवहार बनाये रखते हैं। सज्जन और साधुजन

---

4. वाल्मीकीय रामायण, बालकांड, सर्ग 53–55।

कोई घटिया काम अपने विरोधी के प्रति भी नहीं कर सकते।

"कुजन कुम्भ कुम्हार का, एकै धका दरार" सज्जन एवं साधुजन के बिलकुल उलटे होते हैं कुजन एवं दुष्टजन। इनके लिए कुम्हार के बनाये मिट्टी के घड़े का उदाहरण उपयुक्त है। मिट्टी के घड़े में यदि एक बार धक्का लग जाये तो वह टूट जाता है और पुनः कभी नहीं जुड़ता। दुर्जन का स्वभाव ऐसा होता है। यदि वे एक बार टकरा गये तो जीवनभर के लिए वैर बांध लेते हैं। कितने लोग एक बार कुछ फरक पड़ जाने पर सदा के लिए टूट जाते हैं और दूसरे से न बोलने या दूसरे अमुक के दरवाजे पर न जाने का वीभत्स शपथ खा लेते हैं। वे मरते समय अपने बच्चों से भी कहे जाते हैं कि अमुक मेरा शत्रु है। उससे सम्बन्ध न रखना। बन सके तो उससे बदला लेना। दुष्ट का वैर तो पत्थर की लकीर होता है जो कभी न मिटने वाला होता है, मध्यम व्यक्ति का वैर बालू की लकीर होता है जो कुछ ही समय में मिट जाता है; परन्तु सज्जन का वैर पानी की लकीर होता है। पानी में लकीर इधर पारो और वह उधर मिट जाती है। इसी प्रकार किसी के दुर्व्यवहार से यदि सज्जन के मन में कुछ मलिनता आती है तो वह तुरन्त मिट जाती है।

दुर्जन भयंकर होता है। वह मिलना जानता ही नहीं। एक बार गांठ बांध ली तो बांध ली, वैर बना लिया तो बना लिया। वह वैर-विरोध की भावना में निरन्तर जलता है और दूसरों को जलाने का प्रयत्न करता है। ऐसा दुर्व्यवहार संसार में जगह-जगह देखा जा सकता है। न उन्हें यह ख्याल है कि आजकल में हमें संसार छोड़कर जाना है और न यह ख्याल है कि मानव जीवन का ऐसा सुनहला अवसर राग-द्वेष की आग में जल-जलाकर हम क्यों बरबाद करें! ऐसे लोगों के जीवन में अहंकार की आग होती है। वे अपने आप को बहुत योग्य समझते हैं। परन्तु अहंकार तथा राग-द्वेष की आग में जलने के अलावा उनको अन्य कोई चारा नहीं है। उनके जीवन में शांति का कोई अवसर ही नहीं आता। स्वयं राग-द्वेष में जलते रहें और दूसरे को जलाने का प्रयास करते रहें यही मानो उनकी नियति है।

मलिनता से मुक्त होने में मनुष्य समर्थ है

काजर केरी कोठरी, बुड़ता है संसार।
बलिहारी तेहि पुरुष की, जो पैठि के निकरनहार॥ 226॥

शब्दार्थ—बलिहारी=निछावर, कुर्बान।

भावार्थ—इस संसार में आकर मानो हर आदमी माया के कुंड में डूबता है। सद्गुरु कहते हैं कि मैं उस व्यक्ति पर निछावर हूं जो इसमें डूबकर भी इससे निकल जाता है॥ 226॥

व्याख्या—जीव शरीर धारण करता है, जन्म लेता है और धीरे-धीरे संसार के विषय-विकार उसको लगते जाते हैं। दिन जितने बीतते हैं, वह निरन्तर माया में डूबता जाता है। बालक, किशोर, जवान, अधेड़ तथा वृद्ध जो भी उसे मिलते हैं, वे प्रायः दुर्व्यसन, विषय-वासना एवं मोह के पाठ पढ़ाते हैं, उसे नये-नये दुर्गुण और बुराइयां सिखाते हैं। इस संसार में प्रवेश करना क्या है मानो घोर अन्धकार में प्रवेश करना है। आप जिधर निकलिए मन को खराब करने वाली आवाज सुनेंगे, चीजें तथा व्यवहार देखेंगे। अधिकतम आदमी तमोगुण एवं रजोगुण में डूबे हैं। उनकी संगत का प्रभाव वही होना है। गलत लड़कों की संगत में पड़कर कितने सज्जन-लड़के खराब आचरण के हो जाते हैं। जीव के साथ में अनादि अभ्यस्त विषयों की वासनाएं एवं संस्कार हैं। देह धारण करते ही वे उठने लगते हैं। इस प्रकार जीव के साथ में अनादि वासनाएं हैं, देह, इन्द्रिय और मन हैं, बाहर विषयों का गरम बाजार है, विषयों का पाठ पढ़ाने वाले नर-नारी हैं। इस प्रकार जीव को सब तरफ से विषय-वासनाओं में डुबाने वाले साधन हैं। अतएव देह धारण करते ही जीव मानो काजल की कोठरी में डूब जाता है। अर्थात माया के कुंड में गिर पड़ता है।

परन्तु "बलिहारी तेहि पुरुष की, जो पैठि के निकरनहार।" उस नर या नारी की प्रशंसा है जो इस काजल की कोठरी संसार-शरीर में आकर इसके दोषों से निकल जाता है। सद्गुरु कहते हैं कि मैं उस पर अपने आप को निछावर करता हूं, मैं उस पर कुर्बान हूं जो कालिख भरे संसार में आकर अपने आप को इससे निकाल लेता है। "बलिहारी तेहि पुरुष की" में 'पुरुष' शब्द स्त्री-पुरुष वाला 'पुरुष' नहीं है, किन्तु 'पुरि शेते पुरुषः' अर्थात जो शरीर रूपी पुर में सोता है वह चेतन पुरुष है। शरीर स्त्री का हो या पुरुष का, वह तो भौतिक है। परन्तु दोनों के भीतर एक समान चेतन पुरुष निवास करता है। अतएव नर के शरीर में जैसे चेतनपुरुष निवास करता है, वैसे नारी के शरीर में भी चेतनपुरुष निवास करता है। अतः नर हो या नारी, जिन्होंने अपने आप को इस घोर संसार से निकाल लिया है, वह धन्य है।

भूल हो जाना, भटक जाना, गलती हो जाना, तो सहज बात है। इसको लेकर किसी को नीची दृष्टि से न देखो। क्या दीवार भूल कर सकती है! क्या पेड़-पौधे, क्या पत्थर, तृण भूल कर सकते हैं! वे भूल नहीं करते। तो क्या तुम भी उन सरीखे बेजान होना चाहोगे! तुम मनुष्य हो, जानदार प्राणी हो और मनुष्येतर प्राणियों से भी श्रेष्ठ हो। तुम ज्यादा समझते हो। इसलिए तुम भटक भी सकते हो और सुपथ पर लग भी सकते हो। हे मानव, तू इस भव का भूषण है। तेरे समान केवल तू है। मानव की तुलना में केवल मानव है। परन्तु वह चारों तरफ से विषयों के संस्कारों से जकड़ा है। उसे विषयों की ओर ठेलने के लिए

जड़-चेतन सृष्टि तैयार है। इसलिए यदि वह कहीं फिसल गया तो बड़ी बात नहीं हो गयी। उसकी विशेषता है कि वह इस कीचड़ से निकल सकता है। जो इस कीचड़ से अपने आप को निकाल ले वह परमपूज्य है। घोर अविद्या, स्वार्थ, अहंकार, विषय-वासना—इन सब काले कज्जलों के भयंकर कुंड से जो अपने आप को निकाल लेता है कबीरदेव उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। वे उस पर अपने आप को निछावर करते हैं। यह उनकी दीर्घदृष्टि और हृदयविशालता है।

काजर ही की कोठरी, काजर ही का कोट।
तोंदी कारी ना भई, रहा सो ओटहि ओट॥ 227॥

शब्दार्थ—काजर=काजल, कज्जल, माया, विकार। कोठरी=शरीर। कोट=किला, संसार। तोंदी=नाभि, पेट, मन, हाथ की उंगलियों के अग्रभाग। ओट=आधार, आड़ा, सत्संग-साधना का सहारा।

भावार्थ—यह शरीर मानो मलिनता की कोठरी तथा संसार मलिनता का किला है। परन्तु इनसे निकलने वाला पुरुष सत्संग तथा साधना का सहारा लेकर रहता है, इसलिए शरीर तथा संसार में रहते हुए भी उसका मन मैला नहीं होता॥ 227॥

व्याख्या—कुशल वक्ता और कवि संत कबीर ज्वलंत उदाहरण देकर हमें समझाते हैं। वे कहते हैं कि मानो एक किला हो जो कज्जल से भरा हो, उसकी सारी कोठरियां कज्जल से ओतप्रोत हों। एक ऐसा व्यक्ति उसमें रहता हो जो इतना सावधान हो कि उसकी उंगलियों के अग्रभाग भी काले न होते हों, तो यह उसकी प्रशंसा है। इसी प्रकार इस कालिख भरे शरीर और संसार में रहकर जिसका मन मलिन न हो वह प्रशंसा का भाजन है।

इस साखी में 'तोंदी' शब्द ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। तोंदी के दो मुख्य अर्थ हैं। तोंदी हाथ की उंगलियों के अग्रभाग को कहते हैं और पेट में स्थित नाभि को भी कहते हैं, इसका सामान्य अर्थ पेट भी है। पेट से अर्थ मन है। गांव के लोग किसी का मन मैला देखकर कहते हैं कि भैया, वे बातें चाहे जितनी साफ करें, परन्तु उनका पेट काला है। इसका अर्थ यही है कि उनका मन मैला है। उदाहरण में तोंदी का अर्थ हाथ की उंगलियों के अग्रभाग हैं तथा सिद्धान्त में मन है। कज्जल भरी कोठरी तथा किला में रहकर भी इतनी सावधानी बरती जाये कि हाथ की उंगलियों के अग्रभाग भी मैले न हों, तो उसकी सावधानी का फल है। इसी प्रकार मलिनता भरे शरीर और संसार में रहकर ऐसी सावधानी बरती जाये कि मन मैला न हो, तो यह उस व्यक्ति की परम जागरूकता का फल है। सद्गुरु कहते हैं कि ऐसा साधक "रहा सो ओटहि ओट" आड़ा, आधार एवं सहारा लेकर रहता है। सज्जनों एवं संतों की संगत, सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय,

चिंतन, विवेक, ध्यान, समाधि और निरन्तर सावधानी, जो इन सबका सहारा लेकर रहता है, उसका मन मलिन नहीं होता।

मन-माया से सावधान वैराग्यप्रवर सद्गुरु कबीर इस साखी में मुख्य दो बातें बताते हैं—माया की प्रबलता तथा उसके बचने के सबल साधन। वे कहते हैं कि यह सच है कि शरीर तथा संसार कज्जल की कोठरी एवं किला के समान मलिनता के प्रबल कारण हैं। परन्तु यह भी उतना ही सच है कि उनसे बेदाग बचने के लिए सबल साधन हैं; और जो उनका आधार लेकर जीवनभर रहता है, वह निर्मल जीवन व्यतीत करता है। जो सत्संग एवं साधना का ओट न लेगा, सहारा न लेगा, आधार न लेगा, वह संसार-सागर में डूब जायेगा। माया की प्रबलता प्रत्यक्ष है। जो असावधानी बरतेगा, कुसंग करेगा और सत्संग तथा साधना का त्याग करेगा, उसके फिसलने में देरी नहीं लगेगी। परन्तु जो अच्छी संगत का आधार लेगा, सत्संग में रमेगा, सद्ग्रन्थों का सदैव स्वाध्याय करेगा, सेवापरायण होगा, समय-समय से ध्यान और समाधि का अभ्यास करेगा, मन-इन्द्रियों तथा संसार के माया-जाल से सावधान रहेगा, निजस्वरूप का विवेक तथा चिंतन करेगा और इस प्रकार जो अपने सारे समय एवं जीवन के प्रत्येक क्षण को पर-सेवा तथा निज-संयम में लगायेगा वह मोह-माया में नहीं भूलेगा। उसका मन विकारग्रस्त नहीं होगा। इस संसार में मलिनता के अवश्य कारण हैं, परन्तु उससे बचे रहने के लिए भी प्रबल अवलम्ब हैं। अतएव साधक को चाहिए कि वह सत्संग तथा साधना का अवलम्ब लेकर निर्मल जीवन व्यतीत करे। स्वरूपबोधपूर्वक सर्वथा निर्दोषता की स्थिति ही दुखों से परे मोक्षावस्था है। निर्मल मन ही परम शांति का भंडार होता है।

भक्ति की सर्वोच्चता

अर्ब खर्ब ले दर्ब है, उदय अस्त लों राज।
भक्ति महातम ना तुले, ई सब कौने काज॥ 228॥

शब्दार्थ—महातम=माहात्म्य, विशेषता।

भावार्थ—अर्ब से खर्ब तक धन हो और सारे भूमंडल पर राज्य हो, परन्तु ये सब भक्ति के महत्त्व की तुलना में नहीं तुल सकते, क्योंकि ये सब जीव का क्या कल्याण कर सकते हैं!॥ 228॥

व्याख्या—संसार का अतुल धन, राज्य, शासन, परिवार, समाज तथा अन्य सांसारिक ऐश्वर्य जीव को शांति-सुख एवं अनंत-सुख नहीं दे सकते। परन्तु भक्ति मानव के कल्याण का परम शम्बल है। भक्तिविहीन आदमी संसार के सारे भोगों को पाने के बाद भी अन्दर से सूना-सूना रहता है। शरीर की रक्षा के लिए दो-चार रोटियां एवं दो-चार कपड़े यही मानो धन है, शेष धन वही

सार्थक है जो दूसरे की सेवा में लग सके। पर-सेवारहित बहुत धन-दौलत तो एक मानसिक रोग है, जो केवल पीड़ा का कारण है। धन कमाना तथा उसकी रक्षा करना बहुत लोग जानते हैं; परन्तु उसका अच्छा उपयोग करना कम लोग जानते हैं। दूसरे की सेवा में लगना ही धन का सदुपयोग है और यह बहुत कम लोग कर पाते हैं। इसलिए अधिकतम धनी लोग मन की अशांति में ही जीवन व्यतीत करते हैं।

"अर्ब खर्ब ले दर्ब है" का अभिप्राय है अधिकतम धन और "उदय अस्त लों राज" का अर्थ है पूरी पृथ्वी पर शासन। इन सबका अपना महत्त्व है। धन और शासन से जनता की सेवा करना धनी और राजा का काम है। एक वस्तु के कई पहल होते हैं, इसलिए उनके अध्ययन के हर पहल के अलग-अलग विषय होते हैं। जैसे शरीर का आंगिक अध्ययन, भौतिक अध्ययन, रासायनिक अध्ययन तथा अन्य भी अध्ययन के बहुत विषय हैं; वैसे धन और राज्य के भी कई पहलू हैं और उन्हें अनेक दृष्टियों से देखा जाता है। धन और राज्य के अपने अच्छे उपयोग हैं, यह सब ठीक है, परन्तु प्रश्न है कि क्या ये भक्तिविहीन मनुष्य को आत्मशांति दे सकते हैं! उत्तर साफ है कि ये आत्मशांति के कारण नहीं हो सकते। इस साखी का भाव है कि चाहे तुम्हारे पास अतुल-धन हो और विशाल राज्य हो, परन्तु तुम यदि भक्तिविहीन हो तो सफल-जीवन नहीं हो।

अब प्रश्न उठता है कि भक्ति किसे कहते हैं! विद्वान लोग भक्ति के अर्थ सेवा, आराधना, ईश्वर या पूज्य व्यक्ति के प्रति अनुराग, श्रद्धा, विभाग[1] आदि करते हैं। इस प्रकार भक्ति का पहला अर्थ है 'सेवा'। सेवा जानदार की ही की जा सकती है। बेजान वस्तुओं की सेवा भी इसलिए की जाती है कि उनसे जानदार की सेवा हो सके। जैसे मकान, मशीन, वस्त्र, पुस्तकें आदि नाना जड़ वस्तुओं को इसलिए संवारा-सुधारा, स्वच्छ और सुरक्षित रखा जाता है कि इनसे जानदार की सेवा की जा सके। पत्थर आदि जड़मूर्तियों तथा शून्य को भगवान-ईश्वर मानकर जो लोगों द्वारा उनकी सेवा करने का टोटका किया जाता है, उसमें भी जानदार की आत्मशांति ही हेतु होता है। यह अलग बात है कि उसमें कितनी शांति मिलती है। वस्तुतः प्राणियों का समूह सच्चा भगवान है और उसकी सेवा करना ही धन और राज्य का अच्छा उपयोग है। यदि प्राणि-सेवाविहीन धन और राज्य हैं तो वे निरर्थक ही नहीं, अनर्थ उत्पन्न करने वाले हैं।

भक्ति का दूसरा अर्थ जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है वह है सत्य के प्रति अनुराग। हर व्यक्ति का अपना परम सत्य है अपनी चेतनात्मा, अपना

---

5. बृहत् हिन्दी कोश।

चेतनस्वरूप। अत: जिनके साहचर्य एवं सहायता से इस कार्य में बल मिले उन संत पुरुषों के प्रति अनुराग भी भक्ति है। इसलिए स्वामी शंकराचार्य ने ठीक ही कहा है "स्व-स्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते" अर्थात स्व-स्वरूप का अनुसंधान भक्ति कहलाती है। इसके लिए "पूज्येष्वनुरागो भक्ति:" अर्थात पूज्य के प्रति अनुराग होना भक्ति है। आध्यात्मिक जिज्ञासु के लिए पूज्य वही हो सकता है, जिसका जीवन निर्मल हो और जो अपने सत्यस्वरूप में स्थित हो। क्योंकि उसी के उत्तम आदर्श से उसे अपने स्वरूपानुसंधान एवं स्वरूपस्थिति में सहायता मिल सकती है। अतएव हम इस ढंग से भी कह सकते हैं कि प्राणियों की सेवा करना तथा पूज्य सन्त एवं गुरु की सेवा करना तथा उनके प्रति अनुराग रखना ही मानो सगुण भगवान की भक्ति है। प्राणिमात्र सगुण भगवान हैं और उनमें पवित्रात्मा बोधवान सन्त-गुरु सगुण भगवान के पूर्ण स्वरूप में हैं। उनकी सेवा से ही अन्त:करण स्वच्छ होकर स्व-स्वरूपानुसंधान रूपी परा भक्ति की जा सकती है। पूज्य एवं सद्गुरु के प्रति भक्ति को हम 'अपरा' भक्ति कह सकते हैं। अपरा का अर्थ ही है जो पार न गयी हो। जो सांसारिक परदे के भीतर ही हो; और स्व-स्वरूपानुसंधान अर्थात स्वरूपस्थिति को हम 'परा' भक्ति कह सकते हैं। परा का अर्थ श्रेष्ठतम है। जो माया एवं प्रकृति के परदे से पार हो गयी हो वह परा भक्ति है।

सत्य पाया नहीं जाता, किन्तु सत्य का केवल ज्ञान पाया जाता है। बाहर का सत्य मेरा अपना सत्य नहीं हो सकता; क्योंकि बाहर की चीजें मिलकर छूट जाती हैं। मेरा अपना सत्य मेरा अपना स्वरूप है। मेरा स्वरूप केवल चेतन है। अतएव जब तक हम यह नहीं समझते कि मेरा परम निधान, परम आश्रय एवं परम केन्द्र मेरी अपनी आत्मा ही है, मेरा अपना चेतनस्वरूप ही है, तब तक हम बाहरी उलझनों से छुट्टी नहीं पा सकते। भक्ति का फल अनन्त शांति एवं मुक्ति है और वह तभी हो सकती है जब अपने सत्य स्वरूप को समझकर उसी में अनुराग हो जाये। अतएव स्वरूप की सच्ची समझ और स्वरूप के प्रति अनन्य अनुराग ही परा भक्ति है। इन सब की उपलब्धि के लिए बोधवान सन्त-गुरु के प्रति अनुराग, उनकी सेवा, उनकी आज्ञाकारितारूपी भक्ति अत्यन्त आवश्यक है।

भक्ति का अर्थ श्रद्धा भी है। श्रद्धा दो पदों का मेल है—श्रत्+धा, श्रत् का अर्थ सत्य है और 'धा' का अर्थ धारण करना है। सत्य का धारण करना ही श्रद्धा है। किसी भी व्यक्ति के लिए सत्य उसका अपना आत्मस्वरूप एवं चेतना है। अतएव अपने चेतनस्वरूप में निष्ठा तथा स्थिति ही श्रद्धा है और यही भक्ति है। भक्ति का अन्तिम अर्थ विभाग है, अलग हो जाना है। अतएव सारे जड़ दृश्यों से अपने आप को अलग कर लेना ही सच्ची भक्ति है। नीर-क्षीर का विवेक करके अपने स्वरूप को मन-माया से अलग कर लेना ही भक्ति है।

सद्गुरु ने कहा है—"भक्ति न जाने भक्त कहावै, तजि अमृत विष कैलिन सारा।" (शब्द 32) अर्थात लोग भक्ति नहीं जानते, किन्तु भक्त कहलाते हैं। वे अमृत छोड़कर विष ग्रहण करते हैं। अमृत है चेतनस्वरूप और निष्कामदशा तथा विष है विषय-वासना। सद्गुरु कहते हैं "अमत वस्तु जानै नहीं, मगन भया सब लोय। कहहिं कबीर कामों नहीं, जीवहिं मरण न होय॥" (रमैनी साखी 10) अतएव विषय-वासना छोड़कर स्वरूपबोध तथा निष्काम-दशा में ठहरना ही अमृत स्थिति है और यही परा भक्ति है और इसकी प्राप्ति के लिए सद्गुरु-संतों के प्रति श्रद्धा, अनुराग, सेवादि भी आवश्यक है जो अपरा भक्ति है।

उक्त साखी का सार अभिप्राय यह हुआ कि मनुष्य ने अतुल धन पाया और पूरे भूमंडल का राज्य पाया, तो वह क्या पाया यदि उसने भक्ति नहीं पायी, अर्थात अपने आप को नहीं पाया। धन और राज्य एक दिन छूट जाते हैं, परन्तु अपनी आत्मा अपने आप से कभी नहीं बिछुड़ती। इसलिए स्वरूपज्ञान, स्वरूपनिष्ठा एवं स्वरूपस्थिति रूपी भक्ति की तुलना में अतुल धन तथा विश्व का राज्य तुच्छ है। इस सन्दर्भ में महात्मा ईसा की याद आती है। उन्होंने कहा है कि मनुष्य ने सारे संसार को पाया तो क्या पाया, यदि उसने अपने आप को खो दिया।

कबीर साहेब धर्म और अध्यात्मक्षेत्र के वैज्ञानिक हैं। वे धर्म और अध्यात्म के नाम पर चलने वाले सारे जाल को अस्वीकारते हैं, परन्तु सकारात्मक पक्ष की रक्षा करते हुए। वे गुरु और भक्ति के महत्त्व को जानते हैं। इसलिए वे उनकी प्रशंसा करते हैं। वे गुरु और भक्ति के तात्त्विक स्वरूप को उपस्थित करते हैं, उनके विषय में चलने वाली भावुकता को नहीं। सद्गुरु ने उक्त साखी में भक्ति के माहात्म्य का वर्णन किया, तो उन्हें मानो यह भी याद आया कि लोग भक्ति के नाम पर भटकते भी हैं। वे गुरुनामधारी अविवेकियों के हाथों में पड़कर दुख उठाते हैं। वे भ्रामक गुरुओं द्वारा मिथ्या प्रलोभनों में फंसाये जाते हैं। इसलिए सद्गुरु आगे तीन साखियों में धीमर और मछलियों का सुन्दर रूपक देखकर क्रमशः भ्रामक-गुरुओं और भटके हुए भक्तों का मार्मिक चित्रण करते हैं। देखें—

सच्ची भक्ति के विघ्न

मच्छ बिकाने सब चले, धीमर के दरबार।
अँखिया तेरी रतनारी, तू क्यों पहिरा जार॥ 229॥
पानी भीतर घर किया, सेज्या किया पतार।
पासा परा करीम का, तब मैं पहिरा जार॥ 230॥

मच्छ होय नहिं बाँचिहो, धीमर तेरो काल।
जेहि-जेहि डाबर तुम फिरो, तहँ तहँ मेले जाल॥ 231॥

शब्दार्थ—मच्छ=मछली, तात्पर्य में दीन मनुष्य। धीमर=मछुआरा, मछली मारने वाला, तात्पर्य में भ्रामक गुरु। रतनारी=लाल। जार=जाल। पानी=पानी, वाणी। पासा=फंदा, बंधन। करीम=कृपालु। डाबर=गड्ढा, मतमतांतरवाद। मेले=फेंकना, डालना, फंसाना।

रूपक—सब मछलियां जाल में फंसकर मछुआरे के दरबार में बिकने चलीं। इतने में कोई उनका सावधान हितचिंतक उन्हें मिला और उनसे पूछा—"तुम्हारी आंखें लाल-लाल और स्वच्छ हैं, फिर तुमने क्यों अंधों-सरीखे जाल पहन लिया है?" मछलियों ने कहा—"हमने पानी के भीतर अपने रहने का स्थान बनाया था और सोने की शय्या तो पाताल में—बहुत गहरे में बना रखी थी। परन्तु हमारे ऊपर करीम नाम के मछुआरे के जाल का फंदा पड़ गया, तब हमें जाल पहन लेना पड़ा।" मछलियों के हितचिंतक ने कहा—"तुम दीन मछली बनकर मछुआरे के जाल से नहीं बच सकती, क्योंकि वह तुम्हें मारने वाला तुम्हारा काल है। तुम जिस-जिस गड्ढे में घूमोगी, वह वहीं-वहीं तुम्हें फंसाने के लिए तुम्हारे ऊपर जाल डाल देगा।"

भावार्थ—सब भावुक मनुष्य भक्ति की महिमा सुन और वाणियों के मोहक जाल में फंसकर गुरुओं के दरबार में बिकने चले। सद्गुरु कहते हैं—"हे मनुष्य! तू तो स्वच्छ विवेक-नेत्रों वाला प्राणी है। तू भक्ति की झूठी महिमा के जाल में क्यों फंस गया?" भावुक भक्तों ने कहा—"हमने गुरु महाराज की वाणियों में अपना मन बसाया और उनके आदेशों की गहराई में जाकर लीन हुए। इस प्रकार गुरुदेव या भगवान का हमारे ऊपर कृपा का फंदा पड़ गया और हमने जाल पहन लिया।" सद्गुरु कहते हैं—"तुम भावुक और दीन बनकर गुरुओं के जाल से नहीं बच सकते हो। ये भ्रामक गुरु तुम्हें फंसाने वाले काल हैं। तुम जिस किसी मत-मतांतर के गड्ढे में पहुंचोगे, वहीं उनके द्वारा फंसा लिये जाओगे"॥ 229-230-231॥

व्याख्या—कबीर की पंक्ति-पंक्ति में कितनी आग है यह विचार करने पर पता चलता है। वे धर्म और भक्ति के नाम पर चलने वाले कूड़े-कचड़े को एकदम जला देना चाहते थे। वे भक्ति, धर्म तथा गुरु के समर्थक ही नहीं, उन्हें मानने वाले तथा महान धर्मप्राण एवं अध्यात्मप्रवण थे, परन्तु इनके नाम पर मनुष्यों को बहकाया जाना उन्हें बहुत खलता था। वे सबके सत्य स्वरूप के पक्षधर थे।

गुरु या सद्गुरु का महत्त्व सर्वोच्च है। परन्तु गुरु नाम धरा कर समाज को बेवकूफ बनाने वालों की पांचों उंगलियों सदैव घी में रही हैं। कबीर साहेब के

समय में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी। इसलिए उन्हें यह सब देखकर कष्ट हुआ था और उन्होंने अपने विदग्धात्मक भाव अपनी वाणियों में उड़ेल दिये थे। जिनके आचरण पवित्र नहीं हैं, जो कामादि विकारों के शिकार हैं, जो राग-द्वेषादि मलिनताओं में लिपटे हैं, जिन्हें अपने स्वरूप का बोध नहीं है, जो भ्रांतियों में आकंठ डूबे हैं, ऐसे लोग गुरु या सद्गुरु बनकर जगत के लोगों को तारने की ठेकेदारी लेते घूमते हैं तो समाज का कैसे कल्याण होगा! इतना ही नहीं, बड़े-बड़े धूर्त अपने आप को किसी तथाकथित भगवान या अमुक महापुरुष का अवतार घोषित करते हैं, आनन-फानन में ईश्वर-दर्शन का झांसा देते हैं जो एक जालसाजी है। चुटकी बजाते मुक्ति देते हैं। इतना ही क्या, वे पुत्र, धन, नीरोग्यता, विजय तथा संसार की सारी ऋद्धि-सिद्धि देने का झूठा प्रलोभन देते हैं और समाज को पथभ्रष्ट करते हैं। संसार के अधिकतम मनुष्य सांसारिक चीजों के लोभी हैं। धूर्त गुरु उनकी कमजोरियों को जानते हैं और सांसारिक चीजों के मिलने का प्रलोभन देकर उन्हें फंसाते हैं। हर मनुष्य को अपने प्रारब्ध और पुरुषार्थ से संसार की चीजें समय-समय पर मिलती रहती हैं। इसी प्रकार भावुक-भक्तों को भी अपने प्रारब्ध और पुरुषार्थ से ही कोई उपलब्धि होती है, परन्तु इसे वे उन भ्रामक गुरुओं की कृपा का फल मान लेते हैं और इसका वे दूसरे में भी प्रचार करते हैं। इस प्रकार गुरुडम चलता रहता है।

धार्मिक क्षेत्र में सबसे बड़ प्रलोभन है ईश्वर-दर्शन तथा मोक्ष-प्राप्ति का। ईश्वर-दर्शन एक छलावा है। जिसके भी आंखों से दर्शन होते हैं या मन से जिसकी कल्पना होती है वह सब भौतिक पदार्थ या भावना है। मनुष्य की आत्मा से अलग कोई ईश्वर नहीं है जिसके दर्शन उसे मिल सकते हों। परन्तु ईश्वर-दर्शन का भ्रम सहस्राब्दियों से चला आया है। आदमी कोई अवधारणा बना लेता है। जब उस अवधारणा में उसके मन का अत्यन्त अनुराग हो जाता है, तब वह उसे अपने मन में देखता रहता है। उसे समय-समय से ऐसा भी लगता है कि मानो वह उसे प्रत्यक्ष मिलता है। भावुक भक्तों को अपने मन में बुद्ध, महावीर, ईसा, राम, कृष्ण, कबीर आदि के दर्शन होते रहते हैं। वे उन्हें प्रत्यक्ष भी देखने का भ्रम करते रहते हैं। किसी भावुक को यदि कोई पत्थर की मूर्ति मुसकराती हुई दिखे तो यह आश्चर्य नहीं है। क्योंकि अधिक भावना में ऐसे मानसिक भ्रम का होना सहज बात है। सर्वत्र व्याप्त ईश्वर की कल्पना करने वालों को बादल की बिजली की चमक में उसकी मुसकराहटें, हवा में उसके श्वसन, समुद्र की लहरों में उसके हाथ पटकने की क्रिया, वन-वनस्पतियों में उसके बालों को देखना सहज बात है। स्वामी रामतीर्थ जैसे पुरुष भावुक होकर नदियों, बादलों एवं वनों की श्यामता में कृष्ण को देखने का भ्रम करके उन्हें

पुकारते रहते थे। उदाहरण प्रत्यक्ष है कि कामियों को हर तरफ अपनी प्रेयसी दिखाई देती है, अति लोभियों को हर तरफ रुपये और अति मोहियों को अपने प्रियतम दिखते हैं। आदमी जिस व्यक्ति, वस्तु और अवधारणा में अपनी तदाकारता एवं तन्मयता कर लेता है, उसके मन में वे सदैव छाये रहते हैं। यही मानो उसका उनके दर्शन करना है। इसी प्रकार जिस मनुष्य ने ईश्वर की जैसी कल्पना गढ़ रखी है, वह वैसे ईश्वर को अपने मानस-चक्षु में सब समय या समय-समय से देखता रहता है। इन सबका अर्थ यही हुआ कि ईश्वर-दर्शन का अर्थ है अपने मन और इन्द्रियों के विकारों के दर्शन। इस प्रकार तात्त्विक दृष्टि से ईश्वर-दर्शन कुछ नहीं है। परन्तु भ्रामक गुरु भावुक भक्तों को ईश्वर-दर्शन का झांसा देकर उन्हें अपने जाल में फंसाते रहते हैं। कोई आंखों की गरमी और प्रकाश को ईश्वर-दर्शन बताता है, तो कोई अनाहतनाद के नाम पर खोपड़ी में होती हुई नसों की झनकार को, तो कोई अन्य चमक-दमक एवं अवधारणा को ईश्वर-दर्शन बताता है। कोई शून्य को ईश्वर बताकर कहता है कि लो, मैंने तुम्हें ईश्वर के दर्शन करा दिये।

दूसरी बात है मोक्ष-प्राप्ति की। मोक्ष जीव से अलग कोई वस्तु नहीं जो उसकी प्राप्ति करना हो और कोई उसे दे सके। मोक्ष तो है मन के मोह का क्षय। जब इन्द्रियां अपने वश में हो गयीं और मन प्रशांत हो गया, बस यही मोक्ष है। इसे दूसरा कोई नहीं दे सकता। यह तो व्यक्ति के अपने विवेक-वैराग्य एवं साधना का फल है। इसमें योग्य गुरु सहायक होता है। धूर्त गुरु तो इसमें बाधक बनेगा।

धूर्त गुरुओं के वाक्य-जाल में फंसकर भावुक भक्त लोग उनके दरबार में बिकने चले, तो कबीर साहेब ने उन्हें टोका—अरे विवेक-नेत्रों वाले मानव! तुम अंधे सरीखे कैसे जाल में फंस रहे हो। ये ऋद्धि-सिद्धि देने वाले, मोक्ष देने वाले तथा ईश्वर-दर्शन कराने वाले धूर्त गुरुओं के जाल में तुम क्यों फंस रहे हो? ये सिद्ध तथा अवतार बने भ्रामक लोग तुम्हें कुछ देने की शक्ति नहीं रखते हैं। यदि ये तुम्हें कुछ देंगे तो धोखा और छलावा। सदाचार और अच्छी बातों के उपदेश वे भी करते हैं और वे अपने जीवन में भी इनका दिखावा करते हैं। क्योंकि यही तो विश्वास उत्पन्न कराने का साधन है। परन्तु उनकी पोलपट्टी तब खुल जाती है जब वे अवतार बनते हैं, सिद्ध बनते हैं और अपनी कृपा से भक्तों को भोग तथा मोक्ष देने का प्रलोभन देते हैं। अतः हे मूलतः विवेक-प्रधान मानव! तुम ऐसे भ्रामकों के जाल में क्यों फंस रहे हो?

भावुक भक्त कहते हैं—'हे महाराज! हमने गुरु और भगवान के वचन सुने। उनकी बातें हमारे मन में बस गयीं। पीछे हम उन्हीं में लीन हो गये। दयालु गुरु एवं कृपालु भगवान ने मानो हमारे ऊपर अपने फंदे डालकर हमें

फंसा लिया है। अब हमने अपने आप को उन्हीं के अधीन कर दिया है। हमारे गुरु जैसे भी हैं हम उनको भगवान मानते हैं। यदि वे कामी हैं तो कृष्ण हैं, मोही हैं तो राम हैं, लोभी हैं तो वामन हैं, क्रोधी हैं तो परशुराम हैं। गुरु जैसे भी हों वे त्यागने योग्य नहीं होते। वे सदैव पूज्य एवं आराध्य होते हैं।

कबीर साहेब ने कहा—हे मनुष्य! तुम दीन बनकर अपनी मानवता एवं अपने सत्य स्वरूप में नहीं प्रतिष्ठित हो सकते। तुम बिना कर्म किये, केवल गिड़गिड़ाकर और भीख मांगकर जो भोग और मोक्ष चाहते हो यह तुम्हारी गहरी भूल है। तुम्हारे पुरुषार्थ एवं श्रम के बिना कोई गुरु तुम्हें कुछ नहीं दे सकता। विवेक तथा रहनी सम्पन्न गुरु के उच्चादर्श तथा उपदेश साधक को प्रेरित करते हैं। उसे श्रम तो स्वयं ही करना पड़ता है। यदि कोई सिद्ध या भगवान बनकर तुम्हें छूमंतर से भोग और मोक्ष देने की बात करता है तो वह धूर्त है। ऐसे लोग तुम्हारे काल हैं, तुम्हारे पथभ्रष्टक हैं। तुम इस प्रकार की बातें करने वालों के संप्रदायरूपी गड्ढे में गिरोगे तो वहीं फंसोगे "जेहि जेहि डाबर तुम फिरो, तहँ तहँ मेले जाल।" तर्क, विवेक, कारण-कार्य-व्यवस्था एवं विश्व के शाश्वत नियमों के विरुद्ध जहां तक बातें की जाती हैं सब जालसाजियां हैं। उनमें पड़ने से मनुष्य का भटक जाना सहज है। अतएव भक्ति की महिमा के जोश में जाल में न फंसो। सत्य में श्रद्धा ही भक्ति है।

अदृश्य बन्धनों की प्रबलता

बिन रसरी गर सकलो बन्धा, तासो बँधा अलेख।
दीन्हा दर्पण हस्त में, चश्म बिना क्या देख॥ 232॥

शब्दार्थ—गर=गला, गरदन। तासो=उससे। अलेख=अदृश्य। हस्त=हाथ। चश्म=आंख।

भावार्थ—बिना रस्सी के केवल मान्यता रूपी अदृश्य बन्धनों से सबकी गरदन बंधी हुई है। जैसे अंधे के हाथों में दर्पण देने से भी वह कुछ नहीं देख सकता, वैसे विवेकहीन तथा निष्पक्ष दृष्टिकोण से रहित मनुष्य को सच्चा निर्णय सुनाने पर भी वह क्या समझ सकता है!॥ 232॥

व्याख्या—संसार में पशु आदि को बांधने के लिए रस्सी, जंजीर आदि के बन्धन होते हैं। चोर, बदमाश आदमियों को भी रस्सी, जंजीर आदि में ही बांधा जाता है। परन्तु जीव के बन्धन रस्सी, जंजीर आदि के नहीं हैं। सद्गुरु मार्मिक वचन कहते हैं—"बिन रसरी गर सकलो बन्धा"। सबकी गरदन बिना रस्सी के बंधी हैं। वह कौन-सा बन्धन है? सद्गुरु बताते हैं—"तासो बँधा अलेख" अर्थात मनुष्य उससे बंधा है जो अलेख है। अलेख का मतलब है जो लखने एवं

देखने में न आवे, जो अदृश्य हो। वह है मान्यता एवं अहंता-ममता। काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष आदि मन की मान्यता ही तो हैं। मैं शरीर हूं या मेरा शरीर है, ये मकान, धन, परिवार, जाति, वर्ण, पद, प्रतिष्ठा मेरे हैं, मेरा निधान या आश्रय मुझसे अलग है—यह सब मान्यता ही है। इन्हीं मान्यताओं के जाल में जीव बंधा है। सद्‌गुरु ने कहा—"सबकी गरदन बिना रस्सी के बंधी हैं।" तब लोगों ने पूछा—"महाराज, वह कौन बन्धन है?" सद्‌गुरु ने कहा—"जीव उस बन्धन में बंधे हैं जो अदृश्य है।" वह अदृश्य बन्धन मन की मान्यता है।

एक प्रसिद्ध कहानी है। ऊंट के व्यापारियों के ठहरने की एक सराय थी। बहुत-से ऊंटों को लेकर एक व्यापारी सराय में रुका। सराय के मालिक से उसने ऊंटों को बांधने के लिए रस्सियां मांगीं। उसने सब ऊंटों को रस्सियों से बांध दिया। एक ऊंट बांधने से बच गया। रस्सियां खत्म हो गयी थीं। सराय वाले ने कहा कि अब तो मेरे पास रस्सियां नहीं हैं। उसने ऊंट वाले से कहा कि तुम ऐसा करो कि ऊंट को एक खूंटे के पास ले जाकर उसे अदृश्य की रस्सी से बांध दो। इसका अर्थ यह है कि जैसे रस्सी से बांधा जाता है, तुम वैसे ही अपने हाथ उसकी गरदन पर फेरकर उसे खूंटे से बांधने का दिखावा करो, ऊंट समझ लेगा कि मैं बंध गया हूं। ऊंट वाले ने वैसा ही किया। सचमुच ऊंट ने समझ लिया कि मैं बंध गया। ऊंट अपने खूंटे के पास बैठ गया। सुबह ऊंट वाले ने सारे ऊंटों की गरदन से रस्सियां खोलीं। सभी ऊंट उठ खड़े हुए और वहां से चल पड़े। परन्तु जो ऊंट अदृश्य रस्सी से बंधा था, वह न उठा। ऊंट वाले ने उसे डंडे मारे, हाथ से धकेला परन्तु वह उठा नहीं। ऊंट वाला बहुत हैरान हुआ। सब ऊंट सराय से चल दिये थे, परन्तु वह तो उठ ही नहीं रहा था। ऊंट वाले ने सराय के मालिक के पास जाकर अपनी समस्या बतायी। उसने कहा कि उस ऊंट की रस्सी भी खोल दो। ऊंट वाले ने कहा, परन्तु वह तो बंधा ही नहीं है, उसकी गरदन में रस्सी है ही नहीं। सराय वाले ने कहा कि तुम जैसे अदृश्य रस्सी से बांधे हो वैसे उसे खोलने का भी नाटक करो। उसकी गरदन पर हाथ फेरकर खोलने का उपक्रम करो, तब ऊंट समझेगा कि मैं खोला गया और उठकर चल देगा। ऊंट वाले ने वैसा ही किया और ऊंट उठकर चल दिया।

मनुष्य ऐसी रस्सी से बंधा है जो दिखाई नहीं देती। झूठी मान्यता के बन्धन उसके मन को जकड़ रखे हैं। शरीर और संसार का सम्बन्ध स्वप्न से भी झूठा है, क्योंकि स्वप्न से जागकर उसकी याद तो आती है, परन्तु शरीर छूट जाने पर शरीर और संसार की याद भी नहीं आती। ऐसे शरीर और संसार के प्राणी-पदार्थों की अहंता-ममता करना कितना घोर अज्ञान है। परन्तु आदमी इस अहंता-ममता के बन्धनों में बंधा रहता है। शराब, गांजा-भांग, बीड़ी-सिगरेट, तम्बाकू आदि की आसक्ति वाले आदमी उनके बिना रह नहीं पाते। आदमी

बाहर की किसी रस्सी से तो बीड़ी-सिगरेट आदि में नहीं बंधा है। वह भीतर से मान्यता एवं आसक्ति के बन्धनों से बंधा है जो दिखाई नहीं देते। इसलिए उससे छूटना बड़ा कठिन होता है। रस्सी तथा जंजीर के बन्धनों को तो वह जल्दी तोड़ दे, आदत और मोह के बन्धन तोड़ना विवेक का काम है।

आदमी सांसारिक माया-मोह में सब प्रकार का दुख पाते हुए भी उसमें बंधा हुआ घसिटता चला जाता है। वह मान्यता का, मोह का एवं ममता का ही बन्धन है जो देखने में नहीं आता है, परन्तु अति प्रबल है। लोग मरने के निकट होकर भी इसे नहीं छोड़ पाते। केवल स्थूल प्राणी-पदार्थों की मोह-ममता ही बन्धन नहीं है; किन्तु भूत, प्रेत, ब्रह्मराक्षस, मन्त्र-तन्त्र, शकुन-अपशकुन, ग्रह, लग्न, मुहूर्त, देवी, देवता तथा अपनी आत्मा से अलग अपना आश्रय-स्थल किसी ईश्वर-परमात्मा की अवधारणा आदि सब केवल मन की मान्यता का जाल है जो जीव के लिए अदृश्य बन्धन है। मान्यता मात्र बन्धन है। सारी मान्यताओं को छोड़ देने के बाद स्वयं आत्म-अस्तित्व ही मुक्तस्वरूप है। जीव निजस्वरूप को भूलकर अपने से अलग कुछ मान-मानकर ही बंधा है। श्री विशाल साहेब ने कहा है—"लोह जंजीर न रसरी बंधन, बड़े-बड़े सुभट सो खाय पछरवा हो।" अर्थात यह अहंता-ममता का बंधन कोई लोह-जंजीर एवं रस्सी का नहीं है, परन्तु इससे बड़े-बड़े वीर भी पछाड़ खाते हैं। रस्सी, जंजीर एवं जेलखाना रूप स्थूल बन्धन काटने में सरलता होती है, परन्तु मान्यता का बन्धन काटना बड़ा कठिन होता है। कोई शूरवीर ही इसे काटता है।

अंधे आदमी के हाथों में स्वच्छ दर्पण दे दिया जाये तो उससे वह अपना मुख नहीं देख सकता, वैसे ही विवेकहीन आदमी को चाहे जितना सत्य निर्णय सुनाओ, वह उससे नहीं जग सकता। आदमी ने आंखें होने पर भी उन्हें बंद कर ली हैं। मनुष्य का मौलिक स्वरूप विवेकसंपन्न है, परन्तु उसने मान्यताओं का अंधापन स्वीकार कर लिया है। चाहे संसार की मोह-ममता की बातें हों, चाहे राग-द्वेष की बातें हों, चाहे वैर-विरोध की बातें हों, चाहे नाना काल्पनिक अवधारणाओं की बातें हों, जिस आदमी ने जहां जैसी मान्यता बना ली है, उससे वह हटना नहीं चाहता। एक बार खूंटा गाड़कर जहां बंध गये, तो बंध गये। ऐसे अंधों को कोई कैसे सुपथ पर लगा सकेगा!

जीव का स्वरूप शुद्ध चेतन है। परन्तु उसने जितनी मान्यताएं बना रखी हैं सब विजाति हैं। जीव का अपना 'आपा' एवं 'स्व' केवल उसकी चेतना है और जो मन की मान्यताएं हैं वे 'पर' हैं। जीव 'स्व' को भूलकर 'पर' के हाथ में बिक गया है। सद्गुरु अगली साखी में कहते हैं—

समुझाये समुझे नहीं, पर हाथ आपु बिकाय।
मैं खैंचत हौं आप को, चला सो जमपुर जाय॥ 233॥

शब्दार्थ—पर हाथ=दूसरे के हाथों; मन, माया, मान्यता एवं कल्पना के हाथों। आप को=अपनी ओर, स्वचेतन स्थिति की ओर। जमपुर=वासनाओं-मान्यताओं का जाल।

भावार्थ—मनुष्य समझाने पर भी नहीं समझता। वह अपने आप को दूसरों के हाथों में बेच रहा है। मैं तो उसे अपनी ओर खींचता हूं कि सारी मान्यताओं को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित होओ, परन्तु वह मान्यता एवं वासना रूपी यमपुर में जा रहा है॥ 233॥

व्याख्या—"पर हाथ आपु बिकाय" बहुत वजनदार वचन है। मनुष्य अपने आप को दूसरे के हाथों में बेचता है। वह समझता है कि मेरे स्थायी सुख का साधन कोई दूसरा है। मनुष्य ने इन्द्रियों के भोगों के लोभवश अपने आप को दूसरों के हाथों बेच दिया है। वह प्राणी-पदार्थों, मैथुन, मोह, नशा, नाच, रंग, मंत्र, तंत्र, देवी-देवादि के हाथों तथा पता नहीं कितनी जगहों में अपने आप को बेच दिया है। मनुष्य अपने आप को 'स्व-वश' न रखकर 'पर-वश' कर दिया है। परन्तु परवशता ही सब प्रकार का दुख है और स्ववशता ही सर्वस्व सुख है।[1] बस इतनी ही सुख-दुख की परिभाषा है। परन्तु यह ध्यान रहे कि उच्छृखंलता को स्ववशता नहीं कहते। स्ववशता है मन-इन्द्रियों की विवशता से मुक्ति। उच्छृंखलता तो घोर परवशता है। आदमी ने अपने आप को वासनाओं के हाथों बेच दिया है। उसे समझाया जाये तो वह समझता नहीं। जिसके मन में जो भ्रम, जो मान्यता, जो आसक्ति गड़ गयी है, उसका निकलना कठिन हो जाता है।

सद्गुरु कहते हैं—"मैं खैंचत हौं आप को, चला सो जमपुर जाय।" मैं लोगों को अपनी ओर खींचता हूं और लोग ऐसे हैं कि वे यमपुर की ओर जा रहे हैं। गुरु जीव को अपनी ओर खींचते हैं। अपनी ओर है स्वरूपस्थिति और यमपुर है वासनाओं का समूह। गुरु के वचनों पर ध्यान देकर कोई बिरला सुज्ञ जीव अपनी स्वरूपस्थिति की ओर लौटता है। शेष तो यमपुर की ओर ही जाते हैं। लोग मान्यताओं तथा वासनाओं के जाल में जीवनभर उलझे मन की धारा में बहते रहते हैं। जो मन की धारा से निकलकर स्वरूप में स्थित हो, वह धन्य है। मन की धारा से निकल आना ही स्वरूपस्थिति में रहना है तथा स्वरूपस्थिति में रहना ही मन की धारा से निकल आना है। "सहजै हीरा नीपजै, जब मन आवै ठौर।"

माया-मोह से मुक्त होने का साधन नित्य सत्संग है

6. सर्वं परवशं दुःखं सर्वं आत्मवशं सुखम्। (मनुस्मृति)

नित खरसान लोहाघुन छूटै। नित की गोष्ट माया मोह टूटै॥ 234॥

शब्दार्थ—खरसान= अधिक तेज सान, पत्थर की वह चक्की जिस पर उस्तुरा, कैंची, चाकू आदि की धार तेज की जाती है उसे 'सान' कहते हैं। घुन=मोरचा, लोह का मैल जो पानी तथा हवा के संयोग से लोहे में से ही पैदा होता है। गोष्ट=गोष्ठी, सत्संगवार्ता।

भावार्थ—छुरा, कैंची, चाकू आदि को बराबर तेज सान पर चढ़ाकर माजते रहने से उनका मोरचा झड़ता रहता है, और वे तेज तथा चमकदार बने रहते हैं। इसी प्रकार नित्य संत-सज्जनों की संगत तथा ज्ञानचर्चा करते रहने से माया-मोह छूटता रहता है॥ 234॥

व्याख्या—जैसे लोहे के औजार में पानी और हवा के संयोग से मोरचा लगता रहता है, परन्तु उसे माजते रहें तो मोरचा छूटता रहता है और वह चमकता रहता है, वैसे हमारे मन की दशा है। पूर्व वासनाएं, मन-इन्द्रिय, विषय-पदार्थ, प्राणी तथा नाना व्यवहार के सम्बन्ध में मनुष्य के मन में मलिनता आने की हर क्षण संभावना रहती है। इनसे साधक तभी बचा रह सकता है जब वह निरंतर संतों एवं सज्जनों की संगत करे और उनसे स्वरूपज्ञान, सदाचार एवं सद्गुणों की चर्चा सुनता एवं करता रहे। संत-सज्जनों के उत्तम आदर्श देखने तथा उनकी वाणियों को सुनकर उन पर मनन करने से साधक को अपने चित्त की शुद्धि में शंबल मिलता है।

गृहस्थ-भक्तों से कहा जाता है कि वे पूरा परिवार इकट्ठे होकर अपने घर में प्रतिदिन एक समय अपने मान्य ग्रन्थों का पाठ, कथा, सत्संग-वार्ता करते रहें, तो इन बातों का उनके मन पर रोज-रोज प्रभाव पड़ेगा, परन्तु कम लोग इस पर ध्यान देते हैं। हर गृहस्थ को अपने घर में नित्य एक समय पाठ, कथा, सत्संग का आयोजन करना चाहिए और पूरे परिवार को इसका लाभ लेना चाहिए। पड़ोस के लोग भी आकर लाभ लें तो अच्छा है। फिर गांव या मोहल्ले में भी यह आयोजन होना चाहिए, सप्ताह में एक बार ही हो। पूरा परिवार एक बार इकट्ठा बैठ जाने से एक तो आपस में प्रेम बनता है। उनके व्यवहार में यदि कुछ विकार आया हुआ रहता है तो वह धुल जाता है। साथ-साथ नित्य के प्रापंचिक व्यवहार की मलिनता सत्संग से धुलती रहती है। प्रपंच तो रुक नहीं सकता, सत्संग रोक देने से चित्त की मलिनता बढ़ने के सिवा और क्या होगा! गृहस्थ तो गृहस्थ ही हैं कितने साधुओं के मठ में सत्संग नहीं होता। उनका मठ भी केवल कमाने-खाने की जगह बनकर रह जाता है। जिस मठ में सत्संग-वार्ता नहीं होती, वहां के साधु साधना-मार्ग से शिथिल हो जाते हैं और उनसे समाज को कोई प्रेरणा नहीं मिलती। हम नित्य घर-आंगन बुहारते हैं। यदि न बुहारें तो वे कचड़े से भर जायेंगे। इसी प्रकार सत्संग और विचार से यदि हम अपने मन को

न बुहारते रहेंगे तो हमारे मन में मलिनता आ जायेगी।

राम और माया दोनों में माया का मोह तो अनादि अभ्यस्त है और आज भी वह मनुष्य के अन्दर और बाहर धूं-धूं कर गुजर रहा है; परन्तु राम का परिचय तथा उसमें अनुराग दुर्लभ वस्तु है। राम की याद दिलाने वाले सद्ग्रन्थों का पाठ, वाचन, कथा-वार्ता, सत्संग, गोष्ठी आदि हैं और यदि आदमी इनसे दूर रहता है, तो उसके मन में केवल माया की प्रतिष्ठा रहेगी, राम की नहीं। इसका फल होगा जीवन का दुखों में डूबा रहना। धन, परिवार तथा संसार के ऐश्वर्य चित्त को शांति नहीं दे सकते। मन जितना माया में डूबा रहेगा उतना वह पीड़ा का कारण बनेगा और जितना राम की याद में रहेगा, राम में रमेगा, उतना वह शीतल एवं सुख से पूर्ण रहेगा। पर-प्रकृति माया में रमना दुखों का कारण है और स्वरूप-राम में रमना सुखों का कारण है। जो नित्य सत्संग करता रहेगा, उसी के जीवन में दैवी संपदा का निवास होगा और वही माया से मुक्त होकर निजस्वरूप राम में स्थित हो सकेगा।

उलटा चलकर पहुंचने की भूल

लोहा केरी नावरी, पाहन गरुवा भार।
शिर पर विष की मोटरी, चाहै उतरन पार॥ 235॥

शब्दार्थ—नावरी= नौका। पाहन=पत्थर। गरुवा=वजनदार।

भावार्थ—मनुष्य लोहे की नौका में पत्थर का वजनी भार लादकर और सिर पर विष की गठरी रखकर पार उतरना चाहता है। अर्थात वह जड़-बुद्धि, दुष्कर्म तथा विषय-वासनाओं का आधार पकड़कर जीवन में चिरंतन सुख चाहता है॥ 235॥

व्याख्या—जड़बुद्धि मानो लोहे की नौका है, दुष्कर्म मानो पत्थर का वजनदार बोझा है और विषयों की वासनाएं मानो विष की गठरी हैं। इन्हीं का सहारा लेकर अनंत सुख की कामना करना कितना बड़ा व्यामोह है। इस साखी में जड़बुद्धि, दुष्कर्म और विषय-वासना के लिए लोहे की नौका, पत्थर का वजनी भार एवं विष की गठरी रूपक हैं, जो विषय-वस्तु को सरलता से समझने में सहयोग करते हैं। हम इन बातों पर अलग-अलग विचार करें।

पहली बात है जड़बुद्धिरूपी लोहे की नौका पर सवार होना। जड़बुद्धि का अर्थ है सत्य-असत्य न समझ पाना। यहां यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि अपढ़ आदमी जड़बुद्धि का होता है और पढ़ा-लिखा आदमी चैतन्य बुद्धि का। यह ठीक है कि पढ़ाई-लिखाई बुद्धि में सहयोग करती है, परन्तु जड़बुद्धि और चैतन्यबुद्धि से उसका ज्यादा सम्बन्ध नहीं है। कितने पढ़े-लिखे लोग सत्यासत्य

समझने से लाखों कोस दूर हैं। कितने वकील, जज, प्रोफेसर, इन्जीनियर, शास्त्री, आचार्य, प्राचार्य आज भी राम, कृष्ण, ईसा, बुद्ध, कबीर, हनुमान के दर्शन करने, उनसे साक्षात मिलने तथा उनसे बातें करने का दावा करते हैं। उन्हें न कारण-कार्य-व्यवस्था का ज्ञान है, न विश्व के शाश्वत नियमों से मतलब है और न विवेकबुद्धि से प्रयोजन है। कितने पढ़े-लिखे तथा विद्वान नामधारी भूत-प्रेत, देवी-देवतादि के घोर अंधविश्वास में डूबे हैं। विद्वान कहलाते हैं, किन्तु उन्हें जड़ और चेतन का कोई विवेक नहीं है। निजस्वरूप का बोध तो अत्यन्त कठिन हो गया है। बड़े-बड़े ज्ञानी-मुनि कहलाने वाले भी अपने चेतनस्वरूप को जड़ से सर्वथा भिन्न नहीं समझ पाते। वे कहते हैं "यह जगत मुझसे अलग कहां है! मैं ही चांद हूं, मैं ही सूर्य हूं और मैं ही यह अनंत ब्रह्मांड हूं।" वे 'स्व' और 'पर' तथा 'चेतन' और 'जड़' के भेद को समझते ही नहीं हैं। अब विचारिए कि ऐसे लोगों को जड़बुद्धि का समझा जाये या विवेकबुद्धि का! 'स्व' और 'पर' का विवेक जिसे नहीं है, वह जड़बुद्धि का है, यह सहज समझा जा सकता है। जड़बुद्धि का व्यापक अर्थ है स्व-पर, चेतन-जड़, कर्तव्य-अकर्तव्य आदि को प्राय: न समझ पाना।

दूसरी बात है "पाहन गरुवा भार" दुराचरणरूपी पत्थर का बोझा। जिसकी बुद्धि ही जड़ है उसके सारे आचरण कैसे पवित्र हो सकते हैं! बुद्धि की गड़बड़ी से आचरण गड़बड़ होंगे ही। गलत कर्म एवं गलत आचरण मनुष्य के लिए वजनदार बोझा बन जाते हैं। जिसके गले में पत्थर बंधे हों वह पानी में सहज ही डूब जायेगा। इसी प्रकार जो कुकर्म तथा बुरे आचरणों के भार से लदा है वह संसार-सागर में डूबेगा ही। पूछते हैं—'सबसे भारी क्या होता है?' उत्तर देते हैं 'अपना बनाया पाप।'

तीसरी बात है "सिर पर विष की मोटरी" विषय-वासनाएं ही जिसके सिर पर नाच रही हैं, अर्थात जिसके दिमाग में विषयों के विष भरे हैं, वह अविनाशी एवं अमृत पद से तो दूर रहता ही है उलटे नरककुण्ड में गिरता है। वस्तुत: विषय-वासनाएं ही नरककुण्ड हैं।

चौथी बात है तिस पर भी "चाहे उतरन पार" संसार-सागर से पार उतरना चाहता है। इतनी सारी विसंगतियों को लेकर भी मनुष्य पार उतरना चाहता है। पार उतरना क्या है? वस्तुत: पूर्ण प्रसन्नता से जीवन व्यतीत करना, चिरंतन सुख एवं सदा आनन्द में रहना पार उतरना है। जब मन में कुछ करने, भोगने, देखने, सुनने तथा जीने-मरने की भी इच्छा नहीं रहती; जब व्यक्ति सब समय पूर्णकाम, आप्तकाम, निष्काम एवं अखण्ड तृप्त हो जाता है तब वह मानो संसार-सागर से पार हो गया। संसार-शरीर में रहते हुए भी जब संसार-शरीर से जीव एकदम निष्काम हो जाता है तब यही उसका संसार-सागर से पार हो जाना है।

क्या भगवद्दर्शन का फल दुख में भटकना है?

कृष्ण समीपी पाण्डवा, गले हिंवारे जाय।
लोहा को पारस मिलै, तो काहे को काई खाय॥ 236॥

शब्दार्थ—हिंवारे= हिमालय। काई=मैल।

भावार्थ—श्रीकृष्ण के समीप रहने वाले पांचों पांडव स्वर्ग या मोक्ष-प्राप्ति के लिए जाकर हिमालय में गले, परन्तु लोहा को यदि पारस-पत्थर मिल जाये तो उसे मैल क्यों खायेगा! अर्थात जिसे बोध मिल गया है उसे भटकने की क्या आवश्यकता!॥ 236॥

व्याख्या—श्रीकृष्ण जी को राजनेता और ज्ञानी ही नहीं, पूर्णब्रह्म एवं जगतकर्ता मान लिया गया है। कहा जाता है कि उन्होंने सात सौ श्लोकों की गीता अर्जुन को बोध देने में ही कही है। गीता के अनुसार श्रीकृष्ण ने अपने विश्वरूप दर्शन भी अर्जुन को दिये हैं। लोग मानते हैं कि जो परमात्मा के दर्शन पा जाता है वह कृतार्थ हो जाता है। उसे कुछ करना बाकी नहीं रहता। पांचों पांडव तो परमात्मा कृष्ण के सहचर ही थे। आश्चर्य होता है कि इतना होने पर भी उनके दुख नहीं छूटे थे। महाभारत पढ़ो तो गीता का पूर्ण ज्ञान पाने के बाद भी अर्जुन सहित पांचों पांडव हिमालय में गलकर स्वर्ग जाने का उपक्रम करते हैं। वह भी हिम में गलकर केवल स्वर्ग पाने की बात है, मोक्ष की नहीं।

मरने के बाद क्या हुआ था इसका चक्कर छोड़ दें। पांडवों की दशा जीते जी क्या हुई थी इसे महाभारत पढ़कर जाना जा सकता है। तथाकथित विश्वनियन्ता श्रीकृष्ण के साथ रहकर भी पांडवों का पूरा जीवन कंटकाकीर्ण था। पांडवों के देखते-देखते उनकी पत्नी को भरी सभा में निर्वस्त्र करके अपमानित करना, पांडवों का नगर से निकाला जाना, उनका मृगछाला पहनकर घोर जंगलों में बारह वर्ष भटकते हुए नाना कष्ट भोगना, एक वर्ष का अज्ञातवास करते हुए नाना कष्ट उठाना, नगर में आकर राज्य वापस न पाना, कौरवों से भीषण युद्ध करना, पिता, पितामह एवं गुरुओं को छल-छद्म से मारना, उसके बाद अवशेष जीवन परिवार-विनाश के अनुताप में रोते रहना, और अन्त में हिमालय में गलकर मरना, यही है पांडवों के भगवद्दर्शन एवं भगवान के साथ जीवनभर रहने का फल। भगवद्दर्शन से परमशांति एवं परमानन्द की प्राप्ति की बात का पांडवों के जीवन में कहीं पता नहीं चलता। श्रीकृष्ण महाराज एक राजनीतिज्ञ वीर योद्धा और ज्ञानी थे। उनको परमात्मा तो लेखकों ने बनाया है।

घमण्ड का त्याग करो

पूरब उगै पश्चिम अथवै, भखै पौन के फूल।

ताहू को राहू ग्रासे, मानुष काहेक भूल॥ 237॥

शब्दार्थ—पौन= पवन, वायु।

भावार्थ—सूर्य जगत को प्रकाश देने के लिए पूर्व में उगता है और दिन भर लम्बी यात्रा कर पश्चिम में डूब जाता है और आहार हिंसा-रहित लेता है केवल पवन के फूल। ऐसे निर्दोष को भी समय-समय से राहु ग्रसता है, फिर मनुष्य किस अभिमान में पड़कर मृत्यु को भूल रहा है!॥ 237॥

व्याख्या—सूर्य का दिखाई देने का आरम्भ होना उसका उगना है। वह जिस तरफ दिखाई देना शुरू करता है उस दिशा को पूर्व कहते हैं, और जिस तरफ दिखना बन्द हो जाता है, पृथ्वी का आड़ा हो जाता है उसे पश्चिम कहते हैं। सूर्य यह नहीं जानता कि मैं संसार को प्रकाश देकर परोपकार कर रहा हूं। वह हवा का न आहार करता है और न उसे राहु ग्रसता है। यह सब तो आलंकारिक कथन है। सार यह है कि जब ऐसा परोपकारी, समर्थ, श्रमशील एवं निरपराध सूर्य भी ग्रहण की चपेट में आ जाता है, तब दूसरे की हानि करने वाले, असमर्थ, आलसी एवं अपराध करने वाले आदमी किस घमंड में भूले हैं! उनका मृत्यु के मुख में जाना तो एकदम सहज है।

मनुष्य नाना दुर्बलताओं से घिरा है; क्योंकि उसे अपने समर्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं है। वह अपने अविनाशी चेतनस्वरूप के विवेक से रहित है और देह ही को अपना स्वरूप मानता है। इसलिए देहाभिमानी बनकर नाना मलिनताओं में लिपटा रहता है। विषयों की मलिनता में लिपटे हुए होने के नाते अनेक आदतों, आसक्तियों एवं दुर्गुणरूपी दुर्बलताओं का शिकार बना है। इसके साथ वह जिस शरीर में रहता है वह अत्यन्त क्षणभंगुर है। इसलिए मनुष्य को किसी प्रकार का अहंकार करना उचित नहीं है। उसे चाहिए कि वह विनम्रतापूर्वक अपने आचरण सुधारे।

मन और इन्द्रियों को जीतो

नैनन आगे मन बसै, पलक पलक करे दौर।
तीन लोक मन भूप है, मन पूजा सब ठौर॥ 238॥

शब्दार्थ—तीन लोक=पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा पाताल; पृथ्वी, पृथ्वी के नीचे तथा पृथ्वी के ऊपर; सम्पूर्ण विश्व; सत, रज तथा तमगुणयुक्त समस्त जीव।

भावार्थ—मन नेत्रों के आगे बसता है और पलक-पलक दौड़ लगाता है। सभी जीवों के ऊपर मन राजा बन बैठा है। सब जगह मन की पूजा हो रही है॥ 238॥

व्याख्या—जागृति-अवस्था में मन की वृत्ति विशेष नेत्रों के सामने ही रहती हे। मनुष्य नेत्रों से जो-जो देखता है उसी-उसी में उसका मन चला जाता

है, और उसे जो दृश्य ज्यादा प्रिय लगता है उसका मनन करने लगता है। रूप की तरह शब्द विषय भी ज्यादा संवेदनशील होता है। शब्दों को सुनकर मन उसका मनन करता है। मनुष्यों में गंध की आसक्ति ज्यादा नहीं होती। स्पर्श तथा रस ये दो विषय इन्द्रियों को छूकर ही मन को आंदोलित करते हैं, परन्तु रूप और शब्द दूर से ही मनुष्य के मन को प्रभावित करते रहते हैं। एक दृष्टि से देखा जाये तो शब्द विषय का सर्वाधिक व्यापक प्रभाव है। वह ग्रंथों एवं पुस्तकों के रूप में पुराकाल से विद्यमान है। अर्थात साधक और बाधक दोनों प्रकार के शब्द नाना किताबों के द्वारा मनुष्य तक पहुंचते रहते हैं। मनुष्यों के द्वारा सुनकर और स्वयं कहकर शब्दों का ही सर्वत्र आदान-प्रदान होता है। इस विषय को इस प्रकरण के शुरू की साखियों की व्याख्या पढ़कर ज्यादा समझा जा सकता है।

इस साखी में सद्गुरु ने नेत्र से रूप विषय के सम्बन्ध में मन के पलक-पलक रमने की बात कही है। जो परम सत्य है। जागृति अवस्था में नेत्र प्रायः हर समय खुले रहते हैं और नेत्रों के सामने जो कुछ दिखाई देता है उसी में मन रमा करता है। दृश्यों में मन जिसे आकर्षक मान लेता है उसमें आसक्त हो जाता है, और कही-कहीं यह नेत्रों की चोट भयंकर होती है। मनोनुकूल स्त्री को देखकर पुरुष तथा पुरुष को देखकर स्त्री मोह-विह्वल हो जाते हैं। पतिंगे मूढ़ होने से दीपक की ज्योति में चिपककर मर जाते हैं; परन्तु कोई-कोई नर और नारी समझदार होकर भी इतने मूढ़ हो जाते हैं कि स्त्री या पुरुष के शरीर के कुछ उभरे और गहरे हाड़ और मांस के आकार, चिकने चाम, बाल और वस्त्र के मोड़ों को देखकर प्रलुब्ध हो जाते हैं। कुछ लोग तो रूप के मोह में इतने मूढ़ हो जाते हैं कि अपरिचित स्त्री या पुरुष के पीछे दीवाने होकर अपमान, लात, जूते एवं डंडे खाते हैं। स्त्रियां पुरुषों की तरफ आकर्षित होकर ज्यादा अनर्थ नहीं करती हैं। ज्यादातर पुरुष ही स्त्रियों को देखकर मूढ़ बनते हैं। इसलिए नेत्र-संयम की बड़ी आवश्यकता है। सद्गुरु कहते हैं—"स्त्री को घूरकर मत देखो, उसको देखकर उसके शरीर एवं अंगों की बार-बार याद मत करो। उसे घूरकर देखने से तुम्हारे मन में मोह एवं विषय-वासनाओं का विष चढ़ जायेगा और तुम्हारे मन में कुछ गंदी बातें आ जायेंगी।" मूल वचन इस प्रकार है—

नारी निरख न देखिये, निरखि न कीजै गौर।
निरखत ही ते विष चढ़े, मन आवै कुछ और॥

सद्गुरु कहते हैं कि सारे विश्व के प्राणियों के बीच में मानो मन ही राजा बन गया है और सब जगह सब लोग मन की ही पूजा में लगे हैं। इसका खुलासा यह है कि मनुष्य अपने आप को इतना भूल गया है कि मन जिधर बहता है वह उसी तरफ लुढ़क जाता है। संसार के अधिकतम मनुष्य मन के नचाये नाचते

हैं। कुछ लोग तो मन के इतने गुलाम हैं कि उनकी अत्यन्त दयनीय दशा होती है। परन्तु जो इन्द्रिय और मन की गुलामी करता है वह पशु से भी गया-बीता आदमी है और जो मन-इन्द्रियों पर विजयी है वह महत्तम मानव है।

मन स्वारथी आप रस, विषय लहर फहराय।
मन के चलाये तन चलै, जाते सरबस जाय॥ 239॥

शब्दार्थ—स्वारथी=स्वार्थी, खुदगरज। रस=स्वाद। फहराय=चंचल होना।

भावार्थ—मन अपने इन्द्रिय-विषयों के स्वाद का स्वार्थी है। उसमें विषयों की ही लहरियां उठती रहती हैं। मन के विचलित होते ही शरीर विचलित हो जाता है, जिससे सर्वस्व नष्ट हो जाता है॥ 239॥

व्याख्या—मन स्वार्थी है, खुदगर्ज है। वह सदैव अपने रस में डूबा रहता है। उसे सदा विषयों के स्वाद प्रिय हैं, क्योंकि वह अनादिकाल से उनमें आसक्त है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध ये पांच विषय हैं। सामान्य मनुष्य के मन में प्राय: हर समय कोई-न-कोई विषय की लहर विद्यमान रहती है, और वह उसी में डूबा रहता है। साधारण आदमी भी हर समय अपने मन को रोकता है। जिस विषय से वह अपने मन को नहीं रोक पाता, उससे वह कम-से-कम अपनी इन्द्रियों को तो रोकता ही है। मनुष्य का मन हर क्षण जैसे सोचता है उसके अनुसार इन्द्रियों से आचरण करके तो वह जीवित ही नहीं रह सकता। जब किसी एक विषय में मनुष्य का मन निरन्तर चलता है और उससे वह अपने को अलग नहीं करता, तो उस विषय में उसके मन में एक मोह उत्पन्न हो जाता है। मोह उत्पन्न होने पर वह कर्तव्य-अकर्तव्य तथा हित-अहित का विवेक खोकर घोर अन्धकार में पड़ जाता है और वह उसी विचलित मन के अनुसार बह जाता है।

साधारण गृहस्थ हो या वेषधारी, जो व्यक्ति स्त्रियों के कामोद्दीपक अंगों के सहित उनका स्मरण करता रहेगा, वह एक-न-एक दिन अपने पद से गिर जायेगा। हजार ज्ञान, हजार युक्तियां कुसंग तथा कुस्मरण की बहिया में बहकर पता नहीं कहां चले जाते हैं। मन विचलित होने पर शरीर विचलित हो जाता है और मन तथा शरीर दोनों विचलित हो गये तो मानो सर्वस्व चला गया। अर्थात उसका सब प्रकार से पतन हो गया। इसी प्रकार कोई साधारण स्त्री या साधिका यदि किसी पुरुष के अंगों सहित उसकी देह में अनुरक्त होने लगी तो वह धीरे-धीरे उस तरफ फिसलकर अपने आप को खो देगी। अच्छे-से-अच्छे साधक भी कुसंग के कारण ही गिरते हैं। स्त्री के लिए पुरुष तथा पुरुष के लिए स्त्री विरोधी आलंबन हैं। विरोधी आलंबन के निरंतर घूर-घूरकर दर्शन तथा डूब-डूबकर स्मरण करते रहने से पतित होने के सिवा कोई चारा नहीं है।

साधक एवं साधिका को चाहिए कि जिन दर्शनों, शब्दों, स्पर्शों, स्मरणों

आदि से मन में काम–वासना सम्बन्धी मलिनता पैदा हो उन्हें सांप–बिच्छू से भी भयंकर समझकर उनसे दूर होते रहें। 207वीं तथा 208वीं साखी की व्याख्या में विशाल देव की साखी के उदाहरण हम देख आये हैं कि कुसंग के कितने रूप हैं। जिन–जिन दृश्यों एवं शब्दों से मन विचलित हो, वे सब कुसंग हैं। अनादिकाल से विषय–वासना में वासित मन को कुसंग से हटाकर तथा परहेज रखकर ही शुद्ध बनाये रखा जा सकता है। जो पतिंगे के समान मूढ़ बनकर दीप–ज्वाला एवं विरोधी आलंबन में चिपकेगा, उसका विनाश रखा–रखाया है। एक बूढ़ा एक सुन्दरी को रोज–रोज ललचाई हुई दृष्टि से देखते–देखते इतना पागल हो गया कि एक दिन बलात उसके कमरे में घुसने लगा, परन्तु उस सुन्दरी ने इतने जोर से फाटक बन्द किया कि बूढ़े का सिर तथा चेहरा फाटक से टकराकर रक्तरंजित हो गया। वह मूर्च्छित होकर वहीं गिर पड़ा तथा लोगों के बीच में हास्यास्पद हो गया। एक नवयुवक एक युवती को दूर से ही रोज–रोज देखकर उसके मोह में इतना मूढ़ हो गया कि वह एक दिन उसके घर जाकर उससे अपनी मनोकामना के अनुसार याचना करने लगा। उस युवती को उस मूढ़ पर इतना गुस्सा आया कि उसने उसके ऊपर पत्थर दे मारा और वह जमीन पर गिर पड़ा। लोग इकट्ठे हो गये। उस पर थू–थू करने लगे। उसे पुलिस के पास ले गये। पुलिस ने उसके आधे बाल मुड़वा, आधी मूंछ तथा दाढ़ी कटवाकर तथा मुख में स्याही लगाकर बाजार में घुमाया। ये 'नैन रसिक' लोग इतने अंधे हो जाते हैं कि अपनी नैतिकता, शांति एवं प्रतिष्ठा को और दूसरे तथा समाज की प्रतिष्ठा को एकदम भूलकर अपनी नाक टट्टी में डुबो देते हैं।

अतएव सद्गुरु कबीर सावधान करते हैं कि हे मानव तथा साधक! तू सावधान हो जा। तू चाम, बाल, वस्त्र की बनावट के मिथ्या व्यामोह में पड़कर अन्धा मत बन! ये नर–नारियों के शरीर हड्डी, मांस, मल, मूत्र के पात्र हैं। इनमें कुछ सार नहीं है। भोगों से मन तृप्त नहीं होता, किन्तु त्याग से ही तृप्त होता है। विषयों की मलिनता नरक है। इससे मुक्त होना ही जीवन की उच्चता है।

भेड़ियाधंसान

कैसी गति संसार की, ज्यों गाडर की ठाट।
एक परा जो गाड़ में, सबै गाड़ में जात॥ 240॥

शब्दार्थ—गाडर=भेड़, भेड़ी। ठाट=झुंड, समूह। गाड़=गड्ढा।

भावार्थ—संसार के लोगों की वही दशा है जो भेड़ों के झुंड की होती है। यदि एक भेड़ गड्ढे में गिर पड़ी तो सारी भेड़ें उसके पीछे गड्ढे में गिरती चली जाती हैं॥ 240॥

व्याख्या—एक आदमी ने कहा कि अमुक व्यक्ति पानी में फूंक मारकर या उसे छूकर दे देता है तो उस पानी के सेवन से सभी ऋद्धि-सिद्धियां मिलती हैं, तो इस बात के पीछे पढ़, अपढ़-गंवई, शहरी सारे मूर्ख लाइन लगाकर खड़े हो जाते हैं। तांत्रिक, सोखा, बैगा, नाउत, फलित ज्योतिषी नामधारी और कुछ धूर्त जो अपने आप को पण्डित तथा महात्मा घोषित कर देते हैं, संसार के लोगों को मूर्ख बनाकर ठगने में लगे रहते हैं। ये नीरोग्यता, विजय, धन, पुत्र, प्रतिष्ठा, पद सब कुछ देने का झांसा देकर मूर्खों को ठगते हैं। और इनके पीछे मूर्खों की लाइन लगी रहती है। जिसमें सामान्य जनता से लेकर प्रोफेसर, डॉक्टर, वकील, जज, राजनेता, राज्याधिकारी, शास्त्री, आचार्य, प्राचार्य, वेदाचार्य सब भेड़ बने गड्ढे में गिरते हैं। कर दो हल्ला कि अमुक वन में, पेड़ के नीचे तथा गांव में देवी निकली हैं, देवता निकले हैं, तो देखोगे वहां मूर्खों की भीड़ पहुंचने लगेगी और अपनी मनोकामना की पूर्ति के लिए अपने तन, मन और धन को समर्पित करने लगेगी।

अमुक तीर्थ में जाने से, उसका नाम लेने मात्र से, अमुक नदी में नहाने से सारे पाप कट जाते हैं, स्वर्ग या मोक्ष मिलता है; अमुक नाम या मंत्र जपने से ऋद्धि-सिद्धि या मुक्ति मिलती है, अमुक पर्व या तिथि को प्रयाग, मथुरा, अयोध्या, काशी आदि में नहाने से, मरने से मोक्ष होता है; ऐसी-ऐसी अनेक भ्रांतियां हैं जो महारथी लोग फैलाते रहते हैं, किताबों में लिखते रहते हैं, उन्हें धर्मशास्त्र घोषित करते रहते हैं। लोग इन सबके पीछे पागल बने भेड़ों की तरह गड्ढे में गिरते रहते हैं। क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, क्या ईसाई, क्या अन्य मत वाले सब अन्धविश्वास के शिकार हैं, बिरला कोई इस भेड़ियाधंसान से बचता है।

आश्चर्य होता है कि दूसरे संप्रदायों की ऊलजलूल बातों को सब अंधविश्वास समझ लेते हैं, परन्तु अपने संप्रदायों की भ्रांतियों को परम सत्य समझे रहते हैं। इसमें कारण है अपने संप्रदायों की भ्रांतियों में अपना निहित स्वार्थ रहता है। यद्यपि यह स्वार्थ भी भ्रमपूर्ण ही है, तथापि उसे छोड़ना वीरता का काम है।

इस साखी में कोई-कोई संत एवं विद्वान पहला शब्द 'कैसी' को 'कासी' एवं 'काशी' पाठ मानते हैं। उसके अनुसार शुद्ध पाठ है—"काशी गति संसार की, ज्यों गाडर की ठाट।" इस पाठ में भी अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसका अभिप्राय हुआ कि काशी में मरने से मनुष्य की गति एवं मुक्ति होती है—यह विश्वास भेड़ियाधंसान है। सद्गुरु ने शब्द प्रकरण के 103वें शब्द में इस पर खूब खुलासा समझाया है।

जब जिसे शुद्ध परखदृष्टि प्राप्त होती है वह सारे अन्धविश्वासों का परित्याग कर देता है चाहे अपने सम्प्रदाय का हो और दूसरे के सम्प्रदायों का हो।

परखदृष्टि का अर्थ है निष्पक्ष विवेक, नीर-क्षीर विवेक। गुण-दोषों की पूर्ण परीक्षा ही परखदृष्टि है।

मारग तो कठिन है, वहाँ कोई मत जाव।
गये ते बहुरे नहीं, कुशल कहै को आव॥ 241॥

शब्दार्थ—कठिन=टेढ़ा, दुखदायी। बहुरे नहीं=फिर कल्याण-पथ में नहीं आये। कुशल=मंगल, हालचाल।

भावार्थ—भेड़ियाधंसान का मार्ग टेढ़ा एवं दुखदायी है। हे लोगो! बिना विचार किये दूसरे की देखादेखी किसी बात को सत्य मानकर उसके पीछे मत चलो। जो लोग देखादेखी गड्ढे में गिरते हैं, वे लौटकर कल्याण-पथ में नहीं आते, फिर कौन आकर अपना कुशल-मंगल कहे!॥ 241॥

व्याख्या—अपनी बुद्धि एवं विवेक का प्रयोग न कर केवल दूसरे की देखादेखी किसी मार्ग में चल देना मनुष्य के लिए कल्याणकर नहीं है। मनुष्य के मन में भीड़ का मोह होता है। लोग सोचते हैं कि जिसके पास राजनेता, वकील, जज, डॉक्टर, विद्वान, सेठ सब जाते हैं, जिसके पास हजारों अनुगामी हैं, जरूर वहां सत्य होगा। कबीर साहेब कहते हैं कि ठीक है, बिना जांचभाल किये किसी को गलत मान लेना ठीक नहीं है, परन्तु आंख मूंदकर किसी व्यक्ति या भीड़ के साथ चलना भी ठीक नहीं है। महापुरुष, शास्त्र, परम्परा, जनसमाज सब आदरणीय हैं, परन्तु अपना विवेक कम आदरणीय नहीं है। महापुरुष अनेक हैं, शास्त्र भी अनेक हैं और परम्पराएं भी अनेक हैं, फिर हम किस एक के पीछे चलें? अतएव महापुरुष, शास्त्र और परम्पराओं को भी हम अपने विवेक से ही समझ सकते हैं। अतएव जो अपनी विवेक-बुद्धि का तिरस्कार कर भेड़ियाधंसान में पड़ता है, उसका रास्ता पतन का होता है। विवेकवान हर बात पर विवेक कर उसका ग्रहण या त्याग करता है।

सद्‌गुरु कहते हैं कि बिना विचार किये भीड़ के साथ चलना केवल दुख का रास्ता है। उसमें कोई मत जाओ। जो लोग किसी धूर्त के कहने से या देखादेखी ईश्वर-दर्शन के लिए अपनी नाक कटा लेते हैं वे समझ जाने पर भी लज्जावश उसी में जीवनभर पड़े रहते हैं। उसको छोड़कर बाहर नहीं आते, फिर उनका कुशल-मंगल एवं हालचाल कौन कहे! वे शर्माशर्मी पच-पचकर मरते हैं। एक बार गड्ढे में गिर जाने पर मनुष्य को गड्ढा ही प्यारा लगने लगता है। अपनी भूल को स्वीकार कर उसे सुधार लेना बड़े त्याग और साहस का काम है।

कुसंग से सावधान

मारी मरे कुसंग की, केरा साथे बेर।
वै हालैं वै चींधरें, बिधिना संग निबेर॥ 242॥

शब्दार्थ—केरा=केला। बेर=एक प्रसिद्ध फल का कांटेदार पेड़। चींधरें=फाड़ते हैं। बिधिना= विधाता, कर्ता। निबेर= त्याग।

भावार्थ—मनुष्य कुसंग की मार से उसी प्रकार मरता है जैसे केले के पेड़ के साथ में बेर के पेड़ लग जाने पर केले की दशा होती है। केले के पत्ते हिलते हैं और बेर की कांटेदार डालियां उन्हें फाड़ती हैं। हे अपने कर्मों का विधाता मनुष्य! तू कुसंग का त्याग कर!॥ 242 ॥

व्याख्या—मनुष्य का ज्यादा पतन कुसंग के कारण ही होता है। मांस, मदिरा, गांजा, भांग, बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, पान, गुड़ाखू की आदतें, चोरी, व्यभिचार की आदतें तथा ऐसी अनेक अनर्थकारी आदतें कुसंग के कारण ही पड़ती हैं। अच्छे-अच्छे लोग कुसंग में पड़कर भ्रष्ट हो जाते हैं। धूप से अधिक ज्वलनशील धूप में तपी बालुका होती है, इसी प्रकार दोषों से अधिक घातक दोषों में डूबे आदमी की संगत होती है। सद्‌गुरु ने यहां केला और बेर का सुन्दर एवं सटीक उदाहरण देकर इस विषय को बड़ी सरलता से समझाया है। केला कितना चिकना और कोमल पेड़ होता है यह सब जानते हैं। उसके फल भी कितने सुस्वादु एवं तृप्तिकर होते हैं। उसके फल तथा वृक्ष की उच्चता के नाते उसे मांगलिक काम में भी लाया जाता है। केला के सुन्दर पेड़ एवं पत्ते गाड़कर भारतीय समाज में पूजा का मंडप बनाया जाता है। ऐसे सुन्दर एवं चिकने पेड़ के पास यदि बेर का पेड़ उग आये और बड़ा होकर केले के ऊपर छा जाये तो केले की क्या दशा हो सकती है यह सर्वविदित है। हवा चलने पर केले के पत्ते हिलेंगे और बेर की कांटेदार डालियों से टकराकर फटेंगे। बेर के कांटे केले के पत्ते को चींधी-चींधी उड़ायेंगे। इसी प्रकार यदि मनुष्य चोर की संगत करेगा, व्यभिचारी एवं दुर्व्यसनी की संगत करेगा तथा अन्य प्रकार दुराचरणग्रस्त लोगों की संगत करेगा, तो उससे उसकी बुद्धि बिगड़ते-बिगड़ते वह भी वैसे ही हो जायेगा।

जिनके घर में मांस-मदिरा नहीं थे, उनके घर में एक मांस-मदिरा का सेवन करने वाला व्यक्ति आकर बस गया और उस घर के लड़के उसके साथ भ्रष्ट हो गये। शूकर विष्ठा खाने का स्वभावसिद्ध आदती होता है, वैसे आदमी तम्बाकू खाने का आदती नहीं होता। परन्तु जिसके घर में तम्बाकू का नाम नहीं था, उसके घर में एक तम्बाकू खाने वाले शूकर या शूकरी का प्रवेश हुआ और उसकी संगत से घर के कई लोग शूकर या शूकरी हो गये। ये तम्बाकू खाने वाले बिना नाक के शूकर हैं। इसी प्रकार गांजा-भांग, बीड़ी-सिगरेट आदि पीने एवं खाने वालों की दशा है। करीब-करीब सारे दोष मनुष्य में कुसंग से आते हैं। पान का एक सड़ा पत्ता दूसरे पत्तों के साथ है तो उन्हें भी सड़ाता है। एक सड़ी मछली पूरे तालाब को गंदा करती है। इसी प्रकार आचरणभ्रष्ट मनुष्य स्वयं

नरक में गिरा ही है, जो व्यक्ति उसकी संगत करता है वह भी नरक में गिरता है।

सद्गुरु कहते हैं "बिधिना संग निबेर"। हे विधाता! ऐसी बुरी संगत का त्याग कर। मनुष्य अपने कर्मों का विधिना है, विधाता है। वह चाहे बुरे कर्म कर अपने को गड्ढे में डाल ले और चाहे अच्छे कर्म कर अपने आप को ऊपर उठा ले। कुसंग से कुबुद्धि बनती है और कुबुद्धि से गलत आचरण होते हैं, तथा सुसंगत से सुबुद्धि बनती है और उससे अच्छे आचरण होते हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह कुसंगत का त्याग करके अच्छी संगत करे।

केरा तबहि न चेतिया, जब ढिग लागी बेर।
अब के चेते क्या भया, जब काँटन लीन्हा घेर॥ 243॥

शब्दार्थ—ढिग=पास, निकट।

भावार्थ—केला का पेड़ तभी सावधान नहीं हुआ जब उसके पास बेर का पेड़ उगा था। अब उसके सावधान होने से क्या होता है जब बेर के कांटों ने उसे घेर लिया है! अर्थात मनुष्य तभी नहीं सावधान हुआ जब उसके ऊपर कुसंग का आवरण पड़ने लगा था। अब जब वह कुसंग तथा उसके फलस्वरूप कुकर्म में डूब गया है तब उसके रोने से क्या होता है!॥ 243॥

व्याख्या—केले के पेड़े के पास जब बेर के पौधे उगें तभी उन्हें उखाड़ देना चाहिए। इसी प्रकार कुसंग का संयोग आते ही उससे सावधान हो जाना चाहिए। कांटों से घिर जाने पर बचना कठिन है। कुसंग से जकड़ जाने पर उसके प्रभाव से बचना मुश्किल है। जो लोग कुसंग में रस लेना शुरू करते हैं वे यह नहीं समझते कि इसका परिणाम आगे चलकर बड़ा भयंकर एवं दूरगामी होगा। कुसंग पड़ने की शुरुआत में उससे सावधान होकर हट जाना बड़ा सरल होता है। परन्तु जब आदमी कुसंग करते-करते उसमें डूब जाता है तब उसका स्वभाव ही वैसा हो जाता है। तब वह कुसंग और कुकर्म के कारण उसके बुरे फल से रो सकता है, परन्तु उससे बचना कठिन हो जाता है।

हम इस विषय को और अधिक सूक्ष्म रूप में लें। कई युवक पढ़ते-लिखते हैं। वे बड़े अच्छे संस्कार वाले होते हैं। वे धर्म, अध्यात्म तथा लोकमंगल की भावना को समझते हैं। परन्तु वे व्यामोहवश शादी-विवाह के चक्कर में पड़ जाते हैं और थोड़े दिनों में सांसारिकता के कांटों से इस तरह जकड़ जाते हैं कि उनको रोते भी नहीं बनता। यह ठीक है कि सामान्य लोग शादी-विवाह करके रहते ही हैं और उन्हें रहना भी चाहिए। अन्यथा वे अनर्थ करेंगे। परन्तु जो ज्यादा समझदार है, जो आत्मकल्याण और लोककल्याण को समझता है, यदि वह शादी-विवाह एवं सांसारिकता के कांटों में फंसता है, तो उसे पीछे केवल पश्चाताप हाथ लगता है। क्योंकि एक बार दुनियादारी में जकड़ जाने के बाद उससे छूटने वाला बिरला होता है। अच्छे संस्कार वाले यदि कारणवश

दुनियादारी में फंस गये तो वे जीवनभर केवल पश्चाताप करते हैं।

इसका अर्थ यह नहीं है कि जो एक बार सांसारिकता में फंस गया वह निकल नहीं सकता। मनुष्य में पक्के निश्चय की वह महान शक्ति है जिससे सारे बन्धन नष्ट हो जाते हैं। सद्गुरु कबीर ने ऐसे व्यक्ति की बड़ी प्रशंसा की है जो एक बार संसार में उलझकर भी उससे निकल आता है "बलिहारी तेहि पुरुष की, जो पैठि के निकरनहार।" (साखी 226) मनुष्य को चाहिए कि वह पहले ही कुसंग से सावधान होकर उससे दूर हो जाये।

सद्गुरु बिना जीवों का भटकाव

जीव मर्म जाने नहीं, अन्ध भया सब जाय।
बादी द्वारे दादि न पावै, जन्म जन्म पछिताय॥ 244॥

शब्दार्थ—बादी=वादी, प्रवक्ता, गुरु। दादि=दाद, इंसाफ, न्याय।

भावार्थ—मनुष्य वास्तविकता का रहस्य नहीं जानते। सब विवेकहीन बने भटक रहे हैं। वे नाना मत के गुरुओं की सभाओं में भी न्याय नहीं पाते। फलतः जीव जन्म-जन्मांतर पश्चाताप करते और भटकते रहते हैं॥ 244॥

व्याख्या—अशिक्षित से शिक्षित, गंवई से शहरी, चपरासी से उच्चतम अफसर एवं शासक और निरक्षर से उच्चतम विद्वान जड़-चेतन की वास्तविकता का भेद पाये बिना अंधे बने भटक रहे हैं। यंत्र, तंत्र, मंत्र, गंडे, ताबीज, भूत, प्रेत, देवी, देवतादि नाना मिथ्या कल्पनाओं में सारा संसार चक्कर खा रहा है। आदमी अपने ऊपर एक अदृश्य-शक्ति की कल्पना करके स्वयं विमूढ़ बना है। जड़ और चेतन दो मौलिक तत्त्व हैं जिनमें अपने-अपने गुण-धर्म अनादि निहित हैं। इस भेद को न समझकर संसार की प्रायः हर घटना में किसी कल्पित देव को कारण मान लिया जाता है जिससे मनुष्य के ज्ञान क्षेत्र में निरंतर गिरावट आती है। दैववाद के मोह में पड़ा हुआ मनुष्य हर प्राकृतिक घटना का कारण प्रकृति में न खोजकर किसी देव या ईश्वर में खोजता है जो चमत्कार एवं अन्धविश्वास को प्रश्रय देता है। ग्रह, उपग्रह की गति, जड़तत्त्वों की क्रियाशीलता, ऋतु परिवर्तन, वनस्पति, नदी, झरने, भूचाल, ज्वालामुखी, पर्वत, बादल, वर्षा, समुद्र की घटनाएं प्रकृति में होती हैं, तो इनके कारण हमें प्रत्यक्ष प्रकृति में ही खोजना चाहिए, कल्पित देव में नहीं। आदमी बुद्धि, विवेक तथा अनुसंधान का इतना तिरस्कार करता गया कि वह करीब-करीब हर बात में पोंगापंथी हो गया। जब पंडित, विद्वान, महात्मा नामधारी भटक रहे हैं तब आमजनता का भटकना स्वाभाविक ही है।

सद्गुरु कहते हैं—"बादी द्वारे दादि न पावै"। साधारण मनुष्य विद्वानों, वक्ताओं एवं गुरुओं द्वारा भी न्याय नहीं पाता है। अधिकतम धर्मोपदेशक तो

स्वयं भटके हैं और रात-दिन मानो संसार को भटकाने में ही लगे हैं। देववाद, अवतारवाद, चमत्कारवाद तथा अनेक अजीबोगरीब बातें करना मानो धार्मिक गुरुओं की नियति हो गयी है। अतएव संसार के अधिकतम धार्मिक गुरुओं की सभाओं में न्याय नहीं मिलता। अनेक धार्मिक गुरु जीव को अंश, प्रतिबिम्ब, आभास, इच्छा, द्वेषादि से स्वरूपतः बद्ध कहकर मानो उसका निरादर करने पर ही डटे हैं। जीव सारे ज्ञान-विज्ञान का मूल है। जिसने वेद, बाइबिल, कुरान, जिंदावेस्ता तथा संसार के सारे शास्त्रों को रचना की है, जिसने धर्म, दर्शन, अध्यात्म, भौतिकविज्ञान, शरीरविज्ञान, मनोविज्ञान आदि का अन्वेषण किया है, जिसने ईश्वर, देवी, देवताओं आदि की कल्पना की है, उस परमसत्ता जीव को ही तुच्छ कहना मानव के दुर्भाग्य का लक्षण है। इन सबका फल है कि जीव जन्म-जन्मांतरों से दुख भोगता है। अपने महत्त्व को भूलकर कोई अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं हो सकता।

जाको सतगुरु ना मिला, ब्याकुल दहुँ दिश धाय।
आँखि न सूझै बावरा, घर जरै घूर बुताय॥ 245॥

शब्दार्थ—घूर=कचड़ा डालने की जगह।

भावार्थ—जिसको सच्चे सद्गुरु नहीं मिले हैं, वह अशांत होकर सर्वत्र भटकता है। उस पगले की विवेक की आंखें बंद होने से उसे कुछ दिखाई नहीं देता, जलता है घर और बुझाता है घूर॥ 245॥

व्याख्या—गुरु और सद्गुरु में अन्तर होता है। माता, पिता, दाई, विद्या पढ़ाने वाले तथा एक-एक विद्या एवं कला का ज्ञान कराने वाले एवं किसी मत के अनुसार दीक्षा देकर कुछ सन्मार्ग में लगाने वाले—ये सब गुरु हैं। गुरु बहुत होते हैं। एक गुरु के बाद दूसरा गुरु स्वीकारा जाता है। परन्तु सद्गुरु केवल एक होता है जिसकी शरण मिल जाने के बाद दूसरा सद्गुरु नहीं ढूंढ़ना पड़ता। गुरुओं की शरण में जाकर भी जहां तक यथार्थ बोध एवं संतोष नहीं हुआ वहां तक मानो सद्गुरु नहीं मिला है। सद्गुरु मिल जाने पर सारी भ्रांतियां मिट जाती हैं और यथार्थ बोध हो जाता है। कबीर देव कहते हैं कि जिसको सद्गुरु नहीं मिला है वह बोध न पाने के कारण अशांत होकर दसों दिशाओं में भटकता है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ईशान[1], नैर्ऋती, आग्नेय, वायव्य, नीचे तथा ऊपर—ये दस दिशाएं हैं। विवेकहीन आदमी परमात्मा या मोक्ष को पाने के लिए इन दसों दिशाओं में भागा-भागा फिरता है। तीर्थों के नाम से वह आठों दिशाओं में तो दौड़ता ही है, ऊपर स्वर्ग या परमात्मा के धाम की कल्पना करता

7. ईशान—उत्तर-पूर्व कोण; नैर्ऋती—पश्चिम-दक्षिण कोण; आग्नेय (अग्निकोण)—पूर्व-दक्षिण कोण; वायव्य—पश्चिम-उत्तर कोण।

है और नीचे क्षीरसागर तथा उसमें विष्णु की कल्पना करता है। यहां दसों दिशाओं का अर्थ लाक्षणिक भी है। इसका अर्थ हुआ सभी तरफ। आदमी बोध के बिना सभी तरफ दौड़ता है। दसों दिशाओं का अर्थ चारों वेद तथा छहों शास्त्र भी किया जा सकता है। अर्थात आदमी चारों वेदों तथा छहों शास्त्रों की वाणियों में भटकता है। अंततः सरल अर्थ यही है कि जब तक मनुष्य को यथार्थ सद्गुरु द्वारा अपने स्वरूप का वास्तविक बोध नहीं मिलता, तब तक वह सब समय एवं सब तरफ भटकता ही रहता है। चाहे अनपढ़ हो या विद्वान सब भटकते हैं। आज के युग में भी अंधविश्वास की कमी नहीं है। आज भी गुरुडम कम नहीं है। धूर्त-विद्वान अशिक्षित तथा शिक्षित मूर्खों को अपने माया-जाल में फंसाकर उनका शोषण करते हैं। सद्गुरु नाम वजनदार है, तो धूर्तों ने स्वयं को सद्गुरु घोषित कर दिया। अतएव जिज्ञासुओं को बहुत सावधान रहने योग्य है।

जिसे कारण-कार्य-व्यवस्था, जड़-चेतन एवं विश्व के शाश्वत नियमों का ज्ञान नहीं है और जिसे अपने स्वरूप का बोध नहीं है, वह अन्धा है, विवेकहीन है। वह घर में आग लगने पर उस पर पानी नहीं डालता है, किन्तु घूर पर डालता है। काम, क्रोध, मोहादि की आग तो उसके दिल में लगी है, उसे वह नहीं शांत करता है, किन्तु पत्थर-पीतल, पेड़-पहाड़, पानी-नदी आदि पूजता फिरता है। वह काशी, प्रयाग, अयोध्या, मथुरा, बद्री, पुष्कर, रामेश्वर, द्वारिका, पुरी आदि तीर्थ कहे जाने वाले नगरों की खाक छानता है; जहां पंडे-पुजारियों के धक्के एवं वचन-व्यवहार के सिवा कुछ नहीं पाता है। कारण है उसे सद्गुरु नहीं मिला है। सद्गुरु ही साधक की आंखें खोलता है और बताता है कि हे मानव! तेरे हृदय-मन्दिर में ही आत्मदेव निवास करता है। वही परमात्मा है। यह अपनी चेतना ही परम तत्त्व है। तू अपनी आत्मा की अवहेलना करके कहीं मत भटक। छोड़ सारे देवी-देवताओं का प्रपंच और समझ अपने आत्मदेव को। व्यक्ति ने अपने स्वरूप को, अपने आत्मदेव को भूलकर सारे देवी-देवताओं के पचड़े का सृजन किया है और उसी में भटक रहा है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि बाह्यप्रपंच छोड़कर सच्चे सद्गुरु की खोज करे।

पारख का महत्त्व

बस्तू अन्तै खोजै अन्तै, क्यों कर आवै हाथ।
सज्जन सोई सराहिये, जो पारख राखै साथ॥ 246॥

शब्दार्थ—अन्तै=अलग, पृथक। पारख=गुण-दोष की पहचान, विवेकज्ञान।

भावार्थ—वस्तु कहीं अलग रखी हो और उसे खोजा जाये कहीं अलग, तो हाथ में कैसे लगेगी! वे ही अच्छे लोग हैं तथा प्रशंसा करने योग्य हैं जो अपने

मन में विवेकज्ञान रखते हैं और परख की कसौटी पर सब कुछ परखते हैं॥ 246 ॥

व्याख्या—मनुष्य की अपनी वस्तु अपनी आत्मा है, वह अपने आप 'मैं' के रूप में है। परन्तु मनुष्य 'मैं' का, अपने आप का विवेक न कर कुछ बाहर खोज रहा है। अपने स्वरूप का बोध पाना ही मनुष्य का परम लक्ष्य है। परन्तु मनुष्य समझता है कि मेरा परम लक्ष्य बाहर है, इसलिए वह अपने आप पर कभी न ध्यान देकर अपने लक्ष्य को सदैव बाहर खोजता है।

एक बुढ़िया घर में बैठी कपड़ा सिल रही थी। वह बीच में उठकर कुल्ला-पानी करने गयी। जब लौटी, तब बहुत खोजने पर भी उसे सूई न मिली। इतने में दरवाजे की सड़क पर नगरपालिका की बत्ती जल गयी। उसने सड़क पर आकर सूई खोजना शुरू किया। किसी ने उससे पूछा—

"दाई, क्या खोजती हो?"

"बेटा, सूई।"

"वह कहां गिरी है?"

"घर में।"

"तो बाहर क्यों खोजती हो?"

"क्योंकि यहां बत्ती जलती है।"

"मां, बाहर चाहे जितनी बत्तियां जलें, सूई यहां नहीं मिलेगी। सूई तो घर के भीतर ही मिलेगी, क्योंकि वह वहीं खोई है। तुम घर में बत्ती जलाओ और वहीं खोजो।"

हमारी दशा यही है। आत्मदेव, रामदेव, चेतनदेव हृदय के भीतर है और हम मूर्ख बने उसे बाहर खोजते हैं। हम बाहर शायद असंख्य जन्मों से खोजते हों, परन्तु वह आज तक नहीं मिला है। आगे भी उसे अनंतकाल तक खोजते रहें तो भी नहीं मिलेगा। खोजकर जो वस्तु मिलती है, वह तो जड़ पदार्थ है, विजाति मायावी पदार्थ है। अपनी वस्तु तो अपना स्वरूप है। उसे खोजना नहीं है, किन्तु जगत से लौटकर समझना है। केन उपनिषद् में कहा गया है कि वह "प्रतिबोधविदितं मतम्"[1] का विषय है। हम बाहर दृश्यों को जो कुछ जानते हैं वह बोध है और जब दृश्यों से एवं बाहर से लौटकर विवेक करते हैं कि दृश्यों को कौन जाना तब 'प्रतिबोध' होता है कि मैंने ही तो दृश्यों को जाना। जो दृश्यों को जानता है वह मैं हूं। फिर मैं कौन हूं? मैं चेतन हूं, मैं ही वह राम हूं जिसे मैं खोज रहा हूं। सद्गुरु विशालदेव ने भी कहा है "घूमि लखत जब आप को, मैं

---

8. केन उपनिषद्, खंड 2, मंत्र 4।

जाना व तमन्ध।"[1] अर्थात जब जीव दृश्यों से लौटकर अपने आप पर ध्यान देता है, तब उसे बोध होता है कि मैं चेतन ही जड़ अन्धकारमय दृश्यों को जानता हूं।

कबीर देव का हर वचन मार्मिक होता है। वे यहां भी मार्मिक वचन कहते हैं—"बस्तू अन्तै खोजै अन्तै, क्यों कर आवै हाथ।" अतएव वे पुनः कहते हैं—"सज्जन सोई सराहिये, जो पारख राखे साथ।" वही सज्जन है, वही प्रशंसा करने योग्य है जो अपने पास में पारख रखता है। कबीर देव का पारख बड़ा प्रिय विषय है। कबीर देव पारखी हैं। वे सबके गुण-दोषों की परखकर दोषों को छोड़ते तथा केवल गुणों को ग्रहण करते हैं। पारखी असत्य छोड़ने के लिए बड़ा निर्भय होता है। वह पुरानी पोथी, परंपरा, प्राचीन बड़े पुरुष सबका आदर करता है, परन्तु किसी द्वारा घोषित असत्य को नहीं स्वीकारता। ईसा के तीन सौ वर्ष पूर्व बनी राजनीति की महान पुस्तक "कौटलीय अर्थशास्त्रम्" के ग्रंथारंभ में ही अन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता और दण्ड—इन चार विद्याओं का वर्णन किया गया है। उनमें प्रथम 'अन्वीक्षकी' है। सांख्य, योग और लोकायत मत को अन्वीक्षकी विद्या कहा गया है। कबीर देव अपने युग के मानो अन्वीक्षकी विद्या के आचार्य हैं। कबीर देव हर बात में अन्वीक्षण, परीक्षण एवं परख करते हैं, और अपनी बात मानने वालों को राय देते हैं कि तुम लोग भी अपने साथ 'पारख' रखो—"पारख राखै साथ।"

परख या पारख जीव का स्वरूप ही है। जीव ज्ञानमात्र है। ज्ञान ही में तो परख है। एक चींटी भी धूल में मिले हुए शकर के कण को परखकर उसमें से निकाल लेती है। हम मनुष्य-शरीर का विवेकसम्पन्न साधन पाकर भी धर्म के नाम पर चलाये गये अन्धविश्वासों की निष्पक्ष परख करके सारासार निर्णय न कर पावें तो इससे बड़ा दुर्भाग्य क्या होगा! हमें सारे संस्कारों के बंधनों को तोड़कर सारासार की परख करनी चाहिए। सद्गुरु पूरण साहेब ने कहा है "परख साधु गुरु परख कबीर, पारख पद पहिचान। पारख के परताप से, सब भ्रम जाला मान॥" अर्थात पारख अपने साथ में रखने के कारण ही साधु, गुरु और कबीर साहेब प्रशंसा के पात्र हैं। इसलिए मनुष्य को पारखपद की पहचान करनी चाहिए। अर्थात अपने पारखस्वरूप, परखशक्ति एवं स्व-स्वरूप का महत्त्व समझना चाहिए। निष्पक्ष सत्यज्ञान एवं स्वरूपज्ञान ही प्रशंसनीय है। अतएव मानव मात्र को निष्पक्ष पारखी होना चाहिए। इसलिए सद्गुरु रामहरस साहेब ने कहा है—"बन्दौं सन्मुख पारखी।"

---

१. विशाल वचनामृत, अपनाबोध, साखी 49।

श्रद्धा और बुद्धि का समन्वय

सुनिये सबकी, निबेरिये अपनी।
सेंदुर का सिंधौरा, झपनी की झपनी॥ 247॥

शब्दार्थ—निबेरिये=निबेड़ा, गुण-दोषों की परख, सारासार निर्णय, बन्धनों का त्याग। सिंधौरा=सेंदुर रखने का पात्र। झपनी=ढक्कन।

भावार्थ—आदर से सबकी बातें सुन लो, परन्तु अपनी परख से उनके गुण-दोषों की पहचान करो और दोषों का त्यागकर केवल गुणों का ग्रहण करो। जैसे सेन्दुर के सिंधोरा में ढक्कन लगा रहता है, तो वह सिंधोरा है और झपनी की झपनी भी है वैसे सबकी बातें सुन लेने से श्रद्धा का निर्वाह हो जायेगा और अपने विवेक से उनका निर्णय करने से बुद्धि का भी निर्वाह हो जायेगा॥ 247॥

व्याख्या—सबकी गलत बातों का निर्मम खण्डन करने वाले कबीर देव जैसा दुनिया में कोई नहीं हुआ; परन्तु उनका खंडन ध्वंसात्मक नहीं, रचनात्मक है। वे भौतिकवादी नहीं, किन्तु अध्यात्मवादी हैं। यहां कहने का अर्थ यह नहीं है कि भौतिकवादियों की गतिविधि ध्वंसात्मक होती है। कितने लोग अध्यात्मवाद का मुखौटा लगाकर ध्वंसात्मक काम करते हैं। ईश्वर मानने वालों ने जितना मानव का खून-खराबा किया है उतना अनीश्वरवादियों ने नहीं किया है।

कबीर सोहब वस्तुतः भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद की सीमा से परे विवेकवादी तथा मानवतावादी हैं। वे सब का आदर करते हैं, परन्तु किसी का असत्य किंचित भी स्वीकारना नहीं चाहते। इसलिए वे इस साखी की पहली पंक्ति में कितनी समन्वयात्मक बातें कहते हैं, सोचते ही बनता है "सुनिये सबकी, निबेरिये अपनी"। सबकी बातें आदर से सुनो, परन्तु अपने विवेक से उन सबका निर्णय करो। न तो किसी की बातों एवं शास्त्रों का अनादर करो और न आंख मूंदकर समर्थन करो।

संसार में प्रायः दो प्रकार के लोग होते हैं। एक वे होते हैं जो अपने धर्म और अपने शास्त्र के नाम पर सब कुछ आंखें मूंदकर मानते हैं। वे किसी बात पर थोड़ा भी विचार नहीं करना चाहते। दूसरे वे लोग होते हैं जिनको धर्म और शास्त्र के नाम पर ही चिढ़ होती है। वे धर्म और शास्त्रों के नाम पर चलती हुई असंगत बातों से इतने क्षुब्ध होते हैं कि धर्म और शास्त्र की कोई बात ही नहीं सुनना चाहते। इस बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ऐसे लोग काफी हैं। ऐसे लोगों की चिढ़ इसलिए अधिक बढ़ जाती है, क्योंकि पंडित, महात्मा एवं बूढ़े लोग धर्म और शास्त्र के नाम पर चलने वाली सारी असंगत बातों को भी संगत एवं सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं और उन ऊलजलूल बातों को न मानने

वालों को नास्तिक कहने का साहस करते हैं। वेद, बाइबिल, कुरानादि कुछ भी नाम हो, यह कहना कि किसी निराकार ईश्वर ने पुस्तकें बनाकर दुनिया में भेजी हैं, वह राम, कृष्ण के रूप में अवतार बनकर आया है तथा उसने ईसा और मुहम्मद के रूप में अपने पुत्र एवं संदेशवाहक भेजे हैं, हनुमान सूरज निगल गये, कबीर ने मुरदे को जिला दिया, अपनी आज्ञा से चौकी को चला दिया, ईसा ने आठ रोटियों एवं छह मछलियों से कई हजार नर-नारियों को पेट भर खिला दिया, उसके बाद कई झाबे रोटी तथा मछलियां बच भी गयीं, कोई हजार, लाख या करोड़ों वर्ष तक जीता रहा, काकभुशुंडि सत्ताईस कल्प अर्थात 1 खरब, 16 अरब, 64 करोड़ वर्ष तक एक ही आश्रम पर बने रहे; इन जैसी बिना सिर-पैर की बातें विवेक की आंखों वाला आदमी नहीं मान सकता और आज का वस्तुपरक बुद्धि रखने वाला आदमी भी नहीं मान सकता! यह सब असत्य बातें मानना अन्याय और पाप भी है। धार्मिक नामधारियों द्वारा उक्त ऊटपटांग बातों का भी समर्थन करने तथा उन्हें बलात समाज से मनवाने की बात देख-सुनकर नयी पीढ़ी का युवावर्ग या बुद्धिवादी समाज धर्म नाम से बिदक जाता है। फिर तो वह धर्म की बात सुनना भी नहीं चाहता। दूसरे वे लोग हैं जो अपने माने गये धर्म और शास्त्रों की बातों में कुछ निबेरना नहीं चाहते। वे किसी बात पर सोचना, तर्क करना एवं निर्णय करना पाप समझते हैं।

आजकल उक्त दोनों विचार प्रबल रूप से चल रहे हैं। इसलिए नई तथा पुरानी पीढ़ी में खाई चौड़ी होती जा रही है। आज हर सम्प्रदाय की युवा पीढ़ी के अधिकतम लोग तर्कहीन एवं युक्तिहीन बातों को नहीं मानते हैं। आजकल हर सम्प्रदाय का पुरोहितवाद ठंडा होता जा रहा है। पुरानी आस्थाएं टूट रही हैं। आस्थाविहीन जीवन बिखर जाता है। इसलिए उत्तरोत्तर युवा-पीढ़ी दिशाहीन होकर भटक रही है। उसे धर्म के धंधेबाजों से चिढ़ बढ़ती जा रही है। धर्म के नाम पर जो सर्वाधिक बड़ी दुकानें होती हैं उनमें अधिकतम चमत्कार नामक झुठाई पर ही चलने वाली होती हैं। आज के वैज्ञानिक युग में भी भगवान के अवतार, कबीर के अवतार, तथाकथित सूक्ष्म एवं कारण शरीरधारी ऋषियों की आत्मा से बातें करने वाले, थोड़े पूजा-पाठ से ऋद्धि-सिद्धि देने वाले गुरुओं की भरमार है। इन सब बातों से आज के बुद्धिवादी समाज का चित्त पीड़ित है।

उक्त रोग की एक ही औषध है जिसे सद्गुरु बता रहे हैं कि सबकी बातों को आदर से सुनो, और सबके शास्त्रों को आदर से पढ़ो, परन्तु उन पर अपनी परख की कसौटी लगाकर सारासार का निर्णय करो। संसार की सारी पुस्तकें, महापुरुष एवं परम्पराएं आदरणीय हैं, परन्तु गलत बातें किसी की भी आदरणीय नहीं हैं। सबकी बातें सुनना प्रचलित अर्थ में श्रद्धा है और अपने विवेक से उनमें गुण-दोषों की परख करना बुद्धि है। यद्यपि यह पीछे देखा गया है कि श्रद्धा

सत्य का धारण करना है। हिन्दू केवल वेदों को, ईसाई बाइबिल को, यहूदी बाइबिल के पुराने अंश को तथा मुसलमान कुरान को ही मानते हैं। परन्तु अब पूरे मानव-समाज की नयी पीढ़ी को चाहिए कि वह दुनिया के सभी शास्त्रों को आदर दे, परन्तु तर्कहीन बातें किसी की भी न माने। हर बात एवं शास्त्र की हर वाणी पर परख की कसौटी लगाकर उनमें सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करे।

निर्विवाद रहो

बाजन दे बाजन्तरी, तू कल कुकुही मति छेर।
तुझे बिरानी क्या परी, तू अपनी आप निबेर॥ 248॥

शब्दार्थ—बाजन्तरी=बाजा, मतवाद को लेकर लड़ने वाले। कल=मधुर, कमजोर। कुकुही=बनमुरगी, एक छोटा बाजा। छेर=छेड़खानी, नोकझोंक, चिढ़ाने की क्रिया, सुर निकालने के लिए बाजे (स्वरवाद्य) को छूने एवं दबाने की क्रिया। क्या परी=क्या चिंता है? निबेर=निबेड़ा, छुटकारा।

भावार्थ—मतवाद का पक्ष लेकर झगड़ने वाले लोगों को झगड़ने दे! तू शांतिप्रिय साधक इन झगड़ालू वनमुरगों से छेड़खानी मत कर, अथवा द्वन्द्व का घनघोर बाजा बजाने वाले इन झगड़ालुओं के बीच में अपना कमजोर स्वर मत छेड़। तुझे दूसरे के विवाद से क्या प्रयोजन है! तू अपने इन्द्रिय, मन एवं वासनाओं के झगड़े को मिटा, उससे छुटकारा ले!॥ 248॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर सत्य कहने में खरे हैं, किन्तु विवादी से विवाद करने से दूर हैं। खरा सत्य कहे बिना जिज्ञासु को बोध नहीं हो सकता, किन्तु मतवादियों से विवाद करके कभी अपना सत्य उन्हें समझाया नहीं जा सकता। इसलिए कबीर देव खरा तो कहते हैं, परन्तु विवादी से उलझते नहीं। वे कहते हैं कि यदि कोई अपने मत का पक्ष लेकर झगड़ा करता है, बक-बक करता है तो उसे झगड़ने दो। तुम अपने आप को उसके झगड़े के बीच में मत डालो। "बाजन दे बाजन्तरी" का अर्थ है बाजा बजने दो। भावार्थ है कि झगड़ालुओं को झगड़ने दो। जो लोग झगड़ा करके अपने मत को सिद्ध करना चाहते हैं, मनोविज्ञान से उनकी मानसिकदशा की दयनीयता समझ लो और उनसे दूर हो जाओ। भला, आज तक कोई झगड़ा करके अपना पक्ष दूसरे को समझा सका है! जहां कहीं भी शास्त्रार्थ हुआ है, वहां केवल कलह हुआ है। शास्त्रार्थ में दोनों पक्ष के लोग एक-दूसरे को कभी समझने की चेष्टा नहीं किये न करते हैं। वहां तो अपनी सही-गलत बातों को येनकेन प्रकारेण दूसरों के सामने ऐसे जोर से कहना होता है कि लोग उनसे आतंकित हो जायें। शास्त्रार्थ में तो वही जीतता है जो चतुर, चपल और बकबक करने में प्रचंड हो। शास्त्रार्थ में समझने-

समझाने की बात नहीं होती। वहां तो हार और जीत की बात होती है। अपढ़-मूर्ख आपस में कलह होने पर लाठी चलाते हैं और विद्वान-मूर्ख शास्त्रार्थ के नाम पर झगड़ा करते हैं। समझने-समझाने का रास्ता शास्त्रार्थ नहीं, सत्संग है।

यदि कोई तुमसे विवाद करते हुए कहे कि मुझे अपने मत को समझाओ। यदि तुम अपने मत को नहीं समझा पा रहे हो तो तुम्हारा मत असत्य है। तो उससे तुम कह सकते हो कि ठीक है, मेरा मत असत्य ही समझ लो। परन्तु आपका मत तो सत्य है, फिर आप अपने मत को विवाद करके दूसरे मत वालों को क्यों नहीं समझा देते! जैसे आपके ख्याल से आपका मत सत्य होते हुए भी आप उसे दूसरे को बलात नहीं समझा सकते, वैसे मैं भी अपना मत आपको बलात कैसे समझा सकता हूं! दूसरे सबको समझाकर तब हम अपने मत पर चलें, जो ऐसा सोचेगा वह न दूसरे सबको समझा सकेगा और न अपने मत के अनुसार चल सकेगा।

जिज्ञासुओं को ही समझाया जा सकता है। जिज्ञासु वह है जो विनम्र, उदार और निष्पक्ष होकर श्रद्धा एवं बुद्धिपूर्वक समझने का भाव रखता है। जो व्यक्ति अपनी बातों को पक्की मानकर विवाद करने आता है वह नहीं समझ सकता। उसे समझने का भाव ही नहीं है। यदि कहीं कोई मतवादी घेर-घेरकर विवाद ही करना चाहे, तो आपको उससे केवल उसकी बातों में प्रश्न करना चाहिए। अपना कोई मत न रखना और दूसरे के मत में केवल प्रश्न करते जाना विवादी को थकाने का तरीका है। परन्तु इस शस्त्र का प्रयोग तब करना चाहिए जब कोई बहुत पीछे पड़ जाये और आप अपना बल अंदाज लें। इसके लिए आप को अगले आदमी के मत का ज्ञान होना चाहिए और आप में प्रगल्भ बुद्धि तथा वाक्यनिपुणता होनी चाहिए। परन्तु शांति-इच्छुक के लिए यह सब करना ठीक नहीं। इसीलिए सद्गुरु कहते हैं—"बाजन दे बाजन्तरी"। झगड़ा करने वालों को झगड़ने दे। "कल कुकुही मति छेर" तू शांतिप्रिय आदमी, इन झगड़ालू बनमुरगों से छेड़खानी एवं नोकझोंक न करे। 'कल' का अर्थ मधुरता एवं शांति है, कुकुही का अर्थ वनमुरगा है। वनमुरगा जब बोलने लगता है तब दिन-दिन 'पुक-पुक' बोला करता हैं। वनमुरगा को बंसमुरगा भी कहते हैं। कबीर साहेब सटीक उदाहरण देते हैं। वे कहते हैं कि तुम कल से, शांति से रहने वाले साधक हो, अतएव इन झगड़ालू वनमुरगों से मत उलझो। विवाद की कोई इति नहीं है। विवाद से विवाद बढ़ता है। सद्गुरु ने 70वीं रमैनी में भी कहा है "बोलत-बोलत बाढ़ु विकारा" बहुत बोलने से केवल विकार बढ़ता है।

सुना जाता है कि कुकुही नाम का एक छोटा बाजा भी होता है जिसमें कमजोर स्वर निकलता है। इस अर्थ में 'कल' कुकुही का विशेषण होगा। अर्थात 'कुकुही' में 'कल' विशेषण माना जायेगा। अतएव अर्थ होगा कि

कमजोर स्वर निकालने वाले कुकुही नाम का बाजा बजाना मत शुरू करो। अभिप्राय है कि नक्कार खाने में तूती की आवाज की कहानी मत चरितार्थ करो। अगला आदमी जोर देकर बकबक करने वाला प्रमादी है, और तुम शांति से, धीरे तथा कम बोलने वाले साधक हो, फिर तुम उससे अपना 'कल कुकुही' क्यों छोड़ते हो? चातुर वह है जो पातुर से बचाए। अर्थात समझदार वह है जो झगड़ालुओं से अपने आप को बचाए। विवाद करने से अपनी शक्ति क्षीण होती है। इसलिए निर्विवाद रहना अच्छा है।

"तुझे बिरानी क्या परी, तू अपनी आप निबेर"। तुम्हें इसकी चिंता क्यों होनी चाहिए कि दूसरे सब लोग तुम्हारी बातें समझ ही जायें। ऐसा कभी नहीं हुआ है। कोई अपनी बातें सबको नहीं समझा सका है। इसलिए तुम अपनी मनोवासनाओं को दूरकर तथा अपने सारे बन्धनों को काटकर स्वयं कृतार्थ हो जाओ, फिर जिन्हें तुम्हारी बातें समझनी होगी झख मारकर समझेंगे। तुम दूसरों को इसीलिए समझाना चाहते हो कि वह सत्य को समझकर तथा उसका आचरण कर कृतार्थ हो जाये, तो यह काम पहले तुम अपने लिए करो। सब, सबको समझाने के चक्कर में ही रहें, और स्वयं कोई समझकर अपना उद्धार न करे तो ऐसा समझाना किस काम का! अतएव हमें चाहिए कि हम दूसरे के विवाद से रहित होकर अपना कल्याण करें।

करनी के बिना कथनी बेकार है

गावै कथै बिचारै नाहीं, अनजाने का दोहा।
कहहिं कबीर पारस परसे बिना, जस पाहन भीतर लोहा॥ 249॥

शब्दार्थ—कथै=कहता है, ज्ञान-चर्चा। पाहन=पत्थर।

भावार्थ—दोहा, चौपाई, पद, श्लोक आदि गाते हैं, उनकी कथा भी कहते हैं, परन्तु उनका विचार करके आचरण नहीं करते, तो मानो वे अनजाने ही हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि जैसे मोरचा लगा लोहा पारस-पत्थर के भीतर ही क्यों न पड़ा हो, किन्तु मोरचा के परदे के कारण उसका पारस से स्पर्श न होने से वह सोना नहीं बनता, वैसे मलिनता में लिपटे हुए होने के कारण ज्ञान की वाणियों के पाठ तथा कथा करते हुए भी व्यक्ति का कल्याण नहीं होता॥ 249॥

व्याख्या—पारस पत्थर काल्पनिक है, किन्तु बातों को समझाने के लिए इसका उदाहरण कवि-जगत में चलता है। जिस लोहा में खूब मोरचा लगा हो ऐसा लोहा पारस-पत्थर के भीतर ही पड़ा हो, वह सोना नहीं बन सकता। क्योंकि लोहा और पारस में मोरचा परदा बनकर दोनों का स्पर्श नहीं होने देता। यही दशा मलिनता में लिपटे हुए जीव की है। वे ज्ञान के ग्रन्थ पढ़ते हैं, गाते हैं, उनका व्याख्यान करते हैं, परन्तु बोध और आचरण की जगह पर कोरे-के-कोरे

ही रहते हैं। जो व्यक्ति अपने में अहंकार, कामना तथा नाना मनोविकारों का पालन करेगा, उसका वाक्यज्ञान उसके कल्याण में सहायक नहीं बन पायेगा। यदि ज्ञान की वाणियों का याद करना, पाठ करना तथा उन पर व्याख्यान करना एक व्यसन है तो उससे वह आदमी अपना कल्याण तो कर ही नहीं पाता, उलटे उनके जोर से अपनी कमजोरियों को ढांकता है। वाचिकज्ञानी वाक्यज्ञान से अपने दोषों को सद्गुण सिद्ध करता है। एक प्रवक्ता महात्मा नामधारी ने अपने प्रवचन में कहा था "भगवद् भक्त में यदि दूषण हैं तो वे मानो भूषण ही हैं।" जब सुधार की भावना नहीं होती है तब व्यक्ति का सारा ज्ञान उसे विपरीत दिशा में ही ले जाता है। ऐसे अनेक तथाकथित ज्ञानी, कथावाचक एवं प्रवक्ता होते हैं जो बातें निचोड़कर कहते हैं, परन्तु उनके आचरणों से लाखों कोस दूर होते हैं। अप्पय दीक्षित ने ठीक ही कहा है—"नीति, ज्योतिष, शास्त्रों, वेदों एवं ब्रह्म के ज्ञाता बहुत मिलते हैं, परन्तु अपनी कमजोरियों तथा अपने अज्ञान के ज्ञाता बिरले हैं।"[1] इसीलिए युधिष्ठिर जी कहते हैं—"पढ़ने वाले, पढ़ाने वाले और शास्त्रों के चिन्तन करने वाले सब व्यसनी और मूर्ख हैं। जो क्रियावान है, सदाचरणसंपन्न है, वह पण्डित है।"[2] अतएव हमारे मन का थोड़ा ज्ञान भी आचरणयुक्त है तो बहुत है। आचरणरहित बहुत ज्ञान किस काम का!

ब्रह्म से जगत की उत्पत्ति मानना भ्रम है

प्रथम एक जो हौं किया, भया सो बारहबान।
कसत कसौटी ना टिका, पीतर भया निदान॥ 250॥

शब्दार्थ—हौं=मैं, ब्रह्म। बारहबान=खरा, खालिस सोना।

भावार्थ—सर्वप्रथम केवल एक ब्रह्म था। उसने सोचा कि मैं एक हूं, परन्तु बहुत हो जाऊं, और वह एक से अनेक अर्थात जगत बन गया—यह सिद्धांत खरा सोना के समान बड़ा सच्चा लगा। परन्तु जब इसे परख की कसौटी पर कसा गया तब यह सत्यरूप में नहीं ठहरा। अंततः पीतल सिद्ध हुआ॥ 250॥

व्याख्या—पुराकाल में ऐसे चिन्तक हुए हैं जिन्होंने यह कल्पना की कि सर्वप्रथम केवल एक ब्रह्म था। उसके अलावा और कुछ नहीं था। उसे अकेले में आनन्द नहीं आया 'एकाकी न रमते।' अतएव उसने सोचा कि मैं एक हूं, परन्तु प्रजा के रूप में अनेक हो जाऊं—'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय।' फिर सृष्टि

---

10. नीतिज्ञा नियतिज्ञा वेदज्ञाऽपिभवन्ति शास्त्रज्ञाः।
ब्रह्मज्ञाऽपिलभ्याः स्वाज्ञानज्ञानिनो विरलाः॥

11. पठकाः पाठकाश्चैव चान्ये शास्त्रविचिन्तकाः।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान् स पण्डितः॥ वनपर्व, 313/110॥

हो गयी। इन सबका अर्थ यह है कि पहले जगत नहीं था, केवल एक अखंड शुद्ध चेतनस्वरूप ब्रह्म था। उसी ने जगत बनने की इच्छा की और वह स्वयं जगत बन गया। इस सिद्धान्त को लोग बड़ा महत्त्वपूर्ण मानने लगे। आज भी जो लोग विवेक नहीं करते वे इस सिद्धान्त को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। परन्तु जब इस पर परख की कसौटी लगायी गयी तब असत्य सिद्ध हुआ। ब्रह्मवादीजन ब्रह्म को स्वजाति, विजाति और स्वगत भेद से रहित निर्विकार, एक अखण्ड सर्वत्र व्याप्त और शुद्ध चेतन मानते हैं, फिर उसमें स्फूर्ति, संचालन, क्रिया, विकार हो ही नहीं सकते। जहां क्रिया और विकार ही संभव नहीं, वहां सृष्टि का होना कैसे संभव होगा! इसके अलावा ब्रह्म को सच्चिदानन्द कहा जाता है। अर्थात वह सत् है, चिद् है और आनंदस्वरूप है। परन्तु जगत असत्, अचिद्, और क्लेशमय है, तो सत् से असत्, चिद् से अचिद् और आनंदस्वरूप से क्लेशरूप जगत कैसे बन सकता है? वैशेषिक सूत्रकार कणाद ऋषि कहते हैं कि कारण के गुण के अनुसार ही कार्य में गुण होता है।[1] अर्थात जो गुण कारण में होगा वही कार्य में होगा। कारण से सर्वथा हटकर कार्य में गुण नहीं आ सकते। और चेतन से जड़ तथा जड़ से चेतन तो हो ही नहीं सकते। फिर शुद्ध ब्रह्म से अशुद्ध जगत कैसे बन गया! क्रियाहीन ब्रह्म से क्रियाशील जगत कैसे बन सकता है! अतएव इस सिद्धांत को कपिल, कणाद, गौतम, जैमिनि और पतंजलि ने जो क्रमशः सांख्य, वैशेषिक, न्याय, मीमांसा और योग दर्शन के प्रणेता हैं, नहीं माना है।

कुछ ब्रह्मवादीजन कहते हैं कि जड़-गोबर से चेतन बिच्छू पैदा हो जाते हैं, नशारहित अन्न, महुआ आदि से नशा वाली शराब बन जाती है, मारक तत्त्व हाइड्रोजन तथा प्राणप्रद तत्त्व ऑक्सीजन से पोषक तत्त्व जल बन जाता है, और पोषक पदार्थ घी और मधु की बराबर मात्रा मिला देने से मारक पदार्थ विष बन जाता है, इसलिए चेतन ब्रह्म से जड़ जगत भी बन सकता है। इन्हीं सब युक्तियों एवं प्रमाणों से भौतिकवादी जन जड़तत्त्वों में गुणात्मक परिवर्तन मानकर उनसे चेतन की उत्पत्ति मानते हैं।

वस्तुतः जड़ गोबर से चेतन बिच्छू नहीं होता। चेतन जीव जड़ गोबर या किसी जड़तत्त्व में देह धारण कर सकता है। अन्न में घुन पैदा हो जाते हैं तो इसका मतलब यह नहीं है कि घुन की चेतना अन्न से पैदा हुई है। वस्तुतः अन्न से केवल घुन का शरीर पैदा हुआ है, चेतन तो स्वतः है। अन्न, महुआ सब में सूक्ष्म रूप में नशा है, इसीलिए भोजन करने के बाद नींद या आलस्य आता है। अन्न, महुआ आदि का सूक्ष्म नशा उन्हें सड़ा देने पर शराब में प्रचंड रूप में आ जाता है। मिट्टी की कठोरता उसके कार्य ईंट में तथा पत्थर की कठोरता उसके

---

12. कारणगुणपूर्वकः कार्य्यगुणो दृष्टः॥ 2/1/24॥

कार्य लोहे में अधिक हो जाती है। मारक हाइड्रोजन तथा प्राणप्रद ऑक्सीजन से पोषक जल बन गया तथा पोषक घी और मधु से मारक विष बन गया तो भी जड़ का जड़ ही रहा। जड़ से चेतन नहीं बन गया और न चेतन से जड़ बन गया; अतएव न तो जड़ तत्त्वों से चेतन की उत्पत्ति हो सकती है और न चेतन से जड़तत्त्वों की उत्पत्ति हो सकती है। जड़ और चेतन दोनों सर्वथा भिन्न हैं। दोनों स्वतः एवं अनादि-अनंत हैं।

कोई ऐसी सत्ता जो एक अखण्ड, निर्विकार, निष्क्रिय तथा सर्वत्र व्याप्त हो, उसमें गति, स्फूर्ण, संचालन, क्रिया तथा सृष्टि कदापि नहीं हो सकती। अतएव एक अखण्ड निर्विकार, शुद्ध चेतन ब्रह्म जगत बन गया, यह सिद्धान्त एकाएक खरा सोना भले लगे, परन्तु कसौटी पर चढ़ाने के बाद यह पीतल सिद्ध होता है। सद्‌गुरु ने 'बारहबान' और 'पीतर' शब्द का प्रयोग करके कितना सटीक विवेचन किया है! ज्ञानमंडल लिमिटेड वाराणसी से प्रकाशित 'बृहत् हिन्दी कोश' में 'बारहबान' के अर्थ खरा, खालिस (सोना); निर्दोष, बेएब; पूरा तथा कामिल[1] किये गये हैं। 'पीतर' का अर्थ सर्वविदित है जो एक प्रसिद्ध मिश्रधातु है और मुख्यतः तांबे और जस्ते के योग से बनता है, जिसका शुद्ध नाम पीतल है, पीतर उसका अपभ्रंश है। ठग लोग प्रायः पीतल पर सोने का पानी चढ़ाकर भोले लोगों के हाथों में सोने के भाव बेच देते हैं। उसे खरीदने वाले पीछे जब किसी पारखी से उसकी कसौटी कराते हैं तब वह पीतल सिद्ध होता है और वे अपना माथा पकड़कर पश्चाताप करते हैं। ब्रह्म ही जगत बन गया—यह सिद्धान्त सोने का पानी चढ़ा पीतल है। यह परख की कसौटी पर असत्य सिद्ध होता है। इसके विषय में 67वें शब्द 'जो पै बीज रूप भगवान' की व्याख्या देखने योग्य है।

ब्रह्म शुद्ध चेतन है और वह मैं ही हूं—अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म तथा प्रज्ञानं ब्रह्म अर्थात—मैं ब्रह्म हूं, वह तू है, यह आत्मा ब्रह्म है और यह ज्ञान ही ब्रह्म है—ब्रह्म की यह सरल एवं शुद्ध परिभाषा ही ठीक है। परन्तु उसे जहां सर्वत्र व्याप्य तथा जगत का अभिन्न निमित्त उपादान कारण कहा जायेगा वहीं उसके विषय में भ्रम पैदा किया जायेगा। ब्रह्म का अर्थ है श्रेष्ठ, बृहत्त्वात् ब्रह्म। श्रेष्ठ यह द्रष्टा चेतन जीव एवं स्वस्वरूप ही है जो जड़ से सर्वथा पृथक व्याप्य-व्यापक, अंश-अंशी आदि भावों से रहित केवल ज्ञान मात्र है। अतः निज चेतनस्वरूप से पृथक ब्रह्म खड़ा करना एक भ्रम पैदा करना है। मैं ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त तथा जड़-जगत से अभिन्न हूं—यह महाभ्रम है। वस्तुतः मैं शुद्ध चेतन, जड़जगत से सर्वथा पृथक, दृश्यों का द्रष्टा एवं ज्ञान मात्र हूं, यही वास्तविकता है। इसको ब्रह्म एवं श्रेष्ठ कहना कोई बुरा नहीं है।

---

13. कामिल के अर्थ—पूरा, संपूर्ण, तमाम, योग्य, पूर्णज्ञाता (सिद्धपुरुष) हैं।

भक्ति के विषम में बहकाव

कबिरन भक्ति बिगारिया, कंकर पत्थर धोय।
अन्तर में विष राखि के, अमृत डारिनि खोय॥ 251॥

शब्दार्थ—विष=जड़ाध्यास। अमृत=जो मृत एवं जड़ न हो वह चेतन, स्वरूप-विचार।

भावार्थ—लोगों ने कंकर-पत्थर और जड़ पिंडियों को धो-पूजकर भक्ति का स्वरूप नष्ट कर दिया है। उन्होंने अपने मन में जड़ाध्यास का विष रख लिया और चेतनस्वरूप के विचाररूपी अमृत को नष्ट कर दिया॥ 251॥

व्याख्या—लोग कंकर-पत्थर की पिंडी को या पत्थर, काष्ठादि को गढ़-छीलकर किसी आकार या पुतले को देवता नाम देकर उन्हें नहलाते हैं, पोंछते हैं, पत्र-पुष्प-मिष्ठान्नादि चढ़ाकर पूजते हैं। उन्हें सुलाते और जगाते हैं। गरमी में पंखा, कूलर आदि चलाकर तथा ठंडी में आग से या हीटर चलाकर उन्हें शीतलता या गरमी प्रदान कर उनकी सेवा करते हैं। ये लोग भावुकता में पड़कर इतनी भी समझ नहीं रखते कि इन जड़मूर्तियों एवं जड़पिंडियों को इन सबकी आवश्यकता नहीं है। ये सब तो किसी प्राणी की सेवा में समर्पित करना चाहिए।

जड़पिंडियों एवं जड़मूर्तियों की सेवा-पूजा करना केवल समय ही बरबाद नहीं करना है; किन्तु उलटे उत्तरोत्तर जड़भावना को ग्रहण करके चेतनस्वरूप के बोध से दूर होते जाना है। पत्थर, काष्ठ, मिट्टी, धातु, कागज आदि के मूर्ति, चित्र आदि तो केवल किसी दिवंगत व्यक्ति के स्मरण दिलाने वाले हैं। किसी महापुरुष की मूर्ति या चित्र देखने से उनकी याद होती है यही उनका उपयोग है। मूर्ति, चित्र आदि को धूल-गर्द आदि से गंदा न होने दे, उन्हें साफ रखे, यही उनकी पूजा है, फिर इससे अधिक उन्हें नहलाना, खिलाना, सुलाना, जगाना, पंखा करना, आग तपाना, उनकी आरती उतारना, वंदना करना, नमस्कार करना—सब भावुकतापूर्ण एवं विवेक-विरुद्ध बातें हैं। विवेकवान लोग महापुरुषों के चित्र केवल दीवार आदि में टांग देते हैं जिससे उन पर नजर पड़ने पर मन में अच्छे भाव आवें। वे उनको न नमस्कार करते हैं और न उसकी पूजा-आरती। मूर्ति तो वे रखते ही नहीं, क्योंकि भोले लोगों द्वारा उसमें पूजा का भाव बढ़ सकता है।

सद्गुरु कहते हैं कि कंकर-पत्थर आदि की पूजा करना भक्ति के स्वरूप को नष्ट करना है। प्राणि मात्र के प्रति दया, प्रेम एवं करुणा का भाव रखकर उनकी यथासाध्य सेवा करना और अंततः निजस्वरूप चेतन के प्रति अनुराग, स्वरूपचिन्तन एवं स्वरूपस्थिति ही सच्ची भक्ति है। दूसरे प्राणियों की सेवा और निजस्वरूप की स्थिति यही भक्ति है, यही अमृत है। इसे छोड़कर जड़ की पूजा

और परोक्ष में अपना लक्ष्य खोजना विष को अपने हृदय में रखना है। "अर्ब खर्ब ले दर्ब है" इस 228वीं साखी में भक्ति के स्वरूप का थोड़ा विस्तृत विवेचन हुआ है।

रही एक की भई अनेक की, बिस्वा बहुत भ्रतारी।
कहहिं कबीर काके संग जरिहौ, बहु पुरुषन की नारी॥ 252॥

शब्दार्थ—बिस्वा= वेश्या। भ्रतारी= पतिवाली।

रूपक—मानो एक स्त्री हो और वह पति वाली हो। परन्तु पीछे से उसका स्वभाव खराब हो गया हो और वह वेश्या बनकर बहुतों की प्रेयसी बन गयी हो। अब उसके सभी प्राप्त पुरुष मानो पति हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि यदि वह अन्त में सती होना चाहे तो किसके साथ में जलेगी, क्योंकि वह तो बहुत पुरुषों की नारी है!

भावार्थ—मनोवृत्ति का पति केवल निज चेतनस्वरूप है, परन्तु वह इसे न समझकर वेश्यावत बहुपतिवाली बन गयी। मनुष्य की चित्तवृत्ति नाना देवी-देवताओं की कल्पना करके भटक गयी। कबीर देव कहते हैं कि यह बहुतों की खींचतान में पड़ी हुई मनोवृत्ति अंततः किसमें स्थित होगी!॥ 252॥

व्याख्या—मनुष्य के इस शरीर में जीव पति है और मनोवृत्ति पत्नी है। अतएव मानव की मनोवृत्ति का एकमात्र पति जीव ही है। जब मनोवृत्ति जीव में स्थित होगी, अर्थात जब मनोवृत्ति निजस्वरूप चेतन में ही विश्राम पायेगी, तब उसके द्वन्द्व समाप्त होंगे। परन्तु अज्ञानवश मानव की मनोवृत्ति नाना जड़ देवी-देवताओं में भटकती है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, हनुमान, गणेश, दुर्गा, लक्ष्मी, राम, कृष्ण, शिव, गायत्री देवी तथा और अनेक तथाकथित देवी-देवताओं और सिनेमा वालों द्वारा दी गयी एक नयी देवी संतोषी मां, कितने नाम गिनाये जायें, इनकी सीमा नहीं है। फिर इनके अलावा नाना मतों के नाना ईश्वर जिनके विषय में उन मतों की विचित्र-विचित्र कल्पनाएं हैं। इन सब में मनुष्य की मनोवृत्ति भटकती है। स्वरूप से अलग जहां कहीं भी मनोवृत्ति भटकेगी, उसे शांति नहीं मिलेगी। क्योंकि निजस्वरूप से अलग जितने आलंबन माने जाते हैं सब मनःकल्पित एवं विजाति हैं। कबीर देव ने 38वें शब्द में कहा है "जहँ जहँ गयउ अपन पौ खोयेउ, तेहि फन्दे बहु फन्दा।"

"कहहिं कबीर काके संग जरिहौ" कबीर देव कहते हैं कि मनोवृत्ति किसमें स्थित होकर परम विश्राम पायेगी? वस्तुतः जब तक यह विजाति देवी-देवताओं में भटकती रहेगी, कभी चिरविश्राम नहीं पायेगी। चिरविश्राम तो निजस्वरूप चेतन में स्थित होने से ही मिल सकता है। सार भाव यह है कि मनुष्य जब तक अपना उपास्य अपने चेतनस्वरूप एवं आत्मदेव को न समझकर बाहर भटकता

है तब तक उसे परमशांति नहीं मिल सकती। मनुष्य की मनोवृत्ति को परम विश्राम स्वरूपस्थिति में ही मिलेगा।

संसार-सागर और मन-पक्षी

तन बोहित मन काग है, लक्ष योजन उड़ि जाय।
कबहिं के भरमें अगम दरिया, कबहिं के गगन रहाय॥ 253॥

शब्दार्थ—बोहित=जहाज। लक्ष=लाख की संख्या। योजन=दो, चार, आठ कोस की मतभेदमयी मितियां (सीमाएं) मानी जाती हैं, कोस की लम्बाई चार हजार हाथ मानी गयी है; जैनी दस हजार कोस का योजन मानते हैं।[1] गगन=आकाश, अलौकिकता।

भावार्थ—यह मानव-शरीर संसार-समुद्र में तैरता हुआ एक जहाज है। इस पर मनरूपी कौआ बैठा है। यह क्षण ही में लाखों योजन उड़ जाता है। कभी तो यह अपार संसार-समुद्र में भटकता है और कभी अलौकिकता के आकाश में पंख फहराने लगता है॥ 253॥

व्याख्या—जहाज समुद्र के तट पर मानो खड़ा है। एक कौआ शाम को आकर उस पर बैठ गया। कुछ रात बीतते ही जहाज तट से चल पड़ा। सुबह होते-होते जहाज सैकड़ों किलोमीटर दूर चला गया। अब कौआ जहाज से उड़कर इधर-उधर जाता है। दूर-दूर तक जाने पर भी उसे न थल मिलता है न बाग-वन। वह कहीं आश्रय न पाने से पुनः जहाज पर लौट आता है; क्योंकि जहाज के सैकड़ों या हजारों किलोमीटर चारों तरफ केवल जल-जल है।

इस प्रकार संसार-सागर में यह शरीर जहाज है। इसमें मनरूपी कौआ बैठा है। यह क्षण-क्षण लाखों योजन उड़ जाता है। परन्तु इसको अलग आश्रय न मिलने से यह शरीर में लौट जाता है। मन कोई ऐसी वस्तु नहीं है कि वह कहीं जाता हो। वस्तुतः हमने जो कुछ देख, सुन और भोग रखा है उनकी याद होना ही मानो मन का भटकना है। मन तो शरीर के भीतर ही रहता है। वहीं से वह अनुभूत विषयों की याद करता रहता है।

कबीर देव अपनी बातें सटीक एवं सुन्दर उदाहरण दे-देकर समझाते हैं। यह उनकी कथन-शैली की महान विशेषता है। उनके द्वारा इस साखी में दिया गया रूपक कितना आकर्षक है! संसार सागर है, शरीर जहाज है और मन कौआ है। यह मन-कौआ लाखों योजन उड़ जाता है। यह कभी संसार-सागर में भटकता है और कभी अलौकिकता के आकाश की ऊंचाई पर चढ़ जाता है।

---

14. बृहत् हिन्दी कोश।

पहली बात है कि यह मानव-शरीर संसार-सागर से तैरने के लिए जहाज है। परन्तु मनुष्य इसे जहाज के रूप में न देखकर विषय-भोगों को भोगने के साधन के रूप में देखता है। दृष्टिकोण भिन्न होने से फल भिन्न होता है। यदि इस शरीर में रहकर जीव विषयों में डूबा रहता है तो वह मानो भवसागर में आज बह रहा है तथा आगे भी उसी में बहने की तैयारी करता है। और यदि वह इस शरीर में रहते हुए परख द्वारा सारी वासनाओं का त्याग करते हुए अपने स्वरूप में स्थित होता है तो वह संसार-सागर से आज ही पार हो चुका है। हमें चाहिए कि हम इस शरीर को संसार-सागर से तरने के साधन जहाज के रूप में देखें और इसका उपयोग उसी काम के लिए करें।

दूसरी बात है कि यह मन कौआ है। यह अपने स्वभाव से मलिन विषयों पर ही टूटता रहता है। यह हर क्षण लाखों योजन उड़ जाता है। इसका अर्थ है कि यह शरीर के भीतर रहते-रहते देखे, सुने तथा भोगे हुए विषयों की क्षण-क्षण याद करता रहता है। इसलिए यह 'अगम दरिया' में भ्रमता रहता है। अगम दरिया एवं अपार सागर यह संसार है, यह विषयों का जाल है। विषयी मन इसी में भटकता है। परन्तु यह कभी-कभी आकाश में भी उड़ जाता है। मन कभी-कभी वैराग्य, ज्ञान, भक्ति, मोक्ष एवं संसार से एकदम निवृत्त होकर असंग-स्थिति का भी विचार करता है।

अंततः मन का आश्रयस्थल शरीर ही है। इस दृष्टिकोण को लेकर "तन बोहित मन काग है" इस साखी में कहा गया है। मन शरीर में रहते हुए ही संसार-सागर में भटकता है तथा आकाश में भी उड़ता है। अतएव इसी हाड़-चाम के शरीर में रहते हुए विवेकज्ञान हो जाने पर मन विषयों के सागर से मुक्त होकर अध्यात्म के आकाश में चढ़ सकता है। हमारे जीवन की विशेषता यही है कि मन संसार के कीचड़ से निकलकर स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति के दिव्य गगन में विहरण करे, हमारा मन कौआ से बदलकर हंस बन जाये और ज्ञान का मोती चुगे। जब हमारा मन हंस बनकर स्वरूपज्ञान में रमेगा, तब हमारा शरीर संसार-सागर से तरने का जहाज है यह चरितार्थ हो जायेगा।

मौन और वक्तव्य के महत्त्व

ज्ञान रतन की कोठरी, चुम्बक दीन्हों ताल।
पारखि आगे खोलिये, कूँजी वचन रसाल॥ 254॥

शब्दार्थ—रतन=रत्न—हीरा, पन्ना, मोती, माणिक, लाल, जवाहर, नगीना आदि (मुख्य रत्न नौ हैं—माणिक, नीलम, लहसुनिया, हीरा, पन्ना, पुखराज,

मूंगा, मोती, गोमेद),[1] ज्ञानरूप रत्न। चुम्बक= एक तरह का पत्थर जो लोहे को खींचता है, तात्पर्य में आकर्षक। ताल=ताला, मौन। कूँजी=कुंजी, ताला खोलने का साधन, ताली। रसाल=मधुर, मीठा।

भावार्थ—ज्ञानरूपी रत्नों से भरी अंत:करणरूपी कोठरी में मौन का आकर्षक ताला लगा दो, और जब उन रत्नों के ग्राहक सच्चे पारखी मिलें तब उसे मीठे वचनरूपी कुंजी से उनके आगे खोलो॥ 254॥

व्याख्या—सद्गुरु ने क्या खूब कहा है, स्वाद में उत्तम और गुणों में सर्वोत्तम! सीख तो सर्वोत्तम है ही, कहने का तरीका भी कितना उत्तम है! ज्ञान का रूपक रत्न है, अन्त:करण का कोठरी, मौन का चुम्बक ताला, जिज्ञासु का पारखी एवं जौहरी तथा मीठे वचन का कुंजी रूपक है। इन रूपकों एवं अलंकारों में कबीर देव हमें बहुत बड़ी सीख देते हैं। कितने ज्ञानी कहलाने वाले "बदो तो पंच न बदो तो पंच" बने हर जगह हर समय अधिकारी तथा अनधिकारी के सामने अपना ज्ञान झाड़ते रहते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि ज्यादा बकबक करने से न तुम्हारा कल्याण होगा और न दूसरे का।

ज्ञानी का ज्ञान उसके अन्दर में पचना चाहिए। खाया हुआ आहार यदि बिना पचे शरीर से निकल जाये तो उससे शरीर को कोई लाभ नहीं होता। इसी प्रकार अर्जित किया हुआ ज्ञान बिना आचरण किये परोपदेश में निकल जाये तो उससे वक्ता का अपना कोई लाभ नहीं हुआ। प्राप्त जानकारी को दूसरों के सामने परोसने का उतावलापन ओछापन का लक्षण है। सभा में प्रवचन देना हो तो वहां भी मांग होने पर ही समयानुसार देने योग्य को देना चाहिए, और व्यक्तिगत मिलने वालों को बिना अगले आदमी की ओर से मांग हुए उसे ज्ञान की बातें परोसने लगने से न जिसको उपदेश दिया जाता है उसका लाभ होता है, न उपदेश की इज्जत होती है और न उपदेष्टा की। ज्ञानातिरेक में बहुत बोलने की आदत होती है जो केवल छिछलापन सिद्ध करती है। अनुभूत ज्ञान जीवन का स्वरूप होता ही है; अर्जित ज्ञान भी रहनी सम्पन्न व्यक्ति में उसके जीवन के अंग बन जाते हैं। इसलिए वह हर समय फट-फट ज्ञान नहीं झाड़ता; किन्तु प्राप्त ज्ञान का आचरण रूप में दोहन करता है। हम जो कुछ जानते हैं उनका निरन्तर आचरण करने का प्रयत्न करना ही उनका दोहन करना है।

जो प्राप्त जानकारी का आचरण करता है वह वाक्यसंयमी होता है। वह मौन का ताला लगाये रखता है। वह तो उसे तभी खोलता है जब उसका ग्राहक पारखी मिल जाता है। बेपारखी के सामने अपने रत्नों को खोलना उनका निरादर करना है। कुजड़ों की हाट में रत्न नहीं बिकते। रत्न तो पारखियों एवं जौहरियों

---

15. बृहत् हिन्दी कोश।

की हाट में बिकते हैं। कल्पित देवी-देवताओं में उलझे हुए लोग स्वरूपज्ञान का विषय क्या समझ सकते हैं! किन्तु यह भी समझना चाहिए कि सत्पात्र हर जगह होते हैं। जिन मनुष्यों को स्वरूपज्ञान की बातें बताने वाला कोई नहीं मिला, तो वे देवी-देवताओं की अलीक धारणा में ही उलझे हैं। यदि उन्हें कोई जड़-चेतन का निर्णय तथा स्वरूपज्ञान की परख देने वाला हो, तो उनमें कितने ही सत्पात्र मिलेंगे जो थोड़े ही दिनों में सारे जंजाल छोड़कर स्वरूपज्ञान में निष्णात हो जायेंगे। इतिहास साक्षी है कि आज के बड़े-बड़े पारखी पहले देवी-देवताओं के ढोंग-पोंग में पड़े थे। जब उन्हें किसी पारखी की संगत मिली तो वे भी सत्य का मोती परखकर कृतकृत्य हो गये। जीव मात्र का स्वरूप पारख अर्थात ज्ञान है। परख की शक्ति तो सब में है। वह जहां रहता है किसी-न-किसी प्रकार परखता रहता है। मानव-शरीर तो अधिक विवेकसम्पन्न है। मानव अंधविश्वासियों की संगत में अंधविश्वासी हो गये हैं। जब वे पारखियों की संगत पाते हैं तो उनमें से कितने ही सत्पात्र ऐसे निकल आते हैं जो शुद्ध पारखी हो जाते हैं। वे 'स्व' और 'पर' दोनों की परखकर 'पर' से 'स्व' को निकाल लेते हैं।

सद्गुरु ने उपदेश देने तथा किसी सत्पात्र को सत्यासत्य की परख देने के लिए तरीका बताया "पारखि आगे खोलिये, कूँजी वचन रसाल"। एक तो सत्पात्र के आगे अपनी बातें रखो और दूसरी बात है कि मीठे वचनों से किसी को सीख दो। रुचिहीन आदमी के पीछे अपना समय व्यर्थ मत करो, परन्तु जो तुम्हारी बातों में रुचि ले उससे मीठे वचनों में बातें करो। यह ध्यान रखो, सारा सत्य किसी के सामने एक साथ नहीं कहा जा सकता। भले ही कोई बहुत गहरे अंधविश्वास में पड़ा हो, परन्तु उसे मीठे वचनों में जितना ज्यादा सफलतापूर्वक समझाया जा सकता है, उतना कटु कहकर नहीं। उपदेशक के मीठे वचनों के कारण श्रोता का उपदेशक से प्रेम हो जाता है और प्रेम हो जाने के बाद सीख देने वाले की बात गले उतरने लगती है।

इस साखी में मुख्य दो बातें बतायी गयी हैं कि विवेकवान का काम है कि वह या तो मौन रहे और या तो सत्पात्र मिलने पर मीठे वचनों से उसे अच्छी सीख दे। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी वैराग्य संदीपनी में कहा है—

की मुख पट दीन्हें रहें, यथाअर्थ भाषंत।
तुलसी यह संसार में, सो विचार युत संत॥

साधना के नाम पर मोटी-झीनी माया का जाल

स्वर्ग पाताल के बीच में, दुई तुमरिया बद्ध।
षट दर्शन संशय परी, लख चौरासी सिद्ध॥ 255॥

शब्दार्थ—स्वर्ग पाताल=आकाश-पाताल, तात्पर्य में पूरा संसार। दुई तुमरिया=मोटी तथा झीनी माया। षट दर्शन= छह दर्शन—योगी, जंगम, सेवड़ा, संन्यासी, दरवेश और ब्राह्मण—तात्पर्य में समस्त आध्यात्मिक विचारक। संशय=अनिश्चय, संदेह, खतरा।

भावार्थ—संसार के वे समस्त लोग जो खाने-भोगने से ऊपर उठकर आत्म-उद्धार की बातें सोचते हैं, उनके मन में यह संदेह पैदा हुआ कि हम इस संसार-सागर से कैसे तरेंगे, तो उन्होंने इसके लिए मोटी-झीनी माया की दो तुमड़ियां बांधकर उसके सहारे से तरना चाहा। इसी में लाखों साधक एवं चौरासी सिद्ध भी पड़े हैं॥ 255॥

व्याख्या—कबीर देव अपने कथनों के बीच-बीच में बुझव्वल कहा करते हैं जिससे लोग अपने मस्तिष्क का ज्यादा प्रयोग करें और उनकी समझ-क्षमता बढ़े। इस साखी में कुछ ऐसा ही कथन है। "स्वर्ग पाताल के बीच में" कहकर सद्गुरु ने पूरे संसार को व्यक्त किया है। आकाश-पाताल के बीच में ही तो यह हमारा संसार है। अतएव "स्वर्ग पाताल के बीच में" का लाक्षणिक अर्थ हुआ पूरा संसार।

"दुई तुमरिया बद्ध" क्या है? लोग ताल-तलैयों एवं छोटी नदी और नालों को दो तुमड़ियों एवं सूखी लौकियों को एक में बांधकर उसके सहारे तैरकर पार हो जाते हैं। परन्तु यदि कोई उसी के सहारे समुद्र पार करना चाहे तो डूबकर मर जाने के सिवा कोई दूसरा परिणाम नहीं होगा। तुमड़ियां पानी में नहीं डूबतीं यह उनका स्वभाव है। इसीलिए उनके सहारे नदी-नाले पार किये जाते हैं। परन्तु वे समुद्र नहीं पार कर सकतीं। यहां तुमड़ियों के अभिप्राय में है मोटी और झीनी माया। संसार के समस्त धार्मिक एवं आध्यात्मिक चिंतकों एवं साधकों ने उपासना एवं ध्यान के जितने आलंबन निर्धारित किये हैं सब मोटी या झीनी माया के भीतर हैं। ध्यान एवं उपासना के विषय जहां तक किसी महापुरुष के आकार, चित्र या नाद, बिन्दु, सबद आदि बनाये जाते हैं, मोटी माया है और जहां तक किसी परोक्ष लोकवासी या सर्वत्र व्याप्त ईश्वर की अवधारणा की जाती है और उन्हें ध्यान एवं उपासना के विषय बनाये जाते हैं, झीनी माया है। क्योंकि ये सब इन्द्रियगोचर जड़-पदार्थ या मनगोचर कल्पनाएं एवं अवधारणाएं हैं। इन सबकी उपासना एवं ध्यान से मन में एकाग्रता, सात्त्विकता तथा थोड़ी शांति आ सकती है। परन्तु चिरंतन स्थिति और शांति तो स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति में ही संभव है।

हम मन को रोकने एवं ध्यान उपासना करने के जितने आलंबन बनाते हैं वे सब विजाति होते हैं, हमारे निज चेतनस्वरूप से अलग होते हैं। अतएव वे हमारी स्थिति एवं विश्राम के परम आश्रय नहीं बन सकते। मनुष्य मन से सोच

करके ही सारे उपास्य बनाता है। अतएव साधक के सारे उपास्य मन के खिलौने हैं, और मन के आयाम से पार जाकर ही जीव की सर्वोच्च स्थिति होती है। मन के पार वही जाता है जिसे अपने स्वरूप का ज्ञान है। वह मन को शून्य कर देता है और स्वयं शेष रह जाता है।

"षट दर्शन संशय परी, लख चौरासी सिद्ध" छह दर्शनियों, लाखों साधकों एवं चौरासी सिद्धों के मन में यह संदेह हुआ कि हम संसार-सागर से कैसे पार जायेंगे। षड्दर्शन में संसार के सभी सम्प्रदाय आ जाते हैं। षड्दर्शन में योगी, जंगम, सेवड़ा, संन्यासी, दरवेश और ब्राह्मण हैं। सेवड़ा में जैन-बौद्धादि सब आ जाते हैं। दरवेश का शाब्दिक अर्थ फकीर या भिक्षु है, परन्तु उसमें सारे अभारतीय मत आ आते हैं। षड्दर्शन का लाक्षणिक अर्थ संसार के समस्त धार्मिक मत है भी। साखीग्रन्थ में आया है "गुरु को पूजै गुरुमुखी, बाना पूजै साध। षटदर्शन जो पूजही, ताका मता अगाध॥" इसमें आये हुए 'षटदर्शन' का अर्थ संसार के समस्त धार्मिक मत है।

संसार के समस्त धार्मिक मत वालों के मन में संसार-सागर से पार जाने में संदेह हुआ, अतएव पार जाने के लिए सब ने कोई पूजा, आराधना, उपासना एवं ध्यान का आलंबन बनाया। वे पहली साधना में पात्रानुसार ठीक हो सकते हैं परन्तु गंतव्य तक पहुंचाने वाले नहीं, क्योंकि वे माया की दो तुमड़ियों के भीतर हैं। वे या तो मोटी माया के भीतर हैं या झीनी माया के। वे या तो स्थूल जड़ पदार्थ हैं या मन की कल्पनाएं। परन्तु पांचों विषयों तथा मनःकल्पनाओं के पार जाने पर ही जीव की अपने स्वरूप में स्थिति होती है। स्वरूपस्थिति ही जीव का परम गंतव्य एवं सर्वोच्च विश्रामस्थल है।

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि संसार के अधिकतम साधक माया की दो तुमड़ियों के बीच में ही फंसे पड़े हैं। वे स्थूल बुद्धि वाले बनकर देवी-देवता एवं नाद, बिन्दु, सबद तक ही उपासना एवं ध्यान में सीमित हैं या बहुत उड़कर चले तो ईश्वर की कल्पना करके मन में कोई उसका आकार बना लिये और उसी में अपने मन को जोड़ते हैं। इन्द्रियगोचर पंचविषय पदार्थ तथा मनगोचर समस्त कल्पनाएं एवं अवधारणाएं छोड़कर स्वरूप में स्थित होने वाले कम लोग हैं। अधिकतम लोग साधना, उपासना के नाम पर मोटी और झीनी माया के आयाम में ही पड़े रहते हैं।

इस साखी में चौरासी सिद्ध शब्द आये हैं। चौरासी सिद्धों के नाम इस प्रकार हैं—1. लूहिपा 2. लीलापा 3. विरूपा 4. डोम्भिपा 5. पबरीपा 6. सरहपा 7. कंकालीपा 8. मीनपा 9. गोरक्षपा 10. चोंगगिपा 11. वीणपा 12. शांतिपा 13. तत्तिपा 14. चमरिपा 15. खंगपा 16. नागार्जुन 17. कराहपा 18. कर्णरिपा 19. थगनपा 20. तारोपा 21. शालिपा 22. तिलोपा 23. छत्रपा 24. भद्रपा 25.

दोखन्धिपा 26. अजोगिपा 27. कालपा 28. धोकिपा 29. कंकणपा 30 कमरिपा 31. डेगिपा 32. भदेपा 33. तन्चेपा 34. कुकुरिपा 35. कुसूलिपा 36. धर्मपा 37. महिपा 38. अचिन्तिपा 39. भलहपा 40. नलिनपा 41. भुसुकुपा 42. इन्द्रभूतिपा 43. मेकोपा 44. कुठलिपा 45. कमरिपा 46. जलन्धरपा 47. राहुलपा 48. घवरिपा 49. मेदिनीपा 50. पंकजपा 51. घणटापा 52. जोगीपा 53. चेलुकपा 54. गुण्डरिपा 55. लुचिकपा 56. निर्गुणपा 57. जयानन्नपा 58. चर्षटिपा 59. चश्पकपा 60. भिकनपा 61. भलिपा 62. कुमरिपा 63. जवरिपा 64. मणिभद्रपा 65. मेखलापा 66. कनखलापा 67. कलकल्पा 68. कुन्तलिपा 69. धहुलिपा 70. उधलिपा 71. कपालपा 72. कमालिपा 73. किलपा 74. सागरपा 75. सर्वभक्षपा 76. नागबोधिपा 77. दारिका 78. पुतुलिपा 79. पनहपा 80. कोकलिपा 81. अनंगपा 82. लक्ष्मीकरापा 83 समुद्रपा और 84. भलिपा

हंस की रहनी

सकलो दुर्मति दूर करु, अच्छा जन्म बनाव।
काग गौन गति छाड़ि के, हंस गौन चलि आव॥ 256॥

शब्दार्थ—दुर्मति=दुर्बुद्धि, कुमति। काग=कौआ। गौन=चंचल, गमन, आचरण। गति=चाल, दशा।

भावार्थ—सारी दुर्बुद्धि को दूर कर दो। जीवन को अच्छा बनाओ। चंचल कौए की चाल एवं दशा छोड़कर हंस के आचरण में चलते हुए स्वरूपस्थिति को प्राप्त करो॥ 256॥

व्याख्या—सद्गुरु ने 255वीं साखी में षड्दर्शनियों एवं सिद्धों के मायामय तथा उलझन भरे साधनों की चर्चा कर उनके गुण-दोषों को परखाया है। इस साखी में वे सरल साधना बता रहे हैं। वे इस साखी में चार बातें बताते हैं— सारी दुर्बुद्धि को दूर कर दो, जीवन को अच्छा बनाओ, कौए की चाल छोड़ दो और हंस की चाल में चलकर स्वरूपस्थिति प्राप्त करो। हम इन चारों बातों पर अलग-अलग विचार करें।

"सकलो दुर्मति दूर करु" दुर्मति का अर्थ कुमति एवं दुर्बुद्धि है। यही सारे अनर्थों की जड़ है। यह दुर्बुद्धि का ही फल है जो भाई से भाई लड़ते हैं, पिता से पुत्र तथा पुत्र से पिता लड़ते हैं, पति से पत्नी तथा पत्नी से पति लड़ते हैं। पड़ोस, गांव, मोहल्ला, राष्ट्र तथा अन्ताराष्ट्र में लड़ाई का कारण दुर्बुद्धि है। यह दुर्बुद्धि का ही फल है जो न खाने योग्य पदार्थों को आदमी खाता है तथा न पीने योग्य पदार्थों को पीता है। आदमी अखाद्य मांस, मछली एवं अंडे ही नहीं खाता है, अपितु वह शराब, गांजा, भांग, बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू आदि सर्वथा

हानिकारी चीजों को भी खाता-पीता है। जिसमें लाभ कुछ न हो अपितु केवल हानि हो ऐसे नशा की चीजों को पैसा से खरीदकर खाना दुर्बुद्धि नहीं तो क्या है! पढ़े-लिखे लोग अपने आप को बुद्धिवादी मानते हैं और वे ही लोग उस सिगरेट को पीते हैं जिसके डिब्बे पर लिखा रहता है कि सिगरेट पीना स्वास्थ्य के लिए हानिकर है। इससे अधिक बुद्धि का दीवाला पिटना और क्या होगा! ऐसे लोगों को बुद्धिवादी कहा जाये तो बुद्धि का शत्रु किये कहा जाये!

पवित्र आचरण में चलकर शांतिपूर्वक जीवन बिताना चाहिए। परन्तु संसार के अधिकतम लोग आपस में लड़-लड़कर जीवन बिताते हैं। कुछ लोग तो यहां तक शूरवीर होते हैं कि थोड़ी-थोड़ी चीजों के लिए मुकदमे में हजारों-लाखों रुपये खर्च करते हैं और जीवन के अधिकतम वर्ष लड़ाई में बिता देते हैं। एक आदमी ने पांच सौ रुपये के मूल्य की जमीन के लिए मुकदमे में पचहत्तर हजार रुपये खर्च किये और वह सत्ताईस वर्षों से लड़ रहा है। जब उससे पूछा गया कि थोड़ी जमीन के लिए इतना समय और धन मुकदमे में क्यों बरबाद करते हो; तब उसने बड़े रोब से कहा—"साहेब, लड़ाई जमीन की नहीं, बात की है।" इस प्रकार बात-बात की लड़ाई में बहुमूल्य जीवन खोना, समय, शक्ति बरबाद करना और जीवनभर राग-द्वेष में जलना कौन-सी बुद्धिमानी है! यह केवल मिथ्या अहंकार है। 'धिग स्वारथ झूठा हंकारा।' आदमी दुर्बुद्धि के कारण ही अपने समय, शक्ति सबका दुरुपयोग कर अपने जीवन को दुखों से भर लेता है।

देह को 'मैं' मानना सबसे बड़ी दुर्मति है। यह हाड़-मांस का बना शरीर जिसमें टट्टी-पेशाब भरी है, इसे यह मानना कि मैं शरीर हूं, महती दुर्बुद्धि है। फिर इन्द्रियों के विषय-भोगों में लालायित होकर उनमें डूबना दुर्मति का प्रकाश है, क्योंकि इन्द्रिय-भोगासक्ति ही तो जीवन को नरक बनाती है। इसी प्रकार मन की जिन अवधारणाओं, वाणी तथा इन्द्रियों की क्रियाओं से जीवन उलझन और अशांति में पड़े, उन सबके मूल में दुर्बुद्धि है। सद्गुरु कहते हैं कि सारी दुर्बुद्धि को दूर कर दो।

दूसरी बात है "अच्छा जन्म बनाव।" जीवन को अच्छा बनाना क्या है! कई भाषाओं का ज्ञान, पद, प्रतिष्ठा, वाहन, परिवार, रुपये-पैसे आदि सांसारिक ऐश्वर्य से सम्पन्न होना जीवन को अच्छा बनाना है—सामान्य लोगों की यही समझ है। यह सब ठीक है। इनका कोई निरादर नहीं कर सकता। अच्छे जीवनस्तर के ये भौतिक अंग हैं। परन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि निष्पाप और निर्मल जीवन ही अच्छा जीवन है। अपने मन के पाप और मलिनता के कारण विद्वान दुखी हैं, पद-प्रतिष्ठा वाले दुखी हैं, धन, महल, वाहन एवं ऐश्वर्य वाले दुखी हैं, परिवार वाले दुखी हैं और यदि जीवन में दुख है तो जीवन अच्छा कहां है!

केवल कुछ भाषा और लिपि का ज्ञान हो जाना विद्या-प्राप्ति नहीं है और

दुनिया का कुछ कूड़ा-कबाड़ इकट्ठा हो जाना धन-प्राप्ति नहीं है। वस्तुतः शुद्ध बुद्धि और आत्मज्ञान का पाना ही विद्या-प्राप्ति है और सदाचार ही धन है। इनके बिना बड़े-बड़े ऐश्वर्य वाले केवल दुखों में जल रहे हैं। अतएव जिसके जीवन में शील, क्षमा, करुणा, दया, अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, परोपकार, संतोष, शांति आदि सद्गुण एवं सदाचार है उसका जीवन ही अच्छा है। स्वरूपज्ञान और सदाचार से पूर्ण जीवन ही अच्छा जीवन है।

सांसारिक वस्तुओं की आवश्यकता सबके जीवन में है, परन्तु वे सबके पास समान रूप से नहीं होती है। रोटी सबको चाहिए। यह अलग बात है कि किनको कितनी कीमती रोटी मिलती है, अर्थात किनकी रोटी के साथ घी, दूध, मलाई, दही, मेवे आदि हैं, किनकी रोटी के साथ केवल रूखी सब्जी है और किनकी रोटी के साथ केवल नमक। अच्छी चीज पाने की भावना सब के मन में होती है, परन्तु थोड़ी ठीक समझ हो जाये तो यह जाना जा सकता है कि इन सब चीजों में जितना अन्तर समझा जाता है उतना अन्तर नहीं रहता। यदि मन प्रसन्न है तो रोटी के साथ केवल नमक मिले तो उसमें मानो बहुत प्रोटीन और विटामिन है। भूख लगने पर सूखी रोटी भी अमृत लगती है और बिना भूख के मेवे-मलाई भी विष लगते हैं और यदि मन मलिन, पापी एवं दुखी है तो मेवे-मलाई भी मनुष्य को शक्ति न देकर पानी बन जाते हैं। हमारे शरीर पर कितना मूल्यवान वस्त्र है, हम कितने बड़े महल या झोपड़ी में रहते हैं, हमें कितने लोग जानते हैं, इन सब बातों का महत्त्व बहुत ऊपरी-ऊपरी है। महत्त्व तो इसमें है कि हमारा मन कितना पवित्र है। मन जितना पवित्र होगा जीवन में उतनी प्रसन्नता होगी। मन की पूर्ण पवित्रता में ही जीवन में पूर्ण प्रसन्नता रहती है। मन, वाणी तथा कर्मों की निर्मलता ही जीवन की निर्मलता है और जीवन की निर्मलता ही जीवन की अच्छाई है। अत: जो अपने जीवन को निर्मल बनाता है वही मानो अपने जीवन को अच्छा बनाता है।

तीसरी बात है "काग गौन गति छाड़ि के" कौए के आचरण एवं चाल छोड़ दो। कौए के मन, वाणी और कर्म तीनों गंदे होते हैं। उसका मन चंचल होता है, उसकी वाणी कर्कस होती है तथा उसके आचरण गंदे होते हैं। सभी पक्षियों में कौआ ज्यादा चालाक होता है। कहा जाता है कि जब कौआ को बच्चा पैदा हुआ तब उससे कौआ ने कहा कि देखो बेटे, यदि किसी आदमी को जमीन पर झुकते देखो तो समझ लो कि वह तुम्हें मारने के लिए पत्थर उठा रहा है, अतः तुम तुरन्त उड़ जाना। कौए के बच्चे ने कहा कि पिताजी, यदि आदमी अपनी जेब में पत्थर पहले से रख लिया हो तो? कौए ने कहा कि बेटा, तुम मुझसे भी ज्यादा चालाक हो। इस प्रकार कौए का बच्चा कौए से भी अधिक चालाक होता है। परन्तु ऐसा चालाक कि सुबह होते ही वह गंदगी पर चोंच मारता है।

गोस्वामी जी के वचनों में "कागा काह न खाय" कौआ क्या नहीं खा लेता!

कौआ का मन बड़ा चंचल होता है। वह सबसे डरता है। उसे सब पर संदेह होता है। दूसरे पक्षी लोगों से इतना नहीं डरते। उन्हें लोगों पर इतना संदेह नहीं होता, इसलिए वे लोगों से इतने सावधान नहीं रहते है। कौए की दशा एकदम भिन्न है। वह सबसे सब समय सावधान रहता है। मालूम होता है कि वह हर समय बहुत बड़ा खजाना बांधे घूमता है। चंचल, चालाक एवं पापी मन वालों की दशा यही होती है। इस प्रकार आपने कौए के मन को देखा कि वह कितना मलिन और चंचल है।

कौए की वाणी कर्कस होती है यह जगत-प्रसिद्ध है। सबको इसका अनुभव है। कौआ जैसे आकर ऊपर बैठता है, वह बड़े जोरों से कर्र-कर्र आवाज करता है। इसलिए यह दोहा कहा गया है—"कागा काको धन हरै, कोयल काको देत। अपनो शब्द सुनाय के, जग यश अपयश लेत॥" इस प्रकार कौए के मन की चंचलता और वाणी की कर्कसता को आपने देखा। उसके आचरण की गंदगी की भी चर्चा ऊपर आ ही गयी है कि वह सब कुछ खाता रहता है।

कुछ मनुष्य भी ऐसे ही होते हैं जो मन के चंचल, वाणी के कर्कस तथा आचरण के गंदे होते हैं। वे कौए के समान ही सब पर संदेह करने वाले तथा ज्यादा चतुर-चालाक होते हैं। परन्तु कौआ चालाक होकर भी सुबह से गंदगी ही तो खोदता है। इसी प्रकार ज्यादा चालाक लोग अपने जीवन में बुराइयों की ही कमाई करते हैं। अतएव सद्गुरु कहते हैं कि कौए की जैसी मन की चंचलता, वाणी की कर्कसता तथा आचरण की गंदगी की चाल छोड़ दो। अर्थात तुम कौए के समान चंचल-चालाक, कटुभाषी एवं गंदे आचरण के मत बनो। किन्तु सरल मन वाले, मधुरभाषी एवं पवित्र आचरण वाले बनो। सद्गुरु कहते हैं कि तुम कौए की चाल छोड़ दो।

चौथी बात है "हंस गौन चलि आव" हंस एक सफेद पक्षी होता है। वह मानसरोवर-जैसी बड़ी एवं स्वच्छ झील में रहता है। उसके लिए दो किंवदंतियां हैं। एक यह कि वह मोती चुगता है और दूसरी यह कि वह नीर-क्षीर विवेक करता है। अर्थात दूध और पानी एक में मिला हो तो वह उसमें से केवल दूध लेकर पानी छोड़ देता है। हो सकता है ये दोनों बातें हंस पक्षी में न हों। मोती का चुगना तो काल्पनिक है ही, उसका नीर-क्षीर विवेक भी काल्पनिक लगता है। वैसे नीर-क्षीर अलग करने-जैसी बात असंभव नहीं है। हम दूध में नीबू का रस डाल देते हैं दूध छेना बन जाता है और पानी अलग हो जाता है और छेना खाने या मिठाई बनाने आदि के काम में आता है। इसी प्रकार यदि हंस की चोंच में स्वाभाविक खटास होती हो तो उसको दूध में डुबाने से वह फटेगा ही और दूध छेना बन जाने से उसे हंस सहज ही खा सकता है तथा पानी छोड़ सकता

है। वस्तुतः यहां हंस का मोती का चुगना तथा नीर-क्षीर विवेक करना लाक्षणिक है। अर्थ है कि हंस गलत वस्तु को हटाकर पवित्र वस्तु खाता है। हंस मोती चुगता है। मनुष्य को चाहिए कि वह हंस के समान सद्‌गुणों को ग्रहण करने वाला हो और हंस के नीर-क्षीर विवेक के समान जड़-चेतन एवं बंध-मोक्ष का विवेक करके और जड़-बन्धनों को त्यागकर स्व-स्वरूप चेतन में स्थित हो।

भारतीय परम्परा में हंस का बड़ा आदर है। वैदिक साहित्य में भी हंस का उदाहरण अनेक बार आया है। कबीर साहेब की वाणियों में तो हंस के उदाहरणों की भरमार है। संस्कृत भाषा के अहंसः से शुरू के अ तथा अंत के विसर्ग लुप्त होकर हिन्दी में हंस हो गया है। अर्थ हुआ कि 'मैं वह हूं' जो मैं चाहता हूं। मैं दुखों से पूर्ण निवृत्ति तथा परम शांति चाहता हूं, तो मेरा स्वरूप वही है। अथवा दूसरी भाषा में कहूं तो मैं परमात्मा, राम एवं मोक्ष चाहता हूं, तो मैं ही परमात्मा हूं, राम हूं एवं मोक्षस्वरूप हूं। इस प्रकार हंस का हंसत्व है निजस्वरूप-विवेक तथा निजस्वरूप-स्थिति। सद्‌गुरु इस साखी के चौथे चरण में कहते हैं "हंस गौन चलि आव"—हंस की रहनी में चले आओ। जड़-चेतन का नीर-क्षीर विवेक करके अपने चेतनस्वरूप में स्थित हो जाओ।

कथनी और करनी की एकता

जैसी कहै करै जो तैसी, राग द्वेष निरुवारे।
तामें घटे बढ़े रतियो नहिं, यहि विधि आपु सँवारे॥ 257॥

शब्दार्थ—निरुवारे= त्याग करे। सँवारे=सुधारे।

भावार्थ—जैसी ज्ञान की बातें कही जाती हैं, वैसा ही आचरण करना चाहिए, और हृदय से राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए। अपनी रहनी से रत्तीभर विचलित न हो। इस प्रकार से अपने आप का सुधार करना चाहिए॥ 257॥

व्याख्या—"जैसी कहै करै जो तैसी" बहुत बड़ी बात है। पुस्तकें पढ़कर, प्रवचन सुनकर तथा संसार की घटनाओं को देखकर मनुष्य को अनेक प्रकार की जानकारियां हो जाती हैं। उन जानकारियों को वह दूसरों के सामने सहज ही कह सकता है। परन्तु उनके अनुसार अपने आचरण बनाने में त्याग और श्रम करने पड़ते हैं। थोड़ी भी जानकारी बहुत बड़ा काम देती है यदि उसका आचरण जीवन में हो रहा है, और बहुत बड़ी जानकारी किस काम की जिसका आचरण न हो। आदमी जानता कम नहीं है, किन्तु करता कम है। किसी साधारण-से-साधारण आदमी से कह दो कि वह काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेषादि पर अपने विचार कहे, तो वह अपनी बुद्धि तथा वाक्यशक्ति के अनुसार यही कहेगा कि ये सब नरक के द्वार हैं। परन्तु वह उन्हें नरक समझकर, उनका त्याग नहीं

कर पाता, बल्कि उन्हें बड़े प्यार से अपनाता है। इसका अर्थ यह है कि आदमी गलत को गलत जान तो सहज जाता है और उसे गलत कहता भी है, परन्तु उसे त्याग नहीं पाता, तो उसके वे जानना और कहना सार्थक नहीं होते। आदमी के जीवन में तब ऊंचाई आती है जब वह जिसे गलत समझता है उसको त्यागने के लिए कमर कस लेता है और जिसे सही समझता है उसे ग्रहण करने के लिए कमर कस लेता है।

जितना कहने में आता है उतना तत्काल करने में तो किसी से भी नहीं आता, परन्तु जिसे करने की चेष्टा है वह धीरे-धीरे अपनी कथनी को करनी में उतारता जाता है। कथनी को करनी में उतारना असंभव तो है ही नहीं, कठिन भी इसलिए लगता है कि मनुष्य के मन में विषयासक्ति है। परन्तु जिसे कल्याण एवं जीवन में परम शांति की इच्छा है वह आचरण में जी-जान से डट जाता है। जिसे रहनी धारण करने की तीव्र इच्छा है, उसके लिए यह सरल काम है। कोई भी संभव काम कठिन इसलिए लगता है कि हम उसके लिए तीव्र इच्छुक नहीं हैं। जब हमें जिस काम के करने के लिए तीव्र इच्छा होती है तब उसको करना सरल हो जाता है। इच्छाशक्ति मनुष्य का महान बल है। अमेरिका का इंजीनियर पेरी अपनी नब्बे वर्ष की उम्र के बाद अपनी प्रबल इच्छाशक्ति से उत्तरी ध्रुव क्षेत्र पर पहुंचा था जहां हजारों किलोमीटर चारों तरफ ठंडी के कारण आकाश में पक्षी भी नहीं उड़ते। वह हजारों किलोमीटर बर्फ में चलकर तथा हजारों फीट ऊंची बर्फ की चोटियों पर कठिनता से चढ़-उतरकर उस निर्जन स्थल में पहुंचा था और जब उसने उत्तरी ध्रुव-क्षेत्र पर पहुंचकर अमेरिका की ध्वजा गाड़ दी तो वह हर्ष से भर गया था। आदमी चन्द्रलोक-यात्रा-जैसे कठिनतम काम को सरल कर लेता है, तो अपने मन और इन्द्रियों को अपने वश में क्यों नहीं कर सकता!

संसार में अनेक महापुरुष हुए हैं और वर्तमान में भी हैं जिन्होंने कथनी के अनुसार अपनी करनी तथा रहनी बनायी है। जब एक आदमी ऐसा कर सकता है तब अन्य जो दिलोजान से चाहेगा वह भी कर लेगा। वैसे संसार के सभी मनुष्य कुछ-न-कुछ पवित्र रहनी में चलते हैं। संसार में एक व्यक्ति भी ऐसा नहीं मिलेगा जो प्राप्त जानकारी का एकदम आदर न करता हो। सभी मनुष्य समझ के अनुसार कुछ-न-कुछ सदाचार के मार्ग में चलते हैं। जो आदमी रहनी में जितना लाभ समझता जाता है वह उतना ही उस दिशा में चलता है।

जैसी कथनी वैसी करनी की परिभाषा है "राग द्वेष निरुवारे।" राग कहते हैं आसक्ति को और द्वेष कहते हैं किसी के लिए जलन एवं ईर्ष्या रखने को। निरुवारने का अर्थ है छुड़ाना, हटाना या त्याग करना। राग-द्वेष ही संसार-बन्धन है। बिना राग के द्वेष नहीं होता। राग-द्वेष में सारे बंधन आ जाते हैं। राग

के भीतर ही आसक्ति, कामना, लालसा, मोह, ममता, काम, लोभ आदि हैं और द्वेष के अन्दर ईर्ष्या, वैर, जलन, क्रोध, हिंसा आदि हैं। हमें भोगों की जितनी लालसा होती है, उतने ही हमारे मन में राग-द्वेष होते हैं। भोगों का एक स्थूल अर्थ काम-भोग ही नहीं है, किन्तु सम्मान, प्रतिष्ठा, पूज्यता की लालसा भी भोग है। कोई अपनी ओर से हमारी प्रतिष्ठा, पूजा या सम्मान करता है और हम उस ओर से अनासक्त हैं तो हमारे मन में कोई बन्धन नहीं है। परन्तु यदि हम सम्मान-प्रतिष्ठादि चाहते हैं तो हम भोगासक्त हैं। वसिष्ठ और विश्वामित्र के बीच में केवल प्रतिष्ठा की ही बात थी, परन्तु उनमें साधारण राग-द्वेष ही नहीं थे, किन्तु एक दूसरे के पुत्रों तक की उन्होंने हत्या कर दी थी। दावाग्नि की तरह सारा संसार राग-द्वेष में जल रहा है। संसारी तो जल ही रहे हैं, वेषधारी भी उससे बचे नहीं हैं। इससे तो कोई विवेकी ही बचते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि यदि तुम कहते हो कि हम जैसा कहते हैं वैसा करते हैं तो इसकी पहचान है राग-द्वेष का त्याग। तुम राग-द्वेष से निवृत्त हो, इसके लिए दूसरे के हस्ताक्षर की आवश्यकता नहीं है। इसकी परख तो तुम्हें अपने भीतर ही करना है। किसी को भी पूरा-का-पूरा दूसरा कोई नहीं जान सकता। 'मैं' को पूर्णतया 'मैं' ही जान सकता हूं। जब हमारा मन कभी विवशता का अनुभव नहीं करता तब हमें समझना चाहिए कि वह राग-द्वेष से रहित है। हमें लोगों में इसका प्रदर्शन कदापि नहीं करना चाहिए कि हम राग-द्वेष से रहित हैं। हमें तो राग-द्वेष से रहित होना चाहिए। संसार में ऐसा कोई सन्त नहीं हुआ है जिसे संसार के सभी लोग राग-द्वेष से रहित समझ लिये हों। बड़े-से-बड़े संत को बुरा कहने वाले संसार में रहे हैं, फिर हम किस खेत की मूली हैं जो हमें कोई बुरा न कहे! सच्चे साधक एवं संत पुरुष अपनी निन्दा अमृत-तुल्य समझते हैं, बल्कि अपनी प्रशंसा ही विषतुल्य समझते हैं। हमें यह बिलकुल सोचना ही नहीं है कि हमें लोग क्या कहते हैं, बल्कि हमें यह सोचना है कि हम क्या हैं! राग-द्वेष से पूर्ण निवृत्ति ही जीवन्मुक्ति है। यही जीवन का सर्वोच्च शिखर है।

"तामें घटै बढ़ै रतियो नहिं" अर्थात उक्त स्थिति में रत्तीभर न घटे और न बढ़े। इसका अर्थ लाक्षणिक है और वह है एकरस एवं अचल रहना। हमारी राग-द्वेष विहीनता की स्थिति अविचल होनी चाहिए। किसी साधना में निरन्तरता एवं अविचल निष्ठा उस दिशा की सफलता की कुंजी है। राग-द्वेष से सर्वथा मुक्त हो जाना साधना नहीं, सिद्धि है। और सिद्धि की कसौटी यही है "तामें घटै बढ़ै रतियो नहिं" एकरस, अबोल, अडोल "मन मस्त हुआ तब क्यों बोले।" कृतार्थ अवस्था वही है जिसमें घट-बढ़ न हो, उथल-पुथल न हो, जीवन में कोई सिकवा-शिकायत न रह जाये। मुक्त पुरुष के मन में किसी के लिए शिकायत नहीं रह जाती। चाहे उसके प्रति कोई द्वेष करने वाला ही क्यों न हो,

उसके लिए भी बोधवान के मन में कोई शिकायत नहीं रहती। औटते हुए तेल में जब तक पानी रहता है तब तक उसमें कल-कल की आवाज होती है। पानी के सर्वथा जल जाने पर कटाह का तेल शांत हो जाता है। वैसे राग-द्वेष से सर्वथा मुक्त साधक शांत हो जाता है। सद्गुरु कहते हैं कि इस प्रकार अपना सुधार करना चाहिए। यही जीवनधारण करने का फल है।

सभी आसक्ति छोड़ने पर बोध मिलता है

द्वारे तेरे राम जी, मिलहु कबीरा मोहि।
तैं तो सब में मिलि रहा, मैं न मिलूँगा तोहि॥ 258॥

शब्दार्थ—राम जी=घट-घट में रमने वाले चेतन जीव। कबीरा=काया में वीर जीव, चेतन मनुष्य।

भावार्थ—मानव तनधारी हे राम! हे कबीर! सद्गुरु तुम्हारे द्वार पर आकर तुम्हें पुकारते हैं कि तुम आकर मुझसे मिलो। यदि तुम कहो कि सद्गुरु ही आकर तुमसे मिलें तो यह नहीं हो सकता, क्योंकि तू तो सब में मिल रहा है, इसलिए मैं तुमसे नहीं मिल सकता। मुझसे मिलना चाहे तो सबको छोड़कर मेरे पास आ जा!॥ 258॥

व्याख्या—जिज्ञासुओं को समझाने के लिए कबीर देव के विचित्र-विचित्र ढंग हैं। कबीर साहेब ने बीजक में जीव के लिए राम शब्द का प्रयोग तो किया ही है, कबीर शब्द का प्रयोग भी किया है। उपर्युक्त अर्थ में 'राम जी' तथा 'कबीरा' दोनों ही जीव के अर्थ में लिये गये हैं। सद्गुरु जीव के मोक्षद्वार मानव-जीवन पर आकर मानो उसे पुकारते हैं कि हे राम, हे कबीर, तुम मुझसे मिलो। मनुष्य का कल्याण तभी है जब वह सद्गुरु से आकर मिले। "जहां धीर गम्भीर अति निश्चल, तहाँ उठि मिलहु कबीरा।"[16] हे लोगो! तुम विनम्रतापूर्वक उठकर वहां जाकर मिलो जहां अत्यन्त धीर एवं गम्भीर पुरुष हैं। "सन्त मिलन को जाइये, तजि माया अभिमान। ज्यों-ज्यों पग आगे धरे, कोटिन यज्ञ समान॥" यह तो जिज्ञासु एवं मुमुक्षु का ही कर्तव्य है कि वह विनम्रतापूर्वक गुरु से मिले।

यदि कहो गुरु ही जिज्ञासु एवं मुमुक्षु से मिलें, तो इसमें भी कोई बुराई नहीं है। गुरु तो पुकार ही रहे हैं कि हे मनुष्यो! तुम आकर हमसे मिलो। परन्तु निरानिर गुरु पुकारकर क्या करेंगे जब तक जिज्ञासु की अपनी जिज्ञासा नहीं जगती। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि मैंने तुम्हें थोड़ा संकेत कर दिया। तुम्हारे दरवाजे पर आकर तुम्हें पुकार दिया। अब मैं तुम्हारे पीछे कितना पड़ूं! आगे

---

16. बीजक, शब्द 29।

तुम्हारा काम है कि तुम खुद चेष्टा वाले होकर आकर मुझसे मिलो। "जो जिव झाँकि न ऊपजै, तो कहा पुकार कबीर।"[1] अर्थात यदि जीव के मन में स्वयं प्रेम न उत्पन्न हो तो उपदेष्टा गुरु पुकारकर क्या करेगा!

सद्गुरु कहते हैं कि केवल मेरे पुकारने से, केवल तुम्हारे पीछे मेरे पड़े रहने से तुम्हारा कल्याण होने वाला भी नहीं है। क्योंकि "तैं तो सब में मिलि रहा" अर्थात खानी-वाणी का जितना पसारा है तू सब में आसक्त है। तू मोटी माया तथा झीनी माया—दोनों में लीन है। तू संसार के प्राणी, पदार्थ, परिस्थिति तथा मन की असंख्य परिकल्पनाओं में डूबा है। तूने अपने आप को सब में आसक्त करके खो दिया है। विषयी जीवों का चित्त तो संसार के विस्तार में आसक्त ही है, कितने आध्यात्मिक महापुरुष भी जड़-चेतन सब कुछ अपना ही स्वरूप मानकर सब में मिल रहे हैं। जिसने जड़-प्रपंच को भी अपना स्वरूप मान लिया है उसमें विवेक जगा पाना बड़ा कठिन है। जो अपने आप को विस्मरण करके सब में आसक्त है उसके पीछे गुरु पड़े भी तो क्या फल होगा! अतएव गुरु ने थोड़ा संकेत कर दिया। अब जिज्ञासु का कर्तव्य है कि वह सबको छोड़कर गुरु से मिले। सबकी ममता छोड़कर केवल गुरु के उपदेशों पर ध्यान दिये बिना जीव का कल्याण नहीं है। सद्गुरु कहते हैं—"मैं ना मिलूंगा तोहि।" यदि तुम मेरी बातों पर ध्यान नहीं देते हो तो मैं तुमको नहीं मिलूंगा। यहां सद्गुरु जीवों की कल्याण-कामना से उसे पुकारते हैं और उससे निस्पृह भी हैं। इस प्रकार इस साखी में सद्गुरु की जीवों पर करुणा तथा संसार से निस्पृहता सुन्दर ढंग से झलकती हैं।

उक्त साखी को हम इस ढंग से भी समझ सकते हैं—कबीर साहेब कहते हैं कि हे लोगो! तुम राम को कहां खोजते हो! राम जी तो मानो तुम्हारे दरवाजे पर खड़ा होकर तुम्हें पुकारते हैं कि तुम आकर मुझसे मिल लो। परन्तु हे मोहासक्त! तू तो संसार के प्राणी-पदार्थों में उलझा हुआ सब में मिल रहा है, सब में आसक्त हो रहा है। अतः राम जी कहते हैं कि हे जीव! तू जब तक सब में आसक्त है मैं तुझसे नहीं मिलूंगा। तू जब सबकी आसक्ति छोड़ दे तो "मैं तो तेरे पास में।"

उक्त अर्थ लाक्षणिक है। राम का जीव से अलग कोई अस्तित्व नहीं है। जीव ही में रामत्व है, शिवत्व है, गुरुत्व है, कल्याणत्व है। जब जीव सब में मिलना छोड़ देगा तब मानो वह राम को पा गया, गुरु को पा गया। सबकी आसक्ति छोड़ देने पर जीव असंग हो जाता है। बस वही राम है, गुरु है, मुक्त है। इस प्रकार जीव को राम को खोजने नहीं जाना है। उससे अलग कहीं कोई राम है ही नहीं। यदि जीव से अलग अन्य जीव हैं तो वे सजाति हैं। किसी जीव का सत्य एवं परमार्थ उससे अलग नहीं होता। अलग का सत्य कभी मेरा स्थायी

अपना नहीं बन सकता। जीव का प्राप्तव्य उसका निजस्वरूप ही है। वही उसका राम है। अतएव राम को खोजना नहीं है। राम तो दरवाजे पर खड़ा है। अर्थात वह तो मेरा निजस्वरूप चेतन ही है। सब में मिलना छोड़कर तथा सबके राग-द्वेष से निवृत्त होकर अपने आप में लौट आना है; बस, मानो राम मिल गया।

भ्रम से जागो

भरम बढ़ा तिहुँलोक में, भरम मण्डा सब ठाँव।
कहहिं कबीर पुकारि के, तुम बसेउ भरम के गाँव॥ 259॥

शब्दार्थ—भरम=भ्रम, मिथ्याज्ञान, भटकाव। तिहुँलोक=अर्ध, उर्ध्व, मध्य; सर्वत्र, त्रिगुणी जीव। मण्डा=सजाया हुआ, मड़ा, रखा हुआ।

भावार्थ—मिथ्याज्ञान सर्वत्र फैला हुआ है। मानो सब जगह भ्रांति ही सजाकर रखी गयी है। कबीर साहेब जोर देकर कहते हैं कि हे संसार के लोगो! तुम भ्रम की नगरी में ही बसे हुए हो॥ 259॥

व्याख्या—जड़ और चेतन तथा उनके शाश्वत गुण-धर्मों की परख न होने से ज्ञान के क्षेत्र में सर्वत्र भ्रांति फैली है। भूत, प्रेत, देवी, देवता तथा अनेक अदृश्य शक्तियों की कल्पना कर आदमी भ्रांतियों में डूबा है। संसार में जितनी घटनाएं घटती हैं सब चेतन प्राणियों के कर्म या जड़प्रकृति की क्रिया का फल है। उसमें इन दोनों को छोड़कर किसी अदृश्य शक्ति की कल्पना ही सारे भ्रमों का सृजन करती है। इसीलिए कुछ चालाक लोग पूजा के बल पर जनता को सारे दुखों से मुक्त करने का झांसा देकर तथा उनके मन में भ्रम पैदाकर उन्हें मानसिक रूप से दुर्बल बनाते हैं और उनका धन ऐंठते हैं। प्रत्यक्ष प्राणियों के अलावा सारे देवी-देवता झूठे हैं, भूत-प्रेत झूठे हैं, प्रार्थना-पूजा करने से कोई देवता एवं ईश्वर कुछ दे देगा, या पाप काट देगा, दुख दूर कर देगा ये सब झूठी धारणाएं हैं, परन्तु इन सब भ्रांतियों में अशिक्षित से शिक्षित तक आंकठ डूबे हैं। इसलिए उनके ज्ञान और आचरण गड्डमड्ड हैं। इसी का फल है कि मनुष्य अपने श्रम एवं कर्म पर न विश्वास कर मंत्र-तंत्र एवं पूजा-पाठ के बल पर सारी ऋद्धि-सिद्धियां पाना चाहता है। जिधर निकलिए उधर मिट्टी एवं पत्थर की पिंडी देवी-देवता के रूप में विद्यमान हैं। आदमी पत्थर, पेड़, नदी, पानी, पूजते-पूजते जड़-बुद्धि का हो गया है। यदि वह इनसे बचता है तो आकाश में हाथ उठाकर किसी सर्वसमर्थ की कल्पना कर उससे सब कुछ पाना चाहता है। पानी बरसने न बरसने में कारण जड़-प्रकृति की योग्यता तथा अयोग्यता है। भूचाल, ज्वालामुखी, छह ऋतुओं का परिवर्तन, वन, पर्वत, झरने, नदी, समुद्र, असंख्य तारे, ग्रह-उपग्रह आदि जड़-प्रकृति के खेल हैं जो स्वाभाविक हैं। परन्तु मनुष्य

को महाभ्रम है कि इसे कोई देवता या ईश्वर चला रहा है। मनुष्य निर्भ्रांत होने के लिए प्रकृति का उदारतापूर्वक अध्ययन ही नहीं करना चाहता। वह प्रकृति के स्वत:सिद्ध तथा अनादिनिहित गुण-धर्मों पर ध्यान न देकर मिथ्या दैवी कल्पना में डूबा रहता है।

सद्गुरु कहते हैं कि तीनों लोकों में भ्रम बढ़ा हुआ है। तीनों लोक का लाक्षणिक अर्थ है पूरा संसार। सतप्रधान, रजप्रधान एवं तमप्रधान मनुष्यों के समूह को भी तीनों लोक कहा जा सकता है। इन त्रिगुणी मनुष्यों में भ्रांतियां फैली हैं। "भरम मण्डा सब ठाँव।" मण्डा का अर्थ सजाया हुआ। मानो सब तरफ एवं सब जगह भ्रम ही सजा करके रखा है। लोग झूठी-झूठी बातों को ऐसा सजाकर रखते हैं कि मानो उन्हें इनसे ऋद्धि-सिद्धि मिल जायेगी। चालाक लोग झूठी बातों के बल पर भोले लोगों को भटका रहे हैं और अपना स्वार्थ साध रहे हैं।

ऊपर परोक्ष कल्पनाओं के भ्रम के विषय में निवेदन किया गया। प्रत्यक्ष चीजों में भी बहुत बड़ा-बड़ा भ्रम है। संसार के प्राणी-पदार्थों में अपना-पराया मानने का भ्रम; जड़, क्षणभंगुर, दुखपूर्ण एवं मलिन भोगों में रमणीय और स्थायी सुख का भ्रम; शरीर को ही अपना स्वरूप मान लेने का भ्रम, इसी प्रकार जीव अनेक भ्रमों में डूबा है। देह, गेह, प्राणी, पदार्थों को अपना मानने का भ्रम महा दुखदायी है। सभी दुखों एवं बंधनों का मूल है शरीर को अपना स्वरूप मानना। यदि यह भ्रम टूट जाये तो अन्य भ्रम के टूटने में बड़ी सरलता हो।

आदमी भ्रमवश गलत तरीके से धन कमाकर मकान, जमीन तथा ऐश्वर्य का संग्रह करता है; परन्तु उसके गलत आचरण के कारण उसका मन मलिन बना रहता है। उसे जीवनभर शांति नहीं मिलती और एक दिन सब कुछ अचानक छोड़कर यहां से सदा के लिए चला जाता है। आदमी जीवनभर नये-नये भ्रम पालता रहता है। मनुष्य भ्रमवश ही कुछ लोगों में ममता करता है और भ्रमवश ही कुछ लोगों से वैर करता है। मनुष्य मानो भ्रम के नशे में सदैव डूबा रहता है। जीव का संसार में कुछ भी अपना नहीं है, परन्तु वह भ्रमवश संसार के प्राणी-पदार्थों में ममता बनाकर दुखी रहता है।

"कहहिं कबीर पुकारि के, तुम बसेउ भरम के गाँव।" कबीर साहेब संसार में आये और सबको भ्रम में डूबा देखकर चिल्ला उठे कि हे मानव! तू तो भ्रम के गांव में बसा हुआ है। इस संसार-पागलखाने में आकर और लोगों के भ्रमजनित पागलपन की बातें देखकर कबीर को बेहद पीड़ा हुई। वे किसी की परवाह किये बिना पुकारकर बोल पड़े "तुम बसेउ भरम के गाँव।" कबीर साहेब पूरे मानव-समाज को भ्रमरहित कल्याणरूप देखना चाहते हैं।

आज ही स्वरूपस्थिति का लाभ लो

रतन अड़ाइनि रेत में, कंकर चुनि चुनि खाय।
कहहिं कबीर पुकारि के, ई पिण्डे होहु कि जाय॥ 260॥

शब्दार्थ—रतन=रत्न, मोती। अड़ाइनि=अटका दिया, डाल दिया। रेत=धूल, वीर्य, विषय-वासना। ई पिण्डे=यह मानव-शरीर।

भावार्थ—मानो एक मूर्ख हंस मोती को धूल में डालकर कंकर चुन-चुनकर खाने लगा, वैसे मूढ़ मानव अपने स्वरूप-विवेक को विषयों में खोकर मलिन भोगों को भोगने में डूब गया। कबीर साहेब पुकारकर कहते हैं कि इस शरीर में रहते-रहते अपने स्वरूप में स्थित हो जाओ, अन्यथा धोखे में पड़कर भटक जाओगे॥ 260॥

व्याख्या—लोक कहावत के अनुसार हंस मोती चुगता है। परन्तु कोई हंस अपनी चोंच में लिये हुए मोती को भी धूल में डाल दे और कंकर चुन-चुनकर खाने लगे तो यह उसकी मूर्खता है। वैसे मनुष्य मूलतः विवेकसम्पन्न होकर भी अपने स्वरूप-विवेक को न जगाये और निरन्तर विषय-भोगों में लगा रहे तो यह उसका अज्ञान है। मनुष्य स्वरूपज्ञान और स्वरूपस्थिति का अधिकारी है, परन्तु वह अपने दिव्य चेतनस्वरूप को भूलकर मलिन विषयों की गली में निरन्तर घूम रहा है। "रतन अड़ाइनि रेत में, कंकर चुनि-चुनि खाय।" यह कितना मार्मिक वचन है। सद्गुरु अनुप्रास अलंकार में कहते हैं—"रतन अड़ाइनि रेत में" जीव ने रत्न को रेत में डाल दिया। रत्न स्वरूपज्ञान है तथा रेत विषय-भोग है। स्वरूपज्ञान में रमना चाहिए तो अभागा मलिन विषयों में रमने लगा। मोती चुगना था तो कंकर चुगने लगा। अर्थात दया, क्षमा, शील, सत्यादि सद्गुण ग्रहण करना चाहिए था तो काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेषादि में जलने लगा।

सद्गुरु कहते हैं "ई पिण्डे होहु कि जाय" इसी पिंड में, इसी शरीर में स्वरूपज्ञान और स्वरूपस्थिति प्राप्त कर लो, अन्यथा भ्रम में ही चले जाओगे। मनुष्य इसी जीवन में कल्याण करने का अधिकारी है। यह बात तो दुर्बलों के लिए है कि तुम सन्मार्ग में चलते रहो, आज नहीं तो कल, इस जीवन में नहीं तो अगले जन्म-जन्मांतरों में तुम्हारा कल्याण हो जायेगा। "भक्ति बीज पलटे नहीं, जो युग जाय अनंत। ऊंच नीच घर अवतरे, होय संत का संत।" परन्तु श्रम करने वालों के लिए अगले जन्मों की आशा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वह मनुष्य-जीवन का उद्देश्य ही नहीं है जो वर्तमान में न पूरा हो। हम वर्तमान में ही अपने जीवन के परम एवं चरम उद्देश्य परम शांति को प्राप्त कर सकते हैं। सारी भ्रांतियों एवं विषय-वासनाओं को छोड़ देने से ही परम शांति

की प्राप्ति होती है। छोड़ना सरल है। हम किसी वस्तु को ग्रहण करने में परतंत्र हो सकते हैं परन्तु छोड़ने में परतंत्र नहीं हैं। मनुष्य सोचता है कि हमें इतनी जमीन चाहिए, इतने रुपये चाहिए, इतने मकान चाहिए, इतनी प्रतिष्ठा चाहिए, परन्तु जितना वह सोचता है, हो सकता है कि उसे उतना न मिले, परन्तु यदि कोई सोचता है कि हमें कुछ नहीं चाहिए तो उसे क्या परतंत्रता है! विजाति पदार्थों की चाहना होती है और उन्हीं को छोड़ना है। जो मेरी आत्मा से अलग है उसे छोड़ने में मुझे क्या परतंत्रता है! अतएव मोक्ष का मार्ग बड़ा सरल है। उसमें केवल विजाति प्राणी-पदार्थों की अहंता-ममता छोड़ना है। जिन्हें अन्त में छोड़ना ही है उनका राग पहले ही छोड़ देने में क्या कठिनता है। जैसे मरे हुए को मारना सरल है, वैसे संसार का त्याग करना सरल है, क्योंकि सब कुछ छूटने वाला होने से मानो सब छुटा ही है। अतएव सद्गुरु कहते हैं "ई पिण्डे होहु" इसी शरीर में रहते-रहते स्वरूपज्ञान में स्थित हो जाओ। स्वरूपस्थिति करने में आज तुम्हें क्या परेशानी है! संसार में तुम्हें क्या करना है। जिसको लेकर तुम स्वरूपस्थिति का काम अभी नहीं कर रहे हो! जो स्वरूपस्थिति का काम नहीं करता है वह धोखे में है।

संसार का काम कभी पूरा नहीं होता। उन्हें अनादिकाल से करते आ रहे हो, परन्तु आज तक वे पूरे नहीं हुए, और न इन्द्रियों के भोगों में कभी मन की तृप्ति हुई। संसार की सारी उन्नति अंत में स्वप्नवत छूट जाने वाली तथा समाप्त हो जाने वाली है। अतएव नित्य तृप्तिकर एवं कभी न छूटने वाली स्वरूपस्थिति ही तुम्हारा परम उद्देश्य है। उसे इसी जीवन में प्राप्त करो, अभी प्राप्त करो। अन्यथा केवल घाटा-ही-घाटा है।

परखकर ही कोई वाणी मानो

जेते पत्र बनस्पती, औ गंगा की रेन।
पण्डित बिचारा क्या कहै, कबीर कही मुख बैन॥ 261॥

शब्दार्थ—रेन=रेणु, बालु-कण।

भावार्थ—संसार में वनस्पतियों के जितने पत्ते हैं और नदियों के जितने बालु-कण हैं उतनी वाणियां जीवों ने अपने मुख से कह डाली हैं, एक बेचारा पंडित कितनी वाणी कहेगा!॥ 261॥

व्याख्या—जो महाशय कबीर साहेब को अतिमानवीय शक्ति मानते हैं इस साखी के 'कबीर' शब्द का कबीर साहेब में अर्थ लगाकर यह सिद्ध करते हैं कि कबीर साहेब ने उतनी वाणियां कही हैं जितने संसार में वनस्पतियों के पत्ते हैं तथा नदियों के बालु-कण हैं। यह सिद्ध करने के बाद वे कबीर के नाम पर चलने वाली सारी वाणियों को कबीर साहेब से जोड़ते हैं। इतना ही नहीं, कबीर

और धर्मदास के संवाद के नाम पर जो कबीरपंथी महंतों ने हजारों पृष्ठ लिखे हैं उन्हें भी वे कबीर साहेब के मुख से निकली वाणी सिद्ध करते हैं, जिनमें काल्पनिक पौराणिक असत्य कथाओं की भरमार है।

वस्तुत: कबीर साहेब की मुख्य वाणी बीजक है और उनकी कुछ वाणियां उनमें भी हैं जो साखीग्रंथ तथा कबीरग्रंथावली के नाम से प्रसिद्ध हैं। या सिक्खों के गुरुग्रन्थ में संकलित हैं। परन्तु उन सब में कबीर साहेब के नाम पर मिलावट भी है जो बीजक सिद्धान्त से अलग है। कबीर साहेब ने इस साखी में ''कबीर कही मुख बैन'' कहकर अपने आप को नहीं प्रस्तुत किया है, किन्तु पूरे मानव-जगत को कहा है। यहां अभिधा अर्थ नहीं, किन्तु लक्षणा अर्थ समझना चाहिए।

सद्गुरु इस साखी में कहना चाहते हैं कि केवल बेचारे पंडित कितने वचन कहेंगे! संसार के मनुष्यों ने असंख्य वाणियां कह डाली हैं और उन वाणियों में ही पूरा मानव-समाज डूबा है। उनमें सार वाणियां भी हैं और असार वाणियां भी। इसलिए उनकी परख के लिए बीजक-वाणी की आवश्यकता है। बीजक-वाणी का अर्थ है कसौटी-वाणी। किसी भी वाणी को बिना उसकी परख किये नहीं स्वीकारना चाहिए। वाणी वे ही माननीय हैं जिनके भाव विश्व के शाश्वत नियमों, कारण-कार्य-व्यवस्था तथा प्रकृति के गुण-धर्मों के अनुकूल हों। जो घटनाएं प्रकृति या जड़-चेतन के गुण-धर्मों में आज प्रत्यक्ष न घटती हों यदि उन-जैसी घटनाओं का कहीं चित्रण हो तो वे मान्य नहीं हो सकतीं। जैसे किसी संत या कल्पित भगवान ने किसी मुरदे को जिला दिया, अपनी आज्ञा से जड़ पदार्थों को चला दिया, या केवल आज्ञा देकर उन्हें रोक दिया आदि। चमत्कार-जैसी लगने वाली सारी बातें या तो चालाकों द्वारा कही गयी हैं या भ्रांतों द्वारा। चालाक भी अन्ततः भ्रांत ही हैं। अन्तर यह है कि वे जानते हैं कि जो हम कह या लिख रहे हैं वे सर्वथा असत्य हैं। परन्तु वे इसमें अपना स्वार्थ समझकर ऐसा लिखते या कहते हैं। किन्तु उसमें उनको अपना स्वार्थ मानना उनका भ्रम ही है। ऐसा स्वार्थ जो छलपूर्ण एवं धूर्ततापूर्ण हो अंततः कर्ता को तथा अन्य को गड्ढे में ही ले जाता है।

अतएव चाहे व्यवहार के नाम पर चलने वाली वाणियां हों और चाहे धर्म के नाम पर, ''बाबा वाक्य प्रमाणम्'' मानने की आवश्यकता नहीं है। चाहे पंडित की बात हो चाहे ऋषि-मुनि की, चाहे सन्त-महात्मा की बात हो और चाहे तथाकथित भगवान या प्रभु की और चाहे आम जनता की, सब पर कसौटी करना परम कर्तव्य है। जैसे सत्य का बोध कराने वाली वाणियां कल्याणकारी हैं वैसे भ्रम पैदा करने वाली वाणियां पतनकारी हैं। अतएव केवल वाणी के मोह में पड़ आंख मूंदकर किसी की बातों को मानने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए पारखी सन्त सदैव वाणीजाल से सावधान रहने की चेतावनी देते हैं। जो

लोग भाव नहीं समझते हैं वे कहते हैं कि पारखी संत वाणी को जाल कहकर उसका खण्डन करते हैं तो स्वयं वाणी क्यों लिखते-बोलते हैं! निवेदन है कि ऐसा कहने वाले पारखी सन्तों के भाव को समझने का प्रयास करें। वे स्वयं सोचें, क्या वे संसार में प्रचलित सभी वाणियों को मान लेते हैं! अपनी समझ के अनुसार सभी मनुष्य सारासार विचार करते हैं। बस, उन्हें जहां पक्षपात हो जाता है, वहीं बिना विचार किये सब कुछ आंखें मूंदकर मान लेते हैं। पारखी संत कहते हैं कि कहीं की भी बात बिना विचार किये मत मानो।

बगला भगत से सावधान

हौं जाना कुल हंस हो, ताते कीन्हा संग।
जो जानत बगु बावरा, छुवै न देतेउँ अंग॥ 262॥

शब्दार्थ—हौं=मैं। बगु=बगला पक्षी। बावरा=पागल।

भावार्थ—हे मनुष्य! मैं जानता हूं कि तुम हंस कुल के हो! तुम मूलतः विवेकसम्पन्न प्राणी हो। इसी से मैंने तुम्हें अपने साथ में लिया है और तुम्हें सन्मार्ग बताने की चेष्टा की है। यदि मैं तुम्हें बगला के समान स्वभावतः गंदा और स्वार्थ में पागल समझता तो पास भी न बैठने देता॥ 262॥

व्याख्या—सद्गुरु मनुष्य की प्रशंसा करते हैं। वे कहते हैं कि मनुष्य मूलतः हंस है। हंस तो एक पक्षी है जिसमें विवेक होना सम्भव ही नहीं है। उसके लिए केवल एक रूढ़ कहावत है कि वह दूध और पानी को अलग-अलग करता है। मनुष्य अहंसः का विवेक करने वाला है इसलिए वह हंस है। मैं वह हूं जिसे मैं चाहता हूं। मैं पूर्ण तृप्ति, पूर्ण आनन्द, पूर्ण शांति चाहता हूं और मैं वही हूं जो मूलतः पूर्णतृप्त है। सभी मानव का मूल स्वरूप विवेकसंपन्न है। कौन कितना प्रयत्न करके अपने विवेक को विकसित कर लेता है यह हर व्यक्ति के अपने परिश्रम पर निर्भर है। यह निश्चित है कि मानव मात्र मूलतः विवेकशक्तिसंपन्न है। सद्गुरु कहते हैं कि हे मानव! मैं समझता हूं कि तुम हंस कुल के हो अर्थात तुम विवेचन शक्ति सम्पन्न श्रेष्ठतम प्राणी हो। इसीलिए मैंने तुम्हें सन्मार्ग में लाने एवं तुम्हारे विवेक को जगाने का प्रयास किया है। सभी सन्त, ऋषि-मुनि, औलिया इसीलिए तो मनुष्यों को शिक्षा देते हैं। पशु-पक्षी आदि मानवेतर प्राणियों को कौन शिक्षा देता है! यदि संतजन मनुष्य को पागल बगला समझते तो उसे उपदेश क्यों देते! बगला कब समझने लगा विवेक की बातें! मानवेतर प्राणी कब समझ सकते हैं सत्यासत्य के भेद! अतएव संतजन मानव मात्र को सत्यज्ञान का अधिकारी समझते हैं और उसी को सत्योपदेश देने का प्रयत्न करते हैं।

इस साखी का एक खुला अर्थ उलाहनापूर्ण लगता है। मानो कबीर साहेब ने

किसी जिज्ञासु या मुमुक्षु दिखते हुए व्यक्ति को अपनी शरण दी हो, परन्तु पीछे से उसकी कलई खुलने पर लगा हो कि यह बनावटी जिज्ञासु या मुमुक्षु है, असली नहीं है। तब उन्होंने कहा हो—

मैंने तो समझा था कि तुम समझदार एवं विवेकवान हो तब तुम्हें अपने साथ में लिया था। यदि मैं पहले समझ जाता कि तुम बगले के समान ऊपर उजले और भीतर काले हो और तुच्छ स्वार्थ में पागल हो, तो तुम्हें अपने पास न बैठने देता।

प्रायः हर महापुरुष के जीवन में अनुगामी बनकर कुछ ऐसे लोग आ जाते हैं जो दिल के सच्चे नहीं होते। कुछ दिनों में उनके व्यवहार से उनकी पोलपट्टी खुल जाती है। हो सकता है कि कबीर साहेब के पास ऐसा कोई आया हो जो देखने में हंस एवं व्यवहार में बगला रहा हो और अन्ततः उन्होंने उसे फटकारा हो। हंस और बगला दोनों सफेद होते हैं; परन्तु एक तो नीर-क्षीर विवेक करता है और दूसरा जलाशय में मछलियों तथा अन्य कीड़ों को खाने के लिए ध्यान लगाकर उन्हें कपटपूर्वक चाल से पकड़ता है। आप किसी जलाशय के निकट देख सकते हैं कि बगले आधी बन्द आंखों से मानो ध्यान लगाये हुए बैठे हैं और कभी-कभी केवल एक पैर के ही आधार पर ध्यान करने की मुद्रा में बैठ जाते हैं। उसमें उनका उद्देश्य होता है किसी सामने आये हुए मछली आदि जन्तु पर शीघ्रता से कूदकर उन्हें पकड़ खाना। कहां हंस दूध में मिले हुए पानी को भी छोड़कर केवल दूध लेने वाला और कहां बगला ध्यान-मुद्रा बनाकर जीव-वध करके उसे खाने वाला। ऊपर से दोनों सफेद और शांत दिखते हुए भी दोनों के आचरण में जमीन-आसमान का अन्तर होता है। जो लोग ऊपर से हंस का स्वांग रचकर भीतर से बगला का चरित्र रखते हैं वे अत्यन्त निंदनीय हैं। विवेकियों ने बगला से अच्छा कौआ को माना है। क्योंकि कौआ ईमानदार दुष्ट होता है। वह बाहर काला और भीतर भी काला है। वह जैसे आकर ऊपर मकान या पेड़ आदि पर बैठता है तुरन्त कड़ी आवाज में बोलता है और प्रायः टट्टी भी कर देता है। अतः कौआ खुला दुष्ट है। उससे किसी को ठगाने का प्रायः चांस नहीं पड़ता। परन्तु बगला ऊपर सफेद और भीतर काला होता है। वह बनावटी साधुत्व दिखाकर दूसरे जीव पर चोट करने वाला होता है। इसीलिए पाखंडियों के विशेषण में 'बगला भगत' कहावत प्रसिद्ध है। सभी के जीवन में कभी-कभी ऐसे लोग मिलते हैं जो 'मन मैला तन उजरौ" होते हैं। ऐसे लोगों से सदैव सावधान रहना चाहिए।

गुणवान ही गुणों का आदर करता है

गुणिया तो गुण ही कहै, निर्गुणिया गुणहि घिनाय।

बैलहि दीजै जायफर, क्या बूझै क्या खाय॥ 263॥

शब्दार्थ—गुणिया=सद्गुणी व्यक्ति। निर्गुणिया=गुणहीन व्यक्ति। जायफर= जायफल, एक सुगंधित फल जिसका व्यवहार औषध और मसाले में होता है।

भावार्थ—गुणवान व्यक्ति सद्गुणों का ही वर्णन करता है किन्तु गुणहीन व्यक्ति सद्गुणों से घृणा करता है। बैल के सामने यदि सुगंधित जायफल रख दिया जाये तो वह उसे क्या समझेगा और क्या खायेगा!॥ 263॥

व्याख्या—गुणवान व्यक्ति दूसरे के गुणों का आदर करता है। वह न दूसरे के दुर्गुणों को देखता है और न उनकी चर्चा करता है। वह दूसरे के सद्गुणों को ही देखता तथा उन्हीं की चर्चा करता है। "गुणिया तो गुण ही कहै" यह बहुत बड़ी बात है। इस वाक्य से यही माना जायेगा कि वही सद्गुणी व्यक्ति है जो दूसरे के सद्गुणों को देखता है। जिसे अपना कल्याण प्रिय है वह दूसरे की बुराइयों को देखने के चक्कर में नहीं पड़ता, क्योंकि किसी की बुराई देखने तथा कहने से अपने मन तथा वाणी में बुराइयों को स्थान मिलता है। यह मानव मात्र के लिए अहितकर है और साधक के लिए पतनकर है। सद्गुणी आदमी दूसरे के दोषों को अपने पवित्र हृदय और वाणी में कैसे स्थान देगा! एक समझदार आदमी अपने बिछे हुए स्वच्छ बिस्तर पर कोई गंदी वस्तु कैसे रखेगा! साधक को दूसरे के दोषों को देखने और कहने का अवसर कहां है! अतएव सद्गुणी मनुष्य अन्य की बुराइयों को नजरअन्दाज कर सब में रहे हुए केवल सद्गुणों को देखता है और सद्गुणों की ही चर्चा करता है।

"निर्गुणिया गुणहि घिनाय" गुणहीन आदमी दूसरों के सद्गुणों से घृणा करता है। दूसरे के सद्गुणों को सह पाना बड़ा कठिन काम होता है। जब लोग दूसरों के सद्गुणों को सह ही नहीं पाते तब उनकी प्रशंसा करना तो दूर की बात है। लोग दूसरे की विद्या, कला, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, पवित्र रहनी का केवल अवमूल्यन ही नहीं करते, किन्तु ईर्ष्या भी करते हैं। गुणहीन आदमी गुणों की इज्जत नहीं कर पाता। सद्गुरु ने यहां गुणहीन आदमी के लिए बैल की उपमा दी है। बैल के सामने सुगंधित जायफल रखा जाये तो वह न उसे समझ सकता है और न खा सकता है। यही दशा गुणहीनों की है। कलाविद् ही कला की परख करता है। कला-हीन कला को क्या जाने!

सगुणोपासकों की दयनीय दशा

अहिरहु तजि खसमहु तजी, बिना दाद की ढोर।
मुक्ति परी बिललात है, बृन्दाबन की खोर॥ 264॥

शब्दार्थ—अहिरहु=चरवाहे ने, गुरुओं ने। खसमहु=मालिक ने भी, कल्पित पति ने, भगवान ने। दाद=न्याय, इंसाफ। ढोर=पशु। मुक्ति=मुक्त, छुटा

हुआ, मोक्ष। बिललात=बिलखना, दुख से तड़पना। बृन्दाबन=गोकुल के पास का एक वन, संसार। खोर=गली, रास्ता।

भावार्थ—जैसे कोई बूढ़ा पशु हो, उसके मालिक ने उसे अनुपयोगी समझकर उसका त्याग कर दिया हो और उसके चरवाहे ग्वाले ने भी उसकी रक्षा करना त्याग दिया हो, अतः वह अपने विषय में कहीं न्याय न पाने से सब तरफ से त्यागा जाकर छुटा हुआ वृन्दावन-जैसे किसी वन की गलियों में दुख से विलखता हुआ घूमता हो, वैसे भगवान की विरह-भावना में पड़ा-पड़ा बूढ़ा व्यक्ति भगवान न मिलने से मानो वह मालिक की तरफ से त्याग दिया गया है और उसके चरवाहे-गुरु जो उसे उस भावना में हांकते थे उनका भी निर्देश कुछ काम न देने से मानो उसके द्वारा भी वह त्याग दिया गया है। अतः ऐसा भक्त सच्चा निर्णय एवं स्वरूपविवेक न पाने से अपने लक्ष्य से दूर वृन्दावन की गलियों में भगवान के लिए विलखता पड़ा रोता है।

अथवा मालिक और चरवाहे से उपेक्षित बूढ़े पशु की दयनीय दशा की तरह सगुणोपासक को भगवान न मिलने तथा गुरोपदेश निरर्थक हो जाने से उनकी दशा दुखपूर्ण हो जाती है, क्योंकि उनके यहां मुक्ति का तो कोई मूल्य नहीं है। सगुणोपासकों के क्षेत्र वृन्दावन-जैसे स्थानों की गलियों में तो मुक्ति विलखती पड़ी रह जाती है। उसे कोई पूछता नहीं है॥ 264॥

व्याख्या—इस साखी में सटीक तथा सुन्दर उदाहरण देकर सगुणोपासकों की दयनीय दशा का चित्रण किया गया है। जो भावुक भक्त लोग गुरुओं की मोहक एवं रोचक वाणियों में उलझकर राम, कृष्ण, विष्णु, शिव आदि के रूप में किसी देहधारी भगवान को अपनी आंखों से देखना चाहते हैं, उसके पास रहना चाहते हैं, उसके रूप वाला होना चाहते हैं, या उसमें मिल जाना चाहते हैं; वे जीवनभर भक्ति-भावना के नशा में उसी के स्वप्न देखते रहते हैं। उन्हीं भावनाओं एवं धारणाओं में तन्मय होने से उन्हें अपने कल्पित भगवान का समय-समय पर भास भी होता है। परन्तु वह केवल उनके मन की कल्पना रहती है। वे कभी भी किसी भगवान के प्रत्यक्ष दर्शन नहीं पाते।

सगुणोपासक गुरुओं ने बड़ी-बड़ी मोहक कथाएं लिख रखी हैं। वे जबान से भी नयी-नयी कल्पित कथाएं सुनाते रहते हैं। उनमें वे बताते हैं कि अमुक भक्त को राम के दर्शन हुए, अमुक को कृष्ण के दर्शन हुए, अमुक को विष्णु के तथा अमुक को शिव के दर्शन हुए। कबीर को भी भगवान मानकर उनके दर्शन के लिए कितने लोग लालायित रहते हैं। कितने लोगों ने तो यह भी कहने का साहस किया है कि हमें कबीर साहेब ने साक्षात दर्शन दिये हैं। लोग भक्ति के नाम पर नशा खाते और खिलाते हैं। एक हाईकोर्ट के जज ने कहा कि आपको कबीर साहेब के साक्षात दर्शन हो सकते हैं। उन्होंने कहा श्रीराम तथा लक्ष्मण के

दर्शन तुलसीदास ने चित्रकूट में पाये थे। उनसे कहा गया कि श्री राम और लक्ष्मण तुलसीदास को दर्शन देने आ सकते थे तो क्या हमलावर विदेशी शक, हूण, यूनानी, तुरुक, मंगोल, मुसलमान, आदि को भारत से खदेड़ने के लिए नहीं आ सकते थे जिससे उनके भक्तों, मंदिरों, गायों आदि की रक्षा हो सकती? सारे सगुण भगवानों के मंदिर तथा मूर्तियां तोड़ डाले गये परन्तु उन भगवानों ने इस पर थोड़ा भी ध्यान नहीं दिया। फिर भी हम उनके गीत गाये जा रहे हैं कि पाप का घड़ा एक दिन फूटेगा और भगवान आकर पुनः धन्वा-बाण एवं चक्र-सुदर्शन सम्हालेंगे।

जिन देहधारी भगवानों के हम साक्षात दर्शन करना चाहते हैं उनके शरीरान्त हुए सैकड़ों-हजारों वर्ष हो गये। उनकी हड्डियों का चूर भी पृथ्वी तल पर नहीं होगा। सब-का-सब अपने कारण तत्त्वों में बदल गया होगा; और उनकी आत्माएं अपने कर्मों के अनुसार गति पायी होंगी। वे आज कहां किससे मिलने वाले हैं! उन भगवानों एवं देवताओं की मूर्तियां आज भी मंदिरों से चुरा ली जाती हैं और जाकर विदेश में बिकती हैं। इस प्रकार जो तथाकथित भगवान एवं देवता अपनी रक्षा नहीं कर पाते, वे दूसरे की क्या करेंगे!

भक्ति के नाम पर आज भी ऐसी घुट्टी पिलायी जाती है जिससे आदमी बदहोश रहे। भक्त लोग कहते हैं कि आज भी श्रीकृष्ण वृन्दावन में रोज रास करते हैं। एक चारदीवारी के भीतर तो यह धारणा है कि वहां जितने पेड़-पौधे तथा घास-फूस हैं सब गोपिकाएं हैं। वहां शाम को बिस्तर बिछा दिया जाता है, फूल सजा दिये जाते हैं और फाटक बन्द कर दिया जाता है। रात में उसके भीतर के सारे पेड़-पौधे गोपी का रूप धारणकर श्रीकृष्ण के साथ नाचते, गाते तथा रमण करते हैं। सुबह फाटक खोलने पर बिस्तर, फूल आदि सब भोग से मर्दित रहते हैं। श्रीकृष्ण जैसे शूरवीर को, जिनके विषय में ऋग्वेद, छांदोग्य उपनिषद् तथा महाभारत में रास की गंध भी नहीं है, भारतीय परम्परा के आत्मघाती एवं मलिन पंडितों ने पामर सिद्ध किया है। इससे बड़ा अपराध और क्या हो सकता है! परन्तु आश्चर्य है कि वे भक्त कहलाते हैं।

अतएव पवित्र मनुष्य तथा संत-सद्गुरु के अलावा और कोई देव या भगवान नहीं है, जो किसी को आकर दर्शन दे। परन्तु भ्रामक गुरुओं के झांसे में पड़े हुए कितने लोग प्रत्यक्ष भगवद्दर्शन के चक्कर में अपने जीवन को खो देते हैं। जब उन्हें बुढ़ापा तक कोई भगवान नहीं मिलता तब वे मालिक तथा चरवाहे—दोनों द्वारा उपेक्षित बूढ़े पशु की तरह वृन्दावन की गलियों में बिलबिलाते हैं। यह बात केवल वृन्दावन की नहीं है, किन्तु सारे संसार की है। जो भी अपनी आत्मा की स्थिति एवं स्वरूपस्थिति से अलग किसी भगवान के दर्शन करना चाहेगा, उसको अन्त में पछताने के अलावा और कोई चारा नहीं

है।

"मुक्ति परी बिललात है, बृन्दाबन की खोर" इस पंक्ति को इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि वृन्दावन-जैसे सगुणोपासकों के क्षेत्र में बेचारी मुक्ति पड़ी बिलखती है। उसे कोई नहीं पूछता। क्योंकि सगुणोपासक लोग मुक्ति का महत्त्व नहीं समझते। वे तो किसी भगवान के दर्शन तथा उसके लोक एवं धाम पाना चाहते हैं। मोक्ष है वासना का त्याग। सारे मोह एवं वासनाओं को त्याग देने के बाद जीव की जो स्वरूपस्थिति होती है, अर्थात अपने आप में परम तृप्ति एवं शांति होती है, यही मोक्ष है। यह तथ्य है। यह स्थिति किसी भी मनुष्य को मिल सकती है। इसमें कुछ पाना नहीं है, किन्तु विकारों-वासनाओं को छोड़कर अपने आप शांत हो जाना है। सगुणोपासक इसके महत्त्व को समझते नहीं, अतएव वे इसकी स्वयं उपेक्षा कर देते हैं और वे जिसके दर्शन करना चाहते हैं वह उन्हें मिलता नहीं, मिल सकता नहीं, अतएव वह मानो उन भक्तों की उपेक्षा कर देता है। इस प्रकार "दोनों दीन से गये पांड़े, हलुए हुए न माड़े" वाली उनकी दशा होती है। जो निश्चित वस्तु को छोड़कर अनिश्चित के लिए दौड़ता है, वह दोनों तरफ से खाली जाता है।

अतएव साधक को चाहिए कि वह किसी भगवान के दर्शन पाने का भ्रम छोड़ दे, क्योंकि वह असत्य एवं काल्पनिक है। उसे चाहिए कि वह संत-सद्गुरु की संगत में स्वयं विवेक जगाकर अपने स्वरूप को समझे और सारी वासनाओं को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित हो!

तुम अंतरात्मारूपी राम को ठग नहीं सकते

मुख की मीठी जो कहै, हृदया है मति आन।
कहहिं कबीर ता लोगन से, तैसेहिं राम सयान॥ 265॥

शब्दार्थ—मति=अभिप्राय। आन=दूसरा, अन्य। राम=मनुष्य की अपनी अन्तरात्मा। सयान=समझदार।

भावार्थ—जो लोग मुख से तो मीठी बातें करते हैं और हृदय में कपट-कतरनी रखते हैं, कबीर साहेब कहते हैं कि ऐसे लोगों से राम ज्यादा समझते हैं, वे राम को ठगने की चेष्टा न करें। अर्थात अपनी अन्तरात्मा को कोई ठग नहीं सकता॥ 265॥

व्याख्या—मनुष्य की अन्तरात्मा ही राम है। उसे कोई ठग नहीं सकता। लोग चोरी करें, व्यभिचार करें, हत्या करें और उन्हें कोई दूसरा न देख सके या न जान सके यह संभव है, परन्तु यह सब करने वाला खुद उन्हें न देखे या न जाने यह संभव नहीं है। चोरी, व्यभिचार, हत्या, घूसखोरी, मिलावटबाजी, चोरबाजारी, असत्यभाषण तथा अन्य जितने दुराचार आदमी करता है। उसे

दूसरा कोई भले न जाने या न देखे, परन्तु इन सब का करने वाला स्वयं इन्हें देखता और जानता है। कोई व्यक्ति अपनी अन्तरात्मा से अपने कर्म छिपा नहीं सकता।

सुभान नाम के एक मियां थे। वे एक दिन बेर पेड़ के नीचे बैठे टट्टी कर रहे थे। वहां पके-पके बेर गिरे थे। वे लालच न रोक सके, अतः टट्टी करते-करते बेर खाते गये। गांव में रात में वेश्या का नाच हो रहा था। सुभान मियां नाच देखने गये। वे धनी आदमी थे। वे आदरपूर्वक आगे बैठाये गये। वेश्या का नाच शुरू हुआ। उसने गाना शुरू किया ''सुभान तेरी बतिया जान गयी राम।''

सुभान के मन में संदेह हुआ कि इसने कहीं से मुझे टट्टी करते समय बेर खाते देख लिया है। आज मैंने और तो कोई गलती नहीं की है, केवल टट्टी करते-करते बेर खाये हैं। यदि इसने समाज में यह बात कह दी, तो मेरी बड़ी बेइज्जती होगी। यह सब सोचकर सुभान ने अपने हाथ की अंगूठी उतारकर वेश्या को दे दी, जो बेशकीमती थी।

वेश्या बहुत खुश हुई। उसने अगली कड़ी गायी ''सुभान तेरी बतिया कह दूंगी राम।'' सुभान को बड़ा कष्ट हुआ। उन्होंने सोचा कि इतनी कीमती अंगूठी दे देने के बाद भी यह हरामजादी मेरी बुराई कह देना चाहती है। मियां जी ने अपने मन को सम्हाला और उन्होंने जो एक उत्तम शाल ओढ़ रखा था, उतारकर वेश्या को दे दिया। वेश्या बहुत खुश हुई। गाना शुरू करते ही उसे इतना बड़ा इनाम कभी नहीं मिला था। अतः उसने भावमग्न होकर जोर के आलाप में गाया ''सुभान तेरी बतिया कर रही हूं राम।''

अब सुभान मियां से न रहा गया। वे तमककर खड़े हो गये और वेश्या से कहा—''तुम्हें न अपनी इज्जत का डर है और न दूसरे की इज्जत का। तुम क्या कहोगी, यही तो कहोगी कि सुभान मियां टट्टी करते हुए बेर खाते थे कि और कुछ कहोगी!''

सारा समाज हंस पड़ा। वेश्या स्तब्ध रह गयी। उसने मियां जी से कहा— ''हुजूर, मैं ईश्वर का गुणानुवाद गाती हूं। मैं नहीं जानती कि यहां कोई सुभान मियां[1] बैठे हैं और वे टट्टी करते समय बेर खाते थे।''

वेश्या न सुभान मियां को जानती थी और न उनकी हरकत को कि उन्होंने टट्टी करते समय बेर खाये हैं। परन्तु सुभान मियां की अन्तरात्मा तो जानती थी। अतएव जब हम पर्वत की गुफा में, समुद्र के भीतर, आकाश के ऊपर, जमीन के नीचे, कमरे में, वन में—कहीं भी अकेले हों तो यह न समझें कि जो हम

---

18. 'सुभान' का शुद्ध रूप 'सुब्हान' है जो अरबी भाषा का शब्द है और जिसका अर्थ होता 'पाक परमेश्वर'।

कर रहे हैं उसे कोई नहीं देख रहा है। हमारी अपनी अन्तरात्मा तो हमारी हर हरकत को हर समय देख रही है। उससे कुछ भी छिपाने की बात ही संभव नहीं है। हमारी आत्मा भगवान है और हमारी आंखें भगवान की आंखें हैं। उससे कुछ भी छिपाना असंभव है। किसी की आत्मा अपने आप को कभी क्षमा नहीं करती। हम पाप करने के बाद किसी कल्पित भगवान या देवी-देवता की पूजा या चढ़ौती कर भले अपने मन को संतोष देने का प्रयास करें कि हमारे पाप कट गये, परन्तु हृदय अपने पापों से जलता रहेगा। यही तो चित्रगुप्त का लिखना है। मनुष्य के मन में जो सारे कर्मों के चित्र गुप्तरूप से अंकित हो जाते हैं यही चित्रगुप्त का लिखना है। इससे कोई बच नहीं सकता।

तीन-तीन घंटे पूजा करने वाले लोग घूस लेते समय, मिलावट एवं चोरबाजारी या कोई दुराचार करते समय, दूसरों की नजरों से उसे छिपाने का प्रयास करते हैं। एक तरफ वे भगवान का गुणानुवाद गाते हुए नहीं अघाते। वे उसके लक्षण भी बताते हैं कि भगवान सब कुछ जानता और सब कुछ देखता है, परन्तु वे जब कोई दुराचार करते हैं तब दूसरे मनुष्यों से छिपाते हैं। उन्हें मनुष्यों पर विश्वास है, ईश्वर पर नहीं। इसीलिए तो वे मनुष्यों से अपने दोष छिपाते हैं और ईश्वर से नहीं डरते। यदि वे ईश्वर से डरें तो ईश्वर की आंखें कहां नहीं हैं! वस्तुतः बाहर ईश्वर तो एक भावना या कल्पना है। मनुष्य की आत्मा ही ईश्वर है और वह मनुष्य की सारी हरकतें जानती है। यहां मनुष्य और उसकी आत्मा का भिन्न अर्थात दो अस्तित्व न समझना चाहिए। सार अर्थ यह है कि आत्मा ही राम है और वह अपने द्वारा किये गये कर्मों का साक्षी है। अतः किसी को भी अपनी अन्तरात्मा को ठगने का प्रयास न करना चाहिए; क्योंकि ठगना असंभव है, और पाप तो है ही। उसका फल तो मिलना ही है। मनुष्य बुरे कर्म करते हुए भी भले कहता रहे 'राम दोहाई गंगा किरिया हम कोई पाप नहीं करते' परन्तु उसकी अंतरात्मा उसको कचोटती रहेगी। वह कहीं भी रहेगा अपने पाप-कर्मवश मन-ही-मन भयभीत रहेगा। लहसुन-प्याज खाने से दुर्गन्धी की डकार आती है।

स्वर्ग हत्या का नहीं, प्रेम का फल है

इतते सब कोई गये, भार लदाय लदाय।
उतते कोई न आइया, जासों पुछिये धाय॥ 266॥

शब्दार्थ—इतते=संसार से। उतते=स्वर्ग से।

भावार्थ—संसार के लोग स्वर्ग की प्राप्ति के लिए वध, कुर्बानी, होमबलि आदि के नाम पर जीववध कर तथा अच्छे-बुरे नाना कर्मों के बोझा लाद-लादकर संसार से चले गये, परन्तु स्वर्ग से कोई नहीं आया, जिससे दौड़कर

पूछा जाये कि स्वर्ग का आनंद कैसा है!॥ 266 ॥

व्याख्या—वैदिकों में यह भ्रम था कि यज्ञ के नाम पर पशु-पक्षियों को मारकर देवताओं को तृप्त किया जा सकता है और उनकी खुशी में स्वर्ग पाया जा सकता है। बाइबिल वाले ईश्वर के नाम पर होम-बलि कहकर जीव की हत्याकर उसे आग में डालते और इस क्रिया से वे समझते कि इससे ईश्वर खुश होगा, और वह हमें स्वर्ग का आनंद देगा। मुसलमानों के यहां कुर्बानी के नाम पर बकरीद के दिन लाखों पशु काट दिये जाते हैं। कहते हैं आजकल भी मक्का यात्रा करने वाले मक्का में जाकर हजारों ऊंटों एवं जानवरों की ईश्वर के नाम पर हत्या कर देते हैं। यह जंगली-युग का अंधविश्वास आज भी चल रहा है। हिन्दुओं में तो इस बात में काफी सुधार हो गया है, परन्तु मुसलमानों में आज भी सुधार नहीं है। किसी देवता या ईश्वर के प्रीत्यर्थ किसी जीव की हत्या करने की बात कैसी उलटी है। जीवहत्या जो सबसे बड़ा पाप है उससे कोई देवता या ईश्वर खुश कैसे होगा! सद्गुरु कहते हैं—"कहुँधौं बिहिस्त कहाँ ते आई, किसके कहे तुम छुरी चलाई।" कहां है स्वर्ग जिसको पाने के लिए तुमने मूक पशुओं के गले पर छूरी चलायी है, और किसके कहने से चलायी है! कहने वालों की मनगढ़ंत कल्पना है।

वस्तुतः इस धरती से अलग कहीं स्वर्ग प्रत्यक्ष नहीं हुआ हैं। स्वर्ग की केवल कल्पना की गयी है और नाना मत वालों ने उसका अपना रूप खड़ा किया है। मनुष्य को चाहिए कि अपने प्रेम के व्यवहार से इस धरती को ही स्वर्ग बनाये। जब हमारा मन पवित्र हो जाता है तब हृदय ही स्वर्ग बन जाता है। जो अपने मन को स्वर्ग बना लेता है उसके द्वारा बाहर का वातावरण भी स्वर्ग बनता है। यह स्वर्ग ही सच्चा है। इसे पाने के लिए जीवहत्या जैसा घोर पाप नहीं, किन्तु दया और प्रेम का व्यवहार अपेक्षित है।

स्वर्ग तो काल्पनिक है, परन्तु पुनर्जन्म एक वास्तविकता है। पुनर्जन्म सिद्धान्त माने बिना चैतन्य-जगत की स्थिति नहीं समझी जा सकती। बुरे कर्मों के परिणाम में आज तथा पुनर्जन्म में दुख तथा अच्छे कर्मों के परिणाम में सुख यही मानो नरक और स्वर्ग है। हम पुनर्जन्म पर थोड़ा विचार करें।

तालाब, नदी, समुद्र आदि का जल सूर्य की किरणों और वायु के सम्पर्क से वाष्प बनकर आकाश में जाता है और ऊपर परमाणु रूप में रहता है। कालान्तर में वही बुन्द रूप में बरसकर पुनः तालाब आदि भरता है। वे ही तारे, चांद, सूर्य घूम-घूमकर रोज आकाश में उगते हैं। दिन में चांद-तारे नहीं दिखते तो इसका यह अर्थ नहीं कि वे नष्ट हो गये। वे ही पुनः रात में दिखते हैं। ये सब नित्य नये बनकर नहीं आते, वे ही रहते हैं।

इसी प्रकार वे ही अविनाशी चेतन जीव एक शरीर को छोड़कर अन्य शरीर

धारण करते हैं। न जीव का नाश होता है और न जड़ का। जड़ अपने स्वभाव में बरतते हैं और जीव अपने कर्मवश भटकते हैं। जड़ तत्त्वों का क्रियाशील रहना स्वाभाविक है और जीवों का भटकना कर्मवश सहेतुक है। इसीलिए कर्मभूमि का रूप नरजन्म में कर्म-संस्कार (विषयासक्ति) नष्ट हो जाने पर जीव गमनागमनरहित अपने आप शान्त हो जाता है। यह बात विवेक से गम्य है, किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म है। इस ज्ञान के लिए बहुत काल साधना-सत्संग करने की आवश्यकता है। जब एक साधारण अध्यापक की योग्यता-प्राप्ति के लिए वर्षों पढ़ना पड़ता है, तब ऐसा सूक्ष्म विषय घंटों में कैसे समझ लें!

कोई जन्म से ही प्रतिभावान, कोई प्रतिभाहीन, कोई बहुत पढ़ाने पर भी नहीं पढ़ पाता, कोई थोड़े में बहुत जान लेता है। इसी प्रकार सबके गुण-स्वभाव, भोग, बुद्धि भिन्न-भिन्न हैं। यह इसीलिए है कि जीवों के पूर्वजन्मों के कर्मों की भिन्नता है।

खट्टे आम के पेड़ के फल सभी खट्टे और मीठे आम के पेड़ के फल सभी मीठे होते हैं, क्योंकि फल केवल वृक्ष के स्वभावानुसार उसी के ही रूपान्तर हैं। परन्तु एक माता-पिता से अनेक बच्चे होते हैं। उनके स्वभाव माता-पिता जैसे ही सबके नहीं रहते, भिन्न-भिन्न रहते हैं। क्योंकि उनकी देह के उत्पन्न होने में केवल माता-पिता के रज-वीर्य ही नहीं कारण हैं, बल्कि उन-उन अविनाशी जीवों के उत्तम-मध्यम कर्म भी कारण हैं।

अतएव अगणित अविनाशी चेतन जीवों के कर्म-फल भोग, पुनर्जन्म, बन्ध-मोक्ष सर्वथा विवेक अनुकूल हैं। यहां तो किंचित संकेत-मात्र है। इस विषय को ठीक से समझने के लिए अधिक सत्संग, सद्ग्रन्थावलोकन तथा विवेक करने की आवश्यकता है।

रामभक्ति सर्वाधिक प्रिय है

भक्ति पियारी राम की, जैसी पियारी आग।
सारा पट्टन जरि मुवा, बहुरि ले आवै माँग॥ 267॥

शब्दार्थ—पट्टन= शहर, नगर।

भावार्थ—राम की भक्ति आग के समान प्रिय होनी चाहिए। देखो, आग लगने पर गांव या शहर जल जाता है, तो भी आदमी भोजन बनाने एवं प्रकाश जलाने के लिए उसे पुनः दूसरों के घरों से मांग लाता है॥ 267॥

व्याख्या—भक्ति की परिभाषा पीछे 228वीं साखी "अर्ब खर्ब ले दर्ब है" की व्याख्या में की जा चुकी है। सार इतना ही है कि कबीर का राम व्यक्ति की अपनी अन्तरात्मा है और उसके प्रति अनुराग भक्ति है। अतएव स्वरूपस्थिति एवं आत्मस्थिति ही भक्ति है। परन्तु इस स्थिति को पाने के लिए प्राणिमात्र पर

करुणा, प्रेम और सेवा का व्यवहार चाहिए तथा बोधवान सद्गुरु-संतों के प्रति उपासनापूर्वक उनसे दिशानिर्देश लेना चाहिए। प्राणिमात्र को रामरूप समझकर उनसे प्रेम तथा अपनी अन्तरात्मारूपी राम में स्थिति भक्ति का स्वरूप है। प्राणिमात्र के प्रति प्रेम, बोध-वैराग्यसम्पन्न सद्गुरु-संतों के प्रति श्रद्धा-उपासना एवं अंततः निज चेतनस्वरूप में अनन्य अनुराग एवं स्थिति—ये सब भक्ति के लक्षण हैं। सद्गुरु कहते हैं कि यह भक्ति आग के समान प्रिय होनी चाहिए। आग जब घर, गांव तथा शहर में लगती है, तब उन्हें जलाकर राख कर देती है। इस प्रकार आग का परिणाम कभी-कभी कितना भयावह हो जाता है। परन्तु क्या कोई आग का तिरस्कार करता है। जिस आग में अपना सब कुछ जल गया हो, उसी आग को लोग पुनः बड़े प्रेम से दूसरे के घर से मांगकर अपने घर में ले आते हैं, क्योंकि जलपान, भोजन आदि पकाने के लिए आग की कितनी अनिवार्यता है! रात के अंधकार को दूर करने के लिए भी प्रकाश जलाना पड़ता है और प्रकाश आग का ही गुण-धर्म है।

भक्ति-मार्ग में लगने पर कभी-कभी कठिनाइयां आती हैं, परन्तु उनमें विचलित होने वाला व्यक्ति भक्ति-पथ पर नहीं चल सकता। मध्यप्रदेश के बस्तर जिले के जंगली क्षेत्र में गांव का एक धनी आदमी भक्त हुआ। उसने जीव-हत्या और मांस, शराब आदि छोड़ दिया। देवी-देवताओं के नाम पर जीव-हत्या करना भी छोड़ दिया। जिस देवपूजन में जीव-वध हो उसमें चंदा देना, सहयोग करना तथा सम्मिलित होना भी छोड़ दिया। गांव वाले उस पर रुष्ट हो गये। पूरे गांव के लोग देव-पूजन में बकरे-मुरगे काटने वाले तथा शराब-मांस के सेवन करने वाले थे। उन सबने पंचायत कर उक्त भक्त के विरोध में गांव में घोषणा कर दी कि उसके यहां कोई नौकर न लगे, मजदूरी करने न जाये, उसे कोई आग तक न दे, उससे कोई बात न करे।

भक्त गांव वालों से पूर्णतया उपेक्षित हो गया। उसके कई हल चलते थे। कई नौकर तथा मजदूर लगते थे। बाहर से सब काम ठप्प हो गया, किन्तु वह विचलित नहीं हुआ। वह अपने मार्ग पर दृढ़ रहा। भक्त और उसका एक पुत्र दो जोड़ी बैलों को लेकर सुबह से दोपहर तक हल चलाते। दोपहर में बैलों को लेकर घर पर छोड़ देते। घर वाले उन बैलों को खिलाते-पिलाते और घर से दूसरे दो जोड़ी बैलों को लेकर पिता-पुत्र शाम तक हल चलाते। दूसरे गांव से मजदूर लाकर खेत में काम कराते। यह स्थिति पचीस वर्ष तक रही। उसके बाद गांव के लोग सामान्य हो गये। फिर उनको नौकर-मजदूर मिलने लगे। ऐसी कठिनाइयां या इनसे नरम-गरम कठिनाइयां जगह-जगह लोगों को पड़ी या पड़ती हैं, परन्तु जो दृढ़ रहते हैं, वे ही भक्ति कर सकते हैं।

प्रहलाद की कहानी चाहे पूर्णतया काल्पनिक हो, परन्तु उसमें भक्ति-पथ के

पथिकों के लिए साहस का अन्यतम पाठ है। ध्रुव की कहानी की भी यही बात है। कबीर, मीरा, तुलसी तक को अपने पथ में कितनी कठिनाइयां झेलनी पड़ी हैं। दयानन्द, ईसा, मुहम्मद, विवेकानन्द, बुद्ध, महावीर किसे कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ा! ईसा, दयानन्द, सुकरात, मंसूर, बंदा वैरागी, गुरु गोविन्द सिंह, उनके दो बच्चे, गुरु तेगबहादुर आदि को तो शहीद हो जाना पड़ा। धर्म के क्षेत्र में सर्वाधिक क्रांतिकारी कबीर को अपने जीवन के पूर्वार्ध में जो कठिनाइयां झेलनी पड़ी हैं, रोंगटे खड़े कर देने वाली हैं। उन्हीं की महिमा में बावन कसनियों का वर्णन है। उनमें चमत्कारों की अतिशयोक्तियां हैं, परतु उनमें सार यही है कि उन्हें कठिनाइयां झेलनी पड़ीं। परन्तु उनका कोई बाल बांका न कर सका। अंततः वे समाज द्वारा पूज्य हुए।

भक्त होने तथा गुरुदीक्षा लेने के पश्चात जिनकी भैंस मर जाती है या कोई नुकसान हो जाता है वे यह भ्रम करके कि भक्ति हमें नहीं छाजती या नहीं शोभती, भक्ति छोड़ बैठते हैं। वे कायर-कुपूत लोग क्या भक्ति कर सकते हैं! भक्ति जितनी प्रगाढ़ होती जाती है उतना ही सत्य का व्यवहार बढ़ता है, किन्तु उसमें आर्थिक हानि मानकर जो भक्ति छोड़ देता है वह भक्ति नहीं कर सकता। किसी अन्य भक्त, साधक, साधुवेषधारी की फिसलन देखकर या किसी गुरु की ही डगमगाहट देखकर जो भक्ति छोड़ बैठता है वह भक्ति-पथ का पथिक नहीं है। भक्ति-पथ में वही चल सकता है जो सारे द्वन्द्वों, दुखों, हानियों, अपमानों एवं कष्टों को सहकर उसे न छोड़े।

सद्गुरु ने इस साखी में बताया है कि भक्ति आग के समान प्रिय होनी चाहिए। भक्ति करने में चाहे जितनी हानि दिखे उसका परित्याग कभी न करना चाहिए। संसार की हानि झूठी है, परन्तु भक्ति का फल सच्चा है। राम की भक्ति जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि है। राम मनुष्य के भीतर भी है और बाहर भी। बाहर प्राणिजगत राम का विराट स्वरूप है। उसकी यथाशक्ति सेवा करनी चाहिए। पहली सेवा है प्राणिजगत का शक्ति चले तक अहित न करना और बन सके तो उसकी सुविधा में सहयोग करना। भीतरी राम मेरी अपनी अंतरात्मा है, उसका चिंतन, उसमें स्थिति यह उसकी भक्ति करना है। अतएव दूसरे की सेवा और अपने आप में स्थिति यही राम की भक्ति है। यह जीवन की परम उपलब्धि है। जो व्यक्ति यथासाध्य दूसरे की सेवा करता है और अपने आप में संयत होकर स्थित होता है उसके समान सफल जीवन कौन होगा, और ऐसी स्थिति एवं भक्ति को सुरक्षित रखने के लिए सब कुछ का स्वाहा कर देना पड़े तो क्या हानि है! इसलिए सद्गुरु ने कहा है—

कामी क्रोधी लालची, इनसे भक्ति न होय।
भक्ति करे कोई सूरमा, जाति वर्ण कुल खोय॥

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।

अनन्य भक्ति

नारि कहावै पीव की, रहै और सँग सोय।
जार मीत हृदया बसे, खसम खुशी क्यों होय॥ 268॥

शब्दार्थ—जार=पराई स्त्री से प्रेम करने वाला पुरुष, उपपति, आशना। खसम=पति।

भावार्थ—कोई स्त्री पत्नी तो अपने पति की कहलावे, परन्तु विलास दूसरे के साथ करे, और उस जार मित्र को ही अपने हृदय में बसाये रखे, तो उसका पति उस पर कैसे प्रसन्न हो सकता है! इसी प्रकार जो सद्गुरु या राम का भक्त कहलाकर काल्पनिक देवी-देवताओं में उलझता है, न उससे सद्गुरु प्रसन्न हो सकते हैं और न उसकी अंतरात्मा प्रसन्न हो सकती है॥ 268॥

व्याख्या—सद्गुरु ने साखीग्रन्थ में कहा है—"दुनिया सेती दोस्ती, परत भजन में भंग। एकाएकी राम ते, की संतन के संग॥" अर्थात संत-सद्गुरु के सत्संग, सेवा, भक्ति आदि में रमो या अपने स्वरूप-राम में रमो। इसके अलावा जंजाल है। जो गुरु का भक्त है अथवा जो राम का भक्त है वह कल्पित एवं जड़ देवी-देवताओं को न मानता है और न पूजता है। और जो देवी-देवताओं में उलझा है वह न गुरुतत्त्व को जानता है और न रामतत्त्व को जानता है। बाहरी गुरु बोधदाता है जो मनुष्य के रूप में है और भीतरी गुरु मनुष्य का निज विवेक है और अंततः उसका निजस्वरूप चेतन है। इसी प्रकार बाहरी राम प्राणि जगत है और भीतरी राम अपनी आत्मा है, जीव है। इस प्रकार जिसे रामतत्त्व और गुरुतत्त्व का बोध है वह संत-गुरु की सेवा करता है, प्राणियों की सेवा करता है, अपने विवेक को जाग्रत करता है और अपने चेतन पारखस्वरूप में स्थिति करता है। वह कल्पित जड़ देवी-देवताओं की उपासना-पूजा में नहीं भटकता।

वस्तुतः मनोवृत्ति पत्नी है और जीव पति है। यदि मनोवृत्ति जीव को छोड़कर अर्थात अंतरात्मा को छोड़कर इधर-उधर भटकती है तो मानो वह जारकर्म में निरत रहने वाली व्यभिचारिणी है। ऐसी मनोवृत्ति से चेतनपति को कभी संतोष नहीं मिल सकता। जब मनोवृत्ति निजस्वरूप में स्थित होती है तभी जीव को परम शांति मिलती है।

भटकाव में कुसंग कारण

सज्जन से दुर्जन भया, सुनि काहू की बोल।
काँसा तामा होय रहा, हता ठिकों का मोल॥ 269॥

शब्दार्थ—काहू=अविवेकी। काँसा=ताँबे और जस्ते के मेल से बनी एक धातु। तामा=लाल रंग की एक धातु। हता=था। ठिकों का मोल=सही कीमत।

भावार्थ—मनुष्य मूलतः सच्चे सोने की कीमत का था और है, परन्तु वह अविवेकियों की बातें सुनकर और उनसे प्रभावित होकर अच्छा से बुरा बन गया और तुच्छ कांसे-तांबे के भाव बिकने लगा॥ 269॥

व्याख्या—जब मनुष्य शिशु के रूप में जन्म लेता है तब वह शुद्ध और साफ-पाक होता है। यदि मनुष्य के बच्चे शुरू से ही कुसंग न पायें और अच्छी संगत, अच्छे साहित्य एवं अच्छे वातावरण पायें तो उनका प्रायः अच्छा ही निर्माण हो। मनुष्य मूलरूप में विवेक-शक्तिसम्पन्न है। वह मौलिक रूप में शुद्ध है। परन्तु दुख की बात है कि उसे शुरू से ही कुसंग मिलने लगता है। स्वार्थपरता एवं झुठाई आदि की सीख तो कितनी माताएं ही देने लगती हैं। जब बच्चा माता की गोद से उतरकर जमीन पर खेलना शुरू करता है तो दूसरे कुसंस्कारी बच्चों की संगत से उसमें कुसंस्कार आने लगते हैं। फिर वह गांव तथा मोहल्ले के लड़कों से मिलता है, पाठशाला में पढ़ने जाने लगता है तब वहां बहुत लड़कों का सम्बन्ध होता है। इनमें कितने लड़के अनेक दुर्व्यसनों के शिकार तथा दुर्गुणों के पंडित होते हैं। यदि इन बच्चों की संगत में पड़ गया तो थोड़े दिनों में स्वभाव बिगड़ जाता है।

फिर तो समय जितने बीतते हैं उसे अनेक लोगों की संगत मिलती जाती है जिनमें अच्छे तो कम मिलते हैं, किसी-न-किसी प्रकार भटका देने वाले बहुत मिलते हैं। जिनकी संगत से मांस-अंडे खाने या किसी प्रकार के नशा करने एवं किसी प्रकार के गलत आचरण की आदत पड़ जाये वह तो बुरी संगत है ही, परन्तु जिनकी संगत से भूत, प्रेत, देवी, देवता, ग्रह, लग्न, मुहूर्त, शकुन, अपशकुन या किसी अदृश्य शक्ति का भय या लालच का भ्रम मन में खड़ा हो जाये, वह भी महान कुसंग है। कितने भ्रामक लड़के या गुरु लोग मिलते हैं। वे गायत्री-जप, देवी-देवता-पूजन या और किसी टंट-घंट करने से परीक्षा में उत्तीर्ण होने, मुकदमे में विजय पाने, पुत्र-धन पाने, नौकरी आदि पाने का झांसा देकर मनुष्य की मानसिकता को दुर्बल बनाने का पाप करते हैं। ऐसे लोगों के कुसंग से मनुष्य कारण-कार्य तथा विश्व के शाश्वत नियमों के ज्ञान से दूर होकर चमत्कारों में विश्वास करने लगता है, जो केवल अज्ञान या धूर्तता से पैदा हुए हैं। भ्रामक लोग जनता को झूठी आशा देकर उन्हें केवल मूर्ख बनाते हैं और उसी क्रम में किसी को अपने श्रम एवं प्रारब्ध से पुत्र, धन, विजय, परीक्षोत्तीर्णता आदि मिल गये तो उन्हें भी भ्रम दृढ़ हो जाता है कि यह सब उपलब्धि मान-मनौती से हुई है और वंचक लोग ढिंढोरा पीटते हैं कि देखो अमुक ने गायत्री या अमुक देवी-देवता की पूजा के बल पर पुत्र-धनादि पाये हैं। भ्रामकों एवं भोले

लोगों ने मिलकर ही सारे देवी-देवताओं, चमत्कारों एवं अन्धविश्वासों को जन्म दिया है। इसके मूल में मिथ्या स्वार्थ है। इससे भ्रामकों का स्वार्थ खूब सिद्ध होता है। वे भोले लोगों को अपने मायाजाल में फंसाकर उन्हें खूब बेवकूफ बनाते हैं और उनसे धन, यश आदि लूटते हैं, परन्तु भोले लोग जो फंसते हैं उनका लाभ तो कुछ भी नहीं केवल हानि ही हानि है। किसी कल्पित देवी-देवतादि की पूजा, वन्दना, उपासना करने से किसी को भी पुत्र, धन, नीरोग्यता, विजय आदि नहीं मिलते हैं।

संसार में मनुष्य सर्वोच्च सत्ता है। उसकी सर्वाधिक कीमत है। समस्त शास्त्र एवं ज्ञान-विज्ञान उसी की देन हैं। परन्तु वह 'काहू' की बोल सुनकर भटक गया है। यहां 'काहू' शब्द पर काफी जोर है। 'काहू' से अर्थ है 'बेपारखी'। जिसे जड़-चेतन का ज्ञान नहीं है, विश्व के शाश्वत नियमों, कारण-कार्य की व्यवस्था एवं प्रकृतिगत गुण-धर्मों की पहचान नहीं है, अथवा जिसके आचरण पवित्र नहीं हैं, उसके लिए ही 'काहू' शब्द का प्रयोग है। ऐसे लोगों की ही बातें सुनकर मनुष्य सज्जन से दुर्जन हो जाता है। ज्ञान में भ्रांति और आचरण की मलिनता मनुष्य को नीचा बनाती है।

यदि सोना कांसा-तांबा के भाव बिकने लगे तो यह सोने के महत्त्व को न समझना है। इस संसार में जिस मनुष्य की कीमत सबसे ज्यादा है वह तुच्छ कहा जाने लगा। वह अपने बनाये जड़-पिंडियों, शब्द-समूहों एवं मनःकल्पनाओं के सामने रोने, गिड़गिड़ाने एवं भोग-मोक्ष मांगने लगा। वह पत्थर, पेड़, पहाड़, नदी, आकाश, चांद, सूरज, सबसे भीख मांगने लगा। जितना मूल्य पत्थर, पेड़ और कांसा-तांबा का है, मनुष्य का उतना भी नहीं रहा। इसके मूल में है "काहू की बोल"। जो ज्ञान और आचरण से गिरे हैं उनकी बातें सुन-सुनकर अच्छे लोग भी भटक जाते हैं।

विवेचनशक्तिसंपन्न होने से मनुष्य की मर्यादा सर्वोत्तम है। इसका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। यह मनुष्य समस्त विकारों को जीतकर स्वयं परमात्मा या भगवान है। इससे बढ़कर या इसके समान कोई अन्य नहीं है।

बिरही जीवों का भटकाव

बिरहिन साजी आरती, दर्शन दीजै राम।
मूये दर्शन देहुगे, तो आवै कौने काम॥ 270॥

शब्दार्थ—बिरहिन=पति-वियोग की पीड़ा से व्यथित नारी, तात्पर्य में ईश्वर को पति मानकर उसके दर्शन के लिए तड़पता भक्त।

भावार्थ—ईश्वर के वियोग के अनुभव से पीड़ित भक्त अपने आप को ईश्वर की पत्नी मानकर और उसे पति मानकर उससे मिलने, उसके दर्शन पाने के लिए

आरती साजता है, उसकी वन्दना करके कहता है कि हे राम, मुझे दर्शन दो। यदि मरने पर दर्शन दोगे तो उससे क्या लाभ होगा!॥ 270॥

व्याख्या—ऐसा बहुत लोगों को भ्रम होता है कि आत्मा से अलग परमात्मा होता है। कितनों को यह भी विश्वास होता है कि उसके विरह में तड़पने से वह आकर साक्षात दर्शन देता है। इस भ्रांत मानसिकता के बहुत लोग शिकार होते हैं। ऐसे लोग अपने रत्नतुल्य समय और जीवन को उसके दर्शन पाने के प्रयास के गोरखधंधे में व्यर्थ बिता देते हैं। उनको इतना-सा विवेक नहीं होता कि रूप विषय को छोड़कर अन्य चार गंध, शब्द, स्वाद एवं स्पर्श के ही आंखों से दर्शन नहीं होते, तो अभौतिक, अदृश्य परमात्मा के दर्शन कैसे होंगे! इसके अलावा जो मेरी आत्मा से अलग होगा वह परमात्मा अपना कैसे बन सकता है! वे उन मोहक एवं काल्पनिक वाणियों के व्यामोह में पड़े रहते हैं, जिनमें बताया गया है कि अमुक को राम के दर्शन हुए, अमुक को कृष्ण के, अमुक को शिव या विष्णु के दर्शन हुए आदि, इस प्रकार की सारी वाणियां मानसिक सनक से लिखी गयी होती हैं। परन्तु आदमी वाणियों के व्यामोह में पड़ा भटकता है।

कितने गुरु लोग कहते हैं कि यदि आदमी जीवनभर ईश्वर की विरहाग्नि में जलता रहे तो मरने के बाद उसे भगवान के दर्शन अवश्य होंगे। परन्तु मरने के बाद ईश्वर-दर्शन का झांसा देना आदमी को गुमराह करना है। जो इस जीवन में नहीं घटेगा वह मरने पर क्या घटेगा! इस झांसे में पड़े हुए अनेक साधक जीवनभर तपस्या का घोर कष्ट उठाते हैं। उन्हें अपने स्वरूप का बोध नहीं होता जो स्वयंप्रत्यक्ष एवं हाजिर हुजूर है। इस प्रकार स्वरूपज्ञान एवं आत्मज्ञान के बिना मानव भटकता है। विरह का अर्थ ही है, वियोग, जुदाई। परन्तु जुदाई एवं बिछुड़न भ्रमजनित है। मेरा 'अपना' बिछुड़ा ही नहीं है। जो मेरा अपना आपा है, स्वत्व है, स्व-स्वरूप है, वही मेरा परमात्मा है और वह मुझसे कभी बिछुड़ ही नहीं सकता। जब बिछुड़ा ही नहीं, तब वियोगजनित पीड़ा कैसी! अतएव अपने से अलग परमात्मा या राम मानकर उससे बिछुड़न की कल्पना ही अज्ञानजनित है, फिर मिलने का क्या मतलब हो सकता है! अध्यात्म के क्षेत्र में इतना ही है कि मुझे स्व-स्वरूप का केवल विस्मरण है। उसे जानकर केवल स्मरण कर लेना है और विषय-वासनाओं को छोड़कर सदैव स्वरूपस्थिति में रहना है।

वर्तमान सुधारो

पल में परलय बीतिया, लोगहिं लागु तमारि।
आगल सोच निवारि के, पाछल करहु गोहारि॥ 271॥

शब्दार्थ—तमारि=तम+अरि—अंधकार का शत्रु, सूर्य, तात्पर्य में ज्ञान। आगल=भविष्यकाल। पाछल=भूतकाल। गोहारि=सत्संग में पुकार।

भावार्थ—पल मात्र में तेरी मौत हो जायेगी, फिर तेरा अपना माना हुआ सब कुछ समाप्त हो जायेगा। इसलिए हे मानव, तू गुरु के ज्ञान-पथ में लग और भूत की चिंताओं तथा भविष्य की कल्पनाओं को छोड़कर वर्तमान के सारे बन्धनों को तोड़ने के लिए सत्संग में पुकार कर!॥ 271॥

व्याख्या—हम घर, धन, पशु, परिवार का शृंगार करते हैं, अपने माने हुए शरीर को सजाते हैं और उसे बड़ा स्थायी मानते हैं। इस प्रकार संसार की माया को हम अजर-अमर मानकर उसके प्रमाद में फूले नहीं समाते। परन्तु हमें कालबली का तमाचा क्षण में लग जाता है और हमारे शरीर का अंत हो जाता है। शरीर का अंत हो जाना मानो हमारे मायावी अहं का प्रलय हो जाना है। शरीर के मिटने के साथ पल मात्र में हमारा सब बीत जाता है। विचार करके देखो तो हमारे देह-गेहादि के प्रति बनाये हुए अहं-मम कितने मिथ्या हैं! पागल मानव जिसको जीवनभर मेरा-मेरा कर रटता है क्षण ही में वह सब खो जाता है। किसी ने कितना सुन्दर कहा है—

आगाह अपनी मौत से कोई बसर नहीं।
सामान सौ बरस का पल की खबर नहीं॥

इसीलिए सद्गुरु कहते हैं कि हे मानव! तू देह-गेहादि का अहंकार मत कर, बल्कि "लागु तमारि" अर्थात अज्ञाननाशक ज्ञान में लग। 'देह-गेहादि भौतिक पदार्थ मेरे हैं' ऐसी धारणा ही अज्ञान है और ये सब मेरे नहीं हैं, मैं शुद्ध चेतन असंग, अविनाशी एवं निराधार हूं, यह ज्ञान है। कबीर देव कहते हैं कि अज्ञान को छोड़कर ज्ञान में लगो। जैसे सूर्य के उगते ही अंधकार समाप्त हो जाता है, वैसे स्वरूपज्ञान के उदित होते ही माया-मोह नष्ट हो जाता है। जैसे अन्धकार में आदमी को ऊंच-नीच, रास्ता-खाईं आदि का पता न चलने से वह जगह-जगह ठोकरें खाता है, परन्तु सूर्योदय होने पर प्रकाश हो जाता है, और उसे सब कुछ साफ दिखता है तथा वह कांटा-खाईं से बचकर अच्छे रास्ते पर चलता है। इसी प्रकार देह-गेहादि सांसारिक पदार्थों के मोह में डूबा आदमी विवेकहीन होकर भटकता है। उसे अपना हिताहित नहीं दिखता। परन्तु जब उसे ज्ञान हो जाता है कि इस संसार में कुछ भी अपना नहीं है, फिर मैं किस प्राणी-पदार्थ के लिए राग-द्वेष करूं तो वह सुपथ पर चलता है। वह सब कुछ के अहंकार को छोड़कर अविनाशी-स्वरूप में स्थित होता है।

सद्गुरु कहते हैं "आगल सोच निवारि के, पाछल करहु गोहारि" अर्थात आगे-पीछे की चिन्ता छोड़कर वर्तमान में बन्धनों से मुक्त होने के लिए सत्संग में गोहार करो। हम भूतकाल की अपने द्वारा घटी घटनाओं को लेकर चिंता और पश्चाताप करते हैं कि ऐसा करता तो ऐसा अच्छा हो जाता। मैंने गलत किया जिससे काम बिगड़ गया इत्यादि। परन्तु आदमी चाहे जितना पश्चाताप करे और

चाहे जितनी चिंता करे जो बीत गया वह लौट नहीं सकता। बीता हुआ मुरदा है। उसे कौन जिला सकता है! अतएव बीती घटनाओं को लेकर चिंता एवं पश्चाताप करना अविवेक है।

हम भविष्य के लिए नयी-नयी स्वर्णिम कल्पनाएं करते हैं, ऐसा करेंगे, वैसा करेंगे, यह होगा, वह होगा, परन्तु आदमी जितना सोचता है क्या उतना होता है! तथागत बुद्ध ने कहा है कि मूढ़ आदमी सोचता है कि मैं ठंडी में अमुक जगह, गरमी में अमुक जगह तथा वर्षा में अमुक जगह रहूंगा। परन्तु उसको क्या पता कि काल उसे कब उठा लेगा! इसका मतलब यह नहीं है कि भविष्य के लिए कोई कार्यक्रम नहीं बनाना चाहिए। कार्यक्रम बनाना पड़ता है, तभी जीवन की गाड़ी चलती है, और तभी कुछ किया जा सकता है। परन्तु विवेकवान आदमी मन के लड्डू नहीं खाते। वे भविष्य के सपने में डूबते नहीं। वे भूत की चिंता एवं पश्चाताप तथा भविष्य की कल्पना छोड़कर वर्तमान सुन्दर बनाते हैं। वर्तमान हमारे हाथों में हैं हमें आज सत्संग करना चाहिए, विवेक करना चाहिए और प्राप्त निष्कर्ष के अनुसार जीवन बनाना चाहिए। वर्तमान में हम राग-द्वेष से मुक्त होकर स्ववश रहें, यही जीवन में महान उपलब्धि है। श्री पूरण साहेब कहते हैं—

वर्तमान में बरतो भाई। भूत भविष्य सब देउ बहाई॥
होनहार सोई तन होई। ताहि मानि जिव काहेक रोई॥
तू अविनाशी सुख में कहिए। याहि जानि धीरता लहिए॥ निर्णयसार॥

"आगल सोच निवारि के, पाछल करहु गोहारि" को हम इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि भविष्य में क्या होगा इसकी चिन्ता छोड़ दो। तुम भूतकाल में बनी हुई वासनाओं एवं बन्धनों को नष्ट करने के लिए सत्संग में पुकार करो। अर्थात विनयावनत होकर सन्तों से सत्यासत्य समझकर सारे अध्यासों को ध्वंस करो। तुम्हारे सारे बन्धन भूतकाल में ही तो बने हैं। यदि उन्हें वर्तमान में मिटा देते हो तो भविष्य की चिन्ता करने की आवश्यकता ही नहीं है। यदि हमने वर्तमान में भूत का सुधार कर लिया और जीवनभर केवल वर्तमान को ठीक बनाये रखा तो भविष्य की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है।

मन को वश में करना ही सर्वोच्च उपलब्धि है

एक समाना सकल में, सकल समाना ताहि।
कबीर समाना बूझ में, जहाँ दूतिया नाहिं॥ 272॥

शब्दार्थ—एक=मन। समाना=आसक्त हुआ। सकल=पंचविषय जगत। बूझ=ज्ञान, परख। दूतिया=दृश्य जगत।

भावार्थ—साधारण मनुष्य का मन संसार के सारे प्रपंच में आसक्त रहता है और सारे प्रपंच के संस्कार उसके मन में लीन रहते हैं। परन्तु जिसका मन संसार की सारी वासनाओं को छोड़ देता है, उसका मन स्वरूपज्ञान में लीन हो जाता है, जहां दृश्य जगत नहीं है॥ 272॥

व्याख्या—जो लोग प्रसंग को नहीं देखते वे "एक समाना सकल में, सकल समाना ताहि" का अर्थ करते हैं कि एक ब्रह्म सब में लीन है तथा सब एक ब्रह्म में लीन है। परन्तु यहां 'एक' का अर्थ मन है। यही बात इसकी अगली साखी में भी दोहरायी गयी है कि "एक साधे सब साधिया"। वहां भी अर्थ मन का है कि एक मन साध लिया जाये तो सब सध गया।

सामान्य जीवों की यही दशा है कि उनका मन संसार के सारे प्रपंच में लीन होता है और सारे प्रपंच के संस्कार उनके मन में लीन होते हैं। ये कहने के दो तरीके हुए, परन्तु दोनों का अर्थ है कि साधारण आदमी का मन जगत-विषयों में ही डूबा रहता है। साधारण आदमी अपने मन को सब समय किसी-न-किसी विषय के राग में ही लगाये रखता है। विषयों का स्मरण मानो उसके मन का व्यापार है। इसीलिए सामान्य लोग यह समझ भी नहीं पाते हैं कि हम विषयों से अलग शुद्ध चेतन हैं।

परन्तु जिन्हें अपने अविनाशीस्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो गया है और उन्होंने विषयों की वासनाओं का परित्याग कर दिया है, उनका शुद्ध मन स्वरूपज्ञान में लीन हो जाता है। "कबीर समाना बूझ में" बड़ा वजनदार वचन है। जहां सबकी बूझ, समझ एवं परख होती है वह जीव का निजस्वरूप है। श्री पूरण साहेब ने कहा है—"जाते सकलो परखिया, सो पारख निज रूप। तहाँ होय रहु थीर तू, नहिं झांई भ्रम कूप॥" जिस चेतन भूमिका से सबकी परख होती है वही तो व्यक्ति का निजस्वरूप है। जिसका मन वासनाहीन हो गया है उसका मन उसी में लीन होता है। "कबीर समाना बूझ में" कबीर तो केवल बूझ में समाये हैं वे केवल ज्ञान में लीन हैं। कबीर अपने आप को स्वरूपस्थिति में लीन बताकर मानो उन सबको स्वरूपलीन बताते हैं जिनको स्वरूपज्ञान हो गया है और जिनका मन शुद्ध हो गया है।

वह स्वरूपस्थिति की दशा कैसी होती है? सद्गुरु बताते हैं "जहाँ दूतिया नाहिं" वहां द्वैत नहीं रहता, यह दृश्य जगत वहां नहीं रहता। वहां केवल शुद्ध चेतन की स्थिति है। मन का यह स्वभाव है कि वह एक काल में केवल एक ही विषय को ले सकता है। जब मन स्वरूपज्ञान में लीन हो गया तब वहां दूसरा विषय कैसे उपस्थित हो सकता है! स्वरूपज्ञान में स्थिति ही मानो अद्वैत दशा है। ब्रह्मवादी जड़-चेतन को एक मानकर अद्वैत की कल्पना करते हैं जो केवल एक सांप्रदायिक मतवाद है। परन्तु विषयों को त्यागकर स्वरूपस्थिति ही अद्वैत

है। अद्वैत का अर्थ है अकेलापन। सारे संकल्पों के छूट जाने के बाद शुद्ध चेतन मात्र रहा, और वही अद्वैत है। वहां स्वरूपस्थिति के अलावा कुछ नहीं है।

एक साधे सब साधिया, सब साधे एक जाय।
जैसा सींचै मूल को, फूलै फलै अघाय॥ 273॥

शब्दार्थ—एक=मन। साधे=रोके, वश में करने से। सब=संसार के प्राणी, पदार्थ, प्रतिष्ठा आदि।

भावार्थ—एक मन को वश में कर लेने से मानो सब कुछ वश में हो गया, परन्तु संसार के सारे प्राणी, पदार्थ, प्रतिष्ठादि को जो अपने वश में करने का प्रयत्न करता है उसका मन संसार में भटक जाता है। जैसे पेड़ की जड़ में पानी डालने से पूरा पेड़ हरा-भरा होता है और फूलता-फलता है और सींचने वाले को पेटभर खाने को मिलता है, वैसे जो अपने मन को वश में कर लेता है वह अखण्ड तृप्ति पाता है॥ 273॥

व्याख्या—कोई व्यक्ति पेड़ के पत्ते-पत्ते को पानी से सींचे तो इससे न तो पेड़ को ठीक से खुराक मिलेगी और न उसके फूलने-फलने में सहयोग मिलेगा, परन्तु केवल पेड़ की जड़ में पानी डालकर सींचने से पूरा पेड़ हरा-भरा हो जायेगा। उसमें फूल तथा फल आयेंगे और सींचने वाले को अघाकर फल खाने के लिए मिलेंगे। इसी प्रकार जो व्यक्ति संसार को अपने वश में करके सुख चाहता है वह भोला है। सच्चा तथा स्थायी सुख तो तब मिलता है जब अपने मन को वश में कर लिया जाये।

"एक साधे सब साधिया" बड़ा महत्त्वपूर्ण वचन है। एक मन को अपने वश में कर लेने पर सारा संसार अपने वश में हो गया। वस्तुतः जब अपने मन को वश में कर लिया जाता है तब कुछ इच्छा ही नहीं रह जाती, और जिसकी सारी इच्छाएं बुझ गयीं उसके सारे प्रयोजन मानो पूर्ण हो गये। शरीर की आवश्यकताएं तो प्रयत्न तथा प्रारब्ध से पूर्ण होती रहती हैं, मनुष्य की इच्छाएं ही नहीं पूर्ण होतीं। परन्तु जब वह मन को वश में कर लेता है तब इच्छाएं समाप्त हो जाती हैं। जिसके मन की इच्छाएं बुझ जाती हैं वह परम तृप्त हो जाता है।

"सब साधे एक जाय" यदि आदमी सारी दुनिया को अपने वश में करने की दुराशा करता है तो उसका मन भटक जाता है। संसार के प्राणी, पदार्थ, प्रतिष्ठा, पद, यहां तक कि जवानी, सौंदर्य, शरीर—कुछ भी अपने वश में नहीं हैं। ये सब सर्वथा कभी अपने वश में हो नहीं सकते। कुछ प्राणी-पदार्थों पर हमारा थोड़े दिनों के लिए अधिकार हो जाता है और हम उनके अहंकार में इतराने लगते हैं, परन्तु उनके बिछुड़ने, पराये होने तथा विमुख होने में देरी नहीं लगती। जो प्राणी, पदार्थ, पद आदि आज हमारे हाथों में हैं वे ही कल दूसरे के हाथों में

चले जाते हैं। दूसरे प्राणी, पदार्थ तो दूर हैं ही, जिसे हम बिलकुल अपना मानते हैं और जो सबसे ज्यादा निकट है वह शरीर भी हमारे वश में नहीं है। कौन चाहता है कि जवानी तथा उसके सौन्दर्य-माधुर्य समाप्त हो जायें, परन्तु वे देह में ही समाप्त हो जाते हैं। मीलों दौड़ लगाने वाला एक दिन बिस्तर पर पड़ा-पड़ा करवट नहीं बदल पाता। उसका हाथ जब कोई दूसरा आदमी उठा देता है तब वह एक जगह से दूसरी जगह होता है।

जिस संसार के एक कण पर भी अपनी स्ववशता नहीं है, विमोहित आदमी उस संसार के सारे प्राणी, पदार्थों को अपने वश में करने को सोचता रहता है। परन्तु वह जितना ही संसार को अपने वश में करने को सोचता है उतना ही उसका मन चंचल हो जाता है। जो व्यक्ति जितना ही संसार को समेटकर रखना चाहेगा, उसका मन उतना ही चंचल होकर भटकेगा। "सब साधे एक जाय" यह अमर वचन है। संसार को अपने वश में करना चाहोगे तो मन भटक जायेगा, और संसार भी अपने वश में नहीं होगा, और यदि मन को अपने वश में कर लोगे तो संसार की आवश्यकता ही समाप्त हो जायेगी तो मानो संसार वश में हो गया।

संसार में केवल एक ही वस्तु हमारे वश में हो सकती है, वह है मन। इसके अलावा हमारे वश में कुछ भी नहीं हो सकता। हम काले शरीर को गोरा नहीं बना सकते, परन्तु अशुद्ध मन को शुद्ध बना सकते हैं। हम बूढ़े शरीर को जवान नहीं बना सकते परन्तु आसक्ति की दुर्बलता से घिरे मन को वैराग्य-ज्ञान के बल से सबल कर सकते हैं। पहली बात, संसार के प्राणी-पदार्थ अपने वश में होंगे ही नहीं। यदि हम थोड़े समय के लिए असंभव को संभव भी बना लें और उन्हें अपने वश में कर लें तो भी उनसे हमारे मन में तृप्ति तो आ नहीं सकती। संसार के ऐश्वर्य से कौन तृप्त हुआ है! अखंड तृप्ति का केवल एक साधन है—मन को अपने वश में करना।

जिसका मन पूर्णरूपेण उसके वश में है वह सदैव सहज-समाधि में डूबा रहता है। सहज-समाधि है अभ्यासकाल में संकल्पहीनता और व्यवहारकाल में राग-द्वेष-हीनता एवं आसक्तिहीनता। ऐसा मानव आप्तकाम, अकाम, पूर्णकाम, निष्काम, निवृत्तकाम एवं तृप्तकाम होता है। इस सुख के समान संसार में कोई सुख नहीं है। भूला मनुष्य संसार को वश में कर अनंत सुख चाहता है। जो दोनों ही असंभव हैं; परन्तु विवेकवान मानव अपने मन को वश में कर अनंत सुख पा लेता है। सद्गुरु कबीर कहते हैं—

चाह गई चिंता मिटी, मनुवा बेपरवाह।
जिनको कछु नाहिं चाहिए, सोई शाहन्शाह॥

"एक साधे सब साधिया, सब साधे एक जाय" इसे हम इस प्रकार भी

समझ सकते हैं कि एक अपने मन को वश में कर लेने पर मानो सारी साधनाएं कर ली गयीं, क्योंकि इससे पूर्ण तृप्ति मिल जाती है, परन्तु जो नाना देवी-देवताओं की उपासना में पड़े रहते हैं उनका मन भटक जाता है। परम शांति मन के निर्बीज होने में है, न कि किसी कल्पना में लगे रहने में।

कल्पनालोक की बातें छोड़कर निजस्वरूप पहचानो

जेहि बन सिंह न संचरे, पन्छी ना उड़ि जाय।
सो बन कबिरन हींड़िया, शून्य समाधि लगाय॥ 274॥

शब्दार्थ—बन=कल्पनालोक। सिंह=जीव। संचरे=प्रवेश। पन्छी=पक्षी, मन। हींड़िया=खोज किया, भटका।

भावार्थ—जिस कल्पनालोक में जीव का प्रवेश नहीं होता है और मन-पक्षी जहां उड़कर नहीं पहुंच सकता, भटके हुए लोगों ने शून्य में समाधि लगाकर उसकी खोज कर डाली है॥ 274॥

व्याख्या—उक्त पूरी साखी का भाव व्यंग्यात्मक है। जैसे कोई घना एवं भयंकर बन हो, जहां सिंह भी प्रवेश न कर सके तथा पक्षी भी उड़कर न जा सके यदि उसमें कोई मनुष्य पहुंच जाये तो उसकी प्रशंसा है, वैसे मनुष्यों ने ऐसे-ऐसे भगवानों, देवताओं एवं अदृश्य शक्ति के मूर्तिमान रूपों की कल्पना की है, अथवा उनके ऐसे-ऐसे लोकों की कल्पना की है, जो विचित्र हैं। आप नाना मतों के पौराणिक एवं धार्मिक किताबों को पढ़िए तो आपको पता चलेगा कि उनके कैसे-कैसे देवता हैं, भगवान हैं और उनके कैसे-कैसे स्वर्गलोक हैं! उनके ईश्वरों, भगवानों एवं स्वर्गलोकों के दिव्य भोगों का ऐसा आकर्षक वर्णन है कि साधारण लोगों का ही नहीं, बड़े-बड़े समझदारों का मन ललचा जाये।

यदि उनसे पूछो कि आप लोग ऐसे देवताओं, भगवानों एवं लोकों का पता कैसे पाये, क्या आप लोग वहां जाकर देख आये हैं! तो वे कहते हैं कि हमारे पैगंबरों तथा सिद्धपुरुषों ने ध्यान लगाकर समाधि में उनका साक्षात्कार किया है। "सो बन कबिरन हींड़िया, शून्य समाधि लगाय॥" यह पंक्ति उन्हीं तथाकथित पैगंबरों एवं सिद्धों पर व्यंग्य है। यहां कबिरन ग्रन्थकार का वाचक नहीं है, किन्तु यह शब्द उनके लिए है जो संसार में चतुर लोग हुए हैं और जिन्होंने अपनी सनक में भविष्यवाणियां की हैं, अजीब-अजीब काल्पनिक बातें की हैं और अपने वाक्यजाल में आकाश-पाताल के कुलावे मिलाये हैं। यदि यह माना जाये कि 'कबिरन' ग्रन्थकार का ही नाम है और उन्होंने पद बैठाने के लिए ऐसा कहा है, तो भी मूल अर्थ में कोई अंतर नहीं है।

लोगों को थाली में सामने रखी हुई रोटी-सब्जी अच्छी नहीं लगती, किन्तु वे मन:कल्पित लड्डू खाना चाहते हैं। लोग मानव या प्राणिमात्र में छिपे चेतनरूपी

भगवान को नहीं पहचानते और प्राणिमात्र को देवी-देवता नहीं मानते जिससे यह धरती स्वर्ग बन सके। वे मनोराज्य के स्वर्ग बनाते हैं और मनोराज्य के ही देवी-देवता तथा भगवान बनाते हैं। इसका फल यह होता है कि उनकी दृष्टि और व्यवहार में न यह पृथ्वी स्वर्ग बन पाती है और न इस पर रहने वाले जीव देवी-देवता बन पाते हैं। वे शून्य के देवी-देवता तथा ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए धरती के प्राणीरूपी देवी-देवता एवं ईश्वर की हत्या करते हैं।

समाधि का अपना सर्वोच्च महत्त्व है। सच्ची समाधि संकल्पों का शून्यत्व ही है। जब सारे संकल्पों की समाप्तिरूप समाधि लगती है तब उसमें कुछ प्रपंच का प्रत्यक्षीकरण नहीं होता। न उसमें कोई देवी-देवता दिखता है, न कोई भगवान एवं ईश्वर तथा न कोई स्वर्गलोक। यह सब तो मन का विलास है, मन की कल्पना है और वहां मन ही नहीं रहता। फिर वहां मन का राज्य कहां रहेगा! समाधि का अर्थ है सारे संकल्पों का सर्वथा शून्य हो जाना, और संकल्पों के शून्य होने पर रहती है केवल गहरी शांति। वहां तो सारे दृश्यों का अन्त हो जाता है। "कबीर समाना बूझ में, जहाँ दूतिया नाहिं।" वहां तो साधक अपने चेतनस्वरूप में लीन होता है। वहां द्वैत-दृश्य नहीं होता।

अतएव यदि कोई यह कहता है कि हमें या हमारे आप्त पुरुषों को समाधि में कोई भगवान, ईश्वर, देवता या स्वर्गलोक दिखाई पड़ा, तो उसकी समाधि नहीं, मनोराज्य है। समाधि में तो केवल स्वरूपस्थिति एवं शांति रहती है।

"जेहि बन सिंह न संचरे, पंछी ना उड़ि जाय।" इसमें सिंह जीववाचक तथा पंछी मनवाचक है। गुरुआ लोग कहते हैं कि उस भगवान, ईश्वर या स्वर्गलोक में न सामान्य जीव प्रवेश कर सकता है और न मन उसको ग्रहण कर सकता है। वह तो आप्तपुरुषों की शून्य-समाधि का ही विषय बन पाता है। परन्तु यह सब वाक्यजाल की भूलभुलैया है। वस्तुतः समाधि में कुछ मिलता नहीं है, किन्तु वहां तो सारी कल्पनाएं ही खो जाती हैं। वहां तो शुद्ध चेतन मात्र अवशेष रहता है और रहती है गहरी शांति!

साँच कहौं तो है नहीं, झूठहि लागु पियारि।
मो शिर ढारे ढेंकुली, सींचे और कि क्यारि॥ 275॥

शब्दार्थ—ढेंकुली=कुआं से पानी निकालने का काष्ठ-यन्त्र, टेंड़ा।

भावार्थ—यदि सच्ची बात कहूं तो इस द्रष्टा, ज्ञाता, मंता, बोद्धा चेतन के अलावा कोई ईश्वर-परमात्मा नहीं है, परन्तु लोगों को तो झूठी बातें ही बहुत प्यारी लगती हैं। मेरे सिर पर तो ढेंकुली का पानी ढालते हैं और दूसरे की क्यारी सींचते हैं अर्थात लोग मेरा अनुयायी बनते हैं और स्वरूपज्ञान छोड़कर नाना कल्पित मतों का पोषण करते हैं॥ 275॥

व्याख्या—इस साखी से पता लगता है कि कबीर साहेब की महानता से कुछ ऐसे लोग भी उनके पास आकर्षित होकर आ गये थे जो उनके खरे ज्ञान को धारण नहीं कर सके थे, परन्तु उनके प्रति भक्ति-भावना व्यक्त करते थे। वे बनते थे कबीर के अनुयायी, परन्तु कबीर के सत्य को पचा नहीं पाते थे। अतएव वे कबीर का नाम लेकर उन्हीं बातों का प्रचार करते थे जो अन्य पौराणिक मत वाले करते हैं। उनमें शायद नाम का ही परिवर्तन था, काम सब ढोंग-ढकोसलों का ही था। इसी दर्द का प्रकटीकरण यह पंक्ति है "मो सिर ढारे ढेंकुली, सींचे और कि क्यारि।" कहने का तरीका भी कितना काव्यात्मक है! वे "ढारे ढेंकुली" कहकर अनुप्रास शब्दालंकार में अपने भाव कितने सुन्दर ढंग से व्यक्त करते हैं! जब उनके सामने ही उनके अनुयायियों में उनसे भिन्न विचार रखने वाले थे तब आज समय के इतने अंतराल में कबीर-अनुयायी कहलाकर उनका कबीर से भिन्न विचार रखना सहज बात है। संसार की विचार-स्वतंत्रता का यही लक्षण है। संसार के सभी मूलाचार्यों के बाद की बात ऐसी ही है। वैदिक परम्परा हो या श्रमण परम्परा, ईसाई परम्परा हो या इसलामिक परम्परा, सबकी यही दशा है।

"साँच कहौं तो है नहीं, झूठहि लागु पियारि।" बड़ी क्रांति की पंक्ति है। ऊपर 274वीं साखी में वन, सिंह, पन्छी आदि शब्दों में कल्पनालोक की बातें कहकर उन पर व्यंग्य किया गया है। उसी प्रसंग को लेते हुए सद्गुरु ने इस साखी में खुलासा करते हुए कहा है कि यदि सच्ची बात कहूं तो यही कहना पड़ेगा कि इस प्रत्यक्ष अनुभविता साक्षी चेतन के अलावा कोई ईश्वर-परमात्मा नहीं है। प्राकृतिक जगत तो अपने गुण-धर्मों से चल रहा है और ज्ञान-विज्ञान का सारा काम इन प्रत्यक्ष चेतन जीवों का है। यदि मनुष्य-जीव न होता तो वेद, कुरान, बाइबिल एवं माना शास्त्र न बनते, न ज्ञान का आविष्कार होता और न देवी-देवता, ईश्वर-ब्रह्म की कल्पना होती। ज्ञान का सारा क्षेत्र चेतन जीवों की ही देन है।

जहां तक ध्यान तथा समाधि में किसी देव या ईश्वर को देखने एवं उसका साक्षात्कार करने की बात है, वह एक मानसिक भ्रम है। मनुष्य पहले अपने मन में किसी देव या ईश्वर का आकार गढ़ता है। फिर वह जब आंख मूंदकर बैठता है तब वही आकार उसके मन में प्रतिबिंबित होता है। इसी में निरन्तर धारणा बना लेने पर उसे हर क्षण मानो उसके दर्शन होते रहते हैं। आंख मूंदकर एकांत और एकाग्र होने पर सबको अपनी अभ्यस्त कल्पना के मन में दर्शन होते हैं। उसी को ईश्वर-दर्शन तथा ईश्वर-साक्षात्कार मान लिया जाता है।

विचार यह करना है कि इन सारे प्रपंचों की कल्पना तथा अवधारणा कौन करता है! वह कल्पना करने वाला तू ही है जो सबका द्रष्टा, साक्षी, मंता, बोद्धा,

ज्ञाता एवं पारखी है। अतएव तू ही सच है और तेरी सारी मनःकल्पनाएं झूठी हैं। इस ग्रन्थ की अनेक पंक्तियों की व्याख्या में यह देख लिया गया है कि संकल्पों का सर्वथा अन्त ही ध्यान या समाधि है। इसका समर्थन सांख्य-योगादि शास्त्रों में भी हुआ है। "जहाँ दूतिया नाहिं" सारे दृश्यों का अन्त ही समाधि है। ध्यान या समाधि-लाभ ही अध्यात्म की ऊंचाई है। उसमें कुछ मिलता नहीं, किन्तु सारे दृश्यों का विसर्जन ही होता है, तब वहां कौन-से ईश्वर-परमात्मा को पाने की आशा की जाये!

अतएव सद्गुरु कहते हैं कि सच्ची बात यही है कि अपनी आत्मसत्ता के अलावा कुछ भी अपना प्राप्तव्य नहीं है; क्योंकि ऐसा कुछ भी नहीं है जो जीव को मिल सके। जीव को जो कुछ मिलता है वह मायावी वस्तु है और वह मिलकर छूट जाती है। परन्तु लोगों को झूठी तथा नकली बातें बहुत प्यारी लगती हैं। वे उन्हीं में बहुधा पड़े रहते हैं। सब वासनाएं छोड़कर निजस्वरूप में स्थित होना यह वास्तविकता है, परन्तु कम लोग इस विवेक एवं सत्यता में ठहरते हैं। लोग तो किसी परमात्मा एवं ब्रह्म को पाना चाहते हैं जो उनसे अलग है और बड़ा भारी है, परन्तु आत्मा के अलावा कोई परमात्मा नहीं है। अतएव आत्मा को कुछ पाना नहीं है। उसे सब वासनाएं, कल्पनाएं एवं अवधारणाएं छोड़कर अपने आप में शांत होना है।

विचारपूर्ण वाणी की कीमत है

बोल तो अमोल है, जो कोई बोले जान।
हिये तराजू तौलिके, तब मुख बाहर आन॥ 276॥

शब्दार्थ—बोल=बात, वाणी। आन=लाना।

भावार्थ—बातें तो ऐसी उत्तम-उत्तम होती हैं कि उनका कोई मूल्य नहीं चुका सकता, परन्तु यदि बोलने का ढंग जाने तो। वह ढंग यह है कि पहले हृदयरूपी तराजू पर तौलकर तब बात को मुख से बाहर निकालना चाहिए॥ 276॥

व्याख्या—वाक्यशक्ति एक अद्भुत शक्ति है जो केवल मनुष्य को प्राप्त है। उसका सदुपयोग करने से बड़े-बड़े काम बन जाते हैं और दुरुपयोग करने से बने काम भी बिगड़ जाते हैं। रावण ने कठोर वचन कहकर अपने भाई विभीषण को शत्रु बना लिया और राम ने उससे मीठे वचन कहकर मित्र बना लिया। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में दुर्योधन को जल का थल तथा थल का जल आदि भ्रम होने से उसकी गतिविधि पर भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेवादि के द्वारा

व्यंग्यात्मक हंसी करने से[1] दुर्योधन के मन में आग लग गयी और उसके पीछे युद्ध के बीज बो गये।

एक ट्रक-निर्माता कम्पनी का एजेंट एक ट्रक-व्यापारी के कार्यालय में उसे अपने माल का ग्राहक बनाने के लिए पहुंचा। व्यापारी ने उसे देखते ही कहा "आपका माल मैं नहीं ले सकता, क्योंकि मैंने अमुक कम्पनी का माल लेने की बात तय कर ली है।' उस एजेंट ने बड़ी विनम्रता और शालीनता से कहा— "बहुत अच्छा, जिस कम्पनी से आपने सौदा किया है वह प्रामाणिक कम्पनी है, माल भी अच्छा बनाती है। उसके सौदे में आपको लाभ ही होगा। परन्तु आज नहीं तो आगे कभी, मेरी कम्पनी को भी सेवा का अवसर देने की कृपा कीजियेगा।"

व्यापारी एजेंट की बातें सुनकर उससे बहुत प्रभावित हुआ और तुरंत उससे करोड़ों का सौदा कर लिया। यदि एजेंट उस कम्पनी की निंदा करता जिससे व्यापारी ने सौदा कर लिया था, तो व्यापारी एजेंट से चिढ़कर उससे बातें भी नहीं करता; परन्तु उसकी पर-गुण-प्रशंसा ने व्यापारी को मोह लिया। हम दूसरे की लकीर काटकर उसे छोटी करने के चक्कर में रहते हैं, अपनी बड़ी लकीर द्वारा उसे छोटी नहीं कर पाते।

दूसरे की बुराई एवं निंदा करने वाला तथा दूसरे को कटु कहने वाला कभी वार्तालाप में सफल नहीं हो सकता। जिसकी वाणी में अपने विषय में अहंकार तथा दूसरे के प्रति हीनभावना रहती है वह बातचीत में दूसरे के ऊपर अच्छा असर नहीं डाल सकता। डॉक्टर, एजेंट, व्यापारी, वकील, अध्यापक, राजनेता, किसी समूह के स्वामी आदि को वाक्य-कुशल होना चाहिए, जिससे वह अधिक-से अधिक लोगों को अपनी ओर ला सके। गुरु, धर्मोपदेशक एवं प्रवक्ता को तो चाहिए कि वह ऐसी वाणी बोले जिससे जन-समाज उसकी बातों को समझने के लिए आकर्षित हो। इसका अर्थ यह नहीं कि वह मीठे वचन के नाम पर असत्य एवं केवल मनोरंजन का आश्रय ले। सत्य प्रायः कटु होता है और उसके बिना किसी को निर्भ्रांत ज्ञान नहीं हो सकता। जो सत्य का ग्राहक होगा वह उसे सुनेगा और उसका आचरण करेगा। ज्वरग्रस्त आदमी का कल्याण मिठाई से नहीं, कड़वे काढ़े से होगा, परन्तु उसमें थोड़ा मीठा मिला देने से वह उसे सरलता से पी लेगा। कटु सत्य को जितना संभव हो मीठे लेप में देना प्रवक्ता की समझदारी है।

सद्गुरु ने यहां मानव मात्र को राय दी है कि वे बोलने का ढंग समझकर बात करें। बोलने का ढंग है "हिये तराजू तौलिके, तब मुख बाहर आन।"

---

19. महाभारत, सभापर्व, अध्याय 47, श्लोक 7-8-9।

केवल इस आधी साखी का जीवन में व्यवहार हो जाये, तो बड़ी शांति आ जाये। मालूम होता है कि हम सदैव नशा में होते हैं और पदे-पदे बिना विचार किये बोलते रहते हैं और उसके फल में लोगों द्वारा उपेक्षित होते हैं तथा भीतर से भी असंतुष्ट होते हैं। मनुष्य को चाहिए कि जब वह किसी भी प्रकार के मानसिक उद्वेग में हो तो उस समय मौन रहे। उद्वेग में बात न करे। किसी महत्त्वपूर्ण बात पर अनेक बार विचार करने के बाद अपनी राय समाज में रखना चाहिए। शीघ्रता से कही गयी कई बातें केवल पश्चाताप उत्पन्न करती हैं। यदि हम आज से केवल एक साधना शुरू कर दें कि हृदयरूपी तराजू पर तौल-तौलकर बात करें, जब तक मन में खूब सोच-समझ न लें कोई बात न बोलें तो निश्चित ही हमारी रहनी वजनदार हो जाये, हमारे हृदय में शांति आ जाये और हमारा व्यक्तित्व निखर जाये।

जिभ्या कर्म कछोत्तरी, जो तीनों बस होय।
राजा परजा जमपुरी, गंजि सकै नहिं कोय॥ साखी ग्रंन्थ॥

स्वावलंबी बनो

करु बहियाँ बल आपनी, छाड़ बिरानी आस।
जाके आँगन नदिया बहै, सो कस मरै पियास॥ 277॥

शब्दार्थ—बहियाँ=हाथ, बल, भरोसा।

भावार्थ—अपने बाहुबल का भरोसा करो, दूसरों की आशा छोड़ दो। जिसके आंगन में ही नदी बहती हो, वह प्यासा क्यों मरे!॥ 277॥

व्याख्या—कबीर साहेब की हर वाणी टॉनिक है, शक्तिवर्द्धक औषध है और इस साखी को तो कहना ही क्या! वे कहते हैं कि दूसरे की आशा छोड़ दो और अपने बाहुबल का भरोसा करो। जो व्यक्ति अपना काम दूसरे के भरोसे रखता है उसका काम समय पर नहीं होता। जो अपना काम अपने हाथों से करता है वही प्रगतिशील है। वही उन्नति कर सकता है। यह ठीक है कि बहुत काम ऐसे हैं जो दूसरे के सहयोग से होते हैं। हर काम आदमी अकेले नहीं कर सकता। परन्तु जो काम दूसरों के सहयोग से होता है उस काम का करने वाला संयोजक एवं संपादक यदि सावधानी एवं सतर्कता से उसे नहीं करायेगा तो नहीं होगा। उसमें भी संयोजक, संपादक, प्रवर्तक एवं प्रबंधक की विशेषता है। अतएव व्यवहार के काम भी स्वयं लगे बिना नहीं हो सकते। जो व्यक्ति आलस्यपूर्वक रहकर परावलंबी बनता है वह मनुष्य नहीं, मिट्टी है। जो लोग अपने आप को यह प्रदर्शित करते हैं कि हम मोटा काम नहीं कर पाते, हम सुकुमार हैं, कोमल हैं, वे अभागे हैं। उन्होंने अपने मिथ्या अहंकार में अपने

आप का मानो पतन किया है। जो किसान, गोबर, मिट्टी, ठंडी, गरमी, वर्षा, कीचड़ एवं श्रम से डरेगा वह क्या कर सकता है! जो व्यापारी तथा नौकरीपेशे वाला अपने क्षेत्र के श्रम एवं कर्तव्य से विमुख होगा, उसकी क्या उन्नति होगी! मेहनत से थककर चूर-चूर हो जाने वाला आदमी ही अपने जीवन में उन्नति के दिन देख सकता है।

व्यावहारिक क्षेत्र में कोई मेरे लिए कुछ भी कर दे, परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में तो यह बिलकुल ही चलने वाला नहीं है। जैसे कोई मेरे लिए मकान बना दे, भोजन बना दे, बिस्तर लगा दे या इसी प्रकार मेरे अन्य काम कोई कर सकता है; परन्तु मेरे मन की वासना को दूसरा कोई नहीं मिटा सकता। मेरे अन्दर के काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेष, हर्ष-शोक, चिन्ता-विकलता, देहाभिमान आदि को कोई दूसरा नहीं समाप्त कर सकता। मेरे भीतर विवेक, वैराग्य, शील, समता, संतोष, शांति आदि की स्थापना कोई दूसरा नहीं कर सकता। दूसरा कोई या सन्त गुरुजन हमें केवल उपदेश देकर प्रेरित कर सकते हैं; परन्तु परिश्रम हमें ही करना पड़ेगा। हमारे व्यवहार का काम दूसरा कोई भले कर दे, परन्तु हमारे मोक्ष का काम हमें स्वयं करना पड़ेगा।

संसार में उलटी धारा है। व्यवहार के अपने सारे काम तो लोग स्वयं करते हैं। कोई नहीं कहता कि हे देवी-देवता, हे हनुमान जी, हे भगवान, हमारे खेत जोत दो, फसल काट दो, भोजन पका दो इत्यादि। लोग जानते हैं कि इन्हें स्वयं करना पड़ेगा, परन्तु अपने कल्याण या मोक्ष के लिए देवी-देवता तथा भगवान के भरोसे सोते हैं। धार्मिक क्षेत्र में यह काफी भ्रम है कि जब भगवान कृपा करेगा तब हमारे सारे पापों को काटकर हमें कृतार्थ कर देगा। हमारा कर्तव्य है कि हम भगवान को केवल पुकारते जायें, फिर उसके कानों में कभी भनक पड़ेगी ही—"कबहुंक दीनदयाल के भनक पड़ेगी कान।" इस बात को दृढ़ाने के लिए लोगों ने अनेक काल्पनिक तथा मिथ्या कहानियां गढ़ रखी हैं। परन्तु सत्य के इच्छुक कान खोलकर सुन लें कि इस प्रकार विनय-प्रार्थना करने एवं रोने-गिड़गिड़ाने से तुम्हारा मन थोड़ा कोमल अवश्य बनेगा, अच्छे संस्कार जगेंगे, यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है, परन्तु न तो कोई तुम्हारा विनय सुनने वाला है, न उत्तर देने वाला, न तुम्हारे पापों को काटने वाला और न तुम्हें मुक्त करने वाला है। तुम इस विनय-वन्दना के चक्कर में पड़कर एक अन्धविश्वास पाल रहे हो, और अपनी उन्नति का रास्ता रोक रहे हो। यह भ्रम अपने मन में मत बैठा लो कि तुम्हारा उद्धार कोई दूसरा कर देगा। संत-गुरुजन केवल प्रेरक बनेंगे, साधना तुम्हें ही करना पड़ेगा। तुम्हारे मन के भीतर का बन्धन दूसरा कोई कैसे काट सकता है!

सद्गुरु कहते हैं कि तुम अपने बाहुबल का भरोसा करो, दूसरे की आशा

बिलकुल छोड़ दो। तुम्हारे बन्धनों को दूसरा कोई नहीं काट सकता। परन्तु तुम अपने बन्धन काट सकते हो। तुम्हारे आंगन में शीतल, स्वच्छ एवं सुमिष्ट जल की नदी बहती है और तुम अभागे बने प्यासे मरते हो। तुम्हारे अन्त:करण में बन्धनों को तोड़ने के लिए विवेक का प्रबल साधन है, परन्तु तुम उससे अपरिचित हो और बन्धनों को तोड़ने के लिए बाहर गोहार मचा रहे हो। तुम्हारा गोहार करना सत्संग तक सार्थक है। तुम साधकों, सन्तों एवं गुरुजनों से युक्ति सीखो, स्वरूपज्ञान एवं रहनी का परिचय प्राप्त करो। गुरुजन तुम्हारे ही हृदय के धन को तुम्हें बता देंगे, तुम उसे जानकर सबल हो जाओगे और अपने बनाये बन्धनों को तोड़कर कृतार्थ हो जाओगे।

व्यक्ति अपने हृदय के बन्धनों को स्वयं ही जान सकता है और स्वयं ही उन्हें तोड़ सकता है। इसके अलावा कोई चारा नहीं है। तुम्हारे में अनन्त शक्तियां हैं। तुम उन्हें पहचानो। गुरुजनों की उपासना कर उनके सत्संग से अपने आप को भलीभांति परखो और अपने उद्धार के लिए स्वयं उठ खड़े होओ।

बुरे के साथ बुरा मत बनो

वो तो वैसा ही हुआ, तू मति होहु अयान।
वो निर्गुणिया तैं गुणवन्ता, मत एकहि में सान॥ 278॥

शब्दार्थ—अयान=अज्ञानी। निर्गुणिया=गुणहीन, सद्‌गुणरहित। गुणवन्ता= गुणवाला, सद्‌गुणयुक्त। सान=मिलाना।

भावार्थ—वह तो गलत आचरण करके गलत हुआ ही, तुम भी उसी के समान गलत काम करके अज्ञानी मत बनो। क्योंकि वह गुणहीन आदमी है और तुम सद्‌गुणयुक्त समझदार हो, अतएव दोनों को एक में मत मिलाओ॥ 278॥

व्याख्या—कोई ऐसा आदमी है जिसने तुम्हें गाली दी, तुम्हारी निन्दा की, तुम्हें समाज में नीचा दिखाना चाहा तथा आज भी सब समय नीचा दिखाना चाहता है, तो तुम उसके लिए क्या सोचते हो! क्या तुम भी उसके साथ उस-जैसा ही व्यवहार करके अपनी विजय समझते हो! यदि समझते हो तो तुम भी धोखे में हो। उसने तो अपने अज्ञान से अपने मन, वाणी तथा कर्मों को मैला कर लिया है। तुम्हें नीचा दिखाने के बहाने उसने अपने आप का पतन कर लिया है। अब तुम भी यदि उसकी निंदा करने लग जाओ, उसको समाज में नीचा दिखाने का षड्‌यंत्र करने लगो तो तुम्हारा भी मानो पतन हो गया। ध्यान रखो, कर्म अपना सीधा प्रभाव अपने कर्ता पर ही डालते हैं। यदि कोई आदमी दूसरे का अनिष्ट सोचता है, दूसरे की निंदा करता है और दूसरे को समाज में नीचा दिखाने का प्रयत्न करता है तो उसका मन अपने इन दुष्कर्मों के फल में चंचल, तेजहीन, मलिन एवं कलुषित होता है। उसका मन अधिक मलिन होने से वह

आगे और मलिन कर्म करता है, उसके फल में उसका मन और मलिन होता है। इस प्रकार छत से जीने पर गिरे हुए गेंद की तरह वह उत्तरोत्तर नीचे गिरता चला जाता है। इस प्रकार अपने आप को पतित करने वाला आदमी अज्ञानी है। वह तो अपने पैरों में स्वयं अपने हाथों से कुल्हाड़ी मारता है। ऐसा भोला आदमी बेचारा क्षमा-दया का पात्र है। तुम्हें चाहिए कि तुम उस पर तरस खाओ। बन सके तो उसके कल्याण का उपाय सोचो, अन्यथा उसका हितचिन्तन तो करो ही। उसका अनिष्ट कभी मत सोचो।

ध्यान रहे, तुम्हारी चाहे कोई कितनी निंदा एवं बुराई करे, सामने आकर तुम्हें समाज में नीचा दिखाना चाहे, परन्तु यदि तुम ठीक हो तो कोई कुछ नहीं कर पायेगा। यदि कोई धूल उड़ाये तो वह स्वयं धूल से ढक जायेगा, और तुम्हारा कुछ नहीं बिगड़ेगा मनुष्य के अपने कर्म ही उसे दूषित करते हैं, दूसरे के कर्म नहीं। जिसके मन, वाणी और शरीर के कर्म स्वच्छ हैं उसे कोई नीचा नहीं दिखा सकता। अतएव दूसरे के दुर्व्यवहार से तुम भयभीत मत होओ। आदमी की यह कमजोरी है कि वह किसी द्वारा अपनी निंदा या बुराई सुनकर भयभीत हो जाता है कि अब सब लोग मुझे बुरा समझ लेंगे, और इस भावना से वह आतंकित होकर अपने ऊपर आरोपित बुराइयों के लिए सफाई देने लगता है तथा अपने निंदकों को बुरा कहने लगता है। वह आदमी निंदा की प्रतिक्रिया में निंदा करने लगता है। उसकी इसी में हार होती है। मान लो, किसी के बुरा कहने से लोग मुझे बुरा मान लें तो इसमें मेरी क्या हानि है यदि मैं बुरा नहीं हूं तो। मेरे में बुराई नहीं है, यह मेरा मिथ्या अहंकार है। मैं भी देहधारी हूं। मुझ में भी बुराइयां हो सकती हैं। विनयावनत हृदय की तो यह स्वीकृति है कि "मुझ सा बुरा न कोय" अथवा "कबीर हम सब ते बुरे।"

अतएव हम अपने प्रति अपराध करने वाले के प्रति अपराध करके उसी के समान न बनें। दूसरे की बुराई करना, निंदा करना, दूसरे का अनिष्ट करने की बात सोचना या करना यह सब मनुष्य के चरित्र की दुर्बलता के लक्षण हैं। अतएव यदि हम चाहे प्रतिक्रिया में ही सही, यही सब करते हैं तो दुर्बल हैं। दूसरे अज्ञानी के समान हम भी अज्ञानी हैं। इसलिए सद्गुरु कहते हैं "तू मति होहु अयान"। तुम भी दूसरे अज्ञानी के समान अज्ञानी मत बनो। वह गुणहीन है और तुम गुणवान हो, फिर दोनों को एक में क्यों सानते हो! तुम भी नीच के समान नीच क्यों बनते हो! गधा तुम्हें लात मारे तो क्या तुम भी उसको लात मारोगे! कुत्ता तुम्हें देखकर भोंके तो क्या तुम भी उसको भोंकोगे! चातुर का काम है कि पातुर से बचाकर चले।

किसी के उद्वेगित करने पर यदि हम उद्वेगित हो गये तो यह हमारी पशुता है। हम न स्वयं उद्वेगित हों और न दूसरों के उद्वेगित करने से उद्वेगित हों। हमारी

उच्चता हमारी सहनशीलता में है। सहनशीलता ही धर्म है, सहनशीलता ही अध्यात्म की स्थिति है और सहनशीलता ही परमार्थ की उच्च रहनी है।

मन के भास को ही ईश्वर मान लेने का भ्रम

जो मतवारे राम के, मगन होहिं मन माँहि।
ज्यों दर्पण की सुन्दरी, गहै न आवै बाँहि॥ 279॥

शब्दार्थ—मतवारे= उन्मत्त, पागल।

भावार्थ—जो लोग ईश्वर के पीछे पागल हैं वे अपने मन के द्वारा गढ़े गये उसके किसी रूप को लेकर मन-ही-मन गद्गद होते रहते हैं, परन्तु जैसे किसी सुन्दरी स्त्री का प्रतिबिम्ब किसी दर्पण में पड़ता हो और कोई उसे मोहवश पकड़ना चाहे, परन्तु वह पकड़ में न आवे, वैसे उसका कल्पित ईश्वर उसकी पकड़ में नहीं आता॥ 279॥

व्याख्या—कबीर साहेब ने अपने ग्रन्थरत्न बीजक में राम शब्द बहुतायत से लिया है। उनका विधेयात्मक राम व्यक्ति का हृदय-निवासी चेतन है। यदि कोई उससे अलग ईश्वर मानता है तो सद्गुरु उसका खंडन करते हैं। इस साखी में आया हुआ राम खंडनपरक है। यहां राम शब्द से अभिप्राय उस काल्पनिक सत्ता से है जो व्यक्ति की अपनी आत्मा से अलग मानी गयी है। मनुष्य समझता है कि मेरी अपनी चेतनात्मा से अलग कोई परम चेतन सत्ता है जिसे हम राम, रहीम, ईश्वर, ब्रह्म, गॉड आदि कह सकते हैं। वह परम आनन्द का सागर है। जब हमें वह मिल जायेगा तब हम सभी दुखों से मुक्त होकर कृतार्थ हो जायेंगे। लोग उस कल्पित ईश्वर के अपने-अपने ढंग से रूप गढ़ते हैं। कोई उसे चार भुजावाला, कोई आठ भुजावाला, कोई हजारों भुजावाला मानता है। कोई उसे मोर-मुकुटधारी, कोई धनुर्धारी तथा कोई चक्रसुदर्शनधारी मानता है। कोई उसे किसी विशेष लोक में, कोई सातवें तपक पर तथा कोई उसे सर्वत्र व्याप्त कहता है। कोई उसे पुरुष के रूप में तो कोई उसे नारी के रूप में निरूपित करता है। जो व्यक्ति उसका जैसा नक्शा गढ़ता है वह व्यक्ति उसके उसी रूप के पीछे पागल रहता है और जो जिस कल्पित रूप के पीछे पागल रहता है वह उसी भाव में मगन रहता है।

सद्गुरु कहते हैं कि वह कोई तथ्य नहीं है। वह तो केवल मनोवैज्ञानिक प्रभाव है। जो एकांत में भूत की कल्पना कर लेता है वह भयभीत हो जाता है तथा जो ईश्वर की कल्पना कर लेता है गद्गद हो जाता है। परन्तु न कहीं भूत है और न आत्मा से अलग ईश्वर। आदमी कल्पित ईश्वर का मन से जैसा रूप बना लेता है उसी रूप की वह निरंतर कल्पना करता है, उसी में अनुराग और प्रेम करता है, इसलिए उसे वही समय-समय पर मन में दिखाई देता है। यद्यपि वह

एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव है, तथापि वह उसे ईश्वर का साक्षात्कार मान लेता है। परन्तु वह दर्पण में पड़ी हुई सुन्दरी की परिछाईं के समान मन का एक आभास है। अतएव वह पकड़ने में आने वाला नहीं है।

मनुष्य को चाहिए कि वह इन सारे भास-अध्यासों को छोड़कर अपने स्वरूप को समझे और अपने स्वरूप में स्थित होने का प्रयत्न करे। निज चेतनस्वरूप की गरिमा का बोध न होने से ही यह सब भटकाव है।

जौं लौं लखि नाहीं परत, तुलसी पर पद आप।
तौ लौं मोह विवश सकल, कहत पुत्र को बाप॥ तुलसी सतसई॥

साधू होना चाहिए

साधू होना चाहिये, पक्का ह्वै के खेल।
कच्चा सरसों पेरिके, खरी भया नहिं तेल॥ 280॥

शब्दार्थ—साधू=उत्तम, विरक्त। खेल=साधना।

भावार्थ—विरक्त साधु होना चाहिए, परन्तु दृढ़ निश्चय करके साधना-पूर्वक। कच्ची सरसों पेर देने पर न तेल होता है और न खली॥ 280॥

व्याख्या—साधु के अर्थ बढ़िया, उत्तम, पूर्ण, उपयुक्त, ठीक, धार्मिक, धर्मपरायण, दयालु, शुद्ध, प्रिय, कुलीन, शिष्ट[1] आदि माने गये हैं, परन्तु साधु का रूढ़ अर्थ उससे है जो व्यक्ति घर-गृहस्थी त्यागकर विरक्ति का वेष लेकर विचरण करता है। यदि कोई सच्चे ढंग से विरक्त होता है तो वह उत्तम, पूर्ण, धार्मिक, शुद्ध आदि होता ही है।

सद्गुरु कबीर घर-गृहस्थी त्यागकर विरक्त साधु होने की आज्ञा देते हैं, परन्तु वे कहते हैं, कि जब अपने मन में वैराग्य का पक्का निश्चय हो जाये और निश्चयतापूर्वक साधना भी कर ले तभी साधु-वेष धारण करना चाहिए। कुछ लोग दूसरे की देखादेखी, थोड़े उत्साह में पड़कर घर छोड़ देते हैं, ऐसे लोग पीछे पश्चाताप करते हैं। जो लोग घर के काम-धंधे के डर से आलस्यवश या केवल खाने-पीने के लिए साधु-वेष धारण करते हैं वे तो अत्यन्त निंदनीय हैं। कुछ लोग संसार में किसी प्रकार की ठोकर लगने से या प्रिय-वियोगादि से साधु-वेष में आ जाते हैं। यदि उन्हें अच्छी संगत मिल गयी, वे विवेकवान संतों की संगत में पड़ गये तथा उन्हें विवेक जग गया तो सच्चे वैराग्यवान हो जाते हैं, अन्यथा वे कुछ दिनों में पुनः लौटकर संसार में रागवान बन जाते हैं।

जब घर-गृहस्थी में रहते हुए मन में वैराग्य का भाव निरंतर प्रदीप्त होता

---

20. बृहत् हिन्दी कोश।

जाये, सारे विषय-भोग फीके लगने लगें, परिवार के लोग पराये लगने लगें, सबके प्रति आसक्ति समाप्त होती जाये और यह भाव-धारा मन में निरन्तर बनी रहे तब घर-गृहस्थी का त्याग करना चाहिए। जब घर में रहते हुए ऐसा लगे कि मानो मैं घर में नहीं हूं, जब घर-गृहस्थी के हानि-लाभ तुच्छ दिखने लगें, तभी समझना चाहिए कि मैं जीवनभर वैराग्य-पथ में रह सकूंगा। जब सब समय मन में वैराग्य एवं साधु-दशा, साधु-संग, साधु-सेवा तथा प्रपंच-रहित ज्ञान-दशा के ही सम्बन्ध में संकल्प उठने लगें तब समझना चाहिए कि मैं घर-गृहस्थी से विरक्त होने की योग्यता रखता हूं।

उत्तम वैराग्य होने पर साधु-दशा में जाना चाहिए। विरक्त होने की कोई अमुक उम्र नहीं है, परन्तु बहुतायत कैशोर एवं नवजवानी ही इसके लिए उपयुक्त अवसर है। साधु-दशा में जीवनपर्यन्त रहने की इच्छा वालों को चाहिए कि वे अपने पूर्व के माने हुए घर-गृहस्थी एवं परिवार वालों के प्रति थोड़ा भी मोह न रखें और न उनसे व्यावहारिक सम्बन्ध रखें, न वहां विशेष आना-जाना रखें। उन्हें रसासक्ति का त्याग करना चाहिए, सादा और स्वल्प भोजन करना चाहिए। उन्हें खाने, पहनने, आसन, बिस्तर आदि में यथाप्राप्ति में संतोष, अधिक प्राप्त को दूसरे की सेवा में लगाते हुए स्वयं थोड़े में गुजर करना चाहिए।

साधक को सेवा, स्वाध्याय और साधना—इसकी त्रिवेणी में निरन्तर निमज्जन करना चाहिए। आलसी आदमी वैराग्यवान नहीं हो सकता। जिसे वैराग्य होगा वह आलसी होगा ही नहीं। कामी पत्नी के लिए अथक परिश्रम करता है तो वैराग्यवृत्ति वाला साधु-सेवा में निश्चित ही पूर्ण श्रमशील होगा। सच्चा वैराग्यवान मोटा-से-मोटा काम करने में थोड़ा भी संकोच नहीं करेगा। सेवा करने से चित्त शुद्ध होता है, स्वाध्याय से ज्ञान बढ़ता है तथा साधना से वैराग्य बढ़ता है। सेवा, स्वाध्याय एवं साधना को मजबूती से पकड़ना चाहिए। जो ज्यादा उम्र में विरक्त हों, उन्हें भी शक्ति अनुसार सेवा, स्वाध्याय एवं साधना में लगे रहना चाहिए। जो लोग स्वाध्याय एवं साधना की अधिक योग्यता रखते हैं, उन्हें भी सेवा का काम यथासमय एवं यथाशक्ति करते रहना चाहिए। हमें दूसरे की सेवा मिलती है, अतः हमें भी चाहिए कि हम दूसरे की सेवा करें। भारतवर्ष और उसमें हिन्दू-समाज का यह सबसे बड़ा दुर्भाग्य है कि उसने हजारों वर्ष से यह धारणा बना ली है कि मोटा काम करने वाला न धार्मिक है और न बड़ा आदमी। इस गलत धारणा को हमें दिल से निकाल देना चाहिए और मोटा काम करने में निष्ठा उत्पन्न करना चाहिए। साधु होने का मतलब निकम्मा होना नहीं है। हां, यह भी ठीक है कि साधु को केवल मोटे काम में अधिक लीन नहीं होना चाहिए, अन्यथा उसे स्वाध्याय और साधना का समय

नहीं मिल सकेगा।

मनुष्य को चाहिए कि वह जिस दिशा में आगे बढ़ने का शौक रखे उसमें पूरे मन से लगे और मन में यह निश्चय कर ले कि मैं उस दिशा में निरन्तर आगे बढूंगा। वैराग्य-मार्ग तो सबसे श्रेष्ठ मार्ग है। व्यापार करके फिर छोड़ देना उसके स्थान पर गुजर का खेती आदि दूसरा धन्धा करना तथा खेती-बाड़ी छोड़कर व्यापार आदि करना कोई बुरा नहीं है, परन्तु वैराग्य-पथ पकड़कर फिर उसे छोड़ना निंदनीय काम है। इसलिए बहुत सोच-समझकर वैराग्य-पथ के लिए कदम उठाना चाहिए और कदम ऐसा उठाना चाहिए कि उसी दिशा में निरन्तर बढ़ते जायें।

सद्‌गुरु ने इस साखी में साधु होने के लिए पक्का होकर खेलने की बात कही है। "पक्का ह्वै के खेल" बड़ा मार्मिक वचन है। केवल एकनिष्ठ वैराग्य मार्ग में पक्का निश्चय होना और निष्कपट तथा निश्छल भाव से साधना में लगे रहना पक्का होकर खेलना है। इससे विपरीत अधकचरे लोगों के विषय में सद्‌गुरु ने कच्ची सरसों का उदाहरण दिया है, जिसके पेरने पर न तेल होता है और न खली। इसी प्रकार कच्चे मन वाले घर छोड़कर साधु-वेष धारण करते हैं, वे न साधु हो पाते हैं न गृहस्थी में रहकर सेवा कर पाते हैं। उनकी दशा होती है "दोनों दीन से गये पांड़े, हलुए हुए न मांड़े"। अतएव वैराग्य-मार्ग में पक्का होकर लगना चाहिए।

मुमुक्षु को सच्चे वैराग्यवान संत की शरण पकड़ना चाहिए और उनकी सेवा में रहकर साधुत्व का काम करना चाहिए। साधु-वेष तथा अपने में पूज्यता का भाव नहीं रखना चाहिए। बहुत समय तक तो गुरु की शरण में रहते हुए भी साधु-वेष न लेना चाहिए। इसके लिए गुरुजनों को भी सावधान रहना चाहिए। उन्हें चाहिए कि वे भावुक बनकर जल्दी-जल्दी साधु-वेष देने के चक्कर में न पड़ें, किन्तु उन्हें साधना में कसने का प्रत्यत्न करें, और बहुत काल के बाद साधु-वेष दें।

सती लहर घड़ी एक है, शूर लहर घड़ी चार।
साधु लहर है जनम भर, मरै विचार विचार॥ साखीग्रन्थ॥

सिंहों केरी खोलरी, मेढ़ा पैठा धाय।
बानी ते पहिचानिये, शब्दहिं देते लखाय॥ 281॥

शब्दार्थ—खोलरी=खाल, चाम। मेढ़ा=भेड़ा।

भावार्थ—यदि भेड़ दौड़कर सिंह की खाल में घुस जाये और नगर में आकर घूमने लगे तो उसे देखकर भयभीत नहीं होना चाहिए। उसकी वाणी से उसे पहचानना चाहिए। उसके मुख से निकले हुए "में-में" शब्द उसके असली

स्वरूप का परिचय करा देंगे। इसी प्रकार किसी के साधु एवं अच्छे वेष देखकर नहीं भूलना चाहिए, किन्तु ध्यान से उसकी वाणी पर विचार करना चाहिए। उसके मुख से निकले वचन उसके हृदय का परिचय करा देंगे॥ 281॥

व्याख्या—पीछे की 280वीं साखी में सद्गुरु ने यह बताया है कि किस प्रकार पक्के मन से साधु होना चाहिए। इसी सन्दर्भ में यह साखी भी कही गयी है। उदाहरण कितना मार्मिक है। मानो एक भेड़ हो, वह सिंह की खाल में घुसकर लोगों के बीच में अपने आप को सिंह प्रदर्शित करना चाहे, परन्तु उसकी वाणी तो सिंह-जैसी नहीं हो सकती। उसकी आवाज तो 'में-में' ही रहेगी। इसी प्रकार कोई विषयी-पामर एवं धूर्त मनुष्य साधु-वेष धारणकर लोगों को ठगना चाहे तो उसकी धांधलेबाजी बहुत दिनों तक नहीं चल सकती। वाणी हृदय की पहचान होती है। कोई कितना ही गढ़-छीलकर वाणी बोले, परन्तु थोड़े ही समय में उसकी वाणी से उसके हृदय का पता लग जायेगा।

मनुष्य की सच्ची पहचान उसके वेष से कम, उसकी वाणी एवं आचरण से ज्यादा होती है। ऐसी भी नीति है कि सज्जन को तो तुरन्त पहचान लिया जा सकता है, परन्तु दुष्ट को पहचानने में समय लगता है। सज्जन तो निश्छल एवं खुली किताब की तरह होता है, उसे जब चाहो पढ़ लो, परन्तु दुष्ट आदमी अपने आप को स्वर्णिमबर्क से ढककर रखता है। इसलिए सज्जनों को चाहिए कि वे ऐसे लोगों से सावधान रहें।

टोना-टामर, झाड़-फूंक, दुआ-ताबीज, मंत्र-तंत्र आदि का आडम्बर करना, किसी को पुत्र, धन, नीरोग्यतादि देने का झांसा देना, दुर्व्यसनी होना, गुहस्थों से नाना वस्तुओं की याचना करना, उत्तम-उत्तम भोजन-वस्त्र चाहना, साथ में स्त्री रखना, ब्रह्मचर्य न होना—यह सब नकली साधु के लक्षण हैं। सच्चे साधु विषय-विरक्त, शील-क्षमादि सद्गुणयुत, निर्वाह में मध्यवर्ती, यथाप्राप्त में संतोषी, सदाचारी, आडम्बररहित और विवेक-वैराग्य में तत्पर होते हैं।

मूल तत्त्व अपने भीतर है

जेहि खोजत कल्पौ गया, घटहि माहिं सो मूर।
बाढ़ी गर्भ गुमान ते, ताते परि गई दूर॥ 282॥

शब्दार्थ—मूर=मूल तत्त्व। गर्भ=गर्व, अहंकार। गुमान=संदेह, शक, अनुमान, घमंड।

भावार्थ—जिसे खोजते-खोजते कल्पों बीत गये हैं, वह मूल तत्त्व तो हमारे हृदय के भीतर ही सब समय विद्यमान है। परन्तु देहादि में मैं-मेरापन का घमंड तथा अनेक संदेह, अनुमान एवं भ्रम होने के कारण उसके विषय में हम अपरिचित हैं, इसलिए वह खोया-जैसा लगता है॥ 282॥

व्याख्या—सद्गुरु ने इस साखी में जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि पर प्रकाश डाला है। मनुष्य धन, पत्नी, पुत्र, प्रतिष्ठादि सांसारिक ऐश्वर्य से सम्पन्न होने पर भी भीतर-भीतर अभाव का अनुभव करता है। धनी-से-धनी लोग मिलने पर कहते हैं—'महाराज किसी चीज की कमी नहीं है, बस केवल मन में शांति नहीं है।' परन्तु यदि मन में शांति नहीं है, तो फिर तुम्हारे पास है क्या! शांति के अलावा तो जो कुछ है, वह सब माटी है। माटी तन है, माटी धन है, माटी सब संसार।

मनुष्य रात-दिन क्या खोजता है! वह केवल दुखों से छूटना चाहता है। दूसरे शब्दों में कहें तो वह अनंत सुख चाहता है। परन्तु यदि उसका सब दुख छूट जाये तो उसे सुख पाने की याद भी न रहे। यदि भूख-प्यास का दुख न हो तो अन्न-पानी से सुख की कल्पना होगी भी नहीं। यदि ठण्डी न लगी हो तो आग से सुख का आभास भी न होगा। हम सुख क्यों चाहते हैं! क्योंकि हम दुखी हैं। यदि हमारा सारा दुख छूट जाये, तो सुख की कल्पना समाप्त हो जाये। दुख क्या है! वस्तुतः दुख है इच्छा। यदि इच्छा मिट जाये तो सुख पाने की कल्पना मिट जाये।

सहजतया लोग कहते हैं कि यदि परमात्मा या मोक्ष मिल जाये तो जीवन से सारे दुख दूर हो जायें। परन्तु परमात्मा या मोक्ष मनुष्य की चेतना एवं आत्मा से अलग क्या वस्तु है जो मिलेगी! यदि हमारे मन की इच्छाएं मिट जायें तो परमात्मा एवं मोक्ष पाने की भी इच्छा नहीं रह जायेगी। इच्छा मात्र दुख है, बंधन है। उसके मिट जाने पर न कोई दुख रह जाता है न बन्धन। हां, इच्छाओं के मिट जाने पर भी जो दुख रह जाता है वह है शारीरिक, जिससे ज्ञानी ज्यादा प्रभावित नहीं होता। उसके आ जाने पर भी उसकी शांति बनी रहती है। इच्छाओं के त्याग का मूल है विवेक और वह मनुष्य के हृदय में ही है। उसे बाहर खोजना नहीं है, किन्तु अपने हृदय में जगाना है।

यदि हम इस ढंग से कहें कि हम परमात्मा को खोजते हैं, मोक्ष को खोजते हैं, सद्गुरु कहते हैं तो वह भी तुम्हारे हृदय से अलग नहीं है। तुम्हारी चेतना ही परमात्मा है और वही मूलतः मुक्त स्वरूप है। बस, उसे ठीक से समझकर सारे विकारों को छोड़ देना है। जब हमारी चेतना सारे विकारों से सर्वथा छूट जाती है, तब यही मोक्ष है। अनंत शांति तथा आत्यंतिक सुख का अर्थ भी यही है। जब हमारी चेतना सारे संस्कारों से छूट जाती है तब हमारे हृदय में ही अनंत सुख का सागर लहराने लगता है। सबका सार इतना ही है कि हमारी चेतना, हमारी आत्मा, हमारा अपना आपा सारी वासनाओं, सारी इच्छाओं एवं सारे विकारों से छूट जाये; बस, हम सारे दुखों से मुक्त हो जायें। हम स्वयं अनंत शांति के सागर हो जायें।

सद्गुरु ने इस साखी में कहा है कि जिसको खोजते-खोजते कल्पों बीत गये हैं वह मूलतत्त्व तो तुम्हारे हृदय में ही है। चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष की अवधि को कल्प कहते हैं। ऐसे असंख्य कल्प बीत गये हैं। 'कल्पों' का यहां लाक्षणिक अर्थ है अनादिकाल। जीव अनादिकाल से दुखों से छुटकारा चाहता है और इसी के लिए विभिन्न देश-काल में बने शब्द अनंत सुख, अनंत शांति, परमात्मा, खुदा, गॉड, अल्लाह, ब्रह्म, निर्वाण, ताओ आदि के भाव को पाना चाहता है। परन्तु ये सब भाव मनुष्य की आत्मा एवं चेतना से अलग अपना कोई अस्तित्व नहीं रखते। सद्गुरु कहते हैं कि जिसे तुम अनादिकाल से खोज रहे हो वह मूल तत्त्व हृदय में ही है। हृदय में भी देहोपाधि की दृष्टि से कहा जाता है, अन्यथा वह तो तुम स्वयं हो। तुम स्वयं मूलतः दुखरहित हो, मुक्त हो, परमात्मा हो, अनंत शांतस्वरूप एवं परम सुखस्वरूप हो। बस हृदय में विवेक जगाओ, सारी इच्छाओं-वासनाओं को छोड़ो और अपने स्वरूप में, अपनी चेतना में स्थित होओ।

जाते सकलो परखिया, सो पारख निज रूप।
तहाँ होय रहु स्थीर तू, नहिं साँई भ्रम कूप॥ त्रिज्या॥

जीवन की क्षणभंगुरता

दश द्वारे का पींजरा, तामें पन्छी पौन।
रहिबे को अचरज अहै, जात अचम्भौ कौन॥ 283॥

शब्दार्थ—दस द्वारे= दो आंख, दो नाक, दो कान, मुख, गुदा, शिश्न और एक सिर के तलवे में माना है। पींजरा=शरीर।

भावार्थ—यह शरीर दस द्वारों का खुला पिंजरा है। इसमें प्राण-पखेरू रहता है। इसमें इसके रहने में ही आश्चर्य है, उड़ जाने में क्या आश्चर्य! ॥ 283॥

व्याख्या—कल्पना करो कि एक पिंजरा है। उसमें दस खुले हुए दरवाजे हैं। उसमें एक पक्षी बैठा है। देखा जाता है कि वह पक्षी उस पिंजरे में वर्षों बैठा रहता है। यहां तक कि लगातार पचास वर्ष, साठ वर्ष, सत्तर वर्ष, नब्बे और सौ-सौ वर्ष तक बैठा रहता है। दस-दस खुले द्वारों के पिंजरे में इतनी लम्बी अवधि तक पक्षी का निरन्तर बैठा रहना आश्चर्य का विषय है। यदि वह उसमें से किसी दिन उड़ जाये तो क्या आश्चर्य है! यह पिंजरा है शरीर तथा पक्षी है प्राण। दो आंख, दो नाक, दो कान, मुख, गुदा तथा शिश्न ये नौ खुले द्वार हैं। दसवां द्वार सिर के तालुमूल में माना गया है। शिशु के सिर पर बीच की एक खास जगह पर उंगली रखिए तो वह बड़ा कोमल होता है। वही तालुमूल है। वहां एक छिद्र है, यह एक अनुमान है। वैसे पूरे शरीर में छिद्र-ही-छिद्र हैं जो

जीव के निकल जाने के लिए काफी हैं। ऐसे असंख्य खुले द्वारों के पिंजरे में प्राणपखेरू का वर्षों, दसकों, आधी शताब्दी एवं एक शताब्दी तक टिके रहना आश्चर्य है। उड़ जाने में कोई आश्चर्य नहीं है

यह शरीर हड्डियों के जोड़ की एक झोपड़ी है जो बड़ी कमजोर है। इसमें मांस का छाजन तथा चाम का लेप है। इसकी नस-नस में रक्त भरा है। इसके भीतर टट्टी-पेशाब भरी है। यह एक प्रकार फोड़ा के समान है। जैसे पके फोड़े में जरा-सा ठोकर लगते ही वह फूटकर बह निकलता है, वैसे यह शरीर कहीं जरा-सा टकरा जाने पर फूटकर बह निकलता है। ट्रक से एक बच्चा ऐसा कुचल गया कि उसके विदीर्ण शरीर को कुदाली से खुरच कर उठाना पड़ा और उधर एक पानठेला वाला अपने ठेले में टूटकर सदा के लिए सो गया। सद्‌गुरु ने साखी ग्रन्थ में कहा है—

यह तन काँचा कुम्भ है, लिये फिरे थे साथ।
टपका लागा फुट गया, कछू न आया हाथ॥

कितना मार्मिक कथन है! यह शरीर मिट्टी के कच्चे घड़े के समान है, जिसे हाथ में लेकर घूम रहे थे। इतने में किसी चीज की ठोकर लग गयी और यह फूटकर गिर गया, हाथ में कुछ भी न लगा। ऐक्सिडेंट हो गया, हार्ट-अटैक हो गया और आदमी मर गया। लोग इन्हें बड़े आश्चर्य से लेते हैं 'अरे, ऐसा कैसे हो गया?' भले आदमी, आश्चर्य तो इसमें मानना चाहिए कि यह पानी का बुलबुला वर्षों टिका कैसे रहा! यदि यह मिट गया तो क्या आश्चर्य! लकड़ी पत्थर, धातु आदि के बने सामान की एक अवधि होती है। जब मकान, पुल आदि बनते हैं तब इंजीनियर यह तय करता है कि इनकी इतने वर्षों की अवधि है। परन्तु किसी प्राणी के जन्म के अवसर पर यह नहीं निर्धारित किया जा सकता है कि यह इतने वर्षों तक जीवित रहेगा। प्राणियों के जीवन का कुछ ठिकाना नहीं। आदमी खा-पीकर बिस्तर पर सोता है और सुबह मरा हुआ मिलता है। बिजली की चमक के समान जवानी, सौंदर्य, मित्रों का मिलन और पूरा जीवन है।

ऐसे क्षणभंगुर जीवन का आदमी अहंकार करता है और वह दो दिनों के लिए जवानी, धन, प्रतिष्ठादि पाकर इतना इतराता है कि उसके पैर जमीन पर नहीं पड़ते। परन्तु वह देखते-देखते एक दिन काल के गाल में चला जाता है और उसका अपना माना हुआ सब कुछ सदा के लिए छूट जाता है फिर उसकी उससे कभी मुलाकात नहीं होती। इसलिए मनुष्य को अपने माने हुए शरीर, प्राणी, पदार्थों एवं प्रतिष्ठा की क्षणभंगुरता को सदैव अपनी दृष्टि में रखना चाहिए, और उनकी गरमी से सदैव दूर रहना चाहिए। इन देह-गेहादि सांसारिक पदार्थों का घमण्ड ही आदमी को पतित करता है। जो व्यक्ति अपने शरीर की नश्वरता को हर समय देखता है उसे मोह-शोक नहीं होता।

क्रूरता ईश्वर-भक्ति नहीं

रामहिं सुमिरे रण भिरे, फिरै और की गैल।
मानुष केरी खोलरी, ओढ़े फिरत हैं बैल॥ 284॥

शब्दार्थ—रण=युद्ध, लड़ाई-झगड़े। गैल=मार्ग। खोलरी=खाल, चाम।

भावार्थ—नाना मत के लोग दयालु ईश्वर का नाम तो जपते एवं उसका स्मरण करते हैं, परंतु बात-बात में राग-द्वेष करके लड़ाई-झगड़े में लग जाते हैं और एक दूसरे का खून-खराबा करने लगते हैं। ये वस्तुत: अपने ईश्वर के पथ को छोड़कर राक्षसी-पथ पर भटकने लगते हैं। इन्हें देखकर लगता है कि मानो मनुष्य की खाल ओढ़कर बैल घूम रहे हैं॥ 284॥

व्याख्या—कबीर साहेब ने अपने जमाने में अपनी आंखों से देखा था और आज के युग में भी यह बात दिखायी देती है। ईसा की बीसवीं शताब्दी के इस नौवें दसक में तो ईश्वर-भक्तों की तलवारें और बन्दूकें ज्यादा चमक उठी हैं। वे ईश्वर और धर्म के नाम पर काफी क्रूर होते दिखते हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि लोग राम का स्मरण तो करते हैं। यहां राम से अभिप्राय केवल हिन्दुओं के राम से नहीं है, किन्तु अर्थ है ईश्वर। प्राय: हर मत के लोग अपने-अपने ढंग से माने हुए ईश्वर का भजन, पूजन, नामस्मरण आदि करते हैं, और यह भी कहते हैं कि ईश्वर दयालु है, सबका है, सब प्राणी ईश्वर के ही बच्चे हैं। परन्तु जबान से ऐसा कहते हुए भी वे साम्प्रदायिक और स्वार्थ की भावनाओं में इतना जलते हैं कि एक दूसरे से थोड़ी-थोड़ी बातों में लड़ाई-झगड़ा करने पर उतारू हो जाते हैं। लोग दूसरे मत के लोगों को, पुजारियों एवं साधकों को छूरा मार देते हैं, भून देते हैं। दूसरे के पूजा-स्थलों एवं उपासना-गृहों को आग लगा देते हैं। ये भगवान के भक्त हैं कि शैतान के बंदे! यह सहज समझा जा सकता है जो निहायत रहम वाला है, जो निस्सीम दयालु है उस ईश्वर की उपासना करने वाले निहायत क्रूर एवं शैतान बन जायें यह बात समझ में नहीं आती है।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि किसी सम्प्रदाय की साधारण जनता विशेष सांप्रदायिक नहीं होती। ज्यादा सांप्रदायिक तो वे होते हैं जो अपने आप को ईश्वर तथा धर्म के ठेकेदार मानते हैं। राजनेता भी धर्म का ढोंग बनाकर क्रूरता का खेल खेलते हैं।

ये ईश्वर और धर्म के नाम पर खून बहाने वाले ईश्वर-भक्त और धार्मिक तो हैं ही नहीं, इन्हें मनुष्य एवं इनसान कहना भी अपराध है। ये तो राक्षसी-पक्ष के

पथिक हैं। वैसे किसी दिन "रक्षामः यक्षामः"[1] कहा गया था। अर्थात जो दूसरे की रक्षा करे वह राक्षस तथा पूजा करे वह यक्ष है। परन्तु पीछे से राक्षस क्रूरकर्मी में रूढ़ हो गया। इसी रूढ़ अर्थ को लिया जाये जो आजकाल प्रचलित है तो यही कहना पड़ेगा कि ये कट्टर ईश्वर-भक्त प्राणियों के हिंसक बनकर राक्षस हो गये हैं। सद्गुरु कहते हैं कि ये प्राणियों की हत्या करने वाले तो मरकहे बैल हैं जो मुनष्य की खाल ओढ़कर घूमते हैं। अर्थात ये ऊपर से तो मनुष्य हैं, परन्तु भीतर से बैल हैं। "मानुष केरी खोलरी, ओढ़े फिरत हैं बैल।" यहां बैल का अभिप्राय अविवेकी ही है। वह घोर अविवेकी है जो ईश्वर के नाम पर मनुष्यों एवं प्राणियों की हत्या करता है।

प्रश्न उठ सकता है कि क्या सभी ईश्वर-भक्त लड़ाई-झगड़ा करने वाले तथा हिंसक ही होते हैं! उत्तर में कहा जा सकता है कि ऐसी बात नहीं है। ईश्वर-भक्ति का मतलब लड़ाई करना नहीं, किन्तु प्रेम का प्रकाश करना है। अतएव सच्चे राम-भक्त एवं ईश्वर-भक्त तो प्राणिमात्र पर दया एवं प्रेम करने वाले होते हैं। वस्तुतः ये प्राणी ही तो राम हैं, ईश्वर हैं। इनको पीड़ा देने की बात सोचकर ईश्वर-भक्ति कैसी! ईश्वर-भक्तों की सबसे बड़ी भूल है कि वे ईश्वर को प्राणियों से अलग मान लेते हैं। इसलिए उनमें से कितने ही लोग तथाकथित ईश्वर की भक्ति करते हैं और प्राणियों का वध करते हैं। कबीर साहेब ने तथा दुनिया के अन्य विवेकियों ने ईश्वर को प्राणियों से अलग नहीं माना है। ये जीव ही ईश्वर हैं। अतः जीव की सेवा ही ईश्वर की सेवा तथा जीवों को कष्ट देना मानो ईश्वर को कष्ट देना है। कबीर साहेब ने बारम्बार इस बात पर जोर डाला है कि प्राणिजगत ही ईश्वर है। जीव ही राम है। जीवों पर दया करना ही राम-भक्ति है। इसी सिद्धान्त को मानने से संसार में अमन-चैन हो सकता है। जीव-जगत से दूर करके ईश्वर को अलग बैठा देना अपराध है। जीव से अलग ईश्वर की कल्पना ही क्रूरता को जन्म देती है। ऐसी धारणा वाले तथाकथित ईश्वर की पूजा करते हैं और जीवों की हत्या। परन्तु ईश्वर यदि कहीं चरितार्थ हो सकता है तो जीवों में ही। अतएव जीव मात्र को ईश्वर, राम, अल्लाह एवं गॉड मानकर, उन पर दया और प्रेम का बरताव करना ही असली ईश्वर-पूजा एवं राम-भजन है।

ज्ञान, गुरु और शिष्य

खेत भला बीज भला, बोये मुठी का फेर।
काहे बिरवा रूखरा, ये गुण खेतहि केर॥ 285॥

भावार्थ—खेत उत्तम हो और बीज भी उत्तम हो, परन्तु किसानों के बोने में

---

21. रक्षाम इति यैरुक्तं राक्षसास्ते भवन्तु वः।
यक्षाम इति यैरुक्तं यक्षा एव भवन्तु वः॥ वाल्मीकि 7/4/13॥

मूठ का फेर हो जाने से कहीं कम बीज पड़ते हैं और कहीं अधिक, और उसी प्रकार विरल तथा सघन उनके पौधे उगते हैं एवं तद्नुसार ही कम-विशेष अन्न की उत्पत्ति होती है। यदि पौधे दुर्बल हो गये हैं तो क्यों? यह खेत का ही गुण समझना चाहिए। अर्थात खेत उत्तम नहीं है। इसी प्रकार शिष्य में उत्तम योग्यता हो तथा गुरु का ज्ञान भी उत्तम हो, परन्तु भिन्न गुरुओं के उपदेश देने की शैली में भिन्नता होने से किसी को किसी की शैली से तथा किसी को किसी की शैली से बोध होता या नहीं होता है। यदि गुरुज्ञान ठीक होने पर भी शिष्य को बोध नहीं हुआ, तो यह शिष्य का दोष है॥ 284॥

व्याख्या—खेत शिष्य का हृदय है, बीज ज्ञान है, और बोने वाले उपदेशक गुरुजन हैं। शिष्य उत्तम पात्र हो और ज्ञान भी उत्तम हो, परन्तु उपदेशक गुरुओं के उपदेश देने की शैलियां एवं युक्तियां भिन्न-भिन्न होने से शिष्य के लाभालाभ में अन्तर हो सकता है। ज्ञानोपदेश वही होने पर भी कोई उसे उत्तम ढंग से समझाकर शिष्य को भलीभांति बोध करा देता है और कोई उस प्रकार बोध नहीं करा पाता। अथवा किसी उपदेशक की शैली किसी को जंचती है, और किसी उपदेशक की शैली किसी को। सबकी शैली सबको नहीं जंचती। श्री विशाल साहेब ने भी कहा है—

प्रेम शोध के हेतु से, बोध मिले गुरु पाय।
कोइ काहू से बोध होय, काहू से जात दुराय॥

प्राय: देखा जाता है कि किसी व्यक्ति को एक उत्तम उपदेष्टा से संतोष नहीं मिलता और दूसरे किसी साधारण उपदेष्टा से संतोष मिल जाता है। इस प्रकार "बोये मुठी का फेर" होता है।

"काहे बिरवा रूखरा, ये गुण खेतहि केर।" उपदेष्टा गुरु तथा उपदेश ज्ञान दोनों उत्तम हैं, परन्तु शिष्य को न ठीक से ज्ञान हुआ और ज्ञान हो जाने पर न उसकी रहनी में वह स्थित हो पाया। शिष्य आध्यात्मिक शक्ति से दुर्बल ही बना रह गया, तो यह दोष है शिष्य का। उसने गुरु के उपदेशों का पालन नहीं किया। वही गन्ना निर्बल खेत में बोने से पतला-पतला तथा कम रस वाला होता है और वही गन्ना उर्वर खेत में बो दिया जाये तो मोटा-मोटा तथा खूब रस वाला होता है। गुरु का एक ही ज्ञान भिन्न शिष्यों के पात्रत्व के अनुसार भिन्न मात्रा में फल पैदा करता है। अतएव खेत और बीज दोनों के गुण उत्तम होने चाहिए। अर्थात ज्ञान सच्चा होना चाहिए और शिष्य को सच्चा हृदय करके उसे धारण करना चाहिए।

सच्चा ज्ञान वह है जो विश्व के शाश्वत नियमों एवं कारण-कार्य-व्यवस्था के अनुकूल हैं। अंतत: जड़वर्ग से अपनी चेतना को अलग समझ लेना ही ज्ञान का वास्तविक स्वरूप है। मैं सब का साक्षी, सबसे भिन्न स्वत: असंग एवं परम

तृप्तस्वरूप हूं यही ज्ञान का अन्त है।

इसका देने वाला सद्गुरु है। जो सारी भ्रांतियों से रहित, सबका पारखी है और अपने ज्ञानस्वरूप में स्थित है, वही सच्चा सद्गुरु है। सच्चे ज्ञान तथा सच्ची रहनी से संपन्न संत ही सद्गुरु है।

शिष्य का शिष्यत्व है उसका खुला हृदय, निष्पक्ष प्रज्ञा, विनम्रभाव, सत्य को जानने और उसका आचरण करने की तीव्र पिपासा।

गुरु-सीढ़ी से पतन का परिणाम

गुरु सीढ़ी ते ऊतरै, शब्द बिमूखा होय।
ताको काल घसीटिहैं, राखि सकै नहिं कोय॥ 286॥

शब्दार्थ—काल=कल्पना, वासना।

भावार्थ—जो व्यक्ति सद्गुरु की ज्ञान-सीढ़ी से उतर जाता है और उनके सत्योपदेशों से विमुख हो जाता है, उसको दुर्वासना रूपी काल घसीटकर संसार में रगड़ता है। उसकी कोई रक्षा नहीं कर सकता॥ 286॥

व्याख्या—किसी मकान के ऊपरी तल्ले पर चढ़ने के लिए सीढ़ियां होती हैं। आदमी एक-एक सीढ़ी पर पैर रखते-रखते ऊपर चढ़ता है। यदि चढ़ने वाला बीच ही से लौट पड़ता है और उन सीढ़ियों पर से उतरने लगता है तो वह नीचे चला आता है।

सद्गुरु ने यहां गुरु-सीढ़ी से उतरने वाले की दुर्दशा का वर्णन किया है। गुरु-सीढ़ी क्या है? 'गुरु' का शाब्दिक अर्थ होता है 'भारी'। इसके अनेक अर्थ हैं, परन्तु इस संदर्भ में तीन अर्थ हो सकते है; पहला अर्थ है कि गुरु वह व्यक्ति है जो अपने पवित्र आचरण, रहनी तथा सत्योपदेश से शिष्यों को प्रेरितकर उनको कल्याण मार्ग में लगाने वाला होता है; गुरु का दूसरा अर्थ होता है 'गुरु-दशा' जिसमें स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति की रहनी होती है और गुरु का तीसरा अर्थ शुद्ध चेतन है। पहला अर्थ व्यक्तिवाचक है, दूसरा भाववाचक है और तीसरा परिनिष्ठित शुद्ध चेतनवाचक है। परन्तु सबका उद्देश्य एक है अपनी आत्मचेतना के शिखर पर आरोहण करना। व्यक्ति-गुरु की सेवा मूल उद्देश्य नहीं है। व्यक्ति-गुरु की सेवा तथा आज्ञापालनादि भक्ति मार्ग तो इसलिए आवश्यक है कि साधक इसके द्वारा ही अपने कल्याण-मार्ग में बढ़ सकता है। पवित्र रहनी भी इसीलिए धारण करना है जिससे हम अपने स्वरूप में टिक सकें। बिना पवित्र रहनी के मन स्थिर ही नहीं होगा जो अपने स्वरूप में टिकने योग्य हो सके। गुरु के उपदेश से साधक एक-एक सीढ़ी ऊपर चढ़ता है। अर्थात सेवा, आज्ञापालन, स्वाध्याय, साधना की सीढ़ियों से होते हुए वह ऊपर उठता है। साधक का उद्देश्य है व्यक्ति-गुरु के उपदेशों के सहारे अपने गुरु-

भाव, श्रेष्ठ-भाव में ठहरते हुए अपने परम गुरुत्व स्वरूप में स्थित हो जाये।

कुछ साधक ऐसे होते हैं जो समझ की कमी, अविवेक के जोर तथा कुसंग के आवरण के कारण कल्याण-मार्ग से शिथिल हो जाते हैं। वे अपने दुर्भाग्यवश गुरुत्व पर चढ़ने की अपेक्षा उससे उतरना शुरू कर देते हैं। वे गुरु-संतों की आज्ञाओं का उल्लघंन करते हैं। उनकी अवमानना करते हैं। सामाजिक नियमों तथा साधना के नियमों को तोड़ने लगते हैं। वे सेवा नहीं करना चाहते, आज्ञा पालन नहीं करना चाहते, सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय न कर साधना-विरोधी पुस्तकें पढ़ने लगते या प्रपंच-वार्ता में समय बिताने लगते हैं, जिससे भक्ति, ज्ञान एवं वैराग्य में गिरावट आये ऐसा व्यवहार करने लगते हैं। यही सब गुरु-सीढ़ी से उतरना है। जो स्वरूपस्थिति के शिखररूपी गुरुत्व पर चढ़कर सदैव के लिए संसार-कीचड़ से मुक्त होना चाहता था, वह कुछ दूर चलकर यदि उससे लौट पड़ा है तो यही गुरु-सीढ़ी से उतरना है; और यही "शब्द-बिमूखा" होना है।

ऐसे साधक की दशा क्या होती है? सद्गुरु कहते हैं "ताको काल घसीटिहैं, राखि सकै नहिं कोय।" उसको काल संसार-नगर में घसीट-घसीट कर रगड़ता है। उसे उससे कोई बचा नहीं सकता। काल हैं मन की दुर्वासनाएं, कल्पनाएं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, राग, द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, चिंता, शोक, विकलता, भ्रांति ये सब भयंकर काल हैं, जिन्हें जीव ही ने अपने स्वरूप की भूल से बना रखे हैं। जब साधक गुरुत्व के शिखर पर चढ़ने लगता है तब ये काल कमजोर पड़कर मरने लगते हैं और जब कोई अभागा साधक गुरुत्व-शिखर की सीढ़ियों से उतरने लगता है तब ये काल पुनः बलवान होकर जीव को पीड़ित करने लगते हैं। कामादि विकारों के अधीन बना संसार में भटकना ही तो उसके द्वारा घसीटे जाना है! एकमात्र गुरु ही इस काल से छुड़ाने वाला है और जिस मूढ़ जीव ने उन्हीं की अवहेलना कर दी उसे काल के गाल से कौन बचावे! मौत को काल कहते हैं जो केवल शरीर को समाप्त करती है, परन्तु मानसिक विकाररूपी काल मनुष्य का पतन करते हैं। अतः साधक को चाहिए कि वह प्रमाद छोड़कर गुरु-सीढ़ी पर उत्तरोत्तर चढ़ता जाये। नीचे उतरने का तो ख्याल भी न करे।

कामनाओं का ताप

भुँभरी घाम बसै, घट माहीं।
सब कोइ बसै, सोग की छाहीं॥ 287॥

शब्दार्थ—भँभुरी घाम=वह धूप जिसमें सामान्य बदली हो, इसमें अधिक गरमी होती है। घट=शरीर, अंतःकरण। सोग=शोक।

भावार्थ—हलकी बदली की उत्तप्त धूप के सदृश मनुष्य के हृदय में नाना कामनाओं की तपन रहती है, इसलिए सभी सकामी जीव शोक की छाया में

बसते हैं॥ 287॥

व्याख्या—गरमी या वर्षा काल में दिन में जब बहुत पतली बदली रहती है तब उससे छनकर आयी हुई धूप बहुत गरमी पैदा करती है। क्योंकि उस समय हवा नहीं चलती। यदि हवा चले तो बादल फट जायें। यदि मोटी बदली रहे तो गरमी न हो और यदि हवा चले तो पतली बदली न हो। परन्तु हवा भी नहीं चलती और मोटी बदली भी नहीं रहती, किन्तु पतली बदली रहती है। तो उससे छनकर सूरज की गरमी पृथ्वी पर व्याप्त हो जाती है। इसे 'भुंभुरी घाम' कहते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य, भुंभुरी घाम तो तुम्हारे हृदय में बसता है। हृदय का भुंभुरीघाम है कामनाओं की ज्वाला। आदमी भीतर-भीतर कामनाओं की ज्वाला में झुलसता रहता है। कामनाओं की ज्वाला भुंभुरीघाम है। इससे परित्राण पाने के लिए वह भोगों को खोजता है। वह समझता है कि भोग शीतल छाया है। परन्तु भोगों को भोगने से तो कामना ज्वाला और धधकती है, तथा उसके परिणाम में चिंता-शोक की वृद्धि होती है। इसलिए मानो सारे सकामी जीव शोक की छाया में बसते हैं। छाहीं का अर्थ है धूपरहित जगह अथवा आश्रयस्थल। यहां छाहीं का अर्थ आश्रयस्थल है। सद्गुरु कहते हैं कि लोग कामनाओं के भुंभुरीघाम एवं उत्तप्त धूप में जलते हैं और उससे बचने के लिए एवं कामनाओं की तृप्ति के लिए भोगों को पकड़ते हैं जो शोकरूप हैं। अतः भोगों में पड़कर मानो शोक की जगह में जाना है। भोगी जीव को आश्रयस्थल मिलता है शोक का। कामनाबद्ध जीव भोगों का आश्रय पकड़ता है जो वस्तुतः शोक है। कामनाओं से भोग तथा भोगों से शोक का मिलना उसका स्वाभाविक क्रम है।

जब आदमी को तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट, शराब आदि पीने की इच्छा होती है तब उसे तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट तथा शराब शीतल छाया लगते हैं। जब मैथुन भोग की कामना जगती है, तब स्त्री को पुरुष का एवं पुरुष को स्त्री का अंग-मिलन शीतल छाया लगता है। इसी प्रकार जब किसी भी भोग की इच्छा जगती है तब वह भोग शीतल छाया के समान लगता है। परन्तु भोग शीतल-छाया नहीं, शोक-छाया है। शीतल-छाया तो इच्छा-त्याग, भोग-त्याग एवं संतोष है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह भोग-इच्छा के ताप से बचकर संतोष की शीतल छाया पकड़े।

जीव की सर्वोच्चता

जो मिला सो गुरु मिला, शिष्य न मिलिया कोय।
छौ लाख छियानबे सहस रमैनी, एक जीव पर होय॥ 288॥

शब्दार्थ—छौ=छह दर्शन—योगी, जंगम, सेवड़ा, संन्यासी, दरवेश तथा

ब्राह्मण। लाख=लाखों, बहुत अधिक। छियानबे=छानबे भेद—दस-संन्यासी, बारह-योगी, चौदह-दरवेश, अठारह-ब्राह्मण, अठारह-जंगम तथा चौबीस-सेवड़ा। सहस=सहस्र, हजार, हजारों। रमैनी=प्रार्थना, नामजपादि, दोहे, पदादि।

भावार्थ—जो कोई मिलता है वह ज्ञान का अहंकारी उपदेश देने वाला गुरु बनकर मिलता है, सच्चा ज्ञान लेने वाला निष्कपट एवं विनम्र शिष्य बनकर कोई नहीं मिलता। परन्तु मैं अपनी बातें कहे दे रहा हूं कि छह दर्शनों के लाखों ग्रन्थों और उनके छानबे भेदों के हजारों पूजा, पाठ, प्रार्थना आदि एक जीव पर ही होते हैं। अर्थात सारी कल्पनाओं एवं ज्ञान-विज्ञान के केन्द्र में जीव ही है॥ 288 ॥

व्याख्या—"जो मिला सो गुरु मिला, शिष्य न मिलिया कोय।" इसका सीधा एवं शाब्दिक अर्थ है कि मुझे आज तक जो मिला वह गुरु बनकर मिला, शिष्य बनकर कोई नहीं मिला। यह शाब्दिक अर्थ मान लिया जाये तो यह मानना पड़ेगा कि इस साखी के रचते तक कबीर साहेब को कोई शिष्य नहीं मिला था। परन्तु यह अर्थ मान लेना अनर्थ करना है। यहां अर्थ शाब्दिक नहीं, किन्तु लाक्षणिक है। तात्पर्य है कि अपनी उलटी-सीधी बातों को ज्ञान मानकर उपदेश झाड़ने वाले ज्यादा मिलते हैं, किन्तु विनम्रतापूर्वक सत्यज्ञान लेने वाले कम मिलते हैं।

इन पंक्तियों के लेखक के सामने कई बार ऐसा प्रसंग पड़ता है कि लोग मिलने आते हैं और वे शुरू से आखिर तक अपनी उलटी-सीधी बातें बिना सांस लिये झाड़ते जाते हैं। कितने लोग धर्म के नाम पर चलने वाले बकवास, चमत्कार तथा अंधविश्वास की बातें करते रहते हैं और कितने लोग तो अपने घर के व्यवहार, यहां तक कि वे कैसे खिचड़ी में नीबू निचोड़कर तथा अधिक मात्रा में तरोई की सब्जी खाते हैं इसका दसों बार घुमा-घुमाकर वर्णन करते हैं। वे पूरे समय में एक शब्द भी नहीं सुनना चाहते। परन्तु जब उठकर चलते हैं तब कहते हैं कि आपके सत्संग में बड़ा आनन्द आया।

लोगों को जो कुछ परम्परा से प्राप्त शब्द हैं उन्हीं को वे ज्ञान मानते हैं, उन्हीं को वे दूसरे के गले उतारना चाहते हैं, परन्तु स्वयं दूसरे का कुछ भी नहीं सुनना चाहते। मतवादी तो अपने मतवाद के भूत होते ही हैं, साधारण आदमी भी, जिसके मन में जो बात जमी है उसे छोड़ना नहीं चाहता है, बल्कि उसे दूसरे को मनवाना चाहता है। मतवादी तो अपने आप को ईश्वर के उत्तराधिकारी एवं सत्य के ठेकेदार ही मानते हैं। वे दूसरे की बातें कहां मानने लगे! किसी का पूज्य पुरुष ईश्वर का अवतार है, किसी का पूज्य तो स्वयं ईश्वर ही है। ऐसी भ्रांत मानसिकता के लोग जो कुछ उलटे-सीधे अपने मत बना रखे हैं उन्हीं के पोषण में सदैव पड़े रहते हैं।

ईश्वर, अवतार, पैगम्बर-जैसी काल्पनिक बातें हटाकर और मत, परम्परा, पुराने पुरुष, पुराने ग्रन्थ, बड़े जनसमाज एवं भारी जनमत का पक्ष छोड़कर केवल सत्यज्ञान के लिए निष्पक्ष एवं विनम्र अन्वेषण करने वाले बहुत कम लोग हैं। कम लोग भले हों, परन्तु निष्पक्ष जिज्ञासु सब समय तथा सब देश में कुछ-न-कुछ होते हैं। इसलिए सद्गुरु कबीर कहते हैं कि मैं अपनी बातें कहे दे रहा हूं। कबीर साहेब की बातें बड़ी पैनी हैं। वे कहते हैं—

"छौ लाख छियानबे सहस रमैनी, एक जीव पर होय।" छह दर्शन—योगी, जंगम, सेवड़ा, संन्यासी, दरवेश और ब्राह्मण हैं। इनके अन्दर संसार के समस्त मत को समझ लेना चाहिए। छह दर्शनों के छानबे पाखंड माने गये हैं "छौ दर्शन छानबे पाखंडा"[1] अर्थात छह दर्शनों के छानबे भेद। जैसे आजकल केवल छह दर्शन ही नहीं, बहुत हो गये हैं, वैसे उनके छानबे ही भेद नहीं किन्तु असंख्य भेद हैं। अतएव यहां भी शाब्दिक अर्थ न मानकर लाक्षणिक ही मानना चाहिए। अर्थात संसार के असंख्य मतों के असंख्य ग्रंथ एवं उनके असंख्य भेदों के असंख्य पूजा, पाठ, मान्यताएं, उपासना-पद्धतियां आदि "एक जीव पर होय"—एक जीव के कल्याण के लिए कल्पे गये हैं। इन सब के केन्द्र में एक जीव ही है। मनुष्य-जीव ही ने तो नाना मत खड़े किये, ईश्वर, अल्लाह, अवतार, पैगम्बर की कल्पनाएं गढ़ी, अपनी किताबों को इलहामी और ईश्वरीय कहने का दुस्साहस किया। इसी ने ज्ञान-विज्ञान के नाना प्रयोग किये, नाना उपासना-विधियां एवं मान्यताएं चलायीं। जीव न होता तो यह सब कुछ नहीं होता।

सद्गुरु कहते हैं कि कोई सुने या न सुने, परन्तु यह परम सत्य है कि जीव ही सर्वोच्च सत्ता है। कोई अपनी आत्मा का तिरस्कार करके बाहर से परमात्मा पाने की आशा करता है तो यह उसकी दुराशा है। "छौ लाख छानबे सहस रमैनी, एक जीव पर होय" इस पंक्ति का यदि सपाट अर्थ किया जाये तो भी सार अभिप्राय यही होगा कि छह लाख छानबे हजार रमैनियां अर्थात दोहे, चौपाइयां, प्रार्थनाएं, सूत्र, श्लोकादि सब एक जीव ही की महिमा है। सब कुछ उसी से निकले हैं। इस सपाट अर्थ में भी "छौ लाख छानबे सहस" का लाक्षणिक अर्थ ही होगा। अभिप्राय है कि असंख्य वचन जीव से ही निकले हैं और उसी के कल्याण के लिए ही कहे गये हैं।

"जो मिला सो गुरु मिला, शिष्य न मिलिया कोय।" इस पंक्ति को इस प्रकार भी संतों ने समझाने की चेष्टा की है कि जो स्वरूपस्थिति में मिला वह गुरु ही मिला, कोई शिष्यत्व का परदा रखकर स्वरूपस्थ नहीं हो सकता। स्वरूपस्थ

---

22. बीजक, रमैनी 1।

व्यक्ति ही तो गुरु है। यह अलग बात है कि देहभाव से एवं व्यवहार में वह अपने गुरु का शिष्य है परन्तु बोधभाव एवं स्वरूपस्थितिदशा में गुरु है। श्री पूरण साहेब ने कहा है—"देह भाव से दास कहावै। पारख भाव से एक होय जावै॥"

स्वाभाविक अर्थ पहले वाला ही है कि प्राय: लोग ज्ञान का अहंभाव लेकर अर्थात गुरु बनकर ही मिलते हैं, ग्राहक शिष्य बनकर कम लोग मिलते हैं। इसी सन्दर्भ सद्गुरु आगे कहते हैं—

सत्यज्ञान का पिपासु निष्पक्ष एवं विनम्र होता है

जहाँ गाहक तहाँ हौं नहीं, हौं तहाँ गाहक नाहिं।
बिना विवेक भटकत फिरे, पकरि शब्द की छाहिं॥ 289॥

शब्दार्थ—हौं=मैंपन, अहंकार। गाहक=ग्रहण करने वाला जिज्ञासु। छाहिं= सहारा, आश्रय।

भावार्थ—जो सत्यज्ञान ग्रहण करने का इच्छुक जिज्ञासु होता है उसमें किसी प्रकार अहंभाव नहीं होता, और जिसमें किसी प्रकार का अहंभाव होता है वह सच्चा जिज्ञासु नहीं होता। वह तो कुछ शब्दों का सहारा पकड़कर बिना विवेक भटकता फिरता है॥ 289॥

व्याख्या—सत्यइच्छुक ज्ञानपिपासु के मन में किसी प्रकार का अहंकार नहीं होता। वह तो अत्यन्त विनम्रतापूर्वक जिज्ञासुभाव से सत्य की खोज करता है और ज्ञानदाता सच्चा सद्गुरु पाकर भलीभांति छकता है। परन्तु जिसके हृदय में धन, मकान, परिवार, शरीर, जवानी, रूप, जाति, पद, विद्या, अधिकार आदि का मद है; अथवा नाना मत, पथ, ग्रन्थ एवं किसी विख्यात मनुष्य का पक्ष तथा अहंकार है, वह न सत्य का ग्राहक है और न सत्यबोध को प्राप्त कर सकता है। वह तो विवेक से हाथ धोकर सुने-सुनाये कल्पित शब्दों की पूंछ पकड़कर भटकता फिरता है।

कितने लोग कहते हैं "पदुम अठारह यूथप बंदर" अर्थात रामादल में अठारह पद्म सेनापतियों का होना क्या असत्य हो जायेगा! कुम्भकरण की सौ योजन (बाहर सौ किलोमीटर) लम्बी देह, रावण के दस मुख तथा बीस हाथ, भागवत वर्णित राजा प्रियवत का ग्यारह अरब वर्ष राज्य करना तथा उनके रथ के पहिये के चलने से समुद्र बन जाना क्या झूठ हो सकते हैं! उपनिषद्-वर्णित कहीं जल से, कहीं प्राण से, कहीं तेज आदि से सृष्टि का होना, बाइबिल वर्णित बिना कारण के ही ईश्वर का छह दिनों में सृष्टि रच डालना, ईसामसीह के अनेक चमत्कार, कुरान-वर्णित खुदा के केवल 'हो जा' कह देने से झट से जगत उत्पन्न हो जाना आदि धर्म तथा ईश्वर की बातें हैं। ये गलत नहीं हो सकतीं। ये ईश्वर के

रचे वेद, अल्लाह का भेजा कुरान तथा गॉड की प्रेषित बाइबिल में क्या एक अक्षर भी असत्य हो सकता है! क्या वेद, शास्त्र, पुराण, गीता, भागवत, कुरान, बाइबिल आदि में एक अक्षर भी झूठ हो सकता है!

तथाकथित ईश्वर के नाम से जुड़े हुए ग्रन्थों में जो कुछ लिख दिया गया है उनमें थोड़ा भी न नु न च करना, थोड़ा भी तर्क करना वे लोग अपराध मानते हैं। हां, वे दूसरे की ईश्वरीय कही जाने वाली किताबों की बातों पर अपनी टिप्पणी पेश करते हैं, परन्तु जब अपनी किताबों पर बात आती है तब उसे केवल श्रद्धा से देखने की बात करते हैं। वे उस पर थोड़ा भी सोचने का अवसर नहीं देना चाहते। इस प्रकार केवल शब्द-प्रमाण की दोहाई देने वाले एवं शब्दों की छांह पकड़ने वाले सत्य के ग्राहक नहीं होते। वे तो अपने मूल ग्रन्थ एवं आचार्य की बातों की पुष्टि के लिए दूसरे का खंडन करेंगे, दूसरे को नास्तिक एवं काफिर कहेंगे, परन्तु अपने मत का अभिमान छोड़कर सत्य की परख नहीं करेंगे।

"कुल-पशु गुरु-पशु, वेद-पशु, काम-पशु संसार। मानुष ताको जानिये, जाहिं विवेक विचार।" यहां वेद से अर्थ ऋग्वेदादि प्रसिद्ध चार पुस्तकों से नहीं है, किन्तु अपने-अपने मत के शास्त्रों से है। जो बिना विवेक-विचार किये कुल-परम्परा के रस्मों-रिवाज को, गुरु की बातों को तथा शास्त्रों की बातों को ढोता है और काम-वासना में अंधा रहता है वह पशु है।

मनुष्य वह है जिसके हृदय में विवेक-विचार है। गुरु, शास्त्र, परम्परा सब आदरणीय हैं, परन्तु विवेक छोड़कर नहीं।

कबीरदेव इस साखी में बताते हैं कि जो सत्यज्ञान का पिपासु होता है वह कुल-परम्परा, गुरु, शास्त्र आदि का पक्ष छोड़कर विनम्रतापूर्वक छान-विचार करता है। परन्तु जहां सत्यज्ञान की इच्छा न होकर केवल अपनी मानी हुई बातों को ही सर्वोपरि बताने का हठ है वहां तो बस, शब्दों की ही दोहाई दी जाती है कि यह लिखा है वह लिखा है। ऐसे लोग अपने माने गये शास्त्रों के शब्दों की छाया पकड़कर भटकते फिरते हैं।

गुणग्राही ही पारखी है

नग पषाण जग सकल है, पारख बिरला कोय।
नग ते उत्तम पारखी, जग में बिरला होय॥ 290॥

शब्दार्थ—नग=रत्न। पषाण=पाषाण, पत्थर। पारख=परख, परीक्षा, सांच-झूठ समझने की शक्ति।

भावार्थ—सारे संसार में रत्न और पत्थर दोनों हैं, अर्थात गुण और दोष, जड़ और चेतन सर्वत्र हैं, परन्तु इनकी परख करने वाला बिरला कोई है। नग से

भी उत्तम उसके पारखी हैं जो संसार में कम होते हैं॥ 290॥

व्याख्या—सारा संसार जड़-चेतन एवं गुण-दोषमय है। विवेकी-पारखी पुरुष जड़ को छोड़कर चेतन को तथा दोष को छोड़कर गुण को ले लेता है।

"नग पषाण जग सकल है" यह बड़ा महत्त्वपूर्ण वचन है। न तो संसार का कोई हिस्सा दूध का धोया है और न एकदम बुरा है। एकांगी दृष्टि वाला किन्हीं देश, प्रदेश, कुल, परम्परा, मत, शास्त्र आदि की बेतहाशा बड़ाई करने लगता है और किन्हीं की निंदा करने लगता है, परन्तु निष्पक्ष विचारक ऐसा न कर हर जगह से दोषों को छोड़कर केवल सद्गुण ले लेता है। हम दूसरे मत की निंदा में डट पड़ते हैं और मान लेते हैं कि दूसरे के मतों में केवल बुराइयां हैं, परन्तु विचारकर देखें तो हमारे मत में भी कहीं-न-कहीं कोई त्रुटि हो सकती है और दूसरे के मतों में भी अच्छाई है ही। ऐसा तो कोई मत है ही नहीं कि उसमें अच्छाई न हो। कोई मत, कोई व्यक्ति, कोई ग्रन्थ, कोई वस्तु, कोई देश तथा कोई काल ऐसा नहीं है जिसमें अच्छाई न मिले।

एक जिज्ञासु ने किसी संत के पास जाकर उनसे दीक्षा चाही। संत ने कहा कि तुम मुझे गुरुदक्षिणा में क्या दोगे? जिज्ञासु ने कहा कि महाराज, आप ही आज्ञा दें। संत ने कहा कि कोई ऐसी वस्तु मुझे गुरुदक्षिणा में दो जो बिलकुल बेकार हो। जिज्ञासु ने अवसर मांगा। छह महीने बीत गये परन्तु उसे ऐसी वस्तु नहीं मिली कि जो बिलकुल बेकार हो। उसने अपना दृष्टिकोण संत से कह सुनाया कि महाराज, संसार में तो कोई वस्तु नहीं मिली जो एकदम बेकार हो। मैं आपको बेकार चीज कहां से लाकर दूं। संत ने कहा—बस, बेटा! तू मेरे द्वारा दीक्षा का पूर्ण अधिकारी है, तेरे में तो पूर्ण शिष्यत्व है। जिसकी दृष्टि इतनी गुणग्राही हो, वही सच्चा जिज्ञासु है।

एक ही वस्तु में कई पहलू होते हैं, कोई पहलू गुणमय होता है और कोई पहलू दोषमय। गुलाब के पेड़ में फूल गुणमय हैं और कांटें दोषमय। पारखी फूल ले लेता है और कांटें छोड़ देता है। जग जानता है कि समझदार लोग पत्थर में से सोना, मिट्टी में से पानी, तेल, पेट्रोल, अनेक धातु आदि खनिज पदार्थ, भूसी तथा छिलके में से चावल, दाल तथा फल आदि ले लेते हैं। इसी प्रकार सबके मतों, ग्रंथों एवं सब प्राणी-पदार्थों से अच्छाई छांटकर ले लेना पारखी का काम है। यहां तक कि एक ही वस्तु का सदुपयोग करने से वह गुणमय बन जाती है और दुरुपयोग करने से दोषमय। जैसे रुपये परोपकर में लगाओ तो वे कल्याणकारी तथा दूसरे की हत्या करवाने में लगाओ तो पतनकारी बनते हैं। यहां तक कि विष को शोधकर दवाई के काम में लेने से वह अमृत बन जाता है। और अन्न जो अमृत है, गलत तरीके तथा ज्यादा खाने से मारक विष बन जाता है। घी और मधु दोनों स्वास्थ्यवर्द्धक हैं, परन्तु कहते हैं

कि दोनों को बराबर मात्रा में मिला देने से विष बन जाता है।

सच्चा पारखी वही है जो न तो कहीं ममता करता है और न कहीं घृणा एवं वैर। वह सब जगह से दोषों को त्यागते हुए केवल सद्गुण ग्रहण करता है। "नग पषाण जग सकल है" इस छोटे वाक्य में निष्पक्षता, विनम्रता, दीर्घदृष्टि एवं परम विवेक समाये हैं। भव-बन्धन का मूल है राग-द्वेष, और राग-द्वेष का मूल है उक्त बात को न समझ पाना। जो यह समझता है कि सर्वत्र गुण-दोष हैं, वह कहीं से राग-द्वेष नहीं करता, किन्तु सब जगह से दोषों को छोड़ते हुए केवल सद्गुणों का चयन करता है।

'नग पषाण' के लक्षणा अर्थ में गुण-दोष हैं, वैसे चेतन और जड़ हैं। विवेकवान सर्वत्र जड़-चेतन का विवेक रखता है। वह मिट्टी, पानी, आग, हवा, आकाश, चांद, सूरज, तारे, नदी, पर्वत, पेड़ आदि की वंदना नहीं करता। वह समझता है कि ये सब जड़ हैं। वह जानता है कि किसी महापुरुष के चित्र एवं मूर्ति आदि केवल स्मारक हैं, इसलिए वह उनको नहलाने, सुलाने, जगाने आदि के चक्कर में नहीं पड़ता। जड़-चेतन का पारखी जानता है कि असंख्य ग्रह, उपग्रह, छह ऋतुएं, नदी, झरने, वन, पर्वत, बादल, वर्षा, भूचाल, ज्वालामुखी, अतिवर्षण, अवर्षण आदि जड़प्रकृति का खेल है। इनमें किसी चेतन की कोई सत्ता नहीं है। वह समझता है कि भूत, प्रेत, देवी, देवता एवं अनेक काल्पनिक अवधारणाएं केवल मनुष्यों के मनोराज्य हैं। पारखी अपने स्वरूप को चेतन समझता है और उसे जड़ से सर्वथा भिन्न मानता है। वह जड़-चेतन को सर्वदा-सर्वथा भिन्न समझता है। वह अपने चेतनस्वरूप को, देह, मन, प्राण, तेज, शब्द आदि समस्त जड़ दृश्यों से अलग समझकर उनमें से अपने आप को उसी प्रकार निदाग निकाल लेता है जैसे कोई मूंज में से सींक निकाल लेता है। समस्त जड़दृश्यों से अपने चेतन स्वरूप को अलग समझकर असंग स्थिति प्राप्त करना ही पारखी का मुख्य लक्षण है।

सद्गुरु कहते हैं—"पारख बिरला कोय"। कोई बिरला ही गुण-दोष एवं चेतन-जड़ की परख करता है। शेष लोग तो दोष देखने की प्रवृत्ति में पड़कर दूसरों के सद्गुणों का भी तिरस्कार कर देते हैं और चेतन-जड़ का विवेक खोकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। अच्छे-अच्छे ज्ञानी कहलाने वाले तक कहते हैं—"मैं चांद हूं, मैं ही सूर्य हूं, यह सारा विश्व मेरा स्वरूप है। जैसे जल और तरंग एक है, जैसे स्वर्ण और आभूषण एक है, जैसे मिट्टी और घट एक है वैसे चेतन और जड़ एक है।" ऐसी मान्यता रखने वाले अपनी परखशक्ति को दरकिनार कर मतवाद में पड़े उलझे रहते हैं। कोई बिरला ही ऐसी दृष्टि रखता है कि सर्वत्र दोषों को त्यागते हुए सद्गुण ले तथा जड़ासक्ति त्यागकर चेतनस्वरूप में स्थिति हो।

"नग ते उत्तम पारखी, जग में बिरला होय।" रत्नों से श्रेष्ठ रत्नों का पारखी होता है। सद्गुणों से श्रेष्ठ वह है जो उन्हें सर्वत्र से लेकर अपने जीवन में उनका आचरण करता है। इसी प्रकार सभी सामान्य चेतन जीवों से वह श्रेष्ठ है जो उनका पारखी है। इस पूरी साखी में सद्गुरु ने पारखी की विशेषता बतायी है। पारखी वही है जो सर्वत्र से दोषों को त्यागते हुए सद्गुण ग्रहण करता है तथा जड़दृश्यों से लौटकर अपने चेतनस्वरूप में स्थित है।

सारा सम्बन्ध स्वप्नवत है

सपने सोया मानवा, खोलि जो देखै नैन।
जीव परा बहु लूट में, ना कछु लेन न देन॥ 291॥

शब्दार्थ—लूट=डकैती; यहां लूट का व्यंजनात्मक अर्थ है आनन्द या क्लेश।

भावार्थ—आदमी सोते समय सपने देखता है। उसे उनमें आनन्द भी मिलता है तथा क्लेश भी। परन्तु जब वह जागकर तथा नेत्रों को खोलकर देखता है, तब उसे सपने के सुख-दुख से कोई प्रयोजन नहीं रहता। यही दशा संसार के जीवों की है। वे अज्ञानवश संसार में सुख-दुख के झमेले में पड़े रहते हैं, परन्तु जब वे विवेकज्ञान की आंखें खोलकर देखते हैं, तो उन्हें उनसे कोई प्रयोजन नहीं रह जाता॥ 291॥

व्याख्या—हम रोज रात में सोते हैं। जब तक गाढ़ी नींद नहीं आती तब तक अर्ध-सुषुप्ति रहती है। उसमें हम सपने देखते हैं। सपने में हम मानो भैंसे, हाथी या सिंह से खदेड़े जाते हैं, कहीं मानो शत्रुओं द्वारा सताये जाते हैं। चोर, डाकू, अग्नि, सांप, नदी, वनादि के भय से पीड़ित होते हैं। इसी प्रकार स्वप्न में दरिद्रतादि अनेक दुखों से हम ग्रसित होते हैं। इसके विपरीत कभी हम ऐसे भी सपने देखते हैं कि मानो हमें बहुत बड़ा पद, अधिकार, धन, मित्र एवं सुख की सारी अनुकूलताएं मिल गयी हैं। परन्तु जब नेत्र खुलते हैं, तब वे दोनों झूठे सिद्ध होते हैं।

यही दशा हमारे सांसारिक जीवन एवं सांसारिक उपलब्धियों की है। जिन्हें हम सपना कहते हैं उन्हें हम आंखें मूंदकर सोते समय देखते हैं। परन्तु संसार के सपने हम आंखें खोलकर जागते समय देखते हैं। हमें बहुत सुन्दर एवं बलवान शरीर मिला, बहुत प्राणी, पदार्थ, प्रतिष्ठा, सम्मान आदि मिले; परन्तु ये देखते-देखते खोते चले जाते हैं। इसी प्रकार दुख, अपमान, प्रतिकूलतादि भी अंततः खो जाते हैं। जीवन की शुरुआत के सुख-दुख, दस वर्षों के पूर्व के सुख-दुख, गत वर्ष के सुख-दुख यहां तक अभी बीते हुए कल के सुख-दुख आज कहां हैं! बादल की पुतली, चलती रेलगाड़ी की छाया एवं बिजली की

चमक के समान ये सारी उपलब्धियां हमसे दूर भागी चली जाती हैं। इनमें कहां स्थायित्व है!

संसार के बड़े-बड़े ऐश्वर्यवान राजों-महाराजों पर दृष्टि डालिए, सिकन्दर, अशोक, अकबर ये सब कहां गये।! पुराणों को पढ़िए, महाभारत तथा रामायण को पढ़िए, उनमें वर्णित बड़े-बड़े ऐश्वर्यवान केवल चर्चा के विषय हैं। स्वप्न में आनंद मिला, क्लेश मिला, परन्तु आंखें खुलीं और सब गायब! इसी प्रकार जीवन में उपलब्ध समस्त अनुकूलता-प्रतिकूलता देखते-देखते शून्यता में बदल जाती है। "जीव परा बहु लूट में, ना कछु लेन न देन।" इस पंक्ति में लूट शब्द व्यंजनात्मक है। यह लाभ और हानि दोनों के लिए संकेत करता है, जैसे ये बहुत लूट में पड़े हैं, अर्थात बड़े आनन्द में पड़े हैं या बड़ी परेशानी में पड़े हैं। संसार के सारे हानि-लाभ क्षण-क्षण बीतते जाते हैं और सपने के समान पीछे से वे केवल मन में याद होते हैं, और जब जीवन समाप्त हो जाता है तब तो सब कुछ सुषुप्ति के समान शून्य हो जाता है। फिर उनसे क्या लेना-देना रहता है! यह जीव अनादिकाल से ना मालूम कितने माता-पिता, पत्नी, बच्चे तथा भाई-बन्धुओं का संगम किया है, परन्तु वे सब आज कहां हैं।

बाह्य प्राणी, पदार्थ, शरीर, मन आदि एक भीड़ है जो सपने में मिले हुए के समान है। यह भीड़ थोड़े दिनों में छट जाती है। परन्तु जब हम इन भीड़ों में होते हैं, इन्हें सत्य मान लेते हैं तब इन्हीं में उलझकर राग-द्वेष के शिकार हो जाते हैं। इनमें सत्यता का आभास ही हमें अशांत करता है। यदि हम इन सबकी स्वप्नमयता एवं असत्यता समझ लें तो हमारे मन की पीड़ा समाप्त हो जाये। इस संसार में मेरा कुछ नहीं है, यह बात परम सत्य है। इसे ठीक से समझकर जो अपने मन में इसे बैठा लेता है उसके मन की चिंताग्नि एकदम शांत हो जाती है। आज-कल में अचानक जहां से कुल छोड़कर जाना है वहां के लिए हमें अपने मन में किस वस्तु के लिए पीड़ा करनी चाहिए! अतएव हमें सदैव यह ध्यान में रखना चाहिए "ना कछु लेन न देन।"

विवेक से मोह का नाश

नष्ट का राज है, नफर का बरते तेज।
सारशब्द टकसार है, कोइ हृदया माहिं विवेक॥ 292॥

शब्दार्थ—नफर=नौकर, सेवक, तात्पर्य में मन। तेज=प्रभाव। सारशब्द= निर्णयवचन। टकसार=टकसाल, सिक्कों की ढलाई का स्थान, निर्दोषवस्तु, चोखा, खरा।[1]

---

23. बृहत् हिन्दी कोश।

भावार्थ—हमारा अपना माना हुआ जो कुछ राजकाज है वह सब नाशवान क्षणभंगुर है, परन्तु मन का प्रभाव व्यवहृत होने से इसमें स्थायित्व एवं सत्यता का भ्रम होता है। निर्णय वचन निर्दोष एवं खरे ज्ञान के साधन हैं, जो कोई उन्हें लेकर अपने हृदय में विवेक करेगा, उसका भ्रम मिट जायेगा॥ 292॥

व्याख्या—"नष्ट का राज है" सद्गुरु का यह भारी हथौड़ा हमारे ममतालु मन पर गिरता है। 'राज' कहते हैं अपने शासित देश को और शासन, अधिकारकाल या अधिकार को। जो कुछ हमारा अपना माना हुआ है वही मानो अपना राज है। सद्गुरु कहते हैं, लेकिन वह नाशवान है। वह नित्य रहने वाला नहीं है। आप देखते नहीं, जवानी की चमक बिजली के समान बुझ जाती है। जवानी में पति और पत्नी में आकर्षण रहता है, कुछ दिनों के बाद वे एक दूसरे को प्रेम से देखना भी नहीं चाहते। परिपक्वास्था में घर-परिवार पर जो अपना दबदबा एवं शासन रहता है, बुढ़ापे में कपूर की तरह उड़ जाता है। जनतंत्र के राज-मंत्रियों के उनके अपने शासन-काल बीतने पर जैसे उनकी दयनीय दशा होती है, वैसे ही संसार के सारे सुख संयोग के बाद मनुष्य की दशा होती है। घर-धन, परिवार, पद, प्रतिष्ठा, पूज्यता अंततः जीव के साथ क्या रह जाता है! जब शरीर ही साथ नहीं रह जाता, तब अन्य किसका साथ रह सकता है! इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि तुम्हारा अपना माना हुआ राज्य नष्ट का है। जो कुछ तूने आज तक अपना मान रखा है वह कुछ भी तेरे साथ न रहेगा।

प्रश्न होता है कि यह सारी माया असत्य होते हुए सत्य क्यों प्रतीत होती है? सद्गुरु उत्तर देते हैं "नफर का बरते तेज"। नफर का तेज बरत रहा है, इसलिए। नफर अरबी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ होता है नौकर, सेवक, मजदूर आदि। यह मन जीव का नौकर है, परन्तु इसने उसके ऊपर अपना दबदबा कायम कर रखा है। जैसे किसी राज्य में राजा का शासन न चलकर नौकर का ही शासन चले, वैसे जीव के राज्य में जीव का शासन न चलकर मन-नौकर का शासन चल रहा है। "नफर का बरते तेज" नौकर-मन का तेज एवं प्रभाव बरत रहा है। इसका तात्पर्य यह है कि मन ने सारी वस्तुओं को सत्यवत मानकर सब में अहंता-ममता कर रखी है। अज्ञानवश सांसारिक प्राणी-पदार्थों में अहंता-ममता करने से वे सब सत्य लगते हैं। इसलिए हम उनके पीछे पागल बने भटकते हैं और उनके लिए कर्तव्य-अकर्तव्य सब कुछ करते हैं। यह नष्ट का राज, यह नाशवान पसारा सत्य इसलिए लगता है कि इसे मन ने मान रखा है। बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू जैसी गंदी चीजें भी इसलिए अच्छी लगती हैं कि उनमें मन ने सुख मान रखा है। शराब पीकर नाली में गिरना क्यों अच्छा लगता है, क्योंकि मन ने उसे मान रखा है। जिसमें चंचलता, अशांति, मलिनता, क्षीणता और परवशता का अनन्त दुख है, ऐसे मलिन काम-भोग में

आदमी क्यों रमता है, क्योंकि मन ने उसमें सुख मान रखा है। अपने घर की रूपवती एवं शीलवती पत्नी को छोड़कर कहीं बाहर की एक कुरूपा तथा कुलक्षणी स्त्री में आदमी क्यों फंस जाता है, क्योंकि उसका मन उसे मान लेता है। अतएव यह क्षणभंगुर तथा घृणित भौतिक जीवन एवं संसार का पसारा इसीलिए सत्यवत एवं सुखप्रद लगता है, क्योंकि हमारे मन की मान्यता ही ऐसी उलटी बन गयी है।

प्रश्न होता है कि इस मन का प्रभाव हटकर जीव की स्वरूपस्थिति कैसे होगी? सद्गुरु उत्तर देते हैं "सार शब्द टकसार है, कोई हृदया माहिं विवेक।" सच्चे ज्ञान के लिए सारशब्द ही साधन है। सारशब्द कहते हैं निर्णयवचन को। श्री रामरहस साहेब ने कहा है "सारशब्द निर्णय को नामा।" निर्णय वचन ही सारशब्द है। दो-दो चार निर्णय वचन है। जो जैसा है उसको वैसा कहना ही निर्णयवचन है। सद्गुरु कहते हैं कि निर्णयवचन ही टकसाल है। टकसाल का अर्थ है प्रामाणिक, निर्दोष, खरा। एक छोटे कागज का कोई मूल्य नहीं, परन्तु टकसाल की छाप लग जाये तो वह रुपया बन जाता है। टकसाल प्रामाणिक है। इसी प्रकार निर्णय वचन प्रामाणिक होता है। जब निष्पक्ष, निर्दोष, निर्णयवचन मिलता है तब किसी-किसी मनुष्य के हृदय में विवेक जग जाता है और वह संसार की माया को तृणवत समझकर उसके मोह से ऊपर उठ जाता है और इसी जीवन में निजस्वरूप में स्थित होकर कृतार्थ हो जाता है।

सद्गुरु कहते हैं "कोई हृदया माहिं विवेक"। निर्णय वचन पाकर कोई व्यक्ति हृदय में विवेक करता है। आप देखते नहीं कि हजारों लोग सत्योपदेश सुनते हैं, परन्तु उनमें सब कहां जग पाते हैं! कोई बिरला जगता है, वही जगता है जिसके हृदय में विवेक हो जाता है। कितने लोग तो निर्णय वचन सुनकर क्षुब्ध हो जाते हैं। उनको विवेक जगना तो दूर उलटे वे वक्ता के प्रति ही द्वेष बना लेते हैं। प्राय: श्रोता वही सुनना चाहते हैं जैसे उन्होंने अपने मन में मान्यता बना रखी है, अथवा जो उनकी परम्परा में मान्य है। जो बात उन्हें नयी लगती है उसे वे सुनना ही नहीं चाहते। जो सुनने मे ही अनुदार है उसे विवेक कैसे जगेगा। सद्गुरु ने तो कहा है "सुनिये सबकी, निबेरिये अपनी" अर्थात सबकी बातें सुनो, परन्तु उनका अपने विवेक से निर्णय करो। वही संसार की मोह-नींद से जगता है जिसके हृदय में विवेक का उदय हो जाता है। विवेक एक्सरे-मशीन है। एक्सरे-मशीन वस्त्र और चाम को हटाकर भीतर की हड्डी का चित्र लेती है, इसी प्रकार विवेक किसी वस्तु के भीतर घुसकर उसकी वास्तविकता को देखता है। वह शरीर के ऊपरी सौन्दर्य के भीतर उसकी गंदगी एवं निस्सारता को, संयोग में वियोग को, अनुकूलता में प्रतिकूलता को, उन्नति में पतन को तथा जीवन में मरण को देखता है। विवेक किसी वस्तु या घटना की अन्तिम परिणति

को देखता है। अतः जिसके हृदय में निरंतर विवेक जाग्रत रहता है, वह मोह में नहीं सोता। विवेक वह प्रकाश है जिसमें अंधकार टिक नहीं सकता। विवेक अपनी आत्मा को सारे जड़दृश्यों से अलग कर लेता है। कबीर देव ने इस ग्रंथ में विवेक को बारम्बार प्रधानता दी है। "कहहिं कबीर ते बाँचि हैं, जाके हृदय विवेक।"

सारे नाते जीव के रहते तक हैं

जब लग बोला तब लग ढोला, तौ लौं धन ब्यौहार।
ढोला फूटा बोला गया, कोइ न झाँके द्वार॥ 293॥

शब्दार्थ—बोला=बोलता चेतन। ढोला=शरीर। द्वार=मुख।

भावार्थ—जब तक इस शरीर में बोलता चेतन निवास करता है, तब तक यह ढोलक बजती है और तब तक ही संग्रहीत धन का व्यवहार होता है। जैसे ही बोलता चेतन इससे निकल जाता है, यह शरीर-ढोलक फूट जाती है, फिर तो कोई इसका मुख भी नहीं देखना चाहता॥ 293॥

व्याख्या—यहां ढोला का अर्थ शरीररूपी ढोलक से है। सद्गुरु कहते हैं कि यह शरीर-ढोल तब तक बजता है जब तक इसका बजाने वाले बोलता चेतन जीव इसमें रहता है। जीव के निकल जाने पर यह ढोल बेकार हो जाता है। संसार के साधारण लोग भी यह जानते हैं कि जीव देह से अलग वस्तु है। इसी से उसके न रहने पर शरीर की गतिविधि समाप्त हो जाती है। अतएव जब तक बोलता चेतन इस शरीर में रहता है तब तक यह कायम रहता है और तब तक ही संग्रहीत धन का उपयोग होता है। लोग इस जीवन की क्षणभंगुरता को नहीं समझ पाते, अतः वे न्याय-अन्याय की परवाह छोड़कर धन का संग्रह करते हैं। वे धन को इतनी प्रमुखता देते हैं कि मन की पवित्रता एवं शांति के विषय में सोचना ही छोड़ देते हैं। ऐसी दशा में कुछ लोगों के पास धन तो अवश्य बढ़ जाता है, परन्तु उनका मन मलिन, चंचल एवं दुखी हो जाता है। सद्गुरु कहते हैं कि हे पागल मानव! धन का व्यवहार शरीर तक है और शरीर क्षणभंगुर है। तू इसके लिए पाप मत कर! जीवन का गुजर तो थोड़े धन में ही हो जाता है, तू ज्यादा धन की लालसा करके पाप मत कर! "आधी और रूखी भली, सारी सोग संताप। जो चाहेगा चूपड़ी, बहुत करेगा पाप।[1] अर्थात सद्गुरु कहते हैं—"आधी और सूखी रोटी अच्छी है, पेटभर खाने की इच्छा होना तो शोक-संताप को निमंत्रण देना है, और यदि तू घी से चुपड़ी हुई रोटी चाहेगा तो बहुत पाप करेगा।" इसका मतलब यह नहीं है कि आधा पेट खाना ही अच्छा है और घी खाना पाप है। मतलब है कि थोड़े पदार्थों में गुजर करना अच्छा है

24. साखी ग्रन्थ।

ज्यादा की लालसा दुखदायी है और यदि तुम बहुत ऐश्वर्य इकट्ठा करके भोग भोगना चाहोगे तो बहुत पाप करोगे। यह परम सत्य है कि ऐश्वर्य भोगने की लालसा वाला गलत काम करता है। मूल आवश्यकता से अधिक धन संग्रह ही होता है बहुतों का अधिकार छीनकर!

"ढोला फूटा बोला गया, कोई न झाँके द्वार।" जहां जीव ने शरीर छोड़ा, यह बेकार हो जाता है। जब तक जीव शरीर में रहता है तब तक यह माता-पिता, गुरु, पुत्र, पुत्री, पति, भाई आदि के रूप में प्रिय करके माना जाता है और जब जीव देह से निकल जाता है तब देह को कोई माता-पिता, भाई-बंधु आदि नहीं कहता। तब लोग इसे कहते हैं कि भैया, मिट्टी पड़ी है। अब इसका अंत्येष्टि-संस्कार कर देना चाहिए, ज्यादा समय तक घर में मिट्टी पड़ी रहने देना अच्छा नहीं है, क्योंकि यह सड़ेगी, बदबू देगी। मृत शरीर का कोई मुख देखना नहीं चाहता, क्योंकि वह कुरूप एवं बुरा लगता है। यदि रात भर किसी लाश को रखना पड़े तो कई लोग भाला-बल्लम एवं छूरी-कटारी लेकर उसे रखाते हैं। लोगों को भय रहता है कि कहीं वह प्रेत बनकर और उठकर चढ़ न बैठे। जिसे हम प्यार से अपने सीने से चिपका लेते थे, उससे ही जीव निकल जाने पर दूर से ही डरते हैं, घिनाते हैं और उसके सामने नहीं जाना चाहते। अन्त में जिस देह की ऐसी दयनीयदशा हो जाती है, उसका अहंकार करना कितना अविवेक है! शरीर का सही उपयोग तो पर-सेवा तथा स्वयं के संयम में है। जो व्यक्ति इस शरीर से दूसरे की सेवा और अपने मन-इन्द्रियों का संयम कर लेता है उसी का शरीर सार्थक है; अन्यथा यह अन्त में मिट्टी है। अत: मनुष्य को चाहिए कि उसे धन, दौलत, शरीर, जो कुछ मिला है उससे दूसरे की सेवा कर ले और अपनी आत्मा को सारे बन्धनों से छुड़ा ले। इसी में उसके जीवन की सार्थकता है।

विवेकवान ही उपासनीय है

कर बन्दगी विवेक की, भेष धरे सब कोय।
सो बन्दगी बहि जान दे, जहाँ शब्द विवेक न होय॥ 294॥

शब्दार्थ—बन्दगी=सेवा, चाकरी, वंदना, आराधना, नमस्कार, प्रणाम।

भावार्थ—विवेकसम्पन्न संतपुरुष की सेवा, आराधना एवं उपासना करो, साधु-वेष साधु-असाधु सब कोई धर सकता है। जो सारासार शब्दों का विवेक नहीं करता, उसकी सेवा-उपासना करने के चक्कर में मत पड़ो॥ 294॥

व्याख्या—कबीर साहेब केवल श्रद्धावादी नहीं हैं और केवल बुद्धिवादी भी नहीं हैं। वे श्रद्धा और बुद्धि से समन्वित विवेक-पथ के पथिक हैं। वे साधु को श्रद्धेय मानते हैं, परन्तु विवेक की आंखें खोलकर। वे कहते हैं कि साधु-वेष तो कोई भी धर लेता है। क्या लगता है कपड़ा बदलने में! इसलिए केवल वेष

देखकर मत भूलो, किन्तु जिसमें विवेकज्ञान हो और जो विवेकपूर्वक दिव्य रहनी में रहता हो, उसकी बन्दगी करो। यहां बन्दगी का अर्थ केवल दंडवत, नमस्कार आदि शिष्टाचार का पालन मात्र नहीं, किन्तु सेवा, आराधना एवं उपासना है। शिष्टाचार पालन के लिए तो किसी के भी बंदगी, दंडवत एवं नमस्कार आदि कर लिये जा सकते हैं। वेष मात्र देखकर भी हाथ जोड़ लेना बुरा नहीं है। "कर बन्दगी विवेक की" इस वाक्यांश का अर्थ है विवेकसंपन्न संत की सेवा करो। उन्हीं की आराधना एवं उपासना करो। उन्हीं से तुम्हें सत्प्रेरणा मिलेगी। सद्गुरु ने इस ग्रंथ में अन्यत्र भी कहा है—

पूरा साहेब सेइये, सब विधि पूरा होय।
ओछे से नेह लगाय के, मूलहु आवै खोय॥ साखी 309॥
तेहि साहेब के लागहु साथा। दुई दुख मेटि के होहु सनाथा॥ रमैनी 75॥
जहाँ धीर गम्भीर अति निश्चल, तहाँ उठि मिलहु कबीरा॥ शब्द 29॥

"सो बन्दगी बहि जान दे, जहाँ शब्द विवेक न होय।" जिस साधु-वेषधारी या मनुष्य में सारासार शब्दों का विवेक नहीं है, जिसे कारण-कार्य-व्यवस्था की पहचान नहीं है, जिसे विश्व के शाश्वत नियमों की परख नहीं है, जो धर्म के नाम पर चलने वाली सभी बातों को आंखें मूंदकर मानने का आदी है, ऐसे पारखहीन एवं विवेकहीन की सेवा-उपासना करने से कैसे सच्चा बोध मिलेगा! अतएव ऐसे लोगों से सावधान रहना चाहिए।

कर्म-फल-भोग सबको होता है

सुर नर मुनि औ देवता, सात द्वीप नौ खण्ड।
कहहिं कबीर सब भोगिया, देह धरे को दण्ड॥ 295॥

शब्दार्थ—दण्ड=कर्म-फल-भोग।

भावार्थ—कबीर साहेब कहते हैं कि सुर, नर, मुनि और देवता तथा नौ खण्डों से युक्त सप्तद्वीपवती पृथ्वी पर रहने वाले समस्त देहधारी अपने कर्मों के फल अवश्यमेव भोगते हैं॥ 295॥

व्याख्या—कबीर साहेब यथार्थवादी संत हैं। उनकी दृष्टि में भावना का उपयोग विवेकपूर्वक ही होना चाहिए। जो दशा जहां नहीं है उसे वहां आरोपित कर अपने आप तथा समाज को धोखे में रखना विवेक-विरुद्ध बात है, अतः ऐसा करने से मानव का अकल्याण है। संसार में भ्रम फैला है कि ऋषि-मुनि अजर-अमर हैं या उन्हें कोई शारीरिक कष्ट नहीं होता। वे जब जहां चाहें तब वहां प्रकट होकर अपना प्रभाव दिखा सकते हैं। देवता लोग तो उनसे भी बलवान, कालजयी, अजर-अमर, सब जगह आने-जाने वाले तथा कर्म-फल भोग से रहित होते हैं।

कबीर देव कहते हैं कि सुर, नर, मुनि, देवता ये सब केवल नाम हैं। ये सब मनुष्य हैं। ये सब देह धरते हैं, अपने किये हुए कर्मों के फल भोगते हैं और अंततः कुछ दिनों में शरीर छोड़ देते हैं। ये सब अदृश्य होकर तुम्हारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं डाल सकते। जैसे तुम अपने कर्म-फल-भोक्ता हो वैसे ये भी कर्म-फल-भोक्ता हैं।

कर्म-फल भोग सबके लिए अकाट्य है। इसीलिए अपने कर्मों का सुधार करना मानव मात्र का कर्तव्य है। किसी देवी-देवता के सहारे बैठे रहना भूल है। इसके विषय में 'आपन कर्म न मेटो जाई' इस 110वें शब्द का मनन करना चाहिए।

मन की स्ववशता ही परमसुख है

जब लग दिल पर दिल नहीं, तब लग सुख नाहिं।
चारिउ युगन पुकारिया, सो संशय दिल माहिं॥ 296॥

शब्दार्थ—दिल पर दिल= मन की स्ववशता। सब सुख= शांति-सुख।

भावार्थ—जब तक मन अपने वश में नहीं होता, तब तक शांति-सुख नहीं मिलता और मन इसलिए वश में नहीं होता क्योंकि युगानुयुग से चली आती हुई जो नाना प्रकार की बातें सुन रखी हैं उनके संशय मन में बने हुए हैं॥ 296॥

व्याख्या—"जब लग दिल पर दिल नहीं, जब लग सब सुख नाहिं।" यह बड़ी महत्त्वपूर्ण पंक्ति है। इस पंक्ति में 'दिल पर दिल' तथा 'सब सुख' जान है। दिल पर दिल होना बहुत बड़ी बात है। हमारा दिल बाहर न भटके, किन्तु अपने आप में ही रहे, यही तो जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि है। सुन्दर शरीर मिला, अनुकूल परिवार मिला, उच्च पद मिला, बेशुमार प्रतिष्ठा मिली तथा संसार की और सारी चीजें मिलीं, परन्तु दिल पर दिल नहीं रहा, दिल चारों तरफ भटकता रहा तो क्या मिला! संसार की कोई उपलब्धि न हो, किन्तु दिल पर दिल हो, तो क्या पाना बाकी रहा!

मन में कुछ पाने की लालसा न हो, कुछ करने, कुछ भोगने एवं कुछ देखने की इच्छा न हो, सारी इच्छाएं बुझ जायें और मन उद्वेगरहित शांत हो जाये, यही दिल पर दिल का होना है। स्ववश मन वाला सब समय उद्वेगरहित होता है। उसके सामने चाहे जैसी उथल-पुथल आये, परन्तु वह सब समय शांत होता है। संसार में हमें जो कुछ उपलब्ध है वह सब नाशवान है, ऐसा समझकर वह पुरुष सब समय निश्चिंत रहता है।

सद्‌गुरु ने इस ग्रन्थ में कई जगह 'सब सुख' तथा 'सब दुख' कहा है।

जैसे—"करहु विचार जो 'सब दुख' जाई।"[1] तथा "मुझ ही ऐसा होय रहो, 'सब सुख' तेरे पास।"[2] सब दुख है मानसिक उलझन और सब सुख है मानसिक शांति। सब जीव सुख चाहते हैं और शांति के बिना सुख नहीं मिलता। जब आदमी को उत्तम-उत्तम व्यंजन मिलते हैं तब उसे खाने का सुख मिलता है, इसी प्रकार पहनने का सुख, सवारी का सुख, पुत्रादि का सुख, परन्तु यदि मन शांत न हो तो वे सारे निरर्थक लगते हैं। दुनिया की सारी चीजों से संपन्न मनुष्य मन की शांति के बिना घोर दुखी रहता है। इसलिए मन की पूर्ण शांति ही सब सुख है, और यह तभी मिलता है जब मन स्ववश हो। दिल पर दिल रहने से ही सब सुख मिलता है।

सद्गुरु कहते हैं कि इसमें रोड़े हैं पुराने संस्कार। "चारिउ युगन पुकारिया, सो संशय दिल माहिं।" यहां चारों युगन का अभिप्राय है बीते हुए सभी समय से। अनादिकाल से नाना लोगों ने नाना प्रकार की बातें कहीं हैं वह सब सुन-सुनकर मनुष्य का मन संशयग्रसित बना रहता है। जो पांचों विषयों की आसक्ति है वह तो है ही, मनुष्य की अपनी आत्मा से अलग उसका लक्ष्य बताना यह काफी भटकाव का कारण बना हुआ है। पुराकाल से नाना ग्रन्थों में नाना लोगों ने ऐसी-ऐसी बातें लिख रखी हैं जिन्हें पढ़-सुनकर मनुष्य का मन विचलित होता रहता है। जिससे उसे न स्वरूप का ठीक से ज्ञान होता है न स्वरूपस्थिति। नाना ग्रंथों में ऐसी बातें बतायी गयी हैं कि मनुष्य का अपना लक्ष्य मोक्ष या परमात्मा उससे अलग कहीं दूर है। इसका परिणाम यह हुआ है कि धर्मक्षेत्र के अधिकतम लोग अपना लक्ष्य बाहर खोजते और भटकते हैं। परन्तु अपनी आत्मा को छोड़कर बाहर भटकने वाले को कभी शांति नहीं मिल सकती।

तुम शरीर नहीं जीव एवं चेतन हो

यन्त्र बजावत हौं सुना, टूटि गया सब तार।
यन्त्र बिचारा क्या करे, जब गया बजावनहार॥ 297॥

शब्दार्थ—यन्त्र=बाजा, शरीर। हौं=मैं। तार=नाड़ियां, मुख्यतः इडा, पिंगला तथा सुषुम्णा। बजावनहार=चेतन जीव।

भावार्थ—मैंने बजाने वाले द्वारा बाजा बजाते सुना, परन्तु एक दिन बाजा के सारे तार टूट गये और बजाने वाला चला गया, तो जड़ बाजा बेचारा क्या करे! अर्थात जीव देह का संचालन करता है, परन्तु जब इसकी नाड़ियां रुक जाती हैं और जीव देह को छोड़ देता है, तब शरीर निरर्थक हो जाता है॥ 297॥

व्याख्या—जीव और देह का भिन्न ज्ञान वास्तविकता का बोध है। जिन

25. रमैनी 23।
26. साखी 298।

तत्त्वों से शरीर बना है वे निरे जड़ हैं। उन्हें हम चाहे मिट्टी, पानी, आग, हवा नामों से कहें या ऑक्सीजन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, फासफोरस, रेडियम आदि नामों से कहें। वैज्ञानिकों ने भी पूर्ण अनुसंधान के बाद यह घोषणा की है कि जड़ तत्त्वों में चेतना-गुण नहीं है। प्रश्न होता है कि जब जड़ तत्त्वों में चेतना-गुण नहीं है तब शरीरधारियों में जो चेतना विद्यमान है वह किसका गुण है! इसका उत्तर विज्ञान के पास नहीं है। इसका उत्तर है अध्यात्म के पास। वस्तुतः चेतना एक स्वतन्त्र गुण है जिसके लिए एक स्वतंत्र द्रव्य चाहिए। क्योंकि बिना द्रव्य के गुण नहीं रहता। अतएव जीव ही वह द्रव्य है जिसका गुण चेतना है। जीव जड़ तत्त्वों से सर्वथा पृथक अनादि और नित्य वस्तु है। जीव असंख्य हैं, एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं, परन्तु उन सभी का गुण एक चेतना एवं ज्ञान है। जो सब शरीरों में मैं-मैं कहता है या मानवेतर प्राणियों में न कहते हुए भी अपने 'मैंपन' का बोध करता है, वही जीव है। हर व्यक्ति का अपना वास्तविक स्वरूप जीव है। जीव ही इस शरीर-यन्त्र को बजाता है। वही हर इन्द्रिय का संचालन करता है। शरीर में हजारों नाड़ियां हैं, परन्तु मुख्य हैं इडा, पिंगला तथा सुषुण्णा। इनके टूट जाने पर जीव शरीर छोड़ देता है। अथवा जब जीव शरीर छोड़ने लगता है तब शरीर के सारे नाड़ीरूपी तार टूटने लगते हैं। जब जीव शरीर छोड़कर चल देता है, तब शरीर निरर्थक हो जाता है। जीव के बिना शरीर बेचारा क्या कर सकता है! "यन्त्र बिचारा क्या करे, जब गया बजावनहार।" इस पंक्ति में यन्त्र के बेचारा विशेषण में असमर्थता की व्यंजना है। जब जीव शरीर छोड़ देता है तब शरीर बेचारा क्या कर सकता है!

लोग अज्ञानवश देहाभिमान करते हैं और अपने चेतनस्वरूप जीव को भूलकर जड़ देह ही को सब कुछ मानते हैं। परन्तु जब जीव निकल जाता है एवं मैंपन का बोध करने वाला चेतन-तत्त्व शरीर छोड़ देता है तब शरीर घंटों में दुर्गंध देने लगता है। विचार करके देखिये, शरीर तो पूरा बना है। उसकी सारी इन्द्रियां बनी हैं, फिर वह क्यों सड़ रहा है? बात साफ है, उसमें एक ही परमतत्त्व जीव नहीं रह गया है। जीव के निकल जाने से शरीर अमंगल हो गया है। सारी चेतना, मैंपन, स्वच्छता एवं मंगलमयता जीव में ही निहित है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह शरीर के अभिमान को छोड़कर अपने चेतनस्वरूप में स्थित हो। जीव व्यक्ति का मूल स्वरूप है। उसका गुण ज्ञान एवं चेतना है। वह अपना स्वरूप होने से आत्मा है। आत्मा का अर्थ ही होता है अपना। जब आत्मा मल, विक्षेप तथा आवरणों से मुक्त हो जाती है तब उसी को कहते हैं परमात्मा। वह सर्वश्रेष्ठ होने से उसे ही कह सकते हैं ब्रह्म। वह स्वयं अपना स्वामी है इसलिए उसे ईश्वर कहा जा सकता है। इस प्रकार यह जीव ही चेतन है, आत्मा है, परमात्मा है, ब्रह्म है तथा ईश्वर है। इसके अलावा सब जड़तत्त्वों

का पसारा है या मानसिक कल्पनाएं हैं। सारी मानसिक कल्पनाओं का जनक जीव ही है। इस संसार में जीव ही सर्वोच्च सत्ता है।

इस साखी को इस ढंग से भी समझा जा सकता है कि योगी लोग कान बंदकर शरीर रूप यन्त्र को बजाते हैं, अर्थात दस अनाहतनाद सुनते हैं और उसी को सारशब्द या ब्रह्मध्वनि मानकर उसी में अपनी स्थिति समझते हैं। परन्तु सद्गुरु कहते हैं कि जब एक दिन शरीर के सारे तार टूट जायेंगे तथा इडा, पिंगला और सुषुम्णा नाड़ियां समाप्त हो जायेंगी और जीव शरीर को छोड़कर चल देगा, तब दस अनाहतनाद कहां रह जायेंगे! यह सब देह के कार्य देह के साथ नष्ट हो जायेंगे। इसलिए इन नाशवान पदार्थों में न रमकर अपने अविनाशी चेतनस्वरूप में स्थित होना चाहिए।

निष्कामदशा ही गुरुत्व एवं कल्याण है

जो तू चाहै मूझको, छाँड़ सकल की आस।
मुझ ही ऐसा होय रहो, सब सुख तेरे पास॥ 298॥

शब्दार्थ—सब सुख= निर्वासनाजनित जीवन्मुक्ति सुख, अनंत शांति।

भावार्थ—यदि तुम मुझे चाहते हो तो दूसरे सब की आशा छोड़ दो और मेरे समान ही सब तरह से निष्काम हो जाओ, बस सब सुख तुम्हारे पास है॥ 298॥

व्याख्या—कबीर साहेब यथार्थवादी हैं। वे किसी को झूठा आश्वासन नहीं देते। उनकी बातें महंगी लग सकती हैं, परन्तु कल्याण भी उन्हीं से है। मानो किसी मुमुक्षु साधक एवं भक्त ने कबीर साहेब से कहा हो कि मैं आपको चाहता हूं, आपके साथ रहना चाहता हूं और आपसे मिल जाना चाहता हूं। तो मानो कबीर साहेब ने उसे समझाया हो कि यदि तुम मुझे चाहते हो तो दूसरे सबकी आशा छोड़ दो और मेरे समान निष्काम हो जाओ, बस, सब सुख तुम्हारे पास होगा। कबीर साहेब यह नहीं कहते कि तुम मेरी शरण में आ जाओ, और बस मुक्त हो जाओगे या मेरा नाम जपो और मुक्त हो जाओगे। वे भावुकता में महिमा बढ़ाकर लोगों को भुलावे में डालना नहीं जानते बल्कि सारे भुलावे को छिलके की तरह उतारकर फेंक देते हैं।

कबीर साहेब कहते हैं कि शिष्य को गुरु में मिलकर मुक्त होना नहीं है। वे कहते हैं कि हर जीव स्वरूपतः गुरु ही है। जब कोई जीव गुरु की शरण में आता है तब गुरु उसके गुरुत्व को जगाता है गुरु किसी को शिष्य नहीं बनाता, किन्तु गुरु बनाता है। यहां समझने में असावधानी नहीं करना चाहिए। गुरु की शरण में जब कोई जिज्ञासु एवं मुमुक्षु आता है, तब वह स्वयं अपने आप को गुरु का शिष्य मानता है, परन्तु गुरु उसे उसके गुरुत्व एवं महिमामय स्वरूप का

परिचय कराता है। गुरु मुमुक्षु को बताता है कि जो मैं हूं वही तू है। मैंने संसार की सारी आशाएं एवं कामनाएं छोड़ दी हैं, इसलिए मैं पूर्ण सुखी हो गया हूं। तू भी मेरे समान संसार की सारी आशाएं एवं कामनाएं छोड़ दे और तू भी पूर्ण सुखी हो जा। यदि चाहे कि यह सब काम गुरुजी ही कर दें, गुरुजी हमारे ऊपर अपना शक्तिपात करके हमें एकदम कागा से हंस बना दें, तो यह तेरा भ्रम है। यह कोई गुरु नहीं कर सकता।

आध्यात्मिक जगत में 'शक्तिपात' का बहुत बड़ा भ्रम है। लोग कहते हैं कि समर्थ गुरु शिष्य पर अपना शक्तिपात करके उसे आनन-फानन में कृतार्थ कर देता है, सारी शक्तियों से संपन्न कर देता है। लोग उदाहरण देते हैं कि श्री रामकृष्ण परमहंस विवेकानन्द पर शक्तिपात कर उनको महान बना दिये थे। यह ठीक है कि योग्य गुरु की प्रेरणा योग्य शिष्य पर ज्यादा कारगर होती है। परन्तु गुरु केवल अपनी तरफ से किसी को बदल नहीं सकता जब तक बदलने वाला स्वयं श्रम न करे। श्री रामकृष्ण परमहंस ने विवेकानन्द को ही क्यों ऐसा किया था। उनके अनेक शिष्य थे। वे उन सब पर शक्तिपात करके सबको विवेकानन्द की तरह महान क्यों नहीं बना दिये! इस धारणा से तो विवेकानन्द का अपना महत्त्व ही समाप्त हो जाता है। उनमें मानो कुछ था ही नहीं है। वस्तुतः विवेकानन्द प्रतिभा के धनी और तेजस्वी आत्मा थे और वे योग्य गुरु पाकर उनकी प्रेरणा से आगे बढ़ गये। बस, इतनी ही बात है। गुरु सभी शिष्यों को समान प्रेरणा देता है, परन्तु जिस शिष्य में जितना बल होता है या कहना चाहिए कि जो जितना गुरु के वचनों पर ध्यान देता है वह उतना ही उससे प्रेरणा लेकर अपनी उन्नति करता है। बिना कुछ किये गुरु द्वारा सब कुछ मिल जाये इस भावना के मूल में या गुरु की मिथ्या महिमा बढ़ाने के मूल में शक्तिपात की बात है। इसके अलावा शक्तिपात-जैसी कोई बात नहीं है।

अतएव सद्‌गुरु कहते हैं कि हे कल्याणार्थी! यदि तू परम शांति, सब सुख, अनंत सुख, आत्यंतिक सुख, परमानन्द तथा परमकल्याण चाहता है तो सबकी आशा छोड़ दे, सबसे निष्काम हो जा, बस तू जो चाहता है वही दशा हो जायेगी। मनुष्य के मन में जो परम सुख की चाहना है वह चाहना छोड़ने से ही पूरी होगी।

किसी प्राणी-पदार्थ में आशाबद्ध होने के समान दुख नहीं है। यह जीव आशाबद्ध होकर अपना मन बाहर लगाये रखता है और उसके परिणाम में क्षण-क्षण अभाव का अनुभव करता है। संसार की समस्त वस्तुएं जीव से सर्वथा पृथक हैं। अतएव जीव का उनसे नित्य सम्बन्ध न होने से उनमें राग या उनकी आशा करने से अभाव का अनुभव होगा ही। यह अभाव का अनुभव पदार्थों के संयोग से नहीं मिट सकता, बल्कि रागजनित पदार्थों के संयोग में वियोगजनित

भय ही अधिक खटकता है। इसलिए बाह्य वस्तुओं से मन हटा लेने से, उनकी आशा-वासना छोड़ देने से अभाव का दुख मिट जाता है। इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य को लेकर सद्‌गुरु ने कहा है कि यदि तुम परम शांति चाहते हो तो सबकी आशा-वासना का त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित होओ।

साधु की वाणी विचारपूर्ण होती है

साधु भया तो क्या भया, बोलै नाहिं बिचार।
हतै पराई आतमा, जीभ बाँधि तरवार॥ 299॥

शब्दार्थ—हतै= मारता है।

भावार्थ—साधु का वेष पहन लेने से क्या होता है यदि विचारपूर्वक नहीं बोलता और अपनी जिह्वा में असत्य एवं कटु वचन की तलवार बांधकर दूसरे की अंतरात्मा को कष्ट देता है॥ 299॥

व्याख्या—कितने लोग साधु का वेष तो पहन लेते हैं, परन्तु अपनी वाणी तक का संयम नहीं कर पाते। वे बिना विचार किये जो कुछ मन में आया धमके सिद्ध रहते हैं। मानव का यह सौभाग्य है कि उसे वाक्य-शक्ति प्राप्त है। अतएव उसे चाहिए कि वह उसका सदुपयोग करे। सदैव सत्य, मीठे और आवश्यक शब्द बोले। यह भी यथार्थ है कि सत्य ज्यादा मीठा नहीं होता, परन्तु जितना संभव हो उसे मीठा बनाने की चेष्टा करनी चाहिए।

सद्‌गुरु ने इस साखी में उस व्यक्ति की साधुता को व्यर्थ बताया है जो विचार करके नहीं बोलता। विचार शब्द बड़ा गंभीर है। केवल मीठे वचन विचारपूर्ण नहीं होते। कितने ही मीठे वचन झूठे होते हैं, केवल दूसरों को व्यर्थ सुख करने के लिए ही नहीं, ठगने के लिए भी होते है। धर्म के नाम पर, भगवान के नाम पर, मोक्ष के नाम पर नाना उपोद्‌घात एवं कहानियां बनाकर मीठे-मीठे वचनों में लोग मिथ्या बातें, भ्रांतिपूर्ण बातें कहते एवं केवल अपनी सनकी भावनाओं का पोषण करते हैं। कितने कथाकार अपने रोचक और मीठे वचनों से सभा को विमोहित करके उन्हें भावविह्वल कर रुला देते हैं, परन्तु देते हैं उन्हें ज्ञान की दिशा में भटकाव। जब तक सत्तर प्रतिशत असत्य न रहे तब तक लोग धार्मिक कथा एवं प्रवचन नहीं मानते। अधिकतम धार्मिक प्रवक्ताओं की वाणियां कारण-कार्य-व्यवस्था से रहित, विश्व के शाश्वत नियमों के विपरीत तथा प्रकृति के गुण-स्वभावों से अलग ही होती हैं। वे सुनने में मीठी होती हैं, परन्तु गुण में अज्ञानवर्द्धक, भटकावपूर्ण एवं उलझाने वाली होती हैं। कुछ साधु एवं गुरु नामधारी जानबूझकर समाज को अपने झूठे और मीठे वचनों में फंसाते हैं और कुछ लोग स्वयं पूरे भटके होते हैं इसलिए वे सच्चे दिल से झूठी धारणाओं को ही सत माने रहते हैं और उसे ही दूसरों के सामने पेश करते हैं।

जो गुरु, साधु एवं पण्डित अपने भोलेपन में असत्य धारणाओं का प्रचार करते हैं वे स्वयं तो किसी हद तक क्षम्य हैं, यद्यपि उपदेश तो उनके भी लोगों के लिए अहितकर ही हैं। किन्तु जो लोग जानबूझकर झूठी धारणाओं का प्रचार करते हैं वे किसी प्रकार भी क्षम्य नहीं हो सकते। उनका प्रचार लोगों को भटकाने वाला तो होगा ही, प्रचार करने वाले का भी घोर पतन होगा। असत्य की तलवार बांधकर वे दूसरे की आत्मा की मानो हत्या करने में लगे हैं।

अतएव साधु का कर्तव्य है कि पोथी, परम्परा, गुरु, जनसमाज, प्राचीनता आदि किसी पक्ष में न पड़कर निष्पक्ष स्वतन्त्र चिन्तनपूर्ण सत्य वचन बोले, सच्चे ज्ञान का प्रकाश करे। वह अपनी वाणी से किसी की आत्मा के बन्धन होने वाले वचन न बोले।

मनुष्य की भूल

हंसा के घट भीतरे, बसै सरोवर खोट।
चलै गाँव जहँवा नहीं, तहाँ उठावन कोट॥ 300॥

शब्दार्थ—हंसा=मनुष्य। घट=अंत:करण। सरोवर=मानंदी एवं मान्यतारूपी जलाशय। खोट=बुराई। कोट=गढ़, किला।

भावार्थ—जैसे मानो हंस के मन में मानसरोवर छोड़कर गंदे तालाब में रहने की वासना हो जाये और वह उसी में रमने लगे, वैसे मनुष्य ने अपने अंत:करण में बुरी मान्यताओं का मैला जलाशय बना लिया है, अर्थात वह अपने मौलिक स्वच्छ विचारों से हटकर गंदे विचारों में रमने लगा है। यह जहां झोपड़ों का गांव नहीं बस सकता वहां किला उठाने चला है, अर्थात असंभव कल्पनाएं करता है॥ 300॥

व्याख्या—मनुष्य मूलत: हंस है। वह सारासार का विवेचन कर सकता है। मनुष्य का मूल स्वरूप शुद्ध चेतन है। चेतन ही उसका अहम है। परन्तु इसने अपने आप को भूलकर मन को सांसारिक विषयों में रमा रखा है। सांसारिक विषयों में रमने के कारण इसने अपने मन में राग, द्वेष, कलह, कल्पना तथा अनेक भास-अध्यास बना रखा है। इसलिए इसका मनरूपी मानसरोवर मैला हो गया है। इसके हृदय में खोटा सरोवर बसने लगा है। सद्गुरु की कैसी अद्भुत उक्ति है। वे कहते हैं कि हंस तो गहरे, स्वच्छ तथा विशाल मानसरोवर में रहता है; परन्तु वह अपने हंसत्व को भूल गया और उसके मन में खोटा सरोवर बसने लगा। इसका मतलब है कि उसके मन में ऐसा अज्ञान बस गया कि मैं मैले सरोवर में रहूं। इसलिए वह गंदे तालाब में रहने लगा। कबीर साहेब ने एक पद में कहा है—"हंसा पायो मानसरोवर, ताल तलैया क्यों डोले।" जब हंस स्वच्छ एवं विशाल मानसरोवर पा जाता है तब

वह ताल-तलैया, गंदे एवं तुच्छ जलाशय में क्यों भटकेगा! परन्तु यहां तो हंस अपने हंसत्व को ही भूल गया है। उसे मानसरोवर की याद ही नहीं रह गयी। उसने तो गंदे गड्ढे को ही अपना निवासस्थल समझ लिया है और उसी मलिनता में रहने लगा है।

इस चेतन हंस की यही दशा हो गयी है। यह अपने शुद्ध स्वरूप को भूल गया है। शील, करुणा, सत्य, क्षमा, अहिंसा, दया, भक्ति, वैराग्य, ज्ञानादि संबलित जो विशाल और स्वच्छ चित्त का जलाशय एवं मानसरोवर है उसे यह भूल गया है, और काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, अहंकार, चिंता, शोक, विकलता आदि कूड़े-कचड़े से भरे तुच्छ एवं गंदे मन के गड्ढे में लोटपोट रहा है। हंस गंदे गड्ढे में रहने को सोचे, यह कितना दुर्भाग्यपूर्ण है। गंदे गड्ढों में तो बगला रहता है। हंस तो मानसरोवर में रहता है। परन्तु जब हंस अपने आपा को ही भूल गया है तब वह अपने निवास को भी भूल गया। जब जीव अपने स्वरूप को भूल गया तब वह अपनी स्वच्छ रहनी एवं उच्च स्थिति को भी भूलकर गंदी चाल में चलने लगा।

"चलै गाँव जहँवा नहीं, तहाँ उठावन कोट।" जहां झोपड़ों का गांव न बन सके, वहां किला उठाने की चेष्टा दुस्साहस मात्र है। इस पंक्ति में असंभव के प्रति व्यंजना है। यह गंदा एवं उलझा मन ही असंभव को संभव बनाने की चेष्टा में लगा रहता है। बूढ़ा जवानी की कल्पना करता है। कुरूप सुरूप की, निर्धन धन की, धनी अधिक धन की कल्पना करता है। अपनी आत्मा से अलग किसी दिव्यधाम तथा पूर्णानन्द भगवान को पाने की कल्पना करता है। इन सबके मूल में है अपने स्वरूप का अज्ञान। जीव अपने पूर्णकाम, पूर्णतृप्त स्वरूप को न समझकर कुछ-का-कुछ सोचता है। वह मन के निराधार किले बनाता है। शेखचिल्ली की कहानियां मन की कल्पनाओं के ही प्रतीक हैं। यह अविवेकी मन जहां गांव भी नहीं, वहां किला एवं राजभवन की कल्पना करता है। यह मन की गंदगी का ही परिणाम है। "जहाँ नहीं तहाँ सब कुछ जानी" मन का अविवेक ही है। जहां अपना कुछ नहीं है वहां वह अपना सब कुछ मान रहा है। इस संसार में अपना क्या है! फिर भी यहां का अहंकार कितना है! वर्तमान में न रहकर भूत-भविष्य की कल्पनाओं एवं भावनाओं में ऊबना-डूबना और अपने सहज चेतनस्वरूप की स्थिति में न रहकर मन के लड्डू खाते रहना, "चलै गाँव जहँवा नहीं, तहाँ उठावन कोट" उक्ति ही चरितार्थ करना है।

मीठे और कटुवचनों का प्रभाव

मधुर वचन है औषधी, कटुक वचन है तीर।
श्रवण द्वार होय संचरे, सालै सकल शरीर॥ 301॥

शब्दार्थ—संचरे= प्रवेश करता है।

भावार्थ—मीठे वचन दुख दूर करने की औषध है; परन्तु तीखे वचन बाण के समान हैं, जो श्रवण-द्वार से प्रवेश करते हैं और सारे शरीर को पीड़ा पहुंचाते हैं॥ 301॥

व्याख्या—मीठे वचन पशु को भी पसन्द होते हैं, फिर मनुष्य के लिए तो कहना ही क्या! टूटा हुआ दिल भी मीठे वचनों से जुड़ जाता है। कड़वा सत्य उत्तम अधिकारी ही ग्रहण करते हैं, किन्तु मीठा सत्य सबके लिए उपादेय होता है। कई परिवार में आपस की फूट का कारण कड़वे वचन होते हैं। यादवों में द्वारका के संसद भवन में बड़े कड़वे वचनों की बौछार होती थी। उसका परिणाम हुआ कि श्रीकृष्ण-जैसे राजनीति-कुशल पुरुष भी यादव-वंश को न सम्हाल सके और उसका पूर्णतया विध्वंस हो गया। देवर्षि नारद ने श्रीकृष्ण[1] को सलाह दी थी कि आप अपने परिवार वालों को वश में करने के लिए अनायस शस्त्र का प्रयोग कीजिये। आयस कहते हैं लोहे को तथा अनायस कहते हैं जो लोहे से न बना हो वह शस्त्र, इसका लाक्षणिक अर्थ है मीठे वचन। घाव लगने पर जैसे उस पर मरहम लगाने से वह अच्छा होता है, वैसे दुखी दिल वाले के लिए मीठे वचन उसके लिए औषध बन जाते हैं। मीठे वचन सबको सुखप्रद लगते हैं।

कटुवचन तीर के समान होते हैं जो कान से प्रवेशकर हृदय में चले जाते हैं और सारे शरीर को पीड़ित करते हैं। अतएव जितना बन सके कटुवचन बोलने से दूर रहना चाहिए। हमें कटुवचन सहना चाहिए। सत्य कटु होता है, परन्तु कल्याण उसी से है। वाणी-सुधार के विषय में 70वीं रमैनी 'बोलना कासो बोलिये रे भाई'' की व्याख्या देखना चाहिए।

हठयोग-समीक्षा

ढाढस देखो मरजीव को, धाय जुरि पैठि पताल।
जीव अटक मानै नहीं, ले गहि निकरा लाल॥ 302॥

शब्दार्थ—ढाढस=ढाड़स, धैर्य। मरजीव=मरजिया, पानी में डूबकर चीजें निकालने वाला, गोताखोर, तात्पर्य में हठयोगी। अटक=रुकावट, अड़चन।

भावार्थ—मरजिया का धैर्य तो देखो! वह दौड़कर समुद्र में घुसा और

27. श्रीकृष्ण को नारद की सलाह का यह प्रसंग पीछे ''हद चले सो मानवा'' 189वीं साखी की व्याख्या में देखें।

तली में पहुंच गया। वह किसी अड़चन की परवाह किये बिना समुद्र से मोती लेकर ही निकला। तात्पर्य है कि हठयोगी लोग जोखिम उठाकर भी हठयोग की साधना करते हैं और उसका अनुभव लेकर निकलते हैं॥ 302॥

व्याख्या—सद्‌गुरु कबीर अपनी बहुत-सी बातें अलंकारों में कहते हैं। यहां अन्योक्ति अलंकार में हठयोगियों के साहस का वर्णन है। यहां योगी के लिए मरजिया शब्द का प्रयोग किया गया है। मरजिया समुद्र की तली में प्रवेशकर मोती या अन्य वस्तुएं निकालता है। मरजिया जीने-मरने की चिंता छोड़कर समुद्र में कूदता है और मोती लेकर ही निकलता है। हठयोगियों की दशा यही है। वे कुण्डलिनी प्रदीप्त करने तथा षटचक्रवेधन आदि के नाम से बहुत अथक प्रयत्न करते हैं और शब्द, ज्योति, शून्य आदि जड़भास को ही अनुभव के मोती मानकर उन्हें लेकर समाधि से निकलते है। "ले गहि निकला लाल" हठयोगियों पर व्यंग्य है। जिसे हठयोगी लाल तथा हीरे के समान बहुमूल्य मानते हैं, उसे कबीर साहेब चुनौती देते हैं कि उसकी परख कर लो। वह तुम्हारे मन का भास-अध्यास है।

कबीर साहेब राजयोग का विषय मानते हैं। अर्थात सारे संकल्पों को छोड़कर स्वस्वरूप चेतन मात्र की स्थितिरूपी योग उनको मान्य है। परन्तु नेती, धोती, कपाली, कुंजल आदि करके, बहुत दिनों तक श्वास साधकर षटचक्र वेधन आदि करना और ज्योति, नाद, बिन्दु, शब्द, शून्य आदि को अनुभवतत्त्व मानकर जड़भास में टिक जाना उचित नहीं समझते। हठयोग में मेहनत बहुत है और लाभ कम है और आगे चलकर तो जड़-भास को ही लक्ष्य मान लेने के कारण केवल हानि ही है। इसमें स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति न होकर योग के नाम पर अंततः जड़ाध्यास ही ग्रहण होता है।

ई जग तो जहँड़े गया, भया योग ना भोग।
तिल झारि कबिरा लिया, तिलैठी झारें लोग॥ 303॥

शब्दार्थ—जहँड़े गया=ठगा गये। तिल=एक प्रसिद्ध तेलहन, तात्पर्य में सार तत्त्व, जीव। तिलैठी=तिल के डंठल, तात्पर्य में शरीर।

भावार्थ—इस संसार के लोग तो माया में ठगा जाते हैं। वे सच्चा योग कर नहीं पाते हैं और भोग नाशवान होने से उनमें सफल हो ही नहीं सकते। सद्‌गुरु कहते हैं कि सावधान लोग तो तिल झाड़ लेते हैं और भोले लोग उसके डंठल को ही महत्त्वपूर्ण मानकर उसी में उलझे रहते हैं, अर्थात विवेकवान निजस्वरूप चेतन की स्थिति करते हैं और विवेकहीन शरीर के भोगों में लगे रहते हैं॥ 303॥

व्याख्या—संसार के लोग धोखे में जीवन गवां देते हैं। वे माया-ठगिनी से ठगा जाते हैं। वे न सच्चा योग करते हैं और न भोग कर पाते हैं। अधिकतम

लोग तो सच्चा या कच्चा किसी प्रकार का भी योग नहीं कर पाते। हठयोग कच्चा योग है और राजयोग अर्थात चित्त का निरोध करके निजस्वरूप की स्थिति सच्चा योग है। वे हर प्रकार से योग से दूर ही रहते हैं। कुछ लोग योग करते भी हैं तो वे दिखावे में पड़कर हठयोग साधने लगते हैं। वे नेती, धोती, कपाली, कुंजल आदि करते हैं। श्वासा की साधना करते हैं। जमीन के भीतर गुफा खोदकर उसमें समाधि लगाते हैं। शहर, मेला, बाजार में समाधि लगाते हैं। यह सब भी प्रकारांतर से माया में उलझने के ही लक्षण हैं। सच्चा योग, जिसके लक्षण हैं चित्तवृत्तियों का निरोध करके स्वरूप चेतन में स्थित होना, अर्थात कुछ भी स्मरण न करना, मात्र स्वरूपस्थ रहना। इससे तो आदमी दूर ही रहते हैं। पहली बात है कि अधिकतम लोगों को इसका ज्ञान ही नहीं है। जो इसे जानते हैं, उनमें भी अधिक लोग कर नहीं पाते। न कर पाने का कारण प्रपंचासक्ति है। इस प्रकार आदमी योग से दूर रहता है।

अब जरा भोग पर विचार कर लें। सद्गुरु कहते हैं कि भोग भी नहीं कर पाते। सद्गुरु ने बारहवें कहरा में कहा है "माया किनहुँ न भोगी हो" अर्थात कोई भी माया का भोग नहीं कर पाता, किन्तु माया द्वारा मनुष्य ही भोग लिया जाता है। भर्तृहरि जी ने कहा है 'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता'। हम भोग को नहीं भोग पाये किन्तु भोगों ने ही हमें भोग लिया। भोग अपूर्ण हैं, नाशवान हैं, जिन प्राणियों से भोगों का सम्पादन होता है वे अपने इच्छानुसार चलने वाले स्वतंत्र हैं, और जिन देह तथा इन्द्रियों से भोग भोगे जाते हैं वे दुर्बल तथा शिथिल होने वाले और क्षणभंगुर हैं। इसलिए इच्छानुसार भोगों का भोगा जाना संभव ही नहीं है। सद्गुरु कहते हैं कि मनुष्य को चाहिए था कि वह योग द्वारा चित्त का निरोधकर अपने स्वरूप में स्थित होता, परन्तु वह भोगों के लोभ में पड़कर यह कर नहीं पाता, और अंततः भोग तो इच्छानुसार भोगा जाना संभव ही नहीं होता। इस प्रकार जीव दोनों तरफ से धोखा खाकर ठगा जाता है। निश्चित को वह स्वयं छोड़ देता है और अनिश्चित तो छुटा-छुटाया ही है।

"तिल झारि कबिरा लिया, तिलैठी झारें लोग।" कबीर साहेब कहते हैं कि समझदार लोग सार-सत्य का ग्रहण करते हैं और बेसमझ लोग असार में पड़े रहते हैं। देहाभिमान छोड़कर अपने चेतनस्वरूप को समझना तथा निजस्वरूप में ही स्थित होना यही सार-सत्य को ग्रहण करना है; भूले जीव स्वरूपज्ञान छोड़कर देहाभिमानी बने इन्द्रिय-भोगों को ही सार समझते हैं। समझदार तिल झाड़ लेते हैं। परन्तु बेसमझ सारहीन डंठल झाड़ते हैं। ज्ञानी आत्म-शोधन और आत्म-स्थिति कर लेते हैं और अज्ञानी देह को ही झाड़ने-पोछने में लगे रहते हैं। ज्ञानी स्वरूपस्थिति का अमृत-रस पीता है और अज्ञानी मलिन विषयों के रस में डूबकर जीवन को व्यर्थ ही नहीं खोता, किन्तु उसे पतित करके अपने

लिए भव-बंधन बना लेता है।

ये मरजीवा अम्मृत पीवा, क्या धँसि मरसि पतार।
गुरु की दया साधु की संगति, निकरि आव यहि द्वार॥ 304॥

शब्दार्थ—अम्मृत=अमृत, अमर स्वरूप का बोध। पतार=पाताल, नाभि या कुंडलिनी, हठयोग की गहराई। यहि द्वार=विवेक-पथ।

भावार्थ—हे हठयोग के गोताखोर! अविनाशी चेतनस्वरूप का बोध प्राप्त कर! तू हठयोग की गहराई में धंसकर एवं कुंडलिनी-प्रदीपन के भ्रम में पड़कर क्या कर रहा है! सद्गुरु के कृपास्वरूप सत्योपदेश और साधु की संगत में लगकर इस विवेक-पथ में निकल आ!॥ 304॥

व्याख्या—हठयोगी लोग अपनी जीभ को उलटाकर उस विकारी जल को पीते हैं जो मूर्द्धा से टपकता है। वे उसे अमृत कहते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि हे हठयोगी, वह विकारी जल अमृत नहीं है। अमृत तो अमर को कहते हैं। मृत में अ उपसर्ग लगाने से अमृत शब्द बनता है जिसका अर्थ होता है चेतन एवं अमर। मृत कहते हैं निर्जीव एवं जड़ को तथा जो मरकर समाप्त हो गया हो, और अमृत कहते हैं जो चेतन एवं अमर हो। अतएव मनुष्य का चेतनस्वरूप ही अमृत है। उसका बोध प्राप्त करना मानो अमृत पीना है। या सारे विचारों तथा संकल्पों को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित होना मानो अमृत पीना है। सद्गुरु कहते हैं कि किसी प्रकार का जड़ाध्यास क्यों अपनाते हो! अमृत पीयो, अविनाशी स्वरूप में स्थित होओ!

कबीर साहेब कहते हैं कि हठयोग की गहराई में धंसकर मत मरो। कुण्डलिनी के भ्रम में मत पड़ो। यह केवल एक शब्दजाल है। यदि आध्यात्मिक ऊंचाई पर चढ़कर जीवन में परम शांति की प्राप्ति अभीष्ट है तो विनम्र होकर सच्चे सद्गुरु की खोज करो और उन्हें पाकर विनम्रतापूर्वक उनकी शरण में जाओ। उनकी सेवा तथा आज्ञा पालन करके उनसे अपने स्वरूप के विषय में सच्ची जानकारी प्राप्त करो। उनका सत्योपदेश ही उनकी तुम्हारे ऊपर दया एवं कृपा है। पूर्ण सद्गुरु के सत्योपदेश तथा साहचर्य जिज्ञासु एवं मुमुक्षु के लिए परम कल्याणकारी हैं। इसके साथ-साथ विवेक-वैराग्यसंपन्न संतों की संगत करो। उनकी संगत से तुम्हें आध्यात्मिक दिशा में बढ़ने के लिए मनोबल मिलेगा।

इस प्रकार सद्गुरु एवं संतों के सत्योपदेश तथा संगत से तुम्हें विवेकबल मिलेगा, फिर तुम इस विवेकद्वार पर निकल आओगे। "गुरु की दया साधु की संगति, निकरि आव यहि द्वार।" यह एक सहज-मार्ग का प्रकाश है। इस पंक्ति में सद्गुरु कबीर के सहज-मार्ग का चित्रण है। वे कहते हैं गुरु के उपदेशों के अनुसार चलो। संतो की संगत से तुम्हारी आध्यात्मिक यात्रा सरल होगी।

तुच्छ वस्तु की चिन्ता क्यों?

केतेहि बुन्द हलफो गये, केते गये बिगोय।
एक बुन्द के कारणे, मानुष काहेक रोय॥ 305॥

शब्दार्थ—हलफो गये=सही हो गये। हलफा=लहर, ऊंची तरंग, तेज सांस।

भावार्थ—वीर्य की कितनी ही बूंदें नारी के गर्भाशय में जाकर सही हो जाती हैं और उनसे गर्भ टिक जाते हैं और कितनी बूंदें यों ही नष्ट हो जाती हैं। तेरे पुत्र का शरीर भी तो तेरे वीर्य की एक बूंद था, फिर हे मनुष्य! उसके मर जाने पर तू क्यों रोता है!॥ 305॥

व्याख्या—मानो किसी व्यक्ति का पुत्र मर गया हो और वह उसके लिए रो-रोकर व्याकुल होता हो। सद्गुरु ने उसकी दशा देखकर उससे उक्त वचन कहे हों। 'हलफ' अरबी भाषा का शब्द है। इसका अर्थ होता है शपथ एवं कसम। सत्य की प्रामाणिकता के लिए शपथ ली जाती है। अतएव हलफ का प्रकारांतर से अर्थ है सत्य एवं सही। सद्गुरु ने उस पुत्र-वियोग से पीड़ित व्यक्ति को संबोधित कर कहा—हे मनुष्य! तेरे वीर्य की एक बूंद सही होकर उससे गर्भ रह गया, बच्चा हो गया, शेष तो अधिकतम बूंदें बेकार ही हो गयीं। तेरे बच्चे का शरीर भी तेरे वीर्य की एक बूंद था। वह यदि नहीं रह गया तो क्यों नहीं समझ लेता कि एक बूंद और मानो निरर्थक हो गयी।

यदि हम हलफो को हलफा पढ़ें तो उसके अर्थ लहर, ऊंची तरंग आदि हैं। इससे अभिप्राय होगा, कि हे मानव! तूने वीर्य कि कितनी ही बूंदें मन की तरंगों में खो दी और कितनी यों ही नष्ट हो गयीं, फिर एक बूंद वीर्य रूपी शरीर के लिए क्या रोता है!

किसी वस्तु के मूल्यांकन के कई दृष्टिकोण होते हैं। एक शरीर के अध्ययन करने के अनेकों पहलू हैं। शरीर के सौन्दर्य का अध्ययन, अंगों का अध्ययन, भौतिक अध्ययन, रासायनिक अध्ययन आदि। विवेकसंपन्न होने से इस शरीर की महत्ता का अध्ययन तथा यह एक बूंद वीर्य का ही तो विस्तार है इस प्रकार विचार कर इसकी तुच्छता का अध्ययन। सभी अध्ययन अपनी-अपनी जगह पर ठीक होते हैं। सारे अध्ययनों की अपनी आवश्यकता है। यहां पुत्र-वियोग में कोई पीड़ित है। उसके मन के मोह को तोड़ने के लिए शरीर की तुच्छता का अध्ययन आवश्यक है। जिस दृष्टिकोण से बात कही गयी है एकदम तथ्य है। यह शरीर क्या है, वीर्य की एक बूंद ही तो! यदि पुत्र मर गया तो क्या हो गया, मानो वीर्य की एक बूंद नष्ट हो गयी। फिर उसके लिए क्या रोना-धोना!

मानो कोई अपने शरीर के निर्वाह के लिए रो रहा है, तो यह भी अविवेक

ही है। क्या वीर्य की इस एक बूंद का निर्वाह नहीं हो जायेगा! हर प्राणी खाते-जीते हैं तो क्या हमारे इस तुच्छ शरीर का निर्वाह नहीं हो जायेगा! संसार के अधिकतम मनुष्य जीवनभर यही सोचते रहते हैं कि गुजर कैसे होगा, लड़की की शादी कैसे होगी, घर कैसे बनेगा, रोग तथा बुढ़ापा में सेवा कौन करेगा इत्यादि। कितने लोग तो इस चिंता में रहते हैं कि मेरे मर जाने के बाद मेरी लाश की अंत्येष्टि कौन करेगा! यह सब केवल पागलपन है। अनादिकाल से जितने प्राणी पैदा हुए हैं उन सबका देह-निर्वाह हुआ है। सभी की लड़कियों की शादी हुई है। सब किसी-न-किसी प्रकार छानी और छत के नीचे वर्षा-गरमी-ठंडी काटते हैं। सबकी रोग लग जाने पर किसी-न-किसी प्रकार औषध हो जाती है। धनी आदमी के जुकाम लगने पर भी पांच हजार रुपये खर्च हो सकते हैं तथा गरीब के बुखार में खरखोदवा दवाई से भी वह दूर हो जाता है। यदि दवा के अभाव में गरीबों को तकलीफ होती है तो कीमती दवा करते-करते भी धनी सड़ते रहते हैं। कौन बूढ़ा दूसरे से सेवा लेने के लिए शताब्दियों बैठा रहता है! सबको सेवा की आवश्यकता भी नहीं पड़ती। कितने लोगों का चलते-फिरते शरीर छूट जाता है। जब जिसको सेवा की आवश्यकता पड़ेगी, उसको सेवा अपने आप मिल जायेगी! मेरे मर जाने पर मेरी लाश कौन उठायेगा, कौन उसकी अंत्येष्टि करेगा, यह तो महा पागलपन है। अरे, जिसे दुर्गन्ध आयेगी वही लाश को उठाकर कहीं ठिकाने लगा देगा। अन्यथा वहीं उसे चील्ह-गिद्ध, सियार-कुत्ते खा लेंगे। मेरा उसमें क्या जायेगा! चिन्ता का मूल ही है अविवेक।

आगि जो लागि समुद्र में, टूटि टूटि खसे झोल।
रोवै कबिरा डाँफिया, मोर हीरा जरे अमोल॥ 306॥

शब्दार्थ—समुद्र=संसार। खसे=गिरना। झोल=राख। डाँफिया=डंफिया, डंफना, जोर से चिल्लाकर एवं फूट-फूटकर रोना, विलाप करना।

भावार्थ—संसार-समुद्र में काल की आग लगी है और प्राणी-पदार्थ जल-जलकर तथा उनकी राख टूट-टूटकर गिरती है और संसार के लोग यह कहकर रोते-पीटते हैं कि मेरे अनमोल हीरे जल रहे हैं, अर्थात मेरे पुत्र, मित्र एवं निकट संबन्धी नहीं रहे॥ 306॥

व्याख्या—उलटवांसी कहने में प्रवीण कबीर पदे-पदे उलटवांसी कहते हैं। वे इस साखी में कहते हैं कि समुद्र में आग लगी है और वहां का सब कुछ जल रहा है। इसलिए सर्वत्र राख टूट-टूटकर गिर रही है। यह संसार मानो समुद्र है। इसमें काल की आग लगी है। हर वस्तु को काल निरन्तर क्षीण कर रहा है। हम जब मकान बनाते हैं और उसे पूरा करके तथा रंग-पोतकर ठीक करते हैं, तब कहते हैं कि यह मकान नया है। परन्तु उस मकान में हर समय परिवर्तन हो रहा है और वह पुराना हो रहा है। संसार के हर भौतिक पदार्थ में

निरन्तर रासायनिक परिवर्तन होता रहता है। अर्थात हर पदार्थ एक अवस्था से दूसरी अवस्था में बदलता रहता है। इसी प्रकार प्राणियों के शरीरों की बात है। प्राणियों के शरीर हर समय बदलते हैं। आदमी समझता है कि मेरा बच्चा बड़ा हो रहा है। परन्तु वास्तविकता यह है कि वह क्षण-क्षण घट रहा है।

जैसे मकान, लकड़ी, पुवाल आदि में अब आग लगती है तब उनके जलने पर उनमें से राख टूट-टूटकर गिरती है, वैसे प्राणियों के शरीरों की दशा है। वे मानो काल की आग में निरन्तर जलते हैं और क्षीण हाते हैं। एक दिन प्राण निकल जाने पर उनके शरीर आग में जल जाते हैं। आदमी स्वजनों के मरने पर फूट-फूटकर रोता है। वह कहता है कि मेरा हीरा पुत्र नहीं रहा, मेरा मित्र, मेरी पत्नी, मेरे प्यारे स्वजन नहीं रहे। विवेकहीन मनुष्य इन सपनों में मिले हुए प्राणी-पदार्थों के वियोग को लेकर विकल होता है, विलाप करता है और उनके शोक में जलता है। हम विचारकर देखें कि यहां कौन किसका है! माता, पिता, पुत्र, पत्नी, मित्र, गुरु, शिष्य आदि सब इकट्ठे हो जाते हैं तो लगता है कि यह सब सत्य है, यह सब इसी प्रकार नित्य बना रहेगा। परन्तु इनके बिगड़ने में देरी नहीं लगती। हम जिसको बड़े प्यार से हृदय से लगाते थे वह क्षण ही में हमसे सदा के लिए विदा हो जाता है। "दिल में जो दिल बनके धड़के, गये तो न देखा जरा मुड़के।" आश्रयदाता श्रद्धेय पिता बिस्तर पर लेटे ही थे कि एक हुचकी आयी और संसार से विदा हो गये। पुत्र सड़क के एक्सीडेंट में क्षण ही में नहीं रहा। पत्नी रेलवे लाइन पार कर रही थी कि गाड़ी आ गयी और उसने ऐसा रौंद दिया कि वह पहचानी न जा सकी। हमारे माने हुए साथी एक-एक कर उठ जाते हैं और हम अकेले रह जाते हैं। एक दिन हम भी स्वजनों को रोते-पीटते छोड़कर बेदर्द की तरह यहां से चले जाते हैं।

यह संसार एक सरायखाना है, पथशाला है। यहां कोई रुक नहीं सकता। यहां रुकने का नियम ही नहीं है। फिर कोई चला गया तो डंफना क्यों! रोना-धोना क्यों! यह तो केवल अविवेक है। प्रकृति के नियम को कौन नहीं जानता कि शरीरधारी को शरीर छोड़ना है। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद सबने शरीर छोड़ा है। हमारे माने गये स्वजन कब तक बैठे रहेंगे।! अतएव इस संसार में मोह-शोक से रहित होकर जीना ही समझदारी का काम है।

इस साखी को इस प्रकार भी समझा जा सकता है—संसार में काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं अज्ञान की आग लगी है। इसमें सब जीव रात-दिन जल रहे हैं। कबीर फूट-फूटकर रोते हैं और कहते हैं हाय, मेरे अनमोल हीरे-जीव अज्ञान में जल रहे हैं।

ज्ञानी पुरुष जीवों को अज्ञान में जलते देखकर दुखी होते हैं। वे सभी जीवों को सजाति समझकर उनके प्रति करुणाशील होते हैं। वे सबका कल्याण चाहते

हैं। इसलिए वे उनके दुखों को देखकर करुणाविगलित हो जाते हैं। वे चाहते हैं कि संसार के लोग अज्ञान की आग से अपने आप को बचायें।

लोगों की जड़ता

छौ दर्शन में जो परवाना, तासु नाम बनवारी।
कहहिं कबीर सब खलक सयाना, इनमें हमहिं अनारी॥ 307॥

शब्दार्थ—छौ दर्शन=योगी, जंगम, सेवड़ा, संन्यासी, दरवेश और ब्राह्मण; तात्पर्य में समस्त धार्मिक मत। परवाना=प्रमाणित, सत्य-मान्य। बनवारी= बनावटी वाणी, वनमाली—वन के फूलों की माला पहनने वाला, तात्पर्य में परमप्रिय। खलक=ख़लक, जीवसमष्टि, लोकसमूह, संसार के लोग। सयाना= समझदार। अनारी=अनाड़ी, अज्ञानी।

भावार्थ—नाना धार्मिक मतों द्वारा जो कुछ सत्य करके मान लिया गया है उसके नाम पर ही नाना कल्पित वाणियां बनी हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि इनके मानने वाले संसार के लोग ही ज्ञानी हैं, बल्कि मैं ही अनाड़ी हूं॥ 307॥

व्याख्या—इस साखी की प्रथम पंक्ति में समस्त धार्मिक मतों की भ्रममान्यताओं के लिए व्यंजना है। इसका अर्थ यह नहीं है कि धार्मिक मतों में अच्छाइयां तथा सच्चाइयां नहीं हैं। एक चोर तथा चाकू के विचारों में भी कुछ-न-कुछ सच्चाई होती है, फिर जो धार्मिक मत संसार के कुछ लोगों को कुछ संतोष देते हैं, उनमें कुछ सच्चाई क्यों नहीं होगी! सत्य तथा सदाचार की बातें चोर भी करते हैं। यह आज भी देखा जा सकता कि जो धर्म के नाम पर धूर्ताई करते हैं वे भी समाज को सदाचार की शिक्षा देते हैं। यही तो उनको अपनी बुराई छिपाने का कवच होता है। भूत-प्रेत, देवी-देवता, तंत्र-मंत्र-यंत्र, ग्रह-लग्न-मुहूर्त, अवतारवाद, पैगम्बरवाद, अपनी पुस्तकों को इलहामी एवं कथाकथित ईश्वरीय मानना, अपने मत को सत्य का एकाधिकारी मानना, स्वर्ग-नरक की कल्पनाएं, अपनी आत्मा से अलग अपना लक्ष्य मानना आदि सब भ्रांत एवं कल्पित मान्यताएं हैं। जिन मतों में जो अंश सही है वह तो परम आदरणीय है, परन्तु जो मान्यताएं भ्रांत हैं वे चाहे जान-बूझकर एवं धूर्ततापूर्वक हों और चाहे अनजाने में भोलेपन से हों, मनुष्य के लिए अहितकर हैं। परन्तु उन्हें सत्य मानकर उन मतों द्वारा उनके समर्थन में नाना ग्रन्थ बने हैं। बड़ी-बड़ी गद्दियों पर उन्हीं के व्याख्यान हो रहे हैं।

कोई कहता है हमारा पूज्य सुप्रीम पावर एवं परमात्मा का अवतार है, कोई कहता है हमारा पूज्य ईश्वर का संदेशवाहक है, कोई कहता है कि हमारा पूज्य ईश्वर का पुत्र है, कोई कहता है हमारा पूज्य स्वयं भगवान है, कोई कहता है हमारी किताब ईश्वर की वाणी है, कोई कहता है हम आस्तिक हैं शेष सब

नास्तिक हैं, कोई कहता है हमारा मत दीन है और सब बे-दीन एवं काफिर हैं, कोई कहता है हमारा मार्ग पवित्र, शेष का अपवित्र है। नाना मत के लोग सत्य तथा ईश्वर के ठेकेदार बनकर अन्य को तुच्छ समझते हैं, परन्तु वे अनेक ऐसी बातें करते हैं जो कारण-कार्य व्यवस्था से दूर, विश्व के शाश्वत नियमों से अलग तथा प्रकृति के गुण-धर्मों से परे चमत्कार, अंधविश्वास एवं बिना सिर-पैर की हैं। धर्म का नाम लेकर सारी झुठाइयां की जाती हैं। इस प्रकार सद्‌गुरु कहते हैं कि छह दर्शनों एवं समस्त धार्मिक मतों में जो कुछ प्रामाणिक एवं सत्य मान लिया गया है, उसके नाम पर नाना वाणियां बन गयी हैं, और उन मतों के लोग उन वाणियों को ही परम सत्य करके मान लिये हैं चाहे उनमें हजारों नकली बातें हों।

"छौ दर्शन में जो परवाना, तासु नाम बनवारी" इस पंक्ति का ऊपर सरल अर्थ किया गया। इस पंक्ति में 'बनवारी' महत्त्वपूर्ण शब्द है जिसका अर्थ बनावटी या कृत्रिम वाणी किया गया है। वाणियां तो सभी बनावटी होती हैं। यहां बनावटी का अर्थ है बनावटी कथ्य, जो कुछ कहा गया हो, वह काल्पनिक हो। बनवारी के प्रचलित अर्थ का शुद्ध शब्द है 'वनमाली'। इसका अर्थ होता है वन के फूलों की माला पहनने वाला। कृष्ण में रूढ़ होने से वनमाली का अर्थ कृष्ण प्रचलित है, परन्तु इस साखी के बनवारी से कृष्ण का कोई प्रयोजन नहीं प्रतीत होता, क्योंकि छहों दर्शन एवं सभी मतों में कृष्ण मान्य नहीं हैं। यहां बनवारी का अर्थ वन-माला धारण करने वाला माना जाये तो लक्षणा अर्थ में परम प्यारा कर सकते हैं। अर्थात छह दर्शनों में एवं समस्त धार्मिक मतों में जो सत्य माने गये उन्हीं के नाम उनके लिए परम प्यारे हो गये। जो जिसे प्रिय हो जाता है उसमें चाहे कितना ही भ्रम एवं असत्य हो, वे उसे छोड़ना नहीं चाहते।

कबीर साहेब ने नाना धार्मिक मत वालों को देखा, उनके काल्पनिक मतों को देखा, उनकी मान्यताओं को जांचा-परखा और उन्हें असत्य मान्यताओं को छोड़ने की राय दी। परन्तु उन्होंने देखा कि जो जिन उलटी-सीधी बातों को सिद्धांत एवं मत के रूप में मान लिये हैं उनमें वे दृढ़ हो गये हैं। वे उन्हें छोड़ने वाले नहीं हैं। बल्कि समझाने वालों को ही उलटकर गलत कहते हैं। तब सद्‌गुरु ने उनकी उलटी क्रिया देखकर कहा—"कहहिं कबीर सब खलक सयाना, इनमें हमहिं अनारी।" अर्थात संसार के लोग ही समझदार हैं, ज्ञानी हैं। इनमें मैं ही अज्ञानी हूं।

उपदेष्टा के उपदेश जब लोग नहीं मानते तब कभी-कभी उपदेष्टा स्वयं को ही कोसने लगता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है—"रामायण के अनुसार शिक्षा दी जाती है कि राम, भरत, लक्ष्मण एवं शत्रुघ्न की तरह भाई के साथ भाई प्रेमपूर्वक रहे, परन्तु संसार के लोग महाभारत के समान हो रहे हैं।

जैसे कौरव तथा पांडव भाई-भाई होकर भी मिथ्या स्वार्थवश आपस में कटकर मर गये। गोस्वामी जी अपने आप को कोसते हुए कहते हैं कि हे तुलसी! तेरे-जैसे शठ की बात कौन सुनेगा! कलिकाल में कुचाल पर ही प्रेम है।" मूल वचन इस प्रकार है—

रामायण अनुहरत सिख, जग भयो भारत नेम।
तुलसी सठ की को सुने, कलि कुचाल पर प्रेम॥

कबीर साहेब ने देखा कि धर्म और तथाकथित ईश्वर-आज्ञा के नाम पर मनुष्य-मनुष्य के बीच खाई बनायी गयी है, तर्कहीन एवं ऊलजलूल बातें मिलाई गयी हैं, भक्ति के नाम पर जड़बुद्धि की बातें कहीं गयी हैं, मोक्ष और परमात्मा-प्राप्ति के नाम पर व्यक्ति को उसकी अपनी आत्मा से अलग भटका दिया गया है। इसलिए उन्होंने अपनी निष्पक्ष वाणियां कहीं जिससे लोगों की आंखें खुलें। उनकी बातों का बहुत व्यापक प्रभाव पड़ा और वह प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया। आज उसका प्रभाव अति व्यापक रूप में है चाहे उनका नाम लेकर या बिना नाम लिये।

बीजक के प्राचीन व्याख्याकार श्री पूरण साहेब ने इस साखी की व्याख्या में एक कहानी लिखी है जो मनोरंजक के साथ शिक्षाप्रद भी है। वह इस प्रकार है—

एक राजा था। उसने तीन दिनों की समाधि ली। इन्हीं तीन दिनों के बीच में पागलपन का पानी बरसा। राज्य के सभी लोग उस पानी को पीकर पागल हो गये। समाधि में होने से राजा पर प्रभाव नहीं हुआ। राजा समाधि से उठा। उसने सभा की। सभी सभासदों को देखा कि वे सब पागलपन की बातें करते हैं। राजा आश्चर्यचकित हुआ। उसने उन्हें समझाना चाहा। सभी सभासद राजा से रुष्ट होकर कहने लगे कि राजा पागल है। यह तथ्य है कि पागल आदमी अपने आप को पागल नहीं समझता। वह दूसरों को पागल कहता है। राजा ने सोचा कि इनके साथ समझौता करके ही इन्हें समझाना ठीक है। स्वयं लघु बनकर इन्हीं की बड़ाई करते हुए इन्हें समझाया जा सकता है। अतः सभासदों से राजा ने कहा कि सचमुच मैं ही पागल हूं। आप लोग समझदार हैं। जब सभासदों का पालगपन दूर हुआ तब उन्होंने राजा की बातें समझीं।

इसी प्रकार धर्म, ईश्वर, भक्ति, मुक्ति आदि के नाम पर मनुष्यों में जो जड़ता है उसे एकाएक नहीं छुड़ाया जा सकता। किन्तु उनकी जड़ता में मिलकर, उनकी बातों का कुछ समर्थन करके तथा उन्हें थोड़ा संतुष्ट करके तब उन्हें थोड़ा-थोड़ा रास्ते पर लाया जा सकता है। श्री रामरहस साहेब ने कहा—

जेहिकर जहाँ बँधावा होई। ताहि सराहि मिले भल सोई॥

रती रती दर्शाव करावै। अबुध के संग अबुध होय जावै॥ पंच. गुरु.॥

सत्य पथ का पथिक अजेय होता है

साँचे श्राप न लागै, साँचे काल न खाय।
साँचहिं साँचा जो चलै, ताको काह नशाय॥ 308॥

शब्दार्थ—श्राप= शाप, बद्दुआ। काल= समय, मत्यु।

भावार्थ—सच्चे को किसी का शाप नहीं लगता, सच्चे को काल नहीं खा सकता। जो व्यक्ति केवल सच्चे पथ पर चलता है उसका कोई क्या बिगाड़ सकता है!॥ 208॥

व्याख्या—यह विश्वसत्ता का परम सिद्धान्त एवं तथ्य है। सत्य को न शाप लगता है और न उसे काल खा सकता है। अत: तुम्हें लोग क्या कहते हैं इसकी चिन्ता मत करो; परन्तु तुम क्या करते हो इस पर विचार करो। यदि तुम असत्य में लिपटे हो तो दुनिया की कोई शक्ति तुम्हें पतन से बचा नहीं सकती; और यदि तुम सत्य में प्रतिष्ठित हो तो दुनिया की कोई शक्ति गिरा नहीं सकती। यह केवल मन को धैर्य देने की बात नहीं है, किन्तु ठोस सत्य है। जिस व्यक्ति को परम तथ्य पर दृढ़ विश्वास हो जाता है और इस विश्वास के दृढ़ धरातल पर अपने जीवन की गतिविधि करने लगता है वह भीतर से तो पूर्ण हो ही जाता है, बाहर से भी चमक जाता है।

विश्वसत्ता के जो नियम हैं उनको पहचानना तथा उनके अनुसार चलना सत्य में चलना है। हमारा पेट कितना भोजन आराम से पचाता है और हमें हल्कापन एवं प्रसन्नता का अनुभव होता है, इसकी हमें ठीक से पहचान करनी चाहिए और उसी के अनुसार भोजन करना चाहिए। भोजन में चाहे जितने स्वादिष्ट व्यंजन बने हों, उनके प्रलोभन में न पड़ना। यह भी देखना कि भोजन में कौन-सी वस्तु हमारे स्वास्थ्य के लिए ठीक है और कौन-सी वस्तु गलत है। ठीक को लेना तथा गलत को न लेना। भोजन में वस्तु और मात्रा दोनों पर ध्यान देना चाहिए। अखाद्य कभी नहीं लेना चाहिए। इस प्रकार जो यथावत कार्य करता है वह आनंदित रहता है।

हमारे नित्य के व्यवहार में किन मनुष्यों का कितना संबन्ध उपयुक्त है, हमें किन-किन मनुष्यों का संबंध कितना लेना चाहिए तथा कितने से बचना चाहिए, हमारे व्यवहार एवं परमार्थ की सिद्धि के लिए कितना संबंध उपयुक्त है, हमारी शांति में कितनी चर्चाएं बाधक एवं कितनी साधक हैं, हमें कितनी बातें करनी चाहिए, कितनी निरर्थक हैं, इन सब की परख तथा तदनुकूल ग्रहण और त्याग करना चाहिए। इस प्रकार प्रकृति को पहचानकर जो यथायोग्य व्यवहार करता है वह सुखी रहता है।

हमारे जीवन की इसी में सार्थकता है कि हमारे द्वारा दूसरे की जितनी अधिक हो सके सेवा हो तथा अपने लिए संयम हो। पहली बात मनुष्य का सहज कर्तव्य है कि वह दूसरे की सेवा करे। दूसरी बात है कि उसके भौतिक एवं आत्मिक कल्याण लाखों लोगों के सहयोग से होते हैं। इसलिए उसे भी चाहिए कि वह जितना बन सके दूसरे की सेवा करे। अपने लिए संयम, यह जीवन की अंतिम सफलता है। संयम इस सीमा तक पहुंचना चाहिए कि इस जीवन में रहते-रहते सारी इच्छाओं की निवृत्ति हो जाये। हर आदमी रोते हुए जन्मता है, शिकायत करते हुए जीता है तथा निराशाग्रस्त होकर मरता है। यह जीवन की घोर असफलता है। रोते हुए जन्म लेना प्रकृति का विधान है। इसको बदलने की शक्ति मनुष्य में नहीं है। मनुष्य का बच्चा रोते हुए जन्म लेगा ही। परन्तु जो हम शिकायत करते हुए जीते हैं इसको पूरा बदल सकते हैं। जिसकी सारी इच्छाएं बुझ जाती हैं वह किसी की शिकायत नहीं करता। अथवा यह चाहिए, वह चाहिए—वह शिकायत उसके जीवन में आ ही नहीं सकती। जिसकी इच्छाएं सर्वथा निवृत्त हो जाती हैं उसे निराशा में मरने का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। सारी आशाएं पहले ही समाप्त हैं तब निराशा का कोई मतलब ही नहीं रहा।

पर-सेवा और स्व-संयम जीवन का परम सत्य है। इनमें जो विघ्न आये उन्हें सहकर इनको निभाना मानव की मानवता है। पर-सेवा की कोई सीमा नहीं है। वह जितना संभव हो करे, परन्तु स्व-संयम में पूरी सीमा तक खरा उतरने पर ही कृतार्थता हो सकती है। पर-सेवा का भाव रखने वाला कभी किसी का अहित नहीं सोच सकता और जो अपने आप में संयम रखता है उसके द्वारा दूसरों का अहित होने का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। इस प्रकार जो दूसरे का अहित करने से सर्वथा निवृत्त हो गया है और जितना बन सकता है उतना परहित ही करता है और स्वयं संयम के पथ पर चलता है, वह सत्य पथ का पथिक है। उसको किसी की बद्दुआ कैसे लगेगी! उसे कोई न समझ पाये और गाली देता रहे है तो उसे क्या अन्तर पड़ेगा! क्या दुनिया के किसी भी महापुरुष को आप बतायेंगे कि उसे पागलों ने गाली न दी हो! तो इससे उसका क्या बिगड़ा! बिगाड़-सुधार तो अपने भाव तथा कर्म से होते हैं। यदि हम स्वयं सही पथ पर हैं तो यह चिंता करने की क्या आवश्यकता कि दूसरे लोग क्या कहते हैं! हम अपने आप को दूसरों के सामने सर्वथा निर्दोष सिद्ध करके तब अपने पथ पर चलेंगे यह सोचना ही अज्ञान है। दुनिया का कोई महापुरुष अपने आप को सबके सामने निर्दोष नहीं सिद्ध कर सका है और न आगे सिद्ध कर सकेगा। दूसरे लोग हमारे सम्बन्ध में क्या सोचते और कहते हैं इस पर हमें सोचना ही नहीं चाहिए; किन्तु हमें निरन्तर अपने आप को देखना चाहिए कि हम क्या करते

हैं! मुझे, पूर्णतया मैं ही समझ सकता हूं, दूसरा नहीं। यदि मैं स्वयं अपने आप को नहीं समझ पा रहा हूं, तो मैं घोटाले में हूं। जो अपने विषय में दूसरे से राय जानना चाहता है वह धोखे में है। यह अलग बात है कि आरंभिक कच्ची एवं साधनावस्था में दूसरे मित्रों एवं महापुरुषों से अपने विषय में राय लेना चाहिए, अपने स्वभाव, चाल-ढाल एवं रहनी के विषय में उनसे परख करवानी तथा सम्मति लेनी चाहिए। परन्तु अंततः अपने आप को बोध और रहनी में इतना मजबूत बनाना चाहिए कि हम दूसरों से दृष्टि हटाकर निरंतर अपने आप को ही देखने का अभ्यास करें और जो निरन्तर अपने आप को देखता है और सुधारता है वह कालजयी हो जाता है।

हीरे रगड़ने पर काले नहीं होते, किन्तु उत्तरोत्तर चमकते हैं, इसी प्रकार सत्पथ पर चलने वाला कभी धूमिल नहीं होता चाहे उसकी कोई कितनी निंदा करे! सूरज की तरफ धूल उछालने पर वह उस तक नहीं पहुंच सकती, किन्तु लौटकर उछालने वाले के ऊपर ही पड़ती है। दूसरे के दोष देखने वाला तथा निंदा करने वाला स्वयं गिरता जाता है, परन्तु सत्पथ पर चलने वाला उठता जाता है। सत्पथ का राही अपने निंदकों की प्रतिक्रिया में नहीं पड़ता। उसके पास किसी को बुरा देखने और कहने का अवसर ही नहीं रह जाता। कौन विवेकवान होगा जो अपने रत्नतुल्य समय को परदोष-दर्शन एवं परनिंदा में लगाकर अपने मन और वाणी को दूषित करेगा।

हर मनुष्य को तथा कम-से-कम साधकों को यह दृढ़ विश्वास करना चाहिए कि यदि हम दूसरों का अहित नहीं सोचते, बल्कि दूसरे का हित सोचते हैं, यहां तक कि अपने विरोधी के प्रति भी, और अपने जीवन में पूर्ण संयम से रहते हैं तो इसके बाद चिंता छोड़ देनी चाहिए कि लोग हमें क्या कहते हैं। सत्य-पथ पर चलने वाले को बुरा कहकर न कोई गिरा सकता है, न उसे काल खा सकता है। जो केवल सत्पथ का राही है उसका कोई कुछ बिगाड़ नहीं कर सकता।

"सबते साँचा भला" इस 64वीं साखी की व्याख्या का भी मनन करना चाहिए।

पूरे गुरु का सेवन करो

पूरा साहेब सेइये, सब विधि पूरा होय।
ओछे से नेह लगाय के, मूलहु आवै खोय॥ 309॥

शब्दार्थ—पूरा साहेब= बोध और रहनी में पक्का सद्गुरु।

भावार्थ—हे मुमुक्षु! जो बोध और रहनी—दोनों से संपन्न है, ऐसे सद्गुरु की सेवा करो, फिर तुम सब प्रकार से कृतार्थ हो जाओगे। यदि छिछले गुरु से

प्रेम लगाओगे तो तुम्हारा मूलतत्त्व-विवेक भी खो जायेगा, अथवा भ्रमवश गुरु मात्र से अश्रद्धा कर बैठोगे॥ 309॥

व्याख्या—अपने स्वरूप के विषय में जिसको सच्चा ज्ञान है, व्यवहार बरतने की सम्यक समझ है और पवित्र रहनी में जो पूर्णतया चलता है, वह पूरा साहेब है।

इस संसार में कोई बिरला मनुष्य होता है जो सांसारिकता से उपराम होकर यह सोचता है कि मैं कौन हूं, जगत क्या है, मेरा और जगत का सम्बन्ध कैसा है और जीवन का लक्ष्य क्या है! ऐसा सोचने वाला जिज्ञासु एवं ज्ञान की इच्छावाला कहा जाता है। जब उसे किसी गुरु द्वारा इन सब का ज्ञान होता है, तब उसे भव-बन्धनों से छूटने की उत्कंठा जगती है, तब उसे मुमुक्षु कहा जाता है जिसका अर्थ है मोक्ष की इच्छावाला। इसलिए वह बंधनों को छोड़ने का अभ्यास करता है। बंधन हैं मन के विकार। मन के विकारों से ही इन्द्रियों में गलत आदतें रहती हैं। जो इन बंधनों को तोड़ने के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है उसे कहते हैं साधक या साधु। इस अवस्था में कभी मन पर विजय होती है और कभी मन से हार। जब अभ्यास करते-करते व्यक्ति पूर्ण अनासक्त एवं चारों ओर से निष्काम हो जाता है तब वह संत हो जाता है। पूर्णत्व प्राप्त को संत कहते हैं। पूर्णत्व का अर्थ कृतकृत्य हो जाना है। जब कुछ करने, खाने, देखने, सुनने, किसी से मिलने, कुछ पाने यहां तक जीने-मरने की भी इच्छा नहीं रहती, जब वह पूर्णकाम, अकाम, निष्काम, आप्तकाम एवं पूर्ण संतुष्ट हो जाता है, तब उसे पूर्ण कहते हैं। ऐसा व्यक्ति खाना, पीना, देखना, सुनना, आना, जाना केवल शरीरयात्रा पूर्ण करने के लिए करता है। वह किसी चीज में आसक्त नहीं होता। ऐसा व्यक्ति ही पूरा साहेब है। कबीर देव कहते हैं कि ऐसे सद्गुरु की सेवा करो। ऐसे सद्गुरु के चरणों में पूर्णतया समर्पित हो जाओ, उनकी अनन्य भाव से सेवा एवं उपासना करो तो तुम्हारा सब प्रकार कल्याण हो जायेगा। ऐसे उच्चादर्श की उपासना से तुम भी पूर्णकाम हो जाओगे।

पूरा साहेब एवं पूर्ण गुरु का व्यक्तित्व अमृत-रस से भरा होता है। पूर्ण गुरु के व्यक्तित्व से हर समय मानो अमृत-रस चूता है। उपासक-शिष्य को खुला पात्र होना चाहिए जिससे वह रस उसमें इकट्ठा हो सके। साधक निष्कपट एवं सरल भाव से जब पूर्ण गुरु को समर्पित हो जाता है तब उसमें गुरुत्व अपने आप आने लगता है। यही दीपक से दीपक जलाना है।

यदि साधक स्वयं छिछला है तो वह पूर्ण गुरु पाकर भी उससे कोई लाभ ले नहीं पाता। परन्तु यदि वह कल्याण के लिए समर्पित है तो पूर्ण गुरु पाकर कृतार्थ हो जाता है। शिष्य का "सब विधि पूरा होय" का अभिप्राय यही है कि उसको अपने जीवन में पूर्ण संतोष मिल जाता है। वह भी गुरु की तरह

पूर्णकाम, अकाम, निष्काम, आप्तकाम एवं प्राप्तकाम हो जाता है। "मुझ ही ऐसा होय रहो" सद्गुरु ने आदेश भी दिया है।

"ओछे से नेह लगाय के, मूलहु आवै खोय।" यदि छिछला गुरु मिल गया तो साधक का विवेक भी खो जाता है। जिसमें स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं है, यदि ज्ञान है तो रहनी नहीं है, जो गुरु स्वयं मन तथा इन्द्रियों का गुलाम है, राग-द्वेष और कलह-कल्पनाओं में पड़ा है वह छिछला है। यदि साधक ऐसे गुरु से प्रेम करेगा और उसके दुर्गुणों से सावधान होकर उससे अलग नहीं हो जायेगा तो उसके कुसंग में पड़कर उसका विवेक खो जायेगा। मनुष्य के कल्याण का मूल है विवेक। कुसंग से विवेक नष्ट होता है तथा सत्संग से विवेक जाग्रत एवं विकसित होता है। सच्चे सद्गुरु की शरण में ही विवेक जगेगा, छिछले गुरु की संगत में तो रहा-सहा विवेक चौपट हो जाता है। छिछले गुरुओं के साथ मूल खो जाने की बात यह भी है कि यदि साधक पक्की समझ का नहीं है तो उसकी श्रद्धा गुरु मात्र से उठ सकती है। उसको भ्रम हो सकता है कि सब गुरु ऐसे ही अधकचरे होते होंगे। ऐसी अवस्था में वह परमार्थ-पथ से हटकर केवल पामर एवं भौतिकवादी हो सकता है। यदि गुरु और संत नामधारी हैं, परन्तु उनकी संगत में रहने से मन के विक्षेप ही बढ़ते हैं तो वे तत्काल त्याज्य हैं। वह अंजन किस काम का जिसके लगाने से आंखें ही फूट जायें। इसी प्रकार वह गुरु तथा संत की संगत कैसी जिससे मन में विक्षेप बढ़कर अशांति फैले! इसलिए साखी ग्रन्थ में कहा है—

झूठे गुरु के पक्ष को, तजत न कीजै बार।
द्वार न पावै शब्द का, भटके बारम्बार॥
साँचे गुरु के पक्ष में, दीजै मन ठहराय।
चंचल से निश्चल भया, नहिं आवै नहिं जाय॥

अधकचरे गुरु की विदाई

जाहु वैद्य घर आपने, यहाँ बात न पूछै कोय।
जिन्ह यह भार लदाइया, निरबाहेगा सोय॥ 310॥

शब्दार्थ—वैद्य=चिकित्सक, लक्षणा अर्थ में गुरु, परन्तु व्यंजना है असद्गुरु एवं गुरुआ के लिए।

भावार्थ—हे गुरु महाराज! आप अपने घर लौट जाइए। यहां आपसे कोई बात भी पूछने वाला नहीं है। जिन सद्गुरु ने मेरे कल्याण की जिम्मेदारी ली है वह स्वयं मेरा निस्तार करेगा॥ 310॥

व्याख्या—संसार में गुरु की बड़ी प्रतिष्ठा है। कबीर साहेब ने स्वयं गुरु के महत्त्व का बखान किया है। गुरु जिज्ञासुओं के मानस-नेत्रों का अज्ञान-माड़ा हटाता है। गुरु के संरक्षण में साधक अपना कल्याण प्राप्त करता है। अतएव साधारण जनता, भक्तों, जिज्ञासुओं तथा मुमुक्षुओं द्वारा गुरु की पूजा-प्रतिष्ठा होती है और ऐसा होना ठीक ही है। परन्तु ऐसा देखकर संसार में बहुत-से अधकचरे तथा धूर्त लोग गुरु का चोला पहनकर जनता को उपदेश देने लगते हैं और उनसे अपने आप को पुजवाने लगते हैं। जिनके ज्ञान तथा आचरण का कोई ठिकाना नहीं है ऐसे लोग मुमुक्षु के उद्धारक बने घूमते हैं। ऐसे गुरुओं के चक्कर में पड़े हुए जिज्ञासु को जब किसी विवेकज्ञान संत एवं भक्त की संगत पाकर विवेक हो जाता है और वे गुरु तथा शिष्य के लक्षण जान लेते हैं और जड़-चेतन तथा बन्ध मोक्ष के भेद समझ लेते हैं। तब वे ऐसे गुरुओं के सिकंजे से निकल जाते हैं।

मानो कोई ऐसा ही अधकचरा गुरु आया हो, परन्तु जो शिष्य विवेकवान संत, भक्त एवं गुरुजनों की संगत पाकर विवेकवान हो गया हो, उसने उस अधकचरे गुरु से कहा हो कि हे गुरु महाराज! आप अपने घर लौट जाइए। यहां आपसे कोई बात भी पूछने वाला नहीं है। हम आपके चक्कर में तभी तक थे जब तक भ्रम में पड़े थे। अब हमारे भ्रम मिट गये हैं। अब हमने समझ लिया है कि गुरु कौन है, सद्गुरु कौन है तथा गुरुआ कौन है। माता-पिता एवं किसी विषय की शिक्षा देने वाले गुरु हैं, स्वरूपबोध देकर अपनी वाणी तथा उच्च रहनी के आदर्श से प्रेरित करके स्वरूपस्थिति की ओर अग्रसर करने वाले सद्गुरु हैं और नाना अंधविश्वास में फंसाने वाले तथा स्वयं अंधविश्वास और विषय-वासनाओं में डूबे हुए तथाकथित उपदेशक गुरुआ हैं। जो स्वयं नाना भ्रांतियों, भूत-प्रेतों, मंत्र-तंत्रों, देवी-देवताओं एवं परोक्ष कल्पनाओं में उलझा है, जिसे स्वयं अपने स्वरूप का यथार्थ बोध नहीं है, अथवा जो खुद काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं राग-द्वेष का गुलाम है, वह दूसरे को क्या प्रकाश दे सकता है! स्वयं भटकने वाला व्यक्ति दूसरे का भटकाव क्या दूर कर सकता है! जो स्वयं दुखी हो वह दूसरे के दुखों को दूर करने के लिए क्या आदर्श दिखा सकता है! इसलिए हे गुरु महाराज! आप हमारी आशा छोड़ दें। अब हम जग गये हैं। आप गुरुत्व को बदनाम न करें। आप स्वयं किसी सच्चे सद्गुरु की शरण में जाकर बोध प्राप्त करें। इसके बाद विषय-वासनाओं का त्यागकर स्वयं परमार्थ-दशा में ठहरें। दूसरे का गुरु बनना, सद्गुरु बनना तो बहुत बाद की बात है। यह तो स्वयं कृतार्थ हो जाने के बाद होता है। स्वयं पूर्ण निर्भ्रांत, अनासक्त एवं तृप्त हुए बिना दूसरे के उद्धार का बोझा नहीं लेना चाहिए। अधकचरा गुरु दूसरे के कल्याण की जिम्मेदारी लेकर स्वयं डूबेगा और शिष्यों

को भी डुबायेगा।

इसलिए साधक कहता है—"जिन्ह यह भार लदाइया, निरबाहेगा सोय।" मेरे कल्याण की जिम्मेदारी जिन सद्गुरु ने ली है, वे ही मेरा निस्तार करेंगे। जो बोध और रहनी से संपन्न पूरा साहेब है एवं पूर्ण सद्गुरु है, उसी को शोभा देता है कि वह दूसरे के कल्याण की जिम्मेदारी ले। जो कृतार्थ संत होते हैं उनमें से कुछ तो दूसरे के कल्याण की जिम्मेदारी नहीं लेते। वे किसी को न शिष्य बनाते हैं और न दूसरे किसी को अपने साथ रखने का दायित्व लेते हैं। वे स्वच्छंद विचरण करते या एक स्थान पर रहते और अपने आत्माराम के भजन में डूबे रहते हैं। वे सदैव स्वरूपस्थिति में निमग्न रहते हैं। उनकी रुचि हुई तो सामने मिले हुए जिज्ञासुओं को कुछ संबोधित कर देते हैं। परन्तु दूसरे कुछ कृतार्थ संत होते हैं, वे दूसरे के कल्याण की जिम्मेदारी लेते हैं। वे लोगों को विधिवत दीक्षा देते हैं। वे विरक्त साधुओं को दीक्षा देकर तथा उन्हें साथ रखकर उनको हर प्रकार से सन्मार्ग में प्रेरित करते हैं। श्री रामरहस ने पंचग्रन्थी के गुरुबोध प्रकरण में कहा है—गुरु तथा साधु[1] का एक रूप होता है। इनके अलावा कल्याण का कहीं स्थल मानना कल्पनाओं के जाल में पड़ जाना है। गुरु और साधु में जो थोड़ा अन्तर होता है वह यह है कि गुरु दयालु होता है, अशरण को शरण देकर उसके कल्याण में सहायक होता है और साधु सदैव स्वच्छंद होते हैं। वे किसी के कल्याण की जिम्मेदारी नहीं लेते। मूल वचन इस प्रकार है—

एक रूप गुरु साधु का, दूजा काल को फन्द।
अशरण शरण दयालु गुरु, साधु सदा स्वच्छंद॥

साधक कहता है कि हे गुरु महाराज! आप अपने घर जाइए। हमें अब सच्चे सद्गुरु मिल गये हैं उन्होंने हमारा बोझा ले लिया है। वे हमारा निर्वाह करेंगे। वे पूर्ण हैं। वे हमारा निस्तार कर सकते हैं। अब आप तकलीफ न उठायें। आप स्वयं किसी पूर्ण सद्गुरु की शरण में जायें। स्वयं को सद्गुरु मानने का भ्रम छोड़ दें।

अधकचरे गुरुओं की दशा

औरन के सिखलावते, मोहड़े परिगौ रेत।
रास बिरानी राखते, खाइनि घर का खेत॥ 311॥

शब्दार्थ—मोहड़े=मुख में। रेत=बालू, धूल। रास=पशुओं का समूह।

भावार्थ—दूसरों को उपदेश करते-करते वाचक-ज्ञानियों एवं अधकचरे गुरुओं के मुख में अंततः धूल ही पड़ती है। उनकी दशा वैसे होती है जैसे कोई

27. यहां गुरु का अर्थ सद्गुरु तथा साधु का अर्थ संत है।

भोला आदमी दूसरों के पशुओं की रक्षा के चक्कर में पड़कर उनके द्वारा अपने घर के खेत की फसल को ही चरा दे॥ 311॥

व्याख्या—309वीं साखी से लेकर इस साखी तक एक ही प्रसंग है। सद्गुरु ने 309वीं साखी में जिज्ञासुओं को चेतावनी दी है कि पूरे गुरु की शरण में जाओ, तभी तुम्हें पूर्णता मिलेगी। यदि तुम छिछले गुरु से प्रेम करोगे तो भटकोगे। इसके आगे की साखी में साधक ने अधकचरे गुरु को जवाब ही दे दिया है। इस साखी में भी वही क्रम है। सद्गुरु कहते हैं कि वाचकज्ञानी एवं अधकचरे गुरु दूसरों को धुआंधार उपदेश करते हैं, परन्तु उन्हें अपने तनोबदन का होश नहीं रहता। वे स्वयं क्या करते हैं, इसका लेखा-जोखा वे कभी नहीं करते। उन्हें स्व-चरित्र-सुधार, आत्म-शोधन एवं आत्म-चिंतन से कोई प्रयोजन नहीं है। वे तो केवल दूसरों को धर्म, ईश्वर और मोक्ष के नाम से अपने माया-जाल में फंसाना अपना परम कर्तव्य समझते हैं। देखो न, आजकल गुरुओं की बड़ी-बड़ी दुकानों को, जिनमें न सच्चा ज्ञान है, न मन की सच्चाई और न चरित्र की प्रौढ़ता। बस, वे दूसरों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए नये-नये जाल रचते हैं। छोटी दुकान वाले भी वाचकज्ञानी एवं अधकचरे गुरु घूमते हैं जो रात-दिन मन की धारा में बहने वाले हैं, परन्तु वे दूसरे का उद्धार करने के लिए दावा करने हैं। कबीर देव कहते हैं। कि ऐसे लोगों के मुख में अंततः धूल पड़ेगी। जो स्वयं आचरण में न चलकर केवल दूसरों को सीख देने के चक्कर में रहता है वह अंत में निराश होता है। ''औरन के सिखलावते, मोहड़े परिगौ रेत।'' इस पंक्ति में अधकचरे गुरुओं के पतन की व्यंजना है।

वाचकज्ञानी परोपदेश देने के चक्कर में अपनी हानि करता है इसके लिए सद्गुरु ने दूसरी पंक्ति में सुन्दर उदाहरण दिया है। ''रास बिरानी राखते, खाइनि घर का खेत।'' संस्कृत भाषा में 'रास' का अर्थ है शब्द, ध्वनि, कोलाहल, तथा नृत्य-क्रीड़ा, परन्तु इस पंक्ति के रास का यह अर्थ नहीं है। रास शब्द के साधारणतया लगाम, बाग, ढेर, मेषादि राशि, चौपायों का समूह, जोड़, ब्याज[1] आदि अर्थ किये जाते हैं। इस प्रसंग में चौपायों एवं पशुओं का समूह ही रास का उपयुक्त अर्थ प्रतीत होता है, क्योंकि आगे खेत चर जाने की बात आती है जो पशु से ही संभव है। मानो एक भोला आदमी था। वह अपने खेत में अपनी खड़ी फसल की रखवाली में बैठा था। एक दूसरा व्यक्ति था, जिसके पास पशुओं का बड़ा झुंड था। उसने खेत वाले से कहा कि तुम मेरे पशुओं को देखते रहियो, मैं घर हो आऊं। वह भोला उन पशुओं की रखवाली करने लगा। उसको ध्यान था कि पशु कहीं भाग न जायें। वे सारे पशु उसके खेत की फसल को

---

29. बृहत् हिन्दी कोश।

चरने लगे और धीरे-धीरे उसकी फसल उन पशुओं द्वारा खा ली गयी। वह दूसरे के पशु सम्हालने में अपने खेत की फसल चरा बैठा।

यही दशा वाचकज्ञानियों एवं अधकचरे गुरुओं की है। वे दूसरों के कल्याण के चक्कर में अपना ही अकल्याण कर लेते हैं। वाचकज्ञानी प्राप्त जानकारियों से अपने दोषों को ढांकता है। उसका परोपदेश केवल पर-मनोरंजन के लिए होता है। वह दूसरों को खुशकर अपनी देह का स्वार्थ साधता है। अधकचरा गुरु यों ही अपने आप को छल रहा है। उसके बाद वह साधारण जनता से सम्मान, प्रतिष्ठा एवं पूज्यता पाकर उसके अभिमान में अपने आपा को और भूल जाता है। पूर्ण निष्काम हुए बिना कोई मान को सह नहीं पाता। मान को निष्काम पुरुष ही सहकर निर्मान रहता है। अधूरा तो मान पाकर अभिमान से ग्रस्त हो जाता है और अपने पद से गिर जाता है। अतएव सद्गुरु बनने का जोखिम सबको नहीं लेना चाहिए। पूर्ण निष्काम पुरुष ही गुरुत्व का भार लेकर तरण-तारण हो सकता है।

शिष्य एवं मुमुक्षु के कर्तव्य

मैं चितवत हौं तोहि को, तू चितवत है वोहि।
कहहिं कबीर कैसे बनि हैं, मोहि तोहि औ वोहि॥ 312॥

शब्दार्थ—मैं=सद्गुरु। तू=शिष्य। मोहि=सद्गुरु। तोहि=शिष्य। वोहि= माया।

भावार्थ—सद्गुरु कहते हैं कि हे शिष्य! मैं तेरे कल्याण के लिए तेरी ओर देखता हूं। परन्तु तू तो माया की ओर देखता है, फिर बीच में माया के आने से मेरा और तेरा कैसे निभेगा!॥ 312॥

व्याख्या—कबीर देव ने ऊपर की साखियों में गुरुओं को सावधान किया था। वे इस साखी में शिष्य को सावधान करते हैं। सद्गुरु शिष्य की तरफ देखता है। देखने का अर्थ है उस पर करुणा करके उसे भव-बन्धनों से मुक्त होने की प्रेरणा देना। परन्तु यदि शिष्य गुरु को नहीं देखता। वह गुरु के उपदेशों पर न ध्यान देकर माया की ओर आकर्षित होता है तो गुरु उसका क्या करेगा!

बोध और रहनीसंपन्न पूर्ण निष्काम सद्गुरु हो और मोक्ष की तीव्र इच्छा वाला पूर्ण निष्कपट शिष्य हो, तो ये दोनों की उत्तम योग्यताएं हैं। इनके बीच में माया आ ही नहीं सकती। माया का अर्थ है सांसारिक प्राणी, पदार्थ, पद, प्रतिष्ठा, पूज्यता आदि के लिए मोह। निष्काम सद्गुरु तो इन सबकी तरफ आकर्षित ही नहीं होगा, सच्चा मुमुक्षु एवं निष्कपट शिष्य भी इनमें नहीं भूलेगा। जहां कहीं भी माया का प्रलोभन आता है वहां अधकचरापन है, वह चाहे गुरु हो और चाहे शिष्य! यहां प्रसंग शिष्य का है। सद्गुरु पूर्ण है। वह निष्काम है, स्वरूपस्थ है।

वह शिष्य का पूर्ण कल्याण चाहता है और उसकी ओर कृपादृष्टि करके निहार रहा है। परन्तु शिष्य अधकचरा है। उसने माया के प्रलोभनों का अभी त्याग नहीं किया है। वह एक बार गुरु की ओर देखता है और दूसरी बार घूमकर माया की तरफ देखता है। उसका चित्त दोनों तरफ बंटा है। सद्‌गुरु तो शिष्य की तरफ देखते हैं और शिष्य माया की तरफ देखता है, तो सद्‌गुरु कहते हैं कि हे प्रिय शिष्य, मेरी, तेरी और माया की एकता कैसे होगी! दूध और पानी तो मिल जाते हैं परन्तु बीच में आकर खटाई पड़ जाये तो वह उन्हें फाड़कर अलग-अलग कर देती है। दो के बीच में तीसरा आने पर गड़बड़ होता ही है।

पूर्ण निष्काम एवं बोधवान सद्‌गुरु को पाकर शिष्य को तो गर्भस्थ शिशु बन जाना चाहिए। अथर्ववेद में गुरु-शिष्य के अभिन्न सम्बन्ध के विषय में एक बड़ा सुन्दर मंत्र आता है। उसका भाव ऋषि व्यक्त करता है—"सद्‌गुरु शिष्य को अपनी तरफ खींचने वाला होता है। यहां तक कि उसे अपने गर्भ में ले लेता है।"[1] कितना सुन्दर भाव है। गर्भस्थ शिशु मां को पूर्णतया समर्पित होता है। गर्भस्थ शिशु को अपने विषय में कोई चिन्ता ही नहीं रहती। उसे न खाने की चिंता है न पीने की चिंता है, न निवास-आवास की चिंता है, यहां तक कि उसे श्वास लेने की भी चिंता नहीं रहती। वहां तो माता का खाना उसका खाना है, माता का पीना उसका पीना है, माता का श्वास लेना मानो उसका श्वास लेना है। माता की सारी गतिविधि ही शिशु की सारी गतिविधि है।

इसी प्रकार जो मुमुक्षु अपने आप को शिशु बनाकर पूर्ण सद्‌गुरु रूप मां को समर्पित हो जाता है वह कृतकृत्य हो जाता है। समर्पण आधा-तिहाई नहीं होता, किन्तु पूर्ण होता है, और जब पूर्ण समर्पित हो गया तब बीच में माया के आने की सम्भावना ही नहीं है। यदि सद्‌गुरु पूर्ण नहीं है तो शिष्य के सामने समस्या हो जाती है परन्तु पूर्ण सद्‌गुरु को पाकर यदि शिष्य माया के चक्कर में भटकता है तो वह महा अभागा है।

एक तरफ गुरुज्ञान है, दूसरी तरफ माया है और बीच में मुमुक्षु है। वह माया की ओर देखेगा तो गुरुज्ञान भूल जायेगा और गुरुज्ञान की तरफ देखेगा तो माया भूल जायेगी। हम समुद्र के तट पर खड़े हों तो यदि जल की तरफ देखेंगे, तो थल नहीं दिखेगा और थल की तरफ देखेंगे तो जल नहीं दिखेगा। "कबीर मन तो एक है, भावै तहाँ लगाव। भावै गुरु की भक्ति कर, भावै विषय कमाव॥ " अतएव कल्याणार्थी मुमुक्षु को चाहिए कि वह सांसारिक प्रलोभनों से एकदम हटकर गुरुज्ञान की तरफ दृढ़ता से लगे।

---

30. आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः (अथर्ववेद 11/5/3)।

लक्ष्य की विफलता

तकत तकावत तकि रहा, सकै न बेझा मार।
सबै तीर खाली परा, चला कमानहि डार॥ 313॥

शब्दार्थ—तकत=स्वयं देखते हैं। तकावत=अन्य को लक्ष्य दिखाते हैं। तकि रहा=लक्ष्य देख रहे हैं। बेझा=वेध, निशाना, लक्ष्य। कमान=धनुष, शरीर।

भावार्थ—जैसे कोई निशानेबाज हो। वह निशाने को देखता हो और साथी को दिखाता हो। इस प्रकार वह केवल उसे देखता तो हो, परन्तु निशाने पर बाण नहीं मार पाता हो। उसके सारे तीर निरर्थक होकर गिर जायें और वह धनुष छोड़कर चल दे। वैसे कितने ही साधक लक्ष्य को स्वयं देखते हैं, दूसरों को दिखाते हैं, इस प्रकार केवल देखते ही रह जाते हैं। वे लक्ष्य पर मार कर नहीं पाते। उनके सारे अनुसंधान निरर्थक हो जाते हैं। और वे बिना लक्ष्य को पाये ही शरीर छोड़कर संसार से चले जाते हैं॥ 313॥

व्याख्या—जीवन का चरम एवं परम लक्ष्य मोक्ष है। मोक्ष का अर्थ है मन की सारी ग्रंथियों, वासनाओं एवं इच्छाओं का कट जाना। निर्ग्रंथ एवं वासनाहीन मन परमानंद एवं परमशांति का सागर होता है। कितने साधक अपने लक्ष्य को पहचानते हैं और उसकी व्याख्या दूसरों के सामने करते हैं। इस प्रकार जीवनभर केवल लक्ष्य की व्याख्या ही करते रह जाते हैं। वे अपने लक्ष्य पर बाण मार नहीं पाते। बहुधा जितनी बातें समझने और कहने में आती हैं उतनी आचरण में नहीं आतीं, और जब तक बातें आचरण में नहीं आतीं तब तक जीवन का लक्ष्य नहीं मिलता। ज्ञान की बातों का आचरणों में न उतरने का कारण है मायावी आकर्षणों से विरत न हो पाना। भोगों का त्याग किये बिना रहनी नहीं आ सकती।

साधक निशानेबाज है, परमशांति लक्ष्य एवं निशाना है, शरीर धनुष है और विचार तीर हैं। मनुष्य जीवनभर परम शांति में अपने तीर मारने के लिए अनुसंधान करता है, परन्तु सारे विचार-तीर खाली चले जाते हैं और वह परम शांति पाये बिना संसार से विदा हो जाता है। संसार के साधारण लोगों की तो बातें ही जाने दीजिए, कितने साधु, गुरु, आचार्य, मंडलेश्वर-महा मंडलेश्वर, जगद्गुरु, विश्वगुरु, ब्रह्मांडगुरु आदि भी परमानन्द एवं परम शांति पाये बिना ही चले जाते हैं।

मनुष्य के भीतर अनन्त सुख की लालसा है और वह दिवास्वप्न बनकर रह जाती है। वह जीवनभर उसके अनुसंधान में रहता है, परन्तु पाता नहीं, क्योंकि वह उसे बाहर खोजता है और वह बाहर नहीं, किन्तु भीतर है। भीतर समझ जाने पर भी वह अपने रजोगुणी स्वभाव के नाते भीतर ठहर नहीं पाता। ज्ञान की

बातों को जानना और दूसरों को जना देना बहुत बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है मन के विकारों, गलत आदतों, विषय-वासनाओं एवं माया के प्रलोभनों का त्याग करना। त्याग के बिना ज्ञान की बातें दीपक के चित्र के समान हैं जिनसे प्रकाश होने की किंचित भी संभावना नहीं है। बिना कुछ दिये कुछ भी नहीं मिलता। सांसारिकता से पीठ दिये बिना परम शांति नहीं मिलती। भोग और मोक्ष को एक साथ सोचना धूर्तता है। ऐसी धूर्तता अनेक गुरु-नामधारियों ने भी की है और आज भी कर रहे हैं। परन्तु भोग होगा तो मोक्ष नहीं और मोक्ष होगा तो भोग नहीं। संसार को चाहेंगे तो मोक्ष नहीं मिल सकता और मोक्ष चाहते हैं तो संसार का राग छोड़ना पड़ेगा।

संसार की इच्छाएं ही तो हमें नचाती हैं। हम क्यों अशांत हैं, क्योंकि इच्छावाले हैं। इच्छा का त्याग कर देने पर अशांति का नाम भी नहीं रह सकता। इच्छाएं बड़ी सूक्ष्म होती हैं। वे स्थूल भोग से हटकर सूक्ष्म धर्म एवं लोककल्याण का जामा पहन लेती हैं और साधक किसी-न-किसी प्रकार जीवनभर इच्छाओं में उलझता रहता है। हमें चाहिए कि हम धीरे-धीरे इच्छाओं के जाल को काटें। जब इच्छाओं का जाल पूर्णरूप से कट जायेगा तब मनपक्षी अनंत शांति के आकाश में विचरण करने लगेगा। इसका अर्थ है कि वह पूर्ण शांति में निमज्जन करने लगेगा। दुर्लभ लगने वाली शांति इच्छाओं के त्याग से पूर्ण सुलभ हो जाती है।

कथनी-करनी की एकता आवश्यक

जस कथनी तस करनी, जस चुम्बक तस ज्ञान।
कहहिं कबीर चुम्बक बिना, क्यों जीते संग्राम॥ 314॥

शब्दार्थ—चुम्बक=एक पत्थर जो लोहे को अपनी ओर खींचता है, यह प्राकृतिक होता है और कृत्रिम भी।

भावार्थ—जब कथनी के अनुसार करनी हो जाती है तब ज्ञान चुम्बक के समान आकर्षक हो जाता है। कबीर साहेब कहते हैं कि ऐसे चुम्बकीय ज्ञान के बिना तुम कामादि शत्रुओं के युद्ध में कैसे विजय प्राप्त कर सकते हो!॥ 314॥

व्याख्या—हम जो कुछ जानते हैं, दूसरों के सामने उसकी चर्चा करते हैं, उसे कथनी कहते हैं। प्राप्त जानकारी के अनुसार व्यवहार करना आचरण कहलाता है और इसे ही करनी कहा जाता है। जब हमारी करनी कथनी के अनुसार हो जाती है तब हमारा ज्ञान चुम्बक के समान आकर्षक हो जाता है।

ज्ञान की कथा करने वाले बहुत लोग हैं। धाराप्रवाह व्याख्यान देने वाले तो व्याख्यान देते ही हैं, साधारण लोग भी एक दूसरे से अच्छी बातें कहते हैं। जब भी किसी को दूसरों को सीख देने का अवसर पड़ता है वह अच्छी ही सीख देता

है। "मन शुद्ध रखना चाहिए; संतोष की डाली में मेवे फलते हैं; अपनी कर्म-कमाई ही साथ जाती है; संसार झूठा है; परिवार, मित्र, भाई-बन्धु कौन किसका है! आत्मा ही परमात्मा है; भजन ही जीवन का सार है; शांति ही सबसे बड़ा सुख है; काम-क्रोधादि को मारकर ही निर्वाण पद मिलता है" इत्यादि बातें सामान्य लोग भी समय आने पर कहते हैं। कबीर देव कहते हैं कि ज्ञान की बातों को कहने का फल तब है जब हम उनके अनुसार आचरण करने लगें। जिसके जीवन में जानकारी तथा आचरण एक समान हो जाते हैं उसका ज्ञान आकर्षक हो जाता है। हमारी जानकारी तब तक ज्ञान का रूप नहीं लेती जब तक वह आचरण में न ढले। जानकारी का आचरण ही ज्ञान है। आचरणयुक्त ज्ञान चुम्बक के समान आकर्षक हो जाता है।

आप जानते हैं कि चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींचता है। इसी प्रकार जिनके जीवन में पवित्र आचरण है उनके ज्ञानोपदेश सत्पात्रों को अपनी ओर खींचते हैं। हाथ में फेंककर मारी हुई गोली हो सकता है कि निशाने पर लगे ही न, और लग भी जाये तो उतनी चोट नहीं कर सकती। परन्तु यदि उसी गोली को बन्दूक में भरकर मारा जाये तो एक तो प्रायः निशाने पर लगेगी और दूसरी बात, चोट भी गहरी करेगी। यही बात ज्ञानोपदेश की है। आचरण-रहित प्रवक्ता का ज्ञानोपदेश लोगों को प्रभावित नहीं करता, किन्तु यदि वह आचरणसंपन्न है तो उसकी बातें श्रोताओं पर प्रभाव डालती हैं। यही उसका चुम्बक के समान आकर्षक होना है। यह भी ठीक है कि आचरणहीन प्रवक्ताओं की भी कही हुई अच्छी बातें गुणग्राही लोग ले लेते हैं और श्रद्धाहीन लोग आचरणसंपन्न पुरुषों से भी कुछ नहीं ले पाते। परन्तु बात तो यहां आचरणयुक्त ज्ञान की वरीयता की है, जिसे कोई चुनौती नहीं दे सकता। यदि कोई उसे चुनौती देता है तो स्वयं मुंह की खाता है। यह निर्विवाद है कि सत्पात्र को आचरणसंपन्न पुरुषों के ज्ञान खींचते हैं और उनका विरोधी भी उनकी वरीयता भीतर से जानता है।

"कहहिं कबीर चुम्बक बिना, क्यों जीते संग्राम।" सद्गुरु कहते हैं कि इस तरह चुम्बकीय ज्ञान के बिना कोई मानसिक-युद्ध में कैसे विजयी होगा! जो व्यक्ति अपनी प्राप्त जानकारी का आदर नहीं करता, अर्थात जो जैसा जानता है उसका उस तरह से जीवन में उपयोग नहीं करता, तो वह मन के विकारों को कैसे जीत सकता है! हम जानते कम नहीं हैं, करते कम हैं। यदि जितना जानते हैं उतना आचरण में ढाल लें तो आगे काम की बातें और जान जायेंगे। इस प्रकार आचरण के द्वारा जो हमारा अनुभूत ज्ञान होगा उसी ज्ञान से हम मानसिक विकारों पर विजय पा सकते हैं।

महात्मा गांधी से विदेश के एक पत्रकार ने एक बार पूछा था कि आप न देखने में कोई सुन्दर हैं, न कोई बड़े विद्वान हैं और न आपके व्याख्यान में

कलाबाजी है; फिर क्या कारण है कि भारत के लोग आप पर लट्टू हैं? महात्मा गांधी ने उत्तर दिया था—"और तो मैं नहीं जानता कि मेरे में क्या गुण है, केवल एक बात जानता हूं कि मैं जिसे गलत समझ लेता हूं उसको छोड़ने के लिए कमर कस लेता हूं और जिसे सही समझता हूं उसे ग्रहण करने लिए प्राणपण से डट जाता हूं।" यही तो मनुष्यता है, यही तो साधुता है। समस्त उच्च लोगों का यही आचरण होता है।

समन्वय का तरीका

अपनी कहै मेरी सुनै, सुनि मिलि एकै होय।
हमरे देखत जग जात है, ऐसा मिला न कोय॥ 315॥

शब्दार्थ—जात है=भटके जा रहे हैं।

भावार्थ—अपनी बातें कहे और मेरी बातें सुने और कह-सुनकर तथा आपस में तालमेल बैठाकर एक हो जाये। मेरे देखने में लगता है कि संसार के अधिकतम लोग अपने मतों के हठ में पड़कर और अ-समन्वय को अपनाकर विरोधा-विरोधी में ही भटके जा रहे हैं। ऐसा प्रायः कोई नहीं मिलता जो समन्वय का रास्ता अपनावे॥ 315॥

कबीर पर अध्ययन एवं शोध करने वाले विद्वान जिनमें डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी तक हैं यह लिखते हैं कि कबीर ने समन्वय तथा समझौता का रास्ता नहीं अपनाया है। उन्होंने गलत को गलत कहा और सबकी बुराइयों पर उन्हें फटकारा। यह बात सर्वथा सत्य है। परन्तु विद्वानों को यह बात माननी ही पड़ेगी और प्रकारांतर से माना ही है कि कबीर महान समन्वयवादी रहे हैं। राम-रहीम, करीम-केशव, पूजा-नमाज, हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण-शूद्र एक ही बात है—इतना ज्वलंत समन्वय कबीर के अलावा किसने किया है! कबीर जो कुछ कहते थे, सब समन्वित होता था; क्योंकि उनका हृदय ही अद्‌भुत रूप से समन्वित था। अपनी जड़मान्यताओं के समर्थन में झूठ-फुर एक में मिला लेना, ऐसा समन्वय करना कबीर नहीं जानते थे। कबीर उदार और महान समन्वयवादी थे, किन्तु केवल तथ्य के ठोस धरातल पर।

सद्‌गुरु कबीर समन्वय का सुन्दर रास्ता बताते हैं। वे कहते हैं अपनी बातें कहे और मेरी बातें सुने और उन्हें समझकर दोनों तरफ की केवल सचाइयों को ग्रहण कर ले, बस एकता हो जायेगी। जो लोग ईश्वर-अवतार, पैगंबर, इलहामी किताब तथा प्रभुवाणी की भ्रम-धारणा में पड़े रहेंगे, वे न निष्पक्ष हो सकते हैं और न सत्य ग्रहण करने के लिए समन्वय कर सकते हैं। जो लोग अपने मत को ईश्वर का ठेकेदार मान बैठे हैं, वे कब दूसरे की बातें सुनकर उन्हें मनन करना चाहेंगे! उनको तो घोर प्रमाद है कि उनका मत ईश्वरीय है, उनकी किताब

ईश्रीय है, उनका पूज्य महापुरुष ईश्वर या ईश्वर का पैगम्बर है। ऐसे भोले आदमी कब दूसरे की बातें सुनने लगें! जो लोग अपने मत को तथाकथित ईश्वरीय एवं परम सत्य मान बैठे हैं, वे अपनी बातें तो कह सकते हैं, परन्तु दूसरे की बातें सुन नहीं सकते। यदि सुन भी लें तो उनका न मनन करेंगे न उनसे सार लेंगे। पक्षपात और जड़संस्कारों की चादर उतारकर जब तक फेंक नहीं दी जाती, तब तक न सारग्राही दृष्टि आ सकती है और न सत्य का मोती मिल सकता है। पक्षपात, हठ एवं दुराग्रह छोड़कर बातें कहने तथा सुनने से एकता हो जाना निश्चित हैं।

मन की पूर्ण शांति ही परम सुख एवं मोक्ष है, और मन के पूर्ण निर्विकल्प होने पर ही मन पूर्ण शांत होता है, और जब मन पूर्ण निर्विकल्प हो गया, तब कौन-सा मत रह गया! सारे मत मन की उपज हैं और मन लीन हो जाने पर सभी मत लीन हो गये। इस प्रकार परमशांति में पहुंचकर एकता ही है। यदि हम समझ लें कि 'सारे मत मन के खिलवाड़ हैं, मन की पूर्ण शांति ही परम सिद्धान्त है तो विवाद का कोई प्रश्न ही नहीं है। द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत चाहे जितने मत हों, सबका एक ही लक्ष्य है परम शांति की प्राप्ति, और वह बिना मन निर्विकल्प हुए नहीं हो सकती। और निर्विकल्प होने पर कोई मत ही नहीं रहता, फिर क्या झगड़ा है!

यह कहा जा सकता है कि मन की पूर्ण शांति की एक अलग अवस्था है, परन्तु दूसरी अवस्था निर्णय की होती है। उसमें सांच-झूठ पर विवेचन करना पड़ेगा। परन्तु विवेचन यदि निष्पक्षतापूर्वक हो तो बात सरलतापूर्वक समझी और समझायी जा सकती है। इसके लिए ऊपर ही विचार कर लिया गया है।

हम अपनी व्यावहारिक समस्याओं को भी आपस में बात करके सुलझा सकते हैं। प्रत्यक्ष है कि बड़े-बड़े राष्ट्रों में युद्ध होते हैं और युद्ध के बाद दोनों देश के राष्ट्राध्यक्ष एक जगह बैठकर आपसी विवाद को सुलझा लेते हैं। बात वहां नहीं सुलझती जहां कुछ समस्या हो या न हो, किन्तु मन में द्वेष, हठ, अड़ंगेबाजी एवं न सुलझाने की भावना होती है।

पूर्ण निष्पक्ष जिज्ञासु कम होते हैं

देश विदेशे हौं फिरा, गाँव गाँव की खोरि।
ऐसा जियरा ना मिला, लेवै फटक पछोरि॥ 316॥

शब्दार्थ—हौं=मैं। खोरि=गली।

भावार्थ—मैं देश-विदेश तथा गांव-गांव की गलियों में घूमा, परन्तु ऐसा निष्पक्ष आग्रहहीन एवं निर्मान व्यक्ति नहीं मिला जो सारे दुराग्रह छोड़ सूप-सदृश फटक-पछोरकर सत्य ज्ञान को ले ले और असत्य को भूसी की तरह उड़ा

दे ॥ 316 ॥

व्याख्या—इस साखी से कबीर साहेब की व्यापक भ्रमणशीलता का पता लगता है। वे देश ही में नहीं, विदेशों में घूमे थे और गांव-गांव की गलियों में भी। उन्होंने करीब एक सौ बीस वर्ष की लम्बी आयु पायी थी और अच्छा स्वास्थ्य पाया था। अतः वे देश-विदेशों में खूब घूमे थे। उनकी वाणियों में भारत के विभिन्न क्षेत्रों की भाषाओं एवं बोलियों के शब्द पाये जाते हैं जिससे उनकी भ्रमणशीलता की और भी पुष्टि होती है।

इस साखी में सद्गुरु ने जो मुख्य बात कही है वह यह है कि उन्हें ऐसा व्यक्ति नहीं मिला जो निष्पक्षतापूर्वक बातों पर विचार करे और सार-सार को ले तथा असार को छोड़ दे। बीजक में इस बात की उन्होंने कई बार पुनरुक्ति की है, जैसे "जाको खोजत हौं फिरा, ताका परा दुकाल।"[1] आदि। इसका शाब्दिक अर्थ लिया जाये तो ठीक नहीं है। यदि उन्हें कोई निष्पक्ष जिज्ञासु नहीं मिला तो उनके विचारों का क्रम आज तक कैसे बना है! अतः मिले तो अवश्य, परन्तु कम मिले। इसका लाक्षणिक अर्थ यही होगा कि निष्पक्ष चिंतक कम मिले। कबीर साहेब के संतत्व एवं सिद्धि की महिमा गाने वाले तथा उनकी भक्ति करने वाले तो उनके जमाने में कम नहीं थे, परन्तु "लेवै फटक पछोरि" की वृत्ति वाले उन्हें कम मिले। यह मानी हुई बात है कि उन जैसे निष्पक्ष और बेलाग को उन-जैसा ही बेलाग बिरला मिलेगा ही। आज भी कबीर साहेब के प्रति भक्ति-भावना अर्पित करने वाले करोड़ों हैं, परन्तु उनके खरे विचारों को पचाने वाले बहुत थोड़े हैं। जैसा वे स्वयं चारों तरफ से निष्पक्ष थे वैसा निष्पक्ष मिलना मामूली बात नहीं है। सब तो अपने-अपने संस्कारों की चादर में लिपटे हैं। आज भी उनके नाम पर पुजाने-खाने वालों में उनके खरे विचारों पर कितने हैं! "लेवै फटक पछोरि" बहुत बड़ी बात है। जब माताएं सूप में कूटा हुआ धान रखकर उसे पछोरती हैं तब सारी भूसी को उड़ा देती हैं। केवल चावल को सूप में रहने देती हैं। यदि चावल के साथ कंकड़ हों तो उन्हें वे नख से बीन-बीनकर फेंक देती हैं। चावल की कनी को भी एक तरफ कर देती हैं। सारी वाणियों को मथ-मथकर उनसे केवल सार-सार निकाल ले, उससे सारी असत्य-भूसी उड़ाकर सत्य-चावल ले ले, यह बड़े निष्पक्ष व्यक्ति का काम है।

अपनी परम्परा, मत, पंथ, सम्प्रदाय, समाज, मजहब का मोह, प्राचीनता का मोह, विशाल साहित्य का मोह, बहुत बड़े जनसमूह का मोह, बड़े-बड़े पुरुषों का मोह, तथाकथित ईश्वर, अवतार, पैगम्बर, इलहामी किताब एवं प्रभुवाणी का मोह, भारी जनमत का मोह, ये सारे मोह मनुष्य को असत्य को त्यागने एवं

---

31. साखी 185।

सत्य को ग्रहण करने में आड़े आते हैं। जो सत्य का मोती पाने के लिए सबका मोह छोड़ देता है वह पूर्ण जिज्ञासु है। फटकने-पछोरने वाला भूसी का मोह बिलकुल नहीं करता। इसी प्रकार जो सत्यज्ञान चाहता है वह असत्य मान्यताओं को निर्मम होकर त्यागता है। चाहे हजारों वर्ष की मान्यता हो, जो असत्य है उसका त्याग होना ही चाहिए। सत्य-देवता असत्य की गंध भी नहीं चाहता।

इस साखी में यह भी ध्वनित होता है कि कबीर साहेब अपनी बात भी जिज्ञासुओं को पटक-पछोर करके, छान-बीन करके ही सार को मानने की बातें करते हैं, आंख मूंदकर नहीं।

दुचित्तापन सफलता में बाधक

मैं चितवत हौं तोहि को, तू चितवत कछु और।
लानत ऐसे चित्त पर, एक चित्त दुई ठौर॥ 317॥

शब्दार्थ—लानत=धिक्कार, भर्त्सना।

भावार्थ—सद्गुरु कहते हैं कि हे जिज्ञासु! मैं तेरी ओर देखता हूं, परन्तु तू तो कुछ दूसरी ही तरफ देख रहा है। तेरे ऐसे चित्त को धिक्कार है जो गुरुज्ञान और माया—दोनों तरफ बंटा है॥ 317॥

व्याख्या—कबीर साहेब के पास मानो कोई जिज्ञासु आया हो। वे उसे समझा रहे हों, परन्तु उसका चित्त स्थिर न हो। वह कुछ तो साहेब की बातों को सुनने में चित्त लगाता हो और कुछ दूसरी तरफ। तो कबीर साहेब ने उसको टोक दिया हो—भले आदमी! मैं तो सारी एकाग्रता तुम्हें समझाने में लगा रहा हूं और तुम ऐसे दुचित्ते हो कि मेरी सारी बातें ध्यान से नहीं सुन रहे हो। ऐसे कई साधारण आदमी ही नहीं, साधक भी होते हैं कि जब उन्हें कोई विषय समझाने लगो तो वे उसे गहराई से नहीं लेते। वे या तो दूसरी तरफ ताकने लगते हैं, या दूसरी बातें करने लगते हैं। फिर तो ऐसे जिज्ञासुओं को समझाने की रुचि ही समाप्त हो जाती है।

बोधवान सद्गुरु-संतजन सदैव सत्पात्रों को सत्यज्ञान देकर उन्हें कल्याण के पथ पर ही खींचने का प्रयत्न करते हैं; परन्तु सब जिज्ञासु एवं मुमुक्षु पूर्ण समर्पित नहीं होते। जो पूर्ण समर्पित नहीं होता उसे पूर्ण कल्याण-पथ पर लाना बड़ा कठिन है। गृहस्थ भक्त तो दुचित्ते होते ही हैं और यह स्वाभाविक है। परन्तु कितने विरक्ति का जामा पहने हुए साधक भी दुचित्ते होते हैं। जो साधक आधा चित्त गुरुज्ञान की तरफ तथा आधा चित्त इन्द्रियों की लंपटता, कुटुम्ब-मोह, प्राणी, पदार्थ, पद, प्रतिष्ठादि की तरफ रखता है, वह अधकचरा है। उसकी नौका कब डूब जाये इसका ठिकाना नहीं है। गृहस्थ दुचित्ते हों यह बात स्वाभाविक लगती है परन्तु विरक्ति वेष लेकर दुचित्ता हो, तो उसे घर-गृहस्थी में

लौट जाना चाहिए और जब उसका मन वैराग्य में पक्का हो जाये तब वैराग्य-पथ में आना चाहिए।

कुछ हद तक गृहस्थ-भक्तों का भी दुचित्तापन गलत है। जैसे अभक्ष्यसेवन, किसी प्रकार का नशा-सेवन, तंत्र-मंत्र, झाड़-फूंक में लगना, कल्पित देवी-देवता तथा परोक्ष भ्रांत-मान्यताओं में भटकना, धन सत्कर्म में न खर्च करना, साधु-संगत एवं सद्ग्रन्थ-अध्ययन में रुचि न रखना, योग्यतानुसार त्याग पर ध्यान न देना, यह सब गृहस्थ-भक्तों का दुचित्तापन उनके पतन का कारण है। वे भक्त कहलाकर भी यदि इस तरह अपने पतन वाले पक्षों में मन रखते हैं तो उनका पतन कौन रोक सकता है!

विरक्त साधकों का दुचित्तापन तो एकदम क्षम्य नहीं है। ब्रह्मचारी एवं साधु-मर्यादा में रहते हुए अपने माने हुए घर एवं परिवार में रागवान होना, अपनी पूर्व-पत्नी या किसी स्त्री से निकट सम्बन्ध बनाना, संसारियों से घुलना-मिलना, स्वार्थ-दृष्टि से संसारियों को अपनी ओर खींचने का नाना उपाय करना, नाना पदार्थों का लालच करना, स्वाद और राग-रंग में मन रखना, किसी पद एवं प्रतिष्ठा-पूज्यता की लालसा रखना और इसी प्रकार अन्य ऐसी चेष्टाएं जो अपने वैराग्य, एकता एवं साधना में बाधक हैं, ब्रह्मचारी एवं साधु के पतन-पथ हैं।

लोकोक्ति है—"बज्र अस रांड़ या बज्र अस अहिबाती" अर्थात दो नावकाओं में पैर न रखकर एक ही नावका पर पैर रखने चाहिए। विरक्ति के पूर्ण साधन न अपना पावे तो उसका जामा न पहने, घर-गृहस्थी में रहकर भक्ति-पथ से चले। यदि विरक्ति-पथ का शौक हो तो सच्चा विरक्त हो। कहा जाता है बिन शौक फकीरी मिट्टी है। साधक बनकर फिर स्त्रियों की संगत में मोह, राग-रंग, स्वाद-शौक आदि करना मूर्खता ही नहीं, हद दर्जे की मूर्खता है।

कोई काम तब तक पूर्णतया सफल नहीं होता जब तक दुचित्तापन छोड़कर उसको एक चित्त से न किया जाये, वह चाहे खेती, व्यापार, पढ़ाई या कुछ भी हो। फिर स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति का काम कोई दुचित्तापन से करे तो वह कैसे सफल होगा! यह तो बिलकुल एकाग्रता का विषय है। "प्रेम गली अति साँकरी, जामें दो न समाय।" जब तक सांसारिक राग-रंग से एकदम पीठ नहीं दे दिया जाता, तब तक सच्ची मुमुक्षा नहीं और जब तक सारी कामनाओं का त्याग कर समाधि में लीन नहीं होते तब तक परम शांति एवं मोक्ष पद नहीं मिल सकता, जो जीवन का, या कम-से-कम साधक का परम लक्ष्य है। इसलिए हम दुचित्तापन को छोड़कर तथा एकचित्त होकर गुरुज्ञान एवं साधना में लगें।

निर्णय वचन मोक्षप्रद हैं

चुम्बक लोहे प्रीति है, लोहे लेत उठाय।
ऐसा शब्द कबीर का, काल से लेत छुड़ाय॥ 318॥

शब्दार्थ—चुम्बक=एक प्रकार का पत्थर जो लोहे को अपनी ओर खींचता है। काल=अज्ञान।

भावार्थ—चुम्बक में लोहे के प्रति मानो प्रेम है। वह लोहे को निकट पाकर उसे उठाकर अपने में चिपका लेता है। कबीर के निर्णय वचन भी ऐसे ही हैं। वे जीव को अज्ञान से छुड़ा लेते हैं॥ 318॥

व्याख्या—यहां 'कबीर' का यदि हम ग्रंथकार कबीर साहेब अर्थ करते हैं जैसा कि ऊपर किया गया है, तो यह साखी कबीर की एक गर्वोक्ति के रूप में प्रतीत होगी। अर्थात कबीर गर्वपूर्वक कहते हैं कि मेरे वचन ऐसे हैं जो जीव को काल से छुड़ा लेते हैं। साधारणतया यह साखी लगती तो गर्वोक्ति है, परन्तु यह एक साधिकारोक्ति है जो कबीर साहेब-जैसे सिद्ध संत के लिए सहज एवं स्वाभाविक है। पूर्ण पुरुष साधिकार वचन कह सकते हैं। कबीर साहेब अध्यात्म के उच्चतम सिद्ध संत थे। उनका अधिकारपूर्वक कहना स्वाभाविक है। पूरा बीजक पढ़ डालिए तो आप कहीं भी नहीं पायेंगे कि अंधविश्वास की थोड़ी भी गुंजाइश हो। बल्कि उसका तो प्रबलतम निषेध है। कबीर की सारी बातें धारदार, बेलाग और खरे ज्ञान से पूर्ण हैं। वे निश्चित ही अज्ञान-काल की जड़ उखाड़कर फेंक देने वाली हैं। कबीर साहेब की वाणियों का जो निष्पक्षतापूर्वक एवं आग्रहरहित होकर मनन करेगा, निश्चित ही उसके सारे अज्ञान समाप्त हो जायेंगे।

क=काया, बीर=जीतने वाला, अर्थात काया को जीत लेने वाला कबीर है। जिन्होंने अपने मन तथा इन्द्रियों को जीत लिया है, वही कबीर है। कबीर का सामान्य अर्थ जीव भी किया जाता है। काया में बीर कबीर—जीव है। अतएव सामान्य चेतन जीव और जितेन्द्रिय संत पुरुष कबीर वाचक मान लिये गये हैं। इस प्रकार उक्त साखी का अर्थ होगा कि जितेन्द्रिय पुरुष के ज्ञान-शब्द मनुष्य के मन के अज्ञान के विध्वंसक है। जिसने भी अपने मन तथा शरीर को जीत लिया, उसके ही वचन अज्ञान के ध्वंसक हो जाते हैं। जिसने मन को जीता वही गुरु है, वही कबीर है और उसी के वचन जिज्ञासुओं के लिए कल्याणकारी हैं।

यदि कबीर का अर्थ सामान्य चेतन जीव माने, तो अर्थ होगा कि जीव के स्वरूप के परिचायक शब्द जीव को अज्ञान-काल से छुड़ा लेते हैं। अर्थात जो वाणी जीव के स्वरूप का परिचय देती है वह जीव को अज्ञान से छुड़ा लेती है। जीव अपने स्वरूप का परिचय पाकर ही तो नाना प्रकार के अज्ञान से छूटता है!

कुल मिलाकर सार अर्थ यही है कि निर्णय वचन अज्ञान के ध्वंसक हैं और

वे चुम्बक की तरह हैं। यहां चुम्बक का सुन्दर उदाहरण दिया गया है। लोहे का चूर भी हो और वह धूल में मिल गया हो, परन्तु यदि वहां चुम्बक-पत्थर पहुंच जाये तो उन लोह-कणों को वह धूल में से खींचकर अपने में चिपका लेगा। चुम्बक में लोहे के प्रति स्वाभाविक आकर्षण है। इसी प्रकार खरे ज्ञान में जिज्ञासु जीव के प्रति स्वाभाविक आकर्षण है। जो निष्पक्ष, आग्रहरहित एवं विनम्र जिज्ञासु होता है, वह सत्य निर्णय को सुनकर उधर स्वाभाविक खिंच जाता है। सत्य निर्णय वचन जीव को काल से छुड़ा लेते हैं। काल का रूढ़ अर्थ मृत्यु है, जो केवल शरीर को मारता है, परन्तु शरीर के मरने से कोई हानि नहीं होती। जिससे जीव को संसार में भटकना पड़ता है, अथवा जिससे मनुष्य का मन सदैव चंचल रहता है वह अज्ञान एवं अविद्या ही काल है। चिन्ता और चिता में चिंता ही दुखदायी है, चिता नहीं। क्योंकि चिता तो जड़ शरीर को ही भस्म करती है, परन्तु चिन्ता चेतन को रुलाती है। मौत होने पर जड़ शरीर चिता में जलता है, परन्तु अज्ञान से चेतन-मनुष्य चिन्ता में जलता है। अतएव चिन्ताकारक अज्ञान ही काल है, जिससे जीव को ज्ञान के वचन छुड़ाते हैं। इसलिए हर शांति-इच्छुक का कर्तव्य है कि वह विवेकवान संत पुरुषों के निर्णय वचनों का मनन-चिंतन करे।

भूल से जागो

भूला तो भूला, बहुरि के चेतना।
विस्मय की छूरी, संशय का रेतना॥ 319॥

शब्दार्थ—बहुरि=पुनः, फिर। चेतना=होश में आना, सावधान होना। विस्मय=आश्चर्य, संदेह। संशय=अनिश्चय। रेतना=रेती से रगड़कर किसी वस्तु को साफ या औजार को तेज करना।

भावार्थ—जो भूल हो गयी वह हो गयी, अब सावधान हो जाओ! लोग संशय की रेती से रेतकर विस्मय की छूरी को तेज करते हैं और उससे अपना ही गला काटते हैं। तुम ऐसा न करो॥ 319॥

व्याख्या—रेती नाम का लोहे का एक खुरदुरा चपटा छड़ होता है उससे रगड़कर लोहे के औजार साफ किये जाते हैं और छूरी, चाकू आदि धारदार हथियार को रगड़कर उनकी धार तेज की जाती है। सद्गुरु ने इस साखी में विस्मय को छूरी कहा है जिससे गला रेता जा रहा है। इस विस्मय की छूरी को ज्यादा तेज करने के लिए संदेह की रेती से उसकी धार साफ कर ली जाती है।

विस्मय आश्चर्य को कहते हैं। इसके बाद इसके अर्थ संदेह, गर्व, विषाद, आदि भी हैं, किन्तु यहां का खास अर्थ आश्चर्य ही लगता है। मनुष्य भूमंडल, समुद्र, वन, असंख्य तारे तथा अनंत आकाश देखता है। उसे आश्चर्य होता है कि

यह सब कैसे बन गया, इसे किसने बनाया! पृथ्वी पर छह ऋतुओं का परिवर्तन, वृक्ष, बेलि, वनस्पति, नदी, झरने, नाना धातु, प्राणियों के शरीर, शरीर में उपयोगी अवयव एवं इन्द्रियां—ये सब कैसे बन गये, इन्हें किसने बनाया! पुराकाल में हमारे पूर्वजों को तो निविड़ अंधियारी रात, तूफान, मूसलाधार वर्षा, बादलों की गर्जना आदि भी घोर आश्चर्यजनक लगते थे और वे इन सबमें किन्हीं समर्थ देवताओं के हाथ देखते थे। आज इस विज्ञान युग में भी सृष्टि की विचित्रता में जड़-चेतन के गुण-धर्म, विश्व के नियम, द्रव्यों से स्वभावसिद्ध संरचना न देखकर किसी देव के हाथ देखने वालों की भीड़ है। विस्मय एवं आश्चर्य होना ही अबोध का लक्षण है।

वनस्पतियों के पत्तों में नसें कैसे बन गयीं! नाना प्रकार के फूल कैसे खिल गये! एक ही पेड़ की एक ही डाली में नाना रंग के फूल कैसे हो गये। मोर की कलंगी, हिरन की ऐंठी सींगे, सिंह के शरीर पर धारियां, प्राणियों में आंख, नाक, कान, दांत आदि कैसे बन गये! यह सब आश्चर्य अबोधी आदमी को ही हो सकते हैं। ज्ञानवान समझते हैं कि जड़प्रकृति गुणों का भंडार है। बीजीअसर के असंख्य खेल हैं और जड़-चेतन के बीच में जो संभव है वह हो रहा है। आश्चर्य नाम की चीज संसार में कुछ है ही नहीं। परन्तु देवता का भूत जिसके दिमाग पर चढ़ा है वह हर चीज किसी देवता का बनाया मानता है, और स्वयं अकर्मण्य होकर उसकी प्रार्थना के बल पर सब कुछ पाना चाहता है।

संशय की रेती से विस्मय की छूरी अधिक धारदार हो जाती है। संशय का अर्थ है अनिश्चय, जैसे कि जगत स्वतः अनादि है कि किसी ईश्वररचित, ईश्वर है कि नहीं, जीव तथा देह एक है कि दो, पुनर्जन्म, कर्मफल-भोग, बन्ध-मोक्ष है कि केवल कल्पित, त्याग-मार्ग में चल पाऊंगा कि नहीं! यह संशय मनुष्य को जिज्ञासु बनाये और वह सत्य की खोज करे तब तो ठीक है; परन्तु यदि संशय जीवनभर दिमाग पर छाया रहे तो यह भटकने का कारण बन जायेगा। सद्गुरु कहते हैं कि आदमी जितना संशयग्रसित होगा उतना वह अबोधी बनकर भटकेगा। वह उतना ही संसार की घटनाओं को देखकर आश्चर्य करेगा।

कबीर देव कहते हैं—"भूला तो भूला, बहुरि के चेतना।" पहले जो भूल-चूक में थे अब वैसे ही मत बने रहो। देव तथा ईश्वर की बैशाखी छोड़कर स्वतन्त्र होकर चलो। द्रव्य नित्य हैं, द्रव्य में क्रिया एवं गति नित्य हैं और इस द्रव्य एवं गति से जगत नित्य है। द्रव्य और गतिमय संसार के साक्षी चेतन नित्य हैं। जो असंख्य चेतनों तथा असंख्य जड़ द्रव्यों को ठीक से अनादि-अनंत अपने गुण-धर्मों से नित्य समझ लेगा उसे संसार के ज्ञान के विषय में भटकाव नहीं होगा। जड़-चेतन का ठीक से बोध न होने से आत्मा से अलग परमात्मा तथा देवी-देवता, भूत-प्रेतादि के नाना भ्रम खड़े होते हैं। जड़-चेतन का निर्णययुत

बोध हो जाने पर सारी भ्रंतियां कट जाती हैं।

इस साखी का अर्थ हम बौद्धिक एवं दार्शनिक स्तर के हटकर मानसिक एवं चारित्रिक स्तर पर भी कर सकते हैं। हम विस्मय का अर्थ विषाद तथा संशय का अर्थ पूर्ववत अनिश्चय लें तो अभिप्राय होगा कि हम अपने मानसिक अनिश्चय एवं संदेह के कारण विषाद में पड़े रहते हैं। विषाद का अर्थ है, उदासी, मानसिक चिंता तथा मन का उखड़ा-उखड़ा रहना। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि अनिश्चय मन वाला विषाद भरा मन वाला होता है। जिसका अपना लक्ष्य निर्धारित नहीं है, जो अपने पथ में निश्चय मन वाला नहीं है, उसकी न अपने लक्ष्य की दिशा में प्रगति हो सकती है और न उसके मन में शांति आ सकती है। जो व्यक्ति मन की दुविधा छोड़कर अपने विषय में निर्णय ले सकता है वही विषाद एवं चिंता से छूटकर अपने लक्ष्य को पा सकता है। सद्गुरु कहते हैं कि हे साधक! तू आज तक भूल में रहा, परन्तु अब सावधान हो जा, अब होश में आ जा। जब सारे संशय, अनिश्चय एवं दुविधा को छोड़कर अपने पथ में लग जायेगा, तब तू सारे विषयों से पार होकर अनन्त सुख के सागर में पहुंच जायेगा।

इस साखी की प्रथम पंक्ति को देखते हुए लगता है कि मानो कोई साधक कुछ भूल कर गया हो और वह पश्चाताप में इतना डूब गया हो कि उठने का साहस ही न कर रहा हो। इतने में सद्गुरु ने झकझोरकर जगाते हुए तथा साहस देते हुए उसे कहा हो कि जो भूल हुई सो हुई, उसको लेकर रात-दिन ग्लानि में डूबा मत रह, किन्तु यह निश्चय कर कि अब ऐसी गलती तू नहीं करेगा। अब तू पूर्ण होश में आ जा। तू अपने मन का अनिश्चय छोड़, तेरे सारे विषाद-अवसाद समाप्त हो जायेंगे। तू अपने कल्याण-पथ पर चलने में संदेह मत कर। तू अपने कल्याण-पथ पर चल सकता है और इसी जीवन में पूर्ण जीवन्मुक्त हो सकता है।

संसार का सम्बन्ध झूठा है

दोहरा कथि कहैं कबीर, प्रतिदिन समय जो देखि।
मुये गये नहिं बहुरे, बहुरि न आये फेरि॥ 320॥

शब्दार्थ—दोहरा=साखी, दोहा।

भावार्थ—कबीर साहेब कहते हैं कि मैं प्रतिदिन के देश और काल को देखकर जो संसार की वास्तविकता है उसका बोध कराने के लिए दोहे एवं साखियां कहता हूं। संसार की यह परम वास्तविकता है कि जो व्यक्ति मरकर यहां से चला जाता है वह लौटकर नहीं आता॥ 320॥

व्याख्या—कबीर साहेब लिखते नहीं थे, किन्तु वैदिक ऋषियों की तरह

कहते थे—"दोहरा कथि कहैं कबीर" इस पद्यांश से स्पष्ट होता है। "मसि कागद छुवों नहीं......इस 187वीं साखी में तो उन्होंने बहुत खुलासा बताया है कि मैं स्याही, कागज, कलम आदि नहीं छूता, केवल मुख से ही अपनी बातें बता देता हूं। लिखने और कहने में बड़ा अन्तर होता है। लेखक जब लिखता है तब वह दूसरे मनुष्यों से हटकर केवल अकेला रहकर लिखता है। लिखते समय लेखक के सामने केवल अपनी मानसिक कल्पना रहती है। परन्तु कहते समय सामने दूसरा आदमी होता है। वक्ता चेतन मनुष्यों की स्थिति एवं मनोदशा देख-देखकर उनके अधिक उपयोग की बातें कहता है। इसलिए लेख से प्रवचन अधिक प्राणवान होते हैं। श्री विशाल साहेब ने भी कहा है—"चेतन संयुत वाक्य प्रकाशित, लखि-लखि उर तस प्रेरे।"

कबीर साहेब ने बहुत दोहे कहे हैं। तीन सौ तिरपन दोहे तो इस प्रकरण में ही हैं। दोहा में दो पंक्तियां होती हैं। दोनों पंक्तियां तेरह और ग्यारह मात्राओं की होती हैं। कबीर साहेब ने इसे साखी कहा है। साखी साक्षी का तद्भव शब्द है। साखी द्रष्टा को कहते हैं जो तटस्थ एवं निष्पक्ष होता है। कबीर साहेब की सारी वाणियां निष्पक्ष होती हैं। अतः अपने दोहों को उन्होंने साखी ही कह डाला है। पूरे बीजक में इस 320वीं साखी में ही दोहरा कहकर दोहा नाम का भाव व्यक्त किया है।

सद्गुरु कहते हैं कि मैं प्रतिदिन के समय को देखता हूं तो लगता है कि सभी देश और काल की वस्तुएं आगमापायी हैं। संसार की सभी वस्तुएं गतिशील हैं। हर वस्तु की गतिशीलता में देश और काल लगते हैं। जैसे मानो यह उंगलियों में फंसी कलम कागज पर गति करती है, तो इसके गति करने में कुछ देश तथा कुछ काल लगते हैं। कलम कागज पर प्रतिक्षण एक जगह से दूसरी जगह सरकती है यह देश का आयाम है और उसमें जो समय लगता है वह काल है। देश और काल से प्रभावित सारी चीजें नाशवान हैं। मनुष्य का जीवन क्षणभंगुरता का ज्वलंत उदाहरण है। सद्गुरु कहते हैं कि यह सब का प्रतिदिन का अनुभव है कि आदमी मरता है और जो मरता है वह पुनः लौटकर नहीं आता। परन्तु इस बात से कोई यह अर्थ न लगाये कि कबीर साहेब पुनर्जन्म का खंडन करते हैं। कबीर साहेब पुनर्जन्म के सिद्धान्त को प्रबलता से मानते हैं, जिसके समर्थन में पूरे बीजक में उनके वचन फैले हैं। यहां तो केवल इतना ही अर्थ है कि इस संसार में रहने वाले सभी मनुष्य मरते हैं और जो मरता है वह लौटकर पुनः नहीं आता।

यहां माया-मोह पर चोट है। साहेब कहते हैं कि मनुष्य इतना जड़ हो गया है कि इस क्षणभंगुर जीवन में वह पता नहीं कितना पाप कर डालता है। जमीन, धन, पद, प्रतिष्ठा आदि के लिए पाप-पर-पाप करता है। मोही मनुष्य की

गतिविधि देखकर लगता है कि मानो उसे इस देह से इस संसार में ही सदैव रहना है। परन्तु ध्यान रहे, जो एक बार यहां से उठ गया वह यहां कभी नहीं लौटता। यह ठीक है कि पुनर्जन्म-सिद्धान्तानुसार जीव पुनः संसार में बारम्बार जन्म धारण करता है, परन्तु उसी रूप में तो वह नहीं आ पाता। राम, कृष्ण, पृथु, वेन, जवाहर, पटेल उसी रूप में कहा आ सके! इस संसार से सबको अचानक जाना पड़ता है। जाने में देरी नहीं लगती और जाकर लौटने का प्रश्न ही नहीं उठ सकता, फिर ऐसे संसार में हमें किस वस्तु का मद करना चाहिए! जहां सब कुछ अचानक सदा के लिए छूट जाना है। वहां के लिए हमें चिंता करना व्यर्थ है। बाकी सब अनिश्चित है, परन्तु मृत्यु निश्चित है। यह संसार के प्रतिदिन का ज्वलंत अनुभव है। सद्गुरु का इस साखी में उसी के लिए निर्देश है कि हे मानव! तुम मोह-नींद से जागो।

सकामी शिष्य की दशा

गुरू बिचारा क्या करे, शिष्यहि माँ है चूक।
भावै त्यों परमोधिये, बाँस बजाये फूक॥ 321॥

शब्दार्थ—चूक=भूल, अपराध, छल-कपट, असावधानी। परमोधिये= प्रबोध दीजिये, जगाइये, उपदेश दीजिये।

भावार्थ—बेचारा गुरु क्या करे जबकि शिष्य की ही असावधानी है। कपट से भरे श्रद्धाहीन शिष्य को चाहे जितना उपदेश करो उस पर उसी प्रकार प्रभाव नहीं पड़ सकता जैसे कोई पोले बांस में फूंक मारकर उसे बजाये और फूंक दूसरी तरफ निकल जाये॥ 321॥

व्याख्या—कबीर साहेब की प्रायः हर बात में उदाहरण रहता है। यहां पोले बांस से श्रद्धाहीन शिष्य की तुलना की गयी है। ऐसे भी शिष्य नामधारी होते हैं जो कहने के लिए तो किसी गुरु से दीक्षा ले लेते हैं और उनके शिष्य कहलाने लगते हैं, परन्तु उनके मन में परमार्थ की बात न होकर देहस्वार्थ, इन्द्रिय-भोग एवं मान-बड़ाई पाने की लालसा रहती है। वे परमार्थ की आड़ में स्वार्थ साधने के चक्कर में रहते हैं। इसलिए वे सद्गुरु तथा संतों से छल-कपट रखते हैं। वे अपने हृदय के भेद को अपने परम हितैषी संत-गुरु से नहीं कहते हैं। वे बड़ी चतुरता से अपनी भोग-लालसा को छिपाये रखते हैं। परन्तु क्या छिपाकर लहसुन-प्याज खाने से वह खाना छिप सकता है। जब वह लोगों के बीच में जायेगा तब उसके मुंह से निकलकर उसकी गंध अपने आप बता देगी कि उसने लहसुन-प्याज खा रखे हैं। पापी अपने पाप को हजार परत में लपेटकर छिपाना चाहता है, परन्तु वह तो छिपने वाला नहीं है।

कल्याणार्थी साधक के हृदय में भोग और सम्मान की किंचित भी वासना नहीं रहती। वह अपने उद्धारक सद्गुरु तथा संतों से निष्कपट, निष्छल एवं

अभिन्न होता है। जिसे मानसिक स्वच्छता तथा आध्यात्मिक शांति प्रिय है, वह छल-कपट से सैकड़ों कोस दूर रहता है। निष्छलता मनुष्य का उच्चतर व्यक्तित्व है और फिर साधक की तो बात ही निराली है। जो साधक होता है उसमें छल-कपट का प्रश्न ही नहीं उठ सकता! साधक इन्द्रियों के भोगों को तिलांजलि दे देता है। सारे छल-कपट इन्द्रिय-भोग तथा सम्मान की प्राप्ति के लिए ही किये जाते हैं। साधक इन्हें अपना शत्रु मानता है। भोग-मान की वासना ही शत्रु है। अतएव शांति का भूखा-प्यासा साधक भोग-मान की वासनाओं से दूर निष्छल होता है।

साधक के चोंगे में जो भोगों की इच्छावाले लोग होते हैं वे बड़ी सावधानी से अपने मैले मन को संत-गुरु से छिपाये रखते हैं। वे मूढ़जन अपना इसी में लाभ समझते हैं। परन्तु थोड़े ही दिनों में उनकी जो दुर्गति होती है, भोगे नहीं सिराती। ऐसे मलिन साधक को गुरु चाहे कितना समझावे उसको कोई असर नहीं होता। "भाव त्यों परमोधिये" गुरु का जितना मन हो उतना उपदेश उसे करता रहे, परन्तु उसके लिए वह सब "बाँस बजाये फूक" की तरह ही निरर्थक होकर रह जाता है। जिसके मन में विषय-भोग और सांसारिकता समाये हैं वह गुरु-उपदेशों का महत्त्व क्या समझ सकता है!

"भावै त्यों परमोधिये" को इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि शिष्य को जितना भावे, जितना अच्छा लगे उतना ही तो उपदेश दिया जा सकता है! यदि उसे उपदेश अच्छे नहीं लगते तो उसके सामने कुछ भी कहना "बाँस बजाये फूक" के समान बेकार होगा।

वक्ता की विनम्रता

दादा भाई बाप कै लेखों, चरणन होइहौं बन्दा।
अबकी पुरिया जो निरुवारे, सो जन सदा अनन्दा॥ 322॥

शब्दार्थ—दादा=पिता के पिता, पितामह, बड़ा भाई, गुरुजन। लेखों=मानूं, समझूं। बन्दा=सेवक, दास; वक्ता विनय दिखाने के लिए अपने आप को बंदा कहता है।[1] पुरिया=बाना फैलाने की नरी, ताना, गठरी, गांठ, तात्पर्य में वासना। निरुवारे=सुलझावै।

भावार्थ—कबीर साहेब कहते हैं कि हे मित्रो! मैं तो तुमको भाई, पिता तथा पितामह के समान समझूंगा और तुम्हारे चरणों का गुलाम भी बन जाऊंगा, शर्त यह है कि तुम वासनाओं का त्याग करो। जो आज वासनाओं का ताना सुलझा लेगा एवं मानसिक ग्रंथियों को खोल लेगा वह सदा के लिए आनंदित हो

32. बृहत् हिन्दी कोश।

जायेगा॥ 322॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर के मन में मनुष्यों की आध्यात्मिक उन्नति की कितनी तीव्र भावना है! व्यक्तियों की आध्यात्मिक उन्नति हुए बिना सामाजिक उन्नति नहीं हो सकती। व्यक्ति-व्यक्ति इकट्ठा होकर ही समाज बनता है। यदि व्यक्ति ठीक हो जायें तो समाज ठीक हो जाये। या कहना चाहिए कि जितने व्यक्ति ठीक हो जायेंगे उतने अंश में समाज ठीक हो जायेगा।

मन की गुत्थियों का सुलझ जाना ही मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति है। बीजक में 'पुरिया' शब्द का प्रयोग प्रायः वासनाओं की पोटली, गठरी, गांठ या ताना-बाना के अर्थ में है। 58वें शब्द में भी "पुरिया जरे वस्तु निज उबरे" कहकर वासनाओं की गठरी के जल जाने पर ही निज वस्तु-आत्मतत्त्व का उद्धार होना बताया गया है। इस साखी की यह पंक्ति "अबकी पुरिया जो निरुवारे, सो जन सदा अनन्दा।" बहुत महत्त्वपूर्ण है। सद्गुरु कहते हैं कि तुम आज विवेक-साधनासंपन्न मानव शरीर को प्राप्त हो, अंतः यदि आज वासनाओं का ताना-बाना सुलझा लो, तुम्हारे मानसिक संस्कार सुधर जायें, मन की सारी वासनाएं क्षीण हो जायें, तो तुम सदैव के लिए आनंदित हो जाओगे। संसार के भोग-ऐश्वर्य एवं पद-प्रतिष्ठा में क्षणिक सुख मिलता है और उसके परिणाम में केवल क्लेश मिलता है। परमानन्द, सदानंद, नित्यानंद, अनंत सुख, आत्यंतिक सुख, परमशांति एवं अनंत शांति पाने का केवल एक रास्ता है, वह है समस्त वासनाओं का त्याग। समस्त इच्छाओं एवं वासनाओं के त्याग हो जाने पर जो शांति मिलती है, उसका वर्णन असंभव है। उसका केवल अनुभव हो सकता है, कथन नहीं। यही जीवन की सर्वोच्च स्थिति है। जिसकी इच्छाएं निवृत्त हो चुकी हैं, जिसने समस्त वासनाओं का त्याग कर दिया है, वह सदा के लिए परमानंदमय एवं शांति का महासागर हो जाता है।

यहां एक बात और ध्यान देने योग्य है। पारखी संत प्रायः आनंद शब्द से कतराते हैं और वेदांती सुख शब्द से, परन्तु यह दोनों का मिथ्या भय है। परम पारखी कबीर देव ने यहां जीवन्मुक्ति सुख के लिए आनंद शब्द का प्रयोग किया है। उनके परवर्ती श्री रामरहस साहेब ने भी अपनी महान रचना पंचग्रंथी में अनेक स्थलों पर विधेयात्मक ढंग से आनंद शब्द का प्रयोग किया है। कुछ बानगी लें—"आनंद सिधु अहंतातीता, तू हंस स्वतः आनन्द, हंस स्वतः पद आनंद लहै, हंस स्वतः आनंद पद सोई पद है जीव, दीन दयाल की शरण अनंदा, तेहि मांहिं परख गुरु ठहर साध। आनंद लहरि के समुद्र अगाध, हंस स्वतः आनंदपद, स्वतः अस्ति आनंद पद, आनंद महल अबास सोहावान,

गुरुमुख सुख अनुमान रहित पद, बसै आनंद अटारी, स्वतः हंस आनंद पद।"[1] इसी तरह वेदांतियों के मान्य ग्रंथ गीता में देखें—"संन्यस्यास्ते सुखं वशी, सुखमक्षयमश्नुते, स युक्तः स सुखी नरः, योऽन्तःसुखोऽन्तरारामः, सुख-मात्यन्तिकम्, योगिनं सुखमुत्तमम्, अत्यन्तम् सुखमश्नते, आदि।"[2] गीता में इस आध्यात्मिक सुख के लिए शांति शब्द का भी काफी प्रयोग है। मूल वेदांत उपनिषद् कहती है—"यो वै भूमा तत्सुखं"[3] जो भूमा है, अनंत आत्मा है, वही सुख है।

वेदांती मान लेते हैं कि सुख का अर्थ विषय-सुख तथा आनन्द का अर्थ आध्यात्मिक सुख में है, और कतिपय पारखी मान लेते हैं कि आनन्द का अर्थ विषय-सुख है तथा सुख का अर्थ आध्यात्मिक है। परन्तु विचारकर देखा जाये तो ऐसी बात नहीं है। यह तो अपने मनोभाव पर निर्भर करता है कि जब हम आनन्द या सुख शब्द कहते हैं तब उन्हें क्षणिक विषयों की अनुकूलता के लिए कहते हैं कि मानसिक शान्ति एवं आध्यात्मिक सुख के लिए कहते हैं। सुख या आनन्द दोनों में से किसी भी शब्द या प्रयोग आध्यात्मिक सुख के लिए किया जा सकता है। शांति तो इसके लिए महत्तम शब्द है ही।

इस साखी की पहली पंक्ति भी ध्यान देने योग्य है। सद्गुरु कहते हैं कि जो अबकी बार समस्त वासनाओं का त्यागकर सदैव के लिए आनन्दमय हो जाये, मैं उसको "दादा भाई बाप कै लेखों, चरणन होइहौं बन्दा।" अर्थात उसे मैं भाई, पिता तथा पितामह की तरह मान सकता हूं, मैं उसके चरणों की सेवकाई भी कर सकता हूं। यह विनम्रता और लोकमंगल की चरमनिष्ठा है। इस पंक्ति में दो बातें हैं, एक तो यह है कि वे मनुष्य की पूर्ण उन्नति इच्छाजीत एवं वासनामुक्त होने में मानते हैं जो अध्यात्म की परम ऊंचाई है और दूसरी बात यह है कि ऐसे आध्यात्मिक उन्नति करने वाले को वे अपने सर-आंखों पर बैठा लेना चाहते हैं। इसी भावना से ओत-प्रोत उनके जगह-जगह वचन हैं "कहहिं कबीर जो अबकी बूझै, सोई गुरू हम चेला।"

इससे हमें यह भी प्रेरणा मिलती है कि वक्ता को कितना विनयी होना चाहिए। कबीर जैसे उच्चतम संत कितनी विनम्रता से अपने आप को पेश करके कल्याणार्थी को प्रेरित करते हैं यह सोचते ही बनता है। जैसे कोई अपने बच्चों को बच्चा, बाबू, बप्पा, दादा, बाबा आदि कहकर उन्हें दुलारता एवं मनाता हो, वैसे सद्गुरु जिज्ञासु एवं मुमुक्षु को भाई, बाप, दादा, कहकर उसे सन्मार्ग पर लाना चाहते हैं। कबीर जैसे उच्चतम संत संसार का गुरु बनकर उसे नहीं

---

33. पंचग्रन्थी, गुरुबोध, गुरुशतकसार तथा प्रश्न एक से पन्द्रह के उत्तर में।
34. गीता 5/13, 5/21, 5/23, 5/24, 6/21, 6/27, 6/28।
35. छांदोग्य उपनिषद् 7/23।

चेताना चाहते, किन्तु उसका चेला बनकर एवं सेवक बनकर उसे चेताना चाहते हैं। महात्मा गांधी ने लिखा है कि बड़े-से-बड़े लोगों को भी अपने आप को श्रेष्ठ, स्वामी एवं मालिक मानकर नहीं, किन्तु जनता का सेवक मानकर उनकी सेवा करनी चाहिए। उपदेशक को चाहिए कि वह समाज को विनम्रता एवं समतापूर्वक सत्योपदेश एवं धर्मोपदेश दे। श्री रामरहस साहेब ने कहा है—

उत्तर प्रश्न अनेक विधि, निर्णय सहित यथार्थ।
उपदेशै तेहि मेल विधि, लखै आपनो अर्थ॥
काहे ते शिष्य मेल विधि, उचटै नहिं सो जीव।
वह तू जमा सो एक ही, ताते मेलहु कीव॥
मिलि लखे ते उचटे नहीं, एकता सुख की खानि।
सत्य शब्द टकसार विधि, निर्णय कही बखानि॥
दादा भाई बाप कै लेखौं, चरणन होइहौं बन्दा।
अबकी पुरिया जो निरुवारे, सो जन सदा अनन्दा॥
ऐसी उपदेशन युक्ति, दीन्हीं तोहि बताय।
जाते उचटै नहीं सो, लहै हंस पद आय॥
ठहरावै तेहि पद निजु, सो कृपाल गुरुदेव।
अनुमानी संकल्पना, नाश लहै बिनु भेव॥

(पंचग्रन्थी, गुरुबोध, दोह 292 से 297)

अर्थात—अनेक प्रकार से प्रश्न और उत्तर के रूप में यथार्थ निर्णय करे। उपदेशक को चाहिए कि वह मेल-मिलाप की विधि से उपदेश करने में अपना प्रयोजन समझे। हे शिष्य! मेल-मिलाप के तरीके से क्यों उपदेश करना चाहिए; क्योंकि इससे श्रोताओं का मन उदास नहीं होता। तुम वक्ता और वे श्रोता दोनों सजाति मानव होने से एक ही हो, इसलिए तुम्हें उनको मिलाकर उपदेश करना चाहिए। प्रेम से, विनय से एवं मीठे वचन कहकर मेल-मिलाप की भावना से उपदेश करने पर किसी श्रोता का मन उचटता नहीं, उदास नहीं होता। देखो, संसार में एकता सुख की खानि है। टकसाल में—प्रामाणिक ग्रन्थ बीजक में सद्‌गुरु कबीर ने अपने सत्य शब्दों में ऐसा निर्णय वर्णन किया है—"हे प्रिय मनुष्यो! मैं तुम्हें भाई, पिता तथा पितामह कहता हूं और तुम्हारे चरणों की वन्दना भी करता हूं कि तुम कल्याण के रास्ते पर आ जाओ। अबकी बार संपूर्ण वासनाओं का त्याग करो तो सदैव के लिए आनंदित हो जाओगे।" इस प्रकार सद्‌गुरु कबीर ने तुम्हें मीठे वचनों में उपदेश करने का तरीका बता दिया है। ऐसा उपदेश करने से श्रोताओं का मन खिन्न नहीं होता और वे धीरे-धीरे

स्वरूपस्थिति एवं आत्मस्थिति को प्राप्त कर लेते हैं। वही सच्चा कृपालु गुरु है जो यथासंभव मीठे वचनों में निर्णय कहकर मनुष्यों को उनके हंस पद में स्थित करे। अनुमान-कल्पना में पड़े हुए लोग बिना अपने स्वरूप का भेद जाने पतित होते हैं। अत: उन्हें यथार्थ ज्ञान देना आवश्यक है।

श्री पूरण साहेब भी 341वीं साखी "है बिगरायल ओर का" की टीका में लिखते हैं—"हे प्राण! तू तो भास-अध्यास का जानने वाला मेरा सजाति है। कछु मैं जीवघातक काल नहीं जो त्रास रूपी घाव मारों...। इस वास्ते शनैः-शनैः मिथ्या धोखा परखाय के पारख पर स्थिर करता हूं।"

उपर्युक्त उद्धरणों का तात्पर्य यह नहीं है कि उपदेष्टा श्रोताओं का केवल मीठे वचनों में मनोरंजन करता रहे और सत्य निर्णय पर लीपापोती करता रहे। सत्य निर्णय करने पर कुछ लोगों को वह कुछ-न-कुछ कटु लग सकता है। परन्तु इतनी परवाह करके सही निर्णय नहीं कहा जा सकता, और सही निर्णय कहे बिना जिज्ञासु एवं सत्पात्र को बोध नहीं हो सकता। इसलिए सही निर्णय तो कहना चाहिए, परन्तु वक्ता को यह भी देखना चाहिए कि श्रोता किस किस्म के हैं! उनमें पात्रता कितनी है! सारा सत्य एक साथ नहीं कहा जा सकता। श्रोताओं का मन प्रसन्न करके ही उनके गले अपनी बातें उतारी जा सकती है। धीरे-धीरे ही किसी को रास्ते पर लाया जा सकता है। खानी-वाणी में अत्यन्त आसक्त जीवों को तत्काल उनसे सर्वथा नहीं छुड़ाया जा सकता। पहले तो श्रोताओं के मन को प्रसन्न करने वाली ही बातें करनी पड़ेगी। श्रोता प्रसन्न होने के बाद खरे-से-खरे निर्णय को भी मानेंगे। इसलिए जितना संभव हो प्रवचन में मीठे वचनों का प्रयोग होना चाहिए।

विनम्रता उच्च सद्गुण है

सब ते लघुता भली, लघुता से सब होय।
जस दुतिया को चन्द्रमा, सीस नावै सब कोय॥ 323॥

शब्दार्थ—लघुता=अपने आप को छोटा मानने का भाव, विनम्रता।

भावार्थ—अपने आप को सबसे छोटा मानकर सबसे विनयी बने रहना बड़ी अच्छी बात है। मनुष्य को इस विनय-भाव से ही सारी श्रेष्ठता प्राप्त होती है। जैसे दुतिया के चन्द्रमा को सब सिर झुकाते हैं॥ 323॥

व्याख्या—दुतिया का चन्द्रमा दुबला-पतला होता है, परन्तु वन्दनीय इसलिए होता है कि वह चांदनी रात की शुरुआत करता है। उसके बाद वह दिन-प्रति-दिन ज्यादा प्रकाशमान होता जाता है और संसार को दिनोदिन अधिक प्रकाश देता जाता है। इसके विपरीत पूर्णिमा के चन्द्रमा को देखिए, वह भरा-पूरा है, परन्तु वह अभागा उस दिन के बाद से ही काला होना शुरू होता है और

तभी से अंधियारी रात शुरू होती है तथा दिनोदिन रात की अंधियारी गहराती जाती है।

यहां दुतिया के चन्द्रमा की उपमा विनम्र मनुष्य से दी गयी है। इस प्रकार सद्गुरु ने सुन्दर उपमा अलंकार में विनयी मनुष्य की प्रशंसा की है। जैसे दुतिया का दुबला चन्द्रमा आगे निरन्तर प्रकाश की तरफ बढ़ता तथा जगत को उत्तरोत्तर अधिक प्रकाशित करता है, वैसे अपने आप को सबसे लघु मानकर चलने वाला विनयी मनुष्य अपने लक्ष्य में निरन्तर उन्नति करता जाता है और समाज के कल्याण में सहायक बनता जाता है। जो अपने आप को सबसे छोटा मानकर सबसे विनयपूर्वक रहता है, वह सबसे ज्यादा सार एवं ज्ञान ग्रहण करता है। दत्तात्रेय जी का चौबीस गुरुओं से शिक्षा ग्रहण करने की बात उनका विनम्रतापूर्वक सबसे सार ग्रहण करना ही है। तथाकथित उच्च वर्ण, उच्च कुल, सुन्दरता, विद्या, पद, प्रतिष्ठा, बहुत जानकारी, काव्यशक्ति, लेखनशक्ति आदि सारे गुण तुच्छ एवं फीके हो जाते हैं यदि इनसे संपन्न मनुष्य विनयी नहीं है। ज्ञान, वैराग्य और बड़ी उम्र भी आदरणीय नहीं हो पाते यदि विनम्रता का अभाव है। वे ज्ञान-वैराग्य कैसे जिनमें विनय न हो। सच्चे ज्ञान-वैराग्य धारण करने वाले में विनय अपने आप होता है। जिसमें विनय नहीं है उसके ज्ञान-वैराग्य दिखावे के या अधूरे हैं।

अधिकतम मनुष्यों की यह बहुत बड़ी दुर्बलता रहती है कि वे अपने आप को बड़ा करके समाज में प्रदर्शित करना चाहते हैं। किसी पुस्तक में तथाकथित जगत-गुरुओं के नाम पढ़िए तो देखिएगा कि वह अनेक विशेषणों से संयुक्त पूरे पेज की चौड़ाई में रहेगा। कहीं-कहीं तो एक पंक्ति में उनका नाम नहीं आने से दो-दो पंक्तियों में रहता हे। उसमें इतने विशेषण रहते हैं कि असली नाम क्या है पता भी नहीं चलता। इसे कोई दूसरा लिख दे तो कोई बात नहीं। परन्तु ऐसी बात नहीं हैं। वे स्वयं ऐसा लिखवाना चाहते हैं और अनेक स्वयं भी लिखते हैं। अपनी आध्यात्मिक तथा नैतिक कमजोरी के कारण अपनी असली श्रेष्ठता पर संदेह करने वाले अपने नामों में स्वयं जगद्गुरु, विश्वगुरु, ब्रह्मांडगुरु, आचार्य, महंत, महामंडलेश्वर, साहेब, स्वामी, शास्त्री, वेदांताचार्य, दर्शनकेशरी, तर्कपंचानन, प्रतिवादभयंकर आदि विशेषण-पर-विशेषण लिखते हैं! हम पुरानी परम्परा के अनुगामी तो बनते हैं परन्तु पुराने पुरुषों की अच्छाइयों का अनुसरण भी नहीं करते। सोचिए, पुराने महापुरुष अपने नाम कैसे प्रचलित करते थे सनक, सनंदन, सनातन, सनत्कुमार, नारद, वसिष्ठ, कपिल, कणाद, गौतम, पतंजलि। परन्तु आज के ज्ञानी, साधु, संन्यासी लोग स्वामी, साहेब, आचार्य और शास्त्री के बिना अपना नाम ही नहीं लिख पाते। राम, कृष्ण, बुद्ध तथा महावीर ने कभी अपने नाम में स्वयं भगवान नहीं जोड़ा था। पीछे से उनके नाम

में भक्तों ने भगवान शब्द लगाया, परन्तु आज के अभिमानी स्वयं अपने आप को भगवान लिखते तथा शिष्यों से लिखवाते हैं। पूरे बीजक में महत्तम संत कबीर ने अपने आप को केवल कबीर कहा है या कहीं दास लगा दिया है, परन्तु उनके अनुगामी लोगों की दशा देखी जा सकती है कि उनमें कितने लोग अपने नाम में कितना अधिक विशेषण चाहते हैं! अपने विषय में विश्वस्त ही नहीं हैं कि वे बिना विशेषण के रह सकते हैं। लोग समझते हैं कि मेरे नाम में यदि कोई विशेषण नहीं रहेगा तो लोग मुझे क्या समझेंगे! ऐसे लोग जब किसी सभा में जाते हैं तब आगे बैठना चाहते हैं और जहां तक हो सके दाहिने। वे हर समय अपनी कमजोरी जाहिर करते हैं। लोगों में बड़ा और अच्छा कहलाने की जितनी भावना है उतना बड़ा और अच्छा रहने की भावना नहीं है। बड़ा और अच्छा वही है जिसमें सद्‌गुण और विनम्रता है। कहा है—"बड़े बड़ाई न करे, बड़े न बोले बोल। हीरा कबही ना कहै, लाख टके का मोल॥"

मनुष्य को यह आत्मविश्वास रखना चाहिए कि वह यदि विनम्र, सेवा-परायण तथा सद्‌गुणसंपन्न है, तो स्वाभाविक सज्जनों के गले का हार हो जायेगा। विनयी व्यक्ति अपनी बड़ाई नहीं चाहता, किन्तु संसार उसकी बड़ाई करता है। जैसी फली हुई डालियां झुक जाती हैं वैसे सद्‌गुणसंपन्न व्यक्ति विनयी होता है। जैसे तराजू का जो पलड़ा झुकता है वह बड़ा माना जाता है। "जो कोइ नवै सो आप को, पर को नवै न कोय। घालि तराजू तोलिए, नवै सो भारी होय॥ "[1]

विनय एक ऐसा महान सद्‌गुण है कि यह अन्य छोटे-मोटे दुर्गुणों के रहते हुए भी मनुष्य को सबका प्यारा बना देता है। वाल्मीकीय रामायण के प्रथम संस्करण में ही राम का चरित्र अत्यन्त विनयपूर्ण चित्रित हुआ है। उसका प्रभाव पीछे के कवियों पर इतना पड़ा है कि राम-कथा के पुष्कल साहित्य बन गये। रोम सम्राट मार्क्स ओरेलियस तथा अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन अपने विनय के विषय में जगत-प्रसिद्ध हैं। कनफ्यूसियस, बुद्ध तथा महावीर विनय के मूर्तिमान स्वरूप थे। पण्डित, मौलवी, योगी, अवधूत तथा षड्‌दर्शनियों को जोर से फटकारने वाले स्वयं ग्रन्थकार कबीर की अत्यन्त विनम्रता "सोई गुरू हम चेला" से ही प्रकट हो जाती है। फिर उनकी पूर्ण विनम्रता तो उनका जीवन-दर्शन ही है। न वे पैगंबर बनते हैं, न ईश्वर-पुत्र और न अवतार और न अपनी वाणी कथाकथित ईश्वर-वाणी एवं इलहामी किताब कहते हैं। वे अपने आप को केवल मनुष्य कहते हैं और "सुनिये सबकी, निबेरिये अपनी" कहकर सबको स्वतन्त्र चिन्तनपूर्वक विचार करके बात को मानने या न मानने की राय

---

36. साखी ग्रन्थ।

देते हैं।

अतः हर मनुष्य का कर्तव्य है कि वह चाहे व्यावहारिक क्षेत्र में हो या पारमार्थिक, उसे विनयी होना चाहिए। विनयी सबके दिल का देवता है, सबका स्नेहपात्र है और भव का भूषण है।

मरने की अच्छी कला क्या है?

मरते मरते जग मुवा, मुये न जाना कोय।
ऐसा होय के ना मुवा, जो बहुरि न मरना होय॥ 324॥
मरते मरते जग मुवा, बहुरि न किया बिचार।
एक सयानी आपनी, परबस मुवा संसार॥ 325॥

शब्दार्थ—बहुरि=पुनः। सयानी=समझ, विवेक। परबस=वासनाओं के अधीन।

भावार्थ—संसार के लोग मरते-मरते सब मरते ही हैं, परन्तु वे मरना नहीं जानते। वे ऐसी रहनी में जीकर नहीं मरते जिससे उन्हें पुनः न मरना पड़े॥ 324॥ जगत के सभी लोग तो मरते ही हैं, परन्तु वे अपने आपकी तरफ लौटकर विचार नहीं करते। एक तो मरना ऐसा होता है जिसमें अपने विवेक से सारी आसक्तियों एवं वासनाओं का त्याग कर इस जीवन में निर्भय और मुक्त हो जाया जाता है और दूसरा ढंग मरने का है वासनाओं की रस्सी में बंधकर घसीटा जाना, यही संसार की गति है॥ 325॥

व्याख्या—उक्त दोनों साखियों का विषय एक है। सद्गुरु कहते हैं कि मरते तो सब हैं, परन्तु मरने-मरने में अन्तर है। लोग मरने का तरीका नहीं जानते। प्रश्न हो सकता है 'मरने का तरीका क्या है? क्या फांसी लगाकर, आग में या जल में कूदकर या ट्रेन से कटकर या जहर खाकर? आखिर मरने का कौन-सा तरीका अच्छा है?' उत्तर में समझना चाहिए कि यह सब मरने की तरीका नहीं है। यह सब तो आत्महत्या है। मरने का तरीका है जीने का अच्छा तरीका।

जीवन में प्रेम और अनासक्ति की पूर्ण प्रतिष्ठा होना जीने का अच्छा तरीका है। प्राणिमात्र के प्रति प्रेमपूर्ण और समस्त प्राणी, पदार्थ, पद, प्रतिष्ठादि संसार पांच विषयों के प्रति अनासक्त रहना ही जीवन का उत्तम रूप है। प्रेम में स्वर्ग है और अनासक्ति में मोक्ष है। जिसके जीवन में प्रेम और अनासक्ति दोनों घटते हैं उसका जीवन पूर्ण सफल है।

आप कहेंगे कि जिसके मन में प्रेम होगा, उसके मन में अनासक्ति नहीं होगी और जिसके मन में अनासक्ति होगी उसके मन में प्रेम नहीं होगा। प्रेमपूर्ण मन अनासक्त कैसे होगा तथा अनासक्त मन प्रेमपूर्ण कैसे होगा। इसका समाधान यह

है कि प्रेम तथा अनासक्ति में विरोध नहीं है, किन्तु ये एक दूसरे के पूरक हैं। प्रेम के नाम से मोह और वासना अर्थ भी संसार में माना जाता है। लोग कहते हैं कि अमुक लड़के को अमुक लड़की से प्रेम हो गया है। यहां मोह एवं वासना को प्रेम मान लिया गया है। परन्तु विवेकीजन प्रेम का अर्थ निष्काम स्नेह मानते हैं जिसमें केवल सेवा करने की भावना होती है, पाने की भावना नहीं। वासना एवं मोह में पाने की भावना होती है, परन्तु प्रेम में देने की भावना होती है। कबीर साहेब ने कहा है—"पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुवा, पंडित हुआ न कोय। ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय॥" यह कबीर-कथित उच्चतम प्रेम किसी लड़की-लड़का का वासनात्मक आकर्षण नहीं है, किन्तु मानवता एवं जीव मात्र के लिए करुणा है। जो व्यक्ति अपने स्वार्थ को जितने अंशों में जीत लेता है वह उतने अंशों में प्रेम से पूर्ण हो जाता है, क्योंकि वह उतने अंशों में परोपकारी हो जाता है। जो व्यक्ति संसार से पूर्ण अनासक्त हो जाता है वह प्राणिमात्र के लिए प्रेम करता है। संसार के पूर्ण अनासक्त संतजन कपिल, बुद्ध, महावीर, ईसा, कबीर, नानक, रैदास, दयानन्द, विवेकानन्द आदि संसार के कल्याण के लिए रोते थे। कबीर साहेब ने कहा—"मैं रोवों यह जगत को।"[1] संसारासक्त लोग जगत के लिए नहीं रोते। वे अपनी पत्नी, बच्चे एवं धन-दौलत के लिए रोते हैं। संसार के कल्याण के लिए तो वह रोता है जिसके मन में प्राणिमात्र के प्रति प्रेम एवं करुणा की तरंगें उठती रहती हैं और वह वही हो सकता है जो संसार से अनासक्त है।

जिसका व्यवहार मनुष्यों से प्रेमपूर्ण नहीं है, वह जीवन में उलझा-उलझा रहता है और उलझा आदमी का जब जीना ही अच्छा नहीं है तब मरना क्या अच्छा हो सकता है। इसलिए जो जीवन को अच्छे ढंग से जीना चाहे, उसे चाहिए कि वह व्यवहार में मिलने वाले सारे मनुष्यों से प्रेम का बरताव करे। सबके प्रति प्रेम का व्यवहार होने से मन में घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, अहंकार, वैमनस्य आदि नहीं आते। मन निर्ग्रंथ, सरल एवं प्रसन्न रहता है। यही स्वर्ग-सुख है। जो व्यक्ति अपने साथियों में प्रेमपूर्ण व्यवहार करता है और अन्य समस्त प्राणियों को भी प्रेम की दृष्टि से देखता है उसका मन राग एवं द्वेष से छूटकर सब समय प्रसन्न रहता है।

दूसरा पक्ष है अनासक्ति। प्रेम द्वारा जिनका हृदय शुद्ध हो जाता है वही ज्ञानोदय होने पर सबसे अनासक्त हो जाता है और जो सबसे अनासक्त हो जाता है उसका प्रेम और परिपूर्ण हो जाता है। जो प्राणियों में मोह नहीं करता, पदार्थों में लोभ नहीं करता, प्रतिष्ठा में आकर्षित नहीं होता, वही तो अनासक्त है। वह

---

37. साखी 180।

खाता-पहनता है केवल शरीर की रक्षा के लिए। उसे खाने-पहनने में भी आसक्ति नहीं होती है। सारा संसार एक दिन अनंत काल के लिए अचानक छोड़ देना है। ऐसे संसार में किस वस्तु में राग किया जाये! राग-द्वेष ही जीव को संसार में भटकाते हैं। जो राग-द्वेष से मुक्त हो जाता है वही कृतार्थ हो जाता है। सद्गुरु ने कहा है—"बालक केरी धाय जो, आपन जानत नाहिं।"[1] धनी घराने में बालक की सेवा करने वाली नौकरानी धाय बालक की सेवा करती है, उसे प्यार देती है, उसको सीने पर सुलाती है, पुचकारती एवं दुलराती है, परन्तु जब नौकरी छोड़कर उस घर से जाने लगती है तब उसके लिए रोती नहीं है, क्योंकि वह समझती है कि यह बच्चा मेरा नहीं है। हमें भी चाहिए कि हम स्वजनों तथा परजनों को प्रेम की निगाह से देखें, उनसे प्रेमपूर्ण व्यवहार करें, परन्तु उनमें कहीं भी किंचित आसक्त न हों।

जो अपने आप को अविनाशी, देह से सर्वथा भिन्न शुद्ध चेतन समझता है और देहादि समस्त भौतिक पदार्थों को नाशवान एवं विजाति समझकर सबसे अनासक्त रहता है, उसकी मरने-जीने में समबुद्धि हो जाती है। जो सारे संसार को स्वप्नतुल्य समझकर सबसे सब समय अनासक्त रहता है उसे न जीते रहने में हर्ष है और न मरने में शोक। किसी के वियोग से इसलिए मन में पीड़ा होती है, क्योंकि हम उसमें आसक्त होते हैं। यदि हम आसक्त न हों तो बिछुड़ने में कोई दुख ही नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष है कि हम वहीं-वहीं दुखी-सुखी होते हैं जहां के लिए हमें राग-द्वेष है। जिसके प्रति हमारे मन में राग-द्वेष नहीं है, उसके मिलने-बिछुड़ने में हमें कोई हर्ष-शोक नहीं होता। सर्वत्र अनासक्त हुआ व्यक्ति ही मुक्त है और जो मुक्त है उसी का जीवन अच्छा है। उसी का मरना भी अच्छा होता है। सद्गुरु कहते हैं "ऐसा होय के ना मुवा, जो बहुरि न मरना होय।" इस पंक्ति में यह सिद्धान्त निहित है कि जीव वासनावश पुनर्जन्म को प्राप्त होता रहता है, परन्तु वासना का त्याग कर देने पर वह सदा के लिए मुक्त हो जाता है और पुनः जन्म-मरण के बंधनों में नहीं पड़ता। साहेब कहते हैं कि संसार के लोग मरते तो हैं, परन्तु वे वासना त्यागकर नहीं मरते जिससे उनका बारम्बार जन्मना-मरना बन्द हो जाये, किन्तु वासना बनाये रखकर मरते हैं। इसलिए वे बारम्बार जन्मने-मरने के चक्कर में पड़े रहते हैं।

सद्गुरु अगली साखी में कहते हैं "एक सयानी आपनी, परबस मुवा संसार।" एक मरना स्वतन्त्र होकर होता है और दूसरा परतन्त्र होकर। स्वतन्त्र होकर मरने वाले बिरले हैं, परन्तु परतन्त्र होकर मरने वाला तो पूरा संसार है।

---

३८. पूरी साखी इस प्रकार है—
कमल पत्र हैं संतजन, रहैं जगत के माहिं।
बालक केरी धाय जो, आपन जानत नाहिं॥

"एक सयानी आपनी" बड़े गम्भीर भाव का वाक्यांश है। अपने विवेक से रहकर मरना उत्तम मरना है। विवेकवान मौत को ललकार देता है कि हे मौत! तू आ, मैं तेरा स्वागत करने के लिए तैयार हूं। विवेकी समझता है कि मेरी मौत नहीं होती। मौत का अर्थ इतना ही है शरीर और जीव का अलग-अलग हो जाना। इसमें भय किस बात का। भय केवल शरीर-संसार के छूटने का होता है जब उनमें मोह रहता है। जब मोह समाप्त हो जाता है तब छूटने का भय भी समाप्त हो जाता है। सारा संसार छूटने वाला है, वह छूटेगा ही, हम चाहे भय करें या न करें। इसलिए विवेकवान पहले ही भय छोड़ देता है।

यदि किसी के ख्याल से ऐसा हो कि देह से अलग अविनाशी जीव या आत्मा नाम की कोई चीज नहीं है, शरीर समाप्त होने पर सब समाप्त हो जाता है, तो भी मृत्यु के भय का कोई अर्थ नहीं होता। जब मरते ही सब समाप्त हो जाना है, तब किस बात का भय। और यदि देह से भिन्न जीव अविनाशी शुद्ध चेतन है, वह शरीर के न रहने पर भी रहता है, तो शरीर के छूटने का भय क्यों!

जीने, भोगने, खाने, करने, देखने आदि की वासनाएं ही मृत्यु-भय पैदा करती हैं। अभी मेरे पास मृत्यु आ जाये, तो मैं उससे कहूंगा कि तुम अभी मुझे मत ले जाओ! वह मुझसे पूछेगी कि अभी क्यों न ले चलूं। तो मैं कहूंगा कि अभी मुझे अमुक-अमुक काम करने हैं, अमुक-अमुक जगह देखनी है, अभी खाने-भोगने की भी इच्छाएं नहीं पूरी हुई हैं। मौत कहेगी कि जब तुम आज इतनी उम्र तक जीकर इच्छानुसार काम न कर पाये तो थोड़े दिन और रहकर क्या देख, सुन तथा भोग सकोगे?

हम चार-छह घंटे के लिए सोने चलते हैं तो कितना आनन्द लगता है! यदि किसी रात सोने चलें और कोई व्यक्ति आकर हमारे सोने में विघ्न करे तो हमें बड़ा बुरा लगेगा। चार-छह घंटे की नींद जब इतनी प्यारी है, तब मौत तो ऐसी नींद है जो सदा के लिए सुला देती है, फिर उसमें हमें क्या परेशानी है! सदा के लिए सोने में तो हमें अति आनन्द मानना चाहिए। उलझन भरी जिंदगी में सुख मानना तो मोह ही है। जहां सारी उलझनें समाप्त हो जाती हैं उस मौत से परेशानी कैसी?

बोधवान व्यक्ति सब समय सारा काम पूर्ण समझता है। वह जीने, करने, भोगने सबकी वासनाएं सर्वथा त्याग देता है। इसलिए उसे जीना और मरना बराबर लगता है। वह समझता है कि मैं सब समय पूर्ण हूं। जो सब समय पूर्णकाम, आप्तकाम, निष्काम एवं अकाम है, उसे मरने का भय कहां! यही है मरने का अच्छा तरीका । यही है अपनी सयानी से मरना। श्री विशाल साहेब कहते हैं—

ना मिलने की चाहना, ना छुटने को सोच।

धन प्राणिन निर्वाह में, कहूँ न मन को रोच॥
सबै काम को छोड़ि कै, रहै आप में आप।
पारख पाय अनाथ गत, मिटै जगत दुख पाप॥
पारख अटल समाधि है, देहभिन्न सब काल।
देह रहे या न रहे, यकसम जानि निहाल॥
सोई रहस्य अपनाइये, और कहूँ नहिं नीक।
सबसे आपै नीक है, जहाँ रहे सब फीक॥

(मुक्तिद्वार, शांतिशतक, 116, 119; निवृत्ति साहस शतक, 135, 136)

ज्ञान की कीमत आचरण है

शब्द है गाहक नहीं, वस्तु है महँगे मोल।
बिना दाम काम न आवै, फिरै सो डामाडोल॥ 326॥

शब्दार्थ—दाम=कीमत, श्रद्धा, समझ, आचरण। डामाडोल=डांवांडोल, चंचल, किंकर्तव्यविमूढ़।

भावार्थ—निर्णय के वचन हैं, परन्तु उनके ग्राहक नहीं हैं, अर्थात बहुत कम हैं। निर्णय एवं निष्पक्ष ज्ञानरूपी वस्तु बहुत महंगे मूल्य में मिलती है। वह मूल्य है श्रद्धा और समझपूर्वक आचरण। इस मूल्य को चुकाये बिना निर्णय वचन काम नहीं देते और आदमी चंचल एवं किंकर्तव्यविमूढ़ बना भटकता है॥ 326॥

व्याख्या—"शब्द है गाहक नहीं" इस भाव का अनुभव विवेकियों ने सदा से किया है। निर्णय के वचन तो हैं, परन्तु उन्हें ग्रहण करने वाले नहीं हैं। इसका मतलब निर्णय वचनों के ग्राहक कम हैं। जब तथागत बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्त किया था, तब उनके मन में ख्याल आया कि मैं इस ज्ञान का जनता में प्रचार करूं। परन्तु तत्काल उन्होंने पुनः सोचा कि ज्ञान के पिपासु इस संसार में कहां हैं! इस अंधकार भरे संसार में कौन मेरी बातें सुनेगा! परन्तु पुनः उन्होंने विचार किया कि आखिर मैं भी तो एक आदमी हूं। जैसे मुझे ज्ञान की पिपासा थी और मैं उसे पाकर कृतार्थ हो गया हूं वैसे कोई मेरे समान दूसरा भी होगा ही। संसार जिज्ञासुओं से निर्बीज तो होगा नहीं। अतएव उन्होंने अपना धर्मचक्र प्रवर्तन किया, उपदेश देना शुरू किया।

वेदव्यास जी ने कहा है—"मैं अपने हाथ ऊपर उठाकर कहता हूं, परन्तु मेरी बातें कोई सुन नहीं रहा है। मैं कहता हूं धन और भोग धर्म से ही मिलते हैं,

फिर धर्म का आचरण क्यों नहीं करते हो!"[1] गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं—"रामायण के अनुसार शिक्षा दी जाती है कि राम, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न की तरह भाई-भाई प्रेमपूर्वक रहो, परन्तु संसार के लोग महाभारत के समान भाई-भाई विरोध करके मर रहे हैं। हे तुलसी, तेरे-जैसे शठ की बात कौन सुनता है, कलिकाल में कुचाल पर ही प्रेम है।"[2] संसार के लोगों की ज्ञान के विषय में अरुचि देखकर यहां वक्ता ने अपने आप को ही शठ कह डाला है।

स्वामी विवेकानन्द ने अपने जीवन के आखिरी हिस्से में बेलुड़मठ में बेल पेड़ के नीचे बैठे-बैठे खेदपूर्वक कहा था "जिसके आने की आशा की थी, वे नहीं आये।" उन्होंने एक जगह लिखा है कि मद्रास के युवक कुछ कर सकते हैं। किन्तु सब अभागे योनिकीट हैं। अर्थात वे संन्यासी बनकर स्वामी जी के मिशन में सहयोग नहीं दे सके।

कबीर के निर्णय धारदार, पैने और खरे तो हैं ही, अन्य शास्त्रों एवं ग्रन्थों में भी जगह-जगह निर्णय के वचन, काम के वचन बहुत हैं; परन्तु उन्हें पढ़-सुन तथा मनन कर उनका आचरण करने वाले कम मिलते हैं। हजार श्रोताओं में मनन करने वाले थोड़े हैं, और हजार मनन करने वालों में आचरण करने वाले थोड़े हैं। सद्गुरु कहते हैं "वस्तु है महँगे मोल" निर्णय वचन एवं ज्ञान की कीमत बहुत है। यह ज्ञानरूपी वस्तु बहुत महंगे मोल की है। ज्ञान की कीमत क्या है? कौन-सा मूल्य चुकाना पड़ता है ज्ञान के बदले में? इसकी कीमत है आचरण। परन्तु आचरण श्रद्धा और समझपूर्वक होना चाहिए। श्रद्धा का सामान्य अर्थ है आस्था तथा शाब्दिक अर्थ है सत्य को धारण करना—श्रत=सत्य+धा=धारण करना। समझ का अर्थ बुद्धि है। हम आस्था और बुद्धिपूर्वक जब आचरण धारण करते हैं तभी ज्ञान का सही उपयोग हुआ समझना चाहिए। हमने किसी बात को सुनकर उसमें आस्था कर ली और उसका आचरण भी करने लगे, परन्तु वह समझपूर्वक नहीं है तो उसके टूटते देर नहीं लगेगी; और यदि हमने उसे बुद्धिपूर्वक तो अपनाया है, परन्तु उसमें आस्था नहीं है तो उसके भंग होने में भी संदेह नहीं है। परन्तु जब हम किसी बात को श्रद्धा और समझपूर्वक धारण करते हैं और उसका आचरण करते हैं, तब प्राप्त ज्ञान हमारा अपना हो जाता है। हमारे सामने कोई हजार निर्णय करे, परन्तु हमें उन वचनों में न श्रद्धा है, न समझ है और न उसे आचरण में लाने का उत्साह है तो निर्णय वचनों का कोई मूल्य नहीं है। हवा आती है और चली जाती है, वैसे

---

39. ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥ महाभारत, स्वर्गारोहणपर्व 5/62॥

40. रामायण अनुहरत सिख, जग भयो भारत नेम।
तुलसी सठ की को सुनै, कलि कुचाल पर प्रेम॥ दोहावली॥

संतों और सद्ग्रन्थों के निर्णय वचन आते हैं और चले जाते हैं।

"बिना दाम काम न आवै" श्रद्धा, समझ एवं आचरण रूपी मूल्य चुकाये बिना निर्णय एवं ज्ञान की बातें काम नहीं देतीं। श्रद्धा, समझ एवं आचरण से हीन वक्ता-श्रोता चंचल एवं किंकर्तव्यविमूढ़ बने भटकते रहते हैं। अतएव हमें ज्ञान का सच्चा पिपासु बनना चाहिए और उसके लिए श्रद्धा, समझ और आचरण का दाम चुकाना चाहिए। किसी ने कैसा अच्छा कहा है—

तमन्ना दर्द दिल में है, तो कर खिदमत फकीरों की।
नहीं वह लाल मिलता है, अमीरों के खजानों में॥

विवेक बिना गृह-त्याग से भी शांति नहीं

गृह तजि के भये योगी, योगी के गृह नाहिं।
बिना विवेक भटकत फिरै, पकरि शब्द की छाहिं॥ 327॥

शब्दार्थ—योगी=संन्यासी, त्यागी। छाहिं=आश्रय, छाया।

भावार्थ—कुछ लोग गृहस्थी का त्याग कर संन्यासी एवं विरक्त आश्रमी हो जाते हैं, परन्तु सच्चे ज्ञान एवं आचरण के बिना वे वहां भी शांति नहीं पाते। वे बिना विवेक सुने-सुनाये शब्दों की छाया पकड़कर भटकते रहते हैं॥ 327॥

व्याख्या—गृहस्थी में नाना उलझनें हैं। कहा जाता है "घर ही में बनते काजा, तो घर काहेक छोड़ते भरथरी राजा।" यदि गृहस्थी में मोक्ष का सारा काम बन जाता तो राजा भर्तृहरि घर क्यों छोड़ते! अतएव समस्त सूक्ष्म बन्धनों को काटने के लिए घर-गृहस्थी का त्याग करना पड़ता है। ऐसा विचारकर कुछ लोग गृहस्थी का त्याग कर देते हैं और संन्यास आश्रम में चले जाते हैं। परन्तु यदि उन्हें सच्चे सद्गुरु न मिले, उनको सच्चा ज्ञान न मिला और सच्चा त्याग न हुआ तो उनके जीवन में पूर्ण शांति की प्राप्ति नहीं होती।

अनन्त शांति की प्राप्ति के लिए ही संन्यास-मार्ग ग्रहण किया जाता है। परन्तु केवल घर छोड़कर साधु का वेष पहन लेना संन्यास नहीं है। यहां "गृह तजि के भये योगी" का केवल शाब्दिक अर्थ घर छोड़कर योगी होना नहीं है, किन्तु योगी का सामान्य अभिप्राय संन्यासी-साधु होना है। यहां का सरल अभिप्राय है घर छोड़कर किसी त्यागी संप्रदाय में दीक्षित होकर विरक्ति-मार्ग से रहना। कितने लोग उत्साह में घर तो छोड़ देते हैं और किसी संप्रदाय में साधुवेष धारण कर लेते हैं, परन्तु उनमें सच्चा वैराग्य न होने से उन्हें साधुआश्रम का जीवन आगे चलकर नीरस लगने लगता है, या अच्छे गुरु एवं साधुओं की संगत न मिलने से अधूरे-अधकचरे साधु-समाज में पड़कर उनका चित्त आशा के विपरीत तितर-बितर हो जाता है। उनमें निष्पक्ष होकर न सच्चे सद्गुरु की खोज

करने का साहस होता है और न त्याग का अखंड बल होता है। ऐसे लोगों के वैराग्य का जोश थोड़े दिनों में उतर जाता है। वे पुनः वासनाओं में बहने लगते हैं।

सच्चे विवेकवान सद्गुरु एवं संतों की संगत न पाने से उनकी सारी भ्रांतियां नहीं कटतीं। अनादिकाल के जगत में नाना प्रकार की वाणियां कही गयी हैं। उनमें सत्य निर्णय भी है और मिथ्या धारणाएं भी। इन सबका निष्पक्षतापूर्वक निर्णय और शोधन करने का उनमें साहस नहीं होता। अतएव वे धर्मशास्त्रों के उलटे-सीधे शब्दों की पूंछ पकड़कर घूमते रहते हैं। नाना मत के धर्मशास्त्रों एवं धार्मिक ग्रन्थों में विश्वसत्ता के नियमों, प्रकृति के गुण-धर्मों एवं कारण-कार्य-व्यवस्था के विपरीत ऊलजलूल बातें कही गयी हैं। चमत्कार जो एक छल-कपट का जाल है, धर्म, भगवान और गुरु के नाम पर खूब चलता है। इस छल-कपट की गंगा में प्रायः सभी मत वाले अपने तन-मन पखारते हैं। चमत्कार नाम की जालसाजी एवं धूर्तता धर्म के नाम पर इतनी मान्य हो गयी है कि इनके विरोध में कहना ही मानो नास्तिक, नापाक और काफिर होना है। धर्म के नाम पर जो लम्बा-चौड़ा झूठ बोलता हो वह धर्मात्मा एवं आस्तिक है, और जो सत्य निर्णय करता हो वह अधर्मी और नास्तिक है। नाना मत के साधु-संन्यासी या साधक धर्म के नाम पर बिना सिर-पैर की बातों को लेकर उनके गीत गाते रहते हैं और मन के भटकावे में भटकते रहते हैं। कोई गुरु शब्द, ज्योति, नाद, शून्य या कोई काल्पनिक बिन्दु को कह दिया कि यही भगवान है तो उसी में लोग लटक जाते हैं। किसी ने कहा कि भगवान अमुक लोक में है तो लोग उसी के गीत गाने लगते हैं। कोई कण-कण में बताया तो कोई अगजग व्यापक। ऐसी भावुकतापूर्ण अवधारणाओं में साधक उलझ जाते हैं। वे यह नहीं समझ पाते कि सारी कल्पनाओं का जनक यह स्वयं द्रष्टा चेतन है। मनुष्य का अपना 'स्व' उसकी चेतना है। वही सर्वोच्च है। सारी विषय-वासनाओं को त्यागकर अपनी चेतना में लीन होना ही स्वरूपस्थिति है। यही परम पद की प्राप्ति है। इसी में सदैव के लिए परम शांति है। परन्तु लोग इस दिव्य चेतन स्वरूप की स्थिति को न समझकर धर्मशास्त्रों के शब्दों की छाया पकड़कर भटकते रहते हैं। बहुत मार्मिक वचन है—"बिना विवेक भटकत फिरै, पकरि शब्द की छाहिं।"

सामान्य मन का चित्रण

सिंह अकेला बन रमै, पलक पलक करै दौर।
जैसा बन है आपना, वैसा बन है और॥ 328॥
पैठा है घट भीतरे, बैठा है साचेत।

जब जैसी गति चाहै, तब तैसी मति देत॥ 329॥

शब्दार्थ—सिंह=मन। अकेला=बे-जोड़। रमै=घूमना, चलना, आसक्त होना, भोग-विलास करना। दौर=दौड़, जोरदार हमला। बन=मनोमय संसार। पैठा=घुसा। घट=हृदय। साचेत=सचेत, सावधान। गति=क्रिया, आचरण, दशा। मति=बुद्धि, प्रेरणा।

भावार्थ—यह मन बे-जोड़ सिंह बन गया है। यह मनोमय संसार में घूमता है और विलास करता है। यह भोगों के लिए क्षण-क्षण जोरदार हमला करता है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य सर्वसामान्य एवं एक समान है। तुम जैसे अपना मनोमय समझो, वैसे दूसरे का भी॥ 328॥ यह मन सबके हृदय में घुसा है और भोगों में रमण करने के लिए सावधान होकर बैठा है। यह जब जैसा क्रिया-भोग चाहता है व्यक्ति को वैसी ही प्रेरणा देता है॥ 329॥

व्याख्या—इस बात पर इस पुस्तक की व्याख्या में कई बार निवेदन किया गया है कि मन कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है जो जीव को विवश कर सके। मन एक आभ्यासिक वृत्ति है। परन्तु जीव अपने स्वरूप को न जानकर अनादिकाल से पंचविषयों में आसक्त है। इस आसक्ति से उत्पन्न मन विषयों के लिए प्रबल हो गया है। जैसे बीड़ी-तम्बाकू पीने वालों का मन उनके लिए अत्यन्त जोरदार हो जाता है। जो व्यक्ति बीड़ी-तम्बाकू का सेवन नहीं करता उसका मन उनके लिए उसे परेशान नहीं करता। ऐसे ही अन्य विषयों के लिए समझा जा सकता है। अतएव विषयासक्ति के कारण ही मन प्रबल है। विषयासक्ति का कारण है विषयों का उपभोग। उपभोग का कारण है अज्ञान। अतएव जीव ही अपनी भूल से मन को निर्मित करता है, बलवान करता है और फिर उसके वश होकर हैरान होता है। एक व्यक्ति है, वह शराब नहीं पीता था। उसके प्रति उसका मन नहीं बना था। शराब के लिए उसका मन न सिंह बना था और न उस पर हमला करता था। परन्तु कुछ दिनों के बाद उसे शराबियों का कुसंग मिल गया। अब वह शराब पीने लगा। वह कुछ दिनों में शराब पीने का अत्यन्त व्यसनी हो गया। अब शराब के विषय में मन बन गया। उसका मन शराब पर हमला करने के लिए सिंह बन गया। शराब पर टूट पड़ने के लिए मन को सिंह किसने बनाया? स्वयं उस व्यक्ति ने ही। इस प्रकार मन को सिंह बनाने वाला यह मनुष्य ही है। इसके विपरीत उस व्यक्ति ने शराब को दुखदायी जानकर उसे छोड़ दिया। दृढ़ता से कुछ दिनों में आदत की कठिनाई समाप्त हो गयी। अब वह न शराब पीता है और न शराब के प्रति मन में आकर्षण है, बल्कि शराब की गंध भी उसको बुरी लगने लगी। अब उसका मन शराब पर टूटने वाला सिंह नहीं रहा। अब तो उसका मन शराब के सम्बन्ध में एकदम शांत हो गया, अपना दास हो गया। इस प्रकार संसार की सारी आसक्तियों के विषय में समझा जा

सकता है।

सद्गुरु ने इन दोनों साखियों में सामान्य मनुष्यों के विषयासक्त प्रबल मन का चित्रण किया है। संत पुरुष अपने मन को देखते-परखते तथा अपने वश में करते हैं इसलिए वे सच्चे मनोवैज्ञानिक होते हैं। कबीर साहेब सामान्य मनुष्यों के विषयासक्त प्रबल मन को दृष्टि में रखते हुए कहते हैं कि यह मन 'सिंह अकेला' अर्थात बेजोड़ सिंह बन गया हे। यहां 'सिंह' में 'अकेला' विशेषण है। अकेला एक को भी कहते हैं और बे-जोड़ एवं अद्वितीय को भी। यहां बे-जोड़ एवं अद्वितीय ही अर्थ है। विषयासक्त मन बे-जोड़ सिंह है। यह पल-पल, क्षण-क्षण विषयों में दौड़ा करता है। दौड़ दौड़ने को कहते हैं और सवेग आक्रमण एवं जोरदार हमले को भी। यहां अभिप्राय जोरदार हमले का ही है। आसक्त मन विषयों पर किस तरह टूट पड़ता है, यह थोड़ा अन्दर में झांककर देखा जा सकता है। जो अपने मन को देखता है वह उसकी कसर-खोट को समझता है, परन्तु जो रात-दिन मन की धारा में बहता है उसे इसका क्या पता है! वह तो मन का विषयों पर टूटना तथा उनमें बहना अपनी स्वाभाविक क्रिया मानता है। बड़े-बड़े संसारी मनोवैज्ञानिकों की यह दशा है कि वे मन का विषयों में बहना उसका अपना ही सहज स्वभाव मानते हैं। वे विषय-चिन्तन मनोविकार न मानकर मौलिक प्रवृत्ति मानते हैं। यह उनका भ्रम है। क्या भूख-प्यास की तरह मैथुनादि भोग शरीर के लिए आवश्यक हैं? क्या जैसे जल-भोजन नहीं त्याग सकते, वैसे मैथुनादि मनःकल्पित भोग नहीं त्याग सकते? जब आदमी सत्संग एवं सद्विचार में रहने लगता है, तब सद्विवेक से मन को विषयों से अलग करना सहज हो जाता है। काम-भोग मन का सहज स्वरूप नहीं है, किन्तु निष्काम रहना उसका सहज स्वरूप है। व्यक्ति का मन कुछ ही क्षण के लिए काम-भोग में रहता है और उतने समय के लिए उसका मन मलिन, विह्वल, क्षीण एवं हतप्रभ हो जाता है। क्या इसी स्थिति में कोई जीवनभर रह सकता है! परन्तु मन की निष्काम अवस्था स्वस्थ, तृप्त एवं शांत होती है और इस अवस्था में पूरा जीवन आनन्द से रहा जा सकता है। अतएव फ्रायड आदि मनौवैज्ञानिकों का यह समझना कि मनुष्य का मन काम-भोगादि से रहित हो नहीं सकता, एक गलत समीक्षा है, जिसका परिणाम भयंकर पतन है।

अज्ञान और गलत अभ्यास से मनुष्य का मन अत्यन्त विषयासक्त हो गया है। इसलिए उसका सिंह बना मन विषयों पर क्षण-क्षण टूटता रहता है। साधक को मन से सावधान रहना चाहिए। भोग-क्रिया तथा भोगासक्ति का त्याग करते-करते मन का निरसन हो जाता है और वह कुछ दिनों में शांत हो जाता है। साथ-साथ विषय-चिंतन से बचने की जागरूकता रखनी चाहिए। जो विषय-

चिंतन त्याग देता है, उसका मन विषयों से अलग, स्ववश एवं शांत हो जाता है।

"जैसा बन है आपना, वैसा बन है और" यह पंक्ति कहकर सद्गुरु मानव मात्र के मन की समानदशा का चित्रण करते हैं। अंत:करण–भेद से हर मनुष्य के मन की चंचलता की मात्रा में अन्तर हो सकता है; परन्तु सभी सामान्य मनुष्यों के मन की दशा एक–जैसी ही होती है। सबका मन विषय–चिंतन का रागी है। विवेक द्वारा जितने व्यक्ति विषय–चिंतन छोड़ देते हैं, उनका शुद्ध मन भी एक समान ही शांत हो जाता है।

सद्गुरु अगली साखी में कहते हैं—"पैठा है घट भीतरे, बैठा है साचेत। जब जैसी गति चाहै, तब तैसी मति देत।" यह मन सबके हृदय के भीतर घुसा है और अपनी भोग–लालसाओं के लिए सावधान है। यह सभी सामान्य मनुष्यों का निरन्तर का अपना अनुभव है। थोड़ा भी असावधान होते ही मन गलत चिंतन करा सकता है। यह व्यक्ति से जिस प्रकार क्रिया कराना चाहता है, उस प्रकार उसे प्रेरणा देता है। बुद्धि को प्रेरित करके ही तो अनुकूल क्रियाएं करायी जा सकती हैं। यह प्रबल हुआ मन मनुष्य की बुद्धि घुमाता रहता है और इच्छानुसार क्रिया कराता रहता है।

सद्गुरु ने उक्त दोनों साखियों में सामान्य मनुष्यों के विषयी मन का चित्र खींचा है। इसको वश में करने के उपाय पूरे ग्रन्थ में यत्र–तत्र भरे पड़े हैं। जीवन में मन ही एक वस्तु है जिसके वश में होकर मनुष्य दुखी है, और जीवन में मन ही एक वस्तु है जिसे मनुष्य अपने वश में कर सकता है। शेष तो कुछ भी वश में होने वाला नहीं है। जवानी, शरीर, परिवार, धन कुछ भी वश में होने वाला नहीं है। केवल मन हमारे वश में हो सकता है और मन को वश करके ही अनंत सुख मिलता है।

एक बात पर यहां थोड़ा और विचार कर लिया जाये। बीजक में 'सिंह' का लाक्षणिक अर्थ प्राय: जीव माना गया है। परन्तु प्रसंग को देखते हुए यहां मन किया गया है जो अधिक उपयुक्त है। सिंह का हर जगह लाक्षणिक अर्थ जीव ही हो यह कोई पक्की बात नहीं है। गीता में आत्मा का अर्थ चेतन जीव है, परन्तु जगह–जगह मन, इन्द्रिय एवं देह भी है।

'पैठा है घट भीतरे' भी मन के लिए ही कहा गया है। यहां यह मान लेना कि सबके घट–भीतर ईश्वर पैठा है, उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। ईश्वर की कल्पना सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् के रूप में है। फिर वह यदि सबके घट में पैठकर सब कुछ करा रहा है तो भले के साथ बुरा भी वही करा रहा है; क्योंकि अगली पंक्ति में यही कहा है कि "जब कैसी गति चाहै, तब तैसी मति देत।" वह जब जैसी क्रिया चाहता है तब वैसी प्रेरणा देता है। तो क्या जब आदमी चोरी, हत्या, व्यभिचारादि करता है तब ईश्वर ही उसे ऐसी मति देता है! अतएव यह मन का

प्रसंग है। आसक्ति सम्बलित मन ही व्यक्ति को भटकाता है। यदि मनुष्य मन को ठीक कर ले तो उसकी दशा ठीक हो जाये।

वाणी मन की पहचान

बोलत ही पहिचानिये, साधु चोर का घाट।
अन्तर घट की करनी, निकरे मुख की बाट॥ 330॥

शब्दार्थ—घाट=रंग-ढंग, चाल-ढाल, लक्षण। अन्तर घट=हृदय, मन। बाट=रास्ता।

भावार्थ—किसी के बोलते ही उसके अच्छे-बुरे लक्षण पहचानने में आ जाते हैं, क्योंकि जो हृदय-अन्तर की करनी होती है, वह मुख के रास्ते से निकल पड़ती है॥ 330॥

व्याख्या—वाणी से मन की पहचान होती है। जब तक आदमी नहीं बोलता, उसके मन की थाह पाना कठिन है। परन्तु जैसे वह बोलने लगता है वैसे यह पता चलने लगता है कि उसके मन में क्या है या उसकी योग्यता क्या है!

एक मनोरंजक कहानी है। एक हाथी का सौदागर हाथी लेकर एक तालुकेदार के यहां बेचने गया। उसने हाथी को तालुकेदार के दरवाजे पर बांध दिया और उससे मोल-भाव होने लगा। तालुकेदार हाथी का एक दाम लगाकर अपने भवन में चला गया और सौदागर से कह दिया कि इस दाम पर विचार करो! इधर गांव से एक आदमी आया, वह हाथी को दायें-बायें तथा आगे-पीछे से लगा गौर से निहारने। वह बोलता कुछ नहीं था, किन्तु केवल देखता था। सौदागर ने समझा कि यह कोई हाथी का पारखी है और तालुकेदार के यहां से भेजा गया है। यदि इसने हाथी में कोई कसर बता दी तो तालुकेदार हाथी नहीं खरीदेगा। अतः सौदागर ने पचीस रुपये निकालकर उसे चुपके से दे दिये। वह रुपये ले जाकर घर में रख आया, और पुनः बिना बोले हाथी को देखता रहा। सौदागर बहुत हैरान हुआ। उसने पुनः बीस रुपये उसके हाथ में चुपके से थमा दिये। वह उन्हें भी घर रख आया और लगा हाथी को आगे-पीछे से देखने। अब सौदागर से न रहा गया। उसने कहा—"महाशय, हाथी में जो कसर है उसे बता दो, मन में रखने से क्या फायदा!" उसने कहा—"भैया, मैं यह नहीं जान पाता कि इसका मुंह किधर है।" सौदागर ने सोचा कि यह पारखी काहे का, महामूढ़ है। मैंने नाहक ही इसको घूस दिया। सौदागर ने उससे कहा कि जो रुपये मैंने तुमको दिये हैं, उन्हें ले आओ तो मैं तुम्हें बता दूं कि हाथी का मुंह किधर है। उसने दौड़कर घर से रुपये ले आकर सौदागर को दे दिए। सौदागर ने उससे कहा—"भले आदमी, जानवर जिधर से खाता है, दांत दिखते हैं उधर

मुंह होता है। आप देखते नहीं हाथी के दो बड़े-बड़े दांत।"

जब तक उसने बातें नहीं बोली थीं तब तक उसमें क्या गुण है, पता नहीं चला था; परन्तु जैसे उसने कहा कि हाथी का मुंह किधर है, यह मैं जान नहीं पाता हूं, वैसे उसकी पोलपट्टी खुल गयी। इसके विपरीत कितने लोग ऊपर से देखने में मैले-कुचैले और भोले-भाले लगते हैं, परन्तु जब बात करने लगते हैं तब उनकी विद्वता बातों से टपकने लगती है। मनुष्यों की वाणी से ही उनके भीतर के संतत्व-असंतत्व, सरलता-कपट और योग्यता-अयोग्यता का पता चलता है। अतएव हम किसी के रूप-सौन्दर्य, उज्ज्वल वेष एवं बनावटी सभ्यता पर न भूल जायें; और किसी की कुरूपता, मैले वेष, गंवईपन को देखकर उसकी उपेक्षा न कर दें। हमें किसी नये आदमी से कुछ समय बात करने पर उसके भीतर की बातों का कुछ अन्दाज लग सकता है। कहा जाता है कि सज्जन और संत तो तत्काल परख में आ जाते हैं; परन्तु छल-कपट पूर्ण आदमी को शीघ्र पहचानना कठिन होता है। फिर भी मनुष्य की बातों से उसके भीतर की भावनाओं का पता चलता है।

कुछ लोग बातों में बनावटीपन लाकर अपने हृदय के भावों को कुछ समय के लिए छिपाने में माहिर होते हैं। परन्तु वे भी अपने मुख की व्यंजना को नहीं छिपा पाते। मनुष्य के मन के भीतर की बातें मुख के ऊपर व्यंजित हो जाती हैं। बस, उसका पारखी होना चाहिए। जब श्रीराम चौदह वर्ष के वनवास की अवधि बिताकर अयोध्या लौटे, तब प्रयाग से ही हनुमान जी को भरत के पास भेजकर कहा कि तुम जाकर मेरा लौटना भरत को बताओ। भरत ने चौदह वर्ष तक अयोध्या का राजकाज देखा है। हो सकता है उनका मन बदल गया हो और उनके मन में राज्य के प्रति मोह हो गया हो। अतएव यदि मेरा अयोध्या पहुंचना उनको बुरा लगता है, तो मैं यहीं से पुनः वन को लौट जाऊंगा। अतएव हे हनुमान! तुम भरत से मेरे लौटने की बात करके यह परखना कि वे क्या उत्तर देते हैं। उनकी बातों के स्वर तथा उनके मुख की व्यंजना को भी परखना।

यहां आप श्री राम की संदेहजनित कमजोरी का अनुमान न कीजिए। यहां मनोविज्ञान का सुन्दर अध्ययन है। आदमी का मन बदलता है। यहां श्रीराम का सामान्य और सहज संदेह है जैसा कि संसार में घटता है। आदमी अपने भावों को एक तो अपने वचनों में ही नहीं दबा पाता। यदि बनावटी वचनों में दबा दिया तो उसकी बातों के स्वर उसके मन के भाव को बता देते हैं। यदि कहीं आदमी अपने स्वर में भी बनावटीपन लाकर उसमें भी भाव छिपा लिया, तो वह अपने मुख की व्यंजना से अपने अन्दर की बातें विवश होकर प्रगट ही कर देता है। बात और स्वर बदले जा सकते हैं, परन्तु मुख की व्यंजना नहीं बदलीं जा सकती। हर्ष-शोक, प्रसन्नता-खिन्नता एवं सरलता-छल मुख के ऊपर अपना

प्रभाव दिखा ही देते हैं।

रामायण का उक्त उदाहरण मूल रूप में इस प्रकार है—श्री राम लंका से अयोध्या लौट पड़े थे। रास्ते ही से उन्होंने हनुमान को भरत के पास अयोध्या भेजा और कहा कि मेरा सकुशल अयोध्या लौटने की बात जाकर भरत से कहो; परन्तु "ध्यान रखना, मेरा अयोध्या लौटना सुनकर भरत की मुख-मुद्रा पर क्या भाव उभरते हैं इस पर ध्यान देना और भरत मेरे प्रति क्या करना चाहते हैं, इसका पता लगाना। वहां की सारी बातें तथा भरत की चेष्टाएं तुम्हें ठीक से परखनी चाहिए। भरत के मुख की कांति, उनकी आंखें तथा बातचीत से उनके मनोभावों को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। हाथी, घोड़े, रथ आदि समस्त भोगों से संपन्न पिता-पितामहों का राज्य मिल जाने पर वह किसके मन को नहीं पलट दे सकता है?"[1] यहां राम के मन में भरत के प्रति संदेह एक सहज मानव के मनोभाव की झलक है। यहां राम को संदेहग्रस्त होने से दोषी न मान लेना चाहिए। ऐसे भाव मनुष्य के मन में आ जाते हैं।

सत्य के भेद जानने वाले कम हैं

दिल का महरमि कोइ न मिलिया, जो मिलिया सो गर्जी।
कहहिं कबीर असमानहिं फाटा, क्यों कर सीवै दर्जी॥ 331॥

शब्दार्थ—महरमि=महरम, भेद जानने वाला। गर्जी=स्वार्थी। असमानहिं= आकाश, तात्पर्य में अंत:करण, दिल। दर्जी=कपड़े सीने वाला, तात्पर्य में विवेकवान गुरु या संत।

भावार्थ—हृदय की बातें समझने वाला कोई नहीं मिलता, जो मिलते हैं उनमें प्राय: सांसारिक वस्तुओं के स्वार्थी ही मिलते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि यदि आकाश फट जाये तो दर्जी उसे कैसे सी पायेगा! इसी प्रकार सासांरिक कामनाओं में डूबे हुए मन वालों को स्वरूपज्ञान कैसे दिया जा सकता है!॥ 331॥

व्याख्या—दुनिया के सभी महापुरुषों के मन में यह टीस रही है कि उनको ऐसे लोग बहुत कम मिले हैं कि उनके हृदय की बातों को वे गहराई से समझें। इसका मतलब यह नहीं है कि जीवन्मुक्त पुरुष इन बातों को लेकर दुखी होते

---

41. एतच्छ्रुत्वा यमाकारं भजते भरतस्तत:।
स च ते वेदितव्य: स्यात् सर्वं यच्चापि मां प्रति॥
श्रेया: सर्वे च वृत्तान्ता भरतस्येङ्गितानि च।
तत्त्वेन मुखवर्णेन दृष्ट्या व्याभाषितेन च॥
सर्वकामसमृद्धं हि हस्त्यश्वरथसंकुलम्।
पितृपैतामहं राज्यं कस्य नावर्तयेन्मन:॥ (वाल्मीकीय रामायण, 6/125/14-15-16)

रहे। जो सुख-दुख द्वन्द्वों से छूट जाता है वही जीवन्मुक्त है। परन्तु ऐसे उच्चतम पुरुष भी अपना अनुभव तो कहते ही हैं।

"दिल का महरमि कोइ न मिलिया" बड़ा मार्मिक वचन है। कबीर-जैसे पैने विचारों के दिल के भेद जानने वाले कम होंगे ही। "कोइ न मिलिया" एक मुहावरा-जैसा है। इसका शाब्दिक नहीं, लाक्षणिक अर्थ होना चाहिए। अर्थात कम मिले। कोई-कोई तो मिला ही, तभी उनके विचार आज तक फैलते गये। वैसे मिलने वालों की भीड़ तो कबीर साहेब को शुरू से ही मिलती गयी। वह भीड़ उनके प्रति श्रद्धालु थी। ईसा की सोलहवीं शताब्दी से आज तक की निर्गुणधारा के संतों की वाणियां पढ़ डालिए प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सब में कबीर तथा कबीर-विचारों की प्रशंसा भरी पड़ी है। कबीर की मानवतावादी एवं सार्वभौमिक बहुत-सी बातें हैं जो एकदम खुली हैं, उनको सभी उदार लोग समझ सकते हैं। परन्तु कबीर के हृदय में पूर्ण ज्ञान-धन को समझना बहुत बड़ी बात है। खुली बातें भी समझना सबके लिए कठिन ही है। सभी मानव मूलतः समान हैं, इस नग्न सत्य को कितने लोग समझते हैं! आज पर्यन्त ईश्वर मनुष्य की एक अवधारणा एवं कल्पना ही है, फिर उसके पुत्र, पैगम्बर तथा अवतार की बात एक धार्मिक छल-कपट है। अमुक पुस्तक ईश्वर-वाणी है तथा अमुक मजहब ईश्वर का चलाया है, अमुक मजहब, समाज, पंथ, संप्रदाय ईश्वरीय-राह तथा मोक्ष-द्वार है, यह सब चतुर मनुष्यों की वंचना ही है। परन्तु इन बातों को इस तरह कितने लोग समझते हैं! मनुष्य का परम प्राप्तव्य, विश्राम-स्थल, आश्रय एवं निधान उसकी अपनी चेतना ही है, उसका अपना आपा एवं चेतनस्वरूप ही है, परन्तु इसका बोध कितने लोगों को है! सारी वासनाओं को सर्वथा छोड़ देने पर ही निजस्वरूप की स्थिति होती है, इस परम सत्य को कितने लोग समझते हैं और जो समझते हैं, उनमें कितने लोग उसका आचरण करते हैं, ये सारी बातें कबीर साहेब के या किसी भी निष्पक्ष विवेकी पुरुष के दिल की हैं, परन्तु इनके समझने वाले बहुत कम हैं। अतएव "दिल का महरमि कोई न मिलिया" इस मुहावरे-जैसे वचन में सद्गुरु कहना चाहते हैं कि सत्य के पथिक बहुत थोड़े होते हैं।

"जो मिलिया सो गर्जी" नित्य के अनुभव की बात है। लोग संसार के प्राणी, पदार्थ, पद, प्रतिष्ठादि पाने की लालसा में डूबे हैं। जो महात्मा नामधारी जनता को पुत्र, धन, विजय, नीरोग्यता आदि देने का झांसा देते हैं उनके पास संसार की भीड़ इकट्ठी हो जाती है। तथाकथित भगवान एवं महापुरुषों के अवतार बनने वाले, चमत्कार—जो केवल छल-कपट है—दिखाने वाले लोगों के पास धन-जन दोनों इकट्ठे हो जाते हैं। स्वार्थी गुरुओं एवं स्वार्थी अनुगामियों की संसार में भीड़ लगी है। भक्ति-भाव जो सत्य के लिए हृदय का समर्पण है,

उसे न समझकर भौतिक स्वार्थ की भावुकता में बहना मान लिया गया है। कबीर देव का पद प्रसिद्ध है—ऐसी है दिवानी दुनिया, भक्ति-भाव नहिं बूझे जी।

"कहहिं कबीर असमानहिं फाटा, क्योंकर सीवै दर्जी" यदि आसमान फट जाये तो दर्जी उसे कैसे सी पायेगा! आसमान तो कोई वस्तु नहीं जो फट सके। यहां आसमान से अर्थ हृदय है। मनुष्य का हृदय फटा है। वह सत्य से दूर है और क्षणभंगुर भोगों तथा मिथ्या अहंकारों में लीन है। अतएव संसार के अहंकार तथा कामना में डूबे हुए मनुष्यों के मन को विवेकवान कैसे समझायें! जिसका दिल टुकड़े-टुकड़े है, जिसका मन अनेक शाखाओं में बंटा है एवं जिसका चित्त बिखरा-बिखरा है उसको समझा पाना बड़ा कठिन काम है। यह अमर वाक्य है कि गुरु उन्हीं शिष्यों पर शासन कर सकता है जो मन को जीत लिये हैं। मन के अधीन हुए संसार की कामनाओं में नाचने वाले लोगों पर गुरु अपना शासन नहीं चला सकता।

यह बात अन्य क्षेत्रों के लिए भी है। यदि अनुगामी, साथी, परिवार एवं पार्टी के लोग सुयोग्य नेता एवं अगुआ के हृदय की बातें समझते हैं और स्वयं में संयत हैं, तो उन पर ही अगुआ या नेता शासन कर सकता है, उन्हें चला सकता है।

सद्गुरु उन्हीं को अपने हृदय के सत्य को समझा सकता तथा उन्हीं को अपने शासन में चला सकता है जो उसके हृदय के विचारों को समझते हैं और समझकर तद्नुसार आचरण करते हैं। जो समझता नहीं तथा समझकर भी आचरण में चलता नहीं, उस पर गुरु का कोई वश नहीं।

राग-द्वेष की दावाग्नि

ई जग जरते देखिया, अपनी अपनी आगि।
ऐसा कोई ना मिला, जासों रहिये लागि॥ 332॥

शब्दार्थ—लागि=लगाव, प्रेम, सहारा।

भावार्थ—देखा गया है कि संसार के सभी मनुष्य अपने-अपने राग-द्वेष की आग में जल रहे हैं। ऐसा कोई नहीं मिलता जो शीतल हो और जिसका सहारा लेकर शीतलता प्राप्त की जा सके॥ 332॥

व्याख्या—कबीर देव की पंक्ति-पंक्ति में संसार का परम सत्य समाया हुआ है। विचारिए, उक्त साखी में कितना मार्मिक भाव भरा हुआ है! संसार के सभी लोग जल रहे हैं। किसमें जल रहे हैं? अपनी-अपनी आग में। भौतिक आग अपनी या परायी नहीं होती। परन्तु जिस आग में संसार के लोग जल रहे

हैं वह भौतिक आग नहीं है। भौतिक आग जहां जलती है उसे सब देखते हैं। चूल्हे में, धूनी में, भट्ठे में, आंवा में, कहीं भी भौतिक आग जलती होगी उसे सब देखते हैं। वह अपनी–परायी नहीं होती। वह तो सार्वभौमिक होती है। परन्तु जिस आग में संसार के सारे लोग जलते हैं, वह सार्वभौमिक आग नहीं है। वह सबकी अपनी–अपनी है। ईर्ष्या, घृणा, मोह, काम, क्रोध, लोभ, शोक, चिन्ता, विकलता और इनको संक्षिप्त करके कहें तो राग–द्वेष। यही तो वह आग है जिसे हर मनुष्य निजी–निजी बनाता है। एक घर में आग लगी हो, तो उस घर के सारे लोगों का सामान एक साथ जलता है, परन्तु उस घर के सभी सदस्यों के मन में लगी हुई राग–द्वेष की आग अपनी–अपनी अलग–अलग है। जिसके मन में जितनी मात्रा में आग है उसका चित्त उतनी मात्रा में जलता है।

मनुष्य अविवेक से अपने मन में राग–द्वेष की आग बनाता है और जीवनभर उसी में जलता है। जिस संसार के प्राणी–पदार्थों से अंततः न कुछ लेना है न देना, उन्हीं में हम राग–द्वेष की आग तैयार कर लेते हैं, और उसी में स्वयं जलते रहना तथा दूसरों को जलाते रहना अपना बहुत बड़ा काम समझते हैं। घरेलू झगड़ों से लेकर विश्व के बड़े–बड़े युद्ध एवं भारत के रामायण तथा महाभारत जैसे महाकाव्यों के नरसंहारक महान युद्ध मनुष्य के मन के राग–द्वेष रूपी जलती आग के फल होते हैं।

कहीं आग लगी हो, हम उसमें पड़ जायें, तो जलने लगेंगे, परन्तु यदि वहां से भाग निकलें, तो तत्काल उससे बच जायेंगे। लेकिन यदि मेरी अपनी आग है जो मेरे साथ है, तो उससे भागकर नहीं बच सकते। यह मेरे मन की राग–द्वेषात्मक आग तो मेरी अपनी है। इससे भागकर बचने का कोई चारा ही नहीं है। इससे बचने का चारा है इसे बुझा देना। परन्तु संसार में थोड़े लोग हैं जो अपने मन के राग–द्वेष की आग को बुझा देते हैं। अधिकतम लोग तो रात–दिन इस आग को उद्गारते जाते हैं। लोगों के मन में भोग–कामनाओं की आग जलती है और भोग–कामनाओं के बाद ही राग–द्वेष का जन्म होता है, फिर उसके बाद तो केवल उसमें जलना है। बाहर की दावाग्नि की कोई सीमा है, परन्तु मन के राग–द्वेष की आग की कोई सीमा नहीं है। उसके निर्मित होने पर तो उसमें तब तक केवल जलना है, जब तक उसे बुझा न दिया जाये।

राग–द्वेष की अपनी–अपनी आग में संसारी जल रहे हैं, तो वेषधारी भी जल रहे हैं। अधार्मिक जल रहे हैं तो धर्म के दिखावे में लिपटे हुए लोग भी जल रहे हैं। साधारण लोग जल रहे हैं तो बड़े–बड़े पूज्य, प्रतिष्ठित एवं स्वामी लोग भी जल रहे हैं। जिज्ञासु एवं मुमुक्षु संसार से भागकर परमार्थ–मार्ग में जाता है कि वहां उसकी आग बुझ जायेगी, परन्तु कई जगहें ऐसी मिलती हैं कि संसार से भी वहां अधिक राग–द्वेष की आग है। ऐसी स्थिति में साधक को भ्रम हो जाता है

कि मानो कहीं छुटकारा की जगह है ही नहीं।

"ऐसा कोई ना मिला, जासों रहिये लागि" इस पंक्ति में मोटे तौर पर यही प्रकट होता है कि शीतलता का आधार संसार में कहीं नहीं है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। यहां का कथन संसार में राग-द्वेष की अधिकता का द्योतक है। संसार के अधिकतम लोगों की यही दशा है। यदि शीतलता का आधार ही नहीं होता तो साधकों के लिए शंबल ही नहीं होता। प्रत्यक्ष है लेकर राग-द्वेष की आग बुझायी जा सकती है। कबीर देव ने साधकों को एवं समस्त कल्याण-इच्छुकों को आदेश दिया है—"जहाँ धीर गम्भीर अति निश्चल, तहाँ उठि मिलहु कबीरा।"[1] "संगति कीजै साधु की, हरै और की व्याधि।"[2] आपने साखीग्रन्थ में कहा है—"साधु बिरछ सतज्ञान फल, शीतल शब्द विचार। जग महँ होते साधु नहिं, जरि मरता संसार॥ "

हर मनुष्य की अपनी-अपनी आग उसके द्वारा बनाये गये राग-द्वेष हैं। हर आदमी अपनी-अपनी आग में जल रहा है। राग-द्वेष हीन संतों की शरण में लगकर और उनकी उपासना एवं प्रेरणा से जगकर मनुष्य अपने हृदय के राग-द्वेष की आग को बुझा सकता है और इसी जीवन में परम शीतल हो सकता है। सद्गुरु ने कहा है—"अबकी पुरिया जो निरुवारे, सो जन सदा अनंदा।"[3]

मानवीय बुद्धि के बिना मानव-तन व्यर्थ है

बना बनाया मानवा, बिना बुद्धि बेतूल।
कहा लाल ले कीजिये, बिना बास का फूल॥ 333॥

शब्दार्थ—बेतूल=तुलना-रहित, हलका। बास=गंध, सुगंध।

भावार्थ—कुल, रूप, सौन्दर्य, जवानी, विद्या, पद, शृंगार सभी अंगों से बना-ठना मनुष्य अच्छी समझ एवं विवेक-बुद्धि के बिना मानवीय लक्षणों से दूर है। फूल लाल-लाल एवं बड़े-बड़े हों, परन्तु उनमें सुगंध न हो तो उन्हें लेकर क्या होगा!॥ 333॥

व्याख्या—मनुष्य का असली व्यक्तित्व बाहर नहीं, भीतर है। अच्छी समझ, विवेकबुद्धि, शील, संयम, सदाचार आदि मानसिक गुण हैं। इन्हीं से आन्तरिक व्यक्तित्व गठित होता है। व्यक्ति में यदि ये मानसिक गुण न हों तो उसका बाहरी तामझाम निरर्थक है। आदमी को पहला अहंकार होता है कुल का। मैंने इतने बड़े कुल में जन्म लिया है, इसका दिखावा प्रायः किया जाता है।

---

42. बीजक, शब्द 29।
43. बीजक, साखी 207।
44. बीजक, साखी 322।

इसके विपरीत समाज में कुछ लोगों के मन में यह भाव भी बैठा दिया है कि तुम नीच कुल के हो। अत: वे चाहे जितने सद्गुणसंपन्न हों, किन्तु उनके मन में ऐसी हीन-भावना बनी रहती है कि हम नीच हैं। दूसरे लोग भी उन पर यही दृष्टि रखते हैं और वे स्वयं भी अपने आप के लिए यही धारणा रखते हैं। यह मानवता के प्रति घोर अपराध है।

सद्गुरु कहते हैं कि तथाकथित उच्चकुल में जन्मा हो, देह सुगठित एवं रूप-सौन्दर्यसंपन्न हो, जवानी की मस्ती हो, अनेकानेक भाषाओं एवं लिपियों का ज्ञान हो, अनेक विषयों के ज्ञान से संपन्न हो, ऊंचे पदों पर आसीन हो, अर्थात बाहरी सारी संपन्नता हो, परन्तु समझ अच्छी न हो, विवेकवती बुद्धि न हो, न वह मनुष्यों से अच्छा व्यवहार कर पाता हो और न उसके अपने जीवन में संयम हो, तो वह बना-ठना मनुष्य होकर भी मनुष्य नहीं है। क्या आपने सेमल के फूल नहीं देखे हैं! वे बड़े-बड़े तथा लाल-लाल होते हैं परन्तु उनमें सुगंधी का नाम भी नहीं होता, तो ऐसे फूल किस काम के! इसी प्रकार भक्ति, विनम्रता, शील, संयम, समझ आदि के बिना बना-ठना मनुष्य किस काम का! वह तो केवल आकृति में मनुष्य है, प्रकृति में मनुष्य नहीं है।

मनुष्य की महानता उसके रूप, सौन्दर्य, विद्या, पद आदि में नहीं, उसके सुन्दर मन में है। इतिहास साक्षी है कि संसार के अनेक महापुरुष न तो लौकिक दृष्टि से विद्वान थे, न धनवान, न तथाकथित उच्चकुल में जन्मे थे और न देखने में सुन्दर; परन्तु उनके चरणों में सारी दुनिया झुकती रही, और आज भी वह उनकी याद कर सत्प्रेरणा का शंबल पाती है। यह सबका अनुभवसिद्ध ज्ञान है कि विद्या-रूपादि से संपन्न होने पर भी अच्छी समझ तथा मानवीय गुणों के बिना आदमी लोगों को प्यारा नहीं होता; परन्तु विवेकशील तथा विनयी व्यक्ति देह से कुरूप एवं विद्याहीन होकर भी सबको प्यारा होता है। विनयशील व्यक्ति सदैव सुन्दर दिखता है, यह अनुभूत तथ्य है।

लम्बे-लम्बे हाथ, चौड़ी छाती, बड़ी-बड़ी आंखें, प्रशस्त मस्तक, सुन्दर मुख आदि में उत्तम व्यक्तित्व खोजना महा भ्रम है। मनुष्य का उत्तम व्यक्तित्व तो उसके सुलझे हुए मन में है। यह बात अलग है कि यदि मन बढ़िया है तो शारीरिक सुन्दरता भी शोभा देती है। परन्तु मन ठीक न हो तो तन की सुन्दरता दो कौड़ी की भी नहीं है। मनुष्य को आंतरिक तृप्ति, सुख, शांति एवं आनन्द देह की चमक-दमक से नहीं हो सकते। उसमें भूलकर तो अशांति ही होगी। उसे आंतरिक तृप्ति मिलेगी मन का विवेकसंपन्न एवं शीलयुक्त होने से। जब मन ज्ञान से भरा हो, संयत एवं स्थिर हो, तभी जीवन का लक्ष्य परम शांति मिल सकती है। इसीलिए सद्गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य! तू बाहर बन-ठनकर क्या चलता है, भीतर को संवार! चाम के चेहरे को संवारने की अपेक्षा मन को

संवार, तभी तुम्हें परम शांति की प्राप्ति होगी, तभी तेरा जीवन कृतकृत्य होगा।

सत्य पालन सर्वोच्च तपस्या है

साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हृदया साँच है, ताके हृदया आप॥ 334॥

शब्दार्थ—आप=स्वतः, स्वयं, अपने आप।

भावार्थ—सत्य पालन के समान तपस्या नहीं है और झूठ के समान पाप नहीं है। जिसके हृदय में सत्य की प्रतिष्ठा है, उसके हृदय में व्यक्ति का स्वराज्य है॥ 334॥

व्याख्या—लम्बा-लम्बा उपवास, पंचाग्नितापन, जलशयन, ऊर्ध्वबाहु रहना, मौनव्रत, नंगा रहना, वन में कठिनाई का जीवन बिताना, इसी प्रकार अन्य अनेक तपस्याएं हैं, परन्तु सत्य के पालन के समान दूसरी तपस्या नहीं है। तथागत बुद्ध तथा महावीर ने सत्य का पालन किया। वे विरोधियों द्वारा विचलित न होकर अपने मार्ग में दृढ़ रहे। उसका फल संसार के लिए अमोघ हुआ। यूनान देशीय एथेंस नगरी के महात्मा सुकरात को वहां की तात्कालिक राज-सत्ता तथा पुरोहित-समुदाय ने नाना प्रलोभन दिये, जब वे नहीं माने और अपने निर्धारित सत्य का प्रचार करते रहे, तब उन्होंने उन्हें जेल में डाला और अन्त में विष का प्याला पीने का दण्ड दिया। इतने पर भी सुकरात अपने सत्य-पथ से विचलित न हुए और निर्धारित तिथि को जल्लाद द्वारा विष का प्याला पाकर उसे हंसते-हंसते पी गये और मरते तक उपस्थित शिष्यों को आत्मा की अमरता का उपदेश करते रहे। तात्कालिक अंधरूढ़ि का विरोध करने से महात्मा ईसा को भी वहां की राजसत्ता तथा पुरोहितसत्ता का कोपभाजन बनना पड़ा। ईसा को क्रास पर चढ़ाकर उन्हें प्राणदंड दिया गया, परन्तु न वे विचलित हुए और न उन्होंने अपने हत्यारों को बुरा कहा। उन्होंने मरते दम क्रास पर लटके-लटके कहा था—"हे प्रभु इन्हें क्षमा करना। ये नहीं समझते कि हम क्या कर रहे हैं।"

स्वयं ग्रन्थकार कबीर साहेब के सत्य-पालन की दृढ़ता जगत-प्रसिद्ध है। बादशाह सिकन्दर लोदी द्वारा कबीर साहेब की बावन कसनियां बतायी जाती हैं जो एक-से-एक दारुण है। निश्चित है उनमें जितने अंश चमत्कार के हैं, वे काल्पनिक हैं। परन्तु उन सबसे इतना तो पता चलता ही है कि समसायिक राजसत्ता एवं पुरोहितसमाज ने कबीर साहेब को नाना तकलीफ देने का प्रयास किया था, परन्तु उनकी सत्य में अविचल दृढ़ता तथा जनसमाज का सहयोग उनके साथ होने से उनका कोई बाल बांका नहीं कर पाया। कबीर साहेब पुरोहितों की नगरी काशी में रहकर उन्हें ललकारते रहे, उनकी त्रुटियों पर उन्हें

खरी-खोटी सुनाते रहे और उनके द्वारा विरोध पाकर भी अविचलित बने रहे। यह उनका कितना अपार साहस था! सत्य-पालन की उनमें कितनी अपार क्षमता थी! सत्य-पालन में उन्होंने कितना कठोर तप किया, यह सोचते ही बनता है!

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हिन्दूसमाज के कूड़े-कचड़े को बुहारने में कितना अपार साहस दिखाया, यह जगत-प्रतिद्ध है। उनके क्रांतिकारी विचारों के कारण उनको कई बार जहर दिया गया तथा उन पर प्राणघातक हमले किये गये, परन्तु वे अपने सत्य विचार में दृढ़ रहे। अंततः उनको विष दिया गया। मीराबाई को भी विष का प्याला दिया गया। उन पर कई प्राणघातक प्रयोग किये गये, परन्तु उन्होंने अपने निर्धारित-पथ का परित्याग नहीं किया। ध्रुव और प्रह्लाद की कहानियां चाहे पूरी ही काल्पनिक हों,परन्तु सत्य-पथ पर चलने वालों के लिए उनमें प्राणवान शिक्षाएं मिलती ही हैं। श्री राम का पिता के वचन रखने के लिए चौदह वर्ष घोर तपस्वी जीवन बिताना और उसमें सीता, लक्ष्मण, भरत आदि का हाथ बंटाना अपने आप में उत्तम आदर्श है। श्री कृष्ण[1] का वनवासियों तथा पशुओं की भी रक्षा में यज्ञ करने वाले ब्राह्मणों और इन्द्र से भी लोहा लेना अपने आप में अत्यन्त रोचक तथा बहुत बड़ी तपस्या की बात है। महात्मा गांधी ने सत्य के पालन में अपनी जान खो दी परन्तु सत्य से विचलित न हुए। सिक्ख गुरुओं की कुर्बानियां जगत-प्रसिद्ध हैं। गुरुगोविन्द सिंह के दो बच्चे मुसलिम राजा द्वारा दीवार में चुनवा दिये गये, परन्तु उन्होंने उनके मुसलिम बनने का प्रस्ताव ठुकरा दिया। गैलेलियो, ब्रूनो आदि वैज्ञानिकों को अपने सत्य सिद्धान्त के लिए धर्म के ठेकेदारों का कोपभाजन होना पड़ा, परन्तु वे सत्य से न डिगे।

सत्यभावना, सत्यसिद्धान्त, सत्यवचन तथा सत्याचरण पालन करने में चाहे जितनी कठिनाइयां पड़ें, उन्हें सहर्ष सहना ही तपस्या है। भय और प्रलोभन में पड़कर जो सत्य को छोड़ देता है वह कहीं का भी नहीं रह जाता। अनेक लोगों को देखा जाता है कि उन्हें लम्बी बीमारियों में घोरातिघोर कष्ट उठाना पड़ता है, फिर यदि सत्य के लिए कष्ट उठाना पड़े तो क्या हर्ज है! मौत सभी देहधारियों की निश्चित है और यदि सत्य के पालन में ही मौत हो तो यह कितना ऊंचा काम है! सत्य के समान न संसार के माने गये सुख हैं, न पद-प्रतिष्ठा है और न अन्य कुछ। यदि सत्य छोड़ देना पड़े तो शरीर भी रखकर किस काम का! अतएव सचाई में रहना ही सबसे बड़ी तपस्या है। सत्यपरायण व्यक्ति बाहर से भले ही अकिंचन दिखे, परन्तु भीतर से वही संपन्न होता है। सत्यपरायण व्यक्ति जीवन में सच्चा सुख पाता है। जो व्यक्ति सत्य में रहता है वह कोई पाप नहीं कर

---

45. श्री कृष्ण का यह स्वरूप ऋग्वेद मंडल 8, सूक्त 85, मन्त्र 13-16 में द्रष्टव्य है। जहां खिलभाग (परिशिष्ट) है वहां यह 96वां सूक्त पड़ता है।

सकता, फिर उसके समान तपस्वी और सफल-जीवन कौन होगा!

"झूठ बराबर पाप" झूठ के बराबर पाप नहीं होता। जो झूठ बोलता है वह कौन-सा पाप नहीं कर सकता! जो व्यक्ति जितना ही झूठ का आश्रय लेता है वह उतना ही परमार्थ से तो दूर हो ही जाता है, उसका व्यवहार भी थोड़े दिनों में भ्रष्ट हो जाता है। झूठा आदमी सबका अविश्वासपात्र हो जाता है। झुठाई के बल पर कोई तत्काल धन-मकान को चमका सकता है, परन्तु वह भीतर से मलिन हो जाता है और उसकी बाहरी चमक-दमक भी थोड़े दिनों में बुझ जाती है। झुठाई के रास्ते पर चलने का मतलब है दूसरों को पीड़ा देना, और दूसरों को पीड़ा देखकर कोई स्वयं पीड़ा से मुक्त नहीं हो सकता।

"जाके हृदया साँच है, ताके हृदया आप।" यह बड़ी वजनदार बात है। जिसके हृदय में सत्य है उसके हृदय में अपने आप की प्रतिष्ठा है। शिष्य ने पूछा कि सत्य क्या है? गुरु ने कहा कि व्यक्ति अपने आप ही परम सत्य है। व्यक्ति का बाहरी खोल तो असत्य है, अर्थात शरीर नाशवान है, परन्तु शरीर के भीतर विद्यमान चेतन परम सत्य है। जो सत्य को खोजता है वह चेतन जीव ही परम सत्य है। जो व्यक्ति अपने सत्यस्वरूप का ज्ञान पा गया है और जीवन के सारे व्यवहार सत्यमय बरत रहा है वह अपने आप कृतकृत्य होता है। अपने स्वरूप का अज्ञान तथा असत्य में मोह होने से ही सारे दुख थे। जब निजस्वरूप का बोध हो गया और असत्य मायाजाल से मोह टूट गया तब जीव अपने सत्य स्वरूप चेतन में प्रतिष्ठित हो गया। यही जीवन की सर्वोच्च दशा है। यही "जाके हृदया साँच है, ताके हृदया आप" का भाव है। जब जीव असत्य से सर्वथा हट गया, तब स्वयं सत्यस्वरूप रह गया।

बड़ा वही है जिसकी बड़ी बुद्धि एवं बड़े संस्कार हैं

कारे बड़े कुल ऊपजै, जोरे बड़ी बुधि नाहिं।
जैसा फूल उजारिका, मिथ्या लगि झरि जाहिं॥ 335॥

शब्दार्थ—कुल=वंश, घराना गोत्र, एक जाति वालों का समुदाय। उजारि=जाड़, वीरान, जनशून्य, जंगल।

भावार्थ—यदि बड़ी बुद्धि नहीं है तो बड़ी जाति में पैदा होने से क्या हुआ! जैसे जनशून्य जंगल में फूल खिले और व्यर्थ में झड़ गये, वैसे उत्तम मानव-जाति में जन्म लिया, परन्तु आत्मकल्याण और जनकल्याण का कोई भी का किये बिना संसार से चला गया, तो उसका जन्म व्यर्थ गया॥ 335॥

व्याख्या—यह भाषा की विचित्रता है कि तुर्की भाषा में 'कुली' मजदूर को कहते हैं और संस्कृत में कुली या कुलीन उच्च वंश में पैदा हुए लोगों को कहते हैं। सद्गुरु कबीर यहां 'कुल' के साथ 'बड़े' विशेषण लगाते हैं। बड़ा कुल एवं

उच्च कुल मानव-कुल है। पूरे मानव का एक ही कुल एवं वंश है जो संसार में सर्वोच्च है। मानव के समान संसार में कोई जाति नहीं है। परन्तु ऐसे उत्तम मानव-कुल में जन्म लेकर जीव ने क्या कमाया जबकि उसकी बुद्धि मानवीय गुणों से सम्पन्न एवं विवेकवती नहीं है! बड़े कुल में जन्म लेने की शोभा तब है जब उसमें बड़ी बुद्धि हो।

बड़ी बुद्धि का अर्थ है विचार एवं विवेक-प्रधान बुद्धि का होना। जिसमें बड़ी बुद्धि होती है वह अपने आप को बड़ा तथा दूसरे को छोटा नहीं मानता, किन्तु वह दूसरे सब का आदर करता है और स्वयं विनम्र रहता है। बड़ी बुद्धि वाला वह है जो अपने आप के प्रति संयमशील है और दूसरों की यथाशक्ति सेवा करता है। विनयभाव तथा पर-सेवा बड़ी बुद्धि का मुख्य लक्षण है। यह जिसके पास नहीं है वह निर्जन स्थल में खिले हुए फूलों के समान है जिनका उपयोग किसी के लिए नहीं हुआ।

बड़ा कुल उसे भी माना जाता है जिस मानव जाति के परिवार में उत्तम शिक्षा, अच्छे संस्कार एवं सदाचार का बाहुल्य है; और जिस परिवार में इन अच्छे गुणों का अभाव है, उसे निम्न कुल माना जाता है। परन्तु इस मान्यता में आगे चलकर मिथ्या अवधारणा घर बना लेती है। जो उत्तम संस्कारों से अधिक सम्पन्न थे उत्तम कुल वाले कहलाने लगे। आगे चलकर उनमें भ्रष्ट लोग होने लगे, परन्तु वे भी अपने आप को उत्तम कुल का होने का अहंकार करते हैं। दूसरी तरफ जिन परिवारों में उच्च संस्कार नहीं हैं उन्हें निम्न कुल का कहा जाता है। परन्तु आगे चलकर उनमें शिक्षा, अच्छे संस्कार तथा सदाचार आ जाने पर भी उन्हें दूसरे लोग नीच कुल का ही मानते हैं। यह घोर अपराध संसार के प्रायः हर क्षेत्र तथा महजब वालों में है, और इसका अधिक ज्वलंत रूप भारतवर्ष के हिन्दू समाज में है। कभी पुराकाल में ब्राह्मण नामधारियों का एक छोटा परिवार था और वह बहुधा शिक्षित, अच्छे संस्कारसंपन्न और सदाचारी था। इसलिए वह उच्च कुल कहलाने लगा। आज उनका परिवार बहुत बड़ा है। उच्च शिक्षा, अच्छे संस्कार एवं सदाचार कुछ लोगों में ही हैं, शेष की दशा इतनी गिर गयी है कि उसका वर्णन करना बेकार है। फिर भी वे अपने आप को उच्च कुल का मानकर गर्व से छाती फुलाये घूमते हैं। दूसरी तरफ जिसे समाज निम्न एवं शूद्र कुल कहता है उसमें अनेक उच्च शिक्षा प्राप्त, अच्छे संस्कारयुत, भक्त एवं सदाचारी हैं, परन्तु उन्हें आज भी समाज नीच कुल का मानता है। यह धारणा मानवता के प्रति घोर अपराध है।

सद्‌गुरु कबीर कहते हैं कि उच्च कुल का कहलाने से कोई उच्च नहीं हो सकता। वस्तुतः जिसकी उच्च बुद्धि है, उच्च आचार एवं उच्च संस्कार हैं वही उच्च है। विनयी ही श्रेष्ठ है। अपने को सबसे बड़ा मानने वाला तुच्छ है।

कल्पक सत्य है, कल्पना असत्य

कर्ते किया न बिधि किया, रवि ससि परी न दृष्टि।
तीन लोक में है नहीं, जाने सकलो सृष्टि॥ 336॥

शब्दार्थ—कर्ते=कर्ता, बनाने वाला। बिधि= संयोग। तीन लोक=ऊपर-नीचे-मध्य, समस्त संसार, द्रष्टा-दृश्य-दर्शन।

भावार्थ—बताओ, वह क्या है जिसे न तो किसी कर्ता ने बनाया है, न संयोग से ही बन गया है, न उसे सूर्य और चन्द्रमा के प्रकाश में देखा जा सकता है और न तो वह संसार में कहीं है, फिर भी उसे सारा संसार जानता एवं मानता है? वह है आत्मसत्ता से भिन्न ईश्वर एवं दैवी-कल्पना॥ 336॥

व्याख्या—मनुष्य की अपनी आत्मा ही ईश्वर है, देव है, सर्वोच्च सत्ता एवं परमतत्त्व है। परन्तु इसे न समझकर मनुष्य ने अपने से भिन्न किसी ऐसे ईश्वर एवं देव की कल्पना कर रखी है जिसके विषय में धारणा है कि वह सर्वशक्तिमान है, सब जगह है और सर्वज्ञ है। इसके साथ-साथ वह न्यायी, दयालु एवं आनन्दस्वरूप भी है। इन सबकी कल्पना इसलिए होती है कि मनुष्यों को इन सब बातों की आवश्यकता है। कोई ऐसा चेतन होता जो सब जगह होता, सब कुछ जानता और सब कुछ कर सकता और इसके साथ-साथ न्यायी, दयालु तथा आनन्दस्वरूप भी होता, तो ऐसा बादशाह पाकर हम जीवों को कोई तकलीफ कभी होती ही नहीं। वह सब जगह तथा सर्वज्ञ होने से सबकी बातें सब समय जानता और सब कुछ करने की शक्ति रखने से वह सबको सदैव अच्छे पथ पर चलने के लिए सावधान करता रहता। यदि कोई न मानता तो मां जैसे बच्चे को चपत लगाकर उसे रास्ते पर लाती है, वैसे वह मनुष्यों को बलपूर्वक असत-मार्ग से हटाकर सत-मार्ग पर ले आता। वह अतिवृष्टि तथा अनावृष्टि से संसार को बचाकर मानव एवं प्राणियों को विनाशलीला से उबार लेता। वह न्यायी होने के साथ-साथ हम पर दयालु भी होता और आनन्द स्वरूप होने से उसके आनन्द से हम सदैव आनन्दित रहते इत्यादि।

ईश्वर की यह अत्यन्त मनोरम कल्पना मानव की आवश्यकता है। दुर्भाग्य यह है कि ऐसा ईश्वर कहीं कोई नहीं है। राजसी-तामसी मनुष्यों की उद्दंडता, गरीबों तथा लाचार जीवों का रात-दिन पिसे जाना, बाढ़, सूखा, भूचाल, तूफान तथा अनेक प्राकृतिक उत्पातों से प्राणियों को घोर कष्ट होना, ईश्वर और धर्म के नाम पर उन्मादी संस्कार, यह देखकर साफ जाहिर हो जाता है कि जड़ प्रकृति तथा उसके अपने शाश्वत नियम और जीवों के स्वतन्त्र कर्मों का समुच्चय ही

संसार है। अतएव ईश्वर, ब्रह्म, खुदा, गॉड, देवी, देवता, भूत, प्रेत आदि जहां तक मानवेतर शक्तियों की कल्पना की गयी है, सब मनुष्यों के मन की अवधारणा है। सब मिलाकर कहें तो अनुभविता तथा अनुभूत चेतन और जड़ से अलग प्रेरक शक्ति की कल्पना ही वह मन की वस्तु है जो कहीं नहीं है और आश्चर्य है कि उसे ही संसार के प्रायः सारे लोग सर्वेसर्वा मान बैठे हैं।

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि इसे किसी कर्ता ने नहीं बनाया है और न संयोग से ही बन गया है। प्रश्न हो सकता है कि मनुष्य ने ही तो ईश्वर की कल्पना की है। तो कहा जा सकता है कि मनुष्य ही ईश्वर का कर्ता है, उसने ही ईश्वर को मन से गढ़ करके रखा है। यह तर्क बिलकुल सच है। ऐसा कहा भी जाता है। परन्तु यहां की कथन-शैली यह है कि ईश्वर कोई वस्तु न होने से उसका कोई कर्ता नहीं हो सकता। मनुष्य मकान का कर्ता होता है, घड़ी, कपड़े एवं मशीन का कर्ता होता है। ये भले ही क्षणभंगुर हों, परन्तु इनकी कुछ दिनों के लिए सत्ता होती है। ईश्वर ऐसा कुछ भी नहीं है। अतएव ईश्वर केवल काल्पनिक होने से उसका कोई कर्ता नहीं और न उसका कोई संयोग से ही निर्माण हो गया है। वह कुछ न होने से उसे सूरज तथा चांद की रोशनी में देखना भी असंभव है। सद्गुरु कहते हैं कि वह संसार में कहीं नहीं है। न वह द्रष्टा है, न दृश्य है, और न दर्शन। द्रष्टा चेतन हैं, दृश्य जड़ और दर्शन दोनों का संबंध है। ईश्वर उनमें कुछ भी नहीं है। फिर भी संसार ईश्वर-ईश्वर पुकार रहा है। यह उसका भोलापन है।

मिट्टी, पानी, आग, हवा कहें या ऑक्सीजन, हाइड्रोजन, नाईट्रोजन आदि शताधिक तत्त्वों के समाहार ठोस, तरल, वायव्य एवं अतिवायव्य कहें, ये जड़ तत्त्व हैं। इनमें अपने अनादि स्वयंभू तथा शाश्वत नियम हैं, इधर असंख्य जीवों के मन तथा कर्म हैं जिनसे संसार की व्यवस्था चल रही है। हमें संसार के नियमों का अध्ययन करके अपना ऐसा आचरण करना चाहिए जिससे हमें यथासंभव कष्ट न हो। हम यह न कर नियामक की खोज में पड़ जाते हैं, कि यदि वह मिल जाये तो हम उसकी पूजा कर लें और वह हमें संसार के सारे नियमों के प्रतिबन्धों एवं फलों से मुक्त कर दें। परन्तु यह होने वाला नहीं है। बड़े-बड़े ईश्वर-भक्त भी अपने कर्मों के फलभोग पाते हैं। प्रसिद्ध ईश्वरभक्त गोस्वामी तुलसीदास अपने हाथ से दर्द से बुढ़ापे में बहुत पीड़ित रहे, श्री रामकृष्ण परमहंस तथा गीताप्रेस के हनुमान प्रसाद पोद्दार गले के कैंसर का असह्य कष्ट भोगकर शरीर छोड़े।

पहले यह विचार लेना चाहिए कि हर नियम का नियामक नहीं हुआ करता। आग का नियम है जलाना। इसे उसमें किसी ने नियोजित नहीं किया है, किन्तु यह आग का शाश्वत स्वभाव है। आग अनादि है, उसका जलाना नियम

भी अनादि है। ऐसे समस्त जड़-चेतन अनादि हैं। उनके स्वभावसिद्ध नियम भी अनादि हैं। बनावटी नियम तो मनुष्य के होते हैं, जैसे उसने अपने नियम बना लिये कि हम सुबह चार बजे सोकर उठेंगे, पांच बजे तक नित्यक्रिया से निपट लेंगे, छह बजे तक अध्ययन तथा ध्यान करेंगे इत्यादि। किन्तु जड़-चेतन के स्वभावसिद्ध नियम किसी के बनाये नहीं होते। वे स्वयंभू तथा शाश्वत होते हैं। अतएव हमें जड़-दृश्य जगत तथा उससे भिन्न अपनी आत्मा के अलावा किसी नियामक की खोज करने की कोई आवश्यकता नहीं है, किन्तु जड़-चेतन और मन, देह एवं विश्व प्रकृति के नियमों को जानकर आचरण से चलना चाहिए जिससे हम स्वयं सुखी रहें और यथासंभव समाज को सुख दें। अपने ऊपर से ईश्वरीय कल्पना को हटाये बिना हमें अपने चेतनस्वरूप का न बोध होगा और न उसमें स्थिति। बाहरी ईश्वर का जंजाल काटने पर ही स्वरूप-राम में विश्राम होगा।

काल्पनिक स्वर्ग पाने की दुराशा

सुरहुर पेड़ अगाध फल, पन्छी मरिया झूर।
बहुत जतन कै खोजिया, फल मीठा पै दूर॥ 337॥

शब्दार्थ—सुरहुर=लम्बा तथा सीधा। अगाध=असीम, अपार। झूर=सूखा। जतन=यत्न, उपाय।

भावार्थ—कोई लम्बा-सीधा पेड़ हो, उसमें असीम मीठे फल लगे हों और उन्हें खाने के लिए पक्षी उनमें लगे हों, परन्तु वे फल न पाकर स्वयं सूख-सूखकर मर रहे हों! मानो ऐसा ही बहुत उच्च स्थान पर एक स्वर्ग है। उसमें अप्सरादि मीठे भोग तथा ईश्वर-साहचर्य के आनंद मिलने की कल्पना की जाती है। परन्तु उसके रसिक भक्त उसे पाते नहीं, प्रत्युत तपस्या में सूख-सूखकर मरते हैं। नाना मत के गुरुओं के भुलावे में पड़कर संसार के लोग उसे नाना उपाय करके खोजते हैं, वे कहते हैं कि स्वर्ग के फल तो मीठे हैं, परन्तु दुर्लभ हैं॥ 337॥

व्याख्या—संसार के प्रायः सभी मतों ने आकाश में स्वर्ग की कल्पना की है। लोग मानते है कि वहां के सारे भोग दिव्य हैं। नाना मत के पुरोहितों की रोचक और काल्पनिक बातें सुनकर संसार के लोग ललचाते हैं और उन्हें पाने के लिए तपस्या करते हैं। लोग तपस्या करके सूख-सूखकर मरते तो हैं, परन्तु स्वर्ग-सुख पाने से रहे, क्योंकि वह सब मन बहलाने का उपाय मात्र है।

सालोक्य (ईश्वर के लोक में बसना), सामीप्य (ईश्वर के निकट रहना), सारूप्य (ईश्वर के रूप वाला हो जाना), सायुज्य (ईश्वर में घुल-मिल जाना)—ये चार प्रकार की सगुण मुक्तियां मान रखी हैं, जो स्वर्ग की कल्पना

की तरह हैं।

कबीर साहेब विवेकसंमत बात ही मानने वाले पुरुष थे। उन्होंने उक्त साखी में स्वर्गवादियों की मिथ्या कल्पनाओं एवं दुराशाओं पर व्यंग्य किया है। उक्त पूरी साखी स्वर्गवादियों पर व्यंग्य है।

स्वर्ग और ईश्वर की खोज करने वाले भटके हैं

बैठा रहै सो बानिया, ठाढ़ रहै सो ग्वाल।
जागत रहै सो पहरुआ, तेहि धरि खायो काल॥ 338॥

शब्दार्थ—पहरुआ=पहरा देने वाला। काल=कल्पना, अज्ञान।

भावार्थ—उक्त स्वर्ग और ईश्वर को पाने के लिए जो लोग एक जगह बैठकर कथा-कीर्तन तथा नाम-जपादि करते हैं वे मानो दुकानदार बुनिया हैं, जो लोग ठाढ़ेश्वरी बने रहते तथा घूम-घूमकर तीर्थ करते हैं वे मानो गाय चराने वाले ग्वाले हैं और जो उनके लिए जागरण करते हैं वे मानो पहरेदार हैं, इन सबको मानो अज्ञान ने पकड़कर खा लिया है॥ 338॥

व्याख्या—कबीर साहेब व्यंग्य करने तथा चुटकी लेने में निपुण हैं। किसी ने कहा, कुछ लोग भगवान और स्वर्ग को पाने के लिए एक जगह ही बैठकर कथा, कीर्तन, जप, दान आदि करते हैं। साहेब कहते हैं कि वे बनिया की तरह हैं। बनिया भी एक ही जगह बैठकर दुकान करता है। वैसे भक्त लोग एक ही जगह बैठकर जप-कीर्तन आदि करके स्वर्ग में जाना तथा ईश्वर को पाना चाहते हैं।

साहेब कहते हैं कि स्वर्ग पाने तथा ईश्वर-दर्शन के लिए बारह-बारह वर्ष या जीवनभर खड़े रहने वाले तथा तीर्थों की यात्रा करने वाले सब गाय चराने वाले ग्वालों के समान हैं। ग्वाले सदैव डंडा लेकर गायों के पीछे दौड़ते रहते हैं, वैसे ये ईश्वर और स्वर्ग के विरही लोग सदैव तीर्थों का चक्कर लगाते रहते हैं।

अनेक लोग रात-रात जागकर देवपूजन या हठयोगादि साधते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि ये मानो पहरेदार हैं। पहरेदार भी तो रात-रात जागकर पहरा देता है। जो वस्तु है ही नहीं वह न बनियापन से मिलेगी, न ग्वालेपन से तथा न पहरेदारपन से। मनुष्य की आत्मा को छोड़कर उसे न कहीं कोई परमात्मा मिलने वाला है और न स्वरूपस्थिति छोड़कर कोई स्वर्ग। अतएव जो लोग स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति छोड़कर बाहरी स्वर्ग एवं ईश्वर पाने के चक्कर में भटकते हैं वे मानो कल्पना-काल के गाल में लीन हैं। आत्मदेव ही परमात्मा है तथा मन की विश्रांति ही स्वर्ग एवं मोक्ष है। इनसे बाहर भटकना अज्ञान का चक्कर है।

संसार-वृक्ष कट जाने पर फल देता है

आगे आगे दौं जरे, पाछे हरियर होय।
बलिहारी तेहि वृक्ष की, जर काटे फल होय॥ 339॥

शब्दार्थ—दौं=दावाग्नि, जंगल में लगी हुई प्रचंड अग्नि। हरियर=हरा-भरा। बलिहारी=निछावर होना, कुर्बान होना, प्रशंसा।

भावार्थ—जिनके मन में ज्ञान की दावाग्नि लगी है और आगे-आगे सांसारिकता एवं भास-अध्यास का वन जलता जाता है, उनके पीछे मन का नन्दनवन हरा-भरा होता जाता है। इस संसार-वृक्ष की यही प्रशंसा है कि इसकी जड़ काटने से ही यह मोक्ष-फल देता है॥ 339॥

व्याख्या—महाकवि कबीर का समर्थ-कथन कितना मार्मिक, अनुभवपूर्ण एवं तलस्पर्शी है! 'दव' कहते हैं वन को। बांसों की रगड़ या किसी मनुष्य के आग लगा देने से जब वन में आग लगती है तब कभी-कभी वह बहुत व्यापक हो जाती है। वन में सर्वत्र घास-फूस, पत्ते तथा लकड़ियां होती हैं। अत: उन ईंधनों को पाकर आग सर्वत्र बढ़ती जाती है। इसे दावाग्नि कहते हैं। वैसे 'दव' मात्र को भी दावाग्नि कहा जाता है। जब दावाग्नि लगती है तब वन को जलाकर राख कर देती है। वहां तुरन्त उसके हरा होने का प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु जिनके मन में ज्ञान की दावाग्नि लग जाती है उनके मन का नन्दनवन खिल जाता है।

हमारा मन एक विशाल वन है। हम इसी में तो रात-दिन भटकते हैं। वन में हिंसक जन्तु तथा चोर-डाकू छिपते हैं। यदि वन जलकर राख हो जाये तो सब कुछ मैदान में बदल जाये और उसमें न हिंसक जन्तु रह सकें न चोर-डाकू। उसी प्रकार हमारे मन के वन में काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष आदि हिंसक जन्तु तथा चोर-डाकू छिपे रहते हैं और हम मन की उलझन में सदैव उलझे रहते हैं। जिनके मन में ज्ञान की दावाग्नि लग जाती है उनके मन का वन जल जाता है। फिर न तो वहां काम-क्रोधादि रह सकते हैं और न जीव के भटकने का अवसर ही रह जाता है।

मन में हर क्षण वास्तविकता का बोध बने रहना ज्ञान की दावाग्नि का प्रज्वलित रहना है। शरीर विवेक-साधन-सम्पन्न होने से महत्त्वपूर्ण है, अन्यथा भौतिक दृष्टि से यह एक हाड़-मांस का ढांचा है। जिसमें टट्टी, पेशाब, रक्त, मवाद आदि भरे हुए हैं, फिर यह प्राय: हर क्षण रोग-व्याधि से ग्रसित रहता है। यह क्षणभंगुर है ही। सारे भोग मन को अशांत करने वाले हैं। संसार की सारी ममता घोर अविवेक है; क्योंकि जीव के साथ अंतत: न कुछ रहने वाला है और न कुछ जाने वाला है। जीव का परम निधान जीव का अपना स्वरूप एवं उसकी

अपनी आत्मा ही है। सब तरफ से लौटकर अपनी आत्मा में स्थित होना ही जीवन की सर्वोच्च गति है। इस तरह का भाव मन में सदैव बने रहना मानो मनरूपी वन में ज्ञान की दावाग्नि का जलते रहना है। जो जैसा है उसको उसी तरह समझते रहना ही सच्चा ज्ञान है और यह भाव मन में सदैव बने रहना ज्ञान की दावाग्नि है। ऐसी स्थिति में मन में कूड़े-कचड़े नहीं रह सकते। मन में कचड़े तो तभी आते हैं जब हम वास्तविकता को भूल जाते हैं। यथार्थ ज्ञान का निरन्तर बने रहना ही भजन है।

सद्गुरु कहते हैं—"आगे आगे दौं जरे, पाछे हरिहर होय।" व्यक्ति के आगे मन ही तो है। हर समय मन ही आगे रहता है। जिनके मन में ज्ञान की आग जलती है। उनकी दशा हरी-भरी हो जाती है, परम सुखमय एवं परमानंदमय हो जाती है। जो आगे-आगे होता है उसी का फल पीछे घटता है। जिसके मन में दिनभर खुराफात है, वह शाम को जब खाट पर अकेला होकर बैठेगा, तब उसके मन में अशांति का बोलबाला ही तो रहेगा! जो दिनभर अच्छे बरताव करेगा, वह जब शाम को बिस्तर पर अकेला होकर बैठेगा तब उसके मन में सुगंधी-ही-सुगंधी रहेगी। हम जो कुछ वर्तमान में करते हैं, पीछे वही होते हैं। अतएव सद्गुरु ने यह बड़े मनोविज्ञानपूर्वक कहा है कि जिसके आगे-आगे अर्थात मन में ज्ञान की दावाग्नि जलती रहती है उसके पीछे अर्थात फल में उसका नंदनवन हरा-भरा होता जाता है। वासनाहीन मन आनंद का सागर होता है। इसीलिए तो परम पारखी सद्गुरु रामरहस साहेब ने "आनंद सिंधु अहंतातीता" कहा है। अर्थात जो अहंकार से रहित है वह आनन्द का सागर है। मन की सांसारिकता के वन में ज्ञान की आग लगा देने पर मन का अध्यात्म-वन हरा-भरा होता है।

सद्गुरु कहते हैं—"बलिहारी तेहि वृक्ष की, जर काटे फल होय।" अर्थात उस पेड़ पर हम कुर्बान हैं जिसकी जड़ काट देने पर वह फल देता है। संसार की आसक्ति एक महान वृक्ष है। यदि इसे भोगों से सींचा जाये तो यह दुखों का कारण बनता है और यदि इसकी जड़ काट दी जाये तो यह मोक्ष-फल देता है। जब सांसारिकता एवं राग-द्वेष की जड़ कट जाती है, तब जीव को जीवन पाने का फल मिलता है, वह है भव-बन्धनों से छुटकारा। भारतीय परम्परा में अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष ये चार फल माने गये हैं। फल तो काम और मोक्ष हैं, अर्थ और धर्म उनके क्रमशः साधन हैं। परन्तु अंततः काम भी जीवन का फल नहीं है। जीवन का फल तो केवल मोक्ष है। हम मोक्ष को परोक्ष के संदर्भ में देखते हैं कि बारम्बार के जन्म-मरण से छुटकारा हो जाना मोक्ष है, परन्तु यह तो जीवन्मुक्ति का फल है। प्रत्यक्ष अनुभवपूर्ण एवं बोधगम्य मोक्ष वह है जो इस जीवन में उपलब्ध होता है। उसे कहते हैं जीवन्मुक्ति! सद्गुरु ने कहा भी है—

"जियत न तरेउ मुये का तरिहो, जियतहि जो न तरे।"[1] यह मोक्ष मुक्त पुरुष का अनुभव है और मनोविज्ञान-संमत भी है। मनोविज्ञान कहता है कि मन की ग्रन्थियां कट जाने पर मनुष्य स्वतन्त्र हो जाता है और सन्त कहते हैं कि वासनाओं के ध्वंस हो जाने पर जीव मुक्त हो जाता है। दोनों का तात्पर्य एक है। जो व्यक्ति इस जीवन में परम शांति का उपभोग तथा जीवनांत में जन्म-मरण से सदा के लिए छुटकारा चाहे वह संसार-वृक्ष की जड़ काट दे। संसार-वृक्ष है विषयासक्ति एवं राग-द्वेष। इसके कट जाने पर जीव परम सुखी हो जाता है। विशाल देव ने उसके लिए कहा है—

हानि लाभ सुख दुख नहीं, मिलन विछोह न चाह।
क्षुधा तृषा निद्रा नहीं, घट बढ़ पार सदाह॥

(भवयान, अपना बोध, साखी 141)

प्राणी हर समय मौत के मुख में है

जन्म मरण बालापना, चौथे वृद्ध अवस्था आय।
जस मूसा को तकै बिलाई, अस जम जिव घात लगाय॥ 340॥

शब्दार्थ—जम=यम, मृत्यु। घात=चोट, ताक, दांव-पेंच।

भावार्थ—जन्म-मरण के घेरे में पड़े हुए प्राणियों के बाल्य, कौमार्य, जवानी बीतते हुए चौथी वृद्धावस्था आ जाती है, अथवा प्राणी की मृत्यु होती है, पुनः जन्म होता है, फिर बाल्यावस्था आती है और चतुर्थ वृद्धापन आ धमकता है। जैसे चूहा को बिल्ली टकटकी लगाकर देखती है कि कब वह बिल से निकले और मैं उसे दबोच खाऊं, वैसे मौत प्राणधारियों पर दावं-पेंच लगाकर बैठी है और अवसर आते ही उसे दबोच खाती है॥ 340॥

व्याख्या—जीवन स्थिर वस्तु नहीं, वह एक प्रवाह है। यहां रुकने वाली कोई वस्तु नहीं है। देखो न, पन्द्रह से पचीस वर्ष के बीच की उम्र जिसे गदहपचीसी भी कहते हैं, तीस वर्ष की उम्र में कहां लौट सकती है! इस उम्र में जो शरीर में चमक रहती है वह तीस तक उड़ने लगती है। शिशुपन बालपन में नहीं रहता, बालपन कौमार्य में नहीं रहता, कौमार्य जवानी में नहीं रहता, जवानी परिपक्वावस्था में नहीं रहती, परिपक्वावस्था बुढ़ापा में नहीं रहती, बुढ़ापा जरजरता में नहीं रहता और पूरा जीवन मौत में नहीं रहता। शरीर में हर समय रासायनिक क्रिया होती रहती है और यह क्षण-क्षण बदलता चला जाता है।

यह बदलना बुरा नहीं है। हमारा शरीर जैसे बदलते हुए निरन्तर परिपक्वता एवं बुढ़ापा की ओर बढ़ रहा है, वैसे हमारा मन भी निरन्तर परिपक्व एवं वृद्ध

---

46. बीजक, शब्द 14।

होना चाहिए। पके फल मीठे होते हैं, वैसे पकी उम्र अनुभव-सागर एवं पका मन शांति-सागर होता है। अतएव जैसे हमारा शरीर निरन्तर वृद्धता की तरफ बढ़ रहा है, वैसे हमारा मन भी अंधकार से प्रकाश की ओर निरन्तर बढ़ना चाहिए। जब तक जरजरता और मौत दूर है तब तक ही अपने कल्याण का साधन कर लेना चाहिए। यह कोई नहीं जानता कि शरीर कब रोगग्रस्त तथा मौत का कब आक्रमण हो जायेगा। इस संसार में हमारा एक तृण भी नहीं है। अतः हमें यहां के सारे अहंकार छोड़कर सब समय सावधान रहना चाहिए।

सद्गुरु कहते हैं—"जस मूसा को तकै बिलाई, अस जम जिव घात लगाय।" जहां-जहां चूहे के रहने की संभावना रहती है, वहां-वहां बिल्ली उसकी गंध से जान लेती है कि यहां चूहे का आवागमन या निवास है। बिल्ली प्रायः चूहे के बिल के पास शांतमुद्रा में दुबककर बैठती है और बिल पर योगी की तरह ध्यान रखती है और चूहे के निकलते ही उस पर झपट पड़ती है। हर देहधारी ऐसे ही मौत का अचानक ग्रास बनता है। प्रमादी आदमी माने रहता है कि दूसरे मर जायें तो मर जायें, परन्तु मैं अभी नहीं मर सकता; इससे अधिक असावधानी और कुछ नहीं हो सकती। मौत का तो कोई ठिकाना नहीं किसके पास कब आ धमके।

अतएव हमें हर समय अपने माने हुए शरीर को मौत के मुख में समझकर जगत-वासना का त्याग करना चाहिए। हमसे जितना बन सके दूसरों का उपकार करें और अपने आप को सबके राग-द्वेष से छुड़ाकर संसार के बंधनों से मुक्त हों।

सब प्राणी प्राण-प्रिय हैं

है बिगरायल ओर का, बिगरो नाहिं बिगारो।
घाव काहि पर घालो, जित देखो तित प्राण हमारो॥ 341॥

शब्दार्थ—बिगरायल=बिगड़ैल, क्रोधी, हठी, कुमार्गगामी। ओर का=शुरू से, तात्पर्य में अनादिकाल से। घाव=चोट।

भावार्थ—मनुष्य वैसे ही अनादिकाल से क्रोधी, हठी एवं कुमार्गगामी हैं, तुम उनके साथ वैसा ही व्यवहार करके उन्हें उसी तरफ प्रेरित मत करो। किसको चोट पहुंचाओगे, जहां देखो वहां हमारा प्राणप्यारा है॥ 341॥

व्याख्या—सभी देहधारी जीव अनेक प्रकार की कामनाओं के अधीन हैं। सारी कामनाएं किसी की पूरी नहीं होतीं। अतएव कामनाओं में भंग पड़ने पर आदमी तुरन्त क्रोध के अधीन हो जाता है। अपनी कामनाओं की पूर्ति में तथा अपने अहंकार के पोषण में मनुष्य हठ करता है। फिर इतना ही क्या, अहंकार-कामना के वश होकर आदमी सारे अनर्थ करता है। इस प्रकार सभी जीव

अनादिकाल से बिगड़ैल हैं। "है बिगरायल ओर का" ओर के अर्थ तरफ, दिशा, पक्ष, अथवा छोर, अंत, आरम्भ, आदि हैं। वैसे जब हम समास में 'ओर-छोर' कहते हैं तब उसके अर्थ क्रमशः 'आरम्भ-अंत' होता है। इसलिए 'ओर' का अर्थ यहां आरम्भ है। चूंकि सृष्टि का आरम्भ कहीं न होने से सब कुछ अनादि है। इसलिए यहां अर्थ किया गया प्राणी अनादिकाल से ही बिगड़ैल हैं। यहां अनादि और आरम्भ का झमेला न बढ़ाकर सरल अभिप्राय इतना ही है कि देहधारी पहले से ही बिगड़ैल हैं। इसलिए तुम उनके साथ बिगड़ैलपन का काम करके उन्हें अधिक बिगड़ैल मत बनाओ।

"है बिगरायल ओर का, बिगरो नाहिं बिगारो।" इस पंक्ति में गहरा मनोविज्ञान और करुणा है। विषयासक्ति के रोगवश सभी मनुष्यों का मन फोड़ा-सरीखा बना है। जैसे फोड़े में थोड़ा भी धक्का लगने पर वह दुख जाता है, वैसे मनुष्यों के मन में थोड़ी-सी भी चोट लगने पर वे दुखी हो जाते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि सब जीव दुखी हैं, अतएव तुम भी दुखी बनकर दूसरों को और दुख मत दो। जैसे धनी हुए बिना कोई दूसरों को धन नहीं दे सकता, विद्वान हुए बिना दूसरों को विद्या नहीं दे सकता, वैसे दुखी हुए बिना कोई दूसरों को दुख नहीं दे सकता। यदि तुम दूसरों को दुख देते हो तो तुम पहले से ही स्वयं दुखी हो।

चाहे अपने पास के रहने वाले हों और चाहे बाहर के मिलने वाले, किसी भी मनुष्य के संबंध होने पर हमें यह सावधानी बरतनी चाहिए कि उन्हें हमारे द्वारा किसी प्रकार का कष्ट न हो। अगले आदमी को कष्ट होने में देरी नहीं लगेगी। जहां हमसे कुछ असावधानी हुई वहां अन्य को कष्ट हुआ। यदि हमारा मन और व्यवहार ठीक है, कोई अपनी अल्पज्ञता एवं मनोमालिन्यतावश दुखी होता है, तो उसमें हमारा अपराध नहीं है। परन्तु हमें हर समय यह सावधानी रखनी चाहिए कि हमारे मन, वाणी एवं कर्मों द्वारा किसी अन्य को कष्ट न हो। जो किसी-न-किसी मनोविकार को लेकर पहले से ही दुखी बने बैठे हैं, उनका तुम्हारी थोड़ी-सी चूक से दुखी हो जाना सहज है। कितने लोगों का ऐसा पक्का मन है चाहे जैसा उलटा-सीधा व्यवहार पाकर दुखी नहीं होते। हमें अपने आप को ऐसा बनाना चाहिए कि हम दूसरों से कटु-से-कटु व्यवहार पाकर भी दुखी न हों। परन्तु हमसे दूसरों को दुख न हो इससे आगाह रहें।

"घाव काहि पर घालो, जित देखो तित प्राण हमारो।" इस पंक्ति में करुणा की सीमा है और करुणा के प्रति अतिशयोक्ति भी। हमें अपने प्राण ज्यादा प्रिय होते हैं। एक बार एक राजा और उसके मंत्री में विवाद हो गया था कि पुत्र ज्यादा प्रिय है या प्राण! राजा कहता था कि पुत्र ज्यादा प्रिय है और मंत्री कहता था प्राण ज्यादा प्रिय है। मंत्री ने इसको प्रमाणित करने के लिए एक बड़े पिंजरे

में गर्म तवा पर एक बच्चे सहित बंदरिया को छुड़वा दिया। बंदरिया अपने बच्चे को पेट में चिपकाये हुए तवे पर भागती रही। परन्तु जब उससे न सहा गया तब उसने पेट से बच्चे को नोचकर तवे पर रख दिया और उस पर अपने पैर रखकर बैठ गयी। अतः सिद्ध हो गया कि प्राणी को सबसे ज्यादा अपने प्राण प्रिय हैं।

यहां कहा गया है—"जित देखो तित प्राण हमारो" अर्थात जितने लोग हैं सब हमारे प्राण-प्रिय हैं। यह सर्वसामान्य के लिए अतिशयोक्ति लगेगी, परन्तु यदि इसे अतिशयोक्ति ही माने तो भी ऐसा भाव रखना अति आवश्यक है। ऐसा भाव रखने से प्राणियों के प्रति अपने मन में करुणा की प्रगति होगी। यहां अथर्ववेद के एक मंत्र की याद आती है। अथर्वा ऋषि कहते हैं—"मैं उपदेश करता हूं कि तुम लोग उदार हृदय वाले, सुन्दर मन वाले और द्वेषरहित बनो तथा एक दूसरे से ऐसा व्यवहार करो जैसे गाय अपने नवजात बछड़े से करती है।"[1] यहां भी अतिशयोक्ति है। जैसे गाय अपने नवजात बछड़े से प्रेम करती है वैसा प्रेम लोग एक दूसरे से कहां कर पाते हैं! परन्तु ऋषि ऐसा इसलिए कहते हैं कि जिससे मनुष्य के मन में दूसरों से प्रेम करने पर जोर पड़े।

सद्‌गुरु कहते हैं, किसको चोट पहुंचाओगे, सारे जीव तो अपने प्राण प्रिय हैं! यह भावना जिसके मन में आ जाये उसका मन स्वर्ग बन जायेगा। यदि यह भावना हर मनुष्य में आ जाये तो पूरा संसार स्वर्ग बन जायेगा। कम-से-कम हमें अपने में यह भाव लाकर अपने मन को स्वर्ग बना लेना चाहिए।

हमें इस साखी को इस ढंग से भी समझना चाहिए कि सद्‌गुरु कहते हैं कि हे उपदेशको! सभी जीव पहले से ही बिगड़े हैं। तुम उन्हें कठोर वचन कहकर पुनः मत बिगाड़ो। सारा सत्य एक साथ नहीं कहा जा सकता। लोग भ्रांति में डूबे हैं। परन्तु उनके भ्रांत मत का असामयिक कठोर वचनों में खंडन करके उनको सत्य रास्ते पर नहीं लाया जा सकता। धीरे-धीरे मीठे वचनों से ही सन्मार्ग पर लाया जा सकता है। अतः सबको अपने प्राणप्रिय समझकर सहारे से सत्पथ पर लाने की चेष्टा करो।

जीव और शरीर भिन्न हैं

पारस परसे कंचन भौ, पारस कधी न होय।
पारस के अर्स पर्स ते, सुवर्ण कहावै सोय॥ 342॥

शब्दार्थ—पारस=एक कल्पित पत्थर जिसके स्पर्श से लोहा के सोना बन

---

47. सहृदयं सोमनस्यमविद्वेषं कृणोमिवः।
अन्योऽन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्नया॥ अथर्ववेद, कांड 3, सूक्त 30, मंत्र 1 ॥
इस सूक्त में सात मन्त्र हैं। सातों में परस्पर मधुर संबंध के लिए उत्तम उपदेश हैं। इसी में 'समानी प्रपा सहवोऽन्नभागः' मंत्रांश है जिसका अर्थ है कि हम अन्न-पानी एक साथ ग्रहण करें।

जाने की धारणा है। कधी=कभी। सुवर्ण=स्वर्ण, सोना।

भावार्थ—जिस प्रकार लोहा पारस पत्थर से छू जाने पर सोना हो जाता है, परन्तु पारस पत्थर कभी नहीं होता। वह तो पारस पत्थर के स्पर्श से केवल सोना कहलाता है; इसी प्रकार चेतन जीव के संबंध से शरीर चेतन-वत भासता है, परन्तु वह चेतन नहीं हो सकता। शरीर तो निरा जड़ है॥ 342॥

व्याख्या—पीछे निवेदन किया गया है कि पारस पत्थर एक काल्पनिक पत्थर है जिसे छूकर लोहे का सोना हो जाने की अवधारणा है। कवि-जगत में ऐसे कई उदाहरण चलते हैं जो केवल काल्पनिक होते हैं। उससे कवि अपने प्रमेय-वस्तु की सिद्धि करता है। यहां पारस से छू जाने पर लोहे का सोना हो जाना कहा गया, परन्तु पीछे बताया गया कि लोहा पारस का स्पर्श पाकर पारस नहीं बनता। यह प्रमाण हुआ जो काल्पनिक है। परन्तु प्रमेय एवं ज्ञान का विषय जीव की विशेषता और शरीर की जड़ता का है। जीव चेतन है। उसका स्पर्श पाकर जड़-शरीर चेतनवत भासता है। हाथ चलते हैं, पैर चलते हैं तथा शरीर के अंगों में गति होती है, परन्तु जीव के अलग हो जाने पर शरीर जड़ बना पड़ा रहता है। अतएव जड़ शरीर से चेतन जीव सर्वथा अलग है, यह विवेक जाग्रत रहना चाहिए।

मैं शुद्ध चेतन हूं। मेरी सत्ता से ही शरीर चेतनवत भासता है। मैं अपने चेतन स्वरूप को भूलकर जड़ शरीर ही को अपना स्वरूप मान लेता हूं और उसमें आसक्त होकर मोह-शोक का भंडार बन जाता हूं। सारा दुख देहाभिमान की देन है। किसी ज्ञानी पुरुष ने कहा है—"देह को मैं मानना, सबसे बड़ा यह पाप है। सब पाप इसके पुत्र हैं, सब पाप का यह बाप है।" देह की उपयोगिता देह से अनासक्त होकर अपने स्वरूपज्ञान में स्थित होना तथा दूसरे की यथाशक्ति सेवा करना है। जो जीव देहधारण करके देह का गुलाम हो गया उसने मानो देह का दुरुपयोग किया और जिसने देह धारण कर देह की आसक्ति से अपने आप को छुड़ा लिया, उसका देह धारण करना सफल हुआ। जो व्यक्ति जितना देहाभिमानी होता है वह उतना ही स्वार्थी होता है, और जितना स्वार्थी होता है उतना ही दूसरों के हक को जिस किसी प्रकार मारने वाला होता है। और जो जीव देहाभिमान का जितना त्यागी होता है वह उतना ही निस्स्वार्थ होता है और जितना निस्स्वार्थ होता है उतना ही दूसरे की सेवा कर सकता है। अतएव अपने कल्याण एवं जनसेवा—दोनों के लिए देहाभिमान का त्याग आवश्यक है। जो वैज्ञानिक, कलाकार, साहित्यकार, व्यापारी, कृषक, सरकारी विभाग में सेवारत तथा राजनेता लोग लम्बी-लम्बी अवधि तक जन सेवा की चिंता एवं श्रम में डूबे रहते हैं उनका किसी-न-किसी प्रकार अनासक्ति-भाव रहता ही है। यह ठीक है कि स्वरूपज्ञान एवं विवेक-वैराग्य के बिना कोई तात्त्विक रूप से

देहाभिमान से नहीं मुक्त हो सकता।

इसी जीवन में परमशांति एवं मोक्ष-लाभ लेने के लिए हमें देहाभिमान से एकदम ऊपर उठना होगा। यह शरीर है भी क्या, हाड़-मांस का ढांचा, चाम से छाया है और इसमें टट्टी-पेशाब भरी है। यह हर समय रोग का घर बना रहता है। इसके आसक्तिवश हम नाना प्राणी-पदार्थों से मोह-वैर बनाकर अपने दुखों को दुगुना बढ़ा लेते हैं। सपने में मिले हुए प्राणी-पदार्थों के समान यह अपना माना हुआ शरीर तथा मिले हुए प्राणी-पदार्थ हैं। जिसे शांति प्रिय हो, वह उन्हें अपने से सर्वथा अलग समझकर सबकी आसक्ति विष और कांटे के समान त्याग करे। देहाभिमान एवं देहासक्ति सर्वथा त्याग देने पर अन्य सारी अहंता एवं आसक्ति मिट जाती है, और सारी अहंता-ममता मिटते ही जीव अपने स्वरूप में स्थित होकर परमानंदमय हो जाता है।

अतएव यहां सद्गुरु ने देह को अपने चेतन स्वरूप से अलग समझकर उसके मोह को छोड़ने का संकेत किया है। हम देह को अपना स्वरूप न मान लें, यह सावधानी निरन्तर रखनी चाहिए।

परमतत्त्व जगतकर्ता के रूप में बाहर नहीं, किन्तु आत्मा के रूप में हृदय में है

ढूँढ़त ढूँढ़त ढूँढ़िया, भया सो गूनागून।
ढूँढ़त ढूँढ़त ना मिला, तब हारि कहा बेचून॥ 343॥

शब्दार्थ—गूनागून=गुमसुम, अनिर्वचनीय, जो कहने में न आये, यहां का अर्थ है किंकर्तव्यविमूढ़। हारि=लजाकर। बेचून=निरवयव, निराकार, निर्गुण।

भावार्थ—भावुकों ने ईश्वर को खूब ढूंढ़ा, खूब ढूंढ़ा, खूब ढूंढ़ा; परन्तु जब वह ढूंढ़ते-ढूंढ़ते न मिला, तब वे थककर गुमसुम एवं किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। बहुत पूछने पर लजाकर उन्होंने कहा कि वह तो निरवयव, निराकार, परोक्ष एवं निर्गुण है फिर कैसे प्रत्यक्ष होगा!॥ 343॥

व्याख्या—अपनी आत्मा से भिन्न ईश्वर एवं परमात्मा खोजने की सनक संसार में बहुत है। परन्तु ईश्वर खोजने वाले इतना भी विचार नहीं करते कि जो कुछ खोजकर बाहर से मिलेगा वह माया है। किसी भी देहधारी को जो कुछ मिलेगा वह पांचों विषयों से अलग नहीं होगा और जो कुछ पांचों विषयों के भीतर होगा वह मायामय है तो मनुष्य को कौन-सा परमात्मा या ईश्वर मिलेगा! अपनी आत्मा से अलग परमात्मा है और वह मिलता है, यह केवल भ्रम है।

सद्गुरु कहते हैं कि लोग ईश्वर को ढूंढ़ते हैं। तीर्थों, नदियों, वनों, देवमंदिरों और संसार के नाना गलियों में उसको छान डालते हैं; क्योंकि नाना मत के पौराणिक ग्रन्थों में एवं भावुक भक्तों तथा संतों के मुख से वे सुनते हैं कि

पुराकाल में अमुक को परमात्मा मिला, अमुक को मिला, तो लोगों को विश्वास होता है कि लगन से यदि खोज करेंगे तो हमें भी मिलेगा। परन्तु पौराणिक कहानियां जो इस प्रकार की बातें दृढ़ाती हैं, केवल काल्पनिक होती हैं। कथाकार जो इस प्रकार लच्छेदार कथा में लोगों को भावविह्वल करते हैं वे मनुष्यों में कुछ सात्त्विकता एवं भावना तो जगाते हैं, परन्तु उन्हें भ्रमित कर देते हैं। इससे जनता के स्वरूपज्ञान का रास्ता ही रुक जाता है।

ढूंढ़कर भी जब ईश्वर नहीं मिलता, तब लोग उसके विषय में मौन हो जाते हैं। ईश्वर न मिलने पर लोग हारकर एवं लज्जित होकर कहते हैं कि वह तो बेचून है, बेनमून है, निरवयव, निराकार तथा निर्गुण है। बात तो यह है कि यदि वह सचमुच ऐसा ही है तो तुम्हारा उससे मतलब ही क्या हल हो सकता है! जो वस्तु तुम्हारी पकड़ में न आये और जो नित्य के लिए तुम्हारी अपनी न हो उससे तुम्हारा क्या हल निकल सकता है! और तुम्हारा उसके लिए बेचून, बेनमून, निर्गुण, निराकार, निरवयव आदि कहना भी तो तुम्हारी केवल अवधारणा है। जिसका तुम्हें बोध नहीं है, शब्द मात्र एक दूसरे से कहते जा रहे हैं, वह केवल कल्पित है। श्रुतिवचन है—"न वहां आंखें पहुंचतीं हैं, न वाक और न मन पहुंचता है, न हम उसे जानते हैं। हम नहीं समझ पाते कि शिष्यों को उसका उपदेश कैसे करें! वह ज्ञात तथा अज्ञात वस्तु से परे है। बस यही कह सकते हैं कि हम उसे अपने पूर्वजों से ऐसा ही सुनते आये हैं।"[1]

इस साखी में सद्गुरु ने उन पर व्यंग्य किया है जो ईश्वर को अपनी आत्मा से अलग मानकर उसको खोजते हैं और न मिलने पर उसे बेचून, बेनमून एवं निराकार, निर्गुण कहते हैं। सद्गुरु अगली साखी में ऐसे ईश्वरवादियों से पुनः पूछते हैं—

बेचूने जग चूंनिया, साँई नूर निनार।
आखिर ताके बखत में, किसका करो दिदार॥ 344॥

शब्दार्थ—बेचूने=निरवयव एवं निर्गुण-निराकार ने। चूनिया=बनाया। साँई=स्वामी, ईश्वर। नूर=प्रकाश, ईश्वर का एक नाम। निनार=पृथक, सातवें आसमान या स्वर्ग पर, निर्लिप्त। बखत=वक्त, समय, मौत की घड़ी, रोजकयामत (प्रलय) के दिन। दिदार=दीदार, दर्शन, साक्षात्कार।

भावार्थ—निरवयव, निर्गुण, निराकार एवं निर्लिप्त ईश्वर ने दुनिया बना डाली—चलो थोड़े समय के लिए मान लें, तो भी यदि वह ऐसा है तो तुम

48. न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग् गच्छति, नो मनो, न विद्मो न विजानीमो यथा एतद् अनुशिष्याद् अन्यद् एव तद् विदिताद् अथो अविदिताद् अधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नः तद् व्याचचक्षिरे। (केन उपनिषद् 1/3)

अपनी मौत या प्रलय के दिन में उसके दर्शन एवं साक्षात्कार कैसे करोगे!॥ 344॥

व्याख्या—जो निरवयव, निर्गुण, निराकार एवं निर्लिप्त होगा वह इतने बड़े प्रपंच संसार को कैसे बना सकता है? कबीर साहेब कहते हैं कि हे जगतकर्तावादियो! तुम कहते हो कि बेचून ने संसार को चुना है। अर्थात निरवयव, निर्गुण तथा निराकार ने दुनिया बनायी है। इतना ही नहीं, वह स्वामी, वह ईश्वर निर्लिप्त भी है। परन्तु ये सारे लक्षण दुनिया बनाने वाले के नहीं हो सकते। जो स्वतः निर्गुण तथा निराकार है वह दुनिया नहीं बना सकता।

साहेब कहते हैं कि मानो, दुर्जनतोषन्याय से मान लें कि उक्त लक्षण वाले ईश्वर ने दुनिया बनायी है, परन्तु मैं पूछता हूं कि तुम लोग आखिरत में उसके दर्शन चाहते हो, परन्तु जब वह निर्गुण-निराकार है तब उसके दर्शन कैसे होंगे? उसका साक्षात्कार कैसे होगा? दर्शन तो रूप विषय वाले के होते हैं और जिसके रूप-आकार ही नहीं है उसके दर्शन कैसे? मनुष्य अपनी आत्मा से पृथक जो कुछ इन्द्रियों से ग्रहण करेगा वह पांच विषय होगा और जो कुछ मन से सोचेगा वह मन की अवधारणा होगी। अपने स्वरूप से अलग कुछ मानना ही भटक जाना है। सद्गुरु आगे कहते हैं—

सोई नूर दिल पाक है, सोई नूर पहिचान।
जाके किये जग हुवा, सो बेचून क्यों जान॥ 345॥

शब्दार्थ—नूर=प्रकाश, ईश्वर। दिल=हृदय। पाक=पवित्र।

भावार्थ—जिसका हृदय पवित्र है वही ईश्वर है, अथवा पवित्र हृदय में आत्मसाक्षात्कार का हो जाना ही ईश्वर का पाना है। उसी हृदयनिवासी चेतन नूर को पहचानो। जिसके बनाने से जगत बन गया उसे बेचून, बेनमून एवं निर्गुण-निराकार कैसे समझते हो!॥ 345॥

व्याख्या—कबीर साहेब अपनी बात कहने में बहुत माहिर हैं। जब वे हिन्दुओं को कहते हैं तब उनकी भाषा में कहते हैं और जब मुसमलानों को कहते हैं तब उनकी भाषा में। उक्त 343 से 345—तीन साखियों में वे मुसलमानों को समझाना चाहते हैं; इसलिए इन साखियों में वे गूनागून, बेचून, साईं, नूर, आखिर, बखत, दिदार, दिल, पाक आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं जिनका प्रयोग प्रायः मुसलमानों में होता है। आगे 346 से 350—पांच साखियों में हिन्दुओं को समझाना चाहे हैं, तो उनमें ब्रह्मा, जननि, सीस नवाय, वर्ण, पुरुष, माता, रेख-रूप, अधर, धरी, देह, गगनमंडल, निरखो, विदेह, ध्यान, गगन, बज्रकिवांर, प्रतिमा, निहाल, मन, शीतल, उपजा, ब्रह्मज्ञान, बसन्दर, जग, पुनि, उदक, समान, चौरासी आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं जिनका प्रयोग प्रायः हिन्दू लोग करते हैं।

सद्गुरु ने 343 से 345 तक की साखियों में मुसलिम कर्तावादियों को समझाना चाहा है तथा 346 से 350 तक की साखियों में हिन्दू कर्तावादियों को समझाने का प्रयास किया है। सद्गुरु ने प्रथम तीन साखियों में मुसलमान बंधुओं से कहा है जो प्राय: समस्त कर्तावादियों के लिए भी है कि हे बंधुओ, तुम जिस ईश्वर को ढूंढ़ते हो और नहीं पाते हो, हारकर बेचून-बेनमून कहते हो और यह भी कहते हो कि उसी ने दुनिया बनायी है; उसे तुम समझने की चेष्टा करो। बेचून-बेनमून एवं निर्गुण-निराकार कुछ बना नहीं सकता और न उसके रोजकयामत एवं आखिरत के दिन दर्शन हो सकते हैं। जब वह निराकार है तब "आखिर ताके बखत में, किसका करो दिदार।"

कबीर साहेब कहते हैं कि जो इतना बड़ा संसार बनायेगा वह बेचून कैसे होगा? उसे किस बुद्धि से बेचून एवं निर्गुण-निराकार समझ रहे हो? निर्गुण-निराकार संसार नहीं बना सकता। इतना ही नहीं, मन में न आने वाले इस विराट संसार को देहधारी ईश्वर भी नहीं बना सकता। यह तो अनादि जड़-चेतन के अनादि गुण-धर्मों से अनादि और अनंत है। सद्गुरु ने इसका संकेत सातवीं रमैनी तथा उसके आस-पास और इस ग्रंथ की कई जगहों में किया है।

कबीर देव कहते हैं कि ईश्वर को बाहर मत खोजो। उसे जगतकर्ता के रूप में एवं विश्व के अधिष्ठाता के रूप में मत देखो, किन्तु उसको दिल में रहने वाला हृदयनिवासी के रूप में देखो। "सोई नूर दिल पाक है, सोई नूर पहिचान।" यह सद्गुरु का परम मन्त्र है। दिल पाक होने पर वह नूर, वह ईश्वर, उस ज्ञान-प्रकाश चेतना का अपने आप साक्षात्कार हो जाता है। उसे जगतकर्ता के रूप में बेचून-बेनमून एवं निर्गुण-निराकार के रूप में, अपने से अलग अज्ञेय मानकर खोजने के भ्रम में मत पड़ो, किन्तु इस हृदयनिवासी चेतन देव को परम परमात्मा समझो, इसे ही नूर रूप में पहचानो। जब हृदय विषय-विकारों एवं संसार के राग-द्वेष से मुक्त होगा तब हृदयनिवासी की पहचान होगी। कमरे में देवता बैठा है, परन्तु उसमें अन्धकर है तो देवता कैसे दिखे? अर्थात हृदय में चेतन रूप ईश्वर विराजमान है, परन्तु हृदय तो विषय-विकारों से ढका है तो चेतन देव के दर्शन केसे हों? अतएव यह समझ लो कि तुम्हारी आत्मा से अलग कोई परमात्मा नहीं जो तुम्हें मिलेगा, और आत्मा रूपी परमात्मा का साक्षात्कार तब होगा एवं उसमें स्थिति तब होगी जब दिल पाक हो, हृदय शुद्ध हो। सद्गुरु का महामन्त्र याद कर लो—"सोई नूर दिल पाक है, सोई नूर पहिचान।"

कबीर साहेब मिथ्या आदर्श एवं आकाशीय उड़ान नहीं भरते। वे सदैव धरती की बातें करते हैं। जिस संसार के बीज-वृक्ष और मुरगी-अण्डा में से कौन पहले हुआ इसका समाधान लोग नहीं कर पाते, उस पूरे संसार को किसी निराकार द्वारा नये सिरे से रचने की बातें करते हैं। जिसने जगत बनाया है उससे

मिलना भी चाहते हैं। यह सब धार्मिक भोलापन है। यथार्थवादी कबीर साहेब कहते हैं कि तथाकथित जगत बनाने वाले को परमात्मा मानकर खोजने का भ्रम छोड़ो, और अपनी आत्मा एवं अपने आपा को परमात्मा के रूप में पहचानो।

ब्रह्मा पूछै जननि से, कर जोरे सीस नवाय।
कौन वर्ण वह पुरुष है, माता कहु समुझाय॥ 346॥
रेख रूप वै है नहीं, अधर धरी नहिं देह।
गगन मंडल के बीच में, निरखो पुरुष बिदेह॥ 347॥
धरे ध्यान गगन के माहीं, लाये बज्र किवाँर।
देखी प्रतिमा आपनी, तीनिउँ भये निहाल॥ 348॥

शब्दार्थ—वर्ण=रंग, रूप। रेखरूप=आकार। अधर=योनि। गगन मंडल= आकाश, खोपड़ी के भीतर। निरखो=देखो। बज्रकिवाँर=आंख, नाक, कान, गुदा तथा उपस्थ—सभी इन्द्रियों को बंद करके ध्यान करना। प्रतिमा=मूर्ति, प्रतिबिम्ब, मन की अवधारणा की छाया। निहाल= कृतार्थ।

भावार्थ—ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव तीन भाई थे। तीनों में ब्रह्मा श्रेष्ठ एवं रजोगुणी होने से क्रियाशील थे। उन्होंने अपने भाइयों की तरफ से हाथ जोड़ एवं सिर झुकाकर विनम्रतापूर्वक माता से पूछा कि हे माता, वह परम पुरुष परमात्मा किस रंग एवं आकार का है, कृपया इसे समझाकर हम लोगों से कहें? ॥ 346 ॥ माता ने कहा—उसकी कोई आकृति नहीं है। उसने किसी योनि में देह नहीं धारण की है। हे पुत्र, आकाश-मंडल-स्वरूप मन में उस विदेह पुरुष को देखो॥ 347 ॥ उक्त बातें सुनकर ब्रह्मादि तीनों ने सभी इंद्रियों को बंदकर ब्रह्मरंध्र एवं मन में ध्यान लगाया। उन तीनों माता के बताये अनुसार अपने-अपने मन में ईश्वर की जैसी-जैसी अवधारणा की थी उसी-उसी के प्रतिबिम्ब उन्हें दिखाई दिये। वे अपने-अपने मनःकल्पित भास-अध्यास को ही देखकर अपने-अपने को कृतकृत्य मान लिये॥ 348 ॥

व्याख्या—पारदर्शी एवं पारखी दृष्टि वाले सद्गुरु कबीर का कथन हृदय को झकझोर देता है। उनके कथन में हजारों-हजारों वर्ष से चली आयी हुई अंधरूढ़ियां टूट-टूटकर चकनाचूर हो जाती हैं। कबीर साहेब ने यह नहीं देखा कि किसने क्या कहा है, किन्तु उन्होंने यह देखा है कि क्या सत्य है! वे प्राचीनता, पोथी, परम्परा, महापुरुष की बातें चाहे जैसी हों मान ही लेना चाहिए, ऐसी मानसिक गुलामी से सर्वथा मुक्त थे। वे केवल सत्य के अनुसंधाता थे। उन्होंने सत्यज्ञान का साक्षात्कार किया था और उसे बिना लागलपेट खुल करके कहा था। सत्य ज्ञान के पथ में कोई भी आड़े आये उसकी उन्हें परवाह नहीं थी। मेरे सत्य करने में किसकी मान्यताएं खंडित हो रही हैं इसकी परवाह उन्हें नहीं थी। वे केवल सत्य के पुजारी थे।

उक्त तीनों साखियों में ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव और उनकी माता के संवाद तथा उन तीनों के ध्यान के फल में सद्गुरु ने जो कुछ कह दिया है वह उन सबके लिए है जो परमात्मा को अपनी आत्मा से अलग खोजते हैं। जो लोग यह मानते हैं कि ईश्वर योनियों में देह धारणकर संसार में आता है और दुष्टों का संहार तथा साधुओं का उद्धार करता है, नाचता है, गाता है, रोता है, युद्ध करता है इत्यादि, उनकी तो अत्यन्त भोली धारणा है। इसका विवरण शब्द प्रकरण के आठवें शब्द की व्याख्या में विस्तारपूर्वक दे आये हैं। जो लोग यह मानते हैं कि परमात्मा एवं ब्रह्म देह तो नहीं धरता, उसका कोई आकार-प्रकार नहीं है, वह हमसे अलग है, उसका ध्यान करने से वह मिलता है, वे लोग भी स्वरूपज्ञान, आत्मज्ञान एवं वास्तविकता से अलग हैं। जो आकारशून्य है उसका ध्यान ही असंभव है। यदि हम किसी आकार का ध्यान करते हैं तो वह विषय का ध्यान है। यह ठीक है कि यदि वह शुद्ध है जैसे गुरु या संत का ध्यानादि, तो प्रथम साधना में वह मन रोकने का साधन बन सकता है। परन्तु अंततः उसका त्याग करना पड़ेगा। यदि निराकार का ध्यान करना चाहें तो यह असंभव है। निराकार का ध्यान ही नहीं होगा। हां, ऐसी अवस्था में शून्याकाश, बादल, पर्वत, बन, ग्रामादि मन में आ सकते हैं।

जब माता ने पहले बता दिया कि उस परम पुरुष का रेख-रूप नहीं है तो ब्रह्मादि त्रिदेवों ने क्या ध्यान किया? उन्होंने अपने मन में कोई आकार अवश्य बनाया होगा और वह ठहरी उनके मन की प्रतिमा। मिट्टी की प्रतिमा नहीं तो मन की प्रतिमा को ध्यान का विषय बनाया और उसे देखकर उन्होंने अपने आप को कृतकृत्य मान लिया।

ध्यान में बैठने पर जब मन बाहर से लौट आता है तब वह भीतर अंधकार, प्रकाश, नाद, शब्द तथा इसी तरह अन्य कोई आकार की सृष्टि करता है और उन्हीं में तदाकार होकर मान लेता है कि मैंने परमात्मा के दर्शन कर लिये। यह बहुत बड़ा भटकाव है। यहां ब्रह्मादि त्रिदेवों के ध्यान के फल में जो कुछ उन्हें मिला सद्गुरु कबीर का उस पर बहुत बड़ा व्यंग्य है—"देखी प्रतिमा आपनी, तीनिउँ भये निहाल।" तीनों अपने मन की अवधारणाओं की छाया देखकर मानो कृतार्थ हो गये। हद दर्जे का भोलापन!

आरम्भिक साधक अपने मन को यत्र-तत्र से समेटकर एकाग्र करने के लिए अपनी रुचि के अनुसार किसी भी शुभ अवधारणा में उसे लगा सकता एवं उसका ध्यान कर सकता है। परन्तु उसे समझना चाहिए कि वह विषय है, दृश्य है, तथा निजस्वरूप से भिन्न है। अतः उसमें लीन होकर जब मन स्ववश होने लगे तब उससे हटाकर निराधार करे। मन के सारे संकल्पों को समाप्त कर देना ही ध्यान है। किसी अवधारणा में मन को रोकना आरंभिक साधना मात्र है।

और सारे आलंबनों को छोड़कर मात्र अपने स्वरूप में ही स्थित होना अन्तिम एवं उच्च दशा है। जब जीव कुछ नहीं सोचता वही असली ध्यान है। परन्तु यदि वह अपने आप से भिन्न किसी तथाकथित ईश्वर-परमात्मा का नक्शा बनाता है तो वह भटका हुआ है।

मुसलमान भाई रोजकयामत के दिन बेचून-बेनमून ईश्वर से मिलना चाहते हैं और हिन्दू भाई निराकार ब्रह्म को ध्यान में देखना चाहते हैं। अतएव सद्गुरु ने 343 से 345वीं साखी में मुसलमान बंधुओं की अवधारणा की परख करायी है तथा वे पीछे 346 से 350वीं साखी में हिन्दुओं की अवधारणा की परख करा रहे हैं।

ये मन तो शीतल भया, जब उपजा ब्रह्मज्ञान।
जेहि बसन्दर जग जरै, सो पुनि उदक समान॥ 349॥

शब्दार्थ—बसन्दर=वैश्वानर, आग। उदक=जल, पानी।

भावार्थ—जब उन तीनों को ब्रह्मज्ञान उत्पन्न हुआ तब उनका मन शीतल हो गया और उन्होंने मान लिया कि जिस आग में संसार के लोग जल रहे हैं वह हमारे लिए पानी के समान है॥ 349॥

व्याख्या—वैसे उक्त साखी का सकारात्मक अर्थ किया जा सकता है कि "जब ब्रह्मज्ञान उत्पन्न हुआ तब यह मन शीतल हो गया, और जिस आग में संसार के लोग जलते हैं वह उसके लिए पानी के समान शीतल हो गया।" परन्तु अर्थ सकारात्मक पक्ष का नहीं है। संदर्भ साफ है। 346 से 350वीं साखी का एक संदर्भ है वह है मन की अवधारणा को ही ब्रह्म मान लेने का खंडन। जिसका स्पष्टीकरण इसकी पहली साखी में यह कहकर कर आये हैं कि "देखी प्रतिमा अपनी, तीनिउँ भये निहाल।" और अगली 350वीं साखी में इसका पूर्ण स्पष्टीकरण है "जासे नाता आदि का, बिसरि गया सो ठौर। चौरासी के बसि परे, कहै और की और।"

अतएव सद्गुरु इस साखी में कहते हैं कि ब्रह्मादि ने जो कुछ अपने मन में कल्पना की प्रतिमा बनायी उसे ही उन्होंने ब्रह्म मान लिया और उसी की छाया ध्यान में देख-देखकर ब्रह्मज्ञान का पैदा होना मान लिया। उन्होंने मान लिया कि मैंने ब्रह्मज्ञान एवं ब्रह्म को पा लिया है। इस भ्रम में पड़कर उन्होंने संतोष कर लिया और उन्हें अपना मन शीतल हो जाने का भ्रम हो गया। "ये मन तो शीतल भया, जब उपजा ब्रह्मज्ञान।" यह उन पर सद्गुरु का व्यंग्य है। 13वीं रमैनी में भी इसी प्रकार का व्यंग्य है। यथा—

तब सनकादिक तत्त्व विचारा। जैसे रंक परा धन पारा॥
भौ मर्याद बहुत सुख लागा। यहि लेखे सब संशय भागा॥

इसमें व्यंग्य का पूरा जोर "यहि लेखे सब संशय भागा" पर है।

भ्रम में पड़कर उन्होंने मान लिया कि जिस आग में दुनिया जलती है वह हमारे लिए जल की तरह शीतल हो गयी; क्योंकि संसार ब्रह्म का खेल है और ब्रह्म को पा जाने पर खेल अपने वश में हो गया। अथवा जगत और ब्रह्म एक ही है यह जान जाने पर सब कुछ अपना ही स्वरूप ठहरा, द्वैत रहा ही नहीं। ब्रह्मज्ञानी सुन्दरदास जी कहते हैं—"तेरे में जगत है और जगत में तू है। तेरे और जगत में भिन्नता कहां है! जैसे मिट्टी से घड़े, सिकोरे आदि अनेक बरतन बनते हैं, परन्तु वे सब अंततः मिट्टी ही हैं; जल से उत्पन्न हुए फेन, बुदबुदे और तरंग आदि विचार कर देखो वही एक जल ही है, वैसे जितने ब्रह्मवादी महापुरुष हैं सबका सिद्धान्त एक है—ब्रह्म से बना सारा विश्व ब्रह्म है। अन्त में वेद यही कहता है।"[1]

न तो व्यक्ति की आत्मा से अलग ब्रह्म है और न तो चेतन के साथ जड़-जगत भी ब्रह्म है। ब्रह्म उत्तम भाव का परिचायक शब्द है। इसका अर्थ होता है 'बड़ा'। वह मनुष्य की आत्मा एवं चेतन स्वरूप ही है। सद्गुरु ने अपने स्वरूप से भिन्न भास-अध्यास को ब्रह्म मान लेने का खंडन किया है। इसका स्पष्टीकरण अगली साखी में जोरदार है—

जासो नाता आदि का, बिसरि गया सो ठौर।
चौरासी के बसि परे, कहै और की और॥ 350॥

शब्दार्थ—आदि=मूलस्वरूप चेतन। चौरासी=संसार।

भावार्थ—जिस अपने आप मूल स्वरूप चेतन से अपना नित्य का नाता है, व्यक्ति उस स्थिति को भूल गया। वह संसार के अध्यास के वश में पड़कर अन्य का अन्य ही बकता है॥ 350॥

व्याख्या—'आदि' के अर्थ मूल और आरम्भ दो होते हैं। यहां आरम्भ नहीं, मूल अर्थ है। जीव का मूल स्वरूप चेतन है। वही उसका सर्वस्व है। उसी से उसका नित्य का नाता है। व्यक्ति सब कुछ छोड़ सकता है, परन्तु अपनी आत्मा को नहीं छोड़ सकता। अपने आपा से हम अलग हो जायें यह संभव ही नहीं। अतएव हमारा ठौर, हमारी स्थिति, हमारा चिरंतन विश्रामस्थल हमारी अपनी आत्मा है; परन्तु हम उसे भूलकर बाहर परमतत्त्व खोजने लगे, बाहर ब्रह्म खोजने लगे। हम जिसमें नित्य रहते हैं वही तो हमारा ब्रह्म है, श्रेष्ठ तत्त्व

---

49. तोहि में जगत यह तूं हूं है जगत माहि, तो में अरु जगत में भिन्नता कहां रही।
भूमि ही ते भाजन अनेक विधि नाम रूप, भाजन विचार देख उहै एक है मही॥
जल के तरंग फेन बुदबुदा अनेक भांति, सोऊ तो विचार एक उहै जल है सही।
जेते महापुरुष हैं सबको सिद्धान्त एक, सुन्दर अखिल ब्रह्म अंत वेद यों कही॥

एवं परमनिधान है और वह हमारा निजस्वरूप चेतन है। सद्गुरु कहते हैं कि जब वह अपनी अवधारणाओं की प्रतिमा एवं छाया में उलझ गया तब मानो अपने ठौर को बिसर गया। "जासो नाता आदि का, बिसरि गया सो ठौर।" यह महामंत्र है। यह किसी मजहब की बात नहीं है। यह सबका अपना अनुभव है कि आदमी दूसरी वस्तुओं को चाहकर भी अपने पास रख नहीं सकता। सब कुछ का वियोग एक दिन होगा ही। शरीर के छूटते ही अपना माना हुआ सब छूट जाता है, परन्तु हम अपनी आत्मा से अलग कभी हो ही नहीं सकते। इसलिए हमारा आदि का नाता, मूल नाता चेतनस्वरूप से ही है, बाहर परमतत्त्व की कल्पना करने से हम अपने आप में स्थित नहीं हो पाते, किन्तु मनःकल्पनाओं में भटकने लगते हैं। गीता के शब्दों में "आत्मन्येवात्मना तुष्टः" ही "स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते" है अर्थात जो अपनी आत्मा द्वारा अपनी आत्मा में संतुष्ट है वही स्थितप्रज्ञ कहलाता है।

जीव का निजस्वरूपस्थिति से लक्ष्य हटने से ही वह संसार के अधीन बना कुछ-का-कुछ कह रहा है—"चौरासी के बसि परे, कहै और की और।" चौरासी का अर्थ 84 की संख्या होता है; परन्तु चौरासी लाख योनियों की अवधारणा होने से 'चौरासी' शब्द संसारचक्र का बोधक हो गया है। अतएव सरल अर्थ है कि जीव अपने चेतनस्वरूप से विचलित होकर अपने से पृथक जो कुछ मानता है उसका नाम चाहे ईश्वर हो, ब्रह्म हो, सब संसार ही है; क्योंकि वह निजस्वरूप न होने से विजाति जड़ तत्त्व या मन के भास-अध्यास ही हैं। अतएव निज स्वरूप से विचलित साधक ही और का और बकता है। अर्थात है कुछ अन्य, परन्तु कहता है कुछ अन्य ही। अपनी आत्मा से अलग परमतत्त्व एवं परमात्मा मानना या सारा जड़-चेतन एक ब्रह्म मानना और कहना कि मैं ही चांद हूं, मैं ही सूर्य हूं, घटमृतका न्याय मैं सारा विश्व हूं, यह सब "कहै और की और" बात है। मैं सबसे भिन्न शुद्ध चेतन हूं। मैं ही मैं का परमनिधान है। निजस्वरूपस्थिति ही पारखस्थिति है, परमविश्राम का ठौर है। यही वास्तविकता है।

अलख लखौं अलखै लखौं, लखौं निरंजन तोहि।
हौ कबीर सबको लखौं, मोंको लखै न कोहि॥ 351॥

शब्दार्थ—अलख=जो दिखने में न आवे, अगोचर, ब्रह्म। निरंजन= अंजनरहित, निर्दोष। हौं=मैं, चेतन।

भावार्थ—मैं अलख को देखता हूं, मैं निश्चयपूर्वक अलख को देखता हूं, और हे निरंजन, मैं तुमको भी देखता हूं। कबीर साहेब कहते हैं कि मैं निज साक्षी चेतनस्वरूप में स्थित होकर सबको देखता हूं, परन्तु आश्चर्य है कि मुझ चेतन स्वरूप को कोई नहीं समझ रहा है॥ 351॥

व्याख्या—कबीर साहेब के समय में गोरखपंथियों में एक संप्रदाय था जिसे अलखधारी या अलखिया कहते थे। वे अलख-अलख जपते थे तथा यही कहकर भिक्षा भी मांगते थे। वे ईश्वर एवं ब्रह्म का नाम अलख या निरंजन कहते थे। उन लोगों का उस समय गोरखपुर क्षेत्र में बड़ा जोर था। वैसे अलख और निरंजन दोनों शब्द ब्रह्म के लिए संस्कृत एवं हिन्दी भाषा में व्यवहृत होते हैं।

कबीर साहेब उन लोगों से कहते हैं जो ब्रह्म को अपनी आत्मा से पृथक अलख और निरंजन कहकर पुकारते हैं। साहेब कहते हैं कि जिसे तुम अलख और निरंजन कहते हो, उसे मैं अच्छी तरह देखता हूं। वह केवल मन का भास-अध्यास है। अपनी आत्मा से भिन्न तुम जो कुछ ईश्वर-ब्रह्म का रूप गढ़ते हो वह केवल मन की कल्पना ही है, अतएव उसे मैं देखता हूं, परखता हूं। वह जीव के मनश्चक्षु का विषय है।

"हौं कबीर सबको लखौं, मोंको लखै न कोहि।" सद्गुरु कहते हैं कि मैं सबको लखता हूं, परन्तु मुझे कोई नहीं लखता। यह "हौं" यह "मैं" तत्त्व ही तो सबका साक्षी, सबका कल्पक एवं सबका ज्ञाता है। सभी व्यक्तियों के भीतर एक 'मैं' तत्त्व है जो चेतनस्वरूप है, वही सबको लखने वाला है। साहेब कहते हैं कि 'मैं-तत्त्व' तो सबको लखता है, परन्तु 'मैं' को कोई नहीं लखता। जो मैं को लख लेता है, उसका भटकना समाप्त हो जाता है।

"हौं कबीर सबको लखौं, मोंको लखै न कोहि।" इस पंक्ति का भाव बहुत वजनदार है। मनुष्य सबको जानता है, परन्तु अपने आप को नहीं जानता। हम सारी दुनिया को पढ़ लें, परन्तु खुद को न पढ़ें तो सब पढ़ना बेकार है। हम संसार की सारी चीजों को जान लें और उन्हें पा जायें, परन्तु अपने आप को न जानें, अपने आप को न पायें तो हमारा सब जानना और सब पाना निरर्थक है। साहेब कहते हैं कि मैं-मैं कहने वाला सबको लखता है, परन्तु अपने आप को नहीं लखता, इसलिए वह भटकता है।

इन सबका अर्थ यही है कि अपना लक्ष्य, परमात्मा, मोक्ष, ब्रह्म आदि बाहर खोजना छोड़ें, अपने आप को पहचानें और अपने आप में स्थित हों।

हम तो लखा तिहुँ लोक में, तू क्यों कहै अलेख।
सारशब्द जाना नहीं, धोखे पहिरा भेख॥ 352॥

शब्दार्थ—तिहुँ लोक=त्रिगुणी जीव, समग्र संसार। सारशब्द=निर्णय वचन, पारख, विवेक। भेख=भक्त या साधु का वेष, चिह्न।

भावार्थ—हमने तो देखा है कि यह अलेख-अदेख की कल्पना सारे संसार में है। तू इसे अलेख क्यों कहता है! यह तो मन की कल्पना होने से मानो मन से देखा हुआ है। वस्तुतः तुमने धोखे में पड़कर धर्म का जामा पहन लिया है,

परन्तु निर्णय वचनों एवं विवेकज्ञान से परिचय नहीं है ॥ 352 ॥

व्याख्या—तीन लोक से अभिप्राय त्रिगुणी जीवों से है। समस्त जीवों का मन तीनों गुणों से आवेष्टित है। इसलिए तीनों लोक कह देने से समस्त जीव आ जाते हैं। वैसे नीचे के लोक, हमारा अपना मध्य का लोक तथा ऊपर के लोकों का भाव लेकर तीन लोक कहा जाता है और इसका लाक्षणिक अर्थ विश्व की समग्रता है। हम केवल अपनी पृथ्वी पर के जीवों को, उनकी मान्यताओं एवं गतिविधियों को देखते हैं। इस पृथ्वी से बाहर किसी ग्रह, उपग्रह में मनुष्य रहते हैं इसका आज तक पता नहीं लगा है। इसलिए जिस पृथ्वी पर हम रह रहे हैं और जिन मनुष्यों को देख रहे हैं उनकी मान्यताओं एवं मानसिकता के आधार पर स्थालीपुलाक न्याय से संसार के सारे मनुष्यों के विषय में अनुमान करते हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि हमने तो संसार के लोगों में यही पाया कि वे अपनी आत्मा को न परखकर अपने से बाहर किसी अलेख, अदेख, बेचून, बेनमून एवं निरंजन परमात्मा और ब्रह्म की कल्पना कर रहे हैं। जैसे आदमी भूलवश अपने पास की वस्तुओं का महत्त्व ज्यादा न मानकर दूर की वस्तुओं का मानता है, वैसे अपने नित्य चेतनस्वरूप का महत्त्व न समझकर कल्पना के अन्धकार में मनुष्य ब्रह्म की खोज करता है। जहां देखो, जिसको देखो, वही प्रभु व परमात्मा को बाहर पुकार रहा है। साहेब कहते हैं कि भाई, प्रभु तुम ही हो। तुम स्वयं अपने प्रभु हो, स्वामी हो, परमात्मा हो, ब्रह्म हो। अपनी चेतना से, अपनी आत्मा से एवं अपने आपा से अलग तुम कहीं कुछ न पाओगे।

कबीर साहेब कहते हैं कि जिसको तुम अलेख कहते हो वह अलेख क्यों है? वह तो मन की कल्पना है, मन का दृश्य है, मनश्चक्षु से दृश्यमान मन का रूप है। वह तो मन से दिखाई देता है कि वह मनोराज्य मात्र है।

"सारशब्द जाना नहीं, धोखे पहिरा भेख।" इस पंक्ति में सद्गुरु ने उन सब की भर्त्सना की है जो लोग धर्म का, भक्त एवं साधु का जामा तो पहन लिये हैं, परन्तु वे निर्णय वचनों, परख एवं विवेक से दूर हैं और काल्पनिक वस्तुओं के पीछे भटकते हैं। उन्होंने अपने स्वरूप को पहचाना ही नहीं। जिसने जीव रूपी शिव, आत्मा रूपी परमात्मा तथा निजस्वरूप चेतन को समझा नहीं और मन:कल्पनाओं को छोड़कर निजस्वरूप में स्थित हुआ नहीं, उसको धर्म के मार्ग में आने की सफलता नहीं हुई। धर्म एवं अध्यात्मपथ की पूर्ण सफलता है स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति।

साखी की परिभाषा

साखी आँखी ज्ञान की, समुझि देखु मन माहिं।
बिनु साखी संसार का, झगरा छूटत नाहिं॥ 353॥

शब्दार्थ—साखी=इस प्रकरण के छंद जिन्हें अन्य लोग दोहे कहते हैं, साक्षी-गवाह, द्रष्टा, चेतन।

भावार्थ—ये साखियां ज्ञान की आंखें हैं और सच्चाई के साक्षी हैं, इन बातों को मन में समझकर देखो। बिना साक्षी एवं गवाह के संसार का झगड़ा नहीं छूटता॥ 353॥

व्याख्या—तेरह और ग्यारह मात्राओं के इस छंद को अन्य कवियों ने दोहा कहा है, परन्तु कबीर साहेब ने इसे साखी कहा है। 353 साखियों का यह ग्यारहवां प्रकरण बीजक का अन्तिम प्रकरण है। पूरा बीजक ज्ञान का सागर है, जिसमें जो जितने रत्न खोज पावे खोज ले, परन्तु साखी प्रकरण तो सचमुच ही ज्ञान का भण्डार है। अन्य प्रकरणों में खण्डन अंश जगह-जगह काफी आया है; परन्तु साखी प्रकरण में कहीं नाम मात्र का खण्डन अंश है। इसमें प्रायः विधेयात्मक पक्ष ही का वर्णन है। सद्गुरु कहते हैं कि यह साखी प्रकरण या ये साखियां ज्ञान की आखें हैं। इनका हम जितना गहरा अध्ययन करते जायेंगे उतना ज्ञान की तली में पहुंचते जायेंगे। यथार्थ ज्ञान हुए बिना न मन के सारे भ्रम मिटते हैं और न जीवन में शांति मिलती है।

साखी का शुद्ध एवं तत्सम रूप साक्षी है जिसका अर्थ होता है गवाह। संसार में जहां किसी प्रकार का विवाद या झगड़ा होता है, उन दोनों पक्षों का अपना-अपना पक्षपात होने से झगड़ा सुलझता नहीं है। इसलिए उस विवाद के मुद्दे को पंचों एवं न्यायाधीशों के सामने ले जाते हैं। न्यायाधीश वादी तथा प्रतिवादी का विवाद समाप्त करने के लिए दोनों पक्षों का बयान अवश्य लेता है, परन्तु उन पर वह पूर्णतया विश्वास नहीं करता। इसलिए वह उन्हें बुलाता है जिन्होंने उस विवाद को अपनी आंखों से देखा तथा अपने कानों सुना है और जो दोनों पक्षों से निष्पक्ष तथा तटस्थ हैं। उन्हें ही साक्षी, साखी एवं गवाह कहा जाता है। वे दोनों पक्षों की वास्तविकता कह देते हैं, और जज उन पर विश्वास करके उसके आधार पर विवाद पर निर्णय देता है। इसलिए सद्गुरु ने कहा "बिनु साखी संसार का, झगरा छूटत नाहिं।" इसी प्रकार बिना निष्पक्ष वचन को पाये मन के झगड़े नहीं छूटते। कबीर साहेब की वाणियां निष्पक्ष हैं। उनका आदर जिनके जीवन में जितना होता जायेगा उनका उतना ही भ्रम मिटता जायेगा। जब कबीर देव की वाणियों का जीवन में पूर्ण आदर हो जायेगा, तब मन की सारी भ्रांतियां समाप्त हो जायेंगी।

एक प्रश्न उठ सकता है कि साखियां ही यदि साक्षीस्वरूप निष्पक्ष हैं तो क्या बीजक के पहले वाले दस प्रकरण के वचन निष्पक्ष नहीं हैं? उत्तर में समझना चाहिए कि निष्पक्ष तो कबीर साहेब की सारी वाणियां हैं। परम वैष्णव संत नाभादास जी महाराज ने कहा है—"हिन्दू तुरुक प्रमान रमैनी शब्दी साखी।

पक्षपात नहिं वचन सबहिं के हित की भाखी।" यहां कबीर साहेब ने दोहे को जब साखी कहा तो उसका साक्षी, तटस्थ एवं निष्पक्ष अर्थ करना सुकर हो गया।

अंततः साक्षी अपना चेतनस्वरूप है। मन-वासनाओं का साक्षी बनकर उन्हें त्यागते-त्यागते जब वे पूर्णतया शांत हो जाती हैं तब शेष अपने आप चेतन ही रह जाता है। यही परम पद है। जीव साक्षी तभी तक है जब तक जड़ साक्ष्य को देखता है। जब सभी मनोमय दृश्य समाप्त हो जाता है तब जीव शुद्ध चेतन मात्र रह जाता है। संकल्पों का शून्यत्व ही समाधि है। यह अवस्था थोड़े समय रहा करती है, शेष समय ज्ञानी साक्षी रहता है। जब जीव साक्षी दशा को प्राप्त हो जाता है तब उसके मन के झगड़े समाप्त हो जाते हैं। जब जीव मनोमय का साक्षी होता है, तब वह द्वन्द्वों से मुक्त होता है और जब साक्षी न होकर मन की धारा में बहता है तब द्वंद्वग्रसित होता है। हम तब तक संसार के झगड़े में फंसे रहते हैं जब तक मन में बहते हैं और जब उसका साक्षी बन जाते हैं तब उससे अलग हो जाते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि हे चेतन! तू सबका साक्षी है, अतः साक्षी बनकर रह! तू किसी में न मिलकर सबका साक्षी रह और असंग हो जा!

ऊपर बताया गया कि ज्ञानी की समाधि-दशा थोड़े समय की ही होती है, अर्थात पूर्ण संकल्पशून्य अवस्था का समय कम हुआ करता है। शेष समय में ज्ञानी साक्षी बनकर रहता है। परन्तु तत्त्वतः वह दोनों दशाओं में समाधिलीन ही है। जब संकल्पशून्य दशा होती है, वह तथा अन्य साक्षी दशा रहती है, वह— दोनों ही समाधि है। संकल्प-शून्य दशा में जीव पूर्ण कृतार्थ रहता ही है, परन्तु साक्षी दशा में भी कृतार्थ ही रहता है, क्योंकि वह सारे दृश्यों से उदासीन, तटस्थ एवं असंग रहता है; अतएव साधक को चाहिए कि जितना संभव हो वह संकल्पों को शून्य करके शांति में लीन रहे, शेष खाते-पीते, उठते-बैठते, हंसते-बोलते, कुछ करते-धरते, चलते-फिरते सब समय साक्षी बनकर रहे।

बीजक सार सिद्धान्त

नीचे की जिन साखियों को आप पढ़ने जा रहे हैं, ये साखियां सद्गुरु कबीर की रचनाएं नहीं हैं। ये किसी अन्य संत की रचनाएं हैं। चाहे ये साखियां सद्गुरु के समय में ही किसी संत ने ग्रन्थ के पाठफल में रखी हों और तभी से चली आयी हों और चाहे कुछ काल पीछे से किसी संत द्वारा रचकर रखी गयी हों; परन्तु ये साखियां हैं बहुत पुरानी। साखियां इतने मार्मिक भाव की हैं कि बीजक का सार सिद्धान्त इन नौ साखियों में उतर आया है।

बीजक कहिये साख धन, धन का कहै संदेश।
आतम धन जेहि ठौर है, वचन कबीर उपदेश॥ 1॥

शब्दार्थ—साख=गवाह, गवाही, साक्षी, प्रमाण। आतम=आत्म, अपना।

भावार्थ—बीजक उसे कहते हैं जो गुप्तधन का प्रमाण देता एवं पता बताता है। आत्म-धन जिस जगह है कबीर साहेब के वचनों के उपदेश उसी के लिए हैं॥ 1॥

व्याख्या—पहले के लोग सोना-चांदी या उनके सिक्के जमीन में गुप्त रूप से गाड़ते थे और उनका परिचय सांकेतिक शब्दों में किसी ताम्रपत्र या कागज आदि में लिख लेते थे। उस लेख को ही 'बीजक' कहा जाता था। "बीजक बित्त बतावै, जो बित गुप्ता होय। ऐसे शब्द बतावै जीव को, बूझै बिरला कोय॥" 37वीं रमैनी की इस साखी में बीजक शब्द की सविस्तार व्याख्या की गयी है। अतएव वहां देखा जा सकता है। आज भी व्यापारी लोग ग्राहकों के यहां जो माल भेजते हैं उसका विवरण, उसके दाम या भेजने के खर्च आदि की सूची साथ में भेजते हैं, उसको 'बीजक' कहा जाता है।

सद्गुरु कबीर का यह ग्रन्थरत्न बीजक 'आत्म-धन' को बताता है। यह 'आत्म-धन' का साक्षी एवं प्रमाण देता है। 'आतम' तद्भव शब्द है। इसका तत्सम शब्द आत्म है। 'आत्म' शब्द का अर्थ होता है 'अपना' या 'अपने आप'। आत्म-धन एवं अपना धन क्या है? केवल जीव अर्थात शुद्ध चेतन मात्र। व्यक्ति का अपना चेतनस्वरूप ही उसका अपना धन है, जो उससे कभी छूटने वाला नहीं है। शरीर से लेकर संसार के सारे धन छूट जाते हैं; परन्तु क्या आत्मा से आत्मा अलग हो सकती है! अतएव हमसे कभी अलग न होने वाला हमारा अपना चेतनस्वरूप ही है, हमारी अपनी आत्मा ही है। उसी जीव, आत्मा एवं निजस्वरूप चेतन का परिचय यह बीजक ग्रंथ कराता है।

"आतम धन जेहि ठौर है, वचन कबीर उपदेश।" आतम-धन किस ठौर है? देहोपाधि दृष्टि से वह हृदय निवासी है। यथा "हृदया बसै तेहि राम न

जाना।[1] या "सोई नूर दिल पाक है, सोई नूर पहिचान।"[2] अथवा "दिल में खोजि दिलहि माँ खोजो, इहै करीमा रामा।"[3] इत्यादि। श्रुतिवचन भी है—आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः।[4] सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।[5] आदि।

वस्तुतः आतमधन मेरा निजस्वरूप चेतन ही है। मैं ही मेरा परम धन है

देखै बीजक हाथ लै, पावै धन तेहि शोध।
याते बीजक नाम भौ, माया मन को बोध॥ 2॥

शब्दार्थ—शोध=खोज, अनुसंधान। बोध=ज्ञान।

भावार्थ—जो जिज्ञासु अपने हाथ में बीजक लेकर देखेगा और चित्त लगाकर पढ़ेगा वह खोज कर आत्मधन पा जायेगा। इसीलिए सद्गुरु कबीर ने इस ग्रन्थ का नाम बीजक रखा है। इसके अध्ययन से यह ज्ञान हो जाता है कि माया क्या और मन क्या है!॥ 2॥

व्याख्या—जैसे गड़े हुए धन का साक्ष्य सांकेतिक शब्दों में ताम्रपत्र या पोथी आदि बीजक में लिखा रहता है और उसे देखने से धन की खोजकर उसे प्राप्त कर लिया जाता है; वैसे कबीर देव-प्रणीत इस बीजक को जो मन लगाकर पढ़ेगा और विचारेगा वह अपने स्वरूप-धन को शोधकर प्राप्त कर लेगा। गड़े हुए गुप्तधन को बताने वाला सांकेतिक लेख ही तो बीजक कहलाता है। एक दृष्टि से देखा जाये तो सर्वाधिक गुप्तधन मनुष्य का अपना मौलिक एवं तात्त्विक स्वरूप है। यह शरीर मेरा स्वरूप नहीं है। चेतन ही मेरा स्वरूप है। 'मैं' तत्त्व ही मेरा स्वरूप है। 'मैं' के दो प्रकार हैं, एक मायिक तथा दूसरा आत्मिक। शरीरादि भौतिक पदार्थों में मैंपन मायिक है और चेतन स्वरूप के प्रति मैंपन आत्मिक है।

ऊपर कहा गया कि अपनी आत्मा एवं जीव ही एक प्रकार से सर्वाधिक गुप्त है। हमारी आंखें विस्तृत संसार को देखती हैं, परन्तु वे अपने आप को नहीं देख पातीं, किन्तु आंखों का होना स्वयंसिद्ध है, क्योंकि हम दृश्यों को देखते हैं। इसी प्रकार हम सारे संसार को जानते हैं परन्तु अपने आप को नहीं जानते, किन्तु हम संसार को जानते हैं इसलिए हमारा होना स्वयंसिद्ध है।

मेरा सहज स्वरूप चेतन है और इसका ज्ञान सहज ही है। ऐसा सहज होते

---

50. रमैनी 41।
51. साखी 345।
52. शब्द 97।
53. मुडंक उपनिषद् 3/1/4।
54. श्वेताश्वतर उपनिषद् 3/13।

हुए भी विषयासक्तिवश गूढ़ बना हुआ है। विषयासक्ति के साथ-साथ भ्रांति का बोलबाला है। धार्मिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र के लोग 'आत्म-धन' की खोज न कर बाहर कहीं परमात्मा खोजते हैं। उन्हें निजस्वरूप के बोध की फिक्र नहीं है, किन्तु ईश्वर पाने की फिक्र है जो मन की एक अवधारणा है। इस प्रकार निजस्वरूप के अनुसंधान के पथ में मुख्य दो रोड़े हैं, पहला है विषयासक्ति तथा दूसरा है अपनी आत्मा से अलग ईश्वर, परमात्मा एवं ब्रह्म पाने का भ्रम। इन दोनों का निवारण हुए बिना निजस्वरूप का बोध नहीं हो सकता। विषयासक्ति छोड़ देने पर भी अपनी आत्मा एवं निजस्वरूप से अलग प्रभु की तलाश करने वाले जब तक इस भ्रम को नहीं छोड़ते आत्म-अनुसंधान नहीं कर सकते। जब तक व्यक्ति बाहर ईश्वर-ईश्वर पुकारता रहेगा, तब तक अपने स्वरूप को नहीं पहचान सकता। आत्मज्ञान एवं आत्मस्थिति की प्राप्ति के लिए ईश्वर का बखेड़ा छोड़ना पड़ेगा। साधक को समझना पड़ेगा कि उसका निजस्वरूप चेतन ही परम ईश्वर है, परमात्मा है, ब्रह्म है। बाहर से लौटकर निजस्वरूप में स्थित होना ही तो परम पद है। इसका निष्पक्ष निर्णय पूरे बीजक में किया गया है।

बीजक में माया और मन का बोध भी किया गया है। ईश्वरवादी माया को प्रभु का खेल मानकर कहते हैं कि हरि माया अति बलीयसी है। उससे बचना असंभव हे। हरि ही चाहे तो उससे उबारे अन्यथा जीव का कोई बल नहीं। ब्रह्मवादी कहते हैं कि माया अनिर्वचनीया, अघटित घटना पटीयसी एवं दुरत्यया अर्थात न तरने योग्य है। इस प्रकार ये दोनों माया को तरना ही करीब-करीब असंभव बताकर मनुष्य को कमजोर बनाते हैं। फिर जीव को ईश्वराधीन बताकर उसी पर उसे निर्भर कर देते हैं कि जीव को तारेगा तो ईश्वर ही। वे कहते हैं कि जीव को ईश्वर ही माया में नचाता है और वह यदि प्रसन्न हो तो वही उससे बचा सकता है।

कबीर साहेब बीजक में कहते हैं कि माया मन का मोह है। अर्थात दृश्य जगत तथा अनेक मानसिक भ्रांतियों का मोह ही माया है और उसका निर्माता जीव ही है। जीव ही उसे छोड़कर उससे मुक्त हो सकता है। मान लो, किसी ने बीड़ी पीने की आदत बना ली है। अब बीड़ी पीने के प्रति उसकी प्रबल आसक्ति हो गयी है। वह उसके बिना रह नहीं पाता है। सोचिए कि बीड़ी पीने की आसक्तिरूपी माया किस ईश्वर ने उसके भीतर थोपी है, और उससे कौन-सा ईश्वर मुक्त कर सकता है? वस्तुतः मनुष्य ने ही अपने भूलवश उस माया को बनाया है और उसी के छोड़ने से उसका उससे उद्धार हो सकता है। हम काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि विकारों का स्वयं अज्ञानवश सृजन करते हैं और स्वयं उनमें फंसकर दुख भोगते हैं। परन्तु इनकी वास्तविकता जानकर इन्हें हम स्वयं त्यागकर मुक्त हो जाते हैं। अतएव माया मन का मोह है जिसे जीव अपने

स्वरूप के भूलवश बनाता है और उसमें स्वयं उलझकर दुख पाता है। जब उसका यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तब उसे एकदम छोड़कर कृतार्थ हो जाता है। अतएव जीव का माया से मुक्त होने का विषय उसका अपना है; तथाकथित ईश्वर का विषय नहीं। यही स्वावलंबन का पथ है, यही कल्याण का आशावादी स्वरूप है और यही यथार्थ है।

अस्ति आत्मा राम है, मन माया कृत नास्ति।
याकी पारख लहै यथा, बीजक गुरुमुख आस्ति॥ 3॥

शब्दार्थ—अस्ति=विद्यमानता, जो हो, सत्य। आत्मा=मन और अंत:करण से परे तथा उनके व्यापारों का ज्ञान करने वाले सत्ता, द्रष्टा, रूह, जीव, चेतन। राम=हृदय में रमण करने से जीव ही का नाम राम है—'रामरूपमय परम पुनीता (पंचग्रन्थी)। नास्ति=असत्य, शून्य। यथा=जिस प्रकार या यथार्थ। आस्ति=अस्ति है।

भावार्थ—आत्माराम सत्य है और मन-माया से निर्मित अवधारणाएं असत्य हैं। बीजक गुरुमुख वाणी है, अत: उनकी यथार्थ परख इससे करनी चाहिए॥ 3॥

व्याख्या—इस साखी की पहली पंक्ति में आत्माराम की सत्यता तथा मन-माया की असत्यता की स्पष्ट घोषणा है और बीजक की वाणियों में मुख्यत: इन्हीं दो की परख करायी गयी है। मन-माया से लौटकर आत्माराम में स्थित होना यही प्रत्येक व्यक्ति का परम कर्तव्य है।

'आत्मा' का अर्थ है व्यक्ति का स्वत: सारस्वरूप, वह है चेतन; और राम का अर्थ भी चेतन ही है। अतएव व्यक्ति का अपना आपा ही उसकी अपनी आत्मा है और वही राम है। यह परम सत्य है। व्यक्ति की अपनी आत्मा ही तो परम सत्य है! 'मैं' तथ्य ही तो सारे ज्ञान-विज्ञान का आश्रय है। बीजक की वाणियों को पढ़कर इस विषय को यथार्थ रूप से पहचानना चाहिए। "याकी पारख लहै यथा" में 'यथा' शब्द का अर्थ होता है 'जिस प्रकार'। इसके अनुसार अर्थ होगा कि जिस प्रकार आत्माराम और मन-माया के स्वरूप हैं, ठीक से समझो। परन्तु यहां 'यथा' यथार्थ का संक्षिप्त स्वरूप माना जा सकता है। इससे अर्थ होगा कि आत्माराम और मन-माया की यथार्थ परख करनी चाहिए। दोनों अर्थों में मूलभाव में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

आत्माराम तो व्यक्ति का अपना स्वरूप है; परन्तु मन-माया क्या है? मन संस्कारों का समुच्चय है और माया दृश्यों का मोह है। यह आत्माराम मन-माया की धारा में पड़कर ही अपने स्वरूप से पतित है। जब आत्माराम अपने आप को मन-माया से सर्वथा निकालकर अपने आप में ही स्थित होता है तब यही उसकी उच्चतम दशा हे।

पढ़ै गुनै अति प्रीति युत, ठहरि के करै बिचार।
थिरता बुधि पावै सही, वचन कबीर निरधार॥ 4॥

शब्दार्थ—निरधार=निर्णय, निश्चय।

भावार्थ—कबीर साहेब के इन निर्णय वचनों को अत्यंत प्रेमपूर्वक पढ़े, मनन करे और स्थिर होकर गंभीरतापूर्वक विचार करे, तो निश्चित ही उसे शांति-बुद्धि की प्राप्ति होगी अथवा उसकी मनोवृत्ति स्वरूप में स्थित होगी॥ 4॥

व्याख्या—जो लोग किसी पुस्तक के पन्ने इधर-उधर पलटकर कहते हैं कि मैंने सब अध्ययन कर लिया, वे बड़ी भूल में हैं। किसी ग्रन्थ की वास्तविकता जानने के लिए गंभीरतापूर्वक उसकी तली में पैठना चाहिए। फिर इस बीजक-जैसे ग्रन्थ को कोई तुरन्त कैसे समझ ले! इसका बारम्बार अध्ययन-मनन करने से इसको ठीक से समझा जा सकता है। बीजक तो ऐसा ग्रंथ है कि इसका जितनी बार सूक्ष्मता से अध्ययन-मनन किया जाये उतने ही इसके गूढ़ अर्थ समझने में आते हैं।

बीजक में कुछ रमैनियां, शब्द एवं साखियां अत्यन्त सरल हैं, परन्तु कुछ तो ऐसे गूढ़ हैं जिनका सहज समाधान कर पाना कठिन है। कबीर साहेब की विचारधारा में डूबे रहने वाले साधक, सन्तों एवं गुरुजनों की सेवा तथा सत्संग से और स्वयं के दीर्घकाल के निष्पक्ष शोधन से ही कबीर साहेब के गूढ़ पदों को समझा जा सकता है। वैसे कोई अमुक पद अमुक व्यक्ति न समझ पावे यह अलग बात है, परन्तु निष्पक्षता से मनन करने पर सत्य-सार समझना कठिन नहीं है। बीजक के केवल सरल पदों को ही समझ लिया जाये तो सभी काम की बातें आ जाती हैं। गुरुजनों द्वारा कुंजी मिल जाने पर तो पूरा बीजक समझना अत्यन्त सरल हो जाता है। आवश्यकता है निष्पक्षतापूर्वक इसमें डूबने की।

सार शब्द टकसार है, बीजक याको नाम।
गुरु का दया से परख भई, वचन कबीर तमाम॥ 5॥

शब्दार्थ—तमाम= संपूर्ण, समाप्त।

भावार्थ—टकसाल जैसे प्रामाणिक रुपयों के ढलने का घर होता है, वैसे यह ग्रंथ जिसका नाम बीजक है प्रामाणिक सारशब्दों एवं निष्पक्ष निर्णय वचनों का कोश है। सद्गुरु कबीर के सम्पूर्ण वचनों का मनन-चिंतन किया गया और गुरुकृपा से सारासार की परख हो गयी है॥ 5॥

व्याख्या—नाभादास जी महाराज जो कबीर साहेब के तत्काल बाद हुए हैं एक परम वैष्णव संत हो गये हैं। उन्होंने कबीर साहेब तथा उनकी वाणियों की प्रशंसा में अपने भक्तमाल में एक छप्पय लिखा है। उसका भावार्थ इस प्रकार है—

"कबीर ने सत्य कहने में वर्ण, आश्रम और षड्दर्शन वेषधारियों का मुलाहजा एवं संकोच नहीं रखा। भक्तिविमुख धर्म को उन्होंने अधर्म कहा। भजन के बिना योग, यज्ञ, व्रत तथा दान को तुच्छ बताया। उन्होंने हिन्दू और मुसलमानादि समस्त मानव के लिए एक प्रामाणिक एवं सत्य सिद्धान्त अपने रमैनी, शब्द और साखियों में कहा। उनके वचन पक्षपात से रहित तथा सबके कल्याण के लिए कहे गये हैं। उन्होंने संसार में तटस्थ एवं निष्पक्ष दशा में ठहरकर अपनी बातें कहीं हैं। उन्होंने किसी की मुखदेखी बात नहीं कही, किसी की चापलूसी नहीं की। कबीर ने सत्य कहने में वर्ण, आश्रम एवं षड्दर्शन वेषधारियों का मुलाहजा नहीं किया।"[1]

यह कबीर और कबीर वाणी के लिए गद्‌गद और तथ्यात्मक भाव है एक मूर्द्धन्य वैष्णव संत का। इससे अधिक कोई कबीर-प्रेमी, कबीर-अनुयायी एवं कबीर-आलोचक क्या कहेगा! आज तक कबीर की प्रशंसा में इस धराधाम पर जो कुछ कहा गया है, मानो इन छह पंक्तियों की व्याख्या है।

"सारशब्द टकसार है, बीजक याको नाम।" इस पंक्ति का लेखक कहता है कि यह बीजक ग्रंथ सारशब्दों एवं सार निर्णय वचनों का समुच्चय है। यह टकसाल है। टकसाल में ढले सिक्के प्रामाणिक होते हैं। इसी प्रकार कबीर साहेब के शब्द प्रामाणिक होते हैं, क्योंकि वे पक्षपात, अंधविश्वास, चमत्कार जो एक छल-कपट है—इन सबसे दूर केवल सत्यद्रष्टा, सत्यरमता एवं सत्यवक्ता हैं। कबीर न किसी ईश्वर-वाणी की दोहाई देते हैं, न अपने वचनों को यह कहते हैं कि इन्हें ईश्वर ने भेजा है, न वे अपने आप को अलौकिक, न अवतार, न पैगम्बर कहते हैं। वे कहते हैं कि मैं तुम्हारे सरीखा मनुष्य हूं।[2] जो मैं कहता हूं उसे विचारो। सत्य लगे तो ग्रहण करो और असत्य लगे तो छोड़ दो।[3] कबीर अपनी बातों को ईश्वर, पैगम्बर, अवतार तथा किसी भी अलौकिकता का झांसा देकर संसार से नहीं मनवाना चाहते, बल्कि इन झांसा वाली बातों का वे जोरदार शब्दों में खंडन करते हैं। कबीर भीतर-बाहर केवल सत्य से ठोस हैं और इसी प्रकार उनकी वाणी भी केवल सत्य का परिचायक है।

---

55. कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षटदरसनी।
भक्तिविमुख जो धर्म ताहि अधरम करि गायो॥
योग यग्य व्रत दान भजन बिनु तुच्छ दिखायो॥
हिन्दु तुरुक प्रमान रमैनी शब्दी साखी।
पच्छपात नहिं बचन सबहिं के हित की भाखी॥
आरूढ़ दशा ह्वै जगत पर मुख देखी नाहिन भनी।
कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रय षटदरसनी॥ भक्तमाल॥
56. तहिया हम तुम एकै लोहू। एकै प्राण बियापै मोहू॥ रमैनी॥
57. सुनिये सबकी निबेरिये अपनी। (साखी 247)

पारख बिन परचै नहीं, बिन सत्संग न जान।
दुबिधा तजि निर्भय रहे, सोई सन्त सुजान॥ 6॥

शब्दार्थ—पारख=परख, परीक्षा, गुण-दोषों के निर्णय की दृष्टि से किसी वस्तु को देखने की क्रिया, सार-असार समझने की शक्ति। परचै=परिचय, पहचान, ज्ञान। दुबिधा=संदेह।

भावार्थ—निष्पक्ष होकर परख किये बिना सत्य और असत्य की पहचान नहीं होती, और पारखी संतों की सत्संग किये बिना निष्पक्ष परख दृष्टि समझने में नहीं आती। जो सब जगह परखकर असत्य छोड़ सत्य को ग्रहण करता है वह संशय से मुक्त होकर निर्भय हो जाता है। उसी को सच्चा ज्ञानी सन्त कहना चाहिए॥ 6॥

व्याख्या—जड़ प्रकृति अनादि-अनंत है। उनसे जगत का प्रवाह तथा उसकी स्थिति भी अनादि-अनंत है। इसके लिए किसी ईश्वर की कल्पना करना कि उसी ने चांद-सूरज आदि को बनाया है, वही वर्षा, आंधी-तूफान लाता है आदि एक बालकपन है। जड़ जगत अपने स्वतःसिद्ध नियमों से चलता है। इधर असंख्य चेतन जीव भी अनादि-अनंत हैं। उनकी ज्ञानशक्ति भी उनमें अंतर्निहित एवं स्वभावसिद्ध है। वासनाओं का त्याग कर देने पर जीव अपने आप में स्थित हो जाता है। निजस्वरूप की स्थिति ही मानो परमात्मा, ब्रह्म, गॉड, खुदा, निर्वाण, मोक्ष को पा लेना है; क्योंकि निजस्वरूप की स्थिति के अलावा जीव का अन्य कोई प्राप्तव्य नहीं है। इस प्रकार सत्यासत्य को परखकर निस्संदेह एवं निर्भय हो जाना ही जीवन का फल है।

जगत के नियामक को खोजना महा भ्रम है, किन्तु जगत के नियमों को पहचानना हमारा कर्तव्य है। हर नियम का नियामक नहीं होता। मनुष्यों के बनाये नियमों का स्वयं मनुष्य नियामक है। वह अपने भोलेपन में समझता है कि पानी में शीतलता, आग में गरमी, वायु में कोमलता, पृथ्वी में कठोरता तथा इन समस्त जड़ तत्त्वों में क्रियाशीलता किसी देव ने बनायी है। परन्तु द्रव्यों में उनके गुण-धर्म तथा उनकी गतिशीलता किसी देवता की देन नहीं है; किन्तु द्रव्यों में अन्तर्निहित शक्ति है।

जीव के ऊपर कोई देव नहीं है जिसको खुश करके उससे वह कुछ पाने की आशा करे। मनुष्य को अपने आप द्वारा सारे दोषों को छोड़कर निर्दोष बनना होगा और सारी वासनाओं को त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित होना होगा। इसमें प्रेरक तथा सहायक विवेकवान सन्त-गुरु हैं, किन्तु आसक्ति जीतना तथा स्वयं में ठहराव जीव को स्वतः ही करना पड़ेगा।

सत्यज्ञान तथा स्वरूपस्थिति से निस्संदेह निर्भय दशा की प्राप्ति होती है, यही जीवन की ऊंचाई है।

नीर क्षीर निर्णय करे, हंस लक्ष सहिदान।
दया रूप थिर पद रहे, सो पारख पहिचान॥ 7॥

शब्दार्थ—नीर=पानी। क्षीर=दूध। लक्ष=लक्षण; लक्ष्य, उद्देश्य। सहिदान= सहिदानी, चिह्न, पहचान।

भावार्थ—मिले हुए दूध और पानी को अलग-अलग कर देना हंस का लक्षण एवं उसकी अपनी पहचान है। इसी प्रकार सारे जड़ दृश्यों से अपने चेतनस्वरूप को अलग समझकर असंग हो जाना विवेकवान का लक्षण है। मानो उसने सत्यासत्य की परख एवं पहचान की जो प्राणिमात्र के प्रति शील का व्यवहार करते हुए अपने स्वरूप में स्थिर रहता है॥ 7॥

व्याख्या—कहावत है कि हंस पक्षी नीर-क्षीर विवेकी होता है। यही उसका लक्षण एवं पहचान माना जाता है। कहावत सच हो या झूठ, जिस बात को सिद्ध करने के लिए यह कहावत यहां कही गयी है वह सच है। हंस विवेकी मानव है। वह नीर-क्षीर विवेक करता है। वह जड़-चेतन को अलग समझकर और जड़ से अपने आप को विवेक से निकालकर शुद्ध चेतन मात्र रहता है, असंग रहता है। यही उसका हंसत्व है। संस्कृत के 'अहंसः' से अ तथा विसर्ग (:) लुप्त होकर हंस शब्द बना है जिसका अर्थ होता है वह मैं हूं। 'अहम् सः'—'मैं—वह' हूं। जड़ासक्ति का त्याग करके निजस्वरूप में स्थित होना ही हंसत्व है। कृतार्थात्मा का यही लक्षण है, यही उसकी पहचान है, यही उसका उद्देश्य है।

"दया रूप थिर पद रहे, सो पारख पहिचान।" अर्थात उसी ने सत्य को परख एवं पहचान कर उसे ग्रहण किया, अथवा पारखपद को पाया जो व्यवहार में सभी से दयावान रहता है और अपने स्वरूप में स्थित रहता है। "दया रूप थिर पद रहे" यह वाक्यांश गागर में सागर है। वही पारखी है, वही विवेकी है और वही कल्याणरूप है जो थिर पद है, जो अपने पद में, अपने स्वरूप में स्थिर रहता है। वह व्यवहार में सभी प्राणियों के प्रति दया का बरताव करता है। वह शील के सहित सबसे बरतता है। तथागत बुद्ध के शब्दों में शील और समाधि जीवन की ऊंचाई है। यहां साखीकार ने 'दयारूप' और 'थिरपद' कहकर मानो शील और समाधि की ही व्याख्या कर दी हो। यह न बौद्धमत है और न कबीरमत, यह तो अध्यात्म का तथ्य है और जीवन का सत्य है। हमारे जीवन के दो क्षेत्र हैं व्यवहार और परमार्थ। दया, करुणा एवं शील का प्रयोग ही तो व्यवहार की सफलता है और अपने स्वरूप में स्थित हो जाना परमार्थ की सफलता है।

देह मान अभिमान ते, निरहंकारी होय।
बर्ण कर्म कुल जाति ते, हंस निन्यारा होय॥ 8॥

शब्दार्थ—हंस=विवेकी मानव, सन्त।

भावार्थ—आत्माराम स्वरूप में रमने वाले विवेकी पुरुष देह के तथा देह सम्बन्धी प्राणी, पदार्थ, अवस्था, परिस्थिति, वर्ण-कर्म, कुल-जाति आदि के अहंकार से अलग हो जाते हैं॥ 8॥

व्याख्या—कबीर साहेब की वाणियों के मनन-चिंतन के फलस्वरूप विवेकवान आत्माराम हो जाता है। इसलिए वह देह का अभिमान छोड़ देता है तथा जितने देहजनित सम्बन्ध हैं उन सबके अभिमान का त्याग कर देता है। वह वर्ण-जाति नहीं मानता। वह कुल-परम्परा तथा इन सबके कम-प्रपंचों से अलग हो जाता है।

जग विलास है देह को, साधो करो विचार।
सेवा साधन मन कर्म ते, यथा भक्ति उर धार॥ 9॥

शब्दार्थ—विलास=आनंद-भोग। यथा=यथार्थ, यथार्थ का संक्षिप्त स्वरूप यहां यथा है।

भावार्थ—संसार एवं विषयों के सारे आनंद-भोग क्षणभंगुर देह तक ही हैं। हे साधको! विचार करो और इन्द्रियों के विलास छोड़कर मन, वाणी तथा कर्मों से पर-सेवा तथा साधना करो और हृदय में यथार्थ भक्ति धारण करो॥ 9॥

व्याख्या—जिन्दगी तो देखते-देखते एक दिन बीत जाती है, चाहे इससे भोग करे या योग करे। हां, दोनों के फल में बड़ा अन्तर होता है। यहां साखीकार कहते हैं कि संसार के सारे आनन्द-भोग, विषयों की सारी क्रीड़ाएं मलिन इंद्रियों तक हैं और इनका परिणाम भी मन की चंचलता, वासनाओं की तीव्रता तथा तृष्णा की वृद्धि है। इसलिए हे साधको, इस पर विचार करो, और विषयों के विलास छोड़कर अपने शरीर तथा प्राप्त शक्ति से दूसरों की सेवा करो। अपने शरीर, समय और धन को इंद्रियों के भोगों में न लगाकर दूसरों की सेवा में लगाओ। यही उसकी सार्थकता है।

शरीर की दूसरी मुख्य सार्थकता है कि उसे साधना में लगाया जाये। देह से साधना करो, योग करो, विषय-भोग नहीं। विषय-भोग तो बन्दर-शूकर भी करते हैं। मनुष्य के विवेक की यही सार्थकता है कि वह योग में लगे, इंद्रियों को अपने वश में कर स्वरूपस्थिति की साधना में लगे।

"यथा भक्ति उर धार" अर्थात हृदय में यथार्थ भक्ति धारण करे। भक्ति है कोमलता, गुरु-संतों के प्रति सेवा, स्वरूपज्ञान के प्रति रुझान एवं आत्माराम में रमण। सारे विषयों को छोड़कर स्व-स्वरूप में स्थित होना ही परा भक्ति है। यही यथार्थ भक्ति है। अतएव शरीर की सफलता इन्द्रिय-भोग नहीं है, किन्तु पर-सेवा, साधना एवं भक्ति है। अतएव सेवा, साधना तथा भक्ति में लगो।

फल छन्द

चिद्-जड़ विभेदक विमल-पथ,
जड़ साक्ष्य से साक्षी परे।
तजि सर्व साक्ष्य विकार,
साक्षीरूप पद पारख शरे॥
जग-ब्रह्म का द्रष्टा दोऊ,
से भिन्न चेतन स्व-वरे।
गुरुवर कबीर निदेश लहि,
जन शोक-संशय से तरे॥

चौपाई

गुरु पारख तुमको जो ज्ञानै।
जानत ही समरूप रहानै॥
निर्णय सत्य शब्द सोइ मानै।
जहिते होय सकल भ्रम हानै॥